नमस्ते जी

ऋषि दयानंद द्वारा प्रचारित वैदिक विचारधारा ने सैकड़ो हृदय को क्रन्तिकारी विचारो से भर दिया | जो वेद उस काल में विचारो से भी भुला दिए गए थे | ऋषि दयानंद ने उन हृदयों को वेदों के विचारो से ओतप्रोत कर दिया और देश में वेद गंगा बहने लगी | ऋषि के अपने अल्प कार्य काल में समाज की आध्यात्मिक, सामाजिक, और व्यक्तिगत विचार धारा को बदल के रख दिया | ऋषि के बाद भी कही वर्षो तक यह परिपाटी चली पर यह वैचारिक परिवर्तन पुनः उसी विकृति की और लौट रहा है | और इसी विकृति को रोकने के लिए वैदिक विद्वान प्रो॰ राजेंद्र जी जिज्ञासु के सानिध्य में "पंडित लेखराम वैदिक मिशन" संस्था का जन्म हुआ है | इस संस्था का मुख्य उद्देश्य वेदों को समाज रूपी शरीर के रक्त धमनियों में रक्त के समान स्थापित करना है | यह कार्य ऋषि के जीवन का मुख्य उद्देश्य था और यही इस संस्था का भी मुख्य उद्देश्य है | संस्था के अन्य उद्देशों में सम्लित है साहित्य का सृजन करना | जो दुर्लभ आर्य साहित्य नष्ट होने की और अग्रसर है उस साहित्य को नष्ट होने से बचाना और उस साहित्य को क्रम बद्ध तरीके से हमारे भाई और बहनों के समक्ष प्रस्तुत करना जिससे उनकी स्वाध्याय में रूचि बढ़े और वे तुलनात्मक अध्यन कर सकें जिससे उनकी स्वधर्म में रूचि बढ़े और अन्य मत मतान्तरो की जानकारी उन्हें प्राप्त हो और वे विधर्मियो द्वारा लगाये जा रहे विभिन्न आक्षेपों का उत्तर दे सकें विधर्मियो से स्वयं भी बचें और अन्यो की भी सहयता करें | संस्था का उद्देश्य है समाज के समक्ष हमारे गौरव शाली इतिहास को प्रस्तुत करना जिससे हमारा रक्त जो ठंडा हो गया है वह पुनः गर्म हो सके और हम हमारे इतिहास पुरुषो का मान सम्मान करें और उनके बताये गये नीतिगत मार्ग पर चलें | संस्था का अन्य उद्देश्य गौ पालन और गौ सेवा को बढ़ावा देना जिससे पशुओ के प्रति प्रेम, दया का भाव बढ़े और इन पशुओ की हत्या बंद हो, समाज में हो रहे परमात्मा के नाम पर पाखण्ड, अन्धविश्वास, अत्याचार को जड़ से नष्ट करना और परमात्मा के शुद्ध वैदिक स्वरुप को समाज के समक्ष रखना, हमारे युवा शक्ति को अनेक भोग, विबिन्न व्यसनों, छल, कपट इत्यादि से बचाना |

इन कार्यो को हम अकेले पूरा करने का सामर्थ्य नहीं रखते पर, यह सारे कार्य है तो बड़े विशाल और व्यापक पर अगर संस्था को आप का साथ मिला तो बड़ी सरलता से पूर्ण किये जा सकते है | हमारा समाजिक ढाचा ऐसा है की हम प्रत्येक कार्य की लिए एक दुसरे पर निर्भर है | आशा करते है की इस कार्य में आप हमारी तन, मन से साहयता करेंगे | संस्था द्वारा चलाई जा रही वेबसाइट www.aryamantavya.in और www.vedickranti.in पर आप संस्था द्वारा स्थापित संकल्पों सम्बन्धी लेख पड़ सकते है और भिन्न-भिन्न वैदिक साहित्य को निशुल्क डाउनलोड कर सकते है | कृपया स्वय भी जाये और अन्यो को भी सूचित करे यही आप की हवी होंगी इस यज्ञ में जो आप अवश्य करेंगे यही परमात्मा से प्रार्थना करते है |

जिन सज्जनों के पास दुर्लभ आर्य साहित्य है एवं वे उसे संरक्षित करने में संस्था की सहायता करना चाहते हैं वो कृपया निम्न पते पर सूचित करें

ptlekhram@gmail.com

धन्यवाद् !

पंडित लेखराम वैदिक मिशन

आर्य मंतव्य टीम

AryaMantavya
Make The Whole World Noble

ओ३म्

यजुर्वेदभाष्यम्

(प्रथमो भागः)

पं० हरिशरण सिद्धान्तालङ्कार

सम्पादक :

परमहंस स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

प्रकाशक :

श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास

हिण्डौन सिटी (राज०)

वेदनिधि ग्रन्थमाला—९

प्रकाशक : **श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास**
ब्यानिया पाड़ा, हिण्डौन सिटी, (राज०)–३२२ २३०
दूरभाष : ०७४६९–२३४६२४; चलभाष : ०–९४१४०–३४०७२

संस्करण : स्वामी श्री जगदीश्वरानन्द सरस्वती एवं प्रा० राजेन्द्र 'जिज्ञासु'
अमृत महोत्सव, २००६

मूल्य : २५०.०० रुपये

प्राप्ति स्थान :
१. **टंकारा साहित्य सदन,** आर्यसमाज, हिण्डौन सिटी (राज०)
दूरभाष : ०७४६९–२३४९००
२. **श्रेष्ठ साहित्य सदन,** सैंती, चित्तौड़गढ़ (राज०); शाखा–पहुँना, जि०–चित्तौड़गढ़ (राज०); दूरभाष : ०१४७१–२२२०६४
३. **श्री हरिकिशन ओमप्रकाश,** ३९९, गली मन्दिर वाली, नया बाँस, दिल्ली–११० ००६; दूरभाष–०११–२३९५८८६४
४. **श्री दयारामजी पोद्दार,** झारखण्ड राज्य आर्य प्रतिनिधि सभा, आर्यसमाज मन्दिर, स्वामी श्रद्धानन्द पथ, राँची (झारखण्ड)–८३४ ००१; चलभाष : ०–९२३४७५०६०७
५. **श्री गणेशदास गरिमा गोयल,** २७०४, प्रेममणि निवास, गली पत्तेवाली, नया बाजार, खारी बावली, दिल्ली–११० ००६
दूरभाष: ०११–५५३७९०७०
६. **विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द**
४४०८, नई सड़क, दिल्ली–६, दूरभाष: ०११–२३९७७२१६
७. **आर्य प्रकाशन,** ८१६, कुण्डेवालान, अजमेरी गेट, दिल्ली–११० ००६, दूरभाष : ०११–२३२३३२८०
८. **डॉ० श्री अशोकजी आर्य,** आर्य कुटीर, ११६, मित्र विहार, मंडी डबवाली, जि०–सिरसा, (हरि०)–१२५१०४
दूरभाष : ०१६६८–२२७९३५
९. **श्री राजेन्द्रकुमार,** १८, विक्रमादित्य पुरी, स्टेट बैंक कालोनी, बरेली (उ०प्र०), दूर.: ०५८१–२५४३९४४

शब्द संयोजन : **भगवती लेज़र प्रिंट्स,** ईस्ट ऑफ कैलाश, नई दिल्ली–११० ०६५

मुद्रक : **राधा प्रेस,** कैलाशनगर, दिल्ली–११० ०३१

भूमिका

वेद परमपिता परमात्मा द्वारा प्रदत्त ज्ञान है। यह ज्ञान सृष्टि के आदि में दिया गया था। वेद सार्वभौमिक और सार्वकालिक हैं। वे वैदिक संस्कृति के मूलाधार हैं और मानवमात्र की सम्पत्ति हैं। स्वयं वेद का उद्घोष है—

सा प्रथमा सँस्कृतिर्विश्ववारा। —यजुः० ७।१४

वैदिक संस्कृति संसार की सर्वप्रथम संस्कृति है और सारे संसार द्वारा वरणीय संस्कृति है।

वेद चार हैं—ऋग्, यजुः, साम और अथर्व।

ऋग्वेद ज्ञानकाण्ड है तो यजुर्वेद कर्मकाण्ड है। ऋग्वेद मस्तिष्क का वेद है तो यजुर्वेद होथों का वेद है, कर्मवेद है। यजुर्वेद के आरम्भ में ही कहा है—

देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे। —यजुः० १।१

सवितादेव तुम्हें [मनुष्यों को] श्रेष्ठ कर्मों में प्रेरित करे।

मध्य में कहा है—

सं मा भद्रेण पृङ्क्त। —यजुः० १९।११

हे प्रभो! मुझे भद्र=कल्याण के साथ जोड़िए। मैं सदा उत्तम कर्म ही करूँ, खोटे कर्मों और पाप से बचूँ।

अन्त में कहा है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः। —यजुः० ४०।२

मनुष्य सौ वर्ष तक कर्म करते हुए ही जीने की इच्छा करे।

सर्वश्रेष्ठ कर्म है—यज्ञ। यजुर्वेद में यज्ञों का वर्णन है। अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त—सभी यज्ञों का विवेचन है। मानवमात्र के लिए प्रतिदिन करणीय ब्रह्मयज्ञादि पञ्च यज्ञों का विधान है। यज्ञ का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहा गया है—

तं पत्नीभिरनु गच्छेम देवाः पुत्रैर्भ्रातृभिरुत वा हिरण्यैः। —यजुः० १५।५०

हे विद्वानो! हम पत्नी, पुत्र, भाई और धन के सहित यज्ञों का अनुष्ठान करें।

यज्ञ शब्द बहुत विस्तृत अर्थों का वाचक है। यज्ञ से जहाँ अग्निहोत्र का ग्रहण है वहाँ परोपकार के समस्त कर्म भी यज्ञ की परिधि में आते हैं। महर्षि दयानन्द की दृष्टि में तो कला-कौशल, उद्योग-धन्धे भी यज्ञ हैं।

यज्ञ शब्द का अर्थ है—देवपूजा, सङ्गतीकरण और दान। देवों के देव—महादेव [शिवलिङ्ग नहीं, स्त्रियों को तो इसका देखना भी पाप है और इसपर चढ़ाये गये पदार्थों के खाने का भी निषेध है] परमपिता की उपासना, बड़े—माता-पिता, आचार्यों का सम्मान करना यज्ञ है। बराबरवालों के साथ स्नेह का व्यवहार करके उनके साथ उठना-बैठना और अपने से छोटों को देना भी यज्ञ है।

यहाँ एक बात का स्मरण रक्खें—वेद में कहीं भी यज्ञ में पशुओं की बलि देने का विधान नहीं है। वेद में तो पशुओं के पालने और उनकी रक्षा करने, उन्हें न मारने का विधान है। वेद में कहा है—

गां मा हिंसीः। —यजुः० १३।४३

गाय को मत मारो। इसी प्रकार भेड़, बकरी, एक खुरवाले प्राणी [घोड़ा, गधादि], दो खुरवाले प्राणी [भेड़, बकरी, गाय-भैंस] आदि के मारने का निषेध है। यज्ञ का एक नाम अध्वर [अ+ध्वर=नहीं है हिंसा जिसमें] भी है, फिर यज्ञों में पशुबलि का विधान कैसे हो सकता है? यह सब तो वाममार्गियों की लीला थी।

यज्ञों के अतिरिक्त भी अनेक प्रकार का ज्ञान और विज्ञान इस वेद में भरा हुआ है। इसका इकतीसवाँ, बत्तीसवाँ, छत्तीसवाँ और चालीसवाँ अध्याय तो बेजोड़ हैं। चालीसवाँ अध्याय तो ईशोपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध है, जिसपर सारा संसार मोहित है। इकतीसवाँ अध्याय पुरुषसूक्त है, जिसमें ईश्वर के स्वरूप का वर्णन, उसकी प्राप्ति के उपाय और सृष्टि उत्पत्ति का विवेचन है।

बत्तीसवें अध्याय का आरम्भ ईश्वर के विविध नामों से होता है—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥

—यजुः० ३२।१

उस परमात्मा का ही नाम अग्नि है, उसी ब्रह्म का नाम सूर्य है, उसी को वायु कहते हैं, उसी का नाम चन्द्रमा है। उसी का नाम शुक्र, ब्रह्म, आप और प्रजापति है।

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणः। —यजुः० २२।२२

मन्त्र में आदर्श राष्ट्र का जो वर्णन है, वह एक पुस्तक में भी नहीं समा सकता।

तेइसवें अध्याय के अन्त में प्रश्नोत्तरों के रूप में जो ज्ञान दिया गया है वह अनूठा है और शैली भी अनूठी है। जितना बड़ा प्रश्न, उतने ही शब्दों में उत्तर और वह भी परिपूर्ण।

इस प्रकार इसमें रत्न भरे हुए हैं। डुबकी लगाइए और रत्न पाइए।

वेद पर अनेक भाष्य हुए हैं। पं० हरिशरण सिद्धान्तालंकार का भाष्य अपने-आपमें अनेक विशेषताएँ लिये हुए है। यह भाष्य अत्यन्त सरल और रोचक है। प्रत्येक मन्त्र को जीवन के साथ जोड़ा है। व्याख्या करते हुए वेद के रहस्यों का उद्घाटन किया गया है। एक बार आरम्भ करके छोड़ने की इच्छा नहीं होती।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में आर्यजगत् के सुप्रसिद्ध विद्वान् **पं० मनोहर विद्यालङ्कार** ने **गुरुदक्षिणारूप में एक लाख रुपये** प्रदान किये हैं, तदर्थ उनका हार्दिक धन्यवाद। पण्डितजी के सात्त्विक दान से प्रेरणा लेकर कुछ अन्य दानी भी अपनी थैलियों का मुँह खोल दें तो चारों वेदों का भाष्य शीघ्र छप सकता है।

श्री रामपालजी, सरिताविहार, नई दिल्ली ने ईक्ष्यवाचन [प्रूफ़-रीडिंग] में जो सहयोग दिया है, तदर्थ उन्हें हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

विदुषामनुचरः
—जगदीश्वरानन्द

वेद-मन्दिर
इब्राहिमपुर, दिल्ली-११० ०३६
दूरभाष-७२०२२४९
१४.१०.२००१

ओ३म्

यजुर्वेदभाष्यम्

प्रथमोऽध्यायः

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—स्वराड्बृहती[क], ब्राह्म्युष्णिक्[र]।
स्वरः—मध्यमः[क], ऋषभः[र]॥

प्रभु की प्रेरणा का स्वरूप

॥ ओ३म् ॥ [क]इषे त्वोर्जे त्वा वायव स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणऽआप्यायध्वमघ्न्याऽइन्द्राय भागं [र]प्रजावतीरनमीवाऽअयक्ष्मा मा व स्तेनऽईशत माघशंसो ध्रुवाऽअस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून् पाहि॥ १॥

जीव प्रभु से प्रार्थना करता है कि मैं **त्वा**=आपके चरणों में उपस्थित हुआ हूँ, **इषे**=प्रेरणा प्राप्त करने के लिए (इष प्रेरणे, Impel, urge, incite, animate), न केवल प्रेरणा प्राप्त करने के लिए, अपितु **त्वा**=आपके चरणों में आया हूँ **ऊर्जे**=शक्ति और उत्साह के लिए। आप मुझे उत्तम प्रेरणा प्राप्त कराइए, उस प्रेरित लक्ष्य तक पहुँचने के लिए शक्ति दीजिए और शक्ति के साथ उत्साह भी दीजिए कि मैं उस लक्ष्य तक पहुँचने में कभी ढीला न पड़ जाऊँ। 'प्रेरणा, शक्ति व उत्साह'—तीनों से युक्त जीवन ही तो वास्तविक जीवन है। हे प्रभो! मुझे तो आप बस, यही जीवन प्राप्त करने के योग्य कीजिए।

इस उपासक जीव को प्रभु प्रेरणा देना आरम्भ करते हैं और कहते हैं कि—

१. **वायवः स्थ**=(वा गतौ) हे जीवो! तुम गतिशील हो—अकर्मण्यता तुम्हें छू भी नहीं गई। 'आत्मा' शब्द का अर्थ ही सतत गतिशील है। अकर्मण्यता यदि जीर्ण और शीर्ण कर देती है तो क्रियाशीलता विकास व प्रादुर्भाव का कारण बनती है। वस्तुतः क्रियाशीलता ही जीवन है।

२. **सविता देवः वः श्रेष्ठतमाय कर्मणे प्रार्पयतु**=बस, तुम कुछ ऐसी अनुकूलता पैदा करो कि सुप्रेरक विद्वान् तुम्हें श्रेष्ठतम कर्म में प्रेरित करें। (प्रार्थनायां लोट्)।

३. **आप्यायध्वम्**=इस प्रकार तुम दिन प्रतिदिन बढ़ो। बढ़ने का मार्ग यही है कि मनुष्य क्रियाशील हो और फिर वह क्रियाशीलता श्रेष्ठतम कर्मों की ओर झुकाववाली हो।

४. **अघ्न्याः** (अ+हन्+य)=तुम हिंसा न करनेवालों में उत्तम बनना। तुम्हारा प्रत्येक कार्य ऐसा हो जो निर्माण व हित के उद्देश्य से चल रहा हो, किसी भी कार्य में ध्वंस व विनाश न हो।

५. **इन्द्राय भागम्**=तुम परमैश्वर्यशाली मुझ प्रभु के लिए सेवनीय अंशों को ही अपनानेवाले बनो (भज सेवायाम्)। तुममें प्रकृति का आधिक्य न होकर प्रभु का आधिक्य हो, अर्थात् प्रेय के पीछे न मरकर तुम श्रेय को अपनानेवाले बनो। अपने जीवनों को ऐसा

बनाकर तुम—

६. प्रजावतीः=उत्तम सन्तानवाले बनो। तुम्हारे जीवन में यह एक महती असफलता होगी यदि तुम्हारी सन्तान ठीक न हुई।

७. अनमीवाः=इस जीवनयात्रा में ऐसे ढंग से चलना कि तुम रोगाक्रान्त न हो जाओ। तुम्हारा यह शरीररूप रथ टूट न जाए। ऐसा हुआ तो यात्रा कैसे पूरी होगी? पाँचवें संकेत 'इन्द्राय भागम्' का ध्यान करोगे तो नीरोग रहोगे ही। प्रभुभक्त अस्वस्थ नहीं होता, प्रकृति में आसक्त ही रोगी हुआ करता है।

८. अयक्ष्माः=तुम्हें यक्ष्मा न घेर ले, तुम इस राजरोग के चक्कर में न आ जाओ। प्रकृति का ठीक प्रयोग करने से रोग आएँगे ही क्यों?

९. मा वः स्तेनः ईशत=स्तेन तुम्हारा ईश न बन जाए। बिना श्रम के धन-प्राप्ति की इच्छा ही 'स्तेन' है। यह Horse races, lotteries, crossword puzzles, तथा विविध प्रकार के सट्टों (speculations) के रूप में प्रकट होती है। इससे सदा दूर रहना। यह मनुष्य को कामचोर बनाकर आरामपसन्द बना देती है और इस प्रकार बीमारियों व व्यसनों की शिकार कर देती है।

१०. मा अघशंसः (ईशत)=पाप को अच्छे रूप में चित्रित करनेवाला कोई व्यक्ति तुम्हारे विचारों पर शासन करनेवाला न बन जाए।

११. ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात=इस गोपति में तुम ध्रुव होकर रहना। 'गावः इन्द्रियाणि'—गौवें इन्द्रियाँ हैं, इनका रक्षक प्रभु है। गौ का अर्थ वेदवाणी करें तो उन वेदवाणियों का पति प्रभु है ही। इस प्रभु में तुम ध्रुव होकर रहना। जो प्रभु से दूर हुआ वही इस द्वन्द्वात्मक जगत् (दुनिया) की चक्की के दो पाटों में आकर पिस गया। प्रभु ही विश्वचक्र के केन्द्र की कीली हैं—उन्हीं में तू स्थिरता से निवास करना।

१२. बह्वीः=बहुत होना। संसार में आत्मकेन्द्रित-सा होकर स्वार्थरत व्यक्ति न बन जाना। अधिक-से-अधिक प्राणियों से अपना तादात्म्य स्थापित करने का प्रयत्न करना, औरों से 'अयुत' होना। **'एकोऽहं बहु स्याम'** मैं एक से बहुत हो जाऊँ, इस बात का ध्यान रखना, औरों के दुःख को भी अनुभव करना।

१३. और अन्त में **यजमानस्य**=इस सृष्टि-यज्ञ को चलानेवाले मुझ प्रभु के **पशून्** (कामः पशुः, क्रोधः पशुः)=काम-क्रोधादि पशुओं को **पाहि**=बड़ा सुरक्षित रखना। ग्लुकोज़ को बड़ी सावधानी से रखने की आवश्यकता नहीं होती, परन्तु आर्सनिक को तो अलमारी में बन्द रखना आवश्यक है ही। चिड़ियाघर में मृग को बहुत बन्धन में रखना आवश्यक नहीं होता, परन्तु शेर को दृढ़ पिंजरे में रखना कितना आवश्यक है? इसी प्रकार इन काम-क्रोध को भी रखना तो है, परन्तु पूर्ण नियमन में। प्रार्थना भी तो 'नियंसत्' है, न कि 'नष्ट कर दे' यह है। काम संसार का मूल है—प्रजननात्मक काम पवित्र है, आवश्यक है, परन्तु यही अनियन्त्रित होकर शक्ति का विनाश करके क्षयकारक हो जाता है। क्रोध भी आवश्यक है, परन्तु स्वयं अनियन्त्रित होने पर अनर्थों का मूल हो जाता है।

जीव ने प्रभु से 'प्रेरणा' देने की याचना की थी—प्रभु ने इन तेरह वाक्यों में जीव को प्रेरणा दी है। ये तेरह वाक्य ही **'सत्याकारास्त्रयोदश'**—सत्य के तेरह स्वरूप हैं। इस प्रेरणा को अपनानेवाला जीव उन्नति-पथ पर आगे बढ़ता हुआ एक दिन 'परमेष्ठी'—परम

स्थान में स्थित होता है। यह प्रजा की रक्षा करने से प्रजापति कहलता है। इस प्रकार यह इस मन्त्र का ऋषि 'परमेष्ठी प्रजापतिः' होता है।

भावार्थ—जीव प्रभु से प्रेरणा माँगता है। प्रभु उसे तेरह वाक्यों में बड़ी सुन्दर प्रेरणा देते हैं। इस प्रेरणा को अपनाने से ही जीव 'परमेष्ठी' बन सकता है।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

यज्ञिय-जीवन

वसोः प॒वित्र॑मसि॒ द्यौर॑सि पृथि॒व्य॒सि मा॒त॒रिश्व॑नो घ॒र्मो॑ऽसि वि॒श्वधा॑ऽअसि। प॒र॒मेण॒ धाम्ना॒ दृꣳह॑स्व॒ मा ह्वा॒र्मा ते॑ य॒ज्ञप॑तिर्ह्वार्षीत्॥ २॥

शतपथ (१। ७। १। ९, १४) में **'यज्ञो वै वसुः'** इन शब्दों में वसु का अर्थ यज्ञ किया है। 'वासयति' इस व्युत्पत्ति से यह ठीक भी है, क्योंकि यज्ञ ही बसाता है। यज्ञ के अभाव में नाश-ही-नाश है। **'नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम'** यज्ञहीन का न यह लोक है, न परलोक। इस यज्ञ के द्वारा मनुष्य के जीवन का सुन्दर निर्माण होता है, अतः प्रभु प्रेरणा देते हुए कहते हैं—

१. **वसोः**=यज्ञ से **पवित्रम् असि**=तू पवित्र-ही-पवित्र बना है। हमारे जीवनों में जितना-जितना यज्ञ का अंश आता जाता है, उतना-उतना ही हमारा जीवन पवित्र बनता जाता है। यज्ञ परार्थ व परोपकार है। वह पुण्य के लिए होता है। अयज्ञ स्वार्थ है, परापकार है, परपीड़न है और पाप का कारण है। २. इस यज्ञ से ही तू **द्यौः असि**=प्रकाशमय जीवनवाला है। तेरा मस्तिष्करूप द्युलोक ज्ञान-सूर्य से चमकता है। यज्ञ में प्रथम स्थान देवपूजा का है। यह देवपूजा तेरे मस्तिष्क को अधिक और अधिक ज्योतिर्मय करती चलती है। ३. **पृथिवी असि**='प्रथ विस्तारे', इस यज्ञ से तू अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाला है। यज्ञमय जीवन विलासमय जीवन का प्रतिरूप=उलटा है, अतः यह शक्तियों के विस्तार का कारण बनता है। ४. **मातरिश्वनः घर्मः असि**=इस यज्ञमय जीवन के कारण ही तू वायु=प्राण की उष्णतावाला है, अर्थात् तेरी प्राणशक्ति की वृद्धि हुई है। ५. इस बढ़ी हुई शक्ति से ही तू **विश्वधाः असि**=सबका धारण करनेवाला बनता है। तेरी शक्ति सदा औरों के रक्षण का कारण बनती है। ६. यह औरों की रक्षा करनेवाली शक्ति ही तो उत्कृष्ट शक्ति है। निकृष्ट तेज औरों का नाश करता है, मध्यम तेज अपने ही धारण में विनियुक्त होता है, परन्तु उत्कृष्ट तेज सभी के धारण का कारण बनता है। इस **परमेण धाम्ना**=उत्कृष्ट तेज से **दृंहस्व**=तू अपने को दृढ़ बना और सबका धारण करता हुआ 'विश्वधा' बन।

७. **मा ह्वाः**=अपने जीवन में तू कभी कुटिल गतिवाला मत बन, सदा सरल मार्ग को अपनानेवाला बन। यज्ञ के साथ कुटिलता का सम्बन्ध है ही नहीं। ८. **ते**=तेरे विषय में **यज्ञपतिः**=इस सृष्टि-यज्ञ का रक्षक प्रभु **मा ह्वार्षीत्**=कठोर नीति का अवलम्बन न करे। प्रभु ने कहा और तूने किया। प्रभु के इस 'साम'-शान्त उपदेश को तू सदा सुन। तेरे विषय में प्रभु को 'दान, भेद व दण्ड' के प्रयोग की आवश्यकता ही न हो। आर्जव=सरलता ही ब्रह्म-प्राप्ति का मार्ग है। इस मार्ग का अनुसरण करके ही यह 'परमेष्ठी'=परम स्थान में स्थित होगा और यज्ञ की भावना को अपनानेवाला 'प्रजापति' बनेगा।

भावार्थ—यज्ञ से मैं पवित्र, ज्योतिर्मय, विकसित शक्तियोंवाला, प्राणशक्ति से पूर्ण और लोकहित करनेवाला बनूँ। अपने को शक्तियों से दृढ़ बनाऊँ, कुटिल नीति को अपनाकर

कभी दण्ड का भागी न बनूँ।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—सविता। छन्दः—भुरिग्जगती। स्वरः—निषादः॥

पवित्रता

वसोः पवित्रमसि शतधारं वसोः पवित्रमसि सहस्रधारम्।
देवस्त्वा सविता पुनातु वसोः पवित्रेण शतधारेण सुप्वा कामधुक्षः॥ ३॥

१. वही प्रेरणा देते हुए प्रभु कहते हैं—**वसोः**=यज्ञ से **पवित्रम् असि**=तूने अपने को पवित्र बनाया है। यहाँ 'शतधारम्' शब्द क्रियाविशेषण के रूप में है। 'शतं धारा यस्मिन्', (धारा इति वाङ्नाम)। जिस यज्ञ द्वारा पवित्रीकरण की क्रिया में शतशः वेदवाणियों का उच्चारण किया गया है। सैकड़ों ही क्या **सहस्रधारम्**=सहस्रों वेदवाणियों का उच्चारण हुआ है। ऐसी **वसोः**=यज्ञ की प्रक्रिया से **पवित्रम् असि**=तूने अपने को पवित्र बनाया है। वैदिक संस्कृति में मनुष्य यज्ञमय जीवन बिताता है। इस यज्ञमय जीवन की प्रेरणा उसे शतशः, सहस्रशः उच्चारण की गई वेदवाणियों से प्राप्त होती है, जिन्हें वह अपने इस यज्ञिय-जीवन में समय-समय पर प्रयुक्त करता है।

२. (क) **सविता देवः**=सबको प्रेरणा देनेवाला, दिव्य गुणों का पुञ्ज वह प्रभु **त्वा**=तुझे **पुनातु**=पवित्र करे। जो मनुष्य प्रातः-सायं प्रभु-चरणों में उपस्थित होता है उसका जीवन पवित्र बनता ही है। उपासना के समान पवित्र करनेवाला अन्य कुछ नहीं है। (ख) **सविता देवः**=उदय होकर सबको कर्मों में प्रेरित करनेवाला प्रकाशमय सूर्य **त्वा पुनातु**=तुझे पवित्र करे। रोगकृमियों के संहार द्वारा सूर्य पवित्रता और नीरोगता प्रदान करता है।

३. **वसोः**=यज्ञ से **पवित्रेण**=अपने को पवित्र बनानेवाले **शतधारेण**=शतशः वेदवाणियों का उच्चारण करनेवाले पुरुष के साथ, अर्थात् उसके सम्पर्क में आने के द्वारा **सुप्वा**=तू अपने को उत्तम प्रकार से (सु) पवित्र करनेवाला (पू) हुआ है। मनुष्य यज्ञशील, ज्ञानी पुरुषों के सम्पर्क से उन-जैसा ही बनता हुआ अपने उत्थान को सिद्ध करता है। सत्सङ्ग—**'पापान्निवारयति योजयते हिताय'** पाप से हटाकर हित में जोड़ता है। वेद में कहा है—हे प्रभो! ऐसी कृपा कीजिए कि—**'यथा नः सर्व इज्जनः संगत्या सुमना असत्'** हमारे सभी जन सत्सङ्ग से उत्तम मनोंवाले हों। एवं, पवित्र बनने के तीन उपाय हैं—१. यज्ञमय जीवन बिताना, यज्ञों में लगे रहना, २. प्रभु की उपासना करना, ३. यज्ञशील ज्ञानियों के सम्पर्क में रहना। इन उपायों को क्रिया में लानेवाले व्यक्ति से प्रभु कहते हैं कि वस्तुतः **काम्**=उस अवर्णनीय आनन्द देनेवाली वेदवाणी को तो तूने ही **अधुक्षः**=दूहा है। इसका दोहन करने के कारण यह अपने जीवन में ऊँचा उठता हुआ 'परमेष्ठी' बना है। यह यज्ञशील बनकर सभी का पालन करने से 'प्रजापति' है।

भावार्थ—हम यज्ञ, उपासना व सत्सङ्ग से अपने जीवनों को पवित्र बनाएँ।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—विष्णुः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

वेदवाणी

सा विश्वायुः सा विश्वकर्मा सा विश्वधायाः।
इन्द्रस्य त्वा भागꣳसोमेनातनच्मि विष्णो हव्यꣳरक्ष॥ ४॥

१. जिस वेदवाणी का पिछले मन्त्र में वर्णन है **सा**=वह वेदवाणी

विश्वायुः='विश्वम् आयुः यस्याः'=सम्पूर्ण जीवन का वर्णन करनेवाली है, जीवन के किसी भी पहलू को उसमें छोड़ा नहीं गया। ब्राह्मण आदि वर्ण और ब्रह्मचर्य आदि आश्रमों के कर्त्तव्यों का इस वाणी में उल्लेख है, पति-पत्नी, भाई-भाई, भाई-बहिन, पिता-पुत्र, आचार्य-शिष्य, ग्राहक-दुकानदार, राजा-प्रजा सभी के कर्त्तव्यों का वर्णन वहाँ मिलता है। २. **सा विश्वकर्मा**=यह वेदवाणी सभी के कर्मों का वर्णन करती है। अधिकारों पर यह बल नहीं देती। वस्तुतः जीवन को सुन्दर बनाने के लिए आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्त्तव्य पर बल दे और अधिकार की चर्चा न करे। इसी को दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहते हैं कि—'**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन**' (गीता)। तुम्हारा अधिकार कर्म का ही है, फल का नहीं।

३. इस कर्त्तव्यभावना को जागरित करने के लिए **सा विश्वधायाः**=यह वेदवाणी सम्पूर्ण ज्ञान-दुग्ध को पिलानेवाली है (विश्व+धेट् पाने)। इसमें सब सत्यविद्याओं का ज्ञान दिया गया है। यह व्यापक ज्ञान देनेवाली है। वेदवाणी का नाम 'गौ' भी है, ज्ञान इसका दूध है। अपने ज्ञान-दुग्ध से यह सबका पालन व धारण करती है। वेदवाणी का वर्णन करके प्रभु कहते हैं कि **इन्द्रस्य भागम् त्वा**=परमैश्वर्यशाली मुझ प्रभु के ही अंश=छोटेरूप तुझे **सोमेन**=सोम के द्वारा **आतनच्मि**=(तंच्) टंच बना देता हूँ—बिल्कुल ठीक-ठाक कर देता हूँ। आहार का अन्तिम सार ही यह वीर्य है। इसके द्वारा प्रभु हमारे शरीर को स्वस्थ बनाते हैं। सोमरक्षा से हमारे मनों में ईर्ष्या-द्वेष उत्पन्न नहीं होता। सोमरूप ज्ञानाग्नि के ईंधन को पाकर हमारा मस्तिष्क दीप्त हो उठता है। एवं, सोम से मनुष्य का शरीर, मन व मस्तिष्क सभी कुछ ठीक-ठीक हो जाता है।

४. उल्लिखित त्रिविध उन्नति करनेवाला यह त्रिविक्रम 'विष्णु' बनता है। इस विष्णु से प्रभु कहते हैं कि **हे विष्णो**=व्यापक उन्नति करनेवाले जीव! **हव्यम् रक्ष**=तू अपने जीवन में सदा यज्ञ की रक्षा करना, अपने जीवन से कभी यज्ञ को विलुप्त न होने देना। '**पुरुषो वाव यज्ञः**' पुरुष है ही यज्ञरूप। यज्ञ से ही तू उस यज्ञरूप प्रभु की उपासना कर पाएगा।

भावार्थ—वेदवाणी सम्पूर्ण जीवन का विचार करती है, कर्मों पर बल देती है, ज्ञान-दुग्ध का पान कराती है। सोम से हम पूर्ण स्वस्थ बनकर प्रभु के ही छोटे रूप बनते हैं। व्यापक उन्नति करते हुए हम हव्य की रक्षा करें, अर्थात् हमारा जीवन सदा यज्ञमय हो।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—अग्निः। छन्दः—आर्चीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

अनृत से सत्य की ओर

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि॥ ५॥

१. गत मन्त्र में वेदवाणी का वर्णन करते हुए कहा था कि वह हमारे सभी कर्त्तव्यों का प्रतिपादन करती है। प्रस्तुत मन्त्र में उन सब कर्त्तव्यों के अन्दर ओत-प्रोत एक सूत्र का वर्णन करते हैं कि हमारे सब कर्म 'सत्य' पर आश्रित हों, इसलिए प्रार्थना करते हैं—**अग्ने**=हे संसार के सञ्चालक प्रभो! **व्रतपते**=सब व्रतों के रक्षक प्रभो! **व्रतम् चरिष्यामि**=मैं भी व्रत धारण करूँगा। **तत् शकेयम्**=उस व्रत का मैं पालन कर सकूँ, **तत् मे राध्यताम्**=मेरा वह व्रत सिद्ध हो। **अहम्**=मैं **अनृतात्**=असत्य को छोड़कर **इदम्**=इस **सत्यम्** [सत्सु तायते]=सज्जनों में विस्तृत होनेवाले सत्य को **उपैमि**=समीपता से प्राप्त होता हूँ।

२. व्रत का स्वरूप संक्षेप में यह है कि–'अनृत को छोड़कर सत्य को प्राप्त होना'।

३. प्रभु व्रतपति हैं। हमें इस सत्य-व्रत का पालन करना है। प्रभु का उपासन हमें शक्ति देगा और हम अपने व्रत का पालन कर सकेंगे। सत्य से उत्तरोत्तर तेज बढ़ता है तो अनृत से उत्तरोत्तर तेज क्षीण होता जाता है।

भावार्थ–प्रत्येक मनुष्य को सत्य का व्रत लेना चाहिए। उसका पालन करने से ही वह देवत्व को प्राप्त करता है और प्रभु-प्राप्ति का अधिकारी होता है।

ऋषिः–परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**–प्रजापतिः। **छन्दः**–आर्चीपङ्क्तिः। **स्वरः**–पञ्चमः॥

आदेशक कौन?

कस्त्वा युनक्ति स त्वा युनक्ति कस्मै त्वा युनक्ति तस्मै त्वा युनक्ति। कर्मणे वां वेषाय वाम्॥ ६॥

गत मन्त्र में सत्य के व्रत लेने का उल्लेख है। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि प्रभु ही सदा सत्य बोलने की प्रेरणा दे रहे हैं। १. **कः**=वे सुखस्वरूप प्रभु **त्वा**=तुझे **युनक्ति**=सत्य बोलने के लिए प्रेरित करते हैं, क्योंकि सत्य ही मानव जीवन को स्वर्गमय बनाता है। **सः**=वे सदा से प्रसिद्ध प्रभु **त्वा**=तुझे **युनक्ति**=इस सत्य के लिए प्रेरित कर रहे हैं। २. **कस्मै**=सुख-प्रप्ति के लिए वे प्रभु **त्वा**=तुझे **युनक्ति**=कर्मों में व्यापृत करते हैं, **तस्मै**=उस उत्कृष्ट लोक की प्राप्ति के लिए वे **त्वा**=तुझे **युनक्ति**=सत्य में प्रेरित करते हैं। सत्य से 'प्रेय व श्रेय' दोनों की ही साधना होती है। वैशेषिक दर्शन के शब्दों में सत्य ही 'अभ्युदय व निःश्रेयस' को सिद्ध करता है, अतः सत्य ही धर्म है।

३. **वाम्**=हे पति व पत्नी! आप दोनों को वे प्रभु **कर्मणे**=कर्म के लिए प्रेरित कर रहे हैं। निरन्तर कर्म में लगे रहना ही 'सत्य' है, आलस्य व अकर्मण्यता 'असत्य' है। आत्मा का अर्थ 'अत सातत्यगमने'=निरन्तर गमन है। क्रिया ही आत्मा का अध्यात्म व स्वभाव है। क्रिया गई और आत्मत्व नष्ट हुआ।

४. **वेषाय**=(विष्लृ व्याप्तौ) व्याप्ति के लिए, व्यापक बनने के लिए, उदार मनोवृत्ति को धारण करने के लिए वे प्रभु **वाम्**=आपको प्रेरणा देते हैं। संकुचित मनोवृत्ति में असत्य का समावेश हो जाता है, विशालता में ही पवित्रता व सत्य की स्थिति है।

एवं, मन्त्र के पूर्वार्द्ध में कहा है कि (क) सुखस्वरूप, सदा से प्रसिद्ध, स्वयम्भू, सत्यस्वरूप परमात्मा ही सत्य ही प्रेरणा दे रहे हैं तथा (ख) वे प्रभु सत्य की प्रेरणा इस लोक को सुखमय बनाने तथा परलोक को सिद्ध करने के लिए दे रहे हैं। मन्त्र के उत्तरार्द्ध में कहा है कि इस सत्य की प्रतिष्ठा के लिए क्रियाशीलता व उदारता को अपनाना आवश्यक है।

भावार्थ–(क) प्रभु सत्य की प्रेरणा दे रहे हैं (ख) इसी से दोनों लोकों का कल्याण सिद्ध होता है, (ग) सत्य की प्रतिष्ठा के लिए हम क्रियाशील व उदार बनें।

ऋषिः–परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**–यज्ञः। **छन्दः**–प्राजापत्याजगती। **स्वरः**–निषादः॥

रक्षो-दहन

प्रत्युष्टꣳरक्षः प्रत्युष्टाऽअरातयो निष्टप्तꣳरक्षो निष्टप्ताऽअरातयः। उर्वन्तरिक्षमन्वेमि॥ ७॥

उपासक प्रभु से प्रार्थना करता है—१. **रक्षः**=मेरे न चाहते हुए भी मुझमें घुस आनेवाली ये राक्षस वृत्तियाँ **प्रत्युष्टम्**=(प्रति+उष् दाहे) एक-एक करके दग्ध हो जाएँ। 'रक्षः=र+क्ष' =अपने रमण के लिए औरों का क्षय करनेवाली भावनाएँ मुझमें उत्पन्न ही न हों। मैं अपने आनन्द के लिए औरों की हानि करनेवाला न होऊँ। २. **अरातयः**=(रा दाने) न देने की वृत्तियाँ **प्रत्युष्टाः**=एक-एक करके दग्ध हो जाएँ। मैं सब-कुछ अपने भोग-विलास में ही व्यय न कर दूँ। मैं सदा त्यागपूर्वक भोगवाला बनूँ, यज्ञशेष का सेवन करनेवाला होऊँ, लोकहित के लिए देकर बचे हुए को खानेवाला बनूँ। ३. **रक्षः**=ये राक्षसी वृत्तियाँ **निष्टप्तम्**=निश्चय से तप के द्वारा दूर कर दी जाएँ और इसी प्रकार **अरातयः**=न देने की वृत्तियाँ **निष्टप्ता**=निश्चय से तप के द्वारा दग्ध हो जाएँ। तपस्या से जीवन की भूमि यज्ञ व दान के लिए अत्यन्त उर्वरा हो जाती है। भोग ही समाप्त हो गया तो औरों के क्षय का प्रश्न ही नहीं रह जाता। ४. यह तपोमय जीवनवाला व्यक्ति निश्चय करता है कि **उरु**=विशाल **अन्तरिक्षम्**=हृदयाकाश को **अन्वेमि**=प्राप्त होता हूँ। मेरी कोई भी क्रिया संकुचित हृदयता से नहीं होती। वस्तुतः विशालता ही हृदय को पवित्र रखती है और उस हृदय में भोगवाद की अपवित्र भावनाएँ जन्म नहीं ले-पातीं। हृदय की विशालता से हम देव बनते हैं न कि राक्षस।

भावार्थ—मेरी राक्षसी वृत्तियाँ दूर हों। मेरी अदान की वृत्तियाँ नष्ट हों। तपोमय जीवन के द्वारा मैं इन्हें दग्ध कर दूँ और विशाल-हृदय बनूँ।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदतिजगती। स्वरः—निषादः॥

हिंसकों का संहार

धूर॑सि धूर्व॒ धूर्व॑न्तं॒ धूर्व॒ तं यो॒३ऽस्मान् धूर्व॑ति॒ तं धू॒र्व॒ यं व॒यं धूर्वा॑मः।
दे॒वाना॑मसि॒ वह्नि॑तम॒ꣳसस्नि॑तमं॒ पप्रि॑तमं॒ जुष्ट॑तमं देव॒हूत॑मम्॥ ८॥

१. **धूः असि**=हे प्रभो! वस्तुतः आप ही सब राक्षसी वृत्तियों का संहार करनेवाले हैं, **धूर्वन्तम्**=हमारा संहार करनेवाली इन राक्षसी वृत्तियों का आप **धूर्व**=हिंसन करें। **यः**=जो अदान की वृत्ति भोगासक्त करके **अस्मान्**=हमें **धूर्वति**=हिंसित करती है **तम् धूर्व**=उसे आप समाप्त कर दीजिए। **यम्**=जिस राक्षसी व अदान की वृत्ति को **वयं धूर्वामः**=हम हिंसित करने का प्रयत्न करते हैं **तम् धूर्व**=उसे आप हिंसित कीजिए, ये वृत्तियाँ तो हमारी हिंसा पर तुली हुई हैं। आपकी कृपा से ही हम इन्हें पराजित करके अपनी रक्षा कर सकेंगे। भोगवाद की समाप्ति ही दिव्य जीवन का आरम्भ करती है।

२. हे प्रभो! आप ही **देवानाम्**=सब दिव्य गुणों के **वह्नितमम्**=सर्वाधिक प्राप्त करानेवाले हैं। अन्य मन्त्र में स्पष्ट कहा है—'**यं यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्**'=प्रभु-कृपा से ही मनुष्य उग्र, उदात्त (noble), ज्ञानी, तत्त्वद्रष्टा=(ऋषि) व सुबुद्धि बना करता है। ३. **सस्नितमम्**=(ष्णा शौचे) आप हमारे जीवनों को अधिक-से-अधिक शुद्ध व पवित्र बनाते हैं। आपके चरणों में उपस्थित होने पर सब मलिनताएँ दग्ध हो जाती हैं। आपके उपासना-जल में हमारा जीवन धुल-सा जाता है। ४. **पप्रितमम्**=(प्रा पूरणे), आप हमारे जीवन-क्षेत्र को शुद्ध करके आप उसे दिव्य गुणों के बीजों से भर देते हैं। यहाँ दिव्य गुणों के अंकुर उपजते हैं और हमारा क्षेत्र दैवीसम्पत्तिरूपी शस्य से परिपूर्ण हो जाता है।

५. **जुष्टतमम्**=(जुषी प्रीतिसेवनयोः) हे प्रभो! आप समझदार व्यक्तियों से प्रीतिपूर्वक सेवन किये जाते हो। **देवहूतमम्**=देवताओं से अधिक-से-अधिक पुकारे जाते हो। देव तो

देव बन ही इसीलिए पाते हैं कि वे आपका उपासन करते हैं। आपके उपासन से उनके अन्दर घुसे हुए 'काम' का दहन हो जाता है। इस कामरूप वृत्र (ज्ञान पर पर्दा डालनेवाले) के विनाश से उन उपासकों का हृदय ज्ञान के प्रकाश से जगमगा उठता है और इस ज्ञान-दीपन से वे देव (देवो दीपनात्) बन जाते हैं।

भावार्थ—हे प्रभो! आपकी कृपा से हम नाशक वृत्तियों का ध्वंस करके अपने को सुरक्षित कर सकें। आपकी कृपा से ही हमारा हृदय दैवी वृत्तियोंवाला बन पाएगा। आपका उपासन ही हमें पवित्र करेगा।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—विष्णुः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

पाँच का नियमन

अह्रुतमसि हविर्धानं दृꣳहस्व मा ह्वार्मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत्।
विष्णुस्त्वा क्रमतामुरु वातायापहतꣳरक्षो यच्छन्तां पञ्च॥ ९॥

प्रभु उपासक को प्रेरणा देते हैं कि—१. **अह्रुतम् असि**=तू कुटिलता से रहित है। **'सर्वं जिह्मं मृत्युपदमार्जवं ब्रह्मणः पदम्'**—सब प्रकार की कुटिलता मृत्यु का मार्ग है, सरलता ही ब्रह्म-प्राप्ति का मार्ग है। यहाँ **'अह्रुतम्'** आदि पदों में नपुंसकलिङ्ग का प्रयोग इसलिए है कि ये बातें 'पति-पत्नी' दोनों के लिए हैं। केवल पति के लिए निर्देश होने पर पुल्लिङ्ग का प्रयोग मिलता है, केवल पत्नी के लिए निर्देश होने पर स्त्रीलिङ्ग होगा, सामान्य निर्देश में नपुंसक दिखेगा। २. **हविर्धानम्**=तू हवि का आधान करनेवाला है, यज्ञशील है। यज्ञ करके बचे हुए हव्य पदार्थों का ही तू सेवन करनेवाला है। तू सदा यज्ञशेष='अमृत' का ही ग्रहण करता है। ३. **दृंहस्व**=इस अमृत-सेवन से तू दृढ़ बन। पवित्र भोजन तुझे दृढ़ शरीरवाला ही नहीं, दृढ़ मनवाला भी बनाएगा। ४. **मा ह्वाः**=तू कभी कुटिलता न कर। ५. **ते**=तेरे विषय में **यज्ञपतिः**=सब यज्ञों का रक्षक वह प्रभु **मा ह्वार्षीत्**=प्रेरणारूप सरल उपाय को छोड़कर अन्य उपाय का अवलम्बन न करे। 'साम' की असफलता में ही 'दान-भेद-दण्ड' आवश्यक हुआ करते हैं।

६. **विष्णुः**=तेरे हृदय में स्थित सर्वव्यापक प्रभु **त्वा क्रमताम्**=तुझे सञ्चालित करे। वस्तुतः हृद्देश में स्थित हुआ-हुआ प्रभु ही सबका सञ्चालन कर रहा है। ७. **उरु वाताय**=(वा गतिगन्धनयोः) तेरा जीवन विशाल क्रियाशीलता के द्वारा सब बुराइयों के गन्धन=हिंसन के लिए हो। ८. **रक्षः अपहतम्**=सब राक्षसी वृत्तियाँ नष्ट कर दी जाएँ, और ९. **पञ्च**=पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँचों कर्मेन्द्रियाँ तथा पाँचों प्राण **यच्छन्ताम्**=वश में किये जाएँ। वस्तुतः प्राण-निरोध इन्द्रियों के मलों का दहन करके उन्हें पवित्र व दीप्त करनेवाला होता है। इस प्रकार प्राण-निरोध इन्द्रिय-निरोध का साधन हो जाता है।

भावार्थ—हम कुटिलता से दूर हों। इसके लिए प्राण-निरोध द्वारा इन्द्रिय-नैर्मल्य को सिद्ध करें और हमारा जीवन अन्तःस्थित प्रभु की प्रेरणा से सञ्चालित हो।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—सविता। छन्दः—भुरिग्बृहती। स्वरः—मध्यमः॥

प्रभु की प्रेरणा में

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्।
अग्नये जुष्टं गृह्णाम्यग्नीषोमाभ्यां जुष्टं गृह्णामि॥ १०॥

यह संसार सर्वज्ञ एवं दयालु प्रभु का बनाया हुआ है, अतः न तो यहाँ अपूर्णता है और न ही कोई वस्तु हमारे लिए दुःखद है, परन्तु जब अल्पज्ञता व व्यसनासक्ति से हम वस्तुओं का ठीक प्रयोग नहीं करते तब ये वस्तुएँ हमारे लिए दुःखद हो जाती हैं, इसलिए प्रभु-भक्त निश्चय करता है कि १. मैं **त्वा**=तुझे—संसार के प्रत्येक पदार्थ को **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ, **सवितुः देवस्य**=उस उत्पादक देव की **प्रसवे**=अनुज्ञा में, अर्थात् मैं प्रत्येक पदार्थ का सेवन प्रभु के निर्देशानुसार करता हूँ। प्रभु का आदेश है—'न अतियोग करना, न अयोग करना, प्रत्येक वस्तु का 'यथायोग' करना। गीता के शब्दों में 'युक्त आहार-विहारवाला होना'—सदा मध्यमार्ग में चलना। २. **अश्विनोः**=प्राणापान की **बाहुभ्याम्**=बाहुओं से मैं प्रत्येक पदार्थ का ग्रहण करता हूँ, अर्थात् अपने पुरुषार्थ से कमाकर ही मैं किसी वस्तु को लेने की इच्छा करता हूँ। ३. **पूष्णोः हस्ताभ्याम्** =पूषा के हाथों से मैं किसी वस्तु का ग्रहण करता हूँ, अर्थात् किसी भी वस्तु को स्वाद व सौन्दर्य के लिए न लेकर मैं पोषण के दृष्टिकोण से ही उसे ग्रहण करता हूँ। ४. **अग्नये**=अग्नि के लिए **जुष्टम्**=सेवन की गई वस्तु को **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ, अर्थात् प्रत्येक वस्तु को यज्ञ में विनियुक्त करके मैं यज्ञशेष का ही सेवन करनेवाला बनता हूँ। यज्ञशेष ही 'अमृत' है।

५. **अग्निषोमाभ्यां जुष्टं गृह्णामि**=मैं उस वस्तु को ग्रहण करता हूँ जो अग्नि व सोम के लिए सेवित होती है। हमारे जीवनों में दो मुख्य तत्त्व हैं—अग्नि और सोम। आयुर्वेद में इसी कारण से सब भोजन 'आग्नेय' और 'सौम्य'—इन्हीं दो भागों में बाँटे गये हैं। आग्नेय अंश शक्ति देता है तो सौम्य अंश शान्ति व दीर्घ जीवन का कारण बनता है। मैं उस भोजन का ग्रहण करता हूँ जिसमें ये दोनों ही तत्त्व उचित मात्रा में विद्यमान होते हैं। ऐसे भोजन के ग्रहण से मेरा जीवन रसमय बन जाता है।

भावार्थ—प्रभु की आज्ञा में, प्रयत्नपूर्वक, पोषण के दृष्टिकोण से, मैं पदार्थों का ग्रहण करता हूँ, यज्ञशिष्ट को ही ग्रहण करता हूँ और शान्ति व शक्ति के लिए ही ग्रहण करता हूँ।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—स्वराड्जगती। **स्वरः**—निषादः॥

प्राणिमात्र के लिए

भू॒ताय॑ त्वा॒ नारा॑तये॒ स्व॒रभि॒विख्ये॑षं॒ दृꣳह॑न्तां॒ दुर्याः॑ पृथि॒व्यामु॒र्व॒न्तरि॑क्षमन्वे॑मि पृथि॒व्यास्त्वा॒ नाभौ॑ सादया॒म्यदि॑त्या उ॒पस्थेऽग्ने॑ ह॒व्यꣳ र॑क्ष॥ ११॥

पिछले मन्त्र की भावना 'यज्ञशिष्ट' को ग्रहण करता हूँ' का ही विस्तार इस मन्त्र में है—१. मैं **त्वा**=तुझे **भूताय**=प्राणिमात्र के हित के लिए ग्रहण करता हूँ, **अरातये न**=न देने के लिए नहीं। मैं किसी भी वस्तु को यज्ञार्थ ही ग्रहण करता हूँ, भोगार्थ नहीं। **'त्यक्तेन भुञ्जीथाः'**—त्यागभाव से भोगो—इस आदेश को मैं भूलता नहीं। २. इस यज्ञमय जीवन का ही परिणाम है कि मैं **स्वः**=स्वर्ग को ही **अभिविख्येषम्**=अपने चारों ओर देखता हूँ। यज्ञ से उभयलोक का कल्याण होता ही है। एक-दूसरे को खिलाने से देवताओं का पोषण अति सुन्दरता से होता है, इसके विपरीत सदा अपने ही मुख में आहुति देनेवाले असुर भूखे ही रहते हैं। ३. इस यज्ञ से **दुर्याः**=हमारे घर **दृंहन्ताम्**=दृढ़ बनें। यज्ञ भोगवृत्ति का प्रतिबन्धक है। भोगवृत्ति के प्रतिबन्ध से ही हमारे शरीर-रूप घर भी दृढ़ बनते हैं। घर की दृढ़ता भी यज्ञिय वृत्ति पर ही निर्भर है। इस वृत्ति के न रहने पर परस्पर लड़ाई-झगड़े होकर घर

समाप्त ही हो जाता है। ४. अतः **पृथिव्याम्**=इस शरीररूप पृथिवी में—उस शरीर में जिसमें प्रत्येक शक्ति का विस्तार (प्रथ विस्तारे) किया गया है, मैं उस **अन्तरिक्षम्**=विशाल हृदयान्तरिक्ष को **अनुएमि**=इस यज्ञवृत्ति की अनुकूलता से प्राप्त होता हूँ। यज्ञिय वृत्ति मेरे हृदय को विशाल बनाती है। ५. इस यज्ञिय वृत्तिवाले पुरुष को प्रभु प्रेरणा देते हैं कि **त्वा**=तुझे **पृथिव्याः**=पृथिवी की **नाभौ**=नाभि में **सादयामि**=बिठाता हूँ। **'अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः'**—यह यज्ञ ही भुवन की नाभि है, केन्द्र है, अतः प्रभु ने हमें यज्ञ में स्थापित किया है। गीता के शब्दों में प्रभु ने हमें 'यज्ञसहित उत्पन्न करके कहा है कि इस यज्ञ से तुम फूलो-फलो। यह यज्ञ तुम्हारी सब इष्ट कामनाओं को पूर्ण करनेवाला हो। ६. प्रभु कहते हैं कि मैं तुझे **अदित्याः**=अदिति की **उपस्थे**=गोद में स्थापित करता हूँ। यह अदिति 'अदीना-देवमाता' है। प्रभु मुझे (जीव को) इसके लिए अर्पित करते हैं। इसकी गोद में मैं अदीन व दिव्य गुण-सम्पन्न बनता हूँ। जहाँ मैं हीन भावनावाला नहीं होता वहाँ दैवी सम्पत्ति को प्राप्त करके घमण्डी भी नहीं हो जाता। मुझमें 'अदीनता व नातिमानिता (विनीतता)' का सुन्दर समन्वय होता है। ७. अन्त में प्रभु कहते हैं कि **अग्ने**=हे आगे बढ़नेवाले जीव! **हव्यम् रक्ष**=तू अपने जीवन में सदा हव्य की रक्षा करना। तेरा जीवन यज्ञिय हो। **'पुरुषो वाव यज्ञः'**—यह तेरा आदर्श वाक्य हो और तू यज्ञों से कभी पृथक् न हो।

भावार्थ—यज्ञों के द्वारा हम जीवन को स्वर्गमय बना लें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—अप्सवितारौ। **छन्दः**—भुरिगत्यष्टिः। **स्वरः**—गान्धारः॥

'वायु, सूर्य, जल' द्वारा पवित्रीकरण

पवित्रे स्थो वैष्णव्यौ सवितुर्वः प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः। देवीरापोऽअग्रेगुवोऽअग्रेपुवोऽग्रऽइममद्य यज्ञं नयताग्रे यज्ञपतिꣳ सुधातुं यज्ञपतिं देवयुवम्॥ १२॥

प्रभु पति-पत्नी को सम्बोधित करके कहते हैं कि १. **पवित्रे स्थः**=तुम दोनों पवित्र जीवनवाले हो। २. **वैष्णव्यौ**=विष्णु के उपासकों में तुम उत्तम हो। विष्णु के उपासक वे हैं जो ['विष्लृ व्याप्तौ'] व्यापक=उदार मनोवृत्तिवाले बने हैं। अथवा जिन्होंने **'त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुः (गोपा अदाभ्यः)'**—इस मन्त्र के अनुसार तीन पग रक्खे हैं, अतः विष्णु कहलाये हैं। तीन पग 'शारीरिक, मानस व बौद्धिक' उन्नति के ही प्रतीक हैं। एवं, तुम दोनों ने शरीर को स्वस्थ बनाया है, मन को निर्मल और बुद्धि को बड़ा उज्ज्वल व तीव्र बनाने का प्रयत्न किया है। ३. **सवितुः**=उस उत्पादक प्रभु के **प्रसवे**=इस उत्पन्न जगत् में **वः**=तुम सबको **उत्पुनामि**=मैं पवित्र करके उन्नति-पथ पर ले-चलता हूँ।

'किन-किनसे पवित्र करता हूँ'? (क) सबसे पहले तो **अच्छिद्रेण पवित्रेण**=इस छिद्र व अवकाश से रहित वायु से। **'पवित्रं वै वायुः'** (तै० १।२।५।११) के अनुसार वायु पवित्र है। यह अच्छिद्र है, क्योंकि इसने सारे अवकाश को भरा हुआ है। वायु स्थान को रिक्त नहीं रहने देती। यह हमारे रुधिर को आक्सीजन प्राप्त कराके शुद्ध करती है और इस प्रकार स्वास्थ्य की साधक होती है। (ख) **सूर्यस्य रश्मिभिः**=सूर्य की किरणों से मैं तुझे पवित्र करता हूँ। सूर्य की किरणें छाती पर पड़ती हैं और रोग-कृमियों का संहार करती हैं। इस प्रकार ये रोगरूप मलों को दूर करके शरीर को शुद्ध करती हैं (ग) इन दोनों से बढ़कर **देवीः आपः**=दिव्य गुणोंवाले जल हैं जोकि **अग्रेगुवः**=निरन्तर समुद्र की ओर आगे

और आगे चलते जाते हैं, **अग्रेपुवः**=सबसे अधिक पवित्र करनेवाले हैं, क्योंकि **'आपः सर्वस्य भेषजीः'**—ये जल रोगमात्र के औषध हैं। हे जलो! आप **अद्य**=आज **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ को **अग्रे नयत**=हमारे जीवनों में आगे ले-चलो, अर्थात् हमारे जीवनों में यज्ञ की भावना बढ़े। **यज्ञपतिम्**=यज्ञ के पालक—निरन्तर यज्ञ करनेवाले को **अग्रे नयत**=उन्नत करो। यह यज्ञ उसके अभ्युदय व निःश्रेयस का साधक बने। ये यज्ञ उसे **सुधातुम्**=उत्तम धातुओंवाला बनाएँ। उसके शरीरस्थ सब धातु निर्दोष हों। वस्तुतः इस प्रकार धातुओं की निर्दोषता से ही यह यज्ञ मनुष्य को अज्ञात व ज्ञात सभी रोगों से मुक्त करता है। हे जलो! तुम इस **यज्ञपतिम्**=यज्ञपति को **देवयुवम्**=दिव्य गुणों से संयुक्त करनेवाले होओ।

भावार्थ—वायु, सूर्य व जल हमारे जीवन में पवित्रता का सञ्चार करें। इस पवित्रता के परिणामस्वरूप हममें यज्ञियवृत्ति बढ़े। हम उत्तम रस, रुधिर आदि धातुओंवाले होकर स्वस्थ शरीरवाले और दिव्य गुणों की वृद्धि करके उत्तम मनवाले हों।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—इन्द्रः[उ], अग्निः[क], यज्ञः[र]। छन्दः—निचृदुष्णिक्[उ], भुरिगार्चीगायत्री[क] भुरिगुष्णिक्[र]। स्वरः—ऋषभः[उ,र], षड्जः[क]॥

वृत्रतूर्य में इन्द्र-वरण अथवा शोधन

[उ]युष्माऽइन्द्रोऽवृणीत वृत्रतूर्ये यूयमिन्द्रमवृणीध्वं वृत्रतूर्ये प्रोक्षिता स्थ। [क]अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षाम्यग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि। [र]दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वं देवयज्यायै यद्वोऽशुद्धाः पराजघ्नुरिदं वस्तच्छुन्धामि॥ १३॥

१. इस संसार में जीव का मुख्य उद्देश्य काम आदि शत्रुओं का पराजय है। ये काम आदि शत्रु ज्ञान को आवृत करने के कारण 'वृत्र' हैं। इनके साथ किया जानेवाला संग्राम 'तूर्य' है। इन काम आदि का संहार 'वृत्रतूर्य' है। इस **वृत्रतूर्ये**=काम-संहाररूप यज्ञ के निमित्त **युष्माः**=तुम्हें **इन्द्रः**=उस प्रभु ने **अवृणीत**=वरा है, चुना है। जिन लोगों की जीवन-स्थिति बहुत ही निकृष्ट थी उन्हें तो प्रभु ने भोगयोनियों में भेज दिया। मध्यम स्थितिवालों को मानव-जीवन अवश्य मिला, परन्तु वे काम आदि से प्रतारित होनेवाले 'इ-तर' जन ही रहे (common man काम से (इ) प्रतारित होनेवाले इतर), परन्तु जिन लोगों ने गत मन्त्र की भावना के अनुसार अपने को पवित्र करने का प्रयत्न किया, उन्हें प्रभु ने उस सात्त्विक श्रेणी में रक्खा है जो काम आदि के पराजय में लगे रहते हैं। २. **यूयम्**=तुम भी **वृत्रतूर्ये**=इस काम-संहाररूप संग्राम में **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **अवृणीध्वम्**=वरो। उसके साहाय्य के बिना इन प्रबल शत्रुओं का विनाश न हो सकेगा। कामदेव को तो महादेव ही भस्म करेंगे। **'त्वया स्विद् युजा वयम्'**—तुझ साथी के साथ मिलकर ही हम इन शत्रुओं को पराजित कर पाएँगे। ३. उस प्रभु को वरने पर **प्रोक्षिताः स्थ**=तुम प्रकर्षेण (उक्ष सेचने) सिक्त हो जाते हो। यह जल छिड़कना शुद्धि का प्रतीक है, अतः तुम शुद्ध हो जाते हो। अथवा प्रभु के वरण से तुम शक्ति से भर जाते हो—तुम्हारे अङ्ग-अङ्ग में शक्तिरस का सञ्चार हो जाता है। ४. तुम भी यह निश्चय करो कि **अग्नये जुष्टम्**=अग्नि के लिए सेवित **त्वा**=तुझे **प्रोक्षामि**=अपने में सिक्त करता हूँ, अर्थात् प्रत्येक वस्तु को यज्ञ में विनियुक्त करने के बाद ही मैं यज्ञशिष्ट का अपने लिए प्रयोग करता हूँ और **त्वा**=तुझे, अर्थात् प्रत्येक पदार्थ को **अग्नीषोमाभ्याम्**=अग्नि और सोम के लिए **जुष्टम्**=सेवित को **प्रोक्षामि**=अपने में सिक्त करता हूँ। शक्ति (अग्नि) और शान्ति (सोम) की वृद्धि के लिए ही प्रत्येक पदार्थ

का प्रयोग करता हूँ। भोजन भी मेरे लिए यज्ञ का रूप धारण कर लेता है और उसका लक्ष्य होता है 'शक्ति और शान्ति की प्राप्ति'। ५. प्रभु कहते हैं कि प्रत्येक पदार्थ के प्रयोग में उक्त भावना को रखकर तुम **दैव्याय कर्मणे**=दैव्य कर्मों के लिए—आत्मा के लिए हितकर कर्मों के लिए **शुन्धध्वम्**=अपने को शुद्ध कर डालो जिससे **देवयज्यायै**=उस महान् देव से तुम्हारा यजन=सङ्गतीकरण हो सके। **'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः'**—जनक आदि ने ऐसे ही कर्मों से सिद्धि प्राप्त की थी। तुम भी इन दैव्य कर्मों से उस देव के सान्निध्य को प्राप्त कर सकोगे। ६. इन दिव्य कर्मों में लगने के द्वारा तुममें **यत् वः**=जो कुछ **अशुद्धाः**=मालिन्य हैं, दोष हैं, वे **पराजघ्नुः**=सुदूर विनष्ट हों। **'योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये'**—योगी लोग आत्मशुद्धि के लिए सदा कर्म किया करते हैं। ७. इस प्रकार **वः**=तुम्हारे **इदं तत्**=इस प्रसिद्ध शोधन कर्म को **शुन्धामि**=शुद्ध कर डालता हूँ, अर्थात् इस प्रकार यह शोधन की प्रक्रिया ठीक रूप से सम्पन्न हो जाती है।

भावार्थ—प्रभु के साहाय्य से हम काम आदि दोषों के संहार में समर्थ हों। दिव्य कर्मों में लगे रहने के द्वारा अपने जीवन को शुद्ध बनाएँ। जो-जो मलिनता है उसे दूर करने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—स्वराड्जगती। **स्वरः**—निषादः॥

अदिति के सम्पर्क में

शर्मास्यवधूतꣳरक्षोऽवधूताऽअरातयोऽदित्यास्त्वगसि प्रति त्वादितिर्वेत्तु। अद्रिरसि वानस्पत्यो ग्रावासि पृथुबुध्नः प्रति त्वादित्यास्त्वग्वेत्तु॥ १४॥

१. गत मन्त्र के अनुसार सब अशुद्धता को दूर करनेवाला तू **शर्म असि**=आनन्द-ही-आनन्द है, अर्थात् तेरा जीवन सचमुच आनन्दमय बना है। २. **रक्षः**=राक्षसी वृत्तियाँ **अवधूतम्**=तुझसे सुदूर कम्पित हुई हैं, अर्थात् नष्ट हो गई हैं, साथ ही **अरातयः**=न देने की वृत्तियाँ भी **अवधूताः**=कम्पित होकर नष्ट हो गई हैं। मेरे जीवन में न भोग-विलासवाली राक्षसी वृत्तियाँ हैं और न ही अदान की वृत्ति है। भोगमय जीवन ही हमें कृपण बनाता है। ३. **अदित्याः त्वक् असि**=अदिति का तू संस्पर्श (त्वच्=Touch) करनेवाला है। अदीना देवमाता के साथ तेरा सम्पर्क है और **अदितिः**=यह अदीना देवमाता भी **त्वा**=तुझे **प्रतिवेत्तु**=सम्यक्तया जाने। तू अदिति से परिचित हो, अदिति तुझसे। इस प्रकार अदिति से तेरा घनिष्ठ सम्बन्ध हो। प्रभु ने अदिति की गोद में ही तो तुझे बिठाया है (मन्त्र ११)। संक्षेप में तू अदीन, अकृपण, हीनता की भावना से रहित 'बहुलाभिमानः'=आत्म-सम्मान की भावनावाला हो और अपने अन्दर दिव्य गुणों का विकास करनेवाला हो।

४. इन्हीं दिव्य गुणों के विकास के कारण तू **अद्रिः**=न विदारण के योग्य—धर्म-पथ से विचलित न होने योग्य **असि**=है (न दृ), तथा आदरणीय (आ+दृ) बना है। ५. **वानस्पत्यः**=तेरा यह सारा क्षेत्र (अन्नमय आदि कोश) वनस्पति का ही विकार है, अर्थात् तूने वनस्पति भोजन को ही स्वीकार किया है। शाकाहारी होने से ही तुझमें राक्षसी वृत्तियाँ नहीं पनपीं। ६. **ग्रावा असि**=तू (गृ) वेदवाणियों का उच्चारण करनेवाला है (ग्रह् वन् आदन्तादेशः) अथवा ज्ञान-विज्ञानों का ग्रहण करनेवाला है। ७. **पृथुबुध्नः**=तू विशाल मूलवाला है। तूने अपनी उन्नति की नींव व्यापक बनाई है। तू शरीर, मन व मस्तिष्क सभी का ध्यान करके चला है। बस, अन्त में यही कहना है कि **त्वा**=तुझे **आदित्याः त्वक्**=अदिति का सम्पर्क

प्रतिवेत्तु=प्राप्त हो। तू सदा अदीन देवमाता के सम्पर्क में निवास कर।

भावार्थ—अदिति के सम्पर्क में रहने से हमारा जीवन सुन्दर व शिव हो।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—निचृज्जगती [क], याजुषीपंक्तिः [र]। **स्वरः**—निषादः [क], पञ्चमः [र]॥

समाजसेवी का स्वरूप

[क]अ॒ग्नेस्त॒नूर॑सि वा॒चो वि॒सर्ज॑नं दे॒ववी॑तये त्वा गृह्णामि बृ॒हद् ग्रा॑वासि वानस्प॒त्यः स॑ऽइ॒दं दे॒वेभ्यो॑ ह॒विः श॑मीष्व सु॒शमि॑ शमीष्व। [र]ह॑विष्कृ॒देहि॒ हवि॑ष्कृ॒देहि॑॥ १५॥

अदिति के सम्पर्क में रहकर अपने जीवन को सुन्दर बनानेवाला व्यक्ति अपना ठीक परिपाक करके लोकहित के कार्यों में प्रवृत्त होता है। इसे प्रभु निम्नरूप से प्रेरणा देते हैं—

१. **अग्नेः**=अग्नि का **तनूः असि**=तू विस्तारक है। तूने अपने जीवन में शरीर को पूर्ण स्वस्थ बनाकर उत्साह से परिपूर्ण किया है। 'अग्नि' उत्साह का प्रतीक है। आलसी को 'अनुष्णकः' कहते हैं। प्रभु का सच्चा स्तोता शारीरिक स्वास्थ्य के कारण अग्नि की भाँति चमकता है। २. **वाचो विसर्जनम्**=तू मेरी इस वेदवाणी का चारों ओर (वि) दान करनेवाला है (सर्जन=दान)। सर्वत्र विचरता हुआ तू इस वेदवाणी का प्रचार करता है। ३. **देववीतये**=दिव्य गुणों के प्रजनन—उत्पन्न करने के लिए मैं **त्वा**=तुझे **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ, अर्थात् जैसे एक राष्ट्रपति भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए मन्त्रियों का ग्रहण करता है, उसी प्रकार प्रभु इस यज्ञमय जीवनवाले व्यक्ति का ग्रहण इसलिए करते हैं कि यह लोक में दिव्य गुणों का प्रचार करनेवाला बने। ४. **बृहद् ग्रावा असि**=तू विशाल हृदयवाला और वेदवाणियों का उच्चारण करनेवाला है (गृ)। उपदेष्टा को सदा विशाल हृदय होना चाहिए। संकुचित हृदयवाला होने पर वह शास्त्रों की व्याख्या भी ठीक नहीं करता, वह तो उनका प्रतारण ही करता है।

५. **वानस्पत्यः**=तू वनस्पति का ही प्रयोग करनेवाला है, मांस पर अपना पालन-पोषण करनेवाला नहीं है। ६. **सः**=वह तू **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए **इदं हविः**=इस हविरूप भोजन को ही **शमीष्व**=शान्ति देनेवाला बना, अर्थात् तेरा भोजन यज्ञशेष रूप तो हो ही साथ ही वह भोजन सौम्य हो, जो तेरे स्वभाव को शान्त बनाता हुआ तुझमें दिव्य गुणों की वृद्धि का कारण बने। **सुशमि (हविः)**=इस उत्तम शान्ति देनेवाले सौम्य भोजन को **शमीष्व**=शान्ति देनेवाला बना। तेरा भोजन 'हविः' हविरूप तो हो ही **सुशमि**=उत्तम शान्ति देनेवाला भी हो। ७. **हविष्कृत्**=इस प्रकार अपने जीवन को हवि का रूप देनेवाले! तू **एहि**=मेरे समीप आ। **हविष्कृत्**=हविरूप भोजन करनेवाले जीव! तू **एहि**=मेरे समीप आ। प्रभु का सामीप्य उसे ही प्राप्त होता है जो अपने जीवन को लोकहित के लिए अर्पित कर देता है और इस लोकहित—परार्थ की वृत्ति को सिद्ध करने के लिए भोजन का हविरूप होना आवश्यक है। भोजन की पवित्रता से ही मन की पवित्रता सिद्ध होती है।

भावार्थ—हम यज्ञशिष्ट तथा सौम्य भोजनों के द्वारा अपने में दिव्य गुणों की वृद्धि करें और लोकहित के कार्यों में व्यापृत होते हुए वेदवाणी का प्रसार करें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—वायुः[क], सविता[र]। छन्दः—स्वराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्[क], विराड्गायत्री[र]।
स्वरः—धैवतः[क], षड्जः[र]॥

प्रभु की प्रेरणा

[क]कुक्कुटोऽसि मधुजिह्व इषमूर्जमावद त्वया वयःसङ्घातःसङ्घातं जेष्म वर्षवृद्धमसि प्रति त्वा वर्षवृद्धं वेत्तु परापूतःरक्षः परापूता अरातयोऽपहतःरक्षो वायुर्वो विविनक्तु [र]देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना॥ १६॥

प्रभु कह रहे हैं—१. **कुक्कुटः**=(कुकं पर-द्रव्यादानं कुटति हिनस्ति) तू पर-द्रव्य के आदान की वृत्ति को अपने से दूर करनेवाला **असि**=है। तुझमें कभी भी पर-द्रव्य को लेने की वृत्ति उत्पन्न नहीं होती। **'परद्रव्येषु लोष्ठवत्'**—पर-द्रव्यों को तू मिट्टी के ढेले के समान देखता है, उनके लिए कभी लालायित नहीं होता। २. **मधुजिह्वः**=तू माधुर्य से पूर्ण जिह्वावाला है। तू ज्ञान का प्रसार बड़ी मधुर व श्लक्ष्ण वाणी से करता है। यह तुझे भूलता नहीं कि **'जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्'**=मेरी वाणी के अग्रभाग व मूल में माधुर्य-ही-माधुर्य है। ३. **इषम्**=प्रेरणा को व **ऊर्जम्**=शक्ति को **आवद**=तू चारों ओर लोगों के जीवनों में फूँकने का ध्यान कर।

श्रोतृवृन्द इस उपदेष्टा से कहता है कि—४. **त्वया वयम्**=आपके साथ हम **संघातं संघातम्**=प्रत्येक वासना-संग्राम को **जेष्म**=जीतनेवाले बनें। आपकी प्रेरणा हममें उस उत्साह व शक्ति को भर दे कि हम इन वासनाओं को कुचलने में समर्थ हों। ५. **वर्षवृद्धं असि**=वर्षों के दृष्टिकोण से भी आप बढ़े हुए हो, अतः क्या ज्ञान और क्या अनुभव—दोनों के दृष्टिकोण से परिपक्व हो। आपके पीछे चलकर हमारा कल्याण ही होगा। **वर्षवृद्धं त्वा**=वर्षवृद्ध आपको **प्रतिवेत्तु**=प्रत्येक व्यक्ति प्राप्त कर सके—जान सके, अर्थात् आप लोगों के लिए अगम्य न हों। ६. आपकी कृपा से—आपके इस ज्ञानोपदेश से **परापूतं रक्षः**=(पूतं=washed away) हमारी सब राक्षसी वृत्तियाँ धुल जाएँ। ये वृत्तियाँ हमसे दूर हो जाएँ। **परापूताः अरातयः**=न देने की वृत्तियाँ सुदूर विनष्ट हो जाएँ। हम जहाँ अपने रमण के लिए औरों का क्षय न करें वहाँ हम सदा दान की वृत्तिवाले बने रहें। **रक्षः अपहतम्**=हमारे राक्षसी भाव तो नष्ट ही हो जाएँ।

७. प्रभु उपदेष्टा व श्रोता दोनों से कहते हैं—**वायुः**=अपनी गतिशीलता से सब बुराइयों का हिंसन करता हुआ यह वायुदेव **वः**=तुम्हें **विविनक्तु**=विवेकयुक्त करे। प्रातः शुद्ध वायु का सेवन तुम्हारे मस्तिष्कों को उन्नत व पवित्र करे। **'मेधामिन्द्रश्च वायुश्च'**—इस मन्त्रभाग में वायु का मेधा-प्रदातृत्व स्पष्ट है। ८. यह **सविता देवः**=सब प्राणदायी तत्त्वों को जन्म देनेवाला (**सू**=जन्म देना) और सब दिव्यताओं का कोशभूत सूर्य जो **हिरण्यपाणिः**=स्वर्ण को हाथ में लिये हुए है—जिसके किरणरूप हाथ हमारे अन्दर स्वर्ण का प्रवेश करते हैं, मानो हमें स्वर्ण (gold) के इञ्जैक्शंज दे रहे हों। यह सूर्य **अच्छिद्रेण पाणिना**=अपने निर्दोष किरणरूप हाथों से **वः प्रतिगृभ्णातु**=तुम्हें ग्रहण करे, अर्थात् प्रातःकाल ही उस सूर्य की किरणें तुम्हें प्राप्त हों जो तुम्हें प्राण, शक्ति और दिव्यता देता है और तुम्हारे लिए अत्यन्त हितकर व रमणीय (हिरण्य) है।

भावार्थ—हम अपहरण की वृत्ति का पूर्णतया त्याग करें, मधुर शब्द ही बोलें। प्रातःकालीन वायु व सूर्य के सम्पर्क में आकर स्वस्थ व विवेकयुक्त बनें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्ब्राह्मीपंक्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

भ्रातृव्य वध, आमाद, क्रव्याद अग्नि का दूरीकरण

धृष्टि॑रस्यपा॑ऽग्नेऽअ॒ग्निमा॒माद॑ञ्जहि॒ निष्क्र॒व्याद॑ꣳसे॒धा दे॑व॒यजं॑ वह। ध्रु॒वम॑सि पृथि॒वीं दृ॑ꣳह ब्रह्म॒वनि॑ त्वा क्षत्र॒वनि॑ सजात॒वन्युप॑दधामि॒ भ्रातृ॑व्यस्य व॒धाय॑॥ १७॥

१. हे जीव! **धृष्टिः असि**=तू शत्रुओं का धर्षण करनेवाला है, क्योंकि तू शरीर में रोगों और मन में काम-क्रोध आदि को नहीं आने देता, इसीलिए तू अग्नि बना है—आगे बढ़नेवाला—निरन्तर उन्नति करनेवाला। २. हे **अग्ने**=उन्नति-पथ पर आगे बढ़नेवाले जीव! **आमादम्**=कच्ची वस्तु को खानेवाली (आम+अद्) **अग्निम्**=अग्नि को **अपजहि**=अपने से दूर कर। कच्चापन दो प्रकार का होता है—(क) अग्नि पर रोटी आदि को पकाया गया, परन्तु उनका ठीक परिपाक नहीं हुआ। वह कच्ची रह गई रोटी व दाल आदि पेटदर्द व अन्य कष्टों का कारण होंगी ही। (ख) वृक्षों पर फल अभी कच्चे हों और उन्हें खाया जाए तो वे भी कष्टकर होंगे, अतः हमें 'आमाद अग्नि' को अपने से दूर रखना है। हमारी जाठराग्नि को इस प्रकार की अपरिपक्व वस्तुएँ न खानी पड़ें। ३. उन्नति के मार्ग पर चलनेवाले इस जीव से प्रभु कहते हैं कि **क्रव्यादम्**=मांस खानेवाली अग्नि को तो **निःसेध**=निश्चय से निषिद्ध कर दे, अर्थात् मांस आदि खाने का विचार ही नहीं करना। मांसाहारी का स्वभाव निश्चय से क्रूर हो जाता है और वह मानवधर्म को ठीक प्रकार से नहीं पाल सकता।

४. **देवयजं वह**=तू अपने जीवन में देवयज्ञ को धारण करनेवाला हो। आमाद अग्नि को दूर करके हम शरीर को नीरोग बनाते हैं और क्रव्याद अग्नि को दूर करके मानस क्रूरता से ऊपर उठते हैं, इस प्रकार हम देवयज्ञ के योग्य हो जाते हैं। इस देवयज्ञ की मौलिक भावना 'केवल अपने-आप न खाना'—केवलादी न बनना है। ५. **ध्रुवम् असि**=तू अपने नियमों पर दृढ़ है। इस व्यवस्थित जीवन से तू **पृथिवीम्**=अपने शरीर को **दृंह**=दृढ़ बना। शरीर का स्वास्थ्य नियमित जीवन पर ही निर्भर है। विशेषकर 'कालभोजी'=समय पर खानेवाला बीमार नहीं पड़ता। ६. शरीर के स्वस्थ होने पर वह अपने ज्ञान को निरन्तर स्वाध्याय से बढ़ाता है। स्वस्थ शरीर में बल की वृद्धि हो जाती है। स्वस्थ व्यक्ति ज्ञान और बल को बढ़ाकर सदा यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होनेवाला होता है। प्रभु इससे कहते हैं कि **ब्रह्मवनि त्वा**=ज्ञान का सेवन करनेवाले तुझे, **क्षत्रवनि त्वा**=बल का सेवन करनेवाले तुझे और **सजातवनि**=(**सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा।**) तेरे जन्म के साथ ही उत्पन्न किये गये यज्ञ का सेवन करनेवाले तुझे **उपदधामि**=मैं अपने समीप स्थापित करता हूँ, जिससे **भ्रातृव्यस्य**=(भ्रातुर्व्यन् सपत्ने) शत्रुओं के **वधाय**=वध के लिए तू समर्थ हो सके। जब मनुष्य स्वस्थ होकर ज्ञान और बल का सम्पादन करके यज्ञशील बनता है तब वह प्रभु के उपासन के योग्य बनता है। यह प्रभु का उपासन इसे वह शक्ति प्राप्त कराता है कि यह काम आदि शत्रुओं का शिकार न होकर उनका विध्वंस करनेवाला होता है।

भावार्थ—कच्ची वस्तुओं और मांस आदि को त्यागकर हम रोगों व वासनाओं से ऊपर उठें। नियमित जीवन बिताकर शरीर को दृढ़ बनाएँ। ज्ञान, बल व यज्ञ का सेवन करते हुए प्रभु के उपासक बनें और शत्रुओं का विध्वंस करनेवाले हों।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—अग्निः। छन्दः—ब्राह्म्युष्णिक्[उ], आर्चीत्रिष्टुप्[क], आर्चीपंक्तिः[र]।
स्वरः—ऋषभः[उ], धैवतः[क], पञ्चमः[र]॥

ज्ञान, बल व यज्ञ

[उ]अग्ने ब्रह्म गृभ्णीष्व धरुणमस्यन्तरिक्षं दृꣳह ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय। [क]धर्त्रमसि दिवं दृꣳह ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय। [र]विश्वाभ्यस्त्वाशाभ्यऽउपदधामि चितं स्थोर्ध्वचितो भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्॥ १८॥

१. हे **अग्ने**=उन्नतिशील जीव! तू **ब्रह्म**=ज्ञान का **गृभ्णीष्व**=ग्रहण कर। ज्ञान ही सब उन्नतियों का मूल है। २. **धरुणमसि**=तू अत्यन्त धैर्य-वृत्तिवाला है, अतः **अन्तरिक्षम्**=अपने हृदयरूप अन्तरिक्ष को **दृंह**=दृढ़ बना। अन्तःकरण का सर्वमहान् गुण धृति ही है। वस्तुतः यह धृति ही धर्म के अन्य सब अङ्गों की नींव है। इसी दृष्टिकोण से महर्षि मनु ने धृति को धर्म का सर्वप्रथम लक्षण कहा है। ३. धृति के द्वारा अन्तःकरण के स्वास्थ्य का सम्पादन करनेवाले **ब्रह्मवनि त्वा**=तुझ ज्ञान का सेवन करनेवाले को, **क्षत्रवनि**=बल का सेवन करनेवाले तथा **सजातवनि**=सह-उत्पन्न यज्ञ का सेवन करनेवाले तुझे मैं **उपदधामि**=अपने समीप स्थापित करता हूँ, जिससे तू **भ्रातृव्यस्य**=शत्रुओं के **वधाय**=वध के लिए समर्थ हो। ४. **धर्त्रम् असि**=तू धारक शक्ति से युक्त है—तेरी स्मृतिशक्ति प्रबल है (तू retentive memory वाला है), **दिवम् दृंह**=तू अपने मस्तिष्करूप द्युलोक को दृढ़ बना। स्मृतिशक्ति से धारण किया हुआ ज्ञान मस्तिष्क को उज्ज्वल बनाएगा। **ब्रह्मवनि त्वा**=ज्ञान का सेवन करनेवाले तुझे **उपदधामि**=मैं अपने समीप स्थापित करता हूँ, जिससे तू **भ्रातृव्यस्य**=कामादि शत्रुओं के **वधाय**=वध के लिए समर्थ हो सके। ५. वस्तुतः जब मनुष्य शरीर, हृदय और मस्तिष्क—सभी को दृढ़ बना लेता है तब प्रभु-उपासन के लिए पूर्णरूप से तैयार हो चुकता है। **त्वा**=इस तुझे **विश्वाभ्यः आशाभ्यः**=सब दिशाओं से **उपदधामि**=मैं अपने समीप स्थापित करता हूँ। यह व्यक्ति विविध दिशाओं में भटकनेवाली इन्द्रियवृत्तियों को केन्द्रित करके प्रभु में एकाग्र होने का प्रयत्न करता है। ६. हे जीव! **चितः स्थ**=तुम चेतन हो। चेतन ही नहीं **ऊर्ध्व चितः**=उत्कृष्ट चेतनावाले हो, अतः अपने हित को समझते हुए **भृगूणाम्**=ज्ञान-परिपक्व (उत्कृष्ट ज्ञानवाले) लोगों के तथा **अङ्गिरसाम्**=जिनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग लोच-लचकवाले हैं, उनके **तपसा**=तप से **तप्यध्वम्**=तप करनेवाले बनो। भृगुओं का तप 'स्वाध्याय' है तथा अङ्गिरा लोगों का तप 'ऋत' है। तुम अपने जीवन को नैत्यिक स्वाध्यायवाला बनाओ तथा तुम्हारा प्रत्येक कार्य ठीक समय व स्थान पर हो, जिससे तुम भृगुओं की भाँति ज्ञानी तथा अङ्गिरसों की भाँति स्वास्थ्य की दीप्तिवाले बन सको। ज्ञान की दृष्टि से तुम 'ऋषि' बनो तो बल के दृष्टिकोण से एक 'मल्ल' बनो। यही तो आदर्श पुरुष है। 'ऋषि+मल्ल'—(sage+athlete)।

भावार्थ—यदि हम अपने स्वरूप व उद्देश्य को न भूलें तो स्वाध्याय व नियमित जीवन को अवश्य अपनाएँगे।

सूचना—सत्रहवें और अठारहवें मन्त्र में 'ध्रुव, धरुण व धर्त्र' शब्दों का प्रयोग हुआ है। शरीर के लिए जीवन की क्रियाओं में हमें ध्रुवता से चलना है, मानस स्वास्थ्य के लिए धरुण=धृति-सम्पन्न बनना है तथा मस्तिष्क की उज्ज्वलता के लिए प्राप्त ज्ञान को धारण करनेवाले 'धर्त्र' होना है।

मस्तिष्क के लिए 'ब्रह्मवनि'=ज्ञान का सेवन करनेवाला बनना है तो शरीर के लिए 'क्षत्रवनि' बल का सेवन करनेवाले तथा हृदय के लिए 'सजातवनि' यज्ञ आदि उत्तम भावनाओं का सेवन करनेवाला।

ज्ञान, बल और यज्ञ के होने पर व्यक्ति प्रभु का सच्चा उपासक बनता है और शत्रुओं का संहार कर पाता है।

ऋषि:—परमेष्ठी प्रजापति:। **देवता**—अग्नि:। **छन्द:**—निचृद्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। **स्वर:**—धैवत:।।

पर्वती बुद्धि—महादेव की पार्वती

शर्मास्यवधूतꣳ रक्षोऽवधूताऽअरातयोऽदित्यास्त्वगसि प्रति त्वादितिर्वेत्तु। धिषणासि पर्वती प्रति त्वादित्यास्त्वग्वेत्तु दिव स्कम्भनीरसि धिषणासि पार्वतेयी प्रति त्वा पर्वती वेत्तु॥ १९॥

जब व्यक्ति ज्ञान, बल व यज्ञ को अपनाता है तब उसका जीवन सुखमय हो जाता है। १. **शर्म असि**=तू आनन्दमय है, क्योंकि **रक्ष:**=तूने राक्षसी भावनाओं को **अवधूतम्**=कम्पित करके अपने से दूर किया है, **अवधूता:अरातय:**=न देने की भावना को दूर भागा दिया है। तू **अदित्या: त्वक् असि**=अदीना देवमाता का संस्पर्श करनेवाला है। **त्वा**=तुझे **अदिति:**=यह अदीना देवमाता **प्रतिवेत्तु**=जाने। तू अदिति के सम्पर्क में हो, अदिति तेरे सम्पर्क में हो, अर्थात् तेरा सारा वातावरण ही अदीनता व दिव्य गुणोंवाला हो। संसार में मनुष्य को असभ्य (blunt) तो नहीं बनना, परन्तु गिड़गिड़ाना भी तो नहीं। यथासम्भव दिव्य गुणों का अपने में विकास करना है। इस दैवी सम्पत्ति का आरम्भ 'अभय' से ही होता है। जीव की इस उन्नति में 'बुद्धि' उसकी सहायिका है। आत्मा रथी है तो बुद्धि उसका सारथि है। आत्मा राजा है तो बुद्धि मन्त्रिणी है। आत्मा पति है तो बुद्धि पत्नी है। आत्मा महादेव है तो उसकी पार्वती यह बुद्धि ही है, अत: मन्त्र में कहते हैं कि **धिषणा असि**=तू धारण करनेवाली 'बुद्धि' है। **पर्वती** तू पूरण करनेवाली है (पर्व पूरणे), सब न्यूनताओं को दूर करनेवाली है। **त्वा**=तुझे **अदित्या: त्वक् प्रतिवेत्तु**=अदिति का सम्पर्क सदा प्राप्त रहे ३. तू **दिव:** =प्रकाश की **स्कम्भनी: असि**=धारण करनेवाली है। जैसे 'स्कम्भ' मकान की छत को सदा सहारा देता है, उसी प्रकार जीवन में यह बुद्धि प्रकाश का स्कम्भ है। सारे प्रकाश का साधन यह बुद्धि ही है। यह विकृत हुई और प्रकाश गया। हे **धिषणा**=बुद्धि! तू **पार्वतेयी**=(स्वार्थ में तद्धित प्रत्यय है) पर्वती=पूरण करनेवाली है। **त्वा**=तुझे **पर्वती**=यह पूरण करने की प्रक्रिया **प्रतिवेत्तु**=पूर्ण रूप से जाने, अर्थात् इस बुद्धि में हमारे जीवन को न्यूनताओं से ऊपर उठाकर पूर्ण बनाने की शक्ति सदा बनी रहे। उलटे मार्ग पर जाकर यह हमारे विनाश का कारण न बन जाए। प्रभुकृपा से हमारी यह बुद्धि **पर्वती**=पूरण करनेवाली बनी रहे।

भावार्थ—हमारी बुद्धि पर्वती हो—पूरण करनेवाली हो। यह हमें विनाश के मार्ग पर न ले-जाए।

ऋषि:—परमेष्ठी प्रजापति:। **देवता**—सविता। **छन्द:**—विराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। **स्वर:**—धैवत:।।

शुद्ध बुद्धि का वर्धक 'धान्य' व सूर्यकिरणें

धान्यमसि धिनुहि देवान् प्राणाय त्वोदानाय त्वा व्यानाय त्वा। दीर्घामनु प्रसितिमायुषे धां देवो व: सविता हिरण्यपाणि: प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना चक्षुषे त्वा महीनां पयोऽसि॥ २०॥

गत मन्त्र में प्रकाश की आधारभूत, जीवन में सद्गुणों का पूरण करनेवाली बुद्धि का उल्लेख था। इस बुद्धि का निर्माण सात्त्विक आहार से होता है, उस सात्त्विक आहार का वर्णन इस मन्त्र में किया गया है—

१. **धान्यम् असि**=तू धान्य है। **'धाने पोषणे साध्विति धान्यम्'**—पोषण में उत्तम है। तू मानव-शरीर का उत्तमता से पोषण करता है। स्वस्थ शरीर, निर्मल मन व तीव्र बुद्धि को तू जन्म देता है। तू (क) **देवान् धिनुहि**=हमारे जीवन में दिव्य गुणों को प्रीणित कर। तेरे द्वारा सत्त्व की शुद्धि से हममें सात्त्विक गुणों का विकास हो। (ख) हम **त्वा**=तुझे **प्राणाय**=प्राण के विकास के लिए स्वीकार करते हैं, तेरे द्वारा हमारी प्राणशक्ति बढ़े। **त्वा**=तुझे **उदानाय**=उदानवायु के ठीक कार्य करने के लिए स्वीकार करते हैं। **'उदानः कण्ठदेशे स्यात्'**—कण्ठदेश—गले के स्थान में कार्य करनेवाला उदानवायु ठीक हो। इसका कार्य ठीक होने पर ही दीर्घ जीवन होना सम्भव है। हम **त्वा**=तुझे **व्यानाय**=सर्वशरीर-व्यापी व्यानवायु के लिए ग्रहण करते हैं। धान्य के प्रयोग से सारा नाड़ी-संस्थान ठीक प्रकार से कार्य करता है और मनुष्य का मस्तिष्क ठीक बना रहता है।

२. **दीर्घाम्**=अत्यन्त विस्तृत शतवर्षगामिनी **प्रसितिम्**=(षिञ् बन्धने) कर्मतन्तु सन्तति का **अनु**=लक्ष्य करके (अनुर्लक्षणे) और इस प्रकार **आयुषे**=उत्तम कर्ममय जीवन के लिए (इ गतौ) हे धान्य! **धाम्**=मैं तेरा ग्रहण करता हूँ। इस धान्य के प्रयोग से मुझे दीर्घ जीवन प्राप्त हो और इस दीर्घ जीवन में मेरा कर्म-तन्तु कभी विच्छिन्न न हो। मैं सदा कर्म करता रहूँ। वानस्पतिक भोजन जहाँ दीर्घजीवन का हेतु बनता है, वहाँ क्रियाशील (active) जीवन को भी जन्म देता है।

३. इस धान्य के प्रयोग के साथ हम सूर्य के साथ अपना सम्पर्क बढ़ाएँ। धान्य में भी वस्तुतः सारी प्राण-शक्ति सूर्यकिरणों द्वारा ही स्थापित होती है। इसलिए मन्त्र में कहते हैं कि **सविता देवः**=सब प्राणशक्ति का उत्पादक यह सूर्यदेव जो **हिरण्यपाणिः**=अपने किरणरूपी हाथों में हिरण्य='हितरमणीय प्राणशक्तिप्रद' तत्त्वों को लिये हुए है, वह सूर्य **वः** तुम्हें **अच्छिद्रेण**=अपने निर्दोष (छिद्र=दोष) **पाणिना**=किरणरूप हाथों से **प्रतिगृभ्णातु**=ग्रहण करे, अर्थात् हम प्रातः सूर्याभिमुख होकर प्रभु का ध्यान करें और यह सूर्यदेव अपने हाथों से हमारे शरीर में हितरमणीय तत्त्वों का प्रवेश करे। उदय होते हुए सूर्य की किरणें सब रोगकृमियों का संहार करती हैं। ४. हे सूर्यदेव! मैं **त्वा**=तुझे **चक्षुषे**=दृष्टिशक्ति की वृद्धि के लिए ग्रहण करता हूँ। **'सूर्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्'** वस्तुतः सूर्य ही चक्षु के रूप में आँखों में रह रहा है। मैं सूर्याभिमुख बैठता हूँ तो सूर्यकिरणें मेरी आँखों में दृष्टिशक्ति का प्रवेश कराती हैं। आँखों की सब निर्बलताएँ व रोग सूर्यकिरणों के ठीक सेवन से अवश्य दूर हो जाते हैं। ५. हे सूर्य! तू **महीनाम्**=अन्य सब महनीय=पूजनीय—उत्तम-मनुष्य को महान् बनानेवाली शक्तियों का **पयः**=आप्यायन—वर्धन करनेवाला है। सूर्यकिरणों के ठीक सम्पर्क से हमारे सब अङ्ग-प्रत्यङ्गों की शक्तियाँ बढ़ती हैं।

भावार्थ—दिव्य गुणों के वर्धन के लिए बुद्धि का सात्त्विक होना आवश्यक है। बुद्धि की सात्त्विकता के लिए वानस्पतिक भोजन (धान्य) ही ठीक है, साथ ही सूर्यकिरणों का सम्पर्क भी अत्यन्त उपयोगी है।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—यज्ञः। छन्दः—गायत्री [क], निचृत्पङ्क्तिः [र]। स्वरः—षड्जः [क], पञ्चमः [र]॥

ओषधियों का प्रयोग मात्रा में

[क]देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। सं वपामि [र]समापऽओषधीभिः समोषधयो रसेन। सꣳ रेवतीर्जगतीभिः पृच्यन्ताꣳ सं मधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्ताम्॥ २१॥

गत मन्त्र में धान्य के प्रयोग का उल्लेख है, परन्तु 'वह प्रयोग कैसे हो' इसका प्रतिपादन प्रस्तुत मन्त्र में है—१. **त्वा**=तेरा—तुझ धान्य का **सवितुः देवस्य**=सबके प्रेरक दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु के **प्रसवे**=प्रसव में, अर्थात् प्रभु की अनुज्ञा में प्रयोग करता हूँ। प्रभु की अनुज्ञा में इस धान्य का न अतियोग करता हूँ, न अयोग करता हूँ अपितु यथायोग करता हूँ, **पूष्णो हस्ताभ्याम्**=पूषा के हाथों से ग्रहण करता हूँ और **अश्विनोः**=प्राणापानों के **बाहुभ्याम्**=हाथों से ग्रहण करता हूँ, अर्थात् पोषण के दृष्टिकोण से प्रत्येक वस्तु का ग्रहण करता हूँ। २. जिन धान्य आदि ओषधियों का प्रयोग करता हूँ उन्हें **संवपामि**=बड़े उत्तम ढंग से बोता हूँ। **ओषधीभिः**=इन ओषिधियों के साथ **आपः**=जल **सम्**=उत्तमता से सङ्गत हों। ओषधियों का सेचन उत्तम जल से हो। वृष्टिजल से सिक्त ओषधियाँ सात्त्विक गुणोंवाली होती हैं, अमेध्य—गन्दे जल से उत्पन्न ओषधियाँ तामस गुणों को जन्म देती हैं। इन उत्तम जलों के सेचन से **ओषधयः**=ओषधियाँ **रसेन**=रस से **सम्**=सङ्गत हों और ये **रेवतीः**=रयिवतीः—शक्तिरूप धन से पूर्ण ओषधियाँ **जगतीभिः**=गतिशील प्राणियों के साथ **सम् पृच्यन्ताम्**=संयुक्त हों, अर्थात् इन ओषधियों का सेवन व्यक्ति को पुरुषार्थी बनाए। **मधुमतीः**=मधुर रस से परिपूर्ण ये ओषधियाँ **मधुमतीभिः**=परस्पर मधुर व्यवहारवाली प्रजाओं से **संपृच्यन्ताम्**=संयुक्त हों, अर्थात् उन्हें मधुर बनाएँ।

संक्षेप में जिन धान्यों का हमें प्रयोग करना है, उन्हें हम उत्तमता से बोएँ। उनका सेचन भी सदा शुद्ध जल से करें। इससे उनमें सात्त्विक रस की उत्पत्ति होगी। अमेध्य—प्रभव ओषधियाँ शास्त्रों में अभक्ष्य मानी गई हैं। उनसे बुद्धि भी तामस बनती है। उत्तम जल से सिक्त ओषधियों का सेवन करनेवाले गतिशील तथा मधुर स्वभाववाले होंगे। 'जगतीभिः' विशेषण क्रियाशीलता व निरालस्यता का संकेत करता है तो 'मधुमतीभिः' विशेषण माधुर्य का प्रतिपादक है। एवं, सात्त्विक ओषधियाँ हमें क्रियामय व मधुर स्वभाववाला बनाती हैं।

भावार्थ—शुद्ध जलों से जिनमें रस का सञ्चार हुआ है, उन ओषधियों के प्रयोग से हम अपने शरीर व मानस मलों को दूर करके अत्यन्त क्रियाशील व मधुर जीवनवाले बनें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—यज्ञः [क], अग्निसवितारौ [र]। छन्दः—स्वराट्त्रिष्टुप् [क], गायत्री [र]। स्वरः—धैवतः [क], षड्जः [र]॥

वर्षिष्ठ अधिनाक में, सर्वोत्तम स्वर्ग में

[क]जनयत्यै त्वा सँयौमीदमग्नेरिदमग्नीषोमयोरिषे त्वा घर्मोऽसि विश्वायुरुरुप्रथाऽउरु प्रथस्वोरु ते यज्ञपतिः प्रथतामग्निष्टे त्वचं मा हिꣳसीद्देवस्त्वा सविता श्रपयतु वर्षिष्ठेऽधि नाके॥ २२॥

हम अपने गृहस्थ को स्वर्ग कैसे बना सकते हैं? इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत मन्त्र में देखिए—पत्नी पति से कहती है—१. **त्वा जनयत्यै संयौमि**=एक उत्तम सन्तान को जन्म देने के लिए मैं आपके साथ मेल करती हूँ, 'जनयती' बनने के लिए। वस्तुतः गृहस्थ में

प्रवेश का मुख्य प्रयोजन उत्तम सन्तान का निर्माण है। पति-पत्नी परस्पर विलास के लिए एकत्र नहीं होते। २. इस मेल का परिणाम जो (अपत्यम्) सन्तान है **इदम्**=यह **अग्नेः**=अग्नि नामक प्रभु का ही है, वह हमारा नहीं है। पति-पत्नी को इस पवित्र भावना से चलना और सन्तान को प्रभु का ही समझना चाहिए। ३. **इदम्**=यह सन्तान **अग्नीषोमयोः**= अग्नि और सोमतत्त्व का है। इसमें 'अग्नि' तत्त्व भी है और 'सोम' तत्त्व भी। पिता से इसने अग्नितत्त्व प्राप्त किया है तो माता से सोमतत्त्व। जीवन का रस इन दोनों तत्त्वों के मेल पर ही निर्भर है। ४. **इषे त्वा**=अन्न-प्राप्ति के लिए मैं आपका ध्यान करती हूँ। अन्न के बिना घर के किसी भी कार्य का चलना सम्भव नहीं है। ५. **घर्मः असि**=इस उत्तम अन्न के सेवन से तू प्राणशक्ति को प्राप्त हुआ है (घर्मः सोमः), तू शक्ति का पुञ्ज बना है। ६. **विश्वायुः**=तू पूर्ण आयुवाला है—व्यापक जीवनवाला है। तूने अपने जीवन में शरीर, मन व मस्तिष्क तीनों की उन्नति का सम्पादन किया है।

७. **उरुप्रथाः**=तू खूब विस्तारवाला बना है (प्रथ विस्तारे), **उरु प्रथस्व**=तू खूब विस्तार को प्राप्त हो। तू जहाँ अपनी सब शक्तियों का विस्तार करे वहाँ तेरा हृदय भी विशाल हो। ८. **यज्ञपतिः**=सब यज्ञों का रक्षक प्रभु **ते**=तेरी सब शक्तियों को **उरु प्रथताम्**= खूब विस्तृत करे, अर्थात् तेरा जीवन भी यज्ञमय हो, यज्ञ के द्वारा ही शक्तियों का विस्तार होता है। ९. इन सबसे बढ़कर बात यह है कि **अग्निः**= वह परमात्मा **ते त्वचम्**=तेरे सम्पर्क को **मा हिंसीत्**=नष्ट न करे, अर्थात् प्रभु के साथ तेरा सम्पर्क सदा बना रहे। इस प्रभु-सम्पर्क ने ही उपर्युक्त सब बातों को हमारे जीवन में लाना है। १०. **सविता देवः**= सबका प्रेरक देव **त्वा**=तुझे **श्रपयतु**=परिपक्व बनाए। तेरी शारीरिक, मानस व बौद्धिक शक्तियों का ठीक विकास हो। इनके ठीक परिपाक के द्वारा वे प्रभु तुझे **वर्षिष्ठे अधिनाके**=सर्वोत्तम स्वर्ग में स्थापित करे।

घर को स्वर्ग बनाने के लिए निम्न बातें अत्यन्त आवश्यक हैं—१. गृहस्थ को सन्तान-निर्माण का आश्रम समझा जाए। २. सन्तानों को हम प्रभु की धरोहर समझें। ३. सन्तानों में शक्ति (अग्नि) व शान्ति (सोम) के विकास का प्रयत्न करें। ४. घर में अन्न की कमी न होने दें। ५. अपनी शक्तियों को क्षीण न होने दें। ६. शरीर, मन व मस्तिष्क—तीनों का ठीक विकास करें। ७. 'विस्तार' हमारा आदर्श शब्द हो—हम हृदय को विशाल बनाएँ। ८. यज्ञों को हम शक्ति-विस्तार का साधन समझें। ९. प्रभु-सम्पर्क से हम कभी अलग न हों। १०. प्रभुकृपा से हमारा ठीक परिपाक हो।

भावार्थ—हम अपने घरों को स्वर्ग बनाने के लिए मन्त्रोक्त दस बातों को अपने जीवन में ढालें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—अग्निः। छन्दः—बृहती। स्वरः—मध्यमः॥

अभय, अनुद्वेग

मा भेर्मा संविक्था ऽअतमेरुर्यज्ञो ऽतमेरुर्यजमानस्य प्रजा भूयात् त्रिताय त्वा द्विताय त्वैकताय त्वा॥ २३॥

पिछले मन्त्र में वर्णित वह व्यक्ति जिसका सवितादेव के द्वारा ठीक परिपाक होता है, सदा निर्भय होता है। उसमें दैवी सम्पत्ति का विकास होता है, जिसका प्रारम्भ 'अभयम्' से होता है, अतः कहते हैं कि १. **मा भेः**=तू डर मत। वस्तुतः जो प्रभु का भय रखता

है, वह संसार में अभय होकर विचरता है। प्रभु से न डरनेवाला सभी से डरता है और प्रभु से डरनेवाला निडर रहता है। **मा संविक्थाः**=(विज् भय-चलन) तू उद्वेग से कम्पित मत हो। ठीक मार्ग पर चलनेवाले को किसी प्रकार का कम्पन नहीं होता। २. **यज्ञः**=तेरा यज्ञ **अतमेरुः**=कभी श्रान्त होनेवाला न हो, अर्थात् तेरी यज्ञीय भावना सदा क्रियामय बनी रहे। ३. उस **यजमानस्य**=सृष्टि-यज्ञ को रचनेवाले प्रभु की **प्रजा**=सन्तान **अतमेरुः भूयात्**=उत्तम कर्मों के करने में थक न जाए। जो व्यक्ति प्रभु के बने रहते हैं, वे थकते नहीं। प्रकृति के उपासक थक जाते हैं। वह विलासमय जीवन के कारण क्षीणशक्ति हो जाते हैं।

प्रभु कहते हैं कि मैं **त्वा**=तुझे **त्रिताय**=(त्रीन् तनोति) ज्ञान, कर्म व भक्ति के विस्तार के लिए प्रेरित करता हूँ और क्योंकि ज्ञानपूर्वक कर्म करने को ही भक्ति कहते हैं, अतः **द्विताय त्वा**=तुझे इन ज्ञान और कर्म का ही विस्तार करने के लिए कहता हूँ। आवश्यक कर्मों की प्रेरणा का आधार ज्ञान ही है, अतः **एकताय त्वा**=मैं तुझे ज्ञान के विस्तार के लिए प्रेरणा देता हूँ। **क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः**=ब्रह्मज्ञानियों में क्रियावान् ही श्रेष्ठ होता है।

भावार्थ—हम अभय व निरुद्वेग हों। हमारा यज्ञ विश्रान्त न हो। हम आलसी न बनें। हम ज्ञान-कर्म व भक्ति तीनों के विस्तारक बनें। ज्ञानपूर्वक कर्म को ही भक्ति मानें। ज्ञान वही है जो हमें क्रियावान् बनाए।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—द्योविद्युतौ। **छन्दः**—स्वराड्ब्राह्मीपंक्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

प्रभु का दाँया हाथ

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। आददेऽध्वरकृतं देवेभ्यऽइन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणः सहस्रभृष्टिः शततेजा वायुरसि तिग्मतेजा द्विषतो वधः॥ २४॥

१. (क) मैं **त्वा**=तुझे (प्रत्येक पदार्थ को) **सवितुः देवस्य**=उस प्रेरक, दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु की **प्रसवे**=अनुज्ञा में **आददे**=ग्रहण करता हूँ। प्रभु की आज्ञा यही है कि 'माप-तोलकर' भोग कर। न अतियोग, न अयोग, अपितु यथायोग सेवन कर। (ख) **अश्विनोः बाहुभ्याम्**=प्राणापानों के प्रयत्न से, अर्थात् मैं प्रत्येक वस्तु को अपने पुरुषार्थ से कमाकर ग्रहण करता हूँ, किसी वस्तु को सेंतमेंत (बिना मूल्य) लेने की कामना नहीं करता। (ग) **पूष्णोः हस्ताभ्याम्**=पूषा के हाथों से, अर्थात् पोषण के दृष्टिकोण से ही मैं किसी भी वस्तु का प्रयोग करता हूँ। (घ) **देवेभ्यः अध्वरकृतम्**=देवताओं के लिए यज्ञ में अर्पित की गई वस्तु के यज्ञशेष को ही मैं ग्रहण करता हूँ। **तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः**। जो देवताओं से दी गई वस्तुओं को बिना देवों को दिये खाता है, वह चोर ही है। सारे पदार्थ 'सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, जल, वायु' आदि देवों की कृपा से हमें प्राप्त होते हैं। इन देवप्रदत्त पदार्थों को यज्ञ द्वारा देवार्पण करके ही बचे हुए को खाना चाहिए। **'त्यक्त्येन भुञ्जीथाः'** की भावना यही तो है। २. जो व्यक्ति उल्लिखित चार बातों का ध्यान रखते हुए सांसारिक पदार्थों को स्वीकार करता है, वह **इन्द्रस्य**=शक्तिशाली कर्मों को करनेवाले प्रभु का **दक्षिणः बाहुः**=दाँया हाथ **असि**=बनता है, अर्थात् प्रभु उसे निमित्त बनाकर उत्तमोत्तम कार्य किया करते हैं। ये व्यक्ति अत्यन्त महान् कार्यों को करते हुए दीखते हैं, हमें ये सामान्य पुरुष न लगकर महामानव प्रतीत होने लगते हैं।

३. **सहस्रभृष्टिः**=यह व्यक्ति कार्यों में उपस्थित होनेवाले सहस्रों विघ्नों को नष्ट करनेवाला होता है—उन्हें भून डालनेवाला होता है। ४. **शततेजाः**=इसका जीवन सौ-के-सौ वर्ष तेजस्वी बना रहता है। भोग-मार्ग को न अपनाने से यह कभी क्षीणशक्तिवाला नहीं होता। ५. **वायुः असि**=यह वायु की भाँति निरन्तर क्रियाशील होता है 'वा गतिगन्धनयोः'। यह अपनी क्रियाशीलता के द्वारा सब बुराइयों का हिंसन करनेवाला होता है। ६. **तिग्मतेजाः**=यह प्रखर-तीव्र तेज का धारण करनेवाला होता है, इस तेजस्विता के कारण ही तो यह सब विघ्नरूप अन्धकारों को नष्ट करता हुआ अपने मार्ग पर आगे और आगे बढ़ता है। इस तेजस्विता से ही यह ७. **द्विषतो वधः**=शत्रु का वध करनेवाला होता है। द्वेषरूप शत्रु ही सर्वमहान् शत्रु है और तेजस्विता के साथ इसका समानाधिकरण्य (एक स्थान पर रहना) कभी नहीं होता। जहाँ तेजस्विता है वहाँ द्वेष नहीं, जैसे जहाँ प्रकाश है वहाँ अन्धकार नहीं। इसलिए 'शत-तेजाः' व 'तिग्मतेजाः' यह द्वेष को अपने से दूर करनेवाला होता है।

भावार्थ—हम प्रयत्न करके वस्तुओं का ठीक प्रयोग करें, और 'प्रभु का दाहिना हाथ' बनने का प्रयत्न करें, परिणामतः हममें वह तेज आएगा जिसमें द्वेष आदि का सब कूड़ा-करकट भस्म हो जाता है।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—विराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

सत्सङ्ग का माहात्म्य

पृथिवि देवयजन्योषध्यास्ते मूलं मा हिंसिषं व्रजं गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्याᳬ शतेन पाशैर्योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक्॥ २५॥

१. संसार की वस्तुओं का प्रयोग स्वार्थ की भावनाओं से ऊपर उठकर करना ही श्रेयस्कर है। इस स्थिति में पर-मांस से स्वमांस के संवर्धन का प्रश्न ही नहीं उठता और वनस्पतियों में भी जीव है, अतः उनके 'पत्रम्, पुष्पम्, फलम्' का प्रयोग हो सकता है, क्योंकि ये हमारे नख-लोमों की भाँति वनस्पतियों के मल हैं। उनके मूल की हिंसा तो हिंसा ही हो जाएगी, अतः भक्त प्रार्थना करता है—हे **देवयजनि पृथिवि**=देवताओं के यज्ञ करने की आधारभूत पृथिवि! मैं **ते**=तेरी **ओषध्याः**=इन ओषधियों के भी **मूलम्**=मूल को **मा हिंसिषम्**=हिंसित न करूँ। हाँ, जिस प्रकार मृत पशु के चमड़े आदि का प्रयोग निषिद्ध नहीं है, उसी प्रकार मृत वनस्पतियों के भी जड़-त्वगादि का ओषधियों में प्रयोग हो सकता है। २. 'इस ऊँचे दर्जे की अहिंसा की भावना हममें उत्पन्न हो सके' इसके लिए कहते हैं कि (क) **व्रजम्**=(**व्रजन्ति जानन्ति जना येन तम् सत्सङ्गम्**) जिससे मनुष्यों के ज्ञान का वर्धन होता है, उस सत्सङ्ग को **गच्छ**=तुम प्राप्त करो। उस सत्सङ्ग को जो **गोष्ठानम्**=(गौर्वाणी तिष्ठति यस्मिन्) वेदवाणी का प्रतिष्ठा स्थान है, जिसमें सदा ज्ञान की वाणियों का प्रचार होता है, (ख) इन सत्सङ्गों में **द्यौः**=विद्या का प्रकाश **ते**=तेरे लिए वर्षतु (शब्दविद्याया वृष्टिं करोतु) ज्ञान की वर्षा करे। हम सत्सङ्गों में जाएँ और इस ज्ञान की वर्षा से आध्यात्मिक सन्ताप को दूर करके शान्ति का लाभ करें।

३. अब प्रार्थना करते हैं कि (क) हे **सवितः देव**=सबके प्रेरक, दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभो! आप हमें इस **परमस्यां पृथिव्याम्**=सत्सङ्ग की आधारभूत उत्कृष्ट भूमि में—पृथिवी के प्रदेश में **शतेन पाशैः**=सैकड़ों बन्धनों से **बधान**=बाँधने की कृपा कीजिए।

हमारी सत्सङ्ग की रुचि बनी ही रहे। हमारी परिस्थिति ऐसी हो कि न चाहते हुए भी हमें सत्सङ्ग में जाना ही पड़े। 'माता-पिता की आज्ञा, अपने अध्यक्ष का आदेश, प्रधान या मन्त्री आदि पदों का बन्धन' और इसी प्रकार की शतशः बातें हमें सत्सङ्ग में पहुँचने के लिए कारण बनती रहें। हे प्रभो! बस, आप ऐसी ही व्यवस्था कीजिए कि **'यथा नः सर्व इज्जनः संगत्या सुमना असत्'** जिससे हमारे सभी लोग उत्तम सत्संगति से सदा उत्तम मनोंवाले बने रहें। (ख) हे प्रभो! आप ऐसी कृपा कीजिए कि **यः अस्मान् द्वेष्टि**=जो एक व्यक्ति हम सबके साथ द्वेष करता है **च**=और परिणामतः **यं वयं द्विष्मः**=जिसे हम अप्रिय समझते हैं **तम्**=उसे भी **अतः**=इस उपदेश से **मा मौक्**=रहित मत कीजिए। वह भी सत्सङ्गों में होनेवाले इन उपदेशों से वञ्चित न हो। सत्सङ्गों से वह भी पवित्र मनवाला होकर द्वेषादि मलों से रहित हो जाए।

भावार्थ—हम इस पृथिवी को यज्ञ करने का स्थान समझें। हम वनस्पति की भी हिंसा करनेवाले न हों। सत्सङ्ग हमपर ज्ञान की वर्षा करे। हमें सत्सङ्ग में अवश्य जाएँ, इनसे तो हमारा शत्रु भी वञ्चित न हो।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—स्वराड्ब्राह्मीपंक्तिः[क], भुरिग्ब्राह्मीपंक्तिः[र]।
स्वरः—पञ्चमः॥

अदानवृत्ति का दूरीकरण

[क]अपारुरुं पृथिव्यै देवयजनाद्वध्यासं व्रजं गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्याꣳ शतेन पाशैर्योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक्। [र]अररो दिवं मा पप्तो द्रप्सस्ते द्यां मा स्कन् व्रजं गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्याꣳ शतेन पाशैर्योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक्॥ २६॥

१. सब यज्ञ दानशीलता से चलते हैं, अतः हम अदानशीलता को दूर करते हैं। सत्सङ्गति से जहाँ सुमनस्त्व की प्राप्ति की प्रार्थना है, वहाँ साथ ही **'दानकामश्च नो भुवत्'**, अथर्ववेद के इन शब्दों में यही कहा गया है कि हमारे सब व्यक्ति देने की इच्छावाले—इच्छापूर्वक दान देनेवाले हों। यजुर्वेद के शब्दों में **'आशीर्दा'** खूब उत्साह से, इच्छापूर्वक, दिल खोलकर देनेवाले हों और **अररुम्**=न देनेवाले को, कृपण मनोवृत्तिवाले को **पृथिव्यै**=इस पृथिवी पर (पृथिव्यां, ङि=ङे) होनेवाले **देवयजनात्**=देवों द्वारा किये जानेवाले यज्ञकर्मों से—सब भद्र पुरुषों के सामाजिक उत्सवों से **अपवध्यासम्**=दूर करता हूँ (हन् गति)। एक प्रकार से इनका सामाजिक बहिष्कार (Social boycott) करता हूँ। यह सामाजिक बहिष्कार सम्भवतः इनकी इस अदानवृत्ति को दूर करने में सहायक हो। सामाजिक बहिष्कार से भयभीत हुआ वह **व्रजं गच्छ**=सत्सङ्ग में जाए, जो सत्सङ्ग **गोष्ठानम्**=वेदवाणियों के प्रचार का स्थान बनता है। वहाँ सत्सङ्ग में **ते**=तेरे लिए **द्यौः**=ज्ञान का प्रकाश **वर्षतु**=ज्ञान की वर्षा करे। **देव सवितः**=हे प्रेरक देव! **शतेन पाशैः**=सैकड़ों बन्धनों से आप इस **परमस्यां पृथिव्याम्**=सत्सङ्ग की उत्कृष्ट भूमि में **बधान**=हमें बाँध दीजिए। हमें ही क्या, इस अदानशील पुरुष को भी **यः अस्मान् द्वेष्टि**=जो हमसे प्रीति नहीं करता और परिणामतः **यम्**=जिसे **वयम् द्विष्मः**=हम भी नहीं चाहते **तम्**=उस कृपण को भी **अतः**=इस ज्ञानोपदेश से **मा मौक्**=दूर मत कीजिए।

२. **अररुः**=न देनेवाला **दिवम्**=स्वर्ग को **मा पप्तः**=(पत् गतौ) प्राप्त न हो। अदानशील को स्वर्ग कभी नहीं मिलता। इसका इहलोह नरक ही बना रहता है। दान ही यज्ञ की चरम सीमा है। यह दानरूप यज्ञ हमारे इस लोक को भी सुखी बनाता है और परलोक को भी। जो व्यक्ति दानशील बना रहता है, वह भोगप्रवण नहीं होता। भोगप्रवण न होने से उसके शरीर में सोमकण (द्रप्सः=drops of soma) सुरक्षित रहते हैं। ये सुरक्षित सोमकण इसकी ज्ञानाग्नि के ईंधन बनते हैं। इसका ज्ञान-सरोवर इन सोम-कणों की सुरक्षा से सूखता नहीं। बस, इस बात का ध्यान करते हुए सदा दिल खोलकर देनेवाला बनना। तेरी वृत्ति भोगवृत्ति न हो जाए और **द्रप्सः**=ये सुरक्षित सोमकण **ते**=तेरे **द्याम्**=इस मस्तिष्करूप द्युलोक को **मा स्कन्**=(स्कन्दिर्=गतिशोषणयोः) सूखने न दें। तेरा ज्ञान-समुद्र सदा ज्ञान-जल से परिपूर्ण रहे। इसके लिए तू **व्रजं गच्छ**=सत्सङ्ग को प्राप्त कर, उस सत्सङ्ग को जोकि **गोष्ठानम्**=वेदवाणियों का स्थान है। यहाँ **द्यौः**=यह विद्याप्रकाश **ते**=तेरे लिए **वर्षतु**=ज्ञान की वर्षा करे। तेरी प्रार्थना यह हो कि हे **सवितः देव**=प्रेरक प्रभो! हमें **शतेन पाशैः**=सैकड़ों बन्धनों से **परमस्यां पृथिव्याम्**=सत्सङ्ग की इस उत्कृष्ट स्थली में **बधान**=बाँधिए। हमें ही क्या, **यः**=जो **अस्मान् द्वेष्टि**=हमसे द्वेष करता है **च**=और **यं वयं द्विष्मः**=जो हमारा अप्रिय बन गया है **तम्**=उसे भी **अतः**=इन सत्सङ्गों में होनेवाले उपदेशों से **मा मौक्**=मत वञ्चित कीजिए। हमारे शत्रुओं को भी इन सत्सङ्गों का सौभाग्य प्राप्त हो, जिससे वे वहाँ बरसनेवाले ज्ञान-जल से निर्मल होकर शत्रु ही न रहें और वे यज्ञों के महत्त्व को समझकर दानशील बन जाएँ।

भावार्थ—कृपण का सामाजिक बहिष्कार करके उसकी अदानवृत्ति को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। उसे यह समझाना चाहिए कि अदानवृत्ति का परिणाम नरक है, स्वर्ग तो यज्ञिय वृत्ति से ही बनता है।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—यज्ञः। छन्दः—ब्राह्मीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

घर को स्वर्ग बनाना

गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृह्णामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि जागतेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि। सुक्ष्मा चासि शिवा चासि स्योना चासि सुषदा चास्यूर्जस्वती चासि पयस्वती च॥ २७॥

'हम इस संसार में किसी भी वस्तु को स्वीकार करें तो किस दृष्टिकोण से'? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं १. हे पदार्थ! मैं **त्वा**=तुझे **गायत्रेण छन्दसा**=(गयाः प्राणाः तान् तत्रे) प्राणों की रक्षा के दृष्टिकोण से, प्राणों की रक्षा की इच्छा से (छन्दः=अभिप्रायः) **परिगृह्णामि**=स्वीकार करता हूँ। (क) हम घर ऐसा बनाएँ जो प्राणशक्ति की वृद्धि के विचार से उत्तम हो, जिसमें सूर्य की किरणों का प्रवेश खूब होता हो, जहाँ वायु का प्रवाह अविच्छिन्न रूप से चलता हो। (ख) घर में उन्हीं खाद्य पदार्थों को जुटाएँ जो प्राणशक्ति के पोषक हों। (ग) उन्हीं क्रियाओं को करें जो प्राणशक्ति का ह्रास करनेवाली न हों। (घ) घरों में इस प्रकार से सत्सङ्ग आदि की व्यवस्था करें, जिससे सबकी मनोवृत्तियाँ उत्तम बनें और सभी लोग प्राणशक्ति-सम्पन्न बने रहें। २. **त्वा त्रैष्टुभेन छन्दसा परिगृह्णामि**=हे पदार्थ! मैं तुझे त्रैष्टुभ छन्द से ग्रहण करता हूँ। इस इच्छा (छन्द) से ग्रहण करता हूँ कि मेरे त्रिविध तापों—आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक दुःखों की निवृत्ति (स्तुभ=to stop) हो।

अथवा मैं इस इच्छा से तेरा ग्रहण करता हूँ कि मेरे घर में **त्रि**=तीनों—प्रकृति, जीव व परमात्मा का **स्तुभ**=स्तवन चले, प्रकृति, जीव व परमात्मा तीनों का विचार ठीक प्रकार से हो।

३. **त्वा जागतेन छन्दसा परिगृह्णामि**=हे पदार्थ! मैं तुझे जगती के हित की इच्छा से ग्रहण करता हूँ। प्रत्येक पदार्थ के ग्रहण में यह दृष्टिकोण बड़ा महत्त्वपूर्ण है कि इस पदार्थ के ग्रहण से मैं लोकहित के लिए अधिक क्षम=समर्थ बन पाऊँ। भोजन ऐसा हो जो मुझे पूर्ण स्वस्थ बनाए, जिससे मैं दीर्घजीवी बनकर देर तक लोकसंग्रहात्मक कर्मों में लगा रहूँ। ४. जब मेरा दृष्टिकोण 'गायत्र, त्रैष्टुभ व जागत' होगा तब मैं अपनी शाला=घर के विषय में कह सकूँगा कि (क) **सु-क्ष्मा च असि**=तू उत्तम निवास के योग्य है (क्षि निवास)। (ख) **शिवा चासि**=तू कल्याणरूप है, (ग) **स्योना च असि**=सुख देनेवाली है, (घ) **सुषदा च असि**=(सु+सद्=बैठना) सब लोगों के लिए उत्तमता से बैठने के योग्य है, (ङ) **ऊर्जस्वती च असि**=बल व प्राणशक्ति से सम्पन्न है (ऊर्ज बलप्राणनयोः), (च) **पयस्वती च**=(ओप्यायी वृद्धौ) तू सब प्रकार से आप्यायन व वर्धन करनेवाली है।

भावार्थ—संसार में प्रत्येक क्रिया में हमारा दृष्टिकोण 'प्राणशक्ति की रक्षा, त्रिविधताप-निवृत्ति व लोकहित' हो। ऐसा होगा तो हमारे घर उत्तम निवास योग्य, मङ्गलमय, सुखद, लोगों से बैठने योग्य, बल-प्राणशक्ति-सम्पन्न व सब प्रकार से वर्धन के कारण होंगे।

सूचना—ऊर्क् का अर्थ रस लें और 'पयस्' का अर्थ दूध करें तो अर्थ होगा कि हमारे घर अन्न-रसों व दूध से भरपूर हों।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—विराड्ब्राह्मीपंक्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

प्रोक्षणी का आसादन—पृथिवी की चन्द्र में स्थिति, युद्धों से विरक्ति

पुरा क्रूरस्य॑ वि॒सृपो॑ विरप्शि॒न्नुदा॒दाय॑ पृथि॒वीं जी॒वदा॑नुम्। यामैर॑यँश्च॒न्द्रम॑सि स्व॒धाभि॒स्तामु॒ धीरा॑सोऽअनु॒दिश्य॑ यजन्ते। प्रोक्ष॑णी॒रासा॑दय द्विष॒तो व॒धोऽसि॥ २८॥

हमें अपना जीवन इसलिए यज्ञमय बनाना चाहिए कि युद्ध दूर हो सकें। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि १. **क्रूरस्य**=(कृन्तति अङ्गानि) जिसमें अङ्गों का छेदन-भेदन होता है, उस क्रूरता से पूर्ण युद्ध के **विसृपः**=(वि+सृप्) विशेषरूप से फैल जाने से **पुरा**=पहले ही हे **विरप्शिन्**=(वि+रप्) विशेषरूप से ज्ञान का उपदेश करनेवाले (विरप्शिन् इति महत् नाम—निघ० ३।३) विशाल हृदय पुरुष! **अयम्**=यह तू इस **जीवदानुम्**=जीवन के लिए आवश्यक सब पदार्थों को देनेवाली **पृथिवीम्**=पृथिवी को **उत् आदाय**=इस युद्ध से ऊपर उठाकर, अर्थात् युद्ध में न फँसने देकर **यामैः**=अपने प्रयत्नों से—विविध चेष्टाओं से **स्वधाभिः**=(स्वधा इति अन्ननाम—निघ० २।७) अन्नों की भरपूरता के द्वारा **चन्द्रमसि**=(चदि आह्लादे) प्रसन्नता में स्थापित कर। (चन्द्र=हिमांशु, सुधाकर, ओषधीश—Peace, pleasure and plenty)। चन्द्रमा शान्ति, सुख और भरपूरता का प्रतीक है। ज्ञान के उपदेष्टा को चाहिए कि वह इस पृथिवी को युद्धों में न फँसने देकर पूर्ण प्रयत्नों से शान्ति, सुख व भरपूरता में स्थापित करे। पृथिवी तो वस्तुतः अपने अन्नों से जीवन के लिए आवश्यक सब पदार्थों को प्राप्त करानेवाली है। युद्धों के कारण स्थिति विषम हो जाती है और मँहगाई बढ़कर लोगों की परेशानी का कारण हो जाती है। २. इसलिए **धीरासः**=धीर, विद्वान् पुरुष **उ**=निश्चय से **ताम्**=शान्ति, सुख व समृद्धि-(peace, pleasure and plenty)-वाली पृथिवी को **अनुदिश्य**=लक्ष्य बनाकर **यजन्ते**=अपने जीवनों को यज्ञशील बनाते हैं। ये धीर पुरुष लोकहित के कार्यों में प्रवृत्त होते

हैं। ये लोगों को ज्ञान के प्रकाश से प्रेम का पाठ पढ़ाकर उन्हें युद्धों से दूर रखते हैं। ३. वेद कहता है कि हे धीर पुरुष! तू **प्रोक्षणीः**=प्रकर्षेण ज्ञान का सेवन करनेवाली क्रियाओं को **आसादय**=ग्रहण कर। यज्ञिय चम्मच को तू पकड़। चम्मच से जैसे अग्नि में घी डाला जाता है, उसी प्रकार तू लोगों में ज्ञान की दीप्ति (घृत) का सेचन करनेवाला बन। तू **द्विषतः**=शत्रुओं का **वधः असि**=समाप्त करनेवाला है, द्वेष की भावनाओं को दूर करनेवाला है। तू अपनी ज्ञान की वर्षा से द्वेष की अग्नि को बुझाकर लोगों को प्रेम का पाठ पढ़ानेवाला हो।

भावार्थ—ज्ञानी लोग अपने जीवनों को यज्ञिय बनाकर लोगों को युद्धों से दूर रक्खें, उन्हें प्रेम का पाठ पढ़ाएँ, तभी यह पृथिवी चन्द्र में स्थित होगी—सुख, शान्ति व समृद्धि से पूर्ण होगी।

सूचना—'यामैरयँश्चन्द्रमसि' का सन्धि-छेद 'याम् ऐरयन् चन्द्रमसि' यह भी हो सकता है और तब अर्थ इस प्रकार होगा—**याम्** जिस पृथिवी को **चन्द्रमसि**=सुख, शान्ति व समृद्धि में **ऐरयन्**=प्राप्त कराते हैं। इस प्रकार अर्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ता। 'ऐरयन्' क्रिया का अध्याहार नहीं करना पड़ता।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—यज्ञः। छन्दः—त्रिष्टुप्[क],[र]। स्वरः—धैवतः॥

'सपत्नक्षित्' पति-पत्नी

[क] प्रत्युष्टꣳरक्षः प्रत्युष्टाऽअरातयो निष्टप्तꣳरक्षो निष्टप्ताऽअरातयः।
अनिशितोऽसि सपत्नक्षिद्वाजिनं त्वा वाजेध्यायै सम्मार्ज्मि।
[र] प्रत्युष्टꣳरक्षः प्रत्युष्टाऽअरातयो निष्टप्तꣳरक्षो निष्टप्ताऽअरातयः।
अनिशिताऽसि सपत्नक्षिद्वाजिनीं त्वा वाजेध्यायै सम्मार्ज्मि॥ २९॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में **सपत्नक्षित्**-सपत्नों (शत्रुओं) का नाश करनेवाले पति-पत्नी का उल्लेख है। जब एक पुरुष की कई पत्नियाँ हों तो वे परस्पर सपत्नियाँ कहलाती हैं। कोई भी पत्नी सपत्नी को नहीं चाहती। इसी प्रकार यदि पत्नी एक से अधिक पतियों को करने लगे तो वे परस्पर 'सपत्न' होंगे और कोई भी पति इन सपत्नों को नहीं सह सकता। पत्नी को चाहिए कि सपत्नों को न होने दे और पति को चाहिए कि वह सपत्नियों को न होने दे। दोनों के लिए यहाँ समान शब्द प्रयुक्त हुआ है कि वे 'सपत्नक्षित्' बनें। २. पति के लिए कहते हैं कि (क) प्रयत्न करो कि **रक्षः**=राक्षसी वृत्तियाँ **प्रत्युष्टम्**=एक-एक करके दग्ध हो जाएँ, (ख) **अरातयः प्रत्युष्टाः**=अदान वृत्तियाँ एक-एक करके भस्म हो जाएँ, (ग) **रक्षः**=ये राक्षसी वृत्तियाँ **निः-तप्तम्**=तपोमय जीवन के द्वारा निश्चय से दूर कर दी जाएँ, (घ) **अरातयः**=ये अदान की वृत्तियाँ भी **निःतप्ताः**=निश्चय से तप के द्वारा सन्तप्त करके नष्ट कर दी जाएँ, (ङ) **अनिशितः असि**=अपने व्यावहारिक जीवन में कभी तेज़ (निशित) नहीं होना। क्रोध के वशीभूत हो कभी तैश में नहीं आ जाना, पत्नी के साथ माधुर्य का ही व्यवहार रखना है। (च) **सपत्नक्षित्**=क्रोध व कटुता में आकर एक पत्नीव्रत का उल्लंघन नहीं करना। घर में सपत्नियों का प्रवेश न होने देना। (ज) **वाजिनं त्वा**=इस प्रकार संयत जीवन के द्वारा शक्तिशाली बने हुए तुझे **वाजेध्यायै**=शक्ति की दीप्ति के लिए **सम्मार्ज्मि**=सम्यक्तया शुद्ध कर डालता हूँ। एक पत्नीव्रत से शक्ति का दीपन होता है।

३. इस प्रकार पति के लिए कहकर यही सारी बात पत्नी के लिए कहते हैं कि (क) **प्रत्युष्टं रक्ष:**=तेरे राक्षसी भाव एक-एक करके दग्ध हो जाएँ, (ख) **अरातय:**=अदान की वृत्तियाँ भी **प्रत्युष्टा:**=एक-एक करके नष्ट हों। (ग) **रक्ष:**=राक्षसी भाव **निष्टप्तम्**=तप के द्वारा दूर कर दिये जाएँ, (घ) **अरातय:**=अदान वृत्तियाँ भी **नि:तप्ता:**=निश्चय से सन्तप्त करके दूर कर दी जाएँ, (ङ) **अनिशिता असि**=तू कभी तेज़ नहीं होती, क्रोध में नहीं आ जाती, (च) **सपत्नक्षित्**=तू पतिव्रतधर्म का पालन करते हुए पति के अतिरिक्त पुरुष को उसका सपत्न नहीं बनाती, (छ) **वाजिनीं त्वा**=एक पतिव्रतधर्म के पालन से संयमी जीवन के कारण शक्तिशलिनी तुझे **वाजेध्यायै**=शक्ति की दीप्ति के लिए **सम्मार्ज्मि**=सम्यक्तया शुद्ध करता हूँ, तेरे जीवन को वासनाओं से रहित करता हूँ। वासनाशून्य जीवन ही तो शक्तिशाली होने से जीवन है। वासनाओं का शिकार हो जाना मृत्यु है।

भावार्थ—पति-पत्नी दोनों ही सपत्नक्षित् बनें, कभी तैश में न आएँ तभी घर स्वर्ग बनेगा।

ऋषि:—परमेष्ठी प्रजापति:। देवता—यज्ञ:। छन्द:—निचृज्जगती। स्वर:—निषाद:॥

मे भव—मेरे बनो

अदित्यै रास्नासि विष्णोर्वेष्पोस्यूर्जे त्वाऽदब्धेन त्वा चक्षुषावपश्यामि। अग्नेर्जिह्वासि सुहूर्देवेभ्यो धाम्नेधाम्ने मे भव यजुषेयजुषे॥ ३०॥

१. हे उन्नतिशील जीव! **अदित्यै**=अदिति के लिए—अखण्डन की देवता के लिए तू **रास्ना**=मेखला **असि**=है। 'अदिति' अखण्डन की देवता है, किसी भी अङ्ग व शक्ति का खण्डित न होना, अर्थात् पूर्ण स्वस्थ होना। स्वास्थ्य के लिए मनुष्य का कटिबद्ध होना आवश्यक है। इस स्वास्थ्य पर ही धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—ये सब पुरुषार्थ निर्भर हैं। यास्काचार्य ने 'अदिति' का अर्थ 'अदीना देवमाता' किया है, अत: तू अदीनता व दिव्य गुणों के निर्माण के लिए कटिबद्ध है। तू निश्चय करता है कि (क) मैं स्वस्थ बनूँगा, (ख) अदीन बनूँगा, (ग) अपने में दिव्य गुणों के निर्माण का प्रयत्न करूँगा। २. अब स्वस्थ, अदीन व दिव्य जीवनवाला बनकर तू **विष्णवे**=यज्ञ का (यज्ञो वै विष्णु:) **वेष्प:**=अपने में व्यापन करनेवाला **असि**=बना है। तूने अपने में यज्ञिय भावना का पोषण किया है। इस यज्ञ के द्वारा ही तो तुझे यज्ञात्मक प्रभु का उपासन करना है। ३. **ऊर्जे त्वा**=मैं तुझे बल और शक्ति के लिए प्राप्त करता हूँ। ४. **अदब्धेन त्वा चक्षुषा अवपश्यामि**=मैं अहिंसित आँख से तुझे देखता हूँ (नक्ष् to look after)। मैं निरन्तर तेरा ध्यान करता हूँ। वस्तुत: जो भी व्यक्ति अध्यात्म उन्नति के मार्ग पर चलता हुआ लोकहित में प्रवृत्त होता है, प्रभु उसका ध्यान करते हैं 'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमावहो हरि:'। ५. तू **अग्ने:**=उस सम्पूर्ण प्रकाश के अधिपति प्रभु की **जिह्वा असि**=जिह्वा=वाणी बना है। प्रभु के सन्देश को सर्वत्र फैलाना तेरा ध्येय है। **सु-हू:**=इस कार्य में तू अपनी उत्तम आहुति देनेवाला हुआ है, अर्थात् तू बड़ी मधुरता से प्रजाओं में प्रभु के सन्देश को पहुँचाने के कार्य में लगा है।

यह प्रभु का सन्देशवाहक अब प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे प्रभो! **मे भव**=आप मेरे हो जाइए, अर्थात् मैं सदा आपका बनकर रहूँ, मैं प्रकृति में न फँस जाऊँ। **धाम्ने-धाम्ने**=मैं एक-एक शक्ति को प्राप्त करने में समर्थ बनूँ। **यजुषे-यजुषे**=मैं प्रत्येक कर्म को यज्ञात्मक बना पाऊँ—मेरा प्रत्येक कर्म यज्ञरूप हो। मैं यज्ञ ही बन जाऊँ। **देवेभ्य:**=दिव्य

गुणों की प्राप्ति के लिए मैं यही चाहता हूँ कि आप मेरे हों—मैं सदा आपका बना रहूँ। प्रभु को अपनाने से जहाँ हमारी शक्तियों में वृद्धि होती है वहाँ प्रत्येक कर्म यज्ञिय व पवित्र बनता है। प्रभु से दूर होने का परिणाम इससे विपरीत होता है।

भावार्थ—हम प्रयत्न करें कि प्रभु को अपना सकें। इससे हमारी शक्तियों की वृद्धि होगी और हमारा प्रत्येक कर्म यज्ञमय बनेगा। हम अन्याय से अर्थ-सञ्चय की ओर नहीं झुकेंगे।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—जगती [क], अनुष्टुप् [र]। **स्वरः**—निषादः [क], गान्धारः [र]॥

अनाधृष्ट देवयजन—हवा-धूप

[क] सवितुस्त्वा प्रसवऽउत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः। सवितुर्वः प्रसवऽ उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः। [र]तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि धाम नामासि प्रियं देवानामनाधृष्टं देवयजनमसि॥ ३१॥

१. **सवितुः**=उस उत्पादक प्रभु के **प्रसवे**=इस उत्पन्न जगत् में **अच्छिद्रेण पवित्रेण**= छिद्ररहित (gap से शून्य) अथवा निर्दोष वायु से तथा **सूर्यस्य रश्मिभिः**=सूर्य की किरणों से **त्वा**=तुझे **उत्पुनामि**=सब मलों व रोगों से ऊपर उठाकर (उत्=out) पवित्र करता हूँ। 'खुली हवा' और 'सूर्य की किरणें'—ये स्वास्थ्य के मूलमन्त्र हैं। २. तुझे ही क्यों? **वः**=तुम सबको **सवितुः प्रसवे**=उस उत्पादक प्रभु के इस जगत् में **उत्पुनामि** =सब मलों से ऊपर उठाकर पवित्र करता हूँ। (क) **अच्छिद्रेण पवित्रेण**=इस निर्दोष वायु से और (ख) **सूर्यस्य रश्मिभिः**=सूर्य की किरणों द्वारा।

व्यक्ति के स्वास्थ्य के लिए समुदाय का स्वास्थ्य आवश्यक है। यदि मेरे चारों ओर के व्यक्ति अस्वस्थ होंगे तो उनके रोग-कृमियों का मुझपर भी आक्रमण होगा। मैं रोगों से बचा न रह सकूँगा। मैं स्वस्थ होऊँ, सब स्वस्थ हों, सारा वातावरण स्वास्थ्यमय हो।

३. इस स्वस्थ पुरुष को प्रेरणा देते हुए प्रभु कहते हैं कि **तेजो असि**=तू तेजस्वी है। स्वास्थ्य मनुष्य की तेजस्विता का कारण बनता ही है। ४. **शुक्रम् असि**=तू वीर्यवान् है। अथवा (शुक् गतौ) तू क्रियाशील है। ५. **अमृतम् असि**=तू अमृत है। तू रोगरूप मृत्युओं का शिकार नहीं होता। ६. **धाम असि**=तू तेज का पुञ्ज है, परन्तु साथ ही **नाम**=विनम्र स्वभाव है, तेरी शक्ति विनय से सुभूषित है। ७. इस प्रकार **देवानां प्रियम्**=देवताओं का प्रिय है। दिव्य गुणों का तू निवास-स्थान है। ८. **अनाधृष्टम्**=धर्षित न होनेवाला **देवयजनम् असि**=तू देवों के यज्ञ को करनेवाला है, अर्थात् तू निरन्तर देवयज्ञ करता है, तेरा अग्निहोत्र अविच्छिन्न रहता है। 'सब पदार्थों को ये देव ही तो तुझे प्राप्त कराते हैं' इस भावना को न भूलते हुए तू इन सब पदार्थों को देवों के लिए देकर सदा यज्ञशेष को ही खानेवाला बनता है।

भावार्थ—हमारा जीवन 'अनाधृष्ट, देवयजन'—निरन्तर चलनेवाले अग्निहोत्रवाला हो। हम यह न भूलें कि 'देवऋण' से अनृण होने के लिए यह अग्निहोत्र एक जरामर्य सत्र है। इससे हम अत्यन्त वार्धक्य व मृत्यु होने पर ही मुक्त होंगे।

॥ इति प्रथमोऽध्यायः सम्पूर्णः॥

अथ द्वितीयोऽध्याय:

ऋषि:—परमेष्ठी प्रजापति:। देवता—यज्ञ:। छन्द:—निचृत्पङ्क्ति:। स्वर:—पञ्चम:।।

अग्नि-बर्हि-स्रुक्

कृष्णो॑ऽस्याखरे॒ष्ठो॑ऽग्नये॑ त्वा॒ जुष्टं॒ प्रोक्षा॑मि॒ वेदि॑रसि ब॒र्हिषे॑ त्वा॒ जुष्टां॒ प्रोक्षा॑मि ब॒र्हिर॑सि स्रु॒ग्भ्यस्त्वा॒ जुष्टं॒ प्रोक्षा॑मि॥ १॥

१. **कृष्ण: असि**=तू आकर्षक जीवनवाला है। पिछले अध्याय में कहा था कि 'तू खुली वायु और धूप' के सेवन से पूर्ण स्वस्थ है। तेजस्वी, क्रियाशील, नीरोग, शक्तिशाली परन्तु नम्र, देवताओं का प्रिय और अविच्छिन्न अग्निहोत्री है। वस्तुत: ऐसा जीवन ही जीवन है। ऐसे जीवनवाला सबको अपनी ओर आकृष्ट करेगा ही। २. **आखरेष्ठ:**=(आ+ख+र+स्थ) समन्तात् विद्यमान—आकाश में गति व प्राप्तिवाले प्रभु में तू स्थित है। वस्तुत: सर्वव्यापक प्रभु में स्थित होने से ही इसका जीवन सुन्दर बनता है। ३. **अग्नये जुष्टम्**=अग्नि का प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले—प्रभु का तन्मयता से उपासन करनेवाले **त्वा**=तुझे **प्रोक्षामि**=(प्र+उक्षामि) आनन्द से सिक्त करता हूँ। प्रभु के उपासक का जीवन आनन्दमय होता है। प्रभु में स्थिति के विषय में गीता में कहा है—**यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं तत:। यस्मिँस्थितो न दु:खेन गुरुणाऽपि विचाल्यते।** जिसे प्राप्त करके उससे अधिक कोई लाभ प्रतीत नहीं होता और जिसमें स्थित हुआ-हुआ बड़े-से-बड़े दु:ख से भी विचलित नहीं होता। ४. प्रभु की प्राप्ति से इसे सब-कुछ प्राप्त हो जाता है (सर्वं विन्दति)। सब-कुछ प्राप्त कर लेने से तू **वेदि:**=(विद् लाभे) लब्धा **असि**=है। ५. इस प्रभु-प्राप्ति के लिए ही **बर्हिषे**=वासना-शून्य हृदय के लिए (उद् बृह=उखाड़ देना) जिस हृदय में से सब वासनाएँ नष्ट कर दी गई हैं, उस हृदय को **जुष्टाम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले **त्वा**=तुझे **प्रोक्षामि**=आनन्दसिक्त करता हूँ। जो व्यक्ति हृदय को पवित्र बनाने में लगा है, वह उस हृदय में प्रभु के प्रकाश को देखने से एक अवर्णनीय आनन्द का अनुभव करता है। ६. निरन्तर पवित्रता के प्रयत्न में लगा हुआ तू **बर्हि:**=वासना-शून्य हृदयवाला **असि**=बना है और अब जैसे चम्मच से अग्नि में घृत अर्पित किया जाता है, उसी प्रकार तू प्रजाओं में अपनी वाणी से ज्ञान का स्रवण करनेवाला बना है। इन **स्रुग्भ्य:**=ज्ञान प्रस्रवण की क्रियाओं में **जुष्टम्**=प्रीतिपूर्वक लगे हुए **त्वा**=तुझे **प्रोक्षामि**=मैं आनन्दसिक्त करता हूँ।

भावार्थ—हमारा जीवन तीन बातों में व्यतीत हो—हमारे मुख्य ध्येय ये तीन हों—१. **अग्नये**—प्रकाशमय अग्निनामक प्रभु की उपासना, २. हृदय में से वासनाओं को उखाड़ फेंकना (बर्हिषि) और ३. ज्ञान का प्रसार करना—प्रजारूप अग्नि में ज्ञानरूप घृत का प्रस्रवण करनेवाले चम्मच बनना। ये तीन बातें हमारे जीवन को आनन्द से सिक्त करनेवाली होंगी।

ऋषि:—परमेष्ठी प्रजापति:। देवता—यज्ञ:। छन्द:—स्वराड्जगती। स्वर:—निषाद:।।

भुवपति, भुवनपति, भूतानाम्पति

अदि॑त्यै॒ व्युन्द॑नमसि॒ विष्णो॑ स्तु॒पो॑ऽस्यूर्ण॑म्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थां दे॒वेभ्यो॒ भुव॑पतये॒ स्वाहा॒ भुव॑नपतये॒ स्वाहा॒ भू॒ताना॒ं पत॑ये॒ स्वाहा॑॥ २॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति 'स्रुग्भ्यः जुष्टम्' प्रजारूप अग्नि में ज्ञानस्रवण के कार्य में प्रीतिपूर्वक लगे हुए व्यक्ति के उल्लेख के साथ हुई है। 'यह व्यक्ति इस ज्ञानस्रवण=ज्ञान-प्रसार के कार्य में क्यों लगा है?' इस प्रश्न के उत्तर से प्रस्तुत मन्त्र का आरम्भ होता है। २. **अदित्यै**='स्वास्थ्य' के लिए अथवा 'अदीना देवमाता' के लिए, अर्थात् लोगों को 'स्वस्थ, अदीन व दिव्य गुण-सम्पन्न बनाने के लिए **व्युन्दनम्**=तू विशेषरूप से ज्ञान-जल से क्लिन्न (गीला) करनेवाला **असि**=है। तेरे ज्ञान-प्रसार के परिणामस्वरूप लोगों के जीवन स्वस्थ बनते हैं, उनके मनों में अदीनता की भावना उत्पन्न होती है और उनके जीवनों में दैवी सम्पत्ति का आप्यायन होता है। ३. तू **विष्णोः**=यज्ञ का **स्तुपः**=शिखर **असि**=है। यज्ञमय जीवनवालों का तू मूर्धन्य है। तेरा जीवन निरन्तर लोकहित में लगा है। ४. **ऊर्णम्रदसम्**=औरों के दोषों का आच्छादन नकि उद्घोषणा करनेवाले (ऊर्ण्=आच्छादने) अत्यन्त मृदु स्वभाव-वाले, परिणामतः मधुर शब्द ही बोलनेवाले **त्वा**=तुझे मैं **स्तृणामि**=आच्छादित करता हूँ। जैसे छत सर्दी-गर्मी, वर्षा व ओलों से बचाती है, इसी प्रकार मैं तुझे आसुर आक्रमणों से सुरक्षित करता हूँ। प्रचारक को औरों के दोषों की उद्घोषणा न करते रहना चाहिए। उसे अत्यन्त मृदुता व मधुरता से ही अपना प्रचार-कार्य करना चाहिए। इस प्रचारक की रक्षा प्रभु करते हैं। ५. इस प्रकार **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों के लिए **स्वासस्थाम्**=(सु+आस उपवेशन स्था) उत्तम आश्रय का स्थान तुझे बनाता हूँ। तुझमें दिव्य गुणों का आधान करता हूँ।

६. **भुवपतये**=(भुवो अवकल्कने, अवकल्कनं चिन्तनम्) चिन्तन व विचार के पतिभूत तेरे लिए **स्वाहा**=उत्तम शब्दों का उच्चारण किया जाता है (सु+आह)। **भुवनपतये**=भुवनों-लोकपदार्थों के पतिभूत तेरे लिए **स्वाहा**=प्रशंसात्मक शब्द कहे जाते हैं। तू चिन्तन व विचार के द्वारा शास्त्रीय ज्ञान का पति तो है ही, साथ ही तू ज्ञान के विषयभूत पदार्थों का भी पति है। तेरा ज्ञान केवल शास्त्रीय ज्ञान न होकर क्रियात्मक भी है। आगम व प्रयोग दोनों में निपुण होने से ही तेरी ज्ञान की वाणी लोगों पर विशेष प्रभाव रखती है। इस प्रकार **भूतानां पतये**=भूतों-प्राणियों की रक्षा करनेवाले तेरे लिए **स्वाहा**=हम शुभ शब्दों का उच्चारण करते हैं।

भावार्थ—लोकहित के लिए ज्ञान का प्रसार आवश्यक है। हम भुवपति=शास्त्र-ज्ञान-निपुण तथा भुवनपति=पदार्थ-प्रयोग-ज्ञान-निपुण बनकर भूतपति=प्राणियों के रक्षक बनें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्चीत्रिष्टुप्[उ], भुरिगार्चीपङ्क्तिः[क], पंङ्क्तिः[र]। **स्वरः**—धैवतः[उ], पञ्चमः[क,र]॥

यजमानस्य परिधिः (प्रभुरूप केन्द्रवाला)

[उ]गन्धर्वस्त्वा विश्वावसुः परिदधातु विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिडऽईडितः। [क]इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणो विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिडऽईडितः। [र]मित्रावरुणौ त्वोत्तरतः परिधत्तां ध्रुवेण धर्मणा विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिडऽईडितः॥ ३॥

१. पिछला मन्त्र 'भूतानां पतये' शब्द पर समाप्त हुआ था। मनुष्यों को अपने जीवन का लक्ष्य 'प्राणियों का रक्षक व पालक बनना', रखना चाहिए। जो व्यक्ति जीवन का यह ध्येय बनाता है, प्रभु उसकी रक्षा करते हैं। मन्त्र में कहते हैं कि वह **गन्धर्वः**=(गां वेदवाचं धारयति) वेदवाणी का धारक **विश्वावसुः**=सबको निवास देनेवाला प्रभु **त्वा**=तेरा **परिदधातु**=

धारण करे। जो लोगों का धारण करता है, प्रभु उसका धारण करते हैं। प्रभु इसका धारण इसलिए करते हैं कि **विश्वस्य अरिष्ट्यै**=सबकी अहिंसा के लिए यह प्रवृत्त हुआ है। लोककल्याण में प्रवृत्त मनुष्य की रक्षा के द्वारा प्रभु लोककल्याण करते हैं। यह यज्ञमय जीवनवाला व्यक्ति **यजमानस्य**=सृष्टि-यज्ञ के प्रवर्तक प्रभु की **परिधिः असि**=परिधि (circumference) होता है, अर्थात् प्रभु इसके जीवन का केन्द्र होते हैं। इसकी सारी क्रियाएँ प्रभु के चारों ओर घूमती हैं। खाते-पीते, सोते-जागते, उठते-बैठते यह प्रभु को कभी भूलता नहीं। ३. **अग्निः**=प्रभु को केन्द्र बनाकर चलने से यह निरन्तर आगे बढ़ता चलता है। इस अग्रगति के कारण यह 'अग्नि' है। ४. **इडः**=(इडा अस्य अस्ति) यह वेद-ज्ञानवाला होता है (इडा=A law) अथवा यह जीवन में एक नियमवाला होता है। इसका जीवन नियमित बन जाता है। ५. **ईडितः**=इसी कारण यह (ईड स्तुतौ) लोगों के द्वारा स्तुत होता है अथवा (ईडितमस्यास्तीति) यह अपने जीवन में प्रभु-स्तवनवाला होता है। ६. **इन्द्रस्य**= उस प्रभु का **दक्षिणः बाहुः असि**=यह दाहिना हाथ है, **विश्वस्य अरिष्ट्यै**=लोक की अहिंसा के लिए प्रभु से की जानेवाली क्रियाओं में यह उन क्रियाओं का माध्यम बनता है। **यजमानस्य**= सृष्टियज्ञ के प्रवर्तक प्रभु की यह **परिधिः असि**=परिधि है, अर्थात् तेरी सब क्रियाओं के केन्द्र प्रभु होते हैं। **अग्निः**=यह आगे बढ़नेवाला है, **इडः**=वेदवाणीवाला है, अथवा जीवन में एक नियमवाला है। **ईडितः**=तू स्तुत्य होता है अथवा तू निरन्तर प्रभु का स्तवन करनेवाला बनता है। ७. **मित्रावरुणौ**=प्राणापान अथवा स्नेह की देवता मित्र और द्वेष-निवारण की देवता वरुण **त्वा**=तुझे **उत्तरतः परिधत्ताम्**=उत्कृष्ट स्थिति में स्थापित करें। ये तेरी उन्नति का कारण बनें। तू **ध्रुवेण**=स्तुति-निन्दा से, जीवन व मरण से न विचलित होनेवाले **धर्मणा**=धर्म से **विश्वस्य**=लोक की **अरिष्ट्यै**=अहिंसा के लिए हो, अर्थात् तेरे स्थिर धारणात्मक कर्म लोक का कल्याण करनेवाले हों। ८. **यजमानस्य परिधिः असि**=उस प्रभु की तू परिधि बन, अर्थात् प्रभु तेरे केन्द्र हों। **अग्निः**=तू आगे बढ़नेवाला बन। **इडः**=नियमित जीवनवाला बन अथवा वेदज्ञान को अपनानेवाला हो, **ईडितः**=इस प्रकार तू स्तुतिवाला बन।

९. प्रस्तुत मन्त्र में 'विश्वस्यारिष्ट्यै' आदि मन्त्रभाग तीन बार आया है। इसका भाव यह है कि हमारे शरीर, मन व बुद्धि की सब क्रियाएँ लेकिहित के लिए हों। सभी क्रियाओं में हम प्रभु को केन्द्र जानकर चलें। हमारी 'जाग्रत्', स्वप्न व सुषुप्ति' अवस्था की स्थूल, सूक्ष्म व कारण-शरीरों से चलनेवाली क्रियाएँ लोकहित की साधक हों। हमारा ज्ञान और हमारी क्रिया व श्रद्धा सब लोकहित का साधन बनें।

भावार्थ—मैं इस योग्य बनूँ कि प्रभु मेरा धारण करें। मैं प्रभु का दाहिना हाथ बनूँ और प्राणापान अथवा प्रेम व अद्वेष मेरे उत्थान का कारण बनें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

प्रभु-स्तवन

वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तꣳसमिधीमहि। अग्ने बृहन्तमध्वरे॥ ४॥

गत मन्त्र की समाप्ति 'ईडितः' शब्द पर है, जिसका अर्थ है स्तुतिवाला। वही स्तुति प्रस्तुत मन्त्र में चलती है—हे **कवे**=(कौति सर्वा विद्याः, कु शब्दे) सब विद्याओं का उपदेश देनेवाले, **अग्ने**=सबकी उन्नति के साधक प्रभो! हम **अध्वरे**=अपने इस हिंसा व कुटिलताशून्य जीवन में (ध्वरः हिंसा व कुटिलता) **त्वा**=आपको **समिधीमहि**=दीप्त करने का प्रयत्न करते

हैं, जो आप (क) **वीतिहोत्रम्**=(वीति=प्रकाश, होत्रा=वाक्) प्रकाशमय वाणीवाले हैं। आपकी यह वेदवाणी हमारे जीवन के अन्धकार को नष्ट करके उन्हें प्रकाशमय बनाती है, (ख) **द्युमन्तम्**= ज्योतिर्मय हैं। 'आदित्यवर्णम्' सूर्य के समान आपका वर्ण है। इस सूर्य के समान ही क्या? **दिवि सूर्यसहस्रस्य**=हज़ारों सूर्यों की समुदित ज्योति के समान आपकी ज्योति है। वस्तुतः आपकी ज्योति से ही तो यह सब पिण्ड ज्योतिर्मय हो रहे हैं। **तस्य भासा सर्वमिदं विभाति**, (ग) **बृहन्तम्**=आप बृहत् हैं (बृहि वृद्धौ), सदा वर्धमान है। आप विशाल-से-विशाल हैं। सारे प्राणियों के आप निवास-स्थान हैं। सर्वत्र समरूप से आप अवस्थित हैं।

इस प्रकार आपका स्तवन करता हुआ मैं भी प्रकाशमय वाणीवाला (वीतिहोत्र) बनूँ। मेरी वाणी सदा लोगों के ज्ञान की वृद्धि का हेतु बने। मेरा जीवन प्रकाशमय हो (द्युमान्), मेरा हृदय विशाल हो। आपकी वेदवाणी का प्रसार करता हुआ मैं भी कवि बनूँ। निरन्तर उन्नति-पथ पर चलता हुआ और औरों को आगे ले-चलता हुआ मैं भी आपकी भाँति अग्नि बनूँ।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन हमारे सामने इस ऊँचे लक्ष्य को रक्खे कि हम 'प्रकाशमय वाणीवाले, ज्योतिर्मय जीवनवाले और विशाल हृदय' बनें। हम आगे बढ़नेवाले 'अग्नि' हों और विद्या का प्रकाश करनेवाले 'कवि' हों।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—निचृद्ब्राह्मीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

देव-सदन

स॒मिद॑सि॒ सूर्य॑स्त्वा पु॒रस्ता॑त् पातु॒ कस्या॑श्चिद॒भिश॑स्त्यै।
स॒वि॒तुर्बा॒हू स्थ॒ऽऊर्ण॑म्रदसं॒ त्वा॒ स्तृ॒णामि स्वास॒स्थं दे॒वेभ्य॒ऽआ
त्वा॒ वस॑वो रु॒द्राऽआ॑दि॒त्याः स॑दन्तु॥५॥

१. गत मन्त्र में स्तोता ने प्रभु का स्तवन किया था कि हे प्रभो! आप द्युमान् हो। इस स्तोता ने इस द्युमान् प्रभु को अपने में समिद्ध करने का प्रयत्न किया था। उसी प्रयत्न के परिणामस्वरूप यह स्वयं दीप्त हो उठा है। मन्त्र में कहते हैं कि **समित् असि**=हे स्तोतः! तू उस प्रभु को समिद्ध करता हुआ स्वयं समिद्ध हो उठा है—तू चमकनेवाला—दीप्त हो गया है। प्रभु-ध्यान के समय **पुरस्तात् सूर्यः**=सामने वर्त्तमान सूर्य **त्वा**=तुझे **कस्याश्चित्**=किसी भी **अभिशस्त्यै**=हिंसा से **पातु**=बचाए। हम प्रभु का ध्यान कर रहे हों और सामने उदित होता हुआ यह 'हिरण्यपाणि सवितादेव' अपनी किरणों से हमारे शरीरों में स्वर्ण के इञ्जैक्शन लगाता हुआ रोगकृमियों का संहार करे। २. इस प्रकार प्रभु का ध्यान करनेवाले पति-पत्नी से कहते हैं कि आप दोनों **सवितुः**=इस ब्रह्माण्ड के उत्पादक प्रभु के **बाहू स्थः**=बाहु हो, अर्थात् पति-पत्नी दोनों को प्रभु से की जानेवाली क्रियाओं का माध्यम बनना चाहिए। यही समझना चाहिए कि सब क्रियाएँ प्रभु ही कर रहे हैं, हम तो निमित्तमात्र हैं।

३. अब पति-पत्नी में पति के लिए कहते हैं कि **ऊर्णम्रदसम्**=(ऊर्ण आच्छादने) दूसरों के दोषों का आच्छादन करनेवाले नकि उद्घोषणा करनेवाले, अत्यन्त कोमल स्वभाववाले **त्वा**=तुझे **स्तृणामि**=दिव्य गुणों से आच्छादित करता हूँ, जो व्यक्ति पापों की चर्चा न करके शुभ की चर्चा करता है, वह स्वयं भी दिव्य गुणोंवाला बनता है। ४. **देवेभ्यः स्वासस्थम्**=दिव्य गुणों के लिए उत्तम आश्रयस्थल (सु+आस+स्थ) **त्वा**=तुझे **वसवः**, **रुद्राः आदित्याः**=वसु,

रुद्र और आदित्य **सदन्तु**=अपने बैठने का स्थान बनाएँ, अर्थात् तू सब देवों का निवास-स्थान बन। जो व्यक्ति औरों के अवगुणों को देखता रहता है वह देवों का आश्रयस्थान न बन सब अशुभों का आगार बन जाता है। गुणों को देखनेवाला गुणों की खान बन जाता है।

भावार्थ—प्रभु का ध्यान करते हुए हम दीप्तिमय बनते हैं। दोषों को न देखते हुए हम गुणों के पात्र बनते हैं।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—ब्राह्मीत्रिष्टुप्[क], निचृत्त्रिष्टुप्[र]। **स्वरः**—धैवतः॥

घृताची अथवा जुहू, उपभृत्, ध्रुवा

[क] घृताच्यसि जुहूर्नाम्ना सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सदऽआसीद घृताच्यस्युपभृन्नाम्ना सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सदऽआसीद घृताच्यसि ध्रुवा नाम्ना सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सदऽआसीद [र] प्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सदऽआसीद। ध्रुवाऽअसदन्नृतस्य योनौ ता विष्णो पाहि पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिं पाहि मां यज्ञन्यम्॥ ६॥

पिछले मन्त्र के अन्त में पति के जीवन का चित्रण था। प्रस्तुत मन्त्र में पत्नी के जीवन का उल्लेख है—१. **घृताची असि**=तू घृताची है। घृत शब्द के दो अर्थ हैं—मल का क्षरण और दीप्ति। अञ्च के भी दो अर्थ हैं 'गति और पूजन'। मलावरोध से गति रुकती है। पत्नी घर में सब मलों को दूर करके सामान्य कार्यक्रम को चलाये रखती है, साथ ही ज्ञान की दीप्ति से प्रभु का पूजन करनेवाली होती है। ज्ञानी ही प्रभु का आत्मतुल्य प्रिय भक्त होता है, अतः पत्नी ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान को प्राप्त करने का प्रयत्न करती है। २. **नाम्ना जुहूः**=तू नाम से 'जुहू' है। 'हु दानादानयोः' दान व आदान करनेवाली है। घर में पति को कमाना है और सब लेन-देन, संग्रह व व्यय पत्नी को ही करना होता है। **अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत्** (मनु०)। दूसरे शब्दों में घर की अर्थसचिव पत्नी होती है। हु धातु का अर्थ 'दानादनयोः' भी मिलता है। तब 'जुहू' शब्द की भावना यह होती है कि जो सबको देकर—खिलाकर पश्चात् यज्ञशिष्ट को खाती है। ३. **सा**=वह तू **प्रियेण धाम्ना**=तृप्ति देनेवाले तेज के साथ **इदं प्रियं सदः**=इस प्रेम के वातावरणवाले घर में **आसीद**=आसीन हो। पत्नी को तेजस्वी होना है। उसका यह तेज उसे उग्र स्वभाव का न बना दे। उसे अपनी तेजस्विता से घर के सारे वातावरण को अत्यन्त कान्त बनाना है। घर एक प्रिय घर हो। घर में किसी प्रकार के कलह का वातावरण न हो।

४. **घृताची असि**=तू मलों व विघ्नों को दूर करके सामान्य कार्यक्रम को चलाने-वाली है और ज्ञान-यज्ञ से प्रभु का उपासन करनेवाली है। ५. **नाम्ना उपभृत्**=उपभृत् नाम-वाली है। सबको पालित व पोषित करनेवाली है। ६. **सा**=वह तू **प्रियेण धाम्ना**=प्रिय तेज से युक्त हुई-हुई **इदं प्रियं सदः**=इस प्रेमपूर्ण घर में **आसीद**=आसीन हो। ७. **घृताची असि**=तू मलों को दूर करके क्रिया-प्रवाह को चलानेवाली है और ज्ञान के द्वारा प्रभु का पूजन करनेवाली है। ८. **नाम्ना ध्रुवा**=तू ध्रुवा नामवाली है। अन्तरिक्ष में ध्रुव तारे के समान तू पतिगृह में ध्रुव होकर रहनेवाली है, पतिगृह से डिगनेवाली नहीं है। वस्तुतः पत्नी को पिता के घर से आकर फिर पितृगृह में जाने का विचार ही नहीं करना चाहिए। उसे पतिगृह को ही अपना घर समझना चाहिए। उसे ही तो इस घर को बनाना है। ८. **सा**=वह तू **प्रियेण धाम्ना**=प्रिय तेज से **इदं प्रियं सदः**=इस प्रिय लगनेवाले घर में **आसीद**=विराज। निश्चय से **प्रियेण धाम्ना**=अपने इस प्रिय तेज से **प्रियं सदः आसीद**=इस प्यारे घर में ही विराजमान

हो। दो बार कथन दृढ़ता प्रकट करने के लिए है।

१०. इस प्रकार पत्नी को 'शरीर, मन व बुद्धि' से घृताची बनना है। उसे त्रिविध तेज को प्राप्त करके घर की बड़ी उत्तम व्यवस्था करनी है। घर के सारे वातावरण को सुन्दर बनाना बहुत कुछ पत्नी का ही कर्त्तव्य है। उसे घर की व्यवस्था को प्रेम व तेज से ऐसा सुन्दर बनाना है कि घर में सब कार्य ठीक समय पर व ठीक स्थान में हों। यह घर **ऋतस्य**=सत्य का घर बन जाए। इसमें सब बातें ठीक (ऋत=right) ही हों। इस **ऋतस्य योनौ**=सुव्यवस्थित घर में घर के सब व्यक्ति **ध्रुवा असदन्**=ध्रुव होकर रहें।

११. इस उत्तम पत्नी को पाकर पति प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **विष्णो**=सर्वव्यापक प्रभो! **ताः पाहि**=आप इस 'ऋतयोनि' में निवास करनेवाली प्रजाओं की रक्षा कीजिए। यह रक्षा किया गया सत्य इनकी रक्षा करनेवाला हो। **पाहि यज्ञम्**=आप ऐसी कृपा कीजिए कि इस घर में यज्ञ सदा सुरक्षित हो, यज्ञ का इस घर में विच्छेद न हो। **पाहि यज्ञपतिम्**=यज्ञ की रक्षा करनेवाले की आप रक्षा कीजिए। **'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे'** से बना पत्नी शब्द सुव्यक्तरूप से कह रहा है कि यज्ञ की रक्षा का उत्तरदायित्व बहुत कुछ पत्नी पर ही है। उस यज्ञ की रक्षिका (यज्ञ-पति) की आप रक्षा कीजिए और **माम्**=मुझ **यज्ञन्यम्**=सब द्रव्यों को जुटाने के द्वारा यज्ञ को आगे चलानेवाले को भी **पाहि**=सुरक्षित कीजिए।

भावार्थ—पत्नी को विघ्नों को दूर करके क्रिया-प्रवाह को चलानेवाली बनना है, ज्ञान-दीप्ति से ज्ञानधन प्रभु की उपासना करनी है। दान और आदान की क्रिया को ठीक रखना है। सबको खिलाकर खाना है। सबकी आवश्यकताओं को जानकर सभी का पालन करना है। घर में ध्रुव होकर रहना है। तेज को धारण करना है, परन्तु उग्र नहीं बनना। घर को प्रेम के वातावरण से पूर्ण करना है। घर में सब कार्य व्यवस्थित रूप से हों, ऐसी व्यवस्था करनी है और यज्ञ को विच्छिन्न नहीं होने देना है।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

नमः+स्वधा

अग्ने वाजजिद् वाजं त्वा सरिष्यन्तं वाजजितꣳ सम्मार्ज्मि।
नमो देवेभ्यः स्वधा पितृभ्यः सुयमे मे भूयास्तम्॥ ७॥

गृहपति को प्रभु प्रेरणा देते हैं कि **अग्ने**=हे घर की उन्नति के साधक! **वाजजित्**=सब शक्तियों व धनों को जीतनेवाले **वाजं सरिष्यन्तम्**=शक्ति व धन की ओर निरन्तर बढ़नेवाले (सृ गतौ) और इस प्रकार **वाजजितम्**=शक्तियों और धनों के विजेता **त्वा**=तुझे **सम्मार्ज्मि**=मैं अच्छी प्रकार शुद्ध करता हूँ। तेरे कारण घर की सदा उन्नति हो। घर में निर्बलता व निर्धनता का स्थान न हो। तू निरन्तर शक्ति व धन की ओर बढ़नेवाला हो तथा इन्हें प्राप्त करनेवाला हो। इस उद्देश्य से मैं तेरे जीवन को पवित्र करता हूँ। जीवन में वासनाओं के मल का प्रवेश होते ही सब उन्नति समाप्त हो जाती है, निर्बलता व निर्धनता का प्रवेश होने लगाता है। धीरे-धीरे शक्ति का ह्रास होकर जीवन विनष्ट हो जाता है।

यह विलास से बचनेवाला गृहपति प्रभु से प्रार्थना करता है कि २. **मे**=मेरे इस **सु-यमे**=उत्तम नियम-मर्यादा व आत्म-संयमवाले घर में (क) **देवेभ्यः नमः**=देवों के लिए नमन और (ख) **पितृभ्यः**=पितरों के लिए-वृद्ध माता-पिता आदि के लिए **स्वधा**=अन्न **भूयास्तम्**=सदा बने रहें। जिस घर में लोगों का जीवन विलासमय न होकर शक्ति का

सम्पादन करनेवाला होता है, वह घर 'सु-यम'=उत्तम आत्मसंयमवाला होता है। इस घर के दो लक्षण हैं। एक तो इस घर में देवपूजा सदा बनी रहती है। सर्वमहान् देव प्रभु का उपासन होता है, वायु आदि देवों की पूजा के लिए 'देवयज्ञ' चलता है और घर का नियम यह होता है कि माता, पिता, आचार्य व अतिथियों को देव समझकर उनका उचित आदर सदा बना रहता है। इस घर का दूसरा प्रमुख गुण यह होता है कि इसमें वृद्ध माता-पिता के लिए प्रेमपूर्वक अन्न प्राप्त कराया जाता है। ठीक बात तो यह है कि उन्हें अन्न प्राप्त कराके दूसरे लोग उनके पश्चात् ही खाते हैं। वस्तुतः इस पितृसेवा से छोटी सन्तानों को सुन्दर शिक्षण प्राप्त होता है और इस प्रकार इन बड़ों की सेवा से हम अपना ही धारण करते हैं। 'स्व-धा' शब्द की यही भावना है।

भावार्थ—हमारे घर 'सु-यम' हों। उनमें देवों को नमन और पितरों को स्वधा प्राप्त हो।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—विराड्ब्राह्मीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

प्रभु की शरण में

अस्कन्नमद्य देवेभ्यऽआज्यꣳ संभ्रियासमङ्घ्रिणा विष्णो मा त्वावक्रमिषं वसुमतीमग्ने ते च्छायामुपस्थेषं विष्णो स्थानमसीतऽइन्द्रो वीर्यमकृणोदूर्ध्वोऽध्वरऽआस्थात्॥ ८॥

पिछले मन्त्र में प्रार्थना थी कि हमारे व्यवस्थित घर में 'नमः देवेभ्यः' तथा 'स्वधा पितृभ्यः'—ये दो कार्य सदा चलते रहें। 'देवेभ्यः नमः' ही सामान्य भाषा में 'देवयज्ञ' कहलाता है। उस देवयज्ञ का वर्णन प्रस्तुत मन्त्र में है। गृहस्थ की प्रार्थना है—१. मैं **अद्य**=आज ही, आज से ही **देवेभ्यः** वायु आदि देवों के लिए **आज्यम्**=घृत को **अंघ्रिणा**=(पादः पदंघ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्) अपनी गति व पुरुषार्थ से **अस्कन्नम्**=अविच्छिन्न रूप से **सम्भ्रियासम्**=प्राप्त कराऊँ। 'स्कन्दिर् गतिशोषणयोः' धातु से बना हुआ 'अस्कन्नम्' क्रियाविशेषण यह सूचित करता है कि अग्नि आदि देवों के लिए मेरा घृत प्राप्त कराने का कार्य शुष्क न हो जाए—बीच में ही समाप्त न हो जाए। मैं यह समझ लूँ कि इस कार्य से मेरी मुक्ति मृत्यु के साथ ही होनी है। यह अग्निहोत्र 'जरामर्य' सत्र है। २. हे **विष्णो**=सर्वव्यापक प्रभो! मैं **त्वा**=तेरा **मा अवक्रमिषम्**=कभी उल्लंघन न करूँ। मैं सदा आपकी आज्ञा का पालन करनेवाला बनूँ। हे **अग्ने**=मुझे निरन्तर आगे ले-चलनेवाले प्रभो! मैं **ते**=तेरी **वसुमतीम्**=उत्तम निवास देनेवाली **छायाम्**=शरण में **उपस्थेषम्**=स्थित होऊँ। वास्तविकता यह है कि **विष्णो**=हे सर्वव्यापक प्रभो! **स्थानम् असि**=ठहरने का स्थान तो आप ही हो। सचमुच जीव को आपका ही आधार है। प्रकृति का आधार तो अत्यन्त अविश्वसनीय ही है, सांसारिक बन्धुओं का आधार भी बहुत कुछ स्वार्थमय है।

३. **इतः**=यहाँ से ही—इस प्रभुरूप आधार से ही **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव **वीर्यम्**=शक्ति को **अकृणोत्**=सम्पादित करता है। जीव जितना-जितना प्रभु के सम्पर्क में आता है, उतना-उतना ही शक्तिशाली बनता है। सम्पूर्ण शक्ति का स्रोत प्रभु ही हैं। ४. हे प्रभो! आप ऐसी कृपा करो कि हमारे जीवनों में **अध्वरः**=अहिंसा व अकुटिलता से युक्त यज्ञ **ऊर्ध्वः**=सबसे ऊपर **आस्थात्**=स्थित हो, अर्थात् हम यज्ञ को अपने जीवन में सर्वोच्च स्थान दें। यह हमारा प्रथम (First and foremost) सर्वोच्च हो। हम शक्ति प्राप्त करें और उसका विनियोग यज्ञों में करें।

भावार्थ—हमारा जीवन एक अविच्छिन्न यज्ञ हो। हम प्रभु की आज्ञा का उल्लंघन न करें। हम प्रभु की शरण में स्थित हों, शक्ति प्राप्त करें और उस शक्ति का यज्ञात्मक कर्मों में विनियोग करें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—अग्निः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः॥

होत्रं, दूत्यम् (देवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ)

अग्ने वेर्होत्रं वेर्दूत्युमवतां त्वां द्यावापृथिवीऽअव त्वं द्यावापृथिवी स्विष्टकृद् देवेभ्युऽइन्द्रऽआज्येन हुविषा भूत्स्वाहा सं ज्योतिषा ज्योतिः॥ ९॥

प्रभु अपने उपासक से कहते हैं कि १. **अग्ने**=हे उन्नति-पथ पर चलनेवाले जीव! **होत्रम्**=अग्निहोत्र को—देवयज्ञ को—देवताओं को देकर यज्ञशेष के खाने की वृत्ति को तू **वेः**=अपने अन्दर प्रेरित कर (वी=गति, वीर गतौ)। तू सदा यज्ञ करनेवाला बन। २. **दूत्यम्**=दूत कर्म को तू **वेः**=अपने में प्रेरित कर। जैसे दूत सन्देश-वहन का काम करता है, उसी प्रकार तू प्रभु के सन्देश-वहन के कार्य को करनेवाला बन। प्रभु की दी हुई इस वेदवाणी को पढ़ता हुआ तू इसका सन्देश औरों को सुनानेवाला बन। वस्तुतः ब्रह्मयज्ञ तो यही है। ३. इन यज्ञों को ठीक से चलाने के लिए **द्यावापृथिवी**=(मूर्ध्नो द्यौः, पृथिवी शरीरम्) मस्तिष्क व शरीर **त्वा**=तेरा **अवताम्**=रक्षण करें। **त्वम्**=तू भी **द्यावापृथिवी**=इन मस्तिष्क व शरीर का **अव**=रक्षण कर। तू इनका ध्यान कर, ये तेरा ध्यान करें। स्वस्थ मस्तिष्क व शरीर मनुष्य की सब क्रियाओं के साधक होते हैं, अतः मनुष्य को भी इनका पूरा ध्यान रखना है।

४. मस्तिष्क व शरीर को स्वस्थ रखनेवाला **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **देवेभ्यः**=अग्नि, वायु आदि देवों के लिए **आज्येन**=घृत से तथा **हविषा**=हविर्द्रव्यों से, सामग्री आदि से **स्विष्टकृत्**=(सु+इष्ट+कृत्) उत्तम यज्ञों को करनेवाला **भूत्**=हो। मस्तिष्क व शरीर के स्वास्थ्य का रहस्य 'इन्द्र' शब्द में व्यक्त हो रहा है। 'इन्द्रः' का अर्थ है जितेन्द्रिय। जितेन्द्रियता ही स्वास्थ्य का मूल-मन्त्र है। यह जितेन्द्रिय पुरुष कभी स्वादवश न खाएगा और न रोगी होगा। **'रसमूला हि व्याधयः'**—स्वाद ही बीमारियों का मूल है। **स्वाहा**=यह 'स्व' स्वार्थ का 'हा'=त्याग तो उसमें सदा बना ही रहे। ५. हे इन्द्र! तू **ज्योतिषा** =ज्योति के द्वारा **ज्योतिः सम्** (गच्छस्व)=ज्योति को प्राप्त करनेवाला बन। सदा ज्ञानियों के सम्पर्क में आकर तू अपने ज्ञान को बढ़ा और ज्ञानवृद्ध होकर इस ज्ञान के सन्देश को दूसरों तक पहुँचानेवाला बन। इस प्रकार तेरा जीवन 'होत्र व दूत्य' से परिपूर्ण हो।

भावार्थ—हम स्वस्थ शरीरवाले बनकर यज्ञ आदि कर्मों में निरत रहें और स्वस्थ मस्तिष्कवाले बनकर प्रभु की ज्ञान-ज्योति को प्राप्त करने व करानेवाले बनें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—इन्द्रः। छन्दः—भुरिग्ब्राह्मीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

शक्ति+धन+इच्छा

मयीदमिन्द्रऽइन्द्रियं दधात्वस्मान् रायो मघवानः सचन्ताम्।
अस्माकꣳ सन्त्वाशिषः सत्या नः सन्त्वाशिषऽउपहूता पृथिवी
मातोप मां पृथिवी माता ह्वयतामग्निराग्नीध्रात् स्वाहा॥ १०॥

१. गत मन्त्र के होत्र व दूत्य तभी ठीक चल सकते हैं, जब शरीर में शक्ति हो।

शक्ति के साथ धन भी आवश्यक है। धनाभाव में द्रव्यसाध्य ये यज्ञ कैसे चल सकते हैं? द्रव्य भी हो, परन्तु इच्छा न हो तो भी यज्ञादि उत्तम कर्मों का प्रवर्तन नहीं होता, अतः प्रस्तुत मन्त्र में 'शक्ति, धन व सदिच्छा' की प्रार्थना की गई है। २. **इन्द्रः**=सर्वशक्ति-सम्पन्न, परमैश्वर्यवान् प्रभु **मयि** =मुझमें **इदं इन्द्रियम्**=इस शक्ति को **दधातु**=स्थापित करे। मेरी एक-एक इन्द्रिय पूर्ण आयुष्यपर्यन्त शक्ति-सम्पन्न बनी रहे, जिससे मैं उत्तम कर्मों के करने में सक्षम बना रहूँ। ३. उन यज्ञादि उत्तम कर्मों के लिए आवश्यक **रायः**=धन **अस्मान्**=हमें **सचन्ताम्**=प्राप्त हों, परन्तु ये धन **मघवानः**=(मा अघ) पाप के लवलेश से भी शून्य हों। हमारे धन पवित्र हों और यज्ञादि पवित्र कार्यों के वे साधन बनें। ४. शक्ति और धन के होने पर **अस्माकं आशिषः सन्तु**=हममें विविध कार्यों के लिए इच्छाएँ हों। इन इच्छाओं के अभाव में वे धन किसी भी कार्य में विनियुक्त न होकर हमारे कोशों में ही बन्द रहेंगे। कृपण का धन सदा धन ही बना रहता है, वह उत्तम कार्यों में विनियुक्त होकर उसे 'धन्य' कहलाने योग्य नहीं बनता, अतः हममें इच्छाएँ हों, परन्तु **नः**=हमारी ये **आशिषः**=इच्छाएँ **सत्याः सन्तु**=सत्य हों। अशुभ इच्छाएँ हमारे धनों का विनियोग अशुभ कार्यों में करवाकर हमारे विनाश का कारण ही बनेंगी।

४. **पृथिवी माता**=यह भूमिरूप माता **उपहूता**=मेरे द्वारा पुकारी जाए और **माम्**=मुझे **पृथिवी माता**=यह भूमि माता **उप**=समीप **ह्वयताम्**=पुकारे। मैं पृथिवी को माता समझूँ और पृथिवी मुझे पुत्र-तुल्य प्रेम करे। अध्यात्म में 'पृथिवी' शरीर है। इस शरीर को मैं माता समझूँ। माता के समान यह शरीर मेरे लिए आदरणीय हो। मैं इसकी कभी उपेक्षा न करूँ। शरीर को जितना हम पृथिवी के सम्पर्क में रखेंगे, उतना ही यह स्वस्थ रहेगा। 'शरीर पर भस्म रमाना, अखाड़े की शुद्ध मिट्टी में लोट-पोट होना, भूमि पर सोना, नङ्गे पाँव चलना'—ये सब बातें शरीर के स्वास्थ्य का कारण बनती हैं। हाँ, इन सब बातों को बुद्धिपूर्वक करना चाहिए। पृथिवी से उत्पन्न वानस्पतिक पदार्थों का प्रयोग स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है। जैसे माता बच्चे का अपने दूध से पोषण करती है, उसी प्रकार यह पृथिवी माता अपने ओषधिरसों से हमारा पालन करती है। ५. 'आग्नीध्र' शब्द द्यावापृथिवी के लिए प्रयुक्त होता है। **'द्यावापृथिव्यौ वा एष यदाग्नीध्रः'**—शत० १।८।१।४१। इस **आग्नीध्रात्**=अग्नि के आधारभूत पृथिवी से **अग्निः**=पृथिवी का यह मुख्य देव अग्नि **स्वाहा**=मुझमें सुहुत हो (सु+हा)। पृथिवीस्थ देवों का मुख्य देवता अग्नि है। इस शरीर में भी मुख्यता इस अग्निदेव की ही है। जब तक यह है तभी तक जीवन है। यह शान्त हुआ और जीवन भी समाप्त हो जाता है। मुझमें यह अग्नि बना रहे और मैं शक्ति, धन तथा सदिच्छाओं का सम्पादन करता हुआ यज्ञादि उत्तम कार्यों में लगा रहूँ।

भावार्थ—मुझमें शक्ति हो, सुपथ से अर्जित धन हो। मेरा धन शुभ इच्छाओं से पूर्ण हो। मैं इस पृथिवी माता का प्रिय बनूँ। मुझमें अग्नि अर्थात् जीवन हो, जिससे मेरे द्वारा यज्ञादि कार्य सम्पन्न हो सकें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—द्यावापृथिवी। छन्दः—ब्राह्मीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

स्वस्थ मस्तिष्क

उपहूतो द्यौष्पितोप मां द्यौष्पिता ह्वयतामग्निराग्नीध्रात् स्वाहा।
देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्।
प्रतिगृह्णाम्यग्नेष्ट्वास्येन प्राश्नामि॥ ११॥

१. गत मन्त्र 'पृथिवी माता' के उपाह्वान के साथ समाप्त हुआ था। प्रस्तुत मन्त्र द्यौष्पिता के आह्वान से आरम्भ होता है। **द्यौः पिता**=पितृस्थानीय यह द्युलोक **उपहूतः**=मेरे द्वारा समीप पुकारा जाता है। यह **द्यौःपिता**=पितृस्थानीय द्युलोक **माम्**=मुझे **उपह्वयताम्**=अपने समीप पुकारे। मैं द्युलोक के समीप होऊँ और द्युलोक मेरे समीप हो। अध्यात्म में यह 'द्युलोक' मस्तिष्क है। मैं मस्तिष्क के समीप, मस्तिष्क मेरे समीप, अर्थात् मेरा मस्तिष्क सदा स्व-स्थ हो। मेरी बुद्धि मुझमें ही रहे, कहीं घास चरने न चली जाए। **अग्नीध्रात्** =सूर्यरूप अग्नि के आधार-स्थान इस द्युलोक से **अग्निः**=सूर्य के समान ज्ञान का प्रकाश **स्वाहा** =मुझमें सुहुत हो। मैं स्वस्थ मस्तिष्कवाला बनूँ और मेरे ज्ञान का प्रकाश सूर्य के प्रकाश के समान चमकनेवाला हो।

२. स्वस्थ मस्तिष्कवाला बनकर मैं **त्वा**=प्रत्येक पदार्थ को **सवितुः देवस्य**=उस उत्पादक देव की **प्रसवे** =अनुज्ञा में **प्रतिगृह्णामि**=ग्रहण करूँ। प्रभु के आदेशानुसार प्रत्येक पदार्थ का माप-तोलकर सेवन करूँ। मेरा प्रयोग मात्रा में हो, जिससे वे पदार्थ मेरी बल-वृद्धि का कारण बनें। ३. **अश्विनोर्बाहुभ्याम्**=मैं प्रत्येक पदार्थ को प्राणापान के प्रयत्न से लूँ। बिना प्रयत्न के प्राप्त पदार्थ मेरे ह्रास का ही कारण बनेगा। ४. **पूष्णो हस्ताभ्याम्** =मैं प्रत्येक पदार्थ को पूषा के हाथों से लूँ, अर्थात् पोषण के दृष्टिकोण से उसका प्रयोग करूँ। स्वाद या सौन्दर्य मेरे मापक न हों, उपयोगिता ही मेरी कसौटी हो। ५. अन्तिम बात यह कि **त्वा**=तुझे **अग्नेः आस्येन**=अग्नि के मुख से **प्राश्नामि**=खाता हूँ। पहले तुझे अग्नि को खिलाता हूँ, फिर अवशिष्ट का ही ग्रहण करता हूँ, अर्थात् मैं यज्ञशेष का ही सेवन करता हूँ।

भावार्थ—स्वस्थ मस्तिष्कवाला व्यक्ति संसार में प्रत्येक पदार्थ का प्रयोग (क) प्रभु के आदेशानुसार मात्रा में करता है, (ख) प्रयत्नपूर्वक अर्जित पदार्थ का ही सेवन करने की कामना करता है, (ग) उसका मापक पोषण होता है, न कि स्वाद और (घ) अन्त में वह यज्ञशेष को ही खानेवाला होता है।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—भुरिग्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

सृष्टि-यज्ञ का उद्देश्य

एतं ते देव सवितर्यज्ञं प्राहुर्बृहस्पतये ब्रह्मणे।
तेन यज्ञमव तेन यज्ञपतिं तेन मामव॥१२॥

हे **सवितः**=सारे ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करनेवाले—सृष्टि-यज्ञ के प्रवर्तक! **देव**=सब साधनों को देनेवाले, ज्ञान की ज्योति से दीप्त तथा उपासकों को ज्ञान-ज्योति से द्योतित करनेवाले (देवो दानाद्वा, दीपनाद्वा द्योतनाद्वा) प्रभो! **ते**=आपके **एतम् यज्ञम्**=इस सृष्टि-यज्ञ को **बृहस्पतये**=(बृहतः पतिः) विशाल हृदय के पति के लिए और **ब्रह्मणे**=उत्कृष्ट सात्त्विक गतिवालों में भी सर्वप्रथम ब्रह्मा के लिए **प्राहुः**=कहते हैं, अर्थात् आपने इस सृष्टिरूप यज्ञ का प्रवर्तन इसलिए किया है कि (क) इसमें जीव उन्नति करते-करते अपने हृदय को अत्यन्त विशाल बनाये। असुर स्वार्थी हैं, देव दानवृत्तिवाले हैं। उन देवों का यह बृहस्पति पुरो-हित है, model है, आदर्श है। हमें इस सृष्टि में बृहस्पति बनना है। यह अपनी ही रक्षा में नहीं लगा रहता, यह इन बड़े-बड़े सभी लोकों का पालन करनेवाला होता है। २. इस सृष्टि-यज्ञ का दूसरा उद्देश्य यह है कि जीव ब्रह्मा बन सके। तमोगुण से ऊपर उठकर रजोगुण में, रजोगुण से ऊपर उठकर सत्त्वगुण में और सत्त्वगुण में भी यह आगे बढ़कर

उत्कृष्ट सात्त्विक जीवनवाला बने। इनमें भी सर्वप्रथम स्थान में 'ब्रह्मा' बने।

हे प्रभो! आप **तेन**=इसी उद्देश्य से कि मैं बृहस्पति व ब्रह्मा बन सकूँ **यज्ञं अव**=मुझमें यज्ञ की भावना को सुरक्षित कीजिए। **तेन**=इसी उद्देश्य से **यज्ञपतिम्**=यज्ञ का पालन करनेवाले मेरी रक्षा कीजिए। **तेन**=इसी उद्देश्य से **मां अव**=मेरा पालन कीजिए, अर्थात् यदि मुझमें 'बृहस्पति व ब्रह्मा' बनने की भावना न हो तब तो मेरा यह जीवन व्यर्थ ही है, उस जीवन की रक्षा के लिए मैं क्या प्रार्थना करूँ? हे प्रभो! मैं आपकी कृपा से आपसे किये जानेवाले इस सृष्टि-यज्ञ के उद्देश्य को समझूँ और इसमें विशाल हृदय व उत्तम सात्त्विक व्यक्ति की श्रेणी में सर्वप्रथम बनने का प्रयत्न करूँ। **'सत्त्वस्य लक्षणं ज्ञानम्'**—सत्त्व का लक्षण ज्ञान है, अतः मैं ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञानवाला 'चतुर्वेदवेत्ता ब्रह्मा' बन पाऊँ। मैं चारों विद्याओं का ज्ञाता होऊँ—प्रकृति विद्या और जीवविद्या (natural and social sciences) में निपुण बनने के साथ मैं आध्यात्मिक विद्या में (Metaphysics) तो निपुण बनूँ ही, इनके अतिरिक्त आयुर्वेद (Medical science) और युद्ध-विद्या (Science of war) में भी नैपुण्य प्राप्त करूँ। ऋग्वेद 'प्रकृति-विद्या' का वेद है, यजुर्वेद 'जीवविद्या' का, साम 'अध्यात्मविद्या' का प्रतिपादक है और अथर्व 'आयुर्वेद व युद्धविद्या' का उल्लेख करता है। मैं इन चारों का वेत्ता (ब्रह्मा) बन पाऊँ। यही तो इस जीवन की सार्थकता है।

भावार्थ—हम सृष्टि-यज्ञ के उद्देश्य को समझें और विशाल हृदय तथा ज्ञान-सम्पन्न बनने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—बृहस्पतिः। छन्दः—विराड्जगती। स्वरः—निषादः॥

ओम् का प्रतिष्ठापन

मनो जूतिर्जुषतामाज्यस्य बृहस्पतिर्यज्ञमिमं तनोत्वरिष्टं यज्ञꣳसमिमं दधातु। विश्वे देवास॑ऽइह मादयन्तामो३म्प्रतिष्ठ॥ १३॥

१. इस सृष्टि-यज्ञ में हमें बृहस्पति और ब्रह्मा बनना है। **मनः**=मेरा मन **जूतिः**=वेग का **जुषताम्**=सेवन करे। मेरा मन संकल्परूप क्रिया से शून्य न हो। वेगशून्य मन से मैं इस जीवन-यात्रा को क्या पूरा कर पाऊँगा, क्या बृहस्पति और ब्रह्मा बनूँगा? २. मेरा मन **आज्यस्य**=घृत—ज्ञान-दीप्ति का **जुषताम्**=सेवन करे। ३. **बृहस्पतिः**=विशाल हृदय का पति बनकर मनुष्य **इमम्**=इस **अरिष्टम्**=हिंसा से बचानेवाले **यज्ञम्**=यज्ञ को **तनोतु**=विस्तृत करे। जब मनुष्य अपने हृदय को विशाल बनाता है और प्राणिमात्र को अपनी 'मैं' में सम्मिलित कर लेता है तब उसकी वृत्ति यज्ञिय बनती है। यह यज्ञिय वृत्ति मनुष्य को अहिंसित रखती है। यज्ञ से विपरीत भोग या विलास की वृत्ति उसे विनाश की ओर ले-जाती है। इसलिए इस विशाल हृदय मनुष्य को चाहिए कि **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ की भावना को **सन्दधातु**=सम्यक्तया धारण करे।

४. **इह**=इस यज्ञिय वृत्तिवाले मनुष्य के अन्दर **विश्वे देवासः**=सब देव **मादयन्ताम्**=हर्षपूर्वक निवास करें, अर्थात् इस व्यक्ति के जीवनोद्यान में दिव्य गुणरूप पुष्प सदा खिले हुए हों। जितना-जितना इस व्यक्ति में दिव्य गुणों का विकास होगा, उतना-उतना ही यह व्यक्ति प्रभु के आतिथ्य के लिए तैयार हो जाएगा। अब दिव्य गुणों के विकास के पश्चात् कहते हैं कि ५. **ओ३म्**=हे सर्वरक्षक प्रभो! **प्रतिष्ठ**=आप अब इस व्यक्ति के हृदय-मन्दिर में प्रतिष्ठित हो जाइए। जिस प्रकार किसी महान् व्यक्ति को आना हो तो उससे पूर्व उसके

निचले व्यक्ति आ जाते हैं और उसके आने के लिए उसके सारे वातावरण को तैयार कर देते हैं। इसी प्रकार यहाँ देव उपस्थित होकर उस महादेव के आने के लिए सब सम्भारों को जुटा देते हैं। हृदय-मन्दिर में ब्रह्म का स्थापन करनेवाला ही ब्रह्मा है।

भावार्थ—मेरा मन क्रियाशून्य न हो, प्रतिक्षण ज्ञान का अर्जन करे। मैं बृहस्पति=विशाल हृदय बनकर अहिंसक यज्ञ का सेवन करूँ। मेरे जीवन में सब दिव्य गुणों का विकास हो जिससे मेरा हृदय प्रभु की प्रतिष्ठा के योग्य बन जाए। मेरे हृदय-मन्दिर में प्रभु की प्रतिष्ठा हो और मैं ब्रह्मा नामवाला बनूँ। यही तो उत्तम सात्त्विक गुणों में भी सर्वप्रथम स्थान में स्थित होना है।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—अनुष्टुप्[क], भुरिगार्चीगायत्री[र]।
स्वरः—गान्धारः[क], षड्जः[र]॥

दीप्ति (The greatest light)

[क] एषा तेऽअग्ने समित्तया वर्धस्व चा च प्यायस्व।
वर्धिषीमहि च वयमा च प्यासिषीमहि।
[र] अग्ने वाजजिद्वाजं त्वा ससृवाᳬसं वाजजितᳬसम्मार्ज्मि॥ १४॥

१. पिछले मन्त्र में 'बृहस्पति और ब्रह्मा' बनने का उल्लेख था। अपने मन में वेग व ज्ञान-दीप्ति को धारण करके वह याज्ञिक वृत्तिवाला 'बृहस्पति' बना था और धीरे-धीरे दिव्य गुणों का विकास करके उसने अपने हृदय-मन्दिर में प्रभु को प्रतिष्ठित किया था। उसका हृदय-मन्दिर सहस्र सूर्यसम ज्योतिवाले ब्रह्म से चमक उठा था। इस मन्त्र का प्रारम्भ इन्हीं शब्दों से होता है कि हे **अग्ने**=जीवन-यात्रा में आगे बढ़नेवाले जीव **एषा**=यही **ते**=तेरी **समित्**=(इन्धी दीप्ति) दीप्ति है। **तया**=इस दीप्ति से तू **वर्धस्व**=बढ़, **च**=और **आप्यायस्व**=पूर्णरूप से अङ्ग-प्रत्यङ्ग में वृद्धिवाला हो। जिस दिन हममें प्रभु की ज्योति जागती है, उस दिन सब प्रकार की मलिनताओं की समाप्ति हो जाती है। किसी बड़े व्यक्ति को आना हो तो जिस प्रकार उसके आगमन-स्थान को स्वच्छ कर दिया जाता है, उसी प्रकार प्रभु के आने के प्रसङ्ग में मेरा शरीर निर्मल होकर खूब फूला-फला लगता है।

२. हे प्रभो! हमारी यही आराधना है कि **वयम्**=हम **वर्धिषीमहि**=निरन्तर बढ़ें **च**=और **आप्यासिषीमहि**=हमारे एक-एक अङ्ग का आप्यायन हो। वास्तविक आप्यायन और वर्धन प्रभु के प्रतिष्ठान के अनुपात में ही होता है। ३. उल्लिखित प्रार्थना करनेवाले साधक से प्रभु कहते हैं कि **अग्ने**=हे उन्नतिशील जीव! **वाजजित्**=सब शक्तियों व धनों के विजेता! **वाजं ससृवांसम्**=शक्ति की ओर चलने में सफल **वाजजितम्** =सब शक्तियों व धनों के विजेता **त्वा**=तुझे मैं **सम्मार्ज्मि**=सम्यक्तया शुद्ध कर देता हूँ।

४. सातवें मन्त्र में 'वाजं त्वा सरिष्यन्तम्' कहा था, यहाँ 'वाजं त्वा ससृवांसम्' कहा गया है। 'सरिष्यन्तं' इस भविष्यत् का स्थान 'ससृवांसम्' इस भूतकाल ने ले-लिया है, मानो आरम्भ हुई बात यहाँ पूर्ण हो गई है। वस्तुतः 'प्रभु प्रतिष्ठापन' के अतिरिक्त और पूर्णता होनी ही क्या है? प्रभु सर्वशक्तिमान् हैं, उनकी शक्ति से साधक भी शक्तिमान् होता है।

भावार्थ—प्रभु को अपने में प्रतिष्ठित करना ही आराधक की सर्वमहती दीप्ति है। यह आराधक प्रभु की शक्ति से शक्तिमान् बनता है।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—अग्नीषोमौ क, इन्द्राग्नी र। **छन्दः**—ब्राह्मीबृहती क, निचृदतिजगती र। **स्वरः**—मध्यमः क, निषादः र॥

प्रभु का प्रतिष्ठापन कैसे हुआ ?

क **अग्नीषोमयोरुज्जितिमनूज्जेषं वाजस्य मा प्रसवेन प्रोहामि। अग्नीषोमौ तमपनुदतां योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मो वाजस्यैनं प्रसवेनापोहामि। र इन्द्राग्न्योरुज्जितिमनूज्जेषं वाजस्य मा प्रसवेन प्रोहामि। इन्द्राग्नी तमपनुदतां योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मो वाजस्यैनं प्रसवेनापोहामि॥ १५॥**

१. **अग्नीषोमयोः**=अग्नि व सोमतत्त्व की **उज्जितिम्**=उत्कृष्ट विजय के **अनु**=पश्चात् मैंने **उज्जेषम्**=इस प्रभु-प्रतिष्ठापनरूप विजय को पाया। अग्नितत्त्व 'ज्ञान' का प्रतीक है और सोम 'सौम्यता व नम्रता' का। जब मैंने अपने अन्दर ज्ञानाग्नि को प्रज्वलित किया और मेरे व्यवहार में सौम्यता व नम्रता ने स्थान लिया तभी मैं जहाँ अपने जीवन को रसमय बना पाया, वहाँ अपने हृदय-मन्दिर में प्रभु का प्रतिष्ठापन करनेवाला बना। 'अनु' पद का महत्त्व स्पष्ट है—'पश्चात्'। इस विद्या और विनय (अग्नि व सोम) की विजय के पश्चात् ही प्रभु-प्रतिष्ठापनरूप महान् विजय हुआ करती है। विद्याविनीत को ही प्रभुदर्शन होता है, अतः मैं २. **वाजस्य प्रसवेन**=(वाग्वै वाजस्य प्रसवः—तै० २।३।२।५) वेदवाणी के द्वारा **मा**=अपने को **प्रोहामि**=परिवर्तित (to change, to modify) करता हूँ—अपने जीवन को उत्कृष्ट बनाता हूँ। 'वाज' का अर्थ है 'शक्ति और ज्ञान'। वेदवाणी ज्ञान को तो उत्पन्न करती ही है, यह मनुष्य की वृत्ति को सुन्दर बनाकर उसे काम-क्रोध से बचाकर शक्तिशाली भी बनाती है। इस प्रकार शक्ति और ज्ञान की उत्पादिका होने से वेदवाणी को यहाँ 'वाजस्य प्रसव' कहा गया है। मेरे ये **अग्नीषोमौ**=अग्नि और सोम—विद्या और विनय **तम्**=उस व्यक्ति को **अपनुदताम्**=दूर करें **यः**=जो **अस्मान् द्वेष्टि**=हम सबके साथ अप्रीति करता है **च**=और परिणामतः **यम्**=जिसको **वयम्**=हम सब **द्विष्मः**=अप्रीति योग्य समझते हैं। **एनम्**=इस समाजहित-द्वेषी को **वाजस्य प्रसवेन**=ज्ञान व शक्ति की उत्पादिका इस वेदवाणी से **अप+ऊहामि**=मैं दूर करता हूँ (to remove)।

४. **इन्द्राग्न्योः**=इन्द्र और अग्नि की **उज्जितिम्**=उत्कृष्ट विजय के **अनु**=पीछे **उज्जेषम्**=मैंने प्रभु-प्रतिष्ठापनरूप महान् विजय की है। अग्नि 'ज्ञान व प्रकाश' का प्रतीक है तो इन्द्र 'बल' का (सर्वाणि बलकर्माणि इन्द्रस्य—नि०) बल के सब कार्य इन्द्र के द्वारा ही किये जाते हैं। इन्द्र ने ही सब असुरों का संहार किया है। शक्ति और ज्ञान की विजय हमें ब्रह्मविजय के योग्य बनाती है। मैं इस शक्ति और ज्ञान की प्राप्ति के लिए **वाजस्य प्रसवेन**=इस वेदवाणी से **मा**=अपने को **प्रोहामि**=उत्कृष्ट जीवनवाला बनाता हूँ। **इन्द्राग्नी**=ये इन्द्र और अग्नि—शक्ति और ज्ञान **तम्**=उसको **अपनुदताम्**=दूर करें यः=जो **अस्मान्**=हम सबके साथ **द्वेष्टि**=द्वेष करता है **च**=और **यम्**=जिसको **वयम्**=हम सब **द्विष्मः**=अप्रीति योग्य समझते हैं। **एनम्**=इस समाजद्वेषी व्यक्ति को **वाजस्य प्रसवेन**=वेदवाणी के द्वारा अर्थात् शक्ति और ज्ञान के उत्पादन के द्वारा **अप ऊहामि**=दूर करता हूँ। वस्तुतः यदि वह समाज-द्वेषी व्यक्ति इस वेदवाणी का अध्ययन करने लगता है तब उसका जीवन परिवर्तित होकर वह द्वेषी रहता ही नहीं और हम अपनी शक्ति व ज्ञान की वृद्धि कर लेने पर द्वेष की भावनाओं से ऊपर उठ जाते हैं और उस द्वेषी के साथ इस प्रकार वर्तते हैं कि वह

समाज की हानि का कारण नहीं बन पाता।

भावार्थ—हम अपने जीवनों में 'अग्नि और सोम'—विद्या और विनय का सम्पादन करें। हम 'इन्द्र और अग्नि'—शक्ति व ज्ञान का—क्षत्र व ब्रह्म का विकास करनेवाले बनें जिससे ब्रह्म का विजय कर सकें, अर्थात् अपने हृदयों में ब्रह्म का प्रतिष्ठापन करनेवाले बनें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—द्यावापृथिवी मित्रावरुणौ च[क], अग्निः[र]। **छन्दः**—भुरिगार्चीपङ्क्तिः[क], भुरिक्त्रिष्टुप्[र]। **स्वरः**—पञ्चमः[क], धैवतः[र]॥

पति-पत्नी की परस्पर प्रेरणा

[क] वसुभ्यस्त्वा रुद्रेभ्यस्त्वादित्येभ्यस्त्वा संजानाथां द्यावापृथिवी मित्रावरुणौ त्वा वृष्ट्यावताम्। [र]व्यन्तु वयोक्तꣳरिहाणा मरुतां पृषतीर्गच्छ वशा पृश्निर्भूत्वा दिवं गच्छ ततो नो वृष्टिमावह। चक्षुष्पाऽअग्नेऽसि चक्षुर्मे पाहि॥ १६॥

१. प्रभु के प्रतिष्ठापन का प्रकरण चल रहा है। प्रभु का प्रतिष्ठापन तो तभी होगा जब हमारे जीवनों में सभी देवों का निवास होगा, अतः पत्नी कहती है कि—**वसुभ्यः त्वा**=मैं आपको वसुओं के लिए सौंपती हूँ, **रुद्रेभ्यः त्वा**=आपको रुद्रों के लिए सौंपती हूँ और **आदित्येभ्यः त्वा**=मैं आपको आदित्यों के लिए सौंपती हूँ, अर्थात् मेरी इच्छा है कि आपका उठना-बैठना वसुओं, रुद्रों और आदित्यों के साथ हो। स्वास्थ्य को उत्तम बनानेवाले 'वसु' हैं, मानस को निर्मल बनानेवाले 'रुद्र' हैं तथा मस्तिष्क को उज्ज्वल बनानेवाले 'आदित्य' हैं। पत्नी की प्रथम कामना है कि उसके जीवन-सखा का मेल-जोल स्वस्थ, निर्मल व उज्ज्वल पुरुषों के ही साथ हो। ऐसा होने पर ही व्यक्ति में देवों का निवास हुआ करता है। २. **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्क व शरीर **संजानाथाम्**=आपमें समता से निवास करनेवाले (to live in harmony with) हों। शरीर व मस्तिष्क दोनों स्वस्थ हों। शरीर सशक्त हो तो मस्तिष्क उज्ज्वल। ३. **मित्रावरुणौ**=प्राणापान अथवा 'मित्र'=स्नेह की देवता और 'वरुण' द्वेष-निवारण की देवता **त्वा**=आपको **वृष्ट्या**=आनन्द की वर्षा से **आवताम्**=(अव to give pleasure) आनन्दित करें। आपमें स्नेह हो, किसी के प्रति द्वेष न हो और इस प्रकार आपका जीवन आनन्दमय हो।

अब पति पत्नी से कहता है—४. **वयः**=(पक्षिरूपापन्नानि गायत्र्यादीनि छन्दांसि—महीधर) मनुष्य को ऊँची उड़ान करानेवाले—उसके जीवन को उच्च बनानेवाले गायत्री आदि छन्द **अक्तम्**=स्पष्टरूप से **रिहाणाः**=(आस्वादयन्तः) तुम्हें आनन्दित करते हुए **व्यन्तु**=प्राप्त हों, अर्थात् वेदवाणी के अध्ययन में तुम्हें अनुपम आनन्द का अनुभव हो, तुम्हारा अवकाश का सारा समय वेदाध्ययन में बीते। ५. **मरुताम्**=वायुओं की **पृषती**=घोड़ियों को **गच्छ**=तुम प्राप्त होओ। 'मरुत्' प्राण हैं। इनकी सवारियों का अभिप्राय इनपर आरुढ़ होना है—प्राणसाधना के द्वारा प्राणों को वश में करना है। तुम प्राणायाम करनेवाले बनो। आचार्य ने लिखा है कि यह प्राणायामरूप योगसाधन पत्नी भी अवश्य करे। ६. **वशा**=प्राणसाधना के द्वारा तू 'वशा' चित्तवृत्तियों को वश में करनेवाली बन। 'योग' चित्तवृत्तिनिरोध ही है। प्रतिदिन के प्राणायाम के अभ्यास से तेरा चित्त तेरे वश में हो। ७. **पृश्निः**=(संस्पृष्टा भासं ज्योतिषाम्) तू चित्तवृत्तिनिरोध के द्वारा सूक्ष्म बुद्धि होकर ज्ञान-दीप्तियों का स्पर्श करनेवाली बन। ८. तू पृश्नि **भूत्वा**=होकर **दिवम् गच्छ**=प्रकाश को प्राप्त कर—दिव्यता का साधन कर और **ततः**=तब **नः**=हमारे लिए **वृष्टिं आवह**=आनन्द की वृष्टि लानेवाली हो। घर में पति तो

खूब ज्ञान-सम्पन्न हो, परन्तु पत्नी ज्ञान-शून्य हो तो घर में आनन्द नहीं आता, अतः पति कहता है कि पत्नी भी ज्ञान-सम्पन्न व संयत जीवनवाली हो और घर को सदा प्रकाशिमय रक्खे।

९. अब पति-पत्नी दोनों मिलकर प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि **अग्ने**=हमारी उन्नति के साधक प्रभो! **चक्षुष्पाः असि**=आप हमारे चक्षु=ज्ञान के रक्षक हैं, **चक्षुः मे पाहि**=आप मेरे ज्ञान की रक्षा कीजिए—मेरे दृष्टिकोण को ठीक बनाये रखिए। वस्तुतः संसार का अच्छा व बुरापन हमारे दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। हमारा दृष्टिकोण ठीक है तो संसार ठीक है, जब हमारा दृष्टिकोण दूषित होता है तो संसार भी विकृत हो जाता है। ठीक दृष्टिकोणवाले संसार में आने का उद्देश्य 'बृहस्पति व ब्रह्मा' बनना—विशाल हृदय व ज्ञानी बनना समझते हैं नकि मौज या भोग-विलास करना। जब हमारा दृष्टिकोण ठीक होगा तो संसार पुण्यमय बनेगा, अन्यथा पापमय।

भावार्थ—घर में पति-पत्नी दोनों ज्ञान-सम्पन्न व स्वस्थ हों। उनका दृष्टिकोण ठीक हो।

ऋषिः—देवलः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः॥

अ-विस्मरण

यं परिधिं पर्यधत्थाऽअग्ने देवपणिभिर्गुह्यमानः।

तं तऽएतमनु जोषं भराम्येष नेत्त्वदपचेतयाताऽअग्नेः प्रियं पाथोऽपीतम्॥ १७॥

१. गत मन्त्र के अन्तिम शब्दों के अनुसार जब मनुष्य का संसार में रहने का दृष्टिकोण ठीक होता है तब वह 'बृहस्पति व ब्रह्मा' बनने के मार्ग पर चलता है, नकि मौज के मार्ग पर। यह प्रार्थना करता है—**अग्ने**=हे प्रकाशमय प्रभो! **देवपणिभिः**=दिव्य गुणोंवाले स्तोताओं से (पण्=स्तुति) **गुह्यमानः**=(गुह=Hug, to emberace) आलिङ्गन किये जाते हुए आप **यं परिधिम्**=जिस मर्यादा को **पर्यधत्थाः**=धारण करते हो, **ते**=आपकी **तं एतम्**=उस प्रसिद्ध मर्यादा को **जोषम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करता हुआ **अनुभरामि**=मैं अपने अन्दर भरता हूँ, अर्थात् आपने जिन मर्यादाओं को उपदिष्ट किया है मैं उन्हें स्वीकार करता हूँ, उन मर्यादाओं का बड़े प्रेम से पालन करता हूँ। २. **एषः**=यह मैं **त्वत्**=आपसे **न अपचेतयाता**=विस्मरण के कारण दूर नहीं होता। **इत्**=निश्चय से मैं यह संकल्प करता हूँ कि संसार में आने के अपने उद्देश्य को मैं भूलूँगा नहीं। आपका स्मरण करता हुआ मैं सदा मर्यादाओं का पालन करूँगा और अपने इस मानव-जीवन में आगे और आगे बढ़ता हुआ उत्तम सात्त्विक गतिवाला ब्रह्मा व बृहस्पति (महान्) बनकर रहूँगा।

'मैं ऐसा बन सकूँ' इसके लिए प्रार्थना करता हूँ कि **अग्नेः**=संसार के अग्रणी प्रभु का **प्रियं पाथः**=प्रीति देनेवाला रक्षण **अपीतम्**=(अपि-इतम्) मुझे अवश्य प्राप्त हो। प्रभु के रक्षण के बिना मैं इस उच्च स्थिति में क्या पहुँच पाऊँगा? 'पाथः' शब्द का अर्थ अन्न भी है, अतः मुझे **प्रियम्**=प्रीतिकर, अर्थात् सात्त्विक **पाथः**=अन्न प्राप्त हो। सात्त्विक अन्न के सेवन से मेरी बुद्धि सात्त्विक बनी रहेगी और मैं मार्ग से विचलित न होऊँगा।

भावार्थ—मैं प्रभु द्वारा स्थापित मर्यादा का पालन करूँ। मुझे प्रभु का कभी विस्मरण न हो और मैं प्रभु का रक्षण प्राप्त करूँ।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—स्वराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

वेद का सन्देश

स॒ꣳस्र॒वभा॑गा स्थे॒षा बृ॒हन्तः॑ प्रस्तरे॒ष्ठाः प॑रि॒धेया॑श्च दे॒वाः।
इ॒मां वाच॑म॒भि विश्वे॑ गृ॒णन्त॑ऽआ॒सद्या॒स्मिन् ब॒र्हिषि॑ मादयध्व॒ꣳस्वाहा॒ वाट्॥ १८॥

१. गत मन्त्र में उपासक ने प्रार्थना की थी कि 'मैं प्रभु को न भूलूँ'। इस भक्त से प्रभु कहते हैं कि **सं-स्रव-भागाः स्थ**=(स्रु गतौ, भज् सेवायाम्) उत्तम गतिवाले तथा उत्तम सेवन-पूजनवाले बनो। तुम्हारे कर्म उत्तम हों—तुम्हारा प्रभु-भजन उत्तम हो। कई बार प्रभु-भजन विकृत हो जाता है और हमें परस्पर द्वेष करनेवाला बनाता है। तुम्हारा प्रभु-पूजन तुम्हें 'सर्वभूतहिते रतः' बनाये। २. **इषा**=(इष प्रेरणे) प्रेरणा के द्वारा **बृहन्तः**=तुम अपना वर्धन करनेवाले बनो। मेरी प्रेरणा को सुनो और आगे बढ़ो। ३. **प्रस्तरेष्ठाः**=(प्र स्तृ+स्थ) प्रकृष्ट आच्छादन में तुम स्थित होओ, औरों के दोषों का उद्घोषण करते हुए तुम निन्दक न बन जाओ। इससे तुम्हारा अपना ही जीवन निकृष्ट बनेगा। 'प्रस्तर' का अर्थ पत्थर भी है। तब अर्थ इस प्रकार होगा कि तुम पत्थर पर स्थित होओ, अर्थात् पत्थर के समान अविचल होने की भावना को धारण करो। तुम्हें नीति-मार्ग से किसी प्रकार की स्तुति-निन्दा, सम्पत्ति का लोभ व मृत्यु का भय विचलित करनेवाला न हो। ४. **परिधेयाः**=तुम परिधि में चलनेवालों में उत्तम बनो। तुम्हारा जीवन उत्तम एवं मर्यादित हो। ५. **च** =और **देवाः**=(दिव् क्रीडायाम्) क्रीड़ा की भावनावाले बनो। संसार में जय-पराजय, हानि-लाभ व जीवन-मरण को क्रीड़ा के रूप में देखो। तुममें sportsman like spirit हो। यह खिलाड़ी पुरुष की भावना तुम्हें हर्ष-शोक के द्वन्द्व से ऊपर उठा दे।

६. बस, **इमां वाचम्**=इस वाणी को—इस उल्लिखित वेद-सन्देश को **विश्वे**=तुम सब **अभिगृणन्तः**=सोते-जागते उच्चारण करते हुए, अर्थात् सदा स्मरण करते हुए **अस्मिन्**=इस **बर्हिषि**=वासना-शून्य पवित्र हृदय में **आसद्य**=आसीन होकर **मादयध्वम्**=आनन्द का अनुभव करो। हम उल्लिखित वेद-सन्देश का जप तो करें ही, उस वाणी में स्थित भी हों, अर्थात् उसके अनुसार आचरण भी करें तभी हमारे हृदय वासनाशून्य बनेंगे। ७. जब हम इस वाणी का उच्चारण करते हुए इसके अनुकूल आचरण करेंगे तब **स्वाहा** =(स्व-हा) हम अपने स्वार्थ का त्याग और **वाट्**=(वहन्ति क्रियया सुखम्) औरों के लिए सुखों का वहन करनेवाले बनेंगे। धर्म का सार यही है कि **'परोपकारः पुण्याय'** हम परोपकारी बनें। हमारे जीवन में 'स्वाहा' और वाट्—स्वार्थत्याग और पर-सुख-प्रापण की वृत्ति हो।

भावार्थ—उत्तम कर्म, उत्तम उपासना, वेद की प्रेरणा के अनुसार शक्तिवर्धन, धर्म में स्थिरता, निन्दा-त्याग, मर्यादा का पालन और क्रीड़ा की भावना—यह वेद-सन्देश है। इस वाणी का जप और आचरण करके हम शुद्ध हृदय में आनन्द का अनुभव करें। हममें स्वार्थत्याग और परोपकार की भावना हो।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—अग्निवायू। छन्दः—भुरिक्पंक्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

यज्ञ और नमस्

घृ॒ताची॑ स्थो॒ धुर्यौ॑ पातꣳ सु॒म्ने स्थः॑ सु॒म्ने मा॑ धत्तम्।
यज्ञ॒ नम॑श्च त॒ऽउप॑ च य॒ज्ञस्य॑ शि॒वे सन्ति॑ष्ठस्व॒ स्वि॑ष्टे मे॒ सन्ति॑ष्ठस्व॥ १९॥

घृताची शब्द नपुंसकलिङ्ग का द्विवचन है। जहाँ पति-पत्नी दोनों के लिए कुछ कहना होता है, वहाँ नपुंसकलिङ्ग के व्यवहार की शैली है। प्रभु पति-पत्नी से कहते हैं—१. **घृताची स्थः**=तुम दोनों मलों के क्षरण से क्रिया के सञ्चालक हो (घृ=दीप्ति, अञ्चू पूजन)। २. **धुर्यौ**=गृहस्थ की गाड़ी को उत्तमता से खींचनेवाले हो। ३. **सुम्ने**=(सुम्न=A sacrifice) यज्ञशील बनकर **पात**=अपनी रक्षा करो। यज्ञ मनुष्य को विलास और परिणामतः विनाश से बचाता है। ४. तुम दोनों सदा **सुम्ने**=(A hymn, Joy) स्तुति तथा आनन्द में **स्थः**=स्थित होते हो। प्रभु-स्तवन में तुम्हें आनन्द का अनुभव होता है। ५. **मा**=मुझे **धत्तम्**=अपने में धारण करो। प्रभु को धारण करना ही मानव-जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। **यज्ञः नमः च**=यज्ञ और नमन **ते**=तेरे **उप**=सदा समीप हों। तू यज्ञ करे और नम्रतापूर्वक उन यज्ञों को प्रभु-चरणों में अर्पित करनेवाला बन। यही तो **'कुरु कर्म त्यजेति च'** है—करना और छोड़ना। करना तो सही, परन्तु उन कर्मों का अहंकार न करना। **च**=और तू **यज्ञस्य**=यज्ञ के **शिवे**=कल्याणकर मार्ग में **सन्तिष्ठस्व**=सम्यक्तया स्थित हो, अर्थात् तू यज्ञों से कभी दूर न हो। ७. **स्विष्टे**=(सु+इष्टे) मेरे अत्यन्त प्रिय (इष्ट, इच्छ+क्त) इन उत्तम यज्ञों (इष्ट, यज्+क्त) में स्थित होकर **मे सन्तिष्ठस्व**=मुझमें स्थित हो। यज्ञों के द्वारा हमें प्रभु में स्थिति प्राप्त होती है। इसी 'ब्राह्मी स्थिति' को प्राप्त करना जीवन-यात्रा का अन्तिम लक्ष्य है।

भावार्थ—हमारा जीवन उत्तम यज्ञों से परिपूर्ण हो। उन यज्ञों को प्रभु-चरणों में अर्पित कर हम प्रभु में स्थित होनेवाले हों।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—अग्निसरस्वत्यौ। छन्दः—भुरिग्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

विद्याभ्यसनं व्यसनं, हरिपादसेवनं व्यसनम्

अग्नेऽदब्धायोऽशीतम पाहि मा दिद्योः पाहि प्रसित्यै पाहि दुरिष्ट्यै पाहि दुरद्मन्याऽअविषं नः पितुं कृणु सुषदा योनौ स्वाहा वाडग्नये संवेशपतये स्वाहा सरस्वत्यै यशोभगिन्यै स्वाहा॥ २०॥

पिछले मन्त्र की समाप्ति इन शब्दों पर थी कि यज्ञ में स्थित होकर तू मुझमें स्थित हो। प्रस्तुत मन्त्र का विषय यह है कि यज्ञ में स्थिति कैसे हो? हमारा जीवन यज्ञमय हो, अतः हम प्रभु से प्रार्थना करते हैं—१. **अग्ने**=हमारी सब उन्नतियों के साधक हे प्रभो! **अदब्धायो**=(अ+दब्ध+आयु=मनुष्य) जिसके आश्रय में मनुष्यों का नाश नहीं होता अथवा (इ गतौ से आयु) अहिंसित गतिवाले! **अशीतम**=(अश् व्याप्तौ) सर्वाधिक व्याप्त सर्वव्यापक प्रभो! **मा**=मुझे **दिद्योः**=द्यूतरूप घातक वृत्ति से **पाहि**=बचाइए। मुझमें जुए की भावना उत्पन्न न हो। मैं सदा श्रम से ही धनार्जन की वृत्तिवाला बनूँ। **'अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व'**—पाशों से मत खेल, कृषि ही कर—वेद में दिये गये आपके इस उपदेश को मैं कभी न भूलूँ। २. इस प्रकार पुरुषार्थ से धन कमाने की वृत्तिवाला बनाकर आप मुझे **प्रसित्यै**—प्रसित्याः=विषयों के बन्धन से **पाहि**=सुरक्षित कीजिए। मैं किसी विषय-बन्धन में न पड़ जाऊँ। मुझे सांसारिक विषयों का चसका न लग जाए। ३. **दुरिष्ट्यै**—दुरिष्ट्याः=मुझे अशुभ इच्छाओं से **पाहि**=सुरक्षित कीजिए। 'मुझमें अशुभ कामनाएँ उत्पन्न ही न हों'। इसके लिए **दुरद्मन्याः**=अशुभ भोजन से **पाहि**=बचाइए। आहार के शुद्ध होने पर अन्तःकरण भी शुद्ध रहता है और अशुभ इच्छाओं के उत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं उठता। यहाँ 'दिद्यु, प्रसिति, दुरिष्टि तथा दुरद्मनी' में एक विशेष कार्यकारण सम्बन्ध है। अशुद्ध भोजन न होने पर अशुभ इच्छाएँ नहीं

होतीं, अशुभ इच्छाओं के न होने पर मनुष्य विषयों की ओर नहीं झुकता और विषयासक्ति न होने पर मनुष्य द्यूतवृत्ति से धन कमाने की ओर नहीं झुकता।

हे प्रभो! **नः**=हमारे **पितुम्**=अन्न को **अविषम्**=विषरहित **कृणु**=कीजिए। हमारे भोजनों में किसी प्रकार के मद-जनक व स्वास्थ्य-विघातक अंश न हों। ६. इस प्रकार शुद्ध भोजन से शुद्ध मन व शरीरवाला होकर तू **योनौ**=इस गृह में **सु-षदा** =उत्तम प्रकार से आसीन हो। ७. **स्वाहा**=तू (स्व+हा) स्वार्थत्याग की वृत्तिवाला बन और **वाट्**=सभी को सुख प्राप्त करानेवाला हो (वह प्रापणे) ८. **अग्नये**=सब उन्नतियों के साधक **संवेशपतये**=निद्रा के द्वारा रक्षण करनेवाले प्रभु के लिए **स्वाहा**=तू अपना समर्पण कर। प्रभु ने हमारी उन्नति के लिए ही इस 'निद्रा' का निर्माण किया है। इसमें कुछ देर के लिए हम सब कष्टों को भूल जाते हैं, शरीर की सब टूट-फूट ठीक हो जाती है, उत्पन्न हुए कुछ मल दूर हो जाते हैं और हम अगले दिन के कार्यक्रम के लिए उद्यत हो जाते हैं। रात्रि में सोते समय हम प्रभु का ध्यान करते हुए सो जाएँ तो सारी रात प्रभु से हमारा सम्पर्क बना रहता है और हम अद्भुत आनन्द का अनुभव करते हैं। ९. **सरस्वत्यै**=ज्ञान की अधिष्ठात्री देवता सरस्वती के लिए जोकि **यशोभगिन्यै**=यश की भगिनी—सेवन करनेवाली है, उस ज्ञानाधिदेवता के लिए **स्वाहा**=तू अपने को समर्पित कर। रात्रि में निरन्तर तेरा प्रभु-स्मरण व प्रभु-सम्पर्क चले तो तेरा दिन ज्ञान की उपासना में बीते। इस प्रकार दिन में तेरे दो ही व्यसन हों—प्रभु-पाद-सेवन तथा सरस्वती का आराधन—**विद्याभ्यसनं व्यसनं, हरिपादसेवनं व्यसनम्**'।

भावार्थ—हमारा भोजन उत्तम हो, इच्छाएँ उत्तम हों, हम विषय-बन्धन में न बँधें, द्यूतवृत्ति से ऊपर उठें। रात्रि में प्रभु का स्मरण करते हुए सो जाएँ, निद्रा में हम प्रभु का ही स्वप्न लें और हमारा दिन ज्ञान-प्राप्ति में व्यतीत हो। यह ज्ञान हमें यशस्वी बनाये।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—भुरिग्ब्राह्मीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

प्रभु द्वारा अपने मानस पुत्र का किया जानेवाला 'जातकर्मसंस्कार'

वेदो॑ऽसि॒ येन॒ त्वं दे॑व वेद दे॒वेभ्यो॒ वेदो॑ऽभव॒स्तेन॒ मह्यं॒ वेदो॑ भूयाः।
देवा॑ गातुविदो गा॒तुं वि॒त्त्वा गा॒तुमि॑त।
मन॑सस्पतऽइ॒मं दे॑व य॒ज्ञꣳ स्वाहा॒ वाते॑ धाः॥ २१॥

१. प्रभु अपने पुत्र से कहते हैं—**वेदः असि**=तू ज्ञानी है। यही सर्वमहान् प्रेरणा है, जो प्रभु के द्वारा जीव को दी जाती है। तुझे संसार में ऐसा कोई कार्य नहीं करना जो ज्ञानी को शोभा नहीं देता। २. **येन**=क्योंकि **देव**=हे ज्ञान-ज्योति से जगमगानेवाले जीव! **त्वम्**=तू **देवेभ्यः**=विद्वानों से **वेद**=ज्ञान को प्राप्त करता है **तेन**=इसलिए **वेदः**=ज्ञानी **अभवः**=हुआ है। '**उत्तिष्ठत जागृत प्राप्य वरान् निबोधत**'—उठो, जागो, श्रेष्ठों को प्राप्त करके ज्ञानी बनो—यह उपनिषदों का उपदेश है। स्वाध्याय-प्रवचन को तुझे कभी नहीं छोड़ना, सब उत्तम कार्यों को करते हुए तुझे इन्हें सदा अपनाये रखना है। स्वाध्याय ही परम तप है। ३. **मह्यम्**=मेरी प्राप्ति के लिए तू **वेद**=ज्ञान का पुञ्ज **भूयाः**=बनना। ज्ञानी बनकर ही तू मुझे प्राप्त करेगा। ४. **देवाः** =ज्ञान-ज्योति से दीप्त होनेवाले ज्ञानी लोग **गातुविदः**=मार्ग को जाननेवाले होते हैं। ज्ञानी पुरुष को अपना कर्त्तव्यमार्ग सुस्पष्ट दीखता है। ५. तुम **गातुं वित्त्वा**=मार्ग को जानकर **गातुं इत**=मार्ग पर चलो। मनुष्य मार्ग से विचलित तब हुआ करता है, जब वह अपने मन का पति नहीं होता। अपने मन को वश में न कर सकनेवाला व्यक्ति

कह उठता है—**जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः**—मुझे धर्म का ज्ञान तो है, परन्तु मैं उधर चल नहीं पाता। **जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः**=मैं अधर्म को भी जानता हूँ, परन्तु उससे हट नहीं सकता। प्रभु कहते हैं—**मनसस्पते**=हे मन के पति जीव! तू अपने मन को वश में कर और **देवः**=दिव्य गुणोंवाला बना हुआ तू **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ का लक्ष्य करके **स्वाहा**=आत्मत्याग करनेवाला बन और ७. **वाते**=इस संसार-शकट के चलानेवाले वायु नामक प्रभु में **धाः**=अपने को स्थापित कर (वा गतौ, **तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुः**) वे प्रभु ही वायु व वात=गति देनेवाले हैं। तू अपने द्वारा किये जानेवाले इन यज्ञों को भी प्रभु की शक्ति से सम्पन्न होता हुआ समझना। तू अपने यज्ञों को उसी में समर्पित करना।

भावार्थ—तू ज्ञानी बन। मार्ग को जानकर उसी पर चल। मन का पति बनकर यज्ञ के लिए त्याग कर। यज्ञों को उस प्रभु में अर्पित कर।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

जीवन का अलङ्करण

सं ब॒र्हिर॑ङ्क्ता॒ꣳ ह॒विषा॑ घृ॒तेन॒ समा॑दि॒त्यैर्वसु॑भिः॒ सम्म॒रुद्भिः॑।
समिन्द्रो॑ वि॒श्वदे॑वेभिरङ्क्तां दि॒व्यं नभो॑ गच्छतु॒ यत् स्वाहा॑॥ २२॥

१. अपने जीवन में काम, क्रोध, लोभादि वासनाओं का उद्बर्हण (eradication) करनेवाला व्यक्ति 'बर्हिः' कहलाता है। यह **बर्हिः**=अपने जीवन को निर्व्यसन करनेवाला वीर पुरुष **हविषा**=हवि के द्वारा—दानपूर्वक अदन के द्वारा (हु=दान, अदन) अर्थात् त्याग के द्वारा और **घृतेन**=मलों के क्षरण व ज्ञान-दीप्ति से **सं अंक्ताम्**=अपने को सम्यक्तया अलंकृत करे। जीवन के सच्चे आभूषण 'त्याग, निर्मलता व ज्ञान-दीप्ति' ही हैं। २. **आदित्यैः, वसुभिः, मरुद्भिः सं अंक्ताम्**=आदित्यों, वसुओं व मरुतों के साथ सम्पर्क में आकर यह अपने जीवन को सुशोभित करे। सङ्ग का प्रभाव सर्वमान्य है। जैसों का साथ होता है, वैसा ही मनुष्य बन जाता है। ज्ञान का निरन्तर आदान करनेवाले आदित्यों का सम्पर्क हमें ज्ञान की रुचिवाला बनाएगा। स्वास्थ्य के नियमों का पालन करनेवाले और जीवन में उत्तम निवासवाले वसुओं का सम्पर्क हमें स्वास्थ्य का ध्यान करनेवाला बनाएगा। 'मरुतः प्राणाः'=प्राणों की साधना करनेवाले अथवा 'मितराविणः' कम बोलनेवाले मरुतों का सम्पर्क हमें भी प्राणसाधक व मितभाषी बनाएगा। ३. **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव अर्थात् जितेन्द्रिय पुरुष इस इन्द्रियजय के द्वारा **विश्वदेवेभिः**=सब दिव्य गुणों से **सं अंक्ताम्**=अपने जीवन को सुशोभित करे। 'जितेन्द्रियता' साधन है और 'दिव्य गुण-लाभ' उसका साध्य। ४. इस प्रकार पुरुष **दिव्यं नभः** =स्वर्गलोक के आधारभूत आकाश को **गच्छतु**=प्राप्त हो। '**दिवो नाकस्य पृष्ठात्**' इस मन्त्रांश में द्युलोक स्वर्ग का पृष्ठ है। जब मनुष्य सब दिव्य गुणों से अलंकृत होता है—सब देवों का निवास-स्थान बनता है तब उसका अगला जन्म इस मर्त्यलोक में न होकर स्वर्गलोक में होता है। बस, शर्त यह है कि **यत्**=यदि **स्वाहा**=(स्व+हा) उसके जीवन में स्वार्थ-त्याग हो। 'स्व' का—स्वार्थ का छोड़ना दिव्यता प्राप्ति का प्रमुख कारण है। देव का मौलिक गुण ही 'देवो दानात्' दान करना, देना, स्वार्थ को छोड़ना है।

भावार्थ—हम अपने जीवनों को दानपूर्वक अदन, निर्मलता, ज्ञान-दीप्ति, सत्सङ्ग-रुचि व दिव्य गुणों से अलंकृत करके अपने को स्वर्ग-प्राप्ति का अधिकारी बनाएँ।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—निचृद्बृहती। स्वरः—मध्यमः॥

विमोचन

कस्त्वा विमुञ्चति स त्वा विमुञ्चति कस्मै त्वा विमुञ्चति तस्मै त्वा विमुञ्चति। पोषाय रक्षसां भागोऽसि॥ २३॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति 'स्वाहा'—स्वार्थत्याग पर थी। इस स्वार्थ की भावना से वस्तुतः वे प्रभु ही मुक्त करते हैं। प्रभु का स्मरण करके—प्रभु से अपना सम्बन्ध जोड़कर मैं स्वार्थ से ऊपर उठता हूँ। प्रभु-स्मरण से मुझमें विश्व-बन्धुत्व की भावना उत्पन्न होती है, अतः प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं—**कः**=वह आनन्दमय प्रभु **त्वा**=तुझे **विमुञ्चति**=स्वार्थ की भावनाओं से छुड़ाते हैं। **सः**=वह प्रसिद्ध प्रभु **त्वा**=तुझे **विमुञ्चति**=स्वार्थभावना से मुक्त करते हैं। २. स्वार्थभावना से ऊपर उठने पर मनुष्य का ऐहिक जीवन सुखमय होता है और आमुष्मिक जीवन का कल्याण भी सिद्ध होता है। **कस्मै**=आनन्द की प्राप्ति (कं=सुखम्) के लिए वे प्रभु **त्वा**=तुझे **विमुञ्चति**=वासनाओं से मुक्त करते हैं, **तस्मै**=उस परत्र कल्याण के लिए वे प्रभु **त्वा**=तुझे **विमुञ्चति**=मुक्त करते हैं। ३. इस प्रकार स्वार्थ की भावनाओं से ऊपर उठ जाने पर **पोषाय**=तू अपने वास्तविक पोषण में समर्थ होता है। यह स्वार्थ असुरों का मुख्य गुण है। उसे नष्ट करके तू **रक्षसाम्**=राक्षसी वृत्तियों का **भागः**=भगानेवाला (put to flight) **असि**=है, राक्षसी वृत्तियों को तू अपने से दूर कर देता है।

भावार्थ—स्वार्थ-भावना के छूटने पर ही ऐहिक और आमुष्मिक कल्याण निर्भर करता है। इस स्वार्थ के समाप्त होते ही दिव्य गुणों का पोषण होता है और राक्षसी वृत्तियाँ दूर भागती हैं।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—त्वष्टा। छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

अनुमार्जन

सं वर्चसा पयसा सन्तनूभिरगन्महि मनसा सꣳशिवेन। त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम्॥ २४॥

१. पिछले मन्त्र के अनुसार राक्षसी वृत्तियों को दूर भगाने पर मनुष्य यह प्रार्थना कर सकता है कि हम **वर्चसा**=रोग-कृमियों के साथ सफलता से संघर्ष कर सकनेवाली वर्चस् शक्ति से **समगन्महि**=सङ्गत हों। हमारे अन्दर प्राणशक्ति हो। २. **पयसा**=एक-एक अङ्ग की शक्ति के आप्यायन से हम सङ्गत हों (ओप्यायी वृद्धौ)। ३. **तनूभिः**=(तन् विस्तारे) शक्तियों के विस्तारवाले शरीरों से **समगन्महि**=हम युक्त हों, और ४. इन सबसे बढ़कर **शिवेन मनसा**=शिव सङ्कल्पवाले मन से **सम्**=सङ्गत हों। राक्षसी वृत्तियों के दूर करने से प्राणशक्ति की रक्षा होकर सब अङ्गों का आप्यायन होता है, सब अङ्गों का विस्तार होकर शरीर सचमुच 'तनू' इस सार्थक नामवाला होता है और मन शिवसंकल्पों से युक्त हो जाता है। ५. **त्वष्टा**=हम सबके रूपों को सुन्दर बनानेवाला (त्वष्टा रूपाणि पिंशतु—ऋ १०।१८४।१) देवशिल्पी **सु-द-त्रः**=उत्तमोत्तम साधन व शक्तियाँ प्राप्त कराके हमारा त्राण करनेवाला प्रभु हमें **रायः**=(रा दाने) दान दिये जानेवाले धनों को **विदधातु**=दे। हमें वे धन प्राप्त हों, जिनसे हम 'कु-बेर' (कुत्सित शरीरवाले) न बन जाएँ। हमें वे धन प्राप्त हों जिन्हें प्राप्त करके हम विलासमग्न होकर मृत्यु की ओर न चले जाएँ। प्रभु सुदत्र हैं, वे निकृष्ट धन क्यों देंगे? ६. वे प्रभु कृपा करके **तन्वः**=हमारे शरीरों की **यत्**=जो भी **विलिष्टम्**=विशेष

अल्पता–न्यूनता है (लिश् अल्पीभावे) उसे **अनुमार्ष्टु**=दूर करें, उसका शोधन कर डालें। न्यूनताओं से दूर होकर हमारे शरीर सुन्दर–ही–सुन्दर हों।

भावार्थ—हम वर्चस्, आप्यायन, शक्ति–विस्तार व शिव मन से सङ्गत हों। धन का दान देनेवाले हों और अपनी न्यूनताओं का शोधन करें।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—निचृदार्चीपंक्तिः[उ], आर्चीपंक्तिः[क], भुरिग्जगती[र]। **स्वरः**—पञ्चमः[उ, क], निषादः[र]॥

तीन पग

[उ] **दि॒वि विष्णु॒र्व्य॑क्रꣳस्त॒ जाग॑तेन॒ च्छन्द॑सा॒ ततो॒ निर्भ॑क्तो॒ यो॒ऽस्मान्द्वेष्टि॒ यं च॑ व॒यं द्वि॒ष्मो॒[क]ऽन्तरि॑क्षे॒ विष्णु॒र्व्य॑क्रꣳस्त॒ त्रैष्टु॑भेन॒ च्छन्द॑सा॒ ततो॒ निर्भ॑क्तो॒ यो॒ऽस्मान्द्वेष्टि॒ यं च॑ व॒यं द्वि॒ष्मः [र]पृ॑थि॒व्यां विष्णु॒र्व्य॑क्रꣳस्त॒ गा॒य॒त्रेण॒ च्छन्द॑सा॒ ततो॒ निर्भ॑क्तो॒ यो॒ऽस्मान्द्वेष्टि॒ यं च॑ व॒यं द्वि॒ष्मो॒ऽस्मादन्ना॑द॒स्यै प्र॑ति॒ष्ठाया॒ऽअग॑न्म॒ स्वः॒ सं ज्योति॑षाभूम॥ २५॥**

१. गत मन्त्र के अनुसार जो जीव अपनी न्यूनताओं का शोधन करता हुआ 'शरीर, मन व मस्तिष्क' की उन्नति को सिद्ध करता है, वह 'विष्णु'=व्यापक उन्नतिवाला कहलाता है। यह **विष्णुः**=उन्नतिशील पुरुष **दिवि**=(मूर्ध्नो द्यौः) मस्तिष्क के विषय में **व्यक्रंस्त**=विशेष पग रखता है, मस्तिष्क को ज्ञान–ज्योति से उज्ज्वल बनाने का प्रयत्न करता है। **जागतेन छन्दसा**= जगती के हित की इच्छा से—अधिक–से–अधिक लोकहित की इच्छा से कर्म करता है। **ततः**= इससे, इस ज्ञान की दीप्ति से, **यः**=जो कोई **अस्मान्**=हम सबसे द्वेष करता है **च**=और **यम्**=जिसको **वयम्**=हम सब **द्विष्मः**=अप्रीतिकर समझते हैं, वह व्यक्ति **निर्भक्तः**=दूर भगा दिया जाता है (is put to flight)। इस ज्ञान के कारण ऐसे पुरुष से हम इस प्रकार वर्त्तते हैं कि वह द्वेष करना छोड़ देता है, अथवा उसका द्वेष समाज को उतनी हानि नहीं पहुँचा पाता। २. **विष्णुः**=वह चहुँमुखी उन्नति करनेवाला पुरुष **अन्तरिक्षे**=हृदयान्तरिक्ष के विषय में **व्यक्रंस्त**= विशेषरूप से पग रखता है। **छन्दसा**=इस इच्छा से कि **त्रैष्टुभेन**= (त्रि+स्तुभ्) काम, क्रोध व लोभ तीनों को रोक सके। यह विष्णु प्रयत्न करता है कि इसके हृदय में काम, क्रोध व लोभ का प्रवेश न हो। इन्हें नरक का द्वार जानकर वह इनका अन्त करनेवाला होता है। **ततः**=उस राग–द्वेषातीत हृदय से **निर्भक्तः**=वह व्यक्ति दूर कर दिया जाता है, **यः**=जो **अस्मान्**= हम सबसे द्वेष करता है **च**=और **यम्**=जिसको **वयम्**=हम सब **द्विष्मः**=अप्रीति के योग्य समझते हैं। पवित्र हृदयवाला मनुष्य दूसरे की अपवित्रता को दूर करने में बहुत कुछ समर्थ होता है। **'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः'**—इस योगदर्शन के सूत्र में यही कहा है कि मेरे हृदय में अहिंसा प्रतिष्ठित होगी तो मेरे समीप दूसरा व्यक्ति भी अपने वैर को समाप्त कर देगा। ३. अब यह **विष्णुः**=व्यापक उन्नतिशील पुरुष **पृथिव्याम्**=(पृथिवी शरीरम्) इस शरीर के विषय में **व्यक्रंस्त**=विशेषरूप से पग रखता है जिससे **गायत्रेण छन्दसा**=(गयाः प्राणाः, तान् तत्रे) प्राणशक्ति की सम्यक् रक्षा कर सके। शरीर को स्वस्थ व सबल रखना ही अन्य सब उन्नतियों का मूल है, अतः इस विषय में विशेष प्रयत्न अपेक्षित है। **ततः**=इसी उद्देश्य से **निर्भक्तः**=उस व्यक्ति को हम अलग रखते हैं, **यः**= जो **अस्मान्**=हम सबके साथ **द्वेष्टि**=द्वेष करता है **च**=और परिणामतः **यम्**=जिसको **वयम्**=हम सब **द्विष्मः**=अप्रीति के योग्य समझते हैं। द्वेष शरीर के स्वास्थ्य पर बड़ा प्रभाव डालता है, अतः इससे बचना आवश्यक है। ४. 'समाज–द्वेषी से कैसे वर्त्ता जाए'—इसका उत्तर यहाँ इस प्रकार दिया गया है कि यह

अस्मात् अन्नात्=इस अन्न से **निर्भक्तः**=अलग किया जाए। समाज में कभी-कभी मिलकर जो प्रीतिभोज (feasts) चलते हैं, उनमें इसे आमन्त्रित न किया जाए। आजकल की भाषा में उसका 'हुक्का-पानी' बन्द कर दिया जाए। उसका यह सामाजिक बहिष्कार उसके जीवन के सुधार के लिए एक सत्याग्रह के समान है। इसका उसपर कोई प्रभाव न पड़े, ऐसा नहीं हो सकता। **अस्यै प्रतिष्ठायाः**=उसे प्रतिष्ठा के पदों से अलग कर दिया जाए। समाज के सङ्गठनों में उसे प्रमुख स्थान न दिये जाएँ। इस प्रकार उसपर सामाजिक दबाव डालकर उसकी वृत्ति को सुधारने का यत्न किया जाए। ५. उल्लिखित प्रकार से जीवन बिताने पर हम **स्वः**=स्वर्ग को **अगन्म**=प्राप्त होंगे और **ज्योतिषा सम् अभूम**=सदा अपनी ज्ञान-ज्योति के साथ होनेवाले होंगे, अर्थात् हमारा जीवन प्रकाशमय होगा, यह शुक्ल-मार्ग से चलता रहेगा।

भावार्थ—हम 'मस्तिष्क, मन व शरीर' की त्रिविध उन्नति करके 'विष्णु' कहलाएँ तथा द्वेष से दूर रहकर अपने जीवन को सुखी व प्रकाशमय बनाएँ।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—ईश्वरः। छन्दः—उष्णिक्। स्वरः—ऋषभः॥

'विष्णु' की प्रार्थना व आराधना

स्वयंभूरसि श्रेष्ठो रश्मिर्वर्चोदाऽअसि वर्चो मे देहि। सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते॥ २६॥

गत मन्त्र का विष्णु प्रभु का आराधन निम्न शब्दों में करता है—१. **स्वयम्भूः असि**=आप स्वयं होनेवाले हो। 'आप किसी और पर आश्रित हों'—ऐसी बात नहीं है। आप आत्म-निर्भर हैं। आपकी कोई भी आवश्यकता नहीं है, तभी तो आप **श्रेष्ठः**=श्रेष्ठता के दृष्टिकोण से परमेष्ठी=परम स्थान में स्थित हैं। मैं भी आत्म-निर्भर बनकर श्रेष्ठ बनने का प्रयत्न करूँ। २. आप ज्ञान-किरणों के पुञ्ज हो अथवा आप इस सारे ब्रह्माण्ड का नियमन करनेवाले हो (रश्मि=लगाम)। मैं भी आपका उपासक बनकर **रश्मिः**=ज्ञान-किरणोंवाला बनूँ, अपने जीवन पर पूर्ण नियन्त्रणवाला होऊँ। मनरूप लगाम को काबू करके मैं अपने जीवन को बड़ा संयत बना पाऊँ। ३. **वर्चोदा असि**=हे प्रभो! आप अपने उपासकों को वर्चस् देनेवाले हैं, **मे**=मुझे भी **वर्चः**=शक्ति **देहि**=दीजिए। वस्तुतः 'संयत जीवन' का ही परिणाम 'शक्ति की प्राप्ति' है। जैसे आत्म-निर्भरता—बाह्य वस्तुओं पर निर्भर न रहना 'श्रेष्ठता' का साधन है (स्वयम्भू=श्रेष्ठ), उसी प्रकार ज्ञान व संयत जीवन 'वर्चस्' के उपाय हैं। ४. इस वर्चस् की प्राप्ति के लिए मैं **सूर्यस्य**=सूर्य के **आवृतम् अनु**=आवर्तन के अनुसार **आवर्ते**=अपने दैनिक कार्यक्रम का आवर्तन करता हूँ। जैसे सूर्य अपनी क्रियाओं में बड़ा नियमित है, उसी प्रकार मेरा कार्यक्रम भी सूर्य की भाँति चलता है। यह प्रकाशमय नियमित जीवन ही सम्पूर्ण शक्ति का कारण है।

भावार्थ—हम आत्म-निर्भर बनकर श्रेष्ठ बनें, नियमित जीवनवाले होकर शक्तिशाली हों और सूर्य की भाँति अपनी क्रियाओं में लगे रहें।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृत्पंक्तिः[क], गायत्री[२]। स्वरः—पञ्चमः[क], षड्जः[२]॥

सु-गृहपतिः

[क]**अग्ने गृहपते सुगृहपतिस्त्वयाऽग्नेऽहं गृहपतिना भूयासꣳसुगृहपतिस्त्वं मयाऽग्ने गृहपतिना भूयाः। [२]अस्थूरि णौ गार्हपत्यानि सन्तु शतꣳहिमाः सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते॥ २७॥**

१. गत मन्त्र की भावना के अनुसार (क) जब हमारी आवश्कताएँ कम होंगी,

(ख) हम प्रकाशमय नियमित जीवनवाले होंगे, (ग) सशक्त होंगे (घ) सूर्य की भाँति दैनिक आवर्तन को पूरा करेंगे तब हम प्रस्तुत मन्त्र के 'सु-गृहपति' बन जाएँगे। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि २. **अग्ने**=हमारी सब उन्नतियों के साधक हे प्रभो ! **गृहपते**=हमारे घरों के रक्षक! **अग्ने**=प्रकाशस्वरूप प्रभो! **त्वया सुगृहपतिना**=सुगृहपति आपके साथ सदा अपना सम्पर्क रखता हुआ मैं **सु-गृहपतिः**=उत्तम गृहपति **भूयासम्**=बन जाऊँ। आपकी आँख से ओझल न होने पर मैं कभी-मार्ग-भ्रष्ट न होऊँगा। अपने गृहस्थ के कर्त्तव्यों को, आपसे शक्ति प्राप्त करके मैं उत्तमता से निभानेवाला बनूँगा। ३. **अग्ने**=उन्नतिसाधक प्रभो ! **मया गृहपतिना**=मुझ गृहपति से **त्वम्** =आप **सुगृहपतिः**=उत्तम गृहपतिवाले **भूयाः**=होओ। जैसे अच्छे शिष्यों से आचार्य 'उत्तम शिष्योंवाला' कहलाता है, इसी प्रकार मुझ आपके उपासक के द्वारा आप 'उत्तम गृहपति' कहे जाएँ। मैं आपको यशस्वी व स्तुत्य करने के लिए 'सुगृहपति' बनूँ।

४. हे प्रभोः! पति-पत्नी हम दोनों के **गार्हपत्यानि**=गृहपति के कर्त्तव्य **अस्थूरि सन्तु**=एक बैलवाली गाड़ी के समान न हो जाएँ। (स्थूरि=जिसका एक बैल रह गया हो ऐसी गाड़ी), अर्थात् अपने इस गृहस्थ-शकट को हम दोनों पति-पत्नी मिलकर बड़ी अच्छी प्रकार वहन करनेवाले बनें। हमारा साथ बना रहे—अपमृत्यु से हममें से किसी एक को ही यह गाड़ी न खेंचनी पड़े। ५. मैं **शतं हिमाः**=सौ वर्षपर्यन्त **सूर्यस्य**=सूर्य के **आवृतम्**=आवर्तन के अनुसार **आवर्ते**=अपने दैनिक कार्यक्रम के आवर्तन को चलानेवाला बनूँ। वस्तुतः यह 'नियमित आवर्तन' ही सुगृहपति बनने का सर्वोत्तम साधन है।

भावार्थ—प्रभु को कभी न भुलाता हुआ मनुष्य सुगृहपति बने, पति-पत्नी मिलकर गृहस्थ की गाड़ी को खेंचनेवाले और सदा सूर्य की भाँति नियमित जीवनवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगुष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

जो वस्तुतः हूँ, वही हूँ,—'पूर्ण स्वस्थ'

अग्ने व्रतपते व्रतमचारिषं तदशकं तन्मेऽराधीदमहं यऽएवाऽस्मि सोऽस्मि॥ २८॥

सदा सूर्य की भाँति नियमित रूप से चलने का व्रत पिछले मन्त्र में लिया गया है। 'उसी व्रत को मैंने यथाशक्ति पाला है' इस बात को प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि—१. **अग्ने**=हे अग्रणी प्रभो! **व्रतपते**=हमारे व्रतों के रक्षक हे प्रभो! **व्रतम्**=व्रत का **अचारिषम्**=मैंने आचरण किया है, **तत् अशकम्**=उस व्रत के पालन में मैं समर्थ हुआ हूँ। **तत् मे**=वह मेरा **व्रत अराधि**=सिद्ध हुआ है। प्रथम अध्याय के पाँचवे मन्त्र में मैंने निश्चय किया था कि (चरिष्यामि) मैं व्रत का पालन करूँगा और आपकी कृपा से (शकेयम्) उस व्रत का पालन कर सकूँ। आज इस द्वितीय अध्याय के अठाइसवें मन्त्र तक पहुँचकर मैं अनुभव करता हूँ कि मैंने उस व्रत का बहुत कुछ पालन किया है, उसे पूर्ण करने में आपकी कृपा से मैं बहुत कुछ समर्थ हुआ हूँ, वह मेरा व्रत सिद्ध हुआ है। २. और इसका परिणाम है कि **इदम् अहम्**=यह मैं स्त्री वा पुरुष जो भी हूँ **यः एव अस्मि**=जो कुछ मैं वास्तव में हूँ, **'सः अस्मि'**=मैं वही हूँ, अर्थात् अब मैं भूल से इस पञ्चभौतिक शरीर में 'मैं' बुद्धि नहीं करता। इससे मैं ऊपर उठ गया हूँ। अब मैं आत्मा को पहचानने लगा हूँ। ३. मन्त्र छब्बीस में 'रश्मि'=लगाम का उल्लेख था। यह लगाम ही 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' है। इस चित्त निरोध से मैं स्वरूप में स्थित हो गया हूँ और जो वस्तुतः हूँ, वही हो गया हूँ।

भावार्थ—हम व्रत का पालन करें और जो हैं, वही हो जाएँ। अपने आत्म-स्वरूप

को पहचानें।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—अग्निः। छन्दः—स्वराडार्षी अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

पितृयज्ञ

अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा सोमाय पितृमते स्वाहा। अपहताऽअसुरा रक्षांꣳसि वेदिषदः॥ २९॥

१. राक्षसी वृत्तियों का उद्गम—प्रारम्भ कहाँ से है? यदि इस प्रश्न पर विचार किया जाए तो हम इस परिणाम पर पहुँचेंगे कि कोई युवक व युवति जब अपने माता-पिता की सेवा में न लगकर अपना आराम देखने लगते हैं तब इस आसुरी वृत्ति का आरम्भ होता है। 'माता-पिता को जीवन-निर्वाह की आवश्यक वस्तुएँ भी प्राप्त नहीं और ये युवक दम्पती सिनेमा जा रहे हैं' इस रूप में इस आसुरी वृत्ति का तमाशा होने लगता है। माता-पिता मर रहे हैं, उनका औषधोपचार भी ठीक नहीं हो रहा और ये युवक-युवति फ्रूट-क्रीम का आनन्द ले रहे हैं। यह राक्षसी वृत्ति का खुला नाच होने लगता है। इनके लिए किसी भी मुख से शुभ शब्द कैसे उच्चरित हो सकते हैं? अतः मन्त्र में कहते हैं कि—२. **अग्नये**= प्रगतिशील दम्पती के लिए **कव्यवाहनाय**=माता-पिता को अन्न प्राप्त करानेवाले के लिए **स्वाहा**=(सु+आह) उत्तम शब्दों का उच्चारण किया जाता है। इनके लिए माता-पिता के मुख से शुभ शब्दों का ही प्रकाश होता है, लोग भी इनकी प्रशंसा करते हैं। **सोमाय**=सौम्य स्वभाववाले नम्र युवक के लिए **पितृमते**=उत्तम माता-पितावाले के लिए—जिसके माता-पिता सुखपूर्वक हैं, उस युवक के लिए **स्वाहा**=शुभ शब्दों का उच्चारण होता है।

देवों के लिए दिया जानेवाला अन्न 'हव्य' कहलाता है और पितरों के लिए दिया जानेवाला 'कव्य'। जो नवदम्पती अपने वृद्ध माता-पिता को खिलाकर स्वयं खाते हैं, उनकी संसार में कीर्ति होती है। जो माता-पिता के प्रति सदा नम्र होते हैं और माता-पिता को सुखमय स्थिति में रखते हैं, वे ही प्रशंसनीय होते हैं।

यह पृथिवी 'वेदि' है। अध्यात्म में यह शरीर वेदि है। यज्ञवेदि में आसीन होनेवाले की—यज्ञशील की **वेदिषदः**=इस शरीर में आ जानेवाली **असुराः**=आसुरी वृत्तियाँ और **रक्षांसि**=अपने रमण के लिए माता-पिता का भी क्षय करनेवाली वृत्तियाँ **अपहताः**=सुदूर नष्ट कर दी गई हैं। माता-पितारूप देवों का पूजन करनेवाला, उनके प्रति विनीत व्यवहार करनेवाला ही प्रशंसनीय होता है और उसी के जीवन में अशुभ वृत्तियों का उदय नहीं होता।

भावार्थ—हम वृद्ध माता-पिता को श्रद्धापूर्वक खिलाकर भोजन करें—यही उन्नति का मार्ग है। हम माता-पिता के प्रति विनीत हों। उनकी स्थिति को सदा उत्तम बनाने का प्रयत्न करें, तभी हम लोक में प्रशंसनीय होंगे।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

आसुर जीवन

ये रूपाणि प्रतिमुञ्चमानाऽअसुराः सन्तः स्वधया चरन्ति। परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टाँल्लोकात् प्रणुदात्यस्मात्॥ ३०॥

'गत मन्त्र' में वर्णित पितृयज्ञ को जो युवक अपने जीवन में कोई स्थान नहीं देते

उनका जीवन क्या विचित्र बन जाता है'—यह वर्णन प्रस्तुत मन्त्र में है—

१. **ये**=जो **रूपाणि**=सुन्दर आकृतियों को **प्रतिमुञ्चमानाः**=धारण करते हुए, अर्थात् सुन्दर वेष-भूषाओं में अपने को सजाते हुए **चरन्ति**=सर्वत्र विचरते हैं (बाज़ारों, क्लबों और सिनेमागृहों में घूमते हैं)। २. **असुराः सन्तः**=(असुषु रमन्ते) जो अपने ही प्राणों में रमण करते हुए; जीवन का आनन्द लूटते हुए **चरन्ति** =मौज से घूमते हैं, अपने आदरणीय पुरुषों के आराम का तनिक भी ध्यान नहीं करते ३. जो **स्वधया** =(स्वधा=अन्न) अन्न के हेतु से ही **चरन्ति**=अपने इस जीवन में चलते हैं, अर्थात् उनका जीवनोद्देश्य 'खाना-पीना' ही रह जाता है। वे खाने-पीने के लिए ही जीते हैं। ४. **परापुरः**=(परागतानि स्वसुखार्थानि अधर्मकार्याणि पिपुरति—द०) संसार से उलटे, अर्थात् लोक-विद्विष्ट अपने ही सुखकारी अधर्मकार्यों को सिद्ध करते हैं। **निपुरः**=(निकृष्टान् दुष्टस्वभावान् पिपुरति) दुष्ट-स्वभावों को परिपूर्ण करनेवाले **ये**=जो लोग **भरन्ति**=अन्याय से औरों के पदार्थों को धारण करते हैं (अन्यायेनार्थसंचयान्—गीता)। ५. **अग्निः**=वह संसार का सञ्चालक प्रभु **तान्**=उल्लिखित वृत्तिवाले असुर लोगों को **अस्मात्**=इस **लोकात्**=लोक से **प्रणुदाति**=दूर करता है।

आसुर वृत्तिवाले लोग समाज के लिए बड़े अवाञ्छनीय होते हैं। राजा को चाहिए कि ऐसे लोगों को राष्ट्र से निर्वासित कर दे। या मनुष्य प्रभु से प्रार्थना करता है कि प्रभो! इनको आप अपने पास ही बुला लीजिए, इनसे हमारा पीछा छुड़ाइए।

भावार्थ—आसुर जीवन के लक्षण हैं—१. छैल-छबीले बनकर घूमना (रूपाणि प्रतिमुञ्चमानाः), २. अपनी ही मौज को महत्त्व देना (असुरः), ३. जीवन का उद्देश्य भोग समझना (स्वधया), ४. पराये माल से अपने को पुर करना (परापुरः), ५. निकृष्ट साधनों से अपने खजाने को भरना (निपुरः)। हम ऐसे बनकर प्रभु के क्रोध के पात्र न बनें।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—पितरः। **छन्दः**—बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

मादयध्वं, आवृषायध्वम्

अत्र॑ पितरो मादयध्वं यथाभा॒गमावृ॑षायध्वम्।
अमी॑मदन्त पि॒तरो॑ यथाभा॒गमावृ॑षायिषत॥ ३१॥

जो युवक व युवति आसुर वृत्ति के नहीं होते वे अपने माता-पिता से यही प्रार्थना करते हैं कि **पितरः**=उचित पथ-प्रदर्शन द्वारा हमारा रक्षण करनेवाले पितरो! **अत्र**=आप यहाँ ही—घर में ही **मादयध्वम्**=हर्षपूर्वक निवास करो। **गृहेऽपि पञ्चेन्द्रियनिग्रहस्तपः**=घर में रहते हुए भी पाँचों इन्द्रियों का निग्रहरूप तप किया जा सकता है, उसके लिए वनस्थ होने की क्या आवश्यकता? घर की सब उलझनों को हमारे कन्धों पर डालकर आप यहाँ अपने जीवन को आनन्दयुक्त कीजिए। प्रभु-भजन की मस्ती का आनन्द आप यहाँ भी ले-सकते हैं। यहाँ रहते हुए आप **यथाभागम्**=भाग के अनुसार, अर्थात् समय-समय पर सेवन के योग्य **आवृषायध्वम्**=विद्या और धर्म की शिक्षा की वर्षा करनेवाले होओ। आज से पहले भी **पितरः**=पितर लोग **अमीमदन्त**=घर पर ही आनन्द से रहनेवाले हुए हैं और उन्होंने **यथाभागम्**=यथासमय **आवृषायिषत**=स्थूल व सूक्ष्म विद्या तथा धर्म के उपदेश की वर्षा की है—धर्मज्ञान से हम सन्तानों को सिक्त किया है। हम किसी अभूतपूर्व बात के लिए आपसे प्रार्थना नहीं कर रहे हैं। आपके ज्ञानोपदेश से हमारा मार्ग भी सदा प्रकाशमय बना रहेगा।

भावार्थ—'हे मान्या माता व पिताजी! आप घर पर ही सानन्द रहिए व समय-समय

पर हमें सुसम्मति देते रहिए' यह है पितृभक्त सन्तानों की प्रार्थना। ऐसी सन्तान ही सच्चा पितृयज्ञ करनेवाली होती है।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—पितरः। **छन्दः**—ब्राह्मीबृहती [क], निचृद्बृहती [ख]। **स्वरः**—मध्यमः॥

आचार्य

[क]नमो वः पितरो रसाय नमो वः पितरः शोषाय नमो वः पितरो जीवाय नमो वः पितरः स्वधायै नमो वः पितरो घोराय नमो वः पितरो मन्यवे [ख]नमो वः पितरः पितरो नमो वो गृहान्नः पितरो दत्त सतो वः पितरो देष्मैतद्वः पितरो वासः॥ ३२॥

ज्ञान–प्रदाता आचार्य भी पिता है। जिस प्रकार छह ऋतुओं का क्रम चलता है और उनमें भिन्न–भिन्न वस्तुओं या गुणों का प्राधान्य होता है, उसी प्रकार आचार्य विद्यार्थी में उन गुणों को पैदा करने का प्रयत्न करता है। १. इनमें सर्वप्रथम वसन्त है जिसमें सब फूल व फलों में रस का सञ्चार होता है। आचार्य भी विद्यार्थी के जीवन में 'अप+ज्योति' अर्थात् जल व अग्नितत्त्व का समन्वय करके—शान्ति तथा शक्ति उत्पन्न करके रस का सञ्चार करता है। विद्यार्थी कहते हैं कि **पितरः**=हे आचार्यो! **वः**=आपके **रसाय** =इस 'रस' के लिए **नमः**=हम आपके प्रति नतमस्तक होते हैं। २. वसन्त के बाद ग्रीष्म ऋतु आती है। इसका मुख्य गुण 'शोषण' है, यह सबको सुखा देती है। संस्कृत में शत्रुओं के शोषक बल को कहते ही 'शुष्म' हैं। आचार्य विद्यार्थी में भी इस काम–क्रोध आदि के शोषक बल को उत्पन्न करता है और विद्यार्थी कहता है—**पितरः**=हे आचार्यो! **वः**=तुम्हारे **शोषाय**=इस शत्रु–शोषक बल के लिए **नमः**=हम नतमस्तक होते हैं। ३. अब वर्षा ऋतु का प्रारम्भ होता है। इसमें ग्रीष्म से सन्तप्त प्राणी फिर से जीवित हो उठते हैं, अतः जीवन–तत्त्व को देनेवाली इस वर्षा ऋतु के समान हे **पितरः**=आचार्यो! आपके इस **जीवाय**=जीवन तत्त्व के लिए **नमः**=हम नतमस्तक होते हैं। ४. अब अन्नों से परिपूर्ण शरद् ऋतु आती है। अन्न को स्वधा कहते हैं। **'स्वधा वै शरत्'** इन शब्दों में शरत् को भी स्वधा कहा है। इस अन्न से 'स्व'=अपने को '**धा**'=धारण करने की शक्ति उत्पन्न होती है। आचार्य भी विद्यार्थी में इस स्वधा=स्वधारण–शक्ति को उत्पन्न करता है। विद्यार्थी कहते हैं कि **पितरः**=हे आचार्यो! **वः**=आपकी **स्वधायै**=इस स्वधारण–शक्ति के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं। ५. शरद् के पश्चात् शीत के प्राचुर्यवाली विषम व घोर हेमन्त ऋतु आती है। आचार्य भी विद्यार्थी को शत्रुओं के लिए 'घोर' बनाता है। विद्यार्थी कहते हैं—**पितरः**=हे आचार्यो! **वः**=आपकी इस **घोराय** =शत्रु–भयंकरता के लिए **नमः**=नमस्कार है। ६. अन्त में शिशिर ऋतु आती है। यह शीत की मन्दता तथा उष्णता के अभाव के कारण ज्ञान–प्राप्ति के लिए अत्यन्त अनुकूल है। आचार्य भी विद्यार्थी को अनुकूल वातावरण पैदा करके खूब ज्ञानी बनाता है। विद्यार्थी कहते हैं कि **पितरः**=हे आचार्यो! **वः**=आपके **मन्यवे**=ज्ञान के लिए **नमः**=हम विनीतता से आपके समीप उपस्थित होते हैं। **नमो वः पितरः**=हे आचार्यो ! आपके लिए नमन है, **पितरः नमः वः**=हे आचार्यो! फिर भी आपके लिए नमन है। **पितरः**=हे आचार्यो ! आप **नः**=हमें **गृहान्**=घरों को **दत्त**=दीजिए।

प्राचीन काल में आचार्य ही छात्र व छात्राओं को उचित प्रकार से शिक्षित करके, उनके गुण–कर्म–स्वभाव से खूब परिचित होने के कारण उनके सम्बन्धों को निर्धारित करके उनके माता–पिता के अनुमोदन से उन्हें गृहस्थ बना दिया करते थे। आचार्यों द्वारा

किये गये ये सम्बन्ध प्रायेण अनुकूल ही प्रमाणित हुआ करते थे। ८. हम भी **पितरः**=हे आचार्यो! **सतः वः**=विद्यमान आपको **देष्म**=सदा आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त कराते रहें ('सतः' यह द्वितीया का प्रयोग चतुर्थी के लिए है)। **सतः**=विद्यमान आपके लिए, नकि आपके चले जाने के बाद। यहाँ जीवित श्राद्ध का संकेत स्पष्ट है। ९. **पितरः**=हे आचार्यो! **एतत् वासः**=यह निवास-स्थान व वस्त्र आदि **वः**=आपका ही तो है। आपने ही इसके अर्जन की शक्ति हमें प्राप्त कराई है। आपने ही हमें इनके निर्माण के योग्य बनाया है। (निवास अर्थ में 'वासः' का प्रयोग कम मिलता है, परन्तु धात्वीय अर्थ के विचार से वह ठीक ही है। घर भी हमारा आच्छादन करता है, सर्दी-गर्मी व ओलों से हमें बचाता है)।

भावार्थ—आचार्य का कर्तव्य है कि वह विद्यार्थी के जीवन में 'रस, शत्रु-शोषकशक्ति, जीवनतत्त्व, स्वधारण-शक्ति, शत्रु के प्रति भयंकरता व ज्ञान' को उत्पन्न करे और तत्पश्चात् उसके उचित जीवन-सखा को ढूँढने में सहायक हो। विद्यार्थी भी सदा आचार्य के प्रति विनीत बनें और गुरुदक्षिणा के रूप में आजीवन उन्हें कुछ-न-कुछ देते रहें। ये न भूलें कि आचार्य ने ही उन्हें घर-निर्माण के योग्य बनाया है।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—पितरः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

कुमार पुष्करस्रक्

आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम्। यथेह पुरुषोऽसत्॥ ३३॥

१. गत मन्त्र में वर्णित आचार्यों से प्रभु कहते हैं—**पितरः**=ज्ञान-प्रदाता आचार्यो! **गर्भं आधत्त**=विद्यार्थी को अपने गर्भ में धारण करो। अथर्ववेद के ब्रह्मचर्यसूक्त में यही भावना इन शब्दों में कही गई है कि **'आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः'**—आचार्य विद्यार्थी को अपने समीप लाता हुआ उसे गर्भ में धारण करता है। जैसे माता गर्भस्थ बालक की सुरक्षा करती है, उसी प्रकार आचार्य विद्यार्थी को गर्भस्थ बालक की भाँति ही संसार के अवाञ्छनीय वातावरण से बचाने का प्रयत्न करता है। २. इसे **कुमारम्**=(कु+मारम्) सब बुराइयों को मारनेवाला, राग-द्वेष आदि सब मलों को दूर भगानेवाला **आधत्त**=(सम्पादयत) बनाना है। ३. **पुष्कर-स्रजम्**=(पुष्कर=सूर्य, सृज्=उत्पन्न करना) इसे अपने मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान के सूर्य को उदय करनेवाला **आधत्त**=बनाइए।

आचार्य ने विद्यार्थी को हृदय के दृष्टिकोण से कुमार=सब बुराइयों को मार भगानेवाला बनाना है तथा मस्तिष्क के दृष्टिकोण से पुष्करस्रज्=ज्ञान-सूर्य का उदय करनेवाला बनाना है। ४. इसे 'कुमार व पुष्करस्रज्' इसलिए बनाओ **यथा**=जिससे यह **इह**= मानव-जीवन में **पुरुषः**=पौरुष करनेवाला **असत्**=हो। 'कु-मारता' के अभाव में मन में विलास की वृत्तियाँ जागती हैं और मनुष्य पौरुष से बचना चाहता है तथा आराम पसन्द हो जाता है। 'पुष्कर-स्रक्त्व' न होने पर मनुष्य की प्रवृत्तियाँ पशुओं-जैसी हो जाती हैं और वह 'मनुष्य' न रहकर 'पशु' ही बन जाता है। पुरुष के दो मुख्य गुण हैं 'कु-मारत्व और पुष्कर-स्रक्त्व'—हृदय का नैर्मल्य और मस्तिष्क की दीप्ति। इन दोनों गुणों को उत्पन्न करके आचार्य विद्यार्थी को दूसरा जन्म देता है और विद्यार्थी द्विज बनता है।

भावार्थ—आचार्य विद्यार्थी को गर्भ में धारण करे। उसे पवित्र हृदय व उज्ज्वल मस्तिष्क बनाने का प्रयत्न करे, जिससे वह राष्ट्र में एक उत्तम नागरिक बने।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—आपः। छन्दः—भुरिगुष्णिक्। स्वरः—ऋषभः॥

गुरु-दक्षिणा

ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम्।
स्वधा स्थ तर्पयत मे पितॄन्॥ ३४॥

'आचार्य विद्यार्थी को कैसा बनाये' यह गत मन्त्र में वर्णित है। प्रस्तुत मन्त्र में विद्यार्थी गुरु-दक्षिणा में क्या दे—यह कहते हैं। 'आचार्यकुल में खान-पान की कभी कमी न हो' इस बात का ध्यान आचार्य से अध्यापित विद्यार्थियों को ही करना है। विद्यार्थी को यह ध्यान रहे कि **ऊर्जम्**=बल और प्राणशक्ति को तथा **अमृतम्**=रोग आदि से अपमृत्यु के अभावरूप अमरत्व को **वहन्तीः**=प्राप्त कराती हुई जो **स्वधाः**=स्वधाएँ अर्थात् अन्न **स्थ**=हैं, वे **मे**=मेरे **पितॄन्**=आचार्यों को **तर्पयत**=सदा तृप्त करें, अर्थात् आचार्यकुल में बल, प्राणशक्ति व नीरोगता देनेवाले अन्नों की कभी कमी न हो। वे अन्न निम्न हैं—(क) **घृतम्**=घी। सामान्यतः 'घृतम्' का अभिप्राय गोघृत से ही होता है। यह प्राणियों के आयुष्य को बढ़ानेवाला है, इसलिए 'घृतमायुः' घी तो आयु ही है, यह बात प्रसिद्ध है। यह मलों का क्षरण करके बल की दीप्ति प्राप्त कराता है। (ख) **पयः**=दूध। यह हमारे सब अङ्गों का आप्यायन करनेवाला है। ताज़ा दूध तो 'पीयूषम्' अमृत ही कहा गया है। (ग) **कीलालम्**=अन्न। कील का अर्थ है बन्धन और 'अल' वारण=बाधक है। यह अन्न वृद्धि के प्रतिबन्धनभूत सब तत्त्वों का निवर्तक है (सर्वबन्धनिवर्तकम्—महीधर)। (घ) **परिस्रुतम्**=फलों के निचोड़ने से टपका हुआ रस। यह तो वस्तुतः शरीर में जीवन-रस ही सञ्चार कर देता है। इस प्रकार मुख्य स्वधा=अन्न ये चार ही हैं—'घी, दूध, अन्न और रस'। मनुष्य को चाहिए कि इनका प्रयोग करे और अपने जीवन में 'बल, प्राण व अमरत्व' को धारण करनेवाला बने।

भावार्थ—गुरु-दक्षिणा यही है कि उस-उस शिक्षाणालय के विद्यार्थी आचार्यकुलों में जीवन के आधारभूत पदार्थों—'घी, दूध, अन्न व रस' की कमी न होने दें। यही पितृश्राद्ध भी है।

॥ इति द्वितीयोऽध्यायः सम्पूर्णः॥

तृतीयोऽध्यायः

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

ज्ञान, नैर्मल्य, अर्पण

समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्। आस्मिन् हव्या जुहोतन॥१॥

१. गत अध्याय की समाप्ति पर आचार्य के गर्भ में रहकर एक कुमार के मस्तिष्क में ज्ञानसूर्य के उदय होने का उल्लेख हुआ था। प्रस्तुत मन्त्र में ज्ञानसूर्य की दीप्तिवाला यह कुमार अपनी ज्ञानदीप्ति से प्रभु की परिचर्या करता है। २. **समिधा**=(सम्+इन्ध्=दीप्ति) ज्ञानदीप्ति से **अग्निम्**=अग्रेणी प्रभु की **दुवस्यत**=परिचर्या करो। प्रभु को यह ज्ञानीभक्त ही तो आत्मतुल्य प्रिय है। ३. **घृतैः**=मलों के क्षरण—दूरीकरण से (घृ—क्षरण) **अतिथिम्**=(अत सातत्यगमने, गमन=प्राप्ति) सतत दीप्त उस प्रभु को—सदा से हृदय में निवास करनेवाले अन्तर्यामी को—**बोधयत**=उद्बुद्ध करो। प्रभु की ज्योति मल के आवरण से अदृष्ट हो रही है, मलावरण के हटते ही वह उद्बुद्ध-सी हो जाती है। ४. **अस्मिन्**=इस उद्बुद्ध प्रभु-ज्योति में **हव्या**=अपनी सब हवियों को—अपने सब उत्तम कर्मों को—**आजुहोतन**=आहुत कर दो। अपने सब यज्ञादि कर्मों को प्रभु-चरणों में अर्पित करनेवाले बनो। ५. सामान्य अग्निहोत्र में भी क्रम यही होता है कि समिधाओं से अग्नि को दीप्त करते हैं—घृत से उसे उद्बुद्ध करते हैं और फिर उसमें हव्यों को डालते हैं। यहाँ अध्यात्म यज्ञ का क्रम भी यही है कि ज्ञानदीप्ति से प्रभु की उपासना करें—इस ज्ञानदीप्ति में 'पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक' के पदार्थों का ज्ञान ही तीन समिधाएँ कहलाती हैं। उसके बाद यहाँ वासनात्मक मलों के क्षरणरूप 'घृत' से अपने अन्दर विद्यमान उस प्रभु का उद्बोधन होता है और इस प्रभु के चरणों में यह ज्ञानीभक्त अपने सब यज्ञात्मक कर्मों को अर्पित करता है। ६. इस प्रकार ज्ञानदीप्त, निर्मलान्तःकरण, प्रभु-चरणों में अपना अर्पण करनेवाला यह व्यक्ति विशिष्ट ही रूपवाला हो जाता है, अतः 'विरूप' कहलाता है और अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रस के सञ्चार के कारण यह 'आङ्गिरस' कहलाता है।

भावार्थ—हम ज्ञानार्जन करें, हृदय को निर्मल करें और अपने सब कर्मों को प्रभु में अर्पण करनेवाले बनें।

ऋषिः—वसुश्रुतः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

तीव्र घृताहुति

सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन। अग्नये जातवेदसे॥२॥

उस प्रभु के लिए **तीव्रम्**=(सर्वदोषाणां निवारणे पटुतरम्) दोष-निवारण में समर्थ **घृतम्**=ज्ञान की दीप्ति को **जुहोतन**=(हु=आदान) अपने में ग्रहण करो, जो प्रभु १. **सुसमिद्धाय**=पूर्ण रूप से समिद्ध हैं—ज्ञान से दीप्त हैं। प्रभु का ज्ञान निरतिशय है। **'स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'**=वे प्रभु गुरुओं के भी गुरु हैं। काल से अवच्छिन्न न होने से—अनादि होने से—वे सृष्टि के आरम्भ में अग्नि आदि ऋषियों के हृदय में वेदज्ञान दिया करते हैं। २. **शोचिषे**=वे प्रभु दीप्तिमान् हैं—अत्यन्त तेजस्वी हैं, पूर्ण पवित्र हैं। ३. **अग्नये**=सबको आगे

ले-चलनेवाले हैं ४. **जातवेदसे**=(जाते जाते विद्यते) प्रत्येक पदार्थ में वर्त्तमान हैं, सर्वव्यापक हैं।

प्रभु को अपने हृदय में ग्रहण करनेवाला व्यक्ति भी (क) **सुसमिद्ध**=ज्ञानदीप्त बनता है। (ख) **शोचिः**=शुचितावाला होता है। (ग) **अग्निः**=निरन्तर आगे बढ़ता है, तथा (घ) **जातवेदस्**=अधिक-से-अधिक व्यक्तियों के जीवन में प्रवेश करने का प्रयत्न करता है। उनके सुख-दुःख में सुखी व दुःखी होता है। औरों के दुःखों को अपनाकर उसे दूर करने में ही शान्ति अनुभव करता है।

प्रभु में निवास करनेवाला यह प्रभु का उपासक सचमुच 'वसुः'=उत्तम निवासवाला है—इसीलिए भी यह वसु है कि यह औरों को बसाने का कारण बनता है (वासयति)। उत्तम ज्ञानवाला होने से 'श्रुत' है। इस प्रकार इसका नाम 'वसुश्रुत' हो गया है।

भावार्थ—मलों को तीव्रता से दूर करके हम पवित्र बनें—अपने में प्रभु की ज्योति को जगाएँ और सभी को प्रभु-पुत्र जानते हुए सभी के दुःखों को अपना दुःख जानें। उस दुःख को दूर करने में हमें शान्ति प्राप्त हो। यही वास्तविक 'यज्ञ' है। इस यज्ञ को ज्ञानपूर्वक करनेवाले हम प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'वसुश्रुत' बनें।

ऋषिः—भरद्वाजः। देवता—अग्निः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

प्रभु का वर्धन

तं त्वा॑ स॒मिद्भि॑रङ्गिरो घृ॒तेन॑ वर्द्धयामसि। बृ॒हच्छो॑चा यविष्ठ्य॥३॥

हे **अङ्गिरः**=हमारे अङ्ग-अङ्ग में रस का सञ्चार करनेवाले प्रभो! **तं त्वा**=उन आपको **समिद्भिः**=ज्ञानदीप्तियों से और **घृतेन**=मल के क्षरण से **वर्धयामसि**=हम निरन्तर बढ़ाते हैं। वस्तुतः जो वस्तु जितनी दूर होती है, वह उतनी छोटी दिखती है। हम उसके समीप पहुँचते जाते हैं तो वस्तु का स्वरूप बड़ा होता जाता है और यदि यह दूरी शून्य हो जाए तब तो वह वस्तु व्यापक-सी हो जाती है। उपासक की प्रभु से दूरी भी ज्यों-ज्यों कम होती जाती है, त्यों-त्यों प्रभु उसके लिए बड़े होते जाते हैं—दूरी के शून्य होने पर तो वे प्रभु उसके लिए सर्वव्यापक हो जाते हैं—वह सर्वत्र उस प्रभु का दर्शन करता है। इस प्रभु-दर्शन के लिए ही ज्ञानदीप्ति (समिध्) तथा मलों का क्षरण (घृत) साधन हैं। पृथिवीस्थ, अन्तरिक्षस्थ व द्युलोकस्थ पदार्थों का ज्ञान ही तीन समिधाएँ—ज्ञान-दीप्तियाँ हैं जो हमें प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ में प्रभु की महिमा का दर्शन कराती हैं। उस समय एक-एक पुष्प में से हमें प्रभु-सत्ता की गन्ध आने लगती है—एक-एक पत्ते में प्रभु की कृति-कुशलता दिखने लगती है।

मलों के हट जाने पर हमें प्रत्येक प्राणी के साथ एक बन्धुत्व का अनुभव होने लगता है। सब भेदभाव नष्ट हो जाता है—सबके अन्दर प्रभु का वास दिखता है। इन समदर्शियों को न शोक रहता है न मोह **'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः'**। इस उपासक की यही कामना होती है कि हे प्रभो! **बृहत्**=खूब ही **शोच**=मुझमें चमकिए। मैं अपने मलों को दूर करके अधिकाधिक आपकी दीप्ति को देखनेवाला बनूँ। **यविष्ठ्य** =हे प्रभो! (यु मिश्रण-अमिश्रण) आप ही मुझे दुरितों से दूर तथा यज्ञ से सङ्गत करनेवालों में सर्वोत्तम हैं। आपकी कृपा से मैं सब बुराइयों से ऊपर उठकर सब 'वाजों'—शक्तियों को अपने में भरनेवाला प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'भरद्वाज' बनता हूँ।

भावार्थ—हम अपने ज्ञान व नैर्मल्य से प्रभु की महिमा को बढ़ानेवाले बनें, बुराइयों से दूर तथा अच्छाइयों के समीप होकर अपने में शक्तियों को भरनेवाले 'भरद्वाज' हों।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

ज्ञान का परिणाम—'पवित्रता व त्याग'

उप॑ त्वाग्ने ह॒विष्म॑तीर्घृ॒ताची॑र्यन्तु हर्यत। जुष॑स्व स॒मिधो॒ मम॑॥४॥

हे **अग्ने**=मेरी उन्नति के साधक प्रभो! **हर्यत**=(हर्य गतिकान्त्योः) मेरी सब क्रियाओं के स्रोत व चाहने योग्य प्रभो! **मम**=मेरी **समिधः**=ज्ञानदीप्तियाँ **त्वा उपयन्तु**=आपके समीप प्राप्त हों। ज्ञान मुझे निरन्तर आपके समीप प्राप्त करानेवाला हो। 'मेरी ये ज्ञानदीप्तियाँ कैसी हैं? १. **हविष्मतीः**=ये उत्तम हविवाली हैं—त्यागपूर्वक अदनवाली हैं। ज्ञान का पहला परिणाम मेरे जीवन पर यह होता है कि मेरी अकेले खाने की वृत्ति प्रायः समाप्त हो जाती है—मैं औरों के साथ मिलकर खाता हूँ। मैं अपनी सम्पत्ति का पाँचों यज्ञों में विनियोग करके यज्ञशेष को खानेवाला बनता हूँ। यह यज्ञशेष ही तो अमृत है—अतः मेरा भोजन 'अमृतसेवन' हो जाता है। २. **घृताचीः**=(घृत अञ्च्) मल के क्षरण से युक्त हैं। ज्ञान का परिणाम मल का दूर करना है। ज्ञान 'पवित्र' है—'**नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते**'। एवं, ज्ञान के मेरे जीवन में दो परिणाम होते हैं—पवित्रता और त्याग।

हे प्रभो! मेरी इन ज्ञानदीप्तियों को **जुषस्व**=आप प्रीतिपूर्वक सेवन कीजिए—ये आपको प्रसन्न करनेवाली हों। जैसे पिता पुत्र के ऊँचे ज्ञान से प्रसन्न होता है—उसके प्रथम स्थान में उत्तीर्ण होने से प्रीति का अनुभव करता है, उसी प्रकार मेरा ज्ञान आपको प्रसन्न करे।

मेरा ज्ञान मेरे जीवन में पवित्रता व त्याग उत्पन्न करता है। पवित्र व यज्ञिय जीवनवाला बनकर मैं सब प्रजाओं के हित में प्रवृत्त होता हूँ और प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'प्रजापति' बनता हूँ।

भावार्थ—मुझे अनासक्त व पवित्र बनानेवाली मेरी ज्ञानदीप्तियाँ मुझे प्रभु के समीप पहुँचानेवाली हों—ये मुझे प्रभु का प्रिय बनाएँ। लोकहित में प्रवृत्त होकर मैं 'प्रजापति' बनूँ।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—अग्निवायुसूर्याः। **छन्दः**—दैवीबृहती [क], निचृद्बृहती [र]। **स्वरः**—मध्यमः॥

अग्निहोत्र

[क]भूर्भुवः॒ स्वः॑ [र]द्यौरि॑व भू॒म्ना पृ॑थि॒वीव॑ वरि॒म्णा।
तस्या॑स्ते पृथिवि देवयजनि पृ॒ष्ठे॒ऽग्निम॑न्ना॒दम॒न्नाद्या॒याद॑धे॥५॥

१. गत मन्त्र का ऋषि 'प्रजापति' लोकहित के उद्देश्य से 'प्राजापत्य यज्ञ' करने का निश्चय करता है। अग्निहोत्र के द्वारा वह अकेले खाने की वृत्ति से ऊपर उठता है। देवताओं से दिये गये अन्नों को देवों के लिए देकर ही वह खाता है, वायु आदि देवों की शुद्धि से समय पर वृष्टि के द्वारा अन्नोत्पादन का कारण बनता है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि इस यज्ञियवृत्ति के परिणामस्वरूप उसका जीवन विलासमय नहीं बनता और परिणामतः वह '**भूः**'=स्वस्थ बना रहता है। भू=होना=बने रहना=अस्वस्थ न हो जाना। स्वस्थ शरीर में उसका मस्तिष्क भी स्वस्थ रहता है और **भुवः**=वह ज्ञान प्राप्त करता है। (भुवोऽवकल्कने, अवकल्कनं चिन्तनम्)। स्वस्थ व ज्ञानी बनकर वह **स्वः**=(स्वयं राजते) स्वयं राजमान व जितेन्द्रिय बनता है। यह इन्द्रियों का दास नहीं होता। वस्तुतः यज्ञियवृत्ति

के मूल में ही इन्द्रियों की दासता समाप्त हो जाती है। यह व्यक्ति विलास से ऊपर उठकर—केवल अपने लिए न जीता हुआ सभी के लिए जीता है। यह **भूम्ना** =बहुत्व के दृष्टिकोण से **द्यौः इव**=द्युलोक के समान हो जाता है। जैसे द्युलोक अनन्त नक्षत्रों को अपने में समाये हुए है उसी प्रकार यह भी सारे प्राणियों को अपनी 'मैं' में समाविष्ट करने का प्रयत्न करता है। यह **वरिम्णा**=विशालता के दृष्टिकोण से **पृथिवी इव**=इस विस्तृत पृथिवी के समान होता है। **'वसुधैव कुटुम्बकम्'**=सभी वसुधा को यह अपना कुटुम्ब बना लेता है।

२. यह निश्चय करता है कि हे पृथिवी मातः=भूमे! **देवयजनि**=जो तू देवताओं के यज्ञ करने का स्थान है **तस्याः**=उस **ते**=तेरे **पृष्ठे**=पृष्ठ पर मैं **अग्निम्**=इस अग्नि को **आदधे**=अग्निकुण्ड में अवहित करता हूँ, जो अग्नि **अन्नादम्**=अन्न को खानेवाली है। इस अग्नि में उत्तमोत्तम हव्य अन्नों की आहुति देता हूँ। यह अग्नि उन्हें सूक्ष्मतम कणों में विभक्त करके सारे वायुमण्डल में फैला देता है। यह सूक्ष्मकण श्वासवायु के साथ कितने ही प्राणियों से अपने अन्दर ग्रहण किये जाते हैं। अग्निहोत्र हमें **अन्नाद्याय**=खानेयोग्य अन्न प्राप्त कराता है। इस 'अन्नाद्याय' खाद्य अन्न के लिए ही मैं अग्नि का आधान करता हूँ और इस आद्य अन्न की उत्पत्ति में कारण बनकर अपने 'प्रजापति' नाम को चरितार्थ करता हूँ।

भावार्थ—अग्निहोत्र के लाभ निम्न हैं—(क) स्वास्थ्य (भूः) (ख) ज्ञान (भुवः), (ग) जितेन्द्रियता (स्वः), (घ) विशालता (द्यौः इव, पृथिवी इव) (ङ) आद्य अन्न की प्राप्ति—इन लाभों का ध्यान करते हुए हमें अग्निहोत्र करना चाहिए।

ऋषिः—सर्पराज्ञी कद्रूः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

माता-पिता, सर्पराज्ञी कद्रूः

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः। पितरं च प्रयन्त्स्वः॥६॥

१. 'प्रजापति' ने गत मन्त्र में अपने जीवन को यज्ञमय बनाया। यज्ञादि उत्तम कर्मों में सदा लगे रहने से यह **'सर्प'**=गतिशील (सृप् गतौ) कहलाया। क्रियाशीलता से चमकने के कारण यह 'राज्ञी' (राजृ दीप्तौ) कहलाता है। इस प्रकार यह क्रियाशील व देदीप्यमान जीवनवाला बनकर 'कं प्रति द्रवति' उस आनन्दस्वरूप प्रभु की ओर निरन्तर बढ़ रहा है। अतः 'कद्रूः' है। 'सर्पराज्ञी कद्रूः' यह स्त्रीलिङ्ग का प्रयोग इसलिए है कि जीव मानो पत्नी है, जोकि अपने प्रभुरूप पति का वरण करने के लिए सन्नद्ध है।

२. **आयम्**=यह जीव **गौः**=गतिशील है (गच्छति), निरन्तर क्रिया में लगा हुआ है। **पृश्निः**=(संस्प्रष्टा भासा) ज्योतियों को यह स्पर्श करनेवाला है। इसकी क्रिया के साथ ज्ञान जुड़ा हुआ है, वस्तुतः इसकी प्रत्येक क्रिया ज्ञानपूर्वक ही होती है। **अक्रमीत्**=यह निरन्तर उन्नति-पथ पर पग रख रहा है, आगे और आगे बढ़ रहा है। **पुरः**=सबसे पहले यह **मातरम्**=वेदमाता को (स्तुता मया वरदा वेदमाता०) **असदत्**=प्राप्त होता है। इसका सर्वप्रथम कार्य वेदज्ञान को प्राप्त करना है। इसे यह सर्वप्रधान कर्त्तव्य समझता है। इसी से तो वह कण-कण में प्रभु का दर्शन करता है। **स्वः**=उस स्वयंप्रकाश **पितरम्**=पिता की ओर **प्रयन्**=जाने के हेतु से वह ऐसा करता है। वस्तुतः प्रभु का दर्शन तभी होता है जब मनुष्य इस वेदज्ञान से अपने 'ब्रह्मवर्चस्' को बढ़ाता है।

भावार्थ—हम वेदमाता को अपनाएँ, जिससे उस देदीप्यमान पिता—प्रभु का दर्शन कर सकें।

ऋषिः—सर्पराज्ञी कद्रूः। देवता—अग्निः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।।

ज्ञान का प्रकाश

अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती। व्यख्यन् महिषो दिवम्।।७।।

१. गत मन्त्र की भावना के अनुसार वेदमाता को अपनाने पर **अस्य**=इस 'वेदमातृभक्त' के **अन्तः**=अन्दर—अन्तःकरण में **रोचना**=ज्ञान की दीप्ति **चरति**=प्रसृत होती है, अर्थात् इसका अन्तःकरण ज्ञानज्योति से जगमगा उठता है। २. यह **रोचना**=ज्ञानदीप्ति विषयों के सात्त्विक रूप का दर्शन कराकर इसे विषयासक्ति से बचाती है। विषयासक्तियों से बचाव इसकी प्राणशक्ति की वृद्धि का कारण बनता है। **प्राणात्**=प्राणशक्ति के द्वारा यह रोचना इसके जीवन में से **अपानती**=सब दोषों को दूर करती है। इसका जीवन निर्मल हो उठता है। केवल शरीर ही नहीं, इसके मन व मस्तिष्क भी स्वस्थ हो जाते हैं। ३. सब मलों से दूर हुआ यह **महिषः**=(मह पूजायाम्) प्रभु का पुजारी **दिवम्**=उस हृदयस्थ देदीप्यमान ज्योति को **व्यख्यन्**=विशेषरूप से देखता है। मल के आवरण ने उस ज्योति को इससे छिपाया हुआ था। आवरण हटा और ज्योति का प्रकाश हुआ।

भावार्थ—हम वेदमाता को अपनाते हैं, तो अन्तःकरण प्रकाशित हो उठता है। प्राणशक्ति की वृद्धि से सब मल दूर हो जाते हैं और उपासक अन्तर्ज्योति—प्रभु को देखता है।

ऋषिः—सर्पराज्ञी कद्रूः। देवता—अग्निः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।।

निरन्तर 'जप'

त्रिꣳशद्धाम विराजति वाक् पतङ्गाय धीयते। प्रति वस्तोरह द्युभिः।।८।।

१. गत मन्त्र के अनुसार जब यह उपासक उस प्रभु का दर्शन करता है तब **त्रिंशत् धाम**=तीसों मुहूर्त **विराजति**=इसका अन्तःकरण प्रभु-ज्योति से चमकता है। इसका हृदय सदा प्रकाशमय रहता है। २. **वाक्**=इसकी वाणी **पतङ्गाय**=उस (पतति गच्छति प्राप्नोति) प्राप्त होनेवाले प्रभु के लिए **धीयते**=धारण की जाती है। यह निरन्तर उस प्रभु सूर्य-समप्रभ का ही जप करता है, उसके नाम का ही चिन्तन करता है। सदा प्रभु का स्मरण करने से इसका जीवन पवित्र बना रहता है। ३. **प्रतिवस्तोः**=प्रतिदिन इसका जप चलता ही है (वस्तोः=दिन), **अह**=और निश्चय से **द्युभिः**=(द्यु=दिन) अधिक प्रकाश व खुशी—प्रसन्नता के दिनों में भी यह प्रभु-नाम-स्मरण करता है। उत्सव के दिनों में यह प्रभु-स्मरण हमारी प्रसन्नता को उच्छृङ्खल नहीं होने देता। प्रसन्नता में भी मर्यादा बनी रहती है।

भावार्थ—तीसों मुहूर्त प्रभु का दर्शन चले, निरन्तर उसके नाम का स्मरण हो। प्रसन्नता के अवसरों पर हम विशेषतः प्रभु को न भूलें, इसी में जीवन की सार्थकता है।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—अग्निसूर्यौ। छन्दः—पङ्क्तिः[क], याजुषीपङ्क्तिः[र]। स्वरः—पञ्चमः।।

गति=शक्ति+ज्ञान

[क]अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा।
अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा।
[र]ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा।।९।।

जो व्यक्ति गत मन्त्र की भावना के अनुसार सदा प्रभु का स्मरण करता है उसका जीवन निम्न सूत्रों को लेकर चलता है—१. **अग्निः ज्योतिः**=गति 'ज्ञान' है। वस्तुतः गति व क्रियाशीलता ज्ञान-प्राप्ति के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। 'आलस्य' विद्यार्थी का प्रधान दोष है। **'सुखार्थिनः कुतो विद्या'**=आरामपसन्द को विद्या प्राप्त नहीं होती। 'Be diligent' यही तो विद्यार्थी को मूलभूत उपदेश कार्लाइल ने दिया है। यजुर्वेद का प्रारम्भ 'वायवः स्थ'='तुम क्रियाशील हो' इन शब्दों से होता है और समाप्ति भी 'कुर्वन्नेव'='करते हुए ही' इन शब्दों पर होती है। एवं, गति ही जीवन का सार है—यही ज्ञान-प्राप्ति का प्रमुख साधन है। 'गतेस्त्रयोऽर्थाः—ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्च'=गति के तीन अर्थ हैं—प्रथम अर्थ ज्ञान ही है। २. **ज्योतिः अग्निः**=ज्ञान गति है, अर्थात् ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य खूब क्रियावान् हो जाता है। **'क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः'** ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ यह क्रियावान् होता है। ज्ञानी पुरुष आत्मशुद्धि के लिए निरन्तर कर्म करता है। एवं, 'गति ज्ञान है, ज्ञान गति है' यह **स्वाहा**=(सु+आह) कितना सुन्दर कथन है। ३. **अग्निः**=(अगि गतौ) यह गति **वर्चः**=शक्ति है। जिस अङ्ग में गति रहती है वह शक्तिशाली रहता है, गति गई—शक्ति गई। बायें हाथ से कम काम करते हैं, इसी कारण वह दायें हाथ की तुलना में निर्बल होता है। आलसी हुआ और मनुष्य 'अ+लस' हो जाता है—उसकी चमक चली जाती है (लस कान्तौ)। ४. **ज्योतिः वर्चः**=ज्ञान 'शक्ति' है। अंग्रेज़ी में 'knowledge is power', 'ज्ञान ही शक्ति है' यह कहावत है। संसार में ज्ञान का ही शासन है। अध्यात्मक्षेत्र में यही काम का विध्वंस करता है। **स्वाहा**=यह बात भी कितनी सुन्दर है।

५. सायंकाल सूर्य के अभाव में अग्नि को देखकर ये मन्त्र बोले जाते हैं तो प्रातः यही बात सूर्य के स्मरण से कही जाती है। **सूर्यो ज्योतिः**=यह सूर्य 'प्रकाश' है। सूर्य और अग्नि में कितना अन्तर है—'अग्नि' में 'अगि गतौ' धातु है तो सूर्य में 'सृ गतौ' धातु है। मौलिक भावना तो गति की ही है। गति ज्ञान है, और **ज्योतिः सूर्यः**=ज्ञान गति है तथा **सूर्यः वर्चः**=गति शक्ति है और **ज्योतिः वर्चः**=ज्ञान 'शक्ति' है। ये बातें **स्वाहा**=कितनी सुन्दरता से कही गई हैं! ६. इसी बात को एक बार फिर से इस प्रकार कहते हैं कि **ज्योतिः सूर्यः**=ज्ञान 'सूर्य' है, ज्ञान गति है और **सूर्यः ज्योतिः**=गति ज्ञान है। **स्वाहा**=यह बात सुन्दर है। हमें इस बात को अपनाने के लिए **स्वाहा**=स्वार्थ का त्याग करना होगा।

७. इस मन्त्र में ध्यान देने योग्य बात यह है कि गति (अग्नि व सूर्य) भौतिक क्षेत्र में यदि वर्चस् (शक्ति) को उत्पन्न करती है तो अध्यात्मक्षेत्र में यह ज्योति ज्ञान को जन्म देती है। एवं, गति के द्वारा शक्ति व ज्ञान की उत्पत्ति ही प्रस्तुत मन्त्र का मुख्य विषय है। इस गति के द्वारा शक्ति व ज्ञान को उत्पन्न करके लोकहित के कार्यों में प्रवृत्त हुआ 'प्रजापति' प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है।

८. यह भी ध्यान करना चाहिए कि सूर्य के साथ सम्बद्ध यहाँ तीन मन्त्र हैं और अग्नि के साथ दो, अतः तीसरे मन्त्र से आचार्य ने मौन रहकर आहुति देने के लिए लिखा है। तीसरा मन्त्र वेद में नहीं है।

भावार्थ—हम सायंकाल अग्नि से और प्रातः सूर्य से गति की प्रेरणा लें। इस गति से अपने में शक्ति व ज्ञान की वृद्धि करें।

सूचना—यहाँ अग्नि पहले है, सूर्य पीछे। रात्रि पहले है, दिन बाद में। प्रलय थी, सृष्टि हुई।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—अग्निः[क], सूर्यः[र]। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

इन्द्रवती रात्रि व उषा

[क]सजूर्देवेन सवित्रा सजू रात्र्येन्द्रवत्या। जुषाणोऽअग्निर्वेतु स्वाहा।
[र]सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या। जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा॥१०॥

गति के द्वारा शक्ति व ज्ञान का विकास करनेवाला यह प्रजापति अपनी जीवन-यात्रा में निम्न प्रकार से चलता है—१. **सवित्रा देवेन**=सबके प्रेरक दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु से **सजूः**=मित्रतावाला, अर्थात् इस जीवन-यात्रा में प्रभु उसके साथ होते हैं। यह सदा प्रभु का स्मरण करते हुए अपनी जीवन-क्रियाओं को करता है। २. **इन्द्रवत्या रात्र्या**=इन्द्रवाली रात्रि के **सजूः**=साथ, अर्थात् यह प्रतिदिन रात्रि के आरम्भ में प्रभु-स्मरण करते हुए ही सोता है। सारी रात उस प्रभु के साथ ही इसका सम्बन्ध बना रहता है। यदि हम विषयों का चिन्तन करते हुए सोएँगे तो रात में भी उन विषयों के सेवन में ही लगे रहेंगे और इस प्रकार रात्रि 'इन्द्रियों' वाली हो जाएगी। ३. एवं, दिन में सदा प्रभु का स्मरण करते हुए रात में भी प्रभु का स्वप्न लेते हुए हम **जुषाणः**=सबके साथ प्रीतिपूर्वक वर्त्तनेवाले बनें। प्रभु कहते हैं कि यह प्रीतिपूर्वक वर्त्तनेवाला **अग्निः**=प्रगतिशील व्यक्ति ही **वेतु**=(वी गतौ) मुझे प्राप्त हो। **स्वाहा**=इस प्रीतिपूर्वक बर्त्ताव के लिए वह 'स्व' का 'हा' त्याग करना सीखे। ४. **देवेन सवित्रा सजूः**=उस प्रेरक देव से मित्रतावाला—अर्थात् प्रभु को ही सच्चा मित्र जाननेवाला **इन्द्रवत्या उषसा सजूः**=इन्द्रवाले उषःकाल के साथ, अर्थात् उषःकाल में उठकर सर्वप्रथम प्रभु का ही ध्यान करनेवाला **जुषाणः**=सबके साथ प्रीतिपूर्वक वर्त्तता हुआ अथवा स्वधर्म का प्रीति से सेवन करता हुआ **सूर्यः**=यह निरन्तर क्रियाशील, सूर्य के समान प्रकाशवाला व्यक्ति **वेतु**=प्रभु को प्राप्त हो। इसके लिए वह **स्वाहा**=स्वार्थत्याग की भावना को अपने में उद्बुद्ध करे।

भावार्थ—प्रभु की प्राप्ति के लिए तीन बातें आवश्यक हैं—१. हमारी जीवन-यात्रा में वे सवितादेव हमारे साथी हों, २. हमारी रात्रि व उषाःकाल प्रभु-स्मरण में बीते और ३. हमारा सारा बर्त्ताव प्रीतिपूर्वक हो।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

हाथों में 'अध्वर', वाणी में 'मन्त्र'

उपप्रयन्तोऽअध्वरं मन्त्रं वोचेमाग्नये। आरेऽअस्मे च शृण्वते॥११॥

प्रभु-प्राप्ति के लिए गत मन्त्र में तीसरी बात कही थी **जुषाणः**=प्रीतिपूर्वक सेवन करता हुआ। 'किन बातों का प्रीतिपूर्वक सेवन करता हुआ?' यह विषय प्रस्तुत मन्त्र का है। १. **अध्वरम्**=(अ+ध्वर—कुटिलता व हिंसा) इस जीवन-यात्रा में कुटिलता व हिंसा से रहित यज्ञों के **उपप्रयन्तः**=समीप जाते हुए **अग्नये**=उस अग्रेणी प्रभु की प्राप्ति के लिए **मन्त्रं वोचेम**=मन्त्रों का उच्चारण करें। प्रभु-प्राप्ति के दो साधन हैं—(क) हमारे हाथ अध्वरों में व्याप्त हों और हमारी वाणी ज्ञान की बातों का उच्चारण करे। कर्मेन्द्रियाँ अहिंसात्मक व कुटिलताशून्य कर्मों में लगी हों और ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान की वाणियों का ग्रहण करने में व्याप्त हों। ऐसा होने पर ही हम उस प्रभु को प्राप्त होंगे जो 'अग्नि' हैं—हमारी सब उन्नतियों के साधक हैं। वे प्रभु **आरे**=दूर और **अस्मे**=(अस्माकं समीपे इतिशेषः=महीधर) समीप **शृण्वते**=हमारे वचन को सुनते हैं। हमारी प्रार्थना उस प्रभु से सुनी जाती है, जो प्रभु

हमारी सब उन्नतियों के साधक हैं।

प्रभु-प्राप्ति के लिए सदा मन्त्रों का पाठ करते हुए यह उत्तम ज्ञानवाला 'गोतम' बनता है और अध्वरों में लगा हुआ यह कुटिलता व हिंसा का त्याग करनेवाला (रह-त्यागे) त्यागियों में गिनने के योग्य 'राहूगण' होता है। यह 'गोतम राहूगण' ही प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—हमारे हाथ अध्वरों (यज्ञों) में व्याप्त हों और हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ मन्त्रों में। इस प्रकार उत्तम कर्मों व ज्ञान के द्वारा हम प्रभु को प्राप्त करने के अधिकारी हों।

ऋषिः—विरूपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

शिखर पर

अ॒ग्निर्मू॒र्द्धा दि॒वः क॒कुत्पतिः पृथि॒व्याऽअ॒यम्। अ॒पाᳫंरेताᳫंसि जिन्वति ॥१२॥

गत मन्त्र के 'अध्वर व मन्त्र हमें कैसा बनाएँगे?' इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत मन्त्र में देखिए—१. **अग्निः मूर्द्धा**=यह निरन्तर आगे बढ़नेवाला होता है, अतः उन्नत होते हुए सर्वोच्च स्थान में पहुँचता है। २. **ककुत् दिवः**=यह ज्ञान के शिखर पर पहुँचता है। प्रतिदिन मन्त्रों का उच्चारण व दर्शन करनेवाला व्यक्ति ज्ञानी तो बनेगा ही। ३. **अयम्**=यह **पृथिव्याः**=इस शरीर का **पतिः**=स्वामी होता है। यह शरीररूप रथ पूर्णरूप से इसके वश में होता है। इस शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों का ठीक विकास होने से इसका शरीर 'पृथिवी' इस अन्वर्थक नामवाला ही होता है (प्रथ विस्तारे)।

४. यह आगे बढ़ा (अग्नि), शिखर तक पहुँचा (मूर्द्धा), ज्ञानी बना (दिवः ककुत्), सुन्दर शरीरवाला बना (पतिः पृथिव्या अयम्)। इन सब बातों का रहस्य इसमें है कि **अपाम्**=जल-सम्बन्धी जो **रेतांसि**=रेतस् 'शक्तियाँ' हैं—वीर्यकण हैं, उनको यह **जिन्वति**=अपने अन्दर बढ़ाता (promote करता) है। वीर्यकणों का अपने अन्दर वर्धन करता है, अपने शरीर में ही उनकी ऊर्ध्वगति करता है। यह ऊर्ध्वगति ही इनकी वृद्धि है। इनकी रक्षा से 'अध्वरम्' की भावना बढ़ती है और मन्त्रों का तत्त्वार्थ दर्शन भी होता है।

५. इस प्रकार वीर्य की ऊर्ध्वगति से अत्यन्त तेजस्वी बना हुआ यह 'वि-रूप'=विशिष्ट रूपवाला होता है। सामान्य मनुष्यों में यह ऐसे चमकता है जैसे नक्षत्रों में चन्द्रमा।

भावार्थ—हम आगे बढ़ते हुए उन्नति के शिखर पर पहुँचने का निश्चय करें। ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञान प्राप्त करें। शरीर को पूर्ण नीरोग रक्खें। इन सब बातों के लिए संयमी बन ऊर्ध्वरेतस् हों।

ऋषिः—भरद्वाजः। **देवता**—इन्द्राग्नी। **छन्दः**—स्वराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

पति-पत्नी के मौलिक गुण

उ॒भा वा॑मिन्द्राग्नीऽआहु॒वध्या॑ऽउ॒भा राध॑सः स॒ह मा॑द॒यध्यै॑।
उ॒भा दा॒तारा॑वि॒षाᳫंर॑यी॒णामु॒भा वाज॑स्य सा॒तये॑ हुवे वाम्॥१३॥

गत मन्त्र की भावनावाले व्यक्ति जब 'पति-पत्नी' बनते हैं तब उनके अन्दर जो बातें विशेषरूप से दिखती हैं, वे ये हैं—१. पति इन्द्रियों का अधिष्ठाता—जितेन्द्रिय होने से बल-सम्पन्न होकर 'इन्द्र' नामवाला होता है। घर की उन्नति का कारण होने से पत्नी को यहाँ

'अग्नि' कहा गया है। पति 'बल' का प्रतीक है तो पत्नी 'प्रकाश' की। इन्द्राग्नी=हे पति-पत्नी! **वाम् उभा**=आप दोनों **आहुवध्या**=प्रभु को पुकारनेवाले (भवतम्) होते हो। उत्तम जीवनवाले पति-पत्नी मिलकर प्रभु की उपासना करते हैं। यह प्रभुभक्ति ही इनके सारे जीवन-सौन्दर्य का कारण है। २. **उभा** =दोनों ही **राधस:**=सफलता व सम्पत्ति का **सह**=मिलकर **मादयध्यै**=आनन्द लेनेवाले (भवतम्) होते हो। घर में होनेवाली सफलताओं व सम्पत्तियों को इनमें से कोई एक अपनी महिमा की सूचक नहीं मानता। 'इनको प्राप्त करने में दोनों का भाग है', ऐसा वे समझते हैं। यह समझना ही उन्हें परस्पर प्रेमवाला बनाये रखता है और वे एक-दूसरे को छोटा नहीं समझते। ३. **उभा** =दोनों **इषाम्**=अन्नों के व **रयीणाम्**=धनों के **दातारौ**=देनेवाले होते हैं। इनके घर से कोई याचक कभी निराश नहीं लौटता। ४. इस प्रकार (क) प्रभु के पुजारी (ख) मिलकर धन-सम्पत्ति का आनन्द उठानेवाले (ग) अन्नों व धनों के देनेवाले ये पति-पत्नी **उभा**=दोनों **वाजस्य**=शक्ति की **सातये**=प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होते हैं। इनका जीवन विषय-वासनाओंवाला न होने से इनकी शक्ति स्थिर रहती है। विषय ही इन्द्रिय-शक्तियों को जीर्ण करते हैं। अपने अन्दर शक्ति को भरनेवाले ये सचमुच 'भरद्वाज' बनते हैं, प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि होते हैं।

५. इस प्रकार पति-पत्नी के चार मुख्य गुण हैं—'प्रभु-भजन', 'सम्पत्ति का सम्पादन', 'दान' तथा 'शक्तिसम्पन्न बने रहना'। इन गुणोंवाले पति-पत्नी का जीवन सचमुच सुन्दर होता है। मन्त्र का ऋषि कहता है कि **वाम् हुवे**=आप दोनों की मैं स्पर्धा करता हूँ (ह्वेञ्=स्पर्धायाम्)। मैं भी अपने जीवन को ऐसा बनाने का प्रयत्न करता हूँ, प्रभु से ऐसे ही जीवन के लिए प्रार्थना करता हूँ।

भावार्थ—पति-पत्नी के जीवन 'प्रभु-पूजन, धन-सम्पादन, दानशीलता व शक्ति' वाले हों। ऐसे ही जीवन अनुकरणीय व आकांक्षणीय हैं।

ऋषि:—देववातभरतौ। **देवता**—अग्नि:। **छन्द:**—निचृदनुष्टुप्। **स्वर:**—गान्धार:॥

घर=प्रभु कीर्तन का केन्द्र

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातोऽअरोचथा:।
तं जानन्नग्नऽआरोहाथा नो वर्द्धया रयिम्॥१४॥

१. पिछले मन्त्र में वर्णित पति-पत्नी निम्न प्रकार से प्रभु-पूजन करते हैं—१. हे प्रभो! **अयम्**=यह **योनि:**=घर **ते**=तेरा ही है। इसमें आपका ही उपासन चलता है। **ऋत्विय:**= (ऋतौ ऋतौ प्राप्त:—काले काले भवति) इसमें आपका ही उपासन समय-समय पर होता है। यह वह घर है, **यत:**=जहाँ से **जात:** =प्रादुर्भूत हुए आप **अरोचथा:**=चमकते हो, अर्थात् इस घर में होनेवाला आपका स्तवन चारों ओर आपके यश को फैलानेवाला होता है। चारों ओर के वातावरण में भी आपके गुण-कीर्तन की वृत्ति परिपूर्ण हो उठती है। हमारा घर आपके गुण-कीर्तन का केन्द्र बनता है। २. **तम्**=उस हमारे घर को **जानन्**=जानते हुए, अर्थात् इस घर पर अपनी कृपादृष्टि रखते हुए **अग्ने**=हे उन्नतिसाधक प्रभो! इसे **आरोह**=(उन्नतिं गमय—द०) उन्नति को प्राप्त कराइए। आपकी कृपा से यह घर सदा उन्नत होता चले। इसमें सम्पत्ति की कमी न हो। इस घर में दान-प्रवाह सदा चलता रहे और इस घर के लोग क्षीणशक्ति न हो जाएँ। **अथ**=अब **न:** **रयिम्**=हमारी सम्पत्ति को **वर्धय**=बढ़ाइए।

३. इस घर में सदा देवताओं के श्रव=यश का कीर्तन होता है, अत: ये लोग

'देवश्रव' कहलाते हैं, देवताओं से ही अपने जीवन-मार्ग में प्रेरणा प्राप्त करने के कारण ये 'देववात' हैं। दानादि द्वारा औरों का भरण करनेवाले ये 'भरतौ' हैं।

भावार्थ—हमारे घर में प्रभु-पूजन इस रूप में चले कि यह घर ही प्रभु का लगे। हम प्रभु के कृपापात्र हों, जिससे यह घर उन्नत हो तथा इसकी सम्पत्ति बढ़े।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

प्रजा का धाता ही प्रभु का धाता बनता है

अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता यजिष्ठोऽअध्वरेष्वीड्यः।
यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशे॥१५॥

१. **अयम्**=यह प्रभु **प्रथमः**=सर्वश्रेष्ठ है—या अधिक-से-अधिक विस्तारवाला है (प्रथ विस्तारे)। **इह** =इस हृदयान्तरिक्ष में **धातृभिः**=धारण-पोषण करनेवाले लोगों से **धायि**=स्थापित किया जाता है। वस्तुतः प्रभु का धारण वही करते हैं जो अपने ही पालन में फँस जानेवाले असुर न बनकर औरों का भी धारण करनेवाले 'धाता' बनते हैं। सर्वभूतहित में लगे हुए व्यक्ति ही प्रभु के सच्चे उपासक हैं। २. वे प्रभु **होता**=सब पदार्थों के देनेवाले हैं (हु=दान)। **यजिष्ठः**=वे प्रभु अधिक-से-अधिक सङ्गतीकरणवाले हैं, हमारा वास्तविक सम्बन्ध प्रभु से ही है—ये ही पिता हैं, माता हैं, बन्धु हैं। **अध्वरेषु ईड्यः**=ये प्रभु ही कुटिलता व हिंसारहित कर्मों में उपासना के योग्य हैं। प्रभु की उपासना अध्वरों द्वारा ही होती है। निश्छल परार्थसाधक कर्मों के होने पर प्रभु-उपासन स्वतः ही चलता है। ३. ये प्रभु वे हैं **यम्**=जिसको **अप्नवानः**=उत्तम कर्मोंवाले (अप्न इति कर्मनाम—नि० २।१), (**अप्नं करोति इति णिजन्तात् वनिप्**)। **भृगवः** =ज्ञानीलोग (भ्रस्ज पाके), ज्ञान-अग्नि से अपना परिपाक करनेवाले तपस्वी लोग **विरुरुचुः**=(विदीपयन्ति—द०) अपने जीवन को ज्ञान से दीप्त करते हैं। प्रभु का प्रकाश उन्हीं में होता है, जिनके हाथों में अध्वर व अप्न हैं और जिनकी वाणी में मन्त्र हैं। हाथों में अध्वरोंवाले ही 'अप्नवान्' हैं, वाणी में मन्त्रोंवाले ही 'भृगु' हैं। ४. ये प्रभु **वनेषु**=उपासकों में (वन संभक्तौ) अथवा अपने धन का यज्ञों द्वारा औरों में विभाग करनेवालों में **चित्रम्**=(चित्+र) ज्ञान देनेवाले हैं, और ५. **विशेविशे**=प्रत्येक प्रजा में **विभ्वम्**=(व्यापनशीलम्) व्याप्त हो रहे हैं। ६. इस प्रकार प्रभु का उपासन करते हुए ये अप्नवान् और भृगु सुन्दर=उत्तम गुणों को धारण करते हैं। इन सुन्दर (वाम) गुणों (देव) को धारण करने से ये 'वामदेव' नामवाले होते हैं।

भावार्थ—वामदेव प्रभु का धारण करने के लिए 'धाता बनता है, होता बनता है, अधिक-से-अधिक प्राणियों से मेलवाला होता है, उत्तम कर्मोंवाला व ज्ञानाग्नि से अपना परिपाक करनेवाला होता है, यह अपने धनों का बाँटनेवाला बनता है और प्रभु का भजन करता है।

ऋषिः—अवत्सारः। देवता—अग्निः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

अमर वेदवाणी का दोहन

अस्य प्रत्नामनु द्युतꣳशुक्रं दुदुह्रेऽअह्रयः। पयः सहस्रसामृषिम्॥१६॥

पिछले मन्त्र में वर्णित प्रभु का उपासक था। उस प्रभु का धारण करनेवाले व्यक्ति प्रभु के धारण के द्वारा उस प्रभु की ज्ञान-ज्योति को भी अपने में धारण करते हैं। प्रस्तुत

मन्त्र में कहते हैं कि **अस्य**=इस हृदय-मन्दिर में स्थापित किये गये प्रभु की **प्रत्नाम्**=सनातन **द्युतम्**=ज्योति के **अनु**=अनुसार **अह्नयः**=(अह व्याप्तौ+क्तिन्, ये सर्वा विद्या व्याप्नुवन्ति—द०) अपने में सब विद्याओं का व्यापन करनेवाले ज्ञानी लोग **दुदुह्रे**=अपने में ज्ञान का दोहन करते हैं। किस ज्ञान का? जो ज्ञान १. **शुक्रम्**=(शुच्) मानव जीवन को पवित्र व उज्ज्वल बनानेवाला है **'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'** २. **पयः**=जो हमारा आप्यायन व वर्धन करनेवाला है। इस ज्ञान को प्राप्त करके उसके अनुसार चलते हुए हम अपनी सब शक्तियों का वर्धन करनेवाले बनते हैं। ३. **सहस्रसाम्**=(सहस्र+सन्+संभक्ति आप्ति) यह ज्ञान हमें शतशः शक्तियों का प्राप्त करानेवाला है। वेदज्ञान हमें विलासमय जीवन से ऊपर उठाकर शक्तिसम्पन्न बनाता है। ४. **ऋषिम्**=(ऋष गतौ) और अन्ततः यह ज्ञान हमें प्रभु की ओर ले-जाता है—हमें प्रभु को प्राप्त करने के योग्य बनाता है।

उल्लिखित मन्त्रार्थ में निम्न बातें स्पष्ट हैं—१. यह वेदज्ञान सनातन है। प्रभु अनादि हैं, अतः उनका ज्ञान भी अनादि है। २. अपने में सब विद्याओं का व्यापन करनेवाले इसका दोहन करते हैं। दूसरे शब्दों में यह वेदज्ञान सब सत्य विद्याओं का मूल है। इनमें सब सत्य विद्याओं का बीज निहित है।

मन्त्रार्थ से यह बात भी स्पष्ट है कि ज्ञान के चार परिणाम हैं—१. पवित्रता, २. सब अङ्गों का आप्यायन, ३. शतशः शक्तियों का लाभ तथा ४. प्रभु-प्राप्ति।

इस ज्ञान को प्राप्त वही व्यक्ति करता है जो शरीर में अन्न के सारभूत सारे सोमकणों को सुरक्षित रखता है। सार को सुरक्षित रखने से ही यह 'अवत्सार' कहलाता है।

भावार्थ—हम वेदवाणी का दोहन करके अपने जीवनों को 'उज्ज्वल, आप्यायित, शक्तिसम्पन्न व प्रभु-प्राप्ति का साधन' बनाएँ।

ऋषिः—अवत्सारः। देवता—अग्निः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

अवत्सार की प्रार्थना

तनूपाऽअग्नेऽसि तन्वं मे पाह्यायुर्दाऽअग्नेऽस्यायुर्मे देहि वर्चोदाऽअग्नेऽसि वर्चो मे देहि। अग्ने यन्मे तन्वाऽऊनं तन्मऽआपृण ॥१७॥

'अवत्सार' प्रभु से प्रार्थना करता है—१. **हे अग्ने**=हमारी उन्नति के साधक प्रभो! **तनूपा असि**=आप हमारे शरीरों के रक्षक हो, अतः **मे**=मेरे **तन्वम्**=शरीर को **पाहि**=सुरक्षित कीजिए। आपके दिये गये वेदज्ञान से मैं अपने शरीर को रोगों से बचा सकूँगा। २. **आयुर्दा असि**=आप दीर्घजीवन देनेवाले हैं। **अग्ने**=हे अग्रेणी प्रभो! **मे**=मुझे **आयुः**=दीर्घजीवन **देहि**=दीजिए। आपका यह वेदज्ञान मुझे उस मार्ग पर ले-चले जिससे मैं दीर्घकाल तक जीनेवाला बनूँ। ३. **हे अग्ने**=अग्रगति के साधक प्रभो! **वर्चोदा असि**=आप वर्चस् के देनेवाले हैं, **मे**=मुझे **वर्चः**=वर्चस् **देहि**=दीजिए। इस नीरोग दीर्घजीवन में मैं ब्रह्मवर्चस् को प्राप्त करके आपके समीप पहुँचनेवाला बनूँ। ४. हे **अग्ने**=मुझे आगे और आगे ले-चलनेवाले प्रभो! **यत्**=जो भी **मे**=मेरे **तन्वा ऊनम्**=शरीर की न्यूनता है **मे**=मेरी **तत्**=उस न्यूनता को **आपृण**=दूर कर दीजिए (समन्तात् प्रपूरण—द०)।

भावार्थ—हम अपनी वीर्यशक्ति के द्वारा शरीर की सब न्यूनताओं को दूर करनेवाले हों। सब कमियों को दूर करके प्रभु को प्राप्त करने में क्षम हों।

ऋषिः—अवत्सारः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्ब्राह्मीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

चित्रावसु

इन्धा॑नास्त्वा श॒तꣳहिमा॑ द्यु॒मन्त॒ꣳसमि॑धीमहि। वय॑स्वन्तो वय॒स्कृत॒ꣳसह॑स्वन्तः सह॒स्कृत॑म्। अग्ने॑ सपत्न॒दम्भ॑न॒मद॑ब्धासो॒ऽअदा॑भ्यम्। चित्रा॑वसो स्व॒स्ति ते॑ पा॒रम॑शीय॥१८॥

१. हे प्रभो! **द्युमन्तम्**=ज्योतिर्मय आपको—ज्ञानस्वरूप 'विशुद्धाचित्' आपको **शतं हिमाः**=सौ वर्षपर्यन्त **इन्धानाः**=अपने हृदय-मन्दिर में दीप्त करते हुए **समिधीमहि**=इस जीवन में हम खूब दीप्त हों। २. **वयस्वन्तः**=उत्तम आयुष्यवाले हम **वयस्कृतं**=उत्तम आयुष्य के कारणभूत आपको अपने में दीप्त करें। हम अपने जीवन को उज्ज्वल बनाएँ, परन्तु हमें यह सदा स्पष्ट हो कि हमारे जीवन की उज्ज्वलता का कारण आप ही हैं। ३. **सहस्वन्तः**=उत्तम सहस् (बल+सहनशक्ति)-वाले होते हुए **सहस्कृतम्**=इस सहस् को उत्पन्न करनेवाले आपको हम अपने में समिद्ध करें। 'सहोऽसि' इन शब्दों के अनुसार हम यह न भूल जाएँ कि सारे सहस् के उद्गमस्थान आप ही हैं। ४. **हे अग्ने**=हमारी अग्रगति के साधक प्रभो! **सपत्नदम्भनम्**=हमारे 'काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मत्सर' आदि सब सपत्नों—शत्रुओं के नष्ट करनेवाले आपको हम अपने में समिद्ध करते हैं। परिणामतः **'अदब्धासः'**=दबनेवाले न होते हुए **अदाभ्यम्**=दबाये न जा सकनेवाले आपको हम अपने में समिद्ध करते हैं। वस्तुतः आपके कारण ही तो हम इन शत्रुओं से हिंसित नहीं होते। ५. **चित्रावसो** =(चित्+र+वस्) उत्तम ज्ञान देकर हमें उत्तमता से बसानेवाले हे प्रभो! **स्वस्ति**=आपके दिये इस वेदज्ञान से हमारा जीवन उत्तम हो। वस्तुतः देवता जिसकी रक्षा करना चाहते हैं उसे उत्तम ज्ञान प्राप्त करा देते हैं। नाश का उपाय बुद्धि को छीन लेना है और जीवन का उपाय बुद्धि का प्रापण।

६. हे प्रभो! मैं **ते**=आपके दिये इस वेदज्ञान के सहारे **पारम्**=इस भवसागर के पार को **अशीय** =प्राप्त करूँ। यह ज्ञान ही मुझे सब वासनाओं को जीतने में समर्थ बनाएगा।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हमें उत्तम जीवन, सहनशक्ति, शत्रुओं के नाशन की शक्ति तथा वह ज्ञान प्राप्त होता है जिससे हम कुशलता से इस भवसागर को तैर पाते हैं।

ऋषिः—अवत्सारः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः॥

प्रिय-धाम

सं त्वम॑ग्ने॒ सूर्य॑स्य॒ वर्च॑साग॒थाः समृषी॑णाꣳस्तु॒तेन॑।
सं प्रि॒येण॒ धाम्ना॒ सम॒हमायु॑षा॒ सं वर्च॑सा॒ सं प्र॒जया॒ सꣳरा॒यस्पोषे॑ण ग्मिषीय॥१९॥

१. हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **त्वम्**=आप **सूर्यस्य वर्चसा**=सूर्य के तेज के साथ **सम् आगथाः**=हमें सम्यक् प्राप्त होओ, अर्थात् आपकी कृपा से निरन्तर क्रियाशील रहता हुआ मैं सूर्य के समान चमकूँ। २. **ऋषीणाम्** =तत्त्वद्रष्टा ज्ञानियों के **स्तुतेन**=प्रशस्त ज्ञान के साथ आप हमें प्राप्त होओ (समागथाः)। ३. **प्रियेण धाम्ना सम्**=आप हमें प्रिय तेज के साथ प्राप्त होओ। हम तेजस्वी हों, परन्तु हमारा तेज औरों की प्रीति का कारण बने। हमारा तेज नाशक न होकर निर्माण-विनियुक्त हो। ४. हे प्रभो! आपकी कृपा से **अहम्**=मैं **आयुषा**=उत्तम आयुष्य से **सम्**=सङ्गत होऊँ। मेरा जीवन उत्तम हो। ५. **वर्चसा सम्**=मैं वर्चस् से सङ्गत होऊँ। अपने जीवन में मैं निर्बल न होऊँ। ६. **प्रजया सम्**=परिणामतः मेरा उत्तम व वर्चस्वी जीवन मेरी प्रजा को भी उत्तम बनाये। मैं उत्तम सन्तानों से संयुक्त होऊँ। ७. हे प्रभो! इन

सन्तानों के जीवनों को भी उत्तम बनाने के लिए **रायस्पोषेण**=धन के साथ शरीर की पुष्टि से **संगिमषीय**=सङ्गत होऊँ। मैं धनी होऊँ, जिससे मेरी यह संसार-यात्रा ठीक से चले, परन्तु इस धन को प्राप्त करके मैं कुबेर=कुत्सित शरीरवाला व नलकुबेर न बन जाऊँ। मेरा शरीर पुष्ट हो।

भावार्थ—मैं वर्चस्वी बनूँ, ज्ञानी बनूँ। मेरा तेज लोकहितकारी हो। उत्तम जीवनवाला बनकर मैं उत्तम सन्तान का निर्माण करूँ। धनी होऊँ पर पुष्ट, निर्बल नहीं।

ऋषिः—याज्ञवल्क्यः। देवता—आपः। छन्दः—भुरिग्बृहती। स्वरः—मध्यमः॥

रायस्पोष

अन्ध॒ स्थान्धो॑ वो भक्षीय॒ मह॑ स्थ॒ महो॑ वो भक्षी॒योर्ज॒ स्थोर्ज॑ वो भक्षीय रा॒यस्पोष॑ स्थ रा॒यस्पोषं॑ वो भक्षीय॥२०॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति 'मैं रायस्पोष से सङ्गत होऊँ' शब्दों के साथ हुई थी। प्रस्तुत मन्त्र में इस रायस्पोष की साधनभूत गौवों का उल्लेख करते हैं। धन का संग्रह करनेवाले वैश्य लोग 'कृषि, गोरक्षा व वाणिज्य' से धनार्जन करते हैं। इनके इन तीनों कार्यों का केन्द्र 'गोरक्षा' है। प्राचीनकाल में गोधन ही वास्तविक धन था। Pecuniary शब्द में प्रारम्भिक 'Pecu' यह शब्दांश अब तक पशुधन के धनत्व को पुष्ट कर रहा है। २. इस गौ के लिए कहते हैं कि तुम **अन्धः स्थ**=अन्न हो (क्षीराज्यादिरूपस्यान्नस्य जनकत्वात् अन्नत्वोपचारः—म०), क्षीर, आज्य (घृत) आदि अन्न की जनक हो। मैं **वः**=आपके **अन्धः**= क्षीराज्यादिरूप इस अन्न का **भक्षीय** =सेवन करूँ। ३. **महःस्थ**='मह' शब्दवाच्य दस शक्तिजनक पदार्थों को पैदा करने से तुम 'मह' हो। वे दस वीर्यजनक पदार्थ निम्न हैं—(क) प्रतिधक्=तत्काल दूहा=ताज़ा दूध, (ख) शृतम्=गरम किया हुआ दूध, (ग) शरः=दुग्धमण्ड (घ) दधि, (ङ) मस्तु=दधिरस (च) आतञ्च=दधिपिण्ड (छ) नवनीत=मक्खन (ज) घृतम्, (झ) आमिक्षा=स्फुटित दुग्ध (ञ) वाजिनम्=आमिक्षा जल। मैं **वः**=आपके **महः**=वीर्यजनक इन दस पदार्थों का **भक्षीय**=सेवन करूँ। ४. **ऊर्जः स्थ**=बलहेतु क्षीर की जनक होने से तुम बलरूप हो। मैं **वः**=तुम्हारे **ऊर्जम्**=बलजनक दुग्धादि का **भक्षीय**=सेवन करूँ।

५. **रायस्पोष स्थ**=तुम रायस्पोष हो। वैश्य लोग आपके ही क्षीर-घृतादि के विक्रय से धन का पोषण करते हैं। मैं **वः**=आपके इस **रायस्पोषम्**=रायस्पोष का **भक्षीय**=सेवन करनेवाला बनूँ। ६. इस प्रकार आपके दूध आदि के प्रयोग से जहाँ वीर्यवान्, बलवान् व धनवान् बनूँगा, वहाँ उत्तम मनोवृत्तिवाला बनकर यज्ञादि उत्तम कार्यों में व्याप्त होनेवाला प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'याज्ञवल्क्य' बनूँगा। यज्ञ के संवरणवाला (वल्क-संवरण)। याज्ञवल्क्य वह है जिसके दिन का प्रारम्भ भी यज्ञ से होता है और समाप्ति भी यज्ञ से। एवं, इसका जीवन यज्ञ का ही सम्पुट बना रहता है।

भावार्थ—गौवें 'अन्ध, मह, ऊर्ज व रायस्पोष' हैं। अन्नदात्री, वीर्यदात्री, बल व प्राणदात्री तथा धन का पोषण करनेवाली हैं।

ऋषिः—याज्ञवल्क्यः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—उष्णिक्। स्वरः—ऋषभः॥

याज्ञवल्क्य की 'गो-प्रार्थना'

रेव॑ती॒ रम॑ध्वम॒स्मिन्योना॑व॒स्मिन् गो॒ष्ठेऽस्मिँल्लो॒केऽस्मिन् क्षये॑। इ॒हैव स्त॒ माप॑गात॥२१॥

१. ऋषि याज्ञवल्क्य गौवों को सम्बोधित करते हुए प्रार्थना करते हैं **रेवतीः**=(रयिर्विद्यते यासाम्) धन का हेतु होने से हे धनवती गौवो! **अस्मिन् योनौ**=अपने इस (गोयूथसम्बन्धी प्रजननी) उत्पत्तिस्थान में ही **रमध्वम्**=तुम रमण करो। यहाँ स्पष्ट है कि गौवें इस घर में ही उत्पन्न होती है, यहाँ ही रहती हैं। एवं, उनका विक्रय यथासम्भव नहीं होता। कृषिमय जीवन में यह बात पूर्णतया सम्भव है। २. **अस्मिन् गोष्ठे**=इस गोष्ठ में (गोष्ठशब्देन गृहाद् बहिर्विश्राम्मेण सञ्चारप्रदेशः) गोसञ्चार प्रदेश में रमण करो। ३. **अस्मिन् लोके**=इस यजमान के दृष्टि-विषय में (लोकृ दर्शने) रमण करो, अर्थात् गृहपति की दृष्टि तुमपर सदा बनी रहे—उसकी आँख से तुम ओझल न हो जाओ। ४. **अस्मिन् क्षये**=(क्षि निवासे) इस यजमान के निवासस्थानभूत घर में तुम आनन्द से रहो। **इह एव स्त**=यहाँ ही होओ। **मा अपगात**=यहाँ से दूर मत जाओ। इस घर की 'नीरोगता, पवित्रता व वृद्धि की भास्वरता' सब-कुछ तुमपर ही तो आश्रित है, अतः तुम यहीं निवास करो।

भावार्थ—गौ ही घर का वास्तविक धन है। उसके न रहने पर घर 'शरीर, मन व बुद्धि' सभी दृष्टिकोणों से निर्धन बन जाता है। शरीर रोगी हो जाता है, मन मलिन हो जाता है और बुद्धि मन्द।

ऋषिः—वैश्वामित्रो मधुच्छन्दाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगासुरीगायत्री[क], गायत्री[र]। **स्वरः**—षड्जः॥

वेदवाणी व गौपत्य

[क]**सँहितासि विश्वरूप्यूर्जा माविश गौपत्येन।**

[र]**उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम्। नमो भरन्तऽएमसि॥२२॥**

पिछले मन्त्र में गोष्ठों का उल्लेख है। 'गो' शब्द का अर्थ वेदवाणी भी है, अतः प्रस्तुत मन्त्र में वेदवाणी का उल्लेख करते हैं। गोदुग्ध पान से निर्मल मन व तीव्र बुद्धि बनकर यह वेदवाणी के अध्ययन के योग्य बनता है और कहता है कि—१. **संहिता असि**= तू सृष्टि के आरम्भ में ही प्रभु द्वारा 'अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा' आदि ऋषियों के हृदयों में **सम्**=सम्यक्तया **हिता**=स्थापित हुई है। यहाँ 'सम्' की भावना 'इकट्ठी' लेकर पाश्चात्य विद्वानों ने यह धारणा कर ली कि ये विभिन्न ऋषियों की वाणियों का संग्रह (collection) होने से 'संहिता' नामवाली हुई हैं। 'सम्' का अर्थ 'सम्यक्तया' लेने पर यह भ्रम दूर हो जाता है। २. यह वेदवाणी **विश्वरूपी**=सब पदार्थों का निरूपण करनेवाली है। इसी से यह सब सत्य विद्याओं का आदिमूल कहलाई है। ३. इस वेदवाणी के ओजस्वी सन्देश को सुनकर मनुष्य उत्साह से परिपूर्ण हो जाता है। यह पाठक को बल व प्राणशक्ति से व्याप्त कर देती है, अतः कहते हैं कि **ऊर्जा**=बल और प्राणशक्ति के साथ तू **मा आविश**=मुझमें प्रविष्ट हो। ४. **गौपत्येन**=(गावः इन्द्रियाणि) मैं वेदवाणी का अध्ययन करके इन इन्द्रियों का स्वामी बनूँ। यह वेदवाणी 'गौपत्य' से मुझमें प्रविष्ट हो, अर्थात् ज्ञानप्रवण बनाकर यह मुझे जितेन्द्रिय बनानेवाली हो।

५. इन्द्रियों का निरोध करके हम वेदवाणी के स्थापक प्रभु का स्मरण करते हैं और कहते हैं—**दोषावस्तः**=सब दोषों का छादन=अपवारण (वस्+आच्छादन=अपवारण) करनेवाले **अग्ने**=मेरी उन्नति के साधक हे प्रभो! आपकी इस वेदवाणी के प्रवेश से बल व जितेन्द्रियता का साधन करनेवाले हम **धिया**=बुद्धिपूर्वक किये जानेवाले कर्मों से **नमः**=पूजन को **भरन्तः**=प्राप्त कराते हुए **त्वा उप एमसि**=आपके समीप प्राप्त होते हैं।

यहाँ मन्त्रार्थ में निम्न बातें ध्यान देने योग्य हैं—१. वेदवाणी पवित्र हृदयों में प्रभु द्वारा स्थापित होती है। २. यह व्यक्ति में प्राणशक्ति का सञ्चार करती है और उसे जितेन्द्रियता के मार्ग पर ले-चलती है। ३. जितेन्द्रिय पुरुष उस प्रभु का सदा स्मरण करता है, जिसके स्मरण से हमारा जीवन निर्दोष बना रहता है। ४. प्रभु का सच्चा उपासन ज्ञानपूर्वक किये गये कर्मों से होता है, बशर्ते कि हम उन कर्मों का गर्व न करके नम्र बने रहें।

इन्हीं बातों की इच्छा करनेवाला व्यक्ति 'मधुच्छन्दाः'=मधुर इच्छाओंवाला है। यह चाहता है कि 'मैं पवित्र हृदय बनूँ, मेरे हृदय में प्रभु-वाणी स्थापित हो, यह वेदवाणी मुझमें प्राणशक्ति का सञ्चार करे, मैं जितेन्द्रिय बनूँ, मेरा जीवन निर्दोष बने, ज्ञानपूर्वक कर्मों से मैं प्रभु का उपासन करूँ, और सदा नम्र बना रहूँ'। यह मधुच्छन्दा 'वैश्वामित्र' है—सबके साथ स्नेह करनेवाला है।

भावार्थ—हम वेदवाणी के द्वारा उत्साहमय व जितेन्द्रिय बनकर प्रभु के उपासक बनें।

ऋषिः—वैश्वामित्रो मधुच्छन्दाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

प्रभु का उपासन

राज॑न्तमध्व॒राणां॑ गो॒पामृ॒तस्य॒ दीदि॑विम्। वर्द्ध॑मान॒ꣳस्वे दमे॑॥२३॥

हम उस प्रभु के समीप प्राप्त होते हैं जो १. **राजन्तम्**=(राजृ दीप्तौ) संसार के प्रत्येक 'विभूतिवाले, श्रीवाले या बलवाले' पदार्थ में दीप्त हो रहे हैं। वस्तुतः उस पदार्थ की 'विभूति-श्री-दीप्ति' प्रभु के कारण ही तो श्रीमत् है। उपनिषद् स्पष्ट कह रही है कि **'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'**। २. वे प्रभु **अध्वराणां गोपाम्**=सब यज्ञों के रक्षक हैं। हिंसा व कुटिलता से रहित कर्मों के वे पालक हैं। ३. **ऋतस्य**=सत्य के **दीदिविम्**=प्रकाशक (दीपयिता) हैं, वेदवाणी के द्वारा सब सत्य विद्याओं के प्रकाशक हैं। ४. वे प्रभु **स्वे दमे**=अपने स्वरूप में **वर्धमानम्**=सदा वर्धमान हैं। वे क्षीणता व जीर्णता से रहित हैं। उनका स्वरूप 'प्रकाशमय' है—वे ज्ञानस्वरूप हैं। यह ज्ञान सदा पूर्ण रहता है—इसमें किसी प्रकार की न्यूनता नहीं आती।

४. इस प्रकार उपासना करनेवाले मधुच्छन्दा की कामना यह है कि— (क)मैं भी प्रभु-ज्योति से देदीप्यमान होऊँ (ख) अपने जीवन में यज्ञिय कर्मों की रक्षा करनेवाला बनूँ (ग) मुझमें सत्य का प्रकाश हो (घ) मेरा ज्ञान सदा बढ़ता रहे।

भावार्थ—हम प्रभु की उपासना करते हुए प्रभु-जैसे ही बनने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—वैश्वामित्रो मधुच्छन्दाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराड्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

पुत्र के लिए पिता के समान

स नः॑ पि॒तेव॑ सू॒नवेऽग्ने॑ सूपाय॒नो भ॑व। सच॑स्वा नः स्व॒स्तये॑॥२४॥

'मधुच्छन्दा' प्रार्थना करता है कि **अग्ने**=हे प्रभो! हमारी उन्नति के साधक **सः**=आप **सूनवे पिता इव** =जैसे पुत्र के लिए पिता सुगमता से प्राप्त होने योग्य होता है उसी प्रकार **नः**=हमारे लिए **सूपायनः भव**=सरलता से प्राप्य होओ। सुमार्ग पर चलनेवाला सदाचारी, सुशील, विज्ञ सन्तान जैसे पिता को प्रिय होता है, उसी प्रकार मैं मधुच्छन्दा भी हे प्रभो! आपका प्रिय होऊँ। और आप **नः**=हमें **स्वस्तये**=उत्तम जीवन के लिए **सचस्व**=समवेत कीजिए। उत्तम जीवन से हमारा सम्बन्ध अविच्छिन्न हो। वस्तुतः प्रभु-कृपा का ही परिणाम

होता है कि कदम-कदम पर प्रलोभनों से भरे इस संसार में हम मार्ग से विचलित नहीं होते। पिता की आँख से ओझल न होनेवाला सन्तान कुसङ्ग से बचा रहता है और बुराइयों में नहीं फँसता। इसी प्रकार प्रभु का उपासक **स्वस्ति**=उत्तम जीवन-सम्पन्न बना रहता है। 'पिता' का शब्दार्थ ही रक्षक है, पिता पुत्र को बुराइयों से बचाता है।

भावार्थ—हम सदा प्रभु के समीप रहें, जिससे मलिन इच्छाएँ हममें उत्पन्न ही न हों।

ऋषिः—सुबन्धुः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिग्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

सुबन्धु-स्तवन

अग्ने॒ त्वं नो॒ऽअन्त॑मऽउ॒त त्रा॒ता शि॒वो भ॑वा वरू॒थ्यः॑।
वसु॑र॒ग्निर्वसु॑श्रवा॒ऽअच्छा॑ नक्षि द्यु॒मत्त॑मꣳ र॒यिं दाः॥२५॥

१. पिछले मन्त्र में प्रभु को पिता के रूप में स्मरण किया था। उसी को अब उत्तम बन्धु के रूप में स्मरण करते हैं। प्रभु को इस रूप में स्मरण करने के कारण ही मन्त्र का ऋषि 'सु-बन्धु' है=उत्तम बन्धुवाला। हम जैसों को बन्धु बनाते हैं वैसे ही बन जाते हैं, अतः सुबन्धु तो प्रभु के बन्धुत्व में ही रहने का प्रयत्न करता है। २. यह प्रभु का स्तवन इस रूप में करता है—**अग्ने**=हे प्रकाशमय प्रभो! अथवा मेरी सम्पूर्ण उन्नतियों के साधक प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमारे **अन्तमः**=अन्तिकतम मित्र हैं Intimate friend हैं। अथवा अनिति जीवयति अतिशयेन=आप ही मेरे प्राण हैं—जीवन हैं। २. **उत**=और, अन्तिकतम व प्राणप्रद बन्धु के रूप में आप मेरे **त्राता**=रक्षक हैं। आपकी कृपा से ही मैं काम-क्रोधादि शत्रुओं के आक्रमण से सुरक्षित रहता हूँ। ३. **शिवः**=कामादि शत्रुओं से सुरक्षित करके आप मेरा कल्याण करते हैं। ४. आप **वरूथ्यः भव**=मेरे लिए उत्तम आवरण होओ, (वृ=संवरण)। वस्तुतः आप ही मेरे अमृतरूप उपस्तरण व अपिधान हैं। अथवा **वरूथ**=Wealth धन, आप ही हमारे उत्तम धन हैं, हमें उत्तम धन देनेवाले हैं। ५. **वसुः**=इस उत्तम धन के द्वारा आप हमें उत्तम निवास देनेवाले हैं 'वासयतीति वसुः'। ६. **अग्निः**=उत्तम निवास देकर हमें आगे ले-चलनेवाले हैं। ७. **वसुश्रवाः**=आप निवासक ज्ञान देनेवाले हैं। ८. **अच्छा नक्षि**=हे प्रभो! आप हमें आभिमुख्येन प्राप्त होओ (अच्छ=ओर, नक्ष् गतौ), और ९. **द्युमत्तमम्**=अधिक-से-अधिक ज्योतिवाला **रयिम्**=धन **दाः**=दीजिए। मुझे धन प्राप्त हो, परन्तु धन पाकर मैं प्रमत्त न हो जाऊँ। धन मेरी ज्योति के वर्धन का कारण बने नकि ह्रास का।

भावार्थ—हम प्रभु को अपना बन्धु बनाकर वासनाओं को तैर जाएँ और प्रकाशमय धन को प्राप्त होनेवाले हों।

ऋषिः—सुबन्धुः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—स्वराड्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

पापकथा से बचाइए

तं त्वा॑ शोचिष्ठ दीदिवः सु॒म्नाय॑ नू॒नमी॑महे॒ सखि॑भ्यः।
स नो॑ बोधि श्रु॒धी हव॑मुरु॒ष्या णो॑ऽअघाय॒तः सम॑स्मात्॥२६॥

१. सुबन्धु प्रार्थना करता है—हे **शोचिष्ठ**=गत मन्त्र में वर्णित 'द्युमत्तमं रयिम्' को देकर हमारे जीवनों को शुचि बनानेवाले! **दीदिवः**=देदीप्यमान प्रभो! **तं त्वा**=उस आपसे **नूनम्**=निश्चय से **सुम्नाय**=सुख के लिए **ईमहे**=याचना करते हैं। साथ ही **सखिभ्यः**=ऐसे

साथियों के लिए जोकि मिलकर ज्ञान की ही चर्चा करनेवाले हों, उन सखाओं के लिए याचना करते हैं। ऐसे साथियों के सम्पर्क से ही हम इस संसार-यात्रा में आगे बढ़ेंगे। २. **सः**=आप **नः**=हमें **बोधि**=बोध से युक्त कीजिए। ज्ञानप्रवण मित्रों के सम्पर्क में रहकर हमारा ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ता चले। हे प्रभो! **हवम्**=हमारी इस पुकार को आप **श्रुधी**=अवश्य सुनिए और **नः**=हमें **अघायतः**=अघ-बुराई व पाप को चाहनेवाले **समस्मात्**=सब लोगों से **उरुष्य** =बचाइए। पाप की चर्चा करनेवालों के सम्पर्क में हम न आएँ। यह चर्चा अकल्याण का ही कारण बनती है।

भावार्थ—हम ज्ञान-रुचिवाले मित्रों के सम्पर्क में आकर अधिक और अधिक बोधवाले हों। अशुभ चर्चाओं में रुचिवाले मित्रों से हम सदा बचे रहें।

ऋषिः—श्रुतबन्धुः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराड्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

वेदवाणी का 'काम-धरण'

इडऽएह्यदितऽएहि काम्याऽएत। मयि वः कामधरणं भूयात्॥२७॥

गत मन्त्र का सुबन्धु ज्ञानी मित्रों के सम्पर्क में रहकर खूब ज्ञानी बनता है। वह वेदवाणी को अपनाता है। इस वेदवाणी के अपनाने से यह 'श्रुतबन्धु'=ज्ञानरूप मित्रवाला हो जाता है। यह वेदवाणी से ही कहता है—१. **इडे**=हे वेदवाणी! **एहि**=तू मुझे प्राप्त हो। तू इडा=A Law (इ+डा=ला Law) मेरे जीवन का नियम है। वस्तुतः प्रभु ने सृष्टि के आरम्भ में इसे एक कानून के रूप में ही हमें दिया है। २. **अदिते**=हे अखण्डित रहनेवाली वेदवाणी! तू **एहि**=मुझे प्राप्त हो। इस वेदवाणी से हमारे स्वास्थ्य आदि अखण्डित रहते हैं। यह वेदवाणी स्वयं भी उस अनादि-अनन्त प्रभु का ज्ञान होने से 'अखण्डित-अविनश्वर' है। ३. **काम्याः**=इस वेदवाणी की सब 'ऋचाएँ-यजु व साम' कामना के योग्य हैं—चाहने योग्य हैं। हे कमनीय वेदवाणियो! **एत**=हमें प्राप्त होओ। **वः**=आपका **मयि**=मुझमें **कामधरणम्**=इच्छापूर्वक धारण **भूयात्**=हो। **'काम्यो हि वेदाधिगमः'**, इन मनु के शब्दों के अनुसार मैं वेदज्ञान की कामनावाला होऊँ। इसमें निहित ज्ञान को मैं अपना बन्धु बनाऊँ और 'श्रुतबन्धु' नामवाला होऊँ।

भावार्थ—वेदवाणी जीवन का नियम है। यह अखण्डन व स्वास्थ्य को प्राप्त करानेवाली है, चाहने योग्य है। मैं इच्छा से इसका धारण करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—विप्रबन्धुः। **देवता**—बृहस्पतिः। **छन्दः**—विराड्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

'सोम-स्वरण-कक्षीवान्-उशिक्'

सोमानꣳ स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते। कक्षीवन्तं यऽऔशिजः॥२८॥

१. पिछले मन्त्र का 'श्रुतबन्धु' वेदज्ञान की प्राप्ति के लिए ज्ञानी मित्रों के सम्पर्क में आकर प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'विप्रबन्धु' बनता है। 'वि+प्र' वह है जो वेदवाणी को विशेष रूप से अपने में पूरण करता है। यह विप्र 'ब्रह्मणस्पति' है—ज्ञान का—वेद का पति है। वस्तुतः ऐसे ब्रह्मणस्पति आचार्यों के मिलने पर ही हमारा जीवन सुन्दर बनता है। सबसे बड़े 'ब्रह्मणस्पति' तो प्रभु ही हैं—गुरुओं के भी वे गुरु हैं। **ब्रह्मणस्पते**=वेदज्ञान के पति हे आचार्य! आप मुझे **सोमानं स्वरणं कक्षीवन्तं कृणुहि**=सोम, स्वरण व कक्षीवान् बनाइए। २. मैं आपके दिये वेदज्ञान के परिणामरूप सोम=सौम्य स्वभाववाला बनूँ। **ब्रह्मणा अर्वाङ्**

विपश्यति'=मनुष्य वेदज्ञान से नीचे देखनेवाला अर्थात् विनीत बनता है। **'विद्या ददाति विनयम्'**=विद्या विनय देती है। ३. मैं **स्वरण**=(सु+ऋ) उत्तम गतिवाला बनूँ। वेदज्ञान को प्राप्त करके जहाँ मैं सौम्य बनूँ वहाँ सदा उस वेद के नियमों के अनुसार चलनेवाला बनकर सदा उत्तम गतिवाला होऊँ। ४. मैं इस जीवन में कक्षीवान्— दृढ़निश्चयी बनकर चलूँ। कक्ष्य=कमर को कसकर मैं ज्ञान प्राप्ति में जुट जाऊँ। ५. मुझे आप ऐसा बनाइए **यः**=जो **औशिजः**=(उशिक्=मेधावी) अत्यन्त मेधावी है। निरन्तर मेधा की ओर चलता हुआ मैं 'मेधातिथि' बनूँ।

भावार्थ—हे ब्रह्मणस्पते! आपकी कृपा से ज्ञान प्राप्त करके मैं 'सौम्य, सुकर्मा, दृढ़निश्चयी व मेधावी बनूँ।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—बृहस्पतिः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

पुष्टि-वर्धन

यो रेवान् योऽअमीवहा वसुवित्पुष्टिवर्द्धनः। स नः सिषक्तु यस्तुरः॥२९॥

१. **नः**=हमें **सः**=वह **सिषक्तु**=प्राप्त हो **यः**=जो **रेवान्**=ज्ञानरूप धनवाला है, **यः**=जो **अमीवहा**=रोगों को नष्ट करनेवाला है, **वसुवित्**=निवास के लिए आवश्यक सब वस्तुओं को प्राप्त करानेवाला है। **पुष्टिवर्धनः**=वस्तुओं को प्राप्त कराके हमारी पुष्टि को बढ़ानेवाला है और **यः**=जो **तुरः**=शीघ्रता से कार्यों को करनेवाला—निरालस्य है अथवा काम-क्रोधादि का संहार करनेवाला है। २. इस मन्त्र में गत मन्त्र के ब्रह्मणस्पति=वेदज्ञानी आचार्य की विशेषताओं का उल्लेख है। (क) वह ज्ञान का धनी होना चाहिए। कम ज्ञानवाला अध्यापक कभी विद्यार्थी के आदर का पात्र नहीं बन पाता। (ख) वह रोगों को नष्ट करनेवाला हो, नीरोग हो। बीमार आचार्य भी विद्यार्थी को प्रभावित नहीं कर पाता। (ग) सब वसुओं को स्वयं प्राप्त करनेवाला ही विद्यार्थी को इन वसुओं को प्राप्त करानेवाला होता है। (घ) आचार्य विद्यार्थी की पुष्टि का वर्धन करनेवाला हो। (ङ) और अन्त में वह क्रियाशील व कामादि शत्रुओं का संहारक हो। ३. ऐसे आचार्य को प्राप्त करके विद्यार्थी निरन्तर मेधा की ओर चलनेवाला प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'मेधातिथि' बनता है। इसकी बुद्धि निरन्तर बढ़ती चलती है।

भावार्थ—आचार्यों में ये विशेष गुण होने चाहिएँ—वह १. ज्ञानधनी हो, २. नीरोग हो, ३. निवास के लिए सब आवश्यक पदार्थों को प्राप्त करानेवाला, ४. पुष्टिवर्धन तथा ५. शीघ्रकारी व कामादि का संहारक हो।

ऋषिः—सत्यधृतिर्वारुणिः। **देवता**—ब्रह्मणस्पतिः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

सत्यधृति वारुणि 'अदान व हिंसा से ऊपर'

मा नः शंसोऽअररुषो धूर्तिः प्रणङ् मर्त्यस्य। रक्षा णो ब्रह्मणस्पते॥३०॥

१. गत मन्त्र का मेधातिथि आचार्य से निरन्तर ज्ञान प्राप्त करके अपने धर्म में स्थिर होता है। यह धर्म में स्थिरता से ठहरना ही इसे 'सत्यधृति' बना देता है, इसका जीवन उत्तम व निर्दोष होने से यह 'वारुणि' कहलाता है। अपने 'मनः, प्राणेन्द्रिय क्रियाओं' को सात्त्विक धैर्य से धारण करता है। २. यह ब्रह्मणस्पति=वेदज्ञान के अधिपति प्रभु से प्रार्थना करता है कि—**ब्रह्मणस्पते**=हे ज्ञान के पति आचार्य! अथवा परमात्मन्! **नः**=हमें **अररुषः**=न देने की वृत्तिवाले कृपण पुरुष की **शंसः**=शंसन या बातें **मा**=मत **प्रणङ्**=नष्ट करनेवाली हों। अथवा

इसकी बातें हमें (नशेर्व्याप्त्यर्थस्य एतद् रूपम्–उव्वट) व्याप्त करनेवाली न हों। हमारे मनों पर इनकी बातों का प्रभाव न हो जाए। इनकी बातों का स्वरूप यही तो होता है कि 'व्यक्ति को तो इसलिए नहीं देना कि उसमें पर-पिण्ड जीवन की वृत्ति उत्पन्न हो जाती है, महन्तों का जीवन कितना विलासमय हो जाता है। संस्थाओं में भी रुपये को किस निर्दयता से व्यर्थ व्यय किया जाता है—वहाँ लोग काम कम करते है, रुपये अधिक लेते हैं, रुपयों का ग़बन होता रहता है। सरकार के कार्यों में तो अन्धेर खाता है ही, वहाँ तो करोड़ों का भी कुछ पता नहीं लगता, अतः देने का लाभ कुछ नहीं।' प्रभु-कृपा से हमें ये बातें 'अररिवान्' (अदाता+कृपण) न बना दें। ३. और हे आचार्य (परमात्मन्)! ऐसी कृपा कीजिए कि **मर्त्यस्य**=मरने-मारने के स्वभाववाले, अथवा किसी सांसारिक वस्तु के पीछे मरनेवाले मनुष्य की **धूर्तिः**=हिंसा **नः**=हमें **मा**=मत **प्रणङ्**=नष्ट करे या व्याप्त हो। हम इन लोगों से की जानेवाली हिंसाओं का शिकार न हों और इस प्रकार की हिंसाओं के करने की हमारी वृत्ति न बन जाए। ४. हे ब्रह्मणस्पते=ज्ञान के पते! इस प्रकार अदान व हिंसा की वृत्ति से बचाकर **नः**=हमें **रक्ष**=इस भवसागर में ही गोते खाते रहने से बचाइए।

भावार्थ—ज्ञानी आचार्यों से ज्ञान प्राप्त करके हम अपनी मनोवृत्ति को ऐसा बना लें कि हममें 'अदान व हिंसा' की वृत्ति न जाग सके।

ऋषिः—सत्यधृतिर्वारुणिः। **देवता**—आदित्यः। **छन्दः**—विराड्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

महि-द्युक्ष-दुराधर्ष

महिं त्रीणामवोऽस्तु द्युक्षं मित्रस्यार्यम्णः। दुराधर्षं वरुणस्य ॥३१॥

१. सत्यधृति वारुणि ने गत मन्त्र में 'अदान व हिंसा' से ऊपर उठने का निश्चय किया तो प्रस्तुत मन्त्र में वह 'मित्रता, जितेन्द्रियता व अद्वेष' की भावना को धारण करने का निश्चय करता है। वह कहता है कि **त्रीणाम्**=तीन का **मित्रस्य अर्यम्णः वरुणस्य**=मित्र, अर्यमा व वरुण का **अवः**=रक्षण **अस्तु**=हमें प्राप्त हो। २. 'मित्र, अर्यमा और वरुण' ये तीन देवता क्रमशः (क) (ञिमिदा स्नेहने, मीतेः त्रायते) सबके साथ स्नेह करना, पाप से अपने को बचाना, (ख) (अरीन् गच्छति) काम-क्रोधादि शत्रुओं को जीतकर जितेन्द्रिय बनना, तथा (ग) (वारयति) द्वेषादि का निवारण करना' इन भावनाओं के प्रतीक हैं। 'सत्यधृति' निश्चय करता है कि वह सबके साथ स्नेह करेगा, जितेन्द्रिय बनेगा और द्वेष से अपने को अवश्य बचाएगा। ३. मन्त्रक्रम में यह भी स्पष्ट है कि इन देवों का रक्षण क्रमशः **'महि, द्युक्षं, दुराधर्षम्'** है। मित्र का रक्षण 'महि' महनीय है, आदर के योग्य है। यह मनुष्य को महान् बनाता है। सबसे स्नेह से वर्तनेवाला व्यक्ति सबका महनीय होता है। ४. अर्यमा का रक्षण 'द्युक्षम्' है। जितेन्द्रिय बनने से हम **द्यु**=ज्योति में **क्ष**=निवास करनेवाले होते हैं। जितेन्द्रियता से हमारी बुद्धि व ज्ञान का विकास होता है। अजितेन्द्रिय पुरुष का ज्ञान उसी प्रकार नष्ट हो जाता है जैसेकि कच्चे घड़े से पानी चू जाता है। ५. वरुण का रक्षण 'दुराधर्ष' है। द्वेष का निवारण करनेवाला व्यक्ति औरों के लिए अधर्षणीय हो जाता है—कोई भी इसका पराभव नहीं कर पाता।

भावार्थ—हम सबके साथ स्नेह से वर्त्तते हुए महनीय बनें, जितेन्द्रिय बनकर ज्योतिर्मय मस्तिष्कवाले हों और द्वेष से ऊपर उठकर अपराजेय बन जाएँ।

ऋषिः—सत्यधृतिर्वारुणिः। **देवता**—आदित्यः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

अघशंस के सङ्ग से बचें

नहि तेषाममा चन नाध्वसु वारणेषु। ईशे रिपुरघशंसः॥३२॥

१. **तेषाम्**=गत मन्त्र के 'मित्र, अर्यमा व वरुण' के उपासकों को **अघशंसः**=पाप का शंसन करनेवाला **रिपुः**=शत्रु **अमा चन**=घर में भी **नहि ईशे**=ईश नहीं बनता। **अध्वसु**=मार्गों में भी न (ईशे)=वह अघशंस इनका ईश नहीं बनता **अरणेषु वा**=(अ+रण=शब्द) अथवा निःशब्द एकान्त स्थानों में भी वह इनका ईश नहीं बनता।

२. अघशंस व्यक्ति वह है जो पाप का अच्छे रूप में शंसन करता है। पाप को उजले रूप में दिखाकर हमें उन पापों में फँसानेवाला होता है, इसी से वह हमारा 'रिपु' है—शत्रु है। भयंकर शत्रु वही है जो ऊपर से मीठा है—हृदय में हमारे लिए अशुभ भावना रखता है। न घरों में, न मार्गों में और ना ही एकान्त स्थानों में ये हमारे ईश बन जाएँ। हम इनकी बातों में आकर पाप की ओर प्रवृत्त न हो जाएँ। जिन व्यक्तियों के ध्येय व उपास्य 'मित्र, अर्यमा व वरुण' होते हैं, वे सदा शुभमार्ग पर ही चलते हैं। ये अघशंसों की बातों में नहीं आते।

३. अघशंस लोग घर में भोजनादि पर आमन्त्रित करके बड़े आपातरम्य मधुर ढङ्ग से साथी बनकर हमें फुसला लेते हैं। यात्रा में साथी बनकर छोटी-छोटी सहायताओं से हमें अपना बनाकर बहका लेते हैं और कभी-कभी अकेले में वे अनुकूल अवसर पाकर हमें मार्गभ्रष्ट कर देते हैं।

भावार्थ—सत्यधृतिवाला पुरुष अघशंस पुरुषों के सङ्ग से बचता है। वस्तुतः तभी तो अपने को पाप के मार्ग से बचा पाता है।

ऋषिः—सत्यधृतिर्वारुणिः। **देवता**—आदित्यः। **छन्दः**—विराड्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

अजस्र ज्योति का दान

ते हि पुत्रासोऽअदितेः प्र जीवसे मर्त्याय। ज्योतिर्यच्छन्त्यजस्रम्॥३३॥

१. ३० से ३२ तक के मन्त्रों में 'सत्यधृति वारुणि' का चित्रण है। **ते**=ये 'सत्यधृति वारुणि' **हि**=निश्चय से **अदितेः पुत्रासः**=अदिति के पुत्र होते हैं, अर्थात् आदित्य ब्रह्मचारी बनते हैं। 'अदितिः—अखण्डन (दो अवखण्डने) न इनका शरीर खण्डित व हिंसित होता है, न ही इनका मन द्वेषादि की भावनाओं से खण्डित हुआ करता है। इनका ज्ञानयज्ञ तो कभी खण्डित होता ही नहीं। इसी से इन्हें 'अदिति के पुत्र' कहा गया है। २. ये **मर्त्याय**=विषयों के पीछे मरनेवाले सामान्य मनुष्यों के लिए **अजस्रम्**=निरन्तर **ज्योतिः**=ज्ञान के प्रकाश को **यच्छन्ति**=देते हैं। ये आदित्य निरन्तर ज्ञान की ज्योति देकर हमें उत्कर्ष की ओर ले-जाते हैं और **प्रजीवसे**=हमारे प्रकृष्ट जीवन का कारण बनते हैं। अघशंसों का अघशंसन हमारे जीवन के पतन का कारण बनता है और आदित्य ब्रह्मचारियों का ज्योतिर्दान जीवन के उत्थान का कारण होता है।

भावार्थ—हमारे जीवन में हमारा सङ्ग अघशंसों के साथ न हो। अदिति-पुत्रों का सङ्ग प्राप्त करके हम उच्च जीवनवाले बनें।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—पथ्याबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

मधुच्छन्दा वैश्वामित्र

कदा चन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे।

उपोपेन्नु मघवन् भूयऽइन्नु ते दानं देवस्य पृच्यते॥३४॥

१. गत मन्त्र के अदिति-पुत्रों से निरन्तर ज्ञानज्योति प्राप्त करके हम प्रभु के अधिकाधिक समीप पहुँचते हैं। प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि ज्ञानज्योति से पवित्र होकर मधुर इच्छाओंवाला बनता है, अतः 'मधुच्छन्दाः' कहलाता है और यह सबके साथ स्नेह करके 'वैश्वामित्र' नामवाला होता है। २. यह प्रभु से कहता है कि हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! आप **कदाचन**=कभी भी **स्तरीः**=हिंसा करनेवाले **न असि**=नहीं हैं। जो भी व्यक्ति प्रभु का मित्र बनता है प्रभु उसकी हिंसा नहीं होने देते। हम प्रभु से दूर होते हैं और प्राकृतिक शक्तियों से हिंसित होने लगते हैं। प्रभु से दूर हुए और विषयों का शिकार हुए। ३. हे इन्द्र! आप **दाशुषे**=दाश्वान् के लिए, आपके प्रति अपना समर्पण करनेवाले के लिए **सश्चसि** =प्राप्त होते हो, आप उसे अपना ऐश्वर्य प्राप्त कराते हो। हे **मघवन्**=पापशून्य ऐश्वर्यवाले प्रभो! **देवस्य**=दिव्य गुणंयुक्त **ते**=आपका **दानम्**=दान **भूय इत् नु**=अब निश्चय से उतना ही अधिक **पृच्यते**=मेरे साथ संपृक्त होता है जितना-जितना **उप उप इत् नु**=मैं आपके समीप प्राप्त होता हूँ। हम जितना-जितना प्रभु के समीप पहुँचते हैं उतना-उतना प्रभु के दान के पात्र बनते हैं। प्रभु से दूर और प्रभु के दान से दूर। ५. 'मैं प्रभु के समीप पहुँचूँगा। प्रभु के प्रति अपना अर्पण करके हिंसा से बचूँगा। प्रभु के दान का पात्र बनूँगा' इन उत्तम इच्छाओं का करनेवाला यह जीव सचमुच 'मधुच्छन्दाः' हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु हमें हिंसा से बचाते हैं, उत्तम दान प्राप्त कराते हैं यदि हम उनके समीप पहुँचते हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः। देवता—सविता। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

भर्ग का धारण

तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥३५॥

१. **तत् सवितुः**=उस विस्तृत, सर्वव्यापक, उत्पादक प्रभु के **देवस्य**=सब दिव्य गुणों के अधिष्ठाता प्रभु के **वरेण्यम्**=वरणीय **भर्गः**=तेज का **धीमहि**=हम ध्यान करते हैं व उसे धारण करते हैं। 'स चासौ सविता च' इस विग्रह से वह परमात्मा जहाँ सर्वव्यापक है वहाँ सर्वोत्पादक है। दिव्य गुणों के तो वे पुञ्ज हैं ही। इन प्रभु के तेज को ही 'विश्वामित्र' ऋषि अपना लक्ष्य बनाते हैं। इसी तेज को धारण करने का प्रयत्न करते हैं। 'प्रभु के तेज को धारण करने' से अधिक उच्च मानव-जीवन का लक्ष्य नहीं हो सकता। २. वह निश्चय करता है कि मैं उस प्रभु के तेज को धारण करूँगा **यः**=जो **नः धियः**=हमारी बुद्धियों को **प्रचोदयात्**=उत्कृष्ट प्रेरणा देता है। ऊँचा लक्ष्य बनाने पर यह निरन्तर उन्नति-पथ पर आरुढ़ होता चलता है। यही मानव-जीवन की सफलता है।

भावार्थ—हम प्रभु के तेज को धारण करें। इस लक्ष्य के कारण हमें सदा सद्बुद्धि प्राप्त हो।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।।

ज्ञानरूप रथ

परि ते दूडभो रथोऽस्माँ२॥ऽअश्नोतु विश्वतः। येन रक्षसि दाशुषः॥३६॥

१. गत मन्त्र में प्रभु के तेज को धारण करनेवाला व्यक्ति प्राणिमात्र का मित्र बनता है तो 'विश्वामित्र' कहलाता है। इस स्नेह की भावना से सब दिव्य गुणों का विकास होता है और यह 'वामदेव' बन जाता है। यह वामदेव प्रभु से प्रार्थना करता है कि **ते**=आपका **दूडभः**=(दुःखेन दम्भितुं हिंसितुं योग्यः) न नष्ट करने योग्य **रथः**=विज्ञानरूप रथ (रथो रंहतेर्गतिकर्मणः, स्थिरतेर्वा, रममाणोऽस्मिँस्तिष्ठति, रपतेर्वा रसतेर्वा—नि० ९।११) **अस्मान्**=हमें **विश्वतः**=सब ओर से **परि अश्नोतु**=व्याप्त करे। 'ज्ञान का परिणाम गति व क्रिया होती है'—'**क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः**', ज्ञानी पुरुष स्थिर मनोवृत्ति का बनता है, ज्ञान में मनुष्य अन्ततः अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव करता है, यह ऋषियों के हृदयों में प्रभु से व्यक्त रूप में उच्चारण किया जाता है। यह जीवन को रसमय बनाता है। इन कारणों से ज्ञान यहाँ 'रथ' शब्द से कहा गया है। २. हे प्रभो! आपका यह ज्ञान हमें सर्वतः व्याप्त करे। **येन**=जिस ज्ञान से **दाशुषः**=दाश्वान् की—आत्मसमर्पण करनेवाले की **रक्षसि**=आप रक्षा करते हो। वस्तुतः देव ज्ञान देकर की मनुष्य की रक्षा करते हैं। जो व्यक्ति प्रभु के प्रति अपना अर्पण करता है—प्रभु उसे यह ज्ञानरूप रथ देते हैं जिससे वह इस दुर्गम भवकान्तार को पार कर जाता है।

भावार्थ—ज्ञान प्रभु का न हिंसित होनेवाला रथ है। यह हमें प्राप्त हो। इस ज्ञान से ही हम अपनी रक्षा कर पाएँगे।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—ब्राह्म्युष्णिक्। स्वरः—ऋषभः।।

भूः, भुवः, स्वः

भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याᳬसुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः।
नर्य प्रजां मे पाहि शᳬस्य पशून् मे पाह्यथर्य पितुं मे पाहि॥३७॥

१. गत मन्त्र के 'दूडभ रथ'=न हिंसित होनेवाले ज्ञान के द्वारा हम **भूः**=सदा स्वस्थ बने रहें। **भुवः**=ज्ञान को प्राप्त करनेवाले हों (भुव अवकल्कने=चिन्तने)। **स्वः**=हम स्वयं राजमान व जितेन्द्रिय बनें, इन्द्रियों के दास न हो जाएँ। २. यह ठीक है कि यह शरीर अवश्य जाना है परन्तु प्रजाओं के द्वारा हम अमर बने रह सकते हैं (**प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम्**—अथर्व०), अतः वामदेव प्रार्थना करता है कि **प्रजाभिः**=उत्तम सन्तानों से हम **अग्ने**=हे आगे ले-चलनेवाले प्रभो! **सुप्रजाः**=उत्तम प्रजाओंवाले **स्याम्**=हों। इन प्रजाओं द्वारा हम सदा बने रहें। यह प्रजातन्तु कभी बीच में विच्छिन्न न हो जाए। ३. ज्ञान के द्वारा **वीरैः**=वीरता की भावनाओं से—(वि+ईर) काम-क्रोधादि शत्रुओं को कम्पित करने की भावना से मैं **सुवीरः**=उत्तम वीर बनूँ। एकमात्र ज्ञान ही कामादि शत्रुओं को कम्पित करता है। ज्ञानाग्नि ही मनुष्य के मलों को भस्म करके उन्हें पवित्र बनाती है। इन कामादि शत्रुओं का विजेता ही सच्चा वीर है। ४. अब जितेन्द्रिय बनकर मैं **पोषैः**=पोषणों के द्वारा **सुपोषः**=उत्तम पोषणवाला होऊँ। पोषण के लिए 'चरक' का सूत्र है 'हिताशी स्यात्, मिताशी स्यात्, कालभोजी जितेन्द्रियः' हितकर भोजन खाए, मितकर (मात्रा में), समय पर और सबसे बड़ी बात यह कि जितेन्द्रिय हो। जितेन्द्रियता के बिना पोषण सम्भव ही नहीं। एवं,

'भूः भुवः स्वः' का क्रमशः 'प्रजाभिः सुप्रजाः, वीरैः सुवीरः, पोषैः सुपोषः' के साथ सम्बन्ध है। प्रजाएँ हमें सदा बनाये रखती हैं, ज्ञान हमें वीर बनाता है और जितेन्द्रियता से हमारा पोषण होता है। ५. हे **नर्य**=नरहित करनेवाले प्रभो! **मे**=मेरी **प्रजाम्**=प्रजा को **पाहि**=सुरक्षित कीजिए। वस्तुतः जो व्यक्ति नरहित के कार्यों में रुचि लेते हैं, उनके सन्तान प्रभु-कृपा से अच्छे बनते हैं। ६. **शंस्य**=हे शंसन करनेवालों में उत्तम प्रभो! **मे**=मेरे **पशून्**=इन काम-क्रोधादि पशुओं को **पाहि**=सुरक्षित रखिए। इन्हें खुला न छोड़ दिया जाए। प्रभु अपने भक्तों में ज्ञान का शंसन करते हैं और उस ज्ञान से ये कामादि पशु सुनियन्त्रित रहते हैं। ७. **अथर्य**=(न थर्वति) विषयों से आन्दोलित न होनेवाले प्रभो! **मे**=मेरे **पितुं पाहि**=अन्न की आप रक्षा करिए।

भावार्थ—मैं नरहित के कार्यों में लगकर, उत्तम प्रजावाला होकर सदा बना रहूँ। उत्तम बातों का शंसन करता हुआ ज्ञानी बनकर कामादि का ध्वंस करनेवाला 'वीर' बनूँ। विषयों से अनान्दोलित अथर्य बनकर पोषक अन्न को ही खाता हुआ 'सुपोष' बनूँ।

टिप्पणी—मन्त्रार्थ का चित्रण—

भूः	भुवः	स्वः
सुप्रजाः	सुवीरः	सुपोषः
नर्य	शंस्य	अथर्य
प्रजा की रक्षा	**कामादि पशुओं का नियमन**	**उत्तम अन्न-भक्षण**

ऋषिः—आसुरिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

अग्नि व सम्राट्

आग॑न्म वि॒श्ववे॑दसम॒स्मभ्यं॑ वसु॒वित्त॑मम्।
अग्ने॑ सम्राड॒भि द्यु॒म्नम॒भि सह॒ऽआय॑च्छस्व॥३८॥

१. पिछले मन्त्र का ऋषि 'वामदेव' दिव्य गुणों को धारण करके अपने प्राणों का वास्तविक पोषण करने से 'आसुरि' बन जाता है। यह आसुरि प्रभु से प्रार्थना करता है—**हे अग्ने**=ज्ञान के प्रकाशवाले **सम्राट्**=शक्ति से (सम्+राज्) सम्यग् देदीप्यमान प्रभो! आपकी कृपा से हम **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **वसुवित्तमम्**=निवास के लिए आवश्यक वस्तुओं को उत्तमता से प्राप्त करानेवाले **विश्ववेदसम्**=सम्पूर्ण धन को **आगन्म**=प्राप्त हों। प्रभु अग्नि हैं, सम्राट् हैं। मैं भी ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करके अग्नि बनूँ, और शरीर के सम्यक् पोषण व शक्ति की रक्षा से दीप्त शरीरवाला सम्राट् बनूँ।

२. हे प्रभो! आप कृपा करके मुझे **द्युम्नम् अभि**=ज्योति की ओर तथा **सहः अभि**=सहनशक्ति से परिपूर्ण बल की ओर, उसकी प्राप्ति के लिए **आयच्छस्व**=सम्पूर्ण उद्योग-(उद्यम)-वाला कीजिए, अर्थात् हमारा सारा पुरुषार्थ 'ज्ञान और बल' को प्राप्त करने के लिए हो। हमारा ध्येय 'ज्ञान+बल' ही हो। यही हमारी प्रार्थना हो कि **'इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम्'**। हमें जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त करानेवाला धन इसलिए प्राप्त हो कि हमारी सारी शक्ति 'ज्ञान और बल' के सम्पादन में लगे। ३. इस प्रकार ज्ञान और बल का सम्पादन करके यह सचमुच अपना पोषण करने वाला 'आसुरि' बनता है।

भावार्थ—हम अग्नि हों, हम सम्राट् हों। द्युम्न-ज्योति को प्राप्त करके हम 'अग्नि' बनें और बल का सम्पादन करके सम्राट् हों।

ऋषिः—आसुरिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिग्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

द्युम्न+सहः

अयमग्निर्गृहपतिर्गार्हपत्यः प्रजाया वसुवित्तमः।
अग्ने गृहपतेऽभि द्युम्नमभि सहऽआयच्छस्व॥३९॥

१. गत मन्त्र का आसुरि ही प्रार्थना करता है कि **अयम्**=यह **अग्निः**=प्रकाश की अधिदेवता प्रभु **गृहपतिः**=मेरे इस शरीररूप घर का रक्षक है। ये प्रभु ही **प्रजायाः**=प्रकृष्ट विकास के हेतु से **वसुवित्तमः** =अतिशयेन वसुओं को प्राप्त करानेवाले हैं। सब आवश्यक वसुओं को देकर वे प्रभु हमें इस योग्य बनाते हैं कि हम अपना सब प्रकार से विकास कर सकें। २. हे **अग्ने**=प्रकाश की अधिदेवता प्रभो! **गृहपते**=हमारे शरीररूपी गृहों के रक्षक प्रभो! आप हमें **द्युम्नम् अभि**=ज्ञान-ज्योति की ओर तथा **सहः अभि**=शक्ति की ओर **आयच्छस्व**=सम्पूर्ण उद्यमवाला कीजिए। ज्ञान और बल का सम्पादन करके ही मैं इस शरीररूप घर की रक्षा करनेवाला 'गृहपति' बनता हूँ। गृहपति ही 'आसुरि' होता है। प्राणों का वास्तविक पोषण करनेवाला होता है।

भावार्थ—मैं ज्ञान व बल का विकास करके शरीर की सभी शक्तियों का विकास करूँ और सचमुच गृह-पति बनूँ।

ऋषिः—आसुरिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

पुरीष्य अग्नि

अयमग्निः पुरीष्यो रयिमान् पुष्टिवर्धनः।
अग्ने पुरीष्याभि द्युम्नमभि सहऽआयच्छस्व॥४०॥

१. 'आसुरि' की ही प्रार्थना थोड़े से शब्दों के परिवर्तन के साथ प्रस्तुत मन्त्र में भी है—**अयम्**=इस संसार के प्रत्येक परिवर्तन में जिसका हाथ दिखता है, वह **अग्निः**=सबको उन्नत करनेवाला प्रभु **पुरीष्यः**=(पृ पालनपूरणयोः) पालन व पूरण करनेवालों में उत्तम है। प्रभु ने हमारे पालन के लिए सब आवश्यक पदार्थों को उत्पन्न किया है। **रयिमान्**=वे प्रभु रयिवाले हैं, उत्तम धनवाले हैं। जीवन के लिए आवश्यक धन प्राप्त कराके वे हमारा पालन करते हैं। **पुष्टिवर्धनः**=आवश्यक वसुओं व धनों को प्राप्त कराके वे प्रभु हमारी पुष्टि का वर्धन करनेवाले हैं। २. **हे अग्ने**=उन्नति के साधक प्रभो! **पुरीष्य**=पालन व पूरण करनेवालों में उत्तम प्रभो! आप हमें **द्युम्नम् अभि**=ज्ञान-ज्योति की ओर और **सहः अभि**=बल की ओर **आयच्छस्व**=सम्पूर्ण उद्यमवाला कीजिए।

३. वास्तविक पोषण तभी होता है जब हम ज्ञान और बल का सम्पादन करते हैं। ज्ञान और बल का सम्पादन करनेवाला यह वस्तुतः 'आसुरि' है, अपने जीवन का ठीक पोषण करनेवाला है।

भावार्थ—वह सबका पालक प्रभु हमें ज्ञान और बल की ओर ले-चले।

ऋषिः—शंयुः। देवता—वास्तुरग्निः। छन्दः—आर्षीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।।

घर व घरवाले, अ-भय, गृहपति के लक्षण

गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रतऽएमसि।
ऊर्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः।।४१।।

१. गत मन्त्रों की भावना के अनुसार 'द्युम्न और सह'=ज्योति और शक्ति का सम्पादन करके अपने जीवन के आकाश में बृहस्पति (ज्ञान) व शुक्र (वीर्य) नक्षत्रों का उदय करके जब यह 'आसुरि' प्राणशक्ति को सम्पन्न करनेवाला गृहस्थ बनता है तब कहता है कि **गृहाः**=हे घरो! **मा बिभीत**=भय को छोड़ दो। **मा वेपध्वम्**=कम्पित मत होओ। दूसरे शब्दों में घरों में साँप आदि का व रोगकृमियों का भय न हो, और साथ ही ये घर सील की अधिकता से रोगादि के कारण शरीर में कम्प पैदा करनेवाले न हों। **ऊर्जं बिभ्रतः**=अन्न को धारण करते हुए तुम्हें **आ-इमसि**=अन्न के साथ ही हम प्राप्त होते हैं, अर्थात् घर अन्न से पूरिपूर्ण हों।

२. इस प्रकार मन्त्र के पूर्वार्ध में घर की इन विशेषताओं का उल्लेख है कि (क) उनमें साँप व रोगादि का भय न हो। (ख) वहाँ सील के कारण ज्वरादि से कम्प न हो, (ग) वे अन्न से परिपूर्ण हों। अब मन्त्र के उत्तरार्ध में **घर में रहनेवालों की विशेषताओं का प्रतिपादन** करते हैं कि (क) **ऊर्जम्**=बल और प्राणशक्ति को **बिभ्रत्**=धारण करता हुआ मैं (ख) **सुमनाः**=उत्तम मनवाला—जिस मन के अन्दर किसी प्रकार की अशुभ इच्छा उत्पन्न नहीं होती उस मन को धारण करता हुआ, (ग) **सुमेधाः**=उत्तम मेधावाला (घ) **मनसा मोदमानः**=सदा प्रसन्न मनवाला **वः गृहान्**=तुम घरों को **एमि**=प्राप्त होता हूँ।

भावार्थ—हमारे घर रोगादि के भय से रहित, ज्वरजनित कम्प से शून्य व अन्न-रस से पूरिपूर्ण हों। इन घरों में रहनेवाले शक्तिशाली, उत्तम मनवाले, शोभन-प्रज्ञ व प्रसन्न मनोवृत्तिवाले हों।

ऋषिः—शंयुः। देवता—वास्तुपतिरग्निः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।।

उत्तम घर

येषामध्येति प्रवसन्येषु सौमनसो बहुः।
गृहानुपह्वयामहे ते नो जानन्तु जानतः।।४२।।

पिछले मन्त्र में घर का उल्लेख करते हुए कहा था कि वहाँ रोग का भय नहीं, ज्वर का कम्प नहीं, अभाव के कारण रोना-धोना नहीं और घरवाले व्यक्तियों के विषय में कहा था कि वे शक्तिसम्पन्न, उत्तम इच्छाओंवाले, समझदार व प्रसन्न मन हों। ऐसे घर का प्रवास में स्मरण आना स्वाभाविक है, अतः प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि—१. **गृहान्**=उन घरों को **उपह्वयामहे**=पुकारते हैं, अर्थात् ऐसे घरों की प्राप्ति के लिए हम प्रार्थना करते हैं, **येषाम्**=जिनका **प्रवसन्**=प्रवास में रहता हुआ मनुष्य **अध्येति**=स्मरण करता है। घर में भार्या कर्कश स्वभाव की हो तब तो सम्भवतः पुरुष प्रवास को अच्छा ही समझे। पति कर्कश हों तो पितृगृह में गई हुई पत्नी शायद कुछ आराम अनुभव करे और पतिगृह में लौटने को एक मुसीबत माने। २. हम उन घरों को पुकारते हैं **येषु**=जिनमें **बहुः**=बहुत ही **सौमनसः**=सुमनस्कता है, जिनमें रहनेवाले लोगों के मन अच्छे हैं, द्वेष व जलन आदि से भरे हुए नहीं हैं। ऐसे

ही घरों की तो प्रवास में याद आती है। ३. **ते**=वे घर **जानतः**=उपकाराभिज्ञ (अकृतघ्न) **नः**=हम लोगों को **जानन्तु**=जानें, अर्थात् घर में पति पत्नी के तथा पत्नी पति के उपकार को समझे। भाई भाई की भलाई को भूल न जाए। पुत्र युवा होने पर माता-पिता के ऋण को भूल न जाए और घर के सब व्यक्ति उस परमपिता प्रभु की कृपाओं को विस्मृत न कर दें। इस प्रकार इस घर में कृतघ्नता का प्रवेश न हो।

भावार्थ—उत्तम घर वे हैं जिनमें रहनेवाले लोग 'सुमनस्कता' वाले हैं, कृतज्ञ हैं और इस कारण जिन घरों की प्रवास में याद आती है।

ऋषिः—शंयुर्बार्हस्पत्यः। **देवता**—वास्तुपतिः। **छन्दः**—भुरिग्जगती। **स्वरः**—निषादः॥

घर में क्या-क्या हो

उप॑हूताऽइह गाव॒ऽउप॑हूताऽअ॒जाव॑यः।
अथो॒ऽअन्न॑स्य की॒लाल॒ऽउप॑हूतो गृ॒हेषु॑ नः।
क्षेमा॑य व॒: शान्त्यै॒ प्रप॑द्ये शि॒वꣳश॒ग्मꣳशं॒योः शं॒योः॥४३॥

१. **इह**=इस घर में **गावः उपहूताः**=गौवें पुकारी गई हैं, अर्थात् हमारी पहली कामना यह है कि घर में गौवों की कमी न हो। २. **इह**=घर में **अजा अवयः**=बकरियाँ व भेड़ें **उपहूताः**=पुकारी गई हैं, अर्थात् हमारे घरों में बकरियाँ व भेड़ें हों। बकरियों का दूध क्षयरोग को दूर रखता है तो भेड़ों की ऊन हमें सर्दी के लिए उत्तम वस्त्र प्राप्त कराती है। ३. **अथ उ**=और अब **नः गृहेषु**=हमारे घरों में **अन्नस्य**=अन्न का **कीलालः**=रस **उपहूतः**=पुकारा गया है। हमारे घरों में अन्न-रस की कमी न हो। यहाँ मांस-रस का प्रवेश न हो। ४. हे घरो! **वः**=तुम्हें **क्षेमाय**=योगक्षेम के लिए, सुन्दर जीवन-निर्वाह के लिए प्राप्त होता हूँ। **शान्त्यै**=शान्ति के लिए प्राप्त होता हूँ। मनुष्य घर का निर्माण इसीलिए करता है कि वहाँ उसको क्षेम व शान्ति प्राप्त हो। ५. **शिवं शग्मम्**=हमें इन घरों में ऐहिक सुख प्राप्त हो तो आमुष्मिक सुख को भी हम प्राप्त करनेवाले बनें, अर्थात् हमारे घर 'अभ्युदय व निःश्रेयस' दोनों को सिद्ध करनेवाले हों। इनमें खान-पान की कमी न हो, पर खान-पान की आसक्ति भी न हो। ६. इस घर में **शंयोः**=शान्ति चाहनेवाले के **शंयोः** =(शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम्—नि० ८।२१) रोगों का शमन हो और सब प्रकार के भयों का यावन—दूरीकरण हो।

भावार्थ—'शंयु' (शान्ति चाहनेवाले) के घर में—(क) गौवें, (ख) बकरी व भेड़ें होती हैं, (ग) इसके घर में अन्न का रस होता है, (घ) योगक्षेम की कमी नहीं होती, (ङ) शान्ति का विस्तार होता है, (च) ऐहिक सुख के साथ आमुष्मिक कल्याण भी होता है और (छ) रोगों का शमन व भयों का दूरीकरण होता है।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

ऋषियों का आना

प्र॒घा॒सिनो॑ हवामहे म॒रुत॑श्च रि॒शाद॑सः। क॒र॒म्भेण॑ स॒जोष॑सः॥४४॥

१. ऊपर ४१-४३ के मन्त्रों में वर्णित घरों में शान्तिपूर्वक रहनेवाले 'शंयु' लोग उत्तम प्रजाओं का निर्माण करनेवाले होते हैं, अतः वे प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'प्रजापति' बन जाते हैं। ये प्रजापति समय-समय पर उत्तम ऋषियों को घरों पर आमन्त्रित करते रहते हैं, जिससे उनके उपदेशों से सन्तान पर उत्तम प्रभाव पड़े। यही विषय 'प्रस्तुत मन्त्र' का है।

२. **मरुतः**=(ऋत्विङ्नाम—नि० ३।१८) हम ऋषियों को **हवामहे**=पुकारते हैं, समय-समय पर ऋषियों को अपने घरों पर बुलाते हैं, जिससे इनके द्वारा विधिवत् किये जानेवाले यज्ञों का व इनसे दिये जानेवाले उपदेशों का सन्तान पर सुन्दर प्रभाव पड़े।

३. कैसे ऋषियों को? (क) **प्रघासिनः**=प्रकृष्ट घासवाले (घस्लृ अदने) उत्तम वानस्पतिक भोजनवाले, अर्थात् जो ऋत्विज् मांस भोजनों से सदा दूर रहते हैं, जिनका भोजन हविर्मय है। (ख) **रिशादसः**=(रिशां दस्यन्ति) जो हिंसा को समाप्त कर देते हैं। जिनका मन हिंसा की वृत्ति से सदा दूर रहता है, (ग) **करम्भेण**=दधिमिश्रित सत्तुओं का **सजोषसः**=प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले हैं। महीधर लिखते हैं कि यवमय हविर्विशेष 'करम्भ' कहलाती है। उसका ये प्रीतिपूर्वक प्रयोग करते हैं। आचार्य दयानन्द इस शब्द का निर्माण 'कृ हिंसायाम्' से करके यह अर्थ करते हैं कि (अविद्या हिंसनेन समानप्रीतिसेविनः) अविद्या के हिंसन का जो प्रीतिपूर्वक सेवन करते हैं, अर्थात् जिन्हें अविद्या के दूर करने में आनन्द का अनुभव होता है।

४. ऐसे ऋषि जिन घरों में आते रहेंगे वहाँ लोग अवश्य 'प्रजापति' बनेंगे, उत्तम सन्तानों का निर्माण कर पाएँगे। 'इनके जीवन पापशून्य होंगे' इस बात का वर्णन अगले मन्त्र में करेंगे।

भावार्थ—हमारे घरों में प्रकृष्ट शाकाहारी, हिंसा से पराङ्मुख, दधि-यवादि पवित्र वस्तुओं का सेवन करनेवाले ऋषिजन समय-समय पर आते रहें।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—स्वराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

पाप का अवयजन

यद् ग्रामे यदरण्ये यत् सभायां यदिन्द्रिये।
यदेनश्चकृमा वयमिदं तदवयजामहे स्वाहा॥४५॥

प्रजापति प्रार्थना करता है कि—१. **यत्**=जो **एनः**=पाप **ग्रामे**=ग्राम के विषय में **वयम्**=हम **चकृम**=कर बैठे हैं **इदम्**=इस **तत् एनः**=उस पाप को **अवयजामहे**=यज्ञों के द्वारा दूर करते हैं। ग्राम में निवास करनेवाले को उत्तम नागरिक बनना चाहिए। उसे कभी उत्तम नागरिक के कर्त्तव्यों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। 'मार्गों को मलिन करना, मार्गों पर चलने आदि के नियमों का पालन न करना, पड़ोसियों के आराम आदि का ध्यान न करके शोर करते रहना, शराब आदि के नशे में उपद्रवादि करना'—ये सब ग्रामविषयक पाप हैं। हमें इनसे बचने का यत्न करना चाहिए। ऋषियों के समय-समय पर आते रहने से हममें यज्ञिय भावना जागरित रहेगी और हम ऐसे पाप न करेंगे। २. **यत् अरण्ये**=जो पाप हम वन के विषय में करते हैं, उसे भी यज्ञ से दूर करते हैं। 'वृक्षों को काटते रहना और नयों का न लगाना, निषिद्ध प्राणियों का शिकार करना अथवा वनों में वर्त्तमान आश्रमों को उजाड़ना' ये सब अरण्यविषयक पाप हैं। इनसे भी हम बचें। ३. **यत् सभायाम्**=जो पाप हम सभा में करते हैं, उसका भी हम अवयजन (दूर) करनेवाले हों। 'सभा की शान्ति को भङ्ग करना, वहाँ उपदेश न सुन ऊँघते रहना, परस्पर बातें करना, शिष्ट रीति से न बैठना' आदि सभा-विषयक पाप हैं। इन्हें भी हमें दूर करना है। ४. **यत् इन्द्रिये**=जो इन्द्रियों के विषय में हमसे पाप हुए हैं उसे भी हम यज्ञ से दूर करते हैं। अतिभोजन, अशुभ दर्शन, निन्दाश्रवण, निन्दाकथन व असंयम आदि इन्द्रियों के दोषों को भी हम यज्ञ से दूर करनेवाले हों। ५. **स्वाहा**=(स्वं

प्रति आह) यही बात हमें सदा अपने से कहते रहना चाहिए। निरन्तर इस प्रकार आत्मप्रेरणा देने से हमारा जीवन इन सब पापों से ऊपर उठेगा, वह पवित्र होगा और हम पवित्र सन्तानों के निर्माण करनेवाले 'प्रजापति' बन पाएँगे।

भावार्थ—यज्ञादि से हमारी पापवृत्तियाँ दूर होती जाएँ। हम ग्राम, अरण्य, सभा व इन्द्रियविषयक सब पापों से ऊपर उठें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रमारुतौ। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

हाथों में कर्म, वाणी में स्तवन

मो षू णऽइन्द्रात्र पृत्सु देवैरस्ति हि ष्मा ते शुष्मिन्नवयाः।
महश्चिद्यस्य मीढुषो यव्या हविष्मतो मरुतो वन्दते गीः॥४६॥

१. पिछले मन्त्र में पापों को दूर करने का उल्लेख है। यह पापों को दूर करनेवाला 'अगस्त्य' कहलाता है। 'अग'=पापपर्वत का 'स्त्य'=संहार करनेवाला। यह अगस्त्य प्रभु से प्रार्थना करता है—हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् सर्वैश्वर्यवन् प्रभो! **अत्र**=यहाँ—इस मानव-जीवन में **पृत्सु**=संग्रामों में **नः**=हमारा **मा**=मत **उ**=ही मन्थन (नाश) हो (विनाशयतीति शेषः—म०)। (सुशब्दो विनाशभावस्य सौष्ठवं ब्रूते—म०) **सु** =थोड़ा-सा भी नाश मत हो। हे प्रभो! आपकी कृपा से हम इन काम-क्रोधादि से संघर्ष में तनिक भी पराजित न हों। २. हे **शुष्मिन्**=शत्रुओं के शोषक बलवाले प्रभो! **देवैः**=देववृत्तिवालों द्वारा **ते**=तेरा **अवयाः**=(अवयुतो भागः) पृथक् भाग **अस्ति हि ष्म**=निश्चय से है ही, अर्थात् देव प्रातः-सायं संसार से अलग होकर कुछ देर के लिए प्रभु का ध्यान अवश्य करते हैं। वह प्रभु-चिन्तन ही वस्तुतः उन्हें देव बनाता है। ३. **हविष्मतः** =उस प्रशस्त हविवाले, अर्थात् सब उत्तम पदार्थों को देनेवाले **मीढुषः**=(मिह सेचने) सब सुखों की वर्षा करनेवाले **यस्य**=प्रभु की **यव्या**=(यु मिश्रणामिश्रणयोः) अपने जीवन को दोषों से पृथक् करना और गुणों से संयुक्त करना **चित्**=ही **महः**=पूजा है। हम बुराइयों को छोड़ें और अच्छाइयों को लें, यही प्रभु-पूजा है। ४. **मरुतः**=इस यव्या—दोषत्याग एवं गुणसंग्रह के द्वारा प्रभु-पूजा करनेवाले मरुत् (मनुष्य की) **गीः**=वाणी **वन्दते**= प्रभु का स्तवन करती है। 'मरुत' मितरावी है, कम बोलता है। अपने अन्दर अच्छाइयों को ग्रहण करने का प्रयत्न करता है। अपने कार्यों में लगा हुआ प्रभु-स्तवन करता है। हाथ काम में लगे हैं तो वाणी प्रभु का गुणगान करती है।

भावार्थ—अवगुणों को दूर करना व गुणों को धारण करना ही 'प्रभु-स्तवन' है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

वापस घर चलो

अक्रन् कर्म कर्मकृतः सह वाचा मयोभुवा।
देवेभ्यः कर्म कृत्वास्तं प्रेत सचाभुवः॥४७॥

पिछले मन्त्र के प्रसङ्ग को ही प्रस्तुत मन्त्र में आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि—१. **कर्मकृतः**=कर्मों को करनेवाले **कर्म**=कर्म ही **अक्रन्**=करते हैं। ये अपना जीवन यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगाये रखते हैं और कर्मों को करते हुए **मयोभुवा**=कल्याण को जन्म देनेवाली **वाचा सह**=वाणी के साथ ये इन कर्मों को करते हैं। ये हाथों से कर्म करते हैं और वेदवाणी के द्वारा प्रभु का गुणगान करते हैं। यह वाणी मयोभूः=कल्याण का भावन करनेवाली है। २. **देवेभ्यः**=इस प्रकार दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए **कर्म कृत्वा**=कर्म

करके **अस्तम्**=घर को **प्रेत**=वापस चलो। आत्मशुद्धि के लिए कर्म करते रहना नितान्त आवश्यक है। आलस्य आया और अवगुणों ने घेरा। ३. इन कर्मों को करते हुए यदि हम **सचाभुवः**='साथ होनेवाले'=मिलकर चलनेवाले बनते हैं तो अपने घर में वापस पहुँचने के योग्य होते हैं। ब्रह्मलोक जीव का वास्तविक घर है। जीव यहाँ तो यात्रा पर आया हुआ है। यहाँ हमें 'सचाभुवः' बनना है, मिलकर चलना है। जीओ और जीने दो 'Live and let live' का पाठ सीखना है। प्रभु-प्राप्ति का यही मार्ग है। यही यज्ञियवृत्ति कहलाती है। देवताओं का जीवन ऐसा ही होता है।

भावार्थ—हमारे हाथ यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगें, वाणी कल्याणी वेदवाणी का उच्चारण करती हो। क्रियाशीलता से हम अपने में दिव्य गुणों को जन्म दें, संसार में मिलकर रहना सीखें, तभी हम वापस अपने घर 'ब्रह्मलोक' में पहुँचेंगे।

ऋषिः—और्णवाभः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—ब्राह्म्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

अवभृथ-निचुम्पुण

अव॑भृथ निचुम्पुण निचे॒रुर॑सि निचुम्पु॒णः।
अव॑ दे॒वैर्दे॒वकृ॑त॒मेनो॑ऽयासिष॒मव॒ मर्त्यै॒र्मर्त्य॑कृतं पुरु॒राव्णो॑ देव रि॒षस्पा॑हि॥४८॥

१. गत मन्त्र में अगस्त्य यज्ञादि उत्तम कर्मों के जाल को तनता है, परन्तु खूबी यह कि उस जाल में फँसता नहीं, अतः यह उस मकड़ी की भाँति होता है जो जाले को तनती तो है पर उसमें उलझती नहीं। एवं, इसका नाम 'और्णवाभ' पड़ जाता है। २. निरन्तर यज्ञों में लगे रहने से इसको ही सम्बोधित करते हैं। **अवभृथ**=हे यज्ञ के पुतले! (**अवभृथ**=Sacrifice in general) **निचुम्पुण**=(चोपति मन्दं गच्छति) निश्चय से शान्तिपूर्वक अपने जीवन-मार्ग पर चलनेवाले अथवा (नीचैः क्वणनः) यज्ञों को करते हुए व्यर्थ में उनका ढिंढोरा न पीटनेवाले, बहुत शोर न करनेवाले तू **निचेरुः असि**=(नितरां चरणशील) क्रियाशील है। तेरा जीवन क्रियामय है, परन्तु तू यह ध्यान रखना कि **निचुम्पुणः**=शान्तिपूर्वक चलना, व्यर्थ का शोर न करना। ३. **देवकृतं एनः**=देवताओं के विषय में किये गये पापों को **देवैः**=दिव्य गुणों के उत्पादन के द्वारा **अव अयासिषम्** =मैं दूर करूँ। शरीर में सब इन्द्रियाँ देवांश हैं—सूर्य चक्षुरूप से है तो अग्नि वाणीरूप से, चन्द्रमा मनरूप से है तो दिशाएँ श्रोत्ररूप से। इन देवों के विषय में पाप यही है कि हम इनका ठीक प्रयोग नहीं करते। ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञानप्राप्ति में लगें, कर्मेन्द्रियाँ उत्तम कर्मों में और मन शिवसंकल्प में। यही मार्ग है देवकृत पापों को दूर करने का, यही मार्ग है दिव्य गुणों की प्राप्ति का। ४. **मर्त्यकृतम्** (**एनः**)=मनुष्यों के विषय में किये गये पाप को मैं **मर्त्यैः**=(मरणधर्मैः शरीरैः—द०) मरणधर्म शरीरों से **अव अयासिषम्**=दूर करूँ, अर्थात् मनुष्यों के हित के लिए अपने शारीरिक सुखों का त्याग करके और अन्ततः अपने शरीर का भी बलिदान करके हम मर्त्यकृत पाप का प्रायश्चित्त कर पाते हैं। ५. **देव**=दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभो! आप हमें **पुरुराव्णः** (रु शब्दे रावयति)=बहुतों को रुलानेवाली **रिषः**=हिंसा से **पाहि**=बचाइए। हमारे कर्म हिंसा करके पीड़न के द्वारा रुलानेवाले न हों। हमारे कर्म सत्य हों, सत्य कर्म वही हैं जो अधिक-से-अधिक हित करनेवाले हैं **'यद् भूतहितमत्यन्तं तत् सत्यमिति धारणा'**।

भावार्थ—हम यज्ञमय जीवनवाले हों, परन्तु बिना शोर के शान्तभाव से इन यज्ञों में लगे रहें। हमारे यज्ञ महान् हों, नकि उनका आडम्बर महान् हो।

ऋषिः—और्णवाभः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

पूर्णा-सुपूर्णा

पूर्णा दर्वि परा पत सुपूर्णा पुनरापत।
वस्नेव विक्रीणावहाऽइषमूर्जं शतक्रतो॥४९॥

गत मन्त्र की भावना के अनुसार 'और्णवाभ' अपने जीवन में यज्ञों का जाल तन देता है। उन यज्ञों में उसे लाभ-ही-लाभ दिखता है। आर्थिक दृष्टिकोण से भी ये यज्ञ घाटे का सौदा नहीं होते। यह और्णवाभ कहता है कि १. हे **दर्वि**=हवि से पूर्ण कड़छी! तू **पूर्णा**=भरी हुई **परापत**=इन्द्र के प्रति जा। मनु के शब्दों के अनुसार अग्नि में डाली हुई आहुति (**अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते**) सूर्य=(इन्द्र) तक पहुँचती है। अग्नि में डाला हुआ यह हविर्द्रव्य नष्ट नहीं होता, क्योंकि '**यज्ञाद् भवति पर्जन्यः, पर्जन्यादन्नसम्भवः**' इन यज्ञों से बादल बनते हैं और बादल से फिर अन्न उत्पन्न होता है। इस प्रकार हे कड़छी! तू **सुपूर्णा**=अन्नादि से खूब भरी हुई **पुनः आपत**=फिर से हमें प्राप्त होजा। वर्षा होती है, तो किसान भी समझता है और कहता है कि पानी नहीं, सोना बरस रहा है। एवं, कड़छी जाती तो 'पूर्णा' है, पर लौटती है 'सु-पूर्णा'। एवं ये यज्ञ घाटे की वस्तु थोड़े ही हैं? २. इन यज्ञों से तो हम उस प्रभु के साथ **वस्ना इव**=मानों मूल्य देकर **इषम् ऊर्जम्**=अन्न व बल-प्राणशक्ति का **विक्रीणावहै**=क्रय-विक्रय करते हैं। ३. **हे शतक्रतो**=अनन्त क्रतुओंवाले प्रभो! मैं भी आपकी कृपा से शतक्रतु बनूँ। मेरे जीवन के सौ-के-सौ वर्ष यज्ञमय बीतें।

भावार्थ—'यज्ञ' हमारे जीवन का सर्वोत्तम क्रय-विक्रय है।

ऋषिः—और्णवाभः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—भुरिगनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

दान-प्रतिदान

देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे।
निहारं च हरासि मे निहारं निहराणि ते स्वाहा॥५०॥

प्रभु और्णवाभ से कहते हैं कि तुझसे किये जानेवाले ये यज्ञ तो निश्चित रूप से तेरे लाभ के लिए ही हैं। यदि अत्यन्त स्थूल (concrete) भाषा में कहा जाए तो यह कह सकते हैं कि **देहि मे**=हे और्णवाभ तू मुझे दे, **ददामि ते**=और मैं तुझे देता हूँ। तू यज्ञों से मेरे लिए अन्न प्राप्त कराता है तो मैं वृष्टि द्वारा तुझे सहस्रगुणा अन्न प्राप्त कराता हूँ। **मे निधेहि**=तू मेरे लिए अपनी निधि को स्थापित कर, **ते निदधे**=मैं तेरे लिए निधि को स्थापित करता हूँ। **च**=और तू **मे**=मेरे लिए **निहारम्**=मूल्य को **हरासि**=प्राप्त कराता है तो मैं भी **ते**=तेरे लिए **निहारम्**=(मूल्येन क्रेतव्यं पदार्थम्—म०) पदार्थों को **निहराणि**=निश्चय से देता हूँ। **स्वाहा**=यह मेरी सत्य प्रतिज्ञा है।

एवं, ये यज्ञ आदान-प्रदान रूप हैं। और्णवाभ इस आदान-प्रदान की प्रक्रिया में आनन्द का अनुभव करता है—उसके लिए यह क्रिया सहज हो जाती है। वह फल की कामना से ऊपर उठने के कारण इस क्रिया को करता हुआ भी इसमें उलझता नहीं। वह इस सबको प्रभु का दिया हुआ जानता है। इसे प्रभु को देते हुए कुछ बोझ नहीं लगता। उसने दिया, पर वह कितना ही गुणा होकर फिर उसे ही मिल गया।

भावार्थ—हम यज्ञों को प्रभु के साथ आदान-प्रदान का एक व्यवहार समझें।

ऋषिः—गोतमः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराट्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

'गोतम' बनना

अक्षन्नमीमदन्त ह्यव प्रियाऽअधूषत।
अस्तोषत स्वभानवो विप्रा नविष्ठया मती योजा न्विन्द्र ते हरी॥५१॥

१. गत मन्त्र का 'और्णवाभ' यज्ञों के जाल को तनता हुआ 'गोतम' बन जाता है। 'अत्यन्त प्रशस्त इन्द्रियोंवाला' (गावः इन्द्रियाणि, तम=अतिशये)। ये उत्तम इन्द्रियोंवाले लोग **अक्षन्**=(घस् अदने) उत्तम वानस्पतिक भोजन करते हैं। 'अक्षन्' शब्द में 'घस्' धातु घास व वनस्पति भोजन का संकेत करती है। २. ये **अमीमदन्त**=एकदम सादा भोजन करते हुए उसी में आनन्द का अनुभव करते हैं। ३. **हि**=निश्चय से **प्रियाः**=सबके साथ प्रीतिपूर्वक वर्त्तनेवाले ये लोग **अव अधूषत**=सब वासनाओं को कम्पित करके अपने से दूर रखते हैं। इनका जीवन वासनामय नहीं होता। वानस्पतिक भोजन व प्रसन्न मनोवृत्ति ये दोनों बातें वासनाओं से बचने में सहायक होती हैं। ४. वासनाओं को दूर रखने के उद्देश्य से ही ये **अस्तोषत्**=प्रभु का स्तवन करते हैं। ५. इस प्रभु-स्तवन के कारण इनके जीवन में एक दिन वह आता है जब ये **स्वभानवः**=आत्मा की दीप्तिवाले होते हैं। इन्हें आत्मप्रकाश दिखता है। ६. **विप्राः**=(वि+प्रा) ये अपना विशेष रूप से पूरण करनेवाले होते हैं। ७. **नविष्ठया**=(नु स्तुतौ) अत्यन्त स्तुत्य अथवा प्रभु-स्तवन की उत्तम भावना से युक्त **मती**=(मत्या) बुद्धि से ये युक्त होते हैं। इनका प्रभु-स्तवन यान्त्रिक-सा (mechanical) न होकर बुद्धिपूर्वक होता है। ८. प्रभु से ये यही आराधना करते हैं कि हे **इन्द्र**=सब इन्द्रियों के वास्तविक अधिष्ठाता प्रभो! **ते**=आपके **हरी**=इन कर्मेन्द्रियपञ्चक व ज्ञानेन्द्रियपञ्चक रूप घोड़ों को **योज नु**=निश्चय से हमारे साथ संयुक्त कीजिए या इन्हें कार्य में लगाये रखिए। जैसे घोड़े को रथ में जोतते हैं, इसी प्रकार मेरे इन इन्द्रियरूप घोड़ों को आप ज्ञानयज्ञ व कर्मयज्ञ में जोते रखिए। इन्द्रियाँ कर्मों में लगी रहने पर पवित्र बनती हैं, अन्यथा इनमें अपवित्रता आ जाती है। एवं, इन घोड़ों को जोते रखना ही 'गोतम' बनने का उपाय है।

भावार्थ—हमारा भोजन सादा हो, हम सदा प्रसन्न रहें, वासनाओं से बचें, प्रभुस्तवन को महत्त्व दें और इन्द्रियों को ज्ञान व यज्ञों में लगाये रक्खें।

ऋषिः—गोतमः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराट्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

गोतम का प्रभुस्तवन

सुसन्दृशं त्वा वयं मघवन् वन्दिषीमहि।
प्र नूनं पूर्णबन्धुर स्तुतो यासि वशाँ२॥ऽअनु योजा न्विन्द्र ते हरी॥५२॥

१. पिछले मन्त्र के शब्दों के अनुसार जब गोतम प्रभु का स्तवन करता है तब कहता है कि हे **मघवन्**=(मघ=मख) इस सृष्टिरूप यज्ञ के रचनेवाले प्रभो! **सुसन्दृशम्**=अत्यन्त सुन्दर दर्शनवाले **त्वा**=आपकी **वयम्**=हम **वन्दिषीमहि**=वन्दना करते हैं। प्रभु इस सृष्टि के रचयिता तो हैं ही, यह सृष्टि इस यज्ञरूप प्रभु का एक यज्ञ भी है। प्रभु ने इसे प्रकृति से बनाया और जीव की उन्नति के लिए बनाया, परन्तु जब हम उस प्रभु को प्रकृति व जीव से अलग सोचने का प्रयत्न करते हैं तो इतना ही कह सकते हैं कि वे अत्यन्त सुन्दर हैं, 'सुसन्दृश' हैं। प्रभु का दर्शन अत्यन्त रमणीय है, आसेचनक है, वहाँ पहुँचकर मन ऊबता

नहीं। २. हे **पूर्णबन्धुर**=पूर्ण है लोक-लोकान्तरों का बन्धन जिसका ऐसे प्रभो! आप **स्तुतः**=स्तुति किये जाने पर **वशान् अनुयासि**=अपने मन को वश में करनेवालों को अनुकूलता से प्राप्त होते हैं। जितना-जितना हम अपने मन को वश में करते हैं, उतना- उतना हम आपको प्राप्त करने के पात्र बनते जाते हैं। आप पूर्णबन्धुर है। वृष्टि की क्रिया में ही किस प्रकार तीनों लोक परस्पर सम्बद्ध हैं। द्युलोक के सूर्य से पृथिवीलोक का जल वाष्पीभूत होता है और उन वाष्पों से अन्तरिक्षलोक में मेघों का निर्माण होता है। ३. इस पूर्णबन्धुर प्रभु से गोतम कहता है कि हे **इन्द्र**=मेरी इन्द्रियों के अधिष्ठाता प्रभो! आप इन **ते हरी**=अपने इन्द्रियरूप घोड़ों को **योज नु**=निश्चय से ज्ञानयज्ञों में जोते रखिए। ये मेरी इन्द्रियाँ कर्मों में लगी रहेंगी तभी तो 'पवित्र' बनी रहेंगी।

भावार्थ—हम अपने में अत्यन्त सुन्दर प्रभु की स्तुति करते हैं। वे प्रभु पूर्णबन्धुर हैं। इस सृष्टि के लोकों को परस्पर बाँधनेवाले हैं, वे स्तोता को ही प्राप्त होते हैं।

ऋषिः—बन्धुः। **देवता**—मनः। **छन्दः**—अतिपादनिचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

स्तोम व मन्म=स्तुति व ज्ञान

मनो न्वाह्वामहे नाराशꣳसेन स्तोमेन। पितॄणां च मन्मभिः॥५३॥

१. पिछले मन्त्र का ऋषि 'गोतम'='प्रशस्त इन्द्रियोंवाला' इन्द्रियों को प्रशस्त रखने के लिए ही मनरूपी लगाम से उनको वश में रखता है—विषयों में जाने से रोकता है और उत्तम कार्यों में बाँधता है। ऐसा बन्धन करनेवाला यह अब 'बन्धु' बन जाता है। ये बन्धु प्रार्थना करते हैं कि **मनः**=मन को **नु**=अब **आह्वामहे** =पुकारते हैं, अर्थात् ऐसे मन के लिए प्रार्थना करते हैं जो (क) **नाराशंसेन**='नार'=नरसमूह को 'आशंस'=सर्वतः प्रशंसनीय बनानेवाले **स्तोमेन**=स्तुतिसमूह से युक्त है और **पितॄणाम्**=ज्ञानदाता आचार्यों के **मन्मभिः** =मननीय ज्ञानों से सम्पन्न है। मन वही ठीक है जो या तो प्रभु के स्तवन में लगा हुआ है या ज्ञानप्राप्ति में। मन के दो ही व्यसन उत्तम हैं—'हरिपादसेवनम्, विद्याभ्यसनम्'। ऐसे मन को प्राप्त करके हम इन्द्रियरूप घोड़ों को पूर्णरूप से बाँधनेवाले व वश में करनेवाले होंगे। २. **स्तोम**=स्तुति 'नाराशंस' है। नरसमूह के जीवन को सब दृष्टिकोणों से सुन्दर बनानेवाली है। स्तुति से मनुष्य के सामने एक उच्च लक्ष्य-दृष्टि पैदा होती है और उस लक्ष्य की ओर बढ़ता हुआ वह सुन्दर जीवनवाला होता है। ३. **मन्म**=मननीय ज्ञान **पितॄणाम्** =पितरों का है, रक्षकों का है। ज्ञान का सर्वप्रथम लाभ यही है कि यह हमारी रक्षा करता है। हमें ठीक भोजन की प्रवृत्तिवाला बनाकर यह स्वस्थ बनाता है तो वासनाओं को नष्ट करके यह हमें मानस-स्वास्थ्य भी देता है।

भावार्थ—प्रभो! हमें वह मन दीजिए जो स्तवन व विद्याध्ययन में लगा हो।

ऋषिः—बन्धुः। **देवता**—मनः। **छन्दः**—विराड्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

क्रतु व दक्ष=संकल्प व उत्साह (कर्म व उत्साह)

आ नऽएतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे। ज्योक् च सूर्यं दृशे॥५४॥

'बन्धु' ही प्रार्थना करते हैं कि **नः**=हमें **पुनः**=फिर **मनः**=मन **आएतु**=सर्वथा प्राप्त हो। किसलिए? १. **क्रत्वे**=कर्मसंकल्प के लिए। जिस मन में उत्तमोत्तम कर्मों का सदा संकल्प हो। कर्मसंकल्पशून्य मन वेगशून्य घोड़े के समान है या दूध से रहित गौ के सदृश

है या वह मन तो नक्षत्रविहीन गगन है। २. **दक्षाय**=उत्साह के लिए। मेरे मन में उत्साह हो। निराशा से भरा हुआ मन मनुष्य को कभी उन्नत नहीं कर सकता। ३. **जीवसे**=प्राणशक्ति के धारण के लिए (जीव प्राणधारणे) प्राणशक्ति से रहित मन मृत-सा होता है। ४. **च**=और **ज्योक्**=दीर्घकाल तक **सूर्यं दृशे**=सूर्य के दर्शन के लिए। जिस समय मन में कर्मसंकल्प, उत्साह व जीवनीशक्ति की कमी होती है, उस समय मनुष्य दीर्घकाल तक जीवन धारण नहीं कर पाता। ऐसा निर्बल मन इन्द्रियों को वश में क्या करेगा?

भावार्थ—हमारे मन कर्मसंकल्प, उत्साह व जीवटवाले हों।

ऋषिः—बन्धुः। **देवता**—मनः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

व्रतमय जीवन

पुनर्नः पितरो मनो ददातु दैव्यो जनः। जीवं व्रातःसचेमहि ॥५५॥

१. मन के विषय में बन्धु की प्रार्थना आगे इस प्रकार होती है कि **पितरः**=आचार्य व **दैव्यः जनः**=सब दिव्य वृत्तियोंवाले लोग **नः**=हमें **पुनः**=फिर **मनः**=मन को **ददातु**=दें। यह हमारा मन सांसारिक विषयों में भटककर 'हमारा' न रह गया था। आचार्यों से व दिव्य वृत्तिवाले जनों से उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त करके हम अपने मन को विषय-व्यावृत्त करके फिर से प्राप्त करनेवाले बनें। २. इस मन को विषयों से लौटाकर हम **व्रातम्**=(व्रतसमूहसमन्वितम्) व्रतों से युक्त **जीवम्**=जीवन को **सचेमहि**=प्राप्त करें। हमारा मन व्रतों की रुचिवाला हो। ये व्रत ही हमारे जीवन को सुन्दर बनाते हैं। व्रत ही मन को दृढ़ करते हैं और तब वह दृढ़ मनरूपी लगाम ही इन्द्रियरूप घोड़ों को सुसारथि की भाँति वश में कर सकेगी।

भावार्थ—हमारा मन दिव्य वृत्तिवाला हो और उत्कृष्ट ज्ञान की प्राप्ति में लगा हो।

ऋषिः—बन्धुः। **देवता**—सोमः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

सोम का व्रत (ब्रह्मचर्य)

वयःसोम व्रते तव मनस्तनूषु बिभ्रतः। प्रजावन्तः सचेमहि ॥५६॥

पिछले मन्त्र में 'व्रतमय जीवन' की चर्चा थी। इस व्रत को प्रस्तुत मन्त्र में 'सोम का व्रत' कहा है। सोम के दो अर्थ हैं—(क) वीर्यशक्ति (ख) परमात्मा। वीर्यरक्षा के द्वारा ज्ञानाग्नि को समिद्ध करके ही हमें सूक्ष्म बुद्धि से उस प्रभु का दर्शन करना है **'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः'**। हे **सोम**=शान्त प्रभो! **वयम्**=हम **तव व्रते**=तेरे व्रत में स्थित हुए, अर्थात् तेरी प्राप्ति के लिए सोम=वीर्य की रक्षा का पूर्ण ध्यान करते हुए **मनः**=अपने मन को **तनूषु**=शरीरों में ही **बिभ्रतः**=धारण करते हुए, अर्थात् मनों को इधर-उधर न भटकने देते हुए, भटकना तो क्या उसे शरीरों की शक्तियों के विस्तार (तत्) में लगाते हुए **प्रजावन्तः**=उत्तम प्रजाओंवाले अथवा उत्तम विकासवाले हम **सचेमहि**=आपका उपासन करते हैं। प्रभु के उपासन का क्रम यही है कि—१. हम सोम का व्रत धारण करें। 'हमें प्रभु को पाना है', ऐसा निश्चय करें और शरीर में सोम=वीर्य की रक्षा करें। २. मन को शरीर में ही धारण करें, इधर-उधर भटकने न दें। वह स्थूल, सूक्ष्म व कारणशरीर की शक्तियों के विकास में ही लगा रहे। ३. हम उत्तम प्रजावाले बनें। साथ ही हम प्रजा अर्थात् उत्कृष्ट विकासवाले हों। हम अपने में सात्त्विक शक्तियों का विकास करनेवाले बनें।

भावार्थ—हमारा मन सोम के व्रत में स्थित हो। यह इधर-उधर भटके नहीं। हम प्रकृष्ट विकासवाले हों।

ऋषिः—बन्धुः। देवता—रुद्रः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

आखुस्ते पशुः

एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राम्बिकया तं जुषस्व
स्वाहैष ते रुद्र भागऽआखुस्ते पशुः ॥५७॥

१. गत मन्त्रों में वर्णित मनोनिरोध के लिए प्राणसाधना मौलिक उपाय है। प्राणायाम से 'चित्तवृत्तिनिरोध' होकर मन का वशीकरण होता है, अतः प्रस्तुत मन्त्र को प्राणसाधना से प्रारम्भ किया गया है। हे **रुद्र**=प्राण! (रुद्राः प्राणाः) **एषः**=ये प्रभु **ते**=तेरा **भागः**=भाग हैं—सेवनीय हैं। तूने प्रभु की ही उपासना करनी है। २. प्राणों के द्वारा प्रभु का उपासन यही है कि प्राणसाधना से मनोनिरोध होता है और मनोनिरोध से प्रभु-साक्षात्कार। ३. **तम्**=उस प्रभु को **स्वस्रा**=(सु+अस्) उत्तमता से सब दोषों को परे फेंकनेवाली **अम्बिकया सह**=(अवि शब्दे) इस शब्दविद्या=वेदवाणी के साथ **जुषस्व**=प्रीतिपूर्वक सेवन कर। ज्ञानयज्ञ से प्रभु का उपासन सर्वोत्तम उपासन है। **स्वाहा**=(सु+आह) यह बात बहुत ही सुन्दर कही गई है। ४. हे **रुद्र**=प्राण! **एष**=यह प्रभु ही **ते**=तेरा **भागः**=उपासनीय—भजनीय है। यह **ते**= तेरा **आखु**=(आखमति =अवदारयति) सब दोषों का सुदूर विदीर्ण करनेवाला है। **ते पशुः** (पश्यति)=यह तेरा द्रष्टा है। तेरे दोषों का देखनेवाला और उनका नाश करनेवाला है। तू अपने दोषों को देख पाये या न, परन्तु प्रभु तो तेरे दोषों को देखते ही हैं। उनसे तेरा कोई दोष छिपा नहीं। वे तेरे इन सब दोषों को उखाड़ फेंकेंगे—भस्म कर देंगे।

भावार्थ—प्रभु ही सेवनीय हैं, ज्ञान-प्राप्ति से उनका उपासन होता है। वे प्रभु ही हमारे दोषों के द्रष्टा व नाशक हैं।

ऋषिः—बन्धुः। देवता—रुद्रः। छन्दः—विराट्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

त्र्यम्बकोपासन

अव रुद्रमदीमह्यव देवं त्र्यम्बकम्।
यथा नो वस्यसस्करद्यथा नः श्रेयसस्करद्यथा नो व्यवसाययात् ॥५८॥

१. 'बन्धु' कहता है कि **रुद्रम्**=(रुत् र) हृदयस्थरूप से उपदेश देनेवाले उस प्रभु से **अवअदीमहि** (दीङ् क्षये, अवक्षाययेम—द०) हम अपने दोषों का नाश कराते हैं। पिछले मन्त्र में प्रभु को 'आखु'=दोषों का खनन—अवदारण करनेवाला कहा था। वे प्रभु हमारे दोषों को 'पशु' देखते हैं और उन्हें नष्ट करते हैं, अतः उपासना द्वारा हम उस प्रभु से अपने दोषों का क्षय कराते हैं। २. **देवम्**=दिव्य गुणों के पुञ्ज **त्रयम्बकम्**=(त्रि+अम्बक, अवि शब्दे) 'ज्ञान+कर्म+भक्ति' रूप तीन शब्दों के उच्चारण करनेवाले उस प्रभु से **अव**=हम अपने दोषों को दूर कराते हैं। वे प्रभु देव हैं—उनकी उपासना हमें भी देव बनाती है। वे प्रभु त्र्यम्बक हैं, उनका उपदेश यह है कि **ज्ञान**पूर्वक **कर्म** करो, यही मेरी **भक्ति** है। वस्तुतः इस सूत्र को अपनाने पर दोषों का तो प्रश्न ही नहीं रह जाता। ३. प्रभु के उपासन से हम अपने को निर्दोष बनाने का प्रयत्न इसलिए करते हैं कि **यथा**=जिससे **नः**=हमें **वस्यसः करत्**=वे प्रभु उत्तम जीवनवाला करें, **यथा**=जिससे **नः**=हमें **श्रेयसः**=कल्याण प्राप्तिवाला **करत्**=करें। **यथा**=जिससे **नः**=हमें **व्यवसाययात्**=कार्यों के अन्त तक पहुँचनेवाला करें (षो अन्तकर्मणि), अर्थात् हमारे कार्यों में हमें सफलता प्राप्त कराएँ।

भावार्थ—प्रभु उपासन के परिणाम निम्न हैं—(क) निर्दोषता (ख) उत्तम जीवन (ग) कल्याण व मोक्ष की प्राप्ति (घ) किये जानेवाले कार्यों में सफलता।

ऋषिः—बन्धुः। देवता—रुद्रः। छन्दः—स्वराड्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

भेषज

भेषजमसि भेषजं गवेऽश्वाय पुरुषाय भेषजम्। सुखं मेषाय मेष्यै॥५९॥

१. गत मन्त्र में वर्णन है कि प्रभु के द्वारा हम अपने सब दोषों का क्षय कराते हैं। एवं, प्रभु की उपासना 'दोषराशिनाशनी' है। दूसरे शब्दों में वह 'भेषज' है। इसी भावना से प्रस्तुत मन्त्र का प्रारम्भ होता है। हे प्रभो! आप **भेषजम् असि**=औषध हो। 'भेषं रोगं जयति' हमारे सब रोगों को विजय करनेवाले हो। रोगों को समाप्त करके आप हमें नीरोग बनाते हो। २. हमें ही क्या! **भेषजं गवे**=हमारे घर की गौवों को भी नीरोग बनाते हो। इन नीरोग गायों के दुग्धसेवन से हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ (गावः) भी उत्तम बनती हैं, वे निर्दोष होती हैं। ३. (भेषजम्) **अश्वाय**=हमारे घोड़ों के लिए भी आप भेषज हो। इन नीरोग व सबल घोड़ों पर आरुढ़ होकर भ्रमण के लिए जाते हुए हम अपनी सब कर्मेन्द्रियों को सबल बना पाते हैं। (अथवा कर्मेन्द्रियाणि अश्नुवते कर्मसु)। ४. **पुरुषाय भेषजम्**=हे प्रभो! आप पुरुष के लिए 'भेषज' हो। जो पौरुषवाला होता है उसके भय को आप दूर करते हो (भेषृ भये)। ५. हे प्रभो! आप **भेषजं मेषाय मेष्यै**=भेड़ व भेड़ी के लिए भी सुख देनेवाले हो। स्वस्थ भेड़ों से हमें अपने शीत-निवारण के लिए ऊन के वस्त्र प्राप्त होते हैं। ६. यहाँ कपास-वस्त्रों का संकेत नहीं है, क्योंकि वे कपड़े पशुओं से प्राप्त नहीं होते। यहाँ पशुओं का क्रम होने से कपास का उल्लेख नहीं है। वैदिक संस्कृति में कपास के वस्त्रों का उल्लेख है ही कम। ७. यहाँ बन्धु की प्रार्थना समाप्त होती है। यह 'बन्धु' सब इन्द्रियों को मन द्वारा और मन को प्राणसाधना द्वारा बाँधकर उस प्रभु में बाँधता है। इस बाँधने से ही यह 'बन्धु' कहलाता था। अब पूर्ण रूप से बाँधकर वह वसिष्ठ=वशियों में श्रेष्ठ' बन जाता है और वसिष्ठ ही अगले मन्त्र में प्रभु से प्रार्थना करता है।

भावार्थ—प्रभो! आप भेषज हैं। आप हमें और हमारे गौ, घोड़े, भेड़, बकरी आदि पशुओं को नीरोग बनाइए।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—रुद्रः। छन्दः—विराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

मृत्युञ्जय मन्त्र, वसिष्ठ का निश्चय

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्। उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्। त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पतिवेदनम्। उर्वारुकमिव बन्धनादितो मुक्षीय मामुतः॥६०॥

१. **त्र्यम्बकम्**='ऋग्यजुःसाम' मन्त्रों के द्वारा ज्ञान-कर्म व भक्ति का उपदेश देनेवाले प्रभु का **यजामहे**=हम पूजन करते हैं अथवा प्रभु को अपने साथ सङ्गत करते हैं (यज् सङ्गतीकरणे) २. वस्तुतः **सुगन्धिम्**=वे प्रभु ही हमारे साथ उत्तम गन्ध=सम्बन्धवाले हैं। संसार के अन्य सब व्यक्तियों के सम्बन्ध में कुछ स्वार्थ है, प्रभु का सम्बन्ध स्वार्थ के लेश से भी शून्य है। ३. जितना-जितना प्रभु के साथ हमारा सम्बन्ध बढ़ता है उतना-उतना ही ये प्रभु **पुष्टिवर्धनम्**=हमारी पुष्टि का वर्धन करनेवाले हैं। ४. वसिष्ठ इस प्रभु से प्रार्थना करता है कि प्रभु के सम्पर्क से पुष्टि को प्राप्त होता हुआ मैं पूर्णतः परिपक्व होकर

मृत्योः=इस मरणधर्मा शरीर से **मुक्षीय**=इस प्रकार मुक्त हो जाऊँ **इव**=जैसे पूर्ण परिपक्व हुआ-हुआ **उर्वारुकम्**=खीरा **बन्धनात्**=बन्धन से मुक्त हो जाता है। (वृन्तं प्रसवबन्धनम्) जैसे पूर्ण परिपक्व हुआ कोई भी फल या फूल उसे शाखा से बाँधनेवाले वृक्ष से अलग हो जाता है, उसी प्रकार मैं पूर्ण पुष्टि को प्राप्त हुआ, मृत्यु से दूर हो जाऊँ और अमरता का लाभ करूँ। ५. **मा अमृतात्**=मैं मोक्ष से छूटनेवाला न होऊँ। इसी प्रार्थना को वसिष्ठ पुनः दुहराता है कि—

१. **त्र्यम्बकम्**=ज्ञान-कर्म व भक्ति के उपदेष्टा प्रभु की **यजामहे**=हम उपासना करते हैं। २. वे प्रभु ही **सुगन्धिम्**=हमारे उत्कृष्ट सम्बन्धवाले हैं। ३. ये प्रभु ही **पतिवेदनम्**=मुझे सच्चे पति-रक्षक को (विद् लाभे) प्राप्त करानेवाले हैं। वस्तुतः ये प्रभु ही मेरे सच्चे पति हैं। जीवात्मा पत्नी है, प्रभु पति हैं। पत्नी ने पति को प्राप्त करना है। उपासना ही उस प्राप्ति का उपाय है। ४. परन्तु यह उपासन व पतिवेदन इस संसार को छोड़कर ही होगा। कन्या भी पूर्वगृह को छोड़कर 'पतिगृह' को प्राप्त करती है, अतः वसिष्ठ प्रार्थना करता है कि जैसे एक कन्या **बन्धनात्**=नाना प्रकार के आकर्षणों व बन्धनों से बाँधनेवाले पितृगृह से इस प्रकार शान्ति से जाती है **इव**=जैसे कि **उर्वारुकं बन्धनात्**=एक परिपक्व फल अपने शाखा-बन्धन से अलग हो जाता है। इसी प्रकार मैं **इतः**=इस संसार-बन्धन से **मुक्षीय**=छूट जाऊँ। ५. **मा अमुतः**=इस संसार से परे उस प्रभु के सम्बन्ध से मैं कभी पृथक् न होऊँ। मैं अपने वास्तविक सम्बन्ध को पहचानूँ और उसे ही अपनाऊँ।

भावार्थ—प्रभु हमें 'ज्ञान-कर्म-भक्ति' का उपदेश देते हैं। वही हमारे सच्चे सम्बन्धी हैं। वे ही हमें पुष्ट करनेवाले या हमारे रक्षक हैं। मैं इस संसार-बन्धन से छूटकर प्रभु को ही प्राप्त करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—वसिष्ठः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

अन्न व वस्त्र

एतत्ते॑ रुद्राव॒सं तेन॑ प॒रो मूज॑व॒तोऽती॑हि।
अव॑ततधन्वा॒ पिना॑कावसः॒ कृत्ति॑वासा॒ऽअहि॑ꣳसन्नः॒ शि॒वोऽती॑हि॥६१॥

१. हे **रुद्र**=हृदयस्थरूप से ज्ञान देनेवाले प्रभो! (रुत्+र) **एतत्**=यह आपसे दिया गया ज्ञान ही **ते**=आपका **अवसम्**=रक्षण है, रक्षा का साधन है। ज्ञान देकर ही तो आप उपासकों का रक्षण करते हैं। २. **तेन**=उस ज्ञान से **परः**=(**स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्**) सर्वोत्कृष्ट आप-ज्ञानियों को भी ज्ञान देनेवाले आप **मूजवतः**=(मुज मार्जने) पवित्रतावालों को **अति+इहि**=अतिशयेन प्राप्त होओ। प्रभु पूर्व-गुरुओं के भी गुरु हैं, क्योंकि वे सबसे 'पर' हैं, सबसे पहले विद्यमान हैं। इस ज्ञान के द्वारा ही वे प्रभु हमारा रक्षण करते हैं। प्रभु का यह ज्ञान पवित्र हृदयवालों को प्राप्त होता है। ३. **अवततधन्वा**=वे प्रभु अवततधन्वा हैं। **अव**=यहाँ-पृथिवी पर **तत**=विस्तृत किया है **धन्वा**=ओंकाररूप धनुष जिसने, ऐसे हैं। सब वेदों का सार यह 'ओम्' है, यह ऐसा धनुष है जो हमारे सब शत्रुओं को समाप्त कर देता है (प्रणवो धनुः, प्रणव=ओंकार)। ४. **पिनाकावसः**=(प्रतिपिनष्टि अनेन इति पिनाकम्=धनुः, अवस=रक्षण) प्रणवरूप धनुष से रक्षण करनेवाले वे प्रभु हैं। हम 'ओम्' का उच्चारण करते हैं और वासना विनष्ट हो जाती है। ओम् का स्मरण हमें पवित्र बनाता है। ५. **कृत्तिवासाः**=(कृत्तिः कृन्तन्तेर्वा यशः वा अन्नं वा) आप ही तो वस्तुतः अन्न व वस्त्र

देनेवाले हैं। आप अन्न और वस्त्र देकर **नः**=हमें **अहिंसन्**=न हिंसित करते हुए **शिवः**=कल्याणकर आप **अति इहि**=अतिशयेन प्राप्त होओ।

भावार्थ—'ज्ञान' रक्षण का सर्वप्रथम साधन है। वे परम प्रभु पवित्र हृदयवालों को प्राप्त होते हैं। 'प्रणव' रूप धनुष से हम वासनाओं के आक्रमण को विफल कर देते हैं। वे प्रभु 'अन्न और वस्त्र' प्राप्त कराकर हमारी हिंसा नहीं होने देते। वे कल्याणकर प्रभु हमें प्राप्त हों।

टिप्पणी—'अहिंसन्नः' का सन्धिच्छेद 'अहिं+सन्नः' करके 'साँप पर आसीन' होता है। इसी कारण विष्णु भगवान् सचमुच साँप पर शयन करनेवाले बन गये।

ऋषिः—नारायणः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—उष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

त्रिगुण जीवन

त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्।
यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नोऽअस्तु त्र्यायुषम्॥६२॥

१. गत मन्त्र का 'वसिष्ठ' प्रणवरूप धनुष से अपना पूर्ण रक्षण करके अपने को पवित्र बनाता है और अब यह अपने 'शरीर-मानस व बौद्ध' तीनों जीवनों को बड़ा सुन्दर बनाकर लोकहित में प्रवृत्त होता है। लोकहित में प्रवृत्त होने से यह 'नारायण'=दुःखी नरसमूह का शरणस्थान बनता है। एवं, वसिष्ठ 'नारायण' बन जाता है और प्रार्थना करता है कि **'जमदग्नेः'**=जमदग्नि का **त्र्यायुषम्**=जो त्रिगुणित जीवन है, **कश्य-पस्य** =कश्यप का जो **त्र्यायुषम्**=त्रिगुणित जीवन है **यत्**=जो **देवेषु**=देवों में **त्र्यायुषम्**=त्रिगुणित जीवन है **तत्**=वह **त्र्यायुषम्**=त्रिगुणित जीवन **नः**=हमारा **अस्तु**=हो।

२. यदि मनुष्य शरीर के दृष्टिकोण से पूर्ण स्वस्थ है तो यह जीवन एकगुण है। इसके साथ मानस स्वास्थ्य के जुड़ जाने पर यह जीवन द्विगुण हो जाता है। इसमें बौद्धिक तीव्रता को जोड़कर इसे हम त्रिगुणित कर लेते हैं। तमोगुण का अविकृत रूप स्वास्थ्य का साधक है तो रजोगुण का अविकृत रूप मानस प्रेम की उत्पत्ति का सेतु बनता है और सत्त्वगुण बौद्धिक स्वास्थ्य को जन्म देता है। जिस जीवन में 'सत्त्व-रज व तम' तीनों ठीक रूप में हैं, वही जीवन 'त्र्यायुष' है।

३. इस त्र्यायुष का साधन करनेवाले 'जमदग्नि, कश्यप व देव' हैं। (क) जमदग्नि वह है जिसकी अग्नि=जाठराग्नि (वैश्वानराग्नि) जमत्=जीमनेवाली—खानेवाली अर्थात् खूब प्रज्वलित है। जिसकी जाठराग्नि कभी मन्द नहीं होती, वह रोगों से आक्रान्त नहीं होता। (ख) 'कश्यप' पश्यक है, द्रष्टा है। प्रत्येक वस्तु के तत्त्व को देखता है, विषयों की आपातरमणीयता से उनमें उलझता नहीं। इस न उलझने से ही वह कष्टों से बचा रहता है। (ग) 'देव' दिव्य गुणों को धारण करता है। मन में द्वेषादि मलों को नहीं उत्पन्न होने देता। 'जमदग्नि' यदि नीरोग शरीरवाला है तो 'कश्यप' उज्ज्वल मस्तिष्कवाला है और 'देव' दिव्य निर्मल मनवाला है। मनुष्य इस त्रिविध उन्नति को करके 'नारायण' बन पाता है। ये ही 'त्रिविक्रम' के तीन पग हैं। इन पगों को रखकर ही मनुष्य 'त्र्यायुष' बनता है और सच्चा लोकहित कर पाता है। त्र्यायुष शब्द में ३०० वर्ष तक जीने का भी संकेत है।

भावार्थ—हम 'जमदग्नि, कश्यप व देव' बनकर त्र्यायुष को प्राप्त करें।

ऋषिः—नारायणः। देवता—रुद्रः। छन्दः—भुरिग्जगती। स्वरः—निषादः॥

प्रभु का क्रियात्मक चिन्तन (वर्तन)

शिवो नामा॑सि॒ स्वधि॑तिस्ते पि॒ता नम॑स्तेऽअस्तु॒ मा मा॑ हिꣳसीः।
निव॑र्त्तयाम्या॒युषे॒ऽन्नाद्या॑य प्र॒जन॑नाय रा॒यस्पोषा॑य सुप्रजा॒स्त्वाय॑ सु॒वीर्या॑य ॥६३॥

गत मन्त्र का नारायण ही प्रार्थना करता है—१. **शिवो नाम असि**=आप शिव नामवाले हैं, सभी का कल्याण करनेवाले हैं। २. **ते**=आपका **स्वधितिः**=अपना धारण स्वयं है। आपका धारण करनेवाला कोई और नहीं है। ३. **पिता**=आप हम सबके पिता=पालन करनेवाले हैं। **नमः ते अस्तु**=हम आपके प्रति नतमस्तक होते हैं। ४. **मा मा हिंसीः**=आप मुझे हिंसित मत करें। मैं कभी आपके क्रोध का पात्र न होऊँ। अपने उत्तम आचरणों से आपकी कृपादृष्टि ही प्राप्त करूँ। ५. **निवर्तयामि**=निश्चय से मैं प्रत्येक कार्य में आपको वर्त्तता हूँ। 'मेरे जीवन में आप अनावश्यक हों' यह बात नहीं। मेरा तो प्रत्येक कार्य आपके स्मरण के साथ होता है। क्यों? (क) **आयुषे**=उत्तम आयुष्य के लिए। आपके स्मरण से मेरा जीवन उत्तम बनता है। (ख) **अन्नाद्याय** =आद्य अन्न के लिए। मैं सात्त्विक अन्न का ही सेवन करता हूँ। आपका स्मरण करते हुए मांसादि भोजनों का प्रसङ्ग नहीं हो सकता। (ग) **प्रजननाय**=प्रकृष्ट विकास के लिए। आपके स्मरण से अवनति की ओर न जाकर मैं उन्नति की ओर ही चलता हूँ। (घ) **रायस्पोषाय**=धन के पोषण के लिए। प्रभु-स्मरण से हम सुपथ से उत्तम धन कमानेवाले बनते हैं। (ङ) **सुप्रजास्त्वाय**=उत्तम सन्तान के लिए। प्रभु को न भूलनेवाले पति-पत्नी सदा उत्तम सन्तानों को प्राप्त करते हैं। (च) **सुवीर्याय**=उत्तम वीर्य के लिए। प्रभु-स्मरण वासना को दूर भगाता है और मनुष्य वासना से ऊपर उठने के कारण वीर्यरक्षा करने में समर्थ हो पाता है। इसके वीर्य में वासनाग्नि उबाल नहीं लाती। ६. यह सुवीर्य नारायण ही वस्तुतः नारायण बनता है, लोगों का शरणस्थान बनने के योग्य होता है।

भावार्थ—'नारायण' प्रभु का स्मरण करता है और लोकहित के कार्यों में लगा रहता है। यह लोकहित का कार्य ही 'सर्वमहान् यज्ञ' है।

॥ इति तृतीयोऽध्यायः सम्पूर्णः॥

चतुर्थोऽध्यायः

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—अबोषध्यौ। छन्दः—विराड्ब्राह्मीजगती। स्वरः—निषादः॥

सादा खाना, पानी पीना

एदमगन्म देवयजनं पृथिव्या यत्र देवासोऽअजुषन्त विश्वे।
ऋक्सामाभ्याꣳ सन्तरन्तो यजुर्भी रायस्पोषेण समिषा मदेम।
इमाऽआपः शमु मे सन्तु देवीरोषधे त्रायस्व स्वधिते मैनꣳहिꣳसीः॥१॥

१. तृतीय अध्याय की समाप्ति पर 'नारायण' यज्ञात्मक कर्मों में लगा था। यह नारायण ही 'प्रजापति'=प्रजा का रक्षक बनता है और प्रार्थना करता है—१. हम **पृथिव्याः**=पृथिवी के **इदं देवयजनम्**=इस देवताओं के यज्ञ करने के भाव को (भावे ल्युट्) **आ अगन्म**=सर्वथा प्राप्त हों। प्रभु ने पृथिवी को देवयजनी बनाया है। हम इस पृथिवी पर आकर यज्ञात्मक कर्मों में लगे रहें, जिससे अपने देवत्व को न खो बैठें। २. **यत्र** =यह पृथिवी वह स्थान है जहाँ कि **विश्वे देवासः**=सब देववृत्ति के लोग **अजुषन्त**=(जुषी प्रीतिसेवनयोः) परस्पर प्रीतिपूर्वक अपने कर्त्तव्यों का सेवन करते हैं। अथवा बड़े प्रेम से प्रभु का उपासन करते हैं। ३. यहाँ हम अपने कर्त्तव्य-कर्मों को **ऋक्सामाभ्याम्**=ऋचा व साम के द्वारा—विद्या व श्रद्धा से—**सन्तरन्तः**=तैरते=करते हुए, पार कर जाएँ, अर्थात् अपने प्रत्येक कार्य को सफल बनानेवाले हों। **'यदेव श्रद्धया क्रियते विद्यया तदेव वीर्यवत्तरं भवति'** उपनिषद् यही कहती है कि जो काम श्रद्धा व विद्या से किया जाता है वही वीर्यवत्तर, शक्तिशाली होता है। ४. **यजुर्भिः**=यजुओं से—यजुर्वेद में वर्णित यज्ञिय उत्तम कर्मों से ही **रायस्पोषेण**=धन के पोषण से हम **संमदेम**=सम्यक् आनन्द का अनुभव करें। उत्तम मार्ग से धन कमाने का निश्चय होते ही संसार सुन्दर बन जाता है। ५. हम धनी बनकर भी **इषा**=अन्न से ही **मदेम**=आनन्दित हों। हम स्वाद को प्रधानता न दें। **उ**=और **इमाः आपः**=ये जल **मे**=मेरे लिए **शं सन्तु**=शान्ति देनेवाले हों। **देवीः**=ये तो दिव्य गुणों से परिपूर्ण हैं, अर्थात् मेरा खान-पान सादा हो। सच्ची बात यह है कि उत्तम जीवन का आधार यह खान-पान की सादगी ही है। ६. **ओषधे**=हे दोषों को दूर करने की शक्ति से परिपूर्ण ओषधे! **त्रायस्व**=तू मेरी रक्षा कर। **स्वधिते**=हे अपनी धारणशक्ति से युक्त ओषधे! **एनं मा हिंसी**=इस मुझे हिंसित मत कर। यह ओषधि-वनस्पतियों का सेवन हमारा रक्षण करे, केवल शरीर से नहीं, यह मन व मस्तिष्क को भी स्वस्थ बनाये।

भावार्थ—१. पृथिवी को हम यज्ञभूमि समझें। २. देव बनकर अपना कर्त्तव्य प्रेम से पूर्ण करें। ३. हमारे सब कार्य ज्ञान व श्रद्धा से किये जाएँ। ४. श्रेष्ठतम कर्मों से ही हम धन कमाएँ। ५. 'सादा खाना और पानी पीना' ही हमारे आनन्द का कारण बने। ओषधियाँ धारणशक्ति से युक्त हों, इनसे हम हिंसित न हों।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—आपः। **छन्दः**—स्वराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

जल 'मुस्कराहट'

आपोऽअस्मान् मातरः शुन्धयन्तु घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु।
विश्वꣳहि रिप्रं प्रवहन्ति देवीरुदिदाभ्यः शुचिरा पूतऽएमि।
दीक्षातपसोस्तनूरसि तां त्वा शिवाꣳशग्मां परिदधे भद्रं वर्णं पुष्यन्॥२॥

प्रजापति ने गत मन्त्र में 'अन्न व जल' में ही आनन्द लेने का निश्चय किया। उनमें जल के महत्त्व को व्यक्त करते हुए प्रभु प्रजापति से प्रार्थना कराते हैं कि—१. **मातरः आपः**=हे मातृस्थानापन्न जल! माता के समान हित करनेवाले जल, हमारी प्राणशक्ति का निर्माण करनेवाले जल! (आपोमयाः प्राणाः) **अस्मान्**=हमें **शुन्धयन्तु**=शुद्ध कर डालें। २. ये **घृतप्वः**=(घृत+पू, घृ=क्षरण) मलों के क्षरण द्वारा पवित्र करनेवाले जल **नः**=हमें **घृतेन**=अपनी मलक्षरण शक्ति से **पुनन्तु**=पवित्र करनेवाले हों। प्रातःकाल पिया हुआ जल मलक्षरण में अद्भुत क्षमता रखता है। इसी से आयुर्वेद में प्रातः जलपान का अत्यधिक महत्त्व है। ३. **हि**=निश्चय से **देवीः**=ये दिव्य गुणोंवाले जल **विश्वं रिप्रम्**=सम्पूर्ण मल को **प्रवहन्ति**=बहाकर ले-जाते हैं। इसीलिए **आभ्यः** =इन जलों के द्वारा **शुचिरा**=बाहर से पवित्र हुआ और **आपूतः**=अन्दर से समन्तात् पवित्र हुआ **इत्**=निश्चय से **उत् एमि**=ऊपर उठता हूँ। ४. अब अन्दर-बाहर से पवित्र होकर मैं कह सकता हूँ कि **दीक्षातपसोः** =व्रत-संग्रहण व तप का **तनूः असि**=शरीर तू है, अर्थात् यह शरीर व्रत-संग्रहण और तप के लिए मिला है। **'व्रातं जीवं सचेमहि'** में यही तो प्रार्थना थी कि हमारा जीवन व्रतमय हो। हम व्रती व तपस्वी हों। तप ही सब उत्थान का मूल है। तप का विलोम पतन है। ५. दीक्षा से—व्रत-ग्रहण से यह शरीर नीरोग होकर हमारे लिए **शिवः**=कल्याणकर होता है और तप हमें अध्यात्म-दृष्टि से उच्च भूमि में ले-जाकर **शग्म**=शान्ति प्राप्त कराता है, जिस शान्ति की चरम सीमा निर्वाण व मोक्ष है **'शान्तिं निर्वाणपरमाम्'**, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **तां त्वा**=उस तुझ तनू (शरीर) को जोकि **शिवां शग्मम्**=ऐहिक व आमुष्मिक सुख से युक्त है **परिदधे**=मैं धारण करता हूँ। ६. इस शरीर में न रोग हैं न अशान्ति। यहाँ स्वास्थ्य है और शान्ति है। वह स्वास्थ्य और शान्ति ही इस उपासक के चेहरे पर 'स्मित' (smile) के रूप में प्रकट होते हैं और मन्त्र का ऋषि प्रजापति कहता है कि मैं सदा **भद्रं वर्णं पुष्यन्**=भद्र वर्ण का पोषण किये रहता हूँ। मेरे चेहरे पर सदा एक मुस्कराहट होती है जो अन्दर के मनःप्रसाद को व्यक्त करती है।

भावार्थ—जल दिव्य गुणयुक्त हैं, इनका ठीक प्रयोग शरीर व मन को स्वस्थ बनाता है, परिणामतः हमारे चेहरे पर सदा एक मुस्कराहट होती है।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—मेघः। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

मेघ=मेघस्थ जल

महीनां पयोऽसि वर्चोदाऽअसि वर्चो मे देहि।
वृत्रस्यासि कनीनकश्चक्षुर्दाऽअसि चक्षुर्मे देहि॥३॥

१. पिछले मन्त्र में जल का वर्णन था। प्रस्तुत मन्त्र में सर्वोत्तम जल अर्थात् मेघस्थ जल का उल्लेख करते हैं। यह मेघ क्या है। **महीनाम्**=इन पृथिवियों का (पृथिवी-भागों

का) **पयः असि**=जल है। यह पृथिवीस्थ जल ही सूर्य किरणों व अन्य भौतिक कारणों से वाष्पीभूत होकर ऊपर चला गया है। एवं, यह distilled water ही है। अत्यन्त शुद्ध व अत्यन्त स्वास्थ्यप्रद। इसे देवताओं के मद्य के रूप में कहा गया है—'पिबेदमरवारुणीम्'। यह जल क्या है? यह तो **महीनां पयः असि**=गौवों का दूध है। इसमें इतनी शक्ति है जितनी गोदुग्ध में। **वर्चोदा**=यह वर्चस् को देनेवाला है। **वर्चो मे देहि**=हे मेघजल! तू मुझे वर्चस् दे। 'वर्चस्' वह शक्ति है जो रोगों का मुक़ाबला करती है। रोगकृमियों के नाश के द्वारा यह मनुष्य को स्वस्थ बनाती है। २. **'वृत्र'** शब्द आवरण का वाचक है। मेघ भी वृत्र है, क्योंकि सूर्य पर एक आवरण के रूप में आ जाता है। काम भी वृत्र है, क्योंकि वह ज्ञान का आवरक बनता है। इसी प्रकार आँख पर परदे के रूप में आ जानेवाला 'मोतियाबिन्द' (Catarect) भी वृत्र कहलाता है। ये मेघजल इस **वृत्रस्य**=आँख पर अँधेरे के रूप में आ जानेवाले मोतियाबिन्द को **कनीनकः असि**=फिर से चमका देनेवाला है (कन् to shine)। 'मेघजल का प्रयोग किस प्रकार कैटेरेक्ट को दूर करता है?' यह प्रश्न वैद्य से सम्मति लेकर सुलझाना चाहिए, परन्तु यह बात निश्चित है कि पीने के लिए मेघजल का ही प्रयोग करने पर इस रोग की आशंका ही न रहेगी। ३. हे मेघ ! तू मोतियाबिन्द को हटाकर **मे**=मुझे **चक्षुः**=फिर से दृष्टिशक्ति **देहि**=दे।

भावार्थ—मेघजल या distilled water के प्रयोग से निम्न लाभ होते हैं—१. यह गोदुग्ध के समान शक्ति को देनेवाला है। २. मोतियाबिन्द को नहीं होने देता। ३. दृष्टिशक्ति को बढ़ानेवाला है।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—परमात्मा। **छन्दः**—निचृद्ब्राह्मीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

कामनापूरक प्रभु

चित्पतिर्मा पुनातु वाक्पतिर्मा पुनातु देवो मा सविता पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः। तस्य ते पवित्रपते पवित्रपूतस्य यत्कामः पुने तच्छकेयम्॥४॥

१. तृतीय मन्त्र में शरीर को पवित्र करके अब चतुर्थ मन्त्र में मानस पवित्रता के लिए प्रजापति ही प्रार्थना करते हैं कि **चित्पतिः**=ज्ञान के पति प्रभु **मा**=मुझे **पुनातु**=पवित्र करें। वस्तुतः ज्ञान के समान पवित्र करनेवाला कुछ नहीं है। २. **वाक्पतिः**=वेदवाणी का पति **मा पुनातु**=मुझे पवित्र करे। प्रभु वेदवाणी के रूप में ही ज्ञान देते हैं। वेदवाणी का नियमित स्वाध्याय हमारे जीवनों को पवित्र कर देता है। ३. **मा**=मुझे **सविता देवः**=वह प्रेरक देव **अच्छिद्रेण पवित्रेण**=छिद्ररहित पवित्रीकरण के साधनभूत वायु से तथा **सूर्यस्य रश्मिभिः**=सूर्यकिरणों से **पुनातु**=पवित्र करें। स्वच्छ वायु और सूर्यकिरणें शरीर व मानस स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। ४. वे प्रभु पवित्रीकरण के साधनभूत सब पदार्थों के स्वामी हैं। चाहे वह ज्ञान है चाहे वायु व सूर्यकिरणें—सभी के स्वामी प्रभु हैं। **हे पवित्रपते**=सब पवित्र करनेवाले पदार्थों के स्वामिन्! **तस्य ते**=उन आपके **पवित्रपूतस्य**=पवित्रीकरण-साधनों से पवित्र करनेवाले आपके प्रति **यत्कामः**=जिस कामनावाला होकर **पुने**=मैं अपने को पवित्र बनाता हूँ, **तत् शकेयम्**=उस कामना को प्राप्त करने में समर्थ होऊँ।

भावार्थ—मैं ज्ञान प्राप्त करूँ, वेदवाणी का स्वाध्याय करूँ। स्वच्छ वायु व सूर्यकिरणों के सम्पर्क में रहूँ। पवित्रीकरण के सब साधनों से अपने को पवित्र बनाकर मैं जो कामना

करूँ, मेरी वह कामना अवश्य पूर्ण हो।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—यज्ञः। छन्दः—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

यज्ञिय आशीः=पवित्र कामना

आ वो देवासऽईमहे वामं प्रयत्यध्वरे।
आ वो देवासऽआशिषो यज्ञियासो हवामहे॥५॥

गत मन्त्र में शब्द था 'यत्कामः'=जिस कामनावाला। प्रस्तुत मन्त्र में उसी कामना को स्पष्ट करते हैं। हमारी कामनाएँ अच्छी ही हों। १. हे **देवासः**=देवो! हम **वः**=आपकी **ईमहे**=कामना करते हैं। हमारी कामना यह है कि हमें देवों की प्राप्ति हो। हमारा यह शरीर देवों का निवासस्थान बने। २. **प्रयति अध्वरे** =इस चलते हुए जीवन-यज्ञ में (प्र+इ=गतौ) हम **वामम्**=सौन्दर्य को ही **ईमहे**=चाहते हैं। हमारे मन सुन्दर और दिव्य गुणों की ही कामना करनेवाले हों। ३. **देवासः**=हे देवो! हम **वः**=आपसे **यज्ञियासः आशिषः**=पवित्र, यज्ञिय—श्रेष्ठ इच्छाओं की **आ हवामहे**=प्रार्थना करते हैं। यज्ञिय इच्छाएँ वही हैं जिनमें मनुष्य बड़ों का आदर करता है, सबके साथ मिलकर चलता है और लोकहित के लिए दान अवश्य देता है। जब हम अपने जीवनों को पवित्र बनाते हैं तब हमारी ये इच्छाएँ अवश्य ही पूर्ण होती हैं।

भावार्थ—हमारी इच्छाएँ ये हों—१. हम देवताओं के निवासस्थान बनें। २. हम अपने इस जीवन को अध्वर=अहिंसात्मक यज्ञ का रूप दें और इस जीवनयज्ञ में सुन्दर-ही-सुन्दर गुणों को धारण करनेवाले बनें। ३. हम यज्ञिय इच्छाओंवाले हों।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—यज्ञः। छन्दः—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

यज्ञ क्यों?

स्वाहा यज्ञं मनसः स्वाहोरोरन्तरिक्षात्।
स्वाहा द्यावापृथिवीभ्याᳬस्वाहा वातादारभे स्वाहा॥६॥

गत मन्त्र में 'यज्ञिय इच्छाओं' का वर्णन था। प्रस्तुत मन्त्र में यज्ञ के लाभों का उल्लेख करते हैं। १. **स्वाहा** =(स्व+हा=त्याग) स्वार्थ-त्यागरूप **यज्ञम्**=यज्ञ को **मनसः**=मन के हेतु से **आरभे**=मैं आरम्भ करता हूँ। 'यज्ञ से मन पवित्र बनता है', इसलिए मैं यज्ञ करता हूँ। मन की मैल स्वार्थ (selfishness) ही तो है। यज्ञ से हमारे मन में केवल अपने-आप खाने की वृत्ति का अन्त हो जाता है। २. **स्वाहा** (यज्ञम्) (सु+हा)=उत्तम औषध द्रव्यों की जिसमें आहुति दी जाती है, ऐसे इस यज्ञ को **उरोः अन्तरिक्षात्**=इस विशाल अन्तरिक्ष के हेतु से **आरभे**=मैं प्रारम्भ करता हूँ। यज्ञ में डाले गये औषधद्रव्य व घृत छोटे-छोटे कणों में विभक्त होकर सारे अन्तरिक्ष में फैल जाते हैं, और यह सारा अन्तरिक्ष बड़ा पवित्र व सुगन्धमय हो जाता है। ३. **स्वाहा** (यज्ञम्)=इस उत्तम आहुतियोंवाले यज्ञ को **द्यावा-पृथिवीभ्याम्**=द्युलोक से लेकर पृथिवीलोक के सभी प्राणियों के हित के दृष्टिकोण से **आरभे**=मैं प्रारम्भ करता हूँ। अन्तरिक्ष में फैले हुए औषधद्रव्यों व धूल के कणों को श्वासवायु के साथ सभी प्राणी अपने अन्दर लेते हैं और सभी को नीरोगता व शक्ति का लाभ होता है। एवं, सम्पूर्ण द्यावापृथिवी का इस यज्ञ से हित होता है। ४. **स्वाहा** (यज्ञम्)=इस उत्तम आहुतियोंवाले यज्ञ को **वातात्**=वायु के उद्देश्य से **आरभे**=आरम्भ करता हूँ। इस यज्ञ

को करने में मेरा उद्देश्य यह है कि सारी वायु शुद्ध हो जाए। एवं, इस यज्ञ के करने में प्रजापति का उद्देश्य यह है कि जहाँ उसका मन स्वार्थ से ऊपर उठेगा वहाँ सारा अन्तरिक्ष औषधगुणों व घृतकणों से भर जाएगा। सारे प्राणियों का हित होगा और वायुशुद्धि होकर रोगों का भय न होगा।

भावार्थ—हमारे मनों को, इस विशाल अन्तरिक्ष को, द्युलोक से लेकर पृथिवी तक रहनेवाले सभी प्राणियों को व वायु को शुद्ध करनेवाला यह यज्ञ ही श्रेष्ठतम कर्म है।

ऋषि:—प्रजापति:। **देवता**—अग्न्यब्बृहस्पतय:। **छन्द:**—पङ्क्ति:[क], आर्षीबृहती[र]। **स्वर:**—पञ्चम:[क], मध्यम:[र]॥

उन्नति के अष्टस्तम्भ

[क]आकूत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहा मेधायै मनसेऽग्नये स्वाहा दीक्षायै तपसेऽग्नये स्वाहा सरस्वत्यै पूष्णेऽग्नये स्वाहा। [र]आपो देवीर्बृहतीर्विश्वशम्भुवो द्यावापृथिवीऽउरोऽअन्तरिक्ष। बृहस्पतये हविषा विधेम स्वाहा॥७॥

पिछले मन्त्र में 'यज्ञात्मक उत्तम इच्छा' का वर्णन हुआ था। प्रस्तुत मन्त्र में उन्हीं उत्तम इच्छाओं के करनेवाले प्रगतिशील (अग्नि) जीव का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—
१. **आकूत्यै**=सङ्कल्पात्मा **प्रयुजे**=सङ्कल्पों को क्रियारूप में परिणित करनेवाले **अग्नये**=प्रगतिशील जीव के लिए **स्वाहा**=(सु+आह) हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। प्रशंसनीय जीवन उसी का है जिसका जीवन सङ्कल्पमय है। 'यज्ञा: सङ्कल्पसम्भवा:' सब उत्तम कर्म सङ्कल्पों का ही परिणाम हैं, परन्तु उन सङ्कल्पों को क्रियारूप में परिणत करनेवाला 'प्रयुक्' ही प्रशस्त है। 'सङ्कल्प करना और उसे क्रियान्वित करना' ही प्रशंसनीय है। २. **मेधायै**=धारणावती बुद्धि के पुञ्जभूत (embodiment) **मनसे**=मननशील **अग्नये**=प्रगतिशील जीव के लिए **स्वाहा**=हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। प्रशंसनीय वही है जो धारणावती बुद्धिवाला है और इस धारणावती बुद्धि के विकास के लिए मननशील बनता है। 'मनन' मेधा का जनक है। ३. **दीक्षायै**=व्रत-संग्रह के लिए और **तपसे**=तप के लिए, दीक्षा और तप के द्वारा **अग्नये**=आगे बढ़नेवाले के लिए **स्वाहा**=प्रशंसा के शब्द कहे जाते हैं। जो व्यक्ति उन्नत होना चाहता है उसे दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए। व्रती जीवन ही जीवन है। व्रतपूर्ति के लिए तप की आवश्यकता है। तप की न्यूनता हमारे व्रतों के भङ्ग का कारण बनती है और व्रतभङ्ग का अभिप्राय है उन्नति का न होना। ४. **सरस्वत्यै**=ज्ञान के अधिदेवता के लिए और साथ ही **पूष्णे**=पोषण के देवता के लिए और इस प्रकार ज्ञान और पोषण की देवताओं का आराधन करके **अग्नये**=आगे बढ़नेवाले के लिए **स्वाहा**=प्रशंसा के शब्द प्रस्तुत होते हैं। उत्तम जीवन वही है जिसमें ज्ञान और शरीर की दृढ़ता व शक्ति का समन्वय हुआ है। ५. एवं, **अग्नि**=प्रगतिशील जीव में आठ बातें हैं जोकि दो-दो ग्रुप में होकर ऊपर चार वाक्यों में कही गई हैं। (क) सङ्कल्प तथा सङ्कल्प को क्रियान्वित करना, (ख) धारणावती बुद्धि का सम्पादन और उसके लिए मनन, (ग) व्रतग्रहण और व्रतपूर्ति के लिए तप (घ) विद्या व शक्ति का समन्वय। इन आठ बातों के होने पर ही व्यक्ति 'अग्नि' बन पाता है।

६. यह अग्नि (जीव) कहता है कि **आप:**=जल **देवी:**=दिव्य गुणोंवाले हैं **बृहती:**=हमारी वृद्धि के कारणभूत हैं **विश्वशंभुव:**=सब रोगों को शान्त करनेवाले हैं और इन जलों के अतिरिक्त **द्यावापृथिवी**=द्युलोक और पृथिवीलोक, **उरो अन्तरिक्ष**=विशाल अन्तरिक्षलोक के अधिष्ठाता **बृहस्पतये**=(बृहतामाकाशदीनां पति:) बृहस्पति नाम से प्रसिद्ध प्रभु के लिए

हम **हविषा**=हवि के द्वारा **विधेम**=पूजा करते हैं। **स्वाहा**=यह अत्यन्त सुन्दर वेदवाणी है। सब लोकों की पवित्रता के लिए अग्निहोत्रादि यज्ञों में विविध हविर्द्रव्यों का प्रक्षेप होता है। प्रभु की पूजा भी हवि से ही होती है—(हु दानादनयोः) 'दानपूर्वक अदन' यही प्रभु का आदेश है **'त्यक्तेन भुञ्जीथाः'**, इस आदेश का पालन ही प्रभु-पूजन हो जाता है। यह औरों के हित के द्वारा प्रभु-पूजन करनेवाला ही सच्चा 'प्रजापति' है। यही प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—उन्नति के लिए हम सङ्कल्पादि आठों साधनों की साधना करें। हवि द्वारा सब लोकों को पवित्र करें और प्रभु के प्रिय बनें।

ऋषिः—आत्रेयः। **देवता**—ईश्वरः। **छन्दः**—आर्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

स्रष्टा व सृष्टि, God *vs* Mammon

विश्वो॑ दे॒वस्य॑ ने॒तुर्मर्तो॑ वुरीत स॒ख्यम्।
विश्वो॑ रा॒यऽइषुध्यति द्यु॒म्नं वृ॑णीत पु॒ष्यसे॒ स्वाहा॑॥८॥

१. पिछले मन्त्र में 'प्रजापति' का उल्लेख है। प्रजापति वही बन सकता है जो संसार के प्रलोभनों में न फँसकर प्रभु का वरण करता है। यह प्रभु का वरण करनेवाला 'आत्रेय' होता है। यह काम-क्रोध-लोभ तीनों से रहित होता है। इन आत्रेयों से प्रभु कहते हैं कि २. **विश्वः मर्तः**=संसार में प्रविष्ट प्रत्येक मनुष्य **नेतुः**=संसार-चक्र के सञ्चालक **देवस्य**=दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु की **सख्यम्**=मित्रता को **वुरीत**=वरण करे, चाहे। प्रभु की इस मित्रता ने ही उसे इस प्रलोभनमय संसार में फँसने से बचाना है। प्रभु की मित्रता ही उसे वह शक्ति प्राप्त कराती है जो उसे 'काम-क्रोध-लोभ' तीनों का संहार करने में समर्थ करती है। एवं, प्रभु की मित्रता उसे 'आत्रेय' बनाती है। ३. सामान्यतः संसार की स्थिति इससे भिन्न है। **विश्वः**=सब कोई **रायः**=धनों को **इषुध्यति**=माँगता है, चाहता है। धन की उपासना अधिक है प्रभु की कम। वस्तुतः **'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्'**=इस स्वर्णमय संसार के पदार्थों से सत्यस्वरूप परमात्मा का रूप ढका हुआ है। धन अधिक आकर्षक है। संसार में धन की ही महिमा दिखती है, अतः धन की ओर झुकाव स्वाभाविक है, परन्तु इसकी ओर झुककर मनुष्य अन्ततः इसका दास बन जाता है। धन का दास बना और फिर मनुष्य निधन=मृत्यु की ओर ही बढ़ता है, अतः हमें प्रभु का ही वरण करना चाहिए, धन का नहीं। ४. परन्तु धन के बिना खाना-पीना भी सम्भव नहीं, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **द्युम्नम्**=(Wealth) धन का **वृणीत**=वरण करो, परन्तु **पुष्यसे**=उतने ही धन का जितना कि पोषण के लिए पर्याप्त हो। इतना धन तो हाथ-पैर हिलानेवाले को प्रभुकृपा से प्राप्त हो ही जाता है। एवं, प्रभु का वरण ही ठीक है। धन का वरण मनुष्य को विलासी बना देता है। दूसरी ओर स्रष्टा के वरण में जहाँ मोक्ष मिलता है वहाँ जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक सृष्टि का अंश भी मिलता है।

भावार्थ—हम धन का वरण न करके प्रभु का वरण करें।

ऋषिः—आङ्गिरसः। **देवता**—विद्वान्। **छन्दः**—आर्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

'ऋक्साम के शिल्पी'

ऋ॒क्सा॒मयोः॒ शिल्पे॑ स्थ॒स्ते वा॒मार॑भे॒ ते मा॑ पात॒मास्य य॒ज्ञस्यो॒दृचः॑।

शर्मा॑सि॒ शर्म॑ मे यच्छ॒ नम॑स्तेऽअस्तु॒ मा मा॑ हिꣳसीः॥९॥

१. पिछले मन्त्र के 'आत्रेय' जब गृहस्थ में प्रवेश करते हैं तो आसक्तिवाला जीवन न होने के कारण वे **'आङ्गिरस'**=शक्तिशाली बने रहते हैं। प्रभु इनसे कहते हैं कि तुम **ऋक्सामयोः**=विज्ञान व उपासना दोनों के **शिल्पे**=(शिल्पं कर्म—नि० ३।१) निर्माण करनेवाले हो। तुम्हारा जीवन विज्ञान व उपासना से परिपूर्ण होता है। ये पति-पत्नी अलग-अलग प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि **ते वाम्**=उन दोनों को **आरभे**=मैं अपने जीवन में ग्रहण करना आरम्भ करता हूँ, अर्थात् ज्ञान-प्राप्ति के लिए मैं स्वाध्याय को अपनाता हूँ और उपासना के लिए ध्यान को—सन्ध्या को। **ते**=वे विज्ञान और उपासना **मा**=मेरे **अस्य यज्ञस्य**=इस यज्ञ की **उदृचः**=अन्तिम ऋचा तक, अर्थात् जीवन-पथ के अन्त तक (up to the end of life) **पातम्**=रक्षा करें, अर्थात् ये विज्ञान और उपासना जीवन के अन्तिम दिन तक मुझे वासनाओं का शिकार होने से बचाएँ। २. इस प्रकार जीवन-पथ में वासना से बचकर यह सचमुच 'आङ्गिरस' बन जाता है और प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे प्रभो! **शर्म असि**=आप अत्यन्त आनन्दमय हो, आनन्दरूप हो। **शर्म मे यच्छ**=अपने उपासक मुझे भी आनन्द प्राप्त कराइए। **नमः ते अस्तु**=मैं आपके प्रति नतमस्तक होता हूँ। **मा मा हिंसीः**= आप मुझे नष्ट मत कीजिए। विलास में फँसने से बचाकर मुझे हिंसित होने से बचाइए।

भावार्थ—मेरा जीवन ऋक्साममय हो। मेरा जीवन विद्या व श्रद्धा पर आधारित हो। मैं आनन्दमय प्रभु का उपासक बनूँ और सचमुच आनन्द का भागी होऊँ।

ऋषिः—आङ्गिरसः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—निचृदार्षीजगती[क], साम्नीत्रिष्टुप्[र]।
स्वरः—निषादः[क], धैवतः[र]॥

ज्ञान व श्रद्धापूर्वक क्रियमाण यज्ञ

[क]ऊर्ग॑स्याङ्गिर॒स्यूर्ण॑म्रदा॒ऽऊर्जं॒ मयि॑ धेहि। सोम॑स्य नी॒विर॑सि॒ विष्णो॒: शर्मा॑सि॒ शर्म॒ यज॑मान॒स्येन्द्र॑स्य॒ योनि॑रसि सु॒स॒स्याः कृ॒षीस्कृ॑धि। [र]उच्छ्र॑यस्व वनस्पतऽऊ॒र्ध्वो मा॑ पाह्य॒ꣳह॑स॒ऽआस्य॑ य॒ज्ञस्यो॒दृचः॑॥१०॥

१. पिछले मन्त्र में ऋक् और साम के—विज्ञान व श्रद्धा के शिल्पी बनने का उल्लेख था। विज्ञान व श्रद्धा से की जानेवाली यज्ञरूप क्रिया का प्रस्तुत मन्त्र में वर्णन है। विज्ञान व श्रद्धा का सम्पादन करके यह यज्ञ में प्रवृत्त होता है और कहता है कि हे यज्ञ! तू **ऊर्क् असि**=मेरे जीवन में बल व प्राण का सञ्चार करनेवाला है। यज्ञियवृत्ति विलास की विरोधिनी वृत्ति है और मनुष्य को विलास से ऊपर उठाकर बल व प्राणशक्ति से परिपूर्ण करती है। **आङ्गिरसी**=तू मेरे अङ्ग-प्रत्यङ्ग को रसमय कर डालती है। **ऊर्णम्रदाः**=(ऊर्णु आच्छादने, मृद् to crush) तू मुझे असुरों के आक्रमण से सुरक्षित करनेवाली है और मेरे काम-क्रोधादि शत्रुओं को कुचल डालनेवाली है। **ऊर्जं मयि धेहि**=तू मुझमें बल व शक्ति का आधान कर। २. हे यज्ञ! तू **सोमस्य**=सोम की **नीविः**=ग्रन्थि **असि**=है, सोमशक्ति को शरीर में सुरक्षित रखनेवाली है। यज्ञ की भावना के साथ विलास की भावनाएँ रहती ही नहीं, अतः मनुष्य की यज्ञ की भावना शरीर में इन सोमकणों के बन्धन का कारण बनती है और **विष्णोः शर्म असि**=तू उस व्यापक परमात्मा के आनन्द को देनेवाली है। यज्ञिय पुरुष का स्नेह व्यापक हो जाता है। इसे सबमें प्रभु का दर्शन होता है और यह उस व्यापक प्रभु की प्राप्ति के आनन्द का अनुभव करता है। सोम-वीर्य की रक्षा इस सोम=प्रभु के दर्शन का कारण है ही। ३. **यजमानस्य शर्म**=यजमान के सुख का हेतु यह यज्ञ **इन्द्रस्य**

योनिः असि=परमात्मा की योनि है, उत्पत्ति-स्थान है, अर्थात् इन यज्ञों में ही प्रभु का दर्शन होता है। ४. यह यज्ञ जहाँ प्रभु का दर्शन करानेवाला होता है वहाँ **सुसस्याः**=उत्तम अन्नोंवाली **कृषीः**=खेतियों को **कृधि** =करता है। यज्ञों से सूक्ष्मकणों में विभक्त हुए-हुए घृत व औषधद्रव्य होनेवाली वृष्टि की बूँदों के कण बनते हैं और इनसे उत्पन्न सस्य के एक-एक कण के केन्द्र में घृत होता है। ५. हे **वनस्पते**=(वन सम्भक्तौ) सम्भजनीय-सेवनीय उत्तम अन्नादि के रक्षक यज्ञ! तू **उच्छ्रयस्व** =मेरे जीवन में उन्नत स्थान में स्थित हो। **ऊर्ध्वः**=उच्च स्थान में स्थित हुआ तू **मा** =मुझे **अंहसः**=पापों व कष्टों से **पाहि**=बचा। **अस्य यज्ञस्य**=इस जीवन-यज्ञ की **उदृचः**=(उत् out) अन्तिम ऋचा तक, अर्थात् जीवन-यज्ञ की समाप्ति तक प्रभुकृपा से मेरा जीवन यज्ञमय बना रहे। मेरे जीवन में यज्ञ को सर्वप्रथम स्थान प्राप्त हो।

भावार्थ—'यज्ञिय भावना' आसुर भावनाओं को नष्ट करके हमारे जीवन को शक्तिशाली बनाती है, सोमकणों की रक्षा के द्वारा प्रभु-प्राप्ति के योग्य बनाती है, हमारी कृषियों को उत्तम अन्नवाला भी ये यज्ञ ही बनाते हैं।

ऋषिः—आङ्गिरसः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—स्वराड्ब्राह्म्यनुष्टुप्[क], आर्ष्युष्णिक्[र]।
स्वरः—गान्धारः[क], ऋषभः[र]॥

दिव्य-धी-मनन (दिव्य बुद्धि की याचना)

[क]व्रतं कृणुत व्रतं कृणुताग्निर्ब्रह्माग्निर्यज्ञो वनस्पतिर्यज्ञियः। दैवीं धियं मनामहे सुमृडीकामभिष्टये वर्चोधां यज्ञवाहसꣳसुतीर्था नोऽअसद्वशे। [र]ये देवा मनोजाता मनोयुजो दक्षक्रतवस्ते नोऽवन्तु ते नः पान्तु तेभ्यः स्वाहा॥११॥

१. हे मनुष्यो! **व्रतं कृणुत**=गत मन्त्र में वर्णित यज्ञ का तुम व्रत लो। **व्रतं कृणुत**= अवश्य व्रत लो। **ब्रह्म अग्निः**= प्रभु तुम्हें आगे ले-चलनेवाले हैं। प्रभु की उपासना मनुष्य की उन्नति का कारण होती है। **अग्निः यज्ञः**=यह यज्ञ अग्रेणी है, हमारी उन्नति का कारण है। प्रभु की उपासना 'ब्रह्मयज्ञ' है। अग्नि के अन्दर घृतादि पदार्थों की आहुति देना 'देवयज्ञ' है। २. इन यज्ञों की वृत्ति को अपने अन्दर जगाने के लिए यह आवश्यक है कि हम ध्यान रक्खें कि **वनस्पतिः**=वनस्पति ही **यज्ञियः**=यज्ञ के योग्य बनानेवाली है। मांसभोजन से अयज्ञिय वृत्ति उत्पन्न होती है। हम सात्त्विक भोजनों के द्वारा **दैवीं धियम्**=दैवी सम्पत्ति का वर्धन करनेवाली बुद्धि को **मनामहे**=माँगते हैं (मनामहे=याचामहे—द०) जो 'दैवी धी' **सुमृडीकाम्**=उत्तम सुखों को देनेवाली है। **अभिष्टये**=यह 'दैवी धी' ही सब इष्टों की प्राप्ति के लिए है। देव यज्ञशील हैं, यह यज्ञ 'इष्टकामधुक्' है, सब इष्ट कामनाओं का पूरण करनेवाला है। **वर्चोधाम्**=यह 'दैवी धी' हमें अपवित्र भोगमार्ग से बचाती है और हममें वर्चस् को, शक्ति का स्थापन करती है। **यज्ञवाहसम्**='दैवी धी' यज्ञों को प्राप्त करानेवाली है और इस प्रकार यह **सुतीर्था**=उत्तम तीर्थ है। बड़ी उत्तमता से भवसागर से तरानेवाली है। यह 'दैवी धी' ही **नः**=हमारी **वशे** =इच्छा में **असत्**=रहे, अर्थात् हम सदा इस दिव्य बुद्धि की कामना करें। ३. इस दिव्य बुद्धि की प्राप्ति के लिए **ये**=जो **देवाः**=देव **मनोजाताः**=(मनसा विज्ञाने च जायन्ते—द०) ज्ञान से विकास को प्राप्त हुए हैं, अर्थात् स्वयं विकसित ज्ञानवाले हैं और **मनोयुजः**=(विज्ञाने योजयन्ति—द०) औरों को भी ज्ञान से युक्त करते हैं, **दक्षक्रतवः**=शरीर व आत्मा के बल (दक्ष) तथा प्रज्ञा व यज्ञ (क्रतु) से युक्त हैं **ते**=वे देव **नः**=हमें **अवन्तु** =रक्षित करें। हमें वासनाओं का शिकार होने से बचाएँ। **ते नः**

पान्तु=वे हमें रोगों से भी बचाएँ। अपने 'क्रतु' द्वारा यदि वे हमें वासनाओं से बचाते हैं तो 'दक्ष' द्वारा वे हमें रोगों से सुरक्षित करते हैं। **तेभ्यः स्वाहा**=इन देवों के लिए हम अपना समर्पण करते हैं।

भावार्थ—हम यज्ञ का व्रत धारण करें। यह दिव्य बुद्धि हमें भवसागर से तराएगी। देवता हमें शरीर के रोगों से बचाते हैं तो मानस मलों को भी दूर करते हैं।

ऋषिः—आङ्गिरसः। **देवता**—आपः। **छन्दः**—भुरिग्ब्राह्म्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

जल व स्वास्थ्य

श्वात्राः पीता भवत यूयमापोऽअस्माकमन्तरुदरे सुशेवाः।
ताऽअस्मभ्यमयक्ष्माऽअनमीवाऽअनागसः स्वदन्तु देवीरमृताऽऋतावृधः॥१२॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति शरीर व मन के स्वास्थ्य पर हुई है। शरीर में रोग न हों तो मन में क्रोधादि न हों। इस सारे कार्य में जलों का महत्त्वपूर्ण स्थान है, अतः जलों का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि हे **आपः**=जलो! **यूयम्**=तुम **पीताः**=पिये हुए **श्वात्राः**=(श्वि, त्रा) वृद्धि व रक्षा का कारण होओ। **अस्माकम्**=हमारे **उदरे अन्तः**=उदरों के अन्दर **सुशेवाः**=उत्तम सुखदायक व कल्याणकारी होओ। शरीर पञ्चभौतिक है, अतः पाँचों भूतों की अनुकूलता आवश्यक है, परन्तु 'आकाश, अग्नि व पृथिवी' का सर्वत्र विशेष अन्तर न होने से कहते यही हैं कि 'यहाँ का जल-वायु मेरे अनुकूल नहीं।' जल और वायु में भी जल का महत्त्व स्पष्ट है, क्योंकि कहने का प्रकार यह होता है कि 'यहाँ का तो पानी ही ऐसा है'। एवं, पेयजल ठीक प्रकार से उपयुक्त होकर हमारी वृद्धि व रोग से रक्षा का कारण बनें। २. **ताः**=वे जल **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **अयक्ष्माः**=किसी प्रकार के यक्ष्मादि रोगों के कृमियोंवाले होकर यक्ष्म-जनक न हों। **अनमीवाः**=अन्य सब प्रकार के रोगकृमियों से रहित हों। **अनागसः**=ये हमारे चित्तों को शान्त करके हमें अगस्-पापों से शून्य बनाएँ। क्रुद्ध मनुष्य को इसीलिए ठण्डा जल पिलाने की परिपाटी है। जलों का ठीक प्रयोग हमें 'शान्तमनस्क' करता है। ३. हे प्रभो! आपकी ऐसी कृपा हो कि **'स्वदन्तु'**=ये जल हमारे लिए स्वादवाले व रुचिकर हों। **देवीः**=ये जल दिव्य गुणोंवाले हैं, **अमृताः**=ये हमें रोगों से बचाकर असमय की मृत्यु से बचानेवाले हैं। **ऋतावृधः**=ये हमारे अन्दर ऋत का वर्धन करनेवाले हैं। (ऋतस्य=यज्ञस्य—नि० ४।१९)। ये जल हमारे मनों को भी पवित्र करके उनमें यज्ञिय भावना को जगानेवाले हैं।

भावार्थ—जलों का हमारे जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये शरीर को नीरोग करते हैं और मन में यज्ञिय भावना को बढ़ाते हैं।

ऋषिः—आङ्गिरसः। **देवता**—आपः। **छन्दः**—भुरिगार्षीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

वीर्यरक्षा='ब्रह्मचर्य'

इयं ते यज्ञिया तनूरपो मुञ्चामि न प्रजाम्।
अꣳहोमुचः स्वाहाकृताः पृथिवीमाविशत पृथिव्या सम्भव॥१३॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति इन शब्दों पर है कि ये जल हममें यज्ञिय भावना की वृद्धि करनेवाले होते हैं। इसी यज्ञिय भावनावाले मनुष्य से प्रभु स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि **इयम्**=यह **ते तनूः**=तेरा शरीर **यज्ञिया**=यज्ञिय है। तू इसे अयज्ञिय=अपवित्र, भोगभावना

प्रधान न बना देना। तू निश्चय कर कि मैं **अपः**=शरीर से मलों को दूर करनेवाले जलों को लघुशंका द्वारा **मुञ्चामि**=छोड़ता हूँ, **न प्रजाम्**=सन्तान के साधनभूत वीर्य को नहीं छोड़ता, क्षणिक आनन्द के लिए उसका नाश नहीं होने देता। २. ये वीर्यकण तो **अंहोमुचः**=सब प्रकार के पापों व कष्टों से बचानेवाले हैं। इनके शरीर में सुरक्षित होने पर न पापवृत्ति उद्बुद्ध होती है और न ही रोगादि का कष्ट होता है। **स्वाहाकृताः**=ये यज्ञ के उद्देश्य से ही उत्पन्न किये गये हैं। 'स्वाहा अग्नि की पत्नी है, यज्ञशक्ति है (created for the sacrifice)। इनकी रक्षा में ही यज्ञियवृत्ति की रक्षा है। ३. इसलिए हे जीव! तू ऐसा निश्चय कर कि तूने इन सोमकणों की अवश्य रक्षा करनी है। तू इन्हें सम्बोधन करके कह कि **पृथिवीम् आविशत**=तुम इस शरीर में प्रवेश करो। इसी में तुम्हारा व्यापन हो। हो, **पृथिव्याः**=इस पृथिवीरूप शरीर से निकलकर हे सोम! तू **सम्भव**=सन्तान को जन्म देनेवाला हो।

भावार्थ—आङ्गिरस ऋषि वीर्य के दो प्रयोजन समझता है। (क) शरीर में व्याप्त होकर उसे शारीरिक व मानस रोगों से बचाना तथा (ख) उचित योनि में निक्षिप्त होकर सन्तान को जन्म देना।

ऋषिः—आङ्गिरसः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—स्वराडार्ष्युष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

मैं सानन्द सोऊँ—प्रभु जागें

अग्ने॒ त्वꣳ सु जा॑गृहि व॒यꣳ सु म॑न्दिषीमहि।
रक्षा॑ णो॒ऽअप्र॑युच्छन् प्र॒बुधे॑ नः॒ पुन॑स्कृधि॥१४॥

१. गत मन्त्र में आङ्गिरस ने निश्चय किया कि 'पृथिवीम् आविशत' हे सोमकणो! तुम मेरे शरीर में ही व्याप्त होओ। दिन में तो यह आङ्गिरस अपने निश्चय को अपने संकल्पबल व प्रयत्न से कार्यरूप में ले आता है। रात्रि में भी वह अपनी शक्ति की रक्षा कर सके, अतः वह प्रभु से प्रार्थना करता है कि २. हे **अग्ने**=हमारी सब उन्नतियों के साधक प्रभो! **त्वं सुजागृहि**=आप उत्तमता से खूब जागरित रहिए। **वयम्**=हम आपकी बनाई हुई इस शरीर की व्यवस्था के अनुसार **सुमन्दिषीमहि**=दिनभर के श्रम के बाद आनन्दपूर्वक (सु) सोते हैं। हम जब इस रमयित्री रात्रि में निन्द्रा का आनन्द लें, उस समय आप जागरित हों, अर्थात् सोते समय भी मेरी प्रसुप्त चेतना में आपकी भावना जागरित रहे। हे प्रभो! **अप्रयुच्छन्**=सब प्रकार के प्रमाद से रहित होकर **नः रक्ष**=आप हमारी रक्षा कीजिए, अर्थात् हमारी निद्रा का भी कोई क्षण इस प्रकार के प्रमादवाला न हो जाए कि हम अपनी शक्ति को नष्ट कर बैठें। ३. निद्रा की समाप्ति पर आप **नः**=हमें **पुनः**=फिर **प्रबुधे**=प्रकृष्ट ज्ञान के लिए **कृधि**=कीजिए। रात्रि में स्वप्न में भी हम आपका ही स्मरण व दर्शन करें और दिन तो हमारा ज्ञानवृद्धि में बीते ही।

भावार्थ—रात्रि में हम प्रभु का स्मरण करनेवाले हों, स्वप्न में भी हमें प्रभु-दर्शन ही हो। हम दिन को ज्ञानप्राप्ति में विनियुक्त करें।

ऋषिः—आङ्गिरसः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिग्ब्राह्मीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

जागने पर

पुन॒र्मनः॒ पुन॒रायु॑र्म॒ऽआग॒न्पुनः॑ प्रा॒णः पुन॑रा॒त्मा म॒ऽआग॒न्पुन॒श्चक्षुः॒ पुनः॒ श्रोत्रं॑ म॒ऽआग॑न्। वैश्वा॒नरो॒ऽअद॑ब्धस्तनू॒पाऽअ॒ग्निर्नः॑ पातु दुरि॒ताद॑व॒द्यात्॥१५॥

१. गत मन्त्र की भावना के अनुसार सारी रात्रि प्रभु-रक्षण में आनन्दपूर्वक सोकर आङ्गिरस जागता है और प्रार्थना करता है कि मुझे **पुनः**=फिर **मनः**=विज्ञानसाधक मन प्राप्त हो। **पुनः**=फिर **मे**=मुझे **आयुः**=क्रियामय जीवन (इ गतौ) **आगन्**=प्राप्त हो। २. **पुनः**=फिर से **प्राणः**=शरीर-शक्ति प्राप्त हो और इस प्राण के द्वारा **पुनः**=फिर से **मे**=मुझे **आत्मा**=(सर्वत्र अतति) सर्वान्तर्यामी परमात्मा **आगन्**=प्राप्त हो। प्राण तो आत्मा को प्राप्त करानेवाले हैं। प्राणसाधना चित्तवृत्ति के निरोध के द्वारा हमें 'स्वरूप' में स्थित करती है। ३. **पुनः चक्षुः**=फिर से मुझे दृष्टिशक्ति प्राप्त हो और **पुनः**=फिर **मे**=मुझे **श्रोत्रम्**=श्रवणशक्ति **आगन्**=प्राप्त हो। ४. मेरी सब-की-सब इन्द्रियाँ ठीक कार्य करनेवाली बनें इसके लिए आवश्यक है कि **वैश्वानरः**=सबके शरीरों का नेता जाठराग्नि—शरीरों को स्वस्थ रखनेवाली पाचनशक्ति **अदब्धः**= अहिंसित होती हुई **तनूपाः**=शरीर की रक्षा करनेवाली **अग्निः**=जाठराग्नि **नः**=हमें **दुरितात्**=दुर्गति से तथा **अवद्यात्**=पापों से **पातु**=बचाए। (अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तःपुरुषे येनेदमन्नं पच्यते—श० १४।८।१०।१) जाठराग्नि के ठीक होने पर जहाँ शरीर में रोग नहीं आते वहाँ मनों में खिझ व क्रोध आदि भी उत्पन्न नहीं होते। मन्दाग्निवाला पुरुष मन्द प्रेमवाला व तीव्र द्वेष व क्रोधवाला होता है। इस प्रकार यह वैश्वानर अग्नि हमें शरीर व मन दोनों दृष्टिकोणों से स्वस्थ बनाती है। प्रभु भी 'वैश्वानर' हैं। प्रभु का स्मरण भी हमें दुरितों व अघों से बचानेवाला है।

भावार्थ—आङ्गिरस प्रतिदिन जीवन को सुन्दर बनाने का संकल्प करता है। प्रतिदिन का नया निश्चय उसे दुरितों व पापों में फँसने से बचानेवाला होता है। यह अपनी वैश्वानर अग्नि को ठीक रखता है और शरीर व मन के स्वास्थ्य को प्राप्त करता है।

नोट—आङ्गिरस 'इन बातों को कहता ही हो' ऐसा नहीं। वह इन्हें क्रियारूप में लाने का प्रयत्न भी करता है। उसका जीवन भी इन बातों को कहता है—इस कहने के कारण ही (वदति इति वत्सः) वह 'वत्स' ऋषि हो जाता है और प्रभु का प्रिय बनता है। अगले मन्त्रों का ऋषि यह वत्स ही है। अब वत्स की प्रार्थना देखिए—

ऋषिः—वत्सः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

व्रत-पा

त्वम॑ग्ने व्रतपा॒ऽअ॑सि दे॒वऽआ मर्त्ये॒ष्वा। त्वं य॒ज्ञेष्वीड्यः॑।
रास्वेय॑त्सोमा॒ भूयो॑ भर दे॒वो नः॑ सवि॒ता वसो॑र्दा॒ता वस्व॑दात्॥१६॥

१. 'वत्स' अपने व्रतों का पालन करता है, परन्तु उन व्रतों के पालन की सफलता का गर्व नहीं करता। वह कहता है—हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **त्वम्**=आप ही **व्रतपा असि**=मेरे व्रतों के पालन करनेवाले हो। मेरी शक्ति से तो इन व्रतों की पूर्ति सम्भव नहीं है। २. **आ**= चारों ओर **मर्त्येषु**=मनुष्यों के जीवनों में **आ देवः**=(आ=अभितः) सांसारिक व आध्यात्मिक क्षेत्रों में आप ही प्रकाशक हैं। सूर्यादि के द्वारा आप बहिःप्रकाश को प्राप्त कराते हैं तो वेदज्ञान द्वारा आप अन्दर का प्रकाश देनेवाले हैं। ३. इन प्रकाशों को प्राप्त करके मनुष्य शतशः यज्ञों का करनेवाला होता है, परन्तु **यज्ञेषु**=उन यज्ञों में भी तो **त्वम्**=आप ही **ईड्यः**=स्तुति के योग्य हो। ४. हे प्रभो! **इयत् रास्व**=आप हमें इतना धन दीजिए कि हम इन यज्ञों को अच्छी प्रकार करनेवाले बनें और **सोम**=हे ऐश्वर्यप्रद प्रभो! **भूयः**=अधिक धन भी **आभर**=सभी ओर से दीजिए। उन अधिक धनों से ही तो हम

विविध यज्ञों को कर सकेंगे। ५. वस्तुतः यह **सविता देवः**=प्रेरक देव ही **नः**=हमें **वस्वोः**=यज्ञ का—यज्ञिय भावना का **दाता**=देनेवाला है और उसी ने **वसु**=धन **अदात्**=दिया है। इस धन से हम उन यज्ञों को कर पाएँगे। (यहाँ 'वसु' पुल्लिङ्ग में यज्ञ का वाचक है और नपुंसक में धन का)। प्रभु यज्ञिय भावना भी देते हैं और उन्हें कार्यरूप में लाने के लिए आवश्यक धन भी। ६. प्रभु से दिये गये धनों को यज्ञों में विनियुक्त करके यह प्रभु का प्रिय बनता है, अतः 'वत्स' कहलाता है।

भावार्थ—हमारे सब व्रतों व यज्ञों को सिद्ध करनेवाले प्रभु ही हैं। वही यज्ञिय भावना को जागरित करते हैं और यज्ञपूर्ति के लिए आवश्यक धन देते हैं।

ऋषिः—वत्सः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्चीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

शरीर क्यों? प्रभु-प्राप्ति के लिए

एषा ते शुक्र तनूरेतद्वर्चस्तया सम्भव भ्राजं गच्छ।
जूरसि धृता मनसा जुष्टा विष्णवे॥१७॥

१. प्रभु वत्स को सम्बोधित करते हैं कि हे **शुक्र**=दीप्त ज्ञानवाले (शुच् दीप्तौ), शुचि मनवाले अथवा (शुक् गतौ) क्रियाशील जीव! **एषा**=यह **ते**=तेरे लिए **तनूः**=शरीर है (तन् विस्तारे) सब विस्तृत शक्तियों से सम्पन्न यह शरीर तुझे दिया गया है। इस शरीर में **एतत् वर्चः**=यह शक्ति है—'सोम'—वीर्यशक्ति तुझे प्राप्त कराई गई है। **तया**=इस शक्ति से **सम्भव**=तुझे उत्तम सन्तान को जन्म देना है और **भ्राजं गच्छ**=ज्ञानदीप्ति को प्राप्त करना है। सोमशक्ति के मुख्यरूप से दो ही प्रयोजन हैं—सन्तान-निर्माण तथा ज्ञानाग्नि का दीपन अथवा बुद्धि को तीव्र करना। २. **जूः असि**=तू 'जव'=वेगवाला है। स्फूर्ति के साथ सब कार्यों को करनेवाला है। तूने उस-उस समय पर उस-उस कार्यभार के जुए (yoke) को **मनसा धृता**=मन से धारण किया है। तूने कर्त्तव्य समझकर उन सब कर्मों को किया है, तुझे ये बोझरूप नहीं लगे। तूने इस कार्यभार का **विष्णवे जुष्टा**=व्यापक उन्नति के लिए ही सेवन किया है। कर्त्तव्यबुद्धि से इन नियत श्रेष्ठतम कर्मों को करने से तेरा शरीर, मन व बुद्धि सभी उन्नत हुए हैं, सभी सबल बने हैं। ३. वस्तुतः शरीर में वर्चस् की रक्षा करने पर ये परिणाम स्वाभाविक हैं कि मनुष्य स्वस्थ शरीर हो, निर्मल मनवाला बने और तीव्र बुद्धिवाला हो।

भावार्थ—हम वीर्य की रक्षा के द्वारा विविध प्रकार की उन्नति करें और इस प्रकार व्यापक उन्नति करनेवाले 'विष्णु' बनें। विष्णु बनकर ही हम उस 'विष्णु' को प्राप्त करेंगे (विष्णुर्भूत्वा भजेद् विष्णुम्।)

ऋषिः—वत्सः। **देवता**—वाग्विद्युत्। **छन्दः**—स्वराडार्षीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

शरीर-नियन्त्रण

तस्यास्ते सत्यसवसः प्रसवे तन्वो यन्त्रमशीय स्वाहा।
शुक्रमसि चन्द्रमस्यमृतमसि वैश्वदेवमसि॥१८॥

१. 'वत्स' गत मन्त्र में वर्णित प्रभु-प्रेरणा को सुनता है और कहता है कि **सत्यसवसः**=सत्य-प्रेरणा देनेवाले **ते**=तेरी **तस्याः**=उस वेदवाणी की **प्रसवे**=अनुज्ञा में **तन्वः**=शरीर

के **यन्त्रम्**=नियन्त्रण को **अशीय**=मैं प्राप्त करूँ। **स्वाहा**=वस्तुतः यह कितनी सुन्दर बात कही गई है। हम वेदवाणी के आदेश के अनुसार चलें और अपने इस शरीर को पूर्णतया अपने वश में रक्खें। हमारी प्रत्येक क्रिया नियन्त्रित व नपी-तुली हो। हमारा खाना-पीना, सोना-जागना सभी नियमबद्ध हो। २. वत्स की इस प्रार्थना पर प्रभु कहते हैं कि ऐसा करने पर-वेदवाणी के अनुकूल नियन्त्रित जीवन बिताने पर (क) **शुक्रमसि**=तू 'शुक्र' होता है-दीप्त ज्ञानवाला (शुच दीप्तौ), शुचि मनवाला व क्रियाशील जीवनवाला (शुक्र गतौ) होता है, (ख) इस प्रकार का जीवन बनाकर तू इस सुख-दुःखादि द्वन्द्वात्मक संसार में सदा **चन्द्रम् असि** (चदि आह्लादे)=आह्लादमय जीवन बितानेवाला होता है। तू दुःखों व विघ्नों से खिन्न नहीं उठता। (ग) सदा प्रसन्न मनोवृत्तिवाला होकर **अमृतम् असि**=असमय में रोगों से मरता नहीं। (घ) दीर्घजीवनवाला बनकर तू **वैश्वदेवम् असि**=सब दिव्य गुणों को लिये हुए हितकर जीवनवाला होता है। तेरा जीवन सब दिव्य गुणों से परिपूर्ण होता है। ब्रह्मचारी को यदि 'शुक्र'-वीर्यवान् बनना है तो गृहस्थ को 'चन्द्र' सदा आह्लादमय रहने का प्रयत्न करना है। वानप्रस्थ ने किन्हीं भी विषयों के पीछे न मरनेवाला 'अमृत' बनना है और संन्यासी ने सब दिव्य गुणोंवाला 'वैश्वदेव' बन जाना है। वैश्वदेव बनकर ही यह महादेव को प्राप्त करेगा।

भावार्थ-मनुष्य वेदवाणी के अनुसार अपने शरीर का नियन्त्रण करे। वह ज्ञानवान्, सदा प्रसन्न, रोगों से अनाक्रान्त और दिव्य गुणोंवाला बने।

ऋषिः-वत्सः। **देवता**-वाग्विद्युत्। **छन्दः**-निचृद्ब्राह्मीपङ्क्तिः। **स्वरः**-पञ्चमः॥

वेदवाणी किधर? [Leads to God]

चिद॑सि म॒नासि॒ धीर॑सि॒ दक्षि॑णासि क्ष॒त्रिया॑सि य॒ज्ञिया॒स्यदि॑तिरस्युभ॒यतः॑ शी॒र्ष्णी। सा नः॑ सु॒प्राची॑ सु॒प्रती॒च्येधि मि॒त्रस्त्वा॑ प॒दि ब॑ध्नीतां पू॒षाऽध्व॑नस्पा॒त्विन्द्रा॒याध्य॑क्षाय॥१९॥

१. गत मन्त्र में कहा था कि हे प्रभो! आपकी वेदवाणी की अनुज्ञा में मैं शरीर का नियमन करता हूँ। प्रस्तुत मन्त्र में उस वेदवाणी के विषय में कहते हैं कि २. **चित् असि**=तू संज्ञानवाली है। मनुष्यों को उस ज्ञान को देनेवाली है जिससे कि लोग मिलकर रहना सीखते हैं। ३. **मना असि**=मनन (मनु अवबोधे) अवबोध देनेवाली है। तू मनुष्यों को समझदार बनानेवाली है। ४. **धीः असि**=तू बुद्धि व कर्म है। स्वाध्यायशील लोगों की बुद्धि के विकास का कारण होती है और उन्हें उनके कर्त्तव्यों का उपदेश देती है। ५. **दक्षिणा असि**=लोगों को कर्मों में दक्ष बनानेवाली है। ६. **क्षत्रिया असि**=क्षत से बचानेवाली है। कर्मकुशल व्यक्ति कर्मबन्धन में नहीं फँसता। एवं, वेदवाणी मनुष्य को कर्मबन्धन से तो बचाती ही है, यह उसकी वृत्ति को दृढ़ बनाकर इसे असुरों के आक्रमण से भी सुरक्षित रखती है। वेदवाणी का स्वाध्याय करनेवाला आसुर वृत्तियों का शिकार नहीं होता। ७. **यज्ञिया असि**=यह वेदवाणी यज्ञों में विनियुक्त होती है। मानव-जीवन को यज्ञिय बनाती है। ८. **अदितिः असि**=यज्ञिय बनाकर विलासों का शिकार नहीं होने देती और इस प्रकार जीव को अखण्डित रखती है (दो अवखण्डने)। ९. **उभयतः शीर्ष्णी**=यह इहलोक व परलोक दोनों के दृष्टिकोण से शिखर पर पहुँचानेवाली है। यह इहलोक का अभ्युदय देती है तो परलोक का निःश्रेयस। एवं, यह वेदवाणी पूर्णधर्म का प्रतिपादन करनेवाली है।

१०. **सा**=वह उल्लिखित गुणों से विशिष्ट वेदवाणी **नः**=हमें **सुप्राची**=सुन्दरता से

आगे ले-चलनेवाली हो (सु प्र-अञ्च), हमारी उन्नति का कारण हो। हम आगे बढ़ें परन्तु हे वेदवाणि! तू ११. **सुप्रतीची एधि** =हमें सुन्दरता से वापस लानेवाली हो, अर्थात् हमें वह प्रत्याहार का पाठ भी पढ़ाए। इन्द्रियाँ ज्ञान-प्राप्ति के लिए विषयों में जाएँ, परन्तु उन्हीं में उलझ न जाएँ। १२. **मित्रः**=(प्रमीतेः त्रायते) अपने को पापों से बचानेवाला व्यक्ति **त्वा**=हे वेदवाणि! तुझे **पदि**=(पद गतौ) क्रिया में **बध्नीताम्**=बाँधे, अर्थात् तेरी प्रेरणाओं को क्रियान्वित करें (वेद की पुस्तक को पाँवों में नहीं बाँधना)। १३. **पूषा**=अपना सच्चा पोषण करनेवाला **अध्वनः**=मार्ग के दृष्टिकोणों से **पातु**=तुझे अपने पास सुरक्षित रक्खे। तुझसे ही वह अपने जीवन-मार्ग का निर्माण कर पाएगा। तेरी प्रेरणा के अनुसार ही जीवन-पथ बनेगा। १४. यह जीवन-पथ **अध्यक्षाय**=इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के अध्यक्ष **इन्द्राय**=इस परमैश्वर्यशाली प्रभु इन्द्र की ओर ले-जाने के लिए होगा। (The vedic path (मार्ग) will lead us to God)।

भावार्थ—हम वेदवाणी के अनुसार अपना जीवन-पथ बनाएँ। यह पथ हमें प्रभु की ओर ले-चलेगा।

ऋषिः—वत्सः। **देवता**—वाग्विद्युत्। **छन्दः**—साम्नीजगती^क, साम्न्युष्णिक्^र। **स्वरः**—निषादः^क, ऋषभः॥

सोमसखा का समावर्त्तन

^क अनु॑ त्वा मा॒ता म॑न्यता॒मनु॑ पि॒ताऽनु॒ भ्राता॒ सग॑र्भ्यो॒ऽनु॒ सखा॒ सयू॑थ्यः।
^र सा दे॑वि दे॒वमच्छे॒हीन्द्रा॑य॒ सोम॑ꣳरु॒द्रस्त्वाव॑र्तयतु स्व॒स्ति सोम॑सखा॒ पुन॒रेहि॑॥२०॥

१. गत मन्त्र में वर्णित वेदवाणी के अध्ययन के लिए जब विद्यार्थी आचार्यकुल में जाता है तब कहीं माता-पिता आदि का मोह उसके मार्ग में प्रतिबन्धक न हो जाए, अतः कहते हैं कि २. वेदवाणी के अध्ययन के लिए जाते हुए **त्वा**=तुझे **माता**=माता **अनुमन्यताम्**=अनुमति दे। **पिता अनुमन्यताम्**=पिता भी अनुमति दें। **सगर्भ्यः भ्राता**=सहोदर भाई **अनुमन्यताम्**=अनुकूल मति दे। **सयूथ्यः सखा**=समान यूथ में रहनेवाला, एक ही पार्टी में रहनेवाला साथी भी **अनुमन्यताम्**=वेदाध्ययन के लिए जाने की स्वीकृति दे, अर्थात् उसे आचार्यकुल में शिक्षा प्राप्ति के लिए जाने की सभी स्वीकृति दें। सारा वातावरण उसके अनुकूल हो। ३. सबकी अनुमति से आचार्यकुल में जाकर यह वेदाध्ययन करता है और वेदवाणी को ही सम्बोधित करके कहता है कि हे **देवि**=ज्ञान का प्रकाश देनवाली वेदवाणि! **सा**=वह तू **देवम् अच्छ**=उस प्रभु की ओर **इहि**=(गमय) हमें प्राप्त करा। तेरे ज्ञान-प्रकाश को प्राप्त करके हम प्रभु का ज्ञान व दर्शन करनेवाले बन सकें। **इन्द्राय**=इस परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिए **सोमम्**=सोम को, वीर्यशक्ति को **इहि**=(गमय) प्राप्त करा, क्योंकि इस सोम की रक्षा के बिना हम वेदवाणी को समझ न पाएँगे। ज्ञानाग्नि का ईंधन यह सोम ही है। ४. हे वेदवाणि! **रुद्रः**=(रुत् र) ज्ञानोपेदश को देनेवाला आचार्य **त्वा**=तेरा **आवर्तयतु**=आवर्तन कराए। आचार्य से कराया गया आवर्तन ही हमें वेदवाणी का आधिपत्य प्राप्त कराता है। इस आवर्तन के बिना हम वेद को समझ नहीं सकते। **स्वस्ति**=इस अध्ययन से हमारा कल्याण हो, हमारा जीवन उत्तम बने। ५. प्रभु इस वेदाध्ययन करनेवाले 'वत्स' से कहते हैं कि **सोमसखा**=सोम का मित्र बनकर, वीर्यशक्ति का रक्षक बनकर **पुनः एहि**=तू फिर अपने घर ब्रह्मलोक को प्राप्त कर। अथवा माता-पिता आदि ही वेदाध्ययन के लिए जाने की अनुमति देते हुए कहते हैं कि सोमसखा बनकर तूने फिर आना। वस्तुतः यही लौटना तो वैदिक संस्कृति में 'समावर्त्तन' है। सोमसखा ही ब्रह्मचारी है। वह आचार्यकुल

से लौटकर अपने ज्ञान व आचरण से सबका प्रिय बनता है और इस प्रकार सचमुच 'वत्स' नामवाला होता है।

भावार्थ—हम माता-पितादि की स्वीकृति से आचार्यकुल में जाएँ। वहाँ वेदाध्ययन करके अपने जीवन को उत्तम बनाकर पुनः वापस आएँ।

ऋषिः—वत्सः। **देवता**—वाग्विद्युत्। **छन्दः**—विराडार्षीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

रुद्र वसुओं के साथ (आचार्य शिष्यों के साथ)

वस्व्यस्यदितिरस्यादित्यासि रुद्रासि चन्द्रासि।
बृहस्पतिष्ट्वा सुम्ने रम्णातु रुद्रो वसुभिराचके॥२१॥

१. गत मन्त्र के अनुसार आचार्यकुल में आये हुए विद्यार्थियों को आचार्य वेदज्ञान प्राप्त कराता है। वेदज्ञान प्राप्त करके विद्यार्थी अनुभव करता है और कहता है कि हे वेदवाणि! तू **वस्वी असि**=उत्तम निवास देनेवाली है। जीवन के लिए सब उत्तम साधनों का प्रतिपादन करके तू हमारे जीवन को उत्तम बनाती है। २. **अदितिः असि**=तू हमारा खण्डन न होने देनेवाली है। हमारे स्वास्थ्य की तू साधिका है। ३. **आदित्या असि**=गुणों का आदान करनेवाली है (आदानात् आदित्यः)। तेरे अध्ययन से हममें गुणग्रहण की वृत्ति प्रबल होती है। ४. **रुद्रा असि**=तू संसार के सब पदार्थों का ज्ञान देनेवाली है (रुत्+र)। सब सत्य विद्याओं की खान है। ५. **चन्द्रा असि**=तू हमारी मनोवृत्ति को आनन्दमय बनानेवाली है। इसके अध्ययन से मन निर्मल व द्वेषशून्य हो जाता है। ६. **बृहस्पतिः**=ब्रह्मणस्पति=वेदज्ञान का पति **त्वा**=तुझे **सुम्ने**=प्रभु-स्तवन में **रम्णातु**=(रमयतु) रमण करनेवाला बनाये, अर्थात् वेदज्ञान प्राप्त कर लेने पर वह इन वेदवाणियों से प्रभु-स्तवन में आनन्द का अनुभव करे। ७. **रुद्रः**=उपदेश देनेवाला आचार्य **वसुभिः**=अपने समीप निवास करनेवाले अन्तेवासी शिष्यों के साथ **आचके**=तेरी ही कामना करे, अर्थात् आचार्य और शिष्य वेदज्ञान में आनन्द का अनुभव करें। (यहाँ विद्यार्थी को 'वसु' कहा है, क्योंकि वह आचार्य के समीप निवास करता है, वसति इति)।

भावार्थ—आचार्य व शिष्य वेदवाणी के पढ़ने में आनन्द का अनुभव करें।

ऋषिः—वत्सः। **देवता**—वाग्विद्युत्। **छन्दः**—ब्राह्मीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

ज्ञानपूर्वक कर्म

अदित्यास्त्वा मूर्द्धन्नाजिघर्मि देवयजने पृथिव्याऽइडायास्पदमसि घृतवत् स्वाहा। अस्मे रमस्वास्मे ते बन्धुस्त्वे रायो मे रायो मा वयꣳ रायस्पोषेण वियौष्म तोतो रायः॥२२॥

१. आचार्य विद्यार्थी को वेदज्ञान देकर कहता है कि **अदित्याः**=इस अखण्डन की कारणभूत वेदवाणी के **मूर्धन्**=शिखर पर **त्वा**=तुझे **आजिघर्मि**=सब प्रकार से दीप्त करता हूँ, अर्थात् तुझे उच्च वेदज्ञान प्राप्त कराता हूँ और साथ ही **पृथिव्याः**=इस पृथिवी के **देवयजने**=देवताओं से किये जानेवाले यज्ञों में **आजिघर्मि**=दीप्त करता हूँ। तू जहाँ ज्ञान से चमकता है वहाँ यज्ञों के द्वारा विख्यात होता है। २. **इडायाः**=वेदवाणी का तू **पदम् असि**=आधार, आश्रय है। वेदवाणी तुझमें स्थित हुई है। **घृतवत्**=इसीलिए तू मलों के क्षरण

से ज्ञान की दीप्तिवाला बना है। (घृ=क्षरण तथा दीप्ति)। **स्वाहा**=तेरी चारों ओर प्रशंसा-ही-प्रशंसा है (सु आह)। ३. हमारी यही प्रार्थना हो कि हे वेदवाणि! तू **अस्मे**=हममें **रमस्व**=रमण कर। **अस्मे**=हममें **ते**=तेरा **बन्धुः**=बन्धुत्व हो। **त्वे रायः**=तेरी सम्पत्तियाँ ही **मे रायः**=मेरी सम्पत्तियाँ हों। ४. **वयम्**=हम ज्ञानरूप सम्पत्ति को प्राप्त करके इस सांसारिक **रायस्पोषेण**=धन के पोषण से **मा**=मत **वियौष्म**=पृथक् हों। हमारी **रायः**=सम्पत्तियाँ **तोतो** (तु गतिवृद्धि-हिंसासु)=(क) हमें क्रियाशील बनाये रक्खें, इन्हें प्राप्त करके हम अकर्मण्य न हो जाएँ। (ख) ये सम्पत्तियाँ हमारे वर्धन का कारण हों। इनके कारण वैषयिक वृत्तिवाले होकर हम ह्रास की ओर न चले जाएँ। (ग) ये धन हमारी सब दुर्गतियों की हिंसा करनेवाले हों।

'तोतो' शब्द महीधर के अनुसार कलत्र (स्त्री) के अर्थ में निपात है। तब अर्थ इस प्रकार होगा कि हमारी सम्पत्तियाँ कलत्र में स्थित हों, अर्थात् हमारे घरों में सम्पत्तियों के संग्रह व व्यय का कार्य स्त्रियों के अधीन हो। 'पुरुष कमाये स्त्री व्यय करे, जोड़े' यही तो गृहस्थ का सुन्दर नियम है।

भावार्थ—हम वेदज्ञान के शिखर पर पहुँचें तो साथ ही यज्ञशील भी बनें। हम धन कमाएँ, परन्तु वह धन हमारे ह्रास का कारण न बने।

ऋषिः—वत्सः। **देवता**—वाग्विद्युत्। **छन्दः**—आस्तारपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

वेदवाणी के सन्दर्शन में

समख्ये दे॒व्या धि॒या सं दक्षि॑णयो॒रुच॑क्षसा।
मा म॒ऽआयुः प्रमो॑षी॒र्मोऽअ॒हं तव॑ वी॒रं वि॑देय॒ तव॑ देवि स॒न्दृशि॑॥२३॥

१. पिछले मन्त्र में आचार्य से वेदवाणी के पढ़ने का उल्लेख था। वेदवाणी का पढ़नेवाला यह 'वत्स' कहता है कि मैं **सम् अख्ये**=(सं चक्ष्) इस वेदवाणी का दर्शन करता हूँ, (क) **देव्या धिया**=प्रकाशमय बुद्धि के दृष्टिकोण से। मैं इसलिए वेदवाणी को पढ़ता हूँ कि मेरी बुद्धि प्रकाशमय हो, मेरा ज्ञान उज्ज्वल हो। (ख) **सम् (अख्ये)**=मैं इस वेदवाणी का दर्शन करता हूँ, **दक्षिणया** (धिया)=दक्षिण क्रिया के हेतु से (धी=कर्म), इसलिए वेदवाणी को पढ़ता हूँ कि मेरे कर्म कुशलता से, दक्षिणता से किये जाएँ। कुशलता से किये जाकर वे कर्म मेरे लिए बन्धनशील न हों। (ग) **उरुचक्षसा** (धिया)=विशाल दृष्टि के ध्यान से (धी=ध्यान)। मैं वेदवाणी का अध्ययन इसलिए करता हूँ कि मेरा प्रत्येक कर्म विशाल दृष्टिकोण से प्रेरित होकर हो, मैं केवल अपना हित देखकर कर्म करनेवाला न बन जाऊँ। संक्षेप में यह कह सकते हैं कि यह वेदवाणी हमारी बुद्धि को उज्ज्वल बनाती है, हमें कुशलता से कार्य करनेवाला करती है और हमारे दृष्टिकोण को विशाल बनाती है। २. वत्स इस वेदवाणी से प्रार्थना करता है कि **मे**=मेरे **आयुः**=जीवन को **मा**=मत **प्रमोषीः**=चुराना, लुप्त करना। वेदवाणी के द्वारा मैं सुन्दर दीर्घजीवन को प्राप्त करूँ। **मा उ**=और न ही **अहम्**=मैं **तव**=तेरा प्रमोषण करूँ, अर्थात् मेरे जीवन में वेदवाणी का सतत अध्ययन होता ही रहे। हे **देवि**=मेरे जीवन को प्रकाशमय करनेवाली वाणि! मैं **तव सन्दृशि**=तेरे सन्दर्शन में ही अपने सम्पूर्ण जीवन का यापन करूँ। कभी तेरी आँख से ओझल न होऊँ। तेरी प्रेरणा के अनुसार मेरे सारे कर्म हों। मैं इस **वीरं विदेय**=शत्रुओं के कम्पित करनेवाले ज्ञान को प्राप्त करूँ।

भावार्थ—वेदवाणी के अध्ययन से हमारी प्रज्ञा (धी) उज्ज्वल हो, हमारे कर्म कुशलता से किये जाएँ और कर्मों के करते समय हमारा दृष्टिकोण विशाल हो।

ऋषिः—वत्सः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—ब्राह्मीजगती[क], याजुषीपङ्क्तिः[र]। **स्वरः**—निषादः[क], पञ्चमः[र]॥

ज्ञान-पुष्प विचयन

[क]एष ते गायत्रो भागऽइति मे सोमाय ब्रूतादेष ते त्रैष्टुभो भागऽइति मे सोमाय ब्रूतादेष ते जागतो भागऽइति मे सोमाय ब्रूताच्छन्दोनामानाꣳ साम्राज्यङ्गच्छेति मे सोमाय ब्रूतादास्माकोऽसि शुक्रस्ते [र]ग्रह्यो विचितस्त्वा विचिन्वन्तु॥२४॥

१. विद्यार्थी आचार्य से कहता है कि **एषः**=यह **ते**=आपका **गायत्रः**=गायत्रीछन्द-सम्बन्धी **भागः**=सेवन है। आपने गायत्रीछन्द के मन्त्रों का खूब अध्ययन किया है, उन्हें अपने जीवन का भाग (part and parcel) बनाया है, **इति**=इस कारण **मे**=मुझ **सोमाय**=सौम्य स्वभाववाले के लिए **ब्रूतात्**=इसका उपदेश कीजिए। २. **एषः**=यह **ते**=आपका **त्रैष्टुभः**=त्रिष्टुप् छन्द-सम्बन्धी **भागः**=सेवन है। आपने त्रिष्टुप्छन्द के मन्त्रों द्वारा 'प्रकृति, जीव व परमात्मा' तीनों का स्तवन किया है, अर्थात् तीनों का ही ज्ञान प्राप्त किया है। अथवा इन तीनों का ज्ञान प्राप्त करके 'आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक' तीनों ही कष्टों को समाप्त किया है अथवा 'काम-क्रोध-लोभ' इन तीनों शत्रुओं को अन्दर घुसने से रोका है (त्रि-स्तुप् to stop)। एवं, ये मन्त्र आपके जीवन का भाग बन गये हैं, **इति**=इस कारण **मे सोमाय**=मुझ सौम्य स्वभाववाले के लिए **ब्रूतात्**=आप इनका उपदेश कीजिए। ३. हे प्रभो! **एषः**=यह **ते**=तेरा **जागतः**=जगतीछन्द-सम्बन्धी मन्त्रों का **भागः**=सेवन है। आपने जगती छन्द के मन्त्रों का अध्ययन करके उन्हें अपने जीवन का भाग बना लिया है और परिणामतः आप सर्वभूतहित में रत हुए हैं, **इति**=इस कारण **मे सोमाय**=मुझ सौम्य के लिए **ब्रूतात्**=इनका उपदेश कीजिए।

४. आप **छन्दोनामानाम्**=उष्णिक् आदि छन्द नामवाले मन्त्रों के **साम्राज्यं गच्छ**=साम्राज्य को प्राप्त हुए हैं (अगच्छाः=गच्छ) अर्थात् उनके अधिपति बने हैं, **इति**=अतः **मे सोमाय**=मुझ सौम्य स्वभाववाले के लिए **ब्रूतात्**=उनका उपदेश कीजिए। ५. **आस्माकः असि**=(अस्माकमयत् इति) आप हमारे उपदेष्टा हैं। आप हमारा हित चाहनेवाले हैं। ६. **शुक्रः**=आप (शुच् दीप्तौ) दीप्त ज्ञानवाले हैं (शुचि पवित्र) पवित्र मनवाले हैं (शुक् गतौ) निरन्तर क्रियाशील (ब्रह्मज्ञानी) हैं (**क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः**) ७. **ते**=आपकी यह वेदवाणी **ग्रह्यः**=हमारे ग्रहण के योग्य है। अथवा आपका यह वेदज्ञान औरों से ग्रहण के योग्य है। आप इस वेदज्ञान को देने के लिए सदैव उद्यत हैं। ८. **विचितः**=विशेष रूप से या वि=एक- एक करके इन ज्ञानपुष्पों का चयन करनेवाले ब्रह्मचारी **त्वा विचिन्वन्तु**=आपसे इन ज्ञानपुष्पों का चयन करें। (चि धातु, द्विकर्मक है 'वृक्षम् अवचिनोति फलानि') जैसे एक पुजारी बाग में आकर वृक्षों से फूलों का अवचयन करता है इसी प्रकार एक सौम्य शिष्य आचार्यरूप वृक्ष से ज्ञानरूप पुष्पों का चयन करता है। यही विद्यार्थी आचार्य का 'वत्स'=प्रिय होता है।

भावार्थ—आचार्य ज्ञानी हो, विद्यार्थी का भला चाहे। विद्यार्थी सौम्य हो, उसमें ज्ञान-प्राप्ति की प्रबल कामना हो। ज्ञानपुष्पों का चयन ही उसका ध्येय हो।

ऋषिः—वत्सः। देवता—सविता। छन्दः—भुरिक्शक्वरी:। स्वरः—धैवतः॥

ज्ञानपुष्पों से प्रभु का अर्चन

कअभि त्यं देवंश्सवितारमोण्योः कविक्रतुमर्चामि सत्यसवंश्रत्नधामभि प्रियं मतिं कविम्। ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भाऽअदिद्युतत्सवीमनि हिरण्यपाणिरमिमीत रसुक्रतुः कृपा स्वः। प्रजाभ्यस्त्वा प्रजास्त्वाऽनुप्राणन्तु प्रजास्त्वमनुप्राणिहि॥ २५॥

१. गत मन्त्र में ज्ञानपुष्पों के चयन का उल्लेख था। उन ज्ञानपुष्पों का चयन करके प्रस्तुत मन्त्र में उन पुष्पों द्वारा प्रभु के अर्चन का उल्लेख करते हैं। इन ज्ञानपुष्पों का अवचयन करके मैं **त्यम्**=उस **देवम्**=ज्ञान की दीप्तिवाले **सवितारम्**=सबके प्रेरक परमात्मा की **अभि**=ओर जाता हूँ और **ओण्योः**=द्यावापृथिवी के इस (ओणृ अपनयने, द्यौष्पिता पृथिवी माता, ये द्युलोकरूपी माता-पिता हमारे कष्टों का अपनयन करते हैं) **कविक्रतुम्**=ज्ञानी निर्माता (creator) को **अर्चामि**=पूजता हूँ। वे प्रभु इस संसार का निर्माण करनेवाले हैं और इसके निर्माण में एक-एक पिण्ड में प्रभु की प्रज्ञा का प्रकाश हो रहा है। प्रत्येक पदार्थ की रचना अपने में पूर्ण है **'पूर्णमदः, पूर्णमिदम्'**। इस संसार का निर्माण प्रभु की सर्वज्ञता का प्रमाण है। २. मैं उस प्रभु की अर्चना करता हूँ जोकि **सत्यसवम्**=सदा सत्य की प्रेरणा देनेवाले हैं। **रत्नधाम्**=हममें उत्तमोत्तम रत्नों=रमणीय रुधिर आदि धातुओं का धारण करनेवाले हैं, **अभिप्रियम्**=सबके प्रति प्रेमवाले हैं। **मतिम्**=सर्वज्ञ हैं **कविम्**=क्रान्तदर्शी हैं व सृष्टि-आरम्भ में सब विद्याओं का ज्ञान देनेवाले हैं (कौति सर्वा विद्याः) ३. **यस्य** =जिस प्रभु की **अमतिः**=न मापने योग्य (Immeasureable) **भा**=दीप्ति **ऊर्ध्वा**=सर्वोत्कृष्ट होती हुई **अदिद्युतत्**=दीप्त हो रही है। संसार में एक-से-एक बढ़कर ज्ञानी विद्यमान हैं, यह ज्ञान का तारतम्य प्रभु में आकर विश्रान्त हो जाता है, उनसे अधिक ज्ञान का सम्भव ही नहीं, अतः वह ऊर्ध्वा=सर्वोत्कृष्ट ज्ञानदीप्ति सर्वत्र द्योतित हो रही है।

४. **सवीमनि**=इस उत्पन्न जगत् में **हिरण्यपाणिः**=(हिरण्यं वीर्यम्) शक्तिशाली हाथोंवाला वह **सुक्रतुः** =सर्वोत्तम कर्त्ता (creator) **कृपा**=अपने सामर्थ्य से अथवा प्राणिमात्र पर दया से **स्वः**=इस देदीप्यमान सूर्य को **अमिमीत**=निर्माण करता है। **'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः'**=यह सूर्य प्रजाओं का प्राण ही तो है। ५. प्रभु इस सूर्य से कहते हैं कि **प्रजाभ्यः त्वा**=इन प्रजाओं के हित के लिए मैंने तुझे बनाया है। **प्रजाः**=सब प्रजाएँ **त्वा अनुप्राणन्तु**=तेरी अनुकूलता में प्राणशक्ति को धारण करें। **त्वम्**=तू **प्रजाः अनुप्राणिहि**=प्रजाओं को प्राणशक्ति से सञ्चरित कर दे। तू उनमें प्राणशक्ति फूँक दे। संसार में यह सूर्य प्रभु की अद्‌भुत रचना है। ३३ देवों का यही मुखिया है। इसकी रचना का अध्ययन हमें प्रभु की विभूति का दर्शन कराता है। हम इस विभूति-दर्शन से प्रभु का दर्शन करने में समर्थ होते हैं और प्रभु के प्रिय बन पाते हैं—'वत्स' हो जाते हैं।

भावार्थ—हम ज्ञान-प्राप्ति द्वारा प्रभु की उपासना करें।

ऋषिः—वत्सः। देवता—यज्ञः। छन्दः—भुरिग्ब्राह्मीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

शुक्र-चन्द्र-अमृत

शुक्रं त्वा शुक्रेण क्रीणामि चन्द्रं चन्द्रेणामृतममृतेन। सग्मे ते गोरस्मे ते चन्द्राणि तपसस्तनूरसि प्रजापतेर्वर्णः परमेण पशुना क्रीयसे सहस्रपोषं पुषेयम्॥ २६॥

१. पिछले मन्त्र में 'अभि त्यम्'=उस प्रभु की ओर चलने का वर्णन है। उसी प्रसङ्ग में कहते हैं कि **शुक्रं त्वा**=ज्ञान से दीप्त आपको **शुक्रेण**=ज्ञान की दीप्ति से **क्रीणामि**=खरीदता हूँ, प्राप्त करता हूँ। **चन्द्रम्**=(चदि आह्लादे) आह्लादमय आपको **चन्द्रेण**=आह्लादमयता से प्राप्त करता हूँ। **अमृतम्**=अमृत आपको **अमृतेन**=अमृतत्व से, नीरोगता से प्राप्त करता हूँ। वस्तुतः प्रभु की उपासना व प्राप्ति का प्रकार यही है कि हम प्रभु-जैसे बनें। प्रभु सर्वज्ञ हैं, आनन्दमय हैं, अमर हैं। उपासक को भी चाहिए कि नैत्यिक स्वाध्याय से अपने मस्तिष्क को ज्ञान से दीप्त करके 'शुक्र' बने, मन को राग-द्वेषादि मलों से रहित करके मनःप्रसाद को सिद्ध करके 'चन्द्र' बने और पथ्य का मात्रा में सेवन करते हुए नीरोग व 'अमृत' बने। प्रभु-प्राप्ति का यही सूत्र है—'शुक्र-चन्द्र-अमृत'। २. **सग्मे**=यजमान में **ते**=तेरी **गौ**=वेदवाणी स्थापित होती है। जितना-जितना मनुष्य यज्ञशील बनता है उतना-उतना वेदवाणी का आधार बनता है। (सग्मे ते गौरिति यजमाने ते गौरिति—श० ३।२।६।७)। यजमान बनने का पहला पग 'देवपूजा' है। देवों की पूजा से ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। ३. **अस्मे**=हमारे लिए **ते**=तेरी **चन्द्राणि**=आह्लादवृत्तियाँ हों। हम सदा प्रसन्न मनोवृत्तिवाले बनें। वस्तुतः जितना-जितना ज्ञान अधिक होता है उतना-उतना ही आनन्द अधिक होता है। ज्ञान प्राप्त करने के लिए 'यजमान' बनना, देवपूजा की वृत्तिवाला बनना आवश्यक है। ४. **तपसः तनूः असि** =हे प्रभो! आप तो शरीरबद्ध तप हैं, तप के कारण ही तो आप अपने उच्च स्थान में स्थित हैं। **प्रजापतेः वर्णः** =आप अक्षरशः प्रजापति हैं। जो जितना-जितना तपस्वी होता है वह उतना-उतना ही लोकहित कर पाता है। वह उपासक भी आपका सच्चा उपासक है जो तपस्वी बनकर प्रजापति बनता है।

५. हे प्रभो! आप **परमेण पशुना**=उत्कृष्ट जीव से **क्रीयसे**=खरीदे जाते है—प्राप्त किये जाते हैं। परम अर्थात् पूर्ण वही है जिसने स्वास्थ्य साधन से अमृतता को सिद्ध किया है, तपस्या के द्वारा मनःप्रसाद को सिद्ध करके जो चन्द्र बना है और जो ज्ञान को दीप्त करके शुक्र बना है। जिसने शरीर, मन व मस्तिष्क तीनों के ही स्वास्थ्य का साधन किया है, वही 'परम-पशु' है। ५. इन्हीं साधनाओं को निर्विघ्नता से कर सकने के लिए मैं **सहस्रपोषम्**=उतने धन को जो हजारों का पोषण करनेवाला है **पुषेयम्**=प्राप्त करनेवाला बनूँ। मैं धन के दृष्टिकोण से निश्चिन्त होऊँ, परन्तु धन का ही दास न बन जाऊँ। मेरा धन शतशः लोगों का पोषण करनेवाला हो।

भावार्थ—मैं 'शुक्र-चन्द्र-अमृत' बनूँ। तपस्वी व लोकहित करनेवाला बनूँ। सहस्रों का पोषण करनेवाले धन को प्राप्त करूँ।

ऋषिः—वत्सः। **देवता**—विद्वान्। **छन्दः**—भुरिग्ब्राह्मीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

सात बातें (Seven Points)

मित्रो नऽएहि सुमित्रधऽइन्द्रस्योरुमाविश दक्षिणमुशन्नुशन्तꣳस्योनः स्योनम्। स्वान भ्राजाङ्घारे बम्भारे हस्त सुहस्त कृशानवेते वः सोमक्रयणास्तान्रक्षध्वं मा वो दभन्॥२७॥

१. उपासक की ही प्रार्थना का प्रसङ्ग चल रहा है। उपासक कहता है कि हे **सुमित्रध** (सु-मित्र-ध)=उत्तम स्नेह करनेवालों के धारक प्रभो! **मित्रः**=सब पापों से बचानेवाले आप (प्रमीतेः त्रायते) **नः**=हमें **एहि**=प्राप्त होओ। ... में पापों के मूल में स्नेह का न होना और द्वेष का होना ही है। मनुष्य द्वेषवृत्ति से ऊपर उठता है तो पाप से भी ऊपर

उठ जाता है, परन्तु यह सब प्रभुकृपा से ही होता है। २. हे प्रभो! आप **उशन्**=सबका भला चाहनेवाले हैं, **स्योनः**=सुखस्वरूप हैं। आप **इन्द्रस्य**=इन्द्रियों के अधिष्ठता जितेन्द्रिय पुरुष के **उरुम्**=विशाल हृदयान्तरिक्ष में, जोकि **दक्षिणम्**=(दक्षतेः उत्साहकर्मणः) उत्साह से परिपूर्ण है, **उशन्तम्**=सभी का भला चाहनेवाला है, **स्योनम्**=आनन्दमय है, जो सब प्रकार के विषादों से ऊपर उठ चुका है; उस हृदय में **आविश**=प्रवेश कीजिए। यदि हम प्रभु को प्राप्त करना चाहते हैं तो हम हृदय में (क) उत्साह को धारण करें (ख) सब का भला चाहें (ग) और मनःप्रसादरूप तप को सिद्ध करें।

उपासक की प्रार्थना का उत्तर देते हुए प्रभु कहते हैं कि ३. (क) **स्वान** (सु+आन)= उत्तम प्राणशक्ति को धारण करनेवाले (अन प्राणने), (ख) **भ्राज**=ज्ञान से दीप्त (भ्राजृ दीप्तौ), (ग) **अङ्घारे**=पाप के शत्रु, अर्थात् नाशक (घ) **बम्भारे** (बन्धानां सुविचारनिरोधकानां शत्रुः—द०) ज्ञान के प्रतिबन्धक आलस्यादि दोषों को दूर करनेवाले (ङ) **हस्त**=(हस्) सदा हास्ययुक्त मुखवाले (Smiling face) (च) **सुहस्त**=सधे हुए हाथोंवाले, अर्थात् कार्यों को कुशलता से करनेवाले—प्रत्येक क्रिया को कलापूर्ण ढङ्ग से करनेवाले (छ) **कृशानो**=(कृशान् आनयति) दुर्बलों के अन्दर प्राणों का सञ्चार करनेवाले अथवा (दुष्टान् कृशति—द०) दुष्टों को कृश करनेवाले **वः**=तुम्हारी **एते**=ये सात बातें **सोमक्रयणाः**=सर्वज्ञ प्रभु को खरीदनेवाली हैं। इन सात बातों को अपने जीवन में लाकर ही तुम प्रभु को अपना सकते हो। इन्हीं सात बातों को सात रत्न समझना। ये सात बातें ही तुम्हें सप्तर्षि बनानेवाली होंगी। बस, **तान् रक्षध्वम्**=इनकी रक्षा करना, जिससे संसार के प्रलोभन **वः** =तुम्हें **मा**=मत **दभन्**=हिंसित करनेवाले हों। तुम इन बातों को अपनाओगे तो संसार के प्रलोभनों के विजेता बनोगे। इस विजय को वही करता है जो 'स्वान-भ्राज-अङ्घारि-बम्भारि-हस्त-सुहस्त व कृशानु' बनता है।

भावार्थ—हम 'उत्तम प्राणशक्तिवाले, ज्ञानदीप्त, पाप-शत्रु, ज्ञानप्रतिबन्धनिवर्तक, प्रसन्न, सिद्धहस्त व निर्बलों को उत्साहित करनेवाले और दुष्टों को कृश करनेवाले बनें।

ऋषिः—वत्सः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—साम्नीबृहती [क], साम्न्युष्णिक् [र]। **स्वरः**—मध्यमः [क], ऋषभः॥

उदायुः-स्वायुः

[क]परि॑ माग्ने दुश्च॑रिताद् बाधस्वा मा सुच॑रिते भज।

[र]उदायु॑षा स्वा॒युषोद॑स्थाममृताँ२॥ऽअनु॥ २८॥

१. पिछले मन्त्र में कही गई सात बातों को सुनकर उपासक प्रभु से कहता है कि यह सब आपकी कृपा से ही होगा। हे **अग्ने**=मेरे सारे पापों का दहन करनेवाले प्रभो! आप अग्निरूप हैं। अग्नि में पड़कर जैसे सब मलों के भस्म हो जाने से सोना शुद्ध होकर चमक उठता है, इसी प्रकार आपमें पड़कर ही तो मैं निष्पाप बनकर चमक सकूँगा। आप **मा**=मुझे **दुश्चरितात्**=सब दुराचारों व दुर्वृत्तियों से **परिबाधस्व**=रोकिए। ये दुर्वृत्तियाँ मुझसे दूर रहें। आप **मा**=मुझे **सुचरिते**=उत्तम चरित्र में **आभज**=भागी बनाइए। आपकी कृपा से मैं उत्तम बातों का ही सेवन करनेवाला बनूँ—दुराचार से दूर, सदाचार के समीप। २. **उदायुषा** =(उत्=out उद् इ=outlive) सब रोगों को पार करते हुए दीर्घजीवन से तथा **स्वायुषा**=उत्तम दिव्य (सु) जीवन से मैं **उद् अस्थाम्**=इन दीर्घ व दिव्य जीवनवालों की श्रेणी में ऊपर ठहरूँ। दुराचार से दूर व सदाचार के समीप होकर मनुष्य दीर्घ व दिव्य जीवन को प्राप्त करता

है। मन्त्र में शब्दक्रम के द्वारा यह कार्यकारणभाव स्पष्ट है। निष्पापता से ही दीर्घजीवन मिलता है। ३. **अमृतान् अनु**=मैं सांसारिक प्रलोभनों के पीछे न मरनेवाले देवों के पीछे ही चलनेवाला होऊँ।

भावार्थ—प्रभुकृपा से मेरा जीवन दुराचार से दूर व सदाचार के समीप होकर दीर्घ व दिव्य बने।

ऋषिः—वत्सः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्घ्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

रास्ता=द्वेष-त्याग

प्रति पन्थामपद्महि स्वस्तिगामनेहसम्।
येन विश्वाः परि द्विषो वृणक्ति विन्दते वसु॥२९॥

पिछले मन्त्र की प्रार्थना थी कि हम 'दुराचार से दूर और सदाचार के समीप हों'। वही प्रार्थना शब्द परिवर्तन के साथ पुनः की जाती है कि **पन्थाम्**=सन्मार्ग को **प्रति अपद्महि**=प्राप्त हों। सदा मार्ग पर ही चलें, मार्ग से कभी भटकें नहीं। स्तुति-निन्दा, लाभ-हानि व जीवन-मरण भी हमें मार्ग से भटकानेवाले न हों। २. हम उस मार्ग को प्राप्त हों जो **स्वस्तिगाम्**=कल्याण की ओर ले-जानेवाला है, हमारे जीवन की स्थिति को उत्तम करनेवाला है (सु+अस्ति)और **अनेहसम्**=एहस् 'पाप' से शून्य है। वस्तुतः कल्याण का मार्ग वही है जो पापशून्य है। दूसरा मार्ग तो थोड़ी-सी देर के लिए चमककर फिर अन्धकारमय हो जानेवाला है। ३. पापशून्य मार्ग वह है **येन**=जिससे जीव **विश्वाः**=सब **द्विषः**=द्वेष की भावनाओं को (द्वेषणं द्विट्) **परिवृणक्ति**=छोड़ देता है और **वसु**=निवास के लिए उत्तम धनों को **विन्दते**=प्राप्त करता है। द्वेष से शरीर में कुछ ऐसे विष पैदा हो जाते हैं जिनसे दीर्घ जीवन की प्राप्ति सम्भव नहीं रहती। द्वेष मन को सदा मलिन किये रहता है, उससे मन में प्रसाद व उल्लास का अभाव हो जाता है जो आयुष्य के लिए बड़ा घातक होता है।

भावार्थ—हम निर्द्वेषता व प्रेम के कल्याणकर, पापशून्य मार्ग पर चलनेवाले बनें।

ऋषिः—वत्सः। **देवता**—वरुणः। **छन्दः**—स्वराड्याजुषीत्रिष्टुप्[क], आर्षीत्रिष्टुप्[र]। **स्वरः**—धैवतः॥

वरुण के व्रत

[क]अदित्यास्त्वगस्यदित्यै सदऽआसीद।
[र]अस्तभ्नाद् द्यां वृषभोऽअन्तरिक्षममिमीत वरिमाणम्पृथिव्याः।
आसीदद्विश्वा भुवनानि सम्राड् विश्वेत्तानि वरुणस्य व्रतानि॥३०॥

१. गत मन्त्र का निर्द्वेषता व प्रेम के मार्ग पर चलनेवाला 'वत्स' सचमुच वसुओं को प्राप्त करता है। प्रभु उससे कहते हैं कि तू तो **अदित्याः**=अखण्डन की देवता=दिव्य गुणों की निर्मात्री अदिति का **त्वक् असि**=स्पर्श करनेवाला है या उसके संवरणवाला है, अर्थात् तूने अदिति को प्राप्त किया है। यह अदिति अखण्डन की देवता है, तेरा शरीर जहाँ रोगों से खण्डित नहीं होता वहाँ तेरा मन वासनाओं से दूषित नहीं होता। **अदित्यै**=इस अदीना देवमाता के लिए **सदः**=आसन (seat) बनकर **आसीद**=तू ठहर, विराजमान हो। तुझमें अदिति का प्रतिष्ठापन हो। तू अदिति का आधार हो। २. इस अदिति के प्रतिष्ठापन से तूने **द्याम्**=मस्तिष्करूप द्युलोक को **अस्तभ्नात्**=थामा है। यह अदिति तेरे द्युलोक को थामे। तू

वृषभः=पुरुषों में श्रेष्ठ हो। वृषभ बनकर **अन्तरिक्षम्**=हृदयान्तरिक्ष को **अस्तभ्नात्**=थाम तथा **पृथिव्याः**=इस पृथिवीरूप शरीर की **वरिमाणम्**=विशालता को **अमिमीत**=निर्मित कर, अर्थात् इस अदिति के द्वारा तेरा मस्तिष्क, हृदयान्तरिक्ष व शरीर सभी उत्तम बनें, तभी तो तू 'वृषभ'=श्रेष्ठ बनेगा। ३. इस प्रकार श्रेष्ठ बनकर तू **विश्वा भुवनानि**=सब लोकों को **सम्राट्**=ज्ञान-ज्योति से दीप्त करता हुआ **आसीदत्**=ठहर। अपनी उन्नति में ही सन्तुष्ट न होकर तू सब लोकों के हित में प्रवृत्त हो और सर्वत्र ज्ञान का प्रसार करने का प्रयत्न कर। ४. **विश्व इत् तानि**=बस, ये सभी सचमुच **वरुणस्य व्रतानि**=वरुण के व्रत हैं। इन व्रतों के पालन से ही मनुष्य वरुण=श्रेष्ठ बनकर उस वरुण=परमात्मा को पानेवाला बनता है।

भावार्थ—१. हम अदिति के अधिष्ठान बनें, २. मस्तिष्क, हृदय व शरीर को स्वस्थ बनाएँ। ३. सब लोकों में ज्ञान का प्रसार करनेवाले बनें। ४. यही मार्ग है वरुण बनने का व प्रभु को प्राप्त करने का।

ऋषिः—वत्सः। **देवता**—वरुणः। **छन्दः**—विराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

वरुण की महिमा

वनेषु व्यन्तरिक्षं ततान वाजमर्वत्सु पयऽउस्त्रियासु।
हृत्सु क्रतुं वरुणो विक्ष्वग्निं दिवि सूर्यमदधात् सोममद्रौ॥३१॥

१. वरुण प्रभु ने **वनेषु**=वनों में **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष का **विततान**=विशेषरूप से विस्तार किया है। नगरों व ग्रामों में क्षितिज छोटा हो जाता है, क्योंकि वहाँ मकान आदि दृष्टि की रुकावट के कारण बन जाते हैं। २. उसी वरुण ने **अर्वत्सु**=घोड़ों में **वाजम्**=शक्ति को विस्तृत किया है। घोड़ा शक्ति का प्रतीक है। 'Horse power' यह शब्द ही घोड़े के साथ शक्ति के सम्बन्ध का प्रतिपादन करता है। वह घोड़ा घोड़ा क्या जो मरियल-सा हो। ३. वरुण ने **उस्त्रियासु**=गौवों में **पयः**=दूध को **वि अदधात्**=विशेषरूप से रक्खा है। दूध न देनेवाली गौ गौ ही नहीं। ४. इस वरुण ने **हृत्सु**=हृदयों में **क्रतुम्**=कर्मसंकल्प की स्थापना की है। कर्मसंकल्पशून्य हृदय ऐसा ही है जैसाकि शक्तिशून्य घोड़ा अथवा दूध से रहित गौ। ५. उस **वरुणः**=वरुण ने **विक्षु**=प्रजाओं में **अग्निम्**=मलों को दूर करने की साधनभूत अग्नि की स्थापना की है। प्रजाओं को चाहिए कि इस यज्ञाग्नि को वे अपने घरों में कभी बुझने न दें। ६. **दिवि सूर्यम् अदधात्**=उस वरुण ने द्युलोक में सूर्य को स्थापित किया है और **अद्रौ**=पर्वत पर **सोमम्**=सोम को। ओषधियों का राजा सोम है। सूर्य से इन ओषधियों में प्राणशक्ति की स्थापना होती है।

भावार्थ—हमें अपने हृदयों में कर्मसंकल्प धारण करना चाहिए। कर्मसंकल्प-शून्य हृदय ऐसा ही है जैसाकि संकुचित अन्तरिक्षवाला वन, शक्तिशून्य घोड़ा अथवा दूधरहित गाय, यज्ञाग्नि से रहित गृहस्थ, सूर्यशून्य द्युलोक और ओषधियों से शून्य पर्वत।

ऋषिः—वत्सः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

सूर्यादि के प्रकाशक

सूर्यस्य चक्षुरारोहाग्नेरक्ष्णः कनीनकम्।
यत्रैतशेभिरीयसे भ्राजमानो विपश्चिता॥३२॥

प्रभु सूर्यादि सब देवों के प्रकाशक हैं। **सूर्यस्य**=सूर्य के **चक्षुः**=प्रकाशक प्रभु को, **अग्नेः (चक्षुः)**=इस पृथिवीस्थ देव अग्नि के भी प्रकाशक उस प्रभु को तथा जो **अक्ष्णः**=आँख की **कनीनकम्**=पुतली के स्थानापन्न हैं, उस प्रभु को **आरोह**=तू प्राप्त हो। जैसे योगारूढ़ बनने का अभिप्राय है योगमार्ग को प्राप्त करना, इसी प्रकार प्रभु को आरुढ़ होने का अभिप्राय है कि तू प्रभु को प्राप्त हो। मानव-जीवन का यही लक्ष्य है कि हम इस प्राकृतिक संसार में प्रभु की महिमा को देखते हुए प्रभु तक पहुँचने का प्रयत्न करें। वे प्रभु ही सूर्य को प्रकाश दे रहे हैं—अग्नि में उन्होंने ही दाहक शक्ति को रक्खा है और आँख को भी रोशनी देनेवाले वे प्रभु ही हैं। इस प्रकार प्रत्येक प्रकाशमय पदार्थ में प्रभु की महिमा का दर्शन होता है।

पिछले मन्त्र में 'हृदय में कर्मसङ्कल्प के धारण' का उल्लेख था। हमारे हृदयों में प्रभु-प्राप्ति का सङ्कल्प हो। प्रस्तुत मन्त्र में प्रार्थना करते हैं कि हमारा हृदय वह है **यत्र**=जहाँ **भ्राजमानः**=देदीप्यमान वे प्रभु विराजते हैं और **विपश्चिता**=(वि पश् चित्) इन सूर्यादि पिण्डों को सूक्ष्मता से देखकर चिन्तन करनेवाले पुरुष से **एतशेभिः** =इन इन्द्रियरूप घोड़ों के द्वारा **ईयसे**=आप प्राप्त किये जाते हो। हम अपने हृदयों में प्रभु का दर्शन करें। यह दर्शन तभी होगा जब हम सूर्यादि पिण्डों में उस प्रभु की महिमा को देखनेवाले बनेंगे। इस सृष्टि-रचना को सूक्ष्मता से देखकर चिन्तन करनेवाला पुरुष हृदयस्थ प्रभु का अवश्य दर्शन करता है। वे प्रभु भ्राजमान हैं, उनकी भ्राजमानता ही इन सूर्यादि देवों को भी भ्राजमान कर रही है। **'तेन देवा देवतामग्र आयन्'** उस प्रभु से ही ये सब देव देवत्व को प्राप्त होते हैं। मैं भी प्रभु के सम्पर्क में आकर देव बनूँगा।

भावार्थ—वे प्रभु सूर्यादि देवों के प्रकाशक हैं। सूक्ष्म दृष्टिवाला पुरुष प्रत्येक पिण्ड में प्रभु का दर्शन करता है।

ऋषिः—वत्सः। **देवता**—सूर्यविद्वांसौ। **छन्दः**—निचृदार्षीगायत्री [क], याजुषीजगती [र]। **स्वरः**—षड्जः [क], निषादः [र]॥

यजमान का घर

[क]उस्त्रावेतं धूर्षाहौ युज्येथामनश्रूऽअवीरहणौ ब्रह्मचोदनौ।
[र]स्वस्ति यजमानस्य गृहान् गच्छतम्॥३३॥

प्रभु की उपासना करनेवाले पति-पत्नी कैसे बनते हैं—

१. **उस्त्रौ**=(उस्रा=रश्मि—नि० १।५) ये ज्ञान की रश्मियोंवाले होते हैं। नैत्यिक स्वाध्याय के कारण इनकी ज्ञानाग्नि सदा प्रकाशित रहती है। २. **धूर्षाहौ**=(धुरं सहेते) गृहस्थ के बोझ को उठाने में ये सदा समर्थ होते हैं। प्रभु की उपासना इन्हें शक्ति देती है और ये गृहस्थ के कार्यभार का सुन्दरता से वहन करते हुए घर को स्वर्ग बनाने का यत्न करते हैं। ३. **अनश्रू**=(अश्रुरहितौ सोत्साहौ) ये संसार-यात्रा में आनेवाले विघ्नों से घबरा नहीं जाते। कितने भी विघ्न आएँ ये रोने-धोने नहीं लगते, अपितु अपने उत्साह को स्थिर रखते हुए ये आगे और आगे बढ़ते हैं। भाग्य का रोना रोने नहीं बैठ जाते। ४. **अवीरहणौ**=अपने घर में वे यज्ञाग्नि को कभी बुझने नहीं देते। यज्ञाग्नि को बुझने देनेवाला 'वीरहा' है। ये दोनों अवीरहा बनते हैं। ५. **ब्रह्मचोदनौ** (ब्रह्म=वेद)=ये वेद से प्रेरणा लेनेवाले बनते हैं। श्रुति को परम प्रमाण मानते हुए ये अपनी जीवन-यात्रा के लिए वहीं से प्रेरणा प्राप्त करते हैं।

६. ऐसे तुम दोनों **एतम्**=इस गृहस्थ-शकट में **युज्येथाम्**=जुत जाओ। इन गुणों से

युक्त पति-पत्नी गृहस्थ में प्रवेश करेंगे तो **स्वस्ति**=उनका कल्याण अवश्य होगा ही। **यजमानस्य**=यज्ञशील के **गृहान् गच्छतम्**=घर को तुम प्राप्त होओ, अर्थात् तुम्हारा घर ऐसा बने जहाँ यज्ञ करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए स्वाभाविक बन गया हो। यज्ञ के बिना उस घर के लोग रह ही न सकते हों।

भावार्थ—पति-पत्नी ज्ञानरश्मियोंवाले, कार्यभार को उठाने में सक्षम, न रोनेवाले, यज्ञाग्नि को न बुझने दनेवाले तथा श्रुति से प्रेरणा प्राप्त करनेवाले हों। उनका घर 'यजमान=यज्ञशील' का घर हो।

ऋषिः—वत्सः। **देवता**—यजमानः। **छन्दः**—भुरिगार्चीगायत्री[क], भुरिगार्चीबृहती[२] विराडार्च्यनुष्टुप्[३]। **स्वरः**—षड्जः[क], मध्यमः[२],गान्धारः[३]॥

संस्कृत-घर

[क]**भद्रो मेऽसि प्रच्यवस्व भुवस्पते विश्वान्यभि धामानि।**
[२]**मा त्वा परिपरिणो विदन्मा त्वा परिपन्थिनो विदन्मा त्वा वृकाऽअघायवो विदन्।**
[३]**श्येनो भूत्वा परापत यजमानस्य गृहान् गच्छ तन्नौ सँस्कृतम्॥३४॥**

पति-पत्नी अलग-अलग प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि—१. **भद्रः मे असि**=मेरे लिए आप कल्याण व सुख को देनेवाले हैं। इहलौकिक दृष्टिकोण से आप मेरे जीवन को सुखी बनाते हैं तो पारलौकिक दृष्टिकोण से आप ही मेरा कल्याण करते हैं। २. हे **भुवस्पते**=हे सब भुवनों व भूतों के रक्षक अथवा ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! **विश्वानि धामानि**=सब तेजों को **मा अभि प्रच्यवस्व**=मेरे प्रति प्राप्त कराइए (धाम Light, lustre, power, strength)। आपकी कृपा से मैं ज्ञान की दीप्तियों को प्राप्त करूँ तथा शक्तिशाली बनूँ। ३. हे प्रभो! **त्वा**=आपको (क) **परिपरिणः**=इधर-उधर घूमकर लूटनेवाले लोग (सर्वतः सञ्चरन्तस्तस्करविशेषाः)। **मा विदन्**=मत प्राप्त करें और इसी प्रकार (ख) **परिपन्थिनः**=(यागादीनां प्रतिषेधकाः शत्रवः) यागादि उत्तम कर्मों में विघ्न डालनेवाले लोग **त्वा**=आपको **मा विदन्**=मत प्राप्त हों। (ग) **वृकाः**=(वृक आदाने) लेने ही लेनेवाले, जिन्होंने देना सीखा ही नहीं, ऐसे लोभी लोग तथा (घ) **अघायवः**=(परस्याघं कर्तुमिच्छन्ति) दूसरे का सदा बुरा करने की कामनावाले लोग **त्वा**=आपको **मा विदन्**=मत प्राप्त हों। दूसरे शब्दों में मैं 'परिपरी-परिपन्थी-वृक व अघायु' न बनूँ। इन सब वृत्तियों से ऊपर उठकर मैं आपको पानेवाला बनूँ। ४. हे प्रभो! आप तो **श्येनो भूत्वा**=श्येनवत् शीघ्रगामी होकर **परापत**=सुदूर स्थान से भी मुझे प्राप्त होओ। मैं आपसे कितना भी दूर होऊँ, अब तो मेरी यही कामना है कि मैं शीघ्र-से-शीघ्र आपको प्राप्त करनेवाला बनूँ। वस्तुतः मैं स्वयं **श्येन**=क्रियाशील बनूँगा तभी आपको प्राप्त कर पाऊँगा। ५. हे प्रभो! **यजमानस्य गृहान् गच्छ**=मुझ यज्ञशील के घर को प्राप्त होओ। 'मैं गतिशील बना हूँ—मेरी गति यज्ञों में परिणत हुई है।' इस यजुर्वेद के प्रारम्भ में आपने यही प्रेरणा दी थी कि तुम गतिशील हो और सदा उत्तम कर्मों में प्रेरित होते रहो। **तत्**=वह **नौ**=हमारा घर **संस्कृतम्**=संस्कृत हुआ है, शुद्ध बनाया गया है। हमने इसे इसीलिए तो पवित्र बनाने का प्रयत्न किया है कि हम आपको प्राप्त कर सकें। इस घर में हम आपका आतिथ्य कर पाएँ।

भावार्थ—हम प्रभु से सब ज्ञानादि तेजों को प्राप्त करके 'परिपरी-परिपन्थी-वृक व अघायु' बनने से बचें। क्रियाशील व यजमान बनकर प्रभु के स्वागत के लिए अपने

घर को संस्कृत कर लें।

ऋषिः—वत्सः। देवता—सूर्यः। छन्दः—निचृदार्षीजगती। स्वरः—निषादः॥

सूर्य का शंसन

नमो॑ मि॒त्रस्य॒ वरु॑णस्य॒ चक्ष॑से म॒हो दे॒वाय॒ तदृ॒तꣳस॑पर्यत।
दू॒रे॒दृशे॑ दे॒वजा॑ताय के॒तवे॑ दि॒वस्पु॒त्राय॒ सूर्या॑य शꣳसत॥३५॥

१. प्रभु की उपासना करते हुए कहते हैं कि **मित्रस्य**=दिन के अभिमानी देव सूर्य के तथा **वरुणस्य**=रात्रि के अभिमानी देव चन्द्र के **चक्षसे**=प्रकाशक प्रभु के लिए **नमः**=नमस्कार हो। २. **तत्**=उस **महोदेवाय**=महान् देव के लिए **ऋतम्**=ऋत की **सपर्यत**=पूजा करो, अर्थात् उस प्रभु के उपासन के लिए आवश्यक है कि हम ऋत का पालन करें। ऋत का पालन ही देवों का व्रत है। यही व्रत हमें उस ऋत—अपने तीव्र तप से ऋत को जन्म देनेवाले प्रभु के समीप प्राप्त कराएगा। ३. ऋत का पालन करते हुए उस प्रभु के लिए **शंसत**=स्तुतिवचन कहो, जो (क) **दूरेदृशे**=दूर-से-दूर देखनेवाले हैं। उन प्रभु से भागकर कभी कोई अदृष्ट नहीं हो सकता। (ख) **देवजाताय**=(**देवाः जाताः यस्मात्**) सब देवों को वे प्रभु जन्म देनेवाले हैं। देवों का देवत्व उस प्रभु के ही कारण है **'तेन देवा देवतामग्र आयन्'**। (ग) **केतवे**=(विज्ञानघनानन्दस्वभावाय) प्रज्ञाधन और अतएव आनन्दस्वभाव हैं। (घ) **दिवस्पुत्राय**=(दिवः पुरुत्रायते—म०) ज्ञान के द्वारा खूब रक्षण करनेवाले हैं। ज्ञान के द्वारा वे हमें (पुनाति त्रायते) पवित्र करते और हमारा रक्षण करते हैं। (ङ) **सूर्याय**=सारे संसार को कर्मों में प्रेरित करनेवाले हैं। इस प्रकार प्रभु के शंसन का अभिप्राय यही है कि हम भी 'दूर-दृष्टि बनें, अपने में दिव्य गुणों का विकास करें, प्रकाशमय जीवनवाले हों, ज्ञान के द्वारा पवित्र बन आसुरवृत्तियों से अपना रक्षण करें और निरन्तर कर्मशील हों'।

भावार्थ—प्रभु की प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम नमनवाले हों (नमः), ऋत का पालन करें तथा प्रभु के गुणों का शंसन करें, जिससे हमारा ध्येय उन गुणों को प्राप्त करना हो।

ऋषिः—वत्सः। देवता—सूर्यः। छन्दः—विराड्ब्राह्मीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

ऋत का सदन

वरु॑णस्यो॒त्तम्भ॑नमसि॒ वरु॑णस्य स्कम्भ॒सर्ज॑नी स्थो॒ वरु॑णस्यऽऋ॒तसद॑न्यसि॒ वरु॑णस्यऽऋ॒त॒सद॑नमसि॒ वरु॑णस्यऽऋ॒त॒सद॑न॒मासी॑द॥३६॥

१. पिछले मन्त्र की भावना को ही आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि हे जीव! तू **वरुणस्य**=वरुण को **उत्तम्भनम् असि**=सबसे ऊपर थामनेवाला है। तू अपने जीवन में सबसे प्रमुख स्थान प्रभु को देता है। प्रभु ही तेरे 'परायण' हैं। २. हे पति-पत्नि! आप दोनों अपने जीवन में **वरुणस्य**=उस वरुण के **स्कम्भसर्जनी स्थः**=स्कम्भ को बनानेवाले हो। आपके जीवन-भवन का स्कम्भ (खम्बा) प्रभु ही है, अर्थात् प्रभु के आश्रय में ही आपका जीवन चलता है। ३. हे पत्नि! तू **वरुणस्य**=उस वरुण के **ऋतसदनी असि**=ऋत के सदनवाली है, अर्थात् तेरा जीवन वरुण का घर बनता है। तू ऋत का पालन करती है। 'ऋतं तपः'=यह ऋत ही सर्वप्रथम तप है। तेरे जीवन में प्रत्येक कार्य ठीक समय पर व ठीक स्थान पर होता है। ४. हे गृहपते! तू भी **वरुणस्य**=वरुण के **ऋतसदनम् असि**=ऋत

का सदन है। तेरे जीवन में प्रत्येक कर्म ठीक होता है। तेरे सब कार्य बड़ी नियमितता से चलते हैं। ५. हे जीव! तुझे चाहिए यही कि तू **वरुणस्य**=वरुण के **ऋतसदनम्**=ऋत के सदन में ही **आसीद**=बैठे। तेरा निवास उसी घर में हो जिसमें कि ऋत का निवास है, अर्थात् जिस घर में सब क्रियाएँ बड़ी व्यवस्था से चलती हैं। यह ऋतसदन में आसीन होनेवाला जीव ही प्रभु का 'वत्स' होता है।

भावार्थ—हमारे जीवन का सर्वोपरि आधार प्रभु है। हम उस प्रभु से प्रतिपादित ऋत का पालन करनेवाले हों। हम युक्तचेष्ट बनें, युक्तचेष्ट के लिए ही योग 'दुःखहा' होता है।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

यज्ञशीलता व सोम की रक्षा—दीप्ति व शक्ति

या ते धामा॑नि ह॒विषा॒ यज॑न्ति॒ ता ते॒ विश्वा॑ परि॒भूर॑स्तु य॒ज्ञम्।
ग॒य॒स्फानः॑ प्र॒तर॑णः सु॒वीरोऽवी॑रहा॒ प्र च॑रा सोम॒ दुर्या॑न्॥ ३७॥

१. गत मन्त्र की भावना के अनुसार 'ऋत का पालक' प्रभु का 'वत्स'=प्रिय होता है। इस ऋत के पालन से ही यह अपनी सब इन्द्रियों को बड़ा प्रशस्त बना पाता है और 'गोतम' कहलाता है। प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'गोतम' कहता है कि—हे प्रभो! **ते**=तेरी **या**=जिन **धामानि**=दीप्तियों (Lustre) व शक्तियों (power) को **हविषा**=दानपूर्वक अदन से **यजन्ति**=अपने साथ सङ्गत करते हैं (यज्=सङ्गतीकरण) **ता** =उन **ते**=तेरी **विश्वा**=सब दीप्तियों व शक्तियों को **यज्ञम्**=मेरे ये श्रेष्ठतम कर्म **परिभूः अस्तु**=व्याप्त करनेवाले हों, अर्थात् मैं यज्ञमय जीवन बिताता हुआ आपकी शक्तियों व दीप्तियों को प्राप्त करनेवाला बनूँ।

२. इन्हीं दीप्तियों व शक्तियों को प्राप्त करने के लिए यह 'गोतम' सोम से प्रार्थना करता है कि—(क) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू **गयस्फानः**=(गयाः प्राणाः, स्फाय् वृद्धौ) हमारी प्राणशक्ति की वृद्धि करनेवाली है। (ख) **प्रतरणः**=तेरे सुरक्षित होने पर हम सब रोगादि आपदाओं को तैरनेवाले होते हैं। (ग) **सुवीरः**=तेरा रक्षक उत्तम वीर बनता है। (घ) **अवीरहा**=हे सोम! तू वीरों को नष्ट न होने देनेवाला है। तू वीरों का परिपालक है। वीर तेरी रक्षा करते हैं तू वीरों की। ३. हे सोम! तू **दुर्यान्**=हमारे घरों में **प्रचर**=प्रकर्षेण प्राप्त होनेवाला हो। हम सोमशक्ति-सम्पन्न हों। सोमशक्ति की रक्षा से हम प्राणशक्ति की वृद्धि करनेवाले, विघ्नों को तैरनेवाले व वीर बनेंगे। वीर बनकर हम 'अवीरहा'=यज्ञाग्नि को नष्ट न होने देनेवाले होंगे। (वीरहा=यज्ञाग्नि को नष्ट करनेवाला)। यज्ञशील बनकर हम यज्ञरूप प्रभु के सच्चे उपासक होंगे। उस समय उस प्रभु की दिव्यता का हममें भी अवतरण होगा और हम प्रभु की दीप्ति व शक्ति से चमकेंगे।

भावार्थ—हम यज्ञों से प्रभु के धाम को प्राप्त करें। यज्ञशील हम सोम की रक्षा करके बनेंगे।

॥ इति चतुर्थोऽध्यायः सम्पूर्णः॥

पञ्चमोऽध्यायः

ऋषिः—गोतमः। देवता—विष्णुः। छन्दः—स्वराड्ब्राह्मीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

गोतम का समर्पण

अ॒ग्नेस्त॒नूर॑सि॒ विष्ण॑वे त्वा॒ सोम॑स्य त॒नूर॑सि॒ विष्ण॑वे॒ त्वाऽति॑थेराति॒थ्यम॑सि॒ विष्ण॑वे त्वा श्ये॒नाय॑ त्वा सोम॒भृते॒ विष्ण॑वे त्वा॒ऽग्नये॑ त्वा रायस्पोष॒दे विष्ण॑वे त्वा॥१॥

'गोतम' चतुर्थ अध्याय के अन्तिम मन्त्र का ऋषि था। प्रस्तुत अध्याय के प्रारम्भिक १४ मन्त्रों का ऋषि भी यही है। यह प्रभु से कहता है कि १. हे प्रभो! आप **अग्नेः**=अग्नि के **तनूः**=विस्तार करनेवाले **असि**=हैं। मेरे जीवन में अग्नि=उत्साह का सञ्चार करनेवाले आप ही हैं। इसीलिए **त्वा विष्णवे**=तुझ व्यापक प्रभु के लिए मैं अपने को अर्पित करता हूँ। २. **सोमस्य तनूः असि**=मुझमें सोमशक्ति का विस्तार करनेवाले आप हैं, अतः **विष्णवे त्वा**=तुझ व्यापक प्रभु के लिए मैं अपने को अर्पित करता हूँ। ३. **अतिथेः**=आपकी ओर निरन्तर चलनेवाले उपासक के **आतिथ्यम् असि**=आप शरीरबद्ध आतिथ्य हैं। आप स्वयं ही उसे प्राप्त हो जाते हैं, अतः **त्वा विष्णवे**=तुझ व्यापक प्रभु के लिए मैं अपने को अर्पित करता हूँ। ४. **श्येनाय त्वा**=तुझ (श्यैङ् गतौ) गतिवाले के लिए, **त्वा सोमभृते**=निरन्तर गतिशीलता के द्वारा सोम का भरण करनेवाले तेरे लिए और **त्वा विष्णवे**=तुझ व्यापक प्रभु के लिए मैं अपने को अर्पित करता हूँ। ५. **अग्नये त्वा**=(अगि गतौ) सबको अग्रगति देनेवाले और इस अग्रगति के साधनरूप में ही **रायस्पोषदे**=धन का पोषण प्राप्त करानेवाले **त्वा विष्णवे**=तुझ व्यापक परमात्मा के लिए मैं अपने को अर्पित करता हूँ। ६. ऊपर मन्त्रार्थ में यह बात स्पष्ट है कि हृदय में भी व्याप्त उस प्रभु के प्रति आत्मार्पण करने से ही हमारा जीवन (क) अग्नितत्त्वप्रधान=उत्साहमय (ख) सोम=वीर्यशक्ति का विस्तार करनेवाला (ग) प्रभु के प्रति निरन्तर चलनेवाला (घ) गतिशील (ङ) शक्तिमय और अन्त में सांसारिक उन्नति के लिए आवश्यक धन को प्राप्त करनेवाला होगा।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम उत्साहमय, शक्तिशाली, प्रभुप्रवण, कर्मनिष्ठ व श्रीसम्पन्न हों।

ऋषिः—गोतमः। देवता—विष्णुर्यज्ञः। छन्दः—आर्षीगायत्री[क], आर्चीत्रिष्टुप्[र]। स्वरः—षड्जः[क], धैवतः[र]॥

प्रभु की गोतम को प्रेरणा

[क] अ॒ग्नेर्ज॒नित्र॑मसि॒ वृष॑णौ स्थऽउ॒र्वश्य॑स्या॒युर॑सि पु॒रूर॑वाऽअसि।
[र] गा॒य॒त्रेण॑ त्वा॒ छन्द॑सा मन्थामि॒ त्रैष्टु॑भेन त्वा॒ छन्द॑सा मन्थामि॒
जाग॑तेन त्वा॒ छन्द॑सा मन्थामि॥२॥

१. प्रभु आत्मार्पण करनेवाले गोतम को प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि **अग्नेः जनित्रम् असि**=तू अपने में अग्नि का उत्पन्न करनेवाला है—अर्थात् तेरा जीवन उत्साहमय और अतएव अग्रगतिवाला है। २. घर में पति-पत्नी तुम दोनों ही **वृषणौ स्थः**=शक्तिशाली होओ। पिछले मन्त्र में 'अग्नेः तनूः असि' के बाद 'सोमस्य तनूः असि' यह क्रम था। प्रस्तुत मन्त्र में भी अग्नि के बाद शक्ति का उल्लेख हुआ है। सोम की रक्षा करके ही ये वृषन्=

शक्तिशाली बनते हैं। ३. हे पत्नि! तू **उर्वशी असि**=(उरुवशी) अपने पर खूब ही नियन्त्रण रखनेवाली है। **आयुः असि**=मन को वश में रखने के लिए ही (इ=गतौ) निरन्तर गतिशील है और **पुरुरवा असि**=खूब ही प्रभु के गुणों का गान (रु शब्दे) करनेवाली है, अथवा (पृ पालनपूरणयोः) उस प्रभु का गुणगान करनेवाली है जो पालन व पूरण करनेवाला है, जिस गुणगान से जीवन में वासनाओं का आक्रमण नहीं होता और न्यूनताओं का सदा दूरीकरण होता रहता है। ४. **त्वा**=तुझे **गायत्रेण छन्दसा**=गायत्र छन्द से (गयाः प्राणाः, त्र=रक्षण, छन्द=इच्छा) प्राणशक्ति के रक्षण की इच्छा से **मन्थामि**=आलोडित करता हूँ। तेरा हृदय-सरोवर इस प्राणशक्ति के रक्षण की इच्छा से आलोडित हो उठता है, अर्थात् मैं तेरे हृदय में प्राणशक्ति-रक्षण की प्रबल भावना को पैदा करता हूँ। ५. **त्वा**=तुझे **त्रैष्टुभेन छन्दसा**=त्रैष्टुभ छन्द से (त्रि स्तुभ) काम-क्रोध व लोभ को रोकने की भावना से **मन्थामि**=आलोडित करता हूँ। तेरे हृदय में इन तीनों को रोकने की प्रबल भावना को जन्म देता हूँ। ६. **त्वा**=तुझे **जागतेन छन्दसा**=जागत छन्द से **मन्थामि**=आलोडित करता हूँ। तेरे अन्दर जगती के हित की प्रबल भावना को उत्पन्न करता हूँ।

भावार्थ—हम अपने को उत्साहमय व शक्तिशाली बनाएँ। प्राणशक्ति की वृद्धि करें, काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठें और लोकहित में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—आर्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

पति-पत्नी कैसे बनें?

भवतं नः समनसौ सचेतसावरेपसौ।
मा यज्ञꣳहिꣳसिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः॥३॥

१. प्रभु कहते हैं कि **नः**=मेरी प्राप्ति के लिए **समनसौ**=समान मनवाले **भवतम्**=होओ। जो पति-पत्नी परस्पर विरुद्ध मनवाले होते हैं उनके जीवन में प्रतिक्षण अशान्ति चलती है, और इस अशान्त अवस्था में उन्होंने प्रभु को क्या प्राप्त करना? २. **सचेतसौ**=तुम समान संज्ञानवाले बनो। प्रभु को प्राप्त करने के इच्छुक पति-पत्नी को चाहिए कि वे नैत्यिक स्वाध्याय से अपनी ज्ञानाग्नि को दीप्त रक्खें और संज्ञानवाले हों। दोनों समान मनवाले हों—दोनों की इच्छा ज्ञान-प्राप्ति की हो। ज्ञान प्राप्त करके ३. **अरेपसौ**=आप दोनों निर्दोष **भवतम्**=होओ। (रेपस्=Sin) ज्ञान के समान पवित्र करनेवाला कुछ है ही नहीं। यह ज्ञान तुम्हारे सब दोषों को भस्म करनेवाला हो। इस प्रकार निर्दोष बनकर ४. **यज्ञं मा हिंसिष्टम्**=अपने जीवन में यज्ञ को हिंसित मत होने दो। आपका जीवन निरन्तर यज्ञमय हो। सौ-के-सौ वर्ष क्रतु (यज्ञ)-मय बिताकर 'शतक्रतु' बनने का प्रयत्न करो। ५. इस निरन्तर यज्ञशीलता से **यज्ञपतिम्**=उस यज्ञों के पति (रक्षक) प्रभु को **मा हिंसिष्टम्**=मत हिंसित करो। उसे भूल न जाओ। उसे भूलकर तो तुम अपने को ही 'यज्ञपति' समझने लगोगे। तुम्हें इन यज्ञों के कर्त्तव्य का गर्व हो जाएगा, और यह गर्व उन यज्ञों को आसुर यज्ञ बना देगा। ६. इन यज्ञों के लिए तुम **जातवेदसौ**=(वेदस्=Wealth) उत्पन्न धनवाले बनो, अर्थात् यज्ञों के निष्पादन के लिए आवश्यक सम्पत्ति का सम्पादन करनेवाले बनो। ७. उस सम्पत्ति से तुम **शिवौ**=सबका कल्याण करनेवाले बनो। तुम्हारा यह धन भूखे को रोटी देनेवाला व प्यासे को पानी पिलानेवाला हो। यह धन यज्ञों में विनियुक्त होकर सभी का हित-साधन करे। इस प्रकार के बनकर **अद्य**=आज ही **नः भवतम्**=तुम हमारे हो जाओ। प्रभु-गृह्य बन जाओ।

भावार्थ—प्रभुप्रवण लोग 'समान मनवाले, संज्ञानवाले, निर्दोष, यज्ञशील, यज्ञों का गर्व न करनेवाले, धनसम्पादक व कल्याणकर' होते हैं।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

अग्नि-प्रवेश

अग्नावग्निश्चरति प्रविष्टऽऋषीणां पुत्रोऽअभिशस्तिपावा। स नः स्योनः सुयजा यजेह देवेभ्यो हव्यꣳसदमप्रयुच्छन्त्स्वाहा॥४॥

पिछले मन्त्र में 'नः भवतम्' शब्दों में 'प्रभु का बनने' का उल्लेख था। यह प्रभु का बननेवाला व्यक्ति १. **अग्नौ प्रविष्टः**=उस अग्रेणी प्रकाशमय प्रभु में प्रविष्ट हुआ-हुआ **अग्निः**=स्वयं भी अग्नि-सा बना हुआ **चरति**=अपनी क्रियाओं को करता है। प्रभु 'अग्नि' हैं। यह भक्त भी प्रभु में प्रविष्ठ होकर अग्नि ही बन जाता है। अग्नि बनकर यह अपने कर्त्तव्य कर्मों को करता चलता है। २. यह तो अब **ऋषीणां पुत्रः**=(ऋषिर्वेदः) वेदों का पुत्र होता है। वेदमन्त्रों में दिये गये ज्ञान से अपने को पवित्र करता है (पुनाति) और रोगों व वासनाओं के आक्रमण से अपने को बचाता है (त्रायते)। ३. **अभिशस्तिपावा**=यह सब प्रकार की हिंसाओं से अपने को सुरक्षित रखता है। अहिंसा ही यम-नियमों में सर्वप्रथम है, सब यम-नियमों का यह केन्द्र है। ४. प्रभु कहते हैं कि **सः नः**=वह तू हमारा बना हुआ, प्रकृति के भोगों में न फँसकर प्रभुप्रवण बना हुआ **स्योनः** =सबको सुख देनेवाला **सुयजाः**=उत्तम यज्ञोंवाला **इह**=इस जीवन में **यज**=यज्ञशील बन। तुझमें 'देवपूजा, सङ्गतीकरण व दान' की वृत्ति हो। ५. **देवेभ्यः**=देवों के लिए **सदम्** =सदा **अप्रयुच्छन्**=किसी प्रकार का प्रमाद न करता हुआ **हव्यं स्वाहा**=सुहुत हवि को देनेवाला हो। गीता के शब्दों में **'तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः'**—देवताओं से प्राप्त इन सब भोग्य पदार्थों को देवों के लिए न देकर स्वयं ही खा जानेवाला चोर है, अतः नैत्यिक अग्निहोत्र के द्वारा 'देवयज्ञ' करके ही खाना उचित है।

भावार्थ—प्रभुभक्त अग्निरूप प्रभु में प्रवेश करके अग्नि-सा ही बन जाता है—'शुद्ध'। अब इसकी सब क्रियाएँ पवित्र यज्ञात्मक होती हैं।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—विद्युत्। **छन्दः**—आर्ष्युष्णिक्[क], भुरिगार्षीपङ्क्तिः[२]। **स्वरः**—ऋषभः[क], पञ्चमः[२]॥

अहिंसा-सत्य-स्थित

[क]**आपतये त्वा परिपतये गृह्णामि तनूनप्त्रे शाक्वराय शक्वनऽओजिष्ठाय। [२]अनाधृष्टमस्यनाधृष्यं देवानामोजोऽनभिशस्त्यभिशस्तिपाऽअनभिशस्तेन्यमञ्जसा सत्यमुपगेषꣳस्विते मा धाः॥५॥**

१. गत मन्त्र की भावना के अनुसार निरन्तर देवयज्ञ करनेवाला भक्त कहता है कि **आपतये**=सर्वत्र गतिवाले **परिपतये**=सर्वत्र व्याप्तिवाले **त्वा**=आपके लिए मैं इस देवयजन को **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ। 'आपति व परिपति' आपको प्राप्त कर सकूँ, इस उद्देश्य से ही मैं देवयज्ञ में प्रवृत्त होता हूँ। २. आपको प्राप्त करने के लिए जो आप **तनू-नप्त्रे**=मेरे शरीर को न गिरने देनेवाले हो। प्रभुप्रवण व्यक्ति भोगासक्त नहीं होता और परिणामतः भोगों का शिकार भी नहीं होता अथच पतित नहीं होता। ३. **शाक्वराय**=(शक्वरी=बहु, बाह

प्रयते) मैं उस प्रभु को प्राप्त करता हूँ जो शक्तिशाली हैं, सर्वत्र शक्तिशाली कर्म करनेवाले हैं **शक्वने**=सर्वशक्तिमान् हैं **ओजिष्ठाय**=अतिशयेन ओजस्वी हैं। प्रभुभक्त बनने पर मेरे कर्म भी शक्तिशाली होते हैं, मैं ओजस्वी बनता हूँ।

४. **अनाधृष्टम् असि**=हे प्रभो! आप कभी धर्षित होनेवाले नहीं—आप सदा अपराजित रहते हो। आपके उपासक **देवानाम्**=देवों का **ओजः**=बल भी **अनाधृष्टम्**=कभी हिंसित न होनेवाला और साथ ही **अनभिशस्ति**=हिंसा न करनेवाला होता है। देव शक्तिशाली होते हैं। शक्ति के कारण वे पराजित नहीं होते, परन्तु वे औरों की हिंसा भी नहीं करते। ५. हे प्रभो! आपकी कृपा से मैं **सत्यम्**=सत्य को **उपगेषम्**=प्राप्त होऊँ। उस सत्य को, जो **अनभिशस्तेन्यम्**=सब हिंसाओं से रहित है तथा **अञ्जसा**=कौटिल्यशून्य है, अर्थात् मैं सदा सरलभाव से सत्य को अपनानेवाला बनूँ—मेरा वह सत्य किसी की हिंसा का कारण न हो। ६. हे प्रभो! आप **मा**=मुझे **स्विते**=(सु इते) उत्तम आचरण में स्थापित करें। मेरे दुरित दूर हों—दुरितों से विपरीत स्वितों (दुर्+इत, सु+इत) को मैं अपनानेवाला बनूँ। यह ओज **अभिशस्तिपा**=हिंसा से रक्षा करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु का उपासक सत्यभाषण करता है—उसका सत्य किसी की हिंसा नहीं करता। यह सदा स्वित=उत्तम मार्ग पर चलता है।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराड्ब्राह्मीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

व्रत-पालन

अग्ने व्रतपास्त्वे व्रतपा या तव तनूरियꣳसा मयि यो मम तनूरेषा सा त्वयि सह नौ व्रतपते व्रतान्यनु मे दीक्षां दीक्षापतिर्मन्यतामनु तपस्तपस्पतिः॥६॥

१. हे **अग्ने**=आगे ले-चलनेवाले प्रभो! **व्रतपाः**=आप व्रतों के पालन करनेवाले हो। **त्वे**=तेरे उपासक भी **व्रतपाः**=व्रतों के पालने करनेवाले होते हैं, अर्थात् वे भी आपकी भाँति अपने व्रतों पर दृढ़ रहते हैं। वस्तुतः 'व्रतपा' बनकर ही ये 'व्रतपा' आपको प्राप्त करनेवाले होते हैं। २. उस समय 'उपासक भी व्रतपा आप भी व्रतपा' इस प्रकार दोनों एक-से हो जाते हो। **या तव तनूः**=जो तेरा स्वरूप है **इयं सा मयि**=वह मुझमें होता है **उ**=और **या**=जो (यो=या+उ) **मम तनूः**=मेरा शरीर है **सा त्वयि**=वह आपमें स्थित होता है। संक्षेप में कह सकते हैं कि 'मैं-तू और तू-मैं' हो जाता हूँ (**यदि वा घा स्याहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम्**) इस प्रकार हमारा अभेद हो जाता है। ३. अब हे **व्रतपते**=व्रतों के रक्षक प्रभो! **नौ**=हम दोनों के **व्रतानि सह**=व्रत साथ-साथ हों, अर्थात् मेरे व्रत वही हों जो आपके व्रत हैं। आपकी भाँति ही मैं 'मैत्री, करुणा, मुदिता व उपेक्षा' आदि वृत्तियों से युक्त होऊँ। ४. **दीक्षापतिः**=व्रत-संग्रहणों के रक्षक प्रभु **मे दीक्षाम्**=मुझे व्रतसंग्रहण के लिए **अनुमन्यताम्**=अनुमति दें, अर्थात् मेरा जीवन सदा व्रतसंग्रहणवाला हो और इन व्रतों के पालन के लिए **तपस्पतिः**=वे तप के पति प्रभु मुझे **तपः**=तप की **अनुमन्यताम्**=अनुमति दें, अर्थात् मेरा जीवन तपस्वी हो, जिससे मैं अपने व्रतों का पालने करनेवाला बनूँ। तपस्या का अभाव ही व्रतभङ्ग का कारण बनता है।

भावार्थ—प्रभु 'व्रतपा' हैं। मैं भी 'व्रतपा' बनूँ। व्रतपा बनकर ही मैं प्रभु का अभिन्न मित्र बनता हूँ। व्रतों के पालन के लिए मेरा जीवन तपस्वी हो।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—सोमः। **छन्दः**—आर्षीबृहती[क], आर्षीजगती[र]। **स्वरः**—मध्यमः[क], निषादः[र]॥

धन-मेधा-शक्ति

[क]अंशुरंशुष्टे देव सोमाप्यायतामिन्द्रायैकधनविदे। आ तुभ्यमिन्द्रः प्यायतामा त्वमिन्द्राय प्यायस्व। [र]आप्याययास्मान्त्सखीन्त्सन्न्या मेधया स्वस्ति ते देव सोम सुत्यामशीय। एष्टा रायः प्रेषे भगायऽऋतमृतवादिभ्यो नमो द्यावापृथिवीभ्याम्॥७॥

गत मन्त्र के व्रतपालन व तपस्या का आधार 'शरीर में सोम की रक्षा' है, अतः कहते हैं कि हे **देव सोम**=दिव्य गुणों के उत्पन्न करनेवाले सोम (वीर्यशक्ते)! **ते अंशुःअंशुः**=तेरा एक-एक कण **एकधनविदे**=ज्ञान-रूप मुख्य (एक) धन को प्राप्त करनेवाले **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **आप्यायताम्**=वर्धन का कारण बने (ओप्यायी वृद्धौ)। हे सोम! **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **तुभ्यं प्यायताम्**=तेरे लिए वृद्धि का कारण हो, **त्वम्**=तू **इन्द्राय प्यायस्व**=उस जितेन्द्रिय पुरुष की वृद्धि का कारण बन। रक्षा किया हुआ सोम रक्षा करनेवाले की वृद्धि का कारण बनता है। यह सोम हमें उस सोम=शान्त ब्रह्म का सखा बनाता है। इस सोम के द्वारा हम उस सोम को प्राप्त करते हैं।

२. हे **सोम**=शान्त परमात्मन्! **अस्मान् सखीन्**=हम मित्रों को **सन्न्या**=संभजनीय (सेवनीय) धन की प्राप्ति से **मेधया**=बुद्धि से **आप्यायय**=बढ़ाइए, जिससे **स्वस्ति**=हमारे जीवन की स्थिति उत्तम हो। इसी उत्तमता के लिए हे **देव सोम**=दिव्य गुणों के उत्पादक सोम! **ते सुत्याम्**=तेरे सवन को **अशीय**=मैं प्राप्त करूँ, अर्थात् मैं सोम को अपने में उत्पन्न करूँ (सुत्याम्) और उसे शरीर में ही व्याप्त करने का प्रयत्न करूँ (अशीय)।

३. **आ इष्टा रायः**=हमें इष्ट धन सर्वथा प्राप्त हों। **प्र इषे**=हम अन्न-प्राप्ति के लिए आगे बढ़ें। **भगाय** =हम ज्ञानादि ऐश्वर्यों के लिए निरन्तर बढ़ें। ४. **ऋतवादिभ्यः**=जो अपने जीवन से ऋत का कथन करते हैं, अर्थात् जिनका जीवन बड़ा नियमित है, उनसे **ऋतम्**=हम ऋत का ग्रहण करें। उनका अनुकरण करते हुए ऋत का पालन करनेवाले बनें।

५. **द्यावापृथिवीभ्यां नमः**=हम द्युलोक से पृथिवीलोक तक सभी के लिए नमस्कार करते हैं। सज्जनों को ही नहीं दुर्जनों को भी 'नमः' कहते हैं। **'दुर्जनं प्रथमं वन्दे सज्जनं तदनन्तरम्'** इस सूक्ति को हम भूलते नहीं। दुर्जन को विरोधी बनाना व्यर्थ की अशान्ति मोल लेना है।

भावार्थ—हम सोम की रक्षा करते हैं, परिणामतः धन, शक्ति व मेधा को प्राप्त करते हैं। हमारा जीवन ऋत का पालन करनेवाला होता है। हम किसी के भी साथ व्यर्थ विवाद के झगड़े में नहीं पड़ते।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडार्षीबृहती[क], निचृदार्षीबृहती[र]। **स्वरः**—मध्यमः[क], निषादः[र]॥

'अयःशया-रजःशया-हरिशया तनूः'

[क]या तेऽअग्नेऽयःशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा। उग्रं वचोऽअपावधीत्त्वेषं वचोऽअपावधीत् स्वाहा। [र]या तेऽअग्ने रजःशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा। उग्रं वचोऽअपावधीत्त्वेषं वचोऽअपावधीत् स्वाहा। [उ]या तेऽअग्ने हरिशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा। उग्रं वचोऽअपावधीत्त्वेषं वचोऽअपावधीत् स्वाहा॥८॥

१. गत मन्त्र में सोम=वीर्यशक्ति का उल्लेख था। यही वीर्य शरीर को 'पत्थर (अश्मा) व वज्र-(steel अयः)'-तुल्य बनाता है, मन को उत्साह-सम्पन्न करके नाना प्रकार के कर्मसंकल्पों से भरता है और मस्तिष्क को दुःखों का हरण करनेवाले ज्ञान से भरता है। शरीर, मन व बुद्धि के दृष्टिकोण से उन्नत होकर यह सोम के आप्यायनवाला व्यक्ति बड़ी मधुर व विनम्र वाणी बोलता है। इसकी वाणी में उग्रता व अहंकार की झलक नहीं होती। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि हे **अग्ने**=(वीर्यं वा अग्निः—तै० १।७।२।२) सब उन्नतियों के साधक सोम (वीर्य)! **या**=जो **ते**=तेरा **अयःशया**=इस वज्रतुल्य शरीर में रहनेवाला **तनूः**=रूप है **वर्षिष्ठा**=जो सब सुखों की वर्षा करनेवाला है और **गह्वरेष्ठा**=गम्भीरता में स्थित होनेवाला है, वह **उग्रं वचः**=उग्र वचन को हमसे दूर करे और **त्वेषं वचः**=चमकते हुए गर्वपूर्ण वचनों को **अपावधीत्**=सुदूर नष्ट करे। **स्वाहा**=(सु आह) यह बात सचमुच सुन्दर है। सोम की रक्षा से शरीर दृढ़ बनता है, नीरोगता का आनन्द प्राप्त होता है, साथ ही मन में उथलापन—खिझ आदि उत्पन्न नहीं होते। यह पूर्ण स्वस्थ पुरुष न तो कटु (उग्रम्) शब्द बोलता है और न ही वह घमण्ड करता (त्वेषम्) है। २. हे **अग्ने**=सोम! **या**=जो **ते**=तेरा **रजःशया**=हृदयान्तरिक्ष (रजः) में रहनेवाला **तनूः**=रूप है, वह **वर्षिष्ठा**=सुखों की वर्षा करनेवाला और **गह्वरेष्ठा**=गम्भीरता में स्थित तेरा रूप **उग्रं वचः अपावधीत्**=उग्र वचनों को मुझसे दूर करे, **त्वेषं वचः अपावधीत्**=अहंकार से दीप्त वचनों को हमसे दूर करे। सोम की रक्षा से हृदय सदा उत्तम कर्मों की भावना से भरा रहता है। उस हृदय में किसी प्रकार की कटुता व किसी प्रकार का गर्व नहीं होता। ३. हे **अग्ने**=सोम! **या**=जो **ते**=तेरा **तनूः**=रूप **हरिशया**=सर्वदुःखहर ज्ञान में निवास करता है, जो **वर्षिष्ठा**=सुखों की वर्षा करनेवाला है और **गह्वरेष्ठा**=गम्भीरता में स्थित है, वह **उग्रं वचः अपावधीत्**=कटुवचनों को दूर करे तथा **त्वेषं वचः अपावधीत्**=अहंकार-दीप्त वचन को दूर करे। वस्तुतः सोम वर्षिष्ठ होकर हमारे मनों को आनन्दमय बनाता है और हमसे कटुवचनों को दूर करता है। यह सोम गह्वरेष्ठ होकर हमें गम्भीर बनाता है और हमें अभिमानपूर्ण वचनों से दूर करता है।

भावार्थ—सोम से हमारा शरीर वज्रतुल्य बने, मन शिवसंकल्पवाला हो और मस्तिष्क दुःखहर ज्ञान से परिपूर्ण हो। हम न कटु वचन बोलें न ही अभिमानपूर्ण बातें करें।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्षीगायत्री[1], भुरिग्ब्राह्मीबृहती[2], निचृद्ब्राह्मीजगती[3], याजुष्यनुष्टुप्[4]। **स्वरः**—षड्जः[1], मध्यमः[2], निषादः[3], गान्धारः[4]॥

प्रथम-द्वितीय-तृतीय पृथिवी में

[1]तप्तायनी मेऽसि वित्तायनी मेऽस्यवतान्मा नाथितादवतान्मा व्यथितात्। [2]विदेदग्निर्नभो नामाग्नेऽअङ्गिर ऽआयुना नाम्नेहि योऽस्यां पृथिव्यामसि यत्तेऽनाधृष्टं नाम यज्ञियं तेन त्वा दधे विदेदग्निर्नभो नामाग्नेऽअङ्गिर ऽआयुना [3]नाम्नेहि यो द्वितीयस्यां पृथिव्यामसि यत्तेऽनाधृष्टं नाम यज्ञियं तेन त्वा दधे विदेदग्निर्नभो नामाग्नेऽअङ्गिर ऽआयुना नाम्नेहि यस्तृतीयस्यां पृथिव्यामसि यत्तेऽनाधृष्टं नाम यज्ञियं तेन त्वा दधे। [4]अनु त्वा देववीतये॥९॥

१. गत मन्त्र में सोम को अग्नि शब्द से स्मरण करके उसके तीन तनुओं का उल्लेख किया था। उसी तनू को सम्बोधित करके कहते हैं कि तू **मे**=मेरी **तप्तायनी**=तप्तों को शरण देनेवाली **असि**=है (तप् भाव में क्त प्रत्यय)। जब कोई भी रोग मुझपर आक्रमण

करता है उस समय तू ही मेरी रक्षा करती है। तू **मे**=मुझे **वित्तायनी**=सब वित्तों को प्राप्त करानेवाली है। तू मुझे सब आवश्यक धन प्राप्त करने योग्य बनाती है। तू **मा**=मुझे **नाथितात्**=तापों से **अवतात्**=बचा, **मा**=मुझे **व्यथितात्**=अभावजनित पीड़ाओं से **अवतात्**=बचा। वस्तुतः यह 'तनू' तप्तायनी होने से मुझे नाथितों=उपतापों से बचाती है और 'वित्तायनी' होने से व्यथित नहीं होने देती। २. इस प्रकार यह **अग्निः**=वीर्य **नभः**=(नभ हिंसायाम्) सब रोगों व बुराइयों के संहार को तथा **नाम**=नम्रता व विनीतता को **विदेत्**=हमें प्राप्त कराए। हे **अग्ने! वीर्यशक्ते! अङ्गिरः** =अङ्ग-अङ्ग में रस का सञ्चार करनेवाली! तू **आयुना**=दीर्घजीवन से तथा **नाम्ना**=नम्रता व विनीतता से **इहि**=हमें प्राप्त हो। तुझे प्राप्त करके हम दीर्घजीवन प्राप्त करें और नम्र बनें। हे **अग्ने**=वीर्य! **यः** =जो तू **अस्यां पृथिव्याम् असि**=इस शरीर में है और **यत् ते**=जो तेरा **अनाधृष्टम्**=न धर्षण के योग्य—न पराजित होनेवाला **नाम**=नम्रता का साधक, **यज्ञियम्**=पवित्र करनेवाला स्वरूप है **तेन**=उस कारण से ही **त्वा दधे**=मैं तेरा धारण करता हूँ। हम सोम को शरीर में धारण करें, जिससे हमारा शरीर रोगों से न दबे, हमें अभिमान न हो और हम पवित्र बने रहें।

३. यह **अग्निः**=वीर्य **नभः**=सब मलिनताओं की हिंसा को तथा **नाम**=नम्रता को **विदेत्**=प्राप्त कराए। हे **अग्ने**=अग्रगति के साधक **अङ्गिरः**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रस का सञ्चार करनेवाले वीर्य! तू **आयुना** =दीर्घजीवन से व **नाम्ना**=नम्रता व यश से **इहि**=हमें प्राप्त हो। **यः**=जो तू **द्वितीयस्यां पृथिव्याम् असि** =इस द्वितीय शरीर अर्थात् सूक्ष्मशरीर में स्थित है अथवा मुख्यरूप से हृदयान्तरिक्ष में स्थित है, **यत् ते**=जो तेरा **अनाधृष्टम्**=न धर्षित होनेवाला **नाम**=नम्रतावाला **यज्ञियम्**=पवित्रीकरणवाला स्वरूप है **तेन**=उसी के कारण मैं **त्वा दधे**=तुझे धारण करता हूँ। ४. यह **अग्निः**=वीर्य **नभः**=सब कुविचारों की हिंसा को तथा **नाम**=नम्रता को **विदेत्**=प्राप्त कराए। हे **अग्ने**=सब प्रकाशों को प्राप्त करानेवाले सोम! **अङ्गिरः**=अङ्ग-रस के साधक सोम! **आयुना**=उत्तम जीवन से तथा **नाम्ना**=नम्रता से **इहि**= प्राप्त हो। **यः** =जो तू **तृतीयस्यां**=तीसरी **पृथिव्यां असि**=पृथिवी में हैं—तृतीय कारणशरीर में है अथवा आनन्दमय कोश में है, **यत्**=जो **ते**=तेरा तेज **अनाधृष्टम्**=न पराजित होनेवाला **नाम**=नम्रता का साधक **यज्ञियम्** =पवित्र है **तेन**=उसी के कारण से **त्वा दधे**=मैं तुझे धारण करता हूँ। एवं, सोम की रक्षा से 'स्थूल, सूक्ष्म व कारण' तीनों ही शरीर बड़े स्वस्थ रहते हैं। ये क्रमशः रोगों, कुविचारों व अज्ञान अथवा मन्दबुद्धियों से आक्रान्त नहीं होते। सोमरक्षा करनेवाले का शरीर नीरोग रहता है, बुद्धि सुविचारमय होती है और यह भेद-भावनाओं से ऊपर उठकर सदा आनन्दमय बना रहता है, इसीलिए यह 'गोतम' कहता है कि **त्वा अनु**=मैं तेरे पीछे चलनेवाला बनता हूँ। यह सब मैं इसलिए करता हूँ कि **देववीतये**=दिव्य गुणों को प्राप्त कर सकूँ।

भावार्थ—सोम हमें उपतापों व पीड़ाओं से बचाता है। यह 'स्थूल, सूक्ष्म व कारण' शरीरों में अपराजित रूप से रहकर हमें नम्र व पवित्र बनाता है। इसकी रक्षा के अनुपात में ही हम दिव्य गुणों को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—गोतमः। देवता—वाक्। छन्दः—ब्राह्म्युष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

सिंही—सपत्नसाही

सि॒ꣳह्य॑सि सपत्नसा॒ही दे॒वेभ्यः॑ कल्पस्व सि॒ꣳह्य॑सि सपत्नसा॒ही दे॒वेभ्यः॑ शुन्धस्व सि॒ꣳह्य॑सि सपत्नसा॒ही दे॒वेभ्यः॑ शुम्भस्व॥१०॥

१. गत मन्त्र में सोम (अग्नि) के द्वारा शरीरों से सब मलों को दूर करके दिव्य गुणों की प्राप्ति का उल्लेख था। इस सोम की रक्षा करनेवाला अपनी ज्ञानाग्नि को दीप्त करके वेदवाणी का अध्ययन करता है और उस वेदवाणी से कहता है कि तू **सिंही असि**=सब बुराइयों की हिंसा करनेवाली है (हिनस्ति दोषान्) और सब ज्ञानों का सेवन करनेवाली है (सिञ्चति—द०)। **सपत्नसाही**=इस ज्ञान-सेचन के द्वारा काम-क्रोध आदि शत्रुओं का पराभव करनेवाली है। इस प्रकार सिंही और सपत्नसाही बनकर तू **देवेभ्यः**=देवों के लिए **कल्पस्व**=सामर्थ्य देनेवाली हो। २. तू **सिंही असि**=बुराइयों की हिंसा करनेवाली, ज्ञान का सेचन करनेवाली व **सपत्नसाही**=कामादि का पराभव करनेवाली है तू **देवेभ्यः**=देवों के लिए **शुन्धस्व**=शोधन करनेवाली हो। ३. तू **सिंही असि सपत्नसाही**=बुराइयों को नष्ट करनेवाली,ज्ञान का सेचन करनेवाली तथा कामादि का पराभव करनेवाली है **देवेभ्यः**=देवताओं के लिए **शुम्भस्व**=जीवन को सुशोभित व अलंकृत करनेवाली हो।

भावार्थ—वेदवाणी बुराइयों को नष्ट करती है, ज्ञान का सेचन करती है, कामादि का पराभव करती है। बुराइयों को नष्ट करके यह हमें सबल बनाती है, ज्ञान-सेचन से यह हमारा शोधन करती है। कामादि के पराभव से यह हमारे जीवन को अलंकृत करती है।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—वाक्। **छन्दः**—निचृद्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

आचार्यकुल 'आचार्य, विद्यार्थी व शिक्षा'

इन्द्रघोषस्त्वा वसुभिः पुरस्तात्पातु प्रचेतास्त्वा रुद्रैः पश्चात्पातु मनोजवास्त्वा पितृभिर्दक्षिणतः पातु विश्वकर्मा त्वादित्यैरुत्तरतः पात्विदमहं तप्तं वार्बहिर्धा यज्ञान्निःसृजामि॥११॥

१. गत मन्त्र में वेदवाणी का उल्लेख है। उसी के लिए कहते हैं कि **इन्द्रघोषः**=आचार्य **त्वा**=तुझे **वसुभिः**=वसुओं के साथ **पुरस्तात्**=सामने से **पातु**=रक्षित करे। **प्रचेताः**=आचार्य **त्वा**=तुझे **रुद्रैः**=रुद्रों के साथ **पश्चात्**=पीछे से **पातु**=रक्षित करे। **मनोजवाः**=आचार्य **त्वा**=तुझे **पितृभिः**=पितरों के साथ **दक्षिणतः**=दक्षिण से **पातु**=रक्षा दे, **विश्वकर्मा**=आचार्य **त्वा**=तुझे **आदित्यैः**=आदित्यों के साथ **उत्तरतः**=उत्तर से **पातु**=रक्षित करे। २. यहाँ मन्त्रार्थ में आचार्य का, जिसने विद्यार्थियों के साथ ज्ञानयज्ञ करना है, चार नामों से स्मरण हुआ है 'इन्द्रघोष, प्रचेताः, मनोजवाः, विश्वकर्मा'। आचार्य की पहली विशेषता यह है कि **'इन्द्र इति घोषो यस्य'**=जितेन्द्रियता के कारण उसकी प्रसिद्धि है। **'आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते'**—आचार्य स्वयं जितेन्द्रिय बनकर ही ब्रह्मचारी को जितेन्द्रिय बना पाता है।

आचार्य की दूसरी विशेषता यह है कि वह **'प्रचेताः'**=प्रकृष्ट ज्ञानवाला है। अगाध ज्ञानवाला आचार्य ही विद्यार्थी से आदर पा सकता है। आचार्य की तीसरी खूबी **'मनोजवाः'** है—उसका मन बड़ा स्फूर्तिमय होना चाहिए। वह विद्यार्थियों के प्रश्नों का झट उत्तर दे सके, अन्यथा वह विद्यार्थियों की दृष्टि में गिर जाएगा। अन्त में आचार्य **'विश्वकर्मा'** हो—क्रियात्मक ज्ञान में भी निपुण हो। दूसरे शब्दों में आगम के साथ उसमें प्रयोग का भी नैपुण्य हो। प्रयोग न जानने पर आचार्य का ज्ञान एकाङ्गी-सा लगता है। ३. आचार्य की भाँति विद्यार्थी के लिए भी मन्त्र में चार शब्द आये हैं 'वसु-रुद्र-पितृ व आदित्य'। विद्यार्थी को इस शरीर में उत्तम निवासवाला होना चाहिए। वह अपने शरीर को सदा नीरोग

रक्खे। पढ़ाई बहुत कुछ स्वास्थ्य पर निर्भर है। विद्यार्थी-काल में उसे 'रुद्र' बनना, औरों को भी (रुत्+र) ज्ञान देनेवाला बनना चाहिए। जितना औरों को पढ़ाएगा उतना उसका अपना पाठ परिपक्व होगा। यह विद्यार्थी 'पितृ' बने (पा रक्षणे) कामादि वासनाओं से अपना रक्षण करनेवाला बने और आदित्य बने—जहाँ से भी ज्ञान व उत्तमता प्राप्त होती है उसे लेने में सदा उद्यत रहे (आदानात् आदित्यः)। ४. मन्त्र में शिक्षा के उद्देश्यों को भी स्पष्ट करने के लिए चार शब्दों का प्रयोग हुआ है 'पुरस्तात्, पश्चात्, दक्षिणतः, उत्तरतः'। शिक्षा हमें **पुरस्तात्**=आगे ले चलनेवाली हो, **पश्चात्**=यह हमें 'प्रत्याहार' का पाठ पढ़ाए। विषयों में गई हुई इन्द्रियों को हम वापस लाना सीखें, अर्थात् शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो हमें विषयासक्त होने से बचाए। यह हमें **दक्षिणतः**=कुशलता से कर्म करनेवाला बनाए। **उत्तरतः**=यह हमें उन्नति की ओर ले-चले और अन्ततः इस भवसागर से तैरानेवाली हो।

५. आचार्य कैसे हों? विद्यार्थी किन गुणों से युक्त हों? शिक्षा का क्या उद्देश्य हो? यह सब विचार हो चुका। अब ये सब बातें जिसपर निर्भर है उस बात का उल्लेख करते हैं कि **इदं तप्तं वाः**=इस तपे जल को **यज्ञात्**=यज्ञ से **बहिर्धा**=बाहर करके **निःसृजामि**=रखता हूँ। बाहर जो पानी है वही शरीर में 'रेतस्' है। इस रेतस् में वासनाओं के कारण एक उबाल उत्पन्न होता है। उस समय यह 'तप्तं वाः' हो जाता है। ज्ञानयज्ञ से इसे बाहर ही रखना है। आचार्यकुल का सारा वातावरण ऐसा हो जिससे वासनाओं के कारण इस रेतस् में उबाल न आये। इसी रेतस् को ज्ञानाग्नि का ईंधन बनना है। विद्यार्थी ने सदा सौम्य भोजन करते हुए इस सोम की रक्षा करनी है। आचार्यकुल का सारा वातावरण ब्रह्मचर्याश्रम के अनुकूल होना चाहिए।

भावार्थ—आचार्य जितेन्द्रिय, ज्ञानी, मेधावी, सूझवाले व प्रयोगात्मक ज्ञान में निपुण हों। ब्रह्मचारी 'स्वस्थ, एक-दूसरे को ज्ञान देनेवाले, अपने को वासनाओं से बचानेवाले तथा अच्छाइयों को ग्रहण करनेवाले हों। शिक्षा हमें आगे ले-चले, विषयासक्ति से बचाए, कर्मकुशल बनाए और उन्नत करके संसार से तराये।

ऋषिः—गोतमः। देवता—वाक्। छन्दः—भुरिग्ब्राह्मीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

वेद व आश्रम चतुष्टय

सिꣳह्यसि स्वाहा सिꣳह्यस्यादित्यवनिः स्वाहा सिꣳह्यसि ब्रह्मवनिः क्षत्रवनिः स्वाहा सिꣳह्यसि सुप्रजावनी रायस्पोषवनिः स्वाहा सिꣳह्यस्यावह देवान्यजमानाय स्वाहा भूतेभ्यस्त्वा॥१२॥

१. गत मन्त्र में वर्णित आचार्यकुल में पढ़ाई जानेवाली वेदवाणी का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **सिंही असि**=तू सब दोषों की हिंसा करनेवाली है और ज्ञान से सींचनेवाली है। **स्वाहा**=यह बात सचमुच ठीक कही गई है। तू **सिंही असि**=दोषों की हिंसा व ज्ञान का सेचन करनेवाली है और इस प्रकार **आदित्यवनिः**=प्रकाश का सेवन करानेवाली है। सब सद्गुणों का आदान करानेवाली है (आदानात्) **स्वाहा**=यह बात ठीक कही गई है। २. हे वेदवाणि! तू ब्रह्मचर्याश्रम में **सिंही**=दोषहिंसक, ज्ञानसेचक होकर **ब्रह्मवनिः क्षत्रवनिः**=ज्ञान का सेवन करानेवाली व बल को देनेवाली **असि**=है। **स्वाहा**=यह बात ठीक कही गई है। ज्ञान को तो यह देती ही है, व्यसनों से बचाकर शक्ति भी प्राप्त कराती है। ३. अब गृहस्थ में यह वेदवाणी **सिंही असि**=दोषहिंसक, ज्ञानसेचक होती हुई **सुप्रजावनिः**=उत्तम प्रजा को

प्राप्त करानेवाली और **रायस्पोषवनिः**=धन का पोषण प्राप्त करानेवाली है। **स्वाहा**=यह बात ठीक ही कही गई है। ज्ञान से मनुष्य सद्गृहस्थ बनता है, सुन्दर सन्तान का निर्माण कर पाता है तथा यह ज्ञान उसे धन कमाने की योग्यता भी देता है।

४. अब जीवन के तृतीयाश्रम में इस वेदवाणी से कहते हैं कि तू **सिंही असि**=दोषनाशक, ज्ञानसेचक है। तू **देवान्**=त्यागमय, ज्ञानप्रधान जीवन बितानेवाले वनस्थों को **यजमानाय**=इस सृष्टि-यज्ञ के प्रवर्तक प्रभु के लिए **आवह**=ले-चल। ये वनस्थ लोग वेदवाणी का सदा अध्ययन करते हुए (**स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात्**) प्रभु के समीप पहुँचने का प्रयत्न करें। **स्वाहा**=कितनी सुन्दर यह बात है! ५. इस प्रभु के उपासक वनस्थ को अब संन्यासी बनना है और वह कहता है कि हे वेदवाणि! अब मैं **त्वा**=तुझे **भूतेभ्यः**=सब प्राणियों के हित के लिए उन्हें प्राप्त कराता हूँ। मैं तेरे ही प्रचार में जीवनयापन करता हूँ।

भावार्थ—वेदज्ञान को प्राप्त करके हम प्रथमाश्रम में विज्ञान व बल का, दूसरे में सुसन्तान व धन का, तीसरे में प्रभु-प्राप्ति व चौथे में लोकहित का साधन करें।

ऋषिः—गोतमः। देवता—यज्ञः। छन्दः—भुरिगार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

संन्यासी 'ध्रुव-ध्रुवक्षित्-अच्युतक्षित्'

ध्रुवोऽसि पृथिवीं दृꣳह ध्रुवक्षिदस्यन्तरिक्षं दृꣳहाच्युतक्षिदसि दिवं दृꣳहाग्नेः पुरीषमसि॥१३॥

१. गत मन्त्र की समाप्ति 'भूतेभ्यस्त्वा' शब्दों से हुई थी। एक परिव्राजक अपने जीवन का ध्येय बनाता है कि वह वेदवाणी का ज्ञान सब मनुष्यों को प्राप्त कराएगा और प्राणिमात्र के हित में प्रवृत्त रहेगा। उसी संन्यासी का वर्णन करते हुए कहते हैं कि २. **ध्रुवः असि**=तू ध्रुव है। लोग स्तुति करें, निन्दा करें, धन आये या जाये, मृत्यु हो या जीवन, परन्तु ये न्यायमार्ग से कभी विचलित नहीं होते। ३. हे परिव्राजक! तू **पृथिवीं**=अपने इस शरीर को **दृंह**=दृढ़ बना। बीमार हो गया तो यह प्रचार क्या करेगा? ४. **ध्रुवक्षित् असि**=हे संन्यासिन्! तू (ध्रुव=मर्यादा क्षि=गति) मर्यादा में गति करनेवाला है, कभी मर्यादा को तोड़ता नहीं। ५. तू **अन्तरिक्षम्**=अपने हृदयान्तरिक्ष को **दृंह**=दृढ़ कर। यह कभी तुझे मर्यादा को तोड़ने न दे। 'अन्तरिक्ष'=मध्यमार्ग से चलना ही सबसे बड़ी मर्यादा है, अति का वर्जन करना है। ६. **अच्युतक्षित् असि**=तू उस अच्युत प्रभु में निवास करनेवाला है। उस प्रभु में जो कभी भी डिगनेवाला नहीं। इस प्रभु में निवास करके तू **दिवं**=अपनी ज्ञान-ज्योति को **दृंह**=पुष्ट कर। प्रभु में स्थित व्यक्ति को अन्दर से वह ज्ञान प्राप्त होता है जो उसे कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ठीक ज्ञान देता है। ७. इस प्रकार शरीर, मन व मस्तिष्क को दृढ़ बनाकर तू **अग्नेः** =उस अग्नि नामक प्रभु को **पुरीषम्**=अपने में पूरण करनेवाला—भरनेवाला है। इस प्रकार तू प्रभु का ही छोटा रूप प्रतीत होने लगता है।

भावार्थ—एक संन्यासी को 'ध्रुव, ध्रुवक्षित् व अच्युतक्षित्' बनना चाहिए।

ऋषिः—गोतमः। देवता—सविता। छन्दः—स्वराडार्षीजगती। स्वरः—निषादः॥

प्रभु में मन का (योग) लगाना

युञ्जते मनऽउत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेकऽइन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः स्वाहा॥१४॥

१. गत मन्त्र में 'ध्रुव, ध्रुवक्षित् व अच्युतक्षित्' बनने के लिए मन्त्र का ऋषि 'गोतम' **मन:**=मन को **युञ्जते**=उस प्रभु में लगाते हैं **उत**=और **विप्रस्य**=विशेषरूप से पूर्ण, **बृहत:**= वर्धमान **विपश्चित:**=ज्ञानी उस प्रभु की **धिय:**=बुद्धियों को **विप्रा:**=अपना पूरण करनेवाले ये लोग **युञ्जते**=अपने साथ जोड़ते हैं। 'मन को प्रभु में केन्द्रित करना और उस हृदयस्थ प्रभु की ज्ञानवाणियों को सुनकर अपने ज्ञान को बढ़ाना', 'विप्र' बनने का यही मार्ग है। इससे भिन्न मार्ग से हम अपना पूरण नहीं कर सकते। यदि इस ज्ञान से हम अपने को युक्त करेंगे तो हम भी 'विप्र, बृहत् व विपश्चित' बनेंगे। २. हम उस प्रभु में अपने मनों को केन्द्रित करते हैं और **वयुनावित्**=सब प्रज्ञानों को जाननेवाले (वयुनं प्रज्ञानं–नि० ३।९) **एक: इत्**=वह एक प्रभु ही **होत्रा:**=सब वेदवाणियों को (होत्रा वाङ्नाम–नि० १।११) **विदधे**=अग्नि आदि ऋषियों के हृदयों में स्थापित करते हैं। ३. **सवितु: देवस्य**=उस सबके उत्पादक देव की **परिष्टुति:**=संसार में चारों ओर विद्यमान स्तुति **मही**=महान् है। सूर्य, चन्द्र, तारे, बादल, विद्युत्, भिन्न-भिन्न दिशाओं में बहती हुई नदियाँ, पर्वत, समुद्र, वन व रेगिस्तान—सभी उस प्रभु की महिमा का प्रतिपादन कर रहे हैं। **स्वाहा**=यह कितनी सुन्दर बात है! हमें उस प्रभु की प्राप्ति के लिए 'स्व' का 'हा' करनेवाला बनना है, अर्थात् स्वार्थत्याग (सु+आह) करना है।

भावार्थ—हम मन को कन्द्रित करें, प्रभु की वाणी को सुनें और ज्ञानी बनकर सर्वत्र प्रभु की महिमा का दर्शन करें, स्वार्थमुक्त जीवन-यापन करें।

ऋषि:—मेधातिथि:। **देवता**—विष्णु:। **छन्द:**—भुरिगार्षीगायत्री। **स्वर:**—षड्ज:॥

मेधातिथि

इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्। समूढमस्य पाᳬसुरे स्वाहा॥१५॥

१. गत मन्त्र की समाप्ति पर उस सविता देव की महान् स्तुति का उल्लेख था। उसी स्तुति को प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **विष्णु:**=वह व्यापक परमात्मा **इदम्**=इस ब्रह्माण्ड को **विचक्रमे**=विशेष क्रमपूर्वक बनाता है। संसार को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखें तो संसार में एक विशेष क्रम दीखता है। 'विमान:' शब्द इसी भावना को व्यक्त कर रहा है कि परमेश्वर ने इस ब्रह्माण्ड के पिण्डों को विशेष मानपूर्वक बनाया है। २. **त्रेधा** =तीन प्रकार के **पदम्**=पगों को **निदधे**=इस प्रभु ने रक्खा है। 'द्युलोक, अन्तरिक्षलोक व पृथिवीलोक' ये ही तीन पग हैं। ३. ये जितने भी पिण्ड हैं वे सब-के-सब मूल में परमाणुरूप थे। परमाणुओं को ही वह-वह आकृति प्राप्त हो गई—'किस प्रकार कणों से सुन्दर कान्तिमय पिण्डों का निर्माण हो गया?' इस बात को सोचते हैं तो आश्चर्य ही होता है कि **पांसुरे**=धूलिकणमय प्रकृति-समुद्र में इन लोक-लोकान्तरों का **समूढम्**=सम्यक् प्रापण—निर्माण **अस्य**=इस परमात्मा का ही कर्म वैचित्र्य है। (वह प्रापणे, सम्=उत्तमता से)। प्रभु ने इन परमाणुओं से क्या विचित्र सृष्टि का निर्माण कर दिया। यही प्रभु की महिमा है। एक-एक अणु की रचना अद्भुत है, एक-एक पिण्ड आश्चर्य से परिपूर्ण है। एक-एक फल की रचना कितनी विस्मयकारक प्रतीत होती है? उपनिषद् के शब्दों में यह सारा संसार सचमुच प्रभु का व्याख्यान कर रहा है '**इदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम्**'। यह सारा संसार **स्वाहा**=सुन्दरता से उस प्रभु का प्रतिपादन कर रहा है।

भावार्थ—यह सारा ब्रह्माण्ड प्रभु की महिमा का प्रतिपादक है। प्रभु ने तीन लोकों में विभक्त करके इस सृष्टि की रचना की है। ये तीन लोक ही प्रभु के तीन पग हैं।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—विष्णुः। छन्दः—स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

इरावती-धेनुमती (अन्न, दूध)

इरावती धेनुमती हि भूतꣳसूयवसिनी मनवे दशस्या। व्यस्कभ्ना रोदसी विष्णवेते दाधर्थ पृथिवीमभितो मयूखैः स्वाहा॥१६॥

१. गत मन्त्र में विष्णु द्वारा संसार के निर्माण का उल्लेख है। इस संसार में मनुष्य को वसिष्ठ=वशियों में श्रेष्ठ व उत्तम निवासवाला बनना है। यह वसिष्ठ निम्नरूप में आराधन करता है—हे **रोदसी**=द्युलोक व पृथिवीलोक! तुम दोनों **इरावती**=(इरा=अन्न—नि० २।७) प्रशस्त अन्नवाले होओ तथा **हि**=साथ ही **धेनुमती**=प्रशस्त दुधारू गौवोंवाले **भूतम्**=होओ। **सूयवसिनी**=उन गौ इत्यादि पशुओं के लिए उत्तम यवस-(=चरी)-वाले होओ। **मनवे**=मननशील ज्ञानी के लिए **दशस्या**=सब उत्तम वस्तुओं के देनेवाले होओ।

२. हे **विष्णो**=व्यापक प्रभो! आप **एते**=इन **रोदसी**=द्युलोक व पृथिवीलोक को **व्यस्कभ्ना**=विशेषरूप से अलग-अलग थामे हुए हो और **पृथिवीम्**=इस विशाल अन्तरिक्ष को (नि० १।३) **अभितः**=सब ओर **मयूखैः**=किरणों से **दाधर्थ**=आप ही धारण व पोषणवाला करते हो। इस विशाल अन्तरिक्ष में किरणों के द्वारा सारे वायुमण्डल में प्राणदायी तत्त्वों का समावेश होता है, जिससे सब प्राणी जीवनीशक्ति प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—मनुष्य इस सृष्टि में सब वस्तुओं का विचारपूर्वक प्रयोग करे। अन्न व दूध ही उसके भोजन हैं। अधिक-से-अधिक खुले में रहने का प्रयत्न करे। यह अन्तरिक्ष प्राणशक्ति से भरा हुआ है।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—विष्णुः। छन्दः—स्वराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

यज्ञ का ऊर्ध्वनयन

देवश्रुतौ देवेष्वाघोषतं प्राची प्रेतमध्वरं कल्पयन्तीऽऊर्ध्वं यज्ञं नयतं मा जिह्वरतम्। स्वं गोष्ठमावदतं देवी दुर्येऽआयुर्मा निर्वादिष्टं प्रजां मा निर्वादिष्टमत्र रमेथां वर्ष्मन् पृथिव्याः॥१७॥

'गत मन्त्र के अनुसार 'अन्न-दूध' का ही मननपूर्वक प्रयोग करनेवाले पति-पत्नी कैसे बनते हैं' यह विषय प्रस्तुत मन्त्र में है—१. **देवश्रुतौ**=(दिव्यविद्याश्रुतौ—द०) सृष्टि के ३३ देवों के ज्ञान का श्रवण करनेवाले तुम हो। जिन देवों के सम्पर्क में हमें सदा रहना है और वस्तुतः जिन देवों से हमारा शरीर बना है, उनका ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक ही है। २. **देवेषु**=विद्वानों के चरणों में (**विद्वाꣳसो हि देवाः**) **आघोषतम्**=तुम इन ज्ञान की वाणियों का उच्चरण करो। विद्वानों से ३३ देवों का ज्ञान प्राप्त करो। ३. **प्राची प्रेतम्**=(प्र अञ्च्) इस प्रकार सदा आगे बढ़ते हुए चलते चलो। हम उन्नतिशील हों, क्रियाशील हों, अकर्मण्य न हो जाएँ। ४. हम सदा **अध्वरं कल्पयन्ती**=हिंसारहित यज्ञों को करनेवाले हों। **यज्ञम्**=यज्ञ को **ऊर्ध्वम्**=ऊपर **नयतम्**=ले-चलो। हमारे यज्ञों में किसी प्रकार का विकार न आ जाए। ५. **मा जिह्वरतम्**=किसी तरह की कुटिलता न करो। हमारा जीवन सरल हो।

६. (क) **स्वं गोष्ठम्**=अपने गोष्ठ को **आवदतम्**=चारों ओर प्रख्यात करो। अपने घर की गौशाला को ऐसा सुन्दर बनाओ कि तुम्हारी गौवों की चारों ओर चर्चा हो। (ख) अथवा **स्वम्**=अपने को **गोष्ठम्**=वेदवाणियों का निवासस्थान और परिणामतः देवों का

निवासस्थान **आवदतम्**=प्रसिद्ध करो। लोगों में तुम्हारे ज्ञान व श्रेष्ठता की ही चर्चा हो। ७. **देवी**=तुम दिव्य गुणोंवाले बनो और इस प्रकार **दुर्ये**=घर को उत्तम बनानेवाले होओ। ८. **आयुः**=अपने जीवन को **मा**=मत **निर्वादिष्टम्**=(निर्=निन्दायाम्) निन्दितरूप में उच्चारित कराओ, अर्थात् आपके जीवन की निन्दा न हो। **प्रजाम्**=अपनी सन्तान का भी **मा**=मत **निर्वादिष्टम्**=निन्दित रूप में उच्चारण कराओ, अर्थात् तुम्हारी सन्तान की चारों ओर निन्दा न हो। ९. इस प्रकार प्रशस्त जीवन व प्रशस्त सन्तानवाले बनकर **पृथिव्याः**=इस पृथिवी के **वर्ष्मन्**=शरीरभूत देवयजन के स्थान में **रमेथाम्**=आनन्द का अनुभव करो, अर्थात् तुम्हारा जीवन यज्ञमय हो। तुम यज्ञस्थान को ही पृथिवी का शरीर समझो। अथवा (वर्ष्मन्=handsome form) पृथिवी के सुन्दर रूप में **रमेथाम्**=आनन्द का अनुभव करो, पृथिवी=शरीर। तुम दोनों के शरीर बड़े सुन्दर हों। पृथिवी के देवयजन में स्थित होकर ये प्रभु का स्तवन करते हैं।

भावार्थ—हम देवश्रुत बनें, जीवन में यज्ञ को ऊँचा स्थान दें, कुटिलता से दूर रहें, इस प्रकार अपने जीवन व प्रजा को सुन्दर बनाएँ और अपने सुन्दर शरीरों में आनन्द का अनुभव करें अथवा इस पृथिवी के देवयजनों में ही आनन्द का अनुभव करें।

ऋषिः—औतथ्यो दीर्घतमाः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

विष्णु-स्तवन

विष्णो॒र्नु कं॑ वी॒र्या॑णि॒ प्र वो॑चं॒ यः पार्थि॑वानि विम॒मे रजा॑ᳬसि।
योऽअस्क॑भाय॒दुत्त॑रᳬस॒धस्थं॑ विचक्रमा॒णस्त्रे॒धोरु॑गा॒यो विष्ण॑वे त्वा॥१८॥

१. मैं **विष्णोः**=व्यापक परमात्मा के **वीर्याणि**=पराक्रमयुक्त कर्मों को **नु कं**=शीघ्र ही **प्रवोचम्**=प्रकर्षेण कहता हूँ। **यः**=जो विष्णु **पार्थिवानि**=(अन्तरिक्षे विदितानि—द०) अन्तरिक्ष में होनेवाले **रजांसि** =लोकों को **विममे**=विविधता से निर्माण करता है। प्रत्येक लोक में थोड़ा-थोड़ा भेद है। २. **यः**=जो सर्वाधार प्रभु त्रिधा गति करते हुए **उत्तरम्**=इस उत्कृष्ट **सधस्थम्**=सब लोकों के (सह) एकत्र स्थित होने के स्थान इस अन्तरिक्ष को **अस्कभायत्**=थामे हुए हैं। **विचक्रमाणः त्रेधा**=वे प्रभु तीन प्रकार से गति कर रहे हैं। द्युलोक में सूर्यरूप से, अन्तरिक्षलोक में वायुरूप से और पृथिवीलोक में अग्निरूप से प्रभु की गति हो रही है। **उरुगायः**=आप विशाल गतिवाले हैं या सब पदार्थों का वेद द्वारा गायन, उपदेश करनेवाले हैं। ३. **विष्णवे त्वा**=सर्वत्र व्यापक तुझ प्रभु को पाने के लिए ही मैं प्रयत्नशील होता हूँ।

भावार्थ—वे प्रभु अत्यन्त शक्तिशाली कर्मों को करनेवाले हैं। सारे ब्रह्माण्ड को धारण करनेवाले हैं। उरुगाय हैं। मैं उन्हीं की शरण में जाता हूँ।

ऋषिः—औतथ्यो दीर्घतमाः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—निचृदार्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

दोनों हाथों से

दि॒वो वा॑ विष्णऽउ॒त वा॑ पृथि॒व्या म॒हो वा॑ विष्णऽउ॒रोर॒न्तरि॑क्षात्।
उ॒भा हि हस्ता॒ वसु॑ना पृ॒णस्वा प्रय॑च्छ॒ दक्षि॑णा॒दोत स॒व्याद्विष्ण॑वे त्वा॥१९॥

१. हे **विष्णो**=सर्वव्यापक प्रभो! **दिवः वा**=चाहे द्युलोक से **उत वा पृथिव्याः**=या पृथिवी से **महः उरो अन्तरिक्षात् वा**=इस महनीय विशाल अन्तरिक्ष से **उभा हि हस्ता**=निश्चय

से दोनों हाथों को **वसुना**=धन से **पृणस्व**=भर दीजिए। **विष्णो**=सर्वव्यापक प्रभो! **दक्षिणात्**=दाहिने हाथ से **उत**=और **सव्यात्**=बायें हाथ से **आप्रयच्छ**=हमें सब ओर से धन दीजिए। **विष्णवे त्वा**=तुझ विष्णु को पाने के लिए ही मैं प्रयत्नशील होता हूँ। २. उल्लिखित मन्त्रार्थ में प्रभु से द्युलोक, पृथिवीलोक व अन्तरिक्षलोक के वसु की याचना है। द्युलोक का वसु 'ज्ञान' है, पृथिवीलोक का वसु 'स्वास्थ्य' है और अन्तरिक्षलोक का वसु 'नैर्मल्य' है। एवं, भक्त, ज्ञान, स्वास्थ्य व हृदय की निर्मलता व सत्य की प्रभु से याचना करते हैं। वे प्रभु इन वसुओं के साथ हमें सर्वत्र निवास के लिए आवश्यक धन भी प्राप्त कराते हैं। इस प्रकार आन्तर व बाह्य धनों को प्राप्त करके हम अध्यात्म उन्नति के लिए पूर्ण अवसर पाते हैं। इस अवसर का उचित उपयोग उठाकर हम उस विष्णु को पाने में समर्थ होते हैं।

भावार्थ—अनुकूल वातावरण पाकर हम प्रभु को प्राप्त करने के मार्ग पर चलें।

ऋषिः—औतथ्यो दीर्घतमाः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—विराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

विष्णु के तीन विक्रमण

प्र तद्विष्णु स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा॥२०॥

वह **विष्णुः**=सर्वव्यापक प्रभु **मृगः**=(मार्ष्टि) हमारे जीवन का शोधन करनेवाले हैं। प्रभु के स्मरण से वासनाओं का विनाश हो जाता है। **न भीमः**=वे प्रभु हमारे लिए भयंकर नहीं हैं, वे तो पुत्रों के लिए पिता के समान हैं। **कुचरः**=(कौ चरति) वे प्रभु सम्पूर्ण पृथिवी पर विचरण करनेवाले हैं (क्वायं चरतीति)। सर्वव्यापक होते हुए भी न जाने कहाँ हैं। अदृश्य होने से ऐसा ही कहना पड़ता है। **गिरिष्ठाः**=वे प्रभु वेदवाणी में स्थित हैं। **सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति**=सारे वेद उस प्रभु का प्रतिपादन कर रहे हैं। (देहोऽपि गिरिरुच्यते—उ०) वे प्रभु 'इस शरीर में स्थित हैं'। आश्चर्य तो यही है कि समीप-से-समीप हमारे ही शरीर में होते हुए दूर-से-दूर हैं—अदृश्य हैं। ये विष्णु वे हैं **यस्य**=जिनके **त्रिषु**=तीन **उरुषु**=विस्तृत **विक्रमणेषु**=विक्रमरूप लोकों में **विश्वानि**=सब **भुवनानि**=(भूतजातानि) प्राणी **अधिक्षियन्ति**=निवास करते हैं। **तत्**=(तस्मात्) अतः वे विष्णु **वीर्येण प्रस्तवते**=अपने वीरतापूर्ण कर्मों के कारण स्तुत किये जाते हैं।

भावार्थ—वे प्रभु हमारे जीवनों को शुद्ध बनाते हैं। क्या भूपृष्ठ पर, क्या पर्वतशिखर पर वे सर्वत्र विद्यमान हैं। ये तीनों लोक प्रभु के ही तीन विक्रमण हैं। इन्हीं में सब प्राणियों का निवास है।

ऋषिः—औतथ्यो दीर्घतमाः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—भुरिगार्चीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

वैष्णव

विष्णो रराटमसि विष्णोः श्नप्त्रे स्थो विष्णोः स्यूरसि विष्णोर्ध्रुवोऽसि।
वैष्णवमसि विष्णवे त्वा॥२१॥

गत मन्त्र के अनुसार विष्णु का स्मरण करनेवाले पवित्र बनते हैं। विष्णु यज्ञरूप हैं, अतः इनका जीवन यज्ञमय होता है। मन्त्र में कहते हैं कि तू **विष्णोः**=यज्ञ का **रराटम् असि**=ललाट है, मस्तक है। यज्ञ करनेवालों का तू मूर्धन्य बनता है। 'रठ परिभाषणे' धातु

से इस शब्द को बनाएँ तो अर्थ होगा कि तू सदा यज्ञ का ही जप करनेवाला, यज्ञ की ही रट लगानेवाला है। **विष्णोः**=यज्ञ के **श्नप्त्रे**=(सृक्किणी) तुम ओष्ठप्रान्त हो। तुम्हारे जीवन का आदि-अन्त यह यज्ञ ही है। तू **विष्णोः**=यज्ञ को **स्यूः असि**=अपने जीवन के साथ सी लेनेवाला है। यज्ञ तेरे जीवन से अविच्छिन्न रूप से जुड़ गया है। **विष्णोः**=यज्ञ का तू **ध्रुवः असि**=ध्रुव है। निश्चित स्थान है। तू यज्ञ से अलग नहीं होता, यज्ञ तुझसे अलग नहीं होता। तू तो इस यज्ञ का भक्त बनकर **वैष्णवम् असि**=वैष्णव ही हो गया है। **विष्णवे त्वा**=तूने अपने को विष्णु के लिए अर्पित कर दिया है।

भावार्थ—हम अपने जीवनों को यज्ञमय बनाकर 'वैष्णव' बन जाएँ।

सूचना—यज्ञ विष्णु है—विष्लृ व्याप्तौ—व्यापक कर्म है।

ऋषिः—औतथ्यो दीर्घतमाः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—साम्नीपङ्क्तिः[क], भुरिगार्षीबृहती[र]। **स्वरः**—पञ्चमः[क], मध्यमः[र]॥

बृहती वाक्

[क]देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्।
[र]आददे नार्यसीदमहꣳरक्षसां ग्रीवाऽअपि कृन्तामि।
बृहन्नसि बृहद्रवा बृहतीमिन्द्राय वाचं वद॥२२॥

१. गत मन्त्र में जीवन को यज्ञमय बनाने का उल्लेख था। जीवन को यज्ञमय बनानेवाला व्यक्ति संसार में प्रत्येक वस्तु का उपयोग विशेष प्रकार से करता है। वह कहता है कि हे पदार्थ! मैं **त्वा**=तुझे **सवितुः देवस्य**=उस प्रेरक देव के **प्रसवे**=प्रसव में, अनुज्ञा में **आददे**=ग्रहण करता हूँ। न अतियोग करता हूँ, न अयोग; अपितु यथायोग करके मैं तुझसे लाभान्वित होता हूँ। **अश्विनोः बाहुभ्याम्**=प्राणापानों के प्रयत्न से मैं तेरा ग्रहण करता हूँ। मैं तुझे बिना प्रयत्न के लेना नहीं चाहता, क्योंकि उस स्थिति में प्रत्येक पदार्थ हानिकर होता है। **पूष्णोः हस्ताभ्याम्**=मैं पूषा के हाथों से तेरा ग्रहण करता हूँ और तेरे उपयोग में मेरा दृष्टिकोण स्वाद व सौन्दर्य न होकर पोषण होता है। २. हे पदार्थ! वस्तुतः इसी प्रकार ग्रहण किया हुआ तू नारी (नराणामियम्) मनुष्यों का हित करनेवाला होता है। अथवा **नारिः असि**=मनुष्यों का (न अरिः) शत्रु नहीं है। जब तक दृष्टिकोण पोषण का बना रहता है, यह मनुष्य का हित-ही-हित करता है। दृष्टिकोण स्वाद का बना और ये सृष्टि के पदार्थ उसके अहित का कारण बन जाते हैं। **'रसमूला हि व्याधयः'**=सब व्याधियाँ इस स्वाद के ही कारण होती हैं। मैं इन पदार्थों का ठीक उपयोग करके इस स्थिति में हो गया हूँ कि **रक्षसां ग्रीवा अपि**=इन रोगकृमियों की ग्रीवा को ही **कृन्तामि**=काट देता हूँ। इन रोगकृमियों का समूलोन्मूलन हो जाता है। ३. हे प्रभो! आप **बृहन् असि**=मेरे इन रोगकृमियों का उद्बर्हण (विनाश) करनेवाले हो। इन राक्षसों की ग्रीवा को मैं नहीं काटता, यह काम आप ही करते हो। **बृहद् रवाः**=आप हृदयस्थरूपेण वृद्धिकारक उपदेश देनेवाले हैं। **इन्द्राय**=मुझ जितेन्द्रिय के लिए इस **बृहतीम्**=वृद्धि की कारणभूत **वाचम्**=वेदवाणी को **वद**=कहिए। आपकी कृपा से मैं इस वेदवाणी को सुनूँ। इसके सुनने से मेरी वासनाओं का उद्बर्हण होता है और यह शरीर, मन व मस्तिष्क—सभी दृष्टिकोणों से मेरी वृद्धि का कारण बनती है।

भावार्थ—मैं सब वस्तुओं का ठीक प्रयोग करूँ। राक्षसों को जीतूँ। प्रभु की बृहती वाक् को सुनूँ।

ऋषिः—औतथ्यो दीर्घतमाः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—याजुषीबृहती [उ], स्वराड्ब्राह्म्यनुष्टुप् [ख], स्वराड्ब्राह्म्युष्णिक् [र]। **स्वरः**—मध्यमः [उ], गान्धारः [ख], ऋषभः [र]॥

कृत्या का उत्कृन्तन (उच्छेद)

[उ]रक्षोहणं वलगहनं [क]वैष्णवीमिदमहं तं वलगमुत्किरामि [ख]यं मे निष्ट्यो यमुमात्यो निचखानेदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे समानो यमसमानो निचखानेदमहं तं वलगमुत्किरामि [र]यं मे सबन्धुर्यमसबन्धुर्निचखानेदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे सजातो यमसजातो निचखानोत्कृत्याङ्किरामि॥२३॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति 'बृहतीं वाचं वद' पर थी—बृहती वाक् को बोलिए। उस बृहती वाक् को जो **रक्षोहणम्**=सब राक्षसी वृत्तियों को समाप्त कर देती है। राक्षसी वृत्तियों को ही नहीं यह रोगकृमियों को भी नष्ट करनेवाली है। २. यह वाणी **वलगहनम्**=(वल veil, संवृत रूप में ग=गति करनेवाले) हमारे मनों में छिपेरूप में विचरनेवाले मनसिज (काम) को नष्ट करनेवाली है। यह काम न जाने कब और कहाँ से हमारे अन्दर प्रविष्ट हो जाता है। हम वेदवाणी का अध्ययन करते हैं तो यह उस वासना का विनाश करती है। ३. **वैष्णवीम्**=यह वाणी मुझे वासना से ऊपर उठाकर यज्ञिय मनोवृत्तिवाला बनाती है और विष्णु (परमात्मा) को प्राप्त कराती है। ४. इस वाणी को अपनाकर **इदम्**=(इदानीम्) अब **अहम्**=मैं **तं वलगम्**=अदृश्य रूप से मेरे अन्दर आ जानेवाली उस वासना को **उत्किरामि**=उखाड़कर बाहर फेंक देता हूँ, **यम्**=जिस वासना को **मे**=मुझमें **निष्ट्यः**=बाहर होनेवाले या **यम्**=जिसको **अमात्यः**=मेरे साथ ही होनेवाले किसी व्यक्ति ने **निचखान**=गाड़ दिया है। हममें वासनाएँ सङ्ग से उत्पन्न हो जाती हैं। कई बार इसके उत्पन्न करनेवाले बाहर के व्यक्ति होते हैं। ५. **इदम्**=अब **अहम्**=मैं **तं वलगम्**=उस संवृतरूप से गति करनेवाले काम को **उत्किरामि**=उखाड़ फेंकता हूँ **यम्**=जिसे **मे**=मुझमें **समानः**=समान आयु का **यम्**=जिसे **असमानः**=बड़ी आयु का मनुष्य **निचखान**=गाड़ देता है। हमउम्र साथियों से यह वासना उत्पन्न कर दी जाती है। कई बार बड़ी आयु के व्यक्ति भी इस बुरी आदत को पैदा करने के कारण बन जाते हैं। ६. **इदम् अहम्**=अब मैं **तं वलगम्**=उस मनसिज (काम) को **उत्किरामि**=उखाड़ फेंकता हूँ **यम्**=जिसे **मे**=मुझमें **सबन्धुः**=कोई सगोत्र व्यक्ति या **यम्**=जिसे **असबन्धुः**=असगोत्र व्यक्ति **निचखान**=गाड़ देता है। इस वासना की उत्पत्ति में रिश्तेदार भी कारण बन जाते हैं और जो रिश्तेदार नहीं होते वे भी। ७. **इदम् अहम्**=यह मैं **तं वलगम्**=उस वासना को **उत्किरामि**=उखाड़ फेंकता हूँ **यम्**=जिसे **मे**=मुझमें **सजातः**=सगा व्यक्ति, समान स्थान में उत्पन्न हुआ व्यक्ति **यम्**=जिसे **असजातः**=असमान स्थान में उत्पन्न व्यक्ति, दूर का व्यक्ति **निचखान**=गाड़ देता है। **कृत्याम्** (कृती छेदने)=छेदन-भेदन करनेवाली इस वासना को मैं **उत्किरामि**=निश्चय से उखाड़ फेंकता हूँ।

भावार्थ—मानव-जीवन का ध्येय यही होना चाहिए कि 'मैं इस अनन्त कारणों से, न जाने कब उत्पन्न हो जानेवाली अदृश्य वासना को अवश्य ही उखाड़ फेंकूँगा।

ऋषिः—औतथ्यो दीर्घतमाः। **देवता**—सूर्यविद्वांसौ। **छन्दः**—भुरिगार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

'स्वराट् से सर्वराट्'

स्वराडसि सपत्नहा सत्रराडस्यभिमातिहा जनराडसि रक्षोहा सर्वराडस्यमित्रहा॥२४॥

१. गत मन्त्र के अनुसार वासना का उच्छेद करनेवाला यह 'दीर्घतमा' प्रभु का प्रिय बनता है। प्रभु इससे कहते हैं कि तू अपने इस जीवन के प्रथम प्रयाण में **स्वराट् असि**=स्वराट् है, अपना शासन करनेवाला बना है (स्व=अपना, राज्=regulate) तूने अपने जीवन को बड़ा नियमित बनाया है। **सपत्नहा**=तूने 'काम, क्रोध, लोभ, मोह व मद-मत्सर' इन सब शत्रुओं का हनन किया है। २. जीवन के दूसरे प्रयाण में तू **सत्रराट् असि**=यज्ञों से दीप्त होनेवाला बना है, यज्ञों से तेरी कीर्ति चारों ओर फैली है और **अभिमातिहा**=तूने अभिमानरूप शत्रु का संहार किया है। ३. अब जीवन की तृतीय मंजिल में **जनराट् असि**= तू अपने विकास से चमकनेवाला हुआ है (जनी=प्रादुर्भाव, विकास, evolution) और **रक्षोहा**=सब रोगकृमियों का या राक्षसी वृत्तियों का हनन करनेवाला है। शरीर से भी नीरोग रहता है और मन से भी प्रसादमय रहता है। ४. इस प्रकार **'सर्वराट् असि'**=तू सर्वव्यापक होने से 'सर्व' नामवाले प्रभु से चमकनेवाला बना है। उसको सदा हृदय में धारण करने से तेरा चेहरा ब्रह्मवर्चस् की दीप्ति से चमकता है और तू **अमित्रहा**=अस्नेह की भावना को समाप्त करनेवाला हुआ है। तेरा सबके प्रति प्रेम है। सारी वसुधा तेरा कुटुम्ब बन गई है। सभी तेरी मैं में समाविष्ट हो गये हैं और तू भी अपने उपास्य की तरह 'सर्व' बन गया है।

भावार्थ—हमें क्रमशः 'स्वराट्, सत्रराट् व जनराट्' बनकर सर्वराट् बनना है।

ऋषिः—औतथ्यो दीर्घतमाः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—ब्राह्मीबृहती[क], आर्षीपङ्क्तिः[र]। **स्वरः**—मध्यमः[क], पञ्चमः[र]॥

'प्रोक्षण-अवनयन-अवस्तरण' उपधान-पर्यूहण

[क]रक्षोहणो वो वलगहनः प्रोक्षामि वैष्णवान्रक्षोहणो वो वलगहनोऽवनयामि वैष्णवान्रक्षोहणो वो वलगहनोऽवस्तृणामि वैष्णवान्रक्षोहणौ [र]वां वलगहनाऽउपदधामि वैष्णवी रक्षोहणौ वां वलगहनौ पर्यूहामि वैष्णवी वैष्णवमसि वैष्णवा स्थ॥२५॥

१. २३वें मन्त्र में राक्षसी वृत्तियों व काम के विध्वंस का उल्लेख था। उन्हीं के विषय में प्रभु कहते हैं कि **वः**=तुममें से **रक्षोहणः**=इन राक्षसी वृत्तियों का विध्वंस करनेवालों को **वलगहनः**=संवृत (veiled) रूप में गति करनेवाले इस काम का हनन करनेवालों को **प्रोक्षामि**=मैं ज्ञान से सिक्त करता हूँ। जो तुम **वैष्णवान्**=वासना को जीतकर व्यापक मनोवृत्तिवाले बने हो (विष् व्याप्तौ)। २. **वः**=तुममें से **रक्षोहणः** =रोगकृमियों का संहार करनेवालों को तथा **वलगहनः**=काम का हनन करनेवाले राक्षसों को **अवनयामि**=इन बन्धनों से दूर ले-जाता हूँ, क्योंकि तुम **वैष्णवान्**=यज्ञिय जीवनवाले बने हो (विष्णुर्वै यज्ञः) ३. **रक्षोहणः**= अपने रमण के लिए औरों का क्षय करनेवालों राक्षसों का हनन करनेवाले **वलगहनः**=वासना को नष्ट करनेवाले **वः**=तुम्हें **अवस्तृणामि**=संसार के कष्टों से दूर आच्छादित करता हूँ, क्योंकि तुम **वैष्णवान्**=विष्णु—व्यापक प्रभु के उपासक बने हो। ४. गृहस्थ में **रक्षोहणौ**= रोगकृमियों का नाश करनेवाले **वाम्**=तुम दोनों **वलगहनौ**=वासना का हनन करनेवाले पति-पत्नी को **उपदधामि**=मैं अपने समीप स्थापित करता हूँ। **वैष्णवी**=वह वेदवाणी इन पति-पत्नी के हृदयों को विशाल बनानेवाली है। **रक्षोहणौ**=राक्षसी भावों का नाश करनेवाले **वाम्**=तुम दोनों **वलगहनौ**=कामघाती पति-पत्नी को **पर्यूहामि**=इस वेदवाणी के द्वारा (परि ऊहामि=परि प्रापयामि) सब सन्देहों के परे पहुँचाता हूँ। आपको आपके मार्ग का निश्चय कराता हूँ। **वैष्णवी**=यह वेदवाणी व्यापक ज्ञानवाली है। **वैष्णवम् असि**=वेद का ज्ञान यज्ञों व विष्णु का ज्ञान है। इनमें परमात्मा व यज्ञों का प्रतिपादन है। **वैष्णवाः स्थ**=तुम सब उस व्यापक

प्रभु के उपासक बनो।

भावार्थ—प्रभु हमें ज्ञान से अभिषिक्त करते हैं, वासनाओं के बन्धनों से दूर ले-जाते हैं, संसार के कष्टों से सुदूर सुरक्षित करते हैं, अपने समीप स्थापित करते हैं और सब सन्देहों से परे पहुँचाते हैं।

ऋषिः—औतथ्यो दीर्घतमाः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—निचृदार्षीपङ्क्तिः[क], निचृदार्षीत्रिष्टुप्[र]।
स्वरः—पञ्चमः[क], धैवतः[र]॥

यव

[क]**देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। आददे नार्यसीदमहꣳ रक्षसां ग्रीवाऽअपि कृन्तामि। [र]यवोऽसि यवयास्मद् द्वेषो यवयारातीर्दिवे त्वाऽन्तरिक्षाय त्वा पृथिव्यै त्वा शुन्धन्ताँल्लोकाः पितृषदनाः पितृषदनमसि॥ २६॥**

१. गत मन्त्र की भावना के अनुसार ज्ञान से सिक्त व्यक्ति संसार में ठीक प्रकार से चलता है। वह कहता है कि हे पदार्थ! मैं **त्वा**=तुझे **सवितुः देवस्य**=उस प्रेरक देव की **प्रसवे**=अनुज्ञा में ग्रहण करता हूँ, अर्थात् प्रभु ने **'पयः पशूनाम्'**=पशुओं के दूध के प्रयोग का आदेश दिया है तो मैं उनका दूध ही लेता हूँ, उनका मांस नहीं खाता। **अश्विनोः बाहुभ्याम्**=प्राणापान के प्रयत्न से मैं तेरा ग्रहण करता हूँ। **'अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व'**=इस उपदेश का ध्यान करता हुआ श्रम को अपने जीवन से दूर नहीं होने देता। **पूष्णो हस्ताभ्याम् आददे**=पूषा के हाथों से मैं तेरा ग्रहण करता हूँ। मैं स्वाद के लिए नहीं खाता, सौन्दर्य के लिए नहीं पहनता, परिणमतः तू **नारी असि**=पुरुष नर की शक्ति बनता है। विपरीतावस्था में यह उसकी शक्ति का ह्रास करनेवाला उसका (अरिः) शत्रु हो जाता है। २. **इदम्**=अब इस प्रकार शक्तिशाली बनकर **रक्षसां ग्रीवा अपिकृन्तामि**=मैं राक्षसों की ग्रीवा को भी काट देता हूँ। अपने रमण के लिए औरों का क्षय करनेवाले रोगकृमि ही 'रक्षस्' हैं (र+क्ष)। जब मनुष्य प्रत्येक पदार्थ का यथायोग सेवन करता है, प्रयत्न से पदार्थों का उपार्जन करता है और पोषण के दृष्टिकोण से ही वस्तुओं को स्वीकार करता है तब वस्तुतः वह रोगकृमियों का संहार कर पाता है। रोगकृमियों के नाश से शरीर तो सुन्दर बनता ही है, मन भी निर्मल बनता है। सब पदार्थों का ठीक प्रयोग हमारे हृदयों को वासनाओं से हिंसित नहीं होने देता, अतः मन्त्र में कहते हैं कि ३. **यवः असि**=हे प्रभो! आप यव हो। (यु मिश्रणामिश्रणयोः) हमें बुराइयों से पृथक् करके अच्छाइयों से जोड़नेवाले हो, अतः **अस्मत्**=हमसे **द्वेषः**=द्वेष को **यवय**=पृथक् कीजिए। **अरातीः**=न देने की भावनाओं को **यवय** =पृथक् कीजिए। ४. हे प्रभो! **दिवे त्वा**=मस्तिष्करूप द्युलोक के लिए मैं तुझे प्राप्त होता हूँ। आपकी उपासना से मेरा मस्तिष्क ठीक हो। **अन्तरिक्षाय त्वा**=हृदयान्तरिक्ष के ठीक रखने के लिए मैं आपको प्राप्त होता हूँ। आपकी कृपा से मेरा हृदयान्तरिक्ष वासनाओं के बवण्डर से मलिन न हो। **पृथिव्यै त्वा**=शरीररूप पृथिवी के विस्तार के लिए मैं तुझे प्राप्त होता हूँ। आपकी उपासना से मेरा शरीर शुद्ध बनता है। ५. **लोकाः शुन्धन्ताम्** =मेरे तीनों लोक शुद्ध हों। मस्तिष्करूप द्युलोक, हृदयरूप अन्तरिक्षलोक तथा शरीररूप पृथिवीलोक सभी मलों से रहित हों। द्युलोक में भ्रमों के बवण्डर न हों, अन्तरिक्ष में वासनाओं के तूफान न हों, पृथिवी पर—शरीर में **मल**=foreign matter का सञ्चय न हो। ६. **पितृषदनाः**=हे प्रभो! हमारे घर ज्ञानियों के स्थान हों (पितरः सीदन्तु येषु) अर्थात् हमें सदा ज्ञानियों का सङ्ग प्राप्त रहे। अब मन्त्र की समाप्ति पर अपने को प्रेरणा देता हुआ

दीर्घतमा कहता है कि हे मेरे हृदय **'पितृषदनम् असि'**—तू ज्ञानियों का घर है, अर्थात् मेरे हृदय में सदा ज्ञानियों की चर्चा (विचारणा) रहे।

भावार्थ—ज्ञानियों के सम्पर्क में रहकर हम अपने जीवनों को शुद्ध कर लें। हमारे हृदयों में न द्वेष हो न अदान की भावना।

ऋषिः—औतथ्यो दीर्घतमाः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—ब्राह्मीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

ब्रह्म, क्षत्र, आयु, प्रजा

उद्दिवंꣳस्तभानान्तरिक्षं पृण दृꣳहस्व पृथिव्यां द्युतानस्त्वा मारुतो मिनोतु मित्रावरुणौ ध्रुवेण धर्मणा। ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि रायस्पोषवनि पर्यूहामि। ब्रह्म दृꣳह क्षत्रं दृꣳहायुर्दृꣳह प्रजां दृꣳह॥२७॥

दीर्घतमा को, जिसने गत मन्त्र में सब लोकों के शोधन की प्रार्थना की है, प्रभु प्रेरणा देते हैं कि—१. **दिवं उत्स्तभान**=तू अपने मस्तिष्क को ऊपर थाम। जैसे पर्वत के मेखलाप्रदेश में ही बादल उमड़ते हैं और उसका शिखर सूर्य के प्रकाश से दीप्त रहता है, उसी प्रकार तेरा मस्तिष्क भी ज्ञान की ज्योति से जगमगाता रहे। वह कभी भ्रमों व सन्देहों से न भर जाए। २. **अन्तरिक्षम्**=तू अपने हृदयान्तरिक्ष को **पृण**=परिपूरण कर। अपने हृदय को वासनाओं के आक्रमण से सुरक्षित कर। ३. **पृथिव्यां दृंहस्व**=इस शरीर में तू दृढ़ बन। शरीर ही पृथिवी है। जैसे पृथिवी दृढ़ है, उसी प्रकार तू दृढ़ शरीरवाला बन। ४. **द्युतानः**=(दिवं तनोति) ज्ञान का विस्तार करनेवाला **मारुतः**=प्राण-साधना करनेवाला विद्वान् **त्वा**=तुझे **मिनोतु**=विषयों से परे फेंके, अर्थात् विषयवासना के संसार में उलझने न दे। ५. **मित्रावरुणौ**=स्नेह की देवता तथा द्वेष-निवारण की देवता तुझे **ध्रुवेण धर्मणा**=ध्रुव धर्म से युक्त करें, अर्थात् स्नेह व अद्वेष तुझे धर्म के मार्ग पर दृढ़ करें। ६. **ब्रह्मवनि**=ज्ञान का विजय करनेवाले **त्वा**=तुझे, **क्षत्रवनि**=बल का विजय करनेवाले, **रायस्पोषवनि**=धन के पोषण का विजय करनेवाले **त्वा**=तुझको **पर्यूहामि**=मैं अपने समीप प्राप्त कराता हूँ। वस्तुतः प्रभु को वही प्राप्त करता है जो ज्ञान के द्वारा अध्यात्म उन्नति का साधन करता है, बल के द्वारा शरीर की उन्नति का साधन करता है और धन से सांसारिक उन्नति को सिद्ध करता है। ज्ञान से **'सत्य'**, बल से **'यश'** तथा धन से **'शक्ति'** साधन करके हम प्रभु को प्राप्त करते हैं। ७. अतः तू **ब्रह्म दृंह**=अपने ज्ञान को दृढ़ कर, **क्षत्रं दृंह**=बल को दृढ़कर, **आयुः दृंह**=अपनी आयु को दृढ़कर और **प्रजाम्**=प्रजा को **दृंह**=दृढ़ कर। वस्तुतः ज्ञान की दृढ़ता से जीवन की दृढ़ता होती है और बल की दृढ़ता से सन्तान की दृढ़ता सिद्ध होती है। ज्ञान से जीवन, बल से सन्तान उत्तम होते हैं।

भावार्थ—प्रभु को प्राप्त करने के लिए जहाँ ज्ञान और बल की आवश्यकता है, वहाँ जीवन व सन्तान को सुन्दर बनाना भी नितान्त आवश्यक है।

ऋषिः—औतथ्यो दीर्घतमाः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—आर्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

छाया

ध्रुवासि ध्रुवोऽयं यजमानोऽस्मिन्नायतने प्रजया पशुभिर्भूयात्। घृतेन द्यावापृथिवी पूर्येथामिन्द्रस्य छदिरसि विश्वजनस्य छाया॥२८॥

१. गत मन्त्र की प्रेरणा ही प्रस्तुत मन्त्र में चल रही है। प्रभु कहते हैं कि अपने ज्ञान

व बल को दृढ़ करके एक गृहपत्नी **ध्रुवा असि**=ध्रुव बनी है। यह अपने मार्ग से विचलित नहीं होती। २. **अयं यजमानः**=यह यज्ञ के स्वभाववाला पति भी **अस्मिन् आयतने**=इस घर में **ध्रुवः**=स्थिर होकर निवास करनेवाला है। पति-पत्नी दोनों ही ध्रुव हैं। ये अपने मार्ग से विचलित नहीं होते। २. इस ध्रुवता के परिणामस्वरूप यह यजमान **प्रजया पशुभिः**=उत्तम सन्तानों व उत्तम गवादि पशुओं से **भूयात्**=फूले व फले। ३. इसके **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्क व शरीर **घृतेन**=ज्ञान की दीप्ति से व मलों के क्षरण से **पूर्येथाम्**=पालित व पूरित हों। मस्तिष्क ज्ञानज्योति से पूर्ण हो तो शरीर भी मलों के क्षरण से पूर्ण स्वस्थ हो। ४. तू **इन्द्रस्य छदिः असि**=परमैश्वर्यशाली व सर्वशक्तिमान् प्रभु की छतवाला है। जैसे छत सर्दी-गर्मी, ओले-वर्षा से बचाती है इस प्रकार तू प्रभुरूपी छतवाला होता है और सब बुराइयों के आक्रमण से बचा रहता है। ५. उस 'इन्द्र' को छत के रूप में प्राप्त करके तू **विश्वजनस्य**=सब लोगों की **छाया**=शरणस्थल बनता है। प्रभु तेरे रक्षक बनते हैं, तू लोगों को सन्ताप से सुरक्षित करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु मेरे रक्षक हैं। मैं औरों का सन्ताप दूर करनेवाला बनूँ। मेरा मस्तिष्क ज्ञानदीप्ति से पूर्ण हो। मेरा शरीर मैल से रहित होकर स्वस्थ बने।

ऋषिः—औतथ्यो दीर्घतमाः। **देवता**—ईश्वरसभाध्यक्षौ। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

वृद्धिशील-प्रिय (वृद्धयः-जुष्टयः)

परि॑ त्वा गिर्वणो॒ गिर॑ऽइ॒मा भ॑वन्तु वि॒श्वतः॑।

वृ॒द्धायु॒मनु॒ वृद्ध॑यो॒ जुष्टा॑ भवन्तु॒ जुष्ट॑यः॥२९॥

१. पिछले मन्त्र की भावना के अनुसार यदि हम 'प्रभु के आश्रय' वाले बनना चाहते हैं तो हमारी प्रार्थना का स्वरूप यह होता है—हे **गिर्वणः**=(गीर्भिः स्तोतुमर्हः) वेद-वाणियों से स्तवन के योग्य प्रभो! **इमाः गिरः** =ये मेरी वाणियाँ **विश्वतः**=सब ओर से हटकर **त्वा परिभवन्तु**=आपके चारों ओर हों, अर्थात् मैं अपना ध्यान और सब ओर से हटकर अपनी वाणियों को आपके स्तवन में लगाऊँ। २. यह प्रभु-स्तवन हमें पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त कराता है। इससे हमारा मस्तिष्क दीप्त बनता है, मन पवित्र बनता है और शरीर दृढ़ बनता है। यह त्रिविध उन्नति करके—तीन पगों को रखकर—मनुष्य उत्कृष्ट जीवनवाला बनता है (वृद्धम् आयुर्यस्य) यह उत्कृष्ट जीवनवाला व्यक्ति 'वृद्धायु' कहलाता है। घर में मूलपुरुष के वृद्धायु होने पर आगे आनेवाले सन्तान भी वैसे ही बनते हैं। **वृद्धायुम् अनु**=इन उत्कृष्ट जीवनवाले पितरों का अनुकरण करते हुए **वृद्धयः**=उनके सन्तान भी वृद्धिवाले होते हैं। सन्तान माता-पिता के अनुरूप ही बनते हैं। ये सन्तान **जुष्टयः**=(जुषी प्रीतिसेवनयोः) बड़े प्रीतिपूर्वक अपने कर्त्तव्यों का सेवन करनेवाले हों और परिणामतः **जुष्टाः भवन्तु**=बड़े प्रिय हों। अपने माता-पिता के प्यारे बनें। बन्धु-बान्धवों व परिचितों के वे प्रिय हों।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन करनेवाले बनें। इससे हमारे जीवन उत्कृष्ट होंगे, हमारे सन्तानों के जीवन अच्छे बनेंगे और अपना कर्त्तव्य सेवन करनेवाले बनकर सभी के प्रिय होंगे।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—ईश्वरसभाध्यक्षौ। **छन्दः**—आर्च्युष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

प्रभु के साथ सिल जाना (इन्द्रस्य स्यूः)

इन्द्र॑स्य॒ स्यूर॑सी॒न्द्र॑स्य ध्रु॒वो॒ऽसि। ऐ॒न्द्रम॑सि वैश्वदे॒वम॑सि॥३०॥

गत मन्त्र में 'दीर्घतमा' ऋषि का प्रभु-स्तवन समाप्त हुआ है। उसकी कामना यही रही है कि मेरी वाणियाँ सब ओर से हटकर प्रभु का ही स्तवन करनेवाली बनें। इससे उत्तम और कामना हो भी क्या सकती है? इस उत्तम कामनावाला यह अब 'मधुच्छन्दाः' बन जाता है—उत्तम इच्छाओंवाला। दूसरे शब्दों में दीर्घतमा=अज्ञान का विदारण करनेवाला मधुच्छन्दा—उत्तम इच्छाओंवाला बनकर अपने से कहता है कि—१. तू **इन्द्रस्य**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **स्यूः**=अपने साथ सी लेनेवाला **असि**=है। तूने उस प्रभु को अपने साथ जोड़ा है। २. **इन्द्रस्य ध्रुवः असि**=तू इन्द्र के ध्रुववाला है, अर्थात् तेरी सारी क्रियाएँ उस इन्द्र के ही चारों ओर घूमती हैं। 'इन्द्र का तू ध्रुव है' यह अर्थ करने पर भी भावना यही है कि तू चारों ओर प्रभु से आवृत है। ३. **ऐन्द्रम् असि**=प्रभु के निरन्तर सम्पर्क के कारण तू भी परमैश्वर्य का अधिकरण बना है और **वैश्वदेवम् असि**=सब दिव्य गुणों का तू अधिकरण हुआ है, अर्थात् 'सतत प्रभु उपासन' का तेरे जीवन पर यह प्रभाव हुआ है कि तू जहाँ परमैश्वर्य का अधिष्ठान बना है वहाँ सब दिव्य गुणों का भी निवासस्थान हुआ है। ऐश्वर्य व दिव्य गुणों को प्राप्त करके तू भी बहुत कुछ उस प्रभु-जैसा हो गया है। उपासना का यह परिणाम होना ही चाहिए था।

भावार्थ—मधुच्छन्दा प्रार्थना करता है कि मैं प्रभु के साथ सिल जाऊँ। उससे अलग हो ही न सकूँ। प्रभु ही मेरे ध्रुव हों—केन्द्रबिन्दु हों। मेरी सारी क्रियाएँ उन्हीं के चारों ओर घूमें जिससे मैं भी परमैश्वर्य व दिव्य गुणों का अधिकरण बनूँ।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

मधुच्छन्दा का प्रभु-स्तवन

विभूर॑सि प्र॒वाह॑णो॒ वह्नि॑रसि हव्य॒वाह॑नः।
श्वा॒त्रो॒ऽसि॒ प्रचे॑तास्तु॒थो॒ऽसि वि॒श्ववे॑दाः॥३१॥

गत मन्त्र के अनुसार प्रभु के साथ अभिन्न हो जाने की कामनावाला मधुच्छन्दा प्रभु-स्तवन करता हुआ कहता है कि—१. हे प्रभो! **विभूः असि**=(वि-भवति) आप सर्वव्यापक हो, सब वैभवोंवाले हो (विभव-विभूति), **प्रवाहणः**=सारे संसार के संचालक हो। इस संसार को गति देनेवाले आप ही हैं। ये अत्यन्त तीव्र गति में चलते हुए पिण्ड आपसे ही गति पा रहे हैं। २. आप **वह्निः असि**=सारे संसार का वहन व धारण करनेवाले हैं, **हव्यवाहनः**=सब प्राणियों के लिए हव्यों को प्राप्त करानेवाले हैं। हव्य पदार्थ का अभिप्राय 'दानपूर्वक अदन' है। आप हमें उन-उन आवश्यक पदार्थों को प्राप्त कराते हैं जिनका त्यागपूर्वक उपभोग करते हुए हम अपने जीवनों का ठीक धारण कर सकें। ३. **श्वात्रः असि**=(शु क्षिप्रम् अतति—म०) आप शीघ्र गतिवाले हैं। आपके कर्मों में एक क्षण का भी विलम्ब नहीं होता। (श्वि=गतिवृद्धि+त्रा) आप गतिशील हैं, सदा वर्धमान हैं और त्राण (रक्षा) करनेवाले हैं। **प्रचेताः**=आप प्रकृष्ट ज्ञानवाले हैं। इस प्रकृष्ट ज्ञान के कारण ही आपकी प्रत्येक क्रिया जीव की वृद्धि का कारण है। ४. **तुथः असि**=(to have authority or power) आप ही ईशान हो, (to be strong) आप शक्तिशाली हो, (to get) आप सभी को प्राप्त हुए-हुए हो, (to increase) सदा वर्धमान हो, (to go, move) सम्पूर्ण गति के देनेवाले हो, (to strike) अन्त में सारे संसार का संहार करनेवाले हो और **विश्ववेदाः**=सम्पूर्ण

धनोंवाले आप ही हो।

भावार्थ—प्रभु सब वैभवोंवाले, सर्वसंसारवाहक, शीघ्र गतिवाले व सदा वृद्ध हैं।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—अग्निः। छन्दः—स्वराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

ऋतधाम स्वर्ज्योतिः

उशिगसि कविरङ्घारिरसि बम्भारिरवस्यूरसि दुवस्वाञ्छुन्ध्यूरसि मार्जालीयः सम्राडसि कृशानुः परिषद्योऽसि पवमानो नभोऽसि प्रतक्वा मृष्टोऽसि हव्यसूदनऽऋतधामासि स्वर्ज्योतिः॥३२॥

१. हे प्रभो! आप **उशिक् असि**=(वष्टि) सब जीवों का भला चाहनेवाले हैं, **कविः**=(कौति सर्वा विद्याः) सृष्टि के आरम्भ में ही सम्पूर्ण ज्ञानों के देनेवाले हैं। इस ज्ञान के द्वारा ही आप कल्याण करते हैं। देवों के रक्षण का प्रकार यह है कि ज़िसका हित चाहते हैं, उसे सद्बुद्धि प्राप्त कराते हैं। २. **अङ्घारिः असि**=(अंहसां अरिः) आप पापों के शत्रु हैं और इस प्रकार **बम्भारिः**=(बिभर्ति विश्वम्) विश्व का पालन करनेवाले हैं। विश्व का सच्चा पालन तो पाप-नाश से ही होता है। किसी व्यक्ति का सच्चा भरण यही है कि उसकी पापवृत्ति को दूर कर दिया जाए। ३. **अवस्यूः असि**=(अवः अन्नमिच्छति, रक्षणं वा) आप सबके लिए अन्न चाहनेवाले हैं। इस अन्न के द्वारा सबका रक्षण चाहते हैं और **दुवस्वान्**=हविष्मान् हैं (दुव इति हविर्नाम)। वस्तुतः जब हम इन देवों से प्राप्त अन्नों को हविरूप बनाकर यज्ञ में आहुति देते हैं तब ये देव उन हवियों से भावित होकर हमें फिर अन्न प्राप्त कराते हैं। प्रभु हमें अन्न प्राप्त कराने के लिए हवि देनेवाला बनाते हैं। ४. **शुन्ध्यूः असि** =(शुद्धः, शुन्धयति) आप पूर्ण शुद्ध हैं, और अतएव **मार्जालीयः**=(मार्ष्टि) शुद्ध करनेवाले हैं। ५. **सम्राट् असि**=(सम्यग्राजते) आप अपनी शक्ति से देदीप्यमान हैं और **कृशानुः**=(शत्रुं कर्शयति) शत्रुओं के क्षीण करनेवाले तथा (कृशम् आनयति) दुर्बलों को प्राणित करनेवाले हैं। शक्ति के दो सुन्दर प्रयोग हैं। (क) शत्रुओं को कृश करना तथा (ख) निर्बलों को प्रोत्साहित करना। ६. **परिषद्यः असि**=(परि सीदन्ति इति, तेषु साधुः) चारों ओर होनेवालों में उत्तम हैं। दिशा-काल-आकाश आदि हमारे चारों ओर होनेवाले पदार्थों में प्रभु उत्तम हैं। वे हमारे चारों ओर होकर हमें मृत्यु से बचाते हैं, **पवमानः**=हमारे जीवनों को पवित्र करते हैं। जब उपासक अपने को प्रभु में अनुभव करता है तब उसकी पापवृत्ति शान्त हो जाती है।

७. **नभः असि**=(नभ्=to kill, nip) आप सब विघ्नों की हिंसा करनेवाले हैं और **प्रतक्वा**=प्रकृष्ट गतिवाले हैं। प्रभु उपासकों के मार्ग के विघ्नों को हिंसित करके उन्हें उन्नति-पथ पर आगे ले-चलते हैं। ८. **मृष्टो असि**=(मृष् तितिक्षायाम्) अत्यन्त सहनशील हैं और **हव्यसूदनः**=(सूदः+पाचकः) दानपूर्वक अदन के योग्य पदार्थों के पकानेवाले हैं। वस्तुतः हव्य पदार्थों के प्रयोग द्वारा हमें सहनशील बनना है। ८. **ऋतधामा असि**=ऋत के आप धारण करनेवाले हैं और **स्वर्ज्योतिः**=स्वयं देदीप्यमान ज्योति हैं। जो भी ऋत का पालन करता है वह ज्योतिर्मय जीवनवाला बनता है।

भावार्थ—हे प्रभो! 'उशिग्' आदि शब्दों से आपका स्मरण करता हुआ मैं भी वैसा ही बन पाऊँ।

ऋषि:—मधुच्छन्दा:। देवता—अग्नि:। छन्द:—ब्राह्मीपङ्क्ति:। स्वर:—पञ्चम:॥

ऋत के दो द्वार

समुद्रोऽसि विश्वव्यचाऽअजोऽस्येकपादहिरसि बुध्न्यो वागस्यैन्द्रमसि सदोऽस्यृतस्य द्वारौ मा मा सन्ताप्तमध्वनामध्वपते प्र मा तिर स्वस्ति मेऽस्मिन् पथि देवयाने भूयात्॥३३॥

१. हे प्रभो! आप **समुद्र: असि**=(समुद्द्रवन्ति भूतानि यस्मात्—द०) सब भूतों के उत्पत्तिस्थान हैं **विश्वव्यचा:**=(विश्वस्मिन् व्यचो व्याप्तिर्यस्य—द०) आप सर्वत्र व्याप्तिवाले हैं। अथवा (सर्वे देवा: सम्यग् उत्कर्षेण द्रवन्ति अत्र—म०) सब देवता उत्कर्ष से आपमें ही सम्यग् गति करते हैं और (विश्वं यज्ञं व्यचंति गच्छति) सब यज्ञों को आप ही प्राप्त होनेवाले हैं अथवा (सह मुद्रया) आप सदा आनन्दसहित हैं, क्योंकि आप सर्वव्यापक हैं। 'जितनी-जितनी व्यापकता उतना-उतना आनन्द' यही नियम है। २. **अजो असि**=हे प्रभो! आप अज हैं (यो न जायते) आप कभी उत्पन्न नहीं होते अथवा (अज गतिक्षेपणयो:) गति के द्वारा सब बुराइयों को दूर फेंकनेवाले हैं। **एकपात्**=आप ही मुख्य गति देनेवाले हैं अथवा (एकस्मिन् पादे विश्वं यस्य—द०) आपके एक ही चरण में यह सारा विश्व है। ३. **अहि: असि**=(अह व्याप्तौ) आप समस्त विद्याओं में व्यापनशील हैं, **बुध्न्य:**=और सब संसार के मूल में हैं, अर्थात् सर्वाधार हैं। **वाक् असि**=आप ही वाणी हैं अथवा (वक्ति) सब ज्ञानों का उपदेश देनेवाले हैं। **ऐन्द्रम् असि**=इन्द्र—जीव—का हित करनेवाले हैं **सद:**=सबके अधिष्ठान **असि**=हैं। आपमें अधिष्ठित होकर ही सब चराचर अपना-अपना कार्य कर रहे हैं। हे प्रभो! आप ऐसी कृपा करो कि **ऋतस्य द्वारौ**=ऋत के द्वार **मा**=मुझे **मा सन्ताप्तम्**=सन्तप्त न होने दें। 'विद्या+श्रद्धा' ये दो ऋत के द्वार हैं। अकेली विद्या लङ्गड़ी है तो अकेली श्रद्धा अन्धी है। ये दोनों अलग-अलग अनृत हैं—मनुष्य के सन्ताप का कारण बनती हैं। दोनों एक दूसरे की पूर्ति करती हुई ये 'ऋत' बन जाती हैं। ये उस 'ऋत' परमात्मा का द्वार हो जाती हैं और मनुष्य को किसी भी प्रकार सन्तप्त नहीं होने देती। **अध्वपते**=हे मार्गों के रक्षक प्रभो! **अध्वनाम्**=(अध्वनां मध्ये वर्त्तमानम्—म०) मार्गों पर चलनेवाले **मा**=मुझे **प्रतिर**=सब विघ्नों से पार कीजिए। **अस्मिन् देवयाने पथि**=इस देवयान मार्ग पर चलते हुए **मे**=मेरा **स्वस्ति**=कल्याण व उत्तम जीवन **भूयात्**=हो।

भावार्थ—मेरा प्रत्येक कार्य श्रद्धा और विद्या से हो। मैं देवयान मार्ग पर चलता हुआ कल्याण प्राप्त करूँ।

ऋषि:—मधुच्छन्दा:। देवता—अग्नि:। छन्द:—स्वराड्ब्राह्मीबृहती। स्वर:—मध्यम:॥

सगर अग्नियाँ (प्रभुभक्त माता-पिता व आचार्य)

मित्रस्य मा चक्षुषेक्षध्वमग्नय: सगरा: सगरा स्थ सगरेण नाम्ना रौद्रेणानीकेन पात माग्नय: पिपृत माग्नयो गोपायत मा नमो वोऽस्तु मा मा हिꣳसिष्ट॥३४॥

१. गत मन्त्र के अनुसार 'यदि हम चाहते हैं कि हमारे जीवन मार्गभ्रष्ट न हों' तो हमारी यही कामना हो कि हमें 'माता-पिता व आचार्य' सब उत्तम मिलें। माता 'दक्षिणाग्नि' है, पिता 'गार्हपत्य' और आचार्य 'आहवनीय'। मनु के शब्दों में ये ही तीन अग्नियाँ उत्तम हैं। ये सब **सगरा:**=(सह गरेण) स्तुतिसहित हों—प्रभु का स्तवन करनेवाले हों। मधुच्छन्दा

चाहता है कि हे **सगरा: अग्नय:**=सदा प्रभु-स्तवन के साथ रहनेवाली अग्नियो! **मा**=मुझे **मित्रस्य**=स्नेह की **चक्षुषा**=आँख से **ईक्षध्वम्**=देखो। **सगरा: स्थ**=आप सदा प्रभु-स्तुति के साथ रहनेवाले होओ। प्रभु की ओर झुकाववाले आचार्य निश्चय से हमारे जीवनों को सुन्दर बना पाएँगे। हम सदा इनके प्रिय बने रहें, जिससे वे हमारे जीवनों का ठीक निर्माण कर सकें। २. **सगरेण नाम्ना**=स्तुतियुक्त नम्रता से और **रौद्रेण अनीकेन**=(रुत् र) उपदेश देनेवाले मुख से या=(splendour, brilliance) तेज से हे **अग्नय:**=अग्नियो (माता-पिता, आचार्यो)! **मा पात**=मेरी रक्षा करो। हे अग्नियो! **मा पिपृत**=मेरा पालन व पूरण करो। **गोपायत मा**=मेरा रक्षण करो। मेरे शरीर को रोगों से, मन को वासनाओं से और मस्तिष्क को कुविचारों से बचाओ। मेरा मन स्तुति व नम्रता से पूर्ण हो (सगरेण नाम्ना), मेरा मस्तिष्क ज्ञान से भरा हो (रौद्रेण) और मेरा शरीर तेजस्वी हो (अनीकेन)। ३. हे अग्नियो! **व:**=आपके लिए **नम: अस्तु**=हमारा मस्तक सदा नत हो। हम सदा 'माता-पिता आचार्य' के प्रति नतमस्तक बने रहें। **मा**=मुझे **मा**=मत **हिंसिष्ट**=हिंसित होने दो। इन अग्नियों की कृपा से मेरे शरीर, मन व मस्तिष्क में सदा अग्नित्व=आगे बढ़ने की वृत्ति बनी रहे। मैं सदा शारीरिक, मानस व मस्तिष्क सम्बन्धी उन्नति करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—मैं प्रभु के उपासक 'माता-पिता आचार्य' को प्राप्त करूँ। उनके द्वारा मेरे जीवन में स्तुति, नम्रता, ज्ञान व तेजस्विता का सञ्चार हो। मेरा शरीर, मन व मस्तिष्क सभी उन्नत हों।

ऋषि:—मधुच्छन्दा:। **देवता**—अग्नि:। **छन्द:**—निचृद्ब्राह्मीबृहती। **स्वर:**—मध्यम:॥

विश्वरूप ज्योति

ज्योतिरसि विश्वरूपं विश्वेषां देवानाᳬसमित्। त्वᳬसोम तनूकृद्भ्यो द्वेषोभ्योऽन्यकृतेभ्यऽउरु यन्तासि वरूथᳬस्वाहा जुषाणोऽअप्तुराज्यस्य वेतु स्वाहा॥३५॥

'गत मन्त्र के अनुसार उत्तम माता-पिता व आचार्य के सम्पर्क में आनेवाला यह 'मधुच्छन्दा' शरीर में 'सोम' की रक्षा के द्वारा कैसा बनता है?' इसका वर्णन प्रस्तुत मन्त्र में करते हैं। १. हे सोम! तू **विश्वरूपं ज्योति: असि**=सब पदार्थों का निरूपण करनेवाला ज्ञान है। यह सोम की रक्षा करनेवाला सब पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करता है। २. **विश्वेषां देवानां समित्**=यह सुरक्षित सोम सब दिव्य गुणों को दीप्त करनेवाला होता है। सोम की रक्षा होने पर मन में द्वेषादि बुरी वृत्तियाँ उत्पन्न ही नहीं होतीं और दिव्य गुणों का विकास होता है। ३. हे सोम! **त्वम्**=तू **तनूकृद्भ्य:**=(तनूं कृन्तन्ति) शरीर को छिन्न-भिन्न करनेवाले **अन्यकृतेभ्य:**=दूसरों के विषय में या दूसरों से किये गये (अन्येषु अन्यै: वा कृतेभ्य:) **द्वेषोभ्य:**=द्वेषों से **उरु**=खूब **यन्ता**=रोकनेवाला **असि**=है। सोम का पान करनेवाला द्वेष पर क़ाबू पा लेता है। सोमरक्षा के अभाव में मनुष्य औरों से द्वेष करनेवाला बनता है और अपने ही शरीर को छिन्न-भिन्न कर लेता है। ४. यह सुरक्षित सोम **वरूथम्**=रक्षण (cover) को **उरु**=खूब **यन्ता**=देनेवाला **असि**=है। यह शरीर को रोगों से बचाता है तो मन को मैल से तथा मस्तिष्क को कुण्ठा से बचानेवाला होता है। **स्वाहा**=(सु+आह) यह बात कितनी सुन्दर कही गई है? ५. **जुषाण:**=सोम का प्रीतिपूर्वक सेवन करता हुआ, अर्थात् बड़े उत्साह से शरीर में सोम को सुरक्षित करता हुआ यह मधुच्छन्दा **अप्तुराज्यस्य**=(अप्तु=सोम, शरीर में व्याप्त होनेवाला, आज्य=तेज:—तै० १।६।३।४) शरीर में व्याप्त होनेवाले सोम के तेज

को **वेतु**=(वी गति) प्राप्त हो। **स्वाहा**=इस कार्य के लिए वह अधिक-से-अधिक (स्व का हा) आत्मत्याग करे। सब आरामों को छोड़कर तपस्वी बने।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम ज्ञान को बढ़ाता है, दिव्य गुणों को दीप्त करता है, द्वेष से दूर करता है। शरीर, मन व बुद्धि सभी को सुरक्षित करता है। तेजस्वी बनाता है। मधुच्छन्दा की ये ही उत्तम इच्छाएँ हैं। उसकी ये सब इच्छाएँ सोम के अनुग्रह से पूर्ण होती हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदार्चीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

कुटिलता व पाप से दूर

अग्ने नर्य सुपथा रायेऽअस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्युस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमऽउक्तिं विधेम॥३६॥

१. गत मन्त्र का मधुच्छन्दा सोमरक्षा द्वारा सब बुराइयों को दूर करके 'अगस्त्य'=पाप का संहार करनेवाला बनता है और प्रभु से आराधना करता है कि—हे **अग्ने**=सर्वनेतः परमात्मन्! **अस्मान्**=हमें **राये**=धनों की प्राप्ति के लिए **सुपथा**=उत्तम मार्ग से **नय**=ले-चलिए। २. हे **देव**=दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभो! आप हमारे **विश्वानि**=सब **वयुनानि**=कर्मों को व प्रज्ञानों को **विद्वान्**=जानते हैं। ज्यों ही कोई अशुभ विचार हममें उत्पन्न हो आप उसे उसी समय हमसे पृथक् करें, जिससे वह कार्य का रूप धारण करे ही नहीं। ३. आप **अस्मत्**=हमसे **जुहुराणम्**=कुटिलता को तथा **एनः**=पाप को **युयोधि**=दूर कीजिए (यु=अमिश्रण)। पाप व कुटिलता हमारे पास फटकें ही नहीं। ४. इसी उद्देश्य से हम **ते**=तेरे लिए **भूयिष्ठाम्**=बहुत ही अधिक **नमः उक्तिम्**=नमस्कार के कथन को **विधेम**=करते हैं (विधेम वदेम—द०) अथवा कहते हैं। आपके लिए किया गया यह सतत नमन व नाम-स्मरण हमें अशुभ मार्गों से रोकनेवाला होगा।

भावार्थ—हे प्रभो! हम आपका सतत स्मरण करें और कभी कुटिलता व पाप से धन न कमाएँ।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

संग्राम विजय

अयं नोऽअग्निर्वरिवस्कृणोत्वयं मृधः पुरऽएतु प्रभिन्दन्।
अयं वाजाञ्जयतु वाजसातावयःशत्रूञ्जयतु जर्हृषाणः स्वाहा॥३७॥

पिछले मन्त्र में धन के लिए उत्तम मार्ग से ले-चलने की प्रार्थना थी। उसी प्रसङ्ग को कुछ विस्तार से कहते हैं कि १. **अयं अग्निः**=सब उन्नतियों का साधक यह प्रभु **नः**=हमारे लिए **वरिवः**=(धनम्—म०, उत्तमं रक्षणम्—द०) धन व उत्तम रक्षण को **कृणोतु**=करे, अर्थात् प्रभुकृपा से हम रक्षण के लिए पर्याप्त धन प्राप्त करें। २. **अयम्**=यह प्रभु **मृधः**=हिंसकों को **प्रभिन्दन्**=विदीर्ण करता हुआ **पुरः एतु**=हमारे आगे चले। वे प्रभु हमारा नेतृत्व करें। प्रभुकृपा से हम शत्रुओं का विदारण करते हुए आगे और आगे बढ़ते चलें। ३. **अयम्**=ये प्रभु **वाजसातौ**=संग्रामों में अथवा शक्ति-प्राप्ति के निमित्त **वाजान्**=अन्नों का **जयतु**=विजय करें। प्रभुकृपा से हम अन्नों को प्राप्त करने के लिए पर्याप्त शक्ति-सम्पन्न हों। हमारी

निर्धनता अन्नाभाव का कारण बनकर हमारी समाप्ति का कारण न बन जाए। ४. **अयम्**=ये प्रभु ही हमारे लिए **जर्हृषाणः**=अत्यन्त हर्ष का हेतु होते हुए **शत्रून् जयतु**=हमारे शत्रुओं का विजय करें। प्रभुकृपा से हम शत्रुओं को जीतनेवाले बनें। ५. **स्वाहा**=इन सब बातों के लिए मैं स्व+हा=पूर्णरूपेण अपना त्याग करनेवाला बनूँ। 'स्व' का त्याग ही मुझे प्रभु का प्रिय बनाएगा और प्रभुकृपा से मैं (क) धन प्राप्त करूँगा, (ख) हिंसकों का विदारण कर सकूँगा, (ग) अन्नों का विजय करनेवाला बनूँगा और (घ) शत्रुओं को जीतूँगा।

भावार्थ—प्रभुकृपा से ही हम सब प्रकार की विजय प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—भुरिगार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

स्वयं कर

उरु विष्णो विक्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि।
घृतं घृतयोने पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर स्वाहा॥३८॥

१. अगस्त्य की इस प्रार्थना को सुनकर कि 'यह अग्नि हमारे लिए धनों व शत्रुओं को जीते' प्रभु कहते हैं कि हे **विष्णो**=व्यापक उन्नति करनेवाले जीव! तू **उरु**=खूब ही **विक्रमस्व**=विक्रम कर, पुरुषार्थ कर। प्रभु का साहाय्य तो तुझे तभी मिलेगा जब तू स्वयं शरीर, मन व मस्तिष्क की त्रिविध उन्नति में प्रवृत्त होगा। २. प्रभु पुनः कहते हैं कि **नः** **क्षयाय**=हमारे निवास के लिए **उरु कृधि**=हृदय को विशाल बना। विशाल हृदय में ही पवित्रता के कारण प्रभु का निवास होता है। ३. हे **घृतयोने**=घृतरूप योनिवाले जीव! तू **घृतम्**=घृत **पिब**=पी। '**घृत**' शब्द में दो भावनाएँ हैं (क) क्षरण=मलों का दूर होना, (ख) दीप्ति। शरीर की उन्नति के लिए मलों का दूर होना आवश्यक है। शरीर में मलों का सञ्चय होने पर ही रोग उत्पन्न होते हैं। मस्तिष्क का विकास ज्ञान की दीप्ति से होता है। एवं, जीव 'घृतयोनि' है—मलों का क्षरण व ज्ञान-दीप्ति ही उसके शरीर व मस्तिष्क की उन्नति के कारण हैं, अतः शारीरिक व बौद्धिक उन्नति के लिए घृत का पान करना आवश्यक है। घृतपान का अभिप्राय यही है कि सदा मलों के क्षरण का ध्यान किया जाए और ज्ञानदीप्ति को प्राप्त किया जाए। ४. इस प्रकार हृदय को विशाल बनाकर, शरीर के मलों का क्षरण करके और बौद्धिक विकास करके हे **विष्णो**=तीन कदमों को रखनेवाले जीव! तू **यज्ञपतिम्**=सब यज्ञों के पति प्रभु को **प्रप्रतिर**=अपने अन्दर खूब ही बढ़ा (प्रतिरतिः वर्धनार्थः)।

भावार्थ—हम विष्णु बनें। हृदय को विशाल, शरीर को निर्मल व बुद्धि को दीप्त बनाकर अपने हृदय में उस यज्ञपति प्रभु को आसीन करें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—सोमसवितारौ। **छन्दः**—साम्नीबृहती[क], निचृदार्षीपङ्क्तिः[र]। **स्वरः**—मध्यमः[क], पञ्चमः[र]॥

लोकसेवा व बन्धनविच्छेद

[क]देव सवितरेष ते सोमस्तꣳ रक्षस्व मा त्वा दभन्। [र]एतत्त्वं देव सोम देवो देवाँ२ऽउपागाऽइदमहं मनुष्यान्त्सह रायस्पोषेण स्वाहा निर्वरुणस्य पाशान्मुच्ये॥३९॥

१. गत मन्त्र में दिये गये प्रभु के आदेश को सुनकर अगस्त्य प्रार्थना करता है कि हे **सवितः देव**=सबके उत्पादक व प्रेरक देव! **एषः सोमः**=यह सोम—शरीर में आहार से रस-रुधिरादि के क्रम से उत्पन्न होनेवाली यह शक्ति [illegible] प्राप्ति के लिए ही है। **तं**

रक्षस्व=कृपा करके उस सोम की आप ही रक्षा कीजिए। ये वासनाएँ मुझे तो दबा लेती हैं और इनसे दबने पर मेरे लिए इस सोम का रक्षण सम्भव नहीं होता। कामदेव को आप ही भस्म करेंगे तभी सोमरक्षा सम्भव होगी। ये वासनाएँ **मा**=मत **त्वा**=आपको **दभन्**=हिंसित करनेवाली हों। २. इस प्रकार प्रभु से सोमरक्षण के लिए प्रार्थना करके अगस्त्य सोम को ही सम्बोधित करके कहता है कि हे **देव सोम**=दिव्य गुणों को जन्म देनेवाले सोम! **एतत्**=यह **त्वम्**=तू ही **देवः**=प्रकाशमय है, ज्योति का कारण है। तू **देवान् उप अगाः**=सब देवों को हमारे समीप प्राप्त करा—हमें सब दिव्य गुणों का पुञ्ज बना। ३. **इदमहम्**=यह मैं **रायस्पोषेण सह**=धन के पोषण के साथ **मनुष्यान् उपागाः**=मनुष्यों के समीप प्राप्त होता हूँ और **स्वाहा**=उनके कष्टों को दूर करने के लिए अपने **स्व**=धन का **हा**=त्याग करता हूँ। यहाँ मन्त्रार्थ से यह बात स्पष्ट है कि लोकसेवा के लिए भी धन की आवश्यकता है। ४. इस प्रकार लोकसेवा करता हुआ मैं **वरुणस्य**=वरुण के **पाशात्**=पाश से **निर्मुच्ये**=निर्मुक्त होता हूँ। वरुण के बन्धनों से छूटता हूँ। बन्धनमुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त होता हूँ। वस्तुतः लोकसेवा ही मोक्ष का साधन है।

भावार्थ—(क) प्रभुकृपा से मैं सोम की रक्षा करता हूँ। (ख) सोमरक्षा से दैवी सम्पत्ति का वर्धन होता है। (ग) मैं धनार्जन करके मनुष्यों के दुःख-दूरीकरण में धन का विनियोग करता हूँ। (घ) और बन्धनों से मुक्त होकर 'ब्रह्मनिर्वाण' को प्राप्त करता हूँ।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

व्रत-पूरण (पूर्ति)

अग्ने॑ व्रतपास्त्वे व्र॑तपा या तव॑ त॒नूर्म॒य्यभू॑दे॒षा सा त्वयि॒ यो मम॑ त॒नूस्त्वय्यभू॑दि॒यꣳसा मयि॑। यथाय॒थं नौ॑ व्रतपते व्र॒तान्यनु॑ मे दी॒क्षां दी॒क्षाप॑ति॒रम॒ꣳस्तानु॑ तप॒स्तप॑स्पतिः॥४०॥

१. पिछले मन्त्र में पाशमुक्त होने का उल्लेख है। इस पाशमुक्ति के लिए इसी अध्याय के छठे मन्त्र में व्रत-ग्रहण की अनुमति ली थी। अब उद्देश्य पूरा हो जाने पर ऐसा कहते हैं कि प्रभु ने मुझे व्रत-पालन की अनुमति दी। प्रभु के साहाय्य से मैंने व्रतों का पालन किया और मुझे मोक्ष का लाभ हुआ। २. मन्त्र में कहते हैं कि **अग्ने**=हे अग्ने! आगे ले-चलनेवाले प्रभो! **व्रतपाः**=आप व्रतों का पालन करनेवाले हो। वस्तुतः व्रतों का पालन करनेवाला ही आगे बढ़ा करता है। ३. हे प्रभो! **ते**=आपमें रहनेवाले व्यक्ति ही **व्रतपाः** =व्रतों की रक्षा करनेवाले होते हैं। व्रतों को धारण करने से ही प्रभु के अधिक और अधिक समीप होते जाते हैं। **या तव तनूः**=जो तेरा स्वरूप है **एषा सा त्वयि**=यह तुझमें होनेवाला स्वरूप **मयि**=मुझमें **अभूत्** =होता है। **उ**=और **या मम तनूः** =जो मेरा स्वरूप है **इयं सा मयि**=यह मुझमें रहनेवाला रूप **त्वयि अभूत्** =तुझमें होता है। व्रतों के पालन से मैं इस प्रकार ऊपर उठता हूँ कि तुझसे अभिन्न-सा हो जाता हूँ। मैं 'तूं' और तू 'मैं' की स्थिति हो जाती है। ४. हे **व्रतपते**=व्रतों के रक्षक प्रभो! **यथायथं नौ व्रतानि**=हमारे व्रत बिल्कुल ठीक-ठीक हों। **दीक्षापतिः**=व्रत ग्रहण के पति प्रभु ने **मे दीक्षाम्**=मेरे व्रत ग्रहण की **अन्वमंस्त**=अनुमति दी। उस **तपस्पतिः**=तप के पति प्रभु ने **तपः अन्वमंस्त**=तप की अनुमति दी। इस तप के द्वारा ही मैं व्रतों को पूरा कर पाया हूँ।

भावार्थ—प्रभु 'व्रतपा' है। उनका उपासक मैं भी व्रतपा बनूँ।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—विष्णुः। छन्दः—भुरिगार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

'त्रिविक्रम बनना'=तीन मुख्य व्रतों का धारण करना

उरु विष्णो विक्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि।
घृतं घृतयोने पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर स्वाहा॥४१॥

गत मन्त्र में 'मैं व्रतपा बन सकूँ' इस प्रार्थना को सुनकर प्रभु कहते हैं कि १. हे **विष्णो**=व्यापक उन्नति करनेवाले जीव! **उरु विक्रमस्व**=खूब पुरुषार्थ कर। **नः क्षयाय**=हमारे निवास के लिए **उरु कृधि**=अपने हृदयान्तरिक्ष को विशाल बना। तेरे विशाल हृदय में ही पवित्रता के कारण मेरा निवास होगा। २. हे **घृतयोने**=क्षरण या दीप्तिरूप योनिवाले जीव! **घृतं पिब**=तू घृत का पान कर। तेरे शरीर का स्वास्थ्य मलों के ठीक क्षरण पर निर्भर करता है और तेरे मस्तिष्क के विकास के लिए ज्ञान की दीप्ति का महत्त्व है। ३. इस प्रकार (क) तू हृदय को विशाल बनाता है, (ख) शरीर को निर्मल व स्वस्थ और (ग) मस्तिष्क को ज्ञान से दीप्त। यह त्रिविध उन्नति करके तू तीन कदमों का रखनेवाला 'त्रिविक्रम' बनता है। ४. त्रिविक्रम बनकर तू **यज्ञपतिम्**=सब यज्ञों के रक्षक उस प्रभु को **प्रप्रतिर**=अपने में खूब बढ़ा। **स्वाहा**=इस यज्ञपति को अपने में बढ़ाने के लिए तुझे 'स्व' का हा=त्याग करना है। वस्तुतः स्वार्थ की आहुति दे डालना ही यज्ञपति का वर्धन करना है।

भावार्थ—हम हृदयों को विशाल बनाएँ। शरीर को निर्मल, नीरोग तथा मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त। इस प्रकार विष्णु बनकर, व्यापक उन्नति करके उस विष्णु के सच्चे उपासक बनें। ये तीन ही हमारे मुख्य व्रत हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—अग्निः। छन्दः—स्वराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

आगे बढ़ जाना

अत्यन्याँ२॥ऽअगां नान्याँ२॥ऽउपागामर्वाक् त्वा परेभ्योऽविदं परोऽवरेभ्यः। तं त्वा जुषामहे देव वनस्पते देवयज्यायै देवास्त्वा देवयज्यायै जुषन्तां विष्णवे त्वा। ओषधे त्रायस्व स्वधिते मैनꣳहिꣳसीः॥४२॥

१. गत मन्त्र में तीन व्रतों का संकेत है। उन व्रतों का पालन ही 'तीन पदों का विक्रमण' हैं। इन तीन कदमों का रखनेवाला मैं **अन्यान् अति अगाम्**=औरों को लाँघ जाता हूँ। अव्रती पुरुष को व्रती सदा लाँघ जाता है। इसका जीवन उत्कृष्ट होता है। मैं **अन्यान्**=(अविदुषो विद्वान्—द०) व्रत-पराङ्मुख मूर्खजनों को **न उपागाम्**=न प्राप्त होऊँ। **परेभ्यः**=(उत्तमेभ्यः) श्रेष्ठ पुरुषों से **त्वा**=तुझे **अर्वाक्**=अन्दर ही **अविदम्**=मैंने जाना है। इन श्रेष्ठ पुरुषों से मुझे यह ज्ञान हुआ है कि आपका दर्शन तो अन्दर ही होना है। **अवरेभ्यः**=अवर आचार्यों से भी मैंने यही जाना है कि आप **परः**=पर हैं (बुद्धेरात्मा महान् परः—गीता) आप वाणी व मन का विषय नहीं हैं—आप वाङ्मनसातीत हैं। अथवा **त्वा**=आपको मैंने **अवरेभ्यः अर्वाक्**=समीपों से भी समीप और **परेभ्यः परः** (इति)=दूर से भी दूर **अविदम्**=जाना है। २. **ते त्वा**=उस आपको हे **देव**=दिव्य गुणों के पुञ्ज! **वनस्पते**=भक्तों के रक्षक प्रभो! **जुषामहे**=हम प्रीतिपूर्वक सेवन करते हैं। हम प्रेम से आपकी उपासना करते हैं। **देवयज्यायै**=(देवानां सङ्गतये—द०) दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए हम उपासना करते हैं। **देवाः**=सब विद्वान् लोग **देवयज्यायै**=दिव्य गुणों की सङ्गति के लिए ही **त्वा जुषन्ताम्**=तेरी

उपासना करें। ३. **विष्णवे त्वा**=हे प्रभो! मैं आपको इसलिए उपासित करता हूँ कि आपकी उपासना से मेरा शरीर स्वस्थ होता है, मन निर्मल तथा बुद्धि दीप्त होती है। इन्हीं तीन कदमों को रखकर ही मैं 'त्रिविक्रम विष्णु' बनता हूँ। ३. **ओषधे**=हे दोषों का दहन करनेवाले प्रभो! **त्रायस्व**=आप मेरा त्राण कीजिए। **स्वधिते**=(स्व= आत्मीय) हे अपनों का धारण करनेवाले प्रभो! **एनम्**=इस अपने भक्त को **मा** =मत **हिंसी:**=हिंसित होने दीजिए।

भावार्थ—प्रभु हमारे अन्दर ही हैं। उनकी उपासना से (क) दिव्य गुणों की प्राप्ति होती है। (ख) व्यापक उन्नति हो पाती है। (ग) आसुर आक्रमणों से हमारी रक्षा होती है और (घ) हम प्रभु के आत्मीय बन जाते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—ब्राह्मीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

सहस्रवल्श विरोहण

द्यां मा लेखीर॒न्तरि॑क्षं॒ मा हि॑ꣳसीः पृथि॒व्या सम्भ॑व। अ॒यꣳहि त्वा॒ स्वधि॑ति॒स्तेति॑जानः प्रणि॒नाय॑ मह॒ते सौभ॑गाय। अ॒तस्त्वं दे॑व वनस्पते श॒तव॑ल्शो॒ विरो॑ह स॒हस्र॑वल्शा॒ वि व॒यꣳरु॑हेम॥४३॥

पिछले मन्त्र में आगे बढ़ जाने की भावना थी। आगे बढ़ जाने के भाव को ही स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि १. **द्याम्**=हमारे मस्तिष्करूप द्युलोक का **मा लेखी:**=विदारण मत कीजिए। हमारा मस्तिष्क सदा ठीक बना रहे। इसके सोचने की दिशा ग़लत न हो। २. **अन्तरिक्षं मा हिंसी:**=हमारे हृदयान्तरिक्ष को मत हिंसित कीजिए। यह वासनाओं का शिकार न हो जाए। इस हृदयान्तरिक्ष में वासनाओं की आँधियाँ न उठने लगें। ३. तू **पृथिव्या सम्भव**=इस शरीररूप पृथिवी के साथ उत्तमता से सङ्गत हो, अर्थात् हे प्रभो! आपकी कृपा से हमारा शरीर स्वस्थ हो और हम इस मानवदेह में आपका दर्शन करनेवाले बनें। ४. अगस्त्य की इस प्रार्थना पर प्रभु कहते हैं कि **स्वधिति:**=आत्मीयों का धारण करनेवाला **अयम्**=यह मैं **हि**=निश्चय से **तेतिजान:**=तेरे मस्तिष्क को खूब तीक्ष्ण बनाता हुआ **महते सौभगाय**=महान् सौभाग्य के लिए **प्रणिनाय**=तुझे प्राप्त कराता हूँ। त्रिविध उन्नति का होना ही सर्वमहान् सौभाग्य है। ३. अगस्त्य फिर प्रभु से प्रार्थना करता हुआ कहता है कि हे **देव वनस्पते**=दिव्य गुणों के पुञ्ज! भक्तों के रक्षक! प्रभो! **त्वम्**=आप **अत:**=इस मेरे शरीरादि से **शतवल्श:**=सैकड़ों शाखाओंवाले होकर **विरोह**=बढ़िए (विविधतया प्रादुर्भव—द०) आपको मैं सैकड़ों रूपों में देखूँ। अङ्ग-प्रत्यङ्ग में आपकी विभूति का अनुभव करूँ और आपकी कृपा से **सहस्रवल्शा: वयं विरुहेम**=सहस्रों शाखाओंवाले होकर हम विशेषरूप से बढ़ें। हम अपने जीवनों में अनन्त शक्तियों का विस्तार करनेवाले हों।

भावार्थ—हम अपने में प्रभु का प्रादुर्भाव करें और प्रभुकृपा से हमारी शक्तियों का सहस्रश: प्रादुर्भाव हो।

॥ इति पञ्चमोऽध्यायः सम्पूर्णः॥

षष्ठोऽध्यायः

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—सविता। छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः[उ], आसुर्युष्णिक्[क], भुरिगार्ष्युष्णिक्[र]। स्वरः—पञ्चमः[उ], ऋषभः[क,र]॥

पितृ—सदन

[उ]देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्।
आददे नार्यसीदमहꣳ रक्षसां ग्रीवाऽअपि कृन्तामि।
[क]यवोऽसि यवयास्मद् द्वेषो यवयारातीर् [र]दिवे त्वाऽन्तरिक्षाय
त्वा पृथिव्यै त्वा शुन्धन्ताँल्लोकाः पितृषदनाः पितृषदनमसि॥१॥

१. गत अध्याय की समाप्ति 'अगस्त्य ऋषि' के 'सहस्रवल्शः विरोहण' (Manifold evolution) के साथ हुई थी। इस अध्याय का प्रारम्भ उस विरोहण के रहस्य के प्रतिपादन से होता है। अगस्त्य इस सर्वतोमुखी विकास को इसलिए कर पाये कि उन्होंने संसार की प्रत्येक वस्तु का प्रयोग बड़ा ठीक किया। इस प्रयोग में इनके तीन नियम रहे—(क) हे पदार्थ! **त्वा**=तुझे **सवितुः देवस्य प्रसवे**=उत्पादक व प्रेरक देव की प्रेरणा के अनुसार, अर्थात् ऋतरूप में—न अधिक न कम—**आददे**=ग्रहण करता हूँ। (ख) **अश्विनोः बाहुभ्याम्**=प्राणापान के प्रयत्न से ग्रहण करता हूँ—बिना मूल्य के नहीं लेता। (ग) **पूष्णः हस्ताभ्याम्**=पूषा के हाथों से ग्रहण करता हूँ, अर्थात् केवल पोषण के दृष्टिकोण से ग्रहण करता हूँ, इसीलिए हे पदार्थ! तू **नारिः**=मुझ नर का हित करनेवाला **असि**=है। २. इस प्रकार प्रत्येक वस्तु का ठीक प्रयोग करता हुआ मैं सहस्रवल्शः विरोहण वा अनेकविध विकासवाला बनता हूँ और **इदम् अहम्**=यह मैं **रक्षसाम्**=राक्षसों की ग्रीवा को **अपिकृन्तामि**=काट देता हूँ। सब रोगों व बुरी वृत्तियों को विच्छिन्न कर देता हूँ। ३. हे प्रभो! **यवः असि**=आप सब बुराइयों को हमसे दूर करनेवाले हैं। **अस्मत्**=हमसे **द्वेषः**=द्वेष को **यवय**= पृथक् कीजिए। हे प्रभो! हम **त्वा**=आपके समीप आते हैं **दिवे**=मस्तिष्करूप द्युलोक के विकास के लिए **त्वा**=आपके समीप आते हैं **अन्तरिक्षाय**=हृदयान्तरिक्ष के नैर्मल्य के लिए **त्वा**=हम आपके पास आते हैं, **पृथिव्यै**=शरीररूप पृथिवी के विस्तार के लिए। ४. आपकी कृपा से **लोकाः**=हमारे लोक (मस्तिष्क=द्यौः, मन=अन्तरिक्ष, शरीर=पृथिवी) **शुन्धन्ताम्**=शुद्ध हों। **पितृषदनाः**=हमारे घर ज्ञानियों के सदन बनें, उनमें ज्ञानी पुरुषों का आना-जाना बना रहे। **पितृषदनम् असि**=हे प्रभो! आप ज्ञानियों में ही निवास करनेवाले हैं। मैं भी ज्ञानियों के सम्पर्क में आकर ज्ञानी बनूँ और अपने को आपका निवासस्थान बना पाऊँ।

भावार्थ—हम प्रत्येक पदार्थ का प्रयोग ठीक करें जिससे नीरोग व निर्मल बनें। द्वेष व अदान से ऊपर उठें। त्रिविध उन्नति करके, ज्ञानियों के सम्पर्क में ज्ञानी बनकर प्रभु का निवासस्थान बनें।

ऋषिः—शाकल्यः। देवता—सविता। छन्दः—निचृद्गायत्री[क], स्वराट्पङ्क्तिः[र]। स्वरः—षड्जः[क], पञ्चमः[र]॥

शकलीकरण

[क]अ॒ग्रे॒णीर॑सि स्वावे॒शऽ उ॑न्नेतॄ॒णामे॒तस्य॑ वित्ता॒दधि॑ त्वा स्थास्यति [र]दे॒वस्त्वा॑ सवि॒ता मध्वा॑नक्तु सुपिप्प॒लाभ्य॒स्त्वौष॑धीभ्यः। द्याम॒ग्रे॑णास्पृक्ष॒ऽआन्तरि॑क्षं मध्ये॑नाप्राः पृथि॒वीमुप॑रेणादृꣳहीः॥ २॥

१. गत मन्त्र की समाप्ति 'प्रभु का निवासस्थान बनने' से हुई है। यह अपने को प्रभु का निवासस्थान बनाकर निरन्तर उन्नति करता है। **अग्रेणी: असि**=तू अपने को आगे ले-चलता है। **स्वावेशः**=(शोभनं धर्ममाविशति) उत्तम धर्म को अपने में स्थापित करता है। **उन्नेतॄणाम्**=उत्कर्ष प्राप्त करानेवालों के **एतस्य वित्तात्**=इस उन्नति के मार्ग को तू जान। उन्नति के मार्ग पर चलने पर **सविता देवः**=वह प्रेरक देव **त्वा** =तेरा **अधिस्थास्यति**=पथ-प्रदर्शन करेगा। प्रभु तेरे अधिष्ठाता होंगे। वे प्रभु तुझे **मध्वा**=माधुर्य से अलंकृत करेंगे। माधुर्य से अलंकृत करने के लिए वे **त्वा**=तुझे **सुपिप्पलाभ्यः**=उत्तम फलवाली **ओषधीभ्यः**= ओषधि-वनस्पतियों के लिए **अनक्तु**=(अञ्च् गम) प्राप्त कराएँ, अर्थात् तू अपने जीवन में इन वनस्पतियों का ही प्रयोग कर, मांस का प्रयोग तुझे क्रूर स्वभाव का बनाएगा। २. इस प्रकार वनस्पति भोजन करता हुआ तू **अग्रेण**=(पुरस्तात्) सबसे पहले तो **द्याम्**=विद्या के प्रकाश को **अस्पृक्षः**=स्पर्श करनेवाला बन, अर्थात् ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञान प्राप्त कर। इस ज्ञान की प्राप्ति को ही तू अपना प्रथम कर्त्तव्य समझ। ३. **अन्तरिक्षम्**=अपने हृदयान्तरिक्ष का **मध्येन**=सदा मध्य मार्ग पर चलने से **आप्राः**=समन्तात् पूरण कर। सीमाओं से बचता हुआ, अति का वर्जन करता हुआ तू सदा मध्यमार्ग से चल। यह मध्यमार्ग ही हृदय की कमी को दूर करनेवाला है। **'अति सर्वत्र वर्जयेत्'** यह तेरा नियम हो। ४. **उपरेण** (उत्कृष्ट नियमेन—द०)=उत्कृष्ट नियम से अथवा (उपर nearer) सदा प्रभु के समीप निवास से **पृथिवीम्**=इस शरीररूप पृथिवी को **अदृंहीः**=तूने दृढ़ बनाया है। प्रभु से दूर हुए, नियम भूले और शरीर रोगों का घर बना। शरीर के स्वास्थ्य के लिए **''हिताशी स्यात् मिताशी स्यात् कालभोजी जितेन्द्रियः''** इस नियम को अपनानेवाला व्यक्ति रोगों को खण्डशः करके नष्ट कर देता है—'शकलयति इति शाकल्यः' टुकड़े-टुकड़े कर देता है, अतः 'शाकल्य' कहलाता है। रोगों को ही नहीं, वासनाओं व अज्ञानों को भी तो यह विदीर्ण करता है, अतः इसका 'शाकल्य' नाम यथार्थ है।

भावार्थ—हम आगे बढ़ें, प्रभु के अधिष्ठातृत्व में जीवन को मधुर बनाएँ। ज्ञान के द्वारा अज्ञान का खण्डन करें, मध्यमार्ग पर चलने से वासनाओं का विनाश कर दें, और उत्कृष्ट नियम से रोगों को भगा दें।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—विष्णुः। छन्दः—आर्च्युष्णिक्[उ], भुरिगार्च्युष्णिक्[क], निचृत्प्राजापत्याबृहती[र]। स्वरः—ऋषभः[उ,क], मध्यमः[र]॥

प्रभु के परमपद का दीपन

[उ]या ते॒ धामा॑न्युश्मसि॒ गम॑ध्यै॒ यत्र॒ गावो॒ भूरि॑शृङ्गाऽअ॒यासः॑। [क]अत्राह॒ तदु॑रुगा॒यस्य॒ विष्णोः॑ पर॒मं प॒दमव॑भारि॒ भूरि॑। [र]ब्रह्म॒वनि॑ त्वा क्षत्र॒वनि॑ रायस्पोष॒वनि॒ पर्यू॑हामि। ब्रह्म॑ दृꣳह क्षत्रं दृꣳहायु॑र्दृꣳह प्र॒जां दृꣳह॥ ३॥

१. पिछले मन्त्र में बुराइयों के शकलीकरण—नष्ट करने का उल्लेख है। उन बुराइयों का विदारण करके 'दीर्घतमा'=तमोगुण का विदारण करनेवाला प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि कहता है कि हे प्रभो! **या ते धामानि**=जो आपके तेज हैं, हम उन्हें **गमध्यै**=प्राप्त करना **उश्मसि**=चाहते हैं, **यत्र**=जिन तेजों में **भूरिशृङ्गाः**=(भूरीणि शृङ्गाणि प्रकशा यासु ताः—द०, शृङ्गाणि इति ज्वलतोनामसु—नि० १।१७) अत्यन्त देदीप्यमान **गावः**=रश्मियाँ **अयासः**=प्राप्त हैं, अर्थात् हम आपके उन तेजों को प्राप्त करना चाहते हैं जो तेज ज्ञान की रश्मियों के साथ निवास करते हैं। २. **अत्र**=जहाँ ज्ञान और तेज का समन्वय होता है उस स्थान में, उस जीव में **अह**=निश्चय से **उरुगायस्य**=विशाल गतिवाले व विशाल यशोगानवाले **विष्णोः**=व्यापक प्रभु का **तत् परमं पदम्**=वह उत्कृष्ट पद **भूरि**=खूब **अवभाति**=चमकता है। प्रभु का दर्शन ज्ञान और तेज का समन्वय होने पर ही होता है। ३. प्रभु दीर्घतमा से कहते हैं कि **ब्रह्मवनि**=ज्ञान का विजय करनेवाले **त्वा**=तुझे, **क्षत्रवनि त्वा**=बल का विजय करनेवाले तुझे और **रायस्पोषवनि त्वा**=धन के पोषण के विजेता तुझे **पर्यूहामि**=मैं अपने समीप प्राप्त कराता हूँ। ४. तू अपने जीवन में **ब्रह्म दृंह**=ज्ञान को दृढ़ कर, **क्षत्रं दृंह**=बल को बढ़ा, **आयुः दृंह**=तू अपने जीवन को दृढ़ बना, **प्रजां दृंह**=तू अपने सन्तानों को भी दृढ़ बना। तेरा ज्ञान, बल तो दृढ़ हो ही, तेरा सारा जीवन भी दृढ़ हो। तू अपने मार्ग से विचलित होनेवाला न हो। तेरी सन्तानें भी दृढ़ता से जीवन-पथ का आक्रमण करनेवाली हों। सन्तानों के कारण तेरा जीवन उन्नति-पथ पर चलने से विहत न हो जाए।

भावार्थ—हमारे जीवन प्रभु के तेजों व ज्ञानों को अपनाकर प्रभु के परम पद को दीप्त करनेवाले हों। हम ज्ञान और बल के साथ धन भी प्राप्त करें। अपने ज्ञान, बल, जीवन व सन्तानों को दृढ़ बनाएँ।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—निचृदार्षीगायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

युज्यः सखा

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे। इन्द्रस्य युज्यः सखा॥४॥

१. अपने जीवन के मार्ग को निश्चित करने के लिए गत मन्त्र के 'आयुर्दृंह' आदेश के अनुसार अपने जीवन को दृढ़ बनाने के लिए समझदार व्यक्ति प्रभु के कर्मों का विचार करता है और उन्हीं कर्मों को स्वयं करने का व्रत लेता है। यही व्यक्ति मेधातिथि=(मेधया अतति) समझदारी से चलनेवाला है। यह कहता है कि २. **विष्णोः**=उस व्यापक प्रभु के **कर्माणि**=कर्मों को **पश्यत**=देखो, **यतः**=जिन कर्मों के देखने से ही यह द्रष्टा **व्रतानि**=अपने जीवन-नियमों को **पस्पशे**=(बध्नाति) अपने में बाँधता है, अर्थात् अपने जीवन को भी उन्हीं कर्मों में लगाने का ध्यान करता है। ३. यह **युज्यः**=(युनक्ति सदाचारेण) प्रभु के कर्मों का ध्यान करके अपने को उन कर्मों से जोड़नेवाला सदाचारी ही **इन्द्रस्य**=उस सर्वशक्तिमान् परमैश्वर्यशाली प्रभु का **सखा**=मित्र बनता है।

भावार्थ—हम प्रभु के कर्मों को देखें। उन्हीं व्रतों से अपने को बाँधें और व्रतों से अपने को जोड़नेवाले हम प्रभु के मित्र बनें।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—निचृदार्षीगायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

प्रभु-दर्शन

तद्विष्णोः परमं पदꣳसदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्॥५॥

१. गत मन्त्र के अनुसार जो अपने को प्रभु के समान न्याय्य कर्मों से जोड़ने का प्रयत्न करता है, वही वस्तुतः प्रभु का सच्चा स्तोता है। इसी प्रकार प्रभुभक्त वही है जो प्रभु के पथ पर चले। विष्णु-भजन तो विष्णु बनकर ही होता है। ये **सूरयः**=(सूरिः स्तोता-नि० ३।१६) वेदज्ञ स्तोता **विष्णोः**=उस व्यापक प्रभु के **तत् परम् पदम्**=उस सर्वोत्कृष्ट पद को **सदा**=हमेशा **पश्यन्ति**=उसी प्रकार देखते हैं **इव**=जैसे **दिवि**=द्युलोक में **आततं चक्षुः**=इस फैली हुई (व्याप्तिमत्) सूर्यरूप आँख को सामान्य लोग देखा करते हैं। २. जैसे यह सूर्य सबके लिए दृश्य है, ठीक इसी प्रकार सूरि को-सच्चे स्तोता को-प्रभु भी दृश्य होते हैं। प्रभु-जैसा बनकर ये प्रभु के अत्यन्त समीप हो जाते हैं।

भावार्थ—हम सूरि (वेदवित्), ज्ञानी स्तोता बनें और प्रभु को आत्मतुल्य प्रिय हों। उस समय हम प्रभु का उतना ही स्पष्ट दर्शन कर रहे होंगे जितना कि सूर्य का।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विद्वांसः। **छन्दः**—आर्ष्युष्णिक्[क], भुरिक्साम्नीबृहती[र]। **स्वरः**—ऋषभः[क], मध्यमः[र]॥

प्रभु-द्रष्टा का आश्रम

[क]परिवीरसि परि त्वा दैवीर्विशो व्ययन्तां परीमं यजमानꣳ रायो मनुष्याणाम्।
[र]दिवः सूनुरस्येष ते पृथिव्याँल्लोकऽआरण्यस्ते पशुः॥६॥

गत मन्त्र के प्रभु-दर्शन करनेवाले व्यक्ति के जीवन का प्रस्तुत मन्त्र में चित्रण करते हुए कहते हैं कि हे दीर्घतमाः=प्रभु-दर्शन से सब तमस् को दूर भगानेवाले उपासक! १. **परिवीः असि**=(परितः सर्वाविद्या व्याप्नोति) तू सम्पूर्ण विद्याओं का अपने में व्यापन करनेवाला है। वस्तुतः ज्ञान को ही तू अपना भोजन बनाता है। तू ब्रह्म (ज्ञान का) चारी (चरण=भक्षण करनेवाला) है। २. **त्वा परि**=तुझे चारों ओर से **दैवीः विशः**=दिव्य गुणोंवाली प्रजाएँ **व्ययन्ताम्**=प्राप्त हों। तू उत्तम वृत्तिवाले लोगों का केन्द्र बन जाए। तेरा निवासस्थान दिव्य प्रजाओं के आश्रम के रूप में परिवर्तित हो जाए। ३. **इमम् यजमानम्**=इस यज्ञ के स्वभाववाले तुझको **मनुष्याणाम् रायः**=मनुष्यों के धन **व्ययन्ताम्**=प्राप्त हों। यह आश्रम उत्तम यज्ञों का केन्द्रस्थान बने और उन यज्ञों की पूर्ति के लिए लोग उदारता से धन देनेवाले हों। ४. ऐसे यज्ञों के अवसरों पर यह प्रभु का सच्चा स्तोता **दिवः सूनुः असि**=प्रकाश का प्रेरक होता है। वह अपने प्रवचनों से उपस्थित जनता के अन्दर ज्ञान का प्रचार करता है। ५. वह ऐसा प्रेम की वृत्तिवाला होता है कि **एषः पृथिव्यां लोकः**=ये पृथिवी पर विचरनेवाले लोग तो **ते**=तेरे होते ही हैं, **आरण्यः पशुः**=जङ्गल के सिंह आदि पशु भी **ते**=तेरे बन जाते हैं। इस प्रभु-द्रष्टा के आश्रम में सब लोक व प्राणी वैरभाव को छोड़कर प्रेमभाव से रहनेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम ज्ञानी बनें, उत्तम लोगों के केन्द्र बन पाएँ, हमारा निवासस्थान यज्ञवेदि बन जाए। हम ज्ञान का प्रसार करनेवाले हों। सब लोकों व हिंस्र-पशुओं को भी अपना प्रेम दे सकें।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—त्वष्टा। **छन्दः**—निचृदार्षीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

देव-उशिक्-वह्नि

उपावीरस्युप देवान्दैवीर्विशः प्रागुरुशिजो वह्नितमान्।
देव त्वष्टर्वसु रम हव्या ते स्वदन्ताम्॥७॥

पिछले मन्त्र का प्रभु-द्रष्टा अपने आश्रम में क्या करता है? इस विषय को प्रस्तुत मन्त्र में इस प्रकार कहते हैं कि १. **उपावीः असि**=तू अपने को सदा प्रभु के समीप रखता

हुआ अपना अवन (रक्षण) करनेवाला है। वस्तुतः मनुष्य प्रभु से दूर हुआ और किसी-न-किसी वासना का शिकार बना। वासनाओं से बचने के लिए प्रभु के समीप रहना आवश्यक है। २. इस प्रकार के **देवान्**=दिव्य वृत्तिवाले **उशिजः**=मेधावी **वह्नितमान्**=औरों को भी उच्च स्थान पर प्राप्त करनेवाले लोगों के ही **उप**=समीप **दैवीः विशः**=दिव्य वृत्तिवाली प्रजाएँ **प्रागुः**=प्रकर्षेण प्राप्त होती हैं। जिसे औरों का निर्माण करना है, उसे पहले अपना निर्माण तो अवश्य करना ही चाहिए। स्वयं देव बने बिना वह औरों को देव न बना पाएगा। स्वयं ज्ञानी होगा तभी औरों को ज्ञान देगा। अपने को उच्च स्थान में प्राप्त कराके ही यह दूसरों को उस स्थान पर ले-चल सकता है, अतः इसका 'देव, उशिक् व वह्नि' बनना अत्यन्त आवश्यक है। ३. **देव**=हे दिव्य गुणोंवाले! **त्वष्टः**=देवों का निर्माण करनेवाले (देवशिल्पी) अथवा औरों के दुःखों का छेदन करनेवाले **वसु**=(वसु=वसूनि) निवास के लिए आवश्यक धन में ही तू **रम**=आनन्द ले। अधिक धन पतन का कारण बनता है। ४. **हव्या**=हव्य पदार्थ-यज्ञिय सात्त्विक भोजन **ते**=तुझे **स्वदन्ताम्**=स्वाद देनेवाले हों, रुचिकर हों। इस आहार की शुद्धि पर अन्तःकरण की शुद्धि निर्भर है। ५. आहार को शुद्ध करके तथा धन में आसक्त न होकर तू अपनी बुद्धि को स्वस्थ रख सकेगा और बुद्धि का वर्धन करनेवाला अपने 'मेधातिथि' नाम को सार्थक करेगा।

भावार्थ—जो व्यक्ति औरों का भला करना चाहता है उसे स्वयं 'देव, उशिक् (मेधावी) व वह्नि (अपने को ऊँचे स्थान पर ले-जानेवाला)' बनना चाहिए। वह निवास के लिए आवश्यक धन से अधिक धन न चाहे और सात्त्विक भोजनों को ही करे।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—बृहस्पतिः। **छन्दः**—प्राजापत्यानुष्टुप्[क], भुरिक्प्राजापत्याबृहती[र]। **स्वरः**—गान्धारः[क], मध्यमः[र]॥

बृहस्पति

[क]**रेवती रमध्वं बृहस्पते धारया वसूनि।**

[र]**ऋतस्य त्वा देवहविः पाशेन प्रतिमुञ्चामि धर्षा मानुषः॥८॥**

१. पिछले मन्त्र के आश्रम-प्रकरण को ही कहते हुए प्रार्थना करते हैं कि १. **रेवतीः**=हे गौवो! तुम इस आश्रम में **रमध्वम्**=रमण करो। आश्रम की उत्तमता के लिए वहाँ गौवों का होना नितान्त आवश्यक है। (वाग् वै रेवती-श० ३।८।१।१२) गौवों के होने पर वहाँ ज्ञान की वाणियाँ भी रमण करती हैं। इतना ही नहीं (रेवत्यः सर्वाः देवताः-ऐ० २।१६) गौवों के कारण आश्रम में सब देवों का वास होता है। लोगों की वृत्तियाँ दिव्य बनती हैं। २. हे **बृहस्पते**=ब्रह्मणस्पते=वेदवाणी के पति आचार्य! आप आश्रमवासियों में **वसूनि धारय**=उत्तम निवास के कारणभूत ज्ञानों को धारण कीजिए (वसन्ति सुखेन यत्र तद्विज्ञानम् वसु-द०)। आचार्य को इस प्रकार ज्ञान का प्रसार करना है कि उस ज्ञान के प्रसार से लोगों का ऐहिक जीवन उत्तम बने। वे इस संसार को सचमुच निवास के योग्य बना पाएँ। ३. यह बृहस्पति **देवहविः**=देवताओं के लिए देकर यज्ञशेष को खानेवाला है। प्रभु वेद द्वारा इस बृहस्पति को कहते हैं कि **त्वा**=तुझे **ऋतस्य पाशेन**=ऋत के पाश से **प्रतिमुञ्चामि**=बाँधता हूँ। तेरा जीवन बहुत ही नियमित हो, ऋत से जकड़ा हुआ हो, क्योंकि आश्रम में सभी ने इसी के अनुकरण में अपना जीवन चलाना है। ४. **धर्षा**=तू वासनाओं का धर्षण करनेवाला बन। कोई भी वासना व प्रलोभन तुझे ऋत के मार्ग से विचलित न करे। ५. **मानुषः**=तू मानवमात्र का हित करनेवाला हो। ६. इस प्रकार यह

बृहस्पति अपने जीवन से तम को दूर भगाकर औरों के तम के भी विदारण में लगा है, अत: 'दीर्घतमा:' इस सार्थक नामवाला है।

भावार्थ—हम अपने जीवन को ऋत के पाश से प्रतिबद्ध करें। हम वासनाओं का धर्षण करनेवाले हों और हमारा प्रत्येक कर्म मानवहित-साधक हो।

ऋषि:—दीर्घतमा:। **देवता**—सविता, अश्विनौ, पूषा। **छन्द:**—प्राजापत्याबृहती[क], पङ्क्ति:[र], याजुषीत्रिष्टुप्[३]। **स्वर:**—मध्यम:[क], पञ्चम[र], धैवत:[३]।।

ऋत का पाश

[क]देवस्य त्वा सवितु: प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। [र]अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं नियुनज्मि। अद्भ्यस्त्वौषधीभ्योऽनु त्वा माता मन्यतामनु पितानु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्य:। अग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि॥९॥

१. गत मन्त्र में ऋत के पाश से अपने को बाँधने का उल्लेख है। प्रस्तुत मन्त्र में उस ऋत के पाश का वर्णन है। **देवस्य सवितु: प्रसवे**=सवितादेव की अनुज्ञा में मैं **त्वा**=तुझे ग्रहण करता हूँ। मैं प्रत्येक पदार्थ का स्वीकार प्रभु के आदेश के अनुसार करता हूँ। २. **अश्विनो: बाहुभ्याम्**=प्राणापान के प्रयत्न से मैं वस्तुओं का ग्रहण करता हूँ। ३. **पूष्ण: हस्ताभ्याम्**=पूषा के हाथों से, अर्थात् पोषण के दृष्टिकोण से ही मैं प्रत्येक वस्तु को लेता हूँ। ४. इस प्रकार इस ऋत के पाश से अपने को बाँधने पर व्यक्ति में अग्नि व सोम दोनों तत्त्वों का सुन्दर विकास होता है। उसमें तेजस्विता व उत्साह (अग्नि) होते हैं तो उसका जीवन शान्ति (सोम) से भी अलंकृत होता है। प्रभु कहते हैं कि **अग्नीषोमाभ्याम्**=तेजस्विता व शान्ति से **जुष्टम्**=प्रीतिपूर्वक सेवित तुझे मैं **नियुनज्मि**=अपने प्रतिनिधि के रूप से नियुक्त करता हूँ। लोकहित के कार्यों को करने में तू मेरा निमित्त बनता है। ५. **अद्भ्य: त्वा ओषधीभ्य:**=मैं तुझे जलों व ओषधियों के लिए नियुक्त करता हूँ, अर्थात् पीने के लिए पानी और खाने के लिए वनस्पतियों का ही तू प्रयोग करता है। ६. इस सात्त्विक मार्ग पर चलने के लिए **त्वा**=तुझे **माता**=माता **अनुमन्यताम्**=अनुमति दे **पिता अनु (मन्यताम्)**=पिता भी अनुमति दे, **सगर्भ्य: भ्राता अनु (मन्यताम्)**=सहोदर भाई अनुमति दे **सयूथ्य: सखा**=इकट्ठे मिल-जुलकर खेलनेवाले अपनी पार्टी के साथी **अनु (मन्यताम्)**=अनुमति दें, अर्थात् इस मार्ग पर चलने में ये सब व्यक्ति तेरे सहायक हों। ७. इस प्रकार अनुकूल वातावरण में **अग्नीषोमाभ्याम्**=तेजस्विता व शान्ति से **जुष्टम्**=सेवित **त्वा**=तुझे **प्रोक्षामि**=मैं ज्ञान से सिक्त करता हूँ अथवा लोकहित के कार्य के लिए अभिषिक्त करता हूँ।

भावार्थ—हम अपने को ऋत के पाश से बाँधकर तेजस्वी व शान्त बनें। जल व वनस्पति ही हमारे सेव्य पदार्थ हों। हम प्रभु के सन्देशवाहक बनें।

ऋषि:—मेधातिथि:। **देवता**—आप:। **छन्द:**—प्राजापत्याबृहती[क], विराडार्षीबृहती[र]। **स्वर:**—मध्यम:॥

अपां पेरु

[क]अपां पेरुरस्यापो देवी: स्वदन्तु स्वात्तं चित्सद्देवहवि:।
[र]सं ते प्राणो वातेन गच्छताꣳ समङ्गानि यजत्रै: सं यज्ञपतिराशिषा॥१०॥

१. पिछले मन्त्र में वर्णित व्यक्ति अपने को ऋत के पाश से बाँधते हैं—तेजस्वी व शान्त बनते हैं। ऋत के पाश से अपने को बाँधनेवाला ही प्रस्तुत मन्त्र के

अनुसार **अपां पेरुः असि**=वीर्य का रक्षक है (आपः रेतो भूत्वा०)। 'आपः' शब्द रेतस् का
वाचक है। जीवन के व्रती होने पर और भोजन के सात्त्विक होने पर शरीर में सोम का
धारण सुगम होता है। यह 'मेधातिथि'=समझदारी से चलनेवाला व्यक्ति सबसे अधिक महत्त्व इसी
बात को देता है कि वह 'अपां पेरु'—वीर्य का रक्षक हो। २. इसी उद्देश्य से प्रभु मेधातिथि से
कहते हैं कि **आपः देवीः स्वदन्तु**=ये दिव्य गुणवाले जल तेरे लिए स्वादिष्ट हों। **सत्**=उत्तम
देवहविः=देवों द्वारा खाये जानेवाले हव्य पदार्थ **चित्**=ही **स्वात्तम्**= (आस्वादितम्—म०) तेरे से
स्वाद लिये जाएँ, अर्थात् तू सात्त्विक वानस्पतिक भोजनों को ही खानेवाला बन। ३. इस प्रकार
जलों व वानस्पतिक भोजनों के सेवन से **ते प्राणः**=तेरा यह प्राण **वातेन**=वायु से **सङ्गच्छताम्**=
सङ्गत हो। 'वातः प्राणो भूत्वा०' वायु ही प्राण का रूप धारण करके शरीर में रहती है। तेरे
शरीरस्थ प्राणों का इस वायु से सङ्गमन (मेल) हो, विरोध न हो। वायु तेरे अनुकूल हो और
यह वायु तुझमें प्राणशक्ति का सञ्चार कर दे। ४. **अङ्गानि**=तेरे सब अङ्ग **यजत्रैः**=यज्ञों द्वारा
त्राण करनेवाले देवों के साथ **सम्** (गच्छन्ताम्)= सङ्गत हों, अर्थात् तेरे सब अङ्गों में दिव्यता
का सञ्चार हो। ५. और यह प्राणशक्ति सम्पन्न दिव्यतापूर्ण अङ्गोंवाला **यज्ञपतिः**=यज्ञ का पालक
'मेधातिथि' **सम् आशिषा**=शुभ इच्छाओं से सङ्गत हो, सदा उत्तम इच्छाओंवाला हो।

भावार्थ—हम वीर्यरक्षा के लिए खान-पान को सात्त्विक बनाएँ। हमारी प्राणशक्ति
ठीक हो, हमारे सब अङ्ग दिव्यतापूर्ण हों। हमारी इच्छाएँ उत्तम हों।

ऋषिः—मेधातिथिः। देवता—वातः। छन्दः—भुरिगार्ष्युष्णिक[क,र], स्वाराडार्च्युष्णिक[उ]। स्वरः—ऋषभः॥

पति-पत्नी का यज्ञमय जीवन

[क]घृतेनाक्तौ पशूँस्त्रायेथाᳬं रेवति यजमाने प्रियं धाऽआविश।
[र]उरोरन्तरिक्षात्सजूर्देवेन वातेनास्य हविषस्त्मना यज समस्य तन्वा भव।
[उ]वर्षो वर्षीयसि यज्ञे यज्ञपतिं धाः स्वाहा देवेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा॥११॥

पिछले मन्त्र में 'वीर्यरक्षा' का प्रकरण था। 'उस मन्त्र के अनुसार खान-पान सात्त्विक
होने पर पति-पत्नी का जीवन कैसा बनेगा?' इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत मन्त्र में है। १. **घृतेन**
आक्तौ=तुम दोनों शरीर में मल-क्षरण से और मस्तिष्क में ज्ञान की दीप्ति से अलंकृत होते
हो। २. **पशून् त्रायेथाम्**=अपने दीप्त मस्तिष्कवाले स्वस्थ शरीरों में तुम काम-क्रोध आदि
पशुओं की रक्षा करो—इनको क़ाबू में रक्खो। ठीक उसी प्रकार जैसे चिड़ियाघर में शेर-चीते
आदि को बन्धन में रखते हैं। (कामः पशुः, क्रोधः पशुः)। वस्तुतः वीर्यरक्षा का यह
स्वाभाविक परिणाम है कि मनुष्य काम-क्रोधादि का शिकार नहीं होता। ३. यह प्रभु से
प्रार्थना करता है कि **रेवति यजमाने**=धन-सम्पन्न यज्ञशील व्यक्तियों में **प्रियं धाः**=तृप्ति व
शान्ति को स्थापित कीजिए। आप **आविश** =हमारे हृदयों में प्रविष्ट होओ, अर्थात् आपकी
कृपा से हम संसार-यात्रा के लिए आवश्यक धन से युक्त हों और यज्ञशील बनें। हम
आपके निवासस्थान बन पाएँ। हमारा हृदय आपका मन्दिर हो। ४. **उरोः अन्तरिक्षात्**=इस
विशाल हृदयान्तरिक्ष से **त्मना**=स्वयं **यज**=हमें सङ्गत कीजिए। हम अपने हृदय को आपकी
कृपा होने पर ही विशाल बना पाएँगे। ५. प्रभु कहते हैं कि **देवेन वातेन**=दिव्य वायु के
हेतु से **अस्य हविषः**=इस हव्य पदार्थ का **सजूः**=बड़े प्रेमवाला होकर **यज**=यजन कर। यह
यज्ञशीलता जहाँ वायु की शुद्धि करेगी वहाँ तेरे हृदय में प्राणिमात्र के लिए प्रेम की भावना
पैदा करेगी। तेरे हृदय को यही विशाल बनाएगी। **अस्य** (हेतोः)=इस यज्ञ के द्वारा ही तू

तन्वा=शरीर से **सम्भव**=फूल-फल। तेरा शरीर सब प्रकार से उन्नत हो। ६. प्रभु के इस आदेश को सुनकर मेधातिथि प्रभु से प्रार्थना करता है कि **वर्षो**=हे यज्ञिय कर्म से सब सुखों के वर्षक प्रभो! आप मुझ **यज्ञपतिम्**=यज्ञों के रक्षक को **वर्षीयसि यज्ञे**=सब सुखों के वर्षक उत्कृष्ट यज्ञ में **धाः**=स्थापित कीजिए। मैं **देवेभ्यः**=देवताओं के लिए **स्वाहा**=उत्तम आहुति देनेवाला होऊँ और **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए **स्वाहा**=स्वार्थ का त्याग करनेवाला बनूँ। वस्तुतः यज्ञ से वायु आदि देवताओं की शुद्धि होती है और मनुष्य को दिव्य गुणों की प्राप्ति होती है, क्योंकि यज्ञ का मूल ही स्वार्थत्याग है।

भावार्थ—हमारा जीवन यज्ञमय हो।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—विद्वांसः। **छन्दः**—भुरिक्प्राजापत्यानुष्टुप्[क], भुरिगासुर्युष्टुप्[र]। **स्वरः**—गान्धारः॥

दिव्य गुण

माहिर्भूर्मा पृदाकुर्नमस्तऽआतानानर्वा प्रेहि।
[र]घृतस्य कुल्याऽ उपऽ ऋतस्य पथ्याऽअनु॥१२॥

पिछले मन्त्र की समाप्ति दिव्य गुणों को प्राप्त करने की प्रार्थना पर थी। उन्हीं दिव्य गुणों का संकेत प्रस्तुत मन्त्र में दिया गया है। विद्वान् आचार्य मेधातिथि (समझदार) को आदेश देते हैं कि १. **अहिः मा भूः** =तू साँप मत बन। तुझमें सर्पवत् कुटिलता न हो। तू औरों को डसनेवाला, कटु शब्दों से उनके मन, हृदय को विद्ध करनेवाला न हो। २. **मा पृदाकुः**=तू अजगर न हो, औरों को निगल जानेवाला न हो। औरों की सम्पत्ति को तूने हड़प नहीं लेना। ३. **नमः ते**=इस प्रकार उत्तम जीवनवाले तेरे लिए आदर हो। सभी लोगों का तू हृदय से आदरणीय बन। ४. **आतान**=तू अपनी सब शक्तियों का सदा विस्तार कर। ५. परन्तु **अनर्वा**=तू किसी की हिंसा करनेवाला न हो। तेरी शक्तियाँ परि-रक्षण के लिए हों, पर-पीड़न के लिए नहीं। ६. **प्रेहि**=तू निरन्तर आगे बढ़ ७. **घृतस्य कुल्या उप**=ज्ञान की नहरों के समीप पहुँच और ८. **ऋतस्य पथ्या अनु**=ऋत के मार्गों के साथ तू आगे बढ़, अर्थात् आगे बढ़ने व उन्नति का स्वरूप यही है कि मनुष्य ज्ञान की धाराओं के समीप पहुँचता जाए और सूर्य-चन्द्रमा की गति के अनुसार अपने जीवन-मार्ग पर बड़े नियम से चले।

भावार्थ—वेद के दृष्टिकोण में दिव्य जीवन यह है १. कुटिलता का सर्वथा त्याग २. चुभनेवाली बातें न करना, कटु न बोलना ३. औरों की सम्पत्ति को न हड़पना ४. अपना जीवन आदरणीय बनाना ५. हिंसा न करना ६. निरन्तर आगे बढ़ना ७. ज्ञान प्राप्त करना और ८. नियमित जीवन बिताना।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—आपः। **छन्दः**—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

आचार्य

देवीरापः शुद्धा वोढ्वꣳ सुपरिविष्टा देवेषु।
सुपरिविष्टा वयं परिवेष्टारो भूयास्म॥१३॥

दिव्य जीवन बनाने के लिए माता-पिता आचार्यों से प्रार्थना करते हैं कि १. **देवीः**=ज्ञान की ज्योति से चमकनेवाले **आपः**=रेतस् के पुञ्ज (आपः रेतस्) अथवा आप्त **शुद्धाः**=शुद्ध मनोवृत्तिवाले आचार्यो! **वोढ्वम्**=('वह' प्रापणे-'नी' उपनयन) आप इन विद्यार्थियों को अपने समीप लाइए, उनका उपनयन कीजिए। वेद के **'आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं**

कृणुते गर्भमन्तः' इन शब्दों के अनुसार उन्हें अपने गर्भ में धारण कीजिए। माता जैसे गर्भस्थ बालक की रक्षा करती है आप उसी प्रकार इन विद्यार्थियों के सदाचार आदि की रक्षा कीजिए। २. ये विद्यार्थी **सुपरिविष्टाः**=सुपरिविष्ट हों, अर्थात् इन्हें आपके द्वारा ज्ञान का भोजन उत्तमता से परोसा जाए। 'ब्रह्मचर्य' शब्द में भी ज्ञान के भक्षण की भावना है। ३. **देवेषु**=विद्वान् आचार्यों के समीप **सुपरिविष्टाः**=खूब उत्तमता से परोसे हुए ज्ञान को, अर्थात् आचार्यों के समीप रहकर सब प्राकृतिक देवों से सम्बन्धित ज्ञान को प्राप्त करनेवाले **वयम्**=हम **परिवेष्टारः**=इस ज्ञान के भोजन के परोसनेवाले **भूयास्म**=बनें। ज्ञान प्राप्त करके उस ज्ञान को औरों तक पहुँचानेवाले बनें।

भावार्थ—राष्ट्र में आचार्य दिव्य ज्योतिवाले, शक्तिसम्पन्न व शुद्ध वृत्तिवाले हों। इनके समीप रहकर विद्यार्थी ज्ञान का भोजन प्राप्त करें और स्वयं ज्ञान प्राप्त करके उस ज्ञान का सर्वत्र प्रसार करनेवाले हों।

ऋषिः—मेधातिथिः। देवता—विद्वांसः। छन्दः—भुरिगार्षीजगती। स्वरः—निषादः॥

शोधन

वाचं ते शुन्धामि प्राणं ते शुन्धामि चक्षुस्ते शुन्धामि श्रोत्रं ते शुन्धामि नाभिं ते शुन्धामि मेढ्रं ते शुन्धामि पायुं ते शुन्धामि चरित्राँस्ते शुन्धामि॥१४॥

'आचार्य विद्यार्थी के जीवन का किस प्रकार शोधन करता है?' इस विषय को प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि—१. **ते वाचं शुन्धामि**=(आचार्य विद्यार्थी से कहता है कि) मैं तेरी वाणी को शुद्ध करता हूँ, जिससे तू इस वाणी को असत्यभाषण से अपवित्र करनेवाला न हो। तेरी वाणी सत्य से सदा पवित्र बनी रहे। २. **ते प्राणं शुन्धामि**=मैं तेरी घ्राणेन्द्रिय को शुद्ध करता हूँ, जिससे तू घ्राणेन्द्रिय से कृत्रिम गन्धों के प्रति आसक्त न हो जाए। ३. **ते चक्षुः शुन्धामि**=तेरी आँख को शुद्ध करता हूँ, जिससे तू पवित्र दृष्टि से देखनेवाला बने। स्त्रियों में मातृभावना, परद्रव्यों में लोष्ठभावना, सर्वप्राणियों में आत्मभावना से तू देखनेवाला हो। हिमाच्छादित पर्वतों, समुद्रों, विशाल पृथिवी व आकाश के तारों में तू प्रभु की महिमा को देखे। ४. **ते श्रोत्रं शुन्धामि**=तेरे कान को शुद्ध करता हूँ, जिससे तू इन कानों से अभद्र बातों को न सुनता रहे। तुझे निन्दा की बातें सुनने में स्वाद न आये। ५. **नाभिं ते शुन्धामि**=मैं तेरी नाभि को पवित्र करता हूँ, जिससे तेरा जीवन संयम के बन्धन में बँधकर चले। ६. **ते मेढ्रं शुन्धामि**=तेरी उपस्थेन्द्रिय को शुद्ध करता हूँ, जिससे तू ब्रह्मचर्य का जीवन बिताते हुए मूत्र-सम्बन्धी सब रोगों से बचा रहे। ७. **ते पायुं शुन्धामि**=तेरी मलशोधक इन्द्रिय को शुद्ध करता हूँ, जिससे ठीक मल-शोधन होते रहकर तू रोगों से बचा रहे। ८. **ते चरित्रान् शुन्धामि**=तेरे पाँवों को शुद्ध करता हूँ, जिससे तेरे चरित्र (चाल-ढाल) सदा ठीक बने रहें।

भावार्थ—आचार्य विद्यार्थी के जीवन को परिशुद्ध कर डालता है।

ऋषिः—मेधातिथिः। देवता—विद्वांसः। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्[क], आर्षीपंक्तिः[र]। स्वरः—धैवतः, पञ्चमः॥

आप्यायन

[क]मनस्तऽआप्यायतां वाक् तऽआप्यायतां प्राणस्तऽआप्यायतां चक्षुस्तऽआप्यायताꣳ श्रोत्रं तऽआप्यायताम्। [र]यत्ते क्रूरं यदास्थितं तत्तऽआप्यायतां निष्ट्यायतां तत्ते शुध्यतु शमहोभ्यः। ओषधे त्रायस्व स्वधिते मैनꣳहिꣳसीः॥१५॥

गत मन्त्र के 'शोधन' के बाद प्रस्तुत मन्त्र में 'आप्यायन' का वर्णन आता है। आचार्य विद्यार्थी से कहता है कि १. **ते मनः आप्यायताम्**=तेरा मन बढ़े। तेरे मन में सदा उत्साह का सञ्चार हो। निराशा तेरे मनःप्रसाद में किसी प्रकार की कमी को न आने दे। २. **ते वाक् आप्यायताम्**=तेरी वाणी आप्यायित हो—यह सदा सत्य बोलने के कारण 'क्रियाफलाश्रित' हो, अर्थात् जैसा तेरी वाणी से निकले वैसा ही हो जाए। ३. **ते प्राणः आप्यायताम्**=तेरे प्राण आप्यायित हों। तेरी घ्राणेन्द्रिय की शक्ति बढ़े। तू सूँघने के द्वारा ही 'सगन्धत्व' को, बन्धुत्व को, पहचाननेवाला हो। ४. **ते चक्षुः आप्यायताम्**=तेरी दृष्टिशक्ति आप्यायित हो। तू दूर तक देख सके, सूक्ष्म वस्तु को भी तेरी आँख देखने में समर्थ हो। ५. **श्रोत्रं ते आप्यायताम्**=तेरी श्रवणशक्ति विकसित हो। तू सूक्ष्म शब्दों को भी सुनने में समर्थ हो। ६. **यत् ते क्रूरम्**=जो कुछ भी तेरा भयंकर कर्म व स्वभाव है **तत् ते**=वह तेरा **निष्ट्यायताम्**=तुझसे दूर हो जाए, **तत् ते शुध्यतु**=वह तेरा शुद्ध हो जाए। तेरे उस स्वभाव का शोधन होकर क्रूरता दूर हो जाए। **यत्**=जो **आस्थितम्**=तेरी स्थिरता व दृढ़ता है, वह **आप्यायताम्** =आप्यायित हो, अर्थात् तुझमें क्रूरता तो न हो, परन्तु मोहमयी मृदुता भी न हो, तेरे स्वभाव में कुछ दृढ़ता बनी रहे। ७. इस क्रूरता के न होने और स्थिरता के होने से **अहोभ्यः शम्**=तेरे दिनों के लिए शान्ति हो, अर्थात् तू शान्तिपूर्वक दिनों को बितानेवाला बन। ८. **ओषधे**=हे दोषों का दहन करनेवाले आचार्य! **त्रायस्व**=तू विद्यार्थी की रक्षा कर, उसे किन्हीं भी असदाचरणों में गिरने से बचा। ९. **स्वधिते**=आत्मीयों का धारण करनेवाले तथा आत्मतत्त्व का धारण करनेवाले! तू **एनम्**=इस अपने शिष्य को **मा हिंसीः**=मत हिंसित होने दे।

भावार्थ—आचार्य-कृपा से विद्यार्थी के सब अङ्गों का आप्यायन हो। उसका स्वभाव उत्तम हो। वह वासनाओं का शिकार न हो जाए।

ऋषिः—मेधातिथिः। देवता—द्यावापृथिव्यौ। छन्दः—ब्राह्म्युष्णिक्[क.र.]। स्वरः—ऋषभः॥

रक्षो बाधन

[क]रक्षसां भागोऽसि निरस्तꣳरक्षऽइदमहꣳरक्षोऽभितिष्ठामीदमहꣳ रक्षोऽवबाधऽइदमहꣳरक्षोऽधमं तमो नयामि। [र]घृतेन द्यावापृथिवी प्रोर्णुवाथां वायो वे स्तोकानामग्निराज्यस्य वेतु स्वाहा स्वाहाकृतेऽऊर्ध्वनभसं मारुतं गच्छतम्॥१६॥

१. अपने सब अङ्ग-प्रत्यङ्गों का आप्यायन करके हे मेधातिथि! तू **रक्षसाम्**=राक्षसी वृत्तियों का **भागः**=दूर भगानेवाला (भज्=put to flight) **असि**=है। **रक्षः**=सब रोगकृमि **निरस्तम्**=दूर फेंक दिये गये हैं। **इदम्**=यह **अहम्**=मैं **रक्षः**=इन राक्षसी वृत्तियों का **अभितिष्ठामि**= मुक़ाबला करता हूँ। **इदम् अहम्**=यह मैं **रक्षः**=इन रोगकृमियों को **अधमं तमः नयामि**=सबसे निकृष्ट अन्धकारमय स्थान में पहुँचाता हूँ, अपने से दूर अदृश्य स्थान में धकेल देता हूँ। २. इस प्रकार राक्षसी वृत्तियों व रोगकृमियों को दूर करके **द्यावापृथिवी**=(द्यौरहं पृथिवी त्वम्) पति-पत्नी दोनों ही **घृतेन**=मलक्षरण द्वारा शरीर के स्वास्थ्य से और ज्ञान की दीप्ति से **प्रोर्णुवाथाम्**=अपने को आच्छादित करते हैं। ३. हे **वायो**=गति के द्वारा अपनी सब बुराइयों को समाप्त करनेवाले! तू **स्तोकानाम्**=छोटी-छोटी बातों का भी **वेः**=जाननेवाला हो (वेः=विद्धि—द०)। यदि हम छोटी-छोटी गलतियों को अपने अन्दर न आने देंगे, तभी वास्तविक उत्थान होगा। ४. **अग्निः**=यह प्रकाशमय जीवनवाला व्यक्ति **आज्यस्य**=(आज्यं वै तेजः)

तेज को **वेतु**=प्राप्त करें। ५. **स्वाहा**=इन सब बातों के लिए वह स्वार्थत्याग करे। ६. और हे **स्वाहाकृते**=स्वार्थत्याग करनेवाले पति-पत्नियो ! **ऊर्ध्वनभसम्**=उत्कृष्ट हिंसावाले **मारुतम्**=रश्मि-समूह को **गच्छतम्** =प्राप्त होवो। ज्ञान की रश्मियों का समूह वासनाओं का विनाश करता है। यह वासना-विनाश ही उत्कृष्ट हिंसा है। (नभ् हिंसायाम्)।

भावार्थ—हम रोगकृमियों व राक्षसी वृत्तियों को अपने से दूर कर दें। पति-पत्नी दोनों ही स्वस्थ व ज्ञानी बनें। छोटी-छोटी कमियों का ध्यान करके उन्हें दूर करें। स्वार्थत्याग करनेवाले ये पति-पत्नी उस ज्ञान रश्मिसमूह को प्राप्त करें जो उनकी वासनाओं के अन्धकार का विनाश करे।

ऋषि:—दीर्घतमा:। **देवता**—आप:। **छन्द:**—निचृद्ब्राह्म्यनुष्टुप्। **स्वर:**—गान्धार:॥

पाप-मोचन

इदमा॑पः॒ प्रव॑हतावद्यं च॒ मलं॑ च॒ यत्। यच्चा॑भिदु॒द्रोहानृ॑तं॒ यच्च॑ शे॒पेऽअ॑भी॒रुण॑म्। आपो॑ मा॒ तस्मा॒देन॑सः॒ पव॑मानश्च मुञ्चतु॥१७॥

गत मन्त्र का 'मेधातिथि' ज्ञान-रश्मिसमूह से वासनान्धकार का विदारण करके अब 'दीर्घतमा' बन गया है और प्रार्थना करता है कि—१. **आप:**=(आप्नुवन्ति सर्वा विद्या): हे सब विद्याओं को प्राप्त करानेवाले आप्त पुरुषो! आप **इदम्**=इस **अवद्यं च**=अकथनीय—गर्हणीय पापों को **मलं च**=और मलों को **प्रवहत**=हमसे बहाकर दूर ले-जाओ। आपकी कृपा से मेरे ज्ञानचक्षु इस प्रकार खुलें कि मैं कोई भी बुरा कर्म न करूँ और खान-पान को ठीक रखता हुआ शरीर में किसी प्रकार के मल का सञ्चय न होने दूँ। २. **च**=और **यत्**=जो **अभिदुद्रोह**=मैं किसी का द्रोह (जिघांसा=मारने की इच्छा) करता हूँ, **यत् च**=और जो **अनृतम्** =झूठ-मूठ बातों को बनाता हूँ तथा **अभीरुणम्**=(अनपराधिनं) निष्पाप और निर्भय व्यक्ति से **शेपे**=गाली-गलौच करता हूँ **तस्मात् एनस:**=उस पाप से **आप:**=ज्ञानी लोक तथा **पवमान: च**=अपने को पवित्र करनेवाले सन्त लोग **मुञ्चतु**=अपने ज्ञानोपदेश व मधुर प्रेरणा के द्वारा मुक्त करें।

भावार्थ—सबसे बड़े पाप यही हैं कि (क) किसी से द्रोह करना (ख) अनृत बोलना (ग) निष्पाप को कोसना। ज्ञानी, पवित्रात्मा लोग हमें इन पापों से छुड़ाएँ।

ऋषि:—दीर्घतमा:। **देवता**—अग्नि:। **छन्द:**—प्राजापत्यानुष्टुप्[क], दैवीपङ्क्ति:[२]आर्चीपङ्क्ति:[३]। **स्वर:**—गान्धार:[क], पञ्चम:[२,३]॥

मन व प्राण

[क]सं ते॒ मनो॒ मन॑सा॒ सं प्रा॒णः प्रा॒णेन॑ गच्छताम्। [२]रेड॑स्य॒ग्निष्ट्वा॑ श्री॒णा॒त्वाप॑स्त्वा॒ सम॑रिण॒न्वात॑स्य॒ त्वा॒ ध्राज्यै॑ पू॒ष्णो रꣳह्या॑ऽऊ॒ष्मणो॑ व्यथिष॒त्प्रयु॑तं॒ द्वेषः॑॥१८॥

पिछले मन्त्र के अनुसार जब 'दीर्घतमा' पापमुक्त होता है तब प्रभु उससे कहते हैं कि १. **ते**=तेरा **मन:**=मन **मनसा**=मननशक्ति से **सङ्गच्छताम्**=सङ्गत हो और **प्राण:**=जीवन **प्राणेन**=जीवनीशक्ति से **सङ्गच्छताम्** =सङ्गत हो, अर्थात् तुझमें ऋषियों की मननशक्ति हो और मल्लों की जीवनी शक्ति हो। तेरे 'क्षत्र व ब्रह्म' दोनों ही खूब विकसित हों। २. **रेट्** **असि**=(रिष हिंसायाम्) तू ज्ञान-प्राप्ति में विघ्नभूत कामादि वासनाओं का संहार करनेवाला है और रोगों के कारणभूत स्वादादि को समाप्त करनेवाला है। ३. **अग्नि:**=ज्ञानाग्नि **त्वा**

श्रीणातु=तुझे परिपक्व करे, अर्थात् ज्ञानाग्नि के कारण तेरे विचार इतने परिपक्व हों कि वे धर्म के मार्ग से कभी विचलित न हों। ४. **आपः**=विद्याओं को व्याप्त करनेवाले ज्ञानी लोक **त्वा**=तुझे **समरिणन्**=उत्तम गतिवाला करें (रिणतिः गतिकर्मसु)। अथवा जल तेरे सब अङ्ग-प्रत्यङ्गों व ग्रन्थियों को ठीक गतिवाला करें। ५. **त्वा**=तुझे **वातस्य**=वायु की **ध्राज्यै**=तीव्र गति के लिए **ऊष्मणः**=तेज़ी से—क्रोध में आ जाने से **व्यथिषत्**=भयभीत करके दूर भगा दे, अर्थात् क्रोध से तू डरे और इस क्रोध से सदा बचे रहकर वायु की तरह अपने कर्मों में तू लगा रहे। ६. **पूष्णः**=पोषण के देवता सूर्य की **रंह्यै**=गति के लिए, अर्थात् सूर्य के समान नियमित कार्यक्रम में लगे रहने के लिए **द्वेषः**=द्वेष से **प्रयुतम्**=दूर करें (यु=अमिश्रण)। मनुष्य जब द्वेष की भावना से युक्त होता है तब सूर्य के समान निर्लेप नहीं हो पाता। मनुष्य द्वेष से ऊपर उठकर ही न्याय-मार्ग पर चल पाता है।

भावार्थ—मेरे मन व प्राण बलिष्ठ हों। मुझे क्रोध व द्वेष न छूएँ।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—ब्राह्म्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

घृत व वसा का पान

घृतं घृतपावानः पिबत वसां वसापावानः पिबतान्तरिक्षस्य हविरसि स्वाहा। दिशः प्रदिशऽआदिशो विदिशऽउद्दिशो दिग्भ्यः स्वाहा॥१९॥

पिछले मन्त्र की भावना को ही शब्दान्तर से कहते हैं कि १. **घृतपावानः**=घृत अर्थात् मल-क्षरण का पान करनेवालो! **घृतं पिबत**=मल-क्षरण का पान करो। शरीर से मल-क्षरण का पूरी तरह से ध्यान करो। शरीर में मलों का सञ्चय न होगा तभी तुम स्वास्थ्य की दीप्ति से चमकोगे। प्राणशक्ति की वृद्धि का एकमात्र मार्ग यही है। २. **वसापावानः**=(वसा=brain=दिमाग़) दिमाग़ की रक्षा करनेवालो! **वसां पिबत**=मस्तिष्क का पान करो, अर्थात् मस्तिष्क की सुरक्षा का पूर्ण प्रयत्न करो, तभी तो पूरी मननशक्ति से सङ्गत होओगे। ३. तू **अन्तरिक्षस्य**=हृदयान्तरिक्ष का **हविः**=हवि **असि**=है। हवि का अभिप्राय 'दानपूर्वक अदन करना है'। तेरे हृदय में यह भावना सदा बनी रहती है। यही त्यागपूर्वक भोग है—यज्ञशेष 'अमृत' का सेवन है। **स्वाहा**=तू इसके लिए स्वार्थ का त्याग करनेवाला हो। स्वार्थत्याग से ही हविर्मय जीवन बनेगा। ४. तेरा शरीर घृत=मल-क्षरण से स्वास्थ्य की दीप्तिवाला हुआ है, मस्तिष्क वसा=दिमाग़ी ताकत की रक्षा से मनन की शक्ति से परिपूर्ण हुआ है और हृदय त्याग की भावनावाला होकर हविरूप हो गया है। इस प्रकार तूने सर्वतोमुखी उन्नति का साधन किया है। **दिशः-प्रदिशः-आदिशः-विदिशः-उद्दिशः-दिग्भ्यः**=पूर्वादि सब दिशाओं तथा ऊपर-नीचे इस प्रकार छह-की-छह ओर से **स्वाहा**=(सु+आ+हा) सब ओर युद्ध-क्रिया से शत्रुओं का खूब संहार किया है (युद्धानुरूप क्रिया से शत्रुओं को जीता है—द०)। जीव पर छह दिशाओं से छह शत्रु महारथियों का आक्रमण होता है। जीव को इन सब महारथियों का पराजय करके 'विश्वेदेवाः' सब दिव्य गुणों को प्राप्त करना है।

भावार्थ—हम स्वास्थ्य व मस्तिष्क की रक्षा करें। हृदय को त्याग की भावना से परिपूर्ण करें और छह दिशाओं से आक्रमणकारी छह शत्रु महारथियों (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर) पर विजय प्राप्त करें।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—त्वष्टा। छन्दः—ब्राह्मीत्रष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

प्रतिकूल की अनुकूलता

**ऐन्द्रः प्राणोऽअङ्गेऽअङ्गे निदीध्यदैन्द्रऽउदानोऽअङ्गेऽअङ्गे निधीतः।
देव त्वष्टर्भूरि ते सꣳसमेतु सलक्ष्मा यद्विषुरूपं भवाति।
देवत्रा यन्तमवसे सखायोऽनु त्वा माता पितरो मदन्तु॥२०॥**

पिछले मन्त्र के अनुसार सब शत्रुओं का संहार कर देने से १. **ऐन्द्रः प्राणः**=जीव की प्राणशक्ति **अङ्गे अङ्गे**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में **निदीध्यत्**=चमकती है। **ऐन्द्रः उदानः**=यह जीव-सम्बन्धी उदानशक्ति भी **अङ्गे अङ्गे** =प्रत्येक अङ्ग में **निधीतः**=(निहितः) निहित हुई है। प्राणशक्ति स्वास्थ्य का कारण बनती है तो उदानशक्ति ज्ञानवृद्धि के द्वारा सब प्रकार के उत्थान का कारण होती है। २. हे **देव**=दिव्य गुणसम्पन्न! **त्वष्टः**=शक्ति व ज्ञान के द्वारा सब उत्तमताओं का निर्माण करनेवाले! **ते**=तुझे **भूरि**=(भृ=धारणपोषण) धारणपोषण के सब तत्त्व **सम् सम् एतु**=उत्तमता से प्राप्त हों। **यत्**=जो **विषुरूपम्**=प्रतिकूलता हो वह **सलक्ष्मा**=अनुकूलता में परिणत **भवाति**=हो जाती है। प्राणोदान शक्ति के ठीक होने पर किसी तत्त्व की प्रतिकूलता का प्रश्न ही नहीं रह जाता। ये प्राणोदान सबको अनुकूल कर लेते हैं। ३. सबको अनुकूल बनाकर **अवसे**=अपने रक्षण के लिए **देवत्रा यन्तम्**=दिव्य गुणों की ओर जाते हुए **त्वा अनु**=तुझे देखकर **सखायः**=सब सखा व **माता पितरः**=माता-पिता **मदन्तु**=हर्ष का अनुभव करें। तुम्हें उन्नतिपथ पर जाते देखकर सबको प्रसन्नता हो।

भावार्थ—प्राण एवं उदान को सिद्ध करके हम जीवन का निर्माण करें। दिव्य गुणों की ओर बढ़ें। हमारे जीवन को देखकर मित्रों व पिता-माता को प्रसन्नता हो।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—सेनापतिः। छन्दः—साम्नी[क] ब्राह्मी[ख] भुरिगार्षी[ग] आर्ष्युष्णिक[र]। स्वरः—ऋषभः॥

ग्यारह दिव्य गुण

[क]समुद्रं गच्छ स्वाहाऽन्तरिक्षं गच्छ स्वाहा [ख]देवꣳसवितारं गच्छ स्वाहा मित्रावरुणौ गच्छ स्वाहाऽहोरात्रे गच्छ स्वाहा छन्दाꣳसि गच्छ स्वाहा द्यावापृथिवी गच्छ स्वाहा [ग]यज्ञं गच्छ स्वाहा सोमं गच्छ स्वाहा दिव्यं नभो गच्छ स्वाहाग्निं वैश्वानरं गच्छ स्वाहा [र]मनो मे हार्दि यच्छ दिवं ते धूमो गच्छतु स्वर्ज्योतिः पृथिवीं भस्मनापृण स्वाहा॥२१॥

पिछले मन्त्र में 'देवत्रा यन्तम्' दिव्य गुणों की ओर जानेवाले का उल्लेख था। वे दिव्य गुण ही प्रस्तुत मन्त्र में प्रतिपादित हो रहे हैं। १. **स्वाहा** (स्वाहा=वाक्—नि० १।११) वेदवाणी के द्वारा **समुद्रं गच्छ**=समुद्र को जा। समुद्र गम्भीरता का प्रतीक है। वेदवाणी व ज्ञान की वाणियों के पढ़ने का जीवन पर पहला परिणाम यह है कि मनुष्य की मनोवृत्ति गम्भीरता को लिये हुए होती है। वह उथला नहीं होता। इस गम्भीरता का अभिप्राय किसी प्रकार भी उदास व मुस्कराहट से शून्य चेहरे से नहीं है। यह व्यक्ति **स-मुद्रः**=सदा प्रसन्न होता है। मनःप्रसाद इसकी दृष्टि में सर्वोच्च तप है। २. **स्वाहा**=इस वेदवाणी के द्वारा **अन्तरिक्षं गच्छ** =अन्तरिक्ष को प्राप्त हो। 'अन्तरिक्ष' मध्यमार्ग का प्रतीक है। अन्तरा क्षि=बीच में चलना। अन्तरिक्ष भी द्युलोक और पृथिवीलोक के बीच में है। अति में न जाकर सदा

मध्य में रहना। अतिभोजन न करना, उपवास में भी अति न कर जाना। ३. **देवं सवितारं गच्छ स्वाहा**=तू वाणी के द्वारा जीवन को प्रकाश देनेवाले सूर्य को प्राप्त हो। सूर्य को प्राप्त होने का अभिप्राय 'तेजसा सूर्यसंकाशः' इन शब्दों में स्पष्ट है—तू सूर्यदेव के समान तेजस्वी बन। ज्ञान भोगों से हटाता है तो तेजस्वी भी बनाता है। ४. **मित्रावरुणौ गच्छ स्वाहा**=वेदवाणी के द्वारा तू मित्रावरुण को प्राप्त करनेवाला हो। 'मित्र' स्नेह की देवता है तो 'वरुण' द्वेष-निवारण की देवता है। ज्ञानी बनकर सब 'प्रभु के ही पुत्र हैं' ऐसा समझनेवाला द्वेष कर ही नहीं सकता। वह सबसे प्रेम करेगा ही। ५. **अहोरात्रे गच्छ स्वाहा**=इन ज्ञान की वाणियों से तू अहन् व रात्रि को प्राप्त हो। अहन् 'दिन' है—यह न हनन करने योग्य है। ज्ञानी पुरुष दिन के एक क्षण को भी अकर्मण्यता में नहीं बिताता। इसी का परिणाम है कि रात्रि इसके लिए रमयित्री होती है। इसमें कार्यों का विराम करके वह वस्तुतः निद्रा में रमण करनेवाला होता है—सुख की नींद सोता है। ६. **स्वाहा**=इन ज्ञान की वाणियों के द्वारा तू **छन्दांसि गच्छ**=(छन्दांसि छादनात्) छन्दों को प्राप्त हो—तेरे पापों का छादन हो। ये ज्ञान की वाणियाँ तुझे पापों के आक्रमण से बचानेवाली हों। ७. **स्वाहा**=इस वेदवाणी के द्वारा तू **द्यावापृथिवी गच्छ**=द्यावापृथिवी को प्राप्त कर। तेरा मस्तिष्करूप द्युलोक द्युतिमय हो। तेरा पृथिवीरूप शरीर प्रथन=विस्तारवाला हो। ८. **यज्ञं गच्छ स्वाहा**=तू इस वेदवाणी से यज्ञ को प्राप्त हो। तेरा जीवन यज्ञिय हो। ज्ञान को प्राप्त करके 'मनुष्य स्वार्थी बना रहे' यह नहीं हो सकता। ९. **स्वाहा**=इस ज्ञान की वाणी के अध्ययन से तू **सोमं गच्छ**=सोम को प्राप्त हो। शरीर में वीर्य की रक्षा करनेवाला बन। १०. इस सोमरक्षा से जहाँ तू **स्वाहा**=वेदवाणी का अध्ययन करता हुआ **दिव्यं नभः**=प्रकाशमय द्युलोक को **गच्छ**=प्राप्त हो, वहाँ ११. **स्वाहा**=इस ज्ञान की वाणी के द्वारा **वैश्वानरं अग्निम्**=वैश्वानर अग्नि को, अर्थात् पाचनशक्ति को **गच्छ**=प्राप्त हो। यह ज्ञान तुझे अतिभोजन व असंयमादि दोषों से बचाकर सदा दीप्त अग्निवाला बनाएगा। जब तक तेरी अग्नि दीप्त है तब तक तेरा शरीर सर्वथा स्वस्थ ही रहेगा। १२. इस स्वस्थ शरीर में, प्रभु दीर्घतमा से कहते हैं कि **मे**=मेरे दिये हुए **मनः** =इस मन को **हार्दि**=हृदय (heart) में **यच्छ**=तू नियन्त्रित करनेवाला बन। मन 'हृत् प्रतिष्ठ' है। यह जब कभी स्थिर होगा तो हृदय में ही स्थिर होगा, क्योंकि वहाँ प्रभु का निवास है और इस प्रभु में एक बार उलझा हुआ मन न उसके ओर-छोर को पा सकता है और न फिर वहाँ से निकल सकता है। मन का स्वभाव ही यह है कि किसी भी वस्तु को चारों ओर से देखकर फिर उससे ऊब जाता है और अन्यत्र भागने को करता है। प्रभु को न तो यह पूरी तरह से देख पाता है और न ही फिर वहाँ से निकल पाता है। एवं, यह हृदय में नियन्त्रित हो जाता है। १३. नियन्त्रित मनवाला व्यक्ति ही यज्ञादि उत्तम कर्मों में लग पाता है। प्रभु इससे कहते हैं कि **ते**=तेरा **धूमः**=यज्ञ का धूम **दिवं गच्छतु**=द्युलोक तक पहुँचे, **ज्योतिः**=यह यज्ञाग्नि की ज्योति तेरे **स्वः**=स्वर्ग का कारण बने। यज्ञों से सब रोगादि दूर होकर घर स्वर्ग बन जाता है, अतः तू **पृथिवीम्**=इस पृथिवी को **भस्मना**=यज्ञाग्नि की भस्म से **पृण**=पूरित कर दे। इस पृथिवी पर स्थान-स्थान पर यज्ञ होंगे तो सब ऋतुएँ ठीक समय पर आकर सबके कल्याण का कारण बनेंगी।

भावार्थ—हम जीवन में गाम्भीर्य, मध्यमार्गाक्रमण, तेजस्विता, स्नेह व द्वेषाभाव, कर्मठता व सुखनिद्रा, पाप-निवारण, देदीप्यमान मस्तिष्क व दृढ़ शरीर, यज्ञ, सोमरक्षा, प्रकाशमय अहिंसक वृत्ति तथा तीव्र जाठराग्नि को धारण करें। मन को वशीभूत करके

यज्ञमय जीवन बिताएँ।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—वरुणः। छन्दः—स्वराड्ब्राह्म्युष्णिक्[क], त्रिपाद्विराड्गायत्री[र]।
स्वरः—ऋषभः[क], षड्जः[र]॥

जल-ओषधियाँ-गौवें

[क]मापो मौषधीर्हिꣳसीर्धाम्नोधाम्नो राजँस्ततो वरुण नो मुञ्च। यदाहुरघ्न्याऽइति वरुणेति शपामहे ततो वरुण नो मुञ्च। [र]सुमित्रिया नऽआपऽओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः॥२२॥

पिछले मन्त्र में ११ सद्गुणों का उल्लेख था। 'सब प्रजाओं के अन्दर ये दिव्य गुण आएँ', इसके लिए राजा को यह व्यवस्था करनी है कि सब लोगों को उत्तम जल, उत्तम ओषधियाँ प्राप्त हों। राष्ट्र में वृक्षों की स्थिति ठीक हो। वर्षा बहुत कुछ इन वृक्षों पर ही निर्भर है। राष्ट्र में गो-हिंसा कानूनन बन्द हो, क्योंकि मानव-जीवन की उन्नति इन गौवों पर निर्भर करती है। मन्त्र में कहते हैं कि १. हे **राजन्**=राष्ट्र में सुव्यवस्था (Regulation) लानेवाले! तू **धाम्नः धाम्नः**=प्रत्येक स्थान से **आपः**=जलों की **मा**=मत **हिंसीः**=हिंसा होने दे तथा **मा**=मत **ओषधीः**=ओषधियों की **हिंसीः**=हिंसा होने दे। हे **वरुण**=राष्ट्र को नियमों के पाशों से बाँधनेवाले राजन्! **नः**=हमें **ततः**=इन पापों से **मुञ्च**=मुक्त कीजिए। न तो हम जलों को खराब करनेवाले हों और न ही वनस्पतियों को व्यर्थ में हिंसित करनेवाले हों। प्रत्येक ग्राम व नगर के चारों ओर वृक्षों के उपवन होने चाहिएँ। ये आँधियों से सुरक्षित करते हैं इनसे रेगिस्तान की वृद्धि न होकर वृष्टि अधिक होती है। २. **यत्**=जिसे आप **अघ्न्या**=न मारने योग्य **आहुः**=कहते हैं **वरुण इति**=जिसे आप 'वरणीय'—'स्वीकार करने योग्य' इस प्रकार कहते हैं और हम इन बातों का ध्यान न करके **शपामहे**=उन्हें मारते हैं (शपतिर्वधकर्मा—उ०) **ततः**=उस गौ के मरने के अपराध से हे **वरुण** =नियमों में जकड़नेवाले राजन्! **नः**=हमें **मुञ्च**=छुड़ाइए। हम गो-हत्या आदि के पापों से सदा बचे रहें। ३. इस प्रकार करने पर वे **आपः**=जल और **ओषधयः**=ओषधियाँ **नः**=हमारे लिए **सुमित्रिया**=उत्तम स्नेह करनेवाली **सन्तु**=हों। हाँ, **तस्मै**=उसके लिए ये **दुर्मित्रिया सन्तु**=दुःखद शत्रु के तुल्य हों **यः** =जो **अस्मान्**=हमसे **द्वेष्टि**=द्वेष करता है **च**=और **यम्**=जिसको परिणामतः **वयम्**=हम सब **द्विष्मः**=प्रीति नहीं करते। वस्तुतः यह सबसे द्वेष करनेवाला व्यक्ति खिझकर ही भोज्य पदार्थों को खाएगा तो उनसे उत्तम रुधिरादि पैदा न होकर विष ही उत्पन्न होंगे, अतः इन सर्वद्वेषियों के लिए भोजन भी विष बन जाएगा। भोजन तो प्रसन्नचित्त से ही खाना चाहिए।

भावार्थ—हम जलों व ओषधियों को हिंसित न करें। गो-हिंसा को पाप समझें।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—अप्-यज्ञः, सूर्यः। छन्दः—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

हविष्मान्

हविष्मतीरिमाऽआपो हविष्माँ२॥ऽआविवासति।
हविष्मान्देवोऽअध्वरो हविष्माँ२॥ऽअस्तु सूर्यः॥२३॥

१. पिछले मन्त्र में वर्णन था कि सब प्रजाएँ जलों, ओषधियों व गौवों की रक्षा करनेवाली हों। अब कहते हैं कि **इमाः**=ये जल, ओषधि व गौवों की हिंसा न करनेवाली

आपः=प्रजाएँ **हविष्मतीः**=हविवाली हों। ये सदा दानपूर्वक अदन करनेवाली हों। वस्तुतः **हविष्मान्**=यह दानपूर्वक अदन करनेवाला व्यक्ति ही **आविवासति**=प्रभु की परिचर्या करता है। प्रभु का आदेश है **त्यक्तेन भुञ्जीथाः**=त्यागपूर्वक भोग करो। बस, जो इस आदेश का पालन करता है, वही प्रभु का सच्चा उपासक है। २. **'केवलाघो भवति केवलादी'** अकेला खानेवाला शुद्ध पाप ही खाता है। **'अपञ्चयज्ञो मलिम्लुचः'** पञ्च यज्ञ न करनेवाला चोर है और वस्तुतः इसके विपरीत **हविष्मान्**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **देवः**=दिव्य गुणोंवाला बनता है। इसके मन में दान की वृत्ति होती है। **अध्वरः**=इसके हाथों से सदा 'अ-हिंसात्मक' उत्तम कर्म होते हैं। २१ वें मन्त्र में यही बात 'दिव्यं नभः' शब्दों से कही गई थी—'प्रकाशमय अहिंसा'। ३. और इन दोनों बातों से बढ़कर बात यह है कि **हविष्मान्**=यह हविवाला—दानपूर्वक अदन करनेवाला **सूर्यः**=ज्ञान का सूर्य **अस्तु**=हो। दूसरे शब्दों में हविष्मान् पुरुष का मन 'देवों' वाला होता है, उनके हाथों में 'अध्वर' होते हैं और इनका मस्तिष्करूप द्युलोक ज्ञान के सूर्य से देदीप्यमान हो उठता है। ४. एवं, 'दीर्घतमाः' का यही मार्ग है कि वह 'हविष्मान्' बने।

भावार्थ—हे प्रभो! आपकी कृपा से हविष्मान् बनकर हम आपके सच्चे उपासक बनें और अपने मनों को दिव्य गुणों का कोश बनाएँ। हविष्मान् के हाथों में अध्वर होता है और मस्तिष्क में ज्ञान का सूर्य।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—लिङ्गोक्ताः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्[क], त्रिपाद्गायत्री[र]। **स्वरः**—धैवतः[क], षड्जः[र]॥

बल-प्रकाश-स्नेह व द्वेषाभाव की प्रार्थना तथा कन्या का विवाह कहाँ?

[क]अग्नेर्वोऽपन्नगृहस्य सदसि सादयामीन्द्राग्न्योर्भागधेयी स्थ मित्रावरुणयोर्भागधेयी स्थ विश्वेषां देवानां भागधेयी स्थ। [र]अमूर्याऽउप सूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह। ता नो हिन्वन्त्वध्वरम्॥२४॥

१. पिछले मन्त्र में प्रजाओं के हविष्मान् बनने का उल्लेख था। 'हमारी सन्तानें हविष्मान् ही बनी रहें' इस उद्देश्य से प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि हम उनके विवाहादि सम्बन्धों को ऐसे घरों में करें जहाँ अग्निहोत्र इत्यादि नियमपूर्वक होते हों। घर का वातावरण यज्ञ के अनुकूल होगा तो सन्तानें भी उसी प्रवृत्तिवाली बनी रहेंगी। कन्या का पिता कन्या से कहता है कि **वः**=तुम्हें **अपन्नगृहस्य**=(न पन्नं पतितं गृहं यस्य) यज्ञादि उत्तम कर्मों के त्याग से पतित नहीं हुआ है जिसका घर, उस **अग्नेः**=प्रगतिशील व्यक्ति के **सदसि**=घर में **सादयामि**=स्थापित करता हूँ। २. तुम इस उत्तम घर में स्थित होकर **इन्द्राग्न्योः**=इन्द्र और अग्नि के **भागधेयी स्थ**=भाग को धारण करनेवाले बनो। तुममें इन्द्र और अग्नि दोनों देवों का अंश स्थापित हो। 'इन्द्र' बल का प्रतीक है तो 'अग्नि' प्रकाश का। तुम बल और प्रकाशवाले होवो। ३. **मित्रावरुणयोः**=मित्र और वरुण के **भागधेयी स्थ**=भाग को धारण करनेवाले बनो। 'मित्र और वरुण' इन दोनों देवों का अंश तुममें स्थापित हो। तुम मित्र के अंश को धारण करके सबके साथ स्नेह करनेवाले बनो और वरुण के अंश को धारण करके तुम द्वेष का निवारण करनेवाले होओ। तुम किसी से भी द्वेष न करो। ४. ठीक-ठीक बात तो यह है कि तुम **विश्वेषाम्**=सब **देवानाम्**=देवों के **भागधेयी स्थ**=भाग को धारण करनेवाले बनो। तुममें सब दिव्य गुणों की वृद्धि हो। यद्यपि इस वाक्य में 'इन्द्र-अग्नि और

मित्र-वरुण' का भी समावेश है तो भी 'ब्राह्मणा आयाता वसिष्ठोऽप्यायातः'— 'ब्राह्मण आ गये, वसिष्ठ भी आ गये' जैसे इस वाक्य में ब्राह्मणों के अन्तर्गत होते हुए भी अधिक आदरणीय होने से वसिष्ठ का अलग उल्लेख है, उसी प्रकार यहाँ 'इन्द्राग्नी और मित्र-वरुणा' का अलग उल्लेख हुआ है। ५. **अमूः**=हमारी वे प्रजाएँ—सन्तानें **याः**=जो **उपसूर्ये**=ज्ञान के सूर्य आचार्य के समीप रही हैं **वा**=और **याभिः सह**=जिनके साथ **सूर्यः**=ज्ञान का सूर्य आचार्य रहा है, अर्थात् आचार्य के समीप रहने से जो सचमुच 'अन्तेवासी' इस नाम से कहलाने योग्य थीं और आचार्य ने भी जिन्हें मानो अपने गर्भ में धारण किया हुआ था, **नः**=हमारी **ताः**=वे सन्तानें **अध्वरम्**=हिंसारहित यज्ञादि कर्मों को **हिन्वन्तु**=(प्रीणन्तु= बढ़ावें—द०) अपने घरों में बढ़ानेवाली (प्रेरित करनेवाली) हों।

भावार्थ—हमारे घरों में यज्ञों का कभी लोप न हो, हमारी सन्तानें सब देवांशों को धारण करनेवाली हों। विशेषतया उनमें 'बल, प्रकाश, स्नेह व द्वेषाभाव' तो अवश्य ही हों।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—सोमः। **छन्दः**—विराडार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

पति पत्नी से

हृदे त्वा मन॑से त्वा दि॒वे त्वा॒ सूर्या॑य त्वा।
ऊ॒र्ध्वमि॒मम॑ध्व॒रं दि॒वि दे॒वेषु॒ होत्रा॑ यच्छ॥२५॥

गत मन्त्र में कन्या को ऐसे घर में विवाहित करने का प्रसङ्ग था जहाँ यज्ञादि का लोप न हुआ हो। उस घर में कन्या के पहुँचने पर पति कहता है कि—१. **त्वा**=मैं तुझसे अपना यह सम्बन्ध **हृदे**=हृदय के लिए करता हूँ। मेरे जीवन में तेरे प्रवेश से कुछ रस व कोमलता का सञ्चार होगा, कुछ श्रद्धा की भावना बढ़ेगी। २. **त्वा**=तुझे मैं अपने जीवन का साथी बना रहा हूँ **मनसे**=मन के लिए। मेरे जीवन में कुछ विचार-शक्ति बढ़े। मैं सब कामों को सोच-विचार कर करनेवाला बनूँ। ३. **दिवे त्वा**=मैं तुझे स्वर्ग-निर्माण के लिए अपना रहा हूँ। 'तेरे आने से मेरा घर स्वर्ग बन जाए' ऐसी मेरी कामना है। ४. **सूर्याय त्वा**=तुझे सूर्य के लिए अपना रहा हूँ। तेरे आने से इस घर में प्रकाश की वृद्धि हो और सूर्य के समान निरन्तर क्रियाशीलता हो। ५. **इमं अध्वरम्**=सबका कल्याण करनेवाले इस यज्ञ को तूने **ऊर्ध्वम्**=सबसे ऊपर स्थापित करना, अर्थात् यज्ञ इस घर का मुख्य कर्तव्य हो। **दिवि**=(निमित्त सप्तमी) स्वर्ग के निमित्त तथा **देवेषु**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के निमित्त **होत्राः**=हवियों को **यच्छ**=दे, अर्थात् तू नियमित रूप से यज्ञ करनेवाली हो। वस्तुतः इस यज्ञ से ही घर स्वर्ग बनेगा और घर के सब लोगों में दिव्य गुणों का विकास होगा (होत्राभिः हवनक्रियाभिः ऋ. ७।६०।९—द०)। मन्त्र के अन्तिम भाग का अर्थ इस रूप में भी हो सकता है कि (क) **दिवि**=स्वर्ग के निमित्त **होत्रा यच्छ**=हवियों को दे। **'स्वर्गकामो यजेत'** यह उक्ति प्रसिद्ध ही है। यज्ञों का फल स्वर्ग-प्राप्ति है। यज्ञ को ब्राह्मणग्रन्थों में **'स्वर्ग्या नौः'**=स्वर्ग प्राप्त करनेवाली नाव कहा है। (ख) **देवेषु**=विद्वानों के चरणों में बैठकर **होत्राः**=ज्ञान की वाणियों को **यच्छ**=(निबध्नीहि) अपने में बाँध, अर्थात् विद्वानों के समीप रहकर तू अपने ज्ञान को बढ़ा। इस प्रकार यज्ञों से घर स्वर्ग बनेगा तो ज्ञान से उसमें निरन्तर पवित्रता बनी रहेगी।

भावार्थ—पत्नी-पति के जीवन में 'श्रद्धा, मननशक्ति, प्रकाश व नियमितता' को बढ़ानेवाली हो। वह घर में यज्ञों को प्रमुख स्थान दे। यज्ञों में जहाँ हवियों को डाले वहाँ

विद्वानों से ज्ञान को प्राप्त करनेवाली हो।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—सोमः। **छन्दः**—भुरिग्गायत्री[क], आर्षीत्रिष्टुप्[र]। **स्वरः**—षड्जः[क], धैवतः[र]॥

राजा

[क]सोम राजन्विश्वास्त्वं प्रजाऽउपावरोह विश्वास्त्वां प्रजाऽउपावरोहन्तु।
[र]शृणोत्वग्निः समिधा हवं मे शृण्वन्त्वापो धिषणाश्च देवीः।
श्रोता ग्रावाणो विदुषो न यज्ञꣳशृणोतु देवः सविता हवं मे स्वाहा॥२६॥

प्रजाओं को उत्तम बनाने में सबसे अधिक भाग राजा का है, अतः 'राजा कैसा हो' इस विषय का वर्णन प्रस्तुत मन्त्र में करते हैं कि १. हे **सोम राजन्**=सौम्य निरभिमानिन् राजन्! **त्वम्**=तू **विश्वाः प्रजाः**=सब प्रजाओं के **उप अवरोह**=समीप प्राप्त हो और **विश्वाः प्रजाः**=सब प्रजाएँ **त्वाम् उप अवरोहन्तु**=तेरे समीप प्राप्त हों। राजा प्रजाओं के लिए अधृष्य ही न बन जाए, वह उनके लिए अभिगम्य भी हो। जो राजा प्रजाओं के लिए अभिगम्य न होगा, वह प्रजाओं की स्थिति को कभी ठीक-ठीक न समझ सकेगा। २. राजा प्रार्थना करता है कि राष्ट्र में **अग्निः**=ज्ञान का प्रकाश देनेवाला 'ब्राह्मण' **समिधा**=ज्ञान-दीप्ति के हेतु से **मे हवम्**=मेरी पुकार को **शृणोतु**=सुने, अर्थात् जब-जब मैं इन ब्राह्मणों को आमन्त्रित करूँ तब-तब ये अवश्य मुझे दर्शन देने की कृपा करें और मुझे आवश्यक ज्ञान देकर मेरे अज्ञानान्धकार को दूर करें। ४. **आपः**=राष्ट्र के आप्त पुरुष तथा प्रजाएँ **धिषणाः च**=जो बुद्धि के ही मूर्त्तरूप हैं तथा **देवीः**=दिव्य गुणोंवाले हैं, वे भी **शृण्वन्तु**=मेरे आमन्त्रण को स्वीकार करें। इन व्यक्तियों को जब कभी मैं मन्त्रणा आदि के लिए कहूँ तो वे इसे अस्वीकार न करें। ५. **ग्रावाणः श्रोत**=हे सद्-असद् का विवेक करनेवाले सभासदो! (विद्वांसो हि ग्रावाणः—श० ३।९।३।१४) तुम भी मेरी बात को सुनो। **न**=जैसे **विदुषः**=विद्वान् से **यज्ञम्**=यज्ञ को सुनते हैं इसी प्रकार मैं तुमसे राष्ट्रहित के लिए आवश्यक बातों को सुननेवाला होऊँ। ६. सबसे बड़ी बात तो यह है कि **सविता देवः**=वह सबका प्रेरक देव प्रभु **मे हवम्**=मेरी प्रार्थना को **शृणोतु**=सुने। मैं भी **स्वाहा**=उस प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—राजा को निरभिमानी होना चाहिए। वह प्रजाओं के लिए अभिगम्य हो। ब्राह्मण उसे ज्ञान दें। आप्त बुद्धिमान् सत्पुरुष उसे राष्ट्रकार्य में सहायता करें। विवेकी पुरुषों से वह उसी प्रकार ज्ञान प्राप्त करे जैसेकि वह विद्वानों से यज्ञ के विषय में सुनता है। प्रभु का यह उपासक हो।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—आपः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

कर (tax)

देवीरापोऽअपान्नपाद्यो वऽऊर्मिर्हविष्यऽइन्द्रियावान् मदिन्तमः।
तं देवेभ्यो देवत्रा दत्त शुक्रपेभ्यो येषां भाग स्थ स्वाहा॥२७॥

गत मन्त्र में राजा का उल्लेख था। प्रस्तुत मन्त्र में राजदेय कर का उल्लेख करते हैं। १. हे **देवीः**=दिव्य गुणोंवाली **आपः**=प्रजाओ! **यो वः**=जो तुम्हारा **हविष्यः**=(हविर्भ्यो हितः, हु=दान) कररूप में देने के लिए रक्खा हुआ भाग है **तम्**=उसे **देवेभ्यः**=दिव्य गुणोंवाले—विलासशून्य जीवनोंवाले **शुक्रपेभ्यः**=वीर्य का पान (रक्षण) करनेवाले जितेन्द्रिय राजाओं के लिए **देवत्रा**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के निमित्त **दत्त**=दे डालो, उन राजाओं को

दे डालो **येषाम्**=जिनके तुम **भाग स्थ**=(भाजः) सेवा के योग्य हो, सेवनीय हो। **स्वाहा**= जो राजा तुम्हारी सेवा के लिए अपनी आहुति दे डालता है, अपने स्वार्थों को छोड़कर, अपने आराम को त्यागकर, जो तुम्हारी उन्नति में ही दिन-रात लगा रहता है। तुम सोये हो, तब भी वह 'जागृवि' है।

इस मन्त्रभाग में यह बात स्पष्ट है कि (क) राजा को दिव्य गुणोंवाला, सब विलासों से ऊपर (देव) जितेन्द्रिय (शुक्रप) तथा प्रजा-सेवक (भाग) होना चाहिए। प्रजा की सेवा के लिए वह अपने सभी स्वार्थों को छोड़ दे। (ख) प्रजाओं को भी दिव्य व आप्त (विश्वास के योग्य) बनने का प्रयत्न करना। (ग) प्रजा राजा को कर दे, क्योंकि इस कर-प्राप्त धन से ही राष्ट्र की सब सुव्यवस्था सम्भव होगी और प्रजाओं में शिक्षा के द्वारा ही अधिकाधिक उत्तम गुणों को उपजाया जा सकेगा।

२. यह 'कर' **अपान्नपात्**=प्रजाओं का न पतन होने देनेवाला है। इस प्रकार कर को ठीक प्रकार से देनेवाली प्रजाओं में विलास की वृत्तियाँ उत्पन्न नहीं होतीं, क्योंकि उनके पास उन विलासों के लिए अतिरिक्त धन रह ही नहीं जाता। ३. **ऊर्मिः**=यह 'कर' लहर के समान है। लहर समुद्र में उठती है फिर समुद्र में ही जा गिरती है। इसी प्रकार यह कर प्रजा से उठता है और फिर उसी प्रजा में जा गिरता है। प्रजा से प्राप्त करके प्रजाहित के लिए इस धन का व्यय कर दिया जाता है। इस 'कर' से राजा को अपने ही अन्तःपुरों (महलों) की रचना नहीं करनी चाहिए। ४. **इन्द्रियावान्**=इस कर ने प्रजाओं को (इन्द्रियं वै वीर्यम्) शक्तिशाली बनाना है अथवा प्रशस्त इन्द्रियोंवाला बनाना है। ५. **मदिन्तमः**=यह कर प्रजाओं को आनन्द देनेवाला है। इस 'कर' के द्वारा सुन्दर वनों, उपवनों, तालाबों और नहरों आदि का निर्माण होकर प्रजा का जीवन सच्चा हर्ष व आनन्द प्राप्त करता है। प्रजाओं के लिए उत्तमोत्तम आमोद-प्रमोद के साधनों को यह 'कर' प्राप्त कराता है।

भावार्थ—कर का उद्देश्य है कि (क) ऐसी व्यवस्था की जाए कि प्रजाओं का पतन न हो। (ख) वह प्रजाहित के लिए ही विनियुक्त हो। (ग) प्रजाओं को प्रशस्तेन्द्रिय व शक्तिशाली बनाये। (घ) प्रजाओं के लिए उत्तम आमोद-प्रमोद के साधनों को भी जुटाये।

ऋषिः—मेधातिथिः। देवता—प्रजा। छन्दः—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

वैश्यवर्ण व कृषि

कार्षिरसि समुद्रस्य त्वा क्षित्याऽउन्नयामि।
समापोऽअद्भिरग्मत समोषधीभिरोषधीः॥२८॥

राष्ट्र की उन्नति के प्रसङ्ग में वैश्यवर्ण का उल्लेख करते हैं। वस्तुतः गत मन्त्र में वर्णित 'कर' इन्हें ही देना है। १. **कार्षिः असि**=तू कृषि करानेवाला है। राष्ट्र में **'कृषिगोरक्ष-वाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्'**=कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य ये वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं। वैश्यों ने शूद्रों=अपठित व्यक्तियों के द्वारा इन कृषि आदि कर्मों को कराना है। २. सर्वोत्तम कृषि उस मेघ-जल द्वारा होती है जो मेघ **'यज्ञात् भवति पर्जन्यः'**=यज्ञ से निर्मित होता है। राष्ट्र में यज्ञों की व्यवस्था ठीक होने पर बादल ठीक समय पर वर्षा करनेवाले होते हैं (**निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु**)। इन यज्ञों की व्यवस्था राजा को ही करनी है। यज्ञ न करनेवाले को राजा ने चोर के रूप में दण्ड देना है, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **समुद्रस्य**=अन्तरिक्षस्थ मेघ की **क्षित्या**=खेती से **त्वा**=तुझे **उन्नयामि**=उन्नत करता हूँ। भाषा में ऐसा ही बोलने का प्रकार है कि 'यह कूएँ की खेती खड़ी है' अर्थात् कूएँ के जल

से उत्पन्न। इसी प्रकार यहाँ कहा है कि 'समुद्र की खेती से' अर्थात् (समुद्रः=अन्तरिक्षस्थ मेघ) मेघजल से उत्पन्न खेती से। ३. **आपः**=जल **अद्भिः**=जलों से **सम्**=सङ्गत हों और **ओषधीः**=ओषधियाँ **ओषधीभिः**=ओषधियों से **सम्**= सङ्गत हों, अर्थात् अवृष्टि के कारण जलों का विच्छेद न हो जाए और परिणामतः ओषधियों की उत्पत्ति में रुकावट न हो।

भावार्थ—राष्ट्र में वैश्यवर्ण कृषि के कार्य में किसी प्रकार का शैथिल्य न आने दें। यज्ञों के परिणामरूप वृष्टि समय-समय पर होती रहे, जिससे ओषधियों व अन्नों की उत्पत्ति में कमी न आ जाए।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिगार्षीगायत्री। स्वरः—षड्जः।।

युद्ध के समय भी वैश्यवर्ग की कृषि आदि में व्यापृतता

यमग्ने पृत्सु मर्त्यमवा वाजेषु यं जुनाः। स यन्ता शश्वतीरिषः स्वाहा॥२९॥

पिछले मन्त्र की समाप्ति 'समोषधीभिरोषधीः' पर हुई थी कि ओषधियाँ ओषधियों से सङ्गत हों, अर्थात् ओषधियों की कमी न हो जाए। उसी प्रकरण को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि राजा का कर्त्तव्य है कि संग्रामों के समय भी वैश्यवर्ग को पीड़ित न होने दे और ऐसी व्यवस्था करे कि उस समय भी ये अपने कृषि आदि कार्यों में लगे रह सकें। यदि युद्धों के आधिक्य के कारण वैश्य युवकों का भी सेना में प्रवेश वाञ्छनीय हुआ तब कृषि आदि कार्य कैसे हो सकेंगे, अतः कहते हैं कि **अग्ने**=राष्ट्र का नेतृत्व करनेवाले राजन्! आप **यं मर्त्यम्**=जिस मनुष्य को **पृत्सु**=संग्राम में **अवाः**=सुरक्षित रखते हो और **यम्**=जिसे **वाजेषु**=(अन्ननिमित्त-क्षेत्रादिषु—द०) अन्न आदि पदार्थों की सिद्धि करने के निमित्त (क्षेत्रादि) में **जुनाः**=(गमयेः—द०) नियुक्त करते हो **सः**=वह **शश्वतीः**=नष्ट न होनेवाले **इषः**=अन्नों को **यन्ता**=प्राप्त करता है, इसप्रकार उस राजा के राष्ट्र में अन्नों की कमी नहीं आती। **स्वाहा**=यह बात (सु+आह) वेद में उत्तमता से कही गई है।

भावार्थ—राजा ऐसी व्यवस्था करे कि युद्ध के समय भी खेती आदि कार्य निर्बाधरूप से चलते रहें।

सूचना—अध्यात्म प्रकरण में अर्थ यह होगा—हे **अग्ने**=उन्नति साधक प्रभो! **पृत्सु**=काम-क्रोधादि से संग्रामों में **यं मर्त्यम्**=जिस मनुष्य की **अवाः**=आप रक्षा करते हो और **यम्**=जिसको **जुनाः**=प्रेरणा प्राप्त कराते हो **सः**=वह **शश्वतीः**=क्रियामय अथवा सनातन **इषः**=प्रेरणाओं को **यन्ता**=प्राप्त होता है, अर्थात् हृदयस्थ आपकी प्रेरणाओं को सुनता है।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—सविता। छन्दः—स्वराडार्षीपङ्क्तिः[क], निचृदार्ष्यनुष्टुप्[र]। स्वरः—पञ्चमः, गान्धारः।।

राज्य की दृढ़ता

[क]देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। आददे रावासि गभीरमिममध्वरं कृधीन्द्राय सुषूतमम्। [र]उत्तमेन पविनोर्जस्वन्तं मधुमन्तं पयस्वन्तं निग्राभ्या स्थ देवश्रुतस्तर्पयत मा॥३०॥

राजा प्रजा से कहता है कि १. मैं **त्वा**=तुझे **सवितुः देवस्य**=प्रेरक प्रभु की **प्रसवे**=अनुज्ञा में **आददे** =स्वीकार करता हूँ। प्रभु ने वेदवाणी में जिस प्रकार राजा के लिए लिखा है कि **'विशो मे अङ्गानि सर्वतः'**=प्रजाएँ मेरे सब ओर होनेवाले अङ्ग हैं, अतः मुझे प्रजाएँ अपने अङ्गों की भाँति प्रिय हैं। २. **अश्विनोर्बाहुभ्याम्**=सूर्य और चन्द्रमा के प्रयत्नों से मैं प्रजाओं का स्वीकार करता हूँ। सूर्य जिस प्रकार अन्धकार को दूर कर देता है उसी प्रकार

मैं राष्ट्र में शिक्षा की उत्तम व्यवस्था से अविद्यान्धकार को दूर करने का प्रयत्न करता हूँ। जिस प्रकार चन्द्र आह्लाद का कारण होता है (चदि आह्लादे) उसी प्रकार मैं क्रीड़ा व स्नान के लिए तालाब व उद्यानादि की उत्तम व्यवस्थाओं से प्रजा की प्रसन्नता का कारण बनता हूँ। ३. **पूष्णः हस्ताभ्याम्**=पूषा के हाथों से मैं तेरा ग्रहण करता हूँ, अर्थात् प्रत्येक कार्य में मेरा उद्देश्य प्रजा का पोषण ही होता है। ४. **रावा असि**=हे प्रजे! तू मुझे खूब कर देनेवाली है। प्रसन्नतापूर्वक कर देकर तू **इमम्**=इस **अध्वरम्**=राष्ट्रयज्ञ को **गभीरम्**=खूब गहरा **कृधि**=कर दे—इसकी नींवें बड़ी गहरी हों। यह दृढ़ नींव पर स्थित हो। ५. **इन्द्राय**=राष्ट्र के अध्यक्ष के लिए अथवा राष्ट्र की जितेन्द्रिय प्रजाओं के लिए **सुषूतमम्**=(सुष्ठु सूते) राष्ट्र को उत्तमोत्तम पदार्थों को उत्पन्न करनेवाला बनाओ। ६. **उत्तमेन**=अत्यन्त उत्कृष्ट **पविना**=वज्र से, शस्त्रास्त्रों से **ऊर्जस्वन्तम्**=इस राष्ट्र को सबल बनाओ। **मधुमन्तम्**=यह राष्ट्र माधुर्यवाला हो। बल के साथ ही माधुर्य का निवास होता है, निर्बलता के साथ चिड़चिड़ेपन का। **पयस्वन्तम्**=तुम इस राष्ट्र को पयस्‌वाला बनाओ। प्रजा के आप्यायन के लिए सब आवश्यक वस्तुएँ इस राष्ट्र में हों। ७. राजा कहता है कि **निग्राभ्याः स्थ**=हे प्रजाओ! तुम नियन्त्रण में रखने योग्य होओ। तुम्हारा जीवन राष्ट्र के नियमों का पालन करने के झुकाववाला हो। **देवश्रुतः**=तुम विद्वानों से उत्तम ज्ञान की चर्चाओं को सुननेवाले बनो। ऐसे बनकर **मा तर्पयत**=मुझे प्रीणित करो। मैं तुम्हारी स्थिति को देखकर अपने में एक आनन्द का अनुभव करूँ। जैसे पिता पुत्र की उत्तम स्थिति को देखकर प्रसन्न होता है, उसी प्रकार मैं प्रजा की उन्नति से तृप्ति का अनुभव करूँ।

भावार्थ—राजा वेदानुकूल प्रजाओं का शासन करे। प्रजा उचित 'कर' देकर राष्ट्र की नींव को दृढ़ करे। राष्ट्र अन्य उन्नतियों के साथ शत्रु के आक्रमण से सुरक्षा के लिए उत्तम शस्त्रों से सुसज्जित हो। राष्ट्र में माधुर्य हो, आप्यायन हो। प्रजाएँ नियन्त्रित जीवनवाली व ज्ञान की रुचिवाली हों।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—प्रजासभ्यराजानः। **छन्दः**—ब्राह्म्युष्णिक्[क], आर्घ्युष्णिक्[र]। **स्वरः**—ऋषभः॥

राजा सभ्यों से

[क]मनो मे तर्पयत वाचं मे तर्पयत प्राणं मे तर्पयत चक्षुर्मे तर्पयत श्रोत्रं मे तर्पयतात्मानं मे तर्पयत [र]प्रजां मे तर्पयत पशून्मे तर्पयत गणान्मे तर्पयत गणा मे मा वितृषन्॥३१॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में राजा सभ्यों से कहता है कि हे सभा और समिति के सदस्यो! तुम इस प्रकार राष्ट्र का विधान व राष्ट्र की व्यवस्था करो कि **मे मनः तर्पयत**=मेरे मन को तृप्त करो। मैं मन में आनन्द का अनुभव करूँ। **वाचं मे तर्पयत**=मेरी वाणी को तृप्त करो। मेरी वाणी से ऐसे ही शब्द निकलें कि यह विधान ठीक बना है और यह व्यवस्था ठीक हुई है। **प्राणं मे तर्पयत**=मेरे प्राणों को तृप्त करो। मुझे जीवन में सन्तोष का अनुभव हो। **चक्षुर्मे तर्पयत**=राष्ट्र में चतुर्दिक् उन्नति को देखकर मेरी आँखें तृप्ति का अनुभव करें। **श्रोत्रं मे तर्पयत**=देश-विदेश में सर्वत्र राष्ट्र की प्रशंसा सुनकर मेरे कान तृप्त हों। **आत्मानं मे तर्पयत**=इस राष्ट्रोन्नति से मैं अन्दर-ही-अन्दर आत्मा में सन्तोष मानूँ। २. परन्तु इससे भी बढ़कर बात तो यह है कि तुम्हारा विधान व व्यवस्था ऐसी हो कि उससे तुम **मे प्रजां तर्पयत**=मेरी सारी प्रजा को प्रीणित करनेवाले बनो, प्रजा में सन्तोष हो। प्रजा उन्नतिपथ पर आगे बढ़े। ३. **पशून् मे तर्पयत**=राष्ट्र के पशुओं को भी तुम प्रीणित करो। तुम्हारी व्यवस्था से गौ इत्यादि उपकारी पशुओं का भी यहाँ खूब आप्यायन हो। ४. **गणान् मे तर्पयत**=अपनी

व्यवस्था से मेरे सैनिकगणों को भी तृप्त करो। **मे गणाः**=मेरे ये सैन्यगण **मा वितृषन्**=प्यासे ही न रह जाएँ। इनके वेतनादि की व्यवस्था बड़ी ठीक हो। अन्यथा राष्ट्र की रक्षा सम्भव न होगी। इन्हें ही समय पर राष्ट्ररक्षा के लिए अपने प्राण देने हैं।

भावार्थ—राज्य सभाधिकारी जहाँ अपनी व्यवस्था व विधान से राष्ट्रपति को प्रीणित करनेवाले हों, वहाँ उनका ध्येय (क) प्रजा की उन्नति, (ख) पशुओं का विकास व (ग) सैनिकों को भी उन्नत व सन्तुष्ट करना हो।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—सभापती राजा। **छन्दः**—पञ्चपाज्ज्योतिष्मतीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

राष्ट्रपति का चुनाव क्यों? अथवा राष्ट्रपति के गुण

इन्द्राय त्वा वसुमते रुद्रवतऽइन्द्राय त्वादित्यवतऽइन्द्राय त्वाभिमातिघ्ने।
श्येनाय त्वा सोमभृतेऽग्नये त्वा रायस्पोषदे॥३२॥

प्रजाएँ राजा का वरण क्यों करती हैं? १. **इन्द्राय**=जितेन्द्रियता के लिए हम **त्वा**=(वृणुमः) तेरा वरण करती हैं। **वसुमते**=आप वसुमान् हो, इसलिए आपका वरण करती हैं। आप राष्ट्र में उत्तमोत्तम निवास के साधनों को जुटाते हो। **रुद्रवते**=रुद्रवान् होने के कारण हम आपका चुनाव करती हैं, (रुत्=ज्ञान द =देना) आप राष्ट्र में ज्ञान देनेवाले आचार्यों को नियुक्त करते हो। उनके द्वारा ज्ञान का विस्तार करते हो। २. **इन्द्राय त्वा**=जितेन्द्रियता के लिए हम आपका वरण करती हैं **आदित्यवते**='आप आदित्योंवाले हो' इसलिए हम आपको चुनती हैं। शिक्षणालयों में आपने ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञानी व गुणों का आदान करनेवाले पुरुषों को नियत किया है, अतः हम आपका वरण करती हैं। ३. **अभिमातिघ्ने**=शत्रुओं का विदारण करनेवाले **इन्द्राय**=आपके जितेन्द्रिय होने के कारण **त्वा**=हम आपका वरण करती हैं। ४. **श्येनाय**=आप (श्यै गतौ) निरन्तर क्रियाशील हैं, अतः **त्वा**=आपको हम वरती हैं। **सोमभृते**=इस क्रियाशीलता से ही आप अपने में सोम (वीर्य) का भरण करनेवाले हैं। क्रियाशीलता आपको विलास से बचाती है और आप अपने सोम की रक्षा करते हो। ५. **त्वा**=हम आपका वरण इसलिए करती हैं कि **अग्नये**=आप राष्ट्र को आगे और आगे ले-चलनेवाले हैं और **रायस्पोषदे**=उत्तम व्यवस्था से हमें धनों का पोषण प्राप्त करानेवाले हैं, अर्थात् आपके सु-शासन में राष्ट्र में मार्गादि सुरक्षित हैं और व्यापार की सब सुविधाएँ होने से प्रजाओं की धन-वृद्धि होती है।

भावार्थ—राष्ट्रपति जितेन्द्रिय हो। राष्ट्र में निवास के उत्तम साधनों को जुटाए। योग्य अध्यापक व ऊँचे ज्ञानी पुरुष राष्ट्र में से अविद्यान्धकार को दूर करें। शत्रुओं के आक्रमण से राष्ट्र सुरक्षित हो। राष्ट्रपति क्रियाशील व संयमी हो। वह राष्ट्र को उन्नति-पथ पर ले-चले और राष्ट्र की सम्पत्ति को बढ़ाने की व्यवस्था करे।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—सोमः। **छन्दः**—भुरिगार्षीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

राष्ट्रपति क्या करे?

यत्ते सोम दिवि ज्योतिर्यत्पृथिव्यां यदुरावन्तरिक्षे।
तेनास्मै यजमानायोरु राये कृध्यधि दात्रे वोचः॥३३॥

१. हे **सोम**=विनीत राजन्! **ते**=तेरे **दिवि**=मस्तिष्क में **यत्**=जो **ज्योतिः**=प्रकाश है **यत्**=जो **पृथिव्याम्**=शरीर में **ज्योतिः**=स्वास्थ्य का प्रकाश है और **यत्**=जो **उरौ**=इस विशाल

अन्तरिक्षे=हृदाकाश में **ज्योतिः**=प्रकाश है **तेन**=उससे अर्थात् मस्तिष्क, हृदय व शरीर (Head, Heart and Hand) तीनों की शक्तियों से—प्राणपण से—**अस्मै**=इस **यजमानाय**=यज्ञ के स्वभाववाले प्रजावर्ग के लिए **राये**=धन-प्राप्ति के लिए **उरु कृधि**=अत्युत्तम व्यवस्था कर। तेरे राष्ट्र में जो आर्यपुरुष हैं—यज्ञादि उत्तम कार्यों को करनेवाले लोग हैं, उनके लिए तू ऐसी व्यवस्था कर कि वे जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक धनों को अवश्य कमा सकें। २. और जो यजमानों से विपरीत घात-पात आदि के कार्यों में लगे हुए हैं उन **दात्रे**=(दाप् लवने) काट-छाँट करनेवालों के लिए **अधिवोचः**=आधिक्येन उपदेश दे। ज्ञानी पुरुष ऐसे लोगों के अन्दर प्रचार-कार्य करके उनके जीवनों को अच्छा बनाने का प्रयत्न करें। अथर्व के मन्त्र **'अग्निः पूर्व आरभताम्'** के अनुसार ब्राह्मण पहले अपने कार्य को प्रारम्भ करें। वे ऐसे लोगों को ज्ञान देने का उपक्रम करें। यदि इस ज्ञान-प्रचार के कार्य का अनुकूल प्रभाव न हो तो विवशता में **'प्रेन्द्रो नुदतु बाहुमान्'**=शक्तिशाली इन्द्र को उन्हें दण्ड देना ही है, परन्तु दण्ड से ही प्रारम्भ न कर दिया जाए। पहले ज्ञान-प्रचार का कार्य, पीछे दण्ड। ३. इसप्रकार स्पष्ट है कि राष्ट्र में दो पुरुष हैं (क) यजमान (ख) दात्र। यजमान ही आर्य है, दात्र ही दस्यु हैं। राजा ने आर्यों के लिए आवश्यक धन-प्राप्ति के साधनों को जुटाना है और दस्युओं को ज्ञान-प्रसार की व्यवस्था से आर्य बनाने का प्रयत्न करना है। विवशता में दण्ड देकर उन्हें घात-पात से रोकना तो होगा ही।

भावार्थ—राष्ट्रपति वा राजा पूर्ण प्रयत्न व सुव्यवस्था से राज्य में लोगों को धन-प्राप्ति के उचित साधन प्राप्त कराए और घात-पात की मनोवृत्तिवाले लोगों की मनोवृत्ति को बदलने के लिए उनमें खूब (अधि) ज्ञान का प्रचार कराए (वोचः)।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—यज्ञः। छन्दः—स्वराडार्षीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

राजा व राजसभा के सभ्यों की 'पत्नियाँ'

श्वात्रा स्थ वृत्रतुरो राधोगूर्ताऽअमृतस्य पत्नीः।
ता देवीर्देवत्रेमं यज्ञं नयतोपहूताः सोमस्य पिबत॥३४॥

सभापति व राजसभा के लोग राष्ट्रहित के कार्यों में तभी अच्छी प्रकार लगे रह सकते हैं यदि उनकी पत्नियाँ उनके लिए अत्यन्त अनुकूलता उत्पन्न करें, अतः उन पत्नियों का वर्णन करते हैं—

१. **श्वात्राः स्थ**=तुम (श्वि गतिवृद्धयोः, त्रा रक्षणे) क्रियाशीलता के द्वारा सदा वृद्धि को प्राप्त करनेवाली हो। इस क्रियाशीलता के द्वारा ही तुम वासनाओं के आक्रमण से अपना त्राण करनेवाली हो। २. **वृत्रतुरः**=ज्ञान को आवृत करनेवाले काम का तुम विध्वंस करती हो। ३. **राधोगूर्ताः**=(धनवर्धिन्यः—द०) धनों का तुम वर्धन करनेवाली हो (गुरी उद्यमने) तुम धन का अनुचित व्यय न होने देते हुए उसका संग्रह करती हो। ४. **अमृतस्य पत्नीः**=तुम न मरियल पतियों की पत्नी हो। तुम्हारे द्वारा घर में भोजन की व्यवस्था इतनी सुन्दर होती है कि कोई अस्वस्थ होता ही नहीं। तुम घर के उत्तम प्रबन्ध द्वारा पतियों को चिन्ताओं से मुक्त-सा रखती हो। परिणामतः उनका स्वास्थ्य अत्युत्तम रहता है। ५. **ताः देवीः**=वे दिव्य गुणोंवाली तुम **देवत्रा**=देवों में **इमं यज्ञं नयत**=इस यज्ञ को प्राप्त कराओ, अर्थात् सदा यज्ञ करनेवाली बनो। 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' इस 'व्याकरण-सूत्र' से पत्नी का मुख्यकार्य यज्ञ ही प्रतीत होता है। ६. **उपहूताः**='उपहूतो वाचस्पतिरुपास्मान् वाचस्पतिर्ह्वयताम्'

इस अथर्व-वाक्य के अनुसार तुम आचार्यों के समीप उपहूत होनेवाली होओ, अर्थात् आचार्यकुल में रहकर तुमने विद्याध्ययन किया हो और **सोमस्य पिबत**=सोम का पान किया हो, अर्थात् संयमपूर्वक अपनी शक्ति की रक्षा की हो। वस्तुतः पत्नियों के उल्लिखित गुणों से सम्पन्न होने पर ही सभापति व सभादि अपने-अपने कार्यों को निश्चिन्तता से अच्छी प्रकार कर सकते हैं।

भावार्थ—पत्नी अपने उत्तम व्यवहार से पति को प्रसन्न व निश्चिन्त रक्खेंगी तो पति अपने कार्यों को उत्तमता से कर पाएँगे।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—द्यावापृथिव्यौ। **छन्दः**—भुरिगार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

पति-पत्नी

मा भेर्मा संविक्था ऽऊर्जं धत्स्व धिषणे वीड्वी सती वीडयेथामूर्जं दधाथाम्। पाप्मा हतो न सोमः॥३५॥

गत मन्त्र में पत्नी का कर्त्तव्य विशेषरूप से कहा गया। अब पति-पत्नी दोनों के लिए कुछ सामान्य बातें कहते हैं। १. **मा भेः**=तुम डरो नहीं। संसार में सबसे निकृष्ट वस्तु डर है। दैवी सम्पत्ति का प्रारम्भ 'अभयम्' से होता है। घर में यदि पत्नी पति से डरती है या पति पत्नी से तब तो उस घर में दैवी सम्पत्ति का प्रारम्भ ही कैसे हो सकता है? दोनों का परस्पर प्रेम हो, भय का वहाँ प्रश्न ही न हो। २. **मा संविक्थाः**=भय के कारण अपने धर्ममार्ग से विचलित न होओ। डर के कारण किसी कर्म को करना या किसी को छोड़ना उचित नहीं। आदर्श यही है कि स्तुति हो, निन्दा हो, सम्पत्ति आये, विपत्ति आये, जीवन हो या मृत्यु हो, हम अपने न्यायमार्ग पर ही चलते चलें, उससे विचलित न हों। ३. **ऊर्जं धत्स्व**=बल और प्राणशक्ति को धारण करो। शारीरिक शक्ति के साथ तुममें आत्मिक शक्ति भी हो। ४. **धिषणे**=(द्यावापृथिव्यौ) तुम द्यावापृथिवी के समान बनो (द्यौरहं पृथिवी त्वम्) पति द्युलोक के समान ज्ञानदीप्त हो और पत्नी अपनी शक्तियों के विस्तार से दृढ़ जीवनवाली हो। अथवा (धिषणा=बुद्धि) पति-पत्नी दोनों ही बुद्धि के पुञ्ज बनने का प्रयत्न करें। ५. **वीड्वी सती**=(वीड्वी बल—नि० २।९) खूब बलवाले होते हुए **वीडयेथाम्**= संसार में शक्तिशाली कर्मों के करनेवाले बनो। ६. यही मार्ग है जिस मार्ग पर चलने से **पाप्मा हतः**=पाप नष्ट होता है **न सोमः**=सोम नष्ट नहीं होता। सौम्य स्वभाववाला व्यक्ति सदा सुरक्षित रहता है। **ऊर्जं दधाथाम्** =इस सबके लिए तुम दोनों बल और प्राणशक्ति को धारण करो। ऊर्ज् के साथ ही पुण्य का निवास है, ऊर्ज् के अभाव में पाप-ही-पाप है।

भावार्थ—हम अभय हों, अविचल हों, बल और प्राणशक्ति को धारण करें। बुद्धिमान् बनें, शक्तिशाली कर्मों को करते हुए पाप को विनष्ट करें और सौम्य स्वभाव को विकसित करें।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—सोमः। **छन्दः**—उष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

सर्वतो-धावन (शोधन)

प्रागपागुदगधराक्सर्वतस्त्वा दिश ऽआधावन्तु। अम्ब निष्पर समरीर्विदाम्॥३६॥

१. गत मन्त्र में निर्भयता आदि सद्गुणों के धारण का प्रसङ्ग था। उल्लिखित गुणोंवाले माता-पिता अपने सन्तानों के जीवन को सर्वतः शुद्ध बनाने का प्रयत्न करते हैं। **प्राक्**=पूर्व से **अपाक्**=पश्चिम से **उदक्**=उत्तर से तथा **अधराक्**=दक्षिण से **सर्वतः**=सब

ओर से, सब दिशाओं से **दिश:**=सदा उत्तम बातों का उपदेश देनेवाले माता-पिता व आचार्यादि **त्वा**=तुझे **आधावन्तु**=सर्वत: शुद्ध बना दें। (धावु गतिशुद्धयो:) गति के द्वारा वे तेरे जीवन को शुद्ध करनेवाले हों। २. सन्तान व शिष्य माता-पिता व आचार्य से कहती है कि **अम्ब**=(अमति प्रेमभावेन प्राप्नोति) अत्यन्त प्रेम से मुझे प्राप्त होनेवाली हे मात:! **निष्पर**=तू नितरां मेरा पालन कर। मेरी कमियों को दूर करके उनका पूरण करनेवाली हो। **अरी:**=(प्रजा वा अरी:-श० ३।९।४।२१) सब प्रजाएँ (ऋ गतौ) क्रियाशील सन्तानें- **संविदाम्**=(संविदताम्) संज्ञानवाली हों, परस्पर लड़नेवाली न हों। ३. मधुच्छन्दा ऋषि का यह अन्तिम मन्त्र है। उसकी सर्वोत्तम इच्छा यही है कि (क) बड़ों के उपदेशों से हमारे जीवन शुद्ध हों। (ख) प्रेमभाव से प्राप्त होनेवाली माता अपने उपदेशों से बच्चे के जीवन को बड़ा उत्तम बनाये। (ग) सब प्रजाएँ परस्पर मिलकर चलनेवाली-संज्ञानवाली हों।

भावार्थ-माता-पिता अपने सन्तानों का, आचार्य शिष्यों का तथा राजा प्रजा का सर्वत: शोधन करे, उन्हें बुराइयों से दूर करे, जिससे सब सन्तान परस्पर संज्ञानवाली हों।

ऋषि:-गोतम:। **देवता**-इन्द्र:। **छन्द:**-भुरिगार्ष्यनुष्टुप्। **स्वर:**-गान्धार:॥

महान् उपदेष्टा प्रभु

त्वमङ्ग प्रशंꣳसिषो देव: शविष्ठ मर्त्यम्।
न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्डितेन्द्र ब्रवीमि ते वच:॥३७॥

१. माता-पिता सन्तानों को उत्तम उपदेश देते हैं। पिछले मन्त्र में इसका वर्णन हुआ है। परन्तु अन्तत: उपदेश देनेवाले तो वे प्रभु ही हैं, अत: प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **शविष्ठ**=अतिशयेन शक्तिमन् प्रभो! **त्वम्**=आप **देव:**=ज्ञान की ज्योति से देदीप्यमान हो। इस ज्योति से आप औरों को दीप्त करनेवाले हो तथा सभी को आप ही इस ज्ञान को देनेवाले हो। आप **अङ्ग**=(क्षिप्रम्) शीघ्र ही **मर्त्यम्**=इस मृत्युधर्मा मनुष्य को **प्रशंसिष:** =प्रशंससि=प्रकृष्ट ज्ञान देते हैं (शंस् Science=विज्ञान)। २. इस ज्ञान को देकर आप मनुष्य का कल्याण करते हैं। हे **मघवन्**=ज्ञानैश्वर्य से समृद्ध प्रभो! **त्वदन्य:**=आपसे भिन्न कोई और **मर्डिता** =सुख देनेवाला **न**=नहीं **अस्ति**=है। हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! अत: मैं **ते**=तेरे लिए ही **वच:**= वचन **ब्रवीमि** =कहता हूँ, अर्थात् आपसे ही इस उत्कृष्ट ज्ञान को देने की प्रार्थना करता हूँ। ३. आपसे उत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त करके मैं प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'गोतम' बनूँ=अत्यन्त प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियोंवाला बनूँ। उन ज्ञानन्द्रियों से वेदवाणी का ग्रहण करनेवाला होऊँ। इस वाणी ने ही मुझे पवित्र करना है। पवित्र होकर ही मैं आपको प्राप्त कर सकूँगा और आनेवाले मन्त्र (७।१) के 'वाचस्पतये पवस्व' इस उपदेश को अपने जीवन में घटा सकूँगा।

भावार्थ-प्रभु ही सर्वमहान् उपदेष्टा हैं। वे ही हमारे जीवनों को सुखी करनेवाले हैं। हमें उन्हीं से ज्ञान-प्राप्ति की प्रार्थना करनी चाहिए।

॥ इति षष्ठोऽध्याय: सम्पूर्ण:॥

सप्तमोऽध्याय:

ऋषि:—गोतम:। देवता—प्राण:। छन्द:—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। स्वर:—गान्धार:॥
पवित्रता

वाचस्पतये पवस्व वृष्णोऽअंशुभ्यां गभस्तिपूत:।
देवो देवेभ्य: पवस्व येषां भागोऽसि॥१॥

१. पिछले अध्याय की समाप्ति इन शब्दों पर हुई थी कि 'वे प्रभु जीव को उत्कृष्ट ज्ञान देते हैं—उत्कृष्ट शंसन करते हैं', अत: प्रस्तुत अध्याय का प्रारम्भ इस प्रकार करते हैं कि **वाचस्पतये**=वाणी के पति प्रभु के लिए, उसको हृदयासीन करने के लिए **पवस्व**=तू अपने जीवन को पवित्र बना। प्रभु को अपने हृदय में आसीन करने का प्रकार यही है कि हम अपने हृदय को निर्मल और निर्मलतर बनाते चलें। २. 'हृदय को निर्मल कैसे बनाएँ?' इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि **वृष्ण:**=सब सुखों की वर्षा करनेवाले सोम की **अंशुभ्याम्**=(अंश to divide) भेदक शक्तियों से। शरीर में उत्पन्न होनेवाली वीर्यशक्ति 'सोम' है। इस सोम के अन्दर शरीर के रोगों व बुद्धि की मन्दता को दूर करने की क्षमता है। वही इसकी भेदक शक्ति है। इस सोम की भेदक शक्तियों से हमारा जीवन पवित्र हो जाता है और हम प्रभु के निवास के योग्य बनते हैं। ३. **गभस्तिपूत:**=ज्ञान की रश्मियों से पवित्र हुआ-हुआ **देव:**=प्रभु का स्तोता बनकर (दिव्+स्तुति) **देवेभ्य:**=देवों के लिए तू **पवस्व**=अपने को पवित्र कर ले, अर्थात् ज्ञान+भक्ति से पवित्र हुआ तू देवों का निवासस्थान बन, **येषाम्**=जिन देवों का तू **भाग:**=सेवनीय **असि**=है। सारे देव तुझमें आकर निवास करते हैं। तू ज्ञान व भक्ति से अपने कर्मों को पवित्र कर डाल, जिससे तू देवों का सेवनीय स्थान बना रहे। ४. मन्त्र का ऋषि गोतम है। यह अपने जीवन को पवित्र करके देवों को अपनाता है। देवों का निवास-स्थान बनकर यह प्रभु को प्राप्त करनेवाला बनता है। 'वाचस्पति' प्रभु की प्राप्ति से इसे भी ज्ञान की वाणियाँ प्राप्त होती हैं और यह मन्त्र का ऋषि 'गोतम'=अत्यन्त प्रशस्त ज्ञान की वाणियोंवाला बनता है।

भावार्थ—अपने जीवन को पवित्र करके तू प्रभु को प्राप्त कर और ज्ञानवाणियों को ग्रहण करके 'गोतम' बन। इस स्थिति में पहुँचने के लिए तू सोम की रक्षा कर। नीरोग व तीव्र बुद्धि बनकर तू देव बन।

ऋषि:—गोतम:। देवता—सोम:। छन्द:—निचृदार्षीपङ्क्ति:। स्वर:—पञ्चम:॥
नाम-स्मरण

मधुमतीर्नऽइषस्कृधि यत्ते सोमादाभ्यं नाम जागृवि तस्मै
ते सोम सोमाय स्वाहा स्वाहोर्वन्तरिक्षमन्वेमि॥२॥

१. पिछले मन्त्र में प्रभु को हृदयासीन करने के लिए गोतम ने अपने जीवन को अधिकाधिक पवित्र करने का यत्न किया। यह गोतम प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **सोम**=हृदयस्थ शान्त प्रभो! आप **न:** =हमारे लिए **मधुमती:** **इष:**=अत्यन्त माधुर्य से पूर्ण

प्रेरणाओं को **कृधि**=कीजिए। हमारे जीवनों में, हमारे व्यवहारों में ये प्रेरणाएँ माधुर्य भरने-वाली हों। २. हे **सोम**=प्रभो! **यत्**=जो **ते**=तेरा **अदाभ्यम्**=हिंसित न होने देनेवाला **जागृवि**=सदा सावधान, पहरेदार की भाँति रक्षा करनेवाला **नाम**=नाम है, उसे हे सोम! **तस्मै ते सोमाय**=उस तुझ सोम को प्राप्त करने के लिए **स्वाहा**=(सु+आह) मैं सुन्दरता से उच्चारण करता हूँ। प्रभु-नाम का उच्चारण मुझे एकाग्र करेगा और अपने अन्दर उस शान्तात्मा प्रभु को देखने के योग्य बनाएगा। ३. मैं **स्वाहा**=स्वार्थ का त्याग (स्व+हा) करता हूँ और **अन्तरिक्षं अन्वेमि**=विशाल हृदयान्तरिक्ष को प्राप्त करता हूँ, स्वार्थ की भावनाओं से ऊपर उठकर हृदय को विशाल बनाता हूँ।

भावार्थ—प्रभु का नाम-स्मरण करने से हम वासनाओं व रोगों के शिकार नहीं होते। यह नाम हमारा सदा जागरित रक्षक बन जाता है। हम नाम को सुन्दरता से उच्चारण करें, जिससे उस सोम=शान्तस्वरूप प्रभु को प्राप्त कर सकें। हम स्वार्थ-त्याग करके अपने हृदयान्तरिक्ष को विशाल बनाएँ।

ऋषिः—गोतमः। देवता—विद्वांसः। छन्दः—विराड्ब्राह्मीजगती। स्वरः—निषादः॥

सोम

स्वाङ्कृतोऽसि विश्वेभ्यऽइन्द्रियेभ्यो दिव्येभ्यः पार्थिवेभ्यो मनस्त्वाष्टु स्वाहा त्वा सुभव सूर्याय देवेभ्यस्त्वा मरीचिपेभ्यो देवांशो यस्मै त्वेडे तत्सत्यमुपरिप्रुता भङ्गेन हतोऽसौ फट् प्राणाय त्वा व्यानाय त्वा॥३॥

गत मन्त्र में वर्णित सोम=उस शान्तात्मा प्रभु को पाने के लिए शरीर में सोम (वीर्य) की रक्षा आवश्यक है, अतः प्रस्तुत मन्त्र में उसी का वर्णन करते हैं—१. **स्वाङ्कृतोऽसि**=तू स्वयंकृत है, अर्थात् प्रभु-निर्मित व्यवस्था के अनुसार हमारे किसी प्रयत्न के बिना तू शरीर में स्वयं उत्पन्न होता है। तू **विश्वेभ्यः इन्द्रियेभ्यः**=इन्द्र की सब शक्तियों के लिए उत्पन्न किया गया है (इन्द्रिय=इन्द्र की शक्ति)। चाहे वे शक्तियाँ **दिव्येभ्यः**=द्युलोक अर्थात् मस्तिष्क-सम्बन्धी हों और चाहे **पार्थिवेभ्यः**=वे शक्तियाँ पृथिवी अर्थात् शरीर-सम्बन्धी हों, अर्थात् इस सोम के द्वारा मस्तिष्क व शरीर दोनों का ही विकास होता है। ज्ञानाग्नि दीप्त होती है, शरीर स्वस्थ होता है। २. इस सोम की रक्षा से **मनः**=ज्ञान **त्वा**=तुझे **अष्टु**=व्याप्त करे। **स्वाहा**=अतः इस सोम की रक्षा के लिए तू सुन्दरता से उस प्रभु के नाम का उच्चारण कर (सु आह)। ३. हे **सुभव**=उत्तम सात्त्विक अन्नों से उत्पन्न होनेवाले सोम! मैं **सूर्याय**=अपने मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञानसूर्य के उदय के लिए **त्वा**=तुझे सुरक्षित करता हूँ। **मरीचिपेभ्यः**=ज्ञान की किरणों का पान करने के लिए मैं तुझे अपने में धारण करता हूँ। ४. हे **देव**=सब दिव्य गुणों को जन्म देनेवाले **अंशो**=शत्रुओं का भेदन करनेवाले सोम! **यस्मै**=जिस उद्देश्य से **त्वा ईडे**=मैं तेरी (प्रशंसा=स्तुति) करता हूँ **तत् सत्यम्**=वह मेरा उद्देश्य सत्य हो, अर्थात् मेरी वह कामना पूर्ण हो। मेरी वह कामना यह है कि तेरे **उपरिप्रुता**=(उपरि प्रवते) ऊर्ध्व गतिवाले **भङ्गेन**=शत्रुमर्दक बल से **असौ**=वह अज्ञानरूप शत्रु **फट्**=झट **हतः**=मारा जाए, अर्थात् सोम की ऊर्ध्वगति से मुझमें वह शक्ति उत्पन्न हो कि मैं ज्ञान पर पर्दा डाल देनेवाली सब वासनाओं को नष्ट कर डालूँ। ५. हे सोम! **प्राणाय**=मैं शरीर में प्राणशक्ति की वृद्धि के लिए **त्वा**=तुझे स्वीकार करता हूँ। **व्यानाय त्वा**=मैं तुझे व्यानशक्ति की वृद्धि के लिए स्वीकार करता हूँ। प्राणशक्ति की वृद्धि से मैं नीरोग बनूँगा, और

व्यानशक्ति की वृद्धि से मैं शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग पर काबू पाऊँगा। ऐसा होने पर मैं वस्तुत: 'गोतम' प्रशस्तेन्द्रिय बनता हूँ।

भावार्थ—सोम की रक्षा से मेरे मस्तिष्क व शरीर दोनों का विकास होता है, वासना का विनाश होकर प्राण व व्यानशक्ति बढ़ती है।

ऋषि:—गोतम:। देवता—मघवा:। छन्द:—आर्ष्युष्णिक्। स्वर:—ऋषभ:॥

अन्तर्नियमन

उपयामगृहीतोऽस्यन्तर्यच्छ मघवन् पाहि सोमम्। उरुष्य रायऽएषो यजस्व॥४॥

गत मन्त्र में वर्णित सोम की रक्षा के लिए संयम आवश्यक है। संयम ही योग है। इस योग का उल्लेख प्रस्तुत मन्त्र में चलता है। १. हे गोतम! तू **उपयाम गृहीत: असि**=(उपयामा:=योगनियमा:) तू योग के नियमों से गृहीत है, अर्थात् तूने योग के नियमों का पालन किया है। इन योग-नियमों के द्वारा तू **अन्त: यच्छ**=इधर-उधर भटकनेवाले मन को अन्दर ही रोक। २. मन के निरोध से ही तेरा जीवन वास्तविक ऐश्वर्य से युक्त होगा। उस ऐश्वर्य से युक्त होकर **मघवन्**=ज्ञानैश्वर्यवाले गोतम! तू **सोमम्**=सोम को **पाहि**=सुरक्षित कर। **उरुष्य**=इन वासनाओं को खूब ही नष्ट कर (षोऽन्तकर्मणि) ३. वासनाओं को नष्ट करके **राय:**=ज्ञान-धनों को तथा **इष:**=प्रभु से दी जानेवाली प्रेरणाओं को तू **आयजस्व**=अपने साथ सङ्गत कर। ४. वस्तुत: योगमार्ग पर चलनेवाले जीवन का क्रम यही होता है कि (क) वह योग-नियमों को स्वीकार करता है (ख) मन का अन्दर ही निरोध करता है (ग) ज्ञानैश्वर्य को प्राप्त करके सोम की रक्षा करता है। (घ) वासनाओं का विनाश करता है। (ङ) और ज्ञान-धनों व प्रभु-प्रेरणाओं के साथ अपने को जोड़ता है। यह अन्तर्नियमन ही योग है। यही कल्याणकर है।

भावार्थ—हम योग-नियमों का पालन कर मनोनिरोध करें। वासनाओं को जीतकर ज्ञान-धनों को प्राप्त करें।

ऋषि:—गोतम:। देवता—ईश्वर:। छन्द:—आर्षीपङ्क्ति:। स्वर:—पञ्चम:॥

अवर-पर देवमैत्री

अन्तस्ते द्यावापृथिवी दधाम्यन्तर्दधाम्युर्वन्तरिक्षम्।
सजूर्देवेभिरवरै: परैश्चान्तर्यामे मघवन् मादयस्व॥५॥

गत मन्त्र के 'उपयामगृहीत'=योग के नियमों का पालन करनेवाले से प्रभु कहते हैं कि मैं १. **ते अन्त:**=तेरे अन्दर **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक को **दधामि**=धारण करता हूँ। तेरे मस्तिष्करूप द्युलोक को ज्योतिर्मय बनाता हूँ और तेरे पृथिवीरूप शरीर को बड़ा दृढ़ बनाता हूँ। २. **अन्त:**=तेरे अन्दर **उरु अन्तरिक्षम्**=विशाल हृदयान्तरिक्ष को धारण करता हूँ। तेरे हृदय को विशाल बनाता हूँ। ३. इस योग-साधना से शरीर में सब देवांश बड़े ठीक ढङ्ग से अपना-अपना कार्य करते हैं। शरीर के मस्तिष्करूप द्युलोक में निवास करनेवाले देव 'पर' हैं तो पाँव आदि में रहनेवाले देव 'अवर' हैं। **अवरै परै: च**=इन अवर व पर **देवेभि: सजू:**=देवों से मित्रतावाला तू **अन्तर्यामे**=योग के द्वारा मन को अन्दर ही नियमन करने पर **मघवन्**=ज्ञानैश्वर्यवाला होकर **मादयस्व**=आनन्द का अनुभव कर। योग को यहाँ 'अन्तर्याम' शब्द से स्मरण किया गया है, क्योंकि इसके द्वारा मन को

बाह्य विषयों से रोककर अन्दर रोका जाता है और इसके साथ ही प्राणनिरोध के द्वारा सोम का भी शरीर के अन्दर नियमन होता है। एवं, यह योग 'अन्तर्याम' है। इस अन्तर्याम के होने पर मनुष्य का ज्ञानैश्वर्य बढ़ता है और यह 'मघवन्' बन जाता है। इस ज्ञान (ऋतम्भरा प्रज्ञा) के प्राप्त होने पर मनुष्य वास्तविक आनन्द का अनुभव करता है।

भावार्थ—योग द्वारा मनोनिरोध होने पर 'मस्तिष्क, मन व शरीर' सुन्दर बनते हैं। अवर व पर सब देवों से मित्रता होती है। ज्ञानैश्वर्य प्राप्त कर हम आनन्द प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—गोतमः। देवता—योगी। छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

उदान

स्वाङ्कृतोऽसि विश्वेभ्यऽइन्द्रियेभ्यो दिव्येभ्यः पार्थिवेभ्यो मनस्त्वाष्टु स्वाहा त्वा सुभव सूर्याय देवेभ्यस्त्वा मरीचिपेभ्यऽउदानाय त्वा॥६॥

पिछले मन्त्र में योग द्वारा मन को अन्दर ही रोकने का उल्लेख था। इस मनोनिरोध के परिणामस्वरूप सोम की रक्षा होती है। इस सोमरक्षा के परिणाम का वर्णन प्रस्तुत मन्त्र में किया गया है। १. **स्वाङ्कृतः असि**=हे सोम! तू स्वयं कृत है, अर्थात् उस प्रभु की व्यवस्था से शरीर में तेरा स्वयं ही उत्पादन होता रहता है। तेरा उत्पादन **विश्वेभ्यः**=सब **इन्द्रियेभ्यः**=इन्द्र (आत्मा) की शक्तियों के लिए हुआ है। सब शक्तियों का मूल यह सोम ही है, चाहे वे शक्तियाँ **दिव्येभ्यः**=मस्तिष्करूप द्युलोक-सम्बन्धी हैं और चाहे **पार्थिवेभ्यः**= शरीररूप पृथिवी के साथ सम्बद्ध हैं। जहाँ यह सोम ज्ञानाग्नि को दीप्त बनाता है वहाँ यह शरीर को भी दृढ़ बनाता है। २. **मनः**=मनन-शक्ति व ज्ञान **त्वा**=तुझे **अष्टु**=व्याप्त करे, अर्थात् इस सोमरक्षा से हे गोतम! तू सचमुच गोतम बन जाए। तुझे उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त हो, अतः सोमरक्षा के लिए स्वाहा (सु आह) तू उत्तमता से प्रभु के नाम का उच्चारण कर। ३. **सुभव**=हे उत्तम सात्त्विक पदार्थों से उत्पन्न सोम! मैं **त्वा**=तुझे **सूर्याय**=मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान के सूर्योदय के लिए सुरक्षित करता हूँ। **त्वा**=तुझे **देवेभ्यः** =दिव्य गुणों की उत्पत्ति के लिए सुरक्षित करता हूँ, **मरीचिपेभ्यः**=ज्ञान की किरणों के पान के लिए तुझे सुरक्षित करता हूँ और अन्ततः **उदानाय त्वा**=उदानवायु की ठीक रक्षा के लिए तेरा स्वीकार करता हूँ। इस उदानवायु ने ही अन्ततः मुझे उत्थान की ओर ले-चलना है। प्राणों का संयम करके उदानवायु से ऊर्ध्व गति करता हुआ मैं अन्त में ब्रह्मरन्ध्र से निकलने में समर्थ होऊँगा और प्रभु को प्राप्त करनेवाला बनूँगा।

भावार्थ—मैं सोमरक्षा द्वारा उदानवायु को सिद्ध करनेवाला बनूँ और अन्ततः मोक्ष प्राप्त करूँ।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—वायुः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः॥

पूर्व-पेय

आ वायो भूष शुचिपाऽउप नः सहस्रं ते नियुतो विश्ववार। उपो तेऽअन्धो मद्यमयामि यस्य देव दधिषे पूर्वपेयं वायवे त्वा॥७॥

गत मन्त्र में गोतम ने वीर्यरक्षा द्वारा उदानवायु की साधना की थी। इस प्रकार संयमी जीवनवाला यह 'वसिष्ठ' बनता है। प्रभु इस वसिष्ठ से कहते हैं—१. **वायो**=(वा गतिगन्धनयोः) गति के द्वारा सब बुराइयों का हिंसन करनेवाले वसिष्ठ! **आभूष**=तू सब प्रकार से अपने

को सुभूषित कर। तेरा शरीर स्वास्थ्य से, मन नैर्मल्य से और बुद्धि तीव्रता से अलंकृत हो। २. **शुचिपाः**=तू अत्यन्त शुद्धता को पालनेवाला हो। तेरा जीवन पवित्र-ही-पवित्र हो। ३. हे **विश्ववार**=सब गुणों के स्वीकार करनेवाले वसिष्ठ! **नः**=हमारे **सहस्रम्**=हज़ारों **नियुतः**=(नियुज्यन्ते ये तान् निश्चितान् शमादिगुणान्—द०) शम आदि गुणों को **आभूष**=अपने में सजा, अर्थात् इन गुणों के धारण से अपने जीवन को अलंकृत कर और **ते**=तेरे ये गुण तुझे **नः उप**=हमारे समीप लानेवाले हों। ४. अब वसिष्ठ प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभो! मैं **ते**=तेरे **मद्यम्**=आनन्द देनेवाले **अन्धः**=आध्यायनीय सोमरूप अन्न को **उ उप अयामि**=निश्चय से समीपता से प्राप्त होता हूँ। इस सोम को अपने अन्दर सुरक्षित करता हूँ। उस सोम को **यस्य**=जिसके **पूर्वपेयम्**=पालन व पूरण करनेवाले पान को हे **देव**=दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभो! **दधिषे**=आप हमारे लिए धारण करते हैं, अर्थात् जिसका पान व रक्षण हम आपकी कृपा से कर पाते हैं। ५. हे सोम! मै **वायवे त्वा**=वायु बन सकूँ, इसलिए तेरा स्वीकार करता हूँ कि वायु=गतिशीलता के द्वारा मैं सब बुराइयों को दूर करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—हम सोमरक्षा द्वारा शतशः शमादि गुणों से अपने जीवनों को अलंकृत करें।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—इन्द्रावायू। **छन्दः**—आर्षीगायत्री[क], स्वराडार्षीगायत्री[र]। **स्वरः**—षड्जः॥

इन्द्र+वायु

[क]इन्द्र॑वायूऽइ॒मे सु॒ताऽउप॒ प्रयो॑भि॒राग॑तम्। इन्द॑वो वामु॒शन्ति॒ हि।
उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽसि वा॒यव॑ऽइन्द्रवा॒युभ्यां॑ त्वै॒ष ते॒ योनिः॑ स॒जोषो॑भ्यां त्वा॥८॥

सोमरक्षा के विषय को ही प्रस्तुत मन्त्र में इन शब्दों में कहते हैं कि १. **इन्द्रवायू**=हे इन्द्र और वायु! **इमे**=ये सोमकण **सुताः**=तुम्हारे अन्दर उत्पन्न किये गये हैं। **प्रयोभिः**=सात्त्विक भोजनों (food) से तथा आनन्दमयी मनोवृत्ति (delight, pleasure) से तथा त्याग की भावना (sacrifice) से **उप आगतम्**=इन सोमकणों को समीपता से प्राप्त करो। 'इन्द्र' शब्द जितेन्द्रियता का संकेत करता है और 'वायु' शब्द क्रियाशीलता का। सोमकण इन्द्र और वायु के लिए उत्पन्न किये गये हैं। जितेन्द्रिय और क्रियाशील पुरुष ही इनकी रक्षा कर पाता है। इनकी रक्षा के लिए आवश्यक है कि मनुष्य सात्त्विक भोजनों का प्रयोग करे (प्रयस्), सदा प्रसन्नता को धारण करे (प्रयस्) तथा त्याग की भावनावाला हो (प्रयस्)। यह त्याग की भावना ही उसे विलासमय जीवन से बचाएगी। २. हे इन्द्र और वायो! **इन्दवः**=ये शक्ति देनेवाले सोमकण **वाम् उ**=आप दोनों को ही निश्चय से **उशन्ति**=चाहते हैं। सोमकण इन्हीं में सुरक्षित रहते हैं। 'जितेन्द्रियता और क्रियाशीलता' सोमरक्षा के मुख्य उपाय हैं। ३. **उपयामगृहीतः असि**=प्रभु के समीप (उप) निवास के द्वारा यम-नियमों से तू गृहीत है, योग के नियमों का तूने पालन किया है। **वायवे**=इस क्रियाशील पुरुष के लिए तू है। प्रभु कहते हैं कि हे सोम! **इन्द्रवायुभ्याम्**=इन्द्र और वायु के लिए ही मैंने **त्वा**=तुझे उत्पन्न किया है। **एषः ते योनिः**=यह शरीर ही तेरा घर है। इस शरीर में ही तूने रहना है, इससे दूर नहीं होना। मनुष्य इस सोम की रक्षा के लिए प्रातः-सायं प्रभु चिन्तन करता हुआ यम-नियमों के पालन का प्रयत्न करे। यम-नियमों के पालन से ही मानव-जीवन में क्रियाशीलता और जितेन्द्रियता उत्पन्न होती है। ये क्रियाशील तथा जितेन्द्रिय पुरुष ही सोम की रक्षा करनेवाले होते हैं। ४. हे सोम! **सजोषोभ्यां त्वा**=समानरूप से मिलकर प्रीतिपूर्वक गृहकार्यों का सेवन करनेवाले पति-पत्नी के लिए मैं तुझे उत्पन्न करता हूँ (स=मिलकर

जुष्=प्रीति-सेवन)। जिस गृहस्थ में पति-पत्नी का समन्वय नहीं होता, उसमें दोनों का जीवन अनियन्त्रित-सा हो जाता है। उस अनियन्त्रित जीवन में दोनों का पतन होता है। जब पति-पत्नी मिलकर यज्ञादि उत्तम कार्यों में लगते हैं तो वे एक-दूसरे को पतन से बचानेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम इन्द्र=जितेन्द्रिय और वायु=क्रियाशील बनकर सोम की रक्षा करनेवाले बनें। यही मधुरतम कामना है। इस मधुर इच्छावाले हम 'मधुच्छन्दा' बनते हैं।

ऋषिः—गृत्समदः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—आर्षीगायत्री[क], आसुरीगायत्री[र]। **स्वरः**—षड्जः॥

मित्र+वरुण

[क]अ॒यं वां॑ मित्रावरुणा सु॒तः सोम॑ऽऋतावृधा। ममेदि॒ह श्रु॑त॒ꣳहव॑म्।
[र]उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽसि मि॒त्रावरु॑णाभ्यां त्वा॥९॥

१. गत मन्त्र में 'मधुच्छन्दा'=माधुर्य-ही-माधुर्य को अपनानेवाला, सभी का स्नेही (मित्र) तथा किसी से भी द्वेष न करनेवाला (वरुण) बनता है। यही प्रभु का सच्चा स्तवन है। यही जीवन के आनन्द का मूल है। सच्चा स्तवन करनेवाला और आनन्द को प्राप्त करनेवाला यह 'गृत्स-मद' कहलाता है। 'गृणाति+माद्यति'=स्तुति करता है, प्रसन्न रहता है। यही सोम की रक्षा कर पाता है, अतः मन्त्र में कहते हैं कि हे **मित्रावरुणा**=मित्र और वरुण—स्नेह करनेवाले व द्वेष का निवारण करनेवाले! इस प्रकार **ऋतावृधा**=अपने में ऋत का वर्धन करनेवाले! **वाम्**=तुम दोनों पति-पत्नी के लिए **अयं सोमः**=यह सोम **सुतः**=उत्पन्न किया गया है। २. **इह**=मानव-जीवन में **इत्**=निश्चय से **मम**=मेरी **हवम्**=पुकार को, प्रेरणा को **श्रुतम्**=तुम सुनो। मुझसे प्रतिपाद्यमान सोम के महत्त्व को सुनो और इसकी रक्षा के लिए नितान्त प्रयत्नशील होओ। ३. **उपयामगृहीतः असि**=हे सोम! तू प्रभु-उपासन के द्वारा और यम-नियमों के द्वारा धारण किया जाता है। **मित्रावरुणाभ्यां त्वा**=मैं तुझे मित्र और वरुण के लिए ही उत्पन्न करता हूँ, अर्थात् इस सोम की रक्षा के लिए मित्र और वरुण बनना आवश्यक है।

भावार्थ—हम सबके साथ स्नेह करनेवाले, द्वेष से सदा दूर रहनेवाले बनकर सच्चे प्रभुभक्त बनें और प्रसन्नचित्त होकर सोमरक्षा में समर्थ हों।

ऋषिः—त्रसदस्युः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—ब्राह्मीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

ऋत और आयु

रा॒या व॒यꣳस॑स॒वाꣳसो॑ मदेम ह॒व्येन॑ दे॒वा यव॑सेन॒ गावः॑। तां धे॒नुं मि॑त्रावरुणा यु॒वं नो॑ वि॒श्वाहा॑ धत्त॒मन॑पस्फुरन्तीमे॒ष ते॒ योनि॑र्ऋ॒तायु॒भ्यां त्वा॥१०॥

१. पिछले मन्त्र की भावना के अनुसार जब हम सचमुच मित्र व वरुण बनकर प्रभु के सच्चे उपासक बनते हैं तब प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'त्रसदस्यु' बनते हैं। त्रस=डरते हैं दस्यु=दुष्टभाव जिससे। जिसमें आसुर वृत्तियाँ बिल्कुल नहीं होतीं, ऐसे त्रसदस्यु बनकर **वयम्**=हम **राया**=धन से **ससवांसः**=संभक्त हुए-हुए, अर्थात् संविभागपूर्वक धन को प्राप्त हुए-हुए **मदेम**=इस प्रकार आनन्द अनुभव करें जैसेकि **देवाः**=देव **हव्येन**=हव्य पदार्थों से प्रसन्न होते हैं और **गावः**=गौ आदि पशु **यवसेन**=अपने चारे (fodder) से प्रसन्न होते हैं। अथवा जब हम धन प्राप्त करें तो उस धन में से देवताओं को भी हव्य प्राप्त हो और गौवों

को भी यवस प्राप्त हो। हमारे धन में देवों व गवादि पशुओं का भी भाग हो। यही देवयज्ञ व बलिवैश्वदेव यज्ञ कहलाते हैं। २. प्रभु इन मित्र और वरुण बननेवालों से कहते हैं कि हे **मित्रावरुणा**=स्नेह करनेवाले व द्वेष को दूर भगानेवाले! **युवम्**=तुम **नः तां धेनुम्**=हमारी वेदवाणीरूप गौ को **अनपस्फुरन्तीम्**=मन में फुरती हुई को **विश्वाहा**=सदा **धत्तम्**=धारण करो। तुम्हें वेदवाणी स्पष्ट हो। तुम वेदवाणीरूप धेनु के ज्ञानदुग्ध का पान करनेवाले बनो। ३. इस वाणी के स्फुरण के लिए आवश्यक है कि हम सोम की रक्षा करनेवाले बनें, अतः प्रभु कहते हैं कि हे सोम! **एषः ते योनिः**=यह शरीर ही तेरी योनि है, उत्पत्ति व निवासस्थान है। इस शरीर में ही तूने रहना है। **त्वा**=तुझे **ऋतायुभ्याम्**=ऋत और आयु के लिए इस शरीर में स्थपित करता हूँ। शरीर में 'सब क्रियाएँ ठीक-ठीक चलें और दीर्घ जीवन प्राप्त हो' इसीलिए सोम का उत्पादन हुआ है। ऋत और आयु शब्द मित्र और वरुण के लिए भी प्रयुक्त होते हैं, अतः मित्र और वरुण के लिए तुझे स्थापित करता हूँ। (मित्राः ऋतं वरुण एव वायुः—श० ४।१।४।१०) अथवा ऋत को चाहनेवाले पति-पत्नी के लिए तुझे स्थापित करता हूँ।

भावार्थ—सोमरक्षा द्वारा हमारा जीवन ऋतमय हो और हम दीर्घायुष्य प्राप्त करें।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—ब्राह्म्युष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

माधुर्यमयी वाणी

या वां कशा मधुमत्यश्विना सूनृतावती। तया यज्ञं मिमिक्षतम्। उपयामगृहीतोऽस्यश्विभ्यां त्वैष ते योनिर्माध्वीभ्यां त्वा॥११॥

१. पिछले मन्त्र में 'मित्रावरुणौ' का प्रकरण था—'सबके साथ स्नेह करनेवाले, द्वेष न करनेवाले'। उन्हीं से कहते हैं कि **या**=जो **वाम्**=आप दोनों **अश्विना**=पति-पत्नी की **मधुमती**=माधुर्यवाली तथा **सूनृता-वती**=उत्तमता से दुःखों का परिहाण करनेवाली ऋत, अर्थात् सत्य **कशा**=वाणी है **तया**=उससे **यज्ञम्**=यज्ञ को **मिमिक्षतम्**=खूब सिक्त कर दो। आपका जीवन यज्ञमय हो। यज्ञ के लिए ही आपका संयोग हुआ है। वह यज्ञ बड़ी मधुर वाणी को लिये हुए हो। उस यज्ञ में मधुर शब्दों का ही प्रयोग हो। २. हे सोम! तू **उपयामगृहीतः असि**=प्रभु के समीप निवास द्वारा धारण किये गये यम-नियम से धारण किया जाता है, अर्थात् तेरी रक्षा के लिए यम-नियमों का पालन आवश्यक है। **अश्विभ्यां त्वा**=तुझे मैंने पति-पत्नी के लिए, अर्थात् उनके कार्यों को सुचारुरूपेण चलाने के लिए स्थापित किया है। ३. **एषः ते योनिः**=यह शरीर ही तेरा घर है। इसी में तूने व्याप्त होकर रहना है। **माध्वीभ्यां त्वा**=तुझे मैंने शरीर में इसलिए स्थापित किया है कि पति-पत्नी दोनों का जीवन बड़े माधुर्य को लिये हुए हो। सुरक्षित सोम जीवन में माधुर्य को उत्पन्न करने का कारण बनता है। 'अश्विना' शब्द प्राणापान के लिए भी प्रयुक्त होता है। तब अर्थ होगा कि यह सोम प्राणापान की शक्ति की वृद्धि के लिए स्थापित हुआ है और प्राणापान की शक्ति की वृद्धि के द्वारा यह माधुर्य को जन्म देने के लिए है। वस्तुतः 'मेधातिथि'=(मेधया अतति) समझदार वही है जो सोमरक्षा द्वारा प्राणापान की शक्ति को बढ़ाता है और परिणामतः अपने जीवन व वाणी को माधुर्यमय बनाता है।

भावार्थ—हम सोमरक्षा द्वारा वाणी को मधुर बनाएँ। हमारे यज्ञ मधुर वाणी से सम्पन्न हों।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—निचृदार्षीजगती[क], पङ्क्तिः[र]।
स्वरः—निषादः[क], पञ्चमः[र]॥

दोहन या वीरता (वीरता-दोहन)

[क]तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा ज्येष्ठतातिं बर्हिषदᳬस्वर्विदम्। प्रतीचीनं वृजनं दोहसे धुनिमाशुं जयन्तमनु यासु वर्धसे। [र]उपयामगृहीतोऽसि शण्डाय त्वैष ते योनिर्वीरतां पाह्यपमृष्टः शण्डो देवास्त्वा शुक्रपाः प्रणयन्त्वनाधृष्टासि॥१२॥

१. गत मन्त्र की भावना के अनुसार पूर्ण मधुर जीवन बनाने के लिए कहते हैं कि **तम्**=उस प्रभु को जोकि **ज्येष्ठतातिम्**=ज्येष्ठता का विस्तार करनेवाले हैं, उपासक के जीवन को अधिकाधिक प्रशस्त बनानेवाले हैं, **बर्हिषदम्**=वासनाशून्य हृदयाकाश में विराजनेवाले हैं, **स्वर्विदम्**=सुख व प्रकाश को प्राप्त करानेवाले हैं, **प्रतीचीनम्**=अविद्यादि दोषों के प्रतिकूल हैं, अर्थात् अविद्यादि से हमें दूर ले-जानेवाले हैं **वृजनम्**=जो बलरूप हैं, अर्थात् जिसकी उपासना से उपासक शक्ति का अनुभव करता है **धुनिम्**=सब दोषों को कम्पित करके दूर करनेवाले हैं **आशुम्**=शीघ्रता से कार्यसिद्धि देनेवाले हैं **जयन्तम्**=सदा विजयी हैं, अर्थात् हमारे कामादि शत्रुओं का पराभव करनेवाले हैं, उस प्रभु को **प्रत्नथा**= प्राचीनकाल की भाँति **पूर्वथा**=अपने से पहले होनेवाले योगियों की भाँति **विश्वथा**=अन्य सब देवों की भाँति **ईमथा**=वर्त्तमान काल के योगियों की भाँति **दोहसे**=तू अपने अन्दर दोहन करता है, अर्थात् उस प्रभु की भावना को अपने अन्दर भरता है। **अनुयासु**=इन दोहन-क्रियाओं के अनुसार ही **वर्धसे**=तू बढ़ता है, जितना-जितना तू अपने में प्रभु का दोहन करता है उतना-उतना तेरा वर्धन होता है, उतना-उतना ही तू वासनाओं को जीतकर आगे बढ़ता चलता है। २. उपासक के हृदयाकाश में आसीन प्रभु शरीर में उत्पादित सोमशक्ति से कहते हैं कि **उपयामगृहीतः असि**=तू उपासना के द्वारा धारण किये गये यम-नियमों से गृहीत होता है। **शण्डाय त्वा**=शमादि गुणयुक्त पुरुष के लिए मैं तुझे शरीर में उत्पन्न करता हूँ। **एषः ते योनिः**=यह शरीर ही तेरा निवासस्थान है, तूने शरीर में ही रहना है, शरीर में व्याप्त होकर तू उस पुरुष को शमादि गुणयुक्त करता है। ३. **वीरतां पाहि**=तू इस शान्त पुरुष की वीरता की रक्षा कर। **शण्डः**=यह शमादि गुणयुक्त पुरुष **अपमृष्टः**=सब मलों के दूरीकरण से शुद्ध कर दिया जाए। **शुक्रपाः**=वीर्य की रक्षा करनेवाले **देवाः**=विद्वान् लोग **त्वाम्**=तुझ वीरता को **प्रणयन्तु**=प्रकर्षेण अपने में प्राप्त कराएँ। **अनाधृष्टा असि**=तू वासनाओं से धर्षित नहीं होती। वीरता के साथ सब सद्गुणों का वास है, वीरता ही virtue है। अवीरता के साथ evil आती है। वीर पुरुष कामादि से धर्षित नहीं होता।

भावार्थ—हम योगक्रियाओं द्वारा सोम की रक्षा करें। सुरक्षित सोम से हमारी वीरता बढ़े और हम वासनाओं से धर्षित न हों।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्[क], प्राजापत्यागायत्री[र]।
स्वरः—धैवतः[क], षड्जः[र]॥

शमादि गुणयुक्त पुरुष

[क]सुवीरो वीरान् प्रजनयन् परीह्यभि रायस्पोषेण यजमानम्। संजग्मानो दिवा पृथिव्या शुक्रः शुक्रशोचिषा निरस्तः शण्डः शुक्रस्याधिष्ठानमसि॥१३॥

१. गत मन्त्र की भावना के अनुसार अपने में वीरता का पूरण करनेवाला **सुवीरः**=उत्तम वीर **वीरान्**=(virtues, उत्कृष्टगुणान्—द०) उत्तम गुणों को **प्रजनयन्**=अपने में विकसित करता हुआ तू **परीहि**=सर्वतः प्राप्त हो। २. **रायस्पोषेण**=धन के पोषण से तू **यजमानम्**=यज्ञ करनेवाले को, अर्थात् दानादि उत्तम कार्यों के करनेवाले को **अभि**=लक्ष्य करके **परीहि**=प्राप्त हो, अर्थात् तू धन-धान्य से समृद्ध होकर यज्ञादि उत्तम कर्मों को करनेवाला बन। ३. **दिवा**=देदीप्यमान मस्तिष्क से तथा **पृथिव्या**=(प्रथ विस्तारे) विस्तृत शक्तियोंवाले शरीर से **संजग्मानः**=सङ्गत हो, अर्थात् तेरा मस्तिष्क ज्ञानज्योति से चमके तो तेरा शरीर सब शक्तियों के विस्तारवाला होता हुआ. सचमुच 'पृथिवी' हो। ४. **शुक्रः**=तू वीर्य का पुञ्ज बन। **शुक्रशोचिषा**=पवित्र करनेवाले वीर्य की दीप्ति से तू **निरस्तः**=अपमृष्टः=सब मलिनताओं को दूर करके पूर्ण शुद्ध बन। ४. पूर्ण शुद्ध बना हुआ यह **शण्डः**=शमादि गुणयुक्त पुरुष **शुक्रस्य**=इस जीवन को पवित्र करनेवाले सोम का **अधिष्ठानम्**=आधार **असि**=है। शमादि गुण वीर्यरक्षा में सहायक होते हैं। इसी से शान्त पुरुष वीर्य का अधिष्ठान बनता है। वीर्य शमादि गुणों का जनक है तो शमादि गुण वीर्यरक्षा में सहायक हैं। इसी दृष्टिकोण से ब्रह्मचारी के लिए सौम्य होना आवश्यक है और क्रोध वर्जित है।

भावार्थ—१. वीर्यरक्षा से वीर बनकर मनुष्य अपने में सद्गुणों का पोषण करता है। २. धन की वृद्धि करके यज्ञशील बनता है। ३. देदीप्यमान मस्तिष्क व विस्तृत शक्तिवाले शरीर को प्राप्त करता है। ४. सब मालिन्यों से दूर होता है और ५. शमादि गुणों से युक्त होता है।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—स्वराड्जगती। **स्वरः**—निषादः॥

प्रथमा संस्कृति

अच्छिन्नस्य ते देव सोम सुवीर्यस्य रायस्पोषस्य ददितारः स्याम।
सा प्रथमा सँस्कृतिर्विश्ववारा स प्रथमो वरुणो मित्रोऽअग्निः॥१४॥

१. गत मन्त्र का शमादि गुणयुक्त पुरुष प्रार्थना करता हुआ कहता है कि हे **देव सोम**=दिव्य गुणों को उत्पन्न करनेवाले सोम! हम **ते**=तेरे **अच्छिन्नस्य**=कभी विच्छिन्न न होनेवाले **सुवीर्यस्य**=उत्तम वीरता से युक्त **रायस्पोषस्य**=धन के पोषण के **ददितारः**=(दधितारः) धारण करनेवाले **स्याम**=हों। हम सोम की रक्षा के द्वारा उत्तम शक्ति को प्राप्त करें, उत्तम धनों को धारण करनेवाले बनें। ३. (क) अविच्छिन्नरूप से हम वीर्य को धारण करनेवाले बनें, (ख) धनों को प्राप्त करके यज्ञादि उत्तम कार्यों के लिए दान करनेवाले हों। **सा**=इन दोनों बातों का पालन करना ही **प्रथमा**=प्रमुख अथवा हमारे जीवनों व शक्तियों का विस्तार करनेवाली **संस्कृतिः**=संस्कृति (culture) है। यह संस्कृति **विश्ववारा**=सबसे वरने के योग्य है। सभी को इस संस्कृति को अपनाना चाहिए, अथवा यह **विश्ववारा**=सब वरणीय वस्तुओंवाली है। इस संस्कृति से हमारे अन्दर सब इष्ट गुणों की उत्पत्ति होती है। ४. **सः**=वह—इस संस्कृति को अपनानेवाला व्यक्ति **प्रथमः**=अपनी सब शक्तियों का विस्तार करता है, अतएव समाज में मुख्य—प्रथम स्थान में स्थित होता है। **वरुणः**=यह सब द्वेषों व अन्य बुराइयों का निवारण करनेवाला होता है और इस प्रकार 'वरुणो नाम वरः श्रेष्ठः' श्रेष्ठ जीवनवाला होता है। **मित्रः**=यह सभी के साथ स्नेह करता है 'प्रमीतेः त्रायते' और अपने को पापरूप मृत्युओं से बचाता है, तथा **अग्निः**=निरन्तर आगे बढ़नेवाला होता है।

भावार्थ—सबसे स्वीकार करनेयोग्य संस्कृति यही है कि १. हम अविच्छिन्न वीर्य

को धारण करनेवाले बनें, शक्ति की रक्षा करें। २. और दान दिये जानेवाले (रा दाने) धन के पोषक हों।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—निचृद्ब्राह्म्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः ॥

आग्नीत् की मधुर वाणी

स प्रथमो बृहस्पतिश्चिकित्वाँस्तस्मा इन्द्राय सुतमा जुहोत स्वाहा। तृम्पन्तु होत्रा मध्वो याः स्विष्टा याः सुप्रीताः सुहुता यत्स्वाहायाडग्नीत् ॥१५॥

१. गत मन्त्र की भावना के अनुसार संस्कृति को अपनानेवाला **सः**=वह व्यक्ति **प्रथमः**=अपनी सब शक्तियों का विस्तारक होता है। २. यह **बृहस्पतिः**=बृहती वेदवाणी का पालक बनता है—विद्यायुक्त वाणी का अधिष्ठाता होता है। सर्वोच्च ऊर्ध्वा दिशा का यह अधिपति होता है। ३. **चिकित्वान्**=विज्ञानवान् अथवा 'कित निवासे रोगापनयने च'=उत्तम निवासवाला या नीरोग होता है। ४. हे विश्वेदेवा! तुम **तस्मा इन्द्राय**=इस इन्द्रियों के अधिष्ठाता के लिए **सुतम्**=ऐश्वर्य को **आजुहोत**=सर्वथा दो। **स्वाहा**=यही सु+हा=उत्तम त्याग है। देवों का सर्वोत्तम दान यही है कि वे जितेन्द्रिय पुरुष को ऐश्वर्य प्राप्त कराते हैं। ५. इन इन्द्रवृत्तिवाले लोगों को **होत्राः**=वाणियाँ **तृम्पन्तु**=तृप्त करें, **यत्**=जो वाणियाँ **मध्वाः**=माधुर्य से युक्त हैं और **याः**=जो **स्विष्टाः**=(सु इष्टाः) अत्यन्त वाञ्छनीय हैं **याः**=जो **सुप्रीताः**=(प्रीञ् तर्पणे) उत्तम तृप्ति देनेवाली हैं **सुहुताः**=जिन वाणियों से उत्तम यज्ञादि कर्म किये जाते हैं। ६. **यत्**=क्योंकि **अग्नीत्**=(अग्निमिन्धे) अग्नि को समिद्ध करनेवाला व्यक्ति **स्वाहा**=उत्तम वाणियों के द्वारा (सत्यवाणी से—द०) **अयाट्**=यज्ञों को करता है अथवा सभी को सत्कृत करता है (यज्=देवपूजा)। **अग्नीत्**=अग्नि को समिद्ध करता है, अर्थात् अग्निहोत्रादि कर्मों को करता है तथा प्रभुरूप अग्नि को अपने हृदय में देखने का प्रयत्न करता है। सर्वत्र प्रभु को देखनेवाला यह व्यक्ति सभी के साथ मधुर वाणियों का प्रयोग करता है।

भावार्थ—प्रभुरूप अग्नि को समिद्ध करनेवाला सदा मधुर वाणी का प्रयोग करता है, मधुर सत्यवाणी से ही सबका सत्कार करता है।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्[क], साम्नीगायत्री[र]। **स्वरः**—धैवतः[क], षड्जः[र]॥

शक्ति व शान्ति का समन्वय

[क]**अयं वेनश्चोदयत्पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमाने। इममपाᳬसङ्गमे सूर्यस्य शिशुं न विप्रा मतिभी रिहन्ति। [र]उपयामगृहीतोऽसि मर्काय त्वा॥१६॥**

१. **अयम्**=गत मन्त्र में वर्णित मधुर वाणियोंवाला यह व्यक्ति ही **वेनः**=मेधावी है (नि० ३।१५)। यह **पृश्निगर्भाः**=(पृश्निः आदित्यो गर्भे येषाम्) आदित्य के समान ज्योति है गर्भ में जिनके, अर्थात् ज्ञान से परिपूर्ण वाणियों को **चोदयत्**=प्रेरित करता है, अर्थात् इसकी वाणियाँ सदा ज्ञान के प्रकाशवाली होती हैं। २. यह **रजसो विमाने**=रजोगुण के विशिष्ट रूप से निर्माण के निमित्त **ज्योतिर्जरायुः**=ज्योतिरूप वेष्टन व आच्छादनवाला होता है। यह ज्ञान को अपना आवरण बनाता है और परिणामतः रजोगुण को विशिष्ट परिमाण में अपने अन्दर विकसित होने देता है। ज्ञान के कारण इसका रजोगुण उच्छृंखल न होकर सदा नियन्त्रित होता है। ३. **इमम्**=इस वेन (मेधावी) को **अपाम्**=जलों, **सूर्यस्य**=सूर्य व

तेज का **सङ्गमे**=सङ्गम होने पर, अर्थात् शान्ति (=जल) व शक्ति (=सूर्य-तेज) का समन्वय होने पर **शिशुं न**=शिशु के समान अर्थात् पुत्रवत् प्रेम करते हुए **विप्राः**=ज्ञानी लोग **मतिभिः**=ज्ञानों से **रिहन्ति**=सत्कृत करते हैं (रिहन्तीत्यर्चतिकर्मसु—नि० ३।१४), अर्थात् शान्ति व शक्ति का अपने में समन्वय करनेवाले इस मेधावी को जो **शिशुं न**=एक अबोध बालक के समान निर्दोष है, ज्ञानी लोग प्रेम से ज्ञान देते हैं। आचार्यों का विद्यार्थी को ज्ञान देना ही अर्चन है। ४. **उपयामगृहीतः असि**=हे वेन! तू उपयामगृहीत है, प्रभु की उपासना द्वारा यम-नियमों से युक्त है। **मर्काय त्वा**=(मर्च गतौ) मैं तुझे गतिशीलता के लिए प्रेरित करता हूँ। यह गतिशीलता ही तुझे पवित्र बनाएगी और तू प्रभु का उपासक बनकर यम-नियमों का पालन करनेवाला हो सकेगा।

भावार्थ—मेधावी पुरुष ज्ञान को अपना आच्छादन बनाता है। यह अपने जीवन में शान्ति व शक्ति का मिश्रण करता है। ज्ञानी इसे प्रेम से ज्ञान प्राप्त कराते हैं और यह गतिशील बनकर प्रभु का उपासक होता हुआ यम-नियमों का पालन करता है।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—स्वराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

मनो विजय

मनो॒ न येषु॒ हव॑नेषु ति॒ग्मं विपः॒ शच्या॑ वनु॒थो द्रव॑न्ता।
आ यः शर्या॑भिस्तुविनृ॒म्णोऽअ॒स्याश्री॑णीता॒दिशं॒ गभ॑स्तावे॒ष ते॒ योनिः॑
प्र॒जाः पा॒ह्यप॑मृष्टो॒ मर्को॑ दे॒वास्त्वा॑ मन्थि॒पाः प्रण॑य॒न्त्वना॑धृष्टासि॥१७॥

गत मन्त्र में प्रभु की उपासना के द्वारा वेन अपने जीवन को अत्यन्त सुन्दर बनाने का निश्चय करता है। 'इन प्रभु-उपासनाओं से क्या होता है?' यह बात प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **येषु हवनेषु**=जिन प्रभु के पुकारने के समयों पर अथवा प्रभु के प्रति अपना अर्पण करने के अवसरों पर **विपः**=मेधावी पति-पत्नी **मनः**=अपने मन को, जो मन **न तिग्मम्**=तेज़ नहीं है, अर्थात् जो शान्त है, उसे **शच्या**=प्रज्ञापूर्वक **द्रवन्ता**=गति करते हुए **वनुथः**=जीतते हैं। २. उपासना से मन शान्त होता है, मनुष्य सब क्रियाओं को बुद्धिमत्तापूर्वक करता है, अन्त में मन को पूर्णरूप से जीत लेता है। यह मनोविजेता वह है **यः**=जो **आशर्याभिः**=(शृ हिंसायाम्) सब बुराइयों की हिंसा के द्वारा **तुविनृम्णः**=महान् बलवाला है। **अस्य**=इसकी **गभस्तौ**=ज्ञान-किरणों में **आदिशम्**=(दिशायाम् दिशायाम्) प्रत्येक दिशा में **आश्रीणीत**=अपने को परिपक्व करो। जिसने स्वयं मन को जीता है, उसके अनुभवों से पूर्ण लाभ लेते हुए अन्य लोग भी अपनी शक्तियों का परिपाक करें। ३. **एषः ते योनिः**=हे सोम! जिस तेरी रक्षा पर ही सब उन्नतियाँ निर्भर करती हैं, उस तेरा यह शरीर ही घर है। इस शरीर में ही व्यापक होकर तूने रहना है। ४. शरीर में रहकर **प्रजाः पाहि**=सब प्रजाओं का तू पालन कर। तेरे निवास से ही यह **मर्कः**=शरीर **अपमृष्टः**=बुराइयों के सुदूर विध्वंस के द्वारा शुद्ध कर दिया जाता है। ५. इसीलिए **मन्थिपाः**=सोम की रक्षा करनेवाले **देवाः**=देव **त्वा**=तुझे **प्रणयन्तु**=शरीर में विशेष रूप से प्राप्त कराएँ। हे शुक्रशक्ते! तू **अनाधृष्ट असि**=अपराजेय है। तेरे होने पर शरीर में किसी रोगादि का आक्रमण नहीं होता।

भावार्थ—प्रभु-उपासना से मन शान्त होता है। जीवन शुद्ध होता है। यह शुक्रशक्ति अपराजेय है। इसकी रक्षा से ही शरीर निर्दोष होता है।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्[क], प्राजापत्यागायत्री[ग]। स्वरः—धैवतः[क], षड्जः[ग]॥

सु-प्रजाः

[क]सुप्रजाः प्रजाः प्रजनयन् परीह्यभि रायस्पोषेण यजमानम्। संजग्मानो दिवा पृथिव्या मन्थी मन्थिशोचिषा निरस्तो मर्को [ग]मन्थिनोऽधिष्ठानमसि॥१८॥

१. गत मन्त्र का मनोविजेता **सुप्रजाः**=उत्तम प्रजाओंवाला होता है। यह **प्रजाः**=प्रजाओं को **प्रजनयन्**=विकसित करनेवाला होता है। २. यह **यजमानम्**=इस सृष्टि-यज्ञ को रचनेवाले प्रभु को **अभिरायस्पोषेण**=आन्तर व बाह्य सम्पत्ति के पोषण से **परीहि**=प्राप्त होता है। प्रभु की प्राप्ति का उपाय यही है कि मनुष्य बाह्य सम्पत्ति, अर्थात् शरीर के स्वास्थ्य का सम्पादन करे और साथ ही आन्तर सम्पत्ति पवित्रता व ज्ञान को सिद्ध करे। 'स्वस्थ, पवित्र व ज्ञानी' पुरुष ही प्रभु-प्राप्ति का अधिकारी होता है। ३. **दिवा**=ज्ञान की ज्योति से तथा **पृथिव्या**=विस्तृत शक्तियोंवाले शरीर से **संजग्मानः**=सङ्गत हुआ-हुआ तू **मन्थी**=शत्रुओं का मथन करनेवाला होता है। ४. **मन्थिशोचिषा**=रोगकृमियों का मथन करनेवाले सोम की दीप्ति से **मर्कः** =यह देह **निरस्तः**=(अपमृष्टः) सब दोषों को दूर फेंकनेवाला होता है (असु क्षेपणे)। ५. हे सुप्रजाः! तू इसी दृष्टिकोण से **मन्थिनः**=सोम का **अधिष्ठानम् असि**=अधिष्ठान बनता है। वस्तुतः 'सुप्रजाः' का 'सुप्रजास्त्व' इस सोम के कारण ही है। १३ वें मन्त्र में इसे ही 'सुवीर' शब्द से स्मरण किया गया था। वहाँ सोम के लिए 'शुक्र' शब्द का प्रयोग था।

भावार्थ—वीर्यरक्षा से मनुष्य 'सुप्रजाः' होता है, स्वस्थ व ज्ञानी बनकर प्रभु को प्राप्त करनेवाला होता है, निर्दोष शरीरवाला बनता है।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

तेतीस (३३) देव

ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामध्येकादश स्थ।
अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम्॥१९॥

गत मन्त्र की भावना को जीवन में अनूदित करके जब मनुष्य अपने जीवन को पवित्र व यज्ञमय बनाता है तब वह इस प्रकार प्रार्थना करने का अधिकारी होता है कि—१. **ये**=जो **दिवि**=द्युलोक में—मस्तिष्क में **एकादश**=ग्यारह **देवासः स्थ**=देव हो और **पृथिव्याम् अधि**=इस पृथिवी पर, स्थूलशरीर में, **एकादश स्थ**=जो ग्यारह देव हो तथा **महिना**=(महिम्ना) अपनी महिमा से **अप्सुक्षितः**=अन्तरिक्ष में, हृदयाकाश में, रहनेवाले **एकादश स्थ**=ग्यारह देव हो, **ते देवासः**=वे सब देव **इमं यज्ञम्**=मेरे इस यज्ञमय जीवन का **जुषध्वम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करो। २. मेरा यह जीवन यज्ञमय हो और इसमें सब देवों का निवास हो। वस्तुतः जब हमारा जीवन देवों का निवासस्थान बनता है तभी यह परमात्मा का भी निवासस्थान बनने के योग्य होता है। उस महादेव के आने के लिए पहले देवों का आना आवश्यक है। देवों का आना महादेव के आने की तैयारी है। ३. द्युलोक के देवों का मुखिया सूर्य है। मेरे मस्तिष्करूप द्युलोक में भी ज्ञान-सूर्य का उदय हो। अन्तरिक्ष लोक के देवों का मुखिया वायु व विद्युत् हैं। मेरा हृदय भी वायुवत् निरन्तर क्रियाशीलता के संकल्प से भरा हुआ हो तथा सब वासनाओं को विद्युत् की तरह छिन्न-भिन्न करनेवाला हो। पृथिवीलोक में देवों का

मुखिया 'अग्नि' है। मेरा शरीर भी अग्नि की उष्णतावाला हो। एवं, सब देवों से युक्त होकर मैं सचमुच जीवन को यज्ञ का रूप दे डालूँ और यज्ञमय बनकर प्रभु का निवासस्थान बन जाऊँ।

भावार्थ—मेरा जीवन यज्ञरूप हो। यह देवों का आश्रम बने और प्रभु को प्राप्त करनेवाला हो।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः। देवता—यज्ञः। छन्दः—निचृदार्षीजगती। स्वरः—निषादः॥

आग्रयण

उपयामगृहीतोऽस्याग्रयणोऽसि स्वाग्रयणः। पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिं विष्णुस्त्वामिन्द्रियेण पातु विष्णुं त्वं पाह्यभि सवनानि पाहि॥२०॥

१. गत मन्त्र के तेतीस देवों का अधिष्ठान बननेवाले व्यक्ति के लिए कहते हैं कि तू **उपयामगृहीतः असि** =प्रभु-उपासना के द्वारा यम-नियमों को धारण करनेवाला बना है। २. **आग्रयणः असि**=(अग्रे अयनं यस्य) तू अग्रगतिवाला है **सु आग्रयणः**=बड़ी उत्तमता से आगे बढ़नेवाला है। ३. तू अपने जीवन में **यज्ञं पाहि**=यज्ञ की रक्षा कर। तेरा जीवन यज्ञमय बना रहे। ४. **यज्ञपतिं पाहि**=तू यज्ञों के पालक प्रभु की रक्षा करनेवाला बन। प्रभु की रक्षा का अभिप्राय यह है कि तू इन यज्ञों को सिद्ध करके प्रभु को भूल न जाए। 'यज्ञपति विष्णु ही हैं' तूने इस बात को भूलना नहीं। ५. नहीं भूलने पर **विष्णुः**=सब यज्ञों के धारक प्रभु **त्वाम्**=तुझे **इन्द्रियेण**=(इन्द्रियं वीर्यम्) शक्ति से **पातु**=रक्षित करते हैं। ६. इसलिए **त्वम्**=तू **विष्णुं पाहि**=उस प्रभु की रक्षा कर। उस प्रभु को कभी भूल नहीं। ७. प्रभु को न भूलता हुआ तू शक्ति-सम्पन्न बनेगा और शक्ति-सम्पन्न बनकर **सवनानि** =यज्ञों को **अभिपाहि**= अन्दर-बाहर दोनों ओर सुरक्षित कर। बाहर के यज्ञ 'द्रव्ययज्ञ' हैं, अन्दर के यज्ञ 'ज्ञानयज्ञ'। तू दोनों को करनेवाला बन। ज्ञानयज्ञ उत्कृष्ट है। उसे तो करना ही है, पर द्रव्ययज्ञों की भी आवश्यकता है। द्रव्ययज्ञों से शरीर का शोधन होता है, ज्ञानयज्ञों से आत्मा का, अतः आग्रयण दोनों ही यज्ञों को करता है।

भावार्थ—हमारा जीवन यज्ञमय हो, परन्तु हमें उन यज्ञों का गर्व न हो जाए। 'प्रभु ही सब यज्ञों के पति हैं' इस बात को हम भूलें नहीं।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः। देवता—सोमः। छन्दः—स्वराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्[क], याजुषीजगती[र]।
स्वरः—धैवतः[क], निषादः[र]॥

पवित्रता

[क]सोमः पवते सोमः पवतेऽस्मै ब्रह्मणेऽस्मै क्षत्रायास्मै सुन्वते यजमानाय पवतऽइषऽऊर्जे पवतेऽद्भ्यऽओषधीभ्यः पवते द्यावापृथिवीभ्यां पवते सुभूताय पवते विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यऽ [र]एष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः॥२१॥

१. गत मन्त्र की मुख्य भावना यह है कि प्रभु ही सब यज्ञों के पति हैं। वस्तुतः जीव से समय-समय पर किये जानेवाले सब यज्ञों को करने की शक्ति उसे प्रभु ही देते हैं। प्रभु ने हमारे शरीरों में सोम-निर्माण की व्यवस्था की है। यह **सोमः**=सोम **पवते**=हमारे जीवनों को पवित्र करता है। इससे शरीर नीरोग रहता है, मन बुराइयों से बचा रहता है और मस्तिष्क दीप्त ज्ञानाग्निवाला बनता है। एवं, सोम शरीर, मन व मस्तिष्क सभी

को पवित्र बनाता है। २. **अस्मै ब्रह्मणे**=इस ज्ञान के लिए **सोमः**=सोम **पवते**=हमें पवित्र करता है, **अस्मै क्षत्राय**=इन क्षतों से त्राण करनेवाले, रोगों के आघातों से बचानेवाले, बल के लिए यह सोम हमें पवित्र करता है तथा **अस्मै सुन्वते यजमानाय**=इस ऐश्वर्य का सम्पादन करनेवाले (सुवानाय) यजमान के लिए यह सोम हमें पवित्र करता है। इस सोम की रक्षा से जहाँ हम ऐश्वर्य कमाने की योग्यतावाले होते हैं, वहाँ उसका यज्ञों में विनियोग करने की रुचिवाले होते हैं। ३. यह सोम **पवते**=हममें गति करता हुआ हमारे जीवनों को पवित्र बनाता है, जिससे **इषे**=हम प्रभु की प्रेरणा को सुननेवाले बनें और **ऊर्जे**=बल तथा प्राणशक्ति से युक्त होकर उस प्रेरणा को क्रियारूप में ला सकें।

४. यह सोम हमारे अन्दर **अद्भ्यः**=जलों से तथा **ओषधीभ्यः**=वनस्पतियों से ही **पवते**=पवित्रता का सञ्चार करता है। जलों व वनस्पतियों से उत्पन्न वीर्य ही सात्त्विक वीर्य है। वही हमारे जीवनों को पवित्र करता है। मांसाहार से उत्पन्न वीर्य इस पवित्रता का साधक नहीं होता। इसे वेद में **'उष्णं वाः'**=उष्ण वीर्य कहा गया है और इसका शरीर में सुरक्षित होना सुगम नहीं है। ५. यह जलों व ओषधियों से उत्पन्न सोम **द्यावापृथिवीभ्याम्**=हमारे मस्तिष्करूप द्युलोक को ज्योतिर्मय तथा शरीररूप पृथिवी को दृढ़ बनाने के लिए **पवते**=हममें गति करता है। ६. इस प्रकार **सुभूताय**=यह सोम उत्तम स्थिति के लिए अथवा उत्तम ऐश्वर्य के लिए **पवते**=हममें गति करता है। ७. ठीक-ठीक बात यह है कि यह सोम **विश्वेभ्यः देवेभ्यः**=सब दिव्य गुणों के लिए **त्वा**=तुझे **पवते**=पवित्र कर देता है। ८. **एषः ते योनिः**=यह सोम ही तेरी सब उन्नतियों का कारण है। यही **त्वा**=तुझे **विश्वेभ्यः देवभ्यः**=सब दिव्य गुण प्राप्त कराता है।

भावार्थ—शरीर के अन्दर जलों व ओषधियों से उत्पन्न वीर्य 'ज्ञान-बल-ऐश्वर्य' को बढ़ानेवाला होता है। यह शरीर व मस्तिष्क दोनों को सुन्दर बनाता हुआ सब दिव्य गुणों को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—विराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

दिव्यता व यज्ञमय जीवन

उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा बृहद्वते वयस्वतऽउक्थाव्यं गृह्णामि।
यत्तऽइन्द्र बृहद्वयस्तस्मै त्वा विष्णवे त्वैष ते योनिरुक्थेभ्यस्त्वा
देवेभ्यस्त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामि॥२२॥

१. गत मन्त्र में जलों व ओषधियों से उत्पन्न सोम का वर्णन था। उसी का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **उपयामगृहीतः असि**=प्रभु-उपासन के द्वारा तू यम-नियमों से स्वीकृत है। मैं **त्वा**=तुझे, जो तू **उक्थाव्यम्**=(उक्थम् अवति) प्रशंसनीय वस्तुओं की रक्षा करनेवाला है **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ। क्यों? (क) **इन्द्राय**=परमैश्वर्य की प्राप्ति के लिए अथवा शत्रुओं के विदारण के लिए। सोम की रक्षा से ही ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान का ऐश्वर्य प्राप्त होता है, और हम रोगकृमि आदि शत्रुओं का संहार करनेवाले बनते हैं। (ख) **बृहद्वते**=(बृहन्ति प्रशस्तानि कर्माणि विद्यन्ते यस्मिन्) प्रशस्त कर्मोंवाले जीवन के लिए। सोमरक्षा से हमारी प्रवृत्तियाँ सुन्दर बनी रहती हैं और परिणामतः हमारे कार्य भी सुन्दर होते हैं। (ग) **वयस्वते**=प्रशस्त जीवन के लिए। 'सोम-रक्षा से ज्ञान व स्वास्थ्य की वृद्धि होकर जीवन उत्तम बनता है' इस बात में तो सन्देह है ही नहीं। २. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो!

यत्=जो **ते**=तेरा **बृहद्वयः**=वृद्धिशील जीवन है **तस्मै**=उसके लिए मैं **त्वा**=आपको स्वीकार करता हूँ। **विष्णवे त्वा**=(यज्ञो वै विष्णुः) अपने जीवन को यज्ञात्मक रखने के लिए मैं आपको स्वीकार करता हूँ। **एषः ते योनिः**=यह सोम ही आपकी प्राप्ति का कारण है। ३. मैं **उक्थेभ्यः**=स्तोत्रों के लिए, प्रशंसनीय कर्मों के लिए **त्वा**=तुझे **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ। **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए **त्वा**=तुझे **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ। **देवाव्यम्**=(देवान् अवति) दिव्य गुणों की रक्षा करनेवाले तुझे **यज्ञस्य**=यज्ञ के **आयुषे**=जीवन के लिए **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ, अर्थात् सोम की रक्षा के द्वारा मैं दिव्यता का साधन करता हुआ यज्ञमय जीवन बिताता हूँ।

भावार्थ—सोमरक्षा के द्वारा मेरा जीवन दिव्य व यज्ञमय बनता है।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—अनुष्टुप्[1], प्राजापत्यानुष्टुप्[2], स्वराट्साम्न्यनुष्टुप्[3], भुरिगार्चीगायत्री[4], भुरिक्साम्न्यनुष्टुप्[5]। **स्वरः**—गान्धारः[1,2,3,5], षड्जः[4]॥

'अग्नि-वरुण-बृहस्पति-विष्णु'

[1]मित्रावरुणाभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामीन्द्राय त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामी[2]न्द्राग्निभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामी[3]न्द्रावरुणाभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामी[4]न्द्राबृहस्पतिभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामी[5]न्द्राविष्णुभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामि॥ २३॥

१. पिछले मन्त्र की भावना को ही आगे चलाते हुए कहते हैं कि हे सोम! **देवाव्यम्**=दिव्य गुणों की रक्षा करनेवाले **त्वा**=तुझे **मित्रावरुणाभ्याम्**=स्नेह तथा द्वेष निवारण के लिए और इस प्रकार **यज्ञस्य आयुषे**=यज्ञमय जीवन के लिए **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ, अर्थात् सोम की रक्षा से जहाँ मुझमें दिव्यता व यज्ञ की वृद्धि होती है वहाँ मेरा जीवन स्नेहवाला (मित्र) तथा द्वेष का निवारण करके (वरुण) निर्द्वेषता से पूर्ण होता है। २. हे सोम! **देवाव्यं त्वा**=दिव्य गुणों की रक्षा करनेवाले तुझे **इन्द्राय**=जितेन्द्रियता के लिए, ज्ञानरूप परमैश्वर्य के लिए तथा **यज्ञस्य आयुषे**=यज्ञमय जीवन के लिए **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ, अर्थात् इस सोम की रक्षा से मैं ज्ञानरूप परमैश्वर्य को सिद्ध करता हूँ। ३. हे सोम! **देवाव्यं त्वा**=दिव्य गुणों की रक्षा करनेवाले तुझे **इन्द्राग्निभ्याम्**=बल व प्रकाश के लिए, और इस प्रकार **यज्ञस्य आयुषे**=यज्ञमय जीवन के लिए **गृह्णामि** =ग्रहण करता हूँ। इस सोम की रक्षा से मुझमें 'इन्द्र और अग्नि' का विकास होता है। इन्द्र 'बल' का प्रतीक है तो अग्नि 'प्रकाश' का। ४. हे सोम! **देवाव्यं त्वा**=दिव्य गुणों की रक्षा करनेवाले तुझे **इन्द्रावरुणाभ्याम्**=इन्द्र और वरुण के लिए, अर्थात् सब शत्रुओं का विदारण करने और श्रेष्ठ बनने के लिए **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ। सोम के धारण से मुझमें बल की वृद्धि होती है। मैं कामादि शत्रुओं का संहार करता हूँ। इस प्रकार श्रेष्ठ बनता हूँ और **यज्ञस्य आयुषे**=मेरा जीवन यज्ञ का जीवन होता है।

५. हे सोम! **देवाव्यं त्वा**=दिव्य गुणों के रक्षक तुझे **इन्द्राबृहस्पतिभ्याम्**=इन्द्र और बृहस्पति के लिए, अर्थात् शक्ति व ज्ञान के लिए **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ। इस शक्ति व ज्ञान को **यज्ञस्य आयुषे**=यज्ञमय जीवन के लिए ग्रहण करता हूँ। ६. **देवाव्यं त्वा**=हे दिव्य गुणों के रक्षक सोम! तुझे **इन्द्राविष्णुभ्याम्**=इन्द्र और विष्णु के लिए—शक्तिशाली व व्यापक हृदयवाला बनने के लिए और शक्ति व उदारता से **यज्ञस्य**=यज्ञ के **आयुषे**=जीवन के लिए **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ। ७. 'अग्नि' प्रकाश का सूचक है अथवा मलों को भस्म करने का

प्रतीक है। 'वरुण'=द्वेष-निवारण की सूचना दे रहा है, द्वेष-निवारण से ही मनुष्य श्रेष्ठ बनता है। 'बृहस्पति'=सर्वोच्च दिशा का अधिपति है, यह ज्ञानियों का भी ज्ञानी है। 'विष्णु' सबका धारक है। यह व्यापकता व उदारता का प्रतीक है। 'इन्द्र' इन सबके साथ जुड़ा हुआ है, यह शक्ति का प्रतीक है। 'अग्नित्व' आदि गुण शक्ति के साथ ही कार्यक्षम होते हैं। इन सब गुणों का मूल यह सोम है।

भावार्थ—हम सोमरक्षा के द्वारा 'अग्नि-वरुण-बृहस्पति व विष्णु' बनें। हममें इन्द्रशक्ति का विकास हो। हम सोम की रक्षा करनेवाले 'अवत्सार' बनें।

ऋषिः—भरद्वाजः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

'भारद्वाज बार्हस्पत्य'

मूर्द्धानं दिवोऽअरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृतऽआजातमग्निम्।
कविꣳसम्राजमतिथिं जनानामासन्ना पात्रं जनयन्त देवाः॥२४॥

पिछले मन्त्रों का ऋषि 'अवत्सार' सोम की रक्षा करने के द्वारा 'भरद्वाज'=अपने में शक्ति को भरनेवाला 'बार्हस्पत्यः'=ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञानी बनता है। सोम को गत मन्त्र में 'देवाव्यम्'=दिव्य गुणों की रक्षा करनेवाला कहा है। **देवाः**=सोमरक्षा से सुरक्षित हुए-हुए ये देव **जनयन्त**=मनुष्य को प्रादुर्भूत करते हैं। किस रूप में? १. **मूर्धानं दिवः**=ज्ञान के शिखर को। सोमरक्षा से यह अपनी ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है और उस दीप्त ज्ञानाग्नि से यह ज्ञान के शिखर पर पहुँचता है। २. **पृथिव्याः अरतिम्**=ज्ञानाग्नि के प्रदीप्त होने से यह पार्थिव भोगों के प्रति अत्यन्त लालायित नहीं होता। ज्ञानाग्नि में काम भस्म हो जाता है और यह ज्ञानी सांसारिक भोगों के प्रति रुचिवाला नहीं रहता। ३. ज्ञानी व अनासक्त बनकर यह **वैश्वानरम्**=सब मनुष्यों के हित के लिए कार्यों में प्रवृत्त रहता है। ४. **ऋते आजातम्**=यह ऋत में ही उत्पन्न हुआ होता है, अर्थात् इसके सब कार्य सूर्य और चन्द्रमा की भाँति नियमितता को लिये हुए होते हैं। ५. **अग्निम्**=नियमित जीवन बिताते हुए यह आगे और आगे बढ़ता चलता है। ६. **कविम्**=यह 'कौति सर्वा विद्याः'=सब विद्याओं का उपदेश करता है। ७. **सम्राजम्**=यह अपना सम्राट् होता है, इन्द्रियों का पूर्ण अधीश होता है। ८. **जनानाम् अतिथिम्**=लोगों के प्रति निरन्तर जानेवाला होता है। उनके अज्ञानान्धकार को दूर करने का सतत प्रयत्न करता है। ९. **आसन् आपात्रम्**=मुख के द्वारा यह समन्तात् रक्षा करनेवाला होता है। मुख के द्वारा यह औरों पर ज्ञान का प्रकाश करता है और इस प्रकार उनकी रक्षा करता है।

भावार्थ—सोमरक्षा के द्वारा हम स्वयं ज्ञान के शिखर पर पहुँचें तथा औरों को यह ज्ञान देकर उनकी रक्षा करनेवाले बनें।

ऋषिः—भरद्वाजः। **देवता**—वैश्वानरः। **छन्दः**—याजुष्यनुष्टुप्[क], विराडार्षीबृहती[र,उ]। **स्वरः**—गान्धारः[क], मध्यमः[र,उ]॥

भरद्वाज का प्रभुभजन (उपासना व प्रेम)

[क]उपयामगृहीतोऽसि [र]ध्रुवोऽसि ध्रुवक्षितिर्ध्रुवाणां ध्रुवतमोऽच्युतानामच्युतक्षित्तमऽएष ते योनिर्वैश्वानराय त्वा। [उ]ध्रुवं ध्रुवेण मनसा वाचा सोममवनयामि। अथा नऽइन्द्रऽइद्विशोऽसपत्नाः समनसस्करत्॥२५॥

गत मन्त्र का 'भरद्वाज' प्रस्तुत मन्त्र में निम्न शब्दों में प्रभु का उपासन करता है—१. हे प्रभो! **उपयामगृहीतः असि**=उपासना के द्वारा यम-नियमों के धारण से आप गृहीत होते हो, अर्थात् वही व्यक्ति आपका ग्रहण कर पाता है जो प्रातः-सायं आपके चरणों में बैठकर यम-नियमों को अपनाने का प्रयत्न करता है। २. **ध्रुवः असि**=हे प्रभो। आप ध्रुव हो! **ध्रुवक्षितिः**=(ध्रुवाः क्षितयो यस्मिन्) आपमें ही ये सब लोक-लोकान्तर ध्रुव हैं, स्थिर हैं। **ध्रुवाणां ध्रुवतमः**=हे प्रभो! आप ध्रुवों में भी ध्रुव हो। **अच्युतानाम्**=(च्युतिर् क्षरणे) न नष्ट होनेवालों में **अच्युतक्षित्तमः**=आप अत्यन्त अविनश्वर निवासवाले हो। प्रकृति अविनश्वर है, परन्तु यह सदा विकृत होती रहती है। 'प्रकृति-विकृति' यह इसका क्रम ही हो गया है। जीव भी अविनश्वर है, परन्तु यह भी विविध भूमिकाओं में जाता रहता है। कभी गौ है तो कभी घोड़ा, कभी कोई पशु-पक्षी और कभी मनुष्य। प्रभु सदा 'एकरस' हैं, स्थाणु हैं, अचल हैं। उस अचल प्रभु में ही ये चलाचल लोक ध्रुव-से होकर रह रहे हैं। **'अच्युतानाम्'**—इस मन्त्रभाग में यह भावना भी निहित है कि वे प्रभु न डिगनेवाले हैं। किसी के बहकाने से वे बहक जाएँगे ऐसी बात नहीं है। मनुष्यों की भाँति वे कान के कच्चे नहीं हैं। वे अपनी व्यवस्था के अनुसार चलते हैं, सभी का भला चाहते हैं। २. भरद्वाज प्रभु से कहते हैं कि **एषः ते योनिः** =यह मेरा हृदय तेरा घर है। मैं चाहता हूँ कि मेरा हृदय आपका मन्दिर हो। मैं उसे निर्मल व प्रकाशमय करने का प्रयत्न करूँ। **वैश्वानराय त्वा**=हे प्रभो! मैं आपको अपने हृदय-मन्दिर में इसलिए बिठाता हूँ कि मुझमें सब मनुष्यों के हित की भावना प्रबल हो। ३. **ध्रुवम्**=अत्यन्त स्थिर **सोमम्**=अत्यन्त शान्त आपको **ध्रुवेण मनसा**=स्थिर मन से, निरुद्ध चित्तवृत्तिवाले चित्त से तथा **वाचा**=ज्ञानपरिपूर्ण वेदवाणी से **अवनयामि**=अपने में अवतरित करने का प्रयत्न करता हूँ। ४. **अथ**=अब, जब मैं निरुद्धवृत्तिवाले मन से और ज्ञान की वाणियों से प्रभु को अपने हृदय-मन्दिर में अवतीर्ण करता हूँ, तब **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **नः विशः**=हम प्रजाओं को **इत्**=निश्चय से **असपत्नाः**=सपत्नशून्य, शत्रुरहित और **समनसः**=समान मनवाला **करत्**=करे। वस्तुतः जब हमारे हृदयों में प्रभु का निवास होता है, उस समय परस्पर विरोध सम्भव ही नहीं। प्रभु-स्मरण करनेवाले लोग परस्पर मैत्री से चलते हैं, उनमें वैरभाव नहीं होता।

भावार्थ—प्रभु यम-नियमों के पालन से गृहीत होते हैं। उस ध्रुवों में ध्रुव प्रभु को हम ध्रुव मन से ही प्राप्त कर सकते हैं। उस प्रभु का हृदय में प्रकाश होने पर सब वैरभाव समाप्त हो जाते हैं और प्रेम का प्रसार होता है। एवं, प्रस्तुत मन्त्र में १. प्रभु के स्वरूप का प्रतिपादन है, २. प्रभु-प्राप्ति के उपाय का वर्णन है, ३. और प्रभु-प्राप्ति के लाभों का उल्लेख है।

ऋषिः—देवश्रवाः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—स्वराड्ब्राह्मीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

देवों का उत्क्रमण

यस्ते॑ द्र॒प्स स्कन्द॑ति॒ यस्ते॑ऽअ॒ꣳशुर्ग्राव॑च्युतो धि॒षण॑योरु॒पस्था॑त्। अ॒ध्व॒र्योर्वा॒ परि॑ वा॒ यः प॒वित्रा॒त्तं ते॑ जुहोमि॒ मन॑सा॒ वष॑ट्कृत॒ꣳस्वाहा॑ दे॒वाना॑मु॒त्क्रम॑णमसि॥२६॥

१. गत मन्त्र में प्रभु को हृदय में उतारने का वर्णन था। प्रभु का यह अवतरण सोमरक्षा से ही हो सकता है, अतः प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि हे **द्रप्स**=सोम! **यः**=जो **ते**=तेरा **अंशुः**=छोटा-सा भी कण (small particle) **स्कन्दति**=ऊर्ध्वगतिवाला होता है (ascends)

और ऊर्ध्वगतिवाला होकर जो तेरा कण **ग्रावच्युतः** =(प्राणाः वै ग्रावाणः श०, च्युत्=सेचन) प्राणों का सेचन करनेवाला है। **तम्**=उस कण को **धिषणयोः**=द्यावापृथिवी के निमित्त अर्थात् मस्तिष्क व शरीर के विकास के लिए तथा **उपस्थात्**=जननेन्द्रिय के स्वास्थ्य के हेतु से **वा**=अथवा **अध्वर्योः**=अध्वर्यु के **पवित्रात्**=पवित्र हृदय के उद्देश्य से **ते**=तेरे अन्दर **परिजुहोमि**=सारे शरीर में आहुत करता हूँ। इस सोमकण को शरीर में ही व्याप्त करता हूँ। २. यह सोमकण **मनसा**=मन से **वषट्कृतम्**=शरीर में आहुति दिया जाता है, अर्थात् मनोनिरोध ही एक उपाय है जिससे यह सोम शरीर से पृथक् नहीं होता। ३. **स्वाहा**=(सुहु) शरीर में सुहुत हुआ-हुआ यह सोम **देवानाम्**=देवों का, दिव्य गुणों का, **उत् क्रमणम्**=ऊर्ध्वगति—उन्नति करनेवाला **असि**=होता है।

प्रभु ने शरीर में सोम की स्थापना इसलिए की है कि यह (क) सारे शरीर में प्राणशक्ति का सेचन करता है। (ख) मस्तिष्क को दीप्त करता है। (ग) शरीर को दृढ़ बनाता है। (घ) जननेन्द्रिय को स्वस्थ करता है। (ङ) हृदय को पवित्र व हिंसावृत्तिशून्य करता है और अन्त में (च) देवताओं के उत्थान का कारण बनता है।

इस सोमरक्षा से देवताओं का उत्थान करनेवाला यह 'देवश्रवाः' बनता है, देवताओं के निमित्त कीर्तिवाला।

भावार्थ—हम सोम की रक्षा करें, जिससे हममें प्राणशक्ति की वृद्धि हो और दिव्य गुणों का विकास हो।

ऋषिः—देवश्रवाः। **देवता**—यज्ञपतिः। **छन्दः**—आसुर्य्यनुष्टुप् [१.२.६] आसुर्य्युष्णिक् [३.७], साम्नीगायत्री [४], आसुरीगायत्री [५]। **स्वरः**—गान्धारः [१.२.६], ऋषभः [३.७], षड्जः [४.५]॥

वर्चस्

[१]प्राणाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व [२]व्यानाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वोदानाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व [४]वाचे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व [५]क्रतूदक्षाभ्यां मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व [६]श्रोत्राय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व [७]चक्षुर्भ्यां मे वर्चोदसौ वर्चसे पवेथाम्॥ २७॥

पिछले मन्त्र के 'देवानामुत्क्रमणमसि' का ही व्याख्यान २७ व २८ मन्त्र में करते हैं। देवश्रवाः सोम को सम्बोधित करते हुए कहता है कि १. हे सोम! **मे प्राणाय**=मेरे प्राणों के लिए तू **वर्चोदाः**=वर्चस् देनेवाला है, अतः **वर्चसे**=प्राणशक्ति के लिए तू मुझे **पवस्व**=प्राप्त हो। २. **मे व्यानाय**=मेरी व्यानवायु के लिए तू **वर्चोदाः**=वर्चस् देनेवाला है। **वर्चसे**=व्यान की शक्ति के लिए तू **पवस्व**=मुझे प्राप्त हो। व्यानवायु ही सारे शरीर में गति करती हुई सब संस्थानों के कार्यों को ठीक प्रकार से चलाती है। ३. **मे उदानाय**=मेरे कण्ठदेश में काम करनेवाले उदानवायु के लिए तू **वर्चोदाः**=वर्चस् देनेवाला है। **वर्चसे**=उदान की शक्ति के लिए तू मुझे **पवस्व**=प्राप्त हो। ४. **मे वाचे**=मेरी वाणी के लिए तू **वर्चोदाः**=वर्चस् देनेवाला है। **वर्चसे**=मेरी वाक्शक्ति के लिए तू **पवस्व**=मुझे प्राप्त हो। ५. **मे क्रतुदक्षाभ्याम्**=(प्रज्ञाबलाभ्याम्—द०) मेरी प्रज्ञा व मेरे बल के लिए **वर्चोदाः**=तू वर्चस् देनेवाला है। **वर्चसे**=मेरी प्रज्ञाशक्ति के लिए तथा शारीरिक शक्ति के लिए तू **पवस्व**=मुझे प्राप्त हो। ६. **मे श्रोत्राय**=मेरे कान के लिए **वर्चोदाः**=तू शक्ति देनेवाला है। **वर्चसे**=श्रोत्रशक्ति के लिए तू **पवस्व**=मुझे प्राप्त हो। ७. **मे चक्षुर्भ्याम्**=मेरी आँखों के लिए तुम **वर्चोदसौ** =शक्ति को

देनेवाले हो। **वर्चसे**=दृष्टिशक्ति के लिए **पवेथाम्**=मुझे प्राप्त होओ अथवा पवित्र करो। यहाँ सारे मन्त्र में इस अन्तिम वाक्य में ही 'वर्चोदसौ' यह द्विवचन का प्रयोग है, क्योंकि 'चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ' इस वाक्य के अनुसार आँखों में चन्द्र व सूर्यशक्ति का निवास है। इस शक्तिद्वय के कारण यहाँ द्विवचन है। सूर्य यदि 'तेजस्' का प्रतीक है तो चन्द्र 'प्रसाद' का। आँखों में तेजस्विता व प्रसाद दोनों ही होने चाहिएँ। इसी दृष्टिकोण से द्विवचन है।

भावार्थ—सोम 'प्राण-व्यान-उदान-वाणी-प्रज्ञा और बल-श्रोत्र व चक्षु' को वर्चस् प्राप्त करानेवाला है।

ऋषिः—देवश्रवाः। **देवता**—यज्ञपतिः। **छन्दः**—ब्राह्मीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

सर्वांगीण विकास

आत्मने मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वौजसे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वायुषे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व विश्वाभ्यो मे प्रजाभ्यो वर्चोदसौ वर्चसे पवेथाम्॥२८॥

१. हे सोम! **मे आत्मने**=मेरे मन के लिए तू **वर्चोदाः**=वर्चस् देनेवाला है। तू **वर्चसे**=मन की शक्ति के लिए **पवस्व**=मुझे प्राप्त हो। २. **मे ओजसे**=मेरे ओजस्तत्त्व के लिए, शरीर की वृद्धि के कारणभूत तत्त्व के लिए **वर्चोदाः**=तू वर्चस् को देनेवाला है। **वर्चसे**=इस ओजस्तत्त्व को शक्तिशाली बनाने के लिए तू **पवस्व** =मुझे प्राप्त हो अथवा मुझे पवित्र कर। ३. **मे आयुषे**=मेरे जीवन के लिए तू **वर्चोदाः**=वर्चस् देनेवाला है। **वर्चसे**=मेरे जीवन को शक्ति-सम्पन्न बनाने के लिए **पवस्व**=तू मुझे प्राप्त हो। ४. **मे**=मेरी **विश्वाभ्यः** =सब **प्रजाभ्यः**=विकास-शक्तियों के लिए **वर्चोदसौ**=तुम वर्चस् देनेवाले हो। **वर्चसे**=इस मेरे वर्चस् के लिए **पवेथाम्**=मुझे प्राप्त होओ या पवित्र करो।

भावार्थ—सोम की रक्षा से मन बलवान् होता है, शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों को बढ़ानेवाली शक्ति पुष्ट होती है, जीवन स्फूर्तिमय बनता है और सब शक्तियों का विकास होता है। शारीरिक, मानस व बौद्धिक-विकास का मूल यह सोम ही है।

ऋषिः—देवश्रवाः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—आर्चीपङ्क्तिः[क], भुरिक्साम्नीपङ्क्तिः[र]। **स्वरः**—पञ्चमः॥

देवश्रवा का प्रभुस्तवन

[क]कोऽसि कतमोऽसि कस्यासि को नामासि। यस्य ते नामामन्महि यं त्वा सोमेनातीतृपाम। [र]भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याᳬसुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः॥२९॥

१. सोम के महत्त्व को समझता हुआ 'देवश्रवाः' प्रभु-स्मरण को सोमरक्षा का प्रमुख साधन जानकर प्रभु की आराधना करता है कि **कः असि**=हे प्रभो! आप आनन्दमय हो **क-तमः असि**=अत्यन्त आनन्दमय हो। २. **कस्य असि**=आप आनन्दमय के हो, अर्थात् आप उसे ही प्राप्त होते हो जो अपनी चित्तवृत्तियों को वशीभूत करके सदा प्रसन्न रहता है। ३. **को नाम असि**=हे प्रभो! आप 'क' अर्थात् आनन्दमय नामवाले हो। **यस्य ते**=जिन आपके **नाम**=नाम का **अमन्महि**=हम सदा चिन्तन करते हैं। ४. हे प्रभो! आप वे हैं **यं त्वा**=जिन आपको **सोमेन**=सोम के द्वारा **अतीतृपाम**=हम प्रीणित करते हैं। प्रभु ने हमें सोम ही सर्वोत्तम वस्तु प्राप्त करायी है। यह सोम हमारे जीवनों को आनन्दमय व उल्लासमय बनाता है और हम उस आनन्दमय प्रभु के अधिक समीप पहुँच जाते हैं। ५. हे प्रभो! इस सोमरक्षा के द्वारा **भूः**=मैं स्वस्थ बनूँ, **भुवः**=मैं ज्ञानी बनूँ, **स्वः** =मैं जितेन्द्रिय—'स्वयं राजमान'

होऊँ। **प्रजाभिः**=प्रजाओं से मैं **सुप्रजाः स्याम्**=उत्तम प्रजाओंवाला होऊँ। ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाले पति-पत्नी उत्तम सन्तान प्राप्त करते हैं। **वीरैः**=वीरों से मैं **सुवीरः**=उत्तम वीरोंवाला बनूँ। **पोषैः**=धनों के पोषण से **सुपोषः**=उत्तम पोषणवाला होऊँ, अर्थात् मेरी सन्तान उत्तम हो, मैं स्वयं वीर होऊँ और मेरा धन उत्तम उपायों से कमाया जाए।

भावार्थ—आनन्दमय प्रभु की उपासना हम 'मनःप्रसाद' को सिद्ध करके ही कर सकते हैं। प्रभु-उपासन से सोमरक्षा होती है। सोमरक्षा से प्रभु का प्रीणन होता है। हम स्वस्थ, ज्ञानी व जितेन्द्रिय बनते हैं। उत्तम प्रजावाले, वीर व उत्तम धनोंवाले होते हैं।

ऋषिः—देवश्रवाः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—साम्नीगायत्री[१.३.४.५.९.११], आसुर्यनुष्टुप्[२.६.१०.१२], याजुषीपङ्क्तिः[७.८], आसुर्युष्णिक्[१३]। **स्वरः**—षड्जः[१.३.४.५.९.११], गान्धारः[२.६.१०.१२], पञ्चमः[७.८], ऋषभः[१३]॥

बारह मास प्रभु-चिन्तन

[१]उपयामगृहीतोऽसि मधवे त्वो[२]पयामगृहीतोऽसि माधवाय त्वो[३]पयामगृहीतोऽसि शुक्राय त्वो[४]पयामगृहीतोऽसि शुचये त्वो[५]पयामगृहीतोऽसि नभसे त्वो[६]पयामगृहीतोऽसि नभस्याय त्वो[७]पयामगृहीतोऽसीषे त्वो[८]पयामगृहीतोऽस्यूर्जे त्वो[९]पयामगृहीतोऽसि सहसे त्वो[१०]पयामगृहीतोऽसि सहस्याय त्वो[११]पयामगृहीतोऽसि तपसे त्वो[१२]पयामगृहीतोऽसि तपस्याय त्वो[१३]पयामगृहीतोऽस्यंहसस्पतये त्वा॥ ३०॥

देवश्रवा प्रभु का आराधन करता हुआ कहता है कि—१. हे प्रभो! आप **उपयामगृहीतः असि**=उपासना के द्वारा धारित यम-नियमों से ग्रहण किये जाते हैं। जो व्यक्ति जीवन में यम-नियमों का पालन करता है, उसी को आप प्राप्त होते हैं। **मधवे त्वा**=मैं मधुमास के लिए आपका स्वीकार करता हूँ। वर्ष को प्रारम्भ करनेवाले चैत्र मास में मैं आपको हृदाकाश में बिठाने का प्रयत्न करता हूँ। इस मधुमास में आपको स्वीकार करते हुए मैं सचमुच **मधु**=माधुर्य को प्राप्त करता हूँ। मेरा जीवन माधुर्यमय बनता है। २. हे प्रभो! आप **उपयामगृहीतः असि**=उपासना द्वारा धारित यम-नियमों से गृहीत होते हैं। **माधवाय त्वा**=मैं वैशाख मास के लिए आपको स्वीकार करता हूँ। आप स्वयं 'मा-धव' हैं। आपको प्राप्त करके लक्ष्मी को तो मैं प्राप्त कर ही लूँगा। ३. **उपयामगृहीतः असि**=आप उपयाम से गृहीत होते हैं। **शुक्राय त्वा**=ज्येष्ठ मास में हम आपको पाने का व्रत लेते हैं। आपको पाकर हम आपकी भाँति 'शुक् गतौ' निरन्तर गतिशील बनते हैं। लक्ष्मीपति बनकर हमें अकर्मण्य व आरामपसन्द थोड़े ही बन जाना है? ४. **उपयामगृहीतः असि**=हे प्रभो! आप उपयामगृहीत हैं। **शुचये त्वा**=आपको आषाढ़ मास के लिए स्वीकार करता हूँ। आपको स्वीकार करके मैं सचमुच 'शुचि'=पवित्र बनता हूँ। लक्ष्मी का पति बनकर मैं अर्थ के दृष्टिकोण से अपवित्र हृदयवाला नहीं बनता। ५. **उपयामगृहीतः असि**=हे प्रभो! आप उपयामगृहीत हैं। **नभसे त्वा**=श्रावण मास के लिए मैं आपको स्वीकार करता हूँ जिससे आपसे मिलकर (णभ हिंसायाम्) मैं इन बुराइयों को मूल में ही समाप्त कर सकूँ (Nip the evil in the bud)। ६. **उपयामगृहीतः असि**=हे प्रभो! आप उपयामगृहीत हैं। **नभस्याय त्वा**=भाद्रपद मास के लिए मैं आपको स्वीकार करता हूँ, (न भस्=to revile, blame, abuse+य) मैं गाली देने में ही उत्तम न बना रहूँ। आपका उपासक बनकर किसी से घृणा न करूँ। किसी के दोष न देखूँ। (न+भस् to eat+य) अथवा खाने में ही उत्तम न बना रहूँ। पार्थिव भोग मेरे जीवन का लक्ष्य न हो जाएँ। ७. **उपयामगृहीतः असि**=आप उपयामगृहीत हैं। **इषे त्वा**=मैं आश्विन मास के लिए

आपको स्वीकार करता हूँ, जिससे सदा आपकी प्रेरणा को पाता रहूँ। ८. **उपयामगृहीतः असि**=आप उपयामगृहीत हैं। **ऊर्जे त्वा** =कार्त्तिक मास के लिए मैं आपका स्वीकार करता हूँ, जिससे मैं (ऊर्ज बलप्राणनयोः) बल और प्राणशक्ति प्राप्त का सकूँ। ९. **उपयामगृहीतः असि**=आप सुनियमों से स्वीकृत होते हो। **सहसे त्वा**=मैं मार्गशीर्ष मास के लिए आपको स्वीकार करता हूँ, जिससे मेरे अन्दर सहस्=सहनशक्ति (toleration) हो। १०. **उपयामगृहीतः असि**=हे प्रभो! आप सुनियमों से स्वीकृत हो **सहस्याय त्वा**=हम पौष मास के लिए आपको स्वीकार करते हैं, इसलिए कि हम (सहसि साधुः) उत्तम बलवाले हो सकें। ११. **उपयामगृहीतः असि**=हे प्रभो! आप सुनियमों से स्वीकार किये जाते हो। **तपसे त्वा**=माघ मास के लिए हम आपको स्वीकार करते हैं, जिससे हमारा जीवन तपस्वी हो। १२. **उपयामगृहीतः असि**=आप उपयामगृहीत हो। **तपस्याय त्वा**=फाल्गुन मास के लिए हम आपको स्वीकार करते हैं, जिससे हमारा जीवन सुनियम में स्थित हो। (तपस्या नियमस्थितिः) हम सदा मर्यादा में चलनेवाले हों। १३. **उपयामगृहीतः असि**=आप उपयामगृहीत हो। **अंहसस्पतये त्वा**=इस तेरहवें मलमास के लिए भी हम आपको ही स्वीकार करते हैं, जिससे हम अंहस् पापों से अपनी रक्षा (पति) कर सकें। आपका स्मरण हमें सदा पापों से बचानेवाला हो।

भावार्थ—यदि हम देवश्रवाः=दिव्य गुणों के कारण कीर्तिवाले बनना चाहते हैं तो हम वर्ष के सभी मासों में प्रभु का स्मरण करनेवाले बनें। यह स्मरण हमें दिव्य गुणों को धारण करनेवाला बनाएगा। हमारे जीवन में 'माधुर्य, लक्ष्मी, क्रियाशीलता, शुचिता, असुर-संहार, अपशब्दराहित्य, प्रभु-प्रेरणा श्रवण, बल व प्राणशक्ति, सहनशक्ति, उत्तम बल, तप, मर्यादा व पापदूरीकरण का निवास होगा।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—इन्द्राग्नी। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

शक्ति व प्रकाश

इन्द्रा॑ग्नी॒ऽआग॑तꣳसु॒तं गी॒र्भिर्नभो॒ वरे॑ण्यम्। अ॒स्य पा॑तं धि॒येषि॒ता।
उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽसीन्द्रा॒ग्निभ्यां॑ त्वै॒ष ते॒ योनि॑रिन्द्रा॒ग्निभ्यां॑ त्वा॥३१॥

१. गत मन्त्र के उपासक 'देवश्रवाः' में दिव्य गुणों की उत्पत्ति होती है। इन्हीं के कारण उसकी कीर्ति है। इसमें सबसे महत्त्वपूर्ण प्रथम गुण 'माधुर्य' है। यह सबके साथ मधुरता व प्रेम से वर्तता है। प्रेम से वर्तने के कारण यह 'विश्वामित्र' बन जाता है। इसके जीवन में 'शक्ति' भी होती है, 'प्रकाश' भी। इन्हीं तत्त्वों को प्रस्तुत मन्त्र में 'इन्द्राग्नी' शब्द से कहा गया है। इनसे कहते हैं कि हे **इन्द्राग्नी**=शक्ति व प्रकाशवाले व्यक्तियो! **सुतम्**=शरीर में उत्पन्न इस सोम को **आगतम्**=प्राप्त होओ। वस्तुतः यह सुत सोम तुम्हें 'इन्द्राग्नी' बनानेवाला है। २. इस सोम की रक्षा के लिए तुम **गीर्भिः**=ज्ञान की वाणियों व प्रभु-स्तुति की वाणियों से **वरेण्यं नभः**=वरणीय हिंसा को **आगतम्**=प्राप्त होवो। यह वरणीय=स्वीकारने योग्य हिंसा 'वासनाओं की हिंसा' है। ३. **धिया इषिता**=प्रज्ञापूर्वक कर्मों में प्रेरित हुए-हुए तुम **अस्य पातम्**=इस सोम की रक्षा करो। जब मनुष्य ज्ञान-सम्पादन करता है और ज्ञानपूर्वक कर्मों में व्याप्त रहता है तब वह वासनाओं का शिकार नहीं होता। यह वासनाओं का शिकार न होना ही हमें सोम की रक्षा में समर्थ करता है ४. विश्वामित्र प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे प्रभो! **उपयामगृहीतः असि**=आप सुनियमों के पालन से गृहीत होते हो।

इन्द्राग्निभ्यां त्वा=मैं बल व प्रकाश के लिए आपका उपासक बनता हूँ। **एषः ते योनिः**=यह मेरा हृदय (आत्मा) तेरा निवास-स्थान है, अर्थात् मैं अपने हृदय-मन्दिर में आपका ध्यान करता हूँ। **इन्द्राग्निभ्यां त्वा**=हे प्रभो! मैं आपका ध्यान इसलिए करता हूँ कि शक्ति व प्रकाश को प्राप्त करनेवाला बनूँ। शक्ति व प्रकाश को प्राप्त करके ही मैं अपने 'विश्वामित्र' नाम को चरितार्थ कर पाऊँगा।

भावार्थ—ज्ञान व स्तुति की वाणियों से तथा ज्ञानपूर्वक कर्म करने से हम सोम की रक्षा करें और सोमरक्षा द्वारा शक्ति व प्रकाश को प्राप्त करके सबके साथ स्नेह करनेवाले 'विश्वामित्र' बनें।

ऋषिः—त्रिशोकः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—आर्षीगायत्री[क], आर्च्युष्णिक्[र]। **स्वरः**—षड्जः[क], ऋषभः[र]॥

त्रि-शोक

[क]आ घा येऽअग्निमिन्धते स्तृणन्ति बर्हिरानुषक्। येषामिन्द्रो युवा सखा।
[र]उपयामगृहीतोऽस्यग्नीन्द्राभ्यां त्वैष ते योनिरग्नीन्द्राभ्यां त्वा॥३२॥

१. गत मन्त्र का 'विश्वामित्र' माधुर्यमय जीवन से 'शरीर के स्वास्थ्य', 'मन के नैर्मल्य' तथा 'मस्तिष्क की उज्ज्वलता' को सिद्ध करके 'त्रिशोक' बनता है, जिससे शरीर, मन व मस्तिष्क तीनों ही चमकते हैं। २. ये त्रिशोक वे होते हैं **ये**=जो **घ**=निश्चय से **आ**=सर्वथा **अग्निम्**=अग्नि को **इन्धते**=दीप्त करते हैं, अर्थात् नियमपूर्वक अग्निहोत्र करते हैं और प्रभु के प्रकाश को अपने में दीप्त करने का प्रयत्न करते हैं। ३. **ये**=जो **आनुषक्**=निरन्तर **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय को **स्तृणन्ति**=प्रभु के आसन के रूप में बिछाते हैं। यह निर्वासन हृदय ही प्रभु का 'कुशासन' बनता है। ४. त्रिशोक वे होते हैं **येषाम्**=जिनका **इन्द्रः**=ईश्वर **युवा**=(मिश्रण-अमिश्रण) बुराइयों का अमिश्रण करके अच्छाइयों का मिश्रण करनेवाला होता है और इस प्रकार **सखा**=सच्चा मित्र होता है। ५. त्रिशोक इस मित्र से कहता है कि **उपयामगृहीतः असि**=आप उपासना द्वारा धारित यम-नियमों से गृहीत होते हो। **अग्नीन्द्राभ्यां त्वा**=मैं प्रकाश व शक्ति के लिए आपको स्वीकार करता हूँ। **एषः ते योनिः**=यह मेरा हृदय तेरा निवास-स्थान है। **अग्नीन्द्राभ्यां त्वा**=प्रकाश व शक्ति के लिए मैं आपको स्वीकार करता हूँ। ६. पिछले मन्त्र में 'इन्द्राग्निभ्यां' था, प्रस्तुत मन्त्र में 'अग्नीन्द्राभ्यां' है। यह आगे-पीछे करके लिखना इस बात का सूचक है कि 'शक्ति व प्रकाश' उतने ही महत्त्व के हैं जितने कि 'प्रकाश व शक्ति'। प्रकाश व शक्ति दोनों ही समानरूप से इष्ट हैं।

भावार्थ—(क) मैं अग्निहोत्र करूँ तथा प्रभु का ध्यान भी। (ख) हृदय को वासनाशून्य बनाऊँ। (ग) प्रभु की मित्रता को प्राप्त करूँ। (घ) इस प्रभु को मित्र बनाकर हम विश्वबन्धुत्व की भावना का आनन्द लें।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—आर्षीगायत्री[क], आर्चीबृहती[र]। **स्वरः**—षड्जः[क], मध्यमः[र]॥

मधुच्छन्दाः

[क]ओमासश्चर्षणीधृतो विश्वे देवासऽआगत। दाश्वाꣳसो दाशुषः सुतम्।
[र]उपयामगृहीतोऽसि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यऽएष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः॥३३॥

गत मन्त्र का 'त्रिशोक' अत्यन्त उत्तम इच्छाओंवाला होने के कारण 'मधुच्छन्दाः'

बन जाता है। इनके लिए कहते हैं कि १. **ओमासः**=(अव् रक्षणे, अवन्ति सद्गुणै रक्षन्ति) सद्गुणों के धारण से अपनी रक्षा करनेवाले २. **चर्षणीधृतः**=मनुष्यों का धारण करनेवाले ३. **विश्वेदेवासः**=सब दिव्य गुणों को अपनानेवाले ४. **दाश्वांसः**=दान देनेवाले **दाशुषः सुतम्**=दानशील के ऐश्वर्य को **आगत**=प्राप्त होओ। दानशील के ऐश्वर्य को प्राप्त होने का अभिप्राय यह है कि तुम वह ऐश्वर्य प्राप्त करो जो तुम्हें कृपणता की वृत्तिवाला न बना दे, जिस धन को तुम उदारता से दान देनेवाले बने रहो। ५. हे प्रभो! **उपयामगृहीतः असि**=आप उपयामों से गृहीत होते हो। **विश्वेभ्यः त्वा देवेभ्यः**=मैं आपका ग्रहण इसलिए चाहता हूँ कि दिव्य गुणों को प्राप्त करनेवाला बनूँ। **एषः ते योनिः**=यह मेरा शरीर तेरा निवास-स्थान है। मैं अपने शरीर में **त्वा**=आपको इसलिए प्रतिष्ठित करता हूँ कि **विश्वेभ्यः देवेभ्यः**=सब दिव्य गुणों को प्राप्त कर सकूँ।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम १. वासनाओं से अपना रक्षण करनेवाले हों। २. मनुष्यों का धारण करनेवाले हों। ३. दिव्य गुणोंवाले हों ४. दान की वृत्तिवाले हों। ५. दान की वृत्तिवाले के धन को प्राप्त हों। ६. इस प्रकार सब दिव्य गुणोंवाले हों।

ऋषिः—गृत्समदः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—आर्षीगायत्री[क], निचृदार्ष्युष्णिक्[र]। **स्वरः**—षड्जः[क], ऋषभः[र]॥

विश्वेदेवाः

[क]विश्वे देवासऽआगत शृणुता मऽइमꣳ हवम्। एदं बर्हिर्निषीदत।
[र]उपयामगृहीतोऽसि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यऽएष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः॥३४॥

गत मन्त्र का मधुच्छन्दा सब दिव्य गुणों को अपनाकर प्रभु का सच्चा उपासक 'गृत्स' बनता है और आनन्दमय जीवनवाला होने के कारण 'मद' होता है। यह 'गृत्समद' प्रार्थना करता है कि १. **विश्वे देवासः**=हे सब दिव्य गुणो! **आगत**=आओ। **मे**=मेरी **इमं हवम्**=इस पुकार को, इस प्रार्थना को **शृणुत**=सुनो और **इदम्**=इस **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय में **आनिषीदत**=सर्वथा विराजमान होओ। जब हृदय में से वासनाओं का कूड़ा-करकट दूर कर दिया जाता है तब यह हृदयक्षेत्र दिव्य गुणों के बीजवपन के लिए तैयार हो जाता है। यह दिव्य गुण-बीजवपन ही प्रभु का सच्चा उपासन है। उपासना का यह परिणाम कम-से-कम होना ही चाहिए। २. यह गृत्समद प्रभु से कहता है कि **उपयामगृहीतः असि**=आप उपयामों से गृहीत होते हैं। **विश्वेभ्यः त्वा देवेभ्यः**=सब दिव्य गुणों के लिए मैं आपको स्वीकार करता हूँ। **एषः ते योनिः** =यह शरीर तेरा निवास-स्थान है। मैं तुझे अपने हृदय-मन्दिर में प्रतिष्ठित करता हूँ। **विश्वेभ्यः त्वा देवेभ्यः** =सब दिव्य गुणों के लिए तुझे स्वीकार करता हूँ।

भावार्थ—हम प्रभु के उपासक बनें। सदा प्रसन्न रहें, जिससे सब दिव्य गुणों के पात्र हों।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्[क], आर्ष्युष्णिक्[र]। **स्वरः**—धैवतः[क], ऋषभः[र]॥

सोमपान

[क]इन्द्र मरुत्वऽइह पाहि सोमं यथा शार्यातेऽअपिबः सुतस्य। तव प्रणीती तव शूर शर्मन्नाविवासन्ति कवयः सुयज्ञाः। [र]उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा मरुत्वतऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते॥३५॥

१. 'गृत्समद'=प्रभु का स्तवन करता है और प्रसन्न रहता है। यह सभी के साथ स्नेह करता है, अतः 'विश्वामित्र' बन जाता है। इस विश्वामित्र के लिए कहते हैं कि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता **मरुत्वः**=मरुतोंवाले! प्राणोंवाले, प्राणसाधना करनेवाले! **इह**=इस मानव-जीवन में तू **सोमं पाहि**=सोम की सुरक्षा कर। **यथा**=जिस प्रकार **शार्याते**=(शर्याभिः, निर्वृत्तानि कर्माणि व्याप्नोति-द०) कर्मों में निरन्तर व्याप्त होनेवाले विश्वामित्र! तू **सुतस्य अपिबः**=इस उत्पन्न सोम का पान कर। 'कर्मों में व्याप्त रहना' सोमपान का सर्वप्रथम साधन है। २. हे **शूर**=सब मलिनताओं की हिंसा करनेवाले सोम! **तव प्रणीती**=तेरे प्रकृष्ट **नयन**=प्रापण से, अर्थात् शरीर में तेरे पान से तथा **तव शर्मन्**=तेरी शरण में **कवयः**=ज्ञानी तथा **सुयज्ञाः**=उत्तम यज्ञों को करनेवाले **आविवासन्ति**=सब अज्ञानान्धकारों को दूर करते हैं। सोम की रक्षा से ज्ञानाग्नि दीप्त होती है। ३. **उपयामगृहीतः असि**=उपासना से धारित यम-नियमों से तू गृहीत होता है। मैं **त्वा**=तेरा ग्रहण **इन्द्राय मरुत्वते**=प्राण-साधनावाला जितेन्द्रिय पुरुष बनने के लिए करता हूँ। **एषः ते योनिः**=यह मेरा हृदय-मन्दिर तेरा निवास-स्थान बनता है। **त्वा**=तुझे मैं हृदय-मन्दिर में इसीलिए बिठाता हूँ कि **इन्द्राय मरुत्वते**=(मरुतः प्राणाः) मैं उत्तम प्राणोंवाला जितेन्द्रिय पुरुष बन पाऊँ।

भावार्थ—मैं सोमपान करके मरुत्वान् इन्द्र=प्रकृष्ट प्राणोंवाला, जितेन्द्रिय, परमैश्वर्यशाली पुरुष बनूँ।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—विराडार्षीत्रिष्टुप्[१], आर्ष्युष्णिक्[२], साम्न्युष्णिक्[३]। **स्वरः**—धैवतः[१], ऋषभः[२,३]॥

कैसा राजा ?

[१]मरुत्वन्तं वृषभं वावृधानमकवारिं दिव्यꣳशासमिन्द्रम्। विश्वासाहमवसे नूतनायोग्रꣳसहोदामिह तꣳहुवेम। [२]उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा मरुत्वतऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते। [३]उपयामगृहीतोऽसि मरुतां त्वौजसे॥३६॥

१. गत मन्त्र में 'मरुत्वान् इन्द्र' बनने की कल्पना थी। 'यथा राजा तथा प्रजा' इस उक्ति के अनुसार प्रस्तुत मन्त्र में यह प्रार्थना करते हैं कि राजा भी 'मरुत्वान् इन्द्र' ही हो। 'माता-पिता, आचार्य, अतिथि व राजा' सब ऐसी वृत्ति के होंगे तब इनसे बनाये जानेवाले मनुष्य भी मरुत्वान् इन्द्र क्यों न होंगे, अतः कहते हैं कि **इह**=यहाँ—अपने राष्ट्र में **तं हुवेम**=उसे ही राजा होने के लिए पुकारते हैं जो (क) **मरुत्वन्तम्**=प्राणोंवाला है, प्राणसाधना के द्वारा जिसने प्राणों का विकास किया है (ख) **वृषभम्**=जो श्रेष्ठ है, शक्तिशाली है। (ग) **वावृधानम्**=निरन्तर उन्नति कर रहा है। (घ) **अकवारिम्**=(कु शब्दे से भाव में अप् करके कवः, कवं इयर्ति प्राप्नोति 'कवारिः') शब्द न करनेवाले, कम बोलनेवाले, व्यर्थ की काँय-काँय न करनेवाले। (ङ) **दिव्यम्**=प्रकाश में निवास करनेवाले (च) **शासम्**=अपना शासन करनेवाले (छ) **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय (ज) **विश्वासाहम्**=काम-क्रोध- लोभादि शरीर में घुस आनेवाली अवाञ्छनीय वासनाओं को कुचल डालनेवाले (झ) **उग्रम्**=तेजस्वी व उदात्त (ञ) **सहोदाम्**=सभी में बल का सञ्चार करनेवाले को राजा के रूप में **नूतनाय अवसे**=स्तुत्य रक्षण के लिए **हुवेम**=पुकारते हैं।

२. हे राजन्! **उपयामगृहीतः असि**=आप उपयामों से गृहीत हैं। आपका जीवन यम-नियमवाला है। मैं **त्वा**=आपको इसलिए ग्रहण करता हूँ कि **इन्द्राय मरुत्वते**=मैं उत्तम

प्राणोंवाला, जितेन्द्रिय पुरुष बन पाऊँ। राजा के अनुकरण में ही प्रजा चलती है। **एषः ते योनिः**=यह राष्ट्र तेरा घर है। यही तुझे जन्म देनेवाला है। **इन्द्राय त्वा मरुत्वते**=आपका स्वीकार हम इसीलिए करते हैं कि हम भी उत्तम प्राणोंवाले, जितेन्द्रिय पुरुष बन सकें। हे राजन्! **उपयामगृहीतः असि**=आपने अपने जीवन में सुनियमों को स्वीकार किया है। **मरुतां त्वा ओजसे**=हम आपको इसलिए स्वीकार करते हैं कि हम भी प्राणों का ओज प्राप्त कर सकें।

भावार्थ—इन्द्र, अर्थात् राजा 'मरुत्वान्' हो तो प्रजा भी प्राणों के बलवाली होती है।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्[क], प्राजापत्यात्रिष्टुप्[र]। **स्वरः**—धैवतः॥

सेनापति

[क]सजोषाऽइन्द्र सगणो मरुद्भिः सोमं पिब वृत्रहा शूर विद्वान्।
जहि शत्रूँ२॥ऽरप मृधो नुदस्वाथाभयं कृणुहि विश्वतो नः।
[र]उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा मरुत्वतऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते॥३७॥

१. गत मन्त्र के राजा के साथ मिलकर कार्य करनेवाला सेनापति है। राजा और सेनापति राष्ट्र के मुख्य अधिकारी हैं। आन्तरव्यवस्था का मुख्य दायित्व राजा पर है तो राष्ट्र की बाह्य शत्रुओं से रक्षा करने के लिए सेनापति ने सेना को सन्नद्ध रखना है। यह सेनापति भी जितेन्द्रिय होना चाहिए, अतः कहते हैं कि **इन्द्र**=हे शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले जितेन्द्रिय सेनापते! तू **सजोषाः**=राजा के साथ प्रीतिपूर्वक राष्ट्र की सेवा करनेवाला हो (जुषी प्रीतिसेवानयोः)। **सगणः**=अपने गणों के साथ, अपने सैन्यगणों के साथ **मरुद्भिः**=प्राणों की साधना के द्वारा **सोमं पिब**=तू सोम का पान करनेवाला हो। सोमशक्ति को शरीर में सुरक्षित करनेवाला हो **वृत्रहा**=ज्ञान के आवरणभूत काम को तू नष्ट करनेवाला हो। **शूर विद्वान्**=तू ज्ञानी हो, परन्तु तेरा ज्ञान शूरता से युक्त हो। तू अपने ज्ञान को शूरता से विशिष्ट करनेवाला हो। २. **शत्रून् जहि**=राष्ट्र के शत्रुओं की तू हिंसा कर। **मृधः**=क़ातिलों को **अपनुदस्व**=दूर भगानेवाला हो। ऐसी व्यवस्था करके **अथ**=अब **नः**=हमें **विश्वतः**=सब ओर से **अभयम्**=निर्भय **कृणुहि**=कीजिए। ३. **उपयामगृहीतः असि**=हे सेनापते! तू भी यम-नियमों से युक्त जीवनवाला हो। **त्वा**=तुझे **मरुत्वते इन्द्राय**=प्रशस्त प्राणोंवाले जितेन्द्रिय पुरुष के लिए हम चाहते हैं, अर्थात् तू प्राणसाधना करनेवाला जितेन्द्रिय पुरुष हो। **एषः ते योनिः**=यह राष्ट्र ही तेरा घर है। **इन्द्राय त्वा मरुत्वते**=तुझे हम इसलिए स्वीकार करते हैं कि हम भी प्राणसाधनावाले जितेन्द्रिय पुरुष बन सकें।

भावार्थ—राजा की भाँति सेनापति भी, प्राणसाधाना करनेवाला जितेन्द्रिय पुरुष हो। यही राष्ट्र की उत्तमता से रक्षा कर सकेगा।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्[क], प्राजापत्यात्रिष्टुप्[र]। **स्वरः**—धैवतः॥

प्रज्ञा-दीप्ति

[क]मरुत्वाँ२॥ऽइन्द्र वृषभो रणाय पिबा सोममनुष्वधं मदाय।
आसिञ्चस्व जठरे मध्वऽऊर्मिं त्वꣳराजासि प्रतिपत्सुतानाम्।
[र]उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा मरुत्वतऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते॥३८॥

राष्ट्र में राजा व सेनापति के उत्तम होने पर प्रजा का जीवन भी बड़ा सुन्दर बनता है, अतः कहते हैं कि १. **मरुत्वान्**=तू प्राणोंवाला है, तूने प्राणों की साधना करके उन्हें प्रशस्त बनाया है। २. हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **वृषभः**=तू प्राणसाधना के परिणामरूप श्रेष्ठ बना है। ३. तू **रणाय**=रमणीयता के लिए **सोमं पिब**=सोम का पान कर। प्राणसाधना का यह स्वाभाविक परिणाम है कि शक्ति की ऊर्ध्वगति होती है और शक्ति के शरीर में व्याप्त होने से तू अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रमणीयतावाला होता है। ४. इस शक्ति के धारण से ही **अनुष्वधं मदाय**=(स्वधामनु, स्वधा=अन्न) अन्न के बाद तू हर्ष का अनुभव करता है। वीर्यरक्षा से पाचनशक्ति ठीक रहती है और भोजन के बाद व्यक्ति विशेष आनन्द का अनुभव करता है। ५. **जठरे**=अपने उदर में **मध्वः ऊर्मिं आसिञ्चस्व**=इस सोम की तरङ्गों को सिक्त कर। यौवन में इस सोम के उत्पादन से उसमें ज्वार-सी उठती है, उबाल-सा आता है। इन तरङ्गों को तू अपने अन्दर ही सिक्त करनेवाला हो। ६. **प्रतिपत्सुतानाम्**=(प्रतिपत्=चेतना) ज्ञान की वृद्धि के लिए उत्पन्न किये गये इन सोमों का **त्वम्**=तू **राजा असि**=शरीर में ही नियमन (regulate) करनेवाला है। इन सोमकणों ने तेरी ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर उसे प्रज्वलित रखना है। प्रभु ने इन्हें मुख्यरूप से इस चेतना के लिए ही उत्पन्न किया है। ७. इस प्रकार प्रेरणा दिया हुआ विश्वामित्र प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे प्रभो! **उपयामगृहीतः असि**=आप सुनियमों से स्वीकृत होते हो। **त्वा**=आपको मैं इसलिए उपासित करता हूँ कि **इन्द्राय मरुत्वते**=मैं प्राणसाधनावाला मरुत्वान् बन सकूँ। **एषः ते योनिः**=यह मेरा 'विग्रह'=शरीर आपका विशिष्ट गृह है। **त्वा**=आपको मैं यहाँ इसलिए आसीन करता हूँ कि **इन्द्राय मरुत्वते**=मैं प्राणसाधना द्वारा उत्तम प्राणोंवाला, जितेन्द्रिय पुरुष बन सकूँ।

भावार्थ—प्रभु ने हमारे जीवनों में सोम की स्थापना इसलिए की है कि हमारी प्रज्ञा में वृद्धि हो, हमारी ज्ञानाग्नि दीप्त हो।

ऋषिः—भरद्वाजः। **देवता**—प्रजासेनापतिः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः[क], साम्नीत्रिष्टुप्[र]। **स्वरः**—पञ्चमः[क], धैवतः[र]॥

इन्द्र से महेन्द्र

[क]**म॒हाँ२॥ऽइन्द्रो॒ नृ॒वदाच॑र्षणि॒प्राऽउ॒त द्वि॒बर्हा॑ऽअमि॒नः सहो॑भिः।**
अ॒स्म॒द्र्य॑ग्वावृधे वी॒र्या॑योरुः पृ॒थुः सुकृ॑तः क॒र्तृभि॑र्भूत्।
[र]**उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽसि म॒हेन्द्रा॑य त्वै॒ष ते॒ योनि॑र्म॒हेन्द्रा॑य त्वा॥ ३९॥**

१. गत मन्त्र की भावना के अनुसार जब विश्वामित्र सोमरक्षा द्वारा अङ्ग-प्रत्यङ्ग को रमणीय बनाता है और प्रज्ञा को दीप्त करता है तब वह प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'भरद्वाज' बन जाता है, अपने में शक्ति व ज्ञान को भरनेवाला। २. यह **महान्**=बड़ा बनता है, महनीय होता है। ३. **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता होता है ४. **नृवत्**=(नृ=नेता) औरों के लिए नेता के समान होता है, औरों का मार्गदर्शक बनता है। ५. **आचर्षणिप्राः**=मनुष्यों का समन्तात् पूरण करनेवाला होता है। ६. **उत**=और **द्विबर्हाः**=दोनों क्षेत्रों में, अर्थात् ज्ञान व शक्ति के दोनों स्थानों में बढ़ा हुआ होता है। ज्ञान के दृष्टिकोण से ऋषि, तो शक्ति के दृष्टिकोण से मल्ल। ७. **सहोभिः**=अपने बलों के कारण **अमितः**=अहिंसित होता है (मीञ् हिंसायाम्) अथवा अपने बलों से यह औरों की हिंसा करनेवाला नहीं बनता। ८. **अस्मद्र्यक्**=प्रभु कहते हैं कि (अस्मान् अभिमुखम्) यह वह व्यक्ति है जो हमारी ओर आ रहा है। ९. **वावृधे वीर्याय**=यह शक्ति के लिए निरन्तर बढ़ता चलता है। १०. **उरुः**=यह विशाल हृदयवाला

होता है। ११. **पृथुः**=विस्तृत शरीरवाला अथवा विशाल यशवाला व विस्तृत बलवाला (यशसा विपुलः, बलेन विस्तृतः—म०) १२. **कर्तृभिः**=अपने कर्त्तव्यों से **सुकृतः**=(शोभनं कृतं यस्य) उत्तम पुण्य कर्मोंवाला **भूत्**=होता है। १३. यह भरद्वाज प्रभु से प्रार्थना करता है कि **उपयामगृहीतः असि**=आप सुनियमों से स्वीकृत होते हो। **त्वा**=आपको मैं इसलिए उपासित करता हूँ कि **महेन्द्राय**=मैं महेन्द्र बन सकूँ। **एषः ते योनिः**=यह मेरा विग्रह (शरीर) आपका विशिष्ट गृह है। मैं **त्वा**=आपको इस गृह में प्रतिष्ठित करता हूँ जिससे **महेन्द्राय**=मैं भी महेन्द्र बन जाऊँ। ब्रह्म का उपासक 'ब्रह्म-सा' बन जाता है। उपासना में आगे और आगे बढ़ते हुए इन्द्र 'महेन्द्र'-सा बन जाता है।

भावार्थ—उपासना में आगे और आगे बढ़ते हुए मनुष्य इन्द्र से महेन्द्र बनने का यत्न करे।

ऋषिः—वत्सः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—आर्षीगायत्री[क], विराडार्षीगायत्री[र]। **स्वरः**—षड्जः॥

वत्स

[क]महाँ२॥ऽइन्द्रो यऽओजसा पर्जन्यो वृष्टिमाँ२॥ऽइव। स्तोमैर्वत्सस्य वावृधे। [र]उपयामगृहीतोऽसि महेन्द्राय त्वैष ते योनिर्महेन्द्राय त्वा॥४०॥

१. गत मन्त्र की भावना के अनुसार इन्द्र से महेन्द्र बननेवाला व्यक्ति ही वस्तुतः प्रभु का उपासक है। इसका जीवन प्रभु का प्रतिपादन करनेवाला होता है। 'वदतीति वत्सः' इसी कारण यह 'वत्स' कहलाता है। यह प्रभु को निम्न रूप में देखता है। २. **महान्**=ये प्रभु महान् हैं। ३. **यः**=जो **ओजसा**=अपने ओज के कारण **इन्द्रः**=सब शत्रुओं का विदारण करनेवाले हैं। ४. और सब उपासकों के लिए **वृष्टिमान् पर्जन्यः इव**=बरसनेवाले बादल की भाँति हैं। जैसे यह बादल सब सन्ताप को समाप्त कर देता है, इसी प्रकार प्रभु के उपासक का चित्त भी शान्त होता है। ५. ये प्रभु **वत्सस्य**=अपने जीवन से प्रभु का प्रतिपादन करनेवाले के **स्तोमैः**=स्तुति-समूहों से **वावृधे**=बढ़ाये जाते हैं, अर्थात् स्तुति वही करता है जो प्रभु के उस गुण को अपने जीवन में धारण करने का प्रयत्न करता है। ६. हे प्रभो! **उपयामगृहीतः असि**=आप सुनियमों से स्वीकृत होते हो। **महेन्द्राय त्वा**=मैं भी इन्द्र से महेन्द्र बन सकूँ, इसलिए आपको स्वीकार करता हूँ। **एषः ते योनिः**=यह मेरा शरीर आपका घर है, मैं अपने हृदय-मन्दिर में आपको प्रतिष्ठित करता हूँ **महेन्द्राय त्वा**=जिससे मैं महेन्द्र बन सकूँ। इन्द्र से महेन्द्र बनना ही मानव का लक्ष्य होना चाहिए।

भावार्थ—हम प्रभु की भाँति विशाल हृदय (महान्), शक्ति से शत्रुओं का विदारण करनेवाले (इन्द्र) और सबके सन्ताप को दूर करनेवाले (पर्जन्य), बनेंगे तभी प्रभु के प्रिय व 'वत्स' बन पाएँगे।

ऋषिः—प्रस्कण्वः। **देवता**—सूर्यः। **छन्दः**—भुरिगार्षीगायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

प्रस्कण्व

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यꣳस्वाहा॥४१॥

गत मन्त्र का 'वत्स' प्रकृति से ऊपर उठकर प्रभु के गुणों को धारण करता है। यही बुद्धिमत्ता है। इस बुद्धिमत्ता के कारण यह 'प्रस्कण्व' (मेधावी) हो जाता है। ये **केतवः**=(केतुः=प्रज्ञा—नि० ३।९) प्रज्ञाशील पुरुष **उत् उ**=निश्चय से इन प्राकृतिक भोगों से ऊपर उठकर (उत्=out) **त्यम्**=उस प्रसिद्ध **जातवेदसम्**=(जाते-जाते विद्यते—नि० ७।१९)

प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ में वर्त्तमान **देवम्**=प्रकाशमय, सब-कुछ देनेवाले, चमकनेवाले और चमकानेवाले **सूर्यम्**=सबको हृदयस्थरूपेण कर्मों की प्रेरणा देनेवाले, सहस्र-सूर्यसम ज्योतिवाले उस प्रभु को **विश्वाय दृशे**=सब पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए **वहन्ति**=धारण करते हैं। प्रभु का ज्ञान होने पर ब्रह्माण्ड के सब पदार्थों का ज्ञान हो जाता है। उपनिषद् में **'कस्मिन्नु खलु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति'** किसके ज्ञात होने पर यह सारा ब्रह्माण्ड ज्ञात हो जाता है? इस प्रश्न का उत्तर यही दिया है कि आत्मतत्त्व का ज्ञान होने पर ही ऐसा होता है। ब्रह्मातिरिक्त सब पदार्थों का ज्ञान 'शब्द-ब्रह्म' या 'अपराविद्या' है। इसके द्वारा ही वस्तुत: मनुष्य 'परब्रह्म' तक पहुँचता है। वहाँ पहुँच जाने पर ये सब ज्ञान अनायास हो जाते हैं।

भावार्थ—हम अपने इस मानव-जीवन को इसी प्रकार सफल कर सकते हैं कि प्रकृति से ऊपर उठें और उस 'जातवेदस् देव' का दर्शन करें।

ऋषि:—कुत्स:। देवता—सूर्य:। छन्द:—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। स्वर:—धैवत:॥

कुत्स

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्ने:।
आप्रा द्यावापृथिवीऽअन्तरिक्षꣳ सूर्यऽआत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा॥४२॥

गत मन्त्र के अनुसार प्रभु का दर्शन करनेवाला 'प्रस्कण्व'=मेधावी पुरुष सब बुराइयों का संहार करनेवाला होता है। बुराइयों का संहार करने के कारण ही वह 'कुत्स' (कुथ हिंसायाम्)=आदरणीय हिंसक बनता है। यह कह उठता है कि यह प्रभु **उदगात्**=उदित हो गया, जोकि १. **चित्रम्**=(चित्+र) सम्पूर्ण ज्ञान को देनेवाला है। २. **देवानां अनीकम्**=सब देवों का बल है। वस्तुत: देवों को देवत्व प्राप्त करानेवाला यही है। यही **मित्रस्य**=अहरभिमानी देवता सूर्य का (दिन के देवता 'दिवा-कर' का) **वरुणस्य**=रात्रि के अभिमानी देवता चन्द्र का तथा **अग्ने:**=इस पृथिवीस्थ देवों के मुखिया अग्नि का **चक्षु:**=प्रकाशक है। ३. इस प्रभु ने ही **द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम्**=द्युलोक, पृथिवीलोक तथा अन्तरिक्षलोक को **आप्रा:**=व्याप्त किया हुआ है, पूरण किया हुआ है। ४. **सूर्य:**=यही स्वयं प्रकाश है, अन्यों को प्रकाश देनेवाला है ५. **आत्मा**=(अतति सर्वत्र व्याप्नोति) सर्वत्र व्याप्त है। ६. **जगत: तस्थुष: च**= जङ्गम व स्थावर—सम्पूर्ण जगत् का यह **स्वाहा**=(सु आह) उत्तमता से उपदेश देनेवाला है।

भावार्थ—कुत्स वही बनता है जो सर्वत्र प्रभु की व्याप्ति को देखने का प्रयत्न करता है। उसी की शक्ति को सर्वत्र कार्य करता हुआ देखने पर मनुष्य निरभिमान हो जाता है।

ऋषि:—आङ्गिरस:। देवता—अन्तर्यामी जगदीश्वर:। छन्द:—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। स्वर:—धैवत:॥

आङ्गिरस

अग्ने नय सुपथा रायेऽअस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्य्स्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमऽउक्तिं विधेम स्वाहा॥४३॥

गत मन्त्र का 'कुत्स' ही 'आङ्गिरस' बनता है। सब दुर्गुणों का संहार ही मनुष्य को शक्तिशाली बनाता है। यह आङ्गिरस संसार में अपने गौरव के प्रतिकूल कोई बात नहीं करता। विशेष रूप से गलत रास्ते से धन कमाने में प्रवृत्त नहीं होता। इसकी प्रार्थना है कि १. **अग्ने**=हमारी सब उन्नतियों के साधक हे प्रभो! **अस्मान्**=हमें **राये**=धन के लिए **सुपथा**=उत्तम

मार्ग से **नय**=ले-चलिए। २. हे **देव**=सब दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभो! आप **विश्वानि**=सब **वयुनानि**=विज्ञानों को **विद्वान्**=जानते हैं। आप हमें भी उन सब विज्ञानों को प्राप्त कराइए। ३. **अस्मत्**=आप हमसे **जुहुराणम्**=सब कुटिलताओं को तथा **एनः**=सब पापों को **युयोधि**=(वियोजय—द०) पृथक् कीजिए। ४. हम **ते**=आपके लिए **भूयिष्ठाम्**=अत्यधिक **नमउक्तिम्**=नतिपुरःसर स्तुति को **विधेम**=करते हैं। ५. **स्वाहा**=अन्याय्य मार्ग से धन कमानेरूप पाप से बचने के लिए हम (स्व+हा) आपके प्रति अपना अर्पण करते हैं।

भावार्थ—हम सदा न्याय-मार्ग से ही धन कमाएँ। पाप व कुटिलता से दूर रहें।

ऋषिः—आङ्गिरसः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

विजय

अयं नोऽअग्निर्वरिवस्कृणोत्वयं मृधः पुरऽएतु प्रभिन्दन्।
अयं वाजाञ्जयतु वाजसातावयःशत्रूञ्जयतु जर्हृषाणः स्वाहा॥४४॥

१. गत मन्त्र में न्याय-मार्ग से धन कमाने का उल्लेख था, वस्तुतः धन देनेवाले तो प्रभु हैं। जीव को तो प्रभु से उपदिष्ट न्याय-मार्ग पर चलते चलना है। इसी बात को इन शब्दों में कहते हैं कि **अयं अग्निः**=सब उन्नतियों का साधक यह प्रभु **नः**=हमारे लिए **वरिवः**=धन **कृणोतु**=प्राप्त करे। प्रभु हमें उन्नति के लिए आवश्यक निवास आदि को सुन्दर बनाने के लिए सब धन देनेवाले हैं। हम पुरुषार्थ नहीं छोड़ते तो प्रभु हमें धन देते ही हैं। २. **अयम्**=ये प्रभु ही **मृधः**=सब हिंसकों को **प्रभिन्दन्**=नष्ट करते हुए **पुरएतु**=हमें आगे ले-चलनेवाले हों। हमारा नेतृत्व प्रभु के हाथ में हो। प्रभु नेता और मैं अनुयायी। वे सब विघ्नों को दूर कर देंगे और इस प्रकार मेरी उन्नति निर्विघ्न होगी। ३. **अयम्**=ये प्रभु ही **वाजसातौ**=संग्रामों में **वाजान्**=अन्नों को **जयतु**=जीतें। इस जीवन-संग्राम में जब हम काम-क्रोधादि शत्रुओं के पराजय में व्यस्त होंगे तो हमारे खान-पान का ध्यान प्रभु करेंगे ही। ४. ये प्रभु ही **जर्हृषाणः**=हमें अत्यन्त हर्षित करते हुए **शत्रून् जयतु**=हमारे शत्रुओं को जीतें। काम-क्रोधादि का विजय भी वस्तुतः मुझे क्या करना? मुझे तो बस **स्वाहा**=उस प्रभु के प्रति अपना अर्पणमात्र करना है।

भावार्थ—सब धनों का विजय व प्रापण करानेवाले प्रभु हैं। वे ही हमें संग्रामों में विजयी बनाते हैं।

ऋषिः—आङ्गिरसः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—विराड्जगती। **स्वरः**—निषादः॥

चार आश्रम

रूपेण वो रूपमभ्यागां तुथो वो विश्ववेदा विभजतु।
ऋतस्य पथा प्रेत चन्द्रदक्षिणा वि स्वः पश्य व्यन्तरिक्षं यतस्व सदस्यैः॥४५॥

१. गत मन्त्र की भावना थी कि हम आगे और आगे बढ़ते चलें। उसी भावना को अधिक व्यक्त शब्दों में प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं। यहाँ जीवन-यात्रा को चार भागों में बाँटकर पहले ब्रह्मचर्याश्रम के लिए कहते हैं कि (क) हे मेरे अङ्ग-प्रत्यङ्गो! **वः रूपेण**=तुम्हारे उत्तम रूप से **रूपम्**=सुन्दर रूप को **अभ्यागाम्**=प्राप्त होऊँ। ब्रह्मचर्याश्रम में मैं शक्ति का सञ्चय करूँ। इस शक्ति-सञ्चय से मेरा प्रत्येक अङ्ग सुन्दर रूपवाला हो। प्रत्येक अङ्ग के सौन्दर्य पर ही शरीर का सौन्दर्य निर्भर करता है। इस ब्रह्मचर्याश्रम में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात ज्ञान की है, अतः कहते हैं कि **तुथः**=ज्ञानवृद्ध **विश्ववेदाः**=सम्पूर्ण ज्ञानोंवाला,

सब विषयों का पण्डित आचार्य **वः विभजतु**=तुम्हें अपने ज्ञान का विशेषरूप से सेवित करानेवाला हो। अपने ज्ञान का तुम्हारे साथ विभाग करे। एवं, ब्रह्मचर्याश्रम में हम स्वास्थ्य, सौन्दर्य व ज्ञान को प्राप्त करनेवाले बनें। २. इसके बाद गृहस्थ के लिए भी दो बातों को कहते हैं कि (क) **ऋतस्य पथा प्रेत**=सत्य के मार्ग से चलो। जीवन में ऋत का पालन करो। ऋत=right और नियमितता regularity=तुम्हारे जीवन का अङ्ग हो। सूर्य और चन्द्रमा की तरह अपने दैनिक कृत्यों को समय पर करनेवाले बनो। (ख) **चन्द्रदक्षिणाः**=तुम (चदि आह्लादे) आनन्दमय दानवाले बनो। तुम्हें दान देने में आनन्द का अनुभव हो। अथवा (चन्द्रं सुवर्णं दक्षिणा दानं येषां ते—द०) तुम सुवर्णादि उत्तम धातुओं को दान देनेवाले बनो। एवं, गृहस्थ के कर्तव्य हैं (क) नियमितता व (ख) दान।

३. अब वनस्थ के लिए कहते हैं कि (क) **स्वः**=उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति आत्म-तत्त्व को **विपश्य** =विशेषरूप से देखने का प्रयत्न कर। वनस्थ ने सदा स्वाध्याय में युक्त रहकर आत्मदर्शन के लिए पूर्ण प्रयत्न करना है। (ख) **अन्तरिक्षम्**=अपने हृदयान्तरिक्ष को **विपश्य**=विशेषरूप से देख। अपने हृदय का प्रातः-सायं निरीक्षण करनेवाला बन। यह आत्मालोचन की वृत्ति ही सारी उन्नतियों का मूल है। एवं, वनस्थ के कर्तव्य हैं—आत्मदर्शन व आत्मालोचन। ४. अब जीवन के अन्ति प्रयाण में संन्यासी के लिए कहते हैं कि **सदस्यैः**=सभा में स्थित व्यक्तियों के साथ **यतस्व**=तू यत्नशील हो। जो लोग ज्ञान की चर्चा सुनने के लिए सभा में पहुँचते हैं, उनके साथ तू पूर्ण प्रयत्न कर, अर्थात् तू अधिक-से-अधिक सुन्दर शब्दों में उन्हें ज्ञान देनेवाला बन। पूर्ण चिन्तन के साथ सरल-स्पष्ट युक्ति को उपस्थित करते हुए तू उन्हें धर्म के मार्ग को हृदयङ्गम करानेवाला बन। ज्ञान देना ही संन्यासी का कर्त्तव्य है।

भावार्थ—प्रथमाश्रम में स्वास्थ्य व ज्ञान, द्वितीयाश्रम में ऋत व दान, तृतीय में आत्मदर्शन व आत्मालोचन तथा चतुर्थ में ज्ञानप्रदान यही हमारे जीवन का कार्यक्रम हो।

ऋषिः—आङ्गिरसः। **देवता**—विद्वांसः। **छन्दः**—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

दक्षिणा के योग्य ब्राह्मण

ब्राह्मणमद्य विदेयं पितृमन्तं पैतृमत्यमृषिमार्षेयꣳसुधातुदक्षिणम्।
अस्मद्राता देवत्रा गच्छत प्रदातारमाविशत॥४६॥

गत मन्त्र में गृहस्थ का एक कर्त्तव्य 'दान' भी बताया गया था। दान पात्र को ही देना चाहिए। उस पात्र के विषय में गृहस्थ प्रार्थना करता है कि हे प्रभो! आपकी कृपा से मैं **विदेयम्**=प्राप्त करूँ। दान देने के लिए ऐसे व्यक्ति को पा सकूँ जो १. **ब्राह्मणम्**=(वेदेश्वरविदम्—द०) **'वेदाभ्यासात्ततो विप्रो ब्रह्म वेत्तीति ब्राह्मणः'** वेदाभ्यास से ब्रह्म को जाननेवाले ज्ञानी को, अर्थात् जो ज्ञान प्राप्त करता है और ईश्वर के साक्षात्कार के लिए यत्नशील होता है। २. **पितृमन्तम्**=अतिविशिष्ट पितावाले को, जिसे माता-पिता से उत्तम सात्त्विक गुण प्राप्त हुए हैं ३. **पैतृमत्यम्**=जिसके पितामहादि भी वश्य व श्रोत्रिय थे, अर्थात् जितेन्द्रियता व विद्वत्ता जिसके कुल की विशेषता रही है। ४. **ऋषिम्**=जो तत्त्वद्रष्टा है ५. **आर्षेयम्**=(ऋषिषु विख्यातः—म०) ऋषियों में भी जो व्याख्यान-शक्ति के कारण प्रसिद्ध है। 'ऋषि' शब्द में आगम=ज्ञान की प्राप्ति की प्रधानता है तथा आर्षेय शब्द में संक्रान्ति, अर्थात् ज्ञान के व्याख्यान की प्रधानता है। संक्षेप में जिसके impression and expression दोनों ही उत्तम हैं। ६. **सुधातुदक्षिणम्**=उत्तम वीर्यादि धातुओं के कारण जो अपने कर्त्तव्य-

कर्मों में बड़ा दक्ष है। ७. उपर्युक्त गुणों से युक्त पात्र को हम प्राप्त करें। पात्र में दिया हुआ दान ही सफल होता है। **अस्मद्राताः**=हमारे दिये हुए धनो! तुम **देवत्रा गच्छत**=देवों में प्राप्त होओ, अर्थात् हमारे धन दिव्य गुणों से युक्त पुरुषों में ही दिये जाएँ, जिससे तुम फिर से **प्रदातारम्**=देनेवाले में **आविशत**=प्रविष्ट होओ। सुपात्र को दिया हुआ दान इस रूप में फलता है कि वह कई गुणा होकर दाता को फिर से प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—हम सदा पात्र में दान देनेवाले बनें।

ऋषिः—आङ्गिरसः। **देवता**—वरुणः। **छन्दः**—भुरिक्प्राजापत्याजगती[1], स्वराट्प्राजापत्याजगती[2], निचृदार्चीजगती[3], विराडार्चीजगती[4]। **स्वरः**—निषादः॥

दान व प्रतिग्रह का प्रयोजन

[1]अग्नये त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्वमशीयायुर्दात्रऽएधि मयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे [2]रुद्राय त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्वमशीय प्राणो दात्रऽएधि वयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे [3]बृहस्पतये त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्वमशीय त्वग्दात्रऽएधि मयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे [4]यमाय त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्वमशीय हयो दात्रऽएधि वयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे॥४७॥

१. लेनेवाला ग्राह्य वस्तु को सम्बोधित करते हुए कहता है कि **त्वा**=तुझे **मह्यं अग्नये**=मुझ अग्नि के लिए **वरुणः**=पात्र का वरण करनेवाला दाता **ददातु**=दे। **सः**=वह मैं तुझे प्राप्त करके **अमृतत्त्वम् अशीय**=अमृतत्व को प्राप्त करूँ, अर्थात् तेरे अभाव में आवश्यक वस्तु की अप्राप्ति के कारण रोगादि की सम्भावना थी, वह अब न रहे। **दात्रे**=देनेवाले के लिए तू **आयुः**=आयु **एधि**=हो, उसके दीर्घ जीवन का कारण बन और **मह्यं प्रतिगृहीत्रे**=मुझ प्रतिग्रहीता के लिए तू **मयः**=सुख व नीरोगता का कारण हो। २. **त्वा**=तुझे **मह्यं रुद्राय**=मुझ रुद्र के लिए **वरुणः**=पात्र का वरण करनेवाला दाता **ददातु**=दे। **सः**=वह मैं तुझे प्राप्त करके **अमृतत्त्वम् अशीय**=अमृतत्व अर्थात् नीरोगता को प्राप्त करूँ। तू **दात्रे**=देनेवाले के लिए **प्राणः**=प्राणशक्ति **एधि**=हो। दाता की प्राणशक्ति बढ़े और **मह्यं प्रतिग्रहीत्रे**=मुझ प्रतिग्रहीता के लिए **वयः**=दीर्घजीवन हो। ३. **त्वा**=तुझे **मह्यं बृहस्पतये**=मुझ ऊर्ध्वादिक् के अधिपति बृहस्पति के लिए **वरुणः**=पात्र का वरण करनेवाला दाता **ददातु**= दे। **सः**=वह मैं **अमृतत्वम् अशीय**=अमरता को प्राप्त करूँ। **दात्रे**=दाता के लिए यह दान **त्वक्**=रक्षा करने का संवरण **एधि**=हो और **मह्यं प्रतिग्रहीत्रे**=मुझ प्रतिग्रहीता के लिए **मयः**=सुख व नीरोगता देनेवाला हो। ४. **त्वा**=तुझे **मह्यं यमाय**=मुझ यम-नियमों से बद्ध जीवनवाले यम के लिए **वरुणः**=पात्र का वरण करनेवाला **ददातु**=दे। **सः**=वह मैं **अमृतत्वम्**=अमरता को **अशीय** =प्राप्त करूँ। **दात्रे**=दाता के लिए तू **हयः**=घोड़ा-शक्ति का प्रतीक **एधि**=हो और **मह्यं प्रतिग्रहीत्रे** =मुझ प्रतिग्रहीता के लिए **वयः**=दीर्घजीवन हो।

ऊपर के मन्त्रार्थ में स्पष्ट है कि 'प्रतिग्रहीता' में निम्न गुण होने चाहिएँ—

(क) **अग्नये**=वह अग्नि हो (अग् गतौ), गतिशील हो। प्रकाश का फैलानेवाला व दोषों का जलानेवाला हो। (ख) **रुद्राय**=(रुत्+र) यह प्रजाओं को ज्ञान देनेवाला हो। रोरूयमाणो द्रवति=ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करते हुए विचरनेवाला हो। (ग) **बृहस्पतये**=यह ब्रह्मणस्पति=ज्ञान की वाणी का पति हो तथा सर्वोच्च दिशा का अधिपति हो, अर्थात् अधिक-से-अधिक उन्नत हो। (घ) **यमाय**=इसका जीवन यम-नियम से नियन्त्रित हो।

दान लेने का उद्देश्य यह है कि—'**अमृतत्वम् अशीय**'=इसका जीवन आवश्यक वस्तुओं की कमी के कारण रोगाक्रान्त व असमय में मृत्यु का ग्रास न हो जाए। अत्यन्त आवश्यक वस्तुओं के लिए ही दान ले, मौज की सामग्री के लिए नहीं। '**मयः वयः**'=सुख=सब इन्द्रियों का स्वास्थ्य (सु+ख) व दीर्घजीवन प्राप्त हो सके यही लेने का उद्देश्य है।

दान देने का उद्देश्य यह है कि—दाता को दीर्घजीवन, प्राणशक्ति, वासनाओं के आक्रमण से बचाव तथा क्रियाशक्ति व वेग (आयुः, प्राणः, त्वक्, हयः) प्राप्त हो। दान मनुष्य को विलासवृत्ति से बचाकर इन सब वस्तुओं को प्राप्त कराता है। यज्ञशेष तो अमृत है। यह दान पाप से बचानेवाला सर्वोत्तम साधन है।

दाता का यह प्राथमिक कर्त्तव्य है कि वह 'वरुण' बने। वह वृ वरणे=पात्र का ही वरण करे। अपात्र में दिया हुआ दान न परलोक में कल्याण देता है न इहलोक में। व्यक्ति में अपात्रता की अधिक आशंका है, अतः समाज को दान देना श्रेयस्कर है।

भावार्थ—हम पात्र का विचार करके दान देनेवाले बनें।

ऋषिः—आङ्गिरसः। **देवता**—आत्मा। **छन्दः**—आर्ष्युष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

दाता-प्रतिग्रहीता?

कोऽदात्कस्माऽअदात्कामोऽदात्कामायादात्।
कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामैतत्ते॥४८॥

१. गत मन्त्र में दान का महत्त्व सुव्यक्त है। '**जुहोत प्र च तिष्ठत**' इस वेदवाक्य के अनुसार मनुष्य देता है और प्रतिष्ठा को पाता है। '**न दुष्टुतिर्द्रविणोदेषु शस्यते**'=देनेवालों की कभी निन्दा नहीं होती। 'दान देने पर यह प्रतिष्ठा कहीं दाता को गर्वयुक्त न कर दे', इसलिए समाप्ति पर कहते हैं कि हे मनुष्य! तू कभी यह मत सोचना कि तू देनेवाला है, देनेवाला तो वह सुखस्वरूप परमेश्वर ही है। **कः अदात्**=सुखस्वरूप परमेश्वर देता है। **कस्मै अदात्**=सुख के लिए ही देता है। प्रभु देते इसलिए हैं कि हमारा जीवन सुखी हो सके। जीवन के लिए आवश्यक सब वस्तुओं के प्राप्त हो जाने से सु-ख=सब इन्द्रियाँ स्वस्थ बनी रहें। २. **कामः**=(Supreme Being) सभी से कामना किया जानेवाला वह प्रभु ही (काम्यते) **अदात्**=देता है। **कामाय अदात्**=प्रभु इसलिए देते हैं कि हम उस प्रभु को पा सकें। यह पंक्ति विचित्र अवश्य प्रतीत होती है, परन्तु इसमें वह मौलिक सत्य निहित है जो 'भूखे भजन न होई' इन शब्दों में कवियों से व्यक्त किया गया है। अधिक धन मनुष्य को मूढ़ बनानेवाला हो सकता है, पर धनाभाव तो अवश्य मूढ़ बना ही देता है। ३. **कामः दाता** =वे प्रभु ही दाता हैं। **कामः**=प्रभु की कामना करनेवाला जीव **प्रतिग्रहीता**=लेनेवाला है। ४. **काम**=हे संसार की सर्वोच्च सत्तारूप प्रभो! **एतत् ते**=यह सब दान आपका ही है। यह मेरा नहीं। मैं सदा लेनेवाला ही हूँ, अतः मैं क्या दान का गर्व करूँ। यह तो मेरे माध्यम से आप ही के द्वारा हो रहा है।

भावार्थ—हम दान दें, परन्तु उस दान का हमें गर्व न हो, क्योंकि वस्तुतः यह दानादि उत्तम कार्य हमारे माध्यम से उस प्रभु द्वारा ही किये जा रहे होते हैं।

॥ इति सप्तमोऽध्यायः समाप्तः॥

अष्टमोऽध्यायः

ऋषिः—**आङ्गिरसः**। देवता—**बृहस्पतिस्सोमः**। छन्दः—**आर्चीपङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

आदर्श पति

उपयामगृहीतोऽस्यादित्येभ्यस्त्वा।
विष्णऽउरुगायैष ते सोमस्तꣳरक्षस्व मा त्वा दभन्॥ १॥

१. इस अध्याय का प्रारम्भ 'आङ्गिरस' ऋषि के मन्त्रों से होता है। यह आङ्गिरस ऋषि ही सप्तमाध्याय की समाप्ति के मन्त्रों का भी ऋषि था। सप्तमाध्याय की समाप्ति के मन्त्र 'दान' का प्रतिपादन कर रहे थे। अब दान देनेवाले गृहस्थों का प्रकरण प्रारम्भ होता है। इस प्रथम मन्त्र में वधू वर से कहती है—(क) **उपयामगृहीतः असि**=तेरा जीवन प्रभु की उपासना द्वारा यम-नियमों से स्वीकृत हुआ है। तूने उपासना द्वारा अपने जीवन को व्रती बनाया है। मैं **आदित्येभ्यः त्वा**=(आदित्यः वै प्रजाः—तै० १।८।८।१) सूर्य के समान दीप्त प्रजाओं के लिए आपको वरती हूँ। मैं चाहती हूँ कि आप मेरे हाथ को ग्रहण करें, जिससे हम सूर्य के समान वर्चस्वी सन्तानों को प्राप्त करें। (ख) **विष्णो**=आप विष्णु हैं (विष्लृ व्याप्तौ) व्यापक हृदयवाले हैं। आपका मन विशाल है, वहाँ कृपणता का निवास नहीं। (ग) **उरुगाय**=आप प्रभु का खूब ही गायन करनेवाले हैं। प्रभु-प्रवण मनुष्य विलासमय जीवनवाला नहीं होता, अतः यह प्रभु-प्रवणता गृहस्थ की पवित्रता के लिए अत्यन्त आवश्यक है। (घ) **एषः ते सोमः**=यह आपका सोम है, यह आपकी वीर्यशक्ति है। **तं रक्षस्व** =उसकी आपने रक्षा करनी है। **मा**=मत **त्वा**=तुझे **दभन्**=रोगादि हिंसित करनेवाले हों। सोम का अपव्यय होते ही शरीर में रोग-प्रतिरोधक शक्ति नहीं रहती और मनुष्य को नाना प्रकार के रोग आ घेरते हैं। वस्तुतः इस सोम की रक्षा से सब अङ्ग रसमय बने रहते हैं। वे सूखे काठ के समान मृत नहीं हो जाते। उनमें लोच-लचक बनी रहती है और इसका 'आङ्गिरस' नाम सार्थक होता है।

भावार्थ—आदर्श पति वही है जो १. यम-नियमों से संयत जीवनवाला है २. उदार हृदय है। ३. प्रभु का सतत स्मरण व कीर्तन करनेवाला है। ४. सोम के महत्त्व को समझकर उसकी रक्षा करता है। यही व्यक्ति उत्तम सन्तान को जन्म देता है। एक आदर्श वधू वर का वरण इसीलिए करती है कि वह आदित्यसम देदीप्यमान सन्तानों को जन्म दे सके।

ऋषिः—आङ्गिरसः। **देवता**—गृहपतिर्मघवा। **छन्दः**—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

परस्पर अर्पण

कदा चन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे।
उपोपेन्नु मघवन्भूयऽइन्नु ते दानं देवस्य पृच्यतऽआदित्येभ्यस्त्वा॥ २॥

गत मन्त्र के विषय को आगे बढ़ाती हुई पत्नी कहती है कि आप १. **कदाचन**=कभी भी **स्तरीः**=(स्वभावाच्छादकः—द०, स्तृञ् आच्छादने) अपने स्वभाव को छिपानेवाले **न असि**= नहीं हैं। पति-पत्नी में ऐसा सामञ्जस्य होना चाहिए कि उन्हें एक-दूसरे से कुछ छिपाने का

विचार ही उत्पन्न न हो। उनमें किसी प्रकार का भेदभाव न हो। २. हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता शक्तिशाली पते! आप **दाशुषे**=दाश्वान् के लिए, आपके प्रति अपना समर्पण करनेवाले के लिए **सश्चसि**=प्राप्त होते हो (सस्ज गतौ)। कन्या पितृगृह को छोड़कर पति के घर को अपना घर बनाती है। वह पति के प्रति अपना अर्पण कर डालती है, अतः पति को भी उसे प्राप्त होना ही चाहिए, उसे कभी धोखा नहीं देना चाहिए। ३. हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन्! अथवा यज्ञशील! **उप उप इत् नु**=आप निश्चय से प्रभु के अधिकाधिक निकट हो, उसके उपासक बनो। प्रभु-प्रवणता भोग-प्रवणता को रोकती है। ४. **देवस्य**=(देवो दानात्) देनेवाले आपको **भूयः इत्**=अधिक ही **दानम्**=दान **पृच्यते**=प्राप्त होता है। ५. **आदित्येभ्यः त्वा**=मैं आदित्य-तुल्य दीप्तिवाली सन्तानों के लिए आपको प्राप्त होती हूँ।

भावार्थ—१. पति पत्नी से किसी प्रकार का छिपाव न रक्खे। यह छिपाव ही एक-दूसरे में शक पैदा करता है। २. पति पत्नी को पूर्णतया प्राप्त हो, क्योंकि पत्नी ने पति के प्रति अपना अर्पण किया है। ३. उसमें प्रभु-प्रवणता हो। ४. वह दानशील हो।

ऋषिः—आङ्गिरसः। **देवता**—आदित्यो गृहपतिः। **छन्दः**—निचृदार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

इहलोक व परलोक

कुदा चुन प्रयुच्छस्युभे निपासि जन्मनी।
तुरीयादित्यु सर्वनं तऽइन्द्रियमातस्थावुमृतं दिव्यादित्येभ्यस्त्वा॥३॥

पति के ही विषय में कहते हैं कि आप १. **कदा च**=कभी भी **न प्रयुच्छसि**=प्रमाद नहीं करते हो। 'न प्रमदितव्यम्' आचार्य के इस उपदेश को आप भूलते नहीं। २. सदा सतर्क और अप्रमत्त रहते हुए आप **उभे**=दोनों **जन्मनी**=जन्मों को **निपासि**=निश्चय से रक्षित करते हो। इहलोक व परलोक दोनों को सुधारने का प्रयत्न करते हो। आप अभ्युदय के साथ निःश्रेयस को जोड़कर चलते हो, यही तो धर्म है। ३. **तुरीय**=आप तुरीय हो। तुरीय का अर्थ निम्न मन्त्र से स्पष्ट हो जाता है—**'सोमस्य जाया प्रथमं गन्धर्वस्तेऽपरः पतिः। तृतीयोऽ ग्निष्टे पतिः तुरीयस्ते मनुष्यजाः'** (अथर्व १४।२।३) प्रथम तू सोम की पत्नी है, तेरा दूसरा पति गन्धर्व है, अग्नि तेरा तीसरा पति है और चौथा मनुष्य से होनेवाला, अर्थात् माता-पिता कन्या के लिए वर खोजते समय पहला ध्यान तो यह करें कि वह 'सोम' हो, शक्ति का पुञ्ज हो। उसमें वीर्यशक्ति हो, वह नामर्द न हो, सन्तानोत्पत्ति के अयोग्य न हो। दूसरी बात यह कि वह ज्ञान की वाणी का पति हो (गां धरति) कुछ पढ़ा-लिखा हो, अनपढ़, गँवार न हो। तीसरा यह कि वह अग्नि हो—उन्नतिशील (progressive) हो और चौथे यह कि वह मनुष्यता-दयालुता को लिये हुए हो, क्रूर न हो, Humane हो। एवं, तुरीय का अर्थ है, आप दयालु हों, आपमें मानवता हो। ४. **आदित्य**=गुणों के आप आदान करनेवाले हों, अच्छाई की आप कदर करते हों। ५. **ते इन्द्रियम्**=आपका वीर्य **सवनम्**=उत्पादक है, सुन्दर सन्तान को जन्म देनेवाला है। ६. **आतस्थौ**=आपका यह वीर्य शरीर में ही स्थित होता है, यह व्यर्थ में नष्ट नहीं किया जाता। ७. **अमृतम्**=यह आपको अमृत—नीरोग बनानेवाला है। ८. **दिवि**=यह ज्ञान के निमित्त है। अथवा मस्तिष्करूप द्युलोक में स्थित होता है। ९. ऐसे **त्वा**=आपको मैं **आदित्येभ्यः**=उत्तम प्रजाओं के लिए वरती हूँ।

भावार्थ—१. आप प्रमादशून्य हो। २. इहलोक व परलोक दोनों का ध्यान करते हो। ३. आप मानवता को लिये हुए हो। ४. गुणों का आह्वान करनेवाले हो। ५. उत्पादक शक्ति

से युक्त हो। ६. शक्ति को नष्ट नहीं होने देते हो। ७. नीरोग हो। ८. शक्ति को ज्ञानाग्नि का ईंधन बनाते हो।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—आदित्यो गृहपतिः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः॥

दैनिक अग्निहोत्र

यज्ञो देवानां प्रत्येति सुम्नमादित्यासो भवता मृडयन्तः।
आ वोऽर्वाची सुमतिर्ववृत्यादꣳहोश्चिद्या वरिवोवित्तरासदादित्येभ्यस्त्वा॥४॥

गत मन्त्र का आङ्गिरस अप्रमाद से धर्म का पालन करता हुआ सब बुराइयों का संहार करने से 'कुत्स' हो जाता है। इस कुत्स के घर में १. **देवानां यज्ञः**=देवयज्ञ अर्थात् अग्निहोत्र **प्रतिएति**=प्रतिदिन आता है, अर्थात् इसके घर में अग्निहोत्र एक जरामर्य सत्र बना रहता है। मृत्यु तक इसमें विच्छेद नहीं आता। २. इसी का परिणाम है कि घर में **सुम्नम्**=सुख-ही-सुख रहता है। ३. **आदित्यासः**=हे सूर्यसम सन्तानो! तुम **मृडयन्तः**=सुखी करनेवाले **भवत**=होवो। घर में यज्ञों के चलने पर सन्तानों के जीवन उत्तम होते हैं और उनकी वृत्ति क्लब्स (Clubs) आदि की ओर नहीं होती। ४. 'आदित्यास' का अर्थ आदित्य ब्रह्मचारियों से भी है। ये अतिथिरूपेण हमारे घरों में आते रहें, हमपर इनकी कृपा बनी रहे। ५. हे आदित्यो! **वः**=तुम्हारी **सुमतिः**=कल्याणी मति **अर्वाची**='अर्वाङ् अञ्चति' हृदय को प्राप्त होनेवाली, हृदयङ्गम होनेवाली, **आववृत्यात्**=सर्वथा हो। **या**=जो **अंहोः चित्**=ज्ञानी को भी **वरिवोवित्तरा**=उत्कृष्ट ज्ञानधन को प्राप्त करानेवाली **असत्**=हो। इस मन्त्रभाग का यह भी अर्थ हो सकता है कि **अंहो चित्**=पापवृत्तिवाले को भी यह आदित्यों से दी गई सुमति उत्तम सेवनीय धन या पूजा की वृत्ति को प्राप्त करानेवाली होती है। विद्वान् अतिथियों के सम्पर्क में इन गृहस्थों को सदा सुमति प्राप्त होती रहे और ये अपने ज्ञान को अधिकाधिक बढ़ानेवाले हों। ६. **आदित्येभ्यः त्वा**=मैं तुझे उत्तम सन्तानों के लिए प्राप्त होती हूँ।

भावार्थ—१. घरों में अग्निहोत्र नियम से हो, जिससे वहाँ सुख का राज्य हो। २. विद्वान् अतिथियों का आना-जाना बना रहे, जिससे उनकी सुमति इन्हें सदा प्राप्त रहे। घरों में उत्तम सन्तान का निर्माण हो।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—गृहपतयः। **छन्दः**—प्राजापत्यानुष्टुप्[क], निचृदार्षीजगती[र]। **स्वरः**—गान्धारः[क], निषादः[र]॥

ज्ञानी, गुणी, संयमी, दानी

[क]विवस्वन्नादित्यैष ते सोमपीथस्तस्मिन् मत्स्व।
[र]श्रदस्मै नरो वचसे दधातन यदाशीर्दा दम्पती वाममश्नुतः।
पुमान् पुत्रो जायते विन्दते वस्वधा विश्वाहारप एधते गृहे॥५॥

१. पिछले मन्त्र में उत्तम सन्तान निर्माण का संकेत था। उसी का उपाय प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं—१. हे **विवस्वन्**=ज्ञान की किरणोंवाले! **आदित्य**=सूर्य के समान उत्तम गुणों का ग्रहण करनेवाले पतिदेव! **एषः ते सोमपीथः**=यह तेरा सोम का पान है। **तस्मिन् मत्स्व**=उसमें तू आनन्द का अनुभव कर, अर्थात् पति ज्ञानी, गुणग्राही व संयमी हो। २. प्रभु इन प्रगतिशील व्यक्तियों से कहते हैं कि **नरः**=हे उन्नतिशील पुरुषो! **अस्मै वचसे**=इस वचन के लिए **श्रत् दधातन**=श्रद्धा करो। **यत्**=कि **आशीर्दा**=इच्छापूर्वक दान देनेवाले **दम्पती**=पति-

पत्नी **वामम्**=सुन्दर सन्तानों को ही **अश्नुतः**=प्राप्त करते हैं। दान देने से मनोवृत्ति सुन्दर बनती है, मनुष्य विलास से ऊपर उठता है, परिणामतः सन्तानों में भी वही सौन्दर्य अवतीर्ण होता है। ३. **पुमान् पुत्रः जायते**=इनका सन्तान (पू=पवित्र करना) पवित्र हृदय व पौरुषवाला होता है। **विन्दते वसु**=वह सन्तान निवास के लिए आवश्यक उत्तम धनों को प्राप्त करनेवाला होता है। **अध**=और **विश्वाहा**=सदा **अरपः**=पापशून्य होता हुआ (अ-रपस्) **गृहे**=अपने घर में **एधते**=सब दृष्टिकोणों से उन्नति करता है। ४. यह सन्तान **पुमान्**=अपने जीवन को पवित्र बनाता है। **अरपः**=पापशून्य होता है। अतएव इसका नाम 'कुत्स' (सब बुराइयों की हिंसा करनेवाला) हो जाता है। यही इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—पति 'ज्ञानी, गुणग्राही व संयमी' हो। पति-पत्नी दिल खोलकर उदारता से दान देनेवाले हों तो उनके घरों में 'उत्तम, वीर, पवित्र व पापशून्य' सन्तान होते हैं।

ऋषिः—भरद्वाजः। **देवता**—गृहपतयः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

वामभाक्

वाममद्य सवितर्वाममु श्वो दिवेदिवे वाममस्मभ्यंꣳसावीः।
वामस्य हि क्षयस्य देव भूरेरया धिया वामभाजः स्याम॥६॥

१. गत मन्त्र के पति-पत्नी शक्ति प्राप्त करके 'भरद्वाज' बनते हैं और प्रार्थना करते हैं—हे **सवितः**=सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करनेवाले प्रभो! **अद्य**=आज **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **वामम्**=सौन्दर्य **सावीः** =उत्पन्न कीजिए, अर्थात् हमारे घर में प्रत्येक वस्तु सुन्दर व श्रीसम्पन्न हो। क्या सन्तान, क्या सम्पत्ति, क्या यश—सभी सौन्दर्य को लिये हुए हों। **उ**=और **श्वः**=कल भी **वामम्**=सौन्दर्य को, और **दिवेदिवे**=प्रतिदिन सौन्दर्य को ही उत्पन्न कीजिए। २. हे **देव**=सब उत्तम वस्तुओं के देनेवाले प्रभो! हम **हि**=निश्चय से **वामस्य क्षयस्य**=सुन्दर घर के (क्षि निवासगत्योः) **भूरेः**=धन-धान्य के बाहुल्यवाले घर के अथवा (भृ =पालनपोषणयोः) जिस घर में पालन व पोषण सुन्दरता से चलता है, उस घर को प्राप्त करनेवाले हों, अर्थात् हमारे घर में सब वस्तुएँ सौन्दर्य को लिये हुए हों और हमारा घर पालन व पोषण की सामग्री से युक्त हो। ३. **अया धिया**=इस (अनया) आपकी दी हुई बुद्धि से हम **वामभाजः**=सुन्दर वस्तुओं व बातों का सेवन करनेवाले हों, अर्थात् हमारी बुद्धि हमें कभी ग़लत मार्ग पर न ले-जाए। हम उन्हीं कार्यों को करें जिनसे हम सदा यशोन्वित हों।

भावार्थ—हम शक्तिशाली बनकर अपने कर्मों से घरों को सौन्दर्य से अलंकृत करनेवाले हों।

ऋषिः—भरद्वाजः। **देवता**—सविता गृहपतिः। **छन्दः**—विराड्ब्राह्म्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

भग-देव-सविता

उपयामगृहीतोऽसि सावित्रोऽसि चनोधाश्चनोधाऽअसि चनो मयि धेहि।
जिन्व यज्ञं जिन्व यज्ञपतिं भगाय देवाय त्वा सवित्रे॥७॥

१. पत्नी पति से कहती है कि—आप **उपयामगृहीतः असि**=उपासना के द्वारा यम-नियमों के धारण करनेवाले हैं। २. आप **सावित्रः असि**=सविता देव के उपासक हैं, अर्थात् आपका जीवन सूर्य की भाँति नियमित है और परिणामतः आप सूर्य की भाँति ही चमकनेवाले हैं। अथवा आप (सू-प्रेरणे) ... करनेवाले हैं। ३. **चनोधाः**=उत्तम अन्न को धारण करनेवाले और **चनोधाः**=निश्चय से उत्तम अन्न को धारण करनेवाले **असि**=हैं

(अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते—नि० १०।४२)। **चनो मयि धेहि**=मुझमें अन्न धारण कीजिए। 'अन्न प्राप्त कराना घर में सबके पालन–पोषण के लिए आवश्यक सामग्री जुटाना' यह पाणिग्रहण के मन्त्रों में **'ममेयमस्तु पोष्या'** इन शब्दों में तीसरा व्रत लिया जाता है। पति अन्न-प्रापण के द्वारा ही रक्षा करता है। ४. **यज्ञं जिन्व**=आप यज्ञ को भी प्राप्त हों। केवल खाने-पीने के लिए थोड़े ही कमाना है, यज्ञों के लिए भी तो कमाना है। **यज्ञपतिं जिन्व**=इन यज्ञों के द्वारा यज्ञों के पति प्रभु को आप प्रीणित करनेवाले बनें। वस्तुतः **'यज्ञो वै विष्णुः'** वे प्रभु यज्ञरूप हैं। हम उस यज्ञरूप प्रभु की यज्ञों के द्वारा ही उपासना कर पाते हैं। ५. मैं **त्वा**=आपको **भगाय**=ऐश्वर्य के लिए प्राप्त होती हूँ। आप घर के ऐश्वर्य को बढ़ानेवाले होओ। **देवाय त्वा**=मैं आपको दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए स्वीकार करती हूँ। आपके कारण घर में देवत्व की वृद्धि होगी। मैं **सवित्रे**=उत्तम सन्तानों को जन्म देने के लिए आपका स्वीकार करती हूँ (षू प्रसव)। आपके द्वारा मैं उत्तम सन्तानों को जन्म देनेवाली बन सकूँगी।

भावार्थ—पति इतना कमाये कि घर का व्यय भी चले और यज्ञ-यागादि के लिए भी खर्च निकलता रहे। घर में ऐश्वर्य की वृद्धि हो, देवत्व का विकास हो और उत्तम सन्तानें हों।

ऋषिः—भरद्वाजः। **देवता**—विश्वेदेवा गृहपतयः। **छन्दः**—प्राजापत्यागायत्री[क], निचृदार्षीबृहती[र]। **स्वरः**—षड्जः[क], मध्यमः[र]॥

सुशर्मा-सुप्रतिष्ठान

[क]उपयामगृहीतोऽसि [र]सुशर्मासि सुप्रतिष्ठानो बृहदुक्षाय नमः। विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यऽएष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः॥८॥

१. पत्नी कह रही है कि—**उपयामगृहीतः असि**=आप प्रभु-उपासना के द्वारा स्वीकार किये हुए यम-नियमोंवाले हैं। २. **सुशर्मा असि**=उत्तम गृहवाले हैं (शर्म गृह—नि० ३।४)। ३. **सुप्रतिष्ठानः**=(सुष्ठु प्रतिष्ठानं प्रतिष्ठा यस्य—द०) आप उत्तम प्रतिष्ठावाले हैं। ४. **बृहद् उक्षाय**=उत्कृष्ट वीर्यवान् आपका **नमः**=मैं उचित आदर करती हूँ या उचित अन्नादि की व्यवस्था (नमः=अन्न—नि० २।७) करती हूँ। ५. **विश्वेभ्यः त्वा देवेभ्यः**=सब दिव्य गुणों के लिए मैं आपको स्वीकार करती हूँ। **एषः ते योनिः**=यही आपका घर है। **विश्वेभ्यः त्वा देवेभ्यः**=सब दिव्य गुणों के लिए मैं आपको स्वीकार करती हूँ।

भावार्थ—पति यम-नियम का पालन करे। वह अपने घर को उत्तम बनाए। उसके कार्य उसे यशस्वी बनानेवाले हों। उसके कारण घर में दिव्य गुणों की वृद्धि हो।

सूचना—'शर्म' शब्द सुखवाची भी है। तब 'सुशर्मा' का अर्थ यह होगा कि जिसके कारण घर में सुख-ही-सुख है, जो घर में क्लेश बढ़ाने का कारण नहीं बनता।

ऋषिः—भरद्वाजः। **देवता**—गृहपतयो विश्वेदेवाः। **छन्दः**—प्राजापत्यागायत्री[उ], आर्ष्युष्णिक्[क], स्वराडार्षीपङ्क्तिः[र]। **स्वरः**—षड्जः[उ], ऋषभः[क], पञ्चमः[र]॥

सूर्य का उभयतो दर्शन

[उ]उपयामगृहीतोऽसि [क]बृहस्पतिसुतस्य देव सोम तऽइन्दोरिन्द्रियावतः पत्नीवतो ग्रहाँ२॥ऽ ऋध्यासम्। [र]अहं परस्तादहमवस्तादहं यदन्तरिक्षं तदु मे पिताभूत्। अहꣳसूर्यमुभयतो ददर्शाहं देवानां परमं गुहा यत्॥९॥

१. पिछले मन्त्र की भाँति प्रस्तुत मन्त्र में भी पत्नी कथन करती है कि—आप **उपयामगृहीतः असि**=सुनियमों से स्वीकृत हैं। आपका जीवन यम-नियमवाला है। २. **बृहस्पतिसुतस्य**=सब ज्ञानों के पति, अथवा सर्वोच्च दिशा के पति के पुत्र, अर्थात् जिन्हें ज्ञानी, गुणोन्नत आचार्यों ने दूसरा जन्म देकर द्विज बनाया है, उस आपके, हे **देव सोम**=दिव्य गुणोंवाले तथा उत्पादक शक्ति से युक्त पते! **इन्दोः**=सोम की रक्षा के कारण शक्तिशाली **इन्द्रियावतः**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले तथा **पत्नीवतः**=उत्तम पत्नीवाले **ते**=आपके **ग्रहान्**=(गृह्यन्ते विवाहकाले—द०) विवाह के अवसर पर लिये गये व्रतों की **ऋध्यासम्**=मैं समृद्ध करनेवाली बनूँ। पति के व्रतों के पालन में पत्नी ने सहायक होना है। पत्नी की सहायता के बिना उन व्रतों की पूर्ति सम्भव नहीं। ३. अब पत्नी अपने लिए कहती है कि **अहम्**=मैं **परस्तात्**=परलोक का ध्यान करनेवाली बनूँ और **अहम्**=मैं **अवस्तात्**=यहाँ इहलोक का भी ध्यान करनेवाली होऊँ। **'उभे निपासि जन्मनी'** ये तीसरे मन्त्र के शब्द मुझपर भी लागू हों। ४. **यद् अन्तरिक्षम्**=जो अन्तरिक्ष अर्थात् (अन्तरा क्षि) मध्यमार्ग है **तत् उ**=वह ही **मे पिता अभूत्**=मेरा रक्षक हुआ है, अर्थात् सदा मध्यमार्ग पर चलने से मैं रोगादि का शिकार नहीं होती। ५. **अहम्**=मैं **सूर्यम्**=सूर्य को **उभयतः**=दोनों ओर **ददर्श**=देखती हूँ। एक तो **अहम्**=मैं उस सूर्य को देखती हूँ जो कि **देवानां परमम्**=देवताओं में सर्वोत्कृष्ट है, अर्थात् ३३ देवों का मुखिया द्युलोक में वर्त्तमान यह सूर्य है और **गुहा यत्**=जो ब्रह्मरूपी सूर्य हृदयरूपी गुहा में विद्यमान है। बाह्य सूर्य के व्रत में चलती हुई मैं निरन्तर क्रियाशील बनूँ और अन्तःसूर्य को देखने के कारण मैं अपनी क्रियाओं में मार्गभ्रष्ट नहीं होती।

भावार्थ—पति यम-नियम का पालन करनेवाला, ज्ञानी आचार्यों से शिक्षा पाया हुआ, शक्तिशाली तथा प्रशस्तेन्द्रिय हो और उत्तम पत्नी की सहायता से व्रतों का पालन करे। पत्नी भी इहलोक व परलोक दोनों को देखे, सदा मध्यमार्ग पर चले। वह बाह्य सूर्य से क्रियाशीलता की प्रेरणा ले और अन्तःसूर्य से मार्ग का ज्ञान प्राप्त करे जिससे भटक न जाए।

ऋषिः—भरद्वाजः। **देवता**—गृहपतयः। **छन्दः**—विराड्ब्राह्मीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

प्रजापति

अग्ना३॥ऽइ पत्नीवन्त्सजूर्देवेन त्वष्ट्रा सोमं पिब स्वाहा। प्रजापतिर्वृषासि रेतोधा रेतो मयि धेहि प्रजापतेस्ते वृष्णो रेतोधसो रेतोधामशीय॥१०॥

पति के लिए कहते हैं—१. हे **अग्ने**=प्रगतिशील! **पत्नीवन्**=उत्कृष्ट पत्नीवाले! **देवेन**=दिव्य गुणों के पुञ्ज **त्वष्ट्रा**=सर्वदुःख विच्छेदक अथवा सर्वनिर्माता प्रभु के **सजूः**=साथ प्रीतिपूर्वक कार्यों का सेवन करनेवाला होकर तू **सोमं पिब**=सोम का पान कर। **स्वाहा**=इसके लिए तू स्वार्थों का, भोगवृत्ति का त्याग करनेवाला बन। भोगवृत्ति को छोड़कर सोम पान करने से तू भी छोटे रूप में 'देव त्वष्टा' बन सकेगा, अर्थात् सुन्दर दिव्य गुणोंवाली सन्तानों को जन्म दे सकेगा। २. तू इस सोमपान के कारण **प्रजापतिः**=उत्तम प्रजा का रक्षक है, **वृषा असि**=शक्तिशाली है तथा (वृष=धर्म) धर्ममय जीवनवाला है। **रेतोधाः**=इस सोमपान के कारण ही तू उचित ऋतु में रेतस् का आधान करनेवाला होता है। ३. इस रेतोधा पति से पत्नी कहती है कि **मयि रेतः धेहि**=तू मुझमें रेतस् का आधान कर, जिससे मैं **ते प्रजापतेः** =प्रजा के रक्षक तुझ **वृष्णः** =शक्तिशाली तथा **रेतोधसः**=ऋतु में रेतस् का आधान करनेवाले के **रेतोधाम्** =वीर्यधारक, पराक्रमवाले पुत्र को **अशीय**=प्राप्त करूँ। वस्तुतः संयमी माता-पिता

ही शक्तिशाली सन्तान को जन्म दे पाते हैं। माता-पिता भी शक्तिशाली, उनकी सन्तान भी शक्तिशाली। वे शक्ति को अपने में भरनेवाले सचमुच प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'भरद्वाज' हैं।

भावार्थ—पति-पत्नी 'सोमपान' करनेवाले और रेतस् का अपने में धारण करनेवाले हों, जिससे उनकी सन्तानें भी शक्तिशाली हों।

ऋषिः—भरद्वाजः। **देवता**—गृहपतयः। **छन्दः**—भूरिगार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

हारियोजन

उपयामगृहीतोऽसि हरिरसि हारियोजनो हरिभ्यां त्वा।
हर्योर्धाना स्थ सहसोमाऽइन्द्राय॥११॥

पत्नी पति से कहती है—१. **उपयामगृहीतः असि**=आपका जीवन उपासना के द्वारा यम-नियमों से युक्त है अथवा उपयाम=विवाह के द्वारा आपने मेरा हाथ ग्रहण किया है। २. **हरिः असि**=आप गृहस्थरूपी शकट के खैंचनेवाले हैं, यथायोग्य गृहाश्रम के व्यवहार को चलानेवाले हैं ३. **हारियोजनः**=(ऋक्सामे वै हरी—श० ४।४।३।७, तौ योजयति। स्वार्थे तद्धितः) अपने जीवन में आप ऋक् और साम को जोड़नेवाले हैं। 'ऋक्' विज्ञान है, 'साम' उपासना। आपके जीवन में विज्ञान व उपासना दोनों को स्थान मिला है। आपका जीवन 'विद्या-श्रद्धा' सम्पन्न है। इसमें मस्तिष्क व हृदय दोनों का ठीक विकास हुआ है। ४. **हरिभ्यां त्वा**=मैं भी ऋक् व साम, अर्थात् विद्या व श्रद्धा के विकास के द्वारा आपको स्वीकार करती हूँ। वस्तुतः पत्नी अपने जीवन में इन दोनों तत्त्वों का विकास करके ही पति की अनुकूलता का सम्पादन कर पाती है।

५. अब इन पति-पत्नी से प्रभु कहते हैं कि तुम **हर्योः**=इन विद्या व श्रद्धा के **धानाः**=धारण करनेवाले **स्थः**=हो अथवा कर्मेन्द्रिय पञ्चक व ज्ञानेन्द्रिय पञ्चकरूप इन्द्रियाश्वों को तुम अपने वश में करनेवाले हो। ६. **सहसोमाः**=तुम दोनों साथ-साथ शक्ति का सम्पादन करनेवाले हो, अर्थात् गृहस्थ में भी संयमी जीवन बिताते हुए अपनी शक्ति को नष्ट नहीं होने देते। ७. **इन्द्राय**=मैं तुम्हें परमैश्वर्य की प्राप्ति के लिए इस गृहस्थ में सङ्गत करता हूँ। तुम गृहस्थ-धर्मों का ठीक प्रकार पालन करते हुए मोक्षरूप परमैश्वर्य को प्राप्त करो।

भावार्थ—गृहस्थ में हम 'ज्ञान व भक्ति' दोनों का समन्वय करके चलें। हम कर्मेन्द्रियों व ज्ञानेन्द्रियों को धारण करनेवाले बनें। शक्ति का सम्पादन करते हुए मोक्ष को प्राप्त करें।

ऋषिः—भरद्वाजः। **देवता**—गृहपतयः। **छन्दः**—आर्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

सात्त्विक भोजन

यस्तेऽअश्वसनिर्भक्षो यो गोसनिस्तस्य तऽइष्टयजुष स्तुतस्तोमस्य
शस्तोक्थस्योपहूतस्योपहूतो भक्षयामि॥१२॥

पिछले ग्यारह मन्त्रों में वर्णित सारी उत्तम बातें अन्ततोगत्वा भोजन की सात्त्विकता पर निर्भर करती हैं, अतः प्रस्तुत मन्त्र में उसी भोजन का उल्लेख करते हुए पत्नी कहती है कि १. **यः**=जो **ते**=तेरा **भक्षः** =भोजन **अश्वसनिः**=उत्तम कर्मेन्द्रियों को प्राप्त करानेवाला है, अर्थात् तेरी क्रियाशक्ति को बढ़ानेवाला है, २. **यः गोसनिः**=जो भोजन उत्तम ज्ञानेन्द्रियों को प्राप्त करानेवाला है (अश्नुवते कर्मसु अश्वाः, गमयन्ति अर्थान् गावः), अर्थात् जिस

भोजन के द्वारा ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति बढ़कर ज्ञानशक्ति में वृद्धि होती है, ३. **उपहूतः** =जो भोजन उपहूत हुआ है, अर्थात् 'अनमीवस्य, शुष्मिणः' जिस नीरोग व शत्रुओं के शोषक बलवाले भोजन की प्रार्थना की गई है, उस भोजन को **भक्षयामि**=मैं तुझे खिलाती हूँ। ४. **तस्य ते**=उस आपको जो (क) **इष्टयजुषः**=यजुर्मन्त्रों से निरन्तर यज्ञ करनेवाले हो (इष्टं यजुर्भिर्येन, तस्य)। (ख) **स्तुतस्तोमस्य**=(स्तुतं स्तोमैः साममन्त्रविशेषैर्येन) साम-मन्त्रों से प्रभु का स्तवन करनेवाले हो। (ग) **शस्तोक्थस्य**=(शस्तानि उक्थानि यस्य) प्रशस्त ऋक् मन्त्रोंवाले हो। (घ) **उपहूतस्य**=उपासना द्वारा प्रभु का आह्वान करनेवाले हो।

भावार्थ—भोजन वही ठीक है जो कर्मेन्द्रियों को क्रियाशील और ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञानप्राप्तिक्षम बनाता है और जिसकी वेद में इस रूप में प्रार्थना है कि यह नीरोगता व शत्रु-शोषण-शक्ति को देनेवाला हो। इससे पति का जीवन इतना सुन्दर बनेगा कि वे यजुर्मन्त्रों से यज्ञ करनेवाले बनेंगे। साममन्त्रों से प्रभु-स्तवन करेंगे तथा ऋङ्मन्त्रों का उच्चारण करनेवाले होंगे, अतः पत्नी ने पति व परिवार को सात्त्विक भोजन ही खिलाना है।

ऋषिः—भरद्वाजः। **देवता**—गृहपतयो विश्वेदेवाः। **छन्दः**—निचृत्साम्न्युष्णिक्[१,२,४], साम्न्युष्णिक्[३], प्राजापत्योष्णिक्[५], निचृदार्च्युष्णिक्[६]। **स्वरः**—ऋषभः॥

सात्त्विक भोजन का परिणाम पाप का अवयजन

[१]देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि [२]मनुष्यकृतस्यैनसोऽवयजनमसि [३]पितृकृतस्यैनसोऽवयजनमस्या[४]त्मकृतस्यैनसोऽवयजनमस्येनसऽ[५]एनसोऽवयजनमसि। [६]यच्चाहमेनो विद्वाँश्चकार यच्चाविद्वाँस्तस्य सर्वस्यैनसोऽवयजनमसि॥१३॥

१. गत मन्त्र के सात्त्विक भोजन का पहला परिणाम यह है कि हमारे जीवनों से पाप दूर हो जाते हैं, क्योंकि 'जैसा अन्न वैसा मन' **आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः**' यह कथन प्रामाणिक है। २. मन्त्र में कहते हैं कि इस सात्त्विक भोजन से तुम **देवकृतस्य एनसः**=देवों के विषय में किये गये पापों को **अवयजनम् असि**=दूर करनेवाले हो (अवयजन =दूर करना)। हम पृथिवी आदि देवों को दूषित नहीं करते। जल में गन्द नहीं फेंकते, अग्नि में रबड़ इत्यादि नहीं जलाते। ३. **मनुष्यकृतस्य**=तुम मनुष्य के विषय में किये गये **एनसः**=पापों को **अवयजनम् असि**=दूर करनेवाले हों। मनुष्यों के प्रति हम 'मनसा, वाचा, कर्मणा' अहिंसा धर्म का पालन करनेवाले होते हैं, उनके साथ मीठे शब्द बोलते हैं, चुभनेवाले वाग्बाण नहीं चलाते रहते। ४. **पितृकृतस्य एनसः**=तुम माता-पिता के विषय में किये गये पाप को **अवयजनम् असि**=दूर करनेवाले हो। सात्त्विक अन्न का सेवन करनेवाला माता-पिता की अवज्ञा न करके सदा उनका सम्मान करता है। ५. **आत्मकृतस्य एनसः**=तुम आत्मा के विषय में किये गये पाप को **अवयजनम् असि**=दूर करनेवाले हो। आत्मा के मूल्य पर पार्थिव भोगों को भोगना ही आत्मविषयक पाप है। आत्मा के लिए तो सारी पृथिवी को भी छोड़ना पड़े तो छोड़ देना चाहिए। ६. **एनसः एनसः अवयजनमसि**=एक-एक पाप से हमें दूर करनेवाले हो। सात्त्विक भोजन से हममें कोई भी पाप नहीं रहता। ७. **यत् च**=और जिस **एनः**=पाप को **अहम्**=मैं **विद्वान्**=जानता हुआ **चकार** =करता हूँ **च**=और **यत्**=जिसको **अविद्वान्**=न जानता हुआ **चकार**=कर बैठता हूँ **तस्य सर्वस्य एनसः** =उस सारे पाप का तुम **अवयजनम् असि**=दूर करनेवाले हो।

मनुष्य कई बार **'जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः'** जानता हुआ भी धर्म नहीं कर

पाता **'जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः'**=अधर्म को जानता हुआ भी उससे रुकता नहीं। यह ठीक है कि परिपक्व ज्ञान की स्थिति में तो अधर्म सम्भव ही नहीं, परन्तु सामान्यतः मनुष्य जानता हुआ भी प्रलोभनों से आक्रान्त होकर बहुधा अधर्म करता है। 'सात्त्विक आहार' ज्ञानपूर्वक होनेवाले पापों से हमें बचाएगा। अनजाने में हो जानेवाले पापों से भी यह हमें बचानेवाला हो।

भावार्थ—सात्त्विक आहार से शुद्ध बुद्धिवाले होकर हम पापों से ऊपर उठ जाएँ।

ऋषिः—भरद्वाजः। **देवता**—गृहपतयः। **छन्दः**—विराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

आप्यायन—न्यूनता का दूरीकरण

सं वर्च॑सा॒ पय॑सा॒ सं त॒नूभि॒रग॑न्महि॒ मन॑सा॒ सꣳशि॒वेन॑।
त्वष्टा॑ सु॒दत्रो॒ वि द॑धातु॒ रायो॒ऽनु॑मार्ष्टु त॒न्वो॒ यद्विलि॑ष्टम्॥१४॥

१. सात्त्विक आहार से शुद्ध बुद्धिवाले होकर हम **वर्चसा**=ब्रह्मवर्चस् से, ज्ञानाध्ययन सम्पत्ति से **समगन्महि**=सङ्गत हों। सात्त्विक आहार से शरीर में शक्ति सुरक्षित होती है और यह ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर उसे दीप्त करती है, तब हम ब्रह्मवर्चस् को प्राप्त करते हैं। २. **पयसा**=(ओप्यायी वृद्धौ) हम सब अङ्गों का आप्यायन प्राप्त करें, हमारे सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग बढ़ें। ३. **तनूभिः**=(तनु विस्तारे) जिनकी शक्ति का विस्तार हुआ है, ऐसे अनुष्ठानक्षम शरीर के अवयवों से हम युक्त हों और ४. **शिवेन मनसा**=कल्याणकर मन से, शिवसंकल्पवाले मन से, **सम् अगन्महि**=हम सङ्गत हों। ५. सात्त्विक भोजन के परिणामरूप जब हमारा मन शिवसंकल्पोंवाला होगा तब हम असन्मार्ग से धन कमानेवाले न होंगे। वह **त्वष्टा**=देवशिल्पी, हमारे अन्दर सब दिव्य गुणों का निर्माण करनेवाला प्रभु तथा (तनूकरणे) हमारे सब दुःखों को क्षीण (thin) करनेवाला, **सुदत्रः**=(सु+द+त्र) उत्तम दान से हमारा त्राण करनेवाला प्रभु हमारे लिए **रायः**=दान देने योग्य धनों का **विदधातु**=धारण करे। 'सात्त्विकता से धनों का सम्बन्ध ही न हो' ऐसी बात नहीं है। हाँ, सात्त्विक पुरुष अन्धाधुन्ध धन नहीं कमाता। यह कमाता है—सुपथ से तथा उन्हें दान में देने की रुचिवाला होता है। ६. वह प्रभु इन सात्त्विक आहारों के द्वारा **तन्वः**=शरीर का **यत्**=जो **विलिष्टम्**=(लिश् अल्पीभावे) न्यूनता व दोष हो उसे **अनुमार्ष्टु**=दूर करके शरीर का शोधन कर डाले।

भावार्थ—सात्त्विक आहार के परिणामरूप हमारा शरीर व बुद्धि ठीक हो, हम ठीक मार्ग से ही धन कमाएँ, हमारे शरीरों में कोई न्यूनता न रहे।

ऋषिः—अत्रिः। **देवता**—गृहपतयः। **छन्दः**—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

देवों की सुमति में ('अत्रि' बनना)

समि॑न्द्र णो॒ मन॑सा नेषि॒ गोभिः॒ सꣳसू॒रिभि॑र्मघवन्त्सꣳस्व॒स्त्या।
सं ब्रह्म॑णा दे॒वकृ॑तं॒ यदस्ति॒ सं दे॒वानाꣳसुम॒तौ य॒ज्ञियाना॒ꣳस्वाहा॑॥१५॥

इसी प्रकरण में कहते हैं कि १. हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विदारण करनेवाले प्रभो! आप **नः**=हमें **मनसा**=प्रशस्त मननशील मन से **संनेषि**=सम्यक्तया सङ्गत करते हैं। सात्त्विक आहार के द्वारा हमारा मन पवित्र होता है। २. **गोभिः**=(गावः इन्द्रियाणि) उत्तम इन्द्रियों से आप हमें **संनेषि**=सङ्गत करते हो। ३. हे **मघवन्**=ऐश्वर्यवन्! अथवा इन ऐश्वर्यों से विविध

यज्ञों (मघ=मख) को सिद्ध करनेवाले प्रभो! आप हमें **सूरिभिः**=विद्वानों के साथ **सं**=सङ्गत करते हो। इन विद्वानों के सम्पर्क से ही हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ उत्तमोत्तम ज्ञानों को प्राप्त कराके हमें उत्तम मननशील मनवाला बनाती है और इस प्रकार ४. **स्वस्त्या संनेषि**=आप हमें उत्तम-कल्याणमय जीवन से सङ्गत करते हैं। ५. इस उत्तम जीवन के लिए **ब्रह्मणा**=उस ज्ञान से हमें **सम्**=सङ्गत करते हैं **यत्**=जो ज्ञान **देवकृतम्**=महादेव आपसे सृष्टि के प्रारम्भ में अग्नि आदि ऋषियों के हृदय में **अस्ति**=प्रकाशित किया गया है। या जो ज्ञान विद्वान् ऋषि-मुनियों से दिया गया है। ६. हे प्रभो! आप ऐसी कृपा करो, जिससे हम सात्त्विक आहार से सात्त्विक रुचिवाले बनें और आप हमें **यज्ञियानाम्**=(यज्ञसम्पादिनाम्) यज्ञों का सम्पादन करनेवाले **देवानाम्**=देवों की **सुमतौ**=कल्याणी मति में **संनेषि**=सङ्गत कीजिए। ७. हे प्रभो! इस सबके लिए हम **स्वाहा**=आपके प्रति अपना अर्पण करते हैं अथवा स्वादादि की स्वार्थवृत्तियों को छोड़ते हैं।

भावार्थ—सात्त्विक आहार के द्वारा प्रभु हमारी रुचि को ही परिवर्तित कर देते हैं और हम विद्वानों—यज्ञिय देवों के सम्पर्क में रहकर अपने जीवनों को उत्तम बना पाते हैं। देवों की कल्याणी मति में रहते हुए हम 'काम-क्रोध-लोभ' से ऊपर उठते हैं। हमारा मन उत्तम होता है, कामादि तीनों से शून्य होने के कारण हम 'अ-त्रि' होते हैं।

ऋषिः—अत्रिः। **देवता**—गृहपतयः। **छन्दः**—विराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

'सु-द-त्रः'

सं वर्च॑सा॒ पय॑सा॒ सं त॒नूभि॒रग॑न्महि॒ मन॑सा॒ सꣳशि॒वेन॑।
त्वष्टा॑ सु॒दत्रो॒ वि द॑धातु॒ रायोऽनु॑मार्ष्टु त॒न्वो॒ यद्विलि॑ष्टम्॥१६॥

गत मन्त्र का अत्रि कहता है कि **सुदत्रः**=उत्तम ज्ञानों के दान से त्राण करनेवाले **त्वष्टा**=अविद्यादि दोषों को नष्ट करनेवाले प्रभु की कृपा से **वर्चसा**=ब्रह्मवर्चस् से **पयसा**=आप्यायन (वर्धन) से **तनूभिः**=बलयुक्त शरीरों से **शिवेन मनसा**=शिवसंकल्पवाले मन से **समगन्महि**=हम सङ्गत हों। वह प्रभु **रायः विदधातु**=दान देने योग्य धनों को हममें धारण करें और **तन्वः**=शरीर का जो **विलिष्टम्**=न्यूनीभाव है, उसे **अनुमार्ष्टु**=ठीक कर डालें, शोध डालें, न्यूनता को दूर करके हमारी पूर्णता करें। हमारे शरीर, मन व मस्तिष्क में कहीं भी त्रुटि न रह जाए। हम 'अ-त्रि' बनें—हमारे शरीर भी त्रुटिशून्य हों, मन और मस्तिष्क भी।

भावार्थ—वे प्रभु हमें उत्तम ज्ञान का दान करके अल्पीभाव से शून्य करें। हम न्यूनताओं को दूर करके शरीर, मन व मस्तिष्क में पूर्णता का स्थापन करें।

ऋषिः—अत्रिः। **देवता**—विश्वेदेवा गृहपतयः। **छन्दः**—स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

गृहस्थ में कौन प्रवेश करे

धा॒ता रा॒तिः स॑वि॒तेदं जु॑षन्तां प्र॒जाप॑तिर्निधि॒पा दे॒वोऽअ॒ग्निः।
त्वष्टा॒ विष्णुः॑ प्र॒जया॑ सꣳररा॒णा यज॑मानाय॒ द्रवि॑णं दधात॒ स्वाहा॑॥१७॥

गृहस्थ के प्रकरण को ही आगे ले-चलते हुए कहते हैं कि १. **इदम्**=इस गृहस्थ को **जुषन्ताम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करें। कौन? (क) **धाता**=(धा=धारणपोषणयोः) जो धारण व पोषण की योग्यता रखता है, अर्थात् जो गृहस्थ की आवश्यकताओं के लिए आवश्यक

धन तो अवश्य कमाता है। (ख) **रातिः**=जो देनेवाला है (रा दाने)। गृहस्थ ने जहाँ अपने पालन-पोषण के लिए कमाना है वहाँ यज्ञों के लिए भी कमाना है। (ग) **सविता**=जो उत्पादक है, जो निर्माणात्मक कार्यों में लगता है और उत्पादन-शक्ति रखता है, अर्थात् सन्तान-निर्माण की योग्यता रखता है। (घ) **प्रजापतिः**=सन्तान की रक्षा करने में रुचिवाला है। (ङ) **निधिपाः**=अपने खज़ाने व कोश की रक्षा करनेवाला है। शरीर में उत्पन्न सोम ही इसकी वास्तविक निधि है, इस सोम की रक्षा से ही यह अपने ज्ञानकोश की भी रक्षा करता है। (च) **देवः**=यह उत्तम व्यवहारवाला है अथवा काम-क्रोधादि वासनाओं को जीतने की कामनावाला है (दिव्=व्यवहार, विजिगीषा)। (छ) **अग्निः**=प्रगतिशील है अथवा प्रकाश को प्राप्त तथा दोषों का दहन करनेवाला है। (ज) **त्वष्टा**=दिव्य गुणों का अपने में निर्माण करनेवाला (त्वष्टा=देवशिल्पी) अथवा सब बुराइयों को क्षीण करनेवाला (त्वक्ष्=तनूकरणे) है। (झ) **विष्णुः**=व्यापक व उदार मनोवृत्तिवाला है (विष्णु व्याप्तौ)। २. उल्लिखित नौ गुणों से युक्त गृहस्थों से कहते हैं कि (क) **प्रजया संरराणाः**=अपने सन्तान के साथ (संरराणाः=संरममाणाः) आनन्द को अनुभव करते हुए, उन्हीं के साथ क्रीड़ा करते हुए, खेल-खेल में ही उनका शिक्षण करते हुए। (ख) **यजमानाय**=यज्ञशील पुरुष के लिए **द्रविणम्**=धन को **दधात**=धारण करनेवाले बनो, अर्थात् उत्तम कर्मों में लगे हुए, लोकहित के कार्यों में व्यापृत लोगों के लिए धनों को धारण करनेवाले बनो। इन्हें पात्र जानकर दान देनेवाले होओ। **स्वाहा**=इसके लिए स्वार्थत्याग तो करना ही है।

भावार्थ—१. धातृत्व आदि नव गुणों से युक्त पुरुष ही गृहस्थ में प्रवेश का अधिकारी है। २. उसे प्रजा के निर्माण में आनन्द अनुभव करना चाहिए, तथा ३. पात्रों में दान देनेवाला होना चाहिए।

ऋषिः—अत्रिः। **देवता**—गृहपतयः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

गृहस्थ की तीन बातें

सुगा वो देवाः सदनाऽअकर्म यऽआजग्मेदꣳसवनं जुषाणाः।
भरमाणा वहमाना हवीꣳष्यस्मे धत्त वसवो वसूनि स्वाहा॥१८॥

१. हे **देवाः**=उत्तम व्यवहारवालो तथा काम-क्रोध-लोभ को जीतने की कामनावाले गृहस्थो! **ये**=जो तुम **इदं सवनम्**=इस सन्तान-निर्माण के साधनभूत गृहस्थ-यज्ञ को **जुषाणाः**=प्रीतिपूर्वक सेवन करते हुए **आजग्म**=आये हो, उन **वः**=तुम्हारे **सदना**=(सदनानि) घरों को **सुगाः**=सुन्दर गतिवाला, उत्तम क्रियाओंवाला **अकर्म**=करते हैं, अर्थात् जब गृहस्थ लोग सन्तान-निर्माणरूप यज्ञ को ही गृहस्थ में प्रवेश का उद्देश्य समझते हैं, तब घरों में उत्तम कार्य ही चलते हैं। २. ऐसे गृहस्थों से प्रभु कहते हैं कि (क) **भरमाणाः**=घर के सब सदस्यों का भरण करते हुए, उनके पालन-पोषण में कमी न आने देते हुए (ख) **हवींषि वहमाना**=हवियों का वहन करते हुए, अर्थात् घरों में यज्ञों को विलुप्त न होने देते हुए (ग) **अस्मे**=हमारी प्राप्ति के लिए, **वसवः**=हे उत्तम निवासवाले गृहस्थो! आप **वसूनि**= उत्तमोत्तम बातों को, उत्तम गुणों व धनों को **धत्त**=धारण करो। **स्वाहा**=इस सबके लिए तुम स्वार्थत्याग करनेवाले बनो।

मन्त्रार्थ से स्पष्ट है कि १. गृहस्थ को गृहस्थाश्रम का उद्देश्य सन्तान-निर्माण ही समझना चाहिए। इस सद्गृहस्थ को चाहिए कि २. गृहस्थ का पालन-पोषण ठीक प्रकार से कर सके (भरमाणाः)। ३. यज्ञ की वृत्तिवाला हो (वहमाना हवींषि)। ४. तथा प्रभु-प्राप्ति

के उद्देश्य से उत्तम गुणों को धारण करनेवाला बने।

भावार्थ—१. हम गृहस्थ को यज्ञ समझें। २. इसमें गृहजनों के पालन-पोषण तथा यज्ञों के लिए धन कमानेवाले बनें और ३. उत्तम रत्नों को, रमणीय गुणों को धारण करें जिससे प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनें।

ऋषिः—अत्रिः। **देवता**—विश्वेदेवा गृहपतयः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

असु-घर्म-स्वः

याँ२॥ऽआवहऽउशतो देव देवाँस्तान् प्रेरय स्वेऽअग्ने सधस्थे।

जक्षिवाꣳसः पपिवाꣳसश्च विश्वेऽसुं घर्मꣳस्वरातिष्ठतानु स्वाहा॥१९॥

पिछले मन्त्र में घरों में यज्ञों की परिपाटी का उल्लेख था। प्रस्तुत मन्त्र में उन यज्ञों के सम्पादन के लिए समय-समय पर सर्वहित की कामना करनेवाले विद्वानों को आमन्त्रित करने का वर्णन है, पर यह आमन्त्रण पत्नी की अनुकूलता के साथ ही होना चाहिए। मन्त्र का 'सधस्थ' शब्द इसी बात पर बल दे रहा है।

१. हे **देव**=उत्तम व्यवहारवाले व वासनाविजिगीषु गृहस्थ! **यान्**=जिन **उशतः**=मङ्गल की कामना करनेवाले **देवान्**=देवों को **आवहः**=(आहूतवान् असि—द०) आपने बुलाया है। हे **अग्ने**=घर की उन्नति करनेवाले! तू **तान्**=उन देवों को **स्वे**=अपने **सधस्थे**=सबके मिलकर ठहरने के स्थानभूत घर में, अर्थात् जिस घर में पति-पत्नी, घर के वृद्ध व सन्तान सभी मिलकर चल रहे हैं, जिसमें विरुद्धमति के कारण लड़ाई-झगड़ा नहीं है, उस घर में **प्रेरय**=प्रेरित कर, आने के लिए आमन्त्रित कर। २. यज्ञ हो चुकने पर **जक्षिवांसः**=जिन्होंने यज्ञशेष खाया है **च**=तथा **पपिवांसः**=शुद्ध जल का पान किया है **विश्वे**=वे तुम सब **असुम् अनु**=प्राणशक्ति को लक्ष्य बनाकर तथा **घर्मं अनु**=(घर्म=यज्ञ—नि० ३।१७) यज्ञ को लक्ष्य बनाकर (घर्म यज्ञ इसलिए है कि इससे मलों का क्षरण होता है और दीप्ति प्राप्त होती है—घृ क्षरणदीप्त्योः) तथा **स्वः अनु**=स्वर्ग को तथा सुख को लक्ष्य बनाकर **आतिष्ठत**=सर्वथा उद्योग करो और **स्वाहा**=इसके लिए जितना भी 'स्व' का त्याग आवश्यक हो उतना 'हा' छोड़नेवाले बनो। ३. घरों में विद्वान् अतिथियों के आने से यज्ञादि का कार्यक्रम चलता रहता है और वैषयिक वृत्ति न होने से प्राणशक्ति सुरक्षित रहती है—यज्ञ होते रहते हैं और घर सुखमय स्वर्ग-सा बन जाता है। ४. इस सबके लिए **स्वाहा**=स्वार्थत्याग आवश्यक है।

भावार्थ—हम घरों में विद्वान् अतिथियों को आमन्त्रित करें। उनपर यह प्रभाव न पड़े कि घर में पति-पत्नी में मेल नहीं है। हम यज्ञशेष के खानेवाले बनें। 'प्राणशक्ति की वृद्धि, यज्ञों की प्रवृत्ति व घर को स्वर्गतुल्य बनाना' हमारा लक्ष्य हो।

ऋषिः—अत्रिः। **देवता**—गृहपतयः। **छन्दः**—स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

होतृ-वरण

वयꣳहि त्वा प्रयति यज्ञेऽअस्मिन्नग्ने होतारमवृणीमहीह।

ऋधगयाऽऋधगुताशमिष्ठाः प्रजानन् यज्ञमुपयाहि विद्वान्त्स्वाहा॥२०॥

१. गत मन्त्र में विद्वानों को घर में आमन्त्रित करने का उल्लेख था। उसी बात को कहते हैं कि **वयम्**=हम **हि**=निश्चय से **त्वा**=तुझ **होतारम्**=होता को **अस्मिन्**=इस **प्रयति**=(प्रगच्छति-प्रारभ्यमाणे) चल रहे **यज्ञे**=यज्ञ में **इह**=यहाँ अपने घर में **अवृणीमहि**=वरते

हैं। आपके निरीक्षण में हम इस यज्ञ को सफलतापूर्वक करनेवाले बनते हैं। २. हे **अग्ने**=मार्गदर्शक होतः! आप हमसे वृत होकर **ऋधगयाः**=(ऋधक् अयाः) इस यज्ञ को समृद्ध करते हुए पूर्ण करनेवाले हैं। **उत**=तथा **ऋधक्**=हमें समृद्ध करते हुए ही आपने **अशमिष्ठाः**=सब विघ्नों व उपद्रवों को शान्त किया है। हमारे मनों में होनेवाली अशान्ति को भी आपने दूर किया है। ३. हे होतः! **यज्ञं प्रजानन्**=यज्ञ को अच्छी प्रकार समझते हुए **विद्वान्**=ज्ञानी आप **उपयाहि**=हमें समीपता से प्राप्त होओ। आपके सम्पर्क में आते रहने से हमारी यज्ञियवृत्ति बनी रहेगी और **स्वाहा**=यह सुहुत=उत्तम यज्ञादि कार्य सदा चलते ही रहें।

भावार्थ—हम यज्ञों के लिए ज्ञानी होता का वरण करते हैं। उनकी सङ्गति में हमारे यज्ञ निर्विघ्न पूर्ण होते रहते हैं। हमारी चित्तवृत्ति भी शान्त होती है।

ऋषिः—अत्रिः। **देवता**—गृहपतयः। **छन्दः**—स्वराडार्ष्युष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

मार्ग-वित्

देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित।
मनसस्पतऽइमं देव यज्ञꣳ स्वाहा वाते धाः॥२१॥

१. हे **गातुविदः**=मार्ग को जाननेवाले **देवाः**=विद्वानो! **गातुं वित्वा**=मार्ग को जानकर **गातुम् इत**=मार्ग पर चलो। वस्तुतः देव या विद्वान् वही है जो संसार में अपनी जीवन-यात्रा के मार्ग को ठीक से जानता है। जानता ही नहीं, जानकर उस मार्ग पर चलता भी है। २. हे **मनसस्पते**=मन के पति! अपने मन को वश में करनेवाले! **देव**=विद्वन्! तू **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ को **स्वाहा**=उत्तमता से करनेवाला हो। ३. ये यज्ञ तेरे जीवन को पवित्र बनाएँगे। इन यज्ञों को तूने **वाते**=वायु के निमित्त भी **धाः**=धारण करना है। इन यज्ञों के द्वारा वायुमण्डल पवित्र होगा और ऋतुओं की अनुकूलता होगी, अतः इन यज्ञों को तूने अवश्य करना है। इन यज्ञों के लिए ही मन को अपने वश में करने का प्रयत्न करना है।

भावार्थ—यज्ञ ही हमारी जीवन-यात्रा के मार्ग हों। इनसे जहाँ हमारा जीवन पवित्र हो, वहाँ वायुमण्डल की पवित्रता से आधिदैविक आपत्तियाँ भी दूर हों।

ऋषिः—अत्रिः। **देवता**—गृहपतयः। **छन्दः**—विराडार्च्युष्णिक्[क], विराडार्चीबृहती[र]। **स्वरः**—ऋषभः[क], मध्यमः[र]॥

यज्ञ

[क]**यज्ञ यज्ञं गच्छ यज्ञपतिं गच्छ स्वां योनिं गच्छ स्वाहा।**
[र]**एष ते यज्ञो यज्ञपते सहसूक्तवाकः सर्ववीरस्तं जुषस्व स्वाहा॥२२॥**

१. गृहस्थ के ही विषय में कहते हैं कि **यज्ञ**=(यो यजति सङ्गच्छते—द०) सबके साथ मिलकर प्रीतिपूर्वक चलनेवाले गृहस्थ! **यज्ञं गच्छ**=तू यज्ञ को प्राप्त हो, अर्थात् इस गृहस्थ में (यज् देवपूजा) विद्वानों के सत्काररूप धर्म को प्राप्त हो। तेरे घर में अतिथियज्ञ नियमपूर्वक चले। २. **यज्ञपतिं गच्छ**=तू सब यज्ञों के रक्षक परमात्मा को प्राप्त हो, प्रभु की उपासना करनेवाला बन। ३. **स्वाहा**=(सत्यया क्रियया—द०) इन यज्ञादि सत्य क्रियाओं को करता हुआ तू **स्वां योनिं गच्छ**=(प्रकृतिं स्वात्मस्वभावम्—द०) अपने स्वभाव को प्राप्त हो। **पुरुष** होने के नाते 'पौरुष' ही तो तेरा स्वभाव है, **मनुष्य** होने के नाते 'मननशीलता' वाला तू हो, **पञ्चजन** होने के कारण पाँचों ज्ञानेन्द्रियों, पाँचों कर्मेन्द्रियों व पाँचों प्राणों का तू विकास करनेवाला हो। ४. प्रभु के प्रति तेरी यही प्रार्थना हो कि हे प्रभो! **एषः ते**

यज्ञः=यह यज्ञ आपका ही है। इसके करनेवाले आप ही हैं, हम सब तो निमित्तमात्र हैं। यह यज्ञ **सहसूक्तवाकः**=ऋग्, यजुः आदि के सूक्तों के उच्चारण से युक्त है। **सर्ववीरः**=यह यज्ञ सब वीरोंवाला है, हमारे सब सन्तान भी इसमें सम्मिलित हुए हैं। **तं जुषस्व**=उसे आप प्रीतिपूर्वक सेवन कीजिए। **स्वाहा**=इस प्रकार हम आपके प्रति अपना अर्पण करते हैं।

भावार्थ—हम विद्वानों के सत्काररूप अतिथियज्ञ व प्रभु की उपासनारूप ब्रह्मयज्ञ को प्रतिदिन करनेवाले बनें। उत्तम कर्मों द्वारा प्रभु को प्रीणित करनेवाले हों।

ऋषिः—अत्रिः[३], शुनःशेपः[क]। देवता—गृहपतयः। छन्दः—याजुष्युष्णिक्[३], निचृदार्षीत्रिष्टुप्[क], आसुरीगायत्री[र]। स्वरः—ऋषभः[३], धैवतः[क], षड्जः[र]॥

विशाल संसार में सभी के लिए स्थान है

[३]माहिर्भूर्मा पृदाकुः। [क]उरुꣳहि राजा वरुणश्चकार सूर्याय पन्थामन्वेतवाऽउ। अपदे पादा प्रतिधातवेऽकरुतापवक्ता हृदयाविधश्चित्। [र]नमो वरुणायाभिष्ठितो वरुणस्य पाशः॥२३॥

१. गत मन्त्र में यज्ञियवृत्ति का उल्लेख था। यज्ञियवृत्तिवाला व्यक्ति दूसरे से लड़ता नहीं, न हानि पहुँचाता है। मन्त्र में कहते हैं कि—**मा अहिः भूः**=तू साँप मत बन, अर्थात् कभी कुटिलता का आश्रय मत ले और न ही साँप की तरह औरों को डसनेवाला बन। कभी कड़वे—चुभनेवाले शब्द न बोल। २. **मा पृदाकुः**=तू अजगर मत बन। दूसरे की सम्पत्ति को हड़पनेवाला मत बन, क्योंकि उस **राजा वरुणः**=सारे संसार के शासक वरुण ने **हि**=निश्चय से **उरुम् चकार**=इस संसार को अत्यन्त विशाल बनाया है। दूसरे के भाग को हड़पकर क्या करना? परस्पर लड़ना भी क्यों? ३. उस प्रभु ने तो **सूर्याय उ**=सूर्य के लिए भी, जोकि पृथिवी से लाखों गुणा बड़ा है, **अन्वेतवा**=अनुक्रम से चलने के लिए, **पन्थाम्**=मार्ग को **चकार**=बनाया है फिर इस छोटे से देह में प्रविष्ट मेरे लिए इस संसार में कोई कमी है क्या? नहीं, मुझे अपने हृदय को विशाल बनाना चाहिए और छोटे-छोटे भू-भागों के लिए भाइयों से लड़ना न चाहिए। ४. **अपदे**=जहाँ पाँव का रखना भी कठिन था, जहाँ नाममात्र भी आना-जाना न था, वहाँ भी **पादा प्रतिधातवे** =पाँवों के प्रतिधारण—स्थापन के लिए **अकः**=उस प्रभु ने व्यवस्था कर दी। प्रभु-कृपा से जङ्गल में भी मङ्गल हो गया। जहाँ दिन में भी चलना कठिन था वहाँ रात में भी चलना सुगम हो गया, अतः मनुष्य को चाहिए यही कि परस्पर लड़ने की बजाय तनिक पुरुषार्थ से वीरान भू-भागों को आबाद कर ले। ५. **उत**=और वे प्रभु **हृदयाविधः**=दूसरे के हृदयों को पीड़ित करनेवाली वाणी बोलनेवाले को **चित्**=भी **अपवक्ता**=भर्त्स्ना करनेवाले हैं। उसे प्रभु अपनी गोद में स्थान नहीं देते। ६. हमें चाहिए कि हम प्रातः-सायं **वरुणाय नमः**=इस वरुण के प्रति नतमस्तक हों, **वरुणस्य पाशः**=उस वरुण का पाश **अभिष्ठितः**=दोनों ओर स्थित है। वे प्रभु ऐहलौकिक व पारलौकिक दोनों ही दण्ड देते हैं। औरों का भाग हड़पनेवाले को यहाँ नींद नहीं और परलोक में यह सर्पादि की हीन योनि में ही जाता है।

भावार्थ—हम संसार में सरलवृत्ति से चलें, औरों के भाग को न हड़प जाएँ। संसार अत्यन्त विशाल है, छोटे-छोटे भू-भागों के लिए परस्पर लड़ें नहीं। कभी मर्मपीड़ाकर वचन न बोलें।

ऋषिः—अत्रिः। देवता—गृहपतयः। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

निर्मल व दीप्त भाषण (घृतोच्चारण)

अग्नेरनीकमपऽआविवेशापान्नपात् प्रतिरक्षन्नसुर्यम्।
दमेदमे समिधं यक्ष्यग्ने प्रति ते जिह्वा घृतमुच्चरण्यत् स्वाहा॥२४॥

गृहस्थ के लिए ही कहते हैं कि १. तुम अपना जीवन ऐसा बनाओ कि **अग्नेः**=अग्नि का **अनीकम्**=बल **अपः आविवेश**=जलों में प्रविष्ट हो। तुम्हारा जीवन जल की भाँति शान्त हो, परन्तु उस शान्ति में अग्नि की तेजस्विता हो। शान्ति में शक्ति का पुट हो। अग्नि व जल तत्त्व मिल जाएँ। वस्तुतः इनके मेल में ही रस की उत्पत्ति है। जीवन का वास्तविक आनन्द 'शान्ति+शक्ति' में है। २. तू **अपांनपात्**=(आपः रेतः) रेतस् को न गिरने देनेवाला हो। शरीर में शक्ति का संयम करनेवाला हो। **असुर्यम्**=(असवः प्राणाः तान् राति, तेषु साधुः) प्राणशक्ति देनेवालों में सर्वोत्तम इस सोम का तू **प्रतिरक्षन्**=शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रक्षा करनेवाला हो। यह सुरक्षित हुआ सोम ही तेरे प्रत्येक अङ्ग को शक्तिशाली बनाएगा। ३. इस सोम की रक्षा के लिए सब इन्द्रियों का विजय व दमन आवश्यक है। इस **दमेदमे**=प्रत्येक इन्द्रिय के दमन के निमित्त हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **समिधम्**=(इन्ध् दीप्तौ) उस सर्वतो देदीप्यमान प्रभु को **यक्षि**=अपने साथ सङ्गत कर, प्रभु की उपासना कर। यह उपासना तुझे इन्द्रियदमन में समर्थ करेगी और तू अपने शरीर में इस असुर्य सोमशक्ति की रक्षा कर पाएगा। ४. उस देदीप्यमान प्रभु का उपासक बनकर तू यह ध्यान कर कि **ते जिह्वा**=तेरी जिह्वा **प्रति**=प्रत्येक व्यक्ति के प्रति **घृतम्**=निर्मल व दीप्त शब्दों का **उच्चरण्यत्**=उच्चारण करे। प्रभु-भक्त कठोर शब्द थोड़े ही बोलता है। **स्वाहा**=यह सदा सुन्दर क्रिया से युक्त होता है।

भावार्थ—हम अपने जीवनों में शान्ति व शक्ति का समन्वय करें। वीर्य की रक्षा करें, यही हमें प्राणशक्ति-सम्पन्न करेगा। हम इन्द्रिय-विजय के लिए प्रभु का उपासन करें। उपासक बनकर उत्तम शब्द ही बोलें।

ऋषिः—अत्रिः। देवता—गृहपतयः। छन्दः—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

समुद्र में हृदय का धारण

समुद्रे ते हृदयमप्स्वन्तः सं त्वा विशन्त्वोषधीरुतापः।
यज्ञस्य त्वा यज्ञपते सूक्तोक्तौ नमोवाके विधेम यत् स्वाहा॥२५॥

१. **ते**=तेरा हृदय **समुद्रे**=(स-मुद्रे) सदा आनन्द के साथ निवास करनेवाले आनन्दमय प्रभु में है, अर्थात् तू अपने हृदय में सदा प्रभु का स्मरण करता है **अप्सु अन्तः**=तेरा हृदय इन रेतःकणों में है (आपः रेतो भूत्वा), अर्थात् इनकी रक्षा का तुझे सदा ध्यान रहता है। वस्तुतः इन रेतःकणों की रक्षा से ही तो प्रभु का भी दर्शन होना है। २. अथवा **ते हृदयम्**=तेरा हृदय **समुद्रे**=इस समुद्र के समान व्यवहार के गाम्भीर्यवाले गृहस्थ में है तथा **अप्सु अन्तः**=(आपः=प्रजाः) तेरा ध्यान प्रजाओं में है (**यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्। तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥**—मनु)। ३. 'तेरा ध्यान प्रभु में लग सके, तू रेतःकणों की रक्षा कर सके तथा तू गृहस्थ का उत्तमता से सञ्चालन करते हुए सुन्दर प्रजाओं का निर्माण कर सके' इस सबके लिए **त्वा**=तुझमें **ओषधीः उत आपः**=ओषधियाँ व जल

संविशन्तु=सम्यक्तया प्रविष्ट हों। इन सब कार्यों के लिए मनुष्य का भोजन सात्त्विक हो, मद्य-मांस के प्रयोग से वह दूर हो। ४. सात्त्विक आहारवाले हे **यज्ञपते**=यज्ञों के रक्षक! **त्वा**=तुझे **यज्ञस्य**=यज्ञों के **सूक्तोक्तौ**=सूक्तों के उच्चारण में तथा **नमोवाके**=नमस् के उच्चारण, प्रभु के आराधन में **विधेम**=स्थापित करते हैं **यत्**=यदि **स्वाहा**=तू तनिक स्वार्थ का त्याग करता है। स्वार्थत्यागी ही यज्ञों व प्रभु-ध्यान में प्रवृत्त हो पाता है।

भावार्थ—तू प्रभु में व सोमरक्षा में अपने हृदय को स्थापित कर। वानस्पतिक भोजन व जल का सेवन करनेवाला बन। तेरा जीवन यज्ञमय हो। तू निरन्तर प्रभु-उपासन करनेवाला हो।

ऋषिः—अत्रिः। देवता—गृहपतयः। छन्दः—स्वराडार्षीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

पति-पत्नी की पारस्परिक प्रेरणा

देवीरापऽएष वो गर्भस्तꣳसुप्रीतꣳसुभृतं बिभृत।
देव सोमैष ते लोकस्तस्मिञ्छञ्च वक्ष्व परि च वक्ष्व॥२६॥

पति पत्नी से कहता है—१. **देवीः आपः**=(देदीप्यमानाः विदुष्यः, शुभगुणकर्मविद्याव्यापिन्यः—द०, अप् व्याप्तौ) हे ज्ञान से दीप्त, सदा उत्तम कर्मों में व्याप्त रहनेवाली पत्नि! **एषः**=यह **वः**=तुम्हारा **गर्भः**=गर्भ है। **तम्**=इस गर्भस्थ बालक का **सुप्रीतम्**=श्रेष्ठ प्रीति के साथ **सुभृतम्**=और जैसे उत्तम रक्षा से धारण किया जाए, वैसे **बिभृत**=धारण व पोषण करो। (क) यदि माता सदा प्रसन्न मनवाली रहती है तो गर्भस्थ बालक का शरीर भी बड़ा सुन्दर बनता है। (ख) माता एक-एक क्रिया का ध्यान करती है तो बच्चे के चरित्र का निर्माण गर्भ में ही हो जाता है। ये ही दो बातें 'सुप्रीतम्' व 'सुभृतम्' इन क्रिया-विशेषणों से कही गई हैं। २. अब पत्नी पति से कहती है कि **देव**=हे दिव्य गुणों के पुञ्ज, ज्ञान से देदीप्यमान! **सोम**=शक्ति के पुञ्ज, संयमी जीवन के द्वारा सोम की रक्षा करनेवाले पते! **एषः**=यह गर्भस्थ बालक ही तो **ते लोकः** =तेरा लोक है, तेरे वंश को चलानेवाला है। तेरे भविष्य को प्रकाशमय (लोक=प्रकाश) बनानेवाला है। **तस्मिन्** =उसमें **शम्**=शान्ति को **वक्ष्व**=प्राप्त करा। **च**=और उससे **परिवक्ष्व**=सब पीड़ाओं को दूर करनेवाला हो। (सर्वाः आर्तीः परिवह—उ०)। संक्षेप में तू ऐसी उत्तम व्यवस्था कर कि तू गर्भस्थ बालक को कल्याण प्राप्त करानेवाला और उसके अकल्याण को दूर करनेवाला बन।

भावार्थ—पत्नी गर्भ का प्रेम से व पोषण की वृत्ति से धारण करे। पति इस बालक के लिए उसकी माता के दोहद (गर्भवती की इच्छा) को पूरा करता हुआ कल्याण प्राप्त कराए और अकल्याण को दूर करे।

सूचना—'आपः' शब्द नित्य बहुवचनान्त है, अतः यहाँ बहुवचन को देखकर बहुपत्नीत्व की कल्पना ठीक नहीं।

ऋषिः—अत्रिः। देवता—दम्पती। छन्दः—भुरिक्प्राजापत्यानुष्टुप्[क], स्वराडार्षीबृहती[र]।
स्वरः—गान्धारः[क], मध्यमः[र]॥

देवदेवानां समित् दीपन

[क]**अवभृथ निचुम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुणः।** [र]**अव देवैर्देवकृतमेनोऽयासिषमव मर्त्यैर्मर्त्यकृतं पुरुराव्णो देव रिषस्पाहि। देवानाꣳसमिदसि॥२७॥**

१. **अवभृथ**=हे यज्ञान्तस्नान करनेवाले! पति एक दिन गृहस्थ-यज्ञ में प्रविष्ट हुआ

था। सन्तान होने पर यह यज्ञ सफल व पूर्ण होता है, अतः सन्तान होने पर स्नान करनेवाला यह 'अवभृथ' ही है। २. **निचुम्पुण**=(नितरां मन्दगामिन्—द०) सदा धैर्य से, विचारपूर्वक धीमे-धीमे प्रत्येक कार्य को करनेवाले! यह कभी जल्दबाजी नहीं करता। विशेषकर सन्तानोत्पादन के कार्य में यह अत्यन्त मन्द गति से चलता है। ३. **निचेरुः असि**=(यो धर्मेण द्रव्याणि नित्यं चिनोति—द०) यह सदा धर्म से द्रव्यों का चयन करनेवाला है। अथवा ('निभृतं चरति अस्मिन्'—भट्टभास्कर) तू इस गृहस्थ में बड़े विश्वास के साथ चलनेवाला है। वस्तुतः गृहस्थ का मूलमन्त्र परस्पर विश्वास ही होना चाहिए। इसके बिना प्रेम में वृद्धि नहीं हो सकती। ४. **निचुम्पुणः**=तू **निचेरुः**=नितरां चरणशील तो है, परन्तु धैर्यपूर्वक धीमे-धीमे चलनेवाला है—देखकर पग रखनेवाला है। ५. **देवैः**=इन द्योतनात्मक (ज्ञानेन्द्रियों) व व्यवहार-साधक (दिव् दीप्ति, व्यवहार) (कर्मेन्द्रियों) इन्द्रियों से **देवकृतम्**=पृथिवी आदि देवों के विषय में किये गये अथवा विद्वानों के विषय में किये गये **एनः**=पाप को **अव अयासिषम्**=मैं दूर करनेवाला होऊँ। **मर्त्यैः**=मरणधर्मा मनुष्यों से **मर्त्यकृतम्**=मनुष्यों के विषय में किये जानेवाले कटु भाषण, द्रोहादि पापों से भी मैं **अव**=अपने को दूर रखनेवाला होऊँ। ६. हे **देव**=सब दानों के पति प्रभो! **पुरुराव्णः**=इस पालन व पूरण करनेवाली (पुरु) दान की वृत्ति के द्वारा (राव्णः) **रिषः**=हिंसा से **पाहि**=मेरी रक्षा कीजिए। दान के द्वारा लोभवृत्ति का संहार होकर सब पाप दूर हो जाते हैं। मनुष्य दान के द्वारा वासनाओं का खण्डन करके अपने जीवन का शोधन करता है। ७. हे प्रभो! दानवृत्ति द्वारा ही आप **'देवानां समित् असि'** हममें दिव्य गुणों को दीप्त करनेवाले हैं। सारी उत्तमताएँ प्रभुकृपा से ही प्राप्त हुआ करती हैं। वे प्रभु ही हममें दिव्य गुणों की ज्योति जगाते हैं।

भावार्थ—हम प्रत्येक कार्य में सफल हों, शान्तिपूर्वक चलें, उत्तम गुणों का चयन करें। न देवों के विषय में पाप करें, न मर्त्यों के विषय में। वासनाओं से प्राप्त होनेवाली हिंसा को दान द्वारा विनष्ट करें। दिव्य गुणों को दीप्त करें।

ऋषिः—अत्रिः। **देवता**—दम्पती। **छन्दः**—भुरिक्साम्न्युष्णिक्[उ], भुरिगासुर्य्युष्णिक्[र], प्राजापत्यानुष्टुप्[क]। **स्वरः**—ऋषभः[उ],[र], गान्धारः[क]॥

दशमास्य एजन

[उ]**एज॑तु दश॑मास्यो॒ गर्भो॑ ज॒रायु॑णा स॒ह। [क]यथा॒यं वा॒युरेज॑ति॒ यथा॑ समु॒द्र ऽएज॑ति। [र]ए॒वायं दश॑मास्यो॒ऽअस्र॑ज्ज॒रायु॑णा स॒ह॥२८॥**

१. अब गर्भस्थ बालक बाहर आता है। उसके लिए कहते हैं कि—यह **दशमास्यः**=दस मासों में होनेवाला **गर्भः**=(गर्भे, स्त्रीगुणान् गृह्णाति गुणाश्चास्या गृह्यन्ते अथ गर्भो भवति—नि० १०।२३) माता-पिता के गुणों को ग्रहण करनेवाला यह गर्भ, अर्थात् गर्भस्थ बालक **जरायुणा सह**=आवरण के साथ **एजतु**=कम्पमय हो, कुछ गतिवाला हो। २. **यथा**=जैसे **अयम् वायुः**=यह वायु **एजति**=चलता है **यथा**=जैसे **समुद्रः**=समुद्र **एजति**=कम्पित होता है **एव**=इसी प्रकार **अयम् दशमास्यः**=यह दसवें मास में होनेवाला **जरायुणा सह**=जरायु के साथ **अस्रत्**=अधः स्रवतु—नीचे स्रुत हो, अर्थात् गर्भ से बाहर आये।

भावार्थ—जैसे वायु व समुद्र की स्वाभाविक गति व कम्पन है, इसी प्रकार दशमास्य गर्भ में भी कम्पन हो और वह मातृगर्भ से बाहर आये।

ऋषिः—अत्रिः। देवता—दम्पती। छन्दः—भुरिगार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

यज्ञिय-गर्भ

यस्यै ते यज्ञियो गर्भो यस्यै योनिर्हिरण्ययी।
अङ्गान्यह्रुता यस्य तं मात्रा समजीगमꣳस्वाहा॥२९॥

१. **यस्यै**=(षष्ठ्यर्थे चतुर्थी) जिस उत्तम लक्षणवाली **ते**=तेरा **गर्भः**=गर्भ **यज्ञियः**=यज्ञिय है (यज्ञमर्हति) पवित्र है, उत्तम गुणों से सङ्गतीकरण योग्य है। २. **यस्यै**=जिसका **योनिः**=जन्मस्थान **हिरण्ययी** =रोगरहित व शुद्ध है (हृ=हरणे)। ३. अतएव **यस्य**=जिस गर्भस्थ बालक के **अङ्गानि**=सब अङ्ग **अह्रुता** =अकुटिल व सरल हैं। ४. **तम्**=उस बालक को **मात्रा**=माता के साथ **स्वाहा**=सम्यक् क्रिया से **समजीगमम्** =प्राप्त होऊँ।

मन्त्रार्थ से निम्न बातें स्पष्ट हैं—१. जब बच्चा गर्भस्थ है उसी समय से माता ने उसमें उत्तम गुणों को सङ्गत करने का प्रयत्न किया है। २. माता की योनि निर्दोष है। इसकी निर्दोषता पर ही स्वस्थ बालक की उत्पत्ति निर्भर है। ३. प्रयत्न यही हो कि बालक का कोई भी अङ्ग विकल न हो। ४. नियमित उत्पत्ति में माता व बालक दोनों पूर्ण स्वस्थ होने ही चाहिएँ।

भावार्थ—माता गर्भ में बालक के चरित्र का निर्माण कर देती है। वह माता है—गर्भमानकर्त्री है—गर्भ में बच्चे को बनानेवाली है।

ऋषिः—अत्रिः। देवता—दम्पती। छन्दः—आर्षीजगती। स्वरः—निषादः॥

सन्तान—इन्दु का उदय (चन्द्रोदय)

पुरुदस्मो विषुरूपऽइन्दुरन्तर्महिमानमानञ्ज धीरः।
एकपदीं द्विपदीं त्रिपदीं चतुष्पदीमष्टापदीं भुवनानु प्रथन्ताꣳस्वाहा॥३०॥

गत मन्त्र के अनुसार यदि माता गर्भ में ही बालक का सुन्दरता से निर्माण करती है और उसकी योनि रोगरहित है तो चन्द्रतुल्य मुखवाले सुन्दर सन्तान का जन्म होता है। यह सन्तान १. **पुरुदस्मः**=(पुरुः बहुः दस्म उपक्षयो दुःखानां यस्मात्—द०) माता-पिता के सब कष्टों का निवारण करनेवाला होता है। वस्तुतः इसीलिए इसे पुत्र='पुनाति त्रायते' पवित्र बनाता है और त्राण करता है' इस नाम से कहते हैं। २. **विषुरूपः** =यह अत्यन्त सुन्दर रूपवाला होता है। वस्तुतः यदि गर्भ का धारण प्रसन्नतापूर्वक (सुप्रीतम् मन्त्र २६) किया जाए और उसके सुभरण (सुभृतं मन्त्र २६) का ध्यान किया जाए तो सन्तान सुन्दर रूपवाला क्यों न होगा? ३. **इन्दुः**=यह सन्तान तो चन्द्रतुल्य होता है अथवा (इन्द् to be powerful) बड़ा शक्तिशाली होता है। ४. **अन्तः**=यह गर्भ के अन्दर ही **महिमानम्**=महिमा को **आनञ्ज**=प्राप्त होता है (अञ्ज्=गति)। गर्भावस्था में ही माता ने इसे बड़ा सुन्दर बनाया है। ५. **धीरः**=यह धीर है, ज्ञानी है। ६. ऐसा सन्तान जब बड़ा होता है तब इसके कारण **भुवना**=(भवन्ति भूतानि येषां तानि गृहाणि—द०) प्राणियों के निवास-स्थानभूत घर, **एकपदीम्**='ओम्' इस एक पद का व्याख्यान करनेवाली, **द्विपदीम्**=अभ्युदय व निःश्रेयस को प्राप्त करानेवाली, **त्रिपदीम्**=वाणी, मन व शरीर के सुखों को प्राप्त करानेवाली, **चतुष्पदीम्**='धर्मार्थ-काममोक्ष' इन चारों पुरुषार्थों की प्रतिपादिका तथा **अष्टापदीम्**=ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र इन चारों वर्णों व ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वनस्थ व संन्यास इन चारों आश्रमों का वर्णन

करनेवाली वेदवाणी के **अनु**=अनुसार **प्रथन्ताम्**=विस्तार को प्राप्त हों, अर्थात् ऐसे सन्तानों के कारण घरों की उन्नति-ही-उन्नति हो। ८. **स्वाहा**=इसके लिए-ऐसी सन्तानों के निर्माण के लिए हम स्वार्थत्याग करें। स्वार्थत्याग से ही उत्तम सन्तान प्राप्त होगी।

भावार्थ—घर में सन्तान आये तो ऐसा अनुभव हो कि चन्द्रोदय हो गया है। वेदवाणी के अनुसार जीवन बनाने की हमारी प्रवृत्ति बढ़े।

ऋषिः—गोतमः। देवता—दम्पती। छन्दः—आर्षीगायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

मरुतः

मरु॑तो॒ यस्य॒ हि क्षये॑ पा॒था दि॒वो वि॑महसः। स सु॑गो॒पात॑मो॒ जनः॑॥३१॥

१. 'पिछले मन्त्र के वर्णन के अनुसार हमारे सन्तान सुन्दर, श्रेष्ठ बनें' इसके लिए आवश्यक है कि माता-पिता प्राणसाधना करनेवाले हों, क्योंकि इस प्राणसाधना से इन्द्रियों के दोष दूर होकर हम प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'गो-तम'=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले बनते हैं। इन गोतमों की ही सन्तानें उत्तम होती हैं। २. अतः मन्त्र में कहते हैं कि **मरुतः**=हे प्राणो! **यस्य**=जिसके **क्षये**=घर में **हि**=निश्चय से **पाथ**=रक्षा करते हो **सः**=वह **जनः**=अपनी शक्तियों का विकास करनेवाला मनुष्य **सुगोपा-तमः**=उत्तमता से इन्द्रियों की रक्षा करनेवालों में श्रेष्ठ बनता है। ३. हे प्राणो! आप **दिवः**=प्रकाशमय हो। आपकी साधना से बुद्धि सूक्ष्म होकर कठिन-से-कठिन विषय का ग्रहण करनेवाली होती है। **विमहसः**=आप विशिष्ट तेजवाले हो। यह प्राणसाधना मनुष्य को तेजस्वी बनाती है। एवं, प्राणसाधना के दो लाभ हैं-(क) मस्तिष्क ज्ञानाग्नि से दीप्त बनता है। (ख) शरीर तेजस्वी होता है। इस प्रकार के माता-पिता की सन्तान निश्चय से उत्तम होगी। इसी कारण उत्तम सन्तान के प्रतिपादक गत मन्त्र के बाद यह प्राणसाधनावाला मन्त्र आया है। दूसरे शब्दों में इस साधना के होने पर सन्तान एक प्रकार से इन मरुतों के ही पुत्र होंगे, मारुति बनेंगे।

भावार्थ—हम प्राणसाधना करेंगे तो हमारे सन्तान मारुति=हनुमान् के समान प्रभु के सेवक बनेंगे। हमारे सन्तानों की इन्द्रियाँ बड़ी शुद्ध होंगी।

ऋषिः—मेधातिथिः। देवता—दम्पती। छन्दः—आर्षीगायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

महनीय माता-पिता

म॒ही द्यौः पृ॑थि॒वी च॑ नऽइ॒मं य॒ज्ञं मि॑मिक्षताम्। पि॒पृ॒तां नो॒ भरी॑मभिः॥३२॥

१. गत मन्त्र के अनुसार प्राणसाधना करनेवाला और **मही**=(मह पूजायाम्) प्रभु उपासक **द्यौः**=प्रकाशमय जीवनवाला पिता (द्यौष्पिता) **पृथिवी च**=और शक्तियों का विस्तार करनेवाली माता (पृथिवी माता) ये दोनों **नः**=हमारे **इमम्**=इस **यज्ञम्**=उत्तम गुणों से मेल करने योग्य सन्तान को **मिमिक्षताम्**=ज्ञान व गुणों से सिक्त कर दें। माता-पिता को चाहिए कि (क) अपने जीवनों को प्रकाशमय व शक्ति-विस्तारवाला बनाएँ। (ख) दोनों प्रभु के पुजारी हों। (ग) सन्तान को प्रभु की धरोहर समझें, यह समझें कि इन्हें उत्तम बनाने के लिए प्रभु ने इन्हें सौंपा है। यह सोचकर (घ) ये सन्तान को ज्ञान व दिव्य गुणों से युक्त करने के लिए प्रयत्नशील हों, सन्तान को ये 'यज्ञ' समझें (यज सङ्गतीकरण) इसे उन्हें उत्तम गुणों से सङ्गत करना है। ३. प्रभु कहते हैं कि **नः**=हमारी इस सन्तान को **भरीमभिः**=भरण व पोषण के द्वारा **पिपृताम्**=माता-पिता तुम दोनों पालित व पूरित करो। इसके शरीर को रोगों से सुरक्षित करो और मन की किन्हीं भी न्यूनताओं को दूर करके इसके मन को पूरित

करो। इस बालक के शरीर में रोग न आएँ, मनों में वासनाएँ न आ जाएँ। ३. इस प्रकार नीरोग व निर्मल हृदय बनकर यह इस संसार में (मेधया अतति) समझदारी से चलनेवाला 'मेधातिथि' बने। यही इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—माता-पिता प्रकाशमय जीवनवाले तथा विस्तृत शक्तियोंवाले हों। ये सन्तानों को उत्तम ज्ञान व गुणों से सङ्गत करें। ये इसके शरीर को नीरोग बनाएँ तथा मन को दिव्य गुणों से पूरित करें।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—गृहपतयः। **छन्दः**—आर्ष्यनुष्टुप्[क], आर्ष्युष्णिक्[र]। **स्वरः**—गान्धारः[क], ऋषभः[र]॥

रथाधिष्ठान

[क]आतिष्ठ वृत्रहुन्रथं युक्ता ते ब्रह्मणा हरी। अर्वाचीनःसु ते मनो ग्रावा कृणोतु वग्नुना। [र]उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा षोडशिनऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिने॥३३॥

१. माता-पिता 'गत मन्त्र की भावना के अनुसार बन सकें' उसके लिए प्रभु जीव को निर्देश करते हैं कि—हे **वृत्रहन्**=कामवासना को नष्ट करनेवाले जीव! तू **रथम्**=इस शरीररूप रथ पर **आतिष्ठ**=अधिष्ठित हो। तू 'रथी' है, अतः वास्तव में ही 'रथी' बन। कहीं तू सो जाए और तेरा जीवन सारथि की दया पर ही निर्भर रह जाए। नहीं! तू जाग और सारथि को इस रथ को उद्दिष्ट स्थल पर पहुँचाने के लिए निर्देश दे। २. **ते**=तेरे इस रथ में **ब्रह्मणा**=प्रभु के द्वारा **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप घोड़े **युक्ता**=जोते गये हैं। अथवा **ब्रह्मणा**=ज्ञानपूर्वक बड़ी समझदारी से वे घोड़े जोते गये हैं। ३. **ग्रावा**=(गृ) वह हृदयस्थरूप से वेदज्ञान को देनेवाला परमात्मा **ते मनः**=तेरे मन को **वग्नुना**=इस वेदवाणी के द्वारा **अर्वाचीनम्**=अन्दर ही गति करनेवाला और विषयों में न भटकनेवाला **सुकृणोतु**=उत्तमता से करे। हमारा मन विषयों में भटकने की बजाय अन्दर ही स्थित हो और हृदयस्थ प्रभु की वाणी को सुननेवाला बने। ४. इस प्रकार **उपयामगृहीतः असि**=प्रभु की उपासना के द्वारा तू यम-नियमों से गृहीत है। ५. **त्वा**=तुझे मैंने इस संसार में **इन्द्राय**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनने के लिए ही भेजा है। **षोडशिने**=इन इन्द्रियों को वश में करके तूने अपने जीवन में सोलह कलाओं को धारण करना है। ६. **एषः**=यह शरीर ही **ते**=तेरा **योनिः**=घर है। इसमें रहते हुए तूने ऊपर उठना है। **इन्द्राय त्वा षोडशिने**=तुझे सोलह कलाओं से पूर्ण इन्द्र बनने के लिए ही यह शरीर दिया गया है। ७. सोलह कलाएँ प्रश्नोपनिषद् के अनुसार ये हैं—प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, ज्योति, जल, पृथिवी, इन्द्रियाँ (१०), मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक और नाम।

भावार्थ—'गोतम' वह बनता है जो इस शरीररूपी रथ पर इन्द्र बनकर अधिष्ठित होता है और अन्तःस्थित प्रभु की वाणी को सुनता है। जितेन्द्रिय बनकर जीव सोलह कलाओं को धारण करता है।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—गृहपतयः। **छन्दः**—विराडार्ष्यनुष्टुप्[क], आर्ष्युष्णिक्[र]। **स्वरः**—गान्धारः[क], ऋषभः[र]॥

अश्वयोजन

[क]युक्ष्वा हि केशिना हरी वृषणा कक्ष्यप्रा। अथा नऽइन्द्र सोमपा गिरामुपश्रुतिं चर। [र]उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा षोडशिनऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिने॥३४॥

गत मन्त्र का इन्द्र यहाँ रथ में अश्वों का योजन करता है। प्रभु कहते हैं कि १. **हि**=निश्चय से **युक्ष्व**=तू इन इन्द्रियरूप घोड़ों को रथ में जोत। ये सदा चरते ही रह गये तो यात्रा कैसे पूरी होगी? चाहिए तो यह कि ये जुते-जुते ही बीच में थोड़ा खा-पी लें। २. कैसे घोड़ों का योजन? (क) **केशिना**=(केशाः रश्मयः तेजोराशयः तद्वन्तौ) ये घोड़े तेजोराशि-सम्पन्न हों, ज्ञानेन्द्रियरूप घोड़े खूब प्रकाशमय—ज्ञान के प्रकाशवाले हों तो कर्मेन्द्रियरूप घोड़े (ख) **वृषणा**=खूब शक्तिशाली हों। दोनों ही (ग) **हरी**=उद्दिष्ट स्थान पर ले-चलनेवाले हों तथा (घ) **कक्ष्यप्रा**=(कक्षे भवं कक्ष्यं, मध्यबन्धनं प्रातः पूरयतः) ये घोड़े मध्यबन्धन को भर लेनेवाले हों, अर्थात् खूब पुष्ट अवयवोंवाले हों, निर्बल न हों। इन्द्रियों को निर्बल करके वश में करने में क्या वीरता है, क्योंकि घोड़े ही निर्बल हो गये तो यात्रा पूरी कैसे होगी? ३. **अथ**=अब, अर्थात् पुष्ट घोड़ों को रथ में जोतकर **इन्द्र**=हे इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! तू **नः**=हमारी **गिराम्**=वाणियों को **उपश्रुतिम्**=समीपता से श्रवण **चर**=कर। इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनकर मनुष्य प्रभु का उपासक हो और अन्तःस्थ प्रभु की वाणी को सुने। ४. **उपयामगृहीतः असि**=तू प्रभु की उपासना द्वारा यम-नियमों से स्वीकृत जीवनवाला है। **इन्द्राय त्वा षोडशिने**=तुझे इस संसार में सोलह कलाओं से युक्त इन्द्र बनने के लिए भेजा गया है। **एषः ते योनिः**=यह शरीर ही तेरा घर है। तूने इधर-उधर भटकना नहीं। **इन्द्राय त्वा षोडशिने**=षोडशी इन्द्र बनने के लिए तुझे यह जीवन दिया गया है। इसे व्यर्थ समाप्त मत कर देना।

भावार्थ—हम इन्द्रियों को इस शरीररूपी रथ के घोड़े समझें। उन्हें रथ में जोतकर यात्रा को पूरा करें। इसी जीवन में हमने संयमी बनकर षोडशी बनना है। 'इस प्रकार हमारी इच्छाएँ मधुर बनी रहीं' तो हम मन्त्र के ऋषि 'मधुच्छन्दा' होंगे।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—गृहपतयः। **छन्दः**—आर्ष्यनुष्टुप्[क], विराडार्ष्युष्णिक्[र]। **स्वरः**—गान्धार[क], ऋषभः[र]॥

स्तुति+यज्ञ

[क]इन्द्रमिद्धरी वहतोऽप्रतिधृष्टशवसम्। ऋषीणां च स्तुतीरुप यज्ञं च मानुषाणाम्। [र]उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा षोडशिनऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिने॥३५॥

१. गत मन्त्र के अनुसार इन्द्रियरूपी घोड़ों को शरीररूप रथ में जोतकर यात्रा में आगे बढ़नेवाला व्यक्ति 'गोतम'=प्रशस्तेन्द्रिय बनता है। इस **इन्द्रम्**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता और अतएव प्रशस्तेन्द्रिय गोतम को **इत्**=निश्चय से **हरी**=ये ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियरूप घोड़े **वहतः**=उद्दिष्ट स्थल पर पहुँचानेवाले होते हैं। **अप्रतिधृष्टशवसम्**=जितेन्द्रियता के कारण ही यह न धर्षणीय बलवाला है। २. ये घोड़े ले-जाते हैं। कहाँ? **ऋषीणां च स्तुतीः उप**=तत्त्वद्रष्टाओं के स्तवनों के समीप तथा **मानुषाणाम्**=मानवहित में तत्पर लोगों के **यज्ञम् उप**=यज्ञ के समीप, अर्थात् यह जितेन्द्रिय पुरुष ज्ञानियों के समान स्तुति करनेवाला बनता है। इसके जीवन में भक्ति और यज्ञ का समन्वय चलता है। ३. प्रभु अपने इस भक्त से कहते हैं कि तू **उपयामगृहीतः असि**=मेरे समीप रहकर यम-नियमों को स्वीकार करनेवाला बना है। **इन्द्राय त्वा**=मैंने तुझे इस संसार में इन्द्र बनने के लिए भेजा है। **षोडशिने**=सोलह कला सम्पूर्ण बनने के लिए भेजा है। **एषः ते योनिः**=यह शरीर ही तेरा घर है। इस घर में रहकर **इन्द्राय त्वा षोडशिने**=तुझे जितेन्द्रिय व सोलह कलाओं से युक्त बनना है।

भावार्थ—मेरा जीवन 'इन्द्र' का जीवन हो, जितेन्द्रिय बनकर मैं ऋषियों के समान स्तवन करनेवाला बनूँ और मानवहितकारी यज्ञों में प्रवृत्त होऊँ।

ऋषिः—विवस्वान्। देवता—परमेश्वरः। छन्दः—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

स्तुति का स्वरूप

यस्मान्न जातः परोऽअन्योऽअस्ति यऽआविवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया सꣳरराणस्त्रीणि ज्योतीꣳषि सचते स षोडशी॥३६॥

गत मन्त्र में स्तुति करने का उल्लेख था। प्रस्तुत मन्त्र में स्तुति का स्वरूप प्रतिपादित करते हैं। १. **यस्मात्**=जिससे अधिक **जातः**=प्रसिद्ध व **परः**=उत्तम **अन्यः**=दूसरा **न अस्ति**=नहीं है। प्रकृति व जीव भी अनादि सत्ताएँ हैं, परन्तु परमात्मा के समान न तो वे प्रसिद्ध हैं और न ही उत्कृष्ट। २. यह परमात्मा सत्ता वह है **यः**=जो **विश्वा**=सब **भुवनानि**=भुवनों में, लोक-लोकान्तरों में, **आविवेश**=प्रविष्ट हो रही है। कोई भी पिण्ड उस सत्ता की व्याप्ति के बिना नहीं है। वस्तुतः अन्य सब पिण्ड उसी सत्ता से विभूतिमत्, श्रीमत् व ऊर्जित हो रहे हैं। ३. **प्रजापतिः**=वे प्रभु ही सब प्रजाओं के पति हैं, सबके अन्दर व्याप्त होकर उनकी रक्षा कर रहे हैं। **प्रजया संरराणः**=प्रजा के साथ सम्यक् रमण करनेवाले हैं। प्रजा की रक्षा वही कर सकता है जो प्रजा के साथ रमण करे। ४. इस प्रजा के कल्याण के लिए ही वे प्रभु **त्रीणि ज्योतींषि सचते**=तीन ज्योतियों को धारण करते हैं। द्युलोक का सूर्य, अन्तरिक्षलोक का वायु व विद्युत् और पार्थिवलोक की अग्नि प्रभु की दीप्ति से ही दीप्तिवाले हो रहे हैं। **'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'**। ४. प्राकृतिक पिण्डों व देवों को तो वे प्रभु देवत्व (ज्योति) प्राप्त करा ही रहे हैं, इसके साथ **सः**=वे प्रभु ही **षोडशी**=सोलह कलाओं के भी स्वामी हैं। प्रभु की उपासना से ही जीव इन सोलह कलाओं को प्राप्त किया करता है।

भावार्थ—प्रभु सर्वोपरि सत्ता हैं। सब देवों को देवत्व व सब प्राणियों को सोलह कलाएँ वे प्रभु ही प्राप्त कराया करते हैं। इस प्रकार प्रभु-स्तवन करनेवाला 'विवस्वान्'—सूर्य के समान अन्धकार को दूर करके प्रकाशवाला बनता है।

ऋषिः—विवस्वान्। देवता—सम्राड्माण्डलिकौ राजानौ। छन्दः—साम्नीत्रिष्टुप्[क], विराडार्चीत्रिष्टुप्[र]।
स्वरः—धैवतः॥

स्तुति के लिए सौम्य भोजन

[क]इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा तौ ते भक्षं चक्रतुरग्रऽएतम्।
[र]तयोरहमनु भक्षं भक्षयामि वाग्देवी जुषाणा सोमस्य तृप्यतु सह प्राणेन स्वाहा॥३७॥

१. गत मन्त्र में प्रभु-स्तवन था। 'यह प्रभु-स्तवन सतत चलता ही रहे' इसके लिए सात्त्विक भोजन नितान्त आवश्यक है, अतः उसका उल्लेख करते हैं। **इन्द्रः च सम्राट्**=मैं जितेन्द्रिय और देदीप्यमान बनूँगा तथा **वरुणः च राजा**=द्वेष का निवारण करनेवाला और श्रेष्ठ व्यवस्थित जीवनवाला बनूँगा, **तौ** =ये दो बातें **अग्रे**=सर्वप्रथम **ते**=तेरे **एतम्**=इस **भक्षम्**=भोजन को **चक्रतुः**=करती हैं। **तयोः**=इन दोनों बातों के **अनु** =अनुसार **अहम्**=मैं **भक्षम्**=भोजन को **भक्षयामि**=खाता हूँ। मेरा भोजन सदा इन दो बातों का विचार करके होता है कि मैं (क) जितेन्द्रिय व देदीप्यमान=तेजस्वी बन सकूँ तथा (ख) निर्द्वेष=श्रेष्ठ मनवाला, अत्यन्त व्यवस्थित जीवनवाला हो सकूँ। २. **वाग्देवी**=यह मेरी 'देवी'—प्रभु-स्तवन करनेवाली जिह्वा

सोमस्य जुषाणा=सोम का प्रीतिपूर्वक सेवन करती हुई, अर्थात् सौम्य भोजनों को ही आनन्दपूर्वक खाती हुई **तृप्यतु**=तृप्ति का अनुभव करे। इन्हीं भोजनों में इसे आनन्द आये। इसकी रुचि ही सौम्य भोजनों की बन जाए। ३. **सह प्राणेन**=यह प्राणशक्ति से सम्पन्न हो। वस्तुतः वैश्वानराग्नि (जाठराग्नि) प्राणापान समायुक्त होकर ही अन्न का पाचन करती है। सौम्य भोजनों को करके मैं अधिक प्राणशक्ति-सम्पन्न बनता हूँ। ४. **स्वाहा**=इस सबके लिए मैं स्वार्थ का त्याग करूँ। स्वाद को छोड़नेवाला बनूँ। स्वाद को छोड़कर ही मैं सात्त्विक सौम्य भोजनों को करनेवाला बनता हूँ।

भावार्थ—भोजन का दृष्टिकोण 'जितेन्द्रियता, तेजस्विता, मानसपवित्रता व व्यवस्थित जीवन' हो। हम सौम्य भोजन करके प्राणशक्ति-सम्पन्न बनें। स्वाद को छोड़ें। यह ध्यान रक्खें कि आग्नेय पदार्थ प्रभु ने औषधरूप में बरतने के लिए बनाये हैं। सात्त्विक भोजन करके मैं ज्ञान की दीप्तिवाला 'विवस्वान्' बनूँगा।

ऋषिः—वैखानसः। **देवता**—राजादयो गृहपतयः। **छन्दः**—भुरिक्त्रिपाद्गायत्री [उ], स्वराडार्च्यनुष्टुप् [क], भुरिगार्च्यनुष्टुप् [र]। **स्वरः**—षड्जः [उ], गान्धारः [क, र]॥

वर्चस्वान्

[उ]अग्ने पवस्व स्वपाऽअस्मे वर्चः सुवीर्यम्। दधद्रयिं मयि पोषम्।
[क]उपयामगृहीतोऽस्यग्नये त्वा वर्चसऽएष ते योनिरग्नये त्वा वर्चसे।
[र]अग्ने वर्चस्विन्वर्चस्वाँस्त्वं देवेष्वसि वर्चस्वानहं मनुष्येषु भूयासम्॥३८॥

१. गत मन्त्र के अनुसार 'सात्त्विक सौम्य' भोजन करनेवाला यह विवस्वान्=ज्ञान के प्रकाशवाला सब बुराइयों को समूल नष्ट कर डालता है। बुराइयों के वृक्ष को खोदकर उखाड़ डालने से यह 'वैखानस' कहलाता है। यह वैखानस प्रार्थना करता है कि—**अग्ने**=हे अग्रगति के साधक प्रभो! **पवस्व**=आप मेरे जीवन को पवित्र कर दीजिए। **स्वपाः**=(सु अपस्) आप ही सब उत्तम कार्यों को करनेवाले हैं। २. **अस्मे**=हमारे लिए **वर्चः**=वृत्त (चरित्र) और अध्ययन-सम्पत्ति को, सदाचार व शिक्षा को तथा **सुवीर्यम्**=उत्तम वीर्य को **दधत्**=आप धारण करनेवाले होओ। ३. **रयिम्**=दान देने योग्य धन को तथा **मयि**=मुझमें **पोषम्**=पोषण को प्राप्त कीजिए। आपकी कृपा से मैं धन को भी प्राप्त करूँ और पोषण को भी। यदि 'पोषम्' को 'रयिं' का विशेषण कर दें तो अर्थ इस प्रकार होगा कि मैं पोषण के लिए आवश्यक धन को प्राप्त करनेवाला बनूँ। ४. प्रभु इस वैखानस से कहते हैं कि **उपयामगृहीतः असि**=तूने उपासना द्वारा यम-नियमों को स्वीकार किया है। **अग्नये त्वा**= तुझे इस संसार में अग्नि बनने के लिए भेजा है। **वर्चसे**=वृत्ताध्ययन-सम्पत्ति के लिए भेजा है। तूने उन्नतिशील, सदाचारी, शिक्षित और ज्ञानी बनना है। **एषः ते योनिः**=यह शरीर ही तेरा घर है। **अग्नये त्वा वर्चसे**=अग्रगति के लिए तथा वृत्ताध्ययन-सम्पत्ति के अर्जन के लिए ही तूने जीवन-यापन करना है। ५. प्रभु की इस प्रेरणा को सुनकर 'वैखानस' प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **अग्ने**=सारे ब्रह्माण्ड की अग्रगति के साधक! **वर्चस्विन्**=वृत्ताध्ययन- सम्पत्ति-सम्पन्न प्रभो! आप ही आदर्शरूप में अग्नि हो, आप ही वृत्त व विद्या के आदर्श हो। **त्वम्**=आप **देवेषु**=इन देवों में **वर्चस्वान्**=वर्चस्वाले **असि**=हैं। वस्तुतः इन देवों में आपका ही वर्चस् दीप्त हो रहा है। **अहम्**=मैं **मनुष्येषु**=मनुष्यों में **वर्चस्वान्**=वर्चस्वाला **भूयासम्**=बनूँ। मनुष्यों में मैं आपका प्रतीक बनने का प्रयत्न करूँ, जैसे देवों में आप, वैसे मनुष्यों में मैं।

भावार्थ—हम उस अग्नि के समान 'वर्चस्वान्' बनें।

ऋषिः—वैखानसः। **देवता**—राजादयो गृहस्थाः। **छन्दः**—आर्षीगायत्री[उ, क], आर्च्युष्णिक्[र]।
स्वरः—षड्जः[उ, क], ऋषभः[र]॥

ओजिष्ठ

[उ]उत्तिष्ठन्नोज॑सा स॒ह पी॒त्वी शिप्रे॑ऽअवेपयः। सोम॑मिन्द्र च॒मू सु॒तम्।
[क]उ॒प॒या॒मगृ॑हीतो॒ऽसीन्द्रा॑य॒ त्वौज॑सऽए॒ष ते॒ योनि॒रिन्द्रा॑य॒ त्वौज॑से।
[र]इन्द्रौ॑जि॒ष्ठौजि॑ष्ठ॒स्त्वं दे॒वेष्व॒स्योजि॑ष्ठो॒ऽहं म॑नु॒ष्ये॑षु भूयासम्॥३९॥

१. गत मन्त्र का 'वर्चस्वान्' प्रस्तुत मन्त्र में 'ओजिष्ठ' बनता है। यह सोमपान करता है और ओजस्वी बनकर शत्रुओं के जबड़ों को हिला देता है। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **चमू सुतम्**=द्यावापृथिवी, अर्थात् मस्तिष्क व शरीर के निमित्त पैदा किये गये **सोमम्**=वीर्यशक्ति को, सोम को **पीत्वी**=पीकर **ओजसा सह**=ओज के साथ **उत्तिष्ठन्**=ऊपर स्थित होता हुआ, अर्थात् सर्वतोमुखी उन्नति करता हुआ तू **शिप्रे**=शत्रुओं के जबड़ों को **अवेपयः**=कम्पित कर देता है, अर्थात् इस सोम के मद में तू कामादि सब शत्रुओं को शान्त कर देता है। २. इस वैखानस से प्रभु कहते हैं कि **उपयामगृहीतः असि**=तू उपासना द्वारा यम-नियमों का स्वीकार करनेवाला है। **इन्द्राय त्वा ओजसे**=तुझे शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला इन्द्र बनने के लिए मैंने भेजा है, ओजस्वी बनने के लिए। **एषः ते योनिः**=यह शरीर ही तेरा घर है। **इन्द्राय त्वा ओजसे**=इसमें रहते हुए तूने इन्द्र और ओजस्वी बनना है। ३. इस प्रभु के निर्देश को सुनकर वैखानस आराधना करता है कि हे **इन्द्र** =प्रभो! आप ही सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले हो, **त्वम्**=आप **देवेषु**=सब देवों में **ओजिष्ठः**=अधिक-से-अधिक शक्तिशाली हैं, आपके सम्पर्क में रहता हुआ **अहम्**=मैं **मनुष्येषु**=मनुष्यों में **ओजिष्ठः**=अधिक शक्तिशाली **भूयासम्**=बन पाऊँ।

भावार्थ—हम उस 'इन्द्र' के अनुसार ओजिष्ठ बनें।

ऋषिः—प्रस्कण्वः। **देवता**—राजादयो गृहपतयः। **छन्दः**—आर्षीगायत्री[क, उ], स्वराडार्षीगायत्री[र]। **स्वरः**—षड्जः॥

भ्राजिष्ठ

[उ]अदृ॑श्रमस्य के॒तवो॒ वि र॒श्मयो॒ जनाँ२॥ऽअनु॑। भ्राज॑न्तो अ॒ग्नयो॑ यथा।
[क]उ॒प॒या॒मगृ॑हीतो॒ऽसि॒ सूर्या॑य॒ त्वा भ्रा॒जायै॒ष ते॒ योनिः॒ सूर्या॑य॒ त्वा भ्रा॒जाय॑।
[र]सूर्य॑ भ्राजिष्ठ॒ भ्राजि॑ष्ठ॒स्त्वं दे॒वेष्व॑सि॒ भ्राजि॑ष्ठो॒ऽहं म॑नु॒ष्ये॑षु भूयासम्॥४०॥

१. प्रभु के समान ओजिष्ठ बनता हुआ यह चाहता है कि **जनान् अनु**=अपनी शक्तियों का विकास करनेवाले लोगों को लक्ष्य करके प्राप्त होनेवाले **अस्य**=इस प्रभु के **केतवः**=जो प्रज्ञान हैं तथा **वि रश्मयः**=विशिष्ट रश्मियाँ हैं उनको **अदृश्रम्**=देखूँ। इस प्रकार देखूँ **यथा**=जैसे **भ्राजन्तः**=ज्ञान की ज्योति से दीप्त पुरुष और **अग्नयः**=उन्नतिशील पुरुष देखा करते हैं। इन केतुओं और रश्मियों को सदा देखनेवाला मैं अपने इस जीवन में 'भ्राजमान' बन सकूँगा। २. प्रभु इससे कहते हैं कि **उपयामगृहीतः असि**=तू सुनियमों से स्वीकृत जीवनवाला है **सूर्याय त्वा भ्राजाय**=तुझे मैंने इस संसार में सूर्य बनने के लिए, चमकने के लिए भेजा है। **'पश्य सूर्यस्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन्'**=यह सूर्य चलता हुआ थकता नहीं, इसी से चमकता है। तूने भी क्रियाशील रहना है और इस सूर्य की भाँति

चमकना है। **एष: ते योनि:**=यह शरीर ही तेरा घर है। **सूर्याय त्वा भ्राजाय**=तुझे सूर्य बनने के लिए तथा चमकने के लिए ही भेजा गया है। ३. अब यह प्रस्कण्व=मेधावी पुरुष प्रभु से प्रार्थना करता है कि **सूर्य**=हे प्रभो! स्वाभाविकी क्रियावाले होते हुए आप सारे ब्रह्माण्ड को गति दे रहे हैं। सब लोगों को आप ही कर्मों में प्रेरित कर रहे हैं। **भ्राजिष्ठ**=हे सर्वतो दीप्तिमन् प्रभो! **त्वम्**=आप ही **देवेषु**=देवों में **भ्राजिष्ठ: असि**=सर्वाधिक दीप्तिवाले हैं। **अहम्**=मैं भी **मनुष्येषु**=मनुष्यों में **भ्राजिष्ठ:**=सर्वाधिक दीप्तिवाला **भूयासम्**=होऊँ।

भावार्थ—हम 'सूर्य' की भाँति भ्राजिष्ठ बनें।

ऋषि:—प्रस्कण्व:। देवता—सूर्य:। छन्द:—निचृदार्षीगायत्री*, स्वराडार्षीगायत्री†। स्वर:—षड्ज:॥

'वर्चस्वान्, ओजिष्ठ व भ्राजिष्ठ' बनने का साधन

*उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतव:। दृशे विश्वाय सूर्यम्।
†उपयामगृहीतोऽसि सूर्याय त्वा भ्राजायैष ते योनि: सूर्याय त्वा भ्राजाय॥४१॥

१. गत मन्त्रों में 'वर्चस्वान्, ओजिष्ठ व भ्राजिष्ठ' बनने की प्रेरणा दी गई है। प्रस्तुत मन्त्र में वैसा बनने का साधन बताते हैं। **उत् उ**=(उत्=out, बाहर) मनुष्य वर्चस्वान् आदि बन सकता है, परन्तु प्रकृति से ऊपर उठकर ही। २. जब प्रकृति से ऊपर उठकर हम उस प्रभु की ओर झुकते हैं तभी भोगों से क्षीणशक्ति न होने के कारण हम अपने को वर्चस्वी बना पाते हैं, अत: **केतव:**=ज्ञानी लोग **त्यम्**=उस **जातवेदसम्**=प्रत्येक पदार्थ में वर्त्तमान **देवम्**=दिव्य गुणों के पुञ्ज अथवा ज्ञान से दीप्त तथा हमारे हृदयों को ज्ञान से द्योतित करनेवाले **सूर्यम्**=सदा उत्तम कर्मों में प्रेरित करनेवाले प्रभु को **वहन्ति**=अपने हृदयों में धारण करते हैं। ३. इस धारण के द्वारा वे **विश्वाय दृशे**=सब लोकों के देखनेवाले बनते हैं (दृश् to look after)। जैसे माता बच्चे का ध्यान करती है इसी प्रकार प्रभु को हृदय में धारण करनेवाले ये सब लोगों का ध्यान करते हैं। ४. प्रभु कहते हैं **उपयामगृहीत: असि**=तेरा जीवन सुनियमों से स्वीकृत है। **सूर्याय त्वा**=तुझे इस संसार में सूर्य बनने के लिए भेजा है **भ्राजाय**=सूर्य की भाँति चमकने के लिए। **एष: ते योनि:**=यह शरीर ही तेरा घर है। **सूर्याय त्वा भ्राजाय**=सूर्य बनने के लिए तुझे भेजा गया है, चमकने के लिए। यह सूर्य बनना व सूर्य के समान चमकना तभी हो सकता है जब मनुष्य **उत्**=प्रकृति से कुछ ऊपर उठे।

भावार्थ—हम प्राकृतिक भोगों से ऊपर उठें, प्रभु को हृदय में धारण करें, सर्वहित की भावना से ओत-प्रोत हों, जीवन संयमी हो और हम सूर्य की भाँति चमकनेवाले बनें।

ऋषि:—कुसुरुविन्दु:। देवता—पत्नी। छन्द:—स्वराड्ब्राह्म्युष्णिक्। स्वर:—ऋषभ:॥

कलश का आघ्राण

आजिघ्र कुलशं मुह्या त्वा विशन्त्विन्दव:। पुनरूर्जा निवर्त्तस्व सा न:
सहस्रं धुक्ष्वोरुधारा पयस्वती पुनर्माविशताद्रयि:॥४२॥

१. पिछले मन्त्रों में 'षोडशी' शब्द का प्रयोग कई बार हुआ है। प्रभु षोडशी इसलिए हैं कि वे सोलह कलाओं के स्वामी हैं और जीव षोडशी इसलिए है कि उसने इन सोलह कलाओं को धारण करना है। इन सोलह कलाओं का मूलस्थान प्रभु 'कल-श' कहलाते हैं 'कला: शेरते अस्मिन्'। पति पत्नी से कहता है कि हे पत्नि! **कलशम्**=इन कलाओं के आधारभूत प्रभु की **आजिघ्र**=चारों ओर गन्ध लेने का प्रयत्न कर। तुझे प्रत्येक पदार्थ में प्रभु

की महिमा का दर्शन हो। क्या दूध में, क्या फलों में, क्या शाकों में और क्या सन्तान के शरीर में--तुझे सर्वत्र प्रभु की महिमा दिखे। २. इस प्रभु की महिमा को स्मरण करती हुई तू **मही**=(मह पूजायाम्) उस प्रभु की उपासिका बन। ३. इस उपासना से **त्वा**=तुझमें **इन्दवः**=शक्ति के कण अथवा ऐश्वर्य **आविशन्तु**=प्राप्त हों। प्रभु के सम्पर्क में आने से प्रभु की शक्ति तो प्राप्त होगी ही। ४. इस प्रकार **पुनः**=फिर **ऊर्जा**=शक्ति से **निवर्तस्व**='नि' निश्चयपूर्वक वर्तस्व=वर्त्तमान हो, अर्थात् प्रभु-उपासना के द्वारा तू फिर से अपने को शक्ति से भर ले। ५. शक्ति से परिपूर्ण हुई-हुई **सा**=वह तू **नः**=हमें **सहस्रम्**=आमोद-प्रमोद के साथ (स+हस्), बिना किसी प्रकार के क्रोध के, खेल-खेल में ही **धुक्ष्व**=प्रपूरित कर, घर के सब सभ्यों में अच्छाइयों को भरने का प्रयत्न कर। ६. **उरु धारा**=(उर्वी धारा यस्य, धारा=वाक्) ज्ञान की वाणियों को खूब प्राप्त करनेवाली, स्वाध्याय के द्वारा निरन्तर अपने ज्ञान को बढ़ानेवाली **पयस्वती**=सर्वतः प्रशस्त आप्यायनवाली—स्वयं अपने शरीर, मानस व बौद्धिक विकास को करनेवाली बनकर तू सन्तानों के अन्दर भी उत्तमताओं को भरनेवाली बन। ७. **पुनः**=फिर, अर्थात् उपर्युक्त बातों के होने पर **मा**=मुझे **रयिः**=धन **आविशतात्**=समन्ततः प्राप्त हो। उत्तम पत्नी जब घर के कार्य अच्छी प्रकार सँभाल लेती है तब पति निश्चिन्तता से गृहस्थ व्यय के लिए धनार्जन में लगता है।

भावार्थ—हम सर्वत्र प्रभु की महिमा देखें, प्रभु के उपासक बनें और प्रभु की शक्ति से अपने को शक्ति-सम्पन्न करें। प्रभु से अपना मेल करनेवाला व्यक्ति 'कुसुरु' है (कुस् to embrace) इस मेल से शक्ति-लाभ करनेवाला यह 'विन्दु' (विन्दति=लभते) है। एवं, इसका नाम ही 'कुसुरुविन्दु' पड़ गया है।

ऋषिः—कुसुरुविन्दुः। **देवता**—पत्नी। **छन्दः**—आर्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

अघ्न्या

इडे॒ रन्ते॒ हव्ये॒ काम्ये॒ चन्द्रे॒ ज्योते॒ऽदि॑ते॒ सर॑स्वति॒ महि॒ विश्रु॑ति।
ए॒ता ते॑ऽअघ्न्ये॒ नामा॑नि दे॒वेभ्यो॒ मां सु॒कृतं॑ ब्रूतात्॥४३॥

१. गत मन्त्र में मुख्य भावना प्रभु के सम्पर्क में आने की है। प्रभु के सम्पर्क में आनेवाला यह व्यक्ति प्रभु की वेदवाणी का अध्ययन करता है और कहता है कि हे **अघ्न्ये**=(अ हन् य) कभी नष्ट न करने योग्य, अर्थात् बिना विच्छेद के निरन्तर पढ़ने योग्य वेदवाणि! तू **देवेभ्यः**=विद्वानों के द्वारा **मा**=मेरे लिए **सुकृतम्**=पुण्य का **ब्रूतात्**=उपदेश कर, अर्थात् विद्वान् आचार्यों से हम इस वेद का उपदेश सुनें और अपने कर्त्तव्यों को जानें। २. हे वेदवाणि! तू **इडे**=उपासनीय है (ईड स्तुतौ=स्तोतुमर्हे--द० ईड्यते--म०) अथवा **इडा**=इ-ला= A law=तू जीवन का एक कानून (काण्ड) है। प्रभु ने मनुष्य को यह शरीर देते हुए यह वेदवाणी रूप जीवन का नियम भी दे दिया कि तूने इसके अनुसार अपना जीवन चलाना है। ३. **रन्ते**=यह वेदवाणी रमणीय है (रमयति इति) इस वेदवाणी में अत्यन्त सुन्दरता से कर्त्तव्यों व ज्ञानों का उपदेश दिया गया है। ४. **हव्ये**=यह हव्या है, उच्चारण के योग्य है। इसका नियम से पाठ करना भी पुण्य के लिए है। आचार्य के शब्दों में पाठ करनेवाले भी श्रेष्ठ हैं, अर्थज्ञ तो श्रेष्ठतर हैं और क्रिया में लानेवाले श्रेष्ठतम। ५. **काम्ये**=यह चाहने योग्य है। अथवा 'आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, द्रविण, ब्रह्मवर्चस व मोक्ष' आदि सब कामनाओं को पूर्ण करनेवाली है।

६. इन सब कामनाओं को पूर्ण करने के कारण ही **चन्द्रे**=आह्लादित करनेवाली है। ७. **ज्योते**=दीप्तिमय है, सब ज्ञानों का प्रकाश करनेवाली है। ८. **अदिते**=ज्ञान के प्रकाश के द्वारा ही यह हमें न खण्डित करनेवाली है। हमारे शरीर, मन व बुद्धियों को उत्तम बनानेवाली है। ९. **सरस्वति**=यह ज्ञान के जलवाली है। १०. **महि**=हमारे जीवनों को महनीय बनानेवाली है। ११. **विश्रुति**=यह विविध ज्ञानों के श्रवणवाली है। इसमें सब विद्याओं का श्रवण होता है। १२. इस प्रकार हे **अघ्न्ये**=अहन्तव्य, सदा पठन के योग्य वेदवाणि! **एता ते नामानि**=ये उल्लिखित तेरे नाम हैं। तू विद्वानों के द्वारा हमें पुण्यों का उपदेश कर।

भावार्थ—वेदवाणी को 'अघ्न्या' जानकर हम उसका नित्य स्वाध्याय करें और अपने कर्त्तव्यों को जानकर पुण्य का आचरण करें। यह आचरण ही हमें 'कुसुरु'=प्रभु से मेलवाला व 'विन्दु'=मोक्षलाभ करनेवाला बनाएगा।

ऋषिः—शासः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्[क], स्वराडार्षीगायत्री[र]। **स्वरः**—गान्धारः[क], षड्जः[र]॥

पापों के साथ संग्राम

[क]वि नऽइन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः। योऽअस्माँ२॥ऽअभिदासत्यधरं गमया तमः। [र]उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा विमृधऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा विमृधे॥४४॥

गत मन्त्र के अनुसार वेदवाणी के द्वारा अपने कर्त्तव्यों का आचरण करनेवाला संयमी पुरुष 'शास' आत्मशासन करनेवाला है। यह प्रभु से प्रार्थना करता है कि १. **इन्द्र**=हे सब आसुरवृत्तियों के संहार करनेवाले प्रभो! **नः**=हमारे **मृधः**=काम-क्रोधादि आन्तर शत्रुओं को **विजहि**=विशेषरूप से नष्ट कर दीजिए। २. **पृतन्यतः**=हमारे साथ निरन्तर संग्राम करनेवाले इन वासनात्मक शत्रुओं को **नीचा यच्छ**=नीचा दिखानेवाले होओ। इनको पाँवों तले कुचल दीजिए। ३. **यः अस्मान् अभिदासति**=जो भी हमें दास बनाना चाहता है उसे **अधरं तमः गमय**=घोर अन्धकार में, पाताललोक में प्राप्त कराइए, अर्थात् हम वासनाओं के शिकार न हों, उनसे कुचले न जाएँ, वासनाओं के दास न बन जाएँ। ४. प्रभु इस 'शास' से कहते हैं कि **उपयामगृहीतः असि**=तू यम-नियमों से स्वीकृत जीवनवाला है। **त्वा**=तुझे **इन्द्राय**=इन्द्र बनने के लिए यहाँ भेजा है, शासन करनेवाला बनने के लिए, न कि दास बनने के लिए, **विमृधे**=शत्रुओं को पूर्ण रूप से नष्ट करने के लिए भेजा है। **एषः ते योनिः**=यह शरीर ही तेरा घर है, तूने इधर-उधर भटकना नहीं है। **इन्द्राय त्वा विमृधे**=तुझे इन्द्र बनना है, शत्रुओं को कुचलना है।

भावार्थ—मैं इन्द्र बनूँ। इन्द्रियों का शासन करनेवाला 'शास' होऊँ। वासनाओं को काबू करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—शासः। **देवता**—ईश्वरसभेशौ राजानौ। **छन्दः**—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्[क], विराडार्ष्यनुष्टुप्[र]। **स्वरः**—धैवतः[क], गान्धारः[र]॥

वाचस्पति विश्वकर्मा

[क]वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये मनोजुवं वाजेऽअद्या हुवेम। स नो विश्वानि हवनानि जोषद्विश्वशम्भूरवसे साधुकर्मा। [र]उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा विश्वकर्मणऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा विश्वकर्मणे॥४५॥

गत मन्त्र में 'शास' ने प्रभु की इस प्रेरणा को सुना था कि 'विमृधे'=शत्रुओं के कुचलने के लिए तुझे इस संसार में भेजा है। इन शत्रुओं से युद्ध करता हुआ 'शास' प्रभु से प्रार्थना करता है कि १. **वाचस्पतिम्**=वेदवाणी के पति, **विश्वकर्माणम्**=इस विश्व—संसाररूप कर्मवाले, अर्थात् संसार का निर्माण करनेवाले **मनोजुवम्**=हृदयस्थरूपेण प्रेरणा देनेवाले आपको ही **अद्य**=आज **ऊतये**=इन शत्रुओं के आक्रमण से अपनी रक्षा के लिए तथा **वाजे**=शक्ति-प्राप्ति के निमित्त **हुवेम**=पुकारते हैं। वस्तुतः हे प्रभो! आपसे ही शक्ति प्राप्त करके मैंने इन शत्रुओं को जीतना है। २. **सः**=वह प्रभु **नः**=हमारी **विश्वानि हवनानि जोषत्**=सब पुकारों को सुने। हम अपने को इस योग्य बनाएँ कि हमारी प्रार्थना प्रभु के द्वारा अवश्य सुनी जाए। ३. वे प्रभु ही **विश्वशम्भूः**=सब प्रकार की शान्तिप्रदाता हैं। प्रभुकृपा से ही शरीरों के रोग, मनों की चिन्ताएँ दूर होती हैं और बुद्धियों की भ्रान्तियाँ भी वे प्रभु ही दूर करते हैं। ४. वे प्रभु **अवसे**=हमारे रक्षण के लिए होते हैं और **साधुकर्मा**=हमारे माध्यम से सब उत्तम कर्मों को करनेवाले हैं। ५. प्रभु 'शास' से कहते हैं **उपयामगृहीतः असि**=तू उपासना द्वारा यम-नियमों का स्वीकार करनेवाला है। **इन्द्राय त्वा**=तुझे जितेन्द्रिय बनने के लिए यह शरीर दिया गया है **विश्वकर्मणे**=तूने सब कर्म निर्माणात्मक ही करने हैं। **एषः ते योनिः**=यह शरीर ही तेरा घर है। **इन्द्राय त्वा विश्वकर्मणे**=तूने जितेन्द्रिय बनना है और इस विश्व में सदा निर्माणात्मक कार्यों का करनेवाला बनना है।

भावार्थ—प्रभु वेदवाणी के पति हैं। वे हमें हृदयस्थरूपेण प्रेरणा देते हैं। हम उनकी प्रेरणा को सुनें और तदनुसार कर्मों को करते हुए जीवन को शान्त बनाएँ।

ऋषिः—शासः। **देवता**—विश्वकर्मेन्द्रः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्[क], विराडार्ष्यनुष्टुप्[र]।
स्वरः—धैवतः[क], गान्धारः[र]॥

राजा

[क]विश्वकर्मन् हविषा वर्धनेन त्रातारमिन्द्रमकृणोरवध्यम्। तस्मै विशः समनमन्त पूर्वीरयमुग्रो विहव्यो यथासत्। [र]उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा विश्वकर्मणऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा विश्वकर्मणे॥४६॥

'लोगों के जीवन वेदानुकूल बनें' इसमें राजा का भी मुख्य हाथ होता है, अतः प्रस्तुत मन्त्र राजा के विषय में है। राजा को प्रस्तुत मन्त्र में 'अवध्य' कहा है। 'A king can do no wrong' यह अंग्रेज़ों का सिद्धान्त इसी भावना को व्यक्त कर रहा है। राष्ट्रपति पर अभियोग नहीं चलाया जा सकता। मन्त्र में कहते हैं कि—१. **विश्वकर्मन्**=हे सब कर्म करनेवाले प्रभो! **वर्धनेन**=प्रजा व राजा दोनों के वर्धन के कारणभूत **हविषा**=राष्ट्र-कर के द्वारा **त्रातारम्**=प्रजा की रक्षा करनेवाले **इन्द्रम्**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले राजा को **अवध्यम्**=न मारने योग्य **अकृणोः**=आपने बनाया है, अर्थात् (क) राजा को कर इस रूप में लेना चाहिए जिससे प्रजा व राजा दोनों का वर्धन हो। 'कर' अधिक मात्रा में न लिया जाए। अधिक कर लेने से प्रजा व राजा दोनों का ही उच्छेद हो जाता है। (ख) राजा को जितेन्द्रिय होना चाहिए। जितेन्द्रिय राजा ही शत्रुओं का विद्रावण कर पाता है (ग) राजा प्रभु का प्रतिनिधि है, अतः वह अवध्य कहा गया है। विवशता में उसे गद्दी से हटाकर, राजा न रहने पर ही दण्ड दिया जाता है। २. **तस्मै**=उस राजा के लिए **पूर्वीः**=अपना पूरण करनेवाली **विशः**=प्रजाएँ **समनमन्त**=सम्यक् आदर करनेवाली हों। ३. जब सब प्रजाएँ राजा

का सम्मान करती हैं तो **अयम्**=यह **उग्रः**=तेजस्वी होता है और **विहव्यः**=विशिष्ट 'कर' को प्राप्त करनेवाला होता है—प्रजाएँ इच्छापूर्वक उसे कर देती हैं। प्रजाओं को चाहिए कि राजा का इस रूप में आदर करें **यथा**=जिससे यह अन्य राष्ट्रों से भी **विहव्यः**=निमन्त्रित किया जाने योग्य **असत्**=हो। अन्य राष्ट्र भी इसे अपना विवाद समाप्त करने के लिए आमन्त्रित करें। ४. प्रभु इस शासक से कहते हैं कि **उपयामगृहीतः असि**=तूने उपासना द्वारा यम-नियमों का स्वीकार किया है। **इन्द्राय त्वा विश्वकर्मणे**=तुझे जितेन्द्रिय बनकर सब कर्मों को करने के लिए भेजा है। **एषः ते योनिः**=यह शरीर ही तेरा घर है। **इन्द्राय त्वा विश्वकर्मणे**=इसमें रहते हुए तुझे जितेन्द्रिय बनना है और निर्माण के सब कार्यों को करना है।

भावार्थ—राजा उचित कर लेनेवाला और प्रजा की रक्षा करनेवाला हो, जिससे यह प्रजा का आदरणीय बने। प्रजा का आदरणीय बनकर यह तेजस्वी हो और सब राष्ट्रों के आमन्त्रण में विहव्य=विशिष्ट आदर से निमन्त्रित किया जाने योग्य हो।

ऋषिः—शासः। देवता—विश्वकर्मेन्द्रः। छन्दः—विराड्ब्राह्मीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

राजा के लिए चार बातें

उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽस्य॒ग्नये॑ त्वा गाय॒त्रच्छ॑न्दसं गृह्णा॒मीन्द्रा॑य त्वा त्रि॒ष्टुप्छ॑न्दसं गृह्णा॒मि॒ विश्वे॑भ्यस्त्वा दे॒वेभ्यो॒ जग॑च्छन्दसं गृह्णा॒म्यनु॒ष्टुप्ते॑ऽभिग॒रः॥४७॥

गत मन्त्र की भावना को ही प्रकारान्तरेण दृढ करते हुए कहते हैं कि—१. हे राजन्! तुम **उपयामगृहीतः असि**=उपासना द्वारा अपने जीवन में यम-नियम का स्वीकार करनेवाले हो **अग्नये त्वा**=तुझे राष्ट्र में अग्रणी बनने के लिए, राष्ट्र को आगे ले-चलने के लिए **गृह्णामि**=मैं ग्रहण करता हूँ। उस तुझे ग्रहण करता हूँ जो तू **गायत्रच्छन्दसम्**=प्रभु के स्तवन की कामनावाला है (गायति इति गायत्रः, छन्द=इच्छा) अथवा जो तू गायत्री छन्द के मन्त्रों के अर्थ के विज्ञान से युक्त है। २. **इन्द्राय त्वा**=शत्रुओं के विद्रावण के लिए तुझे **गृह्णामि**=स्वीकार करता हूँ जो तू **त्रिष्टुप् छन्दसम्**=(त्रिष्टुप=stop) काम, क्रोध व लोभ तीनों को रोकने की कामनावाला है। अथवा त्रिष्टुप् छन्द के मन्त्रों के अर्थ के विज्ञान से युक्त है। ३. **विश्वेभ्यः त्वा देवेभ्यः**=सब दिव्य गुणों के प्रसार के लिए, राष्ट्र में अच्छाई को फैलाने के लिए तुझे **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ। उस तुझे स्वीकार करता हूँ जो तू **जगत् छन्दसम्**=निरन्तर क्रियाशीलता की इच्छावाला है। अथवा जगती छन्द के मन्त्रों के अर्थ के विज्ञान से युक्त है। ४. **अनुष्टुप्**=(अनुष्टोभते स्तभ्नाति अज्ञानम्) अज्ञान का नाश ही **ते**= तेरा **अभिगरः**=(अभिष्टवः) प्रभु-स्तवन है, अर्थात् प्रजा के अज्ञानान्धकार को दूर करना ही उसकी प्रभु-स्तुति हो जाती है।

भावार्थ—राजा बनने योग्य वह है जो १. राष्ट्र की प्रगति के लिए प्रभु-स्तवन की कामनावाला है। २. शत्रुओं के विद्रावण के लिए काम-क्रोध-लोभ को जीतने की इच्छा करता है। ३. दिव्य गुणों के विस्तार के लिए निरन्तर क्रियाशील होता है। ४. प्रजा के अज्ञानान्धकार को दूर करना ही अपना प्रभु-स्तवन मानता है।

सूचना—१. राजा को अपने निज जीवन में प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाला; काम, क्रोध व लोभ को रोकनेवाला तथा क्रियाशील होना चाहिए। २. उसे राज्य को आगे ले-चलने का प्रयत्न करना है, शत्रुओं से राष्ट्र की रक्षा करनी है तथा राष्ट्र में दिव्य गुणों को फैलाने का प्रयत्न करना है और राष्ट्र से अज्ञान को दूर करना है।

ऋषिः—देवाः। देवता—प्रजापतयः। छन्दः—आसुरीत्रिष्टुप्[१], याजुषीत्रिष्टुप्[३], याजुषीजगती[२,४,५], साम्नीबृहती[६]। स्वरः—धैवतः[१,३], निषादः[२,४,५], मध्यमः[६]॥

राजा का सदाचारित्व=सच्चरित्रता

[१]व्रेशीनां त्वा पत्मन्नाधूनोमि [२]कुकूननानां त्वा पत्मन्नाधूनोमि। [३]भन्दनानां त्वा पत्मन्नाधूनोमि [४]मदिन्तमानां त्वा पत्मन्नाधूनोमि। [५]मधुन्तमानां त्वा पत्मन्नाधूनोमि [६]शुक्रं त्वा शुक्रऽआधूनोम्यह्नो रूपे सूर्यस्य रश्मिषु॥४८॥

राजा धनाधिक्य के कारण कहीं चरित्रभ्रष्ट न हो जाए, अतः राजपत्नी कहती है कि—१. **व्रेशीनाम्**=(व्रजन्ति शेरते) जो निष्प्रयोजन केवल दिखावे के लिए इधर-उधर घूमती हैं और खाली समय सोती हैं, उन सुरूप स्त्रियों में **पत्मन्**=गिर जानेवाले **त्वा**=तुझे **आधूनोमि**=सर्वतः कम्पित करती हूँ, अर्थात् उनके समीप जाने से तुझे रोकती हूँ। २. **कुकूननानाम्**=(कु शब्दे कुवन्ति) कोयल की भाँति मधुर स्वर में सङ्गीत के शब्दों को करनेवालियों में **पत्मन्**=गिर जानेवाले **त्वा**=तुझे **आधूनोमि**=सर्वतः कम्पित करती हूँ, अर्थात् उनके फन्दे में पड़ने से बचाती हूँ। ३. **भन्दनानाम्**=(भदि कल्याणे सुखे च) अधिक-से-अधिक आराम के जीवनवाली इन स्त्रियों में **पत्मन्**=गिर जानेवाले **त्वा**=तुझे **आधूनोमि**=कम्पित करके इनसे दूर करती हूँ। ४. **मदिन्तमानाम्**=मादकता को पैदा करनेवाली इन स्त्रियों में **पत्मन्**=गिर जानेवाले **त्वा**=तुझे **आधूनोमि**=कम्पित करके सर्वथा दूर करती हूँ। ५. **मधुन्तमानाम्**=अतिशयेन माधुर्य गुण से युक्त, ऊपर से अत्यन्त मीठे व्यवहारवाली इन स्त्रियों में **पत्मन्**=गिर जानेवाले **त्वा**=तुझे **आधूनोमि**=कम्पित करके दूर करती हूँ। राजा को ही क्या, वस्तुतः सभी पतियों को आपातरम्य स्त्रियों के चंगुल में फँसकर अपनी शक्ति का अपव्यय नहीं करना। ६. इन स्त्रियों में न गिरकर **शुक्रम्**=(शुच) शुद्ध,शुचि व पवित्र जीवनवाले **त्वा** =तुझे (क) **शुक्रे**=(निमित्तसप्तमी) वीर्यरक्षा के निमित्त **आधूनोमि**=मैं तुझे इन सबसे पृथक् करती हूँ। (ख) **अह्नः रूपे**=दिन के रूप के निमित्त तुझे इनसे अलग करती हूँ। जैसे दिन चमकता है उसी प्रकार तेरा जीवन भी स्वस्थ होकर चमकनेवाला होता है। (ग) **सूर्यस्य रश्मिषु**=सूर्य की रश्मियों के निमित्त मैं तुझे इनसे पृथक् करती हूँ। तू व्यसनों से बचकर ज्ञानरश्मियों से प्रकाशमय बन।

भावार्थ—असंयम या व्यभिचार मनुष्य को निर्वीर्य, निस्तेज व मूर्ख बना देता है। संयमी जीवनवाला उत्तम शुक्र (वीर्य) को प्राप्त होता है, उसका चेहरा दिन के प्रकाश के समान चमकता है और वह ज्ञानरश्मियों से सूर्य के समान देदीप्यमान होता है।

ऋषिः—देवाः। देवता—विश्वेदेवाः प्रजापतयः। छन्दः—विराट्प्राजापत्याजगती[क], निचृदार्ष्युष्णिक्[र]। स्वरः—निषादः[क], ऋषभः[र]॥

शुद्धता व शक्ति की श्रेणी में प्रथम

[क]ककुभꣳरूपं वृषभस्य रोचते बृहच्छुक्रः शुक्रस्य पुरोगाः सोमः सोमस्य पुरोगाः। [र]यत्ते सोमादाभ्यं नाम जागृवि तस्मै त्वा गृह्णामि तस्मै ते सोम सोमाय स्वाहा॥४९॥

१. गत मन्त्र के अनुसार राजा संयमी जीवनवाला बनता है तो **वृषभस्य**=शक्तिशाली राजा का **ककुभम् रूपम्**=(ककुभं इति महन्नाम—नि० ३.३) महान् रूप **रोचते**=चमकता है। वह राजा प्रजा में सचमुच नररूपधारी महादेव प्रतीत होने लगता है। २. **बृहच्छुक्रः**=यह

वृद्धिशील शुद्ध जीवनवाला राजा **शुक्रस्य** =शुद्धता व शुचिता का **पुरोगाः**=अग्रेसर होता है। ३. यह **सोमः**=वीर्य का पुञ्ज **सोमस्य**=शक्तिशाली पर विनीत लोगों का **पुरोगाः**=मुखिया होता है, अर्थात् वीर्यरक्षा के द्वारा शक्तिशाली बनता है और विनीत होता है। ४. हे **सोम**=शक्तिशालिन् पर विनीत राजन्! **यत्**=क्योंकि **ते नाम**=तेरी ख्याति, प्रसिद्धि इस रूप में है कि तू **अदाभ्यम्**=न दबाये जाने योग्य अहिंसनीय है तथा **जागृवि**=सदा जागनेवाला है, कभी प्रजारक्षणरूप कार्य में प्रमत्त नहीं होता। **तस्मै**=इसलिए **त्वा गृह्णामि**=हम तेरा ग्रहण करते हैं। ४. हे **सोम**=शक्तिशालिन् विनीत राजन्! **तस्मै ते सोमाय**=उस तुझ सोम के लिए **स्वाहा**=हम अपना अर्पण करते हैं। शक्तिशाली परन्तु विनीत राजा के लिए प्रजा अपना जीवन देने के लिए उद्यत रहती है। ऐसा ही राजा अन्ततोगत्वा चमकता है। यह 'देव' होता है। ऐसे पति 'देवाः' कहलाते हैं।

भावार्थ—राजा शुद्धता व शक्ति के दृष्टिकोण से सर्वप्रथम बनने का प्रयत्न करता है। ऐसे ही राजा के प्रति प्रजाएँ नतमस्तक होती हैं।

ऋषिः—देवाः। **देवता**—प्रजापतयः। छन्दः—भुरिगार्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

प्रकाश, शक्ति व दिव्यता

उशिक् त्वं देव सोमाग्नेः प्रियं पाथोऽपीहि वशी त्वं देव सोमेन्द्रस्य प्रियं पाथोऽपीह्यस्मत्सखा त्वं देव सोम विश्वेषां देवानां प्रियं पाथोऽपीहि॥५०॥

१. **उशिक्**=(कामयमानः) प्रजा के हित की कामना करता हुआ **त्वम्**=तू **देव**=दिव्य गुणयुक्त तथा ज्ञान के प्रकाशवाला है। हे **सोम**=शक्ति व शान्ति के पुञ्ज! तू **अग्नेः**=अग्नि के **प्रियं पाथः**=प्रिय मार्ग को **अपीहि**=निश्चय से प्राप्त हो (अपि=निश्चयार्थे)। अग्नि का मार्ग प्रकाश व दोषदहन है। तूने भी प्रकाशमय जीवनवाला तथा दोषों को भस्म करनेवाला बनना है। २. **वशी**=सब इन्द्रियों को वश में करनेवाला **त्वम्**=तू **देव**=दिव्य गुणमय **सोम**=शान्ति व शक्ति के पुञ्ज! **इन्द्रस्य**=इन्द्र के **प्रियं पाथः** =प्रिय मार्ग को **अपीहि**=निश्चय से प्राप्त हो। इन्द्र का मार्ग असुरों का संहार करना है। तूने भी आसुरवृत्तियों को समाप्त करके सचमुच ही इन्द्र=वशी बनना है। अपने को वश में करके ही तू प्रजाओं को भी वश में कर सकेगा। ३. **अस्मत् सखा**=हम प्रजाओं का मित्र **त्वम्**=तू **देव सोम**=हे प्रकाशमय शान्त व शक्तिसम्पन्न राजन्! **विश्वेषां देवानाम्**=सब देवों के **प्रियं पाथः**=प्रिय मार्ग को **अपीहि**=निश्चय से प्राप्त हो। राजा प्रजा का हित चाहता हुआ स्वयं दिव्य गुणों को अपनाकर प्रजा में उन दिव्य गुणों का प्रसार करे।

भावार्थ—प्रजा का हितेच्छु राजा अग्नि बने, इन्द्र बने, देव बने। प्रजाओं में प्रकाश, शक्ति व दिव्यता का प्रसार करे।

ऋषिः—देवाः। **देवता**—प्रजापतयो गृहस्थाः। छन्दः—भुरिगार्षीजगती। स्वरः—निषादः॥

रति-धृति-स्वधृति

इह रतिरिह रमध्वमिह धृतिरिह स्वधृतिः स्वाहा। उपसृजन्धरुणं मात्रे धरुणो मातरं धयन्। रायस्पोषमस्मासु दीधरत् स्वाहा॥५१॥

गृहस्थाश्रम में प्रवेश करनेवाले पति-पत्नी से कहते हैं—१. **इह रतिः**=यहीं, अपने घर पर ही आनन्द है। **इह रमध्वम्**=यहाँ ही आनन्द लेने का प्रयत्न करो। आनन्द-प्राप्ति

के लिए क्लब्स आदि में जाना घर के लिए सबसे विघातक है। पति-पत्नी का पारस्परिक प्रेम तो इनके कारण समाप्त होता ही है, सन्तानों का निर्माण भी नहीं हो पाता। २. **इह**=यहाँ घर पर ही **धृतिः**=धारण व पोषण है, धारण-पोषण के लिए प्रतिदिन के प्रवास की आवश्यकता नहीं ३. **इह**=इस गृहस्थ में ही **स्व-धृतिः**=आत्मा का भी धारण हो जाता है। आत्मा-परमात्मा को ढूँढने के लिए तीर्थों व मन्दिरों में भटकते रहने की आवश्यकता नहीं। एवं, न आनन्द प्राप्ति के लिए, न आजीविका के लिए और न ही आत्मदर्शन के लिए इधर-उधर जाने की आवश्यकता है। घर पर रहते हुए ही हम ऐहिक व आमुष्मिक कल्याण प्राप्त कर सकते हैं। **स्वाहा**=यहाँ घर में ही हम 'स्व' का 'हा' करनेवाले बनें, कुछ स्वार्थत्याग का पाठ पढ़ें और घर को स्वर्ग बनाने का प्रयत्न करें।

४. **मात्रे**=माता के लिए **धरुणः**=धारण करनेवाले-सब प्रकार से माता-पिता का धारण-पोषण करने में समर्थ पुत्र को **उपसृजन्**=प्राप्त कराता हुआ पुरुष 'पिता' हो। **धरुणः**=धारण करनेवाला पुत्र **मातरं धयन्**=माता का दूध पीनेवाला हो। इस दूध से वह केवल शारीरिक पोषण को ही नहीं प्राप्त होता, अपितु सब उत्तम गुणों को भी अपने अन्दर ग्रहण करता है और धारणात्मक वृत्तिवाला होता है-तोड़-फोड़ करने की ओर इसका झुकाव नहीं होता। ५. यह सन्तान बड़ा होकर **अस्मासु**=हममें **रायस्पोषम्**=धन के पोषण को **दीधरत्**=धारण करे। बड़ा होकर कमानेवाला बने, माता-पिता को भूल न जाए। **स्वाहा**=इस पितृयज्ञ को नियम से करनेवाला यह स्वार्थ का त्याग करे।

भावार्थ-घर में ही आनन्द, ऐश्वर्य व आत्मदर्शन है। इधर-उधर भटकने का क्या लाभ? सन्तान को दूध पिलाने के साथ ही माता उसे धारणात्मक वृत्तिवाला बनाने का प्रयत्न करे।

ऋषिः-देवाः। **देवता**-प्रजापतिः। **छन्दः**-निचृदार्षीबृहती। **स्वरः**-मध्यमः॥

प्रजा द्वारा अमृतत्व

सत्रस्यऽ ऋद्धिर्' स्यगन्म ज्योतिर्' मृताऽअभूम।
दिवं पृथिव्याऽअध्यारुहामाविदाम देवान्त्स्वर्ज्योतिः॥५२॥

पिछले मन्त्र के अनुसार घर में 'रति, धृति व स्वधृति' को समझनेवाले पति-पत्नी 'धरुण' पुत्र को प्राप्त करके कहते हैं कि-१. हे धरुण! तू ही **सत्रस्य**=हमारे इस गृहस्थ-यज्ञ की **ऋद्धिः असि**=समृद्धि व सफलता है। तुझे प्राप्त करके हमारा यह यज्ञ पूर्ण होता है। २. **ज्योतिः अगन्म**=हमने आज प्रकाश प्राप्त किया है। हमें अब अपने आगे अन्धकार प्रतीत नहीं होता। **अमृताः अभूम**=अब हम तुम्हारे द्वारा अमर हो गये हैं- **'प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम'**। ३. अब हम गृहस्थ को समाप्त करके **पृथिव्याः**=इन पार्थिव भोगों से **दिवे अध्यारुहाम**=ऊपर उठकर द्युलोक=प्रकाशमय लोक में पहुँचने का प्रयत्न करें। **'स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात्'**, हम सदा स्वाध्याय में तत्पर रहकर अपने ज्ञान को बढ़ानेवाले बनें। **देवान् अविदाम**=दिव्य गुणों को प्राप्त करें अथवा विद्वानों के समीप पहुँचें और अपने ज्ञान को बढ़ाकर **स्वर्ज्योतिः**=उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति परमात्मा को प्राप्त करें।

भावार्थ-गृहस्थ की सफलता इसी बात में है कि हम धारणात्मक सन्तान को प्राप्त करें। उसके बाद स्वाध्याय आदि से अपने ज्ञान को बढ़ाने में लगे रहें और विद्वानों के सम्पर्क में आते हुए हम स्वयं देदीप्यमान ज्योति प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—देवाः। देवता—गृहपतयः। छन्दः—आर्ष्यनुष्टुप्[1], आसुर्य्युष्णिक्[2], प्राजापत्याबृहती[3], विराट्प्राजापत्यापङ्क्तिः[4]। स्वरः—गान्धारः[1], ऋषभः[2], मध्यमः[3], पञ्चमः[4]॥

इन्द्रापर्वता

[1]युवं तमिन्द्रापर्वता पुरोयुधा यो नः पृतन्यादप तन्तमिद्धतं वज्रेण तन्तमिद्धतम्। [2]दूरे चत्ताय छन्त्सद् गहनं यदिनक्षत्। [3]अस्माकꣳशत्रून् परि शूर विश्वतो दर्मा दर्षीष्ट विश्वतः। [4]भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याम सुवीरा वीरैः सुपोषाः पोषैः॥५३॥

पति-पत्नी को आत्मालोचन की वृत्तिवाला बनकर अपनी सब बुराइयों को दूर करनेवाला बनना चाहिए। पति 'इन्द्र' हो, सब आसुरवृत्तियों का संहार करनेवाला जितेन्द्रिय। पत्नी 'पर्वत' हो (पर्व पूरणे) अपनी सब न्यूनताओं को दूर कर अपने में अच्छाइयों को भरनेवाली। इन पति-पत्नी से कहते हैं कि **यः**=जो भी बुराई **नः**=हमपर **पृतन्यात्**=आक्रमण करती है, हमारे साथ संग्राम करने आती है **युवम् इन्द्रापर्वता**=तुम दोनों इन्द्र व पर्वत बनकर **पुरोयुधा**=पहले ही इनसे युद्ध करनेवाले, प्रारम्भ में ही इन्हें समाप्त कर देनेवाले, इन्हें जड़ पकड़ने का अवकाश न देनेवाले **तं तम्**=उस-उस बुराई को **इत्**=निश्चय से **हतम्**=मार दो। **वज्रेण**=वज्र से, गतिशीलता से (वज् गतौ) **तं तं इत् हतम्**=उसे निश्चय से नष्ट कर दो। **दूरे चत्ताय**=(चततिर्गतिकर्मा) दूर गये हुए के लिए भी यह वज्र (गतिशीलता) **छन्त्सत्**=नष्ट करने की कामना करे। यदि कोई बुराई दूर तक पहुँच गई हो, अर्थात् कुछ बढ़ भी गई हो, तब भी यह क्रियाशीलता उस बुराई को समाप्त करनेवाली हो। **यत्**=यदि **गहनम्**=(cave, a hiding place) हृदयरूप गुहा में भी **इनक्षत्**=व्याप्त हो गई है तो भी यह क्रियाशीलतारूप वज्र उस बुराई को समाप्त करने की कामना करे। २. हे **शूर**=कामादि शत्रुओं का हिंसन करनेवाले वीर! **अस्माकम्**=हमारा **विश्वतः शत्रून्**=सब दृष्टिकोणों से शातन (विनाश) करनेवाले इन कामादि शत्रुओं को **विश्वतः दर्मा**=सब ओर से विदीर्ण करनेवाला यह तेरा वज्र—तेरी क्रियाशीलता **परिदर्षीष्ट**=चारों ओर से विदीर्ण कर दे। ३. इन शत्रुओं के विनाश से हम **भूः**=स्वस्थ बनें, **भुवः**=ज्ञानी बनें, **स्वः**=जितेन्द्रिय व प्रकाशमय हों। **प्रजाभिः**=सन्तानों से **सुप्रजाः**=उत्तम प्रजाओंवाले **स्याम**=हों, **वीरैः**=वीरों से **सुवीराः**=उत्तम वीरोंवाले हों तथा **पोषैः**=धनादि के दृष्टिकोण से **सुपोषः**=उत्तम धनों का पोषण करनेवाले हों।

वस्तुतः 'देवाः'=दिव्य गुणोंवाले वे ही होते हैं जो शत्रुओं का नाश करके शरीर के दृष्टिकोण से **भूः** =स्वस्थ बनते हैं, बौद्धिक दृष्टिकोण से **भुवः**=ज्ञानी बनते हैं तथा मानस दृष्टिकोण से जितेन्द्रिय (स्वः) बनते हैं। इनकी सन्तान भी उत्तम होती है, ये वीर होते हैं और न्याय्य धनों का अर्जन करते हैं।

भावार्थ—हम क्रियाशीलता से कामादि शत्रुओं को समाप्त करनेवाले हों। इन शत्रुओं को हम प्रारम्भावस्था में ही नष्ट करने का प्रयत्न करें। हम सुप्रजा, सुवीर व सुपोष हों।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—परमेष्ठी प्रजापतिः। छन्दः—निचृद्ब्राह्म्युष्णिक्। स्वरः—ऋषभः॥

परमेष्ठी-पूषा

परमेष्ठ्यभिधीतः प्रजापतिर्वाचि व्याहृतायामन्धोऽअच्छेतः। सविता सन्यां विश्वकर्मा दीक्षायां पूषा सोमक्रयण्याम्॥५४॥

गत मन्त्र के ऋषि 'देवाः' थे, वे सब देवों को अपने अनुकूल बनाकर उत्तम

निवासवाले बनते हैं और इसी कारण 'वसिष्ठ' कहलाते हैं। वसुओं में सर्वाधिक वसु। ये अपनी इन्द्रियों, मन व बुद्धि पर पूर्ण प्रभुत्व के कारण 'वशिष्ठ' भी कहलाते हैं—सर्वोत्तम वशी। १. **परमेष्ठी**=ये अपने जीवन को उत्तम बनाते हुए परम स्थान पर पहुँचने का प्रयत्न करते हैं। २. ये **अभिधीतः**=(अभि=अन्दर-बाहर दोनों ओर, धीतम्=ध्यान) अन्दर-बाहर दोनों ओर, क्या सृष्टि में और क्या शरीर में, ये उस प्रभु की महिमा का ही ध्यान करते हैं। शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग की रचना में, हिमाच्छदित पर्वतों, समुद्रों व पृथिवी के वनों व रेगिस्तानों—सभी में प्रभु की महिमा का दर्शन करते हैं। इस प्रकार अन्दर-बाहर प्रभु-महिमा को देखते हुए ये व्यक्ति पापों से ऊपर उठकर 'परमे-ष्ठी' बन जाते हैं। ३. **वाचि व्याहृतायाम्**=वेदवाणी का अध्ययन करने पर **प्रजापतिः**=ये प्रजाओं के रक्षक बनते हैं। घरों में उत्तम सन्तानों का निर्माण करते हैं तो राष्ट्र के अधिकारी बनकर सारी प्रजा को अच्छा बनाने का प्रयत्न करते हैं। ४. **अच्छ इतः**=उस प्रभु की ओर गया हुआ व्यक्ति **अन्धः**=(अदृक्) संसार की वस्तुओं को फिर नहीं देखता, इन वस्तुओं के प्रति उसकी 'रति' नष्ट हो जाती है, ब्रह्ममार्ग पर चलनेवाले के लिए सांसारिक आनन्द तुच्छ हो जाते हैं। ५. **सन्याम्**=(संभक्तौ) सम्यक् यज्ञ द्वारा बाँटकर खाने से **सविता**=(षु=ऐश्वर्य) मनुष्य ऐश्वर्यशाली बनता है। देने से धन बढ़ता ही है—**'दक्षिणां दुहते सप्तमातरम्** (ऋ०)' देने से धन सप्तगुणित हो जाता है। ६. **दीक्षायाम्**=व्रत ग्रहण करने पर मनुष्य **विश्वकर्मा**=देवशिल्पी—निर्माणात्मक कार्यों को कुशलता से करनेवाला बनता है। व्रती पुरुष की वृत्ति तोड़-फोड़ की न होकर निर्माण की होती है। ७. **सोमक्रयण्याम्**=सोम का क्रयण, अर्थात् 'द्रव्य-विनिमय' अन्य द्रव्य देकर सोम लेने पर **पूषा**=मनुष्य पोषण की देवता बन जाता है, अर्थात् वह सब दृष्टिकोणों से पुष्ट होता है। सब द्रव्यों से वह सोम का विनिमय करने के लिए उद्यत होता है तो यह सोम उसके शरीर, मन व मस्तिष्क सभी को पुष्ट करता है।

भावार्थ—हम मन्त्रवर्णित ध्यान आदि उपायों द्वारा 'परमेष्ठी' बनने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—वसिष्ठः। **देवता**—इन्द्रादयः। **छन्दः**—आर्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

इन्द्र-नरन्धिष

इन्द्रश्च मुरुतश्च क्रुयायोपोत्थितोऽसुरः पुण्यमानो मित्रः क्रीतो विष्णुः शिपिविष्टऽऊरावासंन्नो विष्णुर्नुरन्धिषः॥५५॥

१. गत मन्त्र की समाप्ति 'सोम-क्रयणी' पर थी। **क्रयाय**=इस सोम के क्रय के लिए **इन्द्रः च**=मनुष्य को जितेन्द्रिय बनना है तथा साथ ही **मरुतः च**=प्राणों की साधना करनी है। जितेन्द्रियता व प्राणसाधना ये दो सोमरक्षा के मौलिक उपाय हैं। २. इस प्रकार जितेन्द्रियता व प्राणसाधना से सोम की ऊर्ध्वगति होती है (**उप** up) **उत्थितः**=ऊपर उठा हुआ यह सोम **असुरः**=प्राणशक्ति देनेवाला होता है (असून् राति)। शरीर का अङ्ग-प्रत्यङ्ग प्राणशक्ति के सञ्चारवाला हो जाता है। ३. **पण्यमानः**=सब द्रव्यों को देकर खरीदा जाता हुआ यह सोम **मित्रः**=(प्रमीतेः त्रायते) रोगों से बचानेवाला होता है। ४. **क्रीतः**=खरीदा गया यह सोम **विष्णुः**=सारे शरीर में व्याप्त होनेवाला होता है। ५. **शिपिविष्टः**=(शिपिषु प्राणिषु प्रविष्टः) प्राणियों में प्रविष्ट हुआ यह सोम **ऊरौ**=(आच्छादने—द०) सब ओर से रोगादि के आक्रमण से बचाने की क्रिया में **आसन्नः**=निकटतम उपाय होता है। ६. **विष्णुः**=वस्तुतः शरीर में ही प्रविष्ट हुआ

और सम्पूर्ण रुधिर में व्याप्त हुआ यह सोम **न-रन्धिषः**=अ-हन्ता, न नष्ट करनेवाला होता है अथवा मनुष्यों को धारण करनेवाले (नरन्धि) इस संसार को ज्ञान द्वारा समाप्त करनेवाला (स्यति) होता है, अर्थात् यह सुरक्षित हुआ सोम उस सोम (परमात्मा) को प्राप्त कराके मनुष्य को मुक्त कर देता है।

भावार्थ—हम सोमरक्षा द्वारा अपने को नाश से बचाएँ और इस संसार के आवागमन से ऊपर उठकर मुक्त होने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—विश्वेदेवा गृहस्थाः। छन्दः—आर्षीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

प्रोह्यमाण-उपावह्रियमाण

प्रोह्यमाणः सोमऽआगतो वरुणऽआसन्द्यामासन्नोऽग्निराग्नीध्रऽइन्द्रो हविर्द्धानेऽथर्वोपावह्रियमाणः॥५६॥

१. पिछले मन्त्र के अन्तिम वाक्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि **प्रोह्यमाणः**=(वह् to carry) प्रकर्षेण उह्यमान होता हुआ **सोमः**=सोम **आगतः**=आता है, उद्दिष्ट स्थल पर पहुँच जाता है, यह लक्ष्य-स्थान से दूर नहीं होता। २. यह लक्ष्य-स्थान परमात्म-प्राप्ति ही तो है। यहाँ पहुँचा हुआ यह व्यक्ति मानो **आसन्द्याम्**=आरामकुर्सी पर **आसन्नः**=बैठा हुआ, परमात्मरूपी माता की गोद में बैठा हुआ **वरुणः**=आच्छादित (वृ आच्छादने) होता है, जैसे एक बच्चा माता की गोद में बैठा हुआ अत्यन्त सुरक्षित होता है, इसी प्रकार यह वसिष्ठ भी प्रभु की गोद में बैठा हुआ किसी भी प्रकार की वासनाओं के आक्रमण से आक्रान्त नहीं होता। ३. परन्तु क्या यह अकर्मण्य होता है? नहीं। **आग्नीध्रे**=(अग्निमिन्धे इति अग्नीत् तस्य भावः आग्नीध्रम्) अग्निसमिन्धनादि कार्यों में, अग्निहोत्रादि में यह **अग्निः**=प्रगतिशील होता है। यज्ञादि कार्यों में उत्साहवाला होता हुआ अपने जीवन को उन्नत करनेवाला होता है। ४. **हविर्धाने**=(हु=दान) दान के धारण में, अर्थात् दानादि करने पर **इन्द्रः**=परमैश्वर्यवाला होता है। दानादि से अपने ऐश्वर्य को बढ़ानेवाला होता है। ५. **उप अवाह्रियमाणः**=विषयों से इन्द्रियों को (अव=away) दूर करता हुआ और (उप) प्रभु की उपासना करता हुआ यह **अथर्वा**=डाँवाडोल नहीं होता, स्थितप्रज्ञ बनता है।

भावार्थ—विषयव्यावृत्त होकर स्थितप्रज्ञ बनना हमारे जीवन का ध्येय हो।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—निचृद्ब्राह्मीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

अंशुषु न्युप्तः सक्तुश्रीः

विश्वे देवाऽअꣳशुषु न्युप्तो विष्णुराप्रीतपाऽआप्याय्यमानो यमः सूयमानो विष्णुः सम्भ्रियमाणो वायुः पूयमानः शुक्रः पूतः। शुक्रः क्षीरश्रीर्मन्थी सक्तुश्रीः॥५७॥

१. गत मन्त्र का स्थितप्रज्ञ **अंशुषु**=ज्ञान की किरणों में **न्युप्तः**=बोया हुआ, अर्थात् (नित्यं स्थापितः) नित्य स्थापित किया हुआ **विश्वेदेवाः**=सब दिव्य गुणों का पुञ्ज बनता है। ज्ञानाग्नि में सब बुराइयाँ दग्ध हो जाती हैं, अतः उसका जीवन उत्तमोत्तम बन जाता है। २. **विष्णुः**=उदार-व्यापक मनोवृत्तिवाला (विष्लृ व्याप्तौ) यह **आप्रीतपा**=सब ओर प्रेम से (प्रीतं यथा स्यात्तथा) सबका रक्षा करनेवाला **आप्याय्यमानः**=समन्तात् वृद्ध होता है, सब दृष्टिकोणों से बढ़ा हुआ होता है। ३. **यमः**=नियमित जीवनवाला यह **सूयमानः**=(षु=ऐश्वर्य)

ऐश्वर्य में स्थापित किया जा रहा होता है। ४. **विष्णुः**=व्यापक मनोवृत्तिवाला यह **संभ्रियमाणः**=सम्यक् धारित-पोषित किया जा रहा होता है, औरों के धारण से वस्तुतः इसका अपना ही धारण होता है। यह औरों का धारण करता है, सब इसका धारण करते हैं। ५. **वायुः**=निरन्तर गतिवाला यह **पूयमानः**=पवित्र किया जा रहा होता है, कर्म मनुष्य के जीवन को शुद्ध करनेवाले हैं। ६. **शुक्रः**=(शुक् गतौ) शीघ्रता से कार्यों को करनेवाला (आशुकर्ता—द०) यह **पूतः**=पूर्ण पवित्र हो जाता है, पूर्ण पवित्र ही क्या? ७. **शुक्रः** =(शुक् दीप्तौ) पवित्र व दीप्त हुआ-हुआ यह **क्षीरश्रीः**=(क्षीरस्य श्रीरिव श्रीर्यस्य) दूध के समान उज्ज्वल कान्तिवाला होता है, इसका जीवन शुद्ध दूध के समान उज्ज्वल बन जाता है। ८. **मन्थी**=ज्ञान का खूब आलोडन व अवगाहन करनेवाला यह **सक्तुश्रीः**=(सक्तुः=सर्वत्र समवेतः प्रभुः) उस सर्वव्यापक प्रभु की कान्ति के समान कान्तिवाला होता है। उपनिषद् के शब्दों में 'ब्रह्म इव'=प्रभु-जैसा बन जाता है।

भावार्थ—हम अपने जीवन में सदा ज्ञान व सत्त्वगुण में स्थापित हुए-हुए उस प्रभु की कान्ति के समान कान्तिवाले बनें।

ऋषिः—वसिष्ठः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—निचृदार्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

विश्वेदेवाः पितरः

विश्वे॑ दे॒वाश्च॑म॒सेषू॒न्नीतो॑ऽसु॒र्होमा॒योद्य॑तो रु॒द्रो हू॒यमा॑नो॒ वातो॑ऽभ्यावृ॑तो नृ॒चक्षाः॒ प्रति॑ख्यातो भ॒क्षो भ॒क्ष्यमा॑णः पि॒तरो॑ नाराश॒ꣳसाः॥५८॥

१. **चमसेषु**='सत्य, यश व श्री' (truth, glory and prosperity) के आचमनों के होने पर **उन्नीतः**=यह ऊपर ले-जाया गया होता है, उन्नति के शिखर पर पहुँचता है। वस्तुतः यह **विश्वेदेवाः**=सब दिव्य गुणोंवाला हो जाता है। इस मन्त्रभाग का अर्थ इस प्रकार भी होता है कि **चमसेषु**=अन्नमयादि कोशों में (तिर्यग् बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः) **उन्नीतः**=ऊर्ध्वगति को प्राप्त कराया गया सोम **विश्वेदेवाः**=सब दिव्य गुणों का कारण बनता है। २. **होमाय उद्यतः**=सदा अग्निहोत्रादि यज्ञों में लगा हुआ यह **असुः**=(असु क्षेपणे) सब रोगों को अपने से परे फेंकनेवाला बनता है। ३. **हूयमानः**=लोगों से पुकारा जाता हुआ यह **रुद्रः**=(रुत्+र) उपदेश देनेवाला, ज्ञान देनेवाला होता है। ४. **वातः**=निरन्तर कार्यों में लगा हुआ यह **अभ्यावृतः**=सब ओर से विषयों से व्यावृत्त होता है। ५. **प्रतिख्यातः**=लोगों में प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ-हुआ यह **नृचक्षाः**=(looks after men) लोगों का रक्षण करनेवाला होता है, अर्थात् लोगों में इसकी ऐसी प्रसिद्धि हो जाती है कि यह सबका ध्यान करता है। ६. **भक्ष्यमाणः भक्षः**=खानेवाले लोगों के खा लेने पर ही यह खानेवाला होता है, अर्थात् यह कभी अकेला नहीं खाता। इसकी आय में 'आध्र (आधार देने योग्य ग़रीब लोग), मन्यमानः, तुरः (आदरणीय अज्ञानान्धकार को दूर करनेवाला पुरुष) और राजा—इन सभी को भाग मिलता है। यह ग़रीबों की मदद करता है, मान्य विद्वानों की सेवा करता है, राजा को कर देता है और बचे हुए को खाता है। ७. **नाराशंसाः**=मनुष्यों के प्रति ज्ञान का शंसन करनेवाला यह सचमुच **पितरः**=लोगों का रक्षक होता है। सच्चे पिता ऐसे ही व्यक्ति होते हैं।

भावार्थ—लोकहित में प्रवृत्त हुए-हुए ज्ञान के देनेवाले लोग ही सच्चे पिता होते हैं।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—निचृदार्षीजगती[क], विराडार्षीगायत्री[र]। स्वरः—निषादः[क], षड्जः[र]॥

स्व-स्वामित्व

[क]सन्नः सिन्धुरवभृथायोद्यतः समुद्रोऽभ्यवह्रियमाणः सलिलः प्रप्लुतो ययोरोजसा स्कभिता रजांᳬसि वीर्येभिर्वीरतमा शविष्ठा। [र]या पत्येतेऽअप्रतीता सहोभिर्विष्णूऽअगन्वरुणा पूर्वहूतौ॥५९॥

१. **सिन्धुः**=(स्यन्दते) अपने कार्यमार्ग पर नदी-जल की भाँति निरन्तर चलनेवाला यह **सन्नः**=एक दिन प्रभु की गोद में बैठा हुआ होता है, निरन्तर आगे बढ़ता हुआ प्रभु को प्राप्त कर लेता है। २. प्रभु को प्राप्त करने पर **समुद्रः**=(स-मुद्र) अत्यन्त आनन्द से युक्त यह **अवभृथाय उद्यतः**=यज्ञान्त स्नान के लिए उद्यत होता है। आज इसके जीवन का उद्देश्य पूर्ण होता है, उसी पूर्ति के उपलक्ष्य में यह यज्ञान्त स्नान होता है। ३. आज इसके जीवन में **सलिलः प्रप्लुतः**=प्रभु-प्राप्ति के आनन्द का अथाह जल ही उमड़ पड़ा है और यह **अभ्यवह्रियमाणः**=इन सांसारिक भोगों व स्वर्गादि के सुखों से पराङ्मुख हो गया है। प्रभु-प्राप्ति के आनन्द के सामने ये सब आनन्द अत्यन्त तुच्छ हैं। ४. इस प्रकार जिन पति-पत्नियों के जीवन में वे ३४ जीवन-सूत्र मिलते हैं, वे ऐसे होते हैं कि **ययोः**=जिनके **ओजसा**=ओज से, शक्ति से, **रजांसि**=ये लोक **स्कभिता**=थामे गये हैं। वस्तुतः संसार ऐसे सुन्दर जीवनवाले पुरुषों के सहारे ही स्थित है। ये पति-पत्नी **वीर्येभिः**=शक्तियों से **वीरतमा**=अतिशयेन शक्तिशाली होते हैं। **शविष्ठा**=अत्यन्त बलवान् व क्रियाशील होते हैं (शवस्=बल, शव् गतौ)। ५. **या पत्येते**=ये वे पति-पत्नी हैं जो अपना स्वामित्व करते हैं, जितेन्द्रिय होते हैं। **सहोभिः**=अपने बलों से ये **अप्रतीता**=(अ प्रति इत) अद्वितीय matchless होते हैं। **विष्णू**=व्यापक मनोवृत्तिवाले होते हैं **वरुणा**=श्रेष्ठ होते हैं, क्योंकि **पूर्वहूतौ**=(हूति=आकारण=आह्वान) प्रभु की प्रार्थना में ये सर्वप्रथम **अगन्**=प्राप्त होते हैं। इनके जीवन में प्रतिदिन का पहला कार्य प्रभु का आराधन होता है।

भावार्थ—हमारा दैनिक जीवन प्रभु-प्रार्थना से ही प्रारम्भ हो।

सूचना—५३ मन्त्र के 'युवं तमिन्द्रापर्वता' से पति-पत्नी का वर्णन ५९ मन्त्र के 'ययोरोजसा' तक चल रहा है। बीच के मन्त्र जीवन में लाने योग्य ३४ तन्तुओं का उल्लेख करते हैं। परमात्मा-जैसा तो बनना ही है। शेष ३३ देवों को भी हमें जीवन में धारण करना है। ये ३३ दिव्य गुण ही ५४ से ५९ मन्त्र के प्रारम्भ तक वर्णित हुए हैं।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—स्वराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

प्रातः प्रार्थना

देवान् दिवमगन्यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु मनुष्या३नन्तरिक्षमगन्यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु पितॄन् पृथिवीमगन्यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु यं कं च लोकमगन्यज्ञस्ततो मे भद्रमभूत्॥६०॥

पिछले मन्त्र की समाप्ति 'अगन्......पूर्वहूतौ' इन शब्दों पर हुई थी कि ये पति-पत्नी प्रातः प्रभु-प्रार्थना में उपस्थित होते हैं। उस प्रार्थना का स्वरूप प्रस्तुत मन्त्र में निर्दिष्ट हुआ है कि—१. **यज्ञः**=यज्ञ **देवान्**=देवों को—दिव्यवृत्ति पुरुषों को **दिवम्**=द्युलोक को, प्रकाश को, **अगन्**=प्राप्त कराता है **मा**=मुझे **ततः**=उससे **द्रविणम्**=द्रविण—ज्ञानरूप धन **अष्टु**=प्राप्त

हो। यज्ञ से देवों का जीवन अधिक प्रकाशमय होता है, मुझे भी ज्ञानरूप धन प्राप्त हो और मेरा जीवन भी प्रकाशमय हो। २. **यज्ञः**=यज्ञ **मनुष्यान्**=(मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति—नि०) विचारपूर्वक कार्य करनेवालों को **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्षलोक को **अगन्**=प्राप्त कराता है। **ततः**=उस यज्ञ से **मा**=मुझे **द्रविणम्**=मध्यमार्ग में चलनारूप धन **अष्टु**=प्राप्त हो। मैं सदा मध्यमार्ग (अन्तरा+क्षि बीच में रहना) में चलनेवाला बनूँ। ३. **यज्ञः**=यज्ञ **पितॄन्**=रक्षकों (guardians) को **पृथिवीम्**=पृथिवी को (प्रथ विस्तारे) शक्तियों के विस्तार को **अगन्**=प्राप्त कराता है **ततः**=उस यज्ञ से **मा**=मुझे भी **द्रविणम्**=शक्तियों का विस्ताररूप धन **अष्टु**=प्राप्त हो। ४. **यज्ञः**=यज्ञ **यं कं च लोकम्**=जिस किसी भी लोक को **अगन्** =प्राप्त कराता है **ततः**=उससे **मे**=मेरा **भद्रम्**=कल्याण और सुख **अभूत्**=हो। ५. इस यज्ञ से ही देवों का जीवन प्रकाशमय होता है। मनुष्य सदा मध्यमार्ग से चलने की वृत्तिवाले होते हैं और पितर=(रक्षण की वृत्तिवाले लोग) शक्तियों के विस्तार को प्राप्त करते हैं। ये तीनों ही बातें हमारे ऐहिक व आमुष्मिक जीवन को क्रमशः सुखी व कल्याणमय बनाती हैं।

भावार्थ—हम यज्ञों को अपनाएँ जिससे हम प्रकाश को प्राप्त हों। हमारा जीवन मध्यमार्ग से चलनेवाला हो तथा हम अपनी सब शक्तियों का विस्तार करनेवाले हों।

ऋषिः—वसिष्ठः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—ब्राह्म्युष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

चौंतीस सूत्र

चतु॑स्त्रि॒ꣳशत्तन्त॑वो॒ ये वि॑तत्नि॒रे य इ॒मं य॒ज्ञꣳस्व॒धया॒ दद॑न्ते।
तेषां॒ छिन्न॒ꣳसम्वे॒तद्द॑धामि॒ स्वाहा॑ घ॒र्मोऽअप्ये॑तु दे॒वान्॥६१॥

१. मन्त्र ५३ से ५९ के पूर्वार्ध तक जीवन के ३४ सूत्रों का वर्णन हुआ है। ये ३४ सूत्र ही जीवन का उत्तमता से धारण करते हैं। **ये**=जो **चतुस्त्रिंशत्**=३४ **तन्तवः**=सूत्र **वितत्निरे**=विशेषरूप से फैले हुए हैं **ये**=जो सूत्र **इमं यज्ञम्**=इस सृष्टि-यज्ञ को और तदन्तर्गत हमारे जीवन-यज्ञ को **स्वधया**=अपनी धारणशक्ति से **ददन्ते**=धारण करते हैं (दद दानधारणयोः), **तेषाम्**=उन सूत्रों का **छिन्नम्**=जो भी कुछ अंश टूटता है **उ**=निश्चय से **एतत्**=इसको **संदधामि**=ठीक-ठीक कर देता हूँ, अर्थात् मैं यथासम्भव जीवन के नियमों का पालन करता हूँ, उनमें होनेवाली त्रुटियों को दूर करता हूँ। २. इन त्रुटियों के दूरीकरण के लिए **स्वाहा**=मैं अपने (स्व+हा) स्वार्थ का त्याग करता हूँ। स्वार्थ ही त्रुटियों का कारण हुआ करता है। स्वार्थ के दूर करने से त्रुटियाँ दूर हो जाती हैं। ३. त्रुटियों के दूर होने पर मनुष्य का जीवन दिव्य बनता है। इन **देवान्**=देवों को—दिव्य गुणयुक्त जीवनवालों को **घर्मः**=(Heat, Warmth, Sunshine) शक्ति की उष्णता व ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होता है। ४. संक्षेप में संसार के धारण करनेवाले ३४ सूत्र हैं। ये ही वैयक्तिक जीवन के नियम हैं। इनके पालन में त्रुटि न आने देना ही हमारा कर्त्तव्य है। जब इनका पालन ठीक प्रकार से होता है तब जीवन में शक्ति की उष्णता व ज्ञान का प्रकाश दोनों उपस्थित होते हैं।

भावार्थ—हम अपने जीवनों को नियमबद्ध करने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—वसिष्ठः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

यज्ञ का दोह

य॒ज्ञस्य॒ दोहो॒ वित॑तः पुरु॒त्रा सोऽअ॑ष्ट॒धा दिव॑म॒न्वात॑तान।
स य॑ज्ञ धुक्ष्व॒ महि॑ मे प्र॒जाया॑ꣳरा॒यस्पोषं॒ विश्व॒मायु॑रशीय॒ स्वाहा॑॥६२॥

१. **यज्ञस्य**=यज्ञ का **दोह:**=प्रपूरण **पुरुत्रा**=बहुत प्रकार से व बहुत स्थानों में **विततः**=फैला हुआ है। मन्त्र संख्या ६० में कहा था कि वह द्युलोक में प्रकाश के रूप से, अन्तरिक्षलोक में विचारपूर्वक कर्म करने की वृत्ति के रूप से तथा पृथिवीलोक में शक्तियों के विस्तार के रूप से परिणत होता है। यज्ञ मस्तिष्क को ज्ञान से भरता है, हृदय को मध्यमार्ग में चलने की प्रवृत्ति से युक्त करता है और शरीर में सब अङ्गों की शक्ति का विस्तार करता है। २. **सः**=वह यज्ञ **अष्टधा**=आठ प्रकार से **दिवम् अनु आततान**=इस आकाश में विस्तृत हुआ है, अर्थात् यज्ञशील के जीवन में **'दया सर्वभूतेषु, क्षांतिः, अनसूया, शौचं, अनायासः, मङ्गलम्, अकार्पण्यम्, अस्पृहा'** इन आठ गुणों का विस्तार होता है। यज्ञशील (क) सब प्राणियों पर दया करता है, (ख) सहनशील होता है, (ग) दूसरों के गुणों में दोषदर्शन नहीं करता, (घ) पवित्रता को अपनाता है, (ङ) सब कार्यों को सहज स्वभाव से शान्तिपूर्वक करता है, (च) मङ्गल कार्यों में प्रवृत्त होता है, (छ) उदारता को अपनाता है, (ज) किसी भी वस्तु के लिए अत्यन्त आसक्तिवाला नहीं होता। ३. **यज्ञ**= हे यज्ञ! **सः** वह तू **मे**=मुझमें **महि** =महिमा को अथवा (मह पूजायाम्) पूजा की वृत्ति को **धुक्ष्व**=पूरित कर। यज्ञ करता हुआ जहाँ मैं महिमा को प्राप्त होऊँ वहाँ मेरी वृत्ति प्रभु-पूजा की बने। ४. **प्रजायां रायस्पोषम्**=प्रजा के होने पर मैं धन के पोषण को प्राप्त करूँ। यज्ञ की महिमा से मेरी सन्तान उत्तम हो और मैं उनके पोषण के लिए उचित धन प्राप्त करनेवाला होऊँ। ५. **विश्वम्**=पूर्ण **आयु:**=जीवन को **अशीय**=प्राप्त करूँ। ६. **स्वाहा**=इस सबके लिए मेरा जीवन स्वार्थ के त्यागवाला हो, यज्ञ की वृत्तिवाला हो।

भावार्थ—यज्ञ से मेरा जीवन दया आदि आठ गुणों से युक्त हो, मुझमें पूजा की वृत्ति बढ़े, सन्तान व उनके पोषण के लिए मैं धन प्राप्त करूँ, पूर्ण आयुवाला होऊँ। वस्तुतः वसिष्ठ का जीवन ऐसा होना ही चाहिए।

ऋषिः—कश्यपः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—स्वराडार्षीगायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

पवित्रता व शक्ति

आ प॑वस्व॒ हिर॑ण्यव॒दश्व॑वत्सोम वी॒रव॑त्। वाजं॒ गोम॑न्त॒माभ॑र॒ स्वाहा॑॥६३॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि कश्यप=ज्ञानी (पश्यक) है। यह प्रभु का सोम नाम से स्मरण करता है। यह सोम शरीर में वीर्य का भी प्रतिपादक है। यज्ञियवृत्ति से शरीर में इस सोम की रक्षा होती है। इस सुरक्षित सोम से हम अन्ततः उस सोम—'प्रभु' को प्राप्त करनेवाले बनते हैं। इस सोम से यह कश्यप—पश्यक—प्रभुद्रष्टा प्रार्थना करता है कि—१. **सोम**=हे शान्त, ज्ञानमय प्रभो! **आ पवस्व**=आप हमारे जीवन को सर्वथा पवित्र कर दो। २. और **वाजम्**=उस शक्ति को **आभर**=हममें सर्वथा भर दो जो (क) **हिरण्यवत्**='हिरण्यं वै ज्योतिः'=ज्ञान से युक्त है। हमारी शक्ति के साथ ज्योति का समन्वय हो। (ख) **अश्ववत्**= (अश्नुते कर्मसु) जो शक्ति कर्मों में व्याप्त होनेवाली है। हम क्रियाशील हों। (ग) **वीरवत्**=हमारी वह शक्ति वीरतावाली हो (वि+ईर) कामादि शत्रुओं को विशेषरूप से दूर भगानेवाली हो। (घ) **गोमन्तम्**=(गावः इन्द्रियाणि) हमारी वह शक्ति उत्तम इन्द्रियोंवाली हो। ३. **स्वाहा**=इस शक्ति की प्राप्ति के लिए हम स्वार्थत्याग करते हैं।

भावार्थ—हमारा जीवन पवित्र हो। हमें वह शक्ति प्राप्त हो जो ज्योति, क्रिया, वीरता व प्रशस्तेन्द्रियता से युक्त है।

॥ इत्यष्टमोऽध्यायः सम्पूर्णः॥

नवमोऽध्यायः

ऋषिः—इन्द्राबृहस्पती। देवता—सविता। छन्दः—स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

इन्द्र+बृहस्पति

देवं सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय।
दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाजं नः स्वदतु स्वाहा॥१॥

गत अध्याय के अन्तिम मन्त्र में प्रभु से जीवन को पवित्र बनाने के लिए प्रार्थना की गई थी। उसी प्रार्थना को प्रकारान्तर से प्रस्तुत मन्त्र में करते हैं कि—१. हे **सवितः देव**=सबके प्रेरक, दिव्य गुणों के पुञ्ज अथवा प्रकाशमय प्रभो! **यज्ञं प्रसुव**=हममें यज्ञ की भावना को प्रेरित कीजिए। हमारा जीवन यज्ञशील हो। २. **यज्ञपतिम्**=यज्ञों के रक्षक को **भगाय**=ऐश्वर्य के लिए **प्रसुव**=प्रेरित कीजिए। अपने जीवन को यज्ञमय बनाता हुआ पुरुष ऐश्वर्य को प्राप्त करनेवाला हो। ३. **दिव्यः**=सदा प्रकाश में स्थित होनेवाला वह (दिवि भवः) **गन्धर्वः**=(गां धरति) वेदवाणी को धारण करनेवाला **केतपूः**=(केतं ज्ञानं पुनाति)=हमारे ज्ञानों को पवित्र करनेवाला प्रभु **नः**=हमारे **केतम्**=ज्ञान को **पुनातु**=पवित्र करे। ज्ञान की पवित्रता ही सब पवित्रताओं का मूल है। ज्ञान पवित्र होने पर वाणी पवित्र होती है और वाणी के पवित्र होने पर क्रियाएँ पवित्र होती हैं। 'विचार, उच्चार व आचार' यह क्रम है। विचार की पवित्रता शब्दों में आती है, वहाँ क्रिया में। ४. **वाचस्पतिः**=वाणी का पति प्रभु **नः**=हमारे **वाजम्**=अन्न को **स्वदतु**=माधुर्यवाला करे। इस अन्न के माधुर्य पर वाणी व मन का माधुर्य निर्भर है। वस्तुतः बुद्धि का सौन्दर्य व पवित्रता भी इसी अन्न की मधुरता पर आश्रित है। ५. **स्वाहा**=इस ज्ञान की पवित्रता व अन्न के मधुर परिणाम के लिए मैं स्वार्थ का त्याग करूँ, स्वार्थ से ऊपर उठूँ। राजस् व तामस् भोजनों का चस्का छोड़ूँ। भोजन सात्त्विक होगा तो ज्ञान भी पवित्र होगा और वाणी भी माधुर्ययुक्त होगी। ६. 'वाज' शब्द का अर्थ शक्ति भी है। मेरी शक्ति मधुर हो, क्रूरता से ऊपर उठी हुई हो। शक्तिशाली बनकर मैं 'इन्द्र' बनूँ, ज्ञानी बनकर 'बृहस्पति'। इस प्रकार मैं मन्त्र का ऋषि 'इन्द्राबृहस्पती' होऊँ।

भावार्थ—हमारा ज्ञान पवित्र हो। हमारा अन्न व शक्ति मधुर हो।

ऋषिः—बृहस्पतिः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—आर्षीपङ्क्तिः[क], विकृतिः[र]। स्वरः—पञ्चमः[क], मध्यमः[र]॥

राजा

[क]ध्रुवसदं त्वा नृषदं मनःसदमुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम्। [र]अप्सुषदं त्वा घृतसदं व्योमसदमुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम्। पृथिविसदं त्वाऽन्तरिक्षसदं दिविसदं देवसदं नाकसदमुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम्॥२॥

'पिछले मन्त्रों की भावना के अनुसार सबके जीवन बड़े सुन्दर हों' इसके लिए राजा का उत्तम होना आवश्यक है। वास्तव में राजशक्ति ही प्रजाओं में सब उत्तमताओं को लाने

का कारण बनती है, अतः प्रस्तुत मन्त्र में राजा का वर्णन करते हैं कि—१. **ध्रुवसदम्**=(ध्रुवम् यथा स्यात्तथा सीदतीति) ध्रुवता से अपने धर्मों में स्थित होनेवाले २. **नृषदम्**=(नृषु सीदति) मनुष्यों में अवस्थित होनेवाले, अर्थात् हर समय प्रजा-रक्षण के कार्य में तत्पर रहनेवाले, ३. **मनः सदम्**=अपने मन पर आसीन होनेवाले, अर्थात् अपने मन को पूर्णरूप से वश में करनेवाले ऐसे **त्वा**=तुझ राजा को **गृह्णामि**=हम ग्रहण करते हैं। हे राजन्! ४. **उपयामगृहीतः असि**=आप उपासना द्वारा यम-नियमों से स्वीकृत जीवनवाले हैं। **इन्द्राय त्वा**=आपको राष्ट्र के ऐश्वर्य की वृद्धि के लिए स्वीकार करते हैं। **जुष्टम्**=आप प्रीतिपूर्वक राष्ट्र का सेवन करनेवाले हो। **एषः ते योनिः**=यह राष्ट्र ही तेरा घर है। **इन्द्राय**=राष्ट्र के ऐश्वर्य के लिए, **जुष्टतमम्**=सर्वाधिक प्रीति से राष्ट्र का सेवन करनेवाले **त्वा**=तुझे हम स्वीकार करते हैं। ५. **अप्सुषदम्**=सदा कार्यों में अवस्थित होनेवाले, अर्थात् सदा क्रियाशील **त्वा**=तुझे हम स्वीकार करते हैं। ६. **घृतसदम्**=(घृ क्षरणदीप्त्योः) मलों के क्षरण के द्वारा दीप्ति को लाने के कार्य में स्थित तुझे हम ग्रहण करते हैं। राजा का महत्त्वपूर्ण कार्य यही है कि वह प्रजा की मलिनताओं को दूर करे और उनके जीवन को उज्ज्वल बनाये। ७. **व्योमसदम्**=(व्योम्नि सीदति, व्योमन्=वी+ओम्+अन्=प्रकृति, परमात्मा व जीव) जो तू प्रकृति, परमात्मा व जीव तीनों में स्थित है। प्रजा की प्राकृतिक आवश्यकताओं [खान-पान] को पूर्ण करने का ध्यान करता है। उनकी वृत्ति को प्रभु-प्रवण बनाने का ध्यान करता है और जीवों के पारस्परिक व्यवहार को उत्तम बनाता है। ८. ऐसा यह राजा **उपयामगृहीतः असि**=उपासना द्वारा यम-नियमों को अपनानेवाला है। **इन्द्राय**=राष्ट्र के ऐश्वर्य के लिए हम **त्वा**=तुझे स्वीकार करते हैं। **जुष्टम्**=राष्ट्र का प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले तुझे **गृह्णामि**=ग्रहण करते हैं। **एषः ते योनिः**=यह राष्ट्र ही तेरा घर है। **इन्द्राय त्वा जुष्टतमम्**=राष्ट्र के ऐश्वर्य के लिए सर्वाधिक प्रीतिपूर्वक राष्ट्र की सेवा करनेवाले **त्वा**=तुझे हम स्वीकार करते हैं। ९. **पृथिविसदम्, अन्तरिक्षसदम्, दिविसदम्**=(पृथिवी=शरीरम्, हृदय=अन्तरिक्ष, मूर्धन्=द्यौः) शरीर, हृदय व मस्तिष्क में स्थित **त्वा**=तुझे ग्रहण करते हैं—तू शरीर, हृदय व मस्तिष्क तीनों का अधिष्ठाता है, तूने शरीर को स्वस्थ बनाया है, हृदय को निर्मल तथा मस्तिष्क को उज्ज्वल। १०. **देवसदम्**=तेरा उठना-बैठना सदा देवों के साथ है, अतः तुझे अपने व प्रजाओं के जीवन को दिव्य बनाना है। ११. **नाकसदम्**=(न+अक) तू आनन्दस्वरूप प्रभु में स्थित है। प्रातः-सायं तू प्रभु का स्मरण अवश्य करता है। यह प्रभु-स्मरण ही तुझे कर्त्तव्यमार्ग पर ध्रुवता से चलने की शक्ति देता है। ऐसे **त्वा**=तुझे हम ग्रहण करते हैं। १२. आप **उपयामगृहीतः असि**=उपासना द्वारा यम-नियमों से स्वीकृत जीवनवाले हो। **जुष्टम्**=प्रीतिपूर्वक राष्ट्र की सेवा करनेवाले **त्वा**=तुझे **इन्द्राय**=राष्ट्र के ऐश्वर्य के लिए **गृह्णामि**=ग्रहण करते हैं। **एषः ते योनिः**=यह राष्ट्र ही तेरा घर है। **जुष्टतमम्**=राष्ट्र का सर्वाधिक प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले **त्वा**=तुझे **इन्द्राय**=राष्ट्र के ऐश्वर्य के लिए ग्रहण करता हूँ।

भावार्थ—राजा ध्रुव वृत्तिवाला हो—मानव-कार्यों में ही रुचिवाला हो (हर समय शिकार ही न खेलता हो), अपने मन का अधिष्ठाता हो, सदा कार्यव्यापृत हो, मलों का क्षरण करके दीप्ति का लानेवाला हो। वह प्रजाओं की प्राकृतिक आवश्यकताओं का ध्यान करे, उन्हें प्रभु-प्रवण बनाये। उनके पारस्परिक व्यवहारों को उत्तम करे, शरीर, मन व मस्तिष्क तीनों का ध्यान करे, अच्छे पुरुषों के साथ उसका उठना-बैठना हो, प्रातः-सायं प्रभु का ध्यान करनेवाला हो।

ऋषिः—बृहस्पतिः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—निचृदतिशक्वरी। **स्वरः**—पञ्चमः॥

प्रजा में सर्वोत्तम

अपांᳯरसमुद्वयसᳯसूर्ये सन्तᳯसमाहितम्। अपांᳯरसस्य यो रसस्तं वो गृह्णाम्युत्तममुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम्॥३॥

१. गत मन्त्र में राजा का वर्णन था। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि राजा किसे चुनें? जो **अपाम्**=प्रजाओं का **रसम्**=रस—सारभूत व्यक्ति हो—अर्थात् प्रजाओं में जो सर्वोत्कृष्ट हो। २. **उद्वयसम्**=उत्कृष्ट जीवनवाले को, अर्थात् राजा का चरित्र ऊँचा होना चाहिए, आयु के दृष्टिकोण से भी बड़ी आयुवाला ही ठीक है, क्योंकि इसे पर्याप्त अनुभव होगा। ३. **सूर्ये सन्तम्**=जो सदा प्रकाश में निवास करता है। पिछले मन्त्र में 'दिविषद' शब्द इसी भावना को व्यक्त कर रहा था (दिवि=सूर्ये षदं=सन्तम्) ४. **समाहितम्**=एकाग्रचित्तवृत्तिवाले को। यही भावना 'ध्रुवसदम्' शब्द से पहले मन्त्र में कही गई थी। ५. **अपाम्**=प्रजाओं के **रसस्य यः रसः**=रस का भी जो रस है, अर्थात् जो प्रजाओं में सर्वोत्तम जीवनवाला हो **तम्**=उस तुझे **वः**=तुम्हारे लिए, प्रजाओं के हित के लिए **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ। **उपयामगृहीतः असि**=तू उपासना द्वारा स्वीकृत यम-नियमोंवाला है। **जुष्टम्**=प्रीतिपूर्वक राष्ट्र की सेवा करनेवाले **त्वा**=तुझे **इन्द्राय**=राष्ट्र के ऐश्वर्य के लिए **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ। **एषः**=यह राष्ट्र ही **ते योनिः**=तेरा घर है। **जुष्टतमम्**=राष्ट्र का सर्वाधिक प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले **त्वा**=तुझे **इन्द्राय**=राष्ट्र के ऐश्वर्य के लिए ग्रहण करता हूँ।

भावार्थ—राजा उसे चुना जाए जो १. प्रजाओं में सर्वोत्तम जीवनवाला हो २. कुछ बड़ी आयु का हो। ३. सदा प्रकाश में निवास करनेवाला हो। ४. एकाग्रचित्तवृत्ति का हो ५. राष्ट्र को ही अपना घर समझनेवाला और उसकी प्रीतिपूर्वक सेवा करनेवाला हो।

ऋषिः—बृहस्पतिः। **देवता**—राजधर्मराजादयः। **छन्दः**—भुरिक्कृतिः। **स्वरः**—निषादः॥

राजा व प्रजा

ग्रहाऽऊर्जाहुतयो व्यन्तो विप्राय मतिम्। तेषां विशिप्रियाणां वोऽहमिषमूर्जᳯसमग्रभमुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम्। सम्पृचौ स्थः सं मा भद्रेण पृङ्क्तं विपृचौ स्थो वि मा पाप्मना पृङ्क्तम्॥४॥

१. राजा कहता है कि हे **ग्रहाः**=(ग्रहीतारः) उत्तमोत्तम वस्तुओं का ग्रहण करनेवाले गृहाश्रमियो! तुम २. **ऊर्जाहुतयः**=(ऊर्जं आह्वयन्ति) अन्न व रस का आह्वान करनेवाले हो। श्रम करते हुए प्रभु से अन्न व रस की याचना करते हो। ३. **विप्राय**=विशेषरूप से अपना पूरण करने के लिए **मतिम्**=बुद्धि को **व्यन्तः**=(गमयन्तः) अपने को प्राप्त कराते हो। ४. **वि-शिप्रियाणाम्**=विहीन जबड़ोंवाले, अर्थात् बहुत अधिक न खाने-पीनेवाले, खाने-पीने में आसक्त न हो जानेवाले **तेषाम्**=उन **वः**=आपके **इषम् ऊर्जम्**=अन्न व रस को **समग्रभम्**=सम्यक्तया ग्रहण करता हूँ। मनु के निर्देशानुसार **'धान्यानामष्टमो भागः'** आपके अन्नादि के आठवें भाग को मैं लेता हूँ। ५. प्रजा कहती है—हे राजन्! तू **उपयामगृहीतः असि**=उपासना द्वारा यम-नियम से स्वीकृत जीवनवाला है। **जुष्टम्**=राष्ट्र का प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले **त्वा**=तुझे **इन्द्राय**=राष्ट्र के ऐश्वर्य के लिए **गृह्णामि**=ग्रहण करती हूँ। **एषः ते**

योनिः=यह राष्ट्र ही तेरा घर है। **जुष्टतमम्**=राष्ट्र की सर्वाधिक प्रीतिपूर्वक सेवा करनेवाले **त्वा**=तुझे **इन्द्राय**=राष्ट्र के ऐश्वर्य के लिए ग्रहण करते हैं। ६. प्रजा राजा व रानी से कहती है कि **सम्पृचौ स्थः**=आप सदा अपने जीवनों को उत्तमताओं से संयुक्त करनेवाले हो। **मा**=मुझे भी **भद्रेण**=शुभ से **संपृक्तम्**=संपृक्त करो। **विपृचौ स्थः**=आप अपने को बुराइयों से अलग करनेवाले हो, **मा**=मुझे **पाप्मना**=पाप से **विपृङ्क्तम्**=अलग करो। वस्तुतः राजा का जीवन प्रजा के जीवन को अत्यधिक प्रभावित करता है। राजा उत्तम होगा तो प्रजा भी उत्तम होगी। राजा व्यसनी होगा तो प्रजा भी वैसी ही हो जाएगी।

भावार्थ—राजा प्रजाओं से उचित कर ग्रहण करे। अपने जीवन को उत्तम बनाता हुआ प्रजाओं के जीवन को भी उत्तम बनाये।

सूचना—ऊपर 'विशिप्रियाणाम्' शब्द इस भावना को सुव्यक्त कर रहा है कि प्रजाएँ अपनी विषयलोलुपता को बढ़ा लेती हैं तो उन्हें कर देना भारी प्रतीत होने लगता है। उनकी इन्द्रियाँ खाने-पीने के व्यसनों में नहीं फँसतीं तो वे कर देने में उत्साहवाली होती हैं।

ऋषिः—बृहस्पतिः। देवता—सविता। छन्दः—भुरिगष्टिः। स्वरः—मध्यमः॥

सेनापति व सम्प्रदाय-विहीन राज्य [Secular State]

इन्द्र॑स्य॒ वज्रो॑ऽसि वाज॒सास्त्वया॒ऽयं वाज॒ꣳ सेत्। वाज॑स्य॒ नु प्र॑स॒वे मा॒तरं॑ म॒हीमदि॑तिं॒ नाम॒ वच॑सा करामहे। यस्या॑मि॒दं विश्वं॒ भुव॑नमावि॒वेश॒ तस्यां॑ नो दे॒वः स॑वि॒ता धर्म॑ साविषत्॥५॥

गत मन्त्रों में राष्ट्र के अन्दर की सुव्यवस्था का चित्रण है। उस सुव्यवस्था से प्रजाओं के जीवन भद्र से युक्त तथा अभद्र से वियुक्त हुए हैं। प्रस्तुत मन्त्र में बाह्य आक्रमण से राष्ट्र की रक्षा का विधान है। यह रक्षा का कार्य सेनापति पर निर्भर करता है, अतः सेनापति से कहते हैं कि—२. **इन्द्रस्य वज्रः असि**=तू राष्ट्र के ऐश्वर्य को बढ़ानेवाले राजा का वज्र है। वज्र की तरह शत्रुओं का छेदन करनेवाला है। ३. **वाजसाः**=(वाजान् संग्रामान् सनोति, सन्ध्वन्=win) तू संग्रामों को विजय करनेवाला है। **अयम्**=यह राजा **त्वया**=तेरे द्वारा **वाजम्**=संग्राम का **सेत्**=(सिनुयात्) प्रबन्ध करनेवाला हो, अर्थात् युद्ध का सारा प्रबन्ध आपके द्वारा ही राजा से किया जाए (षिञ् बन्धने)। ४. **वाजस्य**=संग्राम के **प्रसवे**=उत्पन्न होने पर **नु**=अब **वचसा**=वेदोपदिष्ट निर्देशों के अनुसार **मातरं महीम्**=हम अपनी मातृभूमि को **अदितिम् नाम**=निश्चय से अखण्डित **करामहे**=करते हैं, अर्थात् अधिक-से-अधिक त्याग करके अपनी मातृभूमि को शत्रु द्वारा छिन्न-भिन्न नहीं होने देते। ५. हमारा राष्ट्र ऐसा है कि **यस्याम्**=जिसमें **इदम्**=ये **विश्वं भुवनम्**=सब लोक **आविवेश**=प्रविष्ट हुए हैं, अर्थात् हमारे राष्ट्र में अन्य राष्ट्रों के लोगों को भी रहने की पूरी सुविधा है। 'यहाँ धर्मविशेष के माननेवाले लोग ही रह सकें', ऐसी बात नहीं है। यह राष्ट्र सभी मत वालों व सभी देशवालों को रहने की सुविधा प्राप्त कराता है। ६. **तस्याम्**=सबको निवास देनेवाली मातृभूमि में **सविता देवः**=सबका प्रेरक प्रभु **धर्म**=धारणात्मक कर्मों को **साविषत्**=प्रेरित करे। धारणात्मक कर्मों को करना ही हमारा धर्म हो। हम निर्माण को धर्म समझें, तोड़-फोड़ को अधर्म। 'घर्म' पाठ हो तो अर्थ होगा यज्ञों को प्रेरित करे। हम यज्ञात्मक कर्मों में लगे रहें।

भावार्थ—सेनापति शत्रुओं के आक्रमण से राष्ट्र की रक्षा करे। युद्ध उपस्थित होने पर हम अपने राष्ट्र को खण्डित न होने दें। हमारे राष्ट्र में सभी के लिए स्थान हो और

निर्माणत्मक कर्मों को ही हम धर्म समझें।

ऋषिः—बृहस्पतिः। **देवता**—अश्वः। **छन्दः**—भुरिग्जगती। **स्वरः**—निषादः॥

आपः—अश्वः

अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजमपामुत प्रशस्तिष्वश्वा भवत वाजिनः।
देवीरापो यो वऽऊर्मिः प्रतूर्तिः ककुन्मान्वाजसास्तेनायं वाजꣳसेत्॥६॥

१. गत मन्त्र में शत्रु-आक्रमण से राष्ट्र की रक्षा का विषय वर्णित था। राष्ट्र-रक्षा के लिए वीर पुरुषों को जन्म देना माताओं का काम है, अतः कहते हैं कि **अप्सु अन्तः**=(आप् व्याप्तौ) निरन्तर कर्मों में व्याप्त—व्यस्त रहनेवाली (योषा वा अपः) स्त्रियों में ही **अमृतम्**= अमृत है, अर्थात् वे ही ऐसी सन्तानों को जन्म देती हैं जो असमय में रोगाक्रान्त होकर मृत्यु को प्राप्त नहीं हो जाती। **अप्सु**=इन निरन्तर क्रिया में व्याप्त, कर्मशील स्त्रियों में ही **भेषजम्**=औषध है, अर्थात् इनके सन्तानों को रोग नहीं सता पाते। इनके भोजन, रस व दूध में रोगकृमियों को नष्ट करने की शक्ति होती है। २. **उत**=और **अपाम्**=इन कर्मों में व्याप्त स्त्रियों के **प्रशस्तिषु**=प्रशस्त कार्यों में ही तुम **अश्वाः**=उत्तम वीर्यवान् (वीर्यं वा अश्वः), सदा कर्मों में व्याप्त रहनेवाले **वाजिनः**=शक्तिशाली व (वज गतौ) गतिशील **भवत** होवो, अर्थात् कर्मों में व्याप्त होनेवाली माताएँ शक्तिशाली, गतिशील सन्तानों को जन्म देती हैं। ३. **देवीः**=हे दिव्य गुणोंवाली **आपः**=उत्तम कर्मों में व्यापनेवाली माताओ! **यः**=जो **वः**=तुम्हारी **ऊर्मिः**=लहर—तरङ्ग व उत्साह है, **प्रतूर्तिः**=(प्रत्वरणः) वेग है तथा **ककुन्मान्**=शिखरवाला, शिखर पर पहुँचने की भावना है **तेन**=उससे **अयम् वाजसाः**=यह संग्रामों का विजय करनेवाला **वाजम् सेत्**=संग्राम का प्रबन्ध करे। माताएँ ऐसी ही सन्तानों को जन्म दें जो तरंगित हृदयोंवाले, अर्थात् उत्साहमय हृदयोंवाले, वेगवाले, न मरियल, शिखर तक पहुँचने की भावनावाले हों। ऐसी ही सन्तान राष्ट्र की रक्षा करने में समर्थ होगी।

भावार्थ—माताएँ वीर सन्तानों को जन्म देनेवाली हों।

ऋषिः—बृहस्पतिः। **देवता**—सेनापतिः। **छन्दः**—भुरिगुष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

२७ गन्धर्व

वातो वा मनो वा गन्धर्वाः सप्तविꣳशतिः।
तेऽअग्रेऽश्वमयुञ्जँस्तेऽअस्मिन् जवमादधुः॥७॥

१. राष्ट्र के सञ्चालन में सेनाओं को वायु-वेग से एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले-जानेवाला सेनापति **वातः**=है। वह सेनाओं को निरन्तर प्रेरणा दे रहा है। उत्तम मन्त्रणा करनेवाला मुख्यमन्त्री '**मनः**' है और '**त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि**' इस मन्त्र में वर्णित 'राजार्य, धर्मार्य और विद्यार्य सभाओं' के दशावर अर्थात् नौ-नौ सभ्य, कुल मिलकर २७ सभ्य वेदवाणी का धारण करनेवाले होने से 'गन्धर्व' हैं (गां धरति)। २. **ते**=वे सेनापति, मुख्यमन्त्री तथा **सप्तविंशतिः**=सत्ताईस **गन्धर्वाः**=वेदों के धारण करनेवाले विद्वान् सभ्य—ये सब मिलकर **अश्वम्**=शक्तिशाली तथा निरन्तर कार्यों में व्याप्त होनेवाले राजा को **अग्रे**=सबसे अग्रस्थान पर **अयुञ्जन्**=नियुक्त करते हैं। वे इसे अपना मुखिया बनाते हैं। **ते**=वे ही **अस्मिन्**=इस अग्रस्थान पर स्थित होनेवाले राष्ट्रपति में **जवम्**=स्फूर्ति व गति को **आदधुः**=स्थापित करते हैं। उन्हीं के परामर्श के अनुसार ही यह कार्य करता है।

भावार्थ—राष्ट्र के मुख्य अधिकारी सेनापति, मुख्यमन्त्री, सभासद तथा राष्ट्रपति हैं।

ऋषिः—बृहस्पतिः। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

वातरंहाः

वातंरꣳहा भव वाजिन् युज्यमानऽइन्द्रस्येव दक्षिणः श्रियैधि। युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदसऽआ ते त्वष्टा पत्सु जवं दधातु॥८॥

१. पिछले मन्त्र में कहा था कि 'सेनापति, मुख्यमन्त्री तथा सत्ताईस सभासद' राष्ट्रपति को नियुक्त करते हैं। अब वे कहते हैं—हे **वाजिन्**=शक्तिशालिन्! राष्ट्र के अग्रभाग में नियुक्त हुआ-हुआ तू **वातरंहाः**=वायु के समान वेगवाला **भव**=हो। राजा आलसी व विलासी होगा तो वह राष्ट्र की क्या रक्षा करेगा? २. **दक्षिणः**=कार्यकुशल बनकर तू **इन्द्रस्य इव**=इन्द्र के समान **श्रिया एधि**=श्री से सम्पन्न हो। राजा बिना कोश के राजा ही नहीं रहता। राजा को कोश की वृद्धि के लिए पूर्ण प्रयत्न करना है। कार्यकुशलता ही कोशवृद्धि में सहायक होगी। ३. **त्वा**=तुझे **मरुतः**=प्राणसाधना करनेवाले तथा **विश्ववेदसः**=सम्पूर्ण ज्ञानवाले पुरुष **युञ्जन्तु**= विभिन्न कार्यों में युक्त करें, अथवा ऐसे पुरुषों के साथ तेरा मेल हो। तेरे अध्यक्षादि सब प्राणापान के अभ्यासी व ज्ञानी हों। प्राणसाधना उनके इन्द्रिय-दोषों का दहन करनेवाली होगी तथा ज्ञान उनको ठीक तरीके से काम करने के योग्य बनाएगा। राजा को मूर्ख अध्यक्ष मिल जाएँ तो राष्ट्रसहित उसका नाश ही कर देंगे। ४. **त्वष्टा**=देवशिल्पी, अर्थात् तेरे राष्ट्र के वैज्ञानिक कारीगर **ते पत्सु**=तेरे पाँव में **जवम्**=वेग को **आदधातु**=स्थापित करे, अर्थात् तेरे लिए इस प्रकार का वाहन (Motor car) बना दे कि तू शीघ्रता से राष्ट्र के एक भाग से दूसरे भाग में पहुँच सके।

भावार्थ—१. राजा वायु के समान वेगवाला हो, शीघ्रता से कार्य करनेवाला हो। २. वह कार्यकुशलता से श्री की वृद्धि करे। ३. उसके अध्यक्ष ज्ञानी व प्राणायाम के अभ्यासी हों। ४. राष्ट्र सर्वत्र गमन-आगमन के लिए उसके वाहन वेगयुक्त हों।

ऋषिः—बृहस्पतिः। देवता—वीरः। छन्दः—धृतिः। स्वरः—ऋषभः॥

गुहा-श्येन-वात (बृहस्पति के भाग का गन्धोपादन)

जवो यस्ते वाजिन्निहितो गुहा यः श्येने परीत्तोऽअचरच्च वाते। तेन नो वाजिन् बलवान् बलेन वाजजिच्च भव समने च पारयिष्णुः। वाजिनो वाजजितो वाजꣳसरिष्यन्तो बृहस्पतेर्भागमवजिघ्रत॥९॥

१. हे **वाजिन्**=बल-सम्पन्न व क्रियाशील राजन्! **यः**=जो **ते जवः**=तेरा वेग **गुहा**=बुद्धि में **निहितः**=स्थापित है, **यः**=जो तेरा वेग **श्येने**=(श्यैङ् गतौ) क्रियाशीलता में व शत्रुओं पर बाज़ की भाँति झपट्टा मारने में **परीत्तः**=स्थापित है (परिदत्तः परिततो वा) **च**=और जो तेरा वेग **वाते**=वायु में, अर्थात् वायु के समान राष्ट्र के सब भागों में विचरने में **अचरत्**=गतिवाला होता है, **तेन**=उस बुद्धि में, शत्रु पर आक्रमण करने में तथा वायुवत् सम्पूर्ण राष्ट्र में भ्रमण करने में परिणत होनेवाले **बलेन**=बल से **बलवान्**=बलवाला **वाजिन्**= क्रियाशील तू **नः**=हमारे लिए **वाजजित् भव**=सब प्रकार के अन्नों व बलों को जीतनेवाला हो **च**=और **समने**=युद्ध में **पारयिष्णुः**=हमें पार लगानेवाला हो। २. इस मन्त्रार्थ में यह स्पष्ट है कि राजा का वेग तीन जगह प्रकट हो (क) शासन के अर्थों के उद्देश्य को

समझने में, (ख) शत्रु पर श्येनवत् आक्रमण करके शत्रु को समाप्त करने में तथा (ग) राष्ट्र के सब भागों के निरीक्षण में। ऐसा राजा ही राष्ट्र के अन्नादि के अभाव को दूर करेगा और युद्ध में शत्रुओं का शातन करने में समर्थ होगा। ३. इन राजकार्य-व्यापृत लोगों के लिए कहते हैं कि तुम (क) **वाजिनः**=(वज गतौ) खूब क्रियाशील बनो (ख) **वाजजितः**=संग्रामों को जीतनेवाले बनो (ग) **वाजम् सरिष्यन्तः**=अन्न की ओर चलनेवाले होओ, अर्थात् राष्ट्र में कभी अन्नादि की कमी न होने दो (घ) ऐसा करते हुए तुम **बृहस्पतेः**=उस ब्रह्मणस्पति—वेदवाणी के पति परमात्मा की **भागम्**=(भज सेवायाम्) भजनीय, सेवनीय—इस वेदवाणी को भी **अवजिघ्रत**=ज़रा सूँघो, उसकी गन्ध का भी ग्रहण करो, अर्थात् ज्ञान-प्राप्ति के लिए थोड़ा-सा समय अवश्य निकालो। शूरता के साथ ज्ञान का सम्पुट आवश्यक है, अन्यथा शूरता कुछ बर्बरता को लिये हुए हो जाती है।

भावार्थ—राजा शूर हो, उसकी शूरता विद्वत्ता के मिश्रणवाली हो। ज्ञानपूर्वक वह राष्ट्र-शत्रुओं का दमन करनेवाला हो।

ऋषिः—बृहस्पतिः। **देवता**—इन्द्राबृहस्पती। **छन्दः**—विराडुत्कृतिः। **स्वरः**—षड्जः॥

ज्ञानी व जितेन्द्रिय का स्वर्ग

देवस्याहꣳ सवितुः सवे सत्यसवसो बृहस्पतेरुत्तमं नाकꣳ रुहेयम्।
देवस्याहꣳ सवितुः सवे सत्यसवस इन्द्रस्योत्तमं नाकꣳ रुहेयम्।
देवस्याहꣳ सवितुः सवे सत्यप्रसवसो बृहस्पतेरुत्तमं नाकमरुहम्।
देवस्याहꣳ सवितुः सवे सत्यप्रसवस इन्द्रस्योत्तमं नाकमरुहम्॥१०॥

१. राजा के शासन के उत्तम होने पर राष्ट्र स्वर्गतुल्य बन जाता है। उस राष्ट्र में मूर्ख व अज्ञानियों का निवास नहीं होता, अतः वह स्वर्ग 'बृहस्पति' का कहलाता है तथा इसमें कोई भी व्यक्ति अजितेन्द्रिय नहीं होता, अतः यह 'इन्द्र' का स्वर्ग होता है। मन्त्र में कहते है कि—२. **अहम्**=मैं **सवितुः देवस्य**=प्रेरक प्रभु की, जो **सत्यसवसः**=सदा सत्य की ही प्रेरणा देते हैं **सवे**=प्रेरणा में, अनुज्ञा में **बृहस्पतेः**=बृहस्पति के **उत्तमं नाकम्**=उत्कृष्ट स्वर्ग को **रुहेयम्**=आरुढ़ होऊँ। बृहस्पति का स्वर्ग वह है जहाँ योग्यतम आचार्यों का निवास है। ३. **अहम्**=मैं **सत्यसवसः**=उस सत्य-प्रेरणावाले **सवितुः देवस्य**=प्रेरक प्रभु की **सवे**=प्रेरणा में **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के **उत्तमं नाकम्**=उत्कृष्ट स्वर्ग में **रुहेयम्**=आरुढ़ होऊँ। 'इन्द्र' का स्वर्ग वह है जहाँ कि सब पुरुष 'जितेन्द्रिय' हैं, जहाँ अजितेन्द्रियों का निवास नहीं। ४. 'आरुढ़ होऊँ' इस प्रकार की कामना ही क्यों करता रहूँ—बस, अब तो मैं 'आरूढ़ हो ही गया'। दृढ़ संकल्प का यह परिणाम होना ही चाहिए कि वह संकल्प क्रिया में परिणत हो जाए, अतः यहाँ कहते हैं कि 'आरूढ़ हो जाऊँ, नहीं बस आरूढ़ हो ही गया'। ५. **अहम्**=मैं **सत्यप्रसवसः**=सत्य की उत्कृष्ट प्रेरणावाले **सवितुः देवस्य**=प्रेरक प्रभु की **सवे**=अनुज्ञा में **बृहस्पतेः**=बृहस्पति के **उत्तमं नाकम्**=उत्कृष्ट स्वर्ग में **आरुहम्**=आरूढ़ हुआ हूँ और **सत्यप्रसवसः**=उस उत्कृष्ट प्रेरणावाले **सवितुः देवस्य**=प्रेरक प्रभु की **सवे**=प्रेरणा में मैं **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय के **उत्तमं नाकम्**=उत्कृष्ट स्वर्ग में **अरुहम्**=आरूढ़ हुआ हूँ। ६. मन्त्रार्थ से ये बातें स्पष्ट हैं कि (क) स्वर्ग 'बृहस्पति व इन्द्र' का है, अर्थात् ज्ञानी व जितेन्द्रिय का है। स्वर्ग में पहुँचने के लिए हम जितेन्द्रिय व ज्ञानी बनें। जितेन्द्रियता व ज्ञान ही हमारे

घर व जीवन को स्वर्ग बनाते हैं। (ख) जितेन्द्रिय व ज्ञानी बनने के लिए प्रभु की प्रेरणा में चलें। (ग) जीवन को स्वर्ग बनाने का संकल्प दृढ़ होगा तभी हम इसे स्वर्ग बना पाएँगे।

भावार्थ—हम सब प्रभु के निर्देशानुसार चलनेवाले हों। ज्ञानी व जितेन्द्रिय बनें और इस प्रकार हमारा जीवन 'स्वर्ग' हो।

ऋषिः—बृहस्पतिः। **देवता**—इन्द्राबृहस्पती। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः॥

बृहस्पते+इन्द्र

बृहस्पते वाजं जय बृहस्पतये वाचं वदत बृहस्पतिं वाजं जापयत। इन्द्र वाजं जयेन्द्राय वाचं वदतेन्द्रं वाजं जापयत॥११॥

१. गत मन्त्र के अनुसार राष्ट्र की उत्तमता इस बात पर निर्भर है कि प्रत्येक व्यक्ति ज्ञानी व जितेन्द्रिय बनने का प्रयत्न करे। विशेषतः राजा व सेनापति—जो राष्ट्र के मुख्य अधिकारी हैं, उन्हें तो ज्ञानी व जितेन्द्रिय बनना ही चाहिए। ये जितेन्द्रिय होंगे तभी शत्रुओं पर विजय पा सकेंगे। २. **बृहस्पते**=हे ज्ञान के अधिपति राजन्! **वाजं जय**=तू संग्राम को जीतनेवाला बन। ३. इन उल्लिखित शब्दों में राजा को विजय की प्रेरणा देकर पुरोहित उपस्थित सब सभ्यों से भी कहता है कि **बृहस्पतये**=इस ज्ञान के स्वामी राजा के लिए तुम सब भी **वाचं वदत**=उत्साह की वाणी को कहो। 'अवश्य जीतना है' इस प्रकार राजा को उत्साहित करो। **बृहस्पतिम्**=इस ज्ञानी राजा को **वाजं जापयत**=संग्राम में विजय दिलाओ। वस्तुतः राष्ट्र के सभी व्यक्ति राजा की पीठ पर हों तभी विजय सम्भव है। ४. अब पुरोहित सेनापति को सम्बोधित करते हुए कहता है कि **इन्द्र**=हे शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले! तू **वाजम्**=संग्राम को **जय**=जीत। हे प्रजाओ! तुम भी **इन्द्राय**=इस सेनापति के लिए **वाचं वदत**=उत्साह की वाणी बोलो। **इन्द्रं वाजं जापयत**=इस प्रकार उत्साह की वाणी को बोलते हुए तुम इस इन्द्र को अवश्य युद्ध में विजय दिलाओ।

भावार्थ—१. राजा को ज्ञानी बनना है, सेनापति को पूर्ण जितेन्द्रिय बनकर शत्रुओं को जीतना है। २. प्रजा ने राजा व सेनापति को उत्साहित करना है। ३. वस्तुतः विजय प्रजा को ही दिलानी होती है। प्रजा साथ है तो विजय है, प्रजा साथ न दे तो विजय का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

ऋषिः—बृहस्पतिः। **देवता**—इन्द्राबृहस्पती। **छन्दः**—स्वराडतिधृतिः। **स्वरः**—षड्जः॥

सत्या संवाक्

एषा वः सा सत्या संवागभूद्यया बृहस्पतिं वाजमजीजपताजीजपत बृहस्पतिं वाजं वनस्पतयो विमुच्यध्वम्। एषा वः सा सत्या संवागभूद्ययेन्द्रं वाजमजीजपताजीजपतेन्द्रं वाजं वनस्पतयो विमुच्यध्वम्॥१२॥

१. पुरोहित सभ्यों से कहता है कि तुम लोगों ने राजा के लिए जो उत्साह की वाणी कही है **एषा**=यह **वः**=तुम्हारी **सा**=वह **संवाक्**=उत्तम वाणी **सत्या**=सत्य **अभूत्**=हुई है। वह वाणी **यया**=जिससे कि **बृहस्पतिम्**=ज्ञान के अधिपति राजा को **वाजम्**=संग्राम को **अजीजपत**=तुमने जिताया है। हे **वनस्पतयः**=ज्ञान की रश्मियों के अधिपतियो! तुमने उत्साह का सञ्चार करनेवाली वाणी के द्वारा **बृहस्पतिम्**=इस ज्ञानी राजा को **वाजम्**=संग्राम में

अजीजपत=विजय प्राप्त कराई है। अब तुम शत्रुओं के उपद्रवों से जनित क्लेशों से **विमुच्यध्वम्**=मुक्त हो जाओ। जब तक युद्ध रहता है या शत्रुओं का उपद्रव बना रहता है तब तक कुछ-न-कुछ क्लेश बना ही रहता है। २. **एषा सा**=यह वह **वः**=तुम्हारी **संवाक्**=उत्तम वाणी **सत्या अभूत्**=सत्य हुई है **यया**=जिससे आपने **इन्द्रम्**=सेनापति को **वाजं अजीजपत**=संग्राम में विजयी किया है। हे **वनस्पतयः**=ज्ञानरश्मियों के अधिपति सभ्यो! आपने अपनी उत्साहमयी वाणी से **इन्द्रम्**=सेनापति को **वाजम्**=संग्राम में **अजीजपत**=विजय प्राप्त कराई है। परिणमतः **विमुच्यध्वम्**=अब तुम्हारा जीवन क्लेशों से मुक्त हो गया है। ३. राष्ट्र में जब सभ्य ज्ञानी होते हैं और राजा व सेनापति के साथ इनकी अनुकूलता होती है तब अवश्य विजय होती है और राष्ट्र विविध क्लेशों व अशान्तियों से मुक्त हो जाता है।

भावार्थ—युद्ध के समय सब सभ्यों का राष्ट्रपति व सेनापति के साथ पूर्ण सहयोग आवश्यक है। संकटकाल में विरोधी वाणी मानस शक्ति को नष्ट करने का कारण बनती है।

ऋषिः—बृहस्पतिः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—निचृदतिजगती। **स्वरः**—निषादः॥

लक्ष्य-प्राप्ति (काष्ठा-गमन)

देवस्याहꣳसवितुः सवे सत्यप्रसवसो बृहस्पतेर्वाजजितो वाजं जेषम्। वाजिनो वाजजितोऽध्वन स्कभ्नुवन्तो योजना मिमानाः काष्ठां गच्छत॥१३॥

१. **अहम्**=मैं **सत्यप्रसवसः**=सत्य की उत्कृष्ट प्रेरणा देनेवाले **सवितुः देवस्य**=सविता देव की, प्रेरक प्रभु की **सवे**=प्रेरणा में, अनुज्ञा में, **वाजजितः**=संग्रामों को जीतनेवाले **बृहस्पतेः**=ज्ञानी राजा के **वाजम्**=संग्राम को **जेषम्**=जीतूँ। राष्ट्र के एक-एक व्यक्ति की भावना यही होनी चाहिए कि वह प्रभु-अनुज्ञा में चलता हुआ राजा का पूरा सहयोग दे और उस राजा को किसी भी युद्ध में पराजित न होने दे। २. पुरोहित इन राष्ट्र-वीरों को सम्बोधित करता हुआ कहता है कि **वाजिनः**=हे शक्तिसम्पन्न राष्ट्रवीरो! **वाजजितः**=संग्रामों को जीतनेवालो! **अध्वनः स्कभ्नुवन्तः**=विघ्नों के मार्गों को रोकते हुए अथवा शत्रुओं के मार्गों को निरुद्ध करते हुए, अर्थात् काम-क्रोधादि के वशीभूत न होनेवाले तुम **योजना मिमानाः**=उन्नति की योजनाओं को बनाते हुए **काष्ठां गच्छत**=अपने लक्ष्य तक पहुँचो। ३. राष्ट्र के प्रत्येक प्रमुख पुरुष को शक्ति-सम्पन्न बनना है (वाजी), संग्राम में विजयी होना है (वाजजित्), काम-क्रोधादि उन्नति के विघ्नभूत शत्रुओं को अपने तक नहीं पहुँचने देना (अध्वनः स्कभ्नुवन्तः), जीवन को एक प्रोग्राम के साथ चलाना है (योजना मिमानाः)। यही लक्ष्यस्थान पर पहुँचने का उपाय है, अन्यथा मनुष्य पराजित होगा और जन्म-मरण के चक्र में ही फँसा रहेगा।

भावार्थ—हम विजयी बनें। विजय के लिए प्रभु की अनुज्ञा में चलें।

ऋषिः—दधिक्रावा। **देवता**—बृहस्पतिः। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः॥

त्रिधा बद्ध=(राजा)

एष स्य वाजी क्षिपणिं तुरण्यति ग्रीवायां बद्धोऽअपिकक्षऽआसनि। क्रतुं दधिक्राऽअनु सꣳसनिष्यदत्पथामङ्काꣳस्यन्वापनीफणत् स्वाहा॥१४॥

प्रस्तुत मन्त्र में राजा के त्रिविध बन्धन और उसकी विजय का उल्लेख करते हुए कहते हैं—१. **एषः स्यः**=यह जो **वाजी**=शक्तिशाली राजा **क्षिपणिम्**=शत्रुओं को सुदूर

प्रक्षेपण की क्रिया को **तुरण्यति**=(त्वरयति) शीघ्रता से करता है। 'क्या अन्तःशत्रु और क्या बाह्य शत्रु' यह उन सभी को अपने से दूर फेंकता है। २. यह राजा **ग्रीवायाम्**=ग्रीवा के विषय में **बद्धः**=तीव्र नियम में बद्ध होता है, अर्थात् इसका खान-पान बड़े संयम से चलता है। ३. **कक्षे अपि**=कमरे में भी यह **बद्धः**=बड़े संयमवाला होता है, अर्थात् इसके सन्तानोत्पादनादि क्रिया में पूर्ण संयम रहता है। ४. **आसनि**=यह मुख में भी **बद्धः**=संयमवाला होता है। इसका बोलना भी बड़ा नपा-तुला होता है। संक्षेप में इस राजा का खान-पान, सन्तानोत्पादन, बोल-चाल सभी क्रियाओं में संयम दीखता है। ५. **दधिक्रा**=(दधत् क्रामति) राष्ट्र का धारण करता हुआ गति करनेवाला यह राजा **क्रतुं अनु**=संकल्प के अनुसार **संसनिष्यत्**=(स्यन्दू प्रस्रवणे) विविध क्रियाओं में प्रस्तुत होता है। इसका प्रत्येक कार्य संकल्पपूर्वक (पूर्वनिर्मित योजना के अनुसार) होता है, इसीलिए इस राजा का कोई कार्य ऐसा नहीं होता जो धारणात्मक न हो। ६. यह राजा **पथाम्**=शास्त्र-निर्दिष्ट मार्गों के **अङ्कांसि**=चिह्नों के **अनु**=अनुसार **आ**=सर्वथा **पनीफणत्**=खूब ही गति करता है, अर्थात् यह शास्त्र-निर्दिष्ट मार्ग से रेखामात्र भी विचलित नहीं होता। पूर्वजों के पदचिह्नों पर ही चलता है। ७. **स्वाहा**=इस राजा के लिए ही प्रशंसात्मक शब्द कहे जाते हैं (सु+आह)।

भावार्थ—१. राजा को शत्रुओं को दूर करने के कार्य में आलस्य नहीं करना। २. त्रिविध संयम का जीवन बिताना है। ३. इसका कोई भी कार्य असंकल्पित व अधारणात्मक नहीं होता। ४. शास्त्र-निर्दिष्ट मार्गों के चिह्नों पर ही यह चलता है।

ऋषिः—दधिक्रावा। **देवता**—बृहस्पतिः। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः॥

राजा का रथ

उत स्मा॑स्य द्रव॑तस्तुरण्य॒तः प॒र्णं न वेरनु॑वाति प्रग॒र्धिनः॑।
श्ये॒नस्ये॑व॒ ध्रज॑तोऽअङ्क॒सं परि॑ दधि॒क्राव्णः॑ स॒होर्जा तरि॑त्र॒तः स्वाहा॑॥१५॥

१. राष्ट्ररक्षा में व्यापृत राजा प्रजा के अन्दर अपने रथ से सर्वत्र विचरता है **उत**=और **अस्य**=इस **द्रवतः**=गति करते हुए **तुरण्यतः**=शत्रुओं का संहार करते हुए राजा का **पर्णम्**=रथ (सर्वं स्याद् वाहनं यानं युग्यं पत्रं च धोरणम्। पत्रम्=पर्णम्) **प्रगर्धिनः वेः**=मांसादि में लालचवाले (गृध्र आदि) पक्षी के **पर्णं न**=पंख के समान **अनुवाति**=गति करता है। जिस प्रकार मांस का लोभ पक्षी के पंखों को तीव्र गति देता है उसी प्रकार राष्ट्ररक्षा अथवा राष्ट्र को उत्तम बनाने का लोभ इस राजा के रथ को तीव्र गति देता है। ('पर्ण' शब्द के दोनों ही अर्थ हैं—रथ और पंख)। 'राष्ट्ररक्षा' की प्रबल कामनावाले राजा का रथ सदा तीव्र गति से इधर-से-उधर दौड़ा करता है। २. **ध्रजतः श्येनस्य इव**=शिकार पर आक्रमण करनेवाले बाज के समान इस राजा का रथ शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाला होता है। ३. **ऊर्जा सह**=बल और प्राणशक्ति के साथ **तरित्रतः**=शत्रुओं को तीर्ण करनेवाले इस **दधिक्राव्णः**=(दधत् क्रामति) राष्ट्र का धारण करते हुए गति करनेवाले राजा का रथ **अङ्कसं परि**=वेदानुमोदित मार्गचिह्नों पर ही गति करता है। इसका रथ कभी मार्गभ्रष्ट नहीं होता। ४. इस राजा के लिए **स्वाहा**=प्रशंसात्मक शब्द कहे जाते हैं।

भावार्थ—शत्रुसंहार करनेवाले तथा राष्ट्ररक्षा करनेवाले राजा का रथ प्रजाओं में व राष्ट्र में सर्वत्र गति करनेवाला होता है।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—बृहस्पतिः। छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

'अहि-वृक-रक्षस्' जम्भन

शन्नो भवन्तु वाजिनो हवेषु देवताता मितद्रवः स्वर्काः।
जम्भयन्तोऽहिं वृकꣳरक्षाꣳसि सनेम्यस्मद्युयवन्नमीवाः॥१६॥

१. 'राष्ट्रपति की अध्यक्षता में काम करनेवाले राजपुरुष कैसे हों', इस बात का वर्णन करते हुए कहते हैं कि १. **वाजिनः**=ये शक्तिशाली राजपुरुष **हवेषु**=हमारी प्रार्थनाओं पर (पुकारों पर) **नः**=हमारे लिए **शम्**=शान्ति व सुख प्राप्त करानेवाले **भवन्तु**=हों। २. **देवताताः**=(देवान् तन्वन्ति इति) वे राजपुरुष दिव्य गुणों का विस्तार करनेवाले हों। ३. **मितद्रवः**=ये नपी-तुली गतिवाले हों, प्रत्येक कर्म में युक्तचेष्ट हों। ४. **स्वर्काः**=(सु अर्च्) ये प्रभु के उत्तम उपासक हों। ज्ञानी ही तो सर्वोत्तम उपासक है, अतः ये ज्ञानी बनें और प्रभु की उपासना करनेवाले हों। ५. ये राष्ट्र में **अहिम्**=सर्प के समान कुटिल गति को **वृकम्**=भेड़िये के समान अत्यधिक खाने की वृत्ति को तथा **रक्षांसि**=अपने रमण के लिए औरों का क्षय करने की वृत्ति को **जम्भयन्तः**=(नाशयन्तः—म०) नष्ट करते हुए ६. **सनेमि**=शीघ्र ही (सनेमि=क्षिप्रम्—म०) **अस्मत्**=हमसे **अमीवाः**=रोगों व व्याधियों को **युयवन्**=दूर करें। ७. राज्य की व्यवस्था ऐसी सुन्दर होनी चाहिए कि उसमें धूर्तता, कुटिलता, ठगी (अहि), लोभ व उदरम्भरिता (वृक) तथा औरों की हानि करके मौज मारने की वृत्ति (रक्षस्) का नितान्त अभाव हो और लोग व्याधियों के शिकार न हों।

भावार्थ—राज्य वहीं ठीक है १. जिसमें 'अहि, वृक व रक्षसों' का अभाव है। २. जिसमें लोग स्वस्थ हैं। ३. और जिसमें लोगों की चित्तवृत्ति शान्त है। इस व्यवस्था को लाने के लिए राष्ट्रपुरुष वे होने चाहिएँ जो शक्तिशाली, दिव्य गुणों का विस्तार करनेवाले, नपी-तुली गतिवाले तथा उत्तम उपासक हैं।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठः। देवता—बृहस्पतिः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः॥

उपासना व युद्ध

ते नोऽअर्वन्तो हवनश्रुतो हवं विश्वे शृण्वन्तु वाजिनो मितद्रवः।
सहस्रसा मेधसाता सनिष्यवो महो ये धनꣳसमिथेषु जभ्रिरे॥१७॥

राजपुरुषों का ही प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि १. **ते**=वे **विश्वे**=सब **नः**=हमारी **हवम्**=प्रार्थना व पुकार को **शृण्वन्तु**=सुनें, **ये**=जो (क) **अर्वन्तः**=(अर्व हिंसायाम्) शत्रुओं का संहार करनेवाले हैं, क्या बाह्य व क्या आन्तर—सभी शत्रुओं को वशीभूत करनेवाले हैं (ख) **हवनश्रुतः**=प्रजा के आह्वान को सुननेवाले हैं (ग) **वाजिनः**=शक्तिशाली व ज्ञानी हैं (घ) **मितद्रवः**=नपी-तुली गतिवाले हैं, प्रत्येक कर्म में युक्तचेष्टावाले हैं (ङ) **सहस्रसाः**=सहस्रों देनेवाले हैं, अर्थात् अत्यन्त उदार हैं (च) **मेधसातौ**=(मेधः सन्यते यत्र यज्ञशाला—म०) यज्ञशालाओं में **सनिष्यवः**=(पूजयितारः) आत्मा की उत्तम भक्ति करनेवाले तथा जो (छ) **समिथेषु**=संग्रामों में **महः धनम्**=(महत्—द०) बड़े धन का **जभ्रिरे**=भरण व पोषण करते हैं २. राजपुरुष जहाँ यज्ञशालाओं में प्रभु का पूजन करते हैं वहाँ संग्रामों में प्रभूत धन का विजय भी करते हैं। वस्तुतः यज्ञशालाओं में प्रभु-उपासन द्वारा अपने में शक्ति भरकर ही ये संग्रामों में शत्रुओं को जीतकर धनों के विजेता बनते हैं। ३. राजपुरुषों की राज्य-व्यवहार में सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये प्रजा की पुकार को उपेक्षित नहीं करते। ४. अपने निज

जीवन में ये कामादि शत्रुओं का संहार करनेवाले (अर्वन्तः), शक्तिशाली (वाजिनः) तथा युक्तचेष्ट होते हैं (मितद्रवः)। कर्मों में युक्तचेष्टता ही इनकी विजय का सबसे बड़ा रहस्य है।

भावार्थ—राजपुरुष कामादि शत्रुओं के विजेता, शक्तिशाली व युक्तचेष्ट हों। ये उपासना की प्रवृत्तिवाले तथा संग्रामों में धनों के विजेता हों।

ऋषिः—वसिष्ठः। **देवता**—बृहस्पतिः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

मधुपान—आर्थिक स्थिति का ठीक करना

वाजेवाजेऽवत वाजिनो नो धनेषु विप्राऽअमृताऽऋतज्ञाः।
अस्य मध्वः पिबत मादयध्वं तृप्ता यात पथिभिर्देवयानैः॥१८॥

राजपुरुष क्या करें? १. हे **वाजिनः**=शक्तिशाली पुरुषो! **नः**=हमें **वाजेवाजे**=प्रत्येक संग्राम में **अवत**=सुरक्षित करो। संग्राम के समय इस प्रकार की व्यवस्था की जाए कि आम जनता के कार्य अव्यवस्थित न हो जाएँ। २. **धनेषु**=धनों के विषयों में तुम **विप्राः**=विशेषरूप से हमारा पूरण करनेवाले होओ। राजा व्यापार के नियम इस प्रकार के प्रचलित करे कि सारी प्रजा धनधान्य से परिपूर्ण हो। राज्य में शिल्पों को राज्य द्वारा प्रोत्साहन व संरक्षण मिले। ३. ये राजपुरुष **अमृताः**=नाना प्रकार के रोगों के शिकार न हों (मृत्यु=रोग)। ४. **ऋतज्ञाः**=ऋत के ये जाननेवाले हों, इनका अपना जीवन ऋतमय हो। इनकी दिनचर्या बड़ी व्यवस्थित हो। ५. **अस्य मध्वः पिबत**=इस सोमरूप मधु का ये पान करें और **मादयध्वम्**=आनन्दित हों। जिस प्रकार विविध पुष्प-रसों का सारभूत मधु=शहद होता है उसी प्रकार नाना ओषधियों का सारभूत सोम (वीर्य) शरीर के अन्दर उत्पन्न होता है। इस सोम का ये पान करनेवाले हों। ऐसे ही राजपुरुष प्रजा के रक्षण-कार्यों में शक्त होते हैं। ६. **तृप्ताः**=ये सदा तृप्त और सन्तुष्ट हों, इन्हें सदा भूख न लगती रहे। अतृप्त राजपुरुष ही रिश्वत आदि की ओर झुकाववाले होते हैं और ७. ये सदा **देवयानैः पथिभिः यात**=देवयान मार्गों से चलें। राजपुरुष उत्तम मार्गों को ही अपनाएँ, ये देवताओं के चलने योग्य मार्गों से चलेंगे तो प्रजा भी देवयानमार्गानुयायिनी होगी। **'यथा राजा तथा प्रजा'**=प्रजा तो राजाओं के ही मार्गों को अपनाती है।

भावार्थ—राजपुरुष नीरोग, व्यवस्थित जीवनवाले, सोम के रक्षक, सदा तृप्त तथा उत्तम मार्गों से चलनेवाले हों। ऐसे ही राजपुरुष संग्रामों में विजेता बनकर प्रजा के रक्षक होते हैं तथा प्रजा की आर्थिक स्थिति को ठीक कर पाते हैं।

ऋषिः—वसिष्ठः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—निचृद्धृतिः। **स्वरः**—ऋषभः॥

पूर्ण-शोधन

आ मा वाजस्य प्रसवो जगम्यादेमे द्यावापृथिवी विश्वरूपे।
आ मा गन्तां पितरा मातरा चा मा सोमोऽअमृतत्त्वेन गम्यात्।
वाजिनो वाजजितो वाजꣳससृवाꣳसो बृहस्पतेर्भागमवजिघ्रत निमृजानाः॥१९॥

राष्ट्र में राजा तथा सारे प्रजाजन धर्माचरण द्वारा यही कामना करें कि—१. **मा**=मुझे **वाजस्य**=ज्ञान व शक्ति का **प्रसवः**=ऐश्वर्य **अजगम्यात्**=सब प्रकार से प्राप्त हो। २. मुझे **इमे**=ये **विश्वरूपे**=पूर्णरूपवाले न कि अधूरे **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्क व शरीर **आ**=प्राप्त हों। ज्ञान के ऐश्वर्य के परिणामस्वरूप मेरा मस्तिष्क पूर्ण विकासवाला तथा शक्ति के

ऐश्वर्य के परिणामरूप मेरा शरीर नीरोग व पूर्ण होगा। ज्ञान मस्तिष्क की अपूर्णता को दूर करेगा तो शक्ति शरीर की अपूर्णता को। ३. **मा**=मुझे **पितरा मातरा**=सच्चे अर्थों में माता और पिता **आगन्ताम्**=प्राप्त हों। मेरे माता व पिता प्रशस्त हों, विद्यायुक्त होते हुए वे मेरे जीवन का सुन्दर निर्माण करनेवाले हों। ४. **च**=और **मा**=मुझे **सोमः**=सोम (=वीर्य) **अमृतत्वेन**=नीरोगता के साथ **आगम्यात्**=प्राप्त हो। मैं सोम की रक्षा करनेवाला बनूँ और इस प्रकार नीरोग होऊँ। (५) उल्लिखित प्रार्थना को सुनकर प्रभु कहते हैं कि (क) **वाजिनः**=शक्तिशाली व ज्ञानी होते हुए **वाजजितः**=तुम संग्रामों को जीतनेवाले बनो। काम-क्रोधादि शत्रुओं से तुम्हें पराजित नहीं होना है। (ख) **वाजं ससृवांसः**=शक्ति की ओर चलनेवाले तुम **बृहस्पतेः**=ब्रह्मणस्पति परमात्मा की **भागम्**=भजनीय वेदवाणी को **अवजिघ्रत**=अवश्य ग्रहण करो। ज्ञान की गन्ध से शून्य शक्ति राक्षसी व हानिकर हो जाती है। (ग) ज्ञान व शक्ति प्राप्त करके तुम **निमृजानाः**=निश्चय से अपना शोधन करनेवाले बनो।

भावार्थ—हम शक्तिशाली व ज्ञानी बनें। शरीर व मस्तिष्क को पूर्ण करें। उत्तम माता-पितावाले हों। सोम-रक्षा द्वारा नीरोग बनें। शक्ति की ओर चलनेवाले हम ज्ञान की गन्ध का भी ग्रहण करें और इस प्रकार अपने जीवन को शुद्ध बनाएँ।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—भुरिक्कृतिः। स्वरः—निषादः॥

प्रजापति

आपये स्वाहा स्वापये स्वाहाऽपिजाय स्वाहा क्रतवे स्वाहा वसवे स्वाहाऽहर्पतये स्वाहाऽह्ने मुग्धाय स्वाहा मुग्धाय वैनꣳशिनाय स्वाहा विनꣳशिनऽआन्त्यायनाय स्वाहाऽऽन्त्याय भौवनाय स्वाहा भुवनस्य पतये स्वाहाऽधिपतये स्वाहा॥२०॥

'राजा कैसा हो?' इस प्रश्न का विस्तृत विचार देखिए—१. **आपये**=राष्ट्र को (आपयति) उत्तम समृद्धि प्राप्त करानेवाले राजा के लिए **स्वाहा**=(सु आह) उत्तम शब्दों को कहते हैं। २. **स्वापये**=(सु आपये) राष्ट्र के सर्वोत्तम मित्रभूत राजा के लिए **स्वाहा**= हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। ३. **अपिजाय**=(अपि=निश्चयार्थे जन्=विकास) निश्चय से राष्ट्र का विकास करनेवाले के लिए **स्वाहा**=उत्तम शब्द कहे जाते हैं। ४. **क्रतवे**=ज्ञान, संकल्प व कर्म से युक्त राजा के लिए **स्वाहा**=उत्तम शब्द कहते हैं। ५. **वसवे**=सब प्रजाओं को उत्तमता से बसानेवाले राजा के लिए **स्वाहा**=हम उत्तम शब्द कहते हैं। ६. **अहर्पतये**=प्रकाश के पति, अर्थात् सूर्य के समान राष्ट्र में प्रकाश फैलानेवाले राजा के लिए **स्वाहा**=हम उत्तम शब्दों को कहते हैं। ७. **मुग्धाय**=सुन्दर **अह्ने**=दिनों के कारणभूत राजा के लिए **स्वाहा**=प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। सुन्दर दिन वे ही हैं जिनमें सारा राष्ट्र सुख-समृद्धि-सम्पन्न होता है। आजकल की भाषा में इसे ही शानदार समय=glorious period कहते हैं। ८. **मुग्धाय**=राष्ट्र को सुन्दर बनानेवाले **वैनंशिनाय**=बुराइयों का नाश करनेवाले के लिए **स्वाहा**=प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। ९. **विनंशिने**=सब बुराइयों को समाप्त करनेवाले, चोरी इत्यादि को दूर करनेवाले, और इस प्रकार **आन्त्यायनाय**=सब असमृद्धि का अन्त करनेवाले राजा के लिए **स्वाहा**=हम प्रशंसा के शब्द कहते हैं। १०. **आन्त्याय**=सब बुराइयों का अन्त करनेवाले **भौवनाय**=सब भुवनों=प्राणियों का हित करनेवाले राजा के लिए **स्वाहा**=हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। ११. **भुवनस्य पतये स्वाहा**=राष्ट्र की रक्षा करनेवाले राजा के लिए हम शुभ शब्द कहते हैं। १२. **अधिपतये स्वाहा**=राष्ट्र के सबसे मुख्य अधिष्ठाता के लिए हम

शुभ शब्द बोलते हैं।

भावार्थ—उल्लिखित १२ गुणों से युक्त प्रजापति ही श्रेष्ठ है।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—यज्ञः। छन्दः—अत्यष्टिः। स्वरः—गान्धारः॥

यज्ञ और शक्ति

आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पताᳬ श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्। प्रजापतेः प्रजाऽअभूम स्वर्देवाऽअगन्मामृताऽअभूम॥२१॥

गत मन्त्र के अनुसार जब राजा राष्ट्र की उत्तम व्यवस्था करता है तब सब लोगों के जीवन उत्तम बनते हैं और वे चाहते हैं कि १. **आयुः**=हमारा जीवन **यज्ञेन**=यज्ञ से **कल्पताम्**=(क्लृप् सामर्थ्ये) शक्तिशाली बने। हमारे जीवन में (क) **देवपूजा**=बड़ों का आदर हो। (ख) **सङ्गतीकरण**=हम सब परस्पर मेल से चलनेवाले हों। (ग) **दान**=हममें देने की वृत्ति सदा बनी रहे (यज् देवपूजा-सङ्गतीकरण-दानेषु)। ये बातें हमारे जीवन में शक्ति का सञ्चार करनेवाली हों। २. **प्राणः**=हमारी प्राणशक्ति **यज्ञेन**=यज्ञियवृत्ति से **कल्पताम्**=वृद्धि को प्राप्त हो। यज्ञियवृत्ति में त्याग का अंश है, यह त्याग हमें विलास से बचाता है और विलास का अभाव हमारी प्राणशक्ति को पुष्ट करता है। प्राणशक्ति के पुष्ट होने पर हमारे सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग—सब इन्द्रियाँ सशक्त होती हैं, अतः कहते हैं कि ३. **चक्षुः**=हमारी दृष्टिशक्ति **यज्ञेन कल्पताम्**=यज्ञ से सशक्त हो तथा ४. **श्रोत्रम्**=हमारे कान **यज्ञेन कल्पताम्**=यज्ञ से शक्तिशाली हों। ५. **पृष्ठम्**=हमारी पृष्ठ (पीठ) **यज्ञेन कल्पताम्**=यज्ञ से शक्तिशाली बने। ६. **यज्ञः**=हमारा यज्ञ भी **यज्ञेन**=यज्ञिय भावना से **कल्पताम्**=सफल हो। लोकहित के लिए किये गये कर्म यज्ञ हैं। ये कर्म भी सङ्गरहित होने पर और फल की इच्छा को छोड़कर किये जाने पर अत्यन्त उत्तम हो जाते हैं। यही यज्ञों को यज्ञिय भावना से करने का आशय है। देवों के यज्ञ इसी प्रकार के होते हैं। ७. यज्ञ से अपने जीवनों को ओत-प्रोत करते हुए हम **प्रजापतेः**=प्रजाओं के रक्षक प्रभु के **प्रजाः**=सच्चे सन्तान **अभूत्**= हों। प्रभु ने प्रजाओं को यज्ञ के साथ ही उत्पन्न किया था और कहा था कि इसी से तुम फूलो-फलोगे, अतः इन यज्ञों को करनेवाला व्यक्ति प्रभु का सच्चा पुत्र होता है। यह अपने यज्ञादि सुचरितों से प्रभु को प्रीणित करता है। ८. इस प्रकार यज्ञों से हमारा जीवन दिव्य गुणों की वृद्धिवाला हो और **देवाः**=हे देवो! दिव्य गुणो! **स्वः अगन्म** =हम स्वर्ग को, सुखमय स्थिति को प्राप्त हों। अथवा उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति प्रभु को प्राप्त करनेवाले हों। और ९. **अमृताः अभूम**=हम रोगरूप मृत्युओं से कभी आक्रान्त न हों।

भावार्थ—१. यज्ञों से हमारा जीवन शक्ति-सम्पन्न बनता है। २. यदि यज्ञ को यज्ञिय भावना से करते हैं तो हम प्रभु के सच्चे पुत्र होते हैं। ३. हमारा जीवन सुखमय व नीरोग होता है अथवा हम ऐहिक व आमुष्मिक कल्याण प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—दिशः। छन्दः—निचृदत्यष्टिः। स्वरः—गान्धारः॥

यज्ञमय जीवन

अस्मे वोऽअस्त्विन्द्रियमस्मे नृम्णमुत क्रतुरस्मे वर्चाᳬसि सन्तु वः। नमो मात्रे पृथिव्यै नमो मात्रे पृथिव्याऽइयं ते राड्यन्तासि यमनो ध्रुवोऽसि धरुणः। कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा॥२२॥

गत मन्त्र की यज्ञियवृत्ति को ही प्रस्तुत मन्त्र में स्पष्ट करते हैं—१. **वः**=तुम्हारी **इन्द्रियम्**=सब इन्द्रियों की शक्ति **अस्मे**=हमारे लिए **अस्तु**=हो। प्रभु कहते हैं कि तू सब इन्द्रियों को हमारे प्रति अर्पण करनेवाला बन। २. तुम्हारा **नृम्णम्**=धन **अस्मे**=हमारे लिए हो। प्रभु के लिए होने का अभिप्राय स्पष्ट है कि वह 'सर्वभूतहित' के लिए विनियुक्त हो। 'सर्वभूतहिते रतः' व्यक्ति ही प्रभु का सच्चा भक्त है। **उत**=और **क्रतुः**=तुम्हारी प्रज्ञा व कर्म हमारे लिए हो। ३. **वः**=तुम्हारी **वर्चांसि**=शक्तियाँ **अस्मे**=हमारे लिए **सन्तु**=हों। तुम्हारी शक्तियाँ स्वार्थ-सम्पादन में विनियुक्त न होकर सारे राष्ट्र के हित के लिए हों। ४. तुम **मात्रे पृथिव्यै नमः**=इस पृथिवी माता का आदर करनेवाले होओ। **मात्रे पृथिव्यै नमः**=इस भूमि माता के लिए तुम्हारा नमन हो। **इयम्**=यह भूमिमाता ही **ते राट्**=तेरे सब कार्यों को नियमित (regulated) करनेवाली हो, अर्थात् तेरे सब कार्य मातृभूमि के हित के दृष्टिकोण से हों। ५. **यन्ता असि**=तू अपने इस शरीररूप रथ का उत्तम नियन्ता=काबू में रखनेवाला है। ६. तू **यमनः**=उद्यमशील है। ७. **ध्रुवः असि**=तू स्थिर चित्तवृत्तिवाला है। ८. तू **धरुणः**=धारणात्मक कर्मों में लगा हुआ है। ९. **कृष्यै त्वा**=मैं तुझे कृषि के लिए प्रेरित करता हूँ और **क्षेमाय त्वा**=इसे कृषि के द्वारा कल्याण-प्राप्ति में लगाता हूँ। यह कृषि ही तेरे जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन होगी। १०. **रय्यै त्वा**=मैं तुझे धन के लिए प्राप्त कराता हूँ और इस प्रकार **पोषाय त्वा**=तुझे उचित प्रकार से पोषण में समर्थ करता हूँ। संक्षेप में यह कृषि ही तेरे क्षेम के लिए होगी और पोषण के लिए पर्याप्त धन हो जाएगा।

भावार्थ—१. यज्ञमय जीवन में हमारी इन्द्रियाँ, धन, प्रज्ञा व कर्म, और सब शक्तियाँ पृथिवी माता के लिए होती हैं। (२) हमारा जीवन संयमवाला व धारणात्मक कर्मों में लगा हुआ होता है। (३) हम कृषि द्वारा क्षेम को सिद्ध करते हैं और पोषण के लिए पर्याप्त धन प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—वसिष्ठः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—स्वराट्त्रिष्टुपः। **स्वरः**—धैवतः॥

राष्ट्र-पुरोहित

वाजस्येमं प्रसवः सुषुवेऽग्रे सोमꣳराजानमोषधीष्वप्सु।
ताऽअस्मभ्यं मधुमतीर्भवन्तु वयꣳराष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः स्वाहा॥२३॥

१. **इमं सोमं राजानम्**=इस सौम्य गुणयुक्त अथवा सोमशक्ति-सम्पन्न राजा को, **अग्रे**=सबसे प्रथम **ओषधीषु अप्सु**=ओषधियों व जलों का ही खान-पान करने पर, अर्थात् भोजन में मद्य-मांसादि का प्रवेश न होने पर, **वाजस्य**=शक्ति व ज्ञान का **प्रसवः**= उत्पादन **सुषुवे**=ऐश्वर्ययुक्त करता है, अर्थात् सात्त्विक भोजन से सौम्यता बनी रहती है और शक्ति व ज्ञान में वृद्धि होती है। २. **ताः**=वे ओषधियाँ व जल **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **मधुमतीः**=माधुर्यवाली **भवन्तु**=हों, अर्थात् इन ओषधियों व जलों के खान-पान से हमारे मनों और व्यवहार में माधुर्य हो। ३. **वयं पुरोहिताः**=हम पुरोहित **राष्ट्रे**=राष्ट्र में **जागृयाम**=सदा जागरूक रहें। ज्ञान-प्रकाश फैलाने का कार्य इनपर ही निर्भर है। ये सो जाएँ, तो राष्ट्र में अन्धकार-ही-अन्धकार हो जाए। एवं, ये राष्ट्र-पुरोहित वानस्पतिक भोजन करनेवाले हों, इनके व्यवहार में अत्यन्त माधुर्य हो, इनके प्रभाव से राजा व प्रजा के जीवन में भी मद्य-मांसादि का प्रवेश न हो और राजा को शक्ति व ज्ञान का ऐश्वर्य प्राप्त हो। ५. **स्वाहा**=इस कार्य के लिए पुरोहित स्वार्थ के त्यागवाले हों।

भावार्थ—हम वानस्पतिक भोजन को ही अपनाते हुए शक्ति व ज्ञान के ऐश्वर्य का सम्पादन करनेवाले हों। हमारा व्यवहार अत्यन्त मिठास को लिये हुए हो। मांसाहार मनोवृत्ति को क्रूर बनाता है।

ऋषिः—वसिष्ठः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः॥

समृद्धि=Prosperity

वाजस्येमं प्रसवः शिश्रिये दिवमिमा च विश्वा भुवनानि सम्राट्। अदित्सन्तं दापयति प्रजानन्त्स नो रयिꣳसर्ववीरं नियच्छतु स्वाहा॥२४॥

१. गत मन्त्र के अनुसार राजा व पुरोहितों के सात्त्विक होने पर **इमाम्**=इस भूमि-माता (राष्ट्र) को **वाजस्य**=शक्ति व ज्ञान का **प्रसवः**=ऐश्वर्य **शिश्रिये**=आश्रय करता है। सारा राष्ट्र शक्ति-सम्पन्न होता है, इसमें सर्वत्र ज्ञान का प्रकाश होता है तथा २. **सम्राट्**=राजा **दिवम्**=प्रकाश का **शिश्रिये**=आश्रय करता है **च**=और **इमा**=इन **विश्वा**=सब **भुवनानि**=लोकों की **शिश्रिये**=(श्रिञ् सेवायाम्) सेवा करता है। राजा अपना मुख्य कर्त्तव्य लोकसेवा समझता है। वह सम्राट् है, राष्ट्र का सबसे बड़ा सेवक। ३. **प्रजानन्**=उत्कृष्ट ज्ञानवाला होता हुआ यह **अदित्सन्तम्**=राज-कर आदि देने की इच्छा न करते हुए से कर **दापयति**=दिलाता है। यह राष्ट्र में ऐसी व्यवस्था करता है कि सब कोई अपना कर-भाग अवश्य देता रहे। देय कर से कोई बच न सके। ४. **सः**=ऐसा वह राजा **नः**=हमें **सर्ववीरम्**=सब वीरों को प्राप्त करानेवाला **रयिम्**=धन **नियच्छतु**=दे, अर्थात् राजा हमें ऐसा धन प्राप्त कराए, जिस धन से हमारे सन्तान वीर हों तथा उस धन को प्राप्त करके हम विलासग्रसित व क्षीणशक्ति न हो जाएँ। हमारा अङ्ग-प्रत्यङ्ग वीरता से पूर्ण बना रहे। ५. **स्वाहा**=वीरता से पूर्ण बनाने के लिए सब राष्ट्रवासी स्वार्थ को त्याग करनेवाले हों।

भावार्थ—राष्ट्र-व्यवस्था ऐसी सुन्दर हो कि सारा राष्ट्र शक्ति व ज्ञान से सुशोभित हो। समझदार राजा ऐसी व्यवस्था करे कि कोई भी कर आदि देने में गड़बड़ न करे। राष्ट्र के सभी व्यक्ति वीर व धन-सम्पन्न हों। मन्त्र में 'सर्ववीर' शब्द को क्रियाविशेषण रक्खें तो अर्थ होगा, धन का इस प्रकार नियमन करें कि धन कहीं केन्द्रित न हो जाए और सभी वीर=समर्थ बने रहें।

ऋषिः—वसिष्ठः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—स्वराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

'प्रजा-पुष्टि'-वर्धन

वाजस्य नु प्रसव आबभूवेमा च विश्वा भुवनानि सर्वतः। सनेमि राजा परियाति विद्वान्प्रजां पुष्टिं वर्धयमानोऽअस्मे स्वाहा॥२५॥

१. राज्य-व्यवस्था के उत्तम होने पर गत मन्त्र की भावना के अनुसार जब कर आदि देने में कोई किसी प्रकार की ढील नहीं करता तब **नु**=निश्चय से **वाजस्य**=शक्ति व ज्ञान का **प्रसवः**=ऐश्वर्य **इमा च विश्वा भुवनानि**=इन सब लोकों में **सर्वतः**=सब ओर से—सब दृष्टिकोणों से **आबभूव**=उपस्थित होता है, अर्थात् राज्यव्यवस्था के उत्तम होने पर राष्ट्र के सभी लोग—राष्ट्र के सब प्रान्तों में निवास करनेवाली प्रजाएँ—शरीर, मन व बुद्धि सभी दृष्टिकोणों से उन्नत होती हैं। २. इस राष्ट्र का **विद्वान्**=ज्ञानी—प्रजा की ठीक-ठीक अवस्था को जाननेवाला **राजा**=राष्ट्र का व्यवस्थापक पुरुष **सनेमि**=(नेमि=परिधि) सदा मर्यादानुकूल आचरणवाला होता हुआ **परियाति**=राष्ट्र में चारों ओर गति करता है। 'स

ताननुपरिक्रामेत् सर्वानेव सदा स्वयम्'=इस मनुवाक्य के अनुसार यह राष्ट्र के सब कर्मचारियों के कार्यों को स्वयं घूमकर देखा करता है। ३. इस नियमित भ्रमण व निरीक्षण के द्वारा राष्ट्र-व्यवस्था को ठीक रखता हुआ यह राजा **अस्मे**=इन सब प्रजाओं के लिए **प्रजां पुष्टिम्**=सब प्रकार के विकास को (प्र+जा) तथा धन, शक्ति व ज्ञानादि के पोषण को **वर्धयमानः**=बढ़ाता हुआ होता है। राजा के नियमित निरीक्षण से सब कर्मचारी कार्यों को ठीक करते हैं और प्रजाओं का पोषण व शक्तियों का विकास ठीक प्रकार से होता रहता है। ४. **स्वाहा**=इस राजा के लिए प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं अथवा **स्व**=कर रूप में देय धन को **हा**=प्रसन्नतापूर्वक देते हैं, इसे राष्ट्र-यज्ञ में एक आहुति समझते हैं।

भावार्थ—राजा का जीवन अत्यन्त मर्यादित होना चाहिए। उसे राष्ट्र में सर्वत्र भ्रमण करते हुए राष्ट्र-कार्यों का उत्तमता से सञ्चालन करना चाहिए, तभी प्रजा की शक्तियों का विकास व पोषण होता है।

ऋषिः—तापसः। **देवता**—सोमाग्न्यादित्यविष्णुसूर्यबृहस्पतयः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

राज-विश्वास

सोम॒ꣳराजा॑न॒मव॑से॒ऽग्निम॒न्वार॑भामहे।
आ॒दि॒त्यान्विष्णु॒ꣳसूर्यं॑ ब्र॒ह्माणं॑ च॒ बृह॒स्पति॒ꣳस्वाहा॑॥२६॥

'कैसे व्यक्ति को राजा बनाएँ', इस विषय का वर्णन करते हुए प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **अवसे**=रक्षणादि क्रियाओं के लिए **अनु आरभामहे**=पीछे चलते हुए हम उस राजा पर विश्वास करते हैं (आरभ=to rely on)। हमें राजा पर पूर्ण विश्वास है we have full faith (complete confidence) in him=हम उसके विरोध में 'no confidence motion' अविश्वास प्रस्ताव ही पेश नहीं करते रहते। हम उसके बनाये हुए नियमों का ठीक से पालन करते हैं। १. हम उस राजा पर विश्वास करते हैं जो **सोमम्**=गुण-सम्पन्न है, घमण्ड से रहित है तथा क्रूर मनोवृत्तिवाला नहीं है। २. **राजानम्**=जो ज्ञान की दीप्तिवाला है अथवा स्वास्थ्य के कारण चमकता है तथा प्रजा के जीवन को बड़ा व्यवस्थित=regulated करनेवाला है। ३. **अग्निम्**=जो प्रगतिशील है, उत्तम नेतृत्व देनेवाला है। ४. **आदित्यान्**=जो सदा उत्तमता का आदान करनेवाला है अथवा अग्निवत् शत्रुओं का दाहक है (आदानात् आदित्यः)। ५. **विष्णुम्**=जो व्यापक व उदार मनोवृत्तिवाला है। ६. **सूर्यम्**=(सूरिषु विद्वत्सु भवम्) सदा विद्वानों के सम्पर्क में रहनेवाला है। ७. **ब्रह्माणम्**=जो चतुर्वेदवेत्ता है अथवा उत्पादक (creator) है—सदा उत्पादन के कार्यों में रुचिवाला है। **च**=और ८. **बृहस्पतिम्**= सर्वोच्च दिशा का अधिपति है, अर्थात् अत्यन्त उच्च जीवनवाला है। **स्वाहा**=ऐसे राजा के लिए हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं और ऐसे राजा के लिए ही हम **स्व+हा**=अपने धन का नियत अंश कररूप में देते हैं। इन गुणों से युक्त राजा सच्चा 'तापस'=तपस्वी है। यही मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—राजा के लिए सोमादि गुण-सम्पन्न होना आवश्यक है। ऐसे राजा में ही प्रजा पूर्ण रूप से विश्वास करती है और उसे उचित कर प्रदान करती है।

ऋषिः—तापसः। **देवता**—अर्यमादिमन्त्रोक्ताः। **छन्दः**—स्वराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

मन्त्रिवर्ग-प्रेरण

अ॒र्य॒मणं॒ बृह॒स्पति॒मिन्द्रं॒ दाना॑य चोदय।

वाचं॒ विष्णु॒ꣳसर॑स्वतीꣳसवि॒तारं॑ च वा॒जिन॒ꣳस्वाहा॑॥२७॥

गत मन्त्र के राजा को चाहिए कि वह १. **अर्यमणम्**=(अरीन् यच्छति) चोर आदि राष्ट्र के शत्रुओं का नियमन करनेवाले न्यायसचिव को २. **बृहस्पतिम्**=(बृहतां पतिम्) बड़े-बड़े मन्त्रियों के भी पति मुख्यमन्त्री को ३. **इन्द्रम्**=(इदि परमैश्वर्ये) अर्थसचिव को ४. **वाचम्**=वेदवाणी में निपुण धर्मसचिव (पुरोहित) को ५. **विष्णुम्** (विष्लृ व्याप्तौ) विदेश-सचिव को ६. **सरस्वतीम्**=शिक्षासचिव को, ज्ञान का विस्तार करनेवाले को ७. **सवितारम्**=(सु=उत्पन्न करना) उद्योग व व्यापार-सचिव को **च**=और ८. **वाजिनम्**=संग्रामों के विजेता सेना-सचिव को **दानाय**=(दाप् लवणे) राष्ट्र में उत्पन्न बुराईरूप घास-फूस को काटने के लिए और इस प्रकार (दैप् शोधने) राष्ट्र की शुद्धि के लिए **चोदय**=प्रेरित करे। राजा सदा अपने मन्त्रिमण्डल को यही प्रेरणा देता रहे कि वे राष्ट्र में कहीं भी बुराइयों को उत्पन्न न होने दें और जीवन को सदा शुद्ध बनाने का प्रयत्न करें। राष्ट्र में कहीं भी भ्रष्टाचार (corruption) आदि शब्द तो सुनाई ही न पड़े। ९. **स्वाहा**=ऐसे राजा के लिए हम सदा प्रशंसात्मक शब्द कहें और कर आदि के रूप में अपने धन का त्याग करें।

भावार्थ—राजा के मन्त्रिमण्डल में, '**सचिवान् सप्त चाष्टौ वा**' इस मनु के शब्दों के अनुसार आठ मन्त्री हैं। राजा उन्हें सदा राष्ट्र-शोधन की प्रेरणा देता रहे।

ऋषिः—तापसः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिगनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

प्रजा पर प्रीति

अग्नेऽअच्छा वदेह नः प्रति नः सुमना भव।
प्र नो यच्छ सहस्रजित् त्वꣳहि धनदाऽअसि स्वाहा॥२८॥

प्रजा राजा से कहती है कि १. **अग्ने**=राष्ट्र को आगे ले-चलनेवाले राजन्! आप **इह**=इस राष्ट्र में **नः अच्छ**=हमारी ओर अर्थात् हमें लक्ष्य करके **आवद**=सब विषयों का उत्तम ज्ञान दो। राजा को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि राष्ट्र में प्रत्येक व्यक्ति ज्ञानी बने, राष्ट्रोन्नति की बातों को समझे और राष्ट्र के लिए सदा वैयक्तिक स्वार्थों को छोड़ने के लिए उद्यत हो। २. **नः प्रति**=हमारे—प्रजा के प्रत्येक व्यक्ति के प्रति **सुमनाः**=उत्तम मनवाले **भव**=होओ। राजा प्रजा को अपने पुत्रतुल्य समझे, उनकी रक्षा के लिए सदा उद्यत हो। ३. हे **सहस्रजित्**=शतशः धनों के विजेता राजन्! तू **नः प्रयच्छ**=हमें उत्तम धन देनेवाला हो। राजा व्यापार आदि की इस प्रकार सुव्यवस्था करे कि राष्ट्र में कोई भी व्यक्ति अपनी जीविका कमाने में असमर्थ न रहे। हे राजन्! **त्वम्**=आप **हि**=निश्चय से **धनदाः**=धन देनेवाले **असि**=हो। वस्तुतः राज्य-व्यवस्था के ठीक न होने पर धनार्जन बड़ा कठिन हो जाता है। मात्स्यन्याय में जिस प्रकार छोटी मछली के लिए जीना सम्भव नहीं होता उसी प्रकार राष्ट्र-व्यवस्था के ठीक न होने पर छोटे व्यापारी के लिए जीना कठिन हो जाता है। बड़े-बड़े पनपते हैं तो छोटे उजड़ते हैं। राष्ट्र में 'अति सम्पन्न और अति विपन्न' इन दो श्रेणियों का निर्माण होकर राष्ट्र की अधोगति होती है। ४. **स्वाहा**=उत्तम व्यवस्था करनेवाले राजा के लिए हम **स्व**=धन का **हा**=त्याग करें, उचित कर आदि के देनेवाले हों।

भावार्थ—जैसे एक पिता सब पुत्रों का ध्यान करता है, इसी प्रकार राजा सारी प्रजा पर प्रीतिवाला हो और सभी को जीविकोपार्जन में सक्षम बनाये।

ऋषिः—तापसः। देवता—अर्यमादिमन्त्रोक्ताः। छन्दः—भुरिगार्षीगायत्री। स्वरः—षड्जः॥

निर्धनता व अज्ञान का निरसन

प्र नो यच्छत्वर्यमा प्र पूषा प्र बृहस्पतिः। प्र वाग्देवी ददातु नः स्वाहा॥२९॥

गत मन्त्र में धनदाः='हे राजन्! आप ही धन देनेवाले हो' ऐसा कहा था। उसी को कुछ विस्तार से कहते हैं कि १. **नः**=हमें **अर्यमा**=(अरीन् यच्छति) शत्रुओं का नियमन करनेवाला राजा **प्रयच्छतु**=प्रकृष्ट धन देनेवाला हो। राजा हमें ऐसा धन दे जिसे प्राप्त करके हम काम-क्रोधादि शत्रुओं के विजेता बनें। यह धन हमें व्यसनी बनानेवाला न हो २. **पूषा**=सारे राष्ट्र का पोषण करनेवाला राजा **प्र**=हमें प्रकृष्ट धन प्राप्त कराये, अर्थात् प्रजा में प्रत्येक व्यक्ति को पोषण के लिए पर्याप्त धन अवश्य प्राप्त हो। ३. **बृहस्पतिः**=सर्वोच्च दिशा का अधिपति (ऊर्ध्वा दिग्बृहस्पतिः) **नः**=हमें उत्तम धन को **प्र**=खूब ही प्राप्त करानेवाला हो। यह बृहस्पति अपना ज्ञानरूप उत्तम धन हमें दे, जिससे हमारा जीवन अधिकाधिक पवित्र हो। ५. **वाग्देवी**=वाणी की अधिदेवता **नः**=हमें **प्रददातु**=खूब ही ज्ञान देनेवाली हो। राष्ट्र में ऐसी सुव्यवस्था होनी चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति ज्ञान प्राप्त कर सके। प्रत्येक व्यक्ति पर 'सरस्वती' की कृपा हो, अर्थात् राष्ट्र में कोई अविद्वान् न हो। ६. **स्वाहा**=इस प्रकार से व्यवस्था करनेवाले राजा के लिए हम (सु+आह) प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं और उचित कर देते हैं (स्व+हा)।

भावार्थ—राष्ट्र में कोई निर्धन व अतिधनी न हो। राष्ट्र में कोई अविद्वान् न हो। इस प्रकार से व्यवस्था करनेवाला राजा ही प्रशंसनीय है।

ऋषिः—तापसः। **देवता**—सम्राट्। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः॥

राज्याभिषेक

देवस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम् । सर॑स्वत्यै वा॒चो य॒न्तुर्य॒न्त्रिये॑ दधामि॒ बृह॒स्पते॑ष्ट्वा॒ साम्रा॑ज्येना॒भिषि॑ञ्चाम्यसौ ॥३०॥

पुरोहित राजा का अभिषेक करता हुआ कहता है कि १. **त्वा**=तुझे **असौ**=वह मैं **साम्राज्येन**=साम्राज्य के हेतु से **अभिषिञ्चामि**=अभिषिक्त करता हूँ। तुझे इस सिंहासन पर बिठाते हैं, इसलिए कि राष्ट्र का सारा कार्यक्रम बड़े व्यवस्थित (regulated) प्रकार से चले। यह व्यवस्थित ही नहीं, सम्यक् व्यवस्थित हो। २. **त्वा** =तुझे **सवितुः देवस्य**=प्रेरक प्रभु की **प्रसवे**=आज्ञा में **दधामि**=धारण करता हूँ। तू इस सिंहासन पर बैठकर प्रभु की वेदोपदिष्ट नीति से राज्य का शासन करे। ३. मैं तुझे **अश्विनोः**=प्राणापान के **बाहुभ्याम्**=(बाहृ प्रयत्ने) प्रयत्नों के हेतु से **दधामि**=इस गद्दी पर बिठाता हूँ। 'प्राण' का काम शक्ति का धारण है—तूने भी राष्ट्र को शक्ति-सम्पन्न बनाना है। 'अपान' का काम दोषों का दूरीकरण है—तुझे भी राष्ट्र में से मलों व बुराइयों को समाप्त करना है। ४. **पूष्णः**=पूषा के **हस्ताभ्याम्**=हाथों के हेतु से मैं तुझे इस गद्दी पर बिठाता हूँ, अर्थात् तूने राष्ट्र में ऐसी सुन्दर व्यवस्था करनी है कि राष्ट्र का कोई भी व्यक्ति अकर्मण्य न हो और साथ ही प्रत्येक व्यक्ति को पोषण के लिए पर्याप्त धन प्राप्त हो। संक्षेप में प्रत्येक व्यक्ति अपनी कार्यक्षमता के अनुसार कार्य करे और आवश्यकतानुसार उसे धन प्राप्त हो। वस्तुतः यही समाजवाद का सिद्धान्त है जो प्रत्येक घर में लागू होता है—'इसी सिद्धान्त को राष्ट्र में भी लागू करना' राजा का कर्त्तव्य है। ५. **सरस्वत्यै**=सरस्वती के लिए मैं तुझे इस सिंहासन पर बिठाता हूँ। राष्ट्र में सर्वत्र विद्या के प्रसार के लिए तुझे गद्दी पर बिठाया गया है। ६. **वाचो यन्तुः**=वेदवाणी के अर्थ का नियमन करनेवाले, अर्थात् वेदार्थ के स्पष्ट करनेवाले **बृहस्पतेः**=(ब्रह्मणस्पतेः) चतुर्वेदवेत्ता विद्वान् के **यन्त्रिये**=नियमन में मैं तुझे **दधामि**=स्थापित करता हूँ। प्रत्येक राजा किसी ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण के नियन्त्रण में होना चाहिए तभी वह राजा ग़लतियाँ न करता हुआ राष्ट्र

की उत्तम रक्षा करनेवाला होता है।

भावार्थ—राजा विद्वान् आचार्य के नियन्त्रण में रहता हुआ राष्ट्र की उत्तम व्यवस्था करे।

ऋषिः—तापसः। **देवता**—अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः। **छन्द**—स्वराडतिधृतिः **स्वरः**—षड्जः॥

'अग्निः, अश्विनौ, विष्णुः, सोमः' उज्जिति=उत्कृष्ट विजय

अग्निरेकाक्षरेण प्राणमुदजयत्तमुज्जेषमश्विनौ द्व्यक्षरेण द्विपदो मनुष्यानुदजयतां तानुज्जेषं विष्णुस्त्र्यक्षरेण त्रींल्लोकानुदजयत्तानुज्जेषꣳ सोमश्चतुरक्षरेण चतुष्पदः पशूनुदजयत्तानुज्जेषम्॥ ३१॥

१. **अग्निः**=(अग्रेणीः) आगे बढ़ने की मनोवृत्तिवाला—सारे राष्ट्र का सञ्चालक राजा **एकाक्षेरण=(व्याहरन्)** 'ओम्' इस अद्वितीय अक्षर के जप से **प्राणम्**=प्राण को **उदजयत्**=जीतता है। **तम्**=उस प्राण को **उज्जेषम्**=मैं भी जीतूँ। 'ओम्' के जप से मनुष्य वासनाओं से बचा रहता है और वासनाओं का शिकार न होने से इसकी प्राणशक्ति ठीक बनी रहती है। यही 'एक अक्षर से प्राणों का विजय' है। आगे बढ़ने की वृत्तिवाले 'अग्नि' के लिए यह आवश्यक है। बिना प्रणव-जप के किसी भी प्रकार की उन्नति सम्भव नहीं। २. **अश्विनौ**=प्राण और अपान **द्व्यक्षरेण**=दो व्यापक सिद्धान्तों से (अश् व्याप्तौ), अर्थात् विद्या और श्रद्धा से **द्विपदः मनुष्यान्**=दो पाँववाले मनुष्यों को (पद् गतौ)—द्विविध गतिवाले मनुष्यों को **उदजयताम्**=उन्नत करते हैं—उत्कृष्ट विजयवाला करते हैं। **तान् उज्जेषम्**=मैं इन मनुष्यों को जीत जाऊँ, अर्थात् श्रद्धा व विद्या-सम्पन्न पुरुषों में मेरा स्थान प्रमुख हो। ३. 'ओम्' का जप करनेवाला विषयों में न फँसकर प्राणशक्ति का विजय करता है तथा प्राणापान की साधना करनेवाला श्रद्धा व विद्या-सम्पन्न होकर 'अभ्युदय व निःश्रेयस' दोनों को सिद्ध करनेवाले मनुष्यों को जीत जाता है, अर्थात् उनका अग्रणी बनता है। अब यह **'विष्णुः'** (विष्लृ=व्याप्तौ) व्यापक उन्नति करनेवाला बनता है और **त्रि अक्षरेण**=तीन व्यापक तत्त्वों के द्वारा मस्तिष्क में 'प्रज्ञा', मन में 'उत्साह' और शरीर में 'बल' के द्वारा यह **त्रीन् लोकान्**=तीनों लोकों को **उदजयत्**=जीतता है। आध्यात्म में ये तीन लोक 'शरीर, मन और बुद्धि' हैं। **तान् उज्जेषम्**=मैं भी इन तीनों लोकों का विजय करनेवाला बनूँ। मेरा शरीर बल-सम्पन्न हो तो मन उत्साहमय हो और मस्तिष्क प्रज्ञा से पूर्ण हो। ४. इस व्यापक उन्नति को करनेवाला मैं **सोमः**=सौम्य स्वभाववाला—विनीत बनूँ। यह सोम **चतुरक्षरेण**='साम, दाम, भेद व दण्ड' इन चार व्यापक सिद्धान्तों के द्वारा **चतुष्पदः पशून्**=चार पाँववाले, चारों ओर भटकनेवाले पशुओं को भी **उदजयत्**=जीत जाता है। **तान् उज्जेषम्**=मैं भी इनको जीतनेवाला बनूँ। सोम होता हुआ मैं सभी का विजेता होऊँ। विजय के लिए मैं क्रमशः 'साम, दान, भेद व दण्ड' इन उपायों का प्रयोग करूँ।

५. यहाँ मन्त्र में चारों वाक्यों के कर्तृपदों का क्रम यह है—'अग्नि, अश्विनौ, विष्णु, सोम'। एक वाक्य में कहें तो अर्थ यह होगा कि 'आगे बढ़नेवाला (अग्नि) प्राणापान की (अश्विनौ) साधना करता है और शरीर, मन व मस्तिष्क सभी दृष्टिकोणों से व्यापक उन्नति करता हुआ यह (विष्णु) अधिक-से-अधिक विनीत (सोम) होता है।

६. मन्त्र के करणपदों का क्रम यह है 'एकाक्षरेण—द्व्यक्षरेण—त्र्यक्षरेण—चतुरक्षरेण' इनके अर्थ एक वाक्य में इस प्रकार होंगे कि—मनुष्य एकाक्षर 'ओम्' का सतत जप करता हुआ द्व्याक्षर 'श्रद्धा व विद्या' को विकसित करने के लिए यत्नशील हो। 'इसका मस्तिष्क प्रज्ञा से परिपूर्ण हो तो इसका हृदय सदा उत्साहमय हो और शरीर में यह बल-सम्पन्न हो।

इस प्रकार निज जीवन को उन्नत बनाकर यह अपने व्यावहारिक जीवन में 'साम, दाम, भेद व दण्ड' का ठीक प्रयोग करता हुआ सभी को अपने वश में करनेवाला हो। ७. मन्त्र के कर्मपदों का क्रम यह है 'प्राणम्—द्विपदो मनुष्यान्—त्रीन् लोकान्—चतुष्पदः पशून्' इनका अभिप्राय यह है कि हम प्राण का विजय करें। प्राणों की साधना करके मस्तिष्क में विद्या तथा हृदय में श्रद्धा का विकास करें तब अभ्युदय व निःश्रेयस को सिद्ध करनेवाले मनुष्यों को जीत जाएँगे। इस विद्या व श्रद्धा का परिणाम हमारे जीवन पर यह होगा कि हमारा शरीर सबल होगा, हृदय सोत्साह तथा मस्तिष्क सप्रज्ञ (बुद्धियुक्त)। इस प्रकार त्रिविध उन्नति करके हम तीनों लोकों का विजय कर रहे होंगे। यह विजय हमें इस योग्य बनाएगी कि हम चतुष्पद पशुओं पर भी सामादि उपायों द्वारा विजय पाएँगें।

भावार्थ—हमारा जीवन क्रमशः उन्नति करता हुआ विजयी और विजयी ही बनता चले।

ऋषिः—तापसः। **देवता**—पूषादयो मन्त्रोक्ताः। **छन्दः**—कृतिः। **स्वरः**—निषादः॥

पूषा—सविता—मरुतः—बृहस्पतिः

पूषा पञ्चाक्षरेण पञ्च दिशऽउदजयत्ताऽउज्जेषꣳसविता षडक्षरेण षडृतूनुदजयत्तानुज्जेषं मरुतः सप्ताक्षरेण सप्त ग्राम्यान् पशूनुदजयँस्तानुज्जेषं बृहस्पतिरष्टाक्षरेण गायत्रीमुदजयत्तामुज्जेषम्॥३२॥

१. **पूषा**=अपना पोषण करनेवाला **पञ्च**=पाँच **अक्षरेण**=व्यापक तत्त्वों के द्वारा पृथिवी, जल, तेज, वायु व आकाश की अनुकूलता के द्वारा **पञ्च दिशः**=पाँचों दिशाओं को **उदजयत्**=जीत लेता है, पाँचों दिशाओं में उन्नति करता है। इसकी पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ—पार्थिव घ्राणेन्द्रिय, अम्मय रसनेन्द्रिय, तैजस् चक्षु, वायवीय त्वचा और आकाशैकदेशभूत श्रोत्रेन्द्रिय—ठीक प्रकार से विकसित होती हैं—पाँचों कर्मेन्द्रियों का यह ठीक विकास कर पाता है। इसके पाँचों प्राण इसके वश में होकर ठीक-ठीक कार्य करते हैं। इस प्रकार यह सचमुच ही पूषा बन जाता है। इसकी यह कामना पूर्ण होती है कि **ताः उज्जेषम्**=मैं भी इन पाँचों दिशाओं को जीत लूँ। २. **सविता**=सबका प्रेरक तथा सब ऐश्वर्यों से युक्त यह सूर्य **षडक्षरेण**=छह व्यापक शक्तियों के द्वारा—जो शक्तियाँ छह ऋतुओं को पैदा करने का कारण बनती हैं, उन शक्तियों के द्वारा **षट् ऋतून्**=छह ऋतुओं का **उदजयत्**=विजय करता है। **तान् उज्जेषम्**=मैं भी उन छह ऋतुओं का विजेता बनूँ। ये छह-की-छह ऋतुएँ मेरे अनुकूल हों। ऋतु शब्द 'ऋ' गतौ से बनकर छह गतियों का संकेत करता हैं। राजा के क्षेत्र में ये छह गतियाँ 'सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव व समाश्रय' इन शब्दों से कही जाती हैं। सामान्य व्यक्ति के जीवन में भी पाँच कर्मेन्द्रियों व छठे मन की गतियाँ छह ऋतुओं से अभिप्रेत हैं। समय के अनुकूल उस-उस क्रिया के द्वारा मनुष्य सर्वदा स्वस्थ रह पाता है—कोई भी ऋतु उसके प्रतिकूल नहीं होती। ३. **मरुतः**=(मितराविणः) परिमित बोलनेवाले योगसाधनरत मुनिलोग **सप्ताक्षरेण**=सात व्यापक तत्त्वों के द्वारा **सप्त**=सात **ग्राम्यान् पशून्**=इन्द्रिय-ग्रामों में निवास करनेवाले शीर्षण्य प्राणों को **उदजयत्**=जीत लेते हैं। मैं भी **तान् उज्जेषम्**=इन सप्त शीर्षण्य प्राणों का विजेता बनूँ। 'पशु' शब्द 'दृश्' धातु से बनता है। 'दृश्' की पर्यायभूत धातु 'ऋष' है; जिससे 'ऋषि' शब्द बनता है। एवं, पशु व ऋषि पर्यायवाची हो जाते हैं। इन्हीं सात ऋषियों का उल्लेख **'सप्तऋषयः प्रतिहिताः शरीरे'** इस मन्त्र में है। शरीर पञ्चभूतों का बना होने से पाञ्चभौतिक ग्राम-सा है। उस ग्राम में रहनेवाले **'कर्णाविमौ नासिके अक्षणी मुखम्'** ये सप्त शीर्षण्य प्राण हैं। मितरावी मुनि इनका विजय करते हैं।

मुख्यरूप से ये सात कहलाते हैं। इनकी साधना से सप्त ऋषि स्वस्थ रहते हैं। ४. **बृहस्पतिः**=सर्वोच्च दिशा का अधिपति **अष्टाक्षरेण**=आठ व्यापक तत्त्वों के द्वारा 'पञ्चभूत तथा अंहकार, महान् व अव्यक्त' इस अष्टधा प्रकृति के द्वारा **गायत्रीम्**=(गायाः प्राणाः तान् तत्रे) प्राणरक्षा का **उदजयत्**=उत्कृष्ट विजय करता है **ताम्**=उस प्राणरक्षा को मैं भी **उज्जेषम्**=जीतनेवाला बनूँ। पञ्चभूतों की विजय से अन्नमय व प्राणमयकोशों का स्वास्थ्य प्राप्त होता है। स्थूल भूत अन्नमयकोश में काम करते हैं तो सूक्ष्म भूत प्राणमयकोश में। अहंकार के विजय से मनोमयकोश का स्वास्थ्य प्राप्त होता है और महान् के विजय से विज्ञानमयकोश स्वस्थ होता है। अव्यक्त प्रकृति-विजय से आनन्दमयकोश ठीक होता है। इस अष्टधा प्रकृति का विजय ही गायत्री का विजय है।

५. '**पूषा, सविता, मरुतः, बृहस्पतिः**' इन कर्तृपदों से यह बात स्पष्ट है कि पोषण करनेवाला ही ऐश्वर्य का अधिपति होता है और प्राणसाधना करनेवाला मितरावी मुनि ही सर्वोच्च दिशा का अधिपति बनता है। ६. मन्त्र के '**पञ्च दिशा, षड् ऋतून्, सप्त ग्राम्यान् पशून्** तथा **गायत्रीम्**' इन कर्मपदों का उपदेश यह है कि (क) पाँचों दिशाओं में उन्नति करनेवाला, अर्थात् पृथिवी आदि सभी भूतों को अपने अनुकूल बनानेवाला ही सब ऋतुओं का विजेता बनता है। (ख) और सप्त शीर्षण्य प्राणों का विजेता ही अष्टधा प्रकृति का विजय कर पाता है। ७. मन्त्र के करणपदों का संकेत स्पष्ट है कि हम (क) शरीर में पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय व पाँच प्राण सभी दिशाओं में उन्नति करें। (ख) अपने जीवन में पाँचों कर्म-इन्द्रियों व मन-इन छह-की-छह गतियों को ठीक करें। (ग) सप्त शीर्षण्य प्राणों को सप्त मरुतों की साधना से ठीक रक्खें। (घ) '**पञ्चभूत, अहंकार, महान् व अव्यक्त**' इस अष्टधा प्रकृति की अनुकूलता का सम्पादन करें।

भावार्थ—हमें अपने जीवनों में क्रमशः उन्नति करते हुए 'पूषा, सविता, मरुतः व बृहस्पति' बनना है।

ऋषिः—तापसः। **देवता**—मित्रादयो मन्त्रोक्ताः। **छन्दः**—कृतिः। **स्वरः**—निषादः॥

मित्र—वरुण—इन्द्र—विश्वेदेवाः

मित्रो नवाक्षरेण त्रिवृतꣳस्तोममुदजयत्तमुज्जेषं वरुणो दशाक्षरेण विराजमुदजयत्तामुज्जेषमिन्द्रऽएकादशाक्षरेण त्रिष्टुभमुदजयत्तामुज्जेषं विश्वे देवा द्वादशाक्षरेण जगतीमुदजयँस्तामुज्जेषम् ॥ ३३॥

१. **मित्रः**=(प्रमीतेः त्रायते) मृत्यु से अपने को बचानेवाला **नवाक्षरेण**=नौ व्यापक तत्त्वों के हेतु से—(पाँच ज्ञानेन्द्रियों व पाँच कर्मेन्द्रियों में जिह्वा के दोनों ओर होने से कुल नौ ही गिनते हैं) इन नौ इन्द्रियों की शक्ति के हेतु से **त्रिवृतं स्तोमम्**=त्रिगुणित 'सत्त्व, रज व तम्' अथवा वात, पित्त व कफ़ इन गुणों के समुदाय को **उदजयत्**=जीत लेता है। **तम्**=उस 'त्रिगुणित गुण समुदाय' को मैं भी **उज्जेषम्**=जीतनेवाला बनूँ। 'सत्त्व, रज व तम्' 'स्तोम' इसलिए हैं कि ये परस्पर मिले होते हैं और 'उत्तम, मध्यम, निकृष्ट' भेद से त्रिगुणित होकर ये नौ हो जाते हैं। इनके ठीक कार्य करने पर सब इन्द्रियाँ ठीक रहती हैं। इन्द्रियों का ठीक रहना ही स्वास्थ्य है, रोगों से बचना है। एवं, मित्र=रोगों से अपने को बचानेवाला इस त्रिवृत् स्तोम को जीतने का ध्यान करता है। २. **वरुणः**=श्रेष्ठ अथवा (वारयति) रोगों का निवारण करनेवाला, रोगों को उत्पन्न ही न होने देनेवाला **दशाक्षरेण**=दस व्यापक तत्त्वों के द्वारा अर्थात् 'प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल,

देवदत्त, धनञ्जय' इन दस प्राणशक्तियों की साधना के द्वारा **विराजम्**=विशिष्ट दीप्ति को **उदजयत्**=जीतता है **ताम्**=उस विशिष्ट दीप्ति को **उज्जेषम्**=मैं भी विजय करूँ। वस्तुतः प्राणशक्ति से ही रोग-निवारण सम्भव होता है और इस रोग-निवारण का परिणाम 'स्वास्थ्य की दीप्ति' है, उसे ही यहाँ 'विराज्' कहा गया है। ३. **इन्द्रः**=सब इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव **एकादशाक्षरेण**=दस इन्द्रियाँ व ग्यारहवें मन की व्यापक शक्ति के द्वारा **त्रिष्टुभम्**=काम, क्रोध व लोभ के रोकने को (स्तुभ्=stop) **उदजयत्**=जीतता है, अर्थात् काम, क्रोध व लोभ को अपने में प्रवेश नहीं करने देता। **ताम्**=इस त्रिष्टुभ् को **उज्जेषम्**=मैं भी जीतूँ अर्थात् काम-क्रोधादि को अपने में उत्पन्न न होने दूँ। वैयक्तिक साधना के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है। ४. अब इन्द्र अर्थात् कामादि शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला बनकर मैं 'विश्वेदेवाः' बनता हूँ। सब दिव्य गुणों को अपना पाता हूँ। **द्वादशाक्षरेण**=दस इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इन बारह व्यापक शक्तियों के द्वारा **जगतीम्**=सारे लोक को **उदजयन्**=जीत लेते हैं, **ताम्**=उस जगती को **उज्जेषम्**=मैं भी जीतनेवाला बनूँ। मनुष्य मन को वश में करके काम-क्रोधादि को जीतकर शान्ति प्राप्त करता है और बुद्धि का सम्पादन होने पर वह सारे व्यवहार को बुद्धिपूर्वक करता हुआ सारे लोक को अनुकूल बना पाता है। ऐसा कर लेने पर उसमें सब दिव्य गुणों का वास होता है।

५. (क) मन्त्र के कर्तृपदों का बोध यह है कि रोगों से अपने को बचाना, अर्थात् रोगों के साथ संघर्ष करके उनपर विजय पाना आवश्यक है। (ख) उससे भी उत्तम यह है कि हम वरुण बनें, रोगों को आने ही न दें। (ग) इन उद्देश्यों से हम इन्द्र=इन्द्रियों के अधिष्ठाता बनें और काम आदि आसुर वृत्तियों का विद्रावण करनेवाले हों। इन वृत्तियों को दूर करके हम (घ) **विश्वेदेवाः**=सब दिव्य गुणों को अपने में विकसित करें। ६. कर्मपदों का बोध इस रूप में है कि (क) परस्पर सम्बद्ध सत्त्व, रज व तम के स्तोमों को जीतकर हम (ख) नीरोग बनकर विशिष्ट दीप्तिवाले हों। शारीरिक दृष्टि से हम स्वास्थ्य की चमकवाले हों। (ग) अब काम, क्रोध व लोभ को जीतकर इन्हें अपने से पूर्णरूप से दूर करके (घ) सम्पूर्ण जगती के प्रिय बनें।

७. करणपदों का बोध यह है कि हम (क) सब इन्द्रियों के स्वास्थ्य का सम्पादन करें। (ख) दश प्राणों को स्वाधीन करें। (ग) इन्द्रियरूप घोड़ों को मनरूप लगाम द्वारा वशीभूत करके (घ) मनरूप लगाम को भी बुद्धिरूप सारथि द्वारा थामनेवाले हों, अर्थात् हमारे जीवनों में बुद्धि का सर्वोपरि महत्त्व हो।

भावार्थ—हम क्रमशः 'मित्र, वरुण, इन्द्र व विश्वेदेवाः' बनने का यत्न करें।

ऋषिः—तापसः। देवता—वस्वादयो मन्त्रोक्ताः। छन्दः—निचृज्जगती [क], निचृद्धृतिः [र]। स्वरः—निषादः [क], ऋषभः [र]॥

वसवः—रुद्राः—आदित्याः—अदितिः—प्रजापतिः

[क]वसवस्त्रयोदशाक्षरेण त्रयोदशꣳस्तोममुदजयँस्तमुज्जेषꣳ रुद्राश्चतुर्दशाक्षरेण चतुर्दशꣳस्तोममुदजयँस्तमुज्जेषम् [र]आदित्याः पञ्चदशाक्षरेण पञ्चदशꣳ स्तोममुदजयँस्तामुज्जेषमदितिः षोडशाक्षरेण षोडशꣳस्तोममुदजयत्तमुज्जेषं प्रजापतिः सप्तदशाक्षरेण सप्तदशꣳस्तोममुदजयत्तमुज्जेषम् ॥ ३४॥

१. **वसवः**=अपने निवास को उत्तम बनानेवाले वसु ब्रह्मचारी **त्रयोदश अक्षरेण**=तेरह अविनाशी व व्यापक पदों से **त्रयोदशं स्तोमम्**=तेरह के समूह को—अर्थात् इन्द्रियरूप नव द्वारों तथा मन, बुद्धि, चित्त व अहंकार को **उदजयत्**=जीत लेते हैं। मैं भी **तम्**=नव द्वारों

तथा अन्तःकरण चतुष्टय को **उज्जेषम्**=जीत लूँ। वस्तुतः उत्तम निवास के लिए इन सबका ठीक होना आवश्यक है। २. **रुद्राः**=(रुत् + र) ज्ञान देनेवाले रुद्र ब्रह्मचारी **चतुर्दश अक्षरेण**=चौदह व्यापक शक्तियों के द्वारा **चतुर्दशं स्तोमम्**=चौदह के समूह को, दश इन्द्रियाँ (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ) तथा मन, बुद्धि, चित्त व अहंकार को **उदजयन्**=जीत लेते हैं। **तम्**=उस समूह को **उज्जेषम्**=मैं भी जीत लूँ। ३. **आदित्याः**=सब स्थानों से उत्तमताओं का ग्रहण करनेवाले आदित्य ब्रह्मचारी **पञ्च दशाक्षरेण**=पन्द्रह व्यापक शक्तियों के द्वारा **पञ्चदशं स्तोमम्**=दश इन्द्रियाँ—मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार तथा हृदय के समूह को **उदजयन्**=जीत लेते हैं **तम्**=उस समूह को मैं भी **उज्जेषम्**=जीत लूँ। ४. **अदितिः** =अदीना देवमाता **षोडश अक्षरेण**=सोलह व्यापक शक्तियों के द्वारा **षोडशं स्तोमम्**=सोलह के समूह को—शरीर में निवास करनेवाली सोलह कलाओं को **उदजयत्**=जीत लेती है **तम्**= उस सोलह कलाओं के समूह को **उज्जेषम्**=मैं भी जीत लूँ। ५. **प्रजापतिः**=प्रजाओं का रक्षक अथवा प्रजा—विकास की रक्षा करनेवाला राजा **सप्तदशाक्षरेण**=सत्रह व्यापक शक्तियों के द्वारा **सप्तदशं स्तोमम्**=दस इन्द्रियों, पञ्च प्राण तथा मन व बुद्धि के समूहरूप सूक्ष्म व लिङ्गशरीर को **उदजयत्**=जीत लेता है, **तम्**=मैं भी सत्रह तत्त्वों से बने सूक्ष्म शरीर को **उज्जेषम्**=जीत लूँ। इस शरीर की विजय के बाद ही तो मैं कारणशरीर के विजय के लिए उद्यत होऊँगा। अथवा १. वसु—नव द्वार व अन्तःकरण चतुष्टय की तेरह व्यापक शक्तियों के द्वारा 'सत्याकारास्त्रयोदश' इस वाक्य में कहे गये सत्य के सब रूपों को जीत लेते हैं। मैं भी इसी प्रकार सत्य के त्रयोदश रूपों का विजेता बनूँ। २. रुद्र—दस इन्द्रियों व अन्तःकरण चतुष्टय की व्यापक शक्तियों के द्वारा चौदह विद्याओं के समूह को जीत लेते हैं। मैं भी चौदह विद्याओं के समूह का विजेता बनूँ (षडङ्गमिश्रिता वेदा धर्मशास्त्रं पुराणकम्। मीमांसा तर्कमपि च एता विद्याश्चतुर्दश) ३. आदित्य—दस इन्द्रियाँ अन्तःकरण चतुष्टय तथा हृदय की व्यापक शक्तियों के द्वारा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ व पाँच प्राणों के समूह को जीत लेते हैं। मैं भी इस समूह को जीतूँ। ४. आदित्य सोलह कलाओं की व्यापक शक्तियों के द्वारा सोलह कलाओं का विजय करते हैं। मैं भी इनका विजय करूँ तथा ५. प्रजापति सप्तदश शक्तियों से, अविनाशी तत्त्वों से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण तथा मन व बुद्धि से बने सूक्ष्मशरीर का विजय करता है। मैं भी इसका विजेता बनूँ।

भावार्थ—१. हमें क्रमशः विकास करते हुए स्वस्थ शरीरवाला **'वसु'**, उत्तम ज्ञान देनेवाला **'रुद्र'**, सब गुणों का अंशदान करनेवाला **'आदित्य'**, कामादि सब शत्रुओं से अखण्डित **'अदिति'** तथा सम्पूर्ण विकासों का स्वामी **'प्रजापति'** बनना है। २. हमें सत्य के तेरह रूपों को, चतुर्दश विद्याओं को, इन्द्रिय दशक व प्राण पञ्चक को, सोलह कलाओं को तथा सत्रह तत्त्वों से बने सूक्ष्मशरीर को जीतना है। यही वस्तुतः सच्ची तपस्या है। इस तपस्या को करनेवाले हम 'तापस' बनते हैं। तापस ही प्रस्तुत मन्त्रों का ऋषि है।

ऋषिः—वरुणः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—विराडुत्कृतिः। स्वरः—षड्जः॥

राजा व मन्त्रीवर्ग

एष ते निर्ऋते भागस्तं जुषस्व स्वाहाऽग्निनेत्रेभ्यो देवेभ्यः पुरःसद्भ्यः स्वाहा यमनेत्रेभ्यो देवेभ्यो दक्षिणासद्भ्यः स्वाहा विश्वदेवनेत्रेभ्यो देवेभ्यः पश्चात्सद्भ्यः स्वाहा मित्रावरुणनेत्रेभ्यो वा मरुन्नेत्रेभ्यो वा देवेभ्यऽउत्तरासद्भ्यः स्वाहा सोमनेत्रेभ्यो देवेभ्यऽउपरिसद्भ्यो दुवस्वद्भ्यः स्वाहा ॥३५॥

१. राष्ट्र में राजा व सभ्य चुने जाते हैं। चुने जाने के कारण इनका नाम 'वरुण' है (व्रियन्ते)। इनमें सर्वप्रथम राजा का उल्लेख करते हैं कि—हे **निर्ऋते**=('तिग्मतेजा वा निर्ऋतिः' श० ७।८।१।१०) तीव्र तेजवाले राजन्! **एषः**=यह राष्ट्र, यह देश **ते**=तेरा **भागः** (भज्यते सेव्यते कर्मणि घञ्)=सेवनीय है, तूने इस देश की सेवा करनी है। **तं जुषस्व**=तू उस देश की प्रीतिपूर्वक सेवा कर। पूर्ण उत्साह से राष्ट्र की सेवा में प्रवृत्त हो। **स्वाहा**=तू इस राष्ट्र की सेवा के लिए स्वार्थ का त्याग करनेवाला हो। २. इस राजा के पूर्वभाग में वे सभ्य बैठे हैं जो **अग्निनेत्रेभ्यः**=राष्ट्र को उन्नत करने के दृष्टिकोणवाले हैं, जिनका कार्य सदा राष्ट्र की उन्नति के विषय में सोचनामात्र है, जो सदा उन्नति की योजनाएँ (plannings) बनाते रहते हैं। इन **पुरःसद्भ्यः**=पूर्वभाग में बैठनेवालों **देवेभ्यः**=देदीप्यमान मस्तिष्कवालों के लिए **स्वाहा**=हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। ३. अब **यमनेत्रेभ्यः**=नियन्त्रण के दृष्टिकोणवाले—राष्ट्र में व्यवस्था स्थापित करनेवाले (होम-मिनिस्ट्री के सदस्यों के लिए) **देवेभ्यः**=अनियन्त्रण पर विजय पानेवाले विद्वानों के लिए **दक्षिणा सद्भ्यः**=राजा के दक्षिण पार्श्व में स्थित देवों के लिए **स्वाहा**=हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। अग्निनेत्र देवों ने आगे और आगे ले-चलना है, अतः अग्रगति की प्रतीक 'प्राची' दिशा उनका स्थान है और नियन्त्रण के द्वारा कार्यकुशलता में वृद्धि करनेवाले देवों की दिशा 'दक्षिण' है—यही दिशा दाक्षिण्य व कुशलता का प्रतीक है। ४. **विश्वदेवनेत्रेभ्यः**=सब दिव्य गुणों के विकास के दृष्टिकोणवाले **पश्चात् सद्भ्यः**=पश्चिम में स्थित होनेवाले, क्योंकि यही दिशा प्रत्याहार=(फिर से वापस लाने) की प्रतीक है **देवेभ्यः**=देवों के लिए **स्वाहा**=हम शुभ शब्द बोलते हैं। पश्चिम दिशा 'प्रतीची' कहलाती है। इसमें सूर्यकिरणें 'प्रति अञ्च्' वापस आती हैं। इसी प्रकार इसमें स्थित देवों का कार्य प्रजाओं को विषयों से व्यावृत्त करना है। विषयों से वापस लाकर ही तो ये उन्हें दिव्य गुणोंवाला बनाएँगे। इसी दृष्टिकोण से ये विश्वदेवनेत्र हैं—अर्थात् राष्ट्र में प्रत्येक व्यक्ति को ज्ञानी बनाने के दृष्टिकोणवाले हैं। ५. **उत्तरासद्भ्यः**=उन्नति की प्रतीकभूत उत्तर दिशा में बैठनेवाले **मित्रावरुणनेत्रेभ्यः**=प्राणापान की वृद्धि के दृष्टिकोणवाले अथवा स्नेहवर्धन व द्वेष-निवारण के दृष्टिकोणवाले **देवेभ्यः**=देवों के लिए अथवा **मरुन्नेत्रेभ्यः**=सब प्राण-भेदों के वर्धन के दृष्टिकोणवाले देवों के लिए **स्वाहा**=हम शुभ शब्द कहते हैं। प्राणों की शक्ति की वृद्धि ही सब उन्नतियों का मूल है। ६. अन्त में **सोमनेत्रेभ्यः**=सौम्यता ही जिनका दृष्टिकोण है उन **उपरिसद्भ्यः**=जो राजा के भी ऊपर हैं (जैसे रामचन्द्र के ऊपर वसिष्ठ थे), जिनकी बात राजा भी आज्ञावत् मानता है, उन **दुवस्वद्भ्यः**=प्रभु परिचर्यारत **देवेभ्यः**=विद्वानों के लिए **स्वाहा**=हम प्रशंसा के शब्द बोलते हैं। इन्हीं के लिए ४० वें मन्त्र में इस प्रकार के शब्द कहे जाएँगे कि **'एष वो अमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा'** अर्थात् **अमी**=हे प्रजाओ। **वः**=आपका **एषः**=यह **राजा**=राजा है, परन्तु **अस्माकम्**=हम (ब्रह्मणि स्थितानाम्) सदा ब्रह्म में स्थित होनेवालों का तो **सोमः**=परमात्मा ही **राजा**=राजा व शासक है। एवं, ये प्रभु परिचर्यारत 'दुवस्वत्' लोग 'उपरिसद्' हैं, राजा से भी ऊपर हैं।

भावार्थ—राजा राष्ट्र का सबसे बड़ा सेवक है। उसके मन्त्रीवर्ग क्रमशः राष्ट्र की उन्नति, नियन्त्रण, दिव्य गुणवृद्धि, ज्ञान का विस्तार व प्राणशक्ति की वृद्धि करने में लगे हैं। कुछ लोग वे भी हैं जिनका कार्य यह है कि इन सब अधिकारियों को सौम्य बनाये रहें।

ऋषिः—वरुणः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—विकृतिः। स्वरः—मध्यमः॥

राष्ट्र सञ्चालक देव

ये देवाऽअग्निनेत्राः पुरःसदस्तेभ्यः स्वाहा ये देवा यमनेत्रा दक्षिणासदस्तेभ्यः स्वाहा ये देवा विश्वदेवनेत्राः पश्चात्सदस्तेभ्यः स्वाहा ये देवा मित्रावरुणनेत्रा वा मरुन्नेत्रा वोत्तरासदस्तेभ्यः स्वाहा ये देवाः सोमनेत्राऽउपरिसदो दुवस्वन्तस्तेभ्यः स्वाहा ॥३६॥

१. **ये देवाः**=जो राष्ट्र के व्यवहार के चलानेवाले मन्त्री **अग्निनेत्राः**=राष्ट्र को आगे और आगे ले-चलने के दृष्टिकोणवाले हैं, **पुरःसदः**=जो राजा के पूर्व की दिशा में स्थित होते हैं **तेभ्यः**=उनके लिए **स्वाहा**=हम उत्तम शब्द कहते हैं अथवा हम (स्व+हा=) अपने कर-भाग को देते हैं। इसी कर द्वारा प्राप्त आय से ही तो ये राष्ट्रोन्नति की सब योजनाएँ बना सकेंगे। एवं, स्पष्ट है कि राजा ने सबसे पूर्व योजना-मन्त्रियों (Planning Commission) की स्थापना करनी है। 'प्राची' (पूर्व) में इनका स्थान इसलिए है कि यह दिशा 'प्र-अञ्च=आगे बढ़ने का संकेत करती है और इन्हें सदा अपने कार्य का स्मरण कराती है। २. **ये देवाः**=जो देव **यमनेत्राः**=राष्ट्र में नियन्त्रण-स्थापना की दृष्टिवाले हैं **दक्षिणासदः**=दक्षिण दिशा में जिनका स्थान है **तेभ्यः स्वाहा**=उनके लिए भी हम **स्वाहा**=शुभ बोलते हुए अपने नियत कर-भाग को देते हैं। ये मन्त्री व कार्यसचिव राष्ट्र को सुव्यवस्थित करते हुए लोगों की कार्यकुशलता व दाक्षिण्य को बढ़ाते हैं। 'दक्षिण' दिशा इन्हें अपने कार्य का स्मरण कराती रहती है। ३. **ये देवाः**=जो राष्ट्र को ज्ञान की ज्योति से दीप्त करनेवाले **विश्वदेवनेत्राः**=सभी को ज्ञानी व दिव्य गुणोंवाले बनाने के दृष्टिकोणवाले हैं और **पश्चात् सदः**=पश्चिम की ओर बैठे हैं, जिन्हें यह प्रतीची (पश्चिम) दिशा (प्रति-अञ्च्) विषय-व्यावृत्त होने का संकेत दे रही है, **तेभ्यः**=उन देवों के लिए **स्वाहा**= शुभ शब्द बोलते हुए हम अपना कर-भाग देते हैं। ४. **ये देवाः** =जो देव राष्ट्र में सब रोगों को जीतने की कामनावाले हैं (दिव् विजिगीषा) अतएव **मित्रावरुणनेत्राः**=प्राणापान की वृद्धि के दृष्टिकोणवाले हैं अथवा मित्रता व द्वेष-निवारण के दृष्टिकोणवाले हैं **वा**=अथवा **मरुत् नेत्राः**=सब प्राणशक्तियों को बढ़ाने के दृष्टिकोण को अपनाये हुए हैं और **उत्तरासदः**=उत्तर दिशा में स्थित हुए सदा स्मरण करते हैं कि हमें राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को नीरोग बनाते हुए ऊपर और ऊपर उठने की क्षमतावाला बनाना है, **तेभ्यः स्वाहा**=उनके लिए हम शुभ शब्द बोलते हैं और अपना कर-भाग देते हैं। ५. **ये देवाः**=जो देवता-'दैवी सम्पत्ति' को प्राप्त व्यक्ति **सोमनेत्राः**=सौम्यता के दृष्टिकोणवाले हैं, निरभिमानता को प्रचरित करनेवाले हैं, **उपरिसदः**=राजशासन से भी ऊपर हैं, जिनका शासन प्रभु द्वारा ही हो रहा है **दुवस्वन्तः**=जो बहुत प्रकार के धर्म के सेवन से युक्त हैं, **तेभ्यः**=उन जितेन्द्रिय देवों के लिए भी **स्वाहा**=हम शुभ शब्द बोलते हैं और अपना कर-भाग देते हैं। ६. इन उल्लिखित पाँचों सचिवों की सलाह के अनुसार राजा ने राष्ट्र में कार्यों को करना है। इन देवों से प्रेरणा प्राप्त करने से राजा 'देववात' कहलाता है।

भावार्थ—राष्ट्र में राजा ने मन्त्रियों के मन्त्र के अनुसार ही कार्य करना है। राजा स्वच्छन्द नहीं है। सब मन्त्रिवर्ग भी ब्रह्मनिष्ठ लोगों के उपदेशों से सदा सौम्य व निरभिमान बने रहते हैं।

ऋषिः—देववातः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

अग्नि

अग्ने सहस्व पृतनाऽअभिमातीरपास्य। दुष्टरस्तरन्नरातीर्वर्चो धा यज्ञवाहसि॥३७॥

प्रस्तुत मन्त्र में राजा के मुख्य कार्य का प्रतिपादन इन शब्दों में करते हैं कि १. **अग्ने**=हे राष्ट्र को सब दृष्टिकोणों से उन्नत करनेवाले राजन्! **पृतनाः**=(पृङ् व्यायामे, तनु विस्तारे) व्यायाम के द्वारा शक्तियों को विस्तृत करनेवाले लोगों को ही **सहस्व**=सहो, अर्थात् ('षह् मर्षणे'=show mercy) उन्हीं पर आपकी दया हो, अर्थात् राष्ट्र में अकर्मण्य लोगों के लिए स्थान न हो। राष्ट्र में सभी व्यक्ति कार्यों में लगे हों। २. **अभिमातीः**=अभिमान से भरे लोगों को, अर्थात् अन्याय मार्गों से अर्जित धन के गर्व में सब कार्य नौकरों से करानेवाले, स्वयं अभिमान के मद में चूर होने के कारण आराम का जीवन बितानेवाले लोगों को **अपास्य**=राष्ट्र से दूर (अप) अस्य=फेंक दे। अकर्मण्य धनियों का राष्ट्र में स्थान न हो। ३. **दुष्टरः**=हे सब विघ्नों व बुराइयों को तैर जानेवाले राजन्! **अरातीः**=(अ=न रातिः=देना) राष्ट्र के लिए उचित कर आदि न देनेवाले लोगों को—**तरन्**=(subdue, destroy, become master of) अभिभूत करते हुए, आप ४. **यज्ञवाहसि**=कर आदि को ठीक प्रकार से देने के द्वारा (यज्=दान) राष्ट्र-यज्ञ के चलाने में सहायक लोगों में **वर्चः**=तेजस्विता को **धाः**=स्थापित कर, अर्थात् राष्ट्र में शक्ति उन लोगों के हाथ में हो जो क्रियाशील हैं, अभिमानरहित हैं और सदा अपने देयभाग को देनेवाले हैं। ऐसा होने पर ही राष्ट्र की उन्नति होगी और राजा भी अपने 'अग्नि' नाम को सार्थक कर पाएगा।

भावार्थ—१. राष्ट्र में क्रियाशील लोगों को ही सहन किया जाए। २. अभिमान में चूर, अन्यायार्जित धन से धनी लोगों को राष्ट्र से निर्वासित कर दिया जाए (अपास्य) तथा ३. उचित कर आदि को न देनेवालों को अभिभूत किया जाए। ४. यज्ञशील लोगों की ही शक्ति को बढ़ाया जाए। धार्मिकों का ही राष्ट्र में प्रभुत्व हो, अधार्मिकों का नहीं।

ऋषिः—देववातः। देवता—रक्षोघ्नः। छन्दः—भुरिग्ब्राह्मीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

रक्षो-वध

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्।
उपांशोर्वीर्येण जुहोमि हतꣳरक्षः स्वाहा रक्षसां त्वा
वधायावधिष्म रक्षोऽवधिष्मामुमसौ हतः॥३८॥

पुरोहित राज्याभिषेक के समय राजा से कहता है कि १. **त्वा**=तुझे **सवितुः देवस्य**= उस सर्वप्रेरक प्रभु की **प्रसवे**=प्रेरणा में, अर्थात् प्रभु से वेद में उपदिष्ट राजकर्त्तव्यों को पूरा करने के लिए **जुहोमि**=यह सिंहासन देता हूँ। तूने इस गद्दी पर बैठकर वेदानुकूल ही शासन करना है। २. **अश्विनोः बाहुभ्याम्**=प्राणापान के (बाहृ प्रयत्ने) प्रयत्न के हेतु से **जुहोमि**= यह सिंहासन देता हूँ। तूने इस सिंहासन पर बैठकर अपनी प्राणशक्ति के अनुसार पूर्ण प्रयत्न से राष्ट्रोन्नति के कार्यों में लगना है। ३. **पूष्णः हस्ताभ्याम्**=पूषा के हाथों के हेतु से **जुहोमि**=तुझे यह सिंहासन सौंपता हूँ। तूने इस गद्दी पर बैठकर अपने हाथों से इस प्रकार के ही कार्य करने हैं जिनसे राष्ट्र का अधिकाधिक पोषण हो। ४. **उपांशोः**=(उपांशुः silence) मौन की **वीर्येण**=शक्ति के हेतु से **जुहोमि**=तुझे यह सिंहासन सौंपता हूँ। राजा व राष्ट्रपति को बहुत बोलनेवाला नहीं होना चाहिए। बोले कम, करे अधिक। ५. तू राष्ट्र-व्यवस्था को

इस प्रकार सुन्दरता से चलानेवाला बन कि **रक्षः**=अपने रमण के लिए औरों का क्षय करनेवाले लोग **हतम्**=नष्ट कर दिये जाएँ। **स्वाहा**=तू इस कार्य के लिए अपनी आहुति देनेवाला हो। **त्वा**=तुझे **रक्षसाम्**=राक्षसी वृत्तिवाले लोगों के **वधाय**=वध के लिए ही इस गद्दी पर बिठाया है। ६. तेरे मुख से तो हमें यही सुनने को मिले कि **अवधिष्म रक्षः**=राक्षस का वध कर दिया गया, **अवधिष्म अमुम्**=उसको मार डाला, **असौ हतः**=अमुक राक्षस मारा गया। आपस्तम्ब ऋषि के **'प्रजापालनदण्डयुद्धानि'** ये शब्द यही कह रहे हैं कि राजा प्रजा की रक्षा करे। प्रजा की रक्षा के लिए राज्य के अन्तर्गत राक्षसों को दण्ड दे और बाह्य राक्षसों से युद्ध करे।

भावार्थ—राजा का मौलिक कर्त्तव्य 'रक्षो-वध' है। राक्षस वे हैं जो अपने रमण के लिए औरों का क्षय करें।

ऋषिः—देववातः। **देवता**—रक्षोघ्नः। **छन्दः**—अतिजगती। **स्वरः**—निषादः॥

देवों का प्रेरण

स॒वि॒ता त्वा॑ स॒वाना॑ᳬसुवताम॒ग्निर्गृ॒हप॑तीना॒ᳬसोमो॒ वन॒स्पती॑नाम्। बृह॒स्पति॒र्वा॒चऽइन्द्रो॒ ज्यैष्ठ्या॑य रु॒द्रः प॒शुभ्यो॑ मि॒त्रः स॒त्यो वरु॑णो॒ धर्म॑पतीनाम् ॥३९॥

१. हे राजन्! **सविता**=सबको कर्मों में प्रेरणा देनेवाला यह सूर्य **त्वा**=तुझे **सवानाम्**=यज्ञों के, उत्तमोत्तम कर्मों के लिए **सुवताम्**=प्रेरित करे। जैसे सूर्य स्वयं सब दुर्गन्ध को समाप्त करके प्राणशक्ति का प्रसार कर रहा है, एवं राजा को भी सब बुराइयों को समाप्त करके उत्तम कर्मों को प्रचारित करना है। २. **अग्निः**=अग्नि देवता **गृहपतीनाम्**=गृहपतियों के आधिपत्य में **त्वा**=तुझे **सुवताम्**=प्रेरित करे। जैसे अग्नि के बिना घर के कार्य नहीं चल पाते इसी प्रकार तू भी राज्य के लिए अपरिहार्य हो जाए। अथवा गृहपतियों में तू अग्नि के समान हो। तू इस राष्ट्ररूप गृह का उत्तम पति बन। ३. **वनस्पतीनां सोमः** =जैसे वनस्पतियों में 'सोम' श्रेष्ठ है, इसी प्रकार तू **वनस्पतीनाम्**=(वनसु=उपासना) उपासकों में श्रेष्ठ बन। ४. **वाचः**=वाणी के दृष्टिकोण से तू **बृहस्पतिः**=देवगुरु बृहस्पति के समान हो। ५. तू **ज्यैष्ठ्याय**=ज्येष्ठता के लिए **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय बन। ६. **पशुभ्यः**=ज्ञानरहित होने के कारण जो केवल (पश्यन्ति) देखते हैं, विचारते नहीं, उनके लिए **रुद्रः**=तू ज्ञान देनेवाला हो। सारे राष्ट्र में ज्ञान का प्रसार कर। ७. **मित्रः**=तू सबके साथ स्नेह करनेवाला तथा सभी को पापों से बचानेवाला (प्रमीतेः त्रायते) हो। ८. **सत्यः**=तू (सत्सु भवः) सदा सज्जनों के सङ्गवाला हो। रद्दी लोग—'अघशंस' लोग—खुशामद आदि के द्वारा तेरे कृपापात्र न बन जाएँ। तू सदा ऐसे खुशामदियों से ही घिरा न रहे। ९. **धर्मपतीनाम्**=धर्म के रक्षकों में तू **वरुणः**=वरुण के समान हो। (क) 'वरुण' द्वेष का निवारण करनेवाला है। राजा ने भी प्रजा की द्वेष-भावना को दूर करना है। (ख) वरुण 'पाशी' है—ये अनृत बोलनेवालों को पाशों में जकड़ देता हैं। राजा ने भी उचित दण्ड-व्यवस्था से पापों को विनष्ट करना है।

भावार्थ—राजा को मन्त्रवर्णित अपने कर्त्तव्यों का पालन करना है। उसे देवों से प्रेरणा प्राप्त करके उत्तमोत्तम व्यवस्थाओं के द्वारा राष्ट्रोन्नति को सिद्ध करना है।

ऋषिः—देववातः। **देवता**—यजमानः। **छन्दः**—स्वराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

चुनाव

इ॒मं दे॑वाऽअसप॒त्नᳬसु॑वध्वं मह॒ते क्ष॒त्राय॑ मह॒ते ज्यैष्ठ्या॑य मह॒ते जान॑राज्या॒येन्द्र॑स्येन्द्रि॒याय॑। इ॒मम॒मुष्य॑ पु॒त्रम॒मुष्यै॑ पु॒त्रम॒स्यै वि॒शऽए॒ष वो॑ऽमी राजा॒ सोमो॒ऽस्माकं॑ ब्राह्मणाना॒ᳬराजा॑ ॥४०॥

पुरोहित चुनाव के समय एकत्र विद्वानों से कहता है कि १. हे **देवाः**=ज्ञान से दीप्त प्रजा के प्रतिनिधियो! **इमम्**=इस निर्दिश्यमान व्यक्ति को **असपत्नम्**=ऐकमत्य से, बिना किसी सपत्न rival के **सुवध्वम्**=चुनो। ऐकमत्य से चुना गया राजा ही सारी प्रजा की शक्ति को अपने में केन्द्रित कर पाता है। वही कुछ कार्य कर पाएगा। २. इसे चुनो **महते क्षत्राय**=क्षतों से त्राणरूप महान् कार्य के लिए। यह राजा राष्ट्र को सब प्रकार के आघातों से बचाएगा। ३. **महते ज्यैष्ठ्याय**=महान् बड़प्पन के लिए। यह राजा राष्ट्र को संसार में उच्च स्थान प्राप्त कराएगा। ४. **महते जानराज्याय**=महान् जनराज्य के लिए। यह राजा जनहित के दृष्टिकोण से ही राज्य करेगा। ५. **इन्द्रस्य इन्द्रियाय**=इन्द्र के वीर्य के लिए। इस राजा ने स्वयं जितेन्द्रिय बनकर शक्ति का सम्पादन किया है। यह राष्ट्र में ऐसा ही वातावरण उत्पन्न करने का ध्यान करेगा कि लोग जितेन्द्रिय बनकर शक्तिशाली बनें। एवं, यह राजा आपसे चुना जाकर (क) राष्ट्र को आघातों से बचाएगा। (ख) ज्येष्ठता प्राप्त कराएगा। (ग) शासन में लोकहित के दृष्टिकोण को अपनाएगा। (घ) और यह प्रयत्न करेगा कि लोग जितेन्द्रिय बनकर शक्तिशाली बनें। ६. अतः आप सब **इमम्**=इसे (इस नामवाले को) **अमुष्यपुत्रम्**=अमुक पिता के पुत्र को **अमुष्यै पुत्रम्**=अमुक माता के पुत्र को **अस्यै विशे**=इस प्रजा के हित के लिए चुनो। ७. **एषः**=आपसे चुना जाकर **अमी**=हे प्रजाओ! यह **वः**=आपका **राजा**=राजा है। आपने इसके आदेशों के अनुसार चलना है। **अस्माकं ब्राह्मणानाम्**=हम ब्राह्मणों का **राजा**=नियन्ता तो **सोमः**=वह सर्वज्ञ शान्त प्रभु ही है। राजा इन ब्रह्मनिष्ठ लोगों के निर्देशानुसार शासन करने का प्रयत्न करता है।

भावार्थ—राजा का चुनाव सर्वसम्मति से हो तो अच्छा है। वह राष्ट्र को आघातों से बचाये, ज्येष्ठ बनाये, लोकहित के दृष्टिकोण से राज्य करे और प्रयत्न करे कि लोग इन्द्रियों के दास न होकर शक्ति-सम्पन्न बनें। ब्रह्मनिष्ठ व्यक्तियों के कथनानुसार चलें।

॥ इति नवमोऽध्यायः सम्पूर्णः॥

दशमोऽध्यायः

ऋषिः—वरुणः। देवता—आपः। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

राजा व प्रजा

अपो देवा मधुमतीरगृभ्णन्नूर्जस्वती राजस्वश्चितानाः।
याभिर्मित्रावरुणावभ्यषिञ्चन् याभिरिन्द्रमनयन्नत्यरातीः॥१॥

इस अध्याय के प्रथम सतरह मन्त्रों का ऋषि 'वरुण' है। 'वरुण' के दो अर्थ हैं (क) जो चुनते हैं, और (ख) जो चुना जाता है। जब चुनाव का समय आता है उस समय **देवाः**=चुनाव में जीतने की कामनावाले (दिव्=विजिगीषा) उम्मीदवार (candidates) **अपः**=प्रजाओं को **अगृभ्णन्**=इकट्ठा करते हैं, उनकी सभा बुलाते हैं, जिससे प्रजाएँ उम्मीदवार के भाषण से उसकी योग्यता व अयोग्यता का आभास ले-सकें। ये प्रजाएँ १. **मधुमतीः**=माधुर्यवाली हैं। इन प्रजाओं के अन्दर कटुता नहीं है। वोट देनेवालों में द्वेषादि के भाव कार्य न करते हों। यदि वे द्वेषादि से प्रेरित होकर चुनाव में भाग लेंगे तो चुनाव ग़लत ही होगा। २. **उर्जस्वतीः**=ये बल और प्राणशक्तिवाली हैं। बीमार व्यक्ति स्वस्थ मन से कार्य नहीं कर सकता। ३. **राजस्वः**=ये राजा को जन्म देनेवाली हैं। इन्हें यह समझ है कि हमें शासन के लिए अपने में से ही एक व्यक्ति को राजा चुनना है। राजा ने कहीं बाहर से नहीं आना। ४. **चितानाः**=ये प्रजाएँ चेतना-संज्ञानवाली हैं, सामान्यतः अपना हिताहित समझती हैं। ५. ये प्रजाएँ वे हैं **याभिः**=जिनसे **मित्रावरुणौ**=मित्र और वरुण का **अभ्यषिञ्चन्**=अभिषेक होता है, अर्थात् उस व्यक्ति को शासनाधिकार सौंपा जाता है जो सबके साथ स्नेह करनेवाला है और द्वेष के निवारण के लिए प्रयत्नशील होता है। प्रजाएँ जिसका चुनाव करें उसकी प्रथम विशेषता यही होनी चाहिए कि यह स्नेह की वृद्धि व द्वेष के दूरीकरण के लिए प्रयत्नशील हो। ६. ये प्रजाएँ वे हैं **याभिः**=जो **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय-विषयों में अनासक्त राजा को **अरातीः**=शत्रुओं के **अतिअनयन्**=पार ले-जाती हैं। जब प्रजाएँ राजा के साथ होती हैं तो राजा के पराजय की आशंका नहीं होती।

भावार्थ—चुनाव की अधिकारिणी प्रजा वह है जो माधुर्यवाली, शक्तिशाली, समझदार, अर्थात् हिताहित को समझनेवाली है तथा राजा बनने के योग्य वह है जो स्नेह, निर्द्वेषता व जितेन्द्रियता से युक्त है।

ऋषिः—वरुणः। देवता—वृषा। छन्दः—स्वराड्ब्राह्मीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

ये+अमुष्मै

वृष्णऽऊर्मिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा वृष्णऽऊर्मिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि वृषसेनोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा वृषसेनोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि॥२॥

प्रस्तुत मन्त्र में पुरोहित प्रजा से कह रहा है कि तुम राष्ट्र को पहले मुझे सौंपो और फिर इस राजा को। राष्ट्र को अविद्वान् के हाथों में नहीं सौंपना है, उसे ब्राह्मण तथा

क्षत्रिय दोनों के हाथों में सौंपना ही ठीक है। १. हे प्रजे! तू **वृष्णः**=अग्नि व सोम का (शक्ति व शान्ति का) **ऊर्मिः**=(ऊर्णुञ् आच्छादने) अपने अन्दर आच्छादन करनेवाली है, **राष्ट्रदाः**=राष्ट्र को देनेवाली है। प्रजा ही तो राष्ट्र को बनाती है। यह इस राष्ट्र को कुछ व्यक्तियों के हाथ में सौंपती है। पुरोहित कह रहा है कि **राष्ट्रम्**=इस राष्ट्र को **मे देहि**=तुम मुझे सौंपो। **स्वाहा**=और स्व का हा=त्याग करो, अर्थात् उचित कर देनेवाली बनो। **वृष्णः ऊर्मिः असि**=हे प्रजे! तू अग्नि व सोम की आच्छादिका है, **राष्ट्रदाः**=राष्ट्र को देनेवाली है। **राष्ट्रम्**=राष्ट्र को **अमुष्मै**=उस सभापतिरूप से चुने गये राज्याभिषिक्त व्यक्ति के लिए **देहि**=सौंप। २. यह राष्ट्र का पुरुषवर्ग **वृषसेनः असि**=शक्तिशाली सेनावाला है। राष्ट्र के नवयुवकों में से ही तो शक्तिशाली सेना का निर्माण होना है। हे वृषसेन! तू **राष्ट्रदाः**=राष्ट्र को देनेवाला है। बिना सेना के भी राष्ट्र का निर्माण नहीं हो पाता। **राष्ट्रम्**=राष्ट्र को **मे**=मुझ पुरोहित के लिए **देहि**=तू सौंप और **स्वाहा**=स्वार्थ का त्याग करके राष्ट्र को शक्तिशाली बना। हे पुरुषवर्ग! तू **वृषसेनः असि**=शक्तिशाली सेनावाला है। **राष्ट्रदाः**=राष्ट्र को देनेवाला है। **राष्ट्रम्**=राष्ट्र को **अमुष्मै**=अमुक राज्याभिषिक्त पुरुष के लिए **देहि**=सौंप। ३. विधेय '**प्रजा**' शब्द के स्त्रीलिंग होते हुए भी 'वृषसेनः' यह पुल्लिंग का प्रयोग इसलिए है कि सेना पुरुषों में से ही एकत्र होनी है।

भावार्थ—प्रजा अपने में वृषन्, अर्थात् अग्नि व सोम दोनों तत्त्वों को रक्खे हुए है। प्रजा में उत्साह भी चाहिए, शान्ति भी। प्रजा को ही अपने में से सेना को जुटाना है। यह प्रजा राष्ट्र को पुरोहित तथा सभापति के हाथों में सौंपती है।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—अपांपतिः। **छन्दः**—अभिकृतिः[क], निचृज्जगती[र]। **स्वरः**—ऋषभः[क], निषादः[र]॥

ब्रह्म+क्षत्र

[क]अ॒र्थेत॑ स्थ राष्ट्र॒दा रा॒ष्ट्रं मे॑ दत्त॒ स्वाहा॒र्थेत॑ स्थ राष्ट्र॒दा रा॒ष्ट्रम॒मुष्मै॑ द॒त्तौज॑स्वती स्थ राष्ट्र॒दा रा॒ष्ट्रं मे॑ दत्त॒ स्वाहौज॑स्वती स्थ राष्ट्र॒दा रा॒ष्ट्रम॒मुष्मै॑ द॒त्तापः॑ परिवा॒हिणी॑ स्थ राष्ट्र॒दा रा॒ष्ट्रं मे॑ दत्त॒ स्वाहा॒पः॑ परिवा॒हिणी॑ स्थ राष्ट्र॒दा रा॒ष्ट्रम॒मुष्मै॑ दत्ता॒पां पति॑रसि राष्ट्र॒दा रा॒ष्ट्रं मे॑ [र]देहि॒ स्वाहा॒ऽपां पति॑रसि राष्ट्र॒दा रा॒ष्ट्रम॒मुष्मै॑ देह्य॒पां गर्भो॑ऽसि राष्ट्र॒दा रा॒ष्ट्रं मे॑ देहि॒ स्वाहा॒ऽपां गर्भो॑ऽसि राष्ट्र॒दा रा॒ष्ट्रम॒मुष्मै॑ देहि ॥३॥

१. हे प्रजाजनो! तुम **अर्थेतः (अर्थं यन्ति) स्थ**=धन को कमानेवाले हो। **राष्ट्रदाः**=राष्ट्र के देनेवाले हो। **राष्ट्रम्**=राष्ट्र को **मे दत्त**=मुझे (पुरोहित को) सौंपो। **स्वाहा**=अपने उचित कर भाग के त्याग करनेवाले बनो। तुम **अर्थेतः स्थ**=धन कमानेवाले हो, **राष्ट्रदाः**=राष्ट्र के देनेवाले हो। **राष्ट्रं अमुष्मै दत्त**=राष्ट्र को अमुक चुने गये सभापति के लिए सौंपो। २. **ओजस्वतीः स्थ**=हे प्रजाओ! तुम शक्ति व प्रकाश-(vigour, light)-वाली हो। **राष्ट्रदाः**=राष्ट्र के देनेवाली हो। **राष्ट्रं मे दत्त**=राष्ट्र को मुझ पुरोहित के लिए सौंपो। तुम **स्वाहा**=उचित कर देनेवाली हो। **ओजस्वतीः स्थ**=तुम शक्ति व प्रकाशवाली हो। **राष्ट्रदाः**=राष्ट्र के देनेवाली हो। **राष्ट्रं अमुष्मै दत्त**=राष्ट्र को अमुक चुने गये राज्याभिषिक्त पुरुष के लिए सौंपो। ३. **आपः परिवाहिणीः स्थ**=(आप्लृ व्याप्तौ) सदा कर्मों में व्याप्त होनेवाली तथा (परितः वहन्ति) एक स्थान से दूसरे स्थान पर व्यापार के पदार्थों को ले-जानेवाली हो। **राष्ट्रदाः**=अपने व्यापार से उचित धनवृद्धि करती हुई तुम राष्ट्र को कर-भाग देनेवाली हो। **राष्ट्रं मे**

दत्त=राष्ट्र को मुझ पुरोहित के लिए दो। **स्वाहा**=उचित कर देनेवाली हो। तुम **आपः परिवाहिणीः स्थ**=व्यापक कर्मोंवाली तथा एक स्थान से दूसरे स्थान पर पदार्थों को ले-जानेवाली हो, **राष्ट्रदाः**=राष्ट्र को देनेवाली हो। **राष्ट्रं अमुष्मै दत्त**=राष्ट्र को अमुक पुरुष के लिए दो। ४. राष्ट्र का एक-एक पुरुष **अपांपतिः असि**=(आपः=रेतांसि) वीर्यशक्ति का रक्षक है, **राष्ट्रदाः**=राष्ट्र को देनेवाला है। **राष्ट्रं मे देहि**=तू राष्ट्र को मुझ पुरोहित के लिए सौंप और **स्वाहाः**=उचित धन का कर के रूप में त्याग कर। **अपांपतिः असि**=तू अपनी शक्तियों का रक्षक है, **राष्ट्रदाः**=राष्ट्र को देनेवाला है। **राष्ट्रम् अमुष्मै देहि**=राष्ट्र को उस राज्याभिषिक्त पुरुष के लिए दे। ५. **अपां गर्भः असि**=(गर्भ=full of) तू शक्तियों से परिपूर्ण है। तू ही **राष्ट्रदाः**=वास्तविक राष्ट्र को देनेवाला है। **राष्ट्रं मे देहि**=राष्ट्र को मुझे दे, और **स्वाहा**=उसके लिए उचित त्याग करनेवाला बन। **अपां गर्भः असि**=तू शक्तियों से परिपूर्ण है। **राष्ट्रदा**=राष्ट्र को देनेवाला है। **राष्ट्रं अमुष्मै देहि**=राष्ट्र को अमुक पुरुष को देनेवाला बन। ६. ऊपर मन्त्र में '**अर्थेतः, ओजस्वतीः, आपः, परिवाहिणीः**' शब्द बहुवचनान्त हैं ,पर '**अपांपतिः** तथा **अपां गर्भः**' ये एकवचन रक्खे गये हैं, क्योंकि 'एक-एक व्यक्ति को शक्ति की रक्षा करनी है-शक्ति से परिपूर्ण बनना है' इस बात की ओर वैयक्तिक ध्यान खींचना आवश्यक था।

भावार्थ-प्रजाएँ १. धन कमानेवाली बनें। २. शक्ति व प्रकाश को धारण करें। ३. वीर्य की रक्षा करें। और ४. शक्ति से परिपूर्ण हों। ऐसी ही प्रजाएँ एक शक्तिशाली राष्ट्र का निर्माण करनेवाली होती हैं।

ऋषिः-वरुणः। **देवता**-सूर्यादयो मन्त्रोक्ताः। **छन्दः**-जगती[१], स्वराट्पङ्क्तिः[२], स्वराडब्राह्मीबृहती:[३,४], आर्चीपङ्क्तिः[५], भुरिक्त्रिष्टुप्[६,७]। **स्वरः**-निषादः[१], पञ्चमः[२,५], मध्यमः[३], धैवतः[६,७]॥

प्रजा

[१]सूर्यत्वचस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा सूर्यत्वचस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त सूर्यवर्चस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा [२]सूर्यवर्चस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त मान्दा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा मान्दा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त [३]व्रजक्षित स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा व्रजक्षित स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त वाशा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा वाशा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त [४]शविष्ठा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा शविष्ठा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त शक्वरी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा शक्वरी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त [५]जनभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा जनभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त [६]विश्वभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा विश्वभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तापः स्वराज स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त। [७]मधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्तां महि क्षत्रं क्षत्रियाय वन्वानाऽअनाधृष्टाः सीदत सहौजसो महि क्षत्रं क्षत्रियाय दधतीः॥४॥

गत मन्त्र के अनुसार प्रस्तुत मन्त्र में भी कहते हैं कि हे प्रजाओ! आप १. **सूर्यत्वचसः स्थ**=सूर्य के समान देदीप्यमान त्वचावाली हो। स्वास्थ्य की दीप्ति आपके सारे शरीर को दीप्त कर रही है। २. **सूर्यवर्चसः स्थ**=सूर्य के समान वर्चस्वाली आप हो। उपनिषद् में

कहते हैं कि **'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः'**—यह सूर्य प्रजाओं का प्राण ही है। आप भी उसी प्रकार प्राणशक्ति-सम्पन्न हो। ३. **मान्दाः स्थ**=सदा प्रसन्न रहनेवाली हो। ४. **व्रजक्षितः स्थः**=(व्रज गतौ) सदा गति में निवास करनेवाली हो—सदा क्रियाशील जीवनवाली हो अथवा (**व्रजान् गवादिस्थित्यर्थान् देशान् क्षियन्ति निवासयन्ति**—द०) गौ आदि पशुओं के स्थानों को बसानेवाले हो। ५. **वाशाः स्थ** (वाशृ शब्दे)=सदा शुभ शब्दों—वेदमन्त्रों का उच्चारण करनेवाले हो। ६. **शविष्ठाः स्थ**=अत्यन्त बल-सम्पन्न हो (शवस्=बल) ७. **शक्वरीःस्थ**=कार्यों को करने में शक्तिशाली हो। ८. अपनी इस क्रियाशीलता के द्वारा ही **जनभृतःस्थ**=सब लोगों का धारण करनेवाली हो। ९. लोगों का ही क्या, आप **विश्वभृतः स्थ**=सारे संसार का भरण व पोषण कर रही हो। आपके कार्य विश्व के कल्याण के उद्देश्य से प्रेरित होकर हो रहे हैं। इस प्रकार बनकर आप **राष्ट्रदाः**=एक सच्चे राष्ट्र को देनेवाली हो, **राष्ट्रं मे दत्त**=तुम राष्ट्र को मुझ पुरोहित के लिए दो। **स्वाहा**=कर के रूप में उचित धन का त्याग करनेवाली बनो तथा **राष्ट्रदाः**=राष्ट्र के देनेवाली तुम **अमुष्मै राष्ट्रं दत्त**=उस चुने गये राज्याभिषिक्त राजा के लिए राष्ट्र को दो। १०. आप **स्वराजः**=स्वयं अपना शासन करनेवाली **आपः**=सदा कर्मों में व्याप्त हो। **राष्ट्रदाः**=राष्ट्र को देनेवाली आप **राष्ट्रं अमुष्मै दत्त**=अमुक चुने गये सभापति के लिए राष्ट्र को दो। यहाँ इस अन्तिम वाक्य में केवल राजा के लिए राष्ट्र को सौंपने का विधान है। वस्तुतः शासन-भार राजा पर ही तो पड़ता है। पुरोहित राजा को मार्ग से विचलित न होने की प्रेरणा देता है। ११. **मधुमतीः**=माधुर्यवाली प्रजाएँ **मधुमतीभिः**=माधुर्यवाली प्रजाओं के साथ **पृच्यन्ताम्**=संपृक्त हों, अर्थात् प्रजाओं का परस्पर प्रेम हो, पारस्परिक प्रेम न होने पर राष्ट्र का बल क्षीण हो जाता है, अतः प्रजाएँ परस्पर मधुर व्यवहारवाली होती हुई **क्षत्रियाय**=राष्ट्र को आघातों से बचानेवाले राजा के लिए **महि क्षत्रम्**=महान् बल को **वन्वानाः**=संभक्त करानेवाली हों। राजा के बल को ये परस्पर एकता से रहती हुई ही बढ़ा सकती हैं। १२. पुरोहित इन प्रजाओं से कहता है कि **सह ओजसः**=एकता के बलवाली तुम **क्षत्रियाय**=राष्ट्र को आघातों से बचानेवाले राजा के लिए **महि क्षत्रं**=महनीय बल को **दधतीः**=धारण करती हुई तुम **अनाधृष्टाः**=किन्हीं भी शत्रुओं से धर्षित न होती हुई **सीदत**=इस राष्ट्र में विराजमान होओ।

भावार्थ—प्रजा शक्तिशाली व माधुर्य से पूर्ण हो, परस्पर मेल से राष्ट्र की शक्ति को बढ़ानेवाली हो। ऐसी स्थिति में ही यह शत्रुओं से अनाधृष्य होती है।

ऋषिः—वरुणः। देवता—अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः। छन्दः—स्वराड्धृतिः। स्वरः—ऋषभः॥

राजा

सोमस्य त्विषिरसि तवेव मे त्विषिर्भूयात्। अग्नये स्वाहा सोमाय स्वाहा सवित्रे स्वाहा सरस्वत्यै स्वाहा पूष्णे स्वाहा बृहस्पतये स्वाहेन्द्राय स्वाहा घोषाय स्वाहा श्लोकाय स्वाहाꣳशाय स्वाहा भगाय स्वाहार्यम्णे स्वाहा॥५॥

प्रजा राजा से कहती है कि १. **सोमस्य त्विषिः असि**=तू सोम की कान्तिवाला है। शरीर में सोम की रक्षा के द्वारा तू अद्भुत तेजस्विता को धारण किये हुए है। **मे**=मेरी **त्विषिः**=दीप्ति **तव इव**=तेरे समान **भूयात्**=हो। हम सब भी सोम की रक्षा के द्वारा कान्ति-सम्पन्न बनें। २. **अग्नये स्वाहा**=राष्ट्र को निरन्तर आगे ले-चलनेवाले तेरे लिए हम कररूप में धन

देते हैं। ३. **सोमाय**=सोम की रक्षा के द्वारा शक्ति के पुञ्ज, परन्तु फिर भी सौम्य आपके लिए हम **स्वाहा**=कररूप में धन देते हैं। ४. **सवित्रे स्वाहा**=राष्ट्र का ऐश्वर्य बढ़ानेवाले आपके लिए हम कर देते हैं। ५. **सरस्वत्यै स्वाहा**=राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षित करनेवाले आपके लिए हम कर देते हैं। ६. **पूष्णे स्वाहा**=एक-एक व्यक्ति का पोषण करनेवाले, किसी को भी भूखा न मरने देनेवाले आपके लिए हम कर देते हैं। ७. **बृहस्पतये स्वाहा**=सर्वोच्च दिशा के अधिपति और अतएव लोगों को भी उत्थान की ओर ले-चलनेवाले आपके लिए हम कर देते हैं। ८. **इन्द्राय स्वाहा**=जितेन्द्रिय के लिए और जितेन्द्रिय बनकर औरों को भी वश में करनेवाले आपके लिए हम कर देते हैं। ९. **घोषाय स्वाहा** =प्रातः वेदमन्त्रों का उच्चारण करनेवाले आपके लिए अथवा राष्ट्र में राष्ट्रीय नियमों की उद्घोषणा करवानेवाले आपके लिए हम कर देते हैं। १०. **श्लोकाय स्वाहा**=उत्तम कर्मों के कारण यशस्वी आपके लिए हम कर देते हैं। ११. **अंशाय स्वाहा**=राष्ट्र में धनों का ठीक विभाजन करनेवाले आपके लिए हम कर देते हैं। राजा को इस बात का बड़ा ध्यान करना है कि किसी एक व्यक्ति में अत्यधिक धन केन्द्रित न हो जाए, और कुछ लोग धनाभाव से भूखे न मरने लगें। उसके राष्ट्र में haves और have-nots के-अत्यधिक धनी व अतिनिर्धन के दो समाजखण्ड न बन जाएँ। १२. **भगाय स्वाहा**=उत्तम कर्मों का सेवन करनेवाले राजा के लिए हम कर देते हैं 'भज सेवायाम्'। १३. **अर्यम्णे स्वाहा**=(अरीन् यच्छति) शत्रुओं को वशीभूत करनेवाले राजा के लिए हम कर देते हैं। अथवा '**अर्यमा इति तमाहुर्यो ददाति**' इस वाक्य के अनुसार अर्यमा वह है जो देता है। 'भग' शब्द ऐश्वर्यवाचक है, अतः १२ व १३ का अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है कि हम उस राजा को कर देते हैं जो ख़ूब ऐश्वर्य को सिद्ध करनेवाला बनकर हम सब प्रजाओं के लिए ही उस धन का उचित विनियोग करे।

भावार्थ—राजा को अग्नि आदि के गुणों से सम्पन्न होकर उत्तमता से राष्ट्र की सुव्यवस्था करनी है।

ऋषिः—वरुणः। देवता—आपः। छन्दः—स्वराड्ब्राह्मीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

राष्ट्र के 'स्त्री-पुरुष'

पवित्रे स्थो वैष्णव्यौ सवितुर्वः प्रसवऽउत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः। अनिभृष्टमसि वाचो बन्धुस्तपोजाः सोमस्य दात्रमसि स्वाहा राजस्वः ॥६॥

राष्ट्र के स्त्री-पुरुषों को सम्बोधित करके पुरोहित कहता है कि १. **पवित्रे स्थः**=आप पवित्र जीवनवाले, **वैष्णव्यौ**=व्यापक मनोवृत्तिवाले हो। वस्तुतः इस व्यापक मनोवृत्ति का ही परिणाम है कि वे पवित्र हैं। व्यापकता में ही पवित्रता है, संकोच में अपवित्रता। २. **सवितुः**=उस प्रेरक प्रभु की **प्रसवे**=अनुज्ञा में **वः**=तुम्हें **उत् पुनामि**=विषयों से **उत्**=out=बाहर करता हुआ पवित्र करता हूँ। मैं वेद में दिये गये प्रभु के आदेशों के अनुसार व्यवस्था करता हुआ तुम्हारे जीवनों को उज्ज्वल करता हूँ। ३. **अच्छिद्रेण पवित्रेण**=छेदशून्य-कहीं भी खाली स्थान न रखनेवाली इस वायु से तथा **सूर्यस्य रश्मिभिः**=सूर्य-किरणों से मैं तुम्हें पवित्र करता हूँ, अर्थात् लोगों के रहने का प्रकार ऐसा हो कि उनके घरों में वायु का पर्याप्त आना-जाना हो और सूर्य-किरणों का ख़ूब प्रवेश हो। ऐसे ही घरों में नीरोगता

रहती है। ४. **अनिभृष्टम् असि**=(अनाधृष्टाः—उ०) तुम किसी भी प्रकार के रोगों से पराभूत नहीं होते हो। ५. **वाचो बन्धुः**=वाणी के तुम बन्धु हो। वेदवाणी को पढ़कर उसे अपने कार्यों में व्यक्त करनेवाले हो। इस प्रकार वेदवाणी को जीवन से बाँधनेवाले हो। ६. **तपोजाः**=तप के द्वारा तुम अपना प्रादुर्भाव—विकास करनेवाले हो। ७. **सोमस्य दात्रम् असि**=सोम की दराँतीवाले हो। शरीर में सुरक्षित सोम रोगों व द्वेषादि भावों को काटनेवाला होता है। ८. **स्वाहा**=तुम राष्ट्र के लिए **स्व**=अपने धन का **हा**=त्याग करनेवाले हो। ९. **राजस्वः**=तुम राजा को जन्म देनेवाली हो। वस्तुतः उल्लिखित गुणों से सम्पन्न प्रजाएँ ही राजा का ठीक चुनाव कर सकती हैं।

भावार्थ—राष्ट्र का प्रत्येक स्त्री-पुरुष पवित्र बनने का प्रयत्न करे।

ऋषिः—वरुणः। देवता—वरुणः। छन्दः—विराडार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

अपां शिशुः

सधमादो द्युम्निनीराप एता अनाधृष्टा अपस्यो वसानाः।
पस्त्यासु चक्रे वरुणः सधस्थमपाꣳ शिशुर्मातृतमास्वन्तः॥७॥

प्रजाओं का चित्रण करते हुए कहते हैं कि १. ये **सधमादः**=(सह मद्) साथ-मिलकर रहने में आनन्द लेनेवाली हैं। प्रजाओं में परस्पर प्रेम है—लड़ाई-झगड़ों में ये उलझी हुई नहीं हैं। २. **द्युम्निनीः**=ज्ञानरूप ज्योतिवाली हैं, मूर्ख नहीं हैं। ३. **आपः**=सदा कर्मों में व्याप्त रहनेवाली हैं। ४. इसी कारण **एताः**=ये प्रजाएँ **अनाधृष्टाः**=काम-क्रोधादि शत्रुओं से धर्षित होनेवाली नहीं हैं। ५. **अपस्यः**=(अपःसु कर्मसु साध्व्यः, जस्=सुः—द०) कर्मों में उत्तम हैं, अर्थात् सदा उत्तम कर्मों में व्यापृत रहती हैं। ६. **वसानाः**=अपने को आच्छादित करनेवाली हैं, दोषों से बचानेवाली हैं। ७. **पस्त्यासु**=घरों में रहनेवाली ऐसी प्रजाओं में **वरुणः**=प्रजाओं से वरण किया गया राजा **सधस्थं चक्रे**=(सह स्थ) उनके साथ मिलकर निवास करता है। यह प्रजाओं से दूर, उनके लिए असभिगम्य नहीं बन जाता। ८. **अपां शिशुः**=प्रजाओं का ही यह सन्तान है। प्रजाओं ने ही इसे जन्म दिया है। इसी कारण प्रजाएँ 'राजस्वः' कहलाती हैं। यह प्रजाओं का सन्तानभूत राजा **मातृतमासु अन्तः**=इन अत्यन्त उत्तम माताओं के अन्दर ही निवास करता है। राजा एक दृष्टिकोण से प्रजारूप मातावाला है। उन्हीं के गर्भ में इसका निवास है। प्रजाओं को माता इसलिए कहा है कि उन्हें राष्ट्र में सदा निर्माण के कार्यों में व्यापृत रहना चाहिए। **माता निर्माता**=निर्माण करनेवाली ही राष्ट्र की उत्तम माताएँ होती हैं।

भावार्थ—उत्तम प्रजाएँ वे ही हैं जो परस्पर मेलवाली, ज्ञान के प्रकाशवाली, कर्मों में व्यापृत, वासनाओं से अनाधृष्ट, कर्म-कुशल व दोषों से अपने को बचानेवाली हैं। इन्हीं प्रजाओं के अन्दर राजा का निवास है। राजा प्रजाओं की सन्तान है, प्रजाएँ राजा की उत्कृष्ट माताएँ हैं।

ऋषिः—वरुणः। देवता—यजमानः। छन्दः—कृतिः। स्वरः—निषादः॥

क्षत्र का उल्ब

क्षत्रस्योल्बमसि क्षत्रस्य जराय्वसि क्षत्रस्य योनिरसि क्षत्रस्य नाभिरसीन्द्रस्य वार्त्रघ्नमसि मित्रस्यासि वरुणस्यासि त्वयायं वृत्रं वधेत्। दृवासि रुजासि क्षुमासि। पातैनं प्राञ्चं पातैनं प्रत्यञ्चं पातैनं तिर्यञ्चं दिग्भ्यः पात॥८॥

राजा के लिए कहते हैं कि १. हे राजन्! तू **क्षत्रस्य उल्ब असि**='उल्ब' शब्द

गर्भाधारभूत उदक के लिए आता है, अतः तू क्षत्र का उल्ब है, आधारभूत है। राष्ट्र को आघातों से बचानेवाली शक्ति 'क्षत्र' है। राजा उस शक्ति का आधार है। २. **क्षत्रस्य जरायु असि**=क्षत्र का तू गर्भवेष्टन है। यह क्षत्र नामक बल तुझमें सुरक्षित है। ३. **क्षत्रस्य योनिः असि**=क्षत्र का तू उत्पत्ति-स्थान है। ४. **क्षत्रस्य नाभिः असि**=क्षत्र का तू केन्द्र है। उसे अपने में बाँधनेवाला है। ५. **इन्द्रस्य वार्त्रघ्नं असि**=तू इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनकर ज्ञान के आवरणभूत वृत्र का संहारक है। ६. **मित्रस्य असि वरुणस्य असि**=तू मित्र का है और तू वरुण का है, अर्थात् तू सदा सबके साथ स्नेह करनेवाला है, किसी के भी प्रति द्वेष करनेवाला नहीं है। **त्वया अयं वृत्रं वधेत्**=तेरे साथ मिलकर, तेरे साहाय्य से यह प्रजा-वर्ग भी वृत्र का—काम का संहार करे। ७. हे राजन्! **दृवा असि**=(दृणाति) तू शत्रुओं का विदारण करनेवाला है। **रुजा असि**=रणक्षेत्र में शत्रुओं को भगानेवाला और **क्षुमा असि**=शत्रुओं को कम्पित करनेवाला है। ९. हे प्रजाओ! आप **एनम्**=ऐसे राजा को **प्राञ्चं पात**=पूर्व दिशा से सुरक्षित करो। **एनम्**=इसे **प्रत्यञ्चं पात**=पश्चिम से सुरक्षित करो। **तिर्यञ्चं एनं पात**=इसे एक सिरे से दूसरे सिरे तक (crosswise) सुरक्षित करो। संक्षेप में **दिग्भ्यः पात**=सब दिशाओं से सुरक्षित करो।

भावार्थ—राजा को शक्ति का केन्द्र व पुञ्ज होना चाहिए। यही शत्रुओं को नष्ट करनेवाला है। प्रजाओं को चाहिए कि उसकी सर्वतः रक्षा करें।

ऋषिः—वरुणः। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—भुरिगष्टिः। स्वरः—मध्यमः॥

राजा की योग्यताएँ

आविर्मर्या॒ऽआवि॑त्तोऽअ॒ग्निर्गृ॒हप॑ति॒रावि॑त्त॒ऽइन्द्रो॑ वृ॒द्धश्र॑वा॒ऽआवि॑त्तौ मि॒त्रावरु॑णौ धृ॒तव्र॑ता॒वावि॑त्तः पू॒षा वि॒श्ववे॑दा॒ऽआवि॑त्ते॒ द्यावा॑पृथि॒वी वि॒श्वश॑म्भुवा॒वावि॑त्ता॒दिति॑रु॒रुश॑र्मा॥९॥

हे **मर्याः**=मनुष्यो! **आविः**=तुम्हारे सामने यह राजा प्रकटरूप से उपस्थित है। १. **अग्निः गृहपतिः** =राष्ट्र को आगे ले-चलनेवाला, गृहों का रक्षक यह राजा **आवित्तः**=सब ओर प्रसिद्ध है। यह जिस योजना को हाथ में लेता है उसे आगे ले-चलता है—उसमें बड़ी उन्नति कर देता है और राष्ट्ररूप घर का रक्षक प्रमाणित होता है। २. यह **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय है, **वृद्धश्रवाः**=बढ़ी हुई कीर्तिवाला है अथवा अत्यन्त उत्कृष्ट ज्ञानवाला है **आवित्तः**=वह चारों ओर सबसे इसी रूप में जाना गया है। सब लोग इसकी जितेन्द्रियता व उन्नत ज्ञान की चर्चा करते हैं। ३. **धृतव्रतौ मित्रावरुणौ आवित्तौ**=यह व्रतों को धारण करनेवाले मित्र और वरुण के रूप में प्रसिद्ध है। यह स्नेह को फैलानेवाला और द्वेष का दूर करनेवाला होगा। स्नेह और निर्द्वेषता तो मानो इसके व्रत ही हैं। ४. **पूषा विश्ववेदा आवित्तः**=फिर यह इस रूप में प्रसिद्ध है कि यह पोषण करनेवाला है और सम्पूर्ण धनों-(विद् लाभे, वदेस्=धन)-वाला है। यह सभी को पोषण के लिए आवश्यक धन प्राप्त कराता है। ५. **द्यावापृथिवी आवित्ते**=(द्यावा=मस्तिष्क, पृथिवी=शरीर) इस राजा के मस्तिष्क व शरीर दोनों ही प्रसिद्ध हैं। ज्ञान के दृष्टिकोण से यह ऋषि है तो शरीर के दृष्टिकोण से एक मल्ल। इसका शारीरिक बल व बुद्धि का ज्ञान दोनों ही **विश्वशम्भुवौ**=सब संसार में शान्ति को जन्म देनेवाले हैं। ६. **आवित्ता अदितिः**=यह अदीन देवमाता के रूप में प्रसिद्ध है। यह दीन नहीं है व दिव्य गुणों से विहीन नहीं है। **उरुशर्मा**=विशाल कल्याण को करनेवाला है। यह

राष्ट्र को सम्मान देनेवाला है।

भावार्थ—राजा उसे ही बनाना चाहिए जिसकी प्रसिद्धि इस रूप में हो कि यह 'अग्नि, गृहपति, इन्द्र, वृद्धश्रवाः मित्र, वरुण, धृतव्रत, पूषा, विश्ववेदाः=उत्तम शरीर व मस्तिष्कवाला, सबको शान्ति प्राप्त करानेवाला, अदिति व उरुशर्मा' है।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—यजमानः। **छन्दः**—१० विराडार्षीपङ्क्तिः, ११, १३ आर्चीपङ्क्तिः, १२ निचृदार्ष्यनुष्टुप्, १४ भुरिग्जगती। **स्वरः**—१०, ११, १३ पञ्चमः, १२ गान्धारः, १४ निषादः।

नातिमानिता

अवेष्टा दन्दशूकाः प्राचीमारोह गायत्री त्वावतु
रथन्तरꣳसाम त्रिवृत् स्तोमो वसन्तऽऋतुर्ब्रह्म द्रविणम्॥१०॥
दक्षिणामारोह त्रिष्टुप् त्वावतु बृहत्साम पञ्चदश स्तोमो
ग्रीष्मऽऋतुः क्षत्रं द्रविणम्॥११॥
प्रतीचीमारोह जगती त्वावतु वैरूपꣳसाम सप्तदश स्तोमो
वर्षाऽऋतुर्विड् द्रविणम्॥१२॥
उदीचीमारोहानुष्टुप् त्वावतु वैराजꣳसामैकविꣳश स्तोमः
शरदृतुः फलं द्रविणम्॥१३॥
ऊर्ध्वामारोह पङ्क्तिस्त्वावतु शाक्वररैवते सामनी त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशौ
स्तोमौ हेमन्तशिशिरावृतू वर्चो द्रविणं प्रत्यस्तं नमुचेः शिरः॥१४॥

१. हे राजन्! तू राष्ट्र में ऐसी व्यवस्था कर कि **दन्दशूकाः**=औरों को अकारण ही डसनेवाले सर्पवृत्ति के लोग, कुटिल चाल से चलनेवाले औरों को पीड़ित करनेवाले लोग **अवेष्टाः**=(अवयज=नाशि) नष्ट कर दिये जाएँ, राष्ट्र में ऐसे लोग न पनप पाएँ। इसके लिए तू निम्न प्रयत्न कर—२. **प्राचीम् आरोह**=पूर्व दिशा में आरूढ़ हो। यह 'प्राची' दिशा (प्र+अञ्च्) आगे बढ़ने की दिशा है। तू अग्रगति का अधिपति बन। यदि तू निरन्तर आगे बढ़ने का ध्यान रखेगा तो **दक्षिणाम् आरोह**=दक्षिण का आरोहण करनेवाला होगा, अर्थात् तू प्रत्येक कार्य को करने में दक्षिण=कुशल बन पाएगा। यह कार्य-कुशलता तेरे ऐश्वर्य-वृद्धि का कारण बनेगी। उस समय तूने **प्रतीचीम् आरोह**=प्रतीची का आरोहण करना है। प्रतीची अर्थात् प्रति-अञ्च्=वापस होना—विषयों में न फँस जाना, अर्थात् विषय-व्यावृत्त होना—प्रत्याहार का पाठ पढ़ना अत्यन्त आवश्यक है। ऐसा करने पर तू **उदीचीम् आरोह**=उत्तर दिशा का आरोहण करनेवाला होगा, अर्थात् तेरी उन्नति प्रारम्भ होगी और एक दिन **ऊर्ध्वाम् आरोह**=तू सर्वोच्च दिशा पर आरूढ़ हुआ होगा। ३. इस उल्लिखित मार्ग पर चलने से तुझे क्रमशः **ब्रह्म द्रविणम्**=ज्ञानरूप धन प्राप्त होगा। निरन्तर आगे बढ़नेवाला व्यक्ति कण-कण करके ज्ञान प्राप्त करता है। ज्ञानी व कार्यकुशल बनकर यह **क्षत्रं द्रविणम्**=शक्तिरूप धन प्राप्त करता है। क्रियाशीलता शक्तिवृद्धि का कारण बनती है। **विट् द्रविणम्**=ज्ञान और शक्ति प्राप्त करके अब यह (विट्) 'उत्तम प्रजा' रूप धनवाला होता है। इस उत्तमता को स्थायी बनाने के लिए **फलं द्रविणम्**=फलरूप धनवाला होता है। यह राजा राष्ट्र में फलों के उत्पादन का इस रूप में आयोजन करता है कि सब लोगों का मुख्य भोजन ये फल ही

हो जाते हैं। इस सात्त्विक भोजन से ही प्रजाओं का जीवन उत्तम बनता है। उनके ज्ञान व शक्ति की वृद्धि होती है। इन फलों से **वर्चः द्रविणम्**=वर्चस्—प्राणशक्तिरूप धन प्राप्त होता है। वस्तुतः **प्राची**=निरन्तर आगे बढ़ना **ब्रह्म**=ज्ञान-प्राप्ति का मुख्य उपाय है। **दक्षिणा**= कार्यकुशलता **क्षत्र** =बल का कारण है। **प्रतीची**=विषयनिवृत्ति **विट्**=उत्तम प्रजा का कारण है। **उदीची** =उन्नति के लिए शाकाहारी फल=वनस्पति आदि का भोजन आवश्यक है। सर्वोच्च स्थिति **ऊर्ध्वा**=में पहुँचने पर मनुष्य ब्रह्म के समान वर्चस्वी बनता है। इस प्रकार इन मन्त्रों में पहले और अन्तिम वाक्यों का परस्पर सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध आगे चलकर दूसरे व पाँचवें वाक्यों में होगा और तीसरे व चौथे में यह सम्बन्ध दिखेगा। साहित्य में यह शैली 'चक्रबन्ध काव्य' के नाम से प्रसिद्ध है। ४. दूसरे स्थान पर स्थित वाक्यों का अर्थ इस प्रकार है कि '**गायत्री-त्रिष्टुप्-जगती-अनुष्टुप्** और **पङ्क्तिः**'-ये सब छन्द **त्वा**=तेरी **अवतु**=रक्षा करें। परिणामतः तेरे जीवन में पाँचवें-पाँचवें वाक्यों के अनुसार क्रमशः **वसन्तः, ग्रीष्म, वर्षा, शरद् ऋतुः, हेमन्त-शिशिरौ ऋतू**='वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा-शरद् व हेमन्त-शिशिर' ऋतुओं का आगमन होगा। क. **गायत्री**=(गयाः प्राणाः तान् तत्रे) प्राण-रक्षण से वसन्त=तेरा उत्तम निवास होगा। जिस प्रकार वसन्त ऋतु पुष्प-फल-वृद्धिवाली होती है, उसी प्रकार तेरे जीवन में सब शक्तियों का विकास होगा। ख. **त्रिष्टुप्** (त्रिष्टुप् stop) काम, क्रोध व लोभ को रोक देने से तेरा जीवन 'ग्रीष्म' ऋतुवाला होगा। तेरे जीवन में सचमुच उष्णता व उत्साह होगा। ग. **जगती**=निरन्तर गति शक्तिशीलता से तेरे जीवन की ऋतु-चर्या **वर्षा**=सब सुखों की वर्षावाली होगी। तू निरन्तर क्रियाशील होगा और सुखी जीवनवाला होगा। घ. **अनुष्टुप्**=तू दिन-ब-दिन, अर्थात् सदा प्रभु का स्तवन करनेवाला होगा और तेरे जीवन में शरत् का प्रवेश होगा। जैसे शरत् में सब पत्ते शीर्ण हो जाते हैं उसी प्रकार इस स्तुति से तेरे सारे पाप शीर्ण हो जाएँगे। (ङ) **पङ्क्तिः**=तू पाँचों ज्ञानेन्द्रियों, पाँचों कर्मेन्द्रियों व पाँचों प्राणों के पञ्चकों से सुरक्षित होगा तो तेरे जीवन में हेमन्त व शिशिर ऋतुओं का उदय होगा, अर्थात् हेमन्त (**हन्ति पाप्मानं, हिनोति वर्धयति बलं वा**)=तेरे रोग व पाप नष्ट होंगे और तेरा बल बढ़ेगा तथा **शिशिरः**=(शश प्लुतगतौ) तू द्रुतगतिवाला होगा। तेरी चाल मन्द न होगी। तू तीव्र गति से आगे बढ़नेवाला बनेगा। ५. अब तीसरे-व-चौथे-वाक्यों का अर्थ यह है कि (क) **रथन्तरम्**=रथन्तर तेरी **साम**=उपासना है और **त्रिवृत्** तेरी **स्तोमः**=स्तुति है। प्रभु की सच्ची उपासना यही है कि मनुष्य रथन्तर=इस शरीररूप रथ से भवसागर को तैरने का यत्न करे और सच्ची स्तुति यही है कि मनुष्य **त्रिवृत्**=शरीर, मन व बुद्धि की त्रिगुण उन्नति करनेवाला हो। (ख) **बृहत्**=बृहत् तेरी **साम**=उपासना है और **पञ्चदशः**=पञ्चदश तेरी **स्तोम** =स्तुति है। **बृहत्** (बृहि वृद्धौ)=निरन्तर वृद्धि—बढ़ना—उन्नति करना ही तेरी उपासना है। पाँचों ज्ञानेन्द्रियों, पाँचों कर्मेन्द्रियों व पाँचों प्राणों को उन्नत करना—इनका अधिपति बनना ही स्तवन है। (ग) **वैरूपम्**=विशिष्ट रूपवाला बनना ही **साम**=उपासना है **सप्तदशः**=पाँच प्राण, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन और बुद्धि को ठीक रखना ही **स्तोमः**=स्तुति है। (घ) **वैराजम्**=विशिष्ट रूप से चमकना ही **साम**=तेरी उपासना है और **एकविंशः स्तोमः**=शरीर का धारण करनेवाली २१ शक्तियोंवाला होना ही तेरी स्तुति है। (ङ) **शाक्वररैवते**=शक्तिशाली बनना व ज्ञान-धनवाला होना। **सामनी**=तेरी उपासनाएँ हैं और **त्रिणवत्रयस्त्रिंशः**=(**इमे वै लोकास्त्रिणवः**—ता० ६।२।३) (**देवता एव त्रयस्त्रिंशस्यायतनम्**—ता० १०।१।१६) (**वर्ष्म वै त्रयस्त्रिंशः**—ता० १९।१०।१०) तीन लोक व ३३ देवता ही **स्तोमौ**=तेरी स्तुति हैं, अर्थात् यदि तू शरीररूप पृथिवीलोक को, हृदयरूप अन्तरिक्षलोक

को तथा मस्तिष्करूप द्युलोक को ठीक रखता है और इन्हें अपने-अपने देवताओं से अलंकृत करता है तो तू सच्चा स्तवन कर रहा होता है। ६. इस प्रकार सारे देवताओं का अधिष्ठान बनकर भी तूने इस बात का पूरा ध्यान रखना है कि **नमुचेः**=(न मुचिः, last infirmity of the noble minds) नमुचि को बड़े-बड़े शक्तिशाली भी जीत नहीं पाते, उस अहंकार का **शिरः प्रत्यस्तम्**=सिर कुचल दिया जाए। सम्पूर्ण दैवी सम्पत्तिवाला बनकर भी तुझमें **'नतिमानिता'**=अभिमान का न होना आवश्यक है। यह अभिमान सारे किये-कराये पर पानी फेर देता है।

भावार्थ—राजा सब दिशाओं में उन्नति करके निरभिमानिता से प्रजाओं का कल्याण करने में प्रवृत्त हो।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—परमात्मा। **छन्दः**—विराडार्चीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

सोमस्य त्विषिः ओज-सहस-अमृत

सोम॑स्य॒ त्विषि॑रसि॒ तवे॑व मे॒ त्विषि॑र्भूयात्।
मृ॒त्योः पा॒ह्योजो॑ऽसि॒ सहो॑ऽस्य॒मृत॑मसि॥१५॥

प्रस्तुत मन्त्र का देवता 'परमात्मा' है। उससे प्रार्थना करते हैं कि १. हे परमात्मन्! **सोमस्य त्विषिः असि**=तू चन्द्र की दीप्ति है। चन्द्रमा की दीप्ति में सौन्दर्य यह है कि यह प्रकाशमय है और प्रकाश के साथ शान्ति देनेवाला है। एवं, इसमें दीप्ति व शान्ति का मेल है। **मे**=मेरी **त्विषिः**=दीप्ति **तव इव**=तेरी भाँति ही **भूयात्**=हो। २. हे आत्मन्! **ओजः असि**=तू ओज का पुञ्ज है (splendour, light), प्रकाश का पुञ्ज है। **सहः असि**=सहस् का पुतला है, सहनशक्ति का तू स्वरूप ही है। **अमृतम् असि**=तू अमृत है। मृत्यु से तू परे है। काल का भी तू काल है। आप मुझे भी **मृत्योः पाहि**=मृत्यु से बचाइए। मेरे मस्तिष्क में प्रकाश (ओज) हो, मेरे मन में 'सहस्' हो तथा मेरे शरीर में अमृतत्व=नीरोगता हो। इस प्रकार तीनों क्षेत्रों में स्वस्थ होकर मैं सोम की त्विषिवाला होऊँ।

भावार्थ—मुझे ओज, सहस् तथा अमृतत्व की प्राप्ति हो।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—स्वराडार्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

राज्य-निरीक्षण

हिर॑ण्यरूपा॒ऽउ॒षसो॑ विरो॒कऽउ॒भावि॑न्द्रा॒ऽउदि॑थः॒ सूर्य॑श्च। आरो॑हतं वरुण मित्र॒ गर्त्तं॒ तत॑श्चक्षाथा॒मदि॑तिं॒ दितिं॑ च मि॒त्रोऽसि॒ वरु॑णोऽसि॥१६॥

१. राष्ट्र में राजा 'मित्र' है, सारी प्रजा को 'प्रमीतेः त्रायते' मृत्यु एवं पापों से बचाने के लिए प्रयत्नशील है तो 'वरुण' सेनापति है, जो राष्ट्र पर होनेवाले शत्रुओं के आक्रमण का निवारण करता है। ये **उभौ**=दोनों **हिरण्यरूपौ**=ज्योतिर्मय रूपवाले हैं। हिरण्य के समान अति तेजस्वी हैं, **इन्द्रौ**=परमैश्वर्यवाले अथवा सामर्थ्य से युक्त हैं। ये दोनों **उषसः विरोके**=रात्रि की समाप्ति पर, उषा के व्युत्थान काल में **उदिथः**=(उद्गच्छतः) उठते हैं। **सूर्यः च** (उदेति)=इसी समय सूर्य भी उदय होता है, जिससे सूर्य के प्रकाश में ये मित्र और वरुण अपना कार्य सुचारुरूपेण कर सकें। २. हे **वरुण**=शत्रु के आक्रमण के वारक सेनापते! **मित्र**=रोगों व पापों से बचानेवाले राजन्! आप दोनों **गर्तं आरोहतम्**=अपने रथ पर अधिरूढ़ हों और **ततः**=तब **अदितिम्**=नियमों के न तोड़नेवाले, मर्यादाओं का पालन करनेवाले,

अदीन, राजनियमों के अनुष्ठाता को-शास्त्रनिर्दिष्ट बातों के करनेवाले को, **दितिं च**=और नियमों के तोड़नेवाले को, नास्तिकवृत्त को 'कोई क़ानून-वानून नहीं है' (नास्तीति) ऐसा मानकर मनमाना आचरण करनेवाले को **चक्षाथाम्**=देखो। 'यह पापी और यह पुण्यवान् है' इस प्रकार आप लोगों का विवेक करनेवाले बनो। 'कौन आर्य है और कौन दस्यु' यह आपको पता हो। ३. ऐसा करने पर ही आप **मित्रः असि**=राष्ट्र को मृत्यु से बचाते हो व **वरुणः असि**=राष्ट्र पर होनेवाले आक्रमणों का निवारण करते हो।

भावार्थ—राजा के मुख्य कार्य दो हैं। पाप व रोगों से बचाना, शत्रुओं के आक्रमण को रोकना। इससे राजा मित्र और वरुण नामवाला होता है। उसे उषःकाल में ही जाग जाना चाहिए और सूर्योदय के साथ ही रथारूढ़ हो राज्य के निरीक्षण में प्रवृत्त हो जाना चाहिए, जिससे वह आर्य व दस्युओं का विवेक कर सके।

ऋषिः—वरुणः। देवता—क्षत्रपतिः। छन्दः—आर्षीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

सोम-अग्नि-सूर्य-इन्द्र

सोम॑स्य त्वा द्यु॒म्नेना॒भिषि॑ञ्चाम्य॒ग्नेर्भ्राज॑सा॒ सूर्य॑स्य॒ वर्च॒सेन्द्र॑स्येन्द्रि॒येण॑ क्ष॒त्राणां॑ क्ष॒त्रप॑तिरे॒ध्यति॑ दि॒द्यून् पा॑हि ॥१७॥

१. राज्याभिषेक के समय राजा की चार विशेषताओं का विशेष रूप से ध्यान किया जाता है। पुरोहित कहता है कि **त्वा**=तुझे **सोमस्य**=चन्द्रमा के **द्युम्नेन**=यश से **अभिषिञ्चामि**=अभिषिक्त करता हूँ। चन्द्रमा के प्रकाश में जैसे दीप्ति व शान्ति का समन्वय है उसी प्रकार तेरी तेजस्विता 'शक्ति व शान्ति' के मेल से तुझे राज्याभिषेक के योग्य बनाती है। शक्ति के कारण तू अधृष्य है तो शान्ति के कारण तू अभिगम्य बना है। २. **अग्नेः**=अग्नि की **भ्राजसा**=दीप्ति से **त्वा**=तुझे अभिषिक्त करता हूँ। तू स्वास्थ्य के कारण इस प्रकार चमकता है जैसे आग चमकती है। ३. **सूर्यस्य वर्चसा**=सूर्य-सदृश वर्चस् के कारण मैं तुझे अभिषिक्त करता हूँ। '**प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः**'=सूर्य प्राणशक्ति का पुञ्ज है, तुझमें भी प्राणशक्ति का पूर्ण विकास हुआ है, अतः तुझे राज्याभिषिक्त करता हूँ। ४. **इन्द्रस्य इन्द्रियेण**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता होने से तू सब इन्द्रियों की शक्ति से सम्पन्न है, अतः तुझे राज्याभिषिक्त करता हूँ। ५. **क्षत्राणां क्षत्रपतिः एधि**=तू क्षत्रियों में क्षत्रियेश्वर है, बलवानों में बलवान् है। राष्ट्र को आघातों से बचानेवाला है। ६. **दिद्यून्**=इषुओं को, बाणों को, **अति**=लाँघकर **पाहि**=रक्षा कर, अर्थात् हे राजन्! तू शत्रुओं के बाणों से बचाकर हमें सुरक्षित कर।

भावार्थ—राजा वही होने योग्य है जो चन्द्रमा के समान दीप्ति व शान्तिवाला है, अग्नि के समान स्वास्थ्य की दीप्तिवाला है, सूर्य के समान प्राणशक्ति का पुञ्ज है, जितेन्द्रिय पुरुष के बलवाला है। बलवानों से भी बलवान् है, राष्ट्र को सब आक्रमणों से बचाता है।

ऋषिः—देववातः। देवता—यजमानः। छन्दः—स्वराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

ऐकमत्येन वरण (Unanimous Voting)

इ॒मं दे॑वाऽअसप॒त्नꣳसु॑वध्वं मह॒ते क्ष॒त्राय॑ मह॒ते ज्यैष्ठ्या॑य मह॒ते जान॑राज्या॒येन्द्र॑स्येन्द्रि॒याय॑। इ॒मम॒मुष्य॑ पु॒त्रम॒मुष्यै॑ पु॒त्रम॒स्यै वि॒शऽए॒ष वो॑ऽमी॒ राजा॒ सोमो॒ऽस्माकं॑ ब्राह्म॒णाना॒ꣳराजा॑ ॥१८॥

हे **देवाः**=विद्वानो! **इमम्**=इस व्यक्ति को **असपत्नम्**=ऐकमत्य से **सुवध्वम्**=चुनो,

इसलिए कि १. **महते क्षत्राय**=महान् आघात से रक्षणरूप कार्य को वह करे। २. **महते ज्यैष्ठ्याय**=महान् ज्येष्ठता सम्पादनरूप कार्य को करनेवाला वह हो। राष्ट्र को वह ऊँचा ले-जानेवाला हो। ३. **महते जानराज्याय**=महान् जनराज्य के लिए—लोकहित का राज्य करनेवाला हो। ४. **इन्द्रस्य इन्द्रियाय**=इसे इसलिए चुनो कि यह राष्ट्र में प्रत्येक व्यक्ति को शक्तिशाली बनानेवाला हो। ५. **इयम्**=इसको **अमुष्य पुत्रम्**=अमुक व्यक्ति के पुत्र को **अमुष्यै पुत्रम्**=अमुक माता के पुत्र को **अस्यै विशः**=इसी प्रजा के अङ्गभूत व्यक्ति को तुम चुनो। **एषः**=यह **अमी**=हे प्रजाओ! **वः**=तुम्हारा **राजा**=नियन्ता है। **अस्माकं ब्राह्मणानां राजा**=हम ब्राह्मणों का राजा तो **सोमः**=वह शान्त प्रभु ही है। ब्राह्मण किसी भी प्रकार की सम्पत्ति का मालिक नहीं है। वह सब परिग्रहों से ऊपर उठा हुआ होता है, यह पापों से भी ऊपर उठा रहता है, इसी से यह राजा का भी पथ-प्रदर्शन करनेवाला होता है।

भावार्थ—राष्ट्रपति का वरण यथासम्भव ऐकमत्येन होना ही ठीक है। विद्वान् बृहस्पति-तुल्य ब्राह्मण इस राष्ट्रपति का मार्ग-प्रदर्शक होता है। इनसे प्रेरणा प्राप्त करनेवाला राजा यहाँ 'देववात' कहलाता है।

ऋषिः—देववातः। देवता—यजमानः। छन्दः—विराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

विक्रमण-विक्रान्त-क्रान्त

प्र पर्व॑तस्य वृष॒भस्य॑ पृ॒ष्ठान्नाव॑श्चरन्ति स्व॒सिच॑ऽइया॒नाः ।
ताऽआव॑वृत्रन्नध॒रागुद॑क्ता॒ऽअहिं॑ बु॒ध्न्य॒मनु॒ रीय॑माणाः ।
विष्णो॑र्वि॒क्रम॑णमसि॒ विष्णो॑र्वि॒क्रा॑न्तमसि॒ विष्णोः॑ क्रा॒न्तम॑सि ॥१९॥

१. **पर्वतस्य**=पर्वाणि विद्यन्ते यस्य=अमावास्या-पूर्णिमा आदि पर्वों में तथा प्रतिदिन दिन-रात्रि के पर्वरूप प्रातः-सायं के समय जिसका उद्बोधन किया जाता है उस 'पर्वत' नामवाली **वृषभस्य**=(वर्षितुः—उ०) वर्षा करनेवाली अग्नि के **पृष्ठात्**=पृष्ठ से उठकर **नावः**=(नूयन्ते स्तूयन्ते) स्तुति के योग्य **स्वसिचः**=धनों का सेचन करनेवाले **इयानाः**=गमनशील जल **प्रचरन्ति**=आदित्यमण्डल के प्रति प्राप्त होते हैं। मनु के शब्दों में '**अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते**' अग्नि में डाली हुई आहुतियाँ सूर्य तक पहुँचती हैं। '**स्व-सिचः**' शब्द का अर्थ है 'धनों का सेचन करनेवाले'। समय पर वर्षा होती है तो कृषकों के मुख से भी यह शब्द निकलता है कि 'सोना बरस रहा है'। एवं, ये जल धन का सेचन करते हैं। ये मेघजल **नावः**=स्तुत्य तो हैं ही, ये 'अमरवारुणी' देवताओं की मद्य कहलाते हैं। २. **ताः उदक्ताः**=ऊपर (उत्) आदित्यमण्डल तक गये हुए (अक्ताः) जल **बुध्न्यम्**=(बुध्न=अन्तरिक्ष) अन्तरिक्ष में होनेवाले **अहिम्**=मेघ में **अनुरीयमाणाः**=क्रमशः गति करते हुए **आववृत्रन्**=इस पृथिवी पर लौट आते हैं। ३. इस प्रकार इन जलों की गति आदित्य के आधारभूत द्युलोक में, मेघ के आधारभूत अन्तरिक्षलोक में तथा अग्नि के आधारभूत इस पृथिवीलोक में दिखती है। ये जल शरीर में रेतस्रूप से हैं और स्थूलशरीररूप पृथिवी में ये नीरोगता के कारण होते हैं, मनरूप अन्तरिक्ष में ये नैर्मल्य का कारण बनते हैं और बुद्धि व मस्तिष्करूप द्युलोक में ये उज्ज्वलता का साधन होते हैं। ४. ये रेतस्रूप आपः शरीर में व्याप्त होने पर 'विष्णु' कहलाते हैं। '**यो वै विष्णुः सोमः सः**'—श० ३।३।४।२। '**वीर्यं विष्णुः**'—तै० १।७।२।२। यह 'विष्णु' तीनों लोकों का—शरीर, मन व बुद्धि का—विजय

करता है। यही इसकी 'विक्रमण त्रयी' कही गई है। मन्त्र के ऋषि देववात से कहते हैं कि तू **विष्णोः**=इस सोम के **विक्रमणम्**=पृथिवीलोकरूप विजयवाला है, **विष्णोः**=सोम के **विक्रान्तम् असि**=अन्तरिक्षलोकरूप विजयवाला है और अन्ततः **विष्णोः**=सोम के **क्रान्तमसि**=द्युलोकरूप विजयवाला है। इन सब लोकों का विजय करके तू सब देवताओं को अपनानेवाला होता है—'**विष्णुः सर्वा देवताः**' ऐ०—१।१, अर्थात् मनुष्य रेतस् की रक्षा के द्वारा सब दिव्य गुणों को प्राप्त करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह रेतस् की रक्षा द्वारा इन रेतःकणों को शरीर में ही व्याप्त करनेवाला बने और अपने शरीर, मन व बुद्धि को स्वस्थ रखनेवाला हो।

ऋषिः—देववातः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—भुरिगतिधृतिः। **स्वरः**—षड्जः॥

नाम-स्मरण

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परि ता बभूव। यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नोऽअस्त्वयममुष्य पिताऽसावस्य पिता वयꣳस्याम पतयो रयीणाꣳस्वाहा। रुद्र यत्ते क्रिवि परं नाम तस्मिन् हुतमस्यमेष्टमसि स्वाहा ॥२०॥

गत मन्त्र में रेतस् की रक्षा द्वारा त्रिलोकी के विक्रमण का उपदेश था। उसी को क्रियात्मक रूप देने के लिए प्रभु का स्मरण करते हुए देववात (मन्त्र का ऋषि) कहता है कि १. हे **प्रजापते**=सब प्रजाओं के रक्षक प्रभो! **एतानि तानि**=इन प्रसिद्ध अथवा समीप व सुदूर देश में वर्त्तमान **विश्वा रूपाणि**=सब रूपों को, विविध जातीय प्राणियों व लोकों को **त्वत् अन्यः न**=आपसे भिन्न और कोई नहीं, अर्थात् आप ही **परि बभूव**=व्याप्त कर रहे हो। आप ही इनका सर्जन व संहार करने में समर्थ हो। २. **यत्कामाः**=जिस कामनावाले होकर **ते जुहुमः**=हम आपकी प्रार्थना करते हैं **तत् नः अस्तु**=हमारी वह कामना पूर्ण हो। ३. हम संसार में इस बात को समझें कि **अयम्**=हमारे समीप वर्त्तमान यह प्रजापति ही (तद्दूरे तदु अन्तिके) **अमुष्य**=दूर देश में वर्त्तमान व्यक्ति का भी **पिता**=पिता व रक्षक है और **असौ**=वह दूर-से-दूर देश में वर्त्तमान प्रजापति (तत् दूरे) **अस्य**=इस समीपस्थ व्यक्ति का पिता है। एवं, हम सब उस एक ही प्रजापति के पुत्र हैं और परस्पर भाई-भाई हैं। हमें रुपये का गुलाम बनकर लोभवश परस्पर लड़ना नहीं है। **वयम्**=हम तो **रयीणाम्**=इन धनों के **पतयः स्याम**=स्वामी हों, हम इनके दास न बन जाएँ। हम **स्वाहा**=इस **स्व**=धन का **हा**=त्याग करते हैं। ४. देववात तो यह निश्चय करता है कि हे **रुद्र**=असुर-संहारक प्रभो! **यत्**=जो **ते**=तेरा **क्रिवि**=(हिंसित) सब वासनाओं को विनष्ट करनेवाला **परम्**=उत्कृष्ट **नाम**=नाम है **तस्मिन्**=उस नाम में **हुतम् असि**=तू हमसे हुत होता है, अर्थात् हम तेरे उस नाम में अपने को अर्पित करने का प्रयत्न करते हैं। **अमा**=इस मेरे शरीररूप घर में **इष्टं असि**=आप सदा पूजित होते हो। **स्वाहा**=हम आपके प्रति अपना अर्पण करते हैं। ५. वस्तुतः यह प्रभु नाम-स्मरण ही हमें वासनात्मक जगत् से ऊपर उठाता है। वासना-विजय ही शरीर में रेतस् की रक्षा का साधन बनती है और हमें त्रिलोकी के विजय में समर्थ करती है।

भावार्थ—प्रभु ही सबका धारण कर रहे हैं, वे ही हम सबके पिता हैं। उस प्रभु के नाम-स्मरण में अपने को अर्पित करते हुए हम त्रिलोकी का विजय करें।

ऋषिः—देववातः। देवता—क्षत्रपतिः। छन्दः—भुरिग्ब्राह्मीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

अरिष्ट-अर्जुन

इन्द्रस्य वज्रोऽसि मित्रावरुणयोस्त्वा प्रशास्त्रोः प्रशिषा युनज्मि। अव्यथायै त्वा स्वधायै त्वाऽरिष्टो अर्जुनो मरुतां प्रसवेन जयापाम मनसा समिन्द्रियेण॥२१॥

१. गत मन्त्र के अनुसार प्रभु-नामस्मरण करनेवाले देववात से कहते हैं कि तू **इन्द्रस्य**=उस परमैश्वर्यशाली, सब शत्रुओं के संहारक प्रभु के **वज्रः असि**=वज्रवाला (वज्रम् अस्य अस्तीति वज्रः) है। प्रभु का नाम तेरे लिए वज्रतुल्य बन गया है। इस वज्र से तू अपनी सब वासनाओं का संहार कर पाया है। २. अब **त्वा**=तुझे **प्रशास्त्रोः**=उत्तम प्रशासन करनेवाले **मित्रावरुणयोः**=मित्र और वरुण के, स्नेह की देवता तथा द्वेष-निवारण की देवता के **प्रशिषा**=प्रशासन से **युनज्मि**=युक्त करता हूँ। ३. और इस प्रकार **त्वा**=तुझे **अव्यथायै**=(व्यथ भयचलनयोः) अभय व अविचलन, अर्थात् स्थिरता के लिए प्राप्त कराता हूँ, तथा **स्वधायै त्वा**=(स्व-धा) आत्मधारण के योग्य बनाता हूँ। ४. **अरिष्टः**=किन्हीं भी वासनाओं व रोगों से न हिंसित हुआ तू **अर्जुनः**=उज्ज्वल (श्वेत=शुद्ध) चरित्रवाला हो। ५. **मरुताम्**=प्राणों के **प्रसवेन**=प्रकृष्ट ऐश्वर्य से, अर्थात् उत्कृष्ट प्राण-साधना के द्वारा **जय**=तू चित्तवृत्तिनिरोध से वासना का विजय कर। ६. तुम सदा यह कह सको कि **मनसा**=मन के द्वारा, मन के वशीकरण के द्वारा **अपाम**=हमने सोम का पान किया है और **इन्द्रियेण**=वीर्य से, प्रत्येक इन्द्रिय की शक्ति से **सम्**=हम सङ्गत हुए हैं।

भावार्थ—प्रभु का नाम हमारा वज्र हो। स्नेह व निर्द्वेषता हमारे जीवन का सूत्र हो। हमारा जीवन वासनाओं से अहिंसित व उज्ज्वल हो। हम सोम पान करें, शक्ति से युक्त हों।

ऋषिः—देववातः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराडार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

नास्तिकता का वि-दसन

मा तऽइन्द्र ते वयं तुराषाडयुक्तासोऽअब्रह्मता विदसाम। तिष्ठा रथमधि यं वज्रहस्ता रश्मीन्देव यमसे स्वश्वान्॥२२॥

१. हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं के संहारक प्रभो! **तुराषाट्**=(तूर्णं सहते) शीघ्रता से शत्रुओं का पराभव करनेवाले प्रभो! **वयम्**=हम सब **ते**=तेरे हों और **ते अयुक्तासः**=आपसे अपने को न जोड़नेवाले **मा**=न हों। हम सदा अपनी चित्तवृत्ति को विषयों से व्यावृत्त करके आपके साथ लगाएँ। २. **अब्रह्मता**=(अब्रह्मतां) नास्तिकवृत्तिता को, 'संसार का सञ्चालक ईश्वर कोई नहीं है', इस आसुरी विचारधारा को (जगदाहुरनीश्वरम्—गीता) **विदसाम**=हम विशेषरूप से नष्ट कर दें। हममें अनीश्वरता की भावना कभी उत्पन्न न हो। ३. **रथं तिष्ठ**=मैं उस शरीररूप रथ में बैठूँ **वज्रहस्त यं अधि**=हे वज्रहस्त प्रभो! जिसके अधिष्ठाता आप हैं। प्रभु ही मेरे शरीररूप रथ के सञ्चालक हों। ऐसा होने पर क्या कोई वासना मेरी यात्रा को विहत कर पाएगी? वे प्रभु तो वज्रहस्त हैं, काम को भस्म करने के लिए उनका तो नाम ही पर्याप्त है। ४. **देव**=हे सब विघ्नों के विजेता प्रभो! आप ही मेरे इस शरीररूप रथ पर स्थित हुए-हुए **रश्मीन्**=लगामों को **यमसे**=काबू करते हैं। आप ही **अश्वान्**=इन मेरे इन्द्रिय-रूप अश्वों को **सुयमसे**=उत्तमता से काबू करते हैं। वस्तुतः प्रभु-नामस्मरण हमें इस योग्य बनाता है कि

हमारा मन विषय-व्यावृत्त हो पाये और हम इन्द्रियों को विषयपङ्क से मलिन न होने दें।

भावार्थ—हम ईश्वर के हों। अनीश्वरवाद हमारे नाश का कारण बनता है। वे प्रभु ही वज्रहस्त हैं, हमारे शत्रुओं का शीघ्रता से विनाश करनेवाले हैं।

ऋषिः—देववातः। **देवता**—अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः॥

पारस्परिक अहिंसन

अग्नये गृहपतये स्वाहा सोमाय वनस्पतये स्वाहा मरुतामोजसे स्वाहेन्द्रस्येन्द्रियाय स्वाहा। पृथिवि मातर्मा मा हिंसीर्मोऽअहं त्वाम्॥२३॥

देववात प्रार्थना करता है कि गत मन्त्र के अनुसार मैं अपने शरीर-रूप रथ की लगाम प्रभु के हाथों में सौंपनेवाला बनूँ, और अपनी इस जीवन-यात्रा में १. **अग्नये**=निरन्तर आगे बढ़ने के लिए तथा **गृहपतये**=इस शरीर-रूप गृह का उत्तम रक्षक बनने के लिए **स्वाहा**=उस प्रभु के प्रति अपना अर्पण करूँ। यह प्रभु के प्रति अर्पण मुझे 'अग्नि' बनाएगा। २. **सोमाय**=सौम्य स्वभाव का बनने के लिए अथवा सोम (वीर्य) शक्ति का पुञ्ज बनने के लिए और परिणामतः **वनस्पतये**=ज्ञान की रश्मियों का पति बनने के लिए **स्वाहा**=मैं उस प्रभु के प्रति अर्पण करता हूँ। यह प्रभु-अर्पण मुझे 'सोम' बनाएगा, यह प्रभु-अर्पण मुझे 'वनस्पति' बनाएगा। ३. **मरुताम्**=प्राणों के **ओजसे**=ओज के लिए **स्वाहा**=मैं उस प्रभु के प्रति अपना अर्पण करता हूँ, अर्थात् प्रभु-चरणों में बैठना मुझे वासनाओं से बचाकर ओजस्वी बनाता है, मैं प्राणशक्ति-सम्पन्न होता हूँ। ४. **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष की **इन्द्रियाय**=प्रत्येक इन्द्रिय की शक्ति-सम्पन्नता के लिए **स्वाहा**=मैं प्रभु के प्रति अपना अर्पण करता हूँ। ५. **मा**=इस अर्पण करनेवाले मुझको हे **पृथिवि मातः**=मातृतुल्य पृथिवि! **मा हिंसीः**=मत हिंसित कर। यद्यपि शरीर पञ्चभौतिक है तथापि पृथिवीतत्त्व की प्रधानता के कारण इसे पार्थिव कहने की परिपाटी है, अतः उस पृथिवीतत्त्व को ही मुख्यता देते हुए कहते हैं कि तू मेरे अनुकूल हो। **उ**=और **अहम्**=मैं **त्वाम्**=तुझे **मा**=मत हिंसित करूँ। मैं अतिभोजनादि व विषयासक्ति के कारण इस पार्थिव शरीर को विकृत करनेवाला न होऊँ। प्रभु के प्रति अर्पण का यह परिणाम तो होगा ही। उस 'महान् देव' प्रभु से निरन्तर प्रेरणा (वात) प्राप्त करके यह 'देववात' निश्चित रूप से ही अहिंसित होगा।

भावार्थ—'हम अग्नि, गृहपति, सोम, ज्ञानी, ओजस्वी व इन्द्र' बनें।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—सूर्यः। **छन्दः**—भुरिग्जगती। **स्वरः**—निषादः॥

हंसः

हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजाऽऋतजाऽअद्रिजाऽऋतं बृहत्॥२४॥

२२वें मन्त्र में अपने को प्रभु से अयुक्त न करने की भावना थी। जब हम सदा प्रभु का स्मरण करते हैं, प्रभु-स्मरण के साथ ही हमारी सब क्रियाएँ होती हैं तब वे प्रभु हमारे लिए १. **हंसः**=(हन्ति पापानाम्) सब पापों को नष्ट करनेवाले होते हैं। पापों के नाश से हमारा जीवन शुचि=पवित्र होता है और वे प्रभु **शुचिषत्**=हमारे पवित्र हृदयों में निवास करनेवाले होते हैं। २. जब मैं अपने हृदय में प्रभु के निवास को अनुभव करता हूँ तब **वसुः**=(वासयति) वे प्रभु मेरे जीवन को उत्तम बना देते हैं। उत्तम जीवन वही है जो

सीमाओं को छोड़कर सदा मध्य-मार्ग का अवलम्बन करता है। **अन्तरिक्षसत्**=प्रभु का निवास उसी में है जो **'अन्तराक्षि'**=मध्य में गति करता है (क्षि=गति)। योग इसी मध्य मार्ग पर चलनेवाले का कल्याण करता है। सितार के तार को अधिक कसा जाए तो वह टूट जाता है, ढीला छोड़ दिया जाए तो स्वर ही नहीं निकलता। न बहुत कसा जाए और न बहुत ढीला छोड़ा जाए तभी मधुर स्वर निकलता है। इस मध्य मार्ग में रहने व चलनेवाले में प्रभु का निवास है। ३. **होता**=वे प्रभु ही सब-कुछ देनेवाले हैं और **वेदिषत्**=जो व्यक्ति अपने इस शरीर को यज्ञवेदी बना देता है उसी में प्रभु का निवास होता है। सब-कुछ देनेवाले वे प्रभु हैं तो हमें लोभ करना ही क्यों? लोभ को छोड़कर हम यज्ञवृत्ति को अपनाएँ और प्रभु के निवास-स्थान बनें। ४. **अतिथिः**=वे प्रभु तो 'अत् सातत्यगमने'=हमें निरन्तर प्राप्त होनेवाले हैं। **दुरोणसत्**=(दुर=बुराई ओणृ अपनयने) बुराई को दूर करनेवाले में बैठनेवाले हैं। 'दुरोण' शब्द गृहवाची है, क्योंकि यह हमें सर्दी-गर्मी, वर्षा-ओले आदि से बचाता है। इसी प्रकार अपने को वासनाओं से बचानेवाला व्यक्ति भी 'दुरोण' है।

५. **नृषत्**=वह प्रभु 'नृषु सीदति'=अपने को आगे ले-चलनेवालों में निषण्ण होता है। ६. **वरसत्** =वह प्रभु श्रेष्ठ व्यक्तियों में आसीन होते हैं ७. **ऋतसत्**=जो भी ऋत का पालन करते हैं वे प्रभु का निवास-स्थान बनते हैं। ८. **व्योमसत्**=वे प्रभु उस व्यक्ति में निवास करते हैं जो कि **वी+ओम्**=(वी गति, अव रक्षणे) सदा क्रियाशीलता के द्वारा अपना बचाव करता है। क्रियाशीलता के परिणामस्वरूप शुद्ध बना रहता है। ९. **अब्जाः**=(अप्सु जायते) वे प्रभु जलों में प्रकट होते हैं। **'यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः'** ये हिमाच्छादित पर्वत, समुद्र व पृथिवी उस प्रभु की महिमा को प्रकट कर रहे हैं। १०. **गोजाः**=(गवि जायते) वे प्रभु इस पृथिवी के अनन्त विस्तृत मैदानों, वनों व पर्वतों में प्रकट होते हैं, उन स्थानों पर उस प्रभु की महिमा दिखती है। ११. **ऋतजाः**=वे सूर्य, चन्द्र, तारे व अन्य लोक-लोकान्तरों की नियमित गति में प्रकट होते हैं। १२. **अद्रिजाः**=गगनचुम्बी घाटियोंवाले, ध्रुवता से स्थित (अविदारणीय) पर्वतों में **वे** प्रभु प्रकट होते हैं। १३. वे प्रभु **ऋतम्**=सत्य हैं, **बृहत्**=सदा वर्धमान हैं (वर्धमानं स्वे दमे)।

भावार्थ—हम इस सृष्टि में प्रभु की महिमा को देखें। जीवन को पवित्र बनाकर प्रभु के निवास-स्थान बनें। हम अनुभव करें कि वे प्रभु सत्य हैं, वे सदा वृद्ध हैं। इस प्रकार जीवन बनाते हुए हम 'वामदेव' सुन्दर दिव्य गुणोंवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—सूर्यः। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः॥

एतावानस्य महिमा

इयदस्यायुरस्यायुर्मयि धेहि युङ्ङसि वर्चोऽसि वर्चो मयि धेह्यूर्गस्यूर्जं मयि धेहि। इन्द्रस्य वां वीर्यकृतो बाहूऽअभ्युपावहरामि ॥२५॥

१. वामदेव प्रभु-आराधन करता हुआ कहता है कि **'इयत् असि'**=आप 'एतावान् अस्य महिमा' इन शब्दों के अनुसार इतनी महिमावाले हैं। गत मन्त्र के शब्दों में 'जलों में, पृथिवी में, पर्वतों में' सर्वत्र उसी की महिमा है। इस जड़-जगत् के कण-कण में प्रभु की महिमा है, २. चेतन जगत् में भी **आयुः असि**=आप सबको जीवन देनेवाले हैं। **मयि आयुः धेहि**=मुझमें जीवन का आधान कीजिए। आपकी कृपा से मैं दीर्घायुष्य प्राप्त करूँ। ३. **युङ् असि**=इस दीर्घ जीवन में आप हमें उस-उस कार्य में प्रेरित करनेवाले हैं। हम कभी-कभी

असफलता से निराश होकर कर्म छोड़ बैठते हैं तो आप हमें उत्साहित व शक्ति-सम्पन्न करके फिर कार्य-व्यापृत करते हैं। ४. **वर्चः असि**=आप शक्ति के पुञ्ज हैं। **मयि वर्चः धेहि**=मुझमें शक्ति का आधान कीजिए। **ऊर्क् असि**=आप (ऊर्ज् बलप्राणनयोः) बल और प्राण-शक्ति के आधार हैं। **ऊर्जं मयि धेहि**=मुझमें बल और प्राण-शक्ति को धारण कीजिए। ५. इस प्रकार प्रभु की आराधना से शक्ति-सम्पन्न होकर वामदेव अपनी भुजाओं को सम्बोधित करके कहता है कि **वाम्**=आप दोनों को जो आप **वीर्यकृतः**=शक्ति-उत्पन्न करनेवाले **इन्द्रस्य**=सब शत्रुओं के संहारक प्रभु की **बाहू**=प्रयत्नशील (बाह प्रयत्ने) भुजाएँ हो, उन आपको **अभि+उप+अवहरामि**=प्रभु की समीपता में विषयों से दूर कर्मों की ओर ले-चलता हूँ, अर्थात् मैं प्रभु का स्मरण करते हुए, विषयपङ्क से अलिप्त रहते हुए कर्मों में लगा रहता हूँ। वामदेव=सुन्दर दिव्य गुणोंवाला बनने का यही तो मार्ग है।

भावार्थ—प्रभु के सम्पर्क से हमें 'आयु, वर्चस् व ऊर्ज्' प्राप्त होता है। प्रभु-स्मरण करते हुए शक्ति-सम्पन्न बनकर हम सदा भुजाओं को कार्यव्यापृत रक्खें।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—आसन्दी राजपत्नी। **छन्दः**—भुरिगनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

स्योना-सुषदा

स्योनासि सुषदासि क्षत्रस्य योनिरसि।
स्योनामासीद सुषदामासीद क्षत्रस्य योनिमासीद॥२६॥

गत मन्त्र की भावना के अनुसार प्रभु-स्मरण से शक्ति-सम्पन्न बनकर निरन्तर क्रिया करनेवाला व्यक्ति इस पृथिवी को बड़ा सुन्दर बनाता है। मन्त्र में कहते हैं कि १. हे पृथिवि! तू **स्योना असि**=सुखरूप है। प्रयत्नशील व्यक्ति के लिए पृथिवी सुखरूप है ही। २. **सु-सदा असि**=सुख से बैठने के योग्य है (सुखेन सीदन्ति यस्याम्)। श्रमशील लोग तेरे आश्रय से जीवन व्यतीत करते हैं। ३. **क्षत्रस्य योनिः असि**=क्रियाशीलता के द्वारा बल का तू कारण है। इस पृथिवी पर निवास करते हुए हम यदि क्रियाशील बनते हैं तो शक्ति-सम्पन्न भी होते हैं। क्रियाशीलता व शक्ति आनुपातिक हैं। ४. वामदेव से कहते हैं कि हे वामदेव! तू **स्योनाम्**=इस सुखरूप पृथिवी पर **आसीद**=आसीन हो। **सु-षदाम् आसीद**=सुख से बैठने योग्य इस पृथिवी पर आसीन हो। **क्षत्रस्य योनिम्**=बल की कारणभूत इस पृथिवी पर **आसीद**=आसीन हो।

भावार्थ—यह पृथिवी सुखरूप है, सुख से बैठने योग्य है, शक्ति का स्रोत है। निरन्तर क्रियाशीलता के द्वारा 'वामदेव' पृथिवी को ऐसा ही बना लेता है।

ऋषिः—शुनःशेपः। **देवता**—वरुणः। **छन्दः**—पिपीलिकामध्याप्रतिष्ठागायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

धृतव्रतः

निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा। साम्राज्याय सुक्रतुः॥२७॥

१. उल्लिखित मन्त्रों में वर्णित 'वामदेव' लोगों में से चुना जाकर (वरुण) जीवन को उत्तमता से व्यवस्थित करने के लिए सिंहासन पर बिठाया जाता है। इसने उत्तम शासन के द्वारा सुख का निर्माण करना होता है, अतः यह 'शुनःशेप' (शुनम्=सुख, शेप=बनाना, to make) कहलाता है। २. यह शुनःशेप **पस्त्यासु**=प्रजाओं में से ही चुना जाकर **धृतव्रतः**=धारण किये हुए व्रतवाला **वरुणः**=श्रेष्ठ व्यक्ति **आ निषसाद**=सब व्यक्तियों की ओर से

सिंहासन पर बैठता है। 'प्रजा का कल्याण' यह इसका व्रत होता है। अपने जीवन को भी यह बड़ा संयमी बनाकर 'वरुण'=व्रत-बन्धनों में अपने को बाँधता है। ३. यह सिंहासन पर **साम्राज्याय**=साम्राज्य के लिए आसीन होता है। यह राजा बनकर सचमुच देश को बड़ा व्यवस्थित कर देता है। उत्तम व्यवस्था से राज्य में चोरी आदि सब बुराइयाँ समाप्त हो जाती हैं और राज्य चमक उठता है, देश की सर्वांगीण उन्नति होती है। ४. **सुक्रतुः**=यह राजा उत्तम संकल्पों व कर्मोंवाला है साथ ही उत्तम प्रजावाला भी होता है (क्रतु=संकल्प, कर्म, प्रज्ञा)। इस प्रज्ञा की तीव्रता व संकल्प की दृढ़ता से यह राज्य को एक साम्राज्य बना देता है। यह उसे ऐसा बनाने के लिए 'धृत-व्रत' होता है।

भावार्थ—राजा को 'धृत-व्रत व सुक्रतु' होना चाहिए, जिससे उसका राज्य साम्राज्य में परिवर्तित हो जाए।

ऋषिः—शुनःशेप। **देवता**—यजमानः। **छन्दः**—विराड्धृतिः। **स्वरः**—ऋषभः॥

अभिभूः

अभिभूरस्येतास्ते पञ्च दिशः कल्पन्तां ब्रह्मँस्त्वं ब्रह्मासि सवितासि सत्यप्रसवो वरुणोऽसि सत्यौजाऽइन्द्रोऽसि विशौजा रुद्रोऽसि सुशेवः। बहुकार श्रेयस्कर भूयस्करेन्द्रस्य वज्रोऽसि तेन मे रध्य॥२८॥

१. गत मन्त्र की भावना के अनुसार जो 'धृतव्रत व सुक्रतु' होता है वह **'अभिभूः असि'**=सब शत्रुओं का पराभव करनेवाला होता है। **एताः**=वे **पञ्च दिशः**=पाँचों दिशाएँ **ते**=तेरे लिए **कल्पन्ताम्**=शक्तिशाली बनें। 'प्राची-दक्षिणा-प्रतीची-उदीची व ऊर्ध्वा' इन पाँच दिशाओं का उल्लेख इसी अध्याय में १० से १४ तक के मन्त्रों में हुआ है। यहाँ उन दिशाओं का दूसरे प्रकार से उल्लेख हुआ है। २. दसवें मन्त्र में प्राची दिशा का द्रविण 'ब्रह्म' कहा गया है। यहाँ कहते हैं कि हे **ब्रह्मन्**=ज्ञान-सम्पन्न **त्वम्**=तू **ब्रह्मा**=चतुर्वेदवेत्ता है, ज्ञानी है। **सविता असि**=(षु-ऐश्वर्ये) तू ज्ञानरूप सच्चे ऐश्वर्यवाला है। ३. **सत्यप्रसवः वरुणः**=तू सत्य की प्रेरणा देनेवाला **असि**=है। **'ये ते पाशा वरुण सप्तसप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः। छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं यः सत्यवाद्यति तं सृजन्तु'**=वरुण असत्यवादी को अपने पाशों से बाँध डालता है। सत्यवादी ही वरुण के पाशों से बच पाता है। तू **सत्यौजाः**=सत्य के ओजवाला है। ११वें मन्त्र में दक्षिणा दिशा का द्रविण **'क्षत्र'**= बल ही कहा गया है। यह वरुण भी निर्दोषता के कारण तथा अपने को व्रतों के बन्धन में बाँधने के कारण ओजस्वी है। सच्चे ओजवाला है। ४. **इन्द्रः असि**=तू इन्द्रियों का अधिष्ठाता है। १२वें मन्त्र में प्रतीची के आरोहण का अभिप्राय यही है कि यह इन्द्रियों को विषयों से व्यावृत्त करता है, इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनता है और **विशौजाः**=प्रजा के ओजवाला अथवा दूसरे शब्दों में ओजस्वी प्रजावाला होता है। इस दिशा का द्रविण १२वें मन्त्र में 'विट्'=प्रजा ही है। ५. **रुद्रोऽसि**=(रोरूयमाणो द्रवति) यह प्रभु का स्मरण करते हुए कार्यव्यापृत होता है। १३वें मन्त्र में इसे 'अनुष्टप्'=प्रतिक्षण प्रभु का स्तवन करनेवाला कहा गया है। इसी कारण यह **'सुशेवः'**=उत्तम कल्याणवाला होता है। ६. अन्त में यह **इन्द्रस्य वज्रोऽसि**=उस प्रभु के वज्रवाला है। प्रभु ही इसके वज्र हैं। १४वें मन्त्र में इसी वज्र से नमुचि नामक असुर के शिरश्छेदन का उल्लेख है। यह प्रभु को ही अपना वज्र बनाता है, परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि यह निकम्मा हो जाता है। स्वयं अकर्मण्य न होकर

बहुकार=यह खूब ही करनेवाला होता है, **श्रेयस्कर**=शुभ कार्यों को करनेवाला होता है। **भूयस्कर**=निरन्तर उत्तम क्रियाओं में लगा रहता है। **तेन**=उससे, क्योंकि मैं कर्मव्यापृत हूँ और प्रभु का नाम-स्मरण कर रहा हूँ, अतः **मे रध्य**=मेरे शत्रुओं को मेरे वशीभूत कीजिए। सब शत्रुओं को अभिभूत करके मैं सचमुच 'अभिभूः' बनूँ।

भावार्थ—मैं ज्ञानी बनूँ, सत्य के ओजवाला होऊँ, ओजस्वी प्रजावाला तथा उत्तम कल्याण को प्राप्त करनेवाला बनूँ। प्रभु ही मेरे वज्र हों। मैं क्रियाशील रहता हुआ सब शत्रुओं को अपने वश में कर सकूँ।

ऋषिः—शुनःशेपः। देवता—अग्निः। छन्दः—स्वराडार्षीजगती। स्वरः—निषादः॥

सजातों में मध्यमेष्ठ

अग्निः पृथुर्धर्मणस्पतिर्जुषाणोऽअग्निः पृथुर्धर्मणस्पतिराज्यस्य वेतु स्वाहा। स्वाहाकृताः सूर्यस्य रश्मिभिर्यतध्वꣳसजातानां मध्यमेष्ठ्याय॥२९॥

गत मन्त्र का 'अभिभूः'=सब शत्रुओं का अभिभव करनेवाला १. **अग्निः**=निरन्तर आगे बढ़ता है। २. **पृथुः**=(प्रथ विस्तारे) अपनी शक्तियों का विस्तार करता है। ३. **धर्मणः पतिः**=सदा धर्म का रक्षक होता है। ४. **जुषाणः**=अपने धर्म का प्रीतिपूर्वक सेवन करता है। ४. यह 'अग्नि, पृथु व धर्मणस्पति' **आज्यस्य**=घृत का **वेतु**=पान करे। 'घृतमायुः' इस वाक्य में घृत को उत्तम जीवन का कारण कहा गया है। अथवा 'घृत' का अभिप्राय 'क्षरण व दीप्ति' है। यह मलों का क्षरण करनेवाला हो और दीप्ति प्राप्त करे। ५. इसके लिए यह **स्वाहा**=स्वार्थ का त्याग करनेवाला हो। ६. इन स्वार्थ-त्याग करनेवालों से कहते हैं कि हे **स्वाहाकृताः** =स्वार्थ-त्याग करनेवालो! तुम **सूर्यस्य रश्मिभिः**=सूर्य-किरणों के साथ **यतध्वम्**=यत्नशील बनो। सूर्योदय के साथ ही कर्तव्य-कर्मों में व्यापृत हो जाओ और जब तक ये किरणें रहती हैं, अर्थात् सूर्यास्त तक कर्मों में लगे रहो। ३. **सजातानाम्**=समानरूप से उत्पन्न हुए लोगों में **मध्यमेष्ठ्याय**=मध्यम स्थान में अवस्थित होने के लिए यही मार्ग है। जैसे राजा केन्द्र में अवस्थित होता है और मन्त्रिवर्ग उसके दायें-बायें स्थित होते हैं, उसी प्रकार यह सूर्य-किरणों के साथ कार्य-व्यापृत व्यक्ति अपने सजातों के मध्य-स्थान में स्थित होता है, अर्थात् अपने सजातों में श्रेष्ठ बनता है।

भावार्थ—हम 'अग्नि-पृथु-धर्मणस्पति' बनकर मलों का क्षरण करें और दीप्ति प्राप्त करें। स्वार्थ की भावना से ऊपर उठकर निरन्तर क्रिया में लगे रहें और इस प्रकार अपने सजातों में श्रेष्ठ बनें।

ऋषिः—शुनःशेपः। देवता—सवित्रादिमन्त्रोक्ताः। छन्दः—भुरिग्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

देवतया-प्रसूतः

सवित्रा प्रसवित्रा सरस्वत्या वाचा त्वष्ट्रा रूपैः पूष्णा पशुभिरिन्द्रेणास्मे बृहस्पतिना ब्रह्मणा वरुणेनौजसाऽग्निना तेजसा सोमेन राज्ञा विष्णुना दशम्या देवतया प्रसूतः प्रसर्पामि॥३०॥

इस मन्त्र का मुख्य वाक्य यह है कि **देवतया**=देवता से **प्रसूतः**=(प्रेरितः) प्रेरित हुआ-हुआ **प्रसर्पामि**=मैं अपने इस जीवन में आगे और आगे बढ़ता हूँ। 'किन-किन देवताओं से और किस-किस दृष्टिकोण से प्रेरित हुआ-हुआ', इस प्रश्न का उत्तर निम्न

वाक्यों में द्रष्टव्य है—१. **सवित्रा**=सविता देव से, सूर्य से **प्रसवित्रा**=प्रकृष्ट प्रेरणा के दृष्टिकोण से प्रेरित हुआ-हुआ मैं आगे और आगे चलता हूँ। सूर्य मुझे तीन वाक्यों में यह उत्कृष्ट प्रेरणा दे रहा है कि (क) मेरी तरह आगे और आगे बढ़ते चलो, (ख) स्तुति-निन्दा से विचलित न होओ (ग) तुम्हारी सब क्रियाएँ बिना पक्षपात के हों। मैं राजा व रंक दोनों के भवनों व झोंपड़ों में समानरूप से प्रकाश प्राप्त कराता हूँ। तूने भी बिना भेदभाव के अपना व्यवहार करना। २. **सरस्वत्या**=विद्या की अधिदेवता सरस्वती से **वाचा**=वाणी के दृष्टिकोण से, ज्ञान की वाणी के हेतु से प्रेरित हुआ-हुआ मैं चलता हूँ। सरस्वती की प्रेरणा यही है कि कण-कण ज्ञानसंग्रह करके तथा एक-एक क्षण का उपयोग करते हुए तूने जीवन-यात्रा में चलना। ३. **त्वष्ट्रा**=त्वष्टा से **रूपैः**=रूपों के दृष्टिकोण से प्रेरित हुआ-हुआ मैं चलता हूँ। त्वष्टा देवशिल्पी है, यह गर्भस्थ बालक के अङ्ग-प्रत्यङ्ग को सुरूप बनाता है। यह यही प्रेरणा देता है कि अपने स्वास्थ्य का पूर्ण ध्यान करते हुए उत्तम रूपवाले बने रहना। हम स्वस्थ रहें और उत्तम रूपवाले बने रहें। ४. **पूष्णा**=पूषा देवता से **पशुभिः**=पशुओं के दृष्टिकोण से प्रेरित हुआ-हुआ मैं चलता हूँ। पोषण की देवता 'पूषा' है। यह एक ही बात कहती है कि घर में गौ आदि पशुओं को अवश्य रखना। गौ के बिना सबका समुचित पोषण सम्भव नहीं। गौ ही दुग्धादि से समुचित पोषण करती हुई हमें 'वसु, रुद्र व आदित्य' बनाती है। ५. **इन्द्रेण**=परमैश्वर्यशाली प्रभु से, देवराट् से, **अस्मे**='हमारा ही बने रहना' इस प्रकार प्रेरणा लेता हुआ मैं जीवन-यात्रा में चलता हूँ। प्रभु कहते हैं कि संसार में विषयों में उलझकर हमें भुला न देना। हम संसार में रहें, पर प्रभु को भूल न जाएँ। ६. **बृहस्पतिना**=सर्वोच्च दिशा के, ऊर्ध्वा के, अधिपति बृहस्पति से **ब्रह्मणा**=बड़ा बनने के दृष्टिकोण से प्रेरित हुआ-हुआ मैं चलता हूँ। बृहस्पति यही कहते हैं कि संसार में बड़ा बनने का प्रयत्न करना, कोई-न-कोई निर्माण का कार्य अवश्य करना—यही ब्रह्म बनने का मार्ग है। ब्रह्मा (creator) निर्माता है। ७. **वरुणेन**=वरुणदेव से **ओजसा**=ओजस्वी बनने के हेतु से प्रेरित हुआ-हुआ मैं चलता हूँ। वरुण देव मुझे यही कह रहे हैं कि द्वेष का निवारण करना, व्रतों के बन्धन में अपने को बाँधना, जिससे तुम ओजस्वी बन सको। द्वेषाग्नि में जलता हुआ अनियन्त्रित जीवनवाला व्यक्ति ओजस्वी नहीं होता। ८. **अग्निना**=अग्निदेव से **तेजसा**=तेज के दृष्टिकोण से प्रेरित हुआ-हुआ मैं चलता हूँ। अग्नि मुझे यही कह रही है कि जैसे मैं अपने तेज से सब मलों को भस्म कर देती हूँ, उसी प्रकार तूने सब मलों का दहन करते हुए संसार में आगे बढ़ना। ९. **सोमेन**=सोमदेवता से **राज्ञा**=(राजृ दीप्तौ) दीप्त, यशस्वी (glorious) जीवन बिताने के लिए प्रेरित हुआ-हुआ मैं जीवन-यात्रा में आगे बढ़ता हूँ। सोम मानो मुझे यही कह रहा है कि मेरी रक्षा करते हुए स्वस्थ-शरीर, निर्मल-मन व तीव्र बुद्धिवाला होकर उज्ज्वल जीवनवाला बनना (सोम=वीर्य)। इस उज्ज्वल जीवन में सौम्यता हो, उग्रता न हो। १०. अब **दशम्या**=दशमी देवता **विष्णुना** =विष्णु से प्रेरित हुआ-हुआ मैं सब व्यवहार करता हूँ। इस देवता की प्रेरणा यही है कि 'विष् व्याप्तौ' व्यापक दृष्टिकोणवाला बनना, उदार हृदयवाला बनना। संकुचित मनोवृत्तिवाला न बन जाना। तेरा सारा व्यवहार विशालता, उदारता को लिये हुए हो। **'उदारं धर्ममित्याहुः'**=यह उदारता ही धर्म है।

भावार्थ—हमारा जीवन देवों के आशीर्वाद से प्रेरणा लेकर चले। प्रेरणा यह है—**सूर्य**—आगे बढ़ो, स्तुति-निन्दा से विचलित न होओ, बिना पक्षपात के तुम्हारा व्यवहार हो। **सरस्वती**—अधिक-से-अधिक ज्ञानवाणियों का उपादान करना। **त्वष्टा**—स्वास्थ्य से सुरूप रहना। **पूषा**—घर में गौ अवश्य रखनी। गौ का स्थान कुत्ता न ले-ले। **इन्द्र**—प्रभु का ही बने

रहना। **बृहस्पति**—बड़ा बनना। **वरुण**—ओजस्वी बनना। **अग्नि**—तेजस्वी होना। **सोम**—यशस्वी होना। **विष्णु**—उदार बनना।

ऋषिः—शुनःशेपः। देवता—क्षत्रपतिः। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

प्रभु का सतत मित्र

अश्विभ्यां पच्यस्व सरस्वत्यै पच्यस्वेन्द्राय सुत्राम्णे पच्यस्व।
वायुः पूतः पवित्रेण प्रत्यङ्क्सोमो अतिस्रुतः। इन्द्रस्य युज्यः सखा॥३१॥

१. गत मन्त्र के अनुसार देवों से प्रेरणा प्राप्त करके जब हम अपनी जीवन-यात्रा में चलेंगे तो यात्रा के अन्तिम प्रयाण=पड़ाव तक पहुँचेंगे। यह अन्तिम प्रयाण प्रस्तुत मन्त्र की समाप्ति पर 'इन्द्रस्य युज्यः सखा' इन शब्दों में कहा गया है। हे जीव! अब तो तू उस **इन्द्रस्य**=परमैश्वर्यशाली, सर्वशक्तिमान् प्रभु का **युज्यः** =सदा साथ रहनेवाला **सखा**=मित्र हो गया है। २. ऐसा बनने के लिए तू **अश्विभ्याम्**=प्राणापान के लिए **पच्यस्य** =अपना परिपाक कर। प्राणापान की साधना में अपने को परिपक्व कर। प्राणायाम के दैनन्दिन अभ्यास से तू इन्हें अपने वश में करनेवाला बन। ३. **सरस्वत्यै**=विद्या की अधिदेवता के लिए **पच्यस्व**=तू अपना परिपाक कर। ज्ञानाग्नि में अपने को परिपक्व करके वैदुष्य प्राप्त कर। ४. इस प्रकार प्राण व ज्ञान की अग्नि में अपने को परिपक्व करता हुआ तू **सुत्राम्णे**= अत्यन्त उत्तम रक्षक **इन्द्रस्य**=परमैश्वर्यवान्, सर्वशत्रुसंहारक प्रभु के लिए **पच्यस्व**=परिपक्व बन। प्राण-साधना और ज्ञान-प्राप्ति ही तुझे प्रभु-प्राप्ति-क्षम करेगी। ५. प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर चलता हुआ तू **वायुः**=(वा गतिगन्धनयोः) गति के द्वारा सब बुराइयों का हिंसन करनेवाला होगा। क्रियाशील बना रहकर तू अपने में मलिनता को न आने देगा। ६. और वस्तुतः **पवित्रेण पूतः**=तू ज्ञान से निरन्तर पवित्र किया जा रहा होगा। ज्ञानाग्नि तेरी सब रागद्वेषादि मलिनताओं को भस्म कर रही होगी। इन मलिनताओं के दूर हो जाने पर ७. **प्रत्यङ् सोमः**=तू अपने अन्दर उस **सोम** =शान्तात्मावाला होगा (You will realise the God within)। तुझे हृदयस्थ प्रभु के दर्शन होंगे। ८. **अतिस्रुतः** =(स्रु गतौ) ब्रह्मनिष्ठ होकर तू अतिशयेन क्रियाशील होगा। तेरा जीवन अकर्मण्य न होगा। और ९. तू **इन्द्रस्य युज्यः सखा**=उस प्रभु का सतत साथ रहनेवाला मित्र बनेगा।

भावार्थ—प्राण-साधना व ज्ञान-प्राप्ति मुझे उस सोम का सतत सखा बनने में समर्थ करें।

ऋषिः—शुनःशेपः। देवता—क्षत्रपतिः। छन्दः—निचृद्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

प्रभु-प्राप्ति की यात्रा

कुविदङ्ग यवमन्तो यवं चिद्यथा दान्त्यनुपूर्वं वियूय।
इहेहैषां कृणुहि भोजनानि ये बर्हिषो नमऽउक्तिं यजन्ति।
उपयामगृहीतोऽस्यश्विभ्यां त्वा सरस्वत्यै त्वेन्द्राय त्वा सुत्राम्णे॥३२॥

१. गत मन्त्र में प्रभु-प्राप्ति के लिए प्राण-साधना व ज्ञान-प्राप्ति का उल्लेख किया था। उसी प्रसङ्ग में कहते हैं कि **कुवित्**=खूब और **अङ्ग**=शीघ्र ही **यवमन्तः**=जौ के खेतवाले **यवम्**=जौ को **चित्**=निश्चय से **यथा**=जैसे **अनुपूर्वम्**=क्रमशः **वियूय**=पृथक् करके **दान्ति**=काटते हैं, तीन-चार दण्डों (stalks=डण्ठलों) को बायें हाथ में पकड़कर

दायें हाथ से दराँती द्वारा काटते जाते हैं, इसी प्रकार ये आत्म-जिज्ञासु लोग भी एक-एक करके कोशों को पृथक् करते जाते हैं और अन्त में सारी मूँज के अलग हो जाने पर जैसे इषिका (सींक) के दर्शन होते हैं उसी प्रकार सब कोशों से ऊपर उठ जाने पर अन्तःस्थित आत्म-तत्त्व का दर्शन होता है। २. इन आत्म-जिज्ञासुओं में कोई अन्नमयकोश को पृथक् करने में लगा है, कोई प्राणमयकोश को अलग कर रहा है। कोई एक पग और आगे बढ़कर मनोमयकोश तक जा पहुँचा है। एक-आध विज्ञानमयकोश तक पहुँच गया है और आनन्दमय कोश पर पहुँचने के लिए प्रयत्नशील है।

हे प्रभो! **इह इह**=उस-उस स्थान पर पहुँचे हुए **एषाम्**=इन आत्म-जिज्ञासुओं की **भोजनानि**=(भुज=पालन) पालन-व्यवस्थाओं को **कृणुहि**=आप ही करने की कृपा कीजिए। आपसे पालित व सुरक्षित होकर ही ये आगे बढ़ पाएँगे। हे प्रभो! आपने ही इन सबका पालन करना है **ये**=जो **बर्हिषः**=उस-उस कोश का उद्बर्हण करनेवाले उपासक **नमः उक्तिम्**=नमन के कथन से **यजन्ति**=आपकी उपासना करते हैं। ३. हे साधक! **उपयामगृहीतः असि**=तू उपासना द्वारा यम-नियमों का स्वीकार करनेवाला बना है। **अश्विभ्यां त्वा**=प्राणापान की साधना के लिए तुझे प्रेरित करता हूँ। **सरस्वत्यै त्वा**=ज्ञान की देवता के आराधन के लिए तुझे प्रेरित करता हूँ। **त्वा**=तुझे **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु-प्राप्ति के लिए प्रेरित करता हूँ, जो **सुत्राम्णे**=सबका उत्तम त्राण करनेवाले हैं।

भावार्थ—हम एक-एक कोश से ऊपर उठते हुए आत्म-तत्त्व का दर्शन करनेवाले बनें। उपयामगृहीत बनें। प्राणापान की साधना करें, ज्ञान-प्राप्तिवाले हों।

ऋषिः—शुनःशेपः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

पति-पत्नी (आत्मा+परमात्मा)

युवꣳसुराममश्विना नमुचावासुरे सचा।
विपिपाना शुभस्पतीऽइन्द्रं कर्मस्वावतम्॥३३॥

१. जब जीवात्मा परमात्मा से सम्पर्क स्थापित कर लेता है तब प्रभु पति हैं जीवात्मा पत्नी है। उस समय **युवम्**=तुम दोनों **अश्विना**=(अश् व्याप्तौ) कर्मों में व्याप्त होनेवाले, **आसुरे नमुचा**=असुरों के प्रधान अहंकार (न+मुच्) के संहार के निमित्त **सचा**=मेलवाले **सुरामम्**=उत्तम रमणीय सोम को (सुरमणीयम्) **विपिपाना**=विशेषरूप से पीते हुए **शुभस्पती**=शुभ कार्यों के रक्षक होते हुए **इन्द्रम्**=इन्द्र को **कर्मसु**=कर्मों के करने के निमित्त **आवतम्**=पालित करो, अर्थात् इन्द्र को स्वकर्मक्षम बनाओ। २. परमात्मा व जीवात्मा पति-पत्नी के समान हैं। दोनों अश्विना=कर्मों में व्याप्त रहनेवाले हैं। प्रयत्न उनका गुण है। प्रभु के कर्म सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति व प्रलयरूप हैं। जीव के कर्म ज्ञानोपार्जन, सन्तान-पालन, आत्म-दर्शन व ज्ञान-प्रसार आदि हैं। ३. परमात्मा अहंकार-शून्य है। जीव में अल्पज्ञता के कारण अहंकार आ जाता है, परन्तु जब यह जीव प्रभु के सम्पर्क में आता है तब अहंकार को जीत लेता है। उसी समय अन्य वासनाओं के विजय से यह सोम के पान में भी समर्थ होता है—वीर्य-रक्षा कर पाता है। इस सोमपान का परिणाम यह होता है कि यह शुभ कार्यों में प्रवृत्त होता है, अशुभ कर्मों का त्याग कर देता है। ४. इस सोमपान से उसकी सब इन्द्रियों की शक्ति का वर्धन होता है और वह इन्द्र स्वकर्मक्षम बनता है।

भावार्थ—परमात्मा के सम्पर्क से हमारा अहंकार नष्ट हो। हम सोम का पान करें

और शुभ कार्यों में प्रवृत्त रहें।

ऋषिः—शुनःशेपः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

प्राणापान का रक्षक

पुत्रमि॑व पि॒तरा॑व॒श्विनो॒भेन्द्रा॒वथुः॒ काव्यै॑र्द॒ꣳसना॑भिः।
यत्सु॒रामं॒ व्यपि॑बः॒ शची॑भिः॒ सर॑स्वती त्वा मघवन्नभिष्णक्॥३४॥

१. हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **इव पितरौ**=जैसे माता-पिता **पुत्रम्**=पुत्र को **अवथुः**=रक्षित करते हैं, इसी प्रकार **काव्यैः**=कवि-कर्मों से, मन्त्र-दर्शनों से, अर्थात् तत्त्व-ज्ञान की प्रतिपादिका वाणियों से तथा **दंसनाभिः**=उत्तम कर्मों से **उभा अश्विना**=ये दोनों प्राणापान **अवथुः**=तेरी रक्षा करते हैं। प्राण-साधना से जहाँ इन्द्रियदोष दूर होकर अपवित्र कर्म नहीं होते वहाँ बुद्धि तीव्र होकर सूक्ष्म-तत्त्वों के ज्ञानवाली भी होती है। २. इस प्राण-साधना से सोम की भी शरीर में ऊर्ध्व गति होती है। हे इन्द्र! **यत्**=जब तू **सुरामम्**=सुरमणीय इस सोम को **व्यपिबः**=पीता है, जब इसका अपव्यय न होने देकर तू इसे शरीर में ही सुरक्षित करता है. तब **शचीभिः**=उत्तम प्रज्ञानों व कर्मों से **सरस्वती**=यह विद्या की अधिदेवता हे **मघवन्**=ज्ञानैश्वर्य-सम्पन्न तथा (मघ=यज्ञ) यज्ञमय जीवनवाले जीव! **त्वा**=तुझे **अभिष्णक्**=उपसेवित करती है। (निणाज् उपसेवायाम्)। ३. यह प्रज्ञान व यज्ञात्मक कर्म ही वे दो पंख हैं, जिनसे जीवरूप सुपर्ण उस प्रभु-रूप सुपर्ण को प्राप्त करता है। सुपर्ण को सुपर्ण बनकर ही पाया जा सकता है, अतः हम ज्ञान व यज्ञकर्म रूप सुपर्णोंवाले बनें और इसके लिए प्राण-साधना करें।

भावार्थ—प्राण-साधना से हम तत्त्व-ज्ञान व यज्ञात्मक कर्मोंवाले बनें, यही प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है।

॥इति दशमोऽध्यायः सम्पूर्णः॥

एकादशोऽध्यायः

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—विराडार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

मनो-योग

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्याऽअध्याभरत्॥१॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि प्रजापति और देवता 'सविता' है (सु प्रसवैश्वर्ययोः)। यह ज्ञानैश्वर्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। इसके लिए **प्रथमम्**=सबसे पूर्व **मनः**=मन को **युञ्जानः**=उस आत्मतत्त्व में लगाने की वृत्तिवाला बनता है। वस्तुतः मन को विषयों से हटाकर आत्मतत्त्व में लगाने का नाम ही योग है। इधर से उखाड़ना, उधर लगाना। २. इस योग के द्वारा यह **सविता**=ज्ञानैश्वर्य का साधक **धियः**=बुद्धियों को **तत्त्वाय**=(तनित्वा) विस्तृत करके उस प्रभु की ज्योति को देखता है। वह परमात्मा सब भूतों के अन्दर गूढ़ होते हुए भी दिखता नहीं। बुद्धि के द्वारा उस प्रभु का दर्शन तब होता है जब हम बुद्धि को तीव्र व सूक्ष्म करने का प्रयत्न करते हैं। (**एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः**)। ३. योगभ्यास के द्वारा सूक्ष्म हुई इस बुद्धि से **अग्नेः**=उस अग्रणी प्रभु के **ज्योतिः**=प्रकाश को **निचाय्य**=निश्चय से उपलब्ध करके ही मनुष्य **पृथिव्या अध्याभरत्**=इन पार्थिव भोगों से अपने को ऊपर उठा पाता है। **'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते'** विषय-रस तो उस परम प्रभु के दर्शन पर ही निवृत्त होता है और वस्तुतः इस विषय-रस की निवृत्ति होने पर ही मनुष्य इस पार्थिव देह से ऊपर उठता है, अर्थात् बन्धन से ऊपर उठकर मोक्ष का भागी होता है। ४. यहाँ प्रसङ्गवश यह स्पष्ट है कि वे प्रभु 'प्रकाश' रूप हैं। एक योगी अन्दर-ही-अन्दर इस ज्योति के दर्शन करता है। यह योग ही इस ज्योति के दर्शन का साधन है। इसे अनिर्विण्ण चित्त से करते चलने में ही कल्याण है। दीर्घकाल तक, निरन्तर, आदर से सेवित होने पर यह योग दृढ़भूमि होता है और हमें प्रभु से मिलाता है।

भावार्थ—मोक्ष-मार्ग का क्रम यह है—१. मन को आत्मतत्त्व में लगाना २. योग द्वारा बुद्धि का तनूकरण, बुद्धि को तीव्र बनाना ३. प्रभु के प्रकाश को देखना ४. विषय-रस निवर्तन तथा ५. मोक्ष।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—शुङ्कुमतीगायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

कर्मयोग

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे। स्वर्ग्याय शक्त्या॥२॥

१. पिछले मन्त्र में मन को विषयों से हटाकर आत्मतत्त्व में लगाने का प्रतिपादन था। यही 'योग' कहलाता है। 'स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा' इस योग को अनिर्विण्ण चित्त से सदा करते ही रहना चाहिए। इस योग के द्वारा **युक्तेन**=एकाग्र हुए **मनसा**=मन से **वयम्**=हम **सवितुः देवस्य**=उस प्रेरक दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु की **सवे**=प्रेरणा में, अर्थात् उसकी प्रेरणा के अनुसार **शक्त्या**=यथाशक्ति **स्वर्ग्याय**=स्वर्गसाधक कार्यों

के लिए प्रयत्न करें। २. योग के अभ्यास से हमने मन को स्थिर करने का प्रयत्न किया, परन्तु इस स्थिरता को नष्ट न होने देने के लिए आवश्यक है कि हम इसे किन्हीं उपयुक्त कर्मों में लगाये रक्खें अन्यथा यह फिर विषयोन्मुख हो हमें निरन्तर भटकानेवाला हो जाएगा। मन की दिशा को ही बदला जा सकता है, इसे बिलकुल समाप्त नहीं किया जा सकता। इसका वेग उत्तम कर्मों की दिशा में हो जाने पर यह सदा उन्हीं में लगा रहेगा और हमारे जीवन को स्वर्गतुल्य बना देगा। ३. उत्तम कर्म वे ही हैं जिनकी प्रेरणा प्रभु से दी गई है। वस्तुतः धर्म की अन्तिम कसौटी ही यह है कि जो हमारी आत्मा को, अर्थात् अन्तःस्थित प्रभु को प्रिय लगे, अतः मन को वश में करके हम अपनी ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञान-प्राप्ति में लगाये रक्खें और कर्मेन्द्रियों को यज्ञादि उत्तम कर्मों में व्यापृत किये रहें। यही जीवन को सुखी बनाने का मार्ग है। यही सच्चा कर्मयोग है। ४. अकर्मण्य पुरुष का मन फिर पापों में जाने लगता है, अतः उसे उत्तम कर्मों में ही लगाये रखना है।

भावार्थ—१. मन को युक्त करें २. प्रभु से आदिष्ट कर्मों में उसे यथाशक्ति लगाये रक्खें ३. यही स्वर्ग-प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

इन्द्रिय-संयम

युक्त्वाय सविता देवान्त्स्वर्यतो धिया दिवम्।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान्॥३॥

गत मन्त्र का **सविता**=मन, बुद्धि व इन्द्रियों को उत्तम प्रेरणा देनेवाला योगी 'स्वर्ग्याय शक्त्या' शक्ति के अनुसार स्वर्ग-साधक कर्मों को करनेवाला है। यह **स्वर् यतः**=यज्ञादि उत्तम कर्मों से स्वर्ग की ओर जानेवाली **देवान्**=इन इन्द्रियों को **युक्त्वाय**= मनो-निरोध के द्वारा आत्मतत्त्व की ओर लगाकर **धिया**=बुद्धि व प्रज्ञानों से **दिवम्**=प्रकाशमय **बृहत्**=वृद्धि की कारणभूत **ज्योतिः**=ज्ञान की ज्योति परमात्मा को **करिष्यतः**=आत्मीय करता है। इस प्रकार **सविता**=यह आत्म-प्रेरणा देनेवाला योगी **तान् देवान्**=उन प्रकाशक इन्द्रियों को **प्रसुवाति**=प्रकृष्ट प्रेरणा प्राप्त कराता है।

संक्षेप में, १. सविता इन्द्रियों को उत्तम प्रेरणा देनेवाला योगी इन्द्रियों को बहिर्मुखता से हटाकर अन्तर्मुखता की ओर ले-चलता है—यही इन्द्रियों का युक्त करना है २. यज्ञादि कर्मों से यह उन्हें स्वर्ग की ओर जानेवाला बनाता है ३. बुद्धि के द्वारा उस 'प्रकाशमय बृहत् ज्योतिः' अर्थात् परमात्मा को अपनानेवाला होता है। ४. यह इन्द्रियों को सदा उत्तम प्रेरणा देता रहता है। 'हे आँख! तूने भद्र ही देखना है। हे कान! तूने भद्र ही सुनना है।' इस प्रकार यह इन्द्रियों को सचमुच 'देव' बना डालता है।

भावार्थ—इन्द्रिय-संयम-यज्ञ को करते हुए हम स्वर्ग साधक-कर्मों को ही करें। ज्ञान प्राप्त करें। परमात्म-दर्शन के लिए प्रयत्नशील हों। इन्द्रियों को सदा उत्तम प्रेरणा दें।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः॥

ईश-ध्यान

युञ्जते मनऽउत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेकऽइन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः॥४॥

१. **विप्राः**=विशेषरूप से ज्ञान द्वारा अपना पूरण करनेवाले **होत्राः**=सदा यज्ञ करके खानेवाले ज्ञानी लोग **मनः युञ्जते**=मन को उस परमात्मा में लगाते हैं। २. **उत**=और **विप्रस्य**=ज्ञानी **बृहतः**=सदा वर्धमान **विपश्चितः**=सर्वद्रष्टा उस प्रभु के **धियः**=प्रज्ञानों को **युञ्जते**=अपने साथ जोड़ते हैं। ३. वह **एकः इत्**=एक ही **वयुनावित्**=सब प्रज्ञानों को जाननेवाला है और **विदधे**=इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का निर्माण करता है। ४. उस **सवितुः देवस्य**=प्रेरक देव की **परिष्टुतिः**=वेदों में सब ओर सुनाई पड़नेवाली स्तुति **मही**=महान् है। ५. जब हम अपने मन को विषयों से हटाकर उसे आत्मतत्त्व के दर्शन में लगाने का प्रयत्न करते हैं तब उस महान् ज्ञानी प्रभु की ज्ञानवाणियों को अपने साथ जोड़नेवाले बनते हैं। उन वाणियों द्वारा हम जान पाते हैं कि उस प्रभु ने ही सारे लोक-लोकान्तरों को बनाया है और उस प्रभु की स्तुति महान् है।

भावार्थ—हम अपने मनों को प्रभु में लगाने का प्रयत्न करें और उसकी बनाई इस सृष्टि में उसकी महिमा को देखने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

वाणी का श्रावण

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्वि श्लोकऽएतु पथ्येव सूरेः।
शृण्वन्तु विश्वेऽअमृतस्य पुत्राऽआ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः॥५॥

१. **वाम्**=तुम दोनों पति-पत्नी को **नमोभिः**=नमन के द्वारा **पूर्व्यम्**=सृष्टि से पहले होनेवाले (अग्रे समवर्त्तत) **ब्रह्म**=प्रभु से **युजे**=सङ्गत करता हूँ। प्रातः-सायं नमस् की उक्तियों के द्वारा तुम प्रभु के समीप पहुँचते हो। २. इस प्रकार समीप पहुँचने पर **सूरेः**=उस उत्तम प्रेरणा देनेवाले ज्ञानी प्रभु की **श्लोकः**=छन्दोरूप वाणियाँ **पथ्या इव**=पथ-प्रदर्शिका के रूप में **विएतु**=तुम्हें विशिष्टरूप से प्राप्त हों। इन वाणियों में हम 'जीवन-यात्रा को किस प्रकार चलाना'—इस बात का विविध रूपों में उपदेश पाते हैं। ३. **विश्वे**=सब **अमृतस्य पुत्राः**=उस अमृत प्रभु के पुत्र, अर्थात् उस अमृत पिता की भाँति ही विषयों के पीछे न मरनेवाले योगिजन **शृण्वन्तु**=इन वाणियों को सुनें। ये वाणियाँ विषयासक्त पुरुषों को सुनाई नहीं पड़तीं। इन्हें तो वही सुनते हैं **ये**=जो **दिव्यानि धामानि**=प्रकाशमय तेजों के **आतस्थुः**=अधिष्ठाता बनते हैं। विषय-व्यावृत्त होकर यदि हम नम्रता से उस प्रभु के चरणों में उपस्थित होते हैं तो उस प्रभु की प्रकाशमयी वाणियों को सुन पाते हैं। यह विषय-व्यावृत्ति हमें दिव्य तेजों का अधिष्ठाता बनाती है।

भावार्थ—हम विषय-व्यावृत्त होकर उस अमृत पिता के अमृत पुत्र बनें, और उस पिता की प्रकाशमयी वाणियों को सुनें।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—निचृदार्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

प्रभु-स्तुति

यस्य प्रयाणमन्वन्यऽइद्ययुर्देवा देवस्य महिमानमोजसा।
यः पार्थिवानि विममे सऽएतशो रजांꣳसि देवः सविता महित्वना॥६॥

१. **यस्य देवस्य**=जिस देव के **प्रयाणम् अनु**=प्रयाण के निर्देशानुसार **अन्ये देवाः**=अन्य सब देव **इत्**=निश्चय से **ययुः**=चलते हैं। प्रभु ने इन देवों का जो भी मार्ग निश्चित

किया है उसी मार्ग पर ये सब निरन्तर चल रहे हैं। २. **यस्य ओजसा**=जिस देव के ओज से **अन्ये देवाः**=दूसरे सब देव **महिमानम्**=महिमा को **ययुः**=प्राप्त होते हैं। '**प्रभास्मि शशिसूर्ययोः**' इत्यादि वाक्यों के अनुसार सूर्य और चन्द्रमा आदि को उस प्रभु से ही प्रभा प्राप्त हुई है। '**तस्य भासा सर्वमिदं विभाति**'=उसी की चमक से सब पदार्थ चमक रहे हैं। जहाँ कहीं भी विभूति, श्री व ऊर्ज् है यह सब उस महान् देव का ही अंश है। '**तेन देवा देवतामग्र आयन्**'=देवों को देवत्व प्रभु से ही प्राप्त हुआ है। ३. **यः सविता देवः**=जो सबका उत्पादक देव **महित्वना**=अपनी महिमा से **पार्थिवानि रजांसि**=इन सब पार्थिव लोकों को **विममे**=विशेष माप से बनाता है। ४. **सः**=वही देव **एतशः**=(एतानि शेते) इन सब लोकों में निवास कर रहा है। उसके निवास से ही सब लोकों का धारण हो रहा है। सूर्यादि में प्रभु का निवास न हो तो वे एक बुझे कोयले की भाँति ही लगेंगे।

भावार्थ—१. प्रभु के प्रशासन में ही सब देव गति कर रहे हैं। २. उसके ओज से ही ये महिमावाले हो रहे हैं। ३. वही इन सबका निर्माण करते हैं। ४. वही इनका धारण करनेवाले हैं।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

प्रभु-भक्त के लक्षण (ज्ञान+माधुर्य)

देव॑ सवितः॒ प्रसु॑व य॒ज्ञं प्रसु॑व य॒ज्ञप॑तिं॒ भगा॑य।
दि॒व्यो ग॑न्ध॒र्वः के॑त॒पूः केत॑न्नः पुनातु वा॒चस्पति॒र्वाचं॑ नः स्वदतु॥७॥

१. हे **देव सवितः**=दिव्यताओं के पुञ्ज, सबके प्रेरक प्रभो! **यज्ञं प्रसुव**=आप हममें यज्ञ की भावना को प्रेरित कीजिए। आप से प्रेरणा प्राप्त करके हम यज्ञशील हों। २. **यज्ञपतिम्**=मुझ यज्ञपति को, यज्ञों की निरन्तर रक्षा करनेवाले को, यज्ञशील को **भगाय प्रसुव**=ऐश्वर्य के लिए प्रेरित कीजिए। यज्ञमय जीवनवाला मैं यज्ञिय उपायों से ही सेवनीय धन का लाभ करूँ। ३. वह **दिव्यः**=प्रकाशमयरूप में स्थित होनेवाला **गन्धर्वः** =वेदवाणी का धारण करनेवाला **केतपूः**=ज्ञान को पवित्र करनेवाला प्रभु **नः**=हमारे **केतम्**=ज्ञान को **पुनातु**=पवित्र करे। उस प्रभु की कृपा से हमारी ज्ञानाग्नि पवित्र पदार्थों के ज्ञान से ही दीप्त हो। हम अपने मस्तिष्क में कूड़ा-करकट ही न भरते चलें। ४. और **वाचस्पतिः**=वाणी का पति प्रभु **नः वाचम्**=हमारी वाणी को **स्वदतु**=स्वादवाला बना दे। हमारी वाणी में माधुर्य हो।

भावार्थ—१. हमारा जीवन यज्ञमय हो। २. यज्ञिय उपायों से ही हम सेवनीय धन को प्राप्त करें। ३. हमारा ज्ञान पवित्र व उज्ज्वल हो। ४. वाणी मधुर हो। संक्षेप में यज्ञ का परिणाम भग—धन है, ज्ञान का परिणाम माधुर्य। यज्ञ से हम भग को प्राप्त करें, ज्ञान से माधुर्य को। यही प्रभु-भक्त के लक्षण हैं। प्रभु-भक्त के अन्दर ज्ञानाग्नि दीप्त हो रही होती है तो उसके बाह्य व्यवहार में मधुर, शान्त-वचनों का जल बहता है।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—भुरिक्शक्वरी। **स्वरः**—धैवतः॥

विज्ञान+स्तुति

इ॒मं नो॑ देव सवितर्य॒ज्ञं प्रण॑य देवा॒व्यꣳ॑ सखि॒विद॒ꣳ स॒त्रा॒जितं॑ धन॒जित॑ꣳ स्व॒र्जित॑म्।
ऋ॒चा स्तोम॒ꣳ सम॑र्धय गाय॒त्रेण॑ रथन्त॒रं बृ॒हद्ग्गा॑य॒त्रव॑र्त्तनि॒ स्वाहा॑॥८॥

१. हे देव सवितः=प्रेरक, दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभो! **नः**=हमारे **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ

को **प्रणय**=आगे बढ़ाइए। (क) **देवाव्यम्**=जो यज्ञ वायु आदि सब देवों को (अवति=प्रीणयति) प्रीणित करनेवाला है। (ख) **सखिविदं**=जो यज्ञ हमें अपने सखा (परमात्मा) को (विद् लाभे) प्राप्त करानेवाला है। (ग) **सत्राजितम्**=जो सत्य का विजय करनेवाला है। (घ) **धनजितम्**=धन को जितानेवाला है। (ङ) **स्वर्जितम्**=सुख व स्वर्ग को जितानेवाला है। २. एवं, हमारे जीवन में उस यज्ञ का स्थान हो जो यज्ञ इहलोक व परलोक—दोनों का कल्याण सिद्ध करता है। वायु आदि सब देवों का शोधक होने से यह '**देवाव्य**' है, परमात्मा को प्राप्त करानेवाला है, जीवन को सत्यमय बनाता है। ३. हे प्रभो! आप हमारे जीवनों में **ऋचा**=विज्ञान से **स्तोमम्**=स्तुति को **समर्धय**=समृद्ध कीजिए। '**ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते**'=ज्ञान हमारे ध्यान में विशेषता उत्पन्न करनेवाला हो। पदार्थों के विज्ञान से हमें कण-कण में उस प्रभु की महिमा दिखे। उदाहरणार्थ—उड़द वातनाशक हैं, उड़द की दाल वातकारक है। प्रभु ने उड़द के दो दलों में एक पतली सींक-सी रक्खी है जो वातनाशक है। दाल बनाने पर वह छिटकी जाकर अलग हो जाती है, अतः उसका वातनाशक तत्त्व नष्ट हो जाता है। ४. **गायत्रेण**=(गयाः प्राणाः तान् तत्रे) प्राण-तत्त्व की रक्षा से **रथन्तरम्**=(ब्रह्मवर्चसं वै रथन्तरं—तै० २।७।१।१)। हमारे ब्रह्मवर्चस् को **समर्धय**=बढ़ाइए। हमारा शरीर प्राणशक्ति-सम्पन्न हो तो हमारा मस्तिष्क ज्ञान की सम्पत्ति से परिपूर्ण हो। ५. हमारा **बृहत्**=वृद्धि का कारणभूत स्तोम **गायत्र-वर्त्तनि**=प्राण के मार्गवाला हो, अर्थात् हम प्राणशक्ति-सम्पन्न हों और उस स्तुति के करनेवाले हों जो हमारी वृद्धि का कारण बनती है। ६. **स्वाहा**=इस सबके लिए हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले हों।

भावार्थ—हमारे जीवन में यज्ञ हो। विज्ञान के साथ स्तुति हो। प्राणशक्ति के साथ ब्रह्मवर्चस् हो। प्राणशक्ति की वृद्धि के साथ हमारे जीवन में वह स्तुति हो जो हमारी वृद्धि का कारण बने।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—भुरिगतिशक्वरी। **स्वरः**—पञ्चमः॥

'गायत्र-त्रैष्टुभ' छन्द

दे॒वस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम्।
आद॑दे गाय॒त्रेण॒ छन्द॑साङ्गिर॒स्वत्पृ॑थि॒व्याः स॒धस्था॑द॒ग्निं
पु॑री॒ष्य॒मङ्गिर॒स्वदा भ॑र॒ त्रैष्टु॑भेन॒ छन्द॑साङ्गिर॒स्वत्॥९॥

१. पिछले मन्त्र के अनुसार अपना जीवन बनाने के लिए मैं **त्वा**=तुझे अर्थात् प्रत्येक पदार्थ को **सवितुः देवस्य**=सर्वोत्पादक दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु की **प्रसवे**=अनुज्ञा में **आददे**=ग्रहण करता हूँ। न अतिमात्रा न अ-मात्रा में, अपितु यथोचित मात्रा में। २. **अश्विनोः बाहुभ्याम्**=प्राणापान के प्रयत्न से मैं तेरा ग्रहण करता हूँ, अर्थात् बिना श्रम के मैं किसी वस्तु को लेना पाप समझता हूँ। ३. **पूष्णो हस्ताभ्याम्**=पूषा के हाथों से मैं तेरा ग्रहण करता हूँ, अर्थात् पोषण के दृष्टिकोण से ही मैं प्रत्येक वस्तु का स्वीकार करता हूँ। वस्तुओं के ग्रहण में 'उपयोगिता' न कि 'स्वाद व सौन्दर्य' मेरा मापक है, इसीलिए तो भोगों का शिकार नहीं होता। ४. **गायत्रेण छन्दसा**=(गयाः प्राणाः, त्र रक्षण) प्राण-रक्षण की इच्छा से **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति मैं इस संसार में चलता हूँ। जो व्यक्ति इन भौतिक वस्तुओं की कामना 'प्राणरक्षण की उपयोगिता' के विचार से करता है वह '**अङ्गिरस्**'=रसमय अङ्गोंवाला, अर्थात् सदा लोच और लचक से युक्त अङ्गोंवाला बना रहता है—उसका शरीर

सूखे काठ की तरह नहीं हो जाता। प्रभु कहते हैं कि **पृथिव्याः**=इस पृथिवी के **सधस्थात्**=(सहस्थानात्) मिलकर बैठने के स्थान से **पुरीष्यम्**=(यः सुखं पृणाति स पुरीषः तत्र साधुम्—द०) जीवन को सुखी बनानेवाले **अग्निम्**=अग्नि को **आभर**=तू हव्यद्रव्यों से आभृत कर **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरा की भाँति तू नियमितरूप से अग्निहोत्र करनेवाला बन। अग्निहोत्र करनेवाला व्यक्ति नीरोग बनकर बड़े सुखी जीवनवाला होता है। उसके शरीर के सब अङ्ग नीरोगता के कारण रसमय बने रहते हैं। ५. **त्रैष्टुभेन छन्दसा**=अब तू 'काम, क्रोध व लोभ' तीनों को रोकने की इच्छा से **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस की भाँति बनने का प्रयत्न कर। ६. अङ्गिरा बनने के लिए 'गायत्र' व त्रैष्टुभ' छन्द साधन रूप हैं। प्राणशक्ति की रक्षा की प्रबल कामना हममें हो तथा काम-क्रोध-लोभ को रोकने के लिए हमें प्रयत्नशील होना चाहिए।

भावार्थ—मैं संसार में प्रभु की अनुज्ञा के अनुसार, यत्नपूर्वक, पोषण के दृष्टिकोण से वस्तुओं का ग्रहण करूँ। 'प्राणशक्ति की रक्षा व काम-क्रोध-लोभ के वेग को रोकना' मेरे जीवन का ध्येय हो। मैं 'अङ्गिरस' बनूँ। अङ्गिरस् की भाँति अग्निहोत्र करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—भुरिगनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

'जागत' छन्द

अभ्रिरसि नार्यसि त्वया वयमग्निꣳशकेम खनितुꣳसधस्थ आ।
जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वत् ॥१०॥

१. श० ६।४।१।५ में 'वाग्वा अभ्रिः' (अभ्रति गच्छति मलं यस्मात्) इन शब्दों में वेदवाणी को 'अभ्रि' कहा है। इस वेदवाणी के द्वारा हमारे सब मल दूर होते हैं, अतः **अभ्रिः असि**=तू अभ्रि है। इन ज्ञान की वाणियों से हमारा जीवन पवित्र होता है। २. **नारी असि**=जीवन को पवित्र करके तू नरहित को सिद्ध करनेवाली है। ३. **त्वया**=तेरे द्वारा **वयम्**=हम **अग्निम्**=उस अग्रेणी प्रभु को **खनितुं शकेम**=खोदने में समर्थ हों। **खन्**=excavate, cave में से—गुहा में से—बाहर ला सकें। वे प्रभु 'गुहाहितं'—गह्वरेष्ठम्' हैं। हम एक-एक कोश को अलग करते हुए उस प्रभु तक पहुँच सकें। ४. **जागतेन छन्दसा**=लोकहित की प्रबल कामना से **सधस्थे**=मिलकर एक स्थान पर बैठने की इस जगह पर, अर्थात् यज्ञवेदी पर **आ**=एकत्र होकर हम **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति बनें। यह अग्निहोत्र, वायुमण्डल की शुद्धि के द्वारा नीरोगता को उत्पन्न करके लोकहित का साधक होता है।

भावार्थ—हम हृदयरूप गुहा में स्थित प्रभु का दर्शन करने का प्रयत्न करें। उस कार्य में यह वेदवाणी हमारी सहायिका होगी। यह हमारे सब मलों को दूर करती है। शुद्ध हृदय में प्रभु का प्रकाश होता है। लोकहित के दृष्टिकोण से हम अग्निहोत्र को अपनाएँ। यह वायु-शुद्धि द्वारा नीरोगता को उत्पन्न कर जगती का कल्याण करता है।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

'आनुष्टुभ' छन्द

हस्तऽआधाय सविता बिभ्रदभ्रिꣳहिरण्ययीम्।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्याऽअध्याभरदानुष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वत् ॥११॥

१. **सविता**=अपने में ज्ञानैश्वर्य उत्पन्न करनेवाला 'सविता' गत मन्त्र में वर्णित वेदवाणी

को **हस्ते आधाय**=हाथ में धारण करके, (on the tip of his fingers), अर्थात् वेद-ज्ञान को आत्मसात् (assimilate) करके इस **हिरण्ययीम्**=ज्योतिर्मयी-ज्ञान के प्रकाश से परिपूर्ण **अभ्रिम्**=मलों के दूर करनेवाली (अभ्रति गच्छति मलं यस्मात्) वेदवाणी को **बिभ्रत्**=धारण करता हुआ **अग्नेः ज्योतिः**=उस अग्रेणी प्रभु के प्रकाश को **निचाय्य**=निश्चय से प्राप्त करके **पृथिव्याः अधि आभरत्**=अपने को पृथिवी से ऊपर उठाता है, अर्थात् सविता (क) वेदवाणी को अपनाता है। (ख) उसके ज्योतिर्मय ज्ञान को धारण करता है। (ग) प्रभु के प्रकाश को देखता है। (घ), और परिणामतः उस प्रभु-दर्शन के सुख की तुलना में उसके लिए सब पार्थिव भोग अत्यन्त तुच्छ हो जाते हैं। २. अब यह **आनुष्टुभेन**=अनुक्षण उस प्रभु के स्तवन की **छन्दसा**=इच्छा से **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति बन जाता है। वस्तुतः जिस व्यक्ति का जीवन सतत प्रभु स्मरणवाला हो जाता है उसका जीवन कभी भी इन प्राकृतिक विषयों से बद्ध नहीं होता, वह कभी भी भोगों का शिकार नहीं होता। परिणामतः उसके जीवन में उसके अङ्ग कभी नीरस नहीं होते।

भावार्थ—हम वेदवाणी का स्मरण करें। उसकी ज्ञान-ज्योति को देखें। प्रभु के प्रकाश का अनुभव करें। प्रतिक्षण प्रभु-स्मरण से जीवन को सरस बनाएँ।

सूचना—मन्त्र ९ से ११ तक क्रमशः 'गायत्र, त्रैष्टुभ, जागत व आनुष्टुभ' छन्दों का उल्लेख है। सामान्यतः ब्रह्मचारी को 'गायत्र' छन्दवाला होना है, वीर्यरक्षा द्वारा अपनी प्राणशक्ति का उचित पोषण करना उसका कर्त्तव्य है। गृहस्थ में प्रवेश करते समय 'त्रैष्टुभ' छन्द का पोषण करना है कि मुझे 'काम, क्रोध व लोभ' को रोकना है। वनस्थ होकर उसका छन्द 'जागत' हो गया है—जगती के हित के लिए वह अपने को साधना में चला रहा है और अन्त में संन्यस्त होकर वह आनुष्टुभ छन्दवाला हुआ है, यह अनुक्षण प्रभु का स्मरण करता हुआ जीवन-यात्रा को पूर्ण कर रहा है।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठः। **देवता**—वाजी। **छन्दः**—आस्तारपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

सर्वोत्तम संविभाग

प्रतूर्तं वाजिन्नाद्रव वरिष्ठामनु संवतम्।
दिवि ते जन्म परममन्तरिक्षे तव नाभिः पृथिव्यामधि योनिरित्॥१२॥

१. गत मन्त्र का आनुष्टुभ छन्द को अपनानेवाला, निरन्तर प्रभु-स्मरण करनेवाला 'सविता' सदा प्रभु के समीप रहने से 'नाभानेदिष्ठ' बना है—केन्द्र के समीप रहनेवाला। प्रभु संसार की नाभि-केन्द्र हैं, यह सदा प्रभु का उपासक रहता है। प्रभु की शक्ति से यह शक्ति-सम्पन्न बनता है और वाज=शक्तिवाला होने से 'वाजिन्' शब्द से यहाँ सम्बोधित हुआ है। हे **वाजिन्**=शक्तिशालीन् उपासक! **प्रतूर्तम्**=शीघ्रता से, आलस्य-शून्यता से **आद्रव**=समन्तात् गतिवाला हो—अपने सब कर्त्तव्यों को करनेवाला बन। २. तू अपने कर्त्तव्यों को **वरिष्ठां संवतं अनु** (**सम् वन् क्विप्**)=उत्कृष्ट सम्भजन-संविभाग के अनुसार करनेवाला हो। तू किसी एक ही कर्त्तव्य में न उलझ जा। यह उत्कृष्ट सम्भजन व संविभाग यह है कि—३. (क) **दिवि**=द्युलोक में, मस्तिष्क में **ते**=तेरा **परमम्**=सर्वोत्कृष्ट **जन्म**=प्रादुर्भाव व विकास हो, अर्थात् तू अपने ज्ञान को अधिक-से-अधिक ऊँचाई तक ले-जाने का प्रयत्न कर। ज्ञान-प्राप्ति में तू सन्तोष करके कभी बैठ न जा। (ख) **अन्तरिक्षे**=हृदयान्तरिक्ष में **तव**=तेरा **नाभिः**=बन्धन हो (नह बन्धने)। मन 'हृत् प्रतिष्ठ' है—तू अपने मन को हृदय में स्थिर

करने का प्रयत्न कर। अथवा **अन्तरिक्षे**=(अन्तरा क्षि) मध्यमार्ग में **तव**=तेरा **नाभिः**=बन्धन हो, अर्थात् तू सदा मध्यमार्ग में चलनेवाला बन। (ग) **इत्**=निश्चय से **योनिः**=तेरा घर **पृथिव्याम् अधि**=पृथिवी के ऊपर हो, तू अपने इस पार्थिव शरीर के अन्दर ही रहनेवाला हो—'स्वस्थ' हो। अथवा निश्चय से तेरा यह स्वस्थ शरीर तेरी सब उन्नतियों का कारण बने। 'धर्मार्थकाममोक्ष' सभी पुरुषार्थों का मूल यह आरोग्य ही तो है। एवं, तू ज्ञान से अपने मस्तिष्क को उज्ज्वल बना, सदा मध्यमार्ग पर चलते हुए अपने मन को वासनाओं से बचा और आरोग्य को सब उन्नतियों का मूल जानते हुए शरीर को स्वस्थ रखने के लिए यत्नशील हो। इस प्रकार तेरा प्रयत्न मस्तिष्क, मन व शरीर तीनों के लिए संविभक्त हो। ४. एवं, नाभानेदिष्ठ अपने प्रयत्न को उचित संविभागपूर्वक विनियुक्त करता हुआ अपने उपास्य प्रभु की भाँति ही त्रि-विक्रम बनता है। उसका पुरुषार्थ शरीर, मन व बुद्धि तीनों के लिए होता है।

भावार्थ—हमारे जीवन का केन्द्र प्रभु हों। उस केन्द्र से ज्ञान, नैर्मल्य व स्वास्थ्य की रश्मियों का प्रसार हो।

ऋषिः—कुश्रिः। **देवता**—वाजी। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

रासभ-योग

युञ्जाथाᳬरासभं युवमस्मिन् यामे वृषण्वसू। अग्निं भरन्तमस्मयुम्॥१३॥

१. गत मन्त्र की भावना के अनुसार जो पति-पत्नी प्रभु को अपने जीवन का केन्द्र बनाते हैं वे **वृषण्वसू**=शक्तिशाली अथवा सुखों के वर्षक प्रभुरूप धनवाले होते हैं। इन पति-पत्नी से कहते हैं कि—२. **युवम्**=तुम दोनों **अस्मिन् यामे**=इस जीवन-मार्ग में **रासभम्**=(रास् शब्दे) हृदयस्थ होकर सदा ज्ञान के शब्दों का उच्चारण करनेवाले उस प्रभु को **युञ्जाथाम्**=अपने साथ युक्त करने का प्रयत्न करो। तुम्हारा मन उस प्रभु में लगे और तुम उस प्रभु की वाणी को सुनने के लिए यत्नशील होओ। ३. वे प्रभु **अग्निं भरन्तम्**=हमारे अन्दर अग्नि का भरण करनेवाले हैं—हमारे जीवन में उत्साह का सञ्चार करनेवाले हैं और **अस्मयुम्**=(अस्मान् कामयमानम्—उ०) सदा हमारा हित चाहनेवाले हैं, अतः प्रभु की वाणी को सुनने से अवश्य हमारा भला ही होगा और हमें जीवन में कभी निराशा न होगी। हम सदा सोत्साह बने रहेंगे। ३. वे प्रभु प्रस्तुत मन्त्र में 'रासभ' कहे गये हैं—वे (रास् शब्दे) हृदयस्थरूपेण सब विद्याओं का उपदेश देते रहते हैं। इन विद्याओं का उपदेश देने से ही वे 'कु' (**कौति सर्वा विद्याः**) कवि हैं। उनकी (श्रि सेवायाम्) उपासना करने से प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'कु-श्रि' है। यह इस '**कु**'=कवि की काव्यमय वाणियों में उत्साह व हित देखता है। उसी का उपासन, मनन करता है।

भावार्थ—हम अपनी जीवन-यात्रा में प्रभु को अपने से युक्त करके चलें। उस प्रभु की वाणियाँ हमारे जीवन में अग्नि=उष्णता व उत्साह का सञ्चार करेंगी।

ऋषिः—शुनःशेपः। **देवता**—क्षत्रपतिः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

तवस्तर

योगेयोगे तवस्तरं वाजेवाजे हवामहे। सखायऽइन्द्रमूतये॥१४॥

१. गत मन्त्र में अपने जीवन-मार्ग में प्रभु को युक्त करने का उपदेश था। उसी प्रसङ्ग में कहते हैं कि **योगेयोगे**=जब-जब हम प्रभु से अपना योग करते हैं तब वे प्रभु **तवस्तरम्**=(तवस्=बल) हमारे बल को अधिक और अधिक बढ़ाते हैं। पिछले मन्त्र में प्रभु

से मेल करनेवाले पति-पत्नी को '**वृषण्वसू**' कहा था—शक्तिशाली, प्रभुरूप धनवाले। प्रभु को अपना धन बनाकर वे वाजी=शक्तिशाली बने थे। उस १३वें मन्त्र का विषय (देवता) यह 'वाजी' ही था। प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि '**शुनःशेप**'=सुख का निर्माण करनेवाला है। शक्तिशाली का ही जीवन सुखी होता है। यह 'शुनःशेप' भी प्रभु के योग के कारण 'क्षत्रपति' है, बल का स्वामी है। यही प्रस्तुत मन्त्र का देवता=विषय है। २. **वाजे-वाजे**=प्रत्येक संग्राम में **हवामहे**=हम उस प्रभु को पुकारते हैं। वस्तुतः उस प्रभु ने ही विजय करानी है। हमारी शक्ति विजय करने की नहीं। हमारा रथ प्रभु से अधिष्ठित होता है तो विजयी होता है अन्यथा इसके लिए पराजय-ही-पराजय है। ३. **सखायः**=अतः हम उस प्रभु के सखा बनने के लिए प्रयत्नशील होते हैं। वे प्रभु हमारे '**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया**'=सयुज् सखा हैं—कभी साथ न छोड़नेवाले मित्र हैं। ४. **इन्द्रम्**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभु को **ऊतये**=रक्षा के लिए हम अपने साथ युक्त करते हैं। प्रभु से युक्त होने पर इस प्रभु के नाम-श्रवण से ही शत्रुओं के सेनापति काम का संहार हो जाता है। सब शत्रुओं का विजय करके हम अपने जीवन को बड़ा सुखी बना पाते हैं और प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'शुनःशेप' होते हैं।

भावार्थ—प्रभु की उपासना हमें शक्तिशाली बनाती है। शत्रुओं के साथ संग्राम में हमें विजयी करती है। हमारा जीवन सुखमय होता है।

ऋषिः—शुनःशेपः। **देवता**—गणपतिः। **छन्दः**—आर्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

गणपतित्व

प्रतूर्वन्नेह्यवक्रामन्नशस्ती रुद्रस्य गाणपत्यं मयोभूरेहि।
उर्वन्तरिक्षं वीहि स्वस्तिगव्यूतिरभयानि कृण्वन् पूष्णा सयुजा सह॥१५॥

१. पिछले मन्त्र के अनुसार प्रत्येक संग्राम के अवसर पर प्रभु को पुकारते हुए **अशस्तीः**=सब अशुभ—अशंसनीय बातों को **अवक्रामन्** (क्रमु पादविक्षेपे)=पाँवो तले कुचलते हुए **प्रतूर्वन्**=आसुरवृत्तियों को प्रकर्षेण हिंसित करते हुए **एहि**=तू गति कर। मनुष्य के लिए यही उचित है कि अशुभ कर्मों को कुचल डाले। २. इस प्रकार करता हुआ **मयोभूः**=कल्याण का भावन करनेवाला तू **रुद्रस्य**=(रुत्+र) ज्ञान का उपदेश देनेवाले रुद्र के **गाणपत्यम्**=गणपतित्व को **एहि**=प्राप्त हो। जो भी व्यक्ति अशुभ बातों को अपने जीवन में नहीं आने देते और परिणामतः कल्याण का भावन करते हैं वे प्रभु के गण कहलाते हैं, इस गण के मुख्य स्थान में होना ही 'गाणपत्य' की प्राप्ति है। ३. इस गाणपत्य से प्रभु कहते हैं कि **उरु अन्तरिक्षं वीहि**=तू विशाल हृदयान्तरिक्ष को प्राप्त कर। तेरा हृदय विशाल हो। तू संकुचित हृदय न बन। ४. **स्वस्तिगव्यूतिः**=कल्याण के मार्गवाला हो (गव्यूतिः=मार्गः)। तू कभी अशुभ मार्ग पर चलनेवाला न हो। तेरे इन्द्रियरूप घोड़ों की चरागाह कल्याण-ही-कल्याण को देनेवाली हो। तेरी इन्द्रियाँ अशुभ मार्ग पर जानेवाली न हों। ५. अशुभ मार्ग पर न जाकर **अभयानि कृण्वन्**=तू अपने जीवन को निर्भय बनानेवाला हो। पाप में ही तो भय है। न पाप हो, न भय हो। ६. **सयुजा पूष्णा सह**=तू सदा अपने साथ रहनेवाले मित्र और पोषण करनेवाले प्रभु के साथ रहनेवाला बन। प्रभु के साथ रहना ही निर्भयता का मार्ग है।

भावार्थ—हम अशुभ का विनाश करें। उस रुद्र के गण के पति बनें। विशाल हृदयवाले, शुभ-मार्गवाले, निर्भय तथा सदा प्रभु के सयुज् सखा बनें।

ऋषिः—शुनःशेपः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

अग्नि=अग्निहोत्र की ओर

पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वदाभराग्निं
पुरीष्यमङ्गिरस्वदच्छेमोऽग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वद्भरिष्यामः ॥१६॥

१. पिछले मन्त्र में 'पूष्णा सयुजा सह' इन शब्दों में सदा प्रभु के उपासन का प्रतिपादन था। प्रस्तुत मन्त्र में 'अग्निहोत्र' का प्रतिपादन करते हैं। 'शुनःशेप' के लिए—जीवन को सुखी बनाने की इच्छावाले के लिए—'सन्ध्या व अग्निहोत्र' दोनों ही आवश्यक हैं। २. प्रभु कहते हैं कि **पृथिव्याः सधस्थात्**=पृथिवी के इस सधस्थ से—मिलकर बैठने के स्थान से **पुरीष्यम्**=(पुरीषम्=उदकं तत्र साधुः) वृष्टिरूप जल को देने में उत्तम अथवा (पृणाति सुखं, तत्र साधुः) नीरोगता के द्वारा सुख देनेवालों में उत्तम **अग्निम्**=इस यज्ञ की अग्नि को **आभर**=धारण कर। घर का सबसे पहला कमरा 'हविर्धानम्'=अग्निहोत्र के लिए ही तो बनाना है। उस कमरे में अग्निहोत्र के समय घर के सभी व्यक्ति मिलकर बैठें। यह स्थान 'सधस्थ' समझा जाए। ३. प्रभु की इस वाणी को सुनकर 'शुनःशेप' कहता है कि हम **पुरीष्यम्**=सुखों का पूरण करनेवाली, वृष्टिजल की कारणभूत **अग्निं अच्छ**=अग्नि की ओर **इमः**=आते हैं, उसी प्रकार '**अङ्गिरस्वत्**' जैसेकि अङ्गिरस् लोग जाते हैं। इस अग्निहोत्र को नियम से करनेवाले लोग नीरोग और अतएव अङ्गिरस् बनते हैं। इनके अङ्ग सदा जीवन-रस से परिपूर्ण बने रहते हैं। ४. शुनःशेप का निश्चय है कि हम **अङ्गिरस्वत्**=इन अङ्गिरस् लोगों की भाँति **पुरीष्यं अग्निम्**=सुखों की पूरक इस अग्नि को **भरिष्यामः**=भविष्य में भी सदा अग्निकुण्ड में धारण करनेवाले बनेंगे। ५. '**सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातः प्रातः सौमनसस्य दाता**'—अ० १९।५५।३ '**प्रातःप्रातः गृहपतिर्नो अग्निः सायंसायं सौमनसस्य दाता**'—अ० १९।५५।४। अर्थात् प्रत्येक सायंकाल प्रबुद्ध किया हुआ हमारे घरों का रक्षक यह अग्नि प्रातः तक शुभ चित्त का देनेवाला होता है और प्रत्येक प्रातःकाल प्रबुद्ध किया हुआ यह गृहपति अग्नि सायं तक शुभ चित्तवृत्ति का देनेवाला होता है। एवं, यह अग्निहोत्र सचमुच हमारे जीवन को सुखी बनाता है और हम शुनःशेप बनते हैं।

भावार्थ—हम अग्निहोत्र को सदा अपने घरों का पति बनाएँगे, जिससे हमारी मनोवृत्तियाँ शुभ बनी रहें और हम सुखी जीवनवाले हों।

ऋषिः—पुरोधाः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

'पुरोधाः' का दैनिक कार्यक्रम

अन्वग्निरुषसामग्रमख्यदन्वहानि प्रथमो जातवेदाः।
अनु सूर्यस्य पुरुत्रा च रश्मीननु द्यावापृथिवीऽआततन्थ ॥१७॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'पुरोधाः' है, जो औरों से पहले अपना धारण करता है। 'यह अपने को अग्रभाग में कैसे स्थापित कर पाया है', इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत मन्त्र में देते हैं कि १. यह **अग्निः**=निरन्तर अपने को आगे और आगे प्राप्त करानेवाला व्यक्ति **उषसाम् अग्रम् अनु**=उषा के अग्रभागों के साथ-साथ, अर्थात् प्रत्येक उषाकाल के प्रारम्भ में **अख्यत्**=उस प्रभु के गुणों का प्रकथन करता है। (ख्या प्रकथने)। इसका दैनिक कार्यक्रम प्रभु-गुण स्मरण से प्रारम्भ होता है। २. **अहानि अनु**=प्रत्येक दिन के साथ, अर्थात् प्रतिदिन यह **प्रथमः**=(प्रथ विस्तारे) अपनी शक्तियों का विस्तार करता है, शक्ति-विस्तार के लिए

यह प्रतिदिन के व्यायाम आदि को नियम से करता है। ३. **जातवेदाः**=प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। नैत्यिक स्वाध्याय से यह अपने ज्ञान को बढ़ाता चलता है। एवं, प्रभु-स्तवन, व्यायामादि व स्वाध्याय तो यह सूर्योदय से पहले ही कर लेता है **च**=और ४. **सूर्यस्य रश्मीन् अनु**=सूर्य की रश्मियों के खूब फैलने के साथ **पुरुत्रा**=यह बहुत ही स्थानों पर जाता है। जीविकोपार्जन के लिए यह विविध स्थानों पर आता-जाता है, परन्तु यह ध्यान रखता कि कहीं इसके मस्तिष्क व शरीर पर अवाञ्छनीय प्रभाव न हो जाए। ५. जीविकोपार्जन के अपने प्रयत्नों को यह **आततन्थ**=विस्तृत तो करता है, परन्तु **द्यावापृथिवी अनु**=अपने मस्तिष्क व शरीर के स्वास्थ्य का ध्यान करते हुए। इनके स्वास्थ्य के साथ-साथ यह धनार्जन करने का विचार करता है। कार्य को इतना नहीं फैला देता कि उसके न सँभलने से वह इसकी सिरदर्दी का ही कारण बन जाए।

भावार्थ—१. उषा के प्रारम्भ से पहले ही उठकर यह प्रभु-कीर्तन करता है। २. उचित व्यायाम करता है। ३. प्रभु के बनाये पदार्थों की रचना का ज्ञान प्राप्त करता है जिससे इनमें प्रभु की महिमा को देखे और इन पदार्थों का ठीक प्रयोग कर सके। ४. अब आजीविका के लिए कर्म में लगता है। ५. कार्य को इतना नहीं फैला लेता कि यह उसके मस्तिष्क की चिन्ताओं का कारण बन जाए और शरीर को दूषित कर दे।

ऋषिः—मयोभूः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

'मयोभू' के तीन कार्य

आगत्य वाज्यध्वानꣳसर्वा मृधो विधूनुते।
अग्निꣳसधस्थे महति चक्षुषा निचिकीषते ॥१८॥

१. गत मन्त्र के अनुसार दैनिक कार्यक्रम को चलानेवाला व्यक्ति शक्तिशाली बनता है। यह **वाजी**=शक्तिशाली व्यक्ति **अध्वानम् आगत्य**=मार्ग पर आकर २. **सर्वाः मृधः**=सब हिंसकों को, कार्य के विघ्नों को **विधूनुते**=कम्पित करके दूर कर देता है। संक्षेप में, यह मार्ग पर चलता है, कभी पथभ्रष्ट नहीं होता। यह मार्ग में आये विघ्नों को दूर करने के लिए यत्नशील होता है। इसके जीवन में कभी निराशा व निरुत्साह नहीं आ जाते। ३. मार्ग पर चलता हुआ तथा आये हुए विघ्नों को दूर करके आगे बढ़ता हुआ यह **अग्निम्**=उस अग्रेणी परमात्मा को **महति सधस्थे**=महनीय—जीवात्मा और परमात्मा के साथ ठहरने के उत्तम स्थान में, अर्थात् हृदयाकाश में **चक्षुषा**=विषयव्यावृत्त चक्षु के द्वारा, अन्तर्मुखदृष्टि के द्वारा **निचिकीषते**=(पश्यति—उ०) देखता है, अर्थात् अपनी जीवन-यात्रा में प्रभु को कभी भूलता नहीं। प्रतिदिन प्रातःसायं अन्तर्दृष्टि होकर हृदयरूप गुहा में विचरनेवाले अपने मित्र प्रभु का दर्शन करने का प्रयत्न करता है।

भावार्थ—मयोभूः=कल्याण का भावन करनेवाला तीन बातें करता है—१. सन्मार्ग पर चलता है। २. विघ्नों को दूर करता है। ३. अन्तर्मुख होकर हृदयस्थ प्रभु के दर्शन करता है।

ऋषिः—मयोभूः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

प्रभु-अन्वेषण (Seeking after God)

आक्रम्य वाजिन् पृथिवीमग्निमिच्छ रुचा त्वम्।
भूम्या वृत्वाय नो ब्रूहि यतः खनेम तं वयम् ॥१९॥

१. हे **वाजिन्**=शक्तिशालिन्! **पृथिवीम् आक्रम्य**=इस पृथिवी पर आक्रमण करते हुए, अर्थात् सफलतापूर्वक संसार-यात्रा को चलाते हुए **त्वम्**=तू **रुचा**=दीप्ति के हेतु से **अग्निम्**=उस अग्रेणी परमात्मा को **इच्छ**=चाह, उसका अन्वेषण कर। जीव शक्तिशाली बने। शक्तिशाली बनकर गत मन्त्र के अनुसार सन्मार्ग पर चले, विघ्नों को दूर करे और इस प्रकार सफलता से इस पार्थिव संसार में जीवन-यात्रा को चलाते हुए प्रभु की खोज की वृत्तिवाला बने (seeker after God)। ऐसा बनने से जीवन दीप्त हो उठता है। पृथिवी पर सफलता से आक्रमण का अभिप्राय स्वर्ग की प्राप्ति है तो 'प्रभु के अन्वेषण की इच्छा' उस सोने पर सुहागे का काम करती है। यह स्वर्ण चमक उठता है। २. **भूम्याः**=भूमि से अर्थात् इन पार्थिव भोगों में फँस जाने की अपेक्षा **वृत्वाय**=प्रभु का वरण करके **नः ब्रूहि**=तू हमारे प्रति भी उस प्रभु का प्रवचन कर **यतः**=जिससे **वयम्**=हम भी **तम्**=उस प्रभु को **खनेम**=खोजनेवाले बनें। 'खनेम' शब्द का अर्थ खोदकर निकालना है। पर्वतों में छिपाकर रखे सोने को हम खोदकर निकालते हैं। वहाँ उपरले आवरणों को हटाना होता है, ठीक इसी प्रकार यहाँ अन्नमयादि पाँच कोशों के आवरण को हटाकर आत्मा तक पहुँचते हैं। इस आवरण के हटाने के लिए हम पार्थिव भोगों से ऊपर उठें। **'आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्'** का ठीक-ठीक अर्थ यही है कि आत्म-प्राप्ति के लिए पार्थिव भोगों को छोड़ना ही होता है। जीवन तभी चमकता है। ऐहिक कल्याण सफलतापूर्वक जीवन-यात्रा को चलाने में है तो आमुष्यिक कल्याण उस प्रभु को खोजने में है। इन दोनों अभ्युदय व निःश्रेयस को मिला देना ही सच्चा धर्म है।

भावार्थ—१. हम शक्तिशाली बनकर जीवन-यात्रा को सफलता से चलाएँ २. पार्थिव भोगों में न फँसकर आत्मा का अन्वेषण करें, तभी जीवन दीप्त होगा।

ऋषिः—मयोभूः। **देवता**—क्षत्रपतिः। **छन्दः**—निचृदार्षीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

चमकता हुआ जीवन

द्यौस्ते॑ पृ॒ष्ठं पृ॑थि॒वी स॒धस्थ॑मा॒त्मान्तरि॑क्षꣳसमु॒द्रो योनि॑: ।
वि॒ख्याय॒ चक्षु॑षा॒ त्वम॒भि ति॑ष्ठ पृतन्य॒तः ॥२०॥

१. पिछले मन्त्र में 'चमकते जीवन' का संकेत था। उसी का कुछ विस्तार से प्रतिपादन करते हैं कि **द्यौः ते पृष्ठम्**=द्युलोक=मस्तिष्क का ज्ञान ही तेरा पृष्ठ हो, आधार हो, मेरुदण्ड=(backbone) हो, अर्थात् ज्ञान तेरे जीवन का मूलाधार हो। तेरा जीवन ज्ञानमय हो। २. **पृथिवी सधस्थम्**=यह पृथिवी तेरा मिलकर रहने का स्थान हो। तू स्वयं भी रह और औरों को भी रहने दे। 'Live and let live' यह तेरे जीवन का सिद्धान्त हो। अथवा तेरा यह शरीर परमात्मा के साथ मिलकर रहने का स्थान हो। ३. **आत्मा**=मन **अन्तरिक्षम्** (**अन्तरा क्षि**)=सदा मध्यमार्ग पर चलनेवाला हो। अति में न जाकर यह सदा प्रत्येक वस्तु का यथोचित प्रयोग करे। ४. **समुद्रः**=सदा आनन्द के साथ होना ही (स+मुद्र) तेरा **योनिः**=निवास-स्थान—उत्पत्ति का कारण हो, अर्थात् तेरे लिए आनन्द सहज हो जाए। ५. **चक्षुषा**=विषयव्यावृत्त अन्तर्मुखीभूत आँख से **विख्याय**=आत्मतत्त्व का दर्शन करके **त्वम्**=तू **पृतन्यतः**=संग्राम के इच्छुक इन काम, क्रोध व लोभादि के आसुर भावों को **अभितिष्ठ**=पाँवों तले रोंद डाल। परमात्मदर्शन ही वासनाओं को कुचलने का साधन है।

भावार्थ—'ज्ञान, मिलकर रहना, मध्यमार्ग में चलना, प्रसन्नता, आत्मदर्शन तथा कामादि का पराभव' ये बातें तेरे जीवन के मुख्य अङ्ग हों।

ऋषिः—मयोभूः। **देवता**—द्रविणोदाः। **छन्दः**—आर्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

महान् सौभाग्य

उत्क्राम महते सौभगायास्मादास्थानाद् द्रविणोदा वाजिन्।
वयथंस्याम सुमतौ पृथिव्याऽअग्निं खनन्तऽउपस्थेऽअस्याः ॥२१॥

१. **द्रविणोदाः**=धन देनेवाला अतएव **वाजिन्**=शक्तिशालिन्! (धन का त्याग करनेवाला व्यक्ति व्यसनों में नहीं फँसता, अतः शक्तिशाली बना रहता है) तू **अस्मात्**=इस **आस्थानात्**=सबके मिलकर बैठने के स्थान से **महते सौभगाय**=महान् सौभाग्य के लिए **उत्क्राम**=ऊपर उठनेवाला बन। इन शब्दों से ये बातें स्पष्ट हैं—(क) यह पृथिवी हमारा 'आस्थान'—मिलकर रहने की जगह होनी चाहिए। (ख) यहाँ रहते हुए हम कमाएँ, परन्तु खूब देनेवाले हों (**द्रविणोदाः**)। (ग) धन का त्याग ही व्यसनों से बचाकर हमें शक्तिशाली बनाता है (**वाजिन्**)। (घ) हमारे जीवन का ध्येय पृथिवी से ऊपर उठना हो (उत्क्राम)। पार्थिव भोगों से ऊपर उठकर ही हम 'महान् सौभाग्य' को प्राप्त कर सकते हैं। २. **वयं सुमतौ स्याम**=हम सदा कल्याणी मति में बने रहें। हमारे विचार सदा शुभ रहें। **अस्याः पृथिव्याः उपस्थे**=इस पृथिवी की गोद में रहते हुए, अर्थात् इस पार्थिव जीवन को व्यतीत करते हुए हम **अग्निम्**=उस प्रकाश के स्रोत प्रभु को **खनन्तः**=खोजते हुए अपना जीवन व्यतीत करें। साधना एवं चिन्तन के द्वारा अन्नमयादि कोशों से ऊपर उठते हुए हम हृदयरूप गुहा में स्थित प्रभु को पाने के लिए प्रयत्नशील हों। जिस दिन हम प्रभु का दर्शन कर रहे होंगे वह दिन हमारे महान् सौभाग्य का दिन होगा। इस महान् सौभाग्य की प्राप्ति के लिए हमें निरन्तर ऊपर उठना है। ऊपर उठते हुए वैषयिक संसार से परे पहुँचना है, तभी तो प्रभु से मेल होगा।

भावार्थ—प्रभु-दर्शन ही महान् सौभाग्य है। उसके लिए हमें वैषयिक जगत् से परे पहुँचना है, अतः हमारी वृत्ति धन के त्यागवाली हो और हम शक्तिशाली हों।

ऋषिः—मयोभूः। **देवता**—द्रविणोदाः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

स्वर् आरोहण

उदक्रमीद् द्रविणोदा वाज्यर्वाकः सुलोकःसुकृतं पृथिव्याम्।
ततः खनेम सुप्रतीकमग्निथंस्वो रुहाणाऽअधि नाकमुत्तमम् ॥२२॥

१. **द्रविणोदाः**=धन का दान करनेवाला **वाजी**=शक्तिशाली पुरुष **उदक्रमीत्**=विषयों से ऊपर उठता है। २. यह **अर्वा**=(अर्व हिंसायाम्) विषय-वासनाओं की हिंसा करनेवाला—भोगवृत्ति से ऊपर उठा हुआ व्यक्ति **पृथिव्याम्**=इस पृथिवी पर **सुकृतम्**=पुण्यों से निर्मित **सुलोकम्**=उत्तम लोक को **अकः**=निर्मित करता है, अर्थात् धन के त्याग द्वारा वैषयिकवृत्ति से ऊपर उठकर यह शक्तिशाली बनता है, पुण्य की प्रवृत्तिवाला होकर उत्तम लोक का निर्माण करता है। २. **ततः**=इस प्रकार उत्तम जीवन बनाकर हम **उत्तमम्**=अत्यन्त उत्कृष्ट **नाकम्**=(न अकं यस्मिन्) दुःख से शून्य **स्वः**=स्वर्गलोक में **अधिरुहाणाः**=आरोहण करते हुए **सुप्रतीकम्**=शोभन मुखवाले=अत्यन्त तेजस्वी **अग्निम्**=अग्रेणी प्रभु को **खनेम**=खोजने में समर्थ हों। जब हम जीवन को उत्तम बनाते हैं तब हमारा जीवन सुखमय होता है, अभ्युदय-सम्पन्न होता है तथा हम प्रभु को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं—निःश्रेयस को सिद्ध

कर पाते हैं। ३. एवं, 'मयोभूः' का जीवन सामान्यरूप से 'विषय-वासनाओं में न फँसकर प्रभु की खोजनेवाला' है। वस्तुतः 'ऐहिक जीवन का सुख' विषय-वासनाओं में न फँसने में ही है और 'आमुष्मिक कल्याण' प्रभु के अन्वेषण में है। यह 'मयोभूः' इस प्रभु का स्तवन करता है, अतएव 'गृत्स' (**गृणाति इति**) कहलाता है और सदा प्रसन्न रहता है (**माद्यति**) अतः 'मद' कहलाता है। यह 'मयोभूः' गृत्समद बनकर कहता है कि—'**आ त्वा जिघर्मि**'=हे प्रभो! मैं तो आपको ही अपने में दीप्त करने का प्रयत्न करता हूँ।

भावार्थ—जीवन को सुखी बनाने का मार्ग यही है कि हम (क) धन का दान करें। (ख) वैषयिकवृत्ति से ऊपर उठें। (ग) पुण्यवाले उत्तम लोक का निर्माण करें। (घ) घर को स्वर्ग बनाते हुए प्रभु-दर्शन के लिए प्रयत्नशील हों।

ऋषिः—गृत्समदः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

देश-काल से अनविच्छिन्न प्रभु

आ त्वा जिघर्मि मनसा घृतेन प्रतिक्षियन्तं भुवनानि विश्वा।
पृथुं तिरश्चा वयसा बृहन्तं व्यचिष्ठमन्नै रभसं दृशानम्॥२३॥

१. गृत्समद प्रभु का स्तवन करते हुए कहता है कि—हे प्रभो! मैं तो **आ**=सब प्रकार से **त्वा**=आपको ही **जिघर्मि**=दीप्त करता हूँ। आपका ही प्रकाश देखने के लिए यत्नशील होता हूँ। २. इस आपके प्रकाश को मैं चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों से तो देख ही नहीं पाता। आपका वह प्रकाश इन इन्द्रियों का विषय नहीं, इसी से आप अतीन्द्रिय हो। मैं आपके प्रकाश को **मनसा**=मन से देखता हूँ, परन्तु कौन-से मन से? **घृतेन** =(घृ क्षरणदीप्त्योः) उस मन से जिसके सब मलों का क्षरण करके ज्ञान की दीप्ति से दीप्त करने का प्रयत्न किया गया है। ३. मैं उस आपको देखता हूँ जो आप **विश्वा भुवनानि**=सब भुवनों में **प्रतिक्षियन्तम्**=निवास कर रहे हैं। प्रभु सर्वव्यापक हैं, परन्तु उन्हें देखना तो हमें अपने हृदयों में ही है। ४. वे प्रभु **तिरश्च पृथुम्**=यह ब्रह्माण्ड एक सिरे से दूसरे सिरे तक जितना विस्तृत है, उससे अधिक विस्तृत हैं (प्रथ विस्तारे), अर्थात् प्रभु अधिक-से-अधिक विस्तृत देश से भी अविच्छिन्न नहीं हो सकते। यह सारा ब्रह्माण्ड तो उनके एक देश में ही है। ५. **वयसा** =(वय् गतौ) निरन्तर गतिवाले इस काल से भी वे **बृहन्तम्**=बड़े हैं। काल भी उन्हें सीमित नहीं कर सकता। ६. देश-काल से अनविच्छिन्न (असीमित) वे प्रभु **व्यचिष्ठम्**=अत्यन्त विस्तारवाले हैं (**व्यचस्**=expanse, wastness)। ७. **अन्नैः**=विविध अन्नों से **रभसम्**=वे प्रभु हमें शक्ति (strength) देनेवाले हैं। अथवा अन्नों से वे हमें (रभस=joy) आनन्दित करनेवाले हैं। ८. **दृशानम्**=वे प्रभु हमें तत्त्व का दर्शन करानेवाले हैं। अन्नों से वे हमारे शरीरों को सशक्त करते हैं तो तत्त्व-ज्ञान से हमारे मस्तिष्कों को दीप्त बनाते हैं।

भावार्थ—वे सर्वव्यापी प्रभु पवित्र मन से दिखते हैं। वे देश व काल से सीमित नहीं हैं। अत्यन्त विस्तारवाले वे प्रभु अन्नों से हमें शक्ति देते हैं और तत्त्व-दर्शन से मस्तिष्क को उज्ज्वल करते हैं।

ऋषिः—गृत्समदः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

अरक्षसा मनसा

आ विश्वतः प्रत्यञ्चं जिघर्म्यरक्षसा मनसा तज्जुषेत।

मर्यश्री स्पृहयद्वर्णोऽअग्निर्नाभिमृशे तन्वा जर्भुराणः॥२४॥

१. गृत्समद का ही स्तवन चल रहा है कि **आ**=सब प्रकार से **विश्वत: प्रत्यञ्चम्**=सब ओर गये हुए, अर्थात् सर्वव्यापक प्रभु को **जिघर्मि**=मैं अपने अन्दर दीप्त करता हूँ। २. मनुष्य को चाहिए कि **अरक्षसा मनसा**=राक्षसी व आसुरी भावनाओं से रहित पवित्र मन से **तत्**=उस ब्रह्म का **जुषेत**=प्रीतिपूर्वक सेवन करे। प्रतिदिन आदर-श्रद्धा के साथ उस प्रभु का चिन्तन करने से ही तो हम उस प्रभु के प्रकाश को देख पाएँगे। ३. जिस दिन मैं प्रभु के प्रकाश को देखनेवाला बनता हूँ, उस दिन **मर्यश्री:**=मनुष्यों में शोभावाला बनता हूँ या दु:खी पुरुषों से आश्रयणीय होता हूँ। प्रभु के तेज को प्राप्त करके मैं तेजस्वी बनता हूँ और श्रीसम्पन्न होता हूँ। साथ ही (श्रि=सेवायाम्) सब पीड़ित पुरुष अपनी पीड़ा के निराकरण के लिए मेरे समीप पहुँचते हैं। ४. **स्पृहयद्वर्ण:**=मैं स्पृहणीय वर्णवाला होता हूँ, अन्दर दीप्त होती हुई प्रभु की ज्योति मेरे चेहरे पर भी प्रतिबिम्बित होती है। ५. **अग्नि: न**=अग्नि के समान **अभिमृशे**=(मृश् to rule, strike) मैं शत्रुओं को कुचल देता हूँ। अग्नि के तेज में जैसे सब मल भस्म हो जाते हैं, इसी प्रकार प्रभु के तेज से तेजस्वी होने पर मेरे भी राग-द्वेष के सब मल भस्मीभूत हो जाते हैं। ६. और मैं **तन्वा**=अपने इस शरीर से **जर्भुराण:**=निरन्तर भरण-पोषण करनेवाला बनता हूँ। मेरा यह शरीर लोकहित के कार्यों में विनियुक्त होता है।

भावार्थ—प्रभु का उपासन पवित्र मन से होता है। एक सच्चा उपासक लोगों में शोभावाला होता है, उसके चेहरे पर अन्त:स्थित प्रभु का प्रकाश चमकता है, जिसके तेज में सब मल भस्म हो जाते हैं। वह अपने शरीर को प्राजापत्य यज्ञ में आहुत कर देता है।

ऋषि:—सोमक:। **देवता**—अग्नि:। **छन्द:**—निचृद्गायत्री। **स्वर:**—षड्ज:॥

वाजपति: कवि:

परि॒ वाज॑पति: क॒विर॒ग्निर्ह॒व्यान्य॑क्रमीत्। दध॒द्रत्ना॑नि दा॒शुषे॑॥२५॥

१. पिछले मन्त्र का गृत्समद ऋषि प्रभु-स्तवन करता हुआ शक्तिशाली बनता है, परन्तु उस सब शक्ति का पति प्रभु को समझता हुआ वह अत्यन्त विनीत बना रहता है। इस विनीतता के कारण वह 'सोमक' कहलाता है (सौम्य=विनीत)। यह सोमक कहता है कि—२. वह **वाजपति:**=सब अन्नों व शक्तियों का स्वामी प्रभु **कवि:**=क्रान्तदर्शी है, तत्त्व का ज्ञान रखनेवाला है। वह प्रभु ही वस्तुत: अपने भक्तों को अन्नों से शक्तिशाली बनाता है और तत्त्व-ज्ञान देता है। ३. इस प्रकार वे प्रभु **अग्नि:**=हमें आगे और आगे ले-चलनेवाले हैं, हमारी सब उन्नतियों के कारण हैं। ४. वे प्रभु ही **हव्यानि**=(ग्रहीतुं योग्यानि वस्तूनि—द०) सब ग्रहण के योग्य वस्तुओं को **परिअक्रमीत्**=चारों ओर आक्रान्त किये हुए हैं। सब उपादेय वस्तुओं के अधिष्ठाता वे प्रभु ही हैं। उन्नति के लिए सब आवश्यक वस्तुओं को वे प्रभु ही प्राप्त कराया करते हैं। ५. वे प्रभु **दाशुषे**=दाश्वान् के लिए—अपने को उस प्रभु के प्रति दे डालनेवाले के लिए **रत्नानि**=रमणीय पदार्थों को **दधत्**=धारण करते हैं। जैसे एक बालक स्वयं अपनी आवश्यकताओं को अच्छी प्रकार नहीं समझता, परन्तु उसकी माता उसे सब आवश्यक पदार्थ प्राप्त कराती है, इसी प्रकार समर्पण करनेवाले भक्त को प्रभु भी जननी की भाँति सब रमणीय पदार्थ देते हैं। इन रमणीय पदार्थों से अपनी सम्यक् उन्नत्ति करता हुआ प्रभु-भक्त शरीर में शक्ति का पति बनता है तो मस्तिष्क से तत्त्व-द्रष्टा बनता है।

भावार्थ—प्रभु के प्रति आत्मसमर्पण करते हुए हम प्रभु से दिये रमणीय पदार्थों के सम्यक् प्रयोग से शक्ति व ज्ञान के पति बनें।

ऋषिः—पायुः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

परितो-धारण—स्थितप्रज्ञता

परि॑ त्वाग्ने॒ पुरं॑ व॒यं विप्र॑ꣳसहस्य धीमहि।
धृ॒षद्व॑र्णं दि॒वेदि॑वे ह॒न्तारं॑ भङ्गु॒राव॑ताम्॥२६॥

१. गत मन्त्र का 'सोमक'=विनीत प्रभु के प्रति अपना अर्पण करके पूर्णरूप से अपना रक्षण कर पाता है, उसी प्रकार जैसेकि माता की गोद में आत्मार्पण करनेवाला बालक। इस अर्पण को करनेवाला यह 'पायुः' (पा रक्षणे) नामवाला होता है। यह कहता है कि १. हे **अग्ने**=हमारी सब उन्नतियों के साधक प्रभो! **वयम्**=हम **त्वा**=आपको **परिधीमहि**=अपने चारों ओर धारण करते हैं। जो आप ३. **पुरम्**=(पृ पालनपूरणयोः) अपनी विविध क्रियाओं के द्वारा हमारा पालन व पूरण करनेवाले हैं। आपने हमारे पालन के लिए अनेकविध ओषधि-वनस्पतियों का निर्माण किया है। ४. **विप्रम्**=आप ज्ञानी हो, क्रान्तदर्शी=कवि हो। ज्ञान के द्वारा विशेषरूप से सबका पूरण करनेवाले हो। ज्ञानाग्नि ही तो दोषों को विच्छिन्न करती है। ५. **सहस्य**=हे प्रभो! आप सहस् में उत्तम हो अथवा सहस् में निवास करनेवाले हो। जिस पुरुष में सहनशक्ति होती है उसी में आपका निवास है। ६. **धृषद्वर्णम्**=(**धृष्णोतीति धृषन् प्रगल्भो वर्णो यस्य तम् असह्यरूपम्**—म०) असह्य तेजवाले आप हैं। आपके तेज के सामने अन्य सब तेज पराभूत हो जाते हैं। ७. इस तेज से ही आप **दिवे-दिवे**=प्रति-दिन **भङ्गुरावताम्**=तोड़-फोड़ के कामों में लगे हुए राक्षसों के **हन्तारम्**=नष्ट करनेवाले हैं। अथवा **भंगुर**=अनवस्थित मनवालों के—डाँवाँडोल मनोवृत्तिवालों के आप समाप्त करनेवाले हैं। स्थितप्रज्ञ दैवीवृत्तिवाला व्यक्ति ही आपका रक्षणीय होने से 'पायु' (one who is protected) है।

भावार्थ—वे प्रभु 'अग्नि-पुरं-विप्र-सहस्य-धृषद्वर्ण व भंगुरावत्—हन्ता' हैं। हम भंगुर-वृत्तिवाले न बनकर स्थितप्रज्ञ बनें और प्रभु के रक्षणीय हों। प्रभु को परितः धारण करनेवाला ही प्रभु का रक्षणीय होता है।

ऋषिः—गृत्समदः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

ज्योति का प्रादुर्भाव

त्वम॑ग्ने द्यु॒भि॒स्त्वमा॑शुशु॒क्षणि॒स्त्वम॒द्भ्यस्त्वमश्म॑न॒स्परि॑।
त्वं वने॑भ्य॒स्त्वमोष॑धीभ्य॒स्त्वं नृ॒णां नृ॑पते जायसे॒ शुचिः॑॥२७॥

१. प्रभु से रक्षित गत मन्त्र का 'पायु' फिर से प्रभु-स्तवन में आनन्द लेता हुआ 'गृत्समद' बनता है और इस रूप में स्तुति करता है—२. हे **अग्ने**=अपने तेज से सब बुराइयों को भस्म करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप और **त्वम्**=आप ही **द्युभिः**=अपनी ज्ञान-ज्योतियों से **आशुशुक्षणिः**=शीघ्रता से हमारे सब काम, क्रोध व लोभादि शत्रुओं का शोषण करनेवाले हैं। प्रभु की ज्योति से दीप्त हृदय में वासना-लताएँ नहीं पनपतीं। २. हे **नृपते**=वासना-शोषण द्वारा मनुष्यों के रक्षक प्रभो! **शुचिः**=आप पूर्ण पवित्र व पूर्ण दीप्त हो। ३. **त्वम्**=आप **अद्भ्यः**=समुद्र के विस्तृत जलों से **जायसे**=आविर्भूत होते हो। '**यस्य समुद्रम्**=ये समुद्र भी

तो आपकी महिमा का प्रतिपादन कर रहे हैं। ४. **त्वम्**=आप **अश्मनः**=मेघ से (नि० १।१०) **परिजायसे**=अन्तरिक्ष में चारों ओर आविर्भूत हो रहे हो। अन्तरिक्ष में उमड़ते हुए बादल आपकी महिमा को प्रकट कर रहे हैं। ५. **त्वं वनेभ्यः**=आप ही इन मीलों-मील फैले हुए वनों में प्रकट हो रहे हैं। इन वनों में भी आपकी ही विभूति दृष्टिगोचर होती है। ६. **त्वम् ओषधीभ्यः**=आप ही इन वनोत्पन्न ओषधियों में प्रकट होते हो। ओषधियाँ भी आपकी ही महिमा का प्रतिपादन कर रही हैं। इस महिमा को ज्ञानी ही सुन पाता है। ७. **त्वम्** =आप **नृणाम्**=(नृ नयने) अपने को उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले पुरुषों में **जायसे**=आविर्भूत होते हो। वे श्रेष्ठ पुरुष भी आपकी ही विभूति होते हैं। ८. यहाँ प्रसंगवश यह भी स्पष्ट है कि प्रभु का दर्शन वे ही करते हैं जो मेघस्थ जलों का या वन की वनस्पतियों का ही प्रयोग करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु-दर्शन के लिए वनौषधियों को ही भोजन बनाएँ, मेघजलों को ही पेय द्रव्य समझें। निरन्तर आगे बढ़ने की भावनावाले हों। अवश्य हममें प्रभु की ज्योति जगेगी और उस ज्योति से सब वासनाएँ भस्म हो जाएँगी।

ऋषिः—गृत्समदः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—प्रकृतिः। **स्वरः**—धैवतः॥

आनन्द एवं शक्ति

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वत् खनामि। ज्योतिष्मन्तं त्वाग्ने सुप्रतीकमजस्रेण भानुना दीद्यतम्। शिवं प्रजाभ्योऽहिंसन्तं पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वत् खनामः॥ २८॥

१. गृत्समद कहता है कि मैं **त्वा**=तुझे, अर्थात् प्रत्येक पदार्थ को **सवितुः देवस्य**=उस उत्पादक देव की **प्रसवे**=अनुज्ञा में ग्रहण करता हूँ। उसका आदेश यही तो है कि 'ओदन एव ओदनं प्राशीत्' केवल यह अन्न का विकार भौतिक शरीर ही ओदन को खाये, अर्थात् शरीर की आवश्यकतानुसार ही भोजन करना—न अधिक, न कम बस, मात्रा में। २. **अश्विनोः बहुभ्याम्**=प्राणापान के प्रयत्न से पदार्थों को ग्रहण करूँ। मैं सेतमैंत किसी वस्तु को न लूँ। ३. **पूष्णो हस्ताभ्याम्**=पूषण के हाथों से ही लूँ, अर्थात् जितना पोषण के लिए पर्याप्त हो उतना ही मैं इन भौतिक वस्तुओं का स्वीकार करूँ। ४. इस प्रकार इन भौतिक भोगों में आसक्त न हुआ-हुआ मैं **पृथिव्याः सधस्थात्**=इस शरीर के सधस्थ से, अर्थात् हृदयदेश से (यह हृदय ही जीवात्मा व परमात्मा का मिलकर रहने का स्थान है) **अग्निम्**=उस सब उन्नतियों के साधक **पुरीष्यम्**=(पृणाति सुखम्) सुख-प्राप्ति में उत्तम प्रभु को **खनामि**=उसी प्रकार खोजता हूँ जैसेकि **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् लोग खोजा करते हैं। वस्तुतः जो भी व्यक्ति प्रभु का खोजनेवाला बनता है वह भोगों में आसक्त न होने के कारण 'अङ्गिरस्' बनता ही है, उसका शरीर रसमय अङ्गोंवाला बना रहता है। ५. हे **अग्ने**=हमारी सब उन्नतियों के साधक प्रभो! **त्वा**=हम उस तुझे खोजते हैं जोकि **ज्योतिष्मन्तम्**=ज्योतिवाले हैं। आपको प्राप्त करके हमारी ज्ञान की ज्योति दीप्त होती है। ६. **सुप्रतीकम्**=आप उत्तम मुखवाले हैं। आपका स्वरूप तेजस्वी है। भक्त आपको तेजोमय रूप में ही देखता है। ७. **अजस्रेण भानुना दीद्यतम्**=निरन्तर दीप्ति से आप देदीप्यमान हैं। ८. **शिवं प्रजाभ्यः**=प्रजाओं के लिए आप कल्याण करनेवाले हैं। ९. **अहिंसन्तम्**=आप हिंसा नहीं होने देते। १०. **पृथिव्याः**

सधस्थात्=इस पार्थिव शरीर के मिलकर रहने के स्थान से, अर्थात् हृदयदेश से **पुरीष्यम्**=सब सुखों के पूरण करनेवाले आपको **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति **खनामः**=खोजते हैं। हृदयदेश में ध्यान से आपका दर्शन करके अनिर्वचनीय आनन्द को अनुभव करते हैं और अङ्ग-अङ्ग में रस के सञ्चार से अङ्गिरस् बनते हैं।

भावार्थ—इस ज्योतिर्मय प्रभु का दर्शन ही हमारे जीवन का ध्येय हो। इसी में आनन्द है, इसी में अङ्ग-प्रत्यङ्ग की शक्ति का मूल है।

ऋषिः—गृत्समदः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—स्वराट्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

गृत्समद का लक्षण

अपां पृष्ठमसि योनिरग्नेः समुद्रमभितः पिन्वमानम्।
वर्धमानो महाँ२॥ऽआ च पुष्करे दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथस्व॥२९॥

१. स्तोता 'गृत्समद' को प्रेरणा देते हुए प्रभु कहते हैं कि **अपां पृष्ठम् असि**=व्यापक कर्मों का (आप् व्याप्तौ) तू पृष्ठ है, अर्थात् तेरे जीवन से व्यापक कर्म ही प्रवृत्त होते हैं। ये कर्म तेरे जीवन-मन्दिर की नींव ही हैं। २. **अग्नेः योनिः**=तू उत्साह (अग्नि) का उत्पत्ति स्थान है। तेरे जीवन में उत्साह की उष्णता है। निराशा की शीतता ने तुझे जकड़ नहीं लिया। ३. **अभितः पिन्वमानं समुद्रं (इव) वर्धमानः**=सब ओर से नदियों से पूर्ण होते हुए समुद्र की भाँति तू बढ़ रहा है। (**आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्। तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी**॥ —गीता०) इन सारे संसार के काम्य पदार्थों से परिपूर्ण होता हुआ भी तू अपनी मर्यादा को नहीं तोड़ता—उन विषयों के गर्व से फूल नहीं जाता, उनमें फँसता नहीं। ४. **च**=और **पुष्करे**=इस कमलवत् निर्लिप्त हृदय में **महान्**=तू बड़ा बनता है। तू अपने दिल को संकुचित नहीं होने देता। ५. **दिवः**=ज्ञान की **मात्रया**=मापक शक्ति से **वरिम्णा**=हृदय की विशालता से अथवा अङ्ग-प्रत्यङ्ग की शक्ति के विस्तार से तू **प्रथस्व**=विस्तृत हो, अर्थात् तेरा ज्ञान भी बढ़े तथा सब अङ्ग भी सशक्त हों। तू अपने बढ़े हुए ज्ञान से विषयों को ठीक माप सके, वस्तुओं को ठीक रूप में समझ सके और सशक्त इन्द्रियों से उस ज्ञान के अनुसार कार्य कर सके।

भावार्थ—गृत्समद के लक्षण ये हैं—१. व्यापक कर्म ही इसके जीवन का आधार होते हैं। २. इसके जीवन में कभी उत्साह-शून्यता नहीं आती। ३. काम्य पदार्थों को प्राप्त करता हुआ यह मर्यादा में रहता है। ४. अपने निर्लिप्त हृदय को विशाल बनाता है। ५. ज्ञान की मात्रा से तथा शक्ति की वृद्धि से यह अपने को विस्तृत करता है।

ऋषिः—गृत्समदः। **देवता**—दम्पती। **छन्दः**—विराडार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

गृत्समद पति-पत्नी

शर्म च स्थो वर्म च स्थोऽछिद्रे बहुलेऽउभे।
व्यचस्वती संवसाथां भृतमग्निं पुरीष्यम्॥३०॥

जो पति-पत्नी अपने जीवन को प्रभु-स्तवनवाला बनाते हैं वे १. **शर्म च स्थः**=आनन्दमय जीवनवाले होते हैं (**शर्म**=Happines)। जैसे घर में मनुष्य आनन्दपूर्वक निवास करते हैं उसी प्रकार ये भी उस प्रभुरूप गृह में सानन्द रहते हैं। २. **वर्म च स्थः**=प्रभु ही इनका कवच हो जाता है। उस प्रभु से ... ये व्यक्ति वासनाओं के

आक्रमण से आक्रान्त नहीं होते। ३. इसी का परिणाम है कि **अछिद्रे**=ये दोषरहित जीवनवाले होते हैं। ४. **उभे**=ये दोनों पति-पत्नी **बहुले**=विशाल (broad) हृदयवाले होते हैं, ये अपनी मैं में बहुतों को समाविष्ट कर लेते हैं। अन्ततोगत्वा ये सारी पृथिवी को अपना परिवार ही समझते हैं। ५. इस प्रकार **व्यचस्वती**=ये विस्तारवाले होते हैं। अपने को अधिक और अधिक फैलाते चलते हैं। ६. **संवसाथाम्**=घर में मिलकर निवास करते हैं। इनके घर में कभी कलह व क्लेश नहीं होता। ७. हो भी क्यों? क्योंकि **पुरीष्यम्**=सुखों के पूरण करनेवाले **अग्निम्**=अग्रेणी प्रभु को **भृतम्**=ये धारण करते हैं। 'उस आनन्द के भण्डार प्रभु को धारण करो' यही इनके जीवन का सूत्र होता है।

भावार्थ—१. प्रभु के उपासक पति-पत्नी प्रभुरूप घर में ही निवास करते हैं। २. प्रभु ही इनका कवच होता है। ३. इसी से इनका जीवन दोषशून्य होता है। ४. इनकी 'मैं' में बहुतों का समावेश होता है। ५. ये विस्तारवाले होते हैं। ६. मिलकर रहते हैं। ७. आनन्दमय प्रभु को धारण करते हैं।

ऋषिः—गृत्समदः। **देवता**—जायापती। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

पति-पत्नी का गृह-संवास

संवसाथाꣳस्वर्विदा समीचीऽउरसा त्मना।
अग्निमन्तर्भरिष्यन्ती ज्योतिष्मन्तमजस्रमित्॥३१॥

१. पिछले मन्त्र में वर्णित पति-पत्नी **संवसाथाम्**=घर में सम्यक् निवासवाले होते हैं। ये परस्पर कुत्ते-बिल्ली की भाँति न लड़ते हुए बड़ी मधुरता से चलते हैं। २. परिणामतः **स्वर्विदा**=ये स्वर्ग को प्राप्त करते हैं। इनका घर एक छोटा-मोटा स्वर्ग ही बन जाता है। मेलवाले घर में क्लेश का क्या काम? ३. **समीची**=अपने उस स्वर्गतुल्य घर में ये सदा सम्यक् मिल-जुलकर कर्म करनेवाले होते हैं। दोनों दो बैलों की भाँति गृहस्थ-शकट में जुते हुए गृहस्थ की गाड़ी को बड़ी उत्तमता से खैंचते हैं। ४. **त्मना**=स्वयं **उरसा**=अपनी छाती के ज़ोर से ये इस गाड़ी को खैंचते हैं, औरों के भरोसे बैठे नहीं रह जाते। ये पराश्रित नहीं होते—ये संसार में आत्मविश्वास के साथ चलते हैं। ५. चल इसलिए सकते हैं क्योंकि ये **अन्तः**=अपने अन्दर **अग्निम्**=प्रभु की भावना को—उत्साह को **भरिष्यन्ती**=भरनेवाले होते हैं (भरिष्यन्ती=धारयमाणः—उ०)। जो प्रभु **इत्**=निश्चय से **अजस्रम्**=निरन्तर, बिना विच्छेद के, **ज्योतिष्मन्तम्**=ज्योतिवाले हैं। प्रकाशमय प्रभु को हृदय में धारण करने से इनका जीवन सदा प्रकाशमय रहता है। इन्हें कहीं अन्धकार प्रतीत नहीं होता। उस प्रकाश में ये उत्साहपूर्वक आगे बढ़ते चलते हैं।

भावार्थ—प्रभु-भक्त पति-पत्नी की विशेषताएँ निम्न हैं—१. मेल से चलते हैं, २. घर को स्वर्ग बनाने का प्रयत्न करते हैं, ३. उत्तम गतिवाले होते हैं, ४. आत्मनिर्भरता से चलते हैं, ५. हृदयों में प्रभु को धारण करते हैं, परिणामतः कभी अन्धकार में नहीं होते।

ऋषिः—भरद्वाजः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

निर्लिप्त मन+दीप्त मस्तिष्क—भरद्वाज का प्रभु-स्तवन

पुरीष्योऽसि विश्वभराऽअथर्वा त्वा प्रथमो निरमन्थदग्ने।
त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत। मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः॥३२॥

१. 'गृत्समद' का वर्णन गत मन्त्रों में था। वह प्रभु-स्तवन करता है, और मस्त

रहता है' अतः अपने में शक्ति का भरण करके 'भरद्वाज' बन जाता है। शक्ति का ह्रास मौलिकरूप से दो कारणों से होता है। (क) हम प्रभु से दूर हो जाते हैं तो हमें पग-पग पर घबराहट होती है। (ख) जब जीवन में प्रसन्नता नहीं रहती तो चिन्ता हमें खाये चली जाती है। चिन्ता शक्ति के लिए चिता के समान है। चिन्ता गई और मनुष्य 'भरद्वाज' (शक्ति-सम्पन्न) बना। यह भरद्वाज प्रभु-स्तवन करता है कि—२. **पुरीष्यः असि**=हे प्रभो! आप स्तोताओं के जीवन में आनन्द का पूरण करनेवाले हो। ३. **विश्वभराः**=सबका भरण करनेवाले हो। ४. **अग्ने** =प्रभो! **प्रथमः**=अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाला **अथर्वा**=(न थर्वति) न डाँवाँडोल होनेवाला, अडोल मनवाला, स्थितप्रज्ञ ही **त्वा**=आपको **निरमन्थत्**=निश्चय से मन्थन कर पाता है। जैसे एक व्यक्ति दही का मन्थन करके घृत का दर्शन करता है, इसी प्रकार हे **अग्ने**=सब उन्नतियों के साधक प्रभो! **अथर्वा**=अडोल मनवाला पुरुष ही **त्वाम्**=आपको **पुष्करात् अधि**=इस कमल-पत्र की भाँति निर्लेप मन से **निर् अमन्थत**=निश्चय से मन्थित करता है, अर्थात् अपने इस हृदयाकाश में आपका दर्शन करता है। अथर्वा की भाँति **वाघतः**=मेधावी पुरुष—ज्ञान का वहन करनेवाला पुरुष **विश्वस्य**=(विशति) व्यापक ज्ञान में प्रवेश करनेवाले **मूर्ध्नः**=मस्तिष्क से आपका मन्थन करनेवाला होता है, अर्थात् आपके ज्ञान के लिए वासनाओं से अनान्दोलित मन तथा ब्रह्माण्ड के सब पदार्थों के ज्ञान का वहन करनेवाला मस्तिष्क दोनों ही आवश्यक हैं—'निर्लिप्त मन तथा दीप्त मस्तिष्क।'

भावार्थ—प्रभु ही सुखों का पूरण करनेवाले तथा सबका भरण करनेवाले हैं। हम अपने हृदयों को विषय-पङ्क से अलिप्त रक्खें, मस्तिष्क को सम्पूर्ण ज्ञान से भरने का प्रयत्न करें—यही प्रभु-दर्शन का मार्ग है।

ऋषिः—भरद्वाजः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

दध्यङ्+ऋषिः+पुत्रः—इन्धन

तमु॑ त्वा द॒ध्यङ्ङृषिः॑ पु॒त्र ई॑धे॒ऽअथ॑र्वणः। वृ॒त्र॒हणं॑ पुर॒न्द॒रम्॥३३॥

१. भरद्वाज ही कहते हैं कि **तम् उ त्वा**=निश्चय से उस आपको **ईधे**=अपने हृदय-कमल में (पुष्कर में) समिद्ध (विकसित) करता है। कौन? (क) **दध्यङ्**=निरन्तर ध्यान करनेवाला, दीर्घकाल तक, निरन्तर, आदरपूर्वक प्रभु से योग करता हुआ (योगं युञ्जन्), प्रतिदिन सन्ध्या करता हुआ। (ख) **ऋषिः**=तत्त्वद्रष्टा वस्तुओं की वास्तविकता का चिन्तन करनेवाला और परिणामतः उनमें न फँसनेवाला, (ग) **पुत्रः**=जो अपने को पवित्र करता है (पुनाति) और वासनाओं से अपने को बचाता है (त्रायते)। २. कहाँ समिद्ध करता है? **अथर्वणः**= डाँवाँडोल न होनेवाले मन में। प्रभु का दीपन हृदय में होता है, उस हृदय में जिसमें वासनाओं की लहरें नहीं उठती रहतीं। जो हृदय-समुद्र वासनाओं के तूफ़ानों से क्षुब्ध नहीं है। क्षुब्ध हृदय-समुद्र में प्रभु-दर्शन नहीं होता। ३. किसको समिद्ध करता है? उस प्रभु को जो (क) **वृत्रहणम्**=प्रभु-ज्ञान की आवरणभूत वासना को नष्ट करनेवाले हैं। (ख) **पुरन्दरम्**= शरीर, मन व बुद्धि में बनाये गये असुरों के अधिष्ठानों को नष्ट करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु-दर्शन उन्हें होता है जो ध्यानी, तत्त्वद्रष्टा, पवित्र व वासनाओं से अपना त्राण करनेवाले होते हैं। यह दर्शन वासनाओं से अनान्दोलित मन में होता है। दर्शन होने पर वासना विनष्ट हो जाती है, असुरों के किले भूमिसात् हो जाते हैं और हमारे 'शरीर, मन व बुद्धि' तीनों ही पवित्र हो जाते हैं।

ऋषिः—भरद्वाजः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

पाथ्यः+वृषा—समिन्धन

तमु॑ त्वा पा॒थ्यो वृषा॒ समी॑धे दस्यु॒हन्त॑मम्। ध॒न॒ञ्ज॒यꣳरणे॑रणे॥३४॥

१. **तमु त्वा**=निश्चय से उस आपको **समीधे**=अपने हृदय-कमल में समिद्ध करता है। कौन? (क) **पाथ्यः**=पथ पर, मार्ग पर चलनेवाला। प्रभु का दर्शन वही करता है जो अपने कर्त्तव्य-पथ से कभी भ्रष्ट नहीं होता। (ख) **वृषा**=जो शक्तिशाली है अथवा औरों पर सुखों की वर्षा करनेवाला है। वस्तुतः मार्ग-भ्रष्ट न होनेवाला व्यक्ति शक्तिशाली बनता है और यह व्यक्ति अपना कर्त्तव्य समझता है कि औरों पर भी सुखों की वर्षा करनेवाला बने। वह पापी होता है जो केवल अपने लिए जीता है **'केवलाघो भवति केवलादी'**। २. किस प्रभु को यह समिद्ध करता है? (क) **दस्युहन्तमम्**=जो प्रभु दस्युओं के सर्वाधिक हन्ता हैं। वे प्रभु नाशक वृत्तियों के ध्वंसक हैं। हम प्रभु का नामोच्चारण करते हैं और काम-क्रोध आदि वृत्तियाँ विलुप्त हो जाती हैं। (ख) वे प्रभु **रणेरणे**=प्रत्येक संग्राम में **धनञ्जयम्**=धनों के विजेता हैं। प्रभु का हृदयों में प्रकाश होता है तो हम उन धनों के विजेता बनते हैं, जिनसे हमारा जीवन धन्य हो जाता है।

भावार्थ—१. प्रभु का स्मरण करनेवाला 'भरद्वाज'=अपने में शक्ति को भरनेवाला बनता है। २. प्रभु का प्रकाश वही देखता है जो मार्ग पर चलता है और मार्ग पर चलने के कारण शक्तिशाली बनता है। अथवा जो मार्ग पर चलता है और औरों पर भी सुखों की वर्षा करता है। ३. प्रभु-दर्शन करनेवाला व्यक्ति नाशक तत्त्वों व आसुर वृत्तियों का संहार कर पाता है और संग्रामों में उत्तम धनों का विजेता बनता है।

ऋषिः—देवश्रवो देववातः। **देवता**—होता। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

पाथ=मार्ग

सीद॑ होतः॒ स्वऽउ॑ लो॒के चि॑कि॒त्वान्त्सा॒दया॑ य॒ज्ञꣳसु॑कृ॒तस्य॒ योनौ॑।
दे॒वा॒वीर्दे॒वान् ह॒विषा॑ यजा॒स्यग्ने॑ बृ॒हद्यज॑माने॒ वयो॑ धाः॥३५॥

१. गत मन्त्र में उल्लेख था कि मार्ग पर चलनेवाला प्रभु-दर्शन करता है। प्रस्तुत मन्त्र में उस मार्ग का वर्णन करते हैं। २. हे **होतः**=(हु दानादनयोः) दानपूर्वक अदन करनेवाले! तू **सीद**=अपने इस शरीररूप घर में निषण्ण हो। तू अपने शरीर में ही ठहरनेवाला बन। तू स्वस्थ बन। ३. **उ** और **स्वः**=अपने ही **लोके**=(लोकृ दर्शने) देखने में तू स्थित हो। तू अपना ही निरीक्षण करता हुआ, अपने दोषों को जानकर उन्हें दूर करनेवाला बन। तू 'आत्म-निरीक्षण में स्थित हो'। ४. **चिकित्वान्**=(कित ज्ञाने) तू ज्ञानी बन, समझदार बन। इस संसार में प्रत्येक कार्य को कुशलता से करनेवाला हो। ५. इस **सुकृतस्य**=बहुत पुण्यों के **योनौ**=घर में, अर्थात् उस शरीर में जो 'बहुपुण्यलब्धम्' न जाने कितने पुण्यों से प्राप्त हुआ है और 'धर्मैकहेतु'=केवल धर्म के कार्यों के लिए दिया गया है, उस शरीर में **यज्ञम्**=(यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म) श्रेष्ठतम कर्मों को **सादय**=तू बिठा। यह पृथिवी तो देवयजनी=देवों के यज्ञ करने की भूमि है। यह हमारी छोटी पृथिवी, अर्थात् शरीर भी यज्ञों के लिए ही उद्दिष्ट है—**'पुरुषो वाव यज्ञः'**=पुरुष तो है ही यज्ञ। ६. **देवावीः**=(अव, भागदुघे) तू उत्तम कर्म कर, दिव्य गुणों के अंशों का अपने में वर्धन करनेवाला हो। तू अपनी दैवी सम्पत्ति को बढ़ा। ७. तू **देवान्**=दिव्य गुणों को **हविषा**=दानपूर्वक अदन से, त्यागवृत्ति से ही **यजासि**=अपने साथ सङ्गत करनेवाला होता

है। त्यागपूर्वक उपभोग शरीर को स्वस्थ व नीरोग बनाता है तो मन को भी दिव्य गुणों से परिपूर्ण करता है। ८. हे **अग्ने**=अपने सखा जीव की सब उन्नतियों के साधक प्रभो! **यजमाने**=इस यज्ञ के स्वभाववाले व्यक्ति में **बृहद् वयः**=इस वृद्धिशील जीवन को **धाः**=धारण कीजिए। यज्ञ के स्वभाववाला यह व्यक्ति उन्नति-पथ पर निरन्तर अग्रसर होता जाए। इसका जीवन वृद्धिशील हो। ९. इस प्रकार दिव्य गुणों के कारण यश को प्राप्त करनेवाला यह व्यक्ति 'देवश्रवस्' कहलाता है, देवों के कारण यशवाला यह देवों— विद्वानों व सूर्यादि देवों से निरन्तर प्रेरणा प्राप्त करने के कारण 'देववात' है।

भावार्थ—मार्ग यह है—हम १. दानपूर्वक अदन (भक्षण) करनेवाले बनकर स्वस्थ बनें। २. आत्म-निरीक्षण करते हुए अपने ही दोषों को देखें। ३. समझदार बनें। ४. इस धर्मार्थ प्राप्त शरीर में निवास करते हुए यज्ञों को करनेवाले बनें। ५. दिव्य गुणों का अपने में दोहन करें। ६. त्यागवृत्ति से दिव्य गुणों को बढ़ाएँ। ७. वृद्धिशील जीवनवाले हों।

ऋषिः—गृत्समदः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

गृत्समद का जीवन

नि होता होतृषदने विदानस्त्वेषो दीदिवाँ२॥ऽअसदत्सुदक्षः।
अदब्धव्रतप्रमतिर्वसिष्ठः सहस्रम्भरः शुचिजिह्वोऽअग्निः ॥३६॥

१. मार्ग को ही स्पष्ट करने के लिए गृत्समद (स्तोता व सदा प्रसन्न) के जीवन का वर्णन करते हैं कि यह **होता**=सदा दानपूर्वक अदन करनेवाला होता है। '**त्यक्तेन भुञ्जीथाः**'=त्यागपूर्वक उपभोक्ता होता है। २. **होतृषदने न्यसदत्**=होताओं के घर में निवास करता है—यह प्रयत्न करता है कि उसके घर में, उसके परिचितों के घर में सभी की वृत्ति 'होता' की वृत्ति हो। सभी में दानपूर्वक यज्ञ-शेष को ही खाने का भाव हो। ३. **विदानः** =यह ज्ञानी हो, समझदार हो। लोक-व्यवहार को समझता हो, भौंदू न हो। ४. **त्वेषः**=भोगवृत्तिवाला न होने से स्वस्थ हो और इसके चेहरे पर स्वास्थ्य की दीप्ति हो। ५. **दीदिवान्**=इसके मस्तिष्क में ज्ञान की ज्योति हो। यह ज्ञानाग्नि को अपने में प्रज्वलित करनेवाला बने। ६. **सुदक्षः**=बड़ा कार्यकुशल हो। दक्ष dexterous=निपुण हो। ७. **अदब्धव्रतप्रमतिः**=अहिंसित व्रतों व प्रकृष्ट बुद्धिवाला हो। ८. अहिंसित व्रतों व बुद्धि के कारण ही यह **वसिष्ठः**=उत्तम निवासवाला हो। अथवा वशियों (वश में करनेवालों में) में यह श्रेष्ठ हो। ९. जितेन्द्रियता के परिणामरूप यह **सहस्रम्भरः**=हज़ारों का पोषण करनेवाला हो, यह केवल 'स्वोदरम्भरि'= अपने पेट को भरनेवाला ही न बना रहे। १०. **शुचिजिह्वः**=इसकी जिह्वा शुचि=दीप्त व पवित्र हो। यह शुभ ही शब्द बोले अशुभ नहीं। ११. इस प्रकार **अग्निः**=यह निरन्तर आगे बढ़नेवाला हो।

भावार्थ—'गृत्समद' वही है जो उल्लिखित ११ बातों को अपने जीवन में लाता है। वस्तुतः जीवन का ठीक मार्ग है ही यह।

ऋषिः—प्रस्कण्वः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्षीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

'प्रस्कण्व' की 'ज्ञान-सृष्टि'

सꣳसीदस्व महाँ२॥ऽअसि शोचस्व देववीतमः।
वि धूममग्नेऽअरुषं मियेध्य सृज प्रशस्त दर्शतम् ॥३७॥

१. गत मन्त्र का गृत्समद (जो स्तवन करता है और प्रसन्न रहता है) ही वस्तुतः प्रस्कण्व=मेधावी है। प्रभु इस मेधावी पुरुष से कहते हैं कि १. **संसीदस्व**=तू अपने इस शरीर में सम्यक् निवासवाला हो। २. **महान् असि**=तूने अपने हृदय को महान् बनाया है। ३. **शोचस्व**=तू इस विशालता के कारण शुचि व पवित्र बना है, तेरा जीवन उज्ज्वल हुआ है। ४. **देववीतमः**=तू अधिक-से-अधिक दिव्य गुणों को प्राप्त करनेवाला है। (वी=प्राप्ति) ५. **अग्ने**=हे अग्रगति के साधक जीव! **प्रशस्त**=उत्तम प्रशंसनीय जीवनवाले जीव! **मियेध्य**=(मेध्य) यज्ञिय जीवनवाले जीव! तू उस ज्ञान को विविध रूपों में उत्पन्न कर जो (क) **धूमम्**=(धूञ् कम्पने) सब वासनाओं को कम्पित करके तेरे जीवन को उन्नत करनेवाला है। (ख) **अरुषम्**=जो ज्ञान तुझे (अ-रुषं) क्रोध-शून्य बनाता है। (ग) तथा, **दर्शतम्**=जो ज्ञान दर्शनीय व सुन्दर है अथवा जो सदा तुझे कर्त्तव्य का दर्शन कराता है।

भावार्थ—हम उस ज्ञान को उत्पन्न करने का प्रयत्न करें जो १. हमारी वासनाओं को नष्ट करता है। २. हमें क्रोध-शून्य बनाता है। ३. और कर्त्तव्य-पथ दिखाता है।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। **देवता**—आपः। **छन्दः**—न्यङ्कुसारिणीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

स्वास्थ्य व जल

अपो देवीरुपसृज मधुमतीरयक्ष्माय प्रजाभ्यः।
तासामास्थानादुज्जिहतामोषधयः सुपिप्पलाः ॥३८॥

१. पिछले तीन मन्त्रों में उस मार्ग का प्रदर्शन है, जिसपर चलकर हमें प्रभु का दर्शन करना है। मार्ग पर चलना तभी सम्भव है यदि हम स्वस्थ हों, अतः यहाँ 'सिन्धुद्वीप' ऋषि के तीन मन्त्रों में स्वास्थ्य के मौलिक साधनों 'जल, वायु व अग्नि' पर क्रमशः प्रकाश डाला गया है। २. जल के विषय में कहते हैं कि हे प्रभो! आप **अपः देवीः**=दिव्य गुणोंवाले जलों का **उपसृज**=समीपता से सृजन करो। आपकी कृपा से उत्तम गुणोंवाले जल हमें समीपता से सुलभ हों। जहाँ हम रहते हैं वहाँ उत्तम जल सुप्राप्य हो। ३. ये जल **मधुमतीः**=माधुर्यवाले हों। इनसे हमारे शरीर में उन रसादि धातुओं का निर्माण हो जो हमारे जीवनों को मधुर बना दें। ४. ये जल **प्रजाभ्यः**=सब प्रजाओं के लिए **अयक्ष्माय**=यक्ष्मादि रोगों से राहित्य के लिए हों। इनके सेवन से यक्ष्मादि रोग भी दूर हो जाएँ, ऐसी शक्ति इन जलों के अन्दर हो। ५. **तासाम्**=उन जलों के **आस्थानात्**=चारों ओर ठहरने के स्थान से **सुपिप्पलाः**=उत्तम फलोंवाली **ओषधयः**=ओषधियाँ **उज्जिहताम्**=उद्गत हों, उत्पन्न हों। इन जलों से सिक्त क्षेत्रों में उत्तम फलोंवाली ओषधियाँ विकसित हों। यह सामान्य अनुभव है कि गन्दे पानी से सिक्त खेतों की सब्जियाँ कूप जल से सिक्त खेतों की सब्जियों से बड़ी हीन होती हैं। ६. एवं, इस संसार-समुद्र में सिन्धु=बहनेवाले ये जल द्वीप=शरण हैं जिसके ऐसा यह 'सिन्धुद्वीप' ही प्रस्तुत मन्त्रों का ऋषि है। अगले मन्त्र में 'वायु' का वर्णन है वे भी बहनेवाले होने से 'सिन्धु' हैं। चालीसवाँ मन्त्र 'अग्नि' का है। 'अधिक तापांशवाले पदार्थ से निम्न तापांशवाले पदार्थ की ओर बहने से वह भी 'सिन्धु' है। इन तीनों के ठीक प्रयोग से अपने स्वास्थ्य की रक्षा करनेवाला यह ऋषि 'सिन्धुद्वीप' है।

भावार्थ—जल दिव्य गुणोंवाले हैं, ये माधुर्य को उत्पन्न करते हैं, यक्ष्मा को नष्ट करते हैं। इनसे उत्पन्न ओषधियाँ उत्तम होती हैं।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। **देवता**—वायुः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

वायु व दिव्य जीवन

सं ते वायुर्मातरिश्वा दधातूत्तानाया हृदयं यद्विकस्तम्।
यो देवानां चरसि प्राणथेन कस्मै देव वषडस्तु तुभ्यम्॥३९॥

१. घर में पति-पत्नी दो ही मुख्य प्राणी हैं। इनमें पत्नी के लिए कहते हैं कि **उत्तानायाः**=(उत् तन्) उत्कृष्ट गुणों के विस्तार करनेवाली **ते**=तेरे लिए **मातरिश्वा वायुः**=यह अन्तरिक्ष में सञ्चरण करनेवाला वायु, प्राणायाम के समय हृदयान्तरिक्ष में विचरनेवाला प्राणवायु **हृदयम्**=उस हृदय को **सन्दधातु**=उत्तमता से धारण करे **यत्**=जो **विकस्तम्**=विकासवाला है। प्राणायाम के द्वारा शरीर में शुद्ध वायु को बारम्बार गहराई तक पहुँचाने से मलों का भस्मीकरण होकर नीरोगता उत्पन्न होती है और मन में द्वेषादि मल भी नहीं रहते। इस प्रकार मलों का विनाश होकर हृदय में गुणों का उत्तमता से विकास होता है। २. पत्नी की भाँति पति भी समतावाला होकर प्राणायाम द्वारा निर्मल बनकर ऐसा हो जाता है कि **यः**=जो **देवानां प्राणथेन**=देवों के जीवन से **चरसि**=विचरता है। पति का जीवन ऐसी भद्रतावाला हो जाता है कि लोग कहते हैं कि यह तो दिव्य जीवनवाला हो गया है। ३. इस पति-पत्नी का यह पवित्र जीवन है **देव**=सब दिव्य गुणों के स्रोत प्रभो! **कस्मै**=आनन्दस्वरूप **तुभ्यम्**=आपके लिए **वषट् अस्तु**=अर्पित हो। इस वायु के द्वारा अपने जीवनों को शुद्ध बनाकर ये पति-पत्नी तेरे प्रति समर्पण करनेवाले बनते हैं। प्रभु-चरणों में पवित्र वस्तु का ही तो अर्पण समुचित है।

भावार्थ—शुद्ध वायु में प्राणायाम के द्वारा अपने हृदय का विकास करके तथा अपने जीवन को दिव्य बनाकर हम इन्हें प्रभु-चरणों में अर्पित करनेवाले बनें।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

विश्वरूप वस्त्र का धारण

सुजातो ज्योतिषा सह शर्म वरूथमासदत्स्वः।
वासोऽअग्ने विश्वरूपꣳसंव्ययस्व विभावसो॥४०॥

१. गत मन्त्रों में वर्णित जल और वायु के समुचित प्रयोग के साथ प्रस्तुत मन्त्र में अग्नि के धारण का प्रस्ताव है, परन्तु मुख्यतया यह अग्नि वे प्रभु ही हैं। गौणरूप से यज्ञाग्नि भी अभिप्रेत है ही। २. **सुजातः**=इस अग्नि के धारण से यह जीव उत्तम (सु) विकासवाला (जातः) होता है। ३. **ज्योतिषा सह**=यह सदा ज्योति, अर्थात् प्रकाश के साथ होता है। ४. **शर्म**=आनन्द को **आसदत्**=प्राप्त होता है। ५. **वरूथम्**=शरीर के लिए रक्षक आवरण का काम देनेवाले (वरूथ=wealth) धन को प्राप्त करता है। ६. **स्वः**=प्रकाश को व स्वर्ग को भी **आसदत्**=प्राप्त करता है। ७. हे **विभावसो**=हे प्रकाशरूप धनवाले जीव! **अग्ने**=निरन्तर आगे बढ़नेवाले जीव! तू **विश्वरूपम्**=सारे ब्रह्माण्ड को रूप देनेवाले **वासः**=उस आच्छादक—वासनाओं के आक्रमण से बचानेवाले प्रभुरूप वस्त्र को **संव्यस्व**=उत्तमता से धारण कर। जब प्रभु मेरा वस्त्र होंगे, मैं प्रभुरूप वस्त्र से आच्छादित होऊँगा तब वासनाओं की सर्दी-गर्मी व वर्षा-ओले मेरी हानि करनेवाले न होंगे। प्रभु ही उपस्तरण हैं, प्रभु ही अपिधान तब उस प्रभु में सुरक्षित होकर मैं कभी भी वासनाओं के आक्रमण से आक्रान्त

कैसे हो सकता हूँ?

भावार्थ—प्रभुरूप वस्त्र को धारण करने पर मैं सर्दी-गर्मीरूप वासनाओं से आक्रान्त नहीं होता।

ऋषिः—विश्वमनाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

उठ खड़ा हो

उदु॑ तिष्ठ स्वध्वरावा॑ नो दे॒व्या धि॒या।
दृ॒शे च॒ भा॒सा बृ॒ह॒ता सु॑शु॒क्वनि॒राग्ने॑ याहि सुश॒स्तिभिः॑ ॥४१॥

प्रभु कहते हैं कि—१. **उ**=निश्चय से **उत्तिष्ठ**=उठ खड़ा हो। उदास व निराश बनकर पड़ा मत रह। २. **स्वध्वरावा**=(सु अध्वर अव)=उत्तम—हिंसा-शून्य कर्मों की रक्षा करनेवाला बन। ३. हे **अग्ने**=आगे बढ़नेवाले जीव! **नः**=हमारे पास **आयाहि**=आ! किस प्रकार! (क) **देव्या धिया**=(देवनस्वभावया क्रीडापरया बुद्ध्या—म०) इस संसार में प्रत्येक स्थिति को क्रीड़ापरक बुद्धि sportsman like spirit से लेते हुए, जय-पराजय में सम रहते हुए। दूसरे शब्दों में, स्थितप्रज्ञता के द्वारा। (ख) **दृशे च**=और सब संसार को ठीक रूप में देखने के लिए **बृहता भासा**=वृद्धिशील दीप्ति से—बढ़ते हुए ज्ञान से। नैत्यिक स्वाध्याय के द्वारा बढ़ती हुई ज्ञान-दीप्ति ही तो तुझ मेरे सान्निध्य को प्राप्त कराएगी। (ग) इस प्रकार **सुशुक्वनिः**=(**साधु शुचो रश्मीन् वनति सम्भजति**—म०)। उत्तम ज्ञान-दीप्तियों को प्राप्त करनेवाला तू **सुशस्तिभिः**=उत्तम कीर्तियों के द्वारा। उत्तम कर्मों के कारण प्राप्त यश के द्वारा तू हमारे समीप आनेवाला बन। ४. संक्षेप में, हृदय में दिव्य विचारों के द्वारा अथवा व्यवसायात्मिका बुद्धि के द्वारा, मस्तिष्क में वर्धमान ज्ञानाग्नि के द्वारा तथा हाथों में उत्तम यशस्वी कर्मों के द्वारा तू हमारे पास आनेवाला बन।

भावार्थ—तू उठ खड़ा हो, अहिंसात्मक कर्मोंवाला बन। पवित्र बुद्धि, बढ़ते हुए ज्ञान तथा उत्तम प्रशंसनीय कर्मों से हमें प्राप्त हो।

ऋषिः—कण्वः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—उपरिष्टाद्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

तैयार पर तैयार—सदा उद्यत

ऊ॒र्ध्वऽऊ॒ षु ण॑ऽऊ॒तये॒ तिष्ठा॑ दे॒वो न स॑वि॒ता।
ऊ॒र्ध्वो वाज॑स्य॒ सनि॑ता॒ यद॒ञ्जिभि॑र्वा॒घद्भि॑र्वि॒ह्वया॑महे ॥४२॥

१. गत मन्त्र का 'विश्वमना वैयश्व'=नैत्यिक स्वाध्याय से ज्ञान को बढ़ाकर 'कण्व' मेधावी बना है। वह प्रभु से प्रार्थना करता है कि **ऊ**=निश्चय से आप **नः**=हमारी **सुऊतये**=उत्तम रक्षा के लिए **ऊर्ध्वः तिष्ठ**=ऊपर खड़े हैं, अर्थात् तैयार-पर-तैयार हैं। २. **सविता देवः न**=ऊपर खड़े सूर्य की भाँति आप भी हमें निरन्तर प्रेरणा दे रहे हैं। हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा तो निरन्तर चलती ही है। ३. **वाजस्य**=शक्ति व ज्ञानों के **सनिता**=संविभक्ता—देनेवाले आप **ऊर्ध्वः**=ऊपर खड़े हैं, अर्थात् शक्ति व ज्ञान देने के लिए सदा उद्यत हैं। ४. **यत्**=ज्योंही हम **अञ्जिभिः**=(अञ्ज गतौ) क्रियाशील, कर्मठ **वाघद्भिः**=ज्ञान-निधि का वहन करनेवालों (क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः) के साथ **विह्वयामहे**=विविध विषयों पर ज्ञान की विशिष्ट चर्चा करते हैं। हम विद्वानों के साथ ज्ञान-चर्चा करनेवाले बनें, वे प्रभु अवश्य हमारा रक्षण करेंगे—ऊर्ध्वस्थित सूर्यदेव के समान सदा उत्तम प्रेरणा प्राप्त कराएँगे और शक्ति व ज्ञान देंगे।

भावार्थ—हम विद्वानों के सम्पर्क से मेधावी बनकर प्रभु से यही आराधना करें कि १. प्रभो! हमारी रक्षा कीजिए। २. हमें उत्तम प्रेरणा प्राप्त कराइए। ३. शक्ति व ज्ञान दीजिए।

ऋषिः—त्रितः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

त्रित का प्रभु-स्तवन

स जातो गर्भोऽअसि रोदस्योरग्ने चारुर्विभृतऽओषधीषु।
चित्रः शिशुः परि तमांᳬस्यक्तून् प्र मातृभ्योऽअधि कनिक्रदद् गाः॥४३॥

१. गत मन्त्रों का मेधावी (कण्व) अपने ज्ञान को बढ़ाकर 'त्रित'=काम, क्रोध व लोभ तीनों को तैरनेवाला बनता है। अथवा 'ज्ञान, कर्म व भक्ति' तीनों का विस्तार करता है (त्रीन् तरति, त्रीन् तनोति इति त्रितः) और इन शब्दों में प्रभु-स्मरण करता है कि—२. **जातः**=सदा से प्रसिद्ध (प्रादुर्भूत) **सः**=वह आप **रोदस्योः**=द्युलोक व पृथिवीलोक के, अर्थात् सारे ब्रह्माण्ड के **गर्भः**=गर्भ हो। आपने सारे ब्रह्माण्ड को अपने एक देश में धारण किया हुआ है (**पादोऽस्य विश्वा भूतानि**) ३. हे **अग्ने**=हमारी उन्नतियों के साधक प्रभो! **चारुः**=आप सुन्दर-ही-सुन्दर हो अथवा सारे संसार को गति देनेवाले हो (चारयति=भ्रामयन् सर्वभूतानि)। ४. **ओषधीषु**=दोषों का दहन करनेवाली इन ओषधियों-वनस्पतियों के होने पर **विभृतः**=विशेषरूप से धारण किये गये हो, अर्थात् जब एक भक्त वानस्पतिक सात्त्विक भोजन से अपने अन्तःकरण को शुद्ध कर लेता है तब आप उसके हृदय में आविर्भूत होते हैं। भक्तों के पवित्र हृदय ही आपके निवास-स्थान होते हैं। ५. उन हृदयों में स्थित हुए-हुए आप **चित्रः**=(चित्-र) संज्ञान देनेवाले हैं। ६. **शिशुः** (शो तनूकरणे)=भक्त की बुद्धि को बड़ा सूक्ष्म बनाते हैं। ७. **तमांसि परि**=अन्धकारों को दूर करते हो (**परि**=वर्जन) **अक्तून् प्र**=ज्ञान की रश्मियों को प्रकर्षेण प्राप्त कराते हो (**प्र**=बढ़ाना) ८. **मातृभ्यः**=प्रत्येक कार्य को माप-तोलकर करनेवाले के लिए अथवा ज्ञान का निर्माण करनेवालों के लिए **गाः**=वेदवाणियों को **अधिकनिक्रदत्**=आधिक्येन उच्चारण करते हो। बादल की गर्जना की भाँति हृदयस्थ प्रभु से वेदवाणियों का उच्चारण हो रहा है। हम यदि नहीं सुनते तो इसमें हमारा ही दुर्भाग्य है। हम माता=बड़ा माप-तोल कर चलनेवाले बनें, ज्ञान के निर्माण की प्रबल कामनावाले हों तब अवश्य इन वाणियों को सुनेंगे।

भावार्थ—सर्वव्यापक प्रभु के दर्शन के लिए निर्दोष अन्तःकरण चाहिए। वे प्रभु हृदयस्थ हो वेदवाणियों का उच्चारण कर रहे हैं। हमारी प्रत्येक क्रिया मपी-तुली हो तो हम अवश्य उन वाणियों को सुन पाएँगे।

ऋषिः—त्रितः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

प्रभु का त्रित को उपदेश

स्थिरो भव वीड्वङ्गऽआशुर्भव वाज्यर्वन्।
पृथुर्भव सुषदस्त्वमग्नेः पुरीषवाहणः॥४४॥

गत मन्त्र का अन्तिम वाक्य था 'मपी-तुली क्रियावाले को प्रभु ज्ञानोपदेश देते हैं'। प्रस्तुत मन्त्र में वही उपदेश निर्दिष्ट हुआ है। उपदेश यह है—१. **स्थिरो भव**=तू स्थिर हो—चञ्चलता को छोड़ दे, प्रतिक्षण इधर-उधर भागा न फिर। २. **वीड्वङ्गः**=दृढ़ अङ्गोंवाला हो। व्यर्थ की चञ्चलताओं को छोड़कर तू शान्त-वृत्तिवाला बन और अपनी शक्ति को नष्ट न होने देते हुए दृढ़ व पुष्ट अङ्गोंवाला हो। ३. **आशुः भव**=कर्मों में सदा व्याप्तिवाला हो

अथवा आलस्य को छोड़कर शीघ्रता से कार्यों को करनेवाला बन। **वाजी**=शक्तिशाली हो। **अर्वन्**=(अर्व हिंसायाम्) मार्ग में आनेवाले विघ्नों को तू नष्ट करनेवाला हो। विघ्नों से न घबराता हुआ तू शक्ति-सम्पन्नता से कार्यों को शीघ्रता से पूर्ण करनेवाला हो। ४. **पृथुर्भव**=तू विशाल हृदयवाला हो। **सुषदः**=उत्तमता से इस घर में बैठनेवाला हो अथवा सदा उत्तम कार्यों में स्थित हो। ५. इस प्रकार **त्वम्**=तू **अग्नेः**=एक अग्रणी नेता के **पुरीषवाहणः**=पालन-पूरणादि उत्तम कर्मों को वहन करनेवाला होता है, अर्थात् अग्रणी बनकर तू इस प्रकार कार्य करता है कि सभी का पालन हो और उनकी कमियाँ दूर होकर वे पूरण हो पाएँ।

भावार्थ—हम अचञ्चलता, दृढाङ्गता, कार्यव्याप्तता, शक्तिमत्ता=विघ्नों का दूरीकरण—हृदय की विशालता, उत्तम कार्यों में स्थिति तथा नेता के पालनात्मक गुणों को धारण करनेवाले बनें।

ऋषिः—चित्रः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराट्पथ्याबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

कल्याण-अहिंसा

शिवो भव प्रजाभ्यो मानुषीभ्यस्त्वमङ्गिरः।
मा द्यावापृथिवीऽअभि शोचीर्मान्तरिक्षं मा वनस्पतीन्॥४५॥

१. हे **अङ्गिरः**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाले! **त्वम्**=तू **मानुषीभ्यः प्रजाभ्यः**=मानव प्रजाओं के लिए **शिवः भव**=कल्याण करनेवाला हो। तेरा सारा व्यवहार ऐसा हो जिससे औरों का कल्याण-ही-कल्याण हो, अकल्याण नहीं। तू औरों का घात-पात करनेवाला न होकर औरों की रक्षा करनेवाला बन। २. तू **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक को **मा अभिशोचीः**=मत सन्तप्त कर **मा अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष को सन्तप्त मत कर, अर्थात् तीनों लोकों में रहनेवाले किसी भी प्राणी को तू दुःखी मत कर। तुझसे सभी का कल्याण ही हो। ३. प्राणियों की बात तो दूर तू **मा वनस्पतीन्**=वनस्पतियों की भी हिंसा मत कर। **'ओषध्यास्ते मूलं मा हिꣳसिषम्'**=इस उपदेश के अनुसार ओषधि के मूल को विच्छिन्न करनेवाला न बन। इनके लोम-नखरूप फल-फूलों का ही प्रयोग करनेवाला बन।

भावार्थ—त्रित (काम, क्रोध, लोभ-विजयी) का जीवन लोक-कल्याण के लिए ही होता है, अकल्याण के लिए नहीं।

ऋषिः—त्रितः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—ब्राह्मीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

तीन समुद्र

प्रैतु वाजी कनिक्रदन्नानदद्रासभः पत्वा। भरन्नग्निं पुरीष्यं मा पाद्यायुषः पुरा।
वृषाग्निं वृषणं भरन्नपां गर्भꣳसमुद्रियम्। अग्नऽआयाहि वीतये॥४६॥

१. **वाजी**=गत मन्त्र की भावना के अनुसार सबके साथ मधुरता से वर्त्तता हुआ, शाक-सब्जियों का प्रयोग करता हुआ यह शक्तिशाली जीव **प्रएतु**=आगे और आगे बढ़े। उन्नति-पथ पर बढ़ता चले। २. **कनिक्रदत्**=यजुर्मन्त्रों का उच्चारण करता हुआ, **नानदत्**=साम-मन्त्रों की ध्वनिवाला, **रासभः**=ऋचाओं को बोलता हुआ, **पत्वा** (पद गतौ)=उनके अनुसार गति करके, अर्थात् उन यजुः, ऋक् व साम मन्त्रों को जीवन में क्रियान्वित करके, ३. **पुरीष्यम्**=सब सुखों का पूरण करनेवाली **अग्निम्**=अग्नि को, अर्थात् प्रभु को **भरन्**=अपने हृदय में भरण करता हुआ, ४. **आयुषः पुरा**=पूर्ण जीवन के अन्त से पहले **मा पादि**=यहाँ से मत जाए, अर्थात् पूरे सौ वर्ष तक जीनेवाला बने। ५. **वृषा**=शक्तिशाली और अपनी

शक्ति से सबपर सुखों की वर्षा करनेवाला तू **वृषणं अग्निम्**=उस शक्ति व सुखों के वर्षक अग्रेणी प्रभु को **भरन्**=अपने अन्दर धारण करनेवाला बन। ६. उस प्रभु को जो **अपां गर्भः**=सब प्रजाओं को गर्भ में धारण करनेवाले हैं व **समुद्रियम्**=समुद्र में निवास करनेवाले हैं। 'त्रयो ह वै समुद्रा अग्निर्यजुषां महाव्रतं साम्नां महदुक्थमृचाम्' ऋक्, यजुः, साम ही तीन प्रकार के मन्त्र हैं जो ज्ञान के समुद्र हैं, इन सबमें परमात्मा का प्रतिपादन है, अतः प्रभु 'समुद्रिय' हैं। ७. इस समुद्रिय प्रभु को हे **अग्ने**=अग्रगति के साधक जीव! तू **आयाहि**=प्राप्त हो। जिससे तू **वीतये**=सुखों को व्याप्त और अज्ञानान्धकार को दूर कर सके।

भावार्थ—हम अपने जीवन में 'ऋक्-यजुः-साम' मन्त्रों को पढ़कर उनके अनुसार क्रिया करते हुए जीवन-यापन करें, प्रभु को अपने हृदयों में धारण करके पूर्ण आयुष्य का उपभोग करें। प्रभु से शक्ति प्राप्त करके प्रकाश को धारण करें।

ऋषिः—त्रितः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

ऋत-सत्य व पुरीष्य अग्नि

ऋतꣳसत्यमृतꣳसत्यमग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वद्भरामः।
ओषधयः प्रतिमोदध्वमग्निमेतꣳशिवमायन्तमभ्यत्र युष्माः।
व्यस्यन् विश्वाऽअनिराऽअमीवा निषीदन्नोऽअप दुर्मतिं जहि॥४७॥

१. गत मन्त्र के वर्णन के अनुसार प्रस्तुत मन्त्र में 'समुद्रिय'=प्रभु को धारण करनेवाले के जीवन का चित्रण करते हैं। इन व्यक्तियों का निश्चय होता है कि हम **ऋतम्**=जीवन की भौतिक क्रियाओं में ऋत (right) को, सामाजिक शक्तियों में **सत्यम्**=सत्य को और आध्यात्मिक जीवन में **ऋतं सत्यं अग्निं पुरीष्यम्**=ऋत और सत्य के उत्पत्ति स्थान, सब सुखों का पूरण करनेवाले अग्रेणी प्रभु को **भरामः**=धारण करते हैं और **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति बनते हैं। वस्तुतः खाना-पीना, सोना-जागना आदि शारीरिक क्रियाएँ बिलकुल ठीक समय व स्थान पर हों, अर्थात् ऋत (right) हों, व्यवहार में सत्य होने से मन बिलकुल परिशुद्ध हो तथा इस ऋत और सत्य के उद्गम स्थान, सुखों के पूरक (पुरीष्य) प्रभु का स्मरण हो तो मनुष्य का अङ्ग-प्रत्यङ्ग सबल, सशक्त व सरस बना रहता है। २. एक बालक के जीवन को इस प्रकार का बनाने में आचार्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे आचार्य 'ओषधयाः' हैं, दोषों का दहन (उष दाहे) करनेवाले हैं। इन आचार्यों से कहते हैं कि **ओषधयः**=हे दोषों का दहन करनेवाले आचार्यो! **प्रतिमोदध्वम्**=आप आनन्दित होओ। **अत्र**=यहाँ **युष्माः अभि**=आपकी ओर (युष्मान्) **एतम्**=इस **शिवम्**=मङ्गल स्वभाववाले, जिसके अन्दर माता-पिता ने मङ्गलमयी वृत्ति पैदा करने का प्रयत्न किया है, **अग्निम्**=जो आगे बढ़ने की वृत्तिवाला है उसको **आयन्तम्** =आते हुए देखकर आप प्रसन्न हों। तैत्तिरीय उपनिषद् में आचार्य प्रार्थना करता है कि **'दमायन्तु मा ब्रह्मचारिणः स्वाहा क्षमायन्तु मा ब्रह्मचारिणः स्वाहा'** मुझे दम और क्षमवाले ब्रह्मचारी प्राप्त हों। इस प्रकार के विद्यार्थी का निर्माण आचार्य के लिए सुगम होता है। ३. विद्यार्थी कहते हैं कि हे आचार्य! **निषीदन्**=डाँवाँडोल न होते हुए—अवस्थित रूपवाले आप **विश्वाः**=सब **अनिरा** (अन्+इरा)=(इरा=godess of speech) ज्ञान की वाणियों की विरोधी **अमीवा**=बीमारियों को **व्यस्यन्**=हमसे दूर फेंकते हुए **नः**=हमसे **दुर्मतिम्**=दुर्मति को **अप जहि**=सुदूर विनष्ट कर दीजिए। ४. एवं, यदि आचार्य अपना यह कर्त्तव्य समझेंगे कि ज्ञान की विघ्नभूत सब बीमारियों को दूर रखना

है और सु-मति को उत्पन्न करना है तो आचार्य सचमुच 'ओषधि' होंगे, विद्यार्थियों के दोषों का दहन करेंगे और ऐसे स्नातकों के जीवन में 'ऋत, सत्य व पुरीष्य अग्नि' का वास होगा।

भावार्थ—हमारा जीवन भौतिक क्षेत्र में ऋतवाला, व्यावहारिक क्षेत्र मे सत्यवाला तथा अध्यात्म में 'पुरीष्य अग्निवाला' हो।

ऋषिः—त्रितः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

आचार्यकुल से विद्यार्थी का समावर्तन

ओष॑धयः॒ प्रति॑गृभ्णीत॒ पुष्प॑वतीः सुपिप्प॒लाः।
अ॒यं वो॒ गर्भ॑ऽऋ॒त्वियः॑ प्र॒त्नसध॒स्थ॒मास॑दत्॥४८॥

१. **ओषधयः**=हे दोषों का दहन करनेवाले आचार्यो! **पुष्पवतीः**=उत्तम पुष्पोंवाली **सुपिप्पलाः**=उत्तम फलोंवाली वाणियों को **प्रतिगृभ्णीत**=ग्रहण करो। '**अर्थं वाचः पुष्पफलमाह, यज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा**' (नि० १।१८)। (क) अर्थ ही वाणी का पुष्पफल है। इस प्रकार आचार्य अर्थसहित वाणी का ज्ञान रखता है। (ख) अथवा 'यज्ञ' वाणी के पुष्प हैं और देवता उसके फल हैं, अतः आचार्य वाणी में निर्दिष्ट यज्ञों को करनेवाला और देवताओं के ज्ञान को प्राप्त करानेवाला है। (ग) अथवा देवताओं का, अर्थात् प्राकृतिक शक्तियों का ज्ञान वाणी का पुष्प है और अध्यात्म व ब्रह्म-ज्ञान वाणी का फल है। एवं, आचार्य अपरा व परा दोनों ही ज्ञानों को प्राप्त करानेवाला होता है। वह सम्पूर्ण ज्ञान का पारङ्गत है। ब्रह्मचर्यसूक्त में इसी दृष्टि से आचार्य को ज्ञान का समुद्र कहा है। २. आचार्य अपने समीप आये हुए विद्यार्थी को गर्भ में धारण करता है और उसे प्रकृति, जीव व परमात्मा का ज्ञान न होने तक, अर्थात् तीन रात्रियों तक उदर में धारण करता है। आचार्यो से कहते हैं कि **अयम्**=यह **वः**=आपका **गर्भः**=गर्भ में वास करनेवाला **ऋत्वियः**=समय पर दुबारा जन्म लेनेवाला ब्रह्मचारी है। '**तं जातं द्रष्टुं अभिसंयन्ति देवाः**'=इस उत्पन्न हुए विद्यार्थी को देखने के लिए बड़े-बड़े विद्वान् आते हैं। ३. अब यह विद्यार्थी आचार्यकुल से समावृत्त होकर घर में लौटता है और **प्रत्नम्**=अपने पुराने **सधस्थम्**=परिवार के व्यक्तियों के मिलकर ठहरने के स्थान में, अर्थात् पितृगृह में **आसदत्**=आसीन होता है। सारे अध्ययनकाल में २४, ४४ वा ४८ वर्ष इसका घर से किसी प्रकार का सम्बन्ध न रहा था, कुल ही उसका घर बन गया था। आज वह फिर पुराने घर में लौटता है।

भावार्थ—आचार्य परा व अपरा विद्या में निपुण हैं। विद्यार्थी आचार्य के समीप विद्या-ग्रहण के काल तक रहता है। समावृत्त होकर पुराने पितृगृह में लौटता है।

ऋषिः—उत्कीलः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

प्रभु के नेतृत्ववाला उत्कील

वि पाज॑सा पृ॒थुना॒ शोशु॑चानो॒ बाध॑स्व द्वि॒षो र॒क्षसो॒ऽअमी॑वाः।
सु॒शर्म॑णो बृह॒तः शर्म॑णि स्याम॒ग्नेर॒हसु॒हव॑स्य॒ प्रणी॑तौ॥४९॥

१. आचार्यकुल में परा व अपरा विद्या का ज्ञान प्राप्त करके जब विद्यार्थी संसार में आता है तब हीन आकर्षणवाला नहीं बनता। इसकी रुचि उत्कृष्ट बनी रहती है और **उत्**=उत्कृष्ट लक्ष्य के साथ **कील**=अपने को बाँधनेवाला यह 'उत्कील' कहलाता है।

इस उत्कील से कहते हैं कि तू २. **पृथुना**=विस्तृत **पाजसा** =शक्ति से **विशोशुचानः**=विशेषरूप से खूब चमकता हुआ हो। शक्ति की क्षीणता हीनाकर्षण, भोगवृत्ति में ही है। 'उत्कील' भोगों की ओर नहीं झुकता परिणामतः विशिष्ट शक्ति से देदीप्यमान होता है। ३. तू अपने जीवन से **द्विषः**=द्वेष की भावनाओं को **बाधस्व**=रोककर दूर रखनेवाला हो। द्वेषाग्नि में तूने जलते नहीं रहना। ४. **रक्षसः**=राक्षसी वृत्तियों को, अपने रमण के लिए औरों के क्षय की वृत्ति को तू अपने से दूर रख। अपनी स्वार्थहानि करके भी तू परार्थ को सिद्ध करनेवाला बन। ५. **अमीवाः**=तू सब शारीरिक रोगों को अपने से दूर रख। शारीरिक रोग तुझे आक्रान्त न कर पाएँ। ६. तेरी सदा एक ही आराधना हो कि उस **बृहतः**=(बृहि वृद्धौ) सब वृद्धियों के कारणभूत **सुशर्मणः**=उत्तम कल्याणमय प्रभु के **शर्मणि**=शरण में **स्याम्**=होऊँ। प्रभु ही मेरी शरण हों, प्रभु पर ही मुझे आस्था हो। मैं यथासम्भव ब्रह्मनिष्ठ बन पाऊँ। ८. **अहम्**=मैं **सुहवस्य**=शोभन पुकारवाले, सदा उत्तम प्रेरणा देनेवाले **अग्नेः**=उस अग्रणी प्रभु के **प्रणीतौ**= प्रणयन में रहूँ, अर्थात् प्रभु जिधर ले-चलें उधर ही चलूँ। प्रभु नेता हों, मैं उनका अनुयायी होऊँ।

भावार्थ—उत्कृष्ट बन्धनवाला बनकर मैं शक्ति से चमकूँ। द्वेष, हिंसा व रोगों से दूर रहूँ। प्रभु की शरण में मेरा वास हो। प्रभु नेता हों, मैं उनका अनुयायी बनूँ।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। **देवता**—आपः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

मयोभुव: आप:

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता नऽऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे ॥५०॥

१. 'उत्कील' गत मन्त्र का ऋषि था। उत्कील बनने के लिए यह जलों का ठीक प्रयोग करके जीवन को सौम्य बनाने का प्रयत्न करता है। इन स्यन्दमान जलों का **द्वि**=दो प्रकार से प्रयोग करने से यह 'सिन्धु द्वीप' कहलाता है (सिन्धवः द्विर्गता आपो यस्मिन्)। जलों का बाह्य व अन्तः समुचित प्रयोग करके यह जीवन को बहुत ही सुन्दर बनाता है। यह कहता है कि २. **आपः**=जल **हि**=निश्चय से **मयोभुवः**=कल्याण उत्पन्न करनेवाले **ष्ठाः**=हैं। **ताः**=वे जल **नः**=हमें **ऊर्जे**=बल और प्राणशक्ति में **दधातन**=धारण करें। **महे रणाय चक्षसे**=महान् रमणीय दर्शन, अर्थात् ब्रह्मदर्शन के लिए धारण करो, अर्थात् जलों के प्रयोग से जहाँ ऐहिक लाभ होता है और हमारे शरीर नीरोग व शक्ति-सम्पन्न बनते हैं, वहाँ इनका समुचित प्रयोग हमें आमुष्मिक लाभ भी प्राप्त कराता है और हम उस महान् रमणीय ब्रह्म का दर्शन करनेवाले होते हैं। ३. अथवा ये जल हमें (क) **महे**=महत्त्व के लिए धारण करें, हमारे शरीर का उचित भार बढ़ानेवाले हों। (ख) **रणाय**=रमणीयता के लिए हों, स्वास्थ्य का सौन्दर्य देनेवाले हों अथवा (रण शब्दे) शब्दशक्ति को बढ़ानेवाले हों, तथा दोष को दूर करें। (ग) और **चक्षसे** =हमारी दृष्टिशक्ति को ठीक करनेवाले हों।

भावार्थ—जलों का ठीक प्रयोग हमारा कल्याण करनेवाला है। हमें बल व प्राणशक्ति देनेवाला है, भार को ठीक करता है, शब्दशक्ति को बढ़ाता है और दीर्घदृष्टि देता है।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। **देवता**—आपः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

शिवतम-रस

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः ॥५१॥

१. हे जलो! **यः**=जो **वः**=तुम्हारा **शिवतमः रसः**=अत्यन्त कल्याणकर रस है **तस्य**=

उस रस का **नः**=हमें **इह**=इस मानव-जीवन में **भाजयत**=भागी बनाओ। हे जलो! **उशतीः**=सन्तान के भले की कामना करती हुई **मातरः इव**=माताओं के समान तुम हमारे लिए होओ। २. यहाँ 'रसः' शब्द का प्रयोग बड़ा सुन्दर संकेत कर रहा है कि हमें जल का रस लेना है, बड़ा स्वाद लेकर धीमे-धीमे उसे पीना है, उसे अपने अन्दर उलट नहीं लेना। 'We must eat water' अर्थात् 'हमें पानी को खाना चाहिए' इस वाक्य की भावना यही है। इस प्रकार जलों का रस ग्रहण करेंगे तो ये जल हमारे लिए माताओं के समान हितकर होंगे।

भावार्थ—हम जलों का आचमन करें। धीमे-धीमे पीएँ, तभी जल हितकर होंगे।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। **देवता**—आपः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

जनयथा

तस्मा॒ऽअरं॑ गमाम वो॒ यस्य॒ क्षया॑य॒ जिन्व॑थ। आपो॑ ज॒नय॑था च नः ॥५२॥

१. हे जलो! **वः**=आपके **तस्मै**=उस रस को पाने के लिए **अरम्**=पर्याप्त **गमाम**=जानेवाले हों, अर्थात् उस रस को खूब ही प्राप्त करें, **यस्य क्षयाय**=(क्षयेण) जिस रस के निवास के कारण **जिन्वथ**=तुम प्रीणित करते हो, तृप्त करते हो। जलों में एक रस है जो एक अद्भुत तृप्ति अनुभव कराता है। शुद्ध जल से प्राप्त होनेवाली यह तृप्ति अन्य कितने भी स्वादिष्ट पेय-द्रव्यों से प्राप्त नहीं होती **'अपां हि तृप्त्यै न वारिधारा स्वादुः सुगन्धिः स्वदते तुषारा'**। २. **च**=और हे **आपः**=जलो! आप **नः**=हमें **जनयथ**=जननशक्ति से युक्त करो अथवा शक्तियों के प्रादुर्भाववाला करो। स्पष्ट है कि जलों के समुचित प्रयोग से जहाँ तृप्ति अनुभव होती है वहाँ ये जल हमारी शक्तियों का विकास करनेवाले होते हैं और जननशक्ति की हीनता को दूर करते हैं।

भावार्थ—ये जल अपने अद्भुत रस से हमें प्रीणित करते हैं और शक्तियों के विकास के कारणभूत होकर जननशक्तियुक्त करते हैं।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। **देवता**—मित्रः। **छन्दः**—उपरिष्टाद्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

सुजात

मि॒त्रः स॒ꣳसृज्य॑ पृथि॒वीं भूमिं॑ च॒ ज्योति॑षा स॒ह।
सु॒जा॑तं जा॒तवे॑दसमय॒क्ष्माय॑ त्वा॒ सꣳसृ॑जामि प्र॒जाभ्यः॑ ॥५३॥

१. प्रभु सिन्धुद्वीप से कहते हैं कि तू **पृथिवीम्**=इस विस्तृत हृदयान्तरिक्ष (प्रथ विस्तारे) को **भूमिं च**=और जिसमें मनुष्य बना ही रहता है (भवन्ति यस्यां सा भूमिः), अर्थात् स्वस्थ शरीर को **ज्योतिषा**=मस्तिष्क में होनेवाली ज्ञान की ज्योति के **सह**=साथ **संसृज्य**=मिलाकर **मित्रः**=(प्रमीतेः त्रायते) मृत्यु व रोगों से अपने को बचानेवाला हुआ है। जब मनुष्य हृदय, शरीर व मस्तिष्क तीनों का समानरूप से ध्यान करता है, तभी वह पूर्ण स्वस्थ बन पाता है। २. **सुजातम्**=उत्तम प्रादुर्भाववाले, अर्थात् शरीर, मन व मस्तिष्क के समविकासवाले **जातवेदसम्**=पर्याप्त धनवाले को (वेदस्=धन, 'विद्' लाभे) **अयक्ष्माय**= यक्ष्मादि रोगों का शिकार न होने देनेवाला करता हूँ। संसार में पूर्ण स्वास्थ्य के लिए उचित धन भी आवश्यक है, क्योंकि निर्धनता मनुष्य की चिन्ताओं का कारण बन, उसे क्षीणशक्ति कर देती है। ३. **त्वा**=तुझ स्वस्थ व्यक्ति को **प्रजाभ्यः**=प्रजाओं के लिए **संसृजामि**=संसृष्ट करता हूँ, अर्थात् तेरा जीवन प्रजाओं के हित के लिए हो।

भावार्थ—१. मनुष्य विशाल हृदय, स्वस्थ शरीर व ज्योतिर्मय मस्तिष्कवाला बनकर नीरोग व निष्पाप बनता है। २. यह समविकासवाला व्यक्ति उचित धन प्राप्त करके पूर्ण नीरोग होता है। ग़रीबी भी तो एक रोग ही है। ३. इस व्यक्ति को चाहिए कि अब लोकहित के कार्यों में संलग्न रहे।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

बृहत् ज्योतिः—शुक्रः

रुद्राः सꣳसृज्य पृथिवीं बृहज्ज्योतिः समीधिरे।
तेषां भानुरजस्र॑ऽइच्छुक्रो देवेषु रोचते ॥५४॥

१. **रुद्राः**=वासनाओं के लिए प्रलयंकर रुद्र बने हुए लोग अथवा (रोरूयमाणो द्रवति) निरन्तर प्रभु का नामोच्चारण करके कार्यों में तत्पर हुए लोग **पृथिवीम्**=(प्रथ विस्तारे) विस्तृत हृदयान्तरिक्ष से **संसृज्य**=संसृष्ट होकर, विशाल हृदय से युक्त होकर, उस पवित्र हृदय में **बृहत् ज्योतिः**=उस सदा बढ़ी हुई ज्योति, अर्थात् परमात्म-ज्योति को **समीधिरे**=सम्यक्तया समिद्ध करते हैं, अर्थात् विशालता से पवित्र हुए अपने हृदय में उस प्रभु की ज्योति को देखने का प्रयत्न करते हैं। २. **तेषाम्**=इन परमात्मदर्शियों का **भानुः**=ज्ञान का प्रकाश **इत्**=निश्चय से **अजस्रः**=निरन्तर होता है। इनके ज्ञान पर वासना का आवरण नहीं आता। ३. **शुक्रः**=यह अनावृत ज्ञानवाला पुरुष **देवेषु**=विद्वानों में भी **रोचते**=चमकता है। 'शुक्र' शब्द के दो अर्थ हैं 'शुच् दीप्तौ'=(क) इसका ज्ञान चमकता हुआ होता है और (ख) (शुक् गतौ) यह शीघ्रता से कार्य करनेवाला होता है। वस्तुतः यह ज्ञान और कर्म का समन्वय ही इसे देवों में भी देदीप्यमान करता है **'यस्तु क्रियावान् पुरुषः स पण्डितः'** (क्रियावान् पुरुष ही पण्डित है)—इस उक्ति के अनुसार 'शुक्र' बनना आवश्यक है। ४. यह शुक्र अपने जीवन में 'शुक् गतौ' शरीर की क्रिया को, (शुचि=पवित्र) हृदय की पवित्रता को तथा 'शुक् दीप्तौ' मस्तिष्क की दीप्ति को समन्वित करके चलता है।

भावार्थ—१. वासनाओं को नष्ट करके हम पवित्र हृदय में प्रभु की ज्योति जगाएँ। २. उस ज्योति के जगने पर हमारा यह प्रकाश अविच्छिन्न हो, सतत रहनेवाला हो। ३. हम क्रियाशील, पवित्र व दीप्त बनकर देवों में भी शोभा पाएँ।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। **देवता**—सिनीवाली। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

सिनीवाली

सꣳसृष्टां वसुभी रुद्रैर्धीरैः कर्मण्यां मृदम्।
हस्ताभ्यां मृद्वीं कृत्वा सिनीवाली कृणोतु ताम् ॥५५॥

१. जीवन को गत मन्त्र के अनुसार बनाने की इच्छावाला वह पुरुष जो स्वयं **कृत्वा**=(करोति=कृ+वन्) बड़ा क्रियाशील है वह, जो **सिनीवाली**=(चन्द्रकलायुक्त अमावास्या-भिमानिनी देवता) सदा आह्लाद की मनोवृत्ति से युक्त, कभी भी पति को न त्यागनेवाली, सदा साथ (अमा) रहनेवाली (वसु) तथा (सिन=अन्न, वल्=to increase) घर में अन्न को बढ़ानेवाली, न कि कपड़ों व अन्य टीप-टाप पर अधिक व्यय कर देनेवाली है **ताम्**=उसे **कृणोतु**=अपनी पत्नी बनाएँ। पत्नी कितनी भी अच्छी हो, पर पति को स्वयं भी **कृत्वा**=क्रियाशील होना है तभी उन्नति करना सम्भव होगा। २. कैसी कन्या को पत्नी बनाएँ? (क) **वसुभिः**

संसृष्टाम्=जो ब्रह्मचर्यकाल में वसुओं के सम्पर्क में आई है। वसु वे विद्वान् हैं जो मुख्यरूप से इस बात का ज्ञान देते हैं कि निवास के लिए क्या-क्या करना चाहिए, किन-किन बातों से बचना चाहिए तथा हमारा भोजनाच्छादन कैसा हो, जिससे हम रोगों से बचे रहें। संक्षेप में वसु वे हैं जो आयुर्वेद के आचार्य हैं। पत्नी के लिए आयुर्वेद का ज्ञान आवश्यक है, क्योंकि नीरोगता के दृष्टिकोण से घर का सारा प्रबन्ध उसी ने करना है। जो (ख) **रुद्रैः संसृष्टाम्**=वासनाओं का विनाश करने के लिए, मन को उत्तम बनाने के लिए उपदेश देनेवाले के सम्पर्क में आई है। पत्नी वही ठीक है जो कि वासनाओं से मुक्त होती है। (ग) **धीरैः संसृष्टाम्**=(धी+र) जो आत्म-ज्ञान देनेवालों के सम्पर्क में आई है, ऐसी पत्नी भोगप्रधान जीवनवाली न होगी। ३. **कर्मणाम्**=कर्मनिष्ठ, सदा क्रियाशील जीवन बितानेवाली को पत्नी बनाएँ। अकर्मण्य व आलस्य के स्वभाववाली गृहिणी वैषयिक वृत्ति होती है तथा उसका शरीर भी नीरोग नहीं होता। ४. **मृद्वीम्**=(Mild) कोमल स्वभाववाली को पत्नी बनाएँ। **हस्ताभ्याम्**=(हन् हिंसागत्योः) जो मार्ग में आये विघ्नों को विनष्ट करती हुई आगे बढ़ती है और विघ्ननाश व अग्रगति के गुणों के कारण मृद्वी=बड़े कोमल स्वभाववाली है। अकर्मण्य स्त्री अधिक बोलनेवाली व कर्कश स्वभाववाली होती है। उसके साथ तो गृहस्थ नरक-सा बन जाएगा।

भावार्थ—पत्नी वही ठीक है जो आयुर्वेद, मनोविज्ञान व आत्मविज्ञान का अध्ययन किये हुए है, जो क्रियाशील, कोमल स्वभाववाली है, सदा प्रसन्न रहनेवाली तथा घर में अन्न की वृद्धि करनेवाली है।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। **देवता**—अदितिः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

उखा दधातु

सिनीवाली सुकपर्दा सुकुरीरा स्वौपशा।
सा तुभ्यमदिते मह्योखां दधातु हस्तयोः ॥५६॥

१. **सिनीवाली**=आह्लादयुक्त मनोवृत्तिवाली, सदा पति के साथ रहनेवाली **सुकपर्दा**=(सु-कस्य परम्=पूर्तिं ददाति) उत्तमता से सुख की पूर्ति करनेवाली, अर्थात् घर के वातावरण को सदा सुखद बनाये रखनेवाली **सुकुरीरा**=उत्तम शब्दों को देनेवाली, अर्थात् **'जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवान्'**=पत्नी पति के लिए माधुर्यमयी, शान्ति देनेवाली वाणी बोले' इस मन्त्र के अनुसार सदा मधुर शब्दों को बोलनेवाली तथा **स्वौपशा**=(सु आ उप श) उत्तमता से, सब प्रकार से पति के समीप ही निवास करनेवाली, अर्थात् छोटी-छोटी बातों के कारण मायके न भाग जानेवाली **सा**=वह पत्नी, हे **महि अदिते**=महनीय अखण्डन की देवते! महत्त्वपूर्ण स्वास्थ्य की देवते। **तुभ्यम्**=तेरे लिए **उखाम्**=पतीली को **हस्तयोः**=अपने हाथों में **आदधातु**=धारण करे। २. 'पतीली को अपने हाथों में धारण करे' का अभिप्राय यह है कि रसोई के काम को नौकरों के हाथ में न सौंप दे। वस्तुतः स्वास्थ्य भोजन पर ही निर्भर है, अतः भोजन के विभाग को पत्नी ने स्वयं सँभालना है। नौकरों के बने भोजन में वह प्रेम नहीं होता जो पत्नी के हाथ से बने भोजन में उपलभ्य होता है। ३. भोजन को बनानेवाली यह पत्नी आह्लादमय मनोवृत्तिवाली है (सिनीवाली), उत्तम स्वास्थ्यप्रद भोजन से यह स्वास्थ्य के सुख को देनेवाली है (सुकपर्दा), भोजनादि परोसने के समय शुभ शब्दों का ही प्रयोग करनेवाली है (सुकुरीरा) सदा पति का साथ देनेवाली है (स्वौपशा)।

भावार्थ—पत्नी को भोजन का विभाग सदा अपने हाथ में रखना चाहिए। इसे नौकरों को नहीं सौंप देना चाहिए।

सूचना—आचार्य दयानन्द ने 'स्वौपशा' का अर्थ 'भोजन के अच्छे पदार्थ बनानेवाली' किया है। उव्वट ने अर्थ किया है—'उत्तम अवयवोंवाली'।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। **देवता**—अदितिः। **छन्दः**—भुरिग्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

मखस्य शिरः

उखां कृणोतु शक्त्या बाहुभ्यामदितिर्धिया।
माता पुत्रं यथोपस्थे साग्निं बिभर्तु गर्भऽआ। मखस्य शिरोऽसि॥५७॥

१. गत मन्त्र की सिनीवाली **उखाम्**=पाकस्थाली को **शक्त्या**=शक्ति के दृष्टिकोण से **कृणोतु**=करे, अर्थात् जिन भी भोजनों का परिपाक करे उनमें दृष्टिकोण शक्ति का हो। भोजन का मापक स्वाद व सौन्दर्य न हो, अपितु पौष्टिकता हो। २. **अदितिः**=घर में सबके स्वास्थ्य को अखण्डित रखनेवाली यह गृहिणी **बाहुभ्याम्**=अपने हाथों से **धिया**= बुद्धिपूर्वक **कृणोतु**=इस पाक को करे। 'बुद्धिपूर्वक करे' का अभिप्राय यह कि समझदारी से ऋतुओं के अनुसार भोजन बनाये। ऋतुओं का विचार न करके बनाया गया भोजन स्वास्थ्य को विकृत ही तो करेगा। ३. **माता**=माता **पुत्रम्**=पुत्र को **यथा**=जैसे **उपस्थे**=गोद में धारण करती है, इसी प्रकार **सा**=वह गृहिणी **अग्निम्**=इस पाकाग्नि को **गर्भे**=अपने गर्भ में **आबिभर्तु**=धारण करे। माता को पुत्र प्रिय होता है, गृहिणी को पाकाग्नि प्रिय हो, वह भोजन को प्रेम से बनाती हो, उसे बेगार न समझती हो। ४. हे गृहिणि! वस्तुतः तू ही **मखस्य**=इस गृहस्थ-यज्ञ का **शिरः असि**=सिर है। इसका निर्भर तुझपर ही है। घर में प्रधान-स्थान पत्नी का ही होता है, वह जैसा चाहे घर को बना सकती है। तामस भोजनों के द्वारा वह सबकी वृत्ति को तामसी, राजसी भोजनों से वृत्तियों को राजसी, सात्त्विक भोजनों से वह सबके अन्तःकरणों को शुद्ध और पवित्र कर देती है। इसप्रकार घर में सर्वोपरि स्थान पत्नी का ही है। इस गृहस्थ-यज्ञ की मूल-सञ्चालिका वही है।

भावार्थ—१. पत्नी भोजनों को शक्ति के दृष्टिकोण से बनाये। २. अपने हाथों से बुद्धिपूर्वक भोजनों को बनाती हुई यह सबको स्वस्थ रखती है। ३. माता पाकाग्नि को अत्यन्त प्रिय वस्तु समझे, भोजन बनाने में उसे आनन्द आता हो। ४. सबके स्वास्थ्य की साधिका होने से पत्नी गृहस्थ-यज्ञ की मूर्धन्य है।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। **देवता**—वसुरुद्रादित्यविश्वेदेवाः। **छन्दः**—स्वराट्सङ्कृतिः[क], अभिकृतिः[र]। **स्वरः**—गान्धारः[क], ऋषभः[र]॥

पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौः-दिशाः

[क]वसवस्त्वा कृण्वन्तु गायत्रेण छन्दसाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवासि पृथिव्यसि धारया मयि प्रजाꣳरायस्पोषं गौपत्यꣳसुवीर्यꣳसजातान्यजमानाय रुद्रास्त्वा कृण्वन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवास्यन्तरिक्षमसि धारया मयि प्रजाꣳरायस्पोषं गौपत्यꣳसुवीर्यꣳसजातान्यजमानायाऽऽ[र]दित्यास्त्वा कृण्वन्तु जागतेन छन्दसाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवासि द्यौरसि धारया मयि प्रजाꣳरायस्पोषं

गौपत्यꣳसुवीर्यꣳसजातान्यजमानाय विश्वे त्वा देवा वैश्वानराः कृण्वन्त्वानुष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वद् ध्रुवासि दिशोऽसि धारया मयि प्रजाꣳरायस्पोषं गौपत्यꣳसुवीर्यꣳ सजातान्यजमानाय ॥५८॥

१. हे पत्नि! **वसवः**=उत्तम निवास देनेवाले, आयुर्वेद के विद्वान् आचार्य **त्वा**=तुझे **गायत्रेण छन्दसा**=प्राणरक्षण की इच्छा से (गयाः प्राणाः, त्र=रक्षा) **अङ्गिरस्वद्**=अङ्गिरा की भाँति, अर्थात् एक-एक अङ्ग में रसवाला **कृण्वन्तु**=करें, अर्थात् तू वसुओं के सम्पर्क में आकर आयुर्वेद को समझने के कारण सशक्त अङ्गोंवाली है, तेरा खान-पान प्राणशक्ति की रक्षा के दृष्टिकोण से होता है। **ध्रुवा असि**=तू इस पतिकुल में ध्रुव होकर रहनेवाली है। **पृथिवी असि**=विस्तृत हृदयान्तरिक्षवाली है। (क) **मयि**=मुझमें **प्रजाम्**=प्रजा को **धारय**=धारण कर, अर्थात् गृहस्थ में हम दोनों के प्रवेश का उद्देश्य उत्तम सन्तान का निर्माण ही हो। (ख) **रायस्पोषम्** (धारय)=धन के पोषण को धारण करनेवाली हो। यह धन का पोषण तेरी मितव्ययिता से ही तो होगा। तेरा सारा व्यवहार 'समृद्धिकरण' होना चाहिए। (ग) **गौपत्यम्** (धारय)=तू गौपत्य को धारण कर। तेरी सहायता से मैं गोपति बनूँ, घर में गौ रखनेवाला बनूँ अथवा 'गावा इन्द्रियाणि' इन्द्रियों का पति, जितेन्द्रिय बन सकूँ। (घ) **सुवीर्यम्** (धारय)=जितेन्द्रियता के द्वारा तू उत्तम वीर्य को मुझमें धारण कर। (ङ) **यजमानाय** =यज्ञ के स्वभाववाले मेरे लिए **सजातान्**=मेरे सजातों को भी, बिरादरी के लोगों को भी तू धारण कर। जब पति यज्ञ के स्वभाववाला होगा तो सबसे मेल-जोल के कारण उनका धारण (खिलाना-पिलाना) भी आवश्यक हो जाता है। २. **रुद्राः**=(रोरूयमाणो द्रवति) प्रभु-नाम के धारणपूर्वक वासनाओं को विनष्ट करनेवाले **त्वा**=तुझे **त्रैष्टुभेन छन्दसा**=काम, क्रोध व लोभ को रोकने की इच्छा से **अङ्गिरस्वत्**=एक-एक अङ्ग में रसवाला **कृण्वन्तु**=करें। **ध्रुवा असि**=तू पतिकुल में ध्रुव होकर रहनेवाली है, **अन्तरिक्षम् असि** =सदा मध्यमार्ग पर चलनेवाली है। **मयि**=मुझमें **प्रजां धारय**=प्रजा को धारण कर, सन्तान को जन्म दे। **रायस्पोषं गौपत्यं सुवीर्यम्**=धन के पोषण को, जितेन्द्रियता को, उत्तम वीर्य को धारण कर। **यजमानाय**=मुझ यजमान के लिए **सजातान्**=सजातों को धारण कर। ३. **आदित्याः**=सूर्य के समान ज्योति को-ब्रह्म-ज्ञान को अपने अन्दर लेनेवाले आदित्य ब्रह्मचारी आचार्य तुझे **जागतेन छन्दसा**=जगती के हित की इच्छा से **अङ्गिरस्वत्**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाला करें। **ध्रुवा असि**=तु ध्रुवा है। **द्यौः असि**=प्रकाशमय जीवनवाली है, क्रीड़ादि स्वभाववाली है, तत्त्व को समझने के कारण सब बातों को sportsman like spirit में लेनेवाली है। **मयि प्रजां धारय**=मुझमें सन्तान को धारण कर। **रायस्पोषं गौपत्यं सुवीर्यम्**=धन के पोषण को, जितेन्द्रियता को तथा उत्तम वीर्य को धारण कर। **यजमानाय सजातान्** (धारय)=मुझ यजमान के लिए मेरी बिरादरीवालों का उचित आतिथ्य करनेवाली बन। ४. **विश्वे देवाः**=सब देव, **वैश्वानराः**=जो सब मनुष्यों का हित करनेवाले हैं, वे **त्वा**=तुझे **आनुष्टुभेन छन्दसा**=अनुक्षण प्रभु-स्मरण की इच्छा से **अङ्गिरस्वत्** =सरस अङ्गोंवाला करें। **ध्रुवा असि**=तू ध्रुवा है। **दिशः असि**=तू उत्तम निर्देशोंवाली—उत्तम सलाह देनेवाली है। सभी आनेवाले लोगों को उचित निर्देश देनेवाली है। **मयि प्रजां धारय**=मुझमें सन्तान को धारण कर। **रायस्पोषं गौपत्यं सुवीर्यम्**=धन के पोषण को, जितेन्द्रियता को, उत्तम वीर्य को धारण कर। **यजमानाय**=मुझ यज्ञशील के लिए **सजातान्**=सब बिरादरीवालों का धारण कर।

भावार्थ—पत्नी विशाल हृदयान्तरिक्षवाली, मध्यमार्ग पर चलनेवाली, प्रकाशमय

जीवनवाली तथा सभी को उचित निर्देश देनेवाली हो।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। **देवता**—अदितिः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

अदिति की रास्ना

अदि॑त्यै रास्ना॒स्यदि॑तिष्टे॒ बिलं॑ गृभ्णातु। कृ॒त्वाय॒ सा म॒हीमु॒खां मृ॒न्मयीं॒ योनि॑म॒ग्नये॑। पु॒त्रेभ्यः॒ प्राय॑च्छ॒ददि॑तिः श्र॒पया॒निति॑ ॥५९॥

१. हे पत्नि! तू **अदित्यै**=अदिति के लिए **रास्ना**=मेखला है, अर्थात् अदिति बनने के लिए कटिबद्ध है। तुझे 'अदीना देवमाता' बनना है, सब प्रकार की दीनताओं से ऊपर दिव्य गुणों का निर्माण करनेवाली बनना है। २. अब पिता सन्तान से कहता है कि **अदितिः**=यह अदीना देवमाता **ते**=तेरे **बिलम्**=(भरण—द०) भरण-पोषण को **गृभ्णातु**=स्वीकार करे, अर्थात् तेरा ऐसी उत्तमता से पालन करे कि तू सब रोगों से मुक्त, पूर्ण स्वस्थ हो और तुझमें अदीनता व दिव्य गुणों का विकास हो। ३. **सा अदितिः**=वह अदिति माता **महीम्**= अत्यन्त महत्त्वपूर्ण **उखाम्**=पाकस्थाली **कृत्वाय**=करके तथा **मृन्मयीम्**=मिट्टी के बने हुए **अग्नये योनिम्**=अग्नि के लिए स्थान को, अर्थात् चूल्हे को **कृत्वाय**=करके **पुत्रेभ्यः**=पुत्रों के लिए उत्तम भोजन को **प्रायच्छत्**=देती है, **श्रपयान् इति**=जिससे उनका ठीक परिपाक हो सके। ४. सन्तानों के जीवन का निर्माण बहुत कुछ भोजन पर निर्भर है। उस भोजन के परिपाक को गृहपत्नी अत्यन्त महत्त्व देती है। बच्चों की माता इस बात के लिए कटिबद्ध हो कि मैंने 'अदिति' बनना है। (क) सन्तानों के स्वास्थ्य को कभी खण्डित नहीं होने देना है, (ख) उन्हें अदीन बनाना है, (ग) उनमें दिव्य गुणों का पोषण करना है।

भावार्थ—माता का मुख्य कर्त्तव्य बच्चों को स्वस्थ बनाना तथा उनके जीवन का उत्तम परिपाक करना है। इसी दृष्टिकोण से वह भोजन को महत्त्व देती है, क्योंकि भोजन ने ही उनके शरीर व मनों को स्वस्थ करना है।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। **देवता**—वस्वादयो मन्त्रोक्ताः। **छन्दः**—स्वराट्संकृतिः। **स्वरः**—गान्धारः॥

धूपन (जितेन्द्रियता-निर्द्वेषता)

वस॑वस्त्वा धूपयन्तु गाय॒त्रेण॒ छन्द॑साङ्गिर॒स्वद् रु॒द्रास्त्वा॑ धूपयन्तु त्रैष्टु॑भेन॒ छन्द॑साङ्गिर॒स्वदा॑दि॒त्यास्त्वा॑ धूपयन्तु जाग॑तेन॒ छन्द॑साङ्गिर॒स्वद् विश्वे॑ त्वा दे॒वा वैश्वान॒रा धूपय॒न्त्वानु॑ष्टुभेन॒ छन्द॑साङ्गिर॒स्वदिन्द्र॑स्त्वा धूपयतु वरु॑णस्त्वा धूपयतु॒ विष्णु॑स्त्वा धूपयतु॥६०॥

१. हे जीव! **वसवः**=आयुर्वेद के आचार्य, उत्तम निवास का मार्ग सिखानेवाले विद्वान् **त्वा**=तुझे **गायत्रेण छन्दसा**=प्राण-रक्षण की इच्छा से **धूपयन्तु**=संस्कृत करें, धूपित करें। जैसे धुआँ देकर किसी कमरे का संस्कार किया जाता है और उसके अन्दर होनेवाले रोगकृमियों को नष्ट कर दिया जाता है, इसी प्रकार प्राण-शक्ति के रक्षण की प्रबल इच्छा तेर शरीर को संस्कृत करे, उसमें किसी प्रकार की अशुभ वासनाएँ न रहने से नीरोगता का निवास हो। तू **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति बन। २. **रुद्राः**=(रोरूयमाणो द्रवति) प्रभु नामोच्चारण द्वारा वासनाओं पर आक्रमण करनेवाले आचार्य **त्वा**=तुझे **त्रैष्टुभेन छन्दसा**=काम, क्रोध व लोभ को रोकने की इच्छा से **धूपयन्तु**=संस्कृत करें, जिससे तू **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति बन पाये। तेरा प्रत्येक अङ्ग जीवनी-शक्ति के रस के सञ्चारवाला हो। ३.

आदित्याः=सूर्य समान ब्रह्म-ज्योति को धारण करनेवाले आचार्य **त्वा**=तुझे **जागतेन छन्दसा**=जगती के हित की कामना से **धूपयन्तु**=संस्कृत करें। तू **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति बन। ४. **वैश्वानराः**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले **विश्वेदेवाः**=सब देव **त्वा**=तुझे **आनुष्टुभेन छन्दसा**=अनुक्षण प्रभु-स्तवन की इच्छा से **धूपयन्तु**=संस्कृत करें, जिससे तू **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति बने। ५. (क) **इन्द्रः**=जितेन्द्रियता की वृत्ति **त्वा**=तुझे **धूपयतु**=संस्कृत करे। (ख) **वरुणः**=द्वेष-निवारण की वृत्ति **त्वा**=तुझे **धूपयतु**=संस्कृत करे। (ग) **विष्णुः त्वा धूपयतु**=हृदय की विशालता तुझे संस्कृत करे। जीवन को पवित्र बनाने के लिए जितेन्द्रियता, द्वेष-निवारण तथा हृदय की विशालता तीनों आवश्यक हैं।

भावार्थ—'प्राण-रक्षण की इच्छा, काम-क्रोध-लोभ को रोकने की इच्छा, लोकहित की भावना, अनुक्षण प्रभु-स्तवन की इच्छा, जितेन्द्रियता, निर्द्वेषता तथा विशालता' ये बातें मानव-जीवन को संस्कृत करती हैं।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। **देवता**—अदित्यादयो लिङ्गोक्ताः। **छन्दः**—भुरिक्कृतिः[क], निचृत्प्रकृतिः[र]। **स्वरः**—निषादः[क], धैवतः[र]॥

प्रभु-दर्शन किसे?

[क]अदि॑तिष्ट्वा दे॒वी वि॒श्वदे॑व्यावती पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ऽअङ्गिर॒स्वत् ख॑नत्ववट दे॒वानां॑ त्वा पत्नी॑र्दे॒वीर्वि॒श्वदे॑व्यावतीः पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ऽअङ्गिर॒स्वद्द॑धतूखे धि॒षणा॑स्त्वा दे॒वीर्वि॒श्वदे॑व्यावतीः पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ऽअङ्गिर॒स्वद॒भीन्ध॑तामुखे वरू॑त्रीष्ट्वा दे॒वीर्वि॒श्वदे॑व्यावतीः पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ऽअङ्गिर॒स्वच्छ्र॑पयन्तूखे ग्नास्त्वा॑ दे॒वीर्वि॒श्वदे॑व्यावतीः पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ऽअङ्गिर॒स्वत्प॑चन्तूखे जन॑य॒स्त्वाऽछि॑न्नपत्रा दे॒वीर्वि॒श्वदे॑व्यावतीः पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ऽअङ्गिर॒स्वत्प॑चन्तूखे ॥६१॥

१. हे **अवट**=(वट परिभाषणे) अपरिभाषित, अनिन्दित (Parliamentary भाषा में named=परिभाषित) पूर्ण प्रशस्त प्रभो! **त्वा**=आपको **अदितिः**=अदीना देवमाता **देवी**=दिव्य गुणोंवाली **विश्वदेव्यावती**=सब दिव्यताओं की रक्षा करनेवाली **पृथिव्याः**=इस विशाल हृदयाकाश के **सधस्थे**=एकत्र स्थित होने के स्थान में **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति **खनतु**=खोजे। 'अङ्गिरस्' हृदयदेश में प्रभु का दर्शन करता है, इसी प्रकार यह अदीन बनकर, दिव्य गुणों के निर्माण व रक्षणवाली बनकर उस प्रभु को देखती है। २. **उखे**= (उत्खन्यते इति उत्खा=उखा, परोक्षप्रियत्वात् देवानाम्) अन्नमयादि कोशों को उखाड़ते-उखाड़ते अन्त में आनन्दमयकोश में दिखने योग्य प्रभो! **त्वा**=आपको **देवानां पत्नी**=देवों की पत्नियाँ, **देवीः**=प्रकाशमय जीवनवाली **विश्वदेव्यावतीः**=सब दिव्यताओं की रक्षा करनेवाली स्त्रियाँ **पृथिव्याः सधस्थे**=विशाल हृदयदेश के एकत्र स्थित होने के स्थान में **अङ्गिरस्वत्**= अङ्गिरस् की भाँति **दधतु**=धारण करें। ३. हे **उखे**=एक-एक कोश को खोजते-खोजते अन्त में आनन्दमयकोश में दिखनेवाले प्रभो! **त्वा**=तुझे **धिषणाः**=बुद्धि की पुञ्जभूत **देवीः**=प्रकाशमय जीवनवाली **विश्वदेव्यावतीः**=सब दिव्यताओं की रक्षा करनेवाली स्त्रियाँ, **पृथिव्याः सधस्थे**=विशाल हृदयाकाश के एकत्र स्थित होने के स्थान में **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति **अभीन्धताम्**=दीप्त करें। ४. हे **उखे**=प्राकृतिक भोगों से ऊपर उठकर (उत्) खोजने योग्य (खन्) प्रभो! **त्वा**=आपको

वरूत्रीः=द्वेषादि का निवारण करनेवाली और इस प्रकार **देवीः**=प्रकाशमय जीवनवाली **विश्वदेव्यावतीः**=सब दिव्यताओं की रक्षा करनेवाली स्त्रियाँ **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति **श्रपयन्तु**=परिपाक करें। अपने हृदय में तेरी ही भावना को दृढ़मूल करें। ५. **उखे**=हे भोगों से ऊपर उठकर खोजने योग्य प्रभो! **त्वा**=आपको **ग्नाः**=छन्दों का अध्ययन करनेवाली देवपत्नियाँ **देवीः**=प्रकाशमय जीवनवाली **विश्वदेव्यावतीः**=सब दिव्यताओं की रक्षा करनेवाली **पृथिव्याः**=विशाल हृदयान्तरिक्ष के **सधस्थे**=एकत्र स्थित होने के स्थान में **पचन्तु**=विकसित (Develop) करती हैं, अर्थात् उस प्रभु के प्रकाश को अधिकाधिक देखती हैं और **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति बनने का प्रयत्न करती हैं। ६. हे **उखे**=आत्मन्! **त्वा**=आपको **जनयः**=उत्तम माता बननेवाली **अछिन्नपत्राः**=अविछिन्न गतिवाली (पत् गतौ) अर्थात् निरन्तर क्रियाशील **देवीः**=प्रकाशमय जीवनवाली **विश्वदेव्यावतीः**=सब दिव्यताओं की रक्षा करनेवाली **पृथिव्याः सधस्थे**=इस विस्तृत हृदयान्तरिक्ष के सहस्थान में **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति **पचन्तु**=विकसित करें।

भावार्थ—१. प्रभु 'अवट'=अनिन्दित व 'उखा'=भोगों से ऊपर उठकर देखने योग्य हैं। २. प्रभु-दर्शन करनेवाला अङ्गिरस्=एक-एक अङ्ग में रस के सञ्चारवाला बनता है। ३. प्रभु-दर्शन विशाल हृदयान्तरिक्ष में होता है। ४. प्रभु-दर्शन 'अदिति, देवपत्नी, धिषणा, वरूत्री, ग्ना, आच्छिन्नपत्रा, जनयः तथा देवी विश्वदेव्यावती' को होता है। अदीना देवमाता, देवपत्नी, बुद्धिमती, द्वेष से शून्य, छन्दोमय जीवनवाली, निरन्तर क्रियाशील उत्तम माता—प्रकाशमय जीवनवाली, दिव्यताओं की रक्षिका ही प्रभु-दर्शन के योग्य है।

सूचना—यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि प्रभु-दर्शन के प्रसङ्ग में दर्शक के सब नाम स्त्रीलिङ्ग में हैं। सम्भवतः प्रभु पति हैं और उनका दर्शन करनेवाला जीव पत्नी है।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—मित्रः। **छन्दः**—निचृद्गायत्रीः। **स्वरः**—षड्जः॥

विश्वामित्र

मि॒त्रस्य॑ चर्षणी॒धृतोऽवो॑ दे॒वस्य॑ सान॒सि। द्यु॒म्नं चि॒त्रश्र॑वस्तमम्॥६२॥

गत मन्त्र का प्रभु-दर्शन करनेवाला प्राणिमात्र का मित्र बनता है और 'विश्वामित्र' नामवाला होता है। यह विश्वामित्र कहता है कि—१. (क) **मित्रस्य**=(ञिमिदा स्नेहने) सभी जीवों के साथ स्नेह करनेवाले अथवा (प्रमीतेः त्रायते) रोगों व मृत्यु से बचानेवाले (ख) **चर्षणीधृतः**=(चर्षणयः कस्मात् कर्षणयो भवन्ति) कृषि आदि श्रम करनेवालों के पालक (ग) **देवस्य**=सारे व्यवहारों के साधक प्रभु का **अवः**=रक्षण (क) **द्युम्नम्**=ज्योतिर्मय (ख) **चित्रश्रवस्तमम्**=(श्रवः=यश) अत्यद्भुत यश और **सानसि**=(षणु दाने) उत्तम फलों को देनेवाला है, २. अर्थात् विश्वामित्र प्रभु को 'मित्र' के रूप में देखता हुआ कहता है कि वे प्रभु सभी के साथ स्नेह करते हैं, सभी को रोगों व पापों से बचाते हैं। वे प्रभु श्रमशील जीव को धारण करने से 'चर्षणीधृत्' हैं। **'न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः'**। प्रभु से देवत्व को प्राप्त हुए-हुए ये सब देव श्रमशील के अनुकूल होते हैं। प्रभु 'देव' हैं, वे भक्त के जीवन को क्रियाशून्य नहीं होने देते, अपितु उसके जीवन को सदा प्रकाशमय रखते हैं। ३. प्रभु-दर्शन से सब सम्भजनीय वस्तुएँ प्राप्त होती हैं (सानसि), जीवन प्रकाशमय बनता है (द्युम्नं) तथा अद्भुत यश की प्राप्ति होती है (चित्रश्रवस्तमम्)।

भावार्थ—हम प्रभु-भक्त बनें। प्रभु-भक्त सभी का मित्र होता है, सभी का धारण

करता है, सभी के कामों को सिद्ध करता है। यह स्वयं सम्भजनीय वस्तुओं को प्राप्त करता है, ज्योतिर्मय जीवनवाला होता है, संसार में यशस्वी बनता है।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—भुरिग्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

उद्वपन

देवस्त्वा सवितोद्वपतु सुपाणिः स्वङ्गुरिः सुबाहुरुत शक्त्या।
अव्यथमाना पृथिव्यामाशा दिशऽआपृण ॥६३॥

१. हे प्रभु-भक्त! **त्वा**=तुझे **सविता देवः**=सब दिव्य गुणों के बीज बोनेवाला, दैवी सम्पत्ति का स्वामी प्रभु **उद्वपतु**=उत्कृष्ट दिव्य बीजों से उप्त करे। तेरे हृदयक्षेत्र में प्रभु द्वारा उत्तम गुणों के बीज बोये जाएँ, परिणामतः २. तू उत्तम हाथोंवाला **सुपाणिः**=बन, तेरे हाथ सदा औरों की रक्षा के लिए विनियुक्त हों (पा रक्षणे)। वही हाथ पाणि है जो रक्षा में विनियुक्त होता है। ३. **स्वंगुरिः**=तू उत्तम अँगुलियोंवाला हो। (अगि गतौ) तेरी अंगुलियाँ सदा कार्यव्यापृत हों। इन्हें वेद में 'दीधिति' नाम भी दिया जाता है 'धीयन्ते कर्मसु' जो सदा उत्तम कर्मों में लगी रहती हैं। ४. **सुबाहुः**=तू उत्तम बाहुओंवाला हो (बाहृ प्रयत्ने)। तेरे प्रयत्न सदा उत्तम हों। ५. **उत**=और **शक्त्या**=शक्ति के कारण **अव्यथमाना**=कभी श्रान्त न होता हुआ तू **पृथिव्याम्**=इस पृथिवी पर अथवा **दिशः**=सब दिशाओं को **आशाः आपृण**=आशाओं से परिपूर्ण कर दे, अर्थात् तू सर्वत्र आशावाद का सञ्चार करनेवाला बन। हमारे उत्तम प्रयत्नों का परिणाम इतना तो होना ही चाहिए कि कहीं भी निराशा न हो। घर के सब व्यक्तियों का जीवन आशामय हो। ६. यहाँ मन्त्र में क्रम यह है कि (क) उत्तम गुणों का बीज बोया जाए (ख) हम, सुपाणि, स्वंगुरिः व सुबाहु बनकर अश्रान्त होते हुए शक्तिपूर्वक कार्य करें जिससे सर्वत्र सुख-ही-सुख हो और चारों ओर आशावाद का सञ्चार हो। (ग) इस क्रम से यह बात स्पष्ट है कि क्रियाशीलता में ही गुणों का वास है।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हममें उत्तम गुणों के बीज ही अंकुरित हों और हम अनथकभाव से सदा कार्य करनेवाले हों।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—मित्रः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

पाकस्थाली

उत्थाय बृहती भवोदु तिष्ठ ध्रुवा त्वम्।
मित्रैतां तऽउखां परिददाम्यभित्याऽएषा मा भेदि॥६४॥

१. हे प्रभु-भक्त पत्नि! **उत्थाय**=उठकर, आलस्य छोड़कर **बृहती भव**=सदा वृद्धि को प्राप्त होनेवाली हो। आलस्य में गुणों का वास नहीं, गुण क्रियाशीलता में ही रहते हैं। गत मन्त्र में मूल भावना यही थी। **'योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये'** योगी लोग आत्म-शुद्धि के लिए सदा अनासक्तभाव से कर्म करते हैं, अतः तू २. **उ**=निश्चय से **उत्तिष्ठ**=सदा विषयासक्ति से ऊपर उठी रह। क्रियाव्यापृत व्यक्ति विषयों से बचा रहता है। ३. वैषयिक वृत्तिवाली न होने से **त्वम्**=तू **ध्रुवा**=स्थिर हो। विषय-वासना हमारे जीवनों को भटकनेवाला बना देते हैं। ४. हे **मित्र**=अपने को पापों से बचाकर पवित्र बने रहनेवाले व्यक्ति! **एताम्**=इस **ते**=तेरी **उखाम्**=पाकस्थाली को **परिददामि**=देता हूँ, इसलिए देता हूँ कि **अभित्या**=अ-भेदन हो। **एषा**=यह पत्नी **मा भेदि**=तुझसे भिन्न न हो जाए। यह पतिव्रतत्व

को छोड़कर परपुरुषासक्तिवाली न हो जाए। ५. मन्त्रार्थ में यह बात स्पष्ट है कि पत्नी कार्यव्यापृत हो। मनु ने पत्नी के लिए **'गृहकार्येषु दक्षया'**='घर के कार्यों में वह चतुर हो' इन शब्दों से यही संकेत किया है कि पत्नी को सदा कार्यव्यापृत रखना आवश्यक है। पत्नी के लिए पाकस्थाली की अध्यक्षता ही ऐसी है जो उसे अवकाश प्राप्त न होने देगी। इस कार्य का संकेत इसलिए भी हुआ है कि यही कार्य स्वास्थ्य का मूल साधन है। ऋतुओं के अनुकूल अन्न का ठीक परिपाक सभी को स्वस्थ रक्खेगा।

भावार्थ—पत्नी आलस्य शून्य हो, विषयों से ऊपर उठी हुई, घर में स्थिरता से रहे। घर के पाकादि कार्यों में अपने को व्यापृत रक्खे, जिससे वृत्ति सदा स्वस्थ रहे।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—वस्वादयो लिङ्गोक्ताः। **छन्दः**—भुरिग्धृतिः। **स्वरः**—ऋषभः॥

उच्छर्दन

वस॑वस्त्वाछृ॒न्दन्तु गाय॒त्रेण॒ छन्द॑साङ्गिर॒स्वद्रु॒द्रास्त्वा॑छृन्दन्तु॒ त्रैष्टु॑भेन॒ छन्द॑साङ्गिर॒स्वदा॑दि॒त्यास्त्वा॑छृन्दन्तु॒ जाग॑तेन॒ छन्द॑साङ्गिर॒स्वद्विश्वे॑ त्वा दे॒वा वै॑श्वान॒राऽआछृ॑न्द॒न्त्वानु॑ष्टुभेन॒ छन्द॑साङ्गिर॒स्वत्॥६५॥

१. हे प्रभु-भक्त! **वसवः**=उत्तम निवास की विद्या के आचार्य **त्वा**=तुझे **गायत्रेण छन्दसा**=प्राणरक्षण की इच्छा से **छृन्दन्तु**=दीप्त करें, जिससे **अङ्गिरस्वत्**=तू अङ्गिरस् की भाँति बन सके। २. **रुद्राः**=वासनाओं के विनाश की विद्या के आचार्य **त्वा**=तुझे **त्रैष्टुभेन छन्दसा**=काम, क्रोध व लोभ को रोकने की इच्छा से **छृन्दन्तु**=दीप्त करें, जिससे तू **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति बन सके। ३. **आदित्याः**=सूर्यसम-ज्ञान की ज्योति को धारण करनेवाले आचार्य **जागतेन छन्दसा**=जगती के हित की इच्छा से **त्वा**=तुझे **छृन्दन्तु**=दीप्त करें, जिससे तू **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति बन सके। ४. **वैश्वानराः**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले **विश्वेदेवाः**=सब देव (विद्वान्) **आनुष्टुभेन छन्दसा**=अनुक्षण प्रभु-स्तवन की इच्छा से **आछृन्दन्तु**=सर्वतः दीप्त करनेवाले हों, जिससे तू **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति बन सके। ५. चार बातें ही हमें **अङ्गिरस्**=जीवन-शक्ति से परिपूर्ण, रसमय अङ्गोंवाला बना सकती हैं—(क) प्राणरक्षण की इच्छा, प्राणशक्ति को क्षीण न होने देने की प्रबल भावना (ख) काम, क्रोध व लोभ को रोकना (ग) जगती के हित में प्रवृत्त रहना, तथा (घ). अनुक्षण प्रभु-चिन्तन, उसी के नाम का जप, उसी का स्मरण। ६. वसुओं, रुद्रों, आदित्यों व विश्वेदेवों ने इन्हीं भावनाओं को हममें भरने के लिए यत्नशील होना है। ७. इन भावनाओं से ही हमारा जीवन दीप्त हो सकेगा।

भावार्थ—हम प्राणरक्षण, 'काम, क्रोध व लोभ'—निवारण, जगती के हित की कामना तथा प्रतिक्षण प्रभु-स्तवन से अपने जीवनों को दीप्त करें।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः। **छन्दः**—विराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

मनु प्रजापति व वैश्वानर अग्नि

आकू॑तिम॒ग्निं प्र॒युज॒ꣳस्वाहा॒ मनो॑ मे॒धाम॒ग्निं प्र॒युज॒ꣳस्वाहा॑ चि॒त्तं विज्ञा॑तम॒ग्निं प्र॒युज॒ꣳस्वाहा॑ वा॒चो विधृ॑तिम॒ग्निं प्र॒युज॒ꣳस्वाहा॑ प्र॒जाप॑तये॒ मन॑वे॒ स्वाहा॒ऽग्नये॑ वैश्वान॒राय॒ स्वाहा॑॥६६॥

१. विश्वामित्र निश्चय करता है कि **आकूतिम्**=(बलं आत्मनो धर्मोः मनसः

प्रेरणहेतुः—उ०, संकल्पः—म०) संकल्प को, जो **अग्निम्**=अग्रगति का साधन है, **प्रयुजम्**=(प्रयुङ्क्ते कर्मणि—उ०) और मनुष्य को कर्म में प्रेरित करता है, उसे **स्वाहा**=(सु+आह) मैं प्रशंसित करता हूँ। २. **मनः**=अनुष्ठेय (कर्त्तव्य) के स्मरण-साधन मन को, **मेधाम्**=ऋत-ज्ञान की धारणशक्ति मेधा को, जो **अग्निम्**=उन्नति का साधन है और **प्रयुजम्** =प्रकृष्ट कर्मों में प्रेरित करनेवाली है, उसे **स्वाहा**=मैं प्रशंसित करता हूँ। ३. **चित्तम्**=स्मरण-साधन चित्त को **विज्ञातम्**=चित्त से सम्यक् अवगत कर्त्तव्य-ज्ञान को, जो **अग्निम्**=उन्नति का साधन है और **प्रयुजम्**=प्रकर्षेण कर्मों में प्रेरित करनेवाला है, उसे **स्वाहा**=मैं प्रशंसित करता हूँ। ४. **वाचः विधृतिम्**=वाणी के विशिष्ट धारण को, व्यर्थ न बोलने, अर्थात् मौन को, जो **अग्निम्**=उन्नति का साधन है **प्रयुजम्**=प्रकर्षेण कर्मों में लगानेवाला है, उसे **स्वाहा**=मैं प्रशंसित करता हूँ। ५. **प्रजापतये मनवे**=प्रजाओं के रक्षक विचारशील पुरुष के लिए **स्वाहा**=मैं प्रशंसात्मक शब्द कहता हूँ। ६. **वैश्वानराय**=सब मनुष्यों के हित करनेवाले **अग्नये** =अग्रेणी पुरुष के लिए **स्वाहा**=मैं प्रशंसा के शब्द कहता हूँ। ७. जिन बातों को हम अच्छा समझते हैं धीमे-धीमे उन्हीं के धारण का प्रयत्न करते हैं, अतः हम अपने जीवन में 'संकल्प, मननशक्ति, मेधाचित्त, विज्ञात तथा वाचो विधारण' मौन को धारण करें तथा अपने जीवन का लक्ष्य यह रक्खें कि हम विचारशील प्रजापति बनेंगे अथवा सभी का हित करनेवाले नेता बनेंगे (मनु प्रजापति या वैश्वानर अग्नि)।

भावार्थ—हमें 'संकल्प, मनन, मेधाचित्त, विज्ञात व नपे-तुले शब्दों को बोलने की वृत्ति' को धारण करना चाहिए, जिससे हम विचारशील प्रजापति बन सकें अथवा सबका हित करनेवाले अग्रणी बन पाएँ।

ऋषिः—आत्रेयः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

धन—पोषण के लिए

विश्वो॑ दे॒वस्य॑ ने॒तुर्मर्तो॑ वुरीत स॒ख्यम्।
विश्वो॑ रा॒यऽइ॑षुध्यति द्यु॒म्नं वृ॑णीत पु॒ष्यसे॒ स्वाहा॑ ॥६७॥

पिछले मन्त्रों का ऋषि 'विश्वामित्र' था। विश्वामित्र वही बन पाता है जो 'आत्रेय' हो। 'काम, क्रोध व लोभ' तीनों से परे हो। यह आत्रेय कहता है कि—१. **विश्वः मर्तः**=संसार में प्रविष्ट सभी मनुष्य उस **देवस्य**=सब दिव्य गुणों के पुञ्ज **नेतुः**=सभी के सञ्चालक प्रभु की **सख्यम्**=मित्रता को **वुरीत**=वरें। मनुष्य को चाहिए यही कि प्रभु की मित्रता में निवास करे, प्रकृति का मित्र न बन जाए। प्रकृति की मित्रता में वास्तविक आनन्द की प्राप्ति की तो कथा ही नहीं, वहाँ मनुष्य अपने ज्ञान को भी खो बैठता है। २. परन्तु न जाने फिर भी **विश्वः**=सब कोई **रायः**=धनों को **इषुध्यति**=चाहता है। धन ही सबको प्रिय होता है। ३. वस्तुतः इस संसार-यात्रा के लिए धन आवश्यक भी है, इसके बिना एक भी पग चलना सम्भव नहीं, अतः धन को भी हम चाहें तो अवश्य, पर उतने ही **द्युम्नम्**=अन्न व धन को **वृणीत**=वरो जो **पुष्यसे**=पोषण के लिए पर्याप्त हो। यह भी मार्ग है कि हम धन को आवश्यक होने से लें तो, परन्तु उस धन को उतनी ही मात्रा में लें जितनी कि इस भौतिक शरीर के लिए आवश्यक है। ४. संसार में रहते हुए भी उसमें लिप्त न होने का यही तो उपाय है कि हम धनासक्ति से ऊपर उठें।

भावार्थ—हम प्रभु की मित्रता का वरण करें। यह अद्भुत बात है कि सब कोई धन

की कामना करता है। धन की कामना करनी चाहिए, परन्तु हमें उतना ही धन जुटाना चाहिए जिससे हमारी स्वतन्त्रता सुरक्षित रह सके।

ऋषिः—आत्रेयः। **देवता**—अम्बा। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

अ-भेद्य

मा सु भित्था मा सु रिषोऽम्ब धृष्णु वीरयस्व सु। अग्निश्चेदं करिष्यथः॥६८॥

पति पत्नी से कहता है कि १. **सु**=(सु अति=स्वति पूजायाम्) हे प्रशंसनीय पत्नि! **मा भित्थाः**=तू मेरी मित्रता से पृथक् मत होना, तेरा और मेरा मनभेद न हो। २. **सु**=हे उत्तम जीवनवाली! **मा रिषः**=तूने हिंसित नहीं होना। वस्तुतः पति-पत्नी की मित्रता ठीक बनी रहे तो घर फूलता-फलता है, हिंसित नहीं होता। ३. **अम्ब**=हे मेरी सन्तानों की माता! तू **धृष्णु**=प्रगल्भता से **वीरयस्व**=वीर कर्म करनेवाली बन। माता को चाहिए कि उसका कोई भी कर्म निर्बल न हो, वह विघ्नों से घबरानेवाली न हो। ४. हे मातः! तू **अग्निः च**=और यह अग्नि **इदम्**=इस पाचन-कर्म को **सुकरिष्यथः**=उत्तमता से, करोगे।

भावार्थ—१. पत्नी को पति के साथ अभिन्न मैत्रीपूर्वक रहना चाहिए। २. उसके प्रत्येक कर्म में शक्ति का प्रकाश हो। ३. वह पाचन-कर्म को उत्तमता से करनेवाली हो।

ऋषिः—आत्रेयः। **देवता**—अम्बा। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

पत्नी

दृꣳहस्व देवि पृथिवि स्वस्तयऽआसुरी माया स्वधया कृतासि।
जुष्टं देवेभ्यऽइदमस्तु हव्यमरिष्टा त्वमुदिहि यज्ञेऽअस्मिन्॥६९॥

१. हे **देवि**=दिव्य गुणोंवाली! **पृथिवि**=विशाल हृदयान्तरिक्षवाली! तू **दृंहस्व**=दृढ़ बन। घर में स्थिरता से रहनेवाली बन और **स्वस्तये**=घर की उत्तम स्थिति के लिए हो। जब पत्नी घर में दृढ़तापूर्वक नहीं रहती तो वह घर को उत्तम कभी नहीं बना पाती। २. तू **आसुरी**=(असु=प्राण) प्राणसम्बन्धिनी **माया**=प्रज्ञा **असि**=है, अर्थात् तू इतनी समझदार है कि अपनी पाचन-क्रिया से सिद्ध भोजन के द्वारा सभी के प्राणों का पोषण करनेवाली है। ३. **स्वधया**=अन्न के हेतु से **कृता असि**=तू (कृती कुशलः) बड़ी कुशल है, अन्न-पाचन में तू पूरी निपुण है। ४. **इदम्**=यह तुझसे पकाया हुआ **हव्यम्**=दानपूर्वक खाने योग्य अन्न **देवेभ्यः**=अग्न्यादि देवों से **जुष्टम्**=प्रीतिपूर्वक सेवित **अस्तु**=हो, अर्थात् अग्नि में आहुति देने के बाद हम सिद्ध अन्न का सेवन करनेवाले हों। अग्निमुख से वह अन्न देवों में पहुँचे और फिर यज्ञशेषरूप अमृत का हम सेवन करनेवाले हों। ५. **अरिष्टा त्वम्**=अहिंसित होती हुई तू **अस्मिन् यज्ञे**=इस गृहस्थ यज्ञ में **उदिहि**=उन्नति को प्राप्त हो।

भावार्थ—१. पत्नी को गृह में स्थिर होकर रहना है। २. उसे ज्ञानपूर्वक भोजन बनाना है, जिससे सभी की प्राणशक्ति बढ़े। ३. अन्न-पाचन में वह कुशल हो। ४. यज्ञ करके यज्ञशेष ही सबको देनेवाली हो। ५. इस यज्ञशेष के सेवन के परिणामरूप अहिंसित होती हुई यह गृहस्थ यज्ञ को खूब उन्नत करनेवाली हो।

सूचना—पत्नी के कर्त्तव्यों के निर्देशक मन्त्र आत्रेय ऋषि के थे। पत्नी के साथ व्यवहार में पति ने आत्रेय ही बनना है—काम, क्रोध व लोभ से ऊपर उठना है। अब अगले मन्त्र में पत्नी पति से कहती है। इस मन्त्र का ऋषि 'सोमाहुति' है। सोम की आहुतिवाला,

अर्थात् सौम्य भोजन करनेवाला। यह सौम्य भोजन करनेवाला व्यक्ति क्रोधादि से ऊपर उठेगा ही।

ऋषिः—सोमाहुतिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराड्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

पति

द्रुवन्नः सुर्पिरासुतिः प्रत्नो होता वरेण्यः। सहसस्पुत्रोऽअद्भुतः॥७०॥

१. पत्नी पति से कहती है—तू **द्रु+अन्नः**=वनस्पति भोजनवाला है। तू वानस्पतिक भोजन ही करता है, मांस-भोजन नहीं। २. **सर्पिः आसुतिः**=घृत ही तेरा आसव=मद्य हो। घृत ही तुझे मद्य के समान आनन्द देनेवाला हो। ३. तू **प्रत्नः होता**=पुराना होता हो, अर्थात् वंश-परम्परा से दानपूर्वक अदन करनेवाला हो। तुम्हारे कुल की रीति ही दानपूर्वक अदन करने की हो। पति जहाँ मद्य-मांस का सेवन करनेवाला न हो वहाँ सदा दानपूर्वक खानेवाला हो, अर्थात् यज्ञशेष का ही खानेवाला हो। ४. **वरेण्यः**=तू वरणीय हो। सभा-समाजादि में तुझे लोग प्रधानरूप से चुनें, अथवा तू उत्तम वरण करनेवाला हो, अर्थात् तू कभी ग़लत चुनाव न करे। परमात्मा व प्रकृति में से तू प्रकृति को न चुन (धन व ज्ञान में धन तेरा चुनाव न हो जाए। प्रेय और श्रेय में कहीं तू प्रेय का वरण करनेवाला 'मन्द' न बन जाए)। ५. **सहसस्पुत्रः**=तू बल का पुत्र हो, अर्थात् खूब बल-सम्पन्न हो। ६. **अद्भुतः**=तेरी उन्नति अभूतपूर्व हो। तू आश्चर्यरूप अनन्यसदृश हो।

भावार्थ—आदर्श पति सौम्य भोजनोंवाला हो, मद्य-मांस से ऊपर उठा हुआ हो। दान की वृत्तिवाला हो। ठीक चुनाव करनेवाला हो। शक्ति का पुञ्ज बने और अभूतपूर्व उन्नति करनेवाला हो।

ऋषिः—विरूपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराड्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

वर वधू से

परस्याऽअधि संवतोऽवराँ२॥ऽअभ्यातर। यत्राहमस्मि ताँ२॥ऽअव॥७१॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'विरूप' है, विशिष्ट रूपवाला। यह वधू से कहता है कि १. अब तू मुझसे 'ऊढ़' (विवाहित) हुई **यत्र अहम् अस्मि**=जहाँ मैं हूँ **तान्**=उन्हें (मेरे घरवालों को) **अव**=पालन करनेवाली बन। तू मेरे घर को ही अपना घर समझनेवाली हो। ३. **संवतः**=(संवन्वते=संभजन्ते) उत्तम प्रकार से पालन-पोषण करनेवाले **अवरान्**=अपने समीप के माता-पिता को व अन्य बन्धुओं को **अभ्यातर**=तैरकर अब तू इस पतिकुल की ओर आ जा। तेरा जीवन का पहला काल अपने बन्धुओं में ही बीता है, उन्होंने तुझे बड़े प्रेम से पाला है, परन्तु अब **परस्याः अधि**=अपनी दूसरी—अगली उत्कृष्ट जीवन-यात्रा का प्रकर्षेण ध्यान करती हुई तू उन सब सम्बन्धों को तैरकर इस पतिकुल में प्रवेश करनेवाली हो। ३. पितृगृह काल के दृष्टिकोण से 'अवर' है, पतिगृह 'पर'। 'पितृगृह' कन्या के दृष्टिकोण से इसलिए भी अवर है कि उसे बनानेवाली कन्या की माता है, परन्तु पतिगृह का निर्माण इसे स्वयं करना है, अतः कन्या के लिए यही 'पर' है। ४. यदि कन्या पितृगृह को भूल पाती है तभी वह पतिगृह का निर्माण करनेवाली बनती है।

भावार्थ—कन्या के लिए पितृगृह 'अवर' व पतिगृह 'पर' होना चाहिए। वह पतिगृह का निर्माण करती हुई उस घर में सबका पालन करनेवाली बने।

ऋषिः—वारुणिः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिगुष्णिक्। स्वरः—ऋषभः॥

वधू वर से

प॒र॒मस्याः॑ परा॒वतो॑ रो॒हिद॑श्वऽइ॒हाग॑हि। पु॒री॒ष्यः॑ पुरुप्रि॒योऽग्ने॒ त्वन्त॑रा॒ मृधः॑ ॥७२॥

प्रस्तुत मन्त्र में दूर-दूर से आये हुए व्यक्तियों में से वधू एक का वरण करती है। यह निश्चित है कि वह औरों की अपेक्षा श्रेष्ठ रूपवाले 'विरूप' का ही वरण करेगी, अतः यह विरूप यहाँ 'वारुणि' हो जाता है। २. वधू वारुणि के विषय में कहती है कि यह **परमस्याः परावतः**=दूर-से-दूर देश से आया है। स्पष्ट है कि सम्बन्ध करने में 'दूरी' पहली सोचने योग्य बात है। समीपता में गुण-दोषों का पूर्व परिचय होने से उतना प्रेम नहीं बन पाता। इसी दृष्टि से 'दुहिता' की व्युत्पत्ति यास्क 'दूरे हिता' ही करते हैं। ३. **रोहिदश्व**=(रुह=प्रादुर्भाव, अश्व=इन्द्रियाँ) प्रादुर्भूत शक्ति-सम्पन्न इन्द्रियोंवाले वर! **इह आगहि**=आप इस घर में आओ। कन्या यह चाहती है कि उसके वरण के लिए ऐसे ही युवक आएँ जिन्होंने अपनी सब इन्द्रियों की शक्ति का उत्तम विकास किया है। वह उनमें से ही श्रेष्ठ का वरण करेगी। ४. **पुरीष्यः**=आप पालन-कर्म में उत्तम हो। पति बनने की यह भी आवश्यक योग्यता है कि वह कमानेवाला हो। जो धनार्जन नहीं कर सकता उसे गृहस्थ बनने का भी अधिकार नहीं है। ५. **पुरुप्रियः**=यह बड़ा या बहुतों का प्रिय हो। समाज में सभी को यह अच्छा लगे। यह किन्हीं का द्वेष्य न हो। यह झगड़ालू वृत्ति का न हो। ६. हे **अग्ने**=प्रगतिशील! **त्वम्**=तू **मृधः**=हमारा संहार करनेवाले 'काम, क्रोध व लोभ' को **तर**=तैर जा। पति के रूप में उसी का वरण करना चाहिए जो कामादि वासनाओं से ऊपर उठा हुआ हो।

भावार्थ—पति की योग्यताएँ ये हैं—१. दूर का हो, नज़दीकी रिश्तेदार व परिचित न हो। २. विकसित इन्द्रिय-शक्तियोंवाला हो। ३. पालन करने की योग्यता रखता हो। ४. प्रिय हो। ५. काम, क्रोध व लोभादि वासनाओं को तैरे हुए हो।

ऋषिः—जमदग्निः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

ये ही तिल-फूल

यद॑ग्ने॒ कानि॒ कानि॑ चि॒दा ते॒ दारू॑णि द॒ध्मसि॑।
सर्वं॒ तद॑स्तु ते घृ॒तं तज्जु॑षस्व यविष्ठ्य ॥७३॥

जिस समय कन्या-पक्षवाले अपनी कन्या को योग्य वर के साथ परिणीत करते हैं तब उसके साथ 'सुदाय' (दहेज) के रूप में भी कुछ-न-कुछ देते ही हैं। उस धन को देते हुए वे कहते हैं कि १. हे **अग्ने**=प्रगतिशील युवक! **यत्**=जो **कानि-कानि चित्**=जिन किन्हीं भी **दारूणि**=लकड़ियों को **ते**=तेरे लिए **आदध्मसि**=धारण करते हैं **तत् सर्वम्**=वह सब **ते**=तेरे लिए **घृतं अस्तु**=घृत के तुल्य हो। इसी तिल-फूल को, 'पत्र-पुष्प' को तू बहुत समझना। २. **तत् जुषस्व**=उसी तुच्छ भेंट को तू प्रीतिपूर्वक सेवन करना। हमारी दी हुई यह मामूली भेंट भी आपसे आदर दी जाए। **यविष्ठ्य**=आप तो गुणों के ग्रहण व अवगुणों के दूर करनेवाले हैं। गुणों में प्रीति रखनेवाले आप इस भौतिक भेंट को बहुत महत्त्व न देंगे।

भावार्थ—वर को चाहिए कि वधू के गुणों को महत्त्व दे, न कि वधू-गृह की सम्पत्ति को। ७३, ७४वें मन्त्रों का ऋषि 'जमदग्नि' है। 'चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिः, यदनेन जगत् पश्यति अथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्निर्ऋषिः'—श० १।२।१।३ के अनुसार जमदग्नि 'चक्षुः'

है। संसार को ठीक रूप में देखता है और विचार करता है। जो ठीक रूप में नहीं देखता वही धन को गुणों की अपेक्षा अधिक महत्त्व देता है।

ऋषिः—जमदग्निः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

तिल-फूल भी खाये हुए

यदत्त्युपजिह्विका यद्वम्रोऽअतिसर्पति।
सर्वं तदस्तु ते घृतं तज्जुषस्व यविष्ठ्य ॥७४॥

१. गत मन्त्र में कन्या-पक्षवालों की ओर से विनीतता से 'सुदाय' देने का उल्लेख था। उसी विषय को और अधिक बल देकर कहते हैं कि ये हमारे कण भी वे हैं **यत्**=जिनको **उपजिह्विका**=चींटी **अत्ति**=खाती है, **यत्**=जिसे **वम्रः**=दीमक **अतिसर्पति**=अपनी गति का खूब आधार बनाती है, अर्थात् पहले तो हमने कुछ दिया ही नहीं और जो दिया है 'वह भी बड़ी ठीक स्थिति में नहीं है'। तिल-फूल भी दिये, और वे भी खाये हुए, २. परन्तु आप तो **यविष्ठ्य**=गुणों के ग्रहण व अवगुणों के त्यागनेवालों में भी उत्तम हैं, अतः **सर्वं तत्**=वह हमसे दिया हुआ तुच्छ सामान भी **ते घृत अस्तु**=आपकी दृष्टि में घृत के समान हो। खाई हुई लकड़ियों को भी आपने घृत समझना। **तज्जुषस्व**=उसे प्रीतिपूर्वक सेवन करना, उसे फेंकना नहीं।

भावार्थ—वर ने गुणग्राही बनना है, धनग्राही नहीं।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

पत्नी पति की प्रतिवेशा (पड़ोसिन)

अहरहरप्रयावं भरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमस्मै।
रायस्पोषेण समिषा मदन्तोऽग्ने मा ते प्रतिवेशा रिषाम ॥७५॥

१. गत मन्त्रों में वर्णित पति बड़े यज्ञिय स्वभाव का बनता है। यज्ञ को भुवन की नाभि कहा गया है। इस नाभि (यज्ञ) के सदा समीप रहने से यह 'नाभानेदिष्ठ' कहलाता है—सदा यज्ञों के समीप निवास करनेवाला। २. घर में पत्नी व गृह के अन्य सभ्य (members) इस अग्नि=प्रगतिशील गृहस्थ को उचित भोजन प्राप्त कराने का प्रयत्न करते हैं। वे कहते हैं कि **अहरहः**=प्रतिदिन **अप्रयावम्**=(अप्रमत्तं यथा स्यात्तथा) प्रमादरहित होकर हम **अस्मै**=इस घर के व्यवहार को सिद्ध करनेवाले के लिए **घासम्**=वानस्पतिक भोजन को **भरन्तः**=धारण करनेवाले हों। **तिष्ठते अश्वाय इव**=यह उस घोड़े के समान है जो मार्ग पर आगे बढ़ता हुआ कुछ देर खाने के लिए खड़ा हुआ है। पति ने सदा श्रमशील होना है, उसके श्रम पर ही घर का ऐश्वर्य निर्भर करता है। घरवालों ने इसके भोजन का ध्यान करना है, जिससे वह अस्वस्थ न हो जाए। ३. इस प्रकार यह श्रमविभाग करके कि 'पति कमाये और पत्नी उसके स्वास्थ्यजनक भोजनादि का ध्यान करे', हम **रायस्पोषेण**=धन के पोषण से तथा **इषा**=अन्न से **संमदन्तः**=उत्तम हर्ष को प्राप्त होनेवाले हों। ४. हे **अग्ने**=गृहस्थयज्ञ के साधक! **ते प्रतिवेशा**=तेरे पड़ोसी बने हुए हम—तेरे समीप रहनेवाले हम **मा रिषाम** =आपकी कृपा से कभी हिंसित न हों। स्पष्ट है कि पति-पत्नी ने एक-दूसरे से बहुत दूर नहीं रहना। यही घर को उत्तम बनाने का उपाय है।

भावार्थ—पति कमानेवाला हो। पत्नी उसके भोजन का उचित ध्यान करनेवाली हो। पत्नी पति से बहुत दूर न रहे।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठः। देवता—अग्निः। छन्दः—स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

सद्गृहस्थ

नाभा पृथिव्याः समिधानेऽअग्नौ रायस्पोषाय बृहते हवामहे।
इरम्मदं बृहदुक्थं यजत्रं जेतारमग्निं पृतनासु सासहिम्॥७६॥

१. **इरम्मदम्**=(इरया माद्यति) अन्न से हर्षित होनेवाले, अर्थात् वानस्पतिक भोजन में ही आनन्द लेनेंवाले, २. **बृहदुक्थम्**=प्रभु का खूब ही स्तवन करनेवाले, ३. **यजत्रम्**=यज्ञशील अथवा यज्ञों से अपना त्राण करनेवाले, ४. **जेतारम्**=विजयशील, ५. **अग्निम्**=निरन्तर आगे बढ़नेवाले ६. **पृतनासु सासहिम्**=संग्रामों में शत्रुओं का पराभव करनेवाले पुरुष को, ७. **पृथिव्याः नाभा**=(नाभौ) इन भुवनों के नाभिरूप यज्ञों में (अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः) **समिधाने अग्नौ**=अग्नि के समिद्ध होने पर, ८. **बृहते**=वृद्धि के कारणभूत **रायस्पोषाय**=धन के पोषण के लिए **हवामहे**=हम पुकारते हैं।

उपर्युक्त मन्त्रार्थ में यह स्पष्ट है कि गृहस्थ में पति बनने योग्य पुरुष वही है जो १. वानस्पतिक भोजन करता है, २. प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाला है, ३. यज्ञशील है, ४. विजेता, ५. व उन्नतिशील है। ६. काम, क्रोध व लोभ का आक्रमण होने पर उन्हें पराजित करनेवाला है, ७. यज्ञ को पृथिवी का केन्द्र समझ, सदा यज्ञाग्नि को समिद्ध करता है। ८. उस धन का पोषण करता है जो उसकी उन्नति का कारण बनता है, ह्रास का नहीं।

भावार्थ—ब्रह्मचर्याश्रम में हमारी साधना इस प्रकार हो कि हम द्वितीयाश्रम में प्रवेश करने पर एक सद्गृहस्थ बन सकें।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिगनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

न शत्रु, न चोर

याः सेनाऽअभीत्वरीराव्याधिनीरुगणाऽउत।
ये स्तेना ये च तस्करास्ताँस्तेऽअग्नेऽपिदधाम्यास्ये॥७७॥

१. गत मन्त्र में वर्णित सद्गृहस्थ बनने के लिए राज्य-व्यवस्था का उत्तम होना आवश्यक है। चोरों, डाकुओं व शत्रुओं के भय से रहित राज्य में ही सब प्रकार से जीवन की उन्नति सम्भव है, अतः कहते हैं कि २. **याः**=जो **सेनाः**=शत्रु-सेनाएँ **अभीत्वरीः**=राष्ट्र पर चारों ओर से आक्रमण करनेवाली हैं **आव्याधिनीः** =नाना प्रकार के अस्त्रों से विद्ध करनेवाली हैं, **उत**=और **उगणाः**=उद्यत आयुध-समूहवाली हैं—जिनके पास तलवार, बन्दूक आदि शस्त्र हैं, ३. इनके अतिरिक्त **ये**=जो **स्तेनाः**=चोर हैं, **ये च**=और जो **तस्कराः** (=द्यूतादिकापट्येन परपदार्थापहर्ताः—द०) द्यूत आदि के छल-कपट से दूसरों के धनों का हरण करनेवाले हैं, **तान्**=उन पुरुषों को, हे **अग्ने**=राष्ट्र के अग्रणी राजन्! **ते आस्ये**=तेरे मुख में **अपिदधामि**=स्थापित करता हूँ, अर्थात् राजा राष्ट्र में शान्ति व विश्वस्तता के लिए शत्रुओं के आक्रमण-भय को तथा राष्ट्र के अन्दर चोरों व लुटेरों के भय को समाप्त करने का पूर्ण प्रयत्न करे।

भावार्थ—किसी भी प्रकार की उन्नति तभी सम्भव है जब न बाह्य शत्रुओं के आक्रमणों की आशंका हो, न चोर-लुटेरों के उपद्रव का भय। इस सुराज्य को वही राजा ला सकता है जो 'नाभानेदिष्ठ' है—सदा यज्ञरूप-केन्द्र के समीप रहनेवाला है।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगुष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

राष्ट्र में कौन न रहें?

दꣳष्ट्राभ्यां म॒लिम्लू॑न् जम्भ्यै॒स्तस्क॑राँ२॥ऽउ॒त ।
हनु॑भ्याꣳस्ते॒नान् भ॑गव॒स्ताँस्त्वं खा॑द॒ सुखा॑दितान् ॥७८॥

१. हे **भगवः**=राष्ट्र के उत्तम ऐश्वर्य के कारणभूत राजन्! **दंष्ट्राभ्याम्**=जैसे दाढ़ों से किसी वस्तु को चबा लिया जाता है, इसी प्रकार आप अपनी दण्ड-व्यवस्था व नीतिरूप दाढ़ों से **मलिम्लून्**=मलिन आचरणवाले लोगों को **खाद**=खा जाइए, अर्थात् समाप्त कर दीजिए। २. **उत**=और **जम्भ्यैः**=जैसे अग्रदन्तों से किसी वस्तु को कुतर दिया जाता है इसी प्रकार आप अपने व गुप्तचरों के प्रबन्ध से तथा रक्षापुरुषों की उत्तम व्यवस्था से **तस्करान्**=लुटेरों को समाप्त कीजिए। ३. **हनुभ्याम्**=जैसे जबड़ों से किसी भक्ष्य पदार्थ को पीस दिया जाता है इसी प्रकार हे राजन्! **त्वम्**=आप **स्तेनान्**=चोरों को **सुखादितान्** (सु= सुखेन खादन्ति)=आराम के साथ खाने-पीने में आसक्त लोगों को हनन उपायों से **खाद**= समाप्त कर दीजिए।

भावार्थ—राजा ऐसी व्यवस्था करे कि राष्ट्र में मलिन आचरणवाले, लुटेरे, चोर व बिना श्रम के मज़े से खानेवाले लोग न रहें।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठः। **देवता**—सेनापतिः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

जम्भाधान

ये जने॑षु म॒लिम्ल॑व स्ते॒नास॒स्तस्क॑रा॒ वने॑ ।
ये कक्षे॑ष्वघा॒यव॒स्ताँस्ते॑ दधामि॒ जम्भ॑योः ॥७९॥

१. हे राजन्! **तान्**=उन्हें **ते**=तेरे **जम्भयोः**=तीव्र दाँतों में **दधामि**=स्थापित करता हूँ, अर्थात् आपके द्वारा उनका नाश करवाता हूँ, **ये**=जो **जनेषु**=लोगों के विषय में **मलिम्लवः**=मलिन आचरणवाले हैं, अर्थात् अपने आचरणों से सज्जनों के जीवनों में अशान्ति पैदा करते हैं। २. **ये**=जो **स्तेनासः**=चोर हैं, जो रात्रि के समय औरों के द्रव्यों को हरने का प्रयत्न करते हैं। ३. और जो **वने**=वन में रहनेवाले **तस्कराः**=लुटेरे हैं, **ये**=जो **कक्षेषु**=(नदीपर्वतगहनेषु) नदियों और पर्वतों के दुर्गम स्थानों में छिपे हुए **अघायवः**=दूसरों का अशुभ चाहनेवाले हैं, अर्थात् जो झाड़-झंकाड़ों में छिपे हुए आने-जानेवाले पथिकों की घात में बैठे होते हैं, उन्हें तेरे तीव्र दाँतों में स्थापित करता हूँ।

भावार्थ—राजा का कर्त्तव्य है कि वह मलिनाचरणवालों, चोरों, लुटेरों तथा परिपन्थियों को (घात लगाकर बैठे लोगों को) समाप्त कर दे।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठः। **देवता**—अध्यापकोपदेशकौ। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

मस्मसा-करण (चूर्णीकरण)

योऽअ॒स्मभ्य॑मराती॒याद्यश्च॑ नो॒ द्वेष॑ते॒ जनः॑ ।
नि॒न्दाद्योऽअ॒स्मान् धिप्सा॑च्च॒ सर्वं॒ तं म॑स्म॒सा कु॑रु ॥८०॥

हे राजन्! १. **यः**=जो कोई भी **अस्मभ्यम्**=हमारे प्रति **अरातीयात्**=शत्रु की भाँति आचरण करे २. **च यत्**=और जो **जनः**=मनुष्य **नः द्वेषते**=हमसे द्वेष करता है—जिसे हमारे साथ नाममात्र भी प्रीति नहीं, ३. **यः अस्मान् निन्दात्**=जो हमारी निन्दा करे ४. **च**=और जो **धिप्सात् च**=हमें हिंसित करना चाहे या हमारे प्रति दम्भ से वर्ते **तं सर्वम्**=उन सबको

भस्मसा कुरु=चूर्णीभूत कर दे—मसल दे।

यहाँ आचार्य दयानन्द के भाष्य में 'भस्मसा कुरु' पाठ है। तब अर्थ होगा—'उन सबको भस्म कर दे।' ५. मन्त्र में यह संकेत है कि हे प्रभो! आपकी कृपा से हममें अरातिता, द्वेष, परनिन्दा व दम्भ की भावनाओं का अभाव हो। राष्ट्र वही उत्तम है जहाँ लोगों के मन इन दुर्भावनाओं से रहित हैं। राजा को शिक्षादि की ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि लोगों के मनों में ये भावनाएँ अंकुरित न हों।

भावार्थ—राजा अपनी प्रजा में परस्पर प्रेम की वृत्ति को जगाने का प्रयत्न करे।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठः। **देवता**—पुरोहितयजमानौ। **छन्दः**—निचृदार्चीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

राजपुरोहित की कामना

सꣳशितं मे ब्रह्म सꣳशितं वीर्यं बलम्।
सꣳशितं क्षत्रं जिष्णु यस्याहमस्मि पुरोहितः॥८१॥

१. पुरोहित राजा के लिए कामना करता है कि **यस्य**=जिसका **अहम्**=मैं **पुरोहितः अस्मि**=पुरोहित हूँ, उसका **क्षत्रम्**=बल **संशितम्**=तीव्र हो, प्रभावशाली हो। उसका बल **जिष्णु**=सदा विजयशील हो, अपना कार्य करने में सदा सफल हो। एक शक्तिशाली राजा ही राष्ट्र की उत्तम व्यवस्था कर पाएगा, अतः उत्तम राष्ट्र-व्यवस्था के लिए राजा को सबल बनाना ही पुरोहित का मुख्य कार्य है। २. परन्तु वह स्वयं आदर्श (पुरः+हित) बनकर ही राजा के जीवन को उत्तम बना सकता है, अतः पुरोहित पहले स्वयं अपने लिए कामना करता है कि **मे ब्रह्म**=मेरा ज्ञान **संशितम्**=तीव्र हो, सदा अपने कार्य में समर्थ हो और **मे**=मेरी **वीर्यम्**=आन्तरिक रोगों की नाशकशक्ति **संशितम्**=तीव्र हो। परिणामतः मैं कभी रोगी न होऊँ और **मे**=मेरा **बलम्**=शत्रु-प्रतिरोधक बल **संशितम्**=तीव्र हो। निर्बल, रोगी व मूर्ख पुरोहित राजा को समझदार व सशक्त नहीं बना सकता।

भावार्थ—राष्ट्र में पुरोहित ज्ञानी, वीर्यवान् व सबल हों, जिससे वे राजा के लिए आदर्श (model=पुरोहित) बनें और राजा भी विजयशील शक्तिवाला बन पाये।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठः। **देवता**—सभापतिर्यजमानः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

उन्नयन

उदेषां बाहूऽअतिरमुद्वर्चोऽअथो बलम्।
क्षिणोमि ब्रह्मणामित्रानुन्नयामि स्वाँ२॥ऽअहम्॥८२॥

१. एक पुरोहित अपने राष्ट्र-पुरुषों में शक्ति का सञ्चार करता हुआ कहता है कि **एषाम्**=इन राष्ट्र-पुरुषों की **बाहू**=भुजाओं को—पुरुषार्थ-साधक बाहुओं को **उत् अतिरम्**=मैं बढ़ाता हूँ। **एषाम्**=इनकी **वर्चः**=रोगनिवारक शक्ति को **अथो**=और **बलम्**=शत्रु-विनाशक शक्ति को भी **उत् अतिरम्**=बढ़ाता हूँ। २. **ब्रह्मणा**=ज्ञान के द्वारा **अमित्रान्**=शत्रुओं को **क्षिणोमि**=हिंसित करता हूँ तथा **स्वान्**=अपनों को **अहम्**=मैं **उन्नयामि**=उन्नत करता हूँ। ३. राष्ट्र-पुरोहित सदा इस प्रकार प्रेरणा देने का प्रयत्न करता है कि सब राष्ट्र-पुरुषों की भुजाएँ शक्तिशाली बनें, उनका वर्चस् व बल बढ़े। इस प्रकार ज्ञान के प्रसार से वह शत्रुओं को क्षीण व अपनों को प्रबल बनाने के लिए सदा यत्नशील हो।

भावार्थ—पुरोहित का यह कर्तव्य है कि वह राष्ट्र-पुरुषों में शक्ति का सञ्चार करे, उन्हें सब प्रकार से उन्नत करने के लिए यत्नशील हो।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठः। **देवता**—यजमानपुरोहितौ। **छन्दः**—उपरिष्टाद्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः।

अनमीव अन्न

अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः।
प्रप्र दातारं तारिषऽऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ॥८३॥

१. सब प्रकार की उन्नतियाँ अन्न पर निर्भर करती हैं, अतः अन्न के विषय में प्रार्थना करते हैं कि **अन्नपते**=हे सब अन्नों के पति प्रभो! **नः**=हमें **अन्नस्य देहि**=अन्न प्राप्त कराइए। वह अन्न जो **अनमीवस्य**=व्याधिरहित है। राजस् अन्न 'दुःखशोकामयप्रदाः'=दुःख, शोक और रोग को देनेवाले हैं, अतः हम वही अन्न चाहते हैं जो हमें व्याधियुक्त करनेवाले नहीं, जो **शुष्मिणः**=शत्रुओं के शोषक बलवाले हों। जिन अन्नों के सेवन से 'काम, क्रोध व लोभ' का भी शोषण होता है और जो अन्न हमें बाह्य शत्रुओं को भी धर्षित करने के लिए शक्ति दें। एवं, अन्न रोगनाशक और बल के हेतु हों। २. हे प्रभो! **दातारम्**=देनेवाले को **प्रतारिष**=तैरा दो, जीवन के पार लगा दो, जो भी व्यक्ति देकर, बचे हुए को खाता है उससे तो अन्न वस्तुतः खाया जाता है (अद्यते), परन्तु जो त्यागपूर्वक उपभोग न करके अकेला ही सब-कुछ खा जाता है, उसे तो यह अन्न ही वस्तुतः खा लेता है (अत्ति च भूतानि)। ३. इस प्रकार त्यागपूर्वक उपयुक्त हुआ यह अन्न **नः**=हममें **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति को **धेहि**=धारण करे। यदि एक व्यक्ति अन्न को अकेले न खाकर बाँटकर खाता है तो वह बल व प्राणशक्ति को प्राप्त करता है। ४. **द्विपदे**=दो पाँववाले मनुष्यों के लिए व **चतुष्पदे**=चार पाँववाले पशुओं के लिए भी नीरोगतावाले, शत्रुशोषक बलवाले अन्न को प्राप्त कराइए। मनुष्यों को तो अन्न प्राप्त हो ही, पशुओं को भी अन्न की कमी न रहे, अर्थात् हमारा राष्ट्र food और fodder से भरपूर हो—न मनुष्य भूखें मरें न पशु। राष्ट्र में सर्वत्र सुभिक्ष हो।

भावार्थ—१. हमारा अन्न निश्चितरूप से अनमीव (नीरोग) व शुष्मी (बलदायक) हो। २. हम सदा देकर बचे हुए अन्न को खानेवाले हों। ३. हमारे अन्न हमें बल और प्राणशक्ति दें।

॥ इत्येकादशोऽध्यायः सम्पूर्णः॥

द्वादशोऽध्यायः

ऋषिः—वत्सप्रीः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

द्यौः-सुरेताः

दृशानो रुक्मऽउर्व्या व्यद्यौद् दुर्मर्षमायुः श्रिये रुचानः ।
अग्निरमृतोऽअभवद्वयोभिर्यदेनं द्यौरजनयत्सुरेताः ॥१॥

१. पिछले अध्याय की समाप्ति पर उत्तम सात्त्विक अन्न के सेवन का उपदेश है। 'उस अन्न के सेवन से मनुष्य का जीवन किस प्रकार उत्तम बनता है' इस बात के प्रतिपादन से यह अध्याय प्रारम्भ होता है। अन्न बीज है और माता-पिता व आचार्य भूमि व खाद आदि हैं। जीवन-निर्माण में बीज का भी स्थान है और भूमि का भी। अन्न का वर्णन पिछले मन्त्र में हुआ है, प्रस्तुत मन्त्र में आचार्य के लिए '**द्यौः** और **सुरेताः**'—इन शब्दों का प्रयोग हुआ है। आचार्य प्रकाशमय जीवनवाला तथा उत्तम रेतस्वाला हो। ऐसा ही आचार्य विद्यार्थी के जीवन का विकास करता है। २. यह विकसित जीवनवाला **दृशानः**=सब वस्तुओं को ठीक रूप में देखता है, अतः यह संसार में उलझता नहीं। ३. **रुक्मः**=विषयों में न उलझनेवाला यह (रुच दीप्तौ) चमकता है। इसका स्वास्थ्य ठीक रहता है। यह स्वास्थ्य की चमक से चमकता है। ४. **उर्व्या**=विशालता से **व्यद्यौत्**=यह दीप्त होता है। इसका हृदय विशाल होता है। ५. **आयुः**=इसका जीवन **दुर्मर्षम्**=विषयों से न कुचला जाने योग्य होता है। ६. **श्रिये रुचानः**=श्री के लिए यह रुचिवाला होता है। यह प्रत्येक कार्य को शोभा से करता है। ७. **अग्निः**=यह निरन्तर प्रगतिशील होता है। ८. **अमृतः अभवत्**=यह अमृत होता है, रोग इसकी मृत्यु का कारण नहीं बनते। **यत्**=क्योंकि **एनम्**=इसे **सुरेताः**=उत्तम रेतस्वाला, अर्थात् ब्रह्मचारी **द्यौः**=ज्योतिर्मय मस्तिष्कवाला आचार्य **वयोभिः**=उत्तम अन्नों से **अजनयत्**=विकसित करता है। आचार्य इस बात का बड़ा ध्यान रखता है कि उसके विद्यार्थी का अन्न सात्त्विक हो, जिससे उसकी वृत्ति भी सात्त्विक ही बने। ९. इस प्रकार उत्तम जीवनवाला यह 'वत्सप्री' कहलाता है। इसका जीवन वेदप्रतिपादित बातों को क्रियान्वित किये हुए है और पवित्र कर्मों से वह अपने पिता प्रभु को प्रीणित करनेवाला होता है।

भावार्थ—हम उत्तम अन्न के सेवन से उत्तम जीवनवाले बनें।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

माता-पिता

नक्तोषासा समनसा विरूपे धापयेते शिशुमेकꣳसमीची ।
द्यावाक्षामा रुक्मोऽअन्तर्विभाति देवाऽअग्निं धारयन् द्रविणोदाः ॥२॥

१. पिछले मन्त्र में जीवन-निर्माण करनेवाले आचार्य का उल्लेख था। प्रस्तुत मन्त्र में 'माता-पिता' का प्रतिपादन है। 'माता-पिता' **नक्तोषासा**=रात्रि व दिन के समान हैं अथवा **द्यावाक्षामा**=द्युलोक व पृथिवीलोक के समान हैं (द्यौरहं पृथिवी त्वम्)। रात्रि उस समय की सूचक है जब सब घर पर रहते हैं और उषा या दिन उस समय का जब सब

अपने कार्यों पर बाहर जाते हैं, अतः नक्त=रात्रि माता की सूचक है। माता ने घर पर रहकर घर की व्यवस्था का ध्यान करना है, **उषा**=दिन पिता का प्रतीक है, उसे घर के व्यय के लिए धनार्जन के हेतु से बाहर जाना है। पिता ने द्युलोक की भाँति ज्ञान-दीप्त होना है तो माता ने पृथिवी के समान क्षमावाला होना है। २. इस प्रकार ये दोनों **विरूपे**=भिन्न-भिन्न रूपवाले होते हुए भी **समीची**=(सम् अञ्च्) मिलकर गतिवाले हैं। ये दोनों मिलकर घर को बड़ा सुन्दर बनाने का प्रयत्न करते हैं। **समनसा**=दोनों के मन समान होते हैं। दोनों का उद्देश्य एक ही है—'सन्तानों को उत्तम बनाना'। ये दोनों **एकं शिशुम्**=एक शिशु को **धापयेते**=दूध पिलाते हैं और इस प्रकार उसका पालन करते हैं। ३. यह उत्तम प्रकार से पालित हुआ सन्तान **रुक्मः**=स्वस्थ शरीरवाला होता हुआ चमकता है। **द्यावाक्षामा अन्तः**=यह माता और पिता के बीच में **विभाति**=विशेषरूप से दीप्त होता है और **द्रविणोदाः**=ज्ञान-धन को देनेवाले **देवाः**=विद्वान् आचार्य **अग्निम्**=इस प्रगतिशील बालक को **धारयन्**=अपने गर्भ में धारण करते हैं। इसे पूर्णरूप से सुरक्षित रखने का प्रयत्न करते हैं, जिससे यह संसार के वैषयिक जीवन से बचा रहे। इसके जीवन को पवित्र बनाते हुए ये इसे ज्ञान-धन से परिपूर्ण करने का प्रयत्न करते हैं। ५. ज्ञान-धन से पवित्र हुए ये 'कुत्स' बनते हैं, सब वासनाओं को 'कुथ हिंसायाम्' नष्ट करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—माता-पिता व आचार्य बालक के जीवन को बड़ा सुन्दर बनाते हैं। माता-पिता इसे 'स्वास्थ्य धन' प्राप्त कराते हैं तो आचार्य 'ज्ञान-धन'। इन धनों को प्राप्त करके यह सचमुच 'कुत्स' होता है—रोगों व पापों की हिंसा करनेवाला।

ऋषिः—श्यावाश्वः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—विराड्जगती। **स्वरः**—निषादः॥

श्यावाश्व का विश्वरूप प्रतिमोचन

विश्वा॑ रू॒पाणि॒ प्रति॑मुञ्चते क॒विः प्रासा॑वीद् भ॒द्रं द्वि॒पदे॒ चतु॑ष्पदे।
वि नाक॑मख्यत्सवि॒ता वरे॑ण्योऽनु॑ प्र॒याण॑मु॒षसो॒ विरा॑जति॥३॥

१. गत मन्त्रों के अनुसार माता-पिता व आचार्य से स्वास्थ्य, सदाचार व ज्ञानरूप धनों को प्राप्त करनेवाला यह व्यक्ति 'श्यावाश्व' बनता है (श्यैङ् गतौ, अश्व=इन्द्रियाँ)। गतिशील इन्द्रियोंवाला। यह सदा क्रियाशील बनता है। यह **विश्वा रूपाणि**=ज्ञान के सब शब्दों को अथवा छन्दों को (रूप, word or verse) **प्रतिमुञ्चते**=(put on, arm oneself with) धारण करता है अथवा उन छन्दों से अपने को सन्नद्ध करता है। इनसे सुसज्जित होकर वह अपने को पापों के आक्रमण से बचाता है। २. **कविः**=यह क्रान्तदर्शी होता है—सब वस्तुओं को ठीक स्वरूप में देखता है। ठीक रूप में देखने के कारण ही उनमें फँसता नहीं। ३. यह संसार में **द्विपदे चतुष्पदे**=मनुष्यों व अन्य प्राणियों के लिए **भद्रम्**=कल्याण **प्रासावीत्**=उत्पन्न करता है। यह सबका भला करने का ध्यान करता है। ४. परिणामतः यह **नाकम्**=स्वर्ग को **वि अख्यत्**=विशेषरूप से देखता है। **'अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्'** के अनुसार इसे सब रत्न प्राप्त होते हैं। किसी हितरमणीय वस्तु की इसे कमी नहीं रहती। ५. **सविता**=यह सदा सबको हित की प्रेरणा देता है और उत्पादक होता है, अर्थात् निर्माण के ही कर्मों में लगा रहता है। ६. **वरेण्यः**=वरण करनेवालों में उत्तम होता है। धीर बनकर यह विवेकपूर्वक 'श्रेय' का ही वरण करता है। मन्दमतियों की भाँति 'प्रेय' का वरण करनेवाला नहीं होता। ७. **उषसः प्रयाणम् अनु**=उषः के आने के साथ ही **विराजति**=विशेषरूप

से दीप्त होता है अथवा विशेषरूप से अपने नियमित कार्यक्रम में चल पड़ता है (regulated)। ८. इस प्रकार यह 'श्यावाश्व' नियमित गति करता हुआ ऊपर उठता है। इसके जीवन की विशेषता का प्रतिपादन अगले मन्त्र में है।

भावार्थ—श्यावाश्व १. छन्दों को अपना कवच बनाता है। २. क्रान्तदर्शी बनता है। ३. सबका भला करता है। ४. स्वर्ग में स्थित होता है। ५. सबको उत्तम प्रेरणा देता हुआ निर्माणात्मक कार्यों को करता है। ६. श्रेय का ही वरण करता है। ६. जीवन की क्रियाओं में बड़ा व्यवस्थित होता है।

ऋषिः—श्यावाश्वः। **देवता**—गरुत्मान्। **छन्दः**—भुरिग्धृतिः। **स्वरः**—ऋषभः॥

सुपर्ण–गरुत्मान्

सुपर्णोऽसि गरुत्माँस्त्रिवृत्ते शिरो गायत्रं चक्षुर्बृहद्रथन्तरे पक्षौ। स्तोमऽआत्मा छन्दाᳬस्यङ्गानि यजूᳬषि नाम। साम ते तनूर्वामदेव्यं यज्ञायज्ञियं पुच्छं धिष्ण्याः शफाः। सुपर्णोऽसि गरुत्मान्दिवं गच्छ स्वः पत॥४॥

१. **सुपर्णः असि**=गत मन्त्र का व्यवस्थित क्रियाओंवाला श्यावाश्व (गतिशील इन्द्रियोंवाला) उत्तम प्रकार से पालनादि कर्मोंवाला होता है (पॄ पालनपूरणयोः) २. **गरुत्मान्** (**गुर्वात्मा**)=यह विशाल हृदयवाला होता है। ३. **त्रिवृत्** (त्रीणि यत्र वर्तन्ते)=ज्ञान, कर्म व उपासना तीनों के समन्वयवाला साम ही **ते शिरः**=तेरा मस्तिष्क है। तू 'ज्ञान, कर्म व उपासना' को अपने जीवन में प्रधान स्थान देता है। ४. **गायत्रम्**=प्राणों की रक्षा ही तेरा **चक्षुः**=दृष्टिकोण है, अर्थात् तू कोई ऐसा कर्म नहीं करता जो प्राण व शक्ति का ह्रास करे। ५. **बृहद्रथन्तरे**=बृहत् और रथन्तर **पक्षौ**=तेरे पक्ष होते हैं। **बृहत्**=वृद्धि तथा **रथन्तर**=शरीररूप रथ से भवसागर को तैर जाना ही तेरे पंख हैं। इन दो विचारों के परिग्रह से तू निरन्तर ऊपर उठता जाता है। ६. **स्तोमः आत्मा**=स्तुति ही तेरा आत्मा है, अर्थात् तेरा मन सदा प्रभु का स्तवन करता है। ७. **छन्दांसि अङ्गानि**=छन्द तेरे अङ्ग हैं, अर्थात् इन छन्दों से ही तेरा जीवन बना हुआ है। ये छन्द तुझे सदा पापों व रोगों के आक्रमण से बचाते हैं। ८. **यजूंषि नाम**=यज्ञ तेरी कीर्ति है। तू अपने श्रेष्ठतम कर्मों के कारण प्रसिद्ध है। ९. **वामदेव्यम्**=सुन्दर दिव्य गुणों को उत्पन्न करने में उत्तम **साम**=प्रभु-स्तवन ही **ते तनूः**=तेरा शरीर है। निरन्तर प्रभु-स्तवन करता हुआ तू ईश्वर के गुणों को धारण करता है और इस प्रकार तेरे जीवन की शक्तियों का विस्तार होता है। १०. **यज्ञायज्ञियम्**=(यज्ञ, सङ्गतीकरण, अयज्ञ=पृथक्करण) उत्तम गुणों से मेल, दुर्गुणों का पार्थक्य ही **पुच्छम्**=दुर्गुणरूप दंशों का निवारण करनेवाली पूँछ है। ११. **धिष्ण्याः**=यज्ञाग्नि के स्थान ही **शफाः**=शान्ति प्राप्त करानेवाले हैं (शंफणायन्ति), अर्थात् निरन्तर यज्ञादि करता हुआ अशान्ति के कारणभूत रोगों को अपने से दूर रखता है। १२. इस प्रकार तू सचमुच **सुपर्णः असि**=उत्तमता से अपना रक्षण करनेवाला है और **गरुत्मान्**=ऊँचे–महान् लक्ष्यवाला है (गुरुं भारं उद्यम्य डयते)। वस्तुतः यह महान् लक्ष्य भी तुझे वासनाओं के आक्रमण से बचाता है। १३. **दिवम् गच्छ**=तू प्रकाश को प्राप्त कर। द्युलोक में–ज्योतिर्मय मस्तिष्क में तेरा वास हो। **स्वः पत**=तू स्वर्गलोक को प्राप्त कर अथवा उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति–प्रभु को प्राप्त कर।

भावार्थ—'श्यावाश्व' सदा पालनादि उत्तम कर्मों में लगा हुआ विशाल हृदयवाला बनकर ज्योति को प्राप्त करता है और प्रभु के दर्शन कर पाता है।

ऋषिः—श्यावाश्वः। देवता—विष्णुः। छन्दः—भुरिगुत्कृतिः। स्वरः—षड्जः॥

सोऽयमात्मा चतुष्पात् (चार पग)

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा गायत्रं छन्दऽआरोह पृथिवीमनु विक्रमस्व विष्णोः क्रमोऽस्यभिमातिहा त्रैष्टुभं छन्दऽआरोहान्तरिक्षमनु विक्रमस्व विष्णोः क्रमोऽस्यरातीयतो हन्ता जागतं छन्दऽआरोह दिवमनु विक्रमस्व विष्णोः क्रमोऽसि शत्रूयतो हन्ताऽऽनुष्टुभं छन्दऽआरोह दिशोऽनु विक्रमस्व ॥५॥

१. श्यावाश्व के लिए ही कहते हैं कि तू **विष्णोः**=(यज्ञो वै विष्णुः) यज्ञ के **क्रमः असि**=पराक्रमवाला प्रसिद्ध है। तू यज्ञिय पगों को रखनेवाला है। **सपत्नहा**=शरीर में अपना पतित्व=स्वामित्व स्थापित करने की इच्छावाले इन सपत्नभूत रोगों का नाश करनेवाला है। **गायत्रं छन्दः आरोह**=प्राणरक्षा की इच्छा पर तू आरोहण कर, अर्थात् तुझमें प्राणशक्ति की रक्षा की प्रबल इच्छा हो। इस इच्छा को लिये हुए तू **पृथिवीम् अनु**=इस पार्थिव शरीर का ध्यान करके **विक्रमस्व**=विक्रमशील हो। तेरा पार्थिव शरीर पूर्णतया नीरोग हो। यही वस्तुतः तेरा पहला प्रयत्न होना चाहिए। यही पहला पग है। २. **विष्णोः क्रमः असि**=तू विष्णु के पराक्रमवाला है, विष्णु के समान पग रखनेवाला है। **अभिमातिहा**=तू अभिमान को नष्ट करनेवाला है। **त्रैष्टुभं छन्दः आरोह**='काम, क्रोध व लोभ' इन तीन को रोकने (त्रि+ष्टुभ्=stop) की प्रबल कामना पर तू आरूढ़ हो। **अन्तरिक्षम् अनु**=हृदयान्तरिक्ष का लक्ष्य करके **विक्रमस्व**=तू विशेष उद्योग करनेवाला हो। तूने इस हृदयान्तरिक्ष को काम, क्रोध व लोभ की वासना से शून्य बनाना है। ३. **विष्णोः क्रमः असि**=तू यज्ञ के पराक्रमवाला है। **अरातीयतः**=(रातिर्दानं, तस्याभावं आत्मन इच्छति इति—म०) दानाभाव की इच्छा का—न देने की भावना का **हन्ता**=तू नष्ट करनेवाला है। अतिशयेन दान की वृत्ति अपना कर तू **जागतं छन्दः आरोह**=जगती के हित की इच्छा पर आरोहण कर। तुझमें लोक-कल्याण की प्रबल भावना हो। **दिवम् अनु**=द्युलोक का लक्ष्य करके अथवा मस्तिष्क का ध्यान करके **विक्रमस्व**=तू पराक्रम करनेवाला हो, अर्थात् तू ज्ञान को ख़ूब प्राप्त करनेवाला बन। ४. **विष्णोः क्रमः असि**=तू यज्ञ के पराक्रमवाला है **शत्रूयतः**=(अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्) शत्रुवत् आचरण करनेवाले मन का यह **हन्ता**=नष्ट करनेवाला होता है, अर्थात् यह मन को वश में करनेवाला है। **अनुष्टुभं छन्दः आरोह**=अनुक्षण प्रभु-स्तवन की भावना पर तू आरूढ़ हो, अर्थात् सोते-जागते सदा प्रभु का स्मरण कर और **दिशः अनु विक्रमस्व**=उस प्रभु के निर्देशों के अनुसार तू विक्रम करनेवाला हो। प्रभु के निर्देशों को अपने जीवन में अनूदित कर।

भावार्थ—जीव के चार पग हैं—१. रोगों को नष्ट करना। २. अभिमान को नष्ट करना। ३. अदान की भावना को नष्ट करना। ४. और शत्रुता में स्थित मन को निरुद्ध करना। शरीर को ठीक करना, मन को ठीक करना, मस्तिष्क को ठीक करना और अन्तःस्थित प्रभु के निर्देशों को सुनना।

ऋषिः—वत्सप्रीः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

व्यापक प्रकाश

अक्रन्ददग्नि स्तनयन्निव द्यौः क्षामा रेरिहद्वीरुधः समञ्जन्।
सद्यो जज्ञानो वि हीमिद्धोऽअख्यदा रोदसी भानुना भात्यन्तः ॥६॥

गत मन्त्र के अनुसार चार पगों को रखकर जो भी प्रभु का दर्शन करता है, वह 'वत्सप्रीः'—प्रभु का प्रिय व अपने कर्मों से प्रभु को प्रीणित करनेवाला बनता है। यह अनुभव करता है कि १. **अग्निः**=अग्रेणी प्रभु **अक्रन्दत्**=उच्च स्वर से वेदज्ञान का उच्चारण करते हैं। वे प्रभु **स्तनयन् इव द्यौः**=(द्यौशब्देनात्र पर्जन्य उक्तः—म०) गर्जना करते हुए मेघ के समान हैं। हम उस गर्जन को न सुनें तो इससे अधिक बधिरता क्या हो सकती है? २. हम उस गर्जना को सुनते हैं तो वे प्रभु **क्षामा**=इस सारी पृथिवी को **रेरिहत्**=अत्यन्त आस्वादमय बना देते हैं। वेदवाणी को सुनकर हम तदनुसार अपना जीवन बनाते हैं तो हमारे जीवन आनन्दमय बन जाते हैं। ३. वे प्रभु हमारे जीवनों में **वीरुधः**=(वि+रुह=प्रादुर्भाव) विविध विकासों को **समञ्जन्**=व्यक्त करते हैं, अर्थात् प्रभु की वाणी को सुनकर तदनुसार जीवन बनाने से हमारे जीवनों में विशिष्ट शक्तियों का प्रादुर्भाव होता है। ४. **जज्ञानः**=हमारे हृदयों में प्रकट हुए वे प्रभु **सद्यः**=शीघ्र ही **इद्धः**=ज्ञान से दीप्त हुए **हि ईम्**=निश्चय से **विअख्यत्**=विशिष्टरूप से जीवन को प्रकाशमय करते हैं। ५. वे प्रभु **रोदसी अन्तः**=द्युलोक व पृथिवीलोक के अन्तर्भाग को **भानुना**=प्रकाश से **आभाति**=प्रकाशित कर देते हैं, अर्थात् प्रभु-दर्शन होने पर सर्वत्र प्रकाश-ही-प्रकाश हो जाता है।

भावार्थ—१. हृदयस्थ प्रभु निरन्तर प्रेरणा दे रहे हैं। यदि हम उस प्रेरणा को सुनें तो हमारा जीवन आनन्दमय हो जाता है। २. जीवन में सब शक्तियों का विकास होता है। ३. सारा जीवन प्रकाशमय हो जाता है। ४. सारा संसार भी प्रकाशमय व उलझनों से रहित प्रतीत होता है।

ऋषिः—वत्सप्रीः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

अभ्यावर्ती प्रभु

अग्नेऽभ्यावर्त्तिन्नभि मा निर्वर्त्तस्वायुषा वर्चसा प्रजया धनेन।
सन्या मेधया रय्या पोषेण॥७॥

गत मन्त्र के अनुसार प्रभु-दर्शन करनेवाला 'वत्सप्री' कहता है कि १. **अग्ने**=हे आगे ले-चलनेवाले प्रभो! **अभ्यावर्त्तिन्**=आभिमुख्येन प्राप्त होनेवाले प्रभो! **मा अभिनिवर्त्तस्व**= आप मेरी ओर आइए। २. आप मुझे प्राप्त होओ (क) **आयुषा**=आयु के साथ, अर्थात् सबसे प्रथम आप मुझे दीर्घ जीवन प्राप्त कराइए। (ख) **वर्चसा**=वर्चस् के साथ। मुझे वह वीर्यशक्ति प्राप्त कराइए जो मेरे जीवन में से सब रोगों को समाप्त कर देती है। (ग) **प्रजया**=प्रजा के साथ। आपकी कृपा से मेरी सन्तान उत्तम हो। (घ) **धनेन**=धन के साथ। जीवन सञ्चालन के लिए आवश्यक धन का मैं अर्जन कर सकूँ। (ङ) **सन्या मेधया**= संविभागवाली धारणावती बुद्धि से, अर्थात् मुझे वह मेधा प्राप्त हो जो मुझे सदा सबके साथ संविभागपूर्वक धनोपभोग की प्रेरणा देती है। (घ) **रय्या पोषेण**=पोषक धन से, अर्थात् मैं इतना धन अवश्य प्राप्त करूँ जितना कि मेरे परिवार के पोषण के लिए आवश्यक हो अथवा मैं उस धन को प्राप्त करूँ जो मेरा पोषण करे न कि विषयासक्त करके क्षीणशक्ति बना दे। अथवा मैं धन को दान देनेवाला बनूँ जिससे वह धन सभी का पोषण करनेवाला हो। ३. यह त्याग की वृत्ति वस्तुतः मुझे प्रभु का प्रिय बनाएगी और मेरा 'वत्सप्री' नाम सार्थक होगा।

भावार्थ—प्रभो! मैं आपकी प्राप्ति करूँ और आपकी प्राप्ति से मुझे दीर्घ जीवन, प्राणशक्ति, उत्तम सन्तान, धन, संविभागवाली बुद्धि व पोषक धन प्राप्त हो।

ऋषिः—वत्सप्रीः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

शत आवर्तन

अग्नेऽअङ्गिरः शृतं ते सन्त्वावृतः सहस्रं तऽउपावृतः।
अधा पोषस्य पोषेण पुनर्नो नष्टमाकृधि पुनर्नो रयिमाकृधि॥८॥

१. हे **अग्ने**=अग्रेणी व **अङ्गिरः**=अङ्ग-अङ्ग में रस का सञ्चार करनेवाले प्रभो! **ते**=आपके **शतम्**=सैकड़ों **आवृतः सन्तु**=आवर्तन हों। आप जीवन के एक-एक वर्ष में हमें प्राप्त होनेवाले हों। २. **ते**=आपके **सहस्रम्**=हज़ारों **उपावृतः**=उपावर्तन हों, अर्थात् मैं सदा अपकी समीपता को अनुभव करूँ। ३. **अध**=अब आपकी इस समीपता के परिणामस्वरूप **पोषस्य पोषेण**=सर्वोत्तम पोषण से **पुनः**=फिर **नः**=हमारी **नष्टम्**=नष्ट हुई शक्ति को **आकृधि**=(आगमय) सब अङ्गों में सर्वतः प्राप्त कराइए। जब जीव प्रभु को विस्मृत करके प्रकृति में फँस जाता है तब उसकी सारी शक्ति विनष्टप्राय हो जाती है। प्रभु की ओर झुकाव होते ही वे शक्ति का अनुभव करते हैं, जैसेकि माता की गोद में स्थित बालक शक्ति का अनुभव करता है। ४. **पुनः**=फिर **नः**=हमें **रयिम्**=धन **आकृधि**=प्राप्त कराइए। प्रभु ही वस्तुतः सब धनों को प्राप्त कराते हैं, जिसका दान देते हुए हम यशस्वी भी बनते हैं और पोषण भी प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—जीवन के एक-एक वर्ष में, जीवन के एक-एक क्षण में प्रभु की समीपता को अनुभव करते हुए हम अपनी विनष्ट शक्ति को फिर से प्राप्त करें और धन प्राप्त करके सचमुच रयीश बनें।

ऋषिः—वत्सप्रीः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्षीगायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

पाप-निर्वतन

पुनरूर्जा निवर्त्तस्व पुनरग्नऽइषायुषा। पुनर्नः पाह्यꣳहसः॥९॥

१. हे **अग्ने**=हमें आगे ले-चलनेवाले प्रभो! आपके आवर्तनों से—उपासन व ध्यान से आप हमें **पुनः** =फिर **ऊर्जा**=बल और प्राणशक्ति के साथ **निवर्त्तस्व**=प्राप्त होओ। आपके सतत स्मरण से हम शक्ति का अनुभव करें। २. **पुनः इषा**=फिर-फिर हम आपकी प्रेरणा को सुननेवाले बने। ३. आपकी प्रेरणा को सुनते हुए हम **आयुषा**=उत्कृष्ट जीवन से युक्त हों, ४. परन्तु हे प्रभो! अपनी अल्पता के कारण हम बारम्बार पाप की ओर झुक जाते हैं, समझते हुए भी कई बार उस पाप से रुक नहीं पाते। हमारी आपसे यह आराधना है कि **नः**=हमें **पुनः**=फिर-फिर **अंहसः**=इन कष्टों के कारणभूत पापों से **पाहि**=सुरक्षित कीजिए। अपनी निरन्तर प्रेरणा से हमें सतत सावधान करते रहिए।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हम बल व प्राणशक्ति का लाभ करें। उत्कृष्ट प्रेरणा को प्राप्त कर ऊँचे जीवनवाले बनें। पापों से बचे रहें।

ऋषिः—वत्सप्रीः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

धारक-धन

सह रय्या निवर्त्तस्वाग्ने पिन्वस्व धारया। विश्वप्स्न्या विश्वतस्परि॥१०॥

१. हे **अग्ने**=प्रकाशमय प्रभो! **रय्या सह**=दान देने योग्य धन के साथ **निवर्त्तस्व**=हमें निश्चय से प्राप्त होओ। २. **विश्वतस्परि**=सर्वतः सबकी रक्षा करनेवाली तथा **विश्वप्स्न्या**

(विश्वैः प्सायते भक्ष्यते विश्वप्स्नी)=सर्वजनों से उपभोग्य **धारया**=धन की धारा से अथवा धारण करनेवाले धन से **पिन्वस्व**=सिक्त कीजिए। निरन्तर धनदान से हमें फिर-फिर बढ़ाइए, जिससे हम सभी का धारण करनेवाले बन सकें।

भावार्थ—हम उस धन को प्राप्त करें जिसका हम दान देनेवाले बनें और जिससे हम सभी का धारण करनेवाले बनें। सबके धारण की यह भावना ही हमें 'वत्सप्री' बनाएगी। प्रभु हमारे धारणात्मक कर्म से ही प्रीणित होंगे।

ऋषिः—ध्रुवः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

जन-प्रिय राजा

आ त्वाहार्षमन्तरभूर्ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत्॥११॥

१. प्रजाओं का जीवन बहुत कुछ राजा के जीवन पर निर्भर है। 'यथा राजा तथा प्रजा' राजा का जीवन जहाँ प्रजा के जीवन को प्रभावित करता है, वहाँ राष्ट्र में राजा से प्रणीत राज्य-व्यवस्था भी लोगों के जीवनोत्कर्ष की साधिका होती है, अतः प्रस्तुत मन्त्र राजा के चुनाव का प्रतिपादन करता है—२. पुरोहित चुने गये राजा को अभिषिक्त करता हुआ कहता है कि **त्वा**=तुझे **अन्तः**=प्रजा के बीच में से ही **आहार्षम्**=लाया हूँ। इससे स्पष्ट है कि राजा प्रजा में से ही चुना जाता है। ३. **अन्तः अभूः**=तू प्रजा के बीच में ही हो। राजा को यथासम्भव राष्ट्र में ही रहना चाहिए, वह देश-विदेशों की सैर ही न करता रहे। ४. तू **ध्रुवः तिष्ठ**=ध्रुव होकर ठहर। राजा को अपने कर्त्तव्य से न डिगनेवाला होना चाहिए। ध्रुव के समान राजा को अपने स्थान पर ध्रुवता से रहना है। स्पष्ट है कि राजा चुना जाता है और फिर यह ध्रुव होकर रहता है। वैदिक पद्धति में चुनाव बार-बार नहीं होता। ५. **अविचाचलिः**=तू अचञ्चल वृत्ति का हो। राजा झट क्रोधादि में आ जानेवाला न हो। ६. **त्वा**=तुझे **सर्वाः विशः**=सब प्रजाएँ **वाञ्छन्तु**=चाहें। सम्भवतः राजा के चुनाव में ऐकमत्य आवश्यक-सा प्रतीत होता है। अथवा राजा को राज्य-व्यवस्था ऐसी उत्तमता से करनी चाहिए कि वह सभी का प्रिय बना रहे। ७. पुरोहित राजा को चेतावनी देता हुआ कहता है कि **त्वत्**=तुझसे **राष्ट्रम्**=राष्ट्र **मा अधिभ्रशत्**=नष्ट न हो जाए। तुझे राष्ट्र से पृथक् न करना पड़े। राजा यदि ऐसे कार्य करने लगे जो राष्ट्र के लिए अहितकर हों तो राजा को गद्दी से उतार दिया जाता है। आदर्श राजा 'ध्रुव' ही होता है, वह गद्दी से हिलाया नहीं जाता।

भावार्थ—राजा चुना जाकर ध्रुवता से राज्य-कार्यों को करनेवाला हो। उसका कोई भी कार्य राज्य की अवनति का कारण न बने। उसके अहितकर कार्य ही उसे गद्दी से गिरानेवाले होंगे।

ऋषिः—शुनःशेपः। **देवता**—वरुणः। **छन्दः**—विराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

बन्धन-त्रयी

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमꣳ श्रथाय।
अथा वयमादित्य व्रते तवानागसोऽअदितये स्याम॥१२॥

उत्तम राज्य में प्रजाएँ अपने जीवनों को उत्तम बनाती हैं। वे सब व्यसनों के बन्धनों से ऊपर होती हैं और इस प्रकार अपने जीवनों को सुखमय बना सकने के कारण

'शुनःशेप'=(सुख का निर्माण करनेवाली) होती हैं। इनकी प्रार्थना का स्वरूप यह है कि—१. हे **वरुण**=व्रतों के बन्धनों में बाँधकर हमारे जीवनों को श्रेष्ठ बनानेवाले प्रभो! **उत्तमं पाशम् उत्**=हमारे उत्तम पाश को हमसे बाहर कीजिए (उत्=out)। सत्त्व का बन्धन ही सबसे उत्कृष्ट बन्धन है। 'सत्त्वं सुखे सज्जयति' यह हमें ज्ञान-प्राप्ति के सुख में निमग्न कर देता है। कई बार सत्त्वप्रधान व्यक्ति योगमार्ग पर चलते हुए समाधि के आनन्द में मग्न हो जाते हैं। उन्हें अपने चारों ओर विद्यमान दुःख से कराहती हुई प्रजा का ध्यान नहीं रहता। यह समाधि भी उनका बन्धन-सा बन जाती है। हे वरुण! आप हमें इससे भी ऊपर उठाइए। ज्ञानप्रधान जीवन बड़ा सुन्दर जीवन है, परन्तु जब हम ज्ञान को ही प्राथमिकता देने लगते हैं तो लोककल्याण गौण वस्तु हो जाती है, अतः प्रार्थना है कि हमें इस बन्धन से भी ऊपर उठाइए। २. हे वरुण! **अस्मत्**=हमसे **अधमम्**=निकृष्ट पाश को **अवश्रथाय**=दूर करके (अव away) ढीला कर दीजिए। सबसे निचला पाश तमोगुण का पाश है। यह हमें प्रमाद, आलस्य व निद्रा के बन्धनों से बाँधता है। वरुण की कृपा से हम 'प्रमाद, आलस्य व निद्रा' से ऊपर उठें। ३. हे वरुण! आप कृपा करके **मध्यमम्**=रजोगुणात्मक मध्यम बन्धन को भी **विश्रथाय**=ढीला कर दीजिए। यह रजोगुण का बन्धन हमें सदा कर्म में बाँधे रखता है। हम एक क्षण भी शान्त होकर नहीं बैठ पाते। प्रभु-कृपा से यह बन्धन भी ढीला हो जाए। ४. **अध**=अब—तीनों बन्धनों को ढीला करके **वयम्**=हम हे **आदित्य**=सूर्य! **तव व्रते**=तेरे व्रत में, अर्थात् तेरी भाँति ही निर्लेपता से नियमित गति करते हुए **अनागसः** =निष्पाप होकर **अदितये**=अखण्डन के लिए, पूर्ण स्वास्थ्य के लिए और अन्त में मोक्ष के लिए **स्याम**=हों। सूर्य की गति नियमित है, उसमें किसी प्रकार की आसक्ति नहीं। सर्वत्र समभाव से वह प्रकाश व प्राणशक्ति देता हुआ आगे बढ़ता चलता है। हम भी इसी प्रकार बढ़ते चलें, यही निष्पापता का मार्ग है और यही मार्ग इहलोक में पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त कराता है तो परलोक में मोक्ष। 'अदिति' शब्द के दोनों ही अर्थ हैं, अतः यह आदित्य का व्रत हमारा उत्तम लोककल्याण करता है और हम सचमुच 'शुनःशेप' होते हैं।

भावार्थ—हम तीनों बन्धनों से ऊपर उठें। आदित्य के व्रत में चलें और अदिति को प्राप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—त्रितः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

त्रित का जीवन

अग्रे॑ बृ॒हन्नु॒षसा॑मू॒र्ध्वोऽअ॑स्थान्निर्जग॒न्वान् तम॑सो॒ ज्योति॒षागा॑त्।
अ॒ग्निर्भा॒नुना॒ रुश॑ता॒ स्वङ्ग॒ऽआ जा॒तो विश्वा॒ सद्मा॒न्यप्राः॥१३॥

१. गत मन्त्र के अनुसार तीनों बन्धनों को तैरकर अब यह 'त्रित' (त्रीन् तरति) बना है। इसका जीवन ऐसा है—(२) यह **उषसां बृहत् अग्रे**=उषाकाल के बहुत पहले ही **ऊर्ध्वः अस्थात्**=उठ खड़ा होता है। नींद को छोड़कर, बिस्तरे को त्यागकर यह अपने कार्यक्रम में प्रवृत्त होने लगता है। ३. **निर्जगन्वान्**=यह घर से बाहर भ्रमण के लिए निकल जाता है। आवश्यक कृत्यों से निपटकर यह ४. **तमसः**=अन्धकार से ऊपर उठकर **ज्योतिषा अगात्**=ज्योति के साथ सङ्गत होता है। स्वाध्याय करता हुआ अपने जीवन को प्रकाशमय बनाता है। ५. **अग्निः**=यह प्रगतिशील होता है। ६. **रुशता भानुना**=चमकती हुई दीप्ति से (सूर्यसम आभा से) युक्त होता है। ७. **स्वङ्गः**=इसका एक-एक अङ्ग सुन्दर होता है। ८.

आजातः=यह सब दिशाओं में विकासवाला होता है—शरीर, मन व बुद्धि सभी की उन्नति करनेवाला होता है। ९. अपने व्यावहारिक जीवन में यह **विश्वानि सद्मानि**=सब घरों को **आ अप्राः**=पूरित करनेवाला होता है, अर्थात् यह त्रित केवल अपने जीवन को सुखी बनाकर सन्तुष्ट नहीं हो जाता, अपितु सभी के कष्टों को दूर करता है। सभी के घरों में जाता है, उनके कष्ट में सहायक होता है, उनके दुःख को दूर करने में ही इसे शान्ति अनुभव होती है।

भावार्थ—'प्रातः उठना, घूमने जाना, स्वाध्याय, उन्नति, देदीप्यमान ज्ञान, सुन्दर अङ्ग, सर्वतोमुखी विकास, औरों के घरों को भी अपना घर समझना' यह त्रित के जीवन की मुख्य बातें हैं।

ऋषिः—त्रितः। **देवता**—जीवेश्वरौ। **छन्दः**—भुरिग्जगती। **स्वरः**—निषादः॥

प्रभु व जीव

हुꣳसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजाऽऋतजाऽअद्रिजाऽऋतं बृहत्॥१४॥

१. वे प्रभु **हंसः**=(हन्ति पाप्मानं) पाप को नष्ट करते हैं। **शुचिषत्**=पवित्र हृदय में निवास करनेवाले हैं। २. **वसुः**=सबको बसानेवाले हैं **अन्तरिक्षसत्**=मध्यममार्ग में चलनेवाले में प्रभु का निवास होता है। ३. **होता**=वे प्रभु सब-कुछ देनेवाले हैं। **वेदिषत्**=यज्ञमय जीवनवाले जीव में उस प्रभु की स्थिति है। ४. **अतिथिः**=वे प्रभु निरन्तर प्राप्त होनेवाले हैं, वे प्रभु **दुरोणसत्**=(दुर्+ओण=अपनयन) बुराइयों को दूर करनेवालों में आसीन होते हैं। ५. **नृषत्**=नरों में, आगे बढ़नेवालों में आसीन होते हैं। ६. **वरसत्**=वे प्रभु श्रेष्ठ व्यक्तियों में निवासवाले होते हैं। ७. **ऋतसत्**=जिनका जीवन नियमित (regular) है उनमें प्रभु का वास होता है। ८. **व्योमसत्**=(वी ओम्) गतिशीलता के कारण अपना रक्षण करनेवालों में वे प्रभु रहते हैं। ९. **अब्जाः**=जलों में उस प्रभु की महिमा प्रकट होती है। १०. **गोजा**=इस पृथिवी में वे प्रभु प्रकट होते हैं। मीलों फैले हुए रेगिस्तानों में उस प्रभु की महिमा दिखती ही है। ११. **ऋतजा**=वे प्रभु ऋत में, सूर्य-चन्द्रादि सभी पिण्डों की नियमित गति में दिखते हैं। १२. **अद्रिजा**=प्रभु की महिमा पर्वतों में प्रकट होती है—हिमाच्छादित पर्वत उसकी महिमा का गायन करते हैं। १३. **ऋतम्**=वे प्रभु स्वयं ऋत हैं, सत्यस्वरूप हैं। १४. **बृहत्**=सदा वर्धमान हैं अथवा **ऋतं बृहत्**=वे प्रभु पूर्ण सत्य हैं (Absolute truth)।

भावार्थ—'त्रित' हंस—पापनाशक प्रभु का स्मरण करता है और अपने जीवन को पवित्र बनाता हुआ अन्ततः पूर्ण सत्य बनने का प्रयत्न करता है।

ऋषिः—त्रितः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

माता की गोद में

सीद त्वं मातुरस्याऽउपस्थे विश्वान्यग्ने वयुनानि विद्वान्।
मैनां तपसा मार्चिषाऽभिशोचीरन्तरस्याꣳशुक्रज्योतिर्विभाहि॥१५॥

१. प्रभु त्रित से कहते हैं—**त्वम्**=तू **अस्याः**=इस **मातुः**=वेदमाता—मुझसे तेरे लिए प्रस्तुत की गई वेदवाणी की **उपस्थे**=गोद में **सीद**=बैठ। वेदवाणी की गोद में बैठना, अर्थात् तदनुसार अपना आचरण बनाना तेरा ध्येय हो। २. इसकी गोद में बैठकर हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **विश्वानि वयुनानि**=सब प्रज्ञानों को **विद्वान्**=जाननेवाला हो। यह वेदवाणी सब

सत्य विद्याओं का भण्डार है, अतः इसकी उपासना तुझे सब ज्ञानों को प्राप्त कराएगी ही। ३. **एनाम्**=इसे **तपसा**=तपस्वी जीवन से तथा **अर्चिषा**=ज्ञान की ज्योतियों से **मा अभिशोची**=मत सन्तप्त कर, अर्थात् तू इतना तपस्वी व ज्ञानी बन कि यह वेदमाता सदा तुझसे प्रसन्न रहे। **'बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति'**=अल्पश्रुत व्यक्ति से वेद भयभीत होता है कि यह मेरा ग़लत अर्थ न कर दे, अतः तू बहुश्रुत व तपस्वी बनना, जिससे तू वेदमाता के ठीक स्वरूप का प्रतिपादन करनेवाला हो सके। ४. **अस्याम् अन्तः**=इस वेदवाणी के अन्दर रहता हुआ **शुक्रज्योतिः**=(शुक् गतौ) गतिमय ज्ञानवाला तू **विभाहि**=विशेषरूप से दीप्त हो। तू वेदज्ञान प्राप्त कर और उसके अनुसार क्रियाशील हो। तू मस्तिष्क में इस वेदवाणी का विचार कर—तेरी वाणी से इसी का उच्चारण हो और क्रिया में इसी का आचरण हो। ऐसा होने पर ही तेरी विशिष्ट शोभा होगी। तू वेदमाता का सच्चा पुत्र होगा।

भावार्थ—मेरा जीवन वेदमय हो। वेदमाता का मैं सुपुत्र बनूँ। उसी के गोद में मेरा पालन व पोषण हो। मैं अपनी तपस्या व ज्ञान से इसे प्रसन्न करनेवाला होऊँ।

ऋषिः—त्रितः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

दीप्ति-यज्ञ-नीरोगता-धन=कल्याण

अन्तरग्ने रुचा त्वमुखायाः सदने स्वे।
तस्यास्त्वꣳहरसा तपञ्जातवेदः शिवो भव ॥१६॥

१. हे **अग्ने**=उन्नतिशील त्रित! तू **अन्तः**=अपने हृदयाकाश में **रुचा**=ज्ञान की दीप्ति से युक्त हो, वेद के स्वाध्याय से तेरा अन्तःकरण प्रकाशमय हो। २. तू **स्वे**=अपने **उखायाः**=वेदि पर—यज्ञाग्नि के स्थानवाले **सदने**=घर में आसीन हो। तू सदा अपने घर में यज्ञों को करनेवाला हो। तेरे घर में यह यज्ञाग्नि कभी बुझे नहीं। ३. **त्वम्**=तू **तस्याः**=उस यज्ञाग्नि के **हरसा** =रोग-हरणशक्ति से **तपन्**=दीप्त हो, यह यज्ञाग्नि तुझे नीरोग बनाये और तू स्वास्थ्य की दीप्ति से चमकनेवाला हो। ४. **जातवेदः**=(जातं वेदो यस्य, वेदस्=धन) गृहस्थ के पालन के लिए तू आवश्यक धनवाला हो और **शिवः भव**=इस प्रकार तू कल्याणमय जीवनवाला हो। गरीबी भी एक पाप है व अकल्याण का कारण है।

भावार्थ—हे प्रभो! मैं ज्ञान, यज्ञ, स्वास्थ्य व धन प्राप्त करके कल्याणरूप बनूँ।

ऋषिः—त्रितः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

शिव

शिवो भूत्वा मह्यमग्नेऽअथो सीद शिवस्त्वम्।
शिवाः कृत्वा दिशः सर्वाः स्वं योनिमिहासदः ॥१७॥

१. प्रभु त्रित से कहते हैं हे **अग्ने**=उन्नतिशील त्रित (त्रीन् तरति=तीनों बन्धनों को तैर जानेवाले) **शिवः भूत्वा**=सबके लिए कल्याणकर होकर **शिवः**=कल्याणस्वरूप **त्वम्**=तू **अथ**=अब **उ**=निश्चय से **मह्यम्**=मेरे लिए **सीद**=स्थित हो। इस अर्थ में निम्न बातें स्पष्ट हैं—(क) औरों के कल्याण करने से अपना कल्याण होता है। (ख) औरों का कल्याण करके ही प्रभु की उपासना होती है। 'सर्वभूतहिते रतः' पुरुष ही तो प्रभु का भक्त है। २. **सर्वाः दिशः**=सब दिशाओं को—सब दिशाओं में स्थित प्राणियों को **शिवाः कृत्वा**=कल्याणयुक्त करके, अर्थात् उनके दुःखों को दूर करके **इह**=इस मानव-जीवन में तू **स्वं योनिम् इह**

आसदः=अपने घर में आसीन हो। हमारा वास्तविक घर ब्रह्मलोक है, अतः अर्थ यह हुआ कि तू मानवहित करके ब्रह्मलोक को प्राप्त करनेवाला बन। अथवा 'योनि' शब्द का अर्थ सामान्य घर लें तो अर्थ होगा कि सब प्राणियों का कल्याण किये बिना तू घर में मौज से न बैठ। सबका भला करके ही घर में आ।

भावार्थ—त्रित सबका भला करता हुआ 'शिव' बनने का प्रयत्न करता है। औरों को शिव बनाये बिना हम शिव नहीं बन सकते।

ऋषिः—वत्सप्रीः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

द्युलोक में, शरीर में, जलों में

दि॒वस्परि॑ प्रथ॒मं ज॑ज्ञेऽअ॒ग्निर॒स्मद् द्वि॒तीयं॒ परि॑ जा॒तवे॑दाः।
तृ॒तीय॑म॒प्सु नृ॒मणा॒ऽअज॑स्र॒मिन्धा॑नऽएनं जरते स्वा॒धीः॥१८॥

१. गत मन्त्र के अनुसार प्रभु का उपदेश सुनकर सबका कल्याण करता हुआ 'त्रित' प्रभु का प्रिय 'वत्स' बनता है और प्रभु को प्रीणित करने के कारण 'प्रीः' कहलाता है, अतः यह 'वत्सप्रीः' निम्न शब्दों में प्रभु की उपासना करता है—२. **अग्निः**=अग्रेणी प्रभु **प्रथमम्**=सबसे पहले **दिवः**=आकाश से **परिजज्ञे**=प्रादुर्भूत होते हैं। द्युलोक में प्रकट होनेवाले ज्योतिर्मय पिण्ड प्रभु की महिमा का प्रतिपादन करते हैं। अथर्ववेद के शब्दों में 'अभ्यनूषत व्राः' आकाश को आच्छादित करनेवाले ये तारे उस प्रभु की महिमा का स्तवन कर रहे हैं। ३. वह **जातवेदाः**=(जाते=विद्यते) प्रत्येक पदार्थ में वर्तमान प्रभु **द्वितीयम्**=दूसरे स्थान में **अस्मत्** =हमसे **परि** (जज्ञे)=प्रकट होते हैं। यह प्रभु से दिया गया हमारा शरीर अपनी विशिष्ट रचना से प्रभु की महिमा को प्रकट कर रहा है। ४. **तृतीयम्**=तीसरे स्थान में **अप्सु**=जलों में, समुद्रों में, उस प्रभु की महिमा दिखती है। जल जिस प्रकार बना, वह सब कितना अद्भुत है! 'समुद्र का यह अनन्त पानी किस रसायनशाला में तैयार हुआ होगा! एवं, इन जलों में प्रभु की महिमा प्रकट हो रही है। ५. **नृमणाः**=(नृषु मनो यस्य)=ये प्रभु सदा नरों का हित करनेवाले हैं। जीवहित के उद्देश्य से ही तो संसार का निर्माण हुआ है। ६. **एनम्**=इस परमात्मा का **स्वाधीः**=उत्तम ध्यान करनेवाला भक्त **अजस्रम्**=निरन्तर **इन्धानः**=अपने को दीप्त करता हुआ **जरते**=उसका स्तवन करता है। प्रभु का स्तवन वही कर पाता है जो प्रतिदिन उस परमात्मा के योग का अभ्यास करता है। अभ्यास के द्वारा चित्तवृत्तिनिरोध करके **'स्वाधीः'**=उत्तम ध्यानवाला बनता है।

भावार्थ—प्रभु की महिमा द्युलोक के तारों में, शरीर की रचना में तथा जलों व समुद्रों में सुव्यक्त है। उस प्रभु के ध्यान का प्रतिदिन अभ्यास करना आवश्यक है।

ऋषिः—वत्सप्रीः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

वह 'उत्स'

वि॒द्मा ते॑ऽअग्ने त्रे॒धा त्र॒याणि॑ वि॒द्मा ते॒ धाम॒ विभृ॑ता पुरु॒त्रा।
वि॒द्मा ते॒ नाम॑ पर॒मं गुहा॒ यद्वि॒द्मा तमु॒त्सं यत॑ऽआज॒गन्थ॑॥१९॥

१. हे **अग्ने**=सबके प्रकाशक प्रभो! **ते**=आपके **त्रेधा**=तीन प्रकार से रखे गये **त्रयाणि**= द्युलोक में सूर्यरूप को, अन्तरिक्षलोक में विद्युद्रूप को तथा पृथिवी पर अग्निरूप को **विद्म**=हम जानें। सूर्य, विद्युत् व अग्नि में उस प्रभु की दीप्ति ही तो दीप्त हो रही है। **'तस्य**

भासा सर्वमिदं विभाति'=उसकी दीप्ति से ही तो यह सब दीप्त होता है। २. **ते**=तेरे **पुरुत्रा**=बहुत स्थानों में **विभृता**=रक्खे गये **धाम**=तेज को **विद्म**=हम जानें। जहाँ-जहाँ पर कुछ भी विभूति दिखती है वह सब उस प्रभु के तेज के अंश से ही है। प्रभु का ही तेज सर्वत्र रक्खा हुआ है। ३. हे प्रभो! **ते**=तेरे **परमं नाम**=उत्कृष्ट यश को, **गुहा यत्**=जो बुद्धिरूपी गुहा में निहित है उसे, **विद्म**=हम जानें। जब मनुष्य की बुद्धि प्रभु की महिमा का विचार करती है तब प्रभु के अनन्त यश को जानकर उसे नतमस्तक कर देती है। ४. हे प्रभो! योगमार्ग के द्वारा हम **तम्**=उस **उत्सम्**=ज्ञान के स्वतः प्रवाह को **विद्म**=प्राप्त करें, **यतः**=जिससे **आजगन्थ**=आप प्राप्त होते हो। योगाभ्यास से मनुष्य उस स्थिति में पहुँचता है जहाँ कि योग के शब्दों में **'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा'**=सत्य का पोषण करनेवाली बुद्धि प्राप्त होती है। इस बुद्धि के प्राप्त होने पर अन्दर से स्वतः ज्ञान का स्रोत उमड़ पड़ता है। उस समय हम प्रभु का दर्शन कर पाते हैं। इस ऋतम्भरा प्रज्ञा से प्रभु की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—हम 'अग्नि, विद्युत् व सूर्य' में प्रभु की दीप्ति को देखें। सर्वत्र उसी के तेज के प्रसार का अनुभव करें। बुद्धि के द्वारा हम प्रभु की कृतियों को देख, उसके यश को जानें और योग द्वारा उस ज्ञान के स्रोत को प्रवाहित कर सकें जो हमें परमात्मा का दर्शन करानेवाला है।

ऋषिः—वत्सप्रीः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

नृमणा व नृचक्षा

समुद्रे त्वा नृमणाऽअप्स्वन्तर्नृचक्षाऽईधे दिवो अग्नऽऊधन्। तृतीये त्वा रजसि तस्थिवाꣳसमपामुपस्थे महिषाऽअवर्धन् ॥२०॥

१. हे **अग्ने**=प्रकाशस्वरूप प्रभो! **नृमणाः**=(नृषु मनो यस्य) मनुष्यों के हित की कामनावाला **नृचक्षाः** (नॄन् चष्टे)=मनुष्यों का पालन (look after) करनेवाला व्यक्ति **त्वा**=आपको **समुद्रे**=समुद्र में **अप्सु अन्तः**=जलों में तथा **दिवः ऊधन्**=(द्युलोकस्य महोदके प्रदेशे—उ०)=अन्तरिक्षस्थ मेघों में **ईधे**=समिद्ध करता है, अर्थात् जिस भी मनुष्य का मन स्वार्थ से ऊपर उठ जाता है वह समुद्रों में, जलों में व मेघों में आपकी महिमा का दर्शन कर पाता है। निर्मल मन सर्वत्र प्रभु की महिमा को देखता है। २. **तृतीये रजसि**=तृतीय लोक में **तस्थिवांसम्**=ठहरे हुए **त्वा**=आपको **अपाम् उपस्थे**=जलों के समीप—नदी-तटों पर **महिषाः**=(मह पूजायाम्) उपासक लोग **अवर्धन्**=बढ़ाते हैं, अर्थात् आपकी महिमा का गायन करते हैं। ३. प्रभु तृतीय लोक में स्थित हैं का अभिप्राय यह है कि (क) प्रभु का दर्शन स्थूल व सूक्ष्म-शरीरों में न होकर कारणशरीर में होता है, जोकि प्राणिमात्र का एक है, अतः हमें स्थूल व सूक्ष्मशरीरों से ऊपर उठकर कारणशरीर में पहुँचने का प्रयत्न करना चाहिए। (ख) अथवा प्रभु का दर्शन इन्द्रियों व इच्छाप्रधान मन से न होकर विवेकवाली बुद्धि से होता है, अतः प्रभु का स्थान इन्द्रियों व मन से परे बुद्धि ही है। (ग) अथवा प्रभु को तृतीय स्थान में स्थित इसलिए भी कहते हैं कि वे ऋग् व यजुः से ऊपर उठकर सामग्रन्थों का विषय हैं। (घ) सामान्य बुद्धि प्रभु को पृथिवी व अन्तरिक्ष में स्थित न समझकर उसे द्युलोकस्थ ही समझती है। (ङ) अथवा बाल्यकाल क्रीड़ासक्त होने से प्रभु का उपासक नहीं होता, यौवन भी कुछ विषयासक्ति के कारण प्रभु-स्मरण से दूर रहता है और अन्ततः तीसरे वार्धक्य में मनुष्य प्रभु का स्मरण करनेवाला होता है। ४. मन्त्र में

'समुद्रे अप्सु, दिवः ऊधनि' इन शब्दों का यह भी अर्थ सङ्गत है कि 'प्रसादगुणयुक्त मन में (स+मुद्) सदा क्रियाशील बने रहने में (आपः=कर्माणि) तथा प्रकाश के उषःकाल में (ऊधन्=उषस्—नि०) प्रभु का दर्शन होता है। उत्तरार्ध के 'अपाम् उपस्थे' इन शब्दों का अर्थ यह होगा कि 'कर्मों की गोद में' अर्थात् सदा कार्य करते हुए ही प्रभुदर्शन हो सकता है। प्रभु की उपासना **'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य'** स्वकर्मपालन से ही होती है।

भावार्थ—हम स्वार्थ से ऊपर उठकर प्रसादयुक्त मन में प्रभु का दर्शन करें। प्रभु-दर्शन के लिए कर्मों में लगे रहना तथा साथ ही ज्ञान के उषःकाल को अपने जीवन में लाना भी आवश्यक है।

ऋषिः—वत्सप्रीः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

गर्जना करते हुए प्रभु

अक्रन्ददुग्नि स्तनयन्निव द्यौः क्षामा रेरिहद् वीरुधः समुञ्जन्।
सद्यो जज्ञानो वि हीमिद्धोऽअख्युदा रोदसी भानुना भात्युन्तः॥२१॥

१. **अग्निः**=वह अग्रेणी परमात्मा **अक्रन्दत्**=पवित्र हृदयों में वेदवाणी का नाद करता है। **स्तनयन्निव द्यौः**=वह तो मेघ के समान गर्जना कर रहा है, परन्तु दुर्भाग्यवश हम उस शब्द को सुनते नहीं। २. वे प्रभु **क्षामा**=इस पृथिवीस्थ प्राणियों को **रेरिहत्**=आस्वादमय जीवनवाला बनाते हैं। वे **वीरुधः**=विविध शक्तियों के विकास को **समञ्जन्**=व्यक्त करते हैं ३. **जज्ञानः**=प्रकट होते हुए **इद्धः**=ज्ञान-दीप्त वे प्रभु **सद्यः**=शीघ्र **हि ईम्**=निश्चय से **वि अख्यदा**=हमारे जीवन को विशिष्ट प्रकाशमय कर देते हैं। ४. **रोदसी**=द्युलोक व पृथिवीलोक को **भानुना**=दीप्ति से **अन्तः**=अन्दर **आभाति**=सर्वतः प्रकाशमय कर देते हैं।

भावार्थ—प्रभु की वाणी को सुनने पर जीवन प्रकाशमय हो उठता है, उसमें विविध शक्तियों का विकास होता है। प्रभु का प्रकाश सारे ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है।

ऋषिः—वत्सप्रीः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

प्रभु-प्रिय (वत्सप्री) का जीवन

श्रीणामुदारो धुरुणो रयीणां मनीषाणां प्रार्पणः सोमगोपाः।
वसुः सूनुः सहसोऽअप्सु राजा विभात्यग्रऽउषसामिधानः॥२२॥

गत मन्त्र के अनुसार प्रभु की वाणी को सुननेवाला अपने जीवन को निम्न प्रकार का बनाता है—१. **श्रीणाम्**=सेवनीय गौ-अश्वादि सम्पदाओं का **उदारः**=(दाता) खूब देनेवाला होता है (उत्कृष्टं परीक्ष्य ऋच्छति ददाति)। यह विचार कर सत्पात्र में देता है। २. **रयीणाम्**=सम्पत्तियों का यह अपने को **धरुणाः** =धारण करनेवाला (trustee) समझता है। ३. **मनीषाणाम्**=बुद्धियों का **प्रार्पणः**=यह प्राप्त करानेवाला होता है। स्वयं ज्ञानी बनकर औरों को ज्ञान देता है। ४. **सोमगोपाः**=यह अपने सोम (वीर्य) की रक्षा करनेवाला होता है। वस्तुतः इस सोम-रक्षा के परिणामस्वरूप ही तो इसमें अन्य सब गुणों का विकास होता है। ५. सोम-रक्षा से नीरोग बनकर **वसुः**=यह उत्तम निवासवाला होता है। **सहसः सूनुः**=बल का यह पुत्र होता है, अर्थात् खूब बलवान्—शक्ति का पुञ्ज बनकर यह शरीर के सब अङ्ग-प्रत्यङ्गों को सुन्दर बना पाता है। ६. **अप्सु**=यह कर्मों के विषय में **राजा**=बड़े व्यवस्थित (regulated) जीवनवाला होता है। सूर्य और चन्द्रमा की भाँति इसके कर्म समय पर सम्पन्न

किये जाते हैं। ७. नियमित जीवनवाला यह **विभाति**=विशेषरूप से दीप्त होता है, क्योंकि इस नियमितता से इसे शारीरिक और मानस स्वास्थ्य प्राप्त होता है। संक्षेप में यह स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मनवाला होता है। ८. **उषसाम् अग्रे**=बड़े सवेरे-सवेरे—उषःकाल के पहले **इधानाः**=यह प्रभु को अपने हृदय में समिद्ध करने का प्रयत्न करता है, अर्थात् प्रभु का ध्यान करता है।

भावार्थ—वत्सप्री के जीवन का गुणाष्टक यह है—दान, ट्रस्टीशिप की भावना, ज्ञान, वीर्यरक्षा, शक्ति व उत्तम निवास, नियमितता, दीप्ति तथा प्रभु-स्मरण।

ऋषिः—वत्सप्रीः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

विश्वस्य केतुः

विश्वस्य केतुर्भुवनस्य गर्भऽआ रोदसीऽअपृणाज्जायमानः।
वीडुं चिदद्रिमभिनत् परायञ्जना यदग्निमयजन्त पञ्च॥२३॥

१. यह वत्सप्रीः=प्रभु को अपने कर्मों से प्रीणित करनेवाला व्यक्ति **विश्वस्य**=सबका **केतुः**=(कित निवासे रोगापनयने च) निवास देनेवाला तथा रोगों को दूर करनेवाला—ज्ञान के प्रकाश से सबको नीरोगता का मार्ग दिखानेवाला होता है। २. **भुवनस्य गर्भः**=भुवन का गर्भ बनता है, अर्थात् सारी वसुधा को अपना परिवार समझता है। ३. **जायमानः**=अपना विकास करता हुआ यह रोदसी—द्युलोक व पृथिवीलोक को, अर्थात् सभी को **अपृणात्**=पालित व पूरित करता है (पृ पालनपूरणयोः) अथवा (पृण to delight) सभी के जीवन को आनन्दयुक्त करने का प्रयत्न करता है। ४. **परायन्**=इस संसार से दूर जाने के हेतु से (हेतु में शतृ प्रत्यय है), अर्थात् परमात्मा को प्राप्त करने के हेतु से **वीडुम् अद्रिम् चित्**=दृढ़ पर्वत को भी **अभिनत्**=विदीर्ण कर देता है, अर्थात् लोकहित के कार्यों में लगे होने पर मार्ग में आये बड़े-से-बड़े विघ्न को भी दूर कर देता है। सब विघ्नों को दूर करता हुआ यह आगे बढ़ता चलता है और अन्त में वह समय आता है कि ५. **यत्**=जब **पञ्च जनाः**=ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र व निषाद सभी लोग **अग्निम्**=इस अग्रेणी नेता को **अयजन्त**=पूजते हैं, आदर की दृष्टि से देखते हैं। सामान्यतः संसार में महापुरुषों का जीवनकाल में उतना आदर नहीं होता, परन्तु अन्त में वे लोगों के आदर-पात्र बनते हैं।

भावार्थ—हम अपने जीवन को प्रकाशमय बनाकर संसार को प्रकाश देनेवाले बनें और सभी को उत्तम निवासवाला व नीरोग बनाने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—वत्सप्रीः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

उशिक पावकः

उशिक् पावको अरतिः सुमेधा मर्त्येष्वग्निरमृतो नि धायि।
इयर्त्ति धूममरुषं भरिभ्रदुच्छुक्रेण शोचिषा द्यामिनक्षन्॥२४॥

१. यह वत्सप्रीः=प्रभु का प्यारा **उशिक्**=(वश्) सबका भला चाहनेवाला होता है, किसी के अमङ्गल की भावना इसमें उत्पन्न नहीं होती। २. **पावकः**=यह सभी के जीवन को पवित्र बनाने का प्रयत्न करता है। ३. **अरतिः**=विषयों में रति व आसक्तिवाला नहीं होता। ४. **सुमेधाः**=उत्तम बुद्धिवाला अथवा उत्तम यज्ञोंवाला (मेध=यज्ञ) होता है ५. **अग्निः**=यह अग्रेणी—उन्नतिशील व्यक्ति **मर्त्येषु**=विषयों के पीछे मरनेवाले लोगों में **अमृतः**=विषयों के

लिए अत्यन्त उत्सुक न होनेवाले के रूप में **निधायि**=रक्खा जाता है। प्रभु ही इस प्रकार के अमृत अग्नि को मर्त्यों में प्राप्त कराया करते हैं। इन्हें ही सामान्य जनता सुधारक के नाम से स्मरण करती है। ६. **इयर्त्ति**=यह व्यक्ति बड़ा गतिशील होता है। ७. **धूमम्**=वासनाओं को कम्पित करनेवाले **अरुषम्**=क्रोध से शून्य ज्ञान को **भरिभ्रत्**=निरन्तर धारण करता हुआ यह **उत्**=वासनाओं से ऊपर उठा हुआ **शुक्रेण शोचिषा**=प्रकाशमय अथवा क्रियायुक्त (शुक् गतौ) ज्ञान की दीप्ति से यह **द्याम्** =सारे द्युलोक को **इनक्षन्**=व्याप्त करता है, अर्थात् यह सर्वत्र ज्ञान का प्रकाश फैलाता है। वस्तुतः लोकहित का इससे अधिक उत्तम मार्ग नहीं है कि ज्ञान को फैलाकर उनके जीवन के मापक को ऊँचा कर दिया जाए। ज्ञान ही मनुष्य को वासनाओं से बचाकर इस योग्य बनाता है कि वह प्रभु के अधिक समीप पहुँच सके।

भावार्थ—हमें सभी के भले की कामना करनी चाहिए, अतः स्वयं विषयों से ऊपर उठकर ज्ञान का प्रसार करनेवाला होना चाहिए।

ऋषिः—वत्सप्रीः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

दृशानो रुक्म

दृशानो रुक्मऽउर्व्या व्यद्यौद्दुर्मर्षमायुः श्रिये रुचानः।
अग्निरमृतोऽअभवद्वयोभिर्यदेनं द्यौरजनयत्सुरेताः॥२५॥

१. **दृशानः**=यह वस्तुतत्त्व को देखता है, बाह्य रूप से ही विचलित नहीं हो जाता—विषयों की आपातरमणीयता इसे उनमें उलझा नहीं देती, क्योंकि यह विषयों के विषयत्व को देखता है। २. **रुक्मः**=न उलझने के कारण ही चमकता है। ३. **उर्व्या व्यद्यौत्**=हृदय की विशालता से यह प्रकाशमय है—उत्तम व्यवहार करनेवाला होता है। ४. **आयुः**=इसका जीवन **दुर्मर्षम्**=वासनाओं से न कुचलने योग्य होता है ५. **श्रिये रुचानः**=यह श्री के लिए रुचिवाला होता है, अर्थात् प्रत्येक कार्य को शोभा से करता है ६. **अग्निः**=निरन्तर आगे बढ़नेवाला होता है ७. **वयोभिः**=उत्तम आयुष्यवर्धक अन्नों से **अमृतः अभवत्**=रोगाक्रान्त न होकर अमृत हो जाता है, अकालमृत्यु को प्राप्त नहीं होता। ८. **यत्**=क्योंकि **सुरेताः**=उत्तम रेतस्वाला अर्थात् ब्रह्मचारी **द्यौः**=प्रकाशमय जीवनवाला आचार्य **एनम्**=इसे **अजनयत्**=विकसित करता है—शक्तिमान् बनाता है।

भावार्थ—संसार में हमें तत्त्वदर्शी बनकर विषयों में नहीं उलझना। ज्ञानी, ब्रह्मचारी आचार्यों की कृपा से ही ऐसा जीवन बनता है।

ऋषिः—वत्सप्रीः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

गुरु का आदर, प्रभु की भक्ति

यस्तेऽअद्य कृणवद्भद्रशोचेऽपूपं देव घृतवन्तमग्ने।
प्र तं नय प्रतरं वस्योऽअच्छाभि सुम्नं देवभक्तं यविष्ठ॥२६॥

१. वेद में पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त होनेवाले ज्ञान को 'ओदन' (भोजन) कहा है, अतः जीव का नाम ही 'पञ्चौदन' कर दिया है। विद्यार्थी के लिए इस ओदन का परिपाक करनेवाला उसका आचार्य है। अथर्ववेद ९।५।३७ में 'पचत पञ्च चौदनान्' इन शब्दों में इन पाँचों ओदनों के परिपाक का निर्देश है। यह ज्ञान का ओदन 'घृतवान्'=मल के क्षरण के

द्वारा दीप्ति प्राप्त करानेवाला है। यह 'अपूप'=न पूयते=न अपवित्र (पूयी विशरणे दुर्गन्धे च) होनेवाला है। इस **घृतवन्तं अपूपम्**=नैर्मल्य व दीप्तिवाले, न मलिन होने देनेवाले ज्ञानरूप अपूप को **हे अग्ने**=प्रगतिशील छात्र! हे **भद्रशोचे**=कल्याणकर ज्ञान की दीप्तिवाले! **देव**=ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करनेवाले, अतएव दिव्य गुणोंवाले! जो **ते**=तेरे लिए **अद्य**=आज **कृणवत्**=ज्ञानदान करता है **तं अच्छ**=उसकी ओर **प्रतरम्**=(अतिशयेन प्रकृष्टं) बहुत उत्तम **वस्यः**=(वसीयः—अतिशयेन वसु) निवास के लिए अत्यन्त उपयोगी धन **प्रनय**=प्राप्त करा। **तम्**=उसके लिए उत्तम-से-उत्तम गुरु-दक्षिणा देने का यत्न कर। २. इस प्रकार गुरु-भक्ति की भावनावाला **यविष्ठ**=बुराइयों को अधिक-से-अधिक दूर करनेवाला और अच्छाइयों से अपना मेल करनेवाला होकर **देवभक्तम्**=देवों से सेवित **सुम्नम्**=(Hymn) प्रभु-स्तवन की **अभि**=ओर अपने को **प्रनय**=ले-चल, अर्थात् ज्ञान देनेवाले गुरु के प्रति तो तेरी श्रद्धा हो ही, साथ ही तू देवों के सेवनीय प्रभु का स्तवन करनेवाला बन।

भावार्थ—जिस आचार्य ने हमें वह ज्ञान प्राप्त कराया, जिससे हमारा जीवन निर्मल हो गया, उस आचार्य के चरणों में हमें यथाशक्ति भेंट देनी चाहिए और सदा प्रभु का स्तवन करनेवाला बनना चाहिए।

ऋषिः—वत्सप्रीः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

ज्ञान+स्वास्थ्य व उज्ज्वल वंश

आ तं भ॑ज सौश्रव॒सेष्व॑ग्नऽउ॒क्थऽउ॑क्थ॒ऽआभ॑ज श॒स्यमा॑ने।

प्रि॒यः सूर्ये॑ प्रि॒योऽअ॒ग्ना भ॑वा॒त्युज्जा॒तेन॑ भि॒नद॒दुज्जनि॑त्वैः॥२७॥

पिछले मन्त्र की ही भावना को प्रकारान्तर से कहते हैं १. **अग्ने**=हे प्रगतिशील! तू **तम्**=उस ज्ञान देनेवाले आचार्य को **सौश्रवसेषु**=उत्तम यशोमय कर्मों में **आभज**=सेवित करनेवाला हो, अर्थात् आचार्य से शिक्षित होकर तू संसार में इस प्रकार उत्तम कर्म करनेवाला बन कि तेरे कर्मों से तेरे आचार्य का नाम उज्ज्वल हो। २. तू इस अपनी जीवन-यात्रा में **उक्थे उक्थे शस्यमाने**=जहाँ-जहाँ प्रभु-स्तवन हो रहा हो उस-उस स्थान पर **आभज**=प्रभु की उपासना करनेवाला बन, अर्थात् उन्हीं सत्सङ्गों में तू उपस्थित हो जहाँ प्रभु-स्तवन हो रहा हो। ३. इस प्रकार उत्तम कर्मों से आचार्य के नाम को उज्ज्वल करनेवाला तथा प्रभु-स्तवन में सम्मिलित होनेवाला व्यक्ति **सूर्ये प्रियः भवति**=सूर्य के समीप प्रिय होता है, अर्थात् इसके मस्तिष्करूप द्युलोक में सदा ज्ञान का सूर्य उदित रहता है। यह **अग्नौ प्रियः भवति**=अग्नि के समीप प्रिय होता है, अर्थात् इसके भौतिक शरीर में प्राणशक्ति की अग्नि सदा प्रज्वलित रहती है। इसके मस्तिष्क में ज्ञान का सूर्य उदित रहता है तो इसके पार्थिव शरीर की वेदि पर प्राणाग्नि सदा प्रज्वलित रहती है। ज्ञान चमकता हुआ होता है तो शरीर शक्ति की उष्णतावाला होता है। ४. अपने बाद भी यह **जातेन**=उत्पन्न पुत्र से **उद्भिदत्**=उदय व वृद्धि को प्राप्त होता है तथा **जनित्वैः**=जनिष्यमाण (आगे पैदा होनेवाले) पौत्र आदि से भी यह अधिकाधिक उदय को प्राप्त होगा, अर्थात् इसका वंश और अधिक चमकनेवाला होगा।

भावार्थ—गुरु का आदर व प्रभु-भक्तिवाले पुरुष के जीवन में १. ज्ञान का सूर्य चमकता है २. इसकी जीवनी-शक्ति बनी रहती है तथा ३. इसका वंश उज्ज्वल होता है।

ऋषिः—वत्सप्रीः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

विष्णु+लक्ष्मी, नकि केवल लक्ष्मी

त्वाम॑ग्ने यज॑मानाऽअनु द्यून् विश्वा॒ वसु॑ दधिरे॒ वार्या॑णि।
त्वया॑ स॒ह द्रवि॑णमि॒च्छमा॑ना व्र॒जं गोम॑न्तमु॒शिजो॒ वि व॑व्रुः॥२८॥

१. हे **अग्ने**=सब उन्नतियों के साधक प्रभो! **त्वाम्**=आपकी **अनुद्यून्**=प्रतिदिन **यजमानाः**=उपासना करते हुए—आपका पूजन करते हुए ये **विश्वा वार्याणि**=सब वरणीय वसु=निवास के लिए आवश्यक धनों को **दधिरे**=धारण करते हैं, वस्तुतः प्रभु की उपासना वसुओं को प्राप्त कराती ही है। प्रभु अपने सच्चे भक्तों के योगक्षेम को चलाते हैं। २. ये **त्वया सह**=आपके साथ **द्रविणम्**=धन को **इच्छमानाः**=चाहनेवाले होते हैं। 'प्रभु-भक्त धन को न चाहें' यह बात नहीं है। धन की कामना तो शरीरधारी को करनी ही होती है, परन्तु प्रभु-भक्त प्रभु के साथ धन की कामना करता है। यह विष्णु के साथ ही लक्ष्मी के दर्शन की कामना करता है—अकेली लक्ष्मी को यह आमन्त्रित नहीं करता। वस्तुतः अकेली लक्ष्मी मनुष्य को विषयासक्त कर देती है। विष्णु की उपस्थिति मन को विषयप्रवण नहीं होने देती। धन विषयों को प्राप्त कराता है, प्रभु-स्मरण उन विषयों में फँसने से बचाता है, अतः विष्णु के साथ ही लक्ष्मी की शोभा है। ३. ये धनी परन्तु धनासक्ति से रहित **उशिजाः**=मेधावी पुरुष **गोमन्तम्**=आदित्य रश्मियोंवाले (गावः रश्मयः) **व्रजम्**=मार्ग को **विवव्रुः**=(विभिदुः—म०) खोलते हैं, अर्थात् आदित्यमण्डल के मध्य से मार्ग बनाते हैं। ये सूर्यमण्डल का भेदन करके 'स्वज्योति' स्वयं देदीप्यमान ज्योति—ब्रह्म को प्राप्त करते हैं। ५. मनुष्य का पहला पग पृथिवीलोक का विजय है। पृथिवीलोक से ऊपर उठकर उसे अन्तरिक्षलोक का विजय करना है—यही उसका दूसरा पग होता है। द्युलोक का विजय करके वह ब्रह्मज्योति को प्राप्त करता है। इस प्रकार यह आत्मा चतुष्पात् होता है। जितने-जितने हमारे कर्म उत्तम होंगे उतने-उतने उत्कृष्ट लोक में हम जन्म लेंगे। इस मर्त्यलोक से पितृलोक (चन्द्रलोक में) में, पितृलोक से देवलोक में (सूर्य में), अन्त में सूर्य से भी ऊपर उठकर ब्रह्मलोक में। ५. 'गोमन्तं व्रजं विवव्रुः' का अर्थ यह भी है कि (गावा: इन्द्रियाणि) इन्द्रियों के बाड़े को विशेषरूप से संवृत्त रखते हैं, अर्थात् इन्द्रियों का पूर्ण निरोध करते हैं।

भावार्थ—नित्याभियुक्त पुरुष वसुओं—जीवन-धारण के लिए आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त करता है, क्योंकि यह लक्ष्मी को प्रभु के साथ ही चाहता है, अतः पापों में नहीं फँसता।

ऋषिः—वत्सप्रीः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

सुवीररयि तथा अद्वेष

अस्ता॑व्य॒ग्निर्न॒राꣳसु॒शेवो॑ वैश्वान॒रऽऋषि॑भि॒: सोम॑गोपाः।
अ॒द्वे॒षे द्यावा॑पृथि॒वी हु॑वेम॒ देवा॒ ध॒त्त र॒यिम॒स्मे सु॒वीर॑म्॥२९॥

'वत्सप्री' कहता है कि १. **ऋषिभिः**=तत्त्वद्रष्टा लोगों से **अग्निः**=वह अग्रेणी प्रभु **अस्तावि**=स्तुति किया जाता है। अतत्त्वार्थवित् ही विषयासक्त होता है, अतः उस प्रभु की ही पूजा करनी चाहिए जो (क) **नराम्**=उन्नति के मार्ग पर चलनेवालों का **सुशेवः**=उत्तम कल्याण करनेवाला है। (ख) **वैश्वानरः**=सभी मनुष्यों का हित चाहता है। (विश्वनरहितः) अथवा सभी को (विश्वान् नरान् नयति) उत्कृष्ट मार्ग पर ले चलता है। प्रभु की आवाज़

को न सुननेवाला ही मार्ग-भ्रष्ट होता है। (ग) **सोमगोपाः**=हमारी वीर्यशक्ति (vitality) की रक्षा करनेवाला है। प्रभु के स्मरण से मनुष्य विषयासक्ति से बचता है और अपनी शक्ति की रक्षा करने में समर्थ होता है। २. प्रभु का स्मरण व स्तवन करते हुए हम **अद्वेषे**=द्वेष से रहित, प्रेम से पूर्ण **द्यावापृथिव्यौ**=द्युलोक व पृथिवीलोक को **हुवेम**=पुकारते हैं। हम चाहते हैं कि ब्रह्माण्ड में हमारा कोई शत्रु न हो-हम किसी के शत्रु न हों। हम द्वेष से अतीत हों। ३. द्वेषातीत होने के लिए ही हम चाहते हैं कि **देवाः**=हे देवो! **अस्मे**=हममें **सुवीरम्**=उत्तम वीरता से युक्त **रयिम्**=धन को **धत्त**=धारण करो। प्रत्येक देव हमें अपनी वह सम्पत्ति प्राप्त कराये जो हमें वीर बनानेवाली हो। अग्नि हमारी वाणी को सबल बनाए तो सूर्य आँखों को तथा दिशाएँ कानों को और चन्द्रमा मन को। इस प्रकार सब देव अपना-अपना दिव्य अंश प्राप्त कराके हमें उत्कृष्ट वीर बना दें, जिससे हम द्वेष से ऊपर उठ सकें।

भावार्थ-१. हम प्रभु का स्तवन करें। २. द्वेष से ऊपर उठें। ३. देवों से शक्ति प्राप्त करें। देवों से शक्ति प्राप्त करके हम द्वेष से ऊपर उठें। निर्द्वेष बनकर सभी का भला चाहना व करना ही सच्चा प्रभु-कीर्तन है। यही व्यक्ति 'वत्सप्री' है-प्रभु का सच्चा प्यारा है।

ऋषिः-विरूपाक्षः। **देवता**-अग्निः। **छन्दः**-गायत्री। **स्वरः**-षड्जः॥

'विरूपाक्ष'

स॒मिधा॒ग्निं दु॑वस्यत घृ॒तैर्बो॑धय॒ताति॑थिम्। आस्मि॑न्ह॒व्या जु॑होतन॥३०॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति इस बात पर थी कि सब देव हमारे अङ्गों में अपनी-अपनी सम्पत्ति को धारण कर उन्हें सुवीर बनाएँ। वे वीरतापूर्ण अंश इस मनुष्य को 'विरूपाक्ष' बनाते हैं-विशिष्ट रूपवाली हैं इन्द्रियाँ जिसकी। इस विरूपाक्ष का कथन है कि २. **समिधा**=ज्ञान की दीप्ति से **अग्निम्**=उस अग्रेणी प्रभु की **दुवस्यत**=परिचर्या करो। वस्तुतः प्रभु की सच्ची उपासना ज्ञान से ही होती है। ज्ञानीभक्त को ही प्रभु को आत्मतुल्य प्रतीत होता है। २. **घृतैः**=मलों के क्षरण व विद्रावण से, दीप्त अन्तःकरणवृत्तियों से **अतिथिम्**=उस (अत सातत्यगमने) निरन्तर प्राप्त, सदा हृदय में विद्यमान प्रभु को **बोधयत**=(चेतयत) जानो। उस प्रभु का ज्ञान तभी होता है जब हमारे हृदयों पर से मल का आवरण दूर हो जाता है। प्रभु तो उपस्थित हैं ही, परन्तु हृदयों के मलावृत होने से उसका ज्ञान नहीं होता। मल हटा और प्रभु का दर्शन हुआ। ३. **अस्मिन्**=इस प्रभु में स्थित हुए **हव्या**=दातुमर्ह-देने योग्य पदार्थों को **आजुहोतन**=दान में दो। प्रभु में स्थित हुए, अर्थात् प्रभु को कभी न भूलते हुए हम सदा दान देनेवाले बनें। देकर बचे हुए को खानेवाले बनें। यह यज्ञशेष का सेवन ही प्रभु-अर्चन हो जाता है। वस्तुतः प्रभु-स्मरण करनेवाला व्यक्ति वैषयिक वृत्ति का तो बनता ही नहीं। यह विषय-वासनाओं से ऊपर उठा हुआ व्यक्ति 'विरूपाक्ष' क्यों न बनेगा।

भावार्थ-१. ज्ञान-दीप्ति से हम प्रभु की परिचर्या करें। २. नैर्मल्य से प्रभु के प्रकाश को देखें। ३. प्रभु-दर्शन करते हुए सदा देकर खाएँ-यज्ञशेष का सेवन करें।

ऋषिः-तापसः। **देवता**-अग्निः। **छन्दः**-विराडनुष्टुप्। **स्वरः**-गान्धारः॥

ज्ञानी-प्रियदर्शन

उदु॑ त्वा॒ विश्वे॑ दे॒वाऽअग्ने॒ भर॑न्तु॒ चित्ति॑भिः।
स नो॑ भव शि॒वस्त्व॑ꣳ सु॒प्रती॑को वि॒भाव॑सुः॥३१॥

१. पिछले मन्त्र की भावना के अनुसार मनुष्य अपने ज्ञान को निरन्तर बढ़ाए, नैर्मल्य

की साधना करे, दान देकर यज्ञशेष को खाने की वृत्तिवाला बने। २. इस वृत्तिवाला व्यक्ति **उत् उ**=निश्चय से विषय-वासनाओं से ऊपर उठता है (**उत्**=out)। यह विषय-वासना से ऊपर उठना ही वास्तविक तपस्या है, अतः मन्त्र का ऋषि 'तापस' नामवाला हो गया है। ३. **अग्ने**=हे आगे बढ़नेवाले! **त्वा**=तुझ तापस को **विश्वे देवाः**=सब देव **चित्तिभिः**=ज्ञानों से **भरन्तु**=भर दें। यह तापस ज्ञानियों के सम्पर्क में आता है। यह ज्ञानियों का सम्पर्क इसे अधिकाधिक ज्ञानी बनाता है। उनके सम्पर्क में इसकी बुद्धि विशिष्ट और विशिष्टतर होती चलती है। ५. **सः**=वह **विभावसुः**=ज्ञान-धनवाला **सुप्रतीकः**=शोभन मुखवाला या प्रियदर्शनवाला **त्वम्**=तू **नः**=हमारे लिए **शिवः**=कल्याण को प्राप्त करानेवाला **भव**=हो। यह तापस प्रजाओं में विचरता है। उन प्रजाओं के लिए अपने ज्ञान-धन को विकीर्ण करता है और इस ज्ञान का प्रसार यह अत्यन्त माधुर्य के साथ करता है—सबके लिए यह सुप्रतीक=प्रियदर्शन होता है। इसके मुख पर मानस शान्ति का प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है।

भावार्थ—एक परिव्राजक प्रचारक को तपस्वी, ज्ञानी व प्रियदर्शन होना चाहिए।

ऋषिः—तापसः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

ज्योतिष्मान्

प्रेद॑ग्ने ज्योति॑ष्मान् याहि शि॒वेभि॑र॒र्चिभि॒ष्ट्वम्।
बृ॒हद्भि॑र्भा॒नुभि॒र्भास॒न् मा हि॑ꣳसीस्त॒न्वा᳖ प्र॒जाः॥३२॥

१. हे **अग्ने**=अपने ज्ञानोपदेशों से सबको आगे ले-चलनेवाले 'तापस'! **त्वम्**=तू **ज्योतिष्मान्**=ज्ञान की ज्योतिवाला बनकर **शिवेभिः अर्चिभिः**=कल्याणकर ज्ञान की ज्वालाओं से **इत्**=निश्चयपूर्वक **प्रयाहि**=आगे बढ़। वस्तुतः यह तापस अपनी ज्ञान-ज्वालाओं से प्रजाओं के पापरूप तृणों को दग्ध करता हुआ चलता है। ३. **बृहद्भिः**=वृद्धि की कारणभूत **भानुभिः**=दीप्तियों से **भासन्**=चमकते हुए आप **तन्वा**=अपने शरीर से **प्रजाः**=प्रजाओं को **मा हिंसीः**=मत हिंसित कीजिए। तापस के शरीर से कोई ऐसी क्रिया न हो जो प्रजाओं की हिंसा का कारण बने। इस अहिंसा की प्रतिष्ठा होने पर ही इसके समीप आनेवाले सभी व्यक्तियों की वैरभावना समाप्त होगी और वे प्रेम से इसके उपदेश को सुन पाएँगे। ३. मन्त्रार्थ में निम्न बातें बड़ी स्पष्ट हैं कि आदर्श प्रचारक वही है जो (क) स्वयं ज्ञान की ज्योतिवाला है। (ख) जिसकी ज्ञान-ज्योति अमङ्गल का ध्वंस करती है। (ग) इसका ज्ञान लोगों की वृद्धि का कारण बनता है। (घ) यह किसी की हिंसा नहीं करता—मधुरवाणी का ही प्रयोग करता है।

भावार्थ—स्वयं ज्योतिर्मय अहिंसक वृत्तिवाले बनकर हम ज्ञान-प्रसार द्वारा लोककल्याण का साधन करें।

ऋषिः—वत्सप्रीः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

मेघ-गर्जन

अक्र॑न्दद॒ग्नि स्त॒नय॑न्निव॒ द्यौः क्षामा॒ रेरि॑हद् वी॒रुधः॑ सम॒ञ्जन्।
स॒द्यो ज॑ज्ञा॒नो वि हीमि॒द्धोऽअख्य॒दा रोद॑सी भा॒नुना॑ भात्य॒न्तः॥३३॥

१. **अग्निः**=सब उन्नतियों के साधक, प्रकाश देनेवाले प्रभु **स्तनयन् इव द्यौः**=गर्जते हुए मेघ के समान **अक्रन्दत्**=उच्च स्वर से वेदज्ञान का उच्चारण कर रहे हैं। २. जब हम

उनकी वाणी को सुनते हैं तो **क्षामा**=हमारे इस शरीर को (पृथिवी शरीरम्) **रेरिहत्**=वे अत्यन्त आनन्दमय बना देते हैं। ३. **वीरुधः**=विशिष्ट रोहणों को व विविध शक्तियों के विकासों को वे **समञ्जन्**=हममें व्यक्त करते हैं, अर्थात् प्रभु की वाणी को सुनकर तदनुसार आचरण करने पर हमारी शक्तियों का विकास होता है और हमारा स्वस्थ व सुन्दर जीवन आनन्दमय बन जाता है। ४. **जज्ञानः**=प्रकट होते हुए वे प्रभु **इद्धः**=हृदयाकाश में दीप्त हुए **हि ईम्**=निश्चय से **सद्यः**=शीघ्र ही **विअख्यत्**=विशेषरूप से हमारे जीवन को प्रकाशमय बना देते हैं। ५. वे प्रभु **रोदसी अन्तः**=इस द्युलोक व पृथिवीलोक के अन्दर, अर्थात् सम्पूर्ण आकाश में **भानुना**=दीप्ति से **आभाति**=समन्तात् चमक रहे हैं, उसी के प्रकाश से सभी प्रकाशित हो रहे हैं।

भावार्थ—हम उस प्रभु की वाणी को सुनें, हममें विविध शक्तियों का विकास होगा और हमारा जीवन चमक उठेगा।

ऋषिः—वसिष्ठः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

सुननेवाला

प्रप्रायम॒ग्निर्भ॑र॒तस्य॑ शृण्वे॒ वि यत्सूर्यो॒ न रोच॑ते बृ॒हद्भाः।
अ॒भि यः पू॒रुं पृत॑नासु त॒स्थौ दी॒दाय॒ दैव्यो॒ऽअति॑थिः शि॒वो नः॥३४॥

१. पिछले मन्त्र में प्रभु की मेघ-गर्जना का उल्लेख था। **भरतस्य**=सारे ब्रह्माण्ड का भरण करनेवाले प्रभु की इस गर्जना को **अयं अग्निः**=यह उन्नतिशील जीव **शृण्वे**=सुनता है और **प्रप्र**=निरन्तर आगे बढ़ता चलता है। उस वाणी को सुनेंगे तो उन्नति क्यों न होगी? २. इस वाणी को सुननेवाले की पहचान यह है **यत्**=कि यह **सूर्यः न**=सूर्य की भाँति **विरोचते**=विशिष्ट दीप्तिवाला होता है। **बृहद्भाः**=वृद्धिशील ज्ञानवाला होता है। ३. उसी ने वाणी सुनी है **यः**=जो **पृतनासु**=संग्रामों में **पूरुम्**=सबको व्याप्त करनेवाले, अत्यन्त प्रबल कामासुर का **अभितस्थौ**=मुकाबला करता है, अर्थात् प्रभु की वाणी को सुननेवाला काम पर विजय पाता है। ४. **दीदाय**=यह स्वास्थ्य की दीप्तिवाला होता है। ५. **दैव्यः**=प्रभु के साथ सम्बन्धवाला होने से दिव्य गुणों से परिपूर्ण होता है। ६. **अतिथिः**=(अत सातत्यगमने) निरन्तर गतिशील होता है और ७. **नः**=हमारे लिए **शिवः**=कल्याणकर होता है।

भावार्थ—प्रभु की वाणी के सुनने पर मनुष्य ज्ञान-सूर्य से चमकता है, काम पर विजय पाता है, स्वस्थ, दिव्य गुणोंवाला, निरन्तर क्रियाशील व सभी का कल्याण करनेवाला होता है। काम पर विजय पानेवाला यह 'वशिष्ठ' कहलाता है—वशियों में श्रेष्ठ।

ऋषिः—वसिष्ठः। **देवता**—आपः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

वसिष्ठ का स्वागत Reception

आपो॑ देवीः॒ प्रति॑गृभ्णीत॒ भस्मै॒तत्स्यो॒ने कृ॑णुध्वꣳसुर॒भाऽउ॑ लो॒के।
तस्मै॑ नमन्तां॒ जन॑यः सु॒पत्नी॑र्मा॒तेव॑ पु॒त्रं बि॑भृता॒प्स्वे॑नत्॥३५॥

१. गत मन्त्र के अनुसार प्रभु की वाणी को सुननेवाले अतएव **एतत्**=इस **भस्म**=ज्ञान की दीप्ति से चमकनेवाले वसिष्ठ को **आपः देवीः**=दिव्य गुणोंवाली प्रजाएँ **प्रतिगृभ्णीत**=ग्रहण (receive) करें—उसका स्वागत करें। जब कभी वसिष्ठ हमारे बीच में आये तो हमें उसका **स्वागत** करना ही चाहिए। २. **उ**=और उसे **स्योने**=सुखावह—जहाँ सब प्रकार की

भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति की सुविधा है, उस **सुरभा**=सुगन्धित—दुर्गन्धशून्य **लोके**=स्थान में **कृणुध्वम्**=स्थापित करो, ठहराओ। इस वसिष्ठ के ठहरने का स्थान स्वच्छ, पवित्र व दुर्गन्धशून्य होना चाहिए। ३. इसके समीप लोग उपदेश लेने आएँगे ही। उस समय **तस्मै**=उस ब्रह्मज्ञानी के लिए **जनयः**=सन्तानों को जन्म देनेवाले गृहस्थ लोग तथा **सुपत्नीः** (सुपत्न्यः)=श्रेष्ठ पत्नियाँ **नमन्ताम्**=नमन करनेवाली हों। उसके समीप आदर से उपस्थित होकर उसके उपदेश को सुनें। ४. **एतत्**=इस वसिष्ठ को **अप्सु**=प्रजाओं में इस प्रकार **बिभृत**=धारण करो **इव**=जैसे **माता पुत्रम्**=माता पुत्र को धारण करती है। माता जैसे पुत्र का पालन करती है उसी प्रकार प्रजाओं को इस वसिष्ठ का पालन करना है।

भावार्थ—उत्तम वृत्तिवाली प्रजाओं का यह कर्त्तव्य है कि वे लोकहित में तत्पर, काम-विजयी वसिष्ठ का स्वागत करें। उसे सुविधाजनक स्थान पर ठहराएँ। नम्रता से उसके उपदेश को सुनें। उसे माता के समान अपने लिए हितकर समझें।

ऋषिः—विरूपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

आदर्श प्रचारक

अप्स्वग्ने सधिष्टव सौषधीरनु रुध्यसे। गर्भे सञ्जायसे पुनः ॥३६॥

१. हे **अग्ने**=ज्ञान के प्रकाशवाले, प्रजाओं को उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले! **विरूप**=विशिष्ट रूपवाले तेजस्विन्! **तव**=तेरा **अप्सु**=प्रजाओं में **सधिः**=समान स्थान है, अर्थात् जहाँ प्रजाएँ हैं, वहीं तुझे भी होना है, प्रजाओं में रहते हुए उन्हें ज्ञान देने के लिए सदा यत्नशील रहना है। २. **सः**=वह तू प्रजाओं को ज्ञान देता हुआ **सौषधीः**=यव आदि (यवाद्याः—म०) ओषधियों का ही **अनुरुध्यसे**=(स्वीकरोषि—म०) स्वीकार करता है। तेरा भोजन सात्त्विक व वानस्पतिक ही होता है। ३. (क) **गर्भे सन्**=प्रजाओं के मध्य में रहता हुआ तू **पुनः**=फिर **जायसे** =बाहर हो जाता है, अर्थात् निरन्तर आगे चलते जाने के कारण यह सदा किसी एक स्थान पर ठहरा नहीं रहता। आज यहाँ की प्रजा में है, कल इससे बाहर होकर अन्यत्र चला गया है। (ख) अथवा **गर्भे सन्**=प्रति वर्ष चौमासे में गर्भ में, अदृश्यरूप में, कहीं एकान्त अज्ञात स्थान में ठहरकर तू **पुनः**=फिर **जायसे**=प्रकट हो जाता है और अपने अन्दर ग्रहण किये हुए ज्ञान का प्रसार करता है।

भावार्थ—आदर्श पुरुष वही है जो प्रजाओं के साथ ही रहता है, वानस्पतिक भोजन करता है। चार मास एकान्त में अपने को ज्ञान से भरकर फिर ज्ञान-प्रसार के लिए बाहर आ जाता है।

ऋषिः—विरूपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्ष्युष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

शाकाहार-विश्वबन्धुत्व

गर्भोऽअस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम्।
गर्भो विश्वस्य भूतस्याग्ने गर्भोऽअपामसि ॥३७॥

१. 'गर्भ' शब्द 'गॄ' निगरणे (निगलना) व 'ग्रह उपादाने' (ग्रहण करना) धातुओं से बनता है, अतः यह विरूप=औरों की अपेक्षा उत्कृष्ट रूपवाला—ज्ञान-प्रसार में रत व्यक्ति **ओषधीनाम्**=ओषधियों का **गर्भः असि**=निगलनेवाला—खानेवाला है। यह **वनस्पतीनाम्**=वनस्पतियों का **गर्भः**=खानेवाला है। प्रचारक को ओषधि-वनस्पतियों का ही ग्रहण करना

चाहिए उसे मांसभोजी नहीं होना है। मांसभोजन क्रूरता व स्वार्थ का प्रतीक है। २. यह प्रचारक **विश्वस्य भूतस्य**=सब प्राणियों को **गर्भः**=अपनी 'मैं' में ग्रहण करनेवाला है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्'=सारी वसुधा को यह अपना परिवार समझता है। **अपाम्**=सब प्रजाओं का **गर्भः** =ग्रहण करनेवाला है। (क) सारी प्रजाओं को अपनी 'मैं' में समाविष्ट कर लेने से यह सभी के दुःख से दुःखी होता है, अतः करुणात्मक स्वभाववाला बनता है। (ख) सभी की उन्नति में प्रसन्न होता है, अतः ईर्ष्या आदि से परे यह 'मोद' की वृत्तिवाला होता है। (ग) सभी से स्नेह के करण 'मैत्री'वाला होता है। (घ) सभी में अपनापन अनुभव करने के कारण यह पापरत से भी घृणा न करके उपेक्षा को ही अपनाता है। ३. इसका यह स्वभाव इसके वानस्पतिक व सात्त्विक भोजन के कारण शुद्धान्तःकरण होने से ही है **'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः'**। जो मांसभोजी होगा वह स्वार्थप्रधान होने से सभी को अपनी 'मैं' में समाविष्ट न कर सकेगा। यहाँ मन्त्र के पूर्वार्ध व उत्तरार्ध में यही कार्यकारणभाव है। शाकाहार कारण है, विश्वबन्धुत्व की भावना कार्य है।

भावार्थ—एक आदर्श प्रचारक को शाकाहारी व विश्वबन्धुत्व की भावनावाला होना चाहिए।

ऋषिः—विरूपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

योनिम्, अपः, पृथिवीम्

प्रसद्य भस्मना योनिमपश्च पृथिवीमग्ने।
सꣳसृज्य मातृभिष्ट्वं ज्योतिष्मान् पुनरासदः ॥३८॥

१. **भस्मना**=(भस दीप्तौ, प्रदीपक तेजः—द०) अपने ज्ञान के दीप्त तेज से **योनिः**= मूलस्थान ब्रह्म में **प्रसद्य**=स्थित होकर, अर्थात् प्रभु की उपासना करके हे **अग्ने**=सबके लिए मार्ग दिखानेवाले विद्वन्! तू **अपः**=प्रजाओं में व कर्मों में स्थित हो, अर्थात् तेरे दिन का प्रारम्भ सदा प्रभु के ध्यान से हो। यह प्रभु-दर्शन तुझे ज्ञान से ही तो होगा, अतः तूने अधिक-से-अधिक ज्ञान को प्राप्त करने का प्रयत्न करना। यह दीप्त-ज्ञान का तेज तुझे ब्रह्मनिष्ठ बनाएगा, परन्तु तूने सदा समाधि के आनन्द में ही न उलझे रहना। तूने अपने ज्ञान को प्रजाओं में भी फैलाने के लिए यत्नशील होना। तेरा जीवन बड़ा क्रियाशील हो। ब्रह्मज्ञानी अकर्मण्य नहीं होता। २. तूने इस ज्ञान-प्रसार के कार्य को करते हुए **पृथिवीम्**=(प्रथ विस्तारे) विशाल हृदय-प्रदेश में स्थित होना। तेरा हृदय विशाल होगा तभी तू सभी को अपनी 'मैं' में समाविष्ट करके वसुधा को अपना परिवार बना पाएगा। ३. **त्वम्**=तू **मातृभिः**=जीवन का निर्माण करनेवाले 'माता-पिता व आचार्य' के **संसृज्य**=सम्पर्क में आकर **ज्योतिष्मान्**=उत्तम ज्ञान की ज्योतिवाला बना है, **पुनः**=इस प्रकार ज्योतिष्मान् बनकर ही फिर तू **आसदः**=उस ब्रह्म में स्थित हो, प्रजा व कर्मों में स्थित हो तथा विशाल हृदयान्तरिक्ष में स्थित हो (योनिम्, अपः, पृथिवीम्)। जिसका जीवन उत्तम माता-पिता व आचार्य इन निर्माताओं के सम्पर्क में नहीं आता, उसे ज्ञान भी प्राप्त नहीं होता और उसके लिए ब्रह्मनिष्ठ होना सम्भव नहीं होता।

भावार्थ—विद्वान् अपने जीवन को ज्ञान-ज्योति से दीप्त करे। ब्रह्मदर्शन करता हुआ वह ईशचिन्तन से दिन का आरम्भ करे, प्रजाओं में ज्ञान-प्रसार करता हुआ उदार हृदय बने और दिनावसान पर पुनः प्रभु का ध्यान करता हुआ ध्यान में चला जाए।

ऋषिः—विरूपः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

माता की गोद में

पुनरासद्य सदनमपश्च पृथिवीमग्ने।
शेषे मातुर्यथोपस्थेऽन्तरस्याᳬशिवतमः॥३९॥

गत मन्त्र की भावना का ही विस्तार करते हुए प्रभु 'विरूप' से कहते हैं कि (१) ज्ञान-प्राप्ति के बाद **पुनः** =फिर **सदनम्**=सम्पूर्ण संसार के कारण उस ब्रह्म में **अपः**=प्रजाओं व कर्मों में **पृथिवी च**=और विशाल हृदयान्तरिक्ष में **आसद्य**=स्थित होकर हे **अग्ने**=प्रकाश के प्रसारक विद्वन्! तू **अस्यां अन्तः**=इस प्रजा में **शेषे**=इस प्रकार निवास करता है **यथा**=जैसे कोई बालक **मातुः उपस्थे**=माता की गोद में शयन करता हो। तू प्रजाओं से दूर नहीं भागता। प्रजाओं में निवास करता हुआ तू अशान्ति अनुभव नहीं करता। २. तू इन प्रजाओं में ही स्थित हुआ **शिवतमः**=उनका अधिक-से-अधिक कल्याण करता है। अज्ञानवश गालियाँ देनेवालों को भी तू आशीर्वाद ही देता है।

भावार्थ—विद्वान् संन्यासी प्रजाओं में ज्ञान फैलाते हुए उनका अधिक-से-अधिक कल्याण करता है।

ऋषिः—वत्सप्रीः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदार्षीगायत्री। स्वरः—षड्जः॥

शक्ति-लाभ व पाप से निवृत्ति

पुनरूर्जा निवर्त्तस्व पुनरग्नऽइषायुषा। पुनर्नः पाह्यꣳहसः॥४०॥

१. पिछले मन्त्रों में 'विरूप' को प्रभु ने लोकहित के उद्देश्य से प्रजाओं में ज्ञान-प्रचार का निर्देश किया था। 'विरूप' उस निर्देश को शिरोधार्य करके प्रभु से प्रार्थना करता है। प्रभु के निर्देश को मानने से वह 'वत्सप्री' बनता है और कहता है कि हे प्रभो! आप **पुनः**= फिर ऊर्जा, बल और प्राणशक्ति के साथ **निवर्त्तस्व**=मुझे प्राप्त होओ। आप शक्ति देंगे तभी मैं इस ज्ञान-प्रचार के कार्य को कर पाऊँगा। २. हे **अग्ने**=मार्गदर्शक प्रभो! **पुनः**=फिर **इषा**=प्रेरणा से तथा **आयुषा**=दीर्घजीवन के वरदान के साथ मुझे प्राप्त होओ। आपकी प्रेरणा ही तो मुझे वह प्रकाश दिखाएगी जिसे मुझे औरों के प्रति देना है। ३. **पुनः**=फिर **नः**=मुझे **अंहसः**=पाप से **पाहि**=बचाइए। अपने इस दीर्घ जीवन में मैं पाप से बचा रहूँ। मैं स्वयं पाप में पड़ जाऊँगा तो औरों को क्या मार्ग दिखाऊँगा। आपकी कृपा से मैं विषयों के प्रति झुकाववाला न होऊँ।

भावार्थ—हम प्रभु से बल व प्राणशक्ति प्राप्त करें। प्रभु की प्रेरणा को सुनें। दीर्घजीवनवाले हों। पाप से सदा बचे रहें।

ऋषिः—वत्सप्रीः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

धारक-धन

सह रय्या निवर्त्तस्वाग्ने पिन्वस्व धारया। विश्वप्स्न्या विश्वतस्परि॥४१॥

१. हे **अग्ने**=मार्गदर्शक प्रभो! आप हमें **रय्या सह**=धन के साथ **निवर्त्तस्व**=प्राप्त होओ। संसार-यात्रा को चलाने के लिए धन आवश्यक है, परन्तु वह धन यदि प्रभु-स्मरण के साथ होता है तो हमें विषयों में फँसानेवाला नहीं होता। अतः 'वत्सप्री' उसी धन के लिए प्रार्थना करता है जो प्रभु-स्मरण से युक्त है। २. हे अग्ने! आप **विश्वतः परि**=सब

ओर से उस **धारया**=धन की धारा से **पिन्वस्व**=हमें प्राप्त हों जो **विश्वप्स्न्या**=सबको खिलानेवाली हो, अर्थात् मैं धन तो प्राप्त करूँ, परन्तु उसी धन को जो मुझे लोकहित के कार्य में अधिक श्रमशील बनाए। उस धन से मैं अपने भोग-साधनों को न बढ़ाकर दु:खियों का दर्द दूर करने में उसका विनियोग करनेवाला बनूँ। मैं पराश्रित न होकर स्वतन्त्रता से ज्ञान का प्रसार कर सकूँ।

भावार्थ—हम प्रभु-कृपा से पर्याप्त धन प्राप्त करें, जिससे निर्भीकता से ज्ञान का प्रसार करनेवाले बन सकें। एवं, आदर्श उपदेशक वही है जो १. सबल है। २. प्रभु-प्रेरणा को सुननेवाला है। ३. दीर्घ जीवनवाला है। ४. पाप से बचा रहता है। ५. पर्याप्त धनवाला है, जिससे पराधीन न हो जाए। ६. इसका धन भोगों में विनियुक्त न होकर लोकहित के लिए व्यय होता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

दीर्घतमाः

बोधा मेऽअस्य वचसो यविष्ठ मꣳहिष्ठस्य प्रभृतस्य स्वधावः।
पीयति त्वोऽअनु त्वो गृणाति वन्दारुष्टे तन्वं वन्देऽअग्ने॥४२॥

१. मन्त्र ४० तथा ४१ के अनुसार एक व्यक्ति अपने को आदर्श प्रचारक बनाकर प्रजाओं में ज्ञान का प्रसार करता है और तम=अज्ञान का (दृ विदारणे) विदारण करने के कारण यह 'दीर्घतमाः' नामवाला हो जाता है। यह प्रभु से कहता है कि हे **यविष्ठ**=बुराइयों को सर्वाधिक दूर करनेवाले तथा अच्छाइयों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! हे **स्वधावः**=(स्व+धा+वन्) आत्मधारण की शक्ति देनेवाले प्रभो! **मंहिष्ठस्य**=(दातृतम) अधिक-से-अधिक धनों के देनेवाले, अर्थात् आपसे प्राप्त कराये गये धनों को लोकहित में विनियुक्त करनेवाले और इस प्रकार **प्रभृतस्य**=प्रजाओं का प्रकृष्ट भरण करनेवाले मेरे **अस्य वचसो बोध**=इस वचन को आप अवश्य जानिए कि २. इस कार्य में लगे हुए मेरी **त्वः**=कोई एक तो **पीयति**=हिंसा करता है और **अनु**=पीछे सामान्यतः मृत्यु के बाद **त्वः**=कोई **गृणाति**=प्रशंसा भी करता है। आपके निर्देशानुसार मैं प्रजाओं में ही अपना स्थान बनाकर ज्ञान-प्रचार में लग गया हूँ, परन्तु मैं जिनके हित में लगा हूँ वे ही मुझे गालियाँ देते हैं—मेरी हिंसा पर उतारू हैं। कोई प्रशंसा भी करता है, परन्तु वैरियों की संख्या अधिक है—मेरी हिंसा करनेवाले बहुत हैं। ३. अतः मैं तो **अग्ने**=हे मार्गदर्शक प्रभो! **ते**=तेरा **वन्दारुः**=अभिवादन व स्तुति करनेवाला बनता हूँ और **तन्वम्**=इस प्रजारूप तेरे शरीर को **वन्दे**=नमस्कार करता हूँ। इस प्रजा के अन्दर भी मैं आपका ही रूप देखने का प्रयत्न करता हूँ, अतः उनसे की गई हिंसा से घबराता नहीं।

भावार्थ—हे प्रभो! मुझे शक्ति दीजिए कि मैं प्रजाओं के लिए अपने सर्वस्व को दे सकूँ, उनका प्रकृष्ट भरण करनेवाला बनूँ। वे हिंसा भी करें तो भी मैं उनमें आपका ही रूप देखने का प्रयत्न करूँ।

ऋषिः—सोमाहुतिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

सोमाहुति

स बोधि सूरिर्मघवा वसुपते वसुदावन्।
युयोध्यस्मद् द्वेषांꣳसि विश्वकर्मणे स्वाहा॥४३॥

गत मन्त्र की भावना के अनुसार दीर्घतमा जब सब प्रजाओं में प्रभु का रूप देखता हुआ उनके प्रति आदर की भावनावाला होकर प्रचार-कार्य में लगता है तब यह विनीतता को धारण करने के कारण 'सोम' कहलाता है। सोम (वीर्य) की रक्षा के कारण भी यह 'सोम' कहलाता है और अपने जीवन को अर्पित करने के कारण 'आहुति' होता है। इस प्रकार इसका नाम 'सोमाहुति' हो जाता है। इस सोमाहुति से प्रभु कहते हैं कि (१) **सः बोधि**=वह तू समझदार बन—ज्ञानी बन। ज्ञानी बनकर ही तो यह औरों को ज्ञान देनेवाला बनेगा। २. **सूरिः**=विद्वान् तू (सु प्रेरणे) प्रभु की प्रेरणा को सुननेवाला हो। ३. **मघवा**=तू ज्ञान के ऐश्वर्यवाला अथवा (मघ=मख) यज्ञशील हो। ४. **वसुपते**=हे वसु के पति—ज्ञानैश्वर्य देनेवाले! तू **अस्मत्**=हमसे **द्वेषांसि**=द्वेषों को **युयोधि**=दूर कर अथवा प्रभु के प्रति जो अप्रीति की भावना है (द्विष् अप्रीतौ) उसे तू दूर करनेवाला हो, अर्थात् तू लोगों को प्रकृति-प्रवण न रहने देकर उन्हें प्रभु-प्रवण बनानेवाला हो। ५. **विश्वकर्मणे**=इस प्रकार लोकहित (विश्व-हितकर्मणे, मध्यमपदलोपः) के लिए कर्म करनेवाले के लिए **स्वाहा**=(सु आह) प्रशंसात्मक शब्द कहे जाते हैं। यह लोकहित करनेवाला व्यक्ति प्रशंसा प्राप्त करता है। इसके लिए सभी शुभ शब्दों का प्रयोग करते हैं।

भावार्थ—प्रचारक ने स्वयं 'ज्ञानी, प्रभु-प्रेरणा को सुननेवाला, यज्ञ की वृत्तिवाला' बनना है। ज्ञानैश्वर्य प्राप्त करके ज्ञानैश्वर्य को देनेवाला बनना है। प्रजाओं में से द्वेष को दूर करके प्रेम का प्रसार ही इसका मुख्य ध्येय होना चाहिए। हमारे सब कर्म लोकहित के लिए हों। हमारा जीवन त्यागवाला व प्रशंसनीय हो।

ऋषिः—सोमाहुतिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

सत्य-कामना

पुन॑स्त्वाऽऽदि॒त्या रु॒द्रा वस॑वः॒ समि॑न्धतां॒ पुन॑र्ब्र॒ह्माणो॑ वसुनीथ य॒ज्ञैः।
घृ॒तेन॒ त्वं त॒न्वं᳖ वर्धयस्व स॒त्याः स॑न्तु॒ यज॑मानस्य॒ कामाः॑ ॥४४॥

१. गत मन्त्र के अनुसार 'सोमाहुति' ज्ञानी बना है। ज्ञान ही उसका धन है। इस ज्ञानरूप धन को वह प्रजा में बाँटता है, उसके ज्ञान का स्रोत सूखे नहीं, अतः वह सदा ज्ञानियों के सम्पर्क में रहता है। मन्त्र में कहते है कि **त्वा**=तुझे **आदित्याः**=ब्रह्मज्योति का आदान करनेवाले **रुद्राः**=ब्रह्म के नाम के जप व ध्यान से वासनाओं पर आक्रमण करनेवाले (रोरूयमाणो द्रवति) **वसवः**=नियमित जीवन से अपने निवास को उत्तम बनानेवाले ज्ञानी लोग **पुनः समिन्धताम्**=फिर-फिर ज्ञान से समिद्ध करनेवाले हों। इनके सम्पर्क में आने से तेरी ज्ञान-ज्योति सदा बढ़ती रहे। **वसुनीथ**=हे ज्ञानैश्वर्य को प्राप्त करानेवाले विद्वन्! **ब्रह्माणः**=ब्रह्मवेत्ता लोग **यज्ञैः**=यज्ञों से—अपने सम्पर्कों से तुझे समिद्ध व दीप्त बना डालें, अथवा यज्ञों के द्वारा तेरे जीवन को उज्ज्वल बना दें। ३. **घृतेन**=घृत के द्वारा **त्वम्**=तू **तन्वम्**=अपने शरीर को **वर्धयस्व**=बढ़ा। 'घृ क्षरणदीप्त्योः' नैर्मल्य व दीप्ति का यह घृत तेरे शरीर में लगेगा। 'घृतमायुः' इस वाक्य के अनुसार घृत का ठीक प्रयोग दीर्घजीवन का कारण है। ३. **यजमानस्य** =यज्ञ के स्वभाववाले तेरी **कामाः**=कामनाएँ **सत्याः सन्तु**=सत्य हों, अर्थात् तेरी इच्छाएँ असत्य न हों। तू सदा शुभ कामनाओं का करनेवाला हो। वस्तुतः यज्ञशील पुरुष की सब इच्छाएँ पूर्ण होती हैं, अतः **सत्याः**=तेरी इच्छाएँ सत्य हों, अर्थात् पूर्ण हों।

भावार्थ—१. ज्ञानीपुरुष ज्ञानियों के सम्पर्क में आकर अपने ज्ञान को सदा बढ़ाये, २. घृत आदि सात्त्विक वस्तुओं के प्रयोग से अपने शरीर व जीवन की वृद्धि करनेवाला हो तथा ३. यह कभी असत्य कामनाओं को करनेवाला न हो।

ऋषिः—सोमाहुतिः। **देवता**—पितरः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

वासना-विनाश

अपे॑त॒ वी॒त॒ वि च॑ सर्प॒तातो॒ येऽत्र॒ स्थ पु॒रा॒णा ये च॒ नूत॑नाः।
अदा॑द्य॒मो॒ऽव॒सानं॑ पृथि॒व्याऽअक्र॑न्नि॒मं पि॒तरो॑ लो॒कम॑स्मै॥४५॥

१. गत मन्त्र की समाप्ति 'सत्याः सन्तु.......कामाः' पर थी। हमारी इच्छाएँ सत्य हों, असत्य न हों। उसी के स्पष्टीकरण से प्रस्तुत मन्त्र प्रारम्भ होता है। यहाँ मन्त्र का ऋषि 'सोमाहुति' मन में उत्पन्न होनेवाली अशुभ इच्छाओं व वासनाओं से कहता है कि **ये**=जो भी **अत्र**=यहाँ—मेरे हृदय में **पुराणाः**=देर से चली आ रही अशुभ इच्छाएँ हैं **च**=और **ये**=जो **नूतनाःस्थ**=नवीन वासनाएँ हैं वे सब **अतः अप इत**=यहाँ से दूर चली जाओ। **च**=और **वि+इत**=विविध दिशाओं में भाग जाओ। **विसर्पत**=इधर-उधर विकीर्ण हो जाओ। २. **यमः**=जीवन को नियम में रखनेवाला व्यक्ति **पृथिव्याः**=शरीर से **अवसानम्**=वासनाओं की समाप्ति को **अदात्**=दे, अर्थात् नियमित जीवन के द्वारा इन वासनाओं का अन्त कर दे। वासनाओं को समाप्त करने का प्रकार यही है कि हम अपने जीवन की क्रियाओं को बड़ा नियमित कर लें। यह नियमित जीवन ही संयम को सिद्ध करेगा। ३. **पितरः**=ज्ञान देनेवाले लोग **अस्मै**=इस संयमी पुरुष के लिए **इमं लोकं अक्रन्**=इस लोक को करते हैं। यह संसार संयमी पुरुष के लिए है, वही इसका आनन्द उठा सकता है। असंयमी पुरुष को तो यह संसार खा जाता है।

भावार्थ—हम जीवन से वासनाओं को दूर भगा दें। नियमित जीवन से ही वासना दूर होती है। यह संसार संयमी पुरुष के लिए ही सुखद है।

ऋषिः—सोमाहुतिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

ज्ञान व सेवा

सं॒ज्ञान॑मसि काम॒धर॑णं॒ मयि॑ ते काम॒धर॑णं भूयात्।
अ॒ग्नेर्भस्मा॑स्य॒ग्नेः पुरी॑षमसि॒ चित॑ स्थ परि॒चित॑ऽऊर्ध्व॒चितः॑ श्रयध्वम्॥४६॥

१. प्रभु गत मन्त्र के अनुसार वासनाओं को दूर करनेवाले सोमाहुति से कहते हैं कि **संज्ञानम् असि**=तू उत्तम ज्ञानवाला है। उस ज्ञानवाला है जिस ज्ञान से देवलोग परस्पर प्रेमपूर्वक मिलकर चलते हैं, जिस ज्ञान से वासना 'प्रेम' में परिवर्तित हो जाती है। २. **कामधरणम्**=काम का तू धरणकर्त्ता है—काम को तू नियन्त्रणपूर्वक अपने में धारण करनेवाला है। **मयि**=मुझ प्रभु में **ते**=तेरा **कामधरणम्**=काम (इच्छा) का धारण **भूयात्**=हो, अर्थात् तू मेरी प्राप्ति की कामनावाला बन। जीवन का लक्ष्य प्रभु-प्राप्ति हो। सब क्रियाएँ इसी उद्देश्य से की जाएँ। ३. **अग्नेः**=अग्रेणी प्रभु का तू **भस्म**=दीपन करनेवाला **असि**=है, अर्थात् तू अपने हृदय-मन्दिर में प्रभु की ज्योति को जगाने के लिए प्रयत्नशील रहता है। ४. **अग्नेः पुरीषम् असि**=तू उस प्रभु के (पृ पालनपूरणयोः) पालनात्मक कर्म को करनेवाला है। ५. इस पालनात्मक कर्म को करनेवाले तुम लोग **चितःस्थ**=ज्ञानी हो। ज्ञानी पुरुष ही ठीक

पालन कर पाता है, अज्ञान में तो वह भला करना चाहता हुआ भी बुरा कर बैठता है। ६. **परिचितः**=तुम लोगों के परिचयवाले बनते हो, उनकी मनोवृत्ति को समझते हो। मनोविज्ञान को न समझनेवाले व्यक्ति कल्याण करने के प्रकार में ग़लती कर जाते हैं। ७. **ऊर्ध्वचितः**= उत्कृष्ट ज्ञानवाले हो, अथवा ज्ञान के द्वारा लोगों को उत्कृष्ट स्थिति में प्राप्त करानेवाले हो। ८. **श्रयध्वम्**=(श्रिञ् सेवायाम्) तुम लोगों की सेवा करनेवाले बनो। लोकहित ही तुम्हारे जीवन का उद्देश्य हो।

भावार्थ—ज्ञानी बनो। प्रभु-प्राप्ति की कामना करो। ज्ञानी बनकर लोकसेवक बनो।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

विश्वामित्र

अयꣳसोऽअग्निर्यस्मिन्त्सोममिन्द्रः सुतं दधे जठरे वावशानः।
सहस्रियं वाजमत्यं न सप्तिꣳससवान्त्सन्त्स्तूयसे जातवेदः॥४७॥

१. गत मन्त्र के 'श्रयध्वम्'—'सेवा करो'—इस उपदेश को क्रिया में लानेवाला सोमाहुति प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'विश्वामित्र' बन जाता है। यह सभी के साथ स्नेह करता है। २. **अयम्**=यह **सः अग्निः**=वह नेता होता है, **यस्मिन्**=जिसमें **इन्द्रः**=वह सर्वशक्तिमान् प्रभु **जठरे सुतम्**=जठर में उत्पन्न हुए **सोमम्**=सोम को **दधे**=धारण करता है। सोम की उत्पत्ति तो सभी में होती है, परन्तु उसका धारण सभी में नहीं होता। इसका धारण तो प्रभु-कृपा से ही होता है। प्रभु का स्मरण हमें वासनाओं से ऊपर उठाता है और हम सोम को सुरक्षित कर पाते हैं। इस सोमरक्षा से यह व्यक्ति भी इन्द्र=शक्तिशाली होता है। ३. **वावशानः**=सोम-रक्षा से शक्तिशाली बना हुआ यह सबका भला चाहनेवाला होता है (वश् कान्तौ) ४. यह अपने अन्दर **सहस्रियम्**=(स हस्) सदा उल्लासमय **वाजम्**=शक्ति को **दधे**=धारण करता है। सोम-रक्षा का यह परिणाम क्योंकर न होगा! ५. इस **अत्यं न सप्तिम्**=सतत गतिशील घोड़े के समान व्यक्ति को प्रभु **दधे**=धारण करते हैं। यह प्रभु की प्रजा का धारण करता है और प्रभु इसका धारण करते हैं। धारण के काम में लगा हुआ यह व्यक्ति सतत गतिशील होता है। ६. **ससवान्**=(ससं-अन्न—नि० २।६) यह सदा सस्य का सेवन करनेवाला होता है। 'विश्वामित्र' होता हुआ यह मांसाहार कर ही कैसे सकता है? ७. **जातवेदः**=उत्पन्न हुआ है ज्ञान जिसमें, ऐसा यह व्यक्ति **स्तूयसे**=सदा स्तुत होता है, लोग इसकी प्रशंसा ही करते हैं।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण से हम सोम को सुरक्षित करनेवाले बनें, आनन्दमय शक्ति को धारण करें। अन्नसेवी बनकर ज्ञानी बनें और स्तुत्य जीवनवाले बनें।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

वह ज्ञान (सः भानुः)

अग्ने यत्ते दिवि वर्चः पृथिव्यां यदोषधीष्वप्स्वा यजत्र।
येनान्तरिक्षमुर्वाततन्थ त्वेषः स भानुरर्णवो नृचक्षाः॥४८॥

१. पिछले मन्त्र के अनुसार अन्नभोजन से यह विश्वामित्र स्वस्थ शरीर व स्वस्थ मस्तिष्कवाला बनता है। उसी बात का ध्यान कराते हुए प्रभु इस विश्वामित्र से कहते हैं कि **अग्ने**=हे प्रजावर्ग की उन्नति के साधक! **यत्**=जो **ते**=तेरा **दिवि वर्चः**=मस्तिष्क में तेज

है, अर्थात् ज्ञान का प्रकाश है और **पृथिव्याम्** (पृथिवी शरीरम्)=शरीर में जो तेरा तेज है। २. **यत्**=जो तेज **ओषधीषु अप्सु**=ओषधियों व जलों के कारण है, अर्थात् वानस्पतिक भोजन व पानी के सेवन से जो तेज उत्पन्न हुआ है। ३. **येन**=जिस तेज से **उरु अन्तरिक्षम्**=विशाल हृदयाकाश को हे **यजत्र**=यज्ञों द्वारा अपना त्राण करनेवाले! **आततन्थ**=तू विस्तृत करता है, अर्थात् जिस तेज के कारण तू अपने हृदय को विशाल बनाता है, ४. **सः भानुः**=वह ज्ञान का प्रकाश **त्वेषः**=(त्विष दीप्तौ) तेरे शरीर को तेजस्वी बनानेवाला है **अर्णवः**=गतिवाला है (ऋ गतौ), अर्थात् तुझे क्रियामय जीवनवाला बनाता है तथा **नृचक्षाः**=मनुष्यों को दृष्टि देनेवाला है—उन्हें अपना मार्ग दिखानेवाला है अथवा मनुष्यों का पालन (look after) करनेवाला है।

भावार्थ—वनस्पतियों व जलों का सेवन मनुष्य के शरीर व मस्तिष्क दोनों को तेजस्वी बनाता है, उनके हृदयों को भी विशाल बनाता है। यह सात्त्विक भोजन वह दीप्ति देनेवाला है जो दीप्ति हमारे शरीर को तेजस्वी, क्रियामय व लोकहित-परायण बनाती है।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

परस्तात्-अवस्तात्

अग्ने दिवोऽअर्णमच्छा जिगास्यच्छा देवाँ२॥ऽऊचिषे धिष्ण्या ये।
या रोचने परस्तात् सूर्यस्य याश्चावस्तादुपतिष्ठन्तऽआपः॥४९॥

१. हे **अग्ने**=प्रजाओं की उन्नति के साधक ज्ञानिन्! तू **दिवः अर्णम्**=मस्तिष्क के जल की, अर्थात् ज्ञान की **अच्छ जिगासि**=ओर आता है, अर्थात् अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त करता है। २. इस ज्ञान-प्राप्ति के लिए तू **देवान् अच्छ जिगासि**=देवों की ओर जाता है, विद्वानों के सम्पर्क में आता है। उन विद्वानों के सम्पर्क में आता है **ये**=जो **धिष्ण्या**=(दिधिषन्ति ब्रुवन्ति) ज्ञान के प्रतिपादन में उत्तम हैं। इन विद्वानों द्वारा **ऊचिषे** =ज्ञान दिया जाता है। ये ज्ञानी तुझे ज्ञान देते हैं। ३. ये ज्ञानी वे हैं **याः**=जो **आपः**=आप्त पुरुष होते हुए **रोचने**=ज्ञान द्वारा अन्धकार को दूर करके दीप्त करने में **सूर्यस्य परस्तात्**=सूर्य से भी परे हैं, अर्थात् सूर्य भौतिक संसार को उतना प्रकाशमय नहीं बनाता जितना कि ये आत्मिक संसार को प्रकाशमय बना देते हैं। ४. **याः च**=और ये ज्ञानी वे हैं जो **अवस्तात्**=अपने से निचले स्तरवाले लोगों को **उपतिष्ठन्ते**=सेवित करते हैं, अर्थात् जिन्हें सामान्यतः निचले स्तर पर समझा जाता है उन लोगों की ये सेवा करते हैं।

भावार्थ—ज्ञानी लोग ज्ञान के दृष्टिकोण से सूर्य से भी ऊँचे होते हैं और सेवा करने के लिए अपने मापक को छोड़कर छोटे कहे जानेवाले लोगों में विचरते हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

गुणाष्टक

पुरीष्यासोऽअग्नयः प्रावणेभिः सजोषसः।
जुषन्तां यज्ञमद्रुहोऽनमीवाऽइषो महीः॥५०॥

१. ये विश्वामित्र लोग **पुरीष्यासः**=(पॄ पालनपूरणयोः) पालन व पूरण के कार्य में उत्तम होते हैं। लोकहित के कार्यों में इन्हें आनन्द का अनुभव होता है। २. **अग्नयः**=ये अग्रेणी होते हैं—अपने को उन्नत करते हुए औरों के लिए मार्गदर्शक होते हैं। ३. **प्रावणेभिः**=(प्रुङ्

गतौ) गतिशील व्यक्तियों के साथ **सजोषसः**=मिलकर प्रीतिपूर्वक सेवा-कार्य करनेवाले होते हैं। 'ये औरों के साथ मिलकर कार्य न कर सकें' ऐसा नहीं। जहाँ भी लोगों में उत्साह व गति देखते हैं उनके साथ इनका पूर्ण सहयोग होता है। ४. ये लोग सदा **यज्ञम्**=श्रेष्ठतम कर्मों का ही **जुषन्ताम्**=सेवन करें। इनका जीवन ही यज्ञमय बन जाए। ५. **अद्रुहः**=ये किसी से द्रोह नहीं करते। इनके मन में किसी की हानि की भावना नहीं होती। ६. **अनमीवाः**=मन में हानि व हिंसा की भावना न होने से ही इनके शरीर पूर्ण नीरोग होते हैं, इनके शरीर में आधि-व्याधि नहीं होती। इनके शरीर अमीव-रोग से आक्रान्त नहीं होते। ७. ये स्वस्थ मन व स्वस्थ शरीरवाले व्यक्ति **इषः**=सभी को सुन्दर प्रेरणा देते हैं। सभी का उत्तमता से मार्ग-दर्शन करते हैं और ८. **महीः**=(मह पूजायाम्) ये सदा प्रभु की पूजा करनेवाले होते हैं। प्रभु-पूजा ही इनके जीवनों को सुन्दर बनानेवाली होती है।

भावार्थ—हम भी 'पुरीष्य-अग्नि-सजोषस्-यज्ञसेवी-अद्रुह-अनमीव-इष व मही' बनने का प्रयत्न करें। इन ८ गुणों का उपार्जन करके हम प्रभु-सम्पर्क के अधिकारी बनें। हमारे लिए ये ही योगमार्ग के आठ अङ्ग बन जाएँ।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

वेदवाणी

इडामग्ने पुरुदंसꣳसनिं गोः शश्वत्तमꣳहवमानाय साध।
स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावाग्ने सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे ॥५१॥

१. हे **अग्ने**=प्रकाश प्रदान करनेवाले परमात्मन्! **हवमानाय**=इस पुकारनेवाले—प्रार्थना करनेवाले विश्वामित्र के लिए **इडाम्**=वेदवाणी को **साध**=सिद्ध कीजिए, जो वेदवाणी (क) **पुरुदंसम्**=पालक व पूरक कर्मों का प्रतिपादन करती है (पुरूणि दंसानि कर्माणि या)। वस्तुतः वेदवाणी में ही तो सब कर्त्तव्य कर्मों का प्रतिपादन हुआ है। (ख) **सनिं गोः**=जो ज्ञान-रश्मियों को देनेवाली है। वेद द्वारा सारा ज्ञान व विज्ञान प्राप्त कराया जाता है। (ग) **शश्वत्तमम्**=जो वेदज्ञान अविनश्वर है अथवा (शश प्लुतगतौ) अधिक-से-अधिक क्रियाशील बनानेवाला है। २. हे प्रभो! यह वेदवाणी **नः**=हमें **सूनुः**=उत्तम कर्मों की प्रेरणा देनेवाली हो **तनयः**=हमारे शरीर की शक्तियों का विस्तार करनेवाली **स्यात्**=हो। **विजावा**=विविध शक्तियों के प्रादुर्भाववाली हो। इससे मानस व बौद्ध शक्तियों का भी उत्तम विकास हो। ३. हे प्रभो! **सा ते सुमतिः**=वह आपकी कल्याणी मति **अस्मे भूतु**=हमें भी प्राप्त हो। हम भी इस वेदज्ञान को प्राप्त करके शरीर, मन व बुद्धि का विकास करनेवाले हों।

भावार्थ—वेदज्ञान उत्तम कर्मों का प्रतिपादक है, ज्ञान-विज्ञान को बढ़ानेवाला है तथा हमें क्रियाशील बनानेवाला है। इसे प्राप्त करने से हम शारीर, मानस व बौद्धिक उन्नति करते हुए 'त्रिविक्रम' बनते हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

प्रचारक

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातोऽअरोचथाः।
तं जानन्नग्नऽआ रोहाथा नो वर्धया रयिम् ॥५२॥

१. **अयम्**=गत मन्त्र का विविध स्तुति करनेवाला **ते योनिः**=तेरा उत्पत्ति-स्थान व घर बनता है। इसके जीवन में प्रभु के प्रकाश का उदय होता है। २. **ऋत्वियः**=यह ऋतु

में होनेवाला होता है, अर्थात् प्रत्येक कार्य को अपने समय पर करता है। अथवा ऋतु के अनुकूल कार्यों को करनेवाला होता है। ३. हे प्रभो! यह 'विश्वामित्र' वह है **यतः**=जिससे **जातः**=प्रादुर्भूत हुए-हुए आप **अरोचथाः**=चमकते हो। आपका यह बड़ी सुन्दरता से प्रतिपादन करता है और वास्तव में तो इसका जीवन ही आपका प्रकाश करता है। ४. हे **अग्ने**=नेतृत्व करनेवाले विद्वन्! **तम्**=उस प्रभु को **जानन्**=जानते हुए आप **आरोह** =उन्नति-पथ पर आरूढ़ होओ। प्रभु का ज्ञान हमारे जीवनों को निश्चय से उन्नत करता है। ५. हे विद्वन्! स्वयं उन्नत होकर **अथ**=अब **नः**=हमारी **रयिम्**=ज्ञान-सम्पत्ति को **वर्धय**=बढ़ाइए।

भावार्थ—हमारा हृदय प्रभु के प्रकाशवाला हो। प्रभु का ज्ञान हमारे जीवनों को उन्नत करे। स्वयं उन्नत होकर हम औरों की ज्ञान-सम्पत्ति को भी बढ़ाएँ।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—स्वराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

चित्-परिचित् पत्नी

चिद॑सि तया॑ दे॒वत॑याङ्गिर॒स्वद् ध्रु॒वा सी॑द ।
परि॒चिद॑सि तया॑ दे॒वत॑याङ्गिर॒स्वद् ध्रु॒वा सी॑द ॥५३॥

१. घर में पत्नी भी ज्ञानादि प्राप्त करके प्रभु-स्मरणपूर्वक ध्रुव निवासवाली होती हुई लोककल्याण करनेवाली हो। उसके लिए कहते हैं कि **चित् असि**=तू संज्ञानवाली है—उत्तम ज्ञान को प्राप्त है। २. **तया देवतया**=उस सर्वव्यापक (तन्=विस्तार) दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु के साथ **अङ्गिरस्वत्**=प्राणशक्तिवाली—एक-एक अङ्ग में रसवाली होती हुई तू **ध्रुवा सीद**=ध्रुव होकर रह। प्रभु से दूर न होने का यह स्वाभाविक परिणाम है कि हमारे अङ्ग सूखे काठ की भाँति नहीं हो जाते। प्रभु-स्मरण हमें जीवन में ध्रुवता प्राप्त कराता है, हमारा मन डाँवाँडोल नहीं रहता। ३. **परिचित् असि**=घर में सभी के स्वभाव को पहचाननेवाली है। ठीक बर्ताव के लिए स्वभाव को समझना आवश्यक होता है। स्वभाव को समझकर उत्तमता से बरतती हुई तू **तया देवतया**=उस सर्वव्यापक प्रभु के साथ रहती है—प्रभु का स्मरण बनाये रखती है। ऐसी तू **अङ्गिरसवत्**=एक-एक अङ्ग में रसवाली होती हुई **ध्रुवा सीद**=ध्रुव होकर रह।

भावार्थ—पत्नी संज्ञानवाली तथा स्वभाव के परिज्ञानवाली हो, प्रभु का स्मरण करनेवाली हो, जिससे शक्तिशाली बनी रहे। ध्रुवता से रहनेवाली हो। घर की मर्यादाओं का पालन करती हुई वह गृहस्थ की निरन्तर उन्नति का कारण बने।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

लोकं पृण, छिद्रं पृण

लो॒कं पृ॑ण छि॒द्रं पृ॑णाथो॑ सीद ध्रु॒वा त्वम् ।
इ॒न्द्रा॒ग्नी त्वा॒ बृह॒स्पति॑र॒स्मिन् योना॑वसीषदन् ॥५४॥

१. हे पत्नि! तू **लोकं पृण**=लोक को तृप्त करनेवाली हो। **छिद्रं पृण**=दोष को दूर करनेवाली हो—छेद को भर देनेवाली हो। आदर्श पत्नी अपने व्यवहार से असन्तोष पैदा करने का कारण नहीं बनती। घर में दोषों की वृद्धि नहीं होने देती। २. **अथ**=निश्चय से **त्वम्**=तू **ध्रुवा सीद**=ध्रुव होकर इस घर में बैठ। ध्रुवता के लिए दो बातें आवश्यक हैं—वह अपने व्यवहार से सभी को अप्रसन्न न कर ले तथा दोषों को ही न उघाड़ती फिरे। अपने मधुर

शब्दों व व्यवहारों से सभी को सन्तुष्ट रक्खे तथा दोषों को दूर करने का प्रयत्न करे। ३. **इन्द्राग्नी बृहस्पतिः**=इन्द्र, अग्नि और बृहस्पति **त्वा**=तुझे **अस्मिन् योनौ**=इस घर में अथवा सभी के उत्पत्ति स्थान प्रभु में **असीषदन्**=स्थित करें—बिठाएँ। 'इन्द्र' शब्द जितेन्द्रियता की सूचना देता है—इन्द्रियों का अधिष्ठाता ही 'इन्द्र' है। 'अग्नि' शब्द अग्रेणी को कहता हुआ अग्रगति=progress का बोध करा रहा है। 'बृहस्पति' ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान का सूचक है। 'बृहस्पति' ब्रह्मणस्पति है—वेदज्ञान का पति है। एवं, पत्नि जितेन्द्रिय, उन्नति की भावनावाली तथा उच्च ज्ञान को प्राप्त करनेवाली होगी तभी वह घर में स्थिरतापूर्वक निवासवाली हो सकेगी।

भावार्थ—१. पत्नी घर में सभी को उत्तम भोजनादि व व्यवहार से तृप्त करनेवाली हो। २. दोषों का उद्घाटन न करती फिरे। ३. जितेन्द्रिय हो। ४. उन्नति की भावनावाली हो। तथा ५. ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान को प्राप्त करे।

ऋषिः—प्रियमेधाः। देवता—आपः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

सूददोहसः-पृश्नयः

ताऽअस्य सूददोहसः सोमँ श्रीणन्ति पृश्नयः।
जन्मन्देवानां विशस्त्रिष्वा रोचने दिवः॥५५॥

गत मन्त्र में वर्णन किये जा रहे पत्नी के कर्तव्यों के विषय में ही कहते हैं कि **ताः**=वे **अस्य**=इस घर की—जिस घर में उन्होंने स्थिर होकर रहना है और जिस घर का उन्होंने निर्माण करना है **सूददोहसः**=पाचिका व दोहन करनेवाली हैं, अर्थात् भोजन बनाने व गोदोहन के कार्य को अपने पास ही रखेंगी। भोजन पर सब घरवालों का स्वास्थ्य निर्भर है और गौ को जितने प्रेम से पाला जाएगा उतना ही वह अधिक व उत्तम दूध देगी। २. ये गृहिणियाँ **सोमं श्रीणन्ति**=सौम्य भोजन का ही परिपाक करती हैं। आग्नेय भोजनों से क्रोधादि में वृद्धि होती है, मनोवृत्ति राजस् बनती है, अतः समझदार पत्नी सौम्य भोजन ही पकाती है। ३. पाचन व दोहन की क्रियाओं को करनेवाली गृहिणियाँ इन्हीं कार्यों में ही नहीं उलझी रह जातीं, अपितु **पृश्नयः**=(संस्पृष्टो भासा—नि० २।१४) ये ज्ञान की ज्योति से युक्त होती हैं। घर के कार्यों से निपटते ही ये स्वाध्याय में प्रवृत्त होती हैं और इस प्रकार निरन्तर अपने ज्ञान को बढ़ानेवाली होती हैं। ४. **देवानां जन्मन्**=दिव्य गुणोंवाले सन्तानों को जन्म देने के निमित्त ये **त्रिषु विशः**=तीनों में प्रवेश करनेवाली होती हैं। शरीर, मन व बुद्धि तीनों का ही ये विकास करती हैं। नीरोगता के लिए शरीर का विकास, निर्मलता के लिए मन का विकास और बुद्धि की तीव्रता के लिए मस्तिष्क का विकास आवश्यक है। त्रिविध उन्नति को प्राप्त माता ही 'त्रिविक्रम' सन्तान को जन्म दे पाएगी। ५. इस प्रकार त्रिविध उन्नति में लगी हुई माता **दिवः आरोचने**=मस्तिष्करूप द्युलोक के आरोचन में प्रवृत्त होती है। यह ज्ञान-विज्ञान से अपने मस्तिष्क को दीप्त करती है। इसके मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान का सूर्य चमकता है तो विज्ञानरूप नक्षत्र भी इसके आरोचन (adornment) का कारण बनते हैं।

भावार्थ—पत्नी ने घर के कार्यों के साथ ज्ञान की ज्योति को प्रज्वलित करने का प्रयत्न करना है। पत्नी पकाये, दूध दुहे और पढ़े। दिव्य सन्तानों के जन्म देने का यही उपाय है कि शरीर, मन व बुद्धि का विकास किया जाए। मस्तिष्करूप द्युलोक को

आरोचित करना पत्नी का मुख्य उद्देश्य हो। इसी उद्देश्य से वह सदा सौम्य भोजनों का परिपाक करे। ज्ञान-प्राप्ति को मुख्यता देनेवाली यह सचमुच 'प्रियमेधाः' है।

ऋषिः—सुतजेतृमधुच्छन्दाः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

समुद्रव्यचसं प्रभु

इन्द्रं विश्वाऽअवीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः।
रथीतमꣳरथीनां वाजानाꣳसत्पतिं पतिम्॥५६॥

१. गत मन्त्र की मूल भावना यह है कि एक आदर्श गृहिणी ने अपना मन 'पाचन, गोपालन व पठन' में लगाना है। इस प्रकार उत्तम इच्छाओं के बनाये रखने के लिए मन का विजय अत्यन्त आवश्यक है। मनो-विजय के बिना यह सम्भव नहीं। मन का जीतनेवाला ही 'जेता' है। यह सदा **माधुच्छन्दस्**=अत्यन्त उत्तम इच्छाओंवाला होता है। २. ऐसा बना रहने के लिए यह प्रभु-स्तवन करता है और कहता है कि **विश्वः गिरः**=वेद की सब वाणियाँ **इन्द्रम्**=परमात्मा को **अवीवृधन्**=बढ़ाती हैं—इस प्रभु की स्तुति करती हैं जो प्रभु ३. **समुद्रव्यचसम्**=सदा आनन्दमय है (स+मुद्) तथा अधिक-से-अधिक **सम्**=विस्तारवाले हैं। वस्तुतः 'यो वै भूमा तत्सुखम्'=विस्तार ही आनन्द है। ४. **रथीनाम्**=रथवालों में **रथीतमम्**=सर्वोत्तम रथवाले हैं। इस प्रभु के रथ में बैठकर ही हम भी अपनी जीवन-यात्रा को सहज में पूरा कर सकते हैं। ५. **वाजाना पतिम्**=वे प्रभु सब वाजों=शक्तियों व ज्ञानों के **पतिम्**=पति हैं। वे प्रभु सर्वशक्तिमान् व सर्वज्ञ हैं। हमारा भला करने में वे पूर्ण समर्थ हैं ६. **सत्पतिम्**=वे प्रभु सदा सज्जनों के रक्षक हैं। हम सत् बनें प्रभु हमारे रक्षक होंगे। 'सत्' बनने का संकेत यह है कि (क) **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय बनो। (ख) **समुद्रव्यचसम्**=सदा आनन्द में रहो तथा दिल को छोटा न करो। (ग) **रथीतमम्**=इस शरीर को प्रभु का दिया हुआ रथ समझें और इसे ठीक रखते हुए इसके द्वारा पार पहुँचने पर पीड़ित लोगों का दुःख दूर करने में प्रवृत्त हों।

भावार्थ—इस वासनामय जगत् में प्रभु का नाम-स्मरण ही हमें जेता बनाता है। उस प्रभु को ही हम अपना रथ जानें। वे प्रभु ही सत्पति हैं, वाजपति हैं। प्रभु-सम्पर्क से ही हमें शक्ति प्राप्त होती है।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगुष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

एकत्व का संकल्प

समितꣳसं कल्पेथाꣳसंप्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ।
इषमूर्जमभि संवसानौ॥५७॥

१. 'प्रभु का स्तवन करते हुए ये पति-पत्नी क्या करें?' प्रभु कहते हैं कि **समितम्**=सं इतम्=मिलकर चलने का **संकल्पेथाम्**=संकल्प करें। इनके कर्म कभी विरोधी न हों। २. **संप्रियौ**=ये परस्पर उत्तम प्रेमवाले हों। ३. **रोचिष्णू**=संसार में शोभावाले हों। परस्पर प्रेम होने पर ही इनकी शोभा होती है। ४. **सुमनस्यमानौ**=सदा उत्तम मनवालों की भाँति आचरण करनेवाले, शुभ चिन्तन करनेवाले तुम होओ। ५. इस मन की उत्तमता के लिए (क) **इषम्**=अन्न को तथा **ऊर्जम्**=रस को **अभिसंवसानौ**=(अभ्यवहरन्तौ—उ०) सेवन करनेवाले बनो। अन्न-रस का सेवन ही हमें धर्म में स्थिर मति प्राप्त कराता है। आहारशुद्धि सत्त्वशुद्धि का कारण है। अथवा (ख) **इषम्**=उस प्रभु की प्रेरणा को तथा **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति

को **अभिसंवसानौ**=सम्यक्तया धारण करनेवाले बनो। उस प्रभु की प्रेरणा को सुनो। उसके अनुसार चलने से तुम्हें बल व प्राणशक्ति प्राप्त हो।

भावार्थ—'मधुच्छन्दा'=उत्तम इच्छाओंवाले पति-पत्नी १. मिलकर चलते हैं २. परस्पर प्रेमवाले होते हैं ३. शोभा देनेवाले कार्यों को ही करते हैं ४. उत्तम मनवाले होते हैं ५. अन्न-रस का सेवन करते हैं अथवा प्रभु की प्रेरणा को सुनकर बल व प्राणशक्ति को धारण करते हैं।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगुपरिष्टाद्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

मनों, व्रतों व चित्तों की एकता

सं वां मनांꣳसि सं व्रता समु चित्तान्याकरम्।
अग्ने पुरीष्याधिपा भव त्वं नऽइषमूर्जं यजमानाय धेहि ॥५८॥

१. **वाम्**=तुम दोनों के **मनांसि**=मनों को **सम् आकरम्**=सङ्गत करता हूँ। तुम्हारे मन मिले हुए हों। उनमें परस्पर विरोध व वैमनस्य न हो। २. **वाम्**=तुम दोनों के **व्रता**=व्रतों को **सम् आ अकरम्**=एक करता हूँ। **'नियमः पुण्यकं व्रतम्'**=नियम ही व्रत हैं—दोनों के नियम एक-से हों। यदि एक-दूसरे के नियम परस्पर विरुद्ध होंगे तो घर कैसे चल पाएगा? ३. **उ**=और **चित्तानि**=तुम्हारे चित्तों को **सम् आकरम्**=मेलवाला करता हूँ। ४. अब पति के लिए विशेषरूप से कहते हैं कि हे **अग्ने**=सब घर की उन्नति करनेवाले ! **पुरीष्यम्**=पालन करनेवालों में उत्तम! **त्वम्**=तू **नः अधिपाः**=हम सब घरवालों का अधिष्ठाता व रक्षा करनेवाला **भव**=हो। 'पति' शब्द का अर्थ ही रक्षा करनेवाला है। इसने अपने पति नाम को चरितार्थ करने के लिए गृहरक्षा के भार को अपने कन्धे पर लेना है। **यजमानाय**=अपने सम्पर्क में आनेवाले के लिए तू **इषम्**=अन्न को **ऊर्जम्**=रस को **धेहि**=धारण करनेवाला बन। घर के सभी सभ्यों को उचित खान-पान प्राप्त कराने का बोझ गृहपति के कन्धों पर ही होता है। घर में पत्नी है, सन्तान हैं, माता-पिता व अन्य आये-गये जो भी बन्धु हैं, सभी के भोजन का भार इसी ने वहन करना है। **यज**=(सङ्गतीकरण)

भावार्थ—पति-पत्नी के मन, व्रत व चित्त मिले हुए हों। पति 'अग्नि व पुरीष्य' होता हुआ गृह-रक्षक बने। घर में किसी को खान-पान में कमी न रह जाए।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगुष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

शिव-ही-शिव

अग्ने त्वं पुरीष्यो रयिमान् पुष्टिमाँ२॥ऽअसि।
शिवाः कृत्वा दिशः सर्वाः स्वं योनिमिहासदः ॥५९॥

पिछले मन्त्र की भावना को ही विस्तार से कहते हैं—१. **अग्ने**=हे घर की उन्नति के साधक पुरुष! **त्वम्**=तू **पुरीष्यः**=पालन करनेवालों में उत्तम है। २. **रयिमान्**=धनवाला है। बिना धन के यह पालन कैसे कर सकेगा? ३. **पुष्टिमान् असि**=तू पुष्टिवाला है। स्वयं निर्बल होने पर वह औरों के पालन के बोझ को अपने कन्धों पर कैसे ले सकता है? ४. तू **सर्वाः दिशः शिवाः कृत्वा**=सब दिशाओं को कल्याणमय करके, अर्थात् सब दृष्टिकोणों से घर का कल्याण सिद्ध करके **इह**=यहाँ **स्वं योनिम्**=अपने घर में **आसदः**=आसीन हो। खान-पान, वस्त्र-शिक्षा व घर की अन्य सब आवश्यकताओं के दृष्टिकोण से घर में किसी

प्रकार की कमी न हो। यह सब दिशाओं का शिव करना है। यदि कोई बच्चा भूख से रो रहा हो, दूसरा ठण्ड में वस्त्राभाव से ठिठुर रहा हो और कोई बीमारी में औषध न मिल सकने से परेशान हो और चौथा स्कूल की फ़ीस के लिए आग्रह कर रहा हो तो यह घर तो सब दिशाओं में अशिव-ही-अशिववाला हो जाएगा। घर को मङ्गलमय बनाना पति का मुख्य उद्देश्य होना चाहिए।

भावार्थ—गृह के मुखिया को 'रयि व पुष्टिमान्' होना चाहिए, जिससे घर में सर्वत्र शिव-ही-शिव हो।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—दम्पती। **छन्दः**—आर्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

प्रभु का बनने का उपाय

भवतं नः समनसौ सचेतसावरेपसौ।
मा यज्ञꣳहिꣳसिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः ॥६०॥

प्रभु कहते हैं कि १. **भवतं नः**=हे पति-पत्नी तुम दोनों हमारे बनकर रहो। २. हमारे बनने का उपाय यह है कि तुम **समनसौ**=समान मनवाले होओ। तुम्हारी इच्छाएँ एक-सी हों। दो पात्रों के जलों के मिलने की भाँति तुम्हारे मन मिल जाएँ। ३. तुम **सचेतसौ**=एक ही इष्टदेव का ध्यान करनेवाले होओ। तुम्हारा ज्ञान एक-सा हो। ४. **अरेपसौ**=तुम दोषरहित होकर क्रमशः पत्नीव्रत व पतिव्रत के पालन करनेवाले बनो। ५. अपने इस गृहस्थ जीवन में **यज्ञं मा हिंसिष्टम्**=यज्ञ की हिंसा न करो। तुम्हारा यज्ञ निर्विघ्न व अविच्छिन्न बना रहे। ६. **यज्ञपतिम्**=यज्ञों के रक्षक प्रभु को **मा**=मत हिंसित करो। प्रभु को भूलकर अपने को ही यज्ञों का करनेवाला मत समझ बैठो। ये सब उत्तम कार्य तो तुम्हारे माध्यम से प्रभु ही कर रहे हैं। ७. **जातवेदसौ** (वेदस्=wealth)=गृहस्थ के सञ्चालन के लिए उत्पन्न किये हुए धनवाले बनो, अर्थात् स्वयं पुरुषार्थ से धन कमानेवाले बनो। ८. **शिवौ भवतम्**=धन कमाकर लोककल्याण करनेवाले बनो। धन के मद में औरों का अशुभ न करो। ९. ऐसा करते हो तो **अद्य**=आज तुम **नः**=हमारे हुए हो। प्रभु का बनने के लिए 'समनसौ, सचेतसौ, अरेपसौ, यज्ञाहिंसकौ, यज्ञपतिस्मर्तारौ, जातवेदसौ व शिवौ' बनना है।

भावार्थ—प्रभु के वे ही बनते हैं जो पति-पत्नी समान मनवाले, समान चित्तवाले, निर्दोष, यज्ञशील, प्रभु के प्रति अपने को अर्पण करनेवाले, धन को उत्पन्न करनेवाले व कल्याणकर होते हैं।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—पत्नी। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

पत्नी-पति एक-दूसरे का ध्यान करें

मातेव पुत्रं पृथिवी पुरीष्यमग्निꣳस्वे योनावभारुखा।
तां विश्वैर्देवैर्ऋतुभिः संविदानः प्रजापतिर्विश्वकर्मा वि मुञ्चतु ॥६१॥

पत्नी के लिए कहते हैं कि १. **उखा**=जिसके हृदय से वासना का उत्खनन हो गया है (उत्खन्यते) अर्थात् जिसका हृदय पवित्र है, वह **पृथिवी**=विशाल हृदयवाली पत्नी **पुरीष्यम्**=पालन करनेवालों में उत्तम **अग्निम्**=घर की उन्नति के साधक पति को **स्वे योनौ**=अपने घर में इस प्रकार उत्तम भोजनादि से **अभाः**=भृत व पोषित करती है **इव**=जैसे **माता पुत्रम्**=माता पुत्र को। माता पुत्र का अधिक-से-अधिक ध्यान करती है, इसी प्रकार पत्नी ने पति का ध्यान करना है। पति घर के पालन-पोषण के लिए धन कमाने में लगा हुआ

है, उसका यह कार्य तभी ठीक प्रकार से चल सकता है जब पत्नी उसके उचित भोजनादि का ध्यान करते हुए उसे अस्वस्थ व चिन्तित न होने दे।

पति के लिए कहते हैं कि २. **ताम्**=उस पत्नी को **विश्वैः देवैः ऋतुभिः संविदानः**=सब देवों व ऋतुओं से संज्ञान प्राप्त करता हुआ, अर्थात् उनकी अनुकूलता को सिद्ध करता हुआ, अतएव पूर्णतया स्वस्थ पति **प्रजापतिः**=प्रजा व सन्तान की रक्षा करता हुआ **विश्वकर्मा**=जीविकोपयोगी सब कार्यों को करनेवाला बनकर **विमुञ्चतु**=नमक, तेल व ईंधन आदि की चिन्ता से मुक्त कर दे। यहाँ यह स्पष्ट है कि (क) माता को नमक आदि की चिन्ता न करनी पड़े, उसे धनार्जन के लिए समय न देना पड़े। (ख) पति अस्वस्थ न हो। ऐसा होने की अवस्था में पत्नी का सारा समय उसकी सेवा में ही समाप्त हो जाएगा और वह बच्चों का ध्यान न कर पाएगी। (ग) स्वास्थ्य के लिए सूर्य, वायु आदि देवों की व ऋतुओं की अनुकूलता आवश्यक है।

भावार्थ—पत्नी पति की आवश्यकताओं का पूर्ण ध्यान करे। पति स्वस्थ रहता हुआ और उचित धनार्जन करता हुआ पत्नी पर घर की चिन्ता का भार न पड़ने दे।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—निर्ऋतिः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

निर्ऋति का मार्ग

अ॒सु॒न्व॒न्त॒मय॑जमानमिच्छ स्ते॒नस्ये॒त्यामन्वि॑हि॒ तस्क॑रस्य।
अ॒न्यम॒स्मदि॑च्छ॒ सा त॑ऽइ॒त्या नमो॑ देवि निर्ऋते॒ तुभ्य॑मस्तु॥६२॥

१. 'निर्ऋति' शब्द निरुक्त २।८ के अनुसार 'कृच्छ्रापत्ति'=मुसीबत का बोधक है। 'पाप्मा वै निर्ऋतिः' श० ७।२।१।११ 'घोरा वै निर्ऋतिः'—श० ७।२।१।११—इन शतपथ वाक्यों से भी वही भाव व्यक्त हो रहा है। इस 'निर्ऋति' को पुरुषविध (personify) करके सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि हे **निर्ऋते**=दुर्गते! तू **इच्छ**=इच्छा कर। किसकी? (क) **असुन्वन्तम्**=सोमाभिषव न करनेवाले की। 'जो सोमयज्ञ नहीं करता' उस पुरुष की तू कामना कर। बड़े-बड़े यज्ञ, जिनमें सोमाहुति दी जाती है, सोमयज्ञ कहलाते हैं। 'असुन्वन्तं' की भावना हृदयदेश में सोम-प्रभु का ध्यान न करनेवाले की भी है। जो प्रभु का ध्यान नहीं करते वे दुर्गति में पड़ते ही हैं। (ख) **अयजमानम्**=हे निर्ऋते! तू अयजमान की कामना कर। तेरा आक्रमण यज्ञ न करनेवाले पर हो। 'देवपूजा, सङ्गतीकरण व दान' से दूर रहनेवाला पुरुष ही दुर्गति को प्राप्त करे। २. हे निर्ऋते! तू **इत्याम् अनु इहि**=मार्ग के पीछे जा। किस मार्ग के? उस मार्ग के (क) **स्तेनस्य**=गुप्त चोर के पीछे। जो रात्रि के समय सेंध आदि लगाकर दूसरों के धन को चुराता है, वह दुर्गति को प्राप्त करे। (ख) **तस्करस्य**=प्रकट चोर के मार्ग के पीछे तू जा। लुटेरे-डाकुओं को दुर्गति प्राप्त हो। ३. **अस्मत् अन्यम्**=हम जो कि 'सोमाभिषव करनेवाले, यज्ञशील, अस्तेय धर्म का पालन करनेवाले, अहिंसक' हैं उनसे भिन्न व्यक्ति ही **इच्छ**=तेरी कामना का विषय बने। **सा ते इत्या**=वही तेरा मार्ग है, अर्थात् तुझे तो 'परमेश्वर को न माननेवाले अयज्ञशील, चोर व डाकुओं' के मार्ग पर ही जाना है। तेरे दण्डनीय वे ही व्यक्ति हैं। ४. हे **देवि**=दण्ड के द्वारा दमन करके सबको शुभ मार्ग पर लानेवाली कष्टदेवि! **तुभ्यं नमः अस्तु**=हम तुझे नमस्कार करते हैं। 'सम्यक् प्रणीत हुआ दण्ड सब प्रजाओं का रञ्जन करता है। एवं, प्रभु से दी गई आपत्तियाँ भी विशेष महत्त्व रखती हैं। वे मानव-जीवन के सुधार के लिए आवश्यक हैं।

भावार्थ—दुर्गति के भागी वे होते हैं जो प्रभु का ध्यान नहीं करते, यज्ञशील नहीं होते, चोरी व डाका जिनका पेशा बन जाता है।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—निर्ऋतिः। **छन्दः**—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

'यम-यमी' व निर्ऋति

नमः सु ते निर्ऋते तिग्मतेजोऽयस्मयं विचृता बन्धमेतम्।
यमेन त्वं यम्या संविदानोत्तमे नाकेऽअधि रोहयैनम्॥६३॥

१. हे **तिग्मतेजः**=तीव्र तेजवाली **निर्ऋते**=आपत्ते! हम **ते**=तेरे लिए **सु**=उत्तमता से **नमः**=नतमस्तक होते हैं। तू **एतम्**=इस **अयस्मयं बन्धनम्**=लोहमय बन्धन को **विचृत**=छिन्न कर दे। आपत्ति व कष्ट का दर्शन यह है कि यह आपत्ति मनुष्य को पाप के बन्धन से मुक्त करने के लिए आती है। 'साम, दाम, भेद, दण्ड' ये चार ही उपाय हैं। जब इनमें से प्रथम तीन उपायों से कार्य नहीं चलता तब प्रभु 'दण्ड' रूप चौथे उपाय का प्रयोग करते हैं। इन्हीं दण्डों को हम कष्ट व आपत्ति कहते हैं। इस आपत्ति का तेज अत्यन्त तीव्र है। यह हमारे लोहे के समान दृढ़ विषय-बन्धनों को भी काट देता है। २. यह निर्ऋति=कृच्छ्रापत्ति उन्हीं को पीड़ित नहीं करती जिनका जीवन संयमी होता है। उनके साथ तो मानो आपत्ति का समझौता-सा हुआ हो। हे निर्ऋते! **त्वम्**=तू **यमेन**=संयमी जीवनवाले पुरुष से तथा **यम्या**=संयमी जीवनवाली स्त्री से **संविदाना**=संज्ञान व समझौते को प्राप्त हुई **एनम्**=इसे **उत्तमे नाके**=सर्वोत्कृष्ट स्वर्ग में **अधिरोह**=स्थापित कर। वस्तुतः संयम ही वह गुण है जो हमें कष्टों से बचाकर सुखमय स्थिति में रखता है।

भावार्थ—प्रभु के दण्ड भी आदरणीय हैं। वे हमें विषयों के लोह-समान दृढ़ बन्धनों से भी मुक्त करते हैं। विषयों से मुक्त होकर संयमी जीवनवाले बनकर ही हम स्वर्ग के अधिकारी होते हैं।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—निर्ऋतिः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

कष्ट का उद्देश्य—बन्धावसर्जन

यस्यास्ते घोरऽआसन् जुहोम्येषां बन्धानामवसर्जनाय।
यां त्वा जनो भूमिरिति प्रमन्दते निर्ऋतिं त्वाहं परि वेद विश्वतः॥६४॥

१. प्रभु निर्ऋति से कहते हैं कि **एषाम्**=इन **बन्धानाम्**=बन्धों के **अवसर्जनाय**=छुड़ाने के लिए **यस्याः ते**=जिस तेरे **घोरे आसन्**=भयंकर मुख में **जुहोमि**=इन प्राणियों की मैं आहुति देता हूँ, अर्थात् मैं प्राणियों को कष्ट केवल इसलिए प्राप्त कराता हूँ कि वे विषयों के बन्धन से मुक्त हो जाएँ। विषयभोग का परिणाम रोग है। यह अनुभव लेकर ही तो वे विषयों से भयभीत होते हैं और उनसे दूर होते हैं। २. **यां त्वा**='जिस तुझमें **जनः**=मनुष्य **भूमिः इति**=(भवन्ति भूतानि यस्याम्) पड़ते ही हैं' इस प्रकार **प्रमन्दते**=स्तुति करता है, अर्थात् मनुष्य सोचता है कि आपत्ति तो सबपर आती ही है, उससे तो कोई बच ही नहीं सकता। ३. परन्तु **अहम्**=मैं (प्रभु) **त्वा**=तुझे **विश्वतः**=सब दृष्टिकोणों से **निर्ऋतिं परिवेद**=दुर्गति के रूप में जानता हूँ। वस्तुतः दुर्गति=दुराचार के कारण ही तो होती है। दुराचार न होगा तो कष्ट भी न होंगे। निर्ऋति का तो शब्दार्थ ही दुराचार है। दुराचार का परिणाम कष्ट है, अतः निर्ऋति 'कष्ट' बोधक हो गया है। यह समझकर कि 'ये तो होते

ही हैं', मनुष्य इनको दूर करने के लिए अपने आचरण को नहीं सुधारता। यह सुधार तो तभी आएगा जब मनुष्य कष्ट को दुराचार के परिणामरूप में देखेगा। इन शब्दों में प्रभु जीव से यह कहते प्रतीत होते हैं कि हे मनुष्य! तू कष्टों को भाग्य का खेल न समझ, ये तो निश्चितरूप से पाप का ही परिणाम हैं। तू पाप से ऊपर उठ, कष्टों से स्वतः ऊपर उठ जाएगा। विषय-बन्धनों के हटाने के लिए ही मैं तुझे आपत्ति के मुख में धकेलता हूँ।

भावार्थ—प्रभु से दिये गये सब दण्ड सुधारात्मक हैं। 'वे अवश्य आते ही हों' ऐसी बात नहीं हैं। मनुष्य का आचरणदोष होने पर ही वह निर्ऋति से आक्रान्त होता है।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—यजमानः। **छन्दः**—आर्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

निर्ऋति का पाश, निर्ऋति व भूति

यं ते॑ दे॒वी निर्ऋ॑तिराब॒बन्ध॒ पाशं॑ ग्री॒वास्व॑विचृ॒त्यम्। तं ते॒ विष्या॑म्यायु॑षो॒ न मध्या॑दथै॒तं पि॒तुम॑द्धि॒ प्रसू॑तः। नमो॒ भूत्यै॒ येदं च॒कार॑॥६५॥

१. निर्ऋति=कृच्छ्रापत्ति=कष्ट की प्राप्ति भी 'देवी' है, क्योंकि यह मनुष्य को बुराइयों से हटाकर अच्छाइयों में प्रवृत्त करती है। प्रभु कहते हैं कि हे जीव! यह **देवी निर्ऋतिः**=दिव्य गुणों को प्राप्त करानेवाली कृच्छ्रापत्ति **ते ग्रीवासु**=तेरी गर्दन में **यम्**=जिस **अविचृत्यम्**=अच्छेद्य **पाशम्**=बन्धन को **आबबन्ध**=बाँधती है, **ते**=तेरे **तम्**=उस बन्धन को **विष्यामि**=मैं समाप्त करता हूँ, जिससे **आयुषो न मध्यात्**=जीवन के मध्य से ही तू चला न जाए। असह्य कष्ट से कहीं मनुष्य अपने को समाप्त ही न कर ले, अतः प्रभु कहते हैं कि मैं तुझे कष्ट में तो डालता हूँ, परन्तु इतना भी अच्छेद्य कष्ट नहीं दे देता कि कहीं तू जीवन को भार समझने लगे और उसे समाप्त ही कर डाले। निरन्तर कष्टों से आयुष्य भी तो क्षीण हो जाता है। २. **अथ**=अब, एक बार कष्ट का अनुभव ले-लेने के बाद तो **प्रसूतः**=वेदवाणी द्वारा प्रेरणा दिया हुआ तू **पितुम्**=अन्न को **अद्धि**=खा, क्योंकि इस अन्न से ही मन बनेगा। सात्त्विक अन्न से मन भी सात्त्विक बनेगा। **'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः'**। ३. सात्त्विक अन्तः-करणवाला बनकर यह 'मधुच्छन्दाः' कह उठता है कि **भूत्यै**=परमेश्वर के उस ऐश्वर्य व महिमा के लिए **नमः**=हम नतमस्तक होते हैं **या**=जो प्रभु का ऐश्वर्य **इदम्**=इस अद्भुत संसारक्रम को **चकार**=बनाता है। जीवन का सामान्य क्रम यही होता है कि (क) मनुष्य विषयों की ओर झुकता है। (ख) कष्ट भोगता है। (ग) वास्तविकता को जानकर फिर विषयों से ऊपर उठ जाता है और सात्त्विक अन्न का प्रयोग करते हुए चित्तवृत्ति को सात्त्विक बना लेता है। बन्धन समाप्त हो जाते हैं। निर्ऋति का बन्धन तो विषयों से ऊपर उठाने के लिए ही है। एवं, प्रभु का दिया दण्ड भी हमारी अमरता के लिए ही है। **'मृत्युः अमृतम्'**=मृत्यु भी अमृत है, निर्ऋति भी भूति (कल्याण) हो जाती है।

भावार्थ—कष्टों का पाश सुगतमा से नहीं टूटता। यह तो विषय-पाश के छिन्न होने से ही छिन्न होगा। विषय-निवृत्ति कष्ट-निवृत्ति का कारण है।

ऋषिः—विश्वावसुः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

'विश्वावसु' का जीवन

नि॒वेश॑नः स॒ङ्गम॑नो॒ वसू॑नां॒ विश्वा॑ रू॒पाऽभिच॑ष्टे॒ शची॑भिः।
दे॒वऽइ॑व सवि॒ता स॒त्यध॑र्मे॒न्द्रो॒ न त॑स्थौ स॒म॒रे प॑थी॒नाम्॥६६॥

१. गत मन्त्र के अनुसार प्रभु से दी गई 'निर्ऋति'=कृच्छ्रापत्ति भी जीव की 'भूति'

का कारण बन जाती है। जीवन के अन्दर सब उत्तम गुणों को प्राप्त करके यह व्यक्ति 'विश्वावसु' बन जाता है—'सम्पूर्ण उत्तम ऐश्वर्योंवाला' अथवा 'विश्व को ही अपने में बसानेवाला'। यहीं से प्रस्तुत मन्त्र का प्रारम्भ होता है कि **निवेशनः** (निविशन्ते अस्मिन्)=इसमें सभी प्राणियों का समावेश हो जाता है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का माननेवाला तो यह हो ही गया है। २. **सङ्गमनः**=सबके साथ मिलकर चलता है। यह विरोध की भावना को पैदा नहीं करता। इसकी क्रियाएँ वैर को दूर करके मेल करनेवाली होती हैं। ३. **शचीभिः**=अपने प्रज्ञानों व कर्मों से यह **वसूनाम्**=निवास के लिए आवश्यक धनों के **विश्वा रूपा**= 'अन्न-वस्त्र-गृह-पशु' आदि सब रूपों को **अभिचष्टे**=देखता है, अर्थात् यह अपने जीवन में बुद्धिपूर्वक कर्म करता हुआ निवास के लिए आवश्यक विविध वस्तुओं को जुटानेवाला होता है। यह अन्याय्य उपायों से धनों के संग्रह में नहीं लगता। ४. इस प्रकार यह **देवः इव**=देवता-सा प्रतीत होने लगता है। लोग ऐसा अनुभव करते हैं और कहते हैं कि 'यह मनुष्य थोड़े ही है, यह तो देवता है'। ५. **सविता**=यह सदा ('सु'=sow उत्पादन) निर्माण के कार्यों में प्रवृत्त रहता है—उत्तम गुणों के बीजों को ही सर्वत्र बोने का ध्यान करता है। ६. **सत्यधर्मे**=सदा सत्य-धारणात्मक कर्मों को करनेवाला होता है। ७. **इन्द्रः न**=इन्द्र के समान यह बन जाता है। प्रभु तो परमेश्वर्यशाली हैं ही, यह भी प्रभु का ही एक छोटा रूप प्रतीत होने लगता है, जितेन्द्रिय बनकर इसने त्रिभुवन को ही जीत लिया है। ८. यह **समरे**=आध्यात्मिक संग्राम में **पथीनाम्**=काम-क्रोधादि वैरियों का **तस्थौ**=डटकर मुक़ाबला करता है, उनसे पराजित नहीं होता। वस्तुतः इसीलिए तो यह 'विश्वावसु' बना है।

भावार्थ—हम सभी संसार को अपनी 'मैं' में समाविष्ट करनेवाले बनें। काम-क्रोधादि को जीतें और अपने पिता प्रभु के अनुरूप होने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—विश्वावसुः। **देवता**—कृषीवलाः कवयो वा। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

धीर कृषक

सीरा॑ युञ्जन्ति क॒वयो॑ यु॒गा वि त॑न्वते॒ पृथ॑क्। धीरा॑ दे॒वेषु॑ सुम्न॒या ॥६७॥

१. गत मन्त्र में प्रज्ञापूर्वक कर्मों से धनों के अर्जन का उल्लेख है। सबसे अधिक समझदारी व ईमानदारी का काम 'कृषि' है। प्राचीन संस्कृति में वैश्य के कर्मों का प्रारम्भ 'कृषि' से ही था—'**कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्**'। वेद में कृषि को ही निर्माणात्मक कर्मों का प्रतीक माना गया है '**अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व**', अतः विश्वावसुओं के कृषिकर्म का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि २. **कवयः**=क्रान्तदर्शी व गहराई तक सोचनेवाले पुरुष जीवन-यात्रा के लिए **सीराः**=हलों को **युञ्जन्ति**=जोड़ते हैं। वस्तुतः यह कृषिकर्म अधिक-से-अधिक निर्दोष व अत्यन्त आवश्यक कर्म है—(क) इसमें एक मनुष्य पूर्ण परिश्रम से ही कमाई करता है। (ख) इसमें समाज में बेकारी का प्रश्न उत्पन्न नहीं होता। (ग) धनों के केन्द्रित हो जाने का भय भी उत्पन्न नहीं होता। (घ) उचित व्यायाम के कारण शरीर भी दृढ़ बना रहता है। (ङ) खुली वायु में रहने का प्रसङ्ग बना रहता है। (च) भूमि माता से व प्रकृति से हमारा सम्पर्क रहता है। उत्पन्न हुए विविध अन्न व वनस्पतियों में प्रभु की महिमा दृष्टिगोचर होती है। ३. इन सब कारणों से ही **धीराः**=ये धीर विद्वान् **पृथक्**=अलग-अलग **युगा वितन्वते**=जुओं का विस्तार करते हैं। **देवेषु**=इन्हीं पृथिवी, जल आदि देवों में ही, अर्थात् इन्हीं के सहारे **सुम्नया**=सुख की प्राप्ति के हेतु से वे कृषि करते हैं, देवों से उनका सम्पर्क बना रहता है। यह देवसम्पर्क

ही वस्तुतः उन्हें धीर बनाता है। ये बहादुर=brave होते हैं, स्थिर steady वृत्ति के बनते हैं, दृढ़निश्चयी strong minded होते हैं, शान्त composed होते हैं, गम्भीर grave बनते हैं, शक्तिशाली energetic होते हैं, समझदार sensible बनते हैं, शिष्टाचारवाले well behaved होते हैं (निरभिमानता के कारण) सभ्य gentle और सदा भद्रता से पेश आते हैं। ४. (क) मन्त्रार्थ में 'पृथक्' शब्द सामूहिक कृषि का कुछ विरोध-सा कर रहा है। सामूहिक कृषि में आलस्य की भावना तो उत्पन्न हो ही सकती है, अतः सभी को अपना कार्य स्वयं करना है। (ख) कृषक जीवन हमें 'धीर' बनाता है। धीर का विस्तृत अर्थ ऊपर अंक '३' में दिया गया है। कृषि उन्हीं को धीर बनाती है जो कवि=विद्वान् हों। आजकल गलती से हम कृषि को मूर्खों का पेशा समझ बैठे हैं। मूर्ख कृषि से जीवन का ऐसा निर्माण नहीं कर सकते।

भावार्थ—हम कवि बनकर कृषि करें। यह कृषि हमें धीर बनाएगी और हमारा जीवन सुखमय हो जाएगा।

ऋषिः—विश्वावसुः। **देवता**—कृषीवलाः कवयो वा। **छन्दः**—विराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

वेदानुकूल कृषि

युनक्त सीरा वि युगा तनुध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम्।
गिरा च श्रुष्टिः सभरा असन्नो नेदीयऽइत्सृण्यः पक्वमेयात्॥६८॥

१. पिछले मन्त्र की कृषि का ही उल्लेख करते हुए कहते हैं कि—(१) **सीरा युनक्त**=हलों को जोतो। २. **युगा वितनुध्वम्**=जुओं का विस्तार करो। ३. **इह कृते योनौ**=इस संस्कृत भूमिक्षेत्र में **बीजम् वपत**=बीजों को बोवो। ३. **गिरा**=खेती-विषयक कर्मों की उपयोगी सुशिक्षित वाणी **च**=और सुविचार से **सभराः**=भरण-पोषण के तत्त्वोंवाले **श्रुष्टिः**=अन्न (अन्नं श्रुष्टिः—श०७।२।२।५) **नः असत्**=हमारे हों। हम वेदवाणी में प्रतिपादित भोज्य अन्नों को पैदा करनेवाले बनें, उन अन्नों को जिनमें कि भरण-पोषण के तत्त्व पर्याप्त मात्रा में हैं। हमारी कृषि, चाय, तम्बाकू की न हो। ४. हम प्रयत्न करें कि **नेदीय इत्**=थोड़े-से-थोड़े समय में ही **पक्वम्**=पका हुआ धान्य **सृण्यः**=दराँत से कटा जाकर **नः**=हमें **आ इयात्**=सर्वतः प्राप्त हो। ५. 'नेदीय' शब्द कुछ वैज्ञानिक उपाय से कृषि का संकेत करता है जिससे कि फ़सल शीघ्र ही काटी जा सके और हम वर्ष में अधिक-से-अधिक फ़सलें काट सकें। जैसे सामान्यतः भोजन चार घण्टे में पचता है इसी प्रकार फ़सल चार मास में पक सके और हम साल में तीन फ़सलें ले-पाएँ।

भावार्थ—खेती ज्ञानपूर्वक करनी है। पौष्टिक अन्न ही उपजाने हैं। 'विश्वावसु' बनने के लिए यह आवश्यक है।

ऋषिः—कुमारहारितः। **देवता**—कृषीवलाः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

सुपिप्पला-ओषधी

शुनꣳसु फाला वि कृषन्तु भूमिꣳशुनं कीनाशाऽअभि यन्तु वाहैः।
शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पलाऽओषधीः कर्त्तनास्मे॥६९॥

१. ये मन्त्र 'कुमारहारित' ऋषि के हैं। सीता=लाङ्गलपद्धति=हल चलाने से बनी रेखा इन मन्त्रों की देवता है। 'कुमारहारित' नाम में 'कुमार' शब्द संकेत कर रहा है कि इस व्यक्ति ने कृषि को ही अपनी क्रीड़ा बना लिया है। यह पढ़ता-लिखता है और

फिर अपने मस्तिष्क को आराम देने (relaxation) के लिए खेती में लग जाता है। यह अपने हल इत्यादि को बड़ा ठीक बनाये रखता है और चाहता है कि—२. **सुफालाः**=हल के अग्र भाग में स्थित उत्तम फाल से **भूमिम्**=भूमि को **शुनम्**=आराम से **विकृषन्तु**=खोदें। भूमि बहुत कठोर न हो, कठोर भी हो तो फाल तेज़ हो जो भूमि को आराम से खोदता चले। **कीनाशाः**=(श्रमेण क्लिश्यन्ति) श्रम से अपने शरीर को थकानेवाले कृषक लोग **वाहैः**=बैलों के साथ **शुनम्**=सुख से **अभियन्तु**=खेत में चारों ओर चलें। हल को खेंचना तो बैलों ने ही है, परन्तु कृषक भी अपना पूरा योग दे। वह बैलों के उत्साह-वर्धन का कारण बने। ३. **शुनासीरा** =(शुनो वायुः शीर आदित्यः—नि० ९।४०) वायु और सूर्य **हविषा**=हवि के द्वारा—यज्ञ में डाली गई घृत आदि की आहुतियों द्वारा **तोशमाना** (तोशतिर्वधकर्मा)= रोगकृमियों—कृषिविनाशक कृमियों का नाश करते हुए **अस्मे**=हमारे लिए **सुपिप्पलाः**=उत्तम फलवाली **ओषधीः**=ओषधियों को **कर्त्तन**=करें। वस्तुतः कृषि की उत्तमता के लिए अग्निहोत्र का महत्त्व दो कारणों से है (क) कृमि नष्ट होकर वायु शुद्ध होती है और (ख) वर्षा उचित समय पर होती है। वायु का उपयोग मुख्यरूप से यह है कि इसकी नत्रजन (नाइट्रोजन) भूमि का खाद बनती है। सूर्य का महत्त्व यह है कि यह भूमि में उत्पादक शक्ति को बढ़ाता है। मिट्टी के जो कण सूर्यसम्पर्क में आते हैं वे अधिक उत्पादक तत्त्व को वायु से आकृष्ट कर पाते हैं। एवं, कृषि में अग्निहोत्र में दी गई हवि तथा वायु और सूर्य का भाग है।

भावार्थ—हमारे हल सुफाल हों। हम बैलों का उत्साह-वर्धन करें। अग्निहोत्र में उत्तम हवि दें। ये हवि तथा वायु और सूर्य हमारी कृषि को उत्तम फलवाला करें।

ऋषिः—कुमारहारितः। **देवता**—कृषीवलाः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

मधुर जल-सेचन

घृतेन सीता मधुना समज्यतां विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भिः।
ऊर्जस्वती पयसा पिन्वमानास्मान्त्सीते पयसाभ्या ववृत्स्व॥७०॥

१. **सीता**=लाङ्गलपद्धति, हल की रेखा **मधुना घृतेन**=मधुर जल से **समज्यताम्**=संसिक्त की जाए। खारे पानी से सेचन होने पर भूमि के शीघ्र ही ऊसर हो जाने की आशंका होती है। 'स्यादूषः क्षारमृत्तिका'=क्षारमृत्तिका ही ऊसर है, उसमें कोई अन्न उपजेगा नहीं, अतः मधुर जल से सेचन नितान्त आवश्यक है। 'घृतेन मधुना' का प्रसिद्ध अर्थ भी यहाँ अप्रासंगिक नहीं, परन्तु घृत और शहद की खाद डालना आर्थिक दृष्टिकोण से बड़ा कठिन है। महाराष्ट्र में पेशवाओं ने ऐसा करके देखा तो आम के पेड़ों पर अत्यन्त मधुर आमों का उद्भव हुआ। २. **विश्वैः देवैः** (ऋतवो वै देवाः—श० ७।२।४।२६)=सब ऋतुओं से तथा **मरुद्भिः**=वर्षा की ईश मानसून की वायुओं से **अनुमता**=अङ्गीकृत हुई हे **सीते**=लाङ्गलपद्धते! **पयसा**=जल से **पिन्वमाना**=पूरित होती हुई तू **ऊर्जस्वती**=बल व प्राणशक्तिप्रद अन्न-रसवाली होती हुई **अस्मान् अभि**=हमारी ओर **पयसा**=आप्यायन शक्ति से **आववृत्स्व**=सर्वथा वर्त्तमान हो, प्राप्त हो। ३. मन्त्रार्थ से निम्न बातें स्पष्ट हैं—(क) मधुर जल से सिंचाई होनी चाहिए। (ख) ऋतुओं की अनुकूलता अत्यन्त वाञ्छनीय है। (ग) वर्षा की वायु (monsoon winds) का समय पर चलना तो नितान्त आवश्यक है ही। (घ) इस सबके होने पर जो अन्न उत्पन्न होगा वह निश्चय से हमारा आप्यायन करनेवाला होगा।

भावार्थ—खेतों का सेचन मधुर जल से हो, ऋतुओं व वर्षा की वायुओं की अनुकूलता को हम हवि के द्वारा उपस्थित करने का प्रयत्न करें। ऐसा होने पर अन्न सबल होंगे और उनसे हमारा उत्तमता से आप्यायन होगा।

ऋषिः—कुमारहारितः। **देवता**—कृषीवलाः। **छन्दः**—विराट्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

लाङ्गलम्

लाङ्गलं पवीरवत्सुशेवंꣳसोमपित्सरु।
तदुद्वपति गामविं प्रफर्व्यं च पीवरीं प्रस्थावद्रथवाहनम्॥७१॥

१. हल की मूठ को लाङ्गल कहते हैं। यह **लाङ्गलम्**=हल की मूठ **पवीरवत्**=उत्तम फालवाला हो। (पविः धारा, सोऽस्यास्तीति पवीरं फालः), **सुशेवम्**=शोभन—सुखकर हो। उसकी धारा खूब तेज़ हो, जिससे सरलता से भूमि को खोद सके। हमारा यह हल सरलता से चलनेवाला (facile) हो। हम अथवा बैल क्या हल चला रहे हों, हल स्वयं चल रहा हो। **सोमपित्सरु**=सोमादि ओषधियों के पालन करनेवाले का यह हल **त्सरु**=खड्गमुष्टि हो। जैसे क्षत्रिय के हाथ में तलवार की मूठ होती है और वह उसे पकड़कर शत्रुओं का संहार कर देता है उसी प्रकार कृषक के लिए यह लाङ्गल तलवार की मूठ ही है। उसके द्वारा यह सोमादि उत्तम ओषधियों के अभाव को नष्ट कर दे—राष्ट्र में अन्नाभाव को यह दूर करनेवाला हो। २. **तत्**=वह हल—हल द्वारा किया जानेवाला कृषि-कार्य (क) **प्रफर्व्यं च**=(प्रकर्षेण फर्वति गच्छतीति प्रफर्वी) खूब क्रियाशील—चुस्त गौ को—अथर्ववेद के शब्दों में **आस्पन्दमाना**=उछलती-कूदती गौ को **उद्वपति**=(गमयति) प्राप्त कराता है। ऋग्वेद के अक्षसूक्त में कहते हैं कि हे कितव 'तत्र गावः कितव तत्र जाया'। हे जूए की ओर झुकाववाले! तू इस बात को समझ ले कि इस कृषि-कार्य में गौवें हैं, इस कृषि-कार्य में उत्तम घर का निर्माण है। (ख) यह हल तुझे **पीवरीं अविम्** =पूर्ण स्वस्थ मोटी-ताज़ी भेड़ प्राप्त कराएगा, जो तुझे वस्त्रों के लिए उत्तम ऊन देनेवाली होगी। (ग) यह कृषि-कार्य तुझे **प्रस्थावत्**=प्रस्थानसंयुक्त, उत्कृष्ट वेग से युक्त, हर समय चलने के लिए तैयार-पर-तैयार, जिसे रोकने में कठिनता होती हो ऐसे **रथवाहनम्**=रथ के वाहनभूत घोड़े को प्राप्त कराता है। ३. एवं, कृषि-कार्य में गौवें हैं जो हमारे शरीर के पोषण के लिए दूध-घृत आदि प्राप्त कराती हैं। इस कार्य में भेड़ें हैं जो वस्त्रों के लिए ऊन देती हैं। वेगवाले घोड़े हैं जो हमें एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले-जाते हैं। इस प्रकार यह कृषि हमें जीवन की सब आवश्यकताओं को प्राप्त कराती है और हमारे घरों को स्वस्थ व आनन्दमय बनाती है। मनुष्य का नाम ही वेद में 'कृष्टि' है—कृषि करनेवाला। वस्तुतः कृषि ही आजीविका के लिए सर्वोत्तम है।

भावार्थ—कृषि में गौवें हैं, भेड़े हैं व घोड़े हैं, अतः हम कृषि की ओर ध्यान दें। हमारा हल सुख से चलनेवाला व अन्नाभाव को समाप्त करनेवाला हो।

ऋषिः—कुमारहारितः। **देवता**—मित्रादयो लिङ्गोक्ताः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्ः। **स्वरः**—गान्धारः॥

कामदुघा

कामं कामदुघे धुक्ष्व मित्राय वरुणाय च।
इन्द्रायाश्विभ्यां पूष्णे प्रजाभ्यऽओषधीभ्यः॥७२॥

१. गत मन्त्र के अनुसार कृषि के लिए उपयुक्त हुई यह भूमि हमारे सब कामों का

पूरण करनेवाली होती है, इसी से इसे यहाँ 'कामदुघा' कहा है। हे **कामदुघे**=सब मनोरथों को पूरण करनेवाली भूमे! **कामं धुक्ष्व**=तू हमारे सब मनोरथों को पूरण कर। २. तू **ओषधीभ्यः**=अपने से पैदा की गई ओषधियों के द्वारा **मित्राय**=मित्र के लिए हो, अर्थात् हमारा जीवन इन सोमादि ओषधियों के सेवन से स्नेहवाला हो—मित्रभाववाला हो। ३. **वरुणाय**=तू हमें वरुण बनाने के लिए हो। हमारे जीवन में से द्वेष का निवारण करनेवाली हो। ४. **इन्द्राय**=तू हमें ऐश्वर्य को प्राप्त करने योग्य बनानेवाली हो। ५. **अश्विभ्याम्**=हमारे प्राणापान की शक्ति का वर्धन करनेवाली हो। ६. **पूष्णे**=तू पूषा के लिए हो, अर्थात् मेरे सब अङ्गों का पोषण करनेवाली हो। ७. तथा **प्रजाभ्यः** =सब प्रकार के विकासों के लिए हो। तुझसे उत्पन्न ओषधियाँ प्रयोगपूर्वक सेवित होती हुई मेरी सब शक्तियों का विकास करनेवाली हों।

भावार्थ—कृषि-कार्य में 'स्नेह है, द्वेष का अभाव है, ऐश्वर्य और प्राणापानशक्ति है तथा सब अङ्गों का पोषण व सब शक्तियों का विकास है।' कृषि के द्वारा यह भूमि कामदुघा बनती है।

ऋषिः—कुमारहारितः। **देवता**—अघ्न्याः। **छन्दः**—भुरिगार्षीगायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

अन्धकार से प्रकाश की ओर

वि मुच्यध्वमघ्न्या देवयाना॒ऽअग॑न्म॒ तम॑सस्पा॒रम॒स्य। ज्योति॑रापाम ॥७३॥

१. कृषि के द्वारा मनुष्य सब अङ्गों की शक्तियों का ठीक विकास करके पूर्ण नीरोग बनता है। प्रभु कहते हैं कि **विमुच्यध्वम्**=तुम सब आधि-व्याधियों से मुक्त हो जाओ। २. **अघ्न्याः**=रोगों से हनन के योग्य न होओ। कोई भी रोग तुम्हारे जीवन को असमय में ही नष्ट करनेवाला न हो। ३. **देवयानाः**=तुम सदा देवताओं के मार्ग से चलनेवाले बनो। तुम्हारे मनों में आसुर भावनाओं का विकास न हो। ४. तुम निश्चय करो कि **अस्य तमसः**=इस अन्धकार के **पारम् अगन्म**=पार को प्राप्त करें—अन्धकार में ही भटकते न रहें। और ५. **ज्योतिः आपाम्**=ज्योति को प्राप्त करनेवाले हों। **'तमसो मा ज्योतिर्गमय'**='मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले-चलिए'—यही तुम्हारी प्रार्थना हो—इसी के लिए तुम्हारा प्रयत्न हो। ६. सोमादि उत्तम ओषधियों के सेवन से तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध होगा, स्मृति ध्रुव होगी और वासनाएँ नष्ट होकर तुम्हारा जीवन सुन्दर बनेगा।

भावार्थ—कृषि से उत्पन्न ओषधियों के सेवन से हम नीरोग बनते हुए अन्धकार से परे प्रकाश को प्राप्त होंगे।

ऋषिः—कुमारहारितः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—आर्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

अन्न व घृत

स॒जूरब्दो॒ऽअय॑वोभिः स॒जूरु॒षाऽअरु॑णीभिः। स॒जोष॑साव॒श्विना॒ दꣳसो॑भिः स॒जूः सूर॒ऽएत॑शेन स॒जूर्वै॑श्वान॒रऽइड॑या घृ॒तेन॒ स्वाहा॑ ॥७४॥

१. हे प्रभो! **अब्दः**=वर्ष **अयवोभिः**=न विच्छिन्न होनेवाले काल-अवयवों से अथवा शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष से **सजूः**=संयुक्त हो। हमारे जीवन में यह काल विच्छिन्नावयव न हो जाए। हमारा आयुष्य अविच्छिन्नरूप से चलता चले। २. हमारे लिए प्रतिदिन **उषाः**=उषाकाल **अरुणीभिः**=अरुणवर्ण किरणों से **सजूः**=संयुक्त हो। हम अरुण किरणोंवाली उषा का प्रतिदिन दर्शन करें। ३. **अश्विना**=हमारे प्राणापान **दंसोभिः**=उत्तम कर्मों से **सजोषसौ**=प्रीतियुक्त हों।

हम अपनी प्राणशक्ति से उत्तम कर्मों में आनन्द का अनुभव करें ४. **सूरः**=सूर्य **एतशेन**=अपने किरणरूप अश्वों से **सजूः**=युक्त हो। हम सदा सूर्य-किरणों का सेवन करनेवाले बनें। सूर्य-किरणें हमारे लिए सदा स्वास्थ्य व गतिशीलता देनेवाली हों। ५. **वैश्वानरे**=हमारी जाठराग्नि **इडया**=अन्न से **सजूः**=युक्त हो इस **वैश्वानरे**=वैश्वानर अग्नि में **घृतेन स्वाहा**=घृत से उत्तम आहुति दी जाए, अर्थात् घृत के (तौलस्य प्राशान) मपे-तुले प्रयोग से जाठराग्नि को दीप्त किया जाए। वैश्वानराग्नि (जाठराग्नि) का भोजन अन्न व घृत ही हैं। इसमें मद्य-मांस की आहुति न पड़े।

भावार्थ—हमारे जीवन के वर्ष अविच्छिन्न कालावयवोंवाले हों। हम उषा के प्रकाश का प्रतिदिन दर्शन करें। हमारे प्राणापान प्रीतिपूर्वक कर्मों में लगे रहें। हम ज्ञानी बनकर क्रियाशील हों, हम खाने में अन्न व घृत का प्रयोग करें।

ऋषिः—भिषक्। **देवता**—वैद्यः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

शतं सप्त च—त्रियुगं पुरा

या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा।
मनै नु बभ्रूणामहꣳशतं धामानि सप्त च॥७५॥

१. पिछले मन्त्रों में कृषि का उल्लेख था। अब इस कृषि में उत्पन्न की जानेवाली ओषधियों का उल्लेख करते हैं। **याः**=जो **पूर्वाः**=(पृ पालनपूरणयोः) पालन व पूरण करनेवाली **ओषधीः**=ओषधियाँ **जाताः**=उत्पन्न हुई हैं, वे ओषधियाँ **देवेभ्यः**=उस-उस ऋतु में प्रयोग करने के लिए हैं (ऋतवो वै देवाः—श० ७।२।४।२६)। भिन्न-भिन्न ऋतुओं में इनका भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रयोग होता है। २. **त्रियुगे**=(त्रयाणां युगानां समाहारः त्रियुगम्) ये ओषधियाँ तीन युगों में, तीन कालों में 'वसन्त, वर्षा व शरद्' में प्रयोज्य हैं। ३. परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि **पुरा**=उस ऋतु के प्रारम्भ से कुछ पहले ही इनका प्रयोग किया जाए। वसन्त में कफ़ का प्रकोप होता है, अतः वसन्त से कुछ पहले कफ़नाशक ओषधियों का प्रयोग करना चाहिए। वर्षा में वातविकारों की आशंका है, अतः वातविनाशक ओषधियाँ प्रयोग में लानी चाहिएँ और शरद् पित्त-विकार का समय है, अतः पित्तशमन की ओषधियाँ लेनी आवश्यक हैं। उस ऋतु से कुछ पूर्व (पुरा) उस ओषधि के लेने पर हम सब विकारों से बचे रहेंगे। ४. इस ठीक प्रयोग के लिए **अहम्**=मैं **बभ्रूणाम्**=लोकपालन की क्षमता रखनेवाली इन ओषधियों का **मनै नु**=निश्चय से मनन करता हूँ। इनका विचार करके ही तो इनका ठीक प्रयोग कर पाऊँगा। ५. **शतं धामानि**=मैं इनके सौ धामों का मनन करता हूँ। यहाँ आयु का एक-एक वर्ष ओषधि का एक-एक स्थान है। अभिप्राय यह है कि मैं आयु का विचार करके औषध देता हूँ। बालक, युवक व वृद्ध को औषध-मात्रा अलग-अलग ही दी जाएगी। **सप्त च**=मैं इनके सात धामों का भी विचार करता हूँ। (य एवेमे सप्त शीर्षन् प्राणास्तानेतदाह—श० ७।२।४।२६) इस शतपथ वाक्य से दो कान, दो नासिका छिद्र, दो आँख व एक मुख—ये ही सात धाम हैं। औषध-प्रयोग में यह भी ध्यान करना आवश्यक है कि औषध कान में डाली जा रही है या आँख में, जितनी कान में डाली जा सकती है उतनी आँख में नहीं।

भावार्थ—ओषधियाँ हमारी कमियों का फिर से पूरण करनेवाली हैं। ये वसन्त, वर्षा व शरद् से कुछ पहले प्रयोग में लानी चाहिएँ। आयु व [illegible] का ध्यान करके ही इनका

प्रयोग करना लाभकर है।

ऋषिः—भिषक्। **देवता**—वैद्यः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

अगदता—अ-गद-ता (नीरोगता)

शतं वोऽअम्ब धामानि सहस्रमुत वो रुहः।
अधा शतक्रत्वो यूयमिमं मेऽअगदं कृत ॥७६॥

१. ओषधियाँ मातृतुल्य हित करनेवाली हैं, अतः कहते हैं कि **अम्ब**=हे मातृभूत ओषधियो! **वः**=तुम्हारे **शतं धामानि**=सैकड़ों धाम—स्थान व तेज हैं। (क) शतशः स्थानों में ये ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं। कोई पर्वतमूल में, कोई मध्यभाग में और कोई पर्वतशिखरों पर तो कोई समुद्रतट पर उगती हैं, कोई वनों में व कोई मैदानों में और कई ओषधियाँ किन्हीं विशेष पर्वतों में ही उपलभ्य हैं। (ख) इस प्रकार इन ओषधियों के स्थान तो सैकड़ों हैं ही इनके तेज भी, शक्तियाँ भी पृथक्-पृथक् हैं। कई पित्तशमन करनेवाली हैं तो कई वात-विकार को शान्त करती हैं और दूसरी कफ-प्रकोप को दूर भगानेवाली हैं। २. **उत**=और हे ओषधियो! **वः**=तुम्हारी **सहः**=प्रभाव शक्तियाँ **सहस्रमुत**=अनन्त प्रकार का है। जब वैद्य इन्हें रोगी को देता है तब इन ओषधियों के विचित्र-विचित्र परिणाम उसके शरीर पर होते हैं। ३. **अध**=अब **शतक्रत्वः**=सैकड़ों कर्मों को करनेवाली ओषधियो! **यूयम्**=तुम **मे**=मेरे **इमम्**=इस रोगी को **अगदम्**=रोग से रहित **कृत** =कर दो। तम्हारे प्रभाव से यह मुझसे चिकिस्यमान रोगी स्वस्थ हो जाए। इसके रोग को तुम दूर करनेवाली बनो। तुम्हारी कृपा से मेरा 'भिषक्' यह नाम यशोन्वित बना रहे।

भावार्थ—ओषधियों के अनन्त स्थान व तेज हैं। शतशः इनके परिणाम हैं। विचारपूर्वक दी गई ओषधियाँ रोगी को नीरोग करनेवाली होती हैं।

ऋषिः—भिषक्। **देवता**—वैद्यः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

स-जित्वता=सह विजय

ओषधीः प्रतिमोदध्वं पुष्पवतीः प्रसूवरीः।
अश्वाऽइव सजित्वरीर्वीरुधः पारयिष्ण्वः ॥७७॥

१. **पुष्पवतीः**=प्रशस्त फूलोंवाली **प्रसूवरीः**=प्रशस्त फलोंवाली **ओषधीः प्रति**=ओषधियों का लक्ष्य करके **मोदध्वम्**=आनन्दित होके वैद्य रोगियों से कहता है कि ये ओषधियाँ अपने फूलों व फलों से तुम्हें भी फूला-फला करनेवाली बनेंगी। तुम्हारे शरीर भी निर्दोष होंगे। जिस प्रकार ये ओषधियाँ प्रसन्न प्रतीत होती हैं तुम भी इसी प्रकार नीरोग होकर प्रसन्न हो जाओगे। २. ये ओषधियाँ **अश्वाः इव**=घोड़ों की भाँति—जिस प्रकार संग्राम में घोड़े विजय करानेवाले होते हैं उसी प्रकार **सजित्वरीः**=(सह विजयशीलाः) ये ओषधियाँ भी पथ्य के साथ रोगों को जीतनेवाली हैं। घोड़ा सवार के साथ युद्ध को जीतता है, इसी प्रकार ये ओषधियाँ पथ्य व उत्तम वैद्य के साथ रोगों को जीतती हैं। ३. **वीरुधः**=(विविधान् रोगान् रुन्धन्ति इति) ये ओषधियाँ तुम्हारे विविध रोगों को रोकनेवाली हैं। ४. **पारयिष्णवः**=ये रोगरूप विघ्नों से हमें पार ले-जानेवाली हैं। रोगों से पार ले-जाकर ये हमें जीवन के अन्त तक ले-चलती हैं।

भावार्थ—ओषधियाँ रोगों को नष्ट करनेवाली हैं। ये तो हैं ही वीरुध=विविध रोगों

को रोकनेवाली, और ओष=रोगदहन करने के कारण ओषधि हैं, परन्तु ये हैं सजित्वरी=साथ मिलकर जीतनेवाली। पथ्य और वैद्य इनके सहायक हों तभी ये रोगों को जीतती हैं।

ऋषिः—भिषक्। देवता—चिकित्सुः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

मातरः देवीः

ओषधीरिति मातर॒स्तद्वो॑ देवी॒रुप॑ ब्रुवे।
स॒नेय॒मश्वं॒ गां वास॑ऽआ॒त्मानं॒ तव॑ पूरुष॥७८॥

१. **ओषधीः इति**=ये जो ओषधियाँ हैं, वे **माताः**=मातृस्थानापन्न हैं—माता के समान कल्याण करनेवाली हैं। **तत्**=इसलिए मैं **वः**=आपको **देवीः**=दिव्य गुणोंवाली **उपब्रुवे**=कहता हूँ। वस्तुतः ओषधियाँ हमारे सब रोगों को दूर करके हमारे जीवनों का सुन्दर निर्माण करती हैं। हमारे सब रोगों के जीतने की कामनावाली ये वस्तुतः 'देवी' हैं 'दिवु विजिगीषा', निर्माण करने से 'माता', रोगों को जीतने से 'देवी'। २. ओषधियाँ 'माता व देवी' इन नामों से पुकारी जाकर कहती हैं कि हे **पुरुष**=अपना पूरण करने की कामनावाले! (पूरयितुं वष्टि) और हमारा उचित प्रयोग करनेवाले पुरुष! हम **तव**=तेरे **अश्वं गां वासः**=घोड़ों, गौवों व वस्त्रों को तथा **आत्मानम्**=शरीर को **सनेयम्**=प्राप्त करती हैं। हमारी शक्ति से नीरोग होकर तू घोड़ों, गौवों व वस्त्रों को कमानेवाला तो बनता ही है, पर सबसे बड़ी बात यह है कि तू अपने शरीर को प्राप्त करनेवाला बनता है। ये रोग तेरे शरीर के पति ही बन गये थे। इसी से इन्हें 'सपत्न' कहने की परिपाटी हो गई। तेरे इस शरीर पर तेरा निर्द्वन्द्व राज्य न रहा था।

भावार्थ—ये ओषधियाँ माताएँ हैं, देवी हैं। इनकी कृपा से, अर्थात् इनके प्रयोग से स्वस्थ होकर हम घोड़ों, गौवों व वस्त्रों को पाते हैं। इनकी शक्ति से हमारा शरीर हमारा ही बना रहता है, अन्यथा इसपर रोगों का अधिकार हो जाता है।

ऋषिः—भिषक्। देवता—वैद्यः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

अश्वत्थ पर्ण में निवास

अ॒श्व॒त्थे वो॑ नि॒षद॑नं प॒र्णे वो॑ व॒सति॑ष्कृ॒ता।
गो॒भाज॒ऽइत् किला॑सथ॒ यत् स॒नव॑थ॒ पूरु॑षम्॥७९॥

१. ये ओषधियाँ किस प्रकार दिव्य गुणोंवाली होती हैं, इसका उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **वः**=तुम्हारा **निषदनम्**=बैठना व ठहरना **अश्वत्थे**=आश्वत्थी—अश्वत्थ की बनी हुई उपभृत् व स्रुच् में है, अर्थात् पहले-पहले तुम अश्वत्थवृक्ष की लकड़ी से बने गोल प्याले में घृत व हवि के रूप में होती हो। २. **पर्णे**=पर्णमयी जुहू में **वः**=तुम्हारा **वसतिः कृता**=निवास किया गया है। घृत व हवि के बर्तन में से घृत और हवि जुहू=चम्मच में ली जाती हैं और अग्नि में डाली जाती हैं। ३. अब अग्नि में डाली हुई ये ओषधियाँ **इत् किल**=निश्चय से **गोभाजः**=(गाम् आदित्यं भजन्ति) सूर्य का सेवन करनेवाली **असथ**=होती हैं। **'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते'** (मनु०)=अग्नि में डाली हुई आहुतियाँ आदित्य के पास पहुँचती है। ४. वहाँ गर्मी से वाष्पीभूत जल आकाश में पहुँचकर जब फिर से घनीभूत होने लगता है तब हविर्द्रव्य के ये कण जल-बिन्दुओं का केन्द्र बनते हैं। ये बरसे और फिर सिक्तभूमि से जो ओषधियाँ उत्पन्न हुईं, उनमें घृतकणों व हविष्कणों को

केन्द्र में लेकर उत्पन्न हुई, अतः इनमें दिव्य शक्ति का होना स्वाभाविक ही था। ५. अब ये 'देवीः'—दिव्य गुणवाली ओषधियाँ **यत्**=जब **पूरुषम्**=पुरुष का **सनवथ**=सेवन करती हैं तब सचमुच उनके रोगों को दूर करनेवाली होती हैं (वीरुधः) और उनके जीवन का सुन्दर निर्माण करती हैं (मातरः)।

भावार्थ—अग्निहोत्रादि यज्ञों के होने पर वृष्टि-जल से उत्पन्न ओषधियाँ सचमुच पुरुष का उत्तम कल्याण करती हैं।

ऋषिः—भिषक्। **देवता**—ओषधयः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

भिषक्

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव।
विप्रः सऽउच्यते भिषग्रक्षोहामीवचातनः ॥८०॥

१. गत मन्त्र की दिव्य ओषधियों के प्रयोक्ता वैद्य का लक्षण कहते हैं कि **यत्र**=जिस पुरुष में **ओषधीः**=ओषधियाँ **समग्मत**=व्याधियों के जीतने के लिए इस प्रकार इकट्ठी होती हैं **इव**=जैसेकि **राजानः**=राजा लोग शत्रु को जीतने के लिए **समितौ**=युद्ध में सङ्गत होते हैं। राजा इकट्ठे होकर शत्रु का पराजय करते हैं, ओषधियाँ वैद्य के समीप एकत्र होकर रोग को पराजित करती हैं २. **सः**=वह **विप्रः**=शरीर में आ गई कमियों का फिर से (प्रा-पूरणे) पूरण करनेवाला व्यक्ति **भिषक्**=वैद्य **उच्यते**=कहलाता है। ३. यह वैद्य **रक्षोहा**=अपने रमण के लिए रोगी के शरीर का क्षय करनेवाले रोगकृमियों का नाश करता है। ४. रोगकृमियों के नाश के द्वारा यह **अमीवचातनः**=(अमीवान् चातयति) रोगों को नष्ट करता है। ५. एवं, वैद्य वह है—(क) जिसके पास ओषधियाँ हैं, (ख) जो उन ओषधियों के द्वारा रोगी की न्यूनता को दूर करता है, (ग) रोगकृमियों का संहार करता है, (घ) और रोगों को दूर करता है। इस वैद्य ने रोगी के साथ संग्राम करना है। इस संग्राम के लिए ओषधियाँ इसकी सहायता करती हैं।

भावार्थ—उत्तम वैद्य वह है जो ओषधियों के द्वारा रोगरूप शत्रुओं से युद्ध करके रोगों का नाश करता है और रोगी के शरीर में आ गई कमियों को दूर कर देता है।

ऋषिः—भिषक्। **देवता**—वैद्यः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

चतुर्विधं भेषजम्

अश्वावतीꣳसोमावतीमूर्जयन्तीमुदोजसम्।
आवित्सि सर्वाऽओषधीरस्मा अरिष्टतातये ॥८१॥

१. गत मन्त्र का वैद्य कहता है कि मैं **अश्वावतीम्**=शक्ति देनेवाली ('अश्व' शब्द शक्ति का प्रतीक है), जो ओषधि मनुष्य को शक्ति-सम्पन्न बनाती है, उसको **आवित्सि**=अच्छी प्रकार जानता हूँ। २. **सोमावतीम्**=सौम्य रसों से युक्त, सोमरसवाली, जो मनुष्य की उत्तेजना व तिलमिलाहट को कम करती है उन ओषधियों को भी जानता हूँ। ३. मैं **ऊर्जयन्तीम्**=(ऊर्ज बलप्राणनयोः) बल व प्राणशक्ति को देनेवाली ओषधियों को जानता हूँ। ४. **उदोजसम्**=उद्गत ओजवाली ओषधियों को भी जानता हूँ। ५. इस प्रकार इन चार गुणों से युक्त **सर्वाः ओषधीः**=सब ओषधियों को **अस्मै**=इस पुरुष के लिए **अरिष्ट-तातये**=रोग के विनाश के लिए—अहिंसा के लिए प्राप्त कराता हूँ। ६. ओषधियों के चार मुख्य गुण हैं—ये (क) पुरुष

को शक्तिशाली बनाती हैं, (ख) घबराहट को दूर कर शान्त करती हैं, (ग) बल और प्राणशक्ति-सम्पन्न हैं, (घ) मनुष्य को ओजस्वी बनाती हैं। ६. वैद्य को इस प्रकार की सब ओषधियों को जानना व रखना है, तभी वह यथास्थान सबका प्रयोग करके रोगी को व्याधि का शिकार होने से बचा सकेगा।

भावार्थ—वैद्य सब ओषधियों को जाने और उनके ठीक प्रयोग से रोगी को सुखी करे।

ऋषिः—भिषक्। **देवता**—ओषधयः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

ओषधियों की शक्तियाँ

उच्छुष्मा॒ऽओष॑धीनां॒ गावो॑ गो॒ष्ठादि॑वेरते।
धन॑ꣳ सनि॒ष्यन्ती॑नामा॒त्मानं॒ तव॑ पूरुष ॥८२॥

१. पिछले मन्त्र में वर्णित चार प्रकार की ओषधियाँ जब यथायथ वैद्य से प्रयुक्त होती हैं तब **ओषधीनाम्**=इन ओषधियों के **शुष्माः**=रोग-शोषक बल **उत् ईरते**=इस प्रकार बाहर प्रकट होते हैं, **इव** =जैसे **गावः गोष्ठात्**=गौवें गोष्ठ से बाहर निकलकर प्रकट होती हैं। रोगी का रोग दूर होता है और इन ओषधियों का प्रभाव चेहरे पर भी व्यक्त होने लगता है। २. किन ओषधियों का? हे पुरुष! जो ओषधियाँ **तव**=तुझे **धनम्**=धन **सनिष्यन्तीनाम्**=प्राप्त करानेवाली हैं। मन्त्र ७८ में इसी धन का उल्लेख 'अश्वं गां वासः' शब्दों से हुआ है। ये ओषधियाँ केवल धन ही प्राप्त कराती हैं ऐसा नहीं, ये ओषधियाँ **तव आत्मानम्**=तेरे शरीर को भी प्राप्त कराती हैं, अर्थात् तुझे पूर्ण स्वस्थ बनाती हैं।

भावार्थ—योग्य वैद्य से उपयुक्त होती हुई ओषधियों की शक्तियाँ उसके रोगी में प्रकट होती हैं। ये रोगी को नीरोग बनाकर उसे घोड़े, गौ, वस्त्र व उत्तम शरीर प्राप्त कराती है।

ऋषिः—भिषक्। **देवता**—वैद्याः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

इष्कृति व निष्कृति

इष्कृ॑ति॒र्नाम॑ वो मा॒ताथो॑ यू॒यꣳ स्थ॒ निष्कृ॑तीः।
सी॒राः प॑त॒त्रिणी॑ स्थन॒ यदा॒मय॑ति॒ निष्कृ॑थ ॥८३॥

१. गत मन्त्र के अनुसार जब ओषधियों के शोषक बल उद्गत होते हैं तब रोग नष्ट हो जाते हैं। इसी बात को प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि ये ओषधियाँ **इष्कृतिः**=(उपसर्गैकदेशलोप है, मूलशब्द निष्कृति है) व्याधि का विनाश करती हैं **नाम वः माता**=यह 'निष्कृति' तुम्हारी माता का नाम है। यह भूमि तुम्हारी माता है जो सचमुच आरोग्य का कारण है। २. **अथ उ**=और इसी कारण **यूयम्**=तुम भी **निष्कृतिः**=व्याधियों का निष्क्रमण करनेवाली **स्थ**=हो। तुम भी भूमिरूप माता से उत्पन्न होकर व्याधियों को दूर करनेवाली होती हो। २. **सीराः**=(सह इरया=अन्नेन वर्तन्ते) पथ्यान्न के साथ होनेवाली तुम **पतत्रिणीः स्थन**=(प्रसरणशीलाः) शरीर में व्याप्त होनेवाली हो। ३. **यत्**=जब ऐसा होता है तब **आमयति**=(रुजति आमयाविनि) रोगी में स्थित रोग को **निष्कृथ**=(निर्नाशयत) खूब नष्ट करती हो। ओषधियों का जब पथ्य के साथ प्रयोग होता है तब निश्चय से वे रोग को नष्ट करनेवाली होती हैं।

भावार्थ—उत्तम भूमि में उत्पन्न ओषधियाँ रोग को नष्ट करनेवाली होती हैं। इसी से

इन्हें 'निष्कृति' नाम दिया गया है। ओषधि की गुणवत्ता के लिए उसके साथ पथ्य का प्रयोग भी आवश्यक है।

ऋषिः—भिषक्। **देवता**—वैद्यः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

रोग-हरण (ज्वरचोरण), रोगरूप चोर का पलायन

अति विश्वाः परिष्ठा स्तेनऽइव व्रजमक्रमुः।
ओषधीः प्राचुच्यवुर्यत्किं च तन्वो रपः॥८४॥

१. पिछले मन्त्र की ही भावना को कि ये ओषधियाँ रोगों को निकाल देती हैं, प्रकारान्तर से पुनः कहते हैं कि **विश्वाः**=शरीर में प्रवेश करनेवाली (विश to enter), **परिष्ठाः**=(परि सर्वतः व्याधीन् अधिष्ठाय तिष्ठन्ति) प्रवेश करके शरीर में सर्वत्र व्याधियों पर अधिष्ठित होनेवाली **ओषधीः**=ओषधियाँ **अत्यक्रमुः**=रोगों पर इस प्रकार अतिशयेन आक्रमण करती हैं **इव**=जिस प्रकार **स्तेनः**=चोर **व्रजम्**=गोष्ठ पर। जैसे रात्रि में चोर गो-हरण के लिए गोशाला पर आक्रमण करता है और चुपके से गौ को चुरा ले-जाता है, इसी प्रकार ओषधियाँ शरीर में प्रवेश करके रोगों को चुपके से चुरा ले-जाती हैं। २. इस प्रकार ये ओषधियाँ **यत् किंच**=जो कुछ भी **तन्वः रपः**=शरीर का पाप, अर्थात् शिरोव्यथा गुल्म या अतिसार आदि रोगरूप पाप का फल होता है, उस सबको **प्राचुच्यवुः**=प्रच्यावित कर देती हैं, नष्ट कर देती हैं। शरीर में किसी प्रकार का रोग नहीं रह जाता। ३. 'स्तेन इव व्रजम्' इस उपमा को इस प्रकार भी कह सकते हैं कि जिस प्रकार चोर व्रज में घुसा पर स्वामी के अचानक आ जाने पर उससे धमकाया जाकर भाग खड़ा होता है उसी प्रकार बीमारी शरीर में घुसी, परन्तु इतने में ओषधि आ गई और उससे धमकायी जाकर मानो बीमारी भाग गई। आचार्य दयानन्द ने उपमा का यही स्वरूप लिया है। गौ की चोरी नहीं हुई इसी प्रकार रोग शरीर के बल व किसी शक्ति को नष्ट नहीं कर पाया और भगा दिया गया। उव्वट आदि ने उपमा का पहला स्वरूप रखा है, आचार्य ने पिछला। पिछले का सौन्दर्य सुव्यक्त है।

भावार्थ—ओषधियाँ शरीर में प्रवेश करती हैं और रोगों को मार भगाती हैं। ओषधियाँ मानो चोर हैं जो रोगरूप गौ को हर लेती हैं अथवा ओषधियाँ मालिक हैं जो रोगरूप चोर को भगा देती हैं।

ऋषिः—भिषक्। **देवता**—वैद्यः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

यक्ष्म के आत्मा का नाश

यदिमा वाजयन्नहमोषधीर्हस्तऽआदधे।
आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा जीवगृभो यथा॥८५॥

१. 'ओषधियाँ रोग को धमकाकर भगा देती हैं', गत मन्त्र की इसी बात को और भी सुन्दर रूप में इस प्रकार कहते हैं कि **यत्**=ज्यों ही **वाजयन्**=रोगी को शक्तिशाली बनाता हुआ (बनाने की कामनावाला) मैं वैद्य **इमाः ओषधीः**=इन ओषधियों को **हस्ते**=हाथ में **आदधे**=धारण करता हूँ त्यों ही **यक्ष्मस्य**=रोग का **आत्मा**=स्वरूप **नश्यति**=नष्ट हो जाता है। औषध को खाने से पहले ही रोग नष्ट होने लगता है, खाने पर तो उसने बचना ही क्या है? २. यह वर्णन निःसन्देह काव्यात्मक है, इसमें अतिशयोक्ति अलंकार दिखता

है, परन्तु इसमें बहुत कुछ सत्यता भी है। रोगी के मन पर वैद्य की महिमा, उसके प्रति विश्वास से उत्तम प्रभाव पड़ने से वह अपने को स्वस्थ होता हुआ अनुभव करता है। रोगी को जब वैद्य कहता है कि 'मा बिभेः न मरिष्यसि'='डरता क्यों है, तू मरेगा नहीं। मैं अभी तेरे रोग को मारे डालता हूँ' हृदय में ऐसा विश्वास बैठने पर रोगी अपने को अच्छा अनुभव क्यों न करेगा? ३. उपमा से इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि **यथा**=जैसे **जीवगृभः**=(जीवन् सन्नेव यो हिंसार्थं गृह्यते स जीवगृप् तस्य) कोई व्यक्ति जीवित ही फाँसी दिये जाने के लिए पकड़ लिया जाता है और वधस्थली की ओर ले-जाया जाता है तो उस जीवगृभ् के प्राण अतिविषाद के कारण-'मैं अब मरा' इस प्रकार सोचने के कारण **पुरा**=फाँसी देने से पहले ही नष्टप्राय हो जाते हैं उसी प्रकार ओषधि के वैद्य के हाथ में धारण करते ही रोग को अपनी मृत्यु दिखने लगती है और रोग की आत्मा नष्ट हो जाती है। रोग का ज़ोर नहीं रहता, यही यक्ष्म की आत्मा का नाश है।

भावार्थ—सद्वैद्य आया, उसने औषध हाथ में पकड़ी और रोगी का रोग भागा। सद्वैद्य वही है जो रोगी की आत्मा को जिलाकर रोग की आत्मा को मार देता है।

ऋषिः—भिषक्। **देवता**—वैद्यः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

यक्ष्म-विबाधन (रोग-भङ्ग)

यस्यौषधीः प्रसर्पथाङ्गमङ्गं परुष्परुः।
ततो यक्ष्मं विबाधध्वऽउग्रो मध्यमशीरिव ॥८६॥

१. वैद्य ओषधियों को सम्बोधित करके कहता है कि **ओषधीः**=हे ओषधियो! तुम **यस्य**=जिस रोगी के **अङ्गं अङ्गं**=अङ्ग-अङ्ग में **परुष्परुः**=और पर्व-पर्व में **प्रसर्पथ**=जाती हो या व्याप्त होती हो **ततः**=उस-उस अङ्ग व पर्व से उस रोगी के **यक्ष्मम्**=रोग को **विबाधध्वे**=बाधित करती हो, अर्थात् उस अङ्ग व पर्वसमुदाय से व्याधि को दूर करती हो। २. ओषधियों द्वारा रोगों के बाधन का दृष्टान्त देते हुए कहते हैं कि **उग्रः**=गोधा व अंगुलित्राण को बाँधे हुए क्षत्रिय **इव**=जैसे **मध्यमशीः**=(देहमध्ये भवं मध्यमं मर्मभागं शृणाति हिनस्ति) देहमध्य में होनेवाले मर्मभाग को हिंसित करता है। मर्मघातक क्षत्रिय जैसे दुष्ट के लिए भयंकर होता है, उसी प्रकार ये ओषधियाँ रोगों के लिए भयंकर होती हैं। उग्र क्षत्रिय जैसे शत्रु के दो टुकड़े कर डालता है, इसी प्रकार यह ओषधि रोग के टुकड़े कर डालती है।

भावार्थ—एक सद्वैद्य से दी गई उत्तम ओषधि रोगरूप शत्रु को इस प्रकार नष्ट कर देती है जैसे कि उग्र क्षत्रिय से प्रयुक्त अस्त्र शत्रु को मार डालता है।

ऋषिः—भिषग्। **देवता**—वैद्यः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

'वात-पित्त-कफ़'-विकार-ध्वंस

साकं यक्ष्म प्र पत चाषेण किकिदीविना।
साकं वातस्य ध्राज्या साकं नश्य निहाकया ॥८७॥

१. वैद्य रोग को सम्बोधित करते हुए कहता है कि हे **यक्ष्म**=रोग! तू **साकं प्रपत**=साथ-साथ भाग जा। (क) किसके साथ? **चाषेण**=(चषति व्याकुलं कृत्वा हन्ति=पित्तरोगः) उस पित्त विकार के साथ जो पीछा ही नहीं छोड़ता अपितु व्याकुल करके मार ही डालता है, (चष् to chase, वधे)। (ख) फिर किसके साथ? **किकिदीविना**=(कफ़ा-

वरुद्धकण्ठो, तद् ध्वनेरनुकरणार्थः किकिशब्दः, किकिना दीव्यतीति) कफ़ से अवरुद्ध कण्ठ से उठनेवाले 'किकि' शब्द के साथ रोगी को जीतने की कामना करनेवाले (दिव् विजिगीषा) श्लेष्मरोग के साथ तू यहाँ से भाग जा। (ग) और फिर **वातस्य ध्राज्या साकं** (प्रपत)=वात की विकृत गति, अर्थात् वातविकार के साथ तू यहाँ से नष्ट हो जा। २. और हे **यक्ष्म**=रोग! तू **निहाकया** (यया कया रुजा हा निहतोऽस्मि इति शब्दं करोति अथवा निहन्ति कायम् इति वा)=जिस पीड़ा से 'अरे मैं मरा' इस प्रकार शब्द करता है या जो पीड़ा शरीर को समाप्तप्राय-सा ही कर देती है, उस कृच्छ्रापत्ति के **साकम्**=साथ **नश्य**=तू इस शरीर से अदृश्य हो जा, भाग जा। ३. एवं, अर्थ यह हुआ कि यह **यक्ष्म**=राजरोग वात-पित्त-कफ़-विकारों के साथ तथा तीव्र पीड़ासहित नष्ट हो जाए। राजरोग जाए और ये विकार व पीड़ाएँ भी जाएँ।

मन्त्रार्थ इस रूप में भी हो सकता है (१) हे **यक्ष्म**=रोग! तू **चाषेण**=चाषपक्षी के साथ **किकिदीविना**='किकि' इस अव्यक्त ध्वनि करनेवाले पक्षी के साथ उड़ जा, तू उन्हीं के साथ रह। (२) तू **वातस्य ध्राज्या साकं नश्य**=वायु की गति के साथ भाग जा। (३) **निहाकया साकं नश्य**=(हा कष्टं निर्गतोऽहं कया ओषध्या) 'अरे मैं किस ओषधि से मार भगाया गया' इस शब्द के साथ फिर न लौटने के लिए चला जा।

यह अर्थ भी हो सकता है कि (१) **किकिदीविना** (किं किं ज्ञानं दीव्यति ददाति) किस-किस ज्ञान को देनेवाले, अर्थात् उत्तमोत्तम अद्भुत ज्ञानों के देनेवाले **चाषेण**=भक्षणीय आहार के साथ, अर्थात् इसका प्रयोग होते ही तू नष्ट हो जा। (२) **वातस्य ध्राज्या**=वायु की तीव्र गति से—प्राणायाम में तीव्रता से बाहर फेंके गये वायु के साथ तू अदृश्य हो जा। (३) और **निहाकया**=(नितरां हाकया त्यागेन) विषयों के नितरां त्याग के साथ तू भी नष्ट हो जा। (४) यह अर्थ आचार्य दयानन्द की शैली पर किया गया है। भाव यह है कि रोग के दूरीकरण के लिए तीन बातें आवश्यक हैं। (क) ज्ञानवर्धक सात्त्विक आहार। (ख) प्राणायाम व दीर्घश्वास (deep breathing) तथा (ग) विषयत्याग।

भावार्थ—१. हमारे रोग वात-पित्त-कफ़विकारों व पीड़ाओं के साथ दूर हो जाएँ। २. ये चाष के साथ आकाश में उड़ जाएँ। आँधी के साथ दूर देश में पहुँच जाएँ 'अरे मारे गये' ऐसा चिल्लाकर भाग चलें। ३. सात्त्विक आहार, दीर्घश्वास, व विषय-त्याग हमें रोगों से बचानेवाले हों।

ऋषिः—भिषक्। **देवता**—वैद्याः। **छन्दः**—विराडनुष्टप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

ओषधि-मिश्रण (Prescription)

अन्या वोऽअन्यामवत्वन्यान्यस्याऽउपावत।
ताः सर्वाः संविदानाऽइदं मे प्रावता वचः॥८८॥

१. वैद्य गत मन्त्र में वर्णित 'वात-पित्त-कफ़' विकारों के दूरीकरण के लिए विविध ओषधियों का मिश्रण करता है और चाहता है कि ये एक-दूसरे के वाञ्छनीय प्रभाव को नष्ट न करती हुई अपना-अपना कार्य करें। इसी से वह कहता है कि हे ओषधियो! **वः**=तुममें **अन्या**=कोई एक ओषधि **अन्याम्**=दूसरी ओषधि को **अवतु**=रक्षित करे। उसके वाञ्छनीय प्रभाव को नष्ट न करे। २. इस प्रकार रक्षित हुई **अन्या**=यह दूसरी ओषधि **अन्यस्याः**=अपने से भिन्न तीसरी ओषधि के **उपावत**=समीप आकर उसका रक्षण करे, उसके प्रभाव को नष्ट न करे। ३. **ताः सर्वाः**=वे सब कफ़, वात व पित्तविनाशक ओषधियाँ

संविदानाः=परस्पर ऐकमत्य को प्राप्त हुईं, अर्थात् मिलकर रोगनाशन का कार्य करती हुईं **मे**=मेरे **इदं वचः**=गत मन्त्र में कहे गये इस वचन को कि हे यक्ष्म! तू भाग जा' **प्रावत**=पूर्णतया रक्षित करें, अर्थात् तुम्हारे मिलकर कार्य करने से मेरा कथन सत्य ही सिद्ध हो। ओषधियों का परस्पर मिश्रण इस प्रकार हो कि उनमें फँसकर रोग पिस ही जाए।

भावार्थ—युक्ति से मिलाई हुई ओषधियाँ रोगों को नष्ट करती हैं। एक-दूसरे के प्रभाव को वे समावस्था में ले-आती हैं। उनकी उग्रता रोग को समाप्त करती हुई भी रोगी के लिए घातक नहीं रह जाती।

ऋषिः—भिषक्। **देवता**—वैद्याः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

बृहस्पति-प्रसूत चार ओषधियाँ

याः फ॒लिनी॒र्याऽअ॑फ॒लाऽअ॑पु॒ष्पा याश्च॑ पु॒ष्पिणीः॑।
बृह॒स्पति॑प्रसूता॒स्ता नो॑ मुञ्च॒न्त्वꣳह॑सः॥८९॥

१. ओषधियों के भिन्न-भिन्न रूपों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि (क) **याः**=जो ओषधियाँ **फलिनीः**=फलवाली हैं, अर्थात् जिनपर फल आता है। (ख) **याः**=जो **अफलाः**=फलरहित हैं, जिनपर फल नहीं आता। (ग) **अपुष्पाः**=जो फूलवाली नहीं है, जिनमें बिना ही फूल के सीधा फल आ जाता है। (घ) **याः च**=और जो **पुष्पिणीः**=फूलोंवाली हैं, फूल के द्वारा फल को पैदा करती हैं। २. **बृहस्पतिप्रसूताः** =(बृहतां पतिः तेन प्रसूताः) बड़े-बड़े लोकों के स्वामी परमेश्वर से उत्पादित **ताः**=वे ओषधियाँ **नः**=हमें **अहंसः**=पाप से उत्पन्न रोग व रोगजन्य दुःख से **मुञ्चन्तु**=छुड़ाएँ। ३. 'बृहस्पतिप्रसूताः' की भावना एक और भी है। **बृहस्पति=ब्रह्मणस्पतिः**=सब ज्ञानों का पति है, विद्वान् है, यह इस **बृहती**= आयुष्यवर्धन करनेवाली (बृहि वृद्धौ) आयुर्वेदविद्या का भी पति है। आयुर्वेद में निष्णात इस बृहस्पति से **प्रसूत** =प्रेरित=प्रयोग में लायी गई ये ओषधियाँ हमें पापजन्य रोगों और रोगजन्य दुःखों से बचाएँ। (यह पिछला अर्थ श्री जयदेवजी ने अपने भाष्य में दिया है।) ४. एवं, ओषधियाँ स्थूलतया चार भागों में विभक्त हैं 'फलिनी, अफला, पुष्पिणी और अपुष्पा' ये सब सुयोग्य वैद्य से प्रयुक्त होकर रोगी को रोगमुक्त करती हैं।

भावार्थ—मन्त्रोक्त चतुर्विध ओषधियाँ विद्वान् वैद्य से विनियुक्त होकर व्याधि-विनाश करनेवाली हों।

ऋषिः—भिषक्। **देवता**—वैद्याः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

चार पाप

मु॒ञ्चन्तु॑ मा शप॒थ्या॒दथो॑ वरु॒ण्या॒दु॒त।
अथो॑ य॒मस्य॒ पड्वी॑शा॒त्सर्व॑स्माद् देवकि॒ल्बि॒षात्॥९०॥

१. उपर्युक्त मन्त्र में वर्णित ओषधियाँ **मा**=मुझे **शपथ्यात्**=क्रोध में आक्रोश (शप आक्रोशे) के कारण उत्पन्न हो जानेवाले पैत्तिक विकारों—रक्त दबाब (blood pressure) आदि से **मुञ्चन्तु**=मुक्त करें। पित्त विकारवाले को ही क्रोध अधिक होता है और उस क्रोध में वह गाली आदि पर उतर आता है। इससे वे पैत्तिक विकार और बढ़ जाते हैं (उनसे ये फलिनि ओषधियाँ मुझे मुक्त करें)। २. **अथो**=और **वरुण्यात्**=वरुण जल देवता है, उनके प्रकोप से होनेवाले रोग वरुण्य रोग हैं। जलविकार से अभिप्राय कफ़-विकार ही है।

अतः कफ़जनित जुकाम, खाँसी, क्षय आदि रोगों से भी ये (अफला) ओषधियाँ मुझे मुक्त करें। ३. **उत**=और **अथो**=अब **यमस्य**=(अयं वै यमः यो यं पवते) इस बहनेवाले वायु के **पड्वीशात्**=बन्धन से—वात-विकार से उत्पन्न हो जानेवाले गठिया आदि अङ्गग्रहों से ये (अपुष्पा) ओषधियाँ मुझे मुक्त करें। इन (अपुष्पा) ओषधियों के प्रयोग से मैं वातिक रोगों से बच जाऊँ। ४. और अन्त में **सर्वस्मात्**=सब **देवकिल्बिषात्**=इन्द्रियों के विषयों में किये गये पापों से—उस-उस इन्द्रिय के अपने-अपने विषय में आसक्ति से ये (पुष्पिणी) ओषधियाँ मुझे छुड़ाएँ। इन्द्रियाँ विषयासक्त होती हैं तो उनमें ह्रास—शक्ति की क्षीणता हो ही जाती है, उससे भी ये ओषधियाँ हमें बचाएँ।

भावार्थ—पिछले मन्त्र में चार प्रकार की ओषधियों का वर्णन था। प्रस्तुत मन्त्र में चार प्रकार के रोगों का वर्णन है। सम्भवतः इन्हें यथासंख्य ले सकना सम्भव हो। चारों ओषधियाँ चारों विकारों को दूर करें।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—वैद्याः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

रोग-निवारण

अवपतन्तीरवदन्दिवऽओषधयस्परि।
यं जीवमश्नवामहै न स रिष्याति पूरुषः ॥९१॥

१. गत मन्त्रों का ऋषि **भिषक्**=चारों रोगों का निवारण करता है, अतः 'वरुण' (निवारण करनेवाला) बन गया है। यह वरुण कहता है कि **दिवः परि**=द्युलोक के समीप से **अवपतन्तीः**=नीचे आती हुई, वृष्टि-बिन्दु के रूप में भूमि पर गिरती हुई **ओषधयः**=ओषधियाँ **अवदन्**=परस्पर बात-सी करती हैं कि २. **यम्**=जिस **जीवम्**=अनुत्क्रान्तप्राण पुरुष को **अश्नवामहै**=हम प्राप्त होती हैं **सः पुरुषः**=वह पुरुष **न रिष्याति**=हिंसित नहीं होता। ओषधियाँ मनुष्य की रक्षा करती हैं। ३. 'ये ओषधियाँ द्युलोक से नीचे आई हैं', अतः अलौकिक दिव्य गुणोंवाली हैं।

भावार्थ—ओषधियाँ दिव्य हैं। वृष्टिजल से इनका उत्पादन हुआ है। ये यदि जीवित पुरुष तक पहुँच जाएँ तो फिर उसे जाने नहीं देतीं, उसे जिला ही देती हैं।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—वैद्याः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

उत्तम ओषधि के लक्षण

याऽओषधीः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः।
तासामसि त्वमुत्तमारं कामाय शꣳहृदे ॥९२॥

१. 'वरुण' (वैद्य) रोग का निदान करके ओषधि का चुनाव (वरण) करता हुआ कहता है कि **याः ओषधीः**=जो ओषधियाँ **सोमराज्ञीः**=सोमरूप राजावाली हैं, अर्थात् जिन ओषधियों का राजा सोम है—सोमलता सर्वोत्तम ओषधि मानी गई है। **बह्वीः**=संख्या में अनन्त-सी हैं, हमारे शरीर की वृद्धि का कारण हैं (वह to increase), अङ्ग-प्रत्यङ्ग को दृढ़ करनेवाली हैं (वह to strengthen)। **शतविचक्षणाः**=(क) बहुवीर्य हैं अथवा (ख) रोगनिवारण में अनन्त (शत) चतुर (विचक्षण) हैं। (ग) (चक्षण=appearance) अनन्त आकृतियों व रूपोंवाली हैं। (घ) अपने रसास्वाद से भूख को बढ़ानेवाली हैं (eating—a relish to promote appetite=चक्षण) **तासाम्**=उन ओषधियों में **त्वम्**=तू **उत्तमा असि**=सर्वोत्तम है। २. तू इस रोगी के **कामाय**=रोगनिवारणरूप ईप्सित (मनोरथ) के लिए **अरम्**=पर्याप्त

हो तथा **हृदे**=हृदय के लिए **शं भव**=शान्ति देनेवाली हो। तेरा इसके हृदय पर कुछ अशुभ प्रभाव न पड़े। तेरे प्रयोग से इसका दिल बैठने (heart sink न करे) न लगे।

भावार्थ—ओषधि की विशेषताएँ निम्न हैं। १. ये अपने सोम गुण से दीप्त हों, अर्थात् घबराहट को दूर करनेवाली हों। २. शरीर की वृद्धि व अङ्गों की दृढ़ता का कारण बनें। ३. बहुवीर्य हों—रोग को झट दूर करें। ४. रोगनिवारणरूप मनोरथ को पूरा करें। और ५. हृदय पर इनका कोई कुप्रभाव न हो।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—वैद्याः। **छन्दः**—विराडार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

ओषधि को गुणवत्तर करना

याऽओषधीः सोमराज्ञीर्विष्ठिताः पृथिवीमनु।
बृहस्पतिप्रसूताऽअस्यै सन्दत्त वीर्यम्॥९३॥

१. **याः ओषधीः**=जो ओषधियाँ **सोमराज्ञीः**=सोमौषधिरूप राजावाली हैं—'सोम' जिनका मुखिया है, जो **पृथिवीम् अनु**=इस पृथिवी पर **विष्ठिताः**=विशेषरूप से स्थित हैं, जिनका इन पार्थिव ओषधियों में विशिष्ट स्थान है, वे **बृहस्पतिप्रसूताः**=प्रभु से उत्पन्न की गई अथवा चतुर्वेदवेत्ता विद्वान् से प्रयुक्त की जाकर **अस्यै**=इस मुझसे दी जानेवाली औषध को **वीर्यम् संदत्त**=अधिक शक्ति दें। २. इस मन्त्रार्थ में स्पष्ट है कि कई ओषधियाँ ऐसी हैं जो इस पृथिवी पर अपना एक विशिष्ट ही स्थान रखती हैं और अन्य ओषधियों में मिलकर उनके गुणों को कई गुणा कर देती हैं। ३. 'अस्यै संदत्त वीर्यम्' का यह अर्थ भी हो सकता है कि इस रोगिणी स्त्री के लिए शक्ति दें। (जयदेवकृत—भाष्य में)

भावार्थ—ओषधियों के परस्पर गुण-वीर्य-विपाक की अनुकूलता से ही दातव्य ओषधि के योग बनाने चाहिएँ।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—भिषजः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

समीप व दूर की ओषधियाँ

याश्चेदमुपशृण्वन्ति याश्च दूरं परागताः।
सर्वाः सङ्गत्य वीरुधोऽस्यै सन्दत्त वीर्यम्॥९४॥

१. ओषधियों को पुरुषविध करके सम्बोधन करता हुआ 'वरुण' कहता है कि हे ओषधियो! **याः च**=तुममें से जो **इदम्**=इस मेरे वचन को **उपशृण्वन्ति**=समीपता से सुनती हैं, **याः च**=और जो **दूरं परागताः**=अति दूर-दूर देश से व्यवहित होकर 'मेरे वचन को नहीं सुनती' वे **सर्वाः**=सब **सङ्गत्य**=मिलकर **वीरुधः**=विविध रोगों को रोकनेवाली ओषधियाँ **अस्यै**=इस रोगिणी स्त्री के लिए **वीर्यं संदत्त**=शक्ति दें।

भावार्थ—समीप व दूर स्थित सब ओषधियाँ मिलकर इस रोगिणी स्त्री को शक्ति प्रदान करें।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—वैद्याः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

ओषधि-खनन

मा वो रिषत् खनिता यस्मै चाहं खनामि वः।

द्विपाच्चतुष्पादस्माकꣳसर्वमस्त्वनातुरम्॥९५॥

१. हे ओषधियो! (क) **वः**=आपका **खनिता**=खोदनेवाला **मा रिषत्**=मत हिंसित हो, अर्थात् तुम्हारे खोदने में खोदनेवाले को इस प्रकार की चोट आदि न आए जो अन्ततः उसकी हिंसा का कारण सिद्ध हो। (ख) अथवा **खनिता**=खोदनेवाला **वः**=आपको **मा रिषत्**=हिंसित न करे। तुम्हें जड़ से ही न उखाड़ दे। **'ओषध्यास्ते मूलं मा हिंसिषम्'** का यही अभिप्राय है। २. **च**=और वह रोग भी नष्ट हो **यस्मै**=जिसके लिए **अहम्**=मैं **वः**=तुम्हें **खनामि**=खोदता हूँ। जिस रोग के लिए मूल को भी खोदा जाता है, उससे रोगी पुरुष का रोग अवश्य दूर हो जाए। ३. हे ओषधियो! तुम्हारी इस कृपा से **अस्माकम्**=हमारे **द्विपात् चतुष्पात्**=दोपाये मनुष्य व चौपाये गवादिक पशु **सर्वम्**=सब **अनातुरम्**=नीरोग **अस्तु**=हों।

भावार्थ—हम ओषधियों के मूल को नष्ट न करें। हम सब नीरोग हों।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—वैद्याः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

ओषधियों की ओषधिराज से बातचीत

ओषधयः समवदन्त सोमेन सह राज्ञा।
यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्तꣳ राजन् पारयामसि॥९६॥

१. 'सोम' ओषधियों का राजा माना जाता है। यहाँ काव्यमय भाषा में उन ओषधियों को चेतन मानकर ओषधियों की ओषधिराज—सोम से वार्तालाप का उल्लेख करते हैं कि **ओषधयः**=ओषधियाँ **राज्ञा सोमेन सह**=अपने राजा सोम के साथ **समवदन्त**=बातचीत करती हैं कि २. **यस्मै**=जिस भी रोगी के लिए **ब्राह्मणः**=एक ज्ञानी वैद्य **कृणोति**=हमें करता है, अर्थात् हमारे पत्र, पुष्प, फल, मूल आदि से जिस भी रोगी की चिकित्सा करता है, हे **राजन्**=सोम! **तं पारयामसि**=उस रोगी को हम रोग से पार कर देती हैं। उसके रोग को समाप्त करके उसे हम फिर से जिला देती हैं। ३. यहाँ मन्त्र में 'ब्राह्मणः' शब्द का बड़ा महत्त्व है। वैद्य के लिए विद्वान्—अपनी विद्या में निष्णात होना आवश्यक है। 'नीम हकीम तो खतराये जान ही है'। साथ ही उसे आस्तिक वृत्ति का भी होना चाहिए। अन्यथा वह रोगी के स्वास्थ्य की अपेक्षा अपनी जेब के स्वास्थ्य का अधिक ध्यान करेगा।

भावार्थ—वैद्य का विद्वान् व आस्तिक होना आवश्यक है। ऐसा ही वैद्य औषध-प्रयोग से रोगी को नीरोग कर पाएगा।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—भिषग्वराः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

विविध रोगों का नाश

नाशयित्री बलासस्यार्शसऽउपचितामसि।
अथो शतस्य यक्ष्माणां पाकारोरसि नाशनी॥९७॥

१. पिछले मन्त्र का ब्राह्मण=ज्ञानी, आस्तिक वैद्य उस-उस ओषधि को हाथ में लेता है और कहता है कि तू **बलासस्य**=(बलम् अस्यति) बल को क्षीण करनेवाले क्षयरोग की **नाशयित्री असि**=नाश करनेवाली है। २. **अर्शसः**=मूलेन्द्रिय—गुदा की व्याधि बवासीर की तू नाशिका है। ३. **उपचिताम्**=(शरीरे ये उपचीयन्ते) शरीर को कुछ सोजवाला कर देनेवाले 'श्वयथु-गडु-श्लीपद' आदि रोगों की तू नाशिका है। ४. **अथो**=और **यक्ष्माणां शतस्य**=सैकड़ों ही रोगों की तू नाशिका है। **पाकारोः**=मुखपाक-क्षतादि की अथवा (अस=व्यथा) अन्नपाक की जो पीड़ा, अर्थात् मन्दाग्नित्व है, उसकी तू **नाशनी असि**=नाश

करनेवाली है।

भावार्थ—उस-उस रोग के नाश करनेवाली औषध को जानकर हम उस-उस रोग से मुक्त होने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—वैद्याः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

ओषधि खननकर्त्ता

त्वां ग॑न्धर्वाऽअ॑खनँस्त्वामिन्द्र॒स्त्वां बृह॒स्पतिः॑ ।

त्वामो॑षधे॒ सोमो॒ राजा॑ वि॒द्वान् यक्ष्मा॑दमुच्यत ॥९८॥

१. हे ओषधे! **त्वाम्**=तुझे **गन्धर्वाः**=गन्धर्वों ने **अखनन्**=खोदा है, इष्ट-कार्य की सिद्धि के लिए भूमि से प्राप्त किया है। २. **त्वाम्**=तुझे **इन्द्रः**=इन्द्र ने खोदा है। **त्वाम्**=तुझे **बृहस्पतिः**=बृहस्पति ने खोदा है। ४. हे **ओषधे**=ओषधे! **त्वाम्**=तुझे **विद्वान्**=अच्छी प्रकार जानता हुआ—तेरे सामर्थ्य को समझकर उपयोग करता हुआ **सोमः राजा**=सोम राजा **यक्ष्मात्**=रोग से **अमुच्यत**=छूट गया है। ५. यहाँ मन्त्र में ओषधि को खोदनेवाले या उसका समझकर प्रयोग करनेवाले चार व्यक्ति हैं—'गन्धर्व, इन्द्र, बृहस्पति, सोमराजा'। 'गन्धर्व' भूमिविज्ञानवित् विद्वान् हैं (गां भूमिं भूमिविज्ञानं धारयन्ति)। 'इन्द्र' परमैश्वर्यशाली राजा है (इदि परमैश्वर्ये)। 'बृहस्पति'=ब्रह्मणस्पति=चारों वेदों का विद्वान् पुरुष है और 'सोमराजा'=सौम्य स्वभाववाला व्यवस्थित जीवनवाला पुरुष है। पहले तीन ने खोदा है, चौथा उपयोग करके रोग से मुक्त हुआ है। सम्भवतः पहले तीन शब्द वैद्य की व औषधालय के प्रबन्धकों की विशेषताओं का संकेत करते हैं। इन्हें भूमिविज्ञानवित् व ज्ञानी होना चाहिए। रोगी जितना शान्ति धारण करेगा, क्रोधादि को छोड़कर सौम्य और नियमित जीवनवाला बनेगा, उतनी ही जल्दी रोग से मुक्त हो पाएगा। अथवा ये सब शब्द वैद्य के ही गुणों का प्रतिपादन करते हैं। (क) यह भूमिविज्ञानवित् (गन्धर्व) हो, जितेन्द्रिय हो (इन्द्र), ज्ञानी हो (बृहस्पति), सौम्य आकृति व स्वभाववाला हो (सोम) व्यवस्थित जीवनवाला हो (राजा)। ऐसा ही वैद्य रोगी को ठीक कर सकता है।

भावार्थ—वैद्य 'भूमिविज्ञानवित्' व ज्ञानी हो, शान्त व व्यवस्थित जीवनवाला हो।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—ओषधिः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

सहमाना

सह॑स्व मे॒ऽअरा॑तीः॒ सह॑स्व पृतना॒यतः॑ ।

सह॑स्व॒ सर्वं॑ पा॒प्मान॒ꣳसह॑मानास्योषधे ॥९९॥

१. हे **ओषधे**=दोषों का दहन करनेवाली (उष दाहे) ओषधे! **मे**=मेरे **अरातीः**=शत्रुभूत रोगों को **सहस्व**=तू पराभूत कर। इन्हें मेरे शरीर पर आधिपत्य न जमाने दे। २. **पृतनायतः**=सेना की भाँति आचरण करनेवाले, अर्थात् जैसे सेना अपने शत्रुओं पर आक्रमण करती है उसी प्रकार मुझपर आक्रमण करनेवाले इन रोगों को **सहस्व**=मसल डाल (षह मर्षणे)। २. इस प्रकार मेरे शरीर से सब रोगों को दूर करके मन में रहनेवाले **सर्वं पाप्मानम्**=सारे पापों को अथवा सब अशुभवृत्तियों को **सहस्व**=कुचल डाल। इन ओषधियों से शरीर की व्याधियाँ तो दूर हों ही, ये आन्तरिक मन में रहनेवाली आधियों को भी समाप्त कर दें। ३. हे ओषधे! तू **सहमाना असि**=है ही रोगों का पराभव करनेवाली।

भावार्थ—ओषधियाँ शत्रुरूप रोगों को नष्ट करती हैं, उनपर आक्रमण करनेवाली होती हैं।

सूचना—सम्भवतः 'अराति' शब्द बहुत न फैलनेवाले रोगों के लिए प्रयुक्त हुआ है और पृतनायतः=फैलनेवाले (epidemics) रोगों के लिए आया है।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—वैद्याः। **छन्दः**—विराड्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

वैद्य, रोगी, औषध

दीर्घायुस्तऽओषधे खनिता यस्मै च त्वा खनाम्यहम्।
अथो त्वं दीर्घायुर्भूत्वा शतवल्शा वि रोहतात्॥१००॥

१. हे **ओषधे**=रोगनाशकद्रव्य! **ते खनिता**=तेरा खोदनेवाला—भूम्यादि के गुणविज्ञान से युक्त वैद्य जो तुझे भूमि से प्राप्त करता है वह **दीर्घायुः**=दीर्घ जीवनवाला हो, अर्थात् तुझे प्राप्त करने की प्रक्रिया में उसे किसी प्रकार की हानि न हो जाए। २. **च**=और **यस्मै**=जिसके लिए **अहम्**=मैं **त्वा**=तुझे **खनामि**=खोदता हूँ, वह रोगी भी तेरे द्वारा—तेरा प्रयोग कराये जाने पर नीरोग होकर दीर्घ जीवनवाला हो। ३. **अथो** और निश्चय से **त्वम्**=तू भी **दीर्घायुः**=दीर्घ जीवनवाली **भूत्वा**=होकर **शतवल्शा**=असंख्य अंकुरोंवाली होकर **विरोहतात्**= प्रादुर्भूत हो—फैल, अर्थात् **'ओषध्यास्ते मूलं मा हिंसिषम्'** के अनुसार कोई भी खोदनेवाला तेरे मूल को नष्ट न कर दे। बचे हुए मूलवाली तू शतशः अंकुरोंवाली होकर फैलती रहे। तेरा अभाव न हो जाए।

भावार्थ—वैद्य, रोगी व औषध तीनों दीर्घ जीवनवाले हों।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—भिषजः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

उपस्ति

त्वमुत्तमास्योषधे तव वृक्षाऽउपस्तयः।
उपस्तिरस्तु सोऽस्माकं योऽअस्माँ२॥ऽअभिदासति॥१०१॥

१. हे **ओषधे**=रोगदाहक औषध! **त्वम्**=तू=**उत्तमा असि**=उस-उस रोग को नष्ट करने में सर्वोत्तम है। २. **वृक्षाः**=शाल-ताल-तमाल-वट आदि वृक्ष **तव**=तेरे **उपस्तयः**=समीप संहत होकर विद्यमान हैं। 'उपस्त्यायन्ति' वे वृक्ष तुम्हारे उपकार के लिए और उपद्रव के निराकरण के लिए समीप ही संहत होकर ठहरे हैं। ३. (क) इसी प्रकार **यः**=जो **अस्मान्**= हमें **अभिदासति**=(दासतिः दानकर्मा—नि० ३।२०) उत्तमोत्तम पदार्थ देता है **सः**=वह पुरुष **अस्माकम्**=हमारा **उपस्तिः**=उपासन करनेवाला **अस्तु**=हो। जिस प्रकार ओषधि के समीप स्थित वृक्ष उसके लिए हितकर होते हैं, उसी प्रकार हमारे समीप स्थित व्यक्ति हमारे लिए हितकर हों। (ख) 'दासति' धातु हिंसा अर्थ में भी आती है तब अर्थ इस प्रकार होगा कि **यः**=जो **अस्मान् अभिदासति**=हमारी हिंसा करता है **सः**=वह हमारा विरोध छोड़कर **अस्माकम्**=हमारा **उपस्तिः अस्तु**=उपासक बन जाए। जो रोग हमें समाप्त कर रहा था, वह हमारे लिए कल्याणकर हो जाए।

भावार्थ—ओषधियाँ रोग निवारण करनेवाली हैं, परन्तु हमें विरोधी से कभी औषध नहीं लेनी चाहिए, हितचिन्तक से ही औषध का ग्रहण करें।

सूचना—यहाँ मन्त्र के उत्तरार्ध में ऐसा संकेत स्पष्ट है कि विरोधी व्यक्ति से ली गई औषध गुणकारी न होकर हमारी समाप्ति ही कर देगी। हम सदा औषध उसी वैद्य से लें जो हमारा उपासक व हितू हो।

ऋषिः—हिरण्यगर्भः। **देवता**—कः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

हविषा विधेम

मा मा हिꣳसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा दिवꣳसत्यधर्मा व्यानट्। यश्चापश्चन्द्राः प्रथमो जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम॥१०२॥

१. पिछले मन्त्रों में भूमि से उत्पन्न होनेवाली तथा वृष्टि के कारणभूत सूर्यादि से परिपक्व की गई ओषधियों का सविस्तर वर्णन हुआ है, परन्तु भूमि-सूर्य आदि इन सबका उत्पादक भी तो वह प्रभु है, अतः प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि उस ज्ञान-धन प्रभु की उपासना करता है। वे प्रभु 'हिरण्यगर्भ' हैं। यह उपासक भी 'हिरण्यगर्भ' कहलाने लगता है। यह प्रार्थना करता है कि—२. **यः पृथिव्याः जनिता**=जो पृथिवी का उत्पादक प्रभु है, वह **मा**=मुझे **मा हिंसीत्**=नष्ट न होने दे। वह इस पृथिवी में ऐसी गुणकारी ओषधियों को जन्म देता है, जिससे मेरे सब रोग दूर हो जाते हैं। ३. वह **सत्यधर्मा**=सत्य से इन लोक व लोकान्तरों का धारण करनेवाला—अपनी अटल व्यवस्था से सब लोकों को हिंसित होने से रक्षित करनेवाला प्रभु **यः**=जो **वा**=निश्चय से **दिवम्**=द्युलोक को **व्यानट्**=व्याप्त कर रहा है अथवा (असृजत्) उत्पन्न करता है, मुझे हिंसित न होने दे। ४. (क) **च**=और वह प्रभु मुझे हिंसित न होने दे **यः**=जिसने **आपः**=जलों को तथा **चन्द्राः**=ओषधियों में उत्तम रसों का सञ्चार करनेवाले चन्द्रलोकों को **प्रथमः**=सबसे प्रथम होते हुए (हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे) **जजान**=पैदा किया है। (ख) **यश्चापश्चन्द्राः**=का अर्थ ब्राह्मणग्रन्थों में 'मनुष्य' किया गया है 'मनुष्य एव हि यज्ञेनासुवन्ति चन्द्रलोकम्' मनुष्य ही तो यज्ञों से चन्द्रलोक को प्राप्त करते हैं, अतः जिसने मनुष्यों को जन्म दिया है, वह प्रभु उन्हें हिंसित करनेवाला न हो। वह प्रभु 'भूमि, द्युलोक, जल, चन्द्र' आदि उन सब लोकों का निर्माण करता है जो उत्तम ओषधियों के उत्पादन में भाग लेते हैं। ५. इस **कस्मै**=आनन्दस्वरूप **देवाय**=सब औषधों के देनेवाले प्रभु के लिए **हविषा**=दानपूर्वक अदन से **विधेम** =हम पूजा करें। प्रभु तो उत्तमोत्तम ओषधियों से हमें नीरोग करने में लगे हैं। यदि हम दानवृत्ति को छोड़कर 'स्वोदरम्भरि' ही बन जाएँगे तो पेटू बनकर नीरोग कैसे हो सकेंगे! अतः प्रभु की पूजा इसी प्रकार होगी कि हम दानपूर्वक अदन करनेवाले बनकर रोगनिवारण में सहायक बनें।

भावार्थ—वे प्रभु पृथिवी, द्युलोक, जल व चन्द्रादि के निर्माता हैं। ये सब लोक हमारे कल्याण के लिए हैं। कल्याण तभी होगा जब हम दानपूर्वक खानेवाले बनें। ऐसा बनने में ही सच्ची प्रभु-पूजा है।

ऋषिः—हिरण्यगर्भः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदुष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

यज्ञ व पृथिवी की उत्पादन-शक्ति

अभ्यावर्त्तस्व पृथिवी यज्ञेन पयसा सह। वपां तेऽअग्निरिषितोऽअरोहत्॥१०३॥

१. मन्त्र संख्या ७९ में यज्ञों से ओषधियों के उत्पादन का वर्णन हुआ है। पिछले मन्त्र में इसीलिए यज्ञिय वृत्तिका उपदेश हुआ है कि इसी से तुम प्रभु की सच्ची परिचर्या

करोगे। 'हविषा विधेम'=हवि के द्वारा ही उपासना होती है। यहाँ कहते हैं कि हे **पृथिवि**=भूमे! तू **यज्ञेन**=यज्ञ से **अभ्यावर्त्तस्व**=हमारे सम्मुख चारों ओर वर्त्तमान हो, अर्थात् हम तुझपर चारों ओर यज्ञों को होता हुआ देखें। २. और हे पृथिवि ! तू इन यज्ञों के द्वारा सदा **पयसा सह**=आप्यायन करनेवाले, उत्पादक शक्ति को बढ़ानेवाले मेघजलों के साथ वर्त्तमान हो। 'अग्निहोत्रं स्वयं वर्षम्'=अग्निहोत्र से वर्षा तो होगी ही। वह 'पयो-दों' (जल-द) से प्राप्त जल भूमि का सचमुच आप्यायन=वर्धन करनेवाला होगा। ३. इस प्रकार **इषितः अग्निः**= यज्ञकुण्डों में प्रेरित हुआ-हुआ यह अग्नि हे भूमे! **ते**=तेरी **वपाम्**=(बीजजन्म व प्रादुर्भाव) वपनशक्ति=बीज बोना व उनको शतगुणित करके प्रकट करने की शक्ति को **अरोहत्**=ऊँचा चढ़ा दे, बढ़ा दे। ४. एवं, स्पष्ट है कि जब नियमपूर्वक यज्ञ होते हैं तब वृष्टिजल से पृथिवी का आप्यायन होता है और इस प्रकार यह यज्ञाग्नि पृथिवी की उत्पादनशक्ति को बढ़ानेवाली होती है। जो भी राष्ट्र इस प्रकार यज्ञ के महत्त्व को समझ लेता है, वह इस पृथिवि के गर्भ से हित-रमणीय अन्नों को प्राप्त करता है, अतः उसका नाम 'हिरण्य-गर्भ' हो जाता है।

भावार्थ—हम यज्ञ करें, बादल पृथिवी को सींचें और इस प्रकार यह यज्ञाग्नि पृथिवी की उत्पादनशक्ति को बढ़ा देगी।

ऋषिः—हिरण्यगर्भः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिग्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

यज्ञिय अन्न

अग्ने यत्ते॑ शु॒क्रं यच्च॒न्द्रं यत्पू॒तं यच्च॑ य॒ज्ञिय॑म्। तद्दे॒वेभ्यो॑ भरामसि॥१०४॥

१. गत मन्त्र में कहा है कि अग्नि पृथिवी की उत्पादनशक्ति को बढ़ा देता है। यज्ञाग्नि जिस अन्न के उत्पादन का कारण बनती है, 'वह अन्न कैसा होता है' इस बात का प्रतिपादन प्रस्तुत मन्त्र में है। कहते हैं कि हे **अग्ने**=यज्ञिय अग्ने! **यत्**=जो **ते**=तेरी सहायता से उत्पन्न हुआ (क) **शुक्रम्**=शक्ति व वीर्य का जनक (ख) **यत् च**=और साथ ही जो **चन्द्रम्**=आह्लादजनक (चदि आह्लादे) सौम्यता को उत्पन्न करनेवाला, (ग) **यत्**=जो **पूतम्**=हृदय को पवित्र करनेवाला, (घ) **यत् च**=और जो **यज्ञियम्**=प्रभु से सङ्गतीकरण का साधनभूत अन्न है **तत्**=उस अन्न को **देवेभ्यः**=अपने अन्दर दिव्य गुणों की उत्पत्ति के लिए **भरामसि**=धारण करते हैं। उस अन्न से हम अपना भरण-पोषण करते हैं, जिससे हम दिव्य गुणों को धारण कर सकें। २. एवं, मन्त्रार्थ में यह बात स्पष्ट है कि यज्ञों द्वारा वृष्टिजलों से उत्पन्न हुए-हुए अन्न (क) हमारे वीर्य के वर्धक होंगे (शुक्रं=वीर्यम्), (ख) वे हमारी क्रियाशीलता को बढ़ानेवाले होंगे (शुक् गतौ), (ग) ये अन्न हमारी मनोवृत्ति को सदा आह्लादमय बनाएँगे (चदि आह्लादे), हम ईर्ष्या-द्वेषादि की बुरी वृत्तियों से ऊपर उठेंगे, (घ) ये हमारे जीवनों को पवित्र बनाएँगे (पू=पवने=purify), हमारे शरीर व मन व्याधि व आधियों से रहित होंगे और (ङ) अन्ततः ये अन्न हमें परस्पर मिलकर चलना सिखाएँगे (यज्=सङ्गतीकरण) और उस प्रभु से भी हमारा मेल करानेवाले होंगे। (च) इन अन्नों के सेवन से हममें दिव्य गुणों की वृद्धि होगी, दैवी सम्पत्ति के हम स्वामी होंगे। (छ) इस प्रकार ये अन्न हमारा उत्तम भरण-पोषण करेंगे, अतः ये ही अन्न सेवनीय हैं, हमारे लिए हित-रमणीय=**हिरण्य** हैं। ये ही हमारे उदर=**गर्भ** में जाने योग्य हैं। ऐसा करके ही हम हिरण्यगर्भ होंगे।

भावार्थ—यज्ञिय अन्नों का सेवन हमें पवित्र करेगा।

ऋषिः—हिरण्यगर्भः। **देवता**—विद्वान्। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

यज्ञ के लाभ 'अन्नाभाव तथा रोग का विनाश'

इषमूर्जमहमित आदमृतस्य योनिं महिषस्य धाराम्।
आ मा गोषु विशत्वा तनूषु जहामि सेदिमनिराममीवाम्॥१०५॥

१. पिछले मन्त्र के वर्णन के अनुसार मैं यज्ञादि करता हुआ, उनसे उत्पन्न अन्नों का ही सेवन करता हूँ। यहाँ कहते हैं कि **अहम्**=मैं **इतः**=इस नित्यप्रति सर्वत्र किये जानेवाले यज्ञ से **इषम्**=अन्न को व **ऊर्जम्**=रस को **आदम्**=ग्रहण करता हूँ। इस यज्ञिय चारे का भक्षण करनेवाली गौओं से प्राप्त गोरस (दूध) भी यज्ञिय होता है, उसी दूध का मैं स्वीकार करता हूँ। २. क्योंकि यह अन्न व रस **ऋतस्य योनिम्**=ऋत का कारण है, ऋत का जन्मस्थान है। इस अन्न-रस के सेवन से मुझमें 'ऋत' की भावना उत्पन्न होती है, मेरे सब कार्य बड़े ठीक—ऋत=[right] को लिये हुए होते हैं। मैं सब कार्यों को यथास्थान, यथासमय करनेवाला बनता हूँ। ३. यह अन्न **महिषस्य**=(मह पूजायाम्) पूजा के योग्य प्रभु का **धाराम्**=धारण करानेवाला है। इस अन्न के सेवन से बुद्धि सात्त्विक होकर मनुष्य के हृदय में प्रभु का दर्शन कराने में सहायक होती है। अथवा 'धारा' शब्द 'वाङ्' नामक है। यह अन्न हमें उस महनीय प्रभु की वेदवाणी को समझने के योग्य बनाता है। ४. यह अन्न **मा**=मुझे **गोषु**=(गावः इन्द्रियाणि) इन्द्रियों के निमित्त, अर्थात् इन्द्रियशक्तियों के विकास के लिए **आविशतु**=प्राप्त हो, मेरे शरीर में अन्न का प्रवेश इन्द्रियों के बल को बढ़ाने के लिए हो। ५. यह अन्न **तनूषु**=पञ्चकोशों के स्वास्थ्य के लिए **आविशतु**=मुझमें प्रवेश करे। ६. मैं **अनिरां सेदिम्**=(इरा=अन्न) अन्नाभाव के कारण उत्पन्न अवसाद—विनाश को **जहामि**=छोड़ता हूँ। यज्ञों से देश में अन्नाभाव की स्थिति कभी उत्पन्न नहीं होती। **'यज्ञाद्भवति पर्जन्यः पर्जन्यादन्नसम्भवः'**=यज्ञ से बादल, और बादल से अन्न की उत्पत्ति होती है। ७. मैं इन यज्ञों से **अमीवाम्**=रोगों को **जहामि**=छोड़ता हूँ **'मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञात-यक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्'**=ज्ञान के द्वारा मैं तुझे अज्ञात रोगों व राजरोगों से मुक्त करता हूँ। एवं, यज्ञ से अन्नाभाव व रोग दोनों ही दूर होते हैं और परिवार के भोजन की चिन्ता से उत्पन्न परेशानियों के कारण हमारे घरों में अन्धकार नहीं होता। 'हिरण्यं ज्योतिः गर्भे यस्य'=जिन घरों में प्रकाश-ही-प्रकाश है, ऐसे हिरण्यगर्भ हम बनते हैं।

भावार्थ—१. यज्ञ से वह अन्न-रस प्राप्त होता है जो १. हमारे जीवन को व्यवस्थित=ऋतवाला करता है, २. यह हमें पूज्य प्रभु के प्रति झुकाववाला करता है तथा उसकी वाणी को समझने के योग्य बनाता है, ३. इससे हमारी इन्द्रिय-शक्तियों का विकास होता है और ४. हमारे शरीर अविकृत होते हैं। ५. इन यज्ञों से हमारे घरों में अन्नाभाव दूर होता है और रोग विनष्ट होते हैं।

ऋषिः—पावकाग्निः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृत्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

नातिमानिता Absence of Pride

अग्ने तव श्रवो वयो महि भ्राजन्तेऽअर्चयो विभावसो।
बृहद्भानो शवसा वाजमुक्थ्यं दधासि दाशुषे कवे॥१०६॥

१. 'मनुष्य अपने जीवन को उन्नत करे, गर्वित न हो जाए', अतः वह प्रभु का

स्मरण करते हुए कहता है कि **अग्ने**=मेरी सब उन्नति के साधक प्रभो! **तव श्रवः**=मेरे जीवन में जो कुछ भी थोड़ी-बहुत अच्छाई आ पाई है वह तेरी श्री-कीर्ति है, उसमें मेरा कुछ नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि (तव) **वयः**=मेरा यह जीवन आपका ही है—आपकी कृपा से ही मैं जी रहा हूँ। यह जीवन प्राप्त भी आपकी कृपा से ही हुआ है। २. हे **विभावसो**=ज्ञान-धन प्रभो! **अर्चयः**=आपकी ज्ञानदीप्तियाँ **महि भ्राजन्ते**=खूब ही चमकती हैं। मेरे हृदय में भी आपके ही ज्ञान का प्रकाश होता है। मैं अपनी मूर्खता से हृदय पर राग-द्वेष का ऐसा आवरण डाल बैठता हूँ जो मेरे हृदय को मलिन कर देता है और मुझे उस ज्ञान के प्रकाश को देखने के अयोग्य कर देता है। ३. हे **बृहद्भानो**=(बृहि वृद्धौ) वृद्धि के कारणभूत ज्ञानमय प्रभो ! आपके उस ज्ञान को प्राप्त करके ही तो मेरी सब प्रकार की उन्नति सम्भव होती है। आप **शवसा**=(शवतिर्गतिकर्मा) गति के हेतु से—मेरे जीवन को क्रियाशील बनाने के हेतु से **उक्थ्यं वाजम्**=स्तुत्य बल को **दधासि**=धारण करते हैं। आपकी कृपा से मुझे शक्ति प्राप्त होती है, जिसके द्वारा मैं सदा लोकहित में प्रवृत्त होता हूँ और इस प्रकार मेरी शक्ति मेरे यश का कारण बनती है। **उक्थ्यं वाजम्**=(यशो बलम्) आप मुझे यशस्वी बल प्राप्त कराते हैं। ४. हे **कवे**=क्रान्तदर्शिन् प्रभो! आप प्रत्येक वस्तु की वास्तविकता को जानते हैं—मेरी स्थिति को भी मुझसे अधिक अच्छी प्रकार आप समझते हैं और मुझ **दाशुषे**=दाश्वान् के लिए—आपके प्रति अपना समर्पण करनेवाले के लिए—आप यशस्वी बल देते हैं। आपकी शक्ति से शक्तिसम्पन्न होकर मैं संसार में शुभ कार्यों में प्रवृत्त हो पाता हूँ। इन सब कार्यों के अन्दर रहनेवाला यश आपका ही है। आपकी कृपा से मैं वस्तुतत्त्व को समझूँगा और किसी भी कार्य का गर्व न करूँगा।

भावार्थ—प्रभु ज्ञान देते हैं—वही यशस्वी बल प्राप्त कराते हैं। सब प्रभु की ही महिमा है—हमारा जीवन भी उस प्रभु की ही कृपा से है। हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले बनें और इस प्रकार उन्नत होकर अभिमान से फिर अवनत न हो जाएँ।

ऋषिः—पावकाग्निः। **देवता**—विद्वान्। **छन्दः**—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

पावकाग्नि

पावकवर्चाः शुक्रवर्चाऽअनूनवर्चाऽउदियर्षि भानुना।
पुत्रो मातरा विचरन्नुपावसि पृणक्षि रोदसीऽउभे॥१०७॥

१. गत मन्त्र के अनुसार कोई मनुष्य खूब उन्नति करता है। 'अग्नि' बनता है, आगे बढ़ता है और साथ ही उस उन्नति का गर्व न करके अपने को पवित्र बनाये रखता है, अतः इसका नाम 'पावकाग्नि' हो जाता है। प्रभु इस पावकाग्नि से कहते हैं कि २. तू **पावकवर्चाः**=पवित्र करनेवाले वर्चस्वाला है। तेरा 'वर्चस्' तुझे पवित्र बनाता है। वस्तुतः शक्ति के अभाव में ही अपवित्रता आती है। शक्ति के साथ पवित्रता का निवास है। वीरत्व के साथ वर्चस् (virtue) रहता है। **शुक्रवर्चाः**=तेरा वर्चस्—तेरी शक्ति तुझे गतिशील बनाती है (शुक् गतौ) शक्ति के अभाव में क्रिया सम्भव ही नहीं रहती, शक्ति ही क्रिया में परिवर्तित होती है। ४. **अनून-वर्चा**=(न ऊन वर्चस्) इस शक्ति के कारण तुझमें किसी प्रकार की न्यूनता नहीं रह जाती। क्या शारीरिक, क्या मानस व क्या बौद्ध सभी न्यूनताएँ इस वर्चस् से दूर हो जाती हैं। ५. तू **भानुना**=इस वर्चस् के कारण प्राप्त ज्ञान की दीप्ति से **उत् इयर्षि**=ऊपर-ही-ऊपर उठता है। यह ज्ञान तेरी सब उन्नतियों का कारण बनता है।

ज्ञान ही तो वस्तुतः तुझे पवित्र जीवनवाला बनाता है। ६. **पुत्रः**=पवित्रतावाला (पुनाति) और वासनाओं से अपना त्राण करनेवाला (त्रायते) होकर तू **मातरा**=माता व पिता की **विचरन्**=विशेषरूप से सेवा करता हुआ, उन्हें किसी प्रकार का कष्ट न होने देता हुआ **उपावसि**=हमारे समीप (प्रभु के समीप) आता है (अव=मव=Move=गतौ)। वस्तुतः कोई भी व्यक्ति माता-पिता को कष्ट पहुँचाकर प्रभु-भक्त नहीं बन पाता। क्या उपहास की बात है कि एक व्यक्ति समर्थ होकर पितृयज्ञ की तो पूर्ण उपेक्षा कर रहा है और प्रभु के नाम पर मन्दिर बनवा रहा है अथवा कितने ही घण्टे प्रभु-कीर्तन में बिता रहा है। माता-पिता की सेवा न करनेवाला व्यक्ति प्रभु का प्रिय नहीं हो सकता। ७. हे पावकाग्ने! तू अपने जीवन में **उभे रोदसी**=इन दोनों लोकों को—द्युलोक व पृथिवीलोक को, अध्यात्म में शरीर व मस्तिष्क को **पृणक्षि**=समृद्ध करता है। तू शरीर को स्वस्थ बनाता है और मस्तिष्क को ज्ञान से उज्ज्वल करता है।

भावार्थ—पावकाग्नि के जीवन में माता-पिता की सेवा का प्रमुख स्थान है। इसी के द्वारा वह प्रभु की सच्ची उपासना करता है, स्वस्थ शरीरवाला बनता है और उज्ज्वल मस्तिष्कवाला।

ऋषिः—पावकाग्निः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृत्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

पावकाग्नि का प्रभु-स्तवन

ऊर्जो नपाज्जातवेदः सुशस्तिभिर्मन्दस्व धीतिभिर्हितः।
त्वेऽइषः सन्दधुर्भूरिवर्पसश्चित्रोतयो वामजाताः॥१०८॥

१. पावकाग्नि प्रभु का स्तवन करता हुआ कहता है कि **ऊर्जः नपात्**=हे प्रभो! आप मेरे बल व प्राणशक्ति को न गिरने देनेवाले हैं। आपकी कृपा से ही मेरी शक्ति स्थिर रहती है। आपका विस्मरण मुझे विषय-प्रवण व क्षीणशक्ति कर देता है। २. **जातवेदः**=हे प्रभो! सम्पूर्ण ज्ञान आपसे ही उत्पन्न होता है। मुझमें भी जो ज्ञान का लवलेश है, वह आपकी ही कृपा से है। ३. **सुशस्तिभिः**=उत्तम शंसनों के द्वारा—उत्तम स्तुति के द्वारा तथा **धीतिभिः**=ध्यान के द्वारा 'चित्तवृत्तिनिरोध' के द्वारा **हितः**=हृदय में स्थापित हुए-हुए आप **मन्दस्व**=(मन्दयस्व) हमारे जीवनों को उल्लासमय कीजिए। आपकी कृपा ही मेरे सब कष्टों को दूर करके मेरे जीवन में हर्ष को अंकुरित करनेवाली होगी। ४. हे प्रभो! जो भी व्यक्ति **त्वे**=आपमें **इषः**=अपनी इच्छाओं को **सन्दधुः**=धारण करते हैं, अर्थात् आपकी प्राप्ति ही जिनकी प्रबल कामना हो जाती है, वे (क) **भूरिवर्पसः**=(वर्पन्=form) बहुत आकृतियोंवाले होते हैं, अर्थात् वे अपने में बहुतों का समावेश करनेवाले— औरों से अपृथक् (अयुतोऽहम्) होते हैं। यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र के उपदेश के अनुसार 'बह्वीः' बहुत बनते हैं, एक नहीं रह जाते। स्वार्थ से ऊपर उठ परार्थ में स्थित होते हैं, इसीलिए (वर्पन् praise) बड़े यशवाले होते हैं—इनका जीवन उत्तम कर्मोंवाला होकर परार्थ व यज्ञ का साधक होकर यशस्वी बनता है। (ख) **चित्रोतयः**=ये अद्भुत रक्षणवाले होते हैं—वासनाओं से आश्चर्यजनकरूप में अपनी रक्षा करते हैं। अथवा चित्र (चिती संज्ञाने) ज्ञान के द्वारा अपनी रक्षा करनेवाले बनते हैं तथा (ग) **वामजाताः**=(वामेषु प्रशस्तकर्मसु जाताः प्रसिद्धाः) उत्तम कर्मों में प्रसिद्ध होते हैं। इनके जीवन से सदा उत्तम ही कर्म होते हैं। इनके जीवन में सब वस्तुएँ सुन्दर-ही-सुन्दर होती हैं।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तुति व ध्यान से अपने हृदयों में प्रभु की प्रतिष्ठा करें, तब १. हम अक्षीणशक्ति बनेंगे। २. हमारा ज्ञान बढ़ेगा। ३. हम एक-से बहुत हो जाएँगे अथवा प्रशंसात्मक कर्मों को ही करेंगे। ४. ज्ञान के द्वारा अपने को वासनाओं के आक्रमण से सुरक्षित कर पाएँगे तथा ५. हमारे जीवनों में सब वस्तुएँ सुन्दर-ही-सुन्दर होंगी।

ऋषिः—पावकाग्निः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

सानसि क्रतु

इ॒र॒ज्यन्न॑ग्ने प्रथयस्व ज॒न्तुभि॑र॒स्मे रायो॑ऽअमर्त्य।
स द॑र्श॒तस्य॒ वपु॑षो॒ विरा॑जसि पृ॒णक्षि॑ सान॒सिं क्रतु॑म् ॥१०९॥

१. प्रभु 'पावकाग्नि' से कहते हैं कि (क) **इरज्यन्** (इरज्यति ऐश्वर्यकर्मा—नि० २।२१) ऐश्वर्यवाला होता हुआ, अर्थात् सब इन्द्रियों, मन व बुद्धि का ईश्वर बनता हुआ, इनकी दासता से ऊपर उठता हुआ, अतएव (ख) **अमर्त्य**=विषयों के पीछे न मरनेवाले और (ग) **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **अस्मे रायः**=हमारे इन धनों को **जन्तुभिः**=गौ इत्यादि पशुओं से **प्रथयस्व**=विस्तृत करनेवाला हो। गौ इत्यादि के पालन से मनुष्य अपने ऐश्वर्य की वृद्धि कर पाता है। गोशालास्थापन='डेरीफार्म' स्वयं एक उत्तम व्यापार है। इन प्राप्त धनों को तू **जन्तुभिः**=प्राणियों के हेतु से **प्रथयस्व**=विस्तृत कर, अर्थात् प्राणियों के हित के लिए तू इनका विनियोग कर। यह अर्जित धन विषय-भोग जुटाने का साधन न हो जाए। २. यदि तू ऐसा कर पाता है तो **सः**=वह तू **दर्शतस्य वपुषः विराजसि**=दर्शनीय शरीर का राजा बनता है—तू बड़े उत्तम शरीरवाला होता है और ३. उस शरीर में तू **सानसिम्**=(षण सम्भक्तौ) सम्भजन—उपासन से युक्त **क्रतुम्**=प्रज्ञान व कर्म को **पृणक्षि**=(पूरयसि) पूरित करता है, अर्थात् अपने सुन्दर शरीर से तू उपासना करनेवाला होता है—तेरी यह उपासना प्रज्ञानपूर्वक किये जानेवाले कर्मों से होती है। वस्तुतः सौन्दर्य इसी बात पर तो निर्भर है कि वहाँ 'उपासना, प्रज्ञान व कर्म' तीनों का समन्वय हो पाया है।

भावार्थ—हम अपने ईश्वर हों। प्राणिहित के उद्देश्य से धनों का विनियोग करें। हमारे शरीर सुन्दर हों। उनमें 'उपासना, प्रज्ञान व कर्म' का समुच्चय हो।

ऋषिः—पावकाग्निः। **देवता**—विद्वान्। **छन्दः**—आर्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

प्रभु का धारणीय

इ॒ष्क॒र्त्तार॑मध्व॒रस्य॒ प्रचे॑तसं॒ क्षय॑न्त॒ꣳराध॑सो म॒हः।
रा॒तिं वा॒मस्य॑ सु॒भगां॑ म॒हीमिषं॒ दधा॑सि सान॒सिꣳर॒यिम् ॥११०॥

१. पावकाग्नि प्रभु से प्रार्थना करता है कि—आप **दधासि**=धारण व पोषण करते हो। किसका? (क) **अध्वरस्य इष्कर्त्तारम्**=हिंसारहित यज्ञादि कर्मों के सम्पादक का। जो व्यक्ति अपने जीवन को यज्ञमय बनाता है वह प्रभु का धारणीय बनता है। (ख) **प्रचेतसम्**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले का। प्रभु उसे धारण करते हैं जो ऊँचा ज्ञान प्राप्त करता है। ज्ञान ही तो उसे प्रभु के समीप पहुँचाता है। ज्ञानाभाव व अज्ञान मनुष्य को प्रभु से दूर करता है। अज्ञानियों से वह दूर है, ज्ञानियों के समीप। (ग) प्रभु उसे धारण करते हैं जो **राधसः क्षयन्तम्**=सफलता के, सिद्धि के साधनभूत धन का निवास-स्थान है (क्षि=निवास)। (घ) **महः**=(महस् power, light) जो शक्ति व प्रकाश का पुञ्ज है। (ङ) **वामस्य**

रातिम्=उत्तम प्रशस्य धन देनेवाले का। जो व्यक्ति सेवनीय सुन्दर धनों का दान करता है। २. उल्लिखत गुणों से युक्त पुरुष का हे प्रभो! आप धारण करते हो। ऐसे पुरुष के लिए आप **सुभगाम्**=उत्तम ऐश्वर्य के प्रापक **महीम्**=महनीय या पूजा की वृत्ति के जनक **इषम्**=अन्न को **दधासि**=धारण करते हैं तथा **सानसिं रयिम्**=उस धन को धारण करते हैं जो सम्भजनीय है अथवा संविभागों के योग्य है, अर्थात् इस पुरुष को आप वह धन देते हैं जिसे यह सबके साथ बाँटकर खाता है।

भावार्थ—प्रभु 'यज्ञशील—ज्ञानी—सफलता के साधनाभूत धन के धारण करनेवाले, बल व प्रकाश के पुञ्ज और उत्तम वस्तुओं के दाता' का धारण करते हैं। इस पुरुष को प्रभु 'उत्तम ऐश्वर्य के प्रापक तथा पूजा की वृत्ति के जनक' अन्न को देते हैं तथा वह धन देते हैं जिसका वह दान करता है, जिसे बाँटकर खाता है।

ऋषिः—पावकाग्निः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—स्वराडार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

प्रभु-प्राप्ति का साधन

ऋतावानं महिषं विश्वदर्शतमग्निꣳसुम्नाय दधिरे पुरो जनाः।
श्रुत्कर्णꣳसप्रथस्तमं त्वा गिरा दैव्यं मानुषा युगा॥१११॥

१. पावकाग्नि प्रभु का आराधन करते हुए कहता है कि **जनाः**=अपना विकास करनेवाले लोग **सुम्नाय**=सुख-प्राप्ति के लिए **त्वा**=आपको **पुरः**=अपने सामने **दधिरे**=स्थापित करते हैं, अर्थात् वे सदा आपका स्मरण करते हैं। आपके स्मरणपूर्वक ही सब काम करने के कारण उनके कार्य अपवित्र नहीं होते और उनका जीवन सुखी होता है। २. उन आपको वे धारण करते हैं, जो आप (क) **ऋतावानम्**=ऋतवाले हैं। प्रभु से होनेवाले सब कार्य ठीक समय पर व ठीक स्थान पर हो रहे हैं। वस्तुतः प्रभु के तीव्र तप से ही तो 'ऋत और सत्य' की उत्पत्ति हुई है। (ख) **महिषम्**=वे प्रभु महनीय, पूजनीय हैं, महान् हैं। (ग) **विश्वदर्शतम्**=सबके दर्शनीय हैं अथवा सब विज्ञानों के द्रष्टा हैं। (घ) **अग्निम्**=वे अग्रेणी हैं—सबको आगे और आगे ले-चलनेवाले हैं। (ङ) **श्रुत्कर्णम्**=(शृणोत्याह्वानम्) प्रार्थना को सुननेवाले हैं। (च) **सप्रथस्तमम्**=अतिशयेन विस्तारवाले हैं। वे प्रभु सर्वव्यापक हैं—कोई स्थान ऐसा नहीं जहाँ वे न हों। (छ) **दैव्यम्**=(देव एव दैव्यः—स्वार्थे यः) वे प्रभु देव हैं अथवा देवों का हित करनेवाले हैं। ३. इस प्रभु को **मानुषा युगा**=मनुष्यों के युग्म अर्थात् दम्पती—पति-पत्नी **गिरा**=इस वेदवाणी के द्वारा, ज्ञान की वाणियों के द्वारा धारण करते हैं। घर में पति-पत्नी प्रभु के दिये हुए ज्ञान—वेद के स्वाध्याय द्वारा प्रभु को पानेवाले बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु को आँख से ओझल न होने देनेवाले लोग पवित्र व सुखी जीवनवाले होते हैं। वेद के अध्ययन द्वारा पति-पत्नी प्रभु को पाते हैं।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—सोमः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

वाजस्य सङ्गथे

आप्यायस्व समेतु ते विश्वतः सोम वृष्ण्यम्। भवा वाजस्य सङ्गथे॥११२॥

गत मन्त्र के अनुसार अपने आराधक से प्रभु कहते हैं—१. **आप्यायस्व**=तू समन्तात् वर्धनवाला हो। उन्नति तेरा स्वभाव हो। तेरा शरीर बढ़ी हुई शक्तियोंवाला हो, तेरा हृदय भी विशाल हो, तेरा ज्ञान भी खूब बढ़ा हो। २. हे **सोम**=सौम्य व विनीत! **ते**=तुझे

विश्वतः=सब ओर से, सब सेवनीय पदार्थों से—**वृष्ण्यम्**=(वीर्य) शक्ति **समेतु**=प्राप्त हो। इसी शक्ति से ही तो तेरा आप्यायन व वर्धन होता है। ३. इस शक्ति को प्राप्त करके तू **वाजस्य**=त्याग व ज्ञान के **सङ्गथे**=मेल में **भव**=हो। 'शक्ति' एक ओर तेरा आप्यायन करनेवाली हो और दूसरी ओर यह तुझे त्याग व ज्ञान से युक्त करे। ४. वस्तुतः प्रभु-भक्त वही होता है जो (क) बढ़ी हुई शक्तियोंवाला हो। (ख) सौम्य होता हुआ वीर्यवान् हो। (ग) त्याग व ज्ञान से युक्त हो। ऐसे पुरुष की सब इन्द्रियाँ बड़ी उत्तम होती हैं, इसी से वह 'गौतम' कहलाता है—अत्यन्त प्रशस्त इन्द्रियोंवाला।

भावार्थ—प्रभु-शक्ति मनुष्य का वर्धन करनेवाली होती है। उसे सौम्य व सशक्त करती है। यह ज्ञानी बनकर त्यागशील होता है।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—सोमः। **छन्दः**—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

गोदुग्ध-सेवन

सं ते पयाᳬसि समु यन्तु वाजाः सं वृष्ण्यान्यभिमातिषाहः।
आप्यायमानोऽअमृताय सोम दिवि श्रवाᳬस्युत्तमानि धिष्व॥११३॥

१. हे मेरे आराधक! **ते**=तुझे **पयांसि**=दूध **सम् यन्तु**=उत्तमता से प्राप्त हों, अर्थात् तू गौ इत्यादि पशुओं के पालन के द्वारा उत्तम दूध प्राप्त करनेवाला बन। २. **उ**=और इस दुग्ध-सेवन से **वाजाः**=तुझे शक्तियाँ **संयन्तु**=प्राप्त हों। ३. **वृष्ण्यानि**=वीर्य **सम्**=तुझे प्राप्त हों। ४. इस शक्ति को प्राप्त करके तू **अभिमातिषाहः**=अभिमान का धर्षण करनेवाला—समाप्त करनेवाला हो। ५. अभिमान को कुचलने के कारण **आप्यायमानः**=सब दृष्टिकोणों से वृद्धि को प्राप्त होता हुआ हे **सोम**=विनीत! तू **अमृताय**=अमृतत्व की प्राप्ति के लिए **दिवि**=मस्तिष्करूप द्युलोक में **उत्तमानि श्रवांसि**=उत्तम ज्ञानों को **धिष्व**=धारण कर।

भावार्थ—१. दुग्ध-सेवन हममें वाजों, बलों तथा वीर्य को धारण करता है। २. गोदुग्ध से शक्ति प्राप्त करके हम निरभिमान बने रहते हैं। ३. हमारी सर्वतोमुखी उन्नति होती है। ४. हम अमृतत्व को प्राप्त करते हैं। ५. हमारे मस्तिष्क की ज्ञानाग्नि तीव्र होती है और हम उत्तम ज्ञानों को प्राप्त करके प्रभु के उपासक बनते हैं।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—सोमः। **छन्दः**—आसुर्युष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

आनन्दमय

आप्यायस्व मदिन्तम सोम विश्वेभिरᳬशुभिः।
भवा नः सुप्रथस्तमः सखा वृधे॥११४॥

गोतम प्रभु से आराधना करता है कि—(१) हे **मदिन्तम**=अत्यन्त आनन्दमय प्रभो! **सोम**=अत्यन्त शान्त प्रभो! अथवा शक्ति के पुञ्ज प्रभो! **आप्यायस्व**=आप हमारा संवर्धन कीजिए। आपके द्वारा मैं इस संसार में सदा बढ़नेवाला बनूँ। प्रभु शान्त हैं, शक्ति के पुञ्ज हैं। इस शान्ति व शक्ति के कारण ही आनन्दमय हैं। हम भी प्रभु का इस रूप में स्मरण करते हुए शान्त बनें, सशक्त बनें और अपने जीवन को आनन्दमय बनाएँ। २. हे प्रभो! **सप्रथस्तमः**=आप अत्यन्त विस्तार-(प्रथ)-वाले हैं, सर्वव्यापक हैं। कोई भी स्थान आपसे खाली नहीं है। आप **विश्वेभिः अंशुभिः**=सब ज्ञान की किरणों से **नः**=हमारे **वृधे**=वर्धन के लिए **भव**=होओ। हम आपकी कृपा से ज्ञान प्राप्त करें, और ज्ञान के द्वारा उन्नति

करनेवाले बनें। ३. **सखा**=हे प्रभो ! आप ही हमारे सच्चे मित्र हैं। आपको प्राप्त करके क्या मैं अपने जीवन को आनन्दमय न बना पाऊँगा? क्या मेरा जीवन भी शान्त व शक्ति-सम्पन्न न होगा? अथवा उपासक होकर क्या मैं संकुचित हृदय रह जाऊँगा? नहीं, कभी नहीं, मेरा हृदय अत्यन्त विशाल होगा। मैं भी आपकी भाँति सभी का 'सखा' बनूँगा। मेरे मन में सभी के लिए प्रेम होगा। वस्तुतः उसी दिन मेरा यह 'गोतम' नाम सार्थक होगा। उस दिन मैं अत्यन्त प्रशस्त इन्द्रियोंवाला बन जाऊँगा।

भावार्थ—प्रभु अत्यन्त आनन्दमय हैं, शान्त व शक्ति-सम्पन्न हैं, अत्यन्त विस्तारवाले हैं, सभी के मित्र हैं। मैं भी ज्ञान प्राप्त करके ऐसा ही बनने का प्रयत्न करूँ।

ऋषिः—अवत्सारः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

ज्ञान की वृद्धि

आ ते॑ वत्सो मनो॑ यमत्पर॒माच्चि॑त्स॒धस्था॑त्।
अग्ने॒ त्वां का॑मया गि॒रा ॥११५॥

१. पिछले मन्त्र की बातों को अपने जीवन में लाने के लिए 'गोतम' अपनी शक्ति (वीर्य) की रक्षा करता है। शक्ति की रक्षा के कारण ही वह 'अवत् सार' कहलाता है—'सारभूत सोम (वीर्य) की रक्षा करनेवाला (अव रक्षणे)'। २. यह अवत्सार प्रभु से कहता है कि मैं **ते वत्सः**=तेरा प्रिय बनता हूँ। अथवा अपने जीवन से तेरा प्रतिपादन करता हूँ (वदतीति वत्सः), मेरा जीवन ऋत व सत्यवाला होता है। मेरी भौतिक क्रियाओं में ऋत (regularity) तथा आत्मिक क्रियाओं में सत्य होता है। ३. यह तेरा भक्त अवत्सार **परमात्**=अत्यन्त उत्कृष्ट **सधस्थात् चित्**=आपके साथ रहनेवाले मोक्षस्थान से भी **मनः आयमत्**=अपने मन को रोकता है, अर्थात् मोक्ष की कामना से भी ऊपर उठता है। ४. हे **अग्ने**=प्रकाशमय प्रभो! **गिरा**=ज्ञान की इन वेदवाणियों के हेतु से **त्वां कामया**=मैं तुझे चाहता हूँ। आपको प्राप्त करके मैं इन ज्ञान की वाणियों का प्राप्त करनेवाला बनूँगा। मेरा हृदय प्रकाशमय होगा। बस, मेरी तो यही कामना है कि आपकी कृपा से मेरा ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ता जाए। यह ज्ञान की वृद्धि ही मेरी सब उन्नतियों का मूल बनेगी।

भावार्थ—मैं प्रभु का प्रिय बनूँ। मेरा जीवन प्रभु का प्रतिपादन करनेवाला हो। मैं मोक्ष की रट न लगाकर ज्ञान-प्राप्ति के लिए प्रभु को चाहूँ। मेरा ज्ञान बढ़ेगा। यह ज्ञान ही मुझे बढ़ानेवाला होगा।

ऋषिः—विरूपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

सुक्षितयः

तुभ्यं॒ ताऽअ॑ङ्गिरस्तम॒ विश्वाः॑ सुक्षि॒तयः॒ पृथ॑क्। अग्ने॒ कामा॑य येमिरे ॥११६॥

१. पिछले मन्त्र का अवत्सार प्रभु से ज्ञान प्राप्त करके विशिष्ट रूपवाला, ज्ञान-ज्योति से चमकते हुए चेहरेवाला—'विरूप' बन जाता है। यह विरूप प्रभु की आराधना करते हुए कहता है कि हे **अङ्गिरस्तम**=अङ्ग-अङ्ग में रस का सञ्चार करनेवालों में उत्तम प्रभो! **ताः**=वे **विश्वाः**=सब **सुक्षितयः**=उत्तम निवास व गतिवाले मनुष्य **पृथक्**=संसार की इच्छाओं से अलग होकर **अग्ने तुभ्यं कामाय**=हे अग्रेणी प्रभो! आपकी ही कामना के लिए **येमिरे**=अपने जीवन को नियमित करते हैं। 'यम-नियम' से ही योग-मार्ग का प्रारम्भ होता है। प्रभु के

साथ मेल 'यम-नियम' के बिना सम्भव नहीं। २. जिस समय हम चित्तवृत्ति को सब विषयों में जाने से रोक लेते हैं, उसी समय हम अपने स्वरूप को देख पाते हैं और उसी समय हम परमात्म-दर्शन के अधिकारी बनते हैं। इस संसार में हम (क) 'सुक्षिति'=उत्तम निवास व उत्तम गतिवाले बनें (ख) **पृथक्**=संसार के विषयों से अपने को अलग करने के लिए प्रयत्नशील हों। (ग) प्रतिदिन प्रभु-ध्यान व प्रभु-सम्पर्क द्वारा सब अङ्गों को रसमय बनाने का ध्यान रक्खें (अङ्गिरस्तम)। (घ) हममें प्रभु-प्राप्ति की प्रबल कामना हो (तुभ्यं कामाय)।

भावार्थ—सज्जन लोग 'यम-नियमों' को अपनाकर प्रभु-प्राप्ति के लिए अग्रसर होते हैं।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

प्रजापतिः

अग्निः प्रियेषु धामसु कामो भूतस्य भव्यस्य। सम्राडेको विराजति ॥११७॥

१. गत मन्त्र का 'विरूप' आराधक प्रभु को सारे संसार के रक्षक के रूप में देखता है, अतः वह 'प्रजापति' हो जाता है। प्रजापति के रूप में यह प्रभु को देख रहा है। २. यह कहता है कि वह प्रभु ही **'अग्निः'**=अग्रेणी हैं, सारे संसार को आगे और आगे ले-चल रहे हैं। ३. **प्रियेषु धामसु**=प्रिय-प्रसन्न करनेवाले तेजों के लिए **कामः**=(काम्यते) वे चाहने योग्य हैं, अर्थात् प्रभु का आराधन करके हमें वह तेजस्विता प्राप्त होती है जो प्रिय-ही-प्रिय होती है। रक्षा के कार्यों में विनियुक्त होकर वह हमें संसार में यशस्वी बनानेवाली होती है। 'बाहुभ्यां यशोबलम्' यह प्रार्थना प्रभु के आराधन से ही पूर्ण होती है। ४. **भूतस्य भव्यस्य सम्राट्**=वे प्रभु भूत व भव्य के सम्राट् हैं, जो कुछ हो चुका है या होना है उसके शासक वे प्रभु ही हैं। ५. **एकः**=वे अद्वितीय हैं। वे अपने निर्माण, धारण, प्रलय व कर्मानुसार फल-व्यवस्थात्मक कार्यों में किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं करते। ६. **विराजति**=वे विशिष्टरूप से देदीप्यमान हैं और विशिष्ट रूप में ही सारे ब्रह्माण्ड-यन्त्र को नियमित गति दे रहे हैं (direct, regulate)। उपनिषद् के शब्दों में सब नदियाँ उन्हीं के अनुशासन में बह रही हैं। सूर्य-चन्द्रादि उसी के अनुशासन में चमक रहे हैं। वे प्रभु ही सारे ब्रह्माण्ड व सारी प्रजाओं के पति हैं।

भावार्थ—वे प्रभु अग्नि हैं, प्रिय तेज को प्राप्त करनेवाले हैं, भूत-भव्य के सम्राट् हैं, अद्वितीय हैं और प्रजापति हैं—सूर्य-चन्द्रादि उसी के अनुशासन में गति कर रहे हैं।

॥ इति द्वादशोऽध्यायः सम्पूर्णः॥

त्रयोदशोऽध्यायः

ऋषिः—वत्सारः। देवता—अग्निः। छन्दः—आर्चीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

प्रभु का ग्रहण

मयि गृह्णाम्यग्रेऽअग्निꣳरायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय।
मामु देवताः सचन्ताम्॥१॥

बारहवें अध्याय की समाप्ति पर प्रभु का स्मरण करते हुए कहा गया था कि **'सम्राडेको विराजति'**=वह प्रभु ही सम्राट् हैं, अद्वितीय हैं, सारे संसार का शासन करते हैं। उसी प्रभु का उपासन करता हुआ प्रभु-भक्त कहता है कि मैं **अग्रे**=सबसे पहले **मयि**=अपने अन्दर **अग्निं गृह्णामि**=सब उन्नतियों के साधक प्रभु का ग्रहण करता हूँ। मेरी सर्वोपरि इच्छा यही होती है कि मैं प्रभु को अपने अन्दर धारण कर सकूँ। २. **रायस्पोषाय**=धन के पोषण के लिए मैं प्रभु को धारण करता हूँ। वे प्रभु ही लक्ष्मी-पति हैं—मा-धव हैं। प्रभु को धारण करने से मैं भी लक्ष्मी को प्राप्त करता हूँ और वस्तुतः प्रभु अपने भक्तों के योगक्षेम का तो अवश्य ध्यान करते ही हैं। ३. **सुप्रजास्त्वाय**=उत्तम प्रजावाला होने के लिए मैं प्रभु का धारण करता हूँ। प्रभु के धारण से सब अशुभवृत्तियाँ दूर हो जाती हैं और परिणामतः पवित्र हृदयोंवाले पति-पत्नी उत्तम सन्तानों को जन्म देते हैं। ४. **सुवीर्याय**=उत्तम वीर्य के लिए मैं प्रभु का धारण करता हूँ। प्रभु का धारण मुझे वासनाशून्य बनाता है और इस वासनाशून्यता के परिणामरूप मैं उत्तम वीर्यवाला बनता हूँ। इस उत्तम वीर्यवाला होने से मैं प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'वत्सार' बनता हूँ। सुरक्षित किया है सारभूत शक्ति को जिसने। ५. मैं इस वीर्य-रक्षा को इसलिए चाहता हूँ कि **माम्**=मुझे **उ**=निश्चय से **देवताः**=सब दिव्य गुण **सचन्ताम्**=प्राप्त हों। प्रभु महादेव हैं। प्रभु के धारण से अन्य देवों का धारण तो हो ही जाता है।

भावार्थ—यदि हम अपने में प्रभु को धारण करेंगे तो १. हम धन का पोषण करनेवाले होंगे २. हमारी सन्तान उत्तम होगी ३. हम उत्तम वीर्य का पोषण करेंगे ४. दिव्य गुणों के धारणवाले होंगे।

ऋषिः—वत्सारः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

प्रभु की महिमा

अपां पृष्ठमसि योनिरग्नेः समुद्रमभितः पिन्वमानम्।
वर्धमानो महाँ२॥ऽआ च पुष्करे दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथस्व॥२॥

१. मन्त्र का ऋषि 'वत्सार' प्रभु को अपने में धारण करना चाहता है। गत मन्त्र में उसने स्पष्ट कहा है कि मेरी सर्वप्रथम इच्छा यही है कि मैं अपने अन्दर प्रभु को ग्रहण करूँ, अतः वह प्रभु का स्तवन करता हुआ कहता है कि **अपां पृष्ठम् असि**=आप जलों के आधार हो। 'वरुण' नाम से आप जलों के पतिरूप में कहे जाते हो। आपका नाम ही 'अप्पति' हो गया है। ये जल अपनी अद्भुत रचना से हमें आपकी महिमा का स्मरण कराते हैं। जल की अवयवभूत 'उद्जन' ज्वलनशील है, 'अम्लजन' ज्वलन की पोषक है। इन्हें

मिलानेवाली विद्युत् है। एवं, सब अग्नि-ही-अग्नि है, परन्तु इनसे उत्पन्न होनेवाला जल अग्नि को शान्त करनेवाला है, इस प्रकार उष्णता से शीतता की उत्पत्ति होती है। कितना आश्चर्य है! २. **अग्नेः योनिः**=हे प्रभो ! आप ही अग्नि के भी उत्पत्तिकारण हैं। अग्नि को भी आप ही जन्म देते हैं। द्युलोक में यह अग्नि सूर्यरूप से है, अन्तरिक्षलोक में विद्युद्रूप से और इस पृथिवी पर उसका नाम 'अग्नि' है। एवं, लोकत्रयी में व्याप्त होनेवाली अग्नि वस्तुतः 'जातवेद' है—प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान है। ३. **अभितः**=पृथिवी पर चारों ओर से **पिन्वमानम्**=नदी-जलों से सींचे जाते हुए अथवा बढ़ते हुए **समुद्रम्**=समुद्र को **वर्धमानः**= बढ़ानेवाले आप ही हो। वृष्टि के द्वारा नदियाँ प्रवाहित होती हैं। इन नदियों से समुद्र का पूरण होता है। ४. **महान्** =हे प्रभो! आप सचमुच महान् हो। क्या जल, क्या अग्नि, क्या समुद्र—सभी आपकी महिमा का गायन करते हैं। ५. हे प्रभो! आप **पुष्करे**=कमलवत् निर्लेप मेरे हृदयाकाश में, अथवा आपकी भावना का पोषण करनेवाले इस हृदय में **दिवः मात्रया**=ज्ञान की मात्रा से, ज्ञान की मापनशक्ति से तथा **वरिम्णा**=विस्तार से, उदारता से **आप्रथस्व**=व्याप्त होओ, प्रसिद्ध होओ, विस्तृत होओ, अर्थात् मैं ज्ञान तथा हृदय की विशालता और पवित्रता से आपका दर्शन कर पाऊँ।

भावार्थ—जलों में, अग्नि में व समुद्रों में प्रभु की महिमा का प्रकाश हो रहा है। मैं अपने ज्ञान को बढ़ाकर पवित्र व विशाल हृदय में प्रभु का दर्शन करूँ।

ऋषिः—वत्सारः। **देवता**—आदित्यः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

ब्रह्म-दर्शन

ब्रह्म॑ जज्ञा॒नं प्र॑थ॒मं पु॒रस्ता॒द्वि सी॑म॒तः सु॒रुचो॑ वे॒नऽआ॑वः ।
स बु॒ध्न्या॒ऽउप॒माऽअ॑स्य वि॒ष्ठाः स॒तश्च॒ योनि॒मस॑तश्च॒ विवः॑ ॥३॥

१. गत मन्त्र के अनुसार जिस प्रभु की महिमा का गायन जल, अग्नि व समुद्र कर रहे हैं, वह **ब्रह्म**=(बृहि वृद्धौ) सदा वृद्ध हैं, सदा से बढ़े हुए हैं, उनमें कोई वृद्धि नहीं होती रहती, क्योंकि वे तो पहले से ही पूर्ण हैं। २. **पुरस्तात् जज्ञानम्**=वे सृष्टि बनने से पहले ही जायमान हैं, अर्थात् वे कभी उत्पन्न नहीं हुए। यही भावना अगले मन्त्र में 'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे' शब्दों से कही जाएगी। ३. **प्रथमम्**=वे प्रभु सर्वत्र विस्तृत हैं, सर्वव्यापक हैं। एवं, प्रभु पूर्ण हैं, अनादि व आजन्मा है और सर्वव्यापक हैं। ४. इस प्रभु को **सुरुचः**=उत्तम रुचिवाला अथवा उत्तम ज्ञान-दीप्तिवाला **वेनः**=मेधावी पुरुष **सीमतः**= (मर्यादातः—उ०) सीमा में, मर्यादा में रहने के द्वारा **वि आवः**=अपने हृदयाकाश में प्रकट करता है, अर्थात् उस प्रभु के दर्शन कर पाता है। ५. **सः**=यह मेधावी पुरुष **बुध्न्याः**=(बुध्न= अन्तरिक्ष) अन्तरिक्ष में होनेवाली भूमियों को, प्राणियों के निवास-स्थानों को भी **विवः**=अपने मस्तिष्क में प्रकाशित करता है, अर्थात् इन सब भूमियों के ज्ञान को प्राप्त करता है। इनके ज्ञान से ही तो वह इनमें प्रभु की महिमा व रचना-कुशलता को देख पाता है। ये मेधावी **विष्ठाः**=अन्तरिक्ष के विविध स्थानों—लोकों में स्थित **अस्य**=इस दृश्य कारणजगत् के **योनिम्**=आधारभूत उस प्रभु को **विवः**=अपने हृदय-देश में प्रकाशित करता है। 'इदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम्' यह सारा जगत् तो उस प्रभु का उपव्याख्यान ही है।

भावार्थ—प्रभु पूर्ण, अनादि व अजन्मा है। प्रभु का दर्शन परिष्कृत इच्छाओंवाले, ज्ञान से दीप्त मेधावी को होता है। वह मेधावी प्रभु के बनाये लोक-लोकान्तरों का ज्ञान प्राप्त

करता है और उन लोकों की अद्भुत रचना में परमेश्वर की महिमा को अनुभव करता है।

ऋषिः—हिरण्यगर्भः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।।

हिरण्यगर्भ

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकऽआसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥४॥

१. गत मन्त्र का ऋषि 'वत्सार' प्रभु का स्तवन 'हिरण्यगर्भ' शब्द से करता है और स्वयं भी 'हिरण्यगर्भ' नामवाला हो जाता है। यह हिरण्यगर्भ प्रभु द्वारा इस सृष्टि की उत्पत्ति का उल्लेख करता हुआ कहता है कि **हिरण्यगर्भः**=सूर्यादि ज्योतिर्मय सब पदार्थ जिसके गर्भ में हैं, वह हिरण्यगर्भ=ज्ञान-धन प्रभु **अग्रे समवर्त्तत**=सृष्टि बनने से पहले से है। सृष्टि से पूर्व है, वह बनता नहीं, तभी तो सबको बनाता है। अनादि होता हुआ वह इन सूर्यादि सबका आदि है। स्वयं अयोनि होता हुआ 'जगद्योनि' हो रहा है—'जगद्योनिरयोनिरूपम्'। २. **भूतस्य**=प्रत्येक प्राणी का अथवा भूत-भव्य का **जातः**=(जनकः—द०) उत्पन्न करनेवाला वह प्रभु **एकःपतिः**=सहाय-निरपेक्ष, अद्वितीय (मुख्य) स्वामी व रक्षक **आसीत्**=था और है। इस चराचर जगत् के रक्षणकार्य में प्रभु को किसी अन्य की सहायता की अपेक्षा नहीं होती। ३. वह प्रभु ही **पृथिवीम्**=इस विस्तृत अन्तरिक्षलोक को **द्याम्**=सूर्यादि से जगमगाते द्युलोक को **उत**=और **इमाम्**=इस पृथिवीलोक को **दाधार**=धारण करता है। सम्पूर्ण सृष्टि का धारण तो वह कर ही रहा है, साथ ही जैसे प्रारम्भ में यह सारी सृष्टि उस प्रभुरूप आधार से प्रकट होती है, उसी प्रकार अन्त में उसी में विलीन होकर प्रकृतिरूप से रहती है। प्रकृति का धारण करनेवाला भी वह प्रभु ही है। ४. **कस्मै**=उस जगद्रूप क्रीड़ा करनेवाले आनन्दमय प्रभु के लिए **देवाय**=सब दिव्य गुणों के पुञ्ज के लिए अथवा जीवों को सब उन्नति-साधनों को देनेवाले के लिए (देवो दानात्) **हविषा**=(हु दानादनयोः) दानपूर्वक अदन के द्वारा **विधेम**=पूजा करें। वह पूज्य प्रभु तो वस्तुमात्र के देनेवाले हैं, सब-कुछ देनेवाले हैं। हम उस प्रभु की उपासना कुछ देकर ही तो कर सकेंगे, अतः प्रभु का उपासक यज्ञ करके सदा यज्ञशेष ही खाता है। यह यज्ञशेष उस उपासक के लिए 'अमृत' होता है।

भावार्थ—वे प्रभु जगत् की योनि, उत्पादक और धारक हैं। मैं उस आनन्दमय देव की उपासना स्वयं देव बनकर—देनेवाला, दानी व प्रकाशमय जीवनवाला बनकर करूँ।

ऋषिः—हिरण्यगर्भः। **देवता**—ईश्वरः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।।

'द्रप्सोपासना'

द्रप्सश्चस्कन्द पृथिवीमनु द्यामिमं च योनिमनु यश्च पूर्वः।
समानं योनिमनु संचरन्तं द्रप्सं जुहोम्यनु सप्त होत्राः ॥५॥

१. **द्रप्सः**=(दृप=हर्ष) वे आनन्दमय प्रभु **पृथिवीम् अनु**=इस सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में (महीधर) व्याप्त होकर **चस्कन्द**=गति कर रहे हैं। **द्याम्**=द्युलोक में व्याप्त होकर गति कर रहे हैं। **इमं च योनिं अनु**=और इस सम्पूर्ण संसार के मिश्रण व अमिश्रण, संयोग और वियोग की कारणभूत पृथिवी में व्याप्त होकर गति कर रहे हैं। २. **यः च पूर्वः**=वे प्रभु इन सबसे पहले हैं, वे प्रभु सृष्टि बनने से भी पहले हैं, उनकी कभी उत्पत्ति नहीं हुई। सदा से वर्त्तमान वे प्रभु इन लोकों का निर्माण करते हैं और इनमें व्याप्त होकर गति कर रहे

हैं। ३. उस **समानं योनिम्**=सब प्राणियों को प्राणित करनेवाले (सम् आनयति इति समान:) सबके उत्पत्ति-स्थान **अनुसञ्चरन्तम्**=सब लोकों में व्याप्त होकर गति करते हुए **द्रप्सम्**=उस आनन्दमय प्रभु को **जुहोमि**=अपने अन्दर आहुत करता हूँ। जैसे अग्नि घृत को धारण करती है और उस घृत से दीप्त होती है, इसी प्रकार मैं प्रभु को धारण करता हूँ और उससे मेरा हृदयाकाश जगमगा उठता है। ४. हे प्रभो! आपकी कृपा से **सप्त होत्रा:**=पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, छठा मन और सातवीं बुद्धि, ये सातों मुझमें ज्ञान की आहुति देनेवाले होकर **अनु**=मेरे अनुकूल हों। इनसे ज्ञान का भोजन ग्रहण करता हुआ मैं अपने ज्ञान को दीप्त कर सकूँ।

भावार्थ—वे प्रभु द्रप्स हैं, आनन्दमय हैं। सब लोकों में व्याप्त होकर गति कर रहे हैं। सभी प्राणियों को प्राणित करनेवाले हैं। उस प्रभु को मैं अपने अन्दर धारण करता हूँ, जिससे सब ज्ञानेन्द्रियाँ, मन व बुद्धि मेरे अनुकूल हों और मेरा ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ता चले।

ऋषि:—हिरण्यगर्भ:। **देवता**—हिरण्यगर्भ:। **छन्द:**—भुरिगुष्णिक्। **स्वर:**—ऋषभ:॥

सर्पेभ्यो नम:

नमो॑ऽस्तु स॒र्पेभ्यो॒ ये के च॑ पृथि॒वीमनु॑।
येऽअ॒न्तरि॑क्षे॒ ये दि॒वि तेभ्य॑: स॒र्पेभ्यो॒ नम॑: ॥६॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में सर्प शब्द का अर्थ 'सर्पतिर्गतिकर्मा' २।१४—नि०, 'इमे लोका: वै सर्पा यद्धि किञ्च सर्पस्येष्वेव वै लोकेषु सर्पति'—श० ७।४।१।१७ इन वाक्यों के अनुसार ये सब लोक-लोकान्तर हिरण्यगर्भ से ही बनाये गये हैं। ये गतिमय हैं, अत: सर्प कहलाते हैं। सब प्राणी भी इन्हीं में रहकर गति कर रहे हैं। २. **ये के च**=जो कोई भी लोक **पृथिवीम् अनु**=पृथिवी के अनुगत हैं, इस पृथिवी के समान ही प्राणियों की उत्पत्ति-स्थिति का स्थान बने हुए हैं, ३. **ये अन्तरिक्षे**=जो लोक इस विशाल अन्तरिक्ष में विद्यमान हैं, ४. **ये दिवि**=जो लोक देदीप्यमान द्युलोक में अवस्थित हैं, ५. **तेभ्य: सर्पेभ्य:**=उन सब लोक-लोकान्तरों से हमें **नम:**=अन्न की प्राप्ति हो। **नम: सर्पेभ्य: अस्तु**=हम उन लोकों के प्रति नतमस्तक होते हैं। उन लोकों में विद्यमान प्रभु की महिमा को देखकर हमारा मस्तक झुक जाता है। ६. पृथिवी पर तो अन्न उत्पन्न होता ही है, अन्तरिक्षस्थ मेघ वृष्टि के द्वारा उस अन्न की उत्पत्ति का कारण बनता है और द्युलोकस्थ सूर्य अन्तरिक्ष में मेघों के निर्माण का कारण बनता है। इस प्रकार ये सब लोक हमें अन्न प्राप्त कराते हैं, अत: मन्त्र में कहा है कि 'इन लोकों' से हमें अन्न प्राप्त हो'। इस सारी व्यवस्था को देखकर हमें उस प्रभु की महिमा का दर्शन व स्मरण होता है। हम नतमस्तक हो जाते हैं और 'नमोऽस्तु ते' कह उठते हैं।

भावार्थ—लोकत्रयी में निर्मित सभी पिण्ड प्रभु की महिमा को प्रकट कर रहे हैं और उन लोकों के द्वारा हमारी अन्न-प्राप्ति की सुन्दर व्यवस्था हो रही है।

ऋषि:—हिरण्यगर्भ:। **देवता**—हिरण्यगर्भ:। **छन्द:**—अनुष्टुप्। **स्वर:**—गान्धार:॥

'असुर्य लोक'

याऽइष॑वो यातु॒धाना॑नां॒ ये वा॒ वन॒स्पतीँ॑१॥ऽरनु॑।
ये वा॑व॒टेषु॒ शेर॑ते॒ तेभ्य॑: स॒र्पेभ्यो॒ नम॑: ॥७॥

१. गत मन्त्र के पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक में होनेवाले लोकों के अतिरिक्त कुछ वे लोक भी हैं जो **'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृता:'**=अन्ध-तमस् से

आवृत हैं। इन लोकों में वे जाया करते हैं जो आत्मघाती हैं। **याः**=जो **यातुधानानाम्**=औरों में पीड़ा का आधान करनेवाले लोगों के **इषवः**=गति-स्थान हैं (इष्यते गम्यते येषु, इषवः गतयः—द०)। २. **ये वा**=अथवा जो **वनस्पतीन् अनु**=वनस्पतियों के आश्रित हैं, अर्थात् घने जङ्गलों से जो लोक घिरे हैं। ३. **वा**=या **ये**=जो **अवटेषु**=गढों में **शेरते**=निवास करते हैं, अर्थात् सामान्य भाषा में जिन्हें पाताललोक व नागलोक कहते हैं **तेभ्यः सर्पेभ्यः**=उन सब लोकों के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं। ४. प्रभु ने राक्षसों-पिशाचों के हित के लिए इन 'असुर्य-अन्धकारमय' लोकों का निर्माण किया है। मृत्यु के बाद ये इन अन्धतमस् लोकों में जाते हैं और वहाँ एक बार सब अशुभ संस्कारों को भूलकर फिर इस पृथिवी पर जन्म लेते हैं।

भावार्थ—यातुधानों—राक्षसों के गतिरूप वे अन्धकारमय लोक हैं जहाँ घने जङ्गल व गर्त-ही-गर्त हैं। इनमें अन्य व्यक्तियों से दूर रहते हुए वे पीड़ा देने की वृत्ति को भूल रहे होते हैं।

ऋषिः—हिरण्यगर्भः। **देवता**—सूर्यः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

प्रकाशमय लोक

ये वामी रोचने दिवो ये वा सूर्यस्य रश्मिषु।
येषामप्सु सदस्कृतं तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः॥८॥

१. गत मन्त्र में पृथिवीलोक से निचले असुर्यलोकों का वर्णन किया है। प्रस्तुत मन्त्र में उन प्रकाशमय लोकों का उल्लेख करते हैं जिनमें कि 'योगयुक्त परिव्राट् व रण में पीठ न दिखानेवाले क्षत्रिय' जाया करते हैं। २. **ये वा**=जो लोक **अमी**=दूर स्थित हैं, **दिवः**=द्युलोक के **रोचने**=दीप्त स्थान में हैं, जहाँ प्रकाश-ही-प्रकाश है। ३. **वा**=अथवा **ये**=जो **सूर्यस्य रश्मिषु**=सूर्य की किरणों में ही स्थित हैं, जहाँ सदा सूर्य-किरणों का निवास है। ४. **येषाम्**=जिनका **सदः**=स्थापन-स्थिति **अप्सु कृतम्**=जलों में की गई है, अर्थात् जहाँ पानी की कमी नहीं अथवा जहाँ पृथिवी-तत्त्व की प्रधानता न होकर जल-तत्त्व की प्रधानता है **तेभ्यः सर्पेभ्यः**=उन लोकों के लिए **नमः**=हम झुकते हैं। उन लोकों में एक अद्भुत आकर्षण है। उनकी दीप्ति हमें नतमस्तक कर देती है। उनमें तो लोग 'स्वयैव प्रभया' अपने देह की प्रभा से ही प्रकाशित होते हैं। क्या आश्चर्य है कि प्रत्येक व्यक्ति स्वयं ही एक दीपक है!

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हम उत्तम कर्म करके उन प्रकाशमय लोकों को प्राप्त करें, जिनमें सूर्य का प्रकाश ज्ञान का प्रतीक है और जल शान्ति का। जहाँ ज्ञान है, शान्ति है।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

बन्धन-विनाश, ग्रन्थि-विनाश

कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीं याहि राजेवामवाँ२॥ऽइभेन।
तृष्वीमनु प्रसितिं द्रूणानोऽस्तासि विध्य रक्षसस्तपिष्ठैः॥९॥

१. गत मन्त्र में हिरण्यगर्भ प्रकाशमय लोकों में पहुँचने की कामना करता है, जिन लोकों में 'ज्ञान है, शान्ति' है। ऐसा व्यक्ति ही वहाँ पहुँच सकता है जो प्रस्तुत मन्त्र के शब्दों में प्रभु की प्रेरणा को सुनकर 'वामदेव' बनता है—सारे दिव्य गुणों को अपनानेवाला बनता है। २. प्रभु इससे कहते हैं कि **पाजः**=बल को **कृणुष्व**=सम्पादित कर, शक्तिशाली बन। शक्ति ही तुझे वामदेव बनाएगी। ३. शक्ति के सम्पादन के लिए ही **पृथ्वीम्**=इस

पृथिवी को, इन पार्थिव भोगों को **प्रसितिं न**=बन्धन की भाँति **याहि**=प्राप्त हो। इन पार्थिव भोगों को तू बन्धन समझनेवाला हो। शरीर के लिए ये कुछ मात्रा में आवश्यक हो जाते हैं, परन्तु तूने इन्हें बन्धन समझते हुए इनमें फँसना नहीं। भूख को तू रोग समझकर उसके लिए भोजन को औषधवत् ही ग्रहण करना। ४. **राजा इव**=तू अपने इस जीवन में राजा की भाँति बन। तूने इन्द्रियों का ग़ुलाम नहीं बनना। ५. **अमवान्**=इन्द्रियों का ग़ुलाम न बनने के कारण तू 'अम' वाला हो (अम=strength, power; vital air), बल व प्राणशक्ति-सम्पन्न हो। ६. **इभेन**=(इभ=fearless power) अपनी निर्भीक शक्ति के द्वारा **तृष्वीम्**=शीघ्र ही **प्रसितिम्**=बन्धन को **अनुद्रूणानः**=तू क्रमशः विनष्ट करनेवाला हो। एक-एक करके तू सब शत्रुओं को नष्ट कर डाल। ७. तू सचमुच **अस्ता असि**=शत्रुओं को सुदूर फेंकनेवाला है। ८. **तपिष्ठैः**=अत्यन्त सन्तापक अस्त्रों से व प्राणायामादि परम तपों से **रक्षसः**=इन शत्रुओं को व राक्षसी वृत्तियों को **विध्य**=बींध डाल—राक्षसी वृत्तियों को तू समाप्त कर डाल।

भावार्थ—शक्तिशाली बन। सांसारिक भोगों को बन्धन समझ। जितेन्द्रिय बनकर बन्धनों को नष्ट कर डाल।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

क्रियाशील जीवन

तव॑ भ्र॒मास॑ऽआशु॒या प॑त॒न्त्यनु॑ स्पृश धृष॒ता शोशु॑चानः।
तपू॑ᳬष्यग्ने जु॒ह्वा पत॒ङ्गानस॑न्दितो॒ विसृ॑ज॒ विष्व॑गु॒ल्काः॥१०॥

१. प्रभु वामदेव से ही कह रहे हैं कि **तव**=तेरे **आशुया**=शीघ्र गतिवाले **भ्रमासः**=पादविक्षेप, अर्थात् कार्यक्रम तुझे **पतन्ति**=प्राप्त होते जाते हैं। एक के बाद दूसरा कार्य तेरे जीवन में आता चलता है। तू किसी भी समय अकर्मण्य नहीं होता। २. इस प्रकार निरन्तर क्रियाशीलता से **शोशुचानः**=अपने को निरन्तर दीप्त व पवित्र करता हुआ तू **धृषता**=अपनी धर्षण-शक्ति से **अनुस्पृश**=एक-एक शत्रु को (अभिमृश—उ०) मसल डाल। काम-क्रोधादि सब शत्रुओं को तू कुचल डाल। ३. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **जुह्वा**=(हु दान-अदन) दानपूर्वक अदन—देकर खाने की प्रक्रिया से **तपूंषि**=काम-क्रोधादि सन्तापक शत्रुओं को **पतङ्गान्**=(पतन्तः सन्तो गच्छन्ति इति पिशाचाः—म०) निरन्तर आक्रमण करते हुए चलते हैं—ऐसे इन राक्षसी भावों से **असन्दितः**=बद्ध न होता हुआ **विसृज**=परे फेंक दे। इस प्रकार परे फेंक दे जैसे आकाश में **विष्वक्**=चारों ओर **उल्काः**=उल्काओं को फेंक दिया गया है। ये काम-क्रोधादि की वृत्तियाँ उल्काओं के समान हैं। इन्हें तू अपने से दूर फेंक दे। ये तेरी क्रियाशीलता से क्षीणशक्ति होकर भाग खड़ी हों।

भावार्थ—१. हम क्रियाशील हों। २. क्रियाशीलता से हममें वह धर्षण-शक्ति उत्पन्न हो जो सब शत्रुओं को कुचल डालती है। ३. हम दानपूर्वक अदन से सन्तापक व बारम्बार आक्रमण करनेवाले राक्षसी भावों को उल्काओं के तुल्य दूर विनष्ट कर दें।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

प्रजा-रक्षण, शत्रु-संहार

प्रति॒ स्पशो॒ विसृ॑ज॒ तूर्णि॑तमो॒ भवा॑ पा॒युर्वि॒शोऽअ॒स्या अद॑ब्धः।
यो नो॑ दू॒रेऽअ॒घश॑ꣳसो॒ योऽअन्त्य॑ग्ने॒ माकि॑ष्टे॒ व्यथि॒राद॑धर्षीत्॥११॥

१. जैसे वामदेव ने अध्यात्मक्षेत्र में कामादि शत्रुओं का संहार करना है, उसी प्रकार राजा ने आधिभौतिक क्षेत्र में राष्ट्र के शत्रुओं का संहार करना है। उसके लिए कहते हैं कि **स्पशः**=गुप्तचरों को **प्रतिविसृज**=प्रत्येक दिशा में भेज। प्रजा के गुण-दोषों के परिज्ञान के लिए ये गुप्तचर ही राजा की आँख होते हैं। २. **तूर्णितमः भव**=तू अपने कार्यों को त्वरा से करनेवाला हो। आलस्य कार्य-सफलता में महान् विघ्न है। ३. तू **अदब्धः**=स्वयं किन्हीं वासनाओं व आलस्यादि शत्रुओं से हिंसित न होता हुआ **अस्याः विशः**=इस प्रजा का **पायुः**=रक्षक हो। ४. **अघशंसः**=बुराई का शंसन करनेवाला **नः**=हमारा **यः**=जो शत्रु **दूरे**=दूरी पर स्थित है **यः अन्ति**=जो समीप है, **अग्ने**=हे राष्ट्रोन्नति के साधक राजन्! वह **व्यथिः**=पीड़ित करनेवाला शत्रु **ते**=तेरा **माकिः आदधर्षीत्**=धर्षण न करे। राजा किसी भी शत्रु से पराजित न होता हुआ प्रजा की रक्षा करनेवाला हो। राजा से सम्यक्तया रक्षित प्रजा में ही सद्गुणों का विकास सम्भव है।

भावार्थ—राजा स्वयं आलस्यादि शत्रुओं से मुक्त होता हुआ प्रजा की शत्रुओं से रक्षा करे, जिससे सुरक्षित प्रजाएँ उन्नति-पथ पर आगे बढ़नेवाली बनें।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

शत्रु-दहन

उदग्ने तिष्ठ प्रत्यातनुष्व न्यमित्राँ२॥ऽओषतात्तिग्महेते।
यो नोऽअरातिꣳसमिधान चक्रे नीचा तं धक्ष्यतसं न शुष्कम्॥१२॥

१. पिछले मन्त्र के ही विषय को इस रूप में कहते हैं कि **अग्ने उत् तिष्ठ**=हे राजन्! तू ऊपर उठ। आलस्य को छोड़कर प्रजा-रक्षण के कार्य के लिए उद्यत हो जा। अथवा हे राजन्! तू विषयों से ऊपर उठ। अपने महान् उत्तरदायित्व को समझ। २. **प्रति आतनुष्व**=एक-एक शत्रु के प्रति अपने शस्त्र को विस्तृत कर। ३. हे **तिग्महेते**=तीव्र अस्त्रोंवाले राजन्! तू **अमित्रान्**=शत्रुओं को **नि ओषतात्**=निश्चय से जलानेवाला हो। तेरे शस्त्रों की अग्नि में शत्रु दग्ध हो जाए। ४. हे **समिधान**=शक्ति से दीप्यमान राजन्! **यः**=जो भी **नः**=हमारे साथ **अरातिम्**=शत्रुता **चक्रे**=करता है, अर्थात् जो भी हमारा शत्रु है **तम्**=उसे **नीचा धक्षि**=(burn to the ground) भस्म करके भूमिगत कर दीजिए, जलाकर मिट्टी में मिला दीजिए। **न**=जिस प्रकार **शुष्कं अतसम्**=(a garment made of the fibre of flax) सूखे सन के बने कपड़े को जला देते हैं।

भावार्थ—राजा प्रजा के शत्रुओं का दहन करता हुआ प्रजा को उन्नति का सु-अवसर प्राप्त कराए।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदतिजगती। **स्वरः**—निषादः॥

वेधन-मारण

ऊर्ध्वो भव प्रति विध्याध्यस्मदाविष्कृणुष्व दैव्यान्यग्ने।
अव स्थिरा तनुहि यातुजूनां जामिमजामिं प्रमृणीहि शत्रून्।
अग्नेष्ट्वा तेजसा सादयामि॥१३॥

१. गत मन्त्र की भावना को ही पुनः दुहराते हैं कि **अग्ने ऊर्ध्वः भव**=हे राजन्! तू आलस्य को छोड़कर उठ खड़ा हो। तुझे सदा 'जागृवि' बनना है—जागना है। २. **प्रतिविध्य**=

तू एक-एक शत्रु को बींध डाल। शत्रुओं को विद्ध करना ही तेरा मौलिक कर्त्तव्य है। ३. **अध्यस्मत्**=हमारे उद्देश्य से, हमारे कल्याण के लिए **दैव्यानि**=दिव्य कर्मों को **आविष्कृणुष्व**=प्रकट कर। तू इस प्रकार अद्भुत कर्मों को करनेवाला बन कि हमारा कल्याण-ही-कल्याण सिद्ध हो। ४. **यातुजूनाम्**=पीड़ा के लिए ही जिनकी गति है (यातु+जु), अर्थात् जिनके कर्म औरों को पीड़ित करने के लिए ही होते हैं, उन यातुधानों=राक्षसों के **स्थिरा**=दृढ़ धनुषादि अस्त्रों को भी **अवतनुहि**=ढीला कर दे। ५. **जामिम् अजामिम्**=रिश्तेदार हो, ग़ैर रिश्तेदार हो सभी **शत्रून्**=शत्रुओं को **प्रमृणीहि**=कुचल डाल। जो भी राष्ट्र का शत्रु है उसे समाप्त करना ही है। ६. **त्वा**=तुझे **अग्नेः**=अग्नि के **तेजसा**= तेज के साथ **सादयामि**=इस सिंहासन पर बिठाता हूँ। जैसे अग्नि सब मलों को भस्म कर देती है, उसी प्रकार राजा को भी राष्ट्र के सब शत्रुओं को भस्म करना है।

भावार्थ—राजा राष्ट्र के सब शत्रुओं का विध्वंस करके राष्ट्र का उत्थान करनेवाला बने। दण्ड-व्यवस्था में सम्बन्ध का विचार न करके न्याय-मार्ग से ही दण्ड देना चाहिए।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

शिखर पर

अ॒ग्निर्मू॒र्द्धा दि॒वः क॒कुत्पतिः॑ पृथि॒व्याऽअ॒यम्।
अ॒पाᳬरेताᳬसि जिन्वति। इन्द्र॑स्य॒ त्वौज॑सा सादयामि ॥१४॥

१. पिछले मन्त्रों के अनुसार राष्ट्र-व्यवस्था के उत्तम होने पर प्रत्येक पुरुष को चाहिए कि वह अपने अन्दर दिव्य गुणों को उपजाने के लिए यत्नशील हो। वह कैसा बने? इसका उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **अग्निः**=यह अग्रेणी हो, निरन्तर उन्नति-पथ पर आगे बढ़नेवाला हो। २. यह उन्नति करते-करते **मूर्धा**=शिखर पर पहुँचने का प्रयत्न करे। 'आरोहणमाक्रमणम्' ऊपर चढ़ना, ऊपर उठना ही हमारे जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। ३. **दिवः ककुत्**=ज्ञान से यह महान् बनता है (ककुत्=महान्)। ज्ञान को प्राप्त करते हुए यह ऊँचा और ऊँचा उठता चलता है। ४. ज्ञान-प्राप्ति के साथ **अयम्**=यह **पृथिव्याः**=शरीर का **पतिः**=रक्षक बनता है। शरीर के स्वास्थ्य का भी यह पूरा ध्यान रखता है। वस्तुतः सब उन्नतियों का आधार यह शारीरिक स्वास्थ्य ही है। ५. शरीर का पति यह क्यों न बने? यह तो **अपां रेतांसि**=जल-सम्बन्धी रेतस् का **जिन्वति**=(पुष्णाति—म०) पोषण करता है। 'आपो रेतो भूत्वा'=जल शरीर में रेतस् के रूप में रहते हैं। यह वामदेव इन रेतःकणों का पोषण करता है, उन्हें विनष्ट नहीं होने देता। ६. इस रेतस् का पोषण करनेवाले वामदेव से प्रभु कहते हैं कि **त्वा**=तुझे **इन्द्रस्य ओजसा**=इन्द्र के ओज से **सादयामि**=इस शरीर में स्थापित करता हूँ। इन रेतःकणों की रक्षा से इन्द्रशक्ति का विकास होता है।

भावार्थ—हम आगे बढ़ें, शिखर तक पहुँचें, ज्ञान से महान् बनें, शरीर के स्वास्थ्य की रक्षा करें और इस प्रकार इन्द्रशक्ति के विकास के लिए रेतःकणों का अपने में पोषण करें।

ऋषिः—त्रिशिराः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

तीनों दृष्टिकोणों से शिखर पर=त्रिशिराः

भुवो॑ य॒ज्ञस्य॒ रज॑सश्च ने॒ता यत्रा॑ नि॒युद्भिः॒ सच॑से शि॒वाभिः॑।
दि॒वि मू॒र्द्धानं॑ दधिषे स्व॒र्षां जि॒ह्वाम॑ग्ने चकृषे हव्य॒वाह॑म् ॥१५॥

१. गत मन्त्र में शिखर पर पहुँचने का उल्लेख था। प्रस्तुत मन्त्र में उसी का विस्तार से उल्लेख करते हुए कहते हैं कि (क) यह स्वस्थ शरीर में उत्तम रचनात्मक कर्मों का करनेवाला होता है, (ख) मस्तिष्क को ज्ञान-प्रकाश में स्थापित करता है, (ग) वाणी से प्रभु के नाम का भजन करता है और इस प्रकार 'त्रिशिराः' त्रिविध उन्नति करनेवाला होता है। २. प्रभु कहते हैं कि हे त्रिशिरः! तू **भुवः**=इस पार्थिव शरीर से **यज्ञस्य**=लोकहित के लिए किये जानेवाले कर्मों का, और उन कर्मों के द्वारा **रजसः**=लोकरञ्जन का, लोकों के प्रसादन का **नेता**=प्राप्त करानेवाला होता है। संक्षेप में कहें तो यह कि तू शरीर को स्वस्थ बनाता है, उस स्वस्थ शरीर से तू यज्ञों को करता है और यज्ञों से लोकों के आनन्द को सिद्ध करनेवाला होता है। ३. यह वह मार्ग है **यत्र**=जिसमें तू **शिवाभिः**=कल्याणकर, मङ्गलमय **नियुद्भिः**=इन्द्रियरूप घोड़ों से **सचसे**=युक्त होता है, अर्थात् यज्ञों में प्रवृत्ति तेरी इन्द्रियों को बड़ा सुन्दर बनाये रखती है। ४. इस मार्ग पर चलता हुआ तू **मूर्धानम्**=अपने मस्तिष्क को **दिवि**=ज्ञान के प्रकाश में **दधिषे**=धारण करता है। तू अपने मस्तिष्क को ज्ञान-दीप्ति से अधिक-से-अधिक उज्ज्वल बनाता है। ५. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **स्वर्षाम्**=(स्वः समोति भजति) उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति प्रभु को, प्रभु के नाम को भजनेवाली **जिह्वाम्**=जिह्वा को **हव्यवाहम्**=हव्य पदार्थों का ही वहन करनेवाली **चकृषे**=बनाता है, अर्थात् यज्ञिय सात्त्विक पदार्थों का ही सेवन करता है। ६. एवं, त्रिशिरा के जीवन में (क) उसका स्वस्थ शरीर तथा स्वस्थ शरीर-रथ में जुती हुई कल्याणमयी इन्द्रियरूपी घोड़ियाँ सदा यज्ञ द्वारा, लोकहितकारी कार्यों के द्वारा, लोकरञ्जन में लगी रहती हैं। (ख) उसका मस्तिष्क सदा ज्ञान में अवस्थित होता है। (ग) उसकी जिह्वा पर प्रभु का नाम होता है और उसकी जिह्वा सात्त्विक भोजनों का ही स्वाद लेती है। एवं, त्रिशिरा का नाम पूर्णतया अन्वर्थक ही होता है।

भावार्थ—हमारे हाथ यज्ञात्मक कर्मों में लगे हों, मस्तिष्क ज्ञान में, तथा जिह्वा प्रभु-नामोच्चारण में और सात्त्विक अन्न के सेवन में।

ऋषिः—त्रिशिराः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—स्वराडार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

पत्नी भी त्रिशिराः हो, समुद्र व सुपर्ण

ध्रुवासि धरुणास्तृता विश्वकर्मणा।
मा त्वा समुद्रऽउद्वधीन्मा सुपर्णोऽव्यथमाना पृथिवीं दृꣳह ॥१६॥

१. स्त्री भी खूब उन्नत जीवनवाली हो। कैसी? **ध्रुवा असि**=तू घर में ध्रुव होकर रहनेवाली है। छोटी-छोटी बातों से रूठकर पितृगृह की ओर जानेवाली नहीं। साथ ही अपने जीवन की मर्यादाओं में स्थिरता से रहनेवाली है। २. **धरुणा**=घर में रहती हुई सबका धारण करनेवाली है। अन्न-वस्त्र आदि सब धारणात्मक वस्तुओं का पूर्णतया ध्यान करनेवाली है। ३. **विश्वकर्मणा**=गृह-सम्बन्धी सब कार्यों से तू **आस्तृता**=आच्छादित है, अर्थात् तू सदा घर के कार्यों में लगी रहती है, इसीलिए तो तेरे समीप पाप नहीं आ पाता, क्योंकि इसका मन तो घर के कार्यों में लगा है। ४. इस प्रकार कर्मों में लगा होने के कारण इसका जीवन वासनामय नहीं बनता, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **समुद्रः**=(स मुद्) सदा मौज की मनोवृत्ति में रहनेवाला, मज़े उड़ानेवाला, जिसके दृष्टिकोण में संसार केवल मौज के लिए बना है, ऐसा जार (छैला) पुरुष **त्वा**=तुझे **मा**=मत **उद्वधीत्**=मार्ग से बाहर करनेवाला हो

हो (उत्=out, हन्=गति)। **सुपर्णः**=जैसे एक सुन्दर पंखोंवाला पक्षी होता है, इसी प्रकार चमक-दमकवाले कपड़े पहनकर घूमनेवाला व्यक्ति **मा**=मत विचलित करनेवाला हो। तू इन समुद्रों और सुपर्णों=बांके-छैलछबीले व्यक्तियों के पाश में फँसनेवाली न हो। ५. **अव्यथमाना**=भय से विचलित न होती हुई तू **पृथिवीं दृंह**=अपने शरीर को दृढ़ बना। तेरे दृढ़ शरीर के साथ वे खिलवाड़ न कर सकेंगे।

भावार्थ—पत्नी ध्रुव हो, धरुण हो, कर्मों में लगी हो, बांके-छैले युवकों का शिकार न हो जाए। अविचलित होती हुई अपने शरीर को दृढ़ बनाये।

ऋषिः—त्रिशिराः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

पृथिवी व शं-विस्तारिणी

प्रजापतिष्ट्वा सादयत्वपां पृष्ठे समुद्रस्येमन्।
व्यचस्वतीं प्रथस्वतीं प्रथस्व पृथिव्यसि ॥१७॥

१. पत्नी के लिए ही कहते हैं कि **प्रजापतिः**=सब प्रजाओं का पति प्रभु **त्वा**=तुझे **अपां पृष्ठे**=कर्मों के पृष्ठ पर, अर्थात् कर्मों पर **सादयतु**=बिठाये, अर्थात् तेरा जीवन सदा कर्मों में व्यापृत रहे। २. **समुद्रस्य**=तू आनन्दमय प्रभु के **एमन्**=प्राप्तव्य स्थान को प्राप्त हो। अर्थात् तेरा लक्ष्य उस प्रभु को प्राप्त करना है। ३. **व्यचस्वती**=(व्यचस्=विस्तार) ज्ञान के विस्तारवाली तथा **प्रथस्वती**=हृदय के विस्तारवाली सन्तति को **प्रथस्व**=तू विस्तृत करनेवाली हो, अर्थात् सदा क्रियाशीलता के द्वारा प्रभु की ओर चलती हुई तू उस सन्तान को जन्म दे जो अधिक-से-अधिक विस्तृत ज्ञानवाली हो और जिसका हृदय विशाल हो। ४. ऐसी सन्तति को जन्म देनेवाली ही तू **पृथिवी**=पृथिवी **असि**=है। जैसे यह पृथिवी उत्तमोत्तम ओषधियों को जन्म देती है, इसी प्रकार तू उत्तम सन्ततियों को जन्म देती हुई वंश का विस्तार करनेवाली है। (पृथिवी=प्रथ विस्तारे)।

भावार्थ—पत्नी क्रियाशील हो, प्रभु के मार्ग पर चले। ज्ञानी, विशाल हृदय सन्तति को जन्म दे। वंश का विस्तार करनेवाली हो।

ऋषिः—त्रिशिराः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—प्रस्तारपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

विश्वधाया

भूरसि भूमिरस्यदितिरसि विश्वधाया विश्वस्य भुवनस्य धर्त्री।
पृथिवीं यच्छ पृथिवीं दृꣳह पृथिवीं मा हिꣳसीः ॥१८॥

१. पत्नी के लिए ही कहते हैं कि **भूः असि**=(भवन्ति यस्याम्) तुझसे ही सन्तानों का जन्म होता है। २. **भूमिः असि**=(भवन्ति यस्याम्) उत्पन्न होकर सन्तान तेरे ही आधार से रहते हैं। ३. **अदितिः असि**=(अविद्यमानादितिः खण्डनं यया) तेरे कारण ही सन्तान अखण्डित स्वास्थ्य व चारित्र्यवाली बनती है। ४. **तू विश्वधायाः**=सब सन्तानों को उत्तम दूध पिलानेवाली है और इस प्रकार सबका पालन करनेवाली है। ५. **विश्वस्य भुवनस्य धर्त्री**=सन्तान के निर्माण व पालन के द्वारा तू सारे लोक का धारण करनेवाली है। जिस भी राष्ट्र में माताएँ अपने सन्तानों को अदीन व दिव्य गुणोंवाला तथा स्वस्थ शरीरवाला बनाती हैं, वह राष्ट्र सदा उन्नत होता है। ६. एवं इस महान् सन्तान-निर्माण करनेवाली माता को चाहिए कि वह **पृथिवीं यच्छ**=(पृथिवी शरीरम्) अपने शरीर का नियमन करे। **पृथिवीं**

दृंह=इस शरीर को दृढ़ बनाये और **पृथिवीम्**=शरीर को **मा हिंसीः**=हिंसित न होने दे। नियमित जीवन से शरीर दृढ़ होगा और असमय में समाप्त न हो जाएगा। वस्तुतः यह 'नियंमन, दृढ़ीकरण व अहिंसन' ही 'त्रिशिरा' बनना है, त्रिविध उन्नति करना है।

भावार्थ—एक माता 'अदिति' बनकर दिव्य सन्तानों को जन्म दे। इस प्रकार वह राष्ट्र का धारण कर सकती है। उसे अपने शरीर को व्यवस्थित, दृढ़ व स्वस्थ बनाना है। अव्यवस्थित, ढीली-ढाली व अस्वस्थ माता तो ऐसी ही सन्तानों को जन्म देगी जो राष्ट्र के लिए बोझ ही होंगे।

ऋषिः—त्रिशिराः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगतिजगती। **स्वरः**—निषादः॥

मही स्वस्ति-शन्तम छर्दि (उत्तम योगक्षेम, शान्त घर)

विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानायोदानाय प्रतिष्ठायै चरित्राय। अग्निष्ट्वाभिपातु मह्या स्वस्त्या छर्दिषा शन्तमेन तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद॥१९॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में पति को अग्नि कहा है। उसका कर्त्तव्य है कि वह पत्नी की रक्षा करे। **अग्निः**=घर की उन्नति को सिद्ध करनेवाला तथा अग्नि के समान ज्ञान के प्रकाशवाला पति **त्वा**=तुझे **अभिपातु**=पालित करे, तुझे आन्तर व बाह्य आपत्तियों से बचाए। २. **मह्या स्वस्त्या**=(महत्या योगक्षेमसंपत्त्या) महती योगक्षेम सम्पत्ति के द्वारा वह तेरा रक्षण करे और **शन्तमेन छर्दिषा**=(अत्यन्तं सुखकारिणा गृहेण—म०) सब प्रकार से शान्ति देनेवाले घर से पति तेरी रक्षा करे। घर में किसी प्रकार के खान-पान की कमी न हो और घर सब ऋतुओं में सुखद हो। ३. इस घर में **तया देवतया**=उस देवतुल्य पति के साथ **अङ्गिरस्वत्**=एक-एक अङ्ग में रसवाले व्यक्ति के समान, अर्थात् पूर्ण स्वस्थ व प्राणशक्ति-सम्पन्न होकर तू **ध्रुवा सीद**=ध्रुव होकर रहनेवाली हो। तेरा जीवन बड़ा मर्यादावाला हो। ४. ऐसा होने पर ही तू **विश्वस्मै प्राणाय**=सब प्राणशक्ति के लिए अथवा सब गृहसभ्यों की प्राणशक्ति के लिए होगी। **अपानाय**=अपान शक्ति के लिए होगी। प्राणशक्ति बल देनेवाली है तो अपान दोषों को दूर करनेवाली है। ५. तू **व्यानाय**=व्यानशक्ति के लिए होगी। व्यान शक्ति शरीर में सर्वत्र भ्रमण करके शरीर की व्यवस्था को ठीक रखनेवाली है। **उदानाय**=तू उदान के लिए होगी। यह उदान कण्ठदेश में रहकर कण्ठग्रन्थि को ठीक रखती हुई दीर्घ-जीवन का कारण बनती है। ६. **प्रतिष्ठायै**=तू घर की प्रतिष्ठा को बढ़ाने के लिए होगी। घर की नींव को दृढ़ करनेवाली होगी तथा **चरित्राय**=घर में आचरण के मापक को तू सदा ऊँचा रक्खेगी।

भावार्थ—पति का मुख्य कार्य यह है कि वह उत्तम घर तथा महनीय योगक्षेम (खान-पान की सामग्री) को प्राप्त कराने के लिए यत्नशील हो। पत्नी इस बात का ध्यान रक्खे कि गृहसभ्यों की प्राण, अपान, व्यान व उदान शक्तियाँ ठीक बनी रहें। घर की प्रतिष्ठा बढ़े तथा सदाचार का मापक ऊँचा बना रहे।

ऋषिः—अग्निः। **देवता**—पत्नी। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

दूर्वा

काण्डात्काण्डात्प्ररोहन्ती परुषःपरुषस्परि।
एवा नो दूर्वे प्रतनु सहस्रेण शतेन च॥२०॥

१. पिछले मन्त्र में पति को 'अग्नि' कहा है। इस मन्त्र में यह अग्नि पत्नी को 'दूर्वा' नाम से सम्बोधित करके कहता है कि वह उसके वंश को सैकड़ों व हज़ारों पीढ़ियों तक ले-जाने में सहायक हो, अतः मन्त्र का ऋषि 'अग्नि' ही है, जो वंश को आगे और आगे ले-चलना चाहता है, जो यह नहीं चाहता कि उसका वंश-दीप कभी बुझ जाए। **'प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम'**='प्रजाओं से मैं अमर बना रहूँ' यह उसकी कामना है। इसी कारण वह चाहता है कि उसके वंश में कोई रोग या अन्य कोई मानस विकार उत्पन्न न हो और उसका वंश चलता ही चले, इसीलिए वह पत्नी को 'दूर्वा' नाम से स्मरण करता है—'इति यदब्रवीद् धूर्वीन् मा इति तस्मात् धूर्वा। धूर्वा ह वै तां दूर्वा इत्याचक्षते परोक्षम्'—श० ७।४।२।१२। यह मुझे हिंसित मत करे (धूर्वी हिंसायाम्), अतः वह इसका नाम ही धूर्वा वा दूर्वा कह देता है। २. जैसे दूर्वा घास के काण्ड=तने हैं, उसी प्रकार यहाँ पत्नी के नर-सन्तान हैं, जिनसे घर 'कंन दीप्तौ' चमकता है। इस दूर्वा के परु=पर्व, जोड़ हैं, उसी प्रकार पत्नी के स्त्री सन्तान लड़कियाँ हैं। इनसे अन्य घरों के साथ सम्बन्ध जुड़ता है। दूर्वा घास प्रत्येक काण्ड पर अपने मूल जमाती हुई और प्रत्येक पोरु पर से अपनी जड़ पकड़ती हुई फैलती है, उसी प्रकार इस पत्नी के पुत्र अपने अगले सन्तानों को जन्म देनेवाले हों और पुत्रियाँ भी इस घर के सम्बन्ध को विस्तृत करनेवाली हों। ३. पति कहता है कि **काण्डात् काण्डात्**=वंश-वृक्ष के तनेरूप प्रत्येक तनय=पुत्र के द्वारा **प्ररोहन्ती**=इस वंश को आगे बढ़ाती हुई तथा **परुषः परुषः परि**=वंश-वृक्ष के प्रत्येक पर्व=जोड़ के समान पुत्रियों से सम्बन्ध को चारों ओर फैलाती हुई हे **दूर्वे**=सब रोगों व अशुभवृत्तियों का ध्वंस करनेवाली पत्नि! तू **एव**=इस प्रकार **नः**=हमें **प्रतनु**=विस्तृत कर। ४. **सहस्रेण**=हम हज़ारों पीढ़ियों से इस संसार में चलते चलें। **शतेन च**=और इस वंश में प्रत्येक व्यक्ति शतवर्ष के जीवनवाला हो।

भावार्थ—वंश के निर्दोष होने पर वंश हज़ारों पीढ़ियों तक चलता है तथा वंश में प्रायः शतायु पुरुष होते हैं। इसका बहुत-कुछ निर्भर पत्नी पर है जो 'दूर्वा' है, वंश के रोगों व बुराइयों का ध्वंस कर देती है।

ऋषिः—अग्निः। **देवता**—पत्नी। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

इष्टका

या श॒तेन॑ प्र॒त॒नोषि॑ स॒हस्रे॑ण वि॒रोह॑सि।
तस्या॑स्ते देवीष्टके वि॒धेम॑ ह॒विषा॑ व॒यम् ॥२१॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में पत्नी को 'इष्टका' कहा है (यज्+क्त+इष्ट=यज्ञ) यज्ञों को करनेवाली। व्याकरण के अनुसार पत्नी शब्द की सिद्धि ही 'यज्ञसंयोग' में होती है 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे'। वस्तुतः गृहस्थ में व्यक्ति ने यज्ञ के लिए प्रवेश किया है। यज्ञों में प्रवृत्त रहने के कारण इसका जीवन दिव्य बना रहता है, अतः इसे 'देवी' कहा गया है। पति धनार्जन करके उसे पत्नी के हाथ में दे। पत्नी इस धन को यज्ञों में विनियुक्त करती हुई यज्ञशेष से, अमृत से परिवार का पोषण करने के लिए प्रयत्न करे। पति जो देकर खाता है वही 'हवि' है, दानपूर्वक अदन। इसी प्रकार पति पत्नी का समुचित आदर करनेवाला होता है। ३. पति कहता है कि हे **देवि**=दिव्य गुणोंवाली! **इष्टके**=यज्ञ के स्वभाववाली पत्नि! **या**=जो तू **शतेन प्रतनोषि**=हमारी सन्तानों को सौ वर्ष के परिवार में फैलानेवाली होती है और

सहस्त्रेण विरोहसि=हमारे वंश को हज़ारों पीढ़ियों तक बढ़ानेवाली होती है **तस्याः ते**=उस तुझे **वयम्**=हम **हविषा**=सब सौंपकर तेरे द्वारा दिये हुए को खाने से **विधेम**=आदर करते हैं। पत्नी का सच्चा आदर यही है कि उसे ही गृह की 'साम्राज्ञी' समझा जाए। घर का सारा प्रबन्ध उसी के अधीन हो। वही व्यवस्थापिका हो। ३. इस व्यवस्था के होने पर घरों से यज्ञों का विलोप नहीं होता, परिणामतः उत्तमता का भी विलोप नहीं होता।

भावार्थ—पत्नी घर में यज्ञों की प्रवर्तिका, इष्टका है। यज्ञों द्वारा घर में दिव्य गुणों के व्यवस्थापन से यह देवी है। हम अपना सब धन इन्हें सौंपकर उनसे दिये गये को खाकर ही इनका समुचित आदर करते हैं। वे हमारे दीर्घ-जीवन का कारण बनती हैं और वंश को विच्छिन्न नहीं होने देतीं।

ऋषिः—इन्द्राग्नी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

सूर्य व अग्नि (स्वर्ग)

यास्तेऽअग्ने सूर्ये रुचो दिवमातन्वन्ति रश्मिभिः।
ताभिर्नोऽअद्य सर्वाभी रुचे जनाय नस्कृधि॥२२॥

१. २२ से २५ तक मन्त्रों का ऋषि 'इन्द्राग्नी' है। इन्द्रियों का अधिष्ठाता जितेन्द्रिय पति ही यहाँ इन्द्र है। इसने निरन्तर कर्म द्वारा, गति द्वारा, गृह-सञ्चालन के लिए धनार्जन करना है। निरन्तर गति के कारण इसे 'सूर्य' (सरति) कहा गया है। पत्नी यहाँ अग्नि है। घर की सब उन्नति का निर्भर इसी पर है। १९वें मन्त्र में इसी दृष्टिकोण से पति को भी अग्नि कहा गया था। यहाँ पति 'इन्द्र व सूर्य' है, पत्नी 'अग्नि'। २. पत्नी से कहते हैं कि हे **अग्ने**=गृहोन्नति साधिके! **याः**=जो **ते**=तेरी **सूर्ये**=निरन्तर श्रमशील पति में **रुचः** =दीप्तियाँ हैं अथवा रुचियाँ या प्रीतियाँ हैं (तेरी रुचियाँ हैं—द०) वे प्रीतियाँ **रश्मिभिः**=ज्ञान की किरणों से (रश्मि=किरण) तथा इन्द्रियों के नियन्त्रणों से (रश्मि=लगाम) **दिवम्**=स्वर्ग को **आतन्वन्ति**=विस्तृत करती हैं। स्पष्ट है कि घर स्वर्ग बन जाता है जब (क) पत्नी का सब प्रेम अपने पति के लिए ही हो। (ख) पति निरन्तर श्रम के द्वारा गृह-सञ्चालन के लिए पर्याप्त धनार्जन करनेवाला हो। (ग) घर में ज्ञान का प्रकाश हो, सब ज्ञान-सम्पन्न हों। (घ) और सबने इन्द्रियाश्वों को मनरूप लगाम से काबू किया हुआ हो। ३. पति-पत्नी की परस्पर प्रीतियों का परिणाम घर में कल्याण-ही-कल्याण होता है। आचार्य दयानन्द प्रस्तुत मन्त्र के भावार्थ में लिखते हैं—'यत्र स्त्रीपुरुषौ परस्परं प्रीतिमन्तौ स्यातां तत्र सर्वं कल्याणमेव'=पति-पत्नी के प्रीतिमान होने पर सब शुभ-ही-शुभ होता है, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **ताभिः सर्वाभिः**=उन सब प्रीतियों से **नः**=हमें (अस्मान्) **रुचे**=शोभा के लिए **कृधि**=कीजिए। इन परस्पर प्रीतियों से सन्तानों के सब लक्षण शुभ-ही-शुभ होते हैं। उस प्रीति को **नः**=हमारी **जनाय**=शक्तियों के विकास के लिए कीजिए, अर्थात् माता-पिता का परस्पर ठीक प्रेम होने पर सन्तानों की शक्तियों का विकास होता है। एवं, पति-पत्नी की परस्पर प्रीति के दो परिणाम सन्तानों में दृष्टिगोचर होते हैं। (क) शुभ लक्षण व दीप्ति (रुच)। (ख) शक्तियों का विकास (जन)।

भावार्थ—पति-पत्नी का कर्त्तव्य है कि अपने जीवनों को 'सूर्य व अग्नि' की भाँति बनाकर घर को स्वर्ग बनाने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—इन्द्राग्नी। **देवता**—बृहस्पतिः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

माता-पिता व आचार्य

या वो देवाः सूर्ये रुचो गोष्वश्वेषु या रुचः।
इन्द्राग्नी ताभिः सर्वाभी रुचं नो धत्त बृहस्पते॥२३॥

१. मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद' इस वाक्य के अनुसार उत्तम सन्तानों का निर्माण माता-पिता व आचार्य पर निर्भर करता है। ये तीनों देव हैं 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव' इस उपनिषद् वाक्य में तीनों को देव कहा गया है। इनका मस्तिष्क ज्ञान के सूर्य से चमकता होगा और इनकी ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ अपनी-अपनी शक्तियों से चमकती होंगी तो सन्तानें भी उत्तम होंगी। २. मन्त्र के शब्दों में कहते हैं कि हे **देवाः**=माता-पिता व आचार्यो! **याः**=जो **वः**=आपकी **सूर्ये**=मस्तिष्करूप गगन में उदित ज्ञानसूर्य में **रुचः**=दीप्तियाँ हैं, **गोषु**=ज्ञानेन्द्रियों में, **अश्वेषु**=कर्मों में व्याप्त होनेवाली कर्मेन्द्रियों में **याः**=जो **रुचः**=दीप्तियाँ हैं, हे **इन्द्राग्नी**=इन्द्रतुल्य अथवा जितेन्द्रिय पितः तथा अग्नितुल्य मातः! तथा **बृहस्पते**=वेदज्ञान के पति आचार्य! **ताभिः सर्वाभीः**=उन सब दीप्तियों से **नः**=हम सन्तानों में भी **रुचम्**=दीप्ति को **धत्त**=धारण करो। हमारे जीवनों को भी दीप्तिमय बनाओ। ३. माता-पिता व आचार्य ने ही तो सन्तानों का निर्माण करना है। माता चरित्र देती है, पिता शिष्टाचार तथा आचार्य ज्ञान।

भावार्थ—माता-पिता व आचार्य जब उत्तम मस्तिष्क, ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियोंवाले होते हैं तब वे सन्तानों के जीवनों को भी ज्योतिर्मय बना पाते हैं।

ऋषिः—इन्द्राग्नी। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—निचृद्धृतिः। **स्वरः**—ऋषभः॥

विराट् (स्वराट्) + ज्योतिष्मती

विराड् ज्योतिरधारयत् स्वराड् ज्योतिरधारयत्।
प्रजापतिष्ट्वा सादयतु पृष्ठे पृथिव्या ज्योतिष्मतीम्।
विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानाय विश्वं ज्योतिर्यच्छ।
अग्निष्टेऽधिपतिस्तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद॥२४॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति 'सन्तानों में ज्योति के धारण पर' हुई थी। इस ज्योति को वही पति (पिता) धारण करा सकता है जो स्वयं ज्योतिर्मय व जितेन्द्रिय हो। मन्त्र में कहते हैं कि **विराट्**=विविध ज्ञानों की ज़्योतियों से चमकनेवाला पिता ही **ज्योतिः**=प्रकाश को **अधारयत्**=सन्तान में धारण करता है, अतः पिता के लिए ख़ूब ज्ञान की दीप्तिवाला होना आवश्यक है। २. **स्वराट्**=अपना राज्य व शासन करनेवाला जितेन्द्रिय पिता ही **ज्योतिः अधारयत्**=सन्तान में ज्योति को धारण करता है। एवं, पिता के लिए 'विराट् तथा स्वराट्' होना अत्यन्त आवश्यक है। ३. अब माता का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **प्रजापतिः**=सब प्रजाओं का रक्षक वह प्रभु **त्वा**=तुझ **ज्योतिष्मतीम्**=ज्ञान की ज्योति से देदीप्यमान को **पृथिव्याः पृष्ठे**=(पृथिवी शरीरम्) शरीर के ऊपर **सादयतु**=स्थापित करे, अर्थात् तू इस शरीर को पूर्णतया अपने वश में किये हुए हो। एवं, माता ने भी ज्ञान की ज्योति से दीप्त व अपने पर आधिपत्यवाला होना है। ४. **विश्वस्मै प्राणाय अपानाय व्यानाय**=सब प्राण, अपान व व्यान-शक्ति के लिए माता का भी ज्योतिर्मयी व जितेन्द्रिय होना अत्यन्त आवश्यक

है। माता का ही बच्चे पर अत्यधिक प्रभाव होता है। 'माँ पर पूत' यह लोकोक्ति ठीक ही है। माता से ही बच्चे को प्राण, अपान व व्यानशक्ति प्राप्त होती है। ४. माता से कहते हैं कि **विश्वं ज्योतिः यच्छ**=(निगृहणीष्व) सम्पूर्ण ज्योति को अपने में धारण करनेवाली बन। तू स्वयं ज्योति धारण करेगी, तभी तो सन्तानों को यह ज्योति दे पाएगी। ५. **ते अधिपतिः**=तुझसे अधिक गुणवाला तेरा पति **अग्निः**=इस घर की उन्नति करनेवाला हो। वह ज्ञान की ज्योति को धारण करनेवाला 'देव' हो (देवो दीपनाद्)। **तया देवतया**=उस देवतुल्य पति के साथ **अङ्गिरस्वत्**=एक-एक अङ्ग में रस के सञ्चारवाले व्यक्ति की भाँति तू **ध्रुवा**=ध्रुव होकर, बड़े मर्यादित जीवनवाली होकर **सीद**=निवास कर। ६. वस्तुतः पति-पत्नी (माता-पिता) के जीवन के अनुपात में ही सन्तानों का भी जीवन बनता है, अतः ये अपने उत्तरदायित्व को समझें और अपने जीवनों को वेद के शब्दों में निम्न प्रकार से बनाने का यत्न करें—

पिता—१. **विराट्**=विविध ज्ञानों की दीप्तियों से दीप्त २. **स्वराट्**=अपने पर शासन करनेवाला ३. **अग्निः**=सदा घर को उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाला ४. **देवता**=दिव्य गुणों को अपनानेवाला।

माता—१. **ज्योतिष्मती**=ज्ञान के प्रकाशवाली, समझदार २. **पृष्ठे पृथिव्याः सादयतु**=शरीर पर पूर्ण प्रभुत्ववाली ३. **अङ्गिरस्वत्**=एक-एक अङ्ग में रस के सञ्चारवाली ४. **ध्रुवा**=स्थिरता से रहनेवाली, मर्यादित जीवनवाली।

भावार्थ—विराट् पिता और ज्योतिष्मती माता ही सन्तानों में ज्योति का धारण कर सकते हैं।

ऋषिः—इन्द्राग्नी। **देवता**—ऋतवः। **छन्दः**—भुरिगतिजगती[क], भुरिग्ब्राह्मीबृहती[र]। **स्वरः**—निषादः[क], मध्यमः[र]॥

मधु+माधव

[क]मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतूऽअग्नेरन्तःश्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामापऽओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ् मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः। [र]येऽअग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवीऽइमे। वासन्तिकावृतूऽअभिकल्पमानाऽइन्द्रमिव देवाऽअभिसंविशन्तु तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम्॥२५॥

१. 'इन्द्राग्नी' ऋषि का यह अन्तिम मन्त्र है। पत्नी ने अत्यन्त मधुर स्वभाववाला बनना है, अतः उसे यहाँ 'मधुः' कहा गया है। पति ने सदा गृहस्थ सञ्चालन के लिए धनार्जन करनेवाला होना है, अतः उसे 'मा-धव'=लक्ष्मी का पति कहा गया है। जिस समय ये पति-पत्नी '**मधुः च माधवः च**'=मधुर स्वभाव और लक्ष्मीपति बनते हैं, उस समय ये **वासन्तिकौ**=एक-दूसरे के समीप उत्तमता से निवास करनेवाले होते हैं। इनका परस्पर प्रेम ठीक बना रहता है। २. **ऋतू**=(ऋ गतौ) ये दोनों अपने कार्यों को बड़े नियम से करनेवाले होते हैं। ऋतुओं की भाँति इनके कार्य समय पर होते हैं। ३. पति के लिए कहते हैं कि तू **अग्नेः**=उस अग्रेणी प्रभु का **अन्तः** =हृदय में **श्लेषः**=आलिङ्गन करनेवाला है। उस प्रभु को तू कभी विस्मृत नहीं करता। तेरी प्रार्थना यही हो कि ४. **द्यावापृथिवी**=मेरा मस्तिष्क व शरीर दोनों ही **कल्पेताम्**=शक्तिशाली बनें, सामर्थ्यवाले हों। मस्तिष्क ज्ञान की ज्योति से उज्ज्वल हो तथा शरीर दृढ़ हो। ५. **आपः ओषधयः**=जल और ओषधियाँ **कल्पन्ताम्**=मुझे शक्तिशाली बनाएँ। पीने के लिए पानी हो, भोजन के लिए वनस्पतियाँ यह सीधा-सादा

भोजन मेरे शरीर को नीरोग बनाकर शक्तियुक्त करे। ६. **अग्नयः**=दक्षिणाग्निरूप माता, गार्हपत्याग्निरूप पिता, आहवनीयाग्निरूप आचार्य' ये सब **पृथक्**=अलग-अलग, ५ वर्ष तक माता, ८ वर्ष तक पिता, २५ वर्ष तक आचार्य **कल्पन्ताम्**=मुझे शक्तिशाली बनानेवाले हों। ७. ये तीनों ही **मम**=मेरे **ज्यैष्ठ्याय**=बड़प्पन व उत्कर्ष के लिए **सव्रताः**=समान व्रतवाले हों। माता-पिता व आचार्य इन सबका एक ही कार्य व उद्देश्य हो कि हमें बालकों व युवकों के जीवन को बड़ा सुन्दर बनाना है। ८. **इमे द्यावापृथिवी अन्तरा**=इन द्युलोक व पृथिवीलोक के मध्य में, अर्थात् इस संसार में **ये अग्नयः**=जो भी माता-पिता व आचार्यरूप अग्नियाँ हैं वे **समनसः**=समान मनवाले हों, सन्तानों का उत्तम निर्माण ही इनका उद्देश्य हो। ९. इन अग्नियों से सुन्दर जीवनवाले ये पति-पत्नी **वासन्तिकौ**=परस्पर उत्तम निवासवाले हों **ऋतू**=बड़े नियमित व व्यवस्थित जीवनवाले हों। **अभिकल्पमाना**=ये अपने को दोनों ओर शक्तिशाली बनाएँ, शरीर को दृढ़ व मस्तिष्क को उज्ज्वल। १०. **इन्द्रमिव**=देवराट् इन्द्र को जैसे देव प्राप्त होते हैं उसी प्रकार इस जितेन्द्रिय पति को **देवः**=सब दिव्य गुण **अभिसंविशन्तु**=प्राप्त हों। इसमें दिव्य गुणों का प्रवेश हो। ११. हे पति-पत्नि! तुम दोनों **तया देवतया**=सदा उस प्रभु-स्मरण के साथ कार्य करने से **अङ्गिरस्वत्**=अङ्ग-अङ्ग में प्राणशक्ति के सञ्चारवाले की भाँति **ध्रुवे**=मर्यादित जीवनवाले होकर स्थिरता से **सीदतम्**=ठहरो।

भावार्थ—पति-पत्नी १. मधु-माधव हों, २. वासन्तिक हों, ३. ऋतु हों, ४. हृदय में प्रभु का आलिङ्गन करनेवाले हों, ५. शरीर व मस्तिष्क को सशक्त बनाएँ, ६. जलों व वनस्पतियों का ही सेवन करें, ७. उत्तम माता-पिता व आचार्यवाले हों, ८. इनके माता-पिता व आचार्य का ध्येय इन्हें ज्येष्ठ बनाना हो, ९. वस्तुतः सब माता-पिता व आचार्य परस्पर एक मनवाले होकर इनका निर्माण करें, १०. इन्द्र बनकर दिव्य गुणों को प्राप्त करें, ११. उस प्रभु का स्मरण करते हुए मर्यादित जीवनवाले हों।

ऋषिः—सविता। **देवता**—क्षत्रपतिः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

पत्नी=सविता=जन्मदात्री

अषा॑ढासि॒ सह॑माना॒ सह॒स्वारा॑तीः॒ सह॑स्व पृतनाय॒तः।
स॒हस्र॑वीर्यासि॒ सा मा॑ जिन्व ॥२६॥

१. हे पत्नि! **अषाढा असि**=तू न कुचली जानेवाली है, शत्रु तेरा धर्षण नहीं कर सकते। २. **सहमाना**=तू शत्रुओं का पराभव करनेवाली है, अतः **अरातीः**=शत्रुओं को अथवा अदान की भावनाओं को तू **सहस्व**=नष्ट कर डाल। तुझ में देने की वृत्ति हो, यह देने की वृत्ति ही व्यसन-वृक्ष के तनेरूप लोभ को समाप्त करके मनुष्यों को सब वासनाओं से ऊपर उठाती है। एवं, दान=देना सचमुच दान=(दाप् लवने) बुराइयों का काटनेवाला हो जाता है और इस प्रकार यह दान=(दैप् शोधने) जीवन का शोधक होता है। ३. **पृतनायतः** =शत्रु-सैन्य की भाँति आक्रमण करनेवाले काम-क्रोध-लोभ आदि को तू **सहस्व**=पराजित कर। ४. तू सचमुच इनका पराजय करनेवाली **सहस्रवीर्या**=अनन्त शक्तिवाली अथवा हास्ययुक्त—प्रसन्नतापूर्ण शक्तिवाली है, (स+हस्)। ५. **सा**=वह तू **मा**=मुझे **जिन्व**=प्रीणित करनेवाली हो। वस्तुतः उल्लिखित गुणों से युक्त पत्नी से ही पति प्रसन्नता का अनुभव कर पाता है। ऐसी ही पत्नी उत्तम सन्तानों को जन्म देने के कारण प्रस्तुत मन्त्र की ऋषिका 'सविता' बनती है (सावित्री=सविता लिङ्गव्यत्ययः अथवा स्वसृ आदि में पाठ मानकर ङीप् नहीं हुआ)।

भावार्थ—पत्नी कामादि शत्रुओं का पराभव करनेवाली हो, तभी वह शक्तिसम्पन्न होगी और उत्तम सन्तानों को जन्म देनेवाली बनेगी।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—२७,२९ निचृद्गायत्री, २८ गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

मधुर-ही-मधुर

मधु वाताऽऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः॥२७॥

मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवꣳरजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता॥२८॥

मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ२॥ऽअस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः॥२९॥

१. गत मन्त्र के अनुसार अपना सुन्दर जीवन बनानेवाले व्यक्ति ही 'ऋतायन्' हैं, ऋतम् आत्मन इछन्ति=जो अपने जीवन में सब क्रियाएँ ऋत के अनुसार करते हैं। **ऋत**=right=ठीक, उनकी सब क्रियाएँ ठीक स्थान व ठीक समय पर ही होती हैं। ऋत का अर्थ यज्ञ भी है। इनका जीवन यज्ञिय होता है। ये लोग स्वार्थ से ऊपर उठकर यज्ञमय जीवनवाले बनते हैं, सर्वभूतहिते रतः होते हैं। २. इस **ऋतायते**=ऋतमय जीवनवाले के लिए **वाताः**=वायुएँ **मधु**=मधुर होकर बहती हैं, हानिकर नहीं होती। **सिन्धवः**=नदियाँ भी इसके लिए **मधु**=मधुर बनकर **क्षरन्ति**=चलती हैं। इसके लिए नदियों का जल सदा स्वास्थ्यवर्धक ही होता है। **नः**=हम ऋत का पालन करनेवालों के लिए **ओषधीः**=ओषधियाँ **माध्वीः**= माधुर्यवाली **सन्तु**=हों। ३. मन्त्र में यह क्रम द्रष्टव्य है कि वर्षा की वायुएँ चलती हैं, नदियाँ बहती हैं और ओषधियाँ उत्तम होती हैं। ४. **नक्तं मधु**=रात्रि इसके लिए माधुर्यवाली हो **उत**=और **उषसः**=उषःकाल भी मधुर हों। रात्रि में यह मीठी नींद सोये, उषः इसके सब दोषों का दहन करती हुई इसे प्राणशक्ति-सम्पन्न बना दे। ५. **पार्थिवं रजः**=यह पार्थिवलोक या पृथिवी की मिट्टी इसके लिए **मधुमत्**=माधुर्यवाली हो। इसके शरीर पर मलने से इसके सब विष दूर हों **पिता द्यौः**=पितृतुल्य यह द्युलोक **नः**=हमारे लिए **मधुः अस्तु**=माधुर्यवाला हो। पृथिवी माता हो और द्युलोक पिता। माता-पिता की भाँति ये ऋतायन् के लिए हितकारी हों। संक्षेप में दिन-रात तथा पृथिवी व द्युलोक सब इसके लिए हितकारी हों। ६. **नः**=हमारे लिए **वनस्पतिः**=सब वनस्पतियाँ **मधुमान्**=माधुर्य को लिये हुए हों, **सूर्यः मधुमान् अस्तु**=सूर्य माधुर्यवाला हो। **गावः**=गौवें भी **नः**=हमारे लिए **माध्वीः**=माधुर्यपूर्ण दूध देनेवाली **भवन्तु**=हों। वस्तुतः सूर्य किरणों से वनस्पतियाँ भी प्राणशक्ति-सम्पन्न होती हैं और उनका सेवन करनेवाली गौवें भी उत्तम दूध देनेवाली होती हैं। ७. एवं, हमारा जीवन ऋतमय हो तो सारा ही आधिदैविक जगत् हमारे अनुकूल होता है, हमारे लिए मधुर होता है। जीवन में से ऋत के चले जाने पर ही आधिदैविक कष्ट आया करते हैं।

भावार्थ—हमारा जीवन ऋतमय हो, जिससे हमारा संसार मधुर बने। ऋतमय जीवनवाला ही गोतम, प्रशस्तेन्द्रिय होता है। ऐसा होने पर ही इन्द्र की कृपा होती है।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—आर्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

कर्म व्यापृति

अपां गम्भन्त्सीद मा त्वा सूर्योऽभिताप्सीन्माग्निर्वैश्वानरः।

अच्छिन्नपत्राः प्रजाऽअनुवीक्षस्वानु त्वा दिव्या वृष्टिः सचताम्॥३०॥

१. **अपाम्**=कर्मों की **गम्भन्**=(गम्भीरे) गम्भीरता में **सीद**=तू स्थित हो, अर्थात् सदा

गम्भीरता से कर्मों में व्यापृत रह। गम्भीरता का अभिप्राय प्रसन्नता का अभाव नहीं है। इसका तात्पर्य है तेरे जीवन में उथलापन व विलास न आ जाए। २. गम्भीरता से कर्मों में लगे रहने पर **सूर्यः**=सूर्य **त्वा**=तुझे **मा अभिताप्सीत्**=समाप्त करनेवाला न हो। वस्तुतः क्रियाशून्य—आराम से लेटनेवाले को ही सर्दी-गर्मी लगा करती है। कार्यव्यापृत मनुष्य इनसे इतना व्याकुल नहीं होता। ३. **वैश्वानरः अग्निः**=देह में स्थित जाठराग्नि भी तुझे **मा**=सन्तप्त न करे। कर्म में लगे हुए व्यक्ति का अमाशय भी स्वस्थ रहता है। पाचनशक्ति की कमी आलसियों को ही सताती है। ४. कार्यव्यापृतता से पूर्ण स्वस्थ बनकर तू **अच्छिन्नपत्राः**=(अच्छिन्नानि पत्राणि अक्षयं वा यासाम्) अखण्डित अवयवोंवाली **प्रजाः**=सन्तानों को **अनुवीक्षस्व**=निरन्तर अपने पीछे आता हुआ देख, अर्थात् यह कर्मव्यापृति माता-पिता को पूर्ण स्वस्थ बनाकर अति सुन्दर सर्वांग सन्तानों को प्राप्त कराती है। ५. **अनु**=पीछे, अर्थात् अन्त में **त्वा**=तुझे **दिव्या वृष्टिः**=धर्ममेघ समाधि में प्राप्त होनेवाली आनन्द की वृष्टि **सचताम्**=सेवन करे। इस कार्यव्यापृति से तू चित्त की एकाग्रता के द्वारा चित्तवृत्तिनिरोधरूपी योग को प्राप्त होनेवाला हो और यह कर्म-कुशलतारूपी योग का अभ्यास तुझे अद्भुत आनन्द देनेवाला हो।

भावार्थ—प्रतिक्षण प्रसन्नता से स्वधर्म में लगे रहने से, आलस्य को त्यागकर मूर्त्तिमान् कर्म बन जाने से मनुष्य १. सर्दी-गर्मी को सहन कर पाता है। २. उसकी पाचनशक्ति ठीक बनी रहती है। ३. उसकी सन्तानें स्वस्थ, सर्वाङ्ग होती हैं। ४. उसे एक अद्भुत आनन्द प्राप्त होता है।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—वरुणः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

तीन समुद्र व तीन स्वर्ग—भूत, वर्त्तमान व भविष्यत् में,

त्रीन्त्समुद्रान्त्समसृपत् स्वर्गानुपां पतिर्वृषभऽइष्टकानाम्।
पुरीषं वसानः सुकृतस्य लोके तत्र गच्छ यत्र पूर्वे परेताः॥३१॥

१. मन्त्र का ऋषि 'गोतम' **त्रीन् समुद्रान्**=(समुद्द्रवन्ति पदार्था येषु तान् भूत-भविष्यद्वर्त्तमानान् समयान्—द०) भूत, वर्त्तमान व भविष्यत्—तीनों कालों में **समसृपत्**=सम्यक्तया गति करता है और इस प्रकार इन तीनों कालों को **स्वर्गान्**=स्वर्ग बना देता है। क्रियाशीलता जीवन को स्वर्ग बनाती है। क्रियाशील व्यक्ति के लिए तीनों काल सुखद बने रहते हैं। २. यह **अपां पतिः**=कर्मों का रक्षक, अपने जीवन में कर्मों को नष्ट न होने देनेवाला **इष्टकानाम्**=घरों में यज्ञशील पत्नियों का (यज्+क्त=इष्ट=यज्ञ) **वृषभः**=सुखों का सेचन करनेवाला बनता है, अर्थात् क्रियाशील व्यक्ति सारे घर को सुखी बना देता है। क्रियाशील गृहस्थ का घर स्वर्ग होता है। ३. प्रभु कहते हैं कि **पुरीषम्**=(पृ पालने) पालनात्मक कर्मों को **वसानः**=धारण करता हुआ, अर्थात् सदा पालनात्मक कर्मों में लगा हुआ तू **सुकृतस्य**=पुण्य के **लोके**=लोक में **तत्र** =वहाँ **गच्छ**=जा, **यत्र**=जहाँ कि **पूर्वे**=(पृ पूरणे) पालन-पूरण करनेवाले लोग **परेताः**=गये हैं। जो भी व्यक्ति पालनात्मक कर्मों में लगा रहता है वह पुण्यकृत् लोगों के उत्तम लोकों को प्राप्त होता है।

भावार्थ—१. मनुष्य तीनों कालों में—भूत, वर्त्तमान व भविष्यत् में अथवा बाल्य, यौवन व वार्धक्य में सदा कार्यों में लगा रहे, तभी इसके तीनों काल स्वर्ग बनते हैं। २. यज्ञशील पति घर में पत्नियों के जीवन को सुखी बनाता है। ३. यह पालनात्मक कर्मों को करनेवाला व्यक्ति सदा पुण्यकृत् लोगों के लोकों को प्राप्त करता है।

ऋषिः—गोतमः। देवता—द्यावापृथिव्यौ। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

यज्ञ-पूर्ति

मही द्यौः पृथिवी च न इमं यज्ञं मिमिक्षताम्। पिपृतां नो भरीमभिः॥३२॥

१. 'द्यौष्पिता पृथिवी माता' इस वैदिक कथन के अनुसार पिता द्युलोक के समान है, माता पृथिवी के, अतः प्रभु कहते हैं कि—**मही द्यौः**=(मह पूजायाम्, दिवु=द्योतने) पूजा की मनोवृत्तिवाला तथा प्रकाशमय जीवनवाला पिता **च**=और **मही पृथिवी**=पूजा की मनोवृत्तिवाली तथा विस्तृत हृदयवाली माता **नः**=हमारे द्वारा वेदों में प्रतिपादित **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ को **मिमिक्षताम्**=(स्वैः स्वैः भागैः पूरयताम्—म०) अपने-अपने कर्त्तव्य भागों से पूर्ण करें। वेद में प्रभु ने नाना यज्ञों का उपदेश दिया है। इन्हीं यज्ञों से मनुष्य को फूलना-फलना है। प्रभु कहते हैं कि पति-पत्नी मिलकर इन यज्ञों को पूर्ण करने का प्रयत्न करें। २. इस प्रकार ये पति-पत्नी यज्ञों द्वारा **भरीमभिः**=भरणात्मक कर्मों से **नः**=हमें **पिपृताम्**=अपने में धारण करें। वस्तुतः ये इन यज्ञात्मक कर्मों से ही अपने में प्रभु के निवास का कारण बनते हैं। यज्ञ हमें प्रभु की प्राप्ति करानेवाले होते हैं। वस्तुतः इन यज्ञों में लगना अर्थात् लोकहित में लगे रहना ही सच्ची प्रभु-भक्ति है। 'सर्वभूतहिते रताः' ही तो भक्ततम है।

भावार्थ—हमारा जीवन यज्ञमय हो। यज्ञों से हम प्रभु को धारण करनेवाले बनें।

ऋषिः—गोतमः। देवता—विष्णुः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

विष्णु बनना

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे। इन्द्रस्य युज्यः सखा॥३३॥

१. गत मन्त्र में यज्ञों पर बल दिया है। प्रस्तुत मन्त्र में सारे ब्रह्माण्ड का धारण करनेवाले प्रभु की ओर ध्यान दिलाते हैं और कहते हैं कि **विष्णोः**=(विष्णुर्वाव यज्ञः) उस यज्ञरूप प्रभु के **कर्माणि**=धारण के लिए किये जाते हुए कर्मों को **पश्यत**=देखो। २. **यतः**=प्रभु के कर्मों को देखने से मनुष्य **व्रतानि**=अपने कर्मों को भी **पस्पशे**=देखता है। उदाहरणार्थ—प्रभु दयालु हैं—यह भी दयालु बनने का ध्यान करता है। प्रभु न्यायकारी हैं—यह भी न्याय को अपनाता है। ३. इस प्रकार यह प्रभु के कर्मों से अपने कर्मों का निश्चय करनेवाला—प्रभु को ही अपना पुरोहित (model) बनानेवाला 'गोतम' उस **इन्द्रस्य**=परमैश्वर्यशाली—सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभु का **युज्यः सखा**=सदा साथ रहनेवाला मित्र बनता है अथवा प्रभु को आदर्श मानकर कर्म करनेवाले **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष का वह विष्णु **युज्यः सखा**=सदा साथ रहनेवाला—अटूट मित्र बनता है।

भावार्थ—प्रभु के कर्मों को देखकर हम अपने कर्त्तव्यों का निर्धारण करें। ऐसा करने पर वे प्रभु सदा हमारे पूर्ण मित्र होते हैं।

ऋषिः—गोतमः। देवता—जातवेदाः। छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

पत्नी व पति की विशेषताएँ

ध्रुवासि धरुणेतो जज्ञे प्रथममेभ्यो योनिभ्योऽअधि जातवेदाः।
स गायत्र्या त्रिष्टुभानुष्टुभा च देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन्॥३४॥

१. गत मन्त्र में प्रभु के कर्मों को देखकर कर्त्तव्य-निर्धारण की बात कही है। वैसा

करनेवाली एक गृहिणी के लिए कहते हैं कि **ध्रुवा असि**=तू अपने जीवन में ध्रुव बनती है, मर्यादा से कभी विचलित नहीं होती। २. **धरुणा**=प्रभु की भाँति ही तू घर के सभी सभ्यों का धारण करनेवाली बनती है। ३. **इतः**=इन धारणात्मक कर्मों से **प्रथमं जज्ञे**=सर्वोत्तम विकास को प्राप्त करती है (progress of the first rank)। वस्तुतः जीवन का इससे अधिक विकास हो ही क्या सकता है कि हम प्रभु की पद-पद्धति पर प्रयाण करनेवाले बनें। ४. **एभ्यः योनिभ्यः**=इन जन्म-मरण की कारणभूत योनियों से **अधि जातवेदाः**=वे प्रभु ऊपर स्थित हैं, वे प्रभु अजर व अमर हैं। एक कर्मयोगी भी उस प्रभु की महिमा को जानता हुआ पुण्यकर्मा बनकर, जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठ जाता है। एक गृहिणी भी इसी प्रकार धारणात्मक कर्मों में लगी हुई उस प्रभु को पाती है। ५. पति के लिए कहते हैं कि **सः**=वह **गायत्र्या**=(गयाः प्राणाः तान् तत्रे) प्राणशक्ति की रक्षा के साथ, **त्रिष्टुभा**='काम-क्रोध-लोभ' इन तीनों के रोकने के साथ तथा **अनुष्टुभा**=प्रतिक्षण प्रभु का स्मरण करने के साथ **देवेभ्यः**=विद्वानों से **हव्यम्**=ग्रहणीय ज्ञान को **वहतु**=धारण करे और इस प्रकार **प्रजानन्**=प्रकृष्ट ज्ञानवाला हो। **देवेभ्यः हव्यं वहतु**=इस वाक्य का यह अर्थ भी हो सकता है कि दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए सदा हव्य को धारण करे, अर्थात् पवित्र पदार्थों को ही खाये और साथ ही दानपूर्वक बचे हुए को ही खानेवाला बने। यह वह मार्ग है जिसपर चलकर जीव भी प्रभु की भाँति इन योनियों से ऊपर उठ जाता है, अर्थात् जन्म-मरण के चक्र में नहीं फँसता।

भावार्थ—पत्नी ध्रुवा व धरुणा हो। पति हव्य का सेवन करनेवाला हो।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—जातवेदाः। **छन्दः**—निचृद्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

सम्राट्-स्वराट्

इषे राये रमस्व सहसे द्युम्नऽऊर्जेऽअपत्याय।
सम्राडसि स्वराडसि सारस्वतौ त्वोत्सौ प्रावताम्॥३५॥

१. इस संसार के अन्दर पति-पत्नी क्या-क्या करें? इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि **इषे**=अन्न के लिए **राये**=धन के लिए **रमस्व**=तू क्रीड़ा कर, प्रसन्नतापूर्वक यत्न कर। वस्तुतः गृहस्थ का सारा खेल अन्न व धन जुटाने से ही प्रारम्भ होता है। अन्न और धन के बिना गृहस्थ नहीं चल सकता। २. **सहसे**=सहनशक्ति के लिए, सहनशक्ति देनेवाले बल के लिए **द्युम्ने**=यश के लिए **रमस्व**=यत्न कर। गृहस्थ में मनुष्य को बहुतों से मिलकर चलना है। कितनी ही बातों को सहन करना है। सहनशील व्यक्ति ही यशस्वी बन पाता है। असहनशील तो सभी को अपना शत्रु बना लेता है। ३. **ऊर्जे**=बल और प्राणशक्ति के लिए **अपत्याय**=वंश को विच्छिन्न न होने देनेवाली (न+पत्) उत्तम सन्तान के लिए **रमस्व**=रमण कर, यत्नशील हो। बल व प्राणशक्ति-सम्पन्न व्यक्ति ही स्वस्थ सन्तान को जन्म देता है, ४. परन्तु उल्लिखित सब बातों के लिए तू **सम्राट् असि**=सम्राट् बना है, शासक बना है। **स्वराट् असि**=अपना ही शासक बना है, किसी और का नहीं। स्वयं इन्द्रियों को वश में करनेवाला ही उत्तम सन्तान को जन्म देता है। ५. अपने पर शासन करने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य मन व इन्द्रियों को वश में करे, अतः कहते हैं कि **सारस्वतौ उत्सौ**=(मनो वै सरस्वान् वाक् सरस्वती एतौ सारस्वतौ उत्सौ—श० ७।५।१।३१) मन और वाणी—ये दोनों **त्वा प्रावताम्**=तेरी रक्षा करें, अर्थात् ये दोनों तुझे विषयप्रवण न होने दें। इन दोनों को ही

तू भक्ति व ज्ञान में लगानेवाला बन। यह 'स्वराट्' बनने का मार्ग है। मन भक्ति में लगा हो, वाणी ज्ञान-प्राप्ति में। बस, फिर विषय-पङ्क में मग्न होने की आशंका नहीं। तैत्तिरीय में 'ऋक्साम वै सारस्वतौ उत्सौ' कहा है—विज्ञान व उपासना ही 'सारस्वत उत्स' हैं। मन का उपासना से सम्बन्ध है, वाणी का ज्ञान से, अतः भाव में कोई अन्तर नहीं है। मन और वाणी को उपासना व ज्ञान में लगाना ही अपना रक्षण है। ऐसा करने से ही मनुष्य 'गोतम' प्रशस्तेन्द्रिय बना रहता है।

भावार्थ—हम स्वराट् बनें। मन और वाणी को उपासना व ज्ञान में लगाएँ।

ऋषिः—भारद्वाजः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

अश्वासः-मन्यवे

अग्ने॑ यु॒क्ष्वा हि ये तवाश्वा॑सो देव सा॒धवः॑। अरं॒ वह॑न्ति म॒न्यवे॑॥३६॥

१. गत मन्त्र के अनुसार मनुष्य 'स्वराट्'=जितेन्द्रिय बनकर शक्तिशाली बनता है और प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'भारद्वाज' होता है—अपने में शक्ति को भरनेवाला। यह प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **अग्ने**=हमें आगे ले-चलनेवाले प्रभो! **देव**=हे दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभो! आप कृपा करके हमारे इस शरीररूप रथ में **हि**=निश्चय से **युक्ष्व**=उन घोड़ों—इन्द्रियरूप अश्वों को—जोतिए। **ये तव अश्वासः**=जो आपके घोड़े—अश्व हैं, (अश् व्याप्तौ), निरन्तर यज्ञादि उत्तम कर्मों में व्याप्त होनेवाले हैं। २. **साधवः** (साध्नुवन्ति परकार्याणि)=जो सदा उत्कृष्ट कार्यों को अथवा परार्थ को सिद्ध करनेवाले हैं। जो स्वार्थ के कारण दूसरों के हित का ध्वंस नहीं करते। ३. **अरम्**=(अलं—अत्यर्थम्) जो खूब ही **वहन्ति**=शरीररूप रथ को ले-चलते हैं, जो थकते नहीं। ४. और इस प्रकार निरन्तर अपने-अपने कार्य में लगे हुए **मन्यवे**=(दीप्तये—उ०) ज्ञान की दीप्ति के लिए प्रयत्नशील होते हैं अथवा (यज्ञाय—म०) यज्ञों को सिद्ध करनेवाले होते हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान प्राप्त कराएँ और कर्मेन्द्रियाँ यज्ञादि उत्तम कार्यों में लगी रहें। ५. निरन्तर कर्मों में लगी हुई ये इन्द्रियाँ उसे शक्तिशाली बनाती हैं और ज्ञानेन्द्रियाँ उसके अन्दर ज्ञान का वर्धन करती हैं। 'वाज' के शक्ति व ज्ञान दोनों ही अर्थ हैं, अतः ये इन्द्रियाँ इसे शक्ति व ज्ञान-सम्पन्न करके सचमुच 'भारद्वाज' बना देती हैं।

भावार्थ—हमारी इन्द्रियाँ कर्मों में व्याप्त होनेवाली, परहित को सिद्ध करनेवाली, अनथक कार्य करनेवाली तथा हमें ज्ञान-दीप्ति व यज्ञादि उत्तम कर्मों को प्राप्त करानेवाली हों।

ऋषिः—विरूपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

होता-पूर्व्यः

यु॒क्ष्वा हि दे॑व॒हूत॑माँ२॥ऽअश्वाँ२॥ऽअग्ने र॒थीरि॑व।
नि होता॑ पू॒र्व्यः स॑दः॥३७॥

१. गत मन्त्र की प्रार्थना के अनुसार शरीर में उत्तम इन्द्रियाश्वों को जोतकर यह 'भारद्वाज' बड़े विशिष्ट रूपवाला बन जाता है—'विरूप' हो जाता है। इस विरूप से प्रभु कहते हैं कि हे **अग्ने**=अपनी अग्रगति को सिद्ध करनेवाले जीव! तू **हि**=निश्चय से **अश्वान्** **युक्ष्व**=इस शरीर में उन घोड़ों को जोत जो सदा उत्तम कर्मों में व्याप्त होनेवाले हैं तथा **देवहूतमान्**=तुझमें अतिशयेन दिव्य गुणों का आह्वान करनेवाले हैं, अर्थात् तुझे दिव्य गुणों

से भर देनेवाले हैं। २. **रथीः इव**=तू एक उत्तम रथ-स्वामी के समान बन (रथोऽस्यास्तीति-ईर=मत्वर्थे)। जैसे एक उत्तम सारथि घोड़ों को न आलसी होने देता है और न ही उन्हें मार्ग-भ्रष्ट होने देता है, उन्हें लक्ष्य स्थान की ओर अग्रसर करता हुआ लक्ष्य पर पहुँचकर ही विश्राम लेता है, इसी प्रकार तू भी इन इन्द्रियाश्वों को न अकर्मण्य होने दे और न विषयासक्त होने दे। इनके द्वारा निरन्तर उन्नति करता हुआ तू भी मोक्ष तक पहुँच। ३. **होता**=इस संसार में दानपूर्वक अदन करनेवाला बन—यज्ञ-शेष का सेवन करनेवाला बन, अथवा अपने में ज्ञान की आहुति देनेवाला बन। ४. **पूर्व्यः**=तू सर्वप्रथम स्थान में पहुँचा हुआ होकर ही **निषदः**=नम्रता से आसीन हो। जब तक तू मोक्षरूप परम स्थान में न पहुँच जाए तब तक तेरा 'यज्ञों को करना—ज्ञान की दीप्ति को अपने में भरना' रूप पुरुषार्थ समाप्त न हो, तू बीच में ही बैठ न जाए। तू सबसे अग्र स्थान में पहुँचकर ही दम ले।

भावार्थ—विशिष्ट रूपवाला वही बनता है जोकि १. अपने में दिव्यता का अवतरण करता है। २. दानपूर्वक अदन करता है। ३. लक्ष्य स्थान पर पहुँचकर ही विश्रान्त होता है। ४. इन्द्रियाश्वों को पूर्णतया वश में करके उन्हें मार्ग-भ्रष्ट नहीं होने देता और आगे-आगे बढ़ता चलता है।

ऋषिः—विरूपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

हिरण्यय वेतस

सम्यक् स्त्रवन्ति सरितो न धेनाऽअन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः।
घृतस्य धाराऽअभिचाकशीमि हिरण्ययो वेतसो मध्येऽअग्नेः॥३८॥

१. गत मन्त्र के अनुसार जब एक व्यक्ति इन्द्रियाश्वों को उत्तम सारथि की भाँति पूर्णतया वश में करके चलता है तब उसका ज्ञान इस प्रकार बढ़ता है कि उसमें **धेनाः**=(वाक्—नि० १।११) ज्ञान की वाणियाँ **सरितः न**=नदियों की भाँति **सम्यक् स्त्रवन्ति**=उत्तमता से प्रवाहित होती हैं। ये ज्ञान की वाणियाँ **अन्तः**=उसके अन्दर **हृदा**=हृदय में निवास करनेवाली श्रद्धा से तथा **मनसा**=मननशक्ति से, ज्ञानवर्धक तर्क-वितर्क से **पूयमानाः**=पवित्र की जाती हैं, अर्थात् एक जितेन्द्रिय पुरुष ज्ञान की वाणियों का श्रद्धापूर्वक अध्ययन करता है और अपने उस ज्ञान को तर्क-वितर्क से सदा शुद्ध बनाये रखता है। तर्क उसके ज्ञान में किसी मलिनता को नहीं आने देता। श्रद्धा से उसका ज्ञानांकुर सिक्त होकर बढ़ता है तो तर्क से उसके ज्ञान-वृक्ष के पत्तों में कीड़े नहीं लगते। २. अब यह 'विरूप'=प्रत्येक पदार्थ का विशिष्ट प्रकार से निरूपण करनेवाला कहता है कि मैं अपने अन्दर **घृतस्य**=मलिनता का क्षरण करनेवाली ज्ञान-दीप्तियों की **धाराः**=वाणियों को (धारा=वाक्—नि०) अथवा धाराओं को **अभिचाकशीमि**=देखता हूँ। इस प्रकार इस विरूप को अपने अन्दर प्रकाश दिखता है। ३. **अग्नेः**=प्रकाशमय अन्तःकरणवाले, अग्रेणी पुरुष के **मध्ये**=हृदयाकाश में **हिरण्ययः**=वह ज्योतिर्मय **वेतसः**=सब बुराइयों को दूर फेंकनेवाला (वी=क्षेपण) परमात्मा निवास करता है। वस्तुतः ज्ञान की चरमसीमा ही तो प्रभु हैं—अतः ज्ञान को निरन्तर बढ़ानेवाला पुरुष प्रभु की ओर बढ़ रहा है और अन्त में यह प्रभु को पा लेता है। हृदयासीन प्रभु का यह दर्शन करता है।

भावार्थ—हममें ज्ञान की वाणियाँ बहें, अर्थात् हम निरन्तर स्वाध्याय करें। श्रद्धा व तर्क से ज्ञान को निर्मल करें। जब इस ज्ञान के प्रकाश को हम अपने में देखेंगे तब हृदय

में उस प्रभु का दर्शन करेंगे जो ज्योतिर्मय हैं और सब बुराइयों को परे फेंक देते हैं।

ऋषिः—विरूपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

वाजी=गति देनेवाला

ऋचे त्वा॑ रु॒चे त्वा॑ भा॒से त्वा॒ ज्योति॑षे त्वा।
अभू॑दि॒दं विश्व॑स्य॒ भुव॑नस्य॒ वाजि॑नम॒ग्नेर्वै॑श्वान॒रस्य॑ च॥३९॥

१. गत मन्त्र के अनुसार हृदय में उस 'हिरण्यगर्भ' प्रभु का दर्शन करनेवाला 'विरूप' कहता है कि **ऋचे त्वा**=मैं स्तुति (ऋच् स्तुतौ) के लिए तुझे प्राप्त होता हूँ। आपका दर्शन मुझे स्तुतिमय जीवनवाला कर देता है—मुझे किसी की निन्दा करना व सुनना रुचिकर ही नहीं रहता। २. **रुचे त्वा**=उत्तम रुचि के लिए आपको प्राप्त होता हूँ। मेरी इच्छाएँ व मानस झुकाव उत्तम हों, इसके लिए मैं आपके समीप आता हूँ। ३. **भासे त्वा**=पूर्ण स्वस्थ व्यक्ति की आँख में प्रकट होनेवाली चमक (दीप्ति) के लिए मैं आपको प्राप्त होता हूँ। आपका दर्शन मुझे पूर्ण स्वस्थ करता है और स्वास्थ्य की झलक मेरी आँख की दीप्ति में दिखती है। ४. **ज्योतिषे त्वा**=आपकी वाणी को सुनते हुए मैं ज्ञान की ज्योति प्राप्त करने के लिए आपको प्राप्त करता हूँ। आपकी उपासना मेरे श्रोत्रों को आपकी वाणी को सुनने के योग्य बनाती है और इस प्रकार मेरा ज्ञान निरन्तर बढ़ता है। ५. इस ज्ञान के बढ़ने से मैं देख पाता हूँ कि **इदम्**=यह ब्रह्म ही **विश्वस्य भुवनस्य**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का **वाजिनं अभूत्**=प्रेरक बल है, गति देनेवाली शक्ति है (वाज=बल, वाजिनम्=बलवाला) सारा ब्रह्माण्ड इसी से गति दिया जा रहा है 'भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया'=सब भूतों को प्रभु ही गति दे रहे हैं। ५. **च**=ब्रह्माण्ड को तो वे गति दे ही रहे हैं, इस प्राणियों के देह में स्थित **वैश्वानरस्य अग्नेः**=सब नरों की हितकारी जाठराग्नि को भी वे प्रभु ही गति दे रहे हैं। सब ब्रह्माण्डों व पिण्डों का सञ्चालन प्रभु ही कर रहे हैं।

भावार्थ—उस प्रभु की प्राप्ति से हमारी वाणी स्तुति ही करती है, निन्दा नहीं। हमारे मनों की रुचियाँ उत्तम ही होती हैं, हीन नहीं। हमारी आँख स्वास्थ्य की दीप्ति से चमकती हैं और श्रोत्र ज्ञान-श्रवण से चमकते हैं। अन्ततः इस साक्षात् प्रभु को ब्रह्माण्ड का सञ्चालन करते हुए देखते हैं और अपने शरीरों में वैश्वानररूप से अन्न-पाचन भी उसी से होता देखते हैं।

ऋषिः—विरूपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदुष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

अग्नि+रुक्म

अ॒ग्निर्ज्योति॑षा॒ ज्योति॑ष्मान् रु॒क्मो वर्च॑सा॒ वर्च॑स्वान्।
स॒ह॒स्र॒दाऽअ॑सि स॒हस्रा॑य त्वा॥४०॥

१. गत मन्त्र के अनुसार ज्योति प्राप्त करनेवाला व्यक्ति उन्नति-पथ पर निरन्तर आगे बढ़ता है, अतः कहते हैं कि **अग्निः**=यह प्रकाशमय जीवनवाला व निरन्तर आगे बढ़नेवाला व्यक्ति **ज्योतिषा ज्योतिष्मान्**=ज्ञान की ज्योति से उत्तम ज्योतिवाला होता है और साथ ही **रुक्मः**=यह स्वास्थ्य की दीप्ति से चमकनेवाला **वर्चसः**=शरीर में होनेवाली वर्चस् शक्ति से—रोगकृमियों का संहार करनेवाली शक्ति से **वर्चस्वान्**=वर्चस्वी बनता है। (प्रभा=ज्योतिः, शरीरगतकान्तिः=वर्चः)। संक्षेप में यह ब्रह्म और क्षत्र दोनों का विकास करता है। इसकी बुद्धि ज्ञान से दीप्त है, तो शरीर स्वास्थ्य की दीप्ति से। २. ज्ञानी व स्वस्थ बनकर यह

संसार में धनार्जन करनेवाला होता है, परन्तु उस धन को यह जोड़ता नहीं रहता। **सहस्रदाः असि**=सहस्रसंख्यक धनों का देनेवाला होता है **'शतहस्त समाहर, सहस्रहस्त संकिर'**=यह सैकड़ों हाथों से कमाता है, तो हज़ारों हाथों से देता भी है। ३. **त्वा**=इस देनेवाले तुझे **सहस्राय**=(स+हस्) मैं सदा आनन्दमयता प्रदान करता हूँ। वस्तुतः देने में ही आनन्द है। प्रभु पूर्णरूप से दाता है, अतः वे पूर्ण आनन्दवाले हैं। जीव भी जितने अंश में दान करनेवाला होता है, उतने ही अनुपात में आनन्द का अनुभव करता है।

भावार्थ—हम अग्नि बनकर ज्ञान-ज्योति से चमकें और वर्चस्वी बनकर रुक्म (तेजस्वी) हों। खूब कमाएँ, खूब दें, जिससे हमारा जीवन आनन्दमय हो।

ऋषिः—विरूपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

क्रोध व अभिमान का त्याग

आदित्यं गर्भं पयसा समङ्धि सहस्रस्य प्रतिमां विश्वरूपम्।
परिवृङ्धि हरसा माभि मंᳩस्थाः शतायुषं कृणुहि चीयमानः ॥४१॥

१. गत मन्त्र की समाप्ति इस बात पर थी कि 'खूब दें'। दे वही पाता है जो लोभ से ऊपर उठता है। लोभ से ऊपर उठकर ही मनुष्य हृदय को पवित्र बना पाता है। लोभ से शरीर का स्वास्थ्य नष्ट होता है। लोभ से बुद्धि भी नष्ट हो जाती है। इस प्रकार लोभ को छोड़ने से 'शरीर, मन व बुद्धि' सभी की उन्नति होती है। **पयसा**=इस आप्यायन-वर्धन-के द्वारा **आदित्यं गर्भम्**=उस ज्योतिर्मय गर्भवाले 'हिरण्यगर्भ' प्रभु को **समङ्धि**=(समञ्जयसि) तू अपने में व्यक्त करता है, तुझे प्रभु का दर्शन होता है। २. उस प्रभु का जो **सहस्रस्य प्रतिमाम्**=आनन्दमयता की मूर्त्ति हैं अथवा शतशः धनों के दाता हैं (बहुधनप्रद-म०) और **विश्वरूपम्**=सब रूपों के प्रकाशक हैं, सम्पूर्ण ज्ञानों का निरूपण करनेवाले है, अर्थात् उस प्रभु के दर्शन से (क) जीवन आनन्दमय होगा। (ख) सब आवश्यक धन प्राप्त होंगे तथा (ग) हमारा ज्ञान बढ़ेगा। ३. उस प्रभु के दर्शन के लिए तू (क) **हरसा**=मानस स्वास्थ्य का हरण करनेवाले क्रोध से **परिवृङ्धि**=अपने को बचा (परिवर्जय), अर्थात् सदा क्रोध से बच। (ख) **माभि संस्थाः**=अभिमान मत कर। अभिमान सारी उन्नति को समाप्त करके हमें प्रभु से दूर ले जाता है। प्रभु का सान्निध्य अहंभाव को समाप्त करनेवाला है। (ग) **चीयमानः**=स्वास्थ्य, सत्य व ज्ञान की वृद्धि करता हुआ तू **शतायुषम्**=पूर्ण आयुष्य का, शत वर्ष के जीवन का **कृणुहि**=सम्पादन कर। सौ वर्ष तक नीरोगता से जीनेवाला बन।

भावार्थ—प्रभु की भक्ति शरीर, मन व बुद्धि के आप्यायन से होती है। प्रभु-प्राप्ति के लिए साधना यह है कि हम क्रोध छोड़ें, अभिमान न करें, और उन्नति करते हुए सौ वर्ष तक जीनेवाले बनें। प्रभु-प्राप्ति होने पर हमें आनन्द प्राप्त हो। इससे अनायास योगक्षेम चलेगा, ज्ञान बढ़ेगा।

ऋषिः—विरूपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

मा हिंसीः

वातस्य जूतिं वरुणस्य नाभिमश्वं जज्ञानᳩ सरिरस्य मध्ये।
शिशुं नदीनाᳩ हरिमद्रिबुध्नमग्ने मा हिᳩसीः परमे व्योमन् ॥४२॥

१. विरूप के लिए कहते हैं कि अपनी इस विरूपता को स्थिर रखने के लिए **मा**

हिंसीः=निम्नलिखित वस्तुओं को नष्ट मत होने दे—(क) **वातस्य**=वायु की **जूतिम्**=(जूतिर्गतिः, वायुवत् शीघ्रगतिम्—म०) गति को अर्थात् वायु की भाँति शीघ्रगति को। वायु की अविच्छिन्न गति के समान तेरे जीवन में सदा क्रिया हो, तू कभी अकर्मण्य न बने। (ख) **वरुणस्य नाभिम्**=द्वेष-निवारण की देवता के बन्धन (नह बन्धने) को—व्रत को। तू अपने को इस दृढ़ बन्धन में बाँध कि तूने कभी किसी से द्वेष नहीं करना। शक्ति की अल्पता के कारण हम सबका भला करने में समर्थ न हो सकेंगे, परन्तु 'किसी से द्वेष न करना, किसी के अहित की बात को मन में नहीं आने देना' इस व्रत का पालन तो असम्भव नहीं है। (ग) **सरिरस्य**=(सृ गतौ) गतिशीलता के तथा (सरिरं=जलं, 'सरस्वती'=ज्ञान-जल के प्रवाहवाली) ज्ञान-जल के **मध्ये**=बीच में **जज्ञानम्**=विकसित होते हुए **अश्वम्**=इन्द्रिय-समूह को। तू अपनी कर्मेन्द्रियों को सदा क्रिया में व्याप्त रख तथा ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान-जल का ग्रहण करनेवाला बन। अपने-अपने कार्य में लगी हुई इन्द्रियाँ ही सबल बनती हैं। सबल बनने के साथ वे विषयों की ओर झुकाववाली भी नहीं होतीं। २. विरूप के लिए अन्तिम बात यह कहते हैं कि **अग्ने**=हे अग्रगति के साधक विरूप! तू **नदीनाम्**=स्तोताओं के **शिशुम्**=सन्तान, उनके हृदयों में प्रकट होने के कारण उनके सन्तानतुल्य (हृदयात् अधिजायसे) अथवा (शो तनूकरणे) स्तोताओं की बुद्धि तीव्र करनेवाले **हरिम्**=बुद्धि देकर दुःखों का हरण करनेवाले **अद्रिबुध्नम्**=(अ+दृ) न विदारण के योग्य अथवा न नष्ट होनेवाले सबके आधारभूत **परमे व्योमन्**=तेरे उत्कृष्ट हृदयाकाश में स्थित प्रभु को **मा हिंसीः**=मत नष्ट कर, आँख से ओझल मत होने दे (नश अदर्शने)। अपने हृदय में सदा इस प्रभु का दर्शन कर और वायुवत् कार्यों में लगा रह।

भावार्थ—१. विरूप—विशिष्ट रूपवाले के लिए क्रिया इस प्रकार स्वाभाविक हो जाए जैसे वायु के लिए। २. वह किसी से द्वेष न करे। ३. इन्द्रियों को गति व ज्ञान में रखकर विकसित शक्तिवाला हो और ४. हृदयदेश में स्थित उस प्रभु को कभी भूले नहीं जो स्तोताओं के ज्ञान को बढ़ाते हैं, उनके कष्टों का निवारण करते हैं, और उनके न हिंसित होने का आधार बनते हैं।

ऋषिः—विरूपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**— निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

मा हिंसीः

अजस्त्रमिन्दुमरुषं भुरण्युमग्निमीडे पूर्वचित्तिं नमोभिः।
स पर्वभिर्ऋतुशः कल्पमानो गां मा हिꣳसीरदितिं विराजम्॥४३॥

१. पिछले मन्त्र की प्रेरणा को सुनकर 'विरूप' कहता है कि मैं **अग्निम्**=अग्रेणी प्रभु की **नमोभिः**=नमनों के द्वारा, अभिमान को छोड़कर नम्रता धारण के द्वारा **ईडे**=स्तुति करता हूँ। जो प्रभु २. **अजस्त्रम्**=(अनुपक्षीणम्—द०) कभी क्षीण नहीं होते। मैं भी तो इस अनुपक्षीण प्रभु का स्तवन करता हुआ अक्षीण बन पाऊँगा। ३. **इन्दुम्**=(इन्द to be powerful) जो प्रभु सर्वशक्तिमान् हैं अथवा जो प्रभु परमैश्वर्यवाले हैं। ४. **अरुषम्**=जो प्रभु (अ-रुष्) क्रोधशून्य हैं। वस्तुतः अनुपक्षीणता व शक्तिमत्ता का रहस्य है ही अक्रोध में। क्रोध से ऊपर उठकर मैं भी क्षय व निर्बलता से ऊपर उठता हूँ। ५. **भुरण्युम्**=सबका भरण करनेवाले हैं। वे प्रभु सर्वशक्तिमत्ता व परमैश्वर्य से सभी का भरण कर रहे हैं, मैं भी यथाशक्ति भरण करनेवाला बनूँ। ६. **पूर्वचित्तिम्**=सृष्टि के प्रारम्भ में अग्नि आदि

ऋषियों को वेदज्ञान देनेवाले प्रभु को में उपासित करता हूँ। सच्चा उपासक बनकर मैं भी उस चिति व ज्ञान का अधिकारी बनता हूँ। ७. 'विरूप' के इस संकल्प को सुनकर प्रभु कहते हैं कि **सः**=वह तू **पर्वभिः**=पर्वों से, पूर्णिमा व अमावास्या से तथा **ऋतुशः**=ऋतु-ऋतु से **कल्पमानः**=अपने को शक्तिशाली बनाता हुआ **गाम्**=वेदवाणी को **अदितिम्**=अखण्डन व स्वास्थ्य को **विराजम्**=विशिष्ट शासन को **मा हिंसीः**=मत नष्ट होने दे, अर्थात् 'पूर्णिमा' के दिन 'मुझे पूर्ण बनना है—प्राणादि सोलह-की-सोलह कालाओं को अपने में संगृहीत करनेवाला होना है' इस भावना को दृढ़ कर। अमावस के दिन 'साथ रहने की भावना—मिलकर चलने की वृत्ति—को दृढ़ कर। ग्रीष्म में पसीने के साथ सब मलिनता को दूर करके पवित्र बनने की भावनावाला हो। वर्षा में सबपर सुखों की वृष्टि करने की भावनावाला हो।' सब मलों को शीर्ण करना सीख! हेमन्त तुझे गति व वृद्धि की प्रेरणा दे रहा है और शिशिर (शश प्लुतगतौ) तुझे स्फूर्ति से क्रिया करनेवाला बनाये। इस प्रकार पर्वों व ऋतुओं से प्रेरणा लेता हुआ तू अपने को शक्तिशाली बना। अपने जीवन में कभी वेदज्ञान की वाणियों को नष्ट न होने दे। तेरा स्वाध्याय सतत चले यही तेरा परम तप हो। ज्ञान के द्वारा विषयासक्ति को दूर करके तू अपने स्वास्थ्य को स्थिर रख। तेरा स्वास्थ्य खण्डित न हो (health का break down न हो)। इस स्वास्थ्य को—शारीरिक ही नहीं अपितु मानस स्वास्थ्य को भी नष्ट न होने देने के लिए तू विराजम्—अपनी इन्द्रियों व मन का उत्तम शासन करनेवाला बन। इस प्रकार ज्ञान (गौः) तेरे मस्तिष्क को, अदिति तेरे शरीर को तथा विराज तेरे मन को दीप्त करनेवाले होंगे और यही तेरा सच्चा स्तवन भी होगा।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण करें और ज्ञान, स्वास्थ्य व मानस शासन को नष्ट न होने दें।

ऋषिः—विरूपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

असुरस्य माया

वरू॒त्रीं त्वष्टु॒र्वरु॑णस्य॒ नाभि॒मविं॑ जज्ञा॒नाᳫं रज॑सः॒ पर॑स्मात्।
म॒हीᳫं सा॑ह॒स्रीमसु॑रस्य मा॒याम॑ग्ने॒ मा हि॑ᳫंसीः पर॒मे व्यो॑मन्॥४४॥

१. हे विरूप! गत मन्त्र के अनुसार स्तवन करनेवाला बनकर विशिष्टरूपता को सिद्ध करनेवाला और **अग्ने**=आगे बढ़नेवाला! तू **परमे व्योमन्**=इस हृदयाकाश में प्रभु के स्थापन के कारण उत्पन्न हुई **असुरस्य मायाम्**=प्राणशक्ति देनेवाले (असून् राति) प्रभु की प्रज्ञा को, जहाँ प्रभु हैं वहाँ प्रभु का प्रकाश तो होगा ही, **मा हिंसीः**=नष्ट मत कर। अपने हृदय को उस प्राणों के प्राण प्रभु की प्रज्ञा से पूर्ण रख जो प्रज्ञा २. **त्वष्टुः वरुणस्य**=संसार के निर्माता प्रभु की **वरूत्रीम्**=वरण करनेवाली है। जो प्रज्ञा प्रभु को प्राप्त करानेवाली है। ३. जो प्रज्ञा **वरुणस्य नाभिम्**=श्रेष्ठता का केन्द्र है। प्रज्ञा ही मनुष्य को द्वेषादि से ऊपर उठाकर उत्तम जीवनवाला बनाती है। **अविम्**=जो रक्षण करनेवाली है तथा जो प्रज्ञा **रजसः परस्मात्**=रजोगुण से पर-देश में **जज्ञानाम्**=प्रादुर्भूत होती है, अर्थात् जो प्रज्ञा रजोगुण से ऊपर उठने पर प्राप्त होती है। ४. **महीम्**=यह प्रज्ञा तुझे 'मह पूजयाम्' पूजा की मनोवृत्तिवाला बनाती है। ५. **साहस्रीम्**=(सहस्रोपकारक्षमम्) यह प्रज्ञा तुझे हज़ारों के उपकार में सक्षम करती है। तू अधिक-से-अधिक कल्याण करने में समर्थ होता है।

भावार्थ—हम हृदयाकाश में प्रकट होनेवाले प्रभु के प्रकाश को नष्ट न होने दें,

जिससे हम द्वेष व दुर्गुणों से ऊपर उठकर सहस्रशः प्राणियों का कल्याण करनेवाले बनें।

ऋषिः—विरूपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

प्रभु का प्रिय कौन?

योऽअग्निर॒ग्नेरध्यजा॑यत॒ शोका॑त्पृथि॒व्याऽउ॒त वा॑ दि॒वस्परि॑।
येन॑ प्र॒जा वि॒श्वक॑र्मा ज॒जान॒ तम॑ग्ने॒ हेडः॒ परि॑ ते वृणक्तु॥४५॥

१. गत मन्त्र के अनुसार प्रभु की प्रज्ञा को प्राप्त करके हम अपने जीवनों को ऐसा बनाते हैं कि हमपर प्रभु का कोप नहीं होता, प्रत्युत हम प्रभु के प्रिय बनते हैं। हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो ! **तम्**=उस व्यक्ति को **ते हेडः**=तेरा क्रोध **परिवृणक्तु**=(परिवर्जयतु—उ०) छोड़ दे। वह व्यक्ति आपके कोप का पात्र न हो। कौन? २. **यः**=जो **अग्नेः**=दक्षिणाग्निरूप माता से, गार्हपत्याग्निरूप पिता से, आहवनीयाग्नि आचार्य से **अग्निः**=उन्नत जीवनवाला, अपने को अग्र स्थान में प्राप्त करानेवाला बनता है। वह **'मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद'** उत्तम माता-पिता व आचार्यवाला होकर ज्ञान के प्रकाश से चमकता है। ३. **यः**=जो **पृथिव्याः**=(पृथिवी शरीरम्) इस शरीर के **शोकात्**=(शुक् दीप्तौ) स्वास्थ्य की दीप्ति से **अध्यजायत**=प्रादुर्भूत होता है, प्रकट होता है। यह शरीर प्रभु ने 'ऋषियों के आश्रम' (सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे) व 'देवों के मन्दिर' (सर्वा ह्यस्मिन्देवता गावो गोष्ठ इवासते) के रूप में बनाया है। इसे स्वस्थ व निर्मल रखना हमारा मौलिक कर्त्तव्य है। ४. **यः**=जो **उत वा**=अपिच=**दिवः परि**=(द्युलोकोपरि स्थितात्—मा०) मस्तिष्करूप द्युलोक में स्थित **शोकात्**=ज्ञान की दीप्ति से **अध्यजायत**=प्रकट होता है। संक्षेप में जो स्वस्थ शरीरवाला तथा दीप्त मस्तिष्कवाला है, वही प्रभु का प्रिय होता है। यही आदर्श पुरुष है। इसी ने क्षत्र व ब्रह्म का अपने में समन्वय किया है। ५. प्रभु का प्रिय वह बनता है **येन**=जिससे **विश्वकर्मा**=सारे संसार को बनानेवाला प्रभु **प्रजाः**=उत्तम सन्तानों को **जजान**=उत्पन्न करता है, अर्थात् जो गृहस्थ बनकर उत्तम सन्तान को जन्म देता है।

भावार्थ—प्रभु का प्रिय वह होता है जो १. उत्तम माता, पिता व आचार्य के सम्पर्क में आकर ज्ञानी बनता है। २. शरीर में स्वास्थ्य की कान्तिवाला होता है। ३. मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि से दीप्त होता है तथा ४. उत्तम सन्तान का निर्माण करता है और उस सन्तान को प्रभु की ही समझता है।

ऋषिः—विरूपः। **देवता**—सूर्यः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

वह प्रभु

चि॒त्रं दे॒वाना॒मुद॑गा॒दनी॑कं॒ चक्षु॑र्मि॒त्रस्य॒ वरु॑णस्या॒ग्नेः।
आ प्रा॒ द्यावा॑पृथि॒वीऽअ॒न्तरि॑क्ष॒ꣳसूर्य॑ऽआ॒त्मा जग॑तस्त॒स्थुष॑श्च॥४६॥

१. गत मन्त्र में प्रभु का प्रिय बनने का उल्लेख था। यदि हम प्रभु के प्रिय बनते हैं तो प्रभु का तेज हममें भी प्रकट होता है। वे प्रभु सब देवों को देवत्व व द्युति प्राप्त कराते हैं। **देवानाम्**=सब देवों का **चित्रम्**=अद्भुत—पूजनीय **अनीकम्**=तेज (brilliance, splendour) **उदगात्**=उदय हुआ है। २. वे प्रभु ही **मित्रस्य**=दिवसाभिमानी इस दिन के देवता सूर्य के **वरुणस्य**=रात्र्यभिमानी—रात्रि के देवता चन्द्र के तथा **अग्नेः**=इस भौतिक पृथिवीस्थ अग्नि के **चक्षुः**=प्रकाशक हैं। सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि को प्रकाश देनेवाले प्रभु ही हैं। ३.

उस प्रभु ने **द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम्**=द्युलोक, पृथिवीलोक तथा अन्तरिक्षलोक को **आप्राः**=समन्तात् पूर्ण किया हुआ है, वे प्रभु इनमें सर्वत्र व्याप्त हैं। उन्हीं की व्याप्ति से प्रत्येक पदार्थ विभूति से दीप्त हो रहा है। ४. **सूर्यः**=वे प्रभु ही सारे ब्रह्माण्ड के सूर्य हैं, प्रकाशक हैं अथवा गति देनेवाले हैं। ५. वे **जगतःतस्थुषः च**=जङ्गम व स्थावर जगत् के **आत्मा**=आत्मा हैं। इन सबमें स्थित होकर इनका नियमन कर रहे हैं।

भावार्थ—हम सब देवों के तेज प्रभु का सर्वत्र दर्शन करें और उसी को अन्तर्यामी जान अपने में 'पौरुष' के रूप में उस प्रभु को देखें।

ऋषिः—विरूपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराड्ब्राह्मीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।।

व्यापक दृष्टिकोण

इमं मा हिꣳसीर्द्विपादं पशुꣳसहस्राक्षो मेधाय चीयमानः। मयुं पशुं मेधमग्ने जुषस्व तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद। मयुं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥४७॥

१. गत मन्त्र के अनुसार सब जंगम स्थावर के अन्दर प्रभु व्याप्त हो रहे हैं। सबमें प्रभु की व्याप्ति को देखनेवाला कभी किसी की हिंसा नहीं कर सकता, अतः प्रभु कहते हैं कि २. **इमम्**=इस **द्विपादं पशुम्**=दो पाँववाले पुरुषरूप पशु को **मा हिंसीः**=मत हिंसित कर। सभी मनुष्यों का तू भला चाहनेवाला बन, औरों के अहित से तेरा हित सिद्ध होनेवाला नहीं। ३. **सहस्राक्षः**=तू हज़ारों आँखोंवाला हो, व्यापक दृष्टिकोणवाला हो। ४. **मेधाय**=तू तो उस प्रभु के साथ सङ्गम (मेधृ सङ्गमे to meet) के लिए **चीयमानः**=अपने में शक्तियों का सञ्चय व वर्धन करनेवाला बन। जब मनुष्य का उद्देश्य भौतिक हो जाता है तभी वह संकुचित भी बनता है और औरों की हिंसा से अपने पोषण का विचार करता है। ५. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **मयुं पशुम्**=यह जो मृगविशेष पशु है **मेधम्**=(शुद्धम्) जो बड़ा शुद्ध व निर्दोष—किसी का बुरा चिन्तन न करनेवाला है, उसे तू **जुषस्व**=प्रेम करनेवाला बन। **तेन**=उससे **तन्वः**=शरीर की शक्तियों को **चिन्वानः**=बढ़ाता हुआ **निषीद**=तू यहाँ स्थित हो। मयु कृष्णमृग है। ऋषियों के आश्रमों में इन मृगों का हम विशिष्ट स्थान देखते हैं, अतः यह हमारे जीवन के साथ निकटता से सम्बद्ध है। ६. हाँ, जो हरिण बहुत बढ़कर खेती आदि की हानि का कारण बनें उस **मयुम्** =हरिण को **ते**=तेरा **शुक्**=मन्यु **ऋच्छतु**=प्राप्त हो, **तम्**=उस हरिण को ही **ते शुक्**=तेरा क्रोध **ऋच्छतु**=प्राप्त हो **यं द्विष्मः**=जिसे हम कृष्यादि विनाशक होने से अवाञ्छनीय समझते हैं।

भावार्थ—हम सब मनुष्यों का भला करें। व्यापक दृष्टिकोणवाले बनें। प्रभु-सङ्गम के लिए अपनी शक्तियों का वर्धन करें। मयु आदि पशुओं से भी, अपने जीवन के लिए उन्हें उपयोगी जानते हुए प्रेम करनेवाले बनें। नाशक प्राणियों पर ही हमारा क्रोध हो।

ऋषिः—विरूपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्ब्राह्मीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।।

घोड़ा व आरण्य गौर

इमं मा हिꣳसीरेकशफं पशुं कनिक्रदं वाजिनं वाजिनेषु। गौरमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद। गौरं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥४८॥

१. गत मन्त्र की भावना का ही विस्तार करते हैं कि **इमं एकशफम् पशुम्**=इस एक खुरवाले पशु घोड़े को **मा हिंसीः**=मत नष्ट कर। वह जो **कनिक्रदम्**

(अत्यर्थं क्रन्दितारम्) खूब उत्साहपूर्वक हिनहिनानेवाला है तथा **वाजिनेषु वाजिनम्**=(वेगवत्सु वेगवन्तः—उ०) वेगवालों में वेगवाला है, बड़ी तीव्र गतिवाला है। यह घोड़ा तेरे लिए 'क्षत्र' की वृद्धि करनेवाला है। २. यह घोड़ा तेरे लिए अत्यन्त उपयोगी है। मैं **ते**=तेरे लिए इस **आरण्यम्**=वन में निवास करनेवाले **गौरम्**=मृगविशेष को भी **अनुदिशामि**=(ददामि—म०) देता हूँ अथवा उसका उपदेश करता हूँ। **तेन**=उससे **तन्वः**=शरीर की शक्तियों को **चिन्वानः**=बढ़ाता हुआ **निषीद**=तू निषण्ण हो, इस शरीर में स्वस्थ होकर रहनेवाला हो। इसका शृङ्ग तेरे पैत्तिक विकारों को दूर करने के लिए अत्यन्त उपयोगी है। इस मृग से तूने प्रेम ही करना, उसे मारना नहीं। ३. हाँ, **शुक्**=तेरा क्रोध **गौरम्**=हानिकर मृग को **ऋच्छतु**=प्राप्त हो, उसी मृग को **ते शुक् ऋच्छतु**=तेरा क्रोध प्राप्त हो **यम्**=जिसे कृष्यादि विनाशक होने के कारण **द्विष्मः**=हम अवाञ्छनीय समझते हैं।

भावार्थ—घोड़ा तेरे लिए अत्यन्त उपयोगी पशु है। आरण्य गौरमृग भी तेरे जीवन में उपयोगी है। यदि वह संख्या में बहुत बढ़कर तुम्हारी कृषि आदि के विनाशक हो जाएँ तभी तू उनपर क्रोध करना।

ऋषिः—विरूपः। देवता—अग्निः। छन्दः—कृतिः। स्वरः—निषादः॥

गौ-गवय

इमꣳसाहस्रꣳशतधारमुत्सं व्यच्यमानꣳसरिरस्य मध्ये। घृतं दुहानामदितिं जनायाग्ने मा हिꣳसीः परमे व्योमन्। गवयमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद। गवयं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु॥४९॥

१. **इमम्**=इस **साहस्रम्**=(सहस्रोपकारक्षमम्—म०) हज़ारों का उपकार करने में समर्थ **शतधारम्**=शतसंख्याक क्षीर-धाराओं से युक्त **उत्सम्**=दूध के कूएँ के समान अतएव **सरिरस्य**=(इमे वै लोकाः सरिरम्—श० ७।५।२।३४) इस लोक में **व्यच्यमानम्**=विविध रूप से उपजीव्यमान **घृतं दुहानाम्**=दूध के द्वारा घृत का प्रपूरण करती हुई **जनाय**=मनुष्यों के लिए **अदितिम्**=अदीना देवमाता के तुल्य अथवा (दो अवखण्डने) स्वास्थ्य को न खण्डित होने देनेवाली इस गौ को **मा हिंसीः**=मत हिंसित कर। २. यह गौ तो तुझे **परमे व्योमन्**=उत्कृष्ट आकाश में प्राप्त करानेवाली है। इसके दूध से तेरा स्वास्थ्य उत्तम होगा, मन निर्मल होगा, बुद्धि तीव्र बनेगी। इस प्रकार तेरी स्थिति कितनी ऊँची हो जाएगी! ३. गौ का ही नहीं, मैं तो **ते**=तुझे **आरण्यं गवयम्**=इस जङ्गली गवय पशु को **अनुदिशामि**=देता हूँ। **तेन**=उससे **तन्वः**=अपने शरीर की शक्तियों को **चिन्वानः**=बढ़ाता हुआ **निषीद**=निषण्ण हो। इस गवय के शृङ्ग की भस्म तो तुझे कैन्सर से भी बचानेवाली होगी। ४. हाँ, **ते शुक्**=तेरा क्रोध **गवयम्**=हानिकर नील गाय को **ऋच्छतु**=प्राप्त हो, परन्तु उसी नील गाय को **ते शुक् ऋच्छतु**=तेरा क्रोध प्राप्त हो **यम्**=जिसे ध्वंसक होने से **द्विष्मः**=हम अवाञ्छनीय समझते हैं।

भावार्थ—गौ मनुष्य के लिए अत्यन्त उपकारी पशु है, इसे मारना नहीं, गवय से भी प्रेम करना है। हाँ, यदि वह ध्वंसक हो जाएँ तब उसे समाप्त करना ही है। यह न भूलना कि यह गौ तेरे लिए 'अदिति' है—तेरा किसी भी तरह खण्डन न होने देनेवाली है, अतः तू भी इसका खण्डन न करना, इसे 'अघ्न्या' समझना।

ऋषिः—विरूपः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिक्कृतिः। स्वरः—निषादः॥

ऊर्णायु+उष्ट्र (भेड़-ऊँट)

इममूर्णायुं वरुणस्य नाभिं त्वचं पशूनां द्विपदां चतुष्पदाम्। त्वष्टुः प्रजानां प्रथमं जनित्रमग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन्। उष्ट्रमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद। उष्ट्रं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु॥५०॥

१. **इमम्**=इस **ऊर्णायुम्**=(ऊर्णावन्तं) ऊनवाली भेड़ को भी **मा हिंसीः**=मत मार। यह **वरुणस्य नाभिम्**=(वृ to cover) आच्छादक-साधनों का केन्द्र है। सर्दी के निवारण के लिए तुझे इसी से उत्तम आच्छादक वस्त्र प्राप्त होने हैं। यह भेड़ तो इस प्रकार **द्विपदाम्**=दो पाँववाले व **चतुष्पदाम्**=चार पाँववाले **पशूनाम्**=पशुओं के लिए **त्वचम्**=त्वचा की भाँति रक्षण करनेवाली है। मनुष्य तो इन ऊनी वस्त्रों को धारण करके शीत से अपनी रक्षा करते ही हैं—घोड़े आदि की पीठ पर भी मार्दव के लिए ऊनी वस्त्र डाला जाता है। २. यह भेड़ वस्तुतः **प्रजानां त्वष्टुः**=प्रजाओं के निर्माता उस प्रभु की **प्रथमं जनित्रम्**=बड़ी उत्तम रचना है (of the first water)। यह मानव-हित के लिए अत्यन्त आवश्यक वस्त्रों का साधन बनती है। ३. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! यह भेड़ भी तुझे **परमे व्योमन्**=उत्कृष्ट आकाश में स्थापित करनेवाली है, स्वास्थ्य की रक्षिका होकर सचमुच कल्याण करनेवाली है। ४. भेड़ को तो तूने मारना ही नहीं, मैं **आरण्यं उष्ट्रम्**=इस वन्य उष्ट्र को **ते**=तुझे **अनुदिशामि**=देता हूँ। **तेन**=उससे अपने हलों, कूओं व गाड़ियों को चलाता हुआ तू **तन्वः चिन्वानः**=अपने शरीर की शक्तियों को बढ़ाता हुआ **निषीद**=इस शरीर में निवास कर। ५. हाँ, **उष्ट्रम्**=उस आरण्य ऊँट को **ते शुक्**=तेरा क्रोध **ऋच्छतु**=प्राप्त हो, परन्तु **तम्**=उसी आरण्य उष्ट्र को **ते शुक् ऋच्छतु**=तेरा क्रोध प्राप्त हो **यं द्विष्मः**=जिसे हम नाशक होने से अप्रीतिकर समझते हैं।

भावार्थ—हम भेड़ की उपयोगिता समझें। ऊँट भी कितना उपयोगी है, परन्तु यदि वह पागल होकर ध्वंसक हो जाता है तब तो उसे समाप्त करना ही होता है।

ऋषिः—विरूपः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिक्कृतिः। स्वरः—निषादः॥

अज-शरभ

अजो ह्यग्नेरजनिष्ट शोकात्सोऽअपश्यज्जनितारमग्रे। तेन देवा देवतामग्रमायँस्तेन रोहमायन्नुप मेध्यासः। शरभमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद। शरभं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु॥५१॥

१. **अजः**=(अज गतिक्षेपणयोः) क्रियाशीलता के द्वारा सब बुराइयों को दूर निराकृत करनेवाला जीव **हि**=निश्चय से **अग्नेः शोकात्**=प्रभु की ज्ञान-दीप्ति से **अजनिष्ट**=विकास को प्राप्त होता है, अर्थात् जब जीव निरन्तर कर्मों में लगा रहकर अपने से मलों को दूर रखता है तब उसके हृदय में प्रभु के ज्ञान का प्रकाश होता है, इस ज्ञान-प्रकाश से इसकी शक्तियों का प्रादुर्भाव होता है। २. **सः**=यह विकसित शक्तियोंवाला जीव **अग्रे**=अपने सामने **जनितारम्**=अपने पिता प्रभु को **अपश्यत्**=देखता है। इसे प्रभु का साक्षात्कार होता है। ३. **तेन**=उस प्रभु से ही **देवाः**=सब देव **अग्रे**=सृष्टि के प्रारम्भ में **देवताम्**=देवत्व को **आयन्**=प्राप्त होते हैं। सृष्टि के आरम्भ में प्रभु ही तो अग्नि आदि ऋषियों को भी

ज्ञान की दीप्ति देनेवाले वे प्रभु ही हैं। ४. **तेन**=उस प्रभु से ही **रोहम्**=वृद्धि को **आयन्**=प्राप्त होते हैं और **उप**=उस प्रभु के समीप रहते हुए **मेध्यासः**=पवित्र बने रहते हैं।

प्रस्तुत प्रकरण में इस मन्त्र के पूर्वार्ध का अर्थ इस प्रकार है—१. **अजः**=यह उछलने-कूदनेवाली बकरी **अग्नेः शोकात्**=अग्नि की दीप्ति से प्रकट होती है—इसके शरीर व दूध आदि में उष्णता होती है। इसका सहवास—इनके बीच में उठना-बैठना—क्षयरोगी को भी फिर से शक्ति प्रदान करा देता है। २. **सः**=यह अजः=बकरी का दूध **अग्रे जनितारम्**=उस सृष्टि के उत्पादक प्रभु को **अपश्यत्**=दिखाता है (अन्तर्भावितण्यर्थोऽत्र दृशिः)। अत्यन्त सात्त्विक होने से यह दूध मानव-मन को बड़ा निर्मल कर देता है, उस निर्मल मन में प्रभु-दर्शन सम्भव होता है। २. **तेन**=इसी अजा-पय से—बकरी के दूध से **देवाः**=सब देव—विद्वान् **देवताम्**=ज्ञान-दीप्ति को **अग्रे आयन्**=सर्वप्रथम प्राप्त करते हैं। इससे बुद्धि तीव्र होती है। ४. **तेन**=इस दूध से **रोहम्**=शक्ति की वृद्धि को अथवा सर्वाङ्गीण उन्नति को **आयन्**=प्राप्त होते हैं और **मेध्यासः**=पवित्र बनकर **उप**=उस प्रभु के समीप पहुँचते हैं। एवं, अत्यन्त उपयोगी होने से यह बकरी तो अहन्तव्य है ही। प्रभु कहते हैं कि ५. **आरण्यं शरभम्**=इस वन्य शरभ को **ते**=तुझे **अनुदिशामि**=देता हूँ। **तेन** =उससे **तन्वः**=शरीर की शक्तियों का **चिन्वानः**=चयन करता हुआ **निषीद**=तू इस शरीर में स्थित हो। ६. **ते शुक्**=तेरा क्रोध **शरभम्**=कृषि-विनाशक शरभ को **ऋच्छतु**=प्राप्त हो, **तम्**=उसी शरभ को **ते शुक् ऋच्छतु**=तेरा क्रोध प्राप्त हो **यं द्विष्मः**=जिसे कृष्यादि विनाश के कारण हम अप्रिय समझते हैं।

भावार्थ—हम 'अज' की रक्षा करें। अप्रीतिकर हानिकर शरभ को दूर करें।

सूचना—परमं वै एतत् पयः यदजाक्षीरम्—तै० ५।१।७=सबसे बढ़कर यह दूध है जो बकरी का दूध है।

आग्नेयी वा एषा यदजा—तै० ३।७।३।१—यह अजा अग्नितत्त्व प्रधान है। **सा अजायत् त्रिः संवत्सरस्य विजायते तेन परमःपशुः**—श० ३।३।३।८ यह अजा वर्ष में तीन बार जनती है, अतः परम पशु है।

अजा ह सर्वा ओषधीरत्ति—श० ६।५।४।१६ यह अजा सब ओषधियों का सेवन करती है, तभी इसका दूध 'सर्वरोगापह' होता है।

ऋषिः—उशनाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

उशना की जीवन-सिद्धान्त-त्रयी

त्वं यविष्ठ दाशुषो नॄँः पाहि शृणुधी गिरः। रक्षा तोकमुत त्मना ॥५२॥

१. पिछले मन्त्रों के अनुसार विरूप=पदार्थों का विशिष्ट रूप से निरूपण करनेवाला व्यक्ति सभी में प्रभु का वास अनुभव करता हुआ सभी का भला चाहता है—सबके साथ बन्धुत्व का अनुभव करता है। सभी का भला चाहने से ही 'उशनाः' (कामयमानः) नामवाला होता है। प्रभु इससे कहते हैं कि—२. **यविष्ठ**=हे बुराइयों को अपने से सुदूर करके अच्छाइयों को अपने से सम्पृक्त करनेवाले! (यु मिश्रणामिश्रणयोः) **त्वम्** =तू **दाशुषः नॄन्**=तेरे प्रति अपना समर्पण करनेवाले लोगों को **पाहि**=सुरक्षित कर। तू शरणागत की रक्षा करनेवाला बन। ३. **गिरः शृणुधी**=तू सदा ज्ञान की वाणियों को सुननेवाला बन। ये ज्ञान की वाणियाँ तेरे जीवन में पवित्रता बनाये रक्खेंगी, ये तेरे मस्तिष्क का भोजन होंगी, तेरे विचार दुर्बल न होंगे। यह नैत्यिक स्वाध्याय ही तेरा अध्यात्म-भोजन होगा और तुझे बड़ा

ऊँचा उठानेवाला होगा। ४. **उत**=और **त्मना**=स्वयं **तोकम्**=सन्तान की **रक्ष**=रक्षा करनेवाला बन। अपने सन्तान की रक्षा का भार नौकरों पर मत डाल देना। अन्य कार्यों में लगे रहकर सन्तान-निर्माण की उपेक्षा से तेरी सन्तान विकृत जीवनवाली होकर समाज के लिए भार हो जाएगी, अतः समाज-निर्माण से तूने सन्तान-निर्माण को अधिक महत्त्व देना।

भावार्थ—उशना=हित की कामनावाले के तीन मौलिक सिद्धान्त होने चाहिए—(१) शरणागत की रक्षा (२) ज्ञान को नैत्यिक भोजन समझना। (३) स्वयं सन्तानों का संरक्षक बनना।

ऋषिः—उशनाः। **देवता**—आपः। **छन्दः**—भुरिग्ब्राह्मीपङ्क्तिः[उ], ब्राह्मीजगती[क], निचृद्ब्राह्मीपङ्क्तिः[र]। **स्वरः**—पञ्चमः[उ, र], निषादः[क]॥

ज्ञान-विज्ञान

[उ]अपां त्वेम॑न्त्सादयाम्य॒पां त्वोद्म॑न्त्सादयाम्य॒पां त्वा॒ भस्म॑न्त्सादयाम्य॒पां त्वा॒ ज्योति॑षि सादयाम्य॒पां त्वाय॑ने सादयाम्यर्ण॒वे त्वा॒ सद॑ने सादयामि समु॒द्रे त्वा॒ सद॑ने सादयामि [क]सरि॒रे त्वा॒ सद॑ने सादयाम्य॒पां त्वा॒ क्षये॑ सादयाम्य॒पां त्वा॒ सधि॑षि सादयाम्य॒पां त्वा॒ सद॑ने सादयाम्य॒पां त्वा॒ स॒धस्थे॑ सादयाम्य॒पां त्वा॒ योनौ॑ सादयाम्य॒पां त्वा॒ पुरी॑षे सादयाम्य॒पां त्वा॒ पाथ॑सि सादयामि [र]गाय॒त्रेण॑ त्वा॒ छन्द॑सा सादयामि॒ त्रैष्टु॑भेन त्वा॒ छन्द॑सा सादयामि॒ जाग॑तेन त्वा॒ छन्द॑सा सादया॒म्यानु॑ष्टुभेन त्वा॒ छन्द॑सा सादयामि॒ पाङ्क्ते॑न त्वा॒ छन्द॑सा सादयामि ॥५३॥

१. प्रभु (सबका भला चाहनेवाले) उशना से कहते हैं कि **त्वा**=तुझे **अपाम् एमन्**=वायु में (वायुर्वा अपामेम—श० ७।५।२।४६) **सादयामि**=स्थापित करता हूँ, अर्थात् तुझे वायु के ज्ञान में परिनिष्ठित करता हूँ। 'वायु' का मानव-जीवन से सर्वाधिक सम्बन्ध है। इसके बिना एक पल भी जीवन का चलना सम्भव नहीं रहता, अतः वायुविद्या को सम्यग् जानकर शुद्ध वायु के सेवन से हमें अपने जीवन को 'सत्य, शिव व सुन्दर' बनाना है। २. **त्वा**=तुझे **अपाम् ओद्मन्**=(ओषधयो वा अपामोद्म—श० ७।५।२।४७) ओषधियों में **सादयामि**=स्थापित करता हूँ। ओषधि-विज्ञान में परिनिष्ठित करता हूँ। इनका विज्ञान तुझे इनके रसों के समुचित प्रयोग में समर्थ करेगा। इनके समुचित प्रयोग से तू मलों का दहन करता हुआ पूर्ण स्वस्थ बनेगा। ३. **त्वा**=तुझे **अपां भस्मन्**=(अभ्रं वा अपां भस्म—श० ७।५।२।४८) इन मेघों में **सादयामि**=स्थापित करता हूँ। इन मेघों की विद्या को समझने पर जहाँ इनमें तुझे प्रभु की महिमा दिखेगी, वहाँ तू इन मेघ-जलों को ही 'अमरवारुणी'=देवताओं की मद्य जानकर उसका प्रयोग करता हुआ हर्षयुक्त जीवनवाला होगा। ४. **त्वा**=तुझे **अपां ज्योतिषि**=(विद्युद्वा अपां ज्योतिः—श० ७।५।२।४९) विद्युत् में **सादयामि**=स्थापित करता हूँ। विद्युत् के ज्ञान का अधिपति बनकर तू विद्युत् द्वारा अपने यन्त्रों को चलाता हुआ ऐश्वर्य की वृद्धि करनेवाला बनेगा। ५. **त्वा**=तुझे **अपाम् अयने**=(इयं वा अपाम् अयनम्—श० ७।५।२।५०) इस पृथिवी के ज्ञान में **सादयामि**=स्थापित करता हूँ। इस पृथिवी के ज्ञान से तू इसके द्वारा सब वस्तुओं को, निवास के लिए आवश्यक वस्तुओं को—प्राप्त करेगा। यह पृथिवी तो 'वसुन्धरा' है। ६. **त्वा**=तुझे **अर्णवे सदने**=(प्राणो वा अर्णवः—श० ७।५।२।५१) इस प्राणरूप घर में

सादयामि=बिठाता हूँ। प्राणविद्या में परिनिष्ठत होकर तू इन प्राणों को प्रबल बनानेवाला होगा। ये प्रबल प्राण तुझपर होनेवाले रोगों के आक्रमणों से तुझे बचानेवाले होंगे। ७. **त्वा**=तुझे **समुद्रे सदने**=(मनो वै समुद्रः—श० ७।५।२।५२) मनरूप सदन में **सादयामि**=बिठाता हूँ। इस मन की विद्या को अच्छी प्रकार समझकर जहाँ मनोनिरोध से तू अपनी ऊँचे-से-ऊँची स्थिति को प्राप्त करनेवाला होगा, वहाँ तू व्यावहारिक दोषों से भी बचा रहेगा। तू औरों की मनोवृत्ति को ठीक समझने के कारण ठीक ही बर्ताव करने में समर्थ होगा। ८. **त्वा**=तुझे **सरिरे सदने**=(वाग् वै सरिरम्—श० ७।५।२।५३) वाणीरूप सदन में **सादयामि**=स्थापित करता हूँ। इस वाणी का पूर्ण प्रभु बनकर जहाँ तू शत्रुओं के लिए घोर स्थिति का सर्जन करनेवाला होता है (ययैव ससृजे घोरम्), वहाँ अपनों के लिए शान्त वायुमण्डल को प्रस्तुत करता है (तयैव शान्तिरस्तु नः) ९. **त्वा**=तुझे **अपां क्षये**=(चक्षुर्वा अपांक्षयः—श० ७।५।२।५४) चक्षु में **सादयामि**=स्थापित करता हूँ। इस चक्षु के रहस्य को तूने समझना है। इसके महत्त्व को जानकर तू निश्चय से बहु-द्रष्टा बनने का प्रयत्न करेगा। सब ज्ञानों के मूल में यह दर्शन (observastion) ही होता है। १०. **त्वा**=तुझे **अपां सधिषि**=(श्रोत्रं वा अपांसधिः—श० ७।५।२।५५) श्रोत्र में **सादयामि**=स्थापित करता हूँ। श्रोत्र के महत्त्व को जानकर तू 'बहुश्रुत' बनेगा। 'सुनना अधिक बोलना कम' इस रहस्य को हृदयङ्गम करके तू संसार में यशस्वी भी होगा। ११. **त्वा**=तुझे **अपां सदने**=(द्यौर्वा अपां सदनम्—श० ७।५।२।५६) द्युलोक में—शरीरस्थ मस्तिष्क में—**सादयामि**=स्थापित करता हूँ। मस्तिष्क के तत्त्व को समझकर तू इस मस्तिष्क के द्वारा अपने को ऊपर ले-जानेवाला बनेगा। १२. **त्वा**=तुझे **अपां सधस्थे**=(अन्तरिक्षं वा अपां सधस्थम्—श० ७। ५।२।५७) अन्तरिक्ष में—शरीरस्थ इस हृदयान्तरिक्ष में—**सादयामि**=स्थापित करता हूँ। तू सदा मध्यमार्ग में चलता हुआ इस हृदयान्तरिक्ष को पवित्र करता है और वहाँ प्रभु का दर्शन करने के लिए प्रयत्नशील होता है। १३. **त्वा**=तुझे **अपां योनौ**=(समुद्रो वा अपां योनिः—श० ७।५।२।५८) समुद्र में **सादयामि**=स्थापित करता हूँ। समुद्र-विद्या में निपुण बनकर जहाँ तू विविध जलचरों का ज्ञान प्राप्त करता है, वहाँ इस रत्नाकर से विविध रत्नों को पानेवाला बनता है। १४. **त्वा**=तूझे **अपां पुरीषे**=(सिकता वा अपां पुरीषम्—श० ७।५।२।५९) इन रेत के कणों में **सादयामि**=स्थापित करता हूँ। इस रेत-विद्या को जानकर हम इससे विविध लाभों को प्राप्त करनेवाले होते हैं। यह रेत जलों का मलरूप है—पत्थरों पर पानी पड़-पड़कर इसका निर्माण होता है। ये जहाँ मकान आदि के निर्माण में उपयुक्त होती है, वहाँ इसमें निहित स्वर्णकणों को भी हम प्राप्त करनेवाले बनते हैं। १५. **त्वा**=तुझे **अपां पाथसि**=(अन्नं वा अपां पाथः—श० ७।५।२।६०) अन्न में **सादयामि**=स्थापित करता हूँ। अन्न-विद्या को समझकर तू उपयुक्त अन्न का सेवन करता हुआ स्वस्थ बनता है। तू सात्त्विक अन्न के सेवन से अन्तःकरण को सात्त्विक बनाता है। १६. **त्वा**=तुझे **गायत्रेण छन्दसा**=प्राण-रक्षा की इच्छा के साथ मैं **सादयामि**=इस शरीर में स्थापित करता हूँ। इस शरीर में रहने के लिए 'गायत्रछन्द'=प्राणशक्ति के रक्षण की प्रबल कामना के महत्त्व को मैं तुझे समझाता हूँ। १७. मैं **त्वा**=तुझे **त्रैष्टुभेन छन्दसा**='काम, क्रोध व लोभ' इन तीनों को रोकने की इच्छा के साथ **सादयामि**=बिठाता हूँ। जीवन के लिए 'काम, क्रोध व लोभ' को रोकने के महत्त्व को मैं तुझे हृदयङ्गम करा देता हूँ। १८. **त्वा**=तुझे **जागतेन छन्दसा**=लोकहित की प्रबल कामना के साथ **सादयामि**=इस शरीर में

बिठाता हूँ। यह तुझे अच्छी प्रकार स्पष्ट कर देता हूँ कि जीवन का अन्तिम उद्देश्य लोकहित की साधना ही है। १९. मैं **त्वा**=तुझे **आनुष्टुभेन छन्दसा**=प्रतिक्षण प्रभु-स्तवन की इच्छा के साथ **सादयामि**=इस शरीर में बिठाता हूँ। तुझे यह समझा देता हूँ कि 'प्रभु को भूले और ग़लती हुई', अतः इस जीवन में प्रभु का स्मरण करते हुए ही चलना है। २०. अन्त में **त्वा**=तुझे **पाङ्क्तेन छन्दसा**=पाँच को ठीक रखने की प्रबल कामना के साथ **सादयामि**=इस शरीर में स्थापित करता हूँ। तूने इस शरीर में अपने निवास को उत्तम बनाने के लिए पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को ठीक रखना है—पाँचों कर्मेन्द्रियों को उत्तम कर्मों में लगाये रखना है। पाँचों प्राणों की शक्ति को ठीक रखना है। पाँचभौतिक शरीर में पाँचों पृथिवी, जल, तेज, वायु व आकाश की स्थिति को ठीक रखना है। 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र व निषाद' इन पाँच भागों में बटे हुए समाज की स्थिति को भी उत्तम बनाने का विचार करना है। मन की पञ्चतयी क्लिष्टाक्लिष्ट वृत्तियों को समझकर उन्हें अच्छा बनाना है। 'क्लेश, कर्म, विपाक, आशय व जन्म-मरण चक्र' से ऊपर उठने के लिए प्रयत्नशील होना है। पञ्चधा विभक्त कर्मों में सदा अपने को व्यापृत रखना है।

भावार्थ—हम मन्त्र में वर्णित २० भागों में विभक्त ज्ञान को प्राप्त करनेवाले बनें। व्यर्थ की बातों में दिमाग़ को ख़राब करके 'मोघज्ञान' न बन जाएँ।

ऋषिः—उशनाः। **देवता**—प्राणाः। **छन्दः**—स्वराड्ब्राह्मीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

अग्नि (पुरो भुवः) प्राण-ग्रहण=वसिष्ठ

अ॒यं पु॒रो भुव॒स्तस्य॑ प्रा॒णो भौ॑वाय॒नो व॑स॒न्तः प्रा॑णाय॒नो गा॑य॒त्री वा॑स॒न्ती गा॑य॒त्र्यै गा॑य॒त्रं गा॑य॒त्रादु॑पा॒ꣳशुरु॑पा॒ꣳशोस्त्रि॒वृत्त्रि॒वृतो॑ रथन्त॒रं वसि॑ष्ठ॒ऽऋषिः॑ प्र॒जाप॑तिगृहीतया॒ त्वया॑ प्रा॒णं गृ॑ह्णामि प्र॒जाभ्यः॑ ॥५४॥

१. **अयम्**=यह **पुरः भुवः**=पूर्व दिशा में होनेवाला अग्नि है (भवति सर्वरूपेण, भवत्यस्मत् सर्वमिति वा भुवः अग्निः—श० ८।८।१।४। अग्निर्वै पुरः प्राञ्चं ह्यग्निमुद्धरन्ति प्राञ्चमुपचरन्ति, अग्निर्वै भुवः, अग्नेर्हीदं सर्वं भवति) वस्तुतः यह मनुष्य को अग्नितुल्य बनने का उपदेश दे रहा है। जब मनुष्य अपने अन्दर वीर्य की रक्षा करता है तब यह अग्नितत्त्व ठीक बना रहता है। २. **तस्य**=उसी अग्नि का अपत्य **प्राणः**=प्राण है। इसी से **भौवायनः**=भुव का अपत्य कहलाता है। अग्नि-तत्त्व के अनुपात में ही प्राणशक्ति बनी रहती है। ३. **प्राणायनः**=प्राण का पुत्र **वसन्तः**=वसन्त है। प्राणशक्ति के होने पर इसके जीवन में सर्वशक्तियों के पुष्प-फलों का विकास होता है। अथवा इस शरीर में इसका उत्तम निवास इस प्राणशक्ति से ही होता है। ४. **वासन्ती** =इस वसन्त की सन्तान **गायत्री**=इस शरीररूप गृह की रक्षिका है। (गय=गृह)। शरीर में सब अङ्गों की शक्तियों का समुचित निवास होने पर ही इस शरीररूप गृह की रक्षा सम्भव है। ५. **गायत्र्यै** (गायत्र्याः) इसी गायत्री से, शरीर-रक्षा से **गायत्रम्**='गायत्रसाम' उत्पन्न होता है। वह शान्ति उत्पन्न होती है जिसका मूल शरीर-रक्षा ही है। स्वस्थ शरीर में ही वस्तुतः स्वस्थ व शान्त मन का निवास है। ६. **गायत्रात्**=स्वास्थ्यजनित शान्ति से ही वस्तुतः **उपांशुः**=(उप+अंशु) उस परमेश्वर की उपासना द्वारा ज्ञान-किरणें उपलब्ध होती हैं। ७. **उपांशोः**=उपासना द्वारा प्राप्त ज्ञान-किरणों से **त्रिवृत्**=धर्म, अर्थ व काम तीनों का सुन्दर वर्तन होता है (त्रि+वृत्) (धर्मार्थकामाः सममेव सेव्याः) ८. **त्रिवृत्**=इस धर्मार्थकाम के समानुपात में होने से अथवा 'ज्ञान-कर्म-उपासना'

के ठीक रूप में चलने से **रथन्तरम्**=इस शरीररूप रथ से जीवन-यात्रा की पूर्ति (भवसागर को तैर जाना) होती है। ९. रथन्तर सामवाला व्यक्ति 'वसिष्ठ ऋषि' (अतिशयेन वसति) अत्यन्त उत्तम निवासवाला—प्राणशक्ति-सम्पन्न (प्राणो वै वसिष्ठः—श० ८।१।१।६) तत्त्वद्रष्टा है। १०. यह तत्त्वद्रष्टा पत्नी से कहता है कि **प्रजापतिगृहीतया**= (प्रजापतिःगृहीतो यया) मुझ प्रजापति का ग्रहण करनेवाली **त्वया** =तेरे साथ **प्राणं गृह्णामि**=मैं प्राणशक्ति का ग्रहण करता हूँ, जिससे **प्रजाभ्यः**=हम उत्तम सन्तानों को प्राप्त करें। पत्नी उत्तम सन्तानों को जन्म देनेवाले पति को स्वीकार करे। दोनों ने मिलकर उत्तम सन्तानों को जन्म देना है। इसी उद्देश्य से वे अपनी प्राणशक्ति का निरोध करने के लिए प्रयत्नशील होते हैं।

भावार्थ—हम पूर्व दिशा के अधिपति अग्नि को अपनाकर, अपने में प्राणशक्ति का धारण करते हुए उत्तम प्राणशक्ति-सम्पन्न सन्तानों को जन्म देनेवाले बनें।

ऋषिः—उशनाः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—निचृदतिधृतिः। **स्वरः**—षड्जः॥

वायु (दक्षिणा विश्वकर्मा) मनो-ग्रहण=भरद्वाज

अयं दक्षिणा विश्वकर्मा तस्य मनो वैश्वकर्मणं ग्रीष्मो मानसस्त्रिष्टुब्ग्रैष्मी त्रिष्टुभः स्वारꣳस्वारादन्तर्यामो ऽन्तर्यामात्पञ्चदशः पञ्चदशाद् बृहद् भरद्वाजऽऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया मनो गृह्णामि प्रजाभ्यः ॥५५॥

१. **अयम्**=यह **दक्षिणा विश्वकर्मा**=(अयं वै वायुर्विश्वकर्मा एष हीदं सर्वं करोति, तद्यत्तमाह दक्षिणेति तस्मादेष दक्षिणैव भूयिष्ठं वाति—श० ८।१।१।७) दक्षिणा का अधिपति सब कर्मों को करनेवाला वायु है। यह सब कालों में बहता ही रहता है, रुकता नहीं। २. **तस्य वैश्वकर्मणं मनः**=उस वायु-विश्वकर्मा की सन्तान मन है। सदा कर्मों में लगे रहना ही मन को स्वस्थ बनाये रखने का साधन है। ३. **मानसः ग्रीष्मः**=मन की सन्तान वाणी है, उत्साह है। सारा उत्साह मानस स्वास्थ्य पर निर्भर करता है। ४. **ग्रैष्मी त्रिष्टुप्**=इस उत्साह की सन्तान त्रिष्टुप् है—काम, क्रोध व लोभ का रोकना है। अध्यात्म उन्नति का उत्साह बने रहने पर ही काम, क्रोध व लोभ का रोकना निर्भर है। इन्हें सरलता से रोका नहीं जा सकता, इनके रोकने के लिए निरन्तर दीर्घकाल तक प्रयत्न अपेक्षित है—वह प्रयत्न उत्साह बने रहने पर ही सम्भव होगा। ५. **त्रिष्टुभः**=इस काम, क्रोध व लोभ के रोकने (stopping) से **स्वारम्**=(स्वयं राजते) स्वयंराजमानता=स्वशासन=अपराधीनता—इन्द्रियादिकों की गुलामी का न होना होता है। ६. **स्वारात्**=इस स्वयंराजमानता से **अन्तर्यामः**=अन्दर का नियमन होता है। वस्तुतः स्वयंराजमानता का ही स्पष्टीकरण 'अन्तर्यामः' है। इसी से मनुष्य अन्तःस्थ इन्द्रियादि का नियमन करता है। ७. इस **अन्तर्यामात्**=अन्तर्याम से **पञ्चदशः**=पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों व पाँच प्राणों को स्वाधीन करनेवाला यह व्यक्ति पञ्चदश बनता है। ८. **पञ्चदशात्**=इस पञ्चदश बनने से यह **बृहत्**=सदा वृद्धिशील होता है। ९. यह वृद्धिशील व्यक्ति **भरद्वाजः ऋषिः**=अपने में शक्ति व ज्ञान को भरनेवाला तत्त्वद्रष्टा बनता है। १०. यह तत्त्वद्रष्टा पत्नी से कहता है कि **प्रजापतिगृहीतया**=प्रजापति का ग्रहण करनेवाली **त्वया**=तेरे साथ **मनः गृह्णामि**=मैं अपने मन का निग्रह करता हूँ, **प्रजाभ्यः**=जिससे हम उत्तम सन्तानों को जन्म दे सकें। विक्षिप्त मनवालों के सन्तान विक्षिप्त-से ही होंगे।

भावार्थ—हम इस दक्षिणा के अधिपति वायु के समान सदा सब कर्मों के अधिपति होते हुए उत्तम क्रियाशील, जितमनाः=मनस्वी सन्तानों को ही जन्म देनेवाले हों।

ऋषिः—उशनाः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—निचृदतिधृतिः। **स्वरः**—षड्जः॥

आदित्य (पश्चात् विश्वव्यचाः) चक्षु-ग्रहण=जमदग्नि

अयं पश्चाद् विश्वव्यचास्तस्य चक्षुर्वैश्वव्यचसं वर्षाश्चाक्षुष्यो जगती वार्षी जगत्याऽऋक्सममृक्समाच्छुक्रः शुक्रात्सप्तदशः सप्तदशाद्वैरूपं जमदग्निर्ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया चक्षुर्गृह्णामि प्रजाभ्यः ॥५६॥

१. **अयम्**=यह **पश्चात् विश्वव्यचाः**=(असौ वादित्यो विश्वव्यचाः यदाह मैवेष उदेति अथेदं सर्वं व्यचो भवति पश्चादिति एतं प्रत्यञ्चमेदमन्तं पश्यन्ति—श० ८।१।२।१) पूर्व में उदय होकर निरन्तर पश्चिम की ओर चलनेवाला, सम्पूर्ण संसार को व्यक्त करनेवाला सूर्य है। इस सूर्य का ध्यान करके मनुष्य ने भी सदा आगे बढ़ते हुए पीछे न लौटने का पाठ पढ़ना है—इन्द्रियों का प्रत्याहार करना है। २. **तस्य वैश्वव्यचसं चक्षुः**=उस मनुष्य की आँख भी इस सूर्य की सन्तान बनती है। सूर्य की भाँति ही वस्तुओं की प्रकाशक होती है। ३. **चक्षुष्यः वर्षाः**=इसकी चक्षु की सन्तान वर्षा होती है, अर्थात् इसका ज्ञान औरों पर सुखों की वर्षा करनेवाला होता है। ४. **जगती वार्षी**=इसकी ज्ञान-वर्षा लोकहित करनेवाली होती है। ५. **जगत्या ऋक्समम्**=इस लोकहित के द्वारा ही (ऋच् स्तुतौ) इसका विज्ञान-पूर्वक स्तवन चलता है (वह साम जो विज्ञान के साथ है 'ऋक्सम्' कहलाता है)। ६. **ऋक्समात्** (ऋचः सन्ति सम्भजन्ति येन—द०)=इस विज्ञानपूर्वक स्तवन से ही **शुक्रः**=यह (शुच्) अत्यन्त शुद्ध बनता है। ७. **शुक्रात्**=इस शुद्ध बनने से **सप्तदशः**=यह पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण तथा मन व बुद्धि इन १७ तत्त्वोंवाला होता है। इन सत्रह को यह उत्तम बना पाता है। ९. इस विशिष्ट रूप से ये **जमदग्निर्ऋषिः**=(जमति जगत् पश्यति इति जमद् अङ्गति सर्वत्र गच्छति इति अग्निः) केवल अपने हित को न देखकर सभी के हित को देखनेवाला क्रियाशील तत्त्वद्रष्टा बनता है। १०. यह जमदग्नि पत्नी से कहता है कि **प्रजापतिगृहीतया**=प्रजापति का ग्रहण करनेवाली **त्वया**=तेरे साथ **चक्षुःगृह्णामि**=चक्षु का ग्रहण करता हूँ, जिससे हम **प्रजाभ्यः**=उत्तम सन्तान को प्राप्त करनेवाले हों। संसार में हमारा दृष्टिकोण ठीक हो, हमारा ज्ञान ठीक हो तथा ये चक्षु हमारे वश में हो तो सन्तानों का उत्तम होना स्वाभाविक ही है।

भावार्थ—हम निरन्तर पश्चिम की ओर चलनेवाले सूर्य के समान ज्ञान व प्रकाश के अधिपति हों। अपनी चक्षु को वश में करके उत्तम सन्तानों को प्राप्त करें।

ऋषिः—उशनाः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—स्वराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

दिशाएँ (उत्तरात् स्वः) श्रोत्र-ग्रहण=विश्वामित्र

इदमुत्तरात् स्वस्तस्य श्रोत्रꣳ सौवꣳ शरच्छ्रौत्र्यनुष्टुप् शारद्यनुष्टुभऽ ऐडमैडान्मन्थी मन्थिनऽएकविꣳशऽएकविꣳशाद् वैराजं विश्वामित्रऽ ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया श्रोत्रं गृह्णामि प्रजाभ्यः ॥५७॥

१. **इदम्**=यह **उत्तरात्**=उत्तर की ओर **स्वः**=दिशाएँ अधिपति रूपेण हैं। (स्वर्गो हि लोको दिशः—श० ८।१।२।४)। ये दिशाएँ निर्देशों का—उपदेशों का प्रतीक हैं—प्रत्येक दिशा एक बोध दे रही है 'प्राची' आगे बढ़ने का तो 'दक्षिणा' दाक्षिण्य का, **'प्रतीची'**=प्रत्याहार का और उदीची (उत्तरा) उन्नति का तथा अन्त में 'ऊर्ध्वा'—सर्वोत्कृष्ट स्थिति का उपदेश

कर रही है, अतः २. **तस्य**=उपासक का **श्रोत्रम्**=श्रोत्र **सौवम्**=स्वः का सन्तान होता है—इसका श्रोत्र दिशाओं के उपदेश को सुनता है। ३. **श्रौत्री शरत्**=इसके जीवन में श्रोत्र—सुनने की सन्तान शरत् होती है, अर्थात् यह दिशाओं के इन उपदेशों को सुनता हुआ अपने सब पापों को शीर्ण करनेवाला होता है। ४. **शारदी अनुष्टुभः**=पापों की शीर्णता से प्रतिक्षण इसका प्रभु-स्तवन चलता है, अर्थात् इसका प्रभु-स्तवन यही है कि यह बुराइयों को अपने से दूर करता है। ५. **अनुष्टुभः**=अनुक्षण प्रभु-स्तवन से **ऐडम्**=(इडायाः ज्ञानम्)=इस वेदवाणी का ज्ञान होता है—हृदयदेश में ज्ञान का प्रकाश होता है। **ऐडात्**=इस वाणी के ज्ञान से यह **मन्थी**=मन्थन व चिन्तन करनेवाला बनता है। **मन्थिनः**=इस मन्थन से **एकविंशः**=यह त्रिगुणासप्त (ये त्रिषप्तः) शक्तियोंवाला होता है। ८. **एकविंशात् वैराजम्**=इन इक्कीस शक्तियों से यह विशिष्ट रूप से चमकनेवाला बनता है। ९. यह विशेष रूप से चमकनेवाला **विश्वामित्र ऋषिः**=सबके साथ स्नेह करनेवाला तत्त्वद्रष्टा बनता है। १०. और पत्नी से कहता है कि **प्रजापतिगृहीतया**=प्रजापति का ग्रहण करनेवाली, प्रभु का ध्यान करनेवाली **त्वया**=तेरे साथ **श्रोत्रं गृह्णामि**=मैं इस कान को वश में करता हूँ, **प्रजाभ्यः**=जिससे हम उत्तम सन्तानों को प्राप्त कर सकें।

भावार्थ—दिशाओं के उपदेश को सुनते हुए हम श्रोत्र को पूर्णरूप से वश में करके कभी अशुभ का श्रवण न करें, जिससे हमारी सन्तानें उत्तम ही हों।

ऋषिः—उशनाः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—विराडाकृतिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

मतिः (उपरिमतिः) वाग्-ग्रहण, विश्वकर्मा

इयमुपरि मतिस्तस्यै वाङ् मात्या हेमन्तो वाच्यः पङ्क्तिर्हैमन्ती पङ्क्त्यै निधनवन्निधनवतऽआग्रयणऽआग्रयणात् त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ त्रिणवत्रयस्त्रिंशाभ्यांᳪशाक्वररैवते विश्वकर्मऽऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया वाचं गृह्णामि प्रजाभ्यः ॥५८॥

१. **इयम्**=यह **उपरि मतिः**=ऊर्ध्वदेश में स्थित चन्द्रमा है (मन्येत यया—मतिः—उव्वट, 'चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्', 'यन्मनसा मनुते तद्वाचा वदति')—मन सर्वोपरि है, वह मन जो आह्लादमय है २. **तस्य** (तस्याः) **वाङ् मात्या**=उसी की सन्तान यह वाणी है, इसी से इसे 'मात्या' कहा गया है (मतेः इयम्)। वस्तुतः वाणी सदा विचारपूर्वक ही उच्चरित होनी चाहिए। ३. **वाच्यः**=वाणी की सन्तान ही **हेमन्तः**=हेमन्त है (हि गतौ वृद्धौ) सब प्रकार की गति, कर्म व वृद्धि इस वाणी का ही परिणाम है (यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति)। ४. **पंक्तिः हैमन्ती**=हेमन्त का—गति व वृद्धि का ही परिणाम 'पंक्ति' है। पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ व पाँच प्राण ये गति से ठीक रहते हैं। क्रियाशीलता ही इनके स्वास्थ्य का रहस्य है। ५. **पङ्क्त्यै** =ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय व प्राण पञ्चकों के स्वास्थ्य से **निधनवत्**=निधनवत् साम उत्पन्न होता है। यह निधनवत् साम अध्यात्म-शत्रुओं का निधन ही है। ६. **निधनवतः**=इस शत्रु-निधन से ही **आग्रयणाः**=यह अग्रगति का सन्तान, अर्थात् अत्यन्त उन्नतिवाला होता है। ७. **आग्रयणात्**=इस निरन्तर अग्रगति से **त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ**=त्रि+णव अर्थात् बारह विश्वेदेवों की इसमें उत्पत्ति होती है। सब दिव्य गुणों का इसमें जन्म होता है और **त्रयस्त्रिंश**=(३+३...) ...के प्राकृतिक देव इसमें विराजमान होते हैं। सूर्य चक्षुरूप से, चन्द्रमा मनरूप से और अग्नि वाणीरूप से इसमें निवास करती है। इसी प्रकार 'सर्वा

ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवसाते' सारे ही देवता इसमें आकर स्थित होते हैं। ८. **त्रिणवत्रयस्त्रिंशाभ्याम्**=इन बारह अध्यात्म दिव्य गुणों से तथा ३३ प्राकृतिक देवों से **शाक्वररैवते**=शाक्वर व रैवत की स्थिति होती है। यह अध्यात्म-गुणों से शक्तिशाली बनता है तो प्राकृतिक शक्तियों से स्वास्थ्य की सम्पत्तिवाला होता है। ९. शक्ति व स्वास्थ्य को पाकर यह **विश्वकर्मा**=निर्माण के सब कर्मों को करनेवाला **ऋषिः**=तत्त्वद्रष्टा बनता है। १०. यह तत्त्वद्रष्टा अपनी पत्नी से कहता है कि **प्रजापतिगृहीतया**=मुझ प्रजापति का ग्रहण करनेवाली **त्वया**=तेरे साथ **वाचं गृह्णामि**=मैं वाणी का ग्रहण करता हूँ, ज्ञानोपार्जन व योगाभ्यास करनेवाला बनता हूँ, जिससे हम **प्रजाभ्यः**=उत्तम सन्तानोंवाले हों।

भावार्थ—हम सर्वोपरि स्थित मानस-आह्लाद (चन्द्र=चदि आह्लादे) को अपनाकर मधुर वाणीवाले हों। इस वाणी को वश में करके उत्तम सन्तानों को प्राप्त करें। यही मार्ग हमें उत्तम लोक व प्रभु को भी प्राप्त कराएगा।

सूचना—१. ऊपर के पाँच मन्त्रों में 'प्रजापतिगृहीतया' शब्द की भावना (प्रजापतिः ग्राहयति यां तया) यह भी है कि पत्नी का हाथ प्रभु ही पकड़ाते हैं। 'ये सब सम्बन्ध स्वर्ग में बनते हैं' का यही भाव है, अतः इस सम्बन्ध की पवित्रता को हमें समझना चाहिए।

२. सन्तानों की उत्तमता के लिए 'प्राण, मन, चक्षु, श्रोत्र व वाक्' इन पाँचों का निग्रह—वशीकरण आवश्यक है। इस निग्रह को करनेवाला ही क्रमशः 'वसिष्ठ, भरद्वाज, जमदग्नि, विश्वामित्र व विश्वकर्मा बनता है। ये ऋषि क्रमशः 'अग्नि, वायु, आदित्य, दिशाओं व चन्द्र' के अधिपति होते हैं।

॥इति त्रयोदशोऽध्यायः सम्पूर्णः॥

चतुर्दशोऽध्यायः

ऋषिः—उशनाः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

ध्रुव

ध्रुवक्षितिर्ध्रुवयोनिर्ध्रुवासि ध्रुवं योनिमासीद साधुया।
उख्यस्य केतुं प्रथमं जुषाणाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा॥१॥

१. तेरहवें अध्याय की समाप्ति पर पति पत्नी से कह रहा था कि हम 'प्राण, मन, चक्षु, श्रोत्र व वाणी' का निरोध करके उत्तम सन्तानों को प्राप्त करें। उसी प्रकरण को आगे चलाते हुए कहते हैं कि हे पत्नि! २. **ध्रुवक्षितिः**=(क्षिति=मनुष्य) ध्रुव मनुष्यवाली तू हो, अर्थात् तेरा पति ध्रुवता से चलनेवाला हो, मर्यादित जीवनवाला हो। ३. **ध्रुवयोनिः**=(योनिः गृहम्) तू ध्रुव गृहवाली हो। जिस घर से तू आयी है उस घर के लोग भी ध्रुवतावाले हों, अर्थात् तेरे माता-पिता का जीवन भी मर्यादावाला हो। ४. परिणामतः **ध्रुवा असि**=तू स्वयं भी ध्रुव हो। पति का जीवन मर्यादित होने पर ही पत्नी का जीवन मर्यादित हो सकता है, उसे बीज में भी अमर्यादा न मिली हो, इसी से मन्त्र में माता-पिता के भी मर्यादित जीवन का उल्लेख है। बीज में भी मर्यादा हो, परिस्थिति में भी। ५. इस प्रकार **साधुया**=बड़ी उत्तमता से तू **ध्रुवं योनिम् आसीद**=इस मर्यादा-सम्पन्न घर में निवास करनेवाली हो, अर्थात् स्वयं ध्रुव बनकर अपने घर को भी ध्रुव ही बनाना। तेरी सब सन्तानें ध्रुव जीवनवाली हों। ६. इस सबके साथ **प्रथमम्**=मुख्य बात यह है कि (The first and foremost thing is this) **उख्यस्य**=(उखा=स्थाली=पतीली) उखा के, पाचन-पात्र के **केतुम्**=अन्न को **जुषाणा**=तू प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाली हो। घर के सभी व्यक्तियों का स्वास्थ्य भोजन के पाचन पर ही निर्भर करता है। पत्नी ने बड़े प्रेम से भोजन तैयार करना है। प्रेम से बनाया गया भोजन ही स्वास्थ्य का साधक होता है। ७. **इह**=इस गृहस्थाश्रम में **अविश्नौ**=स्वयं कर्मों में व्याप्त होनेवाले **अध्वर्यू**=यज्ञ से अपना सम्बन्ध रखनेवाले माता-पिता **त्वा**=तुझे **सादयताम्**=बिठाएँ। माता-पिता का जीवन क्रियामय-यज्ञिय होगा तभी तो कन्या में भी वही वृत्ति उत्पन्न हो पाएगी।

भावार्थ—पति ध्रुव हो, कन्या के माता-पिता ध्रुव हों, पत्नी स्वयं भी ध्रुव हो। वह पाचन-कुशल हो। क्रियाशील-यज्ञशील माता-पिता उसे घर के निर्माण के लिए गृहस्थाश्रम में प्रवेश कराएँ।

ऋषिः—उशनाः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृद्ब्राह्मीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

कुलायिनी

कुलायिनी घृतवती पुरन्धिः स्योने सीद सदने पृथिव्याः। अभि त्वा रुद्रा वसवो गृणन्त्विमा ब्रह्म पीपिहि सौभगायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा॥२॥

१. **कुलायिनी**=(कुलायो नीडम्=गृहम्) तू उत्तम गृहवाली हो। पत्नी ने ही घर को बनाना है—जैसा वह चाहेगी, वैसा ही घर वह बना लेगी। ताण्ड्य ब्राह्मण में 'प्रजा' वै 'कुलायम्' (१९।१५।१) सन्तान को कुलाय कहा है—इससे ही कुल आगे बढ़ता है

(कुलम्=प्रयते अनेन) अतः तू **कुलायिनी**=उत्तम प्रजावाली हो। सन्तान के उत्तम होने पर ही घर उत्तम बना रहता है। २. **घृतवती**=तू मलों के क्षरण के द्वारा (घृ=क्षरण) उत्तम स्वास्थ्यवाली तथा ज्ञान की दीप्तिवाली (घृ=दीप्ति) हो। शरीर में स्वास्थ्य की दीप्ति हो तो मस्तिष्क में ज्ञान की। ३. **पुरन्धिः**=(रूपिणी युवतिः—श० १३।१।९।६) स्वास्थ्य व ज्ञान को प्राप्त करके तू उत्तम रूपवाली हो। (पुरूणि बहूनि सुखानि दधाति—द०) तू बहुत सुखों को धारण करनेवाली बन। अथवा 'पृ पालनपूरणयोः' पालक व पूरक बुद्धि का धारण करनेवाली तू हो, तुझे घर के पालन व पूरण का ध्यान हो। ४. **पृथिव्याः**=(प्रथ विस्तारे) विस्तृत हृदयवाली श्वश्रू के **स्योने**=सुखमय **सदने**=घर में **सीद**=तू बैठ। तेरी सास उदार हृदयवाली हो, छोटी-छोटी बातों में व्यर्थ क्रोध करनेवाली न हो। वास्तव में तो अब तक उसने इस घर का निर्माण किया था अब तू घर की साम्राज्ञी बन (साम्राज्ञी श्वश्र्वां०)। ५. **त्वा**=तुझे **वसवः**=प्रारम्भिक शिक्षणालय के अध्यापक 'उत्तम निवास' की विद्या को **गृणन्तु**=उपदिष्ट करें तथा **रुद्राः**=उच्च विद्यालय के अध्यापक **त्वा अभिगृणन्तु**=तुझे बाह्य व अन्तः शत्रुओं को रुलाने का उपदेश करें। तुझे वसु प्राथमिक शिक्षा प्राप्त कराएँ तो रुद्र विद्यालय की उच्च शिक्षा देनेवाले हों। इसके बाद महाविद्यालय में प्राप्त होनेवाली विशेष-शिक्षा सद्गृहिणी बनने के लिए उतनी उपयुक्त नहीं, अतः मन्त्र में यहाँ 'आदित्यों' का उल्लेख छोड़ दिया है। ६. **इमा ब्रह्म**=इन ज्ञानों को तू **सौभगाय**=सौन्दर्य के लिए, घर के प्रत्येक कार्य को समझदारी से करने के लिए **पीपिहि**=(प्राप्नुहि) प्राप्त हो। **अश्विना**=कार्यों में व्याप्त होनेवाले प्राणापानशक्ति-सम्पन्न **अध्वर्यू**=यज्ञशील माता-पिता **त्वा**=तुझे **इह**=इस गृहस्थयज्ञ में **सादयताम्**=स्थापित करें।

भावार्थ—पत्नी का मौलिक कर्त्तव्य यह है कि वह घर को उत्तम बनाये, स्वयं स्वस्थ व ज्ञान की दीप्तिवाली हो। घर के पालन व पूरण का ध्यान करे। प्राथमिक व विद्यालय की उच्च शिक्षा प्राप्त करके वह अन्तः व बाह्य शत्रुओं को दूर कर सके। ज्ञानपूर्वक कार्य करनेवाली हो, जिससे उसके प्रत्येक कार्य में सौन्दर्य हो।

ऋषिः—उशनाः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—विराड्ब्राह्मीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

दक्ष-पिता

स्वैर्दक्षैर्दक्षपितेह सीद देवानांꣳसुम्ने बृहते रणाय। पितेवैधि सूनवऽआ सुशेवा स्वावेशा तन्वा संविशस्वाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा॥३॥

१. **दक्षपिता**=(दक्षं वीर्यं पाति, वीर्यस्य पालयित्री—म०) अपने वीर्य=प्राणशक्ति की रक्षा करनेवाली तू **स्वैः दक्षैः**=(दक्षं वीर्यं बलम्) अपने बलों के साथ **इह**=इस गृहस्थ में **सीद**=स्थित हो, अर्थात् इस गृहस्थ में तू अपनी प्राणशक्ति की रक्षा का पूरा ध्यान करनेवाली बन। **देवानां सुम्ने**=तू सब देवों अर्थात् इन्द्रियों के सुख में स्थित हो। प्राणशक्ति की रक्षा से सब इन्द्रियों का सुख सम्भव क्यों न होगा? इन सब इन्द्रियों में प्राणशक्ति ही तो कार्य करती है। ३. इस प्राणशक्ति की रक्षा से तू **बृहते रणाय**=महती रमणीयता के लिए हो। वीर्य की रक्षा होने पर तेरा सारा शरीर सुन्दर बना रहेगा। ४. **इव**=जैसे पिता **सूनवे**=पुत्र के लिए सुख देनेवाला होता है, उसी प्रकार तू सारे घर के लिए **आ**=समन्तात् **सुशेवा**=उत्तम कल्याण के लिए हो। तू सबको सुख देनेवाली हो। ५. **स्वावेशा**=(सु=आविश) सर्वथा उत्तमता से घर में प्रवेश करनेवाली तू **तन्वा**=शक्तियों के विस्तार के साथ (तन् विस्तारे) **संविशस्व**=सम्यक्तया स्थित हो, (अवस्थानं कुरु—म०)। ६. **अश्विनौ**=स्वयं कार्यों में व्याप्त होनेवाले

अध्वर्यू=यज्ञ का सञ्चालन करनेवाले माता-पिता **त्वा**=तुझे **इह**=इस गृहस्थ में **सादयताम्**=बिठाएँ। उनसे उत्तम संस्कारों को लेकर तू भी इस घर को उत्तम बनानेवाली हो।

भावार्थ—पत्नी शक्ति की रक्षा करनेवाली हो, जिससे उसकी सब इन्द्रियाँ उत्तम हों और उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रमणीयता हो। घर में सभी के सुख का वह ध्यान करे, उसकी प्रत्येक क्रिया उत्तम हो। वह अपनी शक्तियों का ह्रास न होने दे।

ऋषिः—उशनाः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—भुरिग्ब्राह्मीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

स्तोमपृष्ठा (वीर-जननी)

पृथिव्याः पुरीषमस्यप्सो नाम तां त्वा विश्वेऽअभिगृणन्तु देवाः। स्तोमपृष्ठा घृतवतीह सीद प्रजावदस्मे द्रविणा यजस्वाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा ॥४॥

१. तू **पृथिव्याः**=विस्तृत हृदयान्तरिक्षवाली अपनी सास को **पुरीषम्**=पालन करनेवाली **असि**=है। 'उन्हें किसी प्रकार का कष्ट न पहुँचे' इस बात का ध्यान करनेवाली है। २. **अप्सः नाम**=(रसो नाम, अपः सनोति इति अप्सः, अपां हि रसो गुणः—म०) तू रसमय होने के नाते प्रसिद्ध है। तेरे व्यवहार में कटुता न होकर रस-ही-रस है। (अप्स इति रूपनाम—नि० ३।७) वस्तुतः इस रसमयता के कारण तेरा रूप उत्तम है। ३. तेरे व्यवहार से प्रसन्न होकर घर में रहनेवाले **विश्वेदेवाः**=सब देव—जिनमें कई अभी खेल ही रहे हैं (क्रीडन्ति), कई विद्यालय में प्रविष्ट होकर एक-दूसरे के जीतने में लगे हैं (विजिगीषा), दीक्षान्त को प्राप्त कर कई व्यवहार-क्षेत्र में प्रवेश कर गये हैं (व्यवहार), कई ज्ञान-ज्योति से द्योतित हो रहे हैं (द्युति), कई अत्यन्त वृद्ध होने से स्तुतिमात्र में लगे हैं (स्तुति), कुछ नौ-दस वर्ष की कन्याएँ खूब प्रसन्न हैं (मोद), दूसरी अठारह साल की युवतियाँ माद्यन्ती अवस्था में हैं (मद), कई विवाहित होकर नवजात सोते शिशु को गोद में लिये हैं (स्वप्न), कई पन्द्रह-सोलह साल की कन्याएँ घर के लिए नाना वस्तुओं की इच्छा कर रही हैं (कान्ति) और कई केवल चहल-पहल में ही हैं (गति), ये सब-के-सब **तां त्वा**=उस तेरी **अभिगृणन्तु**=सामने व पीछे प्रशंसा ही करें। ४. **स्तोमपृष्ठा**=(वीरजननं वै स्तोमः—तां० २१।९।३) वीरजननरूप बोझ को तू अपनी पीठ पर लिये हुए है। वीर सन्तानों को जन्म देना ही तेरा मौलिक उत्तरदायित्व है। ५. **घृतवती**=मलक्षरण से स्वास्थ्य तथा ज्ञान की दीप्तिवाली तू **इह**=इस घर में **सीद**=आसीन हो, और ६. **अस्मे**=हमारे लिए **प्रजावत् द्रविणम्**=उत्तम सन्तानवाले धन को **यजस्व**=हमारे साथ सङ्गत कर। हमें उत्तम सन्तान प्राप्त करा तथा मितव्ययिता से हमारे ऐश्वर्य को बढ़ानेवाली बन। ७. **अश्विनौ**=कर्मों में व्याप्त होनेवाले **अध्वर्यू**=यज्ञात्मक जीवनवाले माता-पिता **त्वा**=तुझे **इह**=यहाँ इस प्रकार के सुन्दर गृहस्थाश्रम में **सादयताम्**=बिठाएँ।

भावार्थ—पत्नी सास के सुख का ध्यान करे। उसकी वाणी में रस हो। घर के सब व्यक्ति उसकी प्रशंसा करें। यह वीर सन्तानों को जन्म दे। स्वस्थ व ज्ञान-दीप्त हो। घर में उत्तम सन्तानों व ऐश्वर्यों को लानेवाली हो।

ऋषिः—उशनाः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—भुरिक्शक्वरी। **स्वरः**—धैवतः॥

अपाम् ऊर्मिः

अदित्यास्त्वा पृष्ठे सादयाम्यन्तरिक्षस्य धर्त्रीं विष्टम्भनीं दिशामधिपत्नीं भुवनानाम्। ऊर्मिर्द्रप्सोऽअपामसि विश्वकर्मा तऽऋषिरश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा ॥५॥

१. **त्वा**=तुझे **अदित्याः पृष्ठे**=अखण्डता के पृष्ठ पर **सादयामि**=बिठाता हूँ, अर्थात् पूर्ण स्वास्थ्यवाली बनाता हूँ। तेरे स्वास्थ्य का खण्डन नहीं होता। २. **अन्तरिक्षस्य धर्त्रीम्**=तुझे अन्तरिक्ष का धारण करनेवाली बनाता हूँ। 'अन्तरा क्षि' तू सदा मध्यमार्ग पर चलनेवाली है। तू सदा अति को छोड़कर ही चलती है। ३. **दिशां विष्टम्भनीम्**=तू दिशाओं को थामनेवाली है। वेद में दिये गये जीवन निर्देशों को धारण करनेवाली है। ४. **भुवनानाम्**=लोकों की **अधिपत्नीम्**=तू अधिष्ठातृरूपेण रक्षिका है। इस शरीररूप पृथिवीलोक को, हृदयरूप अन्तरिक्षलोक को तथा मस्तिष्करूप द्युलोक को तू अधिष्ठात्री बनकर सुरक्षित रखती है। ५. **अपाम्**=तू प्राणशक्ति व कर्मों की **ऊर्मिः**=तरङ्ग है। तेरे जीवन में कर्मों का उत्साह है और प्राणशक्ति तुझमें तरङ्गित होती है, अतएव **द्रप्सः**=(दृप् हर्ष) तू हर्ष व आनन्द का पुञ्ज **असि**=है। तेरा जीवन नितान्त आनन्दमय व रसमय है। ६. वस्तुतः वह **विश्वकर्मा**=सम्पूर्ण कर्मों का करनेवाला प्रभु ही **ते**=तेरा **ऋषिः**=द्रष्टा है। उल्लिखित सुन्दर जीवन के कारण तू प्रभु की रक्षा का पात्र हुई है। ७. **अश्विनौ**=कर्म व्याप्तिवाले **अध्वर्यू**=यज्ञमय जीवनवाले माता-पिता तुझे **इह**=यहाँ **सादयताम्**=बिठाएँ, तुझे गृहस्थ में प्रविष्ट करानेवाले हों।

भावार्थ—पत्नी का जीवन स्वास्थ्य-सम्पन्न हो। यह मध्यमार्ग में चलनेवाली हो, वेद के आदेशों को ग्रहण करनेवाली, शरीर, हृदय व मस्तिष्करूप लोकों को धारण करनेवाली, कर्मों में उत्साह के कारण आनन्दमय जीवनवाली हो। प्रभु का इसपर अनुग्रह हो।

ऋषिः—उशनाः। **देवता**—ग्रीष्मर्तुः। **छन्दः**—निचृदुत्कृतिः। **स्वरः**—षड्जः॥

शुक्र+शुचि=ग्रीष्म

शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मावृतूऽअग्नेरन्तःश्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामापऽओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ् मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः। येऽअग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवीऽइमे। ग्रैष्मावृतूऽअभिकल्पमानाऽ इन्द्रमिव देवाऽअभिसंविशन्तु तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम्॥६॥

१. पुरोहित वर-वधू को संकेत करता है कि—वर **शुक्रः**=(शुक गतौ) सदा क्रियाशील हो। पुरुषार्थ से धन कमानेवाला हो। उद्योग न करनेवाले गृहस्थ को तो समुद्र में डुबा देना चाहिए। २. पत्नी की ओर देखकर कहता है कि—**शुचिः**=वह बड़े पवित्र जीवनवाली हो। पति क्रियाशील है, पत्नी पवित्र जीवनवाली है तो वह घर स्वर्ग क्यों न बनेगा? यहाँ 'च' का प्रयोग अपि='भी' के अर्थ में आकर यह भाव प्रकट करता है कि पति गतिशील भी हो, अर्थात् पवित्र तो हो ही, गतिशील भी। इसी प्रकार पत्नी क्रियाशील तो हो ही, पवित्र भी। इस प्रकार दोनों में दोनों ही गुण अभीष्ट हैं। ३. क्रियाशीलता व पवित्रतावाले ये दोनों **ग्रैष्मौ**=ग्रीष्म के सन्तान हैं, इनमें प्राणशक्ति की गरमी है। ये उष्णिक-उद्योगी हैं। **ऋतू**=ये ऋतुओं के समान व्यवस्थित गतिवाले हैं, सब कार्यों को समय पर करनेवाले हैं। ५. इनमें से एक-एक **अग्नेः**=उस अग्नि नामक प्रभु को **अन्तःश्लेषः**=हृदय के अन्दर आलिङ्गन करनेवाला **असि**=है। ये हृदय में प्रभु का ध्यान करनेवाले हैं। ६. इस प्रकार इनके **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्क व शरीर दोनों **कल्पेताम्**=शक्तिशाली हों (कृपू सामर्थ्ये)। ७. इनके लिए **आपः ओषधयः**=जल व ओषधियाँ **कल्पन्ताम्**=शक्ति देनेवाली हों। ये पानी पीएँ, वनस्पति खाएँ और अपने को सबल बनाएँ। ८. पति-पत्नी कहते हैं कि **मम**=मेरे **ज्यैष्ठ्याय**=ज्येष्ठतारूप=श्रेष्ठ कर्म के सम्पादन के लिए **सव्रताः**=समान व्रतवाले होकर, अर्थात् मेरी ज्येष्ठता को ही अपना

लक्ष्य बनाकर **अग्नयः**=दक्षिणाग्निरूप माता, गार्हपत्याग्निरूप पिता तथा आहवनीयाग्निरूप आचार्य **पृथक्**=अलग-अलग—पाँच वर्ष तक माता, आठ वर्ष तक पिता तथा चौबीस वर्ष तक आचार्य **कल्पन्ताम्**=समर्थ हों। ये सब मिलकर हमें ज्येष्ठ बनानेवाले हों। ९. **इमे द्यावापृथिवी अन्तरा**=इस द्युलोक व पृथिवीलोक के बीच में **ये अग्नयः** =जो माता-पिता व आचार्यरूप अग्नियाँ हैं, वे **समनसः**=समान मनवाले हों, उन सबकी यह समान कामना हो कि हमें इन भावी नागरिकों को उत्तम बनाना है। १०. तुम दोनों पति-पत्नी **ग्रैष्मौ**=गरमी व उत्साहवाले बनो, **ऋतू**=नियमित गतिवाले होके **अभिकल्पमाना**= शरीर व अध्यात्म बल का सम्पादन करनेवाले बनो। ११. **इन्द्रमिव**=सब इन्द्रियों को जीतकर इन्द्र के समान बने हुए तुझे **देवाः**=सब दिव्य गुण **अभिसंविशन्तु**=प्राप्त हों। १२. **तया देवतया**=उस प्रसिद्ध देवता परमात्मा के साथ सम्पर्क के द्वारा **अङ्गिरस्वत्**=अङ्ग-अङ्ग में रस के सञ्चारवाले होकर **ध्रुवे सीदतम्**=तुम ध्रुव होकर इस मर्यादावाले घर में आसीन होओ। प्रभु-सम्पर्क से तुम्हें शक्ति प्राप्त हो। तुम्हारा जीवन मर्यादित हो और सारा घर मर्यादा में चलनेवाला हो।

भावार्थ—पति-पत्नी क्रियाशील व पवित्रतावाले हों। प्रतिदिन प्रभु-सम्पर्क से अपने को प्रकृष्ट बलवाला बनाते हुए ये मर्यादा का पालन करनेवाले होकर घर में निवास करें।

ऋषिः—विश्वेदेवाः। **देवता**—वस्वादयो मन्त्रोक्ताः। **छन्दः**—भुरिक्प्रकृतिः [उ], स्वराट्पङ्क्तिः [क], निचृदाकृतिः [र]। **स्वरः**—धैवतः [उ], पञ्चमः [क, र]॥

'अग्नि—वैश्वानर'

[उ]सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजूर्देवैः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजूर्वसुभिः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा [क]सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजू रुद्रैः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा [र]सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजूरादित्यैः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजूर्विश्वैर्देवैः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा ॥७॥

१. हे पत्नि! तू **ऋतुभिः सजूः**=ऋतुओं के साथ समान प्रीतिवाली है। ऋतुओं की भाँति ही तू बड़ी व्यवस्थित गतिवाली है। २. **विधाभिः सजूः**=(आपो वै विधाः, अद्भिर्हीदं सर्वं विहितम्—श० ८।२।२।८) जलों के साथ तू समान प्रीतिवाली है। ऋतुओं से तूने मर्यादा सीखी, तो जलों से तू शान्ति का पाठ लेती है, तेरा स्वभाव शीतलता व माधुर्य है। ३. **देवैः सजूः**=तू दिव्य गुणों के साथ समान प्रीतिवाली है। सब दिव्य गुणों को अपनाने का पूर्ण प्रयत्न करती है। ४. **वयोनाधैः देवैः सजूः**=(प्राणा वै वयोनाधाः प्राणैर्हीदं सर्वं वयुनं नद्धम्—श० ८।२।२।८) तू देदीप्यमान प्राणों के साथ प्रीतिवाली है। तेरी प्राणशक्ति तुझे तेजस्विनी बनाती है। तू अपनी प्राणशक्ति से चमकती है। ५. **त्वा**=तुझे **अश्विनौ अध्वर्यू**=कर्मों में व्यापृत रहनेवाले यज्ञशील माता-पिता **इह**=इस गृहस्थ में **सादयताम्**=बिठाएँ। वे **त्वा**=तुझे **अग्नये**=प्रगतिशील व्यक्ति के लिए तथा **वैश्वानराय**=सबका भला करनेवाले के लिए देते हैं। आदर्श पति के लिए दो बातें आवश्यक हैं—एक तो वह प्रगतिशील हो proggressive mentality को लिये हुए हो। दूसरा यह कि वह यथासम्भव सभी का भला करे। अग्नि

हो, वैश्वानर हो। किसी से वैर-विरोध करनेवाला न हो। ६. **ऋतुभिः सजूः**=ऋतुओं के साथ तेरी प्रीति हो। उनके समान तू सब कार्य समय पर करनेवाली हो। **विधाभिः सजूः**=जलों के साथ प्रीतिवाली हो, जलों की भाँति शान्त व मधुर बन। **वसुभिः सजूः**=वसुओं के साथ तेरा प्रेम हो, वसुओं के साथ अविरोध में चलती हुई तू अपने निवास को उत्तम बनानेवाली हो। **देवैः वयोनाधैः सजूः**=(छन्दांसि वै देवा वयोनाधाः छन्दाभिर्हीदं सर्वं प्रज्ञानं नद्धम्—श० ८।२।२।८) ज्ञान-ज्योति देनेवाले शब्दों से तेरी प्रीति हो, छन्दों के ज्ञान से अपने को आच्छादित करके वासनाओं के आक्रमण से तू अपने को सुरक्षित करनेवाली हो। **अश्विनौ अध्वर्यू**=कार्यों को कल पर न टालनेवाले यज्ञ के प्रवर्त्तक तेरे माता-पिता **त्वा**=तुझे **अग्नये वैश्वानराय**=अग्नि के समान प्रकाशमान (भद्रं वर्णं पुष्यन्) तथा सबको आगे ले-चलनेवाले (विश्वान् नरान् नयति) नेतृत्व देनेवाले व्यक्ति के लिए **इह**=यहाँ **सादयताम्**=प्राप्त कराएँ। ऐसे ही व्यक्ति को तेरा जीवन-सखा बनाएँ। ७. **ऋतुभिः सजूः**=तू ऋतुओं की साथी बन। उनकी भाँति नियमित गतिवाली हो। **विधाभिः सजूः**=जलों की साथी हो। उनकी भाँति सब वस्तुओं का निर्माण करनेवाली हो (विदधति इति विधाः) **रुद्रैः सजूः**=एकादश रुद्रों की तू संगिनी हो। दस प्राण व आत्मा तुझे प्रिय हों, इनकी उन्नति में तू अपनी उन्नति समझे। **देवैः वयोनाधैः सजूः**=इन शक्ति देनेवाले प्राणों के साथ तेरा साथ बना रहे। **अश्विनौ अध्वर्यू**=प्राणापान-शक्तिसम्पन्न परन्तु अहिंसात्मक (अ+ध्वर) जीवनवाले तेरे माता-पिता **त्वा**=तुझे **इह**=यहाँ गृहस्थ में **अग्नये वैश्वानराय**=(अगि गतौ) क्रियाशील व सर्वहितकर्त्ता व्यक्ति के लिए **सादयताम्**=प्राप्त कराएँ। ८. **ऋतुभिः सजूः**=तू ऋतुओं की सखी हो, उनमें ग्रीष्म से शुचिता का, वर्षा से आनन्द वर्षण का, शरत् से वासनाओं के शीर्ण करने का, हेमन्त से वृद्धि का, शिशिर से द्रुतगति-स्फूर्ति का तथा वसन्त से चारों ओर सुगन्ध फैलाने का पाठ तू पढ़। **विधाभिः सजूः**=जलों की तू सखी हो। जलों के समान तू नैर्मल्यवाली हो। **आदित्यैः सजूः**=बारह आदित्यों की तू सखी बन। उनसे शिक्षा ग्रहण करके संसार वृक्ष की विशिष्ट शाखा बनने का निश्चय कर (विशाखा), ज्येष्ठ बनने का संकल्प रख (ज्येष्ठ), कामादि से पराभूत न हो (अ+षाढ़ा), सदुपदेशों का श्रवण कर (श्रवणा), तेरा मार्ग सदा कल्याण का हो (भाद्रपदा), कल-कल की उपासना करनेवाली न हो (अश्विनी), शत्रुओं का अभी से छेदन प्रारम्भ कर (कृतिका), अपने अन्दर छिपे हुए कामादि शत्रुओं को ढूँढनेवालों में तू अग्रणी बन (मृगशिरस्), इन्हें मारकर तू अपना वास्तविक पोषण साध (पुष्य), यह निश्चय कर कि तुझसे पाप न हो (मघा=मा अघ)। इसी निष्पापता को सच्चा ऐश्वर्य समझ (मघ=ऐश्वर्य) उस समय यह प्रलोभनमय संसार तेरे लिए तुच्छ हो जाएगा (फल्गुनी, फल्गु-फोक) इस आश्चर्य को अपने जीवन में करनेवाली तू चित्रा होगी। यही आदित्यों का सखित्व है। **देवैः वयोनाधैः सजूः**=शक्तिप्रद प्राणों की तू सखी बन। आदित्य तो हैं ही प्राण। **त्वा**=ऐसी तुझे **अश्विनौ अध्वर्यू**=सदा क्रियाशील यज्ञमय जीवनवाले माता-पिता **अग्नये वैश्वानराय**=अग्निवत् सब दोषों का भस्म करनेवाले, सर्वहित साधक व्यक्ति के लिए **इह**=इस गृहस्थ में **सादयताम्**=प्राप्त कराएँ। ९. **ऋतुभिः सजूः**= तू ऋतुओं के साथ मित्रतावाली हो, ऋतुगामिनी हो। **विधाभिः सजूः**=जलों की तरह निरन्तर कर्मों में व्याप्त होती हुई उनकी सखी बन। **विश्वैः देवैः सजूः**=इस कर्मव्याप्ति द्वारा सब दिव्य गुणों की सङ्गिनी बन। **देवैः वयोनाधैः सजूः**=उत्तम जीवन के साथ सम्बद्ध करनेवाले (वयः+नह्) देवों के साथ तेरी मित्रता हो। **त्वा**=तुझे **इह**=इस गृहाश्रम में **अश्विनौ अध्वर्यू**=प्राणापान शक्ति-सम्पन्न, यज्ञिय वृत्तिवाले माता-पिता **अग्नये वैश्वानराय**=आगे बढ़नेवाले, सर्वहित

साधक व्यक्ति के लिए ही **सादयताम्**=प्राप्त कराएँ।

भावार्थ—पत्नी नियमित जीवनवाली, शान्त, मधुर स्वभाववाली, दिव्य गुणोंवाली, प्राणशक्ति-सम्पन्न हो (नाजुक नहीं) और पति 'अग्नि'=उन्नतिशील व 'वैश्वानर' सबका भला ही करनेवाला हो। ऐसा होने पर ही ये प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'विश्वेदेवाः' बन सकेंगे।

ऋषिः—विश्वदेवः। **देवता**—दम्पती। **छन्दः**—भुरिग्जगती। **स्वरः**—निषादः॥

अपः+ओषधीः—आठ आदेश

प्राणम्मे पाह्यपानम्मे पाहि व्यानम्मे पाहि चक्षुर्मऽउर्व्या विभाहि श्रोत्रम्मे श्लोकय। अपः पिन्वौषधीर्जिन्व द्विपादव चतुष्पात्पाहि दिवो वृष्टिमेरय॥८॥

१. गत मन्त्र के पति-पत्नी से प्रभु कहते हैं कि हैं कि—हे जीव! **मे प्राणं पाहि**=मेरे दिये हुए प्राण की तू रक्षा करना। प्राणशक्ति का अपव्यय न करना। २. **मे अपानं पाहि**=मुझसे दी गई अपानशक्ति को सुरक्षित रखना। यही तेरे दोषों को दूर करके तेरे शरीर को निर्दोष बनाएगी। ३. **मे व्यानं पाहि**=मेरी दी हुई व्यानशक्ति की भी रक्षा करना। यह सारे शरीर में गति करती हुई तेरे सारे स्नायुसंस्थान को ठीक रक्खेगी। तुझे किसी प्रकार का नर्वससिस्टम का रोग पीड़ित न करेगा। ४. **मे चक्षुः**=मुझसे दी गई आँख को **उर्व्या**=विस्तीर्णता से **विभाहि**=विशिष्ट दीप्तिवाला करना। तेरा दृष्टिकोण सदा विशाल हो, संकुचित न हो। ५. **मे श्रोत्रं श्लोकय**=मेरे द्वारा प्रदत्त श्रोत्र को तू उत्तम शब्दों का सुननेवाला बनाना (श्लोकः=यशः, पद्यम्)। यह यश की ही बातें सुने तथा ज्ञान की वाणियाँ ही इसे प्रिय हों। ६. इस सबके लिए **अपः पिन्व**=(पुष्णीहि-म०) जलों का ही शरीर में पोषण कर—प्यास लगने पर जलों से ही गले को सींच। **ओषधीः जिन्व** (प्राप्नुहि)=भोजन के लिए ओषधियों को प्राप्त कर। वनस्पति ही तेरा भोजन हो। ७. इस सात्त्विक भोजन से सात्त्विक वृत्तिवाला बनकर तू **द्विपात् अव**=सब मनुष्यों की रक्षा कर, सभी का प्रीणन करनेवाला हो। **चतुष्पात् पाहि**=गौ आदि चौपायों का भी तू रक्षण करनेवाला बन। ८. **दिवः**=ज्ञान की **वृष्टिम् ऐरय**=वृष्टि को तू प्रेरित कर। स्वयं ज्ञान प्राप्त करके औरों को भी ज्ञान देनेवाला बन अथवा **दिवः वृष्टिम् ऐरय**=तू आकाश से वृष्टि को प्रेरित कर। नियमपूर्वक यज्ञादि कर्मों को करता हुआ तू **'निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु'** इस प्रार्थना को क्रियान्वित करनेवाला बन।

भावार्थ—मन्त्र में उल्लिखित आठ आदेशों का हम पालन करें। प्राण, अपान, व्यान की रक्षा करें, विशाल दृष्टि व उत्तम श्रवणवाले बनें, जलों व ओषधियों का ही ग्रहण करें, मनुष्य व अन्य प्राणियों का ध्यान करें और अन्त में यज्ञादि से सामयिक वर्षा को सिद्ध करें।

ऋषिः—विश्वेदेवाः, प्रजापत्यादयः। **छन्दः**—निचृद्ब्राह्मीपङ्क्तिः[क], शक्वरी[र]। **स्वरः**—पञ्चम[क] धैवतः[र]॥

वयः+छन्दः

[क]**मूर्धा वयः प्रजापतिश्छन्दः क्षत्रं वयो मयन्दं छन्दो विष्टम्भो वयोऽधिपतिश्छन्दो विश्वकर्मा वयः परमेष्ठी छन्दो वस्तो वयो विवलं छन्दो वृष्णिर्वयो विशालं छन्दः [र]पुरुषो वयस्तन्द्रं छन्दो व्याघ्रो वयोऽनाधृष्टं छन्दः सिꣳहो वयश्छदिश्छन्दः पष्ठवाड् वयो बृहती छन्दऽउक्षा वयः ककुप् छन्दऽऋषभो वयः सतोबृहती छन्दः॥९॥**

१. प्रस्तुत मन्त्रों में 'वयः' शब्द जीवन का वाचक है और 'छन्दः' इच्छा या संकल्प का अथवा 'वीर्यं छन्दांसि' शतपथ ४।४।३।१ के अनुसार 'छन्दः' का अर्थ वीर्य व शक्ति

है। वस्तुतः संकल्प में भी 'कृपू सामर्थ्ये' के अनुसार शक्ति की ही भावना है। प्रभु कहते हैं कि यदि तुम्हारा **वयः**=जीवन **मूर्धा**=शिर-स्थानापन्न है, अर्थात् यदि तुम समाज में सबसे ऊँचे स्थान पर हो तो **प्रजापतिः छन्दः**=तुम्हारा प्रबल संकल्प यह होना चाहिए कि तुम प्रजापति बनोगे, प्रजा का रक्षण करनेवाले बनोगे। समाज में ब्राह्मण का स्थान सर्वोच्च है, ब्राह्मण को प्रजा-रक्षण अपना मौलिक कर्त्तव्य समझना चाहिए। २. **क्षत्रं वयः**=यदि तुम्हारा जीवन क्षत्रिय का है तो **मयन्दं छन्दः**=तुम्हारी कामना यह होनी चाहिए कि (मयं ददाति इति-द०) तुम सबको सुख देनेवाले बनो। क्षत्रिय का कार्य 'क्षतात् त्राण' ही तो है। जो क्षत्रिय औरों को घावों से बचाकर उन्हें सुख नहीं पहुँचाता वह क्षत्रिय नहीं है। ३. **विष्टम्भः वयः**=(विष्टभ्नोति अन्नादिकं जगत् स्तम्भयति-म०) यदि तुम्हारा जीवन 'विष्टम्भ' का है, उस वैश्य का है जो अन्नादि को स्तम्भों [elevators] पर सुरक्षित रखता है तो **अधिपतिः छन्दः**=उसकी यही कामना होनी चाहिए कि वह अन्नादि का अधिष्ठाता होता हुआ प्रजा का रक्षक हो, दुर्भिक्षादि के समय अपने उन अन्न-भण्डारों से सभी को अन्न देनेवाला हो। ४. **विश्वकर्मा वयः**=यदि तुम्हारा जीवन सब कर्मों को करनेवाला है तो तुम्हारी **छन्दः**=यह कामना हो कि **परमेष्ठी**=मैं परम स्थान में स्थित होऊँ। बिना कर्मों में प्रवृत्त हुए, आलस्य में पड़े हुए तुम उच्च स्थान में स्थित नहीं हो सकते। ५. **वस्तः वयः**=(वस्त् to hurt, to kill) यदि तुम यह चाहते हो कि तुम्हारा जीवन सब बुराइयों का ध्वंस करनेवाला हो तो **विवलं छन्दः**=तुम्हारी सदा यह इच्छा रहनी चाहिए कि मैं (वल् to go) विशिष्ट कर्मों में लगा रहूँ। उत्तम कर्मों में लगे रहना ही बुराइयों को समाप्त करने का तरीका है। 'वस्त' यह संज्ञा बकरी की भी है, उसका दूध 'सर्वरोगापहा' सब रोगों का हनन करनेवाला है। वह इसीलिए कि 'व्यायामात्' बकरी दिनभर में खूब व्यायाम कर लेती है। मेरा जीवन भी 'वस्त'=बुराइयों को नष्ट करनेवाला तभी बनेगा जब मैं विशिष्ट गतिवाला, कर्मशील बनने का संकल्प रक्खूँगा। ६. **वृष्णिः वयः**=निरन्तर गतिशीलता से तुम्हारा जीवन **वृष्णिः**=खूब वीर्यवान् बना है तो **विशालं छन्दः**=अब तुम्हारी इच्छा यही हो कि मैं **वि**=विविध उत्तम कर्मों से (शालते) शोभायान होऊँ। शक्ति का विनियोग उत्तम कर्मों में ही होना ठीक है। ७. **पुरुषो वयः**=यदि तुम्हारा जीवन पौरुष सम्पन्न पुरुष का बना है तो **तन्द्रं छन्दः**=(क) तुम्हारी इच्छा यही हो कि मैं (पङ्क्तिर्वै तन्द्रं छन्दः) पाँचों का धारण करनेवाला बनूँ 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र व निषाद' सभी का हित करना मेरा धर्म हो। अथवा ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय व प्राण-पञ्चकों को वशीभूत करने का मेरा प्रयत्न हो। (ख) अथवा तन्द्रं=तन्त्रम् =कुटुम्ब का मैं धारण करनेवाला बनूँ। ८. **व्याघ्रः वयः**=यदि तुम्हारा जीवन 'पुरुषव्याघ्र' का हुआ है-तुम व्याघ्र के समान बने हो तो **अनाधृष्टं छन्दः**=प्रबल कामना करो कि मैं शत्रुओं से धर्षित न होऊँ। ९. **सिंहो वयः**=यदि 'पुरुषसिंह' के जीवनवाले हो तो **छदिः छन्दः**='नरसिंह' की भाँति प्राणिमात्र को सुरक्षित करनेवाले बनो। तुम्हारी शक्ति निर्बलों को सबलों के अत्याचार से बचानेवाली हो। १०. **पष्ठवाट् वयः**=(पष्ठे=पृष्ठभागे वहतीति-म०) यदि तुम्हारा जीवन पीठ पर खूब कार्यभार उठाने में समर्थ पुरुष का हुआ है तो **बृहती छन्दः**=(वाग् वै बृहती-श० १४।४।१।२२) वेदवाणी के अनुसार ही निरन्तर कार्यों को निभाने की तुम्हारी कामना हो। शक्ति है तो तुम मनमाने मार्ग से न चलने लग जाना। शास्त्रीय मार्ग से चलने से ही शक्ति बढ़ती है, शक्ति के मद में शास्त्रीय मार्ग छोड़ा और शक्ति का ह्रास हुआ। ११. **उक्षा वयः**=(उक्ष् to grow up, become strong) यदि तुम जीवन को शक्तिशाली पुरुष का जीवन बनाना चाहते हो, यदि निरन्तर उन्नति चाहते हो तो **ककुप् छन्दः**=दिशाएँ

ही तुम्हारे संकल्प हों, अर्थात् इन दिशाओं से तुम प्रेरणा लेकर चलो। 'प्राची' से आगे बढ़ना, 'दक्षिणा' से नैपुण्य प्राप्त करना, 'प्रतीची' से प्रत्याहार का पाठ पढ़कर, 'उदीची' से ऊपर उठना और 'ध्रुवा' से दृढ़ता व 'ऊर्ध्वा' से उन्नति के शिखर पर पहुँचने की भावना को लेना। 'ककुप्' शब्द का एक अर्थ 'शिखर' है। शिखर (summit) पर पहुँचना तुम्हारा ध्येय ही बन जाए। 'ककुप्' का अर्थ (a sacred treatise) धर्मशास्त्र भी है—शास्त्र के अनुसार चलने का संकल्प होने पर उन्नति होगी। १२. **ऋषभो वयः**=यदि श्रेष्ठ जीवनवाले 'पुरुषर्षभ' होना चाहते हो तो **सतोबृहती छन्दः**=सत् को=प्राप्त वस्तु को ही (बृहि वृद्धौ) बढ़ाने की कामना करो। सदा वर्त्तमान में चलो 'वर्त्तमानेन वर्त्तयन्ति मनीषिणः'। भूतकाल में रहकर 'था' को ही न बोलते रहो, भूतकाल ही के गीत न गाते रहो। न ही सदा भविष्यत् की बातें करते हुए 'गा' का ही प्रयोग करते रहो, और हवाई किले ही न बनाते रह जाओ। वर्त्तमान को ही उन्नत करने का प्रयत्न करो।

भावार्थ—मन्त्र के बारह आदेशों का ध्यान करके हम अपने जीवन को अधिकाधिक सुन्दर बनाएँ।

ऋषिः—विश्वदेवः। **देवता**—विद्वांसः। **छन्दः**—त्रिपृदष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः॥

लोकं ता इन्द्रम्

अनड्वान्वयः पङ्क्तिश्छन्दो धेनुर्वयो जगती छन्दस्त्र्यविर्वयस्त्रिष्टुप् छन्दो दित्यवाड् वयो विराट् छन्दः पञ्चाविर्वयो गायत्री छन्दस्त्रिवत्सो वयऽ उष्णिक् छन्दस्तुर्यवाड् वयोऽनुष्टुप् छन्दः ॥१०॥

१३. गत मन्त्र में १२ संख्या हो चुकी है, अतः १३ से यहाँ प्रारम्भ करते हैं कि **अनड्वान् वयः**=यदि जीवन को गृहस्थ की गाड़ी के वहन के योग्य बनाना है तो **पङ्क्तिः छन्दः**=पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों व पाँच प्राणों को वशीभूत करने की कामना करना। इस गृहस्थ में पाँच यज्ञों को विधिपूर्वक करने का संकल्प रखना। इन यज्ञों के अभाव में गृहस्थ-शकट उत्तमता से नहीं चलता। १४. **धेनुः वयः**=यदि तुम्हारा जीवन 'धेनु' का बना है—दुधारू गौ के समान तुम्हारे पास ऐश्वर्यरूप दुग्ध की कमी नहीं तो **जगती छन्दः**=लोकहित करने की कामना करना। १५. **त्र्यविः वयः**='धर्म, अर्थ व काम' तीनों का रक्षण (त्रि+अव) करनेवाला जीवन बनाना है तो **त्रिष्टुप् छन्दः**='काम, क्रोध व लोभ' तीनों को रोकने की तुम्हारी कामना हो। इन तीन शत्रुओं को रोककर ही तुम तीनों पुरुषार्थों को सिद्ध कर सकते हो। कामात्मतारूप काम शत्रु है अन्यथा यह पुरुषार्थ है। 'अर्थलोभ ' शत्रु है, लोभ न होने पर 'अर्थ' पुरुषार्थ है। 'विचारशून्य क्रोध' शत्रु है—परन्तु विचारसहित मन्यु 'धर्म' है। मनुष्य 'त्रिष्टुप्' से ही त्र्यवि बनता है। 'काम, क्रोध व लोभ' को रोककर ही 'धर्मार्थकाम' की साधना होती है। १६. **दित्यवाट् वयः**=(दितेः कर्म दित्यम्=खण्डनम्) यदि तूने जीवन को दित्य=शत्रु-खण्डन का वहन करनेवाला बनाना है तो तू **विराट् छन्दः**=विशेषरूप से चमकनेवाला बनने की इच्छा कर। शत्रु-खण्डन करके ही तू चमक पाएगा, अन्यथा कामादि तेरी दीप्ति को समाप्त कर देंगे। १७. **पञ्चाविःवयः**=यदि पाँचों यमों व पाँचों नियमों की रक्षा करनेवाला तेरा जीवन है तभी तू **गायत्री छन्दः**=प्राण-रक्षण की इच्छा करना। (**गयाः प्राणाः**, **त्र**=रक्षा)। यम-नियम के पालन के बिना प्राण-रक्षण सम्भव नहीं। उनके पालन के अभाव में प्राण-रक्षण की आवश्यकता भी नहीं। १८. **त्रिवत्सो वयः**='ज्ञान, कर्म व

उपासना' तीनों की साधना के लिए **उष्णिक् छन्दः**=(उत् स्निह्यति) तूने उत्कृष्ट स्नेह करने की कामना करनी। तेरा स्नेह सदा उत्कर्षवाला हो, तुझमें हीनाकर्षण न हो। १९. **तुर्यवाट् वयः**=(तुर्यं वहति) चतुर्थ अवस्था, अर्थात् संन्यास का वहन करनेवाला तेरा जीवन बने तो **अनुष्टुप् छन्दः**=अनुक्षण तेरी कामना प्रभु के स्तवन की ही हो। प्रतिक्षण प्रभु- स्तवन ही तुझे इस तुरीयावस्था में दृढ़ रक्खेगा और तू सच्चा संन्यासी बन पाएगा।

भावार्थ—प्रस्तुतः मन्त्र के सात नियम अवश्य ध्यान में रखने चाहिएँ, जिससे हम उनके पालन में प्रवृत्त हो पाएँ।

ऋषिः—विश्वेदेवाः। **देवता**—इन्द्राग्नी। **छन्दः**—भुरिगनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

पृष्ठेन

इन्द्राग्नीऽअव्यथमानामिष्टकां दृꣳहतं युवम्।
पृष्ठेन द्यावापृथिवीऽअन्तरिक्षं च विबाधसे॥११॥

१. प्रभु पति-पत्नी को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि—'**इन्द्रः अग्निः च**'=पति ने 'इन्द्र' बनना है—जितेन्द्रिय होना है तथा ऐश्वर्य को कमानेवाला बनना है, पत्नी ने 'अग्नि' बनकर घर को सदा आगे ले-चलना है। घर की उन्नति का बहुत कुछ निर्भर पत्नी पर ही होता है। हे **इन्द्राग्नी**=जितेन्द्रिय पति व अग्नितुल्य पत्नि! **युवम्**=तुम दोनों **अव्यथमानाम्**=(व्यथ् to change, to be disturbed) कभी विहत न होते हुए **इष्टकाम्**=यज्ञ को **दृंहतम्**=घर में दृढ़ करो। घर के अन्दर यज्ञ अविच्छिन्नरूप से अपने समय पर होता रहे। प्रातः का यज्ञ सायं तक, और सायं का यज्ञ प्रातः तक हम सबके मनों को सौमनस्य का देनेवाला हो। घर में यज्ञ के विच्छिन्न न होने से सन्तानों के चरित्र भी विच्छिन्न नहीं होते। २. घर के प्रत्येक व्यक्ति के लिए कहते हैं कि हे गृहजनो! तुम **पृष्ठेन**=('तेजो ब्रह्मवर्चसं श्रीवैं पृष्ठानि' ऐ० ६।५) ब्रह्मवर्चस् के द्वारा **द्यावापृथिवी**=द्यावा=मस्तिष्क को तेज के द्वारा, पृथिवी—शरीर को, **च**=और **अन्तरिक्षम्**=हृदयान्तरिक्ष को, श्रीः (श्रीञ् सेवायाम्=भज्) भक्ति व सेवा के द्वारा **विबाधसे**=विगत बाधावाला करते हो, निर्बाध करते हो। तुम्हारा मस्तिष्क ब्रह्मवर्चस् से दीप्त होता है, शरीर तेज से और हृदयान्तरिक्ष **श्री**=भक्ति से देदीप्यमान हो उठता है।

भावार्थ—पति जितेन्द्रिय हो, पत्नी घर की उन्नति-साधिका हो। घरों में यज्ञ अविच्छिन्न रूप से चलें। मस्तिष्क ज्ञानमय, शरीर तेजस्वी व हृदय भक्ति-सम्पन्न हो।

ऋषिः—विश्वकर्मा। **देवता**—वायुः। **छन्दः**—भुरिग्विकृतिः। **स्वरः**—मध्यमः॥

मही-स्वस्ति-शन्तमछर्दि

विश्वकर्मा त्वा सादयत्वन्तरिक्षस्य पृष्ठे व्यचस्वतीं प्रथस्वतीमन्तरिक्षं यच्छान्तरिक्षं दृꣳहान्तरिक्षं मा हिꣳसीः। विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानायोदानाय प्रतिष्ठायै चरित्राय। वायुष्ट्वाभिपातु मह्या स्वस्त्या छर्दिषा शन्तमेन तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद॥१२॥

१. पत्नी के लिए कहते हैं कि **विश्वकर्मा**=सब कर्मों को करनेवाला प्रभु **त्वा**=तुझे **अन्तरिक्षस्य पृष्ठे**=हृदयान्तरिक्ष की श्री में (पृष्ठ=श्री—ऐ० ६।५) **सादयतु**=स्थापित करे, अर्थात् तुझमें सेवा की भावना को जन्म दे (श्रिञ् सेवायाम्)। अथवा **विश्वकर्मा**=आजीविका के लिए सब धर्म्य कर्मों को करने के लिए सदा उद्यत पति तुझे सेवा की वृत्तिवाला बनाये। पति को गृह-भार को वहन करते हुए देखकर पत्नी में इस वृत्तिका उत्पन्न होना स्वाभाविक

है। 'ध्रुवैधि पोष्ये मयि' पोषण करनेवाले पति में पत्नी ध्रुव होकर रहेगी ही। २. तू **व्यचस्वतीम्**=(वि अञ्चु) वस्तुओं को व्यक्त करनेवाले ज्ञानवाली है तथा **प्रथस्वतीम्**=(प्रथ विस्तारे) हृदय के विस्तारवाली है। जहाँ तेरा ज्ञान ऊँचा है वहाँ तेरा हृदय भी विशाल है। ३. **अन्तरिक्षं यच्छ**=तू अपने मन को नियमित कर, मन को काबू करनेवाली हो। **अन्तरिक्षं दृंह**=इस मन को दृढ़ बना तथा **अन्तरिक्षं मा हिंसीः**=अपने मन को नष्ट न होने दे। 'मन के हारे हार है'—मन का उत्साह गया तो जीवन समाप्त हुआ, मन के उत्साह में ही सब उन्नति है। ४. इस प्रकार मन को नियमित, दृढ़ व जीवित बनाकर तू **प्राणाय**=प्राणशक्ति के लिए, **अपानाय**=दोषों को दूर करनेवाली अपानशक्ति के लिए, **व्यानाय**=सर्वशरीर व्यापी व्यानशक्ति के लिए और उसके द्वारा सारे नाड़ी-संस्थान के स्वास्थ्य के लिए, **उदानाय**=कण्ठदेश में ठीक स्थिति को रखनेवाली उदानवायु के लिए, **प्रतिष्ठायै**=स्थिरता के लिए तथा **चरित्राय**=उत्तम आचरण के लिए, **विश्वस्मै**=इन सब बातों के लिए सन्नद्ध हो। ५. **वायुः** (वा गतौ)=क्रियाशील पति **त्वा मह्या**=तुझे गौ के द्वारा (मही गोनाम—नि० २।११) **शन्तमेन छर्दिषा**=सब ऋतुओं में अधिक-से-अधिक शान्ति देनेवाले घर से **स्वस्त्या**=सब आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त कराने से अविनाश के द्वारा या उत्तम स्थिति के द्वारा **अभिपातु**=अन्दर व बाहर से सुरक्षित करे—इहलोक व परलोक के दृष्टिकोण से सुरक्षित करे। ६. **तया देवतया**=उस गौ, उत्तम घर व सम्पत्ति आदि को प्राप्त करानेवाले देवतुल्य पति के साथ **अङ्गिरस्वत्**=अङ्ग-अङ्ग में रसवाली तू **ध्रुवा**=ध्रुव होकर **सीद**=इस गृह में बैठ। ६. जिस घर में गौ होगी वहाँ 'देवत्व-अङ्गिरसत्व व ध्रुवत्व' ये सभी बातें सम्भव होंगी। गोदुग्ध सेवन से मन सात्त्विक व दैवी सम्पत्तिवाला बनाता है—गोरस शीतवीर्य को जन्म देकर अङ्ग-अङ्ग में रस का सञ्चार करनेवाला होता है।

भावार्थ—पत्नी हृदय में सेवा की वृत्तिवाली हो, ज्ञान के लिए विस्तारवाली, विशाल हृदयवाली हो। मन को दृढ़ व नियमित रक्खे। पति उत्तम गौ, उत्तम घर व समृद्धता का ध्यान करे।

ऋषिः—विश्वदेवः। **देवता**—दिशः। **छन्दः**—विराट्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

राज्ञी-अधिपत्नी

राज्ञ्य॑सि प्राची॒ दिग्वि॒राड॑सि दक्षि॑णा॒ दिक् स॒म्राड॑सि प्र॒तीची॒ दिक् स्व॒राड॒स्युदी॑ची॒ दिगधि॑पत्न्यसि बृह॒ती दिक् ॥१३॥

१. हे पत्नि! **राज्ञी असि**=तू (राज् दीप्तौ) शरीर में स्वास्थ्य की दीप्तिवाली है—मन में भक्ति की दीप्तिवाली तथा मस्तिष्क में ज्ञान की दीप्तिवाली है। इसी से **प्राची दिक्**=तेरी दिशा (प्र अञ्चु) आगे बढ़ने की बनी है। इन दीप्तियों के बिना आगे बढ़ना सम्भव नहीं होता। २. तू **विराट् असि**=विशेषरूप से दीप्त हुई है, क्योंकि तू (विराधनाद्वा) कार्यों को सदा विशिष्टरूप से सिद्ध करने का ध्यान करती है—प्रत्येक कार्य को अप्रमाद व गम्भीरता से करती है। इसी से **दक्षिणा दिक्**=तेरी दिशा दाक्षिण्य की हुई है। तू अपने कार्यों में बड़ी कुशल हो गई है। ३. **सम्राट् असि**=तू घर पर उत्तम प्रकार से शासन करनेवाली है—सारे घर को बड़े व्यवस्थित ढङ्ग से चलाती है। इसी से तू स्वयं भी **प्रतीची दिक्**=(प्रति अञ्चु) इन्द्रियों को विषयों से व्यावृत्त करनेवाली इन्द्रियों का प्रत्याहरण करनेवाली बनी है। स्वयं अपना शासन न कर सकनेवाला औरों का शासन नहीं कर सकता। ४. **स्वराट्**

असि=तू अपना शासन करनेवाली बनी है अथवा स्व को—आत्मा को दीप्त करनेवाली हुई है। इसी से उदीची (उद् अञ्च) तेरी दिशा उन्नति की हुई है। बिना स्वशासन के कोई कभी उन्नत नहीं हुआ। ५. **अधिपत्नी असि**=तू घर की अधिष्ठातृरूपेण रक्षिका है, अतः **बृहती दिक्**=(बृहि वृद्धौ) घर को सब प्रकार से बढ़ाने की ही तेरी दिशा है। घर की सर्वतोमुखी उन्नति करने में ही तू प्रवृत्त है। जो उन्नति न करे वह 'अधिपत्नी' कैसी!

भावार्थ—पत्नी ने 'राज्ञी, विराट्, सम्राट्, स्वराड् व अधिपत्नी' बनना है।

ऋषिः—विश्वेदेवाः। देवता—वायुः। छन्दः—स्वराड्ब्राह्मीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

ज्योतिष्मती

विश्वकर्मा त्वा सादयत्वन्तरिक्षस्य पृष्ठे ज्योतिष्मतीम्। विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानाय विश्वं ज्योतिर्यच्छ। वायुष्टेऽधिपतिस्तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद॥१४॥

१. **विश्वकर्मा**=सारे संसार के कर्मों का सञ्चालक वह प्रभु तुझे **अन्तरिक्षस्य**=हृदयान्तरिक्ष की **पृष्ठे**=पीठ पर **सादयतु**=बिठाये। जैसे घुड़सवार घोड़े की पीठ पर अविचल होकर बैठता है, उसी प्रकार तू मन पर अधिष्ठित हो। मन पूर्णरूप से तेरे वश में हो अथवा हृदयान्तरिक्ष की श्री (ऐ० ६।५) में तुझे स्थापित करे। तू **ज्योतिष्मतीम्**=ज्योतिर्मय है। तेरा जीवन ज्ञान की ज्योति से जगमगा रहा है। ३. ज्ञान की ज्योति से दीप्त होकर तू **प्राणाय**=प्राणशक्ति के लिए, **अपानाय**=दोषों को दूर करनेवाली अपानशक्ति के लिए तथा **व्यानाय**=सारे शरीर में व्याप्त होकर नाड़ीसंस्थान को उत्तम रखनेवाली व्यानशक्ति के लिए **विश्वस्मै**=इन सबके लिए समर्थ हो। ४. इस प्रकार प्राणापान, व्यान से 'भूर्भुवः स्वः' से अलंकृत होकर 'स्वस्थ, ज्ञानशीला व जितेन्द्रिय' बनकर तू अपने सन्तानों को भी **विश्वं ज्योतिः यच्छ**=सम्पूर्ण ज्ञान देनेवाली बन। ५. **वायुः ते अधिपतिः**=तेरा गुण-सम्पन्न पति क्रियाशील हो। क्रियाशीलता से दोषों का गन्धन—हिंसन करनेवाला हो। ६. **तया देवतया**=उस देवतुल्य पति के साथ **अङ्गिरस्वत्**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाले व्यक्ति की भाँति तू **ध्रुवा सीद**=ध्रुव होकर रहनेवाली बन।

भावार्थ—पत्नी का जीवन भी ज्योतिर्मय हो, जिससे वह सन्तानों को भी ज्ञान दे सके।

ऋषिः—विश्वदेवः। देवता—ऋतवः। छन्दः—स्वराडुत्कृतिः। स्वरः—षड्जः॥

नभ+नभस्य

नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतूऽअग्नेरन्तःश्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामापऽओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ् मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः। येऽअग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवीऽइमे। वार्षिकावृतूऽअभिकल्पमानाऽ इन्द्रमिव देवाऽअभिसंविशन्तु तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम्॥१५॥

१. हे पति-पत्नि! **नभः च**=तुम नभ बनो। निरुक्त के अनुसार तुम **'नेता भासाम्'**=दीप्तियों के प्रणयन करनेवाले बनो। अपने को ज्ञान की दीप्ति से भरने का प्रयत्न करो। इसी से **नभस्यः**=(नभसि साधुः, नभ हिंसायाम्) सब बुराइयों के—काम, क्रोध, लोभ के हिंसन में तुम समर्थ बनोगे। संक्षेप में अपने को ज्ञान से परिपूर्ण करो और बुराइयों को समाप्त कर

दो। २. इस प्रकार बुराइयों को समाप्त करके **वार्षिकौ**=एक-दूसरे पर आनन्द की वर्षा करनेवाले बनो। **ऋतू**=तुम दोनों पति-पत्नी का जीवन नियमित गतिवाला हो (ऋ+गतौ)। जिस प्रकार ऋतुएँ अपने समय पर आती हैं, उसी प्रकार तुम अपने कार्य को समयानुसार करनेवाले बनो। ३. ऐसा बनने पर ही तुम **अग्नेः**=प्रभु को **अन्तः**=हृदयान्तरिक्ष में **श्लेषः असि**=आलिङ्गन करनेवाले होते हो। ४. प्रभु के सम्पर्क में रहने से **द्यावापृथिवी**=तुम्हारे मस्तिष्क व शरीर **कल्पेताम्**=सामर्थ्य-सम्पन्न बनें। ५. इसके लिए **आपः ओषधयः कल्पन्ताम्**=जल और ओषधियाँ तुम्हारे लिए शक्तिशाली हों। ६. **अग्नयः**=माता (दक्षिणाग्नि), पिता (गार्हपत्य अग्नि) व आचार्य (आहवनीय अग्नि)—ये सब **सव्रताः**=समान व्रतवाले होकर **मम ज्यैष्ठ्याय**=मेरी ज्येष्ठता के लिए **पृथक्**=अलग-अलग, पाँच वर्ष तक माता, आठ वर्ष तक पिता आचरण व शिष्टाचार को तथा आचार्य मेरे ज्ञान को उन्नत करके मेरी ज्येष्ठता को सिद्ध करनेवाले हों। ७. वस्तुतः **इमे द्यावापृथिवी अन्तरा**=इस द्युलोक व पृथिवीलोक के मध्य में **ये अग्नयः**=जो भी माता-पिता व आचार्य हैं, वे **समनसः**=समान मनवाले हों। उनकी एक ही भावना हो कि हमें राष्ट्र के इन भावी नागरिकों को ज्येष्ठ बनाना है, खूब उन्नत करना है। ८. जब इस प्रकार उन्नत होकर व्यक्ति गृहस्थ में प्रवेश करेंगे तभी वे **वार्षिकौ**=आनन्द की वर्षा करनेवाले होंगे **ऋतू**=नियमित जीवनवाले होंगे तथा **अभिकल्पमाना**=शरीर व बौद्धिक उन्नति करनेवाले होंगे। शरीर व बुद्धि दोनों को शक्तिशाली बनाएँगे। इस लोक व परलोक दोनों को सफल करेंगे। शरीर व आत्मा दोनों का ध्यान करेंगे। ९. **इन्द्रम् इव**=जितेन्द्रियता के द्वारा इन्द्र के समान बने हुए इनको **देवाः**=सब देव **अभिसंविशन्तु**=प्राप्त हों। इनके अन्दर सारी अच्छाइयाँ हों। १०. ऐसे बने हुए ये पति-पत्नी **तया देवतया**=उस परमात्मा के साथ, देव बनकर महादेव के साथ रहते हुए, अर्थात् सशक्त शरीरवाले होते हुए **ध्रुवे**=ध्रुव बनकर—मर्यादित व स्थिर जीवनवाले होते हुए **सीदतम्**=इस घर में बैठें। इनका जीवन मर्यादामय व शान्त (still=स्थिर) हो।

भावार्थ—पति-पत्नी ज्ञान-ज्योतियों का प्रणयन करनेवाले तथा बुराइयों को समाप्त करनेवालों में उत्तम बनकर, प्रभु-सम्पर्क से अपने को शक्ति-सम्पन्न करते हुए, ध्रुवता से, मर्यादा व शान्ति से घर में निवास करें।

सूचना—नभः=श्रावण मास का नाम है, नभस्य=भाद्रपद का, श्रवण ही ज्ञान-प्रणयन का उपाय है। बुराइयों को समाप्त करना ही भद्र का पद=कल्याण का मार्ग है।

ऋषिः—विश्वेदेवाः। **देवता**—ऋतवः। **छन्दः**—उत्कृतिः। **स्वरः**—षड्जः॥

इष+ऊर्ज=शरत्

इषश्चोर्जश्च शारदावृतूऽअग्नेरन्तःश्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामापऽओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ् मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः। येऽअग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवीऽइमे। शारदावृतूऽअभिकल्पमानाऽइन्द्रमिव देवाऽअभिसंविशन्तु तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम्॥१६॥

१. तुम **इषः**=(इष प्रेरणे=प्र+ईर=प्रकृष्ट गति) प्रकृष्ट गतिवाले होओ **च**=तथा **ऊर्जः**=बल व प्राणशक्ति-सम्पन्न बनो। **इष** आश्विन मास का नाम है। इसमें क्षत्रिय घोड़ों को (अश्वों को) काठी लगाकर यात्राओं के लिए निकलते हैं, उसी प्रकार तुम्हारा जीवन भी इन्द्रियाश्वों

पर आरुढ़ होकर गतिवाला हो। आत्मवश्य इन्द्रियों से विचरण ही यात्रापूर्ति का साधन है। **'ऊर्ज'** कार्त्तिक मास का नाम है—'कृन्तन'=शत्रुओं का छेदन-भेदन करने के लिए तुम्हें भी बल व पराक्रमवाला बनना है। २. शक्तिशाली बनकर **शारदौ**=तुम शारद बनो—शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले बनों। जैसे शरद में सब पत्ते झड़ जाते हैं, उसी प्रकार तुमसे सब बुराइयाँ झड़ जाएँ। **ऋतू**=तुम नियमित गतिवाले बनो। ३. **अग्नेः अन्तः श्लेषः असि**=हृदय में प्रभु का आलिङ्गन करनेवाले बनों। ४. **द्यावापृथिवी कल्पेताम्**=तुम्हारे शरीर व मस्तिष्क शक्तिशाली हों। ५. उसके लिए **आपः ओषधयः कल्पन्ताम्**=जल व ओषधियाँ तुम्हें शक्तिशाली बनाएँ। ६. **अग्नयः**=माता-पिता व आचार्यरूप अग्नियाँ **मम ज्यैष्ठयाय**=मेरी ज्येष्ठता के सम्पादन के लिए **सव्रताः**=समान व्रतवाले होकर **पृथक्**= अलग-अलग, क्रमशः ५, ८ व २५ वर्ष तक **कल्पन्ताम्**=समर्थ हों। ये मेरे जीवन को खूब उन्नत कर दें। ७. **इमे द्यावापृथिवी अन्तरा**=इस द्युलोक व पृथिवीलोक के मध्य में **अग्नयः**=जो भी माता-पिता व आचार्य हैं, वे **समनसः**=समान मनवाले हों। उनकी समानरूप से एक ही कामना हो कि इस राष्ट्र की भावी सन्तति को उत्तम-ज्येष्ठ बनाना है। ८. **शारदौ**=इस प्रकार उत्तम बने हुए युवक और युवति सब बुराइयों को शीर्ण करनेवाले हों। **ऋतू**=नियमित गतिवाले हों। **अभिकल्पमाना**=शरीर व बुद्धि दोनों को समर्थ बनाएँ। अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों का साधन करें। ९. **इन्द्रमिव**=इन्द्र की भाँति बने हुए इस व्यक्ति को **देवाः अभिसंविशन्तु**=सब देवता प्राप्त हों। १०. सब देवताओं के समावेश से देव बनकर **तया देवतया**=उस महादेव के साथ, अर्थात् उसकी उपासना करते हुए **अङ्गिरस्वत्**=अङ्ग-अङ्ग में रसवाले की भाँति, अर्थात् शक्तिशाली अङ्गोंवाले होते हुए **ध्रुवे सीदतम्**=ध्रुव होकर—मर्यादित जीवनवाले होकर घर में विराजो।

भावार्थ—पति-पत्नी गतिशील हों। गतिशीलता से शक्तिशाली बनें। शक्ति से सब शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले हों। नियमित गतिवाले होकर, प्रभु की उपासना से अङ्ग-अङ्ग में रस का सञ्चार करें और ध्रुव होकर घर में निवास करें।

ऋषिः—विश्वेदेवाः। **देवता**—ऋतवः। **छन्दः**—स्वराड्ब्राह्म्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

आयु-ज्योतिः

आयुर्मे पाहि प्राणं मे पाह्यपानं मे पाहि व्यानं मे पाहि चक्षुर्मे पाहि श्रोत्रं मे पाहि वाचम्मे पिन्व मनो मे जिन्वात्मानम्मे पाहि ज्योतिर्मे यच्छ॥१७॥

१. गत मन्त्र के 'वार्षिक (आनन्द की वर्षा करनेवाले) व शारद (बुराइयों को शीर्ण करनेवाले)' पति-पत्नी प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि **मे आयुः पाहि**=मेरे जीवन की रक्षा कीजिए। वस्तुतः इस प्रार्थना को करते हुए वे अपनी आयु की रक्षा के लिए पूर्ण प्रयत्न करते हैं। पूर्ण प्रयत्न के साथ ही प्रार्थना शोभा देती है। २. इस जीवन में **प्राणं मे पाहि**=मेरी प्राणशक्ति की रक्षा कीजिए, **अपानं मे पाहि**=मेरी अपान—रोगनिराकरण-शक्ति की रक्षा कीजिए। **व्यानं मे पाहि**=मेरी इस सर्वशरीर-व्यापिनी व्यानशक्ति की रक्षा कीजिए। वस्तुतः 'प्राणापान, व्यान' से रहित जीवन कोई जीवन नहीं है। स्वस्थ जीवन ही जीवन है। ३. इस स्वस्थ जीवन में **मे चक्षुः**=मेरी आँख की **पाहि**=रक्षा कीजिए। मेरी दृष्टिशक्ति विकृत न हो जाए। मेरे जीवन का दृष्टिकोण ठीक बना रहे। इसके ठीक रहने पर ही सब कार्य ठीक होते हैं। ४. **श्रोत्रं मे पाहि**=मेरे श्रोत्र की रक्षा कीजिए। इससे मैं कभी अभद्र न सुनूँ। संसार में ये स्तुति-निन्दा को न सुनेंगे तो न झगड़ेंगे न मारेंगे। ५. **वाचं मे पिन्व**=मेरी वाणी

को प्रीणित कीजिए। यह औरों का प्रीणन करनेवाली हो, इसमें कटुता न हो। ६. **मे मनः जिन्व**=मुझे मानस शक्ति दीजिए (जिव्=give)। मेरा मन प्रबल हो। ७. **मे आत्मानं पाहि**=मेरी आत्मा की रक्षा कीजिए, अर्थात् मेरी आत्मा, जो आप हैं, उन्हें मैं भूल न जाऊँ, इसीलिए मैं चाहता हूँ कि ८. **मे ज्योतिः यच्छ**=मुझे प्रकाश दीजिए। मुझे वह ज्ञान की ज्योति दीजिए, जिससे मैं आपका दर्शन कर पाऊँ।

भावार्थ—हमारा जीवन दीर्घ, शक्ति-सम्पन्न, शुद्ध इन्द्रियों व मनवाला तथा ज्योतिर्मय हो, जिससे हम प्रभु-दर्शन में समर्थ हों।

ऋषिः—विश्वदेवः। **देवता**—छन्दांसि। **छन्दः**—भुरिगतिजगती। **स्वरः**—निषादः॥

उत्तम इच्छाएँ

मा च्छन्दः प्रमा च्छन्दः प्रतिमा च्छन्दोऽअस्त्रीवयश्छन्दः पङ्क्तिश्छन्दऽउष्णिक् छन्दो बृहती छन्दोऽनुष्टुप् छन्दो विराट् छन्दो गायत्री छन्दस्त्रिष्टुप् छन्दो जगती छन्दः ॥१८॥

१. प्रभु पति-पत्नी से कहते हैं कि तुम्हारी पहली **छन्दः**=इच्छा **मा**=लक्ष्मी की हो। तुम धन को धर्म्य मार्गों से कमाने का ध्यान करो। धन के बिना गृहस्थ व संसार नहीं चल सकता। तुम्हारे ध्येय 'मा+धव' हों, लक्ष्मीपति विष्णु हों, परन्तु धन को सुपथा कमाने का प्रयत्न करो। २. **प्रमा छन्दः**=ज्ञान-प्राप्ति की तुम्हारी कामना हो। कहीं धनोपासना में फँसकर 'लक्ष्मी के वाहन-उल्लू' ही न बन जाना। केवल लक्ष्मी की उपासना उल्लू बनना ही है, अतः धन के साथ ज्ञान को जोड़ने का प्रयत्न करना। ३. इस प्रकार **प्रतिमा छन्दः**=प्रभु की ही प्रतिमा (image) तदनुरूप ही बनने की इच्छा करना। 'धन व ज्ञान' ये हमें प्रभु के समीप पहुँचा देते हैं। ४. इन बातों के लिए **अस्त्रीवयः छन्दः**=(अस्यति क्षिपति, वेञ् तन्तु सन्ताने) उस अन्न की कामना करना जो सब बुराइयों को, रोगों व मानस विकारों को दूर फेंकता है और जीवनतन्तु का सन्तान करते हुए दीर्घ-जीवन का कारण बनता है। ५. इस उत्तम अन्न के प्रयोग से **पङ्क्तिः छन्दः**=पाँचों कर्मेन्द्रियों व पाँचों प्राणों को बढ़ाने की तुम्हारी कामना हो। इन सब पञ्चकों को बड़ा ठीक रखना है। ६. ऊपर के पञ्चकों को ठीक करके **उष्णिक् छन्दः**=(उत् स्निह्यति) उत्कृष्ट स्नेह की तुम्हारी इच्छा हो। तुम्हारा प्रेम हीन वस्तुओं के साथ न हो। ७. **बृहती छन्दः**=(बृहि वृद्धौ) वृद्धि-उन्नति की ही तुम्हारी कामना हो। ८. इसके लिए **अनुष्टुप् छन्दः**=अनुक्षण प्रभु-स्तवन की हम कामना करें। हमें कभी प्रभु-विस्मरण न हो। ९. तभी **विराट् छन्दः**=हम विशेषरूप से दीप्त होने की कामना कर सकेंगे। प्रभु-स्मरण हमारे चेहरों को आनन्द से दीप्त कर देता है। अथवा प्रभु-स्मरण ही हमें **विराट्**-विशिष्टरूप से व्यवस्थित (regulated) जीवनवाला बनाएगा १०. और हम **गायत्री छन्दः**=प्राण-रक्षण की इच्छा कर पाएँगे। व्यवस्थित जीवन में ही प्राण सुरक्षित रहते हैं। ११. इसके लिए तुमने **त्रिष्टुप् छन्दः**=काम, क्रोध व लोभ तीनों को रोकने की कामना करनी है। १२. **जगती छन्दः**=लोकहित में लगे रहने की इच्छा करनी। लोकहित में लगा हुआ व्यक्ति वासनाओं से बचा रहता है और दीर्घ-जीवन पाता है।

भावार्थ—इस मन्त्र का आरम्भ 'मा' से है और समाप्ति 'जगती' पर है, अतः ऐसा प्रतीत होता है कि सम्पत्ति का सर्वोत्तम विनियोग लोकहित ही है।

ऋषिः—विश्वदेवः। देवता—पृथिव्यादयः। छन्दः—आर्षीजगती। स्वरः—निषादः॥

पृथिवी छन्दो॒ऽन्तरि॑क्षं॒ छन्दो॒ द्यौश्छन्दः॒ समा॒श्छन्दो॒ नक्ष॑त्राणि॒ छन्दो॒ वाक् छन्दो॒ मन॒श्छन्दः॑ कृ॒षिश्छन्दो॒ हिर॑ण्यं॒ छन्दो॒ गौश्छन्दो॒ऽजाच्छन्दोऽ श्व॒श्छन्दः॑॥१९॥

१३. **पृथिवी छन्दः**=तुम्हारी इच्छा शरीर को पूर्ण स्वस्थ करने की हो। इसकी शक्तियों का तुम विस्तार करो। १४. **अन्तरिक्षं छन्दः**=हृदयान्तरिक्ष को निर्मल बनाने की कामना करो। इसके अधिपति बनो, मन को वश में करके चलो, सदा मध्यमार्ग को अपनाओ। यह मन तुम्हें अति में ले-जानेवाला न हो जाए। १५. **द्यौः छन्दः**=मस्तिष्करूप द्युलोक की तुम कामना करो। इसे (दिव्=द्युति) प्रकाशमय बनाने के लिए प्रयत्नशील होओ। १६. **समाः छन्दः**=(समायन्ति ऋतवो यस्यां सा समाः) संवत्सर की तुम्हारी कामना हो, जैसे इसमें सब ऋतुएँ समय पर आती हैं, इसी प्रकार तुममें भी सब कर्त्तव्य समय-समय पर आते रहें। तुम अपने सब कार्यों को समय पर करते रहो अथवा **समाः**=काल जैसे सबके लिए सम है, उसी प्रकार तुम भी सबके लिए सम होओ। तुम्हारे व्यवहार में वैषम्य न हो। १७. **नक्षत्राणि छन्दः**=नक्षत्रों के समान (नक्ष गतौ) सदा क्रियाशीलता की भावना तुममें बनी रहे। 'न क्षिणोति हिनस्ति इति'=तुम नक्षत्रों से हिंसा न करने का पाठ सीखो। ये कल्याण-ही-कल्याण करते हैं, हिंसा नहीं। तुम भी लोगों को थोड़ा-बहुत प्रकाश देनेवाले होओ। १८. **वाक् छन्दः**=तुम्हारी इच्छा निरन्तर ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करने की हो। १९. **मनः छन्दः**=मन को निरुद्ध करने की और इस प्रकार मानस-बल को बढ़ाने की तुम्हारी इच्छा हो। २०. इस मनो-निरोध के लिए तुम **कृषिः छन्दः**=कृषि आदि कार्यों की इच्छा करो। कृषि आदि कार्यों में लगा हुआ मन विषयों में जाने से रुका रहेगा। २१. इस कृषि से प्राप्य **हिरण्यं छन्दः**=धन की तुम कामना करो। कृषि से प्राप्य धन वस्तुतः मनुष्य के लिए बड़ा हितरमणीय है, अतः वस्तुतः यही धन 'हिरण्य' है। २२. **गौः छन्दः**=वहाँ खेती में गौओं की तुम इच्छा करो (तत्र गावः)। कृषि करते हुए गौएँ रखने में आर्थिक कष्ट नहीं होता। २३. **अजाः छन्दः**=वहाँ खेती में तू बकरियों को रखने की इच्छा कर तथा २४. **अश्वः छन्दः**=घोड़ों को रखने की तू कामना कर। ये गौ और घोड़े ही तेरे जीवन को उत्कृष्ट बुद्धि व बल से सम्पन्न करेंगे।

भावार्थ—यह मन्त्र 'पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्यौ' से प्रारम्भ होता है, शरीर, मन व मस्तिष्क को उत्तम बनाने की कामना हमें करनी ही चाहिए। समाप्ति पर 'गौ-अजा व अश्व' हैं। गौ-दुग्ध हमारे मस्तिष्कों को सुन्दर बनाएगा, अजा दुग्ध हमारे मनों को तथा अश्व हमारे शरीर को सबल बनानेवाले होंगे।

ऋषिः—विश्वदेवः। देवता—अग्न्यादयः। छन्दः—भुरिग्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

आराध्यदेवता

अ॒ग्निर्दे॒वता॒ वातो॑ दे॒वता॒ सूर्यो॑ दे॒वता॑ च॒न्द्रमा॑ दे॒वता॒ वस॑वो दे॒वता॑ रु॒द्रा दे॒वता॑ऽऽदि॒त्या दे॒वता॑ म॒रुतो॑ दे॒वता॒ विश्वे॑दे॒वा दे॒वता॒ बृह॒स्पति॑र्दे॒वतेन्द्रो॑ दे॒वता॒ वरु॑णो दे॒वता॑॥२०॥

१. **अग्निः देवता**=अग्नि तेरा देवता हो—तू अग्नि से प्रेरणा प्राप्त करनेवाला बन। अग्नि मलों का दहन कर देता है, तू भी सब मलिन वासनाओं को ज्ञानाग्नि में दग्ध

करनेवाला बन। २. **वातः देवता** =वायु तेरा देवता हो। वायु से तू कर्मफल की अपेक्षा न करते हुए कर्त्तव्य बुद्धि से कर्म करनेवाला बन। ३. **सूर्यः देवता**=सूर्य तेरा देवता हो। सूर्य की भाँति तेरी ज्ञान की ज्योति चमके। ४. **चन्द्रमाः देवता**=चन्द्र तेरा देवता हो। तू सदा आह्लादमय, सदा प्रसन्न रहने का प्रयत्न कर। ५. **वसवः देवता**=वसु तेरे देव हों। तू अपने निवास को उत्तम बनानेवाला हो। ६. **रुद्राः देवता** =रुद्र तेरे देव हों। 'रोरूयमाणो द्रवति' तू प्रभु के नामों का उच्चारण करते हुए वासनाओं पर आक्रमण करनेवाला हो। ७. **आदित्याः देवता**=आदित्य तेरे देव हों। इनसे तू सब स्थानों से अच्छाई के ग्रहण का नियम सीख। ये समुद्र में से भी खारेपन को न लेकर शुद्ध जल को लेते हैं, तू सब स्थानों से अच्छाई को ही ले। गुणग्राही बन, अवगुणों को त्याग। ८. **मरुतः देवता**=मरुत तेरे देव हों। 'मरुतः मितराविणः, महद् द्रवन्ति इति—नि० ११। १३' तू मरुतों की भाँति बहुत न बोलनेवाला तथा खूब कार्य करनेवाला बन। अथवा 'मा+रुद्' रोनेवाला न बन। ९. **विश्वेदेवाः देवता**=विश्वेदेव तेरे देवता हों। सब दिव्य गुणों को तू अपनानेवाला बन। १०. **बृहस्पतिः देवता**=ब्रह्मणस्पति तेरा देवता हो। तू ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञान प्राप्त करनेवाला हो। ११. **इन्द्रः देवता** =इन्द्र तेरा देवता हो। तू सब शत्रुओं का विद्रावण करने के हेतु जितेन्द्रिय बन। १२. **वरुणः देवता** =वरुण तेरा देवता हो। वरुण के पाश अनृतवादी को छिन्न करते हैं तथा सत्यवादी को उनमें बाँधते नहीं, अतः तू भी वरुण को देवता माननेवाला सत्यवादी बन। अथवा द्वेष का निवारण करनेवाला बन (वारयति)। इस प्रकार सत्यवादी तथा निर्वैर बनकर तू प्रभु को प्राप्त होनेवाला हो।

भावार्थ—हम अग्नि आदि देवों से प्रेरणा प्राप्त करके देव बनें और अन्त में प्रभु को प्राप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—विश्वदेवः। **देवता**—विदुषी। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

मूर्धा-ध्रुवा-धर्त्री

मूर्द्धासि राड् ध्रुवासि धरुणा धर्त्र्यसि धरणी।
आयुषे त्वा वर्चसे त्वा कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा ॥२१॥

१. **मूर्धा असि**=(एष वै मूर्धा य एष सूर्यः तपतिः—श० १३।४।१।१३) तू सूर्य की भाँति ज्ञान की दीप्ति से चमकनेवाली है, और अतएव **राट्**=बड़े व्यवस्थित (regulated) जीवनवाली है। ज्ञान हमारे जीवन को व्यवस्थित कर देता है। प्रभु के ज्ञानमय तप से ऋत और सत्य की उत्पत्ति होती है। हमारे जीवन में भी ज्ञान से इस ऋत और सत्य की उत्पत्ति क्यों न होगी? एवं, ज्ञान हमारे जीवनों में व्यवस्था लाता है। उस व्यवस्था के कारण जीवन चमक उठता है (राजृ दीप्तौ) २. **ध्रुवा असि**=(इयं पृथिवी एव ध्रुवा—श० २।३।२।४) तू इस पृथिवी के समान ध्रुवा बनती है, मर्यादा में चलनेवाली होती है। स्तुति-निन्दा, हानि-लाभ व जीवन-मरण के प्रलोभन तुझे नीति-मार्ग से विचलित नहीं कर पाते, अतएव तू **धरुणा**=सबका धारण करनेवाली बनती है। ध्रुव पृथिवी जैसे सबका धारण करती है, उसी प्रकार ध्रुव बनकर तू भी सबका धारण करनेवाली होती है। ३. **धर्त्री असि**=(वायुर्वाव धर्त्रम्—श० ८।४।१।२६) तू वायु के समान सबके जीवन का धारण करनेवाली है, गति के द्वारा सब बुराइयों का गन्धन=हिंसन करनेवाली है (वा गतिगन्धनयोः), अतएव **धरणी**=स्वास्थ्य के धरण (रक्षण) से दीर्घायुष्य का धारण करनेवाली बनती है। ५. मैं **त्वा**=तेरा सखित्व **आयुषे**=दीर्घजीवन के लिए स्वीकार करता हूँ। **त्वा**=तेरा सखित्व **वर्चसे**=वर्चस के लिए

होता है। **कृष्यै त्वा**=मैं तेरा सखा बनता हूँ, जिससे हम मिलकर अपने इस कृषिकर्म को उन्नत कर पाएँ और इस प्रकार **क्षेमाय त्वा**=मैं तुझे योगक्षेम के साधन के लिए अपनाता हूँ। वस्तुतः आदर्श जीवन वही है जिसमें लोग श्रमपूर्वक योगक्षेम को सिद्ध करते हैं और इस प्रकार अपने जीवन को दीर्घ व शक्तिशाली बना पाते हैं।

भावार्थ—गृहपत्नी ज्ञान द्वारा सूर्य की भाँति चमके, पृथिवी के समान धारण करनेवाली हो और वायु के समान शरीर के स्वास्थ्य को सुरक्षित करनेवाली हो। वायु बनकर आयु का स्थापन करे।

ऋषिः—विश्वदेवः। **देवता**—विदुषी। **छन्दः**—निचृदुष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

यन्त्री-यमनी

यन्त्री राड् यन्त्र्यसि यमनी ध्रुवासि धरित्री।
इषे त्वोर्जे त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा॥२२॥

१. तू **यन्त्री**=अपने जीवन पर पूर्ण नियन्त्रण रखनेवाली है और इसी का परिणाम है कि तू **राट्**=चमकती है। जैसे नियमित गति के कारण सूर्य चमकता है, उसी प्रकार नियमित जीवनवाला व्यक्ति भी चमकता है। २. और वस्तुतः **यन्त्री असि**=तू अपने जीवन को नियन्त्रण में रखनेवाली है, अतएव **यमनी**=सबको नियमित जीवनवाला बनाती है। सबको नियम में वही रख सकता है जो स्वयं अपने को नियमित बनाये। ३. **ध्रुवा असि**= पृथिवी के समान तू ध्रुवा है (ध्रुवा=पृथिवी—श० १।३।२।४), अतएव **धरित्री**=सबका धारण व पोषण करनेवाली है। स्वयं अध्रुव जीवनवाला औरों का धारण नहीं कर सकता। ४. पत्नी कहती है कि मैं **त्वा**=तुझे अपना जीवन-सखा बनाती हूँ, **इषे**=अन्न-प्राप्ति के लिए। हमारे घर में 'अन्न की कमी न होने देना' यह आपका पहला कर्त्तव्य है। मैं **ऊर्जे त्वा**= आपको वरती हूँ, जिससे हमारा जीवन बल व प्राणशक्ति-सम्पन्न बने। 'ऊर्ग् वै रसः'=हमारे घर में उस गोरस व दूध की कमी न हो जो हम सबके जीवनों को बल व प्राणशक्ति- सम्पन्न बनाएगा। **रय्यै त्वा**=मैंने आपका वरण इसलिए किया है कि आप घर के कार्य- सञ्चालन के लिए पर्याप्त धन का अर्जन करनेवाले होंगे। **पोषाय त्वा**=उचित धनार्जन के द्वारा सबका पोषण करने के लिए मैंने आपका वरण किया है।

भावार्थ—पत्नी को चाहिए कि अपने जीवन को नियमित बनाकर घर में सबके जीवन को व्यवस्थित करनेवाली हो। पति ने अन्न, रस, धन व पोषण का ध्यान करना है। इस प्रकार अपने-अपने कर्त्तव्य को करने से इनका यह लोक अच्छा बनेगा।

ऋषिः—विश्वदेवः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—भुरिग्ब्राह्मीपङ्क्तिः[क], भुरिगतिजगती[र]। **स्वरः**—पञ्चमः[क], निषादः[र]॥

आशुः, चतुष्टोमः

[क]**आशुस्त्रिवृद्भान्तः पञ्चदशो व्योमा सप्तदशो धरुणऽएकविꣳशः प्रतूर्तिरष्टादशस्तपो नवदशोऽभीवर्त्तः सविꣳशो वर्चो द्वाविꣳशः सम्भरणस्त्रयोविꣳशो योनिश्चतुर्विꣳशो** [र]**गर्भाः पञ्चविꣳशऽओजस्त्रिणवः क्रतुरेकत्रिꣳशः प्रतिष्ठा त्रयस्त्रिꣳशो ब्रध्नस्य विष्टपं चतुस्त्रिꣳशो नाकः षट्त्रिꣳशो विवर्त्तोऽष्टाचत्वारिꣳशो धर्त्रं चतुष्टोमः॥२३॥**

१. **आशुः** (अश्नुते कर्मसु)=तू सदा कर्मों में व्याप्त होनेवाला बनता है और आलस्य को छोड़कर शीघ्रता से कार्यों को करनेवाला होता है। कर्मों में व्याप्त होते हुए तू **त्रिवृत्**=(त्रिषु

वर्त्तते) 'धर्म, अर्थ, काम' तीनों पुरुषार्थों में समरूप से वर्त्तनेवाला होता है। केवल 'धर्म' को अपनाकर, जटाधारी बन, अग्नि में आहुति ही नहीं देता रहता। केवल 'अर्थ' को अपनाकर 'मनी-मेकिंग-मशीन'=धनार्जन-यन्त्र ही नहीं हो जाता और केवल 'काम' को ध्येय बनाकर निकम्मा नहीं हो जाता। २. **भान्तः**='भा कान्तिरेव अन्तःस्वरूपं यस्य' तू कान्त रूपवाले चन्द्रमा के समान बनता है, सदा आह्लादमय तेरा रूप होता है (यदि आह्लादे) और **पञ्चदशः**=पाँचों ज्ञानेन्द्रियों, पाँचों कर्मेन्द्रियों व पाँचों प्राणों को उत्तम बनाकर पन्द्रहवाला बनता है। ३. **व्योमा**='विविधम् अवति'=तू **वी**=प्रकृति **ओम्**=परमात्मा व **अन्**=जीव (वी+ओम्+ अन्=व्योमन्) इन सभी का अपने में समन्वय करता है और सचमुच इन विविध तत्त्वों का अपने में रक्षण करता है। प्रकृति के अवन से तेरा भौतिक (material) अंश ठीक बनता है, जीव के अवन से तेरा सामाजिक (social) अंश ठीक होता है और प्रभु के अवन से तेरा अध्यात्म (spiritual) अंश ठीक होता है। इस प्रकार तू **सप्तदशः** ='पाँच ज्ञानेन्द्रिय+पाँच कर्मेन्द्रिय+पाँच प्राण+मन व बुद्धि' इन सत्रह तत्त्वों को ठीक रखनेवाला होता है। ४. **धरुणः**=(धरुण आदित्यः—श० ८।१।१।१२) आदित्य के समान प्रकाश आदि उत्तम तत्त्वों का आदान व धारण करनेवाला बनता है। इसी से तू **एकविंशः**=शरीर के धारण करनेवाले २१ तत्त्वोंवाला होता है (ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः) ५. **प्रतूर्तिः**=(प्रकृष्टा तूर्तिः त्वरा यस्य) जिसके जीवन में शीघ्रता है व आलस्य का अभाव है, ऐसा तू **अष्टादशः**=अठारह तत्त्वोंवाले इस सूक्ष्म शरीर का अधिष्ठाता **विराट्**=चमकनेवाला आत्मा बनेगा। ६. **तपः**=यदि तू तपस्या की प्रतिमूर्ति, खूब तपस्वी जीवनवाला बनेगा तो **नवदशः**=शरीर के नौ द्वारों (अष्टाचक्रा नवद्वारा०) तथा दश प्राणों का अपनानेवाला होगा। तपस्या तेरे इन इन्द्रिय-द्वारों व प्राणों को स्वस्थ व शक्ति-सम्पन्न बनाएगी। ७. **अभीवर्त्तः**= (अभि-वर्तते) उस प्रभु की ओर जानेवाला होगा तो **सविंशः**=तू बीस के साथ होगा। ये शरीर की दस इन्द्रियाँ व दस प्राण तेरे अधीन होंगे, ये तेरा साथ न छोड़नेवाले होंगे। प्रभु की ओर झुकाव से—प्रातः-सायं प्रभु-स्मरण से प्रभु की शक्ति हमारी इन्द्रियों व प्राणों को सशक्त बनाएगी। ८. **वर्चः**=प्रभु-स्मरणवाला तू तब वर्चस्वी=वर्चस् का पुतला ही बन जाएगा तो **द्वाविंशः**=दस इन्द्रियों, दस प्राणों व मन और बुद्धि को पूर्ण स्वस्थ बनानेवाला होगा। ९. **सम्भरणः**=अपने में शक्ति का सम्यक् भरण करनेवाला तथा शक्ति के द्वारा सबका सम्यक् भरण करनेवाला तू **त्रयोविंशः**=दस इन्द्रियाँ, दस प्राण, मन-बुद्धि तथा चित्तवाला होगा। तेरे ये तेईस-के-तेईस तत्त्व ठीक होंगे। १०. **योनिः**=(यु=मिश्रण अमिश्रण) सब अच्छाइयों को अपने से संपृक्त व बुराइयों को असंपृक्त करनेवाला तू सर्वस्थानभूतः=सबको आश्रय देनेवाला **चतुर्विंशः**=चौबीस गुणोंवाला होगा। दर्शन में चौबीस ही गुण हैं, तथा मोक्ष में इन्हीं चौबीस शक्तियों से जीव सुख भोगता है। ११. **गर्भः**=(व्यत्ययेन बहुत्वम्) (गिरति अनर्थान् इति गर्भः)=सब अनर्थों को तू नष्ट करनेवाला हुआ है, इसी से तू **पञ्चविंशः**=चौबीस गुणों वा शक्तियों का अधिष्ठाता पच्चीसवाँ पुरुष हुआ है। १२. **ओजः**=तू ओजस्वी बना है (वज्रो वा ओजः) अनर्थों को दूर करनेवाले वज्र के समान तू हुआ है और इसी से चौबीस गुण तथा मन-बुद्धि व आत्म-तत्त्ववाला **त्रिणवः**=३ गुणा ९ सताईस तत्त्वोंवाला तू है। १३. **ऋतुः**=ओजस्वी बने रहने के लिए तू ऋतुमय जीवनवाला है, सदा यज्ञशील है और इसी से **एकत्रिंशः**=चौबीस गुणों तथा सात रत्नोंवाला (दमे-दमे सप्तरत्नं दधानम्) हुआ है। १४. **प्रतिष्ठा**=यज्ञों के द्वारा तू प्रभु में प्रतिष्ठित हुआ है और **त्रयस्त्रिंशः**=सब तेतीस देवोंवाला बना है। १५. **ब्रध्नस्य विष्टपम्**=(असौ वा आदित्यो ब्रध्नः—श० ८।४।१।२३) ब्रह्मरूप

आधारवाला होकर तू 'आदित्यलोक' वाला हो गया है (ब्रध्नस्य विष्टपं=स्वराज्यस्थापकम्) तू स्वतन्त्र, स्वराट् हो गया है। तुझमें किसी प्रकार की परतन्त्रता नहीं रह गई। इसी से **चतुस्त्रिंशः**=३३ देव व ३४ वें महादेववाला तू है। १६. **नाकः**=अब स्वतन्त्र होकर—स्वराट् बनकर (सर्वमात्मवशं सुखम्) तू दुःख के लवलेश से भी रहित स्वर्ग में पहुँच गया है (न अकं दुखं यत्र) और **षट्त्रिंशः**=तू तेतीस देवों तथा धर्मार्थ-कामरूप तीनों पुरुषार्थोंवाला हुआ है। १७. **विवर्त्तः**=आज तू विशिष्ट ही वर्त्तनवाला बना है, तेरे सब कर्म दिव्य हो गये हैं और **अष्टाचत्वारिंशः**=२७ भागों में बटी हुई दैवी सम्पत् तथा शरीर की २१ शक्तियों को अपने में धारण करनेवाला बना है। भौतिक व आध्यात्मिक दोनों ही दृष्टियों से तेरा जीवन ऊँचा बना है। १८. **धर्त्रम्**=(वायुर्वाव धर्त्रम्) विशिष्ट क्रियाओंवाला बनकर तू वायु की भाँति सबका धारण करनेवाला है। तेरी गति स्वाभाविक रूप से है और तू सभी का हित करने में प्रवृत्त है, तू सभी का धारण कर रहा है और **चतुष्टोमः**=(चतुर्भिः दिग्भिः स्तूयते) चारों दिशाओं में तेरा स्तवन-ही-स्तवन है, तेरी सर्वत्र कीर्ति हो रही है। अथवा चारों वेदज्ञानों के द्वारा तेरा स्तवन चल रहा है।

भावार्थ—हमारा जीवन, ऊपर की अठारह बातों को धारण करके, पूर्ण यज्ञिय बन जाए, हम 'आशु' से जीवन को प्रारम्भ करें, शीघ्रता से कार्यों को करनेवाले बनें और 'चतुष्टोम' पर हमारे जीवन का अन्त हो। चारों वेदों से हमारा प्रभु-स्तवन चल रहा हो।

ऋषिः—विश्वदेवः। **देवता**—मेधाविनः। **छन्दः**—भुरिग्विकृतिः। **स्वरः**—मध्यमः॥

ब्रध्न+क्षत्र+जनित्र+वात

अ॒ग्नेर्भा॒गो॑ऽसि दी॒क्षाया॒ऽआधि॑पत्यं॒ ब्रह्म॑ स्पृ॒तं त्रि॒वृत्स्तोम॒ऽइन्द्र॑स्य भा॒गो॑ऽसि विष्णो॒राधि॑पत्यं क्ष॒त्रꣳस्पृ॒तं प॑ञ्चद॒श स्तोमो॑ नृ॒चक्ष॑सां भा॒गो॑ऽसि धा॒तुराधि॑पत्यं ज॒नित्रꣳस्पृ॒तꣳस॑प्तद॒श स्तोमो॑ मि॒त्रस्य॑ भा॒गो॑ऽसि वरु॑ण॒स्याधि॑पत्यं दि॒वो वृ॒ष्टिर्वात॑ स्पृ॒तऽए॑कवि॒ꣳश स्तोमः॑॥२४॥

१. **अग्नेः**=अग्नि का **भागः** (भज सेवायाम्)=भजन करनेवाला, अतएव अग्नि का ही अंश—छोटारूप तू **असि**=है। 'नाधः शिखा याति कदाचिदेव'=अग्नि की ज्वाला कभी नीचे की ओर नहीं जाती। इसी प्रकार अग्नि का उपासक भी कभी नीचे की ओर झुकाववाला नहीं होता। **दीक्षाया आधिपत्यम्**=(वाग्वै दीक्षा—श० ८।४।२।३) वाणी पर इसका आधिपत्य होता है। वस्तुतः 'अग्निर्वाग् भूत्वा०' अग्नि ही वाणी का रूप धारण करके मुख में प्रवेश करती है, अतः यह अग्नि की उपासना करता हुआ वाणी का अधिपति बनता है। वाणी का अधिपति बनकर **ब्रह्म स्पृतम्**=(स्पृ प्रीतिरक्षाप्राणनेषु) इसने ज्ञान के साथ प्रीति की है, ज्ञान की रक्षा की है तथा ज्ञान को ही अपना जीवन बनाने का प्रयत्न किया है। **त्रिवृत्स्तोमः** =ज्ञान प्राप्त करके यह (त्रिषु वर्त्तते) 'धर्मार्थ, काम' तीनों में वर्त्तनेवाला बना है और यह धर्म, अर्थ, काम का सम सेवन ही **स्तोमः**=इसकी स्तुति हुई है। २. **इन्द्रस्य**=इन्द्र का **भागः असि**=तू भजन व उपासन करनेवाला हुआ है। इन्द्रियों का अधिष्ठाता पूर्ण जितेन्द्रिय बनकर **विष्णोः आधिपत्यम्**=तुझे व्यापकता, उदारता व यज्ञिय वृत्ति का आधिपत्य प्राप्त हुआ है। तूने इस यज्ञिय भावना के द्वारा विषयासक्ति से बचकर **क्षत्रं स्पृतम्**=बल की रक्षा की है—बल को प्रिय वस्तु बनाया है, सबल जीवन जीने का प्रयत्न किया है और इस प्रकार **पञ्चदशः**=पाँचों ज्ञानेन्द्रियों, पाँचों कर्मेन्द्रियों व पाँच प्राणों को तूने स्वस्थ किया है। उन्हें

अपनी सम्पत्ति बनाया है और यही तेरा **स्तोमः**=स्तवन हो गया है। इन्द्रियों व प्राणों का ठीक रखना वस्तुतः प्रभु-स्तवन है। ३. **नृचक्षसाम्**=(नॄन् चक्षते—look after men=देवाः) मनुष्यों का रक्षण करनेवाले देवों का तू **भागः असि**=भजन करनेवाला है। इस भजन से तू उनका भाग—अंश वा छोटा रूप बना है। **धातुराधिपत्यम्**=तुझे धारण करनेवाले का आधिपत्य प्राप्त हुआ है। धारक देवों का उपासक धारक क्यों न बनेगा? **जनित्रं स्पृतम्**=धारक बनकर तूने (विड् वै जनित्रम्—श० ८।४।२।५) प्रजा से प्रेम किया है, प्रजा की रक्षा की है और प्रजाओं को ही अपना प्राण बनाया है। **सप्तदश स्तोमः**=पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण तथा मन और बुद्धि ये सत्रह तत्त्व तेरा स्तवन बने हैं। इनको ठीक रखना ही तेरा प्रभु-स्तवन बन गया है। ४. **मित्रस्य**=प्राण का व स्नेह की देवता का तू **भागः असि**=भजन करनेवाला है। वस्तुतः प्राणशक्ति के ठीक होने पर ही स्नेह की प्रवृत्ति होती है। इनमें कार्यकारण भाव है—प्राण की कमी स्नेहवृत्ति की न्यूनता का कारण बनती है। इस स्नेह की वृत्ति से तुझे **वरुणस्याधिपत्यम्**=अपान का व द्वेष-निवारण का आधिपत्य प्राप्त होता है। 'अपान' से दोषों का दूरीकरण होता है और मनुष्य निर्द्वेष बनता है। इस स्नेह व निर्द्वेष के होने पर **दिवः वृष्टिः**=मूर्धा में (मस्तिष्क में) होनेवाली आनन्द की वर्षा होती है अथवा प्रकाश की वृष्टि होती है, जीवन वस्तुतः आनन्दमय बनता है। इस उच्च स्थिति को स्थिर रखने के लिए तूने **वातः स्पृतः**=वायु की, निरन्तर क्रियाशीलता की रक्षा की है, क्रियाशीलता से ही प्रेम किया है तथा क्रियाशीलता से ही जीने का प्रयत्न किया है। क्रियाशीलता से **एकविंशः**=शरीर की इक्कीस शक्तियोंवाला तू होता है और यही तेरा **स्तोमः**=प्रभु-स्तवन है।

भावार्थ—अग्नि के उपासक बनकर हम ज्ञान की रक्षा करें। इन्द्र के उपासक बनकर हम बल की रक्षा करें। देवों के उपासक बनकर प्रजाओं की रक्षा करें। मित्र—स्नेह की देवता के उपासक बनकर हम क्रियाशीलता की रक्षा करें। हम ज्ञानी, सबल, प्रजारक्षक व क्रियाशील बनें।

ऋषिः—विश्वदेवः। **देवता**—वस्वादयो लिङ्गोक्ताः। **छन्दः**—निचृदभिकृतिः। **स्वरः**—ऋषभः॥

चतुष्पात्+गर्भ+ओजस्+समीचीर्दिश

वसूनां भागोऽसि रुद्राणामाधिपत्यं चतुष्पात् स्पृतं चतुर्विꣳश स्तोमऽआदित्यानां भागोऽसि मरुतामाधिपत्यं गर्भा स्पृताः पञ्चविꣳश स्तोमोऽदित्यै भागोऽसि पूष्णऽआधिपत्यमोज स्पृतं त्रिणव स्तोमो देवस्य सवितुर्भागोऽसि बृहस्पतेराधिपत्यꣳसमीचीर्दिश स्पृताश्चतुष्टोम स्तोमः ॥२५॥

१. तू **वसूनाम्**=वसुओं की **भागः**=उपासना करनेवाला है, निवास के लिए आवश्यक सब देवों का सेवन करनेवाला है और तुझे **रुद्राणाम्**=रुद्रों का **आधिपत्यम्**=स्वामित्व प्राप्त होता है। दस प्राण और आत्मा का स्वास्थ्य तुझे प्राप्त होता है। इस स्वास्थ्य को प्राप्त करके **चतुष्पात् स्पृतम्**=तूने 'स्वाध्याय+यज्ञ+तप+दान' रूप चतुष्पात् धर्म से प्रेम किया है, इसका रक्षण किया है। इस धर्म को जीने का प्रयत्न किया है और **चतुर्विंशः**=चौबीस-के-चौबीस गुणों की प्राप्ति ही **स्तोमः**=तेरा प्रभु-स्तवन हो गया है। २. **आदित्यानाम्**=तू आदित्यों का **भागः**=उपासक हुआ है। आदित्यों की आदानवृत्ति को धारण करके तूने दिव्य गुणों का आदान किया है और इससे **मरुतामाधिपत्यम्**=तुझे मरुतों का आधिपत्य प्राप्त हुआ है। (मरुतः=ऋत्विजः० २।१८—नि०) ऋत्विजों का तू अधिपति बना है—ऋतु-ऋतु में, अर्थात् सदा यज्ञशीलों का तू अधिपति हुआ है। उन मरुतों का जोकि (मितराविणः, महद् द्रवन्तीति

वा—नि० ११।१३) बड़ा परिमित बोलते हैं और खूब गतिशील होते हैं अथवा वासनाओं पर खूब आक्रमण करनेवाले होते हैं। इसी से तूने **गर्भाः स्पृताः**=(इन्द्रियं वै गर्भः—तै० १।८।३।३) अपनी इन्द्रियों की रक्षा की है, इन्द्रिय-शक्तियों को नष्ट नहीं होने दिया है। **पञ्चविंशः स्तोमः** =इन्द्रियों को अनर्थों से बचाकर चौबीस गुणों के सम्पादन करनेवाला पच्चीसवाँ तू पुरुष हुआ है, पच्चीसवाँ बनना ही तेरा प्रभु-स्तवन है। ३. **आदित्यै भागः असि**=अदीना देवमाता का अथवा अखण्डन (दो अवखण्डने) की देवता का—पूर्ण स्वास्थ्य का—तू सेवन करनेवाला हुआ है। **पूष्णः आधिपत्यम्**=तूने पूषा का आधिपत्य प्राप्त किया है, अर्थात् सर्वोत्तम पोषण करनेवाला बना है। इस पोषण के द्वारा **ओजः स्पृतम्**=तूने ओजस्विता से प्रेम किया है, ओजस्विता का रक्षण किया है। वस्तुतः ओजस्वी जीवन जीने का ही ध्यान किया है। **त्रिणवः स्तोमः**=ओजस्विता से तीन गुणा नौ, अर्थात् चौबीस गुणों तथा मन, बुद्धि व आत्मतत्त्व का सम्पादन ही तेरा स्तवन बन गया है। इन २७ को प्राप्त करना ही तेरी स्तुति है। ४. **सवितुः देवस्य भागः असि**=उस उत्पादक देव का तू उपासक बना है। इसकी उपासना से तुझे **बृहस्पतेः आधिपत्यम्** =ब्रह्मणस्पति का आधिपत्य प्राप्त हुआ है। तू ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञानी बना है। इस उत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त करके **समीचीः दिशः स्पृताः**= (सम्+अञ्च) उत्तम गतिवाली दिशाओं से तूने प्रेम किया है, उनसे प्राप्त होनेवाले 'आगे बढ़ना', दाक्षिण्य प्राप्त करना, प्रत्याहार व उन्नति और ध्रुव तथा उच्चस्थिति के उपदेशों को तूने अपने जीवन में घटाया है और इस प्रकार इन वेदोक्त उपदेशों का रक्षण किया है। **चतुः स्तोमः**=वेदों का समूह जिनमें सब उपदेश दिये गये हैं वे वेद ही तेरे **स्तोमः**=स्तवन हुए हैं।

भावार्थ—हम उत्तम निवासवाले बनकर चतुष्पात् धर्म (स्वाध्याय, यज्ञ, तप व दान) की रक्षा करें। गुणों का आदान करनेवाले बनकर हम अपनी सब इन्द्रियों की अनर्थों से रक्षा करें। अदिति (पूर्ण स्वास्थ्य) के उपासक बनकर हम ओजस्वी बनें और उत्पादक देव की उपासना करते हुए दिशाओं से दिये गये उपदेशों को जीवन में अनूदित करें।

ऋषिः—विश्वदेवः। **देवता**—ऋभवः। **छन्दः**—निचृदतिजगती। **स्वरः**—निषादः॥

प्रजाः—भूतं यव व ऋभू की उपासना

यवा॑नां भा॒गो॑ऽस्यय॑वाना॒माधि॑पत्यं प्र॒जा स्पृ॒ताश्च॑तुश्चत्वारि॒ꣳश स्तोम॑ऽ ऋभू॒णां भा॒गो॑ऽसि॒ विश्वे॑षां दे॒वाना॒माधि॑पत्यं भू॒तꣳस्पृ॒तं त्र॑यस्त्रि॒ꣳश स्तोम॑ः ॥२६॥

१. **यवानाम्**=(पूर्वपक्षा वै यवा अपरपक्षा अयवाः—श० ८।४।२।११) तू चन्द्रमा की एक-एक कला को जोड़ते चलनेवाले शुक्लपक्षों का **भागः असि**=उपासक हुआ है। तू भी एक-एक कला को ग्रहण करते-करते १६ कलाओं से पूर्ण हुआ है। तूने **अयवानाम्**=अपरपक्षों का **आधिपत्यम्**=स्वामित्व प्राप्त किया है। इस अपरपक्ष में जैसे एक-एक कला न्यून व पृथक् होती चलती है, तूने भी एक-एक अवगुण व वासना को अपने से पृथक् किया है और सब अवगुणों को समाप्त करके अमावास्या=उस प्रभु के साथ रहने की स्थिति को पाया है (अमा=साथ, वस=रहना)। इस प्रकार तूने **प्रजाः स्पृताः**=सब प्रकृष्ट विकासों से प्रेम किया है, उनकी रक्षा की है, उन्हें अपने जीवन का अङ्ग बनाने का प्रयत्न किया है। **चतुः चत्वारिंशः स्तोमः**=इस प्रकार (आचत्वारिंशतः सम्पूर्णता, शं मे चतुर्भ्यो अङ्गेभ्यः) चारों अङ्गों में चालीस वर्ष तक चलनेवाला विकास ही तेरा स्तवन हो गया है। तूने 'मुख, बाहू, उदर व पाद' सभी अङ्गों का चालीस वर्ष तक चलनेवाला विकास किया है और इस विकास द्वारा ही प्रभु की स्तुति की है। २. **ऋभूणां भागः असि** (उरु भान्ति—ऋतेन भान्ति—

ऋतेन भवन्ति—नि० ११।१६ ऋभवो: मेधाविन:—नि० ३।१५) तूने ज्ञान से दीप्त होनेवाले, ऋत से चमकनेवाले अथवा सदा ऋत के साथ रहनेवाले मेधावियों का उपासन किया है। इस उपासन का ही परिणाम है कि **विश्वेषां देवानामाधिपत्यम्**=सब देवों का तू अधिपति बना है। **भूतं स्पृतम्**=(भूतं=जन्म—नि० ३।१३) इस प्रकार तूने अपने जीवन की रक्षा की है और **त्रयस्त्रिंश: स्तोम:**=यह तेतीस देवों का धारण ही तेरा स्तवन हो गया है। सच्चा प्रभु-स्तवन यही होता है कि हम सब देवों को अपनाएँ। देवों को अपनाकर ही हम महादेव के समीप पहुँचेंगे।

भावार्थ—शुक्लपक्ष हमें गुण-कला वृद्धि का उपदेश दे रहा है और कृष्णापक्ष एक-एक करके अवगुणों को समाप्त करके प्रभु के समीप पहुँचने का संकेत करता है, अत: हम ज्ञानदीप्त, ऋतमय जीवनवाले मेधावियों के उपासक बनकर जीवन में सब दिव्य गुणों को धारण करनेवाले बनें।

ऋषि:—विश्वदेव:। **देवता**—ऋतव:। **छन्द:**—भुरिगतिजगती [क], भुरिग्ब्राह्मीबृहती [र]। **स्वर:**—निषाद: [क], मध्यम: [र]॥

सह+सहस्य=हेमन्त

[क]सहश्च सहस्यश्च हैमन्तिकावृतूऽअग्नेरन्त:श्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामापऽओषधय: कल्पन्तामग्नय: पृथङ् मम ज्यैष्ठ्याय सव्रता:। [र]येऽअग्नय: समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवीऽइमे। हैमन्तिकावृतूऽअभिकल्पमानाऽ इन्द्रमिव देवाऽअभिसंविशन्तु तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम्॥२७॥

१. **सह: च**=तुम सहन शक्तिवाले बनो। संसार में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सहनशक्ति ही है। स्थित-प्रज्ञ व्यक्ति मानापमान में तुल्य रहता है, स्तुति-निन्दा उसे विचलित नहीं करती। **सहस्य: च**=तुम बल में उत्तम बनो। 'सह' मार्गशीर्ष मास का नाम है। जो व्यक्ति (मृग अन्वेषणे) आत्मान्वेषण करनेवालों का मूर्धन्य होगा वह अपने दोषों को जानता हुआ वस्तुत: सहनशील होगा। उसे अपनी निर्दोषता का अभिमान न होगा। 'सहस्य' पौष है—सबल व्यक्ति अपने में गुणों का पोषण करता है। २. इस प्रकार सहनशील व सबल बनकर आप दोनों (पति-पत्नी) **हैमन्तिकौ**=(हि गतौ वृद्धौ च) गतिशील व वृद्धिशील बनों। ३. **ऋतू**=आप दोनों बड़ी व्यवस्थित गतिवाले बनों। ऋतुओं की भाँति आपका जीवन व्यवस्थित हो। ४. **अग्ने: अन्त: श्लेष: असि**=अपने अन्दर हृदयाकाश में उस प्रभु का आलिङ्गन करनेवाले बनों और इस प्रकार कामना करो कि ५. **द्यावापृथिवी कल्पेताम्**=मेरा मस्तिष्क व शरीर शक्तिशाली बने। **आप: ओषधय: कल्पन्ताम्**=जल व ओषधियाँ मुझे शक्तिशाली बनाएँ। ६. **अग्नय:**=माता-पिता व आचार्यरूप अग्नियाँ **सव्रता:**=समान व्रतवाले होकर—मेरी उन्नति के साधनरूप एक लक्ष्यवाले होकर—**मम ज्यैष्ठ्याय**=मेरी ज्येष्ठता—उन्नति के लिए **पृथक्**=अलग-अलग **कल्पन्ताम्**=समर्थ हों। पाँच वर्ष तक माता मेरे चरित्र के निर्माण के लिए यत्नशील हो। आठ वर्ष तक पिता मुझे शिष्टाचार सम्पन्न बनाएँ और पच्चीस वर्ष तक आचार्य मुझे ज्ञान से व्याप्त कर दें। ७. मेरे माता-पिता आचार्य ही क्या, सभी **अग्नय:**=पुरोहित, उपदेशक व विद्वान् आदि **ये**=जो **इमे द्यावापृथिवी अन्तरा**=इन द्युलोक व पृथिवीलोक के बीच में हैं, वे सब **समनस:**=समान मनवाले हों कि आगे आनेवाली इस पीढ़ी के जीवन को खूब सुन्दर बनाना है। ८. **हैमन्तिकौ ऋतू**=पूर्वोक्त प्रकार से माता-पिता व आचार्य से शिक्षित होकर गृहस्थ में प्रवेश करनेवाले पति-पत्नी गतिशील व वृद्धिशील हों। निरन्तर गतिवाले और सदा आगे बढ़नेवाले हों। **ऋतू**=ऋतुओं के अनुसार व्यवस्थित गतिवाले हों।

अभिकल्पमाना=अपनी ऐहिक व पारलौकिक उन्नति को सिद्ध करनेवाले हों। बाह्य व अन्तःशक्ति का साधन करें। इहलोक के अभ्युदय व परलोक के निःश्रेयसवाले हों। ९. **इन्द्रम् इव**=इन्द्र के समान—पूर्ण जितेन्द्रिय के समान बने हुए तुझमें **देवाः**=सब दिव्य गुण **अभिसंविशन्तु**=प्रविष्ट हों। १०. इसी उद्देश्य से **तया देवतया**=उस महती देवता के साथ सम्पर्क से **अङ्गिरस्वत्**=अङ्ग-अङ्ग में रसवाले होकर **ध्रुवे सीदतम्**=इस घर में ध्रुव होकर स्थित होओ। घर ही तुम्हारा स्थान हो, न कि क्लब।

भावार्थ—सहनशक्ति व बल का सम्पादन करके हम गतिशील व प्रगतिशील बनें। हमारा जीवन व्यवस्थित हो। हम जलों व ओषधियों का ही सेवन करें। यह ध्यान रक्खें कि 'मांस' न खाएँ, क्योंकि वह तो मुझे ही खा जाएगा। प्रभु-उपासना करते हुए हम घर में ध्रुव निवासवाले हों, वहाँ हमारा जीवन बड़ा मर्यादित हो।

ऋषिः—विश्वदेवः। **देवता**—ईश्वरः। **छन्दः**—निचृद्विकृतिः। **स्वरः**—मध्यमः॥

एक-तीन-पाँच-सात

एकयास्तुवत प्रजाऽअधीयन्त प्रजापतिरधिपतिरासीत्तिसृभिरस्तुवत ब्रह्मासृज्यत ब्रह्मणस्पतिरधिपतिरासीत् पञ्चभिरस्तुवत भूतान्यसृज्यन्त भूतानां पतिरधिपतिरासीत् सप्तभिरस्तुवत सप्त ऋषयोऽसृज्यन्त धाताधिपतिरासीत्॥२८॥

१. **प्रजाः अधीयन्त**=सब प्रजाएँ उस-उस शरीर में स्थापित की गईं। आत्माएँ पैदा तो कभी नहीं होतीं—ये सनातन हैं, परन्तु जब वे प्रभु कर्मव्यवस्थानुसार किसी शरीर में इनका स्थापन करते हैं तब यह स्थापन ही उनका जन्म व उत्पादन हो जाता है। ये शरीर में स्थापित जीव **एकयास्तुवत**=(वाग् वा एका वाचैव तदस्तुवत—श० ८।४।३।३) इस मुख्य वाणी से (एक=मुख्य) उस प्रभु का स्तवन करें कि **प्रजापतिः अधिपतिः आसीत्**=वह सब प्रजाओं का रक्षक ही सब प्रजाओं का अधिपति है। प्रजाओं का रक्षक होने से वह 'प्रजापति' नामवाला है। उस प्रभु ने ही हमें यह 'अद्भुत वाणी' प्राप्त करायी है। मनुष्य को ही व्यक्त वाणी दी गई है। अन्य सब प्राणियों की वाणी अव्यक्त है। २. प्रजाओं को इस प्रकार शरीरबद्ध करके प्रभु ने उन्हें ज्ञान दिया, जिसके अनुसार उन्हें अपना जीवन चलाना है। **ब्रह्म असृज्यत**=वेदज्ञान उत्पन्न किया गया। यह वेदज्ञान 'ऋग्-यजुः-साम' मन्त्रों में विभक्त था। ऋङ्मन्त्रों का सार 'तत्सवितुर्वरेण्यम्' हुआ, यजुर्मन्त्रों का सार 'भर्गो देवस्य धीमहि' तथा साममन्त्रों का सार 'धियो यो नः प्रचोदयात्' हुआ। यही त्रिचरणा गायत्री थी। इस गायत्री के तीनों चरणों का सार 'भूः, भुवः, स्वः' था, और इन तीन महाव्यहृतियों का सार 'अ, उ, म्'—ये ओम् की तीन मात्राएँ हुईं। **तिसृभिः**=इन तीनों मात्राओं से ही **अस्तुवत**=प्रजाएँ उस प्रभु का स्तवन करें कि **ब्रह्मणस्पतिः अधिपतिः आसीत्**=यह वेदज्ञान का रक्षक प्रभु ही हम सबका अधिपति है। उसने ही इस त्रिविध मन्त्रों में विभक्त वेदज्ञान को हमारे रक्षण के लिए दिया है। वह 'ब्रह्मणस्पति' नामवाला है। ३. प्रभु के इस वेदज्ञान से ज्ञेय, **भूतानि**=पृथिवी, जल, तेज, वायु व आकाश ये पाँच भूत **असृज्यन्त**=उत्पन्न किये गये। इन पञ्चभूतों के गन्ध, रस, रूप, स्पर्श व शब्दरूप पाँच गुणों के ज्ञान प्राप्त करानेवाले **पञ्चभिः**=घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक् व श्रोत्ररूप पाँच ज्ञानेन्द्रियों से प्रजाएँ उस प्रभु का **अस्तुवत**=स्तवन करें कि इन सब **भूतानां पतिः**=पाँचों भूतों का रक्षक वह प्रभु ही **अधिपतिः आसीत्**=हमारा अधिपति है। वह अधिपति ही 'भूतानां पति' नामवाला हो गया है। ४. इन

भूतों के ज्ञान के लिए साधनरूप से, कारणरूप से—**सप्त ऋषयः**=दो कान, दो नासिका, दो आँखें व मुख—(कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्)—रूप सात ऋषि **असृज्यन्त**=बनाये गये। इन सात ऋषियों से सब भूतों का ज्ञान प्राप्त करके—उन भूतों की रचना में रचयिता के महत्त्व का दर्शन करती हुई प्रजाएँ **सप्तभिः**=इन सात ऋषियों से **अस्तुवत**=उस प्रभु का स्तवन करें कि **धाता**=इन पदार्थों के निर्माण के द्वारा हम सबका धारण करनेवाला वह प्रभु ही **अधिपतिः आसीत्**=हमारा अधिपति है। धारण करनेवाला होने से वह '**धाता**' नामवाला है।

भावार्थ—उस प्रभु का स्तवन हम 'प्रजापति, ब्रह्मणस्पति, भूतानांपति व धाता' इन नामों से करें।

ऋषिः—विश्वदेवः। **देवता**—ईश्वरः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्[क], ब्राह्मीजगती[र]। **स्वरः**—धैवतः[क], निषादः[र]॥

नौ-ग्यारह-तेरह-पन्द्रह-सत्रह

[क]नवभिरस्तुवत पितरोऽसृज्यन्तादितिरधिपत्न्यासीदेकादशभिरस्तुवतऽ ऋतवोऽसृज्यन्तार्त्तवाऽअधिपतयऽआसंस्त्रयोदशभिरस्तुवत मासाऽअसृज्यन्त संवत्सरोऽधिपतिरासीत् पञ्चदशभिरस्तुवत क्षत्रमसृज्यतेन्द्रोऽधिपतिरासीत्सप्तदशभिरस्तुवत ग्राम्याः पशवोऽसृज्यन्त बृहस्पतिरधिपतिरासीत्॥२९॥

१. **पितरः असृज्यन्त**=(पितरः=नव जमदक्षका रश्मयः। नव वै प्राणाः सप्तशीर्षन्नवाञ्चौ द्वौ—श० ८।४।३।७) ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ रक्षा करने के प्रमुख साधन होने से यहाँ 'पितरः' (पा रक्षणे) कही गई हैं। यद्यपि ये पाँच-पाँच होकर दस हैं तथापि 'जिह्वा' रस ग्रहण करने से ज्ञानेन्द्रियों में तथा शब्द बोलने से कर्मेन्द्रियों में परिगणित होती है, अतः यह दोनों ओर एक ही है। एवं, ये मिलकर वस्तुतः नौ हैं। ये नौ इन्द्रियाँ ज्ञानेन्द्रियों के क्षेत्र में रश्मियाँ व किरणें हैं, कर्मेन्द्रियों की दृष्टि से ये रश्मियाँ लगामें हैं। ये सब रक्षक इन्द्रियाँ प्रभु से उत्पन्न की गई हैं। इनकी रचना के सौन्दर्य व अद्भुतता को देखकर **नवभिः**=इन नौ इन्द्रियों से प्रजाएँ **अस्तुवत**=उस प्रभु का स्तवन करें कि **अदितिः**=इन इन्द्रियों के निर्माण से हमारा खण्डन न होने देनेवाली वह जगज्जननी ही हमारी **अधिपत्नी आसीत्**=पालिका अधिष्ठात्री देवी है। खण्डन न होने देने के कारण ही वह 'अदिति' नामवाली है। २. **ऋतवः**=ऋतुएँ **असृज्यन्त**=उत्पन्न की गईं। एक-एक ऋतु जीव को शक्ति देनेवाली है। ऋतुचर्या के ठीक पालन से जीव के सब प्राण व सब इन्द्रियाँ बड़े शक्तिशाली बने रहते हैं। इनको शक्ति प्राप्त कराने के लिए उस-उस ऋतु में वनस्पतियों से समपोषयुक्त वे-वे ओषधियाँ प्राप्त होती हैं। इसी से ब्राह्मणों में हम पढ़ते हैं कि 'ऋतवः वै पृष्ठानि' (श० १।३।३।२१) 'वीर्यं वै पृष्ठानि' (ता० ४।८।७) ऋतुएँ हमारी पृष्ठ (backbone) व वीर्यशक्ति हैं, अतः जीव **एकादशभिः**=(दश प्राणा आत्मैकादशः—श० २।४।३।८) दश प्राणों व आत्मा से **अस्तुवत**=उस प्रभु का स्तवन करें कि किस प्रकार 'आर्तवाः'=(ऋतुषु भवा गुणाः—द०) उस-उस ऋतु के गुण—खूबियाँ **अधिपतयः आसन्**=हमारा सम्यक् पालन करनेवाले हैं। ३. **मासा असृज्यन्त**=महीने (वैशाख आदि बारह मास तथा १३वाँ मलमास, वेद के शब्दों में 'अहंसस्पति') उत्पन्न किये गये। 'मासो मानात्—नि० ४।२७' ये हमारे जीवन का निर्माण करते हैं। 'यव्या मासा—श० १।७।२।२६' ये हमारे शरीर के अवगुणों को दूर करनेवाले तथा गुणों को प्राप्त करानेवाले हैं। इस मिश्रण व अमिश्रण की क्रिया में ये उत्तम हैं। इस प्रकार ये हमारे जीवन को उत्तम बनाते हैं। हमें चाहिए कि

त्रयोदशभिः अस्तुवत=(दश प्राणाः प्रतिष्ठे एक आत्मा—श० ८।४।३।८) अपने दश प्राणों दो आधारभूत पाँव व आत्मा से उस प्रभु का स्तवन करें, जो इन तेरह मासों के द्वारा हमारे निवास को उत्तम बनाने के कारण 'संवत्सरः'=(उत्तम निवासक) संवत्सर नामवाला होता हुआ **अधिपतिः आसीत्**=अधिष्ठातृरूपेण रक्षक है। ये मास उस 'संवत्सर' के ही कर्मकर—रक्षणात्मक कर्म करनेवाले हैं। (मासाः संवत्सरस्य कर्मकराः—तै० ३।११।१०।३) ये उस प्रभु के कर्मकर हमारे जीवन को निरन्तर उन्नत करनेवाले हैं। उन्नत करने से ही 'उदाना मासाः—ता० ५।२०' इन्हें 'उदान' कहा गया है 'उत्कर्षेण आनयन्ति'। ४. ऋतुचर्या व मासचर्या के ठीक चलने के परिणामरूप ही अब **क्षत्रम्**=क्षत्रिय वर्ण की विशेषता का सम्पादक यह बल **असृज्यत**=उत्पन्न किया गया। सबल बनी हुई **पञ्चदशभिः**=(दश हस्त्या अंगुलयश्चत्वारि दोर्बाहवाणि यदूर्ध्वं नाभेस्तत् पंचदशम्—श० ८।४।३।१०) हाथ की दस अंगुलियों, दो हाथों, दो बाहुओं तथा नाभि से उपरले शरीरभाग से **अस्तुवत**=उस प्रभु का स्तवन करो कि **इन्द्रः**=सब ऐश्वर्य का स्वामी, सब शक्तियों का स्रोत (इन्द to be powerful) वह प्रभु **अधिपतिः आसीत्**=हमारा अधिष्ठातृरूपेण रक्षक है। हमारे सब अङ्गों को वह सबल बनाकर हमारा पालन कर रहा है। ५. बल व शक्ति को प्राप्त कराने के लिए ही जीवन की आवश्यक सामग्रियों को—दूध तथा वस्त्रादि के लिए ऊन आदि को—प्राप्त करानेवाले **ग्राम्याःपशवः**=ग्राम्य पशु (जो संख्या में सम्भवतः सत्रह जातियों के हैं) **असृज्यन्त**=उत्पन्न किये गये। इन पशुओं के महत्त्व को समझते हुए हम **सप्तदशभिः अस्तुवत**=(दश पाद्या अंगुलयश्चत्वार्यूर्वष्ठीवानि द्वे प्रतिष्ठे यदवाङ् नाभेस्तत् सप्तदशम्—श० ८।४।३।११) अपने पाँवों की दस अंगुलियों, दो घुटने, दो जाँघें, दो पाँव व सतरहवें नाभि के अधःदेश से उस प्रभु का स्तवन करें कि वह **बृहस्पतिः**=ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान का पति प्रभु वेदज्ञान के देने से हमारा **अधिपतिः आसीत्**=रक्षक है। वह प्रभु वेद द्वारा इन सब पशुओं से उपयुक्त सामग्री प्राप्त करने का उपदेश देता है और इस प्रकार इन्हें हमारे जीवन के साथ जोड़ देता है।

भावार्थ—हमारा रोम-रोम उस प्रभु का स्तवन 'अदिति, आर्तव, संवत्सर, इन्द्र व बृहस्पति' इन नामों से कर रहा हो।

ऋषिः—विश्वदेवः। **देवता**—जगदीश्वरः। **छन्दः**—स्वराड्ब्राह्मीजगती[क], ब्राह्मीपङ्क्तिः[र]। **स्वरः**—निषादः[क], पञ्चमः[र]॥

उन्नीस-इक्कीस-तेईस-पच्चीस व सताईस

[क]नवदशभिरस्तुवत शूद्रार्यावसृज्येतामहोरात्रेऽअधिपत्नीऽआस्तामेकविꣳशत्यास्तुवतैकशफाः पशवोऽसृज्यन्त वरुणोऽधिपतिरासीत् त्रयोविꣳशत्यास्तुवत क्षुद्राः पशवोऽसृज्यन्त पूषाधिपतिरासीत् [र]पञ्चविꣳशत्यास्तुवताऽऽरण्याः पशवोऽसृज्यन्त वायुरधिपतिरासीत् सप्तविꣳशत्यास्तुवत द्यावापृथिवी व्यैतां वसवो रुद्राऽआदित्याऽअनुव्यायँस्तऽएवाधिपतयऽआसन् ॥३०॥

१. अब गत मन्त्र के ग्राम्य पशुओं से सीधे कार्य लेनेवाले **शूद्रार्यौ**=शूद्र व वैश्य **असृज्येताम्**=उत्पन्न किये गये। शूद्रों व वैश्यों को 'कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य' आदि कार्यों में इन ग्राम्य पशुओं के प्रयोग के लिए नियुक्त किया गया। इस सारी व्यवस्था को देखते हुए **नवदशभिः**=(दश हस्त्या अंगुलयः नव प्राणाः—श० ८।४।३।१२) मेरे हाथ की दस अंगुलियों व नौ प्राण—इन्द्रियों—से **अस्तुवत**=उस प्रभु का स्तवन करें। 'शूद्र वर्ण' 'अहन्' है, 'न

जहाति' यह 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य' इन द्विजातियों की सेवा को नहीं छोड़ता—अनसूया से—दोषदर्शन के बिना यह इनकी सेवा में लगा रहता है। वैश्य 'रात्रि' है, रमयित्री—इसकी सम्पत्ति सभी को रमण करनेवाली होती है। यह अपनी सम्पत्ति से 'ब्राह्मण, क्षत्रिय व शूद्र' सभी का पोषण करता है, जैसे शरीर में उदर अन्य सब अङ्गों का अपने से उत्पादित रुधिर के द्वारा पोषण करता है। इन शूद्र व अर्यों को इन कार्यों में नियुक्त करनेवाला वह प्रभु **अहोरात्रे**=कभी हमारा साथ न छोड़नेवाला व उन-उन पदार्थों से हमारा रमण सिद्ध करनेवाला **अधिपत्नी आस्ताम्**=अधिष्ठातृरूपेण रक्षक है। उस 'अहोरात्र' नामवाले प्रभु ने दिन कार्य करने के लिए—अहन्—एक भी क्षण न खराब करने के लिए तथा रात्रि सब थकावट को दूर करके रमण के लिए बनायी है। इसी से उसका यह नाम हो गया है। २. **एकशफाः पशवः**=एक खुरवाले पशु (जो सम्भवतः संख्या में २१ जातियों के हैं) **असृज्यन्त**=उत्पन्न किये गये। मानव जीवन में अश्व व खच्चर की अत्यन्त उपयोगिता है, अतः **एकविंशत्या**=(दश हस्त्या अंगुलयो दश पाद्या आत्मैकविंशः—श० ८।५।३।१३) २१ अवयवों से—दस हाथ की अंगुलियों, दस पाँवों की अंगुलियों तथा २१ वें आत्मा से **अस्तुवत**=तुम प्रभु का स्तवन करो कि **वरुणः**=इन पशुओं की सहायता से हमारे कष्टों का निवारण करनेवाला प्रभु **अधिपतिः आसीत्**=अधिष्ठातृरूपेण हमारा रक्षक है। ३. **क्षुद्राः पशवः**=(आनकुलात् क्षुद्रजन्तवः) कृमि, कीट, नेवला आदि क्षुद्र पशु जो सम्भवतः २३ जातियों में विभक्त हैं, **असृज्यन्त**=बनाये गये। इनकी भी उस-उस उपयोगिता का ध्यान करते हुए **त्रयोविंशत्या**=(दश हस्त्या अंगुलयो दश पाद्या द्वे प्रतिष्ठे आत्मा त्रयोविंशः) हाथ-पाँवों की अंगुलियों, पाँवों व आत्मा से **अस्तुवत**=उस प्रभु का स्तवन करो कि **पूषा**=इन कृमियों के द्वारा भी हमारा पोषण करनेवाला वह प्रभु **अधिपतिः आसीत्**= अधिष्ठातृरूपेण हमारा रक्षक है। ४. **आरण्याः पशवः**=वन के पशु (जो सम्भवतः पच्चीस जातियों में विभक्त हैं) **असृज्यन्त**=उत्पन्न किये गये। इन आरण्य पशुओं की आवश्यकता को समझकर मनुष्य **पञ्चविंशत्या**=दस हाथ की अंगुलियों, दस पाँवों की अंगुलियों, शरीर के चारों अङ्गों (मस्तिष्क, उरस्, उदर व टाँग) तथा आत्मा से **अस्तुवत**=स्तुति करें कि **वायुः**=इन पशुओं के निर्माण द्वारा हमारी गति व गति द्वारा दोषों के हिंसन को बढ़ानेवाला (वा गतिगन्धनयोः) वायु नामक वह प्रभु **अधिपतिः आसीत्**=हमारा अधिष्ठातृरूपेण रक्षक था। ५. अब इन सब पशुओं के निर्माण के बाद **द्यावापृथिवी व्यैताम्**=द्यावापृथिवी विशिष्ट रूप से गतिवाले हुए, अर्थात् सारे ब्रह्माण्ड का काम ठीक से चलने लगा। पृथिवी के **वसवः**=वसु नामक देव अन्तरिक्ष के **रुद्राः**=रुद्र नामक देव तथा द्युलोक के **आदित्याः**= आदित्य नामक देव **अनुव्यायन्**=ठीक-ठीक कार्य करने लग गये, अर्थात् संसार की सब प्राकृतिक शक्तियाँ ठीक-ठीक कार्य करने में प्रवृत्त हो गईं। वसुओं ने हमारे निवास को उत्तम बनाया—रुद्रों ने हमारे प्राणों को पुष्ट किया और आदित्यों ने हमें दिव्य गुणों से पूर्ण कर दिया, अतः हम **सप्तविंशत्या**=दस हस्तांगुलियों, दस पदांगुलियों—चार अङ्गों (मस्तिष्क, उरस्, उदर व टाँग) दो पाँवों तथा आत्मा से **अस्तुवत**=उस प्रभु का स्तवन करें कि **ते एव अधिपतयः आसन्**=वसुओं के द्वारा रक्षा करनेवाले आप ही 'वसु' हैं। प्राणशक्ति देनेवाले आप 'रुद्र' हो तथा दिव्य गुणों से हमें परिपूर्ण करनेवाले आप 'आदित्य' हो। **ते एव**=वे 'वसु, रुद्र और आदित्य' नामवाले ही आप हमारे अधिष्ठातृरूपेण रक्षक हो।

भावार्थ—हम 'एकशफ, क्षुद्र व आरण्य' पशुओं का भी उपयोग समझें और इनमें भी

प्रभु की महिमा को देखने का प्रयत्न करें। हमारा प्रत्येक अङ्ग प्रभु का स्तवन करनेवाला हो। हम उस प्रभु 'को 'अहोरात्र-वरुण-पूषा-वायु तथा वसु, रुद्र व आदित्य' नाम से स्मरण करें।

ऋषिः—विश्वदेवः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—निचृदतिधृतिः। **स्वरः**—षड्जः॥

उनत्तीस-इकतीस-तेतीस

नवविंशत्यास्तुवत वनस्पतयोऽसृज्यन्त सोमोऽधिपतिरासीदेकत्रिंशतास्तुवत प्रजाऽअसृज्यन्त यवाश्चायवाश्चाधिपतयऽआसंस्त्रयस्त्रिंशतास्तुवत भूतान्यशाम्यन् प्रजापतिः परमेष्ठ्यधिपतिरासीत् ॥३१॥

१. प्रभु से **वनस्पतयः**=वनस्पतियाँ **असृज्यन्त**=बनाई गईं (जो सम्भवतः २९ प्रकार की थी—२९ जातियों में विभक्त थीं)। मानव जीवन में इन वनस्पतियों का स्थान स्पष्ट है। मनुष्य इन्हीं के उपयोग से अपने शरीर, मन व बुद्धि को पूर्ण स्वस्थ बनाता है। इन्हें वनस्पति नाम इसीलिए दिया गया कि ये मानवरूपी गृह (वन=a house) की रक्षा करती हैं। इस मानव-शरीर में वनस्=ज्ञानकिरणों की रक्षा करती हैं—बुद्धि को सात्त्विक बनानेवाली हैं। मनुष्य को चाहिए कि **नवविंशत्या**=हाथ-पैर की अंगुलियों व नौ प्राणों इन २९ से **अस्तुवत**=उस प्रभु का स्तवन करें कि **सोमः**=हमारे जीवनों में इन वनस्पतियों के प्रयोग से सौम्यता का वर्धन करनेवाला वह 'सोम' नामक प्रभु **अधिपतिः आसीत्**=अधिष्ठातृरूपेण हमारा रक्षक है। २. अब इन वनस्पतियों के द्वारा **प्रजाः**=सब प्रकार के विकासों (प्र+जन्) का **असृज्यन्त**=सर्जन हुआ। मनुष्य को चाहिए कि **एकत्रिंशता** =बीस अंगुलियाँ, दस प्राण तथा इकतीसवें आत्मा से **अस्तुवत**=उस प्रभु का स्तवन करे कि **यवाः च**=हमारे साथ सब अच्छाइयों का मिश्रण करनेवाले 'यवाः' नामवाले वे प्रभु तथा **अयवाः च**=हमारी सब बुराइयों को दूर करनेवाले 'अयवाः' नामवाले प्रभु **अधिपतयः आसन्**=हमारे अधिष्ठातृरूपेण रक्षक हैं। ब्राह्मणग्रन्थों के अनुसार शुक्ल पूर्वपक्ष 'यव' हैं, कृष्ण अपरपक्ष 'अयव' हैं। वे प्रभु भी हमारे अन्दर शुक्लपक्ष की भाँति एक-एक गुणकला को भरनेवाले हैं तथा कृष्णपक्ष की भाँति एक-एक दोषकला को क्षीण करनेवाले हैं। ३. इस प्रकार सब विकासों के हो जाने पर—अथवा गुणपूर्ति व दोष-निराकरण हो जाने पर **भूतानि अशाम्यन्**=सब प्राणी पूर्णरूप से शान्ति का अनुभव करनेवाले हुए। हमें चाहिए कि हम **त्रयस्त्रिंशता**=सब अंगुलियों, प्राणों, दो आधारभूत पाँव तथा आत्मा से **अस्तुवत**=उस प्रभु का स्तवन करें कि वे प्रभु **प्रजापतिः**=हम सब प्रजाओं के रक्षक हैं, **परमेष्ठी**=सर्वोच्च स्थान में स्थित हैं—अपने भक्तों को भी सर्वोच्च स्थान में पहुँचानेवाले हैं, **अधिपतिः आसीत्**=वे ही हमारे अधिष्ठातृरूपेण रक्षक हैं।

भावार्थ—प्रभु विविध वनस्पतियों के उत्पादन द्वारा हमारी सब शक्तियों के विकास का कारण बनते हैं और हमारे जीवनों में शान्ति उत्पन्न करते हैं। हम उस प्रभु का 'सोम, यव, अयव तथा प्रजापति, परमेष्ठी' नाम से स्तवन करें।

सूचना—गत मन्त्रों में यह भावना बारम्बार दोहराई गई है कि मेरा अङ्ग-अङ्ग उस प्रभु का स्मरण करनेवाला हो। हमारे अङ्गों से कोई ऐसा कार्य न हो जो प्रभु की सत्ता का इन्कार करनेवाला हो। हमारी वाणी मधुर शब्द बोले, कान भद्र शब्दों को ही सुनें, आँखें भद्रता से ही देखें।

॥ इति चतुर्दशोऽध्यायः समाप्तः ॥

पञ्चदशोऽध्यायः

जब हम प्रभु को पा लेते हैं तब वे प्रभु हमारे आतिथेय (host) होते हैं, हम उस प्रभु के अतिथि होते हैं और अब यह उस प्रभु का कार्य हो जाता है कि वह हमारी रक्षा करे, हमारे शत्रुओं को दूर करे। बस, इसी भावना से पञ्चदश अध्याय का प्रारम्भ होता है—

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

त्रिवरूथ शर्म

अग्ने जातान् प्रणुदा नः सपत्नान् प्रत्यजातान्नुद जातवेदः।
अधि नो ब्रूहि सुमनाऽअहेडँस्तव स्याम शर्मँस्त्रिवरूथऽउद्भौ॥१॥

१. हे **अग्ने**=हमारे सब दोषों का दहन करनेवाले प्रभो! **नः**=हमारे **जातान्**=इन्द्रियों, मन व बुद्धि में उत्पन्न हुए **सपत्नान्**=काम, क्रोध, लोभादि शत्रुओं को **प्रणुद**=प्रकर्षेण धकेल दीजिए। हमारे जीवन से इन्हें दूर कर दीजिए। आपने इस शरीर की रचना करके मुझे यहाँ अधिष्ठातृदेव के रूप में नियत किया है, परन्तु ये कामादि इसमें अपने क़िले बनाकर इसपर अपना आधिपत्य स्थापित करना चाहते हैं, इस प्रकार ये मेरे सपत्न हो जाते हैं। आप इन्हें हमसे दूर भगाने की कृपा कीजिए। २. हे **जातवेदः**=भविष्य में आविर्भूत होनेवाले और इस समय बीजरूप में अंकुरित हो रहे कामादि को भी जाननेवाले प्रभो! आप **अजातान्**=अभी पूर्ण रूप से विकसित न हुए इन कामादि को **प्रतिनुद**=एक-एक करके धकेल दीजिए और इस प्रकार इनके विकास को सम्भव ही न होने दीजिए। ३. **सुमनाः**=हमारे प्रति सदा उत्तम विचारवाले हे प्रभो! सदा जीव का शुभ चाहनेवाले प्रभो! **अहेडन्**=क्रोध न करते हुए आप **नः**=हमें **अधिब्रूहि**=अधिष्ठातृरूपेण हृदय में स्थित हुए उपदेश दीजिए। ४. उस उपदेश के अनुसार चलते हुए हम **तव**=तेरी **त्रिवरूथे**=इन्द्रिय, मन व बुद्धि तीनों की रक्षक-(वरूथ=cover)-भूत अथवा आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक त्रिविध सुखों के हेतुभूत **उद्भौ**=(उत्कृष्टानि वस्तूनि भवन्ति यस्मिन्—द०) उत्तम पदार्थों से युक्त आपकी **शर्मन्**=शरण में **स्याम**=सदा सुख से रहें। ५. आपके सम्पर्क में रहते हुए सदा आगे बढ़नेवाले 'अग्नि' बनकर हम भी परम स्थान में स्थित हों और आपके अनुरूप बनकर प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'परमेष्ठी' बनें।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारे दोष दूर हों, हम प्रभु के सन्देश को सुनें और प्रभु की उस शरण में सदा निवास करें, जो 'काम, क्रोध व लोभ' इन तीनों का निवारण करके (त्रिवरूथ=निवारण) 'प्रेम, दया व दान' आदि उत्कृष्ट भावनाओं को हममें जन्म देती है और इसी कारण 'उद्भि' कहलाती है (भवतेर्डिः)।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

वयं स्याम

सहसा जातान् प्रणुदा नः सपत्नान् प्रत्यजातान् जातवेदो नुदस्व।

अधि नो ब्रूहि सुमनस्यमानो वयँस्याम प्रणुदा नः सपत्नान्॥२॥

१. ये कामादि हमारी इच्छा से तो हममें उत्पन्न नहीं होते। ये तो हमारे न चाहते हुए भी हममें आ घुसते हैं। इसी से इन्हें 'विश्वानि' (विशन्ति) कहा गया है, अतः **सहसा**=बलपूर्वक **जातान्**=हममें उत्पन्न हो गये इन **नः**=हमारे **सपत्नान्**='काम, क्रोध व लोभ' आदि शत्रुओं को हमसे **प्रणुद**=प्रकर्षेण दूर धकेल दीजिए। २. हे **जातवेदः**=उत्पन्न हो रहे हमारे इन शत्रुओं को जाननेवाले प्रभो! **अजातान्**=पूर्णरूप से प्रादुर्भूत न हुए-हुए, बीजरूप से अवस्थित इन कामादि को **प्रतिनुदस्व**=एक-एक करके दूर प्रेरित कर दीजिए। ३. **सुमनस्यमानः**=हमारे लिए सदा शुभ चाहनेवाले प्रभो! **नः**=हमें **अधिब्रूहि**=अधिष्ठातृरूपेण हृदयस्थ आप उपदेश दीजिए। ४. **वयं स्याम्**=आपके उपदेशानुसार चलते हुए हम सदा बने रहें, कामादि शत्रुओं से आक्रान्त होकर समाप्त न हो जाएँ, अतः ५. आप **नः**=हमारे **सपत्नान्**=शत्रुओं को—चाहे वे 'जात' (fully developed) हैं, चाहे 'अजात' **प्रणुद**=हमसे दूर कीजिए। ६. इन शत्रुओं को दूर करके निरन्तर आगे बढ़नेवाले हम भी परम स्थान में स्थित होकर आपकी भाँति 'परमेष्ठी' नामवाले होंगे?

भावार्थ—कामादि अत्यन्त प्रबल हैं। हमारे न चाहते हुए भी ये हममें आ घुसते हैं। हम सबका भला चाहनेवाले प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि आप हमारे इन शत्रुओं को दूर प्रेरित करें, जिससे हम इस शरीर में सदा बने रहें। इन शत्रुओं से धकेले जाकर जीवन से दूर न कर दिये जाएँ, मार न दिये जाएँ।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—दम्पती। **छन्दः**—ब्राह्मीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

दम्पती

षोडशी स्तोमऽओजो द्रविणं चतुश्चत्वारिंश स्तोमो वर्चो द्रविणम्।
अग्नेः पुरीषमस्यप्सो नाम तां त्वा विश्वेऽअभि गृणन्तु देवाः।
स्तोमपृष्ठा घृतवतीह सीद प्रजावदस्मे द्रविणा यजस्व॥३॥

१. गत मन्त्रों के अनुसार शत्रुओं को दूर करके मनुष्य अपने जीवन में 'प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, ज्योतिः, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक व नाम (नम्रता)' इन सोलह कलाओं को विकसित करके **षोडशी**=सोलह कलाओंवाला बने। यह सोलह कलाओंवाला बनना ही **स्तोमः**=उसका स्तवन है। इस प्रकार वह प्रभु की स्तुति कर रहा होता है। इस क्रियात्मक प्रभु-स्तुति से **ओजः द्रविणम्**=ओजरूप धन प्राप्त होता है, यह स्तोता ओजस्वी बनता है। २. **चतुः चत्वारिंशः**=चवालीस संख्या को पूर्ण करनेवाला ब्रह्मचर्य का आचरण ही इसका **स्तोमः**=स्तुतिसमूह हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्मचर्यपूर्वक निवास से 'चारों अङ्गों में चवालीस वर्षों तक होनेवाली सम्पूर्णता का सम्पादन' सच्चा स्तवन है। इससे **वर्चः द्रविणम्**=अध्ययनरूप सम्पत्ति प्राप्त होती है। ३. एवं, पति ने ओजस्वी व वर्चस्वी बनना है। इस प्रकार बनना ही उसका सच्चा प्रभु-स्तवन है। ४. अब पत्नी के लिए कहते हैं कि **अग्नेः पुरीषं असि**=तू इस प्रगतिशील पति की पूर्तिकरी है (पृ=पूरण), पति के कार्य का पूरण करनेवाली है। पति-पत्नी से मिलकर ही घर की व्यवस्था पूर्ण होती है। पति कमाता है तो पत्नी उसका सद्व्यय करती हुई उस धन की रक्षा करती है। एवं, गृहस्थ में पत्नी पति के साथ मिलाकर कदम रखती है। ५. **अप्सः नाम**=(प्सा भक्षणे) (न विद्यते परपदार्थभक्षणं यस्य—द०) तू कभी पराये पदार्थ का सेवन करने का विचार नहीं करती, इसी बात में तेरी प्रसिद्धि है। 'आत्मना भुजमश्नुताम्' इस वेदसन्देश का

ध्यान करते हुए तू स्वयं पुरुषार्थ से भोजन को जुटाना ही ठीक समझती है। ६. **तां त्वा**=उस तुझे **विश्वेदेवाः**=सब समझदार लोग **अभिगृणन्तु**=सामने व पीछे प्रशंसित ही करते हैं। तेरा व्यवहार तेरी प्रशंसा का कारण बनता है। ७. **स्तोमपृष्ठा**=(वीरजननम्=स्तोमः पृष्ठे यस्याः)=वीर सन्तानों को जन्म देने का तेरा दायित्व है। तूने 'वीरसूः' ही बनना है। ८. **घृतवती**=शरीर से मलों के क्षरणवाली और मल निराकरण से पूर्ण स्वास्थ्य का सम्पादन करनेवाली तथा मस्तिष्क में ज्ञान की दीप्तिवाली तू **इह**=इस घर में **सीद**=विराज। ९. इस प्रकार इस घर में निवास करती हुई तू **अस्मे**=हमारे लिए **प्रजावत् द्रविणा**=उत्तम सन्तानरूप धनों को **यजस्व**=सङ्गत करानेवाली हो, अर्थात् तेरे साथ इस गृहस्थ की मंज़िल को पूर्ण करते हुए हम उत्तम सन्तानों को प्राप्त करनेवाले बनें।

भावार्थ—पति ओजस्वी व वर्चस्वी हो। पत्नी पति की पूरिका, किसी के आगे हाथ न फैलानेवाली तथा वीर सन्तानों को जन्म देने के व्रतवाली, स्वस्थ्य व ज्ञान-दीप्त हो।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—विद्वांसः। **छन्दः**—भुरिगाकृतिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

इस लोक से उस लोक तक

एवश्छन्दो वरिवश्छन्दः शम्भूश्छन्दः परिभूश्छन्दऽआच्छच्छन्दो मनश्छन्दो व्यचश्छन्दः सिन्धुश्छन्दः समुद्रश्छन्दः सरिरं छन्दः ककुप् छन्दस्त्रिककुप् छन्दः काव्यं छन्दोऽअङ्कुपं छन्दोऽक्षरपङ्क्तिश्छन्दः पदपङ्क्तिश्छन्दो विष्टारपङ्क्तिश्छन्दः क्षुरश्छन्दो भ्रजश्छन्दः ॥४॥

१. प्रभु 'परमेष्ठी'=परम स्थान में स्थित होने के निश्चयवाले से कहते हैं कि तेरी **एवः छन्दः**=ज्ञान की कामना हो। 'एव' की मूल भावना गति है—'गतेस्त्रयोऽर्थाः ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्च' इस आधार से गति का अर्थ ज्ञान हो जाता है। २. ज्ञान प्राप्त करके तेरी **वरिवः छन्दः**=(वरिवस्या तु शुश्रूषा) सेवा की कामना हो। ज्ञान प्राप्त करके तू अधिक-से-अधिक लोकहित करनेवाला हो। ३. **शम्भूः छन्दः**=शान्ति के उत्पादन की तेरी इच्छा हो, सबको सुखी करने की तेरी भावना हो। ४. **परिभूः छन्दः**=(सर्वतः पुरुषार्थी—द०) शारीरिक, मानस, बौद्धिक व सामाजिक विकास के लिए तेरी विविध पुरुषार्थों की कामना हो। ५. **आच्छत् छन्दः**=इस व्यापक पुरुषार्थ के द्वारा (दोषापवारणम्—द०) दोषों के दूर करने की तेरी कामना हो। निरन्तर पुरुषार्थ में लगा व्यक्ति दोषों से बचा रहता है। ६. **मनः छन्दः**=दोषापवारण द्वारा निर्मल मन से तू उत्तम मनन का संकल्प कर, तेरा विचार उत्तम हो। ७. **व्यचः छन्दः**=(शुभगुणव्याप्तिः—द०) इस मन को तू शुभ गुणों से व्याप्त करने की इच्छा कर अथवा विस्तृत मनवाला होने की इच्छा कर। ८. **सिन्धुः छन्दः**=(नदीव चलनम्—द०) नदी की भाँति स्वाभाविक कर्म की वृत्तिवाला बनने की इच्छा कर। ९. **समुद्रः छन्दः**=समुद्र के समान गम्भीर बनने की कामना कर अथवा सदा प्रसन्न रहने का प्रयत्न कर (स+मुद्र) १०. **सरिरं छन्दः** =बहनेवाले जल की भाँति तू शान्त होने की कामना कर। ११. उल्लिखित गुणों को धारण करके **ककुप् छन्दः**=शिखर तेरी इच्छा हो। तू शिखर पर पहुँचने का संकल्प कर। १२. **त्रिककुप् छन्दः**=शरीर, मन व बुद्धि तीनों दृष्टिकोणों से शिखर पर पहुँचने की तेरी कामना हो अथवा धन, बल व ज्ञान तीनों में तू अग्रणी बनने की भावना रख। 'प्रेम, दया व दान' ये तीनों तुझे उच्च स्थानों में स्थित करें। १३. **काव्यं छन्दः**=प्रभु का अजरामर वेदरूपी काव्य तेरी कामना का विषय बने। इसके द्वारा तू सब सत्य विद्याओं

का जाननेवाला बन, कर्त्तव्याकर्त्तव्य को समझ। १४. कर्त्तव्याकर्त्तव्य को समझकर **अङ्कुपं छन्दः**=कुटिलता से अपने को आक्रान्त न होने देने की कामना कर (अङ्कोःपाति)। 'अकुटिलता व आर्जव ही ब्रह्म-प्राप्ति का मार्ग है' इस बात को न भूल। १५. अकुटिल व सरल बनकर तू **अक्षरपंक्तिः छन्दः**=उस अविनाशी परमात्मा में अपनी पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंवाला हो (अक्षरे पंक्तिः यस्य)। तेरी कामना यही हो कि सब ज्ञानेन्द्रियाँ प्रत्येक वस्तु में प्रभु महिमा को देखनेवाली हों। १६. **पदपंक्तिः छन्दः**=प्रभु का स्मरण करते हुए (पदे पंक्तिर्यस्य) तू सदा उत्तम मार्ग पर चलनेवाला बन। तेरी कामना यही हो कि मेरी कर्मेन्द्रियाँ धर्ममार्ग से रेखामात्र भी विचलित न हों। १७. इस प्रकार ज्ञानेन्द्रियों से ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञान प्राप्त करते हुए तथा कर्मेन्द्रियों से धर्ममार्ग पर चलते हुए तू यह कामना कर कि **विष्टारपंक्तिः छन्दः** =(विष्टारे पंक्तिः यस्य) सब शक्तियों के विस्तार में तेरे पाँचों प्राण विनियुक्त हों। तेरी सब शक्ति विस्तार व वृद्धि के लिए हो। १८. इस शक्तियों के निरन्तर विस्तार से **क्षुरोभ्रजः छन्दः**=(असौ वा आदित्यः क्षुरोभ्रजश्छन्दः—श० ८। ५। २। ४) आदित्य बनने की तेरी कामना हो। आदित्य 'क्षुर' है। यह सब अन्धकार का छेदन—विलेखन करता है, यह भ्रज है 'भ्राजते' दीप्त होता है। तू भी अज्ञानान्धकार का विलेखन करके ज्ञान-दीप्ति से भ्राजमान होने के लिए प्रबल कामना व यत्नवाला हो।

१९. प्रस्तुत मन्त्र में ध्यान देने योग्य बात यह है कि इसका प्रारम्भ 'एवः' से है, जिसका अर्थ ज्ञान है—ज्ञान-प्राप्ति के लिए गतिशीलता है और मन्त्र की समाप्ति पर सूर्य की भाँति अन्धकार का विलेखन करके ज्ञान से दीप्त होने का उपदेश है। संक्षेप में ज्ञान से प्रारम्भ है और ज्ञान पर ही अन्त है। वस्तुतः मनुष्य को मनुष्य बनानेवाला यह ज्ञान ही है। ज्ञान ही उसे ऊँचा उठाता हुआ 'परमेष्ठी' बनाएगा।

भावार्थ—इस जीवन में मेरी कामना मन्त्र-वर्णित १८ शब्दों के अनुसार हो। 'ज्ञान, सेवा, शान्ति, पुरुषार्थ, दोषापावरण, मनन, आत्म-विस्तार एवं सद्गुण ग्रहण, सहज क्रियाएँ, गम्भीरता, शान्ति व माधुर्य, शिखर पर पहुँचना, स्वास्थ्य नैर्मल्य, प्रभु के काव्य को अपनाना, अकुटिलता, सदा प्रभु-स्मरण, न्यायमार्ग-प्रवृत्ति, शक्ति-विस्तार, अन्धकार विलेखन व ज्ञान-दीप्ति' ये मेरी कामना के विषय हों।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—विद्वांसः। **छन्दः**—निचृदभिकृतिः। **स्वरः**—ऋषभः॥

आच्छत्+अङ्काङ्कम् (गोदों की गोद)

आ॒च्छच्छन्दः॑ प्र॒च्छच्छन्दः॑ सं॒यच्छन्दो॑ वि॒यच्छन्दो॑ बृ॒हच्छन्दो॑ रथन्त॒रञ्छन्दो॑ निका॒यश्छन्दो॑ विव॒धश्छन्दो॒ गिर॒श्छन्दो॒ भ्रज॒श्छन्दः॑ स॒ᳪस्तुप् छन्दो॑ऽनु॒ष्टुप् छन्द॒ऽए॒वश्छन्दो॒ वरि॑व॒श्छन्दो॒ वय॒श्छन्दो॑ वय॒स्कृच्छन्दो॒ विष्प॑र्द्धा॒श्छन्दो॑ विशा॒लं छन्द॑श्छ॒दिश्छन्दो॑ दूरोह॒णं छन्द॑स्त॒न्द्रं छन्दो॑ऽअङ्का॒ङ्कं छन्दः॑ ॥५॥

१. **आच्छत् छन्दः**=(समन्तात् पापनिवारकं कर्म—द०) अच्छे प्रकार पापों की निवृत्ति करनेवाले कर्म की तुम्हारी कामना हो। अपने को पाप से बचाने के लिए हम सदा कर्मों में लगे रहें। २. **प्रच्छत् छन्दः**=(प्रयत्नेन दुष्टस्वभावदूरीकरणार्थं कर्म—द०) प्रयत्न से दुष्ट स्वभाव को दूर करनेवाले कर्म की तुम्हारी कामना हो। जहाँ हम पापकर्मों से अपने को बचाएँ, वहाँ अपने जीवन को इस प्रकार चलाएँ कि हमारा स्वभाव दुष्ट न हो जाए। ३. **संयत् छन्दः**=संयम की हमारी कामना हो। हम मन को पवित्र रखकर संयमी

बनने का प्रयत्न करें। ४. **वियत् छन्दः**=विविध यत्नों की हमारी इच्छा हो। हम अपने जीवन को सदा अच्छा बनाने का यत्न करें। ५. **बृहत् छन्दः**=(बृहि वृद्धौ) बहुत वृद्धि की हमारी कामना बनी रहे। हमारे सब यत्न वृद्धि के लिए हों। ६. **रथन्तरं छन्दः**=हमें यह ध्यान रहे कि इस शरीररूप रथ से हमने संसार को तैरना है। इस प्रकार जीवन-यात्रा को पूर्ण करने की हमारी प्रबल कामना हो। ७. **निकायः छन्दः**=(निकाय=The supreme being) जीवन-यात्रा को पूर्ण करके उस पुरुषोत्तम को, जो वास्तव में हमारा घर है, प्राप्त करने की हमारी कामना हो। निकाय शब्द का अर्थ गुणों का समूह भी है। हम अपने जीवन में अधिक-से-अधिक गुणों का संग्रह करने की कामनावाले हों। ८. **विवधः छन्दः**=(विशिष्टो वधः) अन्तःशत्रुओं का नाश ही 'विशिष्ट' वध है, उसकी हमें इच्छा करनी चाहिए। ९. **गिरः छन्दः**=इनका वध कर सकने के लिए वेदवाणियों की हमारी कामना हो। इन ज्ञानवाणियों को अपना व्यसन बनाकर ही हम काम-क्रोधादि से उत्पन्न व्यसनों का वध कर पाएँगे। १०. **भ्रजः छन्दः**=ज्ञान को अपना व्यसन बनाकर हम ज्ञान की दीप्ति से चमकने की कामना करें। (भ्राजृ दीप्तौ) ११. **संस्तुप् छन्दः**=इस ज्ञान-दीप्ति को प्राप्त करके अपनी देदीप्यमान ज्ञानाग्नि में हम कामादि को भस्म करने की कामनावाले बनें। कामादि को **सम्**=सम्यक्, पूर्णतया **स्तुप्**=रोक देने की इच्छा करें। इसी उद्देश्य से १२. **अनुष्टुप् छन्दः**=अनुक्षण प्रभु-स्तवन की हमारी कामना हो। इस प्रभु-स्मरण से हमें १३. **एवः छन्दः**=ज्ञान प्राप्त होगा। इस अन्तःज्ञानस्रोत को प्रवाहित करने की कामनावाले हम बनें। १४. **वरिवः छन्दः** =ज्ञान को प्राप्त करने के लिए 'गुरु-शुश्रूषा' की हमारी कामना हो। **'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सवेया'** यह ज्ञान प्रणिपात, परिप्रश्न व सेवा से प्राप्त होता है। १५. वस्तुतः मातृ-सेवा, पितृ-सेवा, आचार्य-सेवा व लोक-सेवा के लिए ही **वयः छन्दः**=जीवन-तन्तु का विस्तार हमारी इच्छा का विषय बने (वेञ् तन्तुसन्ताने)। १६. इस जीवन विस्तार के लिए **वयस्कृत् छन्दः**=हम उन्हीं अन्नों व भोज्यद्रव्यों की कामना करें जो जीवन-तन्तु को दीर्घ करनेवाले हों। १७. इस दीर्घ जीवन में **विष्पर्द्धाः छन्दः**=हम विशिष्ट स्पर्धा की कामना करें। गुणों के दृष्टिकोण से औरों से आगे बढ़ने का ध्यान करें। स्पर्धापूर्वक निरन्तर आगे बढ़ते हुए १८. **विशालं छन्दः**=हम अपने को विशाल बनाने की कामनावाले हों। १९. इस विशालता की ओर चलते हुए **छदिः छन्दः** (छद अपवारणे)=विघ्नों को दूर करने की हमारी कामना हो। विघ्न हमें हतोत्साह करनेवाले न हो जाएँ। २०. इन विघ्नों को दूर करते हुए हम ऊपर और ऊपर उठते चलें। वेद के 'पृष्ठात् पृथिव्या अहमन्तरिक्षम्, अन्तरिक्षाद्दिवमारुहं दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम्' इन शब्दों के अनुसार हम पृथिवी से अन्तरिक्ष में और अन्तरिक्ष से द्युलोक में पहुँचनेवाले हों। **दूरोहणं छन्दः**=(दुःखेन रोढुं योग्यम्) जहाँ तक पहुँचना सुगम नहीं, उस आदित्य तक पहुँचने का संकल्प करें। (असौ वा आदित्यो दूरोहणं छन्दः—श० ८।५।२।६)। २१. **तन्द्रं छन्दः**=हमारा एक ही ध्येय हो **तन्**=शक्तियों का विस्तार तथा **द्र**=विघ्नों का विद्रावण। हम शक्तियों के विस्तार व विघ्न-नाश की प्रबल कामना करें। २२. इस प्रकार निरन्तर उन्नति के लिए प्रयत्नशील होते हुए हम **'अङ्क+अङ्कं छन्दः'**=गोदों की भी गोद—उस सर्वोत्तम गोद में, अर्थात् प्रभु के समीप पहुँचने की इच्छावाले हों। यह गोद ही 'अभयम्'=पूर्ण निर्भयता देनेवाली है।

भावार्थ—हम आच्छत् छन्द से अङ्काङ्क छन्द तक पहुँचनेवाले बनें। पाप-निवारणात्मक कर्मों को करते हुए हम प्रभु की गोद में पहुँचने का ध्यान करें।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—विद्वांसः। **छन्दः**—विराडभिकृतिः। **स्वरः**—ऋषभः॥

र॒श्मिना॑ स॒त्याय॑ स॒त्यं जि॑न्व॒ प्रेति॑ना॒ धर्म॑णा॒ धर्मं॑ जिन्वा॒न्वि॑त्या दि॒वा दिवं॑ जिन्व स॒न्धिना॒न्तरि॑क्षेणा॒न्तरि॑क्षं जिन्व प्रति॒धिना॑ पृथि॒व्या पृ॑थि॒वीं जि॑न्व वि॒ष्टम्भे॑न वृ॒ष्ट्या वृष्टिं॑ जिन्व प्र॒वया॒ऽह्नाह॑र्जिन्वानु॒या रात्र्या॒ रात्रीं॑ जिन्वो॒शिजा॒ वसु॑भ्यो॒ वसू॑ञ्जिन्व प्र॒के॒तेना॑दि॒त्येभ्य॑ऽआदि॒त्याञ्जि॑न्व ॥६॥

१. **सत्याय**=सत्य के लिए (उपहिता सती—म० enjoined) आदिष्ट हुआ-हुआ तू **रश्मिना**=ज्ञान-किरणों से तथा मनरूप लगाम द्वारा इन्द्रिय-निरोध से (रश्मिः=किरण, लगाम) **सत्यं जिन्व**=सत्य को प्राप्त कर, सत्य को अपने अन्दर प्रीणित कर। ज्ञानेन्द्रियों के क्षेत्र में 'रश्मि' किरण है और कर्मेन्द्रियों के क्षेत्र में यह लगाम है। ज्ञान-किरणों के प्राप्त करने में लगी हुई ज्ञानेन्द्रियाँ असत्य से बची रहती हैं और सत्य का पोषण करती हैं, इसी प्रकार बुद्धिरूप सारथि से मनरूप लगाम द्वारा निरुद्ध कर्मेन्द्रियाँ असत्य कर्मों में प्रवृत्त नहीं होतीं। २. **धर्मणा**=(धर्मो धारयते प्रजाः) धारणात्मक कर्मों को करने के हेतु से इस मानव शरीर को प्राप्त कराया हुआ तू **प्रेतिना**=(प्रकृष्टा इतिः) प्रकृष्ट गति से, अर्थात् सदा गो-सेवा आदि उत्तम कर्मों में लगे रहने से **धर्म जिन्व**=अपने अन्दर धर्म को प्रीणित कर। धन कमाने के कार्यों से निपटने पर गो-सेवादि कार्य ही तेरे आमोद-प्रमोद हों। ३. **दिवा**=ज्ञान के लिए सब साधनों को प्राप्त कराया हुआ तू **अन्वित्या**=(अनु+इति) माता-पिता व आचार्य के अनुकूल गति करने के द्वारा, अर्थात् उनकी आज्ञा के अनुसार चलता हुआ तू **दिवं जिन्व**=प्रकाश को प्राप्त कर। तू माता से चरित्र और पिता से आचार (Manners) तथा आचार्य से ज्ञान की शिक्षा प्राप्त करके प्रकाशमय जीवनवाला बन। ४. **अन्तरिक्षेण**=(अन्तरा क्षि) सदा मध्यमार्ग में चलने के हेतु से ही तुझे बुद्धि दी गई है। मध्यमार्ग में चलने के हेतु से इस मानव जीवन को प्राप्त करायां हुआ तू **सन्धिना**=शरीर व मन के बल का अपने में सम्यग् आधान (स्थापन) द्वारा **अन्तरिक्षं जिन्व**=इस मध्यमार्ग को प्राप्त करनेवाला बन। अथवा **सन्धिना**=दोनों अतियों के मेल के द्वारा तू मध्यमार्ग को प्राप्त कर। एक ओर अतियोग है—दूसरी ओर अयोग। दोनों का मध्य यथायोग है। इस यथायोग को तू अपनानेवाला हो। ५. **पृथिव्या**=(पृथिवी शरीरम्) इस शरीर को स्वस्थ रखने के लिए आदिष्ट हुआ-हुआ तू **प्रतिधिना**=अङ्ग-अङ्ग में—प्रत्येक अङ्ग में शक्ति के आधान द्वारा (प्रति-धानं) **पृथिवीं जिन्व**=शरीर को पूर्ण स्वस्थ बना। ६. शरीर को स्वस्थ बनाकर अध्यात्म उन्नति करके **वृष्ट्या**=धर्ममेघ समाधि में आनन्द की वर्षा को प्राप्त करने के हेतु से इस संसार में भेजा हुआ तू **विष्टम्भेन**=(वि+स्तम्भ्) विशिष्ट रूप से चित्तवृति के स्तम्भन के द्वारा **वृष्टिं जिन्व**=इस आनन्द की वर्षा को प्राप्त करनेवाला बन। ७. **अह्ना**=(अहन्) जीवन के एक भी क्षण को नष्ट न करने के लिए भेजा हुआ तू **प्रवया** (प्रकर्षेण यानं प्रवा, वा गतिगन्धनयोः)=प्रकृष्ट गति के द्वारा **अहः**=अपने आयुष्य के दिनों को **जिन्व**=बड़ा क्रियामय बना। तेरे जीवन के दिन उत्साहपूर्ण प्रतीत हों। ८. **रात्र्या**=(रात्रिः रमयित्री) रात्रि को सचमुच आनन्दप्रद बनाने के लिए प्रेरित हुआ-हुआ तू **अनुया**=एक के बाद दूसरे, दूसरे के बाद तीसरे इस प्रकार निरन्तर कर्मों में लगने के द्वारा **रात्रीं जिन्व**=रात्रि को आनन्दप्रद बना (to refresh, to animate)। ९. इस प्रकार दिन-रात्रि को ठीक बनाने के बाद **वसुभ्यः**=वसुओं के लिए आदिष्ट हुआ-हुआ **उशिजा**=(उशिक्=मेधावी, तथा

वष्टि कामयते) बुद्धिमता से उत्तम कामनाओं के द्वारा **वसून् जिन्व**=सब निवासक तत्त्वों को प्राप्त करनेवाला बन। इन वसुओं ने ही तो तेरे निवास को उत्तम बनाना है। इन वसुओं की अनुकूलता से ही पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त होता है। १०. पूर्ण स्वस्थ बनकर **आदित्येभ्यः**=आदित्यों के लिए प्रेरित हुआ-हुआ तू **प्रकेतेन**=प्रकृष्ट ज्ञान से **आदित्यान् जिन्व**=आदित्यों को प्रीणित करनेवाला बन। आदित्य की भाँति ही तुझे ज्ञान की दीप्ति से चमकना है। यह ज्ञान 'प्रकेत' है 'प्रकर्षेण कं सुखं इष्यतेऽनेन'=इसी से प्रकृष्ट सुख की गति होती है। इसी से उस **क**=अनिर्वचनीय प्रजापति परमात्मा का दर्शन होता है।

भावार्थ—प्रभु ने हमें प्रस्तुत मन्त्र में दस आदेश दिये हैं। इन आदेशों के अनुसार हमें सत्य, धर्म, प्रकाश, मध्यमार्ग, शरीर का स्वास्थ्य, आनन्द-वृष्टि की अनुभूति, समय की अव्यर्थता, रात्रि का रमयितृत्व—वासक तत्त्व तथा प्रकेत (=प्रकृष्ट ज्ञान) की साधना करनी है। हम इन आदेशों का पालन करते हैं तो वे ही हमारे स्तोम=प्रभु-स्तवन हो जाते हैं।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—विद्वांसः। **छन्दः**—ब्राह्मीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

रायस्पोष से तेजस् तक २९ में से ११-१६ तक स्तोमभाग

तन्तुना रायस्पोषेण रायस्पोषं जिन्व सꣳसर्पेण श्रुताय श्रुतं जिन्वैडेनौषधीभिरोषधीर्जिन्वोत्तमेन तनूभिस्तनूर्जिन्व वयोधसाधीतेनाधीतं जिन्वाभिजिता तेजसा तेजो जिन्व ॥७॥

११. **रायस्पोषेण**=इस संसार में तू रायस्पोष के हेतु से, धन के पोषण के लिए भेजा गया है। इस धन के बिना लोकयात्रा चलना सम्भव नहीं, अतः तू **तन्तुना**=कर्मतन्तु के विस्तार के द्वारा **रायस्पोषं जिन्व**=धन के पोषण को प्राप्त कर। तू पुरुषार्थ से धनार्जन कर। १२. धन के साथ तू **श्रुताय**=शास्त्र-श्रवण व ज्ञान-प्राप्ति के लिए भी उद्दिष्ट हुआ है, अतः तू **संसर्पेण** =सदा विद्यावृद्धों के समीप जाने से **श्रुतं जिन्व**=अपने शास्त्र-ज्ञान को बढ़ानेवाला बन। 'श्रेष्ठों को प्राप्त करके ज्ञानी बनो'—इस बात को तू भूलना नहीं। १३. **ओषधीभिः**=इस संसार में तुझे ओषधियों के ही सेवन का आदेश है, अतः **ऐडेन**=उन ओषधियों के गुण-स्तवन के द्वारा (आ-ईड् स्तुतौ=ऋच्), अर्थात् उनके गुणधर्मों के ज्ञान के साथ **ओषधीः जिन्व**=तू ओषधियों को प्राप्त हो। मांसाहार बुद्धि को राजस् बनाकर ज्ञान को विकृत कर देता है। १४. **तनूभिः** =शक्तियों के विस्तार (तन् विस्तारे) के हेतु तुझे यह जन्म मिला है, अतः **उत्तमेन**=(उद्गतं तमो यस्मात्—म०) तमोगुणरहित अन्नादि के सेवन से **तनूः जिन्व**=शक्तियों के विस्तार को प्राप्त हो। १५. **अधीतेन**=अध्ययन के हेतु तुझे यह मानव जीवन मिला है, अतः **वयोधसा**=(वयो दधाति पुष्णाति) आयुष्य के पोषक अन्न के सेवन से **अधीतं जिन्व**=अध्ययन को प्राप्त हो। आयुष्य का स्थापक अन्न तुझे दीर्घजीवी बनाकर दीर्घकाल तक अध्ययन के योग्य बनाएगा। १६. **तेजसा**=तेज के हेतु तुझे यह जीवन मिला है, अतः **अभिजिता**=अन्तरिन्द्रिय मन व बाह्येन्द्रियों के विजय से पूर्ण जितेन्द्रिय होकर **तेजः जिन्व**=तू तेज प्राप्त कर।

भावार्थ—मानव जीवन को प्राप्त करके हम 'धन, ज्ञान (श्रुत) सात्त्विक अन्न, शक्ति-विस्तार, अध्ययन व तेज' को सिद्ध करने के लिए यत्नशील हों।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—भुरिगार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

प्रतिपद-अनुपद्-सम्पत्-तेज १७ से २० तक

प्रतिपदसि प्रतिपदे त्वानुपदस्यनुपदे त्वा सम्पदसि सम्पदे त्वा तेजोऽसि तेजसे त्वा ॥८॥

१७. पति-पत्नी परस्पर कहते हैं कि **प्रतिपत् असि**=तू ज्ञान-सम्पन्न है (प्रतिपत्=बुद्धि) **प्रतिपदे त्वा** =ज्ञान के लिए ही मैं तुझे स्वीकार करता हूँ। हम परस्पर ज्ञानचर्चाएँ करते हुए एक-दूसरे के ज्ञान को बढ़ानेवाले बन पाएँगे। १८. **अनुपद् असि**=तू अनुकूल चलनेवाली है। **अनुपदे त्वा**=अनुकूलता के लिए ही मैं तुझे स्वीकार करता हूँ। १९. **सम्पत् असि**=तू लक्ष्मी है। **सम्पदे त्वा**=सम्पत्ति की वृद्धि के लिए मैं तुझे स्वीकार करता हूँ। सप्तपदी में भी 'रायस्पोषाय त्रिपदी भव' इस वाक्य के अनुसार सम्पत्ति वृद्धि के लिए ही तीसरा पग है। यहाँ मन्त्र की समाप्ति इस रूप में है कि २०. **तेजः असि**=तू संयम के द्वारा तेज का पुञ्ज बना है, **तेजसे त्वा**=अपने तेज की स्थिरता के लिए मैं तेरा स्वीकार करता हूँ। इस तेजस्विता ने ही तो पति-पत्नी के जीवन को स्वस्थ बनाकर कल्याण का भावन (उत्पादन) करना है।

भावार्थ—गृहस्थ को स्वर्गतुल्य बनाने के लिए चार बातें आवश्यक हैं—१. ज्ञान (समझदारी), २. अनुकूलता, ३. कार्यसाधिका सम्पत्ति, ४. तेजस्विता (संयम के द्वारा)।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—विराड्ब्राह्मीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

इक्कीस से उनतीस तक स्तोमभाग

त्रिवृदसि त्रिवृते त्वा प्रवृदसि प्रवृते त्वा विवृदसि विवृते त्वा सवृदसि सवृते त्वाऽऽक्रमोऽस्याक्रमाय त्वा संक्रमोऽसि संक्रमाय त्वोत्क्रमोऽस्युत्क्रमाय त्वोत्क्रान्तिरस्युत्क्रान्त्यै त्वाधिपतिनोर्जोर्जं जिन्व ॥९॥

२१. **त्रिवृत् असि**=तू 'धर्म, अर्थ व काम' तीनों में वर्त्तनेवाला है, तीनों का समानुपात में सेवन करनेवाला है। मस्तिष्क की उन्नति से ज्ञान-वृद्धि द्वारा तू धर्म को अपनाता है, हृदय के नैर्मल्य से मधुर व्यवहारवाला बनकर तू सुपथा अर्थ का अर्जन करता है और शारीरिक उन्नति के द्वारा स्वस्थ बनकर उचित आनन्द (=काम) को प्राप्त करनेवाला होता है। **त्रिवृते त्वा**=इस प्रकार धर्मार्थकाम तीनों में वर्त्तने के लिए मैं तुझे स्वीकार करता हूँ। २२. **प्रवृत् असि**=तू सदा उत्कृष्ट कार्यों में प्रवृत्त होनेवाला है (प्रवर्त्तते), **प्रवृते त्वा**=सदा कार्य-प्रवृत्त होने के लिए, यज्ञादि उत्तम कर्मों में आलस्यशून्यता से सदा प्रवृत्त होने के लिए ही मैं तुझे स्वीकार करता हूँ। २३. **विवृत् असि**=(विशेषेण वर्त्तते भूतेषु) तू विशिष्टरूप से यज्ञादि उत्तम कर्मों से प्राणियों के हित में प्रवृत्त होनेवाला है। **विवृते त्वा**=इस विशिष्ट वर्त्तन के लिए ही मैं तुझे स्वीकार करता हूँ। पति-पत्नी प्राणिमात्र के प्रीति-(आनन्द)-वर्धक कार्यों में प्रवृत्त होने के लिए ही परस्पर सङ्गत हों। २४. **सवृत् असि**=(सह वर्त्तते) तू सदा साथ मिलकर चलनेवाली है, **सवृते त्वा**=इस सह वृत्ति के लिए ही मैं तुझे अङ्गीकार करता हूँ। २५. **आक्रमः असि**=(आक्रामति पराभवति अशुभम्) तू उद्योग से सब अशुभों का पराभव करनेवाला है, इस **आक्रमाय त्वा**=अशुभ-पराभवन के लिए ही मैं तुझे स्वीकार करता हूँ। २६. **संक्रमोऽसि**=(संक्रामति) सदा मिलकर क़दम रखनेवाली है, अकेला ही तेज़ी से आगे

बढ़ जानेवाला नहीं, अतः **संक्रमाय त्वा**=इस मिलकर उन्नति के मार्ग में क़दम रखने के लिए मैं तुझे स्वीकार करता हूँ। २७. **उत्क्रमः असि**=तू (उत्=out) विषयों से बाहर निकलने के लिए व विघ्नों के पार होने के लिए क़दम रखनेवाला है अतः **उत्क्रमाय त्वा**=इस उत्क्रमवृत्ति के लिए मैं तुझे स्वीकार करता हूँ। २८. **उत्क्रान्तिः असि**=(उत्कृष्ट क्रान्तिर्गमनं यस्य) तू सदा उत्कृष्ट क्रान्तिवाला है, अच्छाई के लिए क्रान्ति करनेवाला है। **उत्क्रान्त्यै त्वा**=अपने जीवन में उत्कृष्ट क्रान्ति लाने के लिए ही मैं तुझे स्वीकार करता हूँ। २९. और तू सदा **अधिपतिना**=(अधिकं पाति) अधिष्ठातृरूपेण वर्त्तमान उस सर्वाधिक रक्षक प्रभु के साथ प्रातः-सायं सङ्गत होकर **उर्जा**=बल और प्राणशक्ति के प्रवाह के द्वारा **ऊर्जं जिन्व**=अपने बल व प्राण को प्रीणित क़रनेवाला बन। यह सन्धि-वेला की सन्ध्या तुझे उस सर्वशक्तिमान् प्रभु से संहित करके फिर-फिर शक्ति से भरनेवाली होगी और अपने को शक्ति से भरने की क्रिया ही तेरे प्रभु-स्तवन की चरम कला होगी, जो तुझे अवश्य प्रभु-प्राप्ति के योग्य बना देगी। **'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'** प्रभु निर्बल को नहीं मिलते, शक्ति-सम्पन्न बनकर उसे पाया जाता है।

भावार्थ—हम 'त्रिवृत्, प्रवृत्, विवृत् व सवृत्' बनकर 'आक्रम, संक्रम व उत्क्रम' हों और एक विशिष्ट (उत्कृष्ट) क्रान्ति के लिए प्रभु-सम्पर्क से अपने में शक्ति का सञ्चार करें।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—वसवः। **छन्दः**—विराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्[क], ब्राह्मीबृहती[र]। **स्वरः**—धैवतः[क], मध्यमः[र]॥

राज्ञी (गृहपत्नी)

[क]राज्ञ्यसि प्राची दिग्वसवस्ते देवाऽअधिपतयोऽग्निर्हेतीनां प्रतिधर्त्ता त्रिवृत्त्वा स्तोमः पृथिव्याᳬंश्रयत्वाज्यमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु रथन्तरᳬंसाम प्रतिष्ठित्याऽ अन्तरिक्षऽऋषयस्त्वा [र]प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्त्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु ॥१०॥

१. हे गृहपत्नि! तू **राज्ञी असि**=(राज्=दीप्तौ, to regulate, to direct) तू अपने व्यवहार से दीप्त होनेवाली है। तेरा जीवन बड़ा व्यवस्थित है, इसी से तो तू सारे घर को व्यवस्थित करनेवाली है। २. **प्राची दिक्**=प्राची तेरी दिशा है। यह दिशा तुझे तेरे मार्ग का संकेत करनेवाली है। (प्र अञ्च) यह तुझे निरन्तर आगे बढ़ने का निर्देश कर रही है। ३. **वसवः ते देवाः**=वसु तेरे आराध्य देव हैं, शरीर के पूर्ण स्वास्थ्य के लिए तू निवासक तत्त्वों का ध्यान करनेवाली है। वे देव ही तेरे **अधिपतयः**=आधिक्येन रक्षा करनेवाले हैं। ४. **अग्निः**=उन्नतिशील, अग्रेणी यह तेरा पति **हेतीनाम्**=घर पर पड़नेवाले वज्रों (हेतिः=वज्रम्—नि० २।२०) का, कष्टों का **प्रतिधर्ता**=प्रतीकार करनेवाला है। घर पर होनेवाले आक्रमणों से बचाना पति का ही काम है, पति ही रक्षक है (हेतीनाम्=उपद्रवकारिणीनां परायुधानां प्रतिधर्ता निराकर्ता—म०)। ५. **त्रिवृत्**=धर्मार्थकाम तीनों का होना और इसी रूप में होनेवाला **स्तोमः**=यह प्रभु-स्तवन **त्वा**=तुझे **पृथिव्याम्**=इस शरीर में **श्रयतु**=सेवन करनेवाला हो। धर्मार्थकाम में सम्यक् वृत्ति शरीर में उत्तम निवास के लिए तेरी सहायता करे। ६. **उक्थम्**=(वक्तुमर्हं) प्रशंसनीय, स्तुति के योग्य **आज्यम्**=घृत अर्थात् प्रशंसनीय गोघृत तुझे **अव्यथायै**=किसी प्रकार की व्यथा-पीड़ा न होने देने के लिए **स्तभ्नातु**=थामे, दृढ़ करे। प्रशस्य गोघृत के

सेवन से तू सब रोग व पीड़ाओं से ऊपर उठ। ७. **रथन्तरं साम**='मुझे शरीररूप रथ से इस भवसागर को तैरना है, जीवन-यात्रा को पूरा करना है' ऐसा निश्चय ही मानो प्रभु-स्तवन है। यह साम=प्रभु-स्तवन **अन्तरिक्षे**=हृदयान्तरिक्ष में **प्रतिष्ठित्या**=प्रतिष्ठिति के लिए हो। यह निश्चय मन में स्थिरता से रहे। यह तेरे जीवन का मौलिक सिद्धान्त बन जाए। ८. **देवेषु**=विद्वानों में जो **प्रथमजाः**=प्रथम विभाग में होनेवाले उच्चकोटि के **ऋषयः**=ज्ञानी हैं, वे **दिवो मात्रया**=अपने-अपने ज्ञान के अंश से, **वरिम्णा**=हृदय की विशालता से **प्रथन्तु**=तेरे जीवन की शक्तियों का विस्तार करें। ९. **विधर्त्ता**=आपत्तियों का प्रतीकार करनेवाला 'अग्निः', **च अयम् अधिपतिः**=और ये अधिष्ठातृरूपेण रक्षक निवासकदेव **ते त्वा सर्वे**=और वे सारे ऋषि **संविदानाः**=ऐकमत्यवाले होकर **नाकस्य पृष्ठे**=जहाँ दु:ख है ही नहीं, उस लोक के ऊपर **स्वर्गे लोके**=उत्तम कर्मों से अर्जनीय लोक में **त्वा**=तुझे **यजमानं च**=और यज्ञशील गृहपति को **सादयन्तु**=स्थापित करें।

भावार्थ—पत्नी ज्ञान-दीप्त, निरन्तर उन्नति-पथ पर बढ़नेवाली हो, धर्मार्थ, काम का समानुपात में सेवन करती हो। घृतादि के प्रयोग से शरीर को स्वस्थ रक्खे। शरीररूप रथ से जीवन-यात्रा को पूर्ण करने का निश्चय करे। पति 'अग्नि'=अग्रेणी हो। ऐसा होने पर घर स्वर्ग बन जाता है।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—स्वराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्[क], ब्राह्मीबृहती[र]। **स्वरः**—धैवतः[क], मध्यमः[र]॥

विराट् (गृहपत्नी)

[क]विराडसि दक्षिणा दिग्रुद्रास्ते देवाऽअधिपतयऽइन्द्रो हेतीनां प्रतिधर्त्ता पञ्चदशस्त्वा स्तोमः पृथिव्याᳬश्रयतु प्रऽउगमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु बृहत्साम प्रतिष्ठित्याऽअन्तरिक्षऽऋषयस्त्वा [र]प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्त्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु॥ ११॥

१. हे पत्नि! **विराट् असि**=जीवन को विशिष्टरूप से व्यवस्थित करने के कारण तू विशेषरूप से चमकनेवाली है। २. **दक्षिणा दिक्**=दाक्षिण्य का उपदेश देनेवाली यह दक्षिणा तेरी दिशा है। ३. **ते देवाः रुद्राः**=ये रुद्र तेरे देव हैं। प्राणशक्ति को स्थिरता देनेवाले ये रुद्र देव ही **अधिपतयः**=तेरी आधिक्येन रक्षा करनेवाले हैं। ४. **इन्द्रः**=ऐश्वर्य को कमानेवाला, इन्द्रियों का विजेता यह पति **हेतीनां प्रतिधर्ता**=घर पर पड़नेवाले घातक अस्त्रों का प्रतीकार करनेवाला है। ५. पाँचों ज्ञानेन्द्रियों, पाँचों कर्मेन्द्रियों व पाँचों प्राणों का यह **पञ्चदशः स्तोमः**=पन्द्रहवाला समूह **त्वा**=तुझे **पृथिव्यां श्रयतु**=इस शरीर में उत्तमता से आश्रय देनेवाला हो। ६. आज्यादि उत्तम वस्तुओं का **उक्थम्**=प्रशंसनीय **प्रउगम्**=प्रयोग **अव्यथायै स्तभ्नातु**=किसी प्रकार की पीड़ा न होने देने के लिए तुझे थामे, दृढ़ करे। प्रत्येक वस्तु का यथायोग शरीर को बिल्कुल ठीक-ठाक रखता है। ७. **बृहत्साम**=निरन्तर वृद्धि की भावनारूप प्रभु-स्तवन **अन्तरिक्षे**=हृदयान्तरिक्ष में **प्रतिष्ठित्यै**=दृढ़ स्थिति के लिए हो, अर्थात् तू हृदय में 'वृद्धि' का ही संकल्प धारण कर। इस संकल्प को ही तू अपना प्रभु-स्तवन समझ। ८. **देवेषु**=विद्वानों में **प्रथमजाः ऋषयः**=प्रथम कोटि में होनेवाले तत्त्वद्रष्टा ज्ञानी **दिवो मात्रया** =ज्ञान के उस अंश से तथा **वरिम्णा**=हृदय की विशालता से **प्रथन्तु**=तेरे जीवन को प्रसिद्ध करें। तेरा जीवन मस्तिष्क में ज्ञान व हृदय में विशालता की कीर्तिवाला हो। ९. **विधर्त्ता**=आपत्तियों

का प्रतीकार करनेवाला तेरा पति 'इन्द्र', **च अयं अधिपतिः**=और ये अधिष्ठातृरूपेण रक्षक प्राण **ते च सर्वे**=और ज्ञान देनेवाले वे सारे ऋषि **संविदानाः**=ऐकमत्यवाले होकर **त्वा**=तुझे **यजमानं च**=और इस घर के यज्ञशील गृहपति को **नाकस्य पृष्ठे**=दुःखाभाववाले लोक के ऊपर **स्वर्गे लोके**=प्रकाशमय लोक में **सादयन्तु**=स्थापित करें, अर्थात् तुम्हारे गृहस्थ को दुःखरहित प्रकाशमय स्वर्ग-सा बना दें।

भावार्थ—पत्नी व्यवस्थित व दीप्त जीवनवाली हो। गृहकार्यों में बड़ी दक्षिण व निपुण हो, प्राणशक्ति-सम्पन्न हो। उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ व प्राण सभी स्वस्थ हों। उत्तम वस्तुओं का वह प्रशंसनीय प्रयोग करनेवाली हो। 'वृद्धि' को जीवन का सूत्र बनाकर चले। पति 'इन्द्र' हो, ऐश्वर्यशाली व जितेन्द्रिय। घर को स्वर्ग बनाने के लिए यह सब आवश्यक है।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—आदित्याः। **छन्दः**—भुरिग्ब्राह्मीजगती [क], ब्राह्मीबृहती [र]। **स्वरः**—निषादः [क], मध्यमः [र]॥

सम्राट्

[क]**सम्राडसि प्रतीची दिगादित्यास्ते देवाऽअधिपतयो वरुणो हेतीनां प्रतिधर्त्ता सप्तदशस्त्वा स्तोमः पृथिव्याᳬश्रयतु मरुत्वतीयमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु वैरूपᳬसाम प्रतिष्ठित्याऽअन्तरिक्षऽऋषयस्त्वा [र]प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्त्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु॥१२॥**

१. **सम्राट् असि**=तू घर में उत्तमता से शासन करनेवाली है। २. **प्रतीची दिक्**=प्रतीची तेरी दिशा है। यह तुझे (प्रति अञ्च्) वापस लौटने का उपदेश दे रही है। दाक्षिण्य से ऐश्वर्य के बढ़ने पर इन्द्रियों के विषयों में आसक्त हो जाने की बड़ी आशंका है, अतः तूने इन्द्रियों को विषयों से वापस लौटाने का ध्यान करना है, यही 'प्रत्याहार' है। ३. **आदित्याः ते देवाः**=आदित्य तेरे देव हैं। इनकी आराधना से तू इनकी भाँति ही उत्तमता का आदान करनेवाली हो। इस उत्तमता का निरन्तर आदान **अधिपतयः**=तेरा आधिक्येन रक्षक हो। ४. **वरुणः**=सब प्रकार के द्वेषों का निवारण करनेवाला गृहपति **हेतीनाम्**=घर पर पड़नेवाले वज्रों व कष्टों का **प्रतिधर्त्ता**=प्रतीकार करनेवाला हो। वस्तुतः यह निर्द्वेषता ही घर के कल्याण का साधन हो जाए। ५. **सप्तदश स्तोमः**=पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण तथा मन और बुद्धि का समूह **त्वा**=तुझे **पृथिव्याम्**=इस शरीर में सेवन करनेवाला हो। इनके द्वारा तेरा शरीर बड़ा ठीक बना रहे। ६. **मरुत्वतीय उक्थम्**=प्रशंसनीय मितभाषण (मरुतः मितराविणः, मरुत्वतीय=मरुतोंवाली मितभाषिता) **अव्यथायै**=पीड़ा न होने देने के लिए **स्तभ्नातु**=तुझे थामे, अर्थात् मितभाषण तेरी पीड़ा के अभाव का कारण बने। ७. **वैरूपं साम**='मुझे विशिष्ट रूपवाला बनना है' इस निश्चय-सम्बन्धी उपासना **अन्तरिक्षे**= हृदयाकाश में **प्रतिष्ठित्यै**=प्रतिष्ठा के लिए हो। तेरे हृदय में यह मूलभूत सिद्धान्त अंकित हो जाए कि 'इस मानव जीवन में मुझे विशिष्ट रूपवाला बनना है।' ८. **त्वा** =तुझे **देवेषु**=विद्वानों में **प्रथमजाः**=प्रथम कोटि में होनेवाले **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा लोग **दिवः मात्रया**=ज्ञान के अंश से तथा **वरिम्णा**=हृदय के विस्तार से **प्रथन्तु**=प्रसिद्ध करें, तेरे जीवन की शक्तियों का विस्तार करें। ९. **विधर्त्ता**=द्वेषों के निवारण से आपत्तियों का प्रतीकार करनेवाला यह 'वरुण', **च अयं अधिपतिः** =और अधिष्ठातृरूपेण रक्षक ये आदित्य देव, **ते सर्वे च**=और

वे सब प्रथमज ऋषि—उत्कृष्ट श्रेणी के ज्ञानी लोग **संविदानाः**=ऐकमत्यवाले होकर **नाकस्य पृष्ठे**=दुःखाभाववाले लोक के ऊपर **स्वर्गे लोके**=सुखमय लोक में **त्वा**=तुझे और **यजमानम्**=यज्ञशील गृहपति को **सादयन्तु**=बिठाएँ। इन सबकी कृपा से गृह स्वर्ग बन जाए।

भावार्थ—पत्नी घर में उत्तमता से शासन करनेवाली हो। अच्छाइयों के ग्रहण के स्वभाववाली, मितभाषिणी, विशिष्ट रूपता को ध्येय बनाकर चलनेवाली हो। पति सब प्रकार के द्वेष का निवारण करनेवाला हो। ये बातें घर को अवश्य स्वर्ग बनाएँगी।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—भुरिग्ब्राह्मीत्रिष्टुप्[क], ब्राह्मीबृहती[र]। **स्वरः**—धैवतः[क], मध्यमः[र]॥

स्वराट्

[क]स्वराडस्युदीची दिङ् मरुतस्ते देवाऽअधिपतयः सोमो हेतीनां प्रतिधर्त्तैकविꣳशस्त्वा स्तोमः पृथिव्याꣳश्रयतु निष्केवल्यमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु वैराजꣳसाम प्रतिष्ठित्याऽअन्तरिक्षऽऋषयस्त्वा [र]प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्त्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु॥१३॥

१. सम्राट् औरों का शासन करता है। पत्नी को सम्राट् तो होना ही है, पर सम्राट् बनने के लिए तू **स्वराड् असि**=अपना शासन करनेवाली बनी है। **उदीची दिक्**=उत्तर तेरी दिशा हुई है। 'उद् अञ्च' ऊपर, और ऊपर उठते जाना ही तूने उदीची से सीखा है। ३. **मरुतः ते देवाः**=मरुत् तेरे आराध्य देव हैं—तूने उनकी भाँति ही (मितराविणः) मितभाषिणी बनने का संकल्प किया है। ये मरुत् ही तेरे **अधिपतयः** =अधिष्ठातृरूपेण रक्षक हैं। मितभाषिता जीवन को दीर्घ करनेवाली है। ४. **सोमः**=सौम्य व शान्त स्वभाववाला तेरा पति **हेतीनां प्रतिधर्ता**=घर पर होनेवाले घातक आक्रमणों से तेरी रक्षा करे। उसकी सौम्यता ही वस्तुतः घर की रक्षक बन जाए। ५. **एकविंशः स्तोमः**=शरीर का भरण करनेवाली इक्कीस शक्तियों का समूह तुझे **पृथिव्यां श्रयतु**=इस पृथिवीरूप शरीर में सेवित करे। इन इक्कीस शक्तियों से तेरी शारीरिक स्थिति उत्तम हो। ६. **उक्थम्**=प्रशंसनीय **निष्केवल्यम्** =(निः=बाहर, केवल=सुखरूप प्रभु में विचरना) विषयों से बाहर होकर उस आनन्दमय प्रभु में विचरना **अव्यथायै**=तुझे पीड़ा के अभाव के लिए **स्तभ्नातु**=दृढ़ करे, अर्थात् विषयासक्ति का अभाव तेरे जीवन को सुखी करे। ७. **वैराजं साम**=जीवन को विशिष्टरूप से व्यवस्थित बनाने की भावना ही तेरी प्रभु-उपासना हो और यह **अन्तरिक्षे प्रतिष्ठित्यै**=हृदयान्तरिक्ष में प्रतिष्ठा के लिए हो। यह भावना हृदय में सदा प्रतिष्ठित रहे। यह तेरे जीवन का एक मूलभूत सिद्धान्त बन जाए। ८. **देवेषु**=विद्वानों में **प्रथमजाः ऋषयः**=प्रथम कोटि के तत्त्वद्रष्टा लोग **त्वा**=तुझे **दिवो मात्रया**=उस-उस ज्ञान के अंश से तथा **वरिम्णा**=हृदय की विशालता से **प्रथन्तु**=प्रसिद्ध करें व विस्तृत जीवनवाला बनाएँ। ९. **विधर्त्ता च**=अपने सौम्य स्वभाव से घर का विशिष्टरूप से धारण करनेवाला पति 'मरुत्' **अयं अधिपतिः च**=ये मितरावी अधिष्ठातृरूपेण रक्षक मरुत् **ते च सर्वे**=और वे सब तत्त्वद्रष्टा ऋषि **संविदाना**=ऐकमत्य को प्राप्त हुए-हुए **त्वा**=तुझे और **यजमानम्**=यज्ञशील गृहपति को **नाकस्य पृष्ठे**=दुःखाभाववाले लोक के ऊपर **स्वर्गे लोके**=देदीप्यमान प्रकाशमय लोक में **सादयन्तु**=स्थापित करें। ये सब तेरे घर को स्वर्ग बनानेवाले हों।

भावार्थ—पत्नी स्वराट्—पूर्ण जितेन्द्रिय हो, मितभाषिता उसके दीर्घ जीवन का कारण बने। वह विशिष्टरूप से जीवन को व्यवस्थित करनेवाली हो। वह ज्ञान के साथ हृदय की विशालतावाली हो। पति सौम्य व शान्त स्वभाव हो—यही घर को स्वर्ग बनाने का मार्ग है।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—ब्राह्मीजगती [क], ब्राह्मीत्रिष्टुप् [र]। **स्वरः**—निषादः [क], धैवतः [र]॥

अधिपत्नी

[क]अधिपत्न्यसि बृहती दिग्विश्वे ते देवाऽअधिपतयो बृहस्पतिर्हेतीनां प्रतिधर्त्ता त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशौ त्वा स्तोमौ पृथिव्याꣳश्रयतां वैश्वदेवाग्निमारुतेऽउक्थेऽअव्यथायै स्तभ्नीताꣳशाक्वररैवते सामनी [र]प्रतिष्ठित्याऽअन्तरिक्षऽऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्त्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु ॥१४॥

१. **अधिपत्नी असि**=हे स्त्रि! तू इस घर की आधिक्येन पालयित्री है। २. **बृहती दिक्**=यह प्रौढ़ा बृहस्पतिरूप अधिष्ठातावाली—बढ़ी हुई ऊर्ध्वा तेरी दिशा है। तेरे जीवन का लक्ष्य सर्वोच्च स्थिति में पहुँचना है, तूने ऊर्ध्वा दिशा का अधिपति बनना है। ३. **ते देवाः विश्वे**=बारह विश्वेदेव ही तेरे देव हैं। इन बारह-के-बारह मासों के नामों से तुझे 'इस संसार-वृक्ष की विशिष्ट शाख बनना है, ज्येष्ठ बनना है, कामादि से पराभूत नहीं होना, शुभ उपदेश का श्रवण करना है, इसे ही कल्याण का मार्ग समझना है—इसपर चलने के लिए कल का प्रोग्राम नहीं बनाना—कामादि का कृन्तन करना है—इन्हें आत्मालोचन द्वारा ढूँढ-ढूँढ कर मारना है—इस प्रकार अपना पोषण करना है—यही तेरा ऐश्वर्य है। इस एश्वर्य के सामने सांसारिक ऐश्वर्य तो नितान्त तुच्छ है—यही तेरे जीवन का आश्चर्य होगा। ये देव, ये मास इन बातों का बोध दे रहे हैं। यह बोध देकर ये देव ही तेरे **अधिपतयः** =अधिष्ठातृरूपेण रक्षक होंगे। ४. **बृहस्पतिः**=ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान का पति गृहपति **हेतीनाम्**=घर पर आनेवाली घातक बातों का **प्रतिधर्त्ता**=प्रतीकार करनेवाला है। ५. **त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ**=('त्रिणवस्तोमं पुष्टिरित्याहुः'—श० १०।१।१।५) पुष्टि तथा तेतीस देवों का धारण ही **स्तोमौ**=तेरा प्रभु-स्तवन हो और यह पुष्टि व तेतीस देवों का धारणरूप प्रभु-स्तवन **त्वा**=तुझे **पृथिव्याम्**=इस शरीर में **श्रयताम्**=सेवित करनेवाले हों। तेरे शरीर को ये पूर्ण स्वस्थ बनाएँ। ६. **उक्थे वैश्वदेवाग्निमारुते**= प्रशंसनीय विश्वेदेव, अग्नि तथा मरुत ये सब **अव्यथायै**=पीड़ा के अभाव के लिए तुझे **स्तभ्नीताम्**=थामें। तेरा मन दिव्य गुणों का अधिष्ठान बने तो तेरा देह वैश्वानर अग्नि व प्राणापानरूप मरुतों का स्थान बने। दिव्य गुण मन को स्वस्थ बनाएँ और यह वैश्वानर अग्नि व प्राणापान अन्न के ठीक पाचन से शरीर को स्वस्थ करें। ७. **शाक्वररैवते**=शक्ति को प्राप्त करने की भावना तथा धन और ज्ञानधन को प्राप्त करने की भावना **सामनी**=मेरे साम व उपासन हों। ये **अन्तरिक्षे**=हृदयान्तरिक्ष में **प्रतिष्ठित्यै**=प्रतिष्ठिति के लिए हों। मेरे जीवन में ये सिद्धान्त बन जाएँ। इन्हें मैं अपने हृदय से कभी दूर न करूँ। ८. **देवेषु**=विद्वानों में **प्रथमजाः ऋषयः**=प्रथम कोटि के तत्त्वद्रष्टा विद्वान् **त्वा**=तुझे **दिवो मात्रया**=ज्ञान के अमुक-अमुक अंश से तथा **वरिम्णा**=हृदय की विशालता से **प्रथन्तु**=विस्तृत जीवनवाला बनाएँ। ९. **विधर्त्ता च**=घर को आपत्तियों से बचानेवाला ज्ञानी गृहपति **अयं च अधिपतिः**=और ये आधिक्येन रक्षक 'विश्वेदेव' **ते च सर्वे**=और वे सब ज्ञानी **संविदानाः**=ऐकमत्यवाले होकर **त्वा**=तुझे **यजमानं च**=और यज्ञशील गृहपति को **नाकस्य पृष्ठे**=दुःखाभाववाले लोक

के ऊपर **स्वर्गे लोके**=प्रकाशमय लोक में **सादयन्तु**=स्थापित करें।

भावार्थ—पत्नी घर की अधिपत्नी हो। उसका 'शरीर, मन व बुद्धि तीनों को नवीन (त्रि+नव) व पुष्ट बनाये रखना व मन में सब गुणों को धारण करना' ये मौलिक सिद्धान्त हो जाएँ। वह 'शरीर को शक्तिशाली बनाये, मस्तिष्क को ज्ञानधन सम्पन्न करे' इन्हीं को वह प्रभु-उपासन जाने। पति ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञानी बनने का प्रयत्न करे।

सूचना—(१) १० से १४ तक मन्त्रों में पत्नी की विशेषताओं के सूचक **'राज्ञी, विराट्, सम्राट्, स्वराट् व अधिपत्नी'** शब्द हैं। पति की विशेषता को **अग्नि, इन्द्र, वरुण, सोम** व **बृहस्पति**—ये शब्द कह रहे हैं। इन विशषेताओं को धारण करके स्त्री दु:ख से ऊपर उठकर स्वर्ग में स्थित हुआ करती है। (२) जीवन के मौलिक सिद्धान्तों की सूचना 'रथन्तर, बृहत्, वैरूप, वैराज व शाक्वररैवत' इन साम-संज्ञा शब्दों से होती है। (क) हमें शरीररूप रथ से जीवन-यात्रा को पूर्ण करना है। (ख) वृद्धि को प्राप्त करना है। (ग) विशिष्ट रूपवाला बनना है। (घ) हमारा जीवन विशिष्ट रूप से दीप्त व व्यवस्थित हो। (ङ) हम 'शक्ति-धन' व 'ज्ञान-धन' का सम्पादन करनेवाले बनें।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—वसन्तर्तुः। **छन्दः**—विकृतिः। **स्वरः**—मध्यमः॥

हरिकेश

अयं पुरो हरिकेशः सूर्यरश्मिस्तस्य रथगृत्सश्च रथौजाश्च सेनानीग्रामण्यौ। पुञ्जिकस्थला च क्रतुस्थला चाप्सरसौ दङ्क्ष्णवः पशवो हेतिः पौरुषेयो वधः प्रहेतिस्तेभ्यो नमोऽअस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः॥१५॥

१. राष्ट्र में राजा 'परमेष्ठी'=सर्वोच्च स्थान में स्थित है। **अयम्**=यह **पुरः**=राष्ट्र का पालन व पूरण करनेवाला है। (पृ पालनपूरणयोः) अथवा राष्ट्र को आगे ले-चलनेवाला है (पुरः=आगे, fore)। २. **हरिकेशः**=(केशाः रश्मयः काशनाद्वा—नि० १२।२६) इसकी ज्ञानरश्मियाँ राष्ट्र के कष्टों का हरण करनेवाली हैं। **सूर्यरश्मिः**=सूर्य के समान इसकी ज्ञानरश्मियाँ सारे राष्ट्र को प्रकाशित करनेवाली हैं। स्वयं यह 'सर्ववेदवित्' बना है। इसने ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञान प्राप्त करके सारे राष्ट्र में ज्ञान के फैलाव की व्यवस्था की है। यह ज्ञान लोगों के दु:खों का हरण करनेवाला हुआ है। ३. **तस्य**=आगे ले-चलनेवाले राजा का **रथगृत्सः**=(रथेगृत्सः मेधावी) रथ में निपुण **सेनानीः**=सेनापति है तथा **रथौजाः**=(रथे ओजो यस्य) रथ के क्षेत्र में ओजस्वी **ग्रामणी**=ग्रामनायक है। इसके ये दोनों परिचारक 'वासन्तिकौ तौ ऋतू—श० ८।६।१।१६' प्रजा का उत्तम निवास करनेवाले तथा उनकी जीवन-मर्यादा को ऋतुओं की भाँति व्यवस्थित करनेवाले हैं। सेनापति ने रथगृत्स होना ही है। ग्रामणी ने भी प्रजा के निरीक्षण के लिए रथौजा ही होना है, कुर्सी के ओजवाला नहीं। ४. इस राजा की सेना के दृष्टिकोण से 'पुञ्जिकस्थला' अप्सरा है तथा ग्राम के दृष्टिकोण से 'क्रतुस्थला' अप्सरा है **पुञ्जिकस्थला क्रतुस्थला च अप्सरसौ**=(पुञ्जिकस्य स्थलं यस्याः) सेना को पुञ्जीभूत—न तितर-बितर हुआ-हुआ रखनेवाला अफ़्सर है तथा ग्राम को (क्रतूनां स्थलं यस्याः) यज्ञों का स्थल बनानेवाला अप्सरा है (अप्सरा=अफ़्सर, officer)। सेनानी का मुख्य कार्य सेना को सङ्गठित रखना है, ग्रामणी का मुख्य कार्य ग्राम में यज्ञादि उत्तम कार्यों

का प्रवर्त्तन है। ५. सेनानी के दृष्टिकोण से **दङ्क्ष्णवः पशवः**=दशनशील पशु=व्याघ्रादि की भाँति शत्रुसैन्य को चीर-फाड़ देनेवाले सैनिक **हेतिः**=वज्र हैं, प्रहार के साधन हैं तथा ग्रामणी के दृष्टिकोण से **पौरुषेयः**=फाँसी के लिए नियुक्त पुरुष के द्वारा किया जानेवाला **वधः**=वध **प्रहेतिः**=प्रकृष्ट वज्र है। वस्तुतः इस पौरुषेय वध के द्वारा ही राष्ट्र में होनेवाले बड़े पापों की समाप्ति की जा सकती है। एक ब्लैकमार्केटिंग करनेवाले के फाँसी पर चढ़ते ही सब व्यापार शुद्ध हो जाता है—एवं यह 'पौरुषेय वध' सचमुच 'प्रहेति'=प्रकृष्ट वज्र है। ६. **तेभ्यः**=उनके पुरः=सामने यः=जो अग्नि है और उसके सेनानी व ग्रामणी हैं तथा उसके अप्सरस् हैं और जो हेति, प्रहेति हैं, इन सबके लिए **नमः अस्तु**=नमस्कार है। **ते नः अवन्तु**=ये सब हमारी रक्षा करें। **ते नः मृडयन्तु**=ये हमें सुखी करें। **ते**=वे हम सब **यं द्विष्मः**=जिस भी व्यक्ति को प्रीति नहीं कर पाते **यः च**=और जो **नः द्वेष्टि**=हम सबके साथ द्वेष करता है **तम्**=उसे **एषाम्**=इन सेनानी-ग्रामणी आदि के **जम्भे**=दंष्ट्राकराल न्याय के जबड़ों में **दध्मः**=स्थापित करते हैं, स्वयं क़ानून को हाथ में न लेकर हम उसे इन न्यायाधीशों को सौंपते हैं।

भावार्थ—राजा राष्ट्र को आगे ले-चलनेवाला, दुःख का हरणकारी, ज्ञान से परिपूर्ण, सूर्य के समान ज्ञान की रश्मियों से प्रजा में प्रकाश फैलानेवाला हो। इसके परिचारक रथों से प्रजा में विचरण करनेवाले हों—कुर्सियों को ही सँभाले रखनेवाले नहीं।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—ग्रीष्मर्तुः। **छन्दः**—निचृत्प्रकृतिः। **स्वरः**—धैवतः॥

विश्वकर्मा

अयं दक्षिणा विश्वकर्मा तस्य रथस्वनश्च रथेचित्रश्च सेनानीग्रामण्यौ। मेनका च सहजन्या चाप्सरसौ यातुधाना हेती रक्षांसि प्रहेतिस्तेभ्यो नमोऽअस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥१६॥

१. **अयं दक्षिणा**=यह राजा दक्षिणा दिग् का अधिपति है, अर्थात् दाक्षिण्य का—नैपुण्य का—अधिपति है। २. दाक्षिण्य का अधिपति होता हुआ यह विश्वकर्मा—'विश्वस्मिन् करोति' सदा कार्यों का करनेवाला है, 'अयं वै वायु विश्वकर्मा०—श० ८।६।१।१७' वायु की भाँति सदा क्रियाशील है। ३. **तस्य**=उस राजा का **रथस्वनः**=(रथे स्थितः स्वनति) युद्ध-रथ पर आरूढ़ होकर शत्रुओं को ललकारनेवाला **सेनानीः**=सेनापति है तथा **रथेचित्रः**=(रथे स्थितः आश्चर्यकारी) सदा रथारुढ़ होकर आश्चर्यजनक शक्ति से निरन्तर कार्यों को करनेवाला एक **ग्रामणीः**=ग्रामनायक है। ग्रैष्मौ तौ ऋतू—श० ८।६।१।१७।—ये सदा सोत्साह हैं और बड़ी व्यवस्थित गतिवाले हैं। ४. शत्रु पराजय के द्वारा मान पानेवाला 'मेनका' (मानयन्ति एनाम्)=सम्मानित सेनानी **अप्सरसौ**=अफ़्सर है तथा ग्रामणी रूप अफ़्सर **सहजन्या**=लोगों के अन्दर मिलकर कार्यों को विकास करने की भावना को जन्म देनेवाला है। आजकल के कोऑपरेटिव सिस्टम तथा कम्युनिटी प्रोजेक्ट्स इस 'सहजन्या' शब्द से संकेतित हो रहे हैं। ५. सेनानी दृष्टिकोण से **यातुधानाः**=शत्रुओं में पीड़ा का आधान करनेवाले—प्रतिक्षण उनकी सिरदर्दी का कारण बननेवाले सैनिक **हेतिः**=वज्र हैं—राष्ट्र की बाह्य आक्रमणों से रक्षा के साधन हैं और ग्रामणी के दृष्टिकोण से रक्षांसि (रक्ष् resque) रक्षा के लिए नियत चौकीदार व पुलिस के **प्रहेतिः**=प्रकृष्ट वज्र हैं, जो राष्ट्र को अन्दर की अव्यवस्था

से बचाते हैं। ६. **तेभ्यः**=इस वायु सदृश राजा, उन सेनानी, ग्रामणी, अप्सरस् व हेति और प्रहेति सबके लिए **नमः अस्तु**=हमारा नमस्कार हो। **ते नः अवन्तु**=वे हमारी रक्षा करें। **ते नो मृडयन्तु**=वे हमारे जीवन को सुखी बनाएँ। **ते**=वे **यं द्विष्मः**=अवाञ्छनीय होने से जिसके प्रति हम सब प्रेम नहीं कर पाते **यः च नः द्वेष्टि** =जो हम सबके साथ द्वेष करता है **तम्**=उसको **एषाम्**=इन राजा व उसके अफ़सरों के **जम्भे**=दंष्ट्राकराल न्यायरूप जबड़े में **दध्मः**=स्थापित करते हैं।

भावार्थ—राजा वायु की भाँति नैसर्गिकी क्रियावाला है—आलस्य से दूर है। इसके सेनानी शत्रु-पराजय द्वारा राष्ट्र का मान बढ़ाते हैं और ग्रामणी लोगों में मिलकर कार्य करने के द्वारा विकास की भावना को दृढ़-मूल करते हैं।

ऋषिः –परमेष्ठी। **देवता**—वर्षर्तुः। **छन्दः**—कृतिः। **स्वरः**—निषादः॥

विश्वव्यचाः

अयं पश्चाद् विश्वव्यचास्तस्य रथप्रोतश्चासमरथश्च सेनानीग्रामण्यौ। प्रम्लोचन्ती चानुम्लोचन्ती चाप्सरसौ व्याघ्रा हेतिः सर्पाः प्रहेतिस्तेभ्यो नमोऽअस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥१७॥

१. **अयं पश्चात्**=यह राजा इन्द्रियों को विषयों से पीछे खेंचनेवाला, **विश्वव्यचाः**=(असौ वा आदित्यो विश्वव्यचाः—श० ८।६।१।१८) उदय होते ही पश्चिम की ओर (प्रतीची की ओर) चलना प्रारम्भ करनेवाले सूर्य के समान है (विश्वं विचति व्याप्नोति प्रकाशयति)। जैसे सूर्य सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त करता है, इसी प्रकार इसकी शासन-शक्ति भी सारे राष्ट्र में व्याप्त होती है। सूर्य की भाँति यह सर्वत्र ज्ञान का प्रकाश फैलाता है—सूर्य की भाँति कररूप जल का ग्रहण करता है। सूर्य की भाँति मलों को नष्ट कर राष्ट्रीय नीरोगता उत्पन्न करता है। २. **तस्य**=इस राजा के **रथप्रोतः च**=रथ में प्रोत—स्थिर-सा हुआ-हुआ—सदा रथ से बँधा हुआ **सेनानीः**=सेनापति है। **असमरथः च**=अद्वितीय रथवाला—विशिष्ट गाड़ीवाला **ग्रामणीः**=ग्रामनायक है। सेनापति आवश्यकता पड़ते ही सदा युद्ध के लिए तैयार है, और ग्रामणी सदा रथ पर इधर-उधर घूमता हुआ व्यवस्था में लगा है—इसका रथ कभी विश्रान्त न होने से अद्भुत है। 'वार्षिकौ तौ ऋतू—श० ८।६।१।१८' ये अपनी निरन्तर क्रियाशीलता से प्रजा पर सुखों की वर्षा करनेवाले हैं और बड़ी नियमित गतिवाले हैं। ३. प्रम्लोचन्ती (अहः—श० ८।६।१।१८) जैसे दिन में सब प्राणी गतिवाले होते हैं उसी प्रकार **प्रम्लोचन्ती**= सेनानी के दृष्टिकोण से सेना को प्रकृष्ट गति देनेवाले इसके **अप्सरस्**=ऑफ़िसर्स होते हैं और ग्रामणी के दृष्टिकोण से (अनुम्लोचनी रात्रिः—श० ८।६।१।१८) प्रति रात्रि की समाप्ति पर कार्यों में व्याप्त होनेवाले **अप्सरस्**=अफ़सर होते हैं। सेना ने दिन-रात चौकन्ना रहना है, गति में रहना है। राष्ट्र के अन्य अध्यक्षों ने भी प्रतिदिन कार्य में व्याप्त होना है (म्लोचति=to go, move)। संक्षेप में सब अफ़सरों क्या फौजी और क्या सिविलियन—सभी के लिए क्रियाशीलता आवश्यक है। ४. शत्रुओं से रक्षा करनेवाले **व्याघ्राः**=व्याघ्रों के समान सैनिक **हेतिः**=इसके राष्ट्र-रक्षक वज्र हैं तो **सर्पाः**=ग्रामणी के दृष्टिकोण से गुप्तचर रूप में सब न्यूनताओं का पता लगानेवाले **प्रहेतिः**=प्रकृष्ट वज्र हैं। ये राष्ट्र को अन्तः उपद्रवों से बचाने में सहायक होते हैं। ५. **तेभ्यः**=इस आदित्यतुल्य राजा, उसके सेनानी, ग्रामणी, उसके

अप्सरस् तथा हेति-प्रहेति का **नमः अस्तु**=हम आदर करते हैं। **ते नः अवन्तु**=वे हमारी रक्षा करें। **ते नः मृडयन्तु**=वे हमें सुखी करें। **ते**=वे **यं द्विष्मः**=जिसे हम प्रीति नहीं कर पाते **यः च नः द्वेष्टि**=और जो हमारे साथ द्वेष करता है **तम्**=उसे **एषाम्**=इन अधिकारियों के **जम्भे**=दंष्ट्राकराल न्याय के जबड़े में **दध्मः**=स्थापित करते हैं, वे ही इन्हें उचित दण्ड देते हैं।

भावार्थ—राजा सूर्य की भाँति सर्वत्र प्रकाश फैलानेवाला हो, रोगकृमियों के नाश के लिए सफ़ाई का प्रबन्ध करे, सूर्यकिरणें जैसे जल को ले-जाती हैं, यह भी थोड़ा-थोड़ा कर ले। इसके कर्मचारी स्वयं क्रियाशील हों और प्रजा में भी क्रियाशीलता की प्रवृत्ति को पैदा करें।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—शरदृतुः। **छन्दः**—भुरिगतिधृतिः। **स्वरः**—षड्जः॥

संयद् वसुः

अयमुत्तरात् संयद्वसुस्तस्य ताक्ष्यर्श्चारिष्टनेमिश्च सेनानीग्रामण्यौ। विश्वाची च घृताची चाप्सरसावापो हेतिर्वातः प्रहेतिस्तेभ्यो नमोऽअस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः॥१८॥

१. **अयम्**=यह राजा **उत्तरात्**=उत्तर दिशा में स्थित होता हुआ सचमुच राष्ट्र को उत्कृष्ट बनाता है। २. राष्ट्र के उत्कर्ष के लिए ही यह **संयद्वसुः**=धन का नियमन करता है (वसु संयच्छति), करादि के उत्तम नियमों को बनाकर तथा व्यापार को भी व्यवस्थित करके यह धन को किसी एक स्थान में केन्द्रित नहीं होने देता। ३. **तस्य**=इसका **सेनानीः**=सेनापति **तार्क्ष्यः**=शत्रुओं पर उसी प्रकार आक्रमण करनेवाला होता है जैसेकि गरुड़ सर्पों पर और इसका **ग्रामणीः**=ग्रामनायक **अरिष्टनेमिः**=धर्म-मार्गों की परिधि को या मर्यादा को हिंसित नहीं होने देता (**अ**=नहीं **रिष्ट**=हिंसित **नेमि**=मर्यादा) ४. सेनानी के दृष्टिकोण से इसके **अप्सरस्**=ऑफ़िसर्स **विश्वाची**=सारे राष्ट्र की सीमा पर, राष्ट्र के चारों ओर गतिवाले होते है तथा ग्रामनायक के **अप्सरस्**=अफ़्सर **घृताची**=घृतादि उत्तम पदार्थों को प्राप्त करानेवाले होते हैं। इस प्रकार ये '**शरदौ ऋतू**'=बाहर व अन्दर के उपद्रवों को शीर्ण करनेवाले व नियमित गति से राष्ट्र को चलानेवाले होते हैं। अन्दर के उपद्रव प्रायः तभी होते हैं, जब प्रजा को आवश्यक पदार्थ भी दुर्लभ हो जाते हैं। ५. **आपः**=सारे प्रान्त-भागों में व्याप्त हो जानेवाले (आप्लृ व्याप्तौ) सैनिक ही इसके **हेतिः**=शत्रुओं से रक्षक वज्र के समान हैं और **वातः**=वायु के समान प्रजा को जीवन देनेवाले ग्रामाध्यक्ष इसके **प्रहेतिः**=प्रकृष्ट वज्र है, क्योंकि ये ही राष्ट्र को अन्तःकोप का शिकार नहीं होने देते। ६. **तेभ्यः**=इन सबके लिए **नमः अस्तु**=नमस्कार हो। **ते नः अवन्तु**=ये हमारी रक्षा करें। **ते नः मृडयन्तु**=ये हमें सुखी करें। **ते**=वे हम **यं द्विष्मः**=जिससे प्रीति नहीं कर पाते **यः च नः द्वेष्टि**=और जो हम सबसे द्वेष करता है **तम्**=उसे **एषाम्**=इन अधिकारियों के **जम्भे**=न्याय के जबड़े में **दध्मः**=स्थापित करते हैं।

भावार्थ—राजा का यह महान् कार्य है कि वह राष्ट्र में धन का पूर्ण नियमन करे। इसी के विषम असम-विभाग से राष्ट्र में अतिभुक्त (overfed) व अल्पभुक्त (underfed) ये दो श्रेणियाँ उत्पन्न हो जाती हैं और राष्ट्र रोगी हो जाता है। इसके सैनिक सारे प्रान्त-भाग में व्याप्त होकर देश की रक्षा करें और अन्य अध्यक्ष जीवन की आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त कराने की व्यवस्था करें।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—हेमन्तर्तुः। **छन्दः**—निचृत्कृतिः। **स्वरः**—निषादः॥

अर्वाग् वसुः

अयमुपर्य्यर्वाग्वसुस्तस्य सेनजिच्च सुषेणश्च सेनानीग्रामण्यौ। उर्वशी च पूर्वचित्तिश्चाप्सरसाववस्फूर्जन् हेतिर्विद्युत्प्रहेतिस्तेभ्यो नमोऽअस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः॥१९॥

१. **अयम्**=यह राजा **उपरि**=ऊर्ध्व दिशा में स्थित है, राष्ट्र में सर्वोच्च स्थान में स्थित होने से यह सचमुच 'परमेष्ठी' है। २. इस उच्चस्थान में स्थित होता हुआ यह **अर्वाग् वसुः**=नीचे आनेवाले धनवाला है। जैसे सूर्य किरणों द्वारा जल लेता है, परन्तु सारे-के-सारे जल को पर्जन्य के रूप में करके बरसा देता है, उसी प्रकार यह राजा कर के रूप में प्रजा से धनों को लेता है, परन्तु उसे प्रजाहित के लिए ही बरसा देता है। यह राष्ट्रकोश को अपने लिए 'वशा गौ' (बाँझ गौ) के समान समझता है, उससे अपने महल नहीं बना लेता। कालिदास के शब्दों में 'प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्। सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः'=यह प्रजाओं के कल्याण के लिए ही उनसे कर लेता है और सूर्य की भाँति सहस्र गुणा करके बरसा देता है, अतः यह सचमुच 'अर्वाग् वसु' है। ३. इस कार्य में **तस्य**=उसके सहायक **सेनजित् च**=सेना के द्वारा शत्रु का विजय करनेवाला **सेनानीः**=सेनापति है तथा **सुषेणः च**=ग्रामों से उत्तम सैनिकों को प्रस्तुत करके उत्तम सेना बनानेवाला **ग्रामणीः**=ग्रामनायक है। ४. **अप्सरसौ**=इसके सैनिक अफ़सर **उर्वशी**=खूब ही शत्रुओं को वश में करनेवाले हैं तथा ग्रामों के अफ़सर **पूर्वचित्तिः च**=प्रत्येक कार्य को पहले से सोचकर करनेवाले हैं। ५. **अवस्फूर्जन्**=(स्फूर्जा वज्रनिर्घोषे) शत्रु-सेना के समक्ष वज्र निर्घोष करते हुए सेनानायक इसके **हेतिः**=(शत्रुनाशक, राष्ट्र रक्षक) वज्र हैं तथा **विद्युत्**=राष्ट्र में सर्वत्र विशिष्ट द्युति को फैलानेवाले और इस प्रकार अपराधों की संख्या को कम करनेवाले ग्रामाध्यक्ष **प्रहेतिः**=पापनाशक प्रकृष्ट वज्र हैं। इस प्रकार ये सेनानी व ग्रामणी 'हैमन्तिकौ ऋतू—श० ८।६।१।२०' राष्ट्र की वृद्धि करनेवाले तथा उसे नियमित गतिवाला करनेवाले हैं। ६. **तेभ्यो नमः अस्तु**=हम इन सबका आदर करते हैं। **ते नः अवन्तु**=ये हमारी रक्षा करें। **ते नः मृडयन्तु**=ये हमें सुखी करें। **ते**=वे हम **यं द्विष्मः**=जिसे प्रीति नहीं करते **यः च नः द्वेष्टि**=जो हम सबके साथ द्वेष करता है, **तम्**=उसे **एषाम्**=इनके **जम्भे**=न्याय के जबड़े में **दध्मः**=स्थापित करते हैं।

भावार्थ—राजा करादि से प्राप्त धन को प्रजाहित में ही विनियुक्त करे। राष्ट्र की सेना उत्तम हो। सेनानी शत्रुओं को वश में करे तो ग्रामनायक प्रत्येक कार्य को सोचकर करे। राष्ट्र की उन्नति के लिए प्रजाजन क़ानून को अपने हाथ में न लें, इन अध्यक्षों को ही न्याय का कार्य सौंपा जाए।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

ककुत्पतिः=सर्वोच्च रक्षक

अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्याऽअयम्। अपाꣳरेताꣳसि जिन्वति॥२०॥

१. गत मन्त्र में वर्णित राजा **अग्निः**=अग्रेणी बनता है। यह स्वयं उन्नति करते हुए सारे राष्ट्र को आगे ले-चलता है। २. **मूर्धा**=यह राष्ट्र का मूर्धा बनता है, मस्तिष्क से जैसे सारे शरीर की सारी क्रियाओं की व्यवस्था होती है, उसी प्रकार यह राष्ट्र की सब क्रियाओं का व्यवस्थापन करता है। ३. **अयम्**=यह **दिवः**=प्रकाश का, मस्तिष्क में ज्ञान को परिपूर्ण

करने का तथा **पृथिव्याः**=शारीरिक स्वास्थ्य का **ककुत् पतिः**=चोटी का रक्षक—रक्षक शिरोमणि बनता है। यह इस बात का ध्यान करता है कि राष्ट्र में कोई व्यक्ति अनपढ़ न रह जाए तथा यह भी व्यवस्था करने का प्रयत्न करता है कि सबके शरीर स्वस्थ हों। संक्षेप में, यह शिक्षा-विभाग व स्वास्थ्य-विभाग को सर्वाधिक महत्त्व देता है, अधिक-से-अधिक विद्यालयों की स्थापना तथा सफ़ाई का ध्यान करके यह लोगों के मस्तिष्क व शरीर दोनों को स्वस्थ बनाने के लिए यत्नशील होता है। ४. यह **अपाम्**=प्रजाओं के (आपो नारा इति प्रोक्ताः) **रेतांसि**=शक्तियों को **जिन्वति**=प्रीणित करता है। उनके जीवन में स्वास्थ्य व संयम के महत्त्व को बढ़ाकर यह उन्हें शक्ति-सम्पन्न बनाता है।

भावार्थ—१. राजा को राष्ट्र का अग्रणी बनना है। २. यह राष्ट्र-शरीर का मस्तिष्क बने। ३. प्रजाओं के ज्ञान व स्वास्थ्य का ध्यान करे। ४. प्रजाओं को शक्ति-सम्पन्न बनाये।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

अग्नि कौन है? मूर्धा

अयमग्निः सहस्त्रिणो वाजस्य शतिनस्पतिः। मूर्धा कवी रयीणाम्॥२१॥

१. पिछले मन्त्र में कहे गये अग्नि का ही उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **अग्निः अयम्**=आगे बढ़नेवाला यह वह है जोकि **सहस्त्रिणः**=(स हस्) सदा हास्य व आनन्द से युक्त **शतिनः**=सौ वर्ष तक चलनेवाले **वाजस्य**=बल का **पतिः**=रक्षक है, अर्थात् जो अपनी शक्ति को सौ-के-सौ वर्ष तक स्थिर रखता है और इस शक्ति के कारण ही प्रसन्न जीवनवाला होता है, खिझता नहीं। वीरत्व के कारण virtuous बना रहता है। २. **मूर्धा**=यह शिखर पर पहुँचता है क्योंकि **रयीणां कविः**=धनों का सूक्ष्मदर्शी होता है। धनों के वास्तविक रूप को समझकर वह उनका पति ही बना रहता है, कभी उनका दास नहीं हो जाता। इसे यह भूलता नहीं कि मैं धन का दास बना और मेरा निधन हुआ। धन की दासता ही उन्नति के मार्ग में सर्वाधिक रुकावट है। धन का दास लक्ष्मीपति नारायण को भी भूल जाता है, अतः धनों के तत्त्व को समझे रखना आवश्यक है। इनके स्वरूप को भूलना नहीं चाहिए। यही इनका 'कवि' बनना है। धन के दास न बनकर हम निरन्तर आगे बढ़ते हैं, हमारा ज्ञान बढ़ता है और प्रभु का दर्शन कर हम सर्वोच्च स्थिति में होते हैं।

भावार्थ—हम आनन्दयुक्त शतवर्ष पर्यन्त चलनेवाली शक्ति के पति हों। शिखर पर पहुँचें। धन के वास्तविक स्वरूप को समझते हुए उसमें उलझें नहीं।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

अथर्वा

त्वाम॑ग्ने पुष्क॑रा॒दध्यथ॑र्वा॒ निर॑मन्थत। मू॒र्ध्नो विश्व॑स्य वा॒घतः॑॥२२॥

१. धन में न उलझनेवाला आगे और आगे बढ़ता हुआ **अथर्वा**=धन की चमक से डाँवाँडोल न होनेवाला हे **अग्ने**=सर्वमहान् अग्रणी प्रभो! **त्वाम्**=आपको **निरमन्थत**=मन्थन करके ग्रहण करता है। जैसे दधि के मन्थन से नवनीत के दर्शन होते हैं, उसी प्रकार यहाँ भी मन्थन से प्रभु का दर्शन होता है। २. कहाँ मन्थन से? **पुष्करादधि**=हृदयान्तरिक्ष में। 'पुष्कर' वह हृदय है जहाँ उत्तमोत्तम भावनाओं का पोषण (पुष्ट) किया गया है (कर) और जो **पुष्कर**=कमल की भाँति धन के पानी में रहता हुआ भी उसमें लिप्त नहीं होता।

३. फिर कहाँ से? **मूर्ध्नः**=मस्तिष्क से। जो मस्तिष्क **विश्वस्य वाघतः**=प्रभु की सम्पूर्ण रचना-कृति के ज्ञान को धारण किये हुए है। ५. एवं, प्रभु के ज्ञान के लिए हृदय को उत्तमोत्तम भावनाओं के पोषण से पानी में रहनेवाले कमल की भाँति निर्लेप बनाना चाहिए तथा मस्तिष्क को सब विज्ञानों का वहन करनेवाला। हृदय व मस्तिष्क दोनों का विकास ही प्रभु-दर्शन कराएगा, अतः हम 'मूर्धानमस्य संसीव्य अथर्वा हृदयं च यत्—अथर्व०' मस्तिष्क व हृदय दोनों को परस्पर सीं देनेवाले अथर्वा बनें।

भावार्थ—हृदय को हम पुष्कर=कमल बनाएँ, मस्तिष्क को सम्पूर्ण ज्ञान का वाहक और इस प्रकार प्रभु का दर्शन करनेवाले बनें।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

प्रभु-धारक के लक्षण, आत्मद्रष्टा के चिह्न

भुवो यज्ञस्य रजसश्च नेता यत्रा नियुद्भिः सचसे शिवाभिः।
दिवि मूर्धानं दधिषे स्वर्षां जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहम्॥२३॥

१. गत मन्त्र के अनुसार प्रभु-दर्शन करनेवाला अपने जीवन में **यज्ञस्य**=श्रेष्ठतम कर्मों का **नेता भुवः**=प्रणयन करनेवाला होता है। २. उन यज्ञादि उत्तम कर्मों के लिए ही **रजसः च नेता**=(रजसस्त्वर्थ उच्यते) धन का उत्तम मार्ग से प्रणयन करनेवाला बनता है। 'अग्ने नय सुपथा राये' यह उसकी आराधना होती है। 'वयं स्याम पतयो रयीणाम्'=हम धनों के पति बने रहें। उनके दास बनकर कृपण वृत्तिवाले न हो जाएँ। उनके प्रभु होते हुए यज्ञों में उनका विनियोग करते रहें। ३. परन्तु ऐसा तू तभी कर सकता है **यत्र**=जिस काल में तू—**शिवाभिः**=कल्याण में प्रवृत्त होनेवाले **नियुद्भिः**=इस वायु नामक जीव के इन्द्रियरूप घोड़ों से जोकि सदा निश्चयपूर्वक उत्तम कर्मों में लगाये रक्खे जाते हैं (नि+यु) **सचसे**=युक्त होता है। तू वायु है—आत्मा है (वा गतौ—अत गतौ) ये इन्द्रियाँ तेरे घोड़े हैं। इनको तूने कर्मों में लगाये रखकर 'नियुत्' इस अन्वर्थक नामवाला बनाना है। यह ध्यान रखना है कि ये सदा शिवमार्ग में ही प्रवृत्त हों। ४. तू अपने **मूर्धानम्**=मस्तिष्क को **दिवि**=ज्ञान के प्रकाश में **दधिषे**=धारण करता है। मस्तिष्क को सदा ज्ञान के प्रकाश से व्याप्त रखने के लिए यत्नशील होता है। ५. और **अग्ने**=हे अग्रेणी जीव! तू **जिह्वाम्**=अपनी जिह्वा को **स्वर्षाम्**=(स्वः सनोति) उस देदीप्यमान प्रभु का सम्भजन करनेवाली बनाता है, अथवा जिह्वा को ज्ञान का सेवन करनेवाली करता है और इसी उद्देश्य से ६. **हव्यवाहम्**=हव्य पदार्थों का ही वहन करनेवाली **चकृषे**=करता है। यह सात्त्विक पदार्थों का ही सेवन करती है।

भावार्थ—आत्मद्रष्टा पुरुष वह है जो १. यज्ञमय जीवनवाला होता है। २. यज्ञार्थ ही धनार्जन करता है। ३. शिव मार्ग में प्रवृत्त होनेवाले इन्द्रियाश्वों का स्वामी बनता है। ४. मस्तिष्क को ज्ञान में स्थापित करता है। ५. जिह्वा से प्रभु-नामोच्चरण करता है। ६. सात्त्विक पदार्थों का ही सेवन करता है।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

उन्नति के चार प्रमाण

अबोध्यग्निः समिधा जनानां प्रति धेनुमिवायतीमुषासम्।
यह्वाऽइव प्र वयामुज्जिहानाः प्र भानवः सिस्रते नाकमच्छ॥२४॥

१. गत मन्त्र का आत्मद्रष्टा जिन प्रयाणों से चलकर उस स्थिति में पहुँचता है, उनका उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **जनानाम्**=(जन् प्रादुर्भाव) प्रादुर्भाव व जीवन का विकास करनेवाले माता-पिता व आचार्यों की **समिधा**=सन्तान में रक्खी गई ज्ञान-दीप्ति से (इन्ध्=दीप्ति) **अग्निः**=अग्नि के समान ज्ञान के प्रकाशवाला युवक **अबोधि**=उद्बुद्ध जीवनवाला बनता है। ब्रह्मचर्याश्रम में यह 'मातृमान् पितृमान् व आचार्यवान् पुरुष' ज्ञान-सम्पन्न हो पाता है। २. अब यह आचार्यकुल से समावृत्त होकर जीवन-यात्रा के दूसरे प्रयाण गृहस्थ में प्रवेश करता है और **प्रति आयतीम् उषासम्**=प्रत्येक आनेवाले उषःकाल में यह **जनानाम्**=सब लोगों के-'ब्रह्मचारी, वनस्थ व संन्यासियों' के लिए **धेनुम् इव**=धेनु के समान होता है। ३. गृहस्थ-भार वहन कर चुकने के बाद सब सन्तानों को यथास्थान स्थापित कर देने पर **इव**=जैसे **यह्वाः**=(महान्तः जातपक्षाः-उ०) उत्पन्न पंखोंवाले पक्षी **वयाम्**=शाखा को छोड़कर आगे बढ़नेवाले होते हैं, इसी प्रकार गृहस्थ **यह्वाः**=बड़े होकर (यातश्च हूतः च) प्रभु की ओर चलनेवाले व प्रभु को ही पुकारनेवाले होकर **वयाम्**=इस प्रजातन्तु सन्तानवाले आश्रम को **प्रउज्जिहानाः**=प्रकर्षेण छोड़ने की इच्छावाले होते हैं। नहीं छोड़ते तो जैसे पक्षी को उसी के माता-पिता चोंचें मारकर निकाल देते हैं, उसी प्रकार यहाँ सन्तानें तङ्ग करके निकलने के लिए बाधित कर देती हैं। ४. अब वानप्रस्थ में निरन्तर स्वाध्याय से **प्रभानवः**=प्रकृष्ट ज्ञान-दीप्तिवाले बनकर **नाकम् अच्छ**=उस क्लेश लव से अपरामृष्ट, पूर्णानन्दमय रस नामवाले प्रभु की ओर **सिस्रते**=बढ़ चलते हैं (प्रसर्पन्ति-द०)। संन्यासी सब उत्तरदायित्वों से निपटकर भूतहित में प्रवृत्त हुआ-हुआ प्रभु की ओर ही तो बढ़ रहा है।

भावार्थ-जीवन के चार प्रयाण=पड़ाव हैं। प्रथम में ज्ञानदीप्त बनना है, द्वितीय में सभी का पालन करना है, तृतीय में घर को छोड़ वनस्थ हो उस प्रभु की ओर चलना है, उसी को पुकारना है और चतुर्थ में प्रकृष्ट दीप्तिवाले होकर प्रभु को पाना है।

ऋषिः-परमेष्ठी। **देवता**-अग्निः। **छन्दः**-निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**-धैवतः॥

वन्दारु वचः

अवोचाम कवये मेध्याय वचो वन्दारु वृषभाय वृष्णे।
गविष्ठिरो नमसा स्तोममग्नौ दिवीव रुक्ममुरुव्यञ्चमश्रेत्॥२५॥

१. जीवन के इन प्रयाणों में चलते हुए हम उस प्रभु के लिए **वन्दारु वचः**=अभिवादन व स्तुति करनेवाला वचन **अवोचाम**=बोलें, जो प्रभु (क) **कवये**=सृष्टि के प्रारम्भ में सब विद्याओं का उपदेश देनेवाले हैं 'कौति सर्वा विद्याः'। (ख) **मेध्याय**=जो पूर्ण पवित्र हैं और अतएव 'मेधृ सङ्गमे'=सङ्गम के योग्य हैं। (ग) **वृषभाय**=जो शक्तिशाली व श्रेष्ठ हैं। (घ) **वृष्णे**=सब सुखों का सेचन करनेवाले हैं। २. **गविष्ठिरः**=वेदवाणी व इन्द्रियों में स्थिर-पूर्ण जितेन्द्रिय व ज्ञानी व्यक्ति **नमसा**=नमन के द्वारा **अग्नौ**=उस अग्रेणी प्रभु में **स्तोमं अश्रेत्**=स्तुति का सम्भजन करता है। प्रभु का स्तवन करनेवाला वही है जो 'गविष्ठिर' है, ज्ञानी व जितेन्द्रिय है, जो विनीतता व नम्रता से युक्त है। ३. यह उसी प्रकार स्तवन करता है **इव**=जैसे **दिवि**=मस्तिष्करूप द्युलोक में **रुक्मम्**=हिरण्य की भाँति देदीप्यमान ज्ञान की ज्योति को सम्बद्ध करता है। ४. और हाथों में **उरुव्यचम्**=(उरुषु बहुषु विशेषेण अच्छति-द०) बहुतों के कल्याण में प्रवृत्त होनेवाली गति को जोड़ता है। ५. एवं, इस संन्यस्त भक्त के जीवन में वाणी प्रभु नामोच्चारण करती है, हृदय प्रभु-स्तवन करता हुआ उसके प्रति नत होता है-मस्तिष्क

ज्ञान-दीप्ति का आश्रय करता है और हाथ लोकहित के कार्यों में प्रवृत्त होते हैं।

भावार्थ—मेरी वाणी प्रभु नाम का उच्चारण करे। हृदय नम्रतापूर्वक प्रभु-स्तवन करता हो, मस्तिष्क प्रभु के साम्राज्य के ज्ञान से दीप्त हो और हाथ अधिक-से-अधिक प्राणियों के हित में लगे हों।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

(उस प्रभु के लिए) वनेषु चित्रम्

अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता यजिष्ठोऽअध्वरेष्वीड्यः।
यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशे॥२६॥

१. **अयं प्रथमः**=यह आद्य पुरुष—सृष्टि बनने से पहले ही वर्त्तमान स्वयम्भू परमात्मा **इह**=इस मानव-जीवन में **धातृभिः**=धाताओं—लोकहित में लगे व्यक्तियों से **धायि**=धारण किया जाता है। प्रभु का धारण वही कर पाते हैं जो अधिक-से-अधिक लोकहित में प्रवृत्त होते हैं। २. इन धाताओं से अपने हृदयों में उस प्रभु का धारण होता है जो (क) **होता**=सब-कुछ देनेवाला है—उस दाता प्रभु का स्मरण करते हुए ये भी देनेवाले बनते हैं। (ख) **यजिष्ठः**= सर्वाधिक पूज्य है—सबके साथ सङ्गतीकरणवाला है और वस्तुतः संसार के सभी पदार्थों व इन्द्रियादि का देनेवाला है। जिसका दान निरतिशय है। इस प्रभु का स्मरण करते हुए ये भक्त भी अधिक-से-अधिक प्राणियों के सम्पर्क में आते हैं और उनके कष्टों को दूर करने के लिए प्रयत्नशील होते हैं। (ग) **अध्वरेष्वीड्यः**=हिंसाशून्य महान् यज्ञों में वह प्रभु ही स्तुति के योग्य है। वस्तुतः उस प्रभु की कृपा से ही सब यज्ञ पूर्ण होते हैं। प्रभु का इस रूप में स्मरण करता हुआ भक्त यज्ञों की सफलता में गर्ववाला नहीं हो जाता। ३. ये प्रभु वे हैं **यम्**=जिनको (क) **अप्नवानः**=उत्तम यज्ञिय कर्मोंवाले और अतएव उत्तम रूपवाले (अप्न=A sacrificial act; shape) **भृगवः**=ज्ञानविदग्ध (भ्रस्ज पाके) तेजस्वी पुरुष **विरुरुचुः**= (रोचयामासुः—म०) अपने हृदय-मन्दिर में दीप्त किया करते हैं। (ख) जो प्रभु **वनेषु**= सम्भजनशील भक्त पुरुषों में (वन=संभक्तौ) अथवा जितेन्द्रिय पुरुषों में (वन्= win) **चित्रम्**= (चित्+र) ज्ञान देनेवाले हैं तथा (२) **विशेविशे**=प्रत्येक प्रजा में **विभ्वम्**=व्यापक रूप से विद्यमान हैं अथवा प्रत्येक व्यक्ति में विभुत्व शक्ति से युक्त हैं। उस-उस को वह-वह शक्ति प्राप्त करा रहे हैं। बुद्धिमानों की वे बुद्धि हैं तो बलवानों के वे बल हैं।

भावार्थ—प्रभु धाताओं से—औरों का धारण करनेवालों से धारण किया जाता है। उपासकों को वे प्रभु ज्ञान देते हैं, वे सबको शक्ति प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

गोपाः

जनस्य गोपाऽअजनिष्ट जागृविरग्निः सुदक्षः सुविताय नव्यसे।
घृतप्रतीको बृहता दिविस्पृशा द्युमद्विभाति भरतेभ्यः शुचिः॥२७॥

१. प्रभु का ही वर्णन करते हुए कहते हैं कि **जनस्य**=अपने जीवन में विकास करनेवाले के **गोपाः**=वे प्रभु रक्षक हैं। 'गोपाः' शब्द कुछ ऐसा संकेत करता है कि मनुष्य गौएँ हैं तो प्रभु उनके ग्वाले हैं। २. **जागृविः**=वह रक्षक सदा जागरणशील है—सदा सावधान है। ३. **अग्निः**=वह हमें निरन्तर आगे ले-चल रहा है। ४. **सुदक्षः**=(दक्ष to grow) वह

उत्तमता से उत्साहित करता हुआ हमारी वृद्धि का कारण है। ५. वह **सुविताय**=उत्तम आचरण के लिए और **नव्यसे**=(नु स्तुतौ) स्तुत्य आचरण के लिए **अजनिष्ट**=होता है। जब तक हम उस प्रभु को भूलते नहीं तब तक हमारी जीवन की गाड़ी पथभ्रष्ट नहीं होती। ६. वे प्रभु **घृतप्रतीकः**=दीप्त मुखवाले हैं। अपने इन दीप्तमुखों से वे अपना दीप्त ज्ञान 'अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा को दे रहे हैं' यहाँ यह नहीं भूलना चाहिए कि 'सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्'=प्रभु में सब इन्द्रियों के गुणों का आभास ही है—उस निराकार प्रभु के इन्द्रियाँ तो हैं ही नहीं। ७. वे **शुचिः**=पूर्ण पवित्र प्रभु **बृहता**=निरतिशय वृद्धिवाले **दिविस्पृशा**=द्युलोक को स्पर्श करनेवाले, अर्थात् व्यापक ज्ञान से **द्युमद्**=ज्योतिवाले होकर **भरतेभ्यः**=औरों का भरण करनेवालों के लिए, सदा परोपकाररूप यज्ञ करनेवालों के लिए **विभाति**=चमकते हैं, प्रकाशित होते हैं।

भावार्थ—प्रभु-दर्शन उन भक्तों को ही होता है जो औरों का भरण करनेवाले—यज्ञिय जीवनवाले हैं।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडार्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

सहसस्पुत्रः

त्वामग्ने॒ऽअङ्गि॑रसो॒ गुहा॑ हि॒तमन्व॑विन्दञ्छिश्रिया॒णं वने॑वने।
स जा॑यसे म॒थ्यमा॑नः॒ सहो॑ म॒हत् त्वामा॑हुः॒ सह॑सस्पु॒त्रम॑ङ्गिरः ॥२८॥

१. हे **अग्ने**=अग्रेणी—सर्वोन्नति-साधक प्रभो! **गुहा हितम्**=हृदयरूप निगूढ प्रदेश में स्थित **त्वाम्**=आपको **अङ्गिरसः**=अङ्ग-अङ्ग में रसवाले, अर्थात् पूर्ण स्वस्थ व्यक्ति **अनु अविन्दत्**=आत्मदर्शन के बाद (अनु) प्राप्त करते हैं। जब मनुष्य चित्तवृत्ति का निरोध करके अन्तर्यात्रा करता हुआ अपने स्वरूप में अवस्थित होता है तभी वह प्रभु-दर्शन कर पाता है। २. उस प्रभु को देख पाता है जो **वनेवने**=सब जितेन्द्रिय पुरुषों में तथा (वन= ray of light) ज्ञान के पुञ्ज बने हुए पुरुषों में **शिश्रियाणम्**=अवस्थित हैं, आश्रय किये हुए हैं। जितेन्द्रिय व ज्ञानी पुरुष ही प्रभु का आश्रय बनते हैं। सर्वव्यापकता के नाते सर्वत्र होते हुए भी प्रभु इन्हीं में प्रकट होते हैं। ३. हे प्रभो! **सः**=वे आप **जायसे**=प्रकट होते हैं। कब? जबकि **मथ्यमानः**=वे अङ्गिरस् आपका मन्थन करते हैं। जैसे दो अरणियों की रगड़ से अग्नि प्रकट होती है, इसी प्रकार हृदय व मस्तिष्करूप अरणियों के मन्थन से प्रभुरूप अग्नि का प्रकाश होता है। ४. **सहः महत्**=हे प्रभो! आप महान् बल हो। जिसमें भी आपका प्रकाश होता है, वह आपकी इस शक्ति से शक्ति-सम्पन्न बनता है। ५. हे **अङ्गिरः**=अङ्ग-अङ्ग में रस का सञ्चार करनेवाले प्रभो! **त्वाम्**=आपको **सहसः पुत्रम्**=बल का पुतला=बल का पुञ्ज **आहुः**=कहते हैं। अथवा **सहसः**=बल के द्वारा **पुत्रम्**=(पुनाति त्रायते) पवित्र करनेवाला व रक्षा करनेवाला कहते हैं। 'सहस्' सर्वोत्तम शक्ति का वाचक है—यह आनन्दमयकोश का बल है। इसके साथ ही सब गुणों का वास है। इसके होने पर ही मनुष्य में सब उत्तमताओं का विकास होता है। इस 'सहस्' को प्राप्त करनेवाले 'अङ्गिरस्' लोग ही प्रभु का दर्शन कर पाते हैं।

भावार्थ—हम अङ्गिरस् बनें। सहस् व बल का धारण करें। जितेन्द्रिय बनकर ज्ञानी बनें तभी हम हृदयस्थ प्रभु का दर्शन कर पाएँगे।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

वर्षिष्ठ व ऊर्जो नपात्

सखायः सं वः सम्यञ्चमिषँस्तोमं चाग्नये।
वर्षिष्ठाय क्षितीनामूर्जो नप्त्रे सहस्वते॥२९॥

१. **सखायः**=ज्ञान-सम्पादन के द्वारा प्रभु के मित्र बननेवालो! **अग्नये**=उस अग्रणी प्रभु के लिए **सम्यञ्चम्**=(सम् अञ्च्) उत्तम पूजन को **इषम्**=गति को **स्तोमं च**=और स्तुति-समूह को **सम्**=(सम्पादयत) सिद्ध करो। प्रभु-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम देवपूजा की वृत्तिवाले हों—उत्तम गतिवाले हों, प्रभु प्रेरणा को सुनकर तदनुसार कार्य करनेवाले हों और प्रभु के गुणों का स्तवन करते हुए उन्हीं गुणों को धारण करनेवाले बनें। २. उस प्रभु के लिए हम इस पूजा, गति व स्तुति का सम्पादन करें जो **वर्षिष्ठाय**=श्रेष्ठ व वृद्धतम हैं, पुराणपुरुष हैं अथवा अतिशयेन आनन्द की वर्षा करनेवाले हैं। ३. **क्षितीनाम्**=उत्तम निवास व गतिवाले पुरुषों के (क्षि निवासगत्योः) **ऊर्जः नप्त्रे**=बल व प्राणशक्ति के नष्ट न होने देनेवाले हैं (न पतियित्रे), ४. जो प्रभु **सहस्वते**=सहस्वाले हैं। वस्तुतः सहस् के पुञ्ज हैं—सहोरूप हैं।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के साधन 'पूजा, गति व स्तुति' हैं। वे प्रभु १. अग्नि=हमारी उन्नति के साधक है। २. वृद्धतम व सर्वाधिक आनन्द के वर्षक हैं। ३. हमारी शक्तियों को नष्ट न होने देनेवाले हैं तथा ४. सहस् के पुञ्ज हैं।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

वृषन्

सꣳसमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्यऽआ।
इडस्पदे समिध्यसे स नो वसून्याभर॥३०॥

१. हे प्रभो! आप **इत्**=निश्चय से **सं सं युवसे**=हम सबको उत्तमता से प्राप्त होनेवाले हो तथा हम सबको परस्पर सङ्गत करनेवाले हो। २. **वृषन्**=आप हमपर सुखों की वर्षा करते हो। ३. **अग्ने**=आप सबको आगे ले-चलनेवाले हैं। ४. **अर्यः**=स्वामी व परमेश्वर होते हुए आप **विश्वानि**=सब आवश्यक वस्तुओं को **आ** (युवसे)=हमें प्राप्त कराते हो। ५. **इडः पदे**=वाणी के स्थान में **समिध्यसे**=आप समिद्ध होते हो। जितना-जितना हम अपने ज्ञान को बढ़ाते हैं उतना-उतना आपके अधिकाधिक प्रकाश को देखते हैं। ६. **सः**=वे आप **नः**=हमारे लिए **वसूनि**=उत्तम धनों—निवास के लिए आवश्यक पदार्थों को **आभर**=प्राप्त कराइए।

भावार्थ—वे प्रभु हमें परस्पर मिलाते हैं। हमपर सुखों की वर्षा करते हैं। हमें उन्नत करते हैं। परमेश्वर होते हुए सब आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त कराते हैं। उस प्रभु का दर्शन ज्ञानवाणियों के अध्ययन से ज्ञान को बढ़ाकर होता है।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

चित्रश्रवस्तम

त्वां चित्रश्रवस्तम हवन्ते विक्षु जन्तवः।
शोचिष्केशं पुरुप्रियाग्ने हव्याय वोढवे॥३१॥

१. हे **चित्रश्रवस्तम**=(चित्+र, श्रवः=धनम्) ज्ञानयुक्त धन के अतिशयवाले प्रभो!

विक्षु=इस संसार में प्रविष्ट होनेवाले (विश्=to enter) प्राणियों में **जन्तवः**=अपना विकास (जन् प्रादुर्भाव) करनेवाले मनुष्य **त्वां हवन्ते**=तुझे पुकारते हैं। २. हे **पुरुप्रिय** =पालन व पूरण करनेवाले तथा इस पालन व पूरण से ही प्रीणित करनेवाले प्रभो! हे **अग्ने**=उन्नति के साधक प्रभो! **शोचिष्केशम्**=देदीप्यमान ज्ञान-रश्मियोंवाले आप (प्रभु) को उपासक **हवन्ते**= पुकारते हैं। ३. **हव्याय**=हव्य पदार्थों की प्राप्ति के लिए, सात्त्विक भोजन के लिए और **वोढवे**=वहन के लिए। जैसे जब बच्चा थक जाता है तो माँ उसे उठा लेती है, इसी प्रकार पूर्ण पुरुषार्थ के उपरान्त आपसे वहन किये जाने के लिए। आप ही मेरा वहन करेंगे तभी मैं लक्ष्य-स्थान पर पहुँच पाऊँगा।

भावार्थ—हे प्रभो! आपकी कृपा से हम विकास के मार्ग पर चलें, सदा आपकी आराधना करें। आपसे ज्ञान व धन प्राप्त करके हम आगे बढ़ें। आपकी कृपा से हमें सात्त्विक अन्न प्राप्त हो और आपसे लक्ष्य स्थान पर पहुँचाये जाएँ।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराड्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

ऊर्जो नपात् व चेतिष्ठ

एना वोऽअग्निं नमसोर्जो नपातमाहुवे।
प्रियं चेतिष्ठमरतिꣳस्वध्वरं विश्वस्य दूतममृतम्॥३२॥

१. **एना नमसा**=इस नमन के द्वारा **आहुवे**=मैं पुकारता हूँ। नम्र हुआ मैं नतमस्तक होकर उस प्रभु की प्रार्थना करता हूँ जो २. **वः अग्निम्**=तुम सबको आगे ले-चलनेवाले हैं। ३. **ऊर्जो नपातम्**=शक्ति को नष्ट न होने देनेवाले हैं। ४. **प्रियम्**=प्रीणित करनेवाले हैं, जिनको पाकर जीव एक तृप्तिकर आनन्द का अनुभव करता है। ५. **चेतिष्ठम्**=अतिशयेन ज्ञान-सम्पन्न हैं और अपने उपासकों को ज्ञान देनेवाले हैं। ६. **अरतिम्**=(रतिः उपरमः तद्रहितम्—म०) सदा उद्योगयुक्त हैं 'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'=जिनकी क्रिया स्वाभाविक है। ७. **स्वध्वरम्**=उत्तम यज्ञोंवाले हैं। जीवों से किये जानेवाले सब यज्ञ उस प्रभु की कृपा से ही सिद्ध होते हैं। ८. **विश्वस्य दूतम्**=सबके प्रेरक है (messenger) अथवा सबके दोषों को दूर करनेवाले तथा धर्मार्थमोक्ष को प्राप्त करानेवाले हैं। (यो दोषान् दुनोति दूरीकरोति धर्मार्थमोक्षान् प्रापयति वा—द० ६।१५।९) जो अविद्या के पार ले-जानेवाले हैं (ऋ० ३।१२।२ अविद्यायाः पारे गमयिता) अथवा सब दुःखों का निवारण करनेवाले हैं। (दूतः वारयतेः—नि० ५।१) ९. **अमृतम्**=वे प्रभु अमृत हैं। उनको पाकर मनुष्य मृत्यु से ऊपर उठ जाता है।

भावार्थ—वे प्रभु हमें आगे ले-चलते हैं, हमें अक्षीण शक्ति बनाते हैं, प्रीति को देनेवाले हैं, सर्वाधिक ज्ञानवाले हैं, सदा सहायता के लिए उद्यत हैं, हमारे सब यज्ञ उन्हीं की कृपा से पूर्ण होते हैं, सब कष्टों व अज्ञानों को दूर करनेवाले व अमर हैं। हम उन्हीं को पुकारें।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

विश्व का दूत

विश्वस्य दूतममृतं विश्वस्य दूतममृतम्।
स योजतेऽअरुषा विश्वभोजसा स दुद्रवत्स्वाहुतः॥३३॥

१. वे प्रभु **विश्वस्य दूतम्**=(दूतः जवतेर्वा द्रवतेर्वा—वारयतेर्वा—नि० ५।१) सम्पूर्ण

संसार को गति देनेवाले हैं, सम्पूर्ण संसार के सञ्चालक हैं, सबके कष्टों व अज्ञानों का निवारण करनेवाले हैं। **अमृतम्**=इस प्रकार अमृतत्व को देनेवाले हैं। २. वे प्रभु सचमुच ही **विश्वस्य दूतम्**=विश्व के प्रेरक हैं **अमृतम्**=अमर प्रेरक हैं। ३. वे हमारे इन शरीररूप रथों में **अरुषा**=(अकोपनौ) क्रोधशून्य, अर्थात् सरल व **विश्वभोजसा**=सबका पालन करनेवाले ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप घोड़ों को **योजते**=जोड़ते हैं। कर्मेन्द्रियाँ अरुष हैं 'ऋच्छति अध्वानम्'=ये सरलता से मार्ग पर चल रही हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ प्रत्येक वस्तु का ज्ञान देकर पालन करनेवाली हैं। ४. **सः**=वे प्रभु **स्वाहुतः**=(शोभनप्रकारेण हुतः—उ०) उत्तमता से आत्मार्पण किया हुआ अथवा (शोभनाह्वानः—द०) उत्तमता से पुकारा हुआ **दुद्रवत्**=शीघ्रता से प्राप्त होता है।

भावार्थ—हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें व उसे पुकारें तो प्रभु सहायता के लिए सदा उपस्थित होते हैं। वे हमारे शरीर-रथ में शीघ्रता से मार्ग का व्यापन करनेवाले व ज्ञान-प्रकाश द्वारा पालक इन्द्रियाश्वों को जोतते हैं।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

स्वाहुतः दुद्रवत् देवराधः

स दु॒द्र॒व॒त् स्वाहु॑तः॒ स दु॒द्र॒व॒त् स्वाहु॑तः।
सु॒ब्रह्मा॑ य॒ज्ञः सु॒शमी॒ वसू॑नां दे॒वꣳराधो॒ जना॑नाम्॥३४॥

१. **सः**=वह **स्वाहुतः**=उत्तमता से समर्पण किया हुआ, अथवा उत्तमता से पुकारा हुआ प्रभु **दुद्रवत्**=शीघ्रता से प्राप्त होता है। **स्वाहुतः स दुद्रवत्**=पुकारा हुआ वह प्राप्त होता ही है। ये शब्द ठीक ही हैं कि 'knock, and it will be opened to you' खटखटाओ और यह दरवाज़ा तुम्हारे लिए खुलेगा ही। २. प्रभु वहाँ अवश्य पहुँचते हैं, जहाँ **वसूनाम्**=इस शरीररूपी देवाश्रम में उत्तमता से निवास करनेवालों का **सुब्रह्मा**=उत्तम ज्ञानियों से युक्त अथवा (शोभनं ब्रह्म यस्मिन्) उत्तम ज्ञान से युक्त **सुशमी**=(शमी=कर्म) उत्तम कर्मोंवाला **यज्ञः**=यज्ञ प्रवृत्त होता है, अर्थात् जहाँ एक व्यक्ति युक्ताहार-विहार के द्वारा शरीर को नीरोग बनाता है, मस्तिष्क को ज्ञान-परिपूर्ण करता है तथा हाथों द्वारा सदा उत्तम कर्मों में लगा रहकर जीवन को एक यज्ञ ही बना देता है, वहाँ प्रभु अवश्य उपस्थित होते हैं। ३. फिर प्रभु वहाँ अवश्य उपस्थित होते हैं जहाँ कि **जनानाम्**=अपनी शक्तियों का विकास करनेवालों का **देवं राधः**=दिव्य व्यवहार से सिद्ध किया हुआ धन होता है। आसुर लोग ही अन्याय से अर्थसञ्चय के लिए यत्नशील होते हैं। दैवी प्रवृत्तिवाले लोग देवयान से, देवोचित व्यवहारों से ही **राधः**=कार्य-साधक धन जुटाते हैं। जहाँ धन न्याय-मार्ग से ही प्राप्त करने की वृत्ति होती है, वहीं प्रभु का दर्शन होता है।

भावार्थ—प्रभु को वही पाता है जो १. स्वस्थ व ज्ञानी बनकर क्रियाशील होता है और इस प्रकार जीवन को एक यज्ञ बना देता है। तथा २. जो अपनी शक्तियों का विकास करता हुआ देवोचित न्यायमार्ग से व्यवहार-साधक धन कमाता है।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—उष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

गोमत वाज

अग्ने॒ वाज॑स्य॒ गोम॑त॒ऽईशा॑नः सहसो यहो।
अ॒स्मे धे॑हि जातवेदो॒ महि॒ श्रवः॑॥३५॥

१. हे **अग्ने**=सर्वोन्नति साधक प्रभो! हे **सहसः यहो**=बल के पुत्र, शक्ति के पुञ्ज प्रभो! आप **गोमतः**=उत्तम गौवोंवाले, उत्तम गौवें के द्वारा गोदुग्ध युक्त **वाजस्य**=शक्तिप्रद अन्न के **ईशानः**=ईश हैं—स्वामी हैं। २. अतः आप कृपा करके **अस्मे धेहि**=हमारे लिए इस गोदुग्ध युक्त अन्न को दीजिए। गो–दुग्ध से हमारे अन्दर सात्त्विकता की वृद्धि हो तो शक्तिप्रद अन्न से हमारे शरीर पुष्ट हों। इस गोदुग्ध युक्त पौष्टिक अन्न को प्राप्त करके हमारे मस्तिष्क ज्ञान से इस प्रकार चमकें जैसे अग्नि चमकती है, और हमारे शरीर सबल होकर हमें भी सहसस्पुत्र=शक्ति–पुञ्ज बनाएँ। ३. हे **जातवेदः**=सम्पूर्ण ज्ञान के उत्पत्ति–स्थल प्रभो! **अस्मे**=हमारे लिए आप **महि श्रवः**=महनीय अन्न प्राप्त कराइए (श्रवः=अन्ननाम—नि० १०।३) उसके सेवन के द्वारा हमारे जीवन को प्रशंसनीय बनाइए (श्रवः प्रशंसा—नि० ४।२४) और आपकी कृपा से हम महनीय धन को (श्रवः=धनम्—नि० २।१०) प्राप्त करनेवाले हों।

भावार्थ—हम गोदुग्ध का सेवन करें, शक्तिप्रद अन्नों का प्रयोग करें। इस संसार में उत्तम अन्न के द्वारा प्रशंसित जीवनवाले हों तथा प्रशस्त मार्ग से ही धन कमाएँ।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदुष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

धन+ज्ञान

सऽइधानो वसुष्कविरग्निरीडेन्यो गिरा। रेवदस्मभ्यं पुर्वणीक दीदिहि ॥३६॥

१. **सः**=वह प्रभु **इधानः**=स्वभावतः ही ज्ञान से दीप्यमान हैं। 'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'। प्रभु स्वयं ज्ञान से दीप्त हैं। जीव को ज्ञान से दीप्त करते हैं। २. **वसुः**=ज्ञान देकर वे हमारे निवास को उत्तम बनाते हैं। ३. **कविः**=(कौति सर्वा विद्याः) वे प्रभु सृष्टि के प्रारम्भ में सब विद्याओं का उपदेश देते हैं। ४. विद्योपदेश देकर ही वे **अग्निः**=हमारी सब प्रकार की उन्नति को सिद्ध करते हैं, अग्रेणी होते हैं। ५. वस्तुतः ये प्रभु ही **गिरा**=इन सब वेदवाणियों से **ईडेन्यः**=स्तुति के योग्य हैं। **'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'** यह उपनिषद् वाक्य यही तो कह रहा है कि सारे वेद उस प्रभु का ही प्रतिपादन कर रहे हैं। **'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्'**= सारी ऋचाएँ उस परम अक्षर में ही निषण्ण होती हैं। ६. हे **पुर्वणीक**=अनन्त सैन्य बलवाले प्रभो! अथवा पालक व पूरक बलवाले प्रभो! **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **रेवत्**= धनवाले होकर **दीदिहि**=दीप्त होओ, अर्थात् आपकी कृपा से मैं धन प्राप्त करूँ, परन्तु मेरा वह धन ज्ञान की दीप्तिवाला हो।

भावार्थ—हे प्रभो! हमें धन दीजिए। धन के साथ प्रकाश भी प्राप्त कराइए।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदुष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

तिग्म–जम्भ–रक्षो–दहन

क्षपो राजन्नुत त्मनाग्ने वस्तोरुतोषसः। स तिग्मजम्भ रक्षसो दह प्रति ॥३७॥

१. हे **तिग्मजम्भ**=(तिग्म—वज्र) वज्र के समान दंष्ट्रावाले अथवा तीक्ष्ण दंष्ट्रावाले! **राजन्**=राष्ट्र के जीवन को व्यवस्थित करनेवाले राजन्! **अग्ने**=राष्ट्र को उन्नत करनेवाले अग्रेणी! **सः**=वे आप **त्मना**=स्वयं **क्षपः**=रात्रि में (नि० १।७) **उत**=और **वस्तोः**=दिन में (नि० १।९) **उत**=और **उषसः**=उषःकालों में **रक्षसः**=अपने रमण के लिए औरों का क्षय करनेवाले लोगों को **प्रतिदह**=एक–एक को भस्म कर दीजिए। २. यहाँ 'तिग्मजम्भ' शब्द स्पष्ट कह रहा है कि राजा को राक्षसों के लिए तीक्ष्ण दण्डवाला होना है। ३. राजा ने उचित दण्ड–व्यवस्था के द्वारा प्रजा के जीवन को व्यवस्थित (regulated) करना है।

तभी तो वह 'राजा' कहलाने के योग्य होगा। ४. प्रजा के व्यवस्थित जीवन के द्वारा राष्ट्र की उन्नति करनेवाला, राष्ट्र को आगे ले-चलनेवाला यह राजा 'अग्नि' है। ५. यह सब कार्य उसे स्वयं करना है। ऐसा संकेत 'त्मना' शब्द कर रहा है। कर्मचारी वर्ग पर कार्यभार डालकर वह स्वयं आमोद-प्रमोद में ही न फँस जाए। ६. राजा ने अपने इस कार्य में क्या दिन क्या रात व क्या उषःकाल सदा लगे रहना है। उसे तो 'जागृवि' बनना है। सदा जागते रहकर प्रजा का हित-साधन करना है। ७. ऐसी सब व्यवस्था होने पर ही राष्ट्र में राक्षसी वृत्ति के लोग नहीं पनप पाते और राष्ट्र दिन-ब-दिन उन्नति के पथ पर आगे बढ़ता है।

भावार्थ—राजा यथार्हदण्ड होकर राष्ट्र में राक्षसी वृत्ति का अन्त करे। इस सुरक्षित राष्ट्र में सब व्यक्ति उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़ें।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—उष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

समर्पण-दान-यज्ञ-स्तवन

भद्रो नोऽअग्निराहुतो भद्रा रातिः सुभग भद्रोऽअध्वरः।
भद्राऽउत प्रशस्तयः ॥३८॥

१. गत मन्त्र के अनुसार उत्तमता से शासित और अतएव शान्त राज्य में सब आश्रमवासी अपने-अपने कार्य में दत्तचित्त हों, और स्वकर्त्तव्य पालन के द्वारा कल्याण व सुख का सम्पादन करें। २. ब्रह्मचारियों की प्रार्थना यह हो कि **अग्निः**=मातारूपी दक्षिणाग्नि, पितारूप गार्हपत्याग्नि, आचार्यरूप आहवनीयाग्नि **आहुतः**=आहुत हुआ-हुआ **नः**=हमारे लिए **भद्रः**=कल्याण व सुख देनेवाला हो। हम माता-पिता व आचार्य के प्रति समर्पण कर अपना कल्याण सिद्ध करें। हम इन अग्नियों के पूर्ण अनुकूल होंगे तो अपना कल्याण अवश्य सिद्ध कर पाएँगे। माता हमें चरित्रवान् बनाएगी तो पिता आचारवान् तथा आचार्य ज्ञानवान्। इस प्रकार से तीनों हमारे जीवन को भद्र बनाएँगे। ३. अब गृहस्थ प्रार्थना करता है कि हे **सुभग**=उत्तम ऐश्वर्यवाले प्रभो! इस गृहस्थ में **रातिः**=दान की वृत्ति **भद्रा**=हमारा कल्याण करनेवाली हो। हम धन को अपना समझें ही नहीं। वास्तव में तो यह धन है ही आपका। इस बात का स्मरण करते हुए हमें दान में किसी प्रकार का संकोच न हो। हम अपने को आपके इस धन का ट्रस्टी=धरोहर-रक्षक ही समझें और सदा दान देते हुए विषय-वासनाओं से बचकर अपने कल्याण को सिद्ध करें ४. अब तृतीयाश्रम में वनस्थ होकर हम चाहते हैं कि **अध्वरः**=हिंसा के लवलेश से शून्य यह यज्ञ **भद्रः**=हमारा कल्याण करे। वनस्थ होकर अन्य सब सम्भारों को छोड़कर हम 'अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम्'=अग्निहोत्र व अग्निहोत्र के अन्य साधनभूत पात्रों को लेकर ही वनस्थ हों। वानप्रस्थ में भी यज्ञों को विधिवत् करते रहें। इन यज्ञों से अपने जीवन को सदा पवित्र और कल्याणमय बनाये रक्खें। ५. **उत**=और अब चतुर्थाश्रम में **प्रशस्तयः**=हमारे से दिन-रात की गई प्रभु की प्रशस्तियाँ **भद्राः**=हमारा कल्याण करें। हम श्वास-प्रश्वास के साथ प्रभु के गुणों का गान करें। उन गुणों के अनुरूप अपने जीवन को बनाने का निश्चय करके हम अपने कल्याण-सम्पादन में समर्थ हों।

भावार्थ—ब्रह्मचारी का मूलमन्त्र 'माता-पिता व आचार्य के प्रति अर्पण' हो। गृहस्थ का दान, वनस्थ का यज्ञ तथा संन्यस्त का स्तवन मुख्य ध्येय हो।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदुष्णिक्। स्वरः—ऋषभः॥

वृत्र-तूर्य

भद्राऽउत प्रशस्तयो भद्रं मनः कृणुष्व वृत्रतूर्ये। येना समत्सु सासहः॥३९॥

१. **भद्राः उत प्रशस्तयः**=उस प्रभु की प्रशस्तियाँ तो निश्चय से हमारा कल्याण करें ही। २. हे उपासक! तू प्रभु-शक्तियों से **भद्रम्**=उत्तम बने हुए **मनः**=अपने मन को **वृत्रतूर्ये**=पाप के नाश के लिए अथवा बुरी वृत्तियों से संग्राम के लिए **कृणुष्व**=कर। अपने मन में दृढ़ निश्चय कर कि मुझे इस अध्यात्मसंग्राम में काम, क्रोध, लोभ का—ज्ञान के आवरणभूत वृत्र का संहार (तूर्य—वध) करना है। ३. **येन**=जिस दृढ़ निश्चय के होने से ही **समत्सु**=संग्रामों में **सासहः**=तू शत्रुओं का पराभव करता है। ढिलमिल विचार हमें किसी भी कार्य में सफल नहीं बनाता। दृढ़ निश्चय ही—संकल्प ही वह शक्ति देता है जिससे शक्तिशाली बनकर हम शत्रुओं का शातन कर पाते हैं। ४. एवं, कामादि के पराजय के लिए दो बातें बड़ी आवश्यक हैं। (क) स्तवन तथा (ख) मन में इनके नाश के लिए दृढ़ संकल्प।

भावार्थ—हम प्रभु का शंसन करें। मन को उत्तम बनाएँ। दृढ़ निश्चय करके कामादि से संग्राम में उनका पराजय करनेवाले हों।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदुष्णिक्। स्वरः—ऋषभः॥

विजय

येना समत्सु सासहोऽव स्थिरा तनुहि भूरि शर्धताम्।
वनेमा तेऽअभिष्टिभिः॥४०॥

१. हे प्रभो! हमें गत मन्त्र में वर्णित वह 'भद्र मन' दीजिए **येन**=जिससे **समत्सु**=संग्रामों में **सासहः**=शत्रुओं का पराभव कर सकें। २. आप कृपा करके **भूरि शर्धताम्**=नाना प्रकार से प्रभूत बल प्राप्त कराते हुए (अभिबलायमानानाम्—उ०) इन काम, क्रोध व लोभादि के **स्थिरा**=स्थिर धनुषों को **अवतनुहि**=ज्या-(डोरी)-रहित कर दीजिए, अर्थात् इनकी शक्ति को क्षीण कर दीजिए। इस पञ्चबाण (काम) के बाण मुझपर चल ही न सकें, इस प्रकार इसके धनुष को ढीला कर दीजिए। ३. हे प्रभो! **ते अभिष्टिभिः**=तेरे द्वारा इन कामादि पर किये गये आक्रमणों से **वनेम**=हम विजयी बनें (वन्=win) अथवा **अभिष्टिभिः**=अभीष्ट यागों के द्वारा **ते वनेम**=तेरा सम्भजन करें। यज्ञों के द्वारा हम आपका उपासन करें और 'त्वया स्विद् युजा वयम्'=आपको अपना साथी पाकर हम इन क्रोधादि का पराजय करने में समर्थ हों।

भावार्थ—हे प्रभो! आपकी कृपा से अत्यन्त प्रबल भी इन काम, क्रोध आदि को हम जीतनेवाले बनें। इन अभिबलायमान कामादि के अस्त्र शिथिल हो जाएँ और हम इन्हें पराजित कर सकें।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

अग्निः अस्तम्

अग्निं तं मन्ये यो वसुरस्तं यं यन्ति धेनवः।
अस्तमर्वन्तऽआशवोऽस्तं नित्यासो वाजिनऽइषꣳस्तोतृभ्यऽआ भर॥४१॥

१. गत मन्त्र के अनुसार कामादि का पराजय करके **यः**=जो **वसुः**=शरीर में अपने

निवास को उत्तम बनाता है, अर्थात् शरीर को व्याधियों से शून्य और मन को आधियों से रहित करता है **तम्**=उसी वसु को **अग्निं मन्ये**=मैं अग्नि मानता हूँ, उसी को उन्नतिशील कहता हूँ। प्रभु की दृष्टि में अग्नि वही है जो आधि-व्याधिशून्य जीवनवाला है। २. ये 'अग्नि' जिन घरों में उत्पन्न होते हैं, उन घरों का लक्षण करते हुए कहते हैं कि **अस्तम्**=मैं घर उसी को कहता हूँ **यम्**=जिसकी ओर **धेनवः**=गौवें **यन्ति**=आती हैं। गृहसूक्त के शब्द स्मरणीय हैं कि 'आ धनेवः सायमास्पन्दमानाः' घरों में सायंकाल उछलती-कूदती गौवें आएँ। ३. **अस्तम्**=घर उसे मानता हूँ जिसमें **आशवः**=शीघ्रता से मार्गों के व्यापनेवाले **अर्वन्तः**=घोड़े **यन्ति**=जाते हैं। घरों में गौवे हों, घोड़े हों। गौवें सात्त्विकता की वृद्धि का कारण बनती हैं तो घोड़े शक्ति की वृद्धि में साधन बनते हैं। ४. **अस्तम्**=घर वह है जिसमें **नित्यासः वाजिनः**=स्थिर शक्ति देनेवाले अन्न प्राप्त होते हैं। (नि=in, त्य=होनेवाले, अर्थात् स्थिर पौष्टिक, वाज=शक्ति) ५. हे प्रभो! आप **स्तोतृभ्यः**=स्तोताओं के लिए **इषम्**=प्रेरणा **आभर**=प्राप्त कराइए, जिससे वे स्तोता मन्त्र-वर्णित घर को ही बनानेवाले हों और उन घरों में 'अग्नि' बनने का प्रयत्न करें।

भावार्थ—घर वही है, जिसमें १. दुधारू गौवें आती हैं। २. तीव्र गतिवाले घोड़े आते हैं, और ३. सदा यज्ञ की वृत्तिवाले लोग आते हैं। इन घरों में रहनेवाला **अग्नि**=उन्नतिशील पुरुष वही है जिसने अपने को पूर्ण स्वस्थ बनाकर उत्तमता से निवास किया है।

सूचना—'नित्यासः वाजिनः' का अर्थ यह भी हो सकता है कि सदा यज्ञिय कर्मों के करनेवाले (वाज =A sacrificial act)।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीपंक्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

अग्नि

सोऽअग्निर्यो वसुर्गृणे सं यमायन्ति धेनवः।
समर्वन्तो रघुद्रुवः सꣳसुजातासः सूरयऽइषꣳस्तोतृभ्यऽआ भर ॥४२॥

१. **सः अग्निः**=उन्नतिशील पुरुष वह है **यः**=जो **वसुः**=उत्तम निवासवाला है। २. **गृणे** (गृणाति)=जो नित्य प्रभु का स्तवन करता है। ३. **यम्**=जिसको **धेनवः**=दुधारू गौवें **समायन्ति**=सम्यक्तया प्राप्त होती हैं। ४. **रघुद्रुवः**=(लघुद्रवाणाः) शीघ्र गतिवाले **अर्वन्तः**=घोड़े **समायन्ति**=प्राप्त होते हैं, और जिसे ५. **सुजातासः**=शोभन जन्मवाले अथवा उत्तम विकासवाले **सूरयः**=विद्वान् लोग **समायन्ति**=प्राप्त होते हैं। ६. हे प्रभो! आप इन अग्नि बनानेवाले **स्तोतृभ्यः**=स्तोताओं के लिए **इषम्**=प्रेरणा **आभर**=प्राप्त कराइए, जिससे उस प्रेरणा के अनुसार चलते हुए ये सचमुच अग्नि बन सकें।

भावार्थ—उन्नतिशील व्यक्ति के लक्षण ये हैं। १. स्वस्थ बनता है, शरीर में उत्तम निवासवाला होता है। २. गौवों के दुग्ध का प्रयोग करता है। ३. विकासशील विद्वानों का सङ्ग करता है। ४. प्रभु-स्तवन के द्वारा प्रभु-प्रेरणा को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृत्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

अग्निहोत्र

उभे सुश्चन्द्र सर्पिषो दर्वी श्रीणीषऽआसनि।
उतो नऽउत्पुपूर्याऽउक्थेषु शवसस्पतऽइषꣳस्तोतृभ्यऽआ भर ॥४३॥

१. हे **सुश्चन्द्र**=(शोभनं चन्दति आह्लादते आह्लादयति वा) उत्तम आनन्द को प्राप्त करने व करानेवाले स्तोतः! तू **उभे**=दोनों सन्ध्याकालों में **सर्पिषः दर्वी**=घृत की भरी कड़छियों को **आसनि**=अग्निकुण्ड में—प्रज्वलित अग्नि के मुख में **श्रीणीषे**=(श्रयसि आश्लेषयसि—उ०) आश्रित करता है, अर्थात् घृत से अग्निहोत्र करता है। २. इस प्रकार प्रातः-सायं अग्निहोत्र करते हुए तू यही प्रार्थना करता है कि हे अग्ने! **उत उ**=और अब तू भी **नः**=हमें **उत्पुपूर्याः**=(उत्कर्षेण अन्नादिभिः पूरय—म०) उत्कृष्ट अन्नादि से पूर्ण करनेवाला हो। 'देहि मे ददामि ते'—'तू मुझे दे तो मैं भी तुझे देता हूँ,' इस अपनी प्रतिज्ञा को तू अब पूरा कर। वस्तुतः अग्निहोत्र में डाला हुआ घृतादि पदार्थ नष्ट न होकर सूक्ष्म कणों में विभक्त होकर सारे वायुमण्डल में व्याप्त हो जाता है। वह वृष्टि-बिन्दुओं का केन्द्र बनकर इस पृथिवी पर आता है और अन्न के एक-एक कण को पौष्टिक बना देता है। ३. **उक्थेषु**=स्तुतियों के होने पर स्तोताओं में **शवसस्पते**=बल की रक्षा करनेवाले प्रभो! आप **स्तोतृभ्यः**=स्तोताओं के लिए **इषम्**=प्रेरणा को **आभर**=प्राप्त कराइए।

भावार्थ—नियम से अग्निहोत्र करनेवाला व्यक्ति सदा आनन्दमय जीवनवाला व सौमनस्यवाला होता है। वह अग्निहोत्र से अपने अन्न-भण्डारों को पूर्ण करता है और प्रभु-स्तवन से सशक्त बनता है।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीगायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

स्तुति+यज्ञ—शक्ति+उत्तम-संकल्प

अग्ने तमद्याश्वं न स्तोमैः क्रतुं न भद्रꣳहृदिस्पृशम्।
ऋध्यामा तऽओहैः ॥४४॥

१. हे **अग्ने**=हमारी उन्नतियों के साधक प्रभो! **ते ओहैः**=(तव प्रापणैः) आपको प्राप्त करानेवाले **स्तोमैः**=स्तुतिसमूहों के साथ **अद्य**=आज हम **तम्**=उस—गत मन्त्र में वर्णित यज्ञ को **ऋध्याम्**=समृद्ध करें। २. उसी प्रकार समृद्ध करें **न**=जैसे (न=इव) **अश्वम्**=क्रियाओं में व्याप्त होनेवाली इन्द्रियों को। 'इन्द्रियाणि हयानाहुः'=हमारे इन्द्रियरूप अश्व खूब शक्तिशाली हों। ३. हम यज्ञ को उसी प्रकार समृद्ध करें **न**=जैसे **हृदिस्पृशम्**=(हृदिस्पृशति इति) हृदय में जँच जानेवाले **भद्रम्**=शुभ **क्रतुम्**=संकल्प को। हमारे संकल्प शुभ तो हों ही, ऐसे शुभ हों कि सुननेवाले को भी जँचें, उसके हृदय पर उनका उत्तम प्रभाव हो। ४. एवं, मन्त्रार्थ से यह स्पष्ट हैं कि (क) हम स्तुति करें, वह स्तुति जो हमारे जीवनों में एक विशिष्ट परिवर्तन लाकर हमें प्रभु को प्राप्त करानेवाली हो। (ख) इन स्तुतियों के साथ हम पिछले मन्त्र में वर्णित यज्ञ को सिद्ध करनेवाले हों। (ग) इन स्तुतियों व यज्ञों के द्वारा हम अपनी इन्द्रियों को उत्तम शक्ति-सम्पन्न बनाएँ और (घ) साथ ही प्रभु-स्तवन व यज्ञों के कारण हमारे संकल्प भी सदा उत्तम हों, सुननेवाला भी उनकी प्रशंसा करे।

भावार्थ—हम स्तुति करें, यज्ञमय जीवनवाले हों, हमारी इन्द्रियाँ सशक्त हों, संकल्प उत्तम हों।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्षीगायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

संकल्प+बल+यज्ञ

अधा ह्यग्ने क्रतोर्भद्रस्य दक्षस्य साधोः। रथीर्ऋतस्य बृहतो बभूथ ॥४५॥

१. हे **अग्ने**=हमारे जीवन के अग्रेणी प्रभो! आप **अद्य**=अब हमारे स्तवन के बाद **हि**=निश्चय से **भद्रस्य क्रतोः**=शुभ संकल्प, प्रज्ञान व यज्ञरूप कर्म के **रथीः**=सारथि के समान निर्वाहक होते हो। आप हमें शुभ संकल्प, प्रज्ञान व कर्म प्राप्त कराते हो। (क्रतु=संकल्प, प्रज्ञान, कर्म—नि० ३।५)। २. आप **दक्षस्य**=उस बल के (नि० २।५) भी प्राप्त करानेवाले हो जो बल **साधोः**=(साध्नोति) लोकरक्षा व परहित को सिद्ध करनेवाला होता है, आप हमें वह शक्ति देते हैं जो सदा उत्तम कार्यों की साधिका होती है और लोकरक्षण में विनियुक्त होती है। ३. आप उत्तम संकल्प व साधक शक्ति प्राप्त कराके **बृहतः**=सदा वृद्धि के कारणभूत **ऋतस्य**=यज्ञ के (नि० ८।२) और वस्तुतः सब ठीक कर्मों के **रथीः**=निर्वाहक **बभूथ**=होते हो।

भावार्थ—प्रभु हमें १. भद्र क्रतु=उत्तम संकल्पवाला बनाते हैं। २. कार्यसाधक शक्ति प्राप्त कराते हैं। ३. संकल्प और शक्ति प्रदान कर हमारी वृद्धि के कारणभूत यज्ञों के निर्वाहक होते हैं।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिगार्षीगायत्री। स्वरः—षड्जः॥

प्रभु-प्राप्ति के लिए पाँच बातें

एभिर्नोऽअर्कैर्भवा नो अर्वाङ् स्वर्ण ज्योतिः।
अग्ने विश्वेभिः सुमनाऽअनीकैः ॥४६॥

१. प्रभु कहते हैं कि **एभिः नः अर्कैः**=(अर्को मन्त्रः, अर्चन्त्येनन)=इन हमारे मन्त्रों के द्वारा—सृष्टि के प्रारम्भ में वेदज्ञान के रूप में दिये गये इन मन्त्रों से तू **नः भव**=हमारा बन। प्रभुभक्त की सर्वोत्तम पहचान यही होनी चाहिए कि वह प्रभु की दी गई वाणी को पढ़ता हो। २. इस वाणी से ज्ञान प्राप्त करके तू **अर्वाङ्**=नीचा—नम्र बन। 'ब्रह्मणा अर्वाङ् विपश्यति' ज्ञान से मनुष्य नम्र बनता ही है। 'विद्या ददाति विनयम्'=विद्या विनय देती है। 'अहंभावोदयाभावो ज्ञानस्य परमावधिः' ज्ञान की चरम सीमा अहंकार का नितान्त अभाव ही है। मूर्ख ही सर्वज्ञता का गर्व करता है। ज्ञानी अपने ज्ञान की सीमा व अल्पता को समझता हुआ गर्वित नहीं होता। ३. **स्वः न ज्योतिः**=(स्वः आदित्यः—म०) इस नम्रता के परिणामस्वरूप सूर्य के समान देदीप्यमान तेरा ज्ञान हो, अथवा तू स्वर्ण के समान चमकते हुए ज्ञानवाला हो। ४. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **विश्वेभिः अनीकैः**=सम्पूर्ण तेजस्विताओं के साथ (अनीक=splendour, brilliance तेजस्) तू **सुमनाः**=उत्तम मनवाला हो, अर्थात् स्वस्थ तेजोमय शरीर में तू उत्तम स्वस्थ मनवाला बन।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए मन्त्र में पाँच बातों का संकेत है। १. वेद-मन्त्राध्ययन, २. नम्रता, ३. सूर्य के समान ज्ञान से दीप्त होना औरों को भी अपने जीवन से ज्ञान का प्रकाश प्राप्त कराना, ४. तेजस्विता और ५. सौमनस्य।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—विराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

होता 'अग्नि' का लक्षण

अग्निꣳहोतारं मन्ये दास्वन्तं वसुꣳसूनुꣳसहसो जातवेदसं विप्रं न जातवेदसम्। यऽऊर्ध्वया स्वध्वरो देवो देवाच्या कृपा। घृतस्य विभ्राष्टिमनु वष्टि शोचिषाऽऽजुह्वानस्य सर्पिषः ॥४७॥

१. **अग्निं मन्ये**=मैं उसको अग्नि=उन्नतिशील—अग्रेणी मानता हूँ जो **होतारम्**=(हु दानादनयोः) सदा दानपूर्वक अदन करता है, यज्ञशेष का ही सेवन करता है। **'केवलाघो भवति केवलादी'** इस बात को भूल नहीं जाता। **'त्यक्तेन भुञ्जीथाः'** इस आदेश का पालन करता है। २. **दास्वन्तम्**=दानवन्तम्=जिसके जीवन में दान की वृत्ति कभी उच्छिन्न नहीं होती। ३. **वसु**=(वसति, वासयति) जो स्वयं उत्तम निवासवाला होता हुआ औरों के भी उत्तम निवास का कारण बनता है। ४. विलासवृत्ति से बचे रहने के कारण **सहसः सूनुम्**=जो बल का पुत्र—शक्ति का पुञ्ज बनता है। ५. **जातवेदसम्**=जीवन-यात्रा के लिए (जातं वेदो यस्मात्, वेदा धनम्) उचित धन को उत्पन्न करनेवाला है। ६. धनोत्पादन के साथ ही **विप्रं न**=यह विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाले ब्राह्मण के समान है और इसने **जातवेदसम्**=अपने में ज्ञान का विकास किया है। और ७. **यः**=ज्ञान से दीप्त जो **देवः**=दिव्य गुणोंवाला अग्निपुरुष **ऊर्ध्वया**=उत्कृष्ट, अर्थात् सात्त्विक **देवाच्या**=देवों की ओर ले-जानेवाले (देवान् अञ्चति) **कृपा**=सामर्थ्य से (कृपू सामर्थ्ये) **स्वध्वरः**=सदा उत्तम अहिंसात्मक कर्मों को करनेवाला होता है। दिव्य गुणोंवाला तथा शक्ति-सम्पन्न बनकर यह शक्ति का प्रयोग हिंसा में नहीं करता। इसकी शक्ति इसे देव बनाती है न कि असुर। ८. **आजुह्वानस्य**=(आहूयमानस्य—उ०) शरीर की वैश्वानर अग्नि में आहुति दिये जाते हुए, दानपूर्वक अदन किये जाते हुए, **सर्पिषः**=घृत की **शोचिषा**=दीप्ति से, अर्थात् 'घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व' इस वेदोपदेश के अनुसार घृत के उचित प्रयोग से शरीर को कान्ति-सम्पन्न बनाने से **घृतस्य**=मन की मलिनताओं के विनाश (क्षरण) तथा ज्ञान की दीप्ति की (घृ क्षरणदीप्तयोः) **विभ्राष्टिम् अनुवष्टि**=विशिष्ट चमक के बाद यह अग्नि प्रभु को प्राप्त करने की कामना करता है।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए निम्न बातें चाहिएँ—१. होता व दानशील बनना। २. उत्तम निवासवाला व शक्ति का पुञ्ज बनना। ३. उचित धनार्जन व खूब ज्ञानार्जन करना। ४. शक्तिशाली व देव बनकर अहिंसात्मक कर्मों में प्रवृत्त होना। ५. घृत प्रयोग से शरीर को स्वस्थ बनाना और ज्ञान-दीप्ति से प्रभु-दर्शन की कामना करना।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—स्वराड्ब्राह्मीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

अग्नि की अग्नि से प्रार्थना, He knocks

अग्ने त्वं नोऽअन्तमऽउत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः।
वसुरग्निर्वसुश्रवाऽअच्छा नक्षि द्युमत्तमः रयिन्दाः।
तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनमीमहे सखिभ्यः॥४८॥

१. गत मन्त्र का अग्नि=प्रगतिशील जीव प्रभु से प्रार्थना करता है कि **अग्ने**=हे अग्रेणी प्रभो! **त्वं नः अन्तमः**=आप ही हमारे अन्तिकतम मित्र हो। सभी साथ छोड़ जाएँ तो भी आप सदा साथ होते हो। मैं आपका मित्र बनूँ या न बनूँ आप तो मेरे मित्र हो ही। २. **उत**=और **त्राता**=आप ही रक्षक हो। उचित अन्नादि प्राप्त कराके आप ही मेरा त्राण करते हो। ३. **शिवः**=आप सदा मेरा कल्याण करते हो। ४. **वरूथ्यः**=आप मेरे उत्तम आच्छादन (cover) **भव**=हो। 'अमृतोपस्तरणं, अमृतापिधानम्'=आप अमृत उपस्तरण व अपिधान हो। आपको अपना आवरण पाकर ही तो मैं 'सत्य, यश व श्री' को प्राप्त किया करता हूँ। ५. **वसुः**=इस प्रकार आप मेरे निवास के कारण हो। वस्तुतः मैं आपमें ही निवास पाता हूँ। ६. **अग्निः**=आप सब प्रकार से मुझे आगे ले-चलते हो। ७. आप **वसुश्रवाः**=निवास के

लिए आवश्यक धनों के देनेवाले हो। (श्रव:=धन—नि० २।२०) आप ही निवास के लिए आवश्यक अन्नों को देते हो (श्रव:=अन्न—नि० १०।३) ८. **अच्छ**=आप सदा मेरी ओर आते हो, आते ही नहीं **नक्षि**=(knock at) मेरे द्वार को खटखटाते भी हो, परन्तु मैं अभागा उस ब्राह्ममुहूर्त में सोया ही रह जाता हूँ और आपके लिए द्वार को खोलता नहीं। बाइबल तो कहती है कि 'knock and it will be opened to you' पर वेद कहता है कि 'He knocks, be wise to open it.' परमात्मा द्वार खटखटाता है, ज़रा जाग और खोल। ९. वे परमात्मा **द्युमत्तमं रयिन्दा:**=अधिक-से-अधिक ज्योतिर्मय धन देंगे। धन देंगे, साथ ही वे ज्ञान भी प्राप्त कराएँगे। १०. हे प्रभो! **तम्**=उस **त्वा**=आपको जो आप **शोचिष्ठ**=अतिशयेन तेजस्वी हैं, **दीदिव:**=(ये दीदयन्ति ते दीदया: प्रकाशास्ते बहवो विद्यन्ते यस्मिन्—द०) अतिशयेन ज्ञान की दीप्तिवाले हैं, उन आपको **नूनम्**=निश्चय से **सखिभ्य:**=सब मित्रों के लिए नकि केवल अपने **सुम्नाय**=सुख के लिए **ईमहे**=याचना करते हैं। सुख की प्रार्थना केवल अपने लिए नहीं करनी, घर में रहनेवाले पत्नी, पुत्री, भाई आदि सबके लिए यह प्रार्थना करनी है।

भावार्थ—वे प्रभु हमारे अत्यन्त समीप हैं। वे हमारी रक्षा करते हैं, हमारे घरों पर आते हैं और यदि हम द्वार खोलें तो ज्ञानयुक्त धन देते हैं।

ऋषि:—परमेष्ठी। **देवता**—अग्नि:। **छन्द:**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वर:**—धैवत:॥

तप

येनऽऋषयस्तपसा सत्रमायन्निन्धानाऽअग्निꣳस्वराभरन्त:।
तस्मिन्नहं निदधे नाकेऽअग्निं यमाहुर्मनव स्तीर्णबर्हिषम्॥४९॥

१. **येन**=जिस **तपसा**=धर्मानुष्ठान से (द०) या चित्त की एकाग्रता से (मनसश्चेन्द्रियाणां च एकाग्र्यं परमं तप:—म०) **ऋषय:**=तत्त्वद्रष्टा लोग **सत्रम्**=(सत्रा सत्यं विद्यते यस्मिन् विज्ञाने—द०) सत्य ज्ञान को **आयन्**=प्राप्त होते हैं। २. और जिस तप से **अग्निं इन्धाना:**=प्रतिदिन अग्निकुण्ड में अग्नि का समिन्धन करते हैं। ३. जिस तप से **स्व: आभरन्त:**=स्वर्गलोक को स्वीकार करनेवाले होते हैं। ४. **तस्मिन्**=उस तप के होने पर **नाके**=मोक्षसुख के निमित्त मैं **अग्निम्**=उस—सब साधकों की उन्नति के साधक प्रभु को **निदधे**=स्थापित करता हूँ। उस प्रभु को स्थापित करता हूँ **यम्**=जिसको **मनव:**=ज्ञानी लोग **स्तीर्णबर्हिषम्**=आच्छादित किया है हृदयान्तरिक्ष को जिसने, ऐसा **आहु:**=कहते हैं। (तस्मिन् तपसि सति स्वर्गलोकनिमित्तं अग्निमहं स्थापयामि—म०) ५. 'प्रभु स्तीर्णबर्हिषम्' हैं जब हमारा हृदय उस प्रभु से आच्छादित होता है तब इस हृदय में 'सत्य, यश व श्री' का ही निवास होता है, इसमें आसुर भावनाएँ प्रवेश नहीं कर पातीं। 'अमृतोपस्तरणम्-अमृतापिधानम्' के बाद 'सत्य, यश:, श्री:' आते हैं। उस अमृत प्रभु से आच्छादित—पूर्ण रूप से सुरक्षित हृदय में अशुभ भावनाएँ आ ही कैसे सकती हैं? ६. इस प्रभु की प्राप्ति उस तप के द्वारा ही होती है जिस तप से ऋषि सत्यज्ञान को प्राप्त करते हैं, जिस तप से नियमित रूप से अग्निहोत्र होता है और जिस तप से सुख का आभरण होता है।

भावार्थ—तप से ज्ञान, यज्ञ व सुख की प्राप्ति होती है। यही तप परमात्मा-प्राप्ति का साधन बनता है, उस परमात्मा की प्राप्ति का जो हृदय को आच्छादित करके आसुर वृत्तियों से बचाता है।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

प्रभु चरणों में (सब मिलकर)

तं पत्नी॑भि॒रनु॑ गच्छेम देवाः पु॒त्रैर्भ्रातृ॑भिरु॒त वा॒ हिर॑ण्यैः।
नाकं॑ गृभ्णा॒नाः सु॑कृ॒तस्य॑ लो॒के तृ॒तीये॑ पृ॒ष्ठेऽअधि॑ रोच॒ने दि॒वः॥५०॥

१. **देवाः**=देव बनकर, अर्थात् संसार को क्रीड़ा-स्थल समझते हुए, कामादि को जीतने की कामना करते हुए, संसार से न भागकर अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए, ज्ञान से चमकते हुए, प्रभु का स्तवन करते हुए, सदा प्रसन्न रहते हुए, एक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मस्त बने हुए, ऊँचे-से-ऊँचे स्वप्न लेनेवाले बनकर, उन स्वप्नों को क्रियान्वित करने की इच्छावाले और सतत गतिशील हम २. **पत्नीभिः**=पत्नियों **पुत्रैः भ्रातृभिः**=पुत्रों व भाइयों के साथ तथा **हिरण्यैः**=अपने धनों के साथ **तम्**=उस प्रभु के **अनुगच्छेम**=पीछे जाएँ, उसके अनुयायी बनें। सब मिलकर उस प्रभु के चरणों में उपस्थित हों और अपने धनों को उसके चरणों में अर्पित करें। ३. यहाँ 'भ्रातृभिः तथा पत्नीभिः' शब्द सम्मिलित परिवार (joint family) का संकेत करता है। अलग-अलग भी रहते हों तो समीप रहने से प्रार्थना के समय हम एकचित हो सकते हैं। 'हिरण्यैः' शब्द की भावना स्पष्ट है कि हम अर्जित धनों को 'अपना' न समझ 'प्रभु का दिया हुआ' ही समझें। वस्तुतः प्रभु ही हमारे लिए धनों का विजय करते हैं। ४. इस प्रकार (क) देव बनकर (ख) सम्मिलित प्रभु-उपासना से और (ग) धनों को उस प्रभु का ही दिया हुआ समझने से हम **नाकं**=मोक्षलोक का, दुःख के लेश से भी रहित सुखमय स्थिति का **गृभ्णानाः**=ग्रहण करनेवाले हों। ५. जो सुखमय स्थिति **सुकृतस्य लोके**=पुण्यकर्मों से अर्जित लोक में होती है, अर्थात् जिसकी प्राप्ति पुण्यकर्मों से होती है। **तृतीये पृष्ठे**=जो सुखमय स्थिति इस पृथिवी-पृष्ठ व अन्तरिक्ष-पृष्ठ से ऊपर उठकर तृतीय पृष्ठ में है। **दिवः अधिरोचने**=जो सुखमय स्थिति आधिक्येन दीप्यमान द्युलोक के पृष्ठ पर है। ६. इस सुखमयलोक की कामना ही '**पृष्ठात् पृथिव्या अहमन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुहम्। दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम्**'—इस मन्त्र में इस प्रकार की गई है कि मैं पृथिवी के पृष्ठ से अन्तरिक्ष में आरूढ़ होऊँ, अन्तरिक्ष से द्युलोक में आरूढ़ होऊँ और सुखमयलोक के पृष्ठभूत इस द्युलोक से भी ऊपर उठकर मैं स्वयं देदीप्यमान ज्योति प्रभु को प्राप्त करूँ। ७. पृथिवीलोक का विजय पहला क़दम है, इसके लिए साधन विज्ञान व मधुर भाषण हैं। अन्तरिक्षलोक का विजय दूसरा क़दम है, इसके विजय के लिए साधन यज्ञात्मक कर्म हैं। द्युलोक का विजय तीसरा क़दम है, इस विजय के लिए मुख्य साधन उपासना है। एवं, यह सुखमयलोक क्रमशः 'विज्ञान, मधुर-भाषण, यज्ञ व उपासनादि' उत्तम सुकृत कर्मों से ही प्राप्य है। इस सुख में भी आसक्ति न होने पर चौथा क़दम रक्खा जाता है, हम चतुष्पात् बनते हैं (सोऽयमात्मा चतुष्पात्) और प्रभु को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—घर के सब व्यक्ति मिलकर प्रभु की उपासना करें। अपने धनों को प्रभु-चरणों में अर्पित करें और सुकृतों के द्वारा देदीप्यमान सुखमय स्थिति का लाभ करें।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

सत्पतिः, वाचः मध्यम्

आ वा॒चो मध्य॑मरुहद् भुर॒ण्युर॒यम॒ग्निः सत्प॑तिश्चेकि॑तानः।
पृ॒ष्ठे पृ॑थि॒व्या निहि॑तो॒ दवि॑द्युतदधस्प॒दं कृ॑णु॒तां ये पृ॑त॒न्यवः॥५१॥

१. **अयं अग्निः**=यह प्रगतिशील विद्वान् (द०) **वाचः मध्यम् अरुहत्**=वाणी के मध्य में अपने आसन पर आरोहण करता है, अर्थात् अपने स्वाध्याय (Study) के कमरे में इसके चारों ओर वाङ्मय-ही-वाङ्मय होता है, बीच में यह बैठा होता है। यह ज्ञान का ही केन्द्र बनने का प्रयत्न करता है, ज्ञान में ही विचरण करता है। २. परन्तु **भुरण्युः**=यह भरणशील भी बनता है। अपने ज्ञान के रसास्वाद में यह इतना आसक्त नहीं हो जाता कि लोकहित करना ही भूल जाए। ३. **सत्पतिः**=अपने जीवन में 'सत्' की रक्षा करता है। यह 'उत्तम कर्मों को', 'उत्तम भावना' से तथा 'उत्तम प्रकार' से करनेवाला बनता है। ४. **चेकितानः**=यह सदा चेतनायुक्त होता है, संसार में समझदारी से चलता है। ५. **पृष्ठे पृथिव्याः निहितः**=यह पृथिवी के पृष्ठ पर स्थित होता है। पृथिवी=शरीरम्। शरीररूप रथ पर यह आरूढ़ होता है। इसका शरीर इसके वश में होता है, यह स्वस्थ होता है। ६. **दविद्युतत्**=ज्ञान की दीप्ति से यह अत्यन्त देदीप्यमान होता है। ७. और **ये**=जो काम, क्रोध, लोभ आदि पाप-वृत्तियाँ **पृतन्यवः**=इसके साथ युद्ध की इच्छावाली होती हैं, अर्थात् इसपर आक्रमण करती हैं, उन्हें यह **अधस्पदं कृणुताम्**=पाँवों तले कुचल डाले।

भावार्थ—अग्नि 'ज्ञानी बनता है, औरों के भरण का भी ध्यान करता है' सत्कर्मों का रक्षक व समझदार बनता है। यह शरीर को पूर्ण स्वस्थ करके ज्ञान-दीप्त होता है और वासनाओं को कुचल डालता है।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

वीरतमः

अयमग्निर्वीरतमो वयोधाः सहस्रियो द्योततामप्रयुच्छन्।
विभ्राजमानः सरिरस्य मध्यऽउप प्र याहि दिव्यानि धाम॥५२॥

१. पिछले मन्त्र के अन्तिम वाक्य के अनुसार शत्रुओं को पाँव तले कुचल डालनेवाला **अयम् अग्निः**=यह शत्रुदाहक प्रगतिशील व्यक्ति **वीरतमः**=सर्वोत्तम वीर है। जिसने बाह्य शत्रुओं को जीता वह 'वीर' है। जिसने अपनों को जीता तथा भौतिक कष्टों को जीता वह 'वीरतर' है। कामादि अन्तःशत्रुओं का विजेता यह 'वीरतम' है। २. **वयोधाः**=वस्तुतः जीवन का धारण तो इसी ने किया है, वासनाओं से ऊपर उठा हुआ जीवन ही तो जीवन है। वासनामय जीवन भी कोई जीवन है? ३. यह सदा **सहस्रियः**=आमोद के साथ रहनेवाला है, सदा प्रसन्न रहता है (स+हस)। हास्य सदा इसके चेहरे पर स्थित होता है (always smiling)। ४. **द्योतताम्**=यह ज्ञान की ज्योति से चमकता है। ५. **अप्रयुच्छन्**=यह अपने कर्त्तव्यों में (अप्रमाद्यन्) कभी प्रमाद नहीं करता। ६. **सरिरस्य मध्ये**='इमे वै लोकाः सरिरम्'=पञ्चकोशों में अवस्थित हुआ-हुआ **विभ्राजमानः**=उस-उस कोश की शक्ति से चमकता है। ७. इस प्रकार के जीवनवाला अग्नि तू **दिव्यानि धाम**=(धामानि) दिव्य धामों को **उप प्रयाहि**=प्राप्त हो। (उप प्रयाहि स्वर्गलोकम्—श० ८।३।२।१) इस प्रकार के जीवनवाला बनकर ही तू स्वर्ग को, सुखमयलोक को प्राप्त होता है।

भावार्थ—कामादि शत्रु-विजेता अग्नि वीरतम है, उत्कृष्ट जीवनवाला है, प्रसन्न, ज्ञानी, अप्रमत्त है। इन कोशों में यह दीप्त जीवनवाला है और तभी स्वर्ग को प्राप्त करता है।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

तन्तु-सन्तान Rejuvenation

सम्प्रच्यवध्वमुप सम्प्रयाताग्ने पथो देवयानान् कृणुध्वम्।
पुनः कृणवाना पितरा युवानान्वाताꣳसीत् त्वयि तन्तुमेतम्॥५३॥

१. **सम्प्रच्यवध्वम्**=(सं गच्छध्वम्) तुम सब मिलकर चलो और मिलकर चलने के द्वारा २. **उप सम्प्रयात**=मेरे समीप आओ, मेरी उपासना करो। जो घर में मिलकर नहीं चल सकते, उन्हें प्रभु की उपासना का भी क्या अधिकार है? ३. हे **अग्ने**=दोषों का दहन करनेवाले विद्वन्! तुम सब **देवयानान् पथः कृणुध्वम्**=देवयान मार्गों को करो, अर्थात् देवयान मार्ग से चलनेवाले बनो। देवताओं के मार्ग को अपनाओ। ४. **पितरा युवाना कृणवाना**=माता-पिता को अपने उत्तम कर्मों से फिर से युवा करने के हेतु वे अग्नि में यज्ञ करते हैं। **पुनः**=फिर-फिर **पितरा**=(वाक् चैव मनश्च पितरा युवाना—श० ८।६।३।२२) पालक होने से 'पितृ' शब्दवाच्य वाणी और मन को **युवाना**=(तरुणौ अयातयामौ अथवा अन्योन्यसंगतौ—म०) तरुण—अक्षीणशक्ति तथा परस्पर सम्बद्ध **कृणवाना**=करते हुए। ५. हे अग्ने! **त्वयि**=तुझमें **एतं तन्तुम्**=इस यज्ञ को **अन्वातांसीत्**=(अतानिषुः अनुक्रमेण विस्तारितवन्तः—म०) विस्तृत करते हैं, अर्थात् वाणी और मन के द्वारा यज्ञों को सिद्ध करते हैं। यज्ञों में लगे हुए वाणी और मन संयत रहते हैं—क्षीणशक्ति नहीं होते।

भावार्थ—हम मिलकर चलें, प्रभु के उपासक बनें, देवताओं के मार्ग पर चलें। वाणी व मन को संस्कृत करके यज्ञों का विस्तार करें। यज्ञों में लगे हुए वाणी और मन परिष्कृत बने रहते हैं।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

इष्टापूर्त

उद् बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि त्वमिष्टापूर्ते सꣳसृजेथामयं च।
अस्मिन्त्सधस्थेऽअध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत॥५४॥

१. गत मन्त्र की समाप्ति यज्ञ का विस्तार करने पर हुई थी। उसी यज्ञ का वर्णन करते हुए कहते हैं कि **अग्ने**=हे अग्ने! तू **उद्बुध्यस्व**=उद्बुद्ध हो। उद्बुद्ध अग्नि ही तो हमारे घृत व सामग्री आदि पदार्थों को देवों में ले-जाएगी। २. **त्वं प्रतिजागृहि**=तू प्रत्येक घर में जागरित हो। वैदिक राष्ट्र में कोई घर ऐसा नहीं होता जहाँ अग्निहोत्र न होता हो। अग्निकुण्ड में भी दाएँ-बाएँ, पूर्व-पश्चिम व मध्य सर्वत्र अग्नि प्रज्वलित हो जाए और सामग्री को छिन्न-भिन्न करके सर्वत्र विस्तृत करने के लिए उद्यत हो जाए। ३. हे अग्ने! **त्वम्**=तू **अयं च**=और यह यजमान दोनों मिलकर **इष्टापूर्ते**=इष्ट और आपूर्त को **सृजेथाम्**=सम्यक्तया करनेवाले होओ। यह यजमान 'इष्ट को करे', अर्थात् तेरे साथ घृत व हव्य का सम्पर्क करे। (यज्=सङ्गतीकरण) और तू उस घृत व हव्य को सूक्ष्म कणों में विभक्त करके 'आ-पूर्त'=चारों ओर सारे वायुमण्डल में भर दे। ४. **अस्मिन् सधस्थे**=इस यज्ञस्थल में जोकि घर के सब व्यक्तियों का सधस्थ है, मिलकर बैठने का स्थान है तथा ५. **अध्युत्तरस्मिन्**=जोकि घर में सर्वोत्कृष्ट स्थान है। वेद में **हविर्धानमग्निशालं पत्नीनां**

सदनं सदः। सदो देवानामसि देवि शाले' इन शब्दों में घर में सर्वप्रथम स्थान **'हविर्धान'**=अग्निहोत्र के कमरे को ही दिया है। ६. इस सर्वोत्कृष्ट स्थान में **विश्वेदेवाः**=घर के सब छोटे-बड़े व मध्यम आयुष्यवाले देव-दिव्य प्रवृत्तियोंवाले व्यक्ति **यजमानः च**=और घर का सबसे बड़ा यज्ञशील पुरुष भी **सीदत**=मिलकर बैठें और प्रेम से प्रभु-प्रार्थना करते हुए इस यज्ञ को सिद्ध करें।

भावार्थ—घर-घर में अग्निहोत्र हो। अग्नि में डाले हुए घृतादि पदार्थों को अग्नि सारे आकाश में भर देता है। (pours=पूरयति)। इस आपूर्ति के द्वारा यह यज्ञाग्नि वायुमण्डल को तो शुद्ध करता ही है साथ ही ये घृतादि पदार्थ सूक्ष्म कणों में विभक्त होकर वृष्टिजल के बिन्दुओं का केन्द्र बनकर वृष्टि में भी सहायक होते हैं। यह बरसकर भूमि में होनेवाले अन्न-कणों का अंश बनते हैं और इस प्रकार फिर से हमें प्राप्त हो जाते हैं।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

देवेषु गन्तवे सहस्रं सर्ववेदसम्

येन वहसि सहस्रं येनाग्ने सर्ववेदसम्।
तेनेमं यज्ञं नो नय स्वर्देवेषु गन्तवे ॥५५॥

१. हे **अग्ने**=यज्ञाग्ने! तू **येन**=अपने जिस सामर्थ्य से हमारे दिये हुए घृतादि पदार्थों को **सहस्रं वहसि**=सहस्रगुणा करके प्राप्त कराता है और **येन**=अपने जिस सामर्थ्य से तू **सर्ववेदसम्**=सम्पूर्ण धनों को **वहसि**=प्राप्त कराता है। स्वास्थ्य व सौमनस्य के साथ उत्तम अन्नादि को प्राप्त कराता हुआ यह अग्नि हमें सब धनों को प्राप्त करने के योग्य करता है। २. **तेन**=अपने उसी 'सहस्र वहन' व 'सर्ववेदस् वहन' के सामर्थ्य से **नः इमं यज्ञम्**=हमारे इस यज्ञ को—यज्ञ में डाले गये पदार्थों को **स्वः**=आदित्य तक **नय**=ले-जा, जिससे **देवेषु गन्तवे**=ये पदार्थ देवों में जानेवाले हों, वायु आदि सारे देवों को प्राप्त हों। ये वायु आदि का मानो भोजन ही बन जाए। ३. मनु के अनुसार—**'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते'**=अग्नि में विधिवत् डाली हुई आहुति सूर्य तक पहुँचती है और इस प्रकार पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक के सब देवों में पहुँच जाती है। देव मानो इस अग्निरूप मुख से इन घृतादि पदार्थों को खानेवाले बनते हैं। ४. पिछले मन्त्रभाग का अर्थ इस रूप में भी हो सकता है कि हे अग्ने! क्योंकि तू इसहवि को सहस्रगुणा करके इन सम्पूर्ण धनों को ही हमें प्राप्त करानेवाला है **तेन**=अतः **नः देवेषु**=हमारे देववृत्तिवाले—समझदार पुरुषों में **इमं यज्ञं नय**=इस यज्ञ को प्राप्त करा, वे सब इस यज्ञ को करनेवाले हों, जिससे **स्वः गन्तवे**=सुखमय स्थिति में पहुँच सकें। 'स्वर्गकामो यजेत'=यज्ञ से स्वर्ग मिलता है, अतः इन यज्ञों से हमारे घर स्वर्ग बन जाएँ। ५. **'येन वहसि सहस्रम्'** इस मन्त्रभाग के भाव से ही कालिदास ने 'सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः' ये शब्द लिखे हैं कि सूर्य जल को लेता है पर सहस्रगुणित-सा करके उसे फिर इस भूमि पर बरसा देता है। इसी प्रकार यह यज्ञाग्नि भी हमारे घृतादि पदार्थों को लेती है और सहस्रगुणित करके हमें लौटा देती है। सारे वायुमण्डल को शुद्ध करके और हमें स्वास्थ्य व सौमनस्य देकर यह सम्पूर्ण धनों का कारण बनती है।

भावार्थ—यज्ञाग्नि में डाले गये पदार्थ सहस्रगुणित होकर हमें फिर प्राप्त हो जाते हैं। ये हमारी सुखमय स्थिति का कारण हैं।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

रयि-वर्धन

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातोऽअरोचथाः।
तं जानन्नग्नऽआ रोहाथा नो वर्धया रयिम्॥५६॥

१. पिछले मन्त्र की ही भावना को कि 'हममें यज्ञों का प्रणयन हो', घर-घर में यज्ञ हों, प्रस्तुत मन्त्र में इस प्रकार कहते हैं कि हे **अग्ने! अयं ते योनिः**=यह घर तो तेरा ही है। यह हमारा घर न होकर तेरा ही है। २. तू यहाँ **'ऋत्वियः'**=(ऋतौ-ऋतौ प्राप्तः) समय-समय पर प्राप्त होता है। तू यहाँ प्रातः-सायं सदा अग्निकुण्ड में उद्बुद्ध होता है। **यतः**=क्योंकि **जातः**=उत्पन्न हुआ-हुआ तू **अरोचथाः**=(रोचयसि) हम सबके जीवनों को दीप्त करनेवाला होता है। जिस घर में भी तेरा प्रणयन होता है, वहाँ तू सब गृहवासियों को सौमनस्य देनेवाला होता है। उनके जीवन को तू रोचक व आनन्दयुक्त कर देता है। ३. **तं जानन्**=अपने उस घर को जानता हुआ, अर्थात् घर की रक्षा को न भूलता हुआ तू **आरोह**=(पुनरुद्धरणाय प्रविश—म०) सबके उद्धार के लिए यहाँ प्रवेश कर। इस घर में तेरा स्थान सर्वोपरि हो। तू ही तो सब घरवालों का रक्षक है। ४. **अथ**=और अब हमें स्वस्थ व सुमनस् बनाकर **नः**=हमारे **रयिम्**=धन को **वर्धय**=बढ़ा। अग्नि हमारी सम्पत्ति को कम न करके बढ़ाता ही है। यह समझना कि 'पचास ग्राम घी जल गया' ठीक नहीं। वह घृत सूक्ष्म कणों में विभक्त होकर सर्वत्र फैल गया है, वह वायु में रोगकृमियों का नाशक बनता है, यही अग्नि का 'रक्षो-दहन' है। अग्नि हमें स्वस्थ बनाता है। ठीक समय पर वृष्टि आदि का कारण बनकर प्रचुर मात्रा में पौष्टिक अन्नों के उत्पादन का कारण बनता है। इस प्रकार हमारे धनों की वृद्धि का हेतु होता है। दवाइयों के व्यय को भी समाप्त करके हमारे धनों का रक्षक बनता है।

भावार्थ—हमारा घर यज्ञाग्नि का ही घर हो जाए—'यज्ञभवन' बन जाए। यह अग्नि हमारे स्वास्थ्य आदि का रक्षक और हमारे धनों का वर्धन करनेवाला हो।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—शिशिरर्तुः। छन्दः—स्वराडुत्कृतिः। स्वरः—षड्जः॥

तप+तपस्य=शैशिरौ ऋतू

तपश्च तपस्यश्च शैशिरावृतूऽअग्नेरन्तःश्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामापऽओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ् मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः। येऽअग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवीऽइमे। शैशिरावृतूऽअभिकल्पमानाऽइन्द्रमिव देवाऽअभिसंविशन्तु तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम्॥५७॥

१. पति-पत्नी को चाहिए कि वे **तपः च**=(तप दीप्तौ) ज्ञान से दीप्त होने का प्रयत्न करें। जैसे सूर्यः तपति=सूर्य अपने प्रकाश से चमकता है, इसी प्रकार ये ज्ञान की दीप्ति से चमकनेवाले हों। २. **तपस्यः च** (तपसि साधुः)=उत्तम तपस्यावाले हों। उत्तम तपस्या वही है जो शरीर को पीड़ित न करके की गई है। 'ब्रह्मचर्य' शारीरिक तप है तो 'मधुर भाषण' वाणी का तथा 'मनःप्रसाद' मन का। इन तपों में वे अग्रणी बनने का प्रयत्न करें। ३. **शैशिरौ** (शश प्लुतगतौ)=ये दोनों द्रुत गतिवाले हों। इनका जीवन क्रियाशील व स्फूर्तिमय हो। **ऋतू**=ये बड़ी नियमित गतिवाले हों। ऋतुओं के आने की भाँति ये अपने सब कार्यों को

समय पर करनेवाले हों। ४. **अग्नेः**=उस प्रभु का **अन्तः श्लेषः असि**=हृदयदेश में आलिङ्गन करनेवाला तू बनता है। ५. **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्क व शरीर दोनों ही **कल्पेताम्**=सामर्थ्यवाले हों। ६. इसके लिए **आपः**=जल तथा **ओषधयः**=ओषधियाँ **कल्पन्ताम्**=हमें शक्तिशाली बनाएँ। जलों व ओषधियों का सेवन हमारे मस्तिष्क व शरीर को उत्तम व सशक्त बनाता है। ७. **अग्नयः**=माता-पिता व आचार्यरूप अग्नियाँ **मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः**=मेरी ज्येष्ठता के लिए समानरूप से व्रत धारण किये हुए **पृथक्**=अलग-अलग, क्रमशः पाँच, आठ व चौबीस वर्ष तक **कल्पन्ताम्**=मेरे जीवन को सामर्थ्य-सम्पन्न करने में लगे रहें। ८. मेरे 'माता-पिता व आचार्य' ही क्या, **ये अग्नयः**=जो भी अग्नियाँ **इमे**=इन **द्यावापृथिवी अन्तरा**=द्युलोक व पृथिवीलोक के बीच में है, वे सब **समनसः**=समान मनवाली हों। सबका एक ही ध्येय हो कि आनेवाली पीढ़ी के जीवन को ज्येष्ठता तक पहुँचाना है। ९. इस प्रकार इन कर्मों से जिनके जीवन का निर्माण किया गया है वे **शैशिरौ ऋतू**=द्रुत गतिवाले तथा बड़ी नियमित गतिवाले होते हैं। १०. **अभिकल्पमानाः**=ये शारीरिक व बौद्धिक दोनों ही सामर्थ्यों का सम्पादन करते हैं। **इन्द्रम् इव**=इन्द्र के समान बनते हैं, इन्द्रियों के अधिष्ठाता होते हैं। तभी तो **देवाः**=सब दिव्य गुण **अभिसंविशन्तु**=इन्हें प्राप्त होते हैं। ११. इन पति-पत्नी से कहते हैं कि **तया देवतया** =उस देवाधिदेव परमात्मा के साथ, अर्थात् उसकी उपासना करते हुए **अङ्गिरस्वत्**=एक-एक अङ्ग में रसवाले बनकर, अर्थात् शक्ति से परिपूर्ण होकर **ध्रुवे सीदतम्**=इस घर में ध्रुव होकर रहो।

भावार्थ—पति-पत्नी ज्ञान से चमकें, उत्तम तपस्वी हों। तीव्र गतिवाले, अर्थात् सदा क्रियाशील और बड़ी नियमित गतिवाले हों।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—विदुषी। **छन्दः**—ब्राह्मीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

दिवः पृष्ठे ज्योतिष्मती

परमेष्ठी त्वा सादयतु दिवस्पृष्ठे ज्योतिष्मतीम्। विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानाय विश्वं ज्योतिर्यच्छ। सूर्यस्तेऽधिपतिस्तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ॥५८॥

१. हे पत्नि! **परमेष्ठी**=परम स्थान में स्थित प्रभु **त्वा**=तुझे **दिवः पृष्ठे**=ज्ञान के पृष्ठ पर **सादयतु**=बिठाए, अर्थात् प्रभु की कृपा से तू ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञानवाली हो। **ज्योतिष्मतीम्**=प्रभु तेरे जीवन को ज्योतिर्मय करें। २. **विश्वस्मै प्राणाय अपानाय व्यानाय**=घर में तू सबके प्राण, अपान और व्यान को ठीक रखनेवाली हो। भोजनादि की उत्तम व्यवस्था से सबको नीरोग रखना पत्नी का ही कर्त्तव्य है। ३. **विश्वं ज्योतिः यच्छ**=तू सबको ज्योति प्राप्त करानेवाली हो। स्वयं ज्योतिर्मय बनकर यह औरों को भी ज्ञान की ज्योति देनेवाली हो। प्रारम्भ में माता ने ही सब सन्तानों को ज्योति प्राप्त करानी है। ४. **सूर्यः ते अधिपतिः**=(सरति इति सूर्यः) निरन्तर क्रियाशील व्यक्ति ही तेरा उत्कृष्ट पति हो, अर्थात् पति का जीवन सतत क्रियाशील हो। ऐसा ही व्यक्ति गृहस्थ-सञ्चालन के लिए सम्पत्ति को कमानेवाला होता है तथा अपवित्रता को भी उत्पन्न नहीं होने देता। ५. **तया देवतया**=इस देवतुल्य अपने उत्कृष्ट (अधि-पति) पति के साथ **अङ्गिरस्वत्**=अङ्ग-अङ्ग में रसवाली होती हुई तू—संयम के द्वारा शक्तिशालिनी बनी हुई तू **ध्रुवा**=ध्रुव होकर **सीद**=इस घर में निषण्ण हो। घर में तेरी स्थिति स्थिर हो।

भावार्थ—पत्नी का जीवन ज्योतिर्मय हो। वह सबके स्वास्थ्य का ध्यान करे। सन्तानों

को उत्तम ज्ञान देनेवाली हो। पति सूर्य की भाँति सतत क्रियाशील होकर घर का उत्कृष्ट रक्षण करनेवाला बने।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—इन्द्राग्नी। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

इन्द्र, अग्नि व बृहस्पति

लोकं पृण छिद्रं पृणाथो सीद ध्रुवा त्वम्।
इन्द्राग्नी त्वा बृहस्पतिरस्मिन् योनावसीषदन्॥५९॥

१. पत्नी के लिए कहते हैं कि तू **लोकं पृण**=प्रकाश को (लोकं=आलोकं) **पृण** (पिपूर्धि—म०) भरनेवाली हो और इस प्रकार सबको (लोकं) सुखी कर (पृण)। २. **छिद्रं पृण**=घर के दोषों को फिर से ठीक कर देनेवाली हो, छिद्र को भर दे, दोषों को दूर कर दे। ३. **अथ उ**=और अब प्रकाश को भरने व दोषों को दूर करने के साथ **त्वम् ध्रुवा सीद**=तू ध्रुव होकर यहाँ घर में रह। ४. **इन्द्राग्नी**=इन्द्र और अग्नि तथा **बृहस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी **त्वा**=तुझे **अस्मिन् योनौ**=इस घर में **असीषदन्**=स्थापित करें—बिठाएँ, अर्थात् तेरे पति की तीन विशेषताएँ हों। (क) सर्वप्रथम वह 'इन्द्र' हो, जितेन्द्रिय हो। पति का असंयत जीवन पत्नी के जीवन पर एक ऐसा अशुभ प्रभाव उत्पन्न करेगा कि वह घर में ध्रुव होकर कभी न रह सकेगी। (ख) पति 'अग्नि' हो, उसके अन्दर गरमी व उत्साह हो। ऐसा ही पति घर की उन्नति का कारण बन सकता है और वही पत्नी के जीवन में उत्साह उत्पन्न करके उसे घर की उन्नति के कार्यों में व्यापृत रखनेवाला होता है। (ग) पति 'बृहस्पति हो, यह ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान का पति हो। ऐसा ही पति पत्नी से उचित आदर पा सकता है और पत्नी के हृदय में अपने लिए स्थान बना सकता है। इस पति के साथ ही पत्नी अपने सम्बन्ध का ध्यान करती हुई अपने को गौरवान्वित अनुभव करती है। असंयमी, उत्साहशून्य, मूर्ख पति पत्नी की स्थिरता का कारण नहीं बन सकता। 'इन्द्र' बनकर यह शरीर को सुन्दर बनाता है, 'अग्नि' बनकर मन को शक्तिशाली बनाता है, बृहस्पति बनकर यह मस्तिष्क को ज्ञानोज्ज्वल करता है। यही परमेष्ठी बनता है।

भावार्थ—पत्नी घर में अपने सौन्दर्य व ज्ञान से प्रकाश भर दे, दोषों को दूर करनेवाली हो, स्थिर वृत्तिवाली हो। पति 'जितेन्द्रिय, उत्साही तथा उत्कृष्ट ज्ञान-सम्पन्न' हो। ऐसा ही पति 'परमेष्ठी' कहला सकता है।

ऋषिः—प्रियमेधा। **देवता**—आपः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

सूद-दोहस

ताऽअस्य सूददोहसः सोमꣳश्रीणन्ति पृश्नयः।
जन्मन्देवानां विशस्त्रिष्वा रोचने दिवः॥६०॥

१. उल्लिखित मन्त्र में वर्णित प्रकार के **ताः**=वे व्यक्ति **अस्य**=इस प्रभु के होते हैं, दैवी वृत्तिवाले बनकर प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर चल रहे होते हैं। २. जो **सूददोहसः**=(षूद क्षरणे throw away, दुह प्रपूरणे) दोषों को दूर फेंकनेवाले तथा गुणों का अपने में पूरण करनेवाले होते हैं। ३. इसी उद्देश्य से ये **सोमं श्रीणन्ति**=अपने में वीर्यशक्ति का परिपाक करते हैं। इस शक्ति के परिपाक के लिए ही ये २४, ४४ व ४८ वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। ४. और **पृश्नयः**=ज्ञान की दीप्तियों का अपने से संस्पर्श करनेवाले होते हैं। (संस्पृष्टा भासाम्—नि०) ५. **देवानां जन्मन्**=ये देवों के जन्म में स्थित होते हैं, अर्थात् अपने

जीवन में अधिकाधिक दिव्य गुणों को उत्पन्न करनेवाले होते हैं। ६. **त्रिषु विशः**=कर्म-उपासना व ज्ञान में प्रवेशवाले होते हैं अथवा धर्मार्थकाम तीनों का समरूप से सेवन करनेवाले होते हैं। ७. **दिवः आरोचने**=ज्ञान की दीप्ति में पूर्णरूप से स्थित होते हैं। अपने जीवन को ज्ञानोज्ज्वल बनाते हैं। इनके व्यवहार में कहीं भी मूर्खता नहीं टपकती। इसी से इनका नाम ही 'प्रियमेधा'=(जिनको बुद्धि प्रिय है) हो जाता है।

भावार्थ—जो प्रभु के उपासक होते हैं वे १. अवगुणों को दूर करके गुणों का ग्रहण करते हैं। २. अपनी वीर्यशक्ति को संयमी जीवन से परिपक्व बनाते हैं। ३. ज्ञान-रश्मियों से सूर्य की भाँति चमकनेवाले बनते हैं। ४. दिव्य गुणों को धारण करके धर्मार्थकाम का समान रूप से सेवन करते हैं। ५. सदा ज्ञान के प्रकाश में रहते हैं।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

इन्द्र-वर्धन

इन्द्रं विश्वाऽअवीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः।
रथीतमꣳ रथीनां वाजानाꣳ सत्पतिं पतिम्॥६१॥

१. पिछले मन्त्र में 'प्रियमेधा' ने अपने ज्ञान का वर्धन किया। उस ज्ञान-वर्धन के प्रसङ्ग में उसे अनुभव हुआ कि ये **विश्वाः गिरः**=सब वेदवाणियाँ **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली, सर्वशक्तिमान् प्रभु का ही **अवीवृधन्** =वर्धन करती हैं। अन्ततोगत्वा सब वाणियाँ उस प्रभु में ही स्थित होती हैं। इस ब्रह्माण्ड के पदार्थों के वर्णन में भी उस कर्त्ता की रचना की कुशलता का उल्लेख होता है। २. उस प्रभु का ये वाणियाँ वर्णन करती हैं जो **समुद्रव्यचसम्**=(स+मुद्र) आनन्दमय तथा विस्तारवाले हैं। वस्तुतः विस्तार में ही आनन्द है—'यो वै भूमा तत्सुखम्'=विशालता ही सुख है। संकुचितता में निरानन्दता है। ३. उस प्रभु का वर्णन करती हैं जो **रथीतमं रथीनाम्**=रथवाहकों में सर्वोत्तम रथवाहक हैं। हम भी अपने शरीररूप रथ का वाहक उस प्रभु को बनाएँगे तो यात्रा को अवश्य निर्विघ्नरूप से पूरा कर पाएँगे। ४. वे प्रभु **वाजानाम्**=सब शक्तियों के **पतिम्**=पति हैं—सब शक्तियों के स्वामी हैं। उनके सम्पर्क में आकर मन्त्र का ऋषि 'मधुच्छन्दा' भी शक्तियों का पति बनता है। ५. वे प्रभु **सत्पतिम्**=सज्जनों के रक्षक हैं। सज्जन बनकर ही हम प्रभु की रक्षा के पात्र बन सकते हैं।

भावार्थ—'मधुच्छन्दा' प्रभु का स्मरण 'इन्द्र, समुद्रव्यचस्, रथीतम, वाजपति व सत्पति' इन शब्दों से करता हुआ चाहता है कि वह भी शक्तिमान् व ऐश्वर्यशाली बने, आनन्दमय व उदार हो, अपने शरीररूप रथ का सारथि उस प्रभु को बना पाये, शक्तियों का पति बनकर अपने में सत्य को प्रतिष्ठित करे।

ऋषिः—वसिष्ठः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

संवरण से ऊपर उठना

प्रोथदश्वो न यवसेऽविष्यन्यदा महः संवरणाद्व्यस्थात्।
आदस्य वातोऽअनु वाति शोचिरध स्म ते व्रजनं कृष्णमस्ति॥६२॥

१. पिछले मन्त्र में कहा था कि सब वाणियाँ उस प्रभु की महिमा का वर्धन करती हैं। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि मन्त्र का ऋषि **वसिष्ठ**='अपने जीवन को अत्यन्त उत्तम बनानेवाला' **प्रोथत्**=(प्रोथतिः शब्दार्थः—उ०) शब्दायते=वाणियों का उच्चारण करता है। वाणियों

का उच्चारण करता हुआ उनसे प्रेरणा प्राप्त करता है और उनके अनुसार अपना आचरण बनाता हुआ अपने जीवन को उच्च बनाता है। २. **अश्वः न**=यह अश्व के समान होता है। जैसे **अश्व**='अश्नुते अध्वानम्'=मार्ग का व्यापन करता है, इसी प्रकार यह भी अपने कर्त्तव्य-मार्ग पर आगे और आगे बढ़ता है, कभी आलस्य नहीं करता। ३. आलस्य न करने से ही यह **यवसे**=(यु मिश्रण-अमिश्रण) अपने जीवन में गुणों का मिश्रण व दोषों का अमिश्रण करने में समर्थ होता है। ४. **अविष्यन्**=वासनाओं के आक्रमण से अपने को बचाता हुआ यह **यदा**=जब **महः**=उस प्रभु की पूजा करनेवाला होता है (मह पूजायाम्) तब यह **संवरणात्**=ज्ञानादि को आवृत करनेवाली कामादि वासनाओं से **व्यस्थात्**= अलग होकर ठहरता है। वासनाओं को परे फेंककर उठ खड़ा होता है। ये वासनाएँ संवरण व वृत्र हैं, यह ज्ञान पर पर्दा डाले रहती हैं। प्रभु-पूजन आरम्भ होते ही ये भाग खड़ी होती हैं। महादेव के सामने कामदेव भस्म हो जाते हैं। ५. **आत्**=अब **वातः अस्य अनुवाति**=वायु इसके अनुकूल बहती है, अर्थात् सारा वातावरण इसके लिए उत्तम होता है। अथवा '**वातः**=प्राणः (वायुः प्राणो भूत्वा) वात का अभिप्राय प्राण से है। अब जब प्राण भी उसके अनुकूल होता है, अर्थात् प्राण-साधना करके यह प्राणों को भी अनुकूल कर लेता है 'प्राणापानौ समौ कृत्वा' प्राणापान की गति को सम कर लेता है तो **शोचिः**=यह दीप्त हो उठता है, इसका जीवन चमक जाता है। ६. हे वसिष्ठ! **अध स्म**=अब **ते व्रजनम्**=तेरी गति-चाल-ढाल **कृष्णम्**=(कर्षकम्-द०) बड़ी आकर्षक **अस्ति**=होती है। तेरा चरित्र बड़ा सुन्दर हो जाता है।

भावार्थ—वेदवाणियों का उच्चारण करते हुए जब हम उनके अनुसार आचरण करते हैं तब वासनाओं से बच जाते हैं। उपासक बनकर वृत्र को परे फेंक हम उठ खड़े होते हैं। प्राण-साधना करके अपने चरित्र को ऊँचा कर पाते हैं।

ऋषिः—वसिष्ठः। **देवता**—विदुषी। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

आयु-अवन् व समुद्र

आयोष्ट्वा सदने सादयाम्यवतश्छायायांᳪसमुद्रस्य हृदये।
रश्मीवतीं भास्वतीमा या द्यां भास्या पृथिवीमोर्वन्तरिक्षम्॥६३॥

१. पत्नी से कहते हैं कि **त्वा**=तुझे **आयोः**=(एति) गतिशील पुरुष के **सदने**=घर में **सादयामि**=स्थापित करते हैं। पति की प्रथम विशेषता यही है कि वह क्रियाशील हो, आलसी नहीं। २. **अवतः**=वासनाओं से अपना रक्षण करनेवाले पुरुष की **छायायाम्**=आश्रय में तुझे स्थापित करते हैं। वासनामय वृत्तिवाला पुरुष एकपत्नीव्रत न होकर गृहस्थ को नरक-सा बना देता है। विलास के कारण वह अपनी शक्ति को क्षीण करनेवाला होता है और पत्नी को भी रोगों का घर बना देता है। ३. **समुद्रस्य**=सदा आनन्दमय स्वभाववाले (स+मुद) पुरुष के **हृदये**=हृदय में तुझे स्थापित करते हैं। खिझनेवाला पति घर को सुखी नहीं बना पाता। आर्थिक दृष्टि से भी वह घर को उन्नत बनाने में समर्थ नहीं होता। संसार में आगे बढ़ने के लिए प्रसन्न मनोवृत्ति नितान्त आवश्यक है। प्रसन्न मनोवृत्तिवाला ही पत्नी से भी उचित प्रेम कर पाता है। ४. कैसी तुझको? जो तू **रश्मीवतीम्**=लगामवाली है, कर्मेन्द्रियों को मनरूप लगाम से काबू करके ही विषयों में विचरनेवाली है तथा **भास्वतीम्**=ज्ञानेन्द्रियों के उचित व्यापार से ज्ञान की दीप्तिवाली है। ५. **या**=जो तू **द्याम्**=अपने मस्तिष्करूप द्युलोक को **आभासि**=ज्ञान से खूब दीप्त कर लेती है और जो **पृथिवीम्**=

शरीररूप पृथिवीलोक को पूर्ण स्वास्थ्य से **आभासि**=तेजस्वी बनानेवाली है तथा **उरु अन्तरिक्षम्**=अपने विशाल हृदयान्तरिक्ष को **आभासि**=नैर्मल्य से चमका देती है।

भावार्थ—पति को गतिशील, वासनाओं से अपनी रक्षा करनेवाला व प्रसन्न स्वभाववाला होना है तथा पत्नी ने वश्येन्द्रिय व प्रकाशमय जीवनवाला बनकर मस्तिष्क, शरीर व हृदय तीनों को ही दीप्त करना है।

ऋषिः—वसिष्ठः। **देवता**—परमात्मा। **छन्दः**—आकृतिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

व्यचस्वती-प्रथस्वती

प॒र॒मे॒ष्ठी त्वा॑ सादयतु दि॒वस्पृ॒ष्ठे व्यच॑स्वतीं॒ प्रथ॑स्वतीं॒ दिवं॑ यच्छ॒ दिवं॑ दृꣳह॒ दिवं॒ मा हि॑ꣳसीः। विश्व॑स्मै प्रा॒णाया॑पा॒नाय॑ व्या॒नायो॑दा॒नाय॑ प्रति॒ष्ठायै॑ च॒रित्रा॑य। सूर्य॑स्त्वा॒भिपा॑तु म॒ह्या स्व॒स्त्या छ॒र्दिषा॒ शन्त॑मेन॒ तया॑ दे॒वत॑याऽङ्गिर॒स्वद् ध्रु॒वे सी॑दतम्॥६४॥

१. **परमेष्ठी**=परमस्थान में स्थित प्रभु **त्वा**=तुझे **दिवः पृष्ठे सादयतु**=(दिव् कान्ति) कमनीय गृहस्थ-व्यवहार के आधार में स्थापित करे। सारे गृहस्थ-व्यवहार को सुन्दर प्रकार से चलाती हुई तू सचमुच उत्तम गृहिणी बन। २. **व्यचस्वतीम्**=तू प्रशस्त विद्याओं का व्यापन=अध्ययन करनेवाली है, इसीलिए आयुर्वेदादि शास्त्रों को जानने से तू उचित आहार के प्रापण से घर में सभी को नीरोग रखने का कारण बनती है। ३. **प्रथस्वतीम्**=(बहु प्रथः प्रख्यातिः प्रशंसा विद्यते यस्यां ताम्) तू व्यवहार की कमनीयता व प्रशस्त विद्याध्ययन के कारण उत्तम प्रशंसावाली है। सब समाज में तेरी कीर्ति है। ४. **दिवं यच्छ**=तू अपने सन्तानों को ज्ञान का प्रकाश देनेवाली बन। **दिवं दृंह**=अपने ज्ञान को दृढ़ कर। **दिवं मा हिंसीः**=ज्ञान को नष्ट मत होने दे। ५. **विश्वस्मै प्राणाय**=समग्र जीवन के सुख के लिए **अपानाय**=दुःख निवृत्ति के लिए **व्यानाय**=नाना विद्याओं की व्याप्ति के लिए **उदानाय**=उत्तम बल के लिए **प्रतिष्ठायै**=सर्वत्र सत्कार की प्राप्ति के लिए और **चरित्राय**=सत्कर्मों के अनुष्ठान के लिए प्रभु ने तुझे इस गृह में स्थापित किया है। तूने गृहस्थ में रहते हुए सबकी प्राणापानव्यान व उदानशक्ति की वृद्धि का कारण बनना है। ६. **सूर्यः**=सूर्य के समान निरन्तर गतिशील जो तेरे पति हैं वे **त्वा अभिपातु**=तेरी रक्षा करें। किस प्रकार? सबसे प्रथम तो (क) **मह्या**=एक सुन्दर गौ के द्वारा। घर में सबके स्वास्थ्य व सात्त्विक मनोवृत्ति को पैदा करने में गोदुग्ध का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान निर्विवाद है। (ख) **स्वस्त्या**=स्वस्ति के द्वारा। कभी यह कहने का अवसर न आये कि 'अब तो इस घर की स्थिति ठीक नहीं'। घर सदा धन-धान्य से पूर्ण हो। (ग) **शन्तमेन छर्दिषा**=अधिक-से-अधिक शान्ति को देनेवाले घर से। घर का निर्माण इस प्रकार हो कि वहाँ सर्दियों में धूप का खूब प्रवेश हो और गर्मियों में धूप कम आये। घर में रहनेवालों के स्वास्थ्य पर किसी प्रकार का अवांछनीय (रद्दी) प्रभाव न हो। ७. इस घर में **तया देवतया**=उस प्रभु के सम्पर्क से **अङ्गिरस्वत्**=अङ्ग-अङ्ग में रसवाले होकर तुम **ध्रुवे सीदतम्**=ध्रुव होकर निवास करो।

भावार्थ—पत्नी प्रशस्त विद्याओं का अध्ययन-मनन करनेवाली तथा उत्तम प्रशंसावाली व विशाल हृदयवाली हो। वह सबके प्राणापान आदि का वर्धन करनेवाली हो। पति सूर्य के समान सदा गतिशील होकर घर का रक्षण करे। घर में गौ हो, समृद्धि हो तथा घर स्वयं अधिक-से-अधिक शान्ति देनेवाला हो। इस घर में पति-पत्नी प्रभु का उपासन करते हुए

अपनी शक्ति को अक्षीण रखते हुए ध्रुव होकर निवास करें।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—विद्वान्। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

साहस्र=सहस्रभक्त

सहस्रस्य प्रमासि सहस्रस्य प्रतिमासि सहस्रस्योन्मासि साहस्रोऽसि सहस्राय त्वा ॥६५॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति पर 'तया देवतया'='उस देवता के साथ, उस देवाधिदेव प्रभु के सम्पर्क में' ये शब्द थे। उन्हीं का व्याख्यान करते हुए कहते हैं कि तू **सहस्रस्य**=सदा आनन्दस्वरूप (स+हस्) उस परमात्मा का **प्रमा असि**=ज्ञान प्राप्त करनेवाला है। २. उसका ज्ञान प्राप्त करके **सहस्रस्य प्रतिमा असि**=तू उसकी प्रतिमा बना है। उस प्रभु का ही छोटा रूप बनने का तू प्रयत्न करता है। ३. उसका रूप बनने के लिए ही तू **सहस्रस्य**=उस सदा आनन्दमय परमात्मा का **उन्मा असि**=उत्तोलन करता है। उसके गुणों का चिन्तन करता हुआ उन गुणों को अपने में लेने का प्रयत्न करता है। ४. और वस्तुतः इस प्रकार होने से ही तू **साहस्रः**=उस सहस्र प्रभु का सच्चा भक्त **असि**=बनता है। भक्त तो वही है जो भक्तिभाजन के गुणों का उत्तोलन करके उन्हें अपने में धारण करे। ५. इस सहस्र के भक्त बने हुए **त्वा सहस्राय**=तुझे मैं उस सहस्र प्रभु को पाने के लिए नियुक्त करता हूँ, अर्थात् प्रभु-भक्त बनकर तू उस प्रभु को पानेवाला हो जाता है।

भावार्थ—हम आनन्दमय प्रभु का ज्ञान प्राप्त करें और प्रभु के अनुरूप बनने के लिए यत्नशील हों, प्रभु के गुणों का उत्तोलन करें और सच्चे प्रभु-भक्त बनकर प्रभु को पाने के पात्र बनें।

यहाँ पञ्चदशाध्याय की समाप्ति पर 'साहस्र' बनने का उल्लेख है। 'साहस्र' आनन्दमय प्रभु का भक्त है। यह साहस्र १६वें अध्याय में प्रभु का स्तवन करता हुआ कहता है कि—

॥ इति पञ्चदशोऽध्यायः सम्पूर्णः॥

षोडशोऽध्यायः

ऋषिः—परमेष्ठी वा कुत्सः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—आर्षीगायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

मन्यु-इषु-बाहू

नमस्ते रुद्र मन्यवऽउतो तऽइषवे नमः। बाहुभ्यामुत ते नमः॥१॥

१. हे **रुद्र**=(रुत् ज्ञानं राति ददाति) ज्ञान देनेवाले और ज्ञान देकर (रुत्=दुःखं द्रावयति) सब दुःखों को दूर करनेवाले प्रभो! **ते मन्यवे**=आपसे दिये जानेवाले ज्ञान के लिए **नमः**=हम नतमस्तक होते हैं। (क) विनीत को ही ज्ञान की प्राप्ति होती है और (ख) ज्ञान प्राप्त करके ही मनुष्य सब कष्टों से ऊपर उठता है। कष्टमात्र के लिए अविद्या, अज्ञान ही उर्वरा भूमि है। 'अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषाम्' (योगदर्शन)। २. **उत उ**=और अब निश्चय से **ते इषवे**=(इष् प्रेरणे) आपसे दी गई प्रेरणा का **नमः**=हम आदर करते हैं। आपसे वेदज्ञान में दी गई प्रेरणाएँ हमारे लिए कितनी उपयोगी हैं। अथर्व के प्रारम्भ में कहा गया 'वाचस्पति' शब्द 'वाणी व जिह्वा का पति बनना, इन्हें काबू में रखना' हमारे अनन्त कल्याण का कारण बन जाता है। जिह्वा के रस में न फँसकर परिमित भोजन करते हुए हम सब रोगों से ऊपर उठ जाते हैं और इस जिह्वा को वश में करके नपे-तुले परिमित शब्द बोलते हुए हम पारस्परिक कलहों में नहीं फँसते। आपकी एक-एक प्रेरणा हमारा अनन्त उपकार करनेवाली है। ३. **उत**=और **ते बाहुभ्याम्**=(बाहृ प्रयत्ने) आपके इन दोनों प्रयत्नों के लिए हम **नमः**=नतमस्तक होते हैं। आपने हमें 'ऋग्वेद' के द्वारा विज्ञान दिया तो अथर्व के द्वारा ज्ञान। विज्ञान ने हमें अभ्युदय के साधन के योग्य बनाया तो ज्ञान से निःश्रेयस का पथिक। इस प्रकार हमारे जीवनों में आपने 'प्रेय व श्रेय' दोनों का समन्वय कर दिया। प्रकृति से हमने ऐहलौकिक उन्नति का साधन किया तो आत्मतत्त्व से परलोक का। इस प्रकार आपकी कृपा से हमारे जीवन में धर्म का उदय हुआ **'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'**। धर्म अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों को ही सिद्ध करता है। धर्म के शिखर पर पहुँचनेवाला यह सचमुच 'परमेष्ठी' प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि बनता है।

भावार्थ—प्रभु से दिये जानेवाले ज्ञान के लिए, उस ज्ञान द्वारा दी जानेवाली प्रेरणाओं, और उन प्रेरणाओं से सिद्ध होनेवाले अभ्युदय व निःश्रेयस के लिए हम नतमस्तक होते हैं।

ऋषिः—परमेष्ठी वा कुत्सः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—स्वराडार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

गिरिशन्त

या ते रुद्र शिवा तनूरघोराऽपापकाशिनी।
तया नस्तन्वा शन्तमया गिरिशन्ताभि चाकशीहि॥२॥

१. गत मन्त्र के ज्ञान का ही उल्लेख करते हुए कहते हैं कि हे **रुद्र**=ज्ञान देकर दुःखों का द्रावण करनेवाले प्रभो! **या**=जो **ते**=आपकी **तनूः**=सत्योपेदेशनीति (द०)=सत्योपदेश का मार्ग है वह (क) **शिवा**=अभ्युदय व निःश्रेयस के साधन से सचमुच हमारा कल्याण

करनेवाला है। (ख) **अघोरा**=हमारे जीवनों को विषयशून्य व सौम्य बनानेवाला है। (ग) यह सत्योपदेशनीति **अपापकाशिनी**=अपापों को—सत्यधर्मों को ही प्रकाशित करनेवाली है। आपके वेदज्ञान में सत्यधर्म का ही उपदेश है। २. हे **गिरिशन्त**=(यो गिरिणा सत्योपदेशेन शं सुखं तनोति—द०) सत्योपदेश की वाणी से सुख व शान्ति का विस्तार करनेवाले प्रभो! (गिरि वाचि स्थितः शं तनोति—म०) आप इस वाणी के द्वारा परिमित भोजन का उपदेश देते हुए (आज्यं तौलस्य प्राशान=घी को तोलकर खाओ, नपा-तुला खाओ) हमें नीरोग व सुखी करते हैं तथा परिमित मधुर बोलने का उपदेश देते हुए (वाचं स्वदतु=स्वादवाली, मधुरवाणी ही बोलो) हमारे जीवनों को कलहों से ऊपर उठाकर शान्त करते हैं। आप **तया तन्वा**=उस सत्योपदेश नीति से जो **नः**=हमारे लिए **शन्तमया**=अधिक-से-अधिक शान्ति का विस्तार करनेवाली है, **अभिचाकशीहि**=हमें देखिए, हमारी रक्षा का ध्यान कीजिए (चाकशीतिः पश्यतिकर्मा—नि० ३।११ देखना=to look after, ध्यान करना) ३. हे प्रभो! आप **गिरिशन्त**='गिरीश' वेदवाणी में स्थित होनेवाले तथा 'अन्त' (अमति गच्छति जानाति) सर्वज्ञ हैं। आप सब सत्यविद्याओं की आश्रयभूत, अत्यन्त सुखकारिणी इस वेदवाणी से हमारा पालन कीजिए।

भावार्थ—उस प्रभु का दिया हुआ ज्ञान 'शिव, अघोर व पुण्य का प्रकाशक' है और शन्तम=अधिक-से-अधिक शान्ति देनेवाला है। इस ज्ञान से ही प्रभु हमारा पालन करते हैं।

ऋषिः—परमेष्ठी वा कुत्सः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—विराडार्ष्युनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

अस्तवे (Broadcasting)

यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे।
शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिंसीः पुरुषं जगत्॥३॥

१. हे **गिरिशन्त**=वेदवाणी में स्थित होकर इस ज्ञानवाणी के द्वारा शान्ति का विस्तार करनेवाले प्रभो! **याम् इषुम्**=जिस प्रेरणा को **अस्तवे**=चारों ओर—सम्पूर्ण आकाशदेश में फेंकने (broadcast) के लिए **हस्ते बिभर्षि**=आप हाथ में धारण करते हैं। 'हाथ में धारण करना' यह प्रयोग 'ज्ञान के उपस्थित' होने का सूचक है (on the tip of fingers=सारे पाठ का अंगुलियों के अग्रभाग में उपस्थित होना) प्रभु तो ज्ञानमय हैं। इस ज्ञान के द्वारा वे निरन्तर प्रेरणा प्राप्त करा रहे हैं। उस प्रेरणा को मानो वे सम्पूर्ण आकाश में फैला रहे हैं। जैसे एक ब्रॉडकास्टिङ्ग स्टेशन से किसी समाचार को सारे आकाश में फेंका जाता है, उसी प्रकार वे प्रभु सम्पूर्ण ज्ञान की प्रेरणा को हाथ में धारण किये हुए चारों ओर फैला रहे हैं। २. यदि उस प्रेरणा को हम सुनते हैं तो हमारा कल्याण-ही-कल्याण होता है। हे **गिरित्र**=इस वेदवाणी में स्थित होकर हमारा त्राण करनेवाले प्रभो! **ताम्**=उस ज्ञान-प्रेरणा को आप हमारे लिए **शिवाम्**=कल्याणकारिणी **कुरु**=कीजिए। ३. आप उस प्रेरणा के द्वारा **जगत् पुरुषम्**=क्रियाशील पुरुष को **मा हिंसीः**=मत हिंसित होने दीजिए। जो उस प्रेरणा के अनुसार गति करता है, उसकी हिंसा नहीं होती। हे प्रभो! आप उसे और अधिक क्रियान्वित करने के लिए भी प्रेरणा दीजिए तभी तो हम नाश से अपनी रक्षा कर सकेंगे।

भावार्थ—हे प्रभो! आप वेदवाणी के ब्रॉडकास्टिङ्ग स्टेशन हैं, मैं उसका ग्रहण करनेवाला रेडियो सेट बनूँ। उस प्रेरणा को ग्रहण करके अपना कल्याण सिद्ध कर सकूँ।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

अयक्ष्मं+सुमना

शिवेन वचसा त्वा गिरिशाच्छा वदामसि।
यथा नः सर्वमिज्जगदयक्ष्मꣳसुमनाऽअसत्॥४॥

१. हे **गिरिश**=वेदवाणी में निवास करनेवाले प्रभो! सारी वाणियाँ आपका ही वर्णन कर रही हैं 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'। हम **शिवेन वचसा**=इस कल्याणकारिणी वेदवाणी से **त्वा अच्छ**=(अच्छ अभेदाप्तुम् इति शाकपूणिः—नि० ५।२८) आपको प्राप्त करने के लिए **वदामसि**=प्रार्थना करते हैं। अथवा इस वेदवाणी के अनुसार अपने जीवन को बनाते हुए, वेदवाणी को जीवन से कहते हुए, आपको प्राप्त करने के लिए यत्नशील होते हैं। आपको प्राप्त करने का उपाय यही है कि हम वेदवाणी के अनुसार अपने जीवन को बनाएँ। २. **यथा**=जिससे **नः**=हमारा **सर्वं इत् जगत्**=सारा ही जगत्—हमारे सब क्रियाशील व्यक्ति **अयक्ष्मम्**=रोग से रहित तथा **सुमना**=उत्तम मनवाले=प्रसन्नचित्त **असत्**=हों। वेदवाणी के हमारे जीवनों पर दो परिणाम हैं। यह हमारे शरीरों को व्याधि-शून्य बनाती है (अयक्ष्मम्) तथा मन की आधियों को हरती है (सुमनाः)।

भावार्थ—हम अपने जीवन को वेदवाणी के अनुसार बनाते हुए प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनें। हमारे शरीर व्याधियों से शून्य हों और मन आधियों से।

ऋषिः—बृहस्पतिः। **देवता**—एकरुद्रः। **छन्दः**—भुरिगार्षीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

प्रथम दैव्य भिषक्

अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक्।
अहीँश्च सर्वाञ्जम्भयन्त्सर्वाश्च यातुधान्योऽधराचीः परा सुव॥५॥

१. गत मन्त्र में आधि-व्याधियों के दूरीकरण का प्रसङ्ग था। इन आधि-व्याधियों को दूर करनेवाला **प्रथमः**=सबसे पहला **दैव्यः**=मन में दिव्य गुणों को उत्पन्न करनेवाला तथा **भिषक्**=शरीर के रोगों का प्रतीकार करनेवाला वह प्रभु ही **अधिवक्ता**=(अधि=उपरिभाव व ऐश्वर्य का वाचक है) सबसे श्रेष्ठ उपदेष्टा है, वह गुरुओं का भी गुरु है 'सर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' (योगदर्शन)। वह पूर्ण ज्ञानी होने से ऐश्वर्य के साथ, पूर्ण प्रभुत्व (full mastery) के साथ बोलनेवाला है। उसके प्रतिपादन में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं है। २. वह प्रभु **अध्यवोचत्**=हमें आधिक्येन उपदेश करे, हमें खूब ही प्रेरणा प्राप्त कराता रहे। ३. हे प्रभो! आप हमारे मनों से **सर्वान् अहीन् च**=सब कुटिल वृत्तियों को (साँप कुटिलता का प्रतीक है) अथवा (आहन्ति) सब हिंसावृत्तियों को **जम्भयन्**=नष्ट करते हुए **सर्वाः च यातुधान्यः**=एक-दूसरे से बढ़कर पीड़ा (यातु) का आधान करनेवाली (धानी) सब बीमारियों को **अधराचीः** (अधः अञ्चति)=अधोगमनशील करके **परा सुव**=हमसे दूर कर दीजिए। ४. यहाँ 'अधराचीः' शब्द के महत्त्व को समझना चाहिए। सब रोग शरीर में मल-सञ्चित हो जाने से होते हैं। विरेचन के द्वारा इन्हें शरीर से पृथक् करना चाहिए। मल गया, रोग गया। एवं, विरेचन रोग को दूर भगाने में अत्यन्त सहायक है। ४. मलों के दूरीकरण से शरीर को स्वस्थ बनाने के लिए मनों से कुटिलवृत्ति व हिंसा की वृत्ति को दूर करना है। यह स्वस्थ मन व स्वस्थ शरीरवाला व्यक्ति ही 'बृहस्पति' है, ऊर्ध्वा दिक्

का अधिपति है, यही तो सर्वोच्च स्थिति है।

भावार्थ—हे प्रभो! आप ही अधिवक्ता हैं, प्रथम दैव्य भिषक् हैं। आप हमारे मनों से कुटिलता व हिंसा को भगाकर स्वस्थ कीजिए तथा रोगों को दूर करके शरीर की पीड़ा को दूर कीजिए।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—निचृदार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

राजा ताम्रः अरुणः

असौ यस्ताम्रोऽअरुणऽउत बभ्रुः सुमङ्गलः।
ये चैनꣳरुद्राऽअभितो दिक्षु श्रिताः सहस्रशोऽवैषाꣳहेडऽईमहे ॥६॥

१. गत मन्त्र की प्रार्थना थी कि हमारी सब 'आधि-व्याधि' दूर हो जाएँ। इन्हें दूर भगाने के लिए ही राजा एक राष्ट्र की व्यवस्था करता है। इस राज्य का मुखिया या राजा **असौ**=वह होता है **यः**=जो (क) **ताम्रः**=(ताम्रवत् कठिनाङ्गः—द०) ताम्र की तरह दृढ़ शरीरवाला होता है। अथवा 'तम्यते' (to wish, to desire) सब प्रजाओं से चाहा जाता है, अर्थात् अपने प्रजापालकत्वादि उत्तम गुणों के कारण जो सारी प्रजा का प्रिय है। यह अपने कान्त गुणों से सब प्रजा के लिए वैसे ही अभिगम्य बनता है, जैसे रत्नों के कारण समुद्र। (ख) **अरुणः**=(अग्निरिव तीव्रतेजाः—द०) जो अग्नि के समान तीव्र तेजवाला है। 'अरुणः आरोचनः' (नि० ५।२०) जो अपने तेज से सर्वतो देदीप्यमान है। उस तेज के कारण शत्रुओं से जिसका धर्षण नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार जैसेकि मगरमच्छों के कारण समुद्र का। (ग) वह **बभ्रुः**=प्रजा का खूब ही पालन व पोषण करनेवाला है। (घ) **सुमङ्गलः**=सदा उत्तम कल्याण को सिद्ध करनेवाला है। २. इस राजा ने राष्ट्ररक्षा के लिए कितने ही अध्यक्षों को नियत किया है। इनका कार्य (रुत्-र) प्रजा को ज्ञान देना है, प्रजा को राज्य के नियमों से भली-भाँति अवगत कराना है तथा (रुत्-द्रु) प्रजाओं के दुःखों के द्रावण के लिए (रोदयति) शत्रुओं को रुलाना है और नियम-भङ्ग करके औरों की असुविधा का कारण बननेवालों को भी पीड़ित करना है। एवं, ये अध्यक्ष 'रुद्र' हैं। ३. **ये च**=और जो **एनं अभिताः** =इस राजा के चारों ओर **रुद्राः**=वे अधिकारी लोग **दिक्षु श्रिताः**=भिन्न-भिन्न दिशाओं में नियुक्त हुए-हुए हैं, **सहस्रशः**=जोकि हज़ारों की संख्या में हैं, **एषाम्**=इनके **हेडः**=क्रोध को **अव ईमहे**=(अवनयामः) हम अपने से दूर करते हैं। राज्य के नियमों के पालन का ध्यान करते हुए हम इनके क्रोध का पात्र नहीं बनते। ४. इस प्रकार उत्तम व्यवस्था करनेवाला राजा ही प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'प्रजापति, अर्थात् प्रजा का सच्चा रक्षक होता है'।

भावार्थ—राजा 'ताम्र, अरुण, बभ्रु व सुमङ्गल' हो। अध्यक्ष 'रुद्र' हों। प्रजा नियम-पालन करती हुई इनके क्रोध का पात्र न बने।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—विराडार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

नीलग्रीवो विलोहित

असौ योऽवसर्पति नीलग्रीवो विलोहितः।
उतैनं गोपाऽअदृश्रन्नदृश्रन्नुदहार्यः स दृष्टो मृडयाति नः ॥७॥

१. गत मन्त्र के राजा का ही वर्णन करते हुए कहते हैं कि **असौ**=वह **यः**=जो

अवसर्पति=अपने उच्च सिंहासन से नीचे (अव) आता है, आसन पर ही नहीं जमा बैठा रहता, अपितु (अव=away) राष्ट्र में नियत किये हुए अध्यक्षों के कार्यों को देखने के लिए दूर-दूर तक गति करनेवाला होता है। इसके इस निरीक्षण-कार्य के कारण ही अध्यक्ष प्रमत्त व रिश्वत लेनेवाले नहीं होते। २. **नीलग्रीवः**=**कल्माषग्रीवः**=विविध विद्याओं से सुभूषित कण्ठवाला यह राजा है। 'शुद्धकण्ठस्वराय' (द० १६।८) बड़े शुद्ध कण्ठ स्वर से यह युक्त है। इसकी वाणी स्पष्ट व मधुर है। यह अपने शासनों को बड़ी स्पष्टता से देता है। ३. **विलोहितः**=(विविधैः शुद्धगुणकर्मस्वभावै रोहितो वृद्धः—द०) विविध शुद्ध गुण-कर्म व स्वभावों से यह खूब बढ़ा हुआ व उन्नत है। अथवा (विशिष्टं लोहितं यस्य) विशिष्ट रुधिरवाला है। शुद्ध क्षत्रियवंश में उत्पन्न हुआ है। ४. ऐसा होता हुआ भी यह प्रजाओं के लिए अनभिगम्य नहीं और तो और **एनं गोपाः उत**=इसको तो ग्वाले भी **अदृश्रन्**=देख पाते हैं—**उदहार्यः**=पानी ढोनेवाली कहारिन की भी **अदृश्रन्**=इस तक पहुँच हो सकती हैं। वे भी अपनी शिकायत को इस तक पहुँचाने के लिए इससे मिल सकती हैं। यह राजा राष्ट्र में छोटे-से-छोटे व्यक्ति की भी शिकायत सुनता है। ५. सुनकर अनसुना नहीं कर देता अपितु **दृष्टः सः**=देखा हुआ वह राजा जिसको मिलकर हमने अपनी दुःख की गाथा सुनाई है **नः मृडयाति**=हमारी शिकायतों को दूर करने की व्यवस्था करके हमें सुखी बनाता है।

भावार्थ—राजा प्रजा में विचरता है, खूब ज्ञानी व मधुर स्वरवाला है, खूब उन्नत व विशिष्ट रुधिरवाला तथा तेजस्वी है। छोटे-से-छोटे व्यक्ति के लिए अभिगम्य है। वह सबकी शिकायतों को दूर करके उन्हें सुखी करता है।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

सहस्राक्षो मीढ्वान्

नमोऽस्तु नीलग्रीवाय सहस्राक्षाय मीढुषे।
अथो येऽअस्य सत्वानोऽहं तेभ्योऽकरं नमः ॥८॥

१. इस **नीलग्रीवाय**=विविध विद्याओं से सुभूषित कण्ठवाले अथवा शुद्ध कण्ठ स्वरवाले **सहस्राक्षाय**=(चारैः चक्षुः) सहस्रों गुप्तचररूपी आँखोंवाले **मीढुषे**=सुखों का सेचन करनेवाले राजा के लिए **नमः अस्तु** =आदर हो। २. राजा ज्ञानी व मधुरभाषी हो। आधिपत्य का मद उसे कठोरभाषी न कर दे। वह राष्ट्र में स्वयं घूमेगा तो सही, फिर भी प्रजा की स्थिति के ठीक परिज्ञान के लिए उसे सहस्रों गुप्तचरों को नियत करना होगा। **'चारैः पश्यन्ति राजानः'** राजा लोग गुप्तचरों के द्वारा ही आँखोंवाले होते हैं। गुप्तचरों से ठीक स्थिति को जानकर उचित व्यवस्था करते हुए ये प्रजा के जीवन को सुखी बनाएँ। ३. **अथ उ**=और अब **ये**=जो **अस्य**=इस राजा के **सत्वानः**=प्राणी हैं, भृत्य हैं। बड़े अध्यक्ष 'रुद्र' हैं तो ये छोटे कर्मचारी 'सत्वानः' कहे गये हैं, 'सीदति राष्ट्रं येषु'=इन्हीं में राष्ट्र निषण्ण होता है, ये ही राष्ट्र की उत्तम स्थिति करने में सबसे अधिक सहायक हैं। **अहम्**=मैं **तेभ्यः**=इन सिपाही आदि छोटे कर्मचारियों का भी **नमः अकरम्**=उचित आदर करता हूँ। हमें चौराहे पर खड़े पुलिसमैन का भी आदर करना चाहिए। उसके दिये गये संकेत को हम न मानेंगे तो अवश्य दुर्घटना कराके अपने को घायल कर लेंगे, अतः हमें जैसे 'रुद्रों' का आदर करना है, वैसे ही इन 'सत्वानः' का भी आदर करना चाहिए।

भावार्थ—राजा चार-चक्षु होता है। प्रजा की स्थिति को उनके द्वारा जानकर वह

उचित व्यवस्था से सुखों का वर्षक होता है। व्यवस्था के लिए नियत उसके कर्मचारियों का भी हमें उचित आदर करना चाहिए।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—भुरिगार्ष्युष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

धनुः प्रमोचन

प्रमुञ्च धन्वनस्त्वमुभयोरात्न्योर्ज्याम्। याश्च ते हस्तऽइषवः परा ता भगवो वप॥९॥

१. राजा को प्रस्तुत मन्त्र में 'भगवः' शब्द से सम्बोधन किया है। '**ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥**' इस वाक्य के अनुसार राजा ने राष्ट्र के ऐश्वर्य को बढ़ाना है, राष्ट्र में धर्म व शक्ति की वृद्धि करनी है। राष्ट्र को यशस्वी बनाना है, श्रीसम्पन्न करना है। राष्ट्र के लोगों में ज्ञान का विस्तार करके उन्हें विषयों के प्रति अनासक्त बनाना है। **भगवः**=हे ऐश्वर्यादि के साधक राजन्! **त्वम्**=तू **धन्वनः उभयोः आत्न्योः**=धनुष की दोनों कोटियों पर **ज्याम्**=डोरी को, प्रत्यञ्चा को **प्रमुञ्च**=(put on) धारण कर, अर्थात् अपने धनुष को, अस्त्रों को ठीक-ठाक कर। २. **च**=और **ते हस्ते**=आपके हाथ में **या इषवः**=जो बाण हैं, **ताः**=उन्हें **परावप**=सुदूर शत्रुओं पर फेंक। यहाँ 'परा' शब्द स्पष्ट कर रहा है कि राजा ने अस्त्रों का प्रयोग दूर शत्रुओं पर ही करना है न कि समीप अपनी ही प्रजाओं पर। अस्त्रों का प्रयोग शत्रुओं को दूर करने के लिए होना चाहिए, प्रजा की भावनाओं को कुचलने के लिए नहीं।

भावार्थ—राजा का धनुष शत्रुओं के निधन का कारण बने। शत्रुओं से देश को सुरक्षित कर राजा राष्ट्र के ऐश्वर्य को बढ़ानेवाला हो।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—भुरिगार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

विज्यं धनुः आभुःनिषङ्गधिः

विज्यं धनुः कपर्दिनो विशल्यो बाणवाँ२॥ऽउत।
अनेशन्नस्य याऽइषवऽआभुरस्य निषङ्गधिः॥१०॥

१. शत्रुओं को दूर भगाकर **कपर्दिनः**='केन सुखेन परं पूर्तिं ददाति'=प्रजाओं में सुख-विस्तार से तृप्ति देनेवाले, प्रजाओं में सुख को फैलानेवाले इस राजा का **धनुः**=धनुष, अब शत्रु-विजय के बाद **विज्यम्** =ज्यारहित हो जाता है। शत्रुओं को मारने के लिए गत मन्त्र में जिस धनुष पर ज्या को चढ़ाया था, वह धनुष अब विजय के बाद उतारी हुई ज्यावाला कर दिया गया है। २. **उत**=और **बाणवान्**=वह धनुष जोकि अब तक उत्तम बाणोंवाला था, अब **विशल्यः**=शल्यों से रहित हो गया है। ३. **अस्य**=इसके **याः इषवः**=जो शत्रु-शातन करनेवाले शर थे, वे सब अब **अनेशन्**=(णश् अदर्शन) अदृष्ट हो गये हैं। उन्हें अस्त्रागार में सुरक्षित रख दिया गया है। ४. **अस्य**=इसका **निषङ्गधिः**=(निषज्यते इति निषङ्गः खड्गः तद्यस्मिन् धीयते) म्यान, जिसमें कि अब तक तलवार विद्यमान थी, वह अब **आभुः**=रिक्त-खाली है। तलवार को भी ठीक-ठाक व तेज़ करने के लिए म्यान से निकाल कर अलग रख दिया गया है। ५. संक्षेप में, शत्रु को जीतकर यह राजा अब 'न्यस्तसर्वशस्त्र' हो गया है। अपनी प्रजा पर इसने अस्त्रों का प्रयोग थोड़े ही करना है।

भावार्थ—प्रजा में सुख-सञ्चार करनेवाले राजा का अस्त्रागार शत्रुओं के संहार के लिए है, प्रजा पर अत्याचार के लिए नहीं।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

मीढुष्टम

या ते हेतिर्मीढुष्टम हस्ते बभूव ते धनुः। तयास्मान्विश्वतस्त्वमयक्ष्मया परि भुज ॥११॥

१. शत्रुओं के नाश व प्रजाओं के कल्याण के द्वारा यह राजा प्रजा पर सुखों की वर्षा करनेवाला है। हे **मीढुष्टम**=अधिक-से-अधिक सुखों के वर्षक राजन्! **या**=जो **ते**=तेरा **हेतिः**=शत्रुओं का संहार करनेवाला वज्र (नि० २।२०) है और **ते हस्ते**=तेरे हाथ में जो **धनुः बभूव**=धनुष है। २. **तया**=उस **अयक्ष्मया**=(नास्ति यक्ष्मा यस्याः) सब रोगों—उपद्रवों को दूर करनेवाले अस्त्र से **अस्मान्**=हमें **विश्वतः**=सब ओर से **त्वं परिभुज**=आप परिपालित कीजिए। ३. राजा प्रान्तभागों पर इस प्रकार सशस्त्र सैन्य को सन्नद्ध रखता है कि राष्ट्र में किसी प्रकार का शत्रुजनित प्रकोप न हो, शान्त—बीमारियों से रहित राज्य में ही प्रजा उन्नत हो पाती है।

भावार्थ—'मीढुष्टम' वह राजा है जो हाथ में धनुष लिये हुए चारों ओर से होनेवाले आक्रमणों से राष्ट्र को सुरक्षित रखता (करता) है।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

धन्वनो हेतिः इषुधिः

परि ते धन्वनो हेतिरस्मान्वृणक्तु विश्वतः।
अथो यऽइषुधिस्तवारेऽअस्मन्निधेहि तम् ॥१२॥

१. हे राजन्! **ते**=तेरा **धन्वनः हेतिः**=धनुष-सम्बन्धी नाशक बाण **अस्मान्**=हमें **विश्वतः**=सब ओर से **परिवृणक्तु**=शत्रु-संकट से मुक्त करे (परिवर्जयतु—उ०), अर्थात् सब प्रान्तभाग इस प्रकार शस्त्र-सन्नद्ध सेना से युक्त हों कि कोई भी शत्रु हमारे राष्ट्र पर आक्रमण न कर सके। राजा के ये शत्रु-शातक तीर हमें शत्रु-संकट से सदा सुरक्षित रक्खें। २. परन्तु हे राजन्! **अथ उ**=अब यह **यः**=जो तेरा **इषुधिः**=बाणों के रखने का तूणीर (तरकस) है **तम्**=उसे **अस्मत्**=हमसे **आरे**=दूर ही **निधेहि**=रख, अर्थात् तेरे ये बाण अपनी प्रजा पर ही न चलने लगें।

भावार्थ—अस्त्र-शस्त्र का प्रयोग शत्रुओं के शातन के लिए हो। अस्त्र-शस्त्रों को प्रजा से दूर ही रखना है।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

शतेषुधि

अवतत्य धनुष्ट्वꣳसहस्राक्ष शतेषुधे।
निशीर्य शल्यानां मुखा शिवो नः सुमना भव ॥१३॥

१. हे शत्रुओं के विजेता **सहस्राक्ष**=गुप्तचररूपी हज़ारों आँखोंवाले! गुप्तचरों के द्वारा प्रजा की स्थिति या शत्रुओं की गतिविधि को भली प्रकार देखनेवाले! **शतेषुधे**=शत्रु-संहार के लिए अनन्त—बहुत अधिक तरकसोंवाले, अर्थात् अक्षीण अस्त्र-शस्त्रवाले राजन्! अब शत्रुओं को जीतकर **त्वम्**=तू **धनुः अवतत्य**=धनुष पर से डोरी को उतारकर और **शल्यानाम्**=बाणों के **मुखा**=मुखों को, अग्रभागों को, अर्थात् उनके फलाग्रों को **निशीर्य**=शीर्ण करके

नः=हमारे लिए **शिवः**=कल्याण करनेवाला और **सुमना भव**=शोभन मनवाला हो। २. विजय से प्रसन्न राजा प्रजाओं से उत्साहित व अभिनन्दित किया जाता हुआ, प्रजाओं के कल्याण को सिद्ध करनेवाला हो। वह प्रसन्न मनवाला तथा उत्साहपूर्वक राजकार्य करनेवाला बने। शत्रु-विजय के लिए इसके शस्त्र पर्याप्त हों, अनन्त हों, परन्तु प्रजा पर अत्याचार के समय वे कुण्ठित हों।

भावार्थ—१. राजा शत्रु की गतिविधि के ज्ञान के लिए शतशः गुप्तचरों को नियत करता है, अनन्त अस्त्र-शस्त्रों को सुसज्जित करता है। एवं, राजा शत्रु के लिए भयंकर है, २. परन्तु प्रजा के लिए निरस्त्र होकर कल्याणकर व शोभन मनवाला है।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—स्वराडार्ष्युष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

अनातत आयुध

नम॑स्तऽआयु॑धा॒याना॑तताय धृ॒ष्णवे॑। उ॒भाभ्या॑मु॒त ते॒ नमो॑ बा॒हुभ्या॒ तव॒ धन्व॑ने॥१४॥

१. हे राजन्! **ते**=तेरे **धृष्णवे**=धर्षणशील-शत्रुसंहार में निपुण, पर **अनातताय**=जिसकी धनुष पर आरोपित करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती, ऐसे उस **आयुधाय**=आयुध के लिए-शस्त्र-समूह के लिए अथवा जो प्रजा को दबाने के लिए कभी धनुष पर आरोपित नहीं किया जाता, उस आयुध के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं, उसके महत्त्व की प्रशंसा करते हैं। २. हे राजन्! **उत**=और **ते**=तेरे **उभाभ्याम्**=दोनों **बाहुभ्याम्**=प्रयत्नों के लिए, अर्थात् बाह्यशत्रुओं के नाश तथा प्रजा-रक्षणरूप प्रयत्न के लिए **नमः**=हम तेरा आदर करते हैं। ३. इन दोनों प्रयत्नों में सहायभूत **तव धन्वने**=तेरे इस धनुष के लिए हम आदर करते हैं। ४. यहाँ प्रस्तुत मन्त्र में 'आयुधाय' शब्द से आयुधों का होना तो आवश्यक है परन्तु 'अनातताय' शब्द स्पष्ट कह रहा है कि यथासम्भव इनका प्रयोग न ही करना पड़े। ५. 'उभाभ्यां बाहुभ्यां' इन शब्दों से राजा के इन दोनों मौलिक कर्त्तव्यों का भी स्पष्ट प्रतिपादन है कि (क) उसने युद्ध द्वारा शत्रुओं को जीतना है, उनके आक्रमणों से देश की रक्षा करनी है, और (ख) प्रजा की अन्तः उपद्रवों से भी रक्षा करनी है। 'सेना पहला कार्य करेगी,' तो राजपुरुष (police) दूसरे कार्य को। राजा के ये दोनों कार्य आदरणीय होते हैं। इन कार्यों के साधक अस्त्र भी आदृत होते हैं।

भावार्थ—हम 'शत्रुनाशक, राष्ट्ररक्षक' राजा का आदर करें। राष्ट्र की रक्षा करनेवाला राजा ही प्रस्तुत मन्त्रों का ऋषि 'प्रजापति' कहलाने योग्य है।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—निचृदार्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

सर्वरक्षण

मा नो॑ म॒हान्त॑मु॒त मा नो॑ऽअर्भ॒कं मा न॒ऽउक्ष॑न्तमु॒त मा न॑ऽउक्षि॒तम्।
मा नो॑ वधीः पि॒तरं॒ मोत मा॒तरं॒ मा नः॑ प्रि॒यास्त॒न्वो॒ रुद्र रीरिषः॥१५॥

१. राज्य-व्यवस्था के उत्तम होने पर अपने जीवनों को उत्तम बनाकर हम प्रभु से प्रार्थना करें हे **रुद्र**=ज्ञान देनेवाले और उस ज्ञान के अनुसार आचरण करनेवालों के दुःखों को दूर करनेवाले प्रभो! **नः**=हमारे **महान्तम्**=बड़े पुरुष को **मा रीरिषः**=मत हिंसित कीजिए। आपकी कृपा से उनके दीर्घ जीवन के परिणामस्वरूप हमारे सिरों पर उनकी छत्रछाया बनी रहे। २. **उत**=और **नः**=हमारे **अर्भकम्**=छोटों को भी **मा रीरिषः**=मत हिंसित

कीजिए। बड़ों के निर्देश व निरीक्षण छोटों के कल्याण का कारण होते ही हैं। ३. **नः**=**उक्षन्तम्**=गृहस्थ में नव प्रवेशवाले—सन्तति के लिए वीर्यसेक्ता तरुण को **मा**=मत हिंसित कीजिए। वे संयमी जीवनवाले होकर दीर्घ जीवी बनें। ४. **उत**=और **नः**=हमारे **उक्षितम्**=सिक्त, गर्भस्थ बालक को **मा**=मत हिंसित कीजिए। वीर्यसेक्ता के परिपक्व वीर्यवाला होने पर गर्भस्थ सन्तान कभी विपन्न नहीं होती। ५. **नः**=हमारे **पितरम्**=पिता को **मा वधीः**=मत विपन्न कीजिए। पिता के चले जाने पर घर का रक्षण कैसे होगा? ६. **उत**=और **मातरं मा वधीः**=हमारी माता को भी सुरक्षित कीजिए। वस्तुतः उसे सन्तानों में कुल-धर्मों की परम्परा को सुरक्षित करना है, सन्तानों के चरित्र का निर्माण माता ने ही करना है। ७. हे रुद्र! आप **नः**=हमारे **प्रियाः तन्वः**=जिनका तर्पण किया गया है (प्रीञ् तर्पणे) उचित भोजनादि के द्वारा जिनका ठीक पोषण किया गया है, जिन्हें हमने स्वास्थ्य की कान्ति प्राप्त कराने का प्रयत्न किया है, उन हमारे प्रिय शरीरों को **मा रीरिषः**=मत हिंसित होने दीजिए। ८. 'रुद्र' राजा का सेनापति भी है जो शत्रुओं को रुलाने का कारण बनता है। युद्ध के अवसर पर उन 'योद्धा लोगों को चाहिए कि वृद्धों, बालकों, युद्ध न कर रहे युवकों, गर्भों, योद्धाओं के माता-पिताओं, सब स्त्रियों, युद्ध के देखनेवालों और दूतों को न मारें' (द०)। यदि ये लोग कैदी बनाये जा सकें तो इनको वश में रक्खें, परन्तु मारें नहीं। सेनापति 'कुत्स' है (कुथ हिंसायाम्) वह राष्ट्र के शत्रुओं का संहार करता है, परन्तु युद्ध में भाग न लेनेवालों को नहीं मारता।

भावार्थ—प्रभु हम सबका रक्षण करनेवाले हैं। हमें भी चाहिए कि युद्ध उपस्थित होने पर भी युद्ध में भाग न लेनेवालों का हम संहार न करें।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—निचृदार्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

हविष्मान् की आराधना

मा नस्तोके तनये मा नऽआयुषि मा नो गोषु मा नोऽअश्वेषु रीरिषः।
मा नो वीरान् रुद्र भामिनो वधीर्हविष्मन्तः सदमित् त्वा हवामहे॥१६॥

१. **नः**=हमारे **तोके**=पुत्र के विषय में **मा रीरिषः**=हिंसा मत कीजिए। **तनये**=वंश का विस्तार करनेवाले पौत्र के विषय में भी हिंसा न कीजिए। २. **नः आयुषि**=हमारे जीवन के विषय में भी हिंसा न कीजिए तथा ३. **नः**=हमारी **गोषु**=गौवों के विषय में **नः**=हमारे **अश्वेषु**=घोड़ों के विषय में (गोऽजाव्यादिषु, तुरङ्गहस्त्युष्ट्रादिषु—द०) गौ, बकरी, भेड़ आदि तथा घोड़ा, हाथी, ऊँट आदि को **मा रीरिषः**=हिंसित मत कीजिए। ४. हे **रुद्र**=शत्रुओं के रुलानेवाले! तू **नः**=हमारे **भामिनः वीरान्**=(shining, beautiful) तेजस्वी, स्वास्थ्य के सौन्दर्यवाले वीरों को **मा वधीः**=मत नष्ट कर। ५. **हविष्मन्तः**=हवि=बचे हुए को खानेवाले होकर **सदम् इत्**=सदा ही हम **त्वां हवामहे**=आपकी प्रार्थना करते हैं। प्रभु की उपासना 'हविवाले' बनने से ही होती है। ६. रुद्र की भावना सेनापति की लेने पर अर्थ होगा **हविष्मन्तः**=देव पदार्थों को लेकर **सदम्**=न्याय में आसीन **त्वा**=तुझे **इत्**=निश्चय से **हवामहे**=(स्वीकुर्महे) स्वीकार करते हैं।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हमारे पुत्र-पौत्र दीर्घजीवी हों। हमारे गवादि पशु सुरक्षित हों। हमारे तेजस्वी युवक असमय में न चले जाएँ।

ऋषिः—कुत्सः। देवता—रुद्रः। छन्दः—निचृदतिधृतिः। स्वरः—षड्जः॥

नमः=आदर

नमो हिरण्यबाहवे सेनान्ये दिशां च पतये नमो नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यः पशूनां पतये नमो नमः शष्पिञ्जराय त्विषीमते पथीनां पतये नमो नमो हरिकेशायोपवीतिने पुष्टानां पतये नमः॥१७॥

१. राष्ट्र में सबसे पहले हम **हिरण्यबाहवे**=हितरमणीय प्रयत्नवाले (हिरण्य=हितरमणीय, बाहृ प्रयत्ने) अथवा भुजाओं में शक्ति को धारण करनेवाले (द०) अथवा (हिरण्यालंकार-भूषितबाहवे) स्वर्णाभूषण से अलंकृत भुजावाले **सेनान्ये**=सेनापति के लिए **नमः**=आदर देते हैं। उस सेनापति के लिए जो **दिशां च पतये**=राष्ट्र की सब दिशाओं में रक्षा करनेवाला है, हम **नमः**=नमन करते हैं। एवं, सेनापति का कार्य राष्ट्र-रक्षा करने के लिए सदा हित-रमणीय प्रयत्नों में प्रवृत्त रहना है। २. उन **वृक्षेभ्यः**=वृक्षों के लिए, जो **हरिकेशेभ्यः**=हरित वर्ण के पत्र-केशोंवाले हैं, अथवा जिनमें हरणशील सूर्य-किरणें प्राप्त हैं, (द०) **नमः**=हम आदर करते हैं, इस बात का हम पूर्ण ध्यान करते हैं कि राष्ट्र में वृक्षों की कमी न हो जाए। इन वृक्षों के साथ **पशूनां पतये नमः**=राष्ट्र के उस अधिकारी का भी हम आदर करते हैं जो पशुओं का रक्षण करता है, जो राष्ट्र में गवादि उत्तम पशुओं की कमी नहीं होने देता। सेनापति ने देश की सब दिशाओं से रक्षा करनी है तो वनाध्यक्ष ने वृक्षों का रक्षण करना है और पशुओं के अध्यक्ष ने राष्ट्र की पशु-सम्पत्ति को नष्ट नहीं होने देना। ३. हम **शष्पिञ्जराय**=(शड्डुत्प्लुतं पिञ्जरं बन्धनं येन—द०) विषयादि के बन्धनों से पृथक् **त्विषीमते**=(बह्व्यस्त्विषयो न्यायदीप्तयो विद्यन्ते यस्य—द०) न्याय के प्रकाशों से युक्त राष्ट्र के न्यायाधीश के लिए **नमः**=नतमस्तक होते हैं। उस न्यायाधीश के लिए जो **पथीनां पतये**=न्याय के द्वारा मार्गों का रक्षक है हम **नमः**=नतमस्तक होते हैं। जिस भी राष्ट्र में दण्ड का प्रणयन न्यायपूर्वक होता है, उस राष्ट्र में ही प्रजा धर्म के मार्ग पर चलती है। 'दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः'=न्याय-प्रणीत दण्ड को ही विद्वान् लोग धर्म का रक्षक जानते हैं। ४. अन्त में **नमः**=उसका हम आदर करते हैं जो **हरिकेशाय**=प्रजाओं के दुःखहरण से 'हरि' है, सुखप्रापण से 'क' और न्यायशासन करने से 'ईश' है। **उपवीतिने**=प्रशस्त यज्ञोपवीतवाले के लिए, अर्थात् जिसने उपवीत के तीन तारों को धारण करते हुए तीन व्रत लिये हैं कि (क) शरीर को वज्रतुल्य बनाऊँगा। (ख) मन की वासनाओं को छेदने के लिए 'परशु' बनूँगा। (ग) मेरा जीवन अविच्छिन्न ज्ञान का होगा (अश्मा भव, परशुर्भव, हिरण्यमस्तृतं भव)। उसके लिए **नमः**=हम नतमस्तक होते हैं जो **पुष्टानां पतये**=(पुष्+क्त भावे)=सब पोषणों का पति है, शारीरिक, मानस व बौद्ध पोषण करनेवाला है, इस आदर्श राष्ट्रपुरुष, के लिए भी हम आदर देते हैं। ५. सेनापति, वनाध्यक्ष, पश्वाध्यक्ष, न्यायाधीश व मुख्य राष्ट्रपुरुष, अर्थात् राजा ये सब 'कुत्स' हैं, ये सब राष्ट्र की खराबियों को दूर करनेवाले हैं।

भावार्थ—हम राष्ट्र के मन्त्र-वर्णित अधिकारियों के उचित आदर से राष्ट्रोन्नति में सहायक हों।

ऋषिः—कुत्सः। देवता—रुद्राः। छन्दः—निचृदष्टिः। स्वरः—मध्यमः॥

अन्न-क्षेत्र-वन

नमो बभ्लुशाय व्याधिनेऽन्नानां पतये नमो नमो भवस्य हेत्यै जगतां पतये नमो नमो रुद्रायाततायिने क्षेत्राणां पतये नमो नमः सूतायाहन्त्यै वनानां पतये नमः॥१८॥

१. **बभ्लुशाय** (बभ्लुषु राज्यधारकेषु शेते कर्मसु—द०)=सदा राज्यधारक कर्मों में निवास करनेवाले, **व्याधिने** (विध्यति—उ०)=शत्रुओं का वेधन करनेवाले के लिए, राष्ट्र-रक्षा के लिए शत्रुओं का संहार करनेवाले का **नमः**=हम आदर करते हैं। शत्रु-संहार के साथ **अन्नानां पतये**=अन्नों के रक्षक के लिए हम **नमः**=नमस्कार करते हैं। राजा ने जहाँ शत्रु-संहार के लिए सेना व अस्त्रादि पर ध्यान देना है वहाँ उसने अन्न की भी पूर्ण व्यवस्था करनी है। शत्रुओं से बची हुई प्रजा कहीं अन्न-संकट का शिकार न हो जाए। राष्ट्र में गोलियाँ-ही-गोलियाँ (bullets and bullets) न हों, भोजन (bread) भी हो। २. **भवस्य**=संसार के ऐश्वर्य की (भूतिः भव=ऐश्वर्य) **हेत्यै**=(हि वृद्धौ) वृद्धि करनेवाले को हम **नमः**=आदर करते हैं। राजा का कर्त्तव्य है कि वह राष्ट्र के ऐश्वर्य को बढ़ाए और इस ऐश्वर्य वृद्धि के द्वारा **जगतां पतये नमः**=क्रियाशील पुरुषों की रक्षा करनेवाले के लिए हम नतमस्तक होते हैं। राष्ट्र में कोई भी आलसी, अकर्मण्य व याचक नहीं होना चाहिए। ३. **रुद्राय**=शत्रुओं के रुलानेवाले **आततायिने**=(आ समन्तात् ततं शत्रुदलमेतुं शीलमस्य—द०) चारों ओर फैले हुए शत्रुदलों पर आक्रमण करनेवाले के लिए हम **नमः**=नमस्कार करते हैं, परन्तु साथ ही **क्षेत्राणां पतये**=अन्न-क्षेत्रों की रक्षा करनेवाले को **नमः**=हम आदर देते हैं। शत्रुनाश के साथ क्षेत्रों के नाश होने पर शत्रुनाश से बची हुई प्रजा अन्नाभाव से मृत हो जाएगी। ४. अन्त में **सूताय**=उत्तम प्रेरणा देनेवाले और उस उत्तम प्रेरणा के द्वारा **आहन्त्यै**=न नष्ट होने देनेवाले धर्माध्यक्ष को **नमः**=हम आदर देते हैं। अथवा **सूताय** =उस सारथि के लिए जो **आहन्त्यै**=(हन्=गति) युद्ध में सर्वत्र घोड़ों को ले-जानेवाला है हम आदर देते हैं और **वनानाम्**=(Those who win) विजेताओं के **पतये**=मुखिया के लिए **नमः**=हम नतमस्तक होते हैं। अथवा **वनानाम्**=(वन=light) प्रकाश की किरणों के **पतये**=स्वामी के लिए, अर्थात् उत्कृष्ट ज्ञानियों के लिए हम आदर देते हैं। वन 'शब्द का अर्थ घर' भी है। राष्ट्र में घरों के पति (Housing administrator) के लिए हम आदर देते हैं, उस अध्यक्ष के लिए जिसका काम घरों की उचित व्यवस्था करना है। अथवा वनों-जङ्गलों के रक्षक का हम आदर करते हैं।

भावार्थ—हम राष्ट्र-रक्षक पुरुषों का उचित आदर करें।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—विराडतिधृतिः। **स्वरः**—षड्जः॥

शिल्पी-कृषक-व्यापारी

नमो रोहिताय स्थपतये वृक्षाणां पतये नमो नमो भुवन्तये वारिवस्कृतायौषधीनां पतये नमो नमो मन्त्रिणे वाणिजाय कक्षाणां पतये नमो नमऽ उच्चैर्घोषायाक्रन्दयते पत्तीनां पतये नमः ॥१९॥

१. **रोहिताय**=(वृद्धिकराय—द०) राष्ट्र की सम्पत्ति को बढ़ानेवाले **स्थपतये**=गृहादि के बनानेवाले शिल्पियों का **नमः**=हम आदर करते हैं। इसी शिल्प की उन्नति के लिए **वृक्षाणां पतये**=शिल्पोपयोगी काष्ठों को प्राप्त करानेवाले वृक्षों के रक्षकों का **नमः**=हम आदर करते हैं। घर आदि के निर्माण में लकड़ी का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, घर का सारा परिच्छद (Furniture) लगभग इसी पर आश्रित है। २. **भुवन्तये**=भुवं तनोति=कृषि-योग्य भूमि का विस्तार करनेवाले के लिए, भूमि जोतनेवाले के लिए, और इस प्रकार **वारिवस्कृताय** (वरिवः=धनं वरिवस्कृदेव वारिवस्कृतः स्वार्थे अण्) धन के उत्पादक के लिए **नमः**=हम

नमस्कार करते हैं। इस कृषि के द्वारा **ओषधीनां पतये**=विविध ओषधियों के रक्षक व स्वामी के लिए हम **नमः**=आदर देते हैं। यहाँ 'भुवन्तये' शब्द से साम्राज्य-वृद्धि की भावना लेना उपयुक्त नहीं। ३. अब शिल्प व कृषि से उत्पन्न पदार्थों को विचारपूर्वक मण्डियों (Market) में ले-जानेवाले **मन्त्रिणे**=विचारशील **वाणिजाय**=व्यापारी के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं और व्यापार की रक्षा के लिए **कक्षाणां पतये** (कक्ष=Gate)=सब द्वारों के रक्षकों का हम **नमः**=आदर करते हैं। इन द्वारों की रक्षा न होने पर तस्कर-व्यापार (Smuggling) बढ़ जाता है। इसके रोकने के लिए देश में प्रविष्ट होने के साधनभूत सब द्वारों की रक्षा होनी चाहिए। कक्ष शब्द का अर्थ 'वनलतागुल्मवीरुध आदि' भी है। इनसे नाना प्रकार की ओषधियों का निर्माण होता है, अतः इनके रक्षक का हम आदर करते हैं। ४. 'कक्ष' का अर्थ सामन्त (border) प्रदेश भी है। व्यापार की रक्षा के लिए और विशेषतः तस्कर व्यापार को रोकने के लिए सामन्त देश में नियुक्त सेना का जो सेनापति है जो **उच्चैःघोषाम्**=खूब गर्जती हुई आवाज़वाला है और **आक्रन्दयते**=युद्ध में शत्रुओं का सामना करनेवाला है तथा **पत्तीनां पतये**=जो पत्तियों का स्वामी है उसका हम आदर करते हैं। 'एको रथो गजश्चाश्वस्त्रयः पंच पदातयः। एष सेनाविशेषोऽयं पत्तिरित्यभिधीयते'=एक रथ, एक हाथी, तीन घोड़े, पाँच प्यादे-ये मिलकर 'पत्ति' कहलाती है। सामन्त प्रदेश में स्थान-स्थान पर इस प्रकार की पत्ति की व्यवस्था होती है। इन पत्तियों के स्वामी को हम आदर देते हैं।

भावार्थ—राष्ट्र में 'शिल्पी, कृषक या व्यापारी' ये सब उचित आदर पाएँ तथा प्रान्तभाग पर रक्षा के लिए नियत पत्तियों के पति का भी हमें आदर करना है।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—अतिधृतिः। **स्वरः**—षड्जः॥

रक्षक पुरुष

नमः कृत्स्नायतया धावते सत्वनां पतये नमो नमः सहमानाय निव्याधिनऽआव्याधिनीनां पतये नमो नमो निषङ्गिणे ककुभाय स्तेनानां पतये नमो नमो निचेरवे परिचरायारण्यानां पतये नमः ॥२०॥

१. गत मन्त्र की समाप्ति 'प्रान्तभाग पर नियुक्त रक्षकों के आदर' से हुई थी। उसी प्रसङ्ग को आगे कहते हैं कि **कृत्स्नायतया**=पूर्णरूप से (कृत्स्न) आयत खेंचे हुए आकर्णपूर्ण धनुष् के साथ **धावते**=रक्षा के लिए इधर-उधर भागते हुए अथवा सबके (आय) लाभ के दृष्टिकोण से गति करते हुए **सत्वनां पतये**=प्राणियों के रक्षक का **नमः**=हम आदर करते हैं। २. **सहमानाय**=(अरीन् सहते अभिभवति) शत्रुओं का पराभव करनेवाले **निव्याधिने**=(नितरां विध्यति) शत्रुओं का खूब वेधन करनेवाले के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं, और **आव्याधिनीनाम्**=समन्तात् शत्रुओं का वेधन करनेवाली शूर सेनाओं के **पतये**=पति का **नमः**= हम आदर करते हैं। **निषङ्गिणे**=तलवारवाले के लिए (द०) अथवा बाण, असि, बन्दूक, तोप व तोमर आदि शस्त्रवाले के लिए **ककुभाय**=महान् के लिए (द०), प्रसन्नमूर्त्ति के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं। **ककुभाय** =जो देखने में शानदार (Grand) लगता है, उसके लिए, और **स्तेनानां पतये**=अन्याय से परस्व-पराये धन को लेनेवालों को (पातयिष्णवे-द०, दण्डादिशोषकाय) दण्डादि से शोषित करनेवाले को **नमः**=हम आदर देते हैं। ४. **निचेरवे**=(नितरां पुरुषार्थे चरति-द०) नितरां पुरुषार्थ के साथ विचरनेवाले **परिचराय**=धर्म, विद्या, माता-पिता, स्वामी व मित्रादि की सेवा करनेवाले के लिए तथा **अरण्यानां पतये**=अरण्य में निवास

करनेवाले वानप्रस्थों के रक्षक के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं।

भावार्थ—चोरों व शत्रुओं से बचाकर सब वनस्थों की रक्षा करनेवाले राजपुरुषों को हम उचित आदर देते हैं।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—निचृदतिधृतिः। **स्वरः**—षड्जः॥

वञ्चन् परिवञ्चन

नमो वञ्चते परिवञ्चते स्तायूनां पतये नमो नमो निषङ्गिणऽइषुधिमते तस्कराणां पतये नमो नमः सृकायिभ्यो जिघांसद्भ्यो मुष्णतां पतये नमो नमोऽसिमद्भ्यो नक्तं चरद्भ्यो विकृन्तानां पतये नमः ॥२१॥

१. (क) **वञ्चते**=गति करनेवाले के लिए और **परिवञ्चते**=राष्ट्र में सर्वत्र विचरनेवाले को **नमः**=हम आदर देते हैं। राजपुरुष व राजा वही ठीक है जो कुर्सी पर ही न बैठा रहे, अपितु सर्वत्र घूमे। सर्वत्र घूमकर **स्तायूनाम्**=चोरों को **पतये**=दण्डप्रहार से गिरानेवाले का हम **नमः**=आदर करते हैं। स्तेन और स्तायु में यह भेद है कि घर में सेन्ध आदि लगाकर रात्रि में द्रव्यहरण करनेवाला 'स्तेन' है, अपने ही नौकर-चाकर दिन-रात अज्ञातरूप से द्रव्यहरण करनेवाले 'स्तायु' हैं। (ख) 'वञ्चते' का अर्थ छल से पर-पदार्थों का हरण करनेवाला भी है तब 'परिवञ्चते' का अर्थ होगा सब प्रकार से कपट के साथ व्यवहार करनेवाला। इनके लिए **नमः**=(वज्रादिशस्त्रप्रहरणम्—द०) वज्रादि शस्त्रों से प्रहार हो। २. **निषङ्गिणे**=चोरों से रक्षा के लिए तलवार आदि अस्त्रों का धारण करनेवाले का **इषुधिमते**=उत्तम तरकसवाले का **नमः**=हम आदर करते हैं और **तस्कराणां**=डाकुओं का **पतये**=पतन करनेवाले के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं। ३. **सृकायिभ्यः**=वज्र के साथ गति करनेवालों के लिए (सृकेण एतुं शीलं येषाम्) और उस वज्र से **जिघांसद्भ्यः**=शत्रुओं को नष्ट करने की इच्छावालों के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं। भ्रमण करते हुए, गश्त लगाते हुए जब कभी ये क्षेत्रों से अन्नापहरण करते हुए लोगों को देखते हैं तब उन **मुष्णताम्**=खेतों से चोरी करनेवालों के **पतये**=पतन करनेवालों का **नमः**=हम आदर करते हैं। ४. **नक्तंचरेभ्यः**=रात्रि में विचरनेवालों के वध के लिए **असिमद्भ्यः**=तलवार से सुसज्जित पुरुषों का **नमः**=हम आदर करते हैं और इस प्रकार रात्रि में पहरा देते हुए **विकृन्तानाम्**=छेदन-भेदन करनेवालों को **पतये**=दण्ड से गिरानेवाले के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं। 'विकृन्तानां' का अर्थ आचार्य ने 'गठकतरे' किया है, वह अर्थ भी बड़ा उपयुक्त है। रक्षापुरुषों ने 'स्तायु, तस्कर, मुष्णताम् व विकृन्तों' से प्रजा-जनों की रक्षा करनी है।

भावार्थ—रक्षापुरुषों का कार्य है कि वे १. घर में ही रहनेवाले और चोरी कर लेनेवाले नौकरों से, २. लुटेरों से, ३. खेत आदि से धान का अपहरण करनेवालों से तथा, ४. गठकतरों व छेदन-भेदन करनेवालों से प्रजा-जनों की रक्षा करें।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—निचृदष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः॥

उष्णीषिणे व गिरिचर—ग्रामणी व गिरिचर

नमऽउष्णीषिणे गिरिचराय कुलुञ्चानां पतये नमो नमऽइषुमद्भ्यो धन्वायिभ्यश्च वो नमो नमऽआतन्वानेभ्यः प्रतिदधानेभ्यश्च वो नमो नमऽआयच्छद्भ्योऽस्यद्भ्यश्च वो नमः ॥२२॥

१. **उष्णीषिणे**=जिसके माथे पर पगड़ी रक्खी गई है, उस प्रशस्त पगड़ीवाले ग्रामणी के लिए जो **गिरिचराय**=वेदवाणी में स्थित होकर विचरण करनेवाला है, अर्थात् शास्त्रानुकूल ग्राम की सब व्यवस्था करनेवाला है, उसके लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं। इस 'गिरिचर ग्रामणी' के लिए जो **कुलुञ्चानाम् (कुत्सितं लुञ्चन्ति)**=बुरी तरह से अपहरण करनेवालों का अथवा कुलानि लुञ्चन्ति=कुलों को बरबाद करनेवालों का अथवा कुशीलेन लुञ्चन्ति (द०)=बुरे स्वभाव से धनों के नष्ट करनेवालों का **पतये**=दण्ड से पतन करनेवाला है, उस गिरिचर ग्रामणी के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं। २. ग्राम आदि की रक्षा के लिए नियत **वः**=तुम **इषुमद्भ्यः**=प्रशस्त बाणोंवालों के लिए, **धन्वायिभ्यः च**=(धन्वना यन्ति—म०) धनुष के साथ विचरनेवालों के लिए **नमः**=नमस्कार करते हैं। ३. **आतन्वानेभ्यः**=धनुष पर ज्या को चढ़ानेवालों के लिए **च**=और उन धनुषों पर **प्रतिदधानेभ्यः**= बाण सन्धान करनेवाले **वः**=तुम्हारे लिए **नमः**=नमस्कार हो। ४. **आयच्छद्भ्यः**=इन धनुषों का आकर्षण करनेवालों के लिए **नमः**=नमस्कार हो, **च**=और **वः**=तुम्हारे **अस्यद्भ्यः**=बाणादि को फेंकनेवाले रक्षापुरुषों के लिए **नमः**=नमस्कार हो।

भावार्थ—ग्राम के मुखिया को शास्त्रानुसार व्यवहार करना है और कुलुञ्चों का नाश करने के लिए रक्षा-पुरुषों को नियत करना है।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—निचृदतिजगती। **स्वरः**—निषादः॥

कार्य व विश्राम

नमो विसृजद्भ्यो विध्यद्भ्यश्च वो नमो नमः स्वपद्भ्यो जाग्रद्भ्यश्च वो नमो नमः शयानेभ्यऽआसीनेभ्यश्च वो नमो नमस्तिष्ठद्भ्यो धावद्भ्यश्च वो नमः ॥२३॥

१. **विसृजद्भ्यो नमः**=शत्रुओं पर बाणों को छोड़ते हुओं का हम आदर करते हैं (Honour to those) **विद्ध्यद्भ्यः च वः**=और तुममें से शत्रुओं का वेधन करते हुओं के लिए **नमः**=हम आदर देते हैं। २. अपना कार्य करने के बाद **स्वपद्भ्यः**=सोते हुओं का **नमः**=हम आदर करते हैं **च**=उनके लिए भी **नमः**=आदर करते हैं जो **वः**=आपमें से **जाग्रद्भ्यः**=जाग रहे हैं—अपने कार्य में जागरूक हैं। ३. **शयानेभ्यः** =थककर लेटे हुओं का हम आदर करते हैं और **वः**=तुममें से **आसीनेभ्यः च**=बैठे हुओं का हम **नमः**=आदर करते हैं। ४. **वः**=आपमें से **तिष्ठद्भ्यः**=खड़े हुओं के लिए हम **नमः**=नमस्कार करते हैं **च धावद्भ्यः**=और कार्यवश इधर-उधर भागते हुओं का हम **नमः**=आदर करते हैं।

भावार्थ—हम उन सब रक्षा-पुरुषों का आदर करते हैं जो कार्य पर उपस्थित हैं या कार्य के बाद विश्राम की स्थिति में हैं।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—शक्वरी। **स्वरः**—धैवतः॥

सभा-सभापति (war-council)

नमः सभाभ्यः सभापतिभ्यश्च वो नमो नमोऽश्वेभ्योऽश्वपतिभ्यश्च वो नमो नमऽआव्याधिनीभ्यो विविध्यन्तीभ्यश्च वो नमो नमऽउगणाभ्यस्तृंहतीभ्यश्च वो नमः ॥२४॥

१. **सभाभ्यः**=शान्ति व युद्ध के समय देश की समृद्धि व रक्षा के विषय में विचार करने के लिए (सह भान्ति) एकत्र हुए विद्वानों का हम **नमः**=आदर करते हैं, **च**=और **वः**=आप **सभापतिभ्यः च**=उन सभा के सञ्चालकों का हम **नमः**=आदर करते हैं। २. **अश्वेभ्यः**=युद्ध में प्रमुख स्थान रखनेवाले तथा शान्ति के समय भी यातायात के प्रमुख साधनभूत घोड़ों को हम **नमः**=आदर देते हैं, **च**=और **वः**=आप **अश्वपतिभ्यः**=घोड़ों के रक्षकों व स्वामियों के लिए भी हम **नमः**=आदर का भाव रखते हैं। युद्ध का विजय करनेवाले इन घुड़सवार सैनिकों का आदर होना ही चाहिए। शान्ति के समय भी सामान को इधर-उधर पहुँचानेवाले इन अश्वस्वामियों को हम आदर प्राप्त कराते हैं। ३. **आव्याधिनीभ्यः**=समन्तात् शत्रुओं का वेधन करनेवाली सेनाओं के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं **च**=और **वः**=आपकी इन **विविध्यन्तीभ्यः**=विशेषरूप से शत्रुओं का वेधन करनेवाली सेनाओं का हम **नमः**=आदर करते हैं। ५. **उगणाभ्यः**=(उत्कृष्टा गणा यासां) उत्कृष्ट सैनिकगणोंवाली सेनाओं का **नमः**=हम आदर करते हैं **च**=और **वः**=आपकी **तृंहतीभ्यः**=शत्रु-हिंसन करती हुई सेनाओं का **नमः**=आदर होता है।

भावार्थ—राष्ट्र की सभाओं, सभापतियों, अश्वों, अश्वपतियों व अन्य शत्रुसंहारक सेनाओं का हम आदर करें।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—भुरिक्शक्वरी। **स्वरः**—धैवतः॥

गण-गणपति

नमो गणेभ्यो गणपतिभ्यश्च वो नमो नमो व्रातेभ्यो व्रातपतिभ्यश्च वो नमो नमो गृत्सेभ्यो गृत्सपतिभ्यश्च वो नमो नमो विरूपेभ्यो विश्वरूपेभ्यश्च वो नमः ॥२५॥

१. **गणेभ्यः**=एक स्थान पर रहनेवालों ने जो सहकर्मकर्तृ संघ (Co-operative societies) बना लिये हैं, उन 'संघों' का **नमः**=हम आदर करते हैं **च**=और **वः**=आप **गणपतिभ्यः**=इन संघों के अध्यक्षों के लिए **नमः**=हम आदर देते हैं। २. **व्रातेभ्यः**=एक प्रकार के काम करनेवालों ने (जैसे टाङ्गेवाले, मोटरवाले, रिक्शावाले) जो संघात (unions) बना लिये हैं, उन संघातों का हम **नमः**=आदर करते हैं **च**=और **वः**=आप **व्रातपतिभ्यः**=इन संघातों के मुखियाओं के लिए हम **नमः**=उचित सम्मानभाव रखते हैं। ३. **गृत्सेभ्यः**=(गृणन्ति) औरों के लिए सदा हित का उपदेश देनेवाले मेधावी पुरुषों के लिए **नमः**=नमस्कार हो, **च**=और **वः**=आपके इन **गृत्सपतिभ्यः**=विद्वानों के रक्षकों का (जो धनी पुरुष इन विद्वानों को वृत्ति देकर परिपालित करते हैं, उनका) **नमः**=हम आदर करते हैं। ४. **विरूपेभ्यः**=तेजस्विता के कारण विशिष्ट रूपवाले क्षत्रियों का **नमः**=हम आदर करते हैं, **च**=और **वः**=आप **विश्वरूपेभ्यः**=सबको अपना ही रूप समझनेवाले, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का सिद्धान्त माननेवालों के लिए हम **नमः**=नतमस्तक होते हैं।

भावार्थ—हम राष्ट्र में बने हुए गणों व व्रातों को उचित सम्मान दें। मेधावी पुरुष व तेजस्वी पुरुष तथा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के सिद्धान्त को माननेवाले पुरुष आदरणीय हैं।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—भुरिगतिजगती। **स्वरः**—निषादः॥

सेना-सेनापति

नमः सेनाभ्यः सेनानिभ्यश्च वो नमो नमो रथिभ्योऽअरथेभ्यश्च वो नमो नमः क्षत्तृभ्यः संग्रहीतृभ्यश्च वो नमो नमो महद्भ्योऽअर्भकेभ्यश्च वो नमः ॥२६॥

१. **सेनाभ्यः नमः**=हम राष्ट्र की सेनाओं का आदर करते हैं, **च**=और **वः**=आप **सेनानिभ्यः नमः**=सेनानायकों का हम आदर करते हैं। २. **रथिभ्यः**=सेना के अङ्गभूत रथियों के लिए **नमः**=आदर हो तथा **वः**=आप **अरथेभ्यः**=अविद्यमान रथवालों का भी **नमः**=हम आदर करते हैं। ३. **क्षत्तृभ्यः**='क्षिपन्ति प्रेरयन्ति सारथीन्' रथों के अधिष्ठाताओं के लिए **नमः**=आदर हो, **च**=और **वः**=आपके **संग्रहीतृभ्यः**=अश्वों की लगामों का संग्रहण करनेवालों के लिए **नमः**=नमस्कार हो। ४. **महद्भ्यः**=वर्ण, विद्या, स्थिति आदि की दृष्टि से बड़ों के लिए **नमः**=आदर हो **च**=और **वः**=आपके **अर्भकेभ्यः**=छोटे, निचले कर्मचारियों के लिए **नमः**=आदर हो।

भावार्थ—राष्ट्र-रक्षा करनेवाली सेनाओं, सेनापतियों, रथियों, पैदलों, अश्वाध्यक्षों, अश्वचालकों तथा बड़े-छोटे सभी का प्रजाजन आदर करें।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—निचृच्छक्वरी। **स्वरः**—धैवतः॥

तक्षा-रथकार (शिल्प-जातियाँ)

नमस्तक्षभ्यो रथकारेभ्यश्च वो नमो नमः कुलालेभ्यः कर्मारेभ्यश्च वो नमो नमो निषादेभ्यः पुञ्जिष्ठेभ्यश्च वो नमो नमः श्वनिभ्यो मृगयुभ्यश्च वो नमः ॥२७॥

१. राष्ट्र के अन्य सेवकों का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **तक्षभ्यः**=(काष्ठं तक्ष्णुवन्ति) रन्दा चलानेवाले बढ़ई आदि के लिए हम **नमः**=आदरभाव रखते हैं, **च**=और **वः**=इन बढ़इयों में **रथकारेभ्यः**=विविध प्रकार के रथों के निर्माताओं के लिए **नमः**=हम आदर का भाव प्रदर्शित करते हैं (विमानादि यान बनानेवालों के लिए—द०)। २. **कुलालेभ्यः**=मिट्टी के बर्तन बनानेवालों के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं, **च**=और **वः**=आपके इन **कर्मारेभ्यः**=लोहारों (खड्ग, बन्दूक और तोप आदि शस्त्र बनानेवालों) का **नमः**=हम आदर करते हैं। ३. **निषादेभ्यः**=(मात्सिकाः—द०, गिरिचरा भिल्लाः—म०) मछियारों का या गिरिचर, गेंडे, शेर आदि के शिकारी भीलों का **नमः**=हम आदर करते हैं। (पर्वतादि में रहकर दुष्ट जीवों को ताड़ना देनेवालों के लिए—द०) **च**=और **वः**=आपके इन **पुञ्जिष्ठेभ्यः**=(पक्षिपुञ्ज-घातकाः पुल्कसादयः—म०) पक्षियों के शिकारियों का **नमः**=हम आदर करते हैं। कृषिरक्षा के लिए कितने ही पक्षियों का शिकार आवश्यक हो जाता है। ४. **श्वनिभ्यः**=(शुनो नयन्ति इति श्वगणिकाः—उ०) वराहादि के शिकार के लिए श्वगणों का, कुत्ते रखनेवालों का हम **नमः**=आदर करते हैं **च**=और **वः**=आपके इन **मृगयुभ्यः**=अन्य कृषि-विनाशक पशुओं का संहार करनेवालों के लिए **नमः**=हम आदर देते हैं।

भावार्थ—राष्ट्र के सब शिल्पकारों व शिकारियों का भी हम उचित मान करें।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—आर्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

भव-रुद्र

नमः श्वभ्यः श्वपतिभ्यश्च वो नमो नमो भवाय च रुद्राय च नमः शर्वाय च पशुपतये च नमो नीलग्रीवाय च शितिकण्ठाय च ॥२८॥

१. राष्ट्र में शिकार व पहरे आदि में उपयोगी, चोरी आदि के अन्वेषण में पुलिस की मदद करनेवाले **श्वभ्यः**=कुत्तों को **नमः**=अन्नादि द्वारा उचितरूप से आदृत करते हैं, **च**=और **वः**=आपके इन **श्वपतिभ्यः**=कुत्तों (Dog squads) को शिक्षित करनेवालों को

नमः=हम आदर देते हैं। २. हम **नमः**=उस श्रेष्ठ गुण-सम्पन्न ब्राह्मण का भी आदर करते हैं जो **भवाय**=(शुभगुणादि-द०) सदा उत्तम गुणों में ही निवास करता है **च**=और **रुद्राय**=(रुत् दुःखं द्रावयति) दुःख को दूर भगानेवाला है। ३. उस ब्राह्मण का **नमः**=आदर करते हैं जो **शर्वाय**=(शृ हिंसायाम्) सब अशुभ वृत्तियों का संहार करनेवाला है **च**=तथा **पशुपतये**=(कामः पशुः, क्रोधः पशुः) काम, क्रोध आदि पाशव वृत्तियों को पूर्णरूप से अपने वश में रखता है, अथवा गवादि पशुओं का पालक है। ४. हम उस ब्राह्मण के लिए **नमः**=नमस्कार करते हैं जो **नीलग्रीवाय**=विविध विद्याओं से सुभूषित ग्रीवावाला है **च**=तथा **शितिकण्ठाय**=शुद्ध कण्ठ-स्वरवाला है। जो कभी अपशब्दों का प्रयोग न करता हुआ सदा शुद्ध शब्दों का ही प्रयोग करता है।

भावार्थ—हम राष्ट्र के उन ब्राह्मणों का आदर करते हैं जो सदा शुभ गुणों में निवास करनेवाले, ज्ञान देनेवाले, बुराइयों का संहार करनेवाले, काम-क्रोध को वशीभूत करनेवाले, विद्याविभूषित कण्ठवाले तथा शुद्ध कण्ठ स्वरवाले हैं।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—भुरिगतिजगती। **स्वरः**—निषादः॥

ब्राह्मण-क्षत्रिय

नमः॑ कप॒र्दिने॑ च॒ व्यु॑प्तकेशाय च॒ नमः॑ सहस्रा॒क्षाय॑ च श॒तध॑न्वने च॒ नमो॑ गिरिश॒याय॑ च शिपिवि॒ष्टाय॑ च॒ नमो॑ मी॒ढुष्ट॑माय॒ चेषु॑मते च ॥२९॥

१. **कपर्दिने**=(क-पर-द्) सुख की पूर्ति को देनेवाले—ज्ञान-प्रचारक ब्राह्मण का **नमः**=हम आदर करते हैं **च**=और **व्युप्तकेशाय**=जिसने सब बालों को मुण्डित करा दिया है उस ज्ञान-प्रचारक संन्यासी का **नमः**=हम आदर करते हैं। २. **सहस्राक्षाय**=गुप्तचररूपी हजारों आँखोंवाले राजा का हम आदर करते हैं, **च**=और राष्ट्र-रक्षा के लिए **शतधन्वने च**=सैकड़ों धनुर्धारी पुरुषोंवाले इस राजा के लिए **नमः**=हम आदरभाव रखते हैं। ३. **गिरिशयाय**=वाणी में शयन करनेवाले ज्ञानी के लिए **च**=और **शिपिविष्टाय**='यज्ञो वै शिपिः'=यज्ञों में प्रविष्ट व्यक्ति के लिए, सदा यज्ञों में जीवन बितानेवाले का **नमः**=हम आदर करते हैं। 'ज्ञान प्राप्त करना, ज्ञान प्राप्त करके तदनुसार यज्ञादि उत्तम कर्मों को करना' ऐसा जीवन-सूत्र बनाकर चलनेवाले पुरुष का हम आदर करते हैं। ४. (क) रक्षा के द्वारा **मीढुष्टमाय**=अधिक-से-अधिक सुखों का सेचन करनेवाले राजपुरुष के लिए **च**=और **इषुमते**=रक्षा के लिए प्रशस्त बाणों को धारण करनेवाले पुरुष का **नमः**=हम आदर करते हैं। (ख) **मीढुष्टमाय**=वृक्षों के खूब सेचक माली आदि के लिए तथा बाणादि का धारण कर पहरा देनेवाले के लिए **नमः**=हम आदर करते हैं।

भावार्थ—ज्ञानी ब्राह्मणों का तथा रक्षक क्षत्रियों का सदा मान करना चाहिए।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—विराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

ह्रस्व-वामन

नमो॑ ह्र॒स्वाय॑ च वाम॒नाय॑ च॒ नमो॑ बृह॒ते च॒ वर्षी॑यसे च॒ नमो॑ वृ॒द्धाय॑ च स॒वृधे॑ च॒ नमोऽग्र्या॑य च प्रथ॒माय॑ च ॥३०॥

१. उस **ह्रस्वाय**=छोटी उम्रवाले के लिए **च**=परन्तु **वामनाय**='वामं प्रशस्तं विज्ञानं विद्यते यस्य-द०' प्रशस्त विज्ञानवाले का **नमः**=हम आदर करते हैं अथवा छोटी उम्रवाले

और अतएव छोटे-छोटे अङ्गोंवाले को हम आदर देते हैं, उसे भी बीजरूप में व अंकुररूप में विद्यमान 'राष्ट्र का भावी उत्तम नागरिक' ही समझते हैं २. उस **बृहते**=प्रौढ़ अङ्गोंवाले के लिए **च**=और **वर्षीयसे**=अतिशयेन विद्या-वयोवृद्ध को **नमः**=हम आदर देते हैं। ३. **वृद्धाय च**=विद्या-विनयादि गुणों से बढ़े हुए के लिए **च**=और **सवृधे च**='समानैः सह वर्धते'=समान पुरुषों के साथ बढ़नेवाले का, अर्थात् मिलकर चलनेवाले का **नमः**=हम आदर करते हैं। ४. **अग्र्याय च**='अग्रे भवाय सत्कर्मसु पुरःसराय-द०' आगे होनेवाले के लिए, अर्थात् सत्कर्मों में सदा आगे चलनेवाले का **च**=और **प्रथमाय**=अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाले का **नमः**=हम आदर करते हैं। शक्तियों के विस्तार के कारण ही **प्रथमाय**=प्रसिद्ध (प्रख्याताय) को हम आदर देते हैं।

भावार्थ—आयु की दृष्टि से विविध स्थितियों में स्थित, राष्ट्र के अङ्गभूत सब व्यक्तियों का हम आदर करते हैं।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—स्वराडार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

आशु-अजिर या नादेय-द्वीप्य

नमऽआशवे चाजिराय च नमः शीघ्र्याय च शीभ्याय च नमऽऊर्म्याय चावस्वन्याय च नमो नादेयाय च द्वीप्याय च ॥३१॥

१. **आशवे**='अश्नुते कर्मसु' कर्मों में व्याप्त होनेवाले के लिए **च**=और **अजिराय**='अज गतिक्षेपणयो' क्रियाशीलता के द्वारा विघ्नों को दूर फेंकनेवाले को **नमः**=हम आदर देते हैं। २. **शीघ्र्याय च**=(शिंघति व्याप्नोति कर्मसु)=शीघ्रता से कर्मों में व्याप्त होनेवाले के लिए **च**=और **शीभ्याय च**=(To tell, to say, to speak) कर्मों द्वारा अपनी शक्ति का प्रतिपादन करनेवाले के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं। ३. **ऊर्म्याय** ='ऊर्मिषु भवाय' मन में उत्साह-तरङ्गों से युक्त के लिए **च**=और **अवस्वन्याय**='अर्वाचीनेषु स्वनेषु भवाय'=सदा नीचे स्वर में बोलनेवाले के लिए, अर्थात् उत्साहयुक्त होते हुए भी व्यर्थ में शोर न मचानेवाले के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं। ४. **नादेयाय**=नदियों में रहनेवाले के लिए, अर्थात् सदा सामुद्रिक व्यापारादि के कार्य में प्रवृत्त का हम **नमः**=आदर करते हैं **च**=और **द्वीप्याय**=जलान्तर्वर्ति प्रदेशों में रहकर कार्य करनेवालों के लिए हम आदर देते हैं।

भावार्थ—सदा राष्ट्र-हित के उद्देश्य से विविध संस्थानों में कार्यों में रत पुरुषों को हम आदृत करते हैं।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

छोटे-बड़े

नमो ज्येष्ठाय च कनिष्ठाय च नमः पूर्वजाय चापरजाय च नमो मध्यमाय चापगल्भाय च नमो जघन्याय च बुध्न्याय च ॥३२॥

१. **ज्येष्ठाय**=अत्यन्त प्रशस्य ज्येष्ठ के लिए—आयुष्य के दृष्टिकोण से सबसे बड़े के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं, **च**=और **कनिष्ठाय**=आयुष्य के दृष्टिकोण से छोटे के लिए युवा व अल्प के लिए नमस्कार हो। **पूर्वजाय**=सबसे प्रथम उत्पन्न हुए के लिए **च**=तथा **अपरजाय**=अन्त में उत्पन्न हुए के लिए **नमः**=हम आदर का भाव रखते हैं। ३. **मध्यमाय**=पूर्वज व अपरज के मध्य में होनेवाले के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं,

च=और **अपगल्भाय**=(अपगतो गल्भो यस्मात्, गल्भः=व्युत्पन्नता धाष्ट्र्यम्) अव्युत्पन्नेन्द्रिय–सांसारिक बातों में अप्रवीण छोटे बच्चे का भी हम आदर करते हैं। ४. **जघन्याय च**=जघन=पश्चाद्भाग में होनेवाले के लिए, अर्थात् शूद्रादि के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं, **च**=और **बुध्न्याय**=बिल्कुल मूल में होनेवाले–सबसे अन्तिम स्थानवाले अन्त्यजों का भी हम आदर करते हैं।

भावार्थ–राष्ट्र में उत्पन्न छोटे–बड़े तथा छोटे–बड़े कुलों में उत्पन्नों के लिए नमस्कार हो।

ऋषिः–कुत्सः। **देवता**–रुद्राः। **छन्दः**–आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**–धैवतः॥

ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः

नमः सोभ्याय च प्रतिसर्याय च नमो याम्याय च क्षेम्याय च नमः श्लोक्याय चावसान्याय च नमऽउर्वर्याय च खल्याय च ॥३३॥

१. **सोभ्याय**=(उभाभ्यां सहितः सोभः तत्र साधुः) परा तथा अपरा–विद्या से युक्त पुरुषों में उत्तम ब्राह्मण के लिए **नमः**=हम नतमस्तक होते हैं। **च**=फिर **प्रतिसर्याय**=प्रत्येक उत्तम कर्म में गतिशील पुरुषों में उत्तम ब्राह्मण के लिए (प्रति+सर्+य) हम आदरवान् होते हैं। २. **याम्याय च**=प्रजाओं के नियमन करनेवालों में उत्तम क्षत्रिय का **नमः**=हम आदर करते हैं, **च**=और उस क्षत्रिय का आदर करते हैं जो **क्षेम्याय**=योग–क्षेम को उत्तमता से प्राप्त करानेवाला है, अर्थात् जिस क्षत्रिय के राष्ट्र में सभी का क्षेम चलता है, कोई भूखा नहीं मरता। ३. **श्लोक्याय नमः** (श्लोकः यशस्)=उस वैश्य के लिए हम नमस्कार करते हैं जो अन्नादि के वितरण के कारण अति यशस्वी बना है। वैश्य कमाता है, परन्तु सभी का पालन भी करता है। इस पालन से ही वैश्य का जीवन यशस्वी बनता है। **च**=और उस वैश्य को हम आदर देते हैं जो **अवसान्याय**=कर्मों को अवसान तक पहुँचाने में उत्तम हैं। ये स्वार्जित धन का ठीक प्रयोग करते हुए राष्ट्रहित के सभी कार्यों को पूर्णता तक पहुँचानेवाले होते हैं। धन के बिना किसी भी कार्य की पूर्ति सम्भव नहीं है। ४. **नमः**=हम राष्ट्र में उन शूद्रों का भी आदर करते हैं जो **उर्वर्याय**=(उर्वरायां भवः) सर्वसस्य से आढ्य भूमियों पर उन्हें हलादि से जोतने के लिए निवास करते हैं, तथा **खल्याय**=धान्य विवेचन–(छिलके से अलग करना)–देशों में कुटाई आदि द्वारा धान्य को छिलके से अलग करने में लगे हैं।

भावार्थ–हम सोभ्य व प्रतिसर्य ब्राह्मणों का आदर करें। याम्य–क्षेम्य क्षत्रियों का, श्लोक्य व अवसान्य वैश्यों का तथा उर्वर्य व खल्य शूद्रों का भी हम उचित आदर करें। जीविका के लिए किये गये किन्हीं भी शास्त्रीय कर्मों से कोई छोटा–बड़ा नहीं होता।

ऋषिः–प्रजापतिः। **देवता**–रुद्राः। **छन्दः**–स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**–धैवतः॥

श्रव–प्रतिश्रव राजा

नमो वन्याय च कक्ष्याय च नमः श्रवाय च प्रतिश्रवाय च नमऽआशुषेणाय चाशुरथाय च नमः शूराय चावभेदिने च ॥३४॥

१. **वन्याय**=वन–प्रदेश में भी रक्षा की व्यवस्था करनेवाले राजा का **नमः**=हम आदर करते हैं **च** =और **कक्ष्याय**=झाड़ी–झंकाड़मय प्रदेशों में भी उत्तमता से रक्षा करनेवाले का

हम आदर करते हैं। २. **श्रवाय**=सबकी बात सुननेवाले राजा का **नमः**=हम आदर करते हैं **च**=और **प्रतिश्रवाय**=सबकी शिकायतों को दूर करने की प्रतिज्ञा करनेवाले राजा का हम **नमः**=आदर करते हैं ३. **आशुषेणाय** (आशुः शीघ्रा सेना यस्य)=शीघ्रता से मार्गों का व्यापन करनेवाली सेनावाले राजा का **नमः**=हम आदर करते हैं, **च**=और **आशुरथाय**=शीघ्रगामी रथवाले का हम आदर करते हैं। ४. उस राजा के लिए **नमः**=हम नतमस्तक होते हैं जो **शूराय**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाला है **च**=और **अवभेदिने**=शत्रुओं का अवभेदन करनेवाले का हम आदर करते हैं।

भावार्थ—हम उस राजा का आदर करें जो वनों व कक्ष-प्रदेशों का भी उत्तम रक्षक है, जो प्रजा की बात सुनता है और शिकायतों को दूर करता है। शीघ्रगामी सेनावाला और शत्रुओं का संहार करनेवाला है।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

क्षत्रिय

नमो बिल्मिने च कवचिने च नमो वर्मिणे च वरूथिने च नमः श्रुताय च श्रुतसेनाय च नमो दुन्दुभ्याय चाहनन्याय च ॥३५॥

१. **बिल्मिने च नमः**=(बिल्मं शिरस्त्राणमस्यास्तीति—म०) शिरस्त्राण (Helmet) को धारण किये हुए योद्धा को हम आदर देते हैं, **च**=और **कवचिने**=(पटस्यूतं कर्पासगर्भं देहरक्षकं कवचम्—म०) कपड़े के, रुई से भरे, सीये हुए देहरक्षक कवच को धारण करनेवाले के लिए हम नमस्कार करते हैं। (रुई में गोली उसी प्रकार धँस जाती है, जैसेकि मिट्टी में तोप का गोला)। २. **वर्मिणे च नमः**=लोहमय शरीररक्षक चर्म को धारण किये हुए सैनिक का हम आदर करते हैं, **च**=और **वरूथिने**=(वरूथ=रथगुप्ति) उत्तम रथ-गोपनवाले का भी हम आदर करते हैं। ३. **श्रुताय च**=अपने गुणों व विजयों के कारण प्रसिद्ध राजा का **नमः**=हम आदर करते हैं, **च**=और **श्रुतसेनाय**=अपनी वीरता व विजयों के कारण प्रसिद्ध सेनावाले का **नमः**=हम आदर करते हैं। ४. **दुन्दुभ्याय च**=और युद्ध के समय उत्तम दुन्दुभिवादक को **नमः**=हम आदर देते हैं, **च**=और **आहनन्याय**=उत्तम वादन-साधन दण्डादिवाले का भी हम आदर करते हैं। ये दुन्दुभि (drums) व आहनन-(drum-sticks)-वाले पुरुष युद्ध-वाद्य को बजाकर जहाँ शत्रुसैन्य को भयभीत करते हैं, 'दुन्दुशब्दने भावयति' दुन्दु शब्द से भयभीत करने से यह दुन्दुभि है, वहाँ यह 'आनक' शब्द स्वसैन्य को सोत्साह भी करता है, आनयति=उत्साहयति। युद्ध में इसी कारण इनका भी प्रमुख स्थान है। विजय का बहुत कुछ श्रेय इन्हें भी मिलता है।

भावार्थ—राष्ट्र की रक्षा करनेवाले क्षत्रियों का हमें उचित मान अवश्य करना चाहिए।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

शस्त्रास्त्र

नमो धृष्णवे च प्रमृशाय च नमो निषङ्गिणे चेषुधिमते च नमस्तीक्ष्णेषवे चायुधिने च नमः स्वायुधाय च सुधन्वने च ॥३६॥

१. **धृष्णवे च**=बाह्य शत्रुओं तथा अपने काम-क्रोधादि अन्तःशत्रुओं का धर्षण करनेवाले (धृष्णोतीति एवं शीलः) राजा के लिए **नमः**=हम आदर का भाव धारण करते हैं, **च**=और **प्रमृशाय**=(प्रमृशति विचारयति) सदा विचारशील राजा के लिए, कामादि से

प्रेरित न होकर विचारपूर्वक सन्धि-विग्रह आदि अपने कार्यों को करनेवाले के लिए हम सम्मान देते हैं। २. **निषङ्गिणे च**=तलवार धारण करनेवाले के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं, **च**=और **इषुधिमते**=तीरों से भरे तरकसों को धारण करनेवाले का हम सत्कार करते हैं। ३. **तीक्ष्णेषवे च**=और तेज़ बाणोंवाले के लिए हम आदर देते हैं **च**=तथा **आयुधिने च**=अच्छे प्रकार तोप आदि से लड़नेवाले वीरों से युक्त अध्यक्ष पुरुष का भी हम मान करते हैं। ४. **स्वायुधाय च**=उत्तम आयुधों से युक्त (त्रिशूलधारी महादेव के समान प्रतीत होनेवाले) इन सैनिकों का **नमः**=हम आदर करते हैं, **च**=और **सुधन्वने**=उत्तम धनुष धारण किये हुए सैनिक का भी हम मान करते हैं।

भावार्थ—विविध शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित सैनिकों का हमें सदा सम्मान करना चाहिए और इनके मुखिया शत्रुधर्षक, विचारशील राजा को भी आदर के भाव से देखना चाहिए।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

जलाध्यक्ष

नमः स्रुत्याय च पथ्याय च नमः काट्याय च नीप्याय च नमः कुल्याय च सरस्याय च नमो नादेयाय च वैशन्ताय च ॥३७॥

१. **स्रुत्याय च नमः**=स्रोतों—नाले आदि में नियुक्त पुरुष का हम आदर करते हैं **च**=और **पथ्याय च**=उन वारिप्रवाहों के साथ-साथ बने हुए मार्गों के शोधक पुरुष के लिए हम आदर देते हैं। २. **काट्याय च नमः**=कूप आदि में नियुक्त पुरुष का हम आदर करते हैं, **च**=और **नीप्याय**=(नीचैः पतन्त्यापो यत्र) बड़े गहरे जलाशयों में नियुक्त पुरुष का भी हम सम्मान करते हैं। ३. **कुल्याय च नमः**=नहरों का प्रबन्ध करनेवाले के लिए हम आदर देते हैं, **च**=और **सरस्याय**=तालाब (Tanks) आदि के काम में प्रसिद्ध होनेवाले के लिए हम मान का भाव धारण करते हैं। ४. **नादेयाय च नमः**=नदियों के विषय में नियुक्त पुरुष के लिए हम नमस्कार करते हैं, **च**=तथा **वैशन्ताय च**=छोटे-छोटे जोहड़ों—अल्पसरः (ponds) का ध्यान करनेवाले का हम सत्कार करते हैं।

भावार्थ—राष्ट्र में भिन्न-भिन्न स्थानों में नियुक्त जलाध्यक्षों का उचित आदर करना चाहिए। इनके कार्य की शुद्धि पर ही राष्ट्र में सारे क्षेत्रों की सिंचाई निर्भर है, अतः अन्नोत्पादन में इनका स्थान बड़ा महत्त्वपूर्ण है।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

देश-भेद

नमः कूप्याय चावट्याय च नमो वीध्र्याय चातप्याय च नमो मेघ्याय च विद्युत्याय च नमो वर्ष्याय चावर्ष्याय च ॥३८॥

१. **कूप्याय**=कूओं से सिंचाई करने योग्य देश के अध्यक्ष के लिए हम **नमः**=नमस्कार करते हैं, **च**=तथा **आवट्याय**=गर्तबहुल (अव=गड्ढा=गर्त) देश में कृषि की ठीक व्यवस्था करनेवाले पुरुष का **नमः**=हम आदर करते हैं। २. **वीध्र्याय च नमः**=(विगत इध्रो दीप्तिः यस्मात् स वीध्रो घनागमः) खूब बादलोंवाली वर्षाऋतु के प्राचुर्यवाली भूमि में नियुक्त पुरुष का हम आदर करते हैं, **च**=और **आतप्याय**=(आतपे भवः) खूब प्रचण्ड गरमीवाले प्रदेशों में नियुक्त पुरुष का भी हम मान करते हैं। ३. **मेघ्याय च नमः**=मेघोंवाले प्रदेश में नियुक्त

पुरुष का हम आदर करते हैं, **च**=और **विद्युत्याय च**=विद्युत् की विद्या में निपुण व विद्युत्-विभाग में नियुक्त पुरुष का हम आदर करते हैं। ४. **वर्ष्याय च नमः**=उत्तम वृष्टि की व्यवस्था करनेवाले के लिए या वृष्टिकाल में नियुक्त पुरुष का हम आदर करते हैं, **च**=और **अवर्ष्याय**=वर्षा के प्रतिबन्ध में निपुण पुरुष का हम आदर करते हैं।

भावार्थ—विविध देशों में नियुक्त राजपुरुषों के लिए हम उचित मान दें।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—स्वराडार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

स्वभाव-भेद व कार्यभेद

नमो वात्याय च रेष्म्याय च नमो वास्तव्याय च वास्तुपाय च नमः सोमाय च रुद्राय च नमस्ताम्राय चारुणाय च ॥३९॥

१. **वात्याय च नमः**=वायु-विद्या में कुशल अतएव वायु के रुख की सूचना देने के कार्य में नियुक्त मेटेरौलौजिकल विभाग के अध्यक्ष के लिए हम आदर देते हैं, **च**=और **रेष्म्याय**=(रिष हिंसायाम्) रेष्म में होनेवाले=डिस्ट्रक्शन के कार्य में नियुक्त स्लम क्लियरैन्स आदि कार्यों में नियुक्त व्यक्ति का भी हम आदर करते हैं। २. **वास्तव्याय च नमः**=गृहों में नियुक्त, अर्थात् गृहों के निर्माण में नियुक्त पुरुष का हम आदर करते हैं, **च**=और **वास्तुपाय**=निर्मित गृहों के रक्षण-कार्य में (मैण्टिनैन्स में) नियुक्त पुरुष के लिए भी हम सम्मान का भाव धारण करते हैं। ३. **सोमाय च नमः**=सोमादि ओषधियों के विज्ञान व प्रयोग में कुशल शरीरभूत औषध ही बने हुए वैद्य के लिए हम नतमस्तक होते हैं, **च**=और उन औषधों के द्वारा **रुद्राय**=(रुत् रोगं द्रावयति) रोगों को दूर भगानेवाले के लिए हम आदर देते हैं। ४. **ताम्राय च नमः**=ताम्र आदि धातुओं से निर्मित भस्मादि के प्रयोग में कुशल व्यक्ति का भी हम आदर करते हैं, **च**=और इन धातुओं के कुशल प्रयोग से **अरुणाय**=(प्रापकाय—द०) स्वास्थ्य को फिर से प्राप्त करानेवाले वैद्य के लिए हम आदर की भावनावाले होते हैं। ५. मन्त्र के उत्तरार्ध का अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है कि **सोमाय**=सौम्य स्वभाववाले **रुद्राय**=ज्ञान देकर औरों के दुःखों को दूर करनेवाले का हम आदर करते हैं। हम उस पुरुष का आदर करते हैं जो **ताम्राय**=(ताम्यति ग्लायति) बुरे कर्मों के करने से ग्लानि करता है तथा **अरुणाय**=शुभ कर्मों को प्राप्त कराने के लिए प्रयत्नशील होता है।

भावार्थ—राष्ट्र के उत्थान में भिन्न-भिन्न कार्यों में लगे हुए सब व्यक्तियों का—विशेषतः रोगों को दूर करके प्रजा के जीवन को सुखी बनानेवाले औषध-विज्ञान के पण्डित व प्रयोग में कुशल वैद्यों का हम आदर करते हैं।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—अतिशक्वरी। **स्वरः**—पञ्चमः॥

शान्तेन्द्रिय-शत्रुहन्ता

नमः शङ्गवे च पशुपतये च नमऽउग्राय च भीमाय च नमोऽग्रेवधाय च दूरेवधाय च नमो हन्त्रे च हनीयसे च नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यो नमस्ताराय ॥४०॥

१. **शङ्गवे च नमः**=(शं गावः यस्य, गावः=इन्द्रियाणि) शान्त इन्द्रियोंवाले व्यक्ति के लिए हम आदर देते हैं, **च**=और **पशुपतये**=(कामः पशुः, क्रोधः पशुः) काम, क्रोध आदि पाशववृत्तियों को पूर्णरूप से वशीभूत करनेवाले के प्रति हम सम्मान की भावना रखते

हैं। २. **उग्राय च नमः**=हम तेजस्वी पुरुष के लिए नमस्कार करते हैं, **च**=और **भीमाय**=जिससे शत्रु भयभीत होते हैं, उसका हम आदर करते हैं। ३. **अग्रेवधाय च नमः**=सेना के अग्रभाग में स्थित हुआ जो शत्रुओं का वध करता है, उसके लिए हम आदर देते हैं, **च**=और **दूरेवधाय**=(यो अरीन् दूरे बध्नाति–द०) शत्रुओं को दूर ही बाँधने व मारनेवाले के लिए हम नमस्कार करते हैं। ४. **हन्त्रे च नमः**=(यो दुष्टान् हन्ति तस्मै–द०) दुष्टों को नष्ट करनेवाले का हम आदर करते हैं, **च**=और **हनीयसे** (दुष्टानामतिशयेन हन्त्रे)=दुष्टों का अत्यन्त विनाश करनेवाले के लिए हम सम्मान का भाव रखते हैं। ५. **वृक्षेभ्यः नमः**=(ये शत्रून् वृश्चन्ति–द०) शत्रुओं को काट डालनेवालों के लिए हम आदर देते हैं, तथा शत्रुओं का सफ़ाया करके **हरिकेशेभ्यः**=(हरि क ईश) दुःखों के हरण व सुख-प्रापण के ईश पुरुषों को हम नमस्कार करते हैं। ६. **ताराय नमः**=(दुःखात् सन्तारकाय–द०) दुःखों से तरानेवाले सभी राष्ट्र-पुरुषों का हम मान करते हैं।

भावार्थ—'शान्तेन्द्रिय', 'वशीभूत काम-क्रोधादि वृत्ति' पुरुषों का आदर तो करना ही चाहिए साथ ही वीरतापूर्वक शत्रुओं का हनन करते हुए हमारे दुःखों को दूर करके सुखों के प्राप्त करानेवाले पुरुषों का भी हम आदर करें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—स्वराडार्षीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

शान्ति व सुख का राज्य Peace (Plenty) Pleasure

नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च ॥४१॥

१. **शम्भवाय च नमः**=(शम्भावयति तस्मै परमेश्वराय सेनाध्यक्षाय वा–द०) राष्ट्र में सब उपद्रवों को शान्त करके शान्ति का स्थापन करनेवाले प्रभु व सेनापति का हम आदर करते हैं **च**=और **मयोभवाय**=(pleasure, delight, satisfaction) शत्रुओं के नाश के द्वारा सब सुखों का उत्पादन करनेवाले प्रभु व सेनापति का हम सम्मान करते हैं। २. **शङ्कराय च नमः**=(शं लौकिकं सुखं करोति–म०) शान्ति-स्थापन के द्वारा सब सांसारिक सुखों को देनेवाले राष्ट्र के मुख्य पुरुष का हम आदर करते हैं, **च**=और उन्नति का वातावरण प्राप्त कराके **मयस्काराय**=मोक्षसुख को प्राप्त करानेवाले के लिए हम सम्मान का भाव रखते हैं (मयः=मोक्षसुखं करोति–म०)। ३. **शिवाय च नमः**=कल्याणरूप निष्पाप के लिए हम नमस्कार करते हैं, **च**=और **शिवतराय च**=अत्यन्त कल्याणरूप के लिए हम मान देते हैं।

भावार्थ—राष्ट्र में 'शं, मयः व शिव'=शान्ति, सुख व कल्याण करनेवालों का हम मान करें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

पारोवर्यवित्

नमः पार्याय चावार्याय च नमः प्रतरणाय चोत्तरणाय च नमस्तीर्थ्याय च कूल्याय च नमः शष्प्याय च फेन्याय च ॥४२॥

१. **पार्याय च नमः**=(परायां साधु) पराविद्या, अर्थात् ब्रह्मविद्याओं में निपुण आचार्य का हम आदर करते हैं, **च**=और **अवार्याय**=(अवरायां साधु) अपराविद्या, अर्थात् प्रकृतिविद्या में निपुण आचार्य के लिए हमारा आदर हो। अपराविद्या से मनुष्य संसार-सागर के इस किनारे पर ही रहता है और पराविद्या से पार पहुँचता है २. **प्रतरणाय च नमः**=अपराविद्या

से मृत्यु को तैरने व तैरानेवाले का हम आदर करते हैं, **च**=और **उत्तरणाय**=पराविद्या के द्वारा संसारोत्तरण हेतु—संसार से तरानेवाले आचार्य को हम आदर देते हैं। ३. **तीर्थ्याय च नमः**=ज्ञानादि के द्वारा सब पापों से तरानेवाले तीर्थों में उत्तम आचार्य के लिए हम नमस्कार करते हैं, **च**=और **कूल्याय च**=(कूल् To protect, to prevent) ज्ञान के द्वारा ही मानस विकारों से रक्षा करनेवालों तथा रोगों को शरीर में प्रवेश से रोकनेवालों में उत्तम इन 'कूल्य' आचार्यों के लिए हमारा आदर का भाव हो। ४. इन आचार्यों के 'पार्य व अवार्य' आदि बन पाने का रहस्य इस बात में है कि ये वनस्पति भोजन पर ही प्राणयात्रा करते हैं, अतः कहते हैं कि **शष्प्याय च नमः**=घास-तृण आदि, अर्थात् वानस्पतिक भोजन पर ही गुज़र करनेवालों का हम आदर करते हैं, **च**=और **फेन्याय**=फेनमय दुग्धादि का सेवन करनेवालों के लिए हमारा नमस्कार हो।

भावार्थ—पारोवर्यवित् आचार्यों का हम सदा मान करनेवाले बनें। हम भी इनकी भाँति वनस्पति व दुग्ध पर ही जीवन-निर्वाह करनेवाले हों।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः॥

गृह आदि निर्माण

नमः सिकत्याय च प्रवाह्याय च नमः किंशिलाय च क्षयणाय च नमः कपर्दिने च पुलस्तये च नमऽइरिण्याय च प्रपथ्याय च ॥४३॥

१. **सिकत्याय च नमः**=(सिकतासु भवः) बालू (रेता) के विज्ञान को जाननेवाले का हम आदर करते हैं, **च**=और **प्रवाह्याय**=(प्रवाहे स्रोतसि भवः) जलधारा में बहकर आनेवाली मिट्टी, रेत आदि के विज्ञान में निपुण पुरुष का भी हम आदर करते हैं। २. **किंशिलाय च नमः**=(कुत्सिताः क्षुद्राः शिलाः शर्करारूपाः पाषाणाः तेषु भवः) पत्थर झुर-झुरकर बनी हुई बजरी के प्रयोग को समझनेवाले का हम आदर करते हैं, **च**=और **क्षयणाय**=(क्षियन्ति निवसन्त्यापो यत्र) 'जिनमें जलों का निवास सम्भव है' इस प्रकार के सीमैण्ट आदि के द्वारा गृह-निर्माण-कुशल पुरुष के लिए भी हम मान देते हैं। ३. **कपर्दिने च नमः**=कौड़ी, सीप, शंख आदि के अध्यक्ष के लिए हम आदर देते हैं, **च**=तथा **पुलस्तये**=बड़े-बड़े भारी पदार्थों को उठानेवाले यन्त्रों के निर्माता (महाकायक्षेप्त्रे—द०) के लिए भी हममें सम्मान का भाव हो। ४. **इरिण्याय च नमः**=(इरिणम् ऊषरम् तत्र भवः) ऊसर भूमियों के अधिकारी व विज्ञाता का हम आदर करें, **च**=तथा **प्रपथ्याय**=(प्रकृष्टः पन्थाः तत्र भवः) प्रकृष्ट मार्गों के निर्माता का भी हम मान करें।

भावार्थ—घरों के बनाने में प्रयुक्त होनेवाले रेता, मिट्टी, बजरी व सीमैण्ट आदि के विज्ञाता तथा शंखादि के प्रयोगकर्त्ता, भारवाहक यन्त्रों के निर्माता, ऊसर भूमि के प्रयोगज्ञ तथा बड़े-बड़े मार्गों के निर्माताओं का हम मान करें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

विविध कर्मकर

नमो व्रज्याय च गोष्ठ्याय च नमस्तल्प्याय च गेह्याय च नमो हृदय्याय च निवेष्प्याय च नमः काट्याय च गह्वरेष्ठाय च ॥४४॥

१. **व्रज्याय च नमः**=(व्रजे गोसमूहे भवः) गोसमूह में कुशल पुरुष के लिए नमस्कार हो, **च**=और **गोष्ठ्याय**=गोशालाओं के अध्यक्ष के लिए आदर हो। २. **तल्प्याय**

च नमः=(तल्प शय्या) शयनागार के कर्मों में कुशल पुरुष के लिए आदर हो, उत्तम शय्यादि बनानेवाले का आदर हो, **च**=और **गेह्याय**=गृहकार्य में कुशल पुरुष के लिए भी आदर हो। ३. **हृदय्याय च नमः**=हृदय को प्रसन्न करनेवाले खिलौने आदि बनाने में कुशल पुरुष के लिए आदर हो, **च**=और **निवेष्याय**=उत्तम वेश (dresses) बनानेवाले का आदर हो। ४. **काट्याय च नमः**=कुओं के बनाने में कुशल पुरुष का आदर हो, **च**=और **गह्वरेष्ठाय**=कन्दराओं व गम्भीर जलाशयों के निर्माण में कुशल पुरुष का हम आदर करें। (गह्वरं गिरिगुहा, महदुदकं वा—उ०)।

भावार्थ—राष्ट्र में गडरिये से लेकर गम्भीर जलाशयों के निर्माता आदि मन्त्र-वर्णित सभी कर्मकरों का हम आदर करें, उन्हें तुच्छ न समझें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

व्यापारी व कृषक

नमः शुष्क्याय च हरित्याय च नमः पांसव्याय च रजस्याय च नमो लोप्याय चोलप्याय च नमऽऊर्व्याय च सूर्व्याय च ॥४५॥

१. **शुष्क्याय च नमः**=शुष्क पदार्थों (सूखे मेवों) के व्यापारी के लिए आदर हो, **च**=और **हरित्याय**=शाक आदि हरे पदार्थों के व्यापारी के लिए भी आदर हो। २. **पांसव्याय च नमः**=मिट्टी ढोनेवाले के लिए भी हम नमस्कार करते हैं, **च**=और **रजस्याय**=सूक्ष्म धूल का व्यापार करनेवाले का भी मान करते हैं। ३. **लोप्याय च नमः**=(लुप् छेदने) घास व लकड़ी आदि काटनेवाले के लिए आदर हो, **च**=और **उलप्याय**=(उलप=बल्वजादि तृणानि) तृण-विशेषों का संग्रह करनेवाले के लिए भी मान हो। ४. **ऊर्व्याय च नमः**=विशाल खेतों के स्वामियों का आदर हो (ऊर्व्यां भूमौ भवः—म०) **च**=और **सूर्व्याय**=शोभन भूस्वामियों के लिए हमारा मान हो।

भावार्थ—राष्ट्र के सब व्यापारियों व कृषकों का हम आदर करें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—स्वराट्प्रकृतिः। **स्वरः**—धैवतः॥

ओषधि-विक्रेता व काष्ठवाहक

नमः पर्णाय च पर्णशदाय च नमऽउद्गुरमाणाय चाभिघ्नते च नमऽआखिदते च प्रखिदते च नमऽइषुकृद्भ्यो धनुष्कृद्भ्यश्च वो नमो नमो वः किरिकेभ्यो देवानाᳪ हृदयेभ्यो नमो विचिन्वत्केभ्यो नमो विक्षिणत्केभ्यो नमऽआनिर्हतेभ्यः ॥४६॥

१. **पर्णाय च नमः**=सोमादि ओषधियों के पत्तों के व्यापारी का आदर हो, **च**=और **पर्णशदाय**=इन पत्तों को काटकर लानेवाले के लिए आदर हो। २. **उद्गुरमाणाय**=काष्ठभार उठानेवाले के लिए सत्कार हो, **च**=और **अभिघ्नते**=काष्ठछेदक (wood cutter) के लिए आदर हो। ३. **आखिदते च नमः**=खेतों को चर जानेवाले पशुओं को खदेड़नेवालों, अर्थात् क्षेत्ररक्षकों का भी हम आदर करते हैं **च**=और **प्रखिदते च नमः**=तोते आदि पक्षियों के खदेड़ने (खिद=To strike) से बागों की रक्षा करनेवालों का हम आदर करते हैं। ४. **इषुकृद्भ्यः च नमः**=बाणों के बनानेवालों का हम आदर करते हैं, **च**=और **धनुष्कृद्भ्यः**=धनुष्

बनानेवालों का भी हम मान करते हैं। ५. **किरिकेभ्यः वः नमः**=(कुर्वन्ति इति–उ०) विविध वस्तुओं के निर्माता आप सबका हम आदर करते हैं। ६. **देवानां हृदयेभ्यः नमः**=देवताओं के हृदयवालों के लिए, अर्थात् जिनका हृदय आसुर भावनाओंवाला न होकर दैवी भावनाओं से भरा है उनके लिए हम नमस्कार करते हैं। ७. देव-हृदयवाला बनने के लिए **विचिन्वत्केभ्यः**= अपने हृदय में दैव व आसुर भावनाओं का विवेचन करनेवालों के लिए आदर हो। सदा हृदय की पड़ताल करनेवालों का हम सम्मान करें। ८. आसुर भावनाओं का **विक्षिणत्केभ्यः**= विशेषरूप से (क्षिण्वन्ति हिंसन्ति) हिंसन करनेवालों का आदर हो। ९. **आनिर्हतेभ्यः नमः** =(आ समन्तात् निर्हतं येषां) समन्तात् इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि–सबमें से इन कामादि को दूर भगा देनेवालों का हम आदर करें। ७, ८, ९ की भावना बाह्य शत्रुओं के विषय में भी हो सकती है कि छिपे हुए शत्रुओं को ढूँढनेवालों, उनका हिंसन करनेवालों व समन्तात् दूर भगा देनेवालों का हम आदर करते हैं।

भावार्थ–ओषधि-विक्रेताओं, क्षेत्र-रक्षकों, शस्त्र-निर्माताओं तथा विविध शिल्पियों और निर्मल हृदयवाले, आत्म-निरीक्षण के अभ्यासियों का हम आदर करते हैं।

ऋषिः–परमेष्ठी, प्रजापतिर्वा देवाः। **देवता**–रुद्राः। **छन्दः**–भुरिगार्षीबृहती। **स्वरः**–मध्यमः।।

दरिद्र : आदर्श राजा

द्रापेऽअन्धसस्पते दरिद्र नीललोहित।
आसां प्रजानामेषां पशूनां मा भेर्मा रोङ् मो च नः किं चनाममत्॥४७॥

१. गत मन्त्र में राष्ट्र के सब अधिकारियों व अन्य कर्मकरों का उल्लेख करके कहते हैं कि **द्रापे**=(द्रा कुत्सायां गतौ, तस्याः पाति) कुत्सित गति से सबकी रक्षा करनेवाले! वस्तुतः राजा का मौलिक कर्त्तव्य यही है कि वह सभी को स्वधर्म में स्थापित करे और कुत्सित आचरण से बचाये। २. **अन्धसस्पते**=(क) हे अन्नों के पति! (अन्धस्=अन्न) राजा का दूसरा कर्त्तव्य यह है कि राजा राष्ट्र में किसी को भूखा न मरने दे ('नास्य विषये क्षुधा अवसीदेत्'–आपस्तम्ब)। धान्यों के अष्टम भाग को कर रूप में लेनेवाला राजा अन्नों का स्वामी तो बनता ही है। अचानक वृष्ट्यभाव में अन्न की कम उत्पत्ति होने पर राजा के वे अन्नकोश प्रजा के अन्नाभाव के कष्ट को दूर करनेवाले होते हैं। (ख) 'अन्धसस्पते' का अर्थ 'सोमपते' भी है (अन्धस्=सोम)=राजा अपने **सोम**=वीर्य-शक्ति की रक्षा करनेवाला हो। स्वयं संयमी राजा ही औरों का भी संयमन कर पाता है। ३. **दरिद्र**=निष्परिग्रह! राजा का यह सम्बोधन स्पष्ट कर रहा है कि राजा को प्रजा से कर प्रजा के कल्याण के लिए ही लेना है। उस कर का विनियोग उसे अपने लिए नहीं करना है। 'प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्'='प्रजाओं के ही कल्याण के लिए वह उनसे कर लेता था– यह राजा के जीवन का आदर्श होना चाहिए।' सारे कोश का स्वामी होते हुए भी राजा स्वयं निष्परिग्रह ही बना रहे। यह कोशरूप धेनु प्रजा के लिए धेनु=दूध पिलानेवाली हो, राजा के लिए तो यह 'वशा' बाँझ गौ ही हो। ४. **नीललोहित** =(कण्ठे नीलः, अन्यत्र लोहितः–म०) कण्ठ में नील हो, अर्थात् विविध विद्याओं से विभूषित कण्ठवाला हो और शरीर में अत्यन्त तेजस्वी हो। एवं, ब्रह्म व क्षत्र के उचित विकासवाला हो। ५. हे राजन्! तू ऐसी व्यवस्था कर कि **आसां प्रजानाम्**=इन प्रजाओं में से तथा **एषां पशूनाम्**=इन पशुओं में से **मा भेः**=कोई भयभीत न हो। सब प्रजाओं व पशुओं को सारे राष्ट्र में अकुतोभय सञ्चार हो।

मार्गों में व अन्धकार के समय चोर-डाकुओं आदि का ख़तरा न हो। ६. **मा रोक्**=(रुजो भङ्गे) इनका किसी प्रकार का भङ्ग न हो। ऐसी उत्तम व्यवस्था कर कि न्यायमार्ग पर चलनेवाले किसी का भी कार्य असफल न हो। ७. **उ**=और **च**=फिर **नः**=हममें से **किंचन**=कोई भी **मा आममत्**=रोगी न हो (अम रोगे)। एवं, राजा तीन व्यवस्थाएँ अवश्य शीघ्रातिशीघ्र करे (क) सब निर्भीक होकर आवागमन कर सकें, न्याय्यकार्यों में असफलताएँ न हों तथा रोग न फैलें।

भावार्थ—राजा 'द्रापि-अन्धसस्पति-दरिद्र व नीललोहित' हो और उसकी व्यवस्था इतनी उत्तम हो कि किसी को मार्गों में भय न हो, असफलताएँ न हों और रोग न फैलें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—आर्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

शम्-पुष्टम्-अनातुरम्

इमा रुद्राय तवसे कपर्दिने क्षयद्वीराय प्र भरामहे मतीः।
यथा शमसद् द्विपदे चतुष्पदे विश्वं पुष्टं ग्रामेऽअस्मिन्ननातुरम् ॥४८॥

१. **रुद्राय**=(रुत् ज्ञानं राति, रुतं दुःखं द्रावयति) ज्ञान देनेवाले—सारे राष्ट्र में ज्ञान का प्रसार करनेवाले और प्रजा के दुःखों को दूर करनेवाले राजा के लिए, २. **तवसे**=महान् व बलवान् राजा के लिए (तवस्—महान्=बलवान्) अथवा (तु To thrive) राष्ट्र की सर्वतोमुखी वृद्धि करनेवाले राजा के लिए। ३. **कपर्दिने**=प्रजाओं के लिए (क) सुख की (ख) परं=पूर्ति को (ग) देनेवाले राजा के लिए। राजा को चाहिए कि वह सदा अपनी उत्तम राष्ट्र-व्यवस्था से सभी के कष्टों को दूर करके उनके जीवन को सुखी बनाये। ४. **क्षयद्वीराय**=(क्षयन्तो वीरा यस्मिन्) जिसके समीप वीर पुरुषों का निवास है, अर्थात् जिस राजा की सेना वीरपुरुषों से परिपूर्ण है, उस राजा के लिए हम **मतीः**=(याभिः मन्यते स्तूयते) इन स्तुतियों व बुद्धियों को **प्र भरामहे**=प्रकर्षेण प्राप्त कराते हैं। ५. **यथा**=जिससे इस राजा के द्वारा बुद्धिपूर्वक की गई व्यवस्था से **द्विपदे चतुष्पदे**=दोपायों व चौपायों—मनुष्यों व पशुओं सभी के लिए **शम्**=शान्ति व सुख **असत्**=हो ६. **अस्मिन् ग्रामे**=इन राष्ट्र के नगरों में **विश्वम्**=सब कोई **पुष्टम्**=समृद्ध (possession वाला) हो और साथ ही **अनातुरम्**=आपद्रहित, स्वस्थ हो।

भावार्थ—राजा 'रुद्र, तवस्, कपर्दी व क्षयद्वीर' हो। उसकी उत्तम व्यवस्था से सब शान्त, समृद्ध व नीरोग जीवनवाले हों (शम्-पुष्टं-अनातुरम्)।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—आर्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

शिवा तनूः

या ते रुद्र शिवा तनूः शिवा विश्वाहा भेषजी।
शिवा रुतस्य भेषजी तया नो मृड जीवसे ॥४९॥

१. हे **रुद्र**=राष्ट्र के दुःखों को दूर करनेवाले राजन्! **या**=जो **ते**=तेरी **शिवा**=कल्याणकर **तनूः**=विस्तृत राजनीति है (द०) वह **शिवा**=सचमुच कल्याणकर हो। २. **विश्वाहा**=सदा **भेषजी**=कष्टों की औषधरूप हो, अर्थात् सब कष्टों को दूर करनेवाली हो। ३. **शिवा**=वह कल्याणकर नीति **रुतस्य**=रोगों की **भेषजी**=औषध हो, सब रोगों को दूर करनेवाली हो। ४. **तया**=अपनी उस नीति से **नः**=हमें **मृड**=सुखी कीजिए तथा ५. **जीवसे**=हमारे दीर्घ जीवन

का कारण बनो।

भावार्थ—राजा की राजनीति ऐसी सुन्दर हो कि उससे १. प्रजा के कष्ट दूर हों। ३. वह कल्याणकर होती हुई सब रोगों को दूर करनेवाली हो। २. उससे प्रजा के जीवन सुखी हों। ४. प्रजा दीर्घजीवी बने।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

दण्ड व अपराध-शून्यता

परि॑ नो रु॒द्रस्य॑ हे॒तिर्वृ॑णक्तु॒ परि॑ त्वे॒षस्य॑ दु॒र्म॒तिर॑घा॒योः।
अव॑ स्थि॒रा म॒घव॑द्भ्य॒स्तनुष्व॒ मीढ्व॑स्तो॒काय॒ तन॑याय मृड॥५०॥

१. **नः**=हमें **रुद्रस्य**=अन्यायकारियों को रुलानेवाले (रोदयति) राजा का **हेतिः**=अस्त्र **परिवृणक्तु**=छोड़ दे। हमपर दण्ड देनेवाले राजा का वज्र न गिरे, अर्थात् हम राजनियमों का पालन करते हुए राजा के प्रकोप से बचे रहें। २. और इस राजा की उचित व्यवस्था से हमें **त्वेषस्य**=(त्वेषति क्रोधेन ज्वलति, red with anger) क्रोध की ज्वाला से तमतमाते हुए **अघायोः** (अघं परस्य इच्छति)=सदा औरों का अशुभ चाहनेवाले अघायु पुरुष की **दुर्मतिः**=बुरी बुद्धि **परि**=(वृणक्तु) छोड़ दे। हम उसकी बुरी बुद्धि का शिकार न हो जाएँ, अर्थात् उत्तम राष्ट्र-व्यवस्था के परिणामस्वरूप दुष्ट लोग सज्जनों को पीड़ित न कर पाएँ। ३. **स्थिरा**=अपने दृढ़ शस्त्रों को तू **मघवद्भ्यः**=(मघ=मख) यज्ञशील जीवनवालों के लिए **अवतनुष्व**=शिथिल कर दे—धनुष की डोरी को उतार दे। ४. **मीढ्वः**=हे सब सुखों की वर्षा करनेवाले राजन्! तू **तोकाय**=हमारी सन्तानों के लिए तथा **तनयाय**=सन्तानों की भी सन्तानों के लिए **मृड**=सुख देनेवाला हो।

भावार्थ—राजा राष्ट्र में ऐसी उत्तम दण्ड-व्यवस्था करे कि दुर्जन सज्जनों को तङ्ग न कर सकें। यज्ञशीलों पर दण्डपात न हो।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—निचृदार्षीयवमध्यात्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

वृक्ष पर आयुधस्थापन

मीढु॑ष्टम॒ शिव॑तम शि॒वो नः॑ सु॒मना॑ भव। प॒र॒मे वृ॒क्षऽआयु॑धं नि॒धाय॒ कृत्तिं॒ वसा॑न॒ऽआ च॑र॒ पिना॑क॒म्बिभ्र॒दा ग॑हि॥५१॥

१. **मीढुष्टम**=अतिशयेन मीढ्वान्=सर्वाधिक सुखों का सेचन करनेवाले **शिवतम**=अधिक-से-अधिक कल्याण करनेवाले राजन्! **नः**=हमारे लिए **शिवः**=कल्याण करनेवाले **सुमनाः**=उत्तम मनवाले **भव**=होओ। राजा का मन सदा प्रजा के हित की कामनावाला हो तथा उसके सारे प्रयत्न प्रजा को सुखी बनाने के लिए हों। २. **परमे**=अत्यन्त प्रबल **वृक्षे**=(व्रश्चनीये छेदनीये शत्रुसैन्ये—द०) काटने योग्य शत्रुसैन्य पर **आयुधं निधाय**=खड्ग, भुशुण्डी और शतघ्नी आदि शस्त्रों को रखकर, अर्थात् इन आयुधों का शत्रुओं पर प्रयोग करते हुए, ३. **कृत्तिं वसानः**=छेदनक्रिया को धारण करता हुआ, अर्थात् शत्रुओं पर प्रयोग करता हुआ तू **आचर**=समन्तात् विचरण कर। ४. राष्ट्र की रक्षा के लिए **पिनाकम्**=(पाति रक्षति आत्मानं येन तद्धनुर्वर्मादिकम्—द०) रक्षा के साधनभूत धनुष को **बिभ्रत**=धारण किये हुए **आगहि**=तू आ।

भावार्थ—राजा ने प्रजा पर सुखों की वर्षा करके प्रजा का कल्याण सिद्ध करना है। शत्रुओं पर शस्त्र-प्रयोग द्वारा उनका छेदन करते हुए प्रजा के रक्षण के लिए धनुर्धर

बनकर विचरना है।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—आर्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।।

दण्ड

विकिरिद्र विलोहित नमस्तेऽअस्तु भगवः ।
यास्ते सहस्रᳬहेतयोऽन्यमस्मन्नि वपन्तु ताः ॥५२॥

१. **विकिरिद्र**=(विकिरन् इषून् द्रावयति इति—उ०) बाणों की विशिष्ट वर्षा के द्वारा शत्रुओं को भगानेवाले राजन्! २. **विलोहित**=विशिष्टरूप से प्रवृद्ध शक्तियोंवाले व विशिष्ट तेजवाले राजन्! ३. **भगव** =ऐश्वर्य व शक्ति आदि भगों से युक्त राजन्! ते **नमः अस्तु**=हम तेरे लिए नमस्कार करते हैं। ४. हे राजन् ! **याः**=जो **ते**=आपके **सहस्रं हेतयः**=हज़ारों अस्त्र व वज्र हैं **ताः**=वे **अस्मत् अन्यः**=हमसे भिन्न व्यक्ति को **निवपन्तु**=छिन्न करनेवाले हों, अर्थात् आपके अस्त्र नियमानुकूल चलनेवाले हम लोगों से भिन्न लोगों को ही नष्ट करनेवाले हों। आपका दण्ड दण्डनीय पुरुषों को ही दण्डित करनेवाला हो। वह दण्ड असमीक्ष्य प्रणीत होकर प्रजाओं के उद्वेग का कारण न बन जाए।

भावार्थ—राजा विचार करके दण्ड को दण्ड्यों पर ही डाले, जिससे वह दण्ड सारी प्रजाओं के रञ्जन का कारण बने।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।।

सहस्राणि सहस्रशः

सहस्राणि सहस्रशो बाह्वोस्तव हेतयः ।
तासामीशानो भगवः पराचीना मुखा कृधि ॥५३॥

१. हे **भगवः**=समग्र ऐश्वर्य-सम्पन्न राजन्! **तव बाह्वोः**=आपकी भुजाओं में **सहस्राणि**=हज़ारों प्रकार के **सहस्रशः**=संख्या में हज़ारों **हेतयः**=हनन-साधन शस्त्र हैं। २. **तासाम् ईशानः**=उनके पूर्ण प्रभु होते हुए, अर्थात् उनके चलाने व रोकने में पूर्ण अभ्यस्त होते हुए आप **तासाम्**=उन शस्त्रों के **मुखा**=मुखों को **पराचीना**=हमसे दूसरी ओर गया हुआ, अर्थात् हमसे विपरीत दिशा में **कृधि**=कर दीजिए। अपनी तोपों का मुख हमसे दूर दूसरी ओर कर दीजिए। आपके ये अस्त्र आपकी प्रजा को ही न भूनने लगें। ३. (क) ये अस्त्र प्रकारों के दृष्टिकोण से सहस्रों हैं, और प्रत्येक संख्या में हज़ारों में है। (ख) राजा व राजपुरुष इन अस्त्रों के प्रयोग में पूर्ण निपुण हैं। (ग) इन अस्त्रों का प्रयोग वे शत्रुओं पर ही करते हैं, अपनी प्रजा पर नहीं।

भावार्थ—शतशः शस्त्रों के प्रयोग में निपुण राजा शत्रुओं पर ही शस्त्र-प्रयोग करता है, उसके शस्त्र प्रजापीड़न का कारण नहीं बनते।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—विराडार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।।

अधि भूम्याम्

असंख्याता सहस्राणि ये रुद्राऽअधि भूम्याम् ।
तेषाᳬसहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥५४॥

१. राष्ट्र में राजपुरुषों की नियुक्ति की कोई निश्चित संख्या नहीं है। राष्ट्र छोटा होगा

तो राजपुरुषों की संख्या भी थोड़ी होगी। राष्ट्र के बड़े होने पर यह संख्या भी बड़ी हो जाती है, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **ये रुद्राः**=(रुत् दुःखं द्रावयन्ति) जो प्रजा के कष्टों को दूर भगाने में नियुक्त राजपुरुष हैं, (क) **असंख्याता**=जिनकी कोई संख्या निश्चित नहीं है जो (ख) **सहस्राणि**=हज़ारों ही हैं तथा (स हस्) प्रसन्न मनोवृत्तिवाले हैं, सड़ियल मिज़ाज के नहीं है, (ग) **अधि भूम्याम्**=(भूमि=पृथिवी शरीरम्) शरीर पर पूर्ण आधिपत्य रखते हैं, जिन्होंने शारीरिक उन्नति अधिक की है। २. **तेषाम्**=उन रुद्रों के **धन्वानि**=अस्त्रों को **सहस्रयोजने**=हज़ारों योजनों की दूरी तक **अवतन्मसि**=सुदूर विस्तृत करते हैं। ३. अभिप्राय यह कि राष्ट्र-रक्षा में विनियुक्त राजपुरुषों को शरीर के दृष्टिकोण से पूर्ण होना चाहिए तथा वे शस्त्रास्त्र की विद्या में निपुण बनकर दूर-दूर तक अस्त्रों का प्रयोग करनेवाले हों।

भावार्थ—राजपुरुष १. स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से शरीर के पूर्ण प्रभु हों, तथा २. अस्त्र-चालन-विद्या में निपुण हों।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—भुरिगार्ष्युष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

अधि अन्तरिक्षे

अस्मिन् महत्यर्णवेऽन्तरिक्षे भवाऽअधि।
तेषाꣳसहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि॥५५॥

१. हे **भवाः**=(भवति अस्मिन्) जिनके रक्षाकार्य में ही राष्ट्र की स्थिति सम्भव है वे राजपुरुष, जो **अस्मिन्**=इस **महति**=विशाल **अर्णवे**=दया के जलवाले **अन्तरिक्षे अधि**=हृदयान्तरिक्ष पर पूर्ण आधिपत्य रखते हैं, अर्थात् (क) जिनका हृदय विशाल है। (ख) दुःखियों को देखकर जिनका हृदय दयार्द्र हो उठता है। (ग) जिनके हृदय में वासनाओं के तूफ़ान नहीं उठते, जो सदा मध्यमार्ग में चलते हैं। २. **तेषाम्**=उनके **धन्वानि** =अस्त्रों को **सहस्रयोजने**=हज़ारों योजनों की दूरी तक **अवतन्मसि**=सुदूर विस्तृत करते हैं।

भावार्थ—राजपुरुष १. हृदय के दृष्टिकोण से सदा मध्यमार्ग पर चलनेवाले हों। २. और अस्त्र-विद्या में पारङ्गत हों।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। **देवता**—बहुरुद्राः। **छन्दः**—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

दिवं श्रिताः

नीलग्रीवाः शितिकण्ठा दिवꣳरुद्राऽउपश्रिताः।
तेषाꣳसहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि॥५६॥

१. जो **रुद्राः**=दुःखद्रावक राजपुरुष **नीलग्रीवाः**=विविध विद्याओं से सुभूषित ग्रीवावाले हैं। २. **शितिकण्ठाः**=(शितिः श्वेत=शुद्ध) शुद्ध कण्ठ स्वरवाले हैं। ३. **दिवं उपश्रिताः**=ज्ञान के प्रकाश को जिन्होंने समीपता से सेवन किया है, अर्थात् खूब ऊँचे ज्ञानी बने हैं। ४. **तेषाम्**=उनके **धन्वानि**=अस्त्रों को **सहस्रयोजने**=हज़ारों योजनों की दूरी तक **अवतन्मसि**=विस्तृत करते हैं।

भावार्थ—राजपुरुष १. मस्तिष्क के दृष्टिकोण से विविध विद्याओं से सुभूषित, खूब ज्ञानी हों। इनका कण्ठस्वर भी बड़ा शुद्ध हो। २. अस्त्र-विद्या के पारङ्गत तो हों ही।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। देवता—रुद्राः। छन्दः—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

अधः क्षमाचराः

नीलग्रीवाः शितिकण्ठाः शर्वाऽअधः क्षमाचराः।
तेषाᳬसहस्त्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि॥५७॥

१. **नीलग्रीवाः**=विविध विद्याओं से सुभूषित गर्दनवाले, २. **शितिकण्ठाः**=शुद्ध कण्ठस्वर-वाले, ३. **शर्वाः**=(शृणन्ति) शत्रुओं का संहार करनेवाले रुद्र, अर्थात् राजपुरुष, ४. **अधः**=सर्वदा अधोदृष्टिवाले, अर्थात् अपनी शक्ति आदि का गर्व न करनेवाले, सदा ५. **क्षमाचराः**=सहनशक्ति के साथ विचरनेवाले हैं, प्रजा से मूर्खतावश दी गई गालियों से उत्तेजना में नहीं आ जाते। ६. **तेषाम्**=उनके **धन्वानि**=अस्त्रों को **सहस्त्रयोजने**=हज़ारों योजनों की दूरी तक **अवतन्मसि**=विस्तृत करते हैं।

भावार्थ—राजपुरुष १. उद्धत न होकर विनीत हो। २. प्रजा की गालियों से तैश में न आनेवाले हों।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। देवता—रुद्राः। छन्दः—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

शष्पिञ्जराः (उत्प्लुत बन्धनवाले)

ये वृक्षेषु शष्पिञ्जरा नीलग्रीवा विलोहिताः।
तेषाᳬसहस्त्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि॥५८॥

१. **ये**=जो **वृक्षेषु**=(व्रश्चनीय छेदनीय) छेदन के योग्य काम, क्रोध व लोभ आदि शत्रुओं के विषय में **शष्पिञ्जराः**=(शङ् उत्प्लुतं बन्धनं पिञ्जरं येन) बन्धन से ऊपर उठ गये हैं, अर्थात् कामादि के बन्धन से जो ऊपर उठ गये हैं २. **नीलग्रीवाः**=विविध विद्याओं से सुभूषित कण्ठवाले हैं। ३. **विलोहिताः**=विशिष्ट रूप से उन्नति को प्राप्त (रोहित) अथवा तेजस्वी हैं। ४. **तेषाम्**=इन रुद्रों के **धन्वानि**=अस्त्रों को **सहस्त्रयोजने**=सहस्रों योजनों की दूरी तक **अवतन्मसि**=विस्तृत करते हैं। ५. रुद्रों=अर्थात् प्रजा के दुःखद्रावण में विनियुक्त पुरुषों को चाहिए कि वे (क) इन छेदनीय कामादि शत्रुओं के बन्धन से ऊपर उठे हुए हों, (ख) विद्या-विभूषित कण्ठवाले हों। (ग) तेजस्वी हों तथा (घ) दूर-दूर तक अस्त्रों के प्रयोग में निपुण हों।

भावार्थ—राजपुरुष विषयों के बन्धनों को परे फेंक चुके हों।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। देवता—रुद्राः। छन्दः—आर्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

विशिखासः (विशिष्ट ज्ञान की ज्वालावाले)

ये भूतानामधिपतयो विशिखासः कपर्दिनः।
तेषाᳬसहस्त्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि॥५९॥

१. **ये**=जो **भूतानाम् अधिपतयः**=शरीर के अङ्गभूत 'पृथिवी, जल, तेज, वायु व आकाश' इन पाँचों भूतों के अधिपति हैं, अर्थात् इन्हें जिन्होंने पूर्णतया अपने अनुकूल बनाया है, अर्थात् जो पूर्ण स्वस्थ हैं २. **विशिखासः**=(शिखा=ज्वाला) विशिष्ट ज्ञान की ज्योतिवाले हैं ३. **कपर्दिनः**=प्रजाओं के लिए सुख की पूर्ति करनेवाले हैं, अर्थात् विशिष्ट व्यवस्थाओं के द्वारा प्रजा के जीवन को सुखी बनानेवाले हैं। ४. **तेषाम्**=उन रुद्रों के—प्रजा के दुःखों का द्रावण करनेवाले राजपुरुषों के **धन्वानि**=अस्त्रों को **सहस्त्रयोजने**=हज़ारों योजनों की दूरी तक **अवतन्मसि**=सुदूर विस्तृत करते हैं।

भावार्थ—राजपुरुषों को (क) पूर्ण स्वस्थ होना चाहिए, (ख) ज्ञान की ज्योतिवाला होना चाहिए तथा (ग) उनका ध्येय प्रजा के जीवन को सुखी करना हो (कपर्दिनः)।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

पथिरक्षयः (मर्यादा-पालक)

ये पथां पथिरक्षयऽऐलबृदाऽआयुर्युधः।
तेषांꣳसहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि॥६०॥

१. **ये**=जो **पथां पथिरक्षयः**=मार्गों के रक्षक हैं, लौकिक व वैदिक मार्गों का अपने जीवन में पालन करते हैं तथा सुशासन से प्रजाओं के जीवन में भी मर्यादाओं को लुप्त नहीं होने देते। राजा का मुख्य कार्य यही है कि 'राजा चतुरो वर्णान् स्वधर्मे स्थापयेत'=वह सब वर्णों को स्वधर्म में स्थापित करे। २. **ऐलबृदाः** =(ऐलभृतः—म०) (इलानां अन्नानां समूह ऐलम्)=अन्नसमूह का ये धारण करनेवाले हैं। (ऐले बिभृति) राष्ट्र में अन्न की कमी नहीं होने देते। घर में पति-पत्नी का पहला क़दम यही होता है कि 'अन्न की कमी न हो' (इषे एकपदी भव) इसी प्रकार राष्ट्र में राजा का सर्वप्रथम यह प्रयत्न होना चाहिए कि राष्ट्र में अन्न की कमी न हो जाए। लोग भूख से न कराह उठें। ३. **आयुर्युधः**=ये (आयुर्जीवनं पणीकृत्य युध्यन्ते) राष्ट्र की उन्नति के लिए विरोधी तत्त्वों व विघ्नों के साथ युद्ध में अपने प्राणों की बाज़ी लगा दें, अर्थात् प्राणपन से राष्ट्रोन्नति में लगे रहें। ४. **तेषाम्**=इन रुद्रों=प्रजा-दुःखद्रावक राजपुरुषों के **धन्वानि**=अस्त्रों को **सहस्रयोजने**=हज़ारों योजनों की दूरी तक **अवतन्मसि**=विस्तृत करते हैं।

भावार्थ—राजपुरुष १. मार्ग-रक्षक (मर्यादा-पालक) हों, २. अन्न के धारण करनेवाले—अन्न की कमी न होने देनेवाले हों ३. प्राणपन से राष्ट्रोन्नति में लगे हुए हों।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

तीर्थ-प्रचरण (आचार्योपासन)

ये तीर्थानि प्रचरन्ति सृकाहस्ता निषङ्गिणः।
तेषांꣳसहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि॥६१॥

१. **ये**=जो **तीर्थानि**=अविद्यादि से तरानेवाले (तारयन्ति—द०) आचार्यों का **प्रचरन्ति**= उपासन करते हैं, आचार्य-चरणों में पहुँचकर सदा उत्तम उपदेश लेते रहते हैं। २. **सृकाहस्ता**= (सृका=आयुधम्) हाथों में आयुधों का ग्रहण करनेवाले, ३. **निषङ्गिणः**=प्रशस्त तलवारोंवाले हैं। ४. **तेषाम्**=उन प्रजा-दुःखद्रावक रुद्रों=राष्ट्रपुरुषों के **धन्वानि**=अस्त्रों को **सहस्रयोजने**=हज़ारों कोसों की दूरी तक **अवतन्मसि** =विस्तृत करते हैं।

भावार्थ—राष्ट्र के रक्षापुरुष (क) आचार्य-चरणों में उपस्थित होकर अपने कर्त्तव्य को सदा समझनेवाले हों, विद्या-वयोवृद्धों के ये उपासक हों। (ख) रक्षा के लिए अस्त्रों के धारण करनेवाले हों।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—विराडार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

खान-पान के विषय में प्रेरणा (स्वास्थ्य विभाग)

येऽन्नेषु विविध्यन्ति पात्रेषु पिबतो जनान्।
तेषांꣳसहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि॥६२॥

१. **ये**=जो **अन्नेषु**=अन्नों के विषयों में **विविध्यन्ति**=(विध्=To administer, govern)

विविध निर्देश देते हैं तथा २. **पात्रेषु**=पात्रों में **पिबतः**=दुग्ध, लस्सी आदि पीते हुए **जनान्**=लोगों को **विविध्यन्ति**=विशेषरूप से शासित करते हैं कि 'इस प्रकार के पेय के लिए इन पात्रों का प्रयोग करना है और इनका नहीं' (लस्सी के लिए बिना कलईवाले पात्र का प्रयोग नहीं करना)। ३. **तेषाम्**=उन रुद्रों के, प्रजा के रोगों को दूर करनेवाले राजपुरुषों के **धन्वानि**=अस्त्रों को **सहस्रयोजने**=हज़ारों योजनों की दूरी तक **अवतन्मसि**=विस्तृत करते हैं।

भावार्थ—राजपुरुषों को प्रजा के अन्दर 'खान-पान' के नियमों का भी विशेषरूप से अनुशासन करना है, जिससे सब प्रजाएँ नीरोग होकर सुखी हो सकें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—भुरिगार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

एतावन्तः—भूयांसः

यऽएतावन्तश्च भूयाᳬसश्च दिशो रुद्रा वितस्थिरे।
तेषाᳬसहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि॥६३॥

१. **ये**=जो **एतावन्तः च**=इतने, जिनका कि ऊपर मन्त्रों में उल्लेख किया गया है, **च**=अथवा **भूयांसः**=और भी जिनका स्पष्ट उल्लेख नहीं हुआ—वे सबके सब **रुद्राः**=प्रजा-दुःखद्रावक राजपुरुष जोकि **दिशः वितस्थिरे**=भिन्न-भिन्न दिशाओं में अपने-अपने नियुक्ति स्थानों में स्थित हैं। २. **तेषाम्**=उन सबके **धन्वानि**=अस्त्रों को **सहस्रयोजने**=हज़ारों योजनों की दूरी तक **अवतन्मसि**=हम सुदूर विस्तृत करते हैं, इनके दूर-दूर तक शत्रुओं का संहार करनेवाले अस्त्र प्रजा-रक्षण व प्रजा के सुख-वर्धन का साधन बनते हैं।

भावार्थ—सब राजपुरुषों का एक ही ध्येय होना चाहिए कि शस्त्र-प्रयोग के नैपुण्य से शत्रुओं का शातन (नाश) करके प्रजा के दुःखों को दूर करें और उसके सुख का वर्धन करें। इसी में 'रुद्र' नाम की सार्थकता है।

सूचना—'एतावन्तः भूयांसः' शब्द स्पष्ट संकेत कर रहे हैं कि राजपुरुषों की संख्या कार्यानुसार बढ़ सकती है।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—निचृद्धृतिः। **स्वरः**—ऋषभः॥

ये दिवि येषां वर्षम् इषवः

नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये दिवि येषां वर्षमिषवः। तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वाः। तेभ्यो नमोऽअस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः॥६४॥

१. **रुद्रेभ्यः नमः अस्तु**=रुद्रों के लिए, राजा की ओर से नियुक्त (रुत्=ज्ञानं राति=ददति) ज्ञान देनेवाले पुरुषों के लिए नमस्कार हो। उन रुद्रों के लिए **ये**=जो **दिवि**=(दिव=प्रकाश) प्रकाश फैलाने के कार्य में नियुक्त हैं, जिन्होंने **दिवि**=प्रकाश के क्षेत्र में द्युलोक व मस्तिष्क पर पूर्ण आधिपत्य प्राप्त किया है। २. **वर्षम्**=ज्ञान की वर्षा ही **येषाम्**=जिनके **इषवः**=बाण हैं, अर्थात् जो ज्ञान की वर्षा के द्वारा लोगों के दुःखों को दूर करने में लगे हैं। ३. **तेभ्यः**=इन ज्ञानवर्षणरूप बाणोंवाले रुद्रों के लिए **दश**=दस **प्राचीः**=पूर्वाभिमुख, पूर्व की ओर अंगुलियों को करता हूँ, अर्थात् बद्धाञ्जलि होकर प्रणाम करता हूँ। **दश दक्षिणाः**=इसी प्रकार से दक्षिणाभिमुख दस अंगुलियों को करता हूँ। **दश प्रतीचीः**=पश्चिमाभिमुख दस अंगुलियों को करता हूँ। **दश उदीचीः**=उत्तराभिमुख दस अंगुलियों को करता हूँ **दश ऊर्ध्वाः**=और ऊपर की ओर दस अंगुलियों को करता हूँ, अर्थात् इन ज्ञानप्रसारक

रुद्रों के लिए सब दिशाओं में नमस्कार करता हूँ। ४. **तेभ्यः नमः अस्तु**=इन रुद्रों के लिए अञ्जलिपूर्वक हमारा नमस्कार हो। 'दश वा अञ्जलेरंगुलयो, दिशि दिश्येवैभ्यः एतदञ्जलिं करोति'—श० ९।१।१।३९। **ते नः अवन्तु**=ये रुद्र ज्ञान देकर हमारी रक्षा करें। **ते नो मृडयन्तु**=इस ज्ञान-प्रदान द्वारा वे रुद्र हमारे जीवन को सुखी करें। ५. **ते**=वे रुद्र तथा हम सभी **यं द्विष्मः**=जिस ज्ञान में रुचि न रखनेवाले मूर्ख व्यक्ति को प्रीति के अयोग्य समझते हैं (द्विष अप्रीतौ) **यः च**=और जो **नः द्वेष्टि**=हम सबसे द्वेष करता है, अर्थात् सारे समाज का विरोध करता है और वस्तुतः उस विरोध के कारण ही द्वेष्य हो गया है, **तम्**=उसे **एषाम्**=इन रुद्रों के ही **जम्भे दध्मः**=दंष्ट्राकराल मुख में स्थापित करते हैं, (जम्भे=बिडाल के मुख में मूषक के समान पीड़ा में—द०) इसे न्यायोचित दण्ड देने के लिए व इसकी मनोवृत्ति को सुधारने के लिए उन्हें सौंपते हैं।

भावार्थ—वे राज्याधिकारी, जो प्रजा के मस्तिष्क को उज्ज्वल बनाने के लिए, ज्ञानवर्षण के लिए नियुक्त हुए हैं, उन राज्याधिकारियों का हम आदर करते हैं।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—धृतिः। **स्वरः**—ऋषभः॥

ये अन्तरिक्षे येषां वात इषवः

नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो येऽन्तरिक्षे येषां वातऽइषवः। तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वाः। तेभ्यो नमोऽअस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥६५॥

१. **रुद्रेभ्यः नमः अस्तु**=रुद्रों के लिए, राजा की ओर से नियुक्त (रोरूयमाणो द्रवति) प्रभु का नाम लेकर वासनाओं पर आक्रमण करनेवाले पुरुषों के लिए नमस्कार हो। उन रुद्रों के लिए **ये**=जो **अन्तरिक्षे**=हृदयान्तरिक्ष को निर्मल बनाने के लिए नियुक्त हुए हैं, 'अन्तरा क्षि'=जो लोगों को सदा मध्यमार्ग में चलने का उपदेश देते हैं, जो 'अति' की हानियों का उद्घोषण करते हुए लोगों के जीवनों को नीरोग व सुखी बनाने का यत्न करते हैं। २. **वातः इषवः**=निरन्तर क्रियाशीलता ही **येषाम्**=जिनके बाण हैं। ये लोगों के जीवन को क्रियाशील बनाकर उन्हें सुखी बनाने में लगे हुए हैं। इनका मुख्य प्रचार यही है कि सदा क्रिया में लगे रहो, जिससे तुम्हारे हृदयों में अशुभ वासनाएँ उत्पन्न ही न हों। हृदय की पवित्रता का मार्ग एक ही है, और वह यह कि वायु की भाँति सदा अपने जीवन को गतिमय बनाये रक्खो। ३. **तेभ्यः**=इन क्रियाशीलतारूप बाणवाले रुद्रों के लिए मैं **दश**=दस अंगुलियों को **प्राचीः**=पूर्वाभिमुख करता हूँ। **दश दक्षिणाः**=दस अंगुलियों को दक्षिणाभिमुख करता हूँ। **दश प्रतीचीः**=दश अंगुलियों को पश्चिमाभिमुख करता हूँ। **दश उदीचीः**=दस अंगुलियों को उत्तराभिमुख करता हूँ। **दश ऊर्ध्वाः**=और दस अंगुलियों को ऊर्ध्वाभिमुख करता हूँ, अर्थात् सब दिशाओं में इनके लिए मैं नमस्कार करता हूँ। ४. **तेभ्यः नमः अस्तु**=इन रुद्रों के लिए हमारा नमस्कार हो। **ते नः अवन्तु**=वे रुद्र हमारी रक्षा करें। **ते नो मृडयन्तु**=क्रियाशीलता की प्रेरणा से हमारे जीवनों को पवित्र बनाकर ये उन्हें मङ्गलमय बनाएँ। मङ्गल भी तो उन्हीं का होता है जो सदा गतिशील हों (मगि गतौ)। ५. **ते**=वे रुद्र तथा हम सभी **यम्**=जिस अक्रियाशील, परन्तु खूब खानेवाले और अतएव राष्ट्र पर भारभूत व्यक्ति को **द्विष्मः**=प्रीति के अयोग्य समझते हैं **यः च**=और जो **नः द्वेष्टि**=हम सबसे द्वेष करता है, **तम्**=उस अकर्मण्य बहुभुक् पुरुष को **एषाम्**=इन रुद्रों के **जम्भे**=न्याय के जबड़े

में **दध्मः**=स्थापित करते हैं। वे ही उचित दण्ड-व्यवस्था करके इनके जीवन को सुधारेंगे और इन्हें क्रियाशील बनाकर इनके हृदयों को निर्मल करेंगे।

भावार्थ—उन राजाधिकारियों को, जो प्रजा को वायु की भाँति निरन्तर क्रियाशीलता का उपदेश करके पवित्र-हृदय बनाने में लगे हैं, हम आदर देते हैं।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—धृतिः। **स्वरः**—ऋषभः॥

ये पृथिव्याम् येषाम् अन्नमिषवः

नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये पृथिव्यां येषामन्नमिषवः। तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वाः। तेभ्यो नमोऽअस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः॥६६॥

१. **रुद्रेभ्यः नमः अस्तु**=उन राज्याधिकारियों के लिए हम नमस्कार करते हैं, **ये**=जो **पृथिव्याम्**=(पृथिवी शरीरम्) लोगों के शरीरों के विषयों में नियुक्त हुए हैं, जिनका कार्य यह है कि वे आहारादि का उचित ज्ञान देकर (रुत्+र) लोगों को शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग की शक्तियों के विस्तार के योग्य बनाएँ (प्रथ विस्तारे)। २. उन रुद्रों के लिए हम नमस्कार करते हैं **येषाम्**=जिनका **अन्नम् इषवः**=अन्न ही बाण है। वे सर्वत्र लोगों को यह स्पष्ट करने में लगे हैं कि यह अन्न शरीर-रक्षा के लिए खाया जाता है (अद्यते), परन्तु यही अन्न जब स्वादवश शरीर-रक्षा का ध्यान न करते हुए खाया जाता है तो यह हमारे शरीरों को ही खा जाता है, 'अत्ति च भूतानि'। इनका प्रचार यही होता है कि तुमने खाने के लिए जीवन को प्राप्त नहीं किया, जीवन धारण के लिए ही तुम्हें इस अन्न का ग्रहण करना है। तुम अन्न के लिए नहीं हो, अन्न तुम्हारे लिए है। ३. **तेभ्यः**=इन रुद्रों के लिए **दश प्राचीः**=दस पूर्वाभिमुख अंगुलियों को करता हूँ। **दश दक्षिणाः, दश प्रतीचीः, दश उदीचीः, दश ऊर्ध्वाः**=दस दक्षिणाभिमुख, दस पश्चिमाभिमुख, दस उत्तराभिमुख तथा दस ऊपर की ओर अंगुलियों को करता हूँ, अर्थात् इन्हें सब दिशाओं में बद्धाञ्जलि होकर प्रणाम करता हूँ। ४. **तेभ्यः नमः अस्तु**=इन रुद्रों के लिए नमस्कार हो। **ते नः अवन्तु**=ये अन्न के उचित प्रबन्ध व ज्ञान देने से हमें रोगों से बचाएँ। हमारे शरीरों को विस्तृत शक्तिवाला बनाएँ। **ते नः मृडयन्तु**=नीरोग बनाकर वे हमारे जीवनों को सुखी करें। ५. **ते**=वे रुद्र तथा हम **यं द्विष्मः**=अन्न के विषय में ठीक आचरण न करनेवाले पुरुष को अप्रीति के योग्य समझते हैं, **यः च**=और जो **नः द्वेष्टि**=हम सबको द्वेष्य समझता है **तम्**=उस अन्न का अतियोग करनेवाले व विकृत अन्न को व्यापार की वस्तु बनानेवाले पुरुष को हम **एषाम्**=इन अन्न के विषय में नियुक्त राजपुरुषों के **जम्भे दध्मः**=न्याय की दंष्ट्रा में स्थापित करते हैं। वे ही इसका सुधार करेंगे।

भावार्थ—उन राज्याधिकारियों का हम आदर करें जो अन्न के विषय में उचित व्यवस्थाएँ करते हुए हमारे शरीरों को स्वस्थ व विस्तृत शक्तिवाला बनाने का प्रयत्न करते हैं।

सूचना—इस रुद्राध्याय को 'अन्न के उचित सेवन' के उपदेश के साथ समाप्त किया गया है। इस अन्न-सेवन के विषय से सप्तदशाध्याय का प्रारम्भ करते हैं—

॥ इति षोडशोऽध्यायः समाप्तः ॥

सप्तदशोऽध्यायः

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—भुरिगतिशक्करी। **स्वरः**—पञ्चमः॥

मेधातिथि का खान-पान

अश्म॒न्नूर्जं॒ पर्व॑ते शिश्रिया॒णाम॒द्भ्यऽओष॑धीभ्यो॒ वन॒स्पति॑भ्यो॒ऽअधि॒ सम्भृ॑तं॒ पयः॑। तां न॒ऽइष॒मूर्जं॑ धत्त मरुतः सꣳररा॒णाऽअश्मँ॑स्ते॒ क्षुन् मयि॑ त॒ऽऊर्ग्यं द्वि॒ष्मस्तं ते॒ शुगृ॑च्छतु॥१॥

१. हे **संरराणाः**=(संरममाणाः) आकाश में सम्यक् रमण करते हुए, अर्थात् ठीक समय पर गति करते हुए, अथवा सम्यक् रान्ति=सम्यक् वृष्टि करनेवाले **मरुतः**=वायुओ! (monsoon winds) **अश्मन्**=(अशनवति) सब भोजनों को प्राप्त करानेवाले इस मेघ में तथा **पर्वते**=पर्वतों पर **शिश्रियाणाम्**=आश्रित—इन पर्वतों पर वृष्टि होकर विविध ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं तथा वहाँ से नदियों के रूप में यह जल बहकर मैदानों में भी अन्न इत्यादि की उत्पत्ति का कारण बनता है। एवं, हमारा सारा अन्न इन मेघों एवं पर्वतों पर ही आश्रित है। इस मेघ व पर्वतों पर आश्रित **ऊर्जम्**=(ऊर्ज बलप्राणनयोः) बल व प्राणशक्ति के बढ़ानेवाले अन्न को **नः**=हमारे लिए दो। २. हे मरुतो! आपसे कराई गई वृष्टि के इन **अद्भ्यः**=जलों से **ओषधीभ्यः वनस्पतिभ्यः**=ओषधियों व वनस्पतियों से **पयः**=दूध **अधिसम्भृतम्**=गौ इत्यादि पशुओं में आधिक्येन संभृत होता है। जल पीकर ओषधि-वनस्पतियों का सेवन करके ये गौवें हमारे लिए उत्कृष्ट दूध का पोषण करती हैं। ३. हे **मरुतः**=वायुओ! **ताम्**=उस **इषम् ऊर्जम्**=अन्न व रस का **नः**=हमारे लिए **धत्त**=धारण करो। ४. **अश्मन्**=हे भक्षक अग्ने (उ०)! **ते क्षुत् मयि**=तेरे—वैश्वानर अग्नि के रूप में जठर में स्थित होकर भोजन के ठीक पाचन से होनेवाली भूख मुझमें हो, अर्थात् मेरी जठराग्नि ठीक हो और मैं उचित भूख को अनुभव करूँ। हे **अश्मन्**=सब भोजनों को प्राप्त करानेवाले (अशनवति) मेघ **ते ऊर्क्**=तेरा यह शक्तिप्रद अन्न मुझमें हो। ५. **ते शुक्**=तेरा शोक व सन्ताप, अन्न के अधिक खाजाने से होनेवाला कष्ट **तं ऋच्छतु**=उसी को प्राप्त हो जो सबके साथ द्वेष करता रहता है और परिणामतः हम सब भी **यं द्विष्मः**=जिसे अप्रीतिकर समझते हैं। इस वैर-रुचि पुरुष को ही अन्न सन्तापकारी हो।

भावार्थ—१. हम वृष्टि से उत्पन्न अन्न व रस को प्राप्त करें। २. हमें इन ओषधियों का सेवन करनेवाली गौवों का दूध प्राप्त हो। ३. हमें सदा उचित भूख लगे। ४. अन्न हमारे लिए सन्तापकारी न हों।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्विकृतिः। **स्वरः**—मध्यमः॥

यज्ञ

इ॒मा मे॑ऽअग्न॒ऽइष्ट॑का धे॒नवः॑ स॒न्त्वेका॑ च॒ दश॑ च॒ दश॑ च श॒तं च॑ श॒तं च॑ स॒हस्रं॑ च स॒हस्रं॑ चा॒युतं॑ चा॒युतं॑ च नि॒युतं॑ च नि॒युतं॑ च प्र॒युतं॒ चार्बु॑दं च॒ न्य॒र्बु॑दं च समु॒द्रश्च॒ मध्यं॒ चान्त॑श्च परा॒र्द्धश्चै॒ता मे॑ऽअग्न॒ऽइष्ट॑का धे॒नवः॑ स॒न्त्व॒मु॒त्रा॒मु॒ष्मिँ॑ल्लो॒के॥२॥

१. गत मन्त्र में वृष्टि से होनेवाले 'अन्न-रस का' उल्लेख था। वस्तुतः 'पर्जन्यादन्नसम्भवः'

सब अन्न का सम्भव पर्जन्य से ही होता है, परन्तु यह पर्जन्य 'यज्ञाद् भवति पर्जन्यः' इस वाक्य के अनुसार यज्ञ से होता है, अतः प्रस्तुत मन्त्र में इस यज्ञ के पालकत्व का प्रतिपादन करते हुए मेधातिथि के मुख से प्रार्थना कराते हैं कि हे **अग्ने**=यज्ञादि में विनियुक्त होकर बादलों को जन्म देनेवाले अग्ने! **इमाः**=ये **ये**=इस देह से किये जानेवाले **इष्टकाः**=यज्ञ (यज्+क्त=इष्ट, इष्ट+टाप्) **धेनवः सन्तु**=दुधारू गौवों के समान हमारा पालन करनेवाले हों। वस्तुतः यज्ञ बादलों की उत्पत्ति द्वारा अन्नादि का कारण बनकर सदा हमारा पालन करता है तथा रोगकृमियों के संहार के द्वारा भी यह यज्ञ हमारा रक्षक होता है। २. ये यज्ञ तो मेरे जीवन में निरन्तर चलें, मेरा जीवन ही यज्ञमय हो जाए। **एका च**=यह यज्ञ प्रत्येक प्रातःकाल में एक संख्यावाला होता हुआ भी **दश च**=प्रतिदिन होने से दस संख्यावाला हो। **दश च**=दस संख्यावाला ही क्या **शतं च**=यह सौ संख्यावाला हो। **शतं च**=सौ क्यों? **सहस्रं च**=मेरा जीवन हज़ारों यज्ञों से युक्त हो। **सहस्रं च**=सहस्र ही क्यों? **अयुतं च**=मेरा जीवन दस हज़ार यज्ञोंवाला हो। **अयुतं च नियुतं च**=दस हज़ार यज्ञोंवाला होता हुआ यह मेरा जीवन एक लाख यज्ञोंवाला हो। **नियुतं च प्रयुतं च**=एक लाख से भी अधिक दस लाख इन यज्ञों की संख्या हो। **अर्बुदं च**=ये यज्ञ एक करोड़ हो जाएँ। **न्यर्बुदं च**=दस करोड़ तक इनकी संख्या हो। प्रत्येक घर में होने पर इनकी संख्या दस करोड़ ही क्यों? **समुद्रश्च**=ये यज्ञ अरब संख्या तक पहुँचे, **मध्यं** =दस अरब, तथा **अन्तः च**=खरब तथा **परार्धश्च**=ये यज्ञ तो दस खरब हो जाएँ। ३. मैं तो यह चाहता हूँ कि **अग्ने**=सब यज्ञों के प्रवर्तक प्रभो! **एता मे इष्टकाः**=ये मेरे यज्ञ **अमुत्र**=परलोक में **अमुष्मिन् लोके**=उस दूर लोक में भी **धेनवः सन्तु**=मेरा पालन करनेवाले हों। इस लोक में तो ये यज्ञ कल्याण करते ही हैं, ये परलोक में भी कल्याणकारक हों।

भावार्थ—हम अपने जीवनों को यज्ञमय बनाएँ। यज्ञ इस लोक में सात्त्विक अन्न व नीरोगता देनेवाला होकर कल्याण करता है तथा यज्ञ में निहित त्याग की भावना परलोक में कल्याण करनेवाली होती है।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

ऋतवः-ऋतुष्ठाः

ऋतव स्थऽऋतावृधऽऋतुष्ठा स्थऽऋतावृधः।
घृतश्च्युतो मधुश्च्युतो विराजो नाम कामदुघाऽअक्षीयमाणाः॥३॥

१. गत मन्त्र में यज्ञ का वर्णन था। उन यज्ञिय स्वभाववाले पुरुषों से कहते हैं कि **ऋतवः स्थ**=तुम अपने जीवन में बड़ी नियमित गतिवाले बनो (ऋ गतौ)। ऋतुएँ जैसे समय पर आती हैं उसी प्रकार तुम अपने सब कार्य समय पर करनेवाले बनो। २. **ऋतावृधः**=इस ऋत से प्रत्येक कार्य को ठीक समय व ठीक स्थान पर करने से बढ़नेवाले बनो। 'ऋत' तुम्हारी वृद्धि का कारण बने। ३. **ऋतुष्ठाः स्थ**=तुम ऋतुओं में स्थित होओ, अर्थात् तुम्हारा आहार-विहार ऋतुओं के अनुकूल हो तथा **ऋतावृधः**=उस-उस ऋतु में किये जानेवाले यज्ञों से अथवा समय-समय पर होनेवाले सत्यानुष्ठान से तुम्हारा वर्धन हो। ४. इस ऋतुचर्या के ठीक पालन से तुम **घृतश्च्युतः**=घृत के स्वामी बनो। तुम्हारे मस्तिष्क में ज्ञान-दीप्ति हो। तुम्हारे चेहरे पर स्वाथ्य व ज्ञान की आभा टपकती हो तथा **मधुश्च्युतः**=तुम मधुस्रावी बनो। तुम्हारे व्यवहार में तुम्हारी वाणी से माधुर्य टपकता हो। 'अन्दर ज्ञानाग्नि, बाहर माधुर्यमयी वाणी की शीतलता' ये हों तुम्हारे जीवन में। ५. (विशेषेण राजते, नाम इति प्रसिद्धौ) इस ज्ञान व माधुर्य के कारण तू 'विराज' नाम से प्रसिद्ध हो। अथवा इन्द्रियों को

विशेषरूप से शासित करनेवाले के रूप में तुम्हारी प्रसिद्धि हो। ६. **कामदुघाः**=इन्द्रियों को वश में करके काम्य=चाहने योग्य पदार्थों का ही अपने में प्रपूरण करनेवाले तुम बनो। ७. और इस प्रकार अनिष्ट वस्तुओं के सेवन से दूर रहकर तुम **अक्षीयमाणाः**=कभी क्षीणशक्ति न होवो। जीर्णता का मूल अनिष्ट वस्तुओं का स्वादवश सेवन ही है। स्वाद से ऊपर उठकर हम स्वनाश से भी ऊपर उठ जाते हैं।

भावार्थ—हमारी गति नियमित हो। यज्ञों से हम शक्तियों का वर्धन करें। अनिष्ट पदार्थों के सेवन से शक्तियों का क्षय न होने दें।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्षीगायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

समुद्र की अवका (रक्षा-शक्ति)

समुद्रस्य॒ त्वाव॑कयाग्ने॒ परि॑ व्ययामसि। पा॒व॒कोऽअ॒स्मभ्य॑ᳪशि॒वो भ॑व ॥४॥

१. गत मन्त्र के अनुसार जीवन-निर्माण से शरीर का स्वास्थ्य ही नहीं, मनःस्वास्थ्य भी प्राप्त होता है। 'प्रसन्न मन' सर्वोत्तम रक्षण-साधन है। मन के प्रसन्न होने पर रोग भी शरीर में प्रवेश नहीं कर पाते। 'मनःप्रसाद' मनुष्य को सर्वोत्तम स्थिति प्राप्त कराता है, अतः प्रभु जीव से कहते हैं हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **त्वा**=तुझे **समुद्रस्य**=(स+मुद्) सदा प्रसन्नता के साथ रहनेवाले मन की **अवकया**=रक्षाशक्ति से **परिव्ययामसि**=चारों ओर से आच्छादित करते हैं। यह 'मनःप्रसाद' तुझे सब आधि-व्याधियों के आक्रमण से बचाएगा। २. **पावकः**=मनःप्रसाद के द्वारा अपने जीवन को पवित्र बनानेवाला तू **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **शिवः भव**=कल्याण करनेवाला बन। तू अपने जीवन से कभी किसी का अशुभ न कर।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के साधन निम्न हैं—१. मनःप्रसाद के द्वारा अपने को आधि-व्याधियों से बचाना। २. ज्ञान के द्वारा जीवन को पवित्र बनाना। ३. सभी का कल्याण करना।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्षीगायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

हिम का जरायु

हि॒मस्य॑ त्वा ज॒रायु॑णाग्ने॒ परि॑ व्ययामसि। पा॒व॒कोऽअ॒स्मभ्य॑ᳪशि॒वो भ॑व ॥५॥

१. गत मन्त्र में 'मनःप्रसाद' का उल्लेख था। प्रस्तुत मन्त्र में उसके कभी क्षुब्ध न होने का उल्लेख है। प्रभु कहते हैं कि हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **त्वा**=तुझे **हिमस्य**=शीतलता के **जरायुणा**=आवरण से **परिव्ययामसि**=चारों ओर से आच्छादित करते हैं। थोड़े से मानापमान से तू क्षुब्ध नहीं हो उठता। तुझमें क्रोधाग्नि नहीं भड़क उठती। तू सदा शान्त रहता है। २. इस शीतलता के द्वारा **पावकः**=अपने हृदय को पवित्र करनेवाला तू ३. **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **शिवः**=कल्याणकर हो। तू मन, वाणी व कर्म से कभी किसी का अशुभ करनेवाला न हो। शिव बनकर ही तू 'शिव' को प्राप्त करेगा।

भावार्थ—१. हम अपने व्यवहार में सदा शान्त रहें। २. पवित्र जीवनवाले हों। ३. सभी का कल्याण करें। यही प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

अपां पित्तम्

उप॒ ज्मन्नुप॑ वेत॒सेऽव॑तर न॒दीष्वा। अ॒ग्ने पि॒त्तम॒पाम॑सि॒ मण्डू॑कि॒ ताभि॒राग॑हि॒ सेमं नो॑ य॒ज्ञं पा॑व॒कव॑र्णᳪशि॒वं कृ॑धि ॥६॥

१. गत मन्त्र की भावना, अर्थात् प्रभु-प्राप्ति के प्रकरण को ही आगे इस रूप में कहते हैं कि **उप**=उस परमेश्वर के समीप रहता हुआ तू **ज्मन्**=पृथिवी में **अवतर**=अवतीर्ण हो। 'ज्मा' पृथिवी को कहते हैं 'जमतेर्गतिकर्मणः'=गत्यर्थक 'जम' धातु से यह शब्द बना है, अतः अभिप्राय यह है कि जब तू इस पृथिवी पर शरीर धारण करे तो 'गतिशील' बनना। गतिशीलता तो तेरा अध्यात्म स्वभाव ही हो। २. **उप**=उपासना करता हुआ तू **वेतसे**=बेंत में **अवतर**=अवतीर्ण हो। वेतस की भाँति तुझमें नम्रता हो, अकड़ न हो। अथवा 'वयति तन्तून् सन्तनोति' यज्ञतन्तु का तू विस्तार करनेवाला हो। क्रियाशील बन, तेरे कर्म यज्ञात्मक हों। इन उत्तम कर्मों से ही तो तू अपनी शक्तियों का भी विस्तार करेगा। ३. **नदीषु**=(नदतेः स्तुतिकर्मणः) विविध नामों के उच्चारण द्वारा प्रभु की स्तवन क्रियाओं में तू **आ**=सर्वथा अवतर, अवतीर्ण हो। कर्मों को करते हुए तुझे प्रभु का विस्मरण न हो जाए। ४. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **अपां पित्तम् असि**=कर्मों का तेज है। क्रियाशीलता ने तुझे तेजस्वी बनाया है। सदा कर्म करने से तेरे सब अङ्गों की शक्ति बढ़ी है। ५. अतः हे **मण्डूकि**=उत्तम गुणों से अपने को मण्डित करनेवाले व्यक्ति! **ताभिः**=उन कर्मों से **आगहि**=तू हमें प्राप्त हो। **'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः'**=अपने कर्मों से ही प्रभु की अर्चना करके मनुष्य सिद्धि को प्राप्त करता है। ६. **सः**=वह तू **इमम्**=इस **नः**=हमारे लिए **यज्ञम्**=वेद में प्रतिपादित यज्ञ को, जोकि **पावकवर्णम्**=अग्नि के समान तेजस्वी व **शिवम्**=कल्याणकर है, **कृधि**=कर। यह यज्ञ तुझे तेजस्वी व सुखी करेगा। यज्ञों में निरन्तर प्रवृत्त हुआ तू बुरे कामों से बचा रहेगा, विषय-वासनाओं में न फँसने से तू जहाँ तेजस्वी बनेगा वहाँ औरों का कल्याण सिद्ध करता हुआ अपना भी कल्याण सिद्ध करेगा।

भावार्थ—१. तू गतिशील, नम्र, यज्ञशील व स्तोता बन। २. कर्मों में लगा रहकर तेजस्वी बन। ३. अपने को सद्गुणों से सुभूषित करके कर्मों द्वारा प्रभु को प्राप्त हो। ४. ये यज्ञ तुझे पावकवर्ण व शिव बनाएँगे।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीबृहती:। **स्वरः**—मध्यमः॥

समुद्र-निवेशनम्

अपामिदं न्ययनःसमुद्रस्य निवेशनम्।
अन्याँस्तेऽअस्मत्तपन्तु हेतयः पावकोऽअस्मभ्यःशिवो भव ॥७॥

१. 'गत मन्त्र की प्रेरणा को सुननेवाला व्यक्ति कैसा बनता है' इसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि **अपाम् इदं नि अयनम्**=कर्मों का यह निश्चय से निवास स्थान बना है। यह कभी अकर्मण्य नहीं होता। २. **समुद्रस्य**=(स मुद्) आनन्दयुक्त मन का यह **निवेशनम्**=निश्चय से आयतन बना है। इसका मन सदा प्रसन्न रहता है। ३. **अस्मत्**=हमसे प्राप्त **ते हेतयः**=(हि to urge) तेरी ये प्रेरणाएँ **अन्यान्**=औरों को भी **तपन्तु**=(तप् दीप्तौ) दीप्त व पवित्र करनेवाली हो, अर्थात् क्रियाशील व प्रसन्न मनवाला बनकर तू प्रभु से प्राप्त प्रेरणाओं को औरों तक पहुँचानेवाला बन। ४. **पावकः**=अपने जीवन को निःस्वार्थ वृत्ति व लोकहित की भावना के द्वारा पवित्र रखते हुए तू ५. **अस्मभ्यम्**=हमारी (प्रभु) प्राप्ति के लिए **शिवः**=कल्याण करनेवाला **भव**=बन। तू कभी औरों की हिंसा का कारण न हो। तेरे प्रत्येक कर्म से औरों का भला ही हो।

भावार्थ—१. हम कर्मों के तो निवास-स्थान बन जाएँ। २. सदा प्रसन्न मन का हममें प्रवेश हो। ३. प्रभु-प्राप्त प्रेरणाओं को औरों तक पहुँचानेवाले बनें। ४. पवित्र जीवनवाले

होकर। ५. सभी का कल्याण करें। यही प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—वसुयुः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीगायत्रीः। **स्वरः**—षड्जः॥

मन्द्र-जिह्वा

अग्ने पावक रोचिषा मन्द्रया देव जिह्वया। आ देवान्वक्षि यक्षि च ॥८॥

१. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **पावक**=अपने जीवन को पवित्र करनेवाले! **देव**=दिव्य गुणों को अपनानेवाले! तू २. **रोचिषा**=ज्ञान की दीप्ति के साथ तथा ३. **मन्द्रया जिह्वया**=आनन्दित करनेवाली रस से परिपूर्ण जिह्वा के द्वारा ४. **देवान् आवक्षि**=दिव्य गुणों को प्राप्त करानेवाला बन, **च**=और **यक्षि**=सब प्रजाओं के साथ सङ्गतीकरणवाला हो। ५. उल्लिखित अर्थ में ये बातें स्पष्ट हैं कि (क) एक प्रचारक व नेता सबसे प्रथम अपने जीवन को 'प्रगतिशील' (अग्नि), पवित्र (पावक) व दिव्य (देव) बनाता है। (ख) इसने प्रचारकार्य में तभी प्रवृत्त होना है जब अपनी ज्ञान की दीप्ति को उज्ज्वल कर चुका हो (रोचिषा) तथा वाणी के माधुर्य का इसने सम्पादन किया हो (मन्द्रजिह्वा) प्रचारकार्य में वाणी का माधुर्य अत्यन्त आवश्यक है। (ग) इसने ज्ञानप्रचार के द्वारा प्रजाओं में दिव्य गुणों की वृद्धि का प्रयत्न करना है। (देवान् वक्षि) तथा प्रजाओं के साथ स्वयं मेल का प्रयत्न करना है (यक्षि)। प्रजाओं के पहुँचने की आशा-प्रतीक्षा में अपनी सुदूर कुटी व आश्रम में ही शान्तभाव से नहीं बैठे रहना। यह सभी के जीवनों को उत्तम बनाने की कामनावाला सचमुच 'वसुयु' (उत्तम निवास को चाहनेवाला) प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—प्रभु का प्रिय वही है जो ज्ञान-दीप्त व मधुर वाणीवाला बनकर लोकहित में प्रवृत्त होता है और प्रभु के सन्देश को मधुर शब्दों में उन तक पहुँचाता है।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्षीगायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

यज्ञ+हविः

स नः पावक दीदिवोऽग्ने देवाँ२॥ऽइहावह। उप यज्ञꣳहविश्च नः ॥९॥

१. गत मन्त्र की भावना को ही अधिक विस्तृत करते हुए कहते हैं कि हे **अग्ने**=प्रगतिशील **पावक**=अपने जीवन को पवित्र करनेवाले तथा **दीदिवः**=ज्ञान-ज्योति से देदीप्यमान मेधातिथे! **नः**=हमारा बना हुआ तू, अर्थात् प्रकृति में न फँसा हुआ तू **इह**=इस मानव जीवन में **देवान्**=दिव्य गुणों को **आवह**=समन्तात् प्राप्त करनेवाला बन। २. **च**=और **नः**=हमारा बना हुआ तू **यज्ञं उप**=सदा यज्ञों के समीप होनेवाला हो, अर्थात् तेरा जीवन यज्ञों से कभी दूर न हो। ३. और इस प्रकार **हविः**=तू हविरूप बन जा। अधिक-से-अधिक त्याग करनेवाला बन। (हु दानादनयोः) 'दानपूर्वक अदन' तो तेरा व्रत ही बन जाए। (तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः=त्यागपूर्वक उपभोग कर)—इस उपदेश को तू अपने जीवन में मूर्त्तरूप दे। 'केवलाघो भवति केवलादी'='अकेला खानेवाला पाप ही खाता है' तेरा सिद्धान्त बन जाए।

भावार्थ—प्रभु का प्यारा दिव्य गुणों को अपनाता है, यज्ञशील होता है और अपने जीवन को हविरूप बना देता है, सदा दानपूर्वक यज्ञशेष को ही खानेवाला होता है।

ऋषिः—भारद्वाजः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

भारद्वाज

पावकया यश्चितयन्त्या कृपा क्षामन् रुरुचऽउषसो न भानुना।
तूर्वन्न यामन्नेतशस्य नू रणऽआ यो घृणेन ततृषाणोऽअजरः ॥१०॥

१. पिछले मन्त्रों की प्रेरणा को सुननेवाला व्यक्ति अपने में शक्ति को भरनेवाला 'भारद्वाज' बनता है। प्रस्तुत मन्त्र में इस भारद्वाज का ही चित्रण करते हुए कहते हैं कि भारद्वाज वह है **यः**=जो **पावकया**=जीवन को पवित्र बनानेवाली **चितयन्त्या**=(चेतयन्त्या) संज्ञान से परिपूर्ण करनेवाली **कृपा**=(कृप् सामर्थ्ये) शक्ति से **क्षामन्**=इस पृथिवी में, अर्थात् इस शरीर में (पृथिवी शरीरम्) **रुरुच**=इस प्रकार शोभायमान होता है **न**=जैसे **उषसः**=उषःकाल **भानुना**=सूर्य की प्रारम्भिक किरणों से। यह उषःकाल का प्रकाश मनों में पवित्र भावनाओं का सञ्चार करने से 'पावक' है, अन्धकार को दूर करने से 'चेतयन्' है, यह सबको जागने की प्रेरणा देता है। इसी प्रकार भारद्वाज की शक्ति भी पवित्रता व चेतना से युक्त है। २. यह भारद्वाज वह है **यः**=जो **नू**=निश्चय से **एतशस्य रणे**=इन इन्द्रियाश्वों के संग्राम में **यामन्**=जीवनयात्रा के मार्ग में **तूर्वन् न**=हिंसा न करता हुआ चलता है। इन्द्रियाँ विषयों में जाने लगती हैं, यह भारद्वाज उन इन्द्रियों को विषयों में जाने नहीं देता। यही इसका इन्द्रियाश्वों का संग्राम है। इस संग्राम में यह इनको मार लेता है, जीत लेता है। इन्द्रियों को निर्बल नहीं होने देता, परन्तु उनको अपने पर प्रबल भी नहीं होने देता। ३. यह भारद्वाज वह है **यः**=जो **आघृणेन**=समन्तात् ज्ञान की दीप्ति से **ततृषाणः**=अत्यन्त पिपासित होता है, अर्थात् जिसको प्रकृतिविद्या में व आत्मविद्या में सब ओर ही ज्ञान की प्यास है (अपराविद्या व पराविद्या) दोनों में ही अपने ज्ञान को यह बढ़ाने का प्रयत्न करता है। वस्तुतः इन्द्रिय-संग्राम में विजय का रहस्य इस ज्ञान की पिपासा में ही है। ४. इस ज्ञान की प्यास से विषयों से बचकर यह **अजरः**=अजीर्णशक्ति बना रहता है और अपने 'भारद्वाज' नाम को सार्थक करता है।

भावार्थ—१. भारद्वाज पवित्र व ज्ञान-सम्पन्न शक्ति से चमकता है। २. यह इन्द्रिय-संग्राम में विजयी होता है। ३. इसकी ज्ञान की प्यास प्रबल होती है। ४. ज्ञान की प्यास इसे विषयों से बचाकर अजीर्णशक्ति बनाये रखती है।

सूचना—वेद के शब्दों में शक्ति वही प्रशंसनीय है, जिसके साथ पवित्रता व ज्ञान का समन्वय है। 'शरीर में शक्ति, मन में पवित्रता, मस्तिष्क में ज्ञान' ये ही मनुष्य के जीवन को उत्तम बनाते हैं।

ऋषिः—लोपामुद्रा। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्षीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

हरस्-शोचिस्-अर्चिस्

नम॑स्ते हर॑से शो॒चिषे॒ नम॑स्तेऽअस्त्व॒र्चिषे॑।

अ॒न्याँस्ते॑ अ॒स्मत्त॑पन्तु हे॒तय॑: पाव॒कोऽअ॒स्मभ्य॑ꣳशि॒वो भ॑व॥११॥

१. पिछले मन्त्र का 'भारद्वाज' अपने जीवन को शक्तिसम्पन्न, पवित्र व ज्ञानमय बनाकर सब वासनाओं का विलोप करने लगता है, इन्द्रिय-संग्राम में जीतता है। वासनाओं का विलोप करने के कारण यह 'लोपा' कहलाता है और वासना-विनाश से ही सदा प्रसन्न रहने के कारण 'मुद्रा' नामवाला होता है, अतः इसका पूरा नाम 'लोपामुद्रा' हो जाता है। इसके जीवन के लिए प्रभु कहते हैं कि २. **ते हरसे**=तेरी इस बुराइयों के हरण की शक्ति के लिए **नमः**=तेरा आदर करते हैं। ३. **शोचिषे**=तेरी इस मानस शुचिता के लिए आदर करते हैं। ४. **ते अर्चिषे नमः अस्तु**=तेरी इस प्रदीप्त ज्ञानाग्नि की ज्वाला के लिए आदर हो। **अस्मत्**=हमसे प्राप्त **ते**=तेरी ये **हेतयः**=प्रेरणाएँ **अन्यान्**=औरों को भी **तपन्तु**=दीप्त करनेवाली हों, अर्थात् तू मुझसे ज्ञान प्राप्त करके इस ज्ञान को औरों तक पहुँचानेवाला बन। ५. **पावकः**=अपने जीवन को पवित्र करनेवाला तू ६. **अस्मभ्यम्**=हमारी प्राप्ति के लिए

शिवः भव=कल्याण करनेवाला हो।

भावार्थ—'लोपा-मुद्रा' के जीवनवाला व्यक्ति अवश्य प्रभु को प्राप्त होता है। यह बुराइयों का हरण करता है, मन को शुचि बनाता है, मस्तिष्क को दीप्त ज्ञानाग्नि की ज्वाला। औरों को ज्ञान प्राप्त कराता हुआ यह अपने जीवन को पवित्र करता है, सभी का कल्याण करता है।

ऋषिः—लोपामुद्रा। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

ब्रह्मचर्य से ब्रह्म

नृषदे वेडप्सुषदे वेड् बर्हिषदे वेड् वनसदे वेट् स्वर्विदे वेट् ॥१२॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में 'लोपामुद्रा' बनने के लिए मार्ग बताया है कि अपनी जीवन-यात्रा की प्रथम मंज़िल में **नृषदे**=(नृषु सीदति) नायकों में स्थित होनेवाले के लिए आगे ले-चलनेवाले माता-पिता व आचार्यों में स्थित होनेवाले के लिए, अर्थात् पूर्णरूप से उनकी आज्ञा में चलनेवाले के लिए **वेट्**=हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। २. **अप्सुषदे**=अब गृहस्थ में आने पर निरन्तर कर्मों में आसीन होनेवाले के लिए, अर्थात् उस गृहस्थ के लिए जो कि कुटुम्ब-भरण का सतत पुरुषार्थ करता है, जिसको आलस्य छू भी नहीं गया उस गृहस्थ का **वेट्**=हम आदर करते हैं। ३. अब वानप्रस्थाश्रम में **बर्हिषदे**=वासना-शून्य हृदय में स्थित होनेवाले के लिए **वेट्**=हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। जिसमें वासनाओं का उद्बर्हण कर दिया गया है वही हृदय बर्हि कहलाता है। एक वानप्रस्थ का सतत प्रयत्न यही होता है कि वह अपने हृदय को वासनाओं से शून्य बना सके। ४. **वनसदे**=(वननं=वनः=संभजन) सदा सम्भजन में स्थित होनेवाले संन्यासी के लिए हम **वेट्**=आदर के शब्द कहते हैं। यह संन्यासी प्रतिक्षण परमेश्वर का स्मरण करता है, अपनी सब क्रियाओं को करते हुए इसके मुख में प्रभु का नाम ही उच्चरित होता रहता है। ५. यह संन्यासी **स्वर्विदे**=उस स्वयं देदीप्यान प्रभु को प्राप्त करनेवाला (विद् लाभे, स्वयं राजते इति स्वरः) होता है। इस प्रभु को प्राप्त करनेवाले संन्यासी के लिए **वेट्**=हम आदर के शब्द कहते हैं। ६. इस प्रकार जीवन-यात्रा को क्रमशः पूर्ण करता हुआ यह व्यक्ति अपनी छोटी उम्र में माता-पिता व आचार्य में स्थित होता है। आगे चलकर सदा क्रियाशील बनता है। फिर वासनाओं के उखाड़ने में लगकर यह सतत उस प्रभु का भजन करता है। यही व्यक्ति हम सबके आदर का पात्र होता है।

भावार्थ—हम 'नृषद्, अप्सुषद्, बर्हिषद्, वनसद् तथा स्वर्वित् का आदर करते हैं।'

ऋषिः—लोपामुद्रा। **देवता**—प्राणाः। **छन्दः**—निचृदार्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

'लोपा-मुद्रा' का जीवन

ये देवा देवानां यज्ञिया यज्ञियानाᳬसंवत्सरीणमुप भागमासते।
अहुतादो हविषो यज्ञेऽअस्मिन्त्स्वयं पिबन्तु मधुनो घृतस्य ॥१३॥

१. **ये**=जो **देवानां देवाः**=देवों में भी देव हैं, विद्वानों में भी विद्वान् हैं, अर्थात् उच्च कोटि के ज्ञानी हैं। २. **यज्ञियानां यज्ञियाः**=यज्ञशीलों में भी यज्ञशील हैं, अधिक-से-अधिक यज्ञिय वृत्तिवाले हैं। ३. **संवत्सरीणम्**=संवत्सर में होनेवाले, अर्थात् वर्षभर के **भागम्**=अपने कर्त्तव्यभाग की **उपासते**=उपासना करते हैं, अर्थात् प्रतिवर्ष का अपना कार्यक्रम बनाकर उसे पूरा करने का ध्यान करते हैं। ४. **अहुतादः**=दिये हुए को (हु दान) नहीं खाते, अर्थात् कभी दानवृत्ति पर आश्रित नहीं होते, अपितु ५. **अस्मिन् यज्ञे**=इस जीवनयज्ञ में

हविषः=सदा हविरूप बनने का प्रयत्न करते हैं, (जुहोति इति हविः=जो देता है) सदा देते हैं, प्रतिग्रह से नहीं जीते। ५. **स्वयम्**=अपने पुरुषार्थ से **मधुनः**=मधु का व **घृतस्य**=घृत का **पिबन्तु**=पान करनेवाले बनते हैं, अर्थात् स्वयं पुरुषार्थ से कमाकर शहद व घृत आदि उत्तम पदार्थों का ही प्रयोग करते हैं।

भावार्थ—उत्तम जीवन के लक्षण ये हैं १. ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञान। २. क्षत्रिय वृत्ति। ३. जीवन को कार्यक्रम के साथ चलाना। ४. दान से जीविका न करना। ५. जीवन-यज्ञ में हविरूप बनना। ६. स्वयं पुरुषार्थ से कमाकर घृत, शहद आदि उत्तम पदार्थों का सेवन करना।

ऋषिः—लोपामुद्रा। **देवता**—प्राणाः। **छन्दः**—आर्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

न स्वर्ग में न पर्वत-शिखरों पर

ये देवा देवेष्वधि देवत्वमायन्ये ब्रह्मणः पुरऽएतारोऽअस्य।
येभ्यो नऽऋते पवते धाम किं चन न ते दिवो न पृथिव्याऽअधि स्नुषु ॥१४॥

१. **ये**=जो **देवाः**=विद्वान् लोग **देवेषु**=विद्वानों में **अधिदेवत्वम्**=आधिक्येन विद्वत्ता को **आयन्**=प्राप्त होते हैं। जो ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञान प्राप्त करते हैं और इस ज्ञान को प्राप्त करके २. **ये**=जो **अस्य ब्रह्मणः**=इस ज्ञान को **पुरः**=आगे **एतारः**=ले-जानेवाले होते हैं (एतार इति अन्तर्भावितण्यर्थः प्रापयितारः गमयितारः)। ये विद्वान् ज्ञान प्राप्त करके इसे दूसरों को प्राप्त करानेवाले होते हैं, उसी प्रकार जैसेकि 'अग्नि, वायु, आदित्य व अङ्गिरा' ने प्रभु से ज्ञान प्राप्त करके अपने अन्य अज्येष्ठ, अकनिष्ठ भ्राताओं को ज्ञान दिया। चार सर्वोत्कृष्ट बुद्धिवालों ने हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा को सुना और उस प्रेरणा को औरों तक पहुँचाने का प्रयत्न किया। इसी प्रकार ये उत्कृष्ट ज्ञानी सर्वत्र ज्ञान का प्रसार करते हैं, जहाँ ये जाते हैं वहीं वातावरण को बड़ा पवित्र बना डालते हैं। इसी लिए मन्त्र में कहते हैं कि २. **येभ्यः ऋते**=जिनके बिना **किञ्चन धाम** =कोई भी स्थान **न पवते**=पवित्र नहीं होता। ये लोग ज्ञान की चर्चा के द्वारा पवित्रता का सञ्चार करनेवाले होते हैं। जहाँ इस प्रकार के ज्ञानी नहीं पहुँचते वहाँ अज्ञानान्धकार फैलकर वातावरण को बड़ा दूषित कर देता है। ४. ये विद्वान् प्रजा के हित के लिए प्रजाओं में ही विचरण करते हैं। ये संसार को मायाजाल व अशान्ति का स्थान मानकर इससे दूर नहीं भाग जाते। **ते**=वे विद्वान् **दिवः**=द्युलोक के अथवा **पृथिव्याः**=पृथिवी के **अधिस्नुषु**=पर्वत-शिखरों पर **नः**=नहीं भाग जाते, इसी प्रकार ये विद्वान् संन्यासी भी अशान्ति के भय से कहीं स्वर्गलोक में व पर्वत-शिखरों पर नहीं भागे फिरते। 'स्वर्गलोक में या पर्वत-शिखरों पर' यह मुहाविरा है, केवल इसी बात को स्पष्ट करने के लिए कि ये विद्वान् यहीं लोगों में ही रहते हैं। दूर शान्त स्थानों को नहीं ढूँढते रहते। दूर भागनेवाले संन्यासी ने क्या लोकहित करना?

भावार्थ—हम ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञानी बनें। ज्ञान को चारों ओर फैलाने का प्रयत्न करें। ज्ञान को फैलाकर वातावरण को पवित्र बनाएँ। अज्ञानावृत लोगों से घृणा करके सुदूर पर्वत-शिखरों पर न भागे फिरें।

ऋषिः—लोपामुद्रा। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

व्याख्यानों के विषय

प्राणदाऽअपानदा व्यानदा वर्चोदा वरिवोदाः।

अन्याँस्तेऽअस्मत्तपन्तु हेतयः पावकोऽअस्मभ्यꣳशिवो भव ॥१५॥

१. लोगों में रहकर तू **प्राणदाः**=उन्हें प्राणशक्ति का ज्ञान देनेवाला हो। तेरे व्याख्यान प्राणशक्ति की वृद्धि के साधनों पर हों। प्राणशक्ति के बढ़ाने के लिए समुचित आहार-विहार का तू प्रतिपादन करनेवाला बन। २. इसी प्रकार **अपानदाः**=तू उनको दोषों के दूर करनेवाली अपानशक्ति का ज्ञान दे। 'किन-किन वस्तुओं के सेवन करने से यह शक्ति ठीक बनी रहती है' इसका तू प्रतिपादन कर। 'कौन से भोजन किस रूप में किये गये इसके लिए हानिकर हैं' इस बात को तू लोगों को समझानेवाला हो। ३. **व्यानदाः**=व्यानशक्ति के ज्ञान का तू उन्हें देनेवाला बन। 'वह सर्वशरीर-सञ्चारी-वायु सारे नाड़ी-संस्थान को स्वस्थ रखनेवाला वायु कैसे ठीक रहता है' इस बात को तू लोगों को समझानेवाला हो। ४. इन विषयों के प्रतिपादन के द्वारा तू लोगों के लिए **वर्चोदाः**=शक्ति को देनेवाला हो। 'शरीर में किस प्रकार वर्चस् का संयम किया जा सकता है' इस विषय को तू लोगों को समझानेवाला हो। ५. इन सब बातों के साथ **वरिवोदाः**=तू धन को भी देनेवाला बन (वरिवः=wealth)। 'धन-प्राप्ति के क्या उचित उपाय है' इसका प्रतिपादन करनेवाला बन। 'वरिवः' शब्द का अर्थ worshipping=पूजा भी है, अतः तू लोगों को प्रभु की पूजा का ठीक प्रकार समझानेवाला हो और इस प्रकार उनके जीवनों में (वरिवः=Happiness) आनन्द का सञ्चार करनेवाला बन। ६. प्रभु कहते हैं कि **अस्मत्**=हमसे **ते**=तुझे प्राप्त **हेतयः**=ये प्रेरणाएँ **अन्यान्**=औरों को भी **तपन्तु**=दीप्त करनेवाली हों। तू इन प्रेरणाओं को आगे पहुँचानेवाला बन। ७. **पावकः**=अपने जीवन को निरन्तर पवित्र बनानेवाला तू **अस्मभ्यम्** =हमारी प्राप्ति के लिए **शिवः भव**=सबका कल्याण करनेवाला हो।

भावार्थ—विद्वान् संन्यासियों के व्याख्यान के विषय निम्न होने चाहिएँ। १. प्राण, अपान व व्यान की शक्तियों की वृद्धि। २. शरीर को कैसे वर्चस्वी बनाना? ३. 'धन-प्राप्ति के उचित उपाय क्या हैं?' ४. प्रभु-उपासना का प्रकार क्या है? ५. आनन्द-प्राप्ति का मार्ग क्या है? इस प्रकार विद्वान् लोग वैदिक प्रेरणाओं से औरों के जीवनों को दीप्त करें। प्रभु-प्राप्ति उन्हें तभी होगी जब वे पवित्र बनकर सभी के कल्याण में प्रवृत्त होंगे। 'लोपा-मुद्रा' बनने का यही मार्ग है।

ऋषिः—भारद्वाजः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्षीगायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

'अग्नि' का लक्षण

अ॒ग्निस्ति॒ग्मेन॑ शो॒चिषा॒ यास॒द्विश्वं॒ न्य॑त्रिण॑म्। अ॒ग्निर्नो॑ वनते र॒यिम्॥१६॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में 'अग्नि' का लक्षण दिया है। 'अग्नि' वह पुरुष है जिसने अपने को अग्र स्थान पर प्राप्त कराया है तथा औरों को अग्र स्थान पर पहुँचाने में सहायक हो रहा है। इसी उद्देश्य से यह ज्ञान-प्रसार के कार्य में प्रवृत्त हुआ है। इस ज्ञान-प्रसार के कार्य में लगने से पहले यह **अग्निः**=अग्रेणी पुरुष **तिग्मेन शोचिषा** =बड़ी तीव्र ज्ञान की ज्योति से **विश्वम्**=हमारे न चाहते हुए भी हममें घुस आनेवाली **अत्रिणम्**=हमें खा जानेवाली 'काम, क्रोध, लोभ' आदि वृत्तियों को **नियासत्**=नितरां क्षीण करता है (यास् उपक्षये) 'काम, क्रोध, लोभ' आदि वृत्तियों पर पूर्ण प्रभुत्व पाने का प्रयत्न करता है। इन्हें वशीभूत करके ही यह औरों को ज्ञान देनेवाला बनेगा। २. यह **अग्निः**=अग्रेणी पुरुष **नः रयिम्**=हमारे धन को **वनते**=संविभागपूर्वक सेवन करनेवाला होता है। (वनतिर्दानार्थः—उ०) यह धन को देकर बचे हुए को ही सदा खाता है। यह धन को प्रभु का ही समझता है। परिणामस्वरूप इसका जीवन पवित्र बना रहता है।

भावार्थ—१. 'अग्नि' वह है जो तीव्र ज्ञान से कामादि वासनाओं को क्षीण कर देता

है। वासनाओं को क्षीण करके यह 'भारद्वाज' अपने में शक्ति भरनेवाला बनता है। २. यह धन कमाता है, परन्तु उसे प्रभु का समझता हुआ सदा संविभागपूर्वक सेवन करता है।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। **देवता**—विश्वकर्मा। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

प्रथमच्छद

यऽइमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत्पिता नः।
सऽआशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ२॥ऽ आविवेश॥१७॥

१. गत मन्त्र में अग्नि की 'तिग्मशोचिः'=तीव्र ज्ञान-ज्योति का उल्लेख है। यह ज्ञान-ज्योति क्या है? इसी का प्रतिपादन प्रस्तुत मन्त्रों में है। 'यह सृष्टि कैसे बनी?' इसमें हमारा क्या स्थान व कर्त्तव्य है? इन विषयों को समझनेवाला (भुवन पुनाति त्रायते) अपने जीवन को पवित्र बनानेवाला, वासनाओं से रक्षित करनेवाला तथा विश्वकर्मा=सदा कर्मों में व्यापृत रहनेवाला ही इन मन्त्रों का ऋषि है। यह उपासना करता हुआ इस प्रकार ध्यान करता है कि २. **यः**=जो **इमा**=इन **विश्वा भुवनानि**=सब दृश्यमान लोकों को **जुह्वत्**=प्रलय काल में अपने में आहुत करता हुआ **ऋषिः**=तत्त्वद्रष्टा **होता**=सृष्टिकाल में सब पदार्थों का देनेवाला **नः**=हम सबका **पिता**=रक्षक **न्यसीदत्**=निश्चय से विराजमान है, २. **सः**=वह हमारा पिता प्रभु **आशिषा** ='बहुः स्यां प्रजायेय'=मैं फिर बहुतों-से जाना जाऊँ, अतः इस सृष्टि को उत्पन्न करूँ, इस कामना से **द्रविणम्**=इसी गतिमय संसार को (द्रु गतौ से 'द्रविणं,' सृ गतौ से संसार) **इच्छमानः**=चाहता हुआ **प्रथमच्छद्**=(प्रथ विस्तारे, छादयति) अपने विस्तार से सारे संसार को आच्छादित करनेवाला **अवरान् आविवेश**=इन अवर जीवों में प्रविष्ट हो रहा है। वह सबका अन्तर्यामी है। प्रभु पर (श्रेष्ठ) हैं, जीव अवर है, प्रभु जीवों में प्रविष्ट होकर उन्हें अन्तःप्रेरणा प्राप्त करा रहे हैं। ३. प्रभु जीवों को आच्छादित भी किये हुए हैं (प्रथमच्छद्) और उनमें प्रविष्ट भी हो रहे हैं (आविवेश)। यह 'भुवन पुत्र विश्वकर्मा' अपने को प्रभु से आच्छादित अनुभव करके निर्भयता को प्राप्त होता है।

भावार्थ—प्रलयकाल में ये सब लोक-लोकान्तर प्रकृतिरूप होकर प्रभु के गर्भ में रहते हैं। सृष्टि बनने पर प्रभु सब लोकों को आच्छादित करके उनमें व्याप्त हो रहे हैं।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। **देवता**—विश्वकर्मा। **छन्दः**—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

अधिष्ठान-आरम्भणम्

किंस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत् स्वित्कथासीत्।
यतो भूमिं जनयन्विश्वकर्मा वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः॥१८॥

१. गत मन्त्र में कहा है कि विश्वकर्मा ने सृष्टि का निर्माण किया। संसार में अधिष्ठानरहित लोग किसी वस्तु को करते हुए नहीं देखे जाते, अतः प्रश्न करते हैं कि **अधिष्ठानं किं स्वित् आसीत्**=(अधितिष्ठत्यस्मिन् इति) अधिकरण क्या था? कहाँ स्थित होकर प्रभु ने इस सृष्टि का निर्माण किया। २. फिर जैसे घटादि के निर्माण के लिए मिट्टी उपादान होती है इसी प्रकार इस सृष्टि के निर्माण के लिए (आरभ्यते अस्मात् इति) **आरम्भणं कतमत् स्वित्**=उपादानकारण कौन-सा था? ३. जैसे चक्र, मृत्तिका, सलिल आदि से घट का निर्माण होता है, इसी प्रकार यहाँ सृष्टि-निर्माण में **कथा आसीत्**=(कथंभूता क्रिया आसीत्) क्रिया किस प्रकार हुई? ४. एवं अधिष्ठान, आरम्भण व क्रिया के विषय में प्रश्न करके कहते हैं कि **यतः**=जिनके होने पर, अर्थात् जिनसे विश्वकर्मा—उस संसार

के निर्माता प्रभु ने **भूमिं द्यां च जनयन्**=पृथिवी और द्युलोक का उत्पादन करते हुए **महिना**=अपनी महिमा से **वि और्णोत्**=इनको विशिष्ट रूप से आच्छादित किया, इस प्रकार जैसे माता बच्चे को गोद में लेकर सुरक्षित करती है, उसी प्रकार वे प्रभु **विश्वचक्षाः**=इस संसार का ध्यान कर रहे हैं (चक्ष् to look after)।

भावार्थ—प्रभु अपनी महिमा से प्रकृति को इस विकृति व विसृष्टि का रूप देते हैं। इस सृष्टि का धारण भी वे प्रभु ही कर रहे हैं। वे सारे ब्रह्माण्ड का ध्यान करते हैं।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। **देवता**—विश्वकर्मा। **छन्दः**—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

विश्वतश्चक्षुः पतत्रै

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्। सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देवऽएकः॥१९॥

१. गत मन्त्र के प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहते हैं कि वह विश्वकर्मा **विश्वतश्चक्षुः**=सब ओर चक्षु-शक्तिवाला है, उत **विश्वतोमुखः**=और सब ओर वे प्रभु मुख की शक्तिवाले हैं। **विश्वतोबाहुः**=उनमें सब ओर बाहुओं की ग्रहणशक्ति है **उत**=और **विश्वतस्पात्**=सब ओर पाँवों की शक्ति है। वस्तुतः उस-उस इन्द्रिय से रहित होते हुए भी वे प्रभु उस-उस इन्द्रिय की शक्तिवाले हैं। वे सर्वव्यापक हैं। अव्यापक व एकदेशी को ही आधार की आवश्यकता होती है। सर्वव्यापक प्रभु के लिए किसी ऐसे आधार की आवश्यकता नहीं है। २. ये प्रभु इस सृष्टि का निर्माण क्यों करते हैं? इस प्रश्न का भी प्रसङ्ग-वश उत्तर देते हुए कहते हैं कि **बाहुभ्याम्**=(बाहुस्थानीयाभ्यां धर्माधर्माभ्याम्) जीवों के धर्माधर्म के कारण संधमति (धमतिर्गत्यर्थः) इस सृष्टि-निर्माण की क्रिया को सम्यक्तया करते हैं। यदि जीव का धर्माधर्म न हो तो इस सृष्टि के बनाने का प्रयोजन ही न रह जाए। प्रभु कोई अपनी क्रीड़ा के लिए इस संसार को नहीं बना देते। ३. उपादान क्या है? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं वह **एकः देवः**=चक्र, सूत्र आदि उपकरणों से रहित अकेला देव ही **पतत्रैः**=(पतनशीलैः परमाण्वादिभिः—द०) निरन्तर गति में वर्तमान अथवा गति-स्वभाववाले परमाणुओं से **द्यावाभूमी**=द्युलोक व पृथिवीलोक को **सं जनयन्**=सम्यक् आविर्भूत करता है। ४. एवं गत मन्त्र के प्रश्नों का उत्तर यह हुआ कि (क) सर्वव्यापक होने के कारण उस प्रभु का कोई अधिष्ठान नहीं है। (ख) निरन्तर गतिशील परमाणु ही वे उपादान हैं जिनसे प्रभु सृष्टि को बनाते हैं। (ग) सर्वशक्तिमान् व सर्वव्यापक होने के कारण प्रभु को चक्र, सूत्रादि उपकरणों की आवश्यकता नहीं है। केवल जीवों के धर्माधर्म, इष्टानिष्ट प्रयत्न (बाहु=प्रयत्न) ही अपेक्षित हैं। इनके न होने पर तो यह सृष्टि प्रभु की एक वैषम्य व नैर्घृण्य (पक्षपात व क्रूरता) से भरी क्रूर-क्रीड़ा ही प्रतीत होने लगती।

भावार्थ—वे सर्वव्यापक प्रभु, अपने स्वरूप में ही स्थित हुए, जीवों के धर्माधर्म की अपेक्षा से निरन्तर क्रियाशील परमाणुओं से सृष्टि का निर्माण कर देते हैं। उन्हें किन्हीं उपकरणों की आवश्यकता नहीं होती।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। **देवता**—विश्वकर्मा। **छन्दः**—स्वाराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

वनं-वृक्षः

किᳬस्विद्वनं कऽउ स वृक्षऽआस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः। मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद्यदध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन्॥२०॥

१. **वनम्**=वे संभजनीय प्रभु **किं स्वित्**=कैसे हैं व कौन हैं? २. **उ**=तथा **सः वृक्षः**=(वृश्च्यते छिद्यते इति वृक्षः) वह छेदनयोग्य यह संसार क्या है? ३. उत्तर देते हुए कहते हैं कि ये प्रभु वे हैं **यतः**=जिनसे **द्यावापृथिवी**=ये द्युलोक और पृथिवीलोक **निष्टतक्षुः**=गत मन्त्र में वर्णित पतत्रों (परमाणुओं) से घड़े गये हैं। ४. **मनीषिणः**=हे मन का शासन करनेवाले विद्वानो! **मनसा पृच्छत इत् उ**=मन से ही उसे जानने की इच्छा करो **तत्**=उसे **यत्**=जो **भुवनानि**=सब लोकों को **धारयन्**=धारण करता हुआ **अध्यतिष्ठत्**=अधिष्ठातृ रूपेण वर्त्तमान है। ५. 'वे संभजनीय प्रभु कैसे हैं?' इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया गया है कि (क) उनसे ये द्युलोक व पृथिवीलोक घड़कर बनाये गये हैं। (ख) वे मन से ही जानने योग्य हैं, इन्द्रियों का विषय नहीं हैं (ग) सब भुवनों का धारण कर रहे हैं। (घ) और सारे ब्रह्माण्ड के अधिष्ठाता हैं। ६. यह संसार क्या है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि (क) यह छेदनीय (वृक्ष) है। दृढ़, असङ्ग (Non attachment) शस्त्र से ही इसका छेदन हो सकता है। (ख) इसका एक सिरा पृथिवी है तो दूसरा सिरा द्युलोक है। दूसरे शब्दों में यह सान्त है। विशाल होते हुए भी इसका अन्त तो है ही। (ग) इस द्युलोक व पृथिवीलोक के मध्य में कितने ही भुवन (लोक-लोकान्तर) हैं, अनगिनत लोकों से बना हुआ यह संसार है। (घ) परमेश्वर से यह अधिष्ठित है।

भावार्थ—वे प्रभु वन=उपास्य हैं, यह संसार वृक्ष=छेदनीय है।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। **देवता**—विश्वकर्मा। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

परम-अवम-मध्यम धाम

या ते धामानि परमाणि यावमा या मध्यमा विश्वकर्मन्नुतेमा।
शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधावः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः॥२१॥

१. हे **विश्वकर्मन्**=सारे संसार के निर्माण करनेवाले! **स्वधावः**=अपनी धारण शक्तिवाले! और किसी से न धारण किये जानेवाले प्रभो! **ते**=आपके **या**=जो **परमाणि धामानि**=उत्कृष्ट धाम (property, wealth) ज्ञानरूप सम्पत्तियाँ हैं, **या**=जो **अवमा**=ये सबसे कनिष्ठ **धामानि**=लक्ष्मीरूप सम्पत्तियाँ हैं **उत**=और **या मध्यमा**='बल व शक्ति'रूप सम्पत्तियाँ हैं **इमा**=इन सबको **सखिभ्यः**=अपने इन सदा सयुज सखाओं=जीवों के लिए **हविषि**=हवि के निमित्त **शिक्ष**=दीजिए (शिक्ष=देहि—म०) आपसे ज्ञान, धन व बल को प्राप्त करके आपके सखा ये जीव इनका हविरूप में ही प्रयोग करें। इनसे वे औरों का कल्याण करनेवाले बनें। २. अपने सखा जीव की इस प्रार्थना को सुनकर प्रभु कहते हैं कि **तन्वम्**=अपने शरीरों की शक्तियों को **वृधानः**=बढ़ाते हुए स्वयं **यजस्व**=तू इन वस्तुओं से स्वयं सङ्गत हो। जब मनुष्य पुरुषार्थ करता है, शान्त होकर रुक नहीं जाता तब वह अवश्य ही प्रभु को पानेवाला बनता है। जीव को चाहिए कि संयम से सबल होकर स्वयं ही प्रभु को प्राप्त करे और प्रभु के सब धामों को प्राप्त करने का अधिकारी बने।

भावार्थ—प्रभु के सब धाम=सम्पत्तियाँ=ज्ञान, धन व बल अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवालों को ही प्राप्त होते हैं।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। **देवता**—विश्वकर्मा। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

मघवा-सूरिः

विश्वकर्मन् हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम्।
मुह्यन्त्वन्येऽअभितः सपत्नाऽइहास्माकं मघवा सूरिरस्तु॥२२॥

१. गत मन्त्र के अन्तिम शब्दों में प्रभु जीव से शक्तिधामों को स्वयं प्राप्त करने के लिए कह रहे थे। उसी प्रसङ्ग को प्रस्तुत मन्त्र में चलाते हुए प्रभु कहते हैं कि हे **विश्वकर्मन्**=सब कालों में सदा कर्म करनेवाले मेरे मित्र! तू **हविषा**=दानपूर्वक अदन से, अर्थात् स्वार्थ की वृत्ति से ऊपर उठने के द्वारा **वावृधानः**=शरीर, मन व बुद्धि के दृष्टिकोण से खूब उन्नति करता हुआ **स्वयम्**=अपने पुरुषार्थ से ही **पृथिवीम्**=विस्तृत शक्तियोंवाले शरीर को **उत**=और **द्याम्**=प्रकाशमय मस्तिष्क को **यजस्व**=अपने साथ सङ्गत कर। (क) तेरा जीवन क्रियाशील हो (विश्वकर्मन्) (ख) दानपूर्वक अदन करनेवाला बन (हविषा) (ग) सब प्रकार से खूब उन्नति कर (वावृधानः) और इस प्रकार (घ) शरीर की शक्तियों को प्रथित कर (पृथिवीम्) तथा मस्तिष्क को प्रकाशमय बना (धाम्)। २. **अन्ये**=तुझसे भिन्न **अभितः सपत्नाः**=तेरे आन्तर व बाह्य शत्रु **मुह्यन्तु** =वैचित्य को प्राप्त करें। उनके तो होश-हवास भी गुम हो जाएँ। तेरे शत्रु घबराकर तुझे दूर से छोड़ दें। ३. प्रभु कहते हैं कि **इह**=इस संसार में **मघवा**=(मघ=मख) यज्ञशील **सूरिः**=विद्वान् पुरुष **अस्माकम् अस्तु**=हमारा बनकर रहे। वह प्रकृति का दास न बन जाए। प्रभु की मित्रता के लिए आवश्यक है कि हमारा जीवन यज्ञमय हो और हम ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान को प्राप्त करनेवाले बनें। यह प्रभु का प्यारा स्वयं यज्ञशील व ज्ञानी बनकर औरों को भी (षू प्रेरणे) सदा उत्तम प्रेरणा देनेवाला हो। (सूरिः=आत्मज्ञानोपदेशकः—म०)।

भावार्थ—१. हम क्रियाशील हों। २. दानपूर्वक अदन ही हमारा स्वभाव हो। ३. सदा उन्नति के मार्ग पर चलें। ४. शरीर की शक्तियों को बढ़ाएँ, मस्तिष्क को प्रकाशमय करें। ५. बाह्य व आन्तर शत्रुओं को जीतें। ६. यज्ञशील हों। ७. ज्ञानी बनकर औरों को भी उत्तम प्रेरणा देनेवाले हों।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। **देवता**—विश्वकर्मा। **छन्दः**—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

विश्वशम्भूः-साधुकर्मा

वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये मनोजुवं वाजेऽअद्या हुवेम।
स नो विश्वानि हवनानि जोषद्विश्वशम्भूरवसे साधुकर्मा॥२३॥

१. **वाचस्पतिम्**=वाणी के पति, वेदज्ञान के स्वामी **विश्वकर्माणम्**=सब कर्मों को करानेवाले अथवा इस संसाररूप कर्मवाले, सृष्टि के निर्माता **मनोजुवम्**=सबके मनों में स्थित होकर प्रेरणा देनेवाले प्रभु को **ऊतये**=रक्षा के लिए—आधि-व्याधियों से बचने के लिए तथा **वाजे**=शक्ति-प्राप्ति के निमित्त **अद्या**=आज **हुवेम**=पुकारते हैं। (क) प्रभु वेदज्ञान के पति हैं, उस प्रभु से ही हम सब ज्ञान प्राप्त करनेवाले बनेंगे। (ख) वे प्रभु विश्वकर्मा हैं, हमें भी कर्म करने की सब शक्ति प्रभु से ही प्राप्त होती है। (ग) **मनोजुवम्**=हृदयस्थ रूपेण वे प्रभु मुझे सदा प्रेरणा प्राप्त करा रहे हैं। (घ) यदि हम इस प्रेरणा को सुनेंगे तो अवश्य आधि-व्याधियों से बचेंगे और शक्ति को प्राप्त करेंगे (ऊतये, वाजे)। २. **सः**=वे प्रभु **नः**=हमारे **विश्वानि**=सब **हवनानि**=आह्वानों को **जोषत्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करें, अर्थात् हमारी पुकार को सुनें। ३. **विश्वशम्भूः**=वह सारे संसार का कल्याण करनेवाले हैं। ४. **अवसे**=वे प्रभु अन्नादि प्रापण के द्वारा हमारी रक्षा करते हैं। ५. **साधुकर्मा**=वे प्रभु सदा उत्तम व सिद्ध कर्मोंवाले हैं। प्रभु का उपासक बनकर मैं भी 'साधुकर्मा' बन पाऊँ।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से मेरा जीवन शान्त होगा, मेरा योगक्षेम ठीक चलेगा

(अवसे) मेरे कर्म सदा उत्तम व सफलतावाले होंगे।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। **देवता**—विश्वकर्मा। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

उग्र-विहव्य=अधृष्य, अभिगम्य

विश्वकर्मन् हविषा वर्द्धनेन त्रातारमिन्द्रमकृणोरवध्यम्।
तस्मै विशः समनमन्त पूर्वीरयमुग्रो विहव्यो यथासत्॥२४॥

१. हे **विश्वकर्मन्**=सम्पूर्ण सृष्टिरूप कर्म करनेवाले प्रभो! आप **हविषा**=दानपूर्वक अदन—त्यागपूर्वक भोग की वृत्ति से तथा **वर्द्धनेन**=सब शक्तियों के वर्धन से (वर्धते) या काम-क्रोधादि शत्रुओं के छेदन से (वर्धयति=to cut, shear) **इन्द्रम्**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव को **त्रातारम्**=अपना रक्षक, शरीर व मन को व्याधि व आधियों से बचानेवाला तथा **अवध्यम्**=वृत्रादि शत्रुओं से वध के अयोग्य **अकृणोः**=बना दीजिए। २. उत्तम जीवन के लिए आवश्यक है कि हम (क) दानपूर्वक अदनवाले हों (हविषा)। (ख) काम-क्रोधादि का छेदन करें (वर्धनेन)। (ग) इन्द्रियों के अधिष्ठाता हों (इन्द्रम्)। (घ) अपने को रोगाक्रान्त न होने दें (त्रातारम्)। (ङ) वासनाओं से वध योग्य न हो जाएँ (अवध्यम्)। ३. **तस्मै**=उल्लिखित जीवनवाले व्यक्ति के लिए **पूर्वीः विशः**=उत्कृष्ट प्रजाएँ **समनमन्त**=झुकती हैं, अर्थात् उसका आदर करती हैं। ४. हे प्रभो! आप ऐसी कृपा कीजिए कि **यथा**=जिससे **अयम्**=यह **उग्रः**=तेजस्वी तथा **विहव्यः**=विविध कार्यों में आह्वान के योग्य हो। यह सबका आदरणीय हो।

भावार्थ—हमारा जीवन तेजस्वी और विहव्य हो। हम तेजस्वी हों, परन्तु भयंकर न हों। लोगों की दृष्टि में हम आदरणीय हों। तेजस्विता के कारण हम 'अधृष्य' हों, परन्तु क्रोधादि से ऊपर उठे होने के कारण 'अभिगम्य' हों।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। **देवता**—विश्वकर्मा। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

अन्तों की दृढ़ता

चक्षुषः पिता मनसा हि धीरो घृतमेनेऽअजनन्नम्नमाने।
यदेदन्ताऽअददृहन्त पूर्वऽआदिद् द्यावापृथिवीऽअप्रथेताम्॥२५॥

१. गत मन्त्र का 'उग्र और विहव्य' व्यक्ति **चक्षुषः पिता**=चक्षु आदि इन्द्रियों का पालक बनता है। यह इन्द्रियों को विषयों में भटकने से रोकता है। २. **मनसा हि धीरः**=मन से यह अत्यन्त धैर्यवाला होता है (धैर्यवान्—द०)। ३. इसकी **घृतम्**=तेजस्विता व ज्ञान-दीप्ति **एने**=इसके पृथिवी व द्युलोक को—शरीर व मस्तिष्क को **नम्नमाने**=नम्रतावाला **अजनत्**=करते हैं। इसके शरीर में तेजस्विता के कारण अकड़ नहीं होती, अर्थात् इसके अङ्ग लोच=लचकवाले होते हैं और इसका मस्तिष्क ज्ञान के कारण अकड़ व घमण्ड से रहित होता है। ४. **यदा इत्**=ज्योंही **पूर्वे**=शरीर में प्रथमस्थान में स्थित, अर्थात् अत्यन्त महत्त्वपूर्ण **अन्तः**=अन्त-प्रदेश, आशा-स्थान **अददृहन्त**=दृढ़ हो जाते हैं **आत् इत्**=त्योंही **द्यावापृथिवी अप्रथेताम्**=मस्तिष्क व शरीर दोनों ही विस्तृत शक्तियोंवाले हो जाते हैं। ५. यहाँ 'अन्तः' शब्द जिन अन्त-प्रदेशों व आशा-स्थानों (आशा=दिशा) का उल्लेख करता है उनका वर्णन अथर्व १।३१।२। में इस प्रकार हुआ है **'य आशानामाशापालाश्चत्वारः स्थन देवाः। ते नो निर्ऋत्याः पाशेभ्यो मुञ्चतांहसोअंहसः।'** अर्थात् हे देवो! जो तुम दिशाओं के चार दिशा-पालक हो वे तुम हम

सबको अवनति के पाशों से तथा हरेक पाप से छुड़ाओ। यहाँ पूर्वद्वार 'मुख' है और इसके सम्मुख पश्चिम द्वार 'गुदा' है। इन दोनों का अभिप्राय यह है कि मुख से कोई भी अपथ्य भोजन व अतिमात्र भोजन प्रवेश न कर सके तथा गुदा से प्रत्येक मलांश का बहिष्करण होता रहे। इसी प्रकार उत्तर द्वार 'विदृति'=ब्रह्मरन्ध्र है और इसके ठीक सुदूर नीचे की ओर दक्षिण द्वार 'शिश्न' है। शिश्न के दृढ़ होने का अभिप्राय यह है कि यह मूत्र का ही त्याग करनेवाला हो, रेतस् का रक्षक हो। ऐसा होने पर ही 'विदृति' द्वार हमारे लिए प्रकाशमय होकर हमारे बन्धन से मोक्ष का कारण बनेगा। ६. इन अन्तों का दृढ़ीकरण आवश्यक है। इनके दृढ़ीकरण के बिना शरीर स्वस्थ नहीं हो पाता और मस्तिष्क की ज्ञानाग्नि बुझी रह जाती है।

भावार्थ—हम शरीर में चारों अन्तों को दृढ़ करके तेजस्वी व ज्ञान-दीप्त बनें।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। **देवता**—विश्वकर्मा। **छन्दः**—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

विश्वकर्मा-विमनाः

विश्वकर्मा विमनाऽआद्विहाया धाता विधाता परमोत सन्दृक्।
तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यत्रा सप्तऋषीन् परऽएकमाहुः॥२६॥

१. वे प्रभु **विश्वकर्मा**=(विश्वं कर्म यस्य) इस सृष्टिरूप कर्मवाले हैं, इस ब्रह्माण्ड के निर्माता हैं। २. **विमनाः**=(विविधं मनो विज्ञानं यस्य-द०) विविध व विशिष्ट ज्ञानवाले हैं। अपनी उत्कृष्ट ज्ञानमयता से ही प्रभु सृष्टि का निर्माण करते हैं। प्रभु के विशिष्ट ज्ञान के कारण ही यह सृष्टि पूर्ण है। ३. **आत्**=और (अपि च) **विहायाः**=वे प्रभु महान् हैं, सर्वव्यापाक हैं। सर्वत्र प्राप्त होने से ही वे सृष्टिरूप कार्य के करनेवाले हैं। अप्राप्त देश में कर्त्ता की क्रिया सम्भव नहीं है। ४. **धाता**=वे प्रभु धर्त्ता व पोषक हैं। ५. **विधाता**=उत्पादक हैं, जीवों को कर्मानुसार शरीरों के देनेवाले हैं। ६. **परमः**=प्रकृति 'पर' है, जीव 'पर-तर' है और परमात्मा 'परतम' व 'परम' है, सबसे उत्कृष्ट हैं। प्रकृति से पुरुष =जीव उत्कृष्ट है, परन्तु प्रभु जीवों से भी उत्तमपुरुष हैं, इसी से 'पुरुषोत्तम' कहलाते हैं। ७. **उत**=और **सन्दृक्**=वे प्रभु सम्यग् द्रष्टा हैं। अपने उपासकों के योगक्षेम का ध्यान करनेवाले हैं। ८. **तेषाम्**=उन लोगों को ही **इष्टानि**=इष्टसुख प्राप्त होते हैं और वे ही **इषा**=प्रभु प्रेरणा से **संमदन्ति**=उत्तम आनन्द का अनुभव करते हैं। **यत्र**=जबकि **सप्तऋषीन्**='कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' =कान, नासिका, आँखों व मुख-इन सप्त-ऋषियों को **पर**=उस परब्रह्म में **एकम्**=एकीभाव को प्राप्त हुआ-हुआ **आहुः**=कहते हैं, अर्थात् जब ये सब इन्द्रियाँ उस उत्कृष्ट परब्रह्म में एकाग्र हो जाती हैं तब प्रभु-प्रेरणा के सुनने से ये ध्यानी लोग एक आनन्द-विशेष का अनुभव करते हैं और इन्हें सब इष्टसुख प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—हम अपनी इन्द्रियों को एकाग्र करके उस परमात्मा का चिन्तन करें जो 'विश्वकर्मा-विमना-विहाया-धाता-विधाता-परम व सन्दृक्' है, जो 'पर' हैं। ऐसा करने पर हम प्रेरणा के सुननेवाले होंगे और आनन्द का अनुभव करेंगे।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। **देवता**—विश्वकर्मा। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

संप्रश्न

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामधाऽएकऽएव तꣳसम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या॥२७॥

१. **यः**=जो परमात्मा **नः**=हम सबका **पिता**=पालक, रक्षक है २. **जनिता**=सबका

प्रादुर्भाव करनेवाला है। ३. **यः**=जो **विधाता**=कर्मानुसार विविध शरीरों का देनेवाला है। ४. जो **धामानि**=सब तेजों को तथा **विश्वा भुवनानि**=सब पदार्थों के अधिकरणभूत इन सब लोकों को **वेद**=जानता है अथवा (विद् लाभे) प्राप्त कराता है। ५. **यः**=जो **देवानाम्**=सब देवों के **नामधाः**=नाम का धारण करनेवाला है, परन्तु है **एकः एव**=एक ही। 'सूर्य, चन्द्र, वायु, विद्युत्' आदि सब देवों के नाम परमात्मा के भी हैं, इतना ही नहीं मुख्यरूप से ये नाम परमात्मा के ही हैं। वे प्रभु सरति=सारे संसार को गति देते हैं, अतः सूर्य हैं। चन्दति 'आह्लादयति' सबको प्रसन्न करने के कारण, सदा आनन्दमय रहने के कारण प्रभु चन्द्र नामवाले हैं। गति के द्वारा सब बुराइयों का हिंसन करनेवाले ये प्रभु वायु हैं और ज्ञान से विशिष्ट रूप में चमकनेवाले ये प्रभु विद्युत् हैं। ६. **तम्**=उस **संप्रश्नम्**=(सम्यक् प्रश्नः यस्मिन्) जिज्ञास्य प्रभु को **विश्वा**=सब **अन्या** =दूसरे **भुवना**=लोक—लोकों में रहनेवाले प्राणी **यन्ति**=जाते हैं, सज्जन सर्वदा उसका स्मरण करते हैं, परन्तु दुर्जन भी मुसीबत आने पर उसी के नाम का स्मरण करते हैं।

भावार्थ—वे प्रभु सब तेजों व लोकों के देनेवाले हैं। वे प्रभु ही **संप्रश्न**=सम्यग् जिज्ञास्य हैं।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। **देवता**—विश्वकर्मा। **छन्दः**—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

मर्यादित धनसंग्रह

तऽआयजन्त द्रविणꣳसमस्माऽऋषयः पूर्वे जरितारो न भूना।
असूर्ते सूर्ते रजसि निषत्ते ये भूतानि समकृण्वन्निमानि ॥२८॥

१. **ये**=जो **ऋषयः**=तत्त्वज्ञानी होते हैं **पूर्वे**=अपना पूरण करनेवाले होते हैं **जरितारः**=प्रभु के स्तोता होते हैं तथा २. **असूर्ते**=(असुभिः ईरिते) प्राणों से प्रेरित, अर्थात् प्राण-साधना के द्वारा प्रभु की ओर लगाये गये **सूर्ते**=(सु ईरिते) उत्तम प्रेरणाओं को प्राप्त करनेवाले **रजसि**=हृदयान्तरिक्ष में **निषत्ते**=(निषत्ते जस एकारः—म०) निश्चय से स्थित होते हैं, अर्थात् जिन्होंने प्राण-साधना के द्वारा हृदय की वृत्ति को प्राकृतिक विषयों से हटाकर आत्मस्वरूप में अवस्थित करने का प्रयत्न किया है, अतएव जिनका हृदय प्रभु की प्रेरणा को सुननेवाला बनता है (सूर्त)। ३. **ये**=जो **इमानि भूतानि**=इन पृथिवी आदि शरीर के उपादानकारणभूत पञ्चभूतों को **समकृण्वन्**=उत्तम बनाते हैं, अर्थात् इनकी अनुकूलता से पूर्ण स्वस्थ बनते हैं। ४. **ते**=वे **द्रविणम्**=धन को **अस्मै**=इस प्रभु के लिए—प्रभु-प्राप्ति के लिए **सम् आयजन्त**= सम्यक्तया अपने साथ सङ्गत करते हैं। शरीर के योगक्षेम के लिए वे धन का ग्रहण तो करते हैं, परन्तु **न भूना** (न भूम्ना)=बाहुल्येन नहीं। धन को बहुत अधिक नहीं जुटाते। ५. धन का संग्रह ये क्यों करते हैं? (क) (ऋषयः) तत्त्व ज्ञानी बनने के लिए, ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञान प्राप्त करने के लिए। ज्ञान-प्राप्ति के साधनों के जुटाने में यह धन सहायक होता है। (ख) (पूर्वे) अपना पूरण करने के लिए। यह शरीर भौतिक है, इसके पालन-पोषण के लिए भौतिक साधनों की आवश्यकता है। उनका जुटाना धन से ही सम्भव है, परन्तु ये धन को विलास की सामग्री जुटाकर अपनी शक्तियों की क्षीणता का कारण नहीं बनने देते। (ग) (जरितारः) प्रभु की स्तुति के लिए। धनाभाव में नमक, तेल, ईंधन की परेशानी ही मनुष्य को अशान्त किये रक्खेगी, वह प्रभु-भजन क्या कर पाएगा? (घ) ये धन को इसलिए जुटाते हैं कि भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति की ओर से निश्चिन्त-से होकर ये (असूर्ते

सूर्ते रजसि निषत्तः) प्राण-साधना कर सकें। योग की ओर प्रवृत्त हो सकें। योगाभ्यास में अपना अधिक समय दे सकें। धनाभाव व परिवार का बोझ भी मनुष्य को उस मार्ग पर नहीं चलने देता। (ङ) धन को इसलिए जुटाते हैं कि ये (भूतानि समकृण्वन्) पाँच भौतिक शरीर की आवश्यकताओं को ठीक प्रकार से जुटा सकें और पूर्ण स्वस्थ बन सकें। ६. यह धन का संग्रह उनका नाश करनेवाला न हो जाए इसके लिए वे इस बात का सदा ध्यान रखते हैं कि 'न भूना' यह बाहुल्येन न जुट जाए। उस स्थिति में यह प्यास को और बढ़ाता है और मनुष्य इसी का गुलाम बन जाता है। सब बौद्धिक व आध्यात्मिक उन्नति धरी रह जाती है। इसलिए धन को जुटाना है, परन्तु मर्यादा में आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नकि विलास की सामग्री जुटाने के लिए। आदर्श Simple living ही रहे 'सादा जीवन,' नकि Standard of living को ऊँचा करना', अर्थात् आवश्यकताओं को बढ़ाते जाना।

भावार्थ—पूर्व श्रेष्ठ ऋषि भी प्रभु-प्राप्ति के लिए, योगादि में निश्चिन्ततापूर्वक प्रवृत्त होने के लिए मर्यादित धन-संग्रह करते हैं।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। **देवता**—विश्वकर्मा। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

परो दिवा—परःपृथिव्या

परो दिवा परऽएना पृथिव्या परो देवेभिरसुरैर्यदस्ति।
किꣳस्विद् गर्भं प्रथमं दध्रऽआपो यत्र देवाः समपश्यन्त पूर्वे॥२९॥

१. वह परमात्मा **दिवा परः**=द्युलोक से भी दूर है, **एना पृथिव्या**=इस पृथिवी से भी **परः**=दूर है। २. **देवेभिः**=देवों से भी **परः**=वह दूर है, देव भी उस तक नहीं पहुँच पाते 'नैनद् देवा आप्नुवन्' (यजुः० ४०।४) और **असुरैः परः**=असुरों से भी वह दूर है। देवों व असुरों से वह विलक्षण प्रभु दुर्ज्ञेय है। ३. **यद् अस्ति**=ऐसा जो प्रभु है वह द्युलोक से परे है, अध्यात्म में मस्तिष्क से परे है। मस्तिष्क के तर्क का वह विषय नहीं बनता। इसीलिए मस्तिष्क प्रधान देवों की पहुँच से भी वह बाहर है। पृथिवी से भी वह परे है, अध्यात्म में पृथिवी 'शरीर' है। इस शरीर के विकास में लगे हुए असुरों से भी वह प्रभु प्राप्य नहीं। ४. **किं स्वित्**=उस विलक्षण अनिर्वचनीय **गर्भम्**=(ग्रहीतुं योग्यं—द०) ग्रहण के योग्य **प्रथमम्**=(प्रथ विस्तारे) अत्यन्त विस्तृत—सर्वव्यापक प्रभु को **आपः**=प्राण **दध्रे**=धारण करते हैं। प्राणायाम द्वारा प्राणों की साधना होने पर चित्तवृत्ति का निरोध होता है। चित्तवृत्ति का निरोध होनेपर द्रष्टा का स्वरूप में अवस्थान होता है। इसी समय प्रभु का दर्शन होता है। इसी से मन्त्र में कहते हैं कि **यत्र**=प्राणों के स्वाधीन होने पर **पूर्वे देवाः**=(अधीतपूर्ण विद्याः—द०) पूर्ण ज्ञान को प्राप्त होनेवाले विद्वान् **समपश्यन्त**=उस प्रभु का सम्यग् दर्शन करते हैं।

भावार्थ—१. मस्तिष्क व मस्तिष्क की साधना करनेवाले देवों से वह प्रभु दूर है। २. शरीर व शरीर की साधना करनेवाले असुरों से तो वह निश्चित ही दूर है। ३. उस ग्रहणीय व्यापक प्रभु को प्राण ही धारण करते हैं। ४. इस प्राण-साधना के होने पर अधीतपूर्णविद्या देव उस प्रभु का सम्यग् दर्शन करते हैं।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। **देवता**—विश्वकर्मा। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

भूतभृन्न च भूतस्थः

तमिद् गर्भं प्रथमं दध्रऽआपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे।
अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन्विश्वानि भुवनानि तस्थुः॥३०॥

१. **तम् इत गर्भं प्रथमम्**=उस आश्चर्यभूत, निश्चय से ग्रहणीय, व्यापक परमात्मा को **आपः दध्रे**=प्राण धारण करते हैं, अर्थात् प्राण-साधना होने पर ही, चित्तवृत्ति के निरोध से हम स्वरूप में स्थित होते हैं और प्रभु का दर्शन कर पाते हैं। २. **यत्र**=इस प्राण-साधन के होने पर **विश्वे**=(विशन्ति) उस प्रभु में प्रवेश करनेवाले जैसे नदियाँ समुद्र में, **देवाः**=ज्ञान-ज्योति से द्योतित हृदयवाले विद्वान् **समगच्छन्त**=सम्यक्तया प्रभु से सङ्गत होते हैं। ३. **अजस्य**=उस अजन्मा (न जायते) अथवा गति के द्वारा सब बुराइयों का प्रक्षेपण=नाश करनेवाले (अज् गतिक्षेपणयोः) प्रभु की **नाभौ**=(नह बन्धने) बन्धनशक्ति में **एकम्**=यह नाना पुष्परूप लोक-लोकान्तरों से बना हुआ सुव्यवस्थित ब्रह्माण्डरूप हार **अध्यर्पितम्**=अर्पित हुआ-हुआ है। ये सब लोकलोकान्तर उस प्रभु में इस प्रकार प्रोत (पिराये हुए) हैं जैसे सूत्र में मणियों के गण प्रोत होते हैं। वे प्रभु सूत्र हैं, सूत्रों के भी सूत्र हैं। सब लोक उसी प्रभु में बद्ध हैं। ४. इस प्रकार वे प्रभु वे हैं **यस्मिन्**=जिनमें **विश्वानि भुवनानि**=सब भूतजात **तस्थुः**=स्थित हैं। 'वे प्रभु किसी में स्थित हों' ऐसी बात नहीं। वे सर्वाश्रय हैं, उनका कोई अन्य आश्रय नहीं। वे प्रभु सचमुच 'भूतभृन्न च भूतस्थः' सब भूतों का भरण करनेवाले, पर उनपर अनाश्रित हैं।

भावार्थ—वे प्रभु सब भूतों का भरण करनेवाले हैं। यह सारा ब्रह्माण्ड उन्हीं में अर्पित हैं।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। **देवता**—विश्वकर्मा। **छन्दः**—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

नीहार-निराकरण

न तं विदाथ यऽइमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृपऽउक्थशासश्चरन्ति ॥३१॥

१. **तम्**=उस परमात्मा को **न विदाथ**=तू नहीं जान पाता। उस परमात्मा को **यः इमा जजान**=जिसने इन सब लोक-लोकान्तरों वा तुम्हारे शरीरों को भी जन्म दिया है। कितना आश्चर्य है कि अपने जनिता (उत्पादक) को भी हम नहीं जानते। २. **अन्यत्**=वे प्रभु तो अत्यन्त विलक्षण हैं। सामान्य वस्तु को जाना जाए या न जाना जाए, परन्तु जो अत्यन्त विलक्षण है, वह तो दिखनी ही चाहिए। ३. और वह कहीं दूर हो यह बात भी नहीं, **युष्माकं अन्तरं बभूव**=वह तो तुम्हारे अन्दर ही व्याप्त हो रहा है। ४. ऐसा होते हुए भी उसको न देख सकने का कारण यह है कि **नीहारेण प्रावृताः**=कुहरे के समान अज्ञान से आवृत होकर **चरन्ति**=लोग संसार-व्यवहार में प्रवृत्त होते हैं। जब ज्ञानरूप सूर्य का उदय होगा और यह अज्ञान का कुहरा विलीन होगा तभी हम प्रभु का दर्शन कर पाएँगे। ५. **जल्प्या 'प्रावृताः'**=हम गप-शप में, प्रवृत्त रहते हैं, इससे भी प्रभु-दर्शन नहीं कर पाते। थोड़े सत्य-असत्य, वादानुवाद में स्थिर रहनेवाले हम हो जाते हैं। यह **जल्पि**=वादानुवाद (Debates व Discussions) भी हमें प्रभु-दर्शन से दूर रखते हैं। हम शास्त्रार्थों में विजय की इच्छा से सरगर्मी से प्रवृत्त रहते हैं और तत्त्वज्ञान तक नहीं पहुँच पाते। व्यर्थ की बातें हमें प्रभु-दर्शन से वञ्चित करनेवाली होती हैं। ६. **च**=और इसलिए भी हम प्रभु-दर्शन नहीं कर पाते कि हम **असुतृपः**=प्राणों के पोषण में ही लगे रह जाते हैं। हमारा सारा समय भोजन जुटाने, उसे तैयार करने व खाने में ही लग जाता है। चिन्तन का समय ही हमें नहीं होता। कुछ समय मिलता भी है तो वह आमोद-प्रमोद में व्यर्थ हो जाता है। हमारा उद्देश्य

सांसारिक सुख-साधनों का बढ़ाना ही लगता है। ७. कुछ अच्छी वृत्ति हुई तो हम सांसारिक सुख-साधनों से कुछ ऊपर उठकर परलोक-सुखों के सम्पादन के लिए **उक्थशासः**=यज्ञों में, उक्थों का शंसन करने में **चरन्ति**=लगे रहते हैं। 'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः' 'ये यज्ञरूप बेड़े दृढ़ नहीं है' यह उपनिषद् वाक्य हमें भूल जाता है और हम प्राण-साधना व योगाभ्यास में प्रवृत्त नहीं होते। परिणामतः प्रभु के दर्शन से दूर ही रहते हैं।

भावार्थ—प्रभु-दर्शन के लिए आवश्यक है कि १. हम अज्ञान को दूर करें। २. गपशप न मारते रहें। ३. सांसारिक सुख-साधनों का ही संग्रह न करते रह जाएँ और ४. यज्ञों द्वारा स्वर्ग प्राप्ति ही हमारा ध्येय न बन जाए।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। **देवता**—विश्वकर्मा। **छन्दः**—स्वराडार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

लोक-वेद-ओषधि-पर्जन्य

विश्वकर्मा ह्यजनिष्ट देवऽआदिद् गन्धर्वोऽअभवद् द्वितीयः।
तृतीयः पिता जनितौषधीनामपां गर्भं व्यदधात्पुरुत्रा॥३२॥

१. **विश्वकर्मा**=इस सारे ब्रह्माण्ड को व जीव-शरीरों को उत्पन्न करनेवाले **देवः**=प्रभु ने **हि**=निश्चय से **अजनिष्ट**=सब लोक-लोकान्तरों व जीवों के शरीरों को उत्पन्न किया, लोक-लोकान्तर बनाये और उनमें कर्मानुसार जीवों को शरीर धारण कराये। २. **आत् इत्**=जीवों को उस-उस लोक में शरीर देने के बाद विश्वकर्मा अब **द्वितीयः**=दूसरे स्थान को पूरण करनेवाला **गन्धर्वः**=वेदवाणी का धारण करनेवाला **अभवत्**=हुआ, अर्थात् जीवों को जन्म देने के बाद प्रभु ने सबसे प्रथम उन्हें वेदज्ञान दिया। हृदयस्थरूपेण 'अग्नि, वायु, आदित्य व अङ्गिरा' को सम्पूर्ण वेदज्ञान देकर उनके द्वारा सभी को प्रकाशमय जीवनवाला किया। ३. **तृतीयः**=तीसरे स्थान को पूरण करनेवाला यह परमात्मा **पिता**=सबका रक्षक हुआ। रक्षण के उद्देश्य से ही **ओषधीनां जनिता**=ओषधियों को उत्पन्न करनेवाला हुआ। ४. इस तृतीय वाक्य की रचना व स्थिति से दो बातें स्पष्ट हैं—(क) स्वाध्याय का स्थान भोजन से भी प्रथम है तथा (ख) भोजन के लिए—भोजन के द्वारा शरीर-पालन के लिए प्रभु ने ओषधियों को जन्म दिया है। ये ही मनुष्य के मुख्य भोजन हैं। ५. इन ओषधियों के उत्पादन के लिए प्रभु ने **अपां गर्भम्**=जलों को अपने में धारण करनेवाले पर्जन्य=मेघ को उत्पन्न किया, जो मेघ **पुरुत्रा**=पुरुत् त्रायते=बहुतों की रक्षा करता है अथवा पालन व पूरण करता है (पुरु) और रक्षा करता है (त्रा)। इस प्रकार प्रभु की कितनी कृपा है? उसकी अनन्त कृपा का स्मरण करता हुआ 'भुवनपुत्र विश्वकर्मा' उस प्रभु का स्तवन करता है और तदनुरूप बनने का प्रयत्न करता है। यह भी भुवनों को पवित्र करनेवाला तथा सदा कर्मों में व्याप्त रहनेवाला बनता है। इस प्रभु-उपासन के परिणामरूप वह अनुपम शक्ति प्राप्त करके जीवन-संग्राम में विजयी होता है और अगले मन्त्रों का ऋषि 'अप्रतिरथ'=अद्वितीय योद्धा बन जाता है। इस अप्रतिरथ का चित्रण अगले मन्त्रों में द्रष्टव्य है।

भावार्थ—१. प्रभु सारे लोक-लोकान्तरों को जन्म देते हैं। जीवों को कर्मानुसार शरीर देते हैं। २. शरीर देते ही जीवों को वेदज्ञान देते हैं, जिससे वे प्रकृति के प्रयोग में व परस्पर व्यवहार में ग़लती न करें। ३. उनके शरीरों के रक्षार्थ ओषधियों को जन्म देते हैं। ४. ओषधियों की उत्पत्ति के लिए बादलों की व्यवस्था करते हैं।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

शतसेना पराजय

आशुः शिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम्।
संक्रन्दनोऽनिमिषऽएकवीरः शतꣳसेनाऽअजयत्साकमिन्द्रः॥३३॥

१. प्रभु के उपासक का प्रकरण चल रहा था। 'यह उपासक कैसा बन जाता है।' प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **आशुः**=(अश्नुते व्याप्नोति) यह सदा कार्यों में व्यापृत रहता है। 'विश्वकर्मा' की उपासना करके यह 'विश्वकर्मा' क्यों न बनेगा? 'आशु' शब्द में शीघ्रता की भी भावना है। यह शीघ्रता से कार्य करनेवाला होता है। इसमें आलस्य नहीं होता। २. **शिशानः**=(शो तनूकरणे) यह अपनी बुद्धि को खूब ही तीव्र बनाता है। इस तीव्र बुद्धि ने ही तो उसे प्रभु का दर्शन कराना है **'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः'**= प्रभु सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा ही देखे जाते हैं। ३. **वृषभः**=यह वृषभ के समान शक्तिशाली होता है। **'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'**=निर्बल से प्रभु की प्राप्ति सम्भव नहीं होती। ४. **न भीमः**=शक्तिशाली होते हुए भी यह भयंकर नहीं होता। अपितु शक्ति के साथ इसमें शान्ति व सौम्यता होती है। सौम्यता शक्ति को अलंकृत करनेवाली है। यह शक्ति से पर-पीड़न न करके पर-रक्षण ही करता है। ५. **घनाघनः**=यह काम, क्रोधादि आन्तर शत्रुओं का पूर्णरूपेण हनन करनेवाला होता है। ६. **चर्षणीनां क्षोभणः**=मनुष्यों को उत्तम प्रेरणा देकर उनमें अध्यात्म-संग्राम के लिए हलचल उत्पन्न कर देता है। वे कामादि शत्रुओं से युद्ध के लिए सन्नद्ध हो जाते हैं। ७. **संक्रन्दनः**=यह सदा प्रभु का आह्वान करनेवाला होता है। प्रभु के नामों का उच्चारण इसे कामादि शत्रुओं के आक्रमण से बचाता है। ८. **अनिमिषः**=यह एक पलक भी नहीं मारता। सदा जागरित—सावधान रहता है। ज़रा-सा प्रमाद किया तो वासनाओं का शिकार हुआ। ९. **एकवीरः**=इस 'प्रद्युम्न' प्रकृष्ट बलवाली वासनाओं से संग्राम करनेवाला यह अद्वितीय वीर है। १०. **इन्द्रः**=यह सब इन्द्रियों को वासनाओं के आक्रमण से बचाकर उनका सच्चा अधिपति बनता है। ११. **शतं सेनाः साकम् अजयत्**=और अब वासनाओं की एक साथ आई हुई सैकड़ों सेनाओं भी को जीत लेता है। अथवा **साकम्**=उस प्रभु के साथ रहनेवाला यह 'अप्रतिरथ' **शतं सेनाः अजयत्**=वासनाओं की शतशः सेनाओं को भी जीत लेता है। प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न बने हुए इसको कामादि की सेनाएँ पराजित नहीं कर पातीं।

भावार्थ—मन्त्र-वर्णित लक्षणों को अपने में विकसित करके हम सच्चे प्रभु-भक्त प्रमाणित हों।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—स्वाराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

युधः-नरः

संक्रन्दनेनानिमिषेण जिष्णुना युत्कारेण दुश्च्यवनेन धृष्णुना।
तदिन्द्रेण जयत तत्सहध्वं युधो नर इषुहस्तेन वृष्णा॥३४॥

१. वासनाओं को जीतना अत्यन्त कठिन है। इनके साथ युद्ध करनेवाला मनुष्य सचमुच 'युधः' है। यह निरन्तर आगे बढ़ने के कारण 'नरः' है। यह अपने को एक आदर्श उपासक बनाने का प्रयत्न करता है और इस 'उपासक आत्मा' से वासनाओं का पराभव

करता है। कैसी आत्मा से? २. **संक्रन्दनेन**=सदा प्रभु का आह्वान करनेवाली आत्मा से। प्रभु के नामोच्चरण से यह अपने में शक्ति भरता है और वासनाओं को भयभीत करता है। ३. **अनिमिषेण**=कभी भी पलक न मारनेवाली, अर्थात् सदा सावधान रहनेवाली आत्मा से। प्रमाद मनुष्य को वासनाओं का शिकार बना देता है। ४. **जिष्णुना**=विजयशील आत्मा से। वस्तुतः प्रभु का आह्वान करनेवाली अप्रमत्त आत्मा कभी हार ही नहीं सकती। ५. **युत्कारेण**=युद्ध करनेवाली आत्मा से। यह वासनाओं के साथ संग्राम को कभी निरुत्साह होकर छोड़ नहीं देता। ६. **दुश्च्यवनेन**=युद्ध के निश्चय से विचलित न की जानेवाली आत्मा से। अवान्तर पराजयों से भी यह युद्ध को समाप्त नहीं कर देता (Loses battles, but wins the war.) यह अन्त में अवश्य विजयी होता है। ७. **धृष्णुना**=दुश्च्यवन होने से ही धर्षण करनेवाली आत्मा से यह युद्ध में लगा ही रहता है और अन्त में शत्रुओं को कुचल डालता है। ८. **इषुहस्तेन** =प्रेरणा को हाथ में लेनेवाली आत्मा से, अर्थात् प्रभु की प्रेरणा के अनुसार कार्य करनेवाला यह बनता है। ९. **वृष्णा**=शक्तिशाली आत्मा से। प्रभु की प्रेरणा के अनुसार चलनेवाला अपने में शक्ति का अनुभव करता ही है। १०. हे **युधः नरः**:=युद्ध करनेवाले और आगे बढ़नेवाले वीरो! **तदिन्द्रेण**=(स चासौ इन्द्रः) ऐसी आत्मा से **जयत**=तुम विजयी बनो। और **तत्**=उस वासना-समूह को **सहध्वम्**=पराभूत कर डालो।

भावार्थ—हम अपनी आत्मा को 'संक्रन्दन-अनिमिष-जिष्णु-युत्कार-दुश्च्यवन-धृष्णु-इषुहस्त व वृषण' बनाएँगे तो इस आत्मा से शत्रुओं को अवश्य पराभूत करेंगे।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

प्रत्याहार

सऽइषुहस्तैः स निषङ्गिभिर्वशी सꣳस्रष्टा स युधऽइन्द्रो गणेन।
सꣳसृष्टजित् सोमपा बाहुशर्ध्युग्रधन्वा प्रतिहिताभिरस्ता ॥३५॥

१. **सः**=वह 'अप्रतिरथ' अद्वितीय योद्धा **इषुहस्तैः**=प्रेरणारूप हाथों से, अर्थात् प्रभु की प्रेरणा के अनुसार कार्य करनेवाले हाथों से और **सः**=वह **निषङ्गिभिः**=अनासक्ति-(नि-सङ्ग)-रूप अस्त्रों से युक्त हुआ-हुआ २. **वशी**=अपनी इन्द्रियों को पूर्णरूप से वश में करनेवाला तथा ३. **गणेन संस्रष्टा**=(गण संख्याने) संख्यान व चिन्तन से सदा संसृष्ट रहनेवाला, अर्थात् सदा चिन्तनशील अथवा **गणेन संस्रष्टा**=सारी समाज के साथ मिलकर चलनेवाला ४. **सः युधः**=वह निरन्तर युद्ध करनेवाला **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव ५. **संसृष्टजित्**= विषयेन्द्रिय-सम्पर्क को जीतनेवाला होता है। ६. विषयेन्द्रिय-सम्पर्क को जीतकर यह **'सोमपा'**=सोम का पान करनेवाला होता है। अपनी वीर्यशक्ति की रक्षा करता है। ७. **बाहुशर्धी**=सोम-रक्षण से यह बाहुबल से युक्त होता है (शर्धः=बलम्) इसकी भुजाओं में शक्ति होती है। ८. और यह **उग्रधन्वा**=(उग्र=उदात्त) उत्कृष्ट प्रणव-ओम्-रूप धनुष को धारण करता है। 'तज्जपस्तदर्थभावनम्'=ओ३म् का ही जप करता है, ओ३म् के ही अर्थ का भावन करता है। ९. और अब यह **प्रतिहिताभिः**=(प्रत्याहृतिभिः) इन्द्रियों को विषयों से वापस लाने के द्वारा **अस्ता** =कामादि शत्रुओं को सुदूर फेंकनेवाला होता है। इन्द्रियों को वापस लाता है, शत्रुओं को दूर फेंकता है।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हम 'असङ्ग-शस्त्र' से संसार-वृक्ष का छेदन कर सकें। इन्द्रियों के प्रत्याहार से वासनाओं को दूर करनेवाले बनें।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

रथों का रक्षण

बृह॑स्पते॒ परि॑ दीया॒ रथे॑न रक्षो॒हामित्राँ॑२॥ऽअप॒बाध॑मानः। प्र॒भ॒ञ्जन्त्सेनाः॑ प्रमृ॒णो यु॒धा जय॑न्न॒स्माक॑मेध्यवि॒ता रथा॑नाम्॥३६॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **बृहस्पते**=ज्ञान के स्वामिन्! तू **रथेन**=इस शरीररूप रथ से **परिदीया**=(दी to shine) चमकनेवाला बन, अर्थात् तेरा यह शरीर पूर्ण स्वस्थ हो। यह स्वास्थ्य की दीप्तिवाला हो। इस स्वस्थ, चमकते हुए शरीररूप रथ से **परिदीया**=तू आकाश में उड़नेवाला बन (दी to soar), अर्थात् तेरी गति सदा उन्नति की दिशा में हो। उन्नति करते हुए तूने ऊर्ध्वा दिक् का, सर्वोच्च स्थिति का अधिपति बनना है। २. इस उन्नति को स्थिर रखने के लिए तू **रक्षोहा**=राक्षसी वृत्तियों का संहार करनेवाला बन। इसी उद्देश्य से तू **'अमित्रान्'**=अस्नेह व द्वेष की भावनाओं को **अपबाधमानः**=अपने से सदा दूर रखनेवाला हो। ईर्ष्या तो तेरे मन को मृत कर देगी फिर तू क्या उन्नति कर पाएगा? अतः इसे तो पास फटकने ही नहीं देना। ३. **सेनाः**=वासनाओं की सेनाओं को **प्रभञ्जन्**=प्रकर्षेण पराजित करता हुआ तू **प्रमृणः**=इनको कुचल डाल। ४. इस प्रकार **युधा**=इन वासनाओं के साथ युद्ध के द्वारा **जयन्**=इनको पराजित करता हुआ तू **अस्माकम्**=हमारे (प्रभु से) दिये हुए इन **रथानाम्**=स्थूल, सूक्ष्म व कारणशरीररूप रथों का **अविता**=रक्षा करनेवाला **एधि**=हो। यह ध्यान रखना कि लोभ तेरे आनन्दमयकोश व शरीर को विकृत कर देगा। क्रोध तेरे सूक्ष्मशरीर (बुद्धि, मन) का नाशक होता है और काम इस स्थूलशरीर को जीर्ण कर देता है। इन शत्रुओं के आक्रमण से तूने हमारे दिये हुए इन रथों की रक्षा करनी है।

भावार्थ—हम अपने शरीररूप रथों से चमकें, उन्नति करनेवाले बनें।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

जैत्र रथाधिष्ठान=रथारोहण

ब॒ल॒वि॒ज्ञा॒यः स्थवि॑रः॒ प्रवी॑रः॒ सह॑स्वान् वा॒जी सह॑मानऽउ॒ग्रः। अ॒भिवी॑रोऽअ॒भिस॑त्वा सहो॒जा जैत्र॑मिन्द्र॒ रथ॒माति॑ष्ठ गो॒वित्॥३७॥

१. अप्रतिरथ वह है जो **बलविज्ञायः**=अपने बल के कारण प्रसिद्ध है। २. **स्थविरः**=स्थिरमति=स्थितप्रज्ञ है, विषयों से डाँवाँडोल होनेवाला नहीं है। ३. **प्रवीरः**=प्रकृष्ट वीर है, यह वैषयिक वृत्तियों को विशेषरूपेण कम्पित करनेवाला है (विशेषेण ईरयति) ४. **सहस्वान्**=सहन-शक्तिवाला है। लोगों की अभिशस्तियों (गालियों) से तैश में आजानेवाला नहीं। ५. **वाजी**=बलवाला है अथवा त्याग-वृत्तिवाला है (वाज=Sacrifice) ६. **सहमानः**=शत्रुओं का पराभव करनेवाला है अथवा सर्दी-गर्मी आदि को सहने की शक्तिवाला है। ७. **उग्रः**=तेजस्वी है ८. **अभिवीरः**=वीरता की ओर चलनेवाला है और **अभिसत्वा**=सत्त्वगुण की ओर चलनेवाला है। यह वीरता व ज्ञान (सत्त्वस्य लक्षणं ज्ञानम्) का समन्वय करता है। ९. **सहोजाः** =यह प्रभु के साथ सम्पर्क के कारण ओजस्वी होता है। १०. हे **इन्द्र**= इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! तू ऐसा बनकर **जैत्रं रथम् आतिष्ठ**=विजयशील रथ पर आरोहण कर, अर्थात् तू कभी वासनाओं से पराजित न हो। इसी अपराजय के लिए तू ११. **गोवित्**=ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करनेवाला बन। जब तुझमें वीरता व ज्ञान का समन्वय होगा तभी तेरी

निश्चित विजय होगी। १२. यहाँ मन्त्र का प्रारम्भ 'बलविज्ञाय:' से है और समाप्ति 'गोवित्' पर है। वस्तुतः हमें 'बल वं ज्ञान' दोनों का ही सम्पादन करना है। यही भावना 'अभिवीरः व अभिसत्वा' शब्द भी दे रहे हैं।

भावार्थ—हम अपने जीवन में बल और ज्ञान का समन्वय करके विजयी बनें।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

लोभ का विदारण

गोत्रभिदं गोविदं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा।
इमꣳसजाताऽअनु वीरयध्वमिन्द्रꣳसखायोऽअनु सꣳरभध्वम्॥३८॥

१. प्रभु कहते हैं—हे **सजाता:**=समान जन्मवाले जीवो! **इमम्**=इस इन्द्र के **अनुवीरयध्वम्**=अनुसार तुम भी वीरतापूर्ण कर्म करो। उस इन्द्र के अनुसार जो **गोत्रभिदम्**=(गोत्र=wealth) धन का विदारण करनेवाला है, अर्थात् हिरण्मयपात्र से डाले जानेवाले आवरण को सुदूर नष्ट करनेवाला है। २. **गोविदम्**=ज्ञान प्राप्त करनेवाला है। धन के लोभ को दूर करके ही ज्ञान प्राप्त होता है। ३. **वज्रबाहुम्**=जिसकी बाहु में वज्र है। 'वज गतौ' से वज्र शब्द बना है और 'बाहृ प्रयत्ने' से बाहु, अतः 'वज्रबाहु' शब्द की भावना यह है कि जो अपने प्रयत्नों में सदा गतिशील है, अपने प्रयत्नों को कभी ढीला नहीं करता, ४. इसलिए **अज्म जयन्तम्**=संग्राम को जीतनेवाला है। वासना-संग्राम क्रियाशीलता से ही जीता जाता है। ५. **ओजसा प्रमृणन्तम्**=क्रियाशीलता से प्राप्त हुई ओजस्विता से यह शत्रुओं को कुचल डालता है। ६. वस्तुतः इन्द्र वही है जो उल्लिखित पाँच विशेषणों से युक्त है। जन्म लेनेवालों को चाहिए कि **अनुवीरयध्वम्**=वे भी इन्द्र के समान ही वीर बनें और संग्राम में शत्रुओं को कुचल दें। ७. प्रभु कहते हैं कि **सखाया:**=इन्द्र के समान ख्यान, ज्ञान व नामवाले जीवो! **अनु**=इस इन्द्र के अनुसार ही तुम सब भी **संरभध्वम्**=बहादुर बनो। इन्द्र की भाँति तुम भी असुरों का संहार करनेवाले होओ। इन्द्र बनकर धन के लोभ से ऊपर उठो।

भावार्थ—इन्द्र बनकर हम धन के लोभ का विदारण करें। ज्ञानी बनकर इस अध्यात्म-संग्राम में शत्रुओं को कुचल दें।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर

अभि गोत्राणि सहसा गाहमानोऽदयो वीरः शतमन्युरिन्द्रः।
दुश्च्यवनः पृतनाषाडयुध्योऽस्माकꣳसेना अवतु प्र युत्सु॥३९॥

१. **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव **गोत्राणि**=धनों को **सहसा**=अपनी शक्ति से, अर्थात् अपने पुरुषार्थ से **अभिगाहमानः**=सर्वतः अवगाहन करता हुआ, अर्थात् सुपथों से कमाता हुआ **अदयः**=(देङ् रक्षणे) उनको अपने पास रखनेवाला नहीं होता। कमाता है पर जोड़ता नहीं, उन धनों को दे डालता है। अपने पुरुषार्थ से इतना कमाता है कि धन में लोटता है (rolls in wealth) पर अनासक्ति के कारण उनका दान कर देता है। यह इन्द्र धन को अपने पास न रखकर ही इन्द्र बना रहता है। यह अपनी शक्ति को खोता नहीं, धनासक्ति व्यक्ति को क्षीण-शक्ति कर देती है, 'कुबेर' बना देती है, कुत्सित शरीरवाला। २. **वीरः**=यह दानवीर इन्द्र धन के दान के कारण सचमुच वीर=शक्तिशाली बना रहता है।

३. **शतमन्युः**=अपने धनों से वह शतशः यज्ञों का करनेवाला होता है। ३. **दुश्च्यवनः**=इसे यज्ञमार्ग से कोई भी बात गिरा नहीं पाती। वस्तुतः धन का लोभ ही इस यज्ञिय मार्ग से विचलित कर सकता था। उसे छोड़कर यह दृढ़ता से यज्ञिय मार्ग पर चल रहा है। ४. **पृतनाषाट्**=इस यज्ञ-मार्ग पर चलते हुए यह काम-क्रोध आदि को संग्राम में पराभूत करनेवाला होता है (पृतनां संग्रामं सहते) ५. **अयुध्यः**=काम-क्रोधादि इसके प्रतियोद्धा नहीं बन पाते। (नास्ति युध्यः अस्य) ६. यह अयुध्य इन्द्र **अस्माकम्**=हमारी दिव्य गुणों की **सेनाः**=सेनाओं को **प्रयुत्सु**=इन प्रकृष्ट आध्यात्मिक संग्रामों में **अवतु**=सुरक्षित करे। काम-क्रोधादि का पराजय होकर, प्रेम व मित्रता का विकास हो।

भावार्थ—हम धनों का अवगाहन करें, परन्तु उनमें ही आसक्त न हो जाएँ। हममें दिव्य गुणों का विकास हो। लोभ ही दिव्य गुणरूप पुरुषों के लिए तुहिनरूप होता है।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—विराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

देवसेना

इन्द्र॑ऽआसां ने॒ता बृ॒हस्पति॒र्दक्षि॑णा य॒ज्ञः पु॒रऽए॑तु॒ सोमः॑ ।
दे॒व॒से॒नाना॑मभिभञ्जती॒नां जय॑न्तीनां म॒रुतो॑ य॒न्त्वग्र॑म् ॥४०॥

१. पिछले मन्त्र में देव-सेनाओं की रक्षा का उल्लेख हुआ है। **देवसेनानाम्**=इन देव-सेनाओं के **अभिभञ्जतीनाम्**=जो चारों ओर आसुर सेनाओं का विदारण कर रही हैं, **जयन्तीनाम्**=और असुरों पर विजय पाती चलती हैं, उन देव-सेनाओं के **अग्रम्**=आगे **मरुतः**=प्राण **यन्तु**=चलें। स्पष्ट है कि ये देव-सेनाएँ प्राणों के पीछे चलती हैं। प्राण-साधना ही इस देवसेना को जन्म देती है। प्राणायाम से इन्द्रियों के दोषक्षीण होते हैं, मन का मैल नष्ट होता है और आसुर वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। एवं, स्पष्ट है कि देवसेनाओं के आगे मरुत् चलते हैं। **इन्द्रः आसां नेता**=इन विजयशील देवसेनाओं का सेनापति इन्द्र है। **इन्द्र**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता है, हृषीकेश है, हृषीक=इन्द्रियों का ईश। यह इन्द्र ही तो देवराट् है। यदि जीभ ने चाहा और हमने खाया तब तो धीरे-धीरे हम इन इन्द्रियों के दास ही बन जाएँगे। हम इन्द्र बनकर देवसेनाओं के सेनापति बनें। ३. इस देवसेना के **पुरः**=आगे **एतु** =ये व्यक्ति चलें। कौन? (क) **बृहस्पतिः**=ब्रह्मणस्पति ज्ञान का स्वामी, देवताओं का गुरु-ज्ञानियों का भी ज्ञानी। दिव्य गुणों में ज्ञान का सर्वोच्च स्थान है। ज्ञानाग्नि कामादि वासनाओं को भस्म कर देती है। (ख) **दक्षिणा**=दान। यह दान लोभ का नाश करता है। लोभ व्यसनवृक्ष का मूल है, अतः देव सदा देते हैं (देवो दानात्) (ग) **यज्ञः**=दिव्य गुणों में प्रथम स्थान ज्ञान का, दूसरा दान का तथा तीसरा स्थान यज्ञ का है। ये यज्ञ ही श्रेष्ठतम कर्म हैं। देव सदा 'हविर्भुक्' होते हुए यज्ञशील बनते हैं। (घ) **सोमः**=चौथा देव सोम है, सौम्यता। सारे दिव्य गुणों के होने पर भी यदि यह सौम्यता न हो तो सब दिव्य गुण अदिव्य बन जाते हैं। दैवी सम्पत्ति का चरमोत्कर्ष 'नातिमानिता' में ही तो है। सोम की भावना 'वीर्य-शक्ति' भी है। मनुष्य ने देव बनने के लिए इस वीर्य-शक्ति की रक्षा करके सोम का पुञ्ज बनना है। सोमशक्ति की रक्षा ही 'ब्रह्मचर्य' है, यही ब्रह्म-प्राप्ति का मार्ग है।

भावार्थ—हम प्राण-साधना करें, जिससे हममें दिव्य गुणों का विकास हो। इन्द्रियों के अधिष्ठाता बनकर हम देवसेनाओं के सेनापति बनें। हमारे जीवन में 'ज्ञान-दान-यज्ञ-सौम्यता व सोमरक्षा' को महत्त्व प्राप्त हो।

ऋषिः—अप्रतिरथः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

जयघोष

इन्द्रस्य वृष्णो वरुणस्य राज्ञऽआदित्यानां मरुताᳬशर्द्धऽउग्रम्। महामनसां भुवनच्यवानां घोषो देवानां जयतामुदस्थात्॥४१॥

१. गत मन्त्र की विजयशील देवसेनाओं के जयघोष का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **वृष्णः इन्द्रस्य**=शक्तिशाली व औरों पर सुखों की वर्षा करनेवाले इन्द्रियों के अधिष्ठाता इस इन्द्र का तथा २. **वरुणस्य राज्ञः**=अति नियमित जीवनवाले (well regulated) वरुण का, जिसने कि सब बुराइयों का वारण किया है ३. तथा, **आदित्यानां मरुताम्**=अपने अन्दर निरन्तर उत्तमताओं का ग्रहण करनेवाले (आदानात् आदित्यः) प्राणसाधक मरुतों का (मरुतः प्राणाः) **शर्द्धः**=बल **उग्रम्**=बड़ा उत्कृष्ट व तीव्र होता है। ४. इन्द्र, वरुण व आदित्य ही देवताओं के महारथी हैं। 'जितेन्द्रिय बनना, बुराइयों को रोकना, तथा अच्छाइयों को अपने अन्दर लेते चलना' ये ही बातें हैं जो हममें दैवी सम्पत्ति का वर्धन करेंगी। ५. इन महारथियों का अनुगमन करनेवाले **महामनसाम्**=विशाल व उदार मनवाले **भुवनच्यवानाम्**=भुवनों का भी त्याग कर देनेवाले, अर्थात् लोकहित के लिए अपने जीवन (भुवन) का भी त्याग कर सकनेवाले **जयताम्**=सदा विजयी बननेवाले **देवानाम्**=देवताओं का, दैवी सम्पत्ति के प्रार्जयिता पुरुषों का **घोषः**=विजयघोष **उदस्थात्**=हमारे जीवनों से सदा उठे। ६. यहाँ प्रसङ्गवश विशेषणों के रूप मे कही गई ये दो बातें ध्यान देने योग्य हैं कि देव 'विशाल मनवाले' तथा 'अधिक-से-अधिक कल्याण करनेवाले' होते हैं।

भावार्थ—हम 'इन्द्र, वरुण व आदित्य' बनने का प्रयत्न करें। विशाल हृदयवाले हों, अधिक-से-अधिक त्याग की वृत्तिवाले हों।

ऋषिः—अप्रतिरथः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराडार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

आयुध-दीपन

उद्धर्षय मघवन्नायुधान्युत्सत्वनां मामकानां मनांᳬसि। उद् वृत्रहन्वाजिनां वाजिनान्युद्रथानां जयतां यन्तु घोषाः॥४२॥

१. विजय के लिए अस्त्रों का ठीक होना अत्यन्त आवश्यक है। अध्यात्म संग्राम के अस्त्र—'शरीररूप रथ, इन्द्रियरूप घोड़े तथा बुद्धिरूपी सारथि जिसने कि मनरूप लगाम को पूर्णरूप से हाथ में ग्रहण किया हुआ है'—ही तो हैं, अतः मन्त्र में कहते हैं कि २. हे **मघवन्**=उच्च ऐश्वर्य को प्राप्त करनेवाले व (मा+अघ) पापरूप मैल को दूर रखनेवाले **वृत्रहन्**=सब प्रकार की वासनाओं का विनाश करनेवाले 'अप्रतिरथ'! तू **आयुधानि**=इन शरीर, इन्द्रियादिक आयुधों को **उद्हर्षय**=खूब दीप्त करनेवाला बन। ३. प्रभु जीव से कहते हैं कि **मामकानाम्**=जो मेरे बने रहते हैं, अर्थात् प्रकृति के भोगों में नहीं फँस जाते उन **सत्वनाम्**=सत्त्वगुण प्रधान मेरे भक्तों के **मनांसि**='मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार व हृदय' **उत्**=उत्कृष्ट बनें। वस्तुतः मनों के उत्कर्ष का मार्ग प्रभु-भक्त बने रहना ही है। इसके उपासक का हृदय वासनाक्रान्त नहीं होता। ४. हे **वृत्रहन्**=वासना का हनन करनेवाले जीव! **वाजिनाम्**=तेरे इन्द्रियरूप घोड़ों के **वाजिनानि**=वेग व बल **उत्**=उत्कृष्ट हों। वृत्र ही इन इन्द्रियरूप घोड़ों के वेग का विनाशक है। वासना इन्हें क्षीण-शक्ति कर देती है। ५. आगे बढ़ते हुए **जयताम्**=विजयशील बनते हुए **रथानाम्**=शरीररूप रथों के **घोषाः**=विजयघोष

उत्=ऊपर उठें। ये शरीररूप रथ पूर्ण स्वस्थ हों, जिससे जीवन-यात्रा अधूरी न रह जाए।

भावार्थ—जीवन-संग्राम में विजय के लिए हमारे मन, इन्द्रिय व शरीररूप सब आयुध ठीक हों।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

आस्तिक मनोवृत्ति

अ॒स्माक॒मिन्द्रः॒ सम॑तेषु ध्व॒जेष्व॒स्माकं॒ याऽइष॑व॒स्ता जय॑न्तु।
अ॒स्माकं॑ वी॒राऽउत्त॑रे भवन्त्व॒स्माँ२॥ऽउ देवाऽअवता ह॒वेषु॥४३॥

१. **ध्वजेषु समृतेषु**=ध्वजाओं व पताकाओं के ठीकरूप से प्राप्त कर लेने पर **अस्माकम्**=हम आस्तिक बुद्धिवालों का नियामक **इन्द्रः**=परमात्मा हो, अर्थात् हम प्रभु को अपना आश्रय मानकर चलें। 'ध्वजा' एक लक्ष्य का प्रतीक है जब हम एक लक्ष्य बनालें तब प्रभु को अपना आश्रय बनाकर अपने लक्ष्य की प्राप्ति में जुट जाएँ। संसार में प्रभु का आश्रय मनुष्य को कभी निरुत्साहित नहीं होने देता। आस्तिक मनुष्य सदा प्रभु को अपनाता है और किसी प्रकार से निरुत्साहित न होकर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता चलता है। २. **अस्माकम्**=हम आस्तिक्य वृत्तिवालों की **याः**=जो **इषवः**=प्रेरणाएँ हैं, अन्तःस्थित प्रभु से दिये जा रहे निर्देश हैं **ताः**=वे निर्देश और प्रेरणाएँ ही **जयन्तु**=जीतें। प्रभु की प्रेरणा होती है कि 'उषःकाल हो गया, उठ बैठ क्या सो रहा है?' उसी समय एक इच्छा पैदा होती है कि 'कितनी मधुर वायु चल रही है, रात की नींद भी तो पूरी नहीं आई। दिन में अलसाते रहोगे, ज़रा सो ही लो।' सामान्यतः यह इच्छा उस प्रेरणा को दबा देती है और मनुष्य सोया रह जाता है। हम प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि आपकी प्रेरणाए ही विजयी हों, हमारी इच्छाएँ नहीं। ३. **अस्माकम्**=हम आस्तिक वृत्तिवालों में **वीराः**=वीरत्व की भावनाएँ, न कि कायरता की वृत्ति **उत्तरे भवन्तु**=उत्कृष्ट हों, प्रबल हों। दबकर कोई कार्य करना मनुष्यत्व से गिरना है। हमारे कार्य वीरता का परिचय दें। ४. **देवाः**=हे देवो! **अस्मान्**=हम आस्तिकों को **हवेषु**=(आहवेषु) संग्रामों में **उ**=निश्चय से **अवत**=रक्षित करो। देव हमारे रक्षक हों। वस्तुतः (क) जब हम प्रभु में पूर्ण आस्था से चलेंगे, (ख) सदा अन्तःस्थ प्रभु की प्रेरणा को सुनेंगे, (ग) सदा वीरता के ही कार्य करेंगे तब देवताओं की रक्षा के पात्र क्यों न होंगे?

भावार्थ—१. जीवन-लक्ष्य को ओझल न होने देते हुए हम प्रभु को अपना आश्रय समझें। २. हमारे जीवन में हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा की विजय हो, न कि हमारी इच्छा की। ३. हम सदा वीरतापूर्ण कार्य ही करें और ४. हम सदा अध्यात्म-संग्रामों में देवों की रक्षा के पात्र हों।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

लोभ का परिणाम

अ॒मीषां॑ चि॒त्तं प्र॑तिलो॒भय॑न्ती गृहा॒णाङ्गा॑न्यप्वे॒ परे॑हि।
अ॒भि प्रेहि॒ निर्द॑ह हृ॒त्सु शोकै॑र॒न्धेना॒मित्रा॒स्तम॑सा सचन्ताम्॥४४॥

१. लोभ की प्रवृत्ति बड़ी विचित्र है (क) यह कम-से-कम प्रयत्न से अधिक-से-अधिक लेना चाहती है। (ख) यह प्रवृत्ति आवश्यकता को नहीं देखती। इससे धन के प्रति एक प्रेम-सा होता है जिसके कारण लोभी किसी अन्य बन्धु-बान्धव या प्राणी से प्रेम नहीं कर पाता। २. इतना ही नहीं यह किसी अन्य की सम्पत्ति को देखकर जलता है। एवं, लोभ

ईर्ष्या का जनक होता है। मन्त्र में कहते हैं कि **अप्वे**=हे (आप्=प्राप्त करना) अधिक-और-अधिक प्राप्त करने की इच्छा! तू **अमीषाम्**=इन तेरे शिकार बने हुए लोगों के **चित्तम्**=चित्त को **प्रतिलोभयन्ती**=प्रत्येक ऐश्वर्य के प्रति लुब्ध करती हुई **अङ्गानि गृहाण**=इनके अङ्गों को जकड़ ले, इनको अपने वश में कर ले। लोभाविष्ट हुआ मनुष्य इस प्रकार धन का दास बन जाता है कि उसे धन के अतिरिक्त कुछ भी नहीं सूझता। यह धन के लिए अपने आराम को समाप्त कर देता है। यह धन के लिए अपने बन्धुत्व की बलि दे देता है, आत्मा-परमात्मा के स्मरण का तो प्रश्न ही नहीं रहता। एक ही इच्छा इसके अङ्ग-प्रत्यङ्गों को जकड़े रखती है और वह है 'धन की इच्छा।' २. यह धन की इच्छा हमारा तो पीछा छोड़ दे। हे अप्वे! **परा इहि**=तू हमसे परे जा। ३. जो **अमित्राः**=किसी से स्नेह न करनेवाले लोग हैं उनको **अभि प्र इहि**=लक्ष्य करके तू खूब गतिशील हो, अर्थात् उनको तू प्राप्त कर। ४. उनको ही तू **हृत्सु**=हृदयों में **शोकैः**=शोकाग्नियों से **निर्दह**=नितरां जलानेवाली बन। लोभी, ईर्ष्यालु पुरुषों के ही मन जलते रहें। हे अप्वे! हमपर तो तू कृपा कर और हमें जलानेवाली न हो। ५. **अमित्रः**=प्राणियों के प्रति स्नेहशून्य हृदयवाले लोग ही **अन्धेन तमसा**=इस अन्धी इच्छा से **सचन्ताम्**=संयुक्त हों। लोभ के कारण आवश्यकता से अधिक धन की इच्छा अन्धी तो है ही। यह साध्य व साधन का विचार न करती हुई साधन को ही साध्य समझ लेती है और परिणामतः धन की ही उपासना करने लगती है। अर्थसक्त को मनु के शब्दों मे 'धर्मज्ञान' नहीं हो पाता, अतः हे अप्वे! धनाहरणाभिलाष! तू कृपा करके हमसे दूर रह।

भावार्थ—हम लोभ की भावना से ऊपर उठें, जिससे हृदयों में शोकाग्नि से सन्तप्त न होते रहें।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—इषुः। **छन्दः**—आर्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

लक्ष्य दृष्टि

अव॑सृष्टा॒ परा॑ पत॒ शर॑व्ये॒ ब्रह्म॑सꣳशिते।
गच्छा॒मित्रा॒न् प्र प॑द्यस्व॒ मामीषां॒ कञ्च॒नोच्छि॑षः॥४५॥

१. संसार में न फँसने के निरन्तर आगे और आगे बढ़ने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य अपने सामने एक लक्ष्य (ध्येय) रखे। लक्ष्य ओझल हुआ और मनुष्य भटका। यह लक्ष्य ही 'शरव्या' है। २. यह लक्ष्य बड़ा सोच-समझकर बनाया जाना चाहिए। मन्त्र में कहते हैं कि यह 'ब्रह्मसंशित' हो, ज्ञान से तीव्र बनाया जाए। हे **ब्रह्मसंशिते**=ज्ञान से तीव्र बनाये गये **शरव्ये**=लक्ष्य! तू **अवसृष्टा** (अवसृज् to make, create)=हमारे जीवनों से उत्पन्न होकर **परापत**=खूब दूर बढ़ चल। लक्ष्य के सदा सामने होने पर हमारी तीव्र गति व शीघ्र प्रगति क्यों न होगी? लक्ष्य का न होना अथवा लक्ष्य का भूला हुआ होने के कारण ही प्रगति रुकी रहती है। ३. लक्ष्य का संकेत उत्तरार्ध में इस प्रकार करते हैं कि **गच्छ**=तू जा **अमित्रान्**=स्नेह न करने की भावना को, ईर्ष्या-द्वेषादि की भावना को, औरों से जलने की भावना को **प्रद्यस्व**=विशेषरूप से आक्रान्त कर। **मामीषाम्**=इन द्वेषादि की निकृष्ट भावनाओं में से **कञ्चन**=किसी को **न उच्छिषः**=शेष मत छोड़। इन भावनाओं में से एक-एक को ढूँढकर तू समाप्त करनेवाला बन।

भावार्थ—१. हमारा जीवन लक्ष्य-दृष्टि से शून्य न हो। २. हम द्वेषादि की भावना को समूल नष्ट कर दें।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—योद्धाः। **छन्दः**—विराडार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

प्रेत जयत=आगे बढ़ो, जीतो

प्रेता जयता नरऽइन्द्रो वः शर्म यच्छतु।
उग्रा वः सन्तु बाहवोऽनाधृष्या यथासथ॥४६॥

१. पिछले मन्त्र की भावना के अनुसार हमारे जीवन का लक्ष्य बनता है 'वासनाओं का समूल उन्मूलन'। यह वासनाओं का उन्मूलन करनेवाला व्यक्ति 'न रम्' है, 'न रम्'=न फँस जानेवाला। प्रभु कहते हैं कि हे **नराः**=(नृ नये) अपने को आगे ले-चलनेवाले मनुष्यो! **प्रेत**=आगे बढ़ो। वासनाएँ तुम्हारी उन्नति को विहत न कर दें। **जयत**=इन वासनाओं को जीतनेवाले बनो। इनको जीते बिना यात्रा की पूर्ति सम्भव नहीं। २. **इन्द्रः**=शक्ति के सब कार्यों को करनेवाला वह प्रभु **वः**=तुम्हें इन वासनाओं के संहार के द्वारा **शर्म**=कल्याण **यच्छतु**=प्राप्त कराए। वासनाओं से होनेवाले विनाश से प्रभु ही तुम्हें बचाएँगे। ३. **वः बाहवः**=तुम्हारी भुजाएँ **उग्रः**=तेजस्वी हों। 'बाहृ प्रयत्ने'=तुम्हारे प्रयत्न भी बड़े उग्र होने चाहिएँ, क्योंकि इन वासनाओं का विनाश कोई सुगम कार्य नहीं है। प्रभु की सहायता के बिना इन्हें तुम जीत ही न सकोगे और 'उत्तम प्रयत्नों में लगे रहना' यह वासना-विजय के लिए आवश्यक है। ४. इसी से मन्त्र में कहते हैं कि सदा उत्तम प्रयत्नों में लगे रहो **यथा**=जिससे **अनाधृष्याः**=वासनाओं से न धर्षण के योग्य **असथ**=हो सको। काम में न लगे हुए व्यक्तियों को ही वासनाएँ सताती हैं। क्रियाशील का ये धर्षण नहीं कर पातीं।

भावार्थ—हम लक्ष्य की ओर आगे बढ़ें, विघ्नों को जीतें। प्रयत्न में लगे रहें, जिससे वासनाओं का शिकार न हों। प्रयत्न में लगे हुए को प्रभु भी कल्याण प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

वासना-विजय

असौ या सेना मरुतः परेषामभ्यैति नऽओजसा स्पर्द्धमाना।
तां गूहत तमसापव्रतेन यथामीऽअन्योऽअन्यन्न जानन्॥४७॥

१. **असौ**=वह **या**=जो **परेषाम्**=पराये, अर्थात् शत्रुभूत कामादि की सेना **स्पर्द्धमाना**=परस्पर स्पर्द्धा-सी करती हुई **नः ओजसा अभ्येति**=हमारी ओर प्रबलता से आती है, हमपर आक्रमण कर देती है। **ताम्**=उस शत्रुसैन्य को **अपव्रतेन तमसा**=(अप=away) दूर फेंकने के व्रत की इच्छा से **गूहत**=संवृत कर दो, उसे अपने तक न आने दो। २. हम इन्हें अपने से इस प्रकार दूर भगा दें **यथा**=जिससे **अमी अन्यः**=इनमें से एक **अन्यम्**=दूसरे को **न जानन्**=न जान सकें। समान्यतः लोभ से काम उत्पन्न होता है, काम से क्रोध और इस प्रकार ये 'काम, क्रोध, लोभ' एक-दूसरे को बढ़ाते हुए, परस्पर स्पर्द्धा-सी करते हुए अर्थात् एक-दूसरे से अधिक प्रबल आक्रमण की कामनावाले होकर हमें आक्रान्त करते हैं। ३. हमने 'अपव्रत तमस्' के द्वारा इन्हें अपने तक नहीं आने देना। हमारा यह दृढ़ निश्चय हो कि 'हम लोभ न करेंगे' काम के वश में न होंगे, क्रोध को प्रबल न होने देंगे।

भावार्थ—वासनाओं के त्याग के दृढ़ निश्चय से ही हम वासनाओं को जीत सकेंगे।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—इन्द्रबृहस्पत्यादयः। **छन्दः**—पंक्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

बाणों का सम्पतन

यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखाऽइव।
तन्नऽइन्द्रो बृहस्पतिरदितिः शर्म यच्छतु विश्वाहा शर्म यच्छतु॥४८॥

१. **यत्र**=जहाँ, अर्थात् जिस स्थान से **बाणाः**=(शरो ह्यात्मा) प्रणवरूप धनुष के शर बने हुए आत्मा, निरन्तर प्रणव-जप में लगे आत्मा अथवा 'वण् to sound' प्रभु के नाम का निरन्तर जप करनेवाले आत्मा **सम्पतन्ति**=सम्यक् गतिशील होते हैं और अपने को सदा उत्तम कर्मों में व्यापृत रखते हैं, इसीलिए २. **कुमाराः**=कामादि वासनाओं को बुरी तरह से नष्ट करनेवाले होते हैं ३. **विशिखा इव**=ये आत्मा प्रतिज्ञापूर्ति तक अपनी शिखा के न बाँधने का निश्चय किये हुए विशिख-से प्रतीत होते हैं, अथवा ये ज्ञानाग्नि की विशिष्ट ज्वालाओंवाले बनते हैं। ४. **तत्**=तब **नः**=हमें **इन्द्रः**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला प्रभु **बृहस्पतिः**=ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान का स्वामी परमात्मा **अदितिः**=जिसकी उपासना से खण्डन का भय ही नहीं रहता वह प्रभु **शर्म यच्छतु**=कल्याण व सुख प्राप्त कराये। **विश्वाहा शर्म यच्छतु**=यह हमें सदा सुख प्राप्त कराए। ५. वस्तुतः सुख-प्राप्ति का साधन 'इन्द्र, बृहस्पति, व अदिति' शब्द से सूचित हुआ है। 'हम जितेन्द्रिय बनें, ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञानी बनें, तथा अपने मनों को वासनाओं से खण्डित न होने दें' तभी कल्याण होगा। जितेन्द्रियता से इन्द्रियों का शोधन करके, ज्ञान से बुद्धि को पवित्र करके तथा वासना-खण्डन से निर्मल मन होकर ही हम सदा कल्याण मार्ग पर आरूढ़ हो सकते हैं। ६. साथ ही हम (क) **बाणाः**=प्रभु-स्तवन में रत रहें। (ख) **सम्पतन्ति**=सम्यक् क्रियाशील हों। (ग) **कुमाराः**=वासनाओं को कुचलनेवाले बनें। (घ) **विशिखा इव**=वासना-विनाश के लिए बद्ध-प्रतिज्ञ हों तथा विशिष्ट ज्ञान-ज्वालाओं को अपने में दीप्त करें।

भावार्थ—हम बाण हों, प्रभु लक्ष्य हों। हम शर की भाँति ब्रह्मरूप लक्ष्य में तन्मय हो जाएँ। यही कल्याण-प्राप्ति का साधन है।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—सोमवरुणदेवाः। **छन्दः**—आर्चीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

वर्म (कवच) छादन

मर्मा॑णि ते॒ वर्म॑णा छादयामि॒ सोम॑स्त्वा॒ राजा॒मृते॒नानु॑ वस्ताम्।
उ॒रोर्वरी॑यो॒ वरु॑णस्ते कृणोतु॒ जय॑न्तं॒ त्वानु॑ दे॒वा म॑दन्तु॥४९॥

१. इस वासना-संग्राम में **ते मर्माणि**=तेरे मर्मस्थलों को **वर्मणा**=कवच से **छादयामि**=आच्छादित करता हूँ। 'ब्रह्म वर्म ममान्तरम्' इस मन्त्र में 'ब्रह्म' (ज्ञान) ही आन्तर कवच है। इस ज्ञानरूप कवच को पहन लेने पर वासनाओं के आक्रमण का भय जाता रहता है। इस ज्ञानरूप कवच पर टकरा कर वासना-शर टूट जाते हैं और हमारे हृदय-मर्म को विद्ध नहीं कर पाते। २. **त्वा**=तुझे **राजा**=स्वास्थ्य के द्वारा शरीर की दीप्ति देनेवाला **सोमः**=वीर्य **अमृतेन**=रोगों के अभाव से **अनु वस्ताम्**=अनुकूलता से आच्छादित करे। वासना-शरों से हृदय के विद्ध न होने पर शरीर में सोम सुरक्षित रहता है और यह सुरक्षित सोम हमारे शरीरों को रोगाक्रान्त नहीं होने देता। ३. अब **वरुणः**=शरीर से रोगों को निवारण करनेवाली तथा मनों से द्वेष का दूरीकरण करनेवाली देवता **ते**=तुझे व तेरे हृदय को **उरोर्वरीयः**=विशाल से भी विशाल **कृणोतु**=करे, तेरे हृदय को विशाल बनाए। ईर्ष्या-द्वेषादि की भावनाएँ मन को संकुचित करती हैं। साथ ही रोग भी मनुष्य को खिझनेवाला व असहिष्णु बना देते हैं। ४. इस प्रकार द्वेषादि का निवारण करनेवाले **जयन्तम्**=शत्रुओं को जीतनेवाले **त्वा**=तुझे **देवाः अनुमदन्तु**=सब देव हर्षित करें। तेरे अन्दर दिव्य गुणों का विकास हो और ये दिव्य गुण तेरे आनन्द का कारण बनें।

भावार्थ—१. हम ज्ञान के कवच को धारण कर वासना-शरों से अभेद्य हों। २.

वीर्य-रक्षा से शरीर को नीरोग बनाएँ। ३. द्वेष-निवारण से हमारा हृदय विशाल हो। ४. दिव्य गुण हमारे जीवन को आनन्द-मय बनाएँ।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

उत्कर्ष की प्राप्ति

उदे॑नमुत्त॒रां न॑याग्ने घृ॒तेना॑हुत।
रा॒यस्पोषे॑ण॒ सꣳसृ॑ज प्र॒जया॑ च ब॒हुं कृ॑धि॥५०॥

१. **एनम्**=गत मन्त्र के अनुसार ब्रह्मरूप कवच के धारण करनेवाले और सोम-रक्षा से अपने को अमर बनानेवाले को **उत्**=इन प्राकृतिक भोगों से ऊपर उठाकर (उत्=out) **उत्तराम्**= (अतिशयेन उत्=उत्तराम्) उत्कृष्टत्व को, उत्कृष्ट ऐश्वर्य को **नय**=प्राप्त कराइए। २. **अग्ने**= सब उत्कर्षों के प्रापक हे प्रभो। **घृतेन**=मलों के क्षरण (घृ=क्षरण) व ज्ञान की दीप्ति से **आहुत** (हूयमान)=जिसके प्रति अपना अर्पण किया गया है, ऐसे प्रभो! आप इस 'ब्रह्म-कवची, सोम-रक्षक' को उत्कर्ष की ओर ले-चलिए। प्रभु के प्रति अपना अर्पण करने का अभिप्राय है—'अपने जीवन में से मलों को दूर करना और ज्ञान को खूब दीप्त करना'। निर्मल व ज्ञानी बनकर हम प्रभु के सच्चे उपासक बनते हैं। प्रभु का सच्चा उपासक बनने पर वे प्रभु हमारा उद्धार करते हैं। हम प्रकृति के हीन भोगों से ऊपर उठकर उत्कृष्ट ऐश्वर्य को प्राप्त करनेवाले बनते हैं। ३. हे प्रभो! आप इस उपासक को **रायस्पोषेण संसृज**=संसार-यात्रा को चलाने के लिए आवश्यक धन के पोषण से संसृष्ट कीजिए। यह इतना धन अवश्य प्राप्त करे कि परिवार को, अपने को तथा आये-गये को उत्तमता से पाल सके और सामाजिक कार्यों में भी उचित सहयोग दे पाये ४. **च**=और हे प्रभो! आप इस आपकी शरण में आये हुए को **प्रजया**=उत्तम सन्तान से **बहुम्**=(बृंहते वर्धते) खूब वृद्धि को प्राप्त हुआ-हुआ, समाज में बढ़े हुए नामवाला, अर्थात् यशस्वी **कृधि**=कीजिए। इसकी सन्तान ऐसी उत्तम हो कि इसका यश चारों ओर फैले। यह यशस्वी सन्तानवाला हो।

भावार्थ—१. प्रभु को अपना कवच बनानेवाला व्यक्ति वासनाओं को जीतकर उत्कर्ष प्राप्त करता है। २. उत्तम धन का संचय करनेवाला होता है। ३. और अपनी सन्तान से यशस्वी बनता है।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—आर्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

वशित्व

इन्द्रे॒मं प्र॑त॒रां न॑य सजा॒ताना॑मसद्व॒शी।
समे॑नं॒ वर्च॑सा सृज दे॒वानां॑ भाग॒दाऽअ॑सत्॥५१॥

१. हे **इन्द्र**=सम्पूर्ण शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **इमम्**=इस अपने उपासक को **प्रतरां नय**=(अतिप्रकर्षः प्रतराम्) प्रकृष्ट ऐश्वर्य प्राप्त कराइए। यह प्राकृतिक भोगों से ऊपर उठकर ब्रह्मदर्शन का आनन्द प्राप्त करनेवाला हो। बाह्य समृद्धि के स्थान में यह आत्म-सम्पत्ति को प्राप्त करनेवाला बने। २. **सजातानाम्**=अपने साथ ही उत्पन्न हुए-हुए काम, क्रोध, लोभ आदि भावों का यह **वशी**=वश में करनेवाला हो, अर्थात् कामादि की प्रबलता न होने देकर यह उनका उचित प्रयोग करनेवाला बने। इसका काम (चाह) इसके वेदाध्ययन का कारण बने। इसका क्रोध बुराई को दूर भगाने के लिए हो। इसका लोभ अधिक-से-अधिक यज्ञों के कर सकने का हो, इन यज्ञों के द्वारा प्रभु-प्राप्ति के लिए इसमें

प्रबल तृष्णा-पिपासा हो। ३. इस प्रकार **एनम्**=कामादि को वशीभूत करनेवाले इसे **वर्चसा**= वर्चस्=शक्ति से **संसृज**=संसृष्ट कीजिए। कामादि वासनाएँ ही इसकी शक्ति को क्षीण करनेवाली थीं। उनको वश में करके यह शक्ति को पूर्णरूप से सुरक्षित कर सका है। ४. शक्तिशाली बनकर यह **देवानाम्**=देवों का **भागदा**=अंश को देनेवाला **असत्**=हो। देवांश को अलग करके यह सदा यज्ञशेष को खानेवाला हो।

भावार्थ—१. हम उत्कृष्ट अध्यात्म-सम्पत्ति को प्राप्त करें। २. काम, क्रोध आदि सहज भावों को वशीभूत करनेवाले हों। ३. 'अक्षीण वर्चस्' बनें। ४. यज्ञशेष का सेवन करनेवाले हों।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

अतिथियज्ञ

यस्य॑ कु॒र्मो गृ॒हे ह॒विस्तम॑ग्ने वर्द्धया॒ त्वम्।
तस्मै॑ दे॒वाऽअधि॑ ब्रुवन्न॒यं च॒ ब्रह्म॑ण॒स्पतिः॑ ॥५२॥

१ गत मन्त्र की समाप्ति 'देवानां भागदा असत्' शब्दों पर हुई है। यह 'अप्रतिरथ' लोभादि में नहीं फँसता और देवांश को सदा अलग करनेवाला होता है। ये देव प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हे **अग्ने**=हमारी उन्नति के साधक प्रभो! **यस्य गृहे**=जिसके घर में **हविः कुर्मः**=हम हवि का सेवन करते हैं, अर्थात् यज्ञ करके यज्ञशेष के रूप से भोजनादि करते हैं **तम्**=उस यजमान को **त्वम् वर्द्धय**=आप बढ़ाइए। वह शरीर, मन व बुद्धि तीनों के दृष्टिकोण से उन्नति करनेवाला हो। २. **तस्मै**=उस अतिथियज्ञ करनेवाले के लिए **देवाः** =समय-समय पर आनेवाले सब विद्वान् **अधि ब्रुवन्**=आधिक्येन उपदेश दें। देवता तो इसे उपदेश दें ही, **च** =और **अयं ब्रह्मणस्पतिः**=यह ज्ञान का पति परमात्मा हृदयस्थरूपेण इसे सदा प्रेरणा प्राप्त कराए। इस अतिथियज्ञ करनेवाले व्यक्ति को विद्वान् अतिथियों से उत्तम प्रेरणा प्राप्त होती है और इसे प्रभु की प्रेरणा सुनने की शक्ति भी मिलती है।

भावार्थ—जिस घर में विद्वान् अतिथि आते रहते हैं, उसे सदा उत्तम उपदेश मिलता है और यह 'शुद्ध हृदय' होकर प्रभु की प्रेरणा को भी सुन पाता है।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

सुप्रतीको विभावसुः

उदु॑ त्वा॒ विश्वे॑ दे॒वाऽअग्ने॒ भर॑न्तु॒ चित्ति॑भिः।
स नो॑ भव शि॒वस्त्वꣳसु॒प्रती॑को वि॒भाव॑सुः ॥५३॥

१. गत मन्त्र से '**तस्मै**=उस अतिथियज्ञ करनेवाले के लिए **देवाः**=विद्वान् लोग **अधिब्रुवन्**=आधिक्येन उपदेश दें' ऐसा कहा था। उसी भावना को दृढ़ करते हुए कहते हैं कि हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **त्वा**=तुझे **विश्वेदेवाः**=सब विद्वान् **चित्तिभिः**=ज्ञान के द्वारा **उ**=निश्चय से **उद् भरन्तु**=(ऊर्ध्वं धारयन्तु) ऊपर धारण करें। तुझे विद्वानों का सम्पर्क प्राप्त हो। वे विद्वान् तुझे ज्ञान देनेवाले हों। ज्ञान के द्वारा तुझे वासनाओं से ऊपर उठाकर उत्कृष्ट अध्यात्म मार्ग में धारण करें। २. **सः त्वम्**=वह तू **नः**=हमारे लिए, अर्थात् हमारी प्राप्ति के लिए **शिवः भव**=कल्याण करनेवाला बन। कम-से-कम तू किसी की हानि करनेवाला न हो। ३. **सुप्रतीकः**=तू शोभन मुखवाला हो, तेरे चेहरे पर क्रोध के कारण सदा त्योरियाँ न चढ़ी रहें। ४. **विभावसुः**=तू सदा (विविधासु भासु वसति-द०) नाना प्रकार के विज्ञानों

में निवास करनेवाला हो, अर्थात् तेरा जीवन ज्ञान-प्रधान हो।

भावार्थ—१. देवता तुझे ज्ञान के द्वारा विषय-वासनाओं से ऊपर उठाएँ। २. तू सबका कल्याण करनेवाला हो। ३. तेरा मुख मुस्कराहट से युक्त, अतएव सुन्दर हो। ४. विविध विज्ञानों में तू निवास करनेवाला बने।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—दिक्। **छन्दः**—स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

अमति-दुर्मतिबाधनम्

पञ्च दिशो दैवीर्यज्ञमवन्तु देवीरपामतिं दुर्मतिं बाधमानाः।
रायस्पोषे यज्ञपतिमाभजन्ती रायस्पोषेऽअधि यज्ञोऽअस्थात्॥५४॥

१. वैदिक साहित्य में राष्ट्र को पाँच भागों में बाँटा है। 'प्राची, दक्षिणा, प्रतीची, उदीची तथा ऊर्ध्व' इन पाँच दिशाओं के दृष्टिकोण से उनमें रहनेवाले लोगों को भी 'पञ्च दिशः' कहा गया है। इन पाँचों दिशाओं में रहनेवाले लोग **दैवीः**=उस देव के उपासक हैं। ये प्रभु की उपासक प्रजाएँ **यज्ञम् अवन्तु**=यज्ञ की रक्षा करें। इनका जीवन यज्ञमय हो। २. **देवीः**=ये ज्ञान के प्रकाशवाली दिव्य गुणसम्पन्न प्रजाएँ **अमतिम्**=अमनन व अज्ञान को, अर्थात् तमोगुण को तथा **दुर्मतिम्**=दुष्ट बुद्धि को, अयथार्थ ज्ञान के कारण पाप में प्रवृत्त होनेवाली राजस् बुद्धि को **अपबाधमानाः**=ये अपने से दूर रोकनेवाली हों। ३. ये प्रजाएँ **रायस्पोषे**=धन का पोषण होने पर **यज्ञपतिम्**=सब यज्ञों के पति उस प्रभु की **आभजन्तीः**=उपासना करेनवाली हों। उन यज्ञों को प्रभु से होता हुआ ये अनुभव करें। उन यज्ञों का इन्हें अहंकार न हो जाए और न ही धन कमाने का अहंकार हो। वे धन को प्रभु का ही समझें, अपने को ट्रस्टी मात्र। ४. और **रायस्पोषे**=धन का पोषण होने पर **यज्ञः**=यज्ञ इनके घरों में **अधि अस्थात्**=आधिक्येन स्थित हो। धन की वृद्धि यज्ञियवृत्ति की कमी का कारण न बन जाए। प्रायः सांसारिक ऐश्वर्य की वृद्धि संसार के विलास का कारण बन जाती है। हममें तो यह श्रेष्ठतम कर्मों की वृद्धि का ही कारण बने।

भावार्थ—१. हमारे राष्ट्र के सब लोग परमेश्वर के उपासक हों। २. यज्ञ की रक्षा करें। ३. प्रकाशमय जीवनवाले होकर तमोगुण व रजोगुण से ऊपर उठें। ४. धन की वृद्धि होने पर यज्ञपति प्रभु की उपासना से दूर न हो जाएँ। ५. धनी होकर अधिक यज्ञिय वृत्तिवाले हों।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

तप्त घर्म

समिद्धेऽअग्नावधि मामहानऽउक्थपत्रऽईड्यो गृभीतः।
तप्तं घर्मं परिगृह्यायजन्तोर्जा यद्यज्ञमयजन्त देवाः॥५५॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति पर यज्ञों के खूब होने की बात कही है। उसी से प्रस्तुत मन्त्र को प्रारम्भ करते हुए कहते हैं कि अप्रतिरथ **समिद्धे अग्नौ**=खूब दीप्त अग्नि में, यज्ञों के द्वारा उस प्रभु की **अधि-मामहानः**=(उपरिभावेन देवानामत्यर्थं पूजकः—उ०) अतिशयेन पूजा करता है। यज्ञों के द्वारा—श्रेष्ठतम कर्मों के द्वारा ही वस्तुतः प्रभु की उपासना होती है। हम यज्ञों को अपनाकर प्रभु के निर्देश का पालन करते हैं। २. **उक्थपत्रः**=(उक्थानि पत्रं वाहनं यस्य) यह प्रभु के स्तुतिरूप मन्त्रों को ही अपना वाहन बनाता है। उनपर आरूढ़ होकर यह अपनी जीवन-यात्रा को पूरा करता है। यह प्रभु का स्मरण करता है और

जीवन-संग्राम को जारी रखता है। ३. **ईड्यः**=(ईड्=स्तुति, तत्र साधु) स्तुति में उत्तम होता है? इसका प्रभु-स्तवन आडम्बरमात्र न होकर वास्तविक होता है। यह स्तुति से अपने सामने एक लक्ष्य-दृष्टि को उपस्थित करता है। ४. **गृभीतः**=(गृभीतं ग्रहणमस्यास्ति इति-द०) यह ज्ञान के ग्रहणवाला होता है अथवा मनरूप लगाम को सम्यक्तया पकड़े हुए होता है। ५. ये मन को वश में करनेवाले लोग **तप्तं घर्मम्**=(तप्=दीप्तौ) खूब दीप्त शक्ति को (घर्म=शक्ति की उष्णता) **परिगृह्य**=ग्रहण करके **अयजन्त**=सर्वथा यज्ञों में प्रवृत्त होते हैं। इनका ज्ञान (तप्तं) व इनकी शक्ति (घर्म) दोनों यज्ञों का साधन बनते हैं। ६. **यत्**=जब-तब **देवाः**=ये ज्ञानदीप्त लोग **ऊर्जा**=बल व प्राणशक्ति के हेतु से **यज्ञम्**=इस यजनीय प्रभु को (यज्ञो वै विष्णुः) **अयजन्त**=अपने साथ सङ्गत करते हैं। इस प्रभु-सङ्ग से ही ये अपने अन्दर शक्ति को भरनेवाले होते हैं।

भावार्थ—१. यज्ञों द्वारा प्रभु-पूजन होता है। २. प्रभु-स्तवन ही जीवन-यात्रा में वाहन बने। ३. हम उत्तम स्तुति करनेवाले बनें। ४. ज्ञान का ग्रहण करें। ५. ज्ञान-दीप्त शक्ति प्राप्त करके यज्ञशील हों। ६. प्रभु के मेल से अपने में शक्ति का सञ्चार करें।

ऋषिः—अप्रतिरथः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराडार्षीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

देवश्रीः-श्रीमनाः-शतपयाः

दैव्याय धर्त्रे जोष्ट्रे देवश्रीः श्रीमनाः शतपयाः।
परिगृह्य देवा यज्ञमायन् देवा देवेभ्योऽअध्वर्यन्तोऽअस्थुः ॥५६॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति 'प्रभु के साथ सङ्गतीकरण' पर थी। इसी बात से इस मन्त्र को प्रारम्भ करते हुए कहते हैं कि **दैव्याय**=देवों का हित करनेवाले, **धर्त्रे**=सबका धारण करनेवाले तथा **जोष्ट्रे**=पिता के नाते जीवों की अपने पुत्रों की भाँति प्रीतिपूर्वक सेवा करनेवाले प्रभु के लिए (जुषी प्रीतिसेवनयोः) **देवश्रीः**=(देवान् श्रयति) दिव्य गुणों का सेवन करनेवाले बनो। प्रभु दैव्य हैं, देवों का हित करनेवाले हैं। हम भी दिव्य गुणों का धारण करनेवाले बनेंगे और प्रभु से किये जानेवाले हित के पात्र होंगे। २. प्रभु-अर्चन के लिए **श्रीमनाः** (श्रयषां श्रीः=सेवनम्)=सेवा की मनोवृत्तिवाला बनता है, प्रभु भी तो 'धर्त्रे' सबका धारण करनेवाले हैं, यह भी औरों के धारण का प्रयत्न करता है। ३. प्रभु **जोष्ट्रे**=सभी का प्रीतिपूर्वक सेवन कर रहे हैं, यह भी 'शतपयाः'=सैकड़ों आप्यायनों=वर्धनोंवाला बनता है। अपना आप्यायन करता हुआ यह औरों का भी आप्यायन करता है। ४. इस प्रकार दिव्य गुणों को **परिगृह्य**=ग्रहण करके **देवाः**=ये देववृत्तिवाले लोग **यज्ञम्**=यज्ञ को **आयन्**=प्राप्त होते हैं। सदा यज्ञों में प्रवृत्त होते हैं। ५. ये **देवाः**=देव **देवेभ्यः**=देवों के लिए, अर्थात् अपने में निरन्तर दिव्य गुणों की वृद्धि के लिए **अध्वर्यन्तः**=(अध्वरम् हिंसा कर्तुमिच्छन्तः) अंहिसा को चाहते हुए **अस्थुः**=ठहरते हैं। 'अहिंसा' ही अन्य सब यम-नियमों के मूल में है। ये अहिंसा ही हमें 'देवश्रीः-श्रीमनाः-व शतपयाः' बनाएगी।

भावार्थ—१. हम दिव्य गुणों का आश्रय करके "दैव्य" प्रभु के हित के पात्र बनें। २. हम श्रीमनाः सेवावृत्तिवाले बनकर औरों का धारण करते हुए "धर्ता" प्रभु का अर्चन करें। ३. औरों की सेवा के लिए सैकड़ों आप्यायनोंवाले बनें और इस प्रकार प्रेम से सबका भला करते हुए 'जोष्ट्रे' प्रभु के मार्ग पर चलें। ४. यज्ञशील हों। ५. दिव्य गुणों की वृद्धि के लिए 'अहिंसा' को मौलिक आधार बनाएँ।

ऋषिः—अप्रतिरथः। देवता—यज्ञः। छन्दः—निचृदार्षीबृहती:। स्वरः—मध्यमः॥

सात्त्विक अन्तः शान्ति

वीतꣳ हविः शमितꣳ शमिता यजध्यै तुरीयो यज्ञो यत्र हव्यमेति। ततो वाकाऽआशिषो नो जुषन्ताम् ॥५७॥

१. **हविः वीतम्**=गत मन्त्र के 'अध्वर्यन्'=अहिंसा को चाहनेवाले से हवि का ही भक्षण किया गया है। इसने सदा 'हु दानादनयोः' दानपूर्वक ही अदन किया है, सदा यज्ञशेष खानेवाला ही बना है, अथवा पवित्र पदार्थों का ही भक्षण किया है। २. **शमितम्**=सात्त्विक भोजन से इसने अपने मन को शान्त बनाया है। ३. **शमिता**=यह शम को धारण करनेवाला **यजध्यै** (यष्टुम्)=यज्ञों के लिए प्रवृत्त हुआ है। ४. **तुरीयः** =(तुरीयमस्यास्तीति) यह चौथे कदमवाला हुआ है, **यत्र**=जहाँ कि **यज्ञः**=वह पूजनीय, सङ्गति व समर्पण के योग्य प्रभु **हव्यम्**=इस अर्पण करनेवालों में उत्तम पुरुष को **एति**=प्राप्त होता है। माण्डूक्य में 'सोयमात्मा चतुष्पात्'=यह आत्मा चतुष्पात् है, ऐसा कहा है। वेद में 'पृथिवी का विजय,' अन्तरिक्ष का विजय, द्युलोक का विजय व स्वयं देदीप्यमान ज्योति की प्राप्ति' इन चार कदमों का वर्णन हुआ है। चौथे क़दम में उस 'स्वर्ज्योति' की प्राप्ति होती है। ५. **ततः**=इस ज्योति के प्राप्त होने पर **वाकाः**=(वचनानि ऋग्यजुःसामलक्षणानि—द०) सब ज्ञान की वाणियाँ इसे प्राप्त होती हैं और **आशिषः**='अभीष्ट अर्थशंसन', अर्थात् उत्तम इच्छाएँ **नः**=हमें **जुषन्ताम्**=सेवन करती हैं, अर्थात् हमारी सब उत्तम कामनाएँ पूर्ण होती हैं। ब्रह्म के प्राप्त होने पर सब ज्ञान प्राप्त हो जाता है और सब कामनाएँ सत्य हो जाती हैं।

भावार्थ—१. हम सात्त्विक भोजनवाले हों। २. शुभ गुणयुक्त, ३. यज्ञशील हों। ४. परमात्मा-प्राप्तिरूप चौथे कदम को रखनेवाले बनें। ५. जिससे हम ज्ञानी व सत्य कामनाओंवाले हों।

ऋषिः—अप्रतिरथः। देवता—अग्निः। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

सूर्यरश्मिः

सूर्यरश्मिर्हरिकेशः पुरस्तात्सविता ज्योतिरुदयाँ२॥ऽअजस्रम्। तस्य पूषा प्रसवे याति विद्वान्त्सम्पश्यन्विश्वा भुवनानि गोपाः ॥५८॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति पर कहा था कि उसे वेदवाणियाँ प्राप्त होती हैं। वहीं से इस मन्त्र को प्रारम्भ करते हैं कि यह अप्रतिरथ **सूर्यरश्मिः**=सूर्य के समान देदीप्यमान ज्ञान की रश्मियोंवाला बनता है। **हरिकेशः**='हरि' दुःखहरण व 'क'=सुख का ईश होता है। यह यथासम्भव औरों के दुःखों को हरनेवाला तथा सुख प्राप्त करानेवाला होता है। ३. **पुरस्तात्**=यह निरन्तर आगे बढ़ता है। ४. **सविता**=(सु=अभिषव) यह उत्पादक होता है, सदा निर्माणात्मक कार्यों में लगा रहता है औरों को भी उत्तम कार्यों की प्रेरणा देता है। (षू प्रेरणे)। ५. इसके जीवन से **अजस्रम्**=निरन्तर **ज्योतिः**=प्रकाश **उदयाम्**=(उद्गच्छति) उद्गत होता है। ६. यह **पूषा**=अपनी शक्तियों का ठीक से पोषण करनेवाला **तस्य**=उस सर्वव्यापक प्रभु के **प्रसवे**=अनुज्ञा में **याति**=चलता है। सब कार्यों को प्रभु की प्रेरणा के अनुसार करता है। ७. **विद्वान्**=अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्य को समझता है। ८. **विश्वा भुवनानि सम्पश्यन्**=सब प्राणियों को देखता है (look after), उनका ध्यान करता है। ९. **गोपाः**=इन्द्रियों का रक्षक होता है, उन्हें विषय-पंक में फँसने से बचाता है।

भावार्थ—'अप्रतिरथ' ऋषि वह है जो सूर्य के समान ज्ञान की किरणोंवाला है।

'दु:खहरण व सुखप्रापण' जिसका ध्येय है। वह निरन्तर आगे और आगे बढ़ रहा है, उत्पादन के कार्य में लगा है, निरन्तर ज्ञान की ज्योति को बढ़ाता हुआ, शक्तियों का पोषण करता हुआ प्रभु की अनुज्ञा में चल रहा है, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को समझता हुआ, सभी का ध्यान करता हुआ, जितेन्द्रियता से जीवन यापन करता है।

ऋषिः—विश्वावसुः। **देवता**—आदित्याः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

पूर्व व अपर केतु

विमानऽएष दिवो मध्यऽआस्तऽआपप्रिवान्रोदसीऽअन्तरिक्षम्।
स विश्वाचीरभिचष्टे घृताचीरन्तरा पूर्वमपरं च केतुम्॥५९॥

१. गत मन्त्र के अनुसार 'अप्रतिरथ' सब वासनाओं को जीतकर 'सब वसुओं को प्राप्त करनेवाला बनता है' और 'विश्वावसु' हो जाता है। यह 'विश्वावसु' **विमानः**='विशेषेण मिमीते' प्रत्येक क्रिया को बड़ा माप-तोल कर करता है। २. **एषः**=यह विश्वावसु **दिवो मध्ये**=ज्ञान के प्रकाश में **आस्ते**=निवास करता है। ३. **रोदसी**=द्यावापृथिवी को, अर्थात् मस्तिष्क व शरीर को तथा **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष=हृदय को **आपप्रिवान्**=(प्रा पूरणे) न्यूनताओं से रहित करके शक्ति-सम्पन्न बनाता है। मस्तिष्क को ज्ञान से, शरीर को शक्ति से तथा हृदयान्तरिक्ष को 'नैर्मल्य' व सत् (सत्य) से पूरण करता है। इसके मस्तिष्क में ज्योति है 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' इसके शरीर में नीरोगता उभरती है 'मृत्योर्मा अमृतं गमय'। इसके हृदय में सत्य है 'असतो मा सद्गमय'। ४. **सः**=वह विश्वावसु **विश्वाचीः**=(विश्वं अञ्चन्ति) सर्वव्यापक प्रभु की ओर ले-जानेवाली क्रियाओं को **अभिचष्टे**=देखता है, अर्थात् प्रभु की ओर ले-जानेवाली क्रियाओं को ही करता है। **घृताचीः**=(घृ क्षरणदीप्तिः) यह उन क्रियाओं को करता है जो उसे शरीर के मल के क्षरण व ज्ञान की दीप्ति की ओर ले-जाती हैं, और इस प्रकार यह ५. **अन्तरा**=अपने हृदयदेश में **पूर्वं केतुम्**=उत्कृष्ट ज्ञान को पराविद्या व ब्रह्मविद्या को **च**=तथा **अपरं केतुम्**=अपराविद्या को, प्रकृति-ज्ञान को प्राप्त करता है। इस प्रकार यह अपराविद्या से ऐहलौकिक वसु को प्राप्त करता है तो पराविद्या से 'पारलौकिक वसु' को। इस प्रकार दोनों वसुओं को प्राप्त कर यह सचमुच 'विश्वावसु' बन जाता है।

भावार्थ—'विश्वावसु' वह है १. जो सब क्रियाओं को माप-तोलकर करता है। २. सदा ज्ञान में निवास करता है। ३. शरीर-मन व मस्तिष्क का पूरण करता है। ४. उन क्रियाओं को करता है जो इसे प्रभु व ज्ञान की ओर ले-जाएँ। ५. अपने हृदय में 'परा व अपरा' विद्या को—ज्ञान-विज्ञान को स्थान देता है।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—आदित्याः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

पितृगृह-प्रवेश (अन्तरक्षण)

उक्षा समुद्रोऽअरुणः सुपर्णः पूर्वस्य योनिं पितुराविवेश।
मध्ये दिवो निहितः पृश्निरश्मा विचक्रमे रजसस्पात्यन्तौ॥६०॥

१. गत मन्त्र के अन्त में विश्वावसु के ज्ञान-विज्ञान के धारण का उल्लेख है। उसे धारण करके यह **उक्षा**=उस ज्ञान का सेचन करनेवाला बनता है, उस ज्ञान को प्रजाओं में फैलाता है। २. **समुद्रः**=इस कार्य को करता हुआ यह सदा आनन्द में निवास करता है (स+मुद्)। हर्ष-शोक के वश में न होकर, आनन्दमय बना रहता है। ३. **अरुणः**=अपनी तेजस्विता से 'आ-रक्त' वर्णवाला होता है। ४. **सुपर्णः**=उत्तमता से पालन व पूरण करनेवाला होता है। ऐसा बनकर ५. **पूर्वस्य पितुः**=उस सबके प्रथम पिता प्रभु के **योनिम्**= स्थान में

आविवेश=प्रवेश करता है, अर्थात् उस प्रभु से मिलता हुआ प्रभु से मेल करने का प्रयत्न करता है। ६. **मध्ये दिवः निहितः**=यह सदा ज्ञान के मध्य में निवास करता है। ७. **पृश्निः**=(संस्प्रष्टा भासाम्) सब ज्ञान-रश्मियों का सम्पर्क करनेवाला होता है अथवा 'अल्पतनु' होता है, शरीर को बड़ा मोटा-ताज़ा करने में नहीं लगा रहता, परन्तु ८. **अश्मा**=शरीर को पत्थर-जैसा दृढ़ बनाता है। ९. शरीर की दृढ़ता के लिए ही **विचक्रमे** =विशिष्ट पुरुषार्थ करनेवाला होता है और **रजसः**=इस शरीररूप लोक के **अन्तौ**=अन्तों को, मस्तिष्क व चरणों को **पाति**=बड़ा सुरक्षित रखता है। इसका ज्ञान उत्तम व पवित्र होता है और उस ज्ञान के अनुसार इसके आचरण भी पवित्र होते हैं। विचार और आचार दोनों पवित्र होते हैं।

भावार्थ—ज्ञान का प्रसार करनेवाला, सदा आनन्दमय, तेजस्वी, उत्तमता से अपना पूरण करनेवाला 'अप्रतिरथ' परमात्मा में पहुँचता है। सदा ज्ञान में स्थित (नित्य सत्यस्थ) ज्योतियों के स्पर्शवाला, दृढ़ शरीर यह निरन्तर पुरुषार्थ करता है और अपने विचार-आचार की बड़ी रक्षा करता है।

ऋषिः—मधुच्छन्दा सुतजेताः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

रथीनां रथीतम

इन्द्रं विश्वाऽअवीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः।
रथीतमꣳरथीनां वाजानाꣳसत्पतिं पतिम्॥६१॥

१. गत मन्त्र में 'पूर्व पिता के गृह में प्रवेश' का वर्णन था। प्रस्तुत मन्त्र में उसी पूर्व पिता का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **विश्वाः गिरः**=सब वेदवाणियाँ उसी का **अवीवृधन्**=वर्धन करती हैं, अर्थात् सारी वाणियाँ प्रभु की महिमा का गायन करती हैं। 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'=सारे वेद उसी परमात्मा का वर्णन करते हैं। 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्'=सारी ऋचाएँ उस परम अविनाशी सर्वव्यापक प्रभु में ही स्थित हैं। उस प्रभु में २. जो **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली व सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले हैं। ३. **समुद्रव्यचसम्**=(स-मुद्) सदा आनन्द में निवास करनेवाले तथा अत्यन्त विस्तारवाले हैं। वस्तुतः सर्वव्यापकता व विस्तार के कारण ही आनन्दमय हैं। ४. **रथीनां रथीतमम्**=रथों के सर्वोत्तम रथी हैं। सर्वोत्तम रथ-संचालक हैं, इसीलिए एक सच्चा भक्त अपने शरीररूप रथ की बागडोर भी उस प्रभु के हाथ में सौंप देता है। ५. **वाजानां पतिम्** =सब शक्तियों के वे स्वामी हैं। उनका भक्त बनकर मैं भी इन शक्तियों को क्यों न प्राप्त करूँगा? ६. **सत्पतिम्** =वे प्रभु सज्जनों के रक्षक हैं। हम भी 'सत्' को अपनाकर, सद्भाव से सत्कर्मों को करते हुए उस प्रभु से रक्षणीय बनें।

भावार्थ—सब वेदवाणियाँ उस प्रभु का वर्णन कर रही हैं जो प्रभु 'इन्द्र, समुद्रव्यचस, रथीनां रथीतम, वाजानां पति व सत्पति' है। हम भी 'वासनारूप शत्रुओं का नाश करनेवाले 'इन्द्र' बनें, मन को महान् बनाकर मनःप्रसाद का साधन करें। शरीररूप रथ की बागडोर प्रभु को सौंपकर शक्तियों के पति बनें। जीवन में 'सत्' के रक्षक हों। इन उत्तम इच्छाओं के द्वारा जन्म-मरण के विजेता हम इस मन्त्र के ऋषि 'जेता मधुच्छन्दा हों'।

ऋषिः—विधृतिः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—विराडार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

देवहूः सुम्नहूः

देवहूर्यज्ञऽआ च वक्षत्सुम्नहूर्यज्ञऽआ च वक्षत्।
यक्षदग्निर्देवो देवाँ२॥ऽआ च वक्षत्॥६२॥

१. **यज्ञः**=यज्ञ **देवहूः**=(देवान् वक्षत्) देवों को पुकारनेवाला है, अर्थात् यज्ञ से हम

में दिव्य गुणों की वृद्धि होती है। **च**=वह यज्ञ हमें दिव्य गुणों को **आवक्षत्**=(आवहतु—म०) प्राप्त कराए। २. **यज्ञः**=यह यज्ञ **सुम्नहूः**=(सुम्नं ह्वयति) सुख को घर में पुकारनेवाला है। **च**=और यह **आवक्षत्**=सुख को हमारे घरों में प्राप्त करानेवाला है। एवं, यज्ञों के दो परिणाम हैं—(क) दिव्य गुणों की वृद्धि तथा (ख) सुखों की प्राप्ति। ३. **अग्निः यक्षत्**=(यजतु) यह आगे बढ़ने की वृत्तिवाला व्यक्ति यज्ञ करे **च**=और **देवः**=दिव्य गुणों का पुञ्ज प्रभु **देवान् आवक्षत्**=इसे दिव्य गुणों को प्राप्त कराए। इस वाक्य शैली से यह स्पष्ट है कि हम यज्ञ करते हैं और हमें दिव्य गुणों की प्राप्ति होती है। 'यज्ञ' 'ऋतुओं की अनुकूलता, वायुशुद्धि व नीरोगता' आदि के द्वारा इस लोक के सुखों को देता है, साथ ही लोभ की वृत्ति पर कुठाराघात करता हुआ यह हमारी सब अशुभ-वृत्तियों को भी समाप्त करता है और हममें दिव्य गुणों का विकास करता है। दिव्य गुणों का प्रारम्भ 'धृति' से है, अतः मन्त्र का ऋषि 'विधृति' है, विशिष्ट धृतिवाला।

भावार्थ—१. यज्ञ हमारे लिए सुखमय स्थिति उत्पन्न करके इस लोक को अच्छा बनाते हैं। २. हमारी अशुभ-वृत्तियों को समाप्त करके, दिव्यता को जन्म देकर आमुष्मिक निःश्रेयस के साधक होते हैं।

ऋषिः—विधृतिः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—विराडार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

उद्ग्राभ-निग्राभ

वाजस्य मा प्रसवऽउद्ग्राभेणोदग्रभीत्।
अधा सपत्नानिन्द्रो मे निग्राभेणाधराँ२॥ऽअकः ॥६३॥

१. **वाजस्य प्रसवः**=सब शक्तियों का उत्पत्तिस्थान प्रभु **मा**=मुझे **उद्ग्राभेण**=उत्कृष्ट वसुओं के ग्रहण से **उदग्रभीत्**=ऊपर ग्रहण करे, अर्थात् विषय-वासनाओं से ऊपर उठाकर अपने समीप प्राप्त कराए। वस्तुतः शक्ति की उत्पत्ति व रक्षा से ही शरीर में नीरोगता उत्पन्न होती है। मन की पवित्रता के लिए भी यह अत्यन्त आवश्यक है। शक्ति में ही सब गुणों का वास है और अन्त में यह विषय-वासनओं से ऊपर उठा हुआ व्यक्ति प्रभु से ग्रहण के योग्य होता है, प्रभु इसको स्वीकार करते हैं। २. **अध**=अब **इन्द्रः**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला प्रभु **मे**=मेरे **सपत्नान्**=काम, क्रोधादि शत्रुओं को **निग्राभेण**=निग्रह, वशीकरण के द्वारा **अधरान् अकः**=पराजित करने का अनुग्रह करें। प्रभुकृपा से मैं इन शत्रुओं को वशीभूत करनेवाला बनूँ। ३. इन शत्रुओं के साथ संग्राम में बड़े धैर्य से चलता हुआ यह व्यक्ति सचमुच 'वि-धृति' है। इस विधृतित्व के कारण ही अन्त में यह विजयी बनता है।

भावार्थ—१. प्रभु मुझमें शक्ति उत्पन्न करें, जिससे उत्कृष्ट गुणों के ग्रहण से मैं प्रभु का प्रिय बन पाऊँ। २. प्रभु काम-क्रोधादि सपत्नों को मेरे वशीभूत करें।

ऋषिः—विधृतिः। **देवता**—इन्द्राग्नी। **छन्दः**—आर्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

ब्रह्म-वर्धन

उद्ग्राभं च निग्राभं च ब्रह्म देवाऽअवीवृधन्।
अधा सपत्नानिन्द्राग्नी मे विषूचीनान्व्यस्यताम् ॥६४॥

१. **देवाः**=विद्वान् लोग **उद्ग्राभं च**=उत्कृष्ट वसुओं के बारम्बार ग्रहण से **च**=तथा **निग्राभम्**=वासनाओं के निग्रह से (आभिमुख्येन निगृह्य) **ब्रह्म अवीवृधन्**=अपने अन्दर ज्ञान का व प्रभु का वर्धन करते हैं। ज्ञान व प्रभु-वर्धन का मुख्य उपाय यही है कि हम उत्कृष्ट

सत्य आदि गुणों का ग्रहण करते चलें और निकृष्ट कामादि का निग्रह करनेवाले बनें। 'सत्य को ग्रहण करें, असत्य को छोड़ें' यही तो प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है। २. **अध**=अब **इन्द्राग्नी**=इन्द्र और अग्नि=जितेन्द्रियता (इन्द्र) व आगे बढ़ने की वृत्ति व बुराइयों को भस्म करने की वृत्ति (अग्नि) **मे**=मेरे **विषूचीनान्**=इन्द्रियों, मन व बुद्धि में विचरनेवाले (विष्वक् अञ्चनान्) **सपत्नान्**=काम, क्रोध, लोभरूप शत्रुओं को **व्यस्यताम्**=विशेषरूप से दूर फेंक दें। वस्तुतः 'इन्द्र-शक्ति का विकास व आगे बढ़ने की प्रबल कामना' ये दो बातें ऐसी हैं जिनके होने पर वासनाओं का जन्म सम्भव ही नहीं होता। मैं जितेन्द्रिय बनकर अपने अन्दर बने हुए असुरों के दुर्गों का दहन कर डालता हूँ। ब्रह्म का वर्धन करता हुआ मैं भी 'त्रिपुरारि' का छोटा रूप बन जाता हूँ।

भावार्थ—१. हम सत्य का ग्रहण व असत्य का त्याग करके ब्रह्म वर्धन करनेवाले बनें। २. जितेन्द्रियता व अग्नित्व के द्वारा हम विरोधी वासनाओं का विनाश करनेवाले हों।

ऋषिः—विधृतिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

मुक्ति में स्थिति

क्रमध्वमग्निना नाकमुख्यꣳहस्तेषु बिभ्रतः।
दिवस्पृष्ठꣳस्वर्गत्वा मिश्रा देवेभिराध्वम्॥६५॥

१. **अग्निना**=यज्ञ की अग्नि से, अर्थात् अग्निहोत्र की अग्नि के द्वारा **नाकं क्रमध्वम्**=स्वर्ग का आरोहण करनेवाले बनो। यह यज्ञाग्नी तुम्हारे जीवन को स्वर्ग का जीवन बनाये। यह तुम्हारे सब इष्ट-कामों का दोहन करता हुआ तुम्हें सुखी करे। २. **उख्यम्**=उखा से=स्थाली से संस्कृत किये हुए अन्न को **हस्तेषु बिभ्रतः**=हाथों में धारण करते हुए, अर्थात् यह अन्न तुम्हारे हाथों की कमाई से प्राप्त किया गया हो। ३. **दिवःपृष्ठम्**=ज्ञान के पृष्ठ पर, अर्थात् सदा ज्ञानारूढ़ हुए-हुए **स्वर्गत्वा**=उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति ब्रह्म को प्राप्त करके **देवेभिः**=दिव्य गुणों से मिलकर **आध्वम्**=ठहरो। अथवा **देवेभिः**=ब्रह्म में ही रमनेवाले, परमात्मा के साथ विचरनेवाले मुक्तात्माओं के साथ **मिश्राः**=मिलकर **आध्वम्**=ब्रह्म में स्थित होओ। ४. एवं, प्रस्तुत मन्त्र में मुक्ति का निम्नक्रम प्रदर्शित हुआ है। (क) हम यहाँ यज्ञमय जीवन बनाकर स्वर्ग को पाने का प्रयत्न करें। (ख) अपने हाथों से कमाकर संस्कृत अन्नों का सेवन करनेवाले बनें (पहले यज्ञ, पीछे खाना) यह क्रम भी महत्त्वपूर्ण है। (ग) ज्ञान के शिखर पर पहुँचने का प्रयत्न करना। (घ) इस प्रकार उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति के समीप पहुँचना। (ङ) और उस ब्रह्म से ही अन्य मुक्तात्माओं के साथ मिलकर आसीन होना। जीवन्मुक्त पुरुष यहाँ भी प्रभु-निष्ठ होते हुए परस्पर प्रेम से मिलकर ज्ञान-चर्चाएँ करते हैं। ऐसी ही ज्ञान-चर्चाओं के परिणामरूप 'उपनिषद्' आदि ग्रन्थ बनें।

भावार्थ—१. यज्ञाग्नि हमारे जीवनों को नीरोग व सुखी बनाये। २. हम पुरुषार्थ से अन्नों का अर्जन करें। ३. ज्ञानप्रधान जीवन बिताएँ। ४. उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति के समीप उपस्थित हों। ५. देवों से मिलकर उस प्रभु में स्थित हुए-हुए ज्ञानचर्चाएँ करें।

ऋषिः—विधृतिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

पूर्व दिशा को लक्ष्य करके

प्राचीमनु प्रदिशं प्रेहि विद्वानग्नेरग्ने पुरोऽअग्निर्भवेह।
विश्वाऽआशा दीद्यानो विभाह्यूर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे॥६६॥

१. पिछले मन्त्र के 'क्रमध्वम्' का व्याख्यान प्रस्तुत मन्त्र में है। **क्रमध्वम्**=पुरुषार्थ करो। क्या पुरुषार्थ करें? प्रभु कहते हैं कि **प्राचीमनु प्रदिशं प्रेहि**=प्राची जोकि प्रकृष्ट दिशा है, उसका लक्ष्य करके आगे और आगे बढ़। पूर्व दिशा में सूर्यादि ज्योतिर्मय पिण्ड उदय होकर आगे और आगे बढ़ते प्रतीत होते हैं, अतः यह आगे बढ़ने की दिशा है (प्र=अञ्च)। तू भी इस दिशा से यही प्रेरणा ले कि मुझे निरन्तर आगे बढ़ना है। २. सबसे पहला काम तो यह कर कि हे **अग्ने**=आगे बढ़नेवाले जीव! **विद्वान्**=तू ज्ञानी बन। अपने ज्ञान को निरन्तर बढ़ानेवाला बन। ३. इन ज्ञान प्राप्त करनेवाले अग्नियों में तू **इह अग्नेः पुरः अग्निः भव**=यहाँ—इस जीवन में, प्रगतिशील साथियों के अग्रभाग में होनेवाला अग्निः अग्रेणी=अपने को 'प्रथम स्थान में प्राप्त करानेवाला बन। ४. तू अपने ज्ञान से **विश्वाः आशाः दीद्यानः**=सब दिशाओं को दीप्त करता हुआ **विभाहि**=विशेष रूप से दीप्तिवाला बन। ५. और **नः ऊर्जम्**=हमारे इस बल व प्राणशक्ति देनेवाले अन्न को **द्विपदे चतुष्पदे**=दोपाये व चौपायों के लिए **धेहि**=धारण कर। अन्न का सेवन तूने अकेले नहीं करना। 'अकेला खानेवाला पापी होता है', इस बात को भूलना नहीं।

भावार्थ—१. हम पूर्व दिशा को लक्ष्य बनाकर आगे और आगे बढ़ें। २. आगे बढ़नेवालों में भी आगे बढ़कर 'शिरोमणि' (topmost) बनने का प्रयत्न करें। ३. अपने ज्ञान से सब दिशाओं को दीप्त करें। ४. सभी के लिए अन्न का धारण करते हुए अन्न का सेवन करें।

ऋषिः—विधृतिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—पिपीलिकामध्याबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

ऊपर और ऊपर

पृथिव्याऽअहमुदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुहम्।
दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम्॥६७॥

१. पिछले मन्त्र में 'पूर्व दिशा का लक्ष्य करके आगे बढ़ने' का उल्लेख था। उसी आगे बढ़ने को स्पष्ट करके कहते हैं कि **अहम्**=मैं **पृथिव्याः**=इस पृथिवी से **उत्**=ऊपर उठकर **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्षलोक में **आरुहम्**=आरोहण करूँ। २. इसी प्रकार **अन्तरिक्षात्**=अन्तरिक्ष से ऊपर उठकर **दिवम् आरुहम्**=द्युलोक में आरोहण करूँ। ३. **दिवः**=द्युलोक का **नाकस्य**=जो सुखमय प्रदेश है, जिसमें दुःख नहीं है उस स्वर्गप्रदेश के **पृष्ठात्**=पृष्ठ से **स्वर्ज्योतिः**=उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति ब्रह्म को **अहम्**=मैं **अगाम्**=प्राप्त होऊँ। ४. इस जीवन-यात्रा में हमें आगे और आगे बढ़ना है। 'आरोहणमाक्रमण'—'चढ़ना और आगे कदम रखना' यही तो जीवित पुरुष का मार्ग है। जितने-जितने हमारे कर्म उत्तम होते हैं उतना-उतना हमारा जन्म उत्कृष्ट लोकों में होता है—(क) सामान्यतः ५० पुण्य व ५० पाप होने पर हम इस पृथिवीलोक पर जन्म लेते हैं। (ख) पुण्य ८० व पाप २० रह जाने पर हमारा जन्म चन्द्रलोक में होता है, वहाँ सुख अधिक और दुःख बहुत कम हो जाता हैं। (ग) अब पुण्य ९९ तथा पाप एक-आध रह जाने पर हमारा जन्म द्युलोक में होता है जहाँ सुख-ही-सुख है। (घ) इस जीवन-यात्रा की पूर्ति उस दिन होती है जब हम १०० के १०० पुण्यकर्म करते हुए उनके अभिमान से ऊपर उठे हुए द्युलोक से भी ऊपर उठकर उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति ब्रह्म को प्राप्त करते हैं। ब्रह्म को प्राप्त करने पर यह आने-जाने का चक्र समाप्त होता है। ५. पृथिवी आदि से ऊपर उठने का भाव इस प्रकार भी व्यक्त किया जा सकता है (क) 'हम पृथिवी पृष्ठ से उठकर अन्तरिक्ष में पहुँचे' अर्थात् 'पृथिवी शरीरम्'

शरीर की शक्तियों का विस्तार करें, परन्तु शरीर में ही न उलझे रह जाएँ। केवल शारीरिक उन्नति सम्भवतः हमें 'हाथी' की योनि में भेज देगी। (ख) अतः हम शरीर के साथ हृदयान्तरिक्ष का भी ध्यान करें। हम अपने हृदय को बड़ा निर्मल बनाने का यत्न करें, परन्तु हृदय की निर्दोषता पर ही रुक गये तो भी गौ का जीवन मिल जाएगा। (ग) हृदय से ऊपर उठकर हम द्युलोक का आरोहण करनेवाले बनें। यह द्युलोक 'मूर्धा' है। हम मस्तिष्क की उन्नति करनेवाले बनें। (घ) और अब मस्तिष्क को खूब विकसित करके हम अपनी इस अग्र्या बुद्धि से, तीक्ष्ण व सूक्ष्म बुद्धि से उस प्रभु का दर्शन करें।

भावार्थ—हम पृथिवी से अन्तरिक्ष को, अन्तरिक्ष से द्युलोक को, तथा द्युलोक से स्वयं देदीप्यमान ज्योति ब्रह्म को प्राप्त करें।

ऋषिः—विधृतिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

उपायत्रयी

स्वर्यन्तो नापेक्षन्तऽआ द्याꣳरोहन्ति रोदसी।
यज्ञं ये विश्वतोधारꣳसुविद्वाꣳसो वितेनिरे॥६८॥

१. गत मन्त्र में स्वर्ज्योति की प्राप्ति का उल्लेख है। उसी के साधनों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि **स्वर्यन्तः**=उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति की ओर जाते हुए योगवृत्तिवाले पुरुष **नापेक्षन्ते**=सांसारिक वस्तुओं की बहुत अपेक्षा नहीं करते, अर्थात् भौतिक आवश्यकताओं को कम और कम करते चलते हैं। २. **रोदसी**=जरा-मृत्यु शोकादि का निरोध करनेवाले (रुणद्धि जरामृत्युशोकादीन्—म०) **द्याम्**=प्रकाशमयलोक में **आरोहन्ति**=आरोहण करते हैं। अपने ज्ञान को अधिक-से-अधिक बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं। यह ज्ञान इनका **रोदसी**=रोध्री=जन्म-मरणचक्र का निरोध करनेवाला बनता है। ३. **ये सुविद्वांसः**=ज्ञान-वृद्धि करनेवाले उत्तम ज्ञानी **विश्वतोधारं यज्ञम्**=जगत् के धारणहेतु, यज्ञ को **वितेनिरे**=विस्तृत करते हैं, अर्थात् ये विद्वान् लोकहित के कार्यों में लगे रहते हैं।

भावार्थ—स्वयं देदीप्यमान ज्योति की ओर चलनेवाले लोग। १. भौतिक आवश्यकताओं को कम करते हैं। २. दुःख-शोक निरोधक ज्ञान का अपने में वर्धन करते हैं और ३. जगत् के धारणहेतुभूत यज्ञों को विस्तृत करते हैं।

ऋषिः—विधृतिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

देवयतां प्रथमः 'भृगुभिः सजोषाः'

अग्ने प्रेहि प्रथमो देवयतां चक्षुर्देवानामुत मर्त्यानाम्।
इयक्षमाणा भृगुभिः सजोषाः स्वर्यन्तु यजमानाः स्वस्ति॥६९॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं—**अग्ने**=हे अग्रगति को सिद्ध करनेवाले जीव! तू **प्रेहि**=आगे बढ़। २. **प्रथमः देवयताम्**=दिव्य गुणों की कामना करनेवालों में तू प्रथम बन। ३. इस संसार में तू **देवानाम्**=सूर्य, चन्द्र, तारे, पृथिवी, जल, तेज, वायु आदि सब देवों का **चक्षुः** (चष्टे)=देखनेवाला बन। इनका तत्त्वज्ञान प्राप्त कर। इनका तत्त्वज्ञान ही तुझे इनके ठीक उपयोग से स्वस्थ बनाएगा। ४. **उत**=और **मर्त्यानाम्**=मनुष्यों के भी **चक्षुः**=व्यवहार को तू सम्यक् देखनेवाला बन। उनकी मनोवृत्ति को समझने पर ही तू सबके साथ उत्तमता से वर्त्तता हुआ व्यर्थ के वैर-विरोध से बचा रहेगा। ५. **इयक्षमाणाः**=(यष्टुम् इच्छन्तः)

यज्ञों के करने की इच्छावाले होते हुए तथा **भृगुभिः सजोषाः**=(भ्रस्ज पाके) उत्तम परिपक्व विद्वानों के साथ प्रीतिपूर्वक ज्ञान-चर्चाओं का सेवन करते हुए **यजमानाः**=पूजा-सङ्गतीकरण व दान वृत्तिवाले लोग **स्वस्ति**=रोग व शोकादि से आहत न होते हुए **स्वःयन्तु**=उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति को प्राप्त करें।

भावार्थ—१. हम अग्नि बनें, आगे बढ़ें, दिव्य गुणों का वर्धन करनेवालों में प्रथम हों। २. प्राकृतिक देवों का ज्ञान प्राप्त करें, जिससे उनके ठीक उपयोग से स्वस्थ हों। मनुष्यों का ज्ञान प्राप्त करें, जिससे उनके स्वभाव को समझकर वर्त्तते हुए झगड़ों में न उलझ जाएँ। ३. यज्ञशील बनकर ज्ञानियों के साथ ज्ञानचर्चाओं का सेवन करते हुए स्वस्थ बनकर प्रभु को प्राप्त होनेवाले हों।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

आदर्श पति-पत्नी

नक्तो॒षासा॒ सम॑नसा॒ विरू॑पे धा॒पये॑ते॒ शिशु॒मेक॑ꣳसमी॒ची।
द्यावा॒क्षामा॑ रु॒क्मोऽअ॒न्तर्वि भा॑ति दे॒वाऽअ॒ग्निं धा॑रयन् द्रविणो॒दाः ॥७०॥

१. गत मन्त्रों का ऋषि 'विधृति'=विशिष्ट धैर्य के साथ आगे बढ़ता हुआ सब बुराइयों को समाप्त करनेवाला बनता है और 'कुत्स' (कुथ हिंसायाम्) कहलाता है। जो पति-पत्नी परस्पर सहायता करते हुए 'कुत्स' बनते हैं, उनका चित्रण करते हुए कहते हैं कि २. **नक्तोषासा**=(ओलस्जी व्रीडे, उष दाहे) पत्नी 'नक्त' है 'व्रीडा' उसका मुख्य गुण है, वह उचित लज्जा को कभी नहीं त्यागती। पति 'उषस्' है, यह सब बुराइयों को जलाने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार ये उचित लज्जाशील व दोष दहनवाले पति-पत्नी ३. **समनसा**=समान मनवाले होते हैं। इनके मनों में कभी विरोधी भावनाएँ उत्पन्न नहीं होतीं। ४. **विरूपे**=ये दोनों विशिष्ट रूपवाले होते हैं, अत्यन्त तेजस्वी होते हैं। ५. **समीची**=(सम्यक् अञ्चतः) ये मिलकर उत्तम गतिवाले होते हैं। इनकी क्रियाओं में विरोध न होकर सामञ्जस्य होता है। ६. ये दोनों **एकं शिशुं धापयेते**=अद्वितीय सन्तान का पालन करते हैं। (यहाँ एक सन्तान का उल्लेख ध्यान देने योग्य है। महाभारत में कृष्ण और रुक्मिणी की भी एक सन्तान है, 'प्रद्युम्न'। रामायण में कौसल्या की भी एक ही सन्तान है, 'राम'। महाभारत में युधिष्ठिर की भी एक ही सन्तान है, 'श्रुतकीर्ति'।) ७. **द्यावाक्षामा**=पति द्युलोक के समान ज्ञानदीप्त बनता है तो पत्नी पृथिवीलोक के समान सहनशील (क्षम्)। इन दोनों के **अन्तः**=मध्य में **रुक्मः**=चमकता हुआ वह सन्तान **विभाति**=शोभता है। ८. उत्तम गुणों को धारण करनेवाले **देवाः**=इस घर के सब व्यक्ति **अग्निं धारयन्**=उस अग्रेणी प्रभु को अपने अन्दर धारण करते हैं और ९. **द्रविणोदाः**=(द्रव्यप्रदातारः—द०) धनों का दान देनेवाले होते हैं। प्रभु को अपनाने-वाला त्यागवृत्तिवाला होता है। धन व प्रभु दोनों की उपासना सम्भव नहीं। प्रभु की उपासना की पहचान ही यह है कि धनासक्ति कम हुई या नहीं। प्रभुसक्त धनासक्त नहीं होता।

भावार्थ—१. पति-पत्नी ने उचित व्रीडाशील व दोष-दहनवाला होना है। २. समान मनवाला ३. विशिष्ट रूपवाला। ४. ये दोनों (समीची) सङ्गतिवाले होकर एक सन्तान का सुन्दर पालन करते हैं। ५. इनके दीप्त मस्तिष्क व दृढ़ शरीर के मध्य में निर्मल मन चमकता है। ६. ये देव बनकर प्रभु को अपने निर्मल मन में धारण करते हैं और ७. धनों का दान देनेवाले होते हैं। ये प्रभु को निम्न शब्दों से उपासना करते हैं—

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

उपासना व स्तवन

अग्ने सहस्राक्ष शतमूर्द्धञ्छतं ते प्राणाः सहस्रं व्यानाः।
त्वꣳसाहस्रस्य रायऽईशिषे तस्मै ते विधेम वाजाय स्वाहा॥७१॥

१. **अग्ने**=(पावक इव प्रकाशमय—द०) हे प्रभो! आप अग्नि के समान प्रकाशमय हो, मुझे भी अपनी इस ज्ञानाग्नि से दीप्त कीजिए। २. **सहस्राक्ष**=अनन्त आँखोंवाले आप हैं। ३. **शतमूर्द्धम्**=असंख्यात मस्तिष्कवाले आप हैं (सहस्रशीर्षा पुरुषः)। ४. **शतं ते प्राणाः सहस्रं व्यानाः**=अनन्त आपके प्राण हैं और अनन्त ही आपके व्यान हैं। (मैं भी आपकी कृपा से बहुद्रष्टा, दीप्त मस्तिष्क व प्रबल प्राणशक्ति-सम्पन्न बनूँ)। ५. **त्वम्**=आप **साहस्रस्य**=अनन्त प्राणियों के धारण करनेवाले **रायः**=ऐश्वर्य के **ईशिषे**=ईश हैं। वस्तुतः 'लक्ष्मी' तो आपकी पत्नी ही है, वह सभी का पालन कर रही है। आपकी कृपा से मेरा धन भी सभी का धारण करनेवाला बने, मैं कृपणता की वृत्ति से ऊपर उठूँ। ६. **तस्मै ते**=उस आपकी हम **विधेम**=पूजा करते हैं और **वाजाय**=शक्ति की प्राप्ति के लिए तथा त्याग की भावना (वाज=sacrifice) की वृद्धि के लिए **स्वाहा**=(स्व, हा) हम अपने को आपके प्रति अर्पित करते हैं। आपके सम्पर्क से ही हममें शक्ति व सद्गुणों का सञ्चार होगा।

भावार्थ—हे प्रभो! आप अनन्त सिर, आँखों व प्राणोंवाले हैं। आपकी कृपा से हम भी अपनी शक्तियों को बढ़ानेवाले हों। आपका धन सभी का पालन करता है, हम भी कृपण न होकर औरों का पालन करनेवाले हों। आपके सम्पर्क से शक्तिलाभ करें और त्यागशील हों।

सूचना—आचार्य ने भावार्थ में लिखा है कि योगी अनेक प्राणियों के शरीर में प्रवेश करके अनेक शिर, नेत्र आदि अङ्गों से देखने आदि के कार्यों को कर सकता है।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

सुपर्ण

सुपर्णोऽसि गरुत्मान् पृष्ठे पृथिव्याः सीद।
भासान्तरिक्षमापृण ज्योतिषा दिवमुत्तभान तेजसा दिशऽउद् दृꣳह॥७२॥

१. गत मन्त्र के उपासक को प्रेरणा देते हुए प्रभु कहते हैं कि **सुपर्णः असि**=(शोभनानि पर्णानि पूर्णानि शुभलक्षणानि यस्य—द०) तू अच्छे-अच्छे पूर्ण शुभ लक्षणों से युक्त है। २. **गरुत्मान्**=(गुर्वात्मा—द०) बड़े मन व आत्मा के बल से युक्त है। ३. **पृथिव्याः पृष्ठे सीद**=इस शरीररूप पृथिवी के पृष्ठ पर तू आसीन हो, अर्थात् शरीर पर तेरा पूर्ण आधिपत्य हो, यह तेरे शासन में हो। ४. **भासा**=अपनी दीप्ति से **अन्तरिक्षम्**=अपने हृदयान्तरिक्ष को **आपृण**=(आपूरय—द०) पूरित कर। तेरा हृदय निर्मल हो, चमकता हुआ हो, वहाँ प्रभु का व प्रेम का प्रकाश हो। उसमें ईर्ष्या-द्वेषादि की कुटिलता न हो। ५. **ज्योतिषा**=तू ज्ञान की ज्योति से **दिवम्**=अपने मस्तिष्करूप द्युलोक को **उत्तभान**=ऊपर थाम=उन्नति को पहुँचा। तेरा मस्तिष्क ज्ञान की ज्योति से अधिकाधिक उन्नत होता चले। ६. **तेजसा**=तेजस्विता से **दिशः**=तू चारों दिशाओं को ('प्र आशानां आशापालाः' अथर्व०, आशाः=दिशा) अपने शरीर के चारों द्वारों को **उद् दृंह**=उत्कृष्टता से दृढ़ कर। तेरा (क) मुखद्वार अनिष्ट भोजन

को अन्दर न जाने दे और तेरा (ख) मलद्वार मल को बाहर फेंकता हुआ सचमुच 'पायु'=रक्षक हो। (ग) तेरा 'शिश्न' (मूत्रद्वार) मूत्र को ही बाहर फेंकनेवाला हो, रेतस् को नहीं और इस प्रकार (घ) तेरा 'विदृतिद्वार' अन्त में तुझे इस ब्रह्म की ओर ले-जानेवाला बने। यह 'ब्रह्मरन्ध्र' इस नाम को सार्थक करे।

भावार्थ—हम सुपर्ण बनें। गरुत्मान् बनकर शरीर पर पूर्ण आधिपत्य प्राप्त करें। हृदय को दीप्त करके मस्तिष्क को ज्ञानोज्ज्वल करें। हमारे इस शरीर-दुर्ग के चारों द्वार दृढ़ हों।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्ः। **स्वरः**—धैवतः॥

आजुह्वान-सुप्रतीक

आजुह्वानः सुप्रतीकः पुरस्तादग्ने स्वं योनिमासीद साधुया।
अस्मिन्त्सधस्थेऽअध्युत्तरस्मिन् विश्वेदेवा यजमानश्च सीदत॥७३॥

१. गत मन्त्र की ही प्रेरणा इस मन्त्र में इन शब्दों से दी जा रही है—**आजुह्वानः**=तू सदा दानपूर्वक अदन करनेवाला बन (हु दान-अदन)। आचार्य के शब्दों में 'सत्कारेण आहूतः'=तू इस प्रकार से शोभन आचरणवाला हो कि तुझे सब सत्कार से बुलाएँ। २. **सुप्रतीकः**=तू शोभन मुखवाला हो। तेरा चेहरा तेजस्वी हो। ३. **पुरस्तात्**=तू निरन्तर आगे बढ़नेवाला बन। **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **स्वं योनिम्**=अपने घर में **साधुया**=श्रेष्ठ कर्मों से **आसीद**=आसीन हो। गृहप्रवेश के समय तूने व्रत लिया था कि 'शिवं प्रपद्ये' में कल्याणकर कर्मों को ही करूँगा, अतः तूने घर में कभी अशुभ व्यवहार नहीं करना। ५. **अस्मिन् सधस्थे** =यह घर तुम्हारा मिलकर (सह) रहने का स्थान हो, यहाँ कभी कलह न हों **अधि उत्तरस्मिन्**=इस उत्कृष्ट गृह में **विश्वे देवाः**=घर के सब लोग देव=विद्वान् व उत्तम गुणोंवाले बनकर **सीदत**=बैठो **च**=तथा **यजमानः**=प्रत्येक व्यक्ति यज्ञ के शीलवाला होकर यहाँ निवास करे। 'यजमानः' यह एकवचन इस बात का सूचक है कि सभी अपने-अपने को यज्ञशील बनाने का प्रयत्न करें—दूसरों के सुधार में ही न लगे रहें।

भावार्थ—हम आजुह्वान व सुप्रतीक बनकर उन्नति करते हुए घरों में उत्तम कर्मों में आसीन हों। मिलकर चलें, देव बनें, यज्ञशील हों। यज्ञ ही तो हमें बुराइयों से बचाकर 'कुत्स' बनाएगा। यज्ञ से हम बुराइयों को भी भस्म कर देंगें।

ऋषिः—कण्वः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

सुमति-वरण

ताᳬं सवितुर्वरेण्यस्य चित्रामाहं वृणे सुमतिं विश्वजन्याम्।
यामस्य कण्वो अदुहत्प्रपीनाᳬं सहस्रधारां पयसा महीं गाम्॥७४॥

१. गत मन्त्रों का ऋषि 'कुत्स' बुराइयों के संहार के लिए प्रस्तुत मन्त्र में सुमति का वरण करता है। सुमति-वरण के कारण ही इसका नाम 'कण्व'=मेधावी हो जाता है। यह कहता है कि **सवितुः**=सब ऐश्वर्यों के दाता—सबके उत्पादक सविता की, **वरेण्यस्य**=वरने के योग्य प्रभु की, प्रकृति और प्रभु में प्रभु ही तो वरने योग्य हैं, **ताम्**=उस **चित्राम्**=अद्भुत अथवा चेतना देनेवाली **विश्वजन्याम्** =सब जनों का हित करनेवाली **सुमतिम्**=कल्याणी मति को **अहम्**=मैं **आवृणे**=सर्वथा वरता हूँ। २. **अस्य**=इस प्रभु की **याम्**=जिस **प्रपीनाम्**=प्रकृष्ट आप्यायन, वर्धनवाली, **सहस्रधाराम्**=शतशः वेदवाणियोंवाली (धारा =वाक्) अथवा

सहस्रों का धारण करनेवाली, **पयसा महीम्**=आप्यायन के कारण महनीय **गाम्**=तत्त्वार्थ की गमयित्री-ज्ञापिका सुमति को **कण्वः**=मेधावी पुरुष **अदुहत्**=अपने में दोहन करता है, अपने में भरता है। ३. प्रभु के 'सवितुः तथा वरेण्यस्य' ये दो नाम यह सूचना दे रहे हैं कि यह सुमति तुम्हें सब प्रकार के ऐश्वर्य प्राप्त कराएगी, तथा सचमुच यह वरणीय है, हमारे जीवनों को श्रेष्ठ बनानेवाली है। ४. इस सुमति के विशेषण पद इसके निम्न लाभों का संकेत कर रहे हैं (क) **चित्राम्**=यह अद्भुत योगैश्वर्यों को देनेवाली है तथा हमें उत्कृष्ट चेतना प्राप्त करानेवाली है (चित्+रा)। (ख) **विश्वजन्याम्**=यह सब लोकों का हित करनेवाली है। (ग) **प्रपीनाम्**=यह प्रकृष्ट आप्यायन व वर्धनवाली है। (घ) **सहस्रधाराम्**=शतशः वेदवाणियों में इसका प्रतिपादन हुआ है। (ङ) **पयसा महीम्**=अपनी आप्यायन-शक्ति से यह महनीय है, पूजनीय है। (च) **गाम्**=तत्त्वार्थ की गमयित्री है, वास्तविकता का ज्ञान देनेवाली है।

भावार्थ—हम प्रभु की सुमति का ही वरण करें और सचमुच 'कण्व'=मेधावी बनें। मेधावी बनकर निम्न शब्दों से प्रभु स्तवन करें—

ऋषिः—गृत्समदः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

परम-जन्म

विधेम ते परमे जन्मन्नग्ने विधेम स्तोमैरवरे सधस्थे।
यस्माद्योनेरुदारिथा यजे तं प्र त्वे हवींषि जुहुरे समिद्धे ॥७५॥

१. हे **अग्ने**=(योग-संस्कारों से अथवा) सुमति से दुष्ट कर्मों को दहन करनेवाले प्रभो! हम **परमे जन्मन्** =सर्वोत्कृष्ट जन्म के होने पर **ते विधेम**=आपकी पूजा (उपासना) करें। सुमति की प्राप्ति ही सर्वोत्कृष्ट जन्म है। इस सुमति का विकास करता हुआ पुरुष प्रभु की सर्वोत्तम पूजा करता है। २. हे अग्ने! हम **अवरे**=इस सबसे अवर स्थान में स्थित शरीर से जोकि **सधस्थे**=सब कोशों के एक स्थान में स्थित होने की जगह है अथवा जहाँ इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि सभी एकचित्त हैं, उस शरीर में **स्तोमैः**=स्तुति-समूहों से **ते विधेम**= तेरी पूजा करते हैं। हमारी इन्द्रियाँ, हमारा मन व हमारी बुद्धि ये सब-के-सब इस शरीर में स्थित होकर तेरा ही स्तवन करते हैं। ३. **यस्मात् योने**=जिस भी कारण से **उदारिथाः**=आप उत्कृष्टता से प्राप्त होते हो **तम्**=उसको **यजे**=अपने साथ सङ्गत करता हूँ। मैं आपकी प्राप्ति के लिए (क) बुद्धि का विकास करता हूँ, यही 'परम जन्म'='उत्कृष्ट विकास' है। (ख) शरीर को पूर्ण स्वस्थ करने का यत्न करता हूँ। इस स्वस्थ शरीर में ही सह स्थित होकर बुद्धि, मन व इन्द्रियाँ आपका स्तवन करेंगी। (ग) आपकी प्राप्ति के जो और भी साधन हैं उन्हें मैं अपने में ग्रहण करता हूँ। ४. **त्वे समिद्धे**=आपके समिद्ध होने पर ये स्तुति करनेवाले 'गृत्स' लोग **हवींषि प्रजुहुरे**=हवियों को अपने में आहुत करते हैं। हव्य पदार्थों का ही सेवन करते हैं। सात्त्विक अन्नों के प्रयोग से सात्त्विक वृत्तिवाले बनकर सदा आपका स्तवन करते हुए कर्त्तव्य का पालन करते हैं।

भावार्थ—१. हम प्रभु की उपासना ज्ञान के विकास के द्वारा करें, यही परम उपासना है। २. मन, बुद्धि व इन्द्रियों से प्रभु का स्मरण करें यही मध्यम उपासना है। तथा ३. प्रभु-प्राप्ति के उपायों को अपनाएँ, यह उपासना का प्रारम्भ है। इस सबके लिए मैं हवियों का ग्रहण करूँ।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—अग्निः। छन्दः—आर्ष्युष्णिक्। स्वरः—ऋषभः॥

शश्वन्तः वाजाः

प्रेद्धोऽअग्ने दीदिहि पुरो नोऽजस्रया सूर्म्या यविष्ठ।
त्वाᳬशश्वन्तऽउपयन्ति वाजाः ॥७६॥

१. प्रभु-स्तवन करनेवाला (गृत्स) वासनाओं को वश में करके 'वशिष्ठ' बनता है और प्रभु से कहता है कि **प्रेद्धः**=मेरे हृदय में दीप्त हुए-हुए **अग्ने**=हे प्रकाशमय प्रभो! **दीदिहि**=आप मुझे खूब ही दीप्त कर दीजिए। प्रभु का प्रकाश होते ही हृदय जगमगा उठता है। २. हे प्रभो! आप **नः**=हमारे **पुरः**=आगे **अजस्रया सूर्म्या**=अनुपक्षीण प्रकाश से (सूर्मि=Radiance, lustre) प्रस्तुत होओ। आपका अनुगामी बनकर मैं निरन्तर आगे बढ़ता चलूँ। हे प्रभो! आप **यविष्ठ**=(यु मिश्रण-अमिश्रण) बुराइयों को दूर करनेवाले और अच्छाइयों का मेरे साथ सम्पर्क करानेवाले हैं। इसी प्रकार तो आपके प्रकाश में मैं उन्नत और उन्नत होता चलता हूँ। ३. हे प्रभो! **त्वाम्**=आपको **शश्वन्तः**=द्रुतगतिवाले, अर्थात् निरन्तर अनालस्य से कर्म में लगे हुए लोग **वाजाः**=(वाज=power) जो शक्ति के पुञ्ज हैं तथा (वाज=sacrifice) त्याग की वृत्तिवाले हैं, वे **उपयन्ति** =समीप प्राप्त होते हैं। प्रभु-प्राप्ति का उपाय यही है कि (क) मनुष्य अपने नियत कर्म में लगा रहे। (ख) शक्तिशाली बने। (ग) त्याग की वृत्तिवाला हो।

भावार्थ—हम अपने हृदयों में प्रभु के प्रकाश को देखनेवाले बनेंगे तभी हमारी बुराइयाँ समाप्त होंगी और हम अच्छाइयों को प्राप्त होंगे। हम क्रियाशील बनें, शक्तिशाली हों, त्याग की वृत्ति को अपनाएँ। यही प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—आर्षीगायत्री। स्वरः—षड्जः॥

क्रतु + भद्र

अग्ने तमद्याश्वन्न स्तोमैः क्रतुन्न भद्रᳬहृदिस्पृशम्। ऋध्यामां तऽओहैः ॥७७॥

१. गत मन्त्र का वसिष्ठ प्रभु के नेतृत्व में, उसी की प्रेरणा के प्रकाश में चलता हुआ उन्नति के शिखर पर पहुँचता है और 'परमे-ष्ठी' नामवाला होता है। यह प्रभु से प्रार्थना करता है कि **अग्ने**=हमें आगे ले-चलनेवाले हे प्रभो! **ते ओहैः**=तेरे प्राप्त करानेवाली (वह प्रापणे) **स्तोमैः**=स्तुतियों से **अद्य**=आज **अश्वं न क्रतुम्**=अश्व के समान शक्ति को **ऋध्याम**=अपने में बढ़ाएँ। घोड़ा शक्ति का प्रतीक है, हम प्रभु के उपासन से शक्ति का लाभ करें। वस्तुतः प्रभु का उपासन हमारे हृदयों को पवित्र करता है, वासना न रहने से हम शक्तिशाली बनेंगे ही। २. **क्रतुम्**=शक्ति के अनुसार **भद्रम्**=कल्याण को **ऋध्यामा**=अपने में बढ़ाएँ, अर्थात् शक्तिशाली हों और शक्ति को लोगों के कल्याण में विनियुक्त करें। उस कल्याण में जोकि **हृदिस्पृशम्**=लोगों के हृदयों को स्पर्श करनेवाला है, अर्थात् हमारी भद्रता लोगों के हृदयों को प्रभावित करे। ३. वस्तुतः परमेष्ठिता=उच्च स्थान में स्थिति यही है कि मनुष्य (क) घोड़े के समान शक्तिशाली बने। घोड़ा 'अश्नुते अध्वानम्' मार्ग का व्यापन करनेवाला है, इसी लिए शक्तिशाली है। मैं भी सदा कर्मों में व्याप्त जीवन बिताऊँ और शक्तिशाली बनूँ। (ख) शक्तिशाली बनकर भद्र=कल्याण करनेवाला बनूँ और इस प्रकार कल्याण करनेवाला बनूँ कि सबके हृदयों में अपना स्थान बना लूँ।

भावार्थ—१. कर्मों में लगे रहकर हम घोड़े की भाँति शक्तिशाली बनें। २. शक्ति प्राप्त करके सभी का कल्याण करें। सभी के हृदयों में हमारे लिए स्थान हो।

ऋषिः—वसिष्ठः। **देवता**—विश्वकर्मा। **छन्दः**—विराडतिजगती। **स्वरः**—निषादः॥

वीतिहोत्र-ऋतावृध्

चित्तिं जुहोमि मनसा घृतेन यथा देवाऽइहागमन्वीतिहोत्राऽऋतावृधः। पत्ये विश्वस्य भूमनो जुहोमि विश्वकर्मणे विश्वाहादाभ्यं हविः॥७८॥

१. वसिष्ठ प्रार्थना करता है कि मैं **मनसा**=मननशक्ति के साथ, तथा **घृतेन**=शरीर के मलों के क्षरण द्वारा स्वास्थ्य की दीप्ति के साथ **चित्तिम्**=विज्ञान को **जुहोमि**=ग्रहण करता हूँ, अपने अन्दर आहुत करता हूँ, अर्थात् (क) मस्तिष्क को ज्ञान से परिपूर्ण करता हूँ। (ख) मन को मनन से व चिन्तन से युक्त करता हूँ, तथा (ग) शरीर को मलों के क्षरण द्वारा स्वास्थ्य की दीप्तिवाला करता हूँ। २.ऐसा इसलिए करता हूँ **यथा**=जिससे कि **इह**=इस—मेरे जीवन में **देवाः**=दिव्य गुण **आगमन्**=आएँ। दिव्य गुणों की वृद्धि हो, जिन दिव्य गुणों के कारण **वीतिहोत्रा**='वीतिः सर्वतः प्रकाशिता होत्रा वाग् येषाम्' मैं प्रकाशमय वाणी को प्राप्त करता हूँ तथा **ऋतावृधः**=मुझमें ऋत का वर्धन होता है। ये देव 'वीतिहोत्र व ऋतावृध' हैं। ३. **भूमनो विश्वस्य पत्ये**=इस महान् संसार के पति के लिए **विश्वकर्मणे**=सारे विश्व के निर्माण करनेवाले के लिए **जुहोमि**=मैं अपने को अर्पित करता हूँ। उस प्रभु के प्रति अपने को अर्पित करके मैं और भी अधिक प्रकाशमय व ऋतमय जीवनवाला होता हूँ। ४. मेरे जीवन से **विश्वाहा**=सदा **हविः**=यह दानपूर्वक अदन **अदाभ्यम्**=अहिंसित होता है, अर्थात् मेरी दानपूर्वक अदन की वृत्ति कभी नष्ट नहीं होती। 'त्यक्तेन भुञ्जीथाः' इस उपदेश को मैं भूलता नहीं। अपने पर पूर्ण प्रभुत्व पानेवाला ही ऐसा कर सकता है, अतः यह आत्मवशी व्यक्ति 'वसिष्ठ' कहलाता है, यह इस वशित्व के कारण ही उत्तम निवासवाला होता है।

भावार्थ—१. मैं ज्ञान—मननशक्ति व स्वास्थ्य को धारण करता हूँ। २. मैं अपने जीवन में दिव्य गुणों को अपनाकर प्रकाशमय ज्ञानवाणी को प्राप्त करता हूँ व अपने में ऋत का वर्धन करता हूँ। ३. उस विश्वकर्मा विश्वपति के लिए अपना अर्पण करता हूँ। ४. मेरा जीवन सदा हवि को ग्रहण करनेवाला होता है। मैं केवलादी नहीं बनता।

ऋषिः—सप्त ऋषयः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

सप्त

सप्त तेऽअग्ने समिधः सप्त जिह्वाः सप्तऽऋषयः सप्त धाम प्रियाणि। सप्त होत्राः सप्तधा त्वा यजन्ति सप्त योनीरापृणस्व घृतेन स्वाहा॥७९॥

१. पिछले मन्त्र में 'चित्तिं जुहोमि' शब्दों से अपने में ज्ञान की आहुति देने का उल्लेख है। इस ज्ञानयज्ञ के लिए प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि हे **अग्ने**=अपने को ज्ञान से प्रकाशित करनेवाले जीव! अपने अन्दर ज्ञानाग्नि को दीप्त करनेवाले जीव! **ते**=तेरी **सप्त समिधः**=सात प्राण ही समिधाएँ हैं। अग्नि को समिधाएँ समिद्ध करती हैं, तेरे ज्ञानाग्नि को सात प्राण (प्राणा वाव इन्द्रियाणि, कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्) समिद्ध करते हैं, अतः ये प्राण ही उस अग्नि की समिधाएँ हैं (प्राणा वै समिधः प्राणा ह्येते समिन्धते श० ९।२।३।४४)। २. **सप्त जिह्वाः**=सात ही इस ज्ञानाग्नि की ज्वालाएँ हैं। 'महत्तत्व' का ज्ञान एक ज्वाला है तो 'अहङ्कार' का ज्ञान दूसरी ज्वाला है और 'पंचतन्मात्राओं' का ज्ञान अगली पाँच ज्वालाएँ हैं। ये सात ही प्रकृति-विकृतियाँ हैं, इनका ज्ञान ज्ञानाग्नि की सात ज्वाला के रूप से यहाँ कहा गया है। ३. **सप्त ऋषयः**=पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ मन तथा बुद्धि ये सात ऋषि इस ज्ञानयज्ञ

को चलानेवाले हैं। ४. **सप्त धाम प्रियाणि**=सात तेरे प्रियधाम हैं। यह ज्ञान वेद के सात गायत्र्यादि छन्दों में रक्खा गया है, अतः ये सात छन्द उस ज्ञान के प्रिय निवास-स्थान हैं। (छन्दांसि वा अस्य सप्त धाम प्रियाणि श० ९।२।३।४४।) ५. **सप्त होत्राः**=ये वेद की गायत्र्यादि सात छन्दों में विभक्त सात वाणियाँ **सप्तधा**=सात प्रकार से **त्वा यजन्ति**=तेरे साथ सङ्गत होती हैं। ६. तू इन **सप्त योनीः**=ज्ञान की उत्पत्ति की कारणभूत सात वाणियों को **घृतेन**=मलों के क्षरण व दीप्ति के द्वारा **आपृणस्व**=(आपूरयस्व- उ०) अपने में पूरित कर। ७. **स्वाहा**=इस अपने में आपूरणरूप क्रिया के लिए तू (स्व) अपना (हा) त्याग करनेवाला बन। जितनी-जितनी त्यागवृत्ति बढ़ेगी उतना-उतना ही तू ज्ञान को अपने में आपूरित करने में समर्थ होगा।

भावार्थ—प्राण ज्ञानाग्नि को समिद्ध करते हैं, क्योंकि इन प्राणों के द्वारा इन्द्रियों के मल दग्ध होकर इन्द्रियाँ ज्ञानयज्ञ को करने में अधिक समर्थ हो जाती हैं।

ऋषिः—सप्त ऋषयः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—आर्ष्युष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

प्राणसाधना से ज्ञान+क्रिया की शुद्धि

शुक्रज्योतिश्च चित्रज्योतिश्च सत्यज्योतिश्च ज्योतिष्माँश्च। शुक्रश्चऽऋतपाश्चात्यꣳहाः ॥८०॥

१. गत मन्त्र में प्राणसाधना के द्वारा ज्ञानाग्नि को दीप्त करने का उल्लेख हुआ है। प्राणायाम से इन्द्रियों के मल दग्ध हो जाते हैं, 'पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि' चमक उठते हैं। ये ही सात ऋषि बन जाते हैं जो इस साधक के ज्ञान को बढ़ानेवाले होते हैं। इनसे समुचित कार्य लेनेवाले ये साधक भी 'सप्त ऋषयः' बन जाते हैं। उनका वर्णन इन मन्त्रों में दिया गया है। उन प्राणों के साधन से साधक जैसा बनता है उसी आधार पर प्राणों का भी नाम रक्खा गया है। इस मन्त्र में सात मरुतों=प्राणों का वर्णन है। इनकी साधना से साधक (क) **शुक्रज्योतिः च**=(शुक्रं ज्योतिर्यस्य) दीप्त ज्ञान की ज्योतिवाला बनता है। (ख) **चित्रज्योतिः च**=(चित्रं ज्योतिर्यस्य) यह अद्भुत=असाधारण ज्ञान की ज्योतिवाला होता है। (ग) **सत्यज्योतिः च**=(सत्यं ज्योतिर्यस्य) इसका ज्ञान सत्य होता है। योगदर्शन में इसी ज्ञान को उत्पन्न करनेवाली बुद्धि को 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' कहा गया है। (घ) **ज्योतिष्मान् च**=यह सदा प्रकाशमय अन्तःकरणवाला होता है। इसके मस्तिष्क में किसी प्रकार की उलझन व अन्धकार नहीं होता। ३. ज्ञान को प्राप्त करके यह क्रियाओं को समाप्त नहीं कर देता। यह (क) **शुक्रश्च** (शुक् गतौ) खूब क्रियाशील बनता है (क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः)। (ख) यह अपनी क्रियाओं से **ऋतपाः च**=ऋत का पालन करता है। सूर्य और चन्द्रमा की भाँति बड़ी नियमित, ठीक (right) इसकी गति होती है। (ग) और इस गतिशीलता व नियमितता से यह **अत्यंहाः**=पाप को लाँघ जाता है। (अंहः अतिक्रान्तः)। एवं, इस प्राणसाधना करनेवाले का जीवन ज्योतिर्मय व क्रियामय होता है। इसका ज्ञान उज्ज्वल होता है और क्रियाएँ निष्पाप।

भावार्थ—प्राणसाधना हमारी ज्योति व क्रिया का वर्धन करनेवाली हो।

ऋषिः—सप्त ऋषयः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—आर्षीगायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

प्राणसाधना से युक्ताहारविहार

ईदृङ् चान्यादृङ् च सदृङ् च प्रतिसदृङ् च। मितश्च सम्मितश्च सभराः॥८१॥

१. गत मन्त्र का प्राणसाधक संसार के स्वरूप को भी ठीक-ठीक समझता है। वह यह जान लेता है कि यह संसार (क) **ईदृङ् च**=(अनेन तुल्यः) ऐसा ही है। संसार के अन्दर मुझे कृतघ्नता व पिशुनता लगती है। कई बार मैं इस संसार से घृणा करने लगता हूँ, परन्तु प्राणसाधना करने पर मुझे ये सब-कुछ स्वाभाविक-सी दिखती हैं और मैं संसार को उसके ठीक रूप में देखने लगता हूँ और कह उठता हूँ कि **ईदृङ् च**=यह तो ऐसा है ही (ख) **अन्यादृङ् च**=(अन्येन समानः) दूसरे-जैसा भी तो है ही। इसमें कुछ 'दुर्हृद्' हैं तो 'सुहृद्' भी हैं ही। दुर्जन हैं तो सज्जन भी हैं। (ग) **सदृङ् च**=(समानं पश्यति) बहुत-से व्यक्ति ठीक मेरे-जैसे भी यहाँ दिखते हैं। (घ) और **प्रतिसदृङ् च**=(तं तं प्रतिसदृशं पश्यति) ऐसे भी लोग हैं जोकि उस-उस व्यक्ति के अनुकूल अपने को बना लेते हैं। संसार में मेधावी पुरुष अपने सम्पर्क में आनेवाले पुरुषों के साथ अपने को अनुकूल बनाने का प्रयत्न करता ही है। २. इस प्रकार संसार के स्वरूप को ठीक-ठीक देखता हुआ, लोगों की मनोवृत्तियों को समझता हुआ यह अपने निजू व्यवहार में **मितः च**=(मितं अस्य अस्ति) प्रत्येक वस्तु को मितरूप से, अर्थात् माप-तोलकर करनेवाला होता है। **संमितश्च**=खान-पान में तो पूर्णतया मित होता है। सम्यक्तया मित आहार-विहार के कारण यह पूर्ण स्वस्थ रहता है। ३. सब कर्मों में युक्त चेष्ट तथा मित आहार-विहारवाला होने के साथ यह **सभराः**=(सह बिभर्ति) मिलकर भरण-पोषण करनेवाला होता है, कभी अकेला खानेवाला नहीं बनता।

भावार्थ—प्राणसाधना से १. यह संसार को ठीक रूप में देखता है। २. मपी-तुली क्रियाओंवाला होता है। ३. सबके साथ मिलकर खाता है, 'केवलादी' नहीं बनता। दूसरे शब्दों में यज्ञशेष खानेवाला होता है।

ऋषिः—सप्त ऋषयः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—आर्षीगायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

ऋत+सत्य

ऋतश्च सत्यश्च ध्रुवश्च धरुणश्च। धर्त्ता च विधर्त्ता च विधारयः ॥८२॥

१. यह प्राणसाधना करनेवाला **ऋतश्च**=अपनी भौतिक क्रियाओं में ऋत का पालन करनेवाला होता है। इन क्रियाओं को ठीक समय व स्थान पर करता हुआ यह शारीरिक स्वास्थ्य को सिद्ध करता है। २. **सत्यश्च** =अन्य प्राणियों के साथ अपने व्यवहार में यह सत्य का पालन करता है। नैतिक नियमों का पालन करता हुआ यह अपने सामाजिक आचरण को सत्य व शुद्ध रखता है। इसी से यह सभी का प्रिय होता है। ३. **ध्रुवश्च**=यह अपने 'ऋत व सत्य' से ध्रुव होता है। किसी प्रकार के आलस्य व आराम की वृत्ति इसे विचलित नहीं कर पाती। यह राग-द्वेष से प्रेरित होकर सत्य को नहीं छोड़ देता। ४. **धरुणश्च**=यह अच्छाइयों को अपने अन्दर धारण करनेवाला बनता है। अच्छाइयों का आधार होता है। ५. **धर्त्ता च**=सब उत्तमताओं का धरुण बनता हुआ यह औरों का भी धारण करनेवाला बनता है। इसके जीवन में लोकहित की भावना कभी नष्ट नहीं हो जाती। ६. **विधर्त्ता च**=(विधृ=to catch; to restrain) अपने जीवन से धर्तृत्व की भावना को नष्ट न होने देने के लिए यह अपनी इन्द्रियों व मन को वश में करता है, इन्हें विषयों की ओर जाने से रोकता है। ७. **विधारयः**=इन्द्रियों व मन को विषयों से रोकने के लिए यह उन्हें विशिष्ट कर्त्तव्यों में धारण किये रखता है। इन्द्रियों व मन के दमन व शमन का सरल व प्रभावशाली प्रकार यही है कि उन्हें सदा विविध यज्ञादि क्रियाओं में व्यापृत रक्खा जाए।

भावार्थ—प्राणसाधक का जीवन ऋत व सत्यमय होता है। वह नीति-मार्ग में ध्रुवता से चलता है। अच्छाइयों का धरुण बनता है। सभी का धारण करता है। इन्द्रियों व मन को वशीभूत करता है और इन्हें विविध उत्तम क्रियाओं में लगाये रखता है।

ऋषिः—सप्त ऋषयः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—भुरिगार्ष्युष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

सेनजित्-सुषेण

ऋतजिच्च सत्यजिच्च सेनजिच्च सुषेणश्च।
अन्तिमित्रश्च दूरेऽअमित्रश्च गणः॥८३॥

१. यह प्राणसाधक. **ऋतजित् च**=(ऋतेन जयति) ऋत के द्वारा, भौतिक क्रियाओं में अत्यन्त नियमितता के द्वारा रोगों का पराजय करनेवाला तथा स्वास्थ्य का विजय करनेवाला होता है। २. **सत्यजित् च**=(सत्येन जयति) इसी प्रकार अपने सत्य व्यवहार से यह सबके हृदयों को जीतनेवाला होता है। ३. **सेनजित् च**=(सेनां जयति) यह काम, क्रोधादि की सेना को जीतनेवाला होता है (शतसेना अजयत् साकमिन्द्रः) शतशः वासनाओं के बल को यह पराजित करनेवाला होता है और स्वयं ४. **सुषेणः च**='धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी, विद्या, सत्य व अक्रोध' आदि उत्तम गुणों की सेनावाला होता है। ५. **अन्तिमित्रश्च** =(मिद्-स्नेहने) सबके साथ स्नेह की भावना इसके हृदय में अन्तिकतम होती है (अन्तौ=समीपे मित्रा यस्य—द०) अथवा 'प्रमीतेः त्रायते'=अपने को पाप से बचाने की भावना इसके समीप होती है, इस भावना को यह विस्मृत नहीं होने देता। ६. **दूरे अमित्रश्च**=अमित्रता व शत्रुता की भावना को यह अपने से दूर रखता है। किसी के प्रति राग-द्वेष को यह अपने में नहीं आने देता। साथ ही पाप की भावना को अपने से परे रखता है। ७. इस प्रकार 'अच्छाई को लेते हुए और बुराई को दूर करते हुए यह **गणः**='गण्यते' प्रभु-भक्तों में गिना जाता है। प्रभु महादेव है, तो यह उनका 'गण' होता है।

भावार्थ—हम ऋत से स्वास्थ्य का विजय करें। सत्य से हृदय की वासना-सैन्य को जीतनेवाले बनें। धृति आदि उत्तम गुणों की सेनावाले हों। स्नेह की भावना हमारे समीप हो और द्वेष की भावना दूर हो। इस प्रकार हम सच्चे प्रभु-भक्तों में परिगणित हों।

ऋषिः—सप्त ऋषयः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—निचृदार्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

ईदृक्ष-एतादृक्ष

ईदृक्षासऽएतादृक्षासऽऊ षु णः सदृक्षासः प्रतिसदृक्षासऽएतन मितासश्च सम्मितासो नोऽअद्य सभरसो मरुतो यज्ञेऽअस्मिन्॥८४॥

१. ये प्राणसाधक **ईदृक्षासः**=(इदं पश्यन्ति)=इस संसार को देखते हैं। इस संसार को ठीक रूप में देखने के कारण वे संसार को घृणा से देखनेवाले व हर समय घबराये हुए-से नहीं होते। २. **एतादृक्षासः**=(एतान् पश्यन्ति) ये प्राणसाधक इन जीवों को भी ठीक रूप में देखते हैं और उनकी मनोवृत्ति को समझने के कारण इनका व्यवहार सदा ठीक होता है, ये शुष्क वाद-विवादों में नहीं फँस जाते। ३. **सदृक्षासः**=(समानं पश्यन्ति) ये सबको समानरूप में देखते हैं। इनका बर्ताव पक्षपातशून्य होता है, और ४. **प्रतिसदृक्षासः**= उस-उस व्यक्ति के प्रति अनुकूलता से देखनेवाले होते हैं, अर्थात् सबके साथ अनुकूलता-सम्पादन में समर्थ होते हैं। ५. **मितासश्च**=प्रत्येक कार्य में बड़े मपे-तुले कार्योंवाले होते

हैं। ६. **सम्मितासो**:=सम्यक्तया मपे-तुले आहार-विहारवाले होते हैं तथा ७. **सभरसो**=सबके साथ मिलकर खानेवाले होते हैं। ऐसे ये **मरुतः**=मितराविणः=कम बोलनेवाले प्राणसाधक **अद्य**=आज **नः अस्मिन् यज्ञे**=हमारे इस यज्ञ में **उ**=निश्चय में **सु**=उत्तमता में **एतन**=आएँ, प्राप्त हों।

भावार्थ—इस जीवनयज्ञ में हमारा सम्पर्क 'ईदृक्षास, एतादृक्षास, प्रतिसदृक्षास, मित, सम्मित व सभरस्' मरुतों से होगा तो हम भी इस प्रकार के जीवनवाले बन पाएँगे।

ऋषिः—सप्त ऋषयः। **देवता**—चातुर्मास्या मरुतः। **छन्दः**—स्वराडार्षीगायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

स्वतवान्-प्रघासी

स्वतवाँश्च प्रघासी च सान्तपनश्च गृहमेधी च।
क्रीडी च शाकी चोज्जेषी ॥८५॥

१. यह प्राणसाधक **स्वतवाँश्च**=(यः स्वं तौति वर्धयति) आत्मशक्ति को बढ़ाता है और (स्वं स्वकीयं तवो बलं यस्य) अपने बलवाला होता है, यह आत्मरक्षा के लिए औरों पर निर्भर नहीं करता। २. **प्रघासी च**=इस शक्ति-सम्पादन के लिए (प्रकृष्टा घासा भोज्यानि विद्यन्ते यस्य) उत्तम सात्त्विक शाक, वनस्पति भोजनों को ही खानेवाला बनता है। ३. **सान्तपनश्च**=(सम्यक् शत्रून् तापयति) शक्तिसम्पन्न होकर यह शत्रुओं को तप्त करता है। अथवा उत्तम तप करनेवाला होता है। ४. इस प्रकार तपस्वी बनकर यह **गृहमेधी**=(गृहे मेधः सङ्गमो यस्य) गृह में उत्तम सङ्गमवाला होता है, अर्थात् घर को बड़ा उत्तम बना पाता है। ५. **क्रीडी च** =यह संसार में होनेवाले ऊँच-नीच को क्रीड़ा के स्वभाव में लेनेवाला होता है, उनसे घबराता नहीं। ६. वस्तुतः इसी कारण **शाकी च**=ये कर्म उसकी शक्ति को बढ़ानेवाले होते हैं। ७. शक्तिशाली बनकर यह **उज्जेषी च**=सदा उत्कृष्ट विजय पानेवाला होता है। यह विजय उसके सदाचार का प्रमाण है, और यह विजय ही उसे परमात्मा को प्राप्त करानेवाली होती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमारा बल बढ़ेगा और अन्त में हम विजयी बनेंगे।

ऋषिः—सप्त ऋषयः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—निचृच्छक्वरी। **स्वरः**—धैवतः॥

अनुकूलता

इन्द्रं दैवीर्विशो मरुतोऽनुवर्त्मानोऽभवन्यथेन्द्रं दैवीर्विशो मरुतोऽनुवर्त्मानोऽभवन्।
एवमिमं यजमानं दैवीश्च विशो मानुषीश्चानुवर्त्मानो भवन्तु ॥८६॥

१. **इन्द्रम्**=इन्द्र के, **दैवीः विशः**=दिव्य गुणोंवाली विद्वान् प्रजाएँ तथा **मरुतः**=रणाङ्गण में देश के लिए प्राण दे देनेवाले (म्रियन्ते) सैनिक **अनुवर्त्मानः**=अनुकूल मार्गवाले **अभवन्**=होते हैं। अथर्व के शब्दों में 'तं सभा च समितिश्च सेना च' जो राजा प्रजा का अनुरञ्जन करता है, सभा-समिति के सदस्य तथा सैनिक उसके अनुकूल होते हैं। यहाँ प्रस्तुत मन्त्र में सभा-समिति के सदस्यों को 'दैवीर्विशः' शब्द से स्मरण किया है और सैनिकों को 'मरुतः' शब्द से। राजा के लिए यहाँ 'इन्द्र' शब्द का प्रयोग है। राजा ने जितेन्द्रिय—इन्द्रियों का अधिष्ठाता होना है। 'जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः'=यह जितेन्द्रिय राजा ही प्रजा को वश में स्थापित कर पाता है। २. इस **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय राजा को **यथा**=जैसे **दैवीः विशः**=दिव्य गुणोंवाली प्रजाएँ तथा **मरुतः**=सैनिक **अनुवर्त्मानः**=अनुकूल मार्गवाले

अभवन्=होते हैं, **एवम्**=इसी प्रकार **इमं यजमानम्**=इस प्राणसाधना के द्वारा यज्ञिय वृत्तिवाले पुरुष को **दैवीः च विशः**=दिव्य गुणोंवाले विद्वान् पुरुष तथा **मानुषीः च**=सामान्य व्यवहारी पुरुष भी **अनुवर्त्मानो भवन्तु**=अनुकूल मार्गवाले हों, अर्थात् इसके प्रति सभी का प्रेम होता है, चाहे विद्वान् हों, चाहे सामान्य व्यक्ति।

भावार्थ—हम प्राणसाधना द्वारा यज्ञिय वृत्ति का विकास करें। जितनी-जितनी हमारी वृत्ति यज्ञिय होगी उतनी-उतनी हमें लोकानुकूलता प्राप्त होगी।

ऋषिः—सप्त ऋषयः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

समुद्रिय सदन प्रवेश

इमꣳस्तनमूर्जस्वन्तं धयापां प्रपीनमग्ने सरिरस्य मध्ये।
उत्सं जुषस्व मधुमन्तमर्वन्त्समुद्रियꣳसदनमाविशस्व॥८७॥

१. सब प्रकार की वासनाओं को समाप्त करके तथा यज्ञिय वृत्ति को उत्पन्न करके 'सप्त ऋषयः' को चाहिए कि वे प्रभु की इस वेदवाणी का श्रवण करें। वेदवाणी 'गौ' है। उसका स्तन-पान करना ही ज्ञान प्राप्त करना है। **इमम्**=इस **ऊर्जस्वन्तम्**=उत्तम बल व प्राणशक्ति को देनेवाले **स्तनम्**=स्तन को तू **धय**=पी। 'स्तन-पान करने' का अभिप्राय वेदवाणी का ज्ञान प्राप्त करना है। २. यह वेदज्ञान **अपां प्रपीनम्**=कर्मों का वर्धन करनेवाला है। (प्रपीनं=पूर्णम्) इसमें विविध कर्मों का उपदेश दिया गया है। ३. **अग्ने**=हे प्रगतिशील जीव! तू **सरिरस्य मध्ये**=(इमे वै लोकाः सरिरम्) इन लोकों में अथवा (सरिर=गति) इस सारी सांसारिक क्रिया के बीच में, यज्ञादि कार्यों के मध्य में—**उत्सम्**=इस वेदवाणीरूप ज्ञान के चश्मे का **जुषस्व**=सेवन कर। ४. यह ज्ञान का उत्स=(स्रोत) **मधुमन्तम्**=अत्यन्त माधुर्यवाला है। वेद माधुर्य के उपदेश से पूर्ण है। वेद के अनुसार जीव की प्रार्थना है कि **'भूयासं मधुसन्दृशः'**=मैं मिठास-ही-मिठास हो जाऊँ, 'वाचा वदामि मधुमत्'=वाणी से मधुपूर्ण शब्दों को ही बोलूँ। इस प्रकार माधुर्य से परिपूर्ण होकर ५. **अर्वन्**=घोड़े की भाँति अपने कर्त्तव्य-मार्ग को मापनेवाले जीव! अथवा अपने को ब्रह्मरूप लक्ष्य के वेधन के लिए प्रणवरूप धनुष का तीर (arrow=अर्वन्) बनानेवाले जीव! तू **समुद्रियम्**=सदा आनन्दमय (समुद्र) प्रभु-सम्बन्धी **सदनम्**=गृह में **आविशस्व**=प्रविष्ट हो। प्रभु तेरा गृह हैं। तूने अन्ततः अपने घर में ही तो पहुँचना है, इस यात्रा में भटक नहीं जाना।

भावार्थ—१. हम वेदवाणीरूप गौ का दूध पीएँ। यह हमें शक्ति देगा। यह हमें हमारे कर्त्तव्यों का बोध देगा। २. माधुर्यमय ज्ञान के स्रोत का सेवन करते हुए हम उस प्रभु में प्रवेश करनेवाले बनें, वे प्रभु तो हमारे 'आनन्दमय सदन' है।

ऋषिः—गृत्समदः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

घृतम्

घृतं मिमिक्षे घृतमस्य योनिर्घृते श्रितो घृतम्वस्य धाम।
अनुष्वधमावह मादयस्व स्वाहाकृतं वृषभ वक्षि हव्यम्॥८८॥

१. पिछले मन्त्र में 'प्रभुरूप सदन' में प्रवेश का उल्लेख है। उसी प्रवेश के लिए प्रयत्न करता हुआ 'गृत्समद' ऋषि कहता है कि **घृतं मिमिक्षे**=मैं घृत का सेचन करना चाहता हूँ (मेढुमिच्छति, मिह सेचने)। घृत की दो भावनाएँ हैं (क) **क्षरण**=मल को दूर

करना। (ख) तथा **दीप्ति**=ज्ञान को दीप्त करना। मैं प्रभु-प्राप्ति के लिए शारीरिक मल के क्षरण के द्वारा शरीर के स्वास्थ्य का साधन करता हूँ और अपने मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि को दीप्त करनेवाला बनता हूँ। २. **घृतम् अस्य योनिः**=यह मलक्षरण-जनित स्वास्थ्य तथा ज्ञान की दीप्ति ही इस प्रभु के प्रकाश का उत्पत्ति स्थान है। स्वास्थ्य व ज्ञान ही हममें प्रभु के प्रकाश को प्रकट करते हैं। ३. **घृते श्रितः**=वे प्रभु इस स्वास्थ्य व ज्ञान-दीप्ति में ही आश्रित हैं। अथवा स्वास्थ्य व ज्ञानदीप्ति होने पर ही प्रभु सेवित (श्रि सेवायाम्) होते हैं। ४. **उ**=और **घृतम्**=यह स्वास्थ्य दीप्ति व ज्ञान-दीप्ति ही **अस्य**=इस प्रभु का **धाम**=धाम है, निवास है। ५. अतः हे जीव! तू **अनुष्वधम्**=अन्न की अनुकूलता में **आवह**=इस स्वास्थ्य व ज्ञानदीप्ति को धारण कर। 'स्वधा' वह अन्न है, जिसका मूलतत्त्व 'स्व' का धारण है, जिसमें स्वाद आदि को मापक नहीं बनाया गया। उस अन्न का सेवन हमें स्वस्थ भी बनाएगा और ज्ञानदीप्त भी। ६. इस प्रकार यह अन्न हमें प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर ले-चलेगा, अतः इस अन्न से स्वास्थ्य व ज्ञान का वहन करके **मादयस्व**=तू आनन्द का अनुभव कर। ७. हे **वृषभ**=अपने अन्दर स्वास्थ्य व ज्ञान का सेचन करनेवाले, अतएव शक्तिशाली जीव! तू **स्वाहाकृतम्**=स्वाहाकार के द्वारा आहुति दिये गये **हव्यम्**=अदन करने योग्य सात्त्विक पदार्थों को ही **वक्षि**=वहन करता है व चाहता है, अर्थात् तेरा भोजन अत्यन्त सात्त्विक है। इस सात्त्विक भोजन से ही तूने उस स्वास्थ व ज्ञान को सिद्ध किया है जो 'घृत' कहलाता है और प्रभु के प्रकाश का कारण है।

भावार्थ—हम सात्त्विक अन्नों का सेवन करते हुए अपने स्वास्थ्य व ज्ञान को बढ़ाएँ और प्रभु के प्रकाश को प्राप्त करनेवाले हों। प्रभु के प्रकाश को प्राप्त करके हम 'गृणाति माद्यति'=स्तुति करें, प्रसन्न हों और इस मन्त्र के ऋषि 'गृत्समद' बनें।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

मधुमान् ऊर्मिः

समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ२॥ऽउदारदुपांशुना सममृतत्वमानट्।
घृतस्य नाम गुह्यं यदस्ति जिह्वा देवानाममृतस्य नाभिः ॥८९॥

१. प्रभु को प्राप्त करके हम सब देवों को प्राप्त कर लेते हैं और प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'वामदेव'=सुन्दर, दिव्य गुणोंवाले होते हैं। **समुद्रात्**=आनन्दमय प्रभु से **मधुमान्**=माधुर्यवाली **ऊर्मिः**=लहर **उदारत्**=(ऊर्ध्वं आप्नोति) उत्कृष्टता से हमें प्राप्त होती है, अर्थात् हमारा जीवन तरंगित हृदयवाला होता है। हमारे जीवन में उल्लास-ही-उल्लास होता है। २. **उप अंशुना**=उस समीपस्थ प्रभु की ज्ञान-किरणों से यह उपासक **अमृतत्वम्**=अमृतत्व को **समानट्**=(सम् आनट्) सम्यक्तया प्राप्त करनेवाला होता है। ज्ञान प्राप्त कर लेने पर यह भौतिक वस्तुओं के पीछे भागता नहीं फिरता, उनके प्रलोभन से यह ऊपर उठ जाता है। यही वस्तुतः 'अमृतत्व' है। ३. **घृतस्य**=उस ज्ञान की दीप्तिवाले प्रभु का **यत्**=जो **गुह्यम्**=गुह्यं भवम्=हृदयरूप गुहा में होनेवाला, अर्थात् हृदय को प्रिय **नाम**=नाम **अस्ति**=है, वह **देवानाम् जिह्वा**=इन देवों की जिह्वा पर सदा निहित होता है। ये अपनी जिह्वा से सदा प्रभु के नाम का स्मरण करते हैं। प्रभु का स्मरण करते हुए सब कर्मों को करते हैं ४. इसीलिए **अमृतस्य नाभिः**=अमृत=मोक्ष का अपने में बन्धन करनेवाले होते हैं (नह बन्धने)। प्रभु का स्मरण व जीवन-संग्राम को जारी रखना, इसे जीवन-सूत्र बनाकर ये मोक्ष को सिद्ध करते

हैं। इनकी जिह्वा पर प्रभु-नाम होता है, हाथों में कर्म। इस समन्वय के कारण इनके कर्म पवित्र होते हैं और इनकी मोक्ष-प्राप्ति का कारण बनते हैं।

भावार्थ—१. प्रभु के प्रकाश में हृदय उल्लासमय होता है। २. प्रभु की समीपता के परिणामस्वरूप ज्ञान की किरणों से द्योतित हृदयवाले असङ्गशस्त्र से इस संसार-वृक्ष को काट पाते हैं। ३. प्रभु का नाम हमारी जिह्वा पर हो, हाथों से कर्म करें, तभी हम मोक्ष प्राप्त कर पाएँगे।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

चतुःशृङ्गः=गौरः

वयं नाम प्र ब्रवामा घृतस्यास्मिन् यज्ञे धारयामा नमोभिः।
उप ब्रह्मा शृणवच्छस्यमानं चतुःशृङ्गोऽवमीद् गौरऽएतत्॥९०॥

१. वामदेव कहता है कि **वयम्**=हम सब **घृतस्य**=उस ज्ञानदीप्त प्रभु के **नाम**=(प्रिय, गुह्य) नाम का **प्रब्रवाम**=प्रकर्षेण उच्चारण करें। २. **अस्मिन् यज्ञे**=अपने इस जीवन-यज्ञ में **नमोभिः**=नमस् के द्वारा, नम्रता-धारण के द्वारा, **धारयामा**=उस प्रभु को धारण करें। नम्रता हमें प्रभु के अधिक समीप ले-जानेवाली हो। ३. **उप ब्रह्मा**=सदा हमारे समीप रहनेवाला हृदयस्थ प्रजापति, चारों वेदों का निधानभूत, ज्ञानपुञ्ज प्रभु **शस्यमानम्**=शंसन किये जाते हुए उस नाम को **शृणवत्**=सुने, अर्थात् प्रभु हमारी जिह्वा से उच्चरित होते हुए अपने नाम को ही सुने। इस जिह्वा से व्यर्थ के शब्दों व अपशब्दों का कभी उच्चारण न हो। ४. **चतुःशृङ्गः** =चारों वेद जिसके सीङ्गों के समान हैं। सीङ्ग जैसे शत्रुओं को दूर करने के साधन बनते हैं, उसी प्रकार ये वेद भी ज्ञान के द्वारा इसकी वासनाओं को दूर करनेवाले होते हैं। अतएव यह **गौरः**=(वेदविद्यावाचि रमते—द०, गौरवर्णः—उ०) वेदविद्या में रमण करनेवाला शुद्ध हृदय पुरुष **एतत्**=उसके नाम का **अवमीद्**=उद्गिरण करता है, श्वास-प्रश्वास के साथ वायुमण्डल में इस नाम की ध्वनि को ही प्रसारित करता है।

भावार्थ—१. हम निरन्तर प्रभु-नाम स्मरण करें। हमारी वाणी सदा प्रभु के नाम का उच्चारण करे, वह प्रभु हमसे नाम को ही उच्चारण किया जाता हुआ सुने। २. हम 'चतुःशृङ्ग-गौर' बनें। हमारे श्वास-प्रश्वास के साथ प्रभु के नाम का जप हो।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—यज्ञपुरुषः। **छन्दः**—विराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

महादेवः

चत्वारि शृङ्गा त्रयोऽअस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासोऽअस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याँ२॥ऽआविवेश॥९१॥

१. इस मन्त्र के ऋषि वामदेव के **चत्वारि शृङ्गाः**=चारों वेद शृङ्गस्थानीय होते हैं, उस वेदज्ञान से यह अपने शत्रुओं को दूर करनेवाला होता है। २. शत्रुओं को दूर करनेवाले **अस्य**=इसके **त्रयः पादाः** =तीन विक्रम, क़दम होते हैं। यह पृथिवी से अन्तरिक्ष में, अन्तरिक्ष से द्युलोक में तथा द्युलोक से स्वर्ज्योति में पहुँचनेवाला होता है। अथवा यह स्वास्थ्य, नैर्मल्य व दीप्ति को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होता है, 'भूः, भुवः, स्वः' ये ही इसके तीन क़दम हो जाते हैं। ३. **द्वे शीर्षे**=इसके दो मस्तिष्क होते हैं, अर्थात् यह दो बातों को सदा सोचता है (क) प्रकृति के साथ कैसे बरतना है (ख) और जीव के साथ कैसे वर्त्तना है। प्रकृति के प्रयोग में यह 'मित' बनता है, जीवों के साथ व्यवहार में यह 'मधुर'

होता है। ४. **सप्त हस्तासः अस्य** =इसके गायत्र्यादि सात छन्द ही हाथ बन जाते हैं, अर्थात् उन छन्दों में प्रतिपादित कर्मों को ही यह हाथों से सदा करनेवाला बनता है। ५. **त्रिधा बद्धः**=यह 'काय, वाणी व मन' तीन स्थानों पर बँधा होता है। शरीर, वाणी तथा मन का संयम करता है। इन तीनों का दमन करनेवाला ही यह 'त्रिदण्डी' कहलाता है। ६. इस दमन व संयम के परिणामरूप यह **वृषभः**=अत्यन्त शक्तिशाली होता है। ७. 'शक्ति का गर्व न हो जाए' इसी लिए **रोरवीति** =निरन्तर प्रभु के नाम का उच्चारण करता है। ८. पवित्र बनता हुआ यह **महोदेवः** =महनीय देव बन जाता है। ९. परन्तु ऐसा बनकर यह मनुष्यों से दूर नहीं भाग खड़ा होता। **मर्त्यान् आविवेश**=मनुष्यसमाज में ही प्रवेश करता है, मनुष्यों में ही रहता है। उनके अज्ञान व दुःखों के दूर करने के लिए प्रयत्नशील होता है।

भावार्थ—हम मन्त्र वर्णित साधना करते हुए 'महोदेव' बनें, लोकहित में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—यज्ञपुरुषः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

इन्द्र-सूर्य और वेन

त्रिधा हितं पणिभिर्गुह्यमानं गवि देवासो घृतमन्वविन्दन्।
इन्द्रऽएकःसूर्यऽएकञ्जजान वेनादेकःस्वधया निष्टतक्षुः ॥९२॥

१. प्रभु **त्रिधा हितम्**=तीन प्रकार से हमारे हृदयों में निहित होते हैं। जिस समय हम 'शारीरिक स्वास्थ्य, मानस-नैर्मल्य व बौद्धिक ज्ञान-दीप्ति' को धारण करते हैं तब अपने में प्रभु को स्थापित करनेवाले होते हैं। अथवा 'ज्ञान, कर्म व भक्ति' का समन्वय होने पर वे प्रभु हममें निवास करते हैं। उस त्रिधा हित प्रभु को, २. तथा **पणिभिः**=(पण् स्तुतौ) स्तुति करनेवाले उपासकों से **गुह्यमानम्**=(गुह्=to hug, to embrace) आलिङ्गन किये जाते हुए प्रभु को, ३. **देवासः**=देववृत्तिवाले लोग, मानस में दैवी सम्पत्ति का विकास करनेवाले लोग **गवि**=वेदवाणी में **घृतम्**=ज्ञान के पुञ्ज, प्रकाशमय प्रभु को **अन्वविन्दन्**=आत्मस्वरूप के दर्शन के साथ देखते व प्राप्त करते हैं। ४. मन्त्र के प्रारम्भ में 'त्रिधा हितम्' शब्दों से प्रभु को 'त्रिधा हित'=ज्ञान-कर्म व भक्ति से प्राप्य कहा है। इनमें में **एकम्**=एक अर्थात् ज्ञान को **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय, इन्द्रियों को वश में करनेवाला व्यक्ति **जजान**=उत्पन्न करता है। जितेन्द्रिय ही ज्ञानी बन पाता है। ५. **एकम्**=एक को अर्थात् कर्म को **सूर्यः**=सूर्य **जजान**=उत्पन्न करता है। सूर्य निरन्तर चल रहा है 'सरति इति सूर्यः'। निरन्तर चलने से ही वह चमकता भी है। इसी प्रकार जो व्यक्ति निरन्तर क्रियाशील होता है वह भी सूर्य के व्रत में चलता हुआ सूर्य की भाँति ही चमकता है। इस क्रियाशील में किसी प्रकार की मलिनताएँ उत्पन्न नहीं होतीं। यह प्रभु के प्रकाश को देखनेवाला होता है। ६. **वेनात्**=(वेनतिः कान्तिकर्मा, कान्तिः=इच्छा) उस प्रभु की प्राप्ति की प्रबल कामना करनेवाले में **एकम्**=एक को, अर्थात् भक्ति की भावना को **स्वधया**=उस अन्न के सेवन से जोकि यज्ञों में विनियुक्त होकर यज्ञशेष के रूप में सेवन किया जा रहा है **निष्टतक्षुः**=नितरां निर्मित करते हैं। अभिप्राय यह है कि भक्ति की भावना तब विकसित होती है। (क) जब हृदय में प्रभु-प्राप्ति की प्रबल कामना हो और (ख) स्वधा का सेवन हो। उस अन्न का ही प्रयोग किया जाए जो यज्ञों में विनियुक्त होकर अब यज्ञशेष के रूप में हमारे पास है। यही यज्ञशेष अमृत है। इस अमृत के सेवन करनेवाले देव ही प्रभु को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—हम 'इन्द्र' बनकर ज्ञान का सम्पादन करें, सूर्य-शिष्य बनकर कर्मठ बनें

तथा वेन बनकर स्वधा का सेवन करते हुए भक्ति की भावना को जागरित करें। यही प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है। इसपर चलते हुए ही हम प्रभु का आलिङ्गन करनेवाले बनें।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—यज्ञपुरुषः। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

हिरण्यय वेतस

एताऽअर्षन्ति हृद्यात्समुद्राच्छतव्रजा रिपुणा नावचक्षे।
घृतस्य धाराऽअभिचाकशीमि हिरण्ययो वेतसो मध्यऽआसाम्॥९३॥

१. **एताः**=ये ज्ञान की धाराएँ **हृद्यात्**=हृदयदेश में निवास करनेवाले **समुद्रात्**=(स-मुद्) उस आनन्दमय प्रभु से **अर्षन्ति**=(उद् गच्छन्ति, rush out) उद्गत होती हैं। जिस समय गत मन्त्र की भावना के अनुसार हम प्रभु का आलिङ्गन कर पाते हैं उस समय इस हृदय में आविर्भूत आनन्दमय प्रभु से हमारे अन्दर ज्ञान का प्रकाश होता है। २. यह ज्ञान का प्रकाश **शतव्रजा**=(शतेन व्रजति) सैकड़ों मार्गों से जानेवाले, अर्थात् सैकड़ों शक्लों में हममें प्रकट होनेवाले **रिपुणा**=काम-क्रोधरूप शत्रु से **नावचक्षे**=(न अपवदितुं शक्यः) नष्ट नहीं किया जा सकता। जब तक ज्ञान क्षीण-सा होता है तब तक काम उसे समाप्त कर देता है, परन्तु ज्योंही ज्ञान प्रबल हुआ, तब यह काम, क्रोधरूपी शत्रुओं को नष्ट कर डालता है। ज्ञानबिन्दु कामाग्नि में भस्मीभूत कर दिया जाता है और ज्ञान-जलधारा कामाग्नि को बुझा देती है। ३.इस कामाग्नि के बुझ जाने पर **घृतस्य धाराः**=ज्ञान की धाराओं को **अभिचाकशीमि**=मैं अपने सब ओर देखता हूँ— मेरे हृदय में ज्ञान-ही-ज्ञान होता है। ४. **आसाम् मध्ये**=इन ज्ञान की धाराओं के बीच में वह **हिरण्ययः**=ज्योतिर्मय **वेतसः**=(कमनीयः—द०) अति सुन्दर प्रभु हैं। इन ज्ञान-वाणियों में प्रभु का प्रतिपादन है, जिसे कामाग्नि को शान्त करनेवाला ज्ञानी ही समझ पाता है। ५. प्रभु को 'हिरण्यय वेतस्' के रूप में देखनेवाला यह ऋषि स्वयं 'वामदेव' बनता है। प्रभु 'वाम' हैं, 'देव' हैं दिव्य गुण-सम्पन्न हैं। उनका उपासक भी वैसा ही होकर 'वामदेव' हो जाता है।

भावार्थ—१. हृदयस्थ प्रभु से ज्ञान की धाराएँ उद्गत होती हैं। २. ये कामाग्नि से बुझाई नहीं जा सकतीं। ३. कामाग्नि की शान्ति से ज्ञान की धाराएँ चारों ओर प्रवाहित होती हैं। ४. इन ज्ञान-धाराओं के मध्य में वह कान्त, ज्योतिर्मय रह रहा है, इनसे उस प्रभु का ज्ञान हो जाता है।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—यज्ञपुरुषः। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

ज्ञान व वासना विनाश

सम्यक् स्त्रवन्ति सरितो न धेनाऽअन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः।
एतेऽअर्षन्त्यूर्मयो घृतस्य मृगाऽइव क्षिपणोरीषमाणाः॥९४॥

१. **अन्तर्हृदा**=हृदय के अन्दर से **मनसा पूयमानाः**=मन से पवित्र की जाती हुई **धेनाः**=ज्ञान की वाणियाँ **सरितः न**=नदियों के समान **सम्यक् स्त्रवन्ति**=उत्तमता से प्रवाहित होती हैं। जब हृदय निर्मल होता है तब प्रभु के प्रकाश में यह जगमगा उठता है। विचार के द्वारा ये वाणियाँ हमारे जीवन को पवित्र करनेवाली होती हैं। २. **एते**=ये **घृतस्य**=ज्ञान की **ऊर्मयः**=तरंगे **अर्षन्ति**=उद्गत होती हैं और **क्षिपणोः**=व्याध से **मृगाः इव**=मृगों के समान **ईषमाणाः**=सब बुराइयाँ इस ज्ञानी से दूर भागनेवाली होती हैं। ज्ञान का परिणाम

वासनादहन ही तो है। ज्ञान हुआ और वासना गई।

भावार्थ—हमारे हृदय में ज्ञान की वाणियाँ नदियों के समान प्रवाहित हों। ये मनन द्वारा हमें पवित्र बनानेवाली हों। व्याध से मृगों के समान वासनाएँ हमसे भयभीत होकर दूर भाग जाएँ।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—यज्ञपुरुषः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

अरुषो न वाजी

सिन्धोरिव प्राध्वने शूघनासो वातप्रमियः पतयन्ति यह्वाः।
घृतस्य धाराऽअरुषो न वाजी काष्ठा भिन्दन्नूर्मिभिः पिन्वमानः ॥९५॥

१. **यह्वाः**=महान् **घृतस्य धाराः**=ज्ञान की धाराएँ इस प्रकार मेरे हृदय में **पतयन्ति**=गति करती हैं **इव**=जैसे **सिन्धोः**=समुद्र की **वातप्रमियः**=(वातेन प्रमीयन्ते कश्यन्ति) वायु से छिन्न-भिन्न की जानेवाली **शूघनासः**=शीघ्र गमनवाली (शु क्षिप्रं घनं गमनं येषां, हन्=गति) लहरें **प्राध्वने**=(प्रगतोऽध्वनः=प्राध्वनो विषमप्रदेशः) विषम-प्रदेश में गिरती हैं। ज्ञान की धाराएँ मेरे हृदय-समुद्र को निरन्तर तरंगित करनेवाली होती हैं। २. **अरुषः न**=यह ज्ञानी पुरुष (न रुषः अरोषणः) जाति आदि से उत्कृष्ट अरोषण घोड़े की भाँति होता है। उस घोड़े की भाँति यह भी **वाजी**=शक्तिशाली होता है। ३. **काष्ठाः भिन्दन्**=(काष्ठा=आज्यन्त) संग्राम-प्रदेशों का यह विदारण करनेवाला होता है, अर्थात् संग्राम में शत्रुओं का विदारण करके यह अवश्य विजयशील बनता है। ४. इस प्रकार अध्यात्म-संग्राम में विजय प्राप्त करके यह **ऊर्मिभिः पिन्वमानः**=ज्ञान की लहरों से प्रजाओं को सींचता हुआ गति करता है। इसकी जीवन-यात्रा का क्रम यह होता है—यह (क) हृदय-शोधन से ज्ञान प्राप्त करता है। (ख) अरोषण-क्रोधशून्य व शक्तिशाली होता है। (ग) इन्द्रिय-संग्राम में इन्द्रियों को विषयों से बचाता है। (घ) और अपने ज्ञान-जल से औरों को भी सींचता है।

भावार्थ—हम ज्ञानी बनकर अध्यात्म-संग्राम में विजय प्राप्त करें, दूसरों को भी ज्ञान प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—यज्ञपुरुषः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्ः। **स्वरः**—धैवतः॥

ज्ञानी-क्रियाशील

अभिप्रवन्त समनेव योषाः कल्याण्यः स्मयमानासोऽअग्निम्।
घृतस्य धाराः समिधो नसन्त ता जुषाणो हर्यति जातवेदाः ॥९६॥

१. **घृतस्य धाराः**=ज्ञान की वाणियाँ (क) **समनेव योषाः**=समान मनवाली स्त्रियों के समान हैं। जैसे पत्नी यज्ञार्थ पुरुष के साथ सङ्गत होकर उसे अशुभ से निवृत्त करती और शुभ में लगाती है, इसी प्रकार ये ज्ञान की वाणी भी 'अग्नि' के लिए योषा बनती है। यह इसको अशुभ से अमिश्रण करती तथा शुभ के साथ मिश्रण करती है। (ख) **कल्याण्यः**=पाप से पृथक् व पुण्य से सङ्गत करके ये कल्याण करनेवाली हैं। (ग) **स्मयमानासः**=ये हमें सदा विकसित पुण्य की भाँति प्रसन्न करनेवाली हैं। (घ) **समिधः**=ये अग्नि=जीव को ज्ञान-दीप्त करनेवाली है। (इन्ध्=दीप्तौ) २. **नसन्त**=(नस हरणे) ये ज्ञान की धाराएँ सब मलिनताओं का हरण करती हैं और इस अग्नि के जीवन को दीप्त कर देती हैं। ३. **ताः जुषाणः**=इन ज्ञान-वाणियों का प्रेमपूर्वक सेवन करता हुआ यह **जातवेदाः**=उत्पन्न विज्ञानवाला अग्नि **हर्यति**=(हर्य गतौ) गतिशील होता है। ज्ञानी बनकर कर्मनिष्ठ होता है।

उपनिषद् के शब्दों में **'क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः'** यह ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ पुरुष क्रियावाला बनता है। ज्ञान उसे अधिक क्रियाशील बनानेवाला होता है।

भावार्थ—अग्नि को वे ज्ञान की वाणियाँ प्राप्त होती हैं जो उसका हित चाहती हुई उसे अशुभ से पृथक् और शुभ से संयुक्त करती हैं। उसका कल्याण करती हुई उसके मन:प्रसाद का कारण बनती हैं। उसे ज्ञान-दीप्त करके क्रियाशील बनाती हैं।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—यज्ञपुरुषः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

सोमाभिषव-व यज्ञ (ज्ञानोत्पादन व रक्षण)

कन्या॑ऽइव वह॒तुमेत॒वाऽउ॑ऽअ॒ञ्ज्य॒ञ्जा॒नाऽअ॒भि चा॑कशीमि।
यत्र॒ सोम॑ः सू॒यते॒ यत्र॑ य॒ज्ञो घृ॒तस्य॒ धारा॒ऽअ॒भि तत्प॑वन्ते॥९७॥

१. जैसे **कन्याः**=कुमारियाँ **अञ्जि**=अपने कमनीय रूप को **अञ्जानाः**=प्रकट करती हुई **वहतुम्**=पति को **उ एतवै**=निश्चय से प्राप्त होने के लिए होती हैं, इसी प्रकार ये ज्ञान की वाणियाँ भी अपने प्रकाशमय रूप को प्रकट करती हुई मेरी ओर आती हैं और **अभिचाकशीमि**=मैं इन्हें अपने चारों ओर देखता हूँ। मैं सदा इन ज्ञान की वाणियों से ही घिरा होता हूँ। २. ये **घृतस्य धाराः**=ज्ञान की वाणियाँ **तत् अभि**=उस व्यक्ति की ओर **पवन्ते**=गतिवाली होती हैं **यत्र**=जिस व्यक्ति के जीवन में **सोमः सूयते**=सोम का=वीर्य शक्ति का अभिषव किया जाता है, अर्थात् जो सात्त्विक आहार के सेवन से अपने में सोम का उत्पादन करता है और **यत्र यज्ञः**=जिसके जीवन में यज्ञात्मक कर्मों का प्रचलन होता है। एवं, ज्ञान की वाणियों की प्राप्ति के लिए सोम का उत्पादन व यज्ञमय-जीवन का होना आवश्यक है। सोम की सुरक्षा न होने पर बुद्धिमान्द्य से ज्ञान-प्राप्ति सम्भव ही नहीं है और यज्ञों के अभाव में लोभ की वृद्धि होकर उत्पन्न ज्ञान भी नष्ट हो जाता है।

भावार्थ—१. मैं अपने चारों ओर उस ज्ञान को देखूँ जो मुझमें विद्यमान सब शत्रुओं का विनाश करनेवाला बनता है। २. इस ज्ञान के उत्पादन के लिए मैं सोम की रक्षा करूँ, और ३. उत्पन्न ज्ञान की रक्षा के लिए यज्ञात्मक जीवनवाला होऊँ।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—यज्ञपुरुषः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

गव्य आजि

अ॒भ्य॑र्षत सुष्टु॒तिं गव्य॑मा॒जिम॒स्मासु॑ भ॒द्रा द्रवि॑णानि धत्त।
इ॒मं य॒ज्ञं न॑यत दे॒वता॑ नो घृ॒तस्य॒ धारा॒ मधु॑मत्पवन्ते॥९८॥

१. **सुष्टुतिं अभि अर्षत**=तुम उत्तम स्तुति को प्राप्त करनेवाले बनो। प्रभु की उत्तम स्तुति वही है जो श्रव्य न होकर दृश्य है, जिसमें मनुष्य प्राणियों के हित में तत्पर रहता है। २. **गव्यम् आजिम्**=गो-सम्बन्धी संग्राम को प्राप्त होओ। 'गाव इन्द्रियाणि' इन्द्रियों के संग्राम से अभिप्राय यह है कि ये प्रमाथी इन्द्रियाँ सहसा हमारे मनों का हरण करनेवाली होती हैं। हम इन्हें जीतकर मन को स्वायत्त कर सकें। 'मन को इन्द्रियाँ हर ले-जाती हैं' तो हमारा पराजय हो जाता है। हम मन को स्वाधीन कर पाते हैं, तो इन्द्रियों का पराजय व हमारा विजय होता है। ३. **अस्मासु**=हममें स्थित हुए-हुए तुम **भद्रा द्रविणानि**=शुभ धनों को, सुपथ से कमाये गये द्रविणों को धारण कराओ। प्रभु के भूल जाने पर हम अन्याय मार्गों से धनार्जन प्रारम्भ करते हैं। ४. **देवताः**=हे विद्वानो! **नः**=सृष्टि के प्रारम्भ में हमारे जन्म के

साथ ही उत्पन्न किये गये इस **यज्ञम्**=यज्ञ को **नयत**=सारे जीवन में प्रणीत करनेवाले बनो। यह यज्ञ तुम्हारे जीवन में से कभी विच्छिन्न न हो जाए। ५. ऐसा करने पर **घृतस्य धाराः**=ये ज्ञान की वाणियाँ, जो **मधुमत्**=अत्यन्त माधुर्यवाली हैं, वे **पवन्ते**=तुम्हें प्राप्त होती हैं। संक्षेप में तुम्हें ज्ञान प्राप्त होता है और तुम्हारा जीवन माधुर्यवाला होता है।

भावार्थ—हम स्तुति करें, इन्द्रिय-संग्राम को जीतें, सुपथ से धनार्जन करें, यज्ञशील हों, माधुर्यमयी ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करें।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—यज्ञपुरुषः। **छन्दः**—स्वराडार्षीत्रिष्टुप्ः। **स्वरः**—धैवतः॥

प्रभु के धाम में

धाम॑न्ते विश्वं॒ भुव॑न॒मधि॑ श्रि॒तम॒न्तः स॑मु॒द्रे हृ॒द्य॒न्तरायु॑षि।
अ॒पामनी॑के समि॒थे यऽआभृ॑त॒स्तम॑श्याम॒ मधु॑मन्तं त॒ऽऊर्मिम्॥९९॥

१. हे प्रभो! **ते धामन्**=आपके तेज में **विश्वं भुवनम्**=यह सारा ब्रह्माण्ड **अधि श्रितम्**=अधिश्रित है। वस्तुतः प्रभु ही सर्वाधार हैं। २. प्रभु वे हैं **यः**=जो **आभृतः**=धारण किये जाते हैं। कहाँ? (क) **समुद्रे हृदि अन्तः**=(स+मुद्) प्रसन्नतापूर्ण हृदय के अन्दर। (ख) **आयुषि अन्तः**=(एति इति आयुः) क्रियाशील जीवनवाले व्यक्ति के अन्दर। (ग) **अपाम्**=कर्मों के **अनीके**=बल में। क्रियाशीलता के द्वारा उत्पन्न होनेवाली शक्ति से युक्त पुरुष में। जो भी क्रियाशील होगा वह शक्तिशाली बनेगा और शक्ति-सम्पादन करके वह प्रभु का प्रिय बनेगा। (घ) **समिथे**=संग्राम में। वे प्रभु के अन्दर निवास करते हैं जो इन्द्रियों के साथ संग्राम करके जितेन्द्रिय बनते हैं। एवं, प्रभु की प्राप्ति के लिए 'मानस-प्रसाद, क्रियाशीलता, शक्ति-सम्पादन व जितेन्द्रियता' प्रमुख साधन हैं। ३. **तम्**=उस प्रभु को हम **अश्याम**=प्राप्त करें। वस्तुतः मानव-जीवन का लक्ष्य प्रभु-प्राप्ति ही होना चाहिए। मनुष्य योनि के अतिरिक्त किसी और योनि में हम प्रभु को प्राप्त कर ही नहीं सकते। ४. इस प्रभु को प्राप्त करनेवाला यह व्यक्ति 'वामदेव'=सुन्दर दिव्य गुणोंवाला होता है। यह 'यज्ञ-पुरुष' भी कहलाता है, क्योंकि यह वह पुरुष बना है, जिसने प्रभु के साथ यज=सङ्गतीकरण किया है। ५. उस प्रभु के साथ मेल करके वामदेव कहता है कि मैं **ते**=तेरी **मधुमन्तम्**=अत्यन्त माधुर्यपूर्ण **ऊर्मिम्**=ज्ञान तरङ्ग को प्राप्त करूँ। प्रभु को प्राप्त करने पर प्रभु का प्रकाश तो अन्दर प्रवाहित होगा ही।

भावार्थ—१. सारे ब्रह्माण्ड का आधार जो प्रभु है वह प्रसन्न हृदय में, क्रियाशील जीवन में, कर्मों की शक्ति में तथा वासनाओं से किये जानेवाले संग्राम में विजेता में निवास करता है। २. उस प्रभु का निवास-स्थान बनकर मैं ज्ञान की माधुर्यमयी तरङ्गोंवाला बन पाऊँ।

एवं, यह सत्रहवाँ अध्याय 'प्रभु को धारण करने की भावना' पर समाप्त होता है। इस प्रभु को धारण कर लेने पर मैं सब अच्छी बातों को धारण करनेवाला बनता हूँ। क्या सांसारिक उत्तम वस्तुएँ क्या अन्न, फल, धन आदि, क्या भौतिक शरीर से सम्बद्ध शक्ति आदि, मानस सम्बद्ध संकल्पादि और बुद्धि के ज्ञानादि इन सबको मैं प्राप्त करनेवाला बनता हूँ। 'प्रभु को प्राप्त कर लेने पर मैं सारे ब्रह्माण्ड को ही पा लेता हूँ', बस, यही वर्णन अठारहवें अध्याय में विस्तार से प्रारम्भ होता है।

॥ इति सप्तदशोऽध्यायः सम्पूर्णः॥

नमस्ते जी

ऋषि दयानंद द्वारा प्रचारित वैदिक विचारधारा ने सैकड़ो हृदय को क्रन्तिकारी विचारो से भर दिया | जो वेद उस काल में विचारो से भी भुला दिए गए थे | ऋषि दयानंद ने उन हृदयों को वेदों के विचारो से ओतप्रोत कर दिया और देश में वेद गंगा बहने लगी | ऋषि के अपने अल्प कार्य काल में समाज की आध्यात्मिक, सामाजिक, और व्यक्तिगत विचार धारा को बदल के रख दिया | ऋषि के बाद भी कही वर्षो तक यह परिपाटी चली पर यह वैचारिक परिवर्तन पुनः उसी विकृति की और लौट रहा है | और इसी विकृति को रोकने के लिए वैदिक विद्वान प्रो० राजेंद्र जी जिज्ञासु के सानिध्य में "पंडित लेखराम वैदिक मिशन" संस्था का जन्म हुआ है | इस संस्था का मुख्य उद्देश्य वेदों को समाज रूपी शरीर के रक्त धमनियों में रक्त के समान स्थापित करना है | यह कार्य ऋषि के जीवन का मुख्य उद्देश्य था और यही इस संस्था का भी मुख्य उद्देश्य है | संस्था के अन्य उद्देश्यों में सम्लित है साहित्य का सृजन करना | जो दुर्लभ आर्य साहित्य नष्ट होने की और अग्रसर है उस साहित्य को नष्ट होने से बचाना और उस साहित्य को क्रम बद्व तरीके से हमारे भाई और बहनों के समक्ष प्रस्तुत करना जिससे उनकी स्वाध्याय में रूचि बढ़े और वे तुलनात्मक अध्यन कर सकें जिससे उनकी स्वधर्म में रूचि बढ़े और अन्य मत मतान्तरो की जानकारी उन्हें प्राप्त हो और वे विधर्मियो द्वारा लगाये जा रहे विभिन्न आक्षेपों का उत्तर दे सकें विधर्मियो से स्वयं भी बचें और अन्यो की भी सहयता करें | संस्था का उद्देश्य है समाज के समक्ष हमारे गौरव शाली इतिहास को प्रस्तुत करना जिससे हमारा रक्त जो ठंडा हो गया है वह पुनः गर्म हो सके और हम हमारे इतिहास पुरषों का मान सम्मान करें और उनके बताये गये नीतिगत मार्ग पर चलें | संस्था का अन्य उद्देश्य गौ पालन और गौ सेवा को बढ़ावा देना जिससे पशुओ के प्रति प्रेम, दया का भाव बढ़े और इन पशुओ की हत्या बंद हो, समाज में हो रहे परमात्मा के नाम पर पाखण्ड, अन्धविश्वास, अत्याचार को जड़ से नष्ट करना और परमात्मा के शुद्ध वैदिक स्वरुप को समाज के समक्ष रखना, हमारे युवा शक्ति को अनेक भोग, विबिन्न व्यसनों, छल, कपट इत्यादि से बचाना |

इन कार्यो को हम अकेले पूरा करने का सामर्थ्य नहीं रखते पर, यह सारे कार्य है तो बड़े विशाल और व्यापक पर अगर संस्था को आप का साथ मिला तो बड़ी सरलता से पूर्ण किये जा सकते है | हमारा समाजिक ढाचा ऐसा है की हम प्रत्येक कार्य की लिए एक दुसरे पर निर्भर है | आशा करते है की इस कार्य में आप हमारी तन, मन से साहयता करेंगे | संस्था द्वारा चलाई जा रही वेबसाइट www.aryamantavya.in और www.vedickranti.in पर आप संस्था द्वारा स्थापित संकल्पों सम्बन्धी लेख पड़ सकते है और भिन्न-भिन्न वैदिक साहित्य को निशुल्क डाउनलोड कर सकते है | कृपया स्वयं भी जाये और अन्यो को भी सूचित करे यही आप की हवी होंगी इस यज्ञ में जो आप अवश्य करेंगे यही परमात्मा से प्रार्थना करते है |

जिन सज्जनों के पास दुर्लभ आर्य साहित्य है एवं वे उसे संरक्षित करने में संस्था की सहायता करना चाहते हैं वो कृपया निम्न पते पर सूचित करें

ptlekhram@gmail.com

धन्यवाद !

पंडित लेखराम वैदिक मिशन

आर्य मंतव्य टीम

AryaMantavya
Make The Whole World Noble

॥ ओ३म् ॥

यजुर्वेदभाष्यम्

द्वितीय भाग

पं० हरिशरण सिद्धान्तालङ्कार

प्रकाशक :

श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास

२ यजुर्वेदभाष्यम् पं० हरिशरण सिद्धान्तालङ्कार

ओ३म्

यजुर्वेदभाष्यम्

(द्वितीयो भागः)

पं० हरिशरण सिद्धान्तालङ्कार

सम्पादक :
परमहंस स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

प्रकाशक :
श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास
हिण्डौन सिटी (राज०) ३२२२३०

प्रकाशक : **श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास**
ब्यानिया पाड़ा, हिण्डौन सिटी, (राज०)-३२२ २३०
दूरभाष : ०९३५२६-७०४४८, ०७४६९-२३४६२४,
चलभाष : ०-९४१४०-३४०७२

संस्करण : सन् २००७

मूल्य : ५००.०० रुपये (दोनों भाग)

प्राप्ति-स्थान :
१. **हरिकिशन ओम्प्रकाश,** ३९९, गली मन्दिरवाली, नया बाँस, दिल्ली-६, दूरभाष : ०११-२३९५८८६४
२. **गणेशदास-गरिमा गोयल,** २७०४, प्रेम-मणि निवास, नया बाजार, दिल्ली-६, दूरभाष : ०११-५५३७९०७०
३. **श्री विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द**
४४०८, नई सड़क, दिल्ली-६ दूरभाष : ०११-२३९७७२१६
४. **श्री वैदिकानन्दजी**
श्री स्वामी दयानन्द ब्रह्मज्ञान आश्रम न्यास (पंजीकृत)
वैदिक सदन, भँवरकुँआ, इन्दौर (म०प्र०)-४५२ ०१७
दूरभाष : ०७३१-२३६७२००

मुद्रक : **राधा प्रेस,** कैलाशनगर, दिल्ली-११० ०३१

वेदनिधि के सहयोगी

स्वामी श्री जगदीश्वरानन्द
सरस्वती, नई दिल्ली

आचार्य श्री आनन्द पुरुषार्थी
होशंगाबाद (म०प्र०)

श्री हरिश्चन्द्र साहित्यानी
दाहोद, (गुजरात)

प्रिय गीतेश, आपकी स्मृति में–
श्री गणेशदास गरिमा गोयल

श्री उपेन्द्रनाथ चतुर्वेदी
आगरा (उ०प्र०)

श्रद्धेय पतिदेव डॉ० बी०एल० मित्तल
आपकी स्मृति में, प्रतिभा मित्तल

मित्रावसु
[illegible] दिल्ली

श्रीमती मृदुला गुप्ता
[illegible]
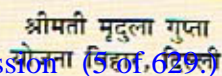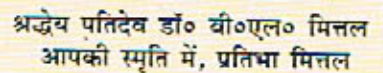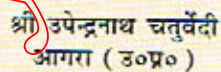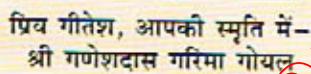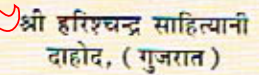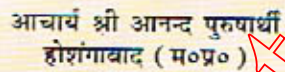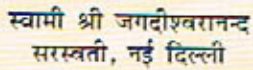
अष्टादशोऽध्यायः

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**शक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

वाजः—स्वः

वाजश्च मे प्रसवश्च मे प्रयतिश्च मे प्रसितिश्च मे धीतिश्च मे क्रतुश्च मे स्वरश्च मे श्लोकश्च मे श्रवश्च मे श्रुतिश्च मे ज्योतिश्च मे स्वश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥१॥

१. पिछले अध्याय की समाप्ति के मन्त्रों का देवता 'यज्ञपुरुष'—यज्ञशील पुरुष था। यह प्रस्तुत मन्त्रों में यज्ञ के द्वारा पदार्थ की सम्पन्नता के लिए प्रार्थना करता है और कहता है कि **वाजश्च मे**=शक्ति मुझे यज्ञ के द्वारा प्राप्त हो। शक्ति के साथ **प्रसवश्च मे**=(सु=ऐश्वर्य) ऐश्वर्य भी मुझे प्राप्त हो। केवल ऐश्वर्य कुबेर के पास है और शक्ति 'यमराज' के पास है। मैं अपने में शक्ति व ऐश्वर्य का समन्वय कर पाऊँ। २. (क) इस ऐश्वर्य को कमाने के लिए **प्रयतिश्च मे**=मुझमें प्रकृष्ट पुरुषार्थ हो, यह पुरुषार्थ मुझे शक्ति-सम्पन्न करेगा। मैं पुरुषार्थ से ही धन कमाऊँ, जुए की ओर मेरा झुकाव न हो। **'अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व**='पासों से न खेल, खेती कर'। 'प्रबन्ध' सातत्यवाला हो, यह वेद का उपदेश मुझे स्मरण रहे। **प्रसितिश्च मे**=(षिञ् बन्धने) मेरा यह प्रयत्न निरन्तर चलता जाए। मैं प्रयत्न में शैथिल्य न आने दूँ। (ख) इस मन्त्रभाग का अर्थ यह भी कर सकते हैं कि ऐश्वर्य व शक्ति होने पर मैं कहीं विलास व आराम के मार्ग पर न चला जाऊँ। मेरा जीवन **प्रयतिः**=प्रकृष्ट संयमवाला हो और उस संयम में **प्रसितिः**=मैं अपने को उत्तम व्रतों के बन्धनों में बाँधकर चलूँ। ३. इन्हीं नियमों में न फँस जाने के उद्देश्य से ही **धीतिश्च मे**=मुझमें प्रभु-सम्पर्क द्वारा (यज्ञ द्वारा) ध्यान की वृद्धि हो तथा **क्रतुश्च मे**=मुझमें ज्ञान की वृद्धि हो। मेरा जीवन ध्यानमय और ज्ञानमय हो। ४. ध्यान व ज्ञान के द्वारा **स्वरश्च मे**=(स्वयं राजते इति स्वरः, स्व+राज्+ड) मुझमें स्वयं राजमानता हो, अर्थात् मैं इन्द्रियों के वशीभूत होकर जीवन न बिताऊँ, और **श्लोकश्च मे**=मुझे यश-ही-यश प्राप्त हो, इन्द्रियों का दास बनकर ही मैं अपयश का भागी होता हूँ। ५. **श्रवश्च मे**=मुझमें श्रवण का सामर्थ्य हो और उस श्रवण-सामर्थ्य से ज्ञान को बढ़ाते हुए **श्रुतिश्च मे**=मैं वेद को अपना बना पाऊँ। यह ज्ञान ही तो मेरे 'स्वर' बनने में व स्वर बनकर यशस्वी बनाने में सहायक होगा। ६. इस वेदज्ञान को अपनाने से **ज्योतिश्च मे**=मुझे प्रकाश प्राप्त होगा और उस प्रकाश में मार्ग-भ्रष्ट न होने से **स्वश्च मे**=मुझे सुख प्राप्त हो अथवा मैं उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति परमात्मा को पानेवाला बनूँगा।

भावार्थ—यज्ञेन=प्रभु-सम्पर्क द्वारा यज्ञ **मे**=मेरे लिए **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हों।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**प्रजापतिः**। छन्दः—**अतिजगती**। स्वरः—**निषादः**॥

प्राणः—बलम्

प्राणश्च मेऽपानश्च मे व्यानश्च मेऽसुश्च मे चित्तं च मऽआधीतं च मे वाक् च मे मनश्च मे चक्षुश्च मे श्रोत्रं च मे दक्षश्च मे बलं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥२॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति 'स्वः'=सुख पर हुई है। उस सुख के लिए सब इन्द्रियों व शरीर का ठीक होना आवश्यक है। सुख का अर्थ ही सु+ख=इन्द्रियों का उत्तम होना है, अतः इन्द्रियों की उत्तमता व स्वास्थ्य के लिए प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि **प्राणश्च मे**=मेरी प्राणशक्ति **यज्ञेन**=यज्ञ से **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हो तथा **अपानःच मे**=मेरी अपानशक्ति भी यज्ञ द्वारा सामर्थ्ययुक्त हो। प्राण मुझे सबल बनाएगा तो अपान मेरे दोषों को दूर करेगा। २. **व्यानश्च मे**=मेरा सर्वशरीरचारी व्यानवायु यज्ञ द्वारा सम्पन्न हो और मुझे सारे नाड़ी-संस्थान का स्वास्थ्य देनेवाला हो। **असुःच मे**=मेरे 'नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त व धनञ्जय' आदि विविध प्रवृत्तियों के कारणभूत मरुत् भी शक्तिसम्पन्न हों। इनके ठीक होने से मेरी सब चेष्टाएँ मपी-तुली हों। ३. **चित्तं च मे**=मेरा मानससंकल्प यज्ञ द्वारा सम्पन्न हो और उसके ठीक होने से **आधीतं च मे**=मेरा बाह्यविषयज्ञान भी ठीक हो, अर्थात् असु के ठीक होने से मेरी अन्तर व बाह्य सभी क्रियाएँ ठीक होंगी। ४. **वाक् च मे**=मेरी वाणी की शक्ति ठीक हो और **मनश्च मे**=मेरी मानसशक्ति बिलकुल ठीक हो। वाणी यहाँ सभी कर्मेन्द्रियों की प्रतीक है। मेरी सारी कर्मेन्द्रियाँ ठीक से कार्य करें। ५. कर्मेन्द्रियों के साथ **चक्षुश्च मे श्रोत्रं च मे**=मेरी देखने तथा सुनने की शक्ति ठीक हो। मेरी सब ज्ञानेन्द्रियाँ ठीक काम करें। मैं इस जीवन में 'बहुद्रष्ट व बहुश्रुत' बन पाऊँ। ६. इस दर्शन व श्रवण से **दक्षश्च मे**=मुझे कार्य करने में दक्षता व चतुरता प्राप्त हो। मैं सब कार्यों को कुशलता से करनेवाला बनूँ **बलम् च मे**=मैं शक्तिसम्पन्न बनूँ। यह दक्षता व बल मुझे विजयी बनाएँ। ७. मेरी ये सब वस्तुएँ **यज्ञेन**=प्रभु-सम्पर्क द्वारा **कल्पन्ताम्**=सामर्थ्ययुक्त हों।

भावार्थ—मैं प्राण से लेकर बल तक सब वस्तुओं को यज्ञ से सम्पन्न करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**प्रजापतिः**। छन्दः—**स्वराडतिशक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

ओजः—जरा

ओज॑श्च मे॒ सह॑श्च म॒ऽआ॒त्मा च॑ मे त॒नूश्च॑ मे॒ शर्म॑ च मे॒ वर्म॑ च॒ मेऽङ्गा॑नि च॒ मेऽस्थी॑नि च मे॒ परू॑ᳬषि च मे॒ शरी॑राणि च म॒ऽआयु॑श्च मे ज॒रा च॑ मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम् ॥३॥

१. पिछला मन्त्र 'बल' पर समाप्त किया था। उसी बल का विस्तार प्रस्तुत मन्त्र में करते हैं। **ओजः च मे**=मेरा ओज=(ओज to increase) सब प्रकार की वृद्धि की कारणभूत शक्ति यज्ञ के द्वारा **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हो तथा **सहश्च मे**=मुझमें सहनशक्ति हो। प्रकृति का ठीक प्रयोग करता हुआ मैं ओजस्वी बनूँ। ओजस्वी बनकर भौतिक व्याधियों को जीत पाऊँ तथा जीवों के साथ बर्ताव के लिए मुझमें सहनशक्ति हो। २. **आत्मा च मे तनूः च मे**=मैं आत्मा की शक्ति का वर्धन करूँ तथा शरीर की शक्ति का भी विकास करूँ। ऐहिक व आमुष्मिक सुख के लिए दोनों का समन्वय आवश्यक है। ३. **शर्म च मे वर्म च मे**=ज्ञान के द्वारा प्राप्त होनेवाला तथा वासनाओं की क्षीणता से प्राप्त होनेवाला सुख मुझे प्राप्त हो, जिससे मैं रोगरूप शत्रुओं के आक्रमण से बच पाऊँ। शर्मा बनूँ—वर्मा बनूँ= ब्राह्मशक्ति का विस्तार करूँ और क्षात्रशक्ति को बढ़ानेवाला बनूँ। इन शक्तियों के बढ़ाने पर **अङ्गानि च मे, अस्थीनि च मे**=मेरे हाथ आदि अवयव तथा सब अस्थियाँ यज्ञ द्वारा शक्तिसम्पन्न बनें। ५. **परूँषि च मे**=मेरी अंगुलियाँ आदि सब पर्व यज्ञ द्वारा शक्तिसम्पन्न हों तथा **शरीराणि च मे**=मेरे स्थूल, सूक्ष्म व कारण—सभी शरीर ठीक हों, ६. **आयुः च मे**= मेरा सारा जीवन यज्ञ से शक्तिसम्पन्न बने और **जरा च मे**=मेरी वृद्धावस्था भी यज्ञ से शक्तिसम्पन्न बने,

अर्थात् वृद्धावस्था में भी मैं युवक की भाँति शक्तिसम्पन्न होकर कार्य करता रहूँ।

भावार्थ—मैं ओजस्वी बनूँ वृद्धावस्था तक युवक के समान शक्तिसम्पन्न बना रहूँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**प्रजापतिः**। छन्दः—**निचृदत्यष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**॥

ज्यैष्ठ्य+वृद्धि

ज्यैष्ठ्यं च मऽआधिपत्यं च मे मन्युश्च मे भामश्च मेऽमश्च मेऽम्भश्च मे जेमा च मे महिमा च मे वरिमा च मे प्रथिमा च मे वर्षिमा च मे द्राघिमा च मे वृद्धं च मे वृद्धिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जीवन को सशक्त बनाकर **ज्यैष्ठ्यं च मे**=मैं ज्येष्ठत्व का सम्पादन करनेवाला बनूँ और इसी ज्येष्ठता-सम्पादन के लिए **आधिपत्यं च मे**=मेरा आधिपत्य सम्पन्न हो, अर्थात् मैं इन्द्रियों, मन व बुद्धि का अधिपति बनूँ। २. इस आधिपत्य से **मन्युः च मे**=मेरा ज्ञान सशक्त हो तथा **भामः च मे**=तेजस्विता (Brightness, Lustre, Splendour) मुझे प्राप्त हो। ३. **अमः च मे**=मेरी प्राणशक्ति बल-सम्पन्न हो और **अम्भः च मे**=(तुष्टिः) मुझमें आत्मसन्तोष विकसित हो, अथवा सफलता (Fruitfulness) मेरी संगिनी बने। ४. **जेमा च मे**=मैं सदा विजयी बनूँ, जय-सामर्थ्य-सम्पन्न बनूँ और **महिमा च मे**=महत्त्व को प्राप्त करूँ। ५. **वरिमा च मे**=(उरोर्भावः)=प्रजादि से मैं विशाल बनूँ। **प्रथिमा च मे**=(पृथोर्भावः) मेरे गृह-क्षेत्रादि का भी विस्तार हो। ६. **वर्षिमा च मे**=(वृद्धस्य भावः) मुझे दीर्घ जीवन प्राप्त हो और **द्राघिमा च मे**=(दीर्घस्य भावः) मैं अविच्छिन्न वंशवाला, प्रजाओं से दीर्घकाल तक चलनेवाला होऊँ। ७. **वृद्धं च मे**=मुझे प्रभूत अन्न-धनादि प्राप्त हो और **वृद्धिः च मे कल्पन्ताम्**=विद्यादि गुणों से मेरा उत्कर्ष **यज्ञेन**=यज्ञ से, प्रभु के साथ मेल करने से सम्पन्न हो।

भावार्थ—मैं जीवन में ज्येष्ठता का सम्पादन करूँ। ज्ञानी व तेजस्वी बनूँ। प्राणशक्ति-सम्पन्न व आत्मसन्तोषवाला होऊँ। विजय व महत्त्व को प्राप्त करूँ, परिवार व सम्पत्ति से बढ़ूँ, दीर्घ जीवन व वंश-विस्तारवाला होऊँ। धन, विद्यादि गुणों से उत्कृष्ट बनूँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**प्रजापतिः**। छन्दः—**स्वराट्शक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

सत्य+सुकृत

सत्यं च मे श्रद्धा च मे जगच्च मे धनं च मे विश्वं च मे महश्च मे क्रीडा च मे मोदश्च मे जातं च मे जनिष्यमाणं च मे सूक्तं च मे सुकृतं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥५॥

१. गतमन्त्र की ज्येष्ठता के लिए आवश्यक है कि **सत्यं च मे**=मुझमें यथार्थ भाषण हो, **श्रद्धा च मे**=मेरा परलोक व प्रभु में विश्वास हो। २. इनके साथ भौतिक ज्येष्ठता के लिए **जगत् च मे**=जंगम गवादि धन मुझे प्राप्त हो, **धनं च मे**=और सुवर्णादि धातुएँ मुझे प्राप्त हों। ३. **विश्वं च मे**=वह सबमें प्रविष्ट प्रभु मेरा हो और **महः च मे**=प्रभु-सम्पर्क से प्राप्त होनेवाली तेजस्विता (महः=दीप्ति) मेरी हो। ४. महस्वाला बनकर मैं **क्रीडा च मे**=संसार के सब घटनाचक्र को क्रीडा के रूप में देखनेवाला बनूँ। **मोदः च मे**=और क्रीडा-दर्शन से उत्पन्न आनन्द को सदा प्राप्त करूँ। ५. **जातं च मे**=मेरा भूतकाल में भी विकास हुआ हो और **जनिष्यमाणं च मे**=भविष्यत् में भी मेरा विकास हो। ६. **सूक्तं च मे**=मेरे मुख से सदा **सु-उक्त**=मधुर शब्द उच्चरित हों और **सुकृतं च मे**=मेरा पुण्य **यज्ञेन**=

प्रभु के संग से **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हो।

भावार्थ—मैं सत्य व श्रद्धादि से अपने को परिपूर्ण करूँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**प्रजापतिः**। छन्दः—**भुरिगतिशक्वरी**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

ऋत+सुदिन

ऋतं च मेऽमृतं च मेऽयक्ष्मं च मेऽनामयच्च मे जीवातुश्च मे दीर्घायुत्वं च मेऽनमित्रं च मेऽभयं च मे सुखं च मे शयनं च मे सूषाश्च मे सुदिनं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥६॥

१. गतमन्त्र की समाप्ति 'सुकृतम्' पर थी। 'सुकृतम्' की ही व्याख्या प्रस्तुत मन्त्र में 'ऋत' शब्द से हुई है। **ऋतं च मे**=मेरे जीवन में 'ऋत' हो। ऋत वही है जो ठीक=right है। ठीक वही है जो ठीक स्थान व समय के अनुकूल है। इस ऋत के पालन से ही **अमृतं च मे**=मुझे अमृत की प्राप्ति हो। स्वाभाविक मृत्यु को छोड़कर जो रोगरूप मृत्यु हैं, उनसे मैं बचा रहूँ। मैं केवल 'जरा मृत्युवाला होऊँ। पूर्ण आयुष्य में होनेवाली जीर्णता से ही मेरा यह शरीर जाए। २. **अयक्ष्मं च मे**=ऋत के पालन से मुझमें धातुक्षयजनित रोग उत्पन्न न हों। **अनामयत् च मे**=सामान्य व्याधियों से राहित्य भी मुझे प्राप्त हो। ३. **जीवातुः च मे**=(येन जीवयति) जिससे दीर्घ जीवन प्राप्त होता है वह पथ्य भोजन मुझे प्राप्त हो। **दीर्घायुत्वं च मे**=उस पथ्य भोजन के सेवन से मैं दीर्घ जीवन को प्राप्त करूँ। ४. इस दीर्घ जीवन के लिए ही **अनमित्रं च मे**=मेरी किसी से शत्रुता न हो और **अभयं च मे**=मैं अभय को प्राप्त होऊँ। मन में होनेवाली शत्रुता व भय की भावना शरीर पर भी घातक प्रभाव उत्पन्न करती है। ५. **सुखं च मे**=मैं शत्रुओं से भयरहित होकर सुखी जीवनवाला होऊँ। **शयनं च मे**=मैं सुख की नींद सो सकूँ। ६. रात्रि में सुखपूर्वक सोने के बाद मैं प्रातः तरोताज़ा होकर उठूँ और **सूषाः च मे**=मेरा प्रातःकाल बड़ा उत्तम हो। मैं अपने प्रातःकृत्यों को उत्तमता से सम्पादित कर सकूँ, तथा **सुदिनं च मे**=मेरा सारा दिन यज्ञदानाध्ययनादि युक्त होकर सुन्दरता से बीते। ऋत से प्रारम्भ होकर सुदिन तक मेरा सब-कुछ **यज्ञेन**=उस प्रभु के सम्पर्क से **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हो।

भावार्थ—मैं ऋत के द्वारा अमृतत्व, अयक्ष्मत्व व अनामयत्व को सिद्ध करूँ। मेरा जीवन पथ्य-सेवन से दीर्घायु तक चले। शत्रुता व भय से रहित होकर मैं सुखी बनूँ एवं सुख की नींद सो सकूँ। मेरा प्रातःकाल उत्तम हो तथा सारा दिन सुन्दरता से व्यतीत हो।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**प्रजापतिः**। छन्दः—**भुरिगतिजगती**। स्वरः—**निषादः**॥

यन्ता—लयः

यन्ता च मे धर्ता च मे क्षेमश्च मे धृतिश्च मे विश्वं च मे महश्च मे संविच्च मे ज्ञात्रं च मे सूश्च मे प्रसूश्च मे सीरं च मे लयश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥७॥

१. पिछले मन्त्र में 'सुदिन' पर समाप्ति हुई थी कि मेरा सारा दिन उत्तमता से बीते। यह उत्तमता से बीत तभी सकता है यदि मैं इन इन्द्रियाश्वों को आत्मवश्य करके विचरण करूँ, इसीलिए प्रस्तुत मन्त्र का प्रारम्भ इस प्रकार करते हैं कि **यन्ता च मे**=(यन्ता=यन्तृत्व) मेरा आत्मा इस शरीर-रथ में जुते हुए इन्द्रियाश्वों का नियन्त्रण करनेवाला हो और **धर्ता च मे**=इनको धारण करनेवाला बने। इन वाणी आदि इन्द्रियों को मन में धारण करे, मन को बुद्धि में, बुद्धि को आत्मा में और आत्मा को परमात्मा में धारण करने का अभ्यास करे। २. इस धारण से **क्षेमश्च मे**=मेरा कल्याण हो अथवा विद्यमान धन की रक्षणशक्ति मुझमें

हो। **धृतिः च मे**=आपत्तियों में भी मैं धीर व स्थिर चित्तवाला बनूँ। ३. **विश्वं च मे**=धैर्य के द्वारा मैं सम्पूर्ण संसार में प्रविष्ट परमात्मा को भी प्राप्त करूँ और **महः च मे**=मुझमें प्रभुपूजा की प्रवृत्ति हो। ४. **संवित् च मे**=प्रभु-पूजा से वेदशास्त्र-ज्ञान हमारा हो और **ज्ञात्रं च मे**=मेरा विज्ञान-सामर्थ्य यज्ञ के द्वारा चमके। ५. **सूः च मे**=मुझमें प्रेरणाशक्ति हो। मैं अपने पुत्रादि को उत्तम प्रेरणा दे सकूँ और **प्रसूः च मे**=मुझमें उत्पादन-सामर्थ्य हो। ६. धनादि के उत्पादन के लिए **सीरं च मे**=हल मेरा हो। हल से भूमि को जोतकर मैं उत्तम धान्यों को प्राप्त करूँ और अन्त में **लयः च मे**=कृषि आदि के प्रतिबन्धों को विलीन कर कृषि को उन्नत करूँ। हमारी ये सब वस्तुएँ **यज्ञेन कल्पन्ताम्**=प्रभु-सम्पर्क द्वारा सम्पन्न हों।

भावार्थ—हम इन्द्रियाश्वों का नियमन करके उनको मन में धारण करें, जिससे अपने क्षेम का साधन कर सकें।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**भुरिक्शक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

शम्+यशः

शं च मे मयश्च मे प्रियं च मेऽनुकामश्च मे कामश्च मे सौमनसश्च मे भगश्च मे द्रविणं च मे भद्रं च मे श्रेयश्च मे वसीयश्च मे यशश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥८॥

१. पिछले मन्त्र के अन्तिम वाक्य के अनुसार कृषि करते हुए तथा कृषि में आनेवाले प्रतिबन्धों को निवृत्त करते हुए **शं च मे**=मुझे ऐहिक सुख प्राप्त हो और साथ ही **मयः च मे**=आमुष्मिक सुख भी मैं प्राप्त कर सकूँ। कृषि से मेरा जीवन इस प्रकार पुरुषार्थ का हो कि मैं व्यसनों से ऊपर उठा रहूँ। २. **प्रियं च मे**=मुझे सब प्रीत्युत्पादक वस्तुएँ प्राप्त हों। **अनुकामः च मे**=सब धर्मानुकूल काम मुझे प्राप्त हों। ३. **कामः च मे**=संसार के उचित आनन्द मुझे मिलें और **सौमनसः च मे**=मेरा मन सदा प्रसन्न रहे। ४. **भगः च मे**=मुझे सदा सौभाग्य प्राप्त हो। **द्रविणं च मे**=और कार्य-सञ्चालन के लिए आवश्यक धन भी मुझे प्राप्त हो। ५. **भद्रं च मे**=मुझे कल्याण व सुख प्राप्त हो तथा **श्रेयः च मे**=मैं मोक्ष को प्राप्त करनेवाला बनूँ। ६. **वसीयः च मे**=मुझे (अतिशयेन वस्तृ) निवास के योग्य वसुमान् गृह प्राप्त हो तथा **यशः च मे**=मुझे उत्तम कर्मों से होनेवाली कीर्ति प्राप्त हो। मेरी ये सब वस्तुएँ **यज्ञेन कल्पन्ताम्**=यज्ञ से सम्पन्न हों।

भावार्थ—मुझे इस लोक व परलोक का कल्याण प्राप्त हो। मुझे आवश्यक धन की कमी न हो और मुझे प्रसन्न मन व यश का लाभ हो।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**शक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

ऊर्क् औद्भिद्यम्

ऊर्क् च मे सूनृता च मे पयश्च मे रसश्च मे घृतं च मे मधु च मे सग्धिश्च मे सपीतिश्च मे कृषिश्च मे वृष्टिश्च मे जैत्रं च मऽऔद्भिद्यं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥९॥

१. **ऊर्क् च मे**=मुझे बल व प्राणशक्ति प्राप्त हो तथा **सूनृता च मे**=(सु ऊन् ऋत) मेरी वाणी उत्तम, दुःख के परिहाणवाली तथा सत्य हो। २. इस शक्ति व मधुरवाणी की प्राप्ति के लिए **पयः च मे**=मैं दूध का प्रयोग करूँ और **रसः च मे**=फलों के रस का सेवन करूँ। ३. इसी उद्देश्य से **घृतं च मे**=मैं घृत का प्रयोग करूँ और **मधु च मे**=मैं शहद का सेवन करूँ। ४. इन वस्तुओं को मैं अकेला न खा लूँ, अपितु **सग्धिः च मे**=मेरा औरों के साथ मिलकर भोजन हो तथा **सपीतिश्च मे**=बन्धुओं के साथ मिलकर पीना हो। ५. इन

भोज्य पदार्थों की प्राप्ति के लिए **कृषिः च मे**=मैं कृषि को अपनाऊँ तथा **वृष्टिः च मे**=कृषि की सफलता के लिए मुझे इष्ट वृष्टि प्राप्त हो। ६. **जैत्रं च मे**=(जेतुर्भावः) इस वृष्टिजनित कृषि से उत्पन्न पदार्थों का सेवन मुझे विजय-सामर्थ्यवाला बनाये और **औद्भिद्यं च मे**=इस विजय-सामर्थ्य के लिए आम्रादि वृक्षों की उत्पत्ति मुझे प्राप्त हो। ये सब वस्तुएँ **यज्ञेन**=प्रभु-सम्पर्क द्वारा **कल्पन्ताम्**=मुझे सामर्थ्य-सम्पन्न बनाएँ।

भावार्थ—मैं प्राणशक्ति-सम्पन्न होऊँ और सूनृतवाणी का प्रयोग करूँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**निचृच्छक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

रयि—अक्षुत्

रयिश्च॑ मे॒ राय॑श्च मे पु॒ष्टं च॑ मे॒ पुष्टि॑श्च मे वि॒भु च॑ मे प्र॒भु च॑ मे पू॒र्णं च॑ मे पू॒र्णत॑रं च मे॒ कुय॑वं च॒ मेऽक्षि॑तं च॒ मेऽन्नं॑ च॒ मेऽक्षु॑च्च मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम्॥१०॥

१. गतमन्त्र का प्रारम्भ 'ऊर्क्'=प्राणशक्ति की प्रार्थना से हुआ था, प्रस्तुत मन्त्र 'रयि' की प्रार्थना से प्रारम्भ होता है। **'आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा'** प्रश्नोपनिषद् के इस वाक्य में प्राण और रयि का सम्बन्ध सुव्यक्त है। इन देवों के मेल से ही सृष्टि की उत्पत्ति होती है। **'रयिं सोमो रयिपतिर्दधातु'** इस वाक्य से रयि का सोम से सम्बन्ध है। मुझमें जहाँ ऊर्क्=प्राण हो वहाँ **रयिः**=सोमशक्ति भी हो। इस रयि के साथ **रायश्च मे**=मुझे वे धन भी प्राप्त हों, जिन्हें मैं उदारतापूर्वक दान कर सकूँ (राति दानकर्मणः)। २. **पुष्टं च मे**=मुझे धन का पोषण प्राप्त हो। जहाँ मैं आर्थिक दृष्टि से निर्बल न होऊँ वहाँ **पुष्टिश्च मे**=मुझे शरीर का पोषण भी प्राप्त हो। धन विलास द्वारा मेरी शारीरिक निर्बलता का कारण न बन जाए। ३. धन व शारीरिक बल प्राप्त करके **विभु च मे**=मुझे व्याप्ति-सामर्थ्य प्राप्त हो। मेरा हृदय विशाल हो और साथ ही **प्रभु च मे**=मुझे प्रभावशक्ति भी प्राप्त हो। मैं प्रभुत्व करने में समर्थ होऊँ। ४. **पूर्णं च मे**=इस प्रकार मैं धन व पुत्रादि की पूर्णतावाला होऊँ और **पूर्णतरं च मे**=गवादि पशुओं की पूर्णता भी मुझे प्राप्त हो। ५. **कुयवं च मे**=यह (कु) पृथिवी-सम्बन्धी **यव**=जौ मेरे हों तथा **अक्षितं च मे**=जिनसे नाश नहीं होता ऐसे धान्य मुझे प्राप्त हों। ६. **अन्नं च मे**=मुझे सब आवश्यक अन्न प्राप्त हों तथा **अक्षुत् च मे**=मैं भूखा न रह जाऊँ, मैं अन्न से तृप्ति का अनुभव करूँ।

भावार्थ—मुझमें रयिशक्ति हो तथा दान देने योग्य धन हो, मुझे धन व शरीर का पोषण प्राप्त हो। मैं अन्न का सेवन करूँ और भूखा न रह जाऊँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**श्रीमदात्मा**। छन्दः—**भुरिक्शक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

वित्त+सुमति

वि॒त्तं च॑ मे॒ वेद्यं॑ च मे भू॒तं च॑ मे भवि॒ष्यच्च॑ मे सु॒गं च॑ मे सु॒प॒थ्यं॑ च मऽऋ॒द्धं॒ऽच॑ मऽऋद्धि॑श्च मे क्लृ॒प्तं च॑ मे॒ क्लृप्ति॑श्च मे म॒तिश्च॑ मे सुम॒तिश्च॑ मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम्॥११॥

१. **वित्तं च मे**=ज्ञात वस्तु मेरी हो, अर्थात् जिस वस्तु का ज्ञान मैंने प्राप्त किया है मेरा वह वस्तु-ज्ञान नष्ट न हो और **वेद्यं च मे**=जो जानने योग्य है उसे भी मैं जानने के लिए यत्नशील होऊँ। २. **भूतं च मे**=उस पूर्व ज्ञान द्वारा सिद्ध वस्तु तो मेरी हो ही **भविष्यत् च मे**=मैं आगे भी अनेक वस्तुओं को प्राप्त करनेवाला बनूँ। ३. ज्ञान के ही कारण **सुगं च मे**=मैं शोभन गमनवाला होऊँ और **सुपथ्यम् च मे**=शोभन हितकर भोजन ही खानेवाला

बनूँ। मेरा आहार-विहार दोनों उत्तम हों। ४. इस उत्तम आहार-विहार से **ऋद्धं च मे**=(ऋद्ध वृद्धौ) मैं सदा वर्धनवाला होऊँ **ऋद्धिश्च मे**=और धन की समृद्धिवाला बनूँ। ५. इस निरन्तर वर्धन व समृद्धि के द्वारा **क्लृप्तं च मे**=मुझमें उस-उस कार्य के लिए सामर्थ्य हो तथा **क्लृप्तिश्च मे**=कार्यक्षम साधन मुझे प्राप्त हों। अपने कार्यों की सिद्धि के लिए आवश्यक साधनों को मैं जुटा पाऊँ। ६. **मतिश्च मे**=इस सबके लिए मेरी मति ठीक हो—मैं पदार्थमात्र का ठीक निश्चय कर सकूँ। **सुमतिः च मे**=दुर्घट कार्यों में भी निश्चय कर सकने की मेरी शक्ति हो—मैं सब उलझनों को सुलझा सकूँ। मेरी ये सब वस्तुएँ **यज्ञेन**=उस प्रभु के सम्पर्क से **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हों।

भावार्थ—मेरा प्राप्त ज्ञान सुरक्षित हो और ज्ञातव्य को मैं जाननेवाला बनूँ। मैं इस जीवन में मति व सुमति का सम्पादन कर सकूँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**धान्यदात्मा**। छन्दः—**भुरिगतिशक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

व्रीहि—मसूर

व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मे मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे प्रियङ्गवश्च मेऽणवश्च मे श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे गोधूमाश्च मे मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥१२॥

१. गतमन्त्र की समाप्ति 'मति व सुमति' पर हुई थी। उस 'मति व सुमति' का सम्पादन करने के लिए मैं व्रीहि और यव आदि उत्तम ओषधियों का ही सेवन करूँ। मेरा भोजन वानस्पतिक ही हो। वनस्पति का अर्थ ही 'वन' ज्ञानरश्मियों का 'पति' रक्षा करनेवाला है। मांसाहार मनुष्य-स्वभाव को कुछ क्रूर बनानेवाला है। यह मनुष्य को स्वार्थी-सा बना देता है, अतः कहते हैं कि—

व्रीहयः च मे=मेरा भोजन चावल हों। **यवाः च मे**=मेरा भोजन जौ हों। २. **माषाः च मे**=मैं माषों=उड़द का प्रयोग करूँ और **तिलाः च मे**=तिलों को अपनाऊँ। ३. **मुद्गाः च मे**=मूँग मेरे भोजन का अङ्ग हों और **खल्वाः च मे**=चणों को मैं भोजन बनाऊँ। ४. **प्रियङ्गवः च मे**=कङ्गु मेरा भोजन हो और **अणवश्च मे**=चीनक मेरा भोजनाङ्ग बने। ५. **श्यामाकाः च मे**=ग्राम्य तृणधानों (कोदों) को मैं अपनाऊँ, **नीवाराश्च मे**=मैं आरण्य तृणधानों का सेवन करूँ। ६. **गोधूमाः च मे**=मैं गेहूँ को अपनाऊँ तथा **मसूराः च मे**=मसूर का सेवन करूँ। **यज्ञेन**=प्रभु-सम्पर्क से मेरे ये सब वानस्पतिक भोजन **कल्पन्ताम्**=मुझे सामर्थ्य-सम्पन्न बनानेवाले हों। मैं सदा शाकाहारी बना रहकर सशक्त बनूँ। अपनी ज्ञानरश्मियों को बढ़ाऊँ तथा प्रभु के समीप पहुँचनेवाला बनूँ।

भावार्थ—मेरा भोजन वनस्पति ही हो।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**रत्नवान्धनवानात्मा**। छन्दः—**भुरिगतिशक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

अश्मा+त्रपु

अश्मा च मे मृत्तिका च मे गिरयश्च मे पर्वताश्च मे सिकताश्च मे वनस्पतयश्च मे हिरण्यं च मेऽयश्च मे श्यामं च मे लोहञ्च मे सीसं च मे त्रपु च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥१३॥

१. गतमन्त्र में विविध सेवनीय वनस्पतियों का उल्लेख था। प्रस्तुत मन्त्र में उन वनस्पतियों की उत्पत्ति-भूमियों का उल्लेख करते हुए विविध उपयोगी धातुओं का वर्णन करते हैं। **अश्मा च मे**=पथरीली भूमि मेरे **कल्पन्ताम्**=कार्यसिद्धि के लिए हो तथा **मृत्तिका च मे**=मैदानों की मिट्टी मेरे लिए उत्तम अन्नों को उत्पन्न करनेवाली हो। २. **गिरयः च मे**=क्षुद्र पर्वत मेरे लिए हों तथा **पर्वताः च मे**=महान् पर्वत भी मेरे लिए विविध सेवनीय द्रव्यों के देनेवाले हों। ३. **सिकताः च मे**=शर्करा व बालुकामय प्रदेश मेरे हों तथा इन सब स्थानों में उत्पन्न होनेवाली **वनस्पतयः च मे**=वनस्पतियाँ मेरी हों। ४. इन वनस्पतियों के अतिरिक्त **हिरण्यं च मे**=इस भूगर्भ से प्राप्त होनेवाला सोना मेरा हो **अयश्च मे**=लोहा मुझे प्राप्त हो। ५. **श्यामं च मे**=ताम्रलोह (steel) मुझे प्राप्त हो तथा **लोहं च मे**=कालायस (ढलवाँ लोहा) मुझे उस-उस कार्य में सम्पन्न करे। ६. **सीसं च मे, त्रपु च मे**=मैं सीसे व रांगे को प्राप्त करूँ। **यज्ञेन**=प्रभु-सम्पर्क से **कल्पन्ताम्**=ये सब वस्तुएँ मेरे कार्यों को सिद्ध करनेवाली हों।

भावार्थ—प्रभु की उपासना मुझे 'सब भूमियों, वनस्पतियों व धातुओं' का सदुपयोग करनेवाला बनाये।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**अग्न्यादियुक्तात्मा**। छन्दः—**भुरिगष्टिः**। स्वरः—**मध्यमः**॥

अग्नि-भूति

अ॒ग्निश्च॑ म॒ऽआप॑श्च मे वी॒रुध॑श्च म॒ऽओष॑धयश्च मे कृष्टप॒च्याश्च॑ मेऽकृष्टप॒च्याश्च॑ मे ग्रा॒म्याश्च॑ मे प॒शव॑ऽआर॒ण्याश्च॑ मे वि॒त्तञ्च॑ मे॒ वित्ति॑श्च मे भू॒तञ्च॑ मे॒ भूति॑श्च मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम्॥१४॥

१. गतमन्त्र में विविध भूप्रदेशों व धातुओं का वर्णन हुआ है। प्रस्तुत मन्त्र में अग्नि आदि अन्य जीवनोपयोगी तत्त्वों का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि **अग्निः च मे**=अग्नितत्त्व मेरे लिए हो और **आपश्च मे**=मैं जलतत्त्व को अपनानेवाला बनूँ। ये दोनों तत्त्व मेरे विविध कार्यों को सिद्ध करें। मेरे स्वभाव में भी 'अग्नि व जल' का समन्वय हो, मुझमें उत्साह व शान्ति हो। मैं शक्ति व शान्ति का मेल करनेवाला बनूँ। २. **वीरुधः च मे, ओषधयः च मे**=मैं वीरुधः=फैलनेवाली बेलों पर होनेवाली वस्तुओं का प्रयोग करूँ तथा फलपाकान्त व्रीहि-यवादि ओषधियों को अपनाऊँ। ३. **कृष्टपच्याः च मे**=भूमि-कर्षण तथा बीज-वपन (हल चलाना, बीज बोना) आदि कर्मों से निष्पन्न ओषधियाँ मेरी हों, तथा **अकृष्टपच्याः च मे**=स्वयमेव उत्पद्यमान नीवार आदि वनस्पतियों को मैं उपजाऊँ। ४. इनके अतिरिक्त **ग्राम्याः च मे**=गौ, घोड़ा भैंस, बकरी, भेड़, गधा, ऊँट आदि ग्राम्य पशु मेरे कार्य-साधक हों तथा **आरण्याः च मे**=अरण्य (वन) में होनेवाले हाथी, मृग, गव्य, बन्दर आदि भी मेरे उस-उस कार्य को सिद्ध करनेवाले हों। ५. इन सबके द्वारा **वित्तं च मे वित्तिः च मे**=प्राप्त धन मेरा हो तथा प्राप्तव्य धन को मैं प्राप्त करनेवाला बनूँ। ६. **भूतं च मे भूतिः च मे**=माता-पितादि से प्राप्त धन मेरा हो तथा स्वार्जित भूति (ऐश्वर्य) का मैं मालिक होऊँ। ये सब वस्तुएँ **यज्ञेन**=प्रभु-सम्पर्क से **कल्पन्ताम्**=मुझे शक्तिशाली बनाएँ।

भावार्थ—इस पृथिवी पर होनेवाले अग्नि, जलादि तत्त्व, बेलें, ओषधियाँ, ग्राम्य व आरण्यभोजन तथा सब पशु व धन मेरे लिए उपयोगी व सहायक हों।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**धनादियुक्तात्मा**। छन्दः—**निचृदार्षीपङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

वसु+गति

वसु च मे वसतिश्च मे कर्म च मे शक्तिश्च मेऽर्थश्च मऽएमश्च मऽइत्या च मे गतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥१५॥

१. गतमन्त्र की समाप्ति पर माता-पिता से प्राप्त धन व अपने कमाये हुए धन का उल्लेख था। प्रस्तुत मन्त्र में उसी धन के ठीक विनियोग के द्वारा उत्तम गृह व उत्तम जीवन के निर्माण का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि—**वसु च मे**=निवास के लिए गौ इत्यादि सब आवश्यक वस्तुएँ मुझे प्राप्त हों। **वसतिः च मे**=मेरा सुन्दर निवास स्थान हो। 'यहाँ वसति शब्द छोटी-सी कुटिया' की भावना को लिये हुए है, अतः स्पष्ट है कि वेद बहुत बड़ी-बड़ी कोठियों के पक्ष में नहीं है। २. उस घर में रहता हुआ मैं **कर्म च मे**=अग्निहोत्रादि कर्मों को करनेवाला बनूँ। **शक्तिः च मे**=इन कर्मों में लगे रहने से मेरी शक्ति बनी रहे, अथवा कर्मों को करने की मेरी शक्ति स्थिर रहे। ३. **अर्थः च मे**=मेरा प्रयोजन हो, अर्थात् मैं प्रत्येक कर्म को किसी प्रयोजन को सामने रखकर करूँ, मेरी कोई चेष्टा व्यर्थ न हो। **एमः च मे**=(ईयते=जाना जाता है) मेरे जीवन का एक उद्देश्य (Aim) हो। निरुद्देश्य जीवन में मनुष्य कभी उन्नति नहीं कर सकता। ४. **इत्या च मे**=उस उद्देश्य की ओर मेरा निरन्तर चलना हो। **गतिः च मे**=(गति-to get) और निरन्तर चलते हुए मुझे उद्देश्य की प्राप्ति हो। ये सब बातें **यज्ञेन**=प्रभु-सम्पर्क के द्वारा **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हों।

भावार्थ—प्रभुकृपा से मुझे वसु व वसति की प्राप्ति हो। कर्मों द्वारा मैं शक्तिसम्पन्न बनूँ। मेरे कार्य निष्प्रयोजन न हों—जीवन निरुद्देश्य न हो। मैं उद्देश्य की ओर चलूँ और उसे प्राप्त करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**अग्न्यन्नादिविद्याविदात्मा**। छन्दः—**निचृदतिशक्वरी**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

अग्नि+इन्द्र लक्ष्य (संख्या-१)

अग्निश्च मऽइन्द्रश्च मे सोमश्च मऽइन्द्रश्च मे सविता च मऽइन्द्रश्च मे सरस्वती च मऽइन्द्रश्च मे पूषा च मऽइन्द्रश्च मे बृहस्पतिश्च मऽइन्द्रश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥१६॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति पर लक्ष्य की ओर चलने व लक्ष्य को प्राप्त करने का उल्लेख था, प्रस्तुत मन्त्रों में लक्ष्य का वर्णन करते हैं—**अग्निः च मे**=मुझमें अग्नितत्त्व हो। अपने को आगे और आगे बढ़ाने की वृत्ति हो। २. **सोमः च मे**=मैं सौम्य बनूँ। जितना-जितना आगे बढ़ता जाऊँ उतना-उतना विनीत होता चलूँ। वस्तुतः इस विनीतता से ही तो मैं आगे बढ़ूँगा। ३. **सविता च मे**=मैं प्रशस्त ऐश्वर्यवाला बनूँ। निर्माण (Production) के कार्यों के द्वारा मैं धन का सम्पादन करनेवाला बनूँ और साथ ही ४. **सरस्वती च मे**=प्रशस्त बोध व शिक्षायुक्त वाणीवाला मैं होऊँ। ५. **पूषा च मे**=शरीर का मैं सभी दृष्टिकोणों से पोषण करूँ और ६. **बृहस्पतिः च मे**=ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञानी, ज्ञानियों का भी ज्ञानी—मैं देवगुरु बन सकूँ। ७. उल्लिखित प्रार्थनाओं में प्रत्येक प्रार्थना के साथ 'इन्द्रश्च मे' ये शब्द जोड़े गये हैं। उसका अभिप्राय स्पष्ट है कि मैं 'इन्द्र' जितेन्द्रिय बनूँ। जितेन्द्रियता से ही जीवन का मन्त्र-वर्णित लक्ष्य पूर्ण हो सकता है। जितेन्द्रिय बनकर ही मैं 'अग्नि, सोम, सविता, सरस्वती, पूषा व बृहस्पति' बनूँगा। जितेन्द्रियता वह केन्द्र

है जिसके चारों ओर सभी सद्गुण परिधि के रूप में होते हैं। ये सब गुण **यज्ञेन**=प्रभु-सम्पर्क द्वारा **कल्पन्ताम्**=मुझे समर्थ बनाएँ।

भावार्थ—मेरा जीवन-लक्ष्य 'आगे बढ़ना, सौम्य बनना, उत्पादनात्मक कार्यों से ऐश्वर्य प्राप्त करना, प्रशस्त बोधवाला होना, शरीर का ठीक पोषण करना व ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञानी बनना हो।'

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**मित्रैश्वर्यसहितात्मा**। छन्दः—**स्वराट्शक्वरीः**। स्वरः—**धैवतः**॥

मित्र+इन्द्र (लक्ष्य संख्या-२)

मित्रश्च मऽइन्द्रश्च मे वरुणश्च मऽइन्द्रश्च मे धाता च मऽइन्द्रश्च मे त्वष्टा च मऽइन्द्रश्च मे मरुतश्च मऽइन्द्रश्च मे विश्वे च मे देवाऽइन्द्रश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥१७॥

१. **मित्रः च मे**=मुझमें स्नेह की भावना हो। प्रेम के मैं पास होऊँ। २. **वरुणः च मे**=मैं द्वेष का निवारण करनेवाला बनूँ। द्वेष से सदा दूर रहूँ। ३. **धाता च मे**=मैं सदा धारण करनेवाला बनूँ। मेरे कर्म धारणात्मक हों। ४. **त्वष्टा च मे**=मैं देवशिल्पी बनूँ। निर्माणात्मक कार्यों में लगा रहकर मैं अपने अन्दर दिव्य गुणों का निर्माण करूँ। ५. इन दिव्य गुणों के निर्माण के लिए **मरुतः च मे**=ये मरुत् मेरे हों। मरुतः प्राणाः=प्राणों की साधना करनेवाला मैं बनूँ। ६. इस प्राण-साधना से **विश्वे च देवाः** मे=सब देव मेरे हों। प्राण-साधना से इन्द्रियों के दोष दूर होकर दिव्यता का सञ्चार होता है। मेरी ये सब बातें **यज्ञेन**=प्रभु-सम्पर्क से **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हों।

भावार्थ—मेरे जीवन का लक्ष्य 'स्नेह, द्वेष-निवारण, धारण, निर्माण तथा प्राण-साधना द्वारा दैवी सम्पत्ति का अर्जन' हो, परन्तु यह सब होगा तो तभी जब कि **इन्द्रः च मे**=मुझ में इन्द्रत्व होगा, अर्थात् मैं जितेन्द्रिय बनूँगा।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**राजैश्वर्यादियुक्तात्मा**। छन्दः—**भुरिक्शक्वरीः**। स्वरः—**धैवतः**॥

पृथिवी+इन्द्र (लक्ष्य संख्या-३)

पृथिवी च मऽइन्द्रश्च मेऽन्तरिक्षं च मऽइन्द्रश्च मे द्यौश्च मऽइन्द्रश्च मे समाश्च मऽइन्द्रश्च मे नक्षत्राणि च मऽइन्द्रश्च मे दिशश्च मऽइन्द्रश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥१८॥

१. **पृथिवी च मे**=पृथिवी मेरी हो। (प्रथ विस्तारे) मेरा शरीर विस्तृत शक्तियोंवाला हो (पृथिवी शरीरम्) २. इसके लिए **अन्तरिक्षं च मे**=अन्तरिक्ष मेरा हो, मैं सदा मध्यमार्ग में चलूँ। (अन्तरा क्षि) अति को छोड़कर मैं शरीर को पूर्ण स्वस्थ बनानेवाला बनूँ। ३. मध्यमार्ग में चलने की वृत्ति के विकास के लिए **द्यौः च मे**=यह द्युलोक मेरा हो। मेरा मस्तिष्करूप गगन विज्ञान के नक्षत्रों से व ज्ञान के सूर्य से देदीप्यमान हो। यह ज्ञान ही मेरी भावनाओं को पवित्र करेगा। ४. **समाः च मे**=(संयान्ति=सह भवन्ति ऋतवो अमासु) मेरा जीवन 'समाः' को अपनाये। **समाः**=वर्ष में जिस प्रकार सब ऋतुओं का निवास है उसी प्रकार मेरे जीवन में ऋतुओं की भाँति नियमित गति का निवास हो और छह ऋतुओं की भाँति मेरा जीवन 'शम-दम-तितिक्षा-उपरति-श्रद्धा-समाधान' इस षट्कसम्पत्तिवाला हो। वर्ष में छह ऋतुएँ, मुझमें ये छह सम्पत्तियाँ। ५. **नक्षत्राणि च मे**=ये सब नक्षत्र मेरे हों। ये (नक्ष गतौ) निरन्तर गतिशील हैं, मेरा जीवन भी सदा गतिशील हो। (न क्षीयन्ते) गतिशीलता ही मेरी अक्षीणता का कारण बने और अन्त में ६. **दिशः च मे**=ये सब दिशाएँ

मेरी हों। मैं इनसे क्रमशः आगे बढ़ने (प्राची—प्र अञ्च), दाक्षिण्य प्राप्त करने (दक्षिणा), अथवा नम्र बने रहने (अवाची अव् अञ्च), प्रत्याहार (प्रतीची प्रति अञ्च) इन्द्रियों को विषयों से वापस लाने तथा ऊर्ध्वगतिवाला होने (उदीची उद् अञ्च) का उपदेश ग्रहण करूँ। मेरी ये सब भावनाएँ **यज्ञेन**=प्रभु-सम्पर्क से **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हों और मैं इन सब बातों को पूर्ण रूप देने के लिए 'इन्द्रः च मे' मैं जितेन्द्रिय बना रहूँ।

भावार्थ—मैं शरीर की शक्तियों का विस्तार करूँ, मध्यमार्ग में चलूँ, मस्तिष्क को प्रकाशमय करूँ, षट्क-सम्पत्ति को प्राप्त करूँ, निरन्तर क्रियाशील होऊँ और दिशाओं के उपदेश को ग्रहण कर 'आगे बढ़ूँ, नम्र बना रहूँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**पदार्थविदात्मा**। छन्दः—**निचृदत्यष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**॥

अंशु-मन्थी (सोम ग्रहविशेषाः)

अ॒ꣳशुश्च॑ मे र॒श्मिश्च॒ मेऽदा॑भ्यश्च॒ मेऽधि॑पतिश्च मऽ उपा॒ꣳशुश्च॑ मेऽन्तर्या॒मश्च॑ मऽऐन्द्रवाय॒वश्च॑ मे मैत्रावरु॒णश्च॑ मऽआश्वि॒नश्च॑ मे प्रति॒प्रस्थान॑श्च मे शु॒क्रश्च॑ मे म॒न्थी च॑ मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम्॥१९॥

१. **अंशुः च मे**=मेरा जीवन चन्द्र-किरणोंवाला हो। चन्द्रमा के समान शीतल स्वभाव-वाला मैं बनूँ। **रश्मिः च मे**=मेरे जीवन में सूर्यरश्मियों का स्थान हो। मेरा मस्तिष्करूपी द्युलोक ज्ञान के सूर्य से जगमगाता हो। वहाँ विज्ञान के नक्षत्रों की किरणें अन्धकार का विनाश करनेवाली हों। २. **अदाभ्यः च मे**=मेरा जीवन उपक्षयरहित हो। मैं अपने जीवन में दबकर कार्य करनेवाला न होऊँ और **अधिपतिः च मे**=वह सबका अधिपति प्रभु मेरा हो। अथवा 'अधिपतित्व' मुझे प्राप्त हो, अर्थात् मैं अपनी सब इन्द्रियों का अधिपति होऊँ। ३. **उपांशुः च मे**=उस प्रभु की उपासना द्वारा प्राप्त होनेवाली ज्ञान की किरणें मेरी हों तथा **अन्तर्यामः च मे**=सब इन्द्रियों का अन्तर मन में नियमन करनेवाला मैं बनूँ। ४. **ऐन्द्रवायवश्च मे**=इन्द्र तथा वायु सम्बन्धी विकास मुझे प्राप्त हो। मैं इन्द्रशक्ति का विकास करूँ तथा इन्द्रशक्ति के विकास के लिए प्राणों का विकास करनेवाला बनूँ। इस प्राणशक्ति के विकास के द्वारा सब मलों का नाश होकर **मैत्रावरुणश्च मे**=मुझे मित्र व वरुणशक्ति प्राप्त हो, अर्थात् मैं सबके साथ स्नेह करनेवाला बनूँ और द्वेष का निवारण करनेवाला होऊँ। ५. इस मित्र व वरुणशक्ति से **आश्विनश्च मे**=मेरी अदीर्घसूत्रता हो, **'न श्वः श्वमुपासीत'** इस याज्ञवल्क्य के निर्देश के अनुसार मैं कल-कल की उपासना न करूँ। **प्रतिप्रस्थानः च मे**=मेरा मन प्रत्येक प्राप्त कर्त्तव्य के प्रति प्रस्थानवाला हो, अर्थात् मैं सदा अपने कर्त्तव्य को करने के लिए उद्यत होऊँ। ६. **शुक्रः च मे**=मुझमें (शुक् गतौ) गतिशीलता हो, परन्तु साथ ही **मन्थी च मे**=मेरी वृत्ति मन्थन करने की हो—मैं प्रत्येक कार्य को विचारपूर्वक करनेवाला बनूँ। ये सब बातें **यज्ञेन**=प्रभु-सम्पर्क से **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हों।

भावार्थ—मैं अपने जीवन में सूर्य व चन्द्रतत्त्व का समन्वय करनेवाल बनूँ। दबूँ नहीं, अधिपति बनूँ। प्रभु की उपासना से ज्ञानवाला बनूँ और मन में इन्द्रियों का नियमन करूँ। इन्द्र व प्राणशक्ति का विकास करके प्रेम के पास व द्वेष से दूर होने का प्रयत्न करूँ। साथ ही कार्यों को कल-कल पर न टालता हुआ प्रत्येक कर्त्तव्य के लिए सदा उद्यत रहूँ। गतिशीलता के साथ विचारशील बनूँ।

मेरी हों। मैं इनसे क्रमशः आगे बढ़ने (प्राची—प्र अञ्च), दाक्षिण्य प्राप्त करने (दक्षिणा), अथवा नम्र बने रहने (अवाची अव् अञ्च), प्रत्याहार (प्रतीची प्रति अञ्च) इन्द्रियों को विषयों से वापस लाने तथा ऊर्ध्वगतिवाला होने (उदीची उद् अञ्च) का उपदेश ग्रहण करूँ। मेरी ये सब भावनाएँ **यज्ञेन**=प्रभु-सम्पर्क से **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हों और मैं इन सब बातों को पूर्ण रूप देने के लिए 'इन्द्रः च मे' मैं जितेन्द्रिय बना रहूँ।

भावार्थ—मैं शरीर की शक्तियों का विस्तार करूँ, मध्यमार्ग में चलूँ, मस्तिष्क को प्रकाशमय करूँ, षट्क-सम्पत्ति को प्राप्त करूँ, निरन्तर क्रियाशील होऊँ और दिशाओं के उपदेश को ग्रहण कर 'आगे बढ़ूँ, नम्र बना रहूँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**पदार्थविदात्मा**। छन्दः—**निचृदत्यष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**॥

अंशु-मन्थी (सोम ग्रहविशेषाः)

अ॒ꣳशुश्च॑ मे र॒श्मिश्च॒ मेऽदा॑भ्यश्च॒ मेऽधि॑पतिश्च मऽ उपा॒ꣳशुश्च॑ मेऽन्तर्या॒मश्च॑ मऽऐन्द्रवाय॒वश्च॑ मे मैत्रावरु॒णश्च॑ मऽआश्वि॒नश्च॑ मे प्रतिप्र॒स्थान॑श्च मे शु॒क्रश्च॑ मे म॒न्थी च॑ मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम्॥१९॥

१. **अंशुः च मे**=मेरा जीवन चन्द्र-किरणोंवाला हो। चन्द्रमा के समान शीतल स्वभाव-वाला मैं बनूँ। **रश्मिः च मे**=मेरे जीवन में सूर्यरश्मियों का स्थान हो। मेरा मस्तिष्करूपी द्युलोक ज्ञान के सूर्य से जगमगाता हो। वहाँ विज्ञान के नक्षत्रों की किरणें अन्धकार का विनाश करनेवाली हों। २. **अदाभ्यः च मे**=मेरा जीवन उपक्षयरहित हो। मैं अपने जीवन में दबकर कार्य करनेवाला न होऊँ और **अधिपतिः च मे**=वह सबका अधिपति प्रभु मेरा हो। अथवा 'अधिपतित्व' मुझे प्राप्त हो, अर्थात् मैं अपनी सब इन्द्रियों का अधिपति होऊँ। ३. **उपांशुः च मे**=उस प्रभु की उपासना द्वारा प्राप्त होनेवाली ज्ञान की किरणें मेरी हों तथा **अन्तर्यामः च मे**=सब इन्द्रियों का अन्तर मन में नियमन करनेवाला मैं बनूँ। ४. **ऐन्द्रवायवश्च मे**=इन्द्र तथा वायु सम्बन्धी विकास मुझे प्राप्त हो। मैं इन्द्रशक्ति का विकास करूँ तथा इन्द्रशक्ति के विकास के लिए प्राणों का विकास करनेवाला बनूँ। इस प्राणशक्ति के विकास के द्वारा सब मलों का नाश होकर **मैत्रावरुणश्च मे**=मुझे मित्र व वरुणशक्ति प्राप्त हो, अर्थात् मैं सबके साथ स्नेह करनेवाला बनूँ और द्वेष का निवारण करनेवाला होऊँ। ५. इस मित्र व वरुणशक्ति से **आश्विनश्च मे**=मेरी अदीर्घसूत्रता हो, **'न श्वः श्वमुपासीत'** इस याज्ञवल्क्य के निर्देश के अनुसार मैं कल-कल की उपासना न करूँ। **प्रतिप्रस्थानः च मे**=मेरा मन प्रत्येक प्राप्त कर्त्तव्य के प्रति प्रस्थानवाला हो, अर्थात् मैं सदा अपने कर्त्तव्य को करने के लिए उद्यत होऊँ। ६. **शुक्रः च मे**=मुझमें (शुक् गतौ) गतिशीलता हो, परन्तु साथ ही **मन्थी च मे**=मेरी वृत्ति मन्थन करने की हो—मैं प्रत्येक कार्य को विचारपूर्वक करनेवाला बनूँ। ये सब बातें **यज्ञेन**=प्रभु-सम्पर्क से **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हों।

भावार्थ—मैं अपने जीवन में सूर्य व चन्द्रतत्त्व का समन्वय करनेवाल बनूँ। दबूँ नहीं, अधिपति बनूँ। प्रभु की उपासना से ज्ञानवाला बनूँ और मन में इन्द्रियों का नियमन करूँ। इन्द्र व प्राणशक्ति का विकास करके प्रेम के पास व द्वेष से दूर होने का प्रयत्न करूँ। साथ ही कार्यों को कल-कल पर न टालता हुआ प्रत्येक कर्त्तव्य के लिए सदा उद्यत रहूँ। गतिशीलता के साथ विचारशील बनूँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**यज्ञानुष्ठानात्मा**। छन्दः—**स्वराडतिधृतिः**। स्वरः—**षड्जः**॥

आग्रयण–हारियोजन (यज्ञविशेषाः)

आग्रयणश्च मे वैश्वदेवश्च मे ध्रुवश्च मे वैश्वानरश्च मऽऐन्द्राग्नश्च मे महावैश्वदेवश्च मे मरुत्वतीयाश्च मे निष्केवल्यश्च मे सावित्रश्च मे सारस्वतश्च मे पात्नीवतश्च मे हारियोजनश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥२०॥

१. **आग्रयणः च मे**=(अग्रे अयनं येन) मेरे अन्दर आगे चलने की वृत्ति हो और इसी वृत्ति के परिणामरूप **वैश्वदेवः च मे**=मेरा जीवन सब दिव्य गुणोंवाला हो। २. **ध्रुवः च मे**=मुझमें ध्रुवता—न्यायमार्ग से विचलित न होने की भावना हो तथा **वैश्वानरः च मे**=मेरा जीवन विश्वनरहित की भावना से ओत-प्रोत हो। मैं सब लोगों का भला करनेवाला बनूँ। ३. **ऐन्द्राग्नः च मे**=मेरा जीवन-यज्ञ इन्द्र व अग्नि देवतावाला हो। मैं जितेन्द्रिय बनूँ और आगे बढ़ूँ। जितेन्द्रिय बनने व आगे बढ़ने के परिणामस्वरूप **महावैश्वदेवः च मे**=मेरा जीवन महनीय विश्वदेवोंवाला हो, अथवा महनीय विश्वदेवों के पूज्य प्रभुवाला हो। ४. **मरुत्वतीयाः च मे**=उस प्रभुवाला बनने के लिए मरुत्वतीय यज्ञ मुझमें चलें। मरुत् अर्थात् मैं नियमितरूप से प्राणायाम-यज्ञ को करनेवाला बनूँ। इस प्राणायाम यज्ञ के द्वारा इन्द्रियों के दोषों का दहन करके **निष्केवल्यः च मे**=(नितरां केवलं सुखं यस्मिन् तस्मिन् भवः—द०) नितरां सुखमय स्थिति में होनेवाला ब्रह्मलोक मुझे प्राप्त हो। ५. **सावित्रः च मे सारस्वतः च मे**=इस संसार में जीवन्मुक्त बनने पर मेरा जीवन सविता के यज्ञवाला तथा सरस्वती के यज्ञवाला हो, अर्थात् मैं सदा निर्माण व उत्पत्ति के यज्ञ में प्रवृत्त रहूँ तथा सरस्वती का उपासक, अर्थात् ज्ञान—साधना करनेवाला होऊँ। इस प्रकार मेरा निजू जीवन हो। इसके अतिरिक्त मैं अपने गृहस्थ जीवन में **पात्नीवतः च मे**=प्रशस्तता से पत्नी के प्रति धर्म का पालन करनेवाला बनूँ और **हारियोजनः च मे**=मेरा हारियोजनयज्ञ चले, अर्थात् मैं अपने इन्द्रियरूप अश्वों को उत्तमता से शरीररूप रथ में जोतनेवाला बनूँ, (हरीणां अश्वानां योजयिता) और इस प्रकार अपनी जीवन-यात्रा में आगे और आगे बढ़ चलूँ।

भावार्थ—मेरा जीवन मन्त्रवर्णित आग्रयण आदि यज्ञोंवाला हो। मैं आगे बढ़ूँ। आगे बढ़ने के लिए ही इन्द्रियाश्वों को सदा शरीर-रथ में जोते रक्खूँ, अर्थात् निरन्तर क्रियाशील बना रहूँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**यज्ञाङ्गवानात्मा**। छन्दः—**विराड्धृतिः**। स्वरः—**ऋषभः**॥

स्रुचः+स्वगाकारः (यज्ञपात्र)

स्रुचश्च मे चमसाश्च मे वायव्यानि च मे द्रोणकलशश्च मे ग्रावाणश्च मेऽधिषवणे च मे पूतभृच्च मऽआधवनीयश्च मे वेदिश्च मे बर्हिश्च मेऽवभृथश्च मे स्वगाकारश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥२१॥

१. **मे**=मुझे **यज्ञेन**=यज्ञ करने के हेतु निम्न सब साधन **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हों, अर्थात् प्राप्त हों।

(क) **स्रुचः च मे**=जुहू आदि स्रुक् पात्र। (ख) **चमसाः च मे**=चमस् आदि पात्र। (ग) **वायव्यानि च मे**=पवन में उत्तम साधनभूत पदार्थ। (घ) **द्रोणकलशः च मे**=सोमरस का आधारभूत कलश। (ङ) **ग्रावाणः च मे**=सिल-बट्टा आदि यज्ञिय पदार्थ। (च) **अधिषवणे च मे**=सोमवल्ली कूटने-पीसने के साधनभूत काष्ठफलक। (छ) **पूतभृत् च**

मे=पवित्रताकारक/सूप/छलनी आदि पात्र। (ज) **आधवनीयः च मे**=अच्छी प्रकार धोने आदि का पात्र। (झ) **वेदिः च मे**=होम करने की वेदि। (ञ) **बर्हिः च मे**=कुशासमूह। (ट) **अवभृथः च मे**=यज्ञ-समाप्ति समय का स्नान। (ठ) **स्वगाकारः च मे**=स्वस्तिवाचन।

भावार्थ : मेरे ये सब पदार्थ होम की क्रिया करने से समर्थ हों। यज्ञ आदि उत्तम कर्मों में इन पदार्थों की नियुक्ति से मैं प्रभु-प्राप्ति के लिए समर्थ बनूँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**यज्ञवानात्मा**। छन्दः—**भुरिक्शक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

अग्निः—दिशः

अ॒ग्निश्च॑ मे घ॒र्मश्च॑ मे॒ऽर्कश्च॑ मे॒ सूर्य॑श्च मे प्रा॒णश्च॑ मेऽश्वमे॒धश्च॑ मे पृ॒थि॒वी च॒ मेऽदि॑तिश्च मे॒ दिति॑श्च मे॒ द्यौश्च॑ मे॒ऽङ्गुल॑यः॒ शक्व॑र्यो॒ दिश॑श्च मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम्॥२२॥

१. **अग्निः च मे**=मेरे जीवन के अन्दर अग्नि हो, **घर्मः च मे**=मैं शक्ति की उष्णता-(गरमी)-वाला होऊँ। मैं निरन्तर गतिशील और अग्रगतिशील बनूँ। इस गतिशीलता से मेरी शक्ति बनी रहे। २. इस क्रिया और उससे होनेवाली शक्ति के साथ **अर्कः च मे**=मुझमें उपासना हो और **सूर्यः च मे**=इस उपासना से मेरे अन्दर ज्ञान के सूर्य का उदय हो। ३. इस ज्ञान-सूर्य के उदय के साथ प्रभु-उपासन से **प्राणश्च मे**=मुझे प्राणशक्ति प्राप्त हो। **अश्वमेधः च मे**=(राष्ट्रं वा अश्वमेधः) मैं अपने प्राणों से राष्ट्र की सेवा करनेवाला बनूँ। ४. राष्ट्र की सेवा के लिए **पृथिवी च मे**=(प्रथ विस्तारे) मुझे विस्तृतशक्तियोंवाला शरीर प्राप्त हो। **अदितिः च मे**=मेरे इस शरीर में अखण्डन हो, मेरे स्वास्थ्य की किसी प्रकार से हानि न हो। ५. **दितिः च मे**=मुझमें वासना-विनाश के लिए खण्डनशक्ति हो और **द्यौः च मे**=वासना-विनाश से मेरे जीवन में प्रकाश की ज्योति हो (दिव्=प्रकाश) ६. इस प्रकार की ज्योति से मेरी **अङ्गुलयः**=(अगि गतौ) कर्मों में सदा व्याप्त रहनेवाली अंगुलियाँ सचमुच **शक्वरयः**=शक्तिशाली हों। मेरी इन अंगुलियों के कर्मों का निर्देश करनेवाली **दिशः च मे**=दिशाएँ मेरी हों, अर्थात् इन प्राच्यादि दिशाओं से बोध लेनेवाला मैं बनूँ। 'प्राची' दिशा मुझे यह बोध दे कि मैं भी 'आगे बढ़ूँ' (प्र अञ्च्)। 'अवाची' दिशा का मुझे यह बोध हो कि मैं आगे बढ़कर भी विनीत बना रहूँ (अव अञ्च)। 'प्रतीची' दिशा मुझे प्रत्याहार—इन्द्रियों को विषयों से वापस लाने का पाठ पढ़ाए और अन्त में 'उदीची' से मैं उन्नत होने का पाठ पढ़ूँ (उद् अञ्च्)। इन दिशाओं के निर्देशों के अनुसार ही मेरी अंगुलियाँ निरन्तर कार्यों को करनेवाली बनें। ये सबकी सब बातें **यज्ञेन**=प्रभु के सम्पर्क से **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हों।

भावार्थ—प्रभुकृपा से मुझमें आगे बढ़ने का उत्साह हो, उससे मैं शक्तिसम्पन्न बना रहूँ। मुझमें प्रभु-उपासन हो, उससे मुझमें ज्ञान के सूर्य का उदय हो। मुझमें प्राणशक्ति हो और वह राष्ट्र-सेवा में लगे। मेरे शरीर की शक्तियों का विस्तार हो और वहाँ रोगजनित खण्डन न हो। वासनाओं का खण्डन करके मैं ज्ञान के प्रकाशवाला बनूँ। उस ज्ञान के अनुसार क्रिया में व्यापृत होऊँ। मेरी अंगुलियाँ शक्तिशाली बनें और वे अपने कार्यों का निर्देश प्राची आदि दिशाओं से लें।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**कालविद्याविदात्मा**। छन्दः—**पंक्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

व्रत+रथन्तर

व्रतं च मऽऋृतवश्च मे तपश्च मे संवत्सरश्च मेऽहोरात्रेऽऊर्वष्ठीवे बृहद्रथन्तरे च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥२३॥

१. **व्रतं च मे**=मेरा जीवन व्रतवाला हो। वस्तुतः अव्रती जीवन तो कोई जीवन ही नहीं है। **ऋतवः च मे**=मेरे जीवन में वसन्त आदि ऋतुएँ हों। उन ऋतुओं की भाँति मेरे जीवन में सब कार्य ठीक समय पर होनेवाले हों। २. सब कार्यों को ठीक समय पर व ठीक स्थान पर करनेवाला बनने के लिए ही **तपः च मे**=मेरे जीवन में तप हो। मैं आराम-पसन्दगी में न चला जाऊँ। इस तपस्या के द्वारा **संवत्सरः च मे**=संवत्सर मेरा हो। (संवसन्ति यस्मिन्), अर्थात् मेरा सम्पूर्ण वर्ष उत्तम क्रियाओं में ही निवासवाला हो। ३. **अहोरात्रे**=मेरे दिन और रात **यज्ञेन**=प्रभु के सम्पर्क द्वारा **कल्पन्ताम्**=शक्तिसम्पन्न हों। मेरा 'अहः (दिन)' सचमुच 'अ+हन्' हो, मेरा नाश करनेवाला न हो तथा रात्रि मेरे लिए सचमुच 'रमयित्री' हो। ४. **ऊर्वष्ठीवे**=(ऊरू च अष्ठीवन्तौ च) मेरे ऊरू और ऊरूपर्व अर्थात् अष्ठीवन्तौ (घुटने) प्रभु-सम्पर्क से शक्तिशाली बनें। (अर्यते आभ्याम् अह गतौ) मेरे ऊरू सदा गतिवाले हों। 'ऊर्वोरोजः' इस वैदिक प्रार्थना के अनुसार मेरे ऊरुओं में ओज हो और उस ओज के कारण मेरे ऊरू मुझे शक्तिशाली व क्रियाशील बनाये रक्खें। साथ ही मेरे घुटने 'अष्ठीवन्तौ'=**अतिशयितामस्थि यस्य**=उत्तम अस्थिवाले हों। उनमें सार हो। वे कार्य-बोझ को उठा सकनेवाले हों। ५. इस प्रकार के ऊरू व अष्ठीवन्तों के द्वारा **बृहद्रथन्तरे च मे**=मेरे जीवन में निरन्तर (बृहि वृद्धौ) वृद्धि हो तथा मैं **रथन्तरे**=शरीररूप रथ से इस जीवन-यात्रा को तीर्ण करनेवाला बनूँ। ये सब वस्तुएँ **यज्ञेन**=प्रभु-सम्पर्क के द्वारा **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हों।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से मैं व्रती, ऋतुओं के अनुसार नियमित जीवनवाला, तपस्वी, सम्पूर्ण वर्ष उत्तम निवासवाला, उत्तम दिन-रात्रिवाला, उत्तम जंघाओं व घुटनोंवाला, वृद्धिशील तथा शरीर-रथ से जीवन-यात्रा को तीर्ण करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**विषमाङ्कगणितविद्याविदात्मा**। छन्दः—**संकृतिः**[क], **विराट्संकृतिः**[र]। स्वरः—**गान्धारः**॥

तेतीस देवता

[क]**एका च मे तिस्रश्च मे तिस्रश्च मे पञ्च च मे पञ्च च मे सप्त च मे सप्त च मे नव च मे नव च मऽएकादश च मऽएकादश च मे त्रयोदश च मे त्रयोदश च मे पञ्चदश च मे पञ्चदश च मे सप्तदश च मे सप्तदश च मे नवदश च मे नवदश च मऽ [र]एकविꣳशतिश्च मऽएकविꣳशतिश्च मे त्रयोविꣳशतिश्च मे त्रयोविꣳशतिश्च मे पञ्चविꣳशतिश्च मे पञ्चविꣳशतिश्च मे सप्तविꣳशतिश्च मे सप्तविꣳ शतिश्च मे नवविꣳ शतिश्च मे नवविꣳशतिश्च मऽएकत्रिꣳ शच्च मऽएकत्रिꣳशच्च मे त्रयस्त्रिꣳशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥२४॥**

१. **एका च मे तिस्रः च मे**=एक देवता को मैं अपनानेवाला बनूँ और एक देवता को अपनाने के द्वारा तीनों देवताओं को मैं अपनानेवाला बनूँ। वस्तुतः गुणों का यह स्वभाव है कि एक गुण को अपने अन्दर धारण करने से अन्य गुणों को मैं अपने में धारण करनेवाला

बनता हूँ। गुणों की एक शृंखला है। उस शृंखला की एक कड़ी को पकड़कर अपनी ओर आकृष्ट करेंगे तो शृंखला-की-शृंखला हमारी ओर खिंची चली आएगी। २. **तिस्त्रः च मे पञ्च च मे**=तीन देवताओं को मैं धारण करता हूँ और इससे पाँच देवताओं का धारण करनेवाला बनता हूँ। ३. **पञ्च च मे सप्त च मे**=पाँच दिव्य गुणों को धारण करता हुआ मैं सात दिव्य गुणों को अपने में ग्रहण करता हूँ। ४. **सप्त च मे नव च मे**=सात के धारण से नौ का धारण होता है। ५. **नव च म एकादश च मे**=नौ मेरे होते हैं, और इससे ग्यारह-के-ग्यारह पृथिवीस्थ देव मेरे हो जाते हैं। अध्यात्म में पृथिवी यह शरीर है। इस शरीर के 'पुरमेकादश द्वारम्' इन उपनिषत् शब्दों में वर्णित सभी ग्यारह द्वारों के अधिष्ठातृ देव मुझमें अपना-अपना स्थान ठीक रूप में ग्रहण करते हैं।

६. **एकादश च मे त्रयोदश च मे**=मेरे शरीर के ग्यारह देवों के ठीक स्थान ग्रहण करने पर हृदयान्तरिक्ष के बारहवें व तेरहवें देव भी मेरे होते हैं। ७. **त्रयोदश च मे पञ्चदश च मे**=तेरह देव मेरे होते हैं और पन्द्रह देवों को मैं ग्रहण करता हूँ। ८. **पञ्चदश च मे सप्तदश च मे**=पन्द्रह मेरे होते हैं और उससे मैं सतरह को अपनाता हूँ। ९. **सप्तदश च मे नवदश च मे**=सतरह देवों को मैं अपनाता हूँ और उससे उन्नीस देव मेरे होते हैं। १०. **नवदश च मे एकविंशतिः च मे**=उन्नीस देव मेरे होते हैं, और उससे इक्कीस देवों को मैं अपनानेवाला होता हूँ। ११. **एकविंशतिः च मे त्रयोविंशतिः च मे**=इक्कीस देव मेरे होते हैं और उससे तेईस देवों को मैं अपनाता हूँ। १२. हृदयान्तरिक्ष के देवों के साथ मस्तिष्करूप द्युलोक के देव भी मेरे होते हैं **त्रयोविंशतिः च मे पञ्चविंशतिः च मे**=तेईस को अपनाकर पच्चीस को मैं अपनाता हूँ। १३. **पञ्चविंशतिः च मे सप्तविंशः च मे**=पच्चीस तो मेरे होते ही हैं मैं अपने में सताईस का धारण करता हूँ। १४. **सप्तविंशतिः च मे नव विंशतिः च मे**=सताईस मेरे होते हैं और उनसे उन्तीस भी मेरे हो जाते हैं। १५. **नवविंशतिः च मे एकत्रिंशत् च मे**=उन्तीस मेरे होते हैं और इकतीस को मैं अपना लेता हूँ और अन्त में १६. **एकत्रिंशत् च मे त्रयस्त्रिंशत् च मे**=इकतीस देव तो मेरे होते ही हैं, मैं तेंतीस-के-तेंतीस देवों को अपनानेवाला बनता हूँ। ये सब देव **यज्ञेन**=प्रभु के उपासन से **कल्पन्ताम्**=मुझे प्राप्त हों। अथवा प्रभु से सम्पर्क के निमित्त मुझे समर्थ करें।

भावार्थ—तेतीस देवों का अपनाना ही मेरा प्रभु-स्तवन होता है। ये ही मेरे स्तोम हो जाते हैं और शतपथ ९।३।३।१२ के **'एतद्यजमाना सर्वान् कामानाप्त्वा युग्भिः स्तोमैः स्वर्गं लोकमेति'** इन शब्दों के अनुसार मैं इन 'एक, तीन, पाँच व सात' आदि के क्रम से विषम संख्याओं में चलनेवाले स्तोमों से इस लोक में सब वाञ्छनीय पदार्थों को प्राप्त करके स्वर्ग को प्राप्त करूँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**समाङ्कगणितविद्याविदात्मा**। छन्दः—**पंक्तिः**[क], **आकृतिः**[र]। स्वरः—**पञ्चमः**॥

आदित्य ब्रह्मचारी (अड़तालीस वर्ष)

[क]चतस्त्रश्च मेऽष्टौ च मेऽष्टौ च मे द्वादश च मे द्वादश च मे षोडश च मे षोडश च मे विꣳशतिश्च मे विꣳशतिश्च मे [र]चतुर्विꣳशतिश्च मे चतुर्विꣳशतिश्च मेऽष्टाविꣳशतिश्च मेऽष्टाविꣳशतिश्च मे द्वात्रिꣳशच्च मे द्वात्रिꣳशच्च मे षट्त्रिꣳशच्च मे षट्त्रिꣳशच्च मे चत्वारिꣳशच्च मे चत्वारिꣳशच्च मे चतुश्चत्वारिꣳशच्च मे चतुश्चत्वारिꣳशच्च मेऽष्टाचत्वारिꣳशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥२५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार तेतीस-के-तेतीस देवों को अपनाकर मैं **अदितिः**=अदीना देवमाता का सच्चा पुत्र 'आदित्य' बनूँ। इस आदित्य ब्रह्मचारी की प्रार्थना है कि **चतस्रः च मे अष्टौ च मे**=मेरे चार वर्ष व चार के साथ आठ वर्ष **यज्ञेन**=देवपूजा के हेतु से **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हों। ये मुझमें अधिकाधिक दिव्यता व शक्ति भरनेवाले हों। २. **अष्टौ च मे द्वादश च मे**=मेरे आठ वर्ष सुन्दर हों और बारह वर्ष भी देवगुणों के निर्माण से सुन्दर बनें। ३. **द्वादश च मे षोडश च मे**=मेरे बारह वर्ष यज्ञ से शक्तिशाली बनें और सोलह वर्ष भी यज्ञों से सम्पन्न हों। ४. इसी प्रकार **षोडश च मे विंशतिः च मे**=मेरे सोलह वर्ष यज्ञ से शक्तिसम्पन्न हों और बीस वर्ष भी इसी प्रकार उत्तम हों। ५. **विंशतिः च मे चतुर्विंशतिः च मे**=मेरे बीस वर्ष तो गुणों का आदान करनेवाले हों ही, २४ वर्ष भी गुणों का ग्रहण करते हुए मुझे **वसु**=उत्तम वसुओंवाला बनाएँ। ६. **चतुर्विंशतिः च मे अष्टाविंशतिः च मे**=मेरे चौबीस वर्ष तो यज्ञ से सम्पन्न हों ही, अट्ठाईस वर्ष भी यज्ञ से शक्तिशाली बनें ७. **अष्टाविंशतिः च मे द्वात्रिंशत् च मे**=मेरे अट्ठाईस वर्ष यज्ञ से शक्तिसम्पन्न हों और बत्तीस वर्ष भी शक्तिसम्पन्न हों। ८. **द्वात्रिंशत् च मे षट्त्रिंशत् च मे**=मेरे बत्तीस वर्ष यज्ञ के द्वारा शक्तिसम्पन्न हों तथा छत्तीस वर्ष भी यज्ञ से सामर्थ्य-सम्पन्न बनें। ९. **षट्त्रिंशत् च मे चत्वारिंशत् च मे**=जहाँ मेरे छत्तीस वर्ष यज्ञ से समर्थ बनें और मैं रुद्र ब्रह्मचारी बन पाऊँ, वहाँ मेरे चालीस वर्ष भी यज्ञ से मुझे सम्पन्न करें। १०. **चत्वारिंशत् च मे चतुश्चत्वारिंशत् च मे**=मेरे चालीस वर्ष यज्ञ से शक्तिशाली बनें और चवालीस वर्षों को मैं यज्ञों से शक्तिसम्पन्न कर पाऊँ और ११. अन्त में **चतुश्चत्वारिंशत् च मे**=मेरे चवालीस वर्ष बड़े उत्तम हों तथा **अष्टाचत्वारिंशत् च मे**=मेरे अड़तालीस वर्ष **यज्ञेन**=प्रभु-सम्पर्क के द्वारा **कल्पन्ताम्**=प्रभु के सामर्थ्य से सम्पन्न हों और इस प्रकार मैं आदित्य ब्रह्मचारी बनूँ।

भावार्थ—२४ वर्षों को यज्ञ से सम्पन्न करके मैं 'वसु' बनूँ। छत्तीस वर्षों को यज्ञ से क्लृप्त करके मैं 'रुद्र' बनूँ और अड़तालीस वर्षों को यज्ञ से सम्पन्न करके मैं आदित्य बन जाऊँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**पशुविद्याविदात्मा**। छन्दः—**ब्राह्मीबृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

त्र्यवि+तुर्यौही (गौ)

त्र्यविश्च मे त्र्यवी च मे दित्यवाट् च मे दित्यौही च मे पञ्चाविश्च मे पञ्चावी च मे त्रिवत्सश्च मे त्रिवत्सा च मे तुर्यवाट् च मे तुर्यौही च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥२६॥

१. मन्त्र संख्या २४ तथा २५ में ३३ देवों के धारण व अड़तालीस वर्षों तक गुणों व शक्ति का आदान करते हुए 'आदित्य' बनने का उल्लेख था। यह सब तभी सम्भव है जब हमारी वृत्ति सात्त्विक बने। सात्त्विक वृत्ति बनने का सम्भव 'आहार की शुद्धि' पर है और यह सर्वोत्तम सात्त्विक व पूर्ण भोजन 'गोदुग्ध' ही है, अतः उस गोदुग्ध का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि—**त्र्यविः च मे**=(अविः=षण्मासात्मकः कालः, त्रयोऽवयो यस्य) डेढ़ साल का वृष—बैल मेरा हो **त्र्यवी च मे**=डेढ़ साल की गौ मुझे प्राप्त हो। २. **दित्यवाट् च मे दित्यौही च मे**=द्विसंवत्सर (दो साल का) बैल मुझे प्राप्त हो और इसी प्रकार दो साल की गौ मुझे **यज्ञेन**=यज्ञ के निमित **कल्पन्ताम्**=शक्तिशाली बनाएँ। ३. **पञ्चाविः च मे पञ्चावी च मे**=ढाई साल का बैल मुझे प्राप्त हो और इसी प्रकार ढाई साल की गौ मुझे यज्ञ के हेतु से समर्थ करे। ४. **त्रिवत्सः च मे** (वत्सः=वत्सरः) तीन साल का बैल मेरा हो और तीन साल की गौ मुझे यज्ञ के हेतु समर्थ करे। ५. **तुर्यवाट् च मे**

तुर्यौही च मे=(तुर्यं वर्षं वहति इति) साढ़े तीन साल का बैल मुझे प्राप्त हो और साढ़े तीन साल की गौ मुझे **यज्ञेन**=यज्ञ के निमित्त **कल्पन्ताम्**=शक्तिशाली बनाए।

भावार्थ—हमारे पास डेढ़ साल की उमर से साढ़े तीन साल तक की उमर के बैल व गाएँ हों।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**पशुपालनविद्याविदात्मा**। छन्दः—**भुरिगार्षीपङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

पष्ठवाट्–धेनु

पष्ठवाट् च मे पष्ठौही च मऽउक्षा च मे वशा च मऽऋषभश्च मे वेहच्च मेऽनड्वाँश्च मे धेनुश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥२७॥

१. (पष्ठं=वर्षचतुष्कं वहति इति) **पष्ठवाट् च मे**=चार साल का बैल मेरा हो **पष्ठौही च मे**=और इसी प्रकार चार साला गौ मुझे प्राप्त हो। २. **उक्षा च मे**=वीर्य-सेचन में समर्थ बैल मुझे प्राप्त हो **वशा च म**=वन्ध्या गौ भी मेरे पास रहे। ३. **ऋषभः च मे**=अति युवा वृषभ मेरे पास हो और **वेहत् च मे**=गर्भधारिनी गौ भी मुझे यज्ञ के हेतु समर्थ करे। ४. **अनड्वान् च मे**=शकट-वहनक्षम बैल मुझे प्राप्त हो और **धेनुः च मे**=नवप्रसूता गौ मुझे **यज्ञेन**=यज्ञ के द्वारा **कल्पन्ताम्**=शक्तिसम्पन्न बनाये। ५. वस्तुतः गौ के सम्पर्क के बिना मनुष्य अपने जीवन का विकास नहीं कर सकता। ऋषियों के आश्रम गौवों पर आधारित थे। कन्यादान से पहले गोदान का होना इस बात का संकेत करता है कि घर के उत्तम निर्माण का सम्भव गौ पर ही स्थित है। इन गौओं के साथ बैलों का होना आवश्यक है। गौ के बिना बैल नहीं, बैल के बिना गौ नहीं। सब प्रकार के गौ-बैलों का सम्भव कृषिप्रधान जीवन में ही सम्भव है, अतः वेद में कृषि को उत्तम स्थान दिया गया है—'**अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व**'=कृषि-अतिरिक्त कार्यों को जुआ ही कहा गया है। इस कृषि में ही गाएँ हैं 'तत्र गावः'। यहीं उत्तम घर का निर्माण होता है। मैं इन गौ-बैलोंवाला होऊँ और उन गौवें के द्वारा यज्ञनामक प्रभु का वर्णन करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—गोरक्षा द्वारा गोदुग्ध को अपना मुख्य भोजन बनाकर मैं सात्त्विक बनूँ, दिव्य गुणोंवाला बनूँ। आदित्य बनकर जीवन-यात्रा को पूर्ण करूँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**संग्रामादिविदात्मा**। छन्दः—**भुरिगाकृतिः**[क], **आर्चीबृहती**[र]। स्वरः—**पञ्चमः**[क], **मध्यमः**[र]॥

नामग्राह होम

[क]वाजाय स्वाहा प्रसवाय स्वाहापिजाय स्वाहा क्रतवे स्वाहा वसवे स्वाहाहर्पतये स्वाहाह्ने मुग्धाय स्वाहा मुग्धाय वैनंशिनाय स्वाहा विनंशिन आन्त्यायनाय स्वाहान्त्याय भौवनाय स्वाहा भुवनस्य पतये स्वाहाधिपतये स्वाहा प्रजापतये स्वाहा। [र]इयं ते राण्मित्राय यन्तासि यमनऽऊर्जे त्वा वृष्ट्यै त्वा प्रजानां त्वाधिपत्याय॥२८॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में वाजादि शब्दों से चैत्रादि मासों का उल्लेख करके कहते हैं कि उस-उस मास के लिए **स्वाहा**=हम सम्यक् आहुति देते हैं—(क) **वाजाय**=चैत्र मास के लिए (वाजः अन्नम्) अन्न के प्राचुर्य के कारण चैत्र मास अन्नरूप है, उसके लिए **स्वाहा**=हम आहुति देते हैं। (ख) **प्रसवाय**=प्रकृष्ट 'सव' अर्थात् स्नानवाले इस वैशाख मास के लिए **स्वाहा**=हम आहुति देते हैं, अर्थात् इस मास को यज्ञों में बिताते हैं। (ग) **अपिजाय**=(अप्सु जायते जलक्रीडारतत्वात् ज्येष्ठः) जो मास जल-क्रीड़ादि में ही बीतता है उस ज्येष्ठ मास

के लिए **स्वाहा**=हम आहुति देते हैं। (घ) **क्रतवे स्वाहा**=चातुर्मास्यादि यागों के प्राचुर्य के कारण आषाढ़ मास 'क्रतु' है, उस क्रतु के लिए हम उत्तम आहुति देते हैं। (ङ) चातुर्मास्य में यात्रादि निषेध के कारण श्रावण 'वसु' है, घर में ही निवास करानेवाला है। इस **वसवे स्वाहा**=श्रावण मास के लिए हम आहुति देते हैं। (च) (तापकरत्वाद् भाद्रपदस्य अहर्पतित्वम्) **अहर्पतयेऽस्वाहा**=मैं भाद्रपद मास के लिए आहुति देता हूँ। (छ) (तुषारादिना मोहरूपत्वं आश्विनः) **अह्ने मुग्धाय स्वाहा**=ओस आदि के कारण जिसमें स्पष्ट नहीं दीखता उस मुग्ध दिनोंवाले आश्विन मास के लिए मैं आहुति देता हूँ। (ज) **अमुग्धाय**=जिसमें अब ओस आदि न गिरने के कारण दिङ्मोह नहीं होता ऐसे **वैनंशिनाय**=थोड़ी घड़ियाँ होने से विनाशशील दिनोंवाले कार्तिक मास के लिए **स्वाहा**=हम आहुति देते हैं (झ) **अविनंशिने**= विनाश न होने देनेवाले **आन्त्यायनाय**=उस प्रभु के समीप पहुँचानेवाले (अन्तेभव: आन्त्य: च अयनं च) जो सबके अन्त में रहनेवाले तथा सबके अयन हैं, उस मार्गशीर्ष मास के लिए **स्वाहा**=हम सम्यक् आहुति देते हैं। **'मासानां मार्गशीर्षोऽहम्'** इस वाक्य में मार्गशीर्ष मास को प्रभु की विभूति माना गया है। (ञ) **आन्त्याय**=जिसमें छोटे दिनों का अन्त आ जाता है उस **भौवनाय**=जाठराग्नि की वृद्धि से प्राणियों के हितकर पौष मास के लिए **स्वाहा**=हम आहुति देते हैं। (ट) **भुवनस्य पतये स्वाहा**=प्राणियों के पालक माघ मास के लिए आहुति देता हूँ। (ठ) अन्त में **अधिपतये स्वाहा**=आधिक्येन रक्षक इस फाल्गुन मास के लिए आहुति देता हूँ और इस प्रकार **प्रजापतये स्वाहा**=प्रजापतिरूप इस संवत्सर के लिए आहुति देता हूँ, अर्थात् मेरा वर्ष यज्ञमय बीतता है। २. इस प्रकार जहाँ सारा वर्ष यज्ञ चलता है वहाँ **इयं ते राट्**=यह तेरा ही राज्य है। प्रभु के साम्राज्य में यज्ञ चलते हैं अथवा जहाँ यज्ञ हैं, वहाँ प्रभु का राज्य है। ३. **मित्राय यन्तासि**=मुझ यज्ञशील अपने मित्र के लिए तू इस शरीर-रूप रथ का सारथि है। मेरे जीवन-रथ को चलानेवाला है। ४. **यमनः**=तू अन्तर्यामिरूपेण सबका नियमन करनेवाला है। ५. हे प्रभो! मैं **त्वा**=आपको **ऊर्जे**= बल और प्राणशक्ति की प्राप्ति के लिए उपासित करता हूँ। **वृष्ट्यै त्वा**=मैं इसलिए आपकी उपासना करता हूँ कि आनन्द की वर्षा का अनुभव करूँ। **त्वा**=आपका उपासक इसलिए बनता हूँ कि **प्रजानां आधिपत्याय**=प्रजाओं का मैं आधिक्येन रक्षण करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—मेरा सम्पूर्ण वर्ष यज्ञमय बीते। मैं प्रभु का उपासक बनकर बल व प्राणशक्ति को प्राप्त करूँ, आनन्द की वर्षा का अनुभव करूँ तथा प्रजाओं का अधिपति बनूँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**यज्ञानुष्ठानात्मा**। छन्दः—**स्वाराड्विकृतिः**[क] **ब्राह्म्युष्णिक्**[र]।
स्वरः—**मध्यमः**[क], **ऋषभः**[र]॥

यज्ञेन कल्पताम्

[क]आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पताᳬंश्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां वाग्यज्ञेन कल्पतां मनो यज्ञेन कल्पतामात्मा यज्ञेन कल्पतां ब्रह्मा यज्ञेन कल्पतां ज्योतिर्यज्ञेन कल्पताᳬं स्वर्यज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्। [र]स्तोमश्च यजुश्चऽऋक् च साम च बृहच्च रथन्तरञ्च। स्वर्देवाऽअगन्मामृताऽअभूम प्रजापतेः प्रजाऽअभूम वेट् स्वाहा॥२९॥

१. गतमन्त्र में संवत्सर के बारह-के-बारह मासों को यज्ञमय बनाने का वर्णन था उसी बात को इस रूप में कहते हैं कि **आयुः**=मेरा सारा जीवन **यज्ञेन**=(यज्ञनिमित्तेन) यज्ञ के

हेतु **कल्पताम्**=सिद्ध हो। (कल्पताम् साध्यताम् प्राप्यताम्—म०)। इसी प्रकार २. **प्राणः यज्ञेन कल्पताम्**=मेरी प्राणशक्ति यज्ञ के निमित्त सिद्ध हो। मैं अपनी सम्पूर्ण प्राणशक्ति का प्रयोग यज्ञ के लिए करूँ। ३. जीवन और प्राण को यज्ञ के लिए सिद्ध करनेवाला मैं यही चाहता हूँ कि **चक्षुः श्रोत्रं वाग्यज्ञेन कल्पताम्**=मेरी आँख, मेरे कान तथा मेरी वाणी—ये सब यज्ञ के लिए सिद्ध हों। सवितादेव की कृपा से मेरी ये सब इन्द्रियाँ यज्ञात्मक शुभ कर्मों में लगी रहें। ४. **मनो यज्ञेन कल्पताम्**=सब इन्द्रियाश्वों के लिए लगामरूप यह मन भी यज्ञ के लिए अर्पित हो। मन की कृपा से **आत्मा यज्ञेन कल्पताम्**=मेरा यह देही (आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः) यज्ञिय बन जाए। ५. **ब्रह्मा यज्ञेन कल्पताम्**=चारों वेदों का ज्ञाता 'ब्रह्मा' मैं अपने को यज्ञ के निमित्त सिद्ध करूँ। ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञानी बनकर भी मैं यज्ञ-निवृत्त न हो जाऊँ। अपितु ज्ञानी बनकर मैं और अधिक लोकहितात्मक कर्मों में प्रवृत्त होऊँ। **ज्योतिः यज्ञेन कल्पताम्**=मेरा यह अन्तःप्रकाश यज्ञों के लिए सिद्ध हो। मैं अपने अन्दर उस प्रभु के प्रकाश को देखकर पूर्णरूप से ही 'यज्ञ' बन जाऊँ, इस यज्ञ से ही मैं उस यज्ञ (प्रभु) को उपासित करूँगा। ६. **स्वर्यज्ञेन कल्पताम्**=(स्वरिति व्यानः, व्यानः सर्वशरीरगः) मेरा सर्वशरीर व्यापी व्यानवायु यज्ञ के निमित्त सिद्ध हो, अर्थात् मेरी एक-एक चेष्टा यज्ञ के लिए हो। ७. **पृष्ठं** (पृष्ठं स्तोत्रं स्वर्गस्थानं वा 'दिवो नाकस्य पृष्ठात्) मेरा सारा प्रभु-स्तवन या सुखमय स्थिति यज्ञ के लिए हो। यज्ञ को ही मैं प्रभु-स्तवन समझूँ और यज्ञ को ही स्वर्ग जानूँ—यज्ञ में आनन्द लूँ। ८. लोकहित के लिए स्वार्थ की भावना से ऊपर उठकर किये गये कर्म 'यज्ञ' हैं। **यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्**=मेरे यज्ञ भी यज्ञ के लिए सिद्ध हों। यज्ञात्मक कर्मों को करते हुए मुझे किसी प्रकार की फलेच्छा न हो। ९. **स्तोमश्च**=(स्तुवन्ति यस्मिन् सोऽथर्ववेदः—द०) **यजुः च**=(यजति येन स यजुर्वेदः—द०) **ऋक् च साम च**=मेरे ये अथर्व, यजुः, ऋक् व साम नामक सब वेद यज्ञ के निमित्त सिद्ध हों। इस प्रकार **बृहत् च**=मेरा वर्धन-ही-वर्धन हो। **रथन्तरं च**=मैं इस शरीररूप रथ से इस भव-सागर को तीर्ण करनेवाला बनूँ। ११. हे **देवाः**=सब देवो! आपकी कृपा से, वस्तुतः आपको अपने अन्दर धारण करने से **स्वः अगन्म**=हम उस 'स्वयं राजमान' (स्व-र) ज्योति ब्रह्म को प्राप्त करें। **अमृताः अभूम**=मृत्युरूप रोगों से कभी आक्रान्त न हों। १२. इस प्रकार **प्रजापतेः प्रजाः अभूम**=प्रभु की प्रजा बनें। प्रभु की प्रजा बनकर **वेट्** (सत् क्रियया—द०) सत् क्रिया के द्वारा **स्वाहा**=हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले बनें। वस्तुतः अपने सत्कर्मों से ही हम प्रभु का अर्चन करनेवाले होंगें।

भावार्थ—यहाँ २९वें मन्त्र पर ११५ कर्म (वाज मेरा हो? प्रसव मेरा हो आदि) समाप्त होते हैं। जिस वाज से इन वाक्यों का प्रारम्भ हुआ था उसी वाज का उपयोग अगले मन्त्र में कहते हैं—

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**राज्यवानात्मा**। छन्दः—**स्वराड्जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

शक्ति के ऐश्वर्य में

वाज॑स्य॒ नु प्र॑स॒वे मा॒तरं॑ म॒हीमदि॑तिं॒ नाम॒ वच॑सा करामहे।
यस्या॑मि॒दं विश्वं॒ भुव॑नमावि॒वेश॒ तस्यां॑ नो दे॒वः स॑वि॒ता धर्मं॑ साविषत्॥३०॥

१. **वाजस्य नु प्रसवे**=शक्ति के ऐश्वर्य में, अर्थात् शक्तिसम्पन्न ऐश्वर्य के द्वारा शक्ति व ऐश्वर्य का सम्पादन करते हुए **मातरं महीम्**=इस अपनी भूमिमाता को **वचसा**=वचन के द्वारा, अर्थात् प्रतिज्ञा करके **अदितिम्**=अखण्डित, शत्रुओं से अपराभूत **नाम**=सार्थक

नामवाला **करामहे**=करते हैं। वस्तुतः वैदिक संस्कृति में अब भी विवाह–संस्कार के समय युवक व युवति व्रत लेते हैं कि हम अपने राष्ट्र को हारने नहीं देंगें। व्रत का नाम ही 'जयाहोम' है। हम राष्ट्र की विजय के लिए आहुति देते हैं। २. यह हमारी मातृभूमि वह है **यस्याम्**=जिसमें **इदं विश्वं भुवनम्**=ये सब लोक **आविवेश**=समन्तात् प्रवेश करता है, यहाँ किसी का आना निषिद्ध नहीं। जो भी यहाँ आकर रहना चाहे सभी के लिए यहाँ स्थान है। ३. हमारी तो यही इच्छा है कि **तस्याम्**=उस मातृभूमि में **सविता देवः**=सबका उत्पादक देव **नः**=हममें **धर्म**=धर्म को **साविषत्**=उत्पन्न करे। हमारी मनोवृत्ति अधर्म की ओर न झुके। हमारे हृदयक्षेत्र में सद् गुणों के बीज का प्रभुकृपा से वपन हो।

भावार्थ—१. हम शक्तिसम्पन्न बनें, उचित ऐश्वर्य को कमानेवाले बनें। शक्ति के द्वारा यदि हम मातृभूमि को राजनैतिक दासता से मुक्त करें तो ऐश्वर्यवृद्धि द्वारा इसे आर्थिक पराधीनता से भी मुक्त करें। हम मातृभूमि की स्वतन्त्रता के लिए वचनबद्ध हों। २. हमारी मातृभूमि सभी का स्वागत करनेवाली हो। ३. इसमें रहते हुए प्रभुकृपा से हम धर्म की प्रवृत्तिवाले बनें।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृदार्षीत्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

द्रविणं–वाजः

विश्वेऽअद्य मरुतो विश्वऽऊती विश्वे भवन्त्वग्नयः समिद्धाः।
विश्वे नो देवाऽअवसागमन्तु विश्वमस्तु द्रविणं वाजोऽअस्मे॥३१॥

१. पिछले मन्त्र के व्रत को पूरा करने के लिए प्रार्थना करते हैं कि **अद्य**=आज **विश्वे**=सब **मरुतः**=प्राण **अवसागमन्तु**=हमें प्राप्त हों। प्राण–साधना के द्वारा हम अपनी शक्ति व ऐश्वर्य–प्राप्ति–क्षमता की साधना करें। २. **विश्वे**=सब प्राण **ऊती**=रक्षण के हेतु **आगमन्तु**=हमें प्राप्त हों। ३. हमारे जीवन में **विश्वे अग्नयः**=सब अग्नियाँ **समिद्धाः भवन्तु**=दीप्त हों। हमारे शरीर में जाठराग्नि के द्वारा शक्ति की अग्नि प्रज्वलित हो, हमारे हृदय में स्नेह की अग्नि का तथा हमारे मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि का प्रादुर्भाव हो। ४. **विश्वे देवाः**=सब देव **अवसा**=रक्षण के हेतु से **नः**=हमें **आगमन्तु**=प्राप्त हों और ५. उन देवों की कृपा से **विश्वम्**=सब **द्रविणम्**=धन तथा **वाजः**=शक्ति **अस्मे**=हमारे लिए **अस्तु**=हो।

भावार्थ—देवों की कृपा व रक्षण से हमें शक्ति व ऐश्वर्य प्राप्त हो। इस शक्ति व ऐश्वर्य के द्वारा हम अपनी मातृभूमि की स्वतन्त्रता का साधन करें।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**अन्नवान् विद्वान्**। छन्दः—**निचृदार्ष्यनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

वाजः

वाजो नः सप्त प्रदिशश्चतस्रो वा परावतः।
वाजो नो विश्वैर्देवैर्धनसाताविहावतु॥३२॥

१. **नः**=हमारा **वाजः**=बल **सप्त प्रदिशः**=सात प्रकृष्ट दिशाओं को 'पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण व भूः–भुवः–स्वः' इन सात लोकों में रहनेवाले प्राणियों को **वा**=तथा **चतस्रः**=चार **परावतः**=दूरस्थ लोकों 'महः, जनः, तपः व सत्यम्' नामवाले लोकों में रहने वालों को **अवतु**=रक्षित करनेवाला हो। मेरी शक्ति सदा सभी की रक्षा में विनियुक्त हो। २. 'वाजः' का अर्थ 'अन्न' भी होता है। मेरा अन्न केवल मेरा ही पोषण करनेवाला न हो। मैं 'केवलादी' 'बनकर' 'केवलाघ' न हो जाऊँ। अग्निहोत्र द्वारा मैं इस आहुति को सूर्य तक पहुँचाकर सभी लोकों में रहनेवाले प्राणियों को उसमें भागी करूँ। ३. **नः**=हमारी **वाजः**=यह

शक्ति व अन्न **विश्वैः देवैः**=सब दिव्य गुणों के साथ **धनसातौ**=धन की प्राप्ति होने पर **इह**=इस मानव-जीवन में **अवतु**=सभी को प्रीणित करनेवाले हों।

भावार्थ—हमारी शक्ति व धन 'सातों लोकों व चारों दिशाओं को तृप्तकरनेवाले हों।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**अन्नपतिः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

दान-दिव्यता-वीरता-विजय

वाजो नोऽअद्य प्रसुवाति दानं वाजो देवाँ२॥ऽऋतुभिः कल्पयाति।
वाजो हि मा सर्ववीरं जजान विश्वाऽआशा वाजपतिर्जयेयम्॥ ३३॥

१. **वाजः**=शक्ति **नः**=हममें **अद्य**=आज **दानम्**=दान को **प्रसुवाति**=(प्रेरयेत्) प्रेरित करे। शक्तिशाली व्यक्ति कृपणता को कायरता समझता है, इसलिए वह देता है, लेने से वह मरना अच्छा समझता है। २. **वाजः**=यह शक्ति **ऋतुभिः**=नियमित-व्यवस्थित गति द्वारा **देवान्**=दिव्य गुणों को **कल्पयाति**=सिद्ध करती है। शक्ति के कारण हममें दिव्य गुणों का विकास होता है। वर्च (Virtue) वीरत्व ही तो है और अवीरता ही ईवल (evil) है। ३. **वाजः**=यह शक्ति **हि**=निश्चय से **मा**=मुझे **सर्ववीरम्**=सब दिशाओं में वीर-ही-वीर बनाती हैं। मैं दान देने में वीर बनता हूँ, इन्द्रियों के संयम में वीर बनता हूँ, माता-पिता, आचार्य की सेवा में वीर बनता हूँ तथा स्वाध्याय में भी शूर बनता हूँ। ४. **वाजपतिः**=इस शक्ति का पति बनकर **विश्वाः आशाः**=सब दिशाओं को **जयेयम्**=मैं जीतनेवाला बनूँ। मैं कहीं पराजित न होऊँ। 'विजय ही सदाचार है, पराजय ही अनाचार है' इन आचार्य दयानन्द के शब्दों के अनुसार इस वाज के द्वारा मैं सर्वत्र विजयी बनूँ।

भावार्थ—वाज के द्वारा शक्ति के परिणामस्वरूप मुझमें दान की वृत्ति हो, सब दिव्य गुणों का मुझमें विकास हो। मैं वीर बनूँ और विजयी होऊँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**अन्नपतिः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

सर्व-दिग्विजय

वाजः पुरस्तादुत मध्यतो नो वाजो देवान् हविषा वर्द्धयाति।
वाजो हि मा सर्ववीरं चकार सर्वाऽआशा वाजपतिर्भवेयम्॥ ३४॥

१. **वाजः**=यह शक्ति **नः पुरस्तात्**=हमें आगे ले-चलनेवाली हो। शक्ति के कारण मैं निरन्तर उन्नति करता चलूँ। **उत**=और यह शक्ति **नः**=हमें **मध्यतः**=मध्य मार्ग से ले-चलनेवाली हो। अशक्त पुरुष ही अति में चलता है। क्षीण व्यक्ति शीघ्र क्रुद्ध हो उठता है। २. **वाजः**=शक्ति **हविषा**=दानपूर्वक अदन के द्वारा, यज्ञ करके यज्ञशेष को खाने की वृत्ति के द्वारा **देवान्**=दिव्य गुणों को **वर्द्धयाति**=बढ़ाती है। सारे आसुर दुर्गुण अयज्ञिय भावना व लोभ के ही परिणाम हैं। यज्ञशेष खाने से मुझमें लोभ की वृत्ति समाप्त होकर अच्छे गुणों का निरन्तर विकास होगा। ३. **वाजः**=यह शक्ति **मा**=मुझे **हि**=निश्चय से **सर्ववीरम्**=सब दिशाओं में वीर-ही-वीर **चकार**=कर देती है। मुझमें कायरता का किसी भी रूप में निवास नहीं होता। ४. **वाजपतिः**=शक्ति का पति बनकर मैं **सर्वाः आशाः**=सब दिशाओं को **भवेयम्**=प्राप्त करूँ (भू प्राप्तौ)—वशीभूत करूँ। मेरी सर्वत्र विजय-ही-विजय हो।

भावार्थ—मैं शक्ति से आगे बढूँ, मध्य मार्ग में चलूँ। मुझमें त्याग के कारण सब दिव्य गुणों का विकास हो। मैं वीर बन जाऊँ और सर्वदिग्विजय करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**रसविद्याविद्विद्वान्**। छन्दः—**स्वराडार्ष्यनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

अप् ओषधि

सं मा सृजामि पयसा पृथिव्याः सं मा सृजाम्यद्भिरोषधीभिः।
सोऽहं वाजꣳसनेयमग्ने ॥३५॥

१. मैं **पृथिव्याः**=इस पृथिवी के—पृथिवीरूप शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों के **पयसा**=आप्यायन (ओप्यायी वृद्धौ) से अथवा (पयः=रस) रस से **मा**=मुझे **सं सृजामि**=संसृष्ट करता हूँ, युक्त करता हूँ। मैं अपने सब अङ्गों को शक्तिशाली बनाता हूँ। २. इसी उद्देश्य से मैं **मा**=मुझे, अर्थात् अपने को **अद्भिः**=जलों से तथा **ओषधीभिः**=ओषधियों से **सं सृजामि**=संयुक्त करता हूँ, अर्थात् जलों व ओषधियों का प्रयोग करता हूँ। जल और ओषधियों के प्रयोग से सात्त्विक सोमशक्ति को प्राप्त करता हुआ मैं अपने सब अङ्गों का आप्यायन करनेवाला बनता हूँ। ३. **सः अहम्**=वह मैं **अग्ने**=उन्नति-साधक प्रभो! **वाजम्**=शक्ति को **सनेयम्**=प्राप्त करूँ। मैं शक्ति से सना हुआ हो जाऊँ। मेरे सब अङ्गों में शक्ति का सञ्चार हो जाए।

भावार्थ—हम सम्पूर्ण शरीर का आप्यायन करें। जलों व ओषधियों का प्रयोग करें और एक-एक अङ्ग को शक्ति से युक्त बनाने के लिए यत्नशील हों।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**रसविद्याविद्विद्वान्**। छन्दः—**आर्ष्यनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

आप्यायन

पयः पृथिव्यां पयऽओषधीषु पयो दिव्यन्तरिक्षे पयो धाः।
पयस्वतीः प्रदिशः सन्तु मह्यम् ॥३६॥

१. मेरे लिए **पृथिव्याम्**=पृथिवी में **पयः**=आप्यायन हो। **ओषधीषु**=पृथिवी से उत्पन्न इन ओषधियों में आप्यायनकारी रस हो। २. **पयः दिवि**=इस द्युलोक में भी सूर्यरश्मियों के द्वारा मेरे लिए आप्यायन व वर्धन हो। ३. हे प्रभो! आप कृपा करके **अन्तरिक्षे**=मेघों के आधारभूत अन्तरिक्ष में भी **पयः धाः**=आप्यायन का धारण कीजिए। यह अन्तरिक्षलोक भी मेरे लिए आप्यायन करनेवाला हो। वृष्टि के द्वारा यह उत्तम ओषधियों को प्राप्त कराके मेरे सब अङ्गों में रस का सञ्चार करे। ४. इस प्रकार **मह्यम्**=मेरे लिए **प्रदिशः**=ये प्रकृष्ट दिशाएँ **पयस्वतीः सन्तु**=आप्यायनवाली हों। मेरा सारा वातावरण ही आप्यायन से परिपूर्ण हो। यह सब विश्व मेरे साथ शान्ति में हो और इस प्रकार मेरे वर्धन का कारण बने।

भावार्थ—पृथिवी, ओषधियाँ, द्युलोक, अन्तरिक्ष व सब प्रकृष्ट दिशाएँ मेरा आप्यायन करनेवाली हों। अब इस आप्यायन ही आप्यायनवाले व्यक्ति का राज्याभिषेक करते हैं—

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**सम्राड् राजा**। छन्दः—**आर्षीपङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

साम्राज्याभिषेक

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्।
सरस्वत्यै वाचो यन्तुर्यन्त्रेणाग्नेः साम्राज्येनाभिषिञ्चामि ॥३७॥

१. **देवस्य सवितुः**=सब-कुछ देनेवाले दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु के इस **प्रसवे**=उत्पन्न जगत् में अथवा प्रभु की प्रेरणा में **त्वा**=तुझे **अभिषिञ्चामि**=अभिषिक्त करता हूँ। तेरा राज्याभिषेक करता हूँ, अथवा गतमन्त्र में वर्णित आप्यायनकारी रस से तुझे सिक्त करता हूँ और निम्न बातों से तुझे युक्त करता हूँ—२. **अश्विनोर्बाहुभ्याम्**=प्राणापान के प्रयत्न से तू

सदा प्रयत्नशील होता है, तेरे प्राणापान तुझे क्रियामय जीवनवाला बनाते हैं, अथवा **अश्विनोः**=सूर्य-चन्द्रमा के **बाहुभ्याम्**=प्रयत्नों से। सूर्य और चन्द्रमा की भाँति तू सदा क्रियाशील होता है। **स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव**=वेद का यही तो उपदेश है कि हम सूर्य और चन्द्रमा की भाँति नियमित गति से कल्याण के मार्ग का आक्रमण करें। ३. **पूष्णो हस्ताभ्याम्**=पूषा के हाथों से। 'पूषा' पोषण की देवता है, हाथों का काम ग्रहण करना है। तू सदा पोषण के लिए ही उस-उस वस्तु का ग्रहण करता है। तेरे आहार का मापक 'पोषण' होता है न कि 'स्वाद'। ४. **सरस्वत्यै (सरस्वत्याः) वाचः**=सरस्वती की वाणी से, तेरी वाणी 'विद्या की अधिदेवता' की वाणी होती है। तू वाणी से विद्या का ग्रहण करनेवाला व ज्ञान का प्रसार करनेवाला बनता है। ५. **यन्तुः यन्त्रेणा**=नियन्ता के नियन्त्रण से। तू बुद्धिरूप सारथि से मनरूप लगाम द्वारा इन्द्रियाश्वों का नियन्त्रण करनेवाला बनता है। ६. और अन्त में **अग्नेः साम्राज्येन**=अग्नि के साम्राज्य से। आगे बढ़नेवाले, उन्नति करनेवाले पुरुष के साम्राज्य से—पूर्ण इन्द्रिय-विजय से, तू जितेन्द्रिय बनता है। वस्तुतः इस जितेन्द्रियता में ही सारी उन्नतियों का रहस्य निहित है। इसी से तू आगे बढ़ता है और अपना सम्राट् बनकर प्रजाओं का भी सम्राट् बन पाता है। **'जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः'**, जितेन्द्रिय पुरुष ही सब प्रजाओं को वश में स्थापित करता है।

भावार्थ—हम अपने जीवन में प्रभु-प्रेरणा में चलें (प्रसवे), प्राणापान के प्रयत्न से आवश्यक सामग्री का अर्जन करें, पोषण के लिए ही वस्तुओं का ग्रहण करें। हमारी वाणी विद्या के लिए हो। इन्द्रियादि के हम नियन्ता बनें और यह नियन्त्रित्व, जितेन्द्रियता, आधिपत्य, साम्राज्य हमें अग्नि बनाये, हमारी उन्नति का कारण हो।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**ऋतुविद्याविद्विद्वान्**। छन्दः—**विराडार्षीत्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

ऋताषाट् ऋतधामा

ऋताषाडृतधामाग्निर्गन्धर्वस्तस्यौषधयोऽप्सरसो मुदो नाम।
स नऽइदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा॥३८॥

१. गतमन्त्र में 'अभिषिक्त करने' का उल्लेख है। यह अभिषिक्त—सिंहासनारूढ़ हुआ व्यक्ति **ऋताषाट्**=(ऋतं सत्यं सहते, असत्ये कुपितो भवतीत्यर्थः) अपने राष्ट्र में सत्य व्यवहार को ही सहन करता है, असत्य को नहीं। राष्ट्र में से असत्य के उन्मूलन के लिए ही उसका राज्याभिषेक हुआ है। २. इस असत्य के उन्मूलन के लिए यह पहले अपने जीवन में से असत्य का उन्मूलन करता है। असत्य का उन्मूलन करके यह **ऋतधामा**=स्वयं ऋत का धाम बनता है। अपने जीवन में से अनृत को दूर करता है तभी ३. **अग्निः**=राष्ट्र का अग्रेणी बन पाता है। स्वयं अवनत राजा प्रजा को उन्नत नहीं कर सकता। स्वयं ऋत का धाम बनकर अग्नि की भाँति यह राष्ट्र के सब मलों को भस्म करनेवाला होता है। ४. और **गन्धर्वः**=वेदवाणी का धारण करता है अथवा (गां भूमिम्) राष्ट्र का धारण करता है। ५. **तस्य**=उस 'ऋताषाड्' के **अप्सरसः**=(अप्सु सरन्ति) प्रजाओं में विचरण करनेवाले अध्यक्ष लोग **ओषधयः**=(उष दाहे) प्रजाओं में से दोषों का दहन करनेवाले होते हैं। दोषों का दहन करके ही वे **मुदः नाम**=मुद् नामवाले होते हैं (मोदन्ते जना याभिः) सारी प्रजा का अनुरञ्जन—मोद करनेवाले होते हैं। ६. **सः**=ऐसा—इस प्रकार के अप्सरोंवाला यह राजा **नः**=हमारे **इदं ब्रह्म क्षत्रम्**=इस ज्ञान व शक्ति को **पातु**=रक्षित करे। राजा का प्रमुख कर्त्तव्य यही है कि वह प्रजा को मस्तिष्क के दृष्टिकोण से ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञानवाला बनाए तथा

शरीर के दृष्टिकोण से स्वस्थ व सबल बनाए। आदर्श मनुष्य वे ही हैं जिनके मस्तिष्क व शरीर दोनों उन्नत हैं। ७. इस राजा के लिए **स्वाहा**=(स्व+हा) हम धन का त्याग करते हैं, अर्थात् उचित कर आदि देते हैं, परन्तु उस कर-प्राप्त धन को यह राजा **वाट्** (वहति प्रजां प्रापयति)=प्रजाओं के लिए ही फिर से प्राप्त करानेवाला होता है। ८. **ताभ्यः स्वाहा**=उन प्रजाओं में विचरण करनेवाले अध्यक्षों के लिए भी हम (स्वाहा=स्व-हा) अपने सुख आदि का त्याग करते हैं, अर्थात् जब वे राष्ट्रीय कार्य से हमारे बीच में उपस्थित होते हैं तब हम उन्हें अधिक-से-अधिक सुविधा पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ—राजा 'ऋताषाट्, ऋतधामा, अग्नि व गन्धर्व' हो। उसके अध्यक्ष 'ओषधि व मुद्' हों। ये प्रजा के ब्रह्म व क्षत्र की रक्षा करें। प्रजाएँ राजा को कर दें। राजा उस कर का प्रजाहित में ही विनियोग करे। प्रजाएँ अप्सरों को कार्य में सुविधा पहुँचाने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**भुरिगार्षीत्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

संहितः विश्वसामा

सꣳहितो विश्वसामा सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयोऽप्सरसऽआयुवो नाम।
स नऽइदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा॥३९॥

१. **संहितः**=(सन्दधाति) यह सम्राट् अपनी प्रजाओं में अधिक-से-अधिक मेल पैदा करता है। इसके राष्ट्र में वर्ण, जाति व धर्म के नाम पर लोग परस्पर लड़ते नहीं रहते। २. **विश्वसामा**=(विश्वानि सर्वाणि सामानि यस्य) यह सम्राट् सम्पूर्ण सामोंवाला होता है, प्रजा-सान्त्वन के उपायोंवाला होता है। ३. **सूर्यः**=इसी उद्देश्य से निरन्तर गतिवाला (सरति) तथा सूर्य के समान अज्ञानान्धकार को दूर करनेवाला होता है। प्रजाओं के अन्धकार को दूर करके ही यह उनमें मेल व शान्ति की स्थापना करता है। ४. इस प्रकाश के फैलाने के लिए यह 'गन्धर्वः' वेदवाणी का धारण करनेवाला होता है और वेदवाणी के अनुसार ही राष्ट्र का धारण करनेवाला बनता है। ५. **तस्य**=उस सम्राट् के **अप्सरसः**=अध्यक्ष (अप्सर) भी **मरीचयः**=सूर्य-किरणों के समान ही (म्रियते तमो यैः) अन्धकार को दूर करनेवाले होते हैं, प्रजा में शिक्षा का विस्तार करते हैं और इस प्रकार **आयुवः नाम**='आयुवः' नामवाले होते हैं (आसमन्तात् युवन्ति) सारी प्रजाओं में गुणों का सम्पर्क व अवगुणों का पार्थक्य करनेवाले होते हैं ६. **सः**=ऐसा वह राजा **नः**=हमारे **ब्रह्म क्षत्रम्**=ज्ञान व बल की **पातु**=रक्षा करे। ७. **तस्मै स्वाहा**=उस राजा के लिए हम कर दें। ८. **वाट्**=उस कर को वह प्रजाहित के लिए ही प्राप्त करानेवाला हो। ९. **ताभ्यः स्वाहा**=हम उन अध्यक्षों के लिए भी अपने सुख को छोड़कर उन्हें कार्य में सुविधा प्राप्त करानेवाले हों।

भावार्थ—राजा प्रजा में मेल पैदा करे। सम्पूर्ण शान्ति के साधनों का प्रयोग करे। सूर्य की भाँति गतिशील व अन्धकार-विनाशक हो। राष्ट्र का धारण करे। इसके अध्यक्ष भी तेज के ही त्रसरेणु हों—प्रजा में से अवगुणों को दूर करके गुणों का स्थापन करनेवाले हों। यह राजा हमारे ज्ञान व बल की रक्षा करे। इसे हम कर दें। यह कर का विनियोग प्रजाहित के लिए करे। हम अध्यक्षों के लिए अपने आराम को छोड़नेवाले होकर उन्हें सहायता दें।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**चन्द्रमाः**। छन्दः—**निचृदार्षीजगती**। स्वरः—**निषादः**॥

सुषुम्णः सूर्यरश्मिः

सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वस्तस्य नक्षत्राण्यप्सरसो भेकुरयो नाम।
स नऽइदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा॥४०॥

१. यह सम्राट् **सुषुम्णः**=(शोभनं सुम्णं यस्य) उत्तम स्तोमोंवाला तथा प्रजा को उत्तम सुख पहुँचानेवाला होता है। वस्तुतः प्रजारञ्जनात्मक स्वधर्म से ही यह प्रभु का स्तवन करता है २. **सूर्यरश्मिः**=प्रभु के उपासन से यह सूर्य के समान ज्ञान की रश्मियोंवाला होता है ३. **चन्द्रमाः**=(चदि आह्लादे, चन्दति चन्दयति वा) सदा प्रसन्न मनोवृत्तिवाला होता है और सारी प्रजा को आनन्दित करने का प्रयत्न करता है ५. **गन्धर्वः**=वेदवाणी का धारण करता है और उस वेद के अनुसार राष्ट्र का भी धारण करनेवाला बनता है। ५. **तस्य**=उस राजा के **अप्सरसः**=अध्यक्ष लोग (अप्सु सरन्ति) **नक्षत्राणि**=(नक्षन्ते त्रायन्ते) सदा गतिशील होते हैं और प्रजा का रक्षण करते हैं। इस प्रजा के रक्षणात्मक कार्य के लिए ही **भेकुरयः नाम**=(भाकुरयः) प्रजा के अन्दर प्रकाश फैलानेवाले होते हैं, अतः इनका नाम ही 'भेकुरि' हो जाता है। सूर्य के समान ज्ञान की रश्मियोंवाले होकर ये प्रजा के अज्ञानान्धकार को क्यों न दूर करेंगे? ६. **सः**=वह सम्राट् **नः**=हमारे **इदम्**=इस **ब्रह्म**=ज्ञान को तथा **क्षत्रम्**=बल को **पातु**=सुरक्षित करे। ७. **तस्मै स्वाहा**=उस राजा के लिए हम **स्व**=कररूप धन **हा**=देनेवाले हों। ८. **वाट्**=राजा उस कर को प्रजाहित में विनियुक्त करता हुआ उसे फिर से प्रजा को प्राप्त करानेवाला हो। ९. **ताभ्यः स्वाहा**=उस राजा के अध्यक्षों के लिए भी हम अपने आराम का त्याग करते हैं।

भावार्थ—राजा प्रजा को उत्तम राज्य-व्यवस्था के द्वारा आनन्दित करता हुआ सच्चा प्रभु-स्तवन करता है। सूर्य के समान ज्ञानरश्मियों को चारों ओर फैलाता है। स्वयं आनन्दमय मनोवृत्तिवाला होता हुआ प्रजा को आनन्दित करता है। वेदवाणी के अनुसार राष्ट्र का धारण करता है। उसके अध्यक्ष लोग भी गतिशील, प्रजा-रक्षक व प्रकाश को चारों ओर फैलानेवाले होते हैं।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**वातः**। छन्दः—**स्वराड्विकृतिः**[क], **ब्राह्म्युष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**॥

इषिरो विश्वव्यचाः

इ॒षि॒रो वि॒श्वव्य॑चा॒ वातो॑ गन्ध॒र्वस्तस्या॒पो॑ऽअप्स॒रस॒ऽ ऊर्जो॒ नाम॑।
स न॑ऽइ॒दं ब्रह्म॑ क्ष॒त्रं पा॑तु॒ तस्मै॒ स्वाहा॒ वाट्॒ ताभ्यः॒ स्वाहा॑॥४१॥

१. यह सम्राट् **इषिरः**=(क्षिप्रः इष गतौ) शीघ्रता से गतिवाला होता है। अपने सब कार्यों को निरालस्यता से करनेवाला होता है। २. **विश्वव्यचा**=(विश्वस्मिन् व्यचो गमनं यस्य) सारे राष्ट्र में निरीक्षण के लिए जानेवाला होता है। ३. **वातः**=वायु के समान निरन्तर गतिवाला होता है। गति के द्वारा सारी बुराइयों का उच्छेदन करनेवाला होता है। ४. **गन्धर्वः**=इस गतिशीलता से वेदज्ञान का धारण करनेवाला बनता है और उस वेदज्ञान के अनुसार ही राष्ट्र का धारण करता है। ५. **तस्य**=उस सम्राट् के **अप्सरसः**=प्रजाओं में विचरण करनेवाले अध्यक्ष लोग भी **आपः**=(आप् व्याप्तौ) जलों की भाँति व्यापक व शान्त गतिवाले होते हैं **ऊर्जः नाम**=ये प्रजा के बल व प्राणशक्ति को बढ़ानेवाले होते हैं। ६. **सः**= वह सम्राट् **नः**=हमारे **इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु**=ज्ञान व बल को बढ़ाए। ७. **तस्मै स्वाहा**=उसके लिए हम कर दें। ८. **वाट्**=राजा उस कर को फिर से प्रजाओं का पालन करने के लिए प्राप्त कराता है। ९. **ताभ्यः स्वाहा**=उन अध्यक्षों के लिए भी हम अपने आराम को छोड़कर उनके कार्यों में सहायक बनें।

भावार्थ—राजा गतिशील, क्रियाशील हो। अध्यक्ष क्रियाशील हों। प्रजा को भी क्रियाशील बनाकर बल व प्राणशक्ति सम्पन्न करें।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**आर्षीपङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

भुज्युः सुपर्णः

भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वस्तस्य दक्षिणाऽअप्सरसं स्तावा नाम।
स नऽइदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा॥४२॥

१. सम्राट् का पहला कर्त्तव्य **भुज्युः** शब्द से सूचित हो रहा है। 'भोजयते' यह सबके भोजन की व्यवस्था करनेवाला होता है। आपस्तम्ब के शब्दों में **'नास्य विषये क्षुधाया अवसीदेत्'** इसके राष्ट्र में कोई भी व्यक्ति भूख से अवसन्न न हो। राजा ऐसी व्यवस्था करे कि राष्ट्र में कभी अकाल की स्थिति न हो। २. यह **सुपर्णः**=उत्तमता से पालन व पूरण करनेवाला है। यह सम्राट् राष्ट्र का रक्षण करता है और न्यूनताओं को दूर करता है। ३. **यज्ञः**=(यज् संगतिकरण) यह प्रजाओं के साथ मेल करनेवाला होता है। ४. **गन्धर्वः**=यह राजा वेदवाणी का धारण करनेवाला हो और वेदवाणी के अनुसार राष्ट्र का धारण करनेवाला हो। ५. **तस्य**=उस सम्राट् के **अप्सरसः**=अध्यक्ष **दक्षिणा**=अपने कार्यों में बड़े चतुर (Dexterous) होते हैं। प्रजा की मनोवृत्ति को समझते हुए बड़ी कुशलता से, प्रजा-कार्यों के साधक होते हैं, अतएव **स्तावा नाम** (स्तूयन्ते)=प्रजाओं से प्रशंसित होकर 'स्तावा' नामवाले होते हैं। ६. **सः**=वह राजा **नः**=हमारे **इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु**=इस ज्ञान व बल की रक्षा करे। ७. **तस्मै स्वाहा**=उस राजा के लिए हम **स्व**=धन का कर के रूप में **हा**=त्याग करें। ८. वह राजा **वाट्**=प्रजाहित के लिए ही इस धन का विनियोग करे। ९. **ताभ्यः स्वाहा**=उन अध्यक्षों के लिए भी हम अपने स्वार्थ को छोड़कर उनके कार्यों में सहायक होते हैं।

भावार्थ—राष्ट्र में कोई भूखा न मरे। राजा ऐसी व्यवस्था करे कि प्रजा के जीवन में न्यूनताएँ उत्पन्न न हों। अध्यक्ष कुशलता से कार्य करें। इतनी कुशलता से कि वे प्रजा में प्रशंसित हों।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**विश्वकर्मा**। छन्दः—**विराडार्षीजगती**। स्वरः—**निषादः**॥

प्रजापतिः विश्वकर्मा

प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनो गन्धर्वस्तस्यऽऋक्सामान्यप्सरसऽएष्टयो नाम।
स नऽइदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा॥४३॥

१. सम्राट् का कर्त्तव्य एक शब्द में यह है कि वह **प्रजापतिः**=प्रजा का पालक हो। प्रजा-रक्षा के उद्देश्य से ही राजा ने उस-उस कार्य को करना है। २. **विश्वकर्मा**=यह राजा सब कार्यों को करनेवाला हो। यह किसी कार्य को छोटा न समझे। ३. **मनः**=यह राजा अत्यन्त मननशील हो और सदा विचारपूर्वक ही कार्यों को करनेवाला हो। विशेषकर 'कानून बनाना व दण्ड देना' ये दो कार्य तो अत्यधिक विचार की अपेक्षा रखते हैं। ४. यह विचारशील राजा **गन्धर्वः**=वेदवाणी का धारण करनेवाला हो और उसके अनुसार इस राष्ट्रभूमि का धारण करे। ५. **तस्य**=उस राजा के **अप्सरसः**=अध्यक्ष लोग **ऋक्सामानि**=विज्ञान (ऋक्) व उपासना-(साम)-वाले हों। 'ऋक्' शब्द उनके ज्ञान व क्रिया का संकेत करता है और 'साम' श्रद्धा का सूचक है। इस विद्या व श्रद्धा के द्वारा **एष्टयः नाम**=(आ समन्तात् इष्टयो येषाम्) ये सदा यज्ञोंवाले होते हैं, उत्तम कर्मों को करनेवाले होते हैं। दूसरे शब्दों में इन अध्यक्ष लोगों के जीवन में ज्ञान, श्रद्धा व कर्म का सुन्दर समन्वय होता है। ये मस्तिष्क, हृदय व हाथों—सबकी शक्ति का विकास करते हैं। ६. **सः**=वह राजा **नः**=हमारे **इदं ब्रह्म क्षत्रम्**=इस ज्ञान व बल को **पातु**=सुरक्षित करे। ७. **तस्मै स्वाहा**=उस राजा के

लिए हम **स्वः**=धन का कर के रूप में **हा**=त्याग करें। वह राजा **वाट्**=इस धन को फिर प्रजा को ही प्राप्त करानेवाला हो, प्रजाहित के लिए ही उसका विनियोग करे। ९. **ताभ्यः स्वाहा**=उन अध्यक्षों के लिए हम स्वार्थ का त्याग करते हैं, अपने आराम को छोड़कर उनके कार्यों में सहायक होते हैं।

भावार्थ—राजा अपना मूल कर्म 'प्रजा-रक्षण' समझे। वह स्वयं सब कर्मों को करता हुआ प्रजा में श्रम के आदर को बढ़ाए।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**प्रजापतिः**। छन्दः—**भुरिगार्षीपङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

भुवनपति-प्रजापति

स नो भुवनस्य पते प्रजापते यस्य तऽउपरि गृहा यस्य वेह।
अस्मै ब्रह्मणेऽस्मै क्षत्राय महि शर्म यच्छ स्वाहा॥४४॥

१. **भुवनस्य पते**=घरों के स्वामिन् तथा **प्रजापते**=उन घरों में रहनेवाली प्रजाओं के रक्षक! (क) यहाँ 'भुवनस्य पते' यह सम्बोधन स्पष्ट संकेत कर रहा है कि सब घरों का स्वामी सम्राट् ही है। राजा ने सारी प्रजा को रहने के लिए उचित घर प्राप्त कराना है। राजा इस बात का ध्यान करे कि किसी को भी सड़क के किनारे न सोना पड़े। (ख) राजा घर देता है, घर में रहनेवालों की चोर आदि से रक्षा करता है। राष्ट्र में चोर-डाकुओं के भय से प्रजा की नींद नष्ट नहीं हो जाती है। २. **सः**=वह तू **यस्य ते**=जिस तेरे **उपरि गृहाः**=ऊपर भी घर हैं और **यस्य वा इह**=जिसके यहाँ भी घर हैं, अर्थात् जिस तूने पर्वतों पर भी घरों का निर्माण किया है और यहाँ मैदानों में भी घरों का निर्माण किया है, ऐसा तू **नः**=हमारे लिए **अस्मै ब्रह्मणे**=इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए तथा **अस्मै क्षत्राय**=इस बल के संवर्धन के लिए **महि**=महनीय, प्रशंसनीय **शर्म**=घर (शर्म=House) **यच्छ**=दे। राजा प्रजा को इस प्रकार के घर प्राप्त कराए, जो घर स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त हितकर होकर बल की वृद्धि का कारण बनें। उन घरों के अन्दर स्वस्थ शरीर व स्वस्थ मस्तिष्कवाले बनकर हम ज्ञान की वृद्धि करनेवाले हों। जिन घरों में सूर्य-किरणों का पर्याप्त प्रवेश नहीं होता वे न स्वास्थ्य के लिए उत्तम होते हैं, न ही ज्ञानवर्धक कार्यों के लिए अनुकूल होते हैं। ३. हे राजन्! ऐसे तेरे लिए **स्वाहा**=हम सब प्रजाएँ कर देनेवाली हों और तू भी **स्वाहा**=प्रजाओं के हित के लिए अपने सब स्वार्थों व सुखों की आहुति दे देनेवाला हो।

भावार्थ—राजा प्रत्येक प्रजावर्ग को स्वास्थ्य व वृद्धि के दृष्टिकोण से उत्तम घर प्राप्त करानेवाला हो।

सूचना—'**यस्य ते उपरि गृहा वेह**' इस मन्त्रभाग की यह भी भावना है कि जिस तेरा परलोक व इहलोक दोनों ही स्थानों में घर है। प्रजा का हित करनेवाला राजा इहलोक में भी प्रशंसित होता है और परलोक में भी स्वर्ग को प्राप्त करनेवाला होता है। ऐसे राजा के राज्य में रहते हुए लोग 'सुख का निर्माण' करते हैं, अतः 'शुनःशेप' नामवाले होते हैं। इनके विषय में ही अगले नौ मन्त्रों में (४५ से ५३) हम अध्ययन करेंगे—

ऋषिः—**शुनःशेपः**। देवता—**प्रजापतिः**। छन्दः—**निचृदष्टिः**। स्वरः—**मध्यमः**॥

प्रभु की ओर

समुद्रोऽसि नभस्वानार्द्रदानुः शम्भूर्मयोभूरभि मा वाहि स्वाहा मारुतोऽसि मरुतां गणः शम्भूर्मयोभूरभि मा वाहि स्वाहावस्यूरसि दुवस्वाञ्छम्भूर्मयोभूरभि मा वाहि स्वाहा॥४५॥

१. गतमन्त्रों की भावना के अनुसार अपने ज्ञान व बल का वर्धन करनेवाला व्यक्ति अपने जीवन को कैसा बनाता है? प्रभु प्रेरणा करते हैं कि **समुद्रः असि**=(स-मुद्) तू सदा प्रसन्नता के साथ रहता है। तेरा जीवन आनन्दमय होता है। सांसारिक सुख-दु:खों में, ज्ञान के कारण समवृत्तिवाला होकर तू अपने मनःप्रसाद को नष्ट नहीं होने देता। २. **नभस्वान्**=(क) (नभस्वान्=Both the worlds, Heaven and Earth) इस मानस प्रसाद व शारीरिक स्वास्थ्य के कारण ही जीवन को सुन्दर बनाकर तू उभय लोककल्याण को सिद्ध करता है। इस लोक के अभ्युदय व परलोक के निःश्रेयसवाला होता है। (ख) नभस्वान् (नभ्=to kill) तू नभस्वाला होता है, अर्थात् तू बुराई को मूल में ही समाप्त करनेवाला होता है (Nip the evil in the bud) ३. इस प्रकार बुराइयों को समाप्त करके तू अपने जीवन में अच्छाइयों को पनपानेवाला **आर्द्रदानुः**=(आर्द्रं ददाति इति) सदा औरों के प्रति दयार्द्र हृदय को प्राप्त करानेवाला होता है। तेरे जीवन में 'मैत्री, करुणा, मुदिता व उपेक्षा' रूप अत्यन्त कोमल गुणों का विकास व प्रकाश हो उठता है। अब तू ४. **शम्भूः**=ऐहिक सुख की भावना करनेवाला (शम्भू ऐहिकं सुखं भावयति प्रापयति) होता है तथा साथ ही **मयोभूः**=(पारलौकिकं सुखं भावयति) परलोक के सुख का भी साधन करता है। ५. ऐसा तू **मा अभिवाहि**=मेरी ओर आ। इसके लिए **स्वाहा**=तुझे स्व का त्याग करना होगा, अर्थात् प्रभु को वही प्राप्त करता है जो (क) प्रसन्न मनवाला (ख) अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों को सिद्ध करनेवाला तथा बुराइयों को समाप्त करके (ग) मैत्री, करुणा, मुदिता, व उपेक्षा आदि आर्द्र (प्रीतिपूर्ण) गुणों को समाज में प्राप्त करानेवाला होता है तथा जो (घ) शान्ति व कल्याण के भावन के लिए प्रयत्नशील होता है। ६. **मारुतः असि**=(मरुतः=मनुष्याः) तू सदा मनुष्यों का हित करनेवाला है, तेरा कोई भी कार्य प्रजा-पीड़न के लिए नहीं होता और **मरुतां गणः**=(मरुतः=प्राणाः) प्राणों का तू गण=पुञ्ज बनता है। प्राणपुञ्ज बनकर ही तो लोकहित-साधन सम्भव होता है। प्राणपुञ्ज बनकर तू ७. **शम्भूः मयोभूः**=ऐहिक व आमुष्मिक कल्याण को सिद्ध करता है, ऐसा तू **मा अभि वाहि**=मेरी ओर आ। **स्वाहा**=स्वार्थ को समाप्त कर और मुझे पा। प्रभु को वही पाता है जो मानवहित के लिए अपने को खपा देता है। इस हित के लिए ही प्राण-साधना करके सशक्त बना रहता है। ८. **अवस्यूः असि**=(अवः सीव्यति इति अवस्यूः) तू अपने जीवन में रक्षण-तन्तु का सन्तान करनेवाला है। तू कभी अपने को वासनाओं का शिकार नहीं होने देता। ९. **दुवस्वान्**=वासनाओं से रक्षण के लिए ही तू (दुवः=परिचरण) प्रभु की परिचर्यावाला होता है। प्रभु का उत्तमता से उपासन करता हुआ तू वासनाओं से अभिभूत नहीं होता। १०. ऐसा तू **शम्भूः मयोभूः**=शान्ति व कल्याण को उत्पन्न करता हुआ **मा अभिवाहि**=मेरी ओर आ और इसके लिए **स्वाहा**=स्व को समाप्त कर दे। अपने को मेरे प्रति अर्पण कर दे।

भावार्थ—सुख प्रभु-प्राप्ति में है। प्रभु-प्राप्ति 'समुद्र-नभस्वान्-आर्द्रदान्-मारुत-मरुतां गण-अवस्यू-दुवस्वान्' व शम्भू तथा मयोभू को ही होती है।

ऋषिः—**शुनःशेपः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**भुरिगार्ष्यनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

रुचे जनाय

यास्तेऽअग्ने सूर्ये रुचो दिवमातन्वन्ति रश्मिभिः।
ताभिर्नोऽअद्य सर्वाभी रुचे जनाय नस्कृधि ॥४६॥

१. शुनःशेप प्रभु की गतमन्त्र की प्रेरणा को सुनकर प्रार्थना करता है कि **अग्ने**=हम

सबको उन्नत करनेवाले प्रभो! **याः**=जो **ते**=तेरी **सूर्ये**=सूर्य में **रुचः**=दीप्तियाँ हैं, जो दीप्तियाँ **दिवमातन्वन्ति**=प्रकाश को चारों ओर विस्तृत करती हैं, **ताभिः सर्वाभीः रश्मिभिः**=उन सब प्रकाश की किरणों से **नः**=हमें **रुचे**=दीप्ति व प्रीति के लिए तथा **जनाय**=(जनी प्रादुर्भावे) प्रादुर्भाव व विकास के लिए **कृधि**=कीजिए। २. (क) हमारा ज्ञान सूर्य की दीप्तियों के समान हो। (ख) यह ज्ञान हममें परस्पर प्रीति पैदा करनेवाला हो। वेद के शब्दों में ज्ञान तो है ही वह जो परस्पर संज्ञान व ऐकमत्य को पैदा करता है तथा हमारी शक्तियों के विकास का कारण बनता है। जिसको प्राप्त करके हम परस्पर लड़ने लगते हैं, वह ज्ञान न होकर 'अज्ञान' है।

भावार्थ—(क) सूर्य के समान हमारा ज्ञान दीप्त हो। (ख) हम इस ज्ञान से परस्पर प्रीतिवाले हों और (ग) यह ज्ञान हमारी शक्तियों के विकास का कारण बने।

ऋषिः—**शुनःशेपः**। देवता—**बृहस्पतिः**। छन्दः—**आर्ष्यनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

इन्द्राग्नी+बृहस्पति

या वो॑ देवाः सूर्ये॒ रुचो॒ गोष्वश्वे॑षु॒ या रुचः॑।
इन्द्रा॑ग्नी॒ ताभिः॒ सर्वा॑भी॒ रुचं॑ नो धत्त बृहस्पते॥४७॥

१. हे **देवाः**=दिव्य गुणों से द्योतमान देवो! **याः**=जो **वः**=आपकी **सूर्ये**=सूर्य में **रुचः**=दीप्तियाँ हैं, **ताभिः सर्वाभिः**=उन सब दीप्तियों से **नः**=हममें **रुचः**=दीप्ति को **धत्त**=धारण करो। **बृहस्पते**=(ब्रह्मणस्पते) हे सम्पूर्ण ज्ञान के अधिपति प्रभो! आपकी कृपा से ये सब देव—सब प्राकृतिक शक्तियाँ हमारे जीवन में इस प्रकार समन्वित हों कि हम दीप्त ज्ञानवाले बनें। सूर्य के समान हमारा ज्ञान दीप्तिवाला हो। २. हे **देवाः**=देवो! **याः**=जो **वः**=आपकी **गोषु**=गौवों में व ज्ञानेन्द्रियों में **रुचः**=दीप्तियाँ हैं **ताभिः सर्वाभिः**=उन सब दीप्तियों से **नः**=हममें **रुचः**=दीप्ति को **धत्त**=धारण करो। **अग्ने**=हे अग्नि के समान प्रकाशमान प्रभो! सब दोषों का दहन करनेवाले प्रभो! आपकी कृपा से सब देव हमें इन गौओं के सात्त्विक दुग्ध से सात्त्विक ज्ञानेन्द्रियोंवाला बनाइए। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान-प्राप्ति की रुचिवाली हों। ३. हे **देवाः**=हे देवो! **याः**=जो **वः**=आपकी **अश्वेषु**=घोड़ों में—कर्मेन्द्रियों में **रुचः**=दीप्तियाँ है, **ताभिः सर्वाभिः**=उन सब दीप्तियों से **नः**=हममें **रुचम्**=दीप्ति को **धत्त**=धारण कीजिए। हे **इन्द्र**=बल के सब कार्यों को करनेवाले प्रभो ! आपकी कृपा से मैं अश्वादि वाहनों का भ्रमण में यथोचित प्रयोग करता हुआ अपने में इस प्रकार शक्ति का वर्धन करूँ कि मेरी कर्मेन्द्रियाँ सदा दीप्तिमय कर्मों को करनेवाली हों। निरन्तर क्रियाशीलता से मेरी कर्मेन्द्रियाँ दीप्त रहें।

भावार्थ—(क) बृहस्पति मुझे सूर्य के समान ज्ञान से दीप्त करे। (ख) अग्नि की कृपा से मैं उत्तम गौवों के सात्त्विक दुग्ध-प्रयोग से ज्ञान-ग्रहण-पटु ज्ञानेन्द्रियोंवाला बनूँ। (ग) इन्द्र के अनुग्रह से मैं अश्वों द्वारा उचित व्यायाम करता हुआ अपनी कर्मेन्द्रियों को सशक्त बनाऊँ। मेरे सब कार्य शक्तिशाली हों।

ऋषिः—**शुनःशेपः**। देवता—**बृहस्पतिः**। छन्दः—**भुरिगार्ष्यनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

ब्रह्म+क्षत्रिय+विट्+शूद्र

रुचं॑ नो धेहि ब्राह्म॒णेषु॒ रुच॒ꣳ राज॑सु नस्कृधि।
रुचं॒ विश्ये॑षु शू॒द्रेषु॒ मयि॑ धेहि रु॒चा रुच॑म्॥४८॥

१. पिछले मन्त्र के 'देवाः' पद को ही यहाँ अनुवृत्त करके प्रार्थना इस रूप में है कि हे **देवाः**=सब देवो ! आप **नः**=हमारे राष्ट्र के **ब्राह्मणेषु**=ब्रह्मज्ञान के देनेवाले सब विद्वानों में **रुचम्**=ज्ञान की दीप्ति को **धेहि**=धारण कीजिए। एक-एक देव हमारे ब्राह्मणों को ज्ञान से दीप्त करनेवाला हो। २. **नः**=हमारे **राजसु**=रक्षणात्मक कर्मों से प्रजा का रञ्जन करनेवाले क्षत्रियों में **रुचम्**=बल की दीप्ति को **कृधि**=कीजिए। आपकी कृपा से हमारे क्षत्रिय दीप्त बलवाले होकर प्रजा रक्षणात्मक कार्यों से प्रजा का अनुरञ्जन करते हुए सचमुच 'राजा' इस अन्वर्थक नामवाले हों। ३. हे सब देवो! आप **विश्येषु**=हमारे सब वैश्यों में **रुचम्**=धन की दीप्ति को धारण कीजिए। ये सदा सुपथ से 'स्व' (धन) का संचय करते हुए स्वराष्ट्र को सम्पन्न व सुखी बनानेवाले हों। ४. हे देवो! आप **शूद्रेषु**=(शू द्रवति) शीघ्रता से कार्यों में द्रुत होनेवाले हमारे इन शूद्रों में **रुचम्**=श्रमजनित दीप्ति को धारण कीजिए। आपकी कृपा से ये सदा अनसूया (प्रसन्नता) से श्रम करनेवाले हों। अपने श्रम से ये ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्यों के कार्यों की पूर्ति में सहायक हों। ५. हे प्रभो! आप कृपया **मयि**=मुझमें **रुचा**=इन ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों व शूद्रों की 'ज्ञान, बल, धन व श्रम' की दीप्तियों से **रुचम्**=दीप्ति **धेहि**=स्थापित कीजिए।

भावार्थ—हममें ब्राह्मणों की ज्ञान दीप्ति हो। हम क्षत्रियों के बल को धारण करें, वैश्यों की सुसम्पत्तिवाले हों। शूद्रों के श्रम को हम मान देनेवाले हों।

ऋषिः—**शुनःशेपः**। देवता—**बृहस्पतिः**। छन्दः—**निचृदार्षीत्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

आयु का अप्रमोषण

तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदाशास्ते यजमानो हविर्भिः।
अहेडमानो वरुणेह बोध्युरुशꣳस मा नऽआयुः प्रमोषीः॥४९॥

१. शुनःशेप प्रभु से प्रार्थना करता है कि **ब्रह्मणा वन्दमानः**=ज्ञान से स्तुति करता हुआ **त्वा**=आपसे **तत् यामि**=यह प्रार्थना करता हूँ कि **नः**=हमारे **आयुः**=जीवन को **मा**=मत **प्रमोषीः**=नष्ट होने दीजिए। २. **यजमानः**=यज्ञ के स्वभाववाला—स्वभावतः यज्ञ करनेवाला **हविर्भिः**=आहुतियों के द्वारा सदा दानपूर्वक अदन करते हुए—यज्ञशेष का सेवन करते हुए **तत् आशास्ते**=यही चाहता है कि हे **वरुण**=हमारी सब बुराइयों का निवारण करनेवाले प्रभो! हमें श्रेष्ठ बनानेवाले प्रभो! (**वारयति इति वरुणः, वरुणः**=श्रेष्ठ) **उरुशंस**=महान् स्तुतिवाले प्रभो ! **अहेडमानः**=हमपर क्रोध न करते हुए **इह**=इस मानव-जीवन में **बोधि**=हमें (बुध्यस्व) बोधयुक्त कीजिए। आपकी कृपा से हमारा ज्ञान उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त हो और आप **नः आयुः मा प्रमोषीः**=हमारे आयुष्य को व्यर्थ न होने दीजिए। ३. वस्तुतः आयुष्य की सार्थकता इसी में है कि हम (क) ज्ञान प्राप्त करें (ब्राह्मण) (ख) प्रभु का वन्दन करनेवाले हों तथा (ग) यज्ञशील बनें (यजमानः) 'ज्ञान, कर्म व उपासना' तीनों का समन्वय ही जीवन को सुन्दर बनाता है। 'मस्तिष्क, हाथ व हृदय' तीनों का विकास जीवन को अव्यर्थ करता है।

भावार्थ—जो अपने में ज्ञान, उपासना व कर्म का सुन्दर सामञ्जस्य स्थापित नहीं करता वह अपने जीवन को व्यर्थ में ही नष्ट करता है।

ऋषिः—**शुनःशेपः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**भुरिगार्ष्युष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**॥

जीवन की सार्थकता

स्वर्ण घर्मः स्वाहा स्वर्णार्कः स्वाहा स्वर्ण शुक्रः स्वाहा स्वर्ण ज्योतिः स्वाहा स्वर्ण सूर्यः स्वाहा॥५०॥

१. गतमन्त्र में प्रभु से प्रार्थना की गई थी कि हे प्रभो! हमारे जीवन को व्यर्थ नष्ट मत होने दीजिए। प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु जीव से जीवन को सार्थक बनाने के लिए पाँच बातें कहते हैं— **स्वः न घर्मः**=सूर्य की भाँति तू गरमीवाला हो (स्वः=स्वयं राजमानज्योति, अर्थात् सूर्य) तुझमें प्राणों की उष्णता हो। प्राणशक्ति की वृद्धि से तेरा यह अन्नमयकोश तेजस्वी हो। **स्वाहा**=इस शक्ति की उष्णता प्राप्त करने के लिए तू 'स्व' का **हा**=त्याग करनेवाला बन। सुख व आराम को छोड़कर तप की अग्नि में अपने को आहुत कर। २. **स्वः न**=सूर्य की भाँति। जैसे सूर्य निरन्तर अपने कार्य में लगा हुआ है उसी प्रकार तू भी अपने कार्य में प्रवृत्त हुआ-हुआ **अर्कः**=(अर्च पूजायाम्) प्रभु की पूजा करनेवाला बन। तेरे इस प्राणमयकोश में सभी इन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य सुन्दरता से करती हुई उस प्रभु की पूजा करनेवाली हों। **स्वाहा**=तू अपने इन इन्द्रियों को **स्व**=अपने-अपने कार्य में **हा**=आहुत करनेवाला बन। ये अपने-अपने कार्य में लगी रहें, आराम न करने लग जाएँ। ३. **स्वः न**=सूर्य की भाँति ही **शुक्रः**=(शुच दीप्तौ) तू अपने मनोमयकोष में अत्यन्त निर्मल बन। सब मैलों को दूर भगाकर पवित्र हो जा। **स्वाहा**=तू अपने सब मलों को भस्म कर दे। ४. अब अपने विज्ञानमयकोष में **स्वः न**=इस चमकते हुए सूर्य की भाँति **ज्योतिः**=तू ज्योतिर्मय हो। ज्ञान को बढ़ाकर सूर्य की भाँति चमकनेवाला बन। **स्वाहा**=इस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए सब सुखों को त्यागनेवाला हो। सुखों को त्यागकर ही तू ज्ञान प्राप्त कर सकेगा। ५. अन्त में **स्वः न**=इस देदीप्यमान सूर्य की भाँति **सूर्यः**=तू भी सूर्य बन। 'सू प्रसवैश्वर्ययोः' सूर्य उत्पादन व ऐश्वर्य की देवता है, तू भी उत्पादन के द्वारा ऐश्वर्य का वर्धन करता हुआ आनन्द को प्राप्त कर। आनन्द का रहस्य निर्माण द्वारा ऐश्वर्य-वृद्धि में ही है। जीवन की सफलता की यही चरमसीमा है।

भावार्थ—(१) प्राणशक्ति की सफलता, (२) इन्द्रियों की रचनाकार्यवृत्ति, (३) मन की शुचिता, (४) मस्तिष्क की ज्योति तथा (५) उत्पादन द्वारा ऐश्वर्य वृद्धि—जीवन की सार्थकता इन्हीं पाँच बातों में है।

ऋषिः—**शुनःशेपः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**स्वराडार्षीत्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

'ब्रध्न विष्टपगमन'

अग्निं युनज्मि शवसा घृतेन दिव्यꣳसुपर्णं वयसा बृहन्तम्।
तेन वयं गमेम ब्रध्नस्य विष्टपꣳस्वो रुहाणाऽअधि नाकमुत्तमम्॥५१॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु से प्रेरणा को प्राप्त हुआ-हुआ शुनःशेप निश्चय करता है कि मैं **अग्निम्**=सारे ब्रह्माण्ड के अग्रेणी प्रभु को **युनज्मि**=अपने साथ जोड़ता हूँ, अर्थात् मैं प्रभु की उपासना करनेवाला बनता हूँ। २. प्रभु की उपासना मैं **शवसा**=गति के द्वारा (शवतिः गतिकर्मा) उत्पन्न बल से (शवः=बलम्) करता हूँ। मैं क्रियाशील बनता हूँ, क्रियाशीलता से मुझमें शक्ति उत्पन्न होती है और इस शक्ति से मैं प्रभु की पूजा कर पाता हूँ। ३. **घृतेन**=(घृ क्षरणदीप्त्योः) सब प्रकार के मलों के क्षरण से उत्पन्न हुई-हुई दीप्ति से

मैं उस प्रभु को अपने साथ जोड़ता हूँ। वस्तुतः प्रभु-प्राप्ति के मूलसाधन यही हैं कि हम (क) तेजस्वी बनें तथा (ख) निर्मल व दीप्त मनवाले हों। ४. इस नैर्मल्य व दीप्ति से मैं उस प्रभु को प्राप्त करता हूँ जो **दिव्यम्**=(दिवि भवः) सदा प्रकाश में स्थित हैं। (द्युषु शुद्धेषु भवः) शुद्ध अन्तःकरणवालों में ही जिनका प्रकाश दीखता है। ५. जो प्रभु **सुपर्णम्**=बड़ी उत्तमता से हमारा पालन व पूरण करनेवाले हैं। प्रभु ने हमारे पालन की कितनी सुन्दर व्यवस्था की है! वे प्रभु सदा उत्तम प्रेरणा देते हुए हमारी न्यूनताओं को दूर कर रहे हैं। ६. **वयसा**=(वेञ् तन्तुसन्ताने) इस जगत्-तन्तु के विस्तार से **बृहन्तम्**=बढ़े हुए हैं, अर्थात् इस अनन्त-से प्रतीयमान संसार का विस्तार करके वे प्रभु अपनी महिमा को बढ़ानेवाले हैं। ७. **तेन**=इस प्रभु के उपासन से **वयम्**=हम **ब्रध्नस्य विष्टपम्**=महान् सूर्य के (विगतः तापो यत्र) तापशून्य सुखमय लोक को, स्वर्गलोक को **गमेम**=प्राप्त हों। ८. अब **स्वः रुहाणा**=उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति ब्रह्म की ओर आरोहण करते हुए **उत्तमम्**=सर्वोत्तम जिससे उत्कृष्ट और कोई नहीं उस **नाकम्**=(न अकं यत्र) दुःख के लवलेश से भी शून्य, आनन्दमय ज्योति, ब्रह्म को **अधिगमेम**=प्राप्त हों, अर्थात् उस ब्रह्म में विचरते हुए मोक्ष के आनन्द का अनुभव करें।

भावार्थ—१. हम क्रियाशीलता से शक्तिसम्पन्न बनें और ईर्ष्यादि मलों को त्यागकर मन को दीप्त करें। २. इस प्रकार प्रभु का उपासन करते हुए स्वर्गलोक को प्राप्त करें और ३. (अधि) उससे भी ऊपर उठकर मोक्षसुख का अनुभव करें।

ऋषिः—**शुनःशेपः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**विराडार्षीजगती**। स्वरः—**निषादः**॥

अजर—पक्ष

इमौ ते पक्षावजरौ पतत्रिणौ याभ्याᳬं रक्षाᳬंस्यपहᳬंस्यग्ने।
ताभ्यां पतेम सुकृतामु लोकं यत्रऽऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणाः॥५२॥

१. प्रभु शुनःशेप से कहते हैं कि **इमौ**=गतमन्त्र में वर्णित ज्ञान की दीप्ति और बल (घृत+शवस्), ब्रह्म और क्षत्र **ते**=तेरे **अजरौ**=कभी जीर्ण न होनेवाले **पक्षौ**=पंख हैं, अथवा (पक्ष परिग्रहे) ये दो तेरे अविनश्वर परिग्रह हैं। २. **पतत्रिणौ**=ये तेरे उत्पतन=ऊर्ध्वगमन, उत्थान व उन्नति के कारणभूत हैं। ३. वस्तुतः हे **अग्ने**=उन्नति व अग्रगति के साधक जीव! ये तेरे वे पंख हैं, परिग्रह हैं **याभ्याम्**=जिनसे **रक्षांसि**=सब राक्षसी वृत्तियों को **अपहंसि**=तू दूर विनष्ट कर देता है। ज्ञान और बल के साथ बुराइयों का निवास नहीं है। सब मल अन्धकार व अज्ञान में पनपते हैं और सब विकार निर्बल को ही सतानेवाले हैं। ४. **ताभ्याम्**=इन ज्ञान और बल से हम **उ**=निश्चय से **सुकृताम्**=पुण्यशालियों के **लोकम्**=लोक को **पतेम**=जाएँ। ५. उन लोकों में जाएँ **यत्र**=जहाँ **जग्मुः**=जाते हैं, कौन? (क) **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा लोग, जिनके मस्तिष्क ज्ञान से परिपूर्ण हैं। (ख) **प्रथमजाः**=(प्रथ विस्तारे) अत्यन्त विस्तृत प्रादुर्भाववाले। जिनके हृदय अत्यन्त विस्तार व विकासयुक्त हैं। तंगदिली ने जिनकी सब उन्नतियों को समाप्त नहीं कर दिया है। (ग) **पुराणाः**=(पुरापि नवाः) जो शरीर में बहुत पहले से होते हुए भी, अर्थात् बड़े दीर्घायुष्य को प्राप्त हुए भी, ९० व १०० साल में पहुँचकर भी नवीन से ही प्रतीत होते हैं, जिनमें बुढ़ापे के निशान प्रकट नहीं होते, इस प्रकार के सनत्कुमार लोग ही पुण्यशालियों के लोकों को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—हम मस्तिष्क में ज्ञान व शरीर में बल को धारण करके राक्षसीवृत्तियों से दूर

होते हुए ऊपर उठते हुए उन लोकों को प्राप्त करें, जिनको पुण्यशील, तत्त्वज्ञानी ऋषि, विशाल-हृदय मुनि तथा पूर्ण स्वस्थ दीर्घजीवी पुण्यात्मा प्राप्त किया करते हैं।

ऋषिः—**शुनःशेपः**। देवता—**इन्दुः**। छन्दः—**आर्षीपंक्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

सोने के पंखवाला पक्षी='हिरण्यपक्ष शकुन'

इन्दुर्दक्षः श्येनऽऋतावा हिरण्यपक्षः शकुनो भुरण्युः।
महान्त्सधस्थे ध्रुवऽआ निषत्तो नमस्तेऽअस्तु मा मा हिꣳसीः॥५३॥

१. छियालीसवें मन्त्र से प्रारम्भ करके प्रस्तुत मन्त्र में शुनःशेप के जीवन का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि यह शुनःशेप **इन्दुः**=(इदि परमैश्वर्ये) परमैश्वर्यवाला होता है। पिछले मन्त्र के अनुसार ज्ञान और बल—ये इसके अक्षयकोष होते हैं और इन्हीं कोषों से वस्तुतः ये **इन्दुः**=चन्द्रमा की भाँति सभी को आह्लादित करनेवाला होता है। २. **दक्षः**=अपने जीवन में सदा उत्साहवाला—दक्षता से कार्यों को करनेवाला होता है। ३. **श्येनः**=(श्यैङ् गतौ) श्येन की भाँति यह अत्यन्त प्रशंसनीय गतिवाला होता है। ४. क्रियाशीलता के द्वारा ही यह **ऋतावा**=अपने जीवन में ऋत का अवन=रक्षण करता है, अनृत इसके जीवन में नहीं पनप पाता है। ५. **हिरण्यपक्षः**=हितरमणीय ज्योति का यह परिग्रह करनेवाला होता है। (पक्ष परिग्रहम्) अथवा ज्ञान ही इसके पंख होते हैं उनसे यह आकाश में ऊपर उठता है, उन्नति करनेवाला होता है। ६. **शकुनः**=(शक्नोति) यह शक्तिशाली होता है। ज्ञान के साथ शक्ति की साधना करता है। ७. अपनी इस शक्ति से यह **भुरण्युः**=(बिभर्ति) सबका भरण करता है। शक्ति की साधना करता है। शक्ति का विनियोग कभी भी उत्पीड़न में नहीं करता। ८. **महान्**= हृदय में यह विशाल होता है। ९. विशाल हृदय बनकर **सधस्थे**=परमेश्वर के साथ एक स्थान में स्थित होने के स्थान हृदय में **ध्रुवः**=स्थिर होकर चित्तवृत्ति का पूर्ण निरोध करके **आ निषत्तः**=सर्वथा स्थित होता है। १०. **नमस्ते अस्तु**=मेरे हृदय में स्थित तेरे लिए नमस्कार हो **मा मा हिंसीः**=हे प्रभो! आप मुझे हिंसित मत होने दीजिए। आपकी कृपा से मेरा जीवन अहिंसित हो। व्यर्थ जीवनवाला न होकर मैं अपने जीवन में उन्नति करता हुआ आप तक पहुँचनेवाला बनूँ और इस प्रकार सुखमय लोक का निर्माण करूँ।

भावार्थ—मैं 'इन्दु, दक्ष, श्येन, ऋतावा, हिरण्यपक्षः, शकुन, भुरण्युः व महान्' बनकर चित्तवृत्ति को ध्रुव करता हुआ हृदय में प्रभु के साथ स्थित होऊँ। प्रभु का दर्शन करता हुआ प्रभु के प्रति नतमस्तक होऊँ और इस प्रकार अपने जीवन को चरितार्थ करूँ। अव्यर्थ जीवनवाला मैं वास्तविक सुख का निर्माण करूँ।

सूचना—प्रभु के साथ स्थित होनेवाला यह शुनःशेप निरन्तर प्रभु की ओर चलता है। प्रभु की ओर चलने से यह 'गच्छति इति गाः', 'गाः' कहलाता है। निरन्तर प्रभु की ओर चलता हुआ यह प्रभु का ही छोटा रूप बनता है, अतः 'लवः' होता है। इस प्रकार यह 'गालव' बनता है। गालव का जीवन निम्न मन्त्र में वर्णित हुआ है—

ऋषिः—**गालवः**। देवता—**इन्दुः**। छन्दः—**भुरिगार्ष्युष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**॥

'गालव' का जीवन

दिवो मूर्द्धासि पृथिव्या नाभिरूर्ग्पामोषधीनाम्।
विश्वायुः शर्म सप्रथा नमस्पथे॥५४॥

१. हे प्रभु की ओर चलनेवाले और प्रभु का ही छोटा रूप बननेवाले 'गालव'! तू

दिवः मूर्द्धा असि=प्रकाश का शिखर है। ज्ञान के दृष्टिकोण से ऊँचे-से-ऊँचे स्थान में पहुँचने का प्रयत्न करता है। २. **पृथिव्याः नाभिः**=तू इस शरीर का (पृथिवी शरीरम्) बाँधनेवाला है (नह बन्धने), अर्थात् शरीर को पूर्णरूप से नियन्त्रित करता है। शरीर को वशीभूत रखता हुआ ही तो तू स्वस्थ बनता है और ज्ञान-प्राप्ति की अनुकूलता को प्राप्त करता है। ३. **अपाम्**=जलों के तथा **ओषधीनाम्**=ओषधियों के **ऊर्क्**=बल व प्राणशक्तिवाला तू होता है। जलों व ओषधियों के प्रयोग से तू अपने अन्दर बल व प्राणशक्ति को प्राप्त करता है। ४. **विश्वायुः**=तू पूर्ण जीवनवाला होता है। १०० वर्ष के दीर्घायुष्य को प्राप्त करता है तथा 'शरीर, मन व बुद्धि' तीनों का विकास करके पूर्ण जीवनवाला होता है। ५. जीवन को पूर्ण बनाकर **शर्म**=तू शरण बनता है। दुःखी पुरुषों के दुःख का हरण करने के कारण उस दुःखी नरसमूह (नार) का अयन=शरण बनता हुआ तू (नारायण) हो जाता है। ६. **सप्रथाः**=तू सदा विस्तार के साथ होता है। अपने मन को कभी तंग नहीं होने देता। ७. इस प्रकार के जीवनवाला बनकर तू औरों के जीवन के लिए मार्गदर्शक बनता है। **पथे**=इस मार्ग बने हुए तेरे लिए **नमः**=नमस्कार हो, तुझे आदर प्राप्त हो। अथवा इस प्रकार मार्ग बने हुए तेरे लिए नम्रता हो। कहीं लोगों से प्राप्त आदर के कारण तुझमें 'गर्व' न आ जाए।

भावार्थ—प्रभु की ओर चलनेवाला व्यक्ति १. ज्ञान के शिखर पर पहुँचने का प्रयत्न करता है। २. शरीर को व्रतों के बन्धन में बाँधता है। ३. जलों व ओषधियों के प्रयोग से शक्तिशाली बनता है। ४. पूर्ण जीवनवाला बनता है। ५. दुःखी पुरुषों का शरण होता है। ६. हृदय को विशाल बनाता है। ७. लोगों के लिए आदर्श बनकर विनीत बना रहता है।

ऋषिः—**गालवः**। देवता—**इन्दुः**। छन्दः—**आर्षीजगती**। स्वरः—**निषादः**॥

प्रभु का प्रीणन

विश्वस्य मूर्द्धन्नधि तिष्ठसि श्रितः समुद्रे ते हृदयमुप्स्वायुरपो दत्तोदधिं भिन्त।
दिवस्पर्जन्यादन्तरिक्षात्पृथिव्यास्ततो नो वृष्ट्याव॥५५॥

१. **विश्वस्य**=सबके **मूर्द्धन्**=मूर्धास्थान में, अर्थात् सबसे आगे **अधितिष्ठसि**=तू स्थित होता है, अर्थात् गुणों को ग्रहण करते हुए व्यक्तियों में तू सबसे आगे बढ़ जाता है। '**मूर्द्धनि वा सर्वलोकस्य**=सब लोकों के मस्तक पर' यही तेरे जीवन का आदर्श वाक्य होता है। २. **श्रितः**=(श्रित् सेवायाम्, श्रितमस्य अस्तीति श्रितः) तू प्रभु की उपासना को अपनानेवाला होता है। इस प्रभु-उपासन से ही तुझमें दिव्य गुणों की वृद्धि होती है। ३. **ते हृदयम् समुद्रे**=तेरा हृदय सदा आनन्दमय प्रभु में होता है, अर्थात् तू जीवन को आनन्दमय बनाने के लिए संसार के सब कार्यों को करता हुआ भी अपने हृदय को प्रभु में ही रखता है। ४. इस प्रकार सदा प्रभु का स्मरण करता हुआ **आयुः**=अपने जीवन को **अप्सु**=कर्मों में स्थापित करता है। ५. कर्मों को करता हुआ तू **अपः दत्त**=(ददासि—द०) अङ्ग-प्रत्यङ्ग को प्राणशक्ति देता है (आपः=रेतः=प्राणाः) इन कर्मों से तेरे अङ्ग शक्तिशाली बनते हैं और इस प्रकार तू उन अङ्गों को प्राणशक्ति दे रहा होता है। ६. एक-एक अङ्ग को सप्राण करता हुआ तू **उदधिं भिन्त**=(भिनत्सि—द०) ज्ञान-समुद्र का विदारण करता है। विश्लेषणात्मक (analytic) विधि से अपने ज्ञान को बढ़ानेवाला होता है। ७. **ततः**=अब ज्ञान को बढ़ाने के बाद (क) **दिवः**=अपने इस प्रकाशमय मस्तिष्क से (ख) **पर्जन्यात् अन्तरिक्षात्**=(परां तृप्तिं जनयति) सद्भावनाओं के द्वारा औरों की प्रकृष्ट तृप्ति को पैदा करनेवाले हृदयान्तरिक्ष से, तथा (ग) **पृथिव्याः**=(प्रथ विस्तारे) विस्तृतशक्तिवाले शरीर से **वृष्ट्याव**=लोगों

पर सुखों की वर्षा के द्वारा **नः**=हमें प्रीणित कर। प्रभु गालव से कहते हैं कि तू ज्ञान-सद्भावना व सत्कर्मों से लोकों के कष्टों के निवारण के द्वारा उनके जीवन को सुखी करेगा तो अपने इस व्यवहार से मुझे प्रसन्न कर रहा होगा।

भावार्थ—हम संसार में गुणों की दृष्टि से अपना स्थान प्रमुख बनाएँ। प्रभु का उपासन करें। हमारा हृदय प्रभु में हो, जीवन कर्मों में। अङ्ग-प्रत्यङ्ग को हम शक्ति प्राप्त कराएँ। ज्ञान-समुद्र का अवगाहन करें। दीप्त मस्तिष्क, तृप्तिप्रद हृदय व सशक्त शरीर से सभी को सुखी करते हुए हम प्रभु को आराधित करें।

ऋषिः—**गालवः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**आर्ष्युष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**॥

आशीर्दा यज्ञः

इ॒ष्टो य॒ज्ञो भृगु॑भिराशी॒र्दा वसु॑भिः। तस्य॑ न॒ऽइ॒ष्टस्य॑ प्री॒तस्य॒ द्रवि॑णे॒हाग॑मेः॥५६॥

१. **भृगुभिः**=(भ्रस्ज पाके) गतमन्त्र के अनुसार ज्ञान-समुद्र का अवगाहन करके जो व्यक्ति अपने ज्ञान को परिपक्व करते हैं, उन ज्ञान-विदग्ध भृगुओं के द्वारा तथा **वसुभिः**=ज्ञान के द्वारा ही अपना उत्तम निवास बनानेवाले वसुओं के द्वारा **अशीर्दा**=हमारे सब मनोरथों को देनेवाला **यज्ञः इष्टः**=यज्ञ किया जाता है। २. मस्तिष्क के दृष्टिकोण से जो व्यक्ति 'भृगु' है, वही शरीर के दृष्टिकोण से 'वसु' है। यह 'भृगु-वसु' इस बात को अच्छी प्रकार समझते हैं कि इस मानव-जीवन को उत्तम बनाने का सर्वप्रमुख साधन 'यज्ञ' है। यही इस लोक व परलोक में कल्याण करनेवाला है। यज्ञ 'इष्टकामधुक्' है, सब इष्ट कामनाओं का पूरण करनेवाला है। वेद ने इसे 'आशीः-दा' शब्द से कहा है—इच्छा को देनेवाला। ३. हमारा धन इन यज्ञों में ही विनियुक्त हो। इस बुद्धि से 'गालव' प्रार्थना करता है कि हे **द्रविण**=धन! तू **तस्य**=उस **प्रीतस्य**=कमनीय, चाहने योग्य **इष्टस्य**=यज्ञ का होकर **इह**=यहाँ मानव-जीवन में **नः**=हमें **आगमेः**=प्राप्त हो, अर्थात् हम धन प्राप्त करें और इस धन का विनियोग उत्तम यज्ञात्मक कर्मों में करें। यह यज्ञ हमारी सब कामनाओं को पूर्ण करनेवाला होगा।

भावार्थ—हम ज्ञानी व स्वस्थ बनकर सदा यज्ञों को करनेवाले बनें। हमारा धन यज्ञात्मक कर्मों में ही विनियुक्त हो। ऐसा करने पर ही हम प्रभु को पाएँगे।

ऋषिः—**गालवः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृदार्षीगायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

हम यज्ञशील बनें

इ॒ष्टोऽअ॒ग्निराहु॑तः पिपर्त्तु न॒ऽइ॒ष्टꣳह॒विः। स्व॒गेदं दे॒वेभ्यो॒ नमः॑॥५७॥

१. गालव प्रार्थना करता है कि हमसे **अग्निः इष्टः**=यह अग्नि सदा किया जाए (यज्=संगतिकरण)। हम अग्नि को उत्तम घृत-हवि आदि पदार्थों से प्रीणित करनेवाले हों। २. **आहुतः**=हमारे द्वारा घृत-हवि आदि को प्राप्त कराया हुआ यह अग्नि **नः**=हमारा **पिपर्त्तु**=पालन व पूरण करनेवाला हो। यह आहुत अग्नि (क) वायुमण्डल की शुद्धि का साधन बनता है। (ख) यह रोगकृमियों का संहार करता है और इस प्रकार हमारे स्वास्थ्य का पालन करता है। (ग) यह अग्नि हमें सौमनस्य को देनेवाला होता है (घ) और वृष्टि के द्वारा उत्तम अन्न देकर हमारी आवश्यकताओं का पूरण करता है, अतः ३. हमारे अन्दर यज्ञ की वृत्ति बनी ही रहे और **नः**=हमें **हविः**=(हु दानादनयोः) यज्ञों में धन का विनियोग करके यज्ञशेष को खाने की वृत्ति **इष्टम्** प्रिय हो। हम सदा यज्ञशेष खानेवाले ही बनें।

५. इस प्रकार **इदं स्वगा**=यह हमारा जीवन **स्व**=आत्मा की ओर **गा**=जानेवाला है। हम भौतिकता की वृत्तिवाले न बन जाएँ। हम अपने जीवन में यज्ञिय वृत्ति को अपनाकर प्रभु की ओर चलें और **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों के धारण के लिए **नमः**=सदा नम्रता का धारण करनेवाले हों, देवों के प्रति नतमस्तक हों।

भावार्थ—हम यज्ञशील बनकर 'स्व-गा' आत्मा की ओर चलनेवाले बनें। इस आत्मा की ओर चलते हुए हम उसी के छोटे रूप बनें। 'गा' और 'लव' बनें। गालव बनकर हम दिव्य गुणों के धारण के लिए नम्र बनें। नम्रता ही दिव्य गुणों की जननी है। इन दिव्य गुणों को पैदा करके ही हम महादेव को पाएँगे।

सूचनाः=महादेव की प्राप्ति के लिए देवों का अपने में निर्माण करता हुआ यह 'गालव' 'विश्वकर्मा' बन जाता है, 'विश्वकर्मा' देवशिल्पी है। अब इस विश्वकर्मा ऋषि के मन्त्र आते हैं—

ऋषिः—**विश्वकर्मा**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृदार्षीजगती**। स्वरः—**निषादः**॥

आकूत-हृत्-मनस्-चक्षु

यदाकूतात्समसुस्रोद्धृदो वा मनसो वा सम्भृतं चक्षुषो वा।
तदनु प्रेत सुकृतामु लोकं यत्रऽऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणाः॥५८॥

यत्=जो **आकूतात्**=(मनः प्रवर्तक आत्मनो धर्म आकूतम्) मनः प्रवर्तक आत्मधर्म से—आत्मा के संकल्प से, अपने दृढ़ निश्चय से **समसुस्रोत्**=(स्रु गतौ—गति=प्राप्ति) प्राप्त होता है। **वा**=अथवा **हृदः**=हृदयस्थ श्रद्धा से **संभृतम्**=सम्यक्तया धारण किया जाता है **वा**=या **मनसः**=मनन के द्वारा पुष्ट होता है, **वा**=तथा **चक्षुषः**=प्रकृति में रचना-सौन्दर्यादि के दर्शन से संभृत होता है, अर्थात् 'आत्मा का दृढ़ निश्चय, श्रद्धा-मनन व प्रकृति में प्रभु-महिमा का दर्शन'-ये सब वस्तुएँ मिलकर हमें उस प्रभु का दर्शन कराती हैं। २. **तत् अनु**=उसके अनुसार ही **प्रेत**=इस संसार में सब गति को करो, अर्थात् प्रभु की महिमा का दर्शन करते हुए ही और इस प्रकार प्रभु-स्मरण करते हुए हम सब कर्मों को करनेवाले बनें। ३. ऐसा करने पर ही, अर्थात् जब हमारी सब क्रियाएँ प्रभु-स्मरण के साथ होंगी तब हम **उ**=निश्चय से **सुकृताम्**=पुण्यशीलों के **लोकम्**=लोक को प्राप्त होंगे। ४. उन लोकों को **यत्र**=जिनमें **जग्मुः**=जाते हैं। कौन? (क) **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा लोग, ज्ञानी लोग। (ख) **प्रथमजाः**=गुणों की दृष्टि से आगे बढ़ते हुए प्रथम स्थान में स्थित होनेवाले लोग, तथा (ग) **पुराणाः**=(पुरापि नवाः) अत्यन्त पुराने, बड़ी उम्र के होते हुए भी जो नवीन हैं, अर्थात् जो युक्ताहार-विहारवाले तथा सब कर्मों में युक्तचेष्ट होते हुए कभी जीर्णशक्तिवाले नहीं होते। उनके मस्तिष्क का ज्ञान, हृदयस्थ विशालता (प्रथमता) तथा शरीर की अजीर्णशक्तिता ही उन्हें उन उत्तम लोकों की प्राप्ति का अधिकारी बनाती हैं। हम भी उन लोकों को प्राप्त करेंगे यदि प्रभुदर्शन करते हुए सब क्रियाओं को करनेवाले होंगे। इस प्रभु-दर्शन के लिए 'आत्मा का दृढ़ निश्चय, हृदय की श्रद्धा, मन द्वारा मनन व चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों से सर्वत्र प्रभु की महिमा का दर्शन' ये साधन हैं। तभी हम 'विश्वकर्मा' बनते हैं—'विश्व'=सर्वव्यापक प्रभु को देखते हुए कर्म करनेवाले।

भावार्थ—'आकूत, हृदय, मन व चक्षु' हममें प्रभु के भाव का सम्भरण करें। तदनुसार हम कर्म करें और 'प्रथमजा, पुराण, सुकृत् व्यक्तियों' के पुण्यलोकों को प्राप्त हों।

ऋषिः—**विश्वकर्मा**। देवता—**प्रजापतिः**। छन्दः—**निचृदार्षीत्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

सुख का निधि 'यज्ञ'

एतꣳसधस्थ परि ते ददामि यमावहाच्छेवधिं जातवेदाः।
अन्वागन्ता यज्ञपतिर्वोऽअत्र तꣳस्म जानीत परमे व्योमन्॥५९॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि **एतम्**=इस यज्ञ को **सधस्थ**=मिलकर बैठने के स्थान में प्रातः-सायं उपस्थित होनेवाले **ते**=तेरे लिए **परि ददामि**=देता हूँ। वेद के अनुसार प्रत्येक घर में मुख्य कमरा 'हविर्धानम्'=अग्नि में हविर्द्रव्यों के डालने का, अर्थात् यज्ञ करने का होना चाहिए। इस 'अग्निहोत्र' का प्रातः-सायं घर में होना आवश्यक है। इस यज्ञवेदि में घर के सभी व्यक्तियों का उपस्थित होना आवश्यक है, अतः इस यज्ञवेदि को 'सधस्थ' कहा जाता है। इसमें आकर नियम से बैठनेवाले व्यक्तियों को भी यहाँ 'सधस्थ' शब्द से सम्बोधन किया गया है। प्रभु कहते हैं कि हे सधस्थ! इस यज्ञ को मैं तुझे देता हूँ। २. वस्तुतः यह यज्ञ क्या है? यह एक सर्वोत्तम निधि है **यम् शेवधिम्**=जिस सुख के कोश को **जातवेदाः**=सर्वज्ञ प्रभु [मैं]—ने **आवहात्**=तेरे लिए प्राप्त कराया है। अपनी अल्पदृष्टि के कारण तू सम्भवतः यज्ञ के लाभ को न देख सके, परन्तु प्रभु जानते हैं कि यह तेरे लिए 'इष्टकामधुक्' है। तू इस यज्ञ के द्वारा इहलोक व परलोक दोनों में अपना कल्याण सिद्ध कर पाएगा। ३. इस यज्ञ को जीवन का अङ्ग बनाने पर तू अपने पिता प्रभु की उपासना कर रहा होता है। प्रभु-आदेश के पालन से उसका पूजन होता है। इसी बात को यहाँ मन्त्र के शब्दों में इस प्रकार कहते हैं कि **वः**=तुम्हें **अत्र**=यहाँ इस यज्ञशील जीवन में **यज्ञपतिः**=यज्ञों की रक्षा करनेवाला प्रभु **अन्वागन्ता**=यज्ञों के सिद्ध होने पर प्राप्त होगा। यज्ञपति प्रभु की वस्तुतः यज्ञों से ही उपासना होती है, **'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'**। ५. **तम्**=उस प्रभु को **परमे व्योमन्**=इस उत्कृष्ट हृदयदेश में स्थित तथा इस विस्तृत आकाश में व्याप्त हुआ-हुआ **जानीत स्म**=निश्चय से जानो। यज्ञ के द्वारा जहाँ 'वायु-शुद्धि, नीरोगता व उत्तम अन्न की प्राप्ति' होती है, वहाँ 'सौमनस्य' का भी लाभ होता है और इस उत्तम निर्मल मन में ही प्रभु का दर्शन होता है। उस निर्मल मन में प्रभु का आभास मिलने पर उसकी महिमा सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है, कण-कण में प्रभु का दर्शन होने लगता है।

भावार्थ—प्रभु ने जीव को सृष्टि के प्रारम्भ में ही यज्ञ को प्राप्त कराया है। यह यज्ञ जीव के लिए सुख की निधि है। इसके अपनाने पर ही वह उस प्रभु को प्राप्त कर पाता है जो प्रभु सर्वत्र होते हुए प्रसाद-युक्त मन में ही देखे जाते हैं।

ऋषिः—**विश्वकर्मा**। देवताः—**प्रजापतिः**। छन्दः—**निचृदार्षीत्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

देवयान-मार्गों से

एतं जानाथ परमे व्योमन्देवाः सधस्था विद रूपमस्य।
यदागच्छात्पथिभिर्देवयानैरिष्टापूर्त्ते कृणवाथाविरस्मै॥६०॥

१. हे यज्ञशील व्यक्तियो! **एतम्**=इस प्रभु को **परमे व्योमन्**=उत्कृष्ट हृदयदेश में तथा इस निरवधिक आकाश में सर्वत्र व्याप्त **जानाथ**=जानो। २. हे **सधस्थाः**=यज्ञवेदि पर मिलकर बैठनेवाले **देवाः**=यज्ञादि उत्तम व्यवहारों के करनेवाले विद्वान् पुरुषो! **अस्य**=इस सर्वत्र व्याप्त प्रभु के रूप को **विद**=जानो। यज्ञों से ही प्रभु का उपासन व दर्शन होता है। ३. **यत्**=जब मनुष्य **देवयानैः पथिभिः**=देवयान-मार्गों से **आगच्छात्**=चलता है और

इष्टापूर्त्ते=इष्ट और आपूर्त को **कृणवाथ**=करता है तब **अस्मै**=(क) देवयान-मार्ग पर चलनेवाले (ख) इष्ट और आपूर्त को करनेवाले इस व्यक्ति के लिए **आविः**=वे प्रभु प्रकट होते हैं। प्रभु का दर्शन देवयान-मार्ग पर चलनेवाले और इष्ट तथा आपूर्त को करनेवाले व्यक्ति को ही होता है। प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु-प्राप्ति के लिए निम्न निर्देश हैं—(क) प्रभु का दर्शन परम व्योमन्, अर्थात् उत्कृष्ट हृदयदेश में होगा, अतः हृदय को पवित्र बनाना अत्यन्त आवश्यक है। (ख) यज्ञवेदि पर मिलकर बैठनेवाले देव ही प्रभु को जान पाते हैं, अर्थात् यज्ञादि पवित्र कर्मों में लगे रहना प्रभु-प्राप्ति का द्वितीय उपाय है। (ग) देवयान-मार्गों से चलना, अर्थात् देवताओं के योग्य कर्म ही करना प्रभु-प्राप्ति का तीसरा साधन है और (घ) इष्ट और आपूर्त में जीवन का यापन करनेवाले के लिए प्रभु प्रकट होते हैं। हम यज्ञ करें, दान दें, लोकहित के कार्यों में धन का विनियोग करें।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए हम हृदयाकाश को पवित्र बनाएँ, यज्ञवेदि पर मिलकर बैठनेवाले देव बनें, देवयानमार्ग से चलें और हमारा जीवन इष्टापूर्तमय हो।

ऋषिः—**गालवः**। देवता—**प्रजापतिः**। छन्दः—**आर्षीत्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

सधस्थ में स्थिति

उद्बु॑ध्यस्वाग्ने॒ प्रति॑जागृहि॒ त्वमि॑ष्टापू॒र्त्ते सꣳसृ॑जेथाम॒यं च॑।
अ॒स्मिन्त्स॒धस्थे॒ऽअध्युत्त॑रस्मि॒न् विश्वे॑ देवा॒ यज॑मानश्च सीदत ॥६१॥

१. पिछले मन्त्र के 'इष्टापूर्त' का ही वर्णन करते हुए कहते हैं कि **अग्ने**=अग्नि के उद्बोधन के बिना उसमें घृत व हवि का समर्पण 'भस्मनि हुतम्' इस वाक्यांश के अनुसार व्यर्थ ही है। **प्रतिजागृहि**=तू इस कुण्ड के कोने-कोने में जाग, अर्थात् अच्छी प्रकार प्रबुद्ध हो जा। यह सम्यक् उद्बुद्ध अग्नि ही अपने में डाले गये घृत और हविर्द्रव्यों को सूक्ष्म कणों में विभक्त करके सर्वत्र फैलाएगा। अप्रचण्ड अग्नि में छेदन-भेदन की शक्ति उतनी प्रबल नहीं हो सकती। २. अब अग्नि के प्रचण्ड हो जाने पर **त्वम्**=हे अग्ने! तू **अयं च**=और यह यजमान मिलकर **इष्टापूर्त्ते**=इष्ट और आपूर्त के कर्मों को **सं सृजेथाम्**=सम्यक्तया करनेवाले बनो। यजमान घृत व हवि को अग्नि के साथ मिलाने (यज् संगतिकरण) के 'इष्ट' रूप कार्य को करे, अग्नि में इन पदार्थों की आहुति दे तथा अग्नि उन आहुत पदार्थों को अत्यन्त सूक्ष्म कणों में विभक्त करके आदित्यमण्डल तक-सारे वायुमण्डल में **आ**=चारों ओर **पूर्त**=भर दे। 'इष्ट' यजमान का कार्य है, तो 'आपूर्त' अग्नि का। ३. घर के अन्दर जो 'हविर्धान'=अग्निहोत्र का कमरा है **अस्मिन् सधस्थे**=उस सधस्थ में—मिलकर बैठने के स्थान में **अधि उत्तरस्मिन्**=इस वेदिरूप सर्वोत्कृष्ट स्थान में **विश्वेदेवाः**=घर के सब देव **यजमानश्च**=और स्वभावतः यज्ञशील घर का मुखिया सब मिलकर **सीदत**=बैठें। घर में अग्निहोत्र को एक सामूहिक कार्य का रूप दिया जाए। उसमें घर के सभी सभ्य उपस्थित हों। ४. यह यज्ञवेदि 'सधस्थ है सबके मिलकर बैठने की जगह है। (क) इस स्थान पर घर के सभी व्यक्ति एकत्र होकर परस्पर धर्मसूत्र में बद्ध होते हैं। उन सबको यह यज्ञ परस्पर स्नेह व प्रेम में बाँधनेवाला बनता है। (ख) इसलिए भी सधस्थ होना चाहिए कि प्रभु के उपासन के समय घर में केवल उपासन का ही कार्य हो, अन्य कोई कार्य न हो। ५. यह उत्तर-सर्वोत्कृष्ट स्थान है, चूँकि इस स्थान पर (क) प्रभु उपासन होता है, (ख) वायु अत्यन्त शुद्ध होती है (ग) श्वास के साथ अन्दर जाते हुए सूक्ष्म औषध द्रव्य रोगों का दहन करते हुए हमें नीरोग बनाते हैं। ६. इस प्रकार यह यज्ञ हमें उन्नत करता हुआ

प्रभु की ओर ले-चलता है और क्रमशः उन्नत होते हुए हम प्रभु का ही छोटा रूप बनते हैं और मन्त्र के ऋषि 'गालव' होते हैं, प्रभु की ओर जानेवाले, उसी के छोटे रूप।

भावार्थ—उद्बुद्ध अग्नि में हम सब मिलकर यज्ञिय पदार्थों की आहुति देनेवाले हों।

ऋषिः—**देवश्रवदेववातौ**। देवता—**विश्वकर्माग्निर्वा**। छन्दः—**निचृदार्ष्युनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

सहस्र-वहन

येन॒ वह॑सि स॒हस्रं॒ येना॑ग्ने सर्ववेद॒सम्। तेने॒मं य॒ज्ञं नो॑ नय॒ स्व॒र्दे॒वेषु॒ गन्त॑वे॥६२॥

१. पिछले मन्त्र में यह स्पष्ट है कि यजमान 'इष्ट' को करता है, तो अग्नि 'आपूर्त' को। अपने में पड़े हुए पदार्थों को अग्नि छोटे-छोटे कणों में विभक्त करके सर्वत्र फैला देता है। श्वासवायु के साथ उन कणों को सभी व्यक्ति अपने अन्दर लेते हैं और स्वास्थ्य आदि का लाभ करते हैं। दूसरे शब्दों में अग्नि हमारा ही भरण न करके हज़ारों का भरण करता है। मन्त्र में कहते हैं कि **अग्ने**=हे अग्ने! **येन**=क्योंकि **सहस्रं वहसि**=तू हज़ारों का ही धारण करता है, इतना ही नहीं, **येन**=चूँकि यज्ञ से पर्जन्य (बादल) के द्वारा वृष्टि करके तू अन्नादि की उत्पत्ति से **सर्ववेदसम्**=सब धनों को **वहसि**=प्राप्त कराता है, **तेन**=इसलिए **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ को **नः**=हमें **नय**=प्राप्त करा। २. यज्ञ के दो लाभ बड़े स्पष्ट हैं (क) एक तो यज्ञ के द्वारा उस वस्तु को अकेला न खाकर मैं सहस्रों के साथ मिलकर खाता हूँ तथा (ख) यह यज्ञ उत्तम अन्नादि की उत्पत्ति से हमारी सम्पत्ति का संवर्धन करता है। ३. इन दो लाभों के अतिरिक्त वायुशुद्धि व रोगकृमि-संहार से नीरोगता होकर हमारा जीवन बड़ा सुखी हो जाता है। मन्त्र में प्रार्थना करते हैं कि इन यज्ञों के द्वारा **स्वः नय**=हमें सुख व स्वर्ग को प्राप्त करानेवाला हो और **देवेषु गन्तवे**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए ले-चल। इस यज्ञ से हमारी स्वार्थ की वृत्ति समाप्त होती है और हम आसुरवृत्तियों से ऊपर उठकर दैवीवृत्तियों में विचरणवाले होते हैं। इन दिव्य गुणों के कारण यशस्वी बनकर हम 'देवश्रव' बनते हैं और दिव्य गुणों में गमन के कारण 'देववात' कहलाते हैं। ये ही इस मन्त्र के ऋषि हैं।

भावार्थ—(१) अग्निहोत्र द्वारा हम अकेले न खाकर सहस्रों का भरण करते हैं। (२) इस अग्निहोत्र से अन्नादि की उत्पत्ति के द्वारा हमें सम्पूर्ण धन प्राप्त होता है। (३) वायुशुद्धि व नीरोगता से हमारा जीवन सुखी होता है, हमारा गृहस्थ स्वर्ग बन जाता है। (४) स्वार्थवृत्ति से ऊपर उठकर हम दिव्य गुणों को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

यज्ञ के उपकरण

प्र॒स्त॒रेण॑ परि॒धिना॑ स्रु॒चा वेद्या॑ च ब॒र्हिषा॑।
ऋ॒चेमं य॒ज्ञं नो॑ नय॒ स्व॒र्दे॒वेषु॒ गन्त॑वे॥६३॥

१. **इमं यज्ञं नः नय**=इस यज्ञ को हमें प्राप्त कराइए, जो यज्ञ (क) **प्रस्तरेण**=प्रस्तर से उपलक्षित है (युक्त है), स्रुक् की आधारभूत दर्भमुष्टि से युक्त है अथवा आसन से युक्त है (ख) **परिधिना**=जो परिधि से युक्त है, तीन बाहु परिमाण काष्ठों से युक्त है। सम्भवतः ये काष्ठ वेदि की बाड़ के रूप में हैं। चौथी ओर से आगमन-निर्गमनमार्ग होने से इनकी आवश्यकता नहीं है। (ग) **स्रुचा**=यह यज्ञ 'जुहू' आदि यज्ञपात्रों से युक्त है। (घ) **वेद्या**=वेदि से युक्त है। वेदि पर स्थित होकर ही इस यज्ञ का प्रणयन होता है। (ङ)

बर्हिषा=वेदि पर बिछाने के लिए दर्भ के पूलकों से यह युक्त है और अन्त में (च) **ऋचा**=ऋगादि मन्त्रों से यह उपलक्षित है। मन्त्रोच्चारणपूर्वक ही आहुतियाँ दी जाती हैं। ३. **अग्ने**=हे प्रभो! **स्वः नय**=इस यज्ञ के द्वारा हमें दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए ले-चल, हमारी स्थिति दिव्य गुणों में हो। ४. प्रस्तरादि सब उपकरणों को जुटाकर यज्ञ करनेवाला यह व्यक्ति स्वार्थ से ऊपर उठकर सभी का मित्र बनता है और 'विश्वामित्र' नामवाला होता है।

भावार्थ—हम यज्ञ के सब उपकरणों को ठीक-ठाक करके यज्ञशील बनें और दिव्य गुणों की वृद्धि करनेवाले बनकर घर को स्वर्ग बना पाएँ।

ऋषिः—**विश्वकर्मा**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

दान व स्वर्ग

यद्दत्तं यत्परादानं यत्पूर्तं याश्च दक्षिणाः।
तदग्निर्वैश्वकर्मणः स्वर्देवेषु नो दधत्॥६४॥

१. दिव्य गुणों का अपने में निर्माण करनेवाला 'विश्वकर्मा' प्रस्तुत मन्त्रों का ऋषि है। यह देवशिल्पी अपने में दिव्य गुणों का निर्माण करता है। यह प्रार्थना करता है कि **यत् दत्तम्**=जब हममें भार्या, पुत्र, माता, भगिनी व भगिनीपति आदि बन्धुओं के लिए उदारता-पूर्वक देने की वृत्ति होती है २. **यत् परादानम्**=और जब परोपकार के लिए दया से दीन, अन्धे आदि के लिए हम आवश्यक वस्तुओं को देते हैं। (३) **यत्पूर्तम्**=जब हम लोकहित के लिए वापी, कूप तड़ागादि का निर्माण करते हैं ४. **याश्च दक्षिणाः**=और जब हम ज्ञानी ब्राह्मणों के लिए यज्ञसम्बन्धिनी दक्षिणाओं को प्राप्त कराते हैं ५. **तत्**=तब **वैश्वकर्मणः**= विश्वकर्मा का हितकारी **अग्निः**=वह सब उन्नतियों का साधक प्रभु **नः**=हमें **स्वः दधत्**=सुख में स्थापित करे तथा हमें **देवेषु**=दिव्य गुणों में स्थापित करे, अर्थात् दान की वृत्ति के परिणामरूप हमारे जीवन स्वर्गतुल्य सुखों व दिव्य गुणोंवाले हों।

भावार्थ—हम 'दत्त, परादान, पूर्त व दक्षिणा' के रूप में दान देनेवाले हों और अपने जीवनों को सुखी व दिव्य गुणसम्पन्न बना पाएँ।

ऋषिः—**विश्वकर्मा**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

यज्ञ व स्वर्ग

यत्र धाराऽअनपेता मधोर्घृतस्य च याः। तदग्निर्वैश्वकर्मणः स्वर्देवेषु नो दधत्॥६५॥

१. **यत्र**=जब **मधोः**=मधुरादि गुणयुक्त सुगन्धित द्रव्यों की **घृतस्य च**=और घृत की **याः**=जो **धाराः**=धाराएँ हैं, वे **अनपेताः**=(न अप इताः) दूर नहीं होती, अर्थात् जहाँ यज्ञों में मधुर हविर्द्रव्यों व घृत की आहुतियाँ निरन्तर पड़ती रहती हैं २. **तत्**=तब **वैश्वकर्मणः**= विश्वकर्मा—यज्ञादि उत्तम कर्मों को करनेवाले देवशिल्पियों का हितकारी **अग्निः**=वह उन्नति-साधक प्रभु **नः**=हमें **स्वः दधत्**=स्वर्ग में स्थापित करे तथा **देवेषु दधत्**=दिव्य गुणों में स्थापित करे।

भावार्थ—जिस घर में निरन्तर मधुर हविर्द्रव्यों तथा घृत से यज्ञ चलते हैं, वहाँ स्वर्ग होता है, दिव्य गुणों की स्थापना होती है।

सूचना—घृत की धाराएँ अनेपत हों, अर्थात् यज्ञ निरन्तर चले। इसमें अवकाश न आ जाए। इसे जरामर्य सत्र समझा जाए। इससे तो तभी छुटकारा होगा जब हम अत्यन्त वृद्ध हो जाएँगे अथवा देह को ही त्याग देंगे।

ऋषिः—**देवश्रवदेववातौ**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

अग्नि-हविः

अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं मऽआसन्।
अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानोऽजस्रो घर्मो हविरस्मि नाम॥६६॥

१. पिछले दो मन्त्रों के अनुसार दान व यज्ञों से देवों को (दिव्य गुणों को) अपने में धारण करनेवाला यह 'देवश्रव' बनता है, दिव्य गुणों के कारण यज्ञवाला। दिव्य गुणों के प्रति जाने के कारण यह 'देववात' है। यह निश्चय करता है कि मैं **अग्निः अस्मि**=निरन्तर आगे ही बढ़नेवाला होता हूँ। २. **जन्मना जातवेदाः**=जन्म से ही उत्पन्न ज्ञानवाला बनता हूँ, अर्थात् जीवन के प्रारम्भ से ही ज्ञानरुचि होने के कारण निरन्तर अध्ययन करता हुआ ज्ञानी बनता हूँ। ३. **मे चक्षुः घृतम्**=मेरी चक्षु आदि इन्द्रियाँ 'घृत' होती हैं, अर्थात् 'घृ क्षरण' मलों के क्षरण से (घृ=दीप्ति) अत्यन्त दीप्तिवाली होती हैं। ४. **मे आसन् अमृतम्**=मेरे मुख में अमृत है। मेरे मुख से अमृतमय मधुर वचन ही निकलें। ५. इस प्रकार ज्ञानी व मिष्टभाषी बनकर मैं **अर्कः**=उस प्रभु का सच्चा उपासक होता हूँ। ६. **त्रिधातू**=शरीर, मन व बुद्धि—तीनों का धारण करनेवाला बनता हूँ। मेरा शरीर 'कर्मकाण्ड' को अपनाता है तो मन 'उपासना' को तथा मस्तिष्क 'ज्ञान' को। ७. मैं **रजसः विमानः**=(रजः=कर्म) कर्म का विशिष्ट मानपूर्वक करनेवाला होता हूँ। मेरी आहार-विहार व जागरण-स्वप्न आदि सभी क्रियाएँ युक्त (मपी-तुली) होती हैं। ८. **अजस्रः घर्मः**=इस युक्तचेष्टता के कारण मैं सतत अनुपक्षीण प्राणशक्ति की उष्णतावाला होता हूँ। मुझमें संयम से शक्ति की उष्णता सदा बनी रहती है। ९. **हविः नाम अस्मि**=और अन्त में मैं हवि होता हूँ, सदा दानपूर्वक अदन करनेवाला बनता हूँ, (हु दानादनयोः) यज्ञशेष को खाता हूँ, प्रभु के 'त्यक्तेन भुञ्जीथाः' इस उपदेश का पालन करता हूँ। वस्तुतः यह हविः मेरी सब उन्नतियों का मूल होती है।

भावार्थ—मैं 'अग्नि' बनूँ और अग्नि बनने के लिए 'हविः' होऊँ।

ऋषिः—**देवश्रवदेववातौ**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**आर्षीजगती**। स्वरः—**निषादः**॥

ऋग्यजुःसाम

ऋचो नामास्मि यजूꣳषि नामास्मि सामानि नामास्मि। येऽअग्नयः पाञ्चजन्याऽअस्यां पृथिव्यामधि। तेषामसि त्वमुत्तमः प्र नो जीवातवे सुव॥६७॥

१. **ऋचः नाम अस्मि**=विज्ञान का अध्ययन करके 'ऋचः' नामवाला मैं हूँ। ऋग्वेद 'विज्ञानवेद' है। विज्ञान का उच्च अध्ययन करने के कारण 'ऋच' अर्थात् विज्ञान ही मेरा नाम हो गया है। २. इस विज्ञान के अनुसार विविध यज्ञात्मक कर्मों में जीवन का यापन करने से मैं **यजूंषि नाम अस्मि**='यजूंषि' नामवाला हो गया हूँ। ३. ज्ञानपूर्वक किये गये कर्मों को प्रभु-चरणों में अर्पित करके प्रभु का उपासन करनेवाला मैं **सामानि नाम अस्मि**='सामानि' नामवाला हूँ। सामवेद 'उपासनावेद' है। इन ज्ञानपूर्वक किये गये कर्मों ने मुझे मूर्त्तिमती उपासना ही बना दिया है। ४. इस प्रकार 'ज्ञान-कर्म व उपासना' का अपने में समन्वय करके यह सचमुच **अग्नि**=जीवन में आगे बढ़नेवाला बना है। यह उन्नत जीवनवाला व्यक्ति सब मनुष्यों का हित करने से 'पाञ्चजन्य' है। इससे अन्य मनुष्य निवेदन करते हैं कि **अस्यां पृथिव्याम्**=इस पृथिवी पर **ये**=जो भी **पाञ्चजन्याः**=मनुष्यों का हित करनेवाले **अग्नयः**=प्रगतिशील व कार्य करने में उत्साहवाले व्यक्ति हैं **तेषाम्**=उनमें

त्वम्=तू **उत्तमः असि**=उत्तम है—प्रमुख है। वह तू **नः**=हमें **जीवातवे**=चिरजीवन के लिए **प्रसुव**=प्रेरणा प्राप्त करा। हमें ऐसी प्रेरणा दे कि हम उसके अनुसार जीवन को 'स्वस्थ, सत्यमय व ज्ञानदीप्त' बनाकर दीर्घकाल तक चलनेवाला बना पाएँ।

भावार्थ—मेरे जीवन में 'ज्ञान-कर्म-उपासना' का समन्वय हो। मैं लोकहित करनेवालों में प्रमुख बनूँ। लोगों को उत्तम प्रेरणा देकर उनके सुन्दर व दीर्घ जीवन का कारण बनूँ।

सूचना—मनुष्य के लिए यहाँ 'पाञ्चजन्य' शब्द का प्रयोग है। पाँचों 'अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय व आनन्दमय' इन सब कोशों का (जन) विकास करने के कारण वह 'पाञ्चजन्य' कहलाता है। जीवन को उत्तम बनाने के लिए पाँचों को क्रमशः 'तेज, वीर्य, बल, ओज, मन्यु तथा सहस्' से सुभूषित करना है। मन्त्र का ऋषि 'देवश्रवदेववात' लोगों के भले के लिए तेजस्विता आदि के सम्पादन के साधनों का उपदेश देता है। स्वयं तेज आदि का धारण करता हुआ लोगों के लिए क्रियात्मक उदाहरण उपस्थित करता है।

ऋषिः—**इन्द्रः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

इन्द्र का आवर्तन

वार्त्रहत्याय शवसे पृतनाषाह्याय च। इन्द्र त्वावर्तयामसि॥६८॥

१. गतमन्त्र के अन्तिम वाक्य के अनुसार जब व्यक्ति लोकहित के लिए उत्तम प्रेरणा देता है तब उसके लिए आवश्यक हो जाता है कि वह स्वयं अपने को पूर्ण जितेन्द्रिय बनाए। इन्द्र बनकर ही वह औरों को इन्द्र बनने के लिए कह सकता है। साथ ही इन्द्र बनने के लिए यह आवश्यक है कि वह सब असुरों का संहार करनेवाले महान् इन्द्र (प्रभु) का स्मरण करे। प्रस्तुत मन्त्र में उसी प्रभु-स्मरण (प्रभुनाम-जपन) का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि हे **इन्द्र**=शक्ति के सब कार्यों को करनेवाले प्रभो! **त्वावर्तयामसि**=हम आपका आवर्तन करते हैं, आपके नाम का जप व अर्थभावन करते हैं। आपके निजनाम 'ओम्' का जप व चिन्तन करते हुए हम वासनाओं के आक्रमण से अपने को बचाते हैं। २. **वार्त्रहत्याय**=(वृत्रं हन्यते येन) जिससे कि हम वृत्र का हनन कर सकें। हमारे ज्ञान पर आवरण के रूप में आ जानेवाली वासना ही 'वृत्र' है। आपके नाम-स्मरण से हम इस वृत्र का विनाश करनेवाले बनते हैं। ३. **शवसे**=(शव गतौ, शवस्=बल) क्रियाशीलता व क्रियाशीलता से उत्पन्न होनेवाली शक्ति के लिए हम आपका स्मरण करते हैं। प्रभु-स्मरण हमें प्रभु के समान ही स्वाभाविकी क्रिया करनेवाला बनने की प्रेरणा प्राप्त कराता है, उस क्रिया को अपनाकर हम बल का सम्पादन करते हैं, **च**=और ४. **पृतनाषाह्याय**=शत्रु-सेनाओं के पराभव के लिए हम जप करते हैं। प्रभु को हृदयस्थ करके हम हृदयक्षेत्र से वासनासमूह को दूर भगा देते हैं। इन वासनाओं के पराभव के लिए हम समर्थ होते हैं। इन आसुरी वृत्तियों का संहार करके हम सचमुच प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'इन्द्र' बनते हैं।

भावार्थ—हम निरन्तर प्रभु के नाम का आवर्तन करें। इन्द्र के आवर्तन से इन्द्र बनें, जिससे कि (क) हम वृत्र का विनाश कर सकें। (ख) क्रियाशीलता के द्वारा बल का सम्पादन करनेवाले हों तथा (ग) शत्रु-सेनाओं का पराभव कर पाएँ।

ऋषिः—**इन्द्रविश्वामित्रौ**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**आर्षीत्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

वृत्र

सहदानुम्पुरुहूत क्षियन्तमहस्तमिन्द्र सम्पिणक् कुणारुम्।
अभि वृत्रं वर्द्धमानं पियारुमपादमिन्द्र तवसा जघन्थ॥६९॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जीव प्रभु के नाम का आवर्तन करते हुए कहता है कि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों की विजय करानेवाले प्रभो! **सहदानुम्**=(दाप् लवने) बल का लवन (छेदन) करनेवाले, **क्षियन्तम्**=बल के नाश से हमारा नाश करनेवाले **कुणारुम्**=(कुणयति=रोदयति) दुर्गति के द्वारा रोदन करानेवाले और अन्त में **पियारुम्**=(पियतिर्हिंसाकर्मा) सब दैवी वृत्तियों को समाप्त कर देनेवाले **वर्द्धमानम्**=निरन्तर बढ़ते हुए **वृत्रम्**=इस ज्ञान के आवरक कामरूप वृत्र का हे **पुरुहूत**=पालन व पूरण करनेवाली पुकारवाले प्रभो! आप **अहस्तम्**=हस्तरहित करके—हननशक्तिशून्य करके **संपिणक्**=पीस डालते हैं तथा **अपादम्**=पादों व गति से शून्य करके **तवसा**=बल के द्वारा **अभिजघन्थ**=सम्यक् समाप्त कर देते हैं। २. यह वासना ज्ञान पर परदा डालनेवाली होने से 'वृत्र' है। यह हमारे बल का छेदन कर देने से 'सहदानु' है! क्षयकारिणी होने से 'क्षियन्' है। अन्त में बुरी भाँति रुलानेवाली होने से 'कुणारुम्' है। सब दैवी वृत्तियों को समाप्त कर देने से यह 'पियारु' है। सदा बढ़ने व फैलनेवाली होने से 'वर्धमान' है। ३. प्रभु के नाम का स्मरण हममें बल उत्पन्न करता है, और उस **तवस्**=बल से इस वृत्र की हननशक्ति को समाप्त कर देता है, इस वृत्र को 'अहस्त' कर देता है। (हन् से हस्त=Hand)। प्रभु के नाम-स्मरण से यह वासना 'अपाद'-गतिशून्य हो जाती है, मानो इसके पाँव ही नहीं रहते। ४. इस प्रकार वे प्रभु सचमुच 'इन्द्र' हैं, हमारे इन कामादि शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले हैं। वे प्रभु 'पुरुहूत' हैं, उनको पुकारना हमारा पालन व पूरण करता है।

भावार्थ—प्रभु नाम-स्मरण से हमारी वासना हाथ-पाँव से रहित होकर विनष्ट हो जाए। वासना हमारा हनन करनेवाली न हो, हमारे हृदयक्षेत्र से उसकी चहल-पहल दूर चली जाए।

ऋषिः—**शासः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

कुचलना Trampling upon

वि नऽइन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः।
योऽअस्माँ२॥ऽअभिदासत्यधरं गमया तमः॥७०॥

१. गतमन्त्र का ऋषि इन्द्र काम-क्रोधादि आसुरवृत्तियों का संहार करके सब पापों से अपने को बचानेवाला (विश्व-मित्र) विश्वामित्र बना था। यह अपने पर पूर्णरूप से शासन करनेवाला होने से 'शास' कहलाता है। यह प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का संहार करके ऐश्वर्य प्राप्त करनेवाले प्रभो! **नः**=हमारी **मृधः**=(murder) हत्या करनेवाले इन कामादि शत्रुओं को **विजहि**=विशेषरूप से नष्ट कर दीजिए। २. **पृतन्यतः**=हमारे साथ संग्राम की इच्छावाले इन शत्रुओं को **नीचा यच्छ**=नीचा दिखाइए। इन्हें हमारे पाँव तले रौंद दीजिए। ३. इन वासनारूप शत्रुओं में **यः**=जो भी **अस्मान्**=हमें **अभिदासति**=इहलोक व परलोक दोनों ओर से (अभि) नष्ट करना चाहता है (दस् उपक्षये) उसे आप **अधरम् तमः**=पाताललोक के अन्धकार को **गमया**=प्राप्त कराइए। ये वासनाएँ पाताल में ही कैद-सी

रहें। इनका निवास तो असुर्यलोकों में ही ठीक है। हमारे साथ इनका क्या सम्बन्ध? इनमें फँसकर तो हम भी उन असुर्यलोकों में ही घसीटे जाएँगें, अतः हे प्रभो! आप ऐसी कृपा कीजिए कि मैं इन वासनाओं से अभिभूत होकर नष्ट न हो जाऊँ।

भावार्थ—हम वासनाओं को नष्ट करके उन्हें पूर्णरूप से वशीभूत करके अपने 'शास' नाम को यथार्थ करें।

ऋषिः—**जयः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**आर्षीत्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

जय

मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः परावतऽआजगन्था परस्याः।
सृकꣳसꣳशाय पविमिन्द्र तिग्मं वि शत्रून्ताढि वि मृधो नुदस्व ॥७१॥

१. गतमन्त्र का 'शास'=अपने पर शासन करनेवाला शत्रुओं पर विजय पाता है और 'जय' नामवाला होता है। यह जय **मृगः**=(मृग अन्वेषणे) आत्मान्वेषण करनेवाला होता है। इस आत्मालोचन से यह 'इन्द्रिय, मन व बुद्धि' में छिपकर ठहरे हुए कामादि को ढूँढकर नष्ट करने का प्रयत्न करता है। २. **न भीमः**=अपनी कमियों को जानने के कारण ही यह भयंकर नहीं होता, इसे अभिमान व क्रूरता आदि दोष आक्रान्त नहीं करते। ३. **कुचरः**=यह सदा पृथिवी पर विचरनेवाला होता है, घमण्ड के कारण आकाश में नहीं उड़ता, डींगें नहीं मारता (Does not build castles in the air)। ४. **गिरिष्ठाः**=सदा वेदवाणी में स्थित होता है—वेदोपदिष्ट मार्ग से चलता है। ५. **परावतः परस्याः**=दूर-से-दूर देश से भी **आजगन्थ**=लौट आता है। इसका जो मन सुदूर देशों में भटका होता है, उस मन को यह वहाँ से वापस ले-आता है, 'प्रत्याहार' की साधना करता है। ६. **सृकम्**=(सृ-कं) गति में आनन्द को **संशाय**=(तीक्ष्णीकृत्य) बढ़ाकर, अर्थात् गति में, क्रियाशीलता में अधिक-से-अधिक आनन्द लेता हुआ **इन्द्र**=हे जीवात्मन्! ७. **पविम्**=अपने को पवित्र बनाने की भावना को **तिग्मम्**=तीव्र व ज्ञान से दीप्त करके, अर्थात् पवित्रता व ज्ञान को मिलाकर तू **शत्रून्**=इन कामादि शत्रुओं को **विताढि**=हिंसित कर तथा **मृधः**=इन हिंसक शत्रुओं को **विनुदस्व**=अपने से सुदूर धकेल दे।

भावार्थ—कामादि शत्रुओं को जीतने के लिए आवश्यक है कि हम (क) आत्मालोचन करें (मृगः), (ख) कल्पनाओं में न उड़ते रहकर पृथिवी पर विचरनेवाले बनें (कुचरः), (ग) 'गिरिष्ठा' बनें—वेदवाणी के अनुकूल चलें, (घ) क्रियाशीलता में आनन्द लें (सृकम्), (ङ) पवित्रता को ज्ञानदीप्त करें (पविं तिग्मम्)।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**आर्षीगायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

वैश्वानरः, विश्वामित्रः

वैश्वानरो नऽऊतयऽआ प्रयातु परावतः। अग्निर्नः सुष्टुतीरुप॥७२॥

१. गतमन्त्र के अनुसार 'जय'=विजेता बनकर 'विश्वामित्र'=सभी के साथ स्नेह करनेवाला बनता है और प्रभु से प्रार्थना करता है कि **वैश्वानरः**=सब मनुष्यों का हित करनेवाला प्रभु **परावतः**=दूर देश से **नः ऊतये**=हमारे रक्षण के लिए **आ प्रयातु**=सर्वथा समीप देश में प्राप्त हो। अज्ञानवश जब हम प्रभु से दूर होते हैं, तब हमें भय आदि प्राप्त होते हैं तथा काम-क्रोधादि शत्रुओं के हम वशीभूत हो जाते हैं। उन होने पर हम उस प्रभु

को अपने हृदय में अनुभव करते हैं, उससे हमें जहाँ अभय प्राप्त होता है, वहाँ हम काम-क्रोधादि के शिकार नहीं होते। २. **अग्निः**=हमारी सब उन्नतियों का साधक वह प्रभु **सुष्टुतीरुप**=हमसे की गई शोभन स्तुतियों के द्वारा (सुष्टुतिभिः) **नः**=हमारे **उप**=समीप उपस्थित हों। वे प्रभु हमारे रक्षक हों। यदि थोड़ा-सा विचार किया जाए तो इससे बढ़कर हमारा सौभाग्य क्या हो सकता है कि प्रभु हमारी रक्षा कर रहे हों, परन्तु यह होगा तभी जब (क) हम भी उस प्रभु की भाँति ही 'वैश्वानर' बनें। सभी का हित करनेवाले हों इस भावना को अपनाकर ही हम मन्त्र के ऋषि 'विश्वामित्र' होंगे। प्रभु की रक्षा का पात्र बनने का (ख) दूसरा साधन 'अग्नि' बनना है। हममें निरन्तर आगे बढ़ने की भावना हो। (ग) इस आगे बढ़ने के उद्देश्य से हम प्रभु की उत्तम स्तुति करनेवाले बनें (सुष्टुती)। इन स्तुतियों से हमारे सामने एक लक्ष्य-दृष्टि उत्पन्न होगी। यह लक्ष्य आँख से ओझल न होगा तो हम निरन्तर आगे बढ़ते चलेंगे।

भावार्थ—(क) हम सब प्राणियों के हित की भावना से कार्यों में प्रवृत्त हों। (ख) हममें आगे बढ़ने की प्रवृत्ति हो। (ग) प्रभु के उत्तम स्तवन में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—**कुत्सः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**आर्षीत्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

जिज्ञासु भक्त

पृष्टो दिवि पृष्टोऽअग्निः पृथिव्यां पृष्टो विश्वाऽओषधीराविवेश।
वैश्वानरः सहसा पृष्टोऽअग्निः स नो दिवा स रिषस्पातु नक्तम्॥७३॥

१. गतमन्त्र में कहा गया था कि 'प्रभु हमें रक्षा के लिए समीपता से प्राप्त हों'। प्रस्तुत मन्त्र में उसी भावना को दृढ़ करते हुए कहते हैं कि **सः**=वे प्रभु **नः**=हमें **दिवा**=दिन में तथा **सः**=वे प्रभु **नक्तम्**=रात्रि में **रिषः**=हिंसा से **पातु**=बचाएँ। वे प्रभु दिन-रात हमारी रक्षा करें। २. ये प्रभु वे हैं जो **पृष्टः**=जिज्ञासित होने पर (प्रच्छ जिज्ञासायां) **दिवि**=द्युलोक में, दीप्त होनेवाले सूर्य में दिखते हैं। ३. वे **अग्निः**=सारे संसार के अग्रेणी प्रभु **पृष्टः**=जिज्ञासित होने पर **पृथिव्याम्**=(प्रथ विस्तारे) अन्तरिक्षलोक में अन्तरिक्षस्थ चन्द्र व मेघ आदि में दृष्टिगोचर होते हैं। ४. **पृष्टः**=जिज्ञासित होने पर वे प्रभु **विश्वा ओषधीः आविवेश**=सब ओषधियों में प्रविष्ट दिखते हैं। इन विविध ओषधियों में उस सवितादेव की महिमा प्रकट होती है। ५. वे **वैश्वानरः अग्निः**=सब मनुष्यों के सञ्चालक (विश्वान् नरान् नयति) प्रभु **सहसा**=सहस् के द्वारा, बल के द्वारा **पृष्टः**=जिज्ञासित होते हैं। प्रभु का दर्शन निर्बलों को नहीं होता **'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'**। ६. इस प्रकार प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु के जिज्ञासु भक्त का वर्णन है। सर्वत्र प्रभु की महिमा का दर्शन करनेवाला यह व्यक्ति विलास से बचकर शक्ति का सञ्चय कर पाता है, इसमें सहनशीलता होती है। अपने इस 'सहस्' से ही यह प्रभु का प्रिय होता है। 'तेज' से 'शरीर की शोभा' प्राप्त होती है, 'वीर्य' से 'नीरोगता व दीर्घजीवन' का लाभ होता है, 'बल व ओज' से सफलता प्राप्त होती है, ज्ञान (मन्यु) से पवित्रता तथा प्रभु की ओर चलने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है और अन्त में 'सहस्' से 'प्रभु की प्राप्ति' होती है। इसकी रक्षा में हम सब बुराइयों का संहार करनेवाले 'कुत्स' (कुथ हिंसायाम्) बनते हैं, इस मन्त्र के ऋषि होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु के जिज्ञासु भक्त बनेंगे तो धीमे-धीमे सर्वत्र हमें उस प्रभु की महिमा दिखेगी।

ऋषिः—**भरद्वाजः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

प्रभु-रक्षण के चार लाभ

अ॒श्याम॒ तं काम॑मग्ने॒ तवो॒तीऽअ॒श्याम॑ र॒यिꣳर॑यिवः सु॒वीर॑म्।
अ॒श्याम॒ वाज॑म॒भि वा॒जय॑न्तो॒ऽश्याम॑ द्यु॒म्नम॑जरा॒जरं॑ ते ॥७४॥

१. गतमन्त्र की समाप्ति पर कहा था कि वे प्रभु दिन-रात हमारी रक्षा करते हैं। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि उस रक्षण से क्या होता है? सबसे प्रथम बात तो यह है कि हे **अग्ने**=हमारी सब उन्नतियों के साधक प्रभो! **तव ऊती**=आपके रक्षण से हम अपनी **तं कामम्**=उस-उस कामना को **अश्याम**=प्राप्त करें, जिस कामनावाले कि हम आपसे प्रार्थना करें **'यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु'**। एवं, प्रभु-रक्षण का प्रथम लाभ यह है कि हमारी सब कामनाएँ पूर्ण होती हैं। २. हे **रयिवः**=सब धनों के स्वामिन्! हम **सुवीरम् रयिम्**=उत्तम वीरता को प्राप्त करानेवाले धन को **अश्याम**=प्राप्त करें। प्रभु के स्तवन से अलग होकर प्राप्त किया गया धन हमें विलास की ओर ले-जाकर वीरता से रहित करता है। प्रभु-स्मरण के साथ धन हमारी शक्ति की वृद्धि का कारण बनता है। ३. हे प्रभो! आपके रक्षण में **वाजयन्तः**=(संग्रामयन्तः) कामादि वासनाओं के साथ संग्राम करते हुए हम **वाजम्**=शक्ति को **अभि अश्याम**=समन्तात् प्राप्त करें। वासनाओं को जीतने से शरीर में बल आएगा तथा मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि भी दीप्त होगी। इस प्रकार **अभि**=दोनों क्षेत्रों में—शरीर व आत्मा के क्षेत्र में हम बलवान् होंगे। प्रभु की रक्षा में ही हम इस वासना-संग्राम में विजयी बन पाएँगे। ४. हे **अजर**=कभी जीर्ण न होनेवाले प्रभो! हम **ते**=आपकी **अजरम्**=कभी भी जीर्ण न होनेवाली **द्युम्नम्**=ज्ञान की ज्योति को **अश्याम**=प्राप्त करें, **'पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति'**। ५. इस प्रकार मन्त्रार्थ से स्पष्ट है कि प्रभु रक्षण से सब इच्छाओं की पूर्ति तथा धन-प्राप्ति के साथ मनुष्य वीर बनता है। वासनाओं को जीतकर वह शरीर को ही सबल नहीं बनाता अपितु अपने मस्तिष्क को भी सशक्त करके प्रभु की अजर ज्ञान-ज्योति को प्राप्त करता है। 'वाज' शब्द बल व ज्ञान' दोनों अर्थ रखता है, अतः यह अपने में बल व ज्ञान को भरनेवाला 'भरद्वाज' कहलाता है। यह 'भरद्वाज' ही प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—प्रभु के रक्षण से हम १. अपनी इष्ट कामनाओं को सिद्ध करनेवाले बनें। २. वीरतायुक्त धन के स्वामी हों, ३. वासनाओं के साथ संग्राम करके उनके विजय से शरीर में शक्ति व मस्तिष्क में ज्ञान को भरनेवाले हों, ४. हम उस अजर प्रभु की ज्ञान-ज्योति को प्राप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—**उत्कीलः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**आर्षीत्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

अपनी इच्छा को प्रभु-इच्छा में

व॒यं ते॑ऽअ॒द्य र॑रि॒मा हि काम॑मुत्ता॒नह॑स्ता॒ नम॑सोप॒सद्य॑।
यजि॑ष्ठेन॒ मन॑सा यक्षि दे॒वानस्त्रे॑धता॒ मन्म॑ना॒ विप्रो॑ऽअग्ने॥७५॥

१. पिछले मन्त्र में कहा था कि प्रभु-रक्षण से सब कामनाएँ पूर्ण होती हैं। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि प्रभुभक्त अपनी कामना को प्रभु की कामना में मग्न (merge) कर देता है, उसकी वही इच्छा होती है जो प्रभु की इच्छा हो। वह अपनी स्वतन्त्र इच्छा को समाप्त कर देता है। आज यह अपने को उस उत्=उत्कृष्ट प्रभु के साथ कील=बाँधनेवाला बनकर प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'उत्कील' बनता है कि **वयम्**=कर्मतन्तु का सन्तान

करनेवाले हम (वञ्=तन्तुसन्ताते) **अद्य**=आज **कामम्**=अपनी इच्छा को **ते ररिमा**=तेरे प्रति दे डालते हैं, हमारी इच्छा आज से वही है जो आपकी। २. आपके प्रति अपना अर्पण करके हम उद्यम को नहीं छोड़ देते, **उत्तानहस्ता**=हम कर्मों में उत्कृष्टता से हाथों का विस्तार करनेवाले होते हैं (उत्+तन्), अर्थात् हमारे हाथ सदा उत्कृष्ट कर्मों में व्याप्त रहते हैं ३. इन कर्मों को हम **नमसा उपसद्य**=नम्रता से आपकी उपासना करते हुए करते हैं। हम कर्म करते हैं, परन्तु इस बात को भूलते नहीं कि यह सब आपकी ही शक्ति है और हम उस शक्ति से होनेवाले कार्यों के माध्यममात्र हैं, अतः हम कर्मों को करते हैं, परन्तु उन कर्मों का गर्व नहीं करते। ४. उल्लिखित संकल्पवाले 'उत्कील' को प्रभु प्रेरणा देते हैं कि **यजिष्ठेन मनसा**=अधिक-से-अधिक देवपूजा की वृत्तिवाले, सबके साथ स्नेह व मेल की भावनावाले तथा दान की वृत्तिवाले **यज्**=(क) देवपूजा (ख) संगतिकरण (ग) दानवाले मन से **देवान्**=दिव्य गुणों को **यक्षि**=अपने साथ सङ्गत कर। यजिष्ठ मन से हममें दिव्य गुणों का वर्धन होता है। ५. हे **अग्ने**=प्रगतिशील उत्कील! तू **अस्त्रेधता**=(इतस्ततो गमनरहितेन स्थिरेण—द०) सुपथगामी **मन्मना**=मनन से **विप्रः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाला बन। प्रभु के अनन्य चिन्तन से मनुष्य का जीवन शुद्ध व शक्तिशाली बनता है। हमारी सब कमियाँ दूर हो जाती हैं।

भावार्थ—(क) हम अपनी इच्छा को प्रभु की इच्छा में मिला दें। (ख) नम्रता से प्रभु का उपासन करते हुए उत्कृष्ट कर्मों में हाथों को व्यापृत रक्खें। (ग) यजिष्ठ मन से अपने जीवन को देवों से सङ्गत करें, दिव्य गुणों से पूर्ण करें। (घ) प्रभु का अनन्य चिन्तन करते हुए अपनी सब न्यूनताओं को दूर करके अपना उत्तम पूरण करें।

ऋषिः—**उत्कीलः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

तेजस्विता का रक्षण

धामच्छदग्निरिन्द्रो ब्रह्मा देवो बृहस्पतिः।
सचेतसो विश्वे देवा यज्ञं प्रावन्तु नः शुभे॥७६॥

१. गतमन्त्र का 'उत्कील' ऋषि ही प्रार्थना करता है कि **अग्निः**=दोषदहन व प्रकाश की देवता अग्नि, **इन्द्रः**=शक्ति के सब कार्यों को करनेवाला प्रभु, **ब्रह्मा**=सारे ब्रह्माण्ड का निर्माण व वर्धन करनेवाला प्रभु, **देवः**=दिव्य गुणों का पुञ्ज प्रभु तथा **बृहस्पतिः**=(ब्रह्मणस्पतिः) सम्पूर्ण वेदज्ञान का पति वह प्रभु **धामच्छत्**=हमारे तेज का छादन व रक्षण करनेवाला हो। प्रभु की कृपा से मेरा जीवन हीनाकर्षण से दूर होकर उत्कृष्ट बन्धनवाला हो। मैं विलास से सदा बचा रहूँ और अपने तेज को विनष्ट न होने दूँ। २. इस तेजस्विता की रक्षा के लिए मैं 'अग्नि, इन्द्र, ब्रह्मा, देव व बृहस्पति' का उपासक बनूँ। अग्नि का उपासक बनकर (अगि गतौ) क्रियाशील बनूँ और अपने दोषों का दहन करूँ। 'इन्द्र' का उपासक बनकर जितेन्द्रिय बनूँ और असुरों का संहार करनेवाला होऊँ। 'ब्रह्मा' का उपासक बनकर हृदय को (बृहि वृद्धौ) विशाल बनाऊँ और निर्माणात्मक कार्यों में लगाये रक्खूँ। 'देव' का उपासक बनकर मैं दान की वृत्तिवाला बनूँ, ज्ञान से चमकूँ तथा औरों के लिए ज्ञान की दीप्ति देनेवाला बनूँ। 'बृहस्पति' का उपासक मैं सम्पूर्ण वेदज्ञान का पति बनने का प्रयत्न करूँ। ये उपासनाएँ ही मेरे तेज की रक्षा करेंगी। मुझे निम्न मार्ग से हटाकर सचमुच 'उत्कील'=उत्कृष्ट बन्धनवाला बनाएँगी। ३. हे प्रभो! आप ऐसी कृपा कीजिए कि **सचेतसः**=(चेतसा सह) उत्तम संज्ञान से युक्त अथवा (समानं चेतो येषाम्) समान ज्ञानवाले, एक ही विचारवाले

विश्वेदेवाः=सब देव **नः**=हमारे **शुभे**=शुभ के निमित्त (शुभ्+क्विप्=शुभ) जीवन में हमें शुभ-ही-शुभ प्राप्त हो, इसके लिए **यज्ञं प्रावन्तुः**=हममें यज्ञिय भावना की प्रकर्षेण रक्षा करें। हम यज्ञशील हों और यज्ञ से हम समृद्ध जीवनवाले हों।

भावार्थ—हम 'अग्नि' आदि के उपासक बनकर अपनी तेजस्विता का रक्षण करें। ज्ञानियों से यज्ञ की प्रेरणा प्राप्त करके हम शुभ का साधन करें।

ऋषिः—**उशनाः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

उशना की प्रार्थना

त्वं यविष्ठ दाशुषो नॄः पाहि शृणुधी गिरः। रक्षा तोकमुत त्मना॥७७॥

१. गतमन्त्र का उत्कील 'तेजस्विता की रक्षा' व यज्ञिय वृत्ति' के द्वारा प्रभु-प्राप्ति की कामना करनेवाला होने से 'उशनाः' नामवाला होता है। यह प्रभु की आराधना करता है कि **यविष्ठ**=हमारे दुर्गुणों को अधिक-से-अधिक पृथक् करनेवाले तथा सद्गुणों का हमारे साथ सम्पर्क करानेवाले प्रभो! (यु=मिश्रण व अमिश्रण) **त्वम्**=आप **दाशुषः**=आपके प्रति अपने को दे डालनेवाले, अपना अर्पण करनेवाले **नॄः**=हम लोगों को **पाहि**=रक्षित कीजिए। हमें दुर्गुणों से दूर व सद्गुणों के समीप करके हीनावस्था से बचाइए। २. **गिरः शृणुधी**=हमसे आप स्तुति-वाणियों को ही सुनिए, अर्थात् आपकी कृपा से हम ज्ञान से परिपूर्ण इन स्तुति-वाणियों को ही बोलनेवाले हों। हमारे मुख से कभी कोई अशुभ शब्द न निकले। ३. **उत**=और हे प्रभो! आप **त्मना**=स्वयं **तोकम्**=आपका पुत्र जो मैं हूँ उसकी **रक्ष**=रक्षा कीजिए। मैं आपका भजन करूँ आप मेरी रक्षा करें। आपकी कृपा से ही मैं आपका सुपुत्र बन पाऊँगा और आपका रक्षणीय होऊँगा। मेरी कामना है कि मैं आपको प्राप्त कर पाऊँ। ४. आपकी प्राप्ति के लिए (क) अधिक-से-अधिक अवगुणों को दूर करके सद्गुणों को प्राप्त करूँ (यविष्ठ) (ख) आपके प्रति अपना अर्पण करनेवाला बनूँ (दाशुषः)। (ग) मेरे मुख से ज्ञान व स्तुति की उत्तम वाणियाँ ही उच्चरित हों (गिरः) (घ) मैं आपका सुपुत्र बनूँ (तोकम्)।

भावार्थ—प्रभु यविष्ठ हैं। दाश्वान् की रक्षा करते हैं। हमें चाहिए कि ज्ञान व स्तुति वाणियों का ही उच्चारण करें और प्रभु के सुपुत्र बनें।

सूचना—इस अन्तिम मन्त्र में उशनाः (प्रभु की प्राप्ति की कामनावाला) प्रभु का सुपुत्र बनना चाहता है। प्रभु का सुपुत्र वही हो पाता है जो इस मानव-जीवन में सोम की रक्षा के द्वारा अपने जीवन को ठीक परिपक्व करता है तथा सद्गृहस्थ बनकर उत्तम सन्तान को जन्म देकर 'प्रजा-पति' बनता है। इस 'प्रजापति' ऋषि के मन्त्र से ही अगले अध्याय का प्रारम्भ होता है—

॥ इत्यष्टादशोऽध्यायः सम्पूर्णः॥

एकोनविंशोऽध्यायः

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**निचृच्छक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

सुरा-सोम 'स्वाद्वी-तीव्रा-अमृता मधुमती'

स्वाद्वीं त्वा स्वादुना तीव्रां तीव्रेणामृताममृतेन। मधुमतीं मधुमता सृजामि सꣳसोमेन। सोमोऽस्यश्विभ्यां पच्यस्व सरस्वत्यै पच्यस्वेन्द्राय सुत्राम्णे पच्यस्व॥१॥

१. प्रभु कहते हैं कि **स्वाद्वीम्**=स्वादयुक्त वाणीवाली **त्वा**=तुझ 'सुरा' को **स्वादुना**=स्वादयुक्त वाणीवाले 'सोम' के साथ **संसृजामि**=उत्तमता से युक्त करता हूँ। **'पुमान् वै सोमः स्त्री सुरा'** (तै० १।३।३।४), अर्थात् पुरुष सोम हैं, स्त्री सुरा। पुरुष ने **सू**=विविध वस्तुओं के उत्पादन के द्वारा ऐश्वर्य कमाना है और स्त्री ने (सुर to govern, to rule, to shine) घर में व्यवस्था करनी है और अपनी उत्तम व्यवस्था से उसे चमकाना है। स्वाद्वीं सुरा को मैं स्वादु सोम के साथ जोड़ता हूँ, अर्थात् मधुर वाणीवाली पत्नी को मधुर वाणीवाले पति से संयुक्त करता हूँ। पत्नी पति के प्रति मधुर वाणी बोले और पति पत्नी के लिए। उत्तम सन्तान के निर्माण में मधुरवाणी अत्यन्त महत्त्व रखती है। यह पति-पत्नी में सामञ्जस्य व सौमनस्य पैदा करके सर्वाङ्ग सुन्दर सन्तान को जन्म देती है। २. **तीव्रां तीव्रेण**=(तीव् to be strong) सशक्त शरीरवाली सबला तुझे सशक्त शरीरवाले सबल पुरुष के साथ संयुक्त करता हूँ। पति-पत्नी अशक्त होंगे तो सन्तान भी मरियल-सी ही होगी। ३. **अमृताम्**=रोगरूप मृत्युओं से रहित तुझको **अमृतेन**=नीरोग पति से संयुक्त करता हूँ। माता-पिता का रोग सन्तानों में भी जाकर राष्ट्र में रोगियों की संख्या को बढ़ाएगा। स्मृतिकारों ने इसी से विशिष्ट बीमारियों में विवाह का निषेध कर दिया है। ४. **मधुमतीम्**=अत्यन्त माधुर्ययुक्त व्यवहारवाली तुझे **मधुमता**=माधुर्ययुक्त पति से संयुक्त करता हूँ। उस पति से संयुक्त करता हूँ जो **सोमेन**=शरीरबद्ध 'सोम' है (सोम=वीर्यशक्ति)। इस सोम से ही तो उत्तम सन्तान को जन्म मिलता है। ५. ये पति-पत्नी प्रार्थना करते हैं कि **सोमः असि**=तू सोम है, तू ही हमारा जन्म देनेवाला है। तू **अश्विभ्याम्**=प्राणापान के लिए **पच्यस्व**=परिपक्व हो। तेरे ठीक परिपाक से हमारी प्राणापान की शक्ति वृद्धि को प्राप्त हो। ६. **सरस्वत्यै पच्यस्व**=तू विद्या की अधिदेवता सरस्वती के लिए परिपक्व हो। सरस्वती ज्ञान की अधिष्ठात्री देवता है। सोम की रक्षा से, उसके शरीर में ठीक परिपाक से यह ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है और ज्ञान चमक उठता है। ७. हे सोम! तू **सुत्राम्णे**=उत्तम रक्षण करनेवाले **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए **पच्यस्व**=परिपक्व हो, अर्थात् शरीर में तेरे सुरक्षित होने से हम अपनी ज्ञानाग्नि को दीप्त करके बुद्धि को अतिसूक्ष्म बनाकर प्रभु का दर्शन करनेवाले बनें। ऐसे पति-पत्नी ही उत्तम सन्तान को जन्म देनेवाले होते हैं और प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'प्रजापति' बनते हैं। ८. याज्ञिकों ने प्रस्तुत मन्त्र में 'सुरा' का संकेत देखा, परन्तु शराब को **'अनृतं पाप्मा तमः सुरा'** श० ५।१।२।१० झूठ, पाप व अज्ञान के रूप में देखनेवाली वैदिक संस्कृति शराब का ऐसा वर्णन नहीं मान सकती।

भावार्थ—पति-पत्नी (क) मधुरवाणीवाले (ख) शक्तिशाली (ग) नीरोग व (घ)

मधुर व्यवहारवाले हों। (ङ) सोम की रक्षा करनेवाले व उसका शरीर में ठीक परिपाक करनेवाले हों, जिससे उनकी प्राणापान शक्ति बनी रहे, वे उत्तम ज्ञान को प्राप्त करनेवाले और अन्त में सूक्ष्म बुद्धि द्वारा प्रभु का दर्शन करनेवाले हों।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**स्वराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

सोम का रक्षण

परीतो षिञ्चता सुतꣳसोमो यऽउत्तमꣳहविः।
दधन्वान् यो नर्यो अप्स्वन्तरा सुषाव सोममद्रिभिः॥२॥

१. गतमन्त्र के अनुसार सोम का शरीर में रक्षण व परिपाक करते हुए ये पति-पत्नी 'भारद्वाज'=अपने में शक्ति व ज्ञान को भरनेवाले होते हैं। यह भारद्वाज प्रभु की इस प्रेरणा को सुनता है कि **परीतः**=(परि इतः) यह सोम सर्वतः प्राप्त हो। इसका अपव्यय न होकर यह शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों में ही व्याप्त हो जाए। २. **सुतम्**=उत्पन्न हुए-हुए इस सोम को **षिञ्चत**=शरीर में ही सिक्त करो। ३. **यः सोमः**=यह सोम **उत्तमं हविः**=सर्वोत्तम ग्रहण करने योग्य पदार्थ है। इसी ने (क) हमारे जीवन को सशक्त व दीर्घ बनाना है, (ख) बुद्धि को सूक्ष्म करना है, (ग) हमें परमात्मा-दर्शन के योग्य बनाना है। ४. **दधन्वान्**=यह हमारा धारण करता है। हमारा जीवन इसी के धारण पर निर्भर है **'जीवनं बिन्दुधारणात्'**। ५. यह सोम वह है **यः**=जो **नर्यः**=मनुष्यों का हित करनेवाला है। यह उन्हें सब आधि-व्याधियों से सुरक्षित करता है। ६. **सोमम्**=इस सोम को यह 'भारद्वाज' **अद्रिभिः**=प्रभु के पूजन (adoring) के द्वारा **अप्स्वन्तरा**=सदा कर्मों में स्थित हुआ-हुआ **सुषाव**=अभिषुत करता है। सोम का शरीर में उत्पादन व रक्षण वही व्यक्ति कर पाता है, जो प्रभु-उपासन करता है और अपने को कर्मों में व्यापृत रखता है। प्रभु-उपासन से दूर होने पर और अकर्मण्य हो जाने पर हम वासनाओं के शिकार होने लगते हैं, तब सोम के रक्षण का प्रश्न ही नहीं उठता।

भावार्थ—हम सोम को शरीर में ही सुरक्षित करें। सोम की रक्षा के लिए प्रभु का पूजन व कर्मों में व्याप्ति आवश्यक है। प्रभु-स्मरणपूर्वक कर्मरत पुरुष सोम को वासनाओं से विनष्ट नहीं होने देता।

ऋषिः—**आभूतिः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

इन्द्रस्य युज्यः सखा=सदा साथ रहनेवाला मित्र

वायोः पूतः पवित्रेण प्रत्यङ्क्सोमोऽअतिद्रुतः। इन्द्रस्य युज्यः सखा।
वायोः पूतः पवित्रेण प्राङ्क्सोमोऽअतिद्रुतः। इन्द्रस्य युज्यः सखा॥३॥

१. गतमन्त्र में वर्णित **सोमः**=सोम **वायोः**=वायु के द्वारा **पूतः**=पवित्र होता है, अर्थात् प्राणापान की साधना से इस सोम में वासनाओं से उत्पन्न होनेवाली अपवित्रता नहीं आती। २. **पवित्रेण**=**'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'** इस वाक्य के अनुसार जीवन को पवित्र करनेवाले ज्ञान से **सोमः**=यह सोम **प्रत्यङ्**=(प्रति अञ्चति) वापस शरीर में गतिवाला होकर **अतिद्रुतः**=अतिशयेन गमनवाला होता है, अर्थात् सोम की रक्षा करनेवाले पुरुष के जीवन को यह सोम अतिशयेन गतिवाला बना देता है। सोमरक्षा के अभाव में अशक्त होकर मनुष्य निश्चेष्ट-सा बन जाता है। ज्ञान-प्राप्ति में लगने पर यह सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है, अतः शरीर में इसका व्यापन होता है और शरीर की न्यूनताओं का दूरीकरण होकर यह शरीर-यन्त्र नये-का-नया-सा बना रहता है, इसकी गति में कमी नहीं

आती। ३. ऐसा होने पर सोम का रक्षक यह पुरुष **इन्द्रस्य**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का **युज्यः सखा**=सदा साथ रहनेवाला मित्र बनता है। मानव-जीवन के उत्कर्ष की यह चरमसीमा है कि 'हम प्रभु के मित्र हों'। ४. फिर इस सारी भावना को आवृत्त करते हुए कहते हैं कि **वायोः**=यह प्राणापान से पवित्र होता है। प्राणायाम के द्वारा इस वीर्य की ऊर्ध्वगति होकर यह शरीर के अन्दर स्थिर रहता है। **पवित्रेण**=ज्ञान के द्वारा **सोमः**=यह सोम **प्राङ्**=(प्राञ्चति ऊर्ध्वं गच्छति-म०) ऊर्ध्वगतिवाला होता है और इस ऊर्ध्वगति के कारण इस सोम का रक्षक **अतिद्रुतः**=अतिशयेन शीघ्रता से कार्यों में व्याप्त होनेवाला होता है। और **इन्द्रस्य**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का **युज्यः सखा**=सदा साथ रहनेवाला मित्र होता है। ४. उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का मित्र बनकर यह भी 'आभूति' सर्वत्र ऐश्वर्यवाला होता है। इसके अन्नमयादि पाँचों कोश 'तेज, वीर्य, बल व ओज, ज्ञान (मन्यु) व सहस्' से परिपूर्ण होते हैं। इसके पाँचों कोश उस-उस ऐश्वर्य से परिपूर्ण होते हैं।

भावार्थ—प्राणायाम के द्वारा सोम शरीर में ही गमनवाला होकर ऊर्ध्व गमनवाला होता है। ज्ञानाग्नि के दीपन में इसका व्यय होता है। इसके रक्षण से मनुष्य खूब क्रियामय जीवनवाला होता है और सदा प्रभु का मित्र बनता है।

ऋषिः—**आभूतिः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**आर्षीगायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

सूर्यदुहिता—'श्रद्धा'

पुनाति ते परिस्रुतꣳसोमꣳसूर्यस्य दुहिता। वारेण शश्वता तना॥४॥

१. प्रभु 'आभूति' से कहते हैं कि **ते**=तेरे **परिस्रुतम्**=शरीर में सर्वतः प्राप्त इस **सोमम्**=सोम को **सूर्यस्य दुहिता**='**श्रद्धा वै सूर्यस्य दुहिता**' ज्ञान की पुत्री के समान यह श्रद्धा **पुनाति**=पवित्र कर देती है। यह श्रद्धा हमारे सोम को पवित्र करती है। श्रद्धा वस्तुतः हममें सत्य का धारण कराती है (श्रत् सत्यं दधाति) और यह सत्य सोम को पवित्र बनानेवाला होता है। २. यह श्रद्धा **वारेण**=असत्य व वासनाओं के निवारण से सोम को पवित्र करती है। वासनाएँ ही सोम की अपवित्रता का कारण बनती हैं। ३. यह श्रद्धा **शश्वता**=(शश प्लुतगतौ) द्रुत गतिवाले जीवन से सोम को पवित्र रखती है। श्रद्धावान् पुरुष प्रभु में विश्वास करके सदा उत्तम क्रिया में लगा रहता है। बस, यही उत्तम क्रिया सोमरक्षण का साधन बनती है। ४. यह श्रद्धा **तना**=(तन् विस्तारे) शरीर की शक्तियों के विस्तार द्वारा सोम की सुरक्षा व पवित्रता करती है। शरीर की शक्तियों के विस्तार में व्याप्त हुआ-हुआ सोम पवित्र बना रहता है। ५. वस्तुतः सोमरक्षा के लिए आवश्यक है कि हम (क) वासनाओं का निवारण करें, (ख) सदा उत्तम कर्मों में स्फूर्ति से लगे रहें और (ग) शक्तियों के विस्तार की श्रद्धावाले हों, अर्थात् शक्तियों के विस्तार के लिए हममें प्रबल भावना हो।

भावार्थ—श्रद्धा सोम को पवित्र करती है, क्योंकि यह वासनाओं का निवारण करती है, हमें स्फूर्ति-सम्पन्न व कर्मठ बनाती है तथा शक्तियों के विस्तार के लिए प्रेरित करती है।

ऋषिः—**आभूतिः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

ब्रह्म+क्षत्र—तेज व इन्द्रिय

ब्रह्म क्षत्रं पवते तेजऽइन्द्रियꣳसुरया सोमः सुतऽआसुतो मदाय।
शुक्रेण देव देवताः पिपृग्धि रसेनान्नं यजमानाय धेहि॥५॥

१. **सुतः**=उत्पन्न हुआ **सोमः**=यह सोम **सुरया**=(सुरा to govern, to rule) शासन के द्वारा, अर्थात् शरीर में ही नियन्त्रित होकर **ब्रह्म**=ज्ञान को, **क्षत्रम्**=बल को, **तेजः**=तेजस्विता को **इन्द्रियम्**=मन आदि इन्द्र के साधनों को **पवते**=(जनयति) प्रादुर्भूत करता है। सोमरक्षण से ज्ञान बढ़ता है, बल की वृद्धि होती है, यह हमारी तेजस्विता का कारण होता है और हमारी मानसशक्तियों का वर्धन करनेवाला होता है। २. **आसुतः**=शरीर में ही अङ्ग-प्रत्यङ्ग में सम्पादित हुआ-हुआ यह सोम **मदाय**=जीवन में हर्ष व प्रफुल्लता के लिए होता है। ३. हे **देव**=सब सुखों के देनेवाले प्रभो! आप **शुक्रेण**=इस शुद्ध, शक्तिप्रद वीर्य से **देवताः**=दिव्य गुणों को **पिपृग्धि**=हममें पूरित कीजिए। वीर्यरक्षा से हमारा हृदय-मन्दिर दिव्य भावनाओं का निवास-स्थान बनता है, दूसरे शब्दों में यह देव-मन्दिर बन जाता है। ४. हे प्रभो! आप **यजमानाय**=यज्ञशील मेरे लिए **रसेन**=गोरस (दुग्ध), अथवा ओषधिरसों के साथ **अन्नम्**=अन्न को **धेहि**=धारण कीजिए। इस दूध व ओषधिरस और अन्नों के सेवन से उत्पन्न सोम सचमुच हमारे लिए 'ज्ञान, बल, तेज व इन्द्रियों के सामर्थ्य तथा हर्ष व उल्लास' को देनेवाला हो और हमारे हृदय को दिव्य भावनाओं से युक्त करके उसे देव-मन्दिर बना दे।

भावार्थ—हम रस व अन्न का सेवन करें। उससे उत्पन्न सोम हमारे ज्ञान, बल व तेज को बढ़ाएगा, हमारी इन्द्रियों की शक्ति का वर्धन करेगा, उल्लास का कारण बनेगा और हमें दिव्य गुणयुक्त जीवनवाला बनाएगा, अतः हम सोम को शरीर में ही नियन्त्रित करें (सुरया)।

ऋषिः—**आभूतिः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**विराट्प्रकृतिः**। स्वरः—**धैवतः**॥

तेज—वीर्य व बल

कुविदङ्ग यवमन्तो यवं चिद्यथा दान्त्यनुपूर्वं वियूय इहेहैषां कृणुहि भोजनानि ये बर्हिषो नमऽउक्तिं यजन्ति। उपयामगृहीतोऽस्यश्विभ्यां त्वा सरस्वत्यै त्वेन्द्राय त्वा सुत्राम्णऽएष ते योनिस्तेजसे त्वा वीर्याय त्वा बलाय त्वा ॥६॥

१. गतमन्त्र के अनुसार शरीर में सोम के संरक्षण के लिए सात्त्विक व सौम्य भोजन सर्वाधिक अपेक्षित है, अतः उसका उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **कुविदङ्ग**=हे प्रचुर शक्तियुक्त, सम्पूर्ण गति देनेवाले प्रभो! **यवमन्तः**=जौ के खेतवाले **यथा**=जैसे **यवं चिद्यत्**=जौ को निश्चय से **अनुपूर्वम्**=क्रमशः **वियूय**=अलग करके **दान्ति**=काटते चलते हैं, इसी प्रकार प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'आभूति' भी एक-एक कोश को अलग करके पृथक् करते चलते हैं और उससे ऊपर उठते जाते हैं। २. हे प्रभो! **ये**=जो **बर्हिषः**=वासनाओं का उद्बर्हण करनेवाले **नमऽउक्तिम्**=आपके प्रति नमस्कार के कथन को **यजन्ति**=अपने साथ सङ्गत करते हैं, **एषाम्**=इनके **इह-इह**=उस-उस योग की भूमिका में स्थित हुओं के **भोजनानि**=पालनों को अथवा उत्तम सात्त्विक भोजनों को **कृणुहि**=आप कीजिए। इन जौ आदि सात्त्विक भोजनों से ही ये शक्ति को प्राप्त करेंगे और वासनाओं का उद्बर्हण कर पाएँगे। ३. हे प्रभो! आप **उपयामगृहीतः असि**=उपासना के द्वारा यम-नियमों के पालन से गृहीत होते हैं। ४. **अश्विभ्यां त्वा**=प्राणापान की शक्ति की प्राप्ति के लिए मैं आपका स्वीकार करता हूँ। **सरस्वत्यै**=ज्ञान अधिदेवता के लिए, अर्थात् उत्कृष्ट ज्ञानी बनने के लिए मैं आपका ग्रहण करता हूँ। **इन्द्राय त्वा**=आत्मशक्ति के विकास के लिए मैं आपका ग्रहण करता हूँ, **सुत्राम्णे**=जिससे मैं अपना उत्तम त्राण कर सकूँगा। ४. **एषः**=यह मैं **ते योनिः**=तेरा निवास-स्थान बनता हूँ, अर्थात् अपने हृदय में आपको स्थापित करता हूँ। **तेजसे त्वा**=

तेजस्विता की प्राप्ति के लिए आपको अपने में स्थापित करता हूँ। मेरा यह अन्नमयकोश अन्तर्निहित आपके द्वारा तेजस्वी बनाया जाता है। **वीर्याय त्वा**=वीर्य-सम्पन्न होने के लिए मैं आपका स्वीकार करता हूँ। आपके द्वारा मेरा प्राणमयकोश उस वीर्यशक्तिवाला होता है जो शक्ति मुझे रोगों से आक्रान्त नहीं होने देती। **बलाय त्वा**=मानस बल की प्राप्ति के लिए मैं आपको स्वीकार करता हूँ। प्रभु के हृदयस्थ होने पर यह प्रभुभक्त अद्भुत मानस बल का लाभ करता है और उसके द्वारा सचमुच अपने कार्यों में सफल होता हुआ प्रभु का प्रिय होता है।

भावार्थ—हम यव आदि सात्त्विक भोजनों से पवित्र विचारोंवाले होकर प्रभु का उपासन करें। वे प्रभु 'कुविदङ्ग' हैं, शक्तिशाली गति देनेवाले हैं। प्रभु के सम्पर्क से मैं भी तेज, वीर्य व बल को प्राप्त करता हूँ।

सूचना—'कुवित् इति बल नाम'। कुवित् बल वाचक है, सम्भवतः यही शब्द विकृत होकर कूअत बना है।

ऋषिः—**आभूतिः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

पति-पत्नी का स्थान

नाना हि वां देवहितꣳसदस्कृतं मा सꣳसृक्षाथां परमे व्योमन्।
सुरा त्वमसि शुष्मिणी सोमऽएष मा मा हिꣳसीः स्वां योनिमाविशन्ती॥७॥

१. उत्तम जीवन बिताने का उपदेश देते हुए प्रभु कहते हैं कि **हि**=निश्चय से **वाम्**=तुम दोनों का **देवहितम्**=(देवविहितम्) मुझ प्रभु से विहित, अर्थात् निर्दिष्ट **नाना**=अलग-अलग **सदः**=स्थान **कृतम्** =किया गया है। पति ने घर के बाहर श्रम के द्वारा परिवार के पालन के लिए धन कमाना है और पत्नी ने घर में स्थित होकर (पत्नीशालं गार्हपत्यः १९।१८) गृह-सम्बन्धी सब कार्यों को सुचारु-रूपेण करना है। अर्जित धन का संग्रह व उचित व्यय पत्नी का कार्य है। २. इस प्रकार अपने-अपने कार्यों को करते हुए **परमे व्योमन्**=उत्कृष्ट हृदयाकाश में **मा सं सृक्षाथाम्**=मेरे साथ सम्यक् सम्पर्क स्थापित करने का प्रयत्न करो। इस प्रभु-सम्पर्क से ही वह शक्ति प्राप्त होनी है, जिससे वे अपने सब कार्यों को सफलता के साथ करनेवाले होंगे। ३. हे पत्नी! **त्वम्**=तू **सुरा**=(सुर to govern, to rule) इस घर का शासन करनेवाली साम्राज्ञी **असि**=है। (सुर to shine) तूने अपनी उत्तम व्यवस्था से इस घर को दीप्त करना है। **शुष्मिणी**=तू शत्रुओं के शोषक बलवाली है। ४. **एषः**=यह तेरा पति भी **सोमः**=शक्ति का पुञ्ज व अत्यन्त विनीत है। ५. तू **स्वां योनिम्**=अपने घर में जिस घर का तूने निर्माण करना है **आविशन्ती**=प्रविष्ट होती हुई **मा**=मुझे **मा हिंसीः**=मत हिंसित करना, अर्थात् प्रभु-उपासन को कभी समाप्त न कर देना। यह उपासना ही तुझे वह शक्ति देगी, जिससे तू घर का उत्तमता से सञ्चालन कर पाएगी।

भावार्थ—पति-पत्नी अपने-अपने कार्यक्षेत्र का ग्रहण करके प्रभु-स्मरणपूर्वक अपने कार्यों को करेंगे तो घर सचमुच 'आभूति' का घर बनेगा, जो सब दृष्टिकोणों से फूला-फला है (आ-भूति)। वहाँ स्वास्थ्य होगा, सुसन्तान होगी, सम्पत्ति होगी और इन सबसे बढ़कर वहाँ 'सत्य' होगा।

सूचना—यहाँ पत्नी के लिए तीन बातें कही हैं, पति के लिए एक। एवं, पत्नी का उत्तरदायित्व कम-से-कम तिगुना तो है ही।

ऋषिः—**आभूतिः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

मोद–आनन्द–महस्

उपयामगृहीतोऽस्याश्विनं तेजः सारस्वतं वीर्यमैन्द्रं बलम्। एष ते योनिर्मोदाय त्वानन्दाय त्वा महसे त्वा॥८॥

१. आभूति प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे प्रभो! **उपयामगृहीतः असि**=आप उपासना के द्वारा यम-नियमों के पालन से गृहीत होते हैं। आपको वही व्यक्ति प्राप्त कर सकता है जो उपासनारत होता है। २. उस उपासक को **आश्विनं तेजः**=प्राणापान-सम्बन्धी तेजस्विता प्राप्त होती है और यह तेजस्विता ही उसे उत्तम स्वास्थ्य व दीर्घ जीवन देनेवाली बनती है। ३. उपासना से ही **सारस्वतं वीर्यम्**=ज्ञान की अधिदेवता के साथ सम्बद्ध वीर्य इसे प्राप्त होता है। उपासक को ज्ञान की वह शक्ति प्राप्त होती है जो उसके सब कर्मों को पवित्र करनेवाली होती है। ४. **ऐन्द्रं बलम्**=उपासना से ही अध्यात्म बल प्राप्त होता है। एवं, यह उपासक शरीर से स्वस्थ, मस्तिष्क में ज्ञानदीप्त तथा हृदय में आत्मिक शक्तिसम्पन्न व पवित्र बनता है। ५. **एषः**=यह शरीर, बुद्धि व मन के ऐश्वर्य को प्राप्त करनेवाला 'आभूति' नामवाला मैं **ते योनिः**=हे प्रभो! आपका निवास-स्थान बनता हूँ। आपको अपने हृदयदेश में बिठाता हूँ। **मोदाय त्वा**=इसलिए आपको हृदयदेश में बिठाता हूँ कि सांसारिक वस्तुओं का उचित उपयोग करते हुए 'मोद' व हर्ष का लाभ कर सकूँ, ये सांसारिक वस्तुएँ अत्युपयुक्त होकर मेरे जीवन को अस्वस्थ व कटु न बना दें। **आनन्दाय त्वा**=मैं आपको इसलिए हृदय-मन्दिर में प्रतिष्ठित करता हूँ कि प्राकृतिक भोगों से ऊपर उठकर मैं वास्तविक आनन्द का लाभ करनेवाला बनूँ। इन भोग्य पदार्थों के समुचित उपयोग ने स्वस्थ बनाकर मुझे सुखी किया था। इनमें अनासक्ति मेरे निःश्रेयस की सिद्ध करनेवाली होगी और **महसे त्वा**=आपके सम्पर्क से तेजस्वी बनने के लिए मैं आपका निवास बनने का प्रयत्न करता हूँ। आपके सम्पर्क से शक्तिसम्पन्न बनकर ही तो मैं सब शत्रुओं पर विजय पानेवाला बन पाऊँगा।

भावार्थ—प्रभु-उपासन हमारे जीवन में 'मोद, आनन्द व महस्' को भरनेवाला होता है।

ऋषिः—**आभूतिः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**निचृच्छक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

आ–भूति

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि बलमसि बलं मयि धेह्योजोऽस्योजो मयि धेहि मन्युरसि मन्युं मयि धेहि सहोऽसि सहो मयि धेहि॥९॥

१. गतमन्त्र में 'प्रभु के उपासन से 'महस्' की प्राप्ति होती है' ऐसा कहा था। उसी का व्याख्यान प्रस्तुत मन्त्र में करते हैं—**तेजः असि**=हे प्रभो! आप तेज के पुञ्ज हैं, मूर्त्तिमान् तेज हैं। **मयि**=मुझमें **तेजः**=तेज का **धेहि**=आधान कीजिए। मेरा यह अन्नमयकोश तेजस्वी हो। अपने इस तेज से मैं अपनी रक्षा करने में समर्थ होऊँ। २. **वीर्यम् असि**=हे प्रभो! आप वीर्य हैं, वीर्य के पुञ्ज हैं। **मयि वीर्यं धेहि**=मुझमें वीर्य का आधान करें। मेरा प्राणमयकोश वीर्यवान् होकर सम्भावित रोगों को कम्पित करके दूर करनेवाला हो। **वि**=विशेष रूप से यह **ईर्**=रोगों को कम्पित करे। शरीर में इस वीर्य के स्थापन से मैं रोगों का शिकार न होऊँ। ३. **बलम् असि**=हे प्रभो! आप बल हैं। **बलं मयि धेहि**=मुझमें बल स्थापन कीजिए। मेरा मनोमयकोश बल-सम्पन्न होकर इन्द्रियों के दमन में समर्थ करे और मैं अपनी जीवन-यात्रा को, विघ्नों को दूर करता हुआ, पूर्ण करनेवाला बनूँ। ४. **ओजः**

असि=हे प्रभो। आप ओज हैं। **मयि ओजः धेहि**=मुझमें ओज का आधान करें। मेरा मन ओजस्वी हो और यह सब प्रकार से मेरी उन्नति का कारण बने। मेरे मन का बल सब विघ्नों व शत्रुओं को दूर करता है तथा यह मानस-ओज मेरी उन्नति व वृद्धि का कारण होता है। ५. **मन्युः असि**=(मन्=अवबोध) हे प्रभो! आप निरतिशय ज्ञान हैं, ज्ञानधन हैं। **मन्युं मयि धेहि**=मेरे विज्ञानमयकोश में भी इस ज्ञान-धन का आधान कीजिए। आपकी कृपा से ज्ञान प्राप्त करके मैं अपने जीवन को पवित्र करनेवाला बनूँ। और अन्त में ६. **सहः असि**=हे प्रभो! आप 'सहस्' है, सहनशक्ति के पुञ्ज हैं। हम आपकी आज्ञाओं की कितनी अवहेलना करते हैं, परन्तु आप किसी प्रकार का क्रोध न करते हुए सदा हमारे कल्याण में प्रवृत्त रहते हैं। **मयि**=मुझमें भी **सहः धेहि**=सहनशक्ति का आधान कीजिए। मैं अपने आनन्दमयकोश को आनन्द से परिपूर्ण करनेवाला बनूँ और सचमुच आनन्द का लाभ कर सकूँ। ७. इस प्रकार हे प्रभो! आपकी कृपा से अपने सब कोशों को उस-उस ऐश्वर्य से परिपूर्ण करके मैं सचमुच प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'आभूति' बनूँ, सर्वत्र ऐश्वर्यवाला।

भावार्थ—मेरा अन्नमयकोश तेजस्वी हो, प्राणमयकोश वीर्यवान् हो। मनोमयकोश में मैं बल व ओज को धारण करूँ। मेरा विज्ञानमयकोश मन्यु=ज्ञान से परिपूर्ण हो, और सहस् को अपनाकर मैं आनन्दमयकोशवाला बनूँ।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**आर्ष्युष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**॥

स-बलता

या व्याघ्रं विषूचिकोभौ वृकं च रक्षति।
श्येनं पतत्रिणꣳसिꣳहꣳसेमं पात्वꣳहसः॥१०॥

१. गत मन्त्र में एक-एक कोश की शक्ति के धारण का उल्लेख था। यह शक्ति ही आभूति को हैम=स्वर्ग के समान देदीप्यमान वर्चस्=दीप्तिवाला बनाती है और इसका नाम 'हैमवर्चिः' हो जाता है। यह हैमवर्चि प्रार्थना करता है कि **या**=जो **विषूचिका**=(वि-सु-अञ्च) विविध उत्तम गतियों की कारणभूत शक्ति **व्याघ्रम्**=व्याघ्र **च वृकम्**=और भेड़िया **उभौ**=दोनों को **रक्षति**=सुरक्षित करती है। इन दोनों को ही क्या, **पतत्रिणम्**=आकाश में उड़नेवाले **श्येनम्**=बाज़ को तथा **सिंहम्**=शेर को जो शक्ति सुरक्षित करती है **सा**=वही शक्ति **इमम्**=इस हैमवर्चि को **अंहसः**=पापों से व पापजनित पीड़ाओं से **पातु**=रक्षित करे। २. इस संसार का यह एक जीवित-जागरित तथ्य है कि रक्षा के लिए शक्ति की आवश्यकता है। ज्ञान व भलमनसाहत का भी अपना स्थान है, परन्तु वे शक्ति का स्थान नहीं ले-सकते। रक्षा के लिए शक्ति ही काम आती है। संसार में दुर्बल बलवान् से मारा जाता है, छोटी मछली बड़ी मछली से निगली जाती है। चूहा बिल्ली से मारा जाता है, बिल्ली कुत्ते से, कुत्ता वृक से, वृक व्याघ्र से और व्याघ्र सिंह से। गौ की भलमनसाहत उसे शेर के आक्रमण से नहीं बचाती। एवं, जहाँ ज्ञान व भद्रता का सम्पादन आवश्यक है वहाँ शक्ति का सम्पादन उनसे कहीं अधिक आवश्यक है। **'वीरभोग्या वसुन्धरा'** इस उक्ति में यही तथ्य निहित है। ३. 'अंहसः पातु' इन शब्दों से यह भी व्यक्त है कि पाप से भी हमें शक्ति ही बचाती है। निर्बलता व अवीरता के साथ सब बुराइयों (evils) का निवास है। Virtue तो वीरत्व में ही है। निर्बल व्यक्ति जल्दी खिझ उठता है, सबल सहनशील होता है, इसलिए शक्ति का सम्पादन अत्यन्त आवश्यक है, यह शक्ति ही हमें प्रभु को प्राप्त करानेवाली होगी **नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः**।

भावार्थ—हम शक्ति-सम्पादन करके अपने को पापों व कष्टों से बचानेवाले हों।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**शक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

अनृणता

यदापिपेष मातरं पुत्रः प्रमुदितो धयन्। एतत्तदग्नेऽअनृणो भवाम्यहतौ पितरौ मया। सम्पृच स्थ सं मा भद्रेण पृङ्क्त विपृच स्थ वि मा पाप्मना पृङ्क्त॥११॥

१. गतमन्त्र के अनुसार शक्तिशाली बनकर उत्तम जीवनवाले माता-पिता उत्तम सन्तान को ही जन्म देते हैं। उस समय वे कहते हैं कि **यदा**=जब **प्रमुदितः**=प्रकृष्ट प्रसन्नतावाला, अर्थात् स्वास्थ्य के कारण सदा हँसता हुआ **पुत्रः**=बालक **धयन्**=स्तन्यपान करता हुआ, मातृ-दुग्ध को पीता हुआ **मातरं पिपेष**=माता के वक्षःस्थल को दबाता है तो **अग्ने**=हे प्रभो! **एतत् तत्**=तब यह मैं **अनृणः भवामि**=पितृऋण से अनृण होता हूँ। चूँकि **मया**=मैंने **पितरौ**=माता-पिता को **अहतौ**=नष्ट नहीं होने दिया। अब वे सन्तान के रूप में अमर ही बने रहेंगे। **प्रजाभिः अग्ने अमृतत्वमश्याम**=प्रजाओं से हम हे प्रभो! अमृतत्व को प्राप्त करें, यही तो उनकी प्रार्थना थी। अब ये मेरे माता-पिता अपने वंश को नष्ट होता हुआ न समझेंगे। २. यह उत्तम सन्तान चाहता है कि हे पितरो! आप **संपृच स्थ**=अपने को उत्तम गुणों से संपृक्त करनेवाले हो, इस प्रकार **मा**=मुझे भी **भद्रेण**=भद्र गुणों से **संपृङ्क्त**=सम्यक् युक्त करो। **विपृच स्थ**=आप दुरितों से अपने को पृथक् करनेवाले हो, **मा**=मुझे भी **पाप्मना पृङ्क्त**=पाप से पृथक् कीजिए। आपके गुणावगुण ही तो पैतृक सम्पत्ति के रूप में मुझे प्राप्त होने हैं। आपके गुण मुझे गुणी बनाएँगे, आपके अवगुण मुझे अवगुणी करेंगे, अतः आपके लिए अपने जीवन को गुणों से युक्त व अवगुण से वियुक्त करना अत्यन्त आवश्यक है। ३. केवल सन्तान का उत्पादन ही हमें पितृऋण से मुक्त नहीं कर देता, सन्तान का उत्तम बनाना भी आवश्यक है, उत्तम सन्तान ही तरानेवाली होती है।

भावार्थ—हम शक्तिसम्पन्न बनकर स्वस्थ, प्रमुदित सन्तान को जन्म दें। उन सन्तानों को सद्गुणों से संपृक्त करें तथा विगुणों से विपृक्त करके पितृऋण से अनृण हों।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

नीरोगता-पवित्रता, आश्विनौ-सरस्वती

देवा यज्ञमतन्वत भेषजं भिषजाश्विना।
वाचा सरस्वती भिषगिन्द्रायेन्द्रियाणि दधतः॥१२॥

१. गतमन्त्र में अपने को भद्र से संपृक्त करने व पाप से विपृक्त करने का उल्लेख है। ऐसा करनेवाले ही 'देव' कहलाते हैं। ये **देवाः**=देवपुरुष, दिव्य वृत्तिवाले लोग **यज्ञम्**=श्रेष्ठतम कर्म को **अतन्वत**=विस्तृत करते हैं। अपने को सदा उत्तम कर्मों में व्यापृत रखते हैं। २. इस प्रकार जब ये उत्तम कर्मों का विस्तार करते हैं तब **अश्विनौ**=ये प्राणापान **भिषजौ**=जो देवों के वैद्य हैं, दिव्य वृत्तिवाले लोगों को बीमार न होने देनेवाले हैं, वे **भेषजम्**=औषध को **अतन्वत**=विस्तृत करते हैं। ये प्राणापान उनकी सब व्याधियों के प्रतीकारक बनते हैं, इनके शरीर को वे पूर्णतया स्वस्थ करते हैं तथा ३. **सरस्वती**=विद्या की अधिदेवता भी **वाचा**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा **भिषक्**=इनकी मानस आधियों को दूर करनेवाली होती है। ज्ञान से इनका जीवन पवित्र हो जाता है, ठीक उसी प्रकार जैसेकि प्राणापान से इनका शरीर नीरोग बना था। ४. वस्तुतः ये प्राणापान (अश्विनौ) तथा ज्ञान

(सरस्वती) **इन्द्राय**=इस जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **इन्द्रियाणि**=सब इन्द्रियों की शक्तियों को **दधतः**=धारण करते हैं। इन्हें आधि-व्याधियों से बचाकर अङ्ग-प्रत्यङ्ग में सबल बनाते हैं।

भावार्थ—हम सदा उत्तम कर्मों में व्यापृत रहकर प्राणापान की शक्ति से नीरोग बनें तथा ज्ञान के द्वारा पवित्र बनें। यह नीरोगता व पवित्रता हमें सर्वाङ्ग सम्पूर्ण जीवनवाला बनाए। हमारे सब अङ्ग पुष्ट हों।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

यज्ञात्मक जीवन

दीक्षायै रूपꣳशष्पाणि प्रायणीयस्य तोक्मानि।
क्रयस्य रूपꣳसोमस्य लाजाः सोमाꣳशवो मधु॥१३॥

१. पिछले मन्त्र में देवों द्वारा यज्ञ-विस्तार का संकेत था। उसी यज्ञ को जीवन में लाने के लिए प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **दीक्षायै**=(दीक्षायाः षष्ठ्यर्थे चतुर्थी) व्रत ग्रहण का **रूपम्**=(sign, feature) निरूपक चिह्न **शष्पाणि**=नये उत्पन्न हुए-हुए व्रीहि हैं, अर्थात् एक व्यक्ति जब यज्ञ का व्रत लेता है तब वह शष्पभोजन का संकल्प करता है। २. **प्रायणीयस्य**=(प्र+अयन) प्रकृष्ट जीवन बिताने के निश्चय का **रूपम्**=निरूपक चिह्न **तोक्मानि**=नव प्ररूढ यव हैं, नये जौ हैं। ये जौ अत्यन्त सात्त्विक भोजन होने से हमारे अन्तःकरण को सात्त्विक बनाते हैं और उससे हमारा जीवन-मार्ग उत्तम होता है। ३. **सोमस्य क्रयस्य**=सोम के क्रय का, अर्थात् उत्तम भोजनों से उत्पन्न होनेवाले शरीर में स्थिरता से रहनेवाले सोम की प्राप्ति का **रूपम्**=निरूपक चिह्न **लाजाः**=धान के बने खील **सोमांशवः**=सोमलता के अंशु तथा **मधु**=शहद हैं। जब एक व्यक्ति यह निश्चय कर लेता है कि मैंने उस सोम को प्राप्त करना है, जो मेरे शरीर में स्थिर रहे तो वह आग्नेय भोजनों को छोड़कर सौम्य भोजनों का ही स्वीकार करता है। इन सौम्य भोजनों के उदाहरण रूप से यहाँ लाजा, सोमांशु व मधु का उल्लेख हुआ है। ये प्रमुख सौम्य भोजन हैं। ये भोजन हमें सब प्रकार के प्रमेहों से बचाकर शक्तिसम्पन्न जीवनवाला बनाते हैं।

भावार्थ—दीक्षित व्यक्ति शष्पभोजन का व्रत लेता है, प्रकृष्ट जीवन बितानेवाला नव प्ररूढ यवों के प्रयोग का निश्चय करता है और सोम के क्रय (=प्राप्ति) की इच्छावाला सोम का सौदागर बनने की कामनावाला 'लाजा, सोमांशु व मधु' का प्रयोग करता है।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**अतिथ्यादयो लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

अतिथि-महावीर-उपसद्

आतिथ्यरूपं मासरं महावीरस्य नग्नहुः।
रूपमुपसदामेतत्तिस्रो रात्रीः सुरासुता॥१४॥

१. 'अत सातत्यगमने' से बनकर 'अतिथि' शब्द प्रभु की ओर निरन्तर चलनेवाले का वाचक है। इसी अतिथि की भाववाचक संज्ञा 'आतिथ्य' है, अर्थात् प्रभु की ओर निरन्तर चलना। उस **आतिथ्यरूपम्**=आतिथ्य का निरूपक चिह्न यह है कि **मासरम्**=(मासेषु रमन्ते—द०) ये प्रभु के उपासक प्रत्येक मास में रमण करते हैं, इन्हें वर्ष का कोई भी महीना प्रतिकूल प्रतीत नहीं होता। इनका दृष्टिकोण यह होता है कि **'वसन्त इन्नु रन्त्यो ग्रीष्म इन्नु रन्त्यः। वर्षाण्यनु शरदो हेमन्तः शिशिर इन्नु रन्त्यः'**। वसन्त रमणीय है, ग्रीष्म भी रमणीय है और वर्षा के बाद शरद्, हेमन्त व शिशिर भी रमणीय हैं। ऋतुमात्र सुन्दर

हैं, इन ऋतुओं के बनानेवाले सभी मास रमणीय हैं। २. **महावीरस्य**=इस संसार में प्रलोभनों में न फँसकर प्रभु की ओर चलनेवाले 'महान् वीर' का **रूपम्**=निरूपकचिह्न यही है कि **नग्नहुः**=स्वयं नग्न रहकर भी (हु) दान देता है। अपनी आवश्यकताओं को नहीं बढ़ाता, जिससे अधिक-से-अधिक दे सके। ३. अतिथि व महावीर बनने के लिए **उपसदाम्**=आचार्यों के समीप उपस्थित होनेवाले—आचार्य-चरणों में अन्ततः प्रभु के चरणों में बैठनेवाले ब्रह्मचारियों का **रूपम्**=निरूपकचिह्न **एतत्**=यही है कि **तिस्रो रात्रीः**=आचार्य के समीप तीन रात्रियों तक रहकर इन्होंने **सुरा सुता**=(सुर् to govern, to rule, to shine) आत्म-नियन्त्रण व ज्ञान की दीप्ति का निष्पादन किया है। यहाँ तीन रात्रियाँ—२४, ४४ व ४८ वर्ष के ब्रह्मचर्यकालों का उपलक्षण हैं। आजकल की भाषा में प्रारम्भिक शिक्षणालय का काल, उच्च विद्यालय का काल तथा महाविद्यालय का काल हैं। इतने समय तक विद्यार्थी आत्म-नियन्त्रण व ज्ञान को सिद्ध करने के लिए यत्नशील रहता है। आचार्य-चरणों में वास का यही चिह्न है।

भावार्थ—प्रभु की ओर चलनेवाले को सभी मास सुन्दर लगते हैं। महान् वीर वह है जो स्वयं भूखा रहकर भी औरों को खिलाता है। आचार्य चरणों में रहनेवाला आत्म-नियन्त्रण व ज्ञान की साधना करता है।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

परिषेचन

सोम॑स्य रू॒पं क्री॒तस्य॑ परि॒स्रुत्परि॑षिच्यते।
अ॒श्विभ्यां॑ दु॒ग्धं भे॑ष॒जमिन्द्रा॑यैन्द्रꣳ सर॑स्वत्या ॥१५॥

१. तेरहवें मन्त्र में कहा था कि 'सोमक्रय' सोम का ख़रीदार बनने का निरूपक चिह्न यह है कि हम 'लाजा-सोमांशु व मधु' का प्रयोग करते हैं। चौदहवें मन्त्र की समाप्ति पर कहा था कि विद्यार्थी आचार्य के समीप रहकर आत्म-नियन्त्रण व ज्ञानदीप्ति को सिद्ध करता है। इस आत्म-नियन्त्रण ने उसे सोम की रक्षा के लिए समर्थ बनाया था। अब प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **क्रीतस्य सोमस्य**='सोम ठीक ख़रीदा गया', अर्थात् 'सोम की सम्यक्तया रक्षा की गई' इस बात का **रूपम्**=निरूपक चिह्न यह है कि **परिस्रुत्**=(परितः स्रवति प्राप्नोति—द०) शरीर में चारों ओर व्याप्त होनेवाला यह सोम **परिषिच्यते**=अङ्ग-प्रत्यङ्गों में रुधिर के माध्यम से सिक्त होता है। २. अङ्ग-प्रत्यङ्गों में **दुग्धम्** (दुह प्रपूरणे) प्रकृष्टतया पूरित हुआ-हुआ यह सोम **अश्विभ्याम्**=प्राणापान की वृद्धि के लिए होता है। इससे शरीर में प्राणशक्ति व अपानशक्ति की वृद्धि होती है। ३. प्राणापान की शक्ति की वृद्धि के द्वारा **भेषजम्**=यह सब रोगों का औषध होता है। सब रोग-बीजों का दहन करके सोमक्रेता को नीरोग बनाता है। ४. **इन्द्राय**=यह इन्द्रशक्ति, आत्मशक्ति के विकास के लिए होता है और ५. अन्ततः **सरस्वत्या**=ज्ञान की देवता के द्वारा यह **ऐन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति का साधन होता है। इस 'सोम' से ही उस सोम (प्रभु) को प्राप्त किया जाता है।

भावार्थ—सोम का क्रय तो उसने ही किया जिसने कि इसे अङ्ग-प्रत्यङ्ग में सिक्त करके रोगों का निवर्तक बनाया और आत्मशक्ति के विकास तथा ज्ञानवृद्धि के द्वारा परमात्मा-प्राप्ति का साधन बनाया।

ऋषिः—हैमवर्चिः। देवता—यज्ञः। छन्दः—भुरिगनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

भिषक्

आसन्दी रूपःराजासन्द्यै वेद्यै कुम्भी सुराधानी।
अन्तरऽउत्तरवेद्या रूपं कारोतरो भिषक् ॥१६॥

१. 'आसन्दी' उस मञ्चिका=कुर्सी को कहते हैं जिसपर यज्ञशील पुरुष अधिष्ठित होता है। गतमन्त्र के अनुसार सोम का क्रय करके 'यह सोमक्रेता सोम को अपनी मञ्चिका बना पाया है (उस सोम का अधिष्ठाता बना है); इसका **रूपम्**=निरूपक चिह्न यह है कि वह **राजा**=अपने जीवन को व्यवस्थित करनेवाला (राज् to regulate) तथा (राज् to shine) ज्ञान-दीप्त हुआ है। शरीर में सोम के रक्षित होने पर आधि-व्याधियाँ नहीं रहतीं, जीवन बड़ा व्यवस्थित हो जाता है और सोम द्वारा ज्ञानाग्नि का दीपन होकर मनुष्य ज्ञान से चमक उठता है। २. **आसन्द्यै**=(आसन्द्याः) आसन्दी का **रूपम्**=निरूपकचिह्न यह है कि **कुम्भी**=यह व्यक्ति कुम्भवाला बना है। 'कुम्भ' का अर्थ है 'कं' का जिसमें पूरण (उभ उम्भ् पूरणे)=किया जाए, (क) अर्थात् आनन्द जिसमें भरा जाए। इस 'कुम्भवाला' व्यक्ति वह है जो आनन्द से परिपूर्ण है, जिसके मुख पर सदा विकास व उल्लास के चिह्न हैं। जो व्यक्ति सोम का अधिष्ठाता बनता है वह आनन्दमय व उल्लासमय जीवनवाला होता ही है। इसका जीवन सदा आशामय होता है। यह निराशावाद की बातें नहीं करता। ३. **वेद्यै**=(वेद्याः) वेदि का ज्ञाता बनने का, प्रभु का ज्ञान प्राप्त करने का निरूपकचिह्न यह है कि यह व्यक्ति **सुराधानी**=सुरा का—नियन्त्रण का अपने में आधान करनेवाला होता है, अर्थात् इसका जीवन पूर्णतया नियन्त्रित होता है। ४. **उत्तरवेद्याः**=उत्कृष्ट ज्ञानी का **रूपम्**=निरूपकचिह्न यह है कि यह **अन्तरः**=(अन्तः अस्य अस्ति इति अन्तर अच्) (क) अन्दरवाला होता है। सदा अन्दर देखनेवाला—आत्म-निरीक्षण करनेवाला बनता है, (ख) आचार्य ने 'अन्तर' शब्द 'अनिति' इस व्युत्पत्ति से बनाया है, तब अर्थ यह होगा कि यह उत्कृष्ट जीवनवाला होता है, इस जीवन से सब वासनाओं को तैरनेवाला होता है। ५. **कारोतरः**=उत्कृष्ट कर्म करनेवाला, प्रभूत कर्मों में व्याप्त रहनेवाला व्यक्ति **भिषक्**=सब रोगों का चिकित्सक बनता है। यह सब आधि-व्याधियों को दूर करके शरीर में नीरोग व मन में स्वस्थ बनता है।

भावार्थ—सोम को अपनी आसन्दी बनाकर हम राजा बनें। इस सोमासन्दी से जीवन में आनन्द का सञ्चार करें। ज्ञानी बनकर नियन्त्रित जीवनवाले हों। उत्कृष्ट ज्ञानी बनकर सदा आत्मनिरीक्षण करें। कर्मों में लगे रहकर आधि-व्याधियों के वश में न हों।

ऋषिः—हैमवर्चिः। देवता—यज्ञः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

सन्तान माता-पिता के अनुरूप

वेद्या वेदिः समाप्यते बर्हिषा बर्हिरिन्द्रियम्।
यूपेन यूपऽआप्यते प्रणीतोऽअग्निरग्निना॥१७॥

१. सोम के अधिष्ठाता, सोम का पूर्णरूप से नियन्त्रण करनेवाले माता-पिता यथेष्ट सन्तानों का लाभ करते हैं। **वेद्या**=(विद् ज्ञाने) ज्ञानी पुरुष से **वेदिः**=ज्ञानी सन्तान ही **समाप्यते**=प्राप्त की जाती है। माता-पिता ज्ञानप्रधान जीवनवाले हों तो सन्तानों में भी यही ज्ञान की रुचि उत्पन्न होती है। २. **बर्हिषा**=वासनाओं को उखाड़नेवाले पुरुष से

बर्हिः=वासनाओं का उद्बर्हण (विनाश) करनेवाली और अतएव **इन्द्रियम्**=(इन्द्रियं वीर्यम्) वीर्यसम्पन्न सन्तान उत्पन्न की जाती है। ३. **यूपेन**=(यु मिश्रण-अमिश्रण) अच्छाइयों को अपने साथ जोड़नेवाले तथा बुराइयों को अपने से दूर करनेवाले पुरुष से **यूप**=सद्गुणसम्पन्न और असद्गुणरहित सन्तान होती है तथा ४. **अग्निना**=निरन्तर आगे बढ़ने की वृत्तिवाले पुरुष से **अग्निः**=उन्नतिशील सन्तान ही **प्रणीतः**=बनाया जाता है।

भावार्थ—सन्तान माता-पिता के अनुरूप होते हैं। ज्ञानी का ज्ञान-सम्पन्न, निर्वासन का वासनाशून्य और शक्तिसम्पन्न, सद्गुणसम्पन्न का सद्गुणी तथा उन्नतिशील का उन्नतिशील सन्तान होता है।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**गृहपतिः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

घर में चार आवश्यक कार्य

हविर्धानं यदश्विनाग्नीध्रं यत्सरस्वती।
इन्द्रायैन्द्रꣳसदस्कृतं पत्नीशालं गार्हपत्यः॥१८॥

१.**यत्**=यदि **अश्विना**=प्राणापान अपेक्षित हैं तो आवश्यक है कि हम 'हविर्धानं' अग्निकुण्ड में हवि का आह्वान करें, अर्थात् घर में नियम से अग्निहोत्र करें। इससे वायुशुद्धि, रोग-अभिसंहार होकर प्राणापान शक्ति में वृद्धि होगी। २. **यत्**=यदि हम **सरस्वती**=ज्ञान की अधिदेवता की आराधना करना चाहते हैं, अर्थात् ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, तो **आग्नीध्रम्**=अग्नीध्र की शरण में जाएँ। यह 'अग्नीध्र' आचार्य है। यह विद्यार्थी में ज्ञानाग्नि का आधान करता है। वेद में अन्यत्र यही भावना **'अग्निनाऽग्निः समिध्यते'** इन शब्दों में कही गई है। ३. **इन्द्राय**=इन्द्र बनने के लिए, अर्थात् आत्मशक्ति के विकास के लिए **ऐन्द्रं सदःकृतम्**=परमेश्वर की उपासना का गृह बनाया गया है। घर में एकान्त शान्त स्थान का निर्माण हुआ है। यहाँ बैठकर यह 'हैमवर्चिः' प्रभु का उपासन करता है और अपने अन्दर उस प्रभु की शक्ति को प्रवाहित करने का प्रयत्न करता है। प्रभु की शक्ति से सम्पन्न होकर ही यह 'इन्द्र' बन पाता है। ४. एवं, घर में एक 'हविर्धान' अग्निहोत्र करने का स्थान है, यह हमारी प्राणापान की शक्ति के वर्धन का कारण बनता है। **अग्नीध्र**=आचार्य के समीप बैठने का स्थान है, यह हमारी ज्ञानवृद्धि का कारण होता है। **ऐन्द्रम्**=प्रभु के उपासन का स्थान है, यह हमारी आत्मिक शक्ति की वृद्धि करनेवाला होता है। इन सबके अतिरिक्त **पत्नीशालम्**=एक पत्नी की शाला है। यह **गार्हपत्यः**=गार्हपत्य है, जहाँ घर के सब लोगों के रक्षण के लिए अन्नपाचन आदि कार्य सिद्ध होते हैं।

भावार्थ—हमारा घर हविर्धान हो, अग्नीध्र, ऐन्द्रसदस् तथा पत्नीशाल हो। उसमें अग्निहोत्र, आचार्यों से ज्ञानोपार्जन, प्रभु का उपासन तथा गृह-सम्बन्धी कार्य उत्तमता से चलते रहें।

सूचना—'पत्नीशालं गार्हपत्यः' शब्द से यह बात स्पष्ट है कि पत्नी का स्थान घर में है, उसे गृहकृत्यों में निपुण बनकर घर के कार्यों को उत्तमता से करना है।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

प्रैषों से प्रैषों को

प्रैषेभिः प्रैषानाप्नोत्याप्रीभिराप्रीर्यज्ञस्य।
प्रयाजेभिरनुयाजान्वषट्कारेभिराहुतीः॥१९॥

१. पिछले मन्त्र के अनुसार घरों को सुन्दर बनाकर उन घरों में माता-पिता **प्रैषेभिः**=प्रकृष्ट गतियों के द्वारा (प्र+इष् गतौ) **प्रैषान्**=प्रकृष्ट गतिवाले सन्तानों को **आप्नोति**=प्राप्त करता है। उत्कृष्ट आचरणवाले माता-पिता के सन्तान भी उत्कृष्ट आचरणवाले होते हैं। २. **यज्ञस्य**=उत्तम कर्मों के **आप्रीभिः**=(तेजो वै ब्रह्मवर्चसं आप्रियः—ऐ० २।४) तेजों से, अर्थात् उत्तम कर्मों में लगे रहने से उत्पन्न शक्तियों के द्वारा **आप्रीः**=तेज के पुञ्ज, अत्यन्त तेजस्वी सन्तानों को पाता है। ३. **प्रयाजेभिः**=(प्राणा वै प्रयाजाः—ऐ० १।११) प्राणशक्ति के द्वारा **प्रयाजान्**=प्राणशक्ति-सम्पन्न सन्तानों को प्राप्त करता है और ४. **अनुयाजैः**=(अपाना अनुयाजाः—कौ० ६।९) अपानशक्ति के द्वारा **अनुयाजान्**=अपानशक्ति-सम्पन्न सन्तानों को पाते हैं, इनके शरीर में दोष दूरीकरण की शक्ति ठीक बनी रहती है। ५. **वषट्कारेभिः**=(वाग्वै वषट्कारः। —श० १।६।२।२९) वाक्शक्ति के द्वारा वषट्कारान्=वाक्शक्ति-सम्पन्न सन्तानों को पाता है और अन्त में ६. आहुतिभिः=दानपूर्वक अदन की वृत्तियों से **आहुतीः**=दानपूर्वक अदन की वृत्तिवाले सन्तानों को पाता है।

भावार्थ—माता-पिता का उत्तम आचरण सन्तान को भी सच्चरित्र बनाता है।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**यजमानः**। छन्दः—**भुरिगुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**॥

पशुओं से पशुओं को

पशुभिः पशूनाप्नोति पुरोडाशैर्हवीꣳष्या।
छन्दोभिः सामिधेनीर्याज्याभिर्वषट्कारान्॥२०॥

१. **पशुभिः**=पशुओं से **पशून्**=पशुओं को **आप्नोति**=प्राप्त करता है। यदि दौर्भाग्यवश माता-पिता में 'कामः पशुः क्रोधः पशुः' इस उपनिषद् वाक्य के अनुसार काम-क्रोधादि पशुवृत्तियाँ प्रबल होंगी तो वे इन पशुवृत्तियों की प्रबलतावाले सन्तानों को ही प्राप्त करेंगे। २. **पुरोडाशैः**=(पुरः दाश्नोति=kill) परन्तु सबसे प्रथम इन काम-क्रोधादि के संहार से **पुरोडाशान्**=सबसे प्रथम काम-क्रोध का संहार करनेवाली सन्तानों को प्राप्त करता है। ३. **हविर्भिः**=(हु दानादनयोः) दानपूर्वक अदन की वृत्तियों से **हवींषि आप्नोति**=देकर खाने की वृत्तिवाले सन्तानों को पाता है ४. **छन्दोभिः**=(छन्दांसि छादनात्) अपने को पापों से बचाने की वृत्तियों से **छन्दांसि**=अपने को पाप से बचानेवाले सन्तानों को प्राप्त करता है ५. **सामिधेनीभिः**=अपने में ज्ञान की समिधाओं के आधान की वृत्तियों से, अर्थात् ज्ञानदीप्तियों के द्वारा **सामिधेनीः**=ज्ञानदीप्तियोंवाली सन्तानों को पाता है। ६. **याज्याभिः**=यज्ञ की क्रियाओं से **याज्ञाः**=यज्ञक्रियाओंवाली सन्तानों को और ७. **वषट्कारैः**=वाक्शक्ति के विकासों से **वषट्कारान्**=विकसित वाक्शक्तिवाली सन्तानों को प्राप्त करता है।

भावार्थ—माता-पिता का पाशविक आचरण सन्तानों को पशुतुल्य बना देता है।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

हविष्य अन्न (first grade)

धानाः करम्भः सक्तवः परीवापः पयो दधि।
सोमस्य रूपꣳहविषऽआमिक्षा वाजिनं मधु॥२१॥

१. गतमन्त्रों का विषय 'उत्तम सन्तान की प्राप्ति कैसे हो सकती है', यह था। अपनी उत्तम वृत्ति से ही हम सन्तानों को उत्तम बना पाएँगे। उस उत्तम वृत्ति के निर्माण के लिए भोजन का उत्तम होना अत्यन्त आवश्यक है। इन भोजनों में 'वानस्पतिक भोजन' उत्तम है।

वास्तव में मांस तो भोजन कहे जाने योग्य ही नहीं। इन वनस्पतियों व ओषधियों का राजा 'सोम' है। 'कौषीतकी उपनिषद् २३।७' के अनुसार 'एतद्वै परममन्नाद्यं सोमः' सोम परम अन्नाद्य=सर्वोत्कृष्ट भोजन है। 'हविर्वै देवतानां सोमः'—श० १।३।५३।२ देवताओं का सोम ही दानपूर्वक अदन करने योग्य पदार्थ है। २. इसी **हविषः सोमस्य**'=दानपूर्वक अदन के योग्य सोम के **रूपम्**=(Kind, sort, species) स्थानापन्न तज्जातीय पदार्थ निम्न हैं—(क) **धानाः**=भुने हुए जौ, (ख) **करम्भः**=दधिमिश्रित सत्तु, (ग) **सक्तवः**=सत्तू (घ) **परीवापः**=भुने हुए चावल या घनीभूत दूध (ङ) **पयः**=दूध (च) **दधि**=दही, (छ) **आमिक्षा**=उष्ण दूध में दही डालने पर जो दूध का घनभाग होता है, वह आमिक्षा है, (ज) **वाजिनम्**=घनभाग के अतिरिक्त जो पानी-सा है यह 'वाजिनं' कहलाता है, (झ) **मधु**=शहद। ३. ये नौ पदार्थ सोम की जाति के हैं। सोम के साथ मिलकर इनकी संख्या दस हो जाती हैं। इन दस हविष्य अन्नों के प्रयोग से हम अपने अन्तःकरणों को उत्तम बनाकर उत्तम आचरणवाले होते हैं और वैसी ही सन्तानों को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—हम हविष्य पदार्थों का ही सेवन करें, जिससे शुद्धान्तकरणोंवाले हो सकें।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

स्थानापन्न अन्न (Second grade)

धा॒नाना॑ᳪं रू॒पं कुव॑लं परीवा॒पस्य॑ गो॒धूमाः॑।
सक्तू॑नाᳪं रू॒पं बद॑रमुप॒वाकाः॑ कर॒म्भस्य॑॥२२॥

१. गतमन्त्र में धान आदि हविष्य अन्नों का वर्णन हुआ है। प्रस्तुत मन्त्र में उनमें से कुछ के स्थानापन्न पदार्थों का उल्लेख करते हैं—**धानानाम्**=भृष्ट=भुने हुए यवों का **रूपम्**= स्थानापन्न अन्न **कुवलम्**=उत्पल—कमलगट्टे हैं (कुवलं बदरीफले मुक्ताफलोत्पलयोश्च, इति कोशः) २. **परीवापस्य**=भुने हुए चावलों का **रूपम्**=स्थानापन्न अन्न **गोधूमाः**=गेंहू हैं। ३. **सक्तूनां रूपम्**=सत्तुओं का स्थानापन्न **बदरम्**=बेरों को सुखाकर बनाया गया चूर्ण है। तथा ४. **करम्भस्य**=दधिमिश्रित सत्तुओं का रूप **उपवाकाः**=यव (जौ) है। इक्कीसवें मन्त्र में प्रथमश्रेणी के अन्नों का उल्लेख हुआ था। बाइसवें तथा तेइसवें मन्त्र में द्वितीय श्रेणी के अन्नों का प्रतिपादन हुआ है। प्रथम श्रेणी के अन्न न मिलने पर हम इन द्वितीय श्रेणी के अन्नों का प्रयोग करनेवाले हों।

भावार्थ—हम मन्त्रवर्णित 'कुवल-गोधूम-बदर व उपवाक' का भोजनरूप में प्रयोग करें।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

अन्य उपादेय पदार्थ

पय॑सो रू॒पं यद्यवा॑ द॒ध्नो रू॒पं क॒र्कन्धू॑नि।
सोम॑स्य रू॒पं वा॒जिन॑ᳪं सौ॒म्यस्य॑ रू॒पमा॒मिक्षा॑॥२३॥

१. **यत् यवाः**=ये जो जौ हैं, वे **पयसः रूपम्**=दूध का स्थानापन्न भोजन हैं, २. **दध्नः रूपम्**=दही का स्थानापन्न भोजन **कर्कन्धूनि**=स्थूल बदरी फल हैं ३. **सोमस्य रूपम्**=सोम का स्थानापन्न **वाजिनम्**=दूध का पतला भाग (whey) है, ४. **सोमस्य**=सोम से बने हुए भोजन का स्थानापन्न **आमिक्षा**=फटे दूध का घनभाग है, जिसमें दही मिलाया गया है, (curd of milk and whey)

भावार्थ—'यव-कर्कन्धु-वाजिन तथा आमिक्षा' ये हमारे प्रिय भोजन हों।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

गुरु–शिष्य

आ श्रावयेति स्तोत्रियाः प्रत्याश्रावोऽअनुरूपः।
यजेति धाय्यारूपं प्रगाथा ये यजामहाः ॥२४॥

१. गतमन्त्रों के अनुसार सात्त्विक अन्नों का सेवनकरने वाले 'गुरु और शिष्य किस प्रकार अध्ययनाध्यापन करें' इस बात का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि हे अध्यापक! आप **आश्रावय** (समन्तात् विद्योपदेशान् कुरु—द०) सब प्रकार से विद्यार्थियों को ज्ञान का ही श्रवण कराएँ, विविध विषयों में उन्हें ज्ञानप्रवीण करें। **इति**=बस, आपका यही कार्य हो। आपका ध्यान सदा पढ़ाने में ही हो, आपकी सारी शक्ति इसी कार्य में लगे। २. आप उन विद्यार्थियों को वह ज्ञान सुनाएँ जो **स्तोत्रियाः**=(स्तोत्राण्यर्हन्ति द०) इन स्तोत्रों के योग्य हैं, अर्थात् जिनकी योग्यता इन स्तोत्रों को उन्हें समझने के योग्य बनाती है। ऋग्वेद 'विज्ञानवेद' है। इसके सभी मन्त्र पदार्थों के गुणधर्मों का निरूपण करनेवाले होने से 'स्तोत्र' कहलाते हैं। ३. उन विद्यार्थियों को तू वह ज्ञान दे जो **प्रत्याश्रावः** (**प्रतिश्रावयति**)=पढ़े हुए पाठ को ठीक से सुना देता है, अर्थात् पूर्ण ध्यान से आचार्य-मुख से निकले शब्दों को सुनता है और उन्हें ठीक वैसा ही सुना देता है। ४. **अनुरूपः**=जो आचार्य के अनुरूप बनने के लिए उनके अनुकूल होने का पूर्ण प्रयत्न करता है। ५. अब विद्यार्थी के लिए कहते हैं कि **यज्ञा इति**=(देवपूजा–संगतिकरण–दान=यज्) तू आचार्यों का आदर कर, सदा आचार्यों के सम्पर्क में रहने का प्रयत्न कर और अपने को आचार्य के प्रति दे डाल। यह आचार्य के प्रति अर्पण तुझे सर्वथा आचार्य के अनुरूप बना देगा। ६. **धाय्या**=(धेयमर्हा) ज्ञान के आधान के योग्य विद्यार्थियों का **रूपम्**=(Sign, feature) चिह्न यह होता है कि वे **प्रगाथाः**=प्रकृष्ट गायनवाले होते हैं। सदा ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करते हैं, और **ये**=जो **यजामहाः**=(भृशं यजन्ति) खूब यज्ञशील होते हैं। आचार्यों का आदर करते हैं, उनके सम्पर्क में रहते हैं, उनके प्रति अपना अर्पण कर देते हैं तभी आचार्य उन्हें अपने अनुरूप बना पाते हैं।

भावार्थ—(क) आचार्यों का एक ही कार्य हो कि वे ज्ञान देने में लगे रहें, (ख) विद्यार्थियों का भी एक ही कार्य हो कि वे उस ज्ञान को अपने साथ सङ्गत करने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

सोम की प्राप्ति

अर्धऽऋचैरुक्थानाꣳरूपं पदैराप्नोति निविदः।
प्रणवैः शस्त्राणाꣳरूपं पयसा सोमऽआप्यते॥२५॥

१. **अर्धऋचैः**=मन्त्रभाग से **उक्थानाम्**=प्रवचनों का **रूपम्**=सौन्दर्य **आप्नोति**=प्राप्त किया जाता है। आचार्य विद्यार्थियों को 'श्रद्धा' के विषय में समझाते हुए **'श्रद्धया सत्यमाप्यते'**, **'श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि'**, **'श्रद्धया विन्दते वसु'** आदि मन्त्रभागों से विषय को बड़ा सौन्दर्य प्राप्त करा देते हैं। २. इसी प्रकार, **पदैः**=शब्दों से **निविदः**=निश्चयात्मक बातों को **आप्नोति**=प्राप्त करता है। 'भोजन' इसलिए भोजन है कि (भुज् पालनाभ्यवहारयोः) यह पालन के लिए खाया जाता है, अर्थात् यह स्पष्ट है कि

हमने शरीर-रक्षा के लिए खाना है, स्वाद के लिए नहीं। 'बाहु' इसीलिए 'बाहु' हैं कि (बाहृ प्रयत्ने) इनसे मनुष्य कार्यसिद्धि के लिए प्रयत्न करता है, इन्हें सदा कर्मों में लगाये रखता है। 'दीधिति' अंगुलियों का नाम है, चूंकि 'धीयन्ते कर्मसु' इन्हें कर्मों में आहित करना है। एवं, 'वैदिक पद' हमें निश्चयात्मक ज्ञान देनेवाले हैं। ३. **प्रणवैः**=(ओंकारैः द०) निरन्तर किये जानेवाले 'ओम्' के जप से **शस्त्राणांरूपम् आप्यते**=शस्त्र का रूप प्राप्त किया जाता है, अर्थात् यह **प्रणवः**=ओंकार जप करनेवाले का शस्त्र बन जाता है। उपनिषद् में तो 'प्रणवो धनुः' कहकर प्रणव को धनुष बना ही दिया है। इस प्रणवरूप धनुष से हम काम आदि शत्रुओं का (शंसन्ति–हिंसन्ति यैः) हिंसन करनेवाले होते हैं। ४. इस प्रकार **पयसा**=शक्तियों के आप्यायन के द्वारा **सोमः**=वह उमा के साथ रहनेवाले महादेव, अर्थात् सम्पूर्ण ज्ञानवाले प्रभु **आप्यते**=पाये जाते हैं। उसी प्रकार जैसे **पयसा**=दूध से **सोमः**=वीर्य **आप्यते**=प्राप्त होता है। दुग्धादि के प्रयोग से सोम की प्राप्ति होती है। इस सोम से सब शक्तियों का आप्यायन करते हुए हम प्रभु को पानेवाले बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए ज्ञानवृद्धि तो आवश्यक है ही। जप से वासना को दूर करना भी आवश्यक है और सात्त्विक भोजनों से सोम का वर्धन करते हुए अङ्ग-प्रत्यङ्ग की शक्ति को बढ़ाना भी आवश्यक है।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

सवन-त्रयी

अ॒श्विभ्यां॑ प्रा॒तः स॑व॒नमिन्द्रे॑णै॒न्द्रं माध्य॑न्दिनम्।
वै॒श्व॒दे॒वꣳसर॑स्वत्या तृ॒तीय॑मा॒प्तꣳसव॑नम्॥२६॥

१. उपनिषदों में 'प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन व सायंसवन' का उल्लेख है। २४ वर्ष तक का ब्रह्मचर्य ही प्रातःसवन है, इसे करनेवाला 'वसु' कहलाता है। ४४ वर्ष तक का ब्रह्मचर्य माध्यन्दिनसवन है। इसे करनेवाला 'रुद्र' है तथा तृतीयसवन ४८ वर्ष तक का ब्रह्मचर्य है। इसे करनेवाला 'आदित्य' है। २. वसु ब्रह्मचारी वीर्यरक्षा द्वारा अपनी प्राणापान की शक्ति की वृद्धि करके उत्तम निवासवाला बनता है। मन्त्र में कहते हैं कि **अश्विभ्याम्**=प्राणापान के साधकों से यह प्रातःसवन किया जाता है। २४ वर्ष तक का ब्रह्मचर्य इसकी प्राणापान शक्ति को खूब आप्यायित कर देता है। इस प्रातःसवन को करनेवाला व्यक्ति भी 'अश्विनौ' शब्द से कहलाने लगता है। ३. **इन्द्रेण**=इन्द्रियों को वशीभूत करनेवाले से **माध्यन्दिनम्**=४४ वर्ष का माध्यन्दिनसवन विस्तृत किया जाता है। यह **ऐन्द्रम्**=इन्द्रशक्ति का विकास करनेवाला होता है। इन्द्र ने असुरों का संहार किया, यह भी सब आसुरवृत्तियों का संहार करता है। असुरों के लिए यह 'रुद्र'=भयंकर होता है। ४. **सरस्वत्या**=ज्ञान की अधिदेवता से **तृतीयं सवनम्**=यह ४८ वर्ष का तृतीयसवन **आप्तम्**=प्राप्त किया जाता है। यह तृतीयसवन **वैश्वदेवम्**=सब दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए हितकर होता है। दिव्य गुणों व ज्ञान का आदान करने के कारण ब्रह्म का ग्रहण करनेवाला 'आदित्य' कहलाता है। यह ज्ञान का अधिकाधिक संचय करता है। (सरस्वत्या) तथा दिव्य गुणों की अपने में वृद्धि करता है (वैश्वदेवम्)।

भावार्थ—१. आचार्य-चरणों में 'उपसद्' बनने का पहला लाभ यह है कि प्राणापान शक्ति देकर हमें स्वस्थ बनाते हैं (अश्विभ्यां वसु) २. दूसरा लाभ यह है कि हम आसुरवृत्तियों का संहार करनेवाले 'रुद्र' बनकर प्रभु बनते हैं (इन्द्रस्य इति ऐन्द्रम्) और

अन्त में ३. सरस्वती की अराधना करते हुए ज्ञान व दिव्य गुणों को बढ़ाकर हम 'आदित्य' बनते हैं और सब दिव्य गुणों के स्वीकार से 'वैश्वदेवम्' होते हैं।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

गति-स्थिति (गति से स्थिति तक)

वायव्यैर्वायव्यान्याप्नोति सतेन द्रोणकलशम्।
कुम्भीभ्यामम्भृणौ सुते स्थालीभिः स्थालीराप्नोति ॥२७॥

वायव्यैः=वायु-सम्बन्धी गुणों के द्वारा, अर्थात् 'वा गतिगन्धयोः' गति के द्वारा बुराइयों को समाप्त करने की वृत्ति से **वायव्यानि**=वायु-गुणयुक्त शिष्यों को **आप्नोति**=प्राप्त करता है, विद्यार्थियों को भी वह क्रियाशीलता के द्वारा बुराइयों के ध्वंस की वृत्तिवाला बना पाता है। २. **सतेन**=(सन् संभक्तौ) संभजन व संविभाग से, अर्थात् समय-विभाग के अनुसार कार्य करने से (विभागयुक्त कर्म से—द०) अथवा दिनचर्या के ठीक परिपालन से **द्रोण-कलशम्**=(द्रोणकलशो यस्य, द्रु गतौ—कलाः शेरते अस्मिन्) गतिशील कलायुक्त शरीरवाले को प्राप्त करता है, अर्थात् ठीक समयविभाग के अनुसार, संविभागपूर्वक समक्रियाओं के करनेवाले आचार्यों के विद्यार्थी भी ठीक क्रियाशील होते हैं और अपने इस शरीर में सब कलाओं का सम्यक् आधान करनेवाले होते हैं। उपनिषद् में वर्णित 'प्राण, श्रद्धा' आदि सब कलाएँ उनके जीवन में आश्रित होती हैं। ३. **कुम्भीभ्याम्**=(क+उम्भ्=कः आनन्द व जल=देवशक्ति) आचार्य से अपने में आनन्दमयता व शक्ति के भरने से **अम्भृणौ**=महान् (अम्भृण इति महन्नाम, निघण्टौ) व वाणी के पिता **सुते**=उत्पन्न किये जाते हैं (अम्भृण Powerful, great, mighty, master of वाच्)। आचार्य अपनी आनन्दमयता व शक्तिमत्ता से विद्यार्थियों को भी शक्तिसम्पन्न व महान् बनाता है। आचार्य की आनन्दमय मनोवृत्ति विद्यार्थियों को वाणी के ज्ञान का अधिपति बना देती है। ४. **स्थालीभिः**=(स्थल प्रतिष्ठायाम्) प्रतिष्ठा की वृत्तियों से, अर्थात् स्थिररूप से कार्य में लगे रहने की वृत्ति से **स्थालीः आप्नोति**=स्थिर वृत्तिवालों को प्राप्त करता है। आचार्य की स्थिरता विद्यार्थियों में भी स्थिरता को जन्म देती है।

भावार्थ—हम वायु की भाँति क्रियाशील व बुराइयों का संहार करनेवाले बनें, संविभागपूर्वक कार्यों को करते हुए हम गतिशील व षोडशकला सम्पूर्ण देहवाले हों। आनन्दमयता से हम महान् बनें, स्थिरता को अपनाएँ।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

अव-भृथ

यजुर्भिराप्यन्ते ग्रहा ग्रहैः स्तोमाश्च विष्टुतीः।
छन्दोभिरुक्थाशस्त्राणि साम्नावभृथऽआप्यते ॥२८॥

१. **यजुर्भिः**=यजुर्वेद के मन्त्रों से **ग्रहाः**=(यैः सर्वं क्रियाकाण्डं गृह्णन्ति ते व्यवहाराः—द०) ग्रहणीय गृह व्यवहार—उपादेय कर्मकाण्ड **आप्यन्ते**=प्राप्त किये जाते हैं, अर्थात् यजुः मन्त्रों से हमें जीवन के सब कर्त्तव्यों का बोध होता है। यजुर्वेद का उपनाम ही कर्मवेद है। २. **ग्रहैः**=इन ग्रहणीय व्यवहारों व कर्त्तव्यों के ठीक पालन से ही वस्तुतः **स्तोमाः**=स्तवन तथा **विष्टुतीः**=उत्तम स्तुतियाँ **आप्यन्ते**=प्राप्त होती हैं, अर्थात् कर्मों के करने से ही प्रभु का अर्चन होता है और लोक में यश की प्राप्ति होती है। '**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य**'=प्रभु-अर्चन

तो स्वकर्म पालन से ही होता है तथा लोक में यशस्वी भी वही होता है जो अपने कर्त्तव्यों पर दृढ़ रहता है। ३. **छन्दोभिः**=छन्दों के द्वारा ही **उक्थाशस्त्राणि**=उक्थ और शस्त्र प्राप्त होते हैं। 'छन्द' वेदमन्त्र हैं, 'उक्थ' प्रवचन हैं, शस्त्र=वासना-हिंसन के साधन हैं। एवं, अर्थ यह हुआ कि वेदमन्त्रों द्वारा उत्तम प्रवचन होते हैं तथा इन्हीं के उच्चारण से प्रेरणाओं को प्राप्त होते हुए और प्रभु-स्मरण करते हुए हम वासनाओं का **शंसन**=हिंसन कर पाते हैं। वस्तुतः हमें ये वासनाओं से बचाते हैं, इसी से तो इनका नाम 'छन्दस्' हुआ 'छादयन्ति'। ४. **साम्ना**=शान्ति से वासनाओं के सभी तूफ़ानों के शान्त हो जाने पर **अवभृथः**=यज्ञान्तस्नान **आप्यते**=प्राप्त होता है, अर्थात् जीवन-यज्ञ का पूर्ण शोधन साम से होता है। जिस दिन मैं साम व शक्ति को प्राप्त कर सका, वस्तुतः उसी दिन मेरा यह यज्ञ पूर्ण होता है।

भावार्थ—यजुर्वेद प्रतिपादित उत्तम कर्मों का हम ग्रहण करें, कर्म ही हमारे **स्तोम**=प्रभुस्तवन हों तथा हमारी उत्तम स्तुति का कारण बनें। छन्दों के द्वारा मेरी वासनाओं का हिंसन हो और इस वासना-संहार से मेरा जीवन साममय हो। यह शान्ति मेरे जीवनकाल का **अवभृथ**=यज्ञान्त स्नान हो। इस शान्ति में मेरे जीवन की पूर्ण पवित्रता हो।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**इडा**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

संस्था (ब्राह्मीस्थिति)

इडाभिर्भक्षानाप्नोति सूक्तवाकेनाशिषः।
शंयुना पत्नीसंयाजान्त्समिष्टयजुषा सꣳस्थाम्॥२९॥

१. गतमन्त्र के अनुसार 'अवभृथ' (यज्ञान्त स्नान) करनेवाला व्यक्ति **इडाभिः**=पृथिवी से (इडा=पृथिवी—नि० १।१) **भक्षान्**=भक्षणीय पदार्थों को प्राप्त करता है अथवा **इडाभिः**=गौओं से (इडा=a cow) भोजन को प्राप्त करता है, अर्थात् इसका भोजन दूध व वानस्पतिक अन्न, शाक-फल ही होते हैं। २. इन सात्त्विक भोजनों का सेवन करते हुए सात्त्विक अन्तःकरणवाला बनकर **सूक्तवाकेन**=सदा मधुर, सत्य वाणियों के द्वारा यह, **आशिषः**=इच्छाओं को प्राप्त करता है, अर्थात् अपने जीवन में सत्य को प्रतिष्ठित करके यह सब क्रियाओं को सफल कर पाता है, यह जैसा चाहता है, वैसा ही सोचता है। ३. इस प्रकार सात्त्विक भोजनों व सत्य का सेवन करनेवालों का जीवन शान्त होता है। इस **शंयुना**=शान्ति को अपने साथ जोड़ने से यह **पत्नीसंयाजान्**=पत्नी के साथ उत्तम यज्ञों का **आप्नोति**=व्यापन करनेवाला होता है, अर्थात् यह अपने जीवन में अपने जीवन-सखा (पत्नी) से मिलकर उत्तमोत्तम यज्ञात्मक कर्मों का करनेवाला होता है। ४. **समिष्टयजुषा**=इन किये हुए उत्तम यज्ञों से (सम्=सम्यक्, इष्ट=कृत यजुः=यज्ञ) **संस्थाम्**=उत्तम स्थिति को ब्राह्मीस्थिति को प्राप्त करता है।

भावार्थ—हमारा भोजन अन्न, फल, शाक व दूध हों। हम सत्य से सब इष्टकार्यों को सिद्ध करें। शान्ति से गृहस्थ में यज्ञों का सेवन करें। इन सम्यक् कृत यज्ञों के द्वारा स्थितप्रज्ञता व ब्राह्मीस्थिति को प्राप्त करें।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

व्रतम्-सत्यम्

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥३०॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति 'संस्था'=ब्राह्मीस्थिति पर थी, यही प्रस्तुत मन्त्र में 'सत्य की प्राप्ति' इन शब्दों से कही जा रही है। उस सत्य की प्राप्ति का क्रम यह है—**व्रतेन**=व्रत से **दीक्षाम्**=दीक्षा को **आप्नोति**=प्राप्त होता है। यहाँ मानव-जीवन का प्रारम्भ है। इस प्रारम्भिक ब्रह्मचर्याश्रम में व्यक्ति व्रत के द्वारा-नियम के द्वारा **दीक्षा**=(self devotion) आत्मभक्ति (ब्रह्मचर्य=प्रभु की ओर चलना) का निश्चय करता है। वस्तुतः हम अपने जीवन में क्रमशः 'माता-पिता-आचार्य-अतिथि' व प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले बनते हैं। यही हमारे जीवन की 'पंचायतनपूजा' है। भौतिक क्षेत्र में इन पाँचों का क्रमशः पृथिवी आदि के साथ सम्बन्ध है। माता पृथिवी है, पिता सब कष्टों का निवारण करने का प्रयत्न करता हुआ **वारि**=जल के तुल्य है, आचार्य अग्नि है, अतिथि वायु की भाँति निरन्तर भ्रमण करनेवाला है और प्रभु समन्तात् दीप्त आकाश के समान हैं। हम उत्तरोत्तर इनके प्रति अपना अर्पण करते हैं, यही अर्पण 'दीक्षा' है। इस दीक्षा के लिए व्रत का ग्रहण करना होता है, अन्यथा दीक्षा सम्भव ही नहीं। २. अब गृहस्थ में **दीक्षया**=इस दीक्षा के द्वारा **दक्षिणाम्**=दक्षिणा को **आप्नोति**=प्राप्त करता है। दीक्षित अनायास दान की वृत्तिवाला होता है। गृहस्थ का मौलिक कर्त्तव्य 'दक्षिणा' है, जिस प्रकार ब्रह्मचारी का मौलिक कर्त्तव्य 'आत्मसमर्पण' था। ३. अब वानप्रस्थ में इस दक्षिणा देने की वृत्ति से **श्रद्धाम्**=(सत्=सत्य, धा=धारण) सत्य के धारण को **आप्नोति**=प्राप्त करता है, अर्थात् जितना-जितना देता है उतना-उतना सत्य का धारण चलता है। न देना ही असत्य की ओर जाना है। अपरिग्रह सत्य की ओर ले-जाता है और परिग्रह असत्य में फँसाता है। ४. अब ब्रह्माश्रम (संन्यास) में **श्रद्धया**=इस सत्यधारण की वृत्ति से अन्ततः **सत्यम्**=वह सत्य प्रभु **आप्यते**=प्राप्त किया जाता है। सत्य का धारण करते हुए धीमे-धीमे हम पूर्णसत्य को अपना पाते हैं।

भावार्थ—हम अपने जीवन में व्रती बनें, दीक्षित हों, दक्षिणा=दान की वृत्तिवाले हों, इस दान की वृत्ति से उत्तरोत्तर सत्य को अपने में धारण करते हुए पूर्णसत्य को प्राप्त करनेवाले बनें।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

यज्ञ की पूर्णता

एतावद्रूपं यज्ञस्य यद्देवैर्ब्रह्मणा कृतम्।
तदेतत्सर्वमाप्नोति यज्ञे सौत्रामणी सुते ॥३१॥

१. गतमन्त्र के अनुसार 'व्रत-दीक्षा-दक्षिणा-श्रद्धा' के माध्यम से सत्य की प्राप्ति का उल्लेख है। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि बस, **एतावत्**=इतना ही **यज्ञस्य रूपम्**=यज्ञ का रूप है। वस्तुतः यही यज्ञ है। **यत्**=जो **देवैः**=दिव्य गुणों से युक्त मनवालों से **ब्रह्मणा**=ज्ञानपूर्वक **कृतम्**=सम्पादित हुआ है। इस सत्य की प्राप्ति देवों को होती है। बिना दिव्य गुणों के अपनाये सत्य-प्राप्ति सम्भव नहीं। इस सत्य की प्राप्ति के लिए दिव्य गुणों के साथ ज्ञान भी आवश्यक है। वास्तव में ज्ञान के बिना दिव्य गुणों की प्राप्ति भी सम्भव नहीं, २. परन्तु **तत् एतत् सर्वम्**=ये सब दिव्य गुण तथा ज्ञान **आप्नोति**=मनुष्य तभी प्राप्त करता है, जब **यज्ञे सौत्रामणी सुते**=(सौत्रामणी=सौत्रमण्याम्) सौत्रामणी यज्ञ किया जाता है। सौत्रामणी यज्ञ के **सुते**=निष्पादित होने पर ही ये सब अच्छे गुण व ज्ञान प्राप्त हुआ करते हैं। यह सौत्रामणी यज्ञ=(सुत्रा) उत्तम शरीर की उत्तमता से रक्षा ही है। इसपर किसी प्रकार के रोगों का आक्रमण न हो जाए, यही सौत्रामणी यज्ञ है। इस यज्ञ के लिए सुरा का सेवन होता

है। ('सुर्' to govern, to rule) **सुरा**=आत्मनियन्त्रण का साधन होता है। बिना आत्मनियन्त्रण के यह यज्ञ सिद्ध नहीं होता। इस नियन्त्रण में ही वीर्यरक्षा का आधार है। यह वीर्यरक्षा मनुष्य को पूर्ण स्वस्थ बनाती है और इस प्रकार हम सौत्रामणी यज्ञ को सिद्ध करते हैं। ३. एवं, हम शरीर में स्वस्थ बनते हैं, मन में देव बनते हैं, मस्तिष्क में ब्रह्म=ज्ञान का पूरण करते हैं। बस, यही 'जीवनयज्ञ' का पूर्ण रूप है।

भावार्थ—दिव्य गुणों के धारण, ज्ञान की प्राप्ति व शरीर की रोगों से पूर्णरक्षा के द्वारा हम जीवन को सफल करें।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभु का वर्धन

सु॒रा॑वन्तं बर्हि॒षद॑ꣳसु॒वीरं॑ य॒ज्ञꣳहि॑न्वन्ति महि॒षा नमो॑भिः।
दधा॑नाः॒ सोमं॑ दि॒वि दे॒वता॑सु॒ मदे॒मेन्द्रं॒ यज॑मानाः॒ स्व॒र्काः॥३२॥

१. गतमन्त्र के अनुसार सौत्रामणी यज्ञ के करनेवाले **महिषाः**=(मह् पूजायाम्) पूजा की वृत्तिवाले साधक **नमोभिः**=नमस् के द्वारा, अपने जीवन में नम्रता-धारण के द्वारा **यज्ञम्**=पूजनीय प्रभु को **हिन्वन्ति**=अपने में बढ़ाते हैं, अर्थात् अपने हृदयों में प्रभु की भावना को उज्ज्वल करते हैं। उस प्रभु की भावना को, जो २. (क) **सुरावन्तम्** (सुर् to shine) ज्ञान की दीप्तिवाले हैं, सारे ज्ञान के स्रोत हैं। वे ही आदिगुरु हैं, सभी को ज्ञान देनेवाले हैं। (ख) **बर्हिषदम्**=वासनाशून्य पवित्र हृदय में स्थित होनेवाले हैं। (ग) **सुवीरम्**=(शोभना वीरा शरीरात्मबलयुक्ता यस्मात् तम्) जिस प्रभु के उपासन से उपासक शरीर व आत्मा के बल से युक्त होते हैं। ३. इस प्रभु के उपासन से वासनाशून्य होकर हम वीर्य को सुरक्षित कर पाते हैं और **सोमं दधानाः**=इस सोम का धारण करते हुए, **दिवि**= प्रकाश में तथा **देवतासु**=दिव्य गुणों में अपने को धारण करते हुए हम **मदेम**=हर्ष का अनुभव करें। मस्तिष्क में ज्ञान के प्रकाश तथा मन में वासनाशून्यता के कारण एक अद्भुत आनन्द का अनुभव होता है। ४. हम **इन्द्रं यजमानाः**=उस घर में ऐश्वर्यशाली प्रभु को अपने साथ सङ्गत करते हुए **स्वर्काः**=उत्तम उपासनवाले हों तथा उत्तम अन्नों का (अर्क=अन्न—नि०) सेवन करनेवाले हों। प्रभु के सम्पर्क के लिए उत्तम सात्त्विक अन्न सहायक होते हैं। इनसे अन्तःकरण की शुद्धि होकर स्मृति ठीक बनी रहती है, वासना-ग्रन्थियों का विनाश होकर हम प्रभु-दर्शन के योग्य हो जाते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का उपासन करें। प्रभु-उपासन के लिए चित्तवृत्ति को ठीक रखने के उद्देश्य से सात्त्विक अन्न का सेवन करें।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

सुरया-सोम

यस्ते॒ रसः॒ सम्भृ॑तऽओष॑धीषु॒ सोम॑स्य॒ शुष्मः॒ सुर॑या सु॒तस्य॑।
तेन॑ जिन्व॒ यज॑मानं॒ मदे॑न॒ सर॑स्वतीम॒श्विना॒विन्द्र॑म॒ग्निम्॥३३॥

१. **यः**=जो **ते**=तेरा **ओषधीषु**=ओषधियों में **रसः**=रस **सम्भृतः**=धारण किया गया है और उस रस के द्वारा **सुरया**=आत्मनियन्त्रण के साथ **सुतस्य सोमस्य**=उत्पन्न किये गये सोम (वीर्यशक्ति) का **शुष्मः**=शत्रु-शोषक बल है **तेन**=उस सोम के बल से **यजमानम्**=प्रभु के साथ अपना सम्पर्क करनेवाले इस यज्ञशील पुरुष को **मदेन**=आनन्द व उल्लास से

जिन्व=प्रीणित कर। २. प्रभु ने वनस्पतियों में एक रस की स्थापना की है। यह रस उत्तम सोम का उत्पादक होता है, इस सोम को यदि आत्मनियन्त्रण के द्वारा व्यक्ति अपने में ही सुरक्षित रखता है तब यह सोम इस 'यजमान' के जीवन को आनन्दित करनेवाला होता है, वास्तव में यह सुरक्षित सोम ही उसे यजमान=प्रभु के साथ सङ्गत करनेवाला बनाता है। इस प्रभु-सम्पर्क से यजमान का जीवन आनन्द से परिपूर्ण हो उठता है। ३. यह नियन्त्रित सोम इस यजमान को (क) **सरस्वतीम्**=ज्ञान की अधिदेवता ही बना देता है, यह बड़ा ज्ञानी बनता है। (ख) **अश्विनौ**=इस सोम के रक्षण से पुरुष प्राणापान शक्ति का पुञ्ज बनता है (ग) **इन्द्रम्**=इन्द्रियों की शक्तिवाला होता है तथा (घ) **अग्निम्**=सब दोषों का ध्वंस करके आगे बढ़नेवाला होता है।

भावार्थ—हम ओषधियों के सेवन से सोम को शरीर में उत्पन्न करें। आत्मनियन्त्रण के द्वारा इस सोम की रक्षा करें। यह सुरक्षित सोम हमें आनन्द से प्रीणित करे। हमें यह प्रभु के मेलवाला (यजमान), ज्ञानी (सरस्वती), दीर्घजीवी (अश्विनौ), शक्तिसम्पन्न इन्द्रियोंवाला (इन्द्र) तथा दोषदहनपूर्वक आगे बढ़नेवाला (अग्नि) बनाता है।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

सोम+रक्षण, सोम का अध्याहरण (अश्विनौ द्वारा)

यमश्विना नमुचेरासुरादधि सरस्वत्यसुनोदिन्द्रियाय।
इमं तꣳशुक्रं मधुमन्तमिन्दुꣳसोमꣳ राजानमिह भक्षयामि॥३४॥

१. मैं **इह**=इस मानव-जीवन में **तम्**=उस २. (क) **शुक्रम्**=(शीघ्रं बलकरम्) शीघ्र-बलकारी=जिसके होने पर मनुष्य शीघ्रता से शक्तिपूर्वक कार्यों को करता है। (ख) **मधुमन्तम्**=माधुर्यवाले—जो मेरे व्यवहार को मधुर बनाता है। (ग) **इन्दुम्**=(इन्द् to be powerful) परमैश्वर्यकारक तथा (घ) **राजानं सोमम्**=मेरे जीवन को दीप्त बनानेवाले सोम—वीर्य को **भक्षयामि**=अपने में धारण करता हूँ, अपने शरीर का अङ्ग बनाता हूँ। २. उस सोम को मैं अपने शरीर का अङ्ग बनाता हूँ **यम्**=जिसको **आश्विनौ**=प्राणापान **आसुरात्**=असुरवृत्तियों के लिए हितकर, अर्थात् आसुर भावनाओं को पनपानेवाले **नमुचेः** **(न मुच्)**=पीछा न छोड़नेवाले (Last infirmity of noble minds) इस अहंकार नामक असुरराज से **अधि**=(आश्विनौ ह्येनं नमुचेरध्याहरताम्। —श० १२.८.१.३) ऊपर उठानेवाले हुए, अर्थात् प्राणापान की साधना का परिणाम यह हुआ कि इस वीर्य के कारण इसके अधिष्ठानभूत वीर पुरुष में अहंकार की भावना उत्पन्न नहीं हुई। एवं, प्राणायाम के अभ्यास के अभाव में यह वीर्य राजसरूप धारण करके मनुष्य को अहंकारी बना देता है। प्राणायाम से सात्त्विकता बनी रहती है और अहंकार की उत्पत्ति नहीं होती। यही अश्विनीदेवों का नमुचि से सोम का अध्याहरण है, अंहकार से ऊपर उठाना है। ३. अब अश्विनीदेवों द्वारा नमुचि से अध्याहरित इस सोम को **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **इन्द्रियाय**=इन्द्र के शरीर के लिए **असुनोत्**=सिद्ध करती है। अहंकार से ऊपर उठे हुए पुरुष का वीर्य उसकी ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है और उसकी शक्ति का वर्धन करनेवाला होता है। वस्तुतः ज्ञान-प्राप्ति में लगे रहना वीर्यरक्षा का सुन्दर साधन है। वीर्य का ज्ञानाग्नि-दीपन में विनियोग होकर उस का सुन्दर सद्व्यय हो जाता है, उससे आत्मा की शक्ति का वर्धन होता है।

भावार्थ—प्राणायाम की साधना वीर्य की केवल रक्षा ही नहीं करती, अपितु उस वीर पुरुष को अभिमान का शिकार भी नहीं होने देती। 'ज्ञान-प्राप्ति में लगना' उस वीर्य का

सद्व्यय करके आत्मशक्ति को बढ़ानेवाला होता है।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

शची द्वारा सोमपान

यदत्र रिप्तꣳरसिनः सुतस्य यदिन्द्रोऽअपिबच्छचीभिः।
अहं तदस्य मनसा शिवेन सोमꣳराजानमिह भक्षयामि ॥३५॥

१. **यत्**=जो **रसिनः**=रसवाले जीवन को माधुर्य से भरनेवाले **सुतस्य**=अभिषुत (उत्पन्न) सोम का **रिप्तम्**=(लिप्तं प्राप्तम् द.) अंश प्राप्त हुआ है, **यत्**=जिस अंश को **इन्द्रः**=इन्द्रियों का विजेता जीवात्मा **शचीभिः**=ज्ञानों व कर्मों के द्वारा तथा प्रभुनाम जपन के द्वारा **अपिबत्**=अपने अन्दर पीता है, अर्थात् व्याप्त कर लेता है। २. स्पष्ट है कि सोम जीवन को मधुर बनानेवाला है (रसिनः), इसके अभाव में शरीर में रोग आ जाते हैं और मन में ईर्ष्या–द्वेष आदि पनपने लगते हैं, इस प्रकार मनुष्य का जीवन कड़वा हो जाता है। ३. इस सोम को शरीर में ही सुरक्षित रखने का साधन यह है कि मनुष्य यज्ञ–यागादि उत्तम कर्मों में लगा रहे और अपने अतिरिक्त समय को ज्ञान–प्राप्ति में लगाये। (शचीभिः) उससे भी श्रान्त हो जाने पर वाणी से प्रभु का नाम जपने में प्रवृत्त हो। ४. **अहम्**=मैं भी **अस्य**=इस सोम के **तत्**=उस अंश को **शिवेन मनसा**=शिव मन के हेतु से **भक्षयामि**= अपना भाग बनाता हूँ। इस सोम की रक्षा से मेरा मन शिव वृत्तिवाला बनता है, उसमें सभी के कल्याण की भावना उत्पन्न होती है। ५. वस्तुतः सोम के इन सब लाभों का विचार करके कि (क) यह मेरे जीवन को माधुर्यवाला बनाता है, (ख) इसके रक्षण से मेरा मन शिव बनता है, मैं **इह**=यहाँ मानव–जीवन में **सोमं राजानम्**=मेरे जीवन को दीप्त करनेवाले इस सोम को **भक्षयामि**=अपना भोजन बनाता हूँ। इसे अपने शरीर के अन्दर ही व्याप्त करने का प्रयत्न करता हूँ।

भावार्थ—१. सोमरक्षा का प्रकार यह है कि हम कर्मों में लगे रहें, ज्ञान प्राप्त करें और प्रभु के नाम का जप करें। २. रक्षित सोम (क) हमारे जीवन को मधुर बनाएगा, (ख) मन को शिव बनाएगा (रसिनः) तथा (ग) हमारे मस्तिष्क को ज्ञान–दीप्त करेगा (राजानम्)।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**निचृदष्टिः**। स्वरः—**मध्यमः**॥

पितृश्राद्ध

पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः पितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः प्रपितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः। अक्षन् पितरोऽमीमदन्त पितरोऽतीतृपन्त पितरः पितरः शुन्धध्वम् ॥३६॥

१. गतमन्त्र के अनुसार सोम का रक्षण करनेवाले युवक व युवति रसमय व मधुर जीवनवाले बने रहते हैं। उनके मन शिव होते हैं और उनका ज्ञान दीप्त होता है। इस प्रकार उत्तम जीवनवाले वे दम्पती वानप्रस्थाश्रम में प्रविष्ट हुए–हुए अपने पिता, पितामह व प्रपितामह को समय–समय पर आमन्त्रित करते हैं। इन पितरों को वे 'स्वधा'=अन्न प्राप्त कराते हैं तथा 'नमः' उनका सत्कार करते हैं। इनके आमन्त्रण को स्वीकार करके वे पितर आते हैं और इसीलिए वे 'स्वधायी'=(स्वधां प्रति एतुं शीलं यस्य) कहलाते हैं। इन **स्वधायिभ्यः**=स्वधा के प्रति आनेवाले **पितृभ्यः**=पिताओं के लिए **स्वधा नमः**=अन्न तथा सत्कार हो। २. इसी प्रकार **स्वधायिभ्यः**=स्वधा के प्रति आनेवाले

पितामहेभ्यः=पितामहों के लिए **स्वधा नमः**=अन्न व सत्कार हो तथा **स्वधायिभ्यः**=स्वधा के प्रति आनेवाले **प्रपितामहेभ्यः**=परदादों के लिए **स्वधा नमः**=अन्न व सत्कार हो। ३. यहाँ मन्त्र में आमन्त्रण क्रम पिता-पितामह व प्रपितामह है, यद्यपि आयु की दृष्टि से बड़प्पन का मान करते हुए यह क्रम प्रपितामह-पितामह-पिता होना चाहिए तथापि सम्भावना का ध्यान करते हुए यह क्रम बदल दिया गया है। पिता जो ५१ व ५२ वर्ष के होंगे उनके आने का तो सम्भव है ही। पितामह भी ७४ व ७५ वर्ष की आयु होने से सम्भवतः आएँ, परन्तु इस समय तक जो १०० वर्ष से ऊपर के होंगे उनके आने का संशय ही है। पिता से सम्बन्ध का सामीप्य भी है। जो पिता से सम्बन्ध है, पितामह से उतना नहीं होता और प्रपितामह से यह सम्बन्ध और भी दूर का होता है। सन्तान पर पिता का प्रभाव अधिक पड़ता है, पितामह का इससे कम और प्रपितामह का उससे भी कम, परन्तु फिर भी युवक दम्पती इन सभी को आमन्त्रित करते हैं और उनका भोजनादि के द्वारा मान करते हैं। ४. ये युवक बड़े प्रसन्न होते हैं कि उनके आमन्त्रण को स्वीकार करके **पितरः अक्षन्**=पितरों ने भोजन किया है और **पितरः अमीमदन्त**=पितर प्रसन्न हुए हैं, और **पितरः अतीतृपन्त**=उन पितरों ने तृप्ति का अनुभव किया है। ५. अब प्रसन्न व तृप्त पितरों से ये प्रार्थना करते हैं कि हे **पितरः शुन्धध्वम्**=आप उत्तम उपदेश व प्रेरणाओं से हमारे जीवनों को शुद्ध कीजिए। वस्तुतः पितृश्राद्ध का सर्वमहान् लाभ यही है कि हम अपने उन पितरों से अपने कुलधर्मों व जातिधर्मों का उपदेश ग्रहण करके अपने जीवन में प्रेरणा प्राप्त करते हैं तथा उनके आशीर्वादों से शुभमार्ग पर चलने की शक्ति का अनुभव करते हैं।

भावार्थ—हम पिता-पितामह व प्रपितामहों को वानप्रस्थाश्रमों से समय-समय पर घर में आमन्त्रित करें। उनका अन्नादि द्वारा सत्कार करें। उनसे उपदेश व प्रेरणा लेकर अपने जीवनों को शुद्ध बनाएँ।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सरस्वती**। छन्दः—**भुरिगष्टिः**। स्वरः—**मध्यमः**॥

पवित्र शतायुष्य

पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः।
पवित्रेण शतायुषा। पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः।
पवित्रेण शतायुषा विश्वमायुर्व्यश्नवै॥३७॥

१. गतमन्त्र के अनुसार पितृश्राद्ध करनेवाला प्रार्थना करता है कि **मा**=मुझे **सोम्यासः**=अत्यन्त सौम्य-शान्त स्वभाववाले **पितरः**=ये पिता **पुनन्तु**=पवित्र करें। उनके जीवन की सौम्यता मेरे जीवन को भी सौम्य बनाए। **मा**=मुझे **पितामहाः**=पितामह **पुनन्तु**=पवित्र करें और **प्रपितामहाः**=प्रपितामह भी **पुनन्तु**=मेरे जीवन को पापशून्य बनाएँ। मुझे ये सब **शतायुषा**=सौ वर्ष के जीवन को देनेवाले **पवित्रेण** =जीवन को पवित्र करने के साधनभूत ज्ञान से पवित्र कर दें। २. **शतायुषा पवित्रेण**=सौ वर्ष का आयुष्य देनेवाले पवित्रीकरण के साधनभूत ज्ञान से **मा**=मुझे **पितामहाः**=पितामह **पुनन्तु**=पवित्र करें और **प्रपितामहाः पुनन्तु**=प्रपितामह पवित्र करें, जिससे **विश्वम्**=पूर्ण आयु-जीवन को **व्यश्नवै**=मैं विशेषरूप से प्राप्त करनेवाला बनूँ। मेरा शरीर, मन व मस्तिष्क सभी स्वस्थ हों। यह होगा तभी जब मैं पवित्र बनूँगा, अतः ये पितर मुझे अपने उपदेशों व सौम्य जीवनों की क्रियात्मक प्रेरणाओं से पवित्र कर दें। मेरा जीवन शुद्ध हो और मैं शतायु बनूँ।

भावार्थ—मैं पितरों की प्रेरणाओं से व उनके आचरण से अपने जीवन को शुद्ध बनाऊँ तथा शुद्ध जीवनवाला बनकर पूरे सौ वर्ष तक चलनेवाला बनूँ। 'पवित्रशतायुष्य' ही मेरा ध्येय हो।

ऋषिः—**वैखानसः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

दीर्घायुष्य के तीन साधन

अग्नऽआयूꣳषि पवसऽआ सुवोर्जमिषं च नः। आरे बाधस्व दुच्छुनाम्॥३८॥

१ **अग्ने**=हे परमात्मन्! **आयूँषि**=आयुष्य के पावक कर्मों को ही **पवसे**=(पावयसे चेष्टयसे) हमसे करवाइए। आपकी कृपा व प्रेरणा से हमारे सारे आहार-विहार ऐसे हों जो दीर्घजीवन का कारण बनें। २. इस दीर्घजीवन के लिए ही आप **नः**=हमें **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति को देनेवाले दुग्धादि पदार्थों को तथा **इषम्**=व्रीह्यादि धान्यों को **आसुव**=दीजिए। दीर्घजीवन के लिए हम 'अन्न व रस' का ही सेवन करनेवाले बनें तथा ३. साथ ही आप ऐसी कृपा कीजिए कि **दुच्छुनाम्**=(दुष्टं श्वनं) दुष्ट कुत्तों के समान मनुष्यों को **आरे**=दूर ही **बाधस्व**=नष्ट कीजिए। हमसे इन्हें दूर ही रखिए। यह दुष्टसङ्ग दीर्घजीवन के लिए बड़ा विघ्न होता है। (तैः रहितो हि पुरुषः परमायुः प्राप्नोति—द०) दुष्टसङ्ग से रहित पुरुष ही दीर्घजीवन प्राप्त करता है।

भावार्थ—दीर्घजीवन के लिए आवश्यक है कि १. क्रियाशील बना जाए (पवसे) २. व्रीहि व दधि आदि अन्न-रसों का ही प्रयोग किया जाए ३. दुष्ट-सङ्ग से दूर रहा जाए।

ऋषिः—**वैखानसः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

सत्सङ्ग

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः।
पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा॥३९॥

१. हे प्रभो! **मा**=मुझे **देवजनाः**=देवजन—दिव्य वृत्तिवाले लोग **पुनन्तु**=पवित्र करें। गत-मन्त्र में कहा था कि 'आरे बाधस्व दुच्छुनाम्' दुष्ट कुत्तों के समान मनुष्यों को हमसे दूर ही नष्ट कीजिए। प्रस्तुत मन्त्र में दुःसंग से विपरीत सत्सङ्ग की प्रार्थना से आरम्भ करते हैं कि देव-वृत्तिवाले लोगों के सङ्ग से हमारा जीवन पवित्र बने। २. **मनसा**=विचारपूर्वक किये जानेवाले **धियः**=कर्म **पुनन्तु**=हमारे जीवनों को पवित्र करें। वस्तुतः मनुष्य तो है ही वह जो **मत्वा कर्माणि सीव्यति** विचारपूर्वक कर्म करता है। ऐसे कर्म ही हमारे जीवन को पवित्र करते हैं। अकर्मण्यता सब अपवित्रताओं का कारण है। अविचारपूर्वक किये गये कर्म भी हमारे दुःखों व मानस मालिन्य के कारण बन जाते हैं। ३. **विश्वा भूतानि**='पृथिवी, जल, तेज, वायु व आकाश' नामक सब भूत **पुनन्तु**=हमारे जीवन को पवित्र करें। इनसे सिद्ध होनेवाली पवित्रता मेरे शारीरिक स्वास्थ्य का कारण बनेगी। ४. **जातवेदः**=हे सर्वज्ञ प्रभो! **मा पुनीहि**=आप मेरे जीवन को पवित्र कर दीजिए। हृदयस्थ प्रभु मुझे अपने ज्ञान से दीप्त करके पवित्र कर डालते हैं।

भावार्थ—१. देवजन मुझे पवित्र करें। २. विचारपूर्वक किये गये कर्म मुझे पवित्र करें ३. पृथिवी आदि भूत मुझे पवित्र करें ४. सर्वज्ञ प्रभु मुझे पवित्र करें।

ऋषिः—**वैखानसः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

ज्ञान-शक्ति व कर्मसंकल्प

पवित्रेण पुनीहि मा शुक्रेण देव दीद्यत्। अग्ने क्रत्वा क्रतूँ२॥ऽरनु॥४०॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति पर 'जातवेदः पुनीहि मा' यह प्रार्थना थी। उसी प्रार्थना को दूसरे शब्दों में करते हुए मन्त्र का आरम्भ करते हैं कि **देव**=ज्ञान की ज्योति से दीप्त होनेवाले तथा पवित्र अन्तःकरणों को द्योतित करनेवाले प्रभो! **मा**=मुझे **पवित्रेण**=पवित्रता के सर्वोत्तम साधनभूत ज्ञान से **पुनीहि**=पवित्र कीजिए। मेरा ज्ञान उत्तम होगा तो विचारों की उत्तमता के कारण मेरे उच्चारण व आचरण भी उत्तम होंगे। विचार ही स्थूलरूप धारण करके क्रिया में परिणत हुआ करते हैं। २. हे **दीद्यत्**=तेजस्विता से दीप्त प्रभो! आप मुझे **शुक्रेण**=शीघ्रता से कार्य करने में समर्थ करनेवाली वीर्यशक्ति से **पुनीहि**=पवित्र कीजिए। यह सुरक्षित 'शुक्र' ही तो मेरे मानस को 'शुचि' (पवित्र) बनाएगा। ३. हे **अग्ने**=सारे संसार को गति देनेवाले प्रभो! **क्रतून् अनु**=यज्ञों का लक्ष्य करके **क्रत्वा**=संकल्प व क्रिया से मुझे पवित्र कीजिए। मेरे हृदय में सदा यज्ञात्मक कर्मों का ही संकल्प हो तथा उस संकल्प के अनुसार मैं उन यज्ञों के सम्पादन में प्रवृत्त रहूँ। ये यज्ञ ही उत्तम कर्म हैं। इनमें निरन्तर प्रवृत्त मैं अपने जीवन को अपवित्रता से बचा सकूँगा।

भावार्थ—हे प्रभो! मुझे ज्ञान-शक्ति तथा उत्तम कर्मों के संकल्पों द्वारा पवित्र कीजिए।

ऋषिः—**वैखानसः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

ज्ञान की ज्वाला

यत्ते पवित्रमर्चिष्यग्ने विततमन्तरा। ब्रह्म तेन पुनातु मा॥४१॥

१. 'परमात्मा क्या है?' इस प्रश्न का उत्तर यही है कि वह ज्योतिरूप हैं—मानो वह ज्ञानाग्नि की प्रसृत ज्वालाएँ हैं। उस ज्योतीरूप प्रभु से 'वैखानस' प्रार्थना करता है कि हे **अग्ने**=ज्ञानाग्निरूप प्रभो! **यत्**=जो **पवित्रं ब्रह्म**=सब पवित्रताओं का साधनभूत ज्ञान **ते**=आपके **अर्चिषि अन्तरा**=सत्कार करने योग्य शुद्ध तेजस्वरूप में (अन्तरा=मध्य में) **विततम्**=विस्तृत है, **तेन**=उस उत्तम ज्ञान से **मा पुनातु**=मुझे पवित्र कीजिए। २. जैसे सोना अग्नि में तपकर, मल के भस्म हो जाने से निखर उठता है, उसी प्रकार मैं भी आपकी इस ज्ञानाग्नि की ज्वाला में तपकर पवित्र हो जाऊँ। अग्नि में सब दोषों का दहन हो जाता है। ज्ञानाग्नि के पुञ्ज आपमें पड़कर मेरे भी सब मलों का दहन हो जाए। वस्तुतः ज्ञान वह तेज है जिसके साथ किसी अपवित्रता—पाप व मल का सम्भव ही नहीं। इस ज्ञान से दीप्त होकर मैं भी निर्मल हो जाऊँ।

भावार्थ—ज्ञान मेरे जीवन को उज्ज्वल कर दे।

ऋषिः—**वैखानसः**। देवता—**पवित्रकर्त्ता**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

पवित्रता

पवमानः सोऽअद्य नः पवित्रेण विचर्षणिः। यः पोता स पुनातु मा॥४२॥

१. **सः पवमानः**=वह शोधक सोम **अद्य**=आज **नः**=हमें **पुनातु**=पवित्र करे। हमारे शरीर के रोगों को नष्ट करके हमें स्वास्थ्य की दीप्ति देनेवाला हो। २. **विचर्षणिः**=वह æ'Vk gekjs Ñ rÑ r d kst kuus k i Ek Sins of omissions (अकृत) तथा Sins of commissions (कृत) को देखनेवाला परमात्मा **पवित्रेण**=पवित्र करनेवाले ज्ञान से **मा**=मुझे

पुनातु=पवित्र करे। मुझे वह ज्ञान प्राप्त हो जिसके प्राप्त होने पर मैं पापों से मुक्त हो जाऊँ। ३. **यः पोता**=जो हमारे हृदयों को पूर्ण पवित्र कर देनेवाले प्रभु हैं **सः**=वे वासना को नष्ट करके शुद्धता को उत्पन्न करनेवाले प्रभु **मा**=मुझे **पुनातु**=पूर्ण पवित्र कर दें। प्रभु के नाम का जप व तदर्थभावन मेरे हृदय को वासनाशून्य करनेवाला हो।

भावार्थ—सोम मुझे नीरोग करके स्वास्थ्य की दीप्ति दे। सर्वव्यापक प्रभु के सामीप्य को अनुभव करके मैं पापों से बचूँ। प्रभु नाम-स्मरण मेरी ढाल बन जाए।

ऋषिः—**वैखानसः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

ज्ञान व कर्म

उभाभ्यां देव सवितः पवित्रेण सवेन च। मां पुनीहि विश्वतः॥४३॥

१. हे **देव**=सब दिव्य गुणों के पुञ्ज तथा ज्ञानदीप्त प्रभो! हे **सवितः**=सत्कर्मों में सतत प्रेरित करनेवाले प्रभो! आप **पवित्रेण**=अद्भुत पवित्रता के जनक ज्ञान से तथा **सवेन**=(यज्ञः= सवः) यज्ञात्मक कर्मों से **उभाभ्याम्**=इन ज्ञान व कर्म दोनों से **मा**=मुझे **विश्वतः**=सब ओर से 'शरीर, मन व बुद्धि' सभी से सदा पवित्र करनेवाले हों। ये ज्ञान और कर्म मेरे जीवन को पवित्र करनेवाले हों। मेरा शरीर, मन व मस्तिष्क सभी स्वस्थ हों।

भावार्थ—ज्ञान व कर्म मेरे जीवन को पवित्र करनेवाले हों। मैं पक्षी के समान हूँ तो ज्ञान व कर्म मेरे पंख हों। ये मुझे ऊपर ले-जानेवाले हों।

ऋषिः—**वैखानसः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

वैश्वदेवी-पुनती-देवी

वैश्वदेवी पुनती देव्यागाद्यस्यामिमा बह्व्यस्तन्वो वीतपृष्ठाः।
तया मदन्तः सधमादेषु वयःस्याम पतयो रयीणाम्॥४४॥

१. **वैश्वदेवी**=(विश्वेभ्यः देवेभ्यः आगता—द०) सब देवताओं के लिए प्राप्त होनेवाली अथवा सब देवों का हित करनेवाली 'तच्चक्षुर्देवहितम्'। वह वेदज्ञान जो देवों के लिए हितकर है अथवा देवों में जो निहित होता है। **पुनती**=हम सबको पवित्र करनेवाली, **देवी**=ज्ञान के प्रकाश से युक्त यह वेदवाणी **आगात्**=हमें प्राप्त हो। स्पष्ट है कि यह वेदवाणी (क) देवों के लिए हितकर है, (ख) पवित्र करनेवाली है तथा (ग) ज्ञान के प्रकाश से युक्त है। २. **यस्याम्**=जिस वेदवाणी में **इमाः**=यह **बह्वीः तन्वः**= बहुत-से शरीर, अर्थात् कितने ही धीर पुरुष **वीतपृष्ठाः**=(वीतं कान्तं पृष्ठं येषां) कमनीय स्वरूपवाले हो जाते हैं। इस वेदवाणी के ज्ञानजल में धुलकर चमक उठते हैं अथवा जिस वेदवाणी में **इमाः**=ये **बह्वीः**=बहुत-सी **तन्वः**=(विस्तृतविद्याः—द०) विस्तृत विद्याएँ **वीतपृष्ठाः**=(विविधानि इतानि=विदितानि पृष्ठानि=प्रच्छनानि याभिस्ताः—द०) ज्ञात विविध प्रश्नोंवाली हैं, अर्थात् इस वेदवाणी में नाना विद्याओं का प्रश्नोत्तर रूप से प्रतिपादन हो गया है। ३. **तया**=वेदवाणी से **सधमादेषु**=(सहस्थानेषु—द० यज्ञस्थानेषु—म०) मिलकर एक जगह आनन्दपूर्वक बैठने के स्थानों में **मदन्तः**=आनन्द का अनुभव करते हुए **वयम्**=हम **रयीणाम्**=धनों के **पतयः**=पति **स्याम**=हों। हम धनों के स्वामी बने रहें, यह हमारा स्वामी न बन जाए। धन का हमारे जीवन में गौण स्थान हो।

भावार्थ—वेदवाणी 'वैश्वदेवी पुनती-देवी' है। इसमें स्नान कर शरीर का प्रक्षालन हो जाने से लोग चमक उठते हैं। इकट्ठे होने पर इसी की चर्चा करते हैं। धनों के कभी दास

नहीं बनते हैं।

ऋषिः—**वैखानसः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

यमराज्य में

ये स॒मा॒नाः सम॑नसः पि॒तरो॑ यम॒राज्ये॑।
तेषां॑ लो॒कः स्व॒धा नमो॑ य॒ज्ञो दे॒वेषु॑ कल्पताम्॥४५॥

१. **ये**=जो हमारे **पितरः**=पिता-पितामह-प्रपितामह आदि **समानाः**=सुख-दुःख में समानवृत्तिवाले होते हैं, 'नित्यं च समचित्तकं, इष्टानिष्टोपपत्तिषु'=इष्ट-अनिष्ट प्राप्ति में समचित्त रहते हैं। जो शुभाशुभ को प्राप्त करके न तो हर्ष से फूलते हैं और न ही उदास हो जाते हैं। २. **समनसः**=(समानं मनो विज्ञानं येषां) और समान विज्ञानवाले होते हैं ३. **यमराज्ये**=जो यम के राज्य में निवास करते हैं, अर्थात् जो सदा नियन्त्रित जीवन बिताते हैं। ४. **तेषाम्**=उन्हें **लोकः**=उत्तम लोक व यश की प्राप्ति होती है, **स्वधा**=उन्हें आत्मधारण के लिए पर्याप्त अन्न प्राप्त होता है, **नमः**=उनमें नमन की वृत्ति होती है। ५. उनका **यज्ञः**=सङ्ग **देवेषु**=दिव्य गुणों के उत्पादन में **कल्पताम्**=समर्थ हो। उनके सङ्ग से हममें भी दिव्य गुण उत्पन्न हों।

भावार्थ—१. 'पितर' शब्द से कहलाने योग्य व्यक्ति वे हैं जो (क) समचित्त—स्थितप्रज्ञ हैं। (ख) समान विज्ञानवाले हैं। (ग) नियन्त्रण के संसार में विचरते हैं, अर्थात् व्रती जीवनवाले हैं। २. इन पितरों को (क) उत्तम यश प्राप्त होता है। (ख) धारण के लिए आवश्यक अन्न दुर्लभ नहीं होता। (ग) इनमें नमन की वृत्ति होती है अथवा इन्हें सब नमस्कार करते हैं। ३. इनका सङ्ग हमें भी दिव्य गुणोंवाला बनाए।

ऋषिः—**वैखानसः**। देवता—**श्रीः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

उत्तम पैतृक संस्कार

ये स॒मा॒नाः सम॑नसो जी॒वा जी॒वेषु॑ माम॒काः।
तेषा॒ᳬश्रीर्मयि॑ कल्पताम॒स्मिँल्लो॒के श॒तᳬसमाः॑॥४६॥

१. **ये**=जो **समानाः**=समान वृत्तिवाले—सब सन्तानों के साथ एक-जैसा बर्तनेवाले अथवा 'समानयन्ति' खूब उत्साहित करनेवाले, **जीवाः**=प्राणशक्ति को धारण करनेवाले, **जीवेषु**=जीवित प्राणियों में **मामकाः**=मुझमें ममत्ववाले मेरे पिता-पितामह व प्रपितामह हैं, २. **तेषाम्**=उनकी **श्रीः**=शोभा **मयि**=मुझमें **कल्पताम्**=सिद्ध हो, अर्थात् इनकी सब उत्तमताएँ पैतृक संस्कारों के रूप में मुझे प्राप्त हों। **अस्मिन् लोके**=इस संसार में **शतं समाः**=सौ वर्षपर्यन्त, अर्थात् पूर्ण जीवन में उनकी उत्तमताओं को मैं धारण करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—मुझे उत्तम पैतृक संस्कार प्राप्त हों। जीवित पितरों का जीवन मेरे जीवन के लिए आदर्श बने और मैं अपने जीवन को अधिकाधिक श्रीसम्पन्न बनाऊँ।

ऋषिः—**वैखानसः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

देवयान-पितृयाण

द्वे सृ॒तीऽअ॑शृणवं पितॄ॒णाम॒हं दे॒वाना॑मु॒त मर्त्या॑नाम्।
ताभ्या॑मि॒दं विश्व॒मेज॒त्समे॑ति॒ यद॑न्त॒रा पि॒तरं॑ मा॒तरं॑ च॥४७॥

१. **मर्त्यानाम्**=मनुष्यों के **अहम्**=मैंने **द्वे सृती**=दो मार्ग **अशृणवम्**=सुने हैं। एक तो

पितॄणाम्=पितरों का मार्ग है, यही **पितृयाण** कहलाता है। इसमें मनुष्य उस-उस कामना से युक्त होकर अमुक-अमुक यज्ञ को करता है। उपनिषद् ने इसी मार्ग को **'प्रेयमार्ग'** कहा है। इस मार्ग पर चलते हुए व्यक्ति 'आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, द्रविण व ब्रह्मवर्चस्' आदि सब इष्ट सम्पत्तियों को प्राप्त करते हैं। उनका जीवन बड़ा प्रिय-सा हो जाता है—उन्हें लौकिक सुखों की कमी नहीं होती। २. **उत**=और दूसरा मार्ग **देवानाम्**=देवों का है—उन पुरुषों का है जो देववृत्तिवाले हैं, जो देते हैं, ज्ञान से चमकते हैं औरों को भी ज्ञान देनेवाले होते हैं। उपनिषद् में इनका मार्ग **'श्रेयमार्ग'** है। पितृयाण 'कृष्ण' मार्ग था तो यह देवयान 'शुक्ल' मार्ग है। पितृयाण मार्ग में द्रविण आदि से उस मार्ग को 'कृष्ण' नाम दिया गया है। देवयान मार्ग में बुद्धि अनेकचित्त, विभ्रान्त नहीं होती—बुद्धि समाहित रहती है, अतः यह 'शुक्ल' मार्ग है। ३. **ताभ्याम्** =उन दो मार्गों से ही **इदम्**=यह **एजत्**=गतिशील **विश्वम्**=सम्पूर्ण संसार **यत्**=जोकि **पितरं मातरं च अन्तरा**=('असौ वै पितेयं माता—श० १२।८।१।२१) इस द्युलोक व पृथिवीलोक के मध्य में विद्यमान है, वह **समेति**=सम्यक्तया गति करता है, अर्थात् वे दो ही मार्ग हैं, जिनसे यह सारा संसार चलता है।

भावार्थ—इस संसार में मनुष्यों के लिए दो ही मार्ग हैं। १. ज्ञान की अपरिपक्व अवस्था में 'पितृयाण' है, जिससे आगे चलकर सकाम यज्ञों को करते हुए हम अभ्युदय का साधन करते हैं तथा २. ज्ञान के परिपक्व होने पर मनुष्य 'देवयान' मार्ग से चलता है। इसमें उन्हीं यज्ञों को वे निष्काम होकर कर्त्तव्य बुद्धि से करते हैं और निःश्रेयस को सिद्ध करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**वैखानसः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृदष्टिः**। स्वरः—**मध्यमः**॥

हविः

इदं हविः प्रजननं मेऽअस्तु दशवीरꣳसर्वगणꣳस्वस्तये।
आत्मसनि प्रजासनि पशुसनि लोकसन्यभयसनि।
अग्निः प्रजां बहुलां मे करोत्वन्नं पयो रेतोऽअस्मासु धत्त ॥४८॥

१. गतमन्त्र के पितृयाण व देवयान मार्गों से चलनेवाले लोग सदा यज्ञ करके यज्ञशेष खानेवाले होते हैं। यह यज्ञशेष को खाना ही 'हवि' कहलाता है। 'हु दानादनयोः' अर्थात् दानपूर्वक बचे हुए को खाना। **इदं हविः**=यह दानपूर्वक अदन **मे**=मेरे लिए **प्रजननं अस्तु**=प्रकृष्ट विकासवाला हो। हवि के द्वारा मेरी शक्तियों का उत्तम विकास हो। २. यह हवि **दशवीरम्**=(प्राणा वै दशवीराः प्राणानेवात्मन् धत्ते—श० १२।८।१।२२) मेरे सभी प्राणों का वर्धन करनेवाली हो। ३. **सर्वगणम्**=अङ्गानि वै सर्वे गणा अङ्गान्येवात्मन्धत्ते। —श० १२.८.१.१२) यह हवि मेरे अङ्ग-प्रत्यङ्ग को स्वस्थ बनानेवाली हो। ४. इस प्रकार यह हवि मेरे **स्वस्तये**=उत्तम कल्याण के लिए हो। ५. **आत्मसनि**=यह हवि मुझे आत्मशक्ति सम्पन्न करनेवाली हो। ६. **प्रजासनि**=उत्तम सन्तान देनेवाली हो। ७. **पशुसनि**=ये मेरे लिए उत्तम गवादिक पशुओं को प्राप्त करानेवाली हो। ८. **लोकसनि**=यह मेरे इस लोक को उत्तम बनाये। ९. **अभयसनि**=यह मुझे **अभयपद**=ब्रह्म को प्राप्त करानेवाली हो। १०. मेरी हवि खाने की वृत्ति के कारण **अग्निः**=मेरी उन्नति का साधक प्रभु **मे प्रजाम्**=मेरी सन्तान को **बहुलां करोतु**=प्रवृद्ध व उन्नत—फूला-फला **करोतु**=करे। मेरी सन्तान में भी इस हवि की वृत्ति उत्पन्न हो। मेरी सन्तान भी बहुतों को प्राप्त करानेवाली हो (बहून् लाति)।

११. इस 'हवि' के परिणामस्वरूप ही आप **अस्मासु**=हममें **अन्नं पयः**=अन्न और दूध को **धत्त**=धारण कीजिए और इस अन्न व दूध के द्वारा आप **अस्मासु**=हममें **रेतः**=शक्ति का आधान कीजिए।

भावार्थ—मैं हविवृत्ति बनूँ, देकर बचे हुए को खानेवाला बनूँ। यह हवि मेरा विकास करे—मेरे प्राणों की शक्ति को बढ़ाए, मेरे सब अङ्गों को सबल करे, मेरे लिए कल्याणकर हो, मुझे आत्मिक शक्ति दे, उत्तम प्रजा को प्राप्त कराए, उत्तम पशु-धनवाला बनाए, मेरा लोक उत्तम हो, अर्थात् मैं यशस्वी बनूँ और अन्त में अभयपद प्राप्त करूँ। इस हवि से मेरी प्रजा भी बहुल हो। हवि के परिणामस्वरूप ही मैं अन्न, दूध व इनके द्वारा शक्ति को प्राप्त करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

स्वस्थ, निर्लोभ व सत्यज्ञानवाला

उदीरतामवरऽउत्परासऽउन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः।
असुं यऽईयुरवृकाऽऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥४९॥

१. गतमन्त्र का वैखानस ऋषि हवि के द्वारा सब प्राणों को उत्तम बनाकर **'शंख'**=उत्तम, शान्त इन्द्रियोंवाला बनता है। (शं-ख)। यह प्रार्थना करता है कि **अवरे**=सबसे अर्वाचीन काल में होनेवाले मेरे पिता **उदीरताम्**=मुझे उत्कृष्ट प्रेरणा दें। **उत्**=और **परासः**=सुदूर काल में होनेवाले मेरे प्रपितामह भी **उदीरताम्**=मुझे उत्कृष्ट प्रेरणा देनेवाले हों। **उत्**=और **मध्यमाः**=इन दोनों के मध्य में होनेवाले मेरे पितामह भी **उदीरताम्**=मुझे उत्कृष्ट प्रेरणा प्राप्त कराएँ। २. ये सब **पितरः**=मेरा पालन करनेवाले पिता-पितामह व प्रपितामह, **सोम्यासः**=अत्यन्त सौम्य स्वभाव के हैं, अथवा सोम का सम्पादन करनेवालों में उत्तम हैं। ये अपनी शक्ति का व्यर्थ में अपव्यय नहीं होने देते और इसलिए ३. ये वे हैं **ये**=जो **असुं ईयुः**=प्राणशक्ति को प्राप्त करते हैं। सोमरक्षण से इनकी प्राणशक्ति स्थिर रहती है। इस प्राणशक्ति की स्थिरता से ये स्वस्थ व दीर्घजीवी होते हैं। ४. **अवृकाः**=(वृक आदाने) ये वे हैं जिन्हें धन के आदान का लोभ नहीं है। इस धनलोभ के न होने से ये सब वासनाओं से ऊपर उठे हुए हैं। लोभ ही तो वासनावृक्ष का मूल है। उसके अभाव में इनका जीवन व्यसनों से ऊपर उठा हुआ है। ५. **ऋतज्ञाः**=ये ऋत के ज्ञानवाले हैं, इन्हें सब सत्य ज्ञान प्राप्त है। इनका मस्तिष्क इस सत्यज्ञान से चमक रहा है। ६. **ते पितरः**=वे पितर **नः**=हमें **हवेषु**=जब-जब हम इन्हें पुकारें—आमन्त्रित करें उस-उस पुकारने के समय पर **अवन्तु**=रक्षित करें। उत्तम प्रेरणा प्राप्त कराके ये हमारे जीवनों को सन्मार्ग पर लानेवाले हों।

भावार्थ—पिता-पितामह व प्रपितामह सभी हमें समय-समय पर उत्तम प्रेरणाएँ प्राप्त कराके अपने क्रियात्मक उदाहरण से स्वस्थ, निर्लोभ व सत्यज्ञान-परिपूर्ण बनने के लिए उत्साहित करें।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

सुमति-सौभद्र मन

अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वाऽअथर्वाणो भृगवः सोम्यासः।
तेषां वयꣳसुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥५०॥

१. **नः**=हमारे **पितरः**=पिता-पितामह व प्रपितामह **अंगिरसः**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाले

हैं। बड़े स्वस्थ हैं, पूर्व मन्त्र के शब्दों में प्राणशक्ति-सम्पन्न हैं। २. **नवग्वा**=अतएव नवम दशक तक ९०-१०० साल के आयुष्य तक जानेवाले हैं, अथवा **नवा ग्वा**=नवमी व स्तोतव्य गतिवाले हैं, इनका आचरण अत्यन्त प्रशस्य है। ३. **अथर्वाणः**=(न थर्वतिः=चरतिकर्मा) स्तुतिनिन्दा, लाभालाभ व जीवन-मृत्यु के कारण नीतिमार्ग से कभी भी विचलित होनेवाले नहीं। ४. **भृगवः**=अपने ज्ञान को परिपक्व करनेवाले हैं ५. परिणामतः **सोम्याः**=अत्यन्त सौम्य स्वभाव के हैं। ६. **वयम्**=हम **तेषाम्**=उन **यज्ञियानाम्**=(यज्ञे हिताः) सदा उत्तम कर्मों में लगे हुए पितरों की **सुमतौ**=कल्याणी बुद्धि में **स्याम**=हों। उनकी प्रेरणाएँ व उनका जीवन हमें उत्तम प्रेरणाएँ दे, हमें सद्बुद्धि प्राप्त कराए। **अपि**=और हम सदा **भद्रे**=कल्याणकारक **सौमनसे**=शोभन मनस में, मन की उत्तम स्थिति में **स्याम**=निवास करें। हमारा मन सदा सुप्रसन्न हो। उसमें किसी प्रकार के ईर्ष्या-द्वेषादि मलों का सम्भव न हो तथा हम सदा सभी के कल्याण की कामना करें, हमारा मन अभद्र न हो।

भावार्थ—पितरों की विशेषताएँ ये हैं—वे स्वस्थ हैं (अङ्गिरसः), सदाचारी हैं (नवग्वाः), स्थिरवृत्ति के हैं (अथर्वाणः), सद्ज्ञान से परिपक्व विचारोंवाले हैं (भृगवः) तथा सौम्य (विनीत) हैं। हम सब इन पितरों की सुमति व सौमनस में स्थित हों।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

सात्त्विक भोजन

ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासोऽनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः।
तेभिर्यमः सꣳरराणो हवीꣳष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु॥५१॥

१. **ये**=जो **नः**=हमारे **पूर्वे**=अपना पूरण करनेवाले, हमसे पहले काल में होनेवाले **पितरः**=पिता-पितामह व प्रपितामह हैं जो **सोम्यासः**=अत्यन्त सौम्य स्वभाववाले हैं, और **वसिष्ठाः**=अत्यन्त उत्तम निवासवाले, अधिक-से-अधिक पूर्ण **सोमपीथम्**=सोम के पान को **अनु+उहिरे**=प्रतिदिन धारण करते हैं, २. **तेभिः**=उन पितरों के साथ **संरराणः**=(संप्रियमाणः) प्रीति व आनन्द का अनुभव करता हुआ **यमः**=नियन्त्रित जीवनवाला सन्तान **हवींषि**=दानपूर्वक अदन को, यज्ञशेष को **उशन्**=चाहता हुआ **उशद्भिः**=चाहते हुए पितरों के साथ **प्रतिकामम्**=शरीर की चाहना-आवश्यकता (want) के अनुसार **अत्तु**=खाये। ३. यहाँ भोजन के विषय में निम्न बातें सुव्यक्त हैं—(क) वही भोजन खाना है जिसकी शरीर को आवश्यकता हो (प्रतिकामम्), 'यह मकान मरम्मत चाहता है' इस वाक्य में चाहना की जो भावना है, वही 'प्रतिकाम' शब्द में निहित है। शरीर को जिस भोजनांश की आवश्यकता है वही भोजनांश इसे प्राप्त कराना चाहिए। (ख) भोजन को प्रसन्नतापूर्वक खाना चाहिए (उशन्)। प्रसन्नतापूर्वक खाया गया भोजन ही रुधिरादि उत्तम धातुओं को उत्पन्न करता है, अन्यथा कुछ विष उत्पन्न हो जाते हैं, जो रोगों व अकालमृत्यु के कारण बनते हैं। (ग) हमारा भोजन सदा यज्ञशेष ही हो। देकर बचे हुए को ही खाना है (हवींषि)। अकेला खानेवाला पाप का ही सेवन करता है। (घ) 'यमः' यह कर्तृपद इस बात की सूचना भी देता है कि भोजन वही करना चाहिए जो संयम के अनुकूल हो। उत्तेजक भोजन हमारी वृत्ति को असंयत बनानेवाले हैं, अतः त्याज्य हैं।

भावार्थ—हम भोजन वह करें, जिसकी शरीर को आवश्यकता है। उसे सदा प्रसन्नतापूर्वक ही खाएँ। हमारा भोजन यज्ञशेष हो, हविरूप हो। उत्तेजक भोजनों से हम बचने का प्रयत्न करें। सदा सोम का पान करनेवाले, शक्ति की रक्षा करनेवाले बनें।

ऋषिः—शङ्खः। देवता—पितरः। छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

आचार्य व माता-पिता

त्वꣳसोम प्रचिकितो मनीषा त्वꣳरजिष्ठमनु नेषि पन्थाम्।
तव प्रणीती पितरो नऽइन्दो देवेषु रत्नमभजन्त धीराः॥५२॥

१. हे **सोम**=सौम्यगुणयुक्त आचार्य! शान्तस्वभाव विद्वन्! **त्वम्**=आप **प्रचिकितः**=प्रकृष्ट चेतनावाले हैं, बड़े समझदार व ज्ञानी हैं। २. **त्वम्**=आप **मनीषा**=बुद्धि के द्वारा **रजिष्ठम्**=अत्यन्त ऋजुतम **पन्थाम्** =मार्ग को **अनुनेषि**=हमें अनुकूलता से प्राप्त कराते हैं, बड़ी कुशलता से हमें छल-छिद्र से दूर सरलता के मार्ग पर ले-चलते हैं। ३. **तव प्रणीती**=आपके प्रणयन (guidence) से ही हे **इन्दो**=हे शक्ति व ज्ञान के परमैश्वर्य से सम्पन्न आचार्य! **नः**=हमें **पितरः**=पितर लोग जो **धीराः**=(धीमन्तः—उ०, ध्यानवन्तो वा—द०) बुद्धिमान् व ध्यानवाले हैं, वे **देवेषु**=विद्वानों के सम्पर्कों में **रत्नम् अभजन्त**=रमणीय बातों का भागी बनाते हैं। ३. आचार्य (क) **सोम**=शान्त है, (ख) **इन्दु**=शक्तिशाली व ज्ञान के परमैश्वर्यवाला है (ग) प्रकृष्ट चेतनावाला, बड़ा समझदार व ऊँचे नामवाला है। (घ) बुद्धिपूर्वक सरलतम मार्ग से विद्यार्थियों को उन्नति-पथ पर ले-चलता है। ४. पितर (क) धीर हैं, बुद्धिमान् हैं, ध्यानवाले व धैर्यवाले हैं—बड़े धैर्यपूर्वक सन्तानों के जीवन-निर्माणरूप कार्य में लगे रहते हैं। (ख) आचार्यों के निर्देशों का बड़ा ध्यान करते हैं। आचार्यों को संरक्षकों की सहकारिता प्राप्त होने पर ही सन्तानों का निर्माण हुआ करता है। (ग) ये अपने सन्तानों को सदा दैवीवृत्तिवाले पुरुषों के सम्पर्क में लाने का ध्यान करते हैं और (घ) इस सज्जनसङ्ग से उनमें रमणीय गुणों का आधान कराते हैं।

भावार्थ—आचार्य व पितर मिलकर युवक सन्तानों में रमणीय गुणों का आधान कराएँ।

ऋषिः—शङ्खः। देवता—पितरः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

कर्मशील-विजेता

त्वया हि नः पितरः सोम पूर्वे कर्माणि चक्रुः पवमान धीराः।
वन्वन्नवातः परिधीँ१॥ऽरपोर्णु वीरेभिरश्वैर्मघवा भवा नः॥५३॥

१. हे **सोम**=शान्तात्मन्! आचार्य! **नः**=हमारे **पूर्वे**=हमसे पूर्व काल में होनेवाले **धीराः**=धीमान् व ध्यानवान्, धैर्यशाली **पितरः**=पितर **हि**=निश्चय से **त्वया**=तुझसे, अर्थात् आपके निर्देशों के अनुसार **कर्माणि चक्रुः**=कर्मों को करते थे। हमारे पितर अपने आचार्यों के कहने के अनुसार कर्मों को करनेवाले हुए। हमें भी उसी मार्ग को अपनाकर आचार्य-निर्देशों पर ही चलना चाहिए। २. हे **पवमान**=अपने जीवन को पूर्ण पवित्र करनेवाले आचार्य! **वन्वन्**=वासनाओं का हिंसन करनेवाले (वन्=to injure) अथवा वासनाओं को पराजित करनेवाले (to conquer) आचार्य! **अवातः**=स्वयं सभी उपद्रवों से अहिंसित होता हुआ तू **परिधीन्** =हमारे चारों ओर स्थित हुए-हुए इन काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि शत्रुओं को **अपोर्णु**=हमसे दूर आच्छादित कर। ये शत्रु हम तक पहुँचनेवाले न हों। इन शत्रुओं से बचाकर आप हमें भी अपनी भाँति 'पवमान'=पवित्र व 'वन्वन्' (win) विजेता बनाइए। ३. इन वासनाओं से बचाकर **वीरेभिः अश्वैः**=वीरता से युक्त—शक्तिसम्पन्न इन्द्रियरूप अश्वों से आप **नः**=हमारे लिए **मघवा**=पापशून्य ऐश्वर्यवाले **भव**=होओ। आपकी कृपा से हम इन शक्तिशाली इन्द्रियों के द्वारा (मघ=मख) उत्तमोत्तम यज्ञों को सिद्ध करनेवाले हों।

भावार्थ—१. हम आचार्यों के निर्देशों के अनुसार कर्मों को करनेवाले हों। २. वासनाओं का पराजय करें ३. शक्तिसम्पन्न इन्द्रियों से यज्ञात्मक कर्मों के करनेवाले हों।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

शिक्षा का दृष्टिकोण

त्वꣳसोम पितृभिः संविदानोऽनु द्यावापृथिवीऽआ ततन्थ।
तस्मै तऽइन्दो हविषा विधेम वयꣳस्याम पतयो रयीणाम्॥५४॥

१. हे **सोम**=शान्तात्मन् आचार्य! **त्वम्**=आप **पितृभिः**=मेरे संरक्षकों के साथ **संविदानः**=सम्यक् ऐकमत्यवाले होते हुए—संज्ञानवाले होते हुए **द्यावापृथिवी अनु**=मस्तिष्क व शरीर का लक्ष्य करके **आततन्थ**=मेरी शक्तियों का विस्तार कीजिए। आचार्य व माता-पिता ने परस्पर विचार करके एक मतिवाला होकर विद्यार्थियों के जीवन को उन्नत करने का प्रयत्न करना है। उनके सब प्रयत्नों व कर्मों का लक्ष्य यही हो कि इनके ज्ञान का विकास हो तथा इनके शरीर स्वस्थ बनें। जैसे यह द्युलोक बड़ा उग्र व तेजस्वी है, उसी प्रकार इनके मस्तिष्करूप द्युलोक भी ज्ञान के सूर्य व विज्ञान के नक्षत्रों से देदीप्यमान हों तथा जैसे यह पृथिवी दृढ़ है, इसी प्रकार इनका यह शरीर दृढ़ हो, पत्थर के समान पक्का हो। इनको 'ज्ञान से दीप्त, शरीर से दृढ़' बनाना ही इनका लक्ष्य हो। २. हे **इन्दो**=ज्ञान के परमैश्वर्य-वाले आचार्य! **तस्मै ते**=उस तेरे लिए **हविषा**=दानपूर्वक अदन करते हुए हम **विधेम**=पूजा करनेवाले हों। हमारी इस हविर्वृत्ति से आपका यश चारों ओर फैले। हमारे जीवन की यह वृत्ति आपके यश को फैलानेवाली हो कि इन शिष्यों को अमुक आचार्य ने शिक्षित किया है। ३. आपके शिक्षण का हमारे जीवन में यह परिणाम हो कि **वयम्**=हम **रयीणाम्**=धनों के **पतयः**=स्वामी न कि दास **स्याम**=हों। इस संसार में हम कभी भी धन के दास न बन जाएँ। धन के दास बने और हमारी यज्ञशेष को खाने की वृत्ति नष्ट हुई और इस प्रकार उत्पन्न हुई-हुई स्वार्थपरता हमें धर्मशून्य बना देगी। हमारी धर्मशून्यता आपके भी अपयश का कारण बनेगी।

भावार्थ—आचार्य व माता-पिता का प्रयत्न हमें ज्ञानोज्ज्वल व स्वस्थ-शरीरवाला बनाए। हम स्वार्थ की वृत्ति से ऊपर उठे रहें, कभी धन के दास न बनें।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

बर्हिषद् पितरों का स्वागत

बर्हिषदः पितरऽऊत्यर्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम्।
तऽआ गतावसा शन्तमेनाथा नः शं योररपो दधात॥५५॥

१. **बर्हिषदः**=पवित्र हृदय में स्थित होनेवाले **पितरः**=पितरो! **ऊती**=रक्षण के हेतु से **अर्वाक्**=यहाँ—हमारे समीप **आगता**=आइए। २. **वः**=आपके लिए **इमा हव्या**=इन हव्य पदार्थों को **चकृम**=सिद्ध किया है। **जुषध्वम्**=आप उनका प्रीतिपूर्वक सेवन कीजिए। ३. पिता-पितामह व प्रपितामह जब वानप्रस्थ को जाते हैं तब उनका मुख्य उद्देश्य हृदयों को राग-द्वेषादि मलों से रहित करने का होता है। वे हृदय को वासनाशून्य करने के लिए सतत प्रयत्न में लगे होते हैं। वे हृदय को 'बर्हि' बना रहे होते हैं, जिसमें से वासनाओं का उद्बर्हण कर दिया गया है। ये वानप्रस्थ अब 'शंख'=शान्त इन्द्रियोंवाले बने हैं। ये हमारे कल्याण व रक्षण के लिए समय-समय पर आते हैं और उत्तम प्रेरणाओं के द्वारा हमें

परस्पर कलह से नष्ट हो जाने से बचाते हैं। इनके आने पर हम इनके लिए पवित्र हव्य पदार्थों को तैयार करते हैं और उनसे प्रार्थना करते हैं कि वे प्रीतिपूर्वक उन पदार्थों का सेवन करें। ४. **ते**=वे प्रायः **शन्तमेन**=अत्यन्त शान्ति देनेवाले **अवसा**=रक्षणादि कर्मों के साथ **आगता**=आएँ। आपके आने से हमारे घर का वातावरण अत्यन्त शान्तिवाला बने और हम अपने धनों को वासनाओं के आक्रमण से बचानेवाले हों। ५. **अथ**=अब **नः**=हममें **शंयोः**=(शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम्-यास्क) रोगों के शमन को तथा भयों के यावन-दूरीकरण को **दधात**=धारण कीजिए। वासनाओं से अपने को बचाकर हम नीरोग व निर्भीक हों। शरीर में व्याधि न हो तो मन में आधि न हो। शरीर में (disease) न हो, मन में बेचैनी (uneasiness) न हो। आप हममें **अरपः**=निष्पापता को **दधात**=धारण कीजिए।

भावार्थ—हम समय-समय पर पितरों को आमन्त्रित करें। वे हमारे रक्षण के लिए हमारे समीप आने की कृपा करें। हम उनके लिए पवित्र हव्य पदार्थों को प्राप्त कराएँ। उनकी उत्तम प्रेरणाओं से हमारी व्याधियाँ व आधियाँ दूर हों और हम निष्पाप बनें।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

सुविदत्र पितर

आहं पितॄन्त्सुविदत्राँ२॥ऽअवित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः।
बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्तऽइहागमिष्ठाः॥५६॥

१. **अहम्**=मैं **सुविदत्रान्**=उत्तम ज्ञान से रक्षा करनेवाले **पितॄन्**=पितरों को—ज्ञानदाता आचार्यों को **अवित्सि**=सर्वथा प्राप्त होऊँ, अर्थात् मुझे 'सुविदत्र' आचार्यों का सङ्ग सदा प्राप्त होता रहे। २. उन आचार्यों से मैं **विष्णोः**=उस सर्वव्यापक प्रभु के **नपातं च**=कभी भी नष्ट न होनेवाले, फिर भी **विक्रमणं च**=विविध क्रमणों को—इस वैविध्य से युक्त सृष्टि के क्रम को **आ अवित्सि**=सब प्रकार से समझने का प्रयत्न करूँ। किस प्रकार यह 'सृष्टि-प्रलय' का क्रम अनादिकाल से कभी नष्ट न होता हुआ चलता है। ३. **बर्हिषदः**= वासनाशून्य हृदय में स्थित होनेवाले, अर्थात् जिनका मुख्य लक्ष्य हृदय को वासनाशून्य बनाना है, ये जो **स्वधया**=आत्मज्ञान का धारण करनेवाले, उत्तम सात्त्विक अन्न के साथ **सुतस्य**=अभिषुत-उत्पन्न किये हुए **पित्वः**=(सुगन्धिपानस्य-द०) सुगन्धियुक्त पेय-रस का **भजन्ते**=सेवन करते हैं, अर्थात् जिनका खान-पान अत्यन्त सात्त्विक है, **ते**=वे पितर **इह**=यहाँ हमारे घरों पर **आगमिष्ठाः**=आएँ, हमें उनका सम्पर्क प्राप्त हो।

भावार्थ—हमें उन पितरों का, ज्ञानप्रद आचार्यों का सम्पर्क सदा प्राप्त हो जो हमें इस अविनाशी सृष्टि-प्रलय-चक्र का ज्ञान देनेवाले हों और जिनका खान-पान अत्यन्त सात्त्विक है। उत्तम ज्ञान देकर ये हमारा त्राण करते हैं।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

सोम्य पितर

उपहूताः पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु।
तऽआ गमन्तु तऽइह श्रुवन्त्वधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्॥५७॥

१. **बर्हिष्येषु**=(बर्हिषु उत्तमेषु-द०) हृदयों को वासनाशून्य बनाने में उत्तम **प्रियेषु**=तृप्ति व कान्ति देनेवाले **निधिषु**=ज्ञानकोशों के होने पर **सोम्यासः**=जो अत्यन्त सौम्य स्वभाव के हैं, अर्थात् जिन्हें उत्तम ज्ञान ने अत्यन्त विनीत बनाया है, **वे पितरः**=ज्ञानप्रद आचार्य

उपहूताः=हमसे आमन्त्रित किये गये हैं। २. हमारे 'पिता, पितामह, प्रपितामह' स्वस्थ होकर **'स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात्'** सदा स्वाध्याय में लगे रहे और उन्होंने उस उत्तम ज्ञान को प्राप्त किया जो ज्ञान उन्हें हृदयों को वासनाशून्य बनाने में उत्तम सहायक सिद्ध हुआ। यही ज्ञान उनका प्रियनिधि बना। इस ज्ञान ने उन्हें सौम्य मनोवृत्ति प्रदान की। इन ज्ञानप्रद पितरों को हम समय-समय पर आमन्त्रित करते हैं। ३. आमन्त्रित किये हुए **ते**=वे पितर **आगमन्तु**=आएँ, **ते**=वे **इह**=यहाँ—हमारे घरों पर आकर **श्रुवन्तु**=हमारी समस्याओं को सुनें और **ते**=वे **अधिब्रुवन्तु**=उन समस्याओं को सुलझाने के लिए आधिक्येन उपदेश दें और इस प्रकार **अस्मान् अवन्तु**=हमारी रक्षा करें। हम भी उनसे 'बर्हिष्य प्रियनिधि' को प्राप्त करनेवाले बनें और इस संसार में न उलझते हुए जीवन-यात्रा को पूर्ण कर सकें।

भावार्थ—उत्तम सात्त्विक ज्ञान से हृदयों को निर्वासन बनानेवाले सौम्य पितर हमसे आमन्त्रित होकर यहाँ आएँ और हमें अपने सदुपदेशों से प्रीणित करें।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

अग्निष्वात् पितर

आ यन्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः।
अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्॥५८॥

१. **अग्निष्वात्ताः**=(गृहीताग्निविद्याः—द०) जिन्होंने अग्निविद्या का ग्रहण किया है। यहाँ अग्नि शब्द 'पृथिवी, जल, तेज (अग्नि), वायु व आकाश' इन पञ्चभूतों के मध्य में स्थित हुआ पाँचों भूतों की विद्या का संकेत कर रहा है। एवं, अग्निष्वात्त पितर वे हैं जिन्होंने सब भूतों के विज्ञान का सम्यक् अध्ययन किया है, जीवन को सुन्दर व स्वस्थ बनाने के लिए सब भूतों का विज्ञान आवश्यक ही है। **सोम्यासः**=जो पितर अत्यन्त सौम्य व शान्त स्वभाव के हैं। **पथिभिः देवयानैः**=और अब देवयान मार्गों से जीवन के कार्यक्रम को चला रहे हैं। वे **पितरः**=पितर **नः आयन्तु**=हमारे समीप आमन्त्रित होकर आएँ। २. **अस्मिन् यज्ञे**=अपने इस यज्ञरूप जीवन में **स्वधया**=आत्मज्ञान का धारण करनेवाले सात्त्विक ज्ञान से **मदन्तः**=आनन्द का अनुभव करते हुए **अधिब्रुवन्तु**=हमें खूब उपदेश दें और अपने इन ज्ञानपूर्ण उपदेशों से **अस्मान् अवन्तु**=हमें सुरक्षित करें। उन उपदेशों से हमें ऐसी प्रेरणा प्राप्त हो कि हम अपने जीवनों को वासना से बचानेवाले बनें। वासनाओं से ऊपर उठकर अपने जीवन को नाश से बचा पाएँ।

भावार्थ—पदार्थविज्ञान में निपुण, देवयान-मार्ग से चलनेवाले ज्ञानी आचार्य हमें वह ज्ञान दें जो ज्ञान हमें इस जीवन में वासनाओं से सुरक्षित करे।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

सुप्रणीतयः—उत्तम प्रणयन करनेवाले

अग्निष्वात्ताः पितरऽएह गच्छत सदःसदः सदत सुप्रणीतयः।
अत्ता हवीꣳषि प्रयतानि बर्हिष्यथा रयिꣳसर्ववीरं दधातन॥५९॥

१. हे **अग्निष्वात्ताः**=अग्नि आदि पदार्थों के विज्ञान को सम्यक् ग्रहण करनेवाले **पितरः**=ज्ञानप्रद आचार्यो! **इह आगच्छत**=आप यहाँ—हमारे घरों पर आइए। २. **सदः सदः**=प्रत्येक सभा में **सुप्रणीतयः**=उत्तम प्रणयन नीतिवाले आप **सदत**=अपना स्थान ग्रहण कीजिए। जब-जब हमारी कोई भी सभा हो तब-तब उसमें ये ज्ञानी आचार्य सभापति पद

का आसन ग्रहण करके हमारी उस सभा का सुप्रणयन (सञ्चालन) करें। ३. हमसे **प्रयतानि**=प्रयत्नपूर्वक सिद्ध की हुई अथवा पवित्र **हवींषि**=हव्य—सात्त्विक पदार्थों को **अत्त**=आप खाइए, अर्थात् हम इन आमन्त्रित ज्ञानी आचार्यों के लिए पवित्र सात्त्विक अन्नों को प्राप्त करानेवाले हों। वे इन अन्नों को स्वीकार करें। ४. **अथ**=और अब **बर्हिषि**=हृदय के निर्वासन होने पर **सर्ववीरम्**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में वीरता व शक्ति का आधान करनेवाले **रयिम्**=धन को **दधातन**=हममें धारण कीजिए। ये पितर वस्तुतः इस प्रकार के नीतिमार्ग का उपदेश देते हैं कि उसपर चलते हुए हम हृदय में उत्पन्न होनेवाली वासनाओं के शिकार नहीं होते और इस प्रकार अपने अङ्गो को वीरतापूर्ण बना पाते हैं।

भावार्थ—हम विज्ञान में निपुण पितरों के सदुपदेशों से सुनीति के मार्ग पर चलते हुए वासनाओं को जीतें और अपने प्राणों को सबल बनाएँ।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

प्रकृतिवित् व ब्रह्मवित् (Physics and Mataphysics) का पण्डित

येऽअ॒ग्निष्वा॒त्ता येऽअन॑ग्निष्वात्ता॒ मध्ये॑ दि॒वः स्व॒धया॑ मा॒दय॑न्ते।
तेभ्यः॑ स्व॒राड॑सु॑नीतिमे॒तां य॑थाव॒शं त॒न्वं॑ कल्पयाति॥६०॥

१. **ये**=जो पितर **अग्निष्वात्ताः**=(सम्यग्गृहीताग्निविद्याः) अग्नि आदि भौतिक पदार्थों के विज्ञान को सम्यक् ग्रहण कर चुके हैं तथा **ये**=जो **अनग्निष्वात्ता**=अग्न्यादि से भिन्न—इन अग्न्यादि के भी प्रकाशक ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करनेवाले हैं, अर्थात् अग्निष्वात्त भौतिकी के पण्डित हैं, तो अनग्निष्वात्त सब भूतों से पर ब्रह्मविद्या के वेत्ता हैं, २. जो विद्वान् पिता **दिवः मध्ये**=सदा प्रकाश में विचरण करते हैं और **स्वधया**=आत्मज्ञान के धारण करानेवाले, सात्त्विक अन्न से **मादयन्ते**=हर्ष का अनुभव करते हैं और जिन्हें शुद्ध, सात्त्विक आहार रुचिकर होता है, ३. **तेभ्यः**=उन पितरों के लिए **स्वराट्**=स्वयं देदीप्यमान प्रभु **एताम्**=इस **असुनीतिम्**=प्राणों की नीति को, प्राणशक्ति के वर्धन की योग्यता को **कल्पयाति**=सिद्ध करता है और इस असुनीति के द्वारा **यथावशम्**=इच्छा के अनुसार **तन्वम्**=शरीर को **कल्पयाति**=समर्थ करता है, अर्थात् इन्हें यह इस योग्य बनाता है कि ये जितनी देर चाहें, शरीर को धारण कर सकें। एवं, इन्हें यह असुनीति 'मृत्युञ्जय' बना देती है।

भावार्थ—प्रकृतिविज्ञान व ब्रह्मज्ञान में निपुण ज्ञानी लोग प्रभु से प्राप्त असुनीति=प्राणविद्या को हमें भी प्राप्त कराएँ, जिससे हम अपने जीवनों को तदनुसार चलाते हुए दीर्घ बना पाएँ।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

नाराशंस में सोमपान

अ॒ग्नि॒ष्वा॒त्तानृ॒तुम॑तो हवामहे नाराश॒ꣳसे सो॑मपी॒थं यऽआ॒शुः।
ते नो॒ विप्रा॑सः सु॒हवा॑ भवन्तु व॒यꣳ स्या॑म॒ पत॑यो रयी॒णाम्॥६१॥

१. **अग्निष्वात्तान्**=ग्रहण की है अग्नि आदि पदार्थों की विद्या जिन्होंने उन **ऋतुमतः**=प्रशस्त ऋतुओंवाले, अर्थात् ऋतुओं के अनुसार दिनचर्यावाले पितरों को हम **नाराशंसे**=नरसमूह के लिए आशंसनीय =प्रशस्त धर्मों को करने के निमित्त **हवामहे**=पुकारते हैं। २. हम उन पितरों को पुकारते हैं **ये**=जो **सोमपीथम्** =सोम के पान को **आशुः**=(अश्नन्ति) खाते हैं। सोमपान करनेवाले पितर ही स्वस्थ रहकर नरों के लिए हितकर कार्यों के करनेवाले होते हैं। ३. **ते विप्रासः**=विशेषरूप से अपना पूर्ण करनेवाले पितर **नः**=हमारे लिए **सुहवाः**=सुगमता से

आमन्त्रित करने योग्य **भवन्तु**=हों और इनके उपदेशों को सुनकर तथा इनसे प्रेरणा प्राप्त करके **वयम्**=हम **रयीणाम्**=धनों के **पतयः स्याम**=सदा पति ही बने रहें, हम कभी धन के दास न बन जाएँ। धन को साधन के रूप में देखते हुए हम भी (क) अग्निष्वात्त बनने का प्रयत्न करें—उत्कृष्ट ज्ञानी बनें, पदार्थविद्या का खूब अध्ययन करें। (ख) ऋतुमान बनें, ऋतुओं के अनुकूल हमारी दिनचर्या हो। (ग) नरहित के लिए प्रशंसनीय कर्मों को करनेवाले बनें। (घ) सोमपान से शक्ति की रक्षा का पूरा ध्यान करें।

भावार्थ—हम अग्नि आदि सब पदार्थों के विज्ञान में कुशल बनकर ऋतु के अनुसार भोजनादि क्रियाओं को करते हुए नरहित के प्रशंसनीय कर्मों को करनेवाले बनें। इस नाराशंस के निमित्त सोमपान करें, अर्थात् शरीर में सोम की रक्षा करें।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

यज्ञोपदेश

आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येमं यज्ञमभि गृणीत विश्वे।
मा हिंसिष्ट पितरः केन चिन्नो यद्वऽआगः पुरुषता करामा॥६२॥

१. **आच्याजानु**=घुटनों को परस्पर मिलाकर और **दक्षिणतः निषद्य**=दाहिनी ओर बैठकर **विश्वे**=हे पितरो! आप सब **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ का **अभिगृणीत**=उपदेश दो। २. इन उपदेशों को सुननेवाले युवक सन्तान निवेदन करते हैं कि **पुरुषता**=मनुष्य होने के नाते, अर्थात् अल्पज्ञता के कारण स्खलनशील होने से (To err is human) **वः**=आपके विषय में **यत् आगः**=जो अपराध **कराम**=कर बैठें, उस ऐसे **केनचित्**=किसी अपराध से हे **पितरः**=पितरो! आप **नः**=हमें **मा हिंसिष्ट**=हिंसित मत कीजिए। आपके प्रति व्यवहार में जो कमी-बेशी (अतिरिक्तता व न्यूनता) रह गई हो उसके लिए आप हमें क्षमा करना।

भावार्थ—उपहूत पितर हमसे समादृत होकर हमें उत्तम कर्मों का उपदेश दें और हमारे व्यवहार में अज्ञानवश रह गई कमी को क्षमा करें।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

प्रातःकाल का स्वाध्याय

आसीनासोऽअरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय।
पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्र यच्छत तऽइहोर्जं दधात॥६३॥

१. (क) **अरुणीनाम्**=प्रातःकाल की अरुण किरणों की **उपस्थे**=गोद में **आसीनासः**=बैठे हुए, अर्थात् प्रातः सूर्योदय की प्रथम किरणों को अपने शरीर पर लेते हुए आप **दाशुषे मर्त्याय**=आपके प्रति अपना समर्पण करनेवाले मनुष्य के प्रति **रयिं धत्त**=ज्ञानधन का धारण कीजिए। (ख) **अरुणीनाम्**-(गवाम्-वेदवाचः)-शब्द का अर्थ गौवें व वेदवाणियाँ भी है, अतः अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है कि ज्ञान की वाणियों में स्थित हुए-हुए आप मुझ शरण में आये हुए के लिए ज्ञानधन दीजिए। २. हे **पितरः**=ज्ञान द्वारा रक्षण करनेवाले पितरो! **पुत्रेभ्यः**=हम पुत्रों के लिए **तस्य वस्वः**=इस निवास को उत्तम बनाने के लिए उपयोगी ज्ञानधन का **प्रयच्छत**=दान कीजिए। **ते**=और वे आप **इह**=इस जीवन में हमारे लिए **ऊर्जं दधात**=बल व प्राणशक्ति को धारण करिए। आपसे निवास के लिए उपयोगी ज्ञानधन को प्राप्त करके, तदनुसार आचार विचार करते हुए हम अपने अन्दर ऊर्जा धारण करनेवाले बनें। आपकी भाँति हम भी ज्ञान की किरणों में निवास करनेवाले हों और

ज्ञानवृद्धि के द्वारा जीवन को उत्तम व संयत बनाकर अपने बल को क्षीण न होने दें।

भावार्थ—ज्ञान की किरणों में ही निवास करनेवाले ज्ञानी पितरों से ज्ञान प्राप्त करके हम बल व प्राणशक्ति का धारण करनेवाले बनें।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

देव-विषयक ज्ञान

यमग्ने कव्यवाहन त्वं चिन्मन्यसे रयिम्।
तन्नो गीर्भिः श्रवाय्यं देवत्रा पनया युजम्॥६४॥

१. 'कविषु भवं कव्यम्' क्रन्तदर्शी पुरुषों में होनेवाले ज्ञान को यहाँ 'कव्य' कहा गया है। 'कौति सर्वा विद्याः' जो ज्ञान सब विद्याओं का उपदेश देता है वह, वेदज्ञान ही 'कव्य' है। हे **अग्ने**=ज्ञानाग्नि से दीप्त आचार्य! **कव्यवाहन**=सब विद्याओं के प्रतिपादक वेदज्ञान को धारण करनेवाले आचार्य! **त्वम्**=आप **यम् चित् रयिम्**=जिस भी ज्ञानधन को **मन्यसे**=उत्तम समझते हैं, **तत्**=उस **गीर्भिः**=वेदवाणियों से **श्रवाय्यम्**=सुनने योग्य **देवत्रा**=सब देवों के विषय में दिये गये, अर्थात् जिस ज्ञान में प्रकृति से बने तेतीस देवों का तथा चौंतिसवें महादेव का ज्ञान दिया गया है, उस **युजम्**=अन्त में मुझे उससे युक्त करनेवाले ज्ञान को **पनया**=(देहि) दीजिए। २. आचार्य मुझे वह ज्ञान दें जिस ज्ञान को वे मेरे लिए ठीक समझते हैं। मुझे आचार्य कृपा से वह ज्ञान प्राप्त हो, जो वेदवाणियों में प्रभु की ओर से दिया गया है, जो ज्ञान सब देवों का प्रतिपादन करता है और जिस ज्ञान से मैं अपना सम्बन्ध उस प्रभु से बना पाता हूँ।

भावार्थ—आचार्यों से प्रकृति के सब देवों का ज्ञान प्राप्त करके, इनमें उस प्रभु की महिमा को देखता हुआ मैं उस प्रभु से अपना सम्बन्ध बना पाऊँ।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

कव्य+हव्य

योऽअग्निः कव्यवाहनः पितॄन्यक्षदृतावृधः।
प्रेदु हव्यानि वोचति देवेभ्यश्च पितृभ्यऽआ॥६५॥

१. गत मन्त्र के अनुसार आचार्य से ज्ञान प्राप्त करके विद्यार्थी भी ज्ञानी बना है। '**अग्निनाग्निः समिध्यते**'=ज्ञानाग्नि से दीप्त आचार्य से विद्यार्थी में भी ज्ञानाग्नि समिद्ध की जाती है, आचार्य अग्नि से विद्यार्थी भी अग्नि बना है। आचार्य 'कव्यवाहन' था, विद्यार्थी भी कव्यवाहन बना है। **यः**=जो भी **अग्निः**=ज्ञानाग्नि से दीप्त हुआ **कव्यवाहनः**=सब विद्याओं के प्रतिपादक वेदज्ञान का धारण करनेवाला ज्ञानी सन्तान है, वह **ऋतावृधः**=सत्यज्ञान से वृद्ध अथवा सत्य व उससे बढ़े हुए **पितॄन्**=ज्ञान द्वारा रक्षक इन पितरों का **यक्षत्**=(यज् पूजा) सत्कार करता है, इनके साथ अपना सम्पर्क बनाता है (यज् सङ्गतिकरण), इनके प्रति अपना अर्पण करता है (यज् दान)। २. **इत् उ**=और अब इन **देवेभ्यः**=ज्ञान को देनेवाले अथवा ज्ञान से देदीप्यमान **पितृभ्यः**=ज्ञानप्रद पितरों के प्रति **आ**=आकर (आगत्य) **हव्यानि**=ग्रहण करने योग्य विज्ञानों को **प्रवोचति**=अच्छी प्रकार कहता है, अर्थात् सारा प्राप्त किया ज्ञान उन्हें सुनाता है। मन्त्र २४ में कहा था कि 'प्रत्याश्रवोऽनुरूपः' पढ़े पाठ को फिर से सुना देनेवाला आचार्य के अनुरूप ही बन जाता है। यहाँ वही भावना 'प्रेदु हव्यानि वोचति' से कही है। धारण किया हुआ ज्ञान 'कव्य' था, उसी ज्ञान को सुनाने का प्रसंग आया तो वही ज्ञान 'हव्य' हो गया। आचार्य विद्यार्थी के प्रति 'कव्य' का वहन करता

है। विद्यार्थी 'कव्यवाहन' बनकर इसी ज्ञान का जब आचार्यों के प्रति प्रत्याश्रावण करता है तब 'हव्य' का प्रबन्धन कर रहा होता है।

भावार्थ—हम आचार्यों से **कव्य**=सब सत्यविद्याओं के प्रतिपादक ज्ञान को ग्रहण करें। इसे आचार्यों को सुनाकर सब प्रजाओं में उस ज्ञान को देनेवाले बनें। हमारा 'कव्य' 'हव्य' हो जाए, प्रजाओं में आहुति के योग्य हो जाए।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

उतना ही जितना आवश्यक

त्वम॑ग्नऽईडि॒तः क॑व्यवाह॒नावा॑ड्ढ॒व्यानि॑ सुर॒भीणि॑ कृ॒त्वी।
प्रादाः॑ पि॒तृभ्यः॑ स्व॒धया॒ तेऽअ॑क्षन्न॒द्धि त्वं दे॑व॒ प्रय॑ता ह॒वीᳪषि॑ ॥६६॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब शिष्य आचार्य से सुने हुए पाठ को फिर से सुना देता है तब वह आचार्य के समान ही कव्य का वहन करनेवाला हो जाता है। यह 'कव्यवाहन' कहलाता है, क्रान्तदर्शी पुरुष के ज्ञान को धारण करनेवाला। मन्त्र में इसके लिए कहते हैं, कि हे **अग्ने**=प्रगतिशील व ज्ञान से अग्नि के समान चमकनेवाले! **कव्यवाहन**=क्रान्तदर्शी पुरुष के ज्ञान का वहन करनेवाले! **त्वम्**=तू **ईडितः**=(ईडितं अस्य अस्ति इति) उपासनावाला बनता है। तू उत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त करके प्रभु का उपासक बनता है। २. **हव्यानि**=इन ग्रहण योग्य विज्ञानों को **सुरभीणि कृत्वी**=बड़ा सुगन्धित करके **अवाट्**=तू प्रजाओं में इनका प्राप्त करानेवाला बनता है। इन ज्ञानों का प्रचार तू इस मधुरता से करता है कि चारों ओर सुगन्ध-ही-सुगन्ध फैलती है। ३. तू **पितृभ्यः**=उन ज्ञानप्रद पितरों के लिए **हव्यानि**=उत्तम सेवनीय पदार्थों को **प्रादाः**=देता है, **ते**=वे इन पदार्थों को **स्वधया**=आत्मधारण के दृष्टिकोण से **अक्षन्**=खाते हैं। वे उतना ही भोजन करते हैं, जितना कि शरीरधारण के लिए पर्याप्त हो। ४. हे **देव**=ज्ञान की दीप्तिवाले विद्वन्! **त्वम्**=तू भी **प्रयता**=शुद्ध **हवींषि**=हव्य पदार्थों का ही **अद्धि**=सेवन कर। तू भी सात्त्विक भोजनों को ही कर। 'प्रयता' का अर्थ आचार्य दयानन्द ने 'प्रयत्नेन साधिताभिः' प्रयत्न से प्राप्त पदार्थ किया है, श्रम से कमाये हुए भोजन को ग्रहण करने से ही सात्त्विकता बनी रहती है।

भावार्थ—हम उत्कृष्ट ज्ञान को धारण करें। २. उसे बड़े मिठास के साथ लोगों तक पहुँचाएँ ३. आचार्यों को, पितरों को सात्त्विक अन्न देनेवाले हों। स्वयं भी पवित्र, प्रयत्नार्जित हव्य पदार्थों को ही खाएँ।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

स्वदेश व विदेश के विद्वान्

ये चे॒ह पि॒तरो॒ ये च॒ नेह याँश्च॑ वि॒द्म याँ२॥ऽउ॑ च॒ न प्र॑वि॒द्म।
त्वं वे॑त्थ॒ यति॒ ते जा॑तवेदः स्व॒धाभि॑र्य॒ज्ञᳪसुकृ॑तं जुषस्व॥६७॥

१. **ये**=जो **च**=भी **इह**=यहाँ, इसी स्थान में **पितरः**=ज्ञानप्रद पितर हैं, **ये च इह न**=और जो यहाँ—इस स्थान में रहनेवाले नहीं हैं। उदाहरणार्थ—हम भारत के हैं, तो हमारे दृष्टिकोण से मन्त्रार्थ होगा, 'जो यहाँ भारत में रहनेवाले विद्वान् हैं, और जो यहाँ से बाहर के विद्वान् हैं, अर्थात् विदेश के विद्वान् हैं। २. **यान् च विद्म**=जिनको हम जानते हैं **यान् उ च न प्रविद्म**=और जिनको हम नहीं जानते हैं। ३. हे **जातवेदः**=उत्पन्न ज्ञानवाले विद्वन्! **ते**=वे **यति**=(यतीन् शुचीन्) पवित्र जीवनवाले हैं ऐसा **त्वम्**=तू **वेत्थ**=जानता है, अर्थात् 'इस देश

के हैं या विदेश के हैं' इस बात का कोई महत्त्व नहीं। वे हमारे परिचित हैं या अपरिचित यह बात भी अविचारणीय है। आवश्यक बात तो इतनी ही है कि 'वे पवित्र जीवनवाले हैं या नहीं'। यदि वे पवित्र जीवनवाले हैं तो ज्ञानी विद्वन्! तू **स्वधाभिः**=आत्मधारण के लिए योग्य अन्नों से **सुकृतं यज्ञम्**=सुसम्पादित सत्कार व्यवहार को (देवपूजात्मक यज्ञ को) **जुषस्व**=सेवन कर, अर्थात् उत्तम अन्नादि से तू उनकी सेवा कर।

भावार्थ—हमें विद्वानों का आदर करना चाहिए चाहे वे स्वदेश के हों चाहे विदेश के। चाहे वे हमारे परिचित हों चाहे अपरिचित। इतना जानना पर्याप्त है कि उनका जीवन पवित्र है या नहीं। यदि वे 'यति'—संयत जीवनवाले हैं, तो वे हमारे लिए आदरणीय ही हैं।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

उत्कृष्ट पितर

इदं पितृभ्यो नमोऽअस्त्वद्य ये पूर्वासो यऽउपरासऽईयुः।
ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनꣳसुवृजनासु विक्षु॥६८॥

१. **अद्य**=आज **पितृभ्यः**=ज्ञानप्रद पितरों के लिए **इदं नमः अस्तु**=यह सत्कार व अन्न हो। हम सत्कारपूर्वक उनके लिए सात्त्विक हव्य पदार्थों को प्राप्त कराएँ। २. **ये**=जो पितर **पूर्वासः**=हमसे विद्या व अवस्था में वृद्ध हैं, गुणों के दृष्टिकोण से पूर्वस्थान में स्थित हैं। **उ**=और **ये**=जो **उपरासः**=(उपरमन्ते इति, विषयेभ्य उपरताः) जो सांसारिक विषयों से उपरत हुए हैं। जो (कृतकृत्याः परं ब्रह्म ईयुः—उ०) गृहस्थ के सब कार्यभारों को पूर्ण करके अब ब्रह्मज्ञान में ही मुख्यरूप से **ईयुः**=गति कर रहे हैं। ३. **ये**=जो पितर **पार्थिवे रजसि**=इस पार्थिवलोक में, पृथिवीलोक के मुख्य देवता अग्नि में **आनिषत्ताः**=समन्तात् निषण्ण हैं, सब प्रकार से यज्ञ-यागादि करने में प्रवृत्त हैं। **ये वा**=या जो **नूनम्**=निश्चय से **सुवृजनासु**=(शोभनं वृजनं बलं यासाम्) उत्तम धर्म-(पापवर्जन)-रूप बलवाली **विक्षु**=प्रजाओं में गिने जाते हैं, उन सब पितरों के लिए हम सत्कारपूर्वक अन्न प्राप्त कराएँ।

भावार्थ—हम 'पूर्व' अर्थात् विद्यावयोवृद्ध 'उपर'=विषयों से उपरत 'पार्थिवे रजसि आनिषत्ता'=अग्नि में यज्ञ-यागादि करनेवाले तथा उत्तम धर्मरूप बलवाले पितरों का अन्नादि से सत्कार करनेवाले बनें।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

पर प्राण पितर

अधा यथा नः पितरः परासः प्रत्नासोऽअग्नऽऋतमाशुषाणाः।
शुचीदयन्दीधितिमुक्थशासः क्षामा भिन्दन्तोऽअरुणीरप व्रन्॥६९॥

१. **अध**=अब **यथा**=जैसे **नः**=हमारे **पितरः**=पितर **परासः**=जो उत्कृष्ट हैं—विद्या आदि गुणों से उत्कर्ष को प्राप्त हैं, **प्रत्नासः**=आयुष्य में भी बड़े हैं, **ऋतम् आशुषाणाः**=(यज्ञं व्याप्नुवन्तः) यज्ञादि उत्तमकर्मों में व्याप्त हुए-हुए हैं। **शुचि दीधितिं इत् अयन्**=पवित्र ज्ञान की किरणों को जिन्होंने प्राप्त किया है और **उक्थशासः**=(उक्थानि शंसन्ति) कहने के योग्य ज्ञान-वचनों का शंसन करते हैं। २. **क्षामा भिन्दन्तः**=पार्थिव भोगों का विद्रावण करते हुए (क्षामा=पृथिवी, पार्थिव भोग) **अरुणीः**=अविद्या के अन्धकार की नाशक ज्ञानकिरणों को **अपव्रन्**=आवरणरहित व आवरणरहित करते हैं। हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप ऐसा ही करें। आपकी कृपा से ऐसा ही हो।

भावार्थ—हम उन ज्ञानी पितरों का सम्पर्क प्राप्त करें जो गुणों से उत्कृष्ट हैं, वयोवृद्ध हैं, यज्ञादि कर्मों में व्याप्त जीवनवाले हैं, पवित्र ज्ञान-किरणों को प्राप्त हैं, उक्थों का शंसन करनेवाले, पार्थिव भोगों से ऊपर उठे हुए तथा ज्ञान की किरणों को अनावृत करनेवाले हैं।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

हवि का अदन

उशन्तस्त्वा नि धीमह्युशन्तः समिधीमहि।
उशन्नुशतऽआ वह पितॄन्हविषेऽअत्तवे ॥७०॥

१. गतमन्त्र के अनुसार 'अग्नि' से प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि **उशन्तः**=कामना करते हुए हम **त्वा**=आपको **निधीमहि**=अपने हृदय-मन्दिर में स्थापित करते हैं। जब हमें प्रभु-प्राप्ति की प्रबल कामना होती है, तभी हम अपने हृदयों में प्रभु का स्थापन कर पाते हैं। २. **उशन्तः**=आपकी प्राप्ति की प्रबल कामना करते हुए ही हम **समिधीमहि**=अपनी ज्ञानाग्नि को दीप्त करने के लिए यज्ञ करते हैं। ज्ञानाग्नि के प्रकाश में ही तो आपका दर्शन हो पाएगा। ३. **उशतः**=आपकी प्राप्ति की कामना करते हुए हमें **उशन्**=चाहते हुए आप हमें **पितॄन् आवह**=उन ज्ञानी पितरों को प्राप्त कराइए, जिनके सम्पर्क से हमारे जीवन में सदा **हविषे अत्तवे**=हवि खाने की भावना उत्पन्न हो। हम हवि का ही सेवन करें, सदा दानपूर्वक खानेवाले बनें। वस्तुतः इस हवि से ही प्रभु का भी पूजन होता है।

भावार्थ—हम प्रभु-प्राप्ति की प्रबल कामनावाले हों। प्रभु को हृदयों में धारण करें, इसी उद्देश्य से ज्ञान को समिद्ध करें। ज्ञानप्रद पितरों के सम्पर्क को प्राप्त करके हवि के खाने का पाठ पढ़ें। यह हवि ही हमारा प्रभुपूजन बन जाएगी।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

नमुचि-शिरश्छेदन

अपां फेनेन नमुचेः शिरऽइन्द्रोदवर्तयः। विश्वा यदजय स्पृधः॥७१॥

१. गतमन्त्र के अनुसार पितरों के सम्पर्क में रहकर पुरुष अपने जीवन को यज्ञमय बनाता है। मन्त्र ६९ के अनुसार पितर 'ऋतमाशुषाणाः' सदा यज्ञों में व्याप्त रहनेवाले थे। उनके सम्पर्क में आनेवाला व्यक्ति भी सदा यज्ञात्मक कर्मों में लगता है। यह कर्मरत होने से ही विषयों में लिप्त नहीं होता। इन्द्रियों को जीतकर यह जितेन्द्रिय बनता है, अतः कहते हैं कि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **अपाम**=कर्मों के **फेनेन**=(वर्धनेन—द०) वर्धन से, अपने जीवन को सदा कर्मों में लगाये रखने से **नमुचेः**=नमुचि के, अन्त तक पीछा न छोड़ने वाली (न+मुच) अभिमानवृत्ति के **शिरः उदवर्तयः**=सिर को तूने काट डाला है। कार्यरत पुरुष गर्व से ऊपर उठा रहता है। अभिमान वही करता है जो स्वयं काम न करके औरों को ही काम करने की आज्ञा देता रहता है। २. तू अभिमान को तो जीतता ही है **यत्**=यह वह क्षण होता है जब तू **विश्वाः स्पृधः**=सब शत्रुओं को **अजयः** =जीत लेता है। काम, क्रोध, लोभ आदि सब स्पर्धा करनेवाले शत्रुओं को तू पराजित करनेवाला होता है।

भावार्थ—कर्मों में लगे रहने से मनुष्य आसुरवृत्तियों का शिकार नहीं होता।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

सोम तथा अमरता

सोमो राजामृतꣳसुतऽऋजीषेणाजहान्मृत्युम्।

ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳशुक्रमन्धसऽइन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु॥७२॥

१. गतमन्त्र के अनुसार क्रियाशीलता के द्वारा वासनाओं से ऊपर उठ जाने पर शरीर में सोम सुरक्षित रहता है और यह **सोमः**=सोम **राजा**=(राजृ दीप्तौ) उसके जीवन को दीप्त करनेवाला होता है। २. **अमृतम्**=यह सोम अमृत है। यह अपने रक्षा करनेवाले को अमरता का कारण बनता है, उसे रोगों का शिकार नहीं होने देता। ३. **सुतः**=निष्पादित हुआ-हुआ यह सोम **ऋजीषेण**=(सरलभावेन—द०) जीवन में सरलता के मार्ग से चलने के द्वारा—सरलभाव को अपनाने के द्वारा **मृत्युम्**=मृत्यु को **अजहात्**=छोड़ता है, अर्थात् सोम की रक्षा करनेवाला पुरुष सरलवृत्तिवाला होता है और जीवन में व्यर्थ की चिन्ताओं से रहित होने के कारण वह कभी अकालमृत्यु का ग्रास नहीं होता। सोमरक्षा से जीवन सौम्य व शान्त होता है। शान्त व सरल पुरुष अवश्य पूर्ण आयुष्य प्राप्त करता है। २. **शुक्रं ऋतेन**=यह सोम मानव-जीवन में व्यवस्था (राजा) व नियमितता के द्वारा (ऋत) सत्य का वर्धन करनेवाला होता है, **इन्द्रियम्**=एक-एक इन्द्रिय की शक्ति का वर्धक होता है, **विपानम्**=यह उसकी विशेषरूप से रक्षा करनेवाला होता है। सत्य के वर्धन के द्वारा यह सोम मन को दीप्त करता है, इन्द्रियों की शक्ति के वर्धन से इन्द्रियों को उज्ज्वल बनाता है, और शरीर की रोगों से विशेषरूप से रक्षा करके शरीर को तेजस्वी बनाता है। एवं, शरीर इन्द्रियों व मन को दीप्त करने के कारण इसका 'शुक्रं' यह नाम सार्थक ही है, (शुच दीप्तौ)। ३. **अन्धसः**=अन्न से, अध्यायनीय—अत्यन्त ध्यान देने योग्य सात्त्विक अन्न से उत्पन्न हुआ-हुआ यह सोम **इन्द्रस्य**=जीवात्मा के **इन्द्रियम्**=प्रत्येक अङ्ग की शक्ति का वर्धन करनेवाला होता है। **इदम्**=यह उसका **पयः**=आप्यायन करनेवाला होता है, **अमृतम्**=यह उसे रोगों द्वारा मृत्यु का शिकार नहीं होने देता। **मधु**=यह उसके जीवन को अत्यन्त मधुर बना देता है।

भावार्थ—सोम की रक्षा करनेवाला व्यक्ति सरल वृत्ति व स्वभाव का बनता है। इसके जीवन में व्यर्थ की चिन्ताएँ उत्पन्न नहीं होतीं, इसीलिए यह दीर्घजीवी बनता है। इसके जीवन में सत्य तथा माधुर्य होता है।

सूचना—'ऋतेन' का अर्थ 'यज्ञ से' भी है। यह सोम हममें यज्ञिय वृत्ति को उत्पन्न करके हमें सत्यवृत्तिवाला बनाता है, हमारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग की शक्ति को बढ़ाता है। यज्ञ के अभाव में ही विलासमय जीवन बनकर शक्ति का ह्रास होता है।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**अङ्गिरसः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

क्रुङ् (Swan) का क्षीरपान

अद्भ्यः क्षीरं व्यपिबत् क्रुङ्ङाङ्गिरसो धिया।
ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳशुक्रमन्धसऽइन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु॥७३॥

१. **क्रुङ्**=क्रौञ्चपक्षी (Swan)—जैसे हंसजाति का यह क्रौञ्चपक्षी **अद्भ्यः**=जलों से **क्षीरम्**=दूध को **व्यपिबत्**=विशेषरूप से पी लेता है, उसी प्रकार **अंगिरसः**=अपने एक-एक अङ्ग को रसमय बनानेवाला विद्वान् **धिया**=ज्ञानपूर्वक किये गये कर्मों के द्वारा (धी=कर्म तथा प्रज्ञा) **अद्भ्यः क्षीरम्**=(आपो रेतो भूत्वा) जलों से उत्पन्न सारभूत सोम को (क्षि निवासगत्योः), शरीर में उत्तम निवास व गति, अर्थात् क्रियाशीलता के कारणभूत सोम को **व्यपिबत्**=अपने अन्दर ही पीने का प्रयत्न करता है। सोमरक्षा का सरलतम साधन प्रज्ञापूर्वक कर्मों में लगे रहना ही है। अकर्मण्यता हमें ग़लत मार्ग की ओर ले-जाती है। इस अकर्मण्यता से हममें वासनाएँ जागती हैं और सोमपान सम्भव नहीं रहता। २. **ऋतेन**=यह सोम यज्ञ व नियमितता के द्वारा **सत्यं इन्द्रियं विपानम्**=हमारे सत्य को विकसित करता

है, इन्द्रिय-शक्तियों को बढ़ाता है और रोगों से रक्षा करता है। ३. यह **शुक्रम्**=हमारे जीवन को उज्ज्वल बनाता है। ४. **अन्धसः**=अन्न से उत्पन्न हुआ-हुआ यह सोम **इन्द्रस्य**=सब अङ्गों की शक्ति का वर्धक होता है। ५. **इदम्**=यह शुक्र (सोम) उसका **पयः**=आप्यायन करनेवाला **अमृतम्**=उसे अकाल में न मरने देनेवाला तथा **मधु**=उसके जीवन को मधुर बनानेवाला है।

भावार्थ—हम प्रज्ञापूर्वक कर्मों में लगे रहने के द्वारा सोम का शरीर में रक्षण करनेवाले बनें।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

शुचिषत् हंस

सोम॑म॒द्भ्यो व्य॑पिब॒च्छन्द॑सा ह॒ꣳसः शु॑चि॒षत्।
ऋ॒तेन॑ स॒त्यमि॑न्द्रि॒यं वि॒पान॑ꣳशु॒क्रमन्ध॑स॒ऽ इन्द्र॑स्येन्द्रि॒यमि॒दं पयो॒ऽमृतं॒ मधु॑॥७४॥

१. **शुचिषत्**=(पवित्रेषु विद्वत्सु सीदति— द०) पवित्र जीवनवाले विद्वानों के सम्पर्क में रहनेवाला, उन्हीं के सङ्ग में बैठने-उठनेवाला **हंसः**=(हन्ति पाप्मानम्) सत्सङ्ग द्वारा पापों को नष्ट करनेवाला यह 'शंख' (ऋषि) **अद्भ्यः**=(आपः प्राणाः) प्राणसाधना के द्वारा तथा **छन्दसा**=वेदज्ञान द्वारा, सतत अध्ययन की वृत्ति के द्वारा, जो वृत्ति उसे पापों से बचाती है (छादयति) उस स्वाध्याय की वृत्ति के द्वारा **सोमम्**=सोम को **व्यपिबत्**=विशेषरूप से शरीर में ही पीने का प्रयत्न करता है। २. यह सोम **ऋतेन**=यज्ञ व नियमितता से **सत्यं इन्द्रियं विपानम्**=सत्य का वर्धन करता है, अङ्गों की शक्ति को बढ़ाता है, शरीर को विशेषरूप से रोगों से बचाता है। ३. **शुक्रम्**=यह जीवन को उज्ज्वल व क्रियाशील (शुच् दीप्तौ, या शुक् गतौ) बनाता है। ४. **अन्धसः**=अन्न से उत्पन्न हुआ-हुआ यह सोम **इन्द्रस्य**=जीवात्मा के **इन्द्रियम्**=सब अङ्गों की शक्ति को बढ़ानेवाला होता है। ५. **इदं पयः**=यह आप्यायन करनेवाला होता है, **अमृतम्**=असमय में न मरने देनेवाला होता है तथा **मधु**=उसके जीवन को मधुर बनाता है।

भावार्थ—शरीर में सोम की रक्षा के लिए हम सत्सङ्ग के द्वारा आसुरवृत्ति को नष्ट करें। प्राणसाधना करें तथा ज्ञान की रुचिवाले हों।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**प्रजापतिः**। छन्दः—**भुरिगतिजगती**। स्वरः—**निषादः**॥

प्रजापति का सोमपान

अन्ना॑त्परि॒स्रुतो॒ रसं॒ ब्रह्म॑णा॒ व्य॑पिबत् क्ष॒त्रं पयः॒ सोमं॑ प्र॒जाप॑तिः।
ऋ॒तेन॑ स॒त्यमि॑न्द्रि॒यं वि॒पान॑ꣳशु॒क्रमन्ध॑स॒ऽइन्द्र॑स्येन्द्रि॒यमि॒दं पयो॒ऽमृतं॒ मधु॑॥७५॥

१. **परिस्रुतः**=(सर्वतः स्रुतः पक्वात्—द०) सब प्रकार से परिपक्व **अन्नात्**=(यवादेः—द०) जौ आदि अन्नों से **सोमं रसम्**=उत्पन्न सारभूत इस सोमरस को—वीर्यशक्ति को **प्रजापतिः**=प्रजा का रक्षक राजा **ब्रह्मणा**=ज्ञान के द्वारा अथवा ब्रह्म के ध्यान के द्वारा **व्यपिबत्**=विशेषरूप से पान करता है। स्वाध्याय व ब्रह्मध्यान सोमरक्षण में सहायक होते हैं। २. यह शरीर में ही पिया हुआ—व्याप्त किया हुआ सोम **क्षत्रम्**=सब क्षतों व घावों से बचानेवाला होता है, अथवा यह (क्षत्रं=बल) बल का देनेवाला होता है और **पयः**=आप्यायन व वर्धन करनेवाला होता है। ३. **ऋतेन**=यज्ञ व नियमितता के द्वारा यह सोम **सत्यम् इन्द्रियं विपानम्**=सत्य का वर्धन करता हैं, इन्द्रियों की शक्ति को बढ़ाता है और विशेषरूप से रोगों से रक्षा करता है।

४. **शुक्रम्**=यह जीवन को उज्ज्वल (शुच् दीप्तौ) व क्रियाशील (शुक् गतौ) बनाता है। ५. **अन्धसः**=सात्त्विक अन्न से उत्पन्न हुआ-हुआ यह सोम **इन्द्रस्य**=जीवात्मा की **इन्द्रियम्**= इन्द्रिय-शक्तियों को बढ़ानेवाला होता है **इदं पयः**=यह आप्यायन करता है, **अमृतम्**=यह असमय के रोगों से मरने नहीं देता और **मधु**=जीवन को मधुर बनाता है।

भावार्थ—प्रजा का रक्षक राजा परिपक्व अन्नों का सेवन करता हुआ उत्पन्न सारभूत सोम का शरीर में पान करता है, तभी यह प्रजाओं को क्षतों से बचानेवाला व प्रजाओं का वर्धन करनेवाला होता है। **ब्रह्मचर्येण राजा राष्ट्रं विरक्षति**=ब्रह्मचर्य से ही राजा राष्ट्र की उत्तम रक्षा करता है।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिगतिशक्वरी**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

रेतः मूत्रं (प्रजापति की राष्ट्र को दो भेंटें)

रेतो मूत्रं वि जहाति योनिं प्रविशदिन्द्रियम्। गर्भो जरायुणावृतऽउल्बं जहाति जन्मना। ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानःशुक्रमन्धसऽइन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु॥७६॥

१. गतमन्त्र में प्रजापति के सोमपान का उल्लेख है। यह प्रजा का रक्षक राजा परिपक्व अन्नों के सेवन से उत्पन्न सोम को शरीर में ही व्याप्त करने का प्रयत्न करता है। यह राजा इस सोमपान से शक्ति का पुञ्ज बनने का प्रयत्न करता है। यह **इन्द्रियम्**=एक-एक इन्द्रिय की शक्ति से युक्त राजा (इन्द्रियं=राजा—'जयदेव') **योनिं प्रविशत्**=अपने आश्रयभूत राष्ट्र में प्रवेश करता हुआ अथवा चुनाव द्वारा राजा को जन्म देनेवाली अतएव राजा की योनिभूत प्रजा में प्रवेश करता हुआ, उस प्रजा में **रेतः**=शक्ति को **विजहाति**=(विहायितम्=दान) भेंट के रूप में देता है—प्रजा में शक्ति का स्थापन करता है। इस शक्तिस्थापन के साथ **मूत्रम्**= (मूत्र-स्राव to go, to move) एक विशिष्ट गति को, क्रियाशीलता को प्रजा में स्थापित करता है। प्रजा राजाओं को चुनाव द्वारा जन्म देती है। एवं, प्रजा राजा की योनि हैं। चुना जाकर राजा प्रजा में प्रवेश करता है (योनि-प्रवेश) तो प्रजा को शक्ति व गति की भेंट देता है, अर्थात् राष्ट्र की व्यवस्था इस प्रकार करता है कि प्रजा की शक्ति बढ़े और प्रजा में क्रियाशीलता की भावना उत्पन्न हो। इस शक्ति व क्रियाशीलता को उत्पन्न करनेवाला राजा स्वयं शक्ति का पुञ्ज (इन्द्रिय) बनता है। २. यह राजा **गर्भः**=(गृह्णाति) प्रजा को वश करने में (ग्रहण करने में—उसपर अनुग्रह व निग्रह में) समर्थ होता है तथा प्रजा को अपने में धारण करनेवाला होता है। ३. यह राजा **जरायुणा**=(जारयति) शत्रु को क्षीण करनेवाले तथा राष्ट्र में पापों को जीर्ण करनेवाले बल से **आवृतः**=आच्छादित होता है, अर्थात् यह उस शक्ति को धारण करता है, जिसके द्वारा यह राष्ट्र के अन्तः व बाह्य शत्रुओं को समाप्त कर पाता है। ४. **जन्मना**=(जनी प्रादुर्भवे) राष्ट्र की शक्तियों के विकास के द्वारा यह **उल्वं**=(ऊर्णोतेः—नि० ६।३५) आवरणों को—प्रगति में आनेवाले बाधक विघ्नों को **जहाति**=दूर करता है (हा, Remove) अथवा **उल्बम्**=राष्ट्र पर आनेवाली आपत्तियों (calamity) का निवारण करता है। ५. यह राजा सोम का पान करता है वह पीत सोम **ऋतेन**=यज्ञियवृत्ति के द्वारा **सत्यम् इन्द्रियम् विपानम्**=इसके अन्दर सत्य को बढ़ाता है, शक्तिवर्धक होता है और इसकी विशेषरूप से रक्षा करता है। ६. **शुक्रम्**=इसके जीवन को यह उज्ज्वल व क्रियाशील बनाता है। ७. **अन्धसः**=अन्न से उत्पन्न यह सोम **इन्द्रस्य**=जीवात्मा का, इस राजा का **इन्द्रियम्**=शक्तिवर्धक होता है। **इदम्**=यह **पयः**=आप्यायन व वर्धन करनेवाला, **अमृतम्**=इसे रोगों से न मरने देनेवाला तथा **मधु**=इसके जीवन को मधुर बनानेवाला होता है।

भावार्थ—चुना जाने पर राष्ट्र के सिंहासन पर बैठता हुआ राजा प्रजा में शक्ति व गति का आधान करता है। प्रजा को वश में रखता हुआ यह शत्रुशोषक शक्ति से युक्त होता है। विकास के द्वारा राष्ट्र की उन्नति के आवरणों को दूर करता है। राष्ट्र पर आनेवाली आपत्तियों से राष्ट्र को बचाता है।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**प्रजापतिः**। छन्दः—**अतिशक्वरी**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

न्याय

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धाꣳसत्ये प्रजापतिः।
ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳशुक्रमन्धसऽइन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु॥७७॥

१. **प्रजापतिः**=गतमन्त्र के अनुसार राजा पहला कार्य यह करता है कि राष्ट्र को सबल व क्रियाशील बनाकर सुरक्षित करता है। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि राष्ट्र में विवाद करते हुए पुरुषों का वह उचित न्याय करता है। यह राजा **रूपे दृष्ट्वा**=दोनों पक्षों से निरूपण की गई बातों को सम्यक् देखकर उन बातों की प्रबलता व निर्बलता को तोलकर **सत्यानृते**=सत्य और अनृत को **व्याकरोत्**=पृथक्-पृथक् स्थापित करता है। 'यह पक्ष सत्य है' और 'यह पक्ष असत्य है' इस प्रकार दोनों का स्पष्ट विवेचन कर देता है। २. **प्रजापतिः**=प्रजा का रक्षक राजा प्रयत्न करता है कि वह प्रजा के अन्दर **अनृते अश्रद्धाम्**=अनृत में, झूठ में अश्रद्धा को, अनास्था व अरुचि को तथा **सत्ये श्रद्धाम्**=सत्य में श्रद्धा को **अदधात्**=स्थापित कर सके। चूँकि यह सत्य के प्रति श्रद्धा व अनृत के विषय में अश्रद्धा ही प्रजा के नैतिक स्तर को ऊँचा करनेवाली होती है। ३. यह राजा अपने इस सत्कार्य को इसीलिए कर पाता है कि सुरक्षित सोम **ऋतेन**=यज्ञियवृत्ति के द्वारा **सत्यं इन्द्रियं विपानम्**=इसे सत्यनिष्ठ, शक्तिशाली व रोगों से अनाक्रान्त बनाता है। **शुक्रम्**=यह सोम इसके जीवन को शुचि व (शुक् गतौ) क्रियाशील बनाता है। ४. **अन्धसः**=अन्न से उत्पन्न यह सोम **इन्द्रस्य**=राष्ट्र के शत्रुओं के विदारक राजा का **इन्द्रियम्**=शक्तिवर्धक होता है। **इदम्**=यह **पयः अमृतं मधु**=इसका आप्यायन करता है, इसे रोगों से मरने नहीं देता और इसके जीवन को मधुर बनाता है।

भावार्थ—राजा राष्ट्र में सत्यासत्य का ठीक विवेचन करनेवाला होता है तथा प्रजा में सत्य के प्रति श्रद्धा व अनृत के प्रति अश्रद्धा को उत्पन्न करने के लिए यत्नशील होता है।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**प्रजापतिः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

विधि-निषेध

वेदेन रूपे व्यपिबत्सुतासुतौ प्रजापतिः।
ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳशुक्रमन्धसऽइन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु॥७८॥

१. **प्रजापतिः**=यह राजा **वेदेन**=(ईश्वरप्रकाशितेन वेदचतुष्टयेन—द०) वेद से, ईश्वर से दिये गये ज्ञान से **रूपे**=सत्य व अनृत के रूप को **व्यपिबत्**=विशेष रूप से ग्रहण करे। २. इस बात को सम्यक् समझे कि **सुतासुतौ**=(प्रेरिताप्रेरितौ—द०) किस बात की वेद में विधि व प्रेरणा है तथा किस बात का निषेध है, विधि-निषेधात्मक वेदवाक्यों से वह धर्माधर्म को सम्यक् जाने। स्वयं धर्माधर्म को जानता हुआ ही वह प्रजा में धर्म की स्थापना तथा अधर्म का नाश कर सकता है। ३. यह ज्ञान उसे तभी होता है जब शरीर में व्याप्त

किया हुआ सोम **ऋतेन**=यज्ञियवृत्ति से **सत्यम् इन्द्रियं विपानम्**=उसे सत्ययुक्त करता है, शक्तिशाली बनाता है और उसकी रोगों से रक्षा करता है। ४. **शुक्रम्**=यह सोम उसे उज्ज्वल व क्रियाशील बनाता है। ५. **अन्धसः** =अन्न से उत्पन्न हुआ यह सोम **इन्द्रस्य**=इस ज्ञान व ऐश्वर्य-सम्पन्न राजा का **इन्द्रियम्**=बल बनता है। **इदम्** =यह उसे **पयः अमृतं मधु**=आप्यायित करता है, नीरोग करता है तथा मधुर बनाता है।

भावार्थ—राजा सत्यासत्य के स्वरूप को ठीक समझनेवाला हो। वह वेद के विधि-निषेधात्मक वाक्यों से धर्माधर्म का ज्ञान प्राप्त करे।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**प्रजापतिः**। छन्दः—**भुरिगतिजगती**। स्वरः—**निषादः**॥

परिपक्व अन्न का रस

दृष्ट्वा परिस्रुतो रसꣳशुक्रेण शुक्रं व्यपिबत् पयः सोमं प्रजापतिः।
ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳशुक्रमन्धसऽइन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु॥७९॥

१. गतमन्त्र में वेद से सत्यानृत के रूप को व विधि-निषेध को देखने का उल्लेख था। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **प्रजापतिः**=राजा **दृष्ट्वा**=वेद के विधि-निषेध को देखकर, उसके अनुसार **परिस्रुतः**=परिपक्व अन्न से **रसम्**=रस को **व्यपिबत्**=पीता है, इसी परिपक्व अन्न के रस से उत्पन्न **शुक्रम्**=वीर्य को **शुक्रेण**=(शुच् दीप्तौ) उज्ज्वलता के हेतु से अथवा (शुक् गतौ) क्रियाशीलता के उद्देश्य से **व्यपिबत्**=अपने शरीर में पीता है, अर्थात् उसे शरीर में ही व्याप्त करने का प्रयत्न करता है। २. यह शरीर में सुरक्षित सोम **पयः**=उसका आप्यायन व वर्धन करनेवाला होता है तथा **सोमम्**=उसे सौम्य व शान्त बनानेवाला होता है। ३. **ऋतेन**=यज्ञ व नियमितता के द्वारा यह सोम **सत्यम्**=उसे सत्यवृत्तिवाला बनाता है **इन्द्रियम्**=उसकी एक-एक इन्द्रिय को शक्तिसम्पन्न करता है, **विपानम्**=उसका विशेषरूप से रक्षण करता है, उसे रोगों से बचाता है। ४. **शुक्रम्**=यह उसे दीप्त करता है, उसे क्रियाशील बनाता है। ५. **अन्धसः**=अन्न से उत्पन्न हुआ यह सोम **इन्द्रस्य**=उस जितेन्द्रिय पुरुष की **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों की शक्ति को बढ़ानेवाला होता है। **इदम्**=यह **पयः**=उसका वर्धन करता है। **अमृतम्**=उसे रोगों से मरने नहीं देता, **मधु**=उसके जीवन को मधुर बनाता है।

भावार्थ—परिपक्व अन्न के रसों से उत्पन्न वीर्य मनुष्य-शरीर में सुरक्षित होकर उसका आप्यायन करनेवाला होता है और उसे शान्त बनाता है।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

कुटीर उद्योग (Cottage Industry)

सीसेन तन्त्रं मनसा मनीषिणऽऊर्णासूत्रेण कवयो वयन्ति।
अश्विना यज्ञꣳसविता सरस्वतीन्द्रस्य रूपं वरुणो भिषज्यन्॥८०॥

१. गतमन्त्रों में राजा के राष्ट्र को सुरक्षित करने, उसमें न्याय-व्यवस्था को ठीक रखने का उल्लेख हो चुका है। प्रस्तुत मन्त्र में आर्थिक स्थिति का विचार करते हुए कहते हैं कि राष्ट्र में राजा 'कुटीर उद्योग' को प्रिय बनाने का प्रयत्न करे। 'तन्त्रं' के यहाँ दो अर्थ अपेक्षित हैं—(क) परिवार का पालन (Supporting of a family) तथा (ख) Loom खड्डी (वस्त्र-निर्माणयन्त्र)। यहाँ खड्डी अन्य छोटे-छोटे यन्त्रों का भी प्रतीक है। २. राजा ऐसी व्यवस्था करता है कि **मनीषिणः**=विद्वान् पुरुष **मनसा**=विचारपूर्वक **सीसेन**=सीसे

आदि धातुओं से **तन्त्रम्**=छोटे-छोटे यन्त्रों को बनाते हैं, जिन यन्त्रों के द्वारा कार्य करते हुए वे मनीषी लोग इतना धन अवश्य कमा लेते हैं कि वे अपने परिवार का पालन कर सकें। ३. ये **कवयः**=क्रान्तदर्शी लोग **ऊर्णासूत्रेण** =ऊन के सूत्रों से **वयन्ति**=आवश्यक वस्त्रादि बुनते हैं। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि ये विद्वान् स्वयं बुनते हैं, औरों से बुनवाते नहीं। इससे श्रम का महत्त्व बढ़ता है—दासप्रथा की हीनभावना उत्पन्न नहीं होती, धन की अत्यधिक विषमता भी नहीं होती। ४. इस प्रकार स्वयं अपने हाथ से कार्य करते हुए इन **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय, ज्ञानी पुरुषों के **यज्ञम्**=जीवन-यज्ञ को **अश्विना**=प्राणापान **सविता**=निर्माण की देवता तथा **सरस्वती**=विद्या की अधिदेवता **वयन्ति**=संहत करते है, बनाते हैं। प्राणापान इन्हें आलसी नहीं होने देते, सविता व निर्माण इन्हें आवश्यकताओं की पूर्ति में कभी-अभाव का अनुभव नहीं कराता तथा सरस्वती इनके जीवन में उलझनों को नहीं आने देती। ५. **भिषज्यन्**=चिकित्सा करता हुआ **वरुणः**=वरुणदेव-द्वेषनिवारण **रूपम्**=इस इन्द्र के रूप को सुन्दर बनाता है। इसे रोगी नहीं होने देता और स्वास्थ्य व सौन्दर्य को प्राप्त कराता है। वस्तुतः ईर्ष्या-द्वेष की वृत्तियाँ ही रोगों को पैदा करके मनुष्य को अस्वस्थ करती हैं और उसके रूप को हर लेती हैं।

भावार्थ—१. राजा राष्ट्र में कुटीर उद्योग की इस प्रकार व्यवस्था करे कि लोगों के जीवन में आर्थिक समस्याएँ उत्पन्न न हों। २. जीवनयज्ञ के उत्तम सञ्चालन के लिए प्राणापान की शक्ति का वर्धन हो, निर्माण की वृत्ति हो तथा विज्ञान की वृद्धि हो। ३. ईर्ष्या, द्वेष, मात्सर्य आदि के अभाव से सभी नीरोग व सुरूप हों।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**वरुणः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

यव, चावल, लाजा

तद॑स्य रू॒पम॒मृत॒ꣳशची॑भिस्ति॒स्रो द॑धुर्दे॒वताः॒ सꣳर॒रा॒णाः।
लोमा॑नि॒ शष्पै॑र्बहु॒धा न तोक्म॑भि॒स्त्वग॑स्य मा॒ꣳसम॑भव॒न्न ला॒जाः॥८१॥

१. गतमन्त्र के अनुसार वरुण देवता, अर्थात् ईर्ष्या, द्वेष आदि का नितान्त अभाव मनुष्य को स्वास्थ्य का सौन्दर्य—उत्तम रूप प्राप्त कराता है। **अस्य**=इसका **तत् रूपम्**=वह स्वास्थ्यजनित सौन्दर्य **शचीभिः**=कर्मजनित शक्तियों व प्रज्ञानों से **अमृतम्**=न नष्ट होनेवाला होता है। ईर्ष्या से ऊपर उठकर यह प्रज्ञापूर्वक कार्यों में लगा रहता है। यह कर्मों में लगे रहना उसमें किसी प्रकार के हीनभाव उत्पन्न नहीं होने देता। २. **तिस्रः देवताः**=इसके जीवन में द्युलोक का सूर्य, अन्तरिक्ष का चन्द्र तथा पृथिवी की अग्नि, अध्यात्म दृष्टिकोण से मस्तिष्क का ज्ञान, हृदयान्तरिक्ष का प्रसाद (प्रसन्नता) तथा शरीर की उष्णता शक्ति की गर्मी—ये तीनों देव **संरराणा**=सम्यक् रमण करते हुए **संदधुः**=उत्तम रूप की स्थापना करते हैं। ३. इसके जीवन में **शष्पैः**=घास भोजन से **लोमानि अभवन्**=शरीर में लोम उत्पन्न होते हैं। 'ओषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा—ऐतरेय'। ४. **न** और (अध्यायसमाप्तिपर्यन्तं सर्वे नकाराश्चकारार्थाः) **बहुधा**=बहुत करके **तोक्मभिः**=(विशिष्टयवैः—म०) विशिष्ट रूप से उत्पन्न किये गये जौ से **अस्य त्वक्**=इसकी त्वचा का निर्माण होता है। जौ को उत्तम खाद्य व जल से उत्पन्न किया जाए और हमारे भोजनों में इन्हीं जौ का प्राचुर्य हो तो हमारी त्वचा ठीक रहेगी। ५. **न**=और **लाजाः**=भुने हुए चावल **अस्य मांसम् अभवन्**=इसके मांस हो गये। इसकी मांस-रचना चावलों का परिणाम है। संक्षेप में इनका भोजन शष्प, तोक्म व लाजा हैं। इनसे इसके लोम, त्वचा व मांस ठीक होते हैं, और वह स्वस्थ बना रहता है।

भावार्थ—प्रज्ञापूर्वक कर्मों से हमारे शरीर की कान्ति बनी रहती है। २. हमारे जीवन में सूर्य के समान ज्ञानज्योति हो, चन्द्र के समान मानस आह्लाद हो तथा अग्नि के समान शरीर में शक्ति की उष्णता हो। ३. शष्प, तोक्म व लाजा प्रयोग से हमारे लोम, त्वचा व मांस ठीक बने रहें।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

रुद्रवर्तनी अश्विनौ

तद॒श्विना॑ भि॒षजा॑ रु॒द्रव॑र्तनी॒ सर॑स्वती॒ वय॑ति॒ पेशो॒ऽअन्त॑रम्।
अ॒स्थि म॒ज्जानं॒ मास॑रैः कारोत॒रेण॒ दध॑तो॒ गवां॑ त्व॒चि॥८२॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब 'शष्प, तोक्म व लाजा' इसके भोजन होते हैं, **तत्**=तब **रुद्रवर्तनी**=(रुद्रस्य वर्तनिरिव वर्तनिर्ययोः) रुद्र के समान मार्गवाले, (रोरूयमाणो द्रवति इति रुद्रः) रुद्र गर्जना करता हुआ शत्रुओं पर आक्रमण करता है, इसी प्रकार **अश्विना**=प्राणापान **भिषजा**=इसके वैद्य होते हैं। ये गर्जते हुए प्रबलता से रोगरूप शत्रुओं पर आक्रमण करते हैं। प्राणापान की शक्ति की वृद्धि से इसके सब रोग नष्ट हो जाते हैं। २. **सरस्वती**=ज्ञान की अधिदेवता **अन्तरम् पेशः**=अन्दर के सौन्दर्य (रूप) को **वयति**=सन्तत करती है। प्राणापान इसे स्वस्थ बनाकर बाह्य रूप को सुन्दर बनाते हैं, तो ज्ञान इसके मस्तिष्क को दीप्त करके इसके अन्तः सौन्दर्य को बढ़ाता है। ३. **मासरैः**=(मासेषु रमणैः) सब मासों में अर्थात् सदा रमण से, आनन्दमय मनोवृत्ति के धारण से **अस्थि मज्जानम्**=यह अस्थियों व मज्जा को **वयति**=सन्तत करता है, बढ़ाता है। वस्तुतः सदा ऋतु को अभिशाप देते रहने से और खिझते रहने से अस्थि व मज्जा शिथिल हो जाते हैं, और स्वास्थ्य एकदम गिर जाता है। २. **अश्विना**=प्राणापान ही **कारोतरेण**=(कारुः शिल्पिनि कारके, तरप्रत्यय) अत्यधिक कलापूर्ण ढंग से कार्यों के करने, **गवां त्वचि**=वेदवाणियों—ज्ञान की वाणियों के सम्पर्क में **दधतः**=इसे धारण करते हैं, अर्थात् यह प्राणापान की शक्ति के वर्धन से सूक्ष्म बुद्धि होकर सदा ज्ञान की वाणियों के सम्पर्क में रहना चाहता है।

भावार्थ—प्राणापान वैद्य हैं, ज्ञान से अन्तःसौन्दर्य प्राप्त होता है। सदा प्रसन्न रहने से अस्थि, मज्जा आदि ठीक रहते हैं। उत्तमता से कर्मों में लगे रहने से मनुष्य ज्ञान की रुचिवाला बनता है।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**सरस्वती**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

रसं ओषधीनाम्

सर॑स्वती॒ मन॑सा पेश॒लं वसु॒ नास॑त्याभ्यां वयति द॒र्श॒तं वपुः॑।
रसं॑ परि॒स्रुता॒ न रोहि॑तं न॒ग्नहु॒र्धीर॒स्तस॑रं॒ न वेम॑॥८३॥

१. **सरस्वती**=ज्ञान की अधिदेवता **मनसा**=मनन-संकल्प से तथा **नासत्याभ्याम्**=प्राणापानों के द्वारा **पेशलम्**=लचकीले, कोमल (Soft), सूखे काठ की भाँति न अकड़े हुए, **वसु**=निवास के योग्य, **दर्शतम्**=दर्शनीय, सुन्दर **वपुः**=शरीर को **वयति**=सन्तत करती है, बनाती है, अर्थात् 'ज्ञान, संकल्प तथा प्राणापान' शरीर को लचकीला, उत्तम व सुन्दर बनाते हैं। ज्ञान से ही हमारा आहार-विहार हितकर होगा और शरीर नीरोग रहेगा। विचारशीलता व संकल्प उत्साह को स्थिर रखते हैं और शरीर निवास के योग्य बना रहता है। प्राणापान शरीर को तेजस्वी व दर्शनीय बनाते हैं। २. **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **परिस्रुता**=परिपक्व अन्न

से **रसम्**=रस को **वयति**=सन्तत करती है, अर्थात् ज्ञान से हम स्वास्थ्य के लिए हितकर अन्न-रसों का सेवन करनेवाले बनते हैं। यह रस **रोहितम्**=हमारी वृद्धि का कारण बनता है। ३. **न**=और **नग्नहुः**=(नग्नः अपि जुहोति) स्वयं नग्न रहता हुआ भी जो आहुति देता है, अर्थात् लोकहित के लिए यज्ञियवृत्तिवाला होता है—खूब दान देता है और **धीरः**=धैर्यशाली होता है **तसरम्**=(तस्यति उपक्षयति दुःखानि येन—द०) सब दुःखों व रोगों का क्षय करनेवाले **वेम**=(वी=प्रजनन) विकासवाले शरीर को **वयति**=सन्तत करता है, अर्थात् जो व्यक्ति यज्ञियवृत्ति के कारण भोगवाद में नहीं फँस जाता (नग्नहुः) और जीवन में शान्ति से चलता है (धीरः) वह शरीर को नीरोग (तसरं) तथा विकसित शक्तियोंवाला (वेम) बना पाता है।

भावार्थ—(क) हमें ज्ञानपूर्वक आहार-विहार करना चाहिए, (ख) विचारशील—उत्तम संकल्पवाला होना चाहिए, (ग) प्राणापान की शक्ति का वर्धन करना चाहिए, (घ) शरीर की उन्नति के लिए पक्वान्नों के रस का ग्रहण करना चाहिए तथा (ङ) त्यागवृत्तिवाला व धैर्यशील बनकर नीरोग व विकसित शरीरवाला बनना चाहिए।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

दुग्ध सेवन

पयसा शुक्रममृतं जनित्रꣳसुरया मूत्राज्जनयन्त रेतः।
अपामतिं दुर्मतिं बाधमाना ऽऊवध्यं वातꣳसब्वं तदारात्॥८४॥

१. गतमन्त्र के ज्ञानी, मननशील, प्राणापान-शक्तिसम्पन्न लोग (सरस्वती, मनसा, नासात्याभ्यां) **पयसा**=दूध के द्वारा **शुक्रम्**=वीर्यशक्ति को **जनयन्त**=उत्पन्न करते हैं, जो शक्ति **अमृतम्**=उन्हें रोगों से मरने नहीं देती और **जनित्रम्**=उनके विकास का कारण बनती है। गतमन्त्र में अन्न के रस का उल्लेख था। वह 'अन्न-रस' उनकी शरीर की उन्नति का कारण (रोहित) होता है। प्रस्तुत मन्त्र में दूध का उल्लेख करते हैं। यह वीर्य को उत्पन्न करके उन्हें नीरोग व विकसित शक्तिवाला बनाता है। २. **सुरया**=(सुर to govern) आत्मनियन्त्रण के द्वारा तथा **मूत्रात्**=(मूत्र प्रस्रवणे, स्रु गतौ) गतिशीलता के द्वारा ज्ञानी लोग **रेतः**=शक्ति को **जनयन्त**=विकसित करते हैं। ३. इस प्रकार उत्तम खान-पान, आत्मनियन्त्रण व क्रियाशीलता से वे **अमतिम्**=बुद्धि के अभाव, अर्थात् तमोगुण को तथा **दुर्मतिम्**=औरों का घात-पात सोचनेवाली दुष्ट बुद्धि को, अर्थात् रजोगुण को अथवा तामसी व राजसी बुद्धि को **अपबाधमानाः**=अपने से दूर रखते हैं। ४. इसी उद्देश्य से जो **ऊवध्यम्**=आमाशयगत अन्न है, **वातम्**=नाड़ीगत अन्न है तथा **सब्वम्**=पक्वाशयगत अन्न है **तत्**=उसे **आरात्**=दूर और समीप करते हैं, अर्थात् उसके उपादेय अंश को शरीर में धारण करते हैं और हेयांश को शरीर से दूर करते हैं। प्राण के ठीक कार्य करने पर उपादेयांश शरीर का अङ्ग बन जाता है, और अपान के ठीक कार्य करने पर हेयांश शरीर से दूर होता रहता है।

भावार्थ—(क) दूध के प्रयोग से वीर्यशक्ति को उत्पन्न करें, (ख) आत्म-नियन्त्रण व गतिशीलता से उस शक्ति की रक्षा करें (ग) अमति व दुर्मति को अपने से दूर करें, (घ) आमाशय-नाड़ी (आन्त्र) व पक्वाशय में प्रविष्ट अन्न के उपादेयांश को अपने समीप रक्खें तथा मलरूप हेयांश को अपने से दूर करें, जिससे पूर्ण स्वास्थ्य को प्राप्त कर सकें।

ऋषिः—शङ्खः। देवता—सविता। छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

पूर्ण स्वास्थ्य (सुत्रामा इन्द्र)

इन्द्रः सुत्रामा हृदयेन सत्यं पुरोडाशेन सविता जजान।
यकृत् क्लोमानं वरुणो भिषज्यन् मतस्ने वायव्यैर्न मिनाति पित्तम्॥८५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार अन्न व दूध आदि भोज्य द्रव्यों के उपादेयांश को समीप तथा हेयांश को अपने से दूर रखनेवाला **इन्द्रः**=रोगरूप शत्रुओं का विदारण करनेवाला जितेन्द्रिय पुरुष **सुत्रामा**=उत्तमत्ता से अपना त्राण करता है, अपने शरीर को रोगों का शिकार नहीं होने देता। २. शरीर को ही नीरोग बनाये, इतना ही नहीं, वह **हृदयेन सत्यम्**=हृदय से भी सत्य को ग्रहण करता है, अर्थात् मन में ईर्ष्यादि की अपवित्र भावनाओं को उत्पन्न नहीं होने देता। ३. हृदय को सत्य से शुद्ध व पवित्र बनाकर **पुरोडाशेन**=मस्तिष्क से (मस्तिष्को वै पुरुडाशः—तै०२।८।६) **सविता**=सदा निर्माण के कार्यों को करनेवाला **जजान**=बनता है, अर्थात् इसका मस्तिष्क कभी तोड़-फोड़ के कार्यों का विचार नहीं करता। गतमन्त्र के अनुसार अमति व दुर्मति का बाधन होने पर और सुमति का विकास होने पर मनुष्य निर्माणात्मक कार्यों में ही प्रवृत्त होता है। ४. **वरुणः**=द्वेष-निवारण की देवता **यकृत्**=इसके जिगर को **क्लोमानम्**=(The lungs, the bladder) फेफड़ों व मूत्राशय को तथा मसाने=गुर्दों को **भिषज्यन्**=नीरोग करता है, अर्थात् ईर्ष्या, द्वेष व मात्सर्य से ऊपर उठकर मनुष्य अपने जिगर आदि को ठीक रखता है। दूसरे शब्दों में, ईर्ष्या-द्वेषादि से ऐसे विष उत्पन्न होते हैं जिनसे जिगर आदि में विकार उत्पन्न हो जाते हैं। ५. **न**=और यह इन्द्र **वायव्यैः**=वायव्य पदार्थों से, वाततत्त्व-प्रधान पदार्थों के प्रयोग से **पित्तम्**=पित्त को **मिनाति**=कुछ न्यून (Diminish) करता है। पित्त के बढ़ जाने पर ही जिगर आदि के कष्टसाध्य विकार उत्पन्न हो जाया करते हैं।

भावार्थ—(क) जितेन्द्रिय पुरुष शरीर को स्वस्थ्य, हृदय को सत्यमय तथा मस्तिष्क को निर्माणात्मक विचारोंवाला बनाता है, (ख) ईर्ष्यादि से ऊपर उठकर यह अपने यकृत्, क्लोम व मसानों को विकृत नहीं होने देता (ग) वायव्य पदार्थों के प्रयोग से पित्त को संयत रखता है।

ऋषिः—शङ्खः। देवता—सविता। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

अङ्ग-प्रत्यङ्ग

आन्त्राणि स्थालीर्मधु पिन्वमाना गुदाः पात्राणि सुदुघा न धेनुः।
श्येनस्य पत्रं न प्लीहा शचीभिरासन्दी नाभिरुदरं न माता॥८६॥

१. गतमन्त्र के 'सुत्रामा इन्द्र' की **मधु**=मधुरगुणान्वित अन्न को **पिन्वमानाः**=सेवन करती हुईं **आन्त्राणि**=(अन्नपाकाधारा नाड़ीः—द०) अन्न का परिपाक करनेवाली नाड़ियाँ **स्थालीः**=(यासु पच्यन्ते अन्नानि) उखा (पतीली) होती हैं। जैसे पतीली में अन्न का परिपाक करते हैं, इसी प्रकार इन नाड़ियों में अन्नपाचन क्रिया चलती है। २. **गुदाः**=मल को दूर करनेवाली इन्द्रियाँ ही **पात्राणि**=(पा रक्षणे) रक्षिका होती हैं। इन इन्द्रियों के ठीक कार्य करने पर ही शरीर का रक्षण निर्भर है। ३. **न**=और **धेनुः**=(गौर्नाडी धमनिः धेनुरित्यर्थान्तरम्) नाड़ियाँ व धमनियाँ **सुदुघा**=(दुह प्रपूरणे) उत्तमत्ता से प्रपूरण करनेवाली हैं। शरीर में उस-उस स्थान पर आवश्यक रुधिर को पहुँचानेवाली होती हैं। ४. **न**=और

प्लीहा=तिल्ली **श्येनस्य पत्रम्**=बाज़ के पंख के समान है। प्लीहा का आकार श्येन पंख-सा है। जैसे पंख श्येन की उड़ान का कारण होता है, उसी प्रकार प्लीहा अविकृत होने पर मनुष्य के उत्साह का कारण बनती है, विकृत होकर मनुष्य को उदासीन कर देती है। ५. **शचीभिः**=सब प्रज्ञाओं व कर्मों का अधिष्ठान होने से **नाभिः**=नाभि **आसन्दी**=राजपीठ के समान है, इसी नाभि में सब प्रज्ञान व कर्म सम्बद्ध हैं। ६. **न**=और **उदरम्**=उदर तो **माता**=सम्पूर्ण रुधिर आदि का निर्माण करनेवाला है ही।

भावार्थ—(क) जिस समय हमारी आँतें अन्न का ठीक परिपाक करेंगी, (ख) गुदा आदि इन्द्रियाँ मल के दूरीकरण से रक्षिका होंगी, (ग) धमनियाँ रुधिरादि का ठीक पूरण करेंगी (घ) प्लीहा अविकृत होकर हमारे उत्थान का कारण बनेगा, (ङ) नाभि सब शक्तियों व प्रज्ञानों का आधार बनेगी और (च) उदर रुधिरादि का निर्माण करेगा, तभी हम पूर्ण स्वस्थ बनेंगे।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

कुम्भ-कुम्भी

कुम्भो वनिष्ठुर्जनिता शचीभिर्यस्मिन्नग्रे योन्यां गर्भोऽअन्तः।
प्लाशिर्व्यक्तः शतधारऽउत्सो दुहे न कुम्भी स्वधां पितृभ्यः ॥८७॥

१. पति को कैसा बनना इसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि **कुम्भः**=(कं उभ्यते अस्मिन्) जल के परिणामभूत वीर्यकण (आपो रेतो भूत्वा) जिसके अन्दर पूरित होते हैं, वह 'कुम्भ' है । पति ने अपने इस शरीररूपी कलश को वीर्यादि धातुओं से परिपूर्ण बनाना है। (कलश इव वीर्यादिधातुभिः पूर्णः—द०) वीर्यादि से परिपूर्ण होने के कारण ही जो आनन्द से परिपूर्ण है, (क=आनन्द)। संक्षेप में, पति शक्तिशाली है और इसीलिए प्रसन्न मनोवृत्तिवाला है। २. **वनिष्ठुः**=(सम्भाजी—द०) यह सम विभागपूर्वक वस्तुओं का प्रयोग करता है, सारा स्वयं नहीं खा जाता। केवलादी नहीं बनता। ३. **शचीभिः**=प्रज्ञापूर्वक कर्मों को करने से **जनिता**=यह अपनी शक्ति का सदा प्रादुर्भाव करता है। ४. **अग्रे**=सृष्टि बनने से पूर्व यह संसार **यस्मिन्**=जिस प्रभु में था, **योन्यां गर्भः अन्तः**=उस कारणभूत ब्रह्म में यह गर्भरूप से निवास करता है। जैसे गर्भ माता में सुरक्षित होता है, उसी प्रकार यह सदा उस 'जगद्योनि' ब्रह्म में गर्भरूप से सुरक्षित रहता है। वहाँ रहता हुआ यह रोगों व पापों से आक्रान्त नहीं होता। ५. **प्लाशिः**=(प्रकृष्टम् अश्नाति) यह सदा उत्तम सात्त्विक भोजनों का करनेवाला होता है। **व्यक्तः**=इस सात्त्विक भोजन से ही इसका अन्तःकरण सात्त्विक बनकर इसके जीवन को उच्च बनाता है। ६. **शतधारः**=(शतशः धारा वाचो यस्य) यह अनन्त ज्ञान की वाणियोंवाला होता है। ७. **उत्सः**=(उन्दी क्लेदने) यह दया के जल से सदा क्लन्न व करुणार्द्र हृदयवाला होता है, अथवा यह ज्ञान का स्रोत बनता है जहाँ से सब लोग अपनी ज्ञान की प्यास बुझा पाते हैं। ८. अब पत्नी का उल्लेख करते हुए कहते हैं, कि **कुम्भी**=पत्नी भी शक्ति से परिपूर्ण शरीररूपी कलशवाली होती है और इसीलिए आनन्दमय हृदयवाली होती है। यहाँ प्रथम 'कुम्भ' शब्द के स्त्रीलिंग 'कुम्भी' शब्द के प्रयोग से अन्य गुणों का भी पत्नी में उसी प्रकार आवश्यक रूप से होने का संकेत हो गया है। ९. **न**=और इन गुणों के साथ यह 'पत्नी' **स्वधाम्**=आत्मधारण के लिए आवश्यक अन्न को **पितृभ्यः**=अपने-अपने कर्त्तव्य भाग के पालन के द्वारा घर का रक्षण करनेवाले पितरों के लिए **दुहे**=पूरित करती है। घर में सभी को शरीरपोषक भोजन प्राप्त कराना, यह पत्नी का

विशिष्ट कर्त्तव्य है। इसके ठीक होने पर ही शरीर, मन व बुद्धि सबकी उन्नत्तियाँ निर्भर हैं।

भावार्थ—पति व पत्नी शक्तिशाली व प्रसन्न मनवाले हों। शरीरपोषक अन्न के सेवन से सब उन्नत्तियों को सिद्ध करें।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**सरस्वती**। छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

अङ्ग-प्रत्यङ्ग का स्वरूप

मुखꣳसदस्य शिरऽइत् सतेन जिह्वा पवित्रमश्विनासन्त्सरस्वती।
चप्यं न पायुर्भिषगस्य वालो वस्तिर्न शेपो हरसा तरस्वी ॥८८॥

१. **अस्य**=इस—गतमन्त्र के 'कुम्भ' का **मुखम्**=मुख **सत्**=उत्कृष्ट होता है। (सत् इति उत्तरनाम—नि० ३।२९)। २. **सतेन**=इस उत्कृष्ट मुख के साथ **इत्**=निश्चय से **शिरः**=मस्तिष्क होता है। जहाँ इसका मुख उत्कृष्ट होता है, वहाँ इसका मस्तिष्क भी ठीक होता है। ३. **जिह्वा पवित्रम्**=इसकी जिह्वा पवित्र होती है। **अश्विना पवित्रम्**=इसके प्राणापान इसे पवित्र बनानेवाले होते हैं। ४. 'मुख व मस्तिष्क की उत्कृष्टता' तथा 'जिह्वा व प्राणापान की पवित्रता' के कारण ही **आसन्** (आस्ये)=इसके मुख में **सरस्वती**=विद्या की अधिदेवता का निवास होता है। ५. इस विद्या के कारण सब वस्तुओं का ठीक प्रयोग करने से **पायुः**=इसकी मलशोधक गुदा-इन्द्रिय **चप्यम्**=(चप् सान्त्वने) इसको सान्त्वना व शान्ति प्राप्त करानेवाली है। मलशोधन ठीक हो जाने से शरीर व मन में शान्ति व प्रसन्नता का अनुभव होता है। ६. **अस्य**=इसके **बालः**=भिन्न-भिन्न शरीर-अङ्गों में उत्पन्न बाल **भिषक्**=इसके वैद्य होते हैं। ये उसे सर्दी-गर्मी से बचाने में सहायक होते हैं। मलों के चूसने में उपयुक्त होते हैं और इस प्रकार से रोगनिवारण करते हुए इसके वैद्य ही होते हैं। ७. **वस्तिः न शेपः**=मूत्रस्थान और मूत्रेन्द्रिय तो **हरसा**=मलहरण के द्वारा **तरस्वी**=इसको बलसम्पन्न बनानेवाले होते हैं।

भावार्थ—'कुम्भ' अर्थात् अपने अन्दर शक्ति व आनन्द का पूरण करनेवाले के सब अङ्ग सुन्दर होते हैं। मुख और सिर तो उत्कृष्ट होते ही हैं, इसकी जिह्वा व इसके प्राणापान पवित्र होते हैं। इसके मुख में सरस्वती का निवास होता है। इसकी मलशोधक इन्द्रियाँ भी मलशोधन के द्वारा इसे बलवान् बनाती हैं।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

रहन-सहन

अश्विभ्यां चक्षुरमृतं ग्रहाभ्यां छागेन तेजो हविषा शृतेन।
पक्ष्माणि गोधूमैः कुवलैरुतानि पेशो न शुक्रमसितं वसाते ॥८९॥

१. **ग्रहाभ्याम्**=(गृहीत इति ग्रहौ ताभ्याम्—द०) शुद्ध वायु के द्वारा शरीर में नीरोगता लानेवाले **अश्विभ्याम्**=प्राणापान के साथ इस कुम्भ (८७) के जीवन में **अमृतम् चक्षुः**=वह ज्ञान होता है, जो इसकी अमरता का कारण बनता है। यह ज्ञान ही इसे विषयों में फँसने से बचाता है, और इसे विषयासक्त हो मरने नहीं देता। २. इस नीरोगता व उत्तम ज्ञान के लिए ही **छागेन**=(छागादिदुग्धेन—द०) बकरी के दूध के सेवन से यह **तेजः**=तेजस्विता को प्राप्त करता है। (छाग का अर्थ बकरी का दूध भी है)। ३. इसी तेजस्विता को वह **शृतेन**=ठीक प्रकार से परिपक्व **हविषा**=दान देकर बचे हुए द्रव्य पदार्थों के सेवन से प्राप्त करता है। ४. **गोधूमैः**=गेहूँ आदि अन्नों से **पक्ष्माणि**=(पक्ष परिग्रहे) यह बलों व उत्तमताओं

का परिग्रह करता है। ५. **कुवलैः**=(सुशब्दैः—द०, कु शब्दे वल=Well=वर) उत्तम शब्दों के साथ **उतानि**=बुने गये वस्त्रों को यह धारण करता है, अर्थात् केवल सुन्दर कपड़े नहीं पहनता शब्द भी सुन्दर ही बोलता है। गोधूम आदि अन्नों को ही नहीं खाता रहता, उत्तम शक्तियों व गुणों का भी ग्रहण करता है। ६. **न**=और **शुक्रम्**=वीर्य **पेशः**=इसको रूप देनेवाला होता है, अर्थात् शक्ति के कारण यह रोगों का शिकार नहीं होता और परिणामतः इसका शरीर स्वास्थ्य के सौन्दर्य से चमकता है। ७. स्वस्थ बने रहने के लिए ही मन्त्र ८७ के कुम्भ और कुम्भी **असितम्**=(षिञ् बन्धने अबद्धम्=not very tight) न बहुत सटे हुए कपड़े **वसाते** =पहनते हैं। ये कसे हुए कपड़े न पहनकर ढीले ही कपड़े पहनते हैं। कसे हुए कपड़े रुधिराभिसरण अवरोध पैदा करके स्वास्थ्य के लिए विघातक होते हैं।

भावार्थ—मनुष्य को चाहिए कि प्राणशक्ति के साथ ज्ञान का भी वर्धन करे। बकरी के दूध तथा ठीक पके हव्य पदार्थों के सेवन से तेजस्वी बनें। अन्न के ग्रहण के साथ गुणों को भी ग्रहण करे। सुन्दर वस्त्रों के साथ शब्द भी सुन्दर बोले। इसकी शक्ति इसे स्वास्थ्य का सौन्दर्य प्राप्त कराये। कपड़े बहुत तंग न पहने।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**सरस्वती**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

परमगति

अवि॒र्न मे॒षो न॒सि वी॒र्या॑य प्रा॒णस्य॒ पन्था॑ऽअ॒मृतो॒ ग्रहा॑भ्याम्।
सर॑स्वत्युप॒वाकै॑र्व्या॒नं नस्या॑नि ब॒र्हिर्ब॑दरै॑र्जजान ॥९०॥

१. उत्तम रहन-सहनवाला व्यक्ति **अविः**=(योऽवति रक्षति) शरीर व मानस मलों से अपनी रक्षा करता है। अपने को उन मलों से आक्रान्त नहीं होने देता। २. **न**=और **मेषः**=(मिषति स्पर्धते) उत्तम गुणों के उपार्जन में स्पर्धावाला होता है। ३. इसके **नसि**=नासिका में **प्राणस्य पन्थाः**=प्राण का मार्ग **अमृतः**=कभी नष्ट नहीं होता, अर्थात् यह प्रयत्न करता है कि यह सदा श्वास व प्रश्वास नासिका से ही ले। यह 'नासिका से श्वास लेना' **ग्रहाभ्याम्**=शुद्ध वायु व नीरोगता के ग्रहण से **वीर्याय**=इसको वीर्यसम्पन्न बनाने के लिए हो। इसके जीवन में **उपवाकैः**=आचार्य के समीप बैठकर, (उप) आचार्य से सुने ज्ञान के उच्चारणों से (वाकैः) **सरस्वती**=ज्ञान **जजान**=उत्पन्न होता है ('प्रत्याश्रावः' आचार्य से सुनाये हुए को सुनानेवाला 'अनुरूपः' आचार्य के समान ही ज्ञानी बनता है)। ५. **बदरैः**=(बद स्थैर्ये) स्थिरताओं से **व्यानम् नस्यानि बर्हिः**=व्यानवायु, प्राणापान तथा वासनाशून्य हृदय **जजान** उत्पन्न होता है। (क) इन्द्रियों की स्थिरता से 'व्यान' उत्पन्न होता है। सारे शरीर में व्याप्त होकर सम्पूर्ण नाड़ी-संस्थान को स्वस्थ रखनेवाली यह व्यानवायु ही है, इसके लिए जितेन्द्रिय बनकर इन्द्रियों की स्थिरता का सम्पादन आवश्यक है अन्यथा नाड़ी-संस्थान के भ्रंश की आशंका बनी रहती है, (ख) मन की स्थिरता नस्यानि=प्राणापान के विकास के लिए आवश्यक है। मनोनिरोध व प्राणनिरोध अत्यन्त सम्बद्ध हैं, (ग) बुद्धि की स्थिरता से वासना-शून्य हृदय का (बर्हिः) विकास होता है एवं, इन्द्रियों, मन और बुद्धि की स्थिरता में 'व्यान, नस्य व बर्हि' आवश्यक हैं।

भावार्थ—हम अपना रक्षण करें। उत्तमत्ता में स्पर्धावाले हों। सदा नासिका से श्वास लेते हुए शक्ति का वर्धन करें। आचार्य से उक्त का अनुवाद करते हुए ज्ञान को बढ़ाएँ तथा इन्द्रियों, मन व बुद्धि की स्थिरता से नाड़ी-संस्थान को स्वस्थ करें, प्राणापान का वर्धन करें तथा हृदय को वासनाशून्य बनाएँ।

ऋषिः—शङ्खः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

जितेन्द्रिय कौन?

इन्द्र॑स्य रू॒पमृ॑ष॒भो बला॑य॒ कर्णा॑भ्या॒ᳬ श्रोत्र॑म॒मृतं॒ ग्रहा॑भ्याम्।
यवा॒ न ब॒र्हिर्भ्रु॒वि केस॑राणि क॒र्कन्धु॑ जज्ञे॒ मधु॑ सार॒घं मुखा॑त्॥९१॥

१. **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष का **रूपम्**=स्वरूप यह है कि वह **बलाय**=बल के सम्पादन व स्थिरता के लिए **ऋषभः**=(ऋष् गतौ) सदा गतिशील होता है। यह अपने छोटे-छोटे कार्यों के लिए औरों पर निर्भर नहीं करता, परिणामतः सबल बना रहता है। २. **कर्णाभ्याम्**=कानों से यह सदा **श्रोत्रम्**=ज्ञान की वाणियों का श्रवण करनेवाला होता है। ३. **ग्रहाभ्याम्**=शुद्ध वायु का ग्रहण करनेवाले प्राणापानों से **अमृतम्**=यह अमर बनता है, रोगों से मरियल शरीरवाला नहीं होता। ४. **न**=और **यवाः**=जौ आदि धान्यों का प्रयोग **बर्हिः**=इसके हृदय को वासनाशून्य बनाता है। 'जैसा अन्न वैसा मन' इस उक्ति के अनुसार सात्त्विक अन्न के प्रयोग से यह सात्त्विक मनवाला होता है। ५. **भ्रुवि**=इसकी भ्रुवों पर (Brows) **केसराणि**=(विज्ञानानि) विज्ञान झलकते हैं, इसकी त्यौरी कभी चढ़ी नहीं होती, अतः इसकी भ्रुवें क्रोध को प्रकट नहीं करतीं। इसकी भ्रुवों से इसके मन का प्रसाद प्रकट होता है और ऐसा प्रतीत होता है कि वह **के**=आनन्द में **सर**=विचर रहा है, ज्ञानप्रधान इसका जीवन है। ६. इसके **मुखात्**=मुख से **कर्कन्धु**=(कर्क=fire अग्नि, कर्क दधाति) अग्नि को धारण करनेवाला, अर्थात् अत्यन्त उत्साहपूर्ण, **सारघम्**=(सारं हन्ति=प्राप्नोति) सारयुक्त तथा **मधु**=अत्यन्त मधुर वचन **जज्ञे**=प्रकट होता है, वह मुख से कभी निराशा के प्रतिपादक वचनों को नहीं बोलता, इसके वचन 'मितं च सारं च' परिमित व सारभूत होते हैं। यह अत्यन्त मधुर वचनों को ही बोलता है।

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष—(क) क्रिया के द्वारा शक्तिशाली होता है, (ख) कानों से सदा ज्ञान की वाणियों को सुनता है, (ग) प्राणापान के द्वारा शुद्ध वायु के ग्रहण से नीरोग बनता है, (घ) जौ आदि सात्त्विक अन्नों के प्रयोग से इसका हृदय वासनाशून्य होता है, (ङ) इसका मन इसके मनःप्रसाद को प्रकट करता है और (च) यह उत्साहमय सारभूत मधुर शब्दों को बोलता है।

ऋषिः—शङ्खः। देवता—आत्मा। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

उपासक का जीवन 'अस्तेयः, अपरिग्रह-अहिंसा'

आ॒त्मन्नु॒पस्थे॒ न वृक॑स्य॒ लोम॒ मुखे॒ श्मश्रू॑णि॒ न व्या॒घ्रलो॑म।
केशा॒ न शी॒र्षन्यश॑से श्रि॒यै शिखा॑ सि॒ꣳहस्य॒ लोम॒ त्विषि॑रिन्द्रि॒याणि॥९२॥

१. **न**=और **आत्मन् उपस्थे**=उस आत्मा के समीप स्थित होने पर, अर्थात् परमात्मा की उपासना के सिद्ध होने पर **वृकस्य**=(वृक robbery=स्तेय) मन के अन्दर रहनेवाले स्तेय का, चोरी की भावना का, बिना परिश्रम के धन की प्राप्ति की इच्छा का **लोम**=छेदन हो जाता है, प्रभु का उपासक कभी भी स्तेय की ओर नहीं झुकता, यह 'अस्तेय' धर्म का पूर्ण पालन करने का प्रयत्न करता है। २. **न**=और इसके **मुखे**=मुख पर **श्मश्रूणि**=दाढ़ी-मूँछ के बाल प्रकट होकर इसके यौवन में कदम रखने की सूचना देते हैं, परन्तु प्रभु की उपासना से इसमें **व्याघ्रलोम**=(व्याजिघ्रति) समन्तात् विषयों को सूँघने की वृत्ति का छेदन हो जाता है। यह विषयासक्त होकर विषयों के परिग्रह में ही नहीं लगा रहता, अपितु इसके विपरीत

वह 'अपरिग्रह' धर्मवाला होता है। यौवन में भी यह विषयासक्त नहीं होता। ३. **न**=और **शीर्षन्**=मस्तिष्क में **केशाः**=ज्ञान की रश्मियाँ (a ray of light) इसके **यशसे**=यश के लिए होती हैं और **श्रियै**=इसकी श्री के लिए होती हैं। मस्तिष्क में होनेवाली ज्ञानरश्मियाँ इसके जीवन को यश-सम्पन्न व श्रीसम्पन्न बनाती हैं। ४. **शिखा**=यह ज्ञानाग्नि (ray of light) की ज्वाला इसकी **सिंहस्य**=हिंसावृत्ति का **लोम**=छेदन करनेवाली होती है। ज्ञानाग्नि की दीप्ति के कारण यह अधिक-से-अधिक अहिंसक होता है। ५. **त्विषिः**=इसके चेहरे पर दीप्ति होती है। उपासक स्वास्थ्य व मनःप्रसाद के कारण तेजस्वी प्रतीत होता है। ६. **इन्द्रियाणि**=इसमें प्रत्येक इन्द्रिय की शक्ति अत्यन्त वृद्ध होती है।

भावार्थ—उपासक अस्तेय धर्म का पालन करता है। भरपूर युवावस्था में भी विषयों का परिग्रही नहीं बनता। ज्ञान के कारण यशस्वी व श्रीसम्पन्न कार्यों को ही करता है। इसका ज्ञान इसे अहिंसक बनाता है। यह दीप्त होता है, वीर्यसम्पन्न अङ्गोंवाला होता है।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

शतमानम् आयुः 'प्रसाद-प्रकाश-प्रभाव'

अङ्गान्यात्मन् भिषजा तदश्विनात्मानमङ्गैः समधात् सरस्वती।
इन्द्रस्य रूपꣳशतमानमायुश्चन्द्रेण ज्योतिरमृतं दधानाः॥९३॥

१. उपासक के, जितेन्द्रिय पुरुष के, **अङ्गानि**=अङ्ग **आत्मन्**=सदा आत्मा में होते हैं, अर्थात् यह सब अङ्गों से उन-उन क्रियाओं को करता हुआ परमात्मा को भूलता नहीं। २. **तत् अश्विना**=प्राणापान **भिषजा**=इसके वैद्य होते हैं। प्राणापान की शक्ति की वृद्धि के कारण यह नीरोग बना रहता है। ३. **सरस्वती**=ज्ञान की अधिष्ठातृदेवता, अर्थात् ज्ञानी बनकर यह **अङ्गैः**=योगाङ्गों के द्वारा **आत्मानम्**=उस परमात्मा को **समधात्**=सम्यक् धारण करता है, स्वाध्याय करता है और इस स्वाध्यायरूप क्रियायोग से यह अपने को परमात्मा से जोड़ने का प्रयत्न करता है। ४. **इन्द्रस्य**=इस प्रकार इस जितेन्द्रिय पुरुष का **रूपम्**=रूप यह होता है कि यह (क) **शतमानम् आयुः**=सौ वर्ष से मपी आयु को प्राप्त करता है। (ख) **चन्द्रेण ज्योतिः**=मानस आह्लाद के साथ ज्ञान की ज्योतिवाला होता है और (ग) ये उपासक **अमृतं दधानाः**=विषयों के पीछे न मरने की वृत्ति को तथा नीरोगता व अमरता को धारण करता है।

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष अपने अङ्गों को आत्मा में स्थापित करने का प्रयत्न करता है, प्राणापान-शक्ति की वृद्धि से नीरोग होता है, ज्ञान व योगाङ्गों से प्रभु से मेल करता है, सौ वर्ष तक जीता है, प्रसन्न रहता है, ज्योतिर्मय व विषयों के पीछे न मरनेवाला होता है।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**सरस्वती**। छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

कर्मों में रस व उसका लाभ

सरस्वती योन्यां गर्भमन्तरश्विभ्यां पत्नी सुकृतं बिभर्ति।
अपाꣳरसेन वरुणो न साम्नेन्द्रꣳश्रियै जनयन्नप्सु राजा॥९४॥

१. **सरस्वती**=ज्ञान को प्राप्त विदुषी स्त्री घर के सब कार्यों को करती हुई **योन्याम्**=सृष्टि के मूलकारण परमात्मा के **अन्तः गर्भम्**=अन्दर गर्भरूप में रहती है। जैसे एक बालक माता में गर्भरूप से रहता हुआ सुरक्षित होता है, उसी प्रकार यह परमात्मा में निवास करती हुई वासनाओं से अपने को बचा पाती है। २. **अश्विभ्याम्**=प्राणापान के हेतु से, अर्थात् घर के सब सभ्यों की प्राणापानशक्ति की वृद्धि के लिए यह **पत्नी**=गृहपत्नी **सुकृतम्**=उत्तमता

से संस्कृत किये हुए अन्न का **बिभर्ति**=भरण करती है। सबको उत्तम पथ्य भोजन देकर सबके स्वास्थ्य का पूरा ध्यान रखती है। ३. **न**=और **अपां रसेन**=कर्मों के अन्दर रस को अनुभव करने से **वरुणः**=घर का प्रत्येक व्यक्ति दोष का निवारण करनेवाला बनता है। खाली बैठे आलसी व्यक्तियों को ही ईर्ष्या-द्वेष की बातें सूझती हैं। ४. कर्म में लगे रहने से यह ईर्ष्या-द्वेष में नहीं फँसता और **साम्ना**=शान्ति से अथवा उपासना से **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **श्रियै**=अपने में 'श्री' की वृद्धि के लिए **जनयन्**=आविर्भूत करता है। प्रभु के ध्यान के द्वारा अन्तःस्थित प्रभु के दर्शन करता है, यह प्रभुदर्शन इसकी शोभा को बढ़ाता है। ५. और यह प्रभु के तेज के अंश से चमकता हुआ व्यक्ति **अप्सु राजा**=(क) अपने कर्मों में बड़ा व्यवस्थित (regular) होता है। (ख) अथवा अपने कर्मों से चमक उठता है (राज्=दीप्ति)। इसके कर्म सामान्य व्यक्तियों के कर्मों की अपेक्षया असाधारणता लिये हुए होते हैं, इसीलिए वह (ग) **अप्सु**=प्रजाओं में **राजा**=राजा बन जाता है।

भावार्थ—१. गृहिणी को चाहिए कि गृहकार्यों को करती हुई प्रभु में निवास करे। २. सब गृहसभ्यों के लिए उत्तम सात्त्विक अन्न को सिद्ध करके प्राप्त कराए। ३. कर्मों में लगे रहने से ईर्ष्या-द्वेष से ऊपर रहे। ४. शान्ति व उपासना से प्रभु के तेजोंऽश को अपने में धारण करे। ५. व्यवस्थित कर्मों से चमक उठे और प्रजाओं में राजा बनने के योग्य हो।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

अमृत-सोम-इन्दु

तेजः पशूनाꣳहविरिन्द्रियावत् परिस्रुता पयसा सारघं मधु।
अश्विभ्यां दुग्धं भिषजा सरस्वत्या सुतासुताभ्याममृतः सोमऽइन्दुः ॥९५॥

१. **पशूनाम्**=पशुओं के **तेजः**=तेजस्विता के कारणभूत दूध को मैं ग्रहण करूँ। वेद में अन्यत्र 'पयः पशूनाम्' ही पाठ है, अतः यहाँ **तेजः** व **पयः** में कार्यकारणभाव होने से पयः के स्थान में तेजः का प्रयोग किया गया है। २. **हविः**=दानपूर्वक किया हुआ सात्त्विक भोजन, यज्ञशेषरूप पथ्य, **इन्द्रियावत्**=हमारे बल को (इन्द्रियं वीर्यम्) बढ़ानेवाला हो। ३. **परिस्रुता**=परिपक्व अन्न के साथ तथा **पयसा**=दूध के साथ **सारघं मधु**=मैं मधुमक्षिकाओं से निर्मित शहद का ग्रहण करूँ। ४. **अश्विभ्याम्**=प्राणापान की शक्ति के लिए **दुग्धम्**=मैं दुग्ध (दूध) को स्वीकार करूँ। ५. इस प्राणापानरूप **भिषजा**=वैद्यों से **अमृतः**=मैं अमृत बनूँ, कभी रोगों का शिकार न होऊँ। ६. **सरस्वत्या**=ज्ञान की अधिदेवता से, अर्थात् अत्युत्तम ज्ञान से मैं **सोमः**=सौम्य बनूँ। ज्ञान का परिणाम तो है ही 'विनय'। यदि मैं विनीत न रहकर अभिमानी हो जाऊँगा तो मेरा सारा उत्थान समाप्त हो जाएगा। ७. **सुतासुताभ्याम्**=सुत व असुतों के द्वारा बड़े परिश्रम से भूमि में पैदा किये गये—उत्तम सात्त्विक अन्नों के द्वारा (परिसुता) तथा असुत, अर्थात् गौ आदि के दूध के द्वारा यह **इन्दुः**=ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाला बनता है अथवा शक्तिशाली बनता है।

भावार्थ—पशुओं का दूध, यज्ञशेष अन्न व शहद के प्रयोग से मैं अमर=नीरोग बनूँ। बुद्धि की तीव्रता से ज्ञानी बनकर (विनीत बनूँ)। ठीक अन्नों का प्रयोग मुझे शक्तिशाली बनाये। यह 'अमृत-सोम-इन्दु' ही राजा बनने के योग्य हैं। इस राजा के वर्णन से ही अगले अध्याय का प्रारम्भ होता है।

॥ इत्येकोनविंशोऽध्यायः॥

अथ विंशोऽध्यायः

—:०:—

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सभेशः**। छन्दः—**द्विपदाविराड्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

शक्ति का केन्द्र

क्षत्रस्य योनिरसि क्षत्रस्य नाभिरसि। मा त्वा हिꣳसीन्मा मा हिꣳसीः॥१॥

१. गतमन्त्र के अन्तिम शब्दों में 'अमृत, सोम व इन्दु' बनने का उल्लेख था। उससे पहले ९४वें मन्त्र के अन्तिम शब्द 'अप्सु राजा' थे, प्रजाओं में यह राजा बनता है। इसी राजा का उल्लेख इन शब्दों में करते हैं कि **क्षत्रस्य**=क्षतों से, घावों से त्राण करनेवाली शक्ति का तू **योनि असिः**=उत्पत्ति-स्थान है, अर्थात् तू अपने में उस शक्ति को उत्पन्न करता है जो शक्ति प्रजा को हानि से बचाती है। २. **क्षत्रस्य**=सम्पूर्ण बल का **नाभिः असि**=तू अपने में बन्धन करनेवाला है (नह बन्धने)। तू अपने में शक्ति का बन्धन करते हुए शक्ति का केन्द्र बनता है। ३. शक्ति का केन्द्र बनने के कारण ही **त्वा**=तुझे **मा हिंसीत्**=कोई भी रोग हिंसित करनेवाला न हो। यह वीर्य का संयम तुझे सब रोगों से बचानेवाला हो। ४. तू **मा**=मुझे **मा हिंसीः**=नष्ट मत कर। प्रभु मन्त्र के ऋषि 'प्रजापति' से कहते हैं कि तू मेरा भी विस्मरण न होने दे, अर्थात् प्रजापति को चाहिए कि वह 'प्रभु का ध्यान' अवश्य करे ताकि उसे शक्ति व ऐश्वर्य आदि के कारण अभिमान न हो जाए और न ही वह विषय-प्रवण बन जाए। यह अपनी रक्षा करनेवाला व्यक्ति प्रजा की ठीक प्रकार से रक्षा कर पाता है और प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'प्रजापति' बनता है।

भावार्थ—हम बल के उत्पत्ति-स्थान व बल का केन्द्र बनने का प्रयत्न करें। यह बल का केन्द्र बनना हमें रोगों में फँसने से बचाए। इसी उद्देश्य से हम प्रभु का सदा स्मरण करें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सभेशः**। छन्दः—**भुरिगुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**॥

धृत-व्रत

निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा।
साम्राज्याय सुक्रतुः। मृत्योः पाहि विद्योत्पाहि॥२॥

१. गतमन्त्र का 'क्षत्र का केन्द्र' बननेवाला व्यक्ति **निषसाद**=निश्चय से व नम्रता के साथ सिंहासन पर बैठता है। २. **धृतव्रतः**=यह व्रत का धारण करता है। 'प्रजारक्षण' ही इसका मुख्य व्रत होता है। प्रजारक्षण के लिए यह बाह्य शत्रुओं से बदला लेता है और अन्तःशत्रुओं को उचित दण्ड द्वारा सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करता है। ३. **वरुणः**=(क) यह प्रजाओं के द्वारा चुना जाता है। प्रजा ने रक्षण के लिए ही इसे चुना है, (ख) यह अपने को अपने कार्य में समर्थ होने के लिए श्रेष्ठ बनने का प्रयत्न करता है। **'वरुणो नाम वरः श्रेष्ठः'**, (ग) यह प्रजाओं में द्वेषादि की वृत्तियों के निवारण का प्रयत्न करता है। **'वारयति इति वरुणः'**। ४. इसी उद्देश्य से यह **आ**=समन्तात् चारों ओर **पस्त्यासु**=प्रजाओं

में विचरण करता है। प्रजाओं में सदा भ्रमण करनेवाला राजा ही प्रजा का ठीक से रक्षण कर पाता है। ५. यह प्रजाओं में भ्रमण करनेवाला राजा ही **साम्राज्याय**=सम्यक् शासन के लिए होता है। उत्तमता से शासन के लिए राज्य में सर्वत्र भ्रमण करके स्वयं सब-कुछ देखना आवश्यक है। ६. यह राजा **सुक्रतुः**=उत्तम कर्म व प्रज्ञावाला होता है। ७. इस राजा को आदेश देते हैं कि **मृत्योः पाहि** =तू प्रजाओं को मृत्यु से बचा। सफाई के उत्तम प्रबन्ध से तथा खान-पान की वस्तुओं की ठीक व्यवस्था से तू रोगों को न फैलने दे। ८. केवल रोगों से ही नहीं **विद्योत् पाहि**=(विद्युत्पाताद्रक्ष) विद्युत्पात आदि आधिदैविक आपत्तियों से भी तू राष्ट्र की रक्षा करनेवाला हो। वस्तुतः यदि वैयक्तिक पापों से आध्यात्मिक कष्ट होते हैं तो सामाजिक पापों से आधिभौतिक कष्ट आया करते हैं और राजा के अपराध अथवा राष्ट्रीय अपराध आधिदैविक आपत्तियों के कारण बनते हैं, अतः राजा ने राष्ट्र में उत्तम व्यवस्था के द्वारा राष्ट्र की आधिदैविक आपत्तियों से रक्षा करनी है।

भावार्थ—प्रजारक्षण के व्रत को लेकर राजा गद्दी पर बैठे। वह प्रज्ञापूर्वक कर्म करनेवाला हो। राष्ट्र को रोगों से होनेवाली मृत्यु से बचाए तथा विद्युत्पतन आदि आधिदैविक आपत्तियों से भी बचाए।

ऋषिः—**अश्विनौ**। देवता—**सभेशः**। छन्दः—**निचृदतिधृतिः**। स्वरः—**षड्जः**॥

अभिषेक

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। अश्विनोर्भैषज्येन तेजसे ब्रह्मवर्चसायाभि षिञ्चामि सरस्वत्यै भैषज्येन वीर्यायान्नाद्यायाभि षिञ्चामीन्द्रस्येन्द्रियेण बलाय श्रियै यशसेऽभि षिञ्चामि॥३॥

१. **सवितुः**=सबके उत्पादक व प्रेरक **देवस्य**=दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु के **प्रसवे**=अनुज्ञा में **त्वा अभिषिञ्चामि**=तेरा अभिषेक करता हूँ, अर्थात् तूने वेद में दिये गये प्रभु के आदेश के अनुसार शासन करना है। २. **अश्विनोः बाहुभ्याम्**=प्राणापान के प्रयत्न के हेतु से मैं तेरा अभिषेक करता हूँ, अर्थात् तू अपने प्रयत्न से कमाकर खानेवाला है। तेरी यह विशेषता भी तुझे इस शासनाधिकार के योग्य बनाती है। तू कोश को प्रजा के लिए धेनु='दूध पिलानेवाली' समझता है तो अपने लिए उस कोश को तू **'वशा'**=बन्ध्या गौ के समान समझता है। तू किसी प्रकार के विषयभोगों के लिए उस कोश का विनियोग नहीं करता। यह बात भी तुझे अभिषेक के योग्य बनाती है। ३. **पूष्णोः हस्ताभ्याम्**=पूषा के हाथों से भी मैं तेरा अभिषेक करता हूँ, क्योंकि तू किसी भी वस्तु का उतना ही ग्रहण करता है जितना पोषण के लिए पर्याप्त हो। ४. **अभिषिञ्चामि** =मैं तेरा अभिषेक इसलिए करता हूँ कि **अश्विनोः**=प्राणापान की **भैषज्येन**=चिकित्सा के द्वारा **तेजसे**=तेरे शरीर में नीरोगता के कारण तेजस्विता का प्रादुर्भाव हुआ है तथा **ब्रह्मवर्चसाय**=तेरे स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क के कारण ज्ञानाध्ययन की सम्पत्ति का प्रादुर्भाव हुआ है। तू शरीर से तेजस्वी है तो मस्तिष्क से ब्रह्मवर्चस्वी बना है। ५. **अभिषिञ्चामि**=मैं तेरा अभिषेक करता हूँ चूँकि **सरस्वत्यै भैषज्येन**=सरस्वती—विद्याधिदेवता' के चिकित्सन के द्वारा **वीर्याय**=तू शक्तिसम्पन्न बना है तथा **अन्नाद्याय**=तुझमें अन्न के खाने की शक्ति ठीक बनी है। तू मन्दाग्नि नहीं हो गया है। ज्ञान को विलासवृत्ति नष्ट करती है और इसके विनाश से इसकी शक्ति ठीक बनी रहती है। आहार-विहार के ठीक होने से वह मन्दाग्नि नहीं होता। मन्दाग्नि पुरुष कभी

भी शासन के लिए उपयुक्त नहीं होता, क्योंकि वह पग-पग पर खिझने की वृत्तिवाला होता है। ६. **अभिषिञ्चामि**=मैं तेरा इसलिए अभिषेक करता हूँ कि तू **इन्द्रस्य इन्द्रियेण**=इन्द्र की इन्द्रियों के द्वारा, अर्थात् स्वाधीन इन्द्रियों के द्वारा **बलाय**= बलसम्पन्नता के लिए समर्थ हुआ है, **श्रियै**=तेरा प्रत्येक कार्य शोभासम्पन्न है तथा **यशसे**=तू अपने कार्यों के साफल्य से यशःसम्पन्न बना है। **'जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः'**=जितेन्द्रिय राजा ही तो प्रजाओं को वश में स्थापित करने में समर्थ होता है।

भावार्थ—अभिषेक के योग्य राजा वह है जो—(क) परमेश्वर की अनुज्ञा में चलता है, (ख) अपने प्राणापान के प्रयत्न से अपनी आवश्यकताएँ पूर्ण करता है, (ग) पोषण से अधिक वस्तु का ग्रहण नहीं करता, (घ) प्राणापान के शक्तिवर्धन से तेजस्वी व ब्रह्मवर्चस्वी बना है, (ङ) ज्ञान से अपने को पवित्र करके वीर्यसम्पन्न तथा प्रज्वलित जाठराग्निवाला हुआ है, (च) इन्द्रियों को अपने अधीन रखके तू 'बल, श्री व यशः' सम्पन्न बना है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सभापतिः**। छन्दः—**निचृदार्षीगायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

सुश्लोक-सुमंगल-सत्यराजन्

कोऽसि कतमोऽसि कस्मै त्वा काय त्वा। सुश्लोक सुमङ्गल सत्यराजन् ॥४॥

१. हे राजन्! तू **कः असि**=सुखस्वरूप है, चिड़चिड़े स्वभाव का नहीं। सदा प्रसन्न रहता है **'स्मितपूर्वाभिभाषी'** है। २. **कतमः असि**=सुखस्वरूप होने से तू प्रजा के लिए भी अतिशयेन सुखकारी है। प्रजा को अधिक-से-अधिक सुखी करने का प्रयत्न करता है। ३. **कस्मै त्वा**=इस सुखस्वरूपता के लिए ही तुझे (अभिषिञ्चामि) अभिषिक्त करता हूँ। ४. **काय त्वा**=प्रजा के रक्षण के द्वारा प्रजा को सुखी करने के लिए मैं तुझे अभिषिक्त करता हूँ। ५. इन अपने स्वाभाविक कार्यों के कारण तू **सुश्लोक**=उत्तम यशवाला हुआ है। सारी प्रजाएँ तेरे गुणों का कीर्तन करती हैं। ६. **सुमङ्गल**=तू प्रजाओं का उत्तम मङ्गल करनेवाला है और ७. **सत्यराजन्**=तू सत्य से सदा चमकनेवाला है तथा सत्य से ही शासन करनेवाला है।

भावार्थ—राजा स्वयं प्रसन्नता के स्वभाववाला हो, प्रजा को प्रसन्न करनेवाला हो। इसी कारण उसका अभिषेक किया गया है। वह उत्तम शासन के कारण यशस्वी बने, प्रजा का मङ्गल करे और सत्य से चमक उठे, सत्य से ही सबका शासन करे।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सभापतिः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

व्रत-धारण

शिरो मे श्रीर्यशो मुखं त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि।
राजा मे प्राणोऽअमृतꣳसम्राट् चक्षुर्विराट् श्रोत्रम् ॥५॥

१. अभिषिक्त राजा उपस्थित प्रजाजन को सम्बोधित करता हुआ कहता है कि मैं प्रयत्न करूँगा कि **मे शिरः**=मेरा मस्तिष्क **श्रीः**=सदा 'श्रीसम्पन्न हो, उसमें सदा उत्तम विचारों को ही स्थान मिले। २. **मुखं यशः**=मेरा मुख यशस्वी हो, अर्थात् मेरे मुख से किसी प्रकार के अशुभ शब्दों का उच्चारण न हो। ३. **श्मश्रूणि**=(श्मनि श्रितम्) शरीर में आश्रित 'इन्द्रियाँ—मन व बुद्धि' ये सब **त्विषिः** =दीप्ति के पुञ्ज हों **च**=और **केशाः** =ज्ञान की रश्मियों से युक्त हों। ये सब अपने-अपने कार्य को करने में समर्थ होकर चमकें। ये सब

ज्ञान की किरणों से दीप्त हों। ४. मे प्राणः=मेरी प्राणशक्ति **राजा**=मेरे जीवन को दीप्त करनेवाली हो (राजृ दीप्तौ) तथा यह मेरे जीवन को बड़ा व्यवस्थित बनाए। साथ ही यह प्राणशक्ति **अमृतम्**=मुझे रोगों से मरने न दे। मुझे नीरोग बनाकर पूर्ण शतमान आयुवाला बनाए। ५. **चक्षुः**=मेरी आँख **सम्राट्**=सम्यक् प्रकाशमान हो। मानस स्वास्थ्य के कारण मेरी आँख में नैर्मल्य की चमक हो। ६. **श्रोत्रम्**=मेरा कान, वेदज्ञान को श्रवण करने के कारण, **विराट्**=विशिष्ट रूप से शोभायमान हो। आचार्य दयानन्द के शब्दों में यह विविध शास्त्र श्रवणयुक्त हो और इसीलिए यह **विराट्**=चमकनेवाला हो।

भावार्थ—राजा के व्रत हैं—(क) मैं मस्तिष्क में पवित्र विचारों को धारण करूँगा, (ख) मेरा मुख यशस्वी शब्दोंवाला हो, (ग) मेरी इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि सब-के-सब दीप्त व ज्ञान की रश्मियोंवाले हों, (घ) प्राण मेरी दीप्ति व अमरता का कारण हो, (ङ) चक्षु सम्राट् हो और (च) कान विराट् हो—ऐसा मैं प्रयत्न करूँगा।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सभापतिः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

राजा की इन्द्रियाँ

जिह्वा मे भद्रं वाङ् महो मनो मन्युः स्वराड् भामः।
मोदाः प्रमोदाऽअङ्गुलीरङ्गानि मित्रं मे सहः॥६॥

१. **मे जिह्वा**=(जुहोतिशब्दमन्नं यया द.) शब्दों का उच्चारण करनेवाली व अन्न का सेवन करनेवाली मेरी यह जिह्वा **भद्रम्**=भद्र हो। यह कल्याण व सुख का साधन बने। भद्र बनने के लिए ही यह शुभ शब्दों का उच्चारण करे व सात्त्विक अन्नों का सेवन करे। २. **वाङ् महः**=मेरी वाणी (पूज्यवेदशास्त्रबोधयुक्ता—द०) पूजनीय हो, यह उत्तम वेदज्ञान से युक्त हो। ३. **मनः**=हमारा मन **मन्युः**=अवबोधवाला हो, मननशील हो। ४. **भामः**=मेरा तेज **स्वराट्**=स्वयं चमकनेवाला हो, मुझे तेजस्विता के लिए आभूषणों व विलेपनों की आवश्यकता न हो। इन आभूषणों व विलेपनों के बिना भी मैं तेजस्वी प्रतीत होऊँ। ५. मेरी **अंगुलीः**=अंगुलियाँ (अगि गतौ) कर्मों में व्याप्त होनेवाली, सदा कर्मों में स्थापित की जानेवाली ये दीधितियाँ **मोदाः**=मेरी प्रसन्नता का कारण बनें। इसी प्रकार, **अङ्गानि**=(अगि गतौ) सदा क्रियाओं में व्याप्त रहनेवाले मेरे अङ्ग **प्रमोदाः**=मेरे प्रकृष्ट आनन्द का कारण बनें और ६. **सहः**=सहनशक्ति **मे मित्रम्**=मेरी मित्र हो, यह मुझे पापों से बचानेवाली हो।

भावार्थ—१. मेरी जिह्वा भद्र होगी। २. वाणी महनीय होगी। ३. मन विचारशील। ४. मेरा तेज निमित्तान्तर निरपेक्ष होगा। ५. अंगुलियाँ और अङ्ग क्रियाओं में व्याप्त रहकर आनन्द का अनुभव करेंगे। ६. सहनशक्ति मेरी मित्र होगी।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**राजा**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

बाहू+हस्तौ+उरः

बाहू मे बलमिन्द्रियश्हस्तौ मे कर्म वीर्यम्। आत्मा क्षत्रमुरो मम॥७॥

१. **बलम्**=शरीर का बल तथा **इन्द्रियम्**=एक-एक इन्द्रिय की शक्ति ही **मे बाहू**=मेरी भुजाएँ हों, अर्थात् मैं बल और इन्द्रियों को भुजा के रूप में देखूँ। २. **कर्म**=निरन्तर क्रियाशीलता और **वीर्यम्**=क्रियाशीलता से उत्पन्न वीर्य **मे हस्तौ**=मेरे हाथ हों। ३. **मम**=मेरा **आत्मा**=आत्मिक बल तथा **क्षत्रम्**=क्षतों से बचानेवाला क्षात्रबल ही **उरः**=मेरी छाती व वक्षःस्थल हो।

भावार्थ—राजा व्रत लेता है कि मैं (क) बल व इन्द्रिय-शक्ति को ही अपनी भुजाएँ समझूँगा। (ख) कर्म व कर्मजनित शक्ति को हाथ समझूँगा तथा (ग) आत्मिक बल व क्षात्रबल को ही उरःस्थनीय मानूँगा।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सभापतिः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

प्रजारूपी अङ्ग

पृष्टीर्मे राष्ट्रमुदरमꣳसौ ग्रीवाश्च श्रोणी।
ऊरूऽअरत्नी जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः॥८॥

१. गतमन्त्र के व्रतों के अनुसार अपने जीवन का सुन्दर परिपाक करके राष्ट्र के प्रति राष्ट्र-रक्षणयज्ञ में अपनी आहुति देता हुआ राजा कहता है कि **राष्ट्रम्**=राष्ट्र ही **मे पृष्ठी**=मेरा पृष्ठदेश—पश्चाद्भाग है। जैसे शरीर की मूल आधारभूत यह रीढ़ की हड्डी है, उसी प्रकार मैं अपने जीवन में राष्ट्र को ही रीढ़ की हड्डी समझता हूँ। उसके स्वास्थ्य पर ही मेरा स्वास्थ्य निर्भर करता है। २. **विशः**=ये प्रजाएँ **सर्वतः**=जो चारों ओर सब भागों से एकत्र हुई हैं, वे **मे**=मेरे **अङ्गानि**=अङ्गों के तुल्य हैं। **उदरम्**=वैश्यवर्ग उदर के समान है। **अंसौ**=सैनिकवर्ग मेरे कन्धों के समान है। **ग्रीवाः**=ब्राह्मण लोग गर्दन व कण्ठ के समान हैं। **श्रोणी**=रक्षकवर्ग कटिदेशों के तुल्य हैं। **ऊरू**=श्रमिकवर्ग जंघाओं के समान हैं। **अरत्नी**=शासन में भाग लेनेवाला सारा सैक्रेटेरियेट भुज-मध्यप्रदेशों के समान है तथा **जानुनी**=मन्त्रिमण्डल का अधीनस्थ कर्मचारीवर्ग घुटनों के तुल्य है। इन सब लोगों को मैं अपने अङ्गों के समान ही समझता हूँ। जिस प्रकार मुझे अपने अङ्ग प्रिय हैं, उसी प्रकार ये सारा प्रजावर्ग मुझे प्रिय है। इसकी पुष्टि में ही मैं अपनी पुष्टि समझता हूँ।

भावार्थ—प्रजा राष्ट्र-शरीर के विविध अङ्ग हैं। राष्ट्र स्वयं इस शरीर की रीढ़ की हड्डी है। राजा प्रजा को अपने शरीर के अङ्गों के समान समझता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सभेशः**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

प्रजा में प्रतिष्ठित

नाभिर्मे चित्तं विज्ञानं पायुर्मेऽपचितिर्भसत्।
आनन्दनन्दावाण्डौ मे भगः सौभाग्यं पसः।
जङ्घाभ्यां पद्भ्यां धर्मोऽस्मि विशि राजा प्रतिष्ठितः॥९॥

१. राजा ही कहता है कि **चित्तम्**=स्मृति—प्रभु का स्मरण, अपने कर्त्तव्य का स्मरण तथा **विज्ञानम्**=कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान **मे नाभिः**=मेरा केन्द्र हो 'नह बन्धने'। इस चित्त व विज्ञान का मुझमें बन्धन हो। मैं चित्त व विज्ञान से पृथक् न होऊँ। २. **अपचितिः**=पूजा—प्रभु का पूजन तथा **भसत्**=(भस दीप्तौ) ज्ञान की दीप्ति **मे पायुः**=मेरे रक्षक हों। जैसे शरीर में पायु=गुदेन्द्रिय सब मलों का निराकरण करके शरीर की रक्षा करता है, इसी प्रकार यह प्रभु-पूजन तथा ज्ञान मेरे मलों को दूर करके मेरा रक्षण करे। ३. **आनन्दनन्दौ** =आत्म-प्राप्ति का आनन्द अथवा मनःप्रसाद तथा **नन्द**=समृद्धि (नन्दति becomes prosperous) ये दोनों **मे**=मेरे **आण्डौ**=(अमति=to serve) मेरी सेवा करनेवाले हों, अर्थात् मुझे पारलौकिक कल्याण व ऐहलौकिक समृद्धि प्राप्त हो। ४. **भगः**=परमात्म-प्राप्ति का ऐश्वर्य व **सौभाग्यम्**=प्राकृतिक सम्पत्ति **मे**=मेरे **पसः**=(स्पृशतिकर्मणः) स्पर्श करनेवाले हों, अर्थात् मैं सदा इनके सम्पर्क में रहूँ। ५. **जङ्घाभ्यां पद्भ्याम्**=मैं अपनी जाँघों से तथा पाँवों से **धर्मः**

अस्मि=सबका धारण करनेवाला होऊँ। **'ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत'**=जांघें वैश्य हैं, पाँव 'शूद्र'। वैश्य धन का प्रतीक है तो शूद्र 'श्रम' का। मैं अपने धन व श्रम से सबका धारण करनेवाला बनूँ। ६. इस प्रकार **राजा**=दीप्त व व्यवस्थित जीवनवाला बनकर मैं **विशि**=प्रजा में **प्रतिष्ठितः**=प्रतिष्ठित होऊँ। प्रजा के जीवन को भी दीप्त व व्यवस्थित बनानेवाला होऊँ।

भावार्थ—राजा अपने जीवन में 'चित्त-विज्ञान-अचिति (पूजा), भसत् (प्रकाश), आनन्द-नन्द-भग तथा सौभाग्य' का समन्वय करके अपने धन व श्रम से प्रजा का धारक बने और प्रजा के जीवन को व्यवस्थित व दीप्त बनाए।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सभेशः**। छन्दः—**स्वराट्शक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

वश्यविश्व

प्रति॑ क्ष॒त्रे प्रति॑ तिष्ठामि रा॒ष्ट्रे प्रत्यश्वे॑षु॒ प्रति॑ तिष्ठामि॒ गोषु॑।
प्रत्यङ्गे॑षु॒ प्रति॑ तिष्ठाम्या॒त्मन् प्रति॑ प्रा॒णेषु॒ प्रति॑ तिष्ठामि पु॒ष्टे प्रति॒
द्यावा॑पृथि॒व्योः प्रति॑ तिष्ठामि य॒ज्ञे ॥१०॥

१. **प्रतिक्षत्रे**=प्रत्येक बल में **प्रतितिष्ठामि**=मैं प्रतिष्ठित होऊँ। बल व राष्ट्र में प्रतिष्ठित होने का अभिप्राय यह है कि मैं बल व राष्ट्र को अपने वश में करनेवाला बनूँ। २. **अश्वेषु प्रतितिष्ठामि**=मैं अश्वों में प्रतिष्ठित होऊँ तथा **गोषु प्रतितिष्ठामि**=गौवों में प्रतिष्ठित होऊँ, अर्थात् मैं गौवों व घोड़ों को खूब प्राप्त करूँ। मेरे राष्ट्र में गौवों व घोड़ों की कमी न हो। ३. **प्रत्यङ्गेषु**=मैं हाथ-पाँव आदि सब अङ्गों में **प्रतितिष्ठामि**=प्रतिष्ठित होऊँ तथा **आत्मन्**=चित्त में प्रतिष्ठित होऊँ। अङ्गों में प्रतिष्ठित होने का अभिप्राय यह है कि मेरे सब अङ्ग अविकल हों तथा चित्त आधियों से शून्य हो। ४. **प्रतिप्राणेषु**=प्रत्येक प्राण में **प्रतितिष्ठामि**=मैं प्रतिष्ठित होऊँ तथा **पुष्टे**=समृद्धि में मैं प्रतिष्ठित होऊँ। प्राणों में प्रतिष्ठित होने का अभिप्राय यह है कि मैं नीरोग बनूँ। पुष्टों में प्रतिष्ठित होने का अभिप्राय है कि मैं खूब धनसम्पन्न होऊँ। ५. **द्यावापृथिव्योः प्रतितिष्ठामि**=मस्तिष्क व शरीर दोनों में प्रतिष्ठित होऊँ (द्यावा=मस्तिष्क, पृथिवी=शरीरम्) एवं शरीर व मन के विकास के परिणामरूप मेरी द्यावापृथिवी में उत्कृष्ट कीर्ति हो। मैं शरीर व मस्तिष्क दोनों में लब्धकीर्ति बनूँ। ६. शरीर व मस्तिष्क को ठीक बनाकर **यज्ञे प्रतितिष्ठामि**=मैं यज्ञों में प्रतिष्ठित बनूँ। मेरी यज्ञों में रुचि हो। प्रभु ने इसी से मुझे फूलने-फलने का निर्देश दिया है।

भावार्थ—मैं 'क्षत्र-राष्ट्र-अश्व-गौ-प्रत्यङ्ग-चित्त-प्राण-पुष्ट, द्यावापृथिवी व यज्ञ में प्रतिष्ठित होऊँ। मैं 'वश्यविश्व, पशुमान्, आधिव्यधिरहित-श्रीमान् व यज्ञकर्ता' बनूँ।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**उपदेशकाः**। छन्दः—**पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

३३ देव

त्रया॑ दे॒वाऽएका॑दश त्रयस्त्रि॒ꣳशाः सु॒राध॑सः।
बृह॒स्पति॑पुरोहिता दे॒वस्य॑ सवि॒तुः स॒वे। दे॒वा दे॒वैर॑वन्तु मा ॥११॥

१. **त्रयाः**=(त्रयोऽवयवा येषां ते) तीन प्रकार के **एकादश**=ग्यारह-ग्यारह **देवाः**=देव **त्रयस्त्रिंशाः** =कुल मिलाकर तैतीस देव (जो ११ पृथिवीलोक में हैं, ११ अन्तरिक्षलोक में हैं तथा ११ द्युलोक में—**सुराधसः**=(शोभनं राधो येषाम्) उत्तम धनोंवाले हैं। उस-उस धनवाले हैं जोकि (राध्नोति अनेन) हमें सब प्रकार की उन्नतियों में सफल बनाते हैं।

२. ये **बृहस्पतिपुरोहिताः**=(बृहस्पतिः सूर्यः पुरः पूर्वः हितो धृतो येषु–द०) सूर्यरूपी मुखियावाले **देवाः**=देव **देवस्य सवितुः**=उस दिव्य गुणोंवाले उत्पादक प्रभु की **सवे**=अनुज्ञा में वर्त्तमान हुए-हुए **देवैः**=अपनी दीप्तियों से व अपने दिव्य गुणों से **मा अवन्तु**=मेरी रक्षा करें। ३. संसार में कुल तैतीस देव हैं—ये 'पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक' में स्थिति के कारण तीन प्रकार हैं। एक-एक देव में उत्तम धन निहित है। इन तैतीस देवों में सूर्य मुख्य है। वस्तुतः सूर्य केन्द्र में है और सब देव सूर्य के चारों ओर घूमते हैं और इस प्रकार एक सौरलोक बनता है। प्रभु की अनुज्ञा में वर्त्तमान ये सब देव अपने दिव्य गुणों से हमारी रक्षा करें।

भावार्थ—तैतीस देव मेरे लिए सुराधस् हों, ये मेरी रक्षा करें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृत्प्रकृतिः**। स्वरः—**धैवतः**॥

कामसमृद्धि

प्रथमा द्वितीयैर्द्वितीयास्तृतीयैस्तृतीयाः सत्येन सत्यं यज्ञेन यज्ञो यजुर्भिर्यजूंषि सामभिः सामान्यृग्भिर्ऋचः पुरोऽनुवाक्याभिः पुरोऽनुवाक्या याज्याभिर्याज्या वषट्कारैर्वषट्काराऽ आहुतिभिराहुतयो मे कामान्त्समर्धयन्तु भूः स्वाहा॥१२॥

१. गतमन्त्र के **प्रथमाः**=प्रथम स्थान में स्थित पृथिवीस्थ ग्यारह देव **द्वितीयैः**=द्वितीय स्थान में स्थित अन्तरिक्षस्थ ग्यारह देवों के साथ **मे**=मेरे **कामान्**=इष्टों को **समर्धयन्तु**=समृद्ध करें। इन देवों की कृपा से मेरे सब मनोरथ पूर्ण हों। मुझे पृथिवीस्थ ग्यारह देवों की कृपा से स्वास्थ्य प्राप्त हो तो अन्तरिक्षस्थ ग्यारह देवों की कृपा से मैं निर्मल हृदयवाला बनूँ। २. **द्वितीयाः**=द्वितीय स्थान में स्थित अन्तरिक्षस्थ ग्यारह देव **तृतीयैः**=तृतीय स्थान में स्थित द्युलोकस्थ ग्यारह देवों के साथ **मे कामान् समर्धयन्तु**=मेरे इष्टों को समृद्ध करें। मैं हृदय-नैर्मल्य के साथ ज्ञानदीप्ति को भी प्राप्त करूँ। ३. **तृतीयाः**=तृतीय स्थान में स्थित द्युलोकस्थ ग्यारह देव **सत्येन**=उस सत्यस्वरूप परमात्मा के साथ मेरी कामनाओं को पूर्ण करें। मैं ज्ञानी बनूँ तथा सत्य को अपनानेवाला होऊँ। ४. **सत्यम्**=वह सत्यस्वरूप प्रभु **यज्ञेन**=यज्ञ के साथ मेरे इष्टों को समृद्ध करे। मैं सत्य बोलूँ—यज्ञशील बनूँ। ५. **यज्ञः**=यज्ञ **यजुर्भिः**=देवपूजा, संगतिकरण व दान के साथ मुझे पूर्ण मनोरथ करे। मैं यज्ञशील बनूँ, देवों का आदर करूँ, बराबरवालों से प्रेम से मिलूँ तथा आवश्यकतावालों को दान अवश्य दूँ। ६. **यजुर्भिः**=ये पूजा, प्रेम व दान **सामभिः**=उपासनाओं के साथ व शान्त जीवन के साथ मुझे पूर्ण मनोरथ करें। मैं प्रभु का उपासक बनूँ और शान्त जीवनवाला होऊँ। ७. **सामानि**=ये उपासनाएँ **ऋग्भिः**=विज्ञानों व सूक्तों (मधुर भाषणों) के साथ मुझे समृद्ध काम करें। ८. **ऋचः**=ये विज्ञान **पुरोनुवाक्याभिः**=(पुरा अनु वच्) पूर्वाश्रम में आचार्य के उच्चारण के पीछे उच्चारण के द्वारा मेरे इष्टों को पूर्ण करें। पुरः का अर्थ 'सामने' भी होता है तब अर्थ होगा आचार्य के सामने बैठकर आचार्य से श्रावित ज्ञान को ठीक उसी के अनुसार उच्चारित करना। यह उच्चारण ही मुझे ज्ञानी बनाएगा। ९. **पुरःअनुवाक्याः**=प्रथमाश्रम में आचार्य के सामने बैठकर, आचार्य से उच्चरित ज्ञान को उच्चारण करने की क्रियाएँ **याज्याभिः**=(यज्=सङ्गतिकरण) उस ज्ञान को अपने साथ सङ्गत करने की क्रियाओं के साथ मुझे सफल मनोरथ करें। मैं उस ज्ञान को अपना अङ्ग बना पाऊँ। १०. **याज्याः**=यह ज्ञान को अपनाने की क्रियाएँ **वषट्कारैः**=(उत्तमकर्मभिः—द०) उत्तम कर्मों के साथ मुझे पूर्ण मनोरथ करें। ज्ञान का परिणाम मेरे जीवन में यह हो कि मैं सदा यज्ञादि उत्तम

कर्मोंवाला बनूँ। ११. **वषट्काराः**=ये उत्तम यज्ञादि कर्म **आहुतिभिः**=त्यागवृत्तियों के साथ मेरे कामों को समृद्ध करें। मेरा प्रत्येक कर्म त्याग की भावना से युक्त हो। १२. और अन्त में **आहुतयः**=यह त्याग, यज्ञों को करके यज्ञशेष खाना, **मे कामान् समर्धयन्तु**=मेरे इष्टों को पूर्ण करे। ये आहुतियाँ मेरे लिए इष्टकामधुक् हों। १३. **भूः**=इस प्रकार मैं सदा स्वस्थ बना रहूँ (भवति) नष्ट न हो जाऊँ और **स्वाहा**=उस **स्व**=आत्मा—प्रभु के प्रति अपना **हा**=अर्पण करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—मेरा जीवन देवों की कृपा से समृद्ध-काम हो। मैं स्वस्थ बनूँ, प्रभु के प्रति अपना अर्पण करूँ।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**अध्यापकोपदेशकौ**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

प्रयत्न व नम्रता (प्रयतिरानतिः)

लोमा॑नि॒ प्रय॑ति॒र्मम॒ त्वङ् म॒ऽआन॑ति॒राग॑तिः।
मा॒ᳪसं म॒ऽउप॑नति॒र्वस्व॒स्थि म॒ज्जा म॒ऽआन॑तिः॥१३॥

१. **मम लोमानि प्रयतिः**=मेरे बाल प्रकृष्ट यत्नवाले हैं। (मम लोमस्वपि प्रयत्नः) मेरे एक-एक लोम में प्रयत्न की भावना है। २. **मे त्वक्**=मेरी त्वचा **आनतिः**=नम्रता है तथा **आगतिः**=क्रियाशीलता है। **नतिः**=नम्रता **आनतिः**=सब दृष्टिकोणों से नम्रता। **आ-गतिः**= सदा क्रियाशीलता। 'त्वचा'—जैसे संवरण करती हुई शरीर को सुरक्षित रखती है, इसी प्रकार नम्रता और क्रियाशीलता मुझे वासनाओं के आक्रमण से बचाती हैं, एवं ये मेरी त्वचा हैं। ३. **उपनतिः**=विद्वानों के समीप नम्रता से उपस्थान ही **मे**=मेरा **मांसम्**=मांस है, मुझे बलवान् बनानेवाला है (बलवान्=मांसलः) ४. **वसु**=धन, राष्ट्रकोश ही, **अस्थि**=राष्ट्र-शरीर के ढाँचे को ठीक रखनेवाली हड्डी है। धन के बिना राष्ट्र-शरीर खड़ा नहीं रह सकता। ५. **आनतिः**=शत्रुओं को झुकाना **मे**=मेरी **मज्जा**=मज्जा (Marrow) है। शत्रुओं को नतमस्तक करना मेरे जीवन का अङ्ग बन गया है, यह मेरा स्वभाव हो गया है।

भावार्थ—मेरे जीवन में प्रयत्न (प्रयति), नम्रता (आनति), क्रियाशीलता (आगति) आचार्यों के समीप नम्रता से उपस्थान (उपनति)—ये सब बातें हैं। परिणामतः मैं वसुओं को प्राप्त कर पाया हूँ।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

अग्नि द्वारा पापमोचन

यद्दे॑वा देव॒हेड॑नं॒ देवा॑सश्चकृ॒मा व॒यम्।
अ॒ग्निर्मा॒ तस्मा॒देन॑सो॒ विश्वा॑न्मुञ्च॒त्वᳪह॑सः॥१४॥

१. **देवाः**=मन्त्र ११ में वर्णित तैतीस देवो! **देवासः**=ज्ञानी व समझदार होते हुए **वयम्**=हम **यत्**=जो **देवहेडनम्**=देवों का निरादर व अपराध **चकृमा**=करते हैं, कर बैठते हैं। २. **विश्वात् तस्मात् एनसः**=उस सब अपराध से **अग्निः**=इन पृथिवीस्थ देवों का अग्रणी अग्नि **मा**=मुझे **मुञ्चतु**=मुक्त करे और इस पापमोचन के द्वारा **अंहसः**=उस पाप से होनेवाली पीड़ा से भी **मुञ्चतु**=मुझे मुक्त करे। ३. पृथिवीस्थ देवों के विषय में अपराध यही है कि हम उन देवों का ठीक प्रयोग व सेवन नहीं करते। मिट्टी से बचने का यत्न करते हैं। यह मिट्टी तो पृथिवी देवता का अंश है। उसे शरीर पर रमाने से शरीर के विष दूर होते हैं, परन्तु हम उससे घबराते हैं, घृणा भी करते हैं। इसी प्रकार 'जठरेण हुताशनम्'=पेट

से अग्नि का सेवन मन्दाग्नि को दूर करता है। हम हाथों को तापते रहते हैं और अग्नि का लाभ नहीं उठा पाते। ४. शरीरस्थ सब देवांशों का ठीक प्रयोग होने से मनुष्य पापों व कष्टों से बचा रहता है।

भावार्थ—मेरे अन्दर आगे बढ़ने की भावना हो, यह भावना मुझे मार्गभ्रष्ट होने से बचाए और मैं पाप व कष्टों से बचा रहूँ।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

वायु द्वारा पापमोचन (दिवा+नक्तम्)

यदि दिवा यदि नक्तमेनांꣳसि चकृमा वयम्।
वायुर्मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वꣳहसः॥१५॥

१. **यदि**=यदि **दिवा**=दिन में और **यदि**=अथवा **नक्तम्**=रात्रि में **वयम्**=हम **एनांसि**=पापों को **चकृम**=कर बैठते हैं तो २. **वायुः**=अन्तरिक्षस्थ देवों का मुखिया वायु **मा**=मुझे **तस्मात्**=उस **विश्वात्**=सम्पूर्ण **एनसः**=पाप से **मुञ्चतु**=छुड़ाए और इस प्रकार उन पापों से होनेवाले **अंहसः**=कष्टों से भी **मुञ्चतु**=मुक्त करे। ३. दिन के विषय में सबसे बड़ा अपराध यह है कि दिन में हम अकर्मण्य हो जाएँ। 'अहन्' की भावना है—न-हन=न नष्ट करना। 'दिन के एक-एक क्षण को मूल्यवान् समझना और उन्हें नष्ट न होने देना' यही दिन का सदुपयोग है। निरन्तर उत्तम कर्मों में लगे रहकर हम दिन के विषय में सम्भव अपराधों से बचते हैं और रात्रि में गाढ़ी निद्रा में जाकर रात्रि-सम्बन्धी पापों से भी बच जाते हैं। 'रात्रि'=रमयित्री है, आराम के लिए है। 'उसमें एक-एक बजे तक जागते रहना', रात्रि के विषय में अपराध है। ४. उस अपराध से बचेंगे तो वायु हमें उन अपराधों से होनेवाले कष्टों से मुक्त करेगा। 'वायु' शब्द 'वा गतिगन्धनयोः' धातु से बना है। दिन में गति व रात्रि में गन्धन=मल का अल्पीभाव—ये भावनाएँ वायु शब्द में निहित हैं। 'दिनभर मैं गतिशील बना रहूँ तथा रात्रि में प्रकृति को दिनभर की टूट-फूट व मल को समाप्त करने का अवसर दूँ', यही वायु की प्रेरणा है। ऐसा होने पर मैं दिन-रात के विषय में होनेवाले पापों से, कष्टों से बचा रहूँगा।

भावार्थ—हम दिन में उत्तम कर्मों में लगे रहें तथा रात्रि में गाढ़ निद्रा के आनन्द का अनुभव करने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

सूर्य द्वारा पापमोचन (जागरित+स्वप्न)

यदि जाग्रद्यदि स्वप्नऽएनांꣳसि चकृमा वयम्।
सूर्यो मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वꣳहसः॥१६॥

१. **यदि जाग्रत्**=यदि जागते हुए अथवा **यदि स्वप्ने**=यदि सोते हुए **वयम्**=हम **एनांसि**=पापों को **चकृम**=कर बैठते हैं तो २. **सूर्यः**=सूर्य **मा**=मुझे **तस्मात्**=उस **विश्वात्**=सब **एनसः**=पाप से **मुञ्चतु**=मुक्त करे और उन पापों से होनेवाले **अंहसः**=कष्ट से भी मुक्त करे। ३. जाग्रत् अवस्था में प्रलोभनवश हम अपने व्यवहारों में शतशः गलतियाँ कर बैठते हैं। हम समझते हैं कि यह वस्तु न खानी चाहिए, परन्तु स्वादवश खा बैठते हैं। इसी प्रकार हम समझते हैं कि हमें यह शब्द नहीं बोलना चाहिए, परन्तु बोल बैठते हैं। यदि किसी प्रकार जाग्रत् अवस्था में हम अपने को वश में कर भी लें तो सो जाने पर हम उन्हीं

वस्तुओं का स्वाद लेने लगते हैं और अपशब्दों को बोलने लगते हैं। अतः ४. सूर्य हमें इन जागते व सोते समय होनेवाले पापों से बचाए और उनके परिणामभूत कष्टों से भी बचाए। 'सूर्य' शब्द की भावना है 'सरति'=चलता है। हमें भी दिनभर चलना है, थक नहीं जाना तभी तो हम इस अश्रान्त भाव से चलनेवाले सूर्य की भाँति चमकेंगे। निरन्तर क्रिया में लगे रहनेवाला व्यक्ति जाग्रत् व स्वप्न के पापों से बचा रहता है। जाग्रत् में उसे अवकाश नहीं होता, स्वप्न में उसे मोक्षरूपता-सी प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार यह सूर्य='सरण' की, निरन्तर चलने की प्रेरणा देकर हमें पापों से बचाता है।

भावार्थ—सूर्य से सरण व गति की प्रेरणा लेकर मैं अपने जाग्रत् व स्वप्न—दोनों को निष्पाप व कल्याणकर बनाऊँ।

सूचना—मन्त्र संख्या १४, १५ व १६ में 'अग्नि, वायु व सूर्य' से पापमोचन की प्रार्थना की गई है। 'अग्नि' शब्द 'अगि गतौ' से बनता है, तो वायु 'वा गतौ' से और सूर्य 'सृ गतौ' से बना है। एवं, तीनों में गति की भावना है। वस्तुतः जीवन का सार गति है, गति ही जीवन है। आत्मा शब्द का अर्थ भी 'अत सातत्यगमने' से बनकर 'निरन्तर गति' ही है। यह गति ही हमें पाप व अपवित्रता से बचाती है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

अव-यजन (दूरीकरण)

यद् ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये।
यच्छूद्रे यदर्ये यदेनश्चकृमा वयं यदेकस्याधि धर्मणि तस्यावयजनमसि ॥१७॥

१. **ग्रामे**=ग्राम के विषय में **यत्**=जो **एनः**=पाप **वयम्**=हम **चकृम**=कर बैठते हैं **तस्य**=उसके आप **अवयजनम् असि**=नाशक हैं (अवपूर्वो यजतिर्नाशने—उ०)। ग्राम-विषयक अपराध 'नागरिक' नियमों का न पालना है। 'सड़क पर कूड़ा फेंक देना, मार्ग पर ठीक स्थान में न चलना, लापरवाही से जलती तीली आदि को इधर-उधर डाल देना, बड़ी ऊँची तान पर रेडियो बजाना' आदि सब नागरिक अपराध हैं। २. **अरण्ये**=अरण्य—वन के विषय में हम **यत्**=जो अपराध करते हैं, आप उस पाप से हमें दूर करें। वनविषयक मुख्य अपराध लकड़ी को काटना, परन्तु नये वृक्ष व वनस्पतियों को न लगाना है। हम एक वृक्ष को काटें तो दो लगाने का ध्यान करें, अन्यथा वनों का उच्छेद होकर वृष्टि का भी अवग्रह (प्रतिबन्ध=रोक) हो जाएगा और लकड़ी भी अन्ततः समाप्त हो जाएगी। ३. **सभायाम्**=सभा के विषय में **यत्**=हम जो पाप करते हैं, उसे आप हमसे दूर करनेवाले हैं। 'सभा' में शान्तभाव से न बैठना, बातें करते रहना, ध्यानभंग करनेवाली या अप्रासंगिक बात करना' ये सब सभा-विषयक पाप हैं, इनसे हम बचें। ४. **इन्द्रिये**=इन्द्रियों के विषय में **यत्**=जो पाप हम करते हैं, उसको आप हमसे दूर करनेवाले हैं। इन्द्रियों के विषय में अपराध यही है कि हम उनका दुरुपयोग करते हैं या उपयोग ही नहीं करते, अतः हम ज्ञानेन्द्रियों को सदा ज्ञान-प्राप्ति में लगाये रक्खें और कर्मेन्द्रियों को यज्ञादि उत्तम कर्मों में व्यापृत रक्खें। ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्यों के सहायक भूत ५. **शूद्रे**=समाज में श्रम के द्वारा जीविकोपार्जन करनेवाले शूद्रों के विषय में **यत्**=हम उनके लिए जो अपशब्द आदि का प्रयोग करते हुए, उन्हें मनुष्य न समझते हुए अपराध करते हैं, उसे हमसे दूर कीजिए। ६. **अर्ये**=वैश्यों के विषय में **यत्**=हम जो पाप करते हैं, उनसे ऋण लेकर उन्हें समय पर रुपया नहीं देते अथवा देने से ही बचने का प्रयत्न करते हैं, उन पापों से हमें बचाइए। ७. घर में पति-पत्नी

दो मुख्य पात्र हैं। दोनों ने मिलकर घर को बनाना है। एक ने अन्दर का काम सँभाला है, दूसरे ने बाहर का। इस प्रकार सम्मिलित उत्तरदायित्व होने पर भी दोनों के अलग-अलग विशिष्ट कर्तव्य हैं। ये ही उनके 'अधिधर्म' हैं। 'एक-दूसरे के अधिधर्मों के विषय में आलोचना करते रहना' यह अधिधर्म विषयक अपराध है, अतः **यत्**=जो **एकस्य**=एक के **अधिधर्मणि**=अधिधर्म के विषय में हम अपराध करते हैं **तस्य**=उसके **अवयजनम् असि**=आप नाश करनेवाले हैं।

भावार्थ—हम ग्राम और सभा आदि के विषय में हो जानेवाले अपराधों से बचने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**वरुणः**। छन्दः—**भुरिगत्यष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**॥

'गोदुग्ध' व 'पाप-नाश'

यदापोऽअघ्न्याऽइति वरुणेति शपामहे ततो वरुण नो मुञ्च।
अवभृथ निचुम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुणः।
अव देवैर्देवकृतमेनोऽयक्ष्यव मर्त्यैर्मर्त्यकृतं पुरुराव्णो देव रिषस्पाहि ॥१८॥

१. हे **वरुण**=हमें सब पापों से बचानेवाले प्रभो! आपके आदेश के अनुसार **यत्**=जो **आपः**=सब भोगों को प्राप्त करानेवाली हैं, अतएव प्राप्त करने योग्य हैं, **अघ्न्याः इति**=न हिंसा करनेवालों में उत्तम हैं **वरुण इति**=जो वरण के योग्य हैं, परन्तु आपके आदेश को न सुनकर हम जो इन्हें **शपामहे**=(शपतिर्वधकर्मा) मारते हैं **ततः**=उस पाप से **नः**=हमें **मुञ्च**=छुड़ाइए। हम सब भोगों को प्राप्त करानेवाली, अमृतमय दुग्ध से हमें हिंसित न होने देनेवाली, वरणीय गौवों को न मारें। इनके द्वारा दुग्ध-घृतादि पदार्थों को प्राप्त करके हम विविध यज्ञों को सिद्ध करनेवाले बनें। २. **अवभृथ**=हे प्रभो! आप यज्ञरूप (Sacrifice) हैं। आपने जीव के हित के लिए (आत्मदा) अपने को भी दे डाला है। **निचुम्पुणः**=नितरां शान्त गति से आप चल रहे हैं। 'चुप मन्दायां गतौ' शान्तभाव से आप ब्रह्माण्ड-निर्माण आदि क्रियाओं में लगे हुए हैं। इन सब क्रियाओं में कहीं व्यग्रता नहीं, कहीं शोर नहीं। **निचेरुः असि**=निश्चय से आप चरणशील हैं (**स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च**) आपकी क्रिया स्वाभाविक है। **निचुम्पुणः**=बिना शोर किये शान्तभाव से आप इन सब क्रियाओं को करते चल रहे हैं। ३. आप हमारे जीवनों को भी इसी प्रकार 'शान्त व क्रियामय' बनाइए और **देवैः**=दिव्य गुणों के उत्पादन के द्वारा **देवकृतं एनः**=देवताओं के विषय में हमसे हो जानेवाले अपराधों को **अव अयक्षि**=हमसे दूर कीजिए तथा **मर्त्यैः**=हम मर्त्यों से (स्खलनशीलो हि मनुष्यः=to err is human) स्खलनशील स्वभाव के कारण **मर्त्यकृतम्**=मनुष्यों के विषय में किये अपराधों को **अव अयक्षि**=हमसे दूर कीजिए। बड़ों के प्रति निरादर, बराबरवालों से कलह व छोटों के प्रति कठोरता ही प्रायः मर्त्यकृत पाप का स्वरूप है। आप हमें इनसे बचाइए। ४. हे **देव**=दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभो! **पुरुराव्णः**=बहुतों को रुलानेवाली **रिषः**=हिंसा से **पाहि**=हमें बचाइए।

भावार्थ—हम गोहत्या करके गोमांस भक्षण करने के स्थान में गोरक्षण द्वारा गोदुग्धरूप अमृत का सेवन करें, जिससे हमारे जीवन शान्त, यज्ञात्मक, क्रियामय हों। हम देवों के विषय में पाप न करें, न ही मनुष्यों के विषय में।

सूचना—देवकृत एनः=देवताओं के विषय में पाप यही है कि हम शरीरस्थ देवांशों के

स्वास्थ्य का ध्यान नहीं करते। सूर्यादि देव चक्षु आदि के रूप में हमारे शरीर में रह रहे हैं। हमें उन्हें पूर्ण स्वस्थ रखना चाहिए, परन्तु गोमांसादि अभक्ष्य पदार्थों के भक्षण के द्वारा हम उनकी हिंसा के कारण बनते हैं। देव हविर्भुक् हैं, मांसभुक् नहीं। हमें चाहिए कि हम गोदुग्धादि सात्त्विक पदार्थों के सेवन से इस देवकृत पाप को अपने से दूर करें। हममें दिव्य गुणों की वृद्धि हो।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**आपः**। छन्दः—**निचृदतिजगती**। स्वरः—**निषादः**॥

समुद्रे ते हृदयमप्स्वन्तः सं त्वा विशन्त्वोषधीरुतापः। सुमित्रिया नऽआपऽओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः॥१९॥

१. गतमन्त्र में गोमांस का निषेध करके गोदुग्धादि सात्त्विक पदार्थों के सेवन का संकेत था। उस सात्त्विक आहार के परिणामस्वरूप **समुद्रे**=(स+मुद्) सदा आनन्दमय रसरूप (रसो वै सः—तैत्तिरीय०) उस प्रभु में ही **ते**=तेरा **हृदयम्**=हृदय हो। संसार के सब कार्यों को करते हुए भी तू प्रभु का विस्मरण करनेवाला न हो। २. **अप्सु अन्तः** =तेरा एक-एक क्षण कर्मों में निहित हो। एक क्षण के लिए भी तू अकर्मण्य न बने। **'कुर्वन्नेवेह कर्माणि'** इस आदेश के अनुसार कर्मों को करते हुए ही तू जीने का प्रयत्न कर। ३. **त्वा**=तुझमें **ओषधीः उत आपः**=ओषधियों व जलों का ही **संविशन्तु**=प्रवेश हो। तू मांस को शरीर में प्रविष्ट मत करने लगना। ४. यह सुनकर जीव प्रार्थना करता है कि **नः**=हमारे लिए **आपः ओषधयः**=जल व ओषधियाँ **सुमित्रियाः**=उत्तम स्नेह करनेवाली (मिद् स्नेहने) तथा रोगों से बचानेवाली (प्रमीतेः त्रायते) **सन्तु**=हों। ५. ये ओषधियाँ व जल **तस्मै**=उनके लिए ही **दुर्मित्रियाः**=दुर्मित्रिय हों, अस्नेहकर व रोगों से न बचानेवाली हों **यः**=जो **अस्मान् द्वेष्टि**=हम सबके साथ द्वेष करता है **च**=और परिणामतः **यम्**=जिसको **वयम्**=हम सब भी **द्विष्मः**=नहीं चाहते हैं। स्नेह के अभाव व द्वेष के धारण करनेवाले व्यक्ति के लिए ये जल व ओषधियाँ हितकर नहीं होतीं। इस व्यक्ति के अन्दर कुछ विष उत्पन्न हो जाते हैं और ये भोजन उसका कल्याण नहीं कर पाते।

भावार्थ—सात्त्विक वानस्पतिक भोजन हमें नीरोग बनाए। केवल शरीर में ही नहीं, मन में भी। प्रभु का हम स्मरण करें, सदा कर्मनिष्ठ हों। किसी से द्वेष न करें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**आपः**। छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

कर्मों के द्वारा पवित्रता

द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नातो मलादिव।
पूतं पवित्रेणेवाज्यमापः शुन्धन्तु मैनसः॥२०॥

१. **इव**=जैसे **द्रुपदात्**=पादुका=खड़ाओं से **मुमुचानः**=(मुच्यमानः) छूटता हुआ पुरुष उससे उत्पन्न दोषों से मुक्त हो जाता है। २. **इव**=जैसे **स्विन्नः**=स्वेद व पसीनेवाला पुरुष **स्नातः**=स्नान किया हुआ **मलात्**=मल से पृथक् हो जाता है। ३. **इव**=जैसे **आज्यम्**=घृत **पवित्रेण**=छलनी से छाना हुआ **पूतम्** =पवित्र हो जाता है, ४. उसी प्रकार **आपः**=कर्म **मा** =मुझे **एनसः**=पाप से **शुन्धन्तु**=शुद्ध कर दें। मनुष्य कर्मों में लगा रहता है तो उसके मन में अशुभ विचार उत्पन्न ही नहीं होते। अशुभ विचारों के अभाव में उसका जीवन पवित्र बना रहता है। ५. 'आपः' शब्द का अर्थ आप्त पुरुष भी है—चरित्र व ज्ञान की दृष्टि से ऊँचे पुरुषों का सङ्ग हमें निश्चितरूप से पाप से बचाता ही है। ६. 'आपः' का अर्थ

'सर्वव्यापक प्रभु' भी है। वह सर्वव्यापक प्रभु हमें पापों से बचाए। प्रभु का स्मरण पवित्रता का सर्वमहान् साधन है। ७. (क) मुझे आपः 'कर्म' इस प्रकार पाप से छुड़ा देते हैं जैसेकि पादुका को पहनना छोड़ने से मनुष्य तदुत्पन्न दोषों से छूट जाता है। आलस्य गया—दोष गये। (ख) आपः='आप्त पुरुष' मुझे इस प्रकार पापों से मुक्त कर देते हैं जैसेकि स्नान व्यक्ति को पवित्र कर देता है। आप्त पुरुषों के उपदेश की जलधाराएँ पापरूपी स्वेद को दूर कर देती हैं। (ग) **आपः**=सर्वव्यापक प्रभु पवित्र हैं, उनके ध्यान में छनकर मैं इस प्रकार पवित्र हो जाता हूँ जिस प्रकार कि घृत छलनी में से छनकर पवित्र हो जाता है।

भावार्थ—कर्मशीलता, आप्त पुरुषों का सङ्ग, सर्वव्यापक प्रभु का स्मरण मुझे पवित्र करनेवाले हों।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

उत्–उत्तर–उत्तम

उद्वयं तम॑स॒स्परि॒ स्व॒ः पश्य॑न्त॒ऽउत्त॑रम्। दे॒वं दे॑व॒त्रा सूर्य॒मग॑न्म॒ ज्योति॑रुत्त॒मम्॥२१॥

१. 'गतमन्त्र के अनुसार उत्तरोत्तर पवित्र होते हुए हम प्रभु को प्राप्त होते हैं' इस बात को प्रस्तुत मन्त्र में इस प्रकार कहते हैं कि **वयम्**=हम **उत्**=उत्कृष्ट **तमसः**=तमोबहुल अन्धकारमय प्रकृति से **परि**=परे **अगन्म**=चलें। इस प्रकृति से ऊपर उठें। प्राकृतिक भोगों में ही फँसे न रह जाएँ। यह प्रकृति उत्कृष्ट है, परन्तु जीव को इसके अन्दर आसक्त नहीं हो जाना। इससे ऊपर उठना है। २. इससे परे **उत्तर**=प्रकृति व जीव की तुलना में जीव श्रेष्ठ है, क्योंकि वह चेतन है। इस **उत्तर**=उत्कृष्ट **स्वः**=(स्वयं राजते) स्वयं राजमान चैतन्ययुक्त इस जीव को **पश्यन्तः**=देखते हुए हम आगे बढ़ें। प्राकृतिक भोगों में न फँसनेवाला व्यक्ति ही आत्मस्वरूप का दर्शन कर पाता है। ३. इस आत्मस्वरूप को देखते हुए हम उस **सूर्यम्**=सबके प्रेरक प्रभु को **अगन्म**=प्राप्त हों, जो **देवत्रा देवम्**=देवों में भी देव हैं। उस प्रभु की दीप्ति से ही ये सब सूर्यादि देव चमक रहे हैं। इन सब देवों को दीप्ति देनेवाले **उत्तमं ज्योतिः**=सर्वोत्तम प्रकाशमय प्रभु को हम प्राप्त करें। प्रभु उत्तम हैं, वे पूर्ण चैतन्य होने से पूर्ण आनन्दमय हैं। ४. प्रकृति 'उत्'=उत्कृष्ट है, जीव 'उत्तर' अधिक उत्कृष्ट है, प्रभु 'उत्तम' हैं, सर्वाधिक उत्कृष्ट हैं, उत्कृष्टता की सीमा हैं। हम पवित्र बनते हैं जब प्रकृति में नहीं फँसते। पवित्रतर होते हैं, जब आत्मस्वरूप को देखने का प्रयत्न करते हैं। प्रभु का दर्शन हमें पवित्रतम बना देता है। शुद्ध प्रभु में जीवन भी शुद्ध हो जाता है (तादृगेव)।

भावार्थ—प्रकृति उत्कृष्ट है, परन्तु उसमें आसक्त न होकर उसका ठीक प्रयोग करते हुए हम आत्मस्वरूप का दर्शन करें। अधिकाधिक पवित्र होते हुए प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

रस से संसर्ग

अ॒पोऽअ॒द्यान्व॑चारिष॒ꣳरसे॑न॒ सम॑सृक्ष्महि।
पय॑स्वानग्न॒ऽआग॑मं॒ तं मा॒ सꣳसृ॑ज॒ वर्च॑सा प्र॒जया॑ च॒ धने॑न च॥२२॥

१. गतमन्त्र के 'प्रभु-मिलन' के लिए **अद्य**=आज ही से मैंने **आपः अनु अचारिषम्**=कर्मों का व आप्त पुरुषों का अनुसरण किया है। मैंने सब प्रकार के आलस्य की भावना को परे फेंककर कर्मशीलता को स्वीकार किया है और आप्तजनों के ही सम्पर्क में रहने व उनके

पदचिह्नों पर चलने का निश्चय किया है परिणामतः २. **रसेन**=(रसो वै सः) उस रसरूप आनन्दमय प्रभु से **समसृक्ष्महि**=संस्पृष्ट हुआ हूँ। कर्मशीलता व सत्संग मेरे प्रभु-मिलन के साधन बने हैं। ३. हे **अग्ने**=हमारी सब उन्नतियों के साधक प्रभो! **पयस्वान्**=आप्यायन व वर्धनवाला होकर **आगमम्**=मैं आपके समीप आया हूँ। उन्नति करनेवाला पुरुष ही परमात्मा को पाता है। ४. **तं मा**=उस मुझे आप **वर्चसा**=शक्ति से **प्रजया**=उत्तम सन्तान से **च**=तथा **धनेन च**=धन से भी **संसृज**=संसृष्ट कीजिए। इस जीवन की उत्तमता के लिए (क) सबसे पहली वस्तु शक्ति है। शक्ति के बिना सब व्यर्थ है। (ख) अपने स्वास्थ्य के बाद संसार को सुन्दर बनानेवाली दूसरी वस्तु उत्तम सन्तान है। सन्तान उत्तम न हो तो घर नरक बन जाता है। (ग) संसार को चलाने के लिए धन भी चाहिए। उसके बिना संसार चलना सम्भव नहीं। स्वर्गतुल्य घर तभी बनता है जब शरीर में शक्ति हो, सन्तानें उत्तम हों तथा धन का अभाव न हो।

भावार्थ—हम क्रियाशीलता व आप्तपुरुषों के सङ्ग से रसरूप परमात्मा से मेल कर सकें। उन्नत होते हुए प्रभु को प्राप्त करें। वे प्रभु हमें 'शक्ति, उत्तम सन्तान व धन' दें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**समित्**। छन्दः—**स्वराडतिशक्वरी**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

उदार इच्छाएँ

एधो॑ऽस्येधिषी॒महि॑ स॒मिद॑सि॒ तेजो॑ऽसि॒ तेजो॒ मयि॑ धेहि।
स॒माव॑वर्ति पृथि॒वी सम॒ुषाः सम॒ु सूर्यः॑। सम॒ु विश्व॑मि॒दं जग॑त्।
वै॒श्वा॒न॒रज्यो॑तिर्भूयासं वि॒भून्कामा॒न्व्य॑श्नवै॒ भूः स्वाहा॑॥२३॥

१. गतमन्त्र के अनुसार उस रसमय प्रभु से अपना सम्पर्क बनानेवाला व्यक्ति प्रभु से प्रार्थना करता है कि **एधः असि**=आप सदा से बढ़े हुए हैं। आप प्रत्येक गुण का निरतिशय रूप हैं। **एधिषीमहि**=आपके सम्पर्क से हम भी बढ़नेवाले बनें। २. **समित् असि**=आप सम्यक् दीप्त ज्ञानाग्निरूप हैं। आपकी कृपा से मेरी ज्ञानाग्नि भी दीप्त हो। ३. **तेजः असि**=आप तेजस्विता के पुञ्ज हैं। **तेजः मयि धेहि**=आप मुझमें तेजस्विता का आधान कीजिए। ४. इस 'वर्धन-ज्ञानाग्निदीपन व तेजस्विता' के लिए मैं उसी प्रकार अपने दैनिक कार्यक्रम का ठीक से आवर्तन करूँ जैसेकि **पृथिवी समाववर्ति**=पृथिवी सम्यक्तया आवृत्त हो रही है। **उ**=और **उषाः**=उषा **उ**=तथा **सूर्यः**=सूर्य भी **सम्**=नियमपूर्वक आवर्तन में चल रहा है। बहुत क्या? **इदं विश्वं जगत्**=यह सम्पूर्ण संसार **उ**=भी **सम्**=सम्यक् आवर्तन कर रहा है। इस संसार से प्रेरणा लेकर मैं भी सम्यक् आवर्तनवाला बनूँ। मेरी दिनचर्या बड़ी ठीक हो। ५. इस प्रकार प्राकृतिक जगत् के आवर्तन की भाँति अपने दैनिक कार्यक्रम का ठीक आवर्तन करता हुआ मैं **वैश्वानरज्योतिः**=सब मनुष्यों के सञ्चालक प्रभु की ज्योतिवाला बनूँ, प्रभु के तेज से तेजस्वी बनूँ। ६. **विभून्**=व्यापक **कामान्**=इच्छाओं को **व्यश्नवै**=प्राप्त करूँ। मेरी कमानाएँ उदारता को लिये हुए हों। संकुचित, स्वार्थमयी इच्छाओंवाला मैं न होऊँ। ७. इस प्रकार उत्तम जीवनवाला बनकर **भूः**=मैं प्राणशक्ति का पुञ्ज बनूँ और **स्वाहा**=उस आत्मा के प्रति अपना अर्पण करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—मैं 'वर्धन-ज्ञानाग्निदीपन व तेजस्वितावाला' होऊँ। सूर्य-चन्द्र आदि की भाँति व्यवस्थित क्रियाओंवाला बनूँ। प्रभु के तेजोंऽश को प्राप्त करूँ। उदारमना बनूँ। प्राणशक्तिसम्पन्न होकर समर्पण की वृत्तिवाला होऊँ।

ऋषिः—**आश्वतराश्विः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

व्रत और श्रद्धा

अभ्यादधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि।
व्रतं च श्रद्धां चोपैमीन्धे त्वा दीक्षितोऽअहम्॥२४॥

१. हे **अग्ने**=सारे संसार के सञ्चालक प्रभो! **व्रतपते**=व्रतों का पालन करनेवाले प्रभो! **त्वयि**=आपकी प्राप्ति के निमित्त **समिधम्**=ज्ञान की दीप्ति को **अभ्यादधामि**=मैं धारण करता हूँ, ज्ञान के अभ्यास के द्वारा तीव्र हुई-हुई बुद्धि से ही मैं आपका दर्शन कर पाऊँगा। २. आपकी बनाई हुई यह भौतिक अग्नि भी व्रतपति है। मैं उस अग्नि में समिधा रखता हूँ और इस दीप्त हुई अग्नि से **दीक्षितः**=दीक्षित हुआ-हुआ **अहम्**=मैं **व्रतं च श्रद्धाम्**=व्रत और श्रद्धा को प्राप्त होता हूँ। प्रभु अपने नियमों व व्रतों को तोड़ते नहीं, यह अग्नि भी अपने व्रतों को तोड़ती नहीं। घृत व हव्य पदार्थों की आहुति देनेवाले के हाथ को भी यह जलाती है। मैं भी इससे दीक्षा लूँ और इस संसार में मुझे 'स्तुति-निन्दा, सम्पत्ति-विपत्ति व जन्म-मृत्यु' भी अपने व्रतों से विचलित न कर सकें। ३. इस प्रकार निष्कामभाव से व्रतों का पालन करता हुआ मैं हे प्रभो! **त्वा**=आपको **इन्धे**=अपने हृदयाकाश में दीप्त करनेवाला बनूँ। निष्काम होकर श्रद्धा से व्रतों का पालन ही प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है।

भावार्थ—१. प्रभु-प्राप्ति के निमित्त मैं अपने में ज्ञानदीप्ति को धारण करूँ। २. व्रत और श्रद्धा को धारण करनेवाला बनूँ। ३. निष्कामभाव से व्रतों का श्रद्धापूर्वक पालन मेरे हृदय को प्रभु के प्रकाश से पूर्ण करेगा।

ऋषिः—**आश्वतराश्विः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

पुण्यलोक

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना॥२५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार व्रत और श्रद्धा को धारण करनेवाला व्यक्ति जिस पुण्यलोक को प्राप्त करता है, उसका वर्णन करते हैं कि **यत्र**=जहाँ **ब्रह्म च क्षत्रम्**=ज्ञान और बल **सम्यञ्चौ**=सम्यक् प्रकट होनेवाले **सह चरतः**=साथ-साथ विचरते हैं। ज्ञान 'ब्रह्म' है। 'बृहि वृद्धौ' यह सब प्रकार की वृद्धि का कारण है। बल 'क्षत्र' है—यह सब प्रकार के क्षतों से त्राण करनेवाला है, आघातों से, चोटों से बचानेवाला है। ये **सम्यञ्च**=सम्यक् प्रकट होनेवाले हों, अर्थात् इनका उत्तम विकास हुआ हो। उत्तम लोक वही है जहाँ इस ब्रह्म व क्षत्र का साथ-साथ विकास होता है। अकेला ज्ञान जीवन को सुन्दर नहीं बनाता, अकेला बल जीवन को पाशविक-सा बना देता है। २. मैं **तं पुण्यं लोकम्**=उस पुण्यलोक को **प्रज्ञेषम्**=(ज्ञानीयाम्—द०) जानूँ, अर्थात् प्राप्त करूँ। **यत्र**=जहाँ **देवाः**=सब देव **अग्निना सह**=अग्नि के साथ होते हैं। विद्वान् मन्त्रिवर्ग देव हैं, राजा 'अग्नि' है। उत्तमलोक व राष्ट्र वही है जहाँ मन्त्री राजा के साथ होते हैं, जहाँ इनका परस्पर विरोध नहीं होता। ३. वस्तुतः इस प्रकार मन्त्रियों व राजा में अविरोध होने पर राष्ट्र-व्यवस्था बड़ी सुन्दरता से चलती है। उस व्यवस्था में वे इस बात का पूर्ण ध्यान करते हैं कि (क) राष्ट्र में कोई अनपढ़ न रहे, ज्ञान का सम्यक् विकास हो तथा राष्ट्र में कोई भी निर्बल न हो। (ख) स्वास्थ्य की व्यवस्था अत्यन्त सुन्दर हो। सफ़ाई व खान-पान का सब प्रबन्ध ठीक होने से लोगों की

शक्ति बढ़े। शिक्षणालय ज्ञानवृद्धि का कारण बनें, व्यायामशालाएँ बलवृद्धि की हेतु हों।

भावार्थ—पुण्यलोक वही है जहाँ (क) ज्ञान के साथ बल का भी विकास है। (ख) जहाँ मन्त्रिवर्ग व ज्ञानीवर्ग राजा के साथ ऐकमत्यवाला होकर राष्ट्र की उन्नति में तत्पर है। वे मिलकर राष्ट्र में शिक्षणालयों की स्थापना करते हैं, व्यायामशालाओं का निर्माण करते हैं।

ऋषिः—**आश्वतराश्विः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

इन्द्र+वायु

यत्रेन्द्रश्च वायुश्च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र सेदिर्न विद्यते॥२६॥

१. गतमन्त्र के पुण्यलोक का ही वर्णन करते हुए कहते हैं कि **यत्र**=जहाँ **इन्द्रः च वायुः च**=इन्द्र और वायु, अर्थात् बल की देवता तथा गति (=ज्ञान) की देवता (गतेस्त्रयोऽर्थाः—ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्च) **सम्यञ्चौ**=सम्यक् विकासवाले होते हुए **सह चरतः**=साथ-साथ विचरते हैं, अर्थात् जहाँ सब लोग सबल तथा ज्ञानसम्पन्न हैं २. **तम्**=उस **पुण्यं लोकम्**=शुभ लोक को **प्रज्ञेषम्**=(प्रजानीयाम्) मैं जान पाऊँ, **यत्र**=जिस लोक में **सेदिः**=अन्न के न प्राप्त होने से होनेवाला विनाश **न विद्यते**=नहीं है। ३. राष्ट्र में सब मन्त्री राजा के साथ मिलकर इस प्रकार व्यवस्था करते हैं कि राष्ट्र में अन्न की कमी नहीं होती। राष्ट्र में कोई भी व्यक्ति भूखा नहीं मरता। राजा ने जहाँ यह व्यवस्था करनी है कि सभी सबल हों (इन्द्र), सभी ज्ञानसम्पन्न हों (वायु), वहाँ उसे सभी के लिए अन्न भी प्राप्त कराना चाहिए, आपस्तम्ब के शब्दों में '**नास्य विषये कश्चित् क्षुधयावसीदेत्**' इसके राष्ट्र में कोई भी भूख से अवसन्न (मृत) न हो।

भावार्थ—पुण्यलोक में 'इन्द्र और वायु' का स्थापन होता है, अर्थात् वहाँ के निवासी सबल व सज्ञान होते हैं। इनमें कोई निर्बल व मूर्ख नहीं होता। अन्नाभाव से कोई मरता नहीं।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

अंशुना अंशुः

अ॒ꣳशुना॑ ते अ॒ꣳशुः पृ॑च्यतां॒ परु॑षा॒ परुः॑।
ग॒न्धस्ते॒ सोम॑मवतु॒ मदा॑य॒ रसो॒ऽअच्यु॑तः॥२७॥

१. गतमन्त्र में वर्णित पुण्यलोक के निवासियों के लिए ही कहते हैं कि **अंशुना**=ज्ञान की किरण के साथ **ते**=तेरी **अंशु**=ज्ञान की किरण **पृच्यताम्**=संपृक्त हो, अर्थात् तेरा ज्ञान-प्राप्ति का तन्तु कभी विच्छिन्न न हो। '**हिरण्यमस्तृतम् भव**'=तू अविच्छिन्न ज्ञानवाला बन, अर्थात् तेरा ज्ञान निरन्तर बढ़ता चले। २. शरीर में **परुषा**=जोड़ के साथ **परुः**=जोड़ **पृच्यताम्**=ठीक जुड़ा हो। अङ्गों का शरीर में सन्धान बिलकुल ठीक हो। जोड़ों के ढीले हो जाने पर जैसे एक गाड़ी पुराना छकड़ा-सा बन जाती है, उसी प्रकार तेरा यह शरीर-रथ जीर्णशीर्ण-सा न बन जाए। इसमें सब जोड़ ठीक से जुड़े हों। ३. 'तेरा ज्ञान अविच्छिन्न हो' तथा 'तेरे शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग ठीक से सटे हुए हों' इन दोनों बातों के लिए **ते**=तेरा **गन्धः**=(सम्बन्धः) प्रभु के साथ सम्पर्क **सोमम्**=शरीर में सोमशक्ति को **अवतु**=सुरक्षित करे। सोम की रक्षा होने पर ही ज्ञान की अविच्छिन्नता व शरीर की दृढ़ता सम्भव है। ४. यह **अच्युतः**=न क्षरित हुआ **रसः**=जीवन को रसमय बनानेवाला अथवा ओषधियों का

सारभूत सोमरस तेरे उल्लास के लिए होता है। ओषधियों के सेवन से रसादि क्रम से उत्पन्न हुआ-हुआ सोम जब प्रभु-स्मरण के द्वारा शरीर में ही सुरक्षित किया जाता है तब यह एक अद्भुत मस्ती का कारण होता है। जीवन में इस सोम का पान (रक्षण) करनेवाला व्यक्ति उल्लास का अनुभव करता है।

भावार्थ—हमारा ज्ञान अविच्छिन्न हो, शरीर सुदृढ़ हो। प्रभु-स्मरण के द्वारा हम अपने सोम की रक्षा करें, न क्षरित हुआ-हुआ यह सोम हमारे जीवन में उल्लास देनेवाला हो।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिगुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**॥

किन्त्वः

सिञ्चन्ति परि षिञ्चन्त्युत्सिञ्चन्ति पुनन्ति च।
सुरायै बभ्र्वै मदे किन्त्वो वदति किन्त्वः॥२८॥

१. गतमन्त्र के अनुसार सोम की रक्षा करनेवाले व्यक्ति इस सोम को **सिञ्चन्ति**=शरीर में ही सिक्त करते हैं, **परिषिञ्चन्ति**=शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों में इसे सिक्त करने के लिए यत्नशील होते हैं **उत्सिञ्चन्ति**=और अन्ततः इसे ऊर्ध्वगति के द्वारा मस्तिष्क की ज्ञानाग्नि में सिक्त करते हैं। अग्नि में जैसे घृत डालते हैं, उसी प्रकार ये मस्तिष्क की ज्ञानाग्नि में इस सुरक्षित सोम को समिधा के रूप में रखते हैं और उसे दीप्त करने का प्रयत्न करते हैं। २. इस प्रकार ये व्यक्ति-ज्ञानाग्नि में सोम का सेचन करके ज्ञानवृद्धि के द्वारा **पुनन्ति च**=अपने को पवित्र करते हैं। ३. इस ज्ञान के द्वारा अपने को पवित्र करके वे **सुरायै**=(सुर् to shine) चमकने के लिए होते हैं, ज्ञान की दीप्ति से मनुष्य क्यों न चमकेगा? क्षात्रबल से ब्रह्मबल की दीप्ति कहीं अधिक है। चमकने के साथ यह **बभ्र्वै**=उत्तम भरण व पोषण के लिए होता है। मस्तिष्क में 'ब्रह्म' (ज्ञान) है तो इसके शरीर में 'क्षत्र' (बल) होता है। ज्ञान से वासनाओं के विनाश के कारण ही शरीर में शक्ति सुरक्षित रहती है। ४. इस प्रकार ज्ञान व शक्ति होने पर इसके जीवन में एक विशेष उल्लास होता है और **मदे**=उस उल्लास के होने पर यह अपने को ही प्रेरणा-सी देते हुए **वदति**=कहता है कि **किन्त्वः**='कस्य त्वम्' आज तू उस आनन्दमय प्रजापति परमात्मा का बना है। उस **कः**='अनिर्वचनीय परमात्मा' का बनने के कारण ही तेरा नाम **किन्त्वः**=इस प्रकार हो गया है।

भावार्थ—हम सोम को शरीर में सुरक्षित करें, अङ्ग-प्रत्यङ्ग में व्यापक रक्खें, उसकी ऊर्ध्वगति करें। इससे हम अपने जीवनों को पवित्र बनाएँ। ज्ञान की दीप्ति व शरीर का ठीक पोषण होने पर जो एक विशेष उल्लास प्राप्त होता है, उसे प्राप्त कर लेने पर हम अपने लिए कह सकेंगे कि 'तू आज उस आनन्दमय अनिर्वचनीय महिमावाले प्रभु का हो गया है', तेरा नाम ही 'किन्त्व' प्रसिद्ध हुआ है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

ध्यान-दान-शोधन-स्तवन

धानावन्तं करम्भिणमपूपवन्तमुक्थिनम्। इन्द्र प्रातर्जुषस्व नः॥२९॥

१. गतमन्त्र का 'किन्त्व' प्रभु से प्रार्थना करता है कि **इन्द्र**=हे परमैश्वर्यशील प्रभो! हे **प्रातः**=(प्रा पूरणे) हममें सब अच्छाइयों को भरनेवाले प्रभो! आप **नः**=हमें **जुषस्व**=प्रेम करनेवाले होओ, अर्थात् मैं आपका प्रिय बनूँ। जैसे सदा पढ़ाई में प्रथम निकलनेवाले पुत्र से पिता प्रेम करता है, इसी प्रकार मैं भी अपनी उत्तम क्रियाओं से प्रभु का प्रिय बनूँ। २.

किस प्रकार के जीवनवाले मुझसे प्रभु प्रेम करें? **धानावन्तम्**=(धान=अवधान=ध्यान) उत्तम ध्यानवाले मुझको। जीवन-यात्रा की पहली मंजिल में मेरा यही कर्त्तव्य होना चाहिए कि मैं माता-पिता व आचार्य से दिये जानेवाले ज्ञान को ध्यान से सुनूँ और ग्रहण करूँ। जीवन-यात्रा की पहली मंजिल में 'ध्यान' ही मेरा आदर्श वाक्य हो। ३. अब जीवनयात्रा की दूसरी मंजिल में **करम्भिणम्**=(करेण दीयते) हाथों से दिये जानेवाले दान की वृत्तिवाले मुझसे आप प्रेम कीजिए। गृहस्थ में मैं सदा कुछ-न-कुछ दान देनेवाला बनूँ। 'करम्भ' शब्द का अर्थ 'दधिसक्तु' भी होता है। दधि व सक्तु (दही-सत्तू) आदि सात्त्विक पदार्थों का ही सेवन करनेवाला मैं आपका प्रेमपात्र बनूँ। ४. अब जीवन-यात्रा के तीसरे प्रयाण में **अपूपवन्तम्**=उत्तम इन्द्रियोंवाले मुझसे आप प्रेम कीजिए। गृहस्थ में थोड़े-बहुत मल से मलिन हुई-हुई इन्द्रियों को वानप्रस्थ में मैं फिर से पवित्र बनाने के लिए प्रयत्नशील होता हूँ (इन्द्रियम् पूपः—ऐ० २।२४)। तीव्र तप के द्वारा इन्द्रियों को निर्मल बनानेवाला मैं आपका प्रिय बनूँ। ५. शुद्धेन्द्रिय बनकर **उक्थिनम्**=जीवन के चतुर्थाश्रम में निरन्तर आपके स्तोत्रों का उच्चारण करनेवाले मुझसे आप प्रेम कीजिए। सदा आपके स्तवन से अपने जीवन को पवित्र रखनेवाला मैं आपका प्रिय बनूँ।

भावार्थ—प्रभु का प्रिय वह होता है जो—(क) ध्यानवाला होता है, (ख) दान देता है, (ग) इन्द्रियों को शुद्ध रखता है, तथा (घ) सदा प्रभु-नाम स्मरण करनेवाला बनता है।

ऋषिः—**नृमेधपुरुषमेधौ**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

प्रभु-स्तवन

बृहदिन्द्राय गायत मरुतो वृत्रहन्तमम्।
येन ज्योतिरजनयन्नृतावृधो देवं देवाय जागृवि ॥३०॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति 'प्रभु-स्तवन करनेवाला' बनने से हुई थी। उसी प्रभु-स्तवन के लिए प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **मरुतः**=हे प्राणसाधना करनेवाले मनुष्यो! **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली, सब शत्रुओं का संहार करनेवाले प्रभु के लिए **बृहत् गायत**=खूब ही गायन करो, अथवा उस गायन को करो जो गायन कि 'बृहत्' तुम्हारा वर्धन करनेवाला है तथा **वृत्रहन्तमम्**=(अतिशयेन वृत्रं हन्ति) जो गायन वृत्र का अतिशयेन विनाश करनेवाला है। प्रभु के नाम-स्मरण से वासना नष्ट हो जाती है, मन में अशुभ विचार आते ही नहीं। ३. यह प्रभु के गुणों का गायन वह है **येन**=जिससे **ऋतावृधः**=अपने में **ऋत**=यज्ञ व सत्य का वर्धन करनेवाले लोग **ज्योतिः**=उस ज्योति को **अजनयन्**=उत्पन्न करते हैं, जो **देवम्**=दीप्यमान व हममें दिव्यता को बढ़ानेवाली है तथा **जागृवि**=जागरणशील व अविनश्वर है, जिस ज्ञान की ज्योति से हम सो नहीं जाते, सदा सावधान रहते हैं। ३. यह ज्ञान की ज्योति ही अन्त में **देवाय**=उस प्रभु को प्राप्त कराने के लिए होती है। इस ज्ञान-ज्योति को प्राप्त करके मनुष्य प्रभु का साक्षात्कार करनेवाला बनता है। ज्ञान-ज्योतिवाला पुरुष इस जीवनयात्रा में भटकता नहीं है। यह आगे बढ़ता हुआ उस प्रभु को प्राप्त करता है, जो '**सा काष्ठा सा परागतिः**'=अन्तिम लक्ष्य-स्थान है।

भावार्थ—हम प्रभु का गायन करें। यह गायन (क) हमारा वर्धन करेगा, (ख) वासनाओं को विनष्ट करेगा, (ग) हम ऋत का अपने में वर्धन करनेवाले होंगे और (घ) हममें वह ज्ञान-ज्योति उत्पन्न करेंगे जो हमें जागरणशील-सावधान रक्खेगी तथा हमें प्रभुरूप लक्ष्य-स्थान पर पहुँचाएगी।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

इन्द्राय—पातवे

अध्वर्यो॒ऽअद्रि॑भिः सु॒तꣳसोमं॑ प॒वित्र॒ऽआ न॑य। पु॒ना॒हीन्द्रा॑य पात॑वे॥३१॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर चलनेवाला व्यक्ति 'अध्वर्यु' होता है, अध्वर को अपने साथ जोड़ता है। गतमन्त्र में इसे ही 'ऋतावृध्' कहा था। इस अध्वर्यु से कहते हैं कि—हे **अध्वर्यो**=अहिंसक मनोवृत्ति को अपने साथ जोड़नेवाले यज्ञशील पुरुष! **अद्रिभिः**=पाषाणतुल्य दृढ़ शरीरों के निर्माण के हेतु से **सुतम्**=उत्पन्न किये गये **सोमम्**=इस सोम को, वीर्य को **पवित्रे**=जीवन की पवित्रता की साधनभूत ज्ञानाग्नि में **आनय**=सर्वथा प्राप्त करनेवाला बन, अर्थात् इस वीर्य की ऊर्ध्वगति करते हुए तू इसको अपनी ज्ञानाग्नि का ईंधन बना। यह ज्ञानाग्नि समिद्ध होकर तेरे सब दोषों को भस्मसात् करती है। २. इस प्रकार समिद्ध ज्ञानाग्नि से दोषों को भस्म करता हुआ **पुनाहि**=तू अपने को पवित्र बना और अपने को पवित्र करता हुआ तू **इन्द्राय**=परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिए हो तथा **पातवे**=अपने रक्षण के लिए हो।

भावार्थ—शरीर में सोम की उत्पत्ति इसीलिए की गई है कि (क) शरीर पाषाणतुल्य दृढ़ हो तथा (ख) मनुष्य ज्ञानदीप्त होकर पवित्र जीवनवाला बने और (ग) अन्त में यह प्रभु को प्राप्त कर सके।

ऋषिः—**कौण्डिन्यः**। देवता—**परमात्मा**। छन्दः—**पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

प्रभु का ग्रहण

यो भू॒ताना॒मधि॑पति॒र्यस्मिँ॑ल्लो॒काऽअधि॑ श्रि॒ताः।
यऽईशे॑ मह॒तो म॒हाँस्तेन॑ गृह्णा॒मि त्वाम॒हं मयि॑ गृह्णा॒मि त्वाम॒हम्॥३२॥

१. गतमन्त्र के अनुसार सोमरक्षा द्वारा प्रभु को प्राप्त करनेवाला व्यक्ति प्रभु-दर्शन करता है और कह उठता है कि आप **यः**=जो **भूतानाम् अधिपतिः**=सब भूतों के अधिपति हैं, **यस्मिन्**=जिस आपमें **लोकाः**=सब लोक **अधिश्रिताः**=स्थित हैं, **यः ईशे**=आप ईश हैं, सबका शासन करनेवाले हैं, आप **महतो महान्**=महान् से भी महान् हैं, **तेन**=इस हेतु से **अहम्**=मैं **त्वाम्**=आपको **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ। 'प्रकृति व परमात्मा' के चुनाव में आपको चुनता हूँ। २. आपका वरण करनेवाला मैं भी (क) भूतों का अधिपति बन पाऊँगा। ऐसा बन सकने पर मेरा स्वास्थ्य कभी विकृत न होगा। (ख) सब लोक मुझमें स्थित होंगे—मैं सभी को आश्रय देनेवाला बनूँगा। (ग) अपनी इन्द्रियों का ईश—शासन करनेवाला बनूँगा, न कि दास। (घ) इस प्रकार जितेन्द्रियता व आत्मशासन के द्वारा मैं बड़े-से-बड़ा बनने का प्रयत्न करूँगा, विशाल हृदयवाला होऊँगा। इस प्रकार **अहम्**=मैं **त्वाम्**=आपको **मयि**=अपने में **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ, आपको अपने जीवन में धारण करता हूँ।

भावार्थ—प्रभु का अपने में धारण करने का अभिप्राय है कि (क) हम पृथिवी आदि भूतों के पूर्ण अधिपति बनते हुए स्वस्थ बनें, (ख) हम सब लोकों के शरणस्थान बनें, (ग) अपनी इन्द्रियों के ईश बनें, और (घ) विशाल-से-विशाल हृदयवाले हों।

सूचना—'**मयि गृह्णामि त्वामहम्**' का शब्दार्थ इस रूप में भी है कि मैं आपको अन्दर ग्रहण करता हूँ। प्रभु का ग्रहण जब कभी भी होगा, हृदयाकाश में ही होगा। प्रभु को बाह्य वस्तुओं में गृहीत नहीं किया जा सकता। मूर्त्ति में उसका दर्शन न होकर हृदय में होगा।

ऋषिः—**काक्षीवत्सुकीर्तिः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभु का ग्रहण क्यों?

उपयामगृहीतोऽस्यश्विभ्यां त्वा सरस्वत्यै त्वेन्द्राय त्वा सुत्राम्णऽएष ते योनिरश्विभ्यां त्वा सरस्वत्यै त्वेन्द्राय त्वा सुत्राम्णे॥३३॥

१. गतमन्त्र में 'प्रभु-ग्रहण' का उल्लेख था। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि वह प्रभु-ग्रहण कैसे होगा और प्रभु-ग्रहण क्यों आवश्यक है? **उपयामगृहीतः असि**=हे प्रभो! आप **उप**=उपासना द्वारा **याम**=यम-नियमों के धारण करने से गृहीत होते हैं, अर्थात् आपका धारण मैं तभी कर पाऊँगा जब (क) उपासना को अपनाऊँगा और (ख) उपासना के द्वारा मेरा जीवन यम-नियमों के बन्धन में बँधा हुआ होगा। २. **त्वा**=मैं आपको (क) **अश्विभ्याम्**=प्राणपान के लिए ग्रहण करता हूँ। आपकी उपासना से मेरी प्राणापान शक्ति की वृद्धि होगी। (ख) **सरस्वत्यै**=ज्ञान की अधिदेवता के लिए। आपके ग्रहण से मेरा ज्ञान बढ़ेगा तथा (ग) **इन्द्राय**=इन्द्रशक्ति के लिए। आपकी उपासना व ग्रहण से मेरा आत्मिक बल बढ़ता है और अन्त में (घ) **सुत्राम्णे**=उत्तमता से अपने त्राण के लिए। आपके धारण से मैं केवल शारीरिक रोगों से ही नहीं बचता, मानस विकारों से भी मैं अपनी रक्षा कर पाता हूँ। आपका धारण मुझे शरीर की व्याधियों के साथ मन की आधियों से भी बचाता है। ३. इस सारी बात का ध्यान करते हुए **एषः**=यह मैं **ते योनिः** =तेरा गृह बनता हूँ। मैं घर होऊँ और आप उस घर के पति। ऐसा मैं इसीलिए चाहता हूँ कि **अश्विभ्यां त्वा**=प्राणापान के लिए **सरस्वत्यै त्वा**=ज्ञान की अधिदेवता के लिए तथा **इन्द्राय**=प्राणशक्ति के विकास के लिए तथा **सुत्राम्णे**=उत्तमता से अपना धारण करने के लिए समर्थ हो सकूँ।

भावार्थ—उपासना व यम-नियमों के पालन से हम परमात्मा का अपने में ग्रहण करें, जिससे हमारी प्राणापानशक्ति की वृद्धि हो, ज्ञान का प्रकाश प्राप्त हो, हमारी आत्मशक्ति का विकास हो तथा हम उत्तमता से अपना त्राण कर सकें—आधि-व्याधियों से बच सकें।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—लिङ्गोक्ताः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

मन का विलायक

प्राणपा मेऽअपानपाश्चक्षुष्पाः श्रोत्रपाश्च मे।
वाचो मे विश्वभेषजो मनसोऽसि विलायकः॥३४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार उपासना व यम-नियमों के पालन से प्रभु का अपने में ग्रहण करनेवाला व्यक्ति अनुभव करता है कि हे प्रभो! आप **मे**=मेरे **प्राणपाः**=प्राणों की रक्षा करनेवाले हो। **अपानपाः**=मेरे अपान की रक्षा करनेवाले हो। जहाँ आप मेरे बल को बढ़ाते हैं, वहाँ मेरी दोष-दूरीकरण की शक्ति को भी स्थिर रखते हैं। २. **चक्षुष्पाः**=आप मेरी आँखों की रक्षा करनेवाले हैं तथा **श्रोत्रपाः च मे**=मेरे श्रोत्रों को सुरक्षित करनेवाले हैं। इन सुरक्षित आँखों व श्रोत्रों की शक्ति से मेरा ज्ञान निरन्तर वृद्धि को प्राप्त करता है। प्राणापान की रक्षा से शरीर का स्वास्थ्य प्राप्त हुआ था तो इन चक्षुः=नेत्रों की रक्षा से मुझे दृष्टि का स्वास्थ्य मिलता है। ३. हे प्रभो! आप **मे वाचः** =मेरी वाणी के **विश्वभेषजः**=सब दोषों की औषध हैं। मेरी वाणी आपकी उपासना से पवित्र होकर अपशब्दों व अनृत का उच्चारण नहीं करती, वह आपके नामजप आदि पवित्र कार्यों में ही प्रवृत्त रहती है। और ४. हे प्रभो! आप **मनसः**=मेरे मन के **विलायकः असि**=विलायक हैं (विलाययति विषयेभ्यो निवर्त्यात्मनि

स्थापयति—म०) मेरे मन को विषयों से व्यावृत्त करके अपने में स्थापित करनेवाले हैं। भौतिक वस्तुओं में थोड़ी देर तक स्थिर रहकर मन फिर भटक जाता है, क्योंकि उनका आगा-पीछा देखकर उसकी उत्सुकता समाप्त हो जाती है, परन्तु एक बार प्रभु में चलने लगा तो वह फिर ओर-छोर को न पाकर वहीं उलझा रह जाएगा। उस प्रभु की अनन्तता में ही विलीन-सा हो जाएगा, अतः मन प्रभु को पाकर ही स्थिर होगा। अन्यथा भटकता ही रहेगा।

भावार्थ—जब हम प्रभु को अपने में धारण कर पाते हैं तब (क) प्राणापान सुरक्षित होकर हमारे शरीर का बल बढ़ता है, (ख) चक्षुः-श्रोत्र की रक्षा लेकर हमारा ज्ञान बढ़ता है, (ग) हमारी वाणी प्रभुनाम-स्मरण से सब दोषों से निवृत्त हो जाती है, हम शुभ ही शब्दों को बोलते हैं, (घ) प्रभु में हमारा मन ऐसा विलीन हो जाता है कि अपने आप ही वह विषयव्यावृत्त हो जाता है, विषय उसके लिए नीरस हो जाते हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**निचृदुपरिष्टाद्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

उपहूत का उपहूत

अ॒श्विन॑कृतस्य ते॒ सर॑स्वतिकृत॒स्येन्द्रे॑ण सु॒त्राम्णा॑ कृ॒तस्य॑।
उप॑हूत॒ऽउप॑हूतस्य भक्षयामि॥३५॥

१. गतमन्त्र में प्रभु का आराधन करते हुए कहा गया था कि आप ही हमारे प्राणापान की शक्ति के व ज्ञानादि के रक्षक हैं। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि इस शक्ति की रक्षा व ज्ञानवृद्धि के साधनभूत 'सोम' की आपने हममें स्थापना की है। हे प्रभो! मैं **ते**=आपके सोम का **भक्षयामि**=भक्षण करता हूँ—उसे अपने शरीर का अङ्ग बनाता हूँ। उस सोम का जो २. **अश्विनकृतस्य**=(आश्विनाभ्यां कृतस्य—म०) प्राणापान के हेतु से किया गया है। यहाँ तृतीया का प्रयोग उसी प्रकार है जैसेकि (अध्ययनेन वसामि=अध्ययन के हेतु से रहता हूँ)। इस सोम की रक्षा से ही मनुष्य प्राणापान की शक्ति का वर्धन करनेवाला होता है। ३. **ते**=तेरे उस सोम का जो **सरस्वतिकृतस्य**=विद्या की अधिदेवता के हेतु से किया गया है, अर्थात् इस सोम की रक्षा से ही मनुष्य का ज्ञान बढ़ता है। ४. उस सोम का मैं भक्षण करता हूँ जो **इन्द्रेण कृतस्य**='इन्द्र' के हेतु से उत्पन्न किया गया है। **'सर्वाणि बलकर्माणि इन्द्रस्य'** इन्द्र के सब कर्म सबल होते हैं। सोम की रक्षा से मेरे भी सब कार्य शक्तिसम्पन्न होते हैं और मैं सब असुरों का, आसुरवृत्तियों का संहार करके सचमुच देवराट्=दिव्य गुणों से चमकनेवाला इन्द्र बनता हूँ। ५. मैं उस सोम का भक्षण करता हूँ जोकि **सुत्राम्णा कृतस्य**=उत्तम त्राण के हेतु से उत्पन्न किया गया है। इस सोम के रक्षण से मैं शरीर को व्याधियों से और मन को आधियों से बचा पाता हूँ और इस प्रकार यह सोम मेरे लिए सुत्रामन् होता है। मैं भी इसकी रक्षा के द्वारा 'सुत्रामा' बनता हूँ। ६. उस सोम का भक्षण करनेवाला मैं कौन हूँ? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि **उपहूतस्य**=प्रतिदिन प्रातः-सायं (कृतोपहवस्य—म०) पुकारे गये व समीप बुलाये गये उस प्रभु का **उपहूतः**=उपहूत मैं हूँ। मैं प्रभु का आह्वान करता हूँ। प्रभु मुझे अपने समीप बुलाते हैं। ७. प्रभु का उपासन सोमरक्षण का सर्वोत्तम साधन है और यह सुरक्षित सोम हमारी प्राणापान शक्ति को बढ़ाता है, हमारे ज्ञान को बढ़ाता है, हमें असुर-संहार-समर्थ देवराट् इन्द्र बनाता है और हम इसकी रक्षा से शरीर व मन को पूर्ण नीरोग बनानेवाले 'सुत्रामा' बनते हैं।

भावार्थ—उपहूत प्रभु के हम उपहूत बनें और सोमरक्षण के द्वारा प्राणापान की शक्ति, ज्ञान व इन्द्रशक्ति का वर्धन करें तथा शरीर व मन को नीरोग बना पाएँ।

ऋषिः—**आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

द्वारोद्घाटन

समि॑द्धऽइन्द्र॑ऽउषसा॒मनी॑के पुरो॒रुचा॑ पूर्व॒कृद्वा॑वृधा॒नः।
त्रि॒भिर्दे॒वैस्त्रि॒ꣳश॒ता वज्र॑बाहुर्ज॒घान॑ वृ॒त्रं वि दुरो॑ ववार॥३६॥

१. गतमन्त्र का सोमभक्षण करनेवाला व्यक्ति अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाला बनकर 'आङ्गिरस' बनता है और अग्रिम ग्यारह मन्त्रों का ऋषि यह 'आङ्गिरस' ही है। यह आङ्गिरस=सोम का पान व रक्षण करनेवाला व्यक्ति **समिद्धः**=ज्ञान से खूब दीप्त बनता है। २. **इन्द्रः**=सब इन्द्रियों की शक्ति से सम्पन्न 'इन्द्र' बनता है। ३. यह **उषसाम् अनीके** (अनीकं मुखम्)=उषःकालों के अग्रभाग में ही **पुरोरुचा**=अग्रतो गामिनी दीप्ति से **वावृधानः**=निरन्तर बढ़ता हुआ होता है, अर्थात् बहुत प्रातःकाल में ही स्वाध्यायादि के द्वारा उस ज्ञान को यह धारण करनेवाला होता है, जो ज्ञान इसकी निरन्तर उन्नति का कारण बनता है। ४. यह **पूर्वकृत्**=पूर्वदिशा को अपनी दिशा बनानेवाला होता है। यह दिशा 'उदय की दिशा' है—यह अपने जीवन में 'सत्य, यश व श्री' के दृष्टिकोण से उदयवाला होता है। ५. उदय के मार्ग पर चलता हुआ यह **त्रिभिः त्रिंशता देवैः**=तेतीस देवों से सम्पन्न होता है। ६. **वज्रबाहुः**=क्रियाशीलतारूप वज्र (वज् गतौ) को हाथों में लिये होता है और **वृत्रं जघान** =इस वज्र से ज्ञान की आवरणभूत 'वृत्र' नामक वासना को नष्ट कर देता है। ७. वासना को नष्ट करके यह **दुरः**=मोक्षलोक के चार द्वारों को **विववार**=खोल डालता है। मोक्ष के चार द्वार **'शमो विचारः संतोषः चतुर्थः साधुसंगमः'**=शम, विचार, सन्तोष व साधुसंगम हैं। इसके जीवन में ये चारों ही बातें होती हैं—यह शान्त होता है, विचारशील व सन्तोषी बनता है, सदा सत्सङ्ग में रुचिवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु का उपासक (उपहूत) स्वाध्याय द्वारा ज्ञानसमिद्ध बनता है। उन्नति करता हुआ सब देवों को अपने में धारण करता है, क्रियाशील जीवन के द्वारा वासना से ऊपर उठता है और मोक्ष के चारों द्वारों को अपने लिए खोलता हुआ 'शान्त, विचारशील, सन्तोषी व सत्सङ्गी' बनता है।

ऋषिः—**आङ्गिरसः**। देवता—**तनूनपात्**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

यज्ञ का धाम

न॒राश॑ꣳसः॒ प्रति॒ शूरो॒ मिमा॑न॒स्तनू॒नपा॒त्प्रति॑ य॒ज्ञस्य॒ धाम॑।
गोभि॑र्व॒पावा॒न्मधु॑ना सम॒ञ्जन्हिर॑ण्यैश्च॒न्द्री य॑जति॒ प्रचे॑ताः॥३७॥

१. गतमन्त्र का आङ्गिरस चारों मोक्ष द्वारों को खोलनेवाला **नराशंसः**=(नरैः आ=समन्तात् शंस्यते) सर्वत्र मनुष्यों से प्रशंसित होता है। यह २. **प्रति-शूरः**=प्रत्येक वासना व शत्रु से मुक़ाबला करनेवाला वीर होता है। ३. **प्रतिमिमानः**=कार्य को माप-तोलकर करनेवाला होता है और ४. इसीलिए **तनू-न-पात्** =शरीर को वह गिरने नहीं देता, शरीर को पूर्ण स्वस्थ बनाये रखता है। ५. **यज्ञस्य धाम**=(यज्ञो वै विष्णुः) सृष्टियज्ञ को करनेवाले सर्वव्यापक 'यज्ञ' नामक प्रभु का यह घर (निवासस्थान) बनता है। ६. जब यह अपने हृदय में प्रभु को बिठा लेता है तब **गोभिः**=उस हृदयस्थ प्रभु से उच्चरित की गई वेदवाणियों के द्वारा

यह **वपावान्**=(वप्=बोना) प्रशस्त गुणों के बीजों को बोनेवाला होता है। अपने अन्दर उत्तम गुणों का विकास करता है। ७. **मधुना समञ्जन्**=माधुर्य से अपने जीवन को अलंकृत करता है। इसका व्यवहार व वाणी अत्यन्त मधुर होते हैं। अन्दर गुण हों तो वाणी व व्यवहार में माधुर्य होना ही चाहिए। ८. **हिरण्यैः**=(हितरमणीयैः) हितरमणीय ज्ञानों के द्वारा, वीर्य के द्वारा शक्तियुक्त होने के कारण **चन्द्री**=यह सदा आह्लाद—प्रसन्नता की वृत्तिवाला होता है। ९. **यजति**=यज्ञशील होता है—(क) बड़ों का आदर करता है, (ख) बराबरवालों से मिलकर चलता है तथा (ग) देने की शक्तिवाला होता है। १०. **प्रचेताः**=यह प्रकृष्ट चेतनावाला—उत्कृष्ट ज्ञानी बनता है। जीवन को बड़ी समझदारी से उन्नति-पथ पर ले-चलता है, कभी असावधान नहीं होता।

भावार्थ—हम प्रभु को अपने में धारण करनेवाले बनें, उसकी ज्ञानवाणियों से जीवन में सद्गुणों के बीज बोएँ। माधुर्यवाले हों। सदा आह्लादमय, यज्ञशील व प्रचेता बनें।

ऋषिः—**आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

पुरन्दरः

ईडि॒तो दे॒वैर्हरि॑वाँ२॥ऽअभि॒ष्टिरा॒जुह्वा॑नो ह॒विषा॒ शर्द्ध॑मानः।
पु॒र॒न्द॒रो गो॑त्र॒भिद्वज्र॑बाहु॒राया॑तु य॒ज्ञमुप॑ नो जुषा॒णः॥३८॥

१. अपने जीवन को गतमन्त्र के अनुसार बनानेवाला व्यक्ति **देवैः ईडितः**=देवों से स्तुत होता है। विद्वान् लोग इसकी प्रशंसा करते हैं। अथवा **देवैः**=दिव्य गुणों के हेतु से (हेतु में तृतीया) यह (ईडितमस्य अस्ति इति) प्रभु की स्तुति करनेवाला होता है। प्रभु-स्तुति के द्वारा यह दिव्य गुणों को अपने में धारण करनेवाला होता है। २. **हरिवान्**=प्रशस्त इन्द्रियरूप घोड़ोंवाला बनता है। ३. **अभिष्टिः**=(अभिगमनवान्—उ०) कामादि शत्रुओं पर यह आक्रमण करनेवाला होता है। ४. **आजुह्वानः**=समन्तात् यज्ञों को करनेवाला बनता है—यज्ञ इसका स्वभाव हो जाता है। ५. **हविषा**=इस यज्ञ की वृत्ति से, दानपूर्वक अदन की वृत्ति से—यह **शर्द्धमानः**=(शर्ध इति बलनाम अतिबलायमानः—म०) अत्यन्त बलवान् की भाँति आचरण करनेवाला होता है। ६. **पुरन्दरः**=इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि में असुरों से बनाये गये पुरों का यह विदारण करनेवाला होता है। यह असुरों की तीनों पुरियों का विध्वंस कर डालता है। वासनाओं को नष्ट करके यह 'पुरन्दर' बनता है। ७. **गोत्रभित्**=जीवनयात्रा में पर्वत के समान आ जानेवाले वासनारूप विघ्नों को यह विदीर्ण करता है, बड़े-से-बड़े विघ्न को यह नष्ट करनेवाला होता है। ८. **वज्रबाहुः**=इसी उद्देश्य से क्रियाशीलतारूप वज्र को हाथ में लेकर चलता है। ९. यह **यज्ञं जुषाणः**=यज्ञों का प्रीतिपूर्वक सेवन करता हुआ **नः**=हमारे **उप**=समीप **आयातु**=आये। यज्ञों का सेवन करते हुए ही हम प्रभु के समीप पहुँचते हैं।

भावार्थ—उपासना से दिव्य गुणों को प्राप्त करते हुए हम यज्ञमय जीवनवाले हों। इससे हमारी शक्ति बढ़ेगी और अन्ततः हम प्रभु को प्राप्त करेंगे।

ऋषिः—**आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

सजोषाः

जु॒षा॒णो ब॒र्हिर्हरि॑वान्नऽइन्द्रः॑ प्रा॒चीन॑ꣳसीदत्प्र॒दिशा॑ पृथि॒व्याः।
उ॒रु॒प्रथाः॒ प्रथ॑मानꣳस्यो॒नमा॑दि॒त्यैर॒क्तं वसु॑भिः स॒जोषाः॑॥३९॥

१. **जुषाणः**=गतमन्त्र के अन्तिम शब्दों के अनुसार यज्ञों का सेवन करता हुआ २.

हरिवान् प्रशस्त इन्द्रियोंवाला २. **नः**=हमारा अर्थात् प्रभु का भक्त ४. **इन्द्रः**=असुरों का संहार करनेवाला जितेन्द्रिय पुरुष ५. **उरुप्रथाः**=खूब विस्तारवाला, उदार हृदयवाला, ६. **सजोषाः**=प्रीति से युक्त, अर्थात् सदा सन्तुष्ट व प्रसन्न (प्रीत्या सहितः सन्तुष्टः—म०) ७. **पृथिव्याः प्रदिशा**=पृथिवी के प्रकृष्ट संकेत से, अर्थात् मानो यह पृथिवी उसे अपने विस्तार का संकेत करती हुई हृदय को भी विस्तारवाला बनाने का उपदेश दे रही हो। इस प्रकार पृथिवी के उपदेश के अनुसार (क) **प्रथमानम्**=अत्यन्त विस्तृत (ख) **स्योनम्**=सुखमय, सदा प्रसन्न (ग) **आदित्यै वसुभिः**=आदित्यों व वसुओं से **अक्तम्**=अलंकृत हो उत्तम, अर्थात् गुणों के आदान की भावना तथा उत्तम निवास बनाने की भावना से सुभूषित **प्राचीनम्**=(प्रागञ्चनं) निरन्तर आगे बढ़ने की भावनावाले व आगे बढ़नेवाले **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय में **सीदत्**=स्थित होता है।

भावार्थ—मनुष्य (क) यज्ञों का सेवन करे (ख) उत्तम इन्द्रियोंवाला बने (ग) प्रभु का होकर संसार में विचरे (घ) जितेन्द्रिय बने (ङ) उदार हो (च) सदा प्रीतियुक्त हो। ऐसा बनकर यह अपने हृदय को, इस विशाल पृथिवी का स्मरण करते हुए (क) विशाल बनाये (ख) विशालता के द्वारा सुखमय बनाए (ग) गुणों का आदान व उत्तम निवास की भावना से युक्त हो (घ) 'इसमें निरन्तर आगे बढ़ने की भावना बनी रहे' इस बात का ध्यान करे।

सूचना—पृथिवी अत्यन्त विशाल है। मनुष्य यदि चाहे तो वह बड़ी सुन्दरता से वहाँ अपना जीवन बिता सकता है, परन्तु मनुष्य अपने को तंग नगरों की सीमा में रखने के लिए यत्न करता है, इससे उसका जीवन अधिक कृत्रिम व कष्टमय हो जाता है।

ऋषिः—**आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

चार दिव्य द्वार

इन्द्रं दुरः कवष्यो धावमाना वृषाणं यन्तु जनयः सुपत्नीः।
द्वारो देवीरभितो वि श्रयन्ताᳪसुवीरा वीरं प्रथमाना महोभिः॥४०॥

१. **इन्द्रम्**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जितेन्द्रिय **वृषाणम्**=शक्तिशाली पुरुष को **कवष्यः**=(कूयन्ते स्तूयन्ते) स्तुति के योग्य अथवा **कवष्यः**=(Shield) ढालरूप **धावमानाः**=जीवन को बड़ा शुद्ध बनानेवाले (धावु=शुद्धि) **दुरः**=द्वार—'मुख-पायु-उपस्थ व ब्रह्मरन्ध्र' रूप चार द्वार **यन्तु**=प्राप्त हों। ये चारों द्वार उसके लिए **जनयः**=प्रादुर्भाव का कारण बनें, उसकी शक्तियों का विकास करनेवाले हों और **सुपत्नीः**=उत्तमता से उसका रक्षण करनेवाले हों। मुख उत्तम सात्त्विक भोजन का ग्रहण करता है—पायु शरीर में से मलांश को पृथक् करके शरीर का रक्षण करता है। उपस्थ वशीभूत होकर उत्तम सन्तान को जन्म देनेवाला होता है और वीर्य की ऊर्ध्वगति होने पर यह सचमुच प्रभु के उपस्थान का कारण बनता है। ब्रह्मरन्ध्र अन्त में आत्मा के शरीर से निकलने का मार्ग होने पर मोक्ष व ब्रह्म-प्राप्ति का कारण बनता है। २. ये **द्वारः**=चारों द्वार **देवीः**=दिव्य द्वार हैं। एक (मुख) उत्तम भोजन के द्वारा शरीर में बल व प्राण का आधान करनेवाला है तो दूसरा (पायु) मलशोधन के द्वारा अपान की शक्ति को ठीक रखकर शरीर को स्वस्थ बनाता है। एवं, ये दोनों द्वार मिलकर शारीरिक स्वास्थ्य प्रदान करते हैं। उपस्थ व ब्रह्मरन्ध्र मनुष्य की आत्मिक शक्ति के विकास का साधन बन मोक्ष प्राप्त कराते हैं। इस प्रकार ये चारों द्वार दिव्य हैं। ये **अभितः**=दोनों ओर **विश्रयन्ताम्**=विवृत हों। विवृत होकर ये अपने कार्यों को उत्तमता से करनेवाले हों,

अथवा ये शरीर में विशिष्टरूप से सेवा करनेवाले हों। (श्रिञ् सेवायाम्) अभितः शब्द का प्रयोग इसलिए हुआ है कि एक ओर मुख है तो दूसरी ओर पायु तथा एक ओर उपस्थ है तो दूसरी ओर ब्रह्मरन्ध्र। ३. **सुवीराः**=ये चारों द्वार उत्तमता से (सु) विशेष करके (वि) बुराइयों को दूर करनेवाले (ईर् कम्पने) हैं। ये चारों द्वार **महोभिः**=अपने-अपने महत्त्वपूर्ण कार्यों से अथवा तेजस्विताओं से **वीरं प्रथमानाः**=वीर पुरुष का विस्तार करनेवाले होते हैं, अर्थात् उस पुरुष को वीर बनाते हैं। मुख और पायु मुझे शरीर के दृष्टिकोण से वीर बनाते हैं, उपस्थ और ब्रह्मरन्ध्र मुझे आत्मिक बल प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—'मुख-पायु, उपस्थ व ब्रह्मरन्ध्र' रूपी दिव्य द्वार स्तुत्य हैं। ये हमारे जीवनों को पवित्र बनानेवाले हैं। इनके अपना-अपना कार्य ठीक रूप से करने पर हम शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ व सुन्दर बनते हैं और आत्मिक बल व वीरता को प्राप्त करते हैं।

सूचना—'कवष्यः' 'कु शब्दे' से बनकर मुख के कार्य का संकेत करता है 'धावमानाः' 'धाव् शुद्धौ' से बनकर पायु के कार्य का, 'जनयः' उपस्थ के कार्य का संकेत करता है और 'सुपत्नीः' 'पा रक्षणे' से बनकर ब्रह्मरन्ध्र के कार्य का।

ऋषिः—**आङ्गिरसः**। देवता—**उषासानक्ता**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

'देवानां देव का पूजन'

उषासानक्ता बृहती बृहन्तं पयस्वती सुदुघे शूरमिन्द्रम्।
तन्तुं ततं पेशसा संवयन्ती देवानां देवं यजतः सुरुक्मे ॥४१॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में 'उषासानक्ता' शब्द पति-पत्नी के लिए है। 'उष दाहे' धातु से उषस् शब्द बनता है—पति अज्ञानान्धकार का दहन करनेवाला होता है। 'नज् to be modest' धातु से बनकर 'नक्त' शब्द स्त्री का वाचक है, जो उचित लज्जा व शालीनतावाली है। ये **उषासानक्ता**=पति-पत्नी **बृहती**=गतमन्त्र के द्वारों के कार्य के ठीक होने से वर्धनवाले हैं। **पयस्वती**=आत्मिक शक्तियों के आप्यायनवाले हैं (पयस्=ओप्यायी वृद्धौ)। २. ये पति-पत्नी उस **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **सुदुघे**=उत्तमता से अपने अन्दर पूरण करनेवाले हैं, जो प्रभु **बृहन्तम्**=सब प्रकार के वर्धन का कारण हैं तथा **शूरम्**=(शृ हिंसायाम्) सब प्रकार की बुराइयों को हिंसित करनेवाले हैं। प्रभु की भावना को अपने में भरने से हमारी शक्तियों का वर्धन होता है और सब आसुर-वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। ३. **ततं तन्तुम्**=सृष्टि के प्रारम्भ में विस्तृत यज्ञ-तन्तु को **पेशसा**=सुन्दर रूप से **संवयन्ती**=ये सन्तत करनेवाले होते हैं, अर्थात् सृष्टि-प्रारम्भ में प्रभु ने जिस यज्ञ को प्रजाओं के साथ ही उत्पन्न किया है उस यज्ञतन्तु को ये विच्छिन्न नहीं होने देते। इनका जीवन यज्ञरूप बना रहता है। ४. इस यज्ञ से ये पति-पत्नी **देवानां देवम्**=देवाधिदेव परमात्मा को **यजतः**=उपासित करते हैं। यज्ञ द्वारा प्रभु का पूजन करते हैं—**'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'**। ५. इस प्रभु के उपासन का ही यह परिणाम होता है कि ये **सुरुक्मे**=उत्तम दीप्तिवाले होते हैं। प्रभु के सम्पर्क से प्रभु की दीप्ति से ये भी दीप्त हो उठते हैं।

भावार्थ—(क) हम प्रभु का अपने में पूरण करें, जिससे हमारा वर्धन हो और हमारी आसुर वृत्तियों का संहार हो, (ख) यज्ञतन्तु को विच्छिन्न न करने के द्वारा हम प्रभु का उपासन करें, (ग) प्रभु-उपासन से हम प्रभु की भाँति दीप्त हो उठें, प्रभु की दीप्ति से दीप्त हो जाएँ।

ऋषिः—**आङ्गिरसः**। देवता—**दैव्याध्यापकोपदेशकौ**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

प्राचीनं ज्योतिः

दैव्या मिमाना मनुषः पुरुत्रा होताराविन्द्रं प्रथमा सुवाचा।
मूर्द्धन्यज्ञस्य मधुना दधाना प्राचीनं ज्योतिर्हविषा वृधातः॥४२॥

१. गतमन्त्र की समाप्ति पर कहा था कि 'देवानां देव' का यजन करके ये पति-पत्नी 'सुरुक्म'=उत्तम दीप्तिवाले बनते हैं। ये **दैव्या**=(देवस्य इमौ) परमात्मा के ही हो जाते हैं। २. **मिमाना**=अपने जीवन में ये सदा 'यज्ञं निर्मिमाणौ'=श्रेष्ठ कर्मों को करनेवाले होते हैं। अथवा सब कर्मों को माप-तोलकर करनेवाले होते हैं, अर्थात् 'युक्त-चेष्ट' होते हैं। ३. **मनुषः पुरुत्रा**=ज्ञान से-ज्ञान के द्वारा ये अपना पालन व पूरण करनेवाले होते हैं (पृ पालनपूरणयोः, त्रा=रक्षणे)। ४. **होतारौ**=ये सदा दानपूर्वक अदन करनेवाले होते हैं। ५. **इन्द्रं प्रथमा**=दानपूर्वक अदन से उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को विस्तृत करनेवाले होते हैं। हवि के द्वारा ही वस्तुतः 'प्रभुपूजन' होता है अथवा ये अपने जीवन में प्रभु का विस्तार करनेवाले होते हैं। ६. **सुवाचा** =सदा उत्तम वाणीवाले होते हैं। ७. ये **मधुना**=अपने जीवन के माधुर्य से, माधुर्यमयी क्रियाओं से **यज्ञस्य मूर्धन्**=उत्तम कर्मों के अग्रभाग में **दधाना**=अपने को स्थापित करते हैं, अर्थात् ये उत्तम क्रियाओंवाले होते हैं और अत्यन्त माधुर्यवाले होते हैं। ८. इस प्रकार ये **प्राचीनं ज्योतिः**=(प्राग् अञ्जनम्) निरन्तर अग्रगति व उन्नति के साधक ज्ञान को **हविषा**=दानपूर्वक अदन के द्वारा—यज्ञशेष के सेवन के द्वारा, **वृधातः**=बढ़ानेवाले होते हैं। स्वार्थ मनुष्य के ज्ञान को नष्ट करता है। मनुष्य जितना-जितना स्वार्थ व काम से ऊपर उठता है उतना-उतना उसका ज्ञान चमकता है।

भावार्थ—हम प्रभु के बनें, सब क्रियाओं को मापकर करें, अति में न जाएँ, ज्ञान से अपना त्रण करें, होता बनें, प्रभु का अपने में विस्तार करें, उत्तम वाणीवाले हों, माधुर्य के साथ यज्ञों के अग्रभाग में स्थित हों, उस ज्ञान को प्राप्त करें, जो हमारी अग्रगति का साधन बनता है।

ऋषिः—**आङ्गिरसः**। देवता—**तिस्रो दैव्यः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

तिस्रो देवीः (ज्ञान-श्रद्धा-वाणी)

तिस्रो देवीर्हविषा वर्द्धमानाऽइन्द्रं जुषाणा जनयो न पत्नीः।
अच्छिन्नं तन्तुं पयसा सरस्वतीडा देवी भारती विश्वतूर्त्तिः॥४३॥

१. **तिस्रः देवीः**=तीन दिव्य गुण **हविषा**=दानपूर्वक अदन से, यज्ञशेष के सेवन से, अर्थात् त्यागपूर्वक उपभोग की वृत्ति से **वर्धमानाः**=निरन्तर बढ़ने के स्वभाववाले होते हैं। २. ये तीनों दिव्य गुण **इन्द्रं जुषाणाः**=जितेन्द्रिय पुरुष का सेवन करनेवाले होते हैं। इन्द्र को ही प्राप्त होते हैं। ३. ये तीनों गुण उस इन्द्र के लिए **जनयः पत्नीः न**=उत्तम सन्तानों को जन्म देनेवाली पत्नियों के समान होते हैं। पत्नी सन्तान को जन्म देती है, ये तीनों देवियाँ इस इन्द्र में उत्तमताओं को जन्म देनेवाली होती हैं, उत्तम दिव्य गुणों को पैदा करती हैं। ४. इन तीनों देवियों में प्रथम देवी **सरस्वती**=ज्ञान की अधिदेवता है जोकि **अच्छिन्नं तन्तुं पयसा**=अच्छिन्न यज्ञतन्तु के—निरन्तर चलनेवाले यज्ञ के प्रकाश से युक्त है, अर्थात् ज्ञान पहली देवता है, इसके होने पर मनुष्य का जीवन यज्ञमय बनता है। ५. दूसरी देवता **इडा**=(श्रद्धेडा श० ११।२।७।२०) श्रद्धा है, जो **देवी**=मनुष्य में सब दिव्य गुणों को जन्म

देनेवाली है। ६. तीसरी देवता **भारती**=वाणी है। इस तीसरी देवता को अन्यत्र मन्त्रों में 'मही' भी कहा गया है। भारती व मही दोनों शब्द नि० १।११ में वाणी के वाचक हैं। यह वाणी तभी देवता है जबकि यह **विश्वतूर्त्तिः**=उस सर्वत्र प्रविष्ट (सर्वत्र विशति) सर्वव्यापक प्रभु में (विश्वस्मिन् त्वरया तूर्णं गच्छति) शीघ्रता से व्याप्त होती है। हम अपने कार्य से ज़रा खाली हुए और यह वाणी प्रभु के जप में लगी। हमारा सारा खाली समय वाणी द्वारा तज्जपः=उस प्रभु के नाम के जप में लगे। ऐसा होने पर यह देवता हो जाती है। यह भारती व मही बन जाती है। यह सचमुच हमारा भरण करती है और हमारे जीवन को महनीय बना देती है।

भावार्थ—हमारे जीवन में ज्ञान की अधिदेवता 'सरस्वती' यज्ञिय भावनाओं को जन्म देकर यज्ञ का विकास करे, 'श्रद्धा' (इडा) दिव्य गुणों को जन्म दे, तथा 'भारती' (वाणी) सदा उस प्रभु में त्वरा से गतिवाली हो, अर्थात् प्रभु के नाम का जप करनेवाली हो।

ऋषिः—**आङ्गिरसः**। देवता—**त्वष्टा**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

भूरिरेताः

त्वष्टा दधच्छुष्ममिन्द्राय वृष्णेऽपाकोऽचिष्टुर्यशसे पुरूणि।
वृषा यजन्वृषणं भूरिरेता मूर्द्धन्यज्ञस्य समनक्तु देवान्॥४४॥

१. यदि गतमन्त्र की भावना के अनुसार हमारी वाणी सर्वव्यापक प्रभु का जप करनेवाली बनती है तो हम उस प्रभु की कृपा से वासनाओं से आक्रान्त नहीं होते और इन्द्रियों को वश में कर सकने के कारण 'इन्द्र' व परिणामतः 'वृषभ' बनते हैं, वासना से ऊपर उठकर सबपर सुखों की वर्षा करनेवाले बनते हैं। इस **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए, **वृष्णे**=सुखों की वर्षा करनेवाले के लिए **त्वष्टा**=वह दिव्य गुणों का निर्माता प्रभु **शुष्मम्**=शत्रुशोषक शक्ति को **दधत्**=धारण करता है। इसे वह शक्ति प्राप्त कराता है, जिससे यह सब शत्रुओं को जीत पाता है। २. वह **अपाकः**=(न विद्यते अन्यः पाकः यस्मात् सः—उ०) अत्यन्त प्रशंसनीय (अनुत्तम) **अचिष्टुः**=(अञ्चनशीलः सर्वत्र गतः—म०) सर्वव्यापक प्रभु **यशसे**=इस इन्द्र के यश के लिए **पुरूणि**=पालनात्मक व पूरणात्मक कर्मों को इसमें आहित करता है। इन कर्मों को करता हुआ यह इन्द्र यशस्वी बनता है और ३. **वृषणम्**=सब शक्तियों का सेवन करनेवाले प्रभु की **यजन्**=पूजा व सङ्गतिकरण करता हुआ यह **वृषा**=शक्तिशाली बनता है ४. **भूरिरेताः**=भरण-पोषण करनेवाले रेतस्वाला होता है (रेतस्=वीर्य)। ५. **यज्ञस्य मूर्धन्**=सदा उत्तम कर्मों के अग्रभाग में स्थित होता है और ६. **देवान् समनक्तु**=दिव्य गुणों के साथ अपने को सङ्गत करता है।

भावार्थ—प्रभु के उपासन से बल प्राप्त होता है। हम यशस्वी कार्यों को करनेवाले बनते हैं और हम दिव्य गुणों से अपने जीवन को समलंकृत कर पाते हैं।

ऋषिः—**आङ्गिरसः**। देवता—**वनस्पतिः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

वनस्पतिः

वनस्पतिरवसृष्टो न पाशैस्त्मन्या समञ्जञ्छमिता न देवः।
इन्द्रस्य हव्यैर्जठरं पृणानः स्वदाति यज्ञं मधुना घृतेन॥४५॥

१. गतमन्त्र में वर्णित भरण-पोषण करनेवाला इन्द्र **वनस्पतिः**=ज्ञानरश्मियों का पति बनता है (वन=a ray of light)। २. ज्ञानी बनने के कारण ही **पाशैः**=विषयों के जालों से

अवसृष्टः न=छूटा हुआ-सा होता है। विषयों के बन्धन से यह ऊपर उठता है। विषयों के बन्धन ज्ञान की तलवार से कट जाते हैं। ३. विषय-बन्धनों को काटकर वह **त्मन्या**=(आत्मना) आत्मतत्त्व से **समञ्जन्**=सङ्गत होता है। विषयों से छूटने पर ही आत्मतत्त्व से मेल होता है। ४. आत्मतत्त्व से मेल के कारण **शमिता न**=यह अत्यन्त शान्त-सा हो जाता है और ५. **देवः**=दिव्य गुणोंवाला-देव बनता है। एवं, क्रम यह है 'ज्ञान, विषयबन्धन-विनाश, आत्मसंयम, शान्ति व दिव्यता'। ६. यह शान्त स्वभाववाला देव व्यक्ति **इन्द्रस्य जठरम्**=उस प्रभु के दिये हुए इस पेट को **हव्यैः**=यज्ञिय सात्त्विक पदार्थों से ही **पृणानः**=(पूरयन्) पूरित करता है। पेट को प्रभु का समझता हुआ उसे मांसादि अदिव्य-अपवित्र पदार्थों से कभी नहीं भरता। सात्त्विक भोजनों के सेवन से उसकी वृत्ति भी सात्त्विक बनती है। ७. इस प्रकार यह **यज्ञम्**=इस जीवन-यज्ञ को **मधुना**=शहद से तथा **घृतेन**=घृत से **स्वदाति**=स्वादवाला-माधुर्यवाला बना देता है। वस्तुतः 'हव्य पदार्थ' ही हमारे भोजन होने चाहिएँ। घृत और शहद आदि सात्त्विक पदार्थों का सेवन हमारे जीवन को यज्ञरूप बना देगा।

भावार्थ—हमारे भोजन वानस्पतिक हव्य पदार्थ हों, हम मधु व घृत आदि का प्रयोग करें। इस प्रकार हमारा जीवन यज्ञरूप होगा, माधुर्यमय होगा।

ऋषिः—**आङ्गिरसः**। देवता—**स्वाहाकृतयः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

इन्द्र तथा देव

स्तोकानामिन्दुं प्रति शूरऽइन्द्रो वृषायमाणो वृषभस्तुराषाट्।
घृतप्रुषा मनसा मोदमानाः स्वाहा देवाऽअमृता मादयन्ताम् ॥४६॥

१. **स्तोकानाम्**=(स्तोक=कण=बिन्दु) एक-एक कण के रूप में उत्पन्न हुए-हुए **इन्दुं प्रति**=(इन्द to be powerful) शक्तिशाली बनानेवाले सोम को लक्ष्य बनाकर चलनेवाला, अर्थात् सोम के एक-एक कण का ध्यान करनेवाला यह आङ्गिरस **शूरः**=शूरवीर बनता है। २. **इन्द्रः**=यह इन्द्रियों को वश में करनेवाला और इन्द्र नामवाला राजा **वृषायमाणः**=बलवान् पुरुष की भाँति आचरण करता है। **वृषभः**=शक्तिशाली होता है, प्रजाओं पर सुखों की वर्षा करता है। ३. **तुराषाट्**=(तूर्णं सहते—उ०) तुरान् हिंसकान् सहते—द०) शीघ्रता से हिंसा करनेवाले काम-क्रोधादि अन्तःशत्रुओं का पराभव करता है। ४. वस्तुतः वीर्य के कण-कण की रक्षा करनेवाला शूरवीर, जितेन्द्रिय, शक्तिशाली की भाँति आचरण करता हुआ, प्रजाओं पर सुखों का वर्षक, शत्रुओं का पराभावयिता राजा ही प्रजा की रक्षा कर पाता है—**'ब्रह्मचर्येण राजा राष्ट्रं वि रक्षति'**। विलासी राजा प्रजारक्षण में समर्थ नहीं होता। ५. इस राज्यरूप महादेव कार्य को राजा अकेला नहीं कर सकता, वह इस कार्य के लिए सात वा आठ मन्त्रियों को अपने साथ नियत करता है। राजा 'इन्द्र' है, तो ये मन्त्री 'देव' कहलाते हैं। ये देव भी **घृतप्रुषा**=(घृ=क्षरण, दीप्ति) मलक्षरण व नैर्मल्य तथा दीप्ति से सिक्त (प्रुष् to sprinkle) **मनसा**=मन से **मोदमानाः**=हर्ष का अनुभव करते हुए **मादयन्ताम्** प्रजा को आनन्दित करें। ६. कैसे देव? (क) **स्वाहा देवाः**=(स्वाहाकृतयो देवाः स्वाहादेवाः) प्रजा के हित के लिए स्व का त्याग करनेवाले देव, तथा (ख) **अमृताः**=(नास्ति मृतं मरणं येषां—म०) जो किन्हीं भी विषयों के पीछे मर नहीं रहे, अर्थात् विषयासक्त नहीं हैं। एवं, मन्त्रियों के तीन विशेषण हैं, ये नैर्मलय व दीप्ति से सिक्त मन से मोदमान हों, प्रजाहित के लिए स्वार्थ का त्याग करनेवाले हों तथा विषयों के पीछे मरनेवाले न हों। इन तीन विशेषणों से विशिष्ट देव ही प्रजारक्षणरूप कार्य में राजा के उत्तम सहायक हो सकते हैं।

भावार्थ—'इन्द्र' राजा है, वह ब्रह्मचारी बनता है, शक्तिशाली बनकर कामादि शत्रुओं का संहार करता है। उसके मन्त्री 'देव' हैं। ये भी निर्मल मनवाले, प्रसन्नचित्त, स्वार्थ से ऊपर उठे हुए, विषयों से अछूते हैं।

ऋषिः—**वामदेवः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

अभिभूति क्षत्रम्

आयात्विन्द्रोऽवसऽउप नऽइह स्तुतः सधमादस्तु शूरः।
वावृधानस्तविषीर्यस्य पूर्वीर्द्यौर्न क्षत्रमभिभूति पुष्यात्॥४७॥

१. गतमन्त्र का प्रजारक्षक, ब्रह्मचर्य व्रत का पालक **इन्द्रः**=राजा **इह**=इस राष्ट्र में **नः उप**=हमारे समीप **अवसे**=रक्षण के लिए **आयातु**=आये। २. अपने उत्तम जीवन व कर्म के कारण **स्तुतः**=स्तुति किया हुआ, 'जिसकी सब प्रशंसा करते हैं', ऐसा यह राजा **शूरः**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाला तथा **सधमात्**=(देवैः सार्धं मादयति) देवतुल्य अपने मन्त्रियों के साथ प्रजा को आनन्दित करनेवाला **अस्तु**=हो। यह वस्तुतः प्रजारक्षण के कार्य में ही आनन्द का अनुभव करे, प्रजाओं के साथ मिलनेवाला हो, प्रजाओं के लिए अपने आराम को तिलाञ्जलि देनेवाला हो, उनके लिए अभिगम्य हो। ३. **वावृधानः**=इस प्रकार यह राष्ट्र का निरन्तर वर्धन करनेवाला हो। ४. यह राजा वह हो **यस्य**=जिसकी **तविषीः**=सेनाएँ व बल **पूर्वीः**=प्रथम श्रेणी की हैं, अर्थात् अत्यन्त उत्तम हैं। ५. यह राजा **द्यौः न**=प्रकाश की भाँति **अभिभूति क्षत्रम्**=शत्रुओं के पराभव करनेवाले बल को **पुष्यात्**=पोषण करे। उस शक्ति से सम्पन्न हो जो शक्ति शत्रुओं का पराभव करने में समर्थ हो। जहाँ इसमें ज्ञान हो, वहाँ इसमें अद्भुत बल भी हो।

भावार्थ—प्रजा का रक्षण करनेवाला यह राजा अपने उत्तम कार्यों से प्रजा से स्तुत हो, शूर हो, वृद्धिशील हो, इसकी सेनाएँ भी प्रथम श्रेणी की, अर्थात् उत्तम शिक्षित हों। जहाँ यह ज्ञान के प्रकाशवाला हो, वहाँ शत्रु पराजयक्षम बल से भी सम्पन्न हो। इस प्रकार स्वयं सुन्दर दिव्य गुणोंवाला 'वामदेव' बनकर यह प्रजाओं को भी 'वामदेव' बनाने के लिए प्रयत्नशील होता है (वाम=सुन्दर, देव=दिव्य गुण)।

ऋषिः—**वामदेवः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

युद्ध व आक्रमण

आ नऽइन्द्रो दूरादा नऽआसादभिष्टिकृदवसे यासदुग्रः।
ओजिष्ठेभिर्नृपतिर्वज्रबाहुः सङ्गे समत्सु तुर्वणिः पृतन्यून्॥४८॥

१. गतमन्त्र के राजा के लिए ही कहते हैं कि यह **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला राजा **नः**=हमें **दूरात्**=दूर से और **नः**=हमें **आसात्**=समीप से भी **आयासत्**=आये 'दूर हो, समीप हो' कहीं भी हो, हमारी **अवसे**=रक्षा के लिए यह आये ही। २. यह स्वयं राष्ट्र में उस-उस स्थान पर पहुँचकर **अभिष्टिकृत्**=अभिलषित कार्यों का करनेवाला हो। यह राजा उचित प्रबन्ध के द्वारा वाञ्छनीय वस्तुओं को प्राप्त कराने की व्यवस्था करे तथा आवश्यक प्रबन्ध के द्वारा सब प्रजाओं का रक्षण करनेवाला हो। ३. शत्रु का आक्रमण होने पर **ओजिष्ठेभिः**=ओजस्वितम, अत्यन्त बलिष्ठ सेनाओं से युक्त हुआ-हुआ, गतमन्त्र की 'पूर्वी तविषी'=प्रथम श्रेणी की सर्वोत्तम सेनाओं से युक्त हुआ-हुआ **नृपतिः**=प्रजाओं का रक्षक राजा **वज्रबाहुः**=वज्रयुक्त भुजावाला होकर **सङ्गे**=शत्रु के साथ मेल होने पर, अर्थात्

युद्ध में **समत्सु**=आक्रमणों के होने पर **पृतन्यून्**=शत्रुओं को (पृतनामिच्छन्ति) **तुर्वणिः**=(तुर्वति) नष्ट करनेवाला होता है। शत्रुओं का नाश करके यह प्रजा को शत्रु के आक्रमण-भय से मुक्त करता है। भयमुक्त प्रजा ही तो विविध क्षेत्रों में उन्नति कर सकती है।

भावार्थ—राजा दूर हो या समीप हो, प्रजा के रक्षण के लिए उस-उस स्थान पर पहुँचे। प्रजा की अभिलाषाओं को सिद्ध करनेवाला हो। शत्रुओं का आक्रमण होने पर शक्तिशाली सैन्यों के साथ स्वयं अस्त्र-शस्त्र धारण करके शत्रु का संहार करे।

सूचना—'संग और समत्' निघण्टु में दोनों ही संग्राम के नाम हैं। एकवचन में होता हुआ 'संग' युद्ध (war) है और बहुवचन में वर्त्तमान समद् शब्द आक्रमणों (Battles) का वाचक है।

ऋषिः—**वामदेवः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

वज्री, मघवा, विरप्शी

आ न इन्द्रो हरिभिर्यात्वच्छार्वाचीनोऽवसे राधसे च।
तिष्ठाति वज्री मघवा विरप्शीमं यज्ञमनु नो वाजसातौ॥४९॥

१. यह **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला राजा मुख्य सेनाधीश के रूप में **हरिभिः**=सुशिक्षित अश्वों के साथ **नः अच्छ**=हमारी ओर **आयातु**=प्राप्त हो। २. यह राजा **अवसे**=हमारे रक्षण के लिए **च**=तथा **राधसे**=धनादि की सिद्धि के लिए **अर्वाचीनः**=शत्रु के सम्मुख जानेवाला हो। शत्रु पर आक्रमण करके उसे पराजित करनेवाला हो। ३. यह **वज्री**=उत्तम वज्रवाला **मघवा**=परमपूजित धन से युक्त **विरप्शी**=महान् अथवा (विविधं रपति) विविध आदेशों का देनेवाला राजा **नः इमं यज्ञं अनु**=हमारे इस राष्ट्रयज्ञ का लक्ष्य करके **वाजसातौ तिष्ठाति**=संग्राम में स्थित होता है। युद्ध में कभी कायरता से भाग नहीं खड़ा होता। संग्राम में विजय प्राप्त करके यह अन्न के संविभाग में स्थित होता है। सब प्रजाओं को जीवन की आवश्यक सामग्री प्राप्त कराने की व्यवस्था करता है।

भावार्थ—राजा के कर्तव्य हैं कि सेना के अङ्गभूत घोड़े आदि को सुशिक्षित करे। अवसर आने पर शत्रु पर आक्रमण करे। प्रजा का रक्षण करे, उसे उचित धन प्राप्त कराए। युद्ध में शस्त्रास्त्र से सुसज्जित होकर उपस्थित हो।

ऋषिः—**गर्गः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

राष्ट्र-रक्षा व प्रजा-कल्याण

त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रꣳहवेहवे सुहवꣳशूरमिन्द्रम्।
ह्वयामि शक्रं पुरुहूतमिन्द्रꣳस्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः॥५०॥

१. प्रस्तुत मन्त्रों का ऋषि 'गर्ग' है, जो (गिरति) शत्रुओं को निगल जाता है। राष्ट्र पर आक्रमण करनेवाले शत्रुओं को समाप्त करके राष्ट्र के **त्रातारम्**=रक्षक **इन्द्रम्**=शत्रुओं के मार भगानेवाले राजा को और अतएव **अवितारम्**=(अव प्रीणने) प्रजा का प्रीणित करनेवाले **इन्द्रम्**=राजा को २. **हवेहवे**=प्रत्येक संग्राम में **सुहवम्**=सुगमता से बुलाये जानेवाले, **शूरम्**=शत्रुओं की हिंसा करनेवाले (शृ हिंसायाम्) **इन्द्रम्**=इन्द्रियों के अधिष्ठता, जितेन्द्रिय राजा को ३. जितेन्द्रियता के कारण ही **शक्रम्**=(शक्नोति इति शक्रः) राष्ट्र की रक्षा करने में समर्थ, **पुरुहूतम्**=बहुत से पुकारे गये, सत्कार किये गये **इन्द्रम्**=इस परमैश्वर्यशाली राजा को **ह्वयामि**=इस सिंहासन पर बैठने व बैठकर राज्य करने के लिए

पुकारता हूँ। ४. यह **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावक, इन्द्रियों का अधिष्ठाता **मघवा**=पापशून्य ऐश्वर्यवाला, कर आदि से प्राप्त उचित धन को यज्ञादि उत्तम कर्मों में व्ययित करनेवाला और अतएव **मघवा**=मघवान् कहलानेवाला यह राजा **नः**=हममें **स्वस्ति**=कल्याण को **धातु**=स्थापित करे।

भावार्थ—राजा राष्ट्र की उत्तमता से रक्षा करे और प्रजा के कल्याण की साधना करे।

ऋषिः—**गर्गः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

निर्द्वेषता व निर्भयता

इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ२॥ऽअवोभिः सुमृडीको भवतु विश्ववेदाः।
बाधतां द्वेषोऽअभयं कृणोतु सुवीर्यस्य पतयः स्याम ॥५१॥

१. **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला और इस प्रकार **सुत्रामा**=बहुत उत्तमता से राष्ट्र की रक्षा करनेवाला २. **स्ववान्**=आत्मतत्त्ववाला, अर्थात् आत्मप्रवण, भोगवृत्ति से दूर रहनेवाला यह राजा **अवोभिः**=रक्षणों के द्वारा **सुमृडीकः**=(मृड सुखने) प्रजा को अत्यन्त सुखी करनेवाला **भवतु**=हो। ३. प्रजा को सुखी करने के उद्देश्य से ही यह **विश्ववेदाः**=सम्पूर्ण प्रजाजनों को जाननेवाला हो। राजा लोग 'चारचक्षु' होते हैं। गुप्तचरों के द्वारा और स्वयं भी छद्मवेश में प्रजा में विचरण करते हुए ये प्रजा की ठीक स्थिति को जानें। इसे जाने बिना ठीक प्रकार प्रबन्ध नहीं किया जा सकता। ४. **द्वेषः बाधताम्**=राजा द्वेष को दूर करे। प्रजावर्ग में परस्पर द्वेष को उत्पन्न न होने दे। ५. परस्पर द्वेष होने पर दिलों में भय बना रहता है। द्वेष को दूर करके राजा **अभयं कृणोतु**=निर्भयता करे। वस्तुतः निर्भयता दिव्य गुणों में प्रथम है। इसके होने पर अन्य दैवी सम्पत्ति का प्रादुर्भाव होता है। ६. राजा राष्ट्र में ऐसी व्यवस्था करे कि हम सब प्रजावर्ग **सुवीर्यस्य**=उत्तम वीर्य के, शक्ति के **पतयः**=स्वामी व रक्षक **स्याम**=हों।

भावार्थ—राष्ट्र में राजा इस बात का पूरा ध्यान करे कि प्रजा में धर्म, जाति व बिरादरी आदि किसी भी आधार को लेकर परस्पर द्वेष व लड़ाई की भावना उत्पन्न न हो। राष्ट्र में पारस्परिक द्वेष से दिलों में डर (दहशत) न बना रहे।

ऋषिः—**गर्गः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

सुमति—सौमनस्

तस्य वयः सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम।
स सुत्रामा स्ववाँ२ऽइन्द्रोऽअस्मेऽआराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु ॥५२॥

१. **वयम्**=हम **तस्य**=ऊपर के मन्त्रों में वर्णित **यज्ञियस्य**=पूजा के योग्य राजा की **सुमतौ**=कल्याणी मति में तथा **भद्रे**=कल्याणकर **सौमनसे**=सौमनस्य में, अर्थात् मन के उत्तम व्यवहार में **स्याम**=हों, अर्थात् हमारे शासन करनेवाले इस राजा की मति सदा उत्तम बनी रहे और इसके मन के भाव सदा उत्तम बने रहें। इसके मस्तिष्क में सदा उत्तम विचार हों, मन में सदा उत्तम भाव हों। इस प्रकार इस राजा का उत्तम मस्तिष्क व उत्तम मन प्रजा के जीवन को उत्तम बनाने के साधनों का सदा विचार करता रहे। २. **सः**=वही राजा **सुत्रामा**=प्रजा का उत्तमता से त्राण करता है। **स्ववान्**=प्रशस्त आत्मावाला होता है। ३. यह **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला राजा **अस्मे**=हमसे **आरात्**=दूर **चित्**=ही **द्वेषः**=द्वेष को **सनुतः**=सदा **युयोतु**=पृथक् करे।

भावार्थ—राजा सुमति व सौमनसवाला हो। वह हमसे द्वेष को दूर करे।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृद्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

मयूररोम, मन्द्र, 'हरि'

आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूररोमभिः।
मा त्वा के चिन्नि यमन्विं न पाशिनोऽति धन्वेव ताँ२॥ऽइहि ॥५३॥

१. पिछले मन्त्र में शत्रुओं को समाप्त कर देनेवाले 'गर्ग' (निगल जानेवाले) राजा का उल्लेख था। जब यह राजा उत्तम व्यवस्था के द्वारा प्रजा में से द्वेष को दूर कर देता है और सब प्रजाएँ परस्पर प्रेमवाली व 'अभय' हो जाती हैं तब वे प्रस्तुत मन्त्र की ऋषि 'विश्वामित्र'—सबके साथ स्नेह करनेवाली बन जाती हैं। इस विश्वामित्र से प्रभु कहते हैं—हे **इन्द्र**=द्वेषादि शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले जितेन्द्रिय पुरुष! तू इन **हरिभिः** =शरीररूप रथ में जुते हुए इन्द्रियरूप घोड़ों से **आयाहि** =हमारे समीप आ। २. कैसे घोड़ों से? **मन्द्रैः**=जो सदा प्रसन्न हैं तथा **मयूररोमभिः**=(मिनाति द्वेषादिकम्) द्वेषादि को अपने से पृथक् रखते हैं अथवा 'मय गतौ' गतिशील हैं तथा 'रु शब्दे' उस प्रभु के नाम का उच्चारण करनेवाले हैं, अर्थात् क्रियामय हैं, प्रभु का स्मरणवाले हैं। हाथों में क्रिया, मन में प्रभु का विचार। ३. इस प्रभु-स्मरणपूर्वक क्रियाशीलता में **त्वा**=तुझे **चित्**=कोई भी विषय **मा नियमन्**=न रोके, अर्थात् संसार के विषय तुझे बाँध न लें। इन्होंने बाँधा और तेरी गति रुकी। **न**=जैसे **विम्**=पक्षी को **पाशिनः**=पाशहस्तशिकारी बाँध लेते हैं, इसी प्रकार यह प्रकृति विषयरूप जालों में कहीं तुझे बाँध न ले। यह प्रकृति इतनी चमकीली व आकर्षक है कि इसके अन्दर न बँधना अत्यन्त कठिन है। प्रभुकृपा ही मनुष्य को इस बन्धन से बचाती है। ४. तू इन विषयों को **धन्व इव**=मरुस्थलों की भाँति **अति इहि**=लाँघ जा। मरुस्थल में मरीचिका के दृश्य मृग को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं, परन्तु उसकी प्यास को बुझाते तो नहीं। इसी प्रकार ये विषय मरुस्थल हैं। इनसे तेरा कल्याण न होगा। तू इनमें फँसा रहेगा और सुख को प्राप्त न कर सकेगा। इन विषयों को पार करके ही तू मेरे समीप पहुँचेगा और यात्रा को पूरा कर सकेगा।

भावार्थ—हमारे इन्द्रियरूप घोड़े 'सदा प्रसन्न, गतिशील व प्रभु का स्मरण करनेवाले' हों तभी हम जीवनयात्रा में किन्हीं भी विषयों से बद्ध न होकर प्रभु को पानेवाले होंगे।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

वीरवत् गोमत्

एवेदिन्द्रं वृषणं वज्रबाहुं वसिष्ठासोऽअभ्यर्चन्त्यर्कैः।
स नः स्तुतो वीरवद्धातु गोमद्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥५४॥

१. **एव इत्**=गतमन्त्रों के अनुसार निश्चय से **इन्द्रम्**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले **वृषणम्** =प्रजा पर सुखों की वर्षा करनेवाले शक्तिशाली **वज्रबाहुम्**=प्रजा की रक्षा के लिए हाथ में वज्र लिये हुए अथवा क्रियाशील राजा को **वसिष्ठासः**=राष्ट्र में उत्तम निवासवाले प्रजाजन **अर्कैः**=स्तोत्रों से **अभ्यर्चन्ति** =पूजते हैं, सत्कृत करते हैं। 'अर्क' शब्द का अर्थ 'अन्न' भी है। अपने धान्यों में से छठा या ८वाँ भाग देकर राजा का उचित मान करते हैं। स्पष्ट है कि राजा का कर्त्तव्य जहाँ प्रजा की रक्षा करना है, वहाँ सुरक्षित प्रजाओं का भी यह कर्त्तव्य है कि राजा को अपने धान्यों का निश्चित अंश कररूप में अवश्य दे। २. इस

प्रकार प्रजा से **स्तुतः**=स्तुति किया हुआ **सः**=वह राजा **नः**=हमारे लिए **वीरवत्**=उत्तम वीरोंवाले तथा **गोमत्**=प्रशस्त गौवोंवाले राष्ट्र का **धातु**=धारण करे, अर्थात् राजा राष्ट्र की ऐसी व्यवस्था करे कि राष्ट्र में सब पुरुष वीर हों। रोगादि के कारण व अन्नाभाव के कारण राष्ट्र में लोग क्षीणशक्ति न हो जाएँ। इसी दृष्टिकोण से राजा यह व्यवस्था भी करे कि राष्ट्र में गौवें खूब हों। प्रत्येक घर में गौ के लिए स्थान हो। वैदिक आदर्श के अनुसार आदर्श घर वही है जहाँ **'आ धेनवः सायमास्पन्दमानाः'**=सायंकाल कूदती-फाँदती गौवें आती हैं। गौवें होंगी तो हमारी सन्तानें भी वीर होंगी। एवं, एक-एक घर 'गोमत्-वीरवत्' बनेगा और सारा राष्ट्र बड़ा सुन्दर हो जाएगा। इस सुन्दर राष्ट्र में उत्तम निवासवाले ये व्यक्ति 'वसिष्ठ' होंगे। ३. ये वसिष्ठ राजा (इन्द्र) के मन्त्री आदि कर्मचारी वर्ग (देवों) को कहते हैं कि **यूयम्**=तुम सब **स्वस्तिभिः**=उत्तम स्थितियों के द्वारा **नः**=हमारी **पात**=रक्षा करो। सब मन्त्रिवर्ग राष्ट्र का कार्य इस उत्तमता से करें कि प्रजा के सब लोगों की स्थिति उत्तम हो।

भावार्थ—राजा प्रजा की रक्षा करे। प्रजा राजा को अन्नभाग दे। प्रशंसित राजा हमारे राष्ट्र को वीरोंवाला तथा गौवोंवाला बनाये। सब मन्त्री आदि राष्ट्र की स्थिति को उत्तम बनाने का ध्यान करें।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

आदर्श गृह

समिद्धोऽअग्निरश्विना तप्तो घर्मो विराट् सुतः।

दुहे धेनुः सरस्वती सोमꣳशुक्रमिहेन्द्रियम्॥५५॥

१. हे **अश्विनौ**=गुणों व कर्मों में व्याप्त होनेवाले स्त्री-पुरुषो! घर को अच्छा बनाने के लिए इस बात का ध्यान करो कि २. **अग्निः समिद्धः**=आपके घर में अग्नि में समिधा डाली गई हैं और अग्निहोत्र सम्यक्तया सम्पादित हुआ है। अग्निहोत्र घर में सब व्यक्तियों को सौमनस्य देनेवाला होता है। ३. दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि **तप्तः**=(तप्तं अस्यास्तीति)=घर में सब व्यक्ति तपस्वी हों। जीवन में तप मनुष्य का पतन नहीं होने देता। ४. तप के परिणामस्वरूप **घर्मः**=सब गृहसभ्यों में प्राणों की उष्णता हो (घर्म=गर्म) तपस्या से यह प्राणों की उष्णता भी बनी रहती है। ५. **विराट्**=प्रत्येक व्यक्ति प्राणों की उष्णता को स्थिर रखता हुआ ज्ञान की ज्योति से चमकनेवाला हो। ६. **सुतः**=(सुतं अस्यास्तीति) यह उत्पादनवाला—अर्थात् यह सदा निर्माण के कार्यों में लगनेवाला हो। ७. **धेनुः दुहे**=प्रत्येक गृहपति यह कह सके कि मेरे घर में गौ दुही जाती है या दूध देने से गौ सबका पूरण करती है। ८. गौ ही नहीं, **सरस्वती दुहे**=यहाँ ज्ञान की अधिदेवता भी सबका पूरण करती है, अर्थात् इस घर में सब ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं और ९. इसी का परिणाम है कि **इह**=इस घर में **सोमम्**=सौम्यता—विनीतता व शान्ति है, **शुक्रम्**=वीर्यशक्ति है और **इन्द्रियम्**=प्रत्येक इन्द्रिय का बल अथवा धन है।

भावार्थ—आदर्श घर में पति-पत्नी सदा कर्मव्यापृत रहते हैं, घर में अग्निहोत्र होता है, तपस्या, प्राणशक्ति, ज्ञानदीप्ति व निर्माणात्मक कार्य वहाँ विद्यमान होते हैं। गौवों और ज्ञान का दोहन होता है। अन्त में सौम्यता के साथ वहाँ वीरता होती है तथा सब इन्द्रियाँ ठीक स्थिति में होती हैं।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

अश्विना-सरस्वती

तनूपा भिषजा सुतेऽश्विनोभा सरस्वती।
मध्वा रजांꣳसीन्द्रियमिन्द्राय पथिभिर्वहान्॥५६॥

१. गतमन्त्र के 'विदर्भि' के जीवन में **सुते**=सोम के उत्पन्न होने पर **उभा अश्विना**=दोनों प्राणापान **तनूपा**=शरीर की रक्षा करनेवाले होते हैं और **भिषजा**=वे सब रोगों की चिकित्सा करनेवाले होते हैं। इनके शरीर में प्रथम तो रोग उत्पन्न ही नहीं होते, उत्पन्न हो भी जाते हैं तो शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। उत्पन्न हुए-हुए सोम को प्राणापान शरीर में व्याप्त करते हैं और इस प्रकार उस-उस अङ्ग को सबल बनाकर उसे रोगों का घर नहीं बनने देते। २. इसके जीवन में **सरस्वती**=विद्या की अधिदेवता, अर्थात् ज्ञान **मध्वा**=माधुर्य के साथ **रजांसि**='रजः कर्मणि भारत', 'रजरुवर्थ उच्यते'=कर्मों को व अर्थों को धारण करता है। यह प्राणसाधन द्वारा सुरक्षित सोमवाला पुरुष ज्ञानाग्नि के दीप्त होने पर (क) 'बड़े माधुर्यपूर्ण व्यवहारवाला' होता है। (ख) सदा उत्तम कर्मों में लगा रहता है। (ग) इन उत्तम कर्मों के द्वारा यह अर्थ का उपार्जन करनेवाला बनता है। ३. इस प्रकार ये प्राणापान तथा ज्ञान (क्षत्र+ब्रह्म) **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **पथिभिः**=उत्तम मार्गों से **इन्द्रियम्**=प्रत्येक इन्द्रिय की शक्ति को तथा धन को (इन्द्रियं धनम्) **वहान्**=प्राप्त कराते हैं। गो० ३।२।२। में इन धनों का उल्लेख इस रूप में है—'जायमानो ह वै ब्राह्मणः सप्तेन्द्रियाण्यभि जायते ब्रह्मवर्चसं यशश्च स्वप्नं च क्रोधं च श्लाघां च रूपं च पुण्यगन्धं सप्तमम्', अर्थात् प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि विदर्भि के जीवन में ब्रह्मवर्चस् होता है, वह यशस्वी बनता है, चिन्ता से ऊपर उठे होने से वह ठीक से सोता है, पाप के प्रति वह क्रोध कर पाता है, लोगों की दृष्टि में वह सदा श्लाघा के योग्य जीवनवाला होता है, सुन्दर रूपवाला होता है और उत्तम ज्ञानवाला होता है।

भावार्थ—एक आदर्श जीवनवाले पुरुष के शरीर में प्राणापान होते हैं और विद्याभ्यास से बढ़ा हुआ ज्ञान उसे मधुर व शक्तिसम्पन्न बनाता है। यह सुमार्ग से उत्तम धनों का अर्जन करता है।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

मधु भेषजम्

इन्द्रायेन्दुꣳसरस्वती नराशꣳसेन नग्नहुम्।
अधातामश्विना मधु भेषजं भिषजा सुते॥५७॥

१. **सरस्वती**=ज्ञान की अधिदेवता **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **इन्दुम्**=सोम को, (इन्द् to be powerful या इन्द् परमैश्वर्य) शक्ति व ज्ञानरूप परमैश्वर्य के कारणभूत इस सोम को धारण करती है। सोम को यहाँ इन्दु कहा गया है, चूँकि यह सोम शक्ति व परमैश्वर्य का कारण बनता है। मनुष्य जब ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग पर चलता है तब यह सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है और ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है। २. यह सरस्वती ही इस इन्द्र को **नराशंसेन**=(नरै आशंसनीयेन) मनुष्यों से चाहनेयोग्य इस यज्ञ से **नग्नहुम्**=(नग्नः सन् जुहोति) अपनी आवश्यकताओं को कम करके आहुति देनेवाला, दान देनेवाला बनाती है। ज्ञान से मनुष्य भौतिक वृत्तियों से ऊपर उठता हुआ खूब देने की वृत्तिवाला बनता है। ३.

इस इन्द्र के लिए ही **भिषजा अश्विना**=रोगों के चिकित्सक प्राणापान **सुते**=शरीर में सोम का उत्पादन होने पर **मधु भेषजम्**=अत्यन्त माधुर्यमय औषध को **अधाताम्**=धारण करते हैं। अथवा इस **मधु**=शहदरूप औषध को धारण करते हैं, अर्थात् प्राणापान की शक्ति के साथ इस मधु का मात्रा में प्रयोग इनके लिए सर्वोत्तम औषध हो जाता है। शहद की सामान्यतः मात्रा गर्मियों में १८ ग्राम व सर्दियों में ३० ग्राम हो सकती है।

भावार्थ—१. ज्ञान का उपासक पुरुष सोम की रक्षा के द्वारा शक्तिसम्पन्न बनता है। २. यज्ञियवृत्ति को धारण कर, अपनी आवश्यकताएँ न बढ़ाकर, दान देता है ३. प्राणापान इसके वैद्य बनते हैं, ४. मात्रा में किया गया मधु का प्रयोग इनके लिए सर्वोत्तम औषध बन जाता है।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

इष-ऊर्ज-रयि

आजुह्वाना सरस्वतीन्द्रायेन्द्रियाणि वीर्यम्।
इडाभिरश्विनाविषꣳसमूर्जꣳसꣳरयिं दधुः॥५८॥

१. **आजुह्वाना**=(आह्वयन्ती) प्रभु का आह्वान (पुकार) करती हुई **सरस्वती**=ज्ञान की अधिदेवता **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **इन्द्रियाणि**=इन्द्रियशक्तियों को अथवा ५६वें मन्त्र की व्याख्या में प्रदर्शित सात धनों को तथा **वीर्यम्**=वीर्य को धारण करती है। ज्ञान और प्रभु-उपासना के मिल जाने पर मानव जीवन में सब इन्द्रियाँ सशक्त होती हैं, सब इन्द्रियों के ऐश्वर्य को प्राप्त करके यह वीर्यवान् बनता है। २. **इडाभिः**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा **अश्विना**=प्राणापान **इषं सन्दधुः**=सम्यक्तया प्रेरणा प्राप्त कराते हैं **ऊर्जम्**=उस प्रेरणा को क्रियारूप में लाने के लिए इसमें बल व प्राणशक्ति का आह्वान करते हैं और **रयिम्**=प्रेरणानुसार कार्य कर सकने के लिए उचित धन का **सन्दधुः**=सम्यक्तया धारण करते हैं। ३. 'इडाभिः' शब्द का अर्थ 'श्रद्धा की भावनाओं से' भी होता है। प्राणापान श्रद्धा की भावनाओं के होने पर, इसे प्रेरणाशक्ति व धन' प्राप्त कराते हैं। ४. प्रस्तुत मन्त्र में सरस्वती का विशेषण 'आजुह्वाना' ज्ञान के साथ उपासना को जोड़ रहा है तथा अश्विना के साथ 'इडाभिः' यह पद बल के साथ श्रद्धा के मेल का विधान कर रहा है। बल के साथ श्रद्धा होने पर ही प्रेरणाशक्ति व धन का लाभ है। एवं, ज्ञान व बल दोनों के साथ श्रद्धा व उपासना का होना आवश्यक है।

भावार्थ—हमारी सरस्वती प्रभु को पुकारती हुई हो, ज्ञान उपासना से जुड़ा हो तथा हमारी प्राणाशक्ति के साथ श्रद्धा का मेल हो। हम उन्नत शक्तिवाले बनें, श्रद्धा से युक्त हों।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

नमुचि का सोम

अश्विना नमुचेः सुतꣳसोमꣳशुक्रं परिस्रुता।
सरस्वती तमा भरद् बर्हिषेन्द्राय पातवे॥५९॥

१. **अश्विना**=ये प्राणापान **नमुचेः**=(न+मुचि) न परित्याग करनेवाले के, अर्थात् अपव्यय न करनेवाले के **सुतम्**=उत्पन्न हुए-हुए **सोमम्**=सोम को **परिस्रुता**=शरीर में चारों ओर स्रुत व व्याप्त करनेवाले होते हैं। शरीर में व्याप्त हुआ-हुआ यह सोम **शुक्रम्**=उनके जीवन को (शुक् दीप्तौ) दीप्त बनानेवाला होता है और (शुक् गतौ) उन्हें क्रियाशील

बनाता है। (क) यहाँ 'नमुचि' शब्द अभिमानरूप आसुर भावना के लिए न आकर उस पुरुष के लिए प्रयुक्त हुआ है जो व्यर्थ के भोगविलास में वीर्य का परित्याग नहीं करता। (ख) इस पुरुष के वीर्य को प्राणापान ऊर्ध्वगति देकर सारे शरीर में व्याप्त कर देते हैं। (ग) शरीर में व्याप्त हुआ-हुआ यह सोम उस पुरुष के जीवन को उज्ज्वल बनाता है, और उसे खूब क्रियाशील बने रहने की क्षमता प्राप्त कराता है। २. अब **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **तम्**=उस शरीर में व्याप्त किये गये सोम को **बर्हिषा**=वासनाशून्य हृदय के साथ व इस निर्वासन हृदय के द्वारा **इन्द्राय**=इन्द्र के लिए **आभरत्**=धारण करती है **पातवे**=जिससे वह अपना रक्षण कर सके। ज्ञान में लगा हुआ पुरुष इस सोम का शरीर में बड़ा सुन्दर सद्व्यय कर पाता है। इस प्रकार शरीर में ही व्ययित हुआ-हुआ सोम उसका संरक्षण करनेवाला होता है।

भावार्थ—हम प्राणसाधना से सोम का शरीर में ही व्यापन करें, वहाँ यह ज्ञानाग्नि के ईंधन के रूप में व्ययित हो और इस प्रकार यह सोम उस सोमपान करनेवाले की रोगों से रक्षा करनेवाला बने।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

विस्तृत द्वार

क॒व॒ष्यो॒ न व्यच॑स्वतीर॒श्विभ्यां॒ न दुरो॒ दिशः॑।
इन्द्रो॒ न रोद॑सीऽउ॒भे दु॒हे का॒मान्त्सर॑स्वती ॥६०॥

१. **अश्विभ्याम्**=प्राणापान के द्वारा, अर्थात् प्राणापान की साधना से **दुरः**=शरीर के 'मुख+पायुः+उपस्थ+ब्रह्मरन्ध्र'रूपी चारों द्वार **कवष्यः**=(कूयन्ते स्तूयन्ते) बड़े स्तुत्य हों। 'कवष्यः' शब्द का अर्थ ढाल भी है। ये द्वार मनुष्य के लिए ढाल का काम करें। उसे शत्रुओं के आक्रमण से बचानेवाले हों। मुख व पायु के ठीक कार्य करने पर मनुष्य रोगों से बचा रहता है, उपस्थ व ब्रह्मरन्ध्र के ठीक कार्य करने पर मनुष्य अध्यात्म दृष्टि से उन्नत होता है और वासनाओं का शिकार नहीं होता। २. **न**=और ये द्वार (समुच्चयार्थीयो नकारः—उ०) **व्यचस्वतीः**=(व्याप्तिमत्यः—द०) व्याप्ति व विस्तारवाले हों। ये अपने-अपने कार्य को करने की विस्तृत शक्तिवाले हों। ३. **न**=और ये द्वार **दिशः**=(दिश् to direct) जीवन को बड़ा सुव्यवस्थित करनेवाले हों। ४. **न**=और इन उत्तम द्वारोंवाला **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **रोदसी**=दोनों द्युलोक व पृथिवीलोक का—मस्तिष्क व शरीर का **दुहे**=प्रपूरण करे। इनकी कमियों को दूर करके इनमें क्रमशः ज्ञान व शक्ति को भरे तथा ५. **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **कामान् दुहे**=सब इष्ट कामनाओं को पूरण करे। ज्ञान से हमारी कामनाएँ पवित्र तो हों ही, उन कामनाओं को हम पूरण भी कर सकें।

भावार्थ—'मुख-पायु-उपस्थ व ब्रह्मरन्ध्र'रूपी चारों द्वारा स्तुत्य व विस्तारवाले हों। ये हमारे जीवनों को बड़ा व्यवस्थित करनेवाले हों। हम शरीर व मस्तिष्क दोनों का उचित पूरण करें तथा ज्ञान द्वारा सब इष्ट कामनाओं को सिद्ध करें।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

शक्ति व सौन्दर्य

उ॒षासा॒नक्त॑म॒श्विना॒ दिवेन्द्र॑ꣳ सा॒यमि॑न्द्रि॒यैः।
सं॒जा॒ना॒ने सु॒पेश॑सा॒ सम॑ञ्जाते॒ सर॑स्वत्या ॥६१॥

१. **अश्विना**=प्राणापान **इन्द्रम्**=इन्द्रियों के विजेता पुरुष को **उषासानक्तम्**=उषःकाल में तथा रात्रि में, अर्थात् रात्रि के आरम्भ से रात्रि के अन्त तक तथा **दिवा-सायम्**=दिन के प्रारम्भ से दिन के अन्त, अर्थात् सायंकाल तक **इन्द्रियैः**=प्रत्येक इन्द्रिय की शक्ति से अथवा इन्द्रियों के धनों से **समञ्जाते**=अलंकृत करते हैं। प्राणापान की साधना होने पर इन्द्रियाँ सदा सशक्त बनी रहती हैं। २. ये ही प्राणापान **सरस्वत्या**=ज्ञानाधिदेवता से, अर्थात् ज्ञान से **संजानाने**=संज्ञान व ऐकमत्यवाले होकर **सुपेशसा**=(पेशस्=Shape आकृति) उत्तम रूप से, सौन्दर्य से, **समञ्जाते**=सुभूषित करते हैं। प्राणापान के साथ ज्ञान के मिल जाने पर सारा जीवन सुन्दर-ही-सुन्दर हो जाता है।

भावार्थ—प्राणापान तथा ज्ञान से हमें इन्द्रियों की शक्ति व सौन्दर्य प्राप्त हो। क्षत्र व ब्रह्म दोनों सङ्गत होकर हमारे जीवन को सुन्दर-ही-सुन्दर बनाएँ।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

दैव्या होता

पातं नोऽअश्विना दिवा पाहि नक्तꣳसरस्वति।
दैव्या होतारा भिषजा पातमिन्द्रꣳसचासुते॥६२॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **दिवा**=दिन में **नः**=हमारी **पातम्**=रक्षा कीजिए, अर्थात् आपकी कृपा से दिन में हम अपने व्यवहारों को शक्तिपूर्वक करते चलें। आपके कारण हम अनथक बने रहें, थककर लेट न जाएँ। 'दिवा' शब्द 'दिव्=व्यवहारे' धातु से बनकर स्पष्ट संकेत कर रहा है कि यह सोने के लिए नहीं है, यह तो उचित व्यवहारों को निरन्तर करने के लिए है। २. हे **सरस्वति**=ज्ञानाधिदेवते! **नक्तम्**=रात्रि में **पाहि**=हमारी रक्षा कीजिए। जब कभी हमें जीवन में अन्धकार-सा दृष्टिगोचर हो तब आप हमें प्रकाश देनेवाली हों। आपकी कृपा से हम उलझें नहीं, उदास न हों। हमारे जीवन में अज्ञानान्धकार की रात्रि न आये। ३. हे **दैव्या होतारा**=(प्राणापानौ वै दैव्यौ होतारौ—ऐ० ३।४) प्राणापानो! आप दानपूर्वक अदन करनेवाले हो, अतएव **दैव्यौ**=उस देव को प्राप्त करानेवाले हो अथवा हमारे अन्दर दिव्य गुणों की वृद्धि करनेवाले हो। **भिषजा**=आप तो हमारे सब रोगों के चिकित्सक हो। आप तो **सुते**=सोम के उत्पन्न होने पर **इन्द्रम्**=इस जितेन्द्रिय पुरुष को **सचा**=मिलकर **पातम्**=रक्षित करते हो। प्राणापान की क्रिया जब परस्पर मिलकर ठीक प्रकार से चलती है तब ये (क) वीर्य की ऊर्ध्वगति करते हैं, (ख) स्वयं न खाते हुए सब इन्द्रियों को सशक्त बनाने के लिए भोजन का पाचन करते हैं, (ग) हमारे अन्दर दिव्य गुणों का विकास करते हैं और उस देवाधिदेव परमात्मा से हमें मिलाते हैं, (घ) हमें पूर्ण नीरोग बनाते हैं।

भावार्थ—प्राणापान हमारी दिन-रात रक्षा करते हैं। सरस्वती हमारे अन्धकार को दूर करती है। इन सबकी कृपा से हम नीरोग बन व दिव्य गुणों को प्राप्त कर देव=परमात्मा को पानेवाले बनते हैं।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

तीव्रम् मदम्

तिस्त्रस्त्रेधा सरस्वत्यश्विना भारतीडा।
तीव्रं परिस्त्रुता सोममिन्द्राय सुषुवुर्मदम्॥६३॥

१. **तिस्रः**=तीनों **सरस्वती**=ज्ञान की अधिदेवता, **भारती**=वाणी तथा **इडा**=श्रद्धा **त्रेधा** =जो तीन प्रकार से अवस्थित हैं, 'सरस्वती' द्युलोक में, 'इडा' (श्रद्धा) अन्तरिक्षलोक में तथा 'भारती' इस पृथिवीलोक में, इन तीन देवियों के साथ **अश्विना**=प्राणापान **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **परिस्रुता**=(परिता स्रवणेन) शरीर में व्यापन के द्वारा **तीव्रम्**=बुद्धि की तीव्रता के सम्पादन करनेवाले (पटुत्वकरम्—उ०) तथा **मदम्**=हृदयान्तरिक्ष में उल्लास को पैदा करनेवाले **सोमम्**=सोम को, वीर्यशक्ति को **सुषुवुः**=पैदा करते हैं। २. अन्न के सेवन से शरीर में रसादि के क्रम से सोम की उत्पत्ति होती है। यह सोम शरीर में ही व्याप्त रहे, शरीर का ही अङ्ग बन जाए, इसके लिए आवश्यक है कि हम (क) स्वाध्याय की वृत्ति को अपनाएँ, सरस्वती की आराधना करें, (ख) प्राणापान की साधना करें, प्राणायाम के अभ्यासी हों (अश्विना), (ग) वाणी को नियन्त्रित रक्खें। यह औरों का भरण-पोषण करनेवाली हो, उत्साहवर्धक, प्रशंसात्मक शब्द ही बोले। कभी क्रोधभरे शब्द न निकाले। ब्रह्मचारी के लिए क्रोध वर्जित है, (घ) हम श्रद्धायुक्त मनवाले हों। हमारा श्रद्धासम्पन्न हृदय सदा प्रभु का स्मरण करनेवाला हो। वह वासनाओं का क्षेत्र न बने। ३. इस प्रकार 'स्वाध्याय, प्राणसाधना, क्रोधशून्य मधुर वाणी व श्रद्धा' इन साधनों से सोम के शरीर में ही व्याप्त होने पर मनुष्य (क) तीव्र बुद्धि बनता है (तीव्रम्), (ख) उसका जीवन उल्लासमय होता है (मदम्), (ग) इन दो लाभों के अतिरिक्त उसका शरीर भी बड़ा स्वस्थ बनता है। इसी स्वास्थ्य के वर्णन से अग्रिम मन्त्र का प्रारम्भ होगा।

भावार्थ—सोम मनुष्य को तीव्र बुद्धि व उल्लासमय जीवनवाला बनाता है। 'यह शरीर में ही सुरक्षित रहे', इसके लिए आवश्यक है कि हम स्वाध्यायशील हों, प्राणापान के अभ्यासी हों, वही वाणी बोलें जो क्रोधशून्य हो तथा हृदय में श्रद्धा की भावना से ओत-प्रोत हों।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

यशः-श्रीः रूपम्

अश्विना भेषजं मधु भेषजं नः सरस्वती।
इन्द्रे त्वष्टा यशः श्रियꣳरूपꣳरूपमधुः सुते॥६४॥

१. गतमन्त्र में सोम के शरीर में परिस्रुत होने पर बुद्धि की तीव्रता व हृदय में उल्लास होने का उल्लेख किया था। प्रस्तुत मन्त्र में इस सोम की रक्षा से शरीर में सब प्रकार की नीरोगता का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि **सुते**=सोम के उत्पन्न होने पर **अश्विना**=ये प्राणापान उस सोम को शरीर में ही व्याप्त करते हैं और इस प्रकार **मधु भेषजम्**=अत्यन्त माधुर्यमय औषध बन जाते हैं। शरीर में कोई रोग नहीं आता, आता भी है तो ये प्राणापान उसकी शीघ्र ही चिकित्सा कर देते हैं। २. **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता भी **नः**=हमारे लिए **भेषजम्**=कितनी सुन्दर औषध बनती है। यह हमें उत्कृष्ट आनन्द प्राप्त कराती है जो हमें इस संसार में होनेवाले ईर्ष्या-द्वेष व पारस्परिक कलहों में नहीं फँसने देता। ३. इस स्थिति में जबकि प्राणापान शारीरिक रोगों के लिए औषध बनते हैं तथा सरस्वती की आराधना मानस रोगों को दूर करनेवाली होती है तब इस **इन्द्रे** =सब रोगादि शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले पुरुष में **त्वष्टा**=देवशिल्पी, हमारे जीवनों में दिव्यता का निर्माण करनेवाला प्रभु **यशः**=यश को **अधुः**=स्थापित करता है। ४. यह प्रभु, अश्विनीदेव तथा सरस्वती **श्रियम्**=श्री को, शोभा को तथा **रूपंरूपम्**=प्रत्येक अङ्ग में सौन्दर्य को **अधुः** =स्थापित करते हैं, परन्तु

यह सब होता तभी है जब **सुते**=सोम का उत्पादन होता है।

भावार्थ—प्राणापान तथा ज्ञान हमारे रोगों के औषध होते हैं। प्रभुकृपा से हमारा जीवन यश, श्री व रूपसम्पन्न होता है।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

इन्द्रः

ऋतुथेन्द्रो वनस्पतिः शशमानः परिस्त्रुता।
कीलालमश्विभ्यां मधु दुहे धेनुः सरस्वती॥६५॥

१. 'पिछले मन्त्र के अनुसार अपने में सोम का उत्पादन करनेवाला इन्द्र कैसा बनता है', इस बात का प्रतिपादन प्रस्तुत मन्त्र में इस प्रकार करते हैं—**ऋतुथा**=वह ऋतु के अनुसार चलता है, ऋतु के अनुकूल अपना आहार-विहार रखता है। २. **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता व जितेन्द्रिय बनता है। ३. **वनस्पतिः**=ज्ञान की रश्मियों का पति बनता है। ४. **शशमानः**=तीव्र गतिवाला होता है, किसी कर्म में आलस्य नहीं करता और ५. इसके जीवन में **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **अश्विभ्याम्**=प्राणापान के साथ **परिस्त्रुता**=शरीर में सोम के परितः स्रवण=(व्यापन) के द्वारा **कीलालम्**=बन्धन को, उस परमात्मा के साथ सम्बन्ध को तथा **मधु**=माधुर्य को **दुहे**=प्रपूरित करती है। इस प्रकार इसके लिए यह सरस्वती **धेनुः**=आप्यायन करनेवाली होती है। इसकी सब शक्तियों के वर्धन का कारण बनती है। ६. इन्द्र वह है जो समयानुसार कार्य करता है, ज्ञानरश्मियोंवाला होता है तथा द्रुत गतिवाला होता है, कार्यों में कभी आलस्य नहीं करता। ७. प्राणापान की साधना तथा स्वाध्याय इसे व्रतों के बन्धन में बाँधकर प्रभु के मार्ग पर ले-चलते हैं। इसके जीवन में माधुर्य का कारण बनते हैं। सरस्वती की आराधना इसके आप्यायन का कारण बनती है। ८. ऊपर की सब बातें तभी हैं जब सोम का शरीर में ही परितः स्रवण व व्यापन हो।

भावार्थ—सोमी ऋतु के अनुसार आचरण करता है, जितेन्द्रिय बनता है, ज्ञानी व तीव्र गतिवाला होता है, प्राणापान की साधना से परमात्मा के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ता है।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

सुतं-मधु

गोभिर्न सोममश्विना मासरेण परिस्त्रुता।
समधातꣳसरस्वत्या स्वाहेन्द्रे सुतं मधु॥६६॥

१. **अश्विना**=प्राणापान **गोभिः न**=(नश्चार्थे—म०) ज्ञानेन्द्रियों के साथ अथवा ज्ञान की वाणियों के साथ **सोमम्**=सोम को **समधातम्**=धारण करते हैं। २. **परिस्त्रुता**=सोम के परितः-स्रवण व व्यापन के साथ **मासरेण**=(मासेषु रमणं) प्रत्येक मास में रमण के साथ सोम को धारण करते हैं, अर्थात् शरीर में सोम का व्यापन होने पर सारे महीने व सारी ऋतुएँ अच्छी-ही-अच्छी लगती हैं। ३. **सरस्वत्या**=ज्ञानाधिदेवता के साथ **स्वाहा**=स्वार्थत्याग की भावना **इन्द्रे**=जितेन्द्रिय पुरुष में **सुतम्**=सोम को तथा **मधु**=माधुर्य को धारण करती है। ४. यदि हम चाहते हैं कि (क) हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ ठीक बनी रहें, हमें ज्ञान की वाणियाँ प्राप्त हों (गोभिः), (ख) हमें सब मास अच्छे-ही-अच्छे लगें (मासरेण), (ग) हमारी सब क्रियाएँ माधुर्य को लिये हुए हों (मधु) तो आवश्यक है कि हम प्राणापान की साधना करें (अश्विना), स्वाध्यायशील हों (सरस्वती), हममें स्वार्थत्याग की भावना हो (स्वाहा)।

भावार्थ—हम सोमरक्षा द्वारा अपने जीवन को ज्ञानसम्पन्न, प्रसन्नता से युक्त मनवाला तथा माधुर्यमय बनाएँ।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

हवि-इन्द्रिय-शुक्र-वसु-मघ

अश्विना हविरिन्द्रियं नमुचेर्धिया सरस्वती।
आ शुक्रमासुराद्वसु मघमिन्द्राय जभ्रिरे॥६७॥

१. **अश्विना**=प्राणापान तथा **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **नमुचेः**=(न-मुचि, धर्ममत्यजत) धर्म को, अपने धारणात्मक कर्म को न छोड़नेवाले प्रभु के **धिया**=ध्यान व ज्ञान के द्वारा **हविः**=त्यागपूर्वक अदन की भावना को और **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों की शक्ति को तथा **शुक्रम्**=जीव को शुद्ध (शुच्) व सक्रिय (शुक्) बनानेवाले वीर्य को, **वसु**=उत्तम निवास के लिए आवश्यक तत्त्वों को तथा **मघम्**=पापशून्य, सुपथ से अर्जित ऐश्वर्य को **आसुरात्**=उस प्राणशक्ति के देनेवाले प्रभु से **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **आजभ्रिरे**=प्राप्त कराए २. मानव जीवन की साधना में सबसे महत्त्वपूर्ण पग प्राणसाधना (प्राणायाम्) व स्वाध्याय हैं। ३. इनसे मनुष्य में (क) त्यागपूर्वक अदन की भावना उत्पन्न होती है। इन्द्रियशक्ति उत्पन्न होती है। (ख) वीर्य स्थिर होता है जो उसके जीवन को शुद्ध व क्रियाशील बनाता है। (ग) उत्तम निवास के लिए आवश्यक सब तत्त्व उसमें विकसित होते हैं और (घ) उसे सुपथ-अर्जित ऐश्वर्य प्राप्त होता है।

भावार्थ—हम प्राणायाम व स्वाध्याय के द्वारा अश्विनीदेवों व सरस्वती की आराधना करें, जिससे हमारा जीवन 'हवि-इन्द्रिय-शुक्र-वसु व मघ' से सुशोभित हो।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

वल व मघ का विदारण

यमश्विना सरस्वती हविषेन्द्रमवर्द्धयन्।
स बिभेद वलं मघं नमुचावासुरे सचा॥६८॥

१. **यम्**=जिस **इन्द्रम्**=इन्द्र को **अश्विना**=प्राणापान व **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **हवि**=दानपूर्वक अदन के द्वारा **अवर्धयन्**=बढ़ाते हैं **सः**=वह इन्द्र **आसुरे**=उस प्राणशक्ति के लेनेवाले **नमुचौ**=कभी भी अपने धारणात्मक व्रत को न छोड़नेवाले प्रभु में **सचा**=समवेत होकर रहता हुआ, अर्थात् कभी भी उस प्रभु से अपने को अलग न करता हुआ **वलं मघम्**=शक्ति व ऐश्वर्य को **बिभेद**=विदारण करनेवाला होता है, अर्थात् किसी भी शक्ति से भयभीत नहीं होता और किसी के ऐश्वर्य से प्रलुब्ध नहीं होता। अथवा यह बल व मघ के रिकार्ड को तोड़नेवाला बनता है, अर्थात् सर्वाधिक बल व ऐश्वर्य को प्राप्त होनेवाला है। २. स्पष्ट है कि प्राणायाम व स्वाध्याय से 'हवि' की वृत्ति—त्यागपूर्वक उपभोग की वृत्ति बढ़ती है। इस वृत्ति से मनुष्य प्रभु के अधिकाधिक समीप होता है, प्रभु का उपासक बनता है। इस उपासना से उसका बल व ऐश्वर्य बढ़ता है।

भावार्थ—हमारी प्राणासाधना व स्वाध्याय अविच्छिन्न रूप से चलें, हममें हवि व यज्ञ की वृत्ति हो, हम प्रभु के उपासक बनें और बल व ऐश्वर्य को प्राप्त करें।

ऋषि:—**विदर्भि:**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्रा:**। छन्द:—**निचृदनुष्टुप्**। स्वर:—**गान्धार:**॥

पशव:—अश्विना—सरस्वती

तमिन्द्रं पशव: सचाश्विनोभा सरस्वती।
दधानाऽअभ्यनूषत हविषा यज्ञऽइन्द्रियै:॥६९॥

१. गतमन्त्र के 'यं इन्द्रम्' शब्द का प्रस्तुत मन्त्र में 'तं इन्द्रम्' से उल्लेख करते हैं। **तम् इन्द्रम्**=उस इन्द्र को **पशव:**=काम-क्रोध आदि पशु **उभा अश्विना**=दोनों प्राणापान तथा **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता—ये सब **सचा**=मिलकर **दधाना:**=धारण करते हुए **यज्ञे**=इस जीवनयज्ञ में **हविषा**=त्यागपूर्वक अदन की वृत्ति से तथा **इन्द्रियै:**=(वीर्यै:) इन्द्रियशक्तियों से **अभ्यनूषत**=बढ़ाते हैं (नूषतिर्वृद्ध्यर्थम्) अथवा स्तुत करते हैं (नू स्तवने)। २. 'काम' शत्रु है, परन्तु यही नियन्त्रित हुआ-हुआ पुरुषार्थ हो जाता है। इसी प्रकार 'क्रोध' शत्रु है परन्तु वही क्रोध विचारपूर्वक होने पर मन्यु होता है और वाञ्छनीय हो जाता है। ये काम व मन्यु जीवन में उन्नति के लिए सहायक होते हैं, इसीलिए मनु ने लिखा है कि **'न चैवेहास्त्यकामता'**=अकामता के लिए इस जीवन में कोई स्थान नहीं है। सब ज्ञान व यज्ञ काम से ही हुआ करते हैं। प्राणायाम इन्द्रियदोषों को दूर करता है। स्वाध्याय बुद्धि का शोधन करता है। ३. इस प्रकार ये पशु, प्राणापान व ज्ञान मनुष्य का धारण करते हुए उसका वर्धन करते हैं, उसके जीवन में हवि होती है, उसकी इन्द्रियाँ शक्तिसम्पन्न बनती हैं।

भावार्थ—हवि व इन्द्रिय-शक्तियों से हमारा जीवन स्तुत्य बने।

ऋषि:—**विदर्भि:**। देवता—**इन्द्रसवितृवरुणा:**। छन्द:—**अनुष्टुप्**। स्वर:—**गान्धार:**॥

सविता—वरुणो—भग:

यऽइन्द्रऽइन्द्रियं दधु: सविता वरुणो भग:।
स सुत्रामा हविष्पतिर्यजमानाय सश्चत॥७०॥

१. **ये**=जो **सविता**=निर्माण की देवता, **वरुण:**=द्वेषनिवारण की देवता तथा **भग:**=(भज सेवायाम्) उपासना की वृत्ति **इन्द्रे**=जितेन्द्रिय पुरुष में **इन्द्रियम्**=वीर्य को, इन्द्रियशक्ति को **दधु:**=धारण करते हैं तो २. **स:**=वह इन्द्र **सुत्रामा**=(सु+त्रा) बड़ी उत्तमता से अपना त्राण करनेवाला, अर्थात् नीरोग बनता है। यह ३. **हविष्पति:**=हवि का रक्षक होता है। इसके मन में देकर खाने की वृत्ति होती है और यह इन्द्र ४. **यजमानाय**=इस सृष्टियज्ञ को चलानेवाले के लिए **सश्चत**=(सेवताम्) सेवन करनेवाला बने। ५. सदा निर्माण की क्रिया में लगे रहने से, निर्माणात्मक कार्यों में प्रवृत्त रहने से यह स्वयं सविता बनता है और अपने शरीर की रक्षा कर पाता है। एवं, यह सुत्रामा होता है। ६. ईर्ष्या-द्वेष से ऊपर उठकर यह 'वरुण' होता है और सबके साथ प्रेम होने से मिलकर खाता है। इसी को यहाँ 'हविष्पति' बनना कहा है। ७. **भग:**=उपासना से यह उस यजमान को, सृष्टियज्ञ के प्रवर्तक प्रभु को प्राप्त करता है।

भावार्थ—सविता, वरुण व भग की कृपा से हम 'सुत्रामा, हविष्पति व प्रभुसेवी' बनें।

ऋषि:—**विदर्भि:**। देवता—**इन्द्रसवितृवरुणा:**। छन्द:—**अनुष्टुप्**। स्वर:—**गान्धार:**॥

वसु—बलम्—इन्द्रियम्

सविता वरुणो दधद्यजमानाय दाशुषे।
आदत्त नमुचेर्वसु सुत्रामा बलमिन्द्रियम्॥७१॥

१. **सविता**=निर्माण की देवता तथा **वरुणः**=द्वेषनिवारण की देवता **यजमानाय**=यज्ञशील **दाशुषे**=दाश्वान् के लिए, देनेवाले के लिए **दधत्**=धारण करते हैं, अर्थात् यदि हम निर्माण के कार्यों में लगे रहते हैं और ईर्ष्या-द्वेष की भावना से ऊपर उठ जाते हैं तो हमारा जीवन यज्ञशील बनता है, हममें देने की वृत्ति बनी रहती है और इस प्रकार ये सविता व वरुण हमारा धारण करनेवाले हो जाते हैं। २. यह सविता व वरुण से धारण किया गया **सुत्रामा**=अपना उत्तम त्राण करनेवाला इन्द्र **नमुचेः**=धारणात्मक कर्म का कभी परित्याग न करनेवाले प्रभु से **वसु**=निवास के लिए आवश्यक तत्त्वों को, **बलम्**=शक्ति को तथा **इन्द्रियम्**=वीर्य को **आदत्त**=ग्रहण करता है।

भावार्थ—निर्माणात्मक कार्यों में लगना व ईर्ष्या-द्वेष से ऊपर उठना मनुष्य को यज्ञशील व दाश्वान् (दान देनेवाला) बनाते हैं। अपना त्राण करनेवाला जितेन्द्रिय पुरुष 'वसु, बल व इन्द्रिय' को प्रभु से प्राप्त करता है।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**इन्द्रसवितृवरुणाः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

यशसा-बलम्

वरुणः क्षत्रमिन्द्रियं भगेन सविता श्रियम्।
सुत्रामा यशसा बलं दधाना यज्ञमाशत ॥७२॥

१. **वरुणः**=द्वेष के निवारण की देवता **क्षत्रं इन्द्रियम्**=रोगरूप क्षतों (प्रहारों) से त्राण करनेवाले बल तथा इन्द्रियशक्तियों को धारण करती है। हम द्वेष से ऊपर उठते हैं तो तेजस्वी व इन्द्रियशक्तिसम्पन्न बनते हैं। २. **सविता**=निर्माण की देवता **भगेन**=उपासना के साथ **श्रियम्**=श्री को धारण करती है, अर्थात् हम निर्माण के कार्यों में लगे रहते हैं और प्रभु का स्मरण नहीं छोड़ते तो हमारे सब कार्य श्रीसम्पन्न होते हैं। ३. **सुत्रामा**=अपना उत्तम त्राण करनेवाले व्यक्ति **यशसा बलम्**=सदा यश के साथ बल को **दधाना** =धारण करने के हेतु से **यज्ञम् आशत**=यज्ञ को व्याप्त करते हैं, अर्थात् सदा यज्ञों में लगे रहते हैं। यह यज्ञों में लगे रहना ही उनके यश व बल का कारण बनता है।

भावार्थ—हम द्वेष से ऊपर उठें और बल व इन्द्रियशक्तिसम्पन्न हों। प्रभु-स्मरणपूर्वक निर्माण के कार्यों में लगे रहें और श्रीसम्पन्न बनें। सुत्रामा=अपने को रोगादि से बचानेवाला पुरुष यशस्वी बल के लाभ के लिए जीवन को सदा कर्मों में व्याप्त रखता है।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

गौः-अश्व

अश्विना गोभिरिन्द्रियमश्वेभिर्वीर्युं बलम्।
हविषेन्द्रꣳ सरस्वती यजमानमवर्द्धयन् ॥७३॥

१. **अश्विना**=प्राणापान **गोभिः**=ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा अथवा वेदवाणियों के द्वारा **इन्द्रियम्**=बल को, इन्द्रियों की शक्ति को, **वर्धयन्**=बढ़ाते हैं। २. **अश्वेभिः**=कर्मेन्द्रियों के द्वारा अथवा कर्मों में व्यापन के द्वारा **वीर्यम्**=शरीर में रोगों का प्रतीकार करनेवाली शक्ति को तथा **बलम्**=बल को बढ़ाते हैं। ३. **सरस्वती** =ज्ञानाधिदेवता **हविषा**=हवि के द्वारा **यजमानम्**=यज्ञशील, यज्ञ के स्वभाववाले **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को बढ़ाती है। ज्ञान से मनुष्य के अन्दर अकेले खा लेने की वृत्ति नष्ट होती है और वह हविर्भुक् बननेवाला बन जाता है। ४. प्राणापान की साधना ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को निर्दोष बनाकर उनकी शक्ति को

बढ़ाती है। प्राणापान के ठीक कार्य करने पर मनुष्य ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान-प्राप्ति में लगा रहता है और कर्मेन्द्रियों को यज्ञादि उत्तम कर्मों में व्याप्त किये रखता है। इस प्रकार इस प्राणसाधना से उसकी ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों का बल बढ़ता है।

भावार्थ—प्राणायाम से हमारी इन्द्रियाँ निर्दोष बन बढ़ी हुई शक्तिवाली होती हैं और ज्ञान-प्राप्ति से हमारी यज्ञियवृत्ति का विकास होता है, हम हविरूप हो जाते हैं।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

नासत्या

ता नास॑त्या सु॒पेश॑सा॒ हिर॑ण्यवर्तनी॒ नरा॑।
सर॑स्वती ह॒विष्म॒तीन्द्र॒ कर्म॑सु नोऽवत ॥७४॥

१. **ता**=पिछले मन्त्र में बारम्बार उल्लिखित अश्विनीदेव **नासत्या**=(न असत्यौ) असत्य नहीं हैं। इनके उपासक की स्थिति सत्य-ही-सत्य होती है। इनका उपासक असत् को छोड़कर सत् को प्राप्त करता है। २. **सुपेशसा**=ये उपासक को पूर्ण स्वस्थ बनाकर सुन्दररूप प्रदान करते हैं। ३. **हिरण्यवर्तनी**=ये उपासक के मार्ग को ज्योतिर्मय करते हैं (हिरण्यं वर्तनिर्यस्यां)। उपासक की बुद्धि को सूक्ष्म बनाकर उसे ज्योति प्राप्त कराते हैं। उसका जीवन-मार्ग अन्धकारमय नहीं होता। ४. **नरा**=(नेतारौ) इस प्रकार ये अपने आराधक को उन्नतिपथ पर आगे-और-आगे ले-चलते हैं। ५. इनके लिए **सरस्वती**=ज्ञान की देवता **हविष्मती**=प्रशस्त हविवाली होती है, अर्थात् ज्ञान इनके जीवन को हविर्मय बना देता है। ६. इस प्रकार प्राणसाधना से 'सत्य-सुन्दर-प्रकाशमय-उन्नतिपथ' वाले बनकर तथा ज्ञान से हविर्मय जीवनवाले बनकर हे प्रभो! हम आपसे प्रार्थना करते हैं—हे **इन्द्र**=सब बुराइयों का संहार करनेवाले प्रभो! **कर्मसु**=हमारे कर्म करने पर आप **नः**=हमें **अवत**=सुरक्षित कीजिए। हम कर्म करें और आपकी कृपा के पात्र बनें।

भावार्थ—प्राण हमें सत्य-सुन्दर-प्रकाशमय व उन्नत बनाएँ। ज्ञान हममें त्याग की भावना भरे। कर्मशील बनकर हम प्रभु की कृपा के पात्र बनें।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

वृत्रहा-शतक्रतुः

ता भि॒षजा॑ सु॒कर्म॑णा॒ सा सु॒दुघा॒ सर॑स्वती।
स वृ॑त्र॒हा श॒तक्र॑तु॒रिन्द्रा॑य दधुरिन्द्रि॒यम् ॥७५॥

१. **सुकर्मणा**=उत्तम कर्मों के द्वारा, अर्थात् जब हम उत्तमता से कर्मों में व्याप्त रहते हैं तब **ता**=वे अश्विनीदेव **भिषजा**=हमारे चिकित्सक बनते हैं। कर्मशीलता से प्राणापान की शक्ति इस प्रकार बढ़ती है कि हमें रोग सताते ही नहीं, कोई रोग आता भी है तो शीघ्र नष्ट हो जाता है। २. इसी प्रकार **सुकर्मणा**=उत्तम कर्मों के होने पर **सा सरस्वती**=वह ज्ञानाधिदेवता **सुदुघा**=हमारा उत्तमता से पूरण करनेवाली बनती है। जब हम ज्ञान के अनुसार कर्म करते हैं तब हमारी सब बुराइयाँ दूर होकर हमारे अन्दर अच्छाइयाँ बढ़ती चलती हैं। ३. **सः**=वह उत्तम कर्मों से प्राणों व ज्ञान की साधना करनेवाला व्यक्ति **वृत्रहा**=ज्ञान पर आवरणभूत सब वासनाओं को नष्ट करनेवाला होता है। **शत-क्रतुः**=यह सौ-के-सौ वर्ष यज्ञमय बिताता है। ४. ये अश्विनीदेव तथा सरस्वती **इन्द्राय**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव के लिए **इन्द्रियम्**=सब इन्द्रियों की शक्ति को **दधुः**=धारण करते हैं।

भावार्थ—जब हम उत्तमता से कर्मों में लगेंगे तब प्राणापान हमारे वैद्य होंगे। हमें ये नीरोग रखेंगे तथा ज्ञान हममें उत्तमता का पूरण करेगा। हम वासना को नष्ट कर यज्ञशील बनेंगे। हमारी सब इन्द्रियाँ शक्तिसम्पन्न होंगी।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

सुराम इन्द्र

युवꣳसुराममश्विना नमुचावासुरे सचा।
विपिपानाः सरस्वतीन्द्रं कर्मस्वावत ॥७६॥

१. **अश्विना**=हे अश्विनीदेवो! **युवम्**=तुम दोनों तथा **सरस्वति**=ज्ञानाधिदेवते! **नमुचौ** =अपने धारणात्मक कर्म को न छोड़नेवाले **आसुरे**=प्राणशक्ति को देनेवाले प्रभु में **सचा**=समवेत होकर रहनेवाले **सुरामम्**=(सुष्ठु रमते) उत्तमता से रमण व क्रीड़ा करनेवाले, संसार के सारे व्यवहारों को क्रीड़ारूप में ग्रहण करनेवाले, अतएव न खिझनेवाले **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **विपिपानाः** =विशेषरूप से रक्षित करते हुए **कर्मसु**=कर्मों में **आवत**=प्रीणित करो। यह इन्द्र कर्मों में आनन्द का अनुभव करे। २. इन्द्र वह है जो (क) संसार के सब व्यवहारों को करता हुआ प्रभु में स्थित होता है। यह प्रभु ही उसका वस्तुतः धारण कर रहे हैं और उसे सम्पूर्ण प्राणशक्ति प्राप्त कराते हैं। यह कभी खिझता नहीं। ३. इन्द्र वह है जो इन्द्रियों का अधिष्ठाता है। ४. यह इन्द्र प्राणापान की साधना करता है और सरस्वती की आराधना करता है। 'प्राणायाम व स्वाध्याय' इसके नैत्यिक कर्त्तव्य हैं। ५. यह सदा कर्मों में लगा रहता है। कर्मों में आनन्द का अनुभव करता है।

भावार्थ—हम सदा प्रभु के साथ रहें। किसी भी कर्म को करते हुए प्रभु को भूल न जाएँ। संसार के सब व्यवहारों को क्रीड़ारूप में लें, क्रियाशील बनें।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

काव्य+दंसना

पुत्रमिव पितरावश्विनोभेन्द्रावथुः काव्यैर्दꣳसनाभिः।
यत्सुरामं व्यपिबः शचीभिः सरस्वती त्वा मघवन्नभिष्णक् ॥७७॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **पितरौ पुत्रम् इव**=जैसे माता-पिता पुत्र को रक्षित करते हैं उसी प्रकार **उभौ अश्विनौ**=ये दोनों अश्विनीदेव **काव्यैः**=तत्त्वज्ञान की प्रतिपादिका वाणियों से तथा **दंसनाभिः**=उत्तम कर्मों से **अवथुः**=तेरी रक्षा करते हैं, अर्थात् प्राणसाधना करने पर तेरी बुद्धि तीव्र होकर सूक्ष्मविषयों का दर्शन करनेवाली बनती है और तेरी मानसवृत्ति पवित्र होकर तुझे सदा उत्तम कर्मों में झुकाववाला करती है और २. **यत्**=जब **सुरामम्**=इस (सुष्ठु रम्यम्) अत्यन्त रमणीय, हितकर सोम का तू **व्यपिबः**=पान करता है तब **सरस्वती**=यह ज्ञानाधिदेवता **शचीभिः**=प्रज्ञापूर्वक होनेवाले कर्मों से हे **मघवन्**=ऐश्वर्यवाले जीव! **त्वा**=तुझे **अभिष्णक्** =उपसेवित करती है। ३. शरीर में सोम की रक्षा का यह लाभ होता है कि (क) मनुष्य यज्ञियवृत्तिवाला बनता है (मघवन्) (ख) उसकी ज्ञानाग्नि दीप्त होती है और यह सदा प्रज्ञापूर्वक पवित्र कर्मों में लगा रहता है।

भावार्थ—१. प्राणापान हमारी इस प्रकार रक्षा करते हैं जैसे माता-पिता पुत्र की। प्राणसाधना करने पर मनुष्य कवियों की दृष्टि प्राप्त करता है, उत्तम कर्मों में व्यापृत होता है। २. इस प्राणसाधना से सोम (वीर्य) का रक्षण होने पर ज्ञानाधिदेवता हमारे जीवन को

प्रज्ञापूर्वक कर्मों से उपसेवित करती है और हम पापशून्य ऐश्वर्यवाले बनते हैं।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

अग्निहोत्र

यस्मिन्नश्वास ऋषभास उक्षणो वशा मेषा अवसृष्टास आहुताः।
कीलालपे सोमपृष्ठाय वेधसे हृदा मतिं जनय चारुमग्नये ॥७८॥

१. उस **अग्नये**=अग्नि के लिए **हृदा**=हृदय से, अर्थात् श्रद्धा से **चारुम्**=सुन्दर **मतिम्**=स्तोत्र को **जनय**=उत्पन्न कर, अर्थात् अग्निहोत्र करते हुए तू श्रद्धापूर्वक सुन्दर स्तवन करनेवाला बन। २. उस अग्नि के लिए **यस्मिन्**=जिसमें **अश्वासः**=(तज्वी अश्वगन्धायां तुरगश्चिद्वाजिनोः) अश्वगान्धा नामक ओषधि **ऋषभासः**=(शृंगी तु, ऋषभो वृषः) काकड़ासिंगी नामक ओषधि **उक्षणः**=(One of the eight chief medicines आप्टे) सर्वोत्तम आठ ओषधियों में से एक, उक्षा नामक ओषधि **वशा**=(offering, कामिताहुतिः—द०) एक अत्यन्त वाञ्छनीय औषध **मेषाः**=(Small cardmons आप्टे) छोटी इलायची—ये **अवसृष्टासः**=(to form, create) सम्यक्तया तैयार की जाती हैं और **आहुताः**=आहुत की जाती हैं। ये सब ओषधियाँ रोगनिवारक व रोगकृमियों की संहारक हैं। इनके विशिष्ट गुणों के कारण इनकी सामग्री के साथ आहुतियाँ दी जाती हैं। २. उस **कीलालपे**=(कीलालं=रुधिरं) रुधिर की रक्षा करनेवाली अग्नि के लिए। यह अग्नि उत्तम ओषधियों के सूक्ष्म कणों से रुधिर को एकदम शुद्ध कर देती है। ३. **सोमपृष्ठाय**=सोम की आधारभूत अग्नि के लिए, अर्थात् शरीर में रुधिर आदि के शोधन के द्वारा यह अग्नि सोम (वीर्य) को सुरक्षित करती है। अथवा जिसमें सोमलता की आहुतियाँ दी जाती हैं (सोमाहुतयो यस्य पृष्ठे हूयन्ते) उस **वेधसे**=(विदधाति शुभं करोति, शुभमतिः) बुद्धि को शुद्ध बनानेवाले अग्नि के लिए स्तोत्रों को कर।

भावार्थ—अग्निहोत्र से १. रोग दूर होते हैं। २. रुधिर शुद्ध होता है। ३. सोम की रक्षा होती है। ४. बुद्धि शुद्ध होती है।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

रयि–वीर्य–यश

अहाव्यग्ने हविरास्ये ते स्रुचीव घृतं चम्वीव सोमः।
वाजसनिꣳ रयिमस्मे सुवीरं प्रशस्तं धेहि यशसं बृहन्तम् ॥७९॥

१. हे **अग्ने**=अग्निकुण्ड में आहुत अग्ने! **ते आस्ये**=तेरे मुख में **हविः अहावि**=मुझ से घृत की आहुति दी जाती है। **स्रुचि इव घृतम्**=जैसे चम्मच में घी तथा **चम्वि इव सोमः**=यज्ञपात्र में जिस प्रकार सोम होता है। हवन की तैयारी के साथ ही 'हवि, घृत व सोम' आदि को एकत्र करता है और अग्नि से कहता है कि 'चम्मच में घृत है, यज्ञपात्र में सोम है और तेरे मुख में हवि है'। चम्मच में घृत सदा रहता है, चमू नामक यज्ञपात्र में सोम, इसी प्रकार तेरे मुख में मुझसे नित्य हवि डाली जाती है। मेरी यह होम की प्रक्रिया सतत रहती है, विच्छिन्न नहीं होती। २. हे अग्ने! इस प्रकार आहुत हुआ-हुआ तू (क) **वाजसनिम्**=अन्नादि आवश्यक सामग्री को प्राप्त करानेवाले **रयिम्**=धन को, (ख) **प्रशस्तं सुवीरम्**=प्रशंसा के योग्य उत्तम शक्ति को, जिस शक्ति से मेरी प्रशंसा-ही-प्रशंसा होती है, उस शक्ति को तथा (ग) **बृहन्तं यशसम्**=सदा बढ़ते हुए यश को **अस्मे**=हमारे लिए

धेहि=धारण कर। अग्निहोत्र से वर्षा होकर अन्नादि की समृद्धि से धन बढ़ता है, रोगकृमियों के संहार से नीरोगता द्वारा बल बढ़ता है और त्यागवृत्ति की भावना बढ़ने से जीवन यशस्वी बनता है।

भावार्थ—सतत होम के तीन लाभ हैं—१. समय पर वर्षा होने से अन्नादि के ठीक उत्पादन से धन की वृद्धि २. वायुशुद्धि व कृमिसंहार द्वारा नीरोगता से शक्ति की वृद्धि ३. तथा त्याग-भावना के वर्धन से यश की वृद्धि।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

अश्विना तेजसा चक्षुः प्राणेन सरस्वती वीर्यम्।
वाचेन्द्रो बलेनेन्द्राय दधुरिन्द्रियम्॥८०॥

१. इस विदर्भि ऋषि के प्रकरण को समाप्त करते हुए कहते हैं कि घरों में यज्ञादि के ठीक होने पर तथा वैयक्तिक रूप से 'प्राणसाधना-स्वाध्याय व जितेन्द्रियता के अभ्यास' के चलने पर **अश्विना**=ये प्राणापान **तेजसा चक्षुः**=तेजस्विता के साथ चक्षु-इन्द्रिय की शक्ति को **दधुः**=धारण करते हैं। प्राणापान की साधना से तेजस्विता की वृद्धि होती है और चक्षु आदि इन्द्रियाँ ठीक कार्य करनेवाली बनती हैं। प्राणशक्ति की कमी होने पर आँख निर्बल हो जाती है और शरीर में अपान के कार्य के ठीक न होने पर आँख में मलिनता आ जाती है। एवं, आँख के ठीक रहने के लिए प्राणापान का कार्य ठीक रहना चाहिए। २. **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **प्राणेन**=प्राणशक्ति के साथ अथवा 'प्र+अन्' उत्कृष्ट जीवन के साथ **वीर्यम्**=वीर्य को **इन्द्राय** =जितेन्द्रिय पुरुष के लिए धारण करती है। 'स्वाध्याय' मनुष्य के जीवन को उत्कृष्ट तो बनाता ही है, उसे वीर्यसंयम के योग्य भी बनाता है चूँकि उसका वीर्य उसकी ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर शरीर में उत्तमता से उपयुक्त हो जाता है। ३. इसी स्वाध्यायशील तथा प्राणसाधना करनेवाले **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **वाचा**=वेदवाणी के साथ तथा **बलेन**=उस वेदज्ञान को क्रियारूप में लाने के लिए शक्ति के साथ **इन्द्रियम्**=प्रत्येक इन्द्रिय की शक्ति व धन को धारण करता है। ४. यहाँ 'इन्द्र=इन्द्राय', 'इन्द्र' इन्द्र के लिए धारण करता है। इस वाक्य में कर्तृपद परमात्म-वाचक और सम्प्रदानपद जीव के लिए है। एवं, जीव व ब्रह्म का द्वैत स्पष्ट है। यह प्रभु अपने सखा जीव के लिए 'वेदवाणी, शक्ति व धन' सभी वस्तुएँ प्राप्त कराता है, जिससे वह जीव उन्नत होकर उस-जैसा बनने के लिए यत्नशील हो। यह जीव अपने में अधिकाधिक दिव्य गुणों का ग्रन्थन करनेवाला हो और अपने विदर्भि नाम को चरितार्थ करे।

भावार्थ—(क) प्राणापान की साधना हमें 'तेजस्विता व चक्षु' प्रदान करेगी, (ख) सरस्वती की आराधना से हमारा जीवन उत्कृष्ट वीर्यवान् होगा तथा (ग) प्रभु का उपासन हमें 'वेदवाणी, बल व जीवन-यात्रा के लिए आवश्यक धन' प्राप्त कराएगा।

ऋषिः—**गृत्समदः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**आर्च्युष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**॥

गोमत्+अश्वावत्+नृपाय्य

गोमदू षु णासत्याश्वावद्यातमश्विना। वर्त्ती रुद्रा नृपाय्यम्॥८१॥

१. पिछले मन्त्रों की भावना को क्रियारूप में लाने के लिए उत्तम राष्ट्र के आयोजन का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **अश्विना**=सदा कर्मों में व्याप्त होनेवाले राजा व सेनापति (सभासेनेशौ—द०) जोकि सदा जागरित होकर राजकार्यों में लगे हुए हैं, **नासत्या**=(न

असत्यौ) जो कभी असत्य व्यवहार नहीं करते तथा **रुद्रा**=(शत्रूणां रोदयितारौ) शत्रुओं के रुलानेहारे हैं। वे **वर्त्ती**=वेदप्रदिपादित मार्ग से उस राष्ट्र को **सुयातम्**=अच्छी प्रकार प्राप्त करें जो (क) **गोमत्**=उत्तम गौवोंवाला है, जिसमें गोसंवर्धन के द्वारा उत्तम दूध की व्यवस्था से प्रजाओं की शारीरिक नीरोगता, मानस पवित्रता तथा मस्तिष्क की तीव्रता की व्यवस्था हुई है। (ख) **ऊ**=और **अश्वावत्**=जो उत्तम अश्वोंवाला है। राष्ट्र में उत्तम अश्वों के द्वारा जहाँ इधर-उधर जाने की व्यवस्था ठीक रहती है वहाँ ये उचित व्यायाम के साधन बनकर 'क्षात्रशक्ति' की वृद्धि का कारण बनते हैं। (ग) **नृपाय्यम्**=आप उस राज्य को प्राप्त कराओ जिसमें मनुष्यों का उत्तम रक्षण होता है। राष्ट्र में नियम-व्यवस्था इतनी सुन्दर होनी चाहिए कि उसमें चोरी-डाके व हिंसा आदि उत्पातों का किसी प्रकार का भय न हो। लोग अपने को सुरक्षित अनुभव करें।

भावार्थ—राष्ट्र गौवोंवाला हो, अश्वोंवाला हो, उसमें रक्षा का प्रबन्ध उत्तम हो, किसी प्रकार का भय न हो। राष्ट्र के अध्यक्ष कार्यव्यापृत, असत्य व्यवहार न करनेवाले व शत्रुओं के रोदक बलवाले हों। ऐसे राष्ट्र में ही सम्भव है कि 'गृत्समद' बनें (गृणाति माद्यति) प्रभु का स्तवन करें और प्रसन्न रहें।

ऋषिः—**गृत्समदः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**विराड्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

अनाधृष्ट

न यत्परो नान्तरऽआदधर्षद् वृषण्वसू। दुःशंसो मर्त्यो रिपुः॥८२॥

१. राष्ट्र वही ठीक है **यत्**=जिसे **न परः**=न तो पराया, अर्थात् बाहर का शत्रु और **न**=न ही **आन्तरः**=अन्दर का शत्रु **आदधर्षत्**=धर्षण करनेवाला बने या अभिभूत करके अपने वश में कर लें। राष्ट्र पर जहाँ बाह्य शत्रुओं का आक्रमण न होना चाहिए, वहाँ राष्ट्र को आन्तर शत्रुओं से सुरक्षित रखना भी आवश्यक है। २. इस प्रकार की व्यवस्था करनेवाले 'राष्ट्रपति व सेनापति' ही **वृषण्वसू**=राष्ट्र में उत्तम सुखों की वर्षा करनेवाले तथा प्रजा के निवास को उत्तम बनानेवाले होते हैं (वर्षतः वासयतः)। ३. इन 'वृषण्वसू' ने शत्रुओं का नाश करना है, शत्रुओं से राष्ट्र को बचाना है। बाह्य शत्रुओं का स्वरूप स्पष्ट ही है। आन्तर शत्रुओं का संकेत करते हुए कहते हैं कि **दुःशंसः**=असद्वृत्त का शंसन करनेवाला और **मर्त्यः**=विषयों के पीछे मरनेवाला, उनके लिए अत्यन्त लालायित होनेवाला मनुष्य **रिपुः**=शत्रु है। एक व्यक्ति जुए, शराब या व्यभिचारादि को बड़े सुन्दर रूप में चित्रित करता है, तो राष्ट्रपति उसे रोके और उस व्यक्ति को दण्डित करे।

भावार्थ—राष्ट्रपति व सेनापति का कर्त्तव्य है कि राष्ट्र की आन्तर व बाह्य शत्रुओं से रक्षा करें और राष्ट्र को अनाधृष्ट बनाएँ।

ऋषिः—**गृत्समदः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

धन-श्री-ध्यान

ता नऽआ वोढमश्विना रयिं पिशङ्गसन्दृशम्। धिष्ण्या वरिवोविदम्॥८३॥

१. **ता अश्विना**=उल्लिखित प्रकार से राष्ट्र का निर्माण व रक्षण करनेवाले सभा व सेना के ईश राजाओ (शासको)! **नः**=हम सबके लिए **रयिम्**=धन व ऐश्वर्य को **आवोढम्**=सर्वत्र प्राप्त कराओ। यहाँ 'आ' शब्द प्रजा में सर्वत्र धन के उचित लाभ का उल्लेख कर रहा है। धन किसी एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों में केन्द्रित हो जाए, इसकी

अपेक्षा यही ठीक है कि वह धन सारे राष्ट्र-शरीर में सर्वत्र समविभक्त होकर रहे। राष्ट्र में कोई भी व्यक्ति निर्धन न हो। सभी जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त धन प्राप्त कर सकें। २. 'यह धन कैसा हो?' इस प्रश्न का विवेचन करते हुए कहते हैं कि **पिशङ्गसन्दृशम्**=(पिशङ्गं पीतं सम्यक् दृश्यते, पीतवर्णं सुवर्णम् इत्यर्थः—म०) वह सुवर्णरूप हो। धन सुवर्ण के रूप में हो। अथवा जो धन हमारे जीवन को सुशोभित करनेवाला हो (पिश to adorn) तथा जिससे हमारा जीवन उत्तम दिखे। ३. यह धन **धिष्ण्या**=बुद्धि के साथ **वरिवोविदम्**=(येन परिचरणं विन्दति तम्—द०) उपासना को प्राप्त करानेवाला हो, अर्थात् यह धन हमारे अन्दर ज्ञान की रुचि को कम करनेवाला न हो जाए। इस धन का विनियोग हम ज्ञानवृद्धि में ही करें तथा इस धन से हमारे अन्दर उपासना की वृत्ति बढ़े, उसमें कमी न आये। एवं, धन 'ज्ञान व उपासना' का साधन बने। यह धन स्वयं साध्य बनकर ज्ञान व उपासना को समाप्त करनेवाला न हो जाए। धन को प्राप्त करके हम 'गृत्समद' बने रहें—उपासना में आनन्द का अनुभव करें।

भावार्थ—राजा इस बात का ध्यान करे कि प्रजा में कोई भी निर्धन न हो। साथ ही धन को ही साध्य बनाकर कोई ज्ञान व उपासना को विलुप्त भी न कर दे। ऐसा व्यक्ति राष्ट्र के लिए हानिकर होता है।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**। देवता—**सरस्वती**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

सरस्वती

पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती। यज्ञं वष्टु धियावसुः॥८४॥

१. गतमन्त्रों के अनुसार शासन किये गये सुव्यवस्थित राष्ट्र में **नः**=हमारे लिए **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **पावका**=पवित्र करनेवाली हो। हम सब ज्ञान की रुचिवाले हों। वेदवाणी को पढ़ें और यह वेदवाणी हमारे जीवनों को पवित्र कर दे। वस्तुतः ज्ञान के समान कोई पवित्र करनेवाली वस्तु नहीं है। २. यह ज्ञान **वाजेभिः**=शक्तियों के दृष्टिकोण से **वाजिनीवती**=प्रशस्त अन्नोंवाला हो। इस ज्ञान के द्वारा उत्तम अन्नों का उत्पादन करके और उनका ठीक प्रयोग करके हम अङ्ग-प्रत्यङ्ग की शक्ति को प्राप्त करनेवाले हों। इस ज्ञान से हमारे भोजन का मापक पौष्टिकता हो जाती है न कि स्वाद! ३. **धियावसुः**=(धिया कर्मणा वसु धनं यस्याः सा—म०) ज्ञानपूर्वक कर्मों के द्वारा धन को प्राप्त करानेवाली यह सरस्वती **यज्ञं वष्टु**=यज्ञ की कामना करे, अर्थात् सरस्वती की कृपा से (क) हम समझदारी से कर्मों को करते हुए (ख) धनों को कमाएँ और (ग) यज्ञादि उत्तम कर्मों में उन धनों का विनियोग करें।

भावार्थ—सरस्वती, अर्थात् ज्ञान हमारे जीवनों को पवित्र करता है। हमें पौष्टिक अन्नों को प्राप्त कराता है। बुद्धिपूर्वक कर्म करते हुए हम धनों को प्राप्त करते हैं, यज्ञादि उत्तम कर्मों में उसका विनियोग करते हैं।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**। देवता—**सरस्वती**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

सूनृता-सुमती

चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्। यज्ञं दधे सरस्वती॥८५॥

१. यह वेदवाणी **सूनृतानाम्**=(सु+ऊन्+ऋत) दुःखों का परिहाण करनेवाली तथा सत्य वाणियों की **चोदयित्री**=प्रेरणा देनेवाली है, अर्थात् वेदवाणियों का अध्ययन करनेवाला

व्यक्ति ऐसी ही वाणी बोलता है जो सत्य होने के साथ औरों के दुःख को कम करनेवाली होती है तथा बड़ी मधुरता से बोली जाती है। संक्षेप में इसके बोलने का प्रकार 'सत्' होता है, सद्भाव से ही वह वचन बोला जाता है और वचन तो 'सत्' होता ही है। २. यह वेदवाणी **सुमतीनाम्**=उत्कृष्ट मतियों को **चेतन्ती**=चेतानेवाली है। इन ज्ञानवाणियों का अध्ययन करनेवाला कभी अशुभ तो सोचता ही नहीं। अध्ययनशून्य व्यक्ति दुर्मतियों का ही उत्पत्ति स्थान बन जाता है। 'नाश कैसे करना' इसी ओर उसका मस्तिष्क चलता है। स्वाध्याय सुमति का जनक होता है। ३. इस प्रकार यह **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता हमारे जीवनों में सुमतियों को चेताती हुई **यज्ञं दधे**=यज्ञ को धारण करती है, अर्थात् इस सरस्वती की आराधना की कृपा से हमारे सब कर्म यज्ञात्मक होते हैं। हमारे कर्मों में स्वार्थांश को प्रधानता नहीं मिलती।

भावार्थ—सरस्वती (क) हमारी वाणियों को सूनृत बनाती है, (ख) हमारे मनों व मस्तिष्कों में सुमति को जन्म देती है, (ग) हमारे जीवन को यज्ञरूप कर देती है।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**। देवता—**सरस्वती**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

सरस्वान् (महो अर्णः)=महान् समुद्र

महोऽअर्णः सरस्वती प्र चेतयति केतुना। धियो विश्वा वि राजति॥८६॥

१. यह **सरस्वती**=वेदवाणी **महो अर्णः**=एक महान् जल है। जिस प्रकार समुद्र का अन्त नहीं दिखता, इसी प्रकार यह वेदवाणी भी एक महान् ज्ञान का समुद्र है। इसका भी अन्त नहीं है—**'अनन्ता वै वेदाः'**, यह उक्ति ठीक ही है। वेदज्ञान का कोई अन्त नहीं, इसीलिए इसको जितना ही मथेंगे उतना ही अधिक ज्ञान का नवनीत प्राप्त करेंगे। २. यह वेदवाणी **केतुना**=उत्तम ज्ञान से **प्रचेतयति**=हमें प्रकृष्ट चेतनावाला बनाती है। हमारा हृदयान्तरिक्ष इससे दीप्त हो उठता है। हमारे मनों में इस प्रकाश से उत्कृष्ट संकल्प उठते हैं। ३. यह वेदवाणी **विश्वा धियः**=सब बुद्धियों को **विराजति**=(विराजयति) दीप्त करती है। यह हमें सब ज्ञानों को देती है। यह सब सत्य विद्याओं का ग्रन्थ है। मनुष्य के लिए आवश्यक सब ज्ञानों का यह प्रतिपादन करती है। सब उपादेय ज्ञान का वह कोश है। इसको प्राप्त करने की प्रबल कामना होनी चाहिए। यही सबसे उत्तम कामना है। इस कामना को करनेवाला ही इस मन्त्र का ऋषि 'मधुच्छन्दा' है। वस्तुतः वेदाध्येता अमधुर इच्छा कर ही नहीं सकता।

भावार्थ—वेद ज्ञान का महान् समुद्र है। यह प्रकाश से हमें प्रकृष्ट चेतनावाला बना देता है। इसमें सब सत्यविद्याओं का प्रकाश हुआ है।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु-प्राप्ति की प्रबल कामना

इन्द्रा याहि चित्रभानो सुताऽइमे त्वायवः। अण्वीभिस्तना पूतासः॥८७॥

१. वेदज्ञान की प्राप्ति की कामनावाला गतमन्त्र का 'मधुच्छन्दा' प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु-प्राप्ति की कामना करता हुआ कहता है कि हे **चित्रभानो!**=चेतानेवाले (चित्+र), प्रकाशवाले **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **आयाहि**=आप मुझे प्राप्त होओ। मेरा जीवन इतना उत्तम हो कि मैं आपकी प्राप्ति का अधिकारी बनूँ। २. **इमे सुताः**=मुझमें उत्पन्न हुए-हुए ये सोमकण **त्वायवः**=आपकी ही कामना करनेवाले हैं। इनका विषय-भोग में व्यर्थ का

अपव्यय नहीं किया जा रहा। ३. ये सोमकण **अण्वीभिः**=सूक्ष्म बुद्धियों के दृष्टिकोण से तथा **तना**=शक्तियों के विस्तार के दृष्टिकोण से **पूतासः**=पवित्र किये गये हैं, अर्थात् इन सोमकणों को मैंने वासना से अपवित्र नहीं होने दिया, चूँकि इन्हीं की रक्षा से मेरी ज्ञानाग्नि दीप्त होती है और बुद्धि सूक्ष्म बनती है और इन्हीं की रक्षा से मेरी सब शक्तियों का विस्तार होता है। ४. एवं, आपको वही प्राप्त करता है जो इन उत्पन्न सोमकणों की रक्षा करता है। इनकी ऊर्ध्वगति के द्वारा अपनी ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है। इनके सारे शरीर में व्यापन के द्वारा अपनी शक्तियों का विस्तार करता है।

भावार्थ—'मधुच्छन्दा'=मधुर इच्छावाला वह है जो प्रभु को प्राप्त करना चाहता है। इसी उद्देश्य से यह सोमकणों की रक्षा करता है, अपनी बुद्धि को तीव्र बनाता है, शक्तियों का विस्तार करता है।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु-प्राप्ति के पाँच उपाय

इन्द्रा याहि धियेषितो विप्रजूतः सुतावतः। उप ब्रह्माणि वाघतः॥८८॥

१. प्रभु अपनी कामना करनेवाले जीवात्मा से कहते हैं कि **इन्द्र**=हे जितेन्द्रिय पुरुष! तू **धिया** =बुद्धि से **इषितः**=प्रेरित हुआ-हुआ **विप्रजूतः**=मेधावियों से अनुगत हुआ **आयाहि**=मेरे समीप आ, अर्थात् (क) यदि हम प्रभु को प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें चाहिए कि सदा बुद्धिपूर्वक कर्म करनेवाले बनें। बुद्धि से कर्मों के लिए प्रेरणा प्राप्त करें। इस बात को हम न भूलें कि मनु का यह वाक्य बिल्कुल ठीक है कि **'यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः'**=तर्क से अनुसन्धान करनेवाला ही धर्म को जानता है। (ख) प्रभु-प्राप्ति का दूसरा साधन यह है कि हम सदा मेधावी पुरुषों से सेवित हों। हमें मेधावियों का ही सङ्ग प्राप्त हो। २. इसके अतिरिक्त प्रभु कहते हैं कि तू **सुतावतः**=यज्ञों में सोमाभिषव करनेवाले, अर्थात् बड़े-बड़े सोमयज्ञों को करनेवाले **वाघतः**=मेधावी ऋत्विजों के **ब्रह्माणि**=स्तोत्रों के **उप**=समीप रहनेवाला बन, अर्थात् यज्ञशील मेधावियों से किये जानेवाले स्तोत्रों को तू भी करनेवाला बन। तू भी यज्ञशील हो और प्रभु-स्तवन करनेवाला बन।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि १. हम बुद्धिपूर्वक कर्म करें। २. सदा मेधावियों व ज्ञानियों का सङ्ग करें। उन्हीं से कर्मों के लिए प्रेरणा प्राप्त करें। ३. यज्ञों के करनेवाले बनें। ४. मेधावी हों। ५. प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाले बनें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

उपाय-त्रयी

इन्द्रा याहि तूतुजानऽउप ब्रह्माणि हरिवः। सुते दधिष्व नश्चनः॥८९॥

१. गतमन्त्र के ही विषय को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि **इन्द्र**=हे आलस्यादि शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले जीव! तू **आयाहि**=हमारे समीप आ। २. क्या करता हुआ? **तूतुजानः**=(त्वरमाणः) कार्यों को शीघ्रता से करता हुआ। जीव स्वकर्म द्वारा ही प्रभु का अर्चन करता है। ३. **हरिवः**=हे प्रशस्त इन्द्रियरूप अश्वोंवाले जीव! तू **ब्रह्माणि उप**=सदा स्तोत्रों के समीप रहनेवाला हो, अर्थात् तू सदा प्रभु का स्तवन करनेवाला बन। यह प्रभु-स्तवन ही तेरी इन्द्रियों को विषयासक्त होने से बचाकर पवित्र रक्खेगा। ४. तू **सुते**=शरीर में सोम के उत्पादन के निमित्त **नः**=हमारे **चनः**=अन्न को **दधिष्व**=धारण कर।

प्रभु ने जीव के लिए जिन ओषधि-वनस्पतियों का निर्माण किया है, उनका बुद्धिपूर्वक प्रयोग करते हुए ही हम उस सोम को शरीर में उत्पन्न करनेवाले बनते हैं जो सोम सुरक्षित होकर हमारी ज्ञानाग्नि को दीप्त करेगा और हमारी बुद्धि को सूक्ष्म बनाकर अन्त में प्रभु का दर्शन कराएगा। इस सोम (वीर्य) की रक्षा से ही हम उस सोम (परमात्मा) को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि १. हम शीघ्रता से कार्यों में व्यापनवाले हों। २. सदा स्तवन करते हुए प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले बनें। ३. सोम के उत्पादन के लिए सात्त्विक अन्न का सेवन करें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

सोम्यं-मधु-सेवन

अ॒श्विना॒ पिब॑तां॒ मधु॒ सर॑स्वत्या स॒जोष॑सा।

इन्द्रः॑ सु॒त्रामा॑ वृ॑त्र॒हा जु॒षन्ता॑ᳬसो॒म्यं मधु॑ ॥९०॥

१. **सरस्वत्या**=ज्ञानाधिदेवता के साथ **सजोषसा**=समान प्रीतिवाले **अश्विना**=अश्वीदेव अर्थात् प्राणापान **मधु**=(मधुरस्वादं सोमम्—म०) मधुर स्वादवाले सोम का **पिबताम्**=पान करें। सोम (वीर्य) सब ओषधियों का सारभूत है। रुधिरादि क्रम से उत्पन्न यह सोम सचमुच 'मधु' है। इसकी रक्षा के लिए आवश्यक है कि हम स्वाध्याय की वृत्तिवाले हों और प्राणापान के अभ्यासी हों। स्वाध्याय से ज्ञानाग्नि दीप्त होगी और यह सोम उसका ईंधन बनेगा। प्राणायाम से इस सोम की ऊर्ध्वगति होती है और यह हमारी ज्ञानाग्नि को दीप्त करनेवाला बनता है। २. ऐसा होने पर यह जीव **इन्द्रः**=ज्ञानरूप परमैश्वर्य को प्राप्त करता है। ३. **सुत्रामा**=यह बहुत उत्तमता से रोगों से अपना त्राण करनेवाला बनता है। ४. **वृत्रहा**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं का यह विनाश करता है। ५. इसलिए जीव को चाहिए कि वह **सोम्यं मधु**=सोममय मधु का—ओषधियों के सारभूत वीर्य का, **जुषन्ताम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करे, अर्थात् सोम की रक्षा करे। इसी रक्षा पर शरीर का स्वास्थ्य, मन का नैर्मल्य तथा मस्तिष्क की तीव्रता निर्भर करती है। एवं, सारी उन्नतियों का मूल यह सोमरक्षण ही है। इसी से अन्ततः हमें प्रभु को प्राप्त करना है।

भावार्थ—ज्ञान-प्राप्ति के लिए चलनेवाला स्वाध्याय व प्राणापान की साधना के लिए होनेवाला प्राणायाम हमें सोम की रक्षा के लिए समर्थ बनाता है।

इस प्रकार यह बीसवाँ अध्याय 'मधुच्छन्दा' के मन्त्रों पर समाप्त होता है। सबसे मधुर इच्छा यही है कि मैं स्वाध्याय व प्राणायाम के द्वारा सोम का पान करनेवाला बनूँ। इस 'सोमपान' पर ही 'स्वास्थ्य नैर्मल्य व बुद्धि की तीव्रता' निर्भर है। यही हमें प्रभु-प्राप्ति के योग्य बनाता है और सुखी जीवनवाला करता है। इसी सुखी जीवनवाले 'शुनःशेप' के मन्त्रों से अग्रिम अध्याय का प्रारम्भ होता है।

इति विंशोऽध्यायः॥

अथैकविंशोऽध्यायः

ऋषिः—**शुनःशेपः**। देवता—**वरुणः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु की कामना

इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृडय। त्वामवस्युराचके॥१॥

१. 'शुनःशेप' ऋषि के ये मन्त्र हैं। सुख का (शुनं) निर्माण करनेवाला ऋषि प्रार्थना करता है कि हे **वरुण**=मेरे जीवन से सब द्वेषों का निवारण करनेवाले और मुझे श्रेष्ठ बनानेवाले प्रभो! (वरुण=श्रेष्ठ) **मे**=मेरी **इमं हवम्**=इस पुकार को **श्रुधि**=सुनिए **च**=और **अद्य**=आज ही **मृडय**=सुखी कीजिए। २. **अवस्युः**=अपने रक्षण की कामनावाला मैं **त्वाम्**=आपकी **आचके**=(कामये) कामना करता हूँ, आपको चाहता हूँ। वस्तुतः रक्षण करनेवाले वे प्रभु ही हैं। जगज्जननी की गोद में ही यह जीव सुरक्षित रह पाता है।

भावार्थ—प्रभु वरुण हैं, मैं उन्हें पुकारता हूँ, वे मेरे जीवन को सुखी करते हैं। हम अपनी रक्षा करना चाहें तो उसका एकमात्र उपाय प्रभु-प्राप्ति की कामना है।

ऋषिः—**शुनःशेपः**। देवता—**वरुणः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

ज्ञान+यज्ञ

तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदाशास्ते यजमानो हविर्भिः।
अहेडमानो वरुणेह बोध्युरुशꣳस मा नऽआयुः प्र मोषीः॥२॥

१. **ब्रह्मणा**=स्तोत्रों से व वेदज्ञान से **वन्दमानः**=आपका स्तवन करता हुआ **त्वा**=आपसे **तत्**=वही बात **यामि**=(याचामि) चाहता हूँ, **यजमानः**=यज्ञशील पुरुष **हविर्भिः**=हवियों के द्वारा, अर्थात् दानपूर्वक अदन के द्वारा **तत्**=वही **आशास्ते**=इच्छा करता है कि हे **वरुण**=द्वेष का निवारण करके हमें श्रेष्ठ बनानेवाले प्रभो! **इह**=इस मानव-जीवन में **अहेडमानः**=हमपर क्रोध न करते हुए आप हमें **बोधि**=बोधयुक्त कीजिए। हे **उरुशंस**=बहुतों से स्तुति किये गये प्रभो! आप **नः**=हमारे **आयुः**=जीवन को **मा प्रमोषीः**=मत चुरने दीजिए। हमारी आयु को आप व्यर्थ न जाने दीजिए। २. ज्ञान-प्राप्ति व जीवन को सार्थक करने के दो ही उपाय हैं—(क) हम वेदज्ञान से प्रभु का स्तवन करें तथा (ख) यज्ञशील बनकर हविर्भुक् बनें, दान देकर बचे हुए को खानेवाले हों, केवलादी न बन जाएँ।

भावार्थ—ज्ञान व यज्ञ ही जीवन को सार्थक बनानेवाले हैं।

ऋषिः—**वामदेवः**। देवता—**अग्निवरुणौ**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

द्वेष-दूरीकरण

त्वं नोऽअग्ने वरुणस्य विद्वान् देवस्य हेडोऽअव यासिसीष्ठाः।
यजिष्ठो वह्नितमः शोशुचानो विश्वा द्वेषाꣳसि प्र मुमुग्ध्यस्मत्॥३॥

१. हे **अग्ने**=अग्नि के समान ज्ञान के प्रकाश से चमकनेवाले **वरुणस्य विद्वान्**=सब बुराइयों का निवारण करनेवाले, हमारे जीवनों को श्रेष्ठ बनानेवाले विद्वन्! प्रभु को

जाननेवाला **त्वम्**=तू **नः**=हमसे **देवस्य**=दिव्य गुणों के पुञ्ज, सब-कुछ देनेवाले प्रभु के **हेडः**=क्रोध को **अवयासिसीष्ठाः**=दूर नष्ट कर (दसु उपक्षये)। हमारे ज्ञान देनेवाले आचार्य (क) 'अग्नि' हों—अग्नि के समान ज्ञान से प्रकाशित हों तथा (ख) उस प्रभु के जाननेवाले हों, जिस प्रभु का ज्ञान ही हमारे जीवनों को उत्तम बनाता है। ये विद्वान् ज्ञान-प्रदान द्वारा हमारे जीवनों में इस प्रकार परिवर्तन पैदा करें कि हम कभी भी 'वरुण' प्रभु के क्रोध के पात्र न हों। २. हे विद्वन्! आप **यजिष्ठः**=अधिक-से-अधिक यज्ञ करनेवाले, देवों का आदर करनेवाले हो। **वह्नितमः**=ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान का वहन करनेवाले हो। **शोशुचानः**=इसी कारण अपने जीवन को अत्यन्त पवित्र बनानेवाले हो। ३. आप हमें उपदेश देकर **अस्मत्**=हमसे **विश्वा द्वेषांसि**=सब द्वेष की भावनाओं को **प्रमुमुग्धि**=छुड़ा दीजिए।

भावार्थ—हम पारस्परिक कलह व ईर्ष्या-द्वेष को दूर करें। परस्पर प्रेम से वर्तें तभी हम प्रभु की कृपा के पात्र होंगे।

ऋषिः—**वामदेवः**। देवता—**अग्निवरुणौ**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

सत्सङ्ग

स त्वं नोऽअग्नेऽवमो भवोती नेदिष्ठोऽअस्याऽउषसो व्युष्टौ।
अव यक्ष्व नो वरुणꣳरराणो वीहि मृडीकꣳसुहवो नऽएधि॥४॥

१. हे **अग्ने**=अग्निवत् प्रकाशमान विद्वन्! **सः त्वम्**=वह आप **नः**=हमारे **अवमः**=अत्यन्त रक्षक **भवः**=होओ। २. **अस्याः उषसो व्युष्टौ**=इस उषःकाल के आने पर, अन्धकार के दूर होने पर आप **ऊती**=रक्षा के दृष्टिकोण से **नेदिष्ठः**=अन्तिकतम हो। आपके सामीप्य में मैं बुराइयों से बचा रहूँगा और ३. **रराणः**=(रा दाने) उत्तम ज्ञान देते हुए आप **नः**=हमें **वरुणं अवयक्ष्व**=द्वेष-निवारण करनेवाले प्रभु के साथ सङ्गत कीजिए, अर्थात् यह विद्वानों का दिया हुआ ज्ञान हमें प्रभु के साथ सङ्गत करनेवाला हो। ४. इस प्रकार आप हमें **मृडीकम्**=सुख को **वीहि**=प्राप्त कराइए। ५. आप **नः**=हमारे लिए **सुहवः**=सुगमता से पुकारने योग्य **एधि**=होओ। हम जब-जब ज्ञान-प्राप्ति के लिए आपको पुकारें तब-तब आप हमारी पुकार को सुनें।

भावार्थ—हमें प्रतिदिन विद्वानों का सङ्ग प्राप्त हो। वे हमें ज्ञान के द्वारा प्रभु से सङ्गत करें और इस प्रकार हमें सुखी करें। सत्सङ्ग के द्वारा अपने में उत्तमगुणों को उत्पन्न करनेवाला यह व्यक्ति 'वामदेव' बनता है।

ऋषिः—**वामदेवः**। देवता—**आदित्याः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

वेदमाता

महीमू षु मातरꣳसुव्रतानामृतस्य पत्नीमवसे हुवेम।
तुविक्षत्रामजरन्तीमुरूचीꣳसुशर्माणमदितिꣳसुप्रणीतिम्॥५॥

१. गतमन्त्र में भावना यह थी कि विद्वान् लोग ज्ञान देते हुए हमें प्रभु से सङ्गत करनेवाले हों। उस ज्ञान की प्राप्ति के लिए यह वामदेव वेदमाता की आराधना करता है और कहता है कि हम **अवसे**=रक्षण के लिए व तृप्ति के अनुभव के लिए (अवनाय तर्पणाय वा) **हुवेम**=इस वेदवाणी को पुकारते हैं, इसे प्राप्त करने के लिए प्रार्थना करते हैं। उस वेदवाणी को जो २. **महीम्**=(महतीम्) महनीय है, हमारे जीवनों को महिमायुक्त

करनेवाली है, ऊ=और ३. **सुव्रतानाम् सुमातरम्**=उत्तम व्रतों का सुन्दरता से निर्माण करनेवाली है। यह वेदवाणी हमारे जीवनों को व्रतमय जीवनवाला बनाती है। ४. **ऋतस्य पत्नीम्**=यह ऋत का, नियमपरायणता व यज्ञ का पालन करानेवाली है। इस ज्ञान की वाणी के अध्ययन के परिणामस्वरूप हम सब कार्यों में बड़े नियमित व मर्यादित हो जाते हैं और हमारा जीवन यज्ञशील होता है। ५. **तुविक्षत्राम्**=यह ज्ञान की वाणी वासनाओं के प्रबल व बहुत अधिक (तुवि) क्षतों (चोटों) से हमें बचानेवाली है। ज्ञान वासनाओं के आक्रमण के लिए ढाल के समान है। ६. **अजरन्तीम्**=(न जीर्यति) यह ज्ञानवाणी कभी जीर्ण होनेवाली नहीं। **'पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति'**। यह अपने अध्ययन करनेवाले को जीर्णता से बचानेवाली है। ७. **उरूचीम्**=(उरु अञ्च्) यह अत्यन्त क्रियाशील है। इसका स्वाध्याय करनेवाला क्रियाशील होता है। इसी क्रिया के द्वारा ही यह **सुशर्माणम्**=उत्तम सुख को प्राप्त करानेवाली है। (शोभनं शर्म यस्याः) ८. **अदितिम्**=जो हमारा नाश नहीं होने देती, प्रत्युत हमारे जीवन में दिव्य गुणों का निर्माण करनेवाली है। ९. **सुप्रणीतिम्**=(शोभना प्रणीतिः स्याः) इससे हमारे जीवनों का मार्ग उत्तम होता है, हमारे जीवनों का उत्तम निर्माण होता है।

भावार्थ—वेदवाणी को हम अपने जीवनों की उत्तमता के लिए आराधित करते हैं।

ऋषिः—**गयःप्लातः**। देवता—**अदितिः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

दैवी नाव

सुत्रामा॑णं पृथि॒वीं द्यामने॒हसं॑सु॒शर्मा॑ण॒मदि॑तिꣳसु॒प्रणी॑तिम्।
दैवीं॒ नाव॑ꣳस्वरि॒त्रामना॑गस॒मस्र॑वन्ती॒मा रु॑हेमा स्व॒स्तये॑॥६॥

१. गतमन्त्र का ऋषि **अदिति**=अदीना देवमाता की उपासना करके 'वामदेव' बनता है और वामदेव बनने के कारण ही 'गयस्फान' होता है—'गयाः प्राणाः तान् प्राति-पूरयति' अपने में प्राणशक्ति का पूरण करनेवाला होता है। यह 'गयःप्लातः' अपने इस शरीर को एक 'दैवी नाव' उस देव से दी गई नाव के रूप में समझता है और इस नाव के द्वारा भवसागर को तैरकर अपने लक्ष्य-स्थान पर पहुँचने के लिए प्रयत्नशील होता है। **'अत्रा जहाम अशिवा ये असन् शिवान् वयमुत्तरेमाभिवाजान्'**=सब अशिवों को छोड़कर हम परले पार पहुँचकर शिवों को प्राप्त करनेवाले बनें। २. एवं, इस शरीररूप नाव का महत्त्व स्पष्ट है। यह **सुत्रामाणम्**=उत्तमता से रक्षित की जानेवाली हो (सुष्ठु त्रायते)। इस शरीररूप नाव की जितनी भी रक्षा की जाए वह थोड़ी है। ३. **पृथिवी**=(प्रथ विस्तारे) यह विस्तारवाली है। शरीररूप नाव ने ब्रह्माण्ड के सारे देवों का अधिष्ठान बनना है, अतः इसे विस्तृत होना ही चाहिए। ४. **द्याम्**=(दिव्=द्युति) यह प्रकाशमय हो। प्रत्येक वाहन में प्रकाश का होना अत्यन्त आवश्यक है। इसके बिना उसके मार्गभ्रष्ट होने व टकरा जाने की आशंका बनी ही रहती है। ५. **अनेहसम्**=(वत्रि go एह च) यह अहन्तव्य है, नष्ट करने योग्य नहीं। इतनी महत्त्वपूर्ण व दुर्लभ वस्तु नष्ट करने योग्य कैसे हो सकती है? अथवा (हेड=क्रोध—उ०) क्रोधरहित यह नाव होनी चाहिए। लक्षणा से नावस्थ पुरुषों को कभी क्रोध न करना चाहिए। क्रोध में नाविक चेतना को खो बैठेगा और नाव को ठीक प्रकार से न चला पाएगा। ६. **सुशर्माणम्**=(शोभनं शर्म यया) यह उत्तम कल्याण को प्राप्त करानेवाली है अथवा यह (शर्म=गृह, आश्रय) शोभन आश्रयवाली है। ७. **अदितिम्**=अखण्डित है। शरीर का स्वस्थ होना ही इस नाव का न खण्डित होना है। ८. **सुप्रणीतिम्**=यह उत्तम

प्रणयनवाली है। बड़ी उत्तमता से आगे-आगे बढ़ रही है। ९. **स्वरित्राम्**=उत्तम चप्पूओंवाली है, मन, बुद्धि व इन्द्रियाँ ही इस नाव के अरित्र (oar) हैं। १०. **अनागसम्**=यह निर्दोष है, शरीररूप नाव में किसी अङ्ग का विकृत होना ही उसका दोष है। यह दोषों से रहित है। ११. **अस्त्रवन्तीम्**=यह चू नहीं रही। शरीर में सोम का सुरक्षित होना ही इसका न चूना है। ११. ऐसी इस **दैवीं नावम्**=देव परमात्मा की ओर ले-जानेवाली नाव पर हम आरोहण करें। इस प्रकार निर्दोष नाव पर बैठकर ही हम संसार-समुद्र को पार कर सकेंगे।

भावार्थ—हम इस शरीररूपी दैवी नाव पर आरोहण करें। इस उत्तमता से प्रणयन की जानेवाली नाव के द्वारा संसार-समुद्र को तैरकर यात्रा को पूर्ण करें।

ऋषिः—**गयःप्लातः**। देवता—**स्वर्ग्या नौः**। छन्दः—**यवमध्यागायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

शतारित्रा नौः

सुनावमा रुहेयमस्रवन्तीमनागसम्। शतारित्राꣳस्वस्तये॥७॥

१. 'गयःप्लात' ही कह रहा है कि मैं **सुनावम्**=उत्तम नाव पर **आरुहेयम्**=आरुढ़ होऊँ। उस नाव पर जो २. **अस्त्रवन्तीम्**=स्रुत नहीं हो रही है। इस शरीररूप नाव में सोम का सुरक्षित न होना ही इसका चूना है। ३. **अनागसम्**=यह नाव आगस् से रहित है, दोषरहित है। ये मल ही दोष हैं, उनसे यह शून्य है। ४. **शतारित्राम्**=जिसके अरित्र सौ वर्ष तक उत्तमता से कार्य करनेवाले हैं। ऐसी इस नाव पर मैं **स्वस्तये** =उत्तम जीवन व कल्याण के लिए आरुढ़ होऊँ। ऐसी नाव पर आरोहण करके ही मैं संसाररूप 'अश्मन्वती नदी' को पार कर सकूँगा।

भावार्थ—यह शरीररूप नाव अत्यन्त निर्दोष होगी तभी यह 'सुनाव' हमें इस संस्मृतिरूप नदी से पार उतारनेवाली होगी।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**। देवता—**मित्रावरुणौ**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

माधुर्य

आ नो मित्रावरुणा घृतैर्गव्यूतिमुक्षतम्। मध्वा रजाꣳसि सुक्रतू॥८॥

१. गतमन्त्र का 'गयःप्लात' सब प्रकार के क्रोधादि को छोड़कर 'विश्वामित्र'=सभी से स्नेह करनेवाला बनता है और प्रार्थना करता है—हे **मित्रावरुणा**=मित्र और वरुण देवो! 'मित्र-स्नेह की देवता है' वरुण' द्वेष-निवारण की। हे स्नेह व द्वेषनिवृत्ति की भावनाओ! **नः**=हमारे **गव्यूतिम्**=जीवनमार्ग को, इन्द्रियों के प्रचार-क्षेत्र को **घृतैः**=(घृ क्षरणदीप्त्योः) मलों के क्षरण तथा ज्ञान के दीपनों से **उक्षतम्**=सर्वथा सिक्त कर दो। स्नेह व द्वेष निवृत्ति ही वस्तुतः सब मलों के ध्वंस के द्वारा हमें शरीर में नीरोग व मन में निर्मल और प्रसन्न बनाती है तथा हमारे मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त करने में सहायक है। २. हे **सुक्रतू**=शोभन कर्मोंवाले मित्रावरुणो! आप **रजांसि**=(रजः कर्मणि भारत) हमारे सब कर्मों को **मध्वा**=माधुर्य से सिक्त करने की कृपा करो। मित्र व वरुण की आराधना हमारे सब कार्यों के अन्दर माधुर्य का सञ्चार करनेवाली होगी। हमारा आना-जाना, बोलना-चालना सब मधुर होगा तभी तो हमारा 'विश्वामित्र' यह नाम चरितार्थ होगा।

भावार्थ—हमारा जीवनमार्ग घृत=मलक्षरण व ज्ञानदीप्ति से सिक्त हो तथा हमारे सब कर्म माधुर्य को लिये हुए हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

कर्मव्यापृति

प्र बाहवा सिसृतं जीवसे नऽआ नो गव्यूतिमुक्षतं घृतेन।
आ मा जने श्रवयतं युवाना श्रुतं मे मित्रावरुणा हवेमा॥९॥

१. हे **मित्रावरुणा**=स्नेह व द्वेषाभाव की भावनाओ! **नः**=हमारे **जीवसे**=उत्तम जीवन के लिए **बाहवा**=हमारी बाहुओं को **प्रसिसृतम्**=(प्रसारयतम्) गतियुक्त करो, अर्थात् हम स्नेह से प्रेरित होकर, सब प्रकार के द्वेषों से ऊपर उठकर सदा कार्यों में लगे रहें। २. **नः**=हमारे **गव्यूतिम्**=प्रचार-इन्द्रिय क्षेत्र को अथवा जीवनमार्ग को **घृतेन**=मलक्षरण व ज्ञानदीप्ति से **उक्षतम्**=सिक्त करो। हमारे शरीर व मन निर्मल होकर नीरोग तथा प्रसन्न हों, तथा हमारे मस्तिष्क ज्ञान से दीप्त हो उठें। ३. इस प्रकार आप हमारे जीवन को ऐसा सुन्दर बनाइए कि **मा**=मुझे **जने**=लोगों में **आश्रवयतम्**=चारों ओर कीर्तियुक्त कर दीजिए। ४. **युवाना**=आप मेरे लिए गुणों का मिश्रण करनेवाले तथा अवगुणों को दूर करनेवाले (अमिश्रण) होओ। ५. हे मित्रावरुणा! आप **मे**=मेरी **इमा हवा**=इन प्रार्थनाओं को **श्रुतम्**=सुनिए और मेरे जीवन को सचमुच **'सं मा भद्रेण पृङ्क्तं वि मा पाप्मना पृङ्क्तम्'** भद्र से युक्त कीजिए और अभद्र से व पाप से पृथक् कीजिए, इस प्रकार आप मुझे अत्यन्त उत्तम जीवनवाला 'वसिष्ठ' बनाइए।

भावार्थ—उत्तम जीवन के लिए आवश्यक है कि हम सदा कार्यों में लगे रहें। हमारा मार्ग मलशून्य व ज्ञानदीप्तिवाला हो। लोगों में हमारी कीर्ति हो, इसीलिए अभद्र से हम दूर व भद्र के समीप होने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**आत्रेयः**। देवता—**ऋत्विजः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

विद्वान् 'आत्रेय'

शन्नो भवन्तु वाजिनो हवेषु देवताता मितद्रवः स्वर्काः।
जम्भयन्तोऽहिं वृकꣳरक्षाꣳसि सनेम्यस्मद्युयवन्नमीवाः॥१०॥

१. अब इस अध्याय में समाप्ति तक मन्त्रों का ऋषि 'आत्रेय' है। 'आत्रेय' वह है जो 'अत्रि'—'काम, क्रोध व लोभ' तीनों से रहित है। यह 'आत्रेय' ही वस्तुतः गतमन्त्र का वसिष्ठ है। उत्तम निवासवाला है। यह प्रार्थना करता है कि **हवेषु**=जब-जब हम पुकारें तब **वाजिनः**=शक्तिशाली **देवताता**=(देवान् तन्यन्ति) दिव्य गुणों का विस्तार करनेवाले, **मितद्रवः**=बड़ी मपी-तुली गतिवाले, प्रत्येक कर्म में युक्त चेष्टावाले, **स्वर्काः**=(अर्कम् अन्नम्) उत्तम अन्न का सेवन करनेवाले अथवा (अर्क =स्तोत्र) उत्तम स्तोत्रोंवाले, उत्तम स्तवनवाले विद्वान् लोग **नः**=हमारे लिए **शं भवन्तु**=शान्ति व सुख के देनेवाले हों। २. **अहिम्**=(आहन्तीति) हिंसा व घात-पात की वृत्ति को अथवा सर्पवत् कुटिलता को, **वृकम्**=(वृक आदाने) लोभवृत्ति को तथा **रक्षांसि**=अपने रमण के लिए औरों के क्षय की वृत्ति को **जम्भयन्तः**=नष्ट करते हुए ये **अस्मत्**=हमसे **अमीवाः**=रोगों को **सनेमि**=शीघ्र **युयवन्**=पृथक् करें। इनके उपदेश हमारे जीवनों में हिंसा के स्थान में प्रेम को, कुटिलता के स्थान में सरलता को, लोभ के स्थान में सन्तोष को, राक्षसीवृत्तियों के स्थान में दैवीवृत्तियों को जन्म देते हुए शरीर व मानस नीरोगता प्राप्त करानेवाले हों। इनके उपदेशों से हम भी इनकी भाँति 'शक्तिशाली, दिव्य गुणों का विस्तार करनेवाले, युक्तचेष्ट तथा उत्तमाहार-सेवी' बनें तो

अवश्य ही कुटिलता–लोभ–हिंसा आदि को छोड़कर पूर्ण आरोग्य का साधन कर पाएँगे और तब सचमुच 'आत्रेय' होंगे–त्रिविध कष्टों से ऊपर उठ जाएँगे।

भावार्थ–विद्वान् का लक्षण है कि वह 'शक्तिशाली, दिव्य वृत्तिवाला, युक्तचेष्ट, सात्त्विक आहारी व उत्तम उपासक' होता है। इनके उपदेश लोगों को अहिंसक, सन्तोषी व यशस्वी बनाते हैं और लोगों को नीरोगता प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः–**आत्रेयः**। देवता–**विद्वांसः**। छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः–**धैवतः**॥

मार्गोपदेश

वाजेवाजेऽवत वाजिनो नो धनेषु विप्राऽअमृताऽऋतज्ञाः।
अस्य मध्वः पिबत मादयध्वं तृप्ता यात पथिभिर्देवयानैः॥११॥

१. गतमन्त्र के विद्वानों से ही प्रार्थना करते हैं कि **वाजिनः**=शक्तिशाली व ज्ञानी आप **नः**=हमारी **वाजे-वाजे**=प्रत्येक संग्राम में **अवत**=रक्षा करनेवाले होओ। आपकी कृपा से हम गतमन्त्र के 'अहि, वृक व राक्षसों' के साथ संग्राम में उनका हिंसन करनेवाले हों। २. हम भी आप की भाँति **धनेषु**=धनों के विषय में **विप्राः**=(वि+प्रा) विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाले हों। हम धनों को सदा सुपथ से ही सञ्चित करनेवाले हों। ३. **अमृताः**=हम विषयों के पीछे मरनेवाले न हों, विषय हमारे लिए विषय=बन्धनकारक (षिञ् बन्धने) न रह जाएँ। ४. **ऋतज्ञाः**=हम अपने जीवनों में ऋत को जाननेवाले हों–हमारे जीवनों में मर्यादा हो, यज्ञ हों (ऋत=यज्ञ), अनृत से हम ऊपर उठे हुए हों। ५. इस प्रार्थना के करने पर विद्वान् उपदेश देते हैं कि **'अस्य मध्वः पिबत'**=इस मधु का पान करो। ओषधि–वनस्पतियों के सारभूत सोम (मधु) को तुम अपने जीवन में सुरक्षित करो। सोम का रक्षण तुम्हें **सोम**=परमात्मा–जैसा बनाएगा। ६. इस सोम का पान करके **मादयध्वम्**=हर्ष का अनुभव करो। तुम्हारा जीवन आह्लादमय बने। ७. **तृप्ताः यात**=तुम इस संसार में सदा तृप्त होकर चलो। भूखा व्यक्ति ही निष्करुण व पाप–प्रवृत्त होता है। ८. तुम **देवयानैः पथिभिः**=देवताओं से जाने योग्य मार्गों से चलनेवाले होओ। देवों के तुम अनुयायी बनो। देवों की भाँति ही तुम 'दान, दीपन व द्योतन' वाले होओ। वस्तुतः यही शान्ति–प्राप्ति का मार्ग है।

भावार्थ–हम सोम की रक्षा करें, तृप्त व सन्तुष्ट होकर चलें। सदा प्रसन्न रहें। देवयान-मार्ग पर आक्रमण करें। देवों के ही अनुगामी हों।

ऋषिः–**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता–**अग्निः**। छन्दः–**विराडनुष्टुप्**। स्वरः–**गान्धारः**॥

त्र्यविर्गौः

समिद्धोऽअग्निः समिधा सुसमिद्धो वरेण्यः।
गायत्री छन्दऽइन्द्रियं त्र्यविर्गौर्वयो दधुः॥१२॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'स्वस्त्यात्रेय' है। **सु**=उत्तम **अस्ति**=जीवनवाला **आत्रेय**=विविध कष्टों से दूर, अथवा काम–क्रोध–लोभ से रहित। कामादि से रहित होने के कारण ही वह कष्टों से भी रहित है। इस स्वस्त्यात्रेय के जीवन में **इन्द्रियम्**=प्रत्येक इन्द्रिय की शक्ति को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधुः**=धारण करते हैं। २. कौन धारण करते हैं? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि **समिधा**=समिधाओं से, यज्ञिय काष्ठों से, **समिद्धः**=अग्निकुण्ड में दीप्त किया हुआ **अग्निः**=अग्नि। एक सद्गृहस्थ प्रतिदिन प्रातः–सायं घर में अग्निहोत्र करता है, **'अग्निं सपर्यतारा नाभिमिव'**=रथनाभि के चारों ओर स्थित अरों की भाँति

अग्निकुण्ड के चारों ओर स्थित होकर, पूजा की भावनावाले होकर, तुम अग्निहोत्र करो। इस अग्निहोत्र से वायुमण्डल का शोधन होता है, रोगकृमियों का संहार होता है और मनुष्य का जीवन नीरोग बनता है। इस नीरोगता से सौमनस्य प्राप्त होता है। एवं, यह समिद्ध अग्नि हमारे लिए उत्कृष्ट जीवन का धारण करनेवाली है। ३. **सुसमिद्धः वरेण्यः**=वह वरणीय प्रभु सोमरक्षा द्वारा सूक्ष्म बुद्धि से हृदयाकाश में दीप्त किया जाता है। उस प्रभु को हम सूक्ष्म बुद्धि द्वारा देख पाते हैं। इस बुद्धि की सूक्ष्मता के लिए ही हमें शरीर में सोम की रक्षा करनी है। यह सुसमिद्ध वरेण्य प्रभु हमारे जीवन को उत्कृष्ट बनाते हैं। ४. **गायत्री छन्दः**=(गयः प्राणः, त्रा=रक्षण) 'प्राणशक्ति के रक्षण की प्रबल इच्छा' हमारे जीवन को उत्कृष्ट बनाती है। प्राणशक्ति के रक्षण की प्रबल भावना से हम 'प्रेय' मार्ग का वरण न करके श्रेय का ही वरण करते हैं। ५. अन्त में **गौः**=ज्ञान की रश्मि हमारे जीवन को उत्कृष्ट बनाती है। वह ज्ञान की रश्मि जोकि **त्र्यविः**=शरीर, मन व बुद्धि तीनों का ही रक्षण करती है अथवा जो हमारे जीवन में धर्म, अर्थ व काम तीनों को लाती है। **'धर्मार्थकामः सममेव सेव्यः'** के अनुसार समानुपात में चलनेवाले धर्मार्थकाम हमारे जीवनों को बड़ा उत्कृष्ट बना देते हैं।

भावार्थ—(क) अग्निहोत्र (ख) प्रभु का वरण (ग) प्राणशक्ति-रक्षण की प्रबल कामना तथा (घ) धर्मार्थकाम तीनों का समसेवन करानेवाली ज्ञानरश्मि—ये हमारी शक्तियों को स्थिर करें तथा जीवन को उत्कृष्ट बनाएँ।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

दित्यवाट् गौः

तनूनपाच्छुचिव्रतस्तनूपाश्च सरस्वती।
उष्णिहा छन्दऽइन्द्रियं दित्यवाड् गौर्वयो दधुः॥१३॥

१. स्वस्त्यात्रेय के जीवन में **इन्द्रियम्**=प्रत्येक इन्द्रिय की शक्ति को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को, जिस जीवन में अन्त तक कर्मतन्तु का विस्तार होता है, **दधुः**=धारण करते हैं। २. 'कौन धारण करते हैं?' इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि **तनूनपात्**=(प्राणो वै तनूनपात् स हि तन्वः पाति—ऐ० २।४) प्राण जो **शुचिव्रतः**=पवित्र व्रतोंवाला है। संक्षेप में वह जीवन जो व्रतमय है। व्रती जीवन 'शक्ति' को बढ़ाता है, वह जीवन उत्कृष्ट तो बनता ही है। ३. **च**=और **सरस्वती**=वह ज्ञानाधिदेवता जोकि **तनूपाः**=हमारे शरीरों की रक्षा करनेवाली है। अथवा शक्तियों के विस्तार (तनू) की रक्षा करनेवाली है। ४. **उष्णिहा छन्दः**=(उत् स्निह्यति) उत्कृष्ट स्नेह की भावना भी शक्ति को बढ़ाती है तथा जीवन को उत्कृष्ट बनाती है। संसार में सामान्यतः हीनाकर्षण प्रबल होता है, कोई विरल व्यक्ति ही इस स्नेह को उत्कर्ष की ओर ले-जाता है। जब हमारा स्नेह उत्कृष्ट वस्तुओं के लिए होने लगता है तब यह हमारी शक्ति का रक्षक सिद्ध होता है और हमारे जीवन को उत्कृष्ट बनाता है। ५. **गौः**=ज्ञान की वह रश्मि जोकि **दित्यवाट्** है=(दितेर्भावः कर्म वा दित्यं), अर्थात् जो ज्ञान अविद्यान्धकार को नष्ट करता है, वह निश्चय से हमारे जीवन को उत्कृष्ट बनाता है।

भावार्थ—१. व्रती जीवन २. शक्तियों की रक्षक ज्ञानाधिदेवता ३. उत्कृष्ट स्नेह तथा ४. अज्ञानान्धकार को नष्ट करनेवाली ज्ञान की किरणें हमारे जीवनों को उत्कृष्ट बनाती हैं तथा प्रत्येक इन्द्रिय को शक्तियुक्त करती है।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

पञ्चाविर्गौः

इडाभिरग्निरीड्यः सोमो देवोऽअमर्त्यः।
अनुष्टुप् छन्दऽइन्द्रियं पञ्चाविर्गौर्वयो दधुः॥१४॥

१. स्वस्त्यात्रेय के जीवन में निम्न वस्तुएँ **इन्द्रियम्**=प्रत्येक इन्द्रिय की शक्ति को तथा **वयः**=अविच्छिन्न कर्मतन्तुवाले जीवन को **दधुः**=धारण करती हैं। २. सबसे प्रथम तो **इडाभिः**=सब वेदवाणियों से **ईड्यः**=स्तुति के योग्य **अग्निः**=परमात्मा स्तुत्य हैं। इनसे उनका स्तवन करने पर हमारी शक्तियों का ह्रास नहीं होता और हमारा जीवन क्रियामय बनकर उत्कृष्ट बनता है। ३. दूसरे स्थान पर **सोमः**=सोम है, वीर्यशक्ति है जो **देवः**=मन के अन्दर दिव्य गुणों को जन्म देनेवाली है तथा **अमर्त्यः**=मनुष्य को रोगों से न मरने देनेवाली है। यह 'सोम' सुरक्षित होकर शक्ति व उत्कृष्ट जीवन का धारण करता है। ४. तीसरे स्थान पर **अनुष्टुप् छन्दः**=(अनु स्तौति) प्रत्येक कार्य को करते हुए प्रभु का स्तवन करने की इच्छा है। प्रभु-स्मरणपूर्वक होनेवाले कार्य हमें कभी क्षीणशक्ति नहीं करते और ये कार्य हमारे जीवन को उत्कृष्ट बनाते हैं। ५. अन्त में **पञ्चाविः गौः**=है, वह ज्ञान की रश्मि है, जो हमारे पञ्चभौतिक शरीर का पूर्ण रक्षण करती है। इससे हमारे पाँचों प्राणों का रक्षण होता है—पाँचों कर्मेन्द्रियों का मार्ग प्रशस्त बनाया जाता है और यह ज्ञानरश्मि हमें पाँचों क्लेशों से बचाती है।

भावार्थ—१. वेदवाणियों से स्तुत्य प्रभु २. दिव्य गुणों को पैदा करनेवाला व रोगों से न मरने देनेवाला सोम ३. प्रभु-स्मरणपूर्वक कार्य करना तथा ४. पाँचों क्लेशों से बचानेवाली ज्ञानरश्मियाँ हममें शक्ति का धारण करें व हमारे जीवन को उत्कृष्ट बनाएँ।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

त्रिवत्सो गौः

सुबर्हिरग्निः पूषण्वान्त्स्तीर्णबर्हिरमर्त्यः।
बृहती छन्दऽइन्द्रियं त्रिवत्सो गौर्वयो दधुः॥१५॥

१. स्वस्त्यात्रेय के लिए **इन्द्रियम्**=प्रत्येक इन्द्रिय की शक्ति को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधुः**=धारण करते हैं। कौन? २. **सुबर्हिः**=(ओषधयो बर्हिः—ऐ० ५।२८) उत्तम ओषधियों का सेवन करनेवाला, **अग्निः**=उदरस्थ वैश्वानर अग्नि (जाठराग्नि) जो **पूषण्वान्**=हमारा उत्तम पोषण करता है। वस्तुतः शक्ति व उत्कृष्ट जीवन का बहुत कुछ निर्भर इस जाठराग्नि पर ही है। यदि इस जाठराग्नि को उत्तम सात्त्विक ओषधीय भोजन ही प्राप्त होते रहें तभी शरीर का उत्तम पोषण होता है। ३. **स्तीर्णबर्हिः**=(पशवो वै बर्हिः—ऐ० २।४ कामः पशुः, क्रोधः पशुः, स्तृ=to kill) नष्ट किये हैं काम-क्रोधादि पशु जिसने, ऐसा **अमर्त्यः**=विषयों के पीछे न मरनेवाला मनुष्य अथवा **स्तीर्ण**=बिछाई है **बर्हिः**=कुशा जिसने, ऐसा यज्ञवेदि पर कुशादि को बिछानेवाला **अमर्त्यः**=रोगों से न मरनेवाला यज्ञशील पुरुष, ४. **बृहती छन्दः**=(बृहि वृद्धौ) निरन्तर बढ़ने की प्रबल भावना, तथा ५. **गौः**=वह ज्ञान की रश्मि जोकि **त्रिवत्सः**=(त्रीन् वदति) 'प्रकृति, जीव, परमात्मा' तीनों का ज्ञान देती है। इन तीनों को समझने पर हमारा जीवन मार्ग निश्चय से प्रशस्त होता है और हम उत्कृष्ट जीवनवाले

बनकर अपनी शक्ति का ठीक रक्षण कर पाते हैं।

भावार्थ—१. वानस्पतिक पौष्टिक भोजन २. वासना-विनाश व यज्ञशील जीवन ३. निरन्तर आगे बढ़ने की इच्छा, ४. प्रकृति, जीव व परमात्मा का ज्ञान देनेवाली ज्ञानरश्मियाँ हमारे जीवन को सशक्त व उत्कृष्ट बनाती हैं।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

तुर्यवाड् गौः

दुरो॑ दे॒वीर्दिशो॑ म॒हीर्ब्र॒ह्मा दे॒वो बृह॒स्पतिः॑।
प॒ङ्क्तिश्छन्द॑ऽइ॒हेन्द्रि॒यं तु॑र्य्य॒वाड् गौर्वयो॑ दधुः॥१६॥

१. **देवीः**=उत्तम रूप से गति करनेवाले, अपने-अपने कार्य को उत्तमता से करनेवाले **दुरः**='मुख-पायु-उपस्थ व ब्रह्मरन्ध्र' आदि द्वार **इह**=इस मानव-जीवन में **इन्द्रियम्**=शक्ति को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधुः**=धारण करते हैं। 'मुख व पायु' का कार्य ठीक होने पर शरीर का स्वास्थ्य सिद्ध होता है तथा उपस्थ व ब्रह्मरन्ध्र का कार्य ठीक होने पर अध्यात्म-उन्नति व मानस स्वास्थ्य, अर्थात् उत्कृष्ट जीवन प्राप्त होता है। २. **मही दिशः**=ये महनीय दिशाएँ भी हमारे जीवनों को उत्कृष्ट बनाती हैं। 'प्राची' (प्र अञ्च्) हमें आगे बढ़ने को कहती है तो प्रतीची (प्रति अञ्च्) इन्द्रियों को विषयों से प्रत्याहार करने का संकेत करती है, **उदीची**=ऊपर उठाती है तो **अवाची**=(अव अञ्च्) नम्रता का उपदेश दे रही है। एवं, ये भावनाएँ निश्चितरूप से हमारे जीवनों को श्रेष्ठ बनाती हैं। ३. **ब्रह्मा देवः**=इस संसाररूपी क्रीड़ा को करनेवाला ब्रह्मदेव हमारे जीवन को उत्कृष्ट बनाता है। 'ब्रह्म ही निर्माण करनेवाले हैं' उनके अनुकरण पर हम भी निर्माण करेंगे तो जीवन में आनन्द का अनुभव करेंगे। ४. **बृहस्पतिः**=देवताओं को भी ज्ञान देनेवाले ये बृहस्पति हैं, ब्रह्मणस्पति हैं, चारों वेदों का ज्ञान वहीं सुरक्षित है। वे प्रभु ही इस वेदज्ञान के उत्तम स्रोत हैं, उस प्रभु से हमारा मेल होता है तो यह ज्ञान हममें भी प्रवाहित होता है। इस ज्ञान से हमारी वासनाएँ नष्ट होती हैं और हमारी इन्द्रियों की शक्ति क्षीण नहीं होती तथा हमारा जीवन उत्कृष्ट होता है। ५. **पंक्तिः छन्दः**=(पंक्तिरूर्ध्वादिक्—श० ८।३।१।१२) हमारी यह प्रबल इच्छा हो कि हम 'ऊर्ध्वा दिक्' को प्राप्त करनेवाले बनें। इसके अधिपति बनकर हम स्वयं बृहस्पति बन जाएँ। सर्वोच्च दिशा का अधिपति बनने की प्रबल कामना हमारी भावनाओं को हीन नहीं बनने देती और इस प्रकार हमारी शक्ति क्षीण नहीं होती। ६. **गौः**=वह ज्ञानरश्मि भी हमारी शक्ति व उत्कृष्ट जीवन का कारण बनती हैं जो **तुर्यवाट्**=तुर्य अवस्था का वहन करनेवाली होती है। 'जागरित-स्वप्न-सुषुप्ति' से ऊपर समाधिजन्य तुरीयावस्था 'पूर्ण एकाग्रता' की अवस्था है। ज्ञान मनुष्य को इस अवस्था के अनुकूल बनाता है। इस अवस्था में पहुँचने पर शक्ति के ह्रास व जीवन की हीनता का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

भावार्थ—१. दिव्य गुणोंवाले मुख आदि द्वार २. महनीय संकेत देनेवाली दिशाएँ ३. निर्माण का कर्ता ब्रह्मदेव ४. देवगुरु बृहस्पति ५. ऊर्ध्वादिक् का आधिपत्य प्राप्त करने की इच्छा ६. और तुरीयावस्था (पूर्ण एकाग्रता) को प्राप्त करानेवाली ज्ञानरश्मियाँ हममें इन्द्रियों की शक्ति को तथा उत्कृष्ट जीवन को धारण करें।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

पष्ठवाड् गौः

उषे यह्वी सुपेशसा विश्वे देवाऽअमर्त्याः।
त्रिष्टुप् छन्दऽइहेन्द्रियं पष्ठवाड् गौर्वयो दधुः॥१७॥

१. **यह्वी**=(महत्यौ) महिमा से सम्पन्न **सुपेशसा**=उत्तम रूपवाली **उषे**=(द्विवचनाद् दिनं रात्रिं च—म०) दोनों सन्ध्याकाल (twilights) **इह**=इस मानव-जीवन में **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों की शक्ति को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधुः**=धारण करें। दोनों सन्ध्याकाल हमें 'सूर्य व चन्द्र' के मेल का ध्यान कराते हैं और बोध देते हैं कि तुम्हारा मस्तिष्क सूर्य के समान हो तो तुम्हारा हृदय चन्द्रमा के समान हो। सूर्य के समान देदीप्यमान ज्ञान तथा चन्द्र के समान आह्लादमय मन दानों ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं तथा ये दोनों जीवन को अत्यन्त सुन्दर रूप प्राप्त कराते हैं। २. **विश्वेदेवाः**=सब दिव्य गुण जो **अमर्त्याः**=मनुष्य को मृत्यु के मार्ग से बचाते हैं, ये भी 'इन्द्रिय और वयः' के धारण करानेवाले हैं। ३. **त्रिष्टुप् छन्दः**='काम, क्रोध व लोभ' तीनों को रोकने की प्रबल इच्छा हमारे जीवन को उत्कृष्ट बनाती है। इनके अतिरिक्त ४. **गौः**=ज्ञानरश्मि जो **पष्ठवाट्**=(पष्ठं भारं वहति—उ०) कार्यभार को धारण करती है। ज्ञान जो क्रिया को उत्तमता से करनेवाला होता है, वह मानव-जीवन को सशक्त व उत्तम बनाता है।

भावार्थ—जीवन को सूर्य व चन्द्र के समान बनाने का उपदेश देनेवाला उषःकाल २. विषयों के पीछे न मरने देनेवाले दिव्य गुण ३. 'काम, क्रोध व लोभ' को रोकने की प्रबल कामना तथा ४. कार्यभार को सुचारुरूपेण वहन करनेवाला ज्ञान हमारे जीवनों को सशक्त व उत्कृष्ट बनाएँ।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

अनड्वान् गौः

दैव्या होतारा भिषजेन्द्रेण सयुजा युजा।
जगती छन्दऽइन्द्रियमनड्वान् गौर्वयो दधुः॥१८॥

१. 'स्वस्त्यात्रेय' के जीवन में **इन्द्रियम्**=शक्ति को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधुः**=धारण करते हैं। कौन? २. प्रथम, **दैव्या होतारा**=(प्राणापानौ वै दैव्या होतारा—ऐ० २।४) प्राणापान जो **भिषजा**=सब व्याधियों के चिकित्सक हैं और वस्तुतः व्याधियों को आने ही न देनेवाले हैं। ३. दूसरे स्थान में **इन्द्रेण सयुजा**=आत्मा के साथ मिलकर कार्य करनेवाले **युजा**=(परस्परेण युक्तौ) परस्पर जुड़े-से हुए ये मन और बुद्धि हमारे जीवनों को उत्कृष्ट बनानेवाले हैं। इनका उत्कर्ष ही जीवन का उत्कर्ष है। ४. **जगती छन्दः**=लोकहित की प्रबल भावना भी हमें भोगमय जीवन से ऊपर उठाने में बड़ी सहायक होती है। ५. वह **गौः**=ज्ञान की रश्मि भी हमें उत्कर्ष की ओर ले-जाती है जो **अनड्वान्**=इस जीवन-शकट का वहन करती है। ज्ञान की रश्मि जीवन की गाड़ी को उसी प्रकार सुन्दरता से ले-चलती है जैसे बैल भार की गाड़ी को खैंच ले-चलता है।

भावार्थ—१. प्राणापान जो दैव्य=देव की ओर ले-जानेवाले हैं तथा होतारा=सदा दानपूर्वक अदन करनेवाले हैं, सब इन्द्रियों को शक्ति देते हुए अपना कार्य करने में लगे रहते हैं। २. जीवात्मा के सदा के साथी मन व बुद्धि ३. लोकहित की प्रबल भावना ४.

जीवन की गाड़ी को उत्तमता से वहन करनेवाली ज्ञानरश्मियाँ हमें सशक्त व सुन्दर जीवनवाला बनाएँ।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

धेनुगौः

तिस्रऽइडा सरस्वती भारती मरुतो विशः।
विराट् छन्दऽइहेन्द्रियं धेनुर्गौर्न वयो दधुः॥१९॥

१. **इडा सरस्वती भारती तिस्रः**=श्रद्धा, ज्ञानाधिदेवता तथा वाणी—ये तीन, तथा २. **मरुतो विशः**=(मितराविणः, महद् द्रवन्ति इति वा—नि० ११।१३) कम बोलनेवाले, परन्तु खूब कार्य करनेवाले, मनुष्य अपने उदाहरण से हमारे जीवनों को उत्कृष्ट बनाएँ। ३. **विराट् छन्दः**=हमारे अन्दर भी **'मरुतो विशः'** की भाँति अपने जीवनों को विशिष्ट रूप से दीप्त बनाने की कामना हो। यह जीवनों को दीप्त बनाने की कामना हमें ऊँचा उठाती है। हम अपनी शक्ति को भोगविलास में नष्ट नहीं होने देते और इस प्रकार हमारा जीवन उत्कृष्ट बनता है। ४. **धेनुः गौः न**=(नकारश्चार्थे—उ०) ज्ञान-दुग्ध का पान करानेवाली ज्ञान-रश्मियाँ **इह**=इस मानव-जीवन में **इन्द्रियम्**=शक्ति को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को हममें **दधुः**=धारण करें। सारी अवनति का मूल अज्ञान है, ज्ञान से ही जीवन उन्नत होता है।

भावार्थ—१. श्रद्धा, ज्ञान व पवित्र वाणी २. मितभाषी पुरुष ३. विशेषरूप से चमकने की प्रबल कामना तथा ४. ज्ञानदुग्ध को पिलानेवाली ज्ञानरश्मियाँ हमारे जीवन को उत्कृष्ट बनाएँ।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

उक्षा गौः

त्वष्टा तुरीपोऽअद्भुतऽइन्द्राग्नी पुष्टिवर्धना।
द्विपदा छन्दऽइन्द्रियमुक्षा गौर्न वयो दधुः॥२०॥

१. हममें **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों की शक्ति को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधुः**=धारण करें। कौन? २. पहले तो **त्वष्टा**=(त्वष्टा तूर्णमश्नुते, त्विषतेर्वा स्याद् दीप्तिकर्मणः, त्वक्षतेर्वा स्यात् करोतिकर्मणः—नि० ८।१४) शीघ्रता से कार्यों में व्याप्त होनेवाला, क्रियाशीलता के कारण चमकनेवाला तथा इसी क्रियाशीलता से बुद्धि को तीव्र (सूक्ष्म) करनेवाला, **तुरीः**=जो (तूर्णम् आप्नोति) शीघ्र ही अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है, इसलिए **अद्भुतः**=आश्चर्यजनक व महान् होता है। यह व्यक्ति अपने उदाहरण से हममें भी शक्ति व उत्कृष्ट जीवन को स्थापित करे। ३. **पुष्टिवर्धना**=मेरे शरीर व आत्मा की पुष्टि के बढ़ानेवाले **इन्द्राग्नी**=इन्द्र व अग्निदेव मुझे सशक्त व उत्कृष्ट जीवनवाला बनाएँ। 'इन्द्र' बल का प्रतीक होकर मुझे शारीरिक दृष्टिकोण से उन्नत करता है तो 'अग्नि' प्रकाश व दोषदहन का प्रतीक होकर मुझे अध्यात्म-उन्नति प्राप्त कराता है। मैं अपने जीवन में इन्द्र व अग्नि दोनों तत्त्वों को बढ़ानेवाला बनूँ। ४. **द्विपदा छन्दः**=(द्वे पद्यते ज्ञानं कर्म च) ज्ञान व कर्म दोनों को प्राप्त करने की कामना मुझे उत्कृष्ट जीवनवाला करे। हमारा जीवन यदि पक्षिरूप है तो ज्ञान और कर्म उसके दो पंख हैं। दोनों पंखों के ठीक होने पर ही हम ऊँचा उठ सकेंगे। ५. **न**=इन तीन के अतिरिक्त **उक्षा गौः**=सब सुखों का सिञ्चन करनेवाली ज्ञानरश्मियाँ (नकारश्चार्थे) हममें शक्ति व उत्कृष्ट जीवन को धारण करें।

संसार में सब कष्टों का मूल अविद्या है—विद्या ही सब सुखों का सिञ्चन करनेवाली है।

भावार्थ—१. क्रियाशीलता से दीप्त व महापुरुष २. बल व प्रकाश के तत्त्व ३. ज्ञान व कर्म दोनों के अपनाने की प्रबल कामना तथा ४. सुखों का सिञ्चक ज्ञान हमें सशक्त व उत्कृष्ट जीवनवाला बनाएँ।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

वशा वेहत्

शमिता नो वनस्पतिः सविता प्रसुवन् भगम्।
ककुप् छन्दऽइहेन्द्रियं वशा वेहद्वयो दधुः॥२१॥

१. **वनस्पतिः**=वानस्पतिक भोजन जो **नः शमिता**=हमारे मन को शान्त करनेवाला है, अर्थात् जिस वानस्पतिक भोजन के परिणामरूप हमारे जीवन में क्रोध आदि भावनाओं का प्राबल्य नहीं होता तथा २. **भगम् प्रसुवन्**=ऐश्वर्य को जन्म देनेवाली **सविता**=निर्माण की देवता, अर्थात् प्रतिक्षण निर्माणात्मक कार्यों में लगे रहने की भावना ३. **ककुप् छन्दः**=(ककुप्=summit) शिखर पर पहुँचने की इच्छा ४. **वशा**=सब इन्द्रियों को वश में करने की वृत्ति अथवा **वशा** वन्ध्या गौ=इस प्रकृति को अपने लिए वशा के समान समझना, अर्जित सब धन को परार्थ में विनियुक्त करना, **वेहद्**=(गर्भोपघातिनी) सब बुराइयों को मूल में ही (गर्भ में ही) नष्ट करने की वृत्ति (Nip the evil in the bud), ये सब बातें **इह**=हमारे मानव-जीवन में **इन्द्रियम्**=प्रत्येक इन्द्रिय की शक्ति को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधुः**=धारण करें।

भावार्थ—इन्द्रियों की शक्ति के लिए तथा उत्कृष्ट जीवन के लिए आवश्यक है कि हम १. शान्ति देनेवाले वानस्पतिक भोजन का प्रयोग करें। २. निर्माणात्मक कार्यों में लगने के द्वारा ऐश्वर्यवृद्धि करनेवाले हों। ३. हममें शिखर तक पहुँचने की प्रबल कामना हो। ४. इन्द्रियों को वश में करें, प्राकृतिक भोगों व धनों को अपने लिए 'बन्ध्या गौ' के समान समझें, हमारे ये सब कार्य परार्थ के लिए हों। ५. बुराइयों को हम मूल में ही विनष्ट करनेवाले बनें।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

ऋषभो गौः

स्वाहा यज्ञं वरुणः सुक्षत्रो भेषजं करत्।
अतिच्छन्दाऽइन्द्रियं बृहदृषभो गौर्वयो दधुः॥२२॥

१. **स्वाहा यज्ञम्**=(स्व+हा) स्वार्थ त्यागवाला यह यज्ञ तथा २. **सुक्षत्रः**=उत्तम क्षत-त्राणवाला, घावों से बचानेवाला **वरुणः**=द्वेष-निवारण की देवता **भेषजं करत्**=औषध का काम करती है, अर्थात् यज्ञ का करना और ईर्ष्या-द्वेषादि का अभाव ये मनुष्य को शारीरिक व मानस क्षतों से बचाते हैं। यज्ञ से सामान्यतः शरीर व्याधिशून्य होता है और द्वेषनिवारण से मन स्वस्थ होता है। ३. **अतिच्छन्दाः** =औरों को लांघ जाने की प्रबल भावना (अतीत्य गच्छति) तथा ४. **बृहत्**=(बृहि वृद्धौ) वृद्धि की कारणभूत **ऋषभः**=(ऋष गतौ) कर्म में प्रवृत्त करनेवाली **गौः**=ज्ञान की रश्मियाँ **इन्द्रियम्**=प्रत्येक इन्द्रिय के सामर्थ्य को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधुः**=धारण करते हैं।

भावार्थ—इन्द्रियों की शक्ति तथा उत्कृष्ट जीवन के लिए आवश्यक है कि १. हममें

स्वार्थ-त्यागरूप यज्ञ की भावना और मानस आघातों से बचानेवाला द्वेषाभाव=प्रेम प्राप्त हो २. हममें औरों को आगे लाँघ जाने की भावना हो। ३. हमें वह ज्ञानरश्मि प्राप्त हो जो हमारी वृद्धि का कारण बने और हमें क्रियाशील बनाए।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**रुद्राः**। छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

वसवः (वयो दधुः)

वसन्तेनऽऋतुना देवा वसवस्त्रिवृता स्तुताः।
रथन्तरेण तेजसा हविरिन्द्रे वयो दधुः॥२३॥

१. **इन्द्रे**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जितेन्द्रिय पुरुष में **हविः**=दानपूर्वक अदन की वृत्ति को तथा **वयः** =उत्कृष्ट जीवन को **दधुः**=धारण करते हैं। कौन? २. **वसवः देवाः**=वसुदेव। चौबीस वर्षपर्यन्त आचार्य के समीप निवास करके उस उत्तम ज्ञान को प्राप्त करनेवाले जो ज्ञान उनके निवास को उत्तम बनानेवाला है। ये वसुदेव ३. **वसन्तेन ऋतुना स्तुताः**=वसन्त ऋतु से स्तुत होते हैं, जैसे वसन्त ऋतु में चारों ओर फूल खिले होते हैं और सौन्दर्य-ही-सौन्दर्य दृष्टिगोचर होता है, इसी प्रकार इनके जीवन में ज्ञान-विज्ञानों के पुष्प विकसित होकर इनके जीवन को सुन्दर बनाते हैं। ४. ये वसुदेव **त्रिवृता स्तुताः**=त्रिवृत से स्तुत होते हैं। (त्रिषु वर्त्तते) 'धर्म, अर्थ, काम' तीनों में समानरूप से वर्तने के कारण इनकी स्तुति होती है। ये धनप्रधान जीवनवाले होते हुए भी धर्मपूर्वक धन कमाते हैं और संसार के उचित आनन्दों को उस धन से प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। इस धर्मार्थकाम तीनों में वर्तन के कारण ही ये ५. **रथन्तरेण तेजसा**=(युक्ताः) उस तेज से युक्त होते हैं जिस तेज के कारण ये शरीररूप रथ से इस 'अश्मन्वती नदी' (भवसागर) को तैर जाते हैं।

भावार्थ—'वसु' देव वे हैं जिनके जीवन में वसन्तऋतु के समान ज्ञान-विज्ञान के पुष्प खिले होते हैं, जो धर्मार्थकाम का समसेवन करते हैं, जो शरीररूप रथ से इस अश्मन्वती नदी को तैर जानेवाले तेज से युक्त होते हैं। ये 'वसु' देव इन्द्र में हवि व वयः का धारण करें, अर्थात् जितेन्द्रिय पुरुष को त्यागपूर्वक खानेवाला व उत्कृष्ट जीवनवाला बनाएँ।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

रुद्राः

ग्रीष्मेणऽऋतुना देवा रुद्राः पञ्चदशे स्तुताः।
बृहता यशसा बलꣳहविरिन्द्रे वयो दधुः॥२४॥

१. **इन्द्रे**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जितेन्द्रिय पुरुष में **बलम्**=शक्ति को **हविः**=त्यागपूर्वक अदन को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधुः**=धारण करते हैं। कौन? २. **रुद्राः देवाः**=(रुद्रदेव) जिन्होंने ४४ वर्षपर्यन्त आचार्यों के समीप रहकर उस ज्ञान को प्राप्त किया है जो ज्ञान उनको रुद्र बनाता है (रोरूयमाणो द्रवति) निरन्तर प्रभुनाम स्मरण करते हुए यह वासनाओं पर आक्रमण करनेवाला बनता है। ३. ये 'रुद्र' देव **ग्रीष्मेण ऋतुना स्तुताः**=ग्रीष्मऋतु से स्तुत होते हैं। जैसे ग्रीष्मऋतु प्रचण्ड सूर्य की किरणों से युक्त है, इसी प्रकार ये रुद्र ज्ञान की तीव्र किरणों से युक्त होते हैं। इन ज्ञान की किरणों की प्रचण्डता में मानस मल भस्मसात् हो जाते हैं और ये रुद्रदेव ४. **पञ्चदशे स्तुताः**=पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों व पाँच प्राणों के पन्द्रह समूह के निमित्त स्तुत होते हैं। इनकी सब इन्द्रियाँ व प्राण ये सब खूब निर्मल व सशक्त होते हैं। ५. इस प्रकार अपने इस पञ्चदशक को सुन्दर बनाकर ये

बृहता यशसा=सदा बढ़ते हुए यश से युक्त होते हैं।

भावार्थ—रुद्रदेव वे हैं जिनके जीवन में ग्रीष्मऋतु का प्रचण्ड तेज विद्यमान है। इस तेजसे इनकी इन्द्रियाँ व प्राण निर्मल बने हैं और ये बड़े यशस्वी होते हैं। ये रुद्रदेव इन्द्र में बल, हवि (त्यागपूर्वक अदन) तथा उत्कृष्ट जीवन को धारण करते हैं।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

आदित्याः

वर्षाभिर्ऋतुनादित्या स्तोमे सप्तदशे स्तुताः।
वैरूपेण विशौजसा हविरिन्द्रे वयो दधुः॥२५॥

१. **इन्द्रे**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जितेन्द्रिय पुरुष में **हविः**=त्यागपूर्वक अदन को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधुः**=धारण करते हैं। कौन? २. **आदित्याः**=आदित्यदेव, जिन्होंने ४८ वर्षपर्यन्त आचार्यों के समीप रहकर सब आदान करने योग्य विज्ञानों व गुणों का ग्रहण किया है (आदानात् आदित्या) जैसेकि मेघ जल का आदान करते हैं। ३. अब ये आदित्य **वर्षाभिः ऋतुना** =वर्षाऋतु से **स्तुताः**=स्तुत होते हैं। वर्षाऋतु में मेघ चारों ओर जल की वृष्टि करके लोगों के सन्ताप को हरते हैं। ये आदित्यदेव भी चारों ओर ज्ञानजल की वर्षा करते हुए लोगों के कष्टों का निवारण करते हैं। ४. और **सप्तदशे स्तोमे स्तुताः**=सत्रह तत्त्वों से बने हुए समूह के निमित्त स्तुत होते हैं। ये सत्रह तत्त्वों से बना हुआ शरीर ही सूक्ष्मशरीर है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण तथा मन और बुद्धि ये सत्रह तत्त्व मिलकर यह सूक्ष्मशरीर बना है। 'आदित्य' देव अपने इस सूक्ष्मशरीर के कारण निरन्तर प्रशंसित होते हैं। ५. इस सूक्ष्मशरीर को अच्छा बनाने के कारण ही ये आदित्य **वैरूपेण विशा ओजसा**=विशिष्ट रूपवाली सन्तान से और ओज से अथवा विशिष्ट रूपवाले तथा लोगों के हृदयों में प्रवेश करनेवाले, उनपर प्रभाव डालनेवाले तेज से युक्त होते हैं।

भावार्थ—आदित्यदेव वे हैं जो वर्षाऋतु के समान शान्ति देनेवाले ज्ञानजल को बरसाते हैं, सूक्ष्मशरीर को सुन्दर बनाने से स्तुत होते हैं और विशिष्ट रूपवाले प्राभाविक ओजसे युक्त हैं। ये इन्द्र में त्यागपूर्वक अदन की भावना को तथा उत्कृष्ट जीवन को धारण करते हैं।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**विराड्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

ऋभवः

शारदेनऽऋतुना देवाऽएकविꣳशऽऋभवं स्तुताः।
वैराजेन श्रिया श्रियꣳहविरिन्द्रे वयो दधुः॥२६॥

१. **इन्द्रे**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले जितेन्द्रिय पुरुष में **श्रियम्**=श्री को, **हविः**=त्यागपूर्वक अदन की वृत्ति को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधुः**=धारण करते हैं। कौन? २. **ऋभवः देवाः**=वे देव जो ऋभु नामवाले हैं (मेधाविनाम—नि० ३।१५, उरु भान्ति, ऋतेन भान्ति, ऋतेन भवन्तीति वा—नि० ११।१६) मेधावी हैं, ज्ञान-ज्योति से खूब चमकते हैं, ऋत से देदीप्यमान होते हैं अथवा सदा ऋत के साथ रहते हैं। ये देव ३. **शारदेन ऋतुना स्तुताः**=शरद् ऋतु से स्तुत होते हैं। जैसे शरद् ऋतु में ठीक प्रकार से अन्नों का परिपाक होता है, उसी प्रकार इन देवों में भी ज्ञान का परिपाक होता है। जैसे शरद् ऋतु में जल निर्मल हो जाता है, इसी प्रकार इनका मन भी निर्मल होता है। जैसे इस ऋतु में पत्ते शीर्ण हो जाते हैं, उसी प्रकार ये भी वासनाओं व रोगों को शीर्ण करनेवाले होते हैं।

४. ये देव **एकविंशे स्तुताः**='वे त्रिषप्ताः' मन्त्र के अनुसार शरीर को धारण करनेवाले इन इक्कीस बलों से युक्त होते हैं। इन इक्कीस शक्तियों के कारण इनकी सर्वत्र स्तुति होती है और ५. **वैराजेन श्रिया श्रियम्**=ये विशेषरूप से चमकनेवाली श्री से युक्त होते हैं। इनकी आकृति ही विशेषरूप से प्रभाव डालनेवाली होती है।

भावार्थ—ऋभुदेव वे हैं जोकि शरद् ऋतु के समान ज्ञानरूप अन्न के परिपाकवाले होते हैं, शरीर की इक्कीस-की-इक्कीस शक्तियों का विकास कर पाते हैं और विशिष्ट दीप्तिवाली श्री से युक्त होते हैं। ये इन्द्र में 'श्री हवि व वयस्, उत्कृष्ट जीवन' का धारण करें।

ऋषिः—**आत्रेयः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

मरुतः

हेमन्तेनऽऋतुना देवास्त्रिणवे मरुतं स्तुताः।
बलेन शक्वरीः सहो हविरिन्द्रे वयो दधुः॥२७॥

१. **इन्द्रे**=इन्द्रियों की शक्ति का उपचय करके इन्द्र बननेवाले पुरुष में **सहः**=बल को, **हविः**=त्यागपूर्वक अदन को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधुः**=धारण करते हैं। कौन? २. **मरुतः देवाः**=मरुत् देव। (मरुत् इति ऋत्विङ्नाम—नि०२।१९, मितराविणः, मरुद् द्रवन्ति—नि० ११।१३) जो ऋत्विज हैं, ऋतु-ऋतु में यजन करनेवाले हैं, कम बोलनेवाले हैं और खूब क्रियाशील हैं। ३. वस्तुतः इसी कारण **हेमन्तेन ऋतुना स्तुताः**=हेमन्त ऋतु से ये स्तुत होते हैं। हेमन्त ऋतु उपचय की ऋतु होती है। कम बोलने व खूब क्रियाशील होने से इन मरुतों की शक्ति का भी उपचय होता है। ४. इस प्रकार शक्ति के उपचय के कारण ये **त्रिणवे स्तुताः**=त्रिगुणित नौ, अर्थात् सत्ताईस से स्तुत होते हैं। शरीर में नवद्वार हैं **'अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या'**। ये नवद्वार कर्मोपासना व ज्ञानरूप व्यवहार में तीन प्रकार से प्रवृत्त होते हैं और 'त्रिणव' कहलाते हैं। उदाहरण के लिए हम मुख से शब्द बोलनारूप कर्म करते हैं, प्रणवजप द्वारा प्रभु का उपासन करते हैं और ज्ञान की वाणियों के उच्चारण से ज्ञान को बढ़ाते हैं। एवं, नवद्वार कर्मोपासना व ज्ञान में लगे होकर 'त्रिणव' हो जाते हैं। मरुत इन 'त्रिणव' के कारण प्रशंसनीय होते हैं। ५. और **बलेन शक्वरीः**=बल के साथ प्रत्येक अङ्ग को शक्तियुक्त करते हैं। वैदिक भाषा में ये 'शक्वरपृष्ठ' से युक्त होते हैं। इनका अङ्ग-प्रत्यङ्ग कार्यभार को वहन करने में सशक्त होता है।

भावार्थ—मरुत्देव वे हैं जो हेमन्तऋतु की भाँति सब शक्तियों के उपचयवाले होते हैं, जिनके कर्मज्ञानोपासना में प्रवृत्त नवद्वार प्रशंसनीय होते हैं और जिनका अङ्ग-प्रत्यङ्ग बल से सशक्त बनता है। ये इन्द्र में 'बल, हवि व वयस्=उत्कृष्ट जीवन' को धारण करते हैं।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

अमृता देवाः

शैशिरेणऽऋतुना देवास्त्रयस्त्रिꣳशेऽमृता स्तुताः।
सत्येन रेवतीः क्षत्रꣳहविरिन्द्रे वयो दधुः॥२८॥

१. **इन्द्रे**=(इन्दवे द्रवति) परमैश्वर्य की प्राप्ति के लिए गति करनेवाले इन्द्र में **क्षत्रम्**=क्षतों से त्राण करनेवाले बल को, **हविः**=त्यागपूर्वक अदन को तथा **वयः**=उत्कृष्ट

जीवन को **दधुः**=धारण करते हैं। कौन? २. **अमृताः देवाः**=विषय-वासनाओं के पीछे न मरनेवाले और अतएव रोगों से आक्रान्त न होनेवाले देव। जो देव ३. **शैशिरेण ऋतुना**=(शम्नातेर्वा शृणातेर्वा—नि० २।१९) सब वासनाओं को शीर्ण करके शान्ति प्राप्त करके अपने जीवन में शिशिरऋतु को ला पाये हैं। ४. इस वासना की शीर्णता व शान्ति के कारण ही **त्रयस्त्रिंशे स्तुताः**=ये तेतीस दिव्य गुणों के निमित्त स्तुत हुए हैं। इनके मस्तिष्करूप द्युलोक, हृदयरूप अन्तरिक्षलोक तथा शरीररूप पृथिवीलोक में ग्यारह-ग्यारह करके तेतीस देवों का निवास हुआ है और इस प्रकार इनका यह शरीर सचमुच 'देवानां पूः'=देवनगरी बन गया है। ५. ये अमृतदेव इस संसार में **सत्येन रेवतीः**=सत्य से रयिधनवाले हुए हैं। ये सदा सत्यमार्ग से धन का अर्जन करते हैं—'रेवती' होते हैं, वैदिक भाषा में 'रैवतपृष्ठ' से स्तुत होते हैं। इनका आधार निर्धनतावाला नहीं होता। इस धन के साथ सत्य को जोड़ने से ही वस्तुतः ये संसार में अमृत बने हैं।

भावार्थ—अमृतदेव वे हैं जो वासनाओं को शीर्ण करके शान्ति धारण से अपने जीवन में शिशिर ऋतु को लाये हैं, तेतीस दिव्य गुणों को धारण करनेवाले बने हैं और जिन्होंने सत्य से धन का अर्जन किया है।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अग्न्यश्वीन्द्रसरस्वत्याद्या लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**निचृदष्टिः**।
स्वरः—**मध्यमः**॥

अग्नि-यजन

होता॑ यक्षत्स॒मिधा॒ग्निमि॒डस्प॒दे॒ऽश्विनेन्द्र॒ꣳ सर॑स्वतीम॒जो धू॒म्रो न गो॒धू॒मैः कुव॑लैर्भेष॒जं मधु॒ शष्पै॒र्न तेज॑ऽइन्द्रि॒यं पय॒ः सोमः॒ परि॒स्रुता॑ घृ॒तं मधु॒ व्यन्त्वाज्य॑स्य होत॒र्यज॑॥ २९॥

१. गतमन्त्रों में (२३ से २८ तक) हवि का आख्यान है। उस हवि के आख्यान से यह होता=दानपूर्वक अदन करनेवाला बना है। यह **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **इडस्पदे**=(इडा=श्रद्धा अथवा वेदवाणी) श्रद्धा अथवा वेदवाणी के मार्ग में, अर्थात् श्रद्धापूर्वक वेदमार्ग पर चलता हुआ **समिधा**=ज्ञान की दीप्ति से **अग्निम्**=उस अग्रेणी प्रभु को **यक्षत्**=अपने साथ सङ्गत करता है। केवल प्रभु को ही नहीं, **अश्विना**=प्राणापान को, **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली आत्मतत्त्व को तथा **सरस्वतीम्**=ज्ञान की अधिदेवता को भी अपने साथ सङ्गत करता है। दानपूर्वक अदन से और इसके साथ ज्ञान की दीप्ति व श्रद्धा को अपनाने से हम प्रभु को, प्राणापान को, इन्द्रतत्त्व—आत्मिक शक्ति को तथा ज्ञान को अपने साथ सङ्गत करते हैं। २. अब हम **गोधूमैः**=गेहूँ आदि अन्नों के प्रयोग से तथा **कुवलैः**=(कु-वल) पृथिवी पर संचरणों से, अर्थात् व्यायामों से **अजः धूम्रः न**=अज अर्थात् गतिशीलता से बुराइयों को दूर फेंकनेवाले होते हैं। (अज गतिक्षेपणयोः, न=च) और (धूञ् कम्पने) वासनाओं को अपने से कम्पित करके दूर करनेवाले होते हैं। वस्तुतः गोधूमादि वानस्पतिक भोजन व उचित व्यायाम शारीरिक व मानस स्वस्थ के लिए आवश्यक हैं। ३. इस प्रकार वानस्पतिक भोजन व व्यायाम का उचित मिश्रण होने पर **मधु**=शहद **भेषजम्**=हमारा औषध हो जाता है। शहद का औषध के रूप में हम प्रयोग करते हैं। ४. **शष्पैर्न**=और (न=च) शष्पों से, अर्थात् इन वानस्पतिक भोजनों से हमें **तेजः इन्द्रियम्**=तेजस्विता व इन्द्रियों की शक्ति प्राप्त होती है, ५. अतः हम प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि **पयः**=दूध **सोमः**=सोमलता का रस **परिस्रुता**=निचोड़े गये रस के साथ **घृतम्**=घृत और **मधु**=शहद—ये

सब पदार्थ **व्यन्तु**=हमें विशेषरूप से प्राप्त हों। (परितः—सर्वतः स्रुता—द०) हम घृतादि पदार्थों का सेवन करनेवाले बनें। ६. इस प्रार्थना को सुनकर प्रभु कहते हैं कि हे **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाले जीव! तू घृतादि का भक्षण तो कर, परन्तु **आज्यस्य यज**=इस घृत का तू यज्ञ भी करनेवाला हो। इन पदार्थों को खा, परन्तु हवन अधिक कर। 'सब स्वयं खा जाना' जहाँ मानस विकारों को पैदा करता है वहाँ शरीर के रोगों का भी कारण हो जाता है।

भावार्थ—होता पुरुष श्रद्धा व ज्ञान को अपनाकर 'प्रभु, प्राणापान, इन्द्रशक्ति व विद्या' को अपने साथ जोड़ता है। वानस्पतिक भोजनों व व्यायामों से सब बुराइयों को दूर भगानेवाला 'अजधूम्र' बनता है। शहद इसका औषध होता है। शष्प=वानस्पतिक भोजन इसे तेजस्वी व इन्द्रियशक्तिसम्पन्न बनाते हैं। यह 'दूध-सोमरस-फलों का रस, घृत व मधु' को भोज्यद्रव्यों के रूप में प्राप्त करता है और घृतादि से हवन अवश्य करता है।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयो लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**भुरिगत्यष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**॥

सरस्वती यजन

होता यक्षत्तनूनपात्सरस्वतीमविर्मेषो न भेषजं पथा मधुमता भरन्नश्विनेन्द्राय वीर्यं बदरैरुपवाकाभिर्भेषजं तोक्मभिः पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥३०॥

१. **होता**=त्यागपूर्वक अदन करनेवाला अतएव **तनूनपात्**=शरीर को न गिरने देनेवाला, शरीर को रोगों का शिकार न होने देनेवाला **सरस्वतीम्**=ज्ञानाधिदेवता को, ज्ञान की वाणी को **यक्षत्**=अपने साथ सङ्गत करता है। त्यागपूर्वक अदन से बुद्धि शुद्ध होती है और ज्ञान बढ़ता है। २. यह **होता अविः**=कामादि शत्रुओं से अपनी रक्षा करनेवाला होता है, **न**=और (न=च) **मेषः**=(मिष् to evulate, to contend, to rival)। यह उत्तमता के मार्ग में स्पर्धावाला होता है। 'अति समं क्राम' के उपदेश को सदा क्रियान्वित करता हुआ बराबरवालों को लाँघ जाने के लिए यत्नशील होता है। ३. यह **मधुमता पथा**=माधुर्यमय मार्ग से **भेषजं भरत्**=औषध का भरण करनेवाला होता है। मधुर मार्ग से चलने के कारण यह ईर्ष्यादि दुर्भावनाओं से पैदा होनेवाले विकारों से बचा रहता है। ४. ऐसी स्थिति में **अश्विना**=प्राणापान **इन्द्राय**=इस जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **वीर्यम्**=शक्ति प्राप्त कराते हैं और **बदरैः**=बेरों से **उपवाकाभिः**=इन्द्रयवों से तथा **तोक्मभिः** =अंकुरित यवों से **भेषजम्**=औषध को प्राप्त करानेवाले होते हैं। वस्तुतः जितेन्द्रिय पुरुष के लिए ये बदर व यव आदि ही उत्तम औषध हो जाते हैं। ५. अब हम प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि **पयः**=दूध, **सोमः**=सोमरस, **परिस्रुता**=फलों के रस के साथ **घृतं मधु**=घृत और मधु (शहद) **व्यन्तु**=हमें प्राप्त हों। ६. प्रभु कहते हैं कि **होतः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले! तू **आज्यस्य यज**=घृत का हवन भी कर। खाना तो सही, परन्तु अग्निहोत्र अधिक करना।

भावार्थ—होता शरीर का रक्षक होता है, सरस्वती को अपनाता है, वासनाओं से अपना रक्षक तथा उत्तमताओं में स्पर्धावाला होता है। माधुर्यमय मार्ग से चलना ही इसके लिए औषध हो जाता है। प्राणापान इसे वीर्यवान् बनाते हैं। बेर, इन्द्रयव व भुने चावल व जौ ही इसके लिए उत्तमौषध होते हैं। यह दूध, घृत आदि का सेवन करता है, परन्तु खाने से अधिक यज्ञ करता है।

ऋषि:—**स्वस्त्यात्रेय:**। देवता—**अश्व्यादय:**। छन्द:—**अतिधृति:**। स्वर:—**षड्ज:**॥

नराशंस-यजन

होता यक्षन्नराशꣳसं न नग्नहुं पतिꣳसुरया भेषजं मेषः सरस्वती भिषग्रथो न चन्द्र्यश्विनोर्वपाऽइन्द्रस्य वीर्यं बदरैरुपवाकाभिर्भेषजं तोक्मभिः पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥३१॥

१. **होता**=त्यागपूर्वक अदन करनेवाला प्रभु को अपने साथ **यक्षत्**=सङ्गत करता है जो प्रभु **नराशंसम्**=(नरैः=आशंस्यते) समन्तात् मनुष्यों से स्तुति किये जाते हैं '**यस्य विश्व उपासते**'—सभी जिसकी उपासना करते हैं। **न**=(च) और **नग्नहुम्**=स्वयं कुछ भी धारण न करते हुए सब-कुछ देनेवाले हैं, **पतिम्**=सारे ब्रह्माण्ड के रक्षक हैं। २. यह होता प्रभु से मेल करके प्रभु की भाँति ही 'नराशंस-नग्नहु व पति' बनने का प्रयत्न करता है। **मेषः**=उत्तमता से स्पर्धा करनेवाला बनकर **सुरया**=(सुर् to govern) आत्मनियन्त्रण से **भेषजम्**=औषध को प्राप्त कर लेता है। आत्मनियन्त्रण से सुरक्षित वीर्य ही इसके लिए औषध का काम करता है। ३. **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता ही **भिषक्**=इसके लिए वैद्य बन जाती है। ज्ञानी होकर सब वस्तुओं का यह ठीक प्रयोग करता है और रोगों से बचा रहता है। ४. **न**=और सरस्वती के वैद्य होने पर **रथः**=इसका यह शरीररूप रथ **चन्द्री**=सदा प्रसन्नतावाला होता है। अथवा 'चन्द्रमिति हिरण्यनाम' चन्द्र का अभिप्राय है 'सोना'। इसका शरीररूप रथ सुवर्ण की भाँति देदीप्यमान होता है। इसमें **अश्विनोः वपा**=प्राणापान का वपन होता है, प्राणापान बोये जाते हैं, अर्थात् प्राणापान-शक्ति सुदृढ़ होती है और **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष का **वीर्यम्**=वीर्य इसमें होता है। ५. **बदरैः**=बेरों से **उपवाकाभिः**=इन्द्रयवों से और **तोक्मभिः** =अंकुरितयवों से **भेषजम्**=इसको औषध प्राप्त हो जाता है। इन सामान्य वस्तुओं के अन्दर भी विज्ञानपूर्वक प्रयोग से वह औषधों को पा लेता है। ६. यह प्रभु से प्रार्थना करता है कि **पयः**=दूध, **सोमः**=सोमरस, **परिस्रुता**=फलों के रस के साथ **घृतं मधु**=घृत और शहद **व्यन्तु**=प्राप्त हों। ७. प्रभु कहते हैं कि हे **होतः**=त्यागपूर्वक अदन करनेवाले! तू **आज्यस्य यज**=घृत का यजन करनेवाला हो। घृत का सेवन भी कर, परन्तु अग्निहोत्र अधिक कर।

भावार्थ—होता सर्वस्तुत्य प्रभु को अपने से मेल करता है। आत्मनियन्त्रण से वह रोगों का प्रतीकार करनेवाला होता है। ज्ञान ही इसका वैद्य होता है। इसका शरीर-रथ सुवर्ण के समान देदीप्यमान होता है, इसमें प्राणापानशक्ति दृढ़ होती है। यह वीर्यवान् होता है। बेर, यव आदि इसके भेषज हो जाते हैं। यह दूध आदि उत्तम पदार्थों का सेवन करता है, परन्तु अग्निहोत्र अधिक करता है।

ऋषि:—**स्वस्त्यात्रेय:**। देवता—**सरस्वत्यादय:**। छन्द:—**विराडतिधृति:**। स्वर:—**षड्ज:**॥

इडा-यजन

होता यक्षदिडेडितऽआजुह्वानः सरस्वतीमिन्द्रं बलेन वर्धयन्नृषभेण गवेन्द्रियमश्विनेन्द्राय भेषजं यवैः कर्कन्धुभिर्मधु लाजैर्न मासरं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥३२॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **ईडितः**=(ईडितम् अस्य अस्तीति) उपासनावाला होकर **इडा**=(इडाम्—म०) इडा को, श्रद्धा को व प्रशंसित ज्ञानवाणी को **यक्षत्**=अपने साथ जोड़ता है। २. श्रद्धा व ज्ञानवाणियों से यह **सरस्वतीम् आजुह्वानः**=सरस्वती को अपने में

पुकार रहा होता है और सरस्वती का आराधन करके अपने ज्ञान को बढ़ा रहा होता है। ३. यह **बलेन**=बल के धारण से **इन्द्रम्**=प्रभु को **वर्धयन्**=बढ़ाता है। '**नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः**'=बलहीन से आत्मतत्त्व अप्राप्य है, यह सबल होकर उस आत्मतत्त्व को प्राप्त करता है। ४. **ऋषभेण**=(ऋष गतौ, गन्तुं योग्येन—द०) क्रिया में परिणत होनेवाले **गवा**=(गमयति अर्थम्) वेदज्ञान से यह **इन्द्रियम्**=ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को **वर्धयन्**=बढ़ाता है। गति कर्मेन्द्रियों को सशक्त करती है और ज्ञान ज्ञानेन्द्रियों को। ५. **अश्विना**=प्राणापान **इन्द्राय**=इस जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **भेषजम्**=औषध होते हैं। ६. **यवैः**=जौ के साथ तथा **कर्कन्धुभिः**=बेरों के साथ **मधु**=शहद **न**=और **लाजैः**=लाजाओं के साथ, अक्षत धान्यों के साथ **मासरम्**=ओदन=भात। ये इन्द्र के लिए भेषज हो जाते हैं। ७. यह इन्द्र प्रार्थना करता है कि **पयः**=दूध, **सोमः**=सोमरस, **परिस्रुता**=फलों के रस के साथ **घृतं मधु**=घृत और शहद ये वस्तुएँ **व्यन्तु**=हमें प्राप्त हों। ८. प्रभु कहते हैं कि हे **होतः**=त्यागपूर्वक अदन करनेवाले! तू **आज्यस्य यज**=इस घृत का सेवन भी कर, परन्तु अग्निहोत्र अधिक कर।

भावार्थ—होता श्रद्धा व ज्ञान की वाणी का अपने साथ मेल करता है। यह सरस्वती की आराधना करता है। बल से आत्मतत्त्व का वर्धन करता है, गति व ज्ञान-प्राप्ति से ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को सशक्त करता है। प्राणापान इसके लिए वैद्य हो जाते हैं। 'बेर, यव, मधु, लाजा व मासर' आदि पदार्थ इसके लिए भेषज का काम करते हैं। यह होता घृतादि का सेवन करता है, परन्तु अग्निहोत्र अधिक करता है।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**निचृदष्टिः**। स्वरः—**मध्यमः**॥

बर्हिर्वर्जन

होता यक्षद् बर्हिरूर्णम्रदा भिषङ् नासत्या भिषजाश्विनाश्वा शिशुमती भिषग्धेनुः सरस्वती भिषग्दुहऽइन्द्राय भेषजं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥३३॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **ऊर्णम्रदाः**=(ऊर्णं=आच्छादकं=वृत्रं मृद्नाति) ज्ञान के आवरणभूत वृत्र का विनाश करनेवाला बनकर, कामादि वासनाओं को नष्ट करके **बर्हिः**=जिसमें से वासनाओं का उद्बर्हण कर दिया गया है, ऐसे वासनाशून्य हृदय का **यक्षत्**=अपने साथ सङ्ग (मेल) करता है। यह ऊर्णम्रदाः **भिषज्**=स्वयं अपना वैद्य होता है। २. ऐसा होने पर **नासत्या**=ये नासिका में होनेवाले **अश्विना**=प्राणापान भी **भिषजा**=इसके वैद्य बनते हैं, अर्थात् वासनाओं का विनाश करना ही वैद्य बनना है। वासनाओं का विनाश होने पर ही प्राणापान वैद्य होते हैं। वासनामय जीवन में प्राणापान की शक्ति क्षीण हो जाती है। उन्होंने रोगों को क्या दूर करना? ३. प्राणापान के वैद्य के रूप में होने पर एक गृहिणी **अश्वा**=सदा उत्तम कर्मों में व्याप्त, सबल व **शिशुमती**=उत्तम सन्तानोंवाली होती है। ४. इस गृहिणी के लिए **धेनुः**=घर में रखी हुई गौ **भिषक्**=वैद्य हो जाती है, क्योंकि गोदुग्ध शरीर को ही नहीं मन व बुद्धि को भी नीरोग करता है। ५. इसके लिए **सरस्वती**=ज्ञान की अधिदेवता भी **भिषक्**=वैद्य होती है। ज्ञानपूर्वक किया गया वस्तुओं का उपयोग रोगों को नहीं आने देता। ये वैद्यभूता सरस्वती **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **भेषजं दुहे**=औषध को दुहती है, प्राप्त कराती है। अजितेन्द्रिय के लिए औषध का कोई लाभ नहीं। ६. यह जितेन्द्रिय पुरुष प्रार्थना करता है कि **पयः**=दूध, **सोमः**=सोमरस, **परिस्रुता**=फलों के रस के साथ **घृतं मधु**=घृत व शहद **व्यन्तु**=हमें प्राप्त हों। ७. प्रभु कहते हैं कि हे **होतः**=त्यागपूर्वक अदन

करनेवाले! तू **आज्यस्य**=घृत का **यज**=यजन कर। खा भी, परन्तु अग्निहोत्र अधिक कर।

भावार्थ—होता वृत्र को कुचलकर, पवित्र हृदय को अपने साथ सङ्गत करता है। इसके लिए प्राणापान वैद्य होते हैं। इन वैद्योंवाली माता कर्मों में व्याप्त व उत्तम सन्तानवाली होती है। इनके लिए गौ तथा ज्ञानाधिदेवता वैद्य हो जाते हैं। हम जितेन्द्रिय बनकर दूध आदि उत्तम पदार्थों का सेवन करें। घृत आदि को खाएँ, परन्तु अग्निहोत्र अधिक करें।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**निचृदतिधृतिः**। स्वरः—**षड्जः**॥

द्वार–यजन

होता यक्षद्दुरो दिशः कवष्यो न व्यचस्वतीरश्विभ्यां न दुरो दिशऽइन्द्रो न रोदसी दुघे दुहे धेनुः सरस्वत्यश्विनेन्द्राय भेषजꣳशुक्रं न ज्योतिरिन्द्रियं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥३४॥

१. यह शरीर मुखादि नौ द्वारोंवाला है (दो कान, दो नासिका छिद्र, दो आँखें, मुख, पायु, उपस्थ)। इन द्वारों में नाभि व ब्रह्मरन्ध्र को मिलाकर ११ द्वार हो जाते हैं। **दुरः**=इन सब–के–सब द्वारों को **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला व्यक्ति **यक्षत्**=अपने साथ सङ्गत करता है। ये द्वार **दिशः**=एक विशिष्ट उपदेश को लिये हुए हैं। कानों ने ज्ञान की वाणियों को सुनने का निश्चय किया तो आँखों ने प्रकृति की शोभा में प्रभु की महिमा को देखने का निश्चय किया। एवं, प्रत्येक इन्द्रियद्वार की अपनी–अपनी एक दिशा है। **कवष्यः**=(कवषः= shield) जो द्वार इस शरीर की रक्षा के लिए ढालरूप हैं, इनका ठीक प्रयोग शरीर को रोगादि के आक्रमण से बचाता है **न**=और ये द्वार **व्यचस्वतीः**=अपनी–अपनी शक्तियों के विस्तारवाले हैं। २. **न**=और **दुरः**=ये द्वार **अश्विभ्याम्**=प्राणापान के द्वारा **दिशः**=अपनी विशिष्ट दिशा में कार्य करनेवाले होते हैं। ३. प्रत्येक इन्द्रियद्वार का ठीक प्रयोग करनेवाला **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **रोदसी**=द्यावापृथिवी का, मस्तिष्क व शरीर का **दुघे**=पूरण करता है। ४. **न**=और **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **धेनुः**=गौ **भेषजम्**=सब रोगों के औषध को **दुहे**=दुहती है, अर्थात् गोदुग्ध इसके रोगों का इलाज होता है **न**=और **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता इसके लिए **शुक्रं ज्योतिः**=शुद्ध व क्रियाशील बनानेवाला (शुच् दीप्तौ, शुक् गतौ) ज्ञान दुहती है तथा **अश्विना**=प्राणापान इसके लिए **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों की शक्ति को दुहते हैं। ५. यह इन्द्र प्रभु से प्रार्थना करता है कि **पयः**=दूध, **सोमः**=सोमरस, **परिस्रुता**=फलों के रस के साथ **घृतं मधु**=घी और शहद मुझे **व्यन्तु**=प्राप्त हों। ६. प्रभु कहते हैं कि हे **होतः**= दानपूर्वक अदन करनेवाले! तू **आज्यस्य यज**=घृत का यजन कर।

भावार्थ—हम होता बनकर इस नगरी के सब द्वारों को अपनी–अपनी विशिष्ट दिशा में कार्य करनेवाला बनाएँ। ये द्वार हमारे लिए ढालरूप हों, विस्तृत शक्तियोंवाले हों। हम मस्तिष्क व शरीर दोनों का पूरण करें। हमें दूध आदि पदार्थ प्राप्त हों। उन पदार्थों का हम सेवन करें, परन्तु अग्निहोत्र अधिक करें।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**भुरिगष्टिः**। स्वरः—**मध्यमः**॥

उषा–यजन

होता यक्षत्सुपेशसोषे नक्तं दिवाश्विना समञ्जाते सरस्वत्या त्विषिमिन्द्रे न भेषजꣳश्येनो न रजसा हृदा श्रिया न मासरं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥३५॥

१. **होता**=त्यागपूर्वक अदन करनेवाला व्यक्ति **सुपेशसा**=उत्तम रूप का निर्माण करने-वाली **उषे**=उषःकालों को, प्रातः तथा सायं की सन्धिभूत उषाओं को, **यक्षत्**=अपने साथ सङ्गत करता है। इन उषाओं में सूर्य अस्त हो रहा होता है तो चन्द्र उदय होता है, चन्द्र अस्त हो रहा होता है तो सूर्य का उदय हो रहा होता है। एवं, इन उषःकालों में दोनों प्रकाश होते हैं, इससे इन्हें इंग्लिश में twilight यह नाम दिया गया है। ये दोनों काल मनुष्य को यह उपदेश देते हैं कि तूने मस्तिष्क में सूर्य के समान ज्ञान से दीप्त बनना तथा मन में चन्द्र की भाँति आह्लादमय होना। २. इस होता को **अश्विना**=प्राणापान **नक्तं दिवा**=रात-दिन **सरस्वत्या**=ज्ञानाधिदेवता से **समञ्जाते**=अलंकृत करते हैं। प्राणसाधना से बुद्धि तीव्र होती है। ३. **न**=और बुद्धि की तीव्रता के द्वारा **इन्द्रे**=जितेन्द्रिय पुरुष में **त्विषिम्**=ज्ञानदीप्ति को ही **भेषजम्**=औषधरूप से करते हैं। ४. ये प्राणापान इस इन्द्र को **श्येनः न**=तीव्र गतिवाले श्येनपक्षी की भाँति **रजसा**=कर्म में (रजः कर्मणि) अलंकृत करते हैं। यह कभी अकर्मण्य नहीं होता। वासनारूप पक्षियों का शिकार करता ही रहता है। इस शिकार के लिए निरन्तर क्रियाशीलता आवश्यक है। ५. निरन्तर क्रियाशीलता के होने पर **हृदा**=हृदय से **श्रिया न**=(न=च) शोभा के साथ **मासरम्**=प्रत्येक मास में रमण की (मासेषु रमते) वृत्ति को धारण करता है। इसका हृदय श्रीसम्पन्न व आनन्दयुक्त होता है। इसी से इसे सब मासों व ऋतुओं में आनन्द अनुभव होता है। ६. यह हृदय से श्री को धारण करनेवाला चाहता है कि **पयः**=दूध, **सोमः**=सोमरस, **परिस्रुता**=फलों के रस के साथ **घृतं मधु**=घी और शहद **व्यन्तु**=मुझे प्राप्त हों।' ७. प्रभु इसे उपदेश देते हैं कि हे **होतः**=त्यागपूर्वक उपभोक्तः! तू **आज्यस्य**=घृत का **यज**=यजन कर। खा, परन्तु अग्निहोत्र अधिक कर।

भावार्थ—उषःकाल होता को सूर्य के समान दीप्त व चन्द्र के समान प्रसन्न बनाते हैं। प्राणापान इसे सदा सरस्वती से अलंकृत करते हैं। ज्ञानदीप्ति इनके लिए भेषज बन जाती है। यह श्येनपक्षी की भाँति क्रियाशील होता है। हृदय में श्री को धारण करता हुआ प्रत्येक ऋतु व मास में आनन्द का अनुभव करता है। यह दूध आदि उत्तम पदार्थों का ही सेवन करता है। इन पदार्थों का सेवन करता हुआ अग्निहोत्र अधिक करता है, इसीलिए इसका 'होता' नाम सार्थक होता है।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**निचृदष्टिः**। स्वरः—**मध्यमः**॥

दैव्य होतृ-यजन

होता यक्षद्दैव्या होतारा भिषजाश्विनेन्द्रं न जागृवि दिवा नक्तं न भेषजैः शूषꣳसरस्वती भिषक्सीसेन दुहऽइन्द्रियं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥३६॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **दैव्या होतारा**=(अयं चाग्निरसौ च मध्यमः—नि० ७।३०) अग्नि और वायुतत्त्व को **यक्षत्**=अपने साथ सङ्गत करता है। अग्नितत्त्व इसके मलों को भस्म करनेवाला तथा प्रकाश प्राप्त करानेवाला है, और वायुतत्त्व इसके बल का कारण बनता है। २. वह होता **अश्विना**=प्राणापान को भी अपने साथ सङ्गत करता है जो प्राणापान **भिषजा**=इसके वैद्य होते हैं। ३. **न**=और यह होता **जागृवि इन्द्रम्**=जागरणशील, सदा अप्रमत्त आत्मा को अपने साथ सङ्गत करता है। ४. **न**=और वह होता **दिवा नक्तम्**=दिन-रात **भेषजैः**=रोगनिवर्तनों के द्वारा **शूषम्**=शत्रुओं के शोषक बल को अपने साथ सङ्गत करता है। रोग ही बल का क्षय करते हैं। ५. **सरस्वती भिषक्**=यह ज्ञानाधिदेवतारूप वैद्य **सीसेन**=नागभस्म द्वारा **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों की शक्तियों को **दुहे**=पूरित करती है। ६. **पयः सोमः**=दूध

व सोमलता का रस तथा **परिस्रुता**=फलों के रस के साथ **घृतं मधु**=घृत और शहद को **व्यन्तु**=प्राप्त हों, परन्तु हे **होतः**=यज्ञशील पुरुष! तू **आज्यस्य यज**=घृत का हवन करनेवाला बन।

भावार्थ—होता अपने साथ अग्नि तथा वायुतत्त्व को, वैद्यभूत प्राणापान को, सदा अप्रमत्त आत्मतत्त्व को, दिन-रात रोगनिवारणों के साथ बल को सङ्गत करता है और ज्ञानाधिदेवता नागभस्मादि धातु निर्मित ओषधियों से शक्ति को पूरित करती है। दूध आदि पदार्थों को यह प्राप्त करता है, परन्तु अग्निहोत्र अधिक करता है।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**धृतिः**। स्वरः—**ऋषभः**॥

तिस्त्रो देवीर्यजन

होता यक्षत्तिस्त्रो देवीर्न भेषजं त्रयस्त्रिधातवोऽपसो रूपमिन्द्रे हिरण्ययमश्विनेडा न भारती वाचा सरस्वती महऽइन्द्राय दुहऽइन्द्रियं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥३७॥

१. **होता**=यह दानपूर्वक अदन करनेवाला **तिस्त्रः देवीः**='इडा, सरस्वती, भारती'=श्रद्धा, ज्ञान व वाणी—इन तीन देवियों को **यक्षत्**=अपने साथ सङ्गत करता है। **न भेषजम्**=और अपने साथ औषध को सङ्गत करता है। **इडा**=श्रद्धा मन के दोषों को दूर करके मानस आरोग्य प्राप्त कराती है, सरस्वती मस्तिष्क को ज्ञान से परिपूर्ण करके मस्तिष्क को उज्ज्वल करती है तथा भारती सब इन्द्रियों के भरण का कारण बनती है। ३. **त्रयः**=तीन **त्रिधातवः**=प्राणमयकोश, मनोमयकोश तथा विज्ञानमयकोश का धारण करनेवाले **अपसः**=कर्मशील **अश्विना**=प्राणापान **इडा**=श्रद्धा **न**=और **भारती वाचा**=(ज्ञान की वाणी) **इन्द्रे**=जितेन्द्रिय पुरुष में **हिरण्ययम्**=ज्योतिर्मय स्वर्ण के समान देदीप्यमान **रूपम्**=रूप को धारण करते हैं। प्राणापान 'प्राणमयकोश' को दीप्त करते हैं तो श्रद्धा 'मनोमयकोश' को पूर्ण स्वस्थ करके दीप्त करती है और ज्ञान की वाणी मस्तिष्क की नीरोगता का कारण बनती है। ३. **वाचा**=ज्ञान की वाणियों के साथ **सरस्वती**=यह ज्ञानाधिदेवता **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **महः**=तेजस्विता को तथा **इन्द्रियम्**=इन्द्रियशक्तियों को **दुहे**=पूरित करती है। ज्ञान वासनाओं को विनष्ट करता है, वासना-विनाश से जीवन भोगप्रवण नहीं होता। भोग ही वस्तुतः शक्ति को व इन्द्रियों के तेज को क्षीण करते हैं। ४. यह भोगों से ऊपर उठनेवाला व्यक्ति प्रार्थना करता है कि मुझे **पयः सोमः**=दूध, सोमरस **परिस्रुता घृतं मधु**=फलों के रस के साथ घी और शहद आदि उत्तम पदार्थ ही **व्यन्तु**=प्राप्त होते हैं। ५. इस प्रार्थी को प्रभु प्रेरणा प्राप्त कराते हैं कि **होतः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले! **आज्यस्य यज**=तू घृत का यजन करनेवाला बन। यह अग्नि में डाला हुआ घृत तेरा अधिक कल्याण करेगा।

भावार्थ—हम त्यागपूर्वक उपभोग करनेवाले बनकर 'इडा, सरस्वती, भारती' रूप तीनों देवियों के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करें। ये तीनों 'मन, मस्तिष्क व शरीर' में हमारा धारण करनेवाली हैं। हमें दूध आदि उत्तमोत्तम पदार्थ प्राप्त हों। हम यज्ञों में उनका विनियोग करते हुए यज्ञशेष का सेवन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**भुरिक्कृतिः**। स्वरः—**निषादः**॥

सुरेतसः यजन

होता यक्षत्सुरेतसमृषभं नर्यापसं त्वष्टारमिन्द्रमश्विना भिषजं न सरस्वतीमोजो न जूतिरिन्द्रियं वृको न रभसो भिषग्यशः सुरया भेषजꣳश्रिया न मासरं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥३८॥

१. **होता**=त्यागपूर्वक अदन करनेवाला **यक्षत्**=सङ्गत करता है। किसको? **सुरेतसम्**=उत्तम रेतस्वाले को, उत्तम वीर्यशक्तिवाले को और अतएव **ऋषभम्**=(ऋष गतौ) गतिशील को, **नर्यापसम्**=सदा नरहितकारी कर्म करनेवाले को, और **त्वष्टारम्**=देवशिल्पी को, अर्थात् अपने जीवन में दिव्य गुणों के निर्माण करनेवाले को, अर्थात् जो होता बनता है वह अपने जीवन में उत्तम वीर्य की रक्षा करनेवाला, गतिशील, नरहितकारी कार्यों में तत्पर तथा दिव्य गुणों का निर्माता बनता है। २. यह होता **इन्द्रम्**=इन्द्र को **यक्षत्**=अपने साथ सङ्गत करता है, **अश्विनौ**=प्राणापान को **यक्षत्**=अपने साथ सङ्गत करता है, अर्थात् जितेन्द्रिय बनता है और इस जितेन्द्रियता के द्वारा बढ़ी हुई प्राणापान शक्तिवाला होता है। ३. यह होता **भिषजं न सरस्वतीम्**=उस ज्ञानाधिदेवता को भी अपने साथ सङ्गत करता है जो ज्ञानाधिदेवता उसके लिए वैद्य सिद्ध होती है। उसके सब रोगों का इलाज हो जाती है। वस्तुतः अविद्या सब क्लेशों का उत्पत्ति-क्षेत्र है तो विद्या सब क्लेशों को दूर करनेवाली है। ४. यह होता **ओजः**=ओजस्विता को **न**=(न=च) तथा **जूतिः**=क्रियाशीलता को **इन्द्रियम्**=प्रत्येक इन्द्रिय की शक्ति को अपने साथ सङ्गत करता है। ५. यह होता **वृकः**=(वृक आदाने) उत्तम गुणों का आदान करनेवाला **न**=और **रभसः**=शक्तिशाली (Robust) तथा **भिषक्**=सब रोगों का प्रतीकार करनेवाला बनकर **यशः**=यश को, **सुरया**=आत्मशासन के द्वारा **भेषजम्**=सब रोगों के प्रतीकार को, **न**=और **श्रिया**=श्री के साथ, शोभा के साथ **मासरम्**=सब मासों में रमण-आनन्द की भावना को अपने साथ सङ्गत करता है और ६. यही चाहता है कि **पयः सोमः**=दूध और सोमरस तथा **परिस्रुता**=फलों के रस के साथ **घृतं मधु**=घृत और मधु **व्यन्तु**=उसे प्राप्त हों। ७. इस प्रार्थना करनेवाले को प्रभु कहते हैं कि हे **होतः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले! तू **आज्यस्य**=इस घृत का **यज**=यज्ञ करनेवाला बन।

भावार्थ—होता पुरुष उत्तम वीर्यवाला, गतिशील, नरहितकारी कर्मों में लगा हुआ होता है। यह दूध आदि सात्त्विक पदार्थों का सेवन करता है, परन्तु इस बात का ध्यान रखता है कि इन घृत आदि भोज्य पदार्थों से वह अग्निहोत्र अवश्य करता रहे।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**निचृदत्यष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**॥

वनस्पति-यजन

होता यक्षद्वनस्पतिꣳशमितारꣳशतक्रतुं भीमं न मन्युꣳराजानं व्याघ्रं नमसाश्विना भामꣳसरस्वती भिषगिन्द्राय दुहऽइन्द्रियं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज॥३९॥

१. **होता**=त्यागपूर्वक अदन करनेवाला **वनस्पतिम्**=ज्ञान की किरणों के पति को **यक्षत्**=अपने साथ सङ्गत करता है, अर्थात् ज्ञान की किरणों का पति बनता है। **शमितारम्**=शान्त वृत्तिवाले को अपने साथ सङ्गत करता है। **शतक्रतुम्**=अनन्त प्रज्ञावाले को अथवा सौ-के-सौ वर्ष यज्ञमय जीवनवाले को **न**=तथा **भीमम्**=शत्रुओं के लिए भयंकर को, **मन्युम्**=विचारशील को, **राजानम्**=बड़े व्यवस्थित जीवनवाले को, **व्याघ्रम्**=(वि आ जिघ्रति) विविध विज्ञानों की समन्ततः गन्ध ग्रहण करनेवाले को, अर्थात् यह होता अपने जीवन को उल्लिखित गुणों से युक्त बनाता है। २. **नमसा**=नम्रता के द्वारा तथा परमेश्वर के प्रति नमन के द्वारा **अश्विना**=यह अपने साथ प्राणापान को **भामम्**=तेजस्विता को सङ्गत करता है।) वस्तुतः विनीतता से

प्राणशक्ति व तेज की वृद्धि होती है। अभिमान व अक्खड़पन से प्राणशक्ति व तेजस्विता की हानि ही होती है। ३. **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **भिषक्**=इस होता के लिए वैद्य होती है और **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **इन्द्रियम् दुहे**=इन्द्रियों की शक्ति का पूरण करती है। ४. यह जितेन्द्रिय पुरुष चाहता है कि उसे **पयः सोमः**=दूध, सोमरस **परिस्रुता**=फलों के रस के साथ **घृतं मधु**=घृत और मधु **व्यन्तु**=प्राप्त हों। ५. इस जितेन्द्रिय पुरुष से प्रभु कहते हैं कि हे **होतः**=यज्ञशील पुरुष! तू **आज्यस्य यज**=घृत का यजन कर। घृत को खा भी, परन्तु अग्निहोत्र करना न भूल। यही बात तुझे 'होता' बनाएगी।

भावार्थ—होता पुरुष ज्ञान की किरणों का पति, शान्त, अनन्त प्रज्ञानवाला व यज्ञशील, शत्रुओं के लिए भयंकर, विचारशील, व्यवस्थित जीवनवाला व व्यापक ज्ञानवाला बनता है। यह नम्रता के द्वारा प्राणापान व तेजस्विता को धारण करता है। ज्ञानाधिदेवता इसे इन्द्रियों की शक्ति से पूर्ण करती है। इसे दूध आदि उत्तम पदार्थ प्राप्त होते हैं। यह उनका यज्ञशेष के रूप में सेवन करता है।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**विराडत्यष्टिः**[क], **अत्यष्टिः**[र]। स्वरः—**गान्धारः**॥

अग्नि-यजन

[क]होता यक्षदग्निꣳस्वाहाज्यस्य स्तोकानाꣳस्वाहा मेदसां पृथक् स्वाहा छागमश्विभ्याꣳस्वाहा मेषꣳसरस्वत्यै स्वाहऽऋषभमिन्द्राय सिꣳहाय सहसऽइन्द्रियꣳस्वाहाग्निं न भेषजꣳस्वाहा सोममिन्द्रियꣳ [र]स्वाहेन्द्रꣳसुत्रामाणꣳसवितारं वरुणं भिषजां पतिꣳस्वाहा वनस्पतिं प्रियं पाथो न भेषजꣳस्वाहा देवाऽआज्यपा जुषाणोऽअग्निर्भेषजं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥४०॥

१. **होता**=यज्ञ करके यज्ञशेष खानेवाला व्यक्ति **अग्निं यक्षत्**=अग्नि का यजन करता है, अर्थात् अग्निहोत्र करता है। इस अग्निहोत्र के लिए वह **स्वाहा**=(स्व+हा) अपने धन व स्वार्थ का त्याग करता है, सारा स्वयं ही नहीं खा लेता। २. यह अग्निहोत्र के समय अग्नि में **आज्यस्य स्तोकानां स्वाहा**=घृत के कणों की आहुति देता है और **मेदसां पृथक् स्वाहा**=विविध ओषधियों के **मेदस्**=गूदे की अलग-अलग आहुति देता है। उदाहरणार्थ **अश्विभ्याम्**=प्राणापान की वृद्धि के उद्देश्यसे होनेवाले यज्ञ में **छागं स्वाहा**=अजमोद ओषधि के मेदस् की आहुति देता है। **सरस्वत्यै** =ज्ञानाधिदेवता के लिए **मेषं स्वाहा**=मेढ़ासिंगी ओषधि के गूदे की आहुति देता है। **इन्द्राय**=इन्द्र की शक्ति के विकास के लिए **सिंहाय**=सिंह के समान शत्रुओं का अभिभव करनेवाला बनने के लिए तथा **सहसे**=अत्यन्त बलवान्, बलरूप बनने के लिए **भेषजं स्वाहा**=ऋषभक ओषधि के मेदस् की आहुति देता है। (मेदस् वह भाग है जिसमें medicinal=ओषध के गुण प्रचुर मात्रा में निहित होते हैं।) ३. **इन्द्रियं स्वाहा**=इस स्वाहा की क्रिया से, अर्थात् अग्निहोत्र से यह होता **इन्द्रियं यक्षत्**=प्रत्येक इन्द्रिय की शक्ति को अपने साथ सङ्गत करता है। ४. **अग्निं न भेषजं स्वाहा**=(न=च) और इस अग्निहोत्र से उस अग्नि को अपने साथ सङ्गत करता है जो उसके लिए औषध के समान होता है। ५. **सोमम् इन्द्रियं स्वाहा**=इस यज्ञक्रिया से यह उस सोम को, वीर्य को, अपने साथ सङ्गत करता है जो सोम इसकी इन्द्रिय-शक्तियों को बढ़ानेवाला होता है। ६. **स्वाहा**=इस स्वार्थत्यागरूप यज्ञ की क्रिया से यह **इन्द्रम्**=उस

आत्मशक्ति को अपने साथ सङ्गत करता है जो आत्मशक्ति **सुत्रामाणम्**=बड़ी उत्तमता से अपना त्राण करती है और इस मानव-जीवन को रोगों व वासनाओं का शिकार नहीं होने देती। **सवितारम्**=यह अपने साथ सविता=निर्माण की देवता को सङ्गत करता है जो निर्माण की देवता **वरुणम्**=वरुण है, सब प्रकार के द्वेषों का निवारण करनेवाली है और **भिषजां पतिम्**=सबसे मुख्य वैद्य है। मनुष्य निर्माणात्मक कार्यों में लगे हों तो जहाँ वे परस्पर द्वेष नहीं करते वहाँ नाना प्रकार के रोगों के शिकार भी नहीं होते। द्वेष व रोग आलसियों को ही अपना शिकार बनाते हैं। ७. **स्वाहा**=यज्ञक्रिया से यह होता **वनस्पतिम्**=वनस्पति को अपने साथ सङ्गत करता है जो वनस्पति **प्रियं पाथः**=बड़ा तृप्तिकारक व कमनीय अन्न होता है (पाथः=शरीररक्षक अन्न) **न**=और **भेषजम्**=औषध होता है। ८. **देवाः**=देव लोग **आज्यपाः**=घृत का पान करनेवाले होते हैं, वे घृत का सेवन करते हैं। यह घृत का विधिवत् प्रयोग उनके मलों का क्षरण करनेवाला होता है और उनके ज्ञान को दीप्त करता है। ९. **जुषाणः अग्निः**=प्रीतिपूर्वक सेवन किया जाता हुआ अग्निः **भेषजम्**=औषध होता है। अग्निहोत्र सब रोगों को दूर करनेवाला होता है। १०. यह होता प्रार्थना करता है कि **पयः सोमः**=दूध व सोमरस **परिस्रुता**=फलों के रस के साथ **घृतं मधु**=घृत और शहद **व्यन्तु**=हमें प्राप्त हों। ११. प्रभु इस होता से कहते हैं कि **होतः**=हे यज्ञशील पुरुष! तू **आज्यस्य यज**=घृत का यजन करनेवाला बन। खा, परन्तु अग्निहोत्र अधिक कर।

भावार्थ—होता पुरुष प्रतिदिन अग्निहोत्र करता है, अग्नि में घृत के कणों को डालता है और साथ ही प्राणापान के लिए अजमोद आदि ओषधियों के मध्यभाग की भी आहुतियाँ देता है, ज्ञानवृद्धि के लिए मेढ़ासिंगी तथा इन्द्र शक्ति के विकास के लिए ऋषभक ओषधि की आहुतियाँ भी देता है। देव लोग घृतादि सात्त्विक पदार्थों का ही सेवन करते हैं, परन्तु उनकी आहुतियाँ अधिक देते हैं।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**अतिधृतिः**। स्वरः—**षड्जः**॥

छाग-मेष-ऋषभ

होता॑ यक्षद॒श्विनौ॒ छाग॑स्य व॒पाया॒ मेद॑सो जु॒षेतां॑ह॒विर्होत॒र्यज॑। होता॑ यक्ष॒त्सर॑स्वतीं मे॒षस्य॑ व॒पाया॒ मेद॑सो जु॒षतां॑ह॒विर्होत॒र्यज॑। होता॑ यक्ष॒दिन्द्र॑मृष॒भस्य॑ व॒पाया॒ मेद॑सो जु॒षतां॑ह॒विर्होत॒र्यज॑॥४१॥

१. **होता**=त्यागपूर्वक अदन करनेवाला **अश्विनौ**=प्राणापान को **यक्षत्**=अपने साथ सङ्गत करता है और इसी उद्देश्य से प्रभु उससे कहते हैं कि हे **होतः**=यज्ञशील पुरुष! तेरे ये प्राणापान **छागस्य**=अजमोद ओषधि के **वपाया मेदसः**=(वप=मुण्डन-छेदन) रोग का छेदन करनेवाले गूदे के भाग का **जुषेताम्**=सेवन करें, तथा तू **हविः यज**=इस अजमोद ओषधि को हविरूप में अग्नि के साथ सङ्गत कर, अर्थात् इस ओषधि की अग्नि में आहुतियाँ दे। २. **होता**=यह दानपूर्वक अदन करनेवाला **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता को **यक्षत्**=अपने साथ सङ्गत करता है और इसी उद्देश्य से प्रभु उससे कहते हैं कि **होतः**=हे यज्ञशील पुरुष! तू **मेषस्य**=मेढासिंगी ओषधि के **वपाया मेदसः**=रोगछेदक गूदे के भाग को **जुषताम्**=सेवन कर तथा **हविः यज**=हविरूप में अग्नि के साथ इसे सङ्गत कर। इस ओषधि की अग्नि में आहुतियाँ दे। ३. **होता**=यह त्यागपूर्वक भोजन करनेवाला पुरुष **इन्द्रम्**=आत्मशक्ति को

यक्षत्=अपने साथ सङ्गत करे। इसी उद्देश्य से वह **ऋषभस्य**=ऋषभक ओषधि के **वपाया मेदसः**=रोगछेदन करनेवाले औषध-गुणयुक्त मध्यभाग का **जुषताम्**=सेवन करे। प्रभु कहते हैं कि **होतः**=हे यज्ञशील पुरुष! तू **हविःयज**=हविरूप में इनका यजन करनेवाला बन।

भावार्थ—इस यज्ञमय जीवन में हम अजमोद ओषधि के प्रयोग व यज्ञ से प्राणापान शक्ति का वर्धन करें। मेढ़ासिंगी ओषधि के प्रयोग से हम मस्तिष्क की शक्ति का विकास करें तथा ऋषभक ओषधि का प्रयोग हमारी आत्मशक्ति का विकास करे।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**होत्रादयः**। छन्दः—**आर्च्युष्णिक्**[क], **विराडाकृतिः**[र]।
स्वरः—**ऋषभः**[क], **पञ्चमः**[र]॥

शष्प—तोक्म—लाजा

[क]**होता यक्षदश्विनौ सरस्वतीमिन्द्रꣳसुत्रामाणमिमे सोमाः [र]सुरामाणश्छागैर्न मेषैर्ऋषभैः सुताः शष्पैर्न तोक्मभिर्लाजैर्महस्वन्तो मदा मासरेण परिष्कृताः शुक्राः पयस्वन्तोऽमृताः प्रस्थिता वो मधुश्चुतस्तानश्विना सरस्वतीन्द्रः सुत्रामा वृत्रहा जुषन्ताꣳसोम्यं मधु पिबन्तु मदन्तु व्यन्तु होतर्यज ॥४२॥**

१. **होता**=यज्ञशील पुरुष **अश्विनौ**=प्राणापान को **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता को **सुत्रामाणम्**=अपना उत्तम रक्षण करनेवाली **इन्द्रम्**=आत्मशक्ति को **यक्षत्**=अपने साथ सङ्गत करता है। २. इस उद्देश्य से ही **इमे**=ये **सोमाः**=सोमलता के रस **छागैः**=अजमोद ओषधि के रस के साथ **सुताः**=अभिषुत हुए-हुए प्राणशक्ति का वर्धन करते हैं, **मेषैः**=मेढ़ासिंगी ओषधि के रस के साथ अभिषुत हुए-हुए इन्द्रशक्ति का विकास करते हैं और इस प्रकार ये **सुरामाणाः**=सुरमणीय हैं, जीवन में रमणीयता लानेवाले हैं। ३. ये रस क्रमशः **शष्पैः**=बालतृणों के साथ, छोटे-छोटे पालक आदि ओषधियों के पत्तों के साथ **न**=और **तोक्मभिः**=यवाङ्कुर के साथ, जौ के नवाङ्कुरों के साथ तथा **लाजैः**=अक्षतों के साथ (चावल के बने हुए) सेवन किये हुए **महस्वन्तः**=तेजस्वितावाले होते हैं, अर्थात् उन रसों के सेवन के साथ पथ्यरूप में 'शष्प-तोक्म व लाजा' का प्रयोग बड़ा गुणकारी हो जाता है। इन पथ्यों के साथ ये रस **मदाः**=(मदी हर्षे) हर्ष के जनक हो जाते हैं। ४. **मासरेण**=(मासेषु रमन्ते) और सदा सब मासों में प्रसन्न करने की मनोवृत्ति से **परिष्कृताः**=अलंकृत हुए-हुए ये रस **शुक्राः**=वीर्य को उत्पन्न करनेवाले, **पयस्वन्तः**=सब अङ्गों का आप्यायन करनेवाले तथा **अमृताः**=नीरोगता को देनेवाले होते हैं। ५. ये रस **प्रस्थिताः**=(होमाभिमुखं चलिताः—म०) अग्निकुण्ड में डालने पर, सारे वायुमण्डल में फैलते हुए जब सूर्य तक जाने लगते हैं तब **वः**=तुम सब होताओं के लिए ये **मधुश्चुतः**=मधु का स्रवण करनेवाले होते हैं। जीवन में अत्यन्त माधुर्य पैदा करते हैं। ६. **तान्**=उन रसों को **अश्विना**=प्राणापान **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **इन्द्रः**=वह आत्मशक्ति जो **सुत्रामा**=शरीर को रोगों से सम्यक् बचाती है तथा **वृत्रहा**=हृदय की वासनाओं का विनाश करती है, ये सब **जुषन्ताम्**=सेवन करें। ७. इन **सोम्यं मधु**=सोमकणों से उत्पन्न सारभूत (मधु) सोमशक्ति का, वीर्य का **पिबन्तु**=पान करें, अपने अन्दर ही व्याप्त करने का प्रयत्न करें, **मदन्तु**=आनन्द का अनुभव करें, **व्यन्तु**=(राजन्ताम्—म०) अपने जीवन को कान्त व दीप्त बनाएँ। ८. प्रभु कहते हैं कि **होतः**=हे यज्ञशील पुरुष! तू उल्लिखित रसों का प्रयोग अवश्य कर, परन्तु **यज**=यज्ञ करनेवाला बन। इन ओषधियों को हविरूप में अग्निकुण्ड में भी डाल।

भावार्थ—'छाग, मेष व ऋषभक' ओषधियों के पथ्य 'शष्प, तोक्म व लाजा' हैं। इनका यज्ञ करने पर ये अत्यन्त गुणकारी हो जाती हैं।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**होत्रादयः**। छन्दः—**याजुषीपङ्क्तिः**[क], **उत्कृतिः**[र]।
स्वरः—**पञ्चमः**[क], **षड्जः**[र]॥

'अजमोद' का प्रयोग व यजन

[क]होता यक्षद्श्विनौ छागस्य [र]हविषऽआत्तामद्य मध्यतो मेदऽउद्भृतं पुरा द्वेषोभ्यः पुरा पौरुषेय्या गृभो घस्तां नूनं घासेऽअज्राणां यवसप्रथमानाᳬं सुमत्क्षराणाᳬं शतरुद्रियाणामग्निष्वात्तानां पीवोपवसनानां पार्श्वतः श्रोणितः शितामतऽउत्सादतोऽङ्गादङ्गादवत्तानां करतऽएवाश्विना जुषेताᳬं हविर्होतर्यज॥४३॥

१. **होता**=यह यज्ञशील पुरुष **अश्विनौ**=प्राणापान को **यक्षत्**=अपने साथ सङ्गत करे। इस उद्देश्य से ये प्राणापान **छागस्य**=अजमोद ओषधि के **हविषः**=हवि का **आत्ताम्**=सेवन करें, अर्थात् इस ओषधि को मुख से भी ग्रहण करें और इसे अग्निकुण्ड में आहुत करके हविरूप में हुई-हुई इस औषध को श्वासवायु के साथ ग्रहण करें। २. **अद्य**=आज इस ओषधि के **मध्यतः**=मध्य से **मेदः**=इसका औषध-गुणसम्पन्न चिकना भाग, अर्थात् गूदा **उद्भृतम्**=बाहर निकाला है। **पुरा**=पूर्व इसके कि **द्वेषोभ्यः**=(द्विष अप्रीतौ) यह वायुमण्डल के प्रभाव से अप्रीतिजनक हो जाए, अर्थात् इसके रस का स्वाद कुछ विकृत हो जाए तथा **पुरा**=पूर्व इसके कि **पौरुषेय्या गृभः**=इसे कोई पुरुषों में होनेवाला रोग पकड़ ले, अर्थात् मक्खियों आदि के कारण इसमें किन्हीं रोगकृमियों का प्रवेश होने से पूर्व ही **घस्ताम्**=प्राणापान इसका भक्षण करें। सामान्यतः सेब को काटें तो कुछ देर रखने पर उसका वह चमकता हुआ सफ़ेद रंग जाता रहता है, कुछ देर पड़े रहने पर उसके स्वाद में भी विकार आ जाता है, अतः सामान्य नियम यही ठीक है कि काटा और खाया। यहाँ भी 'ओषधि का गूदा निकाला और उसका प्रयोग किया' यही नियम रखना चाहिए। ३. **नूनम्**=निश्चय से **घासे**=खाने पर **अज्राणाम्**=(अज गतिक्षेपणयोः) रोगों को दूर फेंकनेवाली अथवा (भोजने अग्रे प्राप्तव्यानाम्—द०) भोजन में सबसे प्रथम प्रयोग करने योग्य (अज्राणां=अजराणां नवानां रुचिजनकानाम्—म०) भोजन में अधिकाधिक रुचि पैदा करनेवाली **यवसप्रथमानाम्**=अन्नों में मुख्य **सुमत् क्षराणाम्**=(सुष्ठु मदां क्षरः सञ्चलनं येषां—द०) उत्तम आनन्दों के देनेवाली **शतरुद्रियाणाम्**=सैकड़ों रोगों को रुलानेवाली, अर्थात् रोगों का विद्रावण करनेवाली अथवा (बहुमन्त्रैः सुतानाम्—म०) मन्त्रों से स्तवन की गई **अग्निष्वात्तानाम्**=(पाककाले पूर्वमग्निना सुशृतानाम्—म०) जिनका अग्नि पर ठीक परिपाक हुआ है, **पीवोपवसनानाम्**=(पवीः उपवसनं यैः) शरीर में स्थूल उपवसन का निर्माण करनेवाली, अर्थात् त्वचा के साथ-साथ सारे शरीर पर चर्बी के वस्त्र को प्राप्त करानेवाली, तथा **पार्श्वतः**=पार्श्वों के दृष्टिकोण से (कोख-प्रदेशों के स्वास्थ्य के विचार से) **श्रोणितः**=कटिप्रदेश के स्वास्थ्य के विचार से, **शितामतः**=बाहुप्रदेश के स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से अथवा आमाशय के स्वास्थ्य के विचार से, **उत्सादतः**=छेदनवाले प्रदेश के ठीक करने के उद्देश्य से, जहाँ कोई कटाव हो गया है, उसको ठीक करने के लिए, **अंगात् अंगात्**=एक-एक अङ्ग के दृष्टिकोण से **अवत्तानाम्**=काटे हुए अजमोद ओषधि के अंशों का **करतः**=ये प्राणापान

सेवन करते हैं। ४. **एव**=इस प्रकार **अश्विना**=ये प्राणापान **हविः**=उस अजमोद ओषधि का, जिसे कि अग्नि में डाला गया है और अतएव जो हविरूप हो गई है, उसका **जुषताम्**=सेवन करें। ५. **होतः**=हे यज्ञशील पुरुष! तू **यज**=इस ओषधि का यजन करनेवाला बन।

भावार्थ—हम प्राणापान के उत्कर्ष के लिए अजमोद ओषधि के मध्य से उद्धृत गूदे का ग्रहण करें। गूदे के पड़े रहने से उसके रस को विकृत न होने दें, उसपर रोगकृमियों का आक्रमण भी न होने दें। इसके प्रयोग से हमारे सब अङ्ग स्वस्थ होंगे। हम इससे हवन करें और इसे हविरूप में लेने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**याजुषीत्रिष्टुप्**[क], **स्वराडुत्कृतिः**[र]।
स्वरः—**धैवतः**[क], **षड्जः**[र]॥

मेढ़ासिंगी का प्रयोग व यजन

[क]होता यक्षत् सरस्वतीं मेषस्य [र]हविषऽआवयदद्य मध्यतो मेदऽ उद्भृतं पुरा द्वेषोभ्यः पुरा पौरुषेय्या गृभो घसन्नूनं घासेऽअज्राणां यवसप्रथमानाᳬं सुमत्क्षराणाᳬं शतरुद्रियाणामग्निष्वात्तानां पीवोपवसनानां पार्श्वतः श्रोणितः शितामतऽउत्सादतोऽङ्गादङ्गादवत्तानां करदेवᳬं सरस्वती जुषताᳬं हविर्होतर्यज॥४४॥

१. **होता**=यज्ञशील पुरुष **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता को **यक्षत्**=अपने साथ सङ्गत करे। इसी उद्देश्य से **मेषस्य**=मेढ़ासिंगी ओषधि का तथा **हविषः**=अग्निहोत्र में इसका हवन होने पर सूक्ष्मरूप में हुई-हुई इस ओषधि का यह सरस्वती **आवयत्**=भक्षण करे, सेवन करे। २. **अद्य** =आज **मध्यतः**=इसके मध्य से **मेदः**=इसका औषध गुणयुक्त चिकना मध्य का भाग, अर्थात् गूदा **उद्भृतम्**=निकाला गया है। **पुरा**=पूर्व इसके कि **द्वेषोभ्यः**=यह विकृत होकर अप्रीतिजनक हो जाए, और **पुरा**=पूर्व इसके कि **पौरुषेय्या गृभः**=इसे कोई ऐसे कृमि पकड़ लें जो रोगों के कारण बन जाएँ, **घसत्**=सरस्वती इसका भक्षण करे। ३. **नूनम्**=निश्चय से **घासे अज्राणाम्**=भोजन में सबसे प्रथम प्रयोग करने योग्य, अथवा भोजन में रुचि को अधिकाधिक पैदा करनेवाली तथा खाने पर रोगों को दूर करनेवाली, **यवस-प्रथमानाम्**=अन्नों में मुख्य, **सुमत् क्षराणाम्**=उत्तम आनन्दों को देनेवाली, **शतरुद्रियाणाम्**=शतशः रोगों को दूर करनेवाली, **अग्निष्वात्तानाम्**=अग्नि पर ठीक पकाई गई, **पीवोपवसनानाम्**=त्वचा के साथ-साथ स्थूल चर्बी के वस्त्र को प्राप्त करानेवाली, **पार्श्वतः**=पासों के दृष्टिकोण से, **श्रोणितः**=कटिप्रदेश के दृष्टिकोण से, **शितामतः**=बाहु के दृष्टिकोण से या आमाशय के दृष्टिकोण से, **उत्सादतः**=कटाव के दृष्टिकोण से, कटे हुए अङ्ग के भराव के विचार से, **अङ्गात् अङ्गात्**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग के दृष्टिकोण से **अवत्तानाम्**=काटी हुई इस मेढ़ासिंगी के मेदस् का सरस्वती **करत्**=सेवन करती है। ४. **एवम्**=इस प्रकार **सरस्वती**=यह ज्ञानाधिदेवता **हविः**=अग्निहोत्र में डाली गई और अतएव हविरूप बची हुई इस ओषधि को **जुषताम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करे। ५. **होतः**=हे यज्ञशील पुरुष! तू भी **यज**=इसका यजन कर।

भावार्थ—मस्तिष्क के उत्कर्ष के दृष्टिकोण से मेढ़ासिंगी ओषधि के मध्य से उद्धृत गूदे का ग्रहण करें। वह गूदा विकृत रसवाला न हो जाए और न ही मक्खियाँ उसपर बैठकर उसे रोगकृमियों से परिपूर्ण कर दें। इसके प्रयोग व हवन से हमारे सब अङ्ग सुन्दर व स्वस्थ होंगे।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**यजमानर्त्विजः**। छन्दः—**भुरिक्प्राजापत्योष्णिक्**[क], **भुरिगभिकृतिः**[र]। स्वरः—**ऋषभः**॥

'ऋषभक' का प्रयोग व यजन

[क]**होता यक्षदिन्द्रमृषभस्य हविष**ऽ [र]**आवयदद्य मध्यतो मेदऽउद्भृतं पुरा द्वेषोभ्यः पुरा पौरुषेय्या गृभो घसन्नूनं घासेऽअज्राणां यवसप्रथमानाᳬसुमत्क्षराणाᳬशतरुद्रियाणामग्निष्वात्तानां पीवोपवसनानां पार्श्वतः श्रोणितः शितामतऽउत्सादतोऽङ्गादङ्गादवत्तानां करदेवमिन्द्रो जुषताᳬहविर्होतर्यज॥४५॥**

१. **होता**=यज्ञशील पुरुष **इन्द्रम्**=आत्मशक्ति को **यक्षत्**=अपने साथ सङ्गत करता है और इसी उद्देश्य से वह इन्द्र **ऋषभस्य**=ऋषभ का भक्षण करता है। २. **अद्य**=आज इस ऋषभक के **मध्यतः**=मध्य से **मेदः**=औषध-गुणयुक्त चिकना गूदा **उद्भृतम्**=निकाला गया है। **पुरा**=पूर्व इसके कि **द्वेषोभ्यः**=यह विकृतरस होकर अप्रीतिजनक हो जाए और **पुरा**=पूर्व इसके कि **पौरुषेय्या गृभः**=मनुष्य को ग्रहण कर (पकड़) लेनेवाली कोई बीमारी के कृमि इसमें आ जाएँ, **घसत्**=इन्द्र इसका भक्षण करे। ३. **नूनम्**=निश्चय से **घासे अज्राणाम्**=भोजन में सबसे प्रथम प्रयोग करने योग्य, **यवसप्रथमानाम्**=अन्नों में मुख्य **सुमत्क्षराणाम्**=उत्तम आनन्दों को देनेवाली **शतरुद्रियाणाम्**=सैकड़ों रोगों को दूर करनेवाली, **अग्निष्वात्तानाम्**=आग पर पकाई गई, **पीवोपवसनानाम्**=त्वचा के साथ-साथ स्थूल चर्बी के वस्त्र को प्राप्त करानेवाली, **पार्श्वतः**=पार्श्वों के दृष्टिकोण से **श्रोणितः**=कटिप्रदेश के दृष्टिकोण से **शितामतः**=बाहुओं के दृष्टिकोण से अथवा आमाशय के दृष्टिकोण से, **उत्सादतः**=कटे हुए अङ्ग के दृष्टिकोण से **अङ्गात् अङ्गात्**=एक-एक अङ्ग के दृष्टिकोण से **अवत्तानाम्**=काटी हुई इस ऋषभक ओषधि के गूदे का **करत्**=यह इन्द्र सेवन करे। ४. **एवम्**=इस प्रकार **इन्द्रः**=आत्मशक्ति का विकास करनेवाला जितेन्द्रिय पुरुष **हविः**=अग्निहोत्र में हवन की गई इस ओषधि का **जुषताम्**=सेवन करे। ५. **होतः**=हे यज्ञशील पुरुष! **यज**=तू इस ऋषभक ओषधि का यज्ञ करनेवाला बन।

भावार्थ—आत्मशक्ति के विकास के लिए हम ऋषभक ओषधि का यज्ञ करें। हविरूप में उसका ग्रहण करें। उसका मुख से भी प्रयोग करें। यह ध्यान रक्खें कि वह पड़ी-पड़ी विकृत-रसवाली व रोगकृमियों से आक्रान्त न हो जाए। इसके प्रयोग से हमारा शरीर सर्वांग सुन्दर बनेगा।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**उत्कृतिः**[क], **स्वराट्संकृतिः**[र]। स्वरः—**षड्जः**[क], **गान्धारः**[र]॥

वनस्पति+रशना (वानस्पतिक भोजन व दृढ़निश्चय)

[क]**होता यक्षद्वनस्पतिमभि हि पिष्टतमया रभिष्ठया रशनयाधित। यत्राश्विनोश्छागस्य हविषः प्रिया धामानि यत्र सरस्वत्या मेषस्य हविषः प्रिया धामानि यत्रेन्द्रस्यऽऋषभस्य हविषः प्रिया धामानि यत्राग्नेः प्रिया धामानि यत्र सोमस्य प्रिया धामानि यत्रेन्द्रस्य सुत्राम्णः प्रिया धामानि** [र]**यत्र सवितुः प्रिया धामानि यत्र वरुणस्य प्रिया धामानि यत्र वनस्पतेः प्रिया पाथाᳬसि यत्र देवानामाज्यपानां प्रिया धामानि यत्राग्नेर्होतुः प्रिया धामानि तत्रैतान् प्रस्तुत्येवोपस्तुत्येवोपावस्रक्षद्रभीयसऽइव कृत्वी करदेवं देवो**

वनस्पतिर्जुषताᳪं᳖हविर्होतर्यज ॥४६॥

१. **होता**=त्यागशील पुरुष **वनस्पतिम्**=वनस्पति को **यक्षत्**=अपने साथ सङ्गत करता है। यह सदा वानस्पतिक भोजन ही करता है। २. इस वानस्पतिक भोजन के साथ यह **हि**=निश्चय से **रशनया**=रशना से, मेखला से, दृढ़निश्चय की प्रतीकभूत इस तगड़ी (Gridle) से अपने को **अभ्यधित**=धारण करता है, अर्थात् दृढ़ निश्चय करता है। यह मेखला कैसी है? (क) **पिष्टतमया**=(अत्यन्त पिष्ट, सुरूपा पिष्टम्—म०) यह जीवन को अत्यन्त सुरूप बनानेवाली है तथा **रभिष्ठया**=काम-क्रोधादि पशुओं का अत्यन्त नियमन करनेवाली है (रभते पशून् नियमयति—म०) और (समर्थया) अत्यन्त शक्तिशाली बनानेवाली है। वस्तुतः दृढ़निश्चय कर लेने पर यह अपने जीवन को अत्यन्त सुन्दर व सामर्थ्यसम्पन्न बना पाता है। ३. यह वानस्पतिक भोजन तथा मेखला वह है **यत्र**=जहाँ (क) **अश्विनोः**=प्राणापान के **छागस्य हविषः**=अजमोद ओषधि की हवि के **प्रिया धामानि**=प्रिय तेज हैं, अर्थात् वानस्पतिक भोजन व दृढ़निश्चय के साथ जब इस अजमोद ओषधि का हविरूप में प्रयोग होता है तब प्राणापान की शक्ति को खूब बढ़ानेवाली होती है। (ख) **यत्र**=जहाँ **सरस्वत्याः**=ज्ञानाधिदेवता के साथ सम्बद्ध **मेषस्य हविषः**=मेढ़ासिंगी ओषधि की हवि के **प्रिया धामानि**=प्रिय तेज हैं (ग) **यत्र**=जहाँ **इन्द्रस्य**=आत्मशक्ति-सम्पन्न जितेन्द्रिय पुरुष के साथ सम्बद्ध **ऋषभस्य हविषः**=ऋषभक ओषधि की हवि के **प्रिया धामानि**=प्रिय तेज हैं। (घ) **यत्र**=जहाँ **अग्नेः प्रिया धामानि**=अग्नितत्त्व के प्रिय तेज हैं, अर्थात् ये वानस्पतिक भोजन व दृढ़निश्चय मनुष्य को अग्नि के समान तेजस्वी बनाते हैं। (ङ) **यत्र**=जहाँ **सोमस्य प्रिया धामानि**=सोम के प्रिय तेज हैं, अर्थात् यह जहाँ अग्नि के समान तेजस्वी होता है वहाँ सोम के समान शान्त होता है (सोम=चन्द्रमा)। (च) **यत्र**=जहाँ **सुत्राम्णः इन्द्रस्य**=रोगों से अपने को पूर्णरूप से रक्षित करनेवाले जितेन्द्रिय पुरुष के **प्रिया धामानि**=प्रिय तेज हैं, अर्थात् इनके होने पर मनुष्य नीरोग व जितेन्द्रिय बनता है। (छ) **यत्र**=जहाँ **सवितुः**=उत्पादक के **प्रिया धामानि**=प्रिय तेज हैं, अर्थात् वानस्पतिक भोजन व दृढ़निश्चय मनुष्य को निर्माणात्मक कामों में लगनेवाला बनाता है। (ज) **यत्र**=जहाँ **वरुणस्य**=द्वेष-निवारण की देवता के **प्रिया धामानि**=प्रिय तेज हैं, अर्थात् वानस्पतिक भोजन व दृढ़निश्चय मनुष्य को द्वेष से ऊपर उठा देते हैं। (झ) **यत्र**=जहाँ **वनस्पतेः**=वनस्पति के **प्रिया पाथांसि**=प्रिय अन्न हैं, जो अन्न शरीर के पूर्णतया रक्षक हैं। (ञ) **यत्र**=जहाँ **आज्यपानाम्**=घृत का पान करनेवाले **देवानाम्**=दिव्य वृत्तिवाले पुरुषों के **प्रिया धामानि**=प्रिय तेज हैं, अर्थात् वनस्पति भोजन करनेवाला दृढ़निश्चयी पुरुष आज्य का पान करनेवाले देवों के समान बनता है। (ट) **यत्र**=जहाँ **होतुः अग्नेः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले प्रगतिशील पुरुष के **प्रिया धामानि**=प्रिय तेज हैं। ४. **तत्र**=वहाँ अर्थात् उस वनस्पति व मेखला में, अर्थात् इनके होने पर **एतान्**=इन 'छाग-मेष व ऋषभ' को **प्रस्तुत्य इव**=अग्निकुण्ड में प्रस्तुत-सा करके, अर्थात् प्राप्त कराके **उपस्तुत्य इव**=अग्नि द्वारा सूक्ष्म कणों के रूप में अपने समीप प्राप्त कराके **रभीयसः इव कृत्वी**=बड़ा शक्तिशाली बनाकर **उपावस्त्रक्षत्**=अपने समीप, अपने शरीर में स्थापित करे (स्थापयतु—म०)। ५. यह **देवः वनस्पतिः**=दिव्य गुणोंवाला वनस्पति **एवं करत्**=ऐसा ही करे, अर्थात् हमारे जीवन को उल्लिखित तेजों से युक्त करे। ६. इसके लिए होता को चाहिए कि **हविः जुषताम्**=वह हवि का सेवन करनेवाला बने। प्रभु कहते हैं कि **होतः**=हे यज्ञशील पुरुष! तू **यज**=यज्ञ करनेवाला बन।

भावार्थ—जीवन को सुन्दर व सामर्थ्यसम्पन्न बनाने के लिए आवश्यक है कि वानस्पतिक भोजन का अङ्गीकार करें और दृढ़निश्चयी बनें।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**भुरिगाकृतिः**[क], **आकृतिः**[र]। स्वरः—**पञ्चमः**॥

इष्टकामधुक् (स्विष्टकृत्) अग्नि

[क]**होता यक्षदग्निꣳस्विष्टकृतमयाडग्निरश्विनोश्छागस्य हविषः प्रिया धामान्ययाट् सरस्वत्या मेषस्य हविषः प्रिया धामान्ययाडिन्द्रस्यऽऋषभस्य हविषः प्रिया धामान्ययाडग्नेः प्रिया धामान्ययाट् सोमस्य प्रिया धामान्ययाडिन्द्रस्य सुत्राम्णः प्रिया धामान्ययाट् सवितुः प्रिया धामान्ययाड् वरुणस्य प्रिया धामान्ययाड् वनस्पतेः प्रिया पाथाꣳस्ययाड् देवानामाज्यपानां प्रिया धामानि यक्षदग्नेर्होतुः प्रिया धामानि यक्षत् स्वं महिमानमायजतामेज्याऽ इषः कृणोतु सोऽअध्वरा जातवेदा जुषताꣳहविर्होतर्यज** ॥४७॥

१. **होता**=यज्ञशील पुरुष **स्विष्टकृतम्**=उत्तम इष्टों को सिद्ध करनेवाले **अग्निम्**=इस यज्ञाग्नि का **यक्षत्**=अपने साथ मेल करता है, अर्थात् यज्ञ को अपने साथ जोड़ लेता है, २. सहयज्ञ बनने पर **अग्निः**=यह यज्ञाग्नि (क) **अश्विनोः**=प्राणापान के साथ सम्बद्ध **छागस्य हविषः**=अजमोद ओषधि की हवि के **प्रिया धामानि**=प्रिय तेजों को **अयाट्**=हमारे साथ सङ्गत करता है (ख) **सरस्वत्या**=ज्ञानाधिदेवता से सम्बद्ध **मेषस्य हविषः**=मेढ़ासिंगी ओषधि की हवि के **प्रिया धामानि**=प्रिय तेजों को **अयाट्**=हमारे साथ सङ्गत करता है। (ग) **इन्द्रस्य**=आत्मशक्ति के साथ सम्बद्ध **ऋषभस्य हविषः**=ऋषभक ओषधि की हवि के **प्रिया धामानि**=प्रिय तेजों को **अयाट्**=हमारे साथ सम्बद्ध करता है। (घ) **अग्नेः प्रिया धामानि अयाट्**=अग्नितत्त्व के प्रिय तेजों को हमारे साथ सम्बद्ध करता है। (ङ) **सोमस्य प्रिया धामानि अयाट्**=सोम के प्रिय तेजों को हमारे साथ सम्बद्ध करता है। (च) **सुत्राम्णः इन्द्रस्य प्रिया धामानि अयाट्**=अपनी पूर्णरूप से रक्षा करनेवाले जितेन्द्रिय पुरुष के प्रिय तेजों को हमारे साथ सङ्गत करता है। (छ) **सवितुः प्रिया धामानि अयाट्**=यह निर्माण करनेवाले सविता के प्रिय तेजों को हमारे साथ सङ्गत करता है। (ज) निर्माण में लगाये रखकर **वरुणस्य**=द्वेष-निवारण की देवता के **प्रिया धामानि**=प्रिय तेजों को **अयाट्**=हमारे साथ सङ्गत करता है (ञ) यह **वनस्पतेः**=वनस्पति के **प्रिया पाथांसि**=प्रिय अन्नों को **अयाट्** =हमारे साथ सङ्गत करता है। (ञ) **आज्यपानाम्**=घृत का पान करनेवाले **देवानाम्**=दिव्य वृत्तिवाले पुरुषों के **प्रिया धामानि अयाट्**=प्रिय तेजों को हमारे साथ सङ्गत करता है। (ट) यह **होतुः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले **अग्नेः**=प्रगतिशील पुरुष के **प्रिया धामानि**=प्रिय तेजों को **यक्षत्**=हमारे साथ सङ्गत करता है। ३. इस प्रकार यज्ञाग्नि के द्वारा उल्लिखित प्रिय तेजों को प्राप्त करके मन्त्र का ऋषि 'आत्रेय' **स्वं महिमानम्**=अपनी महिमा को **यक्षत्**=अपने साथ सङ्गत करे। ४. इस महिमा को पूर्णतया प्राप्त करने के लिए **एज्याः**=आ इज्याः=समन्तात् यष्टुं योग्यं, अर्थात् सब प्रकार से अपने साथ मेल करने के योग्य **इषः**=इच्छाओं को **आयजताम्**=अपने साथ सङ्गत करे, अर्थात् सदा उत्तम इच्छाओंवाला हो। ५. **सः जातवेदाः**=यह ज्ञानी पुरुष **अध्वरा कृणोतु**=सदा हिंसारहित यज्ञों का करनेवाला हो। अहिंसा ही मूलधर्म है। इस प्रकार यज्ञिय जीवन बिताता हुआ वह **हविः जुषताम्**=त्यागपूर्वक भोजन का सेवन करे, सदा यज्ञशेष ही खाये। ६. प्रभु कहते हैं **होतः**=हे यज्ञशील पुरुष! तू **यज**=यजन करनेवाला हो।

भावार्थ—यज्ञाग्नि स्विष्टकृत् है। यज्ञ को अपनाकर हम सब तेजों को अपनाएँ। अपनी वास्तविक महिमा को प्राप्त करें। अहिंसा को मूलधर्म समझें।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**सरस्वत्यादयः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

आँखों की तेजस्विता

दे॒वं ब॒र्हिः सर॑स्वती सुदे॒वमिन्द्रे॑ऽअ॒श्विना॑।
तेजो॒ न चक्षु॑र॒क्ष्योर्ब॒र्हिषा॑ दधुरिन्द्रि॒यं व॑सु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य व्यन्तु॒ यज॑॥४८॥

१. **सरस्वती**=ज्ञान की अधिदेवता **देवम्**=दिव्य गुणोंवाले **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय को धारण करती है, अर्थात् ज्ञान से मनुष्य का हृदय दिव्य व वासनारहित होता है। २. **अश्विना**=प्राणापान **इन्द्रे**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जितेन्द्रिय पुरुष में **सुदेवम्**=उस सर्वोत्कृष्ट देव प्रभु को स्थापित करते हैं, अर्थात् प्राणापान की साधना से चित्तवृत्ति निर्मल होकर प्रभु-दर्शन के योग्य बन जाती है। ३. इस साधक की **अक्ष्योः**=आँखों में **तेजः**=तेजस्विता होती है **न**=और **चक्षुः**=दर्शनशक्ति होती है। इसकी आँखों से तेज टपकता है। ४. सरस्वती तथा अश्विनौ=ज्ञानाधिदेवता तथा प्राणापान इसके अन्दर **बर्हिषा**=वासनाशून्य हृदय के साथ **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों की शक्ति को **दधुः**=धारण करते हैं। ५. **वसुवने**=(वसुवननाय) निवासक तत्त्वों की प्राप्ति के लिए **वसुधेयस्य**=(वसुधेयं यस्मिन्—द०) सब निवासक तत्त्वों के आधारभूत सोम=(वीर्य) का **व्यन्तु**=पान करें। वीर्य को शरीर में ही व्याप्त करने से सब वसुओं की शरीर में स्थिति होती है। ६. प्रभु मन्त्र के ऋषि 'स्वस्त्यात्रेय' से कहते हैं कि इस सबको सिद्ध करने के लिए तू **यज**=यज्ञशील बन। देवपूजा के द्वारा ज्ञान प्राप्त कर, विद्वानों के सङ्ग व दान की वृत्ति से तू अपने हृदय को वासनाशून्य बना।

भावार्थ—१. ज्ञान से मन दिव्य व वासनाशून्य बनता है। २. प्राणापान की साधना हृदय को एकाग्र करके प्रभु-दर्शन के योग्य बनाती है। ३. इस साधक की आँखें तेजस्वी व दर्शनशक्ति-सम्पन्न होती हैं। ४. वासनाशून्य हृदय के साथ इसकी सब इन्द्रियाँ सशक्त होती हैं। ५. वीर्यरक्षा से निवासक तत्त्वों का उपचय होता है। ६. इस सबके लिए हमें यज्ञशील बनना चाहिए।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**ब्राह्म्युष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**॥

घ्राणेन्द्रिय का बल

दे॒वीर्द्वारो॑ऽअ॒श्विना॑ भि॒षजेन्द्रे॒ सर॑स्वती।
प्रा॒णं न वी॒र्यं᳖ न॒सि द्वारो॑ दधुरिन्द्रि॒यं व॑सु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य व्यन्तु॒ यज॑॥४९॥

१. **इन्द्रे**=जितेन्द्रिय पुरुष में **भिषजा अश्विना**=सब रोगों का प्रतीकार करनेवाले वैद्यभूत प्राणापान तथा **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **देवीः द्वारः**=दिव्य द्वारों को **दधुः**=स्थापित करते हैं, अर्थात् प्राणापान की साधना तथा ज्ञान की आराधना करने पर 'मुख, पायु तथा उपस्थ व ब्रह्मरन्ध्र' आदि सब द्वार ठीक से अपना-अपना कार्य करनेवाले होते हैं। २. ये **अश्विना**=प्राणापान तथा **सरस्वती**=ज्ञान **नसि**=घ्राणेन्द्रिय में **प्राणम्**=घ्राणशक्ति को तथा **वीर्यम्**=तेजस्विता को स्थापित करते हैं। ३. नासिका में घ्राणशक्ति व वीर्य की स्थापना के साथ ये प्राणापान व ज्ञान **द्वारः**=सब द्वारों को तथा **इन्द्रियम्**=उन इन्द्रियद्वारों में उस-उस शक्ति को **दधुः**=धारण करते हैं। ४. **वसुवने**=(वसुवननाय) निवासक तत्त्वों की प्राप्ति के लिए **वसुधेयस्य**=वीर्य का **व्यन्तु**=पान करें, इसे शरीर में ही व्याप्त करने का प्रयत्न करें।

५. प्रभु कहते हैं कि इस सबके लिए तू **यज**=यज्ञशील बन, तेरी वृत्ति भोगप्रवण न हो।

भावार्थ—प्राणापान की साधना तथा ज्ञान की आराधना से हमारे सब इन्द्रिय-द्वार दिव्य हों। हमारी नासिका में घ्राणेन्द्रिय शक्ति व वीर्य हो। हम निवासक तत्त्वों की प्राप्ति के लिए वीर्य को शरीर में ही व्याप्त करें तथा यज्ञशील बनकर भोगवृत्ति से ऊपर उठें।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

मुख में वाक्शक्ति

देवीऽउषासावश्विना सुत्रामेन्द्रे सरस्वती।
बलं न वाचमास्यऽउषाभ्यां दधुरिन्द्रियं वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज ॥५०॥

१. **देवी**=दिव्य गुणों से युक्त व देदीप्यमान **उषासौ**=(सायं-प्रातः संधिवेले-द०) सायं व प्रातः के सन्धिकाल तथा **सुत्रामा**=उत्तमता से त्राण व रक्षण करनेवाले **अश्विना**=प्राणापान तथा **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **इन्द्रे**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता पुरुष के **आस्ये**=मुख में **बलम्**=बल को **न**=और **वाचम्**=वाणी की शक्ति को धारण करते हैं। २. ये प्राणापान तथा ज्ञान **उषाभ्याम्**=इन सन्धिवेलाओं के साथ इसमें **इन्द्रियम्**=सब इन्द्रियों के बल को **दधुः**=धारण करते हैं। प्रातः-सायं वाणी उद्गीथ का गायन करती है और यह गायन उसे बल प्राप्त कराता है। ३. **वसुवने**=निवासक तत्त्वों को प्राप्त करने के लिए **वसुधेयस्य**=वीर्य का **व्यन्तु**=पान करें, अर्थात् उसे शरीर में ही व्याप्त करने का प्रयत्न करें। ४. इसी दृष्टिकोण से प्रभु कहते हैं कि **यज**=हे मनुष्य! तू यज्ञशील बन।

भावार्थ—प्रातः-सायं उद्गीथ का गायन करनेवाली वाणी प्राणापान की साधना से तथा ज्ञान की आराधना से सबल बनती है।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

कानों में यशस्वी श्रोत्रशक्ति

देवी जोष्ट्री सरस्वत्यश्विनेन्द्रमवर्धयन्।
श्रोत्रं न कर्णयोर्यशो जोष्ट्रीभ्यां दधुरिन्द्रियं वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज ॥५१॥

१. **देवी जोष्ट्री**=(देवी जोष्ट्री अहोरात्रे—नि० ९।४१) ये दिन और रात **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता तथा **अश्विना**=प्राणापान—ये सब **इन्द्रम्**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता पुरुष को **अवर्धयन्**=बढ़ाते हैं। वे दिन-रात यहाँ 'देवी जोष्ट्री' नाम से कहे गये हैं, जिनमें मनुष्य सम्पूर्ण दिन प्रीतिपूर्वक अपने कर्त्तव्यों का सेवन करता हुआ रात्रि में स्वप्न का आनन्द लेता है। वस्तुतः ऐसे दिन-रात ही मनुष्य की वृद्धि का कारण बनते हैं। २. ये **कर्णयोः**=कानों में **श्रोत्रम्**=सुनने की शक्ति को **न**=और **यशः**=यश को **दधुः**=स्थापित करते हैं। 'यशः' शब्द वेद में सौन्दर्य व ज्योति (Beauty and Splendour) के लिए आता है। इस साधक के कानों में वे ज्ञान की वाणियाँ प्राप्त होती हैं जिनसे वह इस संसार में प्रभु की ज्योति व सौन्दर्य को देखनेवाला बनता है। ३. ये प्राणापान तथा ज्ञान **जोष्ट्रीभ्याम्**=इन प्रीतिपूर्वक होनेवाले कर्मों से युक्त दिन-रात के साथ **इन्द्रियम्**=सब इन्द्रियों की शक्ति को **दधुः**=स्थापित करते हैं। ४. **वसुवने**=निवासक तत्त्वों को प्राप्त करने के लिए **वसुधेयस्य**=वीर्य का **व्यन्तु**=पान करें, इसे शरीर में व्याप्त करें। ५. इस सबके लिए प्रभु कहते हैं कि हे मनुष्य! तू **यज**=यज्ञशील बन।

भावार्थ—हमारे दिन-रात 'देवी जोष्ट्री' हों। हम उनमें प्रीतिपूर्वक अपने कर्त्तव्यों के करने में लगे रहें। इससे हमें कानों में यशस्वी श्रोत्रशक्ति प्राप्त हो। हमारी सब इन्द्रियाँ सबल हों। हम वीर्य की रक्षा करें और यज्ञशील हों।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**अतिजगती**।
स्वरः—**निषादः**॥

स्तनों में शुक्र और ज्योति

देवीऽऊर्जाहुती दुघे सुदुघेन्द्रे सरस्वत्यश्विना भिषजावतः।
शुक्रं न ज्योति स्तनयोराहुती धत्तऽइन्द्रियं वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज॥५२॥

१. **देवी ऊर्जाहुती**=(देवी ऊर्जाहुती द्यावापृथिव्यौ—नि० ९।४२) दिव्य गुणोंवाले बल व प्राणशक्ति के वर्धक अन्न देनेवाले ये द्युलोक व पृथिवीलोक **दुघे**=हमारे मनोरथों का पूरण करनेवाले हैं, वस्तुतः ये द्युलोक व पृथिवीलोक हमारे पिता व माता के तुल्य हैं (द्यौष्पिता, पृथिवी माता)। माता-पिता सन्तान का पूरण करते हैं, ठीक इसी प्रकार ये द्युलोक व पृथिवीलोक हमारा पूरण करते हैं। २. **इन्द्रे**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता पुरुष में **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **सुदुघा**=बहुत उत्तमता से पूरण करनेवाली होती है। ज्ञान सब दोषों को दूर करके सचमुच हमारा सुन्दर पूरण करता है। ३. **अश्विना** =ये प्राणापान **भिषजा**=सब रोगों का प्रतीकार करते हैं, नासिका में दायाँ स्वर सूर्यस्वर है, यह शरीर में प्राणशक्ति को भरता है और बायाँ स्वर चन्द्रस्वर है यह अपान को ठीक रखता है, अतः शरीर में ये प्राणापान 'सूर्य और चन्द्रमा' हैं। दोनों का समन्वय होने पर किसी प्रकार का रोग नहीं होता। केवल सूर्यस्वर होता तो उष्णता व अम्लता बढ़कर शरीर समाप्त हो जाता तथा केवल चन्द्रस्वर होने पर कोढ़ के रोग बढ़कर शरीर क्षयी हो जाता। इसी दृष्टिकोण से 'अश्विना' सदा द्विवचन में आता है। ये दोनों मिलकर ही 'भिषजा' है। ये रोगों का प्रतीकार करनेवाले प्राणापान **अवतः**=रक्षा करते हैं। मनुष्य को रोगों का शिकार नहीं होने देते। ४. जब द्युलोक व पृथिवीलोक हमारा उत्तम अन्नों से पूरण करनेवाले होते हैं, तब ज्ञान हमारी कमियों को दूर करके हमारा उत्तम पूरण करनेवाला होता है। जब ये प्राणापान भिषक् बनकर हमारी रक्षा करते हैं उस समय ये **आहुती**=(ऊर्जाहुती) द्यावापृथिवी **स्तनयोः**=माता बननेवाली युवती के स्तनों में **शुक्रम्**=वीर्यसम्पन्न **न**=तथा **ज्योतिः**=ज्ञान के प्रकाश से युक्त दुग्ध को **धत्त**=स्थापित करते हैं। इस माता के स्तनों का दूध सन्तान को वीर्यसम्पन्न व ज्ञानसम्पन्न बनाता है। ५. ये **आहुती**=(ऊर्जाहुती) द्यावापृथिवी **इन्द्रियं धत्त**=प्रत्येक इन्द्रिय के बल का स्थापन करते हैं। ६. **वसुवने**=निवासक तत्त्वों को प्राप्त करने के लिए **वसुधेयस्य**=वीर्य का **व्यन्तु**=पान करें। शरीर में व्याप्त होकर यह वीर्य ही अङ्ग-प्रत्यङ्ग को सशक्त करता है। ७. ऐसा हो सके इसके लिए प्रभु कहते हैं कि हे पुरुष! तू **यज**=यज्ञशील बन।

भावार्थ—द्यावापृथिवी दिव्य अन्नों से हमारा पूरण करते हैं। ज्ञान दोषों को दूर करके हमारा उत्तम पूरण करता है। प्राणापान हमारे वैद्य हैं और रोगों से हमारा रक्षण करते हैं। ऐसा होने पर माता के स्तनों में शक्ति व ज्ञानसम्पन्न दूध होता है। ये द्यावापृथिवी हमारी सब इन्द्रियों को सशक्त बनाते हैं। हम वीर्य की रक्षा करें और उसके लिए यज्ञशील बन भोगवृत्ति से ऊपर उठें।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**भुरिगतिजगती**। स्वरः—**निषादः**॥

दीप्ति व मति से पूर्ण हृदय

देवा देवानां भिषजा होताराविन्द्रमश्विना। वषट्कारैः सरस्वती त्विषिं न हृदये मतिꣳहोतृभ्यां दधुरिन्द्रियं वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज॥५३॥

१. **देवा होतारौ**=दिव्य गुणोंवाले भिषज वरुण=(होतारौ मित्रावरुणौ) स्नेह की देवता तथा द्वेष-निवारण की देवता तथा **देवानां भिषजा**=देवताओं के वैद्य ये **अश्विना**=प्राणापान **इन्द्रम्**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव को **अवतः**=रक्षित करते हैं (अवतः क्रिया ऊपर के मन्त्र से अनुवृत्त हुई है।) २. **वषट्कारैः**=(श्रेष्ठैः कर्मभिः—द०) यज्ञादि उत्तम कर्मों के साथ **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **त्विषिम्**=दीप्ति को **न**=और **होतृभ्याम्**=मित्रावरुण के साथ अर्थात् स्नेह व द्वेषनिवारण के साथ **हृदये**=हृदय में **मतिम्**=मननशीलता को **दधुः**=स्थापित करते हैं। ३. मन्त्र में 'वषट्कारैः' शब्द श्रेष्ठ कर्मों का वाचक होकर हाथों से होनेवाले कर्मकाण्ड का प्रतीक है। 'सरस्वती' ज्ञानाधिदेवता मस्तिष्क के ज्ञानकाण्ड का संकेत करती है और 'होतारौ' व 'होतृभ्यां' शब्द मित्रावरुण के वाचक होकर हृदय में स्नेह व द्वेषाभाव का प्रतिपादन करते हुए हार्दिक पवित्रता की सूचना दे रहे हैं। यही हृदय प्रभु की सच्ची उपासना कर पाता है। एवं, ये सब कर्म, ज्ञान व उपासना द्वारा **इन्द्रियं दधुः**=इस 'आत्रेय' में अङ्ग-प्रत्यङ्ग के बल को धारण करते हैं। ४. **वसुवने**=निवासक तत्त्वों की प्राप्ति के लिए ये **वसुधेयस्य**=वीर्य का **व्यन्तु**=पान करें, शरीर में व्यापन करें। ५. प्रभु कहते हैं कि हे 'आत्रेय' तू **यज**=यज्ञशील बन।

भावार्थ—स्नेह व द्वेषाभाव की दिव्य वृत्तियाँ (मित्रावरुण देव), प्राणापानरूप दिव्य वैद्य (अश्विना देवानां भिषजा) यज्ञादि उत्तम कर्म तथा ज्ञान हमारे जीवन में दीप्ति को, मति को तथा अङ्ग-प्रत्यङ्ग की शक्ति को धारण करें। हम उत्तम निवास के लिए वीर्य को शरीर में ही व्याप्त करें और यज्ञशील हों।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

केन्द्र-शक्ति

देवीस्तिस्रस्तिस्रो देवीरश्विनेडा सरस्वती।
शूषं न मध्ये नाभ्यामिन्द्राय दधुरिन्द्रियं वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज॥५४॥

१. **देवीः तिस्रः**=तीन देवियाँ जो **तिस्रः**=तीनों **देवीः**=सचमुच दिव्य गुणोंवाली हैं। उनमें प्रथम **अश्विना**=(श्रोत्रे अश्विनौ—श० १२।९।१।१३) श्रोत्र हैं, अर्थात् श्रोत्रों से सुनी जानेवाली 'भारती' है। वाणी जिसको श्रोत्रों से सुना जाता है उसे यहाँ 'अश्विनौ'=श्रोत्रशब्द से इसलिए स्मरण किया कि हम वाणी से सुनने के महत्त्व को समझें, बोलने का उतना महत्त्व नहीं है। वस्तुतः सुनी जाती हुई वाणी हमारा भरण करनेवाली सचमुच 'भारती' होती है। दूसरी '**इडा**'=श्रद्धा है, इसका स्थान हृदय में है। तीसरी **सरस्वती** =ज्ञानाधिदेवता है, जिसका निवास मस्तिष्क में है। २. ये तीनों देवियाँ **मध्ये नाभ्याम्**=शरीर के केन्द्रभूत नाभि में **शूषम्**=सब अवाञ्छनीय तत्त्वों के शोषक बल को **दधुः**=धारण करती हैं **न**=तथा **इन्द्राय**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता पुरुष के लिए **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों की शक्ति को धारण करती हैं। ३. **वसुवने**=निवासक तत्त्वों की प्राप्ति के लिए ये **वसुधेयस्य**=वीर्य का **व्यन्तु**=शरीर में व्यापन करें। ४. इस सबके लिए प्रभु जीव से कहते हैं कि तू **यज**=यज्ञशील बन।

भावार्थ—'अश्विनौ'=श्रोत्रों से सुनी जानेवाली वाणी (भारती), श्रद्धा (इडा) तथा ज्ञान (सरस्वती) हमारी नाभि में उस केन्द्रशक्ति को धारण करते हैं, जिससे सब अवाञ्छनीय तत्त्वों का शोषण होता है। हम उत्तम निवास के लिए वीर्य का शरीर में व्यापन करें और यज्ञशील हों।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**स्वराट्शक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

अमृतं जनित्रम्

देवऽइन्द्रो नराशꣳसस्त्रिवरूथः सरस्वत्याश्विभ्यामीयते रथः। रेतो न रूपममृतं जनित्रमिन्द्राय त्वष्टा दधदिन्द्रियाणि वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज ॥५५॥

१. **देवः**=सारे संसार के व्यवहार को सिद्ध करनेवाला **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली **त्रिवरूथः**=हमारे शरीर (इन्द्रियाँ), मन व बुद्धि तीनों का रक्षण करनेवाला (वरूथ=Cover=आवरण) अथवा शरीर, मन व बुद्धि की तीनों सम्पत्तियों को देनेवाला (वरूथ=Wealth) **नराशंसः**=मनुष्यों से समन्तात् शंसन किया जाता हुआ प्रभु (क) **सरस्वत्या**=ज्ञानाधिदेवता से तथा **अश्विभ्याम्**=प्राणापान की शक्ति से **रथः ईयते**=यह शरीर-रथ गतिमय किया जाता है, अर्थात् उस प्रभु ने यह शरीररूप रथ हमें दिया है और इससे हमें परमात्मा की ओर ही पहुँचना है, अतः यह रथ परमात्मा का है (जैसे यह गाड़ी हरिद्वार की है, अर्थात् हरिद्वार जानेवाली है) उसका यह रथ ज्ञान व प्राणापान से चलता है। प्राणापान इस गाड़ी के इञ्जन के जल हैं तो ज्ञान 'अग्नि' है। इनसे यह रथ चलता है। ३. एवं, जब हम ज्ञान व प्राणापान की शक्ति से शरीररूप रथ को प्रभु की ओर ले-चलते हैं तब **त्वष्टः**=सब दिव्य गुणों का निर्माता वह प्रभु **इन्द्राय**=इस जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **रेतः**=शक्ति को **न**=और **रूपम्**=स्वास्थ्य के सौन्दर्य को, **जनित्रम्**=सब शक्तियों के विकास को, **अमृतम्**=नीरोगता को तथा **इन्द्रियाणि**= अङ्ग-प्रत्यङ्ग की शक्ति को **दधत्**=धारण करता है। ४. **वसुवने** =निवासक तत्त्वों की प्राप्ति के लिए **वसुधेयस्य**=वीर्य का **व्यन्तु**=शरीर में व्यापन करें। ५. प्रभु कहते हैं कि इस सबके लिए तू **यज**=यज्ञशील हो।

भावार्थ—वे प्रभु 'देव-इन्द्र-नराशंस व त्रिवरूथ' हैं। प्रभु का यह रथ ज्ञान व प्राणापान से चलता है। वे निर्माता प्रभु 'रेतस्, रूप, अमृत, जनित्र व इन्द्रियशक्तियों' का धारण करते हैं। निवासक तत्त्वों के विजय के लिए हम शरीर में वीर्य का व्यापन करें और यज्ञशील हों।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**निचृदत्यष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**॥

हिरण्यपर्ण वनस्पति

देवो देवैर्वनस्पतिर्हिरण्यपर्णोऽअश्विभ्याꣳसरस्वत्या सुपिप्पलऽइन्द्राय पच्यते मधु। ओजो न जूतिर्ऋषभो न भामं वनस्पतिर्नो दधदिन्द्रियाणि वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज ॥५६॥

१. यहाँ संसार को एक वृक्ष के रूप में कहा गया है। यह **वनस्पतिः**=संसारवृक्ष **देवः**=दिव्य गुणोंवाला है और हमारे सारे व्यवहार को सिद्ध करनेवाला है (दिव् व्यवहारे)। २. यह संसार-वृक्ष **देवैः**=सूर्यादि सब दिव्य पदार्थों से **हिरण्यपर्णः**=स्वर्ण के समान देदीप्यमान पत्तोंवाला है। (हिरण्य=हितरमणीय, पर्ण=पृ पालनपूरणयोः) अथवा बड़े हित व रमणीय प्रकार से हमारा पालन व पूरण करनेवाला है। ३. यह **अश्विभ्याम्**=प्राणापान की साधना के साथ तथा **सरस्वत्या**=ज्ञानाधिदेवता के साथ **सुपिप्पलः**=उत्तम फलोंवाला है, अर्थात् इस संसार-वृक्ष के फलों का प्रयोग ज्ञानपूर्वक तथा प्राणापान की साधना के साथ किया जाए तो ये फल बड़े उत्तम प्रमाणित होते हैं अथवा ज्ञान व प्राणापान इस संसार-वृक्ष

के उत्तम फल हैं। ४. **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए यह **मधु**=अत्यन्त माधुर्ययुक्त फलों को **पच्यते**=परिपक्व करता है। ५. यह **ऋषभः वनस्पतिः**=अत्यन्त श्रेष्ठ वनस्पति **नः**=हममें **ओजः**=ओजस्विता को **जूतिः**=स्फूर्ति को **न**=और **भामम्**=तेजस्विता को **न**=तथा **इन्द्रियाणि**=सब इन्द्रियों की शक्ति को **दधत्**=धारण करता है। ६. **वसुवने**=निवासक तत्त्वों को प्राप्त करने के लिए **वसुधेयस्य व्यन्तु**=वीर्य का शरीर में व्यापन करे। ३. प्रभु कहते हैं कि हे आत्रेय! इस सबके लिए तू **यज**=यज्ञशील हो।

भावार्थ—यह संसार-वृक्ष सूर्यादि देवों के साथ सचमुच दिव्य गुणोंवाला है। यह प्राणापान व ज्ञानरूप उत्तम फलोंवाला है। जितेन्द्रिय पुरुष के लिए यह मधुर-ही-मधुर है। यह ओजस्विता, स्फूर्ति व तेजस्विता को देनेवाला है। हम उत्तम निवास के लिए वीर्य को शरीर में व्याप्त करें, यज्ञशील हों।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**अतिशक्वरी**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

स्योनं सदः

देवं बर्हिर्वारितीनामध्वरे स्तीर्णमश्विभ्यामूर्णम्रदाः सरस्वत्या स्योनमिन्द्र ते सदः। ईशायै मन्युꣳराजानं बर्हिषा दधुरिन्द्रियं वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज॥५७॥

१. 'वार' शब्द वृ वरणे धातु से बनकर यहाँ वरणीय परमात्मा का वाचक है (वारितात्मन् वरणीये परमात्मनि इतिर्गतिर्येषां) **वारितीनाम्**=परमात्मा में विचरनेवाली 'वरतराणां' अतएव श्रेष्ठ जीवनवाले प्रजाओं को **अध्वरे**=इस हिंसारहित जीवन-यज्ञ में **देवम्**=प्रकाशमय **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय **स्तीर्णम्**=आच्छादित हुआ है। २. यह परमेश्वर में विचरनेवाला व्यक्ति **अश्विभ्याम्**=प्राणापान से, प्राणसाधना के द्वारा **ऊर्णम्रदाः**=(ऊर्ण आच्छादने) ज्ञान को ढकनेवाले वृत्र का मर्दन करनेवाला बना है। ३. प्रभु कहते हैं कि हे **इन्द्र**=वृत्र का संहार करनेवाले 'आत्रेय' **ते**=तेरा **सदः**=निवासस्थान **सरस्वत्या** =ज्ञानाधिदेवता से **स्योनम्**=बड़ा सुखकर हुआ है। मनुष्य ज्ञानप्रधान जीवनवाला हो तो संसार में वह अज्ञानजनित क्लेशों से बचकर बड़े सुखी जीवनवाला होता है। ४. **ईशायै** =ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए **मन्युम्** =ज्ञान को **राजानम्**=दीप्ति को अथवा आत्मनियन्त्रण व व्यवस्था को, **बर्हिषा**=वासनाशून्य हृदय के साथ **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों की शक्ति को **दधुः**=प्राणापान व सरस्वती इसमें धारण करते हैं। इनको धारण करके वह ईश का ही छोटा रूप बन जाता है। ५. **वसुवने**=वस्तुओं की प्राप्ति के लिए **वसुधेयस्य**=वीर्य का **व्यन्तु**=शरीर में व्यापन करे। ६. प्रभु कहते हैं कि इसी उद्देश्य से तू **यज**=यज्ञशील बन।

भावार्थ—ईश का छोटा रूप बनने के लिए हम ज्ञानी बनें, नियमित व नियन्त्रित जीवनवाले हों, हृदय को वासनाशून्य बनाएँ और सब इन्द्रियों की शक्ति को स्थिर रक्खें, क्षीण न होने दें।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**अत्यष्टि**[क], **निचृत्त्रिष्टुप्**[र]। स्वरः—**गान्धारः**[क], **धैवतः**[र]॥

स्विष्टकृद् अग्निः

[क]**देवोऽअग्निः स्विष्टकृद्देवान्यक्षद्यथायथꣳहोताराविन्द्रमश्विना वाचा वाचꣳसरस्वतीमग्निꣳसोमꣳस्विष्टकृत् स्विष्टऽइन्द्रः सुत्रामा सविता वरुणो भिषगिष्टो देवो वनस्पतिः स्विष्टा देवाऽआज्यपाः** [र]**स्विष्टोऽअग्निरग्निना होता होत्रे स्विष्टकृद्यशो न दधदिन्द्रियमूर्जमपचितिꣳस्वधां वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज॥५८॥**

१. **देवः**=दिव्य गुणोंवाला **अग्निः**=यह यज्ञ का अग्नि **स्विष्टकृत्**=उत्तम इष्टों को पूर्ण करनेवाला है। वस्तुतः यज्ञाग्नि सब कामनाओं को पूर्ण करनेवाली है **'एष वोऽस्त्विष्टकामधुक्'**। २. इस यज्ञाग्नि को अपनानेवाला व्यक्ति **यथायथम्**=ठीकरूप से **देवान् यक्षत्**=देवों का यजन=अपने साथ मेल करता है। ३. **होतारौ**=मित्र और वरुण का अपने साथ मेल करता है, **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली परमात्मा का अपने साथ मेल करता है। वस्तुतः मित्र और वरुण के साथ मेल परमात्मा से मेल का साधन होता है। सबके साथ स्नेह करनेवाला तथा द्वेष के अभाववाला व्यक्ति ही परमात्म-प्राप्ति का अधिकारी बनता है। ४. यह यज्ञशील पुरुष **अश्विना**=प्राणापान का अपने साथ मेल करता है। यज्ञ से प्राणापान की शक्ति बढ़ती है। ५. **वाचा** (मन्त्रेण—म०) ज्ञान की वाणियों के द्वारा **वाचम्**=वाणी की शक्ति को बढ़ाता है तथा **सरस्वती**=इस मन्त्रों की वाणी से ज्ञानाधिदेवता का भी आराधन करता है। ६. इस यज्ञ से **अग्निं सोमम्**=अग्नितत्त्व तथा सोमतत्त्व का भी अपने साथ मेल करता है। अग्नितत्त्व तेजस्विता का प्रतीक है तो सोम शान्ति का। एवं, इस यज्ञशील पुरुष में 'शक्ति व शान्ति' दोनों का समन्वय होता है। ७. इस प्रकार इन देवताओं से अपना मेल करता हुआ यह यज्ञशील पुरुष **स्विष्टकृत्**=अपने उत्तम इष्टों को सिद्ध करनेवाला होता है। इसके द्वारा **सुत्रामा**=उत्तम त्राण करनेवाला वह **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **स्विष्टः**=उत्तमता से अपने साथ सङ्गत किया जाता है। **सविता**=निर्माण की देवता, **वरुणः**=द्वेष-निवारण की देवता जो **भिषक्**=सब रोगों की चिकित्सक है, वह **इष्टः**=अपने साथ सङ्गत की जाती है। वस्तुतः प्रभु-स्मरणपूर्वक मनुष्य निर्माण के कामों में लगा रहे और किसी से द्वेष न करे तो वह रोगों का शिकार नहीं हो सकता। बीमार वही पड़ा करते हैं जो (क) प्रभु को भूल जाते हैं। (ख) आलसी बने रहकर उत्तम कार्यों में अपने को व्यापृत नहीं रखते तथा (ग) औरों से द्वेष करते रहते हैं, औरों की उन्नति से ईर्ष्या के कारण जलते रहते हैं। ८. इस यज्ञशील पुरुष के द्वारा **देवः**=दिव्य गुणोंवाला **वनस्पतिः**=यह वानस्पतिक भोजन ही **स्विष्टः**=अपने साथ सङ्गत किया जाता है। ९. साथ ही **आज्यपाः देवाः**=घृत आदि सात्त्विक पदार्थों का सेवन करनेवाले विद्वान् पुरुष **स्विष्टः**=उत्तमता से अपने साथ सङ्गत किये जाते हैं, अर्थात् यह यज्ञशील पुरुष उत्तम सात्त्विक भोजन करता है तथा विद्वानों के साथ अपना मेल बढ़ाता है। १०. इसी यज्ञशील पुरुष से **अग्निना**=इस यज्ञिय अग्नि के द्वारा **अग्निः**=वह परमात्मा **स्विष्टः**=उत्तमता से अपने साथ सङ्गत किया जाता है और यह **होता**=सब पदार्थों को देनेवाला या संसारयज्ञ को चलानेवाला प्रभु **होत्रे**=इस दानपूर्वक अदन करनेवाले के लिए **स्विष्टकृत्**=सब उत्तम इष्टों को सिद्ध करनेवाला होता है। यह सृष्टियज्ञ का होता प्रभु **यशः**=यश का **न**=और **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों की शक्ति को, **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति को **अपचितिम्**=पूजा को तथा **स्वधाम्**=शरीर के धारण करनेवाले अन्न को **दधत्**=धारण करता है। ११. **वसुवने**=निवासक तत्त्वों की प्राप्ति के लिए **वसुधेयस्य**=वीर्य का **व्यन्तु**=तुम शरीर में व्यापन करो और इस सबके लिए **यज**=यज्ञशील बनो।

भावार्थ—यज्ञशील पुरुष सब अच्छाइयों को अपने साथ सङ्गत करनेवाला बनता है।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**अग्न्यादयः**। छन्दः—**अष्टिः**। स्वरः—**मध्यमः**॥

अग्नि-वरण

अ॒ग्निम॒द्य होता॑रमवृणीता॒यं यज॑मा॒नः पच॒न्पक्तीः॒ पच॑न्पुरो॒डाशा॑न् ब॒ध्नन्न॒श्विभ्या॒ छाग॒ꣳसर॑स्वत्यै मे॒षमिन्द्रा॑यऽ ऋष॒भꣳसु॒न्वन्न॒श्विभ्या॒ꣳसर॑स्वत्या॒ऽइन्द्रा॑य सु॒त्राम्णे॑

सुरासोमान् ॥५९॥

१. पिछले ११ मन्त्रों में अन्तिम आदेश है 'यज'=तू यज्ञ करनेवाला बन। १० इन्द्रियाँ तथा ११वें मन को तू यज्ञ में लगानेवाला बन। इस आदेश का पालन करनेवाला **अयं यजमानः**=यह यज्ञ के स्वभाववाला यज्ञशील पुरुष **अद्य**=आज **होतारं अग्निम्**=सब सुखों को देनेवाले, वायुशुद्धि व रोगकृमि-संहार के द्वारा सुखी व नीरोग करनेवाले अग्नि को **अवृणीत**=वरता है, अर्थात् नियमपूर्वक अग्निहोत्र करने का व्रत लेता है। २. इसी के लिए **पचन् पक्तीः**=नाना पाकों को पकाता है और **पुरोडाशान् पचन्**=(आत्मा वै यजमानस्य पुरोडाशः—कौ० १३।५) अपनी आत्मा का भी ठीक परिपाक करता है। शुद्ध आत्मभाव से सामग्री को तैयार करके अग्निहोत्र करता है। ३. यह **अश्विभ्याम्**=प्राणापान के लिए **छागम्**=अजमोद ओषधि का **बध्नन्**=प्रबन्ध करता है, **सरस्वत्यै**=ज्ञानाधिदेवता के लिए **मेषम्**=मेढ़ासिंगी ओषधि का प्रबन्ध करता है और **इन्द्राय**=इन्द्रियों की शक्ति के विकास के लिए **ऋषभम्**=ऋषभक ओषधि का प्रबन्ध करता है। ४. इन ओषधियों के यज्ञों की व्यवस्था के साथ-साथ यह **अश्विभ्याम्**=प्राणापान के लिए **सरस्वत्यै**=ज्ञानाधिदेवता के लिए तथा **सुत्राम्णे इन्द्राय**=उत्तमता से अपना त्राण करनेवाले इन्द्र के लिए **सुरासोमान्**=(सुर to govern) आत्मशासन व आत्मनियन्त्रण से युक्त वीर्यकणों का **सुन्वन्**=अभिषेक व उत्पादन करता है। वस्तुतः नियन्त्रित वीर्यशक्ति के बिना 'प्राणापान-ज्ञान व आत्मशक्ति' की प्राप्ति सम्भव ही नहीं।

भावार्थ—हम यज्ञशील बनें। यज्ञ के लिए आत्मभाव को पुष्ट करें। प्राणापान-ज्ञान व आत्मशक्ति के विकास के लिए जहाँ विविध औषध-द्रव्यों की आहुति दी जाए वहाँ वीर्यकणों का संयम के द्वारा शरीर में ही व्यापन किया जाए।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**धृतिः**। स्वरः—**ऋषभः**॥

देवो वनस्पतिः

सूपस्थाऽअद्य देवो वनस्पतिरभवदश्विभ्यां छागेन सरस्वत्यै मेषेणेन्द्रायऽ ऋषभेणाक्षँस्तान् मेदस्तः प्रति पचतागृभीषतावीवृधन्त पुरोडाशैरपु रश्विना सरस्वतीन्द्रः सुत्रामा सुरासोमान् ॥६०॥

१. गतमन्त्र के अग्नि का वरण करनेवाले यजमान के लिए **अद्य**=आज **देवः**=दिव्य गुणों से युक्त, उत्तम व्यवहार को सिद्ध करनेवाला यह **वनस्पतिः**=संसार वृक्ष **सूपस्थाः**=उत्तम उपस्थानवाला होता है (सुष्ठु उपतिष्ठते=सुष्ठु सेवते), अर्थात् यज्ञशील पुरुष के लिए यह संसार कल्याण-ही-कल्याण करता है। २. **अश्विभ्याम्**=प्राणापान के लिए **छागेन**=अजमोद ओषधि से यह संसार-वृक्ष उसका उत्तम सेवन करनेवाला **अभवत्**=होता है। इसी प्रकार **सरस्वत्यै**=ज्ञानाधिदेवता के लिए **मेषेण**=मेढ़ासिंगी ओषधि से यह उत्तम सेवन करनेवाला होता है और **इन्द्राय** =आत्मशक्ति के विकास के लिए **ऋषभेण**=ऋषभक ओषधि से यह उत्तम सेवन करनेवाला होता है। ३. **तान्**=उन औषध-द्रव्यों को **मेदस्तः**=गूदे से **अक्षन्**=खाते हैं, इनके उस मध्यभाग का ग्रहण करते हैं जो मध्यभाग औषध-गुणों से युक्त होता है। **प्रतिपचता**=प्रत्येक अवयवों का **अगृभीषत**=ग्रहण करते हैं और इस प्रकार इनके पक्व अवयवों के ग्रहण से **पुरोडाशैः**=आत्मभावों से **अवीवृधन्त**=बढ़ते हैं। इस प्रकार इन ओषधियों के समुचित प्रयोग से आत्मशक्ति का विकास होता है। ४. **अश्विना**=प्राणापान,

सरस्वती=ज्ञानाधिदेवता तथा **सुत्रामा इन्द्रः**=उत्तम त्राण करनेवाला इन्द्र ये **सुरासोमान्**=आत्मनियन्त्रण से युक्त अथवा ऐश्वर्य से युक्त सोमकणों का **अपुः** =पान करते हैं, अर्थात् ये वीर्य की रक्षा में सहायक होते हैं और वीर्यरक्षा द्वारा स्वयं वृद्धि को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—यज्ञशील पुरुष के लिए यह संसार-वृक्ष उत्तम औषध-द्रव्यों से उपस्थान (सेवन) करनेवाला होता है।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**भुरिग्विकृतिः**। स्वरः—**मध्यमः**॥

भद्रा वाणी

त्वामद्यऽऋषऽआर्षेयऽऋषीणां नपादवृणीतायं यजमानो बहुभ्युऽआ सङ्गतेभ्यऽएष मे देवेषु वसु वार्यायक्ष्यतऽइति ता या देवा देवं दानान्यदुस्तान्यस्माऽआ च शास्स्वा च गुरस्वेषितश्च होतरसि भद्रवाच्याय प्रेषितो मानुषः सूक्तवाकाय सूक्ता ब्रूहि ॥६१॥

१. संसार में मनुष्य को 'शतायु पुत्र-पौत्रों का, भूमि के महान् आयतन=विस्तृत क्षेत्र का, अन्य दुर्लभ काम्य पदार्थों का, पशु-हस्ति-हिरण्य व अश्वों का व दीर्घ जीवन' का प्रभोलन भी कभी-कभी प्राप्त हो जाता है, परन्तु यज्ञशील पुरुष इनके प्रलोभन में न पड़कर आत्मा का ही वरण करता है। यहाँ मन्त्र में कहते हैं कि **अद्य**=आज **अयं यजमानः**=यह यज्ञशील पुरुष **बहुभ्यः**=बहुत-सी **आसङ्गतेभ्यः**=चारों ओर से एकत्र हुई-हुई इन प्रेयमार्ग की वस्तुओं से ऊपर उठकर हे **ऋषे**=सर्वज्ञ, **आर्षेय**=ऋषियों को लिए हितकर, **ऋषीणां नपात्**=ऋषियों के न गिरने देनेवाले प्रभो! **त्वाम्**=आपको ही **अवृणीत**=वरता है, क्योंकि वह समझता है कि **एषः**=यह आप ही **मे**=मुझे **देवेषु**=सब देवों में होनेवाले **वारि**=वरणीय **वसु**=निवास के लिए आवश्यक वस्तु का **आयक्ष्यते**=सर्वथा दान करेंगे। २. **इति**=अतः हे **देव**=सब-कुछ देनेवाले प्रभो! **या**=जिन **दानानि**=दानों को **देवाः अदुः**=देवलोग देते हैं **तानि**=उन दानों को **अस्मै**=इस आपका वरण करनेवाले के लिए आप **आशास्स्व**=इच्छा कीजिए **च**=और **आगुरस्व**=देने के लिए उद्योग कीजिए, हाथ ऊपर उठाइए। ३. इस प्रार्थना पर प्रभु कहते हैं कि हे **होतः**=यज्ञशील पुरुष! तू **इषितः असि**=प्रेरणा दिया गया है कि **मानुषः**=मनुष्य इस संसार में **भद्रवाच्याय**=कल्याणकर, सुखात्मक वाणी के लिए **प्रेषितः**=भेजा गया है, **सूक्तवाकाय**=सुन्दर कथनवाले वाक्यों के लिए भेजा गया है, अतः तू **सूक्ता ब्रूहि**=उत्तम वचनों को ही बोलनेवाला हो। वास्तव में यह भद्रवाणी ही उसे देवों से प्राप्य उत्तम वस्तुओं को प्राप्त कराएगी।

भावार्थ—हम प्रेय व श्रेय में से श्रेय का वरण करते हुए परमात्मा का ही वरण करें। इस वरण से सब देवों से प्राप्य दान तो हमें प्राप्त होंगे ही और भद्रवाणी को बोलते हुए हम इस संसार को स्वर्ग बना पाएँगे।

नोट : इस अध्याय का मुख्य विषय यज्ञिय जीवनवाला बनना है। भोगप्रवण जीवन से ऊपर उठकर यह अपनी इन्द्रिय-शक्तियों को जीर्ण नहीं होने देता और तेजस्वी बनकर अपने व्यवहार में भी बड़ा मुधर होता है, परिणामतः इसका तेज बढ़ता है, यह तेजस्वी बनता है। इसी शब्द से अगले अध्याय का प्रारम्भ होता है।

इत्येकविंशोऽध्यायः॥

अथ द्वाविंशोऽध्यायः

—:०:—

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

प्रभु की धरोहर

तेजोऽसि शुक्रममृतमायुष्पाऽआयुर्मे पाहि।
देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामाददे॥१॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि **तेजः असि**=अपने जीवन को यज्ञमय बनाकर तू तेजस्वी बना है। **शुक्रम्**=वीर्यवान् हुआ है और अतएव **अमृतम्**=तू रोगरूप मृत्युओं का शिकार नहीं हुआ है। २. **आयुष्पाः**=इस प्रकार आधि-व्याधियों से अनाक्रान्त होकर तू अपने आयुष्य से धर्मरक्षा करनेवाला बना है। तू **आयुः मे पाहि** =मेरे द्वारा दिये हुए जीवन की रक्षा करना। इस जीवन को मेरी धरोहर समझना और इसे क्षीण व नष्ट न होने देना। ३. अब जीव प्रभु को उत्तर देता हुआ कहता है कि 'मैं आपके निर्देश को न भूलता हुआ इस आयुष्य के रक्षण के लिए (क) **त्वा सवितुः देवस्य प्रसवे**=तुझ प्रेरक देव की अनुज्ञा में ही प्रत्येक वस्तु का **आददे**=ग्रहण करता हूँ। **'आज्यं तौलस्य प्राशान'**=घृत को तोलकर खाओ' इस आपके निर्देश के अनुसार मैं प्रत्येक पदार्थ को मात्रा में ही स्वीकार करता हूँ। (ख) **अश्विनोः**=प्राणापान के **बाहुभ्याम्**=प्रयत्नों से **आददे**=प्रत्येक वस्तु को लेता हूँ। बिना प्रयत्न के मैं किसी भी वस्तु को लेना नहीं चाहता। मुफ्त की वस्तु मुझे भोगमार्ग की ओर ले-जाती है। (ग) **पूष्णो हस्ताभ्याम्**=पूषा के हाथों से मैं प्रत्येक वस्तु को लेता हूँ, अर्थात् मैं प्रत्येक वस्तु को उतना ही ग्रहण करता हूँ जितना कि पोषण के लिए पर्याप्त होता है। वस्तुओं के उपभोग में मेरा मापक 'पोषण' होता है न कि 'स्वाद व सौन्दर्य' तभी मैं अपने प्रकृष्ट विकास का रक्षक बनकर मन्त्र का ऋषि 'प्रजापतिः' बनता हूँ।

भावार्थ—हमें 'तेजस्वी, वीर्यवान् व दीर्घजीवी' बनना है। आयु को प्रभु की धरोहर समझना है। आयु के रक्षण के लिए (क) प्रभु के आदेश के अनुसार प्रत्येक वस्तु का माप-तोलकर प्रयोग करना है। (ख) प्रयत्न से अर्थों का उपार्जन करना है और (ग) प्रयोग में मापक 'पोषण' को रखना है न कि 'स्वाद व सौन्दर्य' को।

ऋषिः—**यज्ञपुरुषः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

ऋत की रशना

इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य पूर्वऽआयुषि विदथेषु कव्या।
सा नोऽअस्मिन्त्सुतऽआ बभूवऽऋतस्य सामन्त्सरमारपन्ती॥२॥

१. गतमन्त्र के अनुसार 'तेजस्वी, वीर्यवान् व दीर्घजीवी' बनने के लिए **कव्या**=(कवयः) समझदार लोग, वस्तुओं के तत्त्व को समझनेवाले लोग, **पूर्वे आयुषि**=पहले ही जीवन में **विदथेषु**=ज्ञानयज्ञों के प्रसंगों में **इमाम्**=इस **ऋतस्य रशनाम्**=ऋत की रशना को, व्यवस्थित जीवन के दृढ़निश्चय को **अगृभ्णन्**=स्वीकार करते हैं। प्रत्येक बात का ठीक समय व

ठीक स्थान पर होना 'ऋत' कहलाता है। 'रशना' शब्द मेखला का वाचक होता हुआ दृढ़निश्चय का प्रतीक है। आचार्य लोग विद्यार्थी को मेखला देते थे, उसे ज्ञानी बनने के लिए कमर कस लेने व दृढ़निश्चयी बनने का उपदेश देते थे। यह सब 'पूर्व आयुषि' पहले जीवन में, जीवन के पहले प्रयाण में ही कर लेना ठीक है। ऐसा कर लेने पर ही यात्रा ठीक आरम्भ हो जाती है। आचार्य लोग विद्यार्थी को ज्ञान देते थे और उसे ऋत के मार्ग पर चलने की दृढ़ प्रेरणा प्राप्त करा देते थे। २. **सा**=वह 'ऋत की रशना' **नः**=हमें **अस्मिन् सुते**=इस जीवन-यज्ञ में या इस उत्पन्न हुए-हुए जगत् में **आबभूव**=सदा व्याप्त किये रक्खे, अर्थात् हम अपने इस जीवन में इस 'ऋत की रशना' को कभी उतार न दें, हमारा ऋत के मार्ग पर चलने का दृढ़ निश्चय सदा बना रहे। ३. हमारे लिए यह मेखला **ऋतस्य सामन्**=ऋत की उपासना में (सामवेद=उपासनावेद) **सरम्**=कर्तव्यमार्ग का **आरपन्ती**=उपदेश देती है। हम सदा इस ऋत के उपासक बने रहें। 'सब कार्य ठीक समय व ठीक स्थान पर करनेवाले बनना' ही ऋत का उपासन है। ऋत का उपासक अपने कर्त्तव्यमार्ग को स्पष्ट देखता है और उसका आचरण करता है, इसका सारा जीवन ही यज्ञमय-सा हो जाता है अतः इसका नाम ही 'यज्ञपुरुष' हो जाता है। ऋत ही यज्ञ है। ऋत की रशना का ग्रहण करनेवाला यह 'यज्ञपुरुष' है।

भावार्थ—हम जीवन के प्रारम्भ में ही ऋत की रशना का धारण करें। इसे इस जीवनयज्ञ में धारण किये रक्खें। यह मेखला हमें सदा कर्त्तव्यमार्ग का उपदेश देनेवाली हो।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

रशना-(मेखला)-बन्धन

अभिधाऽअसि भुवनमसि यन्तासि धर्त्ता।
स त्वमग्निं वैश्वानरꣳसप्रथसं गच्छ स्वाहाकृतः ॥३॥

१. गतमन्त्र में कहा था कि यह ऋत की रशना हमें इस उत्पन्न जगत् में सदा व्याप्त किये रक्खे, अर्थात् हम इस ऋत की रशना को कभी उतार न दें। यह ऋत की रशना को सदा धारण करनेवाला 'अभिदधाति इति अभिधाः' है। तू **अभिधाः**=(to lay or put on, fasten, bind) मेखला को बाँधने के कारण 'अभिधाः' नामवाला **असि**=है। २. **भुवनम् असि**=ऋत की रशना को धारण करने के कारण तू भुवन है, सबका आश्रय है। 'भवन्ति भूतानि यस्मिन्' जिसमें सब प्राणी रहते हैं। अथवा 'भुवन' का अर्थ जल भी है, अतः तू जल की भाँति शान्त होता है। ३. **यन्ता असि**=तू अपना नियमन करनेवाला है, इस शरीररूप रथ के इन्द्रिय-अश्वों को काबू में रखनेवाला है। ४. इन्द्रियाश्वों को काबू में रखने से **धर्त्ता**=तू सबका धारण करनेवाला है। ५. **सः त्वम्** =वह तू **स्वाहाकृतः**=स्वार्थत्याग से परिष्कृत जीवनवाला हुआ-हुआ **वैश्वानरम्**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले **सप्रथसम्**=(प्रथ विस्तारे) विस्तार से युक्त, अत्यन्त विशाल, सर्वव्यापक **अग्निम्**=सबकी अग्रगति के साधक प्रभु को **गच्छ**=प्रातः-सायं ध्यान द्वारा प्राप्त हो, अर्थात् प्रभु का स्मरण करनेवाला बन।

भावार्थ—हम ऋत की रशना को बाँधकर अपने जीवन को नियन्त्रित करते हुए सभी का धारण करनेवाले बनें और स्वार्थत्याग से जीवन को सुन्दर बनाते हुए प्रातः-सायं उस सर्वव्यापक, सर्वहितकारी प्रभु का स्मरण करें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

अश्व-बन्धन

स्वगा त्वा देवेभ्यः प्रजापतये ब्रह्मन्नश्वं भन्त्स्यामि देवेभ्यः प्रजापतये तेन राध्यासम्। तं बधान देवेभ्यः प्रजापतये तेन राध्नुहि॥४॥

१. हे **ब्रह्मन्**=(बृहि वृद्धौ) अत्यन्त बढ़े हुए (वर्धमानं स्वे दमे) **अश्वम्**=(अश्नुते) सर्वव्यापक **त्वा**=आपको **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए तथा **प्रजापतये**=प्रजाओं का पति बनने के लिए **भन्त्स्यामि**=बाँधूँगा, अर्थात् ध्यान के द्वारा अपने हृदय में आपका धारण करूँगा। २. **तेन**=उस अश्व-बन्धन के द्वारा मैं **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए तथा **प्रजापतये**=प्रजाओं की रक्षा के लिए **राध्यासम्**=सिद्धि को प्राप्त करूँ, समर्थ होऊँ, अर्थात् मैं प्रतिदिन हृदयदेश में प्रभु का बन्धन करता हुआ दिव्य गुणों को व प्रजापतित्व को प्राप्त करनेवाला बनूँ। ३. **तं बधान**=सर्वव्यापक प्रभु को तू बाँधनेवाला बन और **तेन**=उससे **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए तथा **प्रजापतये**=प्रजा का पति बनने के लिए **राध्नुहि**=सिद्ध हो, तू दिव्य गुणों को प्राप्त कर तथा प्रजा का रक्षक बन।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण करनेवाला व्यक्ति दिव्य गुणों को प्राप्त करता है और प्रजा का रक्षक बनता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**इन्द्रादयः**। छन्दः—**अतिधृतिः**। स्वरः—**षड्जः**।

अश्व-प्रोक्षण

प्रजापतये त्वा जुष्टं प्रोक्षामीन्द्राग्निभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि वायवे त्वा जुष्टं प्रोक्षामि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यो जुष्टं प्रोक्षामि सर्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यो जुष्टं प्रोक्षामि। योऽअर्वन्तं जिघांᳪसति तमभ्यमीति वरुणः। परो मर्त्तः परः श्वा॥५॥

१. **प्रजापतये**=प्रजा का पति (रक्षक) बनने के लिए **जुष्टम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन किये गये **त्वा**=तुझे गतमन्त्र के अश्व, अर्थात् सर्वव्यापक परमात्मा को **प्रोक्षामि**=मैं अपने हृदयदेश में सिक्त करता हूँ। २. **इन्द्राग्निभ्याम्**=अपने अन्दर इन्द्र व अग्नितत्त्व के विकास के लिए, अर्थात् बल व प्रकाश की वृद्धि के लिए **जुष्टम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन किये गये **त्वा**=तुझे **प्रोक्षामि**=मैं अपने अन्दर सिक्त करता हूँ। ३. **वायवे**=वायुतत्त्व के विकास के लिए, अर्थात् (वा गतिगन्धनयोः) गति के द्वारा सब बुराइयों के हिंसन के लिए **जुष्टम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन किये गये **त्वा**=तुझको **प्रोक्षामि**=मैं अपने हृदयदेश में सिक्त करता हूँ। ४. **विश्वेभ्यः त्वा देवेभ्यः**=शरीर में अंशरूपेण प्रविष्ट सब देवों के लिए, अर्थात् चक्षु आदि में प्रतिष्ठित सूर्यादि देवों से स्वास्थ्य के लिए (सूर्यः चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्) **जुष्टम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन किये गये **त्वा**=तुझे **प्रोक्षामि**=अपने हृदयदेश में सिक्त करता हूँ। ५. **सर्वेभ्यः देवेभ्यः**=इस बाह्य जगत् में स्थित सूर्यादि देवों की अनुकूलता के लिए तथा दिव्य गुणों से युक्त विद्वानों की कृपादृष्टि के लिए **जुष्टम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन किये गये **त्वा**=तुझको **प्रोक्षामि**=अपने हृदयदेश में सिक्त करता हूँ, अर्थात् हृदय में प्रभु का स्मरण होने पर सब देवों की अनुकूलता होती है। ६. इसके विपरीत **यः**=जो **अर्वन्तम्**=उस हृदयस्थरूपेण प्रेरणा देनेवाले इस प्रभु को (अर्वः ईरणवान्-प्रेरकः नि० २०।३१) **जिघांसति**=नष्ट करना चाहता है, अर्थात् उसे भुलाकर संसार में आसक्त हो जाता है **तम्**=उसको **वरुणः**=वह श्रेष्ठ बनानेवाला प्रभु **अभ्यमीति**=(अभ्यमनं रोगः, to attack) इस वृत्ति के लिए पीड़ित करता है। यह

मर्त्तः=(अश्वं जिघांसुः) परमेश्वर को भूलकर विषयों के पीछे मरनेवाला मनुष्य **परः**=पराभूत होता है, अधस्पद को प्राप्त कराया जाता है। यह **श्वा**=विषयास्थियों को चाटनेवाला कुत्ते-जैसा मनुष्य **परः**=पराकृत होता है, दूर किया जाता है, समाज में आदर नहीं पाता।

भावार्थ—हृदयदेश में प्रभु के स्मरण से मनुष्य प्रजापति बनता है, बल व प्रकाश को प्राप्त करता है, गतिशीलता से बुराइयों को दूर करता है, चक्षु आदि इन्द्रियों को स्वस्थ रख पाता है, सूर्यादि देव व विद्वान् इसके अनुकूल होते हैं। प्रभु को भूलनेवाला पीड़ित होता है, अन्ततः निरादृत होता है और अधोगति को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**अग्न्यादयः**। छन्दः—**भुरिगतिजगती**। स्वरः—**निषादः**।

दशकं धर्मलक्षणम् (धर्मलक्षण दशक)

अग्नये स्वाहा सोमाय स्वाहापां मोदाय स्वाहा सवित्रे स्वाहा वायवे स्वाहा विष्णवे स्वाहेन्द्राय स्वाहा बृहस्पतये स्वाहा मित्राय स्वाहा वरुणाय स्वाहा ॥६॥

१. **अग्नये स्वाहा**=मैं अग्नि के समान तेजस्वी होने के लिए स्वार्थत्याग करता हूँ अथवा **स्व**=उस आत्मा (परमात्मा) के प्रति अपने को अर्पित करता हूँ। २. **सोमाय स्वाहा**=सोमतत्त्व के लिए, अर्थात् शान्त व सौम्य जीवन के लिए मैं प्रभु के प्रति अपना अर्पण करता हूँ। स्वार्थ-त्याग से जहाँ मैं तेजस्वी बनता हूँ वहाँ शान्ति को धारण करनेवाला होता हूँ। ३. **अपां मोदाय**=कर्मों के अन्दर आनन्द प्राप्ति के लिए **स्वाहा**=मैं प्रभु के प्रति अपना अर्पण करता हूँ। ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति सदा क्रियाशील होता है। प्रभु की भाँति उसकी क्रिया स्वाभाविक होती है। ४. **सवित्रे स्वाहा**=सविता व निर्माणात्मक कर्मों में लगे रहने के लिए मैं स्वार्थत्याग करता हूँ। स्वार्थ में ग्रस्त होने पर हम ध्वंसात्मक कर्मों में प्रवृत्त हो जाते हैं। ५. **वायवे**=इस निर्माणात्मक कर्मों में लगे रहने के लिए, गतिशील बने रहने के लिए **स्वाहा**=मैं उस प्रभु के प्रति अपना अर्पण करता हूँ। ६. **विष्णवे स्वाहा**=(विष्लृ व्याप्तौ) अपनी मनोवृत्ति को व्यापक व उदार बनाने के लिए मैं स्वार्थ-त्याग करता हूँ। ७. **इन्द्राय स्वाहा**=जितेन्द्रिय बनने के लिए मैं प्रभु के प्रति अपना अर्पण करता हूँ। ८. **बृहस्पतये**=देवताओं के भी गुरु—ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञानी बनने के लिए मैं स्वार्थत्याग करता हूँ। ९. इस ज्ञान को प्राप्त करके **मित्राय स्वाहा**=सबके साथ स्नेह करने के लिए स्वार्थत्याग करता हूँ। १०. **वरुणाय स्वाहा**=द्वेष-निवारण के लिए, अर्थात् द्वेष से दूर होने के लिए मैं स्वार्थत्याग करता हूँ।

भावार्थ—जब मनुष्य स्वार्थ से ऊपर उठता है और प्रभु के प्रति अर्पण की वृत्तिवाला बनता है तब वह अपने अन्दर 'अग्नि, सोम, अपां मोद, सविता, वायु, विष्णु, इन्द्र, बृहस्पति, मित्र और वरुण' इन दस तत्त्वों को धारण करनेवाला बनता है। यही दशक उसका धर्म हो जाता है। वह इस दशलक्षण धर्म को धारण करता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**प्राणादयः**। छन्दः—**अत्यष्टिः**[क], **स्वराडत्यष्टिः**[र]। स्वरः—**गान्धारः**॥

उनन्चास मरुत

[क]**हिङ्काराय स्वाहा हिङ्कृताय स्वाहा क्रन्दते स्वाहाऽवक्रन्दाय स्वाहा प्रोथते स्वाहा प्रप्रोथाय स्वाहा गन्धाय स्वाहा घ्राताय स्वाहा निविष्टाय स्वाहोपविष्टाय स्वाहा सन्दिताय स्वाहा वल्गते** [र]**स्वाहासीनाय स्वाहा शयानाय स्वाहा स्वपते स्वाहा जाग्रते स्वाहा कूजते स्वाहा प्रबुद्धाय स्वाहा विजृम्भमाणाय स्वाहा विचृताय स्वाहा सꣳहानाय स्वाहोपस्थिताय स्वाहाऽयनाय स्वाहा प्रायणाय स्वाहा ॥७॥**

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**प्रयत्नवन्तो जीवादयः**। छन्दः—**भुरिग्धृतिः**[क], **भुरिगतिधृतिः**[र]।
स्वरः—**ऋषभः**[क], **षड्जः**[र]॥

[क]यते स्वाहा धावते स्वाहोद्द्रावाय स्वाहोद्द्रुताय स्वाहा शूकाराय स्वाहा शूकृताय स्वाहा निषण्णाय स्वाहोत्थिताय स्वाहा जवाय स्वाहा बलाय स्वाहा विवर्तमानाय स्वाहा विवृत्ताय स्वाहा विधून्वानाय स्वाहा [र]विधूताय स्वाहा शुश्रूषमाणाय स्वाहा शृण्वते स्वाहेक्षमाणाय स्वाहेक्षिताय स्वाहा वीक्षिताय स्वाहा निमेषाय स्वाहा यदत्ति तस्मै स्वाहा यत्पिबति तस्मै स्वाहा यन्मूत्रं करोति तस्मै स्वाहा कुर्वते स्वाहा कृताय स्वाहा ॥८॥

१. छठे मन्त्र के अनुसार स्वार्थत्याग करने पर व प्रभु के प्रति अपना अर्पण करने पर अग्नि आदि तत्त्वों के शरीर में विकसित होने का उल्लेख था। अब सातवें व आठवें मन्त्र में उसी प्रकार स्वार्थत्याग से व प्रभु के प्रति अर्पण से शरीर में उननचास मरुतों व प्राणभेदों के ठीक से कार्य चलने का उल्लेख करते हैं। शरीर में ये प्राणवायु भिन्न-भिन्न रूप में होकर सारे शरीर की विविध क्रियाओं को सिद्ध करती है। ये भेद उननचास हैं—अतः ये प्राण=मरुत उननचास कहलाते हैं। इन उननचास मरुतों की क्रियाओं का वर्णन करते हुए कहते हैं कि १. **हिङ्काराय स्वाहा**=(शुक्लमेव हिङ्कारः। जै०उ० १।३४।१) अपने जीवन को शुक्ल बनाने के लिए मैं स्वार्थत्याग करता हूँ। स्वार्थ ही मलिनता है। इसके त्याग से मेरा जीवन शुद्ध होता है। उठने पर सबसे पूर्व शोधन ही आवश्यक होता है, अतः इस शोध से ही मन्त्र को प्रारम्भ किया गया है। 'प्राणो वै हिङ्कारः' (श० ४।२।२।११)। प्राणशक्ति की वृद्धि के लिए मैं स्वार्थभाव से ऊपर उठता हूँ। स्वार्थभाव में भोगप्रवणता बढ़ती है और प्राणशक्ति का ह्रास होता है। 'वज्रो हिङ्कारः' (कौ० ३।२)। प्राणशक्ति की वृद्धि के द्वारा मैं अपने इस शरीर को वज्रतुल्य बनाता हूँ। २. **हिङ्कृताय स्वाहा**=जिसने अपना शोधन कर लिया है, प्राणशक्ति की वृद्धि की है तथा शरीर को वज्रतुल्य बनाया है, उसके लिए हम (सु+आह) शुभ शब्द बोलते हैं, प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। ३. **क्रन्दते**=(क्रदि आह्वाणे) प्रभु को पुकारनेवाले का **स्वाहा**=हम आदर करते हैं। ४. **अवक्रन्दाय**=प्रभु को नीचे—अपने अन्दर बुलाने के लिए हम **स्वाहा**=स्वार्थत्याग करते हैं। प्रातः उठकर शोधन की प्रक्रिया के बाद प्रभु का स्मरण व स्तवन ही चलना चाहिए। इस प्रभु के आह्वान से हमें शुद्ध बनने में सहायता मिलती है। ५. **प्रोथते**=(प्रोथृ पर्याप्तौ subdue, overcome) प्रभु-स्मरण के द्वारा कामादि शत्रुओं का विजय करनेवाले के लिए हम **स्वाहा**=आदर के शब्द बोलते हैं। ६. **प्रप्रोथाय स्वाहा**=वासना-विजय के प्रकृष्ट कार्य के लिए, इन शत्रुओं को जीतने की क्षमता प्राप्त करने के लिए मैं स्वार्थत्याग करता हूँ। ७. अब प्रभु-स्मरण के पश्चात् स्वाध्याय का क्रम आता है। उस स्वाध्याय में मैं विज्ञान के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करता हूँ अथवा विज्ञान के द्वारा प्रभु के साथ सम्बन्ध जोड़ता हूँ। इस **गन्धाय स्वाहा**=ज्ञान की गन्ध के लिए मैं स्वार्थत्याग करता हूँ। स्वार्थ से ऊपर उठकर ही मैं अपनी बुद्धि को शुद्ध करता हूँ और अपने में ज्ञान का सम्बन्ध कर पाता हूँ। ८. **घ्राताय स्वाहा**=इस ज्ञान-गन्ध का ग्रहण करनेवाले के लिए मैं आदरभाव धारण करता हूँ। ९. स्वाध्यायानन्तर **निविष्टाय**=अपने कार्यों में लग जानेवाले पुरुष के लिए मैं **स्वाहा**=शुभ शब्द बोलता हूँ। १०. इन कार्यों को करते समय **उपविष्टाय स्वाहा**=सदा प्रभु के समीप स्थित के लिए मैं

आदर के शब्द कहता हूँ। ११. इन कार्यों को करते हुए **सन्दिताय स्वाहा**=(सम्यक् दितं खण्डनं यस्य सः) वासनाओं व आलस्य की भावना का सम्यक् खण्डन करनेवाले के लिए हम आदर करते हैं। १२. **वल्गते स्वाहा**=आलस्य को छोड़कर मधुरता से गति करते हुए का हम आदर करते हैं। १३. **आसीनाय स्वाहा**=कर्म करने के बाद अब आराम के लिए बैठे हुए के लिए हम शुभ शब्द बोलते हैं। १४. **शयानाय स्वाहा**=लेटनेवाले के लिए हम शुभ शब्द बोलते हैं। १५. **स्वपते स्वाहा**=सोनेवाले के लिए हम शुभ शब्द कहते हैं। १६. अब सोने के बाद **जाग्रते स्वाहा**=जागनेवाले के लिए हम शुभ शब्द बोलते हैं। १७. **कूजते स्वाहा**=जागने के बाद अव्यक्त रूप में, मानस जप के रूप में प्रभु के नामों का उच्चारण करनेवाले का हम आदर करते हैं १८. **प्रबुद्धाय स्वाहा**=अब खूब अच्छी प्रकार जागरित हो गये के लिए हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। १९. **विजृम्भमाणाय स्वाहा**=अब गात्रों का विविध नयन करनेवाले के लिए, अर्थात् सब अङ्ग-प्रत्यङ्गों को फैलानेवाले के लिए हम शुभ शब्द बोलते हैं। २०. **विचृताय**=(चृती दीप्तौ) गात्रविनाम के द्वारा दीप्त होनेवाले का हम आदर करते हैं। २१. **संहानाय**=**'अत्रा जहाम अशिवा ये असन्'** इस मन्त्रभाग की भावना के अनुसार अशिव को छोड़नेवाले का हम आदर करते हैं। २२. **उपस्थिताय स्वाहा**=अशुभ को छोड़कर प्रभु के समीप पहुँचे हुए का हम आदर करते हैं। २३. **अयनाय स्वाहा**=(अयते) प्रभु की ओर जानेवाले का हम आदर करते हैं। २४. **प्रायणाय स्वाहा**=(प्रकृष्टमयते) सदा प्रकृष्ट मार्ग से जानेवाले का हम आदर करते हैं।

२५. **यते स्वाहा**=गतिशील का हम आदर करते हैं। २६. **धावते स्वाहा**=गतिशीलता के द्वारा अपना शोधन करनेवाले का हम आदर करते हैं। २७. **उद्द्रावाय स्वाहा**=उत्कृष्ट गतिवाले का हम आदर करते हैं। २८. **उद्द्रुताय**=जो विषयों से **उत्**=ऊपर (out) उठ गया है, उसका हम आदर करते हैं। २९. **शूकाराय स्वाहा**=शीघ्रता से कार्यों को करनेवाले के लिए हम शुभ शब्द कहते हैं। ३०. **शूकृताय स्वाहा**=शीघ्रता से शिक्षित हुए का हम आदर करते हैं। ३१. **निषण्णाय**=अपने कार्यों में निश्चित रूप से स्थित का हम आदर करते हैं। ३२. **उत्थिताय स्वाहा**=उठ खड़े हुए के लिए, अर्थात् सदा कार्यों में उद्युक्त का हम आदर करते हैं। ३३. **जवाय**=वेगवान् के लिए, क्रियाओं में गतिवाले का हम आदर करते हैं। ३४. **बलाय स्वाहा**=क्रियाओं में सतत वेग के द्वारा उत्पन्न बल के लिए हम स्वार्थत्याग करते हैं। आलस्य=आराम को छोड़कर प्रबलता से कर्मों को करनेवाला ही सबल बनता है। **३५. विवर्त्तमानाय**=विशिष्ट रूप से क्रियाओं में चेष्टा करनेवाले का हम आदर करते हैं। ३६. **विवृत्ताय**=विशिष्ट वर्तन के कारण जो उत्कृष्ट चरित्रवाला बना है (विशिष्टं वृत्तं यस्य) उसके लिए हम आदर करते हैं। ३७. **विधूवानाय स्वाहा**=जो विशिष्ट वृत्तवाला बनकर बुराइयों को अपने से कम्पित करके दूर कर रहा है, उसके लिए शुभ शब्द कहते हैं। ३८. **विधूताय स्वाहा**=बुराइयों को कम्पित करते हुए जो 'विधूतपाप्मा' बन गया है, उसका हम आदर करते हैं। ३९. **शुश्रूषमाणाय स्वाहा**=विधूतपाप्मा बनने के लिए गुरुओं का उपदेश सुनने की इच्छावालों का तथा गुरुओं का उपासन करनेवाले का हम आदर करते हैं। ४०. **शृण्वते स्वाहा**=गुरुओं के उपदेश को सुननेवाले का लिए हम आदर करते हैं। ४१. **ईक्षमाणाय स्वाहा**=ज्ञान-प्राप्ति के लिए प्रकृति का सूक्ष्मता से निरीक्षण करनेवाले का हम आदर करते हैं। ४२. **ईक्षिताय स्वाहा**=प्रकृति के तत्त्वों के द्रष्टा का हम आदर करते हैं। ४३. **वीक्षिताय स्वाहा**=वीक्षित का—ठीक conception बनानेवाले का हम आदर करते हैं। ४४. इस प्रकृति-निरीक्षण के बाद **निमिषाय स्वाहा**=आँख आदि के व्यापार को रोककर

अन्तःस्थित आत्मतत्त्व को देखनेवाले का हम आदर करते हैं। ४५. **यत् अत्ति तस्मै स्वाहा**=आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए शरीर को स्वस्थ रखने के उद्देश्य से जो खाता है, सात्त्विक भोजन करता है, अन्न का सेवन करता है उसका हम आदर करते हैं। ४६. **यत् पिबति तस्मै स्वाहा**=इसी उद्देश्य से जो सात्त्विक दूध आदि का पान करता है, उसका हम आदर करते हैं। ४७. **यत् मूत्रं करोति तस्मै स्वाहा**=शरीर में से मूत्र आदि के क्षार मलांश को दूर करनेवाले प्राण का हम आदर करते हैं। ४८. **कुर्वते स्वाहा**=शोधनकार्य को करते हुए का हम आदर करते हैं और ४९. **कृताय स्वाहा** =मलादि के शोधनकार्य को कर चुके प्राण के लिए हम शुभ शब्द बोलते हैं। इस प्रकार की प्रशंसा करते हुए उसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होते हैं।

भावार्थ—हमारे शरीरों में प्राण के ४९ भेद भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं। उन्हीं से अङ्ग-प्रत्यङ्ग के सब कार्य चलते हैं। प्राणों की क्रिया से ही स्वास्थ्य व सुबुद्धि प्राप्त होती है, अतः विविध रूपों में उल्लिखित इन सब कार्यों को करते हुए प्राणों के लिए हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

भर्ग का वरण

तत्स॑वि॒तुर्वरे॑ण्यं॒ भर्गो॑ दे॒वस्य॑ धीमहि। धियो॒ यो नः॑ प्रचो॒दया॑त्॥९॥

१. गतमन्त्रों में वर्णित हमारे सब प्राण ठीक कार्य करेंगे तो हम इस प्रार्थना के योग्य होंगे कि **सवितुः** =सकल जगदुत्पादक, सर्वैश्वर्यशाली **देवस्य**=सब दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु के **तत् वरेण्यम्**=उस वरण करने योग्य **भर्गः**=तेज का **धीमहि**=ध्यान करें व धारण करें। शरीर में प्राणशक्ति के ठीक से कार्य न करने पर तेजस्विता का प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता। वस्तुतः संसार में जीव जब 'प्रभु की तेजस्विता' व 'प्रकृति के सौन्दर्य' में ग़लती से प्रकृति के सौन्दर्य का चुनाव कर बैठता है तब प्रेयमार्ग पर चलते हुए अधिकाधिक भोगों को जुटाता है और उनका आनन्द लेता हुआ अपनी शक्तियों को क्षीण कर बैठता है २. परन्तु प्रभु के तेज को अपना लक्ष्य बनाना ऐसा है **यः**=जो **नः**=हमारी **धियः**=बुद्धियों को **प्रचोदयात्**=प्रकृष्ट प्रेरणा देता है। प्रभु के तेज को अपना लक्ष्य बनानेवाला व्यक्ति कभी भोगमार्ग की ओर नहीं जाता और भोगमार्ग की ओर न जाने से क्षीणशक्ति नहीं होता। ३. संसार में भोगमार्ग पर चलनेवाला व्यक्ति ही स्वार्थप्रधान होकर द्वेष में फँसता है। यह प्रभु के तेज का वरण करनेवाला सभी का मित्र होता है, प्रभु के वरेण्य भर्ग का वरण करनेवाला 'विश्वामित्र' होता है।

भावार्थ—हम प्रभु के तेज का वरण करें। यह लक्ष्य हमारी बुद्धियों को शुद्ध बनाए रक्खेगा।

ऋषिः—**मेधातिथिः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

'चेत्ता-देवता-पदम्'

हिर॑ण्यपाणिमू॒तये॑ सवि॒तार॒मुप॑ ह्वये। स चेत्ता॑ दे॒वता॑ प॒दम्॥१०॥

१. गतमन्त्र का 'विश्वामित्र' बड़ी समझदारी से ठीक मार्ग पर चलने के कारण प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'मेधातिथि'=(मेधया अतति) समझदारी से चलनेवाला कहलाता है। यह कहता है कि मैं **ऊतये**=अपनी रक्षा के लिए उस प्रभु को **उपह्वये**=पुकारता हूँ जो

हिरण्यपाणिम्='हिरण्यं पाणौ यस्य' हाथ में हिरण्य=सोना लिये हुए हैं। उस हिरण्यपाणि के प्राप्त हो जाने पर मुझे धन की आवश्कता ही क्या रहेगी? **सवितारम्**=वे तो सम्पूर्ण जगत् के उत्पादक हैं अथवा सम्पूर्ण ऐश्वर्योंवाले हैं। उस प्रभु को पा लेने पर ऐश्वर्य की क्या कमी रहेगी? हम प्रभु के अतिथि बनेंगे तो उस सर्वव्यापक विष्णु की पत्नी 'लक्ष्मी' ही हमारा आतिथ्य करेंगी। लक्ष्मी की हमें कमी क्यों होगी? 'हिरण्यपाणि' की भावना यह भी है कि वे प्रभु 'हितरमणीय पाणि' वाले हैं। उन प्रभु का हाथ हमारे सिरों पर होगा तो हमारा कल्याण-ही-कल्याण होगा। २. **सः**=वे प्रभु **चेत्ता**=सर्वज्ञ हैं, सभी संज्ञानोंवाले हैं। इस प्रभु की उपासना मेरे ज्ञान को भी बढ़ानेवाली होगी। ३. **देवता**=वे देवता हैं। **'देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा'**=वे प्रभु सब-कुछ देनेवाले हैं, ज्ञान से दीप्त हैं, सभी को दीप्ति देकर चमकानेवाले हैं। ४. **पदम्**=**'पद्यते मुनिभिर्यस्मात् तस्मात् पद उदाहृतः'** वे प्रभु जानने योग्य हैं, अन्तिम लक्ष्य वे प्रभु ही हैं। उस प्रभु के ही समीप हमें पहुँचना है। वहाँ न पहुँचने तक मनुष्य भटकता ही रहता है। **'सा काष्ठा सा परागतिः'**=वे प्रभु ही यात्रा का चरम लक्ष्य हैं। वहीं शान्ति हैं, प्रभु को न पानेवालों को शान्ति कहाँ। **'तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्'** प्रभुनिष्ठ को ही शान्ति प्राप्त होती है, दूसरों को नहीं।

भावार्थ—प्रभु 'हिरण्यपाणि, सविता-चेत्ता-देवता व पद' हैं। उस प्रभु को ही प्राप्त करने के लिए यत्नशील होना चाहिए।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

महीं सुमति

देवस्य चेततो महीं प्र सवितुर्हवामहे। सुमतिꣳसत्यराधसम्॥११॥

१. **देवस्य**=सब दिव्यगुणों के पुञ्ज, देनेवाले, चमकनेवाले व चमकानेवाले **चेततः**=सर्वज्ञ **सवितुः**=सकल जगदुत्पादक, सर्वैश्वर्यशाली प्रभु की **महीम्**=महनीय महिमा को प्राप्त करानेवाली **सत्यराधसम्**=सत्य को सिद्ध करनेवाली (सत्यं राधयति) अथवा सत्य, अविनष्ट धनवाली (सत्यं राधो धनं यस्याः ताम्) **सुमतिम्**=शोभनबुद्धि को **प्रहवामहे**=प्रकर्षेण प्रार्थना करते हैं। २. प्रभु की यह कल्याणी मति वेद में प्रकाशित हुई है, उसे प्राप्त करके हम सचमुच अपने जीवनों को महिमावाला व सत्यधनवाला बना पाते हैं।

भावार्थ—प्रभु देव हैं, चेता हैं। उनकी कल्याणी मति को प्राप्त करके हम महिमाशाली व सत्यरूप धन को प्राप्त करनेवाले बनते हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

सुमति संवर्धन

सुष्टुतिꣳसुमतीवृधो रातिꣳसवितुरीमहे। प्र देवाय मतीविदे॥१२॥

१. **सुमतीवृधः**=शोभन बुद्धि का वर्धन करनेवाले, **सवितुः**=सकल जगदुत्पादक, सर्वैश्वर्यशाली प्रभु की **सुष्टुतिम्**=उत्तम स्तुति को तथा **रातिम्**=दान को **ईमहे**=चाहते हैं—याचना करते हैं। वे सुमति का वर्धन करनेवाले प्रभु हमारी बुद्धियों को ऐसा बनाएँ कि हम प्राकृतिक भोगों में आसक्त होकर उसे भूल न जाएँ। सुमति को प्राप्त करके इन प्रत्येक वस्तु में सब प्राकृतिक भोग्य वस्तुओं को शरीरपोषण के दृष्टिकोण से मात्रा में उपयुक्त करते हुए प्रत्येक वस्तु में प्रभु की महिमा को देखें और उसका स्तवन करें। वे प्रभु सविता हैं, सभी वस्तुओं को जन्म देनेवाले हैं, सारा ऐश्वर्य उन्हीं का है। उनकी शरण में आकर

उस प्रभु की राति से, दान से, हम वञ्चित थोड़े ही रहेंगे। २. यह प्रभु का स्तवन **प्रदेवाय**=हमें प्रकृष्ट देव बनाने के लिए हो। उन-उन गुणों से प्रभु का स्तवन करते हुए हम भी वैसा ही बनने का प्रयत्न करें और उस महान् देव के मार्ग पर चलते हुए देव बन जाएँ। ३. **मतीविदे**=यह प्रभु-स्तवन बुद्धि की प्राप्ति के लिए हो। यह स्तवन हमें भोगमार्ग से बचाकर उत्कृष्ट बुद्धिवाला बनाए। भोगासक्ति शरीर व बुद्धि दोनों ही को दुर्बल करती है।

भावार्थ—उस सविता का स्तवन करते हुए हम उत्कृष्ट दिव्य गुणों को प्राप्त करें और बुद्धि का वर्धन करनेवाले हों।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

देव-वीति

रातिꣳसत्पतिं महे सवितारमुप ह्वये। आसवं देववीतये॥१३॥

१. **रातिम्**=सब आवश्यक पदार्थों को देनेवाले दाता को **सत्पतिम्**=सज्जनों के रक्षक **सवितारम्**=सकल जगदुत्पादक, सर्वैश्वर्ययुक्त प्रभु को **महे**=(पूजनीय—उ०) पूजता हूँ और **उपह्वये**=पुकारता हूँ, प्रार्थना करता हूँ। प्रभु की पूजा से मैं भी प्रभु का छोटा रूप बन पाऊँगा। प्रभु 'राति' हैं, दाता हैं, मैं भी दाता बनूँगा, सारा स्वयं खा जानेवाला न होऊँगा। प्रभु 'सत्पति' हैं, मैं भी उत्तम कार्यों का रक्षक बनूँगा, सदा उत्तम कार्य करनेवाला होऊँगा। प्रभु 'सविता' हैं, मैं भी सदा निर्माण के कार्यों में लगूँगा। २. **आसवम्**=उस समन्तात् ऐश्वर्ययुक्त प्रभु को मैं पुकारता हूँ कि **देववीतये**=मेरे अन्दर दिव्य गुणों का प्रकाश हो, मैं दिव्य गुणों को प्राप्त करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—प्रभु 'राति-सत्पति, सविता व आसव' हैं। हम इस प्रभु की ही पूजा करें, प्रार्थना करें, जिससे हममें दिव्य गुणों का प्रादुर्भाव हो। इन दिव्य गुणों से हम भी समन्तात् ऐश्वर्ययुक्त हों।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

मति-आसव-भग

देवस्य सवितुर्मतिमासवं विश्वदेव्यम्। धिया भगं मनामहे॥१४॥

१. **सवितुः**=सकल जगदुत्पादक, सर्वैश्वर्ययुक्त **देवस्य**=दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु की **मतिम्**=बुद्धि को **मनामहे**=(याचामहे) हम माँगते हैं। उस प्रभु की कल्याणी बुद्धि प्राप्त होने पर हम भी **सविता**=निर्माण के कार्यों के करनेवाले बनने का प्रयत्न करेंगे और उस कल्याणी मति के प्राप्त होने पर सदा उत्कृष्ट मार्ग से चलते हुए हम देव बनने के लिए यत्नशील होंगे। २. हम प्रभु के **आसवम्**=उस व्यापक ऐश्वर्य को चाहते हैं, जो ऐश्वर्य **विश्वदेव्यम्**=सब दिव्य गुणों की प्राप्ति में सहायक होता है। इस ऐश्वर्य के होने पर मनुष्य का बहुमूल्य जीवन जीविका-प्राप्ति में व्यर्थ व्यतीत न होकर अध्यात्म उन्नति में लगता है। 'आसव' शब्द का अर्थ प्रेरणा भी है, हम उस प्रेरणा की याचना करते हैं जो हमें सब दिव्य गुणों को प्राप्त कराती है। ३. **धिया**=बुद्धिपूर्वक कर्मों के द्वारा **भगम्**=ऐश्वर्य को **मनामहे**=माँगते हैं। कर्मों के द्वारा प्राप्त ऐश्वर्य ही हमारे जीवन में सद्गुणों को जन्म देनेवाला होता है। बिना श्रम के प्राप्त ऐश्वर्य मनुष्य के पतन का कारण होता है।

भावार्थ—हम सवितादेव की 'सुमति-प्रेरणा व ऐश्वर्य' को प्राप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—**सुतम्भरः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

स्तोम द्वारा बोधन

अग्निꣳस्तोमेन बोधय समिधानोऽअमर्त्यम्। हव्या देवेषु नो दधत्॥१५॥

१. **अग्निम्**=उस अग्रेणी परमात्मा को **स्तोमेन**=स्तुतिसमूह से **बोधय**=जागरित कर। जब हम स्तवन के द्वारा उस प्रभु की भावना को हृदय में उद्बुद्ध करते हैं तब वह प्रभु हमारी अग्रगति का कारण बनते हैं। २. वे प्रभु **अमर्त्यम्**=विषयों के पीछे न मरनेवाले इस स्तोता को **समिधानः**=दीप्त करते हैं। जब व्यक्ति प्रभु का स्तवन करनेवाला बनता है तब उसकी चित्तवृत्ति वैषेयिक नहीं होती। वह विषयों को विष समझता हुआ उनसे दूर ही रहता है। इसकी चित्तवृत्ति को शुद्ध करके वे प्रभु इसे ज्ञान से समिद्ध कर देते हैं तथा ३. **नः**=हमें **देवेषु**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए **हव्या दधत्**=हव्य पदार्थों को प्राप्त कराते हैं। उन सात्त्विक पदार्थों का सेवन करते हुए हम मन की शुद्धि से दिव्य गुणोंवाले होते हैं।

भावार्थ—मनुष्य स्तवन के द्वारा अपने हृदय में प्रभु की भावना को जागारित करे। यह प्रभु-स्मरण विषयों के पीछे मरने से बचाता है और हृदयों को प्रकाश से दीप्त करता है। प्रभु हव्य=यज्ञिय पवित्र पदार्थों को प्राप्त कराके दिव्य गुणों से युक्त करते हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

प्रज्ञापूर्वक कर्मों से प्रभु-प्राप्ति

स हव्यवाडमर्त्यऽउशिग्दूतश्चनोहितः। अग्निर्धिया समृण्वति॥१६॥

१. **सः**=वह **अग्निः**=अग्रेणी=सब उन्नतियों का साधक **धिया**=बुद्धिपूर्वक कर्मों से **समृण्वति**=प्राप्त होता है। प्रभु-प्राप्ति के लिए एकमात्र उपाय 'बुद्धिपूर्वक कर्म करना' है। अकर्मण्य को प्रभु की प्राप्ति नहीं होती, अतः मनुष्य को कर्मशील तो बनना ही है। वे कर्म उसे बुद्धिपूर्वक करने हैं। 'मनुष्य' का अर्थ '**मत्वा कर्माणि सीव्यति**' है—विचारकर कर्मों को करता है। २. वे प्रभु **हव्यवाट्**=हव्य पदार्थों को प्राप्त करानेवाले हैं। हमें उत्तम यज्ञिय पदार्थों को प्राप्त कराके इन पदार्थों के सेवन से वे हमें शुद्ध बुद्धिवाला बनाते हैं। ३. **अमर्त्य**=वे प्रभु अमर्त्य हैं, उनके उपासन से हम भी अमर्त्य बनते हैं, ४. **उशिक्**=मेधावी हैं अथवा जीव का हित चाहनेवाले हैं। ५. **दूतः**=उसका हित करने के लिए वे उसे तपस्या की अग्नि में सन्तप्त करते हैं। तप की अग्नि में सन्तप्त होकर ही तो हम शुद्ध जीवनवाले बनेंगे। इन तपों को सामान्य लोग कष्ट समझते हैं और वे धर्मात्माओं को दुःखपतित समझ विचित्र-सी धारणाएँ बना लेते हैं। ६. वे प्रभु **चनोहितः**=(धनसा हितः) अन्न द्वारा हममें निहित होते हैं। अन्न की शुद्धि होने पर अन्तःकरण शुद्ध होता है और अन्तःकरण के शुद्ध होने पर वहाँ प्रभु का निवास होता है।

भावार्थ—हम उस प्रभु को प्रज्ञापूर्वक कर्मों द्वारा प्राप्त करने का प्रयत्न करें जो प्रभु हमें हव्य पदार्थ प्राप्त कराते हैं, अमर्त्य बनाते हैं, हमारे भले की ही कामना करते हैं, तप की अग्नि में हमें तपाते हैं तथा सात्त्विक अन्न के सेवन से हमारे हृदयों में निहित होते हैं।

ऋषिः—**विश्वरूपः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

अग्नि का पुरःस्थापन

अग्निं दूतं पुरो दधे हव्यवाहमुप ब्रुवे। देवाँ२॥ऽआ सादयादिह॥१७॥

१. इस संसार-यात्रा में कार्य करते हुए हम **दूतम्**=तपोऽग्नि में सन्तप्त करनेवाले

अग्निम्=हमें निरन्तर आगे ले-चलनेवाले प्रभु को **पुरः दधे**=सामने रखते हैं, अर्थात् प्रभु के अविस्मरणपूर्वक ही हमारे सब कार्य होते हैं। इसी कारण उन कार्यों में अपवित्रता नहीं होती। २. **हव्यवाहम्**=हव्य पदार्थों की प्राप्ति करानेवाले परमात्मा की मैं **उपब्रुवे**=प्रार्थना करता हूँ। प्रातः-सायं उसके समीप उपस्थित होकर यही याचना करता हूँ कि 'हे सब अन्नों के पति प्रभो! हमें रोगरहित व बलकारक अन्न दीजिए'। उन सात्त्विक पदार्थों को प्राप्त कराइए जिनके सेवन से हमारे अन्तःकरण शुद्ध हों। ३. उनको शुद्ध करके हे प्रभो! आप **इह**=इस मानव-जीवन में, शुद्ध हृदय में, **देवान्**=दिव्य गुणों को **आसादयात्**=प्राप्त कराएँ। दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए शुद्ध-हृदयता आवश्यक है।

भावार्थ—हम कर्मों को करते हुए प्रभु को न भूलें। प्रभु से हव्य (सात्त्विक) पदार्थों की याचना करें। प्रभु हमारे शुद्ध हृदयों में दिव्य गुणों की स्थापना करें। इस प्रकार प्रभु का सदा स्मरण करने से हम प्रभु के ही छोटे रूप 'विश्वरूप' बनते हैं।

ऋषिः—**अरुणत्रसदस्यू**। देवता—**पवमानः**। छन्दः—**पिपीलिकामध्याविराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

अरुण-त्रसदस्यु

अजीजनो हि पवमान सूर्यं विधारे शक्मना पयः।
गोजीरया रꣳहमाणः पुरन्ध्या ॥१८॥

१. हे **पवमान**=मेरे हृदय को पवित्र करनेवाले प्रभो! **हि**=निश्चय से आप **सूर्यं अजीजनः**=मेरे मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान के सूर्य को उदित करते हैं। २. मैं आपके आदेश के अनुसार **शक्मना**=शक्ति के हेतु से **पयः**=दूध को **विधारे**=धारण करता हूँ, अर्थात् दूध आदि पवित्र पदार्थों के सेवन से शक्ति को प्राप्त करने का प्रयत्न करता हूँ। ३. **गोजीरया**=(इमे लोका गौः—शतपथ० ६।५।२।१७) समस्त लोकों को जीवन देनेवाली **पुरन्ध्या**=(पुरं बहु दधाति) बहुतों को धारण करनेवाली शक्ति से **रंहमाणः**=इस जीवन-यात्रा में मैं आगे-और-आगे बढ़ता हूँ। मेरे सब कार्य इन पृथिवीस्थ (गो) प्राणियों के मिलाने के हेतु से तथा बहुत के धारण के दृष्टिकोण से ही हों। **'यद्भूतहितमत्यन्तं तत्सत्यमिति धारणा'**=जो अधिक-से-अधिक प्राणियों का हित है वही तो सत्य है। मेरे सब कार्य भी पृथिवीस्थ प्राणियों के जिलानेवाले व बहुत का धारण करनेवाले हों। ४. इस प्रकार मेरा सारा जीवन गतिशील व्यक्ति का जीवन हो (ऋ गतौ) मैं 'अरुण' बनूँ। मेरी इस 'गतिशीलता' से दास्यववृत्तियाँ मुझसे भयभीत होकर दूर ही रहें और मैं मन्त्र का ऋषि 'त्रसदस्यु' बनूँ।

भावार्थ—पवित्रता से ज्ञान दीप्त होता है। शक्ति के लिए हमें सात्त्विक दुग्ध आदि पदार्थों का प्रयोग करना है। हम सदा पृथिवी आदि लोकों के प्राणियों के जीवन के उद्देश्य से तथा बहुत के धारण के उद्देश्य से क्रियाओं को करनेवाले बनें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**भूरिग्विकृतिः**। स्वरः—**मध्यमः**॥

विभूः-प्रभूः

विभूर्मात्रा प्रभूः पित्राश्वोऽसि हयोऽस्यत्योऽसि मयोऽस्यर्वासि सप्तिरसि वाज्यसि वृषासि नृमणाऽअसि। ययुर्नामाऽसि शिशुर्नामास्यादित्यानां पत्वान्विहि देवाऽआशापालाऽएतं देवेभ्योऽश्वं मेधाय प्रोक्षितꣳरक्षतेह रन्तिरिह रमतामिह धृतिरिह स्वधृतिः स्वाहा ॥१९॥

१. **मात्रा**=तू माता से **विभूः**=व्यापक वृत्तिवाला=उदारवृत्तिवाला बना है। माता से तूने व्यापक हृदयता के संस्कार प्राप्त किये हैं। २. **पित्रा प्रभूः**=पिता से तूने शक्ति (प्रभाव) को प्राप्त किया है। ३. इस प्रकार माता-पिता से विशाल हृदय व शक्ति को प्राप्त करके **अश्वः असि**=तू कर्मों में व्याप्त होनेवाला है, अर्थात् तू सदा कर्मशील जीवन बिताता है। **हयः असि**=(हय गतौ) तू गतिशील है। गतिशील ही क्या, **अत्यः असि**=(अत सातत्यगमने) तू निरन्तर गतिशील है। गति तो तेरा स्वभाव ही बन गया है। ४. इस गतिशीलता के कारण **मयः**=तू सुखरूप है। गतिशीलता के कारण तेरा जीवन सुखी है। ५. **अर्वा असि**=(अर्वति हिनस्ति च) सब बुराइयों का तू संहार करनेवाला है और बुराइयों के संहार के द्वारा ही **सप्तिः असि**=(सप सम्बन्धे) प्रभु से अपना सम्बन्ध जोड़नेवाला है। प्रभु के साथ सम्बद्ध होकर **वाजी असि**=तू शक्तिशाली बनता है। प्रभु की शक्ति का तुझमें प्रवाह होता है। ६. शक्तिसम्पन्न बनकर **वृषा असि**=तू लोगों पर सुखों की वर्षा करनेवाला बनता है। **नृमणा असि**=(नृषु मनो यस्य) तेरा मन सदा लोगों में रहता है, अर्थात् तू सदा उनकी उन्नति व सुख के वर्धन का विचार करता है। ७. इसके लिए तू **ययुः नाम असि**=खूब ही गतिशील बना है। लोगों की उन्नति व सुख के लिए अतिशयित प्रयत्नवाला होता है। **शिशुः नाम असि**=(श्यति कृशं करोति) अपने प्रयत्नों से तू लोगों के कष्टों को अत्यन्त क्षीण करनेवाला बनता है। अथवा (श्यति तनूकरोति) तू अपनी बुद्धि को भी अत्यन्त सूक्ष्म बनाता है, जिससे ठीक विचार से तू ठीक कार्य कर सके। ८. प्रभु कहते हैं कि तू **आदित्यानां पत्वा अन्विहि**=आदित्यों के मार्ग से चलनेवाला बन। आदित्यों का मार्ग यह है कि ये सर्वत्र विचरते हुए अच्छाई को ग्रहण करते हैं और बुराई को वहीं रहने देते हैं, बुराई का ध्यान नहीं करते। इस मार्ग पर चलने से प्रजा में कल्याण-ही-कल्याण होगा, सब लड़ाई-झगड़े समाप्त हो जाएँगे। ९. हे **आशापालाः**=इस '**अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूः**' की सब दिशाओं से रक्षा करनेवाले (आशा=दिशा) **देवाः**=देवो! **एतम्**=इस **अश्वम्**=शक्तिशाली तथा कर्मों में व्याप्त होनेवाले **प्रोक्षितम्**=जिसके शरीर में वीर्य का सिञ्चन हुआ है, वस्तुतः शरीर में वीर्य का सिञ्चन करके ही यह शक्तिशाली बना है, **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए तथा **मेधाय**=यज्ञरूप उत्तम कर्म के लिए **रक्षत**=सुरक्षित करो। 'मुख, पायु, उपस्थ व ब्रह्मरन्ध्र' ये चार मुख्य द्वार हैं। इनके अधिष्ठातृदेव ही आशापाल देव हैं। इनके कार्य के ठीक होने पर मनुष्य का जीवन सुरक्षित रहता है, वह बीमारियों से पीड़ित नहीं होता। वह वीर्य को शरीर में ही सुरक्षित करके कर्मों में प्रवृत्त होता है। १०. **इह** =इस उल्लिखित जीवन में **रन्तिः**=आनन्द है। **इह रमताम्**=मनुष्य को चाहिए कि वह इसमें ही रमण करे, आनन्द का अनुभव ले। **इह**=इस जीवन में **धृतिः**=दृढ़ता व कष्टों से न घबराना होता है। **इह स्वधृतिः**=इस जीवन में हम आत्मतत्त्व का धारण-दर्शन करते हैं। **स्वाहा**=अतः इस जीवन के लिए हम प्रशंसा के शब्द कहते हैं। इसी जीवन को प्राप्त करने का पूर्ण प्रयत्न करते हैं। इसके लिए अपने को दे डालते हैं। यही हमारा ध्येय हो जाता है।

भावार्थ—हम उदार हृदय व शक्तिशाली बनकर सदा क्रियाशील बनें। अपने को पवित्र कर प्रभु से अपना सम्बन्ध स्थापित करें। इस सम्बन्ध से शक्तिशाली बनकर लोकसेवा के कार्य में लग जाएँ। सर्वत्र अच्छाई को ग्रहण करके आगे बढ़ते चलें। इसी जीवन में आनन्द-प्राप्ति, कष्ट-सहनशक्ति व आत्मधारण है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**प्रजापत्यादयः**। छन्दः—**भुरिग्धृतिः**[क] / **निचृदतिधृतिः**[र]। स्वरः—**षड्जः**॥

समर्पण व स्वार्थत्याग

[क]**काय स्वाहा कस्मै स्वाहा कतमस्मै स्वाहा स्वाहाधिमाधीताय स्वाहा मनः प्रजापतये स्वाहा चित्तं विज्ञातायादित्यै स्वाहादित्यै मह्यै स्वाहादित्यै सुमृडीकायै स्वाहा सरस्वत्यै स्वाहा सरस्वत्यै पावकायै स्वाहा** [र]**सरस्वत्यै बृहत्यै स्वाहा पूष्णे स्वाहा पूष्णे प्रपथ्याय स्वाहा पूष्णे नरन्धिषाय स्वाहा त्वष्ट्रे स्वाहा त्वष्ट्रे तुरीपाय स्वाहा त्वष्ट्रे पुरुरूपाय स्वाहा विष्णवे स्वाहा विष्णवे निभूयपाय स्वाहा विष्णवे शिपिविष्टाय स्वाहा ॥२०॥**

१. **काय**='को हि प्रजापतिः' (श० ६।२।२।५) प्रजापति के लिए **स्वाहा**=तू अपने को अर्पित करनेवाला बन। **कस्मै स्वाहा**=आनन्दस्वरूप परमात्मा के लिए तू अपने को अर्पित करनेवाला बन। **कतमस्मै स्वाहा**=अत्यन्त आनन्दस्वरूप परमात्मा के लिए तू अपने को अर्पित करनेवाला बन। २. **आधिम्**=(Reflection=धर्मचिन्ता=अध्यात्म-विचार) अपने सारे विचार को **आधीताय**=स्वरूपचिन्तन के लिए अथवा इस संसार के तत्त्वचिन्तन के लिए **स्वाहा**=अर्पित कर, अर्थात् तू सदा पुरुष व प्रकृति का स्वरूपचिन्तन करनेवाला बन। **मनः**=अपने मन को **प्रजापतये स्वाहा**=प्रजापति के लिए अर्पित कर। **चित्तम्**=अपने चित्त को **विज्ञाताय**=विज्ञान की प्राप्ति के लिए **स्वाहा**=अर्पित कर। ३. **अदित्यै**=अखण्डन के लिए तू **स्वाहा**=स्वार्थ को त्यागनेवाला बन। स्वार्थत्याग से ही तुझे पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त होगा। इस **अदित्यै** =अदीना देवमाता (नि० ५।२२) के लिए जोकि **मह्यै**=महनीय है, तेरे जीवन को महत्त्वपूर्ण बनाएगी, उसके लिए **स्वाहा**=तू स्वार्थत्याग करनेवाला बन। स्वार्थ मनुष्य को दीन बनाता है, स्वार्थ से ऊपर उठकर हम दिव्य गुणों को प्राप्त करते हैं। इस **अदित्यै**= वेदवाणी के लिए (नि०१।४) तू **स्वाहा**=अपने को अर्पित कर जो **सुमृडीकायै**=तेरे जीवन को बड़ा सुखी बनाएगी। ४. **सरस्वत्यै**=ज्ञानाधिदेवता की आराधना के लिए **स्वाहा**=तू अपने को अर्पित कर। **सरस्वत्यै**=उस ज्ञानाधिदेवता के लिए तू अपने को **स्वाहा**=अर्पित कर जो **पावकायै**=पवित्र करनेवाली है। उस **सरस्वत्यै**=ज्ञानाधिदेवता के लिए तू **स्वाहा** =स्वार्थत्याग कर जो **बृहत्यै**=तेरे वर्धन का कारण होगी। ५. **पूष्णे**=पोषण की देवता के लिए तू **स्वाहा** =स्वार्थ का त्याग कर। स्वार्थत्याग शरीर के उत्तम पोषण का कारण बनता है। **पूष्णे स्वाहा**=उस पोषण के लिए तू निःस्वार्थ हो जो **प्रपथ्याय**=उत्कृष्ट मार्ग पर चलने के लिए सहायक होता है। **पूष्णे स्वाहा**=उस पोषण के लिए तू स्वार्थ से ऊपर उठ जो **नरन्धिषाय**= (नरान् दधाति धारयति—उ०) मनुष्यों का धारण करता है। स्वार्थ से ऊपर उठकर ही मनुष्य लोकहित कर सकता है और यह लोकहित ही (नरान् दिधेष्टि शब्दयति उदयेन—म०) मनुष्य के चतुर्दिक् प्रवाही यश का कारण बनता है। ६. अब ज्ञान व पुष्ट शरीर को प्राप्त करके **त्वष्ट्रे स्वाहा**=निर्माण की देवता के लिए तू अपने को अर्पित कर, अर्थात् निर्माण के कार्यों में लग जा। उस **त्वष्ट्रे स्वाहा**=निर्माण की देवता के लिए तू अपने को अर्पित कर जो **तुरीपाय**=(तूर्णं धारया पाति—उ०) शीघ्रता से रक्षा करनेवाला है। **त्वष्ट्रे**=उस निर्माण की देवता के लिए **स्वाहा**=तू अपने को अर्पित कर जो **पुरुरूपाय**=(पुरुणि रूपाणि यस्य) बड़े उत्तम रूपों को प्राप्त करानेवाला है। व्यक्ति निर्माण के कार्यों

में लग जाएँ तो जहाँ राष्ट्र का शीघ्र ही कल्याण हो जाएगा वहाँ राष्ट्र को बड़ा सुन्दर रूप प्राप्त होगा। देश की आकृति ही बदल जाएगी। सब जगह 'सुख, सौन्दर्य व शान्ति' का राज्य हो सकेगा। ७. **विष्णवे स्वाहा**=(विष्लृ व्याप्तौ) व्यापक मनोवृत्ति के लिए तू स्वार्थत्याग कर। व्यापकता को तभी प्राप्त होंगे जब स्वार्थ को समाप्त करेंगे। उस **विष्णवे**=व्यापक, उदार मनोवृत्ति के लिए **स्वाहा**=तू स्वार्थत्याग कर जो **निभूयपाय**=(नीचैर्भूत्वा यः पाति—उ०) नम्र बनकर सबका रक्षण करती है। उदार वृत्तिवाला पुरुष रक्षणादि कार्यों में प्रवृत्त होता है, परन्तु इन कार्यों को करते हुए सदा नम्र बना रहता है। उस **विष्णवे स्वाहा**=उदार मनोवृत्ति के लिए निःस्वार्थ बन जो **शिपिविष्टाय**=(शिपिषु अक्रोशत्सु प्राणिषु प्रविष्टाय—द०) उन-उन क्लेशों से पीड़ित व क्रन्दन करते हुए प्राणियों में प्रवेश करता है तथा अज्ञानवश उनसे किये गये आक्रोशों का ध्यान न करते हुए उनके हित में लगा रहता है। ये 'विष्णु' वृत्तिवाले लोग 'तितिक्षन्ते अभिशस्तिं जनानाम्' लोगों से दी गई गालियों को सदा सहते हैं।

भावार्थ—हम उस प्रभु के लिए अपना अर्पण करें जो आनन्दस्वरूप है। स्वरूप के स्मरण के लिए हमारा चिन्तन हो, मन प्रजापति में लगा हो, ज्ञान की रुचि हो, अदीना देवमाता, सरस्वती, पूषा, त्वष्टा व विष्णु के हम आराधक बनें।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**आर्ष्यनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

देव-सख्य मित्रता

विश्वो॑ दे॒वस्य॑ ने॒तुर्मर्तो॑ वुरीत स॒ख्यम्।
विश्वो॑ रा॒यऽइ॑षुध्यति द्यु॒म्नं वृ॑णीत पु॒ष्यसे॒ स्वाहा॑ ॥२१॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'स्वस्त्यात्रेय' है। कल्याण को प्राप्त उत्तम स्थितिवाला, काम-क्रोध-लोभ से दूर। इसका मन्तव्य है कि **विश्वः**=इस संसार में प्रविष्ट **मर्तः**=मनुष्य **नेतुः**=सबका प्रणयन करनेवाले **देवस्य**=दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु की **सख्यम् वुरीत**=मित्रता का वरण करे। संसार में प्रकृति की मित्रता का वरण करके ही मनुष्य उसके पाँवों तले रौंदा जाता है। २. परन्तु संसार के इस स्वरूप को देखता हुआ भी **विश्वः**=सब मनुष्य **रायः**=धनों को ही **इषुध्यति**=चाहता है। धन का दास बनकर मनुष्य सचमुच अपना दासत्व=क्षय (दसु उपक्षये) सिद्ध कर लेता है। यह लक्ष्मी का वाहन उल्लू बन जाता है 'उत्=उत्कर्ष लुनाति'=यह अपने सब उत्कर्ष को खो बैठता है। इसका धन का दास बनना इसके निधन (मृत्यु) का कारण हो जाता है। ३. यह भी ठीक है कि इस संसार में धन के बिना कोई कार्य नहीं चलता, अतः वेद कहता है कि **द्युम्नम्**=इस यज्ञ के कारणभूत धन का भी **वृणीत**=वरण करो, परन्तु **पुष्यसे**=उतना ही जितना कि पोषण के लिए पर्याप्त हो। जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वरण किया गया धन हमारे पतन का कारण नहीं बनता, उसी प्रकार जैसे भोजन शरीर का रक्षण ही करता है। यह अतिभोजन ही है जो शरीर को हानि पहुँचाता है। ४. अतः हम धन के दास न बन जाएँ, इसके लिए हम **स्वाहा**=स्वार्थत्याग की वृत्तिवाले बनें।

भावार्थ—इस संसार में हमारी उत्तम स्थिति व कल्याण तभी होगा जब हम प्रभु की मित्रता का वरण करेंगे और धन के दास न बन जाएँगे। धन को हम उतना ही चाहें जितना कि शरीर-पोषण के लिए आवश्यक हो।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**स्वराडुत्कृतिः**। स्वरः—**षड्जः**॥

आदर्श राष्ट्र

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूरऽइषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामेनिकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो नऽओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम्॥२२॥

१. 'गतमन्त्र के अनुसार धन का दास न बनकर प्रभु का मित्र बनने पर राष्ट्र कैसा बनेगा' इसका चित्रण करते हुए कहते हैं कि हे **ब्रह्मन्**=हमारी सब वृद्धियों के कारणभूत परमात्मन्! आपकी कृपा से **राष्ट्रे**=हमारे राष्ट्र में **ब्राह्मणः**=ब्रह्मज्ञानी पुरुष **ब्रह्मवर्चसी**=यज्ञाध्ययनशील **आजायताम्**=पूर्ण रूप से हो, अर्थात् हमारे राष्ट्र के ब्राह्मण सदा यज्ञों में व अध्ययन में प्रवृत्त रहें, उनकी रुचि यज्ञाध्ययन की ही हो। २. **राजन्यः**=क्षत्रिय **शूरः**=शूर हो, 'शूर विक्रान्तौ', वीरता के कर्म करनेवाला हो। **इषव्यः**=(इषुषु साधुः) अस्त्रविद्या में कुशल हो। **अतिव्याधी**=शत्रुओं को अतिशयेन विद्ध करनेवाला हो। **महारथः**=यह महारथ **जायताम्**=हो, अकेला ही हज़ारों के साथ युद्ध करने की क्षमता रखता हो। ३. वैश्यों के ठीक कार्य करने के कारण इस राष्ट्र में **धेनुः दोग्ध्री**=गौवें बड़ी दुधार हों, **अनड्वान् वोढा**=बैल भारवहन-क्षम हो, **सप्तिः आशुः**=घोड़े शीघ्रता से अपने मार्ग का व्यापन करनेवाले हों। ४. घरों में **योषा**=पत्नी **पुरन्धिः**=रूपादिगुण समन्वित शरीर को धारण करनेवाली हो अथवा (पुरुम् दधाति—द०) बहुत का, घर के सब सभ्यों का धारण करनेवाली हो। ५. **अस्य यजमानस्य**=इस यज्ञशील पुरुष का **वीरः**=पुत्र—सन्तान **जिष्णुः**=सदा जयशील, विजेता बने, **रथेष्ठाः**=रथे स्थितः=सदा रथ पर आरुढ़ होनेवाला हो, **सभेयः**=(सभायां साधुः) सभ्य व्यवहारवाला हो। संक्षेप में सन्तान वीर, विजेता, रथेष्ठ व सभ्य बने। इस शरीररूप रथ को पूर्णरूप से वश में करनेवाले हो। ६. **नः निकामे-निकामे**=(नितरां कामनायां सत्याम्—म०) हमारी निश्चित कामना होने पर **पर्जन्यः वर्षतु**=बादल वर्षा करनेवाले हों। जब-जब हमें अन्नादि के दृष्टिकोण से वर्षा की आवश्यकता हो तब-तब हमारे राष्ट्र में पर्जन्यदेव वृष्टि करनेवाले हों। वस्तुतः जब राष्ट्र में ब्राह्मणादि वर्ग अपना कार्य ठीक से नहीं करता तब अनावृष्टि आदि आधिदैविक आपत्तियाँ आया करती हैं। बादलों के ठीक बरसने से **नः ओषधयः**=हमारी सब ओषधियाँ **फलवत्यः**=फलवाली होकर **पच्यन्ताम्**=परिपक्व हों और इस प्रकार **नः**=हमारा **योगक्षेमः**=योगक्षेम **कल्पताम्**=क्लृप्त हो, सिद्ध हो। अप्राप्त की प्राप्ति 'योग' है, प्राप्त का रक्षण 'क्षेम' है। आवश्यक वस्तुओं की उपलब्धि व उनका रक्षण 'योगक्षेम' कहलाता है। 'राष्ट्र में सबका 'योगक्षेम' ठीक से चले, यही राष्ट्र की उत्तमता है। आदर्श राष्ट्र यही है।

भावार्थ—हमारे राष्ट्र में 'ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य' सब अपना कार्य ठीक से करें। श्रमिक लोग अपने कृषि आदि कार्यों को ठीक से करनेवाले हों। हमारे सन्तान उत्तम हों। राष्ट्र में सबका योगक्षेम ठीक से चले।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**प्राणादयः**। छन्दः—**स्वराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

प्राण-चक्षु-मन

प्राणाय स्वाहापानाय स्वाहा व्यानाय स्वाहा चक्षुषे स्वाहा श्रोत्राय स्वाहा वाचे स्वाहा मनसे स्वाहा॥२३॥

१. गतमन्त्र के आदर्श राष्ट्र में प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह **प्राणाय स्वाहा**=प्राणशक्ति की वृद्धि के लिए यज्ञशील हो, स्वार्थ का त्याग करे। २. **अपानाय स्वाहा**=अपानशक्ति की वृद्धि के लिए यज्ञशील हो, स्वार्थ का त्याग करे। ३. **व्यानाय स्वाहा**=व्यानशक्ति की वृद्धि के लिए यज्ञशील हो, स्वार्थ का त्याग करे। शरीर में प्राणशक्ति बल देती है, अपानशक्ति दोषों को दूर करती है तथा व्यान सारे शरीर में नाड़ी-संस्थान का शासन करती हुई उसे ठीक रखती है। यज्ञशील पुरुष के 'प्राणापानव्यान' सब ठीक रहते हैं। ४. **चक्षुषे स्वाहा**=दृष्टिशक्ति के ठीक रखने के लिए तू यज्ञशील हो और स्वार्थ की भावना से ऊपर उठ। **श्रोत्राय स्वाहा**=इसी प्रकार श्रोत्रशक्ति को ठीक रखने के लिए भी तू यज्ञशील हो और स्वार्थ को छोड़नेवाला बन। वस्तुतः यज्ञशील पुरुष की सब ज्ञानेन्द्रियाँ ठीक रहती हैं और उसकी ज्ञानसाधना में उचित रूप से सहायक बनती हैं। स्वार्थ की भावना इनको अपवित्र व क्षीणशक्ति कर देती है और मनुष्य का ज्ञान नष्ट हो जाता है। ५. **मनसे स्वाहा**=मन की मननशक्ति की वृद्धि के लिए तू यज्ञशील बन और स्वार्थत्याग की वृत्तिवाला हो। स्वार्थ मन को भी मलिन कर देता है और मलिन मन में विचारशक्ति नहीं रहती।

भावार्थ—हम स्वार्थ से ऊपर उठकर यज्ञियवृत्तिवाले बनें, जिससे हमारे 'प्राणापानव्यान' ठीक रहें, चक्षु आदि इन्द्रियाँ ज्ञान-ग्रहण-क्षम हों तथा हमारा मन मननशील हो।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**दिशः**। छन्दः—**विराडतिधृतिः**[क]। स्वरः—**षड्जः**॥

विश्व का सौन्दर्य

प्राच्यै दिशे स्वाहार्वाच्यै दिशे स्वाहा दक्षिणायै दिशे स्वाहार्वाच्यै दिशे स्वाहा प्रतीच्यै दिशे स्वाहार्वाच्यै दिशे स्वाहोदीच्यै दिशे स्वाहार्वाच्यै दिशे स्वाहोर्ध्वायै दिशे स्वहार्वाच्यै दिशे स्वाहावाच्यै दिशे स्वाहार्वाच्यै दिशे स्वाहा ॥२४॥

१. पिछले मन्त्र की भावना को ही विस्तार से इस अध्याय की समाप्ति तक कहेंगे। जब मनुष्य की वृत्ति यज्ञिय व स्वार्थ से ऊपर उठी हुई होती है तब उसके लिए सारा संसार सुन्दर हो जाता है। अपनी वृत्ति खराब होने पर संसार भी उसके लिए खराब हो जाता है, अतः कहते हैं कि **प्राच्यै दिशे स्वाहा**=पूर्व दिशा के लिए यज्ञशील बन। 'यह दिशा तेरे लिए सुन्दर हो' इसके लिए तू स्वार्थ से ऊपर उठ। **अर्वाच्यै दिशे स्वाहा**=पूर्व दिशा की उपदिशा के लिए भी तू यज्ञशील बन। २. इसी प्रकार **दक्षिणायै दिशे स्वाहा**=दक्षिण दिशा के सौन्दर्य के लिए तू यज्ञ करनेवाला बन। **अर्वाच्यै दिशे स्वाहा**=इस दक्षिण की उपदिशा के लिए भी यज्ञशील बन। ३. **प्रतीच्यै दिशे स्वाहा**=पश्चिम दिशा के लिए तू यज्ञिय हो और **अर्वाच्यै दिशे स्वाहा**=पश्चिम की उपदिशा के लिए यज्ञ करनेवाला बन। ४. **उदीच्यै दिशे स्वाहा**=उत्तर दिशा के सौन्दर्य के लिए तू यज्ञशील हो और **अर्वाच्यै दिशे स्वाहा**=उत्तर की उपदिशा के लिए यज्ञ करनेवाला बन। ५. **ऊर्ध्वायै दिशे स्वाहा**=ऊर्ध्व दिशा के लिए तू यज्ञशील हो और **अर्वाच्यै दिशे स्वाहा**=ऊर्ध्व की उपदिशा के लिए यज्ञ करनेवाला बन। ६. **दिशे स्वाहा**=नीचे की दिशा के लिए तू यज्ञशील हो और **अर्वाच्यै दिशे स्वाहा**=नीचे की उपदिशा के लिए तू यज्ञशील हो।

भावार्थ—यज्ञिय व निःस्वार्थ वृत्ति के द्वारा हमारा यह संसार आगे-पीछे, दायें-बायें व ऊपर-नीचे सब ओर से सुन्दर-ही-सुन्दर हो जाता है। आसुरवृत्ति ने ही संसार को मलिन किया हुआ है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**जलादयः**। छन्दः—**अष्टिः**। स्वरः—**मध्यमः**।

जलों का नैर्मल्य

अद्भ्यः स्वाहा वार्भ्यः स्वाहोदकाय स्वाहा तिष्ठन्तीभ्यः स्वाहा स्रवन्तीभ्यः स्वाहा स्यन्दमानाभ्यः स्वाहा कूप्याभ्यः स्वाहा सूद्याभ्यः स्वाहा धार्याभ्यः स्वाहार्णवाय स्वाहा समुद्राय स्वाहा सरिराय स्वाहा ॥२५॥

१. **अद्भ्यः स्वाहा**=सर्वत्र व्याप्त जलों के लिए हम स्वार्थ की वृत्ति से ऊपर उठकर यज्ञियवृत्तिवाले बनें। जब हम स्वार्थ व ईर्ष्या-द्वेष से ऊपर उठ जाते हैं तब ये जल भी हमारे लिए अधिक गुणकारी हो जाते हैं। यह वृत्ति इन जल व ओषधियों को हमारे लिए 'सुमित्रिय' बनाती है। द्वेषार्ह व ईर्ष्यालु के लिए ये दुर्मित्रिय हो जाती हैं। ईर्ष्या-द्वेष के साथ पिया हुआ पानी व खाया हुआ अन्न हमारे अन्दर विषों को जन्म देता है, अतः यज्ञिय वृत्तिवाले बन इन जलों को हम अपने लिए अमृत बनानेवाले हों। २. **वार्भ्यः स्वाहा**=रोगों का निवारण करनेवाले उत्तम जलों के लिए हम यज्ञशील हों। ३. **उदकाय स्वाहा**=वाष्परूप से ऊपर उठते जलों के लिए हम यज्ञशील हों। वाष्पीभूत होकर जो जल फिर द्रवीभूत किया जाता है उसे उदक कहते हैं। 'वह हमारे लिए उत्तम हो', इसके लिए हम यज्ञ करते हैं। ४. **तिष्ठन्तीभ्यः**=स्थिर जलों के लिए **स्वाहा**=हम यज्ञ करते हैं और ५. **स्रवन्तीभ्यः स्वाहा**=स्रोतोरूप जलों के लिए यज्ञ हो। ६. **स्यन्दमानाभ्यः स्वाहा**=प्रवाहित होते हुए जलों के लिए यज्ञ हो। ७. **कूप्याभ्यः**=कूप के जलों के लिए यज्ञ हो। ८. **सूद्याभ्यः**=(सूद=spring) झरने के जलों के लिए **स्वाहा**=यज्ञ हो। ९. **धार्याभ्यः स्वाहा**=बाँध आदि बनाकर धारण किये गये जलों के लिए यज्ञ हो। १०. **अर्णवाय स्वाहा**=बड़ी झीलवाले (Lake) जलों के लिए यज्ञ हो। ११. **समुद्राय स्वाहा**=समुद्र के जल की शुद्धि के लिए यज्ञ हो तथा १२. **सरिराय स्वाहा**=वृष्टिजल के लिए यज्ञ हो, अर्थात् यज्ञ के द्वारा ये सब जल बड़े शुद्धरूप में हमें प्राप्त हों।

भावार्थ—मनुष्य की वृत्ति जब निःस्वार्थ व यज्ञशील होती है तब उसके लिए सब जल सुमित्रिय=कल्याणकर होते हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**वातादयः**। छन्दः—**विराडभिकृतिः**। स्वरः—**ऋषभः**॥

वात-विमलता (वायुशुद्धि) व वृष्टि

वाताय स्वाहा धूमाय स्वाहाभ्राय स्वाहा मेघाय स्वाहा विद्योतमानाय स्वाहा स्तनयते स्वाहावस्फूर्जते स्वाहा वर्षते स्वाहाववर्षते स्वाहोग्रं वर्षते स्वाहा शीघ्रं वर्षते स्वाहोद्गृह्णते स्वाहोद्गृहीताय स्वाहा प्रुष्णते स्वाहा शीकायते स्वाहा प्रुष्वाभ्यः स्वाहा ह्रादुनीभ्यः स्वाहा नीहाराय स्वाहा ॥२६॥

१. **वाताय स्वाहा**=सदा बहनेवाली वायु के लिए यज्ञ हो, अर्थात् यज्ञों से शुद्ध हुई-हुई वायु हमारे जीवन के लिए बहे। २. **धूमाय स्वाहा**=धूम के लिए यज्ञ हो। अग्नि में आहुत द्रव्य सूक्ष्म कणों में विभक्त होकर जब जलवाष्प के साथ इधर-उधर उड़ते हैं तब वह धूम कहलाता है। आकाश में पहुँचकर यही अभ्र व मेघ के रूप में हो जाता है। ३. **अभ्राय स्वाहा**=इस 'अभ्र' के लिए—सूक्ष्म मेघ के लिए यज्ञक्रिया हो। ४. **मेघाय स्वाहा**=मेघों के लिए यज्ञक्रिया हो। ५. **विद्योतमानाय स्वाहा**=चमकते हुए मेघ के लिए अथवा विद्युत् से

युक्त मेघ के लिए यज्ञक्रिया हो। ६. **स्तनयते स्वाहा**=गर्जना करते हुए मेघ के लिए यज्ञक्रिया हो। ७. **अवस्फूर्जते स्वाहा**=(अधो वज्रवदघातं कुर्वते—द०) बिजली को नीचे गिराते हुए मेघ के लिए यज्ञक्रिया हो। ८. **वर्षते स्वाहा**=वर्षा करते हुए मेघ के लिए यज्ञक्रिया हो। ९. **अववर्षते स्वाहा**=नीचे झुककर बरसनेवाले मेघों के लिए यज्ञक्रिया हो। १०. **उग्रं वर्षते स्वाहा**=बड़े ज़ोर से बौछार के रूप में बरसते हुए मेघ के लिए यज्ञ हो। ११. **शीघ्रं वर्षते स्वाहा**=तेज़ी से बरसते हुए मेघ के लिए यज्ञ हो। १२. **उद्गृह्णते स्वाहा**=जलों को ऊपर ग्रहण करनेवाले मेघ के लिए यज्ञक्रिया हो। १३. **उद्गृहीताय स्वाहा**=जो जलों को ऊपर ग्रहण कर चुका है उस मेघ के लिए यज्ञक्रिया हो। जब बादल अधिक-से-अधिक पानी को अपने अन्दर ले-चुकता है और बरसने लगता है तब वह उद्गृहीत कहलाता है, उस बादल के लिए यज्ञ की क्रिया हो। १४. **प्रुष्णते स्वाहा**=स्थूल बिन्दुओं में बरसनेवाले मेघ के लिए यज्ञक्रिया हो। १५. **शीकायते स्वाहा**=संयम करनेवाले बादल के लिए यज्ञक्रिया हो। १६. **प्रुष्वाभ्यः**=परिपूर्ण घनघोर वर्षा करनेवाले बादलों के लिए यज्ञक्रिया हो। १७. **ह्रादुनीभ्यः स्वाहा**=अधिक गड़गड़ाहट करते हुए बादलों के लिए यज्ञक्रिया हो। १८. **नीहाराय स्वाहा**=कुहरे के लिए यज्ञक्रिया हो।

भावार्थ—हम यज्ञादि उत्तम क्रियाओं को करनेवाले बनें, जिससे वायुमण्डल की शुद्धि हो, वृष्टि आदि यथासम्भव ठीक प्रकार से हो।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**अग्न्यादयः**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**।

अग्नीषोमात्मक जगत् का माधुर्य

अ॒ग्नये॒ स्वाहा॒ सोमा॑य॒ स्वाहेन्द्रा॑य॒ स्वाहा॑ पृथि॒व्यै स्वाहा॒न्तरि॑क्षाय॒ स्वाहा॑ दि॒वे स्वाहा॑ दि॒ग्भ्यः स्वाहाशा॑भ्यः॒ स्वाहो॒र्व्यै दि॒शे स्वाहा॒र्वाच्यै॑ दि॒शे स्वाहा॑ ॥२७॥

१. अग्नितत्त्व को ठीक रखने के लिए हम यज्ञशील बनें। स्वार्थ से ऊपर उठकर हमारा आहार-विहार चलेगा तो हममें अग्नितत्त्व की वृद्धि होगी। यह अग्नितत्त्व प्रकाश व प्रचण्डता का प्रतीक है। यज्ञशील होने पर हमारे भोजन के सात्त्विक होने से जाठराग्नि भी ठीक होगी। २. **सोमाय स्वाहा**=सोमतत्त्व की वृद्धि के लिए हम यज्ञशील हों। यह सोमतत्त्व शान्ति व शक्ति का प्रतीक है। इन अग्नि व सोमतत्त्व के मेल होने पर ही सारा माधुर्य उत्पन्न होता है। ३. **इन्द्राय स्वाहा**=इन्द्रियशक्ति के विकास के लिए हम यज्ञशील हों। यज्ञ व स्वार्थत्याग से विपरीत स्वार्थपरता भोगवाद को बढ़ाती है और इन्द्रशक्ति को क्षीण करती है। ४. **पृथिव्यै स्वाहा**=इस शरीररूप पृथिवी को ठीक रखने के लिए हम यज्ञशील बनें। ५. **अन्तरिक्षाय स्वाहा**=हृदयान्तरिक्ष को ठीक रखने के लिए यज्ञक्रिया हो। ६. **दिवे स्वाहा**=मस्तिष्करूप द्युलोक को ठीक रखने के लिए यज्ञ हो। ७. **दिग्भ्यः स्वाहा**=सब दिशाओं को ठीक रखने के लिए हम यज्ञशील बनें। ८. **आशाभ्यः स्वाहा**=सब उपदिशाओं को ठीक रखने के लिए यज्ञ की क्रिया हो। ९. **उर्व्यै दिशे स्वाहा**=इस अत्यधिक दूरी तक फैली हुई दिशा के लिए यज्ञक्रिया हो, तथा १०. **अर्वाच्यै दिशे स्वाहा**=समीप वर्त्तमान दिशा के लिए यज्ञक्रिया हो।

भावार्थ—हममें यज्ञिय वृत्ति होने पर जहाँ हमारा जीवन अग्नि व सोम दोनों तत्त्वों के ठीक मेल से बड़ा मधुर बनेगा वहाँ दूर-से-दूर व समीप-से-समीप वर्त्तमान सब दिशाएँ हमारे लिए सुन्दर होंगी।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**नक्षत्रादयः**। छन्दः—**भुरिगष्टिः**। स्वरः—**मध्यमः**।

यज्ञ से ईति निवारण व सुकाल

नक्षत्रेभ्यः स्वाहा नक्षत्रियेभ्यः स्वाहाहोरात्रेभ्यः स्वाहार्धमासेभ्यः स्वाहा मासेभ्यः स्वाहऽऋतुभ्यः स्वाहार्त्तवेभ्यः स्वाहा संवत्सराय स्वाहा द्यावापृथिवीभ्याᳬस्वाहा चन्द्राय स्वाहा सूर्याय स्वाहा रश्मिभ्यः स्वाहा वसुभ्यः स्वाहा रुद्रेभ्यः स्वाहादित्येभ्यः स्वाहा मरुद्भ्यः स्वाहा विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा मूलेभ्यः स्वाहा शाखाभ्यः स्वाहा वनस्पतिभ्यः स्वाहा पुष्पेभ्यः स्वाहा फलेभ्यः स्वाहौषधीभ्यः स्वाहा॥२८॥

१. **नक्षत्रेभ्य स्वाहा**=नक्षत्रों के लिए यज्ञक्रिया हो। इन नक्षत्रों से किसी प्रकार की आधिदैविक आपत्ति की हमारे लिए आशंका न रहे, इसके लिए हम यज्ञ करनेवाले बनें। **नक्षत्रियेभ्यः स्वाहा**=इन नक्षत्रों में रहनेवाले प्राणियों से हमारा अविरोध हो, इसके लिए हम यज्ञ की वृत्तिवाले बनें। जैसे समीप के देशों से हम मित्रभाव चाहते हैं, उसी प्रकार इन नक्षत्रों में रहनेवाले प्राणियों से भी हमारा विरोध न हो। इस सबके लिए चाहिए यही कि हम स्वार्थ की वृत्ति से ऊपर उठें। ३. **अहोरात्रेभ्यः स्वाहा**=दिन व रात की उत्तमता के लिए हम यज्ञशील हों। ४. **अर्धमासेभ्यः स्वाहा**=अर्धमासों के लिए—शुक्लपक्ष व कृष्णपक्ष के उत्तम होने के लिए हम यज्ञशील बनें। ५. **मासेभ्यः स्वाहा**=मासों के सौन्दर्य के लिए हम यज्ञशील बनें। ६. **ऋतुभ्यः स्वाहा**=ऋतुओं की अनुकूलता के लिए हम यज्ञशील हों। ७. **अर्तवेभ्यः स्वाहा**=ऋतुजन्य पदार्थों की अनुकूलता के लिए हम यज्ञशील हों। ८. **संवत्सराय स्वाहा** =वर्ष के लिए हम यज्ञशील हों। यज्ञ के द्वारा हमारा सारा वर्ष सुन्दर—ही—सुन्दर व्यतीत हो। यज्ञों के होने पर सम्पूर्णकाल हमारे लिए अनुकूल—ही—अनुकूल हो। काल ही क्या, ९. **द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा**=द्युलोक व पृथिवीलोक की अनुकूलता के लिए हम यज्ञशील बनें। १०. **चन्द्राय स्वाहा**=चन्द्र की अनुकूलता के लिए हम यज्ञों को अपनाएँ। ११. **सूर्याय स्वाहा**=सूर्य की अनुकूलता के लिए हम यज्ञशील बनें। १२. **रश्मिभ्यः स्वाहा**=सूर्य व चन्द्र की किरणों की अनुकूलता के लिए हम यज्ञ करनेवाले बनें। १३. **वसुभ्यः स्वाहा, रुद्रेभ्यः स्वाहा, आदित्येभ्यः स्वाहा**=वसुओं, रुद्रों व आदित्यों की अनुकूलता के लिए हम यज्ञियवृत्तिवाले बनें। १४. **मरुद्भ्यः**=४९ प्रकार के मरुतों—वायुओं की शुद्धता के लिए **स्वाहा**=हम यज्ञ करें। १५. **विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा**=सब देवताओं की अनुकूलता के लिए हम यज्ञशील हों। १६. **मूलेभ्यः स्वाहा**=वृक्षों के मूलों के लिए यज्ञ हो। १७. **शाखाभ्यः स्वाहा**=शाखाओं के लिए यज्ञ हो। १८. **वनस्पतिभ्यः स्वाहा**=वनस्पतियों के लिए यज्ञ हो। १९. **पुष्पेभ्यः स्वाहा**=फूलों के लिए यज्ञ हो। २०. **फलेभ्यः स्वाहा**=फलों के लिए यज्ञ हो। २१. **ओषधीभ्यः स्वाहा**=ओषधियों के लिए यज्ञ हो, अर्थात् यज्ञों के द्वारा वृष्टि होकर सिंची हुई ये वनस्पतियाँ व ओषधियाँ तथा फल और फूल सब हमारे लिए अनुकूल व गुणकारी हों।

भावार्थ—यज्ञों के द्वारा सब लोकों की हमारे साथ अनुकूलता होकर हमें सब ऋतुओं का सौन्दर्य प्राप्त होता है। सूर्य—चन्द्रादि देव तथा वसु, रुद्र, आदित्य व मरुत् आदि देवगण हमारे अनुकूल होते हैं। सब देवताओं की अनुकूलता के साथ सब ओषधि—वनस्पतियाँ हमारे लिए हितकर होती हैं और हम कभी आधिदैविक आपत्तियों के शिकार नहीं होते।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**निचृदत्यष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**।

लोकत्रयी की अनुकूलता

पृथिव्यै स्वाहान्तरिक्षाय स्वाहा दिवे स्वाहा सूर्याय स्वाहा चन्द्राय स्वाहा नक्षत्रेभ्यः स्वाहाद्भ्यः स्वाहौषधीभ्यः स्वाहा वनस्पतिभ्यः स्वाहा परिप्लवेभ्यः स्वाहा चराचरेभ्यः स्वाहा सरीसृपेभ्यः स्वाहा ॥२९॥

१. **पृथिव्यै स्वाहा**=इस पृथिवीलोक के सौन्दर्य के लिए यज्ञक्रिया हो। २. **अन्तरिक्षाय स्वाहा**=अन्तरिक्षलोक की अनुकूलता के लिए यज्ञक्रिया हो। ३. **दिवे स्वाहा**=द्युलोक की अनुकूलता के लिए यज्ञक्रिया हो। ४. **सूर्याय स्वाहा, चन्द्राय स्वाहा, नक्षत्रेभ्यः स्वाहा**=सूर्य, चन्द्र तथा अन्य नक्षत्रों की अनुकूलता के लिए यज्ञक्रिया हो। ५. **अद्भ्यः स्वाहा, ओषधीभ्यः स्वाहा, वनस्पतिभ्यः स्वाहा**=जलों, ओषधियों व वनस्पतियों की उत्तमता के लिए यज्ञ हों। ६. **परिप्लवेभ्यः**=जलों में चतुर्दिक् तैरनेवाले प्राणियों की अनुकूलता के लिए **स्वाहा**=यज्ञ हो। **चराचरेभ्यः स्वाहा**=निरन्तर चरणशील प्राणियों की अनुकूलता के लिए यज्ञक्रिया हो। **सरीसृपेभ्यः स्वाहा**=रेंगनेवाले छिपकली, सर्प आदि प्राणियों की अनुकूलता के लिए यज्ञक्रिया हो।

भावार्थ—यज्ञों से सब लोक, सब देव, सब वनस्पति, ओषधि व सब प्राणी हमारे अनुकूल होंगे। हमारी वृत्ति यज्ञिय होगी तो सारा संसार हमारे अनुकूल होगा।

नोट—प्रस्तुत मन्त्र में ये त्रिक द्रष्टव्य हैं—

पृथिवी	सूर्य	जल	परिप्लव
अन्तरिक्ष	चन्द्र	ओषधि	चराचर
द्युलोक	नक्षत्र	वनस्पति	सरीसृप

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**वस्वादयः**। छन्दः—**कृतिः**। स्वरः—**निषादः**॥

शरीर की उत्तमता

असवे स्वाहा वसवे स्वाहा विभुवे स्वाहा विवस्वते स्वाहा गणश्रिये स्वाहा गणपतये स्वाहाभिभुवे स्वाहाधिपतये स्वाहा शूषाय स्वाहा सꣳसर्पाय स्वाहा चन्द्राय स्वाहा ज्योतिषे स्वाहा मलिम्लुचाय स्वाहा दिवा पतयते स्वाहा ॥३०॥

१. **असवे स्वाहा**=प्राणों के लिए यज्ञक्रिया हो। २. **वसवे स्वाहा**=शरीर में वास करनेवाले वासकतत्त्वों के लिए यज्ञ हो। ३. **विभुवे स्वाहा**=व्यापक वायुतत्त्व के लिए यज्ञ हो। ४. **विवस्वते स्वाहा**=किरणों के द्वारा पालन करनेवाले सूर्य के लिए यज्ञ हो। ५. **गणश्रिये स्वाहा**=शरीर में जो 'ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय-प्राण' आदि के गण हैं अथवा 'वसु, रुद्र, आदित्य व मरुत्' आदि देवों के गण हैं, उनकी शोभा के लिए यज्ञ हो। ६. **गणपतये**=शरीर में होनेवाले इन सब गणों के पति के लिए यज्ञ हो। ७. **अभिभुवे स्वाहा**=सब शत्रुओं के पराजय करनेवाले के लिए यज्ञक्रिया हो। ८. **अधिपतये**=सब इन्द्रियादि का स्वामी बननेवाले के लिए यज्ञ हो। ९. **शूषाय**=शत्रुओं के शोषक बल के लिए **स्वाहा**=यज्ञ हो। १०. **संसर्पाय स्वाहा**=संसर्पण के लिए, जीवन के अन्त तक ठीक गति चलती रहे, इसके लिए यज्ञ हो। ११. **चन्द्राय**=अह्लादमयता के लिए यज्ञ हो। १२. **ज्योतिषे**=अन्तःप्रकाश के लिए यज्ञ हो। १३. **मलिम्लुचाय स्वाहा**=चोर के लिए यज्ञ हो, स्वार्थ को छोड़ने की [illegible] चोर चोरी का दण्ड भोगकर घर लौटता

है। उसे यदि समाज कुछ स्वार्थत्याग करके जीवन में स्थापित करने का प्रयत्न करती है तो वह फिर चोर नहीं रह जाता। १४. **दिवा पतयते स्वाहा**=दिन के पति के लिए यज्ञक्रिया हो। 'हम दिन के अधिपति बने रहें। दिन हमारा अधिपति न बन जाए', इसके लिए हम सदा यज्ञादि उत्तम क्रियाओं में लगे रहें।

भावार्थ—यज्ञों से हम अपने जीवन को अत्युत्तम बना पाएँ।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**मासाः**। छन्दः—**भुरिगत्यष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**॥

मास त्रयोदशी व संवत्सर की अनुकूलता

मधवे स्वाहा माधवाय स्वाहा शुक्राय स्वाहा शुचये स्वाहा नभसे स्वाहा नभस्याय स्वाहेषाय स्वाहोर्जाय स्वाहा सहसे स्वाहा सहस्याय स्वाहा तपसे स्वाहा तपस्याय स्वाहाꣳहसस्पतये स्वाहा ॥३१॥

१. **मधवे**=पुष्परसों के कारण अत्यन्त मधुर चैत्रमास के लिए, इस मास में वायुमण्डल में ojone का अंश अधिक होता है, अतः यह चैत्रमास स्वास्थ्य के लिए भी अत्यन्त मधुर है, उस चैत्रमास के लिए **स्वाहा**=यज्ञक्रिया हो। यज्ञों के द्वारा यह मास हमारे स्वास्थ्य के अनुकूल हो। २. **माधवाय स्वाहा**=चारों ओर पुष्पों की शोभा के कारण **मा**=लक्ष्मी के **धव**=पतिरूप इस वैशाख मास के लिए **स्वाहा**=यज्ञक्रिया हो। ३. **शुक्राय स्वाहा**=(शुच्) पसीने आदि के द्वारा मल को निकालकर पवित्र करनेवाले इस ज्येष्ठमास के लिए यज्ञक्रिया हो। ४. **शुचये**=पसीने आदि से मलों को दूर करके शरीर को दीप्त करनेवाले इस आषाढ़ मास के लिए **स्वाहा**=यज्ञक्रिया हो। ५. **नभसे स्वाहा**=(नभ् हिंसायाम्) सब रोगों व रोगकृमियों को समाप्त करनेवाले अथवा सन्ताप को दूर करनेवाले इस श्रावण मास के लिए यज्ञक्रिया हो। ६. **नभस्याय स्वाहा**=बुराई को समाप्त करने में उत्तम इस भाद्रपद मास के लिए यज्ञक्रिया हो। ७. **इषाय स्वाहा**=सब अन्नों के परिपाकवाले अथवा वर्षभर निरन्तर गति के कारणभूत इस अश्विन मास के लिए यज्ञक्रिया हो। ८. **ऊर्जाय स्वाहा**=बल और प्राणशक्ति का उपचय करनेवाले इस कार्तिक मास के लिए यज्ञक्रिया हो। ९. **सहसे स्वाहा** =सहनशक्ति व बल की वृद्धि के कारणभूत मार्गशीर्ष मास के लिए स्वार्थत्याग हो। १०. **सहस्याय स्वाहा**=बलोपचय में उत्तम पौष मास के लिए यज्ञक्रिया हो। ११. **तपसे स्वाहा**=जिसमें सन्त लोग तप को महत्त्व देते हैं, उस माघ मास के लिए यज्ञ हो। १२. **तपस्याय स्वाहा**=तप करने के लिए सर्वोत्तम इस फल्गुन मास के लिए यज्ञक्रिया हो और इन बारह मासों के अतिरिक्त चन्द्र गणना के अनुसार तेरहवें मास **अंहसस्पतये स्वाहा**=अहंसस्पति के लिए भी यज्ञ हो। यह सामान्य भाषा में 'मलमास' कहलाता है, क्योंकि यह तीसरे-चौथे वर्ष के बीच में यूँही आ जाता है। इस मास को भी हम दैनिक यज्ञ के द्वारा सुखदायी बना पाएँ।

भावार्थ—याज्ञिक वृत्ति के द्वारा हमारे वर्ष के सारे ही मास बड़े सुन्दर बीतें। हमारा सारा वर्ष शुभ-ही-शुभ हो।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**वाजादयः**। छन्दः—**अत्यष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**॥

सात्त्विक अन्न व सात्त्विक बुद्धि

वाजाय स्वाहा प्रसवाय स्वाहापिजाय स्वाहा क्रतवे स्वाहा स्वः स्वाहा मूर्ध्ने स्वाहा व्यश्नुविने स्वाहान्त्याय स्वाहान्त्याय भौवनाय स्वाहा भुवनस्य पतये स्वाहाधिपतये स्वाहा प्रजापतये स्वाहा ॥३२॥

१. **वाजाय स्वाहा**=(अन्नं=वाजः—श० ५।१।१।१६) अन्न के लिए यज्ञक्रिया हो। (**यज्ञाद् भवति पर्जन्यः, पर्जन्यादन्नसम्भवः**' गीता) यज्ञ से बादल होकर अन्न होता है, अतः इस अन्न की प्राप्ति के लिए हमारी यज्ञक्रिया ठीक से होती रहे। २. **प्रसवाय स्वाहा**='प्रसव' का शब्दार्थ अन्न व अन्न का होना ही है। उस प्रसव के लिए यज्ञक्रिया हो। ३. **अपिजाय स्वाहा**=दुबारा उत्पन्न होनेवाले (Born again) अन्नों के लिए यज्ञक्रिया हो अथवा (अप्सु जायते) जलों में होनेवाले अन्नों के लिए यज्ञ हो। ४. **क्रतवे स्वाहा**=शक्ति के लिए यज्ञ हो। उत्तम अन्नों से ही शक्ति प्राप्त होगी। ५. **स्वः स्वाहा**=सुख-प्राप्ति के लिए व प्रकाश के लिए यज्ञ हो। सात्त्विक अन्नों के सेवन से बुद्धि शुद्ध होगी और प्रकाश की प्राप्ति होगी। ६. **मूर्ध्ने स्वाहा**=मस्तिष्क के लिए यज्ञ हो। सात्त्विक अन्न बुद्धि को भी निर्मल करेगा। ७. **व्यश्नुविने स्वाहा**=शरीर में व्याप्त होनेवाले वीर्य के लिए यज्ञ हो। ८. **आन्त्याय भौवनाय स्वाहा**=सबसे अन्त में होनेवाले, सब प्राणियों के लिए हितकर ओज के लिए यज्ञ हो। शरीर में रस-रुधिरादि क्रम से वीर्य उत्पन्न होता है। उसका भी सार यह ओज है। यह सबसे अन्त में होनेवाला है। प्राणिमात्र के लिए यह हितकर है। ९. **भुवनस्य पतये स्वाहा**=भुवन के पति के लिए यज्ञ हो, अर्थात् सब प्राणियों की रक्षा करनेवाले के लिए यज्ञ हो। यज्ञ होने की भावना होने पर ही कोई व्यक्ति सब प्राणियों का रक्षक बन सकता है। १०. **अधिपतये स्वाहा**=(मनो वै प्राणानामधिपतिः—श० १४।३।२।३) मन के लिए यज्ञ हो। वस्तुतः यज्ञिय भावना ही मन को स्वस्थ बनाती है। ११. **प्रजापतये स्वाहा**=प्रजापति के लिए यज्ञ हो। उस प्रभु को प्राप्त करने के लिए यह यज्ञ की भावना आवश्यक है। यज्ञिय भावना से हम भी प्रजापति का छोटारूप बन जाते हैं।

भावार्थ—यज्ञ से ही हमें वह सात्त्विक अन्न प्राप्त होता है जो हमारी शक्ति के वर्धन के साथ हमारी बुद्धि का भी वर्धक होता है। यह अन्न हमें सौम्य वीर्य को प्राप्त कराकर जितेन्द्रिय व लोकहित के कर्मों में लगनेवाला बनाता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**आयुरादयः**। छन्दः—**भुरिक्कृतिः**[क], **भुरिगतिधृतिः**[ग]। स्वरः—**निषादः, षड्जः**॥

उत्तम जीवन

[क]आयुर्य॒ज्ञेन॑ कल्पताᳬस्वाहा॑ प्रा॒णो य॒ज्ञेन॑ कल्पताᳬस्वाहा॑पा॒नो य॒ज्ञेन॑ कल्पताᳬस्वाहा॑ व्या॒नो य॒ज्ञेन॑ कल्पताᳬस्वाहो॑दा॒नो य॒ज्ञेन॑ कल्पताᳬस्वाहा॑ समा॒नो य॒ज्ञेन॑ कल्पताᳬस्वाहा॒ चक्षु॑र्य॒ज्ञेन॑ कल्पताᳬ स्वाहा॒ श्रोत्रं॑ य॒ज्ञेन॑ कल्पताᳬस्वाहा॒ [ग]वाग्य॒ज्ञेन॑ कल्पताᳬस्वाहा॒ मनो॑ य॒ज्ञेन॑ कल्पताᳬस्वाहा॒त्मा य॒ज्ञेन॑ कल्पताᳬस्वाहा॑ ब्र॒ह्मा य॒ज्ञेन॑ कल्पताᳬस्वाहा॒ ज्योति॑र्य॒ज्ञेन॑ कल्पताᳬस्वाहा॒ स्व॑र्य॒ज्ञेन॑ कल्पताᳬस्वाहा॑ पृ॒ष्ठं य॒ज्ञेन॑ कल्पताᳬस्वाहा॑ य॒ज्ञो य॒ज्ञेन॑ कल्पताᳬस्वाहा॑ ॥३३॥

१. **आयुः**=सारा जीवन **यज्ञेन**=यज्ञ से **कल्पताम्**=अलंकृत हो और शक्तिसम्पन्न बने। इसके लिए **स्वाहा**=मैं स्वार्थ की भावना का त्याग करूँ। २. **प्राणो यज्ञेन कल्पताम्**=मेरी प्राणशक्ति यज्ञरूप उत्तम कर्मों से सशक्त बने, **स्वाहा**=इसके लिए मैं स्व का त्याग करूँ। ३. **अपानो यज्ञेन कल्पताम्**=यज्ञ से मेरी अपानशक्ति समर्थ बने। **स्वाहा**=इसके लिए मैं स्वार्थ से ऊपर उठूँ। ४. **व्यानो यज्ञेन कल्पतां स्वाहा**=मेरी व्यानवायु यज्ञ के द्वारा सशक्त बने, इसके लिए मैं स्वार्थ को छोड़नेवाला होऊँ। ५. **उदानो यज्ञेन कल्पतां स्वाहा**=कण्ठदेशस्थ

उदानवायु यज्ञ से सशक्त बने, अतः मैं स्वार्थ को छोड़ूँ। ६. **समानो यज्ञेन कल्पताम् स्वाहा**=शरीर में समता को स्थापित करनेवाली मेरी समानवायु यज्ञ से सशक्त बने, अतः मैं स्वार्थ का त्याग करूँ। ७. **चक्षुर्यज्ञेन कल्पतां स्वाहा**=मैं इसलिए स्व का त्याग करूँ कि मेरी आँख यज्ञ से शक्तिशाली बने। ८. **श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां स्वाहा**=मेरा श्रोत्र यज्ञ के द्वारा शक्तिशाली बने, अतः मैं स्वार्थ को छोड़नेवाला बनूँ। ९. **वाग्यज्ञेन कल्पतां स्वाहा**=मेरी वाणी भी यज्ञ के द्वारा शक्तिशाली बने, इसके लिए मैं स्वार्थ का त्याग करूँ। १०. **मनो यज्ञेन कल्पतां स्वाहा**=मेरा मन यज्ञ से सुभूषित हो व सशक्त बने, अतः मैं स्वार्थ का त्याग करूँ। ११. **आत्मा यज्ञेन कल्पतां स्वाहा**=मैं यज्ञ से सुभूषित व सशक्त बनूँ, अतः मैं स्व का त्याग करता हूँ। १२. **ब्रह्मा यज्ञेन कल्पताम् स्वाहा**=चतुर्वेदवेत्ता पुरुष भी यज्ञ से सुभूषित हो, अतः वह स्वार्थ से ऊपर उठे। १३. **ज्योतिः**=आत्मप्रकाश **यज्ञेन**=यज्ञ के द्वारा **कल्पताम्**=सिद्ध हो, **स्वाहा**=इसके लिए हम स्वार्थत्याग करें। १४. **स्वः यज्ञेन कल्पताम् स्वाहा**=सुख यज्ञ के द्वारा सिद्ध हो, अतः हम स्वार्थ को छोड़ें। १५. **पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां स्वाहा**='तेजो ब्रह्मवर्चसं श्रीर्वै पृष्ठानि'—ए० ६।५ हमारा तेज, ब्रह्मवर्चस व श्री यज्ञ के द्वारा सुभूषित व सशक्त हो, अतः हम स्वार्थ से ऊपर उठें। १६. **यज्ञो यज्ञेन कल्पताम् स्वाहा**='यज्ञो वै विष्णुः'=वह यज्ञरूप प्रभु यज्ञ से सिद्ध हो, हमें प्राप्त हो, अतः हम स्वार्थ को छोड़कर जीवन को यज्ञिय बनाते हैं। **'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'**=देवता यज्ञ परमात्मा की उपासना यज्ञ से ही करते हैं।

भावार्थ—यज्ञ के द्वारा हमारा सारा जीवन, सब इन्द्रियशक्तियाँ, मन व बुद्धि सशक्त होते हैं। इसी से हम प्रभु की पूजा भी कर पाते हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**भुरिगुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**॥

निर्दोष सुखमय दीर्घ जीवन

एकस्मै स्वाहा द्वाभ्याᳫं स्वाहा शताय स्वाहैकशताय स्वाहा व्युष्ट्यै स्वाहा स्वर्गाय स्वाहा ॥३४॥

१. **एकस्मै स्वाहा**=जीवन के प्रथम वर्ष की उत्तमता के लिए हम स्वार्थत्याग करते हैं। वस्तुतः 'किस प्रकार माता का स्वार्थत्याग व तप बालक के प्रथम वर्ष को पूर्ण नीरोग बना सकता है' यह स्पष्ट है। माता का पूर्ण सात्त्विक भोजन व सात्त्विक क्रियाएँ बालक की नीरोगता के लिए आवश्यक हैं। २. **द्वाभ्यां स्वाहा**=जीवन के द्वितीय वर्ष की उत्तमता के लिए भी हम स्वार्थत्याग करते हैं। ३. इसी प्रकार तीन-चार-पाँच इस क्रम से **शताय स्वाहा**=पूरे सौवें वर्ष के लिए भी हम स्वार्थत्याग करते हैं और सौवें से भी ऊपर उठकर ४. **एक शताय स्वाहा**=एक सौ एकवें वर्ष के लिए भी हम स्वार्थ से ऊपर उठते हैं। ५. **व्युष्ट्यै स्वाहा**=(वि+उष दाहे) विशेषरूप से सब रोगों व दोषों को जलाने के लिए हम स्वार्थत्याग करते हैं। ६. और इस प्रकार **स्वर्गाय**=(सुअर्ग) उत्तम कर्मों के अर्जन के लिए तथा इस लोक को सुखमय बनाने के लिए हम स्वार्थत्याग करते हैं। स्वार्थत्याग से ही दीर्घजीवन भी प्राप्त होगा, दोषदहन होकर स्वर्ग का निर्माण होगा।

भावार्थ—हम यज्ञियवृत्तिवाले बनें, जिससे हमारा एक-एक वर्ष उत्तम बीते। हमारा जीवन निर्दोष तथा सुखमय हो।

सूचना—१. इस अन्तिम मन्त्र में 'एकशताय' शब्द स्पष्ट संकेत कर रहा है कि जीवन

सौ वर्ष से ऊपर भी चलना ही चाहिए। 'भूयश्च शरदः शतात्' की भी यही भावना है।

२. यहाँ २३ से ३४ तक सब मन्त्रों की मूल भावना इतनी ही है कि यज्ञमय जीवन ही सब सुखों का साधक है। यज्ञों से ही जीवन व संसार उत्तम बनता है।

'इन यज्ञों को जिस प्रभुकृपा से हम सिद्ध कर पाएँगे अथवा जिस प्रभु की कृपा से हमारी वृत्ति यज्ञिय बनेगी' उस प्रभु की उपासना से अगले अध्याय का प्रारम्भ होता है। वस्तुतः यह उपासना स्वयं सर्वमहान् यज्ञ है, अतः यज्ञ से ही अगले अध्याय का प्रारम्भ है।

इति द्वाविंशोऽध्यायः ॥

अथ त्रयोविंशोऽध्यायः

—:०:—

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**परमेश्वरः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

हिरण्यगर्भ

हि॒र॒ण्य॒ग॒र्भः सम॑वर्त्त॒ताग्रे॑ भू॒तस्य॑ जा॒तः पति॒रेक॑ऽआसीत्।
स दा॑धार पृथि॒वीं द्यामु॒तेमां कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम॥१॥

१. **हिरण्यगर्भः**=(हिरण्यं ज्योतिर्गर्भे यस्य) सूर्यादि ज्योतिर्मय पदार्थ जिसके गर्भ में हैं वह परमात्मा **अग्रे**=सृष्टि के बनने से पूर्व ही **समवर्त्तत**=है, अर्थात् वे प्रभु कभी बने नहीं। सदा से **जातः**=आविर्भूत हुए-हुए वे प्रभु **भूतस्य**=पृथिवी आदि भूतों को तथा सब भूतमात्र, सब प्राणियों के **एकः**=अद्वितीय **पतिः**=रक्षक हैं। अपने रक्षणकार्य में प्रभु को किसी अन्य चेतनसत्ता की सहायता की आवश्यकता नहीं। वे अपने कार्य में पूर्ण सशक्त होने से 'सर्वशक्तिमान्' हैं। २. **सः**=वे प्रभु **पृथिवीम्**=इस विस्तृत अन्तरिक्षलोक को **द्याम्**=प्रकाशमय द्युलोक से **उत**=और **इमाम्**=इस पृथिवी को **दाधार**=धारण कर रहा है। तीनों लोकों का धारण करने के कारण ही वे त्रिलोकीनाथ हैं। ३. **कस्मै**=सुखस्वरूप **देवाय**=जीव के लिए सब आवश्यक पदार्थों को देनेवाले प्रभु के लिए **हविषा**=दानपूर्वक अदन से, यज्ञशेष के सेवन से **विधेम**=हम पूजा करनेवाले बनें।

भावार्थ—प्रभु सदा से हैं, वे सबके रक्षक हैं। त्रिलोकी का धारण कर रहे हैं। उनकी उपासना त्यागपूर्वक उपभोग से, हवि के द्वारा ही होती है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**परमेश्वरः**। छन्दः—**निचृदाकृतिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

सूर्य में प्रभु-दर्शन

उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽसि प्र॒जाप॑तये त्वा॒ जुष्टं॑ गृह्णाम्ये॒ष ते॒ योनि॒: सूर्य॑स्ते महि॒मा। यस्ते॒ऽह॑न्त्संवत्स॒रे म॑हि॒मा सम्ब॒भूव॒ यस्ते॑ वा॒यावन्तरि॑क्षे महि॒मा सम्ब॒भूव॒ यस्ते॑ दि॒वि सूर्ये॑ महि॒मा सम्ब॒भूव॒ तस्मै॑ ते महि॒म्ने प्र॒जाप॑तये॒ स्वाहा॑ दे॒वेभ्यः॑॥२॥

१. हे प्रभो! आप **उपयामगृहीतः असि**=विवाह के द्वारा गृहीत होते हैं। जैसे उत्तम विवाहित पत्नी अनन्यभाव से पति का ही स्मरण करती है, उसी प्रकार जब जीव परमात्मा का अनन्यभक्त बनता है, उस समय परमात्मा के साथ वह विवाहित-सा हुआ प्रतीत होता है और इस अनन्यभाव से भजन करने पर ही वह परमात्मा को ग्रहण कर पाता है। २. **प्रजापतये त्वा जुष्टं गृह्णामि**=मैं उस यज्ञ को स्वीकार करता हूँ। यह यज्ञ तुझ प्रजापति के लिए प्रीतिपूर्वक सेवित होता है। प्रभु यज्ञरूप हैं, यज्ञ ही उन्हें प्रिय है, सृष्टि के प्रारम्भ में यज्ञसहित प्रजाओं को प्रभु ने उत्पन्न किया और कहा कि यह यज्ञ ही तुम्हारी वृद्धि का कारण बनेगा। वस्तुतः यह यज्ञ ही प्रजापति है। ३. **एषः**=यह यज्ञ का ग्रहण करनेवाला मैं **ते**=तेरा **योनिः**=उत्पत्तिस्थान होता हूँ। मेरे हृदय में तेरा प्रकाश होता है। ४. हे प्रभो! यह **सूर्यः**=सूर्य **ते**=तेरी **महिमा**=महिमा है—तेरी महिमा का प्रतिपादन करनेवाला है। ५. हे प्रभो!

यः=जो **ते**=तेरी **महिमा**=महत्त्व **अहन्**=दिन में **संवत्सरे**=वर्ष में **सम्बभूव**=है, **यः** =जो **ते**= तेरी **महिमा**=महत्त्व **वायौ**=वायु में **अन्तरिक्षे**=अन्तरिक्ष में **सम्बभूव**=है। **यः**=जो **ते**=तेरी **महिमा**=महत्त्व **दिवि**=द्युलोक में तथा **सूर्ये**=सूर्य में **सम्बभूव**=है। **तस्मै**=उस तेरी **महिम्ने**=महिमा के लिए **प्रजापतये**=प्रजापति के लिए **देवेभ्यः च**=और देवों के लिए **स्वाहा**=स्वार्थ का त्याग हो, अर्थात् स्वार्थ का त्याग करके दिव्य वृत्ति को अपनाकर मैं भी प्रभु के समान महिमा को प्राप्त करनेवाला बनता हूँ, प्रजापति बनता हूँ और दिव्य गुणों को धारण करनेवाला बनता हूँ। ६. विचारशील पुरुष के लिए क्या दिन में क्या वर्ष में, वायु में व अन्तरिक्ष में, सूर्य में व द्युलोक में सर्वत्र प्रभु की महिमा का दर्शन होता है।

भावार्थ—प्रभु की अनन्यभक्ति हमें प्रभु-दर्शन करानेवाली हो। हम सूर्य में प्रभु की महिमा को देखते हुए सूर्य के समान तेजस्वी बनें। इस तेजस्विता की प्राप्ति के लिए स्वार्थत्याग करें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**परमेश्वरः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

ईश

यः प्रा॒ण॒तो नि॑मिष॒तो म॑हि॒त्वैक॒ऽइद्राजा॒ जग॑तो ब॒भूव॑।
यऽईशे॑ऽअ॒स्य द्वि॒पद॒श्चतु॑ष्पद॒: कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम॥३॥

१. **यः**=जो प्रभु **प्राणतः**=प्राण धारण करनेवाले तथा **निमिषतः**=सदा आँखों को बन्द करके रहनेवाले **जगतः**=दो भागों में विभक्त जगत् का **महित्वा**=अपनी महिमा से **एकः इत्**=अकेला ही **राजा**=नियन्त्रण करनेवाला है। संसार स्थूलतया दो भागों में विभक्त है। (क) मनुष्यादि प्राणी जो प्राणधारण कर रहे हैं तथा (ख) वृक्षादि जो सदा आँखों को बन्द करके सुप्तावस्था में हैं। प्रभु इस सम्पूर्ण संसार को व्यवस्थित कर रहे हैं। उन्हें अपने इस शासनकार्य में किसी अन्य चेतन की सहायता की आवश्यकता नहीं। वे स्वयं ही शासन कर रहे हैं। उनकी महिमा महान् है। २. **यः**=जो प्रभु **अस्य**=इस **द्विपदः**=दो पैरवालों के, पक्षियों के तथा **चतुष्पदः**=चार पैरवाले पशुओं के **ईशे**=ऐश्वर्य का कारण है। शहद की मक्खियाँ जो शहद बनाती हैं, चील जो आकाश में घण्टों पंखों को फैलाये उड़ती रहती है, सिंह जो तीव्रतर धारा को सीधा पार कर जाता है, यह सब प्रभु का ही ऐश्वर्य है। मनुष्य परमेश्वर प्रदत्त वासना से न चलकर बुद्धि से चलता है। इस बुद्धि के विकास के साथ-साथ वह उन्नत होता चलता है और उन सब पशु-पक्षियों को पराजित करके आगे बढ़ जाता है। वास्तव में तो प्रभु ने मनुष्य के लिए उस-उस पशु-पक्षी में उस-उस ऐश्वर्य को आदर्श के रूप में रखा है कि तूने यहाँ पहुँचना है। उदाहरणार्थ **'वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्। वेद नावः समुद्रियः'**=जो अन्तरिक्ष में उड़ते हुए पक्षियों के उड़ने के तत्त्व को समझता है वह आकाशीय विमान और समुद्र में चलनेवाली नौकाओं को भी बना सकता है। ३. इस पशु-पक्षियों में ऐश्वर्य को स्थापित करनेवाले **कस्मै**=आनन्द-स्वरूप **देवाय**=सब कुछ देनेवाले प्रभु के लिए **हविषा**=त्यागपूर्वक अदन से **विधेम**=हम पूजा करें।

भावार्थ—प्रभु द्वारा पशु-पक्षियों में प्राप्त करायी गई उस-उस प्रवीणता को हम भी प्राप्त करने का प्रयत्न करें। इसके लिए प्रभु का उपासन करें, प्रभु के उपासन के लिए 'हविर्भुक्' बनें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**परमेश्वरः**। छन्दः—**विकृतिः**। स्वरः—**मध्यमः**।

चन्द्र में प्रभु-दर्शन

उपयामगृहीतोऽसि प्रजापतये त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिश्चन्द्रमास्ते महिमा। यस्ते रात्रौ संवत्सरे महिमा सम्बभूव यस्ते पृथिव्यामग्नौ महिमा सम्बभूव यस्ते नक्षत्रेषु चन्द्रमसि महिमा सम्बभूव तस्मै ते महिम्ने प्रजापतये देवेभ्यः स्वाहा॥४॥

१. हे प्रभो! आप **उपयामगृहीतः असि**=विवाह द्वारा गृहीत होते हैं। पत्नी जिस प्रकार पति का, उसी प्रकार अनन्यभाव से जब हम आपका भजन करते हैं तब आपका ग्रहण कर पाते हैं। अनन्यभजन ही आपकी प्राप्ति का प्रधान साधन है। २. **प्रजापतये त्वा जुष्टम्**=तुझ प्रजापति के लिए अत्यन्त प्रिय इस यज्ञ को **गृह्णामि**=स्वीकार करता हूँ। प्रभु हमें सदा इस 'श्रेष्ठतम कर्म'=यज्ञ की प्रेरणा देते हैं। ३. हे प्रभो! इस तेरे प्रिय यज्ञ का सेवन करनेवाला **एषः**=यह मैं **ते योनिः**=तेरा स्थान बनता हूँ। मेरा हृदय आपका निवासस्थान बनता है। ४. **चन्द्रमाः**=यह चन्द्रमा **ते महिमा**=तेरी महिमा है। ५. **यः**=जो **ते**=तेरी **महिमा**=महत्त्व **रात्रौ**=रात्रि में **संवत्सरे**=संवत्सर में **सम्बभूव**=है, **यः**=जो **ते**=तेरी **महिमा**=महत्त्व **पृथिव्याम्**=पृथिवी पर तथा **अग्नौ**=अग्नि में **सम्बभूव**=है, **यः**=जो **ते**=तेरी **महिमा**=महत्त्व **नक्षत्रेषु**=नक्षत्रों में **चन्द्रमसि**=और चन्द्रमा में **सम्बभूव**=है, **तस्मै**=उस **ते**=तेरी **महिम्ने**=महिमा के लिए, **प्रजापतये**=प्रजापति के लिए, यज्ञ के लिए तथा **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए **स्वाहा**=हम स्वार्थत्याग करते हैं। स्वार्थत्याग के अनुपात में ही हमें महिमा प्राप्त होगी, हम प्रजापति बन सकेंगे तथा दिव्य गुणों को प्राप्त कर सकेंगे।

भावार्थ—प्रभु का ग्रहण अनन्यभाव से प्रभु का भजन करने पर होता है। चन्द्रमा में प्रभु-दर्शन करते हुए हम सचमुच अपने मनों को चन्द्रमा के समान शीतल, ज्योत्स्नावान् बनाएँ, आह्लादमय बनाएँ। इस आह्लादमयता के लिए हम स्वार्थ से ऊपर उठें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**परमेश्वरः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

ब्रध्न-योग

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः। रोचन्ते रोचना दिवि॥५॥

१. गतमन्त्र के 'उपयाम' व प्रभु से विवाह, प्रभु के ही अनन्यभाव से भजन को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि **युञ्जन्ति**=ये उपासक उस प्रभु को अपने साथ जोड़ते हैं। किस प्रभु को (क) **ब्रध्नम्**=जो महान् हैं। प्रभु महत्ता की चरम सीमा हैं, प्रभु से अधिक महान् कोई नहीं। (ख) **अरुषम्**=जो (अ+रुषम्) क्रोध नहीं करता है व आरोचमान—सर्वतो देदीप्यमान हैं। (ग) जो **परितस्थुषः**=चारों ओर स्थित पदार्थों में **चरन्तम्**=विचरण कर रहे हैं, अर्थात् जो पदार्थमात्र में विद्यमान हैं। (घ) और जिस प्रभु की शक्ति से **दिवि**=द्युलोक में **रोचना**=देदीप्यमान सूर्यादि पदार्थ **रोचन्ते**=चमक रहे हैं। इस सूर्यादि के चमकानेवाले प्रभु को अपने साथ जोड़के यह उपासक भी उन्हीं की भाँति चमकने लगता है।

भावार्थ—उपासना द्वारा प्रभु को अपने साथ जोड़ना ही योग है। वे प्रभु महान् हैं, आरोचमान हैं, चारों ओर स्थित पदार्थों में विद्यमान हैं, उसी प्रभु की शक्ति से द्युलोक में सूर्यादि पदार्थ देदीप्यमान हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**विराड्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

रथ-योजन

युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे। शोणा धृष्णू नृवाहसा ॥६॥

१. ये उपासक लोग **रथे**=शरीररूप रथ में **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप घोड़ों को **युञ्जन्ति**=जोतते हैं। रथ में जुतकर ही ये घोड़े इसकी यात्रा को पूर्ण करवाने में सहायक होंगे। जो घोड़े सदा चरते ही रहते हैं उनकी क्या उपयोगिता? इसी प्रकार जो इन्द्रियाश्व भोगों को ही भोगने में लगे हैं वे स्पष्ट ही व्यर्थ हैं। वे दस-के-दस जब रथ में जुते होते हैं तो हम 'दश-रथ' बनते हैं। जब ये भोगने में लगते हैं और मुख बन जाते हैं तब हम 'दश-मुख' (रावण) हो जाते हैं। २. ये घोड़े कैसे हैं? (क) **अस्य काम्या**=इस रथस्वामी के काम (इच्छा) का सम्पादन करनेवाले हैं। इसे लक्ष्यस्थान पर पहुँचानेवाले हैं। (ख) **विपक्षसा**=(पक्ष परिग्रहे) ये घोड़े विशिष्ट परिग्रहवाले हैं। एक ने उत्कृष्ट ज्ञान का ग्रहण किया है तो दूसरे ने विशिष्ट कर्म का परिग्रह किया है। (ग) **शोणा**=तेजस्विता के कारण रक्तवर्णवाले हैं। (घ) **धृष्णू**=तेजस्विता के कारण ही शत्रु का धर्षण करनेवाले हैं। (ङ) **नृवाहसा**=मनुष्यों को लक्ष्य-स्थान पर पहुँचानेवाले हैं। वस्तुतः इन्द्रियाश्वों को मलिन न होने देना, इनको ठीक-ठाक रखना ही जीवन-यात्रा को पूर्ण करने का प्रमुख साधन है।

भावार्थ—हम इन्द्रियाश्वों को रथ में जोतें और जीवन-यात्रा को पूर्णकर प्रभु के पास पहुँचें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृद्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

अभ्यावर्तन

यद्वातोऽअपोऽअगनीगन्प्रियामिन्द्रस्य तन्वम्।
एतꣳस्तोतरनेन पथा पुनरश्वमावर्त्तयासि नः॥७॥

१. इन्द्रियरूप घोड़े विषयों में जा भटकते हैं, उनको न भटकने देने के लिए आवश्यक है—**यत्**=कि **वातः**=(वा गतौ=अत् गतौ) आत्मा **अपः**=कर्मों को **अगनीगन्**=प्राप्त हो। 'अत सातत्यागमने' धातु से आत्मा शब्द बनता है और 'वा गतौ' से 'वातः'। एवं, वातः व आत्मा पर्याय हैं। **'वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम्'** में शरीर के प्रतिकूल 'वायुः' आत्मा का ही वाचक है। २. इस कर्मशीलता के द्वारा **यत्**=जब यह **इन्द्रस्य**=इन्द्र के, परमैश्वर्यशाली प्रभु के **प्रियां तन्वम्**=प्रिय शरीर को प्राप्त करता है, अर्थात् कर्मशीलता के द्वारा शरीर को इस प्रकार स्वस्थ व तेजस्वी बनाता है कि यह शरीर प्रभु का प्रिय होता है। ३. हे **स्तोतः**=प्रभु के उपासक **नः एतं अश्वम्**=हमारे इस इन्द्रियरूप घोड़े को **अनेन पथा**=इस कर्मशीलता के मार्गों से **पुनः**=फिर **नः आवर्त्तयासि**=विषयों से व्यावृत्त करके हमारी ओर लानेवाला बन, इन्द्रियाश्व प्रभु की ओर चलनेवाले तभी होते हैं जब विषयों के बन्धनों से बद्ध नहीं होते। इनको विषयों से प्रत्यावृत्त व प्रत्याहृत करके ही हम आत्मतत्त्व का दर्शन किया करते हैं। उपनिषद् के शब्दों में—**'कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्'**=कोई एक-आध ही ऐसा धीर पुरुष होता है जो आवृत्त चक्षु होकर अन्तःस्थित आत्मतत्त्व को देखता है।

भावार्थ—जीवात्मा वात=वायु क्रियाशील है। क्रियाशीलता से यह अपने इस शरीर को प्रभु का प्रिय बनाये रखता है। इस क्रियाशीलता के मार्ग से हमें इन्द्रियाश्वों को विषयों से व्यावृत्त करके आत्मतत्त्व का दर्शन करना चाहिए।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**वाय्वादयः**। छन्दः—**अत्यष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**।

अञ्जन (Decoration)

वसवस्त्वाञ्जन्तु गायत्रेण छन्दसा रुद्रास्त्वाञ्जन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसादित्यास्त्वाञ्जन्तु जागतेन छन्दसा। भूर्भुवः स्वर्लाजी३॥ञ्छाची३॥न्यव्ये गव्यऽएतदन्नमत्त देवाऽ एतदन्नमद्धि प्रजापते॥८॥

१. **वसवः**=वसुनामक आठ देव अथवा शरीर में उत्तम निवास के लिए आवश्यक तत्त्व **त्वा**=तुझे **गायत्रेण छन्दसाः**=(गयाः प्राणाः तन् तत्रे) प्राणशक्ति के रक्षण की प्रबल इच्छा से **अञ्जन्तु**=अलंकृत करें। साधक की सर्वप्रथम कामना यही होनी चाहिए कि उसकी प्राणशक्ति ठीक रहे। २. **रुद्राः**=रुद्र अथवा 'रोरूयमानो द्रवति' जो प्रभु के नाम का निरन्तर उच्चारण करता हुआ गतिशील होता है, वही तो रुद्र है। ये प्रभुस्मरणपूर्वक कर्त्तव्य को करने की भावनाएँ **त्वा**=तुझे **त्रैष्टुभेन छन्दसा**=(त्रि+स्तुभ्) काम, क्रोध व लोभ तीनों को रोकने की प्रबल कामना से **अञ्जन्तु** =अलंकृत करें। मनुष्य प्रभुस्मरण करता है, कार्य में लगा रहता है। बस, यह बात उसे कामादि से दूर रखती है। यह व्यक्ति काम, क्रोध व लोभ का शिकार नहीं होता। ३. **आदित्याः**=बारह आदित्य अथवा सब जगह से अच्छाई के ग्रहण करने की वृत्ति **त्वा**=तुझे **जागतेन छन्दसा**=लोकहित करने की प्रबल भावना से **अञ्जन्तु**=अलंकृत करें। लोकहित वही कर सकता है जो सब जगह से अच्छाई को ग्रहण की वृत्तिवाला बने। ४. 'गायत्र छन्द से' तू **भूः**=पूर्ण स्वास्थ्य को प्राप्त करनेवाला होगा, 'त्रैष्टुभ् छन्द से' तू **भुवः**=आकलन, चिन्तन व ज्ञानवाला बनेगा। कामादि ही तो ज्ञान का आवरण बने रहते हैं। 'जागत छन्द से' तू **स्वः**=पूर्ण सुख को प्राप्त करनेवाला होगा। ५. **लाजीन्**=(योऽयं लाजानां समूहो लाजीनित्युक्तः—उ०) लाजाओं को **शाचीन्**=(योऽयं सक्तूनां समूहः शाचीनित्युक्तः—उ०) सत्तुओं को **यव्ये**=(यवमयः समूहः—उ०) यवसमूह में अथवा **गव्ये**=(गव्येर्विकारे दध्यादि—उ०) दही आदि में **एतद् अन्नं अत्त**=इस अन्न को खाओ। **देवाः**=देव इसी अन्न को खाते हैं। वस्तुतः यही 'धान, सत्तु, जौ व दही' आदि पदार्थ ही मनुष्य को सात्त्विक वृत्तिवाला व देव बनाते हैं। हे **प्रजापते**=प्रजा के रक्षक! तू भी **एतत् अन्नं अद्धि**=इसी अन्न को खा। इस अन्न का सेवन तुझे सात्त्विक वृत्तिवाला बनाकर प्रजा का रक्षक बनाएगा, मांसाहारी राजा तो प्रजा का भक्षक ही बन जाएगा।

भावार्थ—हममें 'प्रजारक्षण, काम-क्रोध-लोभ-निवारण व लोकहित' की प्रबल कामना हो। इससे हम स्वस्थ, सज्ञान व सुखी बनेंगे। हम 'धान, सत्तु, जौ व दही' आदि पदार्थों का प्रयोग करें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**जिज्ञासुः**। छन्दः—**निचृदत्यष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**।

चार प्रश्न व उत्तर

कः स्विदेकाकी चरति कऽउ स्विज्जायते पुनः।
किꣳस्विद्धिमस्य भेषजं किम्वावपनं महत्॥९॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

सूर्यऽएकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः।
अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत्॥१०॥

१. प्रस्तुत मन्त्रों में साहित्य में प्रश्नोत्तर के प्रकार से प्रतिपादन की शैली का सुन्दरतम उदाहरण मिलता है। वनपर्व की समाप्ति पर यक्ष-युधिष्ठिर संवाद में यही शैली प्रयुक्त हुई है। २. प्रथम प्रश्न यह है कि **स्वित्**=भला **कः**=कौन, **एकाकी**=अकेला **चरति**=विचरता है? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि **सूर्यः**=सूर्य **एकाकी**=अकेला **चरति**=चलता है। (क) सब ब्रह्माण्ड को गति देनेवाला परमात्मा सूर्य है। वह अपने कार्यों में दूसरे की सहायता पर निर्भर न करता हुआ अकेला विचरता है। (ख) समाज में संन्यासी भी सूर्य है। वह भी अकेला विचरता है। 'अरुचिर्जनसंसदि'=उसे जनसंघ रुचिकर नहीं होता। (ग) शरीर में सूर्य 'चक्षु' है। यह चक्षु भी प्रमाणान्तर की अपेक्षा न करती हुई स्वयं प्रमाण होती है और इस प्रकार अकेली विचरती है। यही भावना 'प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्' इन शब्दों से कही गई है। (घ) मनुष्य को सामान्यतः यही प्रयत्न करना चाहिए कि वह अपने कार्यों के लिए दूसरों पर निर्भर न रहकर स्वयं कर सके तभी वह सूर्य के समान चमकेगा। सूर्य के आश्रित अन्य पिण्ड हैं, सूर्य उनका आश्रित नहीं, इसीलिए सूर्य 'सूर्य' है। ३. अब दूसरा प्रश्न यह है कि **स्वित्**=भला **कः**=कौन निश्चय से **पुनः**=फिर **जायते**=प्रादुर्भूत व विकसित होता है। उत्तर देते हुए कहते हैं कि **चन्द्रमाः**=चाँद **पुनः**=फिर **जायते**=विकसित होता है। (क) आधिदैविक जगत् में चन्द्रमा कृष्णपक्ष में क्षीण होकर शुक्लपक्ष में फिर प्रादुर्भूत होता दिखता है। (ख) शरीर में यह मन के रूप से है 'चन्द्रमा मनो भूत्वा' चन्द्रमा ही तो मन (moon) बनकर हृदय में प्रविष्ट होता है। किसी भी मनुष्य का विकास इस मन के विकास के अनुपात में ही होता है। मन की आह्लादमयता ही मनुष्य के स्वास्थ्य के विकास का भी कारण बनती है। (ग) एक गृहस्थ में नव उत्पन्न सन्तान 'चन्द्र' तुल्य है। यह दिन-ब-दिन विकास को प्राप्त होती चलती है। ४. तीसरा प्रश्न है **स्वित्**=भला **हिमस्य**=शीत का **किं भेषजम्**=क्या औषध है? उत्तर देते हुए कहते हैं कि **अग्निः**=आग **हिमस्य**=शीत का **भेषजम्**=औषध है। (क) आधिदैविक जगत् का अग्निदेव तो शीत से त्राण करता ही है। (ख) आधिभौतिक जगत् में जब आन्दोलन ठण्डा पड़ जाता है और लोगों का उत्साह मन्द हो जाता है तब एक नेता अग्नि की प्रतिनिधिभूत वाणी से (अग्निर्वाग् भूत्वा) लोगों में फिर से उत्साह का सञ्चार कर देता है, आन्दोलन में फिर से गर्मी आ जाती है। (ग) शरीर में जब तक यह अग्नितत्त्व विद्यमान रहता है तब तक मनुष्य ठण्डा नहीं पड़ता, मरता नहीं। ५. चौथा प्रश्न है **किम् उ**=और कौन-सा **महत् आवपनम्**=महनीय, महत्त्वपूर्ण बोने का स्थान है? उत्तर देते हुए कहते हैं कि **भूमिः**=यह पृथिवी ही **महत् आवपनम्**=महत्त्वपूर्ण बोने का स्थान है। (क) वस्तुतः सभी बीज इसी भूमि में बोये जाते हैं। यह भूमि ही सब साधनों का क्षेत्र है। (ख) अध्यात्म में 'पृथिवी शरीरम्'=यह शरीर पृथिवी है। इसे 'क्षेत्र' कहते हैं। इसी में दिव्य गुणों व विकास के बीज बोये जाते हैं। इसी में बीज=सोम=वीर्य का आवपन करना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सोम को इस शरीर में सुरक्षित रखने पर ही सब प्रकार की उत्पत्ति (विकास) निर्भर है।

भावार्थ—हमें सूर्य की भाँति अपराश्रित रूप में विचरना है, अपने कार्य स्वयं करने हैं। मन के विकास से अपने विकास को सिद्ध करना है। अपनी वाणी को अग्नि के समान ओजस्वी बनाकर सर्वत्र उत्साह का सञ्चार करना है और इस शरीररूप पृथिवी में सोम का वपन करते हुए इसे महत्त्वपूर्ण आवपन बनाना है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**जिज्ञासुः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

पिलिप्पिला—पिशंगिला

का स्विदासीत्पूर्वचित्तिः किꣳस्विदासीद् बृहद्वयः।
का स्विदासीत्पिलिप्पिला का स्विदासीत्पिशङ्गिला॥११॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**विद्युदादयः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

द्यौरासीत्पूर्वचित्तिरश्वऽआसीद् बृहद्वयः।
अविरासीत्पिलिप्पिला रात्रिरासीत्पिशङ्गिला॥१२॥

१. गतमन्त्रों के अनुसार ही इन मन्त्रों में भी चार प्रश्न व उत्तर दिये गये हैं। प्रथम प्रश्न है **स्वित्**=भला **पूर्वचित्तिः**=सबसे प्रथम (प्रथमा स्मृतिविषया—द०) स्मरण व ध्यान की वस्तु **का**=क्या है? अर्थात् सबसे अधिक ध्यान किसपर देना चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि **द्यौः**=मस्तिष्क **पूर्वचित्तिः**=सबसे प्रथम ध्यान देने का विषय **आसीत्**=है। शरीर में मस्तिष्क उसी प्रकार सर्वोपरि स्थित है जैसे विराट् शरीर में द्युलोक। **'मूर्ध्नो द्यौः'** विराट् शरीर के मस्तिष्क से ही द्युलोक बनता है और यही द्युलोक मस्तिष्करूप से हमारे शरीर में निवास करता है। हमें इस मस्तिष्क का सर्वाधिक ध्यान करना है। २. दूसरा प्रश्न है **स्वित्**=भला **बृहद् वयः**=वर्धनशील पक्षी **किम्**=कौन है? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि **अश्वः**=(अश्नुते कर्मसु) सदा कर्मों में व्याप्त होनेवाला जीव ही **बृहद् वयः**=वर्धनशील पक्षी **आसीत्**=है। वैदिक साहित्य में आत्मा तथा परमात्मा दोनों को **'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया'** इन शब्दों में सदा साथ रहनेवाले दो मित्र पक्षियों के रूप में चित्रित किया है। इनमें परमात्मा सदा वृद्ध व निरतिशय वृद्धिवाले हैं, जीवात्मा अल्प है और यह साधना के मार्ग पर चलकर वृद्धि को प्राप्त करनेवाला है। यह बढ़ता हुआ पक्षी है। जितना-जितना बढ़ता जाता है उतना-उतना प्रभु के समीप पहुँचता जाता है अथवा जितना-जितना प्रभु के समीप पहुँचता जाता है उतना-उतना बढ़ता जाता है। ३. तीसरा प्रश्न है **स्वित्**=भला **पिलिप्पिला**=(आर्द्रीभूता-चिक्कणा-शोभन—द०) (श्रीर्वै पिलिप्पिला—श० १३।२।६।१६) आर्द्रीभूत, चिक्कणा व शोभना श्री क्या **आसीत्**=है? उत्तर देते हुए कहते हैं कि **अविः**=(अव रक्षणे) रोगों व वासनाओं से अपना रक्षण करनेवाला जीव ही **पिलिप्पिला**=शरीर में स्वास्थ्य की स्निग्धता से चिक्कण, मन में करुणा से आर्द्रीभूत, मस्तिष्क में उत्तम विचारों से शोभन श्रीवाला **आसीत्**=है। जब हम आधि-व्याधियों से अपने को बचाते हैं तभी हमारे शरीर, मन व मस्तिष्क श्रीसम्पन्न होते हैं। ४. चौथा प्रश्न है **स्वित्**= भला **पिशंगिला**=(पिशं रूपं गिलति) रूप को निगल जानेवाला **का आसीत्**=कौन है? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि **रात्रिः**=रात **पिशंगिला आसीत्**=रूप को निगल जानेवाली है। रात्रि में सब वर्ण समाप्त होकर एक कृष्ण-ही-कृष्ण वर्ण की प्रतीति होती है। इसी प्रकार उस परमेश्वर में रमण करनेवाले (रात्रिः रमयित्री) योगनिद्रागत योगी के इन शरीररूप रूपों का, वल्बों का विलय=मोक्ष हो जाता है। इस योगी को फिर दीर्घकाल तक शरीर नहीं लेना पड़ता।

भावार्थ—सर्वाधिक ध्यान हमें मस्तिष्क का करना है। साधना के द्वारा निरन्तर वृद्धि का यत्न करना है। अपने को आधि-व्याधियों से बचाकर श्रीसम्पन्न होना है तथा प्रभुस्मरण के द्वारा इन शरीरों के परिग्रह से ऊपर उठना है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**ब्रह्मादयः**। छन्दः—**भुरिगतिजगती**। स्वरः—**निषादः**।

अकृष्ण ब्रह्मा

वायुष्ट्वा पचतैरवत्वसितग्रीवश्छागैर्न्यग्रोधश्चमसैः शल्मलिर्वृद्ध्या। एष स्य राथ्यो वृषा पड्भिश्चतुर्भिरेदगन्ब्रह्माकृष्णश्च नोऽवतु नमोऽग्नये॥१३॥

१. **वायुः**=शरीर में वैश्वानर (जाठराग्नि) अग्नि के साथ मिलकर पाचनक्रिया को करनेवाला प्राणवायु **त्वा**=तुझे **पचतैः**=भोजनों के ठीक परिपाकों से **अवतु**=रोगों से बचाए। पाचनक्रिया के ठीक न होने पर ही शरीर रोगाक्रान्त हुआ करता है। २. **असितग्रीवः**=न बद्धग्रीवावाला **छागैः**=छेदन-भेदन से तेरी रक्षा करे। संसार में विषय मनुष्य को अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं, मनुष्य उनसे बँध जाता है और फिर गर्दन में रस्सी से बँधे पशु की भाँति वह न्याय्य-अन्याय्य मार्गों में उनसे ले-जाया जाता है, परन्तु जो 'असितग्रीव'=विषयों से अ-बद्ध गर्दनवाला होता है वह इन विषय-वासनाओं का छेदन-भेदन करते हुए अपना उत्तम रक्षण कर पाता है। ३. **न्यग्रोधः**=(न्यञ्चति, रोहति) जो निरभिमानता से, नीचे होकर चलता और इस नम्रता से ही विकास व उन्नतिवाला होता है वह **चमसैः**=सत्य, यश व श्री के आचमनों से तेरी रक्षा करे। वस्तुतः जो व्यक्ति नम्र बनता है वही उन्नत होता है और वही सत्य, यश व श्री आदि को प्राप्त करता है। ४. **शल्मलिः**=(शल्=गति मलि=possession, enjoyment) गति को धारण करना अथवा गति में ही आनन्द लेना **वृद्ध्या**=वृद्धि के द्वारा तेरी रक्षा करे। वस्तुतः जो मनुष्य निरन्तर क्रियाशील रहता है, जिसे क्रिया में आनन्द आने लगता है वह सब प्रकार से वृद्धि को प्राप्त होता है। ५. **एषः**=यह असितग्रीव, न्यग्रोध व शल्मलि' नामवाला **स्यः**=वह पुरुष **राथ्यः**=इस उत्तम शरीररूप रथवाला होता है, **वृषा**=यह बलवान् व सबपर सुखों की वर्षा करनेवाला होता है। ६. यह **चतुर्भिः पड्भिः**=चारों पुरुषार्थों के साथ, अर्थात् 'धर्मार्थकाममोक्ष' चारों के लिए प्रयत्नशील होता हुआ **इत्**=निश्चय से **आगन्**=प्रभु के समीप प्राप्त हुआ है। ७. प्रभु के समीप प्राप्त होने से यह **ब्रह्मा**=बड़ा व निर्माण करनेवाला बना है, **अकृष्णः च**=इसका कोई कर्म मलिन नहीं हुआ। यह **अकृष्णः**=विषयों से अनाकृष्ट **ब्रह्मा**=महान् निर्माता **नः अवतु**=अपने ज्ञानोपदेशों व कार्यों से हमारा रक्षण करे। इस **अग्नये नमः**=अग्रेणी पुरुष के लिए हम नमस्कार करते हैं।

भावार्थ—प्राणों द्वारा भोजन के ठीक परिपाक से हम रोगों से बचे रहें। विषयों से अबद्ध रहकर हम उन्नति के विघ्नों का छेदन-भेदन करें। नम्रता से चलते हुए उन्नति को प्राप्त करके हम सत्य, यश व श्री को धारण करें। गतिशीलता में आनन्द हमारी वृद्धि का कारण बने। हम उत्तम शरीर-रथवाले व शक्तिशाली बनकर धर्मार्थकाममोक्ष चारों का साधन करते हुए परमात्मा को प्राप्त करें। विषयों से अनाकृष्ट व निर्माण के कार्यों में लगे हुए व्यक्ति हमारी रक्षा करें। हम इन रक्षक अग्रेणी नेताओं के लिए नतमस्तक हों।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**ब्रह्मा**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

सोमपुरोगव

सꣳशितो रश्मिना रथः सꣳशितो रश्मिना हयः। सꣳशितो अप्स्वप्सुजा ब्रह्मा सोमपुरोगवः॥१४॥

१. गत मन्त्र के 'राथ्यो वृषा' ने क्या किया है? उसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि इसके द्वारा **रश्मिना** =ज्ञानरूपी किरणों से युक्त मनरूप लगाम से **रथः**=यह शरीररूप रथ

संशितः=शोभित किया गया है (संपूर्वः श्यतिः शोभने—उ०) अथवा चलने में तीक्ष्ण व उत्तम क्रियावाला किया गया है। २. **रश्मिना**=उसी ज्ञान-किरणयुक्त मनरूपी लगाम से **हयः**=इन्द्रियरूप घोड़े **संशितः**=शोभित व तीक्ष्ण क्रियायुक्त किये गये हैं। ३. **अप्सुजाः**=सदा कर्मों में लगा होनेवाला यह अश्व (=कर्मों में व्याप्त पुरुष) **अप्सु**=प्राणों में **संशितः**=शोभित हुआ है। कर्मों से इसकी प्राणशक्ति बढ़ी है। ४. इस प्रकार कर्मों से बढ़ी हुई प्राणशक्तिवाला यह पुरुष **ब्रह्मा**=बड़ा व निर्माता हुआ है, **सोमपुरोगवः**=यह सोम की रक्षा के द्वारा आगे-और-आगे चलता है (सोमेन पुरः गच्छति)। सोम की रक्षा के द्वारा यह उसकी ऊर्ध्वगति करनेवाला 'शूद्र (शु+उत्+र) होता है, शरीर में उसका प्रवेश करानेवाला 'वैश्य' बनता है, शरीर को सब क्षतों से बचाने के कारण 'क्षत्रिय' होता है और इस सोम के ज्ञानाग्नि का ईंधन बनने पर 'ब्रह्म'=ज्ञान से दीप्त 'ब्राह्मण' होता है। इस प्रकार यह सोम के द्वारा अधिक-और-अधिक उन्नति करता चलता है।

भावार्थ—रथ और घोड़ों (शरीर व इन्द्रियों) को वश में करके क्रियाशीलता से अपनी शोभा को बढ़ाकर हम ब्रह्मा बनते हैं और सोम की रक्षा से आगे और आगे चलनेवाले बनते हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

स्वयं वाजिँस्तन्वं कल्पयस्व स्वयं यजस्व स्वयं जुषस्व।
महिमा तेऽन्येन न सन्नशे॥१५॥

१. गतमन्त्र के 'सोमपुरोगव' से कहते हैं कि हे **वाजिन्**=क्रियाशील व शक्तिशालिन्! तू **स्वयम्**=अपने आप **तन्वम्**=शरीर को **कल्पयस्व**=शक्तिशाली बना। तू औरों का ध्यान न करके 'और करते हैं या नहीं', इसका विचार न करके, स्वयं अपने को शक्तिशाली बनाने का प्रयत्न कर। २. शक्तिशाली बनकर **स्वयं यजस्व**=औरों की ओर न देखता हुआ स्वयं यज्ञशील बन। ३. यज्ञशील बनकर **स्वयं जुषस्व**=तू स्वयं प्रभु की प्रीतिपूर्वक उपासना करनेवाला बन। ४. इस प्रकार जीवन बिताने पर **अन्येन**=दूसरे से **ते महिमा**=तेरी महिमा **न सन्नशे**=नष्ट नहीं की जा सकती, अर्थात् तेरा कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकता।

भावार्थ—हम औरों की ओर न देखते हुए तथा औरों पर आश्रित न होते हुए अपने शरीर को शक्तिशाली बनाएँ, यज्ञशील बनें, प्रभु के उपासक हों। हम यह विश्वास रक्खें कि हमारे महत्त्व को कोई दूसरा नष्ट नहीं कर सकता। स्वयं हम ही ग़लती से नष्ट कर लें तो और बात है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**।

अमरण-अहिंसन

न वाऽउऽएतन्म्रियसे न रिष्यसि देवाँ२॥ऽइदेषि पथिभिः सुगेभिः।
यत्रासते सुकृतो यत्र ते ययुस्तत्र त्वा देवः सविता दधातु॥१६॥

१. पिछले मन्त्र के अनुसार औरों की ओर न देखते हुए जब हम स्वयं अपने को शक्तिशाली बनाते हैं, यज्ञशील होते हैं, प्रीतिपूर्वक उपासन करनेवाले बनते हैं तब प्रभु कहते हैं कि **एतत्**=यह तू **वै उ**=निश्चय से **न म्रियसे**=मरता नहीं है **न रिष्यसि**=तू हिंसित नहीं होता। इस मार्ग पर चलने से तेरा शरीर व्याधियों से आक्रान्त होकर असमय में चले जानेवाला नहीं होता और तेरा मन भी आधियों से अभिभूत होकर हिंसित नहीं होता। तेरा

शरीर नीरोग होता है तो मन निर्मल। २. **सुगेभिः पथिभिः**=साधुगमन मार्गों से, अर्थात् उत्तम मार्गों से चलता हुआ तू **इत्**=निश्चय से **देवान् एषि**=देवों को, दिव्य गुणों को प्राप्त होता है। ३. **सविता देवः**=सबका प्रेरक, दिव्य गुणों का पुञ्ज वह प्रभु **त्वा**=तुझे **तत्र**=उस मार्ग में **दधातु**=स्थापित करे **यत्र**=जहाँ **सुकृतः**=पुण्यशाली लोग **आसते**=उपविष्ट होते हैं और **यत्र**=जहाँ **ते**=वे **ययुः**=जाते हैं व चलते हैं। तेरा मार्ग सदा पुण्यशालियों का ही मार्ग हो, उन्हीं देवों के मार्ग से तू चलनेवाला हो, अर्थात् तेरा मार्ग 'देवयान-मार्ग' हो।

भावार्थ—देवयान-मार्ग से चलते हुए हम व्याधियों से मृत्यु को प्राप्त न हों और काम-क्रोध-लोभादि आधियों से हिंसित न हों।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**अग्न्यादयः**। छन्दः—**अतिशक्वरी**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

अग्नि-वायु-सूर्य

अ॒ग्निः प॒शुरा॑सी॒त्तेना॑यजन्त॒ स॑ऽए॒तं लो॒कम॑जय॒द्यस्मि॑न्न॒ग्निः स ते॑ लो॒को भ॑विष्यति॒ तं जे॑ष्यसि॒ पिबै॒ताऽअ॒पः। वा॒युः प॒शुरा॑सी॒त्तेना॑यजन्त॒ स॑ऽए॒तं लो॒कम॑जय॒द्यस्मि॒न्वा॒युः स ते॑ लो॒को भ॑विष्यति॒ तं जे॑ष्यसि॒ पिबै॒ताऽअ॒पः। सूर्यः॑ प॒शुरा॑सी॒त्तेना॑यजन्त॒ स॑ऽए॒तं लो॒कम॑जय॒द्यस्मि॒न्त्सूर्यः॒ स ते॑ लो॒को भ॑विष्यति॒ तं जे॑ष्यसि॒ पिबै॒ताऽअ॒पः॥१७॥

१. गतमन्त्र के देवयान-मार्ग में देव अधिक-से-अधिक ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। सबसे प्रथम इस पृथिवीलोक के ग्यारह देवताओं का मुखिया यह **अग्निः**=अग्निदेव **पशुः आसीत्**=(दृश्यः—द०) दर्शन व ज्ञान का विषय बनता है। इस अग्निदेव का ज्ञान प्राप्त करके **तेन**=उस अग्निदेव के साथ **अयजन्त**=वे अपना मेल बढ़ाते हैं (यज्=सङ्गतिकरण)। इस अग्नि को अपने विविध यत्नों से उपयुक्त करने का प्रयत्न करते हैं। वस्तुतः इस अग्नि के ज्ञान व प्रयोग से **सः**=यह अग्नितत्त्व का वेत्ता ज्ञानी पुरुष **एतं लोकम्**=इस पृथिवीलोक को **अजयत्**=जीत लेता है। **यस्मिन् अग्निः**=जिस लोक में यह अग्नि मुख्य देवता है **सः लोकः**=वह लोक **ते**=तेरा **भविष्यति**=हो जाएगा, **तं जेष्यसि**=उस लोक को तू विजय कर लेगा। वस्तुतः बिना ज्ञान के हम इन अग्नि आदि देवों को अपना नहीं बना सकते। इनसे उपयुक्त लाभ नहीं ले-सकते। इनका विजय इनके ज्ञान से ही होता है। इसके लिए तू **एताः अपः**=शरीर में रेतस्रूप से रहनेवाले इन अप्कणों का (आपः रेतो भूत्वा०) **पिब**=पान कर। इनको तू शरीर में ही व्याप्त करने का प्रयत्न कर। २. अग्नि के ज्ञान के पश्चात् **वायुः पशुः आसीत्**=अन्तरिक्षलोक के देवताओं का मुखिया यह वायुदेव ज्ञान का विषय हुआ। इन देवों ने वायु का ज्ञान प्राप्त किया। **तेन अयजन्त**=उस वायुदेव से इन्होंने अपना सङ्ग बढ़ाया। इसे अपने यत्नों व व्यवहार में उपयुक्त किया और अब **सः**=इसने **एतं लोकं अजयत्**=इस वायु के आधारभूत अन्तरिक्षलोक को जीत लिया। इस विजय से **यस्मिन् वायुः**=जिसमें यह वायु मुख्यदेव है **सः लोकः**=वह अन्तरिक्षलोक **ते**=तेरा **भविष्यति**=होगा। **तं जेष्यसि**=उस लोक को तू जीत लेगा। **एता अपः पिब**=तू इन सोमकणों को अपने अन्दर व्याप्त करने का प्रयत्न कर। वायु का ठीक ज्ञान हो जाने पर ही मनुष्य अन्तरिक्षलोक में अपने वायुयान आदि को चला पाता है और इस लोक को जीत लेता है। ३. अब अग्नि व वायु के ज्ञान के पश्चात् इन देवों का **सूर्यः**=द्युलोकस्थ देवों का मुख्यदेव सूर्य **पशुः आसीत्**=दृश्य व ज्ञान का विषय बनता है। ऋग्वेद में इन्होंने अग्नि आदि देवों का ज्ञान प्राप्त किया तो यजुर्वेद में वायु इनके ज्ञान का विषय बना और अब साम में वे सूर्य को

ज्ञान का विषय बनाते हैं। **'अग्नेर्वा ऋग्वेदः, वायोर्यजुर्वेदः, सूर्यात् सामवेदः'। तेन अयजन्त**=सूर्य के साथ ये विद्वान् अपना सङ्ग बढ़ाते हैं। इसकी किरणों से अपने यन्त्रादि को परिचालित करने का प्रयत्न करते हैं। **सः**=इस सूर्य का ज्ञान प्राप्त करके वह **एतं लोकम्**=इस सूर्य के आधारभूत द्युलोक को **अजयत्**=जीत लेता है। **यस्मिन् सूर्यः**=जिस द्युलोक में यह सूर्य है **सः**=वह **ते लोकः**=तेरा लोक **भविष्यति**=हो जाएगा। **तं जेष्यसि**=उस लोक को तू जीत लेगा। उसके ज्ञान से तू द्युलोक को अपने अनुकूल कर पाएगा, इसके लिए **एता अपः पिब**=इन रेतःकणों को तू अपने अन्दर पीने का प्रयत्न कर।

भावार्थ—देववृत्तिवाले लोग 'अग्नि-वायु-सूर्य' आदि देवों (प्राकृतिक शक्तियों) का ज्ञान प्राप्त करते हैं। इनके ज्ञान को अपने यन्त्रादि में विनियुक्त करते हैं। अपने हितसाधनों में इन्हें विनियुक्त करते हुए वे इनपर विजय प्राप्त करते हैं। ये सब प्राकृतिक शक्तियाँ देवों के लिए हितकर हो जाती हैं।

नोट—मातृवत् हित करने से ही ये अगले मन्त्र में 'अम्बे, अम्बिके व अम्बालिके' इस रूप में सम्बोधित हुई हैं। ऋग्वेद अम्बा है, यजुर्वेद अम्बिका तथा साम अम्बालिका।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**प्राणादयः**। छन्दः—**विराड्जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

अम्बा-अम्बिका-अम्बालिका

प्राणाय स्वाहापानाय स्वाहा व्यानाय स्वाहा। अम्बेऽअम्बिकेऽम्बालिके न मा नयति कश्चन। ससस्त्यश्वकः सुभद्रिकां काम्पीलवासिनीम्॥१८॥

१. गतमन्त्र की ज्ञानवाणियों का ध्यान करते हुए कहते हैं कि **प्राणाय**=प्राणशक्ति की वृद्धि के लिए अग्नि का वर्णन करनेवाली, ऋग्वाणी जो **अम्बा**=माता के समान हितकर है, यह **स्वाहा**=(सुआह) उत्तमता से कही गई है। २. **अपानाय**=अपान—दोषों के दूरीकरण की शक्ति की वृद्धि के लिए यह वायु का वर्णन करनेवाली यजुर्वाणी जो **अम्बिका**=दादी (पितामही—द०) के समान हितकर है, यह **स्वाहा**=उत्तमता से कही गई है। ३. **व्यानाय स्वाहा**=(व्यानः सर्वशरीरगः) व्यान के लिए, सारे शरीर को नियन्त्रण में रखने के लिए प्रतिपादित की गई यह सामवाणी सूर्य का वर्णन करती हुई **अम्बालिका**=प्रपितामही के समान हितकर है और इसका उत्तमता से प्रतिपादन हुआ है। ४. हे **अम्बे**=मातृवत् हितकारिणी अग्निविद्या, **अम्बिके**=पितामहीवत् हितकारिणी वायुविद्या तथा **अम्बालिके**=प्रपितामहीवत् हितकारिणी सूर्यविद्ये! ('अबि शब्दे' से ये तीनों शब्द बने हैं, अतः यहाँ शब्दप्रतिपाद्य विद्या के वाचक हैं) आपकी कृपा से **मा**=मुझे **कश्चन**=संसार का कोई भी विषय या प्रलोभन **न नयति**=धर्म के मार्ग से दूर नहीं ले-जाता Not to be led away) ५. ज्ञान प्राप्त करके सदा उत्तम क्रियाओं में व्याप्त रहनेवाला (अश् व्याप्तौ) **अश्वकः**=(अश्वः एव अश्वकः स्वार्थे कन्) क्रियाशील शक्तिशाली पुरुष **सुभद्रिकाम्**=उत्तम कल्याण व सुख को सिद्ध करनेवाली **काम्पीलवासिनीम्**=(कं सुखं पीलयति गृह्णाति, तं वा संयाति तां लक्ष्मीम्—द०) सुख-संग्रहण में निवास करनेवाली लक्ष्मी को **ससस्ति**=प्राप्त करके आराम से शयन करता है। 'लक्ष्मीमधिशेते'=लक्ष्मी को प्राप्त करता है, इसी प्रकार **लक्ष्मीं ससस्ति**=कल्याणकारिणी लक्ष्मी को प्राप्त करता है।

भावार्थ—हम प्राण, अपान व व्यान की प्रतिपादिका ज्ञानवाणियों का ग्रहण करें। इन ज्ञानवाणियों को प्राप्त करके हमें संसार का कोई प्रलोभन नहीं सकता। ज्ञानानुसार कर्मों में व्याप्त होनेवाला पुरुष कल्याणकारिणी लक्ष्मी को प्राप्त करके आराम से रहता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**गणपतिः**। छन्दः—**शक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**।

गणपति-प्रियपति-निधिपति

गणानां त्वा गणपतिꣳहवामहे प्रियाणां त्वा प्रियपतिꣳ हवामहे निधीनां त्वा निधिपतिꣳहवामहे वसो मम। आहमजानि गर्भधमा त्वमजासि गर्भधम्॥१९॥

१. गतमन्त्र की **अम्बा**=मातृवत् हितकारिणी ऋग्वाणी से **गणानां गणपतिम्**=ज्ञानेन्द्रियपञ्चक, कर्मेन्द्रियपञ्चक, प्राणपञ्चक आदि अथवा आठ वसु, ग्यारह रुद्र व बारह आदित्यों के गणों के गणपति=रक्षक **त्वा**=तुझे **हवामहे**=पुकारते हैं। आपकी आराधना से हम चाहते हैं कि ये सब गण ठीक बने रहकर हमारे स्वास्थ्य को ठीक रखनेवाले हों। २. गतमन्त्र की **अम्बिका**=पितामहीवत् हितकारिणी यजुर्वाणी से हम **प्रियाणां प्रियपतिम्**=प्रियों के भी प्रियपति **त्वा**=आपको **हवामहे**=पुकारते हैं। प्रियपति आपकी आराधना से हम यज्ञादि प्रिय कर्मों को करते हुए सभी के प्रिय हों। हमारे मनों में ईर्ष्या-द्वेष न हो। ३. गतमन्त्र की अम्बालिका=प्रपितामहीवत् हितकारिणी ज्ञानवाणी से हम **निधीनां निधिपतिम्**=निधियों के निधिपति सर्वोच्च ज्ञानकोश के रक्षक (यस्मात् कोशात् उद्भराम वेदम्=अथर्व०) **त्वा**=आपको **हवामहे**=पुकारते हैं। निधिपति आपकी आराधना से हम भी ज्ञान के निधि बनने के लिए यत्नशील होते हैं और इस प्रकार मस्तिष्क के कोश को ज्ञाननिधि से भरनेवाले बनते हैं। ४. हे प्रभो! आप तो वस्तुतः **मम वसो**=मेरे बसानेवाले हो, मेरा उत्तम निवास आपपर ही निर्भर करता है। अतः ५. **गर्भधम्**=सब ब्रह्माण्ड को अपने गर्भ में धारण करनेवाले आपको **अहम्**=मैं **आ अजानि**=सर्वथा जाननेवाला बनूँ (अज=गति=ज्ञान) आपको जानूँ, आपकी ओर चलूँ और आपको प्राप्त करूँ। ६. **त्वम्**=तूही **गर्भधम्**=इस जगत् को गर्भ में धारण करनेवाली प्रकृति को **अजासि**=(अज गतिक्षेपणयोः) गति देते हो। आप ही प्रथम गति देनेवाले Prime mover हो। आप ही सारे संसार के सञ्चालक हो।

भावार्थ—गणपति प्रभु का उपासक मैं ज्ञानेन्द्रिय आदि गणों का पति होऊँ। प्रियपति प्रभु का उपासक मैं सबका प्रिय बनूँ। निधिपति का उपासक ज्ञाननिधि का पति बनूँ। आपको मैं अपना निवासक जानूँ। सारे संसार को गर्भ में धारण करनेवाले आपकी ओर चलूँ। आप ही ब्रह्माण्डजननी प्रकृति को गति देते हो, मुझे भी उत्तम गति प्राप्त कराइए।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**राजप्रजे**। छन्दः—**स्वाराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

चार पुरुषार्थ

ताऽउभौ चतुरः पदः सम्प्रसारयाव स्वर्गे लोके प्रोर्णुवाथां वृषा वाजी रेतोधा रेतो दधातु॥२०॥

१. गतमन्त्र के 'गणपति, प्रियपति व निधिपति' का उपासक प्रभु से कहता है कि **ता उभौ**=वे दोनों आप और मैं (राजा व प्रजा) **चतुरः पदः**=चार पगों को **संप्रसारयाव**=फैलाएँ, अर्थात् चारों प्राप्तव्य पुरुषार्थों को, धर्मार्थ, काम-मोक्ष को विस्तृत करनेवाले बनें। २. आपकी कृपा से धर्मार्थ-काम-मोक्ष को सिद्ध करनेवाले बनें और **स्वर्गे लोके**=स्वर्गलोक में, सुखमयलोक में **प्रोर्णुवाथाम्**=अपने को आच्छादित करें, अर्थात् सुखमयलोक में निवास करनेवाले बनें। आप तो सुखस्वरूप हैं ही, मैं भी आपकी कृपा से सुखमयलोक में रहनेवाला बनूँ। ३. आप **वृषा**=सबपर सुखों की वर्षा करनेवाले **वाजी**=शक्तिशाली व **रेतोधा**=वीर्यशक्ति का धारण करनेवाले हैं। हे प्रभो! आप कृपा करके **रेतः दधातु**=राजा व प्रजा

में शक्ति धारण कीजिए।

भावार्थ—प्रभु से मिलकर मैं, प्रभुकृपा से 'धर्मार्थकाम-मोक्ष' इन चारों पुरुषार्थों को सिद्ध करूँ। अपने को स्वर्गलोक में स्थापित करूँ। 'वृषा, वाजी, रेतोधा' प्रभु राजा व प्रजा में रेतस् का आधान करें, अर्थात् प्रभु राजा व प्रजा को शक्तिशाली बनाएँ।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**न्यायाधीशः**। छन्दः—**भुरिग्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

व्यभिचार-दण्ड

उत्सक्थ्या॒ऽअव॑ गु॒दं धे॑हि॒ सम॒ञ्जिं चा॑रया वृषन्। य स्त्री॒णां जी॑व॒भोज॑नः॥२१॥

१. गतमन्त्र में 'वृषा, वाजी व रेतोधा' का उल्लेख था। राष्ट्र में प्रजाओं में सदाचार फैलाना, सदाचार के वातावरण को उत्पन्न करना यह राजा का मुख्य कार्य होना चाहिए तभी प्रजाएँ शक्तिसम्पन्न बन पाएँगी। प्रस्तुत मन्त्र में राजा के लिए कहते हैं कि हे **वृषन्**=शक्तिशालिन् तथा प्रजाओं पर सुखों की वृष्टि करनेवाले राजन्! आप **यः स्त्रीणां जीवभोजनः**=जो स्त्रियों पर आजीविका चलानेवाला पुरुष है उस **गुदम्**=(गुद् क्रीडायाम्) विलासमय क्रीडावाले भोगासक्त पुरुष को **उत्सक्थ्याः**=(उद्गते सक्थिनी यस्य) ऊपर जांघोंवाला **अवधेहि**=नीचे सिरवाला करके स्थापित कर, अर्थात् इसे उलटा लटका दे। विलास व व्यभिचार को फैलानेवाले को उलटा लटका देना चाहिए। इस प्रकार का कठोर दण्ड 'व्यभिचार' आदि को रोकने के लिए आवश्यक है। २. राजा को यह भी चाहिए कि **अञ्जिं संचारय**=ज्ञान के प्रकाश को फैलाये (अंजि=Brilliance)। अपराधों को दूर करने के लिए जहाँ अपराधियों को ऐसा दण्ड देना जो प्रत्यादेश के लिए हो, अर्थात् प्रजाओं में अपराधों को रोकनेवाला हो, वहाँ ज्ञान के प्रकाश को भी फैलाना चाहिए, जिससे लोगों की मनोवृत्ति ही परिवर्तित हो जाए। व्यभिचार से होनेवाली हानियों के जानने पर तथा संयमी जीवन के लाभों के स्पष्ट होने पर लोग इन बुराइयों से सम्भवतः दूर हटेंगे।

भावार्थ—राजा राष्ट्र में व्यभिचार को रोकने के लिए विलासी पुरुष को उलटा लटकवा दे तथा राष्ट्र में व्यभिचार की हानियों व संयम के लाभों के ज्ञान का प्रचार करवाए, जिससे लोगों की मनोवृत्ति में परिवर्तन किया जा सके।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**राजप्रजे**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

कृषि

य॒का॒स॒कौ श॑कु॒न्ति॒काह॒लगि॑ति॒ वञ्च॑ति।
आह॑न्ति ग॒भे प॒सो निग॑ल्गलीति॒ धार॑का॥२२॥

१. **यका असकौ**=(या असौ) वह जो, पिछले मन्त्र के अनुसार व्यभिचार-विवर्जित संयमी जीवनवाली प्रजा **शकुन्तिका**=शक्तिशाली बनकर **आहलक्**=(आ हलेन आचरति) चारों ओर हल के साथ चलनेवाली होकर **इति**=इस प्रकार **वञ्चति**=अकाल इत्यादि को राष्ट्र से दूर कर देती है। प्रजा में विलासिता आदि दोष न होने पर उसकी शक्ति बढ़ती है। कृषि आदि उत्तम कार्यों में लगकर प्रजा दुष्काल आदि आपत्तियों से राष्ट्र को बचाती है। २. इस **गभे**=(बड् वै गभः श० १३।२।९।६) ऐश्वर्यशालिनी (गभ=भग) प्रजा में राजा **पसो**=(पस=सम=समवाय, राष्ट्रं पसः—श० १३।२।९।६।) राष्ट्रीय भावना को—समवाय व मेल की भावना को **आहन्ति**=सब प्रकार से प्राप्त कराता है। (हन्=गति) इस राष्ट्रीय भावना व मेल की भावना को जगाकर वह प्रजा में आचरण के मापक को ऊँचा करने

का प्रयत्न करता है। राष्ट्र के उत्थान की भावना के प्रबल होने पर प्रजा कोई भी ऐसा कार्य नहीं करती जो राष्ट्र की अवनति का कारण बने। ३. राष्ट्रीय भावना के जागरण के लिए किये जानेवाले सब प्रचार को **धारका**=ऐश्वर्य का धारण करनेवाली प्रजा **निगल्गलीति**=खूब ही प्रेम से सुनती है। (गल् श्रवणे) अपने अन्दर निगल-सा लेती है, अर्थात् बड़े ध्यान से सुनकर उस ज्ञान को धारण करती है।

भावार्थ—सम्पूर्ण प्रजा कृषि में प्रवृत्त होकर राष्ट्र को दुष्काल आदि से बचाती है। जहाँ इस कार्य से (क) शक्तिशाली बनती है, (शकुन्तिका), (ख) ऐश्वर्य को बढ़ाती है (गभ=भग), (ग) वहाँ प्रसंगवश बुराइयों से बची रहती है। राजा इसी उद्देश्य से प्रजा में राष्ट्रीय भावना को जागरित करता है। प्रजा भी राजा से प्रचारित किये जानेवाले ज्ञान को ध्यान से सुनती है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**राजप्रजे**। छन्दः—**बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

शकुन्तक (शक्तिसम्पन्न)

यको॑ऽसकौ श॑कुन्त॒कऽआ॒हल॒गिति॒ वञ्च॑ति।
विव॑क्षतऽइव॒ ते॒ मुख॒मध्व॑र्यो॒ मा न॒स्त्वम॒भि भा॑षथाः ॥२३॥

१. गतमन्त्र में प्रजा के कृषिप्रधान बनने का उल्लेख था। प्रस्तुत मन्त्र में एक-एक व्यक्ति के कृषि को स्वीकार करने का वर्णन करते हुए कहते हैं कि **यकः असकौ**=(यः असौ) जो वह **शकुन्तकः**=शक्तिशाली होकर **आहलक्**=(आ हलेन अञ्चति) चारों ओर हल के साथ गति करनेवाला होकर **इति**=इस प्रकार **वञ्चति**=दुष्काल को राष्ट्र से दूर करता है। २. हे **अध्वर्यो**=राष्ट्रयज्ञ के सञ्चालक राजन्! **ते मुखम्**=तेरा चेहरा **विवक्षतः इव**=उस पुरुष के चेहरे के समान है जो विशिष्ट भार को उठाने की कामनावाला है। तेरे चेहरे से ही यह बात स्पष्ट है कि तू विशिष्ट राज्यभार को उठाये हुए है। ३. हमारा भी प्रयत्न ऐसा होगा कि **त्वं नः मा अभि भाषथाः**=आप हमें कुछ मत कहें। हमारा आचरण ही इतना सुन्दर हो कि आपको कुछ कहना ही न पड़े। वस्तुतः प्रजावर्ग का राजा के लिए सर्वोत्तम सहयोग यही है कि वह राजा को कुछ कहने का अवसर ही न दे।

भावार्थ—सब पुरुषों का जीवन कृषि-प्रधान हो। वे अपने आचरण को ऐसा उत्तम रक्खें कि राजा को उन्हें कुछ कहना ही न पड़े, तभी राजा राज्य के विशिष्ट कार्यभार को ठीक से उठा पाएगा।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**भूमिसूर्यौ**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

स्तेय-दण्ड (चोरी का नाश)

मा॒ता च॑ ते पि॒ता च॑ ते॒ऽग्रं वृ॒क्षस्य॑ रोहतः।
प्रति॑ला॒मीति॑ ते पि॒ता ग॒भे मु॒ष्टिम॑तꣳसयत्॥२४॥

१. राष्ट्र में प्रजा माता है जो राष्ट्र का निर्माण करती है और राजा पिता है जिसका काम राष्ट्र की रक्षा करना है। ये दोनों मिलकर ही राष्ट्र की उन्नति का साधन कर पाते हैं, अतः मन्त्र में कहते हैं कि हे राष्ट्र! **ते माता च**=तेरा निर्माण करनेवाली यह प्रजा, **पिता च ते**=और तेरी रक्षा करनेवाला यह राजा **वृक्षस्य अग्रम्**=राष्ट्रवृक्ष के अग्रभाग पर, अर्थात् राष्ट्रोन्नति के शिखर पर **रोहतः**=आरोहण करते हैं। (श्रीर्वै राष्ट्रस्य अग्रम्—श० १३।२।९।७) 'श्री' ही राष्ट्रवृक्ष का शिखर है, अतः ये राष्ट्र को अत्यन्त श्रीसम्पन्न करते हैं। २. और हे

राष्ट्र! **प्रतिलाम इति**=(तिल स्नेहने) प्रकर्षेण स्नेह करता हूँ, इस भावना से ही **ते पिता**=तेरा रक्षक यह राजा **गभे**=(विड् वै गभः) ऐश्वर्यसम्पन्न प्रजाओं के अन्दर **मुष्टिम्**=(मोषणात् नि० ६।१।१) चोरी की वृत्ति को **अतंसयत्**=कम्पित कर दूर करवा (Shakes away) देता है। मनु के अनुसार राजा चोर को हस्तच्छेदादि दण्ड देता है (**तत्तदेव हरेदस्य प्रत्यादेशाय पार्थिवः**—मनु) ऐसे दण्ड से प्रजा चोरी आदि पापों की ओर झुकाववाली नहीं रहती। वस्तुतः जब राजा को राष्ट्र के प्रति स्नेह होता है तब वह राष्ट्र में से चोरी आदि को दूर करने का प्रयत्न करता है।

भावार्थ—राष्ट्र की माता 'प्रजा' है तो पिता 'राजा' है। ये दोनों मिलकर राष्ट्रवृक्ष की श्री का वर्धन करते हैं। राजा राष्ट्र में से चोरी को कम्पित कर दूर भगा देता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**भूमिसूर्यौ**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

संयत-वाणी

माता च ते पिता च तेऽग्रे वृक्षस्य क्रीडतः।
विवक्षतऽइव ते मुखं ब्रह्मन्मा त्वं वदो बहु॥२५॥

१. हे राष्ट्रवृक्ष! **ते माता च**=तेरा निर्माण करनेवाली यह प्रजा, **पिता च ते**=और तेरा रक्षण करनेवाला यह राजा **वृक्षस्य अग्रे**=इस राष्ट्रवृक्ष के अग्रभाग में **क्रीडतः**=एक क्रीडक की भावना से युक्त होकर सारे कर्त्तव्यों को करते हैं, अर्थात् इस राजकार्य में इनको जीत-हार की कोई वासना (complex) व्यथत नहीं करती। राजा केवल रौब के लिए कोई काम नहीं करता। २. **ब्रह्मन्**=हे राष्ट्र का वर्धन करनेवाले राजन्! **ते मुखम्**=तेरा मुख **विवक्षतः इव**=राज्य के विशिष्ट भार को उठानेवाले पुरुष के मुख की भाँति है। तेरे चेहरे से लगता है कि तूने महान् उत्तरदायित्व को अपने ऊपर लिया हुआ है, परन्तु **त्वम्**=तू **बहु मा वदः**=बहुत बोल नहीं, चूँकि बहुत बोलनेवाला अपनी शक्ति को क्षीण कर लेता है और भार को उठा नहीं पाता।

भावार्थ—राजा और प्रजा राष्ट्र कार्यों को एक क्रीड़क की वृत्ति से निभाते हैं। राजा विशिष्ट राज्यभार को अपने कन्धे पर लेता है और बड़ी संयत वाणीवाला होता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**श्रीः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

राज-कर्त्तव्य-त्रयी

ऊर्ध्वामेनामुच्छ्रापय गिरौ भारꣳहरन्निव।
अथास्यै मध्यमेधताꣳशीते वाते पुनन्निव॥२६॥

१. गतमन्त्रों में राजा व प्रजा को राष्ट्र के माता-पिता के रूप में चित्रित किया है। प्रस्तुत मन्त्र में राजा के लिए कहते हैं कि हे राजन्! **गिरौ भारं हरन् इव**=पर्वत पर भार को ले-जानेवाले की भाँति तू **एनाम्**=इस प्रजा को **ऊर्ध्वाम्**=ऊपर, उन्नत स्थिति में, **उच्छ्रापय**=उठाकर उन्नत कर। 'पर्वत पर भार ले-जानेवाले की भाँति' उच्छ्रित कर इस उपमा में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। (क) एक तो यह कि पर्वत पर चढ़ना ही कठिन है और भार लेकर ऊपर जाना तो बहुत ही कठिन है। इसी प्रकार प्रजा को उन्नत करना, अर्थात् राजकर्त्तव्य को निभाना कोई सुगम कार्य नहीं है, (ख) दूसरा यह कि भार को ऊपर ले-जानेवाला स्वयं तो ऊपर पहुँचता ही है, इसी प्रकार प्रजा को उन्नत करनेवाला राजा भी नैतिक दृष्टिकोण से उन्नत होता है। २. इस प्रजा की उन्नति का, शिक्षित करने का परिणाम यह हो कि **अथ**=अब **अस्यै**=इस प्रजा के लिए **मध्यम्**=(श्रीर्वै राष्ट्रस्य

मध्यम्—श० ३।३।१।४) श्री=धनसम्पत्ति **एधताम्**=बढ़े। किसी भी राष्ट्र में प्रजा की स्थिति का अच्छा होना मूलरूप से उसकी श्री के विकास से ही आँका जाता है। ३. तू इस प्रजा को **शीते**=(श्यैङ् वृद्धौ) बढ़ी हुई **वाते**=वायु में **पुनन् इव**=भूसे से गेहूँ को पृथक् करते हुए की भाँति हो। जैसे बढ़ी हुई वायु में कोई भी अन्न को गाहनेवाला छाज से फटकता है और भूसे को गेहूँ से पृथक् कर देता है। उसी प्रकार तू प्रजाओं से आर्य और दस्युओं को पृथक्-पृथक् करनेवाला हो। राजा ने यह दस्यु व आर्यों का अलग-अलग जानने की क्रिया 'शीते वाते'=शान्त गति के द्वारा करनी है। प्रजा में अन्याय व अनुचित दण्ड के भय की उद्विग्नता न छा जाए।

भावार्थ—राजा के तीन मौलिक कर्त्तव्य हैं (क) प्रजा की स्थिति को उन्नत करना, उसमें शिक्षा आदि का प्रसार करना, (ख) इसके श्री का विकास करना व (ग) आर्य और दस्युओं को अलग-अलग जानना।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**श्रीः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

प्रजा-कर्त्तव्य-त्रयी

ऊर्ध्वमेनमुच्छ्रयताद् गिरौ भारꣳहरन्निव।
अथास्य मध्यमेजतु शीते वाते पुनन्निव॥२७॥

१. पिछले मन्त्र में प्रजा के प्रति राजकर्त्तव्य का उल्लेख किया है। प्रस्तुत मन्त्र में उन्हीं शब्दों में राजा के प्रति प्रजा के कर्त्तव्य का प्रतिपादन करते हैं। **गिरौ भारं हरन् इव**=पर्वत पर भार ले-जानेवाले पुरुष की भाँति **एनम्**=इस राजा को **ऊर्ध्वम् उच्छ्रयतात्**=तू उन्नत कर, उन्नत स्थिति में स्थापित कर। जब प्रजा राजा को उन्नत स्थिति में स्थापित करती है तब राजा को प्रभु का प्रतीक मानती हुई उसकी आज्ञा का पालन करती है। प्रजा राजनियमों की अवहेलना तक नहीं करती। २. प्रजा का दूसरा कर्त्तव्य यह है कि वह 'कर-नियमों' का पालन करती हुई ऐसा प्रयत्न करे कि **अथ**=अब **अस्य**=इस राजा की **मध्यम्**=श्री **एजतु**=(सत्कर्मसु चेष्टताम्—द०) राष्ट्रोन्नति के उत्तम कार्यों में विनियुक्त हो। राजा ने श्री का विनियोग अपने विलास व सजधज में थोड़े ही करना है? उसने तो इस कोश को अपने लिए 'बन्ध्या गौ' के समान समझते हुए प्रजा के लिए ही इसे कामधेनु बनाना है। ३. प्रजा भी **शीते वाते पुनन् इव**=बढ़ी हुई वायु में तुष व अन्न को अलग करते हुए पुरुष की भाँति शान्त क्रियाशीलता में अपने जीवनों को पवित्र करनेवाली बने। शान्तिपूर्वक क्रिया में लगे हुए लोग व्यर्थ के उपद्रव की बातों को सोचते ही नहीं।

भावार्थ—प्रजा के तीन कर्त्तव्य ये हैं—१. वह राजा को उन्नत स्थिति में स्थापित करे। उसकी आज्ञा का पालन करे। २. कर देकर राजा की श्री का वर्धन करे, जिससे राजा उस श्री के द्वारा उत्तम कार्यों को करता हुआ राष्ट्र को सुन्दर बना पाए। ३. शान्त क्रियाशीलता के द्वारा प्रजा अपने जीवन से अशुभ भावनाओं को ऐसे दूर करे जैसे अन्न से भूसे को अलग कर देते हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**प्रजापतिः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

न मे स्तेनो जनपदे

यदस्याऽअꣳहुभेद्याः कृधु स्थूलमुपातसत्।

मुष्काविदस्याऽएजतो गोशफे शकुलाविव॥२८॥

१. गतमन्त्रों के अनुसार राष्ट्र व्यवस्था के उत्तम होने पर **यत्**=जो कोई भी **अंहुभेद्याः**=पाप का भेदन करनेवाली **अस्याः**=इस प्रजा का, अर्थात् पाप को अपने से दूर करनेवाली इस प्रजा का **कृधु**=(ह्रस्वः—नि० ३।२) थोड़ा-सा अथवा **स्थूलम्**=अधिक **उपातसत्**=क्षय करता है (तस्=Throw down) छोटी व बड़ी चोरी करता है, चोर के रूप में सेंध लगाकर घर का सामान चुरा ले-जाता है अथवा परिपन्थी के रूप में व्यापारी को मार्ग में ही रोककर लूट लेता है तो **अस्याः**=इस प्रजा के **इत्**=निश्चय से **मुष्कौ**=ये शोषण करनेवाले चोर राजदण्ड भय से **एजतः**=इस प्रकार काँपते हैं कि **इव**=जैसे **गोशफे**=गोखुरप्रमाण जल में **शकुलौ**=मछलियाँ काँप उठती हैं। २. राजदण्ड के जागरूक होने पर न चोरियाँ होती हैं न डाके पड़ते हैं। प्रजा तभी शान्ति से सो पाती है जब राजदण्ड जागरित रहकर पहरा देता है। ३. यहाँ प्रजा का विशेषण 'अंहुभेद्याः' बड़ा महत्त्वपूर्ण है। प्रजा में पाप की वृत्ति न हो—लोग अन्याय से धन न कमाएँ तो चोरियाँ अपने आप ही कम हो जाती हैं। जब कमाने में अन्याय आ जाता है तब चोरियाँ भी बढ़ने लगती हैं। अन्याय से कमाने की वृत्ति के बढ़ जाने पर ही चोरों की उत्पत्ति होती है। प्रजा में से ही ये चोर उत्पन्न हो जाते हैं।

भावार्थ—राजा राष्ट्र में दण्ड-व्यवस्था को इस प्रकार सुव्यवस्थित रक्खे कि चोर व डाकू दण्ड-भय से कम्पित होकर इस मार्ग को ही छोड़ दें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

नारी=नरहितकारिणी सभा

यद्देवासो ललामगुं प्र विष्टीमिनमाविषुः।
सक्थ्ना देदिश्यते नारी सत्यस्याक्षिभुवो यथा॥२९॥

१. राजा के राजकार्य में सहायकरूप से जो दशावरा व त्र्यवरा परिषद् बनती हैं उनका मुख्य उद्देश्य 'प्रजा का हित करना' है, अतः नर-हितकारिणी यह सभा यहाँ प्रस्तुत मन्त्र में 'नारी' शब्द से कही गई है। इस सभा में **यत्**=जब **ललामगुम्**=सुन्दर वाणीवाले (ललाम=सुन्दर, गो=वाणी) तथा **विष्टीमिन्**=विशेषरूप से प्रजा के लिए करुणार्द्रभाववाले (स्तीम्=आर्द्रीभावे) राजा को **देवासः**=विद्वान् लोग, व्यवहारकुशल विद्वान् **प्र अमाविषुः**=प्रकर्षेण व्याप्त कर लेते हैं तब वे **यथा**=जैसे **सत्यस्य अक्षिभुवः**=सत्य की आँखों से देखनेवाले होते हैं, उसी प्रकार अर्थात् उसी अनुपात में **नारी**=वह नरहितकारिणी सभा **सक्थ्ना**=(षच सवने सचने च, षच् समवाये) सेवन की वृत्ति से, प्रजा पर सुख का सेचन करने से तथा अपने अन्दर समवाय व मेल से **देदिश्यते**=(Point out) संकेतित होती है, अर्थात् उस सभा के ये तीन मुख्य गुण हैं, (क) वह प्रजा की सेवा करनेवाली होती है, (ख) प्रजा पर सुखों का सेचन करती है और (ग) उस सभा के सभ्यों में परस्पर मेल होता है, वहाँ पक्ष,, प्रति-पक्ष की फूट प्रबल नहीं हो पाती। २. मन्त्रार्थ से स्पष्ट है—राजा सभा में कभी कटु वाणी नहीं बोलता, वह 'ललामगु' होता है। अथर्व० ७।१२।१। में राजा कहता है कि **'चारु वदानि पितरः संगतेषु'**=हे सभासदो! मैं सभा के सभ्यों के एकत्र होने पर सदा सुन्दर शब्द ही बोलूँ। ३. अथर्व ७।१२।२ में इस सभा को नरिष्टा=मनुष्यों के लिए इष्ट को सिद्ध करनेवाली' शब्द से स्मरण किया गया है। यही भाव यहाँ 'नारी' शब्द से कहा गया है **'विद्म सभे ते नाम नरिष्टा नाम वा असि'**। ४. सभा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वहाँ पार्टीबाज़ी व वैमनस्य नहीं। **'ये ते के च सभासदः ते मे सन्तु सवाचसः'** (अ० ७।१२।२) सब सभासद् ऐकमत्यवाले हों। जितना-जितना सभासद सत्य की ओर

झुकाववाले होंगे, सत्य की ही आँख से देखनेवाले होंगे उतना-उतना वे परस्पर समीप होंगे। ५. 'प्र अमाविषुः'=व्याप्त करते हैं। यह शब्द स्पष्ट कह रहा है कि राजा विद्वानों से ही घिरा होगा तो सभा प्रजा का कल्याण करनेवाली होगी, खुशामदियों से घिरा होगा तो वह राजा प्रजा का क्या कल्याण कर पाएगा?

भावार्थ—जब राजा को विद्वान् लोग व्याप्त करते हैं तभी राजसभा प्रजा की सेवा कर पाती है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**राजा**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

हरिण का यवभक्षण

यद्धरिणो यवमत्ति न पुष्टं पशु मन्यते। शूद्रा यदर्यजारा न पोषाय धनायति॥३०॥

१. **यत्**=जब **हरिणः**=राष्ट्र, अर्थात् राष्ट्र का अधिकारी राजा **यवम्**=प्रजा को (विड् वै यवो राष्ट्रं हरिणः—श० १३।२।९।८) **अत्ति**=खाने लगता है तब वह **पुष्टम्**=पोषणवाली को, राष्ट्र की उन्नति को **पशु**=(पशुम्=प्रजा वै पशवः—श० १।४।६।१७) प्रजा को **न मन्यते**=आदर नहीं देता। वे पुष्ट प्रजाएँ ही वस्तुतः राष्ट्र की उन्नति का भी मूल है, ऐसा वह नहीं समझता। ऐसा न समझकर वह भारी करों द्वारा व अन्य उपायों द्वारा उनकी सम्पत्ति को हड़पने का प्रयत्न करता है और इस प्रकार अपने ही मूल को समाप्त कर लेता है। ऐसा राजा अपने भोग-विलास को ही महत्त्व देता है, प्रजा के पोषण को नहीं। २. एक **शूद्रा**=दासी **यत्**=जब **अर्यजारा**=स्वामी की 'जारा' बनकर उसकी शक्तियों को जीर्ण करनेवाली होती है तब वह **पोषाय**=वंश-पोषण के लिए **न धनायति**=सन्तान-धन की इच्छा नहीं करती। वहाँ भोगवासना का प्राधान्य होता है, वंशवृद्धि की भावना का वहाँ अभाव होता है। इसी प्रकार जिस राजा में विलास की वृत्ति आ जाती है, वह प्रजोन्नतिरूप धन की कामना से शून्य हो जाता है।

भावार्थ—जैसे एक दासी अपने स्वामी का उपभोग करती हुई वंशवृद्धि की कामनावाली नहीं होती, उसी प्रकार एक विलासी वृत्तिवाला राजा प्रजा को अत्यधिक कर आदि द्वारा खाता हुआ प्रजा-पोषण को महत्त्व नहीं देता।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**राजप्रजे**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

पोषण की भावना का अभाव

यद्धरिणो यवमत्ति न पुष्टं बहु मन्यते।
शूद्रो यदर्यायै जारो न पोषमनु मन्यते॥३१॥

१. **यत्**=जब **हरिणः**=जिसने प्रजा के दुःखों का हरण करना था, वह राजा ही **यवम्**=प्रजा को (अपने से दोषों को दूर करनेवाली व गुणों से अपना मेल करनेवाली प्रजा को) **अत्ति**=खाता है, वह **पुष्टम्** =प्रजा के पोषण को **न बहु मन्यते**=बहुत महत्त्व नहीं देता। विलास की वृत्ति राजा को अन्धा बना देती है और वह विलास में फँसा हुआ प्रजा का तो नाश करता ही है, अपना भी नाश कर बैठता है। २. **शूद्रः**=एक शूद्र जब **अर्यायै जारः**=किसी वैश्य स्त्री का प्रेमी बन जाता है तब **पोषम्**=वंशवर्धन की न **अनुमन्यते**=कभी स्वीकृति नहीं देता, अर्थात् उसके उस प्रेम में केवल विलासिता-ही-विलासिता होती है, वहाँ कोई उच्च भावना काम नहीं कर रही होती। इस प्रकार एक विलासवृत्ति का राजा प्रजा-पोषण का नाममात्र भी ध्यान नहीं देता।

भावार्थ—राजा विलासी हो जाए तो वह उस शूद्र व्यक्ति के समान होता है जो एक स्वामिनी का प्रेमी बनकर वंशवृद्धि के विचार को कोई महत्त्व नहीं देता।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**राजा**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

'दधिक्रावा' का स्तवन

दुधिक्राव्णोऽअकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः।
सुरभि नो मुखा करत्प्र णऽआयूंषि तारिषत्॥३२॥

१. 'हमारे जीवन विलासमय न हो जाएँ' इसके लिए आवश्यक है कि हम सदा प्रभु का उपासन करें, इसीलिए प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु के उपासन का वर्णन करते हुए कहते हैं—मैं उस प्रभु का **अकारिषम्**=स्तवन करता हूँ (विष्णोः करोमि=विष्णु का स्तवन करता हूँ) जो (क) **दधिक्राव्णः**=(दधत् क्रामति) धारणात्मक कर्म करते हुए गति करता है। उस प्रभु का प्रजाकर्म धारणात्मक है। (ख) **जिष्णोः**=जो प्रभु विजयशील हैं। वस्तुतः हम जो भी विजय प्राप्त करते हैं उस विजय को वे प्रभु ही हमें प्राप्त करा रहे होते हैं। प्रभु कभी पराजित नहीं होते। (ग) **अश्वस्य**=(अश्व व्याप्तौ) वे प्रभु व्यापक हैं। हमें भी उस प्रभु का अनुकरण करते हुए व्यापक व उदार बनना है। (घ) **वाजिनः**=उस प्रभु का जो (वज् गतौ) क्रियाशील व शक्तिशाली हैं (वाज=शक्ति)। २. इस प्रकार प्रभु का स्तवन करते हुए हमें भी 'दधिक्राव्ण-जिष्णु-अश्व व वाजी' बनने का प्रयत्न करना चाहिए। ३. इस प्रकार बननेवाला पुरुष प्रभु से प्रार्थना करता है कि वे प्रभु **नः मुखा**=हमारे मुखों को **सुरभि करत्**=सुगान्धित करे। हमारे मुख से कोई कड़वा शब्द न निकले तथा **नः आयूँषि**=हमारे जीवनों को **प्रतारिषत्**=दीर्घ कर दे। जब हमारे मुखों से कोई अशुभ शब्द नहीं निकलता तब हमें अवश्य दीर्घजीवन प्राप्त होता है। कड़वे शब्द हमारे आयुष्य को भी काटनेवाले होते हैं।

भावार्थ—दधिक्राव्ण-जिष्णु-अश्व व वाजी' पुरुष के मुख से कोई अपशब्द उच्चारित नहीं होता और इसे दीर्घजीवन प्राप्त होता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**उष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

छन्दों के नामों का उपदेश

गायत्री त्रिष्टुब्जगत्यनुष्टुप्पङ्क्त्या सह।
बृहत्युष्णिहा ककुप्सूचीभिः शम्यन्तु त्वा॥३३॥

१. **गायत्री**=छन्द 'गयः प्राणास्तान् तत्रे'='प्राणशक्ति की रक्षा करना' इस **सूचीभिः**=सूचना से **त्वा शम्यन्तु**=तुझे शान्त करें। गायत्री छन्द का तुझे यही उपदेश है कि तू प्राणशक्ति की रक्षा करनेवाला बनना। प्राणशक्ति की रक्षा से स्वस्थ बनकर तू शान्ति को प्राप्त करनेवाला होगा। २. **त्रिष्टुप्**=छन्द 'त्रि+स्तुप्'='काम-क्रोध-लोभ' इन तीनों को रोकने की सूचना देता है। 'त्रिष्टुप्' छन्द का उपदेश यही है कि तूने काम-क्रोध-लोभ इन तीनों को रोकना है। ये ही नरक के द्वार हैं। इनको बन्द करके तू स्वर्ग की शान्ति का अनुभव कर पाएगा। ३. **जगती**=छन्द 'निरन्तर गति' का उपदेश देता हुआ तेरे जीवन को शान्त बनाए। स्वस्थ बनकर, काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठकर तूने निरन्तर क्रिया में लगे रहना है। ४. **अनुष्टुप्** (अनुस्तौति)=छन्द यह सूचना देता है कि तू गति करता हुआ, क्रिया करता हुआ प्रभु का स्तवन अवश्य कर। प्रभुस्मरण के साथ की गई क्रियाएँ तेरे जीवन की शान्ति का कारण

बनेंगी। प्रभु को न भूलकर किये जानेवाले कर्म पवित्र होते हैं। पवित्रता सदा शान्ति देती है। ५. **पङ्क्त्या सह**=पंक्ति छन्द के साथ अनुष्टुप् तुझे प्रभुस्मरण की सूचना द्वारा शान्ति प्रदान करे। पंक्ति छन्द की सूचना यह है कि तू अपनी पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को ठीक रखनेवाला बन, पाँचों कर्मेन्द्रियों को तू सशक्त बना, तेरे पाँचों प्राण अपना-अपना कार्य ठीक से करें। इस पंक्ति छन्द की सूचना को कार्यान्वित करके तू सचमुच 'पञ्चजन'=पाँचों का विकास करनेवाला व दूसरे अर्थों में सच्चा मनुष्य बनेगा। ६. **बृहती**=छन्द की सूचना यह है कि तू 'शरीर, मन व मस्तिष्क' सभी दृष्टिकोणों से सदा वर्धमान हो। 'वृद्धि' तेरे जीवन का सूत्र हो। इस सूत्र को स्मरण करने से तू उन्नति की ओर ही बढ़ेगा और वास्तविक शान्ति को प्राप्त करने के लिए अग्रसर हो रहा होगा। ७. **उष्णिहा**=(उत् स्निह्यति) छन्द की सूचना यह है कि तूने उत्कृष्ट स्नेह करनेवाला बनना है। प्रकृति की ओर न झुककर प्रभु की ओर उन्मुख होना है। यही तेरी उन्नति का साधन होगा। ८. **ककुप्**=छन्द 'शिखर' का वाचक है। इसकी सूचना यही है कि उन्नत होते-होते तूने शिखर तक पहुँचना है। शिखर तक पहुँचे बिना विराम नहीं लेना। ९. इस प्रकार ये छन्द 'गायत्री' से प्रारम्भ होकर 'ककुप्' पर समाप्त होते हुए यही कह रहे हैं कि (क) तू अपनी प्राणशक्ति की रक्षा कर। (ख) प्राणशक्ति की रक्षा के लिए ही 'काम-क्रोध-लोभ' को रोकनेवाला बन। (ग) इनको रोकने के लिए क्रिया में लगा रह। (घ) क्रिया को करते हुए प्रभु को न भूल। (ङ) इस प्रकार तू अपनी पाँचों ज्ञानेन्द्रियों, पाँचों कर्मेन्द्रियों व पाँचों प्राणों को सबल बना पाएगा। (च) तू सदा अपना वर्धन करनेवाला बन। (छ) इस वर्धन के लिए तू उत्कृष्ट स्नेहवाला हो और (ज) शिखर तक पहुँचनेवाला बन। सब छन्दों की सूचनाएँ तेरे जीवन को शान्ति प्राप्त करानेवाली हों।

भावार्थ—छन्दों के नाम उच्च भावनाओं की सूचना देते हुए हमें शान्ति देनेवाले हों।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**प्रजाः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

छन्दों के विविध स्वरूपों के उपदेश

द्विपदा याश्चतुष्पदास्त्रिपदा याश्च षट्पदाः।
विच्छन्दा याश्च सच्छन्दाः सूचीभिः शम्यन्तु त्वा॥३४॥

१. **द्विपदाः**=जो छन्द की जातियाँ दो चरणोंवाली हैं **याः**=जो **चतुष्पदाः**=चार चरणोंवाली हैं **त्रिपदाः**=जो तीन चरणोंवाली हैं **याः च**=और जो **षट्पदाः**=छह चरणोंवाली हैं, **विच्छन्दाः**=जो छन्दोंरहित विषमाक्षर गद्यरूप हैं **याः च**=और जो **सच्छन्दाः**=छन्दोंयुक्त हैं, वे सब **सूचीभिः**=विविध उपदेशों की सूचनाओं से **त्वा**=तुझे **शम्यन्तु**=शान्ति देनेवाली हों। २. द्विपद छन्दों की सूचना है कि तू 'ज्ञान व कर्म' इन दोनों को अपनानेवाला हो। ये एक पक्षी के दो पंखों की भाँति हैं। जैसे पक्षी किसी एक पंख से आकाश में उड़ नहीं सकता, इसी प्रकार तू अकेले ज्ञान वा अकेले कर्म से उड़ न सकेगा। ३. चतुष्पदा छन्द कह रहे हैं कि 'धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष' ये चारों ही तेरी **पद**=प्राप्य वस्तु हैं। धर्म व मोक्ष को भूलकर तू अर्थ व काम में ही न फँस जाना। ४. त्रिपदा छन्द कहते हैं कि तूने तीन कदम रखने हैं तभी तू त्रिविक्रम बनेगा। तू 'शरीर, मन व मस्तिष्क' तीनों को स्वस्थ बना। 'काम-क्रोध-लोभ' तीनों पर आक्रमण करनेवाला बन। 'सत्य, यश, श्री' तीनों को धारण कर। त्रिमात्रा ओंकार का ध्यान करके त्रिलोकी का विजय करनेवाला हो। ५. षट्पदा छन्द 'काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मात्सर्य' इन छह-के-छह शत्रुओं पर आक्रमण की सूचना दे रहे हैं। पाँचों ज्ञानेन्द्रियों व छठे मन को काबू करने का ये उपदेश देते हैं। ६. 'विछन्द' यदि

छन्दरहित—इच्छा रहित होने का उपदेश देते हैं तो 'सच्छन्द' कह रहे हैं कि तुममें वेदाधिगम व वैदिक कर्मयोग करने की इच्छा तो होनी ही चाहिए।

भावार्थ—मन्त्र के विविध छन्दों की स्वरूप-सूचनाएँ हमें शान्ति देनेवाली बनें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**प्रजाः**। छन्दः—**भुरिगुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**॥

विविध वाणियों के उपदेश

महानाम्न्यो रेवत्यो विश्वा आशाः प्रभूवरीः।
मैघीर्विद्युतो वाचः सूचीभिः शम्यन्तु त्वा॥३५॥

१. **महानाम्न्यः**=महानाम्नी नामवाली **वाचः**=ऋग्वाणियाँ **सूचीभिः**=अपने सूत्रात्मक उपदेशों से **त्वा**=तुझे **शम्यन्तु**=शान्त करें। ये 'महानाम्नी' ऋचाएँ महान् प्रभु के नामों का स्मरण कराने के कारण 'महानाम्नी' कहलाती हैं। प्रभु नाम-स्मरण से मनुष्य में ये शक्ति उत्पन्न करती हैं, अतः 'शक्वर्यः' नामवाली भी हो जाती हैं। इसका उपदेश यही है कि 'उस महान् प्रभु के नाम का जप करो और उसके अर्थ की भावना करो'। जीवन की सच्ची पवित्रता व शान्ति इसी से प्राप्त होती है। २. **रेवत्यः**=रेवत नामवाली **वाचः**=रेवती वाणियाँ **सूचीभिः**=अपनी सूत्रात्मक सूचनाओं से **त्वा**=तुझे **शम्यन्तु**=शान्त करें। इन वाणियों से ही हम वास्तविक ऐश्वर्य को प्राप्त करने का बोध लेते हैं। ३. **विश्वाः आशाः**=सब दिशाओं को **प्रभूवरीः** =शक्तिशाली बनानेवाली **वाचः**=वाणियाँ **सूचीभिः**=अपनी सूत्रात्मक सूचनाओं से तुझे शान्त करें। इन वाणियों का उपदेश है कि तुम अपनी सब दिशाओं को शक्तिशाली बनाओ, अर्थात् सब दिशाओं में उन्नति करनेवाले बनो। तुम्हारा शरीर-मन-मस्तिष्क सभी प्रभावशाली हों। ४. **मैघीः**=मेघों के समान ज्ञानजल का वर्षण करनेवाली ये **वाचः**=वाणियाँ तुझे अपनी सूचनाओं से शान्त करें। इनकी सूचना है कि जैसे मेघ जल की वर्षा से औरों के सन्तापों को हरता है उसी प्रकार तू ज्ञानजल के वर्षण से औरों को सुखी करनेवाला हो। ५. **विद्युतः**=ये विशेष द्युतिवाली **वाचः**=वाणियाँ, विद्युत् के समान चमकती हुई सूचना दे रही हैं कि तू विशिष्ट ज्ञान से चमकनेवाला बन। यह सूचना तेरे जीवन का अङ्ग बने और तुझे शान्ति प्राप्त कराए।

भावार्थ—वेद की विविध वाणियाँ यह उपदेश दे रही हैं कि (क) तुम उस महान् प्रभु के नाम का स्मरण करो। (ख) वास्तविक ऐश्वर्य का अर्जन करो। (ग) सब दिशाओं में उन्नति करो। (घ) मेघों की भाँति सन्ताप हरनेवाले बनो और (ङ) बिजली की भाँति चमकते हुए अन्धेरे में औरों को रास्ता दिखानेवाले बनो।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**स्त्रियः**। छन्दः—**भुरिगुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

सोम-विचयन

नार्यस्ते पत्न्यो लोम विचिन्वन्तु मनीषया।
देवानां पत्न्यो दिशः सूचीभिः शम्यन्तु त्वा॥३६॥

१. मन्त्र संख्या २९ में राजा की सभा को नारी=नरिष्टा=नरहितकारिणी कहा गया था। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि हे राजन्! **ते पत्न्यः**=तेरी पत्नीभूत, राष्ट्रयज्ञ के चलाने के लिए जिनके साथ तेरा संयोग हुआ है वे ये तेरी पत्नियाँ (पत्युर्नो यज्ञसंयोगे) **नार्यः**=नरहितकारिणी सभाएँ, अर्थात् सभा के सब सभ्य **मनीषया** (मनसः ईषा) मन पर शासन करने के दृष्टिकोण से **लोम विचिन्वन्तु**=(सामानि यस्य लोमानि) साम का, प्रभु की उपासना का

सञ्चय करें, अर्थात् प्रभु की उपासना के मन्त्रों का संग्रह करके उन मन्त्रों से प्रभु-स्तवन के द्वारा अपने मनों को विषयों में जाने से रोकनेवाली हों। २. **देवानां पत्न्यः**=इन्द्रादि देवताओं की पत्नीभूत ये **दिशः**=पूर्वादि दिशाएँ **सूचीभिः**=सूत्रात्मक उपदेशों से **त्वा शम्यन्तु**=तुझे शान्त करनेवाली हों। 'प्राची' का उपदेश=प्र अञ्च्=आगे बढ़ने का है, 'दक्षिणा'=दक्षिण व कुशल बनने को कह रही है और 'प्रतीची'=विषयव्यावृत्त होकर इन्द्रियों को प्रत्याहृत करने का उपदेश देती है 'उदीची' (उद् अञ्च्) ऊपर उठने का उपदेश दे रही है। ये सब उपदेश तेरे जीवन में शान्ति लानेवाले बनें। ३. 'छन्दांसि वै लोमानि' (श० ६।४।१।६) इस वाक्य में छन्द को, वेद मन्त्रों को 'लोम' नाम दिया गया है। ये वेदमन्त्र छन्द हैं, पापवृत्तियों से सचमुच बचानेवाले हैं। गृहपत्नियाँ खाली समय में इन्हीं का विचयन (संग्रह) अध्ययन करेंगी तो उनका मन व्यर्थ की बातों में जाएगा ही नहीं। ऐसी पत्नियाँ सचमुच 'नार्य' नरहितकारिणी होंगी। अपने पति के लिए उत्तम गृह का निर्माण करती हुई उसके जीवन को सुखी करेंगी। भाइयों में संघर्ष का कारण भी न बनेंगी।

भावार्थ—राजसभा के सभ्य मन को वशीभूत करने के दृष्टिकोण से रिक्त समय में उपासना-मन्त्रों का संग्रह करें। दिशाएँ (पत्नियाँ) 'आगे बढ़ने' आदि उपदेशों से हमारे जीवनों में शान्ति स्थापित करें।

नोट—'लोम' शब्द का अर्थ 'लूञ् छेदने' से यदि छेदन किया जाए तो पूर्वार्द्ध का अर्थ इस प्रकार होगा कि हे राजन्! **ते पत्न्यः**=तेरी कार्य की पूरिका ये **नार्यः**=नरहितकारिणी सभाएँ **मनीषया**=बुद्धि से पूर्ण विचार करके, **लोम**=राष्ट्र के दोषों के छेदन का तथा शत्रुओं के उपद्रव के भेदन का **विचिन्वन्तु**=विचार करें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**स्त्रियः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

उत्तम गृहिणी

र॒ज॒ता हरि॑णीः सीसा॒ युजो॑ युज्यन्ते॒ कर्म॑भिः।
अश्व॑स्य वा॒जिन॑स्त्व॒चि सिमा॑ः शम्यन्तु॒ शम्य॑न्तीः ॥३७॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में गृहिणियों का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **रजताः**=(अनुरक्तम्—द०) अनुरागवाली **हरिणीः**=अपने उत्तम व्यवहार व कार्यकुशलता से दुःखों का हरण करनेवाली अथवा मन को आकृष्ट करनेवाली, **सीसाः**=(षिञ् बन्धने) प्रेममय व्यवहार से घर में सबको परस्पर बाँधकर रखनेवाली, घर में लड़ाई-झगड़े न होने देनेवाली, **युजः**=सदा पति का साथ देनेवाली, उसके साथ मिलकर गृहस्थ के बोझ को उठानेवाली पत्नियाँ **कर्मभिः युज्यन्ते**=कर्मों से सदा सङ्गत रहती हैं। इनका जीवन कभी अकर्मण्यता का नहीं होता। २. **अश्वस्य**=कर्मों में व्याप्त रहनेवाले **वाजिनः**=शक्तिशाली पति के **त्वचि**=संवरण में, रक्षा में, जैसे शरीर को त्वचा ने सुरक्षित किया हुआ है उसी प्रकार पति ने घर को सुरक्षित रखना है **सिमाः**=(सर्वाः=Whole) पूर्ण स्वास्थ्य को प्राप्त हुई-हुई **शम्यन्तीः**=शान्ति को प्राप्त होती हुई **शम्यन्तु**=शान्ति देनेवाली हों। ३. प्रस्तुत मन्त्र में पत्नी के गुणों का उल्लेख इन शब्दों में किया है कि (क) **रजताः**=वे अनुरागवाली हों। प्रेम के अभाव में गृहस्थ-भवन की नींव ही नहीं पड़ सकती, (ख) **हरिणीः**=वे अपने उत्तम व्यवहार से कष्टों का हरण करनेवाली हों। पत्नी का व्यवहार ही घर को स्वर्ग व नरक बना देता है, (ग) **सीसाः**=पत्नियाँ प्रेममय व्यवहार से सबको बाँधनेवाली हों। वे भाइयों को परस्पर झगड़ने न दें, (घ) **युजः**=सदा पति के कर्मों में सहयोग देनेवाली हों, (ङ) **युज्यन्ते**

कर्मभिः=कभी अकर्मण्य न हों, (च) **अश्वस्य वाजिनः त्वचि**=उन्हें कर्मशील शक्तिशाली पति का संरक्षण प्राप्त हो, (छ) **सिमाः**=वे पूर्ण स्वस्थ हों, विकलांग न हों, (ज) **शम्यन्ती**=शान्त स्वभाववाली हों। (झ) **शम्यन्तु**=औरों को शान्ति प्राप्त करानेवाली हों।

भावार्थ—गृहिणी उत्तम गुण-कर्म व स्वभाव से घर को स्वर्ग बनानेवाली होती हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सभासदः**। छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

आत्मदेह-विवेक

कुविदुङ्ग यवमन्तो यवञ्चिद्यथा दान्त्यनुपूर्वं वियूय।
इहेहैषां कृणुहि भोजनानि ये बर्हिषो नमउक्तिं यजन्ति॥३८॥

१. गतमन्त्र के अनुसार घर के शान्त वातावरण में ही मनुष्य आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नति कर सकता है। घर स्वर्ग बनेगा तो वहाँ देवों का निवास तो होगा ही। ये दिव्य वृत्तिवाले लोग **कुवित्**=खूब **अङ्ग**=शीघ्र ही, **यवमन्तः**=अच्छी कृषिवाले किसान **यव**=जौ को **चित्**=निश्चय से **यथा**=जैसे **अनुपूर्वम्**=क्रमशः एक ओर से **वियूय**=कुछ-कुछ अलग करके **दान्ति**=काटते चलते हैं, उसी प्रकार क्रमशः एक ओर से शुरू करके पहले अन्नमयकोश को, फिर प्राणमय, उसके बाद मनोमय, फिर विज्ञानमय व अन्त में आनन्दमय को अलग करके अन्तःस्थित आत्मतत्त्व का दर्शन करते हैं। २. इन साधकों में कोई अभी 'अन्नमयकोश' मैं नहीं हूँ, ऐसा ही निश्चय करने का प्रयत्न कर रहा होता है, कोई इससे ऊपर 'प्राणमयकोश मैं नहीं हूँ' ऐसा निश्चय कर चुका होता है। कोई मनोमय से ऊपर उठने का प्रयत्न कर रहा होता है तो कोई विज्ञानमय तक पहुँच रहा होता है। कोई एक आध सौभाग्यशाली साधक आनन्दमय तक पहुँच गया होता है और आत्मानन्द ले-रहा होता है। हे प्रभो! आप **इह इह**=इस-इस स्थान में पहुँचे हुए इन सब अभियुक्त (साधना में लगे हुए) व्यक्तियों का **भोजनानि**=पालन **कृणुहि**=कीजिए। आप ही इनके योगक्षेम का ध्यान करते हैं। ३. आप उन सबके योगक्षेम को चलाते हैं **ये**=जो **बर्हिषः**=हृदय में से वासनाओं का उद्बर्हण करनेवाले लोग **नमउक्तिम्**=नमन के वचनों को, नम्रतापूर्ण स्तुति वचनों को **यजन्ति**=अपने साथ सङ्गत करते हैं। वस्तुतः प्रभु के प्रति नमन ही उन्हें वासनाओं को उन्मूलित करने में सहायक होता है। वासनाओं के विनष्ट होने पर पवित्र हृदय में प्रभु का दर्शन होता है।

भावार्थ—एक-एक कोश को चिन्तनपूर्वक अलग करते हुए हम आत्मरूप को देख पाते हैं। इस आत्मरूप का दर्शन तभी होगा जब हम हृदय को वासनाशून्य बनाएँगे। हृदय की पवित्रता प्रभु के प्रति नमन से होगी।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**अध्यापकः**। छन्दः—**भुरिग्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

प्रभु-दर्शक के प्रति प्रभु

कस्त्वा छ्यति कस्त्वा विशास्ति कस्ते गात्राणि शम्यति।
कऽउ ते शमिता कविः॥३९॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु-दर्शन करनेवाले **त्वा**=तुझे **कः**=आनन्दस्वरूप प्रजापति **आच्छ्यति**=समन्तात् विषयों से छिन्न करता है, छुड़ाता है। प्रभु-स्मरण वासनाओं के विनाश का सर्वोत्तम व एकमात्र उपाय है। २. वे **कः त्वा**=आनन्दस्वरूप प्रभु ही तुझे वासनाओं से पृथक् करके **विशास्ति**=विशिष्ट अनुशासन करते हैं, विविध धर्मों का उपदेश करते हैं। और ३. इस उपदेश के द्वारा **कः**=वे आनन्दघन प्रजापति **ते**=तेरे **गात्राणि**=अङ्गों को **शम्यति**=शान्त

करते हैं। वासना की उष्णता नष्ट होकर हृदय में शान्ति के राज्य की स्थापना उस प्रभु के द्वारा की जाती है। ४. इस प्रकार वे **कः**=आनन्दमय व अनिर्वचनीय प्रजापति **कविः**=जो क्रान्तदर्शी हैं, वे **उ**=निश्चय से **ते**=तुझे **शमिता**=शान्ति देनेवाले हैं। प्रभुभक्त का हृदय पवित्र होता है, परिणामतः शान्त होता है। इस शान्तपुरुष को ही वास्तविक सुख का अनुभव होता है।

भावार्थ—अपने भक्त को प्रभु वासनाओं से विच्छिन्न करते हैं। उसको विशिष्ट अनुशासन करके शान्त अङ्गोंवाला करते हैं। ये क्रान्तदर्शी प्रभु ही वस्तुतः हमें शान्ति का लाभ कराते हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**प्रजाः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

ऋतुओं की अनुकूलता

ऋतवस्तऽऋतुथा पर्व शमितारो वि शासतु।
संवत्सरस्य तेजसा शमीभिः शम्यन्तु त्वा॥४०॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु की अनुकूलता होने पर ब्रह्माण्ड के सभी देवों की अनुकूलता हो जाती है। उसी का वर्णन करते हुए कहते हैं—**ऋतवः**=वसन्त आदि ऋतुएँ **ते**=तेरे **ऋतुथा**=उस-उस ऋतु के अनुसार चलने से **पर्व**=एक-एक जोड़ को **शमितारः**=शान्त करनेवाली होकर **विशासतु**=विशिष्ट उपदेश दें। ऋतुएँ सब सुन्दर हैं, परन्तु जब मनुष्य प्रभु से दूर होकर विषयों में भटक जाता है तब उसके पर्वों में विविध मलों का संग्रह होकर शरीर में विविध रोग उत्पन्न हो जाते हैं। ऋतुचर्या ठीक होने पर शरीर व मन दोनों नीरोग होते हैं और यह नीरोग व्यक्ति वसन्त आदि के उपदेश को जीवन में अनूदित करने का प्रयत्न करता है। यह 'वसन्त' की भाँति उत्तम निवासवाला व उत्तम शक्तियों के विकासवाला बनने का प्रयत्न करता है। 'ग्रीष्म' की भाँति उत्साहसम्पन्न व निरालस्य बनता है। 'वर्षा' के समान लोगों पर ज्ञान की वर्षा के द्वारा उनके सन्ताप को हरने का प्रयत्न करता है। 'शरद' की भाँति बुराईरूप सब पत्तों को अपने से झाड़नेवाला बनता है। बुराइयों को झाड़कर 'हेमन्त' की भाँति अपना (हि उपचये) उपचय (वृद्धि) करता है और 'शिशिर' से (शश प्लुतगतौ) तीव्र गति का उपदेश ग्रहण करता है। कार्यों में पूरे उत्साह से लगा रहता है। २. इस प्रकार ये सब ऋतुएँ मिलकर **'संवत्सर'**=(वर्ष) को बनाती हुई **संवत्सरस्य तेजसा**=सम्पूर्ण वर्ष की तेजस्विता से, अर्थात् जिस तेजस्विता में बीमार पड़ जाने के कारण कमी नहीं आ गई, उस तेजस्विता से तथा **शमीभिः**=(शमी=कर्म—नि० २।१) शान्तिपूर्वक किये जाते हुए कर्मों से **त्वा**=तुझे **शम्यन्तु**=शान्त जीवनवाला बनाएँ।

भावार्थ—प्रभुभक्त के लिए सब ऋतुएँ अनुकूल व सुन्दर होती हैं। वे उसके पर्व-पर्व को शान्त करनेवाली होती हैं। इन ऋतुओं से सूचित उपदेश को भक्त ग्रहण करता है और ये ऋतुएँ नीरोगता के कारण सम्पूर्ण वर्ष की अक्षीण तेजस्विता से तथा कर्मों से इसके जीवन को शान्त बनाती हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**प्रजाः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

दिन-रात, पक्षों व मासों की अनुकूलता

अर्द्धमासाः परूꣳषि ते मासाऽआ च्छ्यन्तु शम्यन्तः।
अहोरात्राणि मरुतो विलिष्टꣳ सूदयन्तु ते॥४१॥

१. **अर्धमासाः**=आधे मास, अर्थात् शुक्लपक्ष व कृष्णपक्ष, **मासाः**=वर्ष के बारह

महीने, **शम्यन्तः**=तेरे जीवन को शान्त बनाते हुए **ते परूँषि**=तेरे सब जोड़ों (joints) को **आच्छ्यन्तु**=दोषों से छिन्न=रहित करें। दोनों पक्ष तेरे अनुकूल हों। मास भी तेरे अनुकूल हों। उनके अनुकूल व्यवहार करने से तेरे सब पर्व दोषशून्य हों। २. **अहोरात्राणि**=दिन-रात अर्थात् सदा **मरुतः**=ये ४९ प्रकार की वायु **ते**=तेरे **विलिष्टम्** =थोड़े-से भी अल्पीभाव व न्यूनता को **सूदयन्तु**=नष्ट करें। जिस समय मनुष्य प्रत्येक मास का ध्यान करते हुए तथा पक्षों का विचार करते हुए अपना आहार-विहार ठीक रखता है तो शरीर में सब प्राणवायुएँ ठीक कार्य करती हैं और वे **मरुत्**=प्राण दिन-रात उसकी न्यूनताओं को दूर करने में लगे रहते हैं। शरीर में होनेवाली थोड़ी-थोड़ी कमी को भी (विलिष्टम्) ये दूर करके इसे पूर्ण स्वस्थ बनानेवाले होते हैं।

भावार्थ—अर्धमास, मास, दिन-रात व प्राण (मरुत्) हमारे अनुकूल हों और हमारे थोड़े-से भी दोष को दूर करनेवाले हों।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**अध्यापकः**। छन्दः—**भुरिगुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

अनुकूल सङ्ग (सत्सङ्ग)

दैव्याऽअध्वर्यवस्त्वाच्छ्यन्तु वि च शासतु।
गात्राणि पर्वशस्ते सिमाः कृण्वन्तु शम्यन्तीः॥४२॥

१. **दैव्याः**=(देवस्य इमे) उस प्रभु के भक्त पुरुष **अध्वर्यवः**=(अध्वरं कामयमानाः) यज्ञ की कामनावाले **त्वा**=तुझे **आच्छ्यन्तु**=सब प्रकार की बुराइयों से विच्छिन्न करें। **च**=और **विशासतु**=विशिष्ट रूप से अनुशासन करें। जो 'दैव्य अध्वर्यु' पुरुष हैं वे अपने जीवन के उदाहरण से हमें सुप्रेरणा प्राप्त कराते हैं और हमें बुरे मार्ग से हटाकर उत्तम मार्ग पर लाते हैं। इस प्रकार वे हमें बुराइयों से विच्छिन्न करनेवाले हैं। उन व्यक्तियों का उपदेश हमारे लिए सचमुच बड़ा प्रभावजनक होता है और २. **शम्यन्तीः**=तेरे जीवन को शान्त बनाती हुई **सिमाः**=(सर्वः=Whole) पूर्ण स्वस्थ तेरी शक्तियाँ **ते** =तेरे **गात्राणि**=अङ्गों को **पर्वशः**=एक-एक पर्व में **कृण्वन्तु**=संस्कृत करनेवाली हों। शान्त व स्वस्थ पत्नी पति को भी उसी प्रकार स्वस्थ व शान्त बनानेवाली होती है।

भावार्थ—हमें 'दैव्य अध्वर्यु'=भक्त, यज्ञशील लोगों का सम्पर्क प्राप्त हो। हमारी आन्तरिक शक्तियाँ भी शान्त व स्वस्थ हों।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**राजा**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

सर्वलोकानुकूल्य

द्यौस्ते पृथिव्यन्तरिक्षं वायुश्छिद्रं पृणातु ते।
सूर्यस्ते नक्षत्रैः सह लोकं कृणोतु साधुया॥४३॥

१. **ते**=तेरा **द्यौः**=द्युलोक, **पृथिवी**=पृथिवीलोक, **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्षलोक तथा इस अन्तरिक्षलोक में चलनेवाली **वायुः**=वायु **ते छिद्रम्**=तेरे शरीर में होनेवाले दोषमात्र को **पृणातु**=भर दे, अर्थात् इन सबकी अनुकूलता से तेरे अङ्ग-प्रत्यङ्ग ठीक हों। विकलाङ्गता तो हो ही नहीं। सकलाङ्गता के साथ वे सब अङ्ग अपना-अपना कार्य करने में पूर्ण स्वस्थ हों। यहाँ '**ते**=तेरा' यह सम्बन्ध शब्द स्पष्ट कह रहा है कि इन सब लोकों के साथ हमारा अपनापन हो। ये सब हमारे मित्र हों न कि शत्रु। २. **सूर्यः**=यह सूर्य **नक्षत्रैः सह**=अन्य सब नक्षत्रों के साथ **ते लोकम्**=तेरे दर्शन को (लोक दर्शने) तेरी दृष्टिशक्ति को **साधुया**

कृणोतु=साधु, समीचीन, उत्तम बना दे। वस्तुतः सूर्य दृष्टिशक्ति बनकर अक्षि में निवास करता है। इस सूर्य की अनुकूलता होने पर हमारी दृष्टिशक्ति के ठीक होने पर हमारा यह संसार भी सुन्दर हो जाता है।

भावार्थ—द्युलोक, अन्तरिक्षलोक, पृथिवीलोक, वायु, सूर्य तथा नक्षत्र ये सब हमारे अनुकूल होकर हमारे शरीरों को निर्दोष करें तथा हमारी दृष्टिशक्ति को उत्तम करके हमारे संसार को सुन्दर बनाएँ।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**राजा**। छन्दः—**उष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

शमन्वित (शान्तिगुणयुक्त) शरीर

शं ते परेभ्यो गात्रेभ्यः शमस्त्ववरेभ्यः।
शमस्थभ्यो मज्जभ्यः शम्वस्तु तन्वै तव॥४४॥

१. बाह्य संसार की अनुकूलता होने पर यह शरीररूप छोटा पिण्ड भी बड़ा स्वस्थ बनता है, अतः कहते हैं कि गतमन्त्र के अनुसार द्युलोक आदि की अनुकूलता होने पर तेरे **परेभ्यः गात्रेभ्यः**=उत्कृष्ट, ऊपर के सिर, हाथ आदि अङ्गों के लिए **शम्**=शान्ति हो। **अवरेभ्यः (गात्रेभ्यः) शम् अस्तु**=अवर (lower), निचले पाँव आदि अङ्गों के लिए शान्ति हो। २. **अस्थभ्यः मज्जभ्यः**=शरीर की सब दुर्बलताओं को दूर फेंकनेवाली (अस्यन्ति=क्षिपन्ति) इन हड्डियों के लिए तथा (मज्जन्ति शुचन्ति=शुद्धिं कुर्वन्ति) शोधन करनेवाली मज्जा के लिए **शम्**=शान्ति हो। हड्डियों के ठीक होने पर ही शरीर का ठीक होना निर्भर है। इनकी निर्बलता मनुष्य को दुःख देती है। मज्जा के ठीक होने पर शरीर शुद्ध बना रहता है। ३. इस प्रकार **तव**=तेरे **तन्वै**=सम्पूर्ण शरीर के लिए **उ**=निश्चय से **शम् अस्तु**=शान्ति हो।

भावार्थ—बाह्य द्युलोक आदि की अनुकूलता से हमारे पर, अवर सब गात्र तथा अस्थि व मज्जा तथा सम्पूर्ण शरीर रोगों के उपद्रव से रहित व शान्त हों।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**जिज्ञासुः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

ब्रह्मोद्य=ज्ञानचर्चा

कः स्विदेकाकी चरति कऽउ स्विज्जायते पुनः।
किꣳस्विद्धिमस्य भेषजं किम्वावपनं महत्॥४५॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सूर्यादयः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

सूर्यऽएकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः।
अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत्॥४६॥

१. गतमन्त्रों के अनुसार शरीर के स्वस्थ व शमगुणयुक्त होने पर मनुष्य उत्तम ज्ञानचर्चाएँ करते हुए परस्पर प्रश्नोत्तर के प्रकार से ज्ञान का विस्तार करते हैं और उदाहरण के लिए निम्न प्रश्न उपस्थित करते हैं—(क) **स्वित्**=भला **कः**=कौन **एकाकी**=अकेला **चरति**=विचरता है? किसे दूसरे की सहायता की आवश्यकता नहीं पड़ती? (ख) **कः स्वित्**=कौन भला **पुनः**=फिर **जायते**=विकास को प्राप्त करता है? (ग) **किं स्वित्**=भला क्या **हिमस्य भेषजम्**=हिम का, ठण्डक का औषध है? (घ) **उ**=और **किम्**=क्या **महत्**=महान् **आवपनम्**=बोने का स्थान है? २. इन प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहते हैं कि (क)

सूर्यः=सूर्य **एकाकी चरति**=अकेला विचरता है। पृथिवी आदि सूर्य से आकृष्ट होकर उसके चारों ओर घूमें तो घूमें, सूर्य को इनकी अपेक्षा नहीं। इसी प्रकार अपराश्रित रूप से विचरनेवाला व्यक्ति ही सूर्य की भाँति चमकता है। स्वतन्त्रता में ही चमक है, (ख) **चन्द्रमा**=चाँद **पुनः**=फिर, कृष्णपक्ष में क्षीण होकर शुक्लपक्ष में फिर से **जायते**=विकसित हो जाता है। शरीर में यही चन्द्रमा मन है और मन के विकास के अनुपात में ही मनुष्य का विकास होता है, (ग) **हिमस्य**=ठण्डक का **भेषजम्**=औषध **अग्निः**=अग्नि है। शरीर में वाणी ही अग्नि है। यह वाणी किसी भी ठण्डे पड़े आन्दोलन को फिर से प्रचण्ड कर देने का सामर्थ्य रखती है, (घ) **भूमिः**=यह भूमि ही **महत् आवपनम्**=सबसे महत्त्वपूर्ण बोने का स्थान है। 'पृथिवी शरीरम्' अध्यात्म में शरीर ही पृथिवी है। मनुष्य इसी में वीर्य का वपन करता है। शरीर में वीर्य को सुरक्षित करने पर ही यह बीज ज्ञानाङ्कुर व अन्य दिव्यांकुरों को जन्म देनेवाला होता है।

भावार्थ—हम अपराश्रित होकर विचरेंगे तो सूर्य की भाँति चमकेंगे। मन को विकसित करके अपने विकास को साधेंगे। वाणी से उत्साह का सञ्चार करेंगे तो शरीर एवं पृथिवी को बीज-(वीर्य)-वपन का स्थान बनाते हुए ज्ञान व दिव्य गुणों के अंकुरों को प्रादुर्भूत करनेवाले होंगे।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**जिज्ञासुः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

ब्रह्म–द्यौः–इन्द्र–गौः

किꣳस्वित्सूर्यसमं ज्योतिः किꣳसमुद्रसमꣳसरः।
किꣳस्वित्पृथिव्यै वर्षीयः कस्य मात्रा न विद्यते ॥४७॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**ब्रह्मादयः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिर्द्यौः समुद्रसमꣳसरः।
इन्द्रः पृथिव्यै वर्षीयान् गोस्तु मात्रा न विद्यते॥४८॥

१. **स्वित्**=भला **सूर्यसमम्**=सूर्य के समान **ज्योतिः**=प्रकाश **किम्**=क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि (क) **ब्रह्म**=परमात्मा ही **सूर्यसमं ज्योति** :=सूर्य के समान प्रकाश हैं। वेद में प्रभु को 'आदित्यवर्णम्' शब्द से स्मरण किया गया है। गीता में **'दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता। यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः'** इन शब्दों में प्रभु की ज्योति को हज़ारों सूर्यों की समुदित ज्योति से प्रतितुलित करने का प्रयत्न किया गया है। **'योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्'** इन वेद के शब्दों में प्रभु को सूर्य की तेजस्विता का कारण कहा है। जैसे सूर्य स्वयं प्रकाश है और चन्द्रमा उसकी एक किरण से प्रकाशित होता है, उसी प्रकार प्रभु स्वयं प्रकाश हैं। जीव उस प्रभु से प्रकाश प्राप्त करता है। (ख) यही ब्रह्म अध्यात्म में ज्ञान है। ज्ञान ही सूर्यसम ज्योति है। हमें अपने ज्ञान को सूर्य के समान दीप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। २. दूसरा प्रश्न, **समुद्रसमं सरः किम्**=समुद्र के समान तालाब कौन-सा है? उत्तर देते हुए कहते हैं कि (क) **द्यौः**=द्युलोक ही **समुद्रसमं सरः**=समुद्र के समान तालाब है। वस्तुतः द्युलोकस्थ सूर्य इस पृथिवी के तालाबरूप समुद्र के पानी को वाष्पीभूत करके ऊपर ले-जाता है और वे वाष्प ऊपर जाकर कुछ घनीभूत होकर मेघरूप में परिणित होकर अन्तरिक्षस्थ समुद्र का निर्माण करते हैं और इस प्रकार द्युलोक इस समुद्र के समान एक महान् सर बन जाता है। (ख)

शरीर में ये जल रेतस् रूप में रहते हैं। मूलाधारचक्र के समीप इनका स्थान है। प्राणायाम आदि की उष्णता से इनकी ऊर्ध्वगति होकर ये मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञानाग्नि का उसी प्रकार ईंधन बनते हैं जिस प्रकार अन्तरिक्ष में मेघजल विद्युत् का। ३. तीसरा प्रश्न है **पृथिव्यै**=(पृथिव्याः) पृथिवी से **वर्षीयः**=अधिक बड़ा, अधिक पुराना **किं स्वित्**=क्या है? अथवा पृथिवी के लिए सर्वाधिक वृष्टि करनेवाला कौन है? उत्तर देते हुए कहते हैं कि (क) **इन्द्रः**=सूर्य **पृथिव्यै**=पृथिवी से **वर्षीयान्**=बड़ा व पुराना है। उसी का एक अंशभूत यह पृथिवी है। किसी समय यह पृथिवी उस देदीप्यमान विराट् पिण्ड का ही भाग थी। सूर्य इस पृथिवी से १३ लाख गुणा बड़ा है। वह सूर्य ही इस पृथिवी पर वर्षा का भी कारण बनता है। (ख) अध्यात्म में जीव जब 'इन्द्र' बनता है। सब असुरों का संहार करनेवाला बनता है तब इस पृथिवीरूप शरीर के लिए अधिक-से-अधिक सुखों की वर्षा करनेवाला होता है। ४. चौथा प्रश्न है **कस्य मात्रा न विद्यते**=किसकी मात्रा नहीं है? कौन सीमित नहीं है? उत्तर देते हुए कहते हैं कि (क) **गोः**=ज्ञान की वाणी की **तु**=तो **मात्रा**=माप **न विद्यते**=नहीं है। ज्ञान अनन्त है 'अनन्तपारं किल शब्दशास्त्रम्'=Art is long। ज्ञान का कहीं अन्त है? (ख) एक ही वस्तु का मनुष्य के लिए माप नहीं है और वह है 'ज्ञान की प्राप्ति'। जितना भी हम अधिक ज्ञान प्राप्त करें, वह थोड़ा है। ज्ञान की मात्रा नहीं है। जितना ज्ञान प्राप्त करेंगे उतना ही कल्याण होगा।

भावार्थ—प्रभु सूर्य के समान ज्योतिर्मय हैं। हमें भी ज्योतिर्मय बनकर प्रभु-जैसा बनना है। मेघों से अन्तरिक्षीय समुद्र बना है। हमें भी वीर्यरूप जलों की ऊर्ध्वगति कर द्युलोकरूप मस्तिष्क में ज्ञानजल को भरना है। ऋतम्भरा प्रज्ञा का विकास करना है। हम असुरों के संहार करनेवाले इन्द्र बनकर इस शरीर में सुखों की वर्षा कर सकते हैं। जितना भी अधिक हो सके हम ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**प्रष्टृसमाधातारौ**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

पद-त्रयी

पृच्छामि त्वा चितये देवसख यदि त्वमत्र मनसा जगन्थ।
येषु विष्णुस्त्रिषु पदेष्वेष्टस्तेषु विश्वं भुवनमा विवेशाँ३॥ऽ॥४९॥

१. यज्ञ की समाप्ति पर परस्पर ज्ञानचर्चा करते हुए उद्गाता ब्रह्मा से कहता है कि हे ब्रह्मन्! **देवसख**=देवों के मित्र अथवा उस देवाधिदेव प्रभु के समान ख्यानवाले (ख्यान=नाम व दर्शन)! **चितये**=ज्ञान-प्राप्ति के लिए **त्वा पृच्छामि**=आपसे मैं यह पूछता हूँ कि **यदि**=अगर **त्वम्**=आप **अत्र**=इस विषय में **मनसा** =मनन के द्वारा **जगन्थ**=गये हैं, अर्थात् यदि विचार करते-करते आपने इस बात को समझा है, यदि आप जानते हैं तो मुझे भी बतलाइए। मैं केवल जिज्ञासुभाव से प्रश्न कर रहा हूँ—'मुझमें कोई विजिगीषा की भावना हो' ऐसा नहीं। मैं जल्प व वितण्डा की वृत्ति को अपनाकर प्रश्न नहीं कर रहा हूँ। शुद्ध (सं) वाद के विचार से मेरा प्रश्न है। २. प्रश्न मेरा उन लोकों के विषय में है **येषु**=जिन **त्रिषु पदेषु**=तीन पदों में **विष्णुः**=वह सर्वव्यापक प्रभु **इष्टः**=(=आ इष्टः) सर्वथा चाहा गया है, (इषु इच्छायाम्), अर्थात् वह पूजा के योग्य (यज+क्त) है। **तेषु**=उन्हीं तीन पदों में ही तो **विश्वं भुवनम्**=सम्पूर्ण भुवन **आविवेश**=प्रविष्ट हुआ-हुआ है।

इस प्रकार प्रश्न को सुनकर ब्रह्मा उत्तर देते हैं

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

अपि तेषु त्रिषु पदेष्वस्मि येषु विश्वं भुवनमा विवेश।
सद्यः पर्येमि पृथिवीमुत द्यामेकेनाङ्गेन दिवोऽअस्य पृष्ठम्॥५०॥

१. **तेषु त्रिषु पदेषु अपि अस्मि**=उन तीनों लोकों में भी मैं हूँ, अर्थात् उन तीनों लोकों का मुझें खूब ज्ञान है **येषु विश्वं भुवनं आविवेश**=जिनमें यह सारा ब्रह्माण्ड समा जाता है। वस्तुतः एक-एक कदम में एक-एक लोक को व्याप्त करने से ही **विष्णु** 'त्रि-विक्रम' कहलाये हैं। २. मैं **सद्यः**=शीघ्र ही **पृथिवीम्**=इस पृथिवी को **पर्येमि**=चारों ओर से व्याप्त करता हूँ। इस पृथिवी का ज्ञान प्राप्त करता हूँ। इस पृथिवी का ज्ञान ही ब्रह्मचर्यसूक्त में ज्ञानाग्नि की प्रथम् समिधा कही गई है। 'पृथिवी' शब्द वेद में अन्तरिक्ष का भी वाचक है, अतः इस पृथिवी शब्द से अन्तरिक्ष का भी यहाँ ग्रहण करना है। मैं अन्तरिक्षलोक को भी जानता हूँ। यही ज्ञानाग्नि की द्वितीय समिधा है। ३. **उत**=और **द्याम्**=द्युलोक को भी **सद्यः**=शीघ्र ही **पर्येमि**=चारों ओर से व्याप्त करता हूँ। द्युलोक का भी मैं ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करता हूँ। यही ज्ञान मेरी ज्ञानाग्नि की तृतीय समिधा बनता है। ४. **एकेन अङ्गेन**=और अद्वितीय (अनुपम) प्रथम कोटि के ज्ञान से (अगि गतौ) **अस्य दिवः**=इस द्युलोक के **पृष्ठम्**=आधारभूत ब्रह्मलोक को जानता हूँ। अथवा पुरुषसूक्त के इन शब्दों के अनुसार कि 'वह प्रभु पूर्ण ब्रह्माण्ड को व्याप्त करके इससे भी ऊपर उठे हुए हैं तथा यह सारा ब्रह्माण्ड उस प्रभु के एक देश में है। 'पृष्ठम्' शब्द का अर्थ द्युलोक से ऊपर का भाग भी किया जा सकता है। मैं द्युलोक के जो परे है उसे भी जानता हूँ। इन तीनों लोकों को जानते हुए चतुर्थ ब्रह्मलोक को भी जानता हूँ। मेरा ज्ञान त्रिपात् न होकर चतुष्पात् है। इन लोकों से प्रभु का ज्ञान होता है, अतः वे लोक 'पद' (पद्यते) कहलाये हैं, इन तीनों पदों से ऊपर प्रभु स्वयं पद (पद्यते) हैं, ज्ञानगम्य हैं। उन्हीं को जानकर मनुष्य अत्यन्त शान्ति को प्राप्त करता है।

भावार्थ—१. हम इस पृथिवीलोक का ज्ञान प्राप्त करें। पृथिवीस्थ देवों में हमें प्रभु की महिमा दिखेगी। इन देवों की मुखिया 'अग्नि' तो उस प्रभु की 'विभूति' ही है—'वसूनां पावकोऽस्मि'। २. अन्तरिक्षस्थ देवों का ज्ञान प्राप्त करने पर उनमें प्रभु-माहात्म्य दृष्टिगोचर होगा। अन्तरिक्ष का मुख्यदेव वायु तो प्रभु की स्पष्ट विभूति है—**'पवनः पवतामस्मि'**। ३. हमें द्युलोक के देवों का ज्ञान प्राप्त कर सूर्य में प्रभु-माहात्म्य का चरम सौन्दर्य देखना है—**'ज्योतिषां रविरंशुमान्'**। इस प्रकार तीनों पदों में प्रभु-माहात्म्य को देखकर ही व्यक्ति देवसख=प्रभुरूप मित्रवाला (Friend of God) बनता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**पुरुषेश्वरः**। छन्दः—**पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

अन्तःपुरुष

केष्वन्तः पुरुषऽआ विवेश कान्यन्तः पुरुषेऽअर्पितानि।
एतद् ब्रह्मन्नुप वल्हामसि त्वा किंस्विन्नः प्रति वोचास्यत्र॥५१॥

१. पिछले प्रश्न का उत्तर पाकर उद्गाता ब्रह्मा से पूछता है कि हे ब्रह्मन्! **पुरुषः**=पुरुष **केष्वन्तः**=किनके अन्दर **आविवेश**=प्रविष्ट हुआ-हुआ है और **कानि**=कौन-कौन **अन्तः पुरुषे**=इस अन्तःस्थित पुरुष में **अर्पितानि**=आश्रित हैं, कौन-सी वस्तुएँ पुरुष के आश्रय पर विद्यमान हैं। हे **ब्रह्मन्**! आपसे **एतत्**=यह **उपवल्हामसि**=(उपसंगम्याहूयोत्क्षिप्य

बाहू पृच्छामि—उ०) समीप आकर, ललकारकर व बाहु उठाकर पूछते हैं। देखें **किंस्वित्**=भला क्या **नः**=हमें **अत्र**=इस विषय में **प्रतिवोचासि**=आप प्रत्युत्तर देते हैं।

उद्गाता के इस प्रश्न को सुनकर ब्रह्मा उत्तर देते हैं—

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**परमेश्वरः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

प॒ञ्चस्व॒न्तः पुरु॑ष॒ऽआ वि॑वेश॒ तान्य॒न्तः पुरु॑षे॒ऽअर्पि॑तानि।
ए॒तत्त्वात्र॑ प्रतिमन्वा॒नोऽअ॑स्मि॒ न मा॒यया॑ भव॒स्युत्त॑रो॒ मत्॥५२॥

१. **पञ्चस्वन्तः**=पाँच के अन्दर **पुरुषः**=पुरुष **आविवेश**=प्रविष्ट हुआ है। (क) 'अन्नमयकोश' उसका सबसे बाहर का आवरण है, उसके अन्दर क्रमशः 'प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय व आनन्दमय' कोश हैं। इनके अन्दर इस शरीररूप पुरी में शयन व निवास करनेवाला यह जीवात्मा प्रविष्ट हुआ है। (ख) इस रूप में भी कह सकते हैं कि 'पृथ्वी, जल, तेज, वायु व आकाश' इन पञ्चभूतों से बने इस शरीर में वह शरीरी पुरुष प्रविष्ट हो रहा है। (ग) इस शरीर में पाँचों प्राणों में भी उसी की शक्ति काम कर रही है। पाँचों प्राणों में भी यही प्रविष्ट है। (घ) पाँचों कर्मेन्द्रियों में स्थित होकर वही इनसे कार्य कर रहा है। (ङ) और पाँचों ज्ञानेन्द्रियों का अधिष्ठाता वही पुरुष है। (च) इन पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के अधिष्ठातृरूपेण यह 'शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गन्ध' आदि पाँच तन्मात्राओं का ग्रहण करनेवाला बनता है। २. **तानि**=वे सबके सब **अन्तः पुरुषे**=अन्तःस्थित पुरुष पर ही **अर्पितानि**=आश्रित हैं। इसके इस शरीर को छोड़ने पर (क) उन सब कोशों का अन्त हो जाता है। (ख) यह पाँच भौतिक शरीर विनष्ट होकर पञ्चभूतों में विलीन हो जाता है—पृथिवी तत्त्व पृथिवी में मिल जाता है तो जलीय तत्त्व जल में, अग्नि अग्नि में मिली, वायु, वायु में गया और आकाश महाकाश के रूप में दिखने लगा। (ग) इसी प्रकार पाँचों प्राणों, पाँचों कर्मेन्द्रियों व पाँचों ज्ञानेन्द्रियों का भी विलय हो जाता है। उस समय इन 'शब्दादि' पञ्चतन्मात्राओं का भी यहाँ ग्रहण नहीं होता। ३. (क) जब तक इस पाँच भौतिक शरीर में यह पुरुष विद्यमान रहता है तभी तक वह एक सद्गृहस्थ से धारण के योग्य 'अन्वाहार्यपचनदक्षिण, गार्हपत्य, आहवनीय, सभ्य व आवसथ्य' इन पाँचों अग्नियों का धारण करता है। (ख) बड़ों को पञ्चाङ्ग प्रणाम करने का (बाहुभ्यां चैव जानुभ्यः शिरसा वक्षसा दृशा) ध्यान करता है। (ग) शरीर के पोषण के लिए 'दूध, शर्करा, घृत–दधि–मधु' इस पंचामृत का विधिवत् सेवन करता है। (घ) पंचावयव अनुमान वाक्य से (इदं जगत् सकर्तृकम्, कार्यत्वात् घटवत्, यत् यत् कार्यं तत् तत् सकर्तृकं यथाः घटः, इदं जगत् अपि कार्यं, तस्माद् सकर्तृकम्) प्रतिज्ञा–हेतु–उदाहरण–उपनय व निगमन का ठीक प्रयोग करता हुआ ईश्वरादि परोक्ष पदार्थों का निश्चय करता है। (ङ) पंचशर (कामदेव) के 'संमोहन–उन्मादन–शोषण–तापन–स्तम्भन' पाँच बाणों का शिकार न होने के लिए यही पुरुष 'पञ्चतप' तपस्या भी किया करता है (चतुर्दिक् अग्नि व सूर्य)। (च) इस स्थूल शरीर के शोधन के लिए 'वमन–रेचन–नस्य–अनुवासन (oily enema) उनिरुह (enema not oily) इन पाँच कर्मों का भी यह कभी–कभी प्रयोग करता है। (छ) ऐसे अवसरों पर यह 'पंचगव्य' (क्षीरं दधि तथा चाज्यं मूत्रं गोमयमेव च) के प्रयोग का ध्यान करता है। (ण) पाँच मकारों से (मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा तथा मैथुन) बचता है। (झ) पाँच पर्वों को (चतुर्दशी–अष्टमी, अमावस्या, पूर्णिमा, रवि–संक्रान्ति) प्रभुपूजा में व्यतीत करता हुआ अपने में उत्तमताओं को भरता है। (ञ) पञ्च महायज्ञों को करना (ब्रह्मयज्ञ–देवयज्ञ–

पितृयज्ञ–अतिथियज्ञ–बलिवैश्वदेवयज्ञ) इसे कभी विस्मृत नहीं होता। इन्हीं के द्वारा वह गृहस्थ के अन्दर वर्त्तमान पाँच सूनाओं (slaughter houses) का प्रायश्चित्त करता है। (पञ्च सूनाः गृहस्थस्य चुल्ली–पेषण्युपस्करः कंडनी–उदकुम्भश्च)। (ट) इस प्रकार यह पञ्चार्पित पुरुष संसार की अभिनय-स्थली में पञ्चाङ्ग अभिनय करता हुआ जीवनयापन करता है 'चित्ताक्षिभ्रूहस्तपादैरंगैश्चेष्टादिताम्यतः पात्राद्यवस्थाकरणं पंचांगोऽभिनयो मतः'। ४. इस प्रकार ब्रह्मा उत्तर देकर कहते हैं कि **एतत्**=यह **अत्र**=इस विषय में **त्वा प्रति मन्वानः**=तेरे प्रति मननपूर्वक विचार को उपस्थित करता हुआ **अस्मि**=मैं हूँ। **मायया**=बुद्धि से तू **मत्**=मुझसे **उत्तरः**=अधिक उत्कृष्ट **न भवसि**=नहीं होता है। तू मुझे बुद्धि से जीत नहीं सकता।

भावार्थ—हम पाँचों के अन्दर प्रविष्ट व अन्तः प्रविष्ट होकर पाँचों का धारण करनेवाले आत्मस्वरूप का मनन करनेवाले बनें।

सूचना—यहाँ प्रश्नोत्तर में ज्ञानविषयक स्वस्थ स्पर्धा द्रष्टव्य है। उद्गाता का ललकारना व ब्रह्मा का चैलेञ्ज को स्वीकार करना सचमुच अभिनयात्मक है। ऐसी ज्ञान-चर्चाएँ ही मानवजाति के उत्थान का कारण हो सकती हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**प्रष्टा**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

पूर्वचित्तिः बृहद्वयः

का स्विदासीत्पूर्वचित्तिः किᳬस्विदासीद् बृहद्वयः।
का स्विदासीत्पिलिप्पिला का स्विदासीत्पिशङ्गिला ॥५३॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**समाधाता**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

द्यौरासीत्पूर्वचित्तिरश्वऽआसीद् बृहद्वयः।
अविरासीत्पिलिप्पिला रात्रिरासीत्पिशङ्गिला॥५४॥

१. इसी अध्याय के मन्त्र संख्या ११-१२ पर इनका विस्तृत अर्थ है। यहाँ ज्ञानचर्चा के प्रसंग में इनको पुनः उपस्थित करने का उद्देश्य यह है कि **का स्वित्**=भला **पूर्वचित्तिः**=सर्वप्रथम ध्यान देने योग्य वस्तु **आसीत्**=क्या है?' इस प्रश्न का यह उत्तर कि "**द्यौः**=मस्तिष्क ही **पूर्वचित्तिः**=सर्वप्रथम ध्यान देने की वस्तु **आसीत्**=है'। हम यह कभी भूलें नहीं कि मस्तिष्क के विकास से ही तो हम गतमन्त्र में दिये गये उत्तर को देने की योग्यतावाले ब्रह्मा बन पाएँगे। २. **किं स्वित्**=भला **बृहद्**=वर्धनशील **वयः**=पक्षी (जीव) क्या है। इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि **अश्वः**=सदा कर्मों में व्याप्त रहनेवाला जीव ही **बृहद् वयः**=वर्धनशील पक्षी है। वेद में परमात्मा व आत्मा को 'द्वा सुपर्णा'=दो पक्षियों के रूप में स्मरण किया है। परमात्मा सदा बढ़े हुए हैं, जीव अल्प होने से सदा सन्मार्ग पर चलते हुए बढ़ा करता है। ३. तीसरा प्रश्न है **स्वित्**=भला **का**=कौन **पिलिप्पिला**='चिक्कण, आर्द्र व शोभना' भी है? उत्तर देते हुए कहते हैं कि **अविः**=आत्मरक्षण करनेवाला ही शरीर में पिलिप्पिला=स्वास्थ्य की स्निग्धतावाली, मन में दया की आर्द्रतावाली तथा मस्तिष्क में ज्ञान की शोभावाली श्री से युक्त होता है। ४. चौथा प्रश्न है **किं स्वित्**=भला **का**=कौन **पिशङ्गिला आसीत्**=सब रूपों को निगीर्ण कर जानेवाली है? उत्तर देते हैं कि **रात्रिः**=रात **पिशङ्गिला आसीत्**=रूपों को निगल जानेवाली है। रात को सब रूप समाप्त होकर कृष्ण-ही-कृष्ण दिखता है। प्रलयकाल को भी (तम आसीत् तमसा गूळ्हमग्रे) अन्धकारमय होने से तम व रात्रि कहते हैं। उस प्रलयकाल में भी सब रूप समाप्त हो जाते हैं।

भावार्थ—हम मस्तिष्क को ध्येय वसुओं में सबसे ऊपर रक्खें। सबसे अधिक हमें इसी का ध्यान करना है। कर्मों में सदा व्याप्त रहकर हम वर्धनशील हों। आधि-व्याधियों से अपने को बचाते हुए हम स्निग्ध शरीर, आर्द्र हृदय व शोभन मस्तिष्कवाले हों। हम इस बात को न भूलें कि हमारे जीवन में भी महानिद्रा की रात्रि आनी है, जिसमें ये सब भौतिक तड़क-भड़क (रूप) समाप्त हो जाएगी, अतः इसको इतना महत्त्व क्यों देना?

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**प्रष्टा**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

अज-श्वावित्, शश-अहिः

काऽईमरे पिशङ्गिला काऽईं कुरुपिशङ्गिला।
कऽईमास्कन्दमर्षति कऽईं पन्थां वि सर्पति॥५५॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**समाधाता**। छन्दः—**स्वराडुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

अजारे पिशङ्गिला श्वावित्कुरुपिशङ्गिला।
शशऽआस्कन्दमर्षत्यहिः पन्थां वि सर्पति॥५६॥

१. प्रस्तुत मन्त्रों में पिछले मन्त्रों के अन्तिम प्रश्न को फिर से दुहराया गया है। दुहराने का कारण यह है कि 'प्रलयकाल के समय शरीर प्रकृति में विलीन हो जाते हैं' तो आत्मा कहाँ रहती है? इसका स्पष्टीकरण अभीष्ट है, अतः प्रश्न को भी दो भागों में बाँटकर दो प्रश्नों के रूप में करते हुए पूछते हैं कि **अरे**=अयि क्रियाशील विद्वन्! (ऋ गतौ) **ईम्**=निश्चय से **पिशङ्गिला का**=सब रूपों को निगीर्ण कर जानेवाली कौन वस्तु है और **ईम्**=निश्चय से **का**=कौन **कुरुपिशङ्गिला**=(कर्मकर्तुः जीवस्य पिशङ्गिलति) इस कर्म करनेवाले जीव के रूप को निगलनेवाली है। २. तीसरा प्रश्न है कि **ईम्**=निश्चय से **कः**=कौन **आस्कन्दम्**=समन्तात् शत्रुशोषण को **अर्षति**=प्राप्त होता है, अर्थात् कौन शत्रुओं का शोषण करता है? तथा चौथे प्रश्न में पूछते हैं कि **ईम्**=निश्चय से **कः**=कौन **पन्थाम्**=मार्ग पर **विसर्पति**=विशिष्ट रूप से गति करता है? ३. इन प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहते हैं कि **अरे**=अयि प्रश्नकर्तः! तू यह समझ कि **अजा**=प्रकृति **पिशङ्गिला**=सब रूपों को अपने में निगीर्ण कर लेती है। जैसे घड़ा टूटता है, पिसते-पिसते मिट्टी बन जाता है। घड़े के रूप को मिट्टी अपने में निगीर्ण कर लेती है। इसी प्रकार वे सब सूर्य, चन्द्र, तारों के आकार प्रलय के समय प्रकृति में छिप जाएँगे। मनु के शब्दों में यह सारा संसार प्रकृति में जा सोएगा (प्रसुप्तमिव सर्वतः।) ४. दूसरे प्रश्न का उत्तर यह है कि जब जीव का यह भौतिक शरीर प्रकृति में चला जाएगा उस समय इस जीव को प्रभु अपने में स्थापित कर लेंगे। वे **श्वावित्**=(मातरिश्वा=श्वा, जैसे सत्यभामा=भामा) जीव को सदा प्राप्त (विद्=लाभ) होनेवाले, जीव के सतत सखा प्रभु (सयुजा सखाया) **कुरुपिशङ्गिला**=इस क्रियाशील चेतन जीव के रूप को अपने में धारण कर लेंगे, जैसे रात्रि के समय बच्चा माता की गोद में आराम से सोया हुआ होता है, उसी प्रकार प्रलयकाल में प्रभु हम जीवों को अपनी गोद में सुलानेवाले होंगे। कुछ देर के लिए हमारे सारे कष्ट समाप्त हो जाएँगे। हम सुषुप्ति में होंगे और ब्रह्मरूप-से होंगे। '**समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता**' (सांख्य)। ५. तृतीय प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है कि **शश**=प्लुतगतिवाला पुरुष, आलस्यशून्य कर्म करनेवाला पुरुष ही **आस्कन्दम्**=चारों ओर से आक्रमण करनेवाले काम-क्रोध-आदि शत्रुओं के शोषण को **अर्षति**=प्राप्त करता है। क्रियाशीलता ही वासनाओं का विनाश है। ६. चौथे

प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि **अहिः**=(न हन्ति अथवा अह्नोति अह व्याप्तौ) न हिंसा करनेवाला व्यक्ति तथा सदा लोकहित के व्यापक कर्मों में लगे रहनेवाला व्यक्ति ही **पन्थां विसर्पति**=उत्कृष्ट मार्ग पर चलता है, अर्थात् संसार में मार्गभ्रष्ट वही व्यक्ति है जो (क) हिंसारत है, (ख) व्यापक मनोवृत्ति बनाकर कर्मों में नहीं लगा हुआ, (ग) स्वार्थी है।

भावार्थ—प्रलयकाल के समय ये सब कार्यपदार्थ कारणप्रकृति में चले जाएँगे, जीव प्रभु की गोद में सो जाएँगे। 'फिर जन्म न हो' इसके लिए चाहिए कि क्रियाशीलता से कामादि शत्रुओं का हम शोषण कर दें और अहिंसक बनकर सदा व्यापक कर्मों में लगे रहें, स्वार्थ से सदा ऊपर उठे रहें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**प्रष्टा**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

यज्ञ-मीमांसा

कत्यस्य विष्ठाः कत्यक्षराणि कति होमासः कतिधा समिद्धः।
यज्ञस्य त्वा विदथा पृच्छमत्र कति होतारऽऋतुशो यजन्ति ॥५७॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**समिधा**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

षडस्य विष्ठाः शतमक्षराण्यशीतिर्होमाः समिधो ह तिस्रः।
यज्ञस्य ते विदथा प्र ब्रवीमि सप्त होतारऽऋतुशो यजन्ति ॥५८॥

१. ब्रह्मा उद्गाता से प्रश्न करता है **अस्य**=इस यज्ञ के **कति**=कितने **विष्ठाः**=(विशेषेण तिष्ठति यज्ञो यासु) विशेषरूप से ठहरने के स्थान हैं? **कति अक्षराणि**=कितने इस यज्ञ के अक्षर हैं? **होमासः कति**=कितने होम हैं? **कतिधा समिद्धः**=कितने प्रकार से यह समिद्ध होता है? मैं **यज्ञस्य विदथा**=यज्ञ के ज्ञान के विषयों को **त्वा**=तुझे **अत्र**=यहाँ **पृच्छम्**=पूछता हूँ। **कति होतारः**=कितने होता **ऋतुशः**=ऋतु-ऋतु में, हर ऋतु में, **यजन्ति**=इस यज्ञ को करते हैं? २. उत्तर देते हुए उद्गाता कहते हैं कि (क) **अस्य**=इस यज्ञ के **षट्**=छह **विष्ठाः**=विशेषरूप से स्थित होने के स्थान हैं। 'विष्ठा' शब्द यहाँ अन्न का वाचक हो जाता है, क्योंकि यज्ञ अन्नों में ही स्थित है। यज्ञ से होनेवाले पर्जन्य से अन्न की उत्पत्ति होती है और इस 'पृथिवी-जल-वायु-अग्नि-सूर्य' आदि देवों से दिये हुए अन्न को इन देवों को बिना दिये खानेवाला स्तेन (चोर=one who steels) कहलाता है, अतः अन्न के खाने से पहले इसे देवों के लिए देना होता है। देव 'अग्निमुख' हैं, अतः अग्नि में अन्न की आहुति दी जाती है, यही यज्ञ है। यह अन्न षट् रसोंवाला है, अतः अन्नों की भी संख्या छह कह दी गई है—ये छह अन्न ही यज्ञ के विष्ठा हैं, विशिष्ट आधार हैं। (ख) कितने अक्षर हैं? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं **शतम् अक्षराणि**=सौ इसके अक्षर हैं। सौ अक्षर कहने का अभिप्राय यह है कि यज्ञों में जिन मन्त्रों का उच्चारण होता है उनके १४ छन्द गायत्री से लेकर अतिधृतिपर्यन्त हैं। गायत्री की अक्षर संख्या २४ है और ४-४ बढ़कर अन्तिम अतिधृति की अक्षर संख्या छियत्तर है। अब इनमें क्रमोत्क्रम गति से (पहला+अन्तिम, द्वितीय+अन्तिम से पहला इस प्रकार) दो-दो छन्दों के अक्षर १००, १०० ही बनते हैं। गायत्री २४+७६ अतिधृति=१००) उष्णिक् २८+७२ धृति=१००, अनुष्टुप् ३२+६८ अत्यष्टि=१००, बृहती ३६+६४ अष्टि=१००, पंक्ति ४०+६० अतिशक्वरी=१००, त्रिष्टुप् ४४+५६ शक्वरी=१००, जगती ४८+५२ अतिजगती=१००। इस प्रकार यज्ञ इन्हीं १०० अक्षरोंवाला है। (ग) 'कति होमासः' का उत्तर देते हुए कहते हैं कि **अशीतिः होमाः**=अस्सी होम हैं।

शतपथब्राह्मण ८।५।२।१७ में 'अन्नमशीतिः' इस वाक्य से स्पष्ट किया गया है कि अन्न ही होम है। होम में अन्न का ही प्रयोग होता है, मांस का नहीं। अन्न सम्भवतः ८० भागों में बटे हैं, अतः उन अन्नों से होनेवाले होम भी ८० हो गये हैं। शतपथब्राह्मण (९।१।१।२१) में 'अन्नम् अशीतयः' ऐसा कहा ही है, अतः ८० प्रकार के अन्न ८० प्रकार के होमों का कारण बनते हैं। (घ) **ह**=निश्चय से इस यज्ञ की **समिधः तिस्त्रः**=तीन समिधाएँ हैं। अग्निहोत्र में अब भी तीन समिधाएँ के डालने की परिपाटी चलती है। इसका आध्यात्मिक संकेत यह होता है कि आचार्य विद्यार्थी की ज्ञानाग्नि में 'पृथिवी, द्यौ व अन्तरिक्ष' के पदार्थों के ज्ञान की समिधाएँ डालने के लिए यत्नशील हो। हम अपने जीवनयज्ञ में 'सत्य, यश व श्री' को धारण करने का प्रयत्न करें। ३. इस प्रकार कहकर उद्गाता कहता है कि **यज्ञस्य**=यज्ञ के **विदथा**=ज्ञान के हेतु से **ते प्रब्रवीमि**=आपके प्रति मैं यह सब कहता हूँ और **सप्त होतारः**=सात होता शिरःस्थ सात प्राण (कर्णौ नासिके चक्षणी मुखम्) अथवा पाँच ज्ञानेद्रियाँ मन तथा बुद्धि—ये सात मिलकर **ऋतुशः**=उस-उस ऋतु के अनुसार **यजन्ति**=यज्ञ करते हैं। जिस-जिस ऋतु में जैसी-जैसी सामग्री अभीष्ट होती है, उसका विचार करके यज्ञ को अधिक-से-अधिक लाभकारी बनाने का यत्न करते हैं।

भावार्थ—यज्ञ के आधार अन्न हैं। वे अस्सी प्रकार के हैं, अतः होम भी अस्सी हैं। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ मन और बुद्धि सब मिलकर यज्ञों को ऋतु के अनुसार करनेवाले हों।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**प्रष्टा**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

सृष्टि की अज्ञेयता

कोऽअस्य वेद भुवनस्य नाभिं को द्यावापृथिवीऽअन्तरिक्षम्।
कः सूर्यस्य वेद बृहतो जनित्रं को वेद चन्द्रमसं यतोजाः ॥५९॥

१. उद्गाता ब्रह्मा से पूछता है कि (क) **कः**=कौन **अस्य भुवनस्य**=इस ब्रह्माण्ड के **नाभिम्**=(नह्यते यत्र) बन्धनस्थान को **वेद**=जानता है? नाभि में जैसे सारी नाड़ियों का बन्धन है, इसी प्रकार इस ब्रह्माण्ड का बन्धन किसमें है? किसमें बँधा होने के कारण यह गिर नहीं जाता? कौन इसे धारण किये हुए है? (ख) **कः**=कौन इस ब्रह्माण्ड की **द्यावा-पृथिवी-अन्तरिक्षम्**=द्युलोक, पृथिवीलोक व अन्तरिक्षलोकरूप त्रिलोकी को जानता है? इनके स्वरूप को कौन पूरा-पूरा समझता है? (ग) **कः**=कौन **बृहतः सूर्यस्य**=महान् सूर्य के **जनित्रम्**=जन्म को **वेद**=जानता है? सूर्य किस प्रकार पैदा हुआ इस बात का उत्तर कौन दे सकता है? (घ) और **कः**=कौन **वेद**=जानता है, इस **चन्द्रमसम्**=चन्द्रमा को कि **यतोजाः**=जिससे यह उत्पन्न हुआ है?

इस प्रकार इस रहस्यमय सृष्टि की उत्पत्ति व धारण के विषय में प्रश्न को सुनकर ब्रह्मा उत्तर देते हैं—

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**समाधाता**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

वेदाहमस्य भुवनस्य नाभिं वेद द्यावापृथिवीऽअन्तरिक्षम्।
वेद सूर्यस्य बृहतो जनित्रमथो वेद चन्द्रमसं यतोजाः॥६०॥

१. 'अह व्याप्तौ' धातु से बनकर 'अहम्' शब्द उस प्रभु का वाचक है जोकि 'अह्नोति सर्वं जगद् व्याप्नोति'=सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त करने के कारण सर्वव्यापक हैं। वे सर्वव्यापक प्रभु ही **अहम्**=जोकि 'अह' शब्द वाच्य हैं **अस्य भुवनस्य नाभिं वेद**=इस

ब्रह्माण्ड के बन्धनस्थान को जानते हैं। 'इस ब्रह्माण्ड का धारण कैसे हो रहा है? यह किसमें बँधा हुआ गिरकर नष्ट नहीं हो जाता?' यह सब बात उस सर्वव्यापक प्रभु के ही ज्ञान का विषय है। २. वे सर्वव्यापक प्रभु ही **द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम्**=द्युलोक, पृथिवीलोक व अन्तरिक्षलोक को **वेद**=जानते हैं। इन लोकों का ठीक-ठीक स्वरूप सामान्य मनुष्य के ज्ञान का विषय कैसे हो सकता है? **'अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेन**=इस सृष्टि के उत्पन्न होने के बाद ही देव भी हुए' अतः देव भी इसे पूरा-पूरा नहीं जानते। मनुष्यों के जान सकने का तो प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। ३. वे सर्वव्यापक प्रभु ही **बृहतः**=इस महान् **सूर्यस्य**=सूर्य के **जनित्रम्**=जन्म को **वेद**=जानता है। सूर्य को वे प्रभु ही जन्म देनेवाले हैं, अतः वे ही सूर्य के जन्म आदि को जानते हैं। ४. **अथो**=और वे प्रभु ही **चन्द्रमसम्** =चन्द्रमा को **यतोजाः**=जैसे यह उत्पन्न हुआ, वैसे जानते हैं। मनुष्य के ज्ञान से ये बातें परे हैं। वस्तुतः इस संसार के जन्म-धारण व प्रलय आदि को ठीक-ठीक जान सकना मानव के लिए सम्भव ही नहीं। वेद कहता है **'को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः'**=कौन-साक्षात् जानता है और कौन इसका प्रतिपादन कर सकता है कि यह विविध सृष्टि कहाँ से आ गई? किस प्रकार इसका जन्म हो गया? यह सब 'अतर्क्य व अविज्ञेय'-सा ही है। इसे केवल **अहम्**=सर्वव्यापक प्रभु ही जानते हैं।

भावार्थ—इस भुवन का बन्धन कहाँ है? द्युलोक, पृथिवीलोक व अन्तरिक्षलोक क्या हैं, महान् सूर्य का जन्म कैसे हुआ तथा चन्द्रमा कहाँ से हुआ है? ये सब बातें एकमात्र सर्वव्यापक प्रभु के ही ज्ञान का विषय हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**प्रष्टा**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

चार आवश्यक प्रश्न

पृच्छामि॑ त्वा प॒रमन्तं॑ पृथि॒व्याः पृ॒च्छामि॒ यत्र॒ भुव॑नस्य॒ नाभिः॑।
पृच्छामि॑ त्वा वृष्णो॒ऽअश्व॑स्य॒ रेतः॑ पृच्छामि॑ वा॒चः प॑र॒मं व्यो॑म॥६१॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**समाधाता**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

इ॒यं वेदिः॒ परो॒ऽअन्तः॑ पृथि॒व्या ऽअ॒यं य॒ज्ञो भुव॑नस्य॒ नाभिः॑।
अ॒यꣳसोमो॒ वृष्णो॒ऽअश्व॑स्य॒ रेतो॑ ब्र॒ह्मायं वा॒चः प॑र॒मं व्यो॑म॥६२॥

१. अब यजमान अध्वर्यु से पूछता है कि (क) **त्वा**=आपसे मैं **पृथिव्याः**=पृथिवी के **परमन्तम्**=परले सिरे को **पृच्छामि**=पूछता हूँ। यहाँ—यज्ञवेदि पर जहाँ हम बैठे हैं यह पृथिवी का एक सिरा हो तो इसका परला सिरा कहाँ होगा? (ख) उत्तर देते हुए अध्वर्यु कहते हैं कि **इयं वेदिः**=यह वेदि ही तो **पृथिव्याः**=पृथिवी का **परःअन्तः**=परला अन्त है, क्योंकि वृत्ताकार होने से पृथिवी जहाँ से प्रारम्भ होती है, वहीं आकर समाप्त होगी। वृत्ताकार वस्तु की परिधि का जहाँ से प्रारम्भ मानें वहीं उसका अन्त भी है। पृथिवी की वृत्ताकारिता को इससे अधिक सुन्दर प्रकार से प्रतिपादित कैसे किया जा सकता है? २. दूसरा प्रश्न है **पृच्छामि**=मैं पूछता हूँ उस वस्तु को **यत्र**=जिसमें **भुवनस्य**=इस भुवन का **नाभिः**=बन्धन है, आधार है, अर्थात् किस वस्तु के न होने पर यह लोक नष्ट हो जाएगा? उत्तर देते हुए कहते हैं **अयं यज्ञः**=यह यज्ञ-सर्वव्यापक प्रभु (यज्ञो वै विष्णुः) **भुवनस्य नाभिः**=इस भुवन के आधार हैं। प्रभु के सर्वस्व त्याग ने ही ब्रह्माण्ड को धारण किया हुआ है। ३. तीसरा प्रश्न पूछता हुआ वह कहता है कि मैं **वृष्णः**=शक्तिशाली **अश्वस्य**=कर्मव्याप्त पुरुष की **रेतः**=शक्ति को **पृच्छामि**=

जानना चाहता हूँ। इस पुरुष की शक्ति का रहस्य किस वस्तु में है? उत्तर देते हुए अध्वर्यु कहते हैं कि **अयं सोमः**=सोम—शरीर में रस-रुधिरादिक्रम से उत्पन्न होनेवाला वीर्य ही **वृष्णः**=शक्तिशाली लोगों पर सुखों की वर्षा करनेवाले **अश्वस्य**=कर्मव्याप्त पुरुष की **रेतः**=शक्ति है। सोम की रक्षा के अनुपात में ही वह सशक्त बनता है। ४. चौथा प्रश्न है कि मैं **वाचः**=वाणी के **परमं व्योम**=उत्कृष्ट स्थान को **पृच्छामि**=पूछता हूँ। उत्तर देता हुआ अध्वर्यु कहता है **अयं ब्रह्मा**=यह सम्पूर्ण सृष्टि का बनानेवाला प्रजापति ही **वाचः**=वाणी का **परमं व्योम**=सर्वोत्कृष्ट स्थान हैं, लोक में भी ब्रह्मा वह कहलाता है जो सम्पूर्ण वेद का ज्ञान रखता है। वह सम्पूर्ण वेद का स्थान=आधार तो बन ही गया। वैसे, सारे वेद उस प्रभु का ही वर्णन करते हैं, **'सर्वे वेदाः यत् पदमामनन्ति'** तथा **'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्'** इन मन्त्रांशों में यही बात कही गई है। उस **ब्रह्म**=सृष्टिनिर्माता प्रभु का ही वेदमन्त्रों में प्रतिपादन है, अतः ब्रह्मा ही वाणी के **परमं व्योम**=सर्वोत्कृष्ट स्थान है। मुख्य प्रतिपाद्य विषय हैं।

भावार्थ—'वेदि' ही पृथिवी का पर-अन्त है।' यज्ञ भुवन का आधार है। सोम शक्ति देने के साथ ज्ञानाग्नि का भी वर्धन करता है और हमें वेदवाणी को समझने की योग्यता प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**समाधाता**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

सुभू-स्वयंभू-प्रथम

सुभूः स्वयम्भूः प्रथमोऽन्तर्महत्यर्णवे। दधे ह गर्भमृत्वियं यतो जातः प्रजापतिः॥६३॥

१. गतमन्त्र की समाप्ति और वस्तुतः ब्रह्मादि के 'ब्रह्मोद्य'=ज्ञानचर्चा की समाप्ति इस बात पर हुई थी कि सारी वेदवाणी का मुख्य प्रतिपाद्य विषय 'ब्रह्म' है। उसी सृष्टि के उत्पत्तिकर्ता (ब्रह्म) का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि वह **'सुभूः'**=(सुष्ठु भूः उत्पत्तिर्यस्मात्—उ०) इस विश्व का उत्तम उत्पादन करनेवाला है, परन्तु उसे कोई बनानेवाला नहीं। वह तो **स्वयम्भूः**=स्वयं होनेवाला है। वह सदा से विद्यमान है, खुद-आ है। २. **प्रथमः**=सबका आदि है। 'प्रथ विस्तारे'=अत्यन्त विस्तृत, सर्वव्यापक है। वह **महति अर्णवे अन्तः**=इस महान् प्रकृति के अणुसमुद्र के अन्दर विद्यमान है। वस्तुतः उसी की सत्ता के कारण यह महान् अणुसमुद्र भी सत्तावाला प्रतीत होता है, वही इस समुद्र को प्रथम गति देनेवाला है। ३. **ह**=निश्चय से वह स्वयम्भू **ऋत्वियम्**=(प्राप्तकालं) जिसका ठीक समय उपस्थित हुआ है उस **गर्भं दधे**=गर्भ को धारण करता है। काव्यभाषा में इस ब्रह्माण्ड की प्रकृति माता है तो प्रभु पिता हैं। वे प्रभु इस प्रकृति में बीज का धारण करते हैं और ये सब मूर्त्तियाँ (मूर्त्त वस्तुएँ) उत्पन्न हो जाती हैं। गीता में कहते हैं—**'मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्। सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत'**। ४. **यतः**=प्रभु के प्रकृति में जिस गर्भ धारण करने पर **प्रजापतिः जातः**=प्रजापति ने संसार को जन्म दे दिया। **माता प्रजाता**=माता ने बच्चे को जन्म दिया, जिससे माता पैदा हो गई। इसी प्रकार 'प्रजापतिः जातः'=प्रजापति ने संसार को जन्म दे दिया, प्रजापति बन गया।

भावार्थ—वे प्रभु 'सुभू, स्वयम्भू व प्रथम हैं। अणुसमुद्र के अन्दर भी विद्यमान हैं। वे इसमें गर्भ का धारण करते हैं और संसार के सब पदार्थ उत्पन्न हो जाते हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**विराडुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

सोम की महिमा से प्रभु-मेल

होता यक्षत्प्रजापतिःसोमस्य महिम्नः। जुषतां पिबतु सोमःहोतर्यज॥६४॥

१. गतमन्त्र के 'सुभू-स्वयंभू-प्रथम' **प्रजापतिम्**=सब प्रजाओं के रक्षक परमात्मा को **होता**=आहुतियों का देनेवाला त्यागशील पुरुष ही **यक्षत्**=अपने साथ सङ्गत करता है। त्याग न करनेवाला पुरुष प्रकृति का अधिकाधिक संग्रह करता हुआ उसी में उलझा रहता है। प्रकृति का त्याग करके ही हम परमात्मा को पा सकते हैं। २. यह होता **सोमस्य महिम्नः**=सोम की महिमा से **जुषताम्**=उस प्रभु का प्रीतिपूर्वक सेवन करे। भोगों से ऊपर उठकर सोम की रक्षा करनेवाला पुरुष ही परमात्मा को पानेवाला बनता है। सोम की रक्षा से, इस सोम के ज्ञानाग्नि का ईंधन बनने पर बुद्धि सूक्ष्म होती है और उस प्रभु का आभास लेनें के योग्य होती है, इसीलिए सोम की इस महिमा को समझकर मनुष्य **सोमं पिबतु**=सोम का पान करे। सोम को शरीर में ही सुरक्षित करे। इस सोम की रक्षा से ही मनुष्य भोगों से ऊपर उठकर त्याग की वृत्तिवाला बन पाता है। भोगवृत्ति से ऊपर उठकर सोमरक्षा होती है, सोमरक्षा से भोगवृत्ति का ह्रास होता है। इस प्रकार ये परस्पर उपकारी होते हैं। ३. इन दोनों का आश्रय प्रभु-स्मरण है, अतः मन्त्र की समाप्ति पर कहते हैं कि हे **होतः**=त्यागशील पुरुष! तू **यज**=उस प्रभु का पूजन कर, उसे अपने साथ सङ्गत कर, उसके प्रति तू अपना अर्पण करनेवाला हो।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए यही मार्ग है कि मनुष्य (क) त्याग की वृत्तिवाला बने तथा (ख) सोम का शरीर में ही रक्षण करनेवाला हो।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

सर्वत्र समप्रभु

प्रजा॑पते॒ न त्वदे॒तान्य॒न्यो विश्वा॑ रू॒पाणि॒ परि॒ ता ब॑भूव।
यत्का॑मास्ते जुहु॒मस्तन्नो॑ऽअस्तु व॒यꣳस्या॑म॒ पत॑यो रयी॒णाम्॥६५॥

१. सोम की रक्षा से प्रभु-सम्पर्क करनेवाला आराधना करता है कि हे **प्रजापते**=सब प्रजाओं के रक्षक प्रभो! **त्वत् अन्यः**=आपसे भिन्न कोई और **ता विश्वा रूपाणि**=उन सम्पूर्ण प्राणियों को (रूपाणि पशवः) **न परिबभूव**=नहीं व्याप्त कर रहा। आप ही सबके अन्दर व्याप्त हो रहे हैं। आप ही सबकी रक्षा कर रहे हैं। 'विद्याविनय सम्पन्न ब्राह्मण में, गौ में, हाथी में, कुत्ते में व श्वपाक में, सबमें आप ही समाये हुए हैं। समरूप से आपका ही सबमें दर्शन करनेवाला किसी से घृणा कैसे कर सकता है? २. हे प्रभो! **यत्कामाः**=जिस कामनावाले हम **ते जुहुमः**=आपकी प्रार्थना करते हैं **तत् नः अस्तु**=हमारी वह कामना पूर्ण हो। ३. सर्वप्रथम बात यह है कि **वयम्**=हम कर्मतन्तु का सन्तान करनेवाले **रयीणां पतयः स्याम**=धनों के स्वामी हों। इन धनों के कभी दास न हो जाएँ। धनों के दास बनने पर मनुष्य इनको टेढ़े-मेढ़े साधनों से जुटाने का प्रयास करता है और संसार विकृत होने लगता है, अतः हम यही चाहते हैं कि धन हमारा स्वामी न बन जाए। यह हमपर आरुढ़ न हो जाए। हम इसके वाहन उल्लू बनकर सब सत्कर्म को समाप्त न कर बैठें (उल् लू)।

भावार्थ—प्रभु ही सबमें विद्यमान हैं। हे प्रभो! समवृत्ति बनकर हम धन के कभी दास न बन जाएँ। इसके दास बनकर ही हम हीनमार्ग पर जाते हैं और मांसादि भोजन में प्रवृत्त हो जाते हैं।

इति त्रयोविंशोऽध्यायः॥

अथ चतुर्विंशोऽध्यायः

—:o:—

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—भुरिक्संकृतिः। स्वरः—गान्धारः।

अश्वस्तूपरो गोमृगस्ते प्राजापत्याः कृष्णग्रीवऽआग्नेयो रराटे पुरस्तात् सारस्वती मेष्यधस्ताद्धन्वोराश्विनावधोरामौ बाह्वोः सौमापौष्णः श्यामो नाभ्याꣳसौर्ययामौ श्वेतश्च कृष्णश्च पार्श्वयोस्त्वाष्ट्रौ लोमशसक्थौ सक्थ्योर्वायव्यः श्वेतः पुच्छऽइन्द्राय स्वपस्याय वेहद्वैष्णवो वामनः॥१॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—सोमादयः। छन्दः—निचृत्संकृतिः। स्वरः—गान्धारः।

रोहितो धूम्ररोहितः कर्कन्धुरोहितस्ते सौम्या बभ्रुररुणबभ्रुः शुकबभ्रुस्ते वारुणाः शितिरन्ध्रोऽन्यतः शितिरन्ध्रः समन्तशितिरन्ध्रस्ते सावित्राः शितिबाहुरन्यतःशितिबाहुः समन्तशितिबाहुस्ते बार्हस्पत्याः पृषती क्षुद्रपृषती स्थूलपृषती ता मैत्रावरुण्यः॥२॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—अश्व्यादयः। छन्दः—निचृदतिजगती। स्वरः—निषादः।

शुद्धवालः सर्वशुद्धवालो मणिवालस्तऽआश्विनाः श्येतः श्येताक्षोऽरुणस्ते रुद्राय पशुपतये कर्णा यामाऽअवलिप्ता रौद्रा नभोरूपाः पार्जन्याः॥३॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—मारुतादयः। छन्दः—विराडतिधृतिः। स्वरः—षड्जः।

पृश्निस्तिरश्चीनपृश्निरूर्ध्वपृश्निस्ते मारुताः फल्गूर्लोहितोर्णी पलक्षी ताः सारस्वत्यः प्लीहाकर्णः शुण्ठाकर्णोऽध्यालोहकर्णस्ते त्वाष्ट्राः कृष्णग्रीवः शितिकक्षोऽञ्जिसक्थस्तऽऐन्द्राग्नाः कृष्णाञ्जिरल्पाञ्जिर्महाञ्जिस्तऽउषस्याः॥४॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—निचृद्बृहती। स्वरः—मध्यमः।

शिल्पा वैश्वदेव्यो रोहिण्यस्त्र्यवयो वाचेऽविज्ञाताऽअदित्यै सरूपा धात्रे वत्सतर्यो देवानां पत्नीभ्यः॥५॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—अग्न्यादयः। छन्दः—विराडुष्णिक्। स्वरः—ऋषभः।

कृष्णग्रीवाऽआग्नेयाः शितिभ्रवो वसूनाꣳरोहिता रुद्राणाꣳश्वेताऽअवरोकिणऽआदित्यानां नभोरूपाः पार्जन्याः॥६॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—इन्द्रादयः। छन्दः—अतिजगती। स्वरः—निषादः।

उन्नतऽऋषभो वामनस्तऽऐन्द्रावैष्णवाऽउन्नतः शितिबाहुः शितिपृष्ठस्तऽऐन्द्राबार्हस्पत्याः शुकरूपा वाजिनाः कल्माषाऽआग्निमारुताः श्यामाः पौष्णाः॥७॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—इन्द्राग्न्यादयः। छन्दः—विराड्बृहती। स्वरः—मध्यमः।

एताऽऐन्द्राग्ना द्विरूपाऽअग्नीषोमीया वामनाऽअनड्वाहऽआग्नावैष्णवा वशा मैत्रावरुण्योऽन्यतऽएन्यो मैत्र्यः॥८॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—अग्न्यादयः। छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

कृष्णग्रीवाऽआग्नेया बभ्रवः सौम्याः श्वेता वायव्याऽअविज्ञाताऽअदित्यै सरूपा धात्रे वत्सतर्यो देवानां पत्नीभ्यः॥९॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—अन्तरिक्षादयः। छन्दः—विराड्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

कृष्णा भौमा धूम्राऽआन्तरिक्षा बृहन्तो दिव्याः शबला वैद्युताः सिध्मास्तारकाः॥१०॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—वसन्तादयः। छन्दः—विराड्बृहती। स्वरः—मध्यमः।

धूम्रान् वसन्तायालभते श्वेतान् ग्रीष्माय कृष्णान् वर्षाभ्योऽरुणाञ्छरदे पृषतो हेमन्ताय पिशङ्गाञ्छिशिराय॥११॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—अग्न्यादयः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

त्र्यवयो गायत्र्यै पञ्चावयस्त्रिष्टुभे दित्यवाहो
जगत्यै त्रिवत्साऽअनुष्टुभे तुर्यवाहऽउष्णिहे॥१२॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—विराजादयः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

पृष्ठवाहो विराजऽउक्षाणो बृहत्याऽऋषभाः
ककुभेऽनड्वाहः पङ्क्त्यै धेनवोऽतिछन्दसे॥१३॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—अग्न्यादयः। छन्दः—भुरिगतिजगती। स्वरः—निषादः।

कृष्णग्रीवाऽआग्नेया बभ्रवः सौम्याऽउपध्वस्ताः सावित्रा वत्सतर्यः सारस्वत्यः श्यामाः पौष्णाः पृश्नयो मारुता बहुरूपा वैश्वदेवा वशा द्यावापृथिवीयाः॥१४॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—इन्द्रादयः। छन्दः—विराडुष्णिक्। स्वरः—ऋषभः।

उक्ताः सञ्चराऽएताऽऐन्द्राग्नाः कृष्णा वारुणाः पृश्नयो मारुताः कायास्तूपराः॥१५॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—अग्न्यादयः। छन्दः—शक्वरी। स्वरः—धैवतः।

अग्नयेऽनीकवते प्रथमजानालभते मरुद्भ्यः सान्तपनेभ्यः सवात्यान् मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्यो बष्किहान् मरुद्भ्यः क्रीडिभ्यः सꣳसृष्टान् मरुद्भ्यः स्वतवद्भ्योऽनुसृष्टान्॥१६॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—इन्द्राग्न्यादयः। छन्दः—भुरिग्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

उक्ताः सञ्चराऽएताऽऐन्द्राग्नाः प्राशृङ्गा माहेन्द्रा बहुरूपा वैश्वकर्मणाः॥१७॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—पितरः। छन्दः—भुरिगतिजगती। स्वरः—निषादः।

धूम्रा बभ्रुनीकाशाः पितॄणाꣳसोमवतां बभ्रवो धूम्रनीकाशाः पितॄणां बर्हिषदां कृष्णा बभ्रुनीकाशाः पितॄणामग्निष्वात्तानां कृष्णाः पृषन्तस्त्रैयम्बकाः॥१८॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—वायुः। छन्दः—त्रिपाद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

उक्ताः सञ्चराऽएताः शुनासीरीयाः श्वेता वायव्याः श्वेताः सौर्याः॥१९॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—वसन्तादयः। छन्दः—विराड्जगती। स्वरः—निषादः।

वसन्ताय कपिञ्जलानालभते ग्रीष्माय कलविङ्कान् वर्षाभ्यस्तित्तिरीञ्छरदे वर्त्तिका हेमन्ताय ककराञ्छिशिराय विककरान्॥२०॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—वरुणः। छन्दः—बृहती। स्वरः—मध्यमः।

समुद्राय शिशुमारानालभते पर्जन्याय मण्डूकानद्भ्यो
मत्स्यान् मित्राय कुलीपयान् वरुणाय नाक्रान्॥२१॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—सोमादयः। छन्दः—विराड्बृहती। स्वरः—मध्यमः।

सोमाय हꣳसानालभते वायवे बलाकाऽइन्द्राग्निभ्यां
क्रुञ्चान् मित्राय मद्गून् वरुणाय चक्रवाकान्॥२२॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—अग्न्यादयः। छन्दः—पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

अग्नये कुटरूनालभते वनस्पतिभ्यऽउलूकानग्नीषोमाभ्यां
चाषानश्विभ्यां मयूरान् मित्रावरुणाभ्यां कपोतान्॥२३॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—सोमादयः। छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः। स्वरः—निषादः।

सोमाय लबानालभते त्वष्ट्रे कौलीकान् गोषादीर्देवानां
पत्नीभ्यः कुलीका देवजामिभ्योऽग्नये गृहपतये पारुष्णान्॥२४॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—कालावयवाः। छन्दः—विराट्पङ्क्तिः। स्वरः—निषादः।

अह्ने पारावतानालभते रात्र्यै सीचापूरहोरात्रयोः सन्धिभ्यो
जतूर्मासेभ्यो दात्यौहान्त्संवत्सराय महतः सुपर्णान्॥२५॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—भूम्यादयः। छन्दः—भुरिगनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

भूम्याऽआखूनालभतेऽन्तरिक्षाय पाङ्क्त्रान् दिवे
कशान् दिग्भ्यो नकुलान् बभ्रुकानवान्तरदिशाभ्यः॥२६॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—वस्वादयः। छन्दः—निचृद्बृहती। स्वरः—मध्यमः।

वसुभ्यऽऋश्यानालभते रुद्रेभ्यो रुरूनादित्येभ्यो
न्यङ्कून् विश्वेभ्यो देवेभ्यः पृषतान्त्साध्येभ्यः कुलुङ्गान्॥२७॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—ईशानादयः। छन्दः—बृहती। स्वरः—मध्यमः।

ईशानाय परस्वतऽआलभते मित्राय गौरान्
वरुणाय महिषान् बृहस्पतये गवयाँस्त्वष्ट्रऽउष्ट्रान्॥२८॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—प्राजापत्यादयः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

प्रजापतये पुरुषान् हस्तिनऽआलभते वाचे
प्लुषींश्चक्षुषे मशकाञ्छ्रोत्राय भृङ्गाः॥२९॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—प्राजापत्यादयः। छन्दः—निचृदतिधृतिः। स्वरः—षड्जः।

प्रजापतये च वायवे च गोमृगो वरुणायारण्यो मेषो यमाय कृष्णो मनुष्यराजाय मर्कटः शार्दूलाय रोहिदृषभाय गवयी क्षिप्रश्येनाय वर्त्तिका नीलङ्गोः क्रिमिः समुद्राय शिशुमारो हिमवते हस्ती॥३०॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—प्राजापत्यादयः। छन्दः—स्वराट्त्रिष्टुप्ः। स्वरः—धैवतः।

मयुः प्राजापत्यऽउलो हलिक्ष्णो वृषदꣳशस्ते धात्रे दिशां कङ्को धुङ्क्षाग्नेयी कलविङ्को लोहिताहिः पुष्करसादस्ते त्वाष्ट्रा वाचे क्रुञ्चः॥३१॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—सोमादयः। छन्दः—भुरिग्जगती। स्वरः—निषादः।

सोमाय कुलुङ्गऽआरण्योऽजो नकुलः शका ते पौष्णाः क्रोष्टा मायोरिन्द्रस्य गौरमृगः पिद्वो न्यङ्कुः कक्कटस्तेऽनुमत्यै प्रतिश्रुत्कायै चक्रवाकः॥३२॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—मित्रादयः। छन्दः—भुरिग्जगती। स्वरः—निषादः।

सौरी बलाका शार्गः सृजयः शयाण्डकस्ते मैत्राः सरस्वत्यै शारिः पुरुषवाक् श्वाविद्भौमी शार्दूलो वृकः पृदाकुस्ते मन्यवे सरस्वते शुकः पुरुषवाक्॥३३॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—अग्न्यादयः। छन्दः—स्वराट्शक्करी। स्वरः—धैवतः।

सुपर्णः पार्जन्यऽआतिर्वाहसो दर्विदा ते वायवे बृहस्पतये वाचस्पतये पैङ्गराजोऽलजऽआन्तरिक्षः प्लवो मद्गुर्मत्स्यस्ते नदीपतये द्यावापृथिवीयः कूर्मः॥३४॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—चन्द्रादयः। छन्दः—निचृच्छक्करी। स्वरः—धैवतः।

पुरुषमृगश्चन्द्रमसो गोधा कालका दार्वाघाटस्ते वनस्पतीनां कृकवाकुः सावित्रो हꣳसो वातस्य नाक्रो मकरः कुलीपयस्तेऽकूपारस्य ह्रियै शल्यकः॥३५॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—अश्विन्यादयः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः।

एण्यह्नो मण्डूको मूषिका तित्तिरिस्ते सर्पाणां लोपाशऽआश्विनः कृष्णो रात्र्याऽऋक्षो जतूः सुषिलीका तऽइतरजनानां जहका वैष्णवी॥३६॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—अर्धमासादयः। छन्दः—भुरिग्जगती। स्वरः—निषादः।

अन्यवापोऽर्द्धमासानामृश्यो मयूरः सुपर्णास्ते गन्धर्वाणामपामुद्रो मासाङ्कश्यपो रोहित्कुण्डृणाची गोलत्तिका तेऽप्सरसां मृत्यवेऽसितः॥३७॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—वर्षादयः। छन्दः—स्वराड्जगती। स्वरः—निषादः।

वर्षाहूर्ऋतूनामाखुः कशो मान्थालस्ते पितृणां बलायाजगरो वसूनां कपिञ्जलः कपोतऽउलूकः शशस्ते निर्ऋत्यै वरुणायारण्यो मेषः॥३८॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—आदित्यादयः। छन्दः—स्वराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

श्वित्रऽआदित्यानामुष्ट्रो घृणीवान्वाध्रीनसस्ते मत्याऽअरण्याय सृमरो रुरू रौद्रः क्वयिः कुटरुर्दात्यौहस्ते वाजिनां कामाय पिकः॥३९॥

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—विश्वेदेवादयः। छन्दः—शक्वरी। स्वरः—धैवतः।

खड्गो वैश्वदेवः श्वा कृष्णः कर्णो गर्दभस्तरक्षुस्ते रक्षसामिन्द्राय सूकरः सिꣳहो मारुतः कृकलासः पिप्पका शकुनिस्ते शरव्यायै विश्वेषां देवानां पृषतः॥४०॥[1]

इति चतुर्विंशोऽध्यायः॥

१. इस अध्याय का भाष्य पण्डित हरिशरणजी नहीं कर पाये थे। अगले अध्याय के नवम मन्त्र तक भी उन्होंने भाष्य नहीं किया था, अतः इन मन्त्रों को मूलरूप में ही छापा गया है।

—जगदीश्वरानन्द सरस्वती

अथ पञ्चविंशोऽध्यायः

—:०:—

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सरस्वत्यादयः**। छन्दः—**भुरिक्शक्वरी**[क], **निचृदतिशक्वरी**[र]। स्वरः—**धैवतः**॥

[क]शादं दद्भिरवकां दन्तमूलैर्मृदं बस्वैस्तेगान्दꣳष्ट्राभ्याꣳ सरस्वत्याऽअग्रजिह्वं जिह्वायाऽउत्सादमवक्रन्देन तालु वाजꣳ हनुभ्यामपऽआस्येन वृषणमाण्डाभ्यामादित्याँ श्मश्रुभिः पन्थानं भ्रूभ्यां द्यावापृथिवी वर्त्तोभ्यां विद्युतं कनीनकाभ्याꣳ शुक्लाय स्वाहा कृष्णाय स्वाहा पार्याणि पक्ष्माण्यवार्याऽइक्षवोऽवार्याणि पक्ष्माणि पार्याऽइक्षवः॥१॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**प्राणादयः**। छन्दः—**भुरिगतिशक्वर्यौ**। स्वरः—**धैवतः**।

वातं प्राणेनापानेन नासिकेऽउपयाममधरेणौष्ठेन सदुत्तरेण प्रकाशेनान्तरमनूकाशेन बाह्यं निवेष्यं मूर्ध्ना स्तनयित्नुं निर्बाधेनाशनिं मस्तिष्केण विद्युतं कनीनकाभ्यां कर्णाभ्याꣳ श्रोत्रꣳ श्रोत्राभ्यां कर्णौ तेदनीमधरकण्ठेनापः शुष्ककण्ठेन चित्तं मन्याभिरदितिꣳ शीर्ष्णा निर्ऋतिं निर्जर्जल्पेन शीर्ष्णा संक्रोशैः प्राणान् रेष्माणꣳ स्तुपेन॥२॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**इन्द्रादयः**। छन्दः—**भुरिक्कृतिः**। स्वरः—**निषादः**।

मशकान् केशैरिन्द्रꣳ स्वपसा वहेन बृहस्पतिꣳ शकुनिसादेन कूर्माञ्छफैराक्रमणꣳ स्थूराभ्यामृक्षलाभिः कपिञ्जलाञ्जवं जङ्घाभ्यामध्वानं बाहुभ्यां जाम्बीलेनारण्यमग्निमतिरुग्भ्यां पूषणं दोर्भ्यामश्विनावꣳसाभ्याꣳ रुद्रꣳ रोराभ्याम्॥३॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**अग्न्यादयः**। छन्दः—**स्वराड्धृतिः**। स्वरः—**ऋषभः**।

अग्नेः पक्षतिर्वायोर्निपक्षतिरिन्द्रस्य तृतीया सोमस्य चतुर्थ्यदित्यै पञ्चमीन्द्राण्यै षष्ठी मरुताꣳ सप्तमी बृहस्पतेरष्टम्यर्यम्णो नवमी धातुर्दशमीन्द्रस्यैकादशी वरुणस्य द्वादशी यमस्य त्रयोदशी॥४॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**इन्द्रादयः**। छन्दः—**स्वराड्विकृतिः**। स्वरः—**मध्यमः**।

इन्द्राग्न्योः पक्षतिः सरस्वत्यै निपक्षतिर्मित्रस्य तृतीयापां चतुर्थी निर्ऋत्यै पञ्चम्यग्नीषोमयोः षष्ठी सर्पाणाꣳ सप्तमी विष्णोरष्टमी पूष्णो नवमी त्वष्टुर्दशमीन्द्रस्यैकादशी वरुणस्य द्वादशी यम्यै त्रयोदशी द्यावापृथिव्योर्दक्षिणं पार्श्वं विश्वेषां देवानामुत्तरम्॥५॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**मरुतादयः**। छन्दः—**निचृदतिधृतिः**। स्वरः—**षड्जः**।

मरुताᳫँस्कन्धा विश्वेषां देवानां प्रथमा कीकसा रुद्राणां द्वितीयादित्यानां तृतीया वायोः पुच्छमग्नीषोमयोर्भासदौ क्रुञ्चौ श्रोणिभ्यामिन्द्राबृहस्पतीऽऊरुभ्यां मित्रावरुणा-वल्गाभ्यामाक्रमणᳫँस्थूराभ्यां बलं कुष्ठाभ्याम्॥६॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**पूषादयः**। छन्दः—**निचृदष्टिः**। स्वरः—**मध्यमः**।

पूष्णं वनिष्ठुनान्धाहीन्त्स्थूलगुदया सर्पान् गुदाभिर्विह्रुतऽआन्त्रैरपो वस्तिना वृषण-माण्डाभ्यां वाजिनᳬशेपेन प्रजाᳫँरेतसा चाषान् पित्तेन प्रदरान् पायुना कूश्माञ्छक-पिण्डैः॥७॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**इन्द्रादयः**। छन्दः—**निचृदभिकृतिः**। स्वरः—**ऋषभः**।

इन्द्रस्य क्रोडोऽदित्यै पाजस्यं दिशां जत्रवोऽदित्यै भसज्जीमूतान् हृदयौपशेनान्तरिक्षं पुरीतता नभऽउदर्येण चक्रवाकौ मतस्नाभ्यां दिवं वृक्काभ्यां गिरीन् प्लाशिभिरुपलान् प्लीह्ना वल्मीकान् क्लोमभिर्ग्लौभिर्गुल्मान् हिराभिः स्रवन्तीर्ह्रदान् कुक्षिभ्याᳫँ समुद्रमुदरेण वैश्वानरं भस्मना॥८॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**पूषादयः**। छन्दः—**भुरिगत्यष्टिः**। स्वरः—**धैवतः**।

विधृतिं नाभ्या घृतᳬरसेनापो यूष्णा मरीचीर्विप्रुड्भिर्नीहारमूष्मणा शीनं वसया प्रुष्वाऽअश्रुभिर्ह्रादुनीर्दूषीकाभिरस्ना रक्षाᳫँसि चित्राण्यङ्गैर्नक्षत्राणि रूपेण पृथिवीं त्वचा जुम्बकाय स्वाहा॥९॥

२३वें अध्याय की समाप्ति पर 'विश्वा रूपाणि' का उल्लेख था। इसकी व्याख्या सम्पूर्ण २४वें अध्याय में ६०९ पशुओं के अश्वमेघ यज्ञ में बन्धन करने के वर्णन से हुई है। २५वें अध्याय के प्रारभिक नौ मन्त्रों में राष्ट्र-शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों का वर्णन हुआ है। इस उत्तम राष्ट्र में निवास करते हुए हम प्रभु की उपासना से अपने जीवनों को और भी उत्तम बनाएँ, अतः मन्त्र में प्रभु-उपासना निम्न प्रकार से की गई है—

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**हिरण्यगर्भः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

उपासना

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकऽआसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥१०॥

१. **हिरण्यगर्भः**=' हिरण्यं वै ज्योतिः' सम्पूर्ण ज्योति जिनके गर्भ में हैं, वे प्रभु अथवा आदित्य आदि ज्योतिर्मय पिण्डों को गर्भ में धारण करनेवाले प्रभु **अग्रे**=इस सृष्टि के बनने से पहले ही **समवर्त्तत**=थे। वे प्रभु कभी सृष्ट नहीं हुए, बने नहीं। वे स्वयम्भू हैं, खुदा हैं। २. **जातः**=सदा से प्रादुर्भूत हुए वे प्रभु **भूतस्य**=इस सृष्टि के मौलिक कारणभूत 'पृथिवी, जल, तेज, वायु व आकाश' नामक पञ्च भूतों के तथा प्राणिमात्र के **एकः पतिः**=मुख्य तथा अकेले ही रक्षक **आसीत्**=हैं। इन सबका रक्षण प्रभु पर ही आश्रित है। इस रक्षणरूप कार्य में वे प्रभु किसी अन्य की सहायता की अपेक्षा नहीं करते। ३. **सः**=वे प्रभु ही **पृथिवीम्**=इस विस्तृत अन्तरिक्षलोक को **द्याम्**=द्युलोक को **उत**=और **इमम्**=इस पृथिवी को **दाधार**=धारण कर रहे हैं। इस लोकत्रयी को धारण करने के कारण ही वे 'त्रिविक्रम'

कहलाते हैं। ४. सबका धारण करने के कारण **कस्मै**=उस आनन्दस्वरूप **देवाय**=सब सुखों को देनेवाले के लिए **हविषा**=दानपूर्वक अदन के द्वारा **विधेम**=हम पूजा करते हैं। उस सब-कुछ देनेवाले प्रभु की अर्चना देकर खाने से ही तो हो सकती है। यह देकर खानेवाला व्यक्ति सदा यज्ञशेष का सेवक व्यक्ति प्रजा की रक्षा करनेवाला होने से 'प्रजापति' कहलाता है। यही इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—वे हिरण्यगर्भ प्रभु सदा से हैं, सबके अद्वितीय रक्षक हैं—त्रिलोकी का धारण कर रहे हैं। हम उस आनन्दस्वरूप, सर्वप्रद व ज्योतिर्मय प्रभु की ही उपासना करें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

दर्शन

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैकऽइद्राजा जगतो बभूव।
यऽईशेऽअस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥११॥

१. **यः**=जो प्रभु **प्राणतः**=प्राण धारण करते हुए, अर्थात् चेतन प्राणियों के तथा **निमिषतः**=सदा पलकों को बन्द किये हुए, अर्थात् दीर्घनिद्रा में लेटे हुए वृक्षादि स्थावर **जगतः**=जगत् का, अर्थात् इस चराचर (Movable तथा Immovable) संसार का **महित्वा**=अपनी महिमा से **एकः इत्**=अकेला ही **राजा बभूव**=नियन्त्रण करनेवाला है। और २. **यः**=ये **अस्य**=इस **द्विपदः चतुष्पदः**=दोपाये व चौपायों का, अर्थात् पक्षियों व पशुओं का **ईशे**=ईश है, इनके अन्दर स्थापित ऐश्वर्य का मालिक है, अर्थात् जिसने मानव को शिक्षा देने के लिए उस-उस पशु व पक्षी में उस-उस ऐश्वर्य को स्थापित किया है। चीलों की उड़ान को देखकर ही मानव ने वायुयान को बनाने की शिक्षा प्राप्त की। इसी प्रकार इन पशु-पक्षियों में प्रभु द्वारा स्थापित ऐश्वर्य का दर्शन होता है। इस ऐश्वर्य के दर्शन से आकर्षित हो हम उस स्थापन करनेवाले प्रभु का ध्यान करते हैं। ३. उस **कस्मै**=आनन्दस्वरूप **देवाय**=सब ऐश्वर्यों के देनेवाले प्रभु के लिए **हविषा**=दानपूर्वक अदन से **विधेम**=हम पूजा करते हैं।

भावार्थ—चराचर संसार के नियामक वे प्रभु ही हैं। सब पशु-पक्षियों में दृश्यमान ऐश्वर्य उस प्रभु का ही है। उस सुखस्वरूप सर्वज्ञ प्रभु का हम वस्तुओं के त्यागपूर्वक प्रयोग से पूजन करते हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

महिमा

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रꣳरसया सहाहुः।
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम॥१२॥

१. **इमे**=ये **हिमवन्तः**=हिमाच्छादित पर्वत **यस्य**=जिसकी **महित्वा**=महिमा को **आहुः**=कहते हैं **रसया सह**=इस सम्पूर्ण रसमय फलों व अन्नों को जन्म देनेवाली पृथिवी के साथ **समुद्रम्**=समुद्र **यस्य (महित्वा) आहुः**=जिसकी महिमा का प्रतिपादन करते हैं। **इमाः**=ये **प्रदिशः**=प्रकृष्ट दिशाएँ भी **यस्य**=जिसकी महिमा का वर्णन करती हैं तथा **यस्य**=जिसके **बाहू**=(बाह प्रयत्ने) चराचर द्विविध जगत् के निर्माणात्मक प्रयत्न उसकी महिमा का प्रतिपादन कर रहे हैं। २. उस **कस्मै**=सुखस्वरूप **देवाय**=सर्वानन्दप्रद प्रभु के लिए **हविषा**=दानपूर्वक अदन से **विधेम**=हम पूजा करते हैं।

भावार्थ—हिमाच्छादित पर्वतों को देखकर, विविध रसों से परिपूर्ण फल-फूलोंवाली इस पृथिवी को देखकर, अनन्तप्राय जलराशिवाले समुद्र को देखकर, इन विस्तृत दिशाओं को देखकर तथा चर व अचर विविध जगत् के निर्माण-प्रयत्नों को देखकर किस द्रष्टा को प्रभु की महिमा का स्मरण नहीं होता? कोई अचर ही होगा जिसे इन वस्तुओं को देखकर भी प्रभु का स्मरण न हो।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**परमात्मा**। छन्दः—**निचृत्त्रिटुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

अमृतम्

यऽआत्मदा बलदा यस्य विश्वऽउपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्य छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥१३॥

१. प्रभु वे हैं **यः**=जिन्होंने कि **आत्मदाः**='आत्मानं ददाति इति—द०' जीवहित के लिए अपने को दे डाला है, अर्थात् वे प्रभु निरन्तर जीवों के हित में तत्पर हैं—उनकी अपनी आवश्यकता शून्य है। स्वयं वे पूर्ण हैं, अतः उन्हें अपने लिए कुछ भी करना नहीं है। २. **बलदाः**=वे बल देनेवाले हैं। जीवहित को सिद्ध करने के लिए वे जीव को सामर्थ्य प्राप्त कराते हैं। इस सामर्थ्य से सम्पन्न होकर जीव ने अपनी उन्नति सिद्ध करनी है। ३. वस्तुतः **विश्वे**=संसार में प्रविष्ट सभी प्राणी **यस्य उपासते**=जिसकी उपासना करते हैं। कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं जो कष्ट पड़ने पर प्रभु का स्मरण न करे। सुख में भी अविकृत वृत्तिवाले लोग प्रभु का कीर्तन करते ही हैं, दुःख आने पर दुःखापहरण के लिए प्रभु-कीर्तन चलता है। ४. परन्तु **देवाः**=देव लोग **यस्य प्रशिषं उपासते**=जिसकी आज्ञा की उपासना करते हैं। वे प्रभु के गुणगान में ही सारा समय समर्पित न करके उसके आदेश के अनुसार 'पठन, पाठन व प्रचार' के कार्य में लगकर ही उसकी पूजा करते हैं। **स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य** ५. **यस्य छाया**=जिस प्रभु का किया हुआ छेदन-भेदन (छोड़ देने) अर्थात् अंगविकार भूकम्पादि दण्ड **अमृतम्**=जीव की अमरता के लिए है। **यस्य मृत्युः**=(अमृत) प्रभु द्वारा प्राप्त कराई गई यह मृत्यु भी अमरता के लिए है। ये सब इसलिए ही प्रभु से दी जाती हैं कि हम विषयों व वासनाओं के पीछे मरते न फिरें। इनके पीछे भागते रहकर हम अपने को मार ही लेंगे, अतः प्रभु कृपा करके ऐसी व्यवस्था कर देते हैं कि हम विषयवासनाओं में जा फँसने से बच जाते हैं। ६. इस **कस्मै**=आनन्दस्वरूप **देवाय**=ज्योतिर्मय सर्वज्ञ प्रभु के लिए **हविषा**=यज्ञशेष के सेवन के द्वारा **विधेम**=हम पूजा करते हैं।

भावार्थ—प्रभु पूर्ण व आप्तकाम हैं। उन्हें अपने लिए कुछ नहीं करना—उन्होंने अपने को जीवहित के लिए दे डाला है। उनके सब कार्य जीव को उन्नति-साधन प्राप्त करने के लिए हैं। वे जीव को सामर्थ्य प्राप्त कराते हैं। सामान्य लोग इस प्रभु का गुणगान करते हैं तो समझदार प्रभु के आदेशों के अनुसार कार्य करने का ध्यान करते हैं। प्रभु से दिये गये दण्ड व मृत्यु भी जीव की अमरता के लिए साधन बनते हैं। इस प्रभु का पूजन त्यागपूर्वक उपभोग से ही सम्भव है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

भद्र क्रतु

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासोऽअपरीतासऽउद्भिदः।
देवा नो यथा सदमिद् वृधऽअसन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवेदिवे॥१४॥

१. **नः**=हमें **क्रतवः**=यज्ञ व सङ्कल्प **आयन्तु**=सवर्था प्राप्त हों। कैसे यज्ञ व सङ्कल्प? क. **भद्राः**=कल्याणकारी और सुख देनेवाले, ख. **विश्वतः अदब्धासः**=सब ओर से अहिंसित, अर्थात् पूर्णरूप से निर्विघ्न ग. **अपरीतासः**=(न परीता अज्ञाताः), अर्थात् जो फलानुमेय हैं, पूर्ण हो जाने पर ही जिनका पता लगता, है, पहले जिनका ढिंढोरा नहीं पीट दिया गया। घ. **उद्भिदः**=(उद्भिन्दन्ति यज्ञान्तराणि प्रकटयन्ति) अन्य यज्ञों को प्रकट करनेवाले, अर्थात् परस्पर अनुबन्धरूप से चलनेवाले—एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा—इस प्रकार निरन्तर चलनेवाले अथवा विकास के कारणभूत। इस प्रकार के यज्ञ व सङ्कल्प हमें निरन्तर प्राप्त हों। २. क. हम इसलिए उल्लिखित प्रकार से उत्तम कर्मों में लगे रहें **यथा**=जिससे कि **देवाः**=सब देव, सब प्राकृतिक शक्तियाँ **सदम्**=सदा **इत्**=ही **नः**=हमारी **वृधे**=वृद्धि के लिए **असन्**=हों। हमारे कर्मों के दूषित होने पर ही आधिदैविक आपत्तियाँ प्राप्त हुआ करती हैं। कर्म उत्तम होने पर सूर्य-चन्द्रादि सभी देव अनुकूल होते हैं (ख) 'देवाः' शब्द का अभिप्राय 'दिव्य वृत्तिवाले विद्वान्' भी है। वे विद्वान् भी सदा हमारी वृद्धि का कारण बनें। ये देव, वे विद्वान् **अप्रायुवः**=(**प्रकर्षेणायुवन्ति अमाषन्ति**) प्रमाद से रहित हों, जनहित के कार्यों में इन्हें किसी प्रकार का आलस्य न हो और वे **दिवे दिवे**=प्रतिदिन **रक्षितारः**=सब प्रकार के अशुभों से हमारी रक्षा करनेवाले हों। सूर्यचन्द्र आदि हमारे शरीरों को नीरोग बनाएँ और विद्वान् लोग हमारे मनों व मस्तिष्कों को स्वस्थ बनाएँ।

भावार्थ—हमें उत्तम कर्म व सङ्कल्प प्राप्त हों। देव हमारी वृद्धि का कारण बनें। आलस्य से ऊपर उठकर दिन-प्रतिदिन वे प्रजा-रक्षण के कार्य में लगे रहें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**।

'सुमति व राति'=देवसख्य

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानाꣳरातिरभि नो निवर्त्तताम्।
देवानाꣳसख्यमुपसेदिमा वयं देवा नऽआयुः प्रतिरन्तु जीवसे॥१५॥

१. **ऋजूयताम्**=क. **ऋजुगामिनाम्**=सदा सरल मार्ग से चलनेवाले ख. **ऋजुकामिनाम्**=सदा सरलता को चाहनेवाले **देवानाम्**=देवों की **भद्रा सुमतिः**=कल्याण व सुख को करनेवाली शोभनमति **नः**=हमें **अभिनिवर्त्तताम्**=अभिमुख्येन प्राप्त हो, अर्थात् हम भी देवों की भाँति सरल मार्ग से चलनेवाले व सरलता की कामना करनेवाले बनें। २. **देवानाम्**=देवों की **रातिः**=दानवृत्ति भी **नः**=हममें **अभिनिवर्ततताम्**=अभिमुख प्रवृत्त हो, अर्थात् देवों की भाँति हम भी सदा देनेवाले बनें। ३. इस प्रकार देवों की सुमति तथा राति को प्राप्त करके **वयम्**=हम **देवानाम्**=देवों के **सख्यम्**=मित्रभाव को **उपसेदिम**=प्राप्त करें। उन-जैसा बनकर ही तो हम उनके सच्चे मित्र हो सकेंगे। ४. ऐसा होने पर **देवाः**=देव **नः आयुः**=हमारे जीवन को **जीवसे**=चिर जीवन के लिए **प्रतिरन्तु**=बढ़ाएँ। वस्तुतः 'सुमति व राति' दोनों ही दीर्घजीवन के लिए आवश्यक हैं। मस्तिष्क की कुमति अल्पायुष्य का प्रबल कारण बनती है। मन की अनुदारता भी उसी प्रकार आयुष्य को छोटा करती है, अतः हम सुमति व राति को प्राप्त करके दीर्घजीवन को सिद्ध करें। इस दीर्घजीवन के लिए 'देवों की मित्रता' अत्यधिक महत्त्व रखती है।

भावार्थ—हमें देवों की 'सुमति' प्राप्त हो। देवों की भाँति हम 'दानवृत्ति' वाले हों तथा देवों की ही हमें 'मित्रता' प्राप्त हो। ये तीनों बातें हमारे दीर्घजीवन का कारण बनें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**।

देव-हूति

तान् पूर्वया निविदा हूमहे वयं भगं मित्रमदितिं दक्षमस्त्रिधम्।
अर्यमणं वरुणꣳसोममश्विना सरस्वती नः सुभगा मयस्करत्॥१६॥

१. गतमन्त्र में देवों की मित्रता प्राप्त करने की प्रार्थना थी। उन्हीं देवों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि **तान्**=उन देवों को **पूर्वया**=सृष्टि के आरम्भ में दी गई **निविदा**=(निविदा इति वाङ् नाम—नि० १।११) इस निश्चयात्मक ज्ञान देनेवाली वेदवाणी के हेतु से **वयम्**=हम **हूमहे**=पुकारते हैं, अर्थात् इन विद्वानों को हम इसलिए समीप प्राप्त करना चाहते हैं कि ये हमें उत्तम वेदज्ञान प्राप्त करानेवाले हों। २. किन देवों को? (क) **भगम्**='ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान व वैराग्यरूप भग से युक्त को (ख) **मित्रम्**=(मिद् स्नेहने) सबके साथ स्नेह करनेवाले को तथा (प्रमीतेः त्रायते) पाप से बचानेवाले को (ग) **अदितिम्**=अदीनभाव से युक्त होकर दिव्य गुणों का अपने में निर्माण करनेवाले को अथवा किसी का खण्डन व हिंसन न करनेवाले को (अदीना देवमाता—नि०, न दितिः यस्मात्) (घ) **दक्षम्**=कार्यकुशल को, कर्मयोगी को (ङ) **अस्त्रिधम्**=न स्त्रेधते। कभी सद्भाव को नष्ट न होने देनेवाले को (च) **अर्यमणम्**='अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति=सदा दानशील को (छ) **वरुणम्**=द्वेष का निवारण करनेवाले अतएव श्रेष्ठ को (ज) **सोमम्**=सौम्य स्वभाववाले शान्त को (झ) **अश्विना**=प्राणापान-शक्तिसम्पन्न को अथवा सूर्य-चन्द्र के गुणधर्मों से युक्त को। सूर्य के समान प्रकाशमय तथा चन्द्र के समान आनन्दमय को ३. इन सब देवों को तो हम बुलाते ही हैं। इनके साथ सतत सम्पर्क होने पर **सुभगा**=सब उत्तम भगों की प्राप्त करानेवाली **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **नः**=हमारा **मयस्करत्**=कल्याण करे। देवों के सम्पर्क में रहने से हमारा ज्ञान बढ़ता है, उस ज्ञानवृद्धि से हमारा कल्याण होता है।

भावार्थ—हम देवों के सम्पर्क में आकर उनसे ज्ञान प्राप्त करें जो हमारा कल्याण करे।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

मयोभु भेषज

तन्नो वातो मयोभु वातु भेषजं तन्माता पृथिवी तत्पिता द्यौः।
तद् ग्रावाणः सोमसुतो मयोभुवस्तदश्विना शृणुतं धिष्ण्या युवम्॥१७॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब हम देवों को पुकारते हैं और उनसे निश्चयात्मक श्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त करते हैं **तत्**=तब **नः**=हमें **वातः**=यह निरन्तर गति के द्वारा बुराई का (रोग-कारणों का) संहार करनेवाला वायु (वा गतिगन्धनयोः) **मयोभु**=कल्याण को उत्पन्न करनेवाली **भेषजम्**=ओषधि **वातु**=प्राप्त कराए, अर्थात् वायु हमारे रोगों का प्रतीकार करके हमें नीरोग व सुखी करनेवाला हो। २. जब हम देवों से ज्ञान प्राप्त करते हैं **तत्**=तब **पृथिवी माता**=यह मातृवत् हितकारिणी पृथिवी हमें कल्याणकर औषध को प्राप्त करानेवाली हो। **पिता द्यौः**=पिता की भाँति रक्षक यह द्युलोक भी कल्याणकर औषध को प्राप्त कराए। जब हम देवों से ज्ञान प्राप्त करते हैं ३. **तत्**=तब **सोमसुतः**=सोम का अभिषव करनेवाले **ग्रावाणः**=ये पत्थर भी सोमरस के प्रापण के द्वारा **मयोभुवः**=हमारा कल्याण करनेवाले हों, अर्थात् सोमयज्ञों के अन्दर सोमपान करते हुए हम अपने शरीरों को शान्त-शक्ति से परिपूर्ण करने का प्रयत्न करें अथवा सौम्यता को जन्म देनेवाले ज्ञानी (आचार्य) हमारे लिए ज्ञान

देते हुए कल्याण करनेवाले हों। ४. **तत्**=ज्ञान प्राप्त करने पर **धिष्ण्या**=गृह की भाँति धारण करनेवाले **अश्विना**=हे प्राणापानो! **युवम्**=तुम दोनों भी हमारी 'मयोभु भेषज' की प्रार्थना को **शृणुतम्**=सुनो। तुम्हारी कृपा से हमारे शरीर, मन व बुद्धि सभी नीरोग, निर्मल व तीव्र बनें। हम प्रशस्तेन्द्रिय 'गोतम' बनें—प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि हों।

भावार्थ—जब हम ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं तब वायु, पृथिवी, द्युलोक, सोमाभिषव करने में उपयुक्त ग्रावाणा अथवा अधिक सौम्यता को जन्म देनेवाले उपदेष्टा गुरु—ये सब हमें कल्याणकर औषध प्राप्त कराते हैं और प्राणापान हमारे लिए सर्वोत्तम औषध बनते हैं।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

ईशान का आह्वान

तमीशा॑नं जग॑तस्त॒स्थुष॒स्पतिं॑ धियञ्जि॒न्वमव॑से हूमहे व॒यम्।
पू॒षा नो॒ यथा॒ वेद॑सा॒मस॑द् वृ॒धे र॑क्षि॒ता पा॒युरद॑ब्धः स्व॒स्तये॑॥१८॥

१. **वयम्**=हम **अवसे**=रक्षा के लिए—शरीर की रोगों से रक्षा के लिए तथा मन की द्वेषादि मलों से रक्षा के लिए—**तं ईशानम्**=उस ईशान करनेवाले रुद्र प्रभु को **हूमहे**=पुकारते हैं, यतः प्रभु ही **जगतः तस्थुषः पतिम्**=जंगम व स्थावर जगत् के पति हैं, इस सम्पूर्ण चराचर संसार के रक्षक हैं तथा **धियञ्जिन्वम्**=बुद्धि को प्रीणित करनेवाले हैं। हमारी बुद्धियों को शुद्ध करनेवाले हैं (द०)। २. इस ईशान के आह्वान को हम सदा ही किया करें **यथा**=जिससे **पूषा**=सबका पोषण करनेवाला वह प्रभु **नः**=हमारे **वेदसाम्**=धनों के **वृधे**=वर्धन के लिए **असत्**=हों। **रक्षिता**=वह हमारा रक्षण करनेवाला हो, हमें आधिभौतिक व आधिदैविक कष्टों से बचाये (resque) तथा **पायुः**=हमें काम-क्रोधादि के आक्रमणों से भी बचानेवाला हो। **अदब्धः**=कामादि से कभी हिंसित न होनेवाला वह ईशान हमारे **स्वस्तये**=कल्याण व उत्तम स्थिति के लिए हो। हम प्रभु की उपासना करनेवाले होंगे तो काम हमपर कभी आक्रमण न करेगा।

भावार्थ—ईशान का आह्वान हमारे शरीर व मानस रक्षा का कारण बने तथा हमें पोषण के लिए आवश्यक धनों की प्राप्ति हो।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**स्वराड्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

स्वस्ति का साधन

स्व॒स्ति न॒ऽइन्द्रो॑ वृ॒द्धश्र॑वाः स्व॒स्ति नः॑ पू॒षा वि॒श्ववे॑दाः।
स्व॒स्ति न॒स्तार्क्ष्यो॒ऽअरि॑ष्टनेमिः स्व॒स्ति नो॒ बृह॒स्पति॑र्दधातु॥१९॥

१. **नः**=हमारे लिए **वृद्धश्रवाः**=सदा से बढ़े हुए ज्ञानवाला **इन्द्रः**=बलवान् व सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला प्रभु **स्वस्ति**=कल्याण करनेवाला हो, अर्थात् प्रभु की कृपा से हमारा ज्ञान बढ़े और उस प्रज्वलित ज्ञानाग्नि में सब वासनाओं का दहन होकर हमें वास्तविक शान्ति का लाभ हो और हमारी जीवन-स्थिति उत्तम हो। २. **नः**=हमारे लिए **विश्ववेदाः**=सम्पूर्ण धनों का स्वामी **पूषा**=सबका पोषण करनेवाला प्रभु पोषण के लिए आवश्यक धनों को प्राप्त कराता हुआ **स्वस्ति**=कल्याणकर हो, अर्थात् प्रभुकृपा से हम पुरुषार्थ करते हुए आवश्यक धनों की प्राप्ति के द्वारा जीवन की स्थिति को उत्तम कर सकें। ३. **नः**=हमारे लिये **तार्क्ष्यः**=(तृक्ष गतौ) गति में उत्तम=स्वाभाविक क्रियावाला पूर्णरूप से निःस्वार्थ क्रियावाला, **अरिष्टनेमिः**=अहिंसित मर्यादावाला प्रभु **स्वस्ति**=कल्याणकर

हो। हम भी उस प्रभु की तरह सतत व निःस्वार्थ गतिवाले बनकर सदा मर्यादा में चलते हुए कभी हिंसित न हों और इस मर्यादित जीवन में कल्याण प्राप्त करें। ४. **नः**=हमारे लिए **बृहस्पतिः**=बृहत् (बड़े) आकाशादि का पति वह प्रभु **स्वस्ति**=कल्याण को **दधातु**=धारण करे। हम भी 'बृहस्पति' प्रभु की उपासना करते हुए 'बृहस्पति' बनें, उदार हृदयाकाशवाले बनें। यह उदारता हमें कृपण (miser) की कृपणता (misery) से ऊपर उठाकर कल्याणमय स्थिति में प्राप्त कराए।

भावार्थ—हम प्रभु की उपासना करते हुए (क) वृद्ध ज्ञानवाले व काम-क्रोधादि शत्रुओं का संहार करनेवाले बनें, (ख) पोषण के लिए आवश्यक धन प्राप्त करें, (ग) निरन्तर क्रियाशील जीवन बिताते हुए कभी मर्यादा का उल्लंघन न करें। (घ) उदारहृदय बनकर कल्याण को सिद्ध करें।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

देवों का आतिथ्य

पृषदश्वा मरुतः पृश्निमातरः शुभंयावानो विदथेषु जग्मयः।
अग्निजिह्वा मनवः सूरचक्षसो विश्वे नो देवाऽअवसागमन्निह॥२०॥

१. 'गतमन्त्र के अनुसार हमारी स्थिति कल्याणमयी हो', इसी दृष्टिकोण से हम प्रस्तुत मन्त्र में चाहते हैं कि **विश्वेदेवाः**=सब देव—दिव्य वृत्तिवाले विद्वान् लोग **अवसा**=अन्न के हेतु से, अर्थात् हमारा आतिथ्य स्वीकार करने के हेतु से यहाँ **नः**=हमें **आगमन्**=प्राप्त हों। उन देवों के समय-समय पर घरों में आते रहने से घर का वातावरण सुन्दर बना रहता है। २. ये देव कैसे हैं? क. **पृषदश्वाः** (पृषु सेचने, पुष्ट्याङ्गिना संसिक्ताङ्गः—द०)=इनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग पुष्टि से संसिक्त हैं। इनका जीवन भोगमय न होने से इनके सब अङ्ग सुगठित हैं। (क) **मरुतः**=(प्राणाः) ये प्राणशक्ति के पुञ्ज हैं। (ख) **पृश्निमातरः**=(पृश्नि=a ray of light) प्रकाश की किरणों का निर्माण करनेवाले हैं। इनके मस्तिष्क ज्ञान-किरणों से दीप्त हैं। (ग) **शुभंयावानः**=शुभमार्ग पर चलनेवाले हैं, अतएव कल्याण को प्राप्त करने व करानेवाले हैं (घ) **विदथेषु**=ज्ञानयज्ञों में **जग्मयः**=सदा जानेवाले हैं। (ङ) **अग्निजिह्वाः**=(अग्निरिव सुप्रकाशितवाणी येषां—द०) अग्नि के समान प्रकाशमय वाणीवाले अथवा जिनके मुख से निकले हुए शब्द प्रगति का साधन हैं, उत्साह का वर्धन करनेवाले हैं, मृत आन्दोलन में फिर से गर्मी ला देनेवाले हैं। (च) **मनवः**=जो बड़े मननशील हैं, विद्वान् व समझ से चलनेवाले हैं। (छ) **सूरचक्षसः**=सूर्य के समान दृष्टिवाले हैं। जिनकी दृष्टि अज्ञानान्धकार को उसी प्रकार नष्ट करनेवाली है जैसे सूर्य रात्रि के अन्धकार को। ३. इस प्रकार के विद्वान् हमारे घरों पर समय-समय पर आते रहेंगे तो उनकी ज्ञान की वाणियाँ हमारे जीवनों को परिशुद्ध बनानेवाली होंगी, अतः प्रभुकृपा से इन देवों का हमारे घरों पर आना होता ही रहे।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमें देवों के आतिथ्य करने का सौभाग्य प्राप्त होता रहे, जिससे हमारे जीवनों में ज्ञान व उत्साह का सञ्चार सदा अविच्छिन्न रूप से हो सके।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

उपदेश के विषय

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥२१॥

१. **देवाः**=हे ज्ञान-ज्योति-देनेवाले विद्वानो! आपकी उपदेश-वाणियों से प्रेरित होकर हम **कर्णेभिः**=कानों से **भद्रम्**=कल्याण व सुखकर शब्दों को ही **शृणुयाम**=सुनें। हम निन्दात्मक बातों को सुनने की रुचि से ऊपर उठ जाएँ। २. हे **यजत्राः**=(यज+त्रा) अपने ज्ञानदान से त्राण करनेवाले विद्वानो! हम **अक्षभिः**=प्रभु से दी गई इन आँखों से **भद्रम्**=शुभ को ही **पश्येम**=देखें। हम कभी किसी की बुराई को देखें ही नहीं। शहद की मक्खी की भाँति सब स्थानों से रस ही लेने का प्रयत्न करें। मल का ग्रहण करनेवाली मक्खी न बन जाएँ। हंस की भाँति द्वेष जल को छोड़कर गुणरूप दूध का ही ग्रहण करें। एवं, शुभ ही सुनें और शुभ ही देखें और ३. परिणामतः शरीर-शक्तियों को जीर्ण न होने देते हुए **स्थिरैः अङ्गैः**=दृढ़ अंगों से तथा **तनूभिः**=विस्तृत शक्तियोंवाले शरीरों से **तुष्टुवांसः**=सदा प्रभु का स्तवन करते हुए उस आयु को **व्यशेमहि**=व्याप्त करें **यत् आयुः**=जो जीवन, जो आयु **देवहितम्**=देव की उपासना के योग्य है, अर्थात् जो अपने कर्त्तव्यों के करने के द्वारा प्रभु की अर्चना में बीतता है।

भावार्थ—देवों से प्रेरणा प्राप्त कर हम कानों से भद्र ही सुनें, आँखों से भद्र ही देखें तथा स्थिर अङ्गोंवाले शरीरों से प्रभु का स्तवन करते हुए देवोपासनयोग्य जीवन बिताएँ।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

सौ वर्ष तक

शतमिन्नु शरदोऽअन्ति देवा यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्।
पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोः॥२२॥

१. हे **देवाः**=देवो! **शतं शरदः इत्**=सौ वर्षों तक निश्चय से **अन्ति**=आप हमारे समीप होवें, अर्थात् हमें आजीवन आपका सङ्ग प्राप्त होता रहे। २. उस समय तक हमें आपका सङ्ग प्राप्त रहे **यत्र**=जहाँ से ये सब सूर्यादि देव **नः तनूनाम्**=हमारे शरीरों के **जरसम्**=वार्धक्य को **चक्र**=कर देते हैं, अर्थात् वृद्धावस्था में भी हम आपके सत्संग में सदा उत्तम प्रेरणाओं को प्राप्त करने का प्रयत्न करते रहें। उस समय भी हमें स्वयं पर्याप्त अनुभवी हो जाने का गर्व न हो जाए। ३. हम उस समय भी आपके सत्संग के अभिलाषी बने रहें **यत्र**=जबकि **पुत्रासः**=पुत्र भी **पितरः**=पिता **भवन्ति**=बन जाते हैं, अर्थात् पुत्रों की भी सन्तान हो जाने पर जब हम पौत्रोंवाले हो जाते हैं और पितामह कहलाते हैं, उस समय भी हमें आपके सङ्ग करने का सौभाग्य प्राप्त हो। उस समय आप देवों की प्रेरणा हमारे जीवन में ज्ञान व उत्साह को सञ्चरित करनेवाली होगी। ४. आपकी प्रेरणा व ज्ञानज्योति द्वारा मार्ग-प्रदर्शन से **नः आयुः**=हमारा जीवन **गन्तोः मध्याः**=लक्ष्य-स्थान के बीच में ही, अर्थात् लक्ष्य पर पहुँचे बिना ही **मा रीरिषत**=मत नष्ट हो जाए। हम इसी जीवन में लक्ष्य तक पहुँच सकें और यात्रा को पूर्ण कर मोक्ष-लाभ करनेवाले हों।

भावार्थ—जैसे वृद्धावस्था में भी शरीर के लिए भोजन आवश्यक होता है उसी प्रकार मानस पोषण के लिए देवों की प्रेरणाएँ भी आवश्यक होती हैं। इन प्रेरणाओं से हम मार्ग में नहीं रुक जाते, अपितु पूर्ण जीवन को प्राप्त करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**द्यौरित्यादयः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

आदित्य

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वेदेवाऽअदितिः पञ्च जनाऽअदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥२३॥

१. गतमन्त्र की **'मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तः'** प्रार्थना की पूर्ति के लिए कहते हैं कि **द्यौः**=यह द्युलोक **अदितिः**=मेरा खण्डन करनेवाला न हो। इस द्युलोक के साथ मेरा युद्ध न हो, यह मेरे साथ शान्ति में हो। 'द्यौः शान्तिः' यही प्रार्थना यहाँ शब्द परिवर्तन के साथ 'अदितिः द्यौः' इस रूप में हुई है। जब ये बाह्य जगत् जल, वायु आदि देव हमारे अनुकूल नहीं होते और हम इनके साथ युद्ध की स्थिति में होते हैं तब हमारा स्वास्थ्य बिगड़ जाता है और हम रोगाक्रान्त हो जाते हैं। २. **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष **अदितिः**=हमारा खण्डन करनेवाला न हो। द्युलोक का मुख्य देवता 'सूर्य' हमारे लिए शान्तिकर होकर तपे (शं नस्तपतु सूर्यः) और अन्तरिक्षलोक का मुख्य देवता वायु भी हमारे लिए शान्तिकर होकर बहे (शं नो वातः पवताम्)। ३. **माता**=यह पृथिवी माता भी हमारा **अदितिः**=खण्डन करनेवाली न हो। इस पृथिवी पर बहनेवाले जल व इससे उत्पन्न होनेवाली ओषधियाँ हमारे लिए स्वास्थ्यकर हों **'सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु'**। ४. **सः**=वह हमारा **पिता**=पितृस्थानापन्न आकाश **अदितिः**=खण्डन करनेवाला न हो और **सः** वह **पुत्रः**=आकाश का पुत्रतुल्य सूर्य **अदितिः**=खण्डन करनेवाला न हो अथवा **सः पिता: सः पुत्रः**=वह पिता और वह पुत्र दोनों मेरा खण्डन करनेवाले न हों। मैं कभी पिताजी का क्रोधपात्र न हो जाऊँ तथा पुत्रों का ठीक प्रकार से शिक्षण करता हुआ मैं उनके अविनयादि से परेशानी को प्राप्त न करूँ। ५. **विश्वेदेवाः**=राष्ट्र के सब विद्वान् **अदितिः**=हमारा खण्डन न करनेवाले हों तथा संसार की सब आधिदैविक शक्तियाँ हमारे अनुकूल हों। ६. **पञ्चजनाः**=राष्ट्र के 'ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र तथा निषाद' ये पाँचों-के-पाँचों **अदितिः**=हमारा खण्डन करनेवाले न हों। सबके साथ हमारी अनुकूलता हो। ७. **जातम्**=उत्पन्न हुए-हुए सन्तान व पदार्थ **अदितिः**=हमारे अखण्डन के लिए हों तथा **जनित्वम्**=भविष्य में होनेवाले सन्तान तथा पदार्थ भी **अदितिः**=हमारे अखण्डन के लिए हों।

भावार्थ—तीनों लोक तथा घर के मुख्य व्यक्ति राष्ट्र के सब देव व जनता, भूत, भविष्य में होनेवाले पदार्थ व व्यक्ति सभी हमारे अनुकूल हों। इनकी अनुकूलता हमारे अखण्डन व स्वास्थ्य के लिए हो। सारी प्रजा मेरे स्वास्थ्य के लिए हो। मैं भी 'प्रजापति' बनूँ।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**मित्रादयः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभु-प्रवचन

मा नो॑ मि॒त्रो वरु॑णोऽअर्य॒मायुरिन्द्र॑ऽ ऋभु॒क्षा म॒रुतः॒ परि॑ख्यन्।
यद्वा॒जिनो॑ दे॒वजा॑तस्य॒ सप्तेः॑ प्रव॒क्ष्यामो॑ वि॒दथे॑ वी॒र्या॑णि॥२४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार सब लोकों व लोकवासियों की अनुकूलता प्राप्त करके यह व्यक्ति प्रार्थना करता है कि **मित्रः**=स्नेह का देवता, **वरुणः**=द्वेष-निवारण का देवता, **अर्यमा**=दातृत्व, **आयुः**=(इ गतौ) गतिशीलता, **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठातृत्व, **ऋभुक्षाः**=महत्ता अथवा (ऋतेन भान्ति इति ऋभवः, क्षि गति, ऋत=regularity=नियमितता से दीप्त होकर चलना, तथा **मरुतः**=प्राण **नः**=हमें **मा परिख्यन्**=मत छोड़ें। ये उत्तम बातें व दिव्य गुण हमारा परित्याग न करें, २. **यत्**=क्योंकि हम तो **विदथे**=ज्ञानयज्ञों में **वाजिनः**=सर्वशक्तिमान् **देवजातस्य**=देव लोगों से हृदय में आविर्भूत किये गये **सप्तेः**=सबमें समवेत (षप समवाये) अर्थात् प्राणिमात्र में व भूतमात्र में निवास करनेवाले उस प्रभु के **वीर्याणि** शक्तिशाली कर्मों का **प्रवक्ष्यामः**=प्रवचन करेंगे। यह प्रभु के कर्मों का प्रवचन ही वस्तुतः मानव-जीवन को शुद्ध बनाये रखता है। ज्ञानयज्ञों में एकत्र होकर हम शक्तिशाली, सब देवों में प्रादुर्भूत, सर्वत्र

समवेत प्रभु का स्मरण करते हैं तो प्रभु के प्रिय बनते हैं। उस समय ये सब देव हमारा आश्रय करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण करें, जिससे देव हमें त्याज्य न समझें। प्रभु का स्मरण हमें दिव्य गुणयुक्त बनाए।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

शुद्ध धन-शुद्ध अन्न

यन्निर्णिजा रेक्णसा प्रावृतस्य रातिं गृभीतां मुखतो नयन्ति।
सुप्राङ्जो मेम्यद्विश्वरूपऽइन्द्रापूष्णोः प्रियमप्येति पाथः॥२५॥

१. **यत्**=जब **निर्णजा**=शुद्ध, अर्थात् शुद्ध उपायों से कमाये हुए **रेक्णसा**=धन से **प्रावृतस्य**=आच्छादित पुरुष के **गृभीतां रातिम्**=ग्रहण किये हुए दान को **मुखतः**=मुख्यरूप से अथवा आरम्भ मे ही **नयन्ति**=ले-जाते हैं। इस दान देनेवाले पुरुष के लिए वह प्रभु २. **सुप्राङ्**=(सु प्र आङ्) उत्तमता से खूब आगे ले-चलनेवाले होते हैं। **अजः**=(अज गतिक्षेपणयोः) गतिशीलता के द्वारा इसकी सब बुराई को दूर फेंकनेवाले होते हैं। **मेम्यत्**=(भृशं हिंसन् ऋ० १.१६२.—द०) सब काम-क्रोधादि वासनाओं का संहार करनेवाले व (प्राप्नुवन्—द०) इसे प्राप्त होनेवाले होते हैं। **विश्वरूपः**=इसके लिए सब आवश्यक ज्ञानों का निरूपण करनेवाले होते हैं। ३. यहाँ प्रस्तुत मन्त्र में यह स्पष्ट है कि (क) यदि हम शुद्ध उपायों से धन कमाते हैं और (ख) दान देते हैं तो (ग) हमें प्रभु की प्राप्ति होती है। केवल प्रभु-प्राप्ति नहीं होती, अपितु ४. वह प्रभु का प्रिय **इन्द्रापूष्णोः प्रियम्**=इन्द्र और पूषा के प्रिय **पाथः अप्येति**=अन्न को भी प्राप्त करता है, अर्थात् इसे वह अन्न प्राप्त होता है जो उसे इन्द्र—इन्द्रियों का अधिष्ठाता, जितेन्द्रिय बनाता है और **पूषा**=उत्तम पोषणवाला करता है। प्रभुकृपा से प्राप्त यह सात्त्विक अन्न उसे जितेन्द्रिय बनने में तो सहायक होता ही है, वह अन्न उसे **पूषा**=पुष्टि का भी देवता बनाता है, अर्थात् इसके अंग-प्रत्यंग को सुदृढ़ करनेवाला होता है। ५. यह ध्यान देने योग्य बात है कि प्रस्तुत मन्त्र 'शुद्ध धन' से प्रारम्भ होता है और 'शुद्ध अन्न' पर समाप्त होता है।

भावार्थ—(क) हम धन से अपने को आच्छादित करें, अर्थात् खूब कमाएँ, परन्तु शुद्ध साधनों से। (ख) इस धन का मुख्य उपयोग दान हो—दान देकर बचे हुए को ही खाने का विचार करें। (ग) प्रभु को हृदयस्थ कर ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त करें। (घ) उसी अन्न का सेवन करें जो संयम व पोषण की दृष्टि से ठीक हो।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

एष छागः=यह-शत्रु छेदक

एष च्छागः पुरोऽअश्वेन वाजिना पूष्णो भागो नीयते विश्वदेव्यः।
अभिप्रियं यत्पुरोडाशमर्वता त्वष्टेदेनꣳसौश्रवसाय जिन्वति॥२६॥

१. गतमन्त्र के अनुसार 'शुद्ध धन, शुद्ध अन्न' का सेवन करनेवाले के लिए कहते हैं कि **एषः छागः**=यह (छो छेदने) शत्रुओं का छेदन करनेवाला, **पूष्णो भागः**=पोषक अन्न का ही सेवन करनेवाला, (भज् सेवायाम्) **विश्वदेव्यः**=अपने में सब दिव्य गुणों को धारण करनेवाला मन्त्र का ऋषि 'गोतम' (प्रशस्त इन्द्रियोंवाला) **अश्वेन**=(अश् व्याप्तौ) सर्वत्र व्याप्त **वाजिना**=सर्वशक्तिसम्पन्न प्रभु से **पुरः नीयते**=आगे उन्नति-पथ पर ले-जाया जाता

है। २. **अर्वता**=(अर्व हिंसायाम्) सब बुराइयों का संहार करनेवाले प्रभु से **यत्**=जब **प्रियम्**=तृप्ति व कान्ति को देनेवाले **पुरोडाशम्**=हुतशेष (Leavings of an oblation) को **अभि**=ओर (नीयते) ले-जाया जाता है, अर्थात् यज्ञशेष का सेवन करने के लिए ही प्रेरित किया जाता है तब **त्वष्टा**=यह देवशिल्पी अथवा (त्विष् दीप्तौ) ज्ञान की दीप्तिवाला प्रभु **इत्**=निश्चय से **एनम्**=इस हुतशेष (यज्ञशेष) का सेवन करनेवाले को **सौश्रवसाय**=उत्तम ज्ञान के लिए **जिन्वति**=प्रीणित करता है। उत्तम ज्ञान प्राप्त कराके उसे प्रसन्नता का लाभ कराता है। वस्तुतः यज्ञशेष का सेवन चित्तशुद्धि के लिए आवश्यक है। शुद्ध चित्त में ही ज्ञान का प्रकाश होता है।

भावार्थ—हम काम-क्रोधादि का छेदन करें, पोषक अन्न का सेवन करें, दिव्य गुणों की प्राप्ति हमारा लक्ष्य हो। ऐसा होने पर प्रभु हमारी उन्नति का कारण बनेंगे। हम यज्ञशेष का ही सेवन करेंगे तो ज्ञानदीप्त प्रभु हमें ज्ञान से प्रसादयुक्त करेंगे।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

सहयज्ञ प्रजाओं का सर्जन

यद्धविष्यमृतुशो देवयानं त्रिर्मानुषाः पर्यश्वं नयन्ति।
अत्रा पूष्णः प्रथमो भागऽएति यज्ञं देवेभ्यः प्रतिवेदयन्नजः ॥२७॥

१. **यत्**=जब **हविष्यम्**=(हविषि उत्तमम्) जीव दानपूर्वक अदन में उत्तम होता है, अर्थात् दान देकर यज्ञशेष खाने की वृत्ति होती है तब २. **ऋतुशः**=ऋतु-ऋतु के अनुसार **देवयानम्**=देवताओं के मार्ग से चलता है, अर्थात् ऋतुचर्या का ध्यान करते हुए सत्य को अपनाता है तथा ३. **मानुषाः**=(मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति) विचारपूर्वक कर्मों को करनेवाले **अश्वम्**=उस सर्वव्यापक प्रभु को (अश् व्याप्तौ) **त्रिः**=प्रातः, मध्याह्न व सायं समय **परिनयन्ति**=अपने विचारों में प्राप्त कराते हैं, अर्थात् उस सर्वव्यापक प्रभु का ध्यान करते हैं। ४. **अत्र**=ऐसा होने पर **पूष्णः**=पूषा का **प्रथमो भागः**=सर्वोत्तम भाग **एति**=इन्हें प्राप्त होता है, अर्थात् इनको उत्तम पोषक तत्त्व प्राप्त होते हैं। इनका शरीर उत्तम पुष्टिवाला होता है और ५. **अजः**=कभी भी जन्म न लेनेवाला वह प्रभु अथवा सब प्रेरणाओं को प्राप्त करानेवाला वह प्रभु **देवेभ्यः**=इन देववृत्तिवाले पुरुषों के लिए **यज्ञम् प्रतिवेदयन्**=यज्ञों को प्राप्त कराता है। यह यज्ञ उनके लिए सब इष्टों को सिद्ध करनेवाला होता है।

भावार्थ—हम हवि के प्रयोग में उत्तम हों, देवयान मार्ग से चलें। सदा प्रभु का स्मरण करें, शरीर को सुपुष्ट करें, प्रभु से दिये गये यज्ञ को अपनाएँ।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

सप्तहोता यज्ञ

होताध्वर्युरावयाऽअग्निमिन्धो ग्रावग्राभऽउत शꣳस्ता सुविप्रः।
तेन यज्ञेन स्वरङ्कृतेन स्विष्टेन वक्षणा आ पृणध्वम्॥२८॥

१. गतमन्त्र में 'प्रभु ने यज्ञ को प्राप्त कराया' ऐसा कहा था। प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु कहते हैं कि हे दिव्य वृत्तिवाले पुरुषो! **तेन**=उस **स्वरङ्कृतेन**=साधु अलंकृत, अर्थात् बड़ी उत्तमता से तथा **स्विष्टेन**=उत्तम भावना से किये गये **यज्ञेन**=यज्ञ से तुम **वक्षणाः**=अपनी सब प्रकार की उन्नतियों को अथवा आशा-नदियों को **आपृणध्वम्**=पूर्ण करनेवाले बनो, अर्थात् इस यज्ञरूप उत्तम कर्म को जब तुम उत्तम भावना से व उत्तम प्रकार से करोगे तो तुम्हारी सब

इच्छाएँ पूर्ण हो पाएँगी—तुम्हारी सर्वतोमुखी उन्नति हो सकेगी। २. 'तुम कैसे बनो' इस विषय में भी प्रभु सात नामों का उच्चारण करते हुए सात बातें कहते हैं: (क) **होता**=तुम दानपूर्वक अदनवाले बनो, सदा यज्ञशेष का सेवन करनेवाले होओ। (ख) **अध्वर्युः**=अहिंसात्मक कार्यों को अपने साथ जोड़नेवाले होओ, कभी हिंसा में तुम्हारी प्रवृत्ति न हो। (ग) **अवयाः**=(कण अवयजने) तुम दुर्गुणों को अपने से सर्वथा दूर करनेवाले बनो। (घ) **अग्निमिन्धः**=ज्ञानाग्नि को अपने अन्दर दीप्त करने के लिए प्रयत्नशील होओ। (ङ) **ग्रावग्राभः**=प्रभु-स्तवन का ग्रहण करनेवाले बनो, (च) **शस्ता**=उत्तम कार्यों का शंसन करनेवाले होवो **उत**=और (छ) **सुविप्रः**=शोभन मेधावी बनो। प्रयत्न करो कि तुम्हारा ज्ञान अधिक-से-अधिक हो। इस प्रकार इन सात बातों को अपने जीवन में अनूदित करके तुम जीवनरूप सप्तहोताओंवाले यज्ञ को सुन्दरता से चलानेवाले बनो।

भावार्थ—जीवन को सप्तहोताओं से चलनेवाला यज्ञ बनाओ। यज्ञ को उत्तम भावना से व उत्तम प्रकार से करते हुए तुम अपनी सब उन्नतियों को सिद्ध करो।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

यूपव्रश्चन

यूपव्रस्काऽउत ये यूपवाहाश्चषालं येऽअश्वयूपाय तक्षति।
ये चार्वते पचनꣳसम्भरन्त्युतो तेषामभिगूर्त्तिर्नऽइन्वतु॥२९॥

१. गतमन्त्र में जीवन को यज्ञमय बनाने का उल्लेख है। उस 'जीवन-यज्ञ' की यज्ञशाला यह शरीर है। इस शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग उस यज्ञशाला के यूप हैं। इन यूपों-यज्ञस्तम्भों का ठीक होना अत्यन्त आवश्यक है, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **यूपव्रस्काः**=(यूपं वृश्चन्ति) जो इस अङ्गरूप यज्ञस्तम्भों का वृश्चन द्वारा ठीक निर्माण करनेवाले बढ़ई हैं। इस यज्ञस्तम्भों पर चढ़ी हुई चर्बीरूप मैल की तहों को छील-छालके जो इन स्तम्भों को ठीक-ठाक बना देते हैं, **उत**=और, **ये**=जो **यूपवाहाः**=इन यज्ञस्तम्भों का वहन करनेवाले हैं, अर्थात् इन अङ्गरूप स्तम्भों को कार्यों में प्रयुक्त करनेवाले हैं, **ये**=जो **अश्वयूपाय**=कर्मों में व्याप्त रहनेवाले जीव के इन यज्ञस्तम्भों के लिए **चषालम्**=(यूपाग्रामाग्रेस्थाप्यं काष्ठं) अङ्गरूपस्तम्भों के अग्रभाग में स्थाप्य मस्तिष्करूप चषाल को भी (तक्ष तनूकरणे) खूब सूक्ष्म व तीव्र बनाते हैं। २. **ये च**=और जो **अर्वते**=(हिंसायाम्) काम-क्रोधादि पशुओं की हिंसा करनेवाले के लिए—इसलिए कि वह कामादि का हिंसक बन सके **पचनं सम्भरन्ति**=पचन को, बुद्धि के परिपाक को सम्यक् प्राप्त कराते हैं, **ते**=इन लोगों का **अभिगूर्त्तिः**=उद्योग **नः इन्वतु**=हमें भी प्रीणित करनेवाला हो, अर्थात् हम भी बड़ी रुचि से ज्ञान का परिपाक करने में लगे रहें। ३. इस प्रकार मन्त्र में निम्न बातें स्पष्ट हैं—(क) हम अङ्ग-प्रत्यङ्ग को शरीररूप यज्ञशाला का स्तम्भ समझें। इन अङ्गों को चर्बी की तहों से बेडौल न होने दें। उचित व्यायाम व आसनों से उस चर्बी का तक्षण करते रहें। (ख) इन अङ्गों को सदा क्रियाशील बनाये रक्खें। अङ्ग शब्द का तो धात्वीय अर्थ ही 'गतिशील' है। अङ्गरूप साम्य शरीररूप यज्ञशाला का वहन करनेवाला हो। (ग) इन यूपों के अग्रभाग में स्थाप्य काष्ठ-चषाल यह मस्तिष्क है, इसका सुन्दर तक्षण अत्यन्त आवश्यक है। जितनी बुद्धि सूक्ष्म होगी उतना ही यह तत्त्वदर्शन ठीक कर सकेगी (चषालं तक्षति) (घ) इस यज्ञशाला में कामादि पशुओं का बन्धन हो सके उसके लिए आवश्यक है कि ज्ञान का उत्तम परिपाक हो। ज्ञान के परिपाक के न होने पर मनुष्य **अर्वा**=कामादि का संहार करनेवाला नहीं बन सकता।

(अर्वते पचनं सम्भरन्ति)।

भावार्थ—१. हम अङ्गरूप स्तम्भों का ठीक वृश्चन कर उन्हें सुन्दर, सुडौल बनाएँ। २. इन अङ्गरूप स्तम्भों को संभृत किये रखने के स्थान में इन्हें कार्य-विनियुक्त करें। ३. मस्तिष्क को तीव्र बनाएँ। ४. ज्ञान का परिपूर्ण पाक करने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

उप प्रागात्

उप प्रागात्सुमन्मेऽधायि मन्म देवानामाशाऽउप वीतपृष्ठः।
अन्वेनं विप्राऽऋषयो मदन्ति देवानां पुष्टे चकृमा सुबन्धुम्॥३०॥

१. गतमन्त्र के अनुसार यदि हम (क) अङ्ग-प्रत्यङ्ग को सुडौल बनाते हैं (ख) मस्तिष्क का सुन्दर तक्षण करते हैं तथा (ग) ज्ञान का परिपाक करते हैं और इस कार्य में रुकते नहीं तो **उपप्रागात्**=वह प्रभु हमारे समीप आते हैं। हम पर्वत की ओर चलते जाते हैं तो पर्वत हमारे समीप हो जाता है, इसी प्रकार यहाँ साधना करने से प्रभु हमारे समीप हो जाते हैं। समीप क्या? प्रभु का मेरे अन्दर निवास होता है। २. इस प्रभु के निवास से **सुमत्**=स्वयं ही (सुमत्=स्वयं-नि०) **मे**=मुझमें **मन्म**=(मननम्) ज्ञान **अधायि**=निहित होता है। प्रभु ज्ञानस्वरूप हैं। प्रभु का मुझमें निवास हुआ तो मेरे अन्दर ही ज्ञान का स्रोत उमड़ पड़ता है। ३. उस समय मेरी **आशाः**=आशा व इच्छा भी **देवानाम्**=देवों की हो जाती है। देवों की कामनाएँ अध्यात्मता का पुट लिये होती हैं। ४. **उप**=उस प्रभु के समीप रहकर मैं **वीतपृष्ठः**=कान्तपृष्ठवाला बनता हूँ। मेरी पीठ पाप के बोझों से नहीं लद जाती। मेरी पीठ पर पाप का कलंक नहीं होता। ५. **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा लोग तथा **विप्राः**=विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाले ज्ञानी लोग **एनम्**=इस समीप प्राप्त प्रभु के **अनुमदन्ति**=आनन्द से आनन्दित होते है, अर्थात् प्रभु को प्राप्त करके वे उस अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव करते हैं, जो अनुपम है। ६. **देवानाम् पुष्टे**=दिव्य गुणों के पोषण के निमित्त हम उस प्रभु को **सुबन्धुम्**=उत्तम बन्धु **चकृम**=करते हैं। प्रभु के साथ बना हुआ हमारा बन्धुत्व हममें दिव्य गुणों के निरन्तर विकास का कारण बनता है।

भावार्थ—प्रभु हमें प्राप्त होते हैं तो हमारे अन्तःज्ञान का स्रोत उमड़ पड़ता है। हम एक अनुपम आनन्द अनुभव करते हैं, प्रभु का यह उपासन हमारी दैवी प्रवृत्ति को बढ़ाता है।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

बन्धन व दिव्यता

यद्वाजिनो दाम सन्दानमर्वतो या शीर्षण्या रशना रज्जुरस्य।
यद्वा घास्य प्रभृतमास्ये तृणꣳसर्वा ता तेऽअपि देवेष्वस्तु॥३१॥

१. गतमन्त्र की समाप्ति इन शब्दों पर थी कि 'दिव्य गुणों के पोषण के निमित्त हम प्रभु को अपना सुबन्धु बनाते हैं'। 'उन्हीं दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए क्या-क्या करना' इसका उल्लेख करते हुए कहते हैं कि २. **यत्**=जो **वाजिनः**=शक्तिशाली पुरुष का **दाम**=ग्रीवा का बन्धनभूत रज्जु है, अर्थात् ग्रीवा का बन्धन है, कण्ठ को संयत करना है—इस प्रकार कण्ठ का संयम हो कि कोई भी अशिष्ट व अनावश्यक शब्द मुख से न निकले। २. जो **अर्वतः**=सब बुराइयों को संहार करनेवाले का **सन्दानम्**=पाद बन्धन है। 'पाँव' गति के साधन हैं। पादबन्धन का अभिप्राय पाँव को संयत करना, चाल को नपा-तुला बनाना

है। यह बुराइयों को नष्ट करनेवाला व्यक्ति व्यर्थ की चेष्टाओं को नहीं होने देता। इसकी चाल-ढाल संयत होती है। ३. **या**=जो **अस्य**=इस शक्तिशाली व बुराइयों के संहार करनेवाले की **शीर्षण्या रज्जुः**=सिर-स्थानीय रज्जु है। सिर की बन्धनभूत रज्जु का अभिप्राय ज्ञानेन्द्रियों के संयम से है। इसकी कोई भी ज्ञानेन्द्रिय अवाच्छनीय व्यवहार नहीं करती, यह अपने मस्तिष्क में कोई अवाच्छनीय विचार नहीं आने देता। ४. अथवा **अस्य**= इसकी जो **रशना**=कटिप्रदेश की रज्जु है। यह रज्जु उदर के संयम का संकेत कर रही है। उदर के संयम के साथ ही वह उपस्थ के संयम का भी द्योतक है। ५. इन सब 'ग्रीवा, पाद, सिर व कटि' के बन्धनों के साथ यह जो **वा घ**=निश्चय से **अस्य आस्ये**= इसके मुख में **तृणम्**=तृण अर्थात् वानस्पतिक भोजन ही **प्रभृतम्**=डाला गया है। यह कभी भी मांस भोजन को नहीं अपनाता। ६. इस प्रकार इन बातों का उल्लेख करके कहते हैं कि **ते**=तेरी **सर्वा ता**=सब बातें **देवेषु अस्तु**=(सन्तु म०) देवोपयोगी हों, अर्थात् तुझे दिव्य गुणों को प्राप्त करानेवाली हों। तेरा जीवन इन बातों के कारण अधिकाधिक दिव्य बनता जाए।

भावार्थ—इस मन्त्र में दिव्य गुणों के लिए पाँच बातें कही गई हैं १. शक्तिशाली बनकर ग्रीवा को संयत रखना, कोई अवाच्छनीय शब्द न बोलना, बोलचाल का नपा-तुला होना। २. बुराई के संहार के उद्देश्य से पाँव को बन्धन में रखना। चाल-ढाल को संयत रखना, व्यर्थ क्रिया नहीं करना। ३. शिरः बन्धन को अपनाना, सब ज्ञानेन्द्रियों की क्रियाओं व विचारों का संयम करना। ४. कटिबन्धन, अर्थात् उदर व उपस्थ को संयत करने का प्रयत्न। ५. उन्हीं भोजनों को करना जिनका प्रतीक तृण है, मांस-भोजन से बचना।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

कर्म में लगे रहना

यदश्वस्य क्रविषो मक्षिकाश यद्वा स्वरौ स्वधितौ रिप्तमस्ति।
यद्धस्तयोः शमितुर्यन्नखेषु सर्वा ता तेऽअपि देवेष्वस्तु॥३२॥

१. **यत्**=जो **अश्वस्य**=सदा कर्मों में व्याप्त रहनेवाले का तथा **क्रविषः**=(कृवि हिंसा-करणयोश्च) निरन्तर क्रिया के द्वारा बुराई का संहार करनेवाले का **मक्षिका**=(मक्षति= accumulate, to collect) जीविकार्थ धनोपार्जन **आश**=समय को खा लेता है, इसका बहुत-सा समय धनोपार्जन में ही व्यतीत हो जाता है। **यद्वा**=और जो **स्वरौ**=(स्वृ शब्दे) शब्दरूप वाङ्मय, अर्थात् ज्ञान में **रिप्तम्**=(लिप्तं) इसे लगाव है तथा **स्वधितौ**=सबके आत्मतत्त्व के धारण में इसे लगाव है। २. **यत्**=जो **हस्तयोः**=(कर्मणे हस्तौ विसृष्टौ) हाथों में इसे लगाव है, अर्थात् हाथों से कोई-न-कोई कार्य करता ही रहता है, अपने मुख्य कार्य के बाद आमोद-प्रमोद के रूप में किसी-न-किसी व्यासंग (Hobby) को अपनाये रखता है और इस प्रकार पूर्णतः सब दोषों को शान्त करनेवाले इस व्यक्ति का **यत्**=जो **न**=नहीं **खेषु**=छिद्रों में, दोषों में लगाव है, अर्थात् यह जो सब व्यसनों से ऊपर उठा रहना है, ३. **ते**=तेरी **सर्वा ता**=ये सब बातें **अपि**=भी **देवेष्वस्तु**=(सन्तु) देवोपयोगी हों, दिव्य गुणों की उत्पत्ति का कारण बनें।

भावार्थ—प्रस्तुत मन्त्र में दिव्य गुणों की उत्पत्ति के लिए निम्न बातें कही गई हैं—१. सद्गृहस्थ सर्वप्रथम तो गृहस्थ के सञ्चालन के लिए धनोपार्जन के कार्य में लगे। धनोपार्जन मक्षिका के समान ही करे, लाटरी से एक ही रात में धनी बनने का स्वप्न नहीं लेना। २. धनोपार्जन से वाङ्मय की उपासना करनी है। ३. मस्तिष्क के

थकने पर आत्मचिन्तन द्वारा हृदय में आत्मतत्त्व के स्थापन का प्रयत्न करना है ४. आमोद-प्रामोद के लिए हाथ के किसी व्यासंग को अपनाना है। ५. शान्त स्वभाववाला बनकर प्रयत्न करना है कि व्यसनों की ओर झुकाव न हो जाए (न+ख)।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

मेध का शृतपाकपचन

यदूवध्यमुदरस्यापवाति यऽआमस्य क्रविषो गन्धोऽअस्ति।
सुकृता तच्छमितारः कृण्वन्तूत मेधᳬशृतपाकं पचन्तु॥३३॥

१. गत दो मन्त्रों में दिव्य गुणों के विकास का उल्लेख हुआ है, उसके लिए स्वास्थ्य के ठीक होने का महत्त्व सुव्यक्त है। स्वास्थ्य का निर्भर तृण भोजन पर है। मानस स्वास्थ्य के लिए भोजन की सात्त्विकता की आवश्यकता है और शारीरिक स्वास्थ्य के लिए भोजन की सात्त्विकता के साथ परिपाक के ठीक से होने की भी आवश्यकता है, अतः प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि २. **यत्**=जो **ऊवध्यम्**=(भक्षितमपक्वमामाशयस्थम्।—म०) खाया हुआ अन्न ठीक से पचता नहीं वह **उदरस्य अपवाति**=पेट में दुर्गन्ध का कारण बनता है (गन्धयते—उ०) या वमन आदि द्वारा निकल जाता है (अपगच्छति—म०) इस प्रकार वातिक रोगों की उत्पत्ति होती है। ३. भोजन में **यः**=जो **आमस्य**=कच्चेपन का **गन्धः**=लेश **अस्ति**=है और परिणामतः इसके पूर्ण परिपाक न होने से कफजनित रोग उत्पन्न हो जाते हैं ४. अथवा भोजन में जो **क्रविषः**=(कृवि हिंसायाम्) पैत्तिक विकार के द्वारा हिंसा करने के दोष का **गन्धः**=लेश **अस्ति**=है ४. **तत्**=उस दोष को **शमितारः**=सब दोषों को दूर करके शक्ति देनेवाले **सुकृता**=सुसंस्कृत **कृण्वन्तु**=कर दें, अर्थात् उस दोष को पूर्ण तथा दूर कर दें। **उत**=और **मेधम्**=पवित्र सात्त्विक वस्तु को **शृतपाकम् पचन्तु**=ठीक परिपाक-वाला बनाएँ। उसे अतिपक्व व ईषत् पक्व न कर दें। ईषत् पक्व कफविकारों का कारण बनता है और अतिपक्व पित्तविकारों का कारण बनता है। पेट में जाकर ठीक पाचन न होने पर वातिक विकार कष्ट देते हैं, अतः भोजन सात्त्विक भी होना चाहिए और उसका उचित पाक भी आवश्यक है। यह उचित पाक ही यहाँ 'शृतपाक' कहा गया है।

भावार्थ—हम सात्त्विक पदार्थों का ही सेवन करें और उन सात्त्विक पदार्थों का सदा उचित परिपाक करके ही सेवन करें। फलों का भी कच्चे व गलेरूप में कभी सेवन न करें।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

देवों के लिए

यत्ते गात्राद॒ग्निना॑ प॒च्यमा॑नाद॒भि शूलं॒ निह॑तस्याव॒धाव॑ति।
मा तद्भूम्या॒माश्रि॑ष॒न्मा तृणे॑षु दे॒वेभ्य॒स्तदु॒शद्भ्यो॑ रा॒तम॑स्तु॥३४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब हम सात्त्विक भोजन का 'शृतपाक पचन'—उचित पचन करके सेवन करते हैं तब आमाशय में पहुँचकर 'वैश्वानर अग्नि' से उसका परिपाक होता है, उससे रस-रुधिरादि क्रम से वीर्य की उत्पत्ति होती है। प्रभु से शरीर में यह वीर्य इसलिए स्थापित किया गया है कि यह सब रोगों को कम्पित करके दूर किये रक्खे, परन्तु मनुष्य अज्ञानवश इस वीर्य के महत्त्व को ठीक से नहीं आँकता और उसको अधिक सन्तानोत्पत्ति में व व्यर्थ के भोगविलास में व्यय कर देता है। चाहिए यह कि हम इसकी रक्षा करें, सुरक्षित होकर यह हममें दिव्य गुणों के विकास का कारण बनेगा, अतः मन्त्र में कहते हैं

कि १. **अग्निना पच्यमानात्**=शरीर के अन्दर वैश्वानर अग्नि से पकाये जाते हुए भोजन से उत्पन्न रुधिरादि धातुओं से **शूलं अभि**=रोगों का लक्ष्य करके, अर्थात् रोगों को दूर करने के उद्देश्य से **निहतस्य**=(हन्=गति) निश्चय से प्राप्त कराये गये इस वीर्य का **यत्**=जो अंश **ते गात्रात्**=तेरे शरीर से **अवधावति**=दूर जाता है **तत्** =वह **भूम्याम्**=बीज के वपन की आधारभूत स्त्री में **मा**=मत **आश्रिषत्**=आलिंगन करे **तृणेषु**=तृणतुल्य तुच्छ विषयभोगों में तो वह न ही व्ययित हो, अर्थात् एक या अधिक-से-अधिक तीन सन्तानों के बाद वह सन्तानोत्पत्ति में भी व्ययित न हो—भोगविलास में उसके व्यय का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता। उससे बढ़कर मूर्खता क्या हो सकती है? २. **तत्**=वह अधिक सन्तान व भोगविलास में न व्ययित हुआ-हुआ वीर्य **उशद्भ्यः**=(Shine) चमकते हुए **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों के लिए **रातम्**=दिया हुआ **अस्तु**=हो। इस वीर्य का सर्वोत्तम विनियोग यही है कि इसे हम शरीर में सुरक्षित रक्खें। यह सुरक्षित वीर्य जहाँ शरीर में किसी प्रकार की पीड़ा (शूल) को न होने देगा वहाँ यह हमारे मनों में दिव्य गुणों की उत्पत्ति का कारण बनेगा। इस वीर्य के कारण हमारा यह पृथिवीरूप शरीर दृढ़ बनेगा, मस्तिष्क में ज्ञानज्योति जगेगी तथा हमारे मानस में दीप्त दिव्य गुणों का निवास होगा।

भावार्थ—भोजन के परिपाक से उत्पन्न वीर्य का सर्वोत्तम विनियोग यही है कि हम उसे शरीर में सुरक्षित रक्खें, जिससे शरीर में रोग उत्पन्न न हों और हमारे मनों में दिव्य गुणों का विकास हो, मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि दीप्त हो।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

आचार्य-कर्त्तव्य

ये वाजिनं परिपश्यन्ति पक्वं यऽईमाहुः सुरभिर्निर्हरेति।
ये चार्वतो माꣳसभिक्षामुपासतऽउतो तेषामभिगूर्त्तिर्नऽइन्वतु॥३५॥

१. गतमन्त्र में वीर्यरक्षा के महत्त्व का प्रतिपादन है। आचार्य गुरुकुलों में विद्यार्थी के वातावरण को सुन्दर बनाकर उसे वीर्यरक्षा के योग्य बनाते हैं। इसी वीर्यरक्षण के द्वारा वे उसके शरीर को शक्तिशाली व मस्तिष्क को परिपक्व ज्ञानवाला बनाते हैं। इसी के द्वारा वे उसके जीवन को दिव्य गुणों की सुगन्धि से परिपूर्ण करते हैं और उसके बाद उसे यही आदेश देते हैं कि तू इस ज्ञान को निश्चय से दूर-दूर तक फैलानेवाला बन। आचार्य कहते हैं कि काम-क्रोधादि का संहार करनेवाले तुझसे हम तेरे जीवन की ही भिक्षा माँगते हैं 'तू अपने मांस को इस लोक के कल्याण के लिए दे डाल'। मन्त्र में कहते हैं कि २. **ये**=जो आचार्य विद्यार्थी को **वाजिनम्**=शक्तिशाली व सुदृढ़ शरीरवाला तथा **पक्वम्**=परिपक्व ज्ञानवाला, परिपक्व बुद्धिवाला **परिपश्यन्ति**=देखते हैं तथा ३. **ये**=जो **ईम्**=निश्चय से **आहुः**=कहते हैं कि तू **सुरभिः**=(क) स्वास्थ्य के कारण चमकते हुए (Shining, Handsome) सुन्दर शरीरवाला है (ख) दीप्त ज्ञानाग्नि के कारण उत्तम बुद्धिमान् (Wise, Learned) हुआ है (ग) मन में उत्तम गुणोंवाला (Good, Virtuous) बना है। ऐसा तू **निर्हरः इति**='निश्चय से ज्ञान को दूर-दूर तक ले-जानेवाला बन' हम तो बस यही चाहते हैं। ४. **ये च**=और जो आचार्य **चार्वतः**=काम-क्रोधादि का संहार करनेवाला विद्यार्थी से **मांसभिक्षाम्**=उसके मांस (जीवन) की भिक्षा **उपासते**=माँग लेते हैं, अर्थात् जो उसे यह कहते हैं कि तू लोकहित के लिए अपना जीवन दे डाल, **तेषाम्**=उन, अपने लिए कुछ भी न चाहनेवाले आचार्यों का **अभिगूर्त्तिः**=उद्योग **उत**=निश्चय से **नः इन्वतु**=हमें प्राप्त करे,

अर्थात् हम भी इन्हीं आचार्यों में से एक बनें और विद्यार्थी को सुन्दर जीवनवाला व परिपक्व ज्ञानवाला बनाकर उससे लोकहित करने की गुरुदक्षिणा लें।

भावार्थ—आचार्य का कर्तव्य है कि (क) विद्यार्थी को दृढ़ शरीरवाला बनाये (वाजिनम्) (ख) उसके ज्ञान को परिपक्व करे (पक्वम्), (ग) उसको सुरभि बनाये—सुन्दर शरीरवाला, बुद्धिमान् व दिव्य गुणसम्पन्न करे। (घ) उसे इस ज्ञान को दूर-दूर तक फैलाने का निर्देश करे (निर्हरः इति), (ङ) लोकहित के लिए जीवन को खपा देने की प्रेरणा करे इसी को अपनी गुरुदक्षिणा समझे (मांसभिक्षामुपासते)।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

मांस्पचनी उखा

यन्नीक्षणं माँस्पचन्याऽउखाया या पात्राणि यूष्णऽआसेचनानि।
ऊष्मण्यापिधाना चरूणामङ्काः सूनाः परि भूषन्त्यश्वम्॥३६॥

१. इस शरीर को प्रस्तुत मन्त्र में 'मांस्पचनी उखा' यह नाम दिया गया है। उखा देगची को कहते हैं, जिसमें व्यञ्जनों का परिपाक होता है। इस शरीर में भी खाये हुए आहार का वैश्वानर अग्नि के द्वारा परिपाक होता है और उस परिपाक में 'रस, रुधिर, मांस, अस्थि, मज्जा व वीर्य' इन धातुओं का निर्माण होता है। यहाँ 'मांस' बाकी सब धातुओं का उपलक्षण है। **मांस्पचन्याः उखायाः**=मांसादि धातुओं का जिसमें निरन्तर पाक द्वारा निर्माण हो रहा है, इस देगची का **यत्**=जो यह **नीक्षणम्**=(नितराम् ईक्षणम्) ज्ञानेन्द्रियों द्वारा निरन्तर उस-उस विषय का दर्शन है, यह **अश्वम्**=निरन्तर इन क्रियाओं में व्याप्त जीव को **परिभू**=अलंकृत करता है। कभी इन ज्ञानेन्द्रियों से उस-उस विषय के ग्रहण की प्रक्रिया का विचार करें तो उसमें अद्भुत सौन्दर्य दृष्टिगोचर होता है। किस प्रकार ये दो आँखें एक ही वस्तु का ग्रहण करती हैं, दो कान एक ही शब्द सुनते हैं? यह सब सोचने पर बड़ा अद्भुत लगता है। २. इससे भी अद्भुत शरीर में ग्रन्थियों (Glands) का कार्य है। यहाँ प्रस्तुत मन्त्र में इन्हें 'पात्र' कहा है। ये सचमुच शरीर का 'पा-रक्षणे' रक्षण करनेवाली हैं। **याः**=जो **पात्राणि**=ग्रन्थियाँ **यूष्णः**=रस का **आसेचनानि**=शरीर में सर्वत्र सेचन करनेवाली हैं। इन ग्रन्थियों से विविध रस निकलकर शरीर में रक्षात्मक कार्यों को कर रहे हैं। इस प्रकार ये रसों के आसिचन **अश्वम्**=इस क्रिया में व्याप्त पुरुष को **परिभूषयन्ति**=अलंकृत कर रहे हैं। ३. यह त्वचा भी एक अद्भुत वस्तु है। यह **अपिधानः**=सारे शरीर को ढकनेवाली तो है ही और इस प्रकार **ऊष्मण्याः**=(ऊष्मशब्दस्य धारणार्थे—उ० ऊष्माणं धारयन्ति—म०) शरीर में यह गर्मी का धारण करनेवाली है। देगची पर ढक्कन भी यही कार्य करता है कि अन्दर की गर्मी को अन्दर ही रखता है और नष्ट नहीं होने देता। इसी प्रकार यह त्वचा इस 'मांस्पचनी उखा' का ढक्कन है। इस ढक्कन की यह विशेषता है कि यह अन्दर की अधिक गर्मी को पसीने आदि के रूप में बाहर कर देता है और उसी पसीने आदि के वाष्पीयन में ही बाहर की गर्मी व्ययित हो जाती है, शरीर में प्रविष्ट नहीं हो पाती। एवं, यह त्वचा एक अद्भुत अपिधान है जो इस शरीर में प्रविष्ट जीवात्मा को (अश्वं) **परिभूषति**=अलंकृत करता है। ४. इस शरीर में इन्द्रियाँ घोड़ों से उपमित होती हैं और उस समय जिन विषयों का ये ग्रहण करती हैं वे 'चरु' कहलाते हैं। **'विषयाँस्तेषु गोचारान्'**। इन्द्रियाँ जो इनका ग्रहण करती हैं, वे जो संस्कार उस मानस पटल पर या मस्तिष्क में पड़ते हैं वे वहाँ **'अङ्कः'**=चिह्न कहलाते हैं। इंग्लिश में ये ही Impressions

हैं। इन अङ्कों के बाद ही प्रेरणाओं का समय आता है। ये प्रेरणाएँ ही **सूनाः**='षू प्रेरणे' कही गई हैं। वस्तुतः ये **चरूणाम्**=विषयों के **अंकाः**=आगम व **सूनाः**=प्रयोग-प्रेरण भी अद्भुत हैं। ये इस अश्व को अलंकृत कर रहे हैं।

भावार्थ—यह शरीर परिपाक द्वारा मांसादि धातुओं का निर्माण करनेवाली उखा (देगची) है। इसमें १. ज्ञानेन्द्रियों से उस-उस विषय के ग्रहण की प्रक्रिया २. ग्रन्थियों से रसों का आसेचन ३. गर्मी को सुरक्षित करनेवाली ढक्कन के समान यह त्वचा ४. विषयों का ग्रहण व प्रवचन—ये सब बातें बड़ी ही अद्भुत हैं। ये इस उखा में रहकर कार्यव्याप्त जीव के मानो भूषण हैं।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

'काम' से ऊपर

मा त्वाग्निर्ध्वनयीद् धूमगन्धिर्मोखा भ्राजन्त्यभि विक्त जघ्रिः।
इष्टं वीतमभिगूर्त्तं वषट्कृतं तं देवासः प्रति गृभ्णन्त्यश्वम्॥३७॥

१. **त्वा**=तुझे **धूमगन्धिः**=अज्ञान की गन्धवाली अथवा 'धूञ् कम्पने' कम्पन की कारणभूत **अग्निः**=कामाग्नि **मा**=मत **ध्वनयीत्**=रणरणक को देनेवाली हो, शब्दयुक्त न करे। यह कामाग्नि संयोग में शृंगार-प्रधान शब्दों का उच्चारण कराती है और वियोग में प्रलम्भ शृंगार के विरह-ताप के सूचक शब्दों का। कामसन्तप्त कुछ गाता है, चाहे कितना ही असम्बद्ध-सा हो। इस काम में ज्ञानाग्नि बुझ-सी जाती है, धूआँ हो जाता है, अतः इसे 'धूमगन्धि' कहा है। जीवों में इस काम में ज्ञानाग्नि के इस प्रकार आवृत होने का उल्लेख है जैसे 'धूमेनाव्रियते वह्निः' धूम से अग्नि आवृत होती है। २. इस कामाग्नि के दीप्त होने पर यह गत मन्त्र में वर्णित **उखा**=मांसादि धातुओं का परिपाक करनेवाली शरीररूप उखा, जो अभी तक स्वास्थ्य की दीप्ति से **भ्राजन्ति**=चमकती थी **जघ्रिः**=(ग्रह उपादाने) जो सब उत्तम शक्तियों का ग्रहण किये हुए थी, वह **अभिविक्त**=(भयचलनयोः) वह कम्पित हो उठती है। वेद कहता है कि ये तेरी सुन्दर गात्रयष्टि **न अभिविक्त**=मत काँप उठे। न तू कामाग्नि का शिकार हो और न ही तेरी यह गात्रयष्टि काँप उठे। ३. इसके लिए तूने यह ध्यान करना है कि **इष्टम्**=(इष्टं अस्य अस्ति इति, तं) यज्ञादि करनेवाले को, वीतं (वी गतिर्जनन०) गति के द्वारा सब शक्तियों का विकास करनेवाले को, **अभिगूर्त्तम्**=सदा उत्तम कर्मों में उद्योगशील को, **वषट्कृतम्**=नियमपूर्वक अग्निहोत्र करनेवाले को, **तं अश्वम्**=उस सदा कर्मों में व्याप्त रहनेवाले पुरुष को **देवासः**=दिव्य गुण **प्रतिगृभ्णन्ति**=स्वीकार करते हैं, अर्थात् इस प्रकार इष्टादि उत्तम कर्मों में लगा हुआ आलस्यशून्य व्यक्ति कभी कामाग्नि का शिकार नहीं होता। यह अपनी ज्ञानाग्नि को सदा दीप्त रख पाता है। इसकी यह शरीररूप उखा तेजस्विता से चमकती रहती है।

भावार्थ—कामाग्नि का शिकार न होने पर ज्ञान दीप्त रहता है, शरीर तेजस्वी बना रहता है। कामाग्नि से बचने का उपाय यही है कि हम यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगे रहें।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

घास-भोजन (अमांस भोजन)

निक्रमणं निषदनं विवर्त्तनं यच्च पड्वीशमर्वतः।
यच्च पपौ यच्च घासिं जघास सर्वा ता तेऽअपि देवेष्वस्तु॥३८॥

१. गतमन्त्र के विषय को ही प्रस्तुत करते हुए कहते हैं **ते**=तेरी **ता सर्वा**=वे सब बातें **अपि**=भी **देवेषु**=देवोपयोगी **अस्तु**=हों, अर्थात् निम्न बातें तुझमें दिव्य गुणों के विकास के लिए सहायक हों। क्या-क्या बातें?—२. **निक्रमणम्**=घर से बाहर आना-जाना। (निष्क्रमणस्थानम्—उ०) घर से बाहर तू आवश्यक कार्यों के लिए आने-जानेवाला हो। तू व्यर्थ में न घूमता फिरे। ४. **निषदनम्**=तेरा उठना-बैठना देवोपयोगी हो। हीनपुरुषों के साथ उठना-बैठना होने पर तू अपनी हीनता को ही सिद्ध कर लेगा। बुरों के साथ संग स्वयं एक बड़ा पाप है, क्योंकि यह मनुष्य को उस-उस पाप में फँसाने का कारण हो जाता है। ५. **विवर्त्तनम्**=तेरी विविध चेष्टाएँ भी देवोपयोगी हों। हमारी छोटी-छोटी चेष्टाएँ हमारे स्वभाव-निर्माण में भाग लेती हैं। हँसी व प्यार में बोला हुआ अपशब्द भी हमारे चरित्र को प्रभावित करता है। ५. **अर्वतः**=बुराई का संहार करनेवाले **यच्च**=और जो (क) **पड्वीशम्**=(पादबन्धन) तेरा गति का नियमन है, संयत गति है, यह तेरे दैवी स्वभाव का निर्माण करनेवाली हो। (ख) 'पड्वीशं' शब्द का अर्थ उव्वट ने 'पादेषु विशति' इन शब्दों में किया है, पाँवों में स्थित होता है, अर्थात् नम्र बना रहता है। वस्तुतः यह नम्रता सब दिव्य गुणों की जननी है। ६. इन बातों के अतिरिक्त **यच्च पपौ**=जो जल पीता है और **घासिम्**=घास को, अर्थात् वानस्पतिक भोजन को **जघास**=खाता है। ये तेरा सादा खाना-पीना तेरे उच्च जीवन का कारण बने। मांसभोजन मनुष्य को कभी उच्चता की ओर नहीं ले-जाता। इससे कुछ-न-कुछ क्रूरता व स्वार्थ की वृत्ति को बढ़ावा मिलता है। अन्य साधनों की उपस्थिति में यदि एक मांसाहारी ऊँचे जीवन का प्रतीक होता है तो मांसाहार को छोड़ने पर वह और ऊँचा उठ जाएगा। मांस-भोजन देवों का नहीं, असुरों का है।

भावार्थ—हमारा घर से बाहर आना-जाना, उठना-बैठना, हमारी विविध चेष्टाएँ, गति का नियमन व नम्रता तथा सादा खान-पान—इन सबसे हममें दिव्य गुणों की वृद्धि हो।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

दैवी सम्पत्ति के साधन

यदश्वा॑य वास॑ऽउपस्तृ॒णन्त्य॑धीवा॒सं या हिर॑ण्यान्यस्मै।
स॒न्दान॒मर्व॑न्तं पड्वी॒शं प्रि॒या दे॒वेष्वा या॑मयन्ति॥३९॥

१. जो **प्रिया**=प्रिय वस्तुएँ तुझे **देवेषु**=दिव्य गुणों में **आयामयन्ति**=(आगमयन्ति) प्राप्त कराती हैं, अर्थात् इन बातों के कारण तेरे जीवन में दिव्य गुणों का विकास होता है। २. कौन-सी प्रिय वस्तुएँ?—(क) **यत्**=जो **अश्वाय**=कर्मों में व्याप्त रहनेवाले क्रियाशील विद्यार्थी के लिए **वासः**=प्रकृति-विज्ञान की गन्ध को **उपस्तृणन्ति**=आच्छादित करती हैं, फैलाती हैं (to spread, to expand), (ख) इस प्रकृति-विज्ञान की गन्ध के साथ **अधीवासम्**=सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म-विद्या की गन्ध को भी इसके लिए प्राप्त कराती हैं। प्रकृति-विज्ञान को 'वास' कहा गया है तो ब्रह्मविज्ञान को 'अधीवास' नाम दिया गया है। प्रकृति विज्ञान की गन्ध जीवन को सुन्दरता से बिताने के लिए आवश्यक है तो आत्मज्ञान की उत्कृष्ट गन्ध (अधीवास) संसार के प्रलोभनों में न उलझने के लिए आवश्यक है। (ग) **या**=जो **अस्मै**=कर्मठ विद्यार्थी के लिए **हिरण्यानि**='हितरमणीयानि' हितरमणीय वस्तुओं को प्राप्त कराते हैं, अर्थात् 'अभयं सत्त्वसंशुद्धिः' आदि दिव्य गुणों को जो ज्ञान के ही परिणाम हैं, इसके हृदय में स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। 'वास व अधीवास' ने मस्तिष्क को उज्ज्वल बनाया था तो ये हिरण्य इसके हृदय को रमणीय बनाते हैं। (घ)

अर्वन्तम्=सब बुराइयों का संहार करनेवाले **सन्दानम्**=उदर व कटि के बन्धन को इसे प्राप्त कराते हैं। वस्तुतः भोजन का संयम व ब्रह्मचर्य का नियम हो जाने पर जीवन में बुराइयाँ समाप्त हो जाती हैं, इसीलिए 'संदानं' का यहाँ 'अर्वन्तं' ऐसा विशेषण दिया है। (ङ) **पड्वीशम्**=सन्दान के साथ इसे वे पादबन्धन भी प्राप्त कराते हैं, अर्थात् (पद् गतौ) इसकी गति व चाल-ढाल को बड़ा नियमित करते हैं। इस चाल-ढाल को नियमित करना ही 'अनुशासन 'discipline' में रखना कहलाता है। ये सब बातें इस विद्यार्थी में दिव्य गुणों को प्राप्त करानेवाली होती हैं। ३. मन्त्रार्थ में 'अश्व' शब्द यह सुस्पष्ट ध्वनित कर रहा है कि आचार्य अकर्मण्य व आलसी विद्यार्थी का निर्माण नहीं कर सकते। विद्यार्थी में दिव्य गुणों के विकास के लिए उसे प्रकृति-विज्ञान व आत्मज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। अज्ञान को दूर किये बिना किसी भी प्रकार का निर्माण सम्भव नहीं होता। विद्यार्थी के हृदय में हितरमणीय बातों के प्रति रुचि उत्पन्न करना आवश्यक है। उसको **संदान**=उदरबन्धन-भोजन के संयम का महत्त्व समझाना आवश्यक है। इसी के साथ चाल-ढाल का मपा-तुला होना भी जीवन की पूर्णता के लिए आवश्यक है।

भावार्थ—आचार्य कर्मठ विद्यार्थी को 'प्रकृति-विज्ञान, आत्मज्ञान, हितरमणीय बातों के प्रति रुचि, भोजन का संयम व गति का नियमन' इन बातों को प्राप्त कराके दैवी सम्पत्तिवाला बनाने का प्रयत्न करते हैं।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

सामृत पाणि से दिया गया 'दण्ड'

यत्ते॑ सा॒दे मह॑सा॒ शूकृ॑तस्य॒ पार्ष्ण्या॑ वा॒ कश॑या वा तु॒तोद॑।
स्रु॒चेव॒ ता ह॒विषो॑ऽअध्व॒रेषु॒ सर्वा॒ ता ते॒ ब्रह्म॑णा सूदयामि ॥४०॥

१. गतमन्त्र के अनुसार विद्यार्थी आचार्य से अनुशिष्ट होकर इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनता है। आचार्य ने अपनी **महसा**=तेजस्विता से विद्यार्थी को यथासम्भव शीघ्र ही शिक्षित करने का प्रयत्न किया है (शूकृतस्य शीघ्रं शिक्षितस्य—द०) इस कार्य में उसे कभी-कभी विद्यार्थी को दण्ड भी देना पड़ता है। यह दण्ड हाथ-पाँव के प्रहार से भी हो सकता है (पाष्र्ण्या=Neel एड़ी से भी) या वाणी के द्वारा झिड़कने से भी (कशया—'कश शासने')। आचार्य कहता है कि इन दण्डों को तुमने ऐसा समझना जैसे **स्रुचा**=चम्मच से यज्ञों में **हविषः**=घी डालना हो। आचार्य उन सब दण्डों को ज्ञान से प्रतितुलित कर देता है, अर्थात् ज्ञान देकर दण्ड के कष्ट को विस्मारित कर देता है। २. आचार्य विद्यार्थी से कहता है कि हे **सादे**=शरीररूप रथ के उत्तम सञ्चालक शिष्य **महसा**=तेजस्विता से **शूकृतस्य**=शीघ्र शिक्षित किये हुए **ते**=तुझे **यत्**=जो **पाष्र्ण्या**=ऐड़ी से **वा**=अथवा **कशया**=(कशा वाङ्नाम-निघण्टौ) वाणी से झिड़कने के द्वारा **तुतोद**=मैंने कभी-कभी पीड़ित किया है, तूने यह स्पष्टरूप से समझ लेना कि **ता**=वे सब दण्ड तो इस प्रकार के हैं **इव**=जैसे **स्रुचा**=चम्मच से **हविषः**=हवि का **अध्वरेषु**=यज्ञों में प्रक्षपेण होता है। इन दण्डों के द्वारा तेरी वृत्ति को मैंने इधर-उधर से हटाकर ज्ञानप्रवण करने का प्रयत्न किया है। ३. इस प्रकार **ते**=तेरी **ता**=इन सब दण्ड-पीड़ाओं को मैं **ब्रह्मणा**=ज्ञानादि के द्वारा **सूदयामि**=भ्रष्ट करता हूँ। तुझे इस प्रकार कड़े नियन्त्रण में रहने से प्राप्त हुआ ज्ञान सब पीड़ाओं को भुलानेवाला होता है। आचार्य दयानन्द ने 'सूदयामि' का अर्थ 'प्रापयामि' किया है। तब इस मन्त्रखण्ड का अर्थ यह होगा कि मैं **ता**=उन सब दण्डों को **ते**=तुझे **ब्रह्मणा**=ज्ञान के हेतु से ही

सूदयामि=प्राप्त कराता हूँ। उन सब दण्डों का उद्देश्य एक ही होता है कि तू किसी प्रकार अधिक-से-अधिक ज्ञान प्राप्त करनेवाला बने। एवं, स्पष्ट है कि आचार्य अमृतयुक्त हाथों से दण्ड देते हैं, न कि विषसिक्त हाथों से।

भावार्थ—आचार्य विद्यार्थी को जो दण्ड देते हैं वह यज्ञ में स्रुवा से हवि के प्रक्षेपण के समान है। उसके द्वारा आचार्य विद्यार्थी के जीवन-यज्ञ में ज्ञान की आहुति देने का प्रयत्न करते हैं।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

चतुस्त्रिँशत् वङ्क्री

चतुस्त्रिꣳशद्वाजिनो देवबन्धोर्वङ्क्रीरश्वस्य स्वधितिः समेति।
अच्छिद्रा गात्रा वयुना कृणोत परुष्परुरनुघुष्या विशस्त॥४१॥

१. गतमन्त्र के अनुसार आचार्य से ठीक अनुशासन में चलाया हुआ विद्यार्थी जब 'स्वधिति' अपना धारण करनेवाला बनता है, अर्थात् इधर-उधर भटकता नहीं, अपने मन को एकाग्र करने में समर्थ होता है तब **वाजिनः**=शक्तिशाली **देवबन्धोः**=दिव्य गुणों को अपने में बाँधनेवाले तथा उस **देव**=प्रभु के बन्धुभूत आचार्य के जो **अश्वस्य**=निरन्तर क्रिया में लगे रहते हैं और इस क्रियाशीलता के कारण जो 'वाजी व देवबन्धु' बने हैं, उनके **चतुस्त्रिंशत् वङ्क्रीः**=चौंतिस गूढ़ ज्ञानों (Knowledge) को **समेति**=प्राप्त होता है। वक् धातु गति वाचक है, 'गति' का प्रथम अर्थ ज्ञान है। ३३ देवों का ज्ञान यदि 'अपराविद्या' है तो ३४वें प्रभु (महादेव) का ज्ञान ही 'पराविद्या' है। मन्त्र संख्या ३९ में इन्हें ही 'वासः तथा अधिवासः' शब्द से स्मरण किया था। विद्यार्थी ज्ञान तभी प्राप्त कर पाता है जब वह एकाग्रवृत्ति का हो, 'स्वधिति' बने। आचार्य वही आदर्श है जो 'वाजी-देवबन्धु व अश्व' है। ज्ञेय वस्तुएँ ३३ देव ३४वें महादेव हैं। इनका ज्ञान ही क्रमशः अभ्युदय व निःश्रेयस का साधक होता है। ३३ देवों का ज्ञान हमें शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ बनाता है तो ३४वें महादेव का ज्ञान हमें आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत करता है। ३. यह आचार्य **वयुना**=ज्ञानपूर्वक कर्मों के द्वारा **गात्रा**=विद्यार्थी के सब अंगों को **अच्छिद्रा**=दोषरहित **कृणोतु**=करे। ३. वेद कहता है—हे विद्यार्थियो! तुम भी आचार्य से दिये हुए ज्ञान का **अनुघुष्य**=आचार्य के पश्चात् उच्चारण करके, अर्थात् आचार्य से उच्चारित ज्ञान को अनुघोषण द्वारा आत्मसात् करके **वि परुः परुः**=एक-एक पर्व के, जोड़ के दोष का **विशस्त**=छेदन करो (छिन्त-द०) और इस प्रकार अपने सारे क्षेत्रों को निर्दोष बनाने का प्रयत्न करो। आचार्य की तुम्हें निर्दोष बनाने की यह साधना तुम्हारी अनुकूलता से ही सफल हो सकती है। विद्यार्थी की बनने की वृत्ति न हो तो आचार्य उसे कुछ बना नहीं सकते।

भावार्थ—१. एकाग्रता से विद्यार्थी आचार्य से दिये गये ३३ देवों व ३४वें महादेव के ज्ञान को प्राप्त करता है। २. ज्ञानपूर्वक कर्मों से आचार्य विद्यार्थी को निर्दोष बनाता है ३. विद्यार्थी को चाहिए कि आचार्य के इस पावनकार्य में अपनी अनुकूलता पैदा करे।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**यजमानः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

त्वष्टा-अश्व

एकस्त्वष्टुरश्वस्या विशस्ता द्वा यन्तारा भवतस्तथऽऋतुः।
या ते गात्राणामृतुथा कृणोमि ता ता पिण्डानां प्र जुहोम्यग्नौ॥४२॥

१. गतमन्त्र के प्रकरण को ही चलाते हुए कहते हैं कि **एकः**=जीवन-निर्माण के कार्य में मुख्य भाग लेनेवाला (एके मुख्यान्यकेवलाः) आचार्य **त्वष्टुः**=(त्विष दीप्तौ) बुद्धि के दृष्टिकोण से सूर्य के समान (त्वष्टा-सूर्य) चमकनेवाले तथा **अश्वस्य**=शरीर में घोड़े के समान शक्तिवाले विद्यार्थी का **विशस्ता**=विशेषरूप से दोषों का छेदन करनेवाला होता है। २. **द्वा यन्तारा भवतः**=दो ही बातें निर्माण कार्य में नियामक होती हैं। आचार्य की सभी क्रियाएँ इन दो दृष्टिकोणों को लिये हुए होती हैं—(क) विद्यार्थी का मस्तिष्क **त्वष्टा**=सूर्य के समान देदीप्यमान बने और उसका शरीर **अश्व**=घोड़े के समान शक्तिशाली हो। ३. दो नियामक तत्त्वों के साथ **तथा**=उसी प्रकार **ऋतुः**=ऋतु भी नियामक होती है। स्पष्ट है गर्मी का कार्यक्रम वर्षाऋतु में कुछ परिवर्तित हो जाएगा और वर्षा में चलनेवाले कार्य को सर्दी में कुछ परिवर्तन करना होगा। पढ़ाई के समय में ऋतु-परिवर्तन के साथ परिपाक करना ही पड़ेगा। वास्तव में ऋतु के अनुसार की गई सब क्रियाएँ विद्यार्थी को नीरोग व निर्दोष बनानेवाली होंगी। आचार्य विद्यार्थी से कहता है कि—४. **या** जो मैं तेरे **गात्राणाम्**=अंगों के दोषों को **ऋतुथा**=ऋतु के अनुसार **कृणोमि**=दूर करने का प्रयत्न करता हूँ अथवा ऋतु के अनुसार अंगों के संस्कार का प्रयत्न करता हूँ तो **अग्नौ**=प्रगतिशील तुझे **ता-ता**=उन-उन **पिण्डानाम्**=बलों को (पिण्ड=might, strength, power) **प्रजुहोमि**=आहुत करता हूँ। इन्हें निर्दोष बनाने के लिए किये गये संस्कारों द्वारा तुझे प्रत्येक अंग में सशक्त करता हूँ। ५. वस्तुतः आचार्य का यज्ञ यही है कि वह विद्यारूप अग्नि में अङ्ग-प्रत्यङ्ग में शक्तिरूप हव्य की आहुति दे, विद्यार्थी को सर्वांग सुन्दर बनाने का प्रयत्न करे।

भावार्थ—आचार्य ने विद्यार्थी को 'त्वष्टा व अश्व' दीप्त व सबल बनाना है। इसके लिए वह ऋतुओं के अनुसार सब क्रियाओं को करता हुआ विद्यार्थीरूप अग्नि में बलों की आहुति देता है, अर्थात् उन्हें सर्वाङ्ग सबल बनाने का प्रयत्न करता है।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

जीवन का अन्तिम दिन

मा त्वा तपत्प्रियऽआत्मापियन्तं मा स्वधितिस्तन्वऽआ तिष्ठिपत्ते।
मा ते गृध्नुरविशस्तातिहाय छिद्रा गात्राण्यसिना मिथू कः॥४३॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब आचार्य विद्यार्थी का ठीक से निर्माण करता है, तब यह अपना जीवन इतना सुन्दर बिताता है कि शरीर को छोड़ते हुए इसे किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता। वास्तविक ज्ञान को प्राप्त करने के कारण इसे शरीर में इतनी आसक्ति नहीं होती कि वह उसे छोड़ते हुए अपनी मृत्यु समझे। आत्मतत्त्व के धारण से वह शरीर की वास्तविक स्थिति को जानता है, इस शरीर में ही पड़े रहने का उसका आग्रह नहीं होता। मन्त्र में कहते हैं कि २. **अपियन्तम्**=इस शरीर को छोड़कर जाते हुए तुझको अथवा ब्रह्म के साथ मेल करते हुए **त्वा**=तुझे प्राण **मा तपत्**=सन्तप्त न करे। तुझे प्राणों से पृथक् होने का कोई सन्ताप न हो। तू इन प्राणों से सहर्ष विदाई ले-सके। ३. **स्वधितिः**=आत्मतत्त्व का धारण, आत्मतत्त्व को समझना **ते**=तुझे **तन्वः**=शरीर का **मा आतिष्ठिपत्**=स्थापित करनेवाला न बनाये, अर्थात् शरीर के जाने से तू अपने को जाता हुआ न समझे। ४. परन्तु यह सब तभी होगा जब आचार्य ने तुझे प्रकृति-विज्ञान के साथ आत्मज्ञान को देने का प्रयत्न किया होगा, इसी प्रयत्न में उसे तुझे कभी-कभी ताड़ना भी किया होगा ('पाष्ण्यां वा कशया वा तुतोद') परन्तु इसके विपरीत यदि आचार्य लोभवश हुआ और उत्तमता से दोषों को दूर

करनेवाला न हुआ तब तो तेरे जीवन के अन्तिम दिन का दृश्य इससे विपरीत होगा। तू मृत्यु से घबरा रहा होगा और तुझे देह से पृथक् होने में आत्मविनाश की प्रतीति हो रही होगी, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **गृध्नुः**=धन के विषय में लोभवाला **अविशस्ता**=उत्तम उपदेशों द्वारा दोषों का छेदन न करनेवाला, अर्थात् उत्तम उपदेश न देनेवाला कोई आचार्य **छिद्राणि अतिहाय**=दोषों को छोड़कर, अर्थात् बिना ही दोषों के **मिथू**=यों ही झूठ-मूठ **गात्राणि**=तेरे अङ्गों को **असिना कः**=तलवार से छिन्न न करे (अन्यथा मा छिदत्—म०) अर्थात् तुझे सदा वह ज्ञानादि की उन्नति के लिए उचित दण्ड देनेवाला हो। तुझसे धन लेने के लिए तुझे यूँ ही दण्डित न करे।

भावार्थ—आचार्य से ज्ञान प्राप्त करके हम अपने स्वरूप को समझें। जीवन के अन्तिम दिन प्राणों से वियोग हमें पीड़ित करनेवाला न हो। यह होगा तब यदि अपने ब्रह्मचर्यकाल में हमें अलोभी, उचित दण्ड व ज्ञान-प्रदान से दोषों को दूर करनेवाला आचार्य प्राप्त होगा।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

मर्त्यलोक से देवलोक में

न वाऽउऽएतन्म्रियसे न रिष्यसि देवाँ२॥ऽइदेषि पथिभिः सुगेभिः।
हरी ते युञ्जा पृषतीऽअभूतामुपास्थाद्वाजी धुरि रासभस्य॥४४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार 'अगृध्नु तथा विशस्ता' अलोभी व दोषों से दूर करनेवाले आचार्य के मिलने पर विद्यार्थी का जीवन इतना सुन्दर बनता है कि इस शरीर के छोड़ने पर उसे अगला शरीर मिलता है तो अधिक उत्तम ही मिलता है, अतः वह मृत्यु के दिन अपने को ही इस रूप में प्रेरणा देता है कि तू **वा उ**=निश्चय से **एतत्**=यह **न म्रियसे**=मर थोड़े ही रहा है। यह शरीर से अलग होने की प्रक्रिया तेरी मृत्यु नहीं है, क्योंकि उत्तम शिक्षित होकर तू **सुगेभिः पथिभिः**=सरल मार्गों से, छल-छिद्र व कुटिलता के मार्गों से दूर रहकर चलता हुआ **इत्**=निश्चय से **देवान् एषि**=देवों के ज्ञान को प्राप्त होता है, अर्थात् इस मर्त्यलोक में जन्म न लेकर देवलोक में जन्म लेता है। २. यह देवलोक को प्राप्त होना तेरा निश्चित ही है, क्योंकि **ते**=तेरे **हरी**=ये ज्ञानेन्द्रिय पञ्चक व कर्मेन्द्रिय पञ्चकरूप घोड़े **युञ्जा**=सदा योगयुक्त होने का प्रयत्न करते रहे और अतएव **पृषती**=(पृष् to sprinkle) अपने में ज्ञान व शक्ति का सेचन करनेवाले तथा (पृष् to give) ज्ञान का प्रसार करनेवाले **अभूताम्**=हुए और ३. यह भी इसलिए हुआ कि **रासभस्य धुरि**=(रास् शब्दे) शब्दों द्वारा ज्ञान देनेवाले अध्यापकों ने अग्रभाग में, मुख्यस्थान में **वाजी**=शक्तिशाली, त्याग की वृत्तिवाला, ज्ञानी व क्रियाशील आचार्य **उपास्थात्**=तुझे प्राप्त हुआ (**वाज**=शक्ति, त्याग, ज्ञान, क्रियां)। इस प्रकार के आचार्य के प्राप्त होने का ही यह परिणाम है कि तेरा जीवन बड़ा सुन्दर बना, तेरी इन्द्रियाँ विषयों में न भटकीं, अतः अब तुझे उत्तम देवलोक ही प्राप्त होगा। शरीर से पृथक् होने में कोई घाटे का सौदा नहीं। यह मृत्यु है ही नहीं। यह तो निचली श्रेणी से ऊपर जाने के समान है। मर्त्यलोक से देवलोक में जाना है, उन्नति है, नकि अवनति, Promotion है नाकि Demotion, अतः यह तो हर्ष का विषय है, मृत्यु सुख है नकि दुःख।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष शरीर को छोड़ता हुआ इस प्रकार आत्मप्रेरणा देता है कि "तू मर थोड़े ही रहा है, से जीवन बिताकर तू देवलोक को प्राप्त करेगा। तेरी इन्द्रियाँ योगयुक्त तथा अपने में ज्ञान व शक्ति का सेचन

करनेवाली बनें और यह सब इस कारण कि तुझे शब्दज्ञान देनेवाले उपाध्यायों का अग्रणी आचार्य बड़ा ज्ञानी, त्यागी व शक्तिशाली प्राप्त हुआ। उस आचार्य की कृपा से तेरा जीवन सुन्दर बना और परिणामत: तुझे देवलोक प्राप्त होने लगा है।

ऋषि:—**गोतम:**। देवता—**प्रजा:**। छन्द:—**स्वराट्पङ्क्ति:**। स्वर:—**पञ्चम:**।

इहलोक का उत्कर्ष

सुगव्यं नो वाजी स्वश्व्यं पुꣳस: पुत्राँ२॥ऽउत विश्वापुषꣳरयिम्।
अनागास्त्वं नोऽअदिति: कृणोतु क्षत्रं नोऽअश्वो वनताꣳहविष्मान्॥४५॥

१. गतमन्त्र में आचार्य को **वाजी**=ज्ञानी, शक्तिशाली व क्रियाशील कहा है। यह **वाजी**=ज्ञानी व शक्तिसम्पन्न आचार्य जोकि **अदिति:**=हमारा खण्डन न होने देनेवाला है, वह उत्तम ज्ञान देकर **न:**=हमारी **सुगव्यम्**=(गाव ज्ञानेन्द्रियाणि) ज्ञानेन्द्रियों की उत्तमता को, **स्वश्व्यम्**=(अश्वा: कर्मेन्द्रियाणि) कर्मेन्द्रियों की उत्तमता को, **पुंस: पुत्रान्**=पुरुषार्थ साधक पुरुषों व पुत्रों को, वीरता के द्वारा अपनी पवित्रता को सिद्ध करनेवाले पुत्रों को **उत**=और **विश्वापुषम् रयिम्**=सबका पोषण करनेवाले धन को, जिस धन के द्वारा हम केवल अपना ही पोषण न करके औरों का भी पोषण करते हैं और, **अनागास्त्वम्**=(अनागस्त्वम्—म०) निष्पापता को **कृणोतु**=करे। आचार्य की कृपा से हम 'उत्तम ज्ञानेन्द्रियोंवाले, उत्तम कर्मेन्द्रियोंवाले, वीर पुत्रोंवाले, सबका पोषण करनेवाले धन से युक्त और अतएव निष्पाप जीवनवाले' बनें। २. **अश्व:**=सदा कर्मों में व्याप्त रहनेवाला, **हविष्मान्**=सदा दानपूर्वक अदन की वृत्तिवाला यह आचार्य **न:**=हमारे लिए **क्षत्रम्**=क्षत से त्राण करनेवाले बल को **वनताम्**=प्राप्त कराए (वनताम्=करोतु—उ०)। ३. इस प्रकार सुन्दर जीवन बितानेवाला ही ४४वें मन्त्र के अनुसार हर्षपूर्वक शरीर को छोड़ पाता है। उसका यह जीवन तो सुन्दर बीतता ही है, उसे अगला लोक भी उत्तम प्राप्त होता है। एवं, आचार्य का दिया हुआ ज्ञान इसकी इहलौकिक व पारलौकिक उभयविध उन्नति का कारण बनता है।

भावार्थ—आचार्य 'वाजी, अदिति:, अश्व व हविष्मान्' होता है तो वह विद्यार्थी को 'सुगव्य, स्वश्व्य, वीरतायुक्त, सर्वपोषक धन, निष्पापता व क्षत्र-बल' को प्राप्त करानेवाला बनता है।

ऋषि:—**गोतम:**। देवता—**विश्वेदेवा:**। छन्द:—**भुरिक्शक्वरी:**। स्वर:—**धैवत:**।

स्वर्ग का निर्माण

इमा नु कं भुवना सीषधामेन्द्रश्च विश्वे च देवा:।
आदित्यैरिन्द्र: सगणो मरुद्भिरस्मभ्यं भेषजा करत्।
यज्ञं च नस्तन्वं च प्रजां चादित्यैरिन्द्र: सह सीषधाति॥४६॥

१. गतमन्त्र के अनुसार उत्तम शिक्षा द्वारा उत्तम जीवनवाला बनके जब विद्यार्थी समावृत होकर संसार में आता है तब वह कहता है कि **नु**=अब (now) **इन्द्र:**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **च**=तथा **विश्वेदेवा:**=संसार की सभी दिव्य शक्तियाँ ऐसी कृपा करें कि हम मिलकर **इमा भुवना**=इन लोकों को, जिनमें कि हमारा निवास है, **कं सीषधाम**=सुखमय सिद्ध करें। अपने निवासस्थानभूत लोकों को हम स्वर्गतुल्य बनानेवाले हों। प्रत्येक व्यक्ति अपने घर को स्वर्ग बनाये, प्रत्येक सभ्य समाज को सुन्दर बनाने का ध्यान करे। प्रत्येक नागरिक अपने राष्ट्र को स्वर्ग बनाने का निश्चय करे। २. **इन्द्र:**=सब रोगादि शत्रुओं का विद्रावण

करनेवाला प्रभु **सगणः**=इन सब प्राकृतिक शक्तिरूप देवगणों के साथ—**विश्वेदेवाः**'=सब देवों के साथ—विशेषकर **आदित्यैः**=वर्ष में संक्रान्तियों के कारण १२ नामोंवाले आदित्यों के साथ तथा **मरुद्भिः**=४९ प्रकार की वायु के साथ **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **भेषजा**=रोगनिवारक औषधों को **करत्**=करे, अर्थात् (क) प्रभु स्मरण के द्वारा, (ख) प्राकृतिक शक्तियों के अनुकूल वर्तन से, (ग) सूर्यकिरणों के सम्पर्क में रहने से तथा (घ) अधिक-से-अधिक खुली वायु में विचरने से हम स्वस्थ जीवनवाले बनने का प्रयत्न करें। वस्तुतः लोक को स्वर्ग बनाने के लिए सबसे अधिक यही बात आवश्यक है। स्वर्ग-निवासी देव अजर व अमर हैं। वे जीर्णशक्ति व रोगों के शिकार नहीं होते। हम भी प्रस्तुत चारों उपायों का प्रयोग करते हुए स्वस्थ बनें और प्रार्थना करें—**इन्द्रः**=ज्ञान के प्रकाश का सूर्य प्रभु अथवा ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाला प्रभु **आदित्यैः सह**=ज्ञान-विज्ञान का आदान करनेवाले सब विद्वानों के साथ, अर्थात् इन विद्वानों द्वारा **नः**=हमारे जीवनों में **यज्ञम् च**=यज्ञरूप उत्तम कर्मों को **तन्वं च**=(तन् विस्तारे) शक्तियों के लिए तथा **प्रजां च**=प्रजा को **सीषधाति**=सिद्ध करें। प्रभुकृपा से हमें उन ज्ञानी विद्वानों का सम्पर्क प्राप्त हो जिनके ज्ञान को सुनकर हम इस संसार में यज्ञों के करने, शक्तियों को विस्तृत करने तथा उत्तम प्रजा के निर्माण में ही लगे रहें। ऐसा होने पर क्या हमारा यह लोक सुखमय न होगा?

भावार्थ—प्रभु व प्राकृतिक शक्तियों की अनुकूलता में चलकर हम अपने लोक को स्वर्ग बनाएँ। प्रभु का उपासन, प्राकृतिक नियमों का पालन, सूर्य सम्पर्क में निवास व शुद्ध वायु के सेवन से हम स्वस्थ बनें। प्रभु के उपासन व ज्ञानी विद्वानों के संग से हममें वह ज्ञान की ज्योति जगे जिससे हमारे कर्म यज्ञात्मक हों, हम अपनी शक्तियों का विस्तार करें तथा उत्तम ज्ञान का निर्माण करनेवाले बनें। अपने लोक को स्वर्ग बनाने का यही मार्ग है।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**शक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

'गोतम' की प्रार्थना

अग्ने त्वं नोऽअन्तमऽउत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः।
वसुरग्निर्वसुश्रवाऽअच्छा नक्षि द्युमत्तमꣳरयिं दाः।
तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनमीमहे सखिभ्यः॥४७॥

१. गतमन्त्र के अनुसार अपने लोक को स्वर्ग बनाने की कामनावाला प्रभु से प्रार्थना करता है—हे **अग्ने**=हमारी सब उन्नतियों के साधक प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमारे **अन्तमः**=अधिक-से-अधिक समीप हो **उत**=और **त्राता**=हमें रोगों व वासनाओं से रक्षित करनेवाले हो। इस प्रकार **शिवः भव**=आप हमारे लिए कल्याणकारी होते हो। **वरूथ्यः**=(वरूथ आच्छादन) आप हमारे उत्तम आच्छादन व गृह हो अथवा आप ही हमें उत्तम धन देनेवाले हो (वरूथ=wealth)। २. **वसुः**=आपकी कृपा से हमारा निवास उत्तम होता है, **अग्निः**=आप हमारी सब उन्नतियों को सिद्ध करते हैं। **वसुश्रवा**=आप ही निवास के लिए आवश्यक धन व ज्ञान देनेवाले हैं। ३. **अच्छ नक्षि**=आप हमारी ओर आते हैं (नक्ष गतौ) यह कितनी सौभाग्य की बात है कि (You knock at our door) आप हमारे दरवाज़े को थपथपाते हैं और यदि हम उस ब्रह्ममुहूर्त में सोये ही नहीं रह जाते, अपितु उठकर दरवाज़ा खोलते हैं तो आप **द्युमत्तमं रयिं दाः**=हमें अत्यन्त दीप्तियुक्त धन देते हैं, अर्थात् आपकी कृपा से हमें वह धन प्राप्त होता है, [illegible] के साथ ऊँचे-से-ऊँचे [illegible]वास है। हे **शोचिष्ठ**=

हमारे हृदयों को अधिक-से-अधिक शुचि बनानेवाले! **दीदिवः**=हमारे मस्तिष्कों को ज्ञान से दीप्त करनेवाले प्रभो! **तं त्वा**=उस आपको **नूनम्**=निश्चय से **सुम्नाय**=सुख के लिए अथवा **सुम्न**=Hymn स्तोत्रों के लिए **ईमहे**=याचना करते हैं। हम यह चाहते हैं कि हमारा जीवन सदा आपके स्तवन से युक्त हो, और साथ ही **सखिभ्यः**=समान ज्ञानवाले मित्रों के लिए पार्थना करते हैं, आपकी कृपा से हमें ज्ञानी मित्र मिलते रहे, जिससे हम इस संसार-यात्रा में कभी फिसल न जाएँ।

भावार्थ—प्रभु हमारे समीपतम मित्र हैं। प्रभु हमारे समीप आते हैं और यदि हम प्रभु के स्वागत के लिए उद्यत होते हैं तो ज्योतिर्मय धन को प्राप्त करनेवाले बनते हैं। हम प्रभुस्तवन की वृत्तिवाले बनें और ज्ञानी मित्रों को प्राप्त करें।

सूचना—अपने लोक को स्वर्गलोक बनाना ही सच्चा 'अश्वमेध' है। यहाँ अश्वमेघ यज्ञ समाप्त होता है। अगला अध्याय 'विवस्वान् याज्ञवल्क्य' ऋषि के मन्त्र से प्रारम्भ होता है। यह ऋषि 'दीदिवस्' प्रभु की कृपा से 'विवस्वान्'=ज्ञान की किरणोंवाला बना है और 'शोचिष्ठ' प्रभु की कृपा से सदा यज्ञों में वसानः=गति करनेवाला याज्ञवल्क्य हुआ है। यह प्रार्थना करता है—

इति पञ्चविंशोऽध्यायः॥

अथ षड्विंशोऽध्यायः

—:o:—

ऋषिः—**याज्ञवल्क्यः**। देवता—**अग्न्यादयः**। छन्दः—**अभिकृतिः**। स्वरः—**ऋषभः**॥

पूर्ण स्वास्थ्य

अग्निश्च पृथिवी च सन्नते ते मे सं नमतामदो वायुश्चान्तरिक्षं च सन्नते ते मे सं नमतामदऽआदित्यश्च द्यौश्च सन्नते ते मे सं नमतामदऽआपश्च वरुणश्च सन्नते ते मे सं नमतामदः। सप्त सꣳसदोऽअष्टमी भूतसाधनी। सकामाँ२॥ऽअध्वनस्कुरु संज्ञानमस्तु मेऽमुना॥१॥

१. **अग्निश्च पृथिवी च**=अग्नि और पृथिवी **सन्नते**=परस्पर आनुकूल्य से चल रहे हैं। पृथिवी अधिष्ठान है और अग्नि उसपर अधिष्ठित प्रधान देवता है, इनका कभी प्रातिकूल्य नहीं होता। ये दोनों प्रभुकृपा से मेरे भी अनुकूल हैं। इनकी अनुकूलता से मेरा शारीरिक स्वास्थ्य ठीक है, पृथिवी शरीर है और अग्नि उस शरीर में व्याप्त होनेवाली उचित उष्णता (वैश्वानर अग्नि=पाचन का कारणभूत अग्नि) है। इनके ठीक रहने से मैं स्वस्थ हूँ। **ते**=वे दोनों **मे**=मेरे प्रति **अदः संनमताम्**=उस प्रभु को प्राप्त कराएँ, अर्थात् मैं स्वस्थ शरीरवाला बनकर भोगप्रवण न बन जाऊँ, अपितु इस स्वस्थ शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में प्रभु के माहात्म्य को देखनेवाला बनूँ। २. **वायुः च अन्तरिक्षम् च**=वायु और अन्तरिक्ष **संनते**=परस्पर अनुकूलतावाले हैं। अन्तरिक्ष वायु का अधिष्ठान है। वे दोनों प्रभुकृपा से मेरे भी **सन्नमताम्**=अनुकूल हैं। इनकी अनुकूलता से मेरा मानस स्वास्थ ठीक है। अन्तरिक्ष हृदय है और वायु उसमें निरन्तर सञ्चार करनेवाले प्राण है। इनके ठीक होने से मेरा मन पूर्ण स्वस्थ है। **ते**=वे दोनों **मे**=मेरे प्रति **अदः सं नमताम्**=उस प्रभु को प्राप्त कराएँ। मैं इनकी रचना में प्रभु के माहात्म्य को देखूँ। ३. **आदित्यः च द्यौः च**=सूर्य व द्युलोक **सन्नते**=परस्पर अनुकूलतावाले हैं। द्युलोक आदित्य का अधिष्ठान है। प्रभुकृपा से ये मेरे प्रति भी अनुकूल हैं। इनकी अनुकूलता से मेरा मस्तिष्क स्वस्थ है। वस्तुतः द्युलोक ही शरीर में मस्तिष्क है और उस मस्तिष्क में होनेवाली 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' ही आदित्य का प्रकाश है। इनके ठीक होने पर मस्तिष्क पूर्ण स्वस्थ होता है। **ते**=वे दोनों **मे**=मेरे प्रति **अदः संनमताम्**=उस प्रभु को प्राप्त कराएँ, अर्थात् मैं मस्तिष्क में तथा उस मस्तिष्क में रहनेवाले ज्ञान के प्रकाश में प्रभु के माहात्म्य को देखूँ। ४. **आपः च वरुणः च**=जल व जलों की अधिष्ठातृ देवता वरुण **सन्नते**=परस्पर अनुकूलतावाले हैं। 'आपः' शरीर में वीर्य हैं और 'वरुण' शरीर में द्वेषादि का वारक है, द्वेषादि से दूर रहकर उत्तम व्रतों के बन्धन में अपने को बाँधना ही 'वरुण' बनना है। वीर्य के अभाव में वरुण नहीं बना जाता, निर्वीर्य पुरुष चिड़चिड़ा व झगड़ालु हो जाता है। इनकी अनुकूलता से मेरा त्रिविध स्वास्थ्य ठीक रहता है। वीर्य तथा व्रतों का बन्धन शरीर को नीरोग, मन को निर्मल व बुद्धि को तीव्र व दीप्त बनाते हैं। ५. हे प्रभो **सप्त**=पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि—ये सात **संसदः**=तेरे आयतन हैं। ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा प्रकृति का ज्ञान होने पर प्रकृति के कण-कण में तेरी महिमा दिखती है, मन तेरी

महिमा का अनुभव करता है और तीव्र बुद्धि से ही तेरा दर्शन होता है। इस प्रकार ये सात तेरे संसद् हैं। **अष्टमी**=आठवीं वाणी **भूतसाधनी**=सब भूतों को वश में करनेवाली होती है। इसके द्वारा हम अपने विचारों को प्रकट करके उनके मस्तिष्कों व हृदयों को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। ६. हे प्रभो! आप **अध्वनः**=हमारे मार्गों को **सकामान्**=सकाम, प्राप्तकाम, अर्थात् सफल मनोरथवाला **कुरु**=कीजिए। हम जिस भी मार्ग पर चलें, वहाँ अवश्य सफल हों और इन सब मार्गों पर चलते हुए **मे**=मेरा **अमुना**=आप प्रभु से **संज्ञानम् अस्तु**=संज्ञान हो, संगमन हो। आपसे ऐकमत्यवाला होकर ही मैं उस-उस मार्ग का अनुसरण करूँ, अर्थात् मुझे अपनी सब क्रियाओं में सदा आपका स्मरण रहे।

भावार्थ—मैं शरीर, हृदय व मस्तिष्क के स्वास्थ्य को सिद्ध करूँ। वीर्यरक्षा व व्रतों का बन्धन मुझे पूर्ण स्वस्थ बनाये। मैं ज्ञानेन्द्रियों, मन व बुद्धि से प्रभु का साक्षात्कार करूँ, वाणी से लोगों को आकृष्ट करनेवाला बनूँ। मेरी सब क्रियाएँ सफल हों तथा प्रभुस्मरण के साथ हों।

ऋषिः—**लौगाक्षिः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**स्वराडत्यष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**।

ज्ञानयज्ञ से प्रभु का आराधन

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्याᳬशूद्राय चार्य्याय च स्वाय चारणाय च।
प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं मे कामः समृध्यतामुप मादो नमतु ॥२॥

१. गतमन्त्र का 'विवस्वान् याज्ञवल्क्य'='ज्ञान की किरणोंवाला, यज्ञ में विचरनेवाला' प्रस्तुत मन्त्र में 'लौगाक्षि' बनता है, उसका दृष्टिकोण सदा लोकहितवाला होता है (लौग=लोक)। यह प्रभु से प्रार्थना करता है कि मेरा आपसे इस प्रकार संज्ञान हो कि **यथा**=जिसमें मैं **इमाम्**=इस **कल्याणी वाचम्**=कल्याणकर वाणी को **जनेभ्यः**=सब लोगों के हित के लिए **आवदानि**=समन्तात् व्यक्त करनेवाला बनूँ। मैं इस वेदवाणी को **ब्रह्मराजन्याभ्याम्**=ब्राह्मणों के लिए तथा क्षत्रियों के लिए **शूद्राय च अर्याय च**=शूद्रों के लिए तथा वैश्यों के लिए **स्वाय च**=अपनों के लिए तथा **चारणाय**=परायों के लिए (नास्ति रणो येन सह वाक् सम्बन्धरहितः मे शत्रुरिति वा० म०) शत्रुओं के लिए भी मैं इस वेदवाणी को उच्चरित, प्रकाशित करता हूँ। २. इस ज्ञान-प्रसार के कार्य से मैं **देवानाम्**=विद्वानों का **प्रियः भूयासम्**=प्रिय बनूँ, अर्थात् विद्वान् लोगों को मेरा यह ज्ञान-प्रसार का कार्य प्रीति देनेवाला हो और साथ ही **दक्षिणायै (दक्षिणायाः)**=दक्षिणा के **दातुः**=देनेवाले का **इह**=यहाँ **प्रियः**=प्रिय **भूयासम्**=होऊँ। दक्षिणा देनेवाले को भी दक्षिणा देते हुए प्रसन्नता का अनुभव हो। ३. **अयम् मे कामः**=यह मेरी इच्छा है कि (क) मैं ब्राह्मणादि सभी के लिए वेदज्ञान को व्यक्त करूँ। (ख) इस कार्य से मैं विद्वानों का प्रिय बनूँ। (ग) दक्षिणा देनेवाले भी प्रसन्नता का अनुभव करें। यह मेरी इच्छा **समृध्यताम्**=समृद्ध हो, अर्थात् सफल हो। मेरे इस ज्ञानयज्ञ से आराधित हुए-हुए **अदः**=वे प्रभु **मा**=मुझे **उपनमतु**=समीपता से प्राप्त हों, अर्थात् मैं अपने इस कार्य से प्रभु को आराधित करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—प्रभु मेरी इस इच्छा को पूर्ण करें कि मैं सभी के लिए वेदज्ञान को देनेवाला बनूँ। इस ज्ञानयज्ञ से मैं विद्वानों का प्रिय बनूँ। दक्षिणा को देनेवाले दक्षिणा देने में प्रसन्नता अनुभव करें और इस ज्ञानयज्ञ से मैं प्रभु की आराधना को प्राप्त करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—गृत्समदः। देवता—ईश्वरः। छन्दः—भुरिगत्यष्टिः। स्वरः—गान्धारः।

जितेन्द्रिय, विकसित शक्ति, बलवान्

बृह॑स्पते॒ऽअति॒ यद॒र्योऽअर्हा॑द् द्यु॒मद्वि॒भाति॒ क्रतु॑म॒ज्जने॑षु।
यद्दी॒दय॒च्छव॑सऽ ऋतप्रजात॒ तद॒स्मासु॒ द्रवि॑णं धेहि चि॒त्रम्।
उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽसि॒ बृह॒स्पत॑ये त्वै॒ष ते॒ योनि॒र्बृह॒स्पत॑ये त्वा॥३॥

१. गतमन्त्र में कहा था कि मैं वेदज्ञान का प्रचार करूँ। प्रचार के लिए आवश्यक है कि वह वेदज्ञान हमें प्राप्त हो। वेदज्ञान को अप्राप्त व्यक्ति ने क्या वेद का प्रचार करना? अतः मन्त्र में उस वेदज्ञान के प्रकाश के लिए प्रार्थना करते हुए 'गृत्समद' ऋषि, जो प्रभु का स्तवन करते हैं (गृणाति) और प्रसन्न रहते हैं (माद्यति), कहते हैं कि हे **बृहस्पते**=वेदज्ञान के पति प्रभो! **यत्**=जिस वेदज्ञान को **अति अर्यः**=अतिशयेन जितेन्द्रिय, अपनी इन्द्रियों को वश में करनेवाला ही **अर्हात्**=(अर्हति) प्राप्त करने योग्य होता है। २. जो **द्युमत्**=ज्ञान की दीप्तिवाला तथा **क्रतुमत्**=सब यज्ञों का प्रतिपादन करनेवाला वेदज्ञान **जनेषु**=(जनि प्रादुर्भाव) अपनी शक्तियों का विकास करनेवाले लोगों में **विभाति**=विशेषरूप से दीप्त होता है। ३. **यत्**=जो वेदज्ञान **शवसा**=बल से **दीदयत्**=चमकता है, अर्थात् जिस वेदज्ञान का प्रकाश सबल व्यक्ति में ही होता है। ४. हे **ऋतप्रजात**=(ऋतं प्रजातं यस्मात्—द०) ऋत के उत्पत्तिस्थान प्रभो! **तत्**=वह **चित्रम् द्रविणम्**=अद्भुत वेदज्ञानरूपी धन **अस्मासु**=हम गृत्समदों में **धेहि**=स्थापित कीजिए। आपसे वेदज्ञान को प्राप्त करके ही हम उसे लोगों में प्रचारित कर पाएँगे। इस वेदज्ञान के पात्र बनने के लिए हम (क) **अर्य**=जितेन्द्रिय बनेंगे, (ख) **जन**=अपनी शक्तियों का विकास करनेवाले बनेंगे तथा (ग) **शवस**=अपने में बल का सम्पादन करेंगे। इस वेदज्ञान के द्वारा जहाँ हम प्रकृति के सारे विज्ञान को प्राप्त करेंगे (द्युमत्), वहाँ इस वेद से हमें अपने कर्त्तव्यभूत यज्ञों का भी ज्ञान होगा (क्रतुमत्)। ५. हे प्रभो! आप **उपयामगृहीतो असि**=उपासना के द्वारा क्रिया में लाये हुए यम-नियमों से गृहीत होते हुए जाने जाते हो। **बृहस्पतये त्वा**=उस वेदज्ञान के पति प्रभु के लिए, अर्थात् उसकी प्राप्ति के लिए मैं तुझे ग्रहण करता हूँ। **एषः**=यह प्रभु **ते**=तेरा **योनिः**= उत्पत्तिस्थान है, अर्थात् इस प्रभु से ही तेरा प्रकाश हुआ है। **बृहस्पतये त्वा**=उस बड़े-बड़े लोकों के पति प्रभु के लिए तुझ वेदज्ञान को मैं ग्रहण करता हूँ।

भावार्थ—वेदज्ञान की प्राप्ति के लिए हम जितेन्द्रिय, शक्तियों का विकास करनेवाले व बलशाली बनें। यह वेदज्ञान प्रभु के प्रकाश के लिए भी आवश्यक है।

ऋषिः—रम्याक्षी। देवता—इन्द्रः। छन्दः—स्वराड्जगती। स्वरः—निषादः।

वासना-विनाश व स्तवन

इन्द्र॒ गोम॑न्नि॒हा या॑हि॒ पिबा॒ सोम॑ꣳशतक्रतो। वि॒द्यद्भि॒र्ग्राव॑भिः सु॒तम्।
उ॒प॒या॒मगृ॑हीतो॒ऽसीन्द्रा॑य त्वा॒ गोम॑तऽए॒ष ते॒ योनि॒रिन्द्रा॑य त्वा॒ गोम॑ते॥४॥

१. गतमन्त्र का 'गृत्समद' प्रस्तुत मन्त्रों में 'रम्याक्षीः'=रमणीय आँखोंवाला बनता है। प्रभु का कुछ-कुछ आभास होने पर मानस आह्लाद का आँखों में बसना स्वाभाविक है। यह रम्याक्षि कहता है कि हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **गोमन्**=वेदवाणियोंवाले प्रभो! **इह**=इस मानव-जीवन में **आयाहि**=आप हमें प्राप्त हो। २. इस प्रार्थना को सुनकर प्रभु रम्याक्षि से कहते हैं कि हे **शतक्रतो**=सैकड़ों प्रज्ञानोंवाले व शतवर्षपर्यन्त यज्ञमय जीवन बितानेवाले

रम्याक्षे! तू **सोमं पिब**=सोम का पान कर। शरीर में उत्पन्न इस सोम को शरीर में ही सुरक्षित करनेवाला बन। यह सोम **विद्यद्भिः** (दो अवखण्डने)=विशेषरूप से वासनाओं का खण्डन करनेवालों से तथा **ग्रावभिः**=स्तोताओं (गृणन्ति इति—द०) से **सुतम्**=अपने अन्दर उत्पन्न किया जाता है। सोमरक्षा के लिए हम अपने अन्दर वासनाओं को उत्पन्न न होने दें और प्रभु का स्तवन करनेवाले बनें। ३. अब रम्याक्षि कहता है—हे प्रभो! **उपयामगृहीतः असि**=आप उपासना द्वारा प्राप्त यम-नियमों से जाने जाते हो। हे वेद! मैं **त्वा**=तुझे **इन्द्राय गोमते**=इस परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए ही प्राप्त करता हूँ, जोकि वेदवाणियोंवाला है। **एषः**=यह प्रभु ही **ते**=तेरा **योनिः**=उत्पत्तिस्थान है। **इन्द्राय गोमते**=मैं तुझे उस सब आसुरवृत्तियों का संहार करनेवाले वेदवाणियों के पति प्रभु की प्राप्ति के लिए ही स्वीकार करता हूँ।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए वीर्य की रक्ष और सोम का पान आवश्यक है। इसके साधन हैं, वासनाओं से बचना व प्रभु का स्तवन करना। वेदज्ञान भी प्रभु-प्राप्ति के लिए ही है।

ऋषिः—**रम्याक्षी**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

गोमान् ग्रावा

इन्द्रा याहि वृत्रहन् पिबा सोमꣳशतक्रतो। गोमद्भिर्ग्रावभिः सुतम्।
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा गोमतऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा गोमते॥५॥

१. गतमन्त्र के ही भाव को परिवर्तित शब्दों में रम्याक्षि इस प्रकार प्रकट करता है—हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **वृत्रहन्**=ज्ञान के आवरणभूत काम को विध्वस्त करनेवाले प्रभो! **आयाहि**=आप यहाँ मेरे हृदयाकाश में आइए। २. उत्तर देते हुए प्रभु कहते हैं कि **शतक्रतोः**=सैकड़ों प्रज्ञानोंवाले व शतवर्षपर्यन्त यज्ञ को चलानेवाले रम्याक्षे। **सोमं पिब**=तू सोम का पान करनेवाला बन। यह सोम **गोमद्भिः**=वेदवाणियों का अध्ययन करनेवाले **ग्रावभिः**=स्तोताओं से **सुतम्**=उत्पादित किया जाता है। सोम की रक्षा के लिए आवश्यक है कि हम वेदवाणियों का सतत अध्ययन करें। ३. अब रम्याक्षि कहता है कि हे प्रभो! आप **उपयामगृहीतः असि**=उपासना के द्वारा प्राप्त यम-नियमों से जाने जाते हो। हे वेद। **त्वा**=मैं तुझे **गोमते इन्द्राय**=उस वेदवाणियोंवाले ज्ञानरूप परमैश्वर्य-सम्पन्न प्रभु की प्राप्ति के लिए ही प्राप्त करता हूँ। **एषः**=यह प्रभु **ते**=तेरा **योनिः**=उत्पत्तिस्थान है। मैं उस **गोमते इन्द्राय**=वेदवाणियोंवाले प्रभु के लिए ही **त्वा**=तुझे प्राप्त करता हूँ।

भावार्थ—प्रभु की प्राप्ति के लिए सोम की रक्षा आवश्यक है, उस सोमरक्षा के लिए हम वेदज्ञान को प्राप्त करनेवाले बनें और प्रभु का स्तवन करनेवाले हों। वेदज्ञान भी प्रभु की प्राप्ति के लिए साधन होता है।

ऋषिः—**प्रदुराक्षिः**। देवता—**वैश्वानरः**। छन्दः—**जगतीः**। स्वरः—**निषादः**॥

वैश्वानर प्रभु का आराधन

ऋतावानं वैश्वानरमृतस्य ज्योतिषस्पतिम्। अजस्रं घर्ममीमहे।
उपयामगृहीतोऽसि वैश्वानराय त्वैष ते योनिर्वैश्वानराय त्वा॥६॥

१. उल्लिखित साधनों को कार्यान्वित करता हुआ रम्याक्षि जिस दिन प्रभु का दर्शन करता है उस दिन प्रदुराक्षि (प्रभुरूप द्वारवाला) कहलाता है और कहता है कि हम **ईमहे**=उस प्रभु से याचना करते हैं जो (क) **ऋतावानम्**=सत्य व यज्ञवाला है (ख)

वैश्वारनम्=(विश्वनरहितम्)=सब मनुष्यों का हित करनेवाला है, (ग) **ऋतस्य ज्योतिषस्पतिम्**=सत्य, अविनाशी ज्योति, अर्थात् तेज का पालक है—तेज का अधिष्ठान है, (घ) **अजस्रम्**=(न जरयति नश्यति) अनुपक्षीण व अहिंसित है, (ङ) **घर्मम्**=सब मलों का क्षरण करनेवाला तथा दीप्त है (घृ क्षरणदीप्त्योः)। २. यह प्रादुराक्षि प्रभु से कहता है कि **उपयामगृहीतः असि**=हे प्रभो! आप उपासना द्वारा धारण किये गये यम-नियमों से गृहीत होते हो। मैं **त्वा**=तुझे वेद को **वैश्वानराय**=विश्वनरों का हित करनेवाले प्रभु के लिए स्वीकार करता हूँ। **एषः**=ये प्रभु **ते**=तेरा **योनिः**=उत्पत्तिस्थान है, अतः मैं **त्वा**=तुझे **वैश्वानराय**=इस विश्वनरों का हित करनेवाले के लिए स्वीकारता हूँ—मेरा यह वेदाध्ययन प्रभु-प्राप्ति के लिए ही होता है।

भावार्थ—हम वैश्वानर प्रभु का आराधन करें। वे यम-नियमों से गृहीत होते है। वेदज्ञान प्रभु प्राप्ति का साधन बनता है।

ऋषिः—**कुत्सः**। देवता—**वैश्वानरोऽग्निः**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

भौतिकता का त्याग

वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिश्रीः।
इतो जातो विश्वमिदं वि चष्टे वैश्वानरो यतते सूर्येण।
उपयामगृहीतोऽसि वैश्वानराय त्वैष ते योनिर्वैश्वानराय त्वा॥७॥

१. गतमन्त्र का प्रादुराक्षि=प्रभु के दर्शनवाला व्यक्ति सारी वासनाओं का संहार करनेवाला बनता है, अतएव 'कुत्स' हो जाता है। (कुथ हिंसायाम्)। कुत्स प्रार्थना करता है कि हम **वैश्वानरस्य**=इस विश्वनरहित करनेवाले प्रभु की **सुमतौ**=कल्याणी मति में **स्याम**=हों, अर्थात् हम हृदयस्थ प्रभु की कल्याणी मति को सुनें और उसके अनुसार चलने का प्रयत्न करें। २. यह वैश्वानर **राजा**=सारे संसार को दीप्त करनेवाले हैं तथा इस संसार को व्यवस्थित Regulate करनेवाले हैं। **हि**=निश्चय से सबको **कम्**=सुख देनेवाले हैं। **भुवनानाम्**=सब भुवनों के प्राणियों के **अभिश्रीः**=अभिश्रयणीय हैं, सेवनीय हैं। सब प्राणी अन्त में प्रभु का ही आश्रय ढूँढते हैं। ३. **इतः**=इस सर्वाश्रयणीय प्रभु से **जातः**=प्राप्त विकासवाला व्यक्ति **इदम् विश्वम्**=इस सारे ब्रह्मण्ड को **विचष्टे**=(Abandon, Leave) त्याग देता है। प्रभु को प्राप्त करनेवाला व्यक्ति संसार में उलझता नहीं। प्रभु-प्राप्ति के आनन्द की तुलना में संसार का आनन्द तुच्छ हो जाता है। ४. **वैश्वानरः**=सब मनुष्यों का हित करनेवाला वह प्रभु **सूर्येण**=(सरति) स्वयं सरण करनेवाले पुरुषार्थी के साथ **यतते**=उसकी उन्नति के लिए उद्योग करता है, अर्थात् प्रभु हमारा हित करते हैं, परन्तु करते तभी हैं जब हम स्वयं यत्नशील हों। ५. यह कुत्स कहते हैं कि **उपयामगृहीतः असि**=हे प्रभो! आप उपासना द्वारा प्राप्त यम-नियमों से गृहीत होते हो। 'कुत्स' ऋषि वेद को सम्बोधन करके कहते हैं कि **त्वा**=तुझे **वैश्वानराय**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले प्रभु की प्राप्ति के लिए ग्रहण करता हूँ। **एषः**=ये प्रभु ही **ते**=तेरे **योनिः**=उत्पत्तिस्थान हैं। मैं **त्वा**=तुझे **वैश्वानराय**=वैश्वानर प्रभु की प्राप्ति के लिए ग्रहण करता हूँ।

भावार्थ—हम प्रभु को वैश्वानररूप में देखें, हम स्वयं भी सब मनुष्यों का हित करनेवाले बनें। प्रभु का दर्शन करनेवाला इस संसार में भोगों में नहीं उलझता, उन्नति-पथ पर निरन्तर आगे बढ़ता है और प्रभु उसकी सहायता करते हैं। यह वेदज्ञान उसे प्रभु-प्राप्ति के योग्य बनाता है।

ऋषिः—**कुत्सः**। देवता—**वैश्वानरः**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**।

उक्थरूपी वाहन

वैश्वानरो नऽऊतयऽआ प्र यातु परावतः। अग्निरुक्थेन वाहसा।
उपयामगृहीतोऽसि वैश्वानराय त्वैष ते योनिर्वैश्वानराय त्वा॥८॥

१. गतमन्त्र का ऋषि कुत्स ही आराधना करता है—**वैश्वानरः**=सब मनुष्यों का हित करनेवाला प्रभु **नः**=हमारी **ऊतये**=रक्षा के लिए **परावतः**=दूर-से-दूर देश से भी **आप्रयातु**=सर्वथा आये ही। सर्वव्यापकता के नाते प्रभु सर्वत्र हैं, परन्तु जब तक हमें प्रभु का ज्ञान नहीं तब तक प्रभु हमसे दूर ही हैं। प्रभु का ज्ञान ही हमें प्रभु का सामीप्य प्राप्त कराता है। २. वह **अग्निः**=हमें निरन्तर आगे ले-चलनेवाला प्रभु **उक्थेन वाहसा**=स्तोत्ररूप वाहन से समीप प्राप्त हो। प्रभु का स्तवन करता हुआ स्तोता प्रभु के गुणों को अपने में धारण करता है, प्रभु-जैसा बनता है और इस प्रकार प्रभु का उपासक व प्रभु के सामीप्यवाला होता है। ३. कुत्स प्रभु से कहते हैं कि हे प्रभो! आप **उपायगृहीतः असि**=उपासना द्वारा प्राप्त यम-नियमों से जाने जाते हो। ४. इस प्रकार प्रभु से कहकर कुत्स वेद को सम्बोधित करता है कि मैं **त्वा**=तुझे **वैश्वानराय**=सब नरों के हित करनेवाले प्रभु के लिए ग्रहण करता हूँ। **एषः**=ये प्रभु ही **ते**=तेरे **योनिः**=उत्पत्तिस्थान हैं। अतः **त्वा**=तुझे मैं **वैश्वानराय**=सब नरों का हित करनेवाले प्रभु के लिए ग्रहण करता हूँ।

भावार्थ—प्रभु हमारे स्तोत्ररूप वाहनों पर आरूढ़ हो हमें प्राप्त होते हैं और हमारी रक्षा करते हैं। उस वैश्वानर प्रभु की प्राप्ति के लिए वेदज्ञान साधन बनता है।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**वैश्वानरः**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**।

महान् गृह (महागय)

अग्निर्ऋषिः पवमानः पाञ्चजन्यः पुरोहितः। तमीमहे महागयम्।
उपयामगृहीतोऽस्यग्नये त्वा वर्चसऽएष ते योनिरग्नये त्वा वर्चसे॥९॥

१. गतमन्त्र का वासनाओं का हिंसन करनेवाला 'वसिष्ठ' बनता है, अत्यन्त उत्तम निवासवाला होता है। यह प्रभु का आराधन इस प्रकार करता है—**अग्निः**=यह हमें निरन्तर आगे ले-चलनेवाला है **ऋषिः**=तत्त्वद्रष्टा है और हमपर ज्ञान का प्रकाश करनेवाला है। इस ज्ञान के द्वारा **पवमानः**=हमें पवित्र करनेवाला है। **पाञ्चजन्यः**='ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र व निषाद' सभी का हित करनेवाला है। **पुरोहितः**=यह सृष्टि बनने से पहले से ही है अथवा सबसे आगे, सबसे बढ़कर हित करनेवाला है। २. **तम्**=उस **महागयम्**=(महान् गयः स्तुतिर्यस्य—म०) उरुगाय, महान् स्तुतिवाले अथवा (गय=गृह) महागृहरूप प्रभु की **ईमहे**=हम प्रार्थना करते हैं, अर्थात् उसी को पाने का प्रयत्न करते हैं। ३. हे प्रभो! आप **उपयामगृहीतः असि**=उपयाम, स्वीकरण के द्वारा गृहीत होते है, अर्थात् जैसे पत्नी एक पति को स्वीकार करती है, इसी प्रकार जो उपासक एकमात्र आपका स्वीकार करता है उससे आप गृहीत होते हो। ४. यह 'वसिष्ठ' वेद को सम्बोधित करके कहता है कि **त्वा**=तुझे उस **अग्नये**=सर्वाग्रणी **वर्चसे**=तेजोरूप प्रभु की प्राप्ति के लिए ग्रहण करता हूँ। **एषः**=ये प्रभु ही **ते**=तेरे **योनिः**=उत्पत्तिस्थान हैं, अतः **त्वा**=तुझे उस **अग्नये वर्चसे**=तेजोरूप अग्रेणी प्रभु की प्राप्ति के लिए स्वीकार करता हूँ।

भावार्थ—उत्तम निवासवाला और शक्तिशाली वह बनता है जो प्रभु को अपना घर

बनाता है। वेद उस तेजोमय अग्निरूप प्रभु की प्राप्ति के लिए साधन है।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

महाँ इन्द्र

महाँ२॥ऽइन्द्रो वज्रहस्तः षोडशी शर्म यच्छतु। हन्तु पाप्मानं योऽस्मान्द्वेष्टि। उपयामगृहीतोऽसि महेन्द्राय त्वैष ते योनिर्महेन्द्राय त्वा॥१०॥

१. गतमन्त्रों के अनुसार प्रभु को **महागय**=महान् गृह समझनेवाले और अतएव उत्तम निवासवाले 'वसिष्ठ' कहते हैं कि **महान्**=वे प्रभु श्रेष्ठ हैं (मह पूजायाम्) पूजनीय हैं। **इन्द्रः**=(इदि परमैश्वर्ये) वे परमैश्वर्यवाले हैं, (इन्द to be powerful) सर्वशक्तिमान् हैं। **वज्रहस्तः**=वज्र उनके हाथ में है, अर्थात् 'वज गतौ' वे सदा क्रियाशील हैं, '**स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च**' उनकी क्रिया स्वाभाविक है। ३. **षोडशी**=सोलह कलाओंवाले वे प्रभु, हमारे जीवनों को इन सोलह कलाओं से युक्त करके हमें अविकल (सकल) बनाकर **शर्म यच्छतु**=सुख व कल्याण प्राप्त कराएँ। प्रश्नोपनिषद् में इन 'प्राण' आदि सोलह कलाओं का वर्णन है। उनसे युक्त होने पर हमारा जीवन अविकल (अव्याकुल) व सम्पूर्ण=Whole स्वस्थ बनता है। ३. वे प्रभु हममें से **पाप्मानम् हन्तु**=पाप को नष्ट करें और उसको भी समाप्त करें **यः**=जो **अस्मान्**=हमारे साथ **द्वेष्टि**=प्रीति न करता हो। वस्तुतः जब हमारा पाप नष्ट हो जाता है तब हमारे साथ प्रीति न करनेवाला भी नहीं रहता। पापनाश 'शत्रुनाश' का कारण बनता है। ४. हे प्रभो! **उपयामगृहीतः असि**=आप अनन्यरूप से आपका ही भजन करने से गृहीत होते हो। ५. वसिष्ठ वेद को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि **त्वा**=तुझे हम उस **महेन्द्रायः**=महान् इन्द्र की प्राप्ति के लिए स्वीकारते हैं **एषः ते योनिः**=यह महेन्द्र ही तेरा उत्पत्तिस्थान है। **महेन्द्राय त्वा**=उस महान् इन्द्र की प्राप्ति के लिए तुझे ग्रहण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु 'महान्, इन्द्र, वज्रहस्त व षोडशी हैं', वे हमारा कल्याण करते हैं। हमारे पाप को नष्ट कर सभी को हमारे प्रति प्रीतियुक्त करते हैं। हम वेदज्ञान द्वारा प्रभु को पाने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**नोधा गोतमः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**विराडनुष्टप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

दुःखनाशक प्रभु

तं वो दस्ममृतीषहं वसोर्मन्दानमन्धसः।
अभि वत्सं न स्वसरेषु धेनवऽइन्द्रं गीर्भिर्नवामहे ॥११॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'नोधा'=नवधा स्तुति को धारण करनेवाला अथवा स्तुति के द्वारा आत्मधारण करनेवाला कहता है कि **तं इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **गीर्भिः**=इन ज्ञान की वाणियों के द्वारा **नवामहे**=स्तुत करते हैं, जो (क) **वः**=आप सबके **दस्मम्**=दर्शनीय (प्रियवादिनं कार्यसाधकं च—उ०) हैं अथवा (दसु उपक्षये) दुःखों का नाश करनेवाले हैं, (ख) **ऋतीषहम्**=गति के द्वारा वासनाओं का पराभव करनेवाले हैं, अर्थात् हमें कर्मशील बनाकर काम, क्रोध आदि वासनओं में न फँसने देनेवाले हैं। (ग) **वसोः**=(वासयितुः—उ०) उत्तम निवास के कारणभूत **अन्धसः**=सोम के द्वारा **मन्दानम्**=आनन्दित करनेवाले हैं। ३. उस प्रभु की ओर हम **स्वसरेषु**=दिनों में, अर्थात् प्रतिदिन **नवामहे**=जाते हैं **न**=जैसे **धेनवः**=दुधार गौवें **वत्सम् अभि**=बछड़े की ओर, जैसे गौ बछड़े की प्रति प्रेम से जाती है उसी प्रकार हम प्रेम से प्रभु की ओर जाते हैं। जिस प्रकार दूध से भरे ऊधस्वाली गौ के

लिए बछड़े की ओर न जाना व्याकुलता का कारण होता है, इसी प्रकार हमें प्रभु के उपासन के बिना अनमनापन-सा लगे। हम प्रभु के उपासन के लिए उतावले हों।

भावार्थ—हम प्रभु-उपासन के लिए उसी प्रकार प्रेमवाले हों जैसेकि गौ बछड़े के प्रति जाने के लिए प्रेमवाली होती है। प्रभु ही हमारे सब दु:खों के नाशक हैं।

ऋषि:—**नोधा गोतम:**। देवता—**अग्नि:**। छन्द:—**विराड्गायत्री**। स्वर:—**षड्ज:**॥

अग्निहोत्र-सन्ध्या-दान

यद्वाहिष्ठं तदग्नयै बृहदर्च विभावसो। महिषीव त्वद्रयिस्त्वद्वाजाऽउदीरते॥१२॥

१. प्रभु कहते हैं कि **यत्**=जो भी **वाहिष्ठम्**=सर्वोत्तम प्राप्त करने योग्य वस्तु है **तत्**=उसे **अग्नये**=अग्नि के लिए अर्पित करनेवाला बन, अर्थात् अग्निहोत्र में सर्वोत्तम घृत तथा औषधद्रव्यों को ही डालने का विधान करो। ये पदार्थ ही सूक्ष्मकणों में विभक्त होकर सारे वायुमण्डल में फैलेंगे और तुम्हें पूर्णतया नीरोग करनेवाले होंगे। साथ ही इस प्रकार अग्निहोत्र होने पर ठीक ऋतु में वर्षा होगी, पौष्टिक अन्न की उत्पत्ति होगी और यह अन्न-वृद्धि तुम्हारी सम्पत्ति-वृद्धि का कारण बनेगी। २. हे **विभावसो**=(विभा एव वसु यस्य) ज्ञान धनवाले! तू **बृहद् अर्च**=खूब अर्चना करनेवाला बन। यह अर्चना तेरी शक्ति-वृद्धि करनेवाली होगी। प्रभु के सम्पर्क से प्रभु की शक्ति तुझमें प्रवाहित होगी। ३. **महिषी इव**=(महिष्या: इव) जैसे एक गृहणी से ठीक उसी प्रकार **त्वत्**=तुझसे **रयि:**=धन तथा **त्वत्**=तुझसे **वाजा:**=अन्न **उदीरते**=प्रवाहित होते हैं। तू परोपकार के लिए धनों व अन्नों को देनेवाला होता है। घर में गृहिणी=पत्नी सबको खिलाकर खाती है, इसी प्रकार तू भी पाँचों यज्ञों के द्वारा धनों व अन्नों को औरों तक पहुँचाकर ही बचे हुए को खानेवाला बनता है। एवं, तेरे जीवन में 'अग्निहोत्र, उपासना व दान'—ये सतत प्रवृत्त होते हैं।

भावार्थ—१. हम उत्तम घृत व औषधद्रव्यों से अग्निहोत्र करें। २. ज्ञानरूप धनवाले बनकर प्रभु का अर्चन करें। ३. सदा धनों व अन्नों का दान करनेवाले बनें।

ऋषि:—**भारद्वाज:**। देवता—**अग्नि:**। छन्द:—**विराड्गायत्री**। स्वर:—**षड्ज:**॥

वेद का उपदेश

एह्यू षु ब्रवाणि तेऽग्नऽइत्थेतरा गिर:। एभिर्वर्द्धासऽइन्दुभि:॥१३॥

१. प्रभु की अर्चना से ज्ञान का प्रकाश तो प्राप्त होता ही है, प्रभु की शक्ति भी हममें प्रवाहित होती है और हम 'भारद्वाज' बनते है, अपने में शक्ति को भरनेवाले। इस भारद्वाज से प्रभु कहते हैं कि हे **अग्ने**=आगे बढ़ने की प्रवृत्तिवाले! **एहि उ**=तुम मेरे समीप आओ ही, अर्थात् प्रात:-सायं मेरा ध्यान करने का प्रयत्न करो। २. मैं **ते**=तेरे लिए **इत्था**=इस प्रकार से, अर्थात् तेरे मेरे समीप आने से **गिर:**=उन वाणियों को **ब्रुवाणि**=उत्तमता से कहता हूँ जोकि **इतरा:**=(इ तरा:) कामवासना से तुझे तैरानेवाली होती हैं, जिनके उच्चारण से तू वासना को जीत लेता है। ३. हे भारद्वाज! तू **एभि:**=इन **इन्दुभि:**=सोमकणों से **वर्द्धासे**=वृद्धि को प्राप्त कर। तुझमें ये सोमकण उत्पन्न होते हैं, यदि तू इनकी सम्यक् रक्षा करेगा तो ये तेरे शरीर को नीरोग करनेवाले होंगे, तेरे मन को वासनाओं से बचाकर निर्मल बनाएँगे, तेरी ज्ञानाग्नि का ये ईंधन होंगे। इस प्रकार तेरी उन्नति उसी अनुपात में होगी जिस अनुपात में तू इन सोमकणों की रक्षा कर सकेगा।

भावार्थ—हम प्रभु-सम्पर्क में आकर वेदवाणियों का श्रवण करें और सोम की रक्षा

करनेवाले हों।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**संवत्सरः**। छन्दः—**भुरिग्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

यज्ञ व प्रजा-परिपालन

ऋतवस्ते यज्ञं वि तन्वन्तु मासा रक्षन्तु ते हविः।
संवत्सरस्ते यज्ञं दधातु नः प्रजां च परि पातु नः॥१४॥

१. गतमन्त्र की भाँति प्रस्तुत मन्त्र में भी प्रभु भारद्वाज से कहते हैं कि **ऋतवः**=ऋतुएँ **ते यज्ञम्**=तेरे यज्ञ को **वितन्वन्तु**=विस्तृत करनेवाली हों, अर्थात् ऋतुओं के अनुसार तेरे यज्ञ निरन्तर चलते रहें। २. **मासाः**=प्रत्येक मास **ते हविः**=तेरे दानपूर्वक अदन के भाव को **रक्षन्तु**=रक्षित करें, अर्थात् तुझमें कभी भी न देकर सारा खा जाने की वृत्ति उत्पन्न न हो जाए। ३. **संवत्सरः**=वर्ष **ते**=तेरे लिए **नः**=हमारे **यज्ञम्**=यज्ञ को **दधातु**=धारण करे, अर्थात् वर्षभर तेरे द्वारा यज्ञ निरन्तर चलता रहे और वस्तुतः यह यज्ञ ही तेरे उत्तम रक्षण का कारण बने **च**=और निरन्तर चलाया जाता हुआ यह यज्ञ **नः प्रजाम्**=हमारी प्रजा को **परिपातु**=सुरक्षित करे। वस्तुतः यह सम्पूर्ण प्रजा उस प्रभु की ही है, इस प्रजा की रक्षा के लिए यज्ञ ही महान् साधन है। प्रभु ने प्रजाओं को यज्ञ के साथ ही उत्पन्न किया और कहा कि इसी से तुम फूलो-फलोगे, यही तुम्हारी सब इष्टकामनाओं को पूर्ण करेगा।

भावार्थ—हम प्रत्येक ऋतु में यज्ञशील बनें, सदा दानपूर्वक अदन करनेवाले हों, सारा वर्ष हमारा यज्ञ अविच्छिन्न चलता रहे और यह यज्ञ प्रजा का परिपालन करनेवाला हो।

ऋषिः—**वत्सः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**विराड्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

जीवन की पूर्ति=विप्रता

उपह्वरे गिरीणाᳬसङ्गमे च नदीनाम्। धिया विप्रोऽअजायत॥१५॥

१. गतमन्त्र में प्रतिपादित यज्ञादि उत्तम कर्मों की वृत्ति जीवन में तभी बनती है, जब प्रस्तुत मन्त्र के अनुसार उत्तम गुरुओं की समीपता, प्रभुभक्त व स्तोताओं का संग प्राप्त होता है। मन्त्र में कहते हैं—**गिरीणाम्**=(गुरूणां गृणन्ति इति) गुरुओं के **उपह्वरे**=समीप **विप्रः**= विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाला (वि+प्रा) **अजायत**=बनता है। गिरि और गुरु शब्द एक ही धातु से बने हैं। संन्यासियों का एक वर्ग 'गिरि' भी है। ये घूम-घूमकर प्रजा को उपदेश देते हैं। जिस बालक को उत्तम गुरुओं का सान्निध्य प्राप्त हो जाता है वह ज्ञानी बन जाता है। **'मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान् पुरुषो वेद'**। ५ वर्ष तक जिसे उत्तम मातृरूप गुरु ने सदाचारी बनाया, आठ वर्ष तक पितृरूप गुरु ने जिसे सुशील बनाया तथा २५ वर्ष तक जिसे आचार्यरूप गुरु ने उत्तम ज्ञान दिया यह पुरुष वि-प्र बनता है, अपना पूरण करनेवाला होता है **च**=और २. **नदीनाम्**=(नदिः=स्तोता) स्तोताओं के **संगमे**=संग में **विप्रः अजायत**=अपना पूरण करनेवाला बनता है। इन गुरु-भक्तों का संग मिलने से वृत्ति सुन्दर बनी रहती है, मनुष्य विषय-वासनाओं में भटककर विकृत जीवनवाला नहीं बनता। ३. गुरुओं की समीपता में और स्तोताओं की सङ्गत में **धिया**=सदा ज्ञानपूर्वक कर्म करने से (धीः=प्रज्ञा व कर्म) मनुष्य **विप्रः**=अपनी न्यूनताओं को दूर करके पूर्ति करनेवाला **अजायत**=होता है। जब मनुष्य को सुगुरुओं का सामीप्य नहीं मिलता तथा इसका सङ्ग प्रभुप्रवण लोगों से नहीं होता तब वह संसार में ज्ञान की अपेक्षा मूर्खतापूर्ण भोगविलासों में अधिक फँस जाता है और इसका जीवन दोषों से भरा हुआ हो जाता है।

भावार्थ—हमें गुरुओं का सान्निध्य प्राप्त हो, स्तोताओं की संगत में हम उठें-बैठें और ज्ञानपूर्वक कर्मों में लगे रहें तो हमारा जीवन अधिकाधिक पूर्ण होता जाएगा। जीवन की पूर्णता से हम 'वत्स', प्रभु के प्रिय, इस मन्त्र के ऋषि बनेंगे।

ऋषिः—**महीयवः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

सात्त्विक पदार्थों का सेवन

उच्चा ते जातमन्धसो दिवि सद्भूम्या ददे। उग्रꣳशर्म महि श्रवः॥१६॥

१. गतमन्त्र के 'वत्स' से ही प्रभु कहते हैं कि **ते**=तेरा **अन्धसः**=इस आध्यायनीय, सब दृष्टिकोण से ध्यान देने योग्य सोम से **उच्चा जातम्**=उत्कृष्ट विकास हुआ है, क्योंकि इसी की रक्षा से शरीर 'नीरोग' मन 'निर्मल' तथा बुद्धि 'तीव्र' बनती है। २. इस सोम की रक्षा का ही यह परिणाम है कि तू **दिवि**=सदा प्रकाशमयलोक में रहता हुआ **सत्**=उत्कृष्ट **भूमिः**=पार्थिव पदार्थों को ही **आददे**=ग्रहण करता है। तू भोजनों में सात्त्विक भोजनों का ही सेवन करता है। ३. इन सात्त्विक पदार्थों के सेवन से **उग्रम् शर्म**=उत्कृष्ट सुख को प्राप्त करता है तथा **महिश्रवः**=महनीय कीर्ति व धन को प्राप्त करनेवाला होता है। लौकिक सुखों से ऊपर उठा होने के कारण और उदात्त अपार्थिव सुखों में विचरण करने के कारण ही यह 'अमहीयु' की सन्तान 'आमहीयव' कहलाता है, यह मही—पृथिवी व पार्थिव भोगों को अपने से जोड़ना नहीं चाहता।

भावार्थ—हम जितना सोम का रक्षण करेंगे उतना ही उत्कृष्ट हमारा विकास होगा, प्रकाशमय जीवन बिताते हुए हम उत्तम सात्त्विक पार्थिव पदार्थों को ग्रहण करेंगे, परिणामतः हमें उदात्त सुख व महनीय कीर्ति व धन प्राप्त होगा।

ऋषिः—**महीयवः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

दान के पात्र

स नऽइन्द्राय यज्यवे वरुणाय मरुद्भ्यः। वरिवोवित्परि स्रव॥१७॥

१. गतमन्त्र के अनुसार 'महीयवः'=उत्कृष्ट धन को प्राप्त करनेवाले अमहीयु से प्रभु कहते हैं **सः**=वह **वरिवोवित्**=(वरिवः=धन) धन को प्राप्त करनेवाला तू **नः**=हमारे **इन्द्रायः**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता, जितेन्द्रिय पुरुष के लिए, **यज्यवे**=यज्ञशील पुरुष के लिए तथा **मरुद्भ्यः**=(मरुतः प्राणाः) प्राणशक्ति-सम्पन्न पुरुषों के लिए, प्राणसाधना करनेवाले अभ्यासी पुरुषों के लिए **परिस्रव**=धन को प्राप्त करानेवाला हो। इनके लिए तेरा धन बहे। २. वस्तुतः पात्रापात्र का विचार करके ही दान देना ठीक होता है। दान के पात्र ये व्यक्ति हैं जोकि (क) जितेन्द्रिय होने से भोगविलास में धन का व्यर्थ में व्यय न करेंगे, (ख) यज्ञशील होने से यज्ञादि उत्तम कर्मों में ही धन को विनियुक्त करेंगे, (ग) धन का विनियोग वे स्नेह की भावना को बढ़ाने के लिए ही करेंगे, उनका धन द्वेष-वर्धक न होगा, (घ) उनका धन प्राणसाधनादि योगवृत्तियों के प्रसार में विनियुक्त होगा। वस्तुतः ये ही व्यक्ति दान के पात्र हैं। इनसे विपरीत वृत्तिवालों को दिया गया धन हानिकर ही होगा।

भावार्थ—हमारा धन 'इन्द्र, यज्यु, वरुण व मरुतों' के लिए हो।

ऋषिः—**महीयवः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**स्वराड्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

यज्ञशेष का सेवन

एना विश्वान्यर्यऽआ द्युम्नानि मानुषाणाम्। सिषासन्तो वनामहे॥१८॥

१. 'अमहीयु' प्रार्थना करता है—**अर्यः**=सब धनों का स्वामी प्रभु **एना**=इन **विश्वानि**=सब **मानुषाणाम्**=मनुष्यों के, अर्थात् विचारशील पुरुषों के लिए हितकर **द्युम्नानि**=धनों को हमारे लिए **आ**=(आनयतु) प्राप्त कराए। प्रभुकृपा से हम उन सब धनों को प्राप्त करनेवाले बनें, जो मनुष्य के लिए हितकर हैं। २. इन धनों को प्राप्त करके 'अमहीयु' चाहता है कि हम इन धनों को **सिषासन्तः**=उचित पात्रों में दान करते हुए ही **वनामहे**=(संभुज्महे) इनका उपयोग करें। भौतिक शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए धन का विनियोग आवश्यक ही है, परन्तु हम अपने जीवनों में इस भोग को प्रथम स्थान न दे दें, **'त्यक्तेन भुञ्जीथाः'** प्रभु के इस आदेश का ध्यान करते हुए पहले त्याग व पीछे भोग को समझें। केवलादी न बनें, यह हमें न भूले कि **'केवलाघो भवति केवलादी'** अकेला खानेवाला शुद्ध पाप को ही खाता है। **'अपञ्चयज्ञो मलिम्लुचः'** पञ्चयज्ञ न करके स्वयं सब खा जानेवाला चोर है। ऐसा हम समझें और सदा बाँटकर ही खाएँ।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमें मानवहितकारी धन प्राप्त हों और उन्हें पात्रों में बाँटकर हम सदा यज्ञशेष का सेवन करनेवाल बनें। हम इस बात को न भूलें कि धनों के स्वामी हम नहीं, वे प्रभु ही हैं। उसके धनों का विनियोग उसके आदेश के अनुसार ही करें।

ऋषिः—**मुद्गलः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

यज्ञ व पोषण

अनु वीरैरनु पुष्यास्म गोभिरन्वश्वैरनु सर्वेण पुष्टैः।
अनु द्विपदानु चतुष्पदा वयं देवा नो यज्ञमृतुथा नयन्तु॥१९॥

१. गतमन्त्र के यज्ञ के अनुपात में **वीरैः**=वीर पुत्रों से **अनुपुष्यास्म**=हम पोषण को प्राप्त करें। जितना-जितना हमारा जीवन यज्ञिय होता है उतना-उतना हमारे सन्तान भी वीर बनते हैं। वस्तुतः भोगमार्ग हमारी शक्तियों को क्षीण करता है, हमारी शक्तियों की क्षीणता के साथ हमारी सन्ताने भी निर्बल होती हैं। २. **गोभिः अश्वैः अनु** (पुष्यास्म)=हम गौवों व घोड़ों से पोषण को प्राप्त हों। हमारे घरों में गौवें हों, घोड़े हों और उनसे हमारे ब्रह्म व क्षत्र का पोषण हो। अथवा 'गावः ज्ञानेन्द्रियाणि, अश्वाः कर्मेन्द्रियाणि' हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ ठीक पोषण से युक्त हों। वस्तुतः यज्ञिय वृत्ति हमारी इन्द्रियों को अक्षीण-शक्ति बनाती है। ३. **सर्वेण अनु** (पुष्यास्म)=अन्य भी सब चाहने योग्य शक्तियों के पोषणवाले हम हों, **पुष्टैः**=पुष्टि के साधनभूत गृह आदि सब पदार्थों से **अनु**=(पुष्यास्म)=हम अनुपुष्ट हों। ४. **द्विपदा**=दो पाँवोंवाले मनुष्यों से अनु (पुष्यास्म)=पोषण को प्राप्त हों और **चतुष्पदा वयम्** (पुष्यास्म) चौपाये गौ आदि पशुओं से हम पोषण प्राप्त करनेवाले हों। ५. इस पोषण के उद्देश्य से ही **देवाः**=सब देव **नः**=हमें **यज्ञम्**=यज्ञ को **ऋतुथा**=ऋतु के अनुसार **नयन्तु**=प्राप्त कराएँ। हम प्रत्येक ऋतु में, ऋतु के अनुसार ही हविर्द्रव्यों से यज्ञ करनेवाले हों और यह यज्ञ हमें वीरों, गौवों, अश्वों तथा पोषण के लिए आवश्यक अन्य सब पदार्थों से पुष्ट करें। इन यज्ञों से मनुष्य व पशु सब हमारे अनुकूल हों और हमारे पोषण का कारण बनें।

भावार्थ—हमारी वृत्ति यज्ञिय हो। यज्ञों से हमें सब प्रकार का पोषण प्राप्त हो।

ऋषिः—**मेधातिथिः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

देव-पत्नी तथा त्वष्टा

अग्ने पत्नीरिहा वह देवानामुशतीरुप। त्वष्टारꣳ सोमपीतये॥२०॥

१. प्रस्तुत मन्त्रों का ऋषि 'मेधातिथि' है, यह निरन्तर बुद्धि की ओर अग्रसर हो रहा है (मेधाम् अतति) अथवा यह सदा बुद्धिपूर्वक ही संसार में चलता है (मेधया अतति)। इस मेधातिथि से प्रभु कहते हैं कि हे **अग्ने**=जीवन-यात्रा में निरन्तर आगे बढ़नेवाले जीव! **इह**=इस मानव-जन्म में तू **उशती:**=(कामयमाना:) सदा लोकहित की कामना करता हुआ **देवनाम् पत्नी:**=शरीर में वाणी इत्यादि के रूप से रहनेवाले अग्नि आदि देवों की पत्नियों को, शक्तियों को **उपावह**=समीपता से प्राप्त करनेवाला हो। २. तू **सोमपीतये**=सोम के पान के लिए, अर्थात् शरीर में सोम को सुरक्षित रखने के लिए **त्वष्टारम्**=त्वष्टा को (त्विषेर्वा स्याद्दीप्तिकर्मण:, त्वषतेर्वा करोतिकर्मण:) ज्ञान-प्राप्ति के द्वारा दीप्ति को प्राप्त करनेवाला बन। सोम की रक्षा के लिए आवश्यक है मनुष्य को ज्ञान प्राप्ति की प्रबल उत्कण्ठा हो। उसे आलस्य से घृणा हो, ज्ञान-प्राप्ति व क्रियाशलता सोमरक्षा के साधन हैं।

भावार्थ—आगे बढ़ने का अभिप्राय है जीवन में दिव्य गुणों को आमन्त्रित करना। दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए सोमरक्षा आवश्यक है। सोम को शरीर में ही व्याप्त करने के लिए हम त्वष्टा बनें, सदा ज्ञान की प्राप्ति करनेवाले तथा क्रियाशील जीवनवाले हों।

ऋषि:—**मेधातिथि:**। देवता—**विद्वान्**। छन्द:—**गायत्री**। स्वर:—**षड्ज:**॥

सोम-रक्षा का साधन व साध्य

अभि यज्ञं गृणीहि नो ग्नावो नेष्ट: पिबऽऋतुना। त्वꣳहि रत्नधाऽअसि॥२१॥

१. **हे ग्नाव:** (ग्ना वाणी—नि० १।११) प्रशस्त वाग्मिन्! उत्तम प्रवचन करनेवाले! **न:**=हमें **यज्ञम् अभि**=यज्ञ का लक्ष्य करके **गृणीहि**=उपदेश दीजिए, अर्थात् इस प्रकार उत्तमता से वेद का प्रवचन कीजिए कि हमारी प्रवृत्ति यज्ञ की ओर झुकाववाली हो जाए। हम भोगप्रवणता से ऊपर उठ जाएँ। वस्तुत: यही तो साधन है जिससे हम अपने शरीर में उत्पन्न हुए-हुए सोम की रक्षा कर सकेंगे। २. वह प्रशस्त वाग्मी मुख्यरूप से यही उपदेश करता है कि हे **नेष्ट:**=अपने को आगे ले-चलनेवाले! तू **ऋतुना**=समय रहते **पिब**=सोम का पान करनेवाला बन। यदि तुझे यौवन के बीत जाने पर वार्धक्य में सोमरक्षा का ध्यान आया तो यह तेरे लिए कितने दुर्भाग्य की बात होगी। हम समय रहते यौवन में ही, ठीक ऋतु में ही, सोम का पान करें, यही अपने को अग्नि बनाने व आगे ले-जाने का साधन है। ३. इस सोम के पान से **त्वम्**=तू **हि**=निश्चय से **रत्नधा**=रमणीय धातुओं का धारण करनेवाला बनता है। 'यज्ञों में लगे रहना' सोमपान का साधन है, और रत्नों का धारण उस सोमपान का साध्य है। सोमपान से हमारे जीवन में सब रमणीय वस्तुओं की उत्पत्ति होती है। शरीर में यह सोम ही नीरोगता का कारण बनता है, यही मन में निर्मलता लाता है और बुद्धि में तीव्रता पैदा करता है। संक्षेप में यह सोमपान 'शरीर, मन व मस्तिष्क' सभी को स्वस्थ करता है।

भावार्थ—(क) हमारी वेदादि के प्रवचनों से यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्ति हो, (ख) इसके परिणामरूप भोगवृत्ति व वासनाओं से बचकर हम सोम का पान करनेवाले बनें, (ग) इस सोमपान से हमारे जीवन में रमणीय वस्तुओं का धारण होगा। हमारे शरीर, मन व मस्तिष्क सभी दीप्त होंगे।

ऋषि:—**मेधातिथि:**। देवता—**सोम:**। छन्द:—**गायत्री**। स्वर:—**षड्ज:**॥

दान व सोमपान

द्रविणोदा: पिपीषति जुहोत प्र च तिष्ठत। नेष्टादृतुभिरिष्यत॥२२॥

१. गतमन्त्र के सोमपान का ही उल्लेख करते हुए कहते हैं **द्रविणोदा:**=धन का दान

करनेवाला ही **पिपीषति**=सोम के पान की इच्छा करता है। वस्तुतः सोमपान का मूलसूत्र 'भोगवृत्ति से ऊपर उठना' है, भोगवृत्ति से ऊपर उठानेवाली वस्तु दान है। एवं, दान का परिणाम यह हो जाता है कि हम सोम को शरीर में ही सुरक्षित करनेवाले बनते हैं। २. इस दान का प्रासंगिक लाभ यह भी होता है कि मनुष्य प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है, अतः कहते हैं कि **जुहोत**=दान देनेवाले बनो, **च**=और **प्रतिष्ठत**=प्रतिष्ठा को प्राप्त करो। दान से प्रतिष्ठा होती ही है। ३. इन दान आदि की उत्तम वृत्तियाँ के बने रहने के लिए **नेष्ट्रात्**=नेष्टा के प्रेरणात्मक कर्म से (नेष्टुः इदं नेष्ट्रम्) नेता के प्रेरक प्रवचनों से तुम **ऋतुभिः**=ऋतुओं के साथ **इष्यत**=गति करनेवाले होओ। तुम्हें सदा नेताओं के प्रेरणात्मक उत्तम उपदेश प्राप्त होते रहें और तुममें उत्तम वृत्तियाँ सदा बनी रहें। तुम्हारी सब गतियाँ ऋतुओं के अनुकूल हों।

भावार्थ—दान दें, भोगवृत्ति से बचें और सोम की रक्षा करें। प्रसंगवश प्रतिष्ठा पानेवाले हों। हमें नेताओं से इसी प्रकार की प्रेरणाएँ प्राप्त होती रहें।

ऋषिः—**मेधातिथिः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

नेष्टा की प्रेरणा

तवायꣳसोमस्त्वमेह्यर्वाङ् शश्वत्तमꣳसुमनाऽअस्य पाहि।
अस्मिन्यज्ञे बर्हिष्या निषद्या दधिष्वेमं जठरऽइन्दुमिन्द्र ॥२३॥

१. गतमन्त्र की समाप्ति पर नेता की प्रेरणा के अनुसार चलने का संकेत है। नेता की सर्वमहान् प्रेरणा यह है कि **अयम् सोमः तव**=यह शरीर में उत्पन्न किया गया सोम तेरा है, अर्थात् यह तेरी सब प्रकार की उन्नतियों का साधन है। २. इसकी रक्षा के लिए **त्वम्**=तू **अर्वाङ्**=अपने अन्दर **एहि**=आनेवाला बन। सामान्यतः इन्द्रियों की वृत्ति बहिर्मुखी होती है और यह बाहर भटकना मानव-जीवन को भोगप्रवण बना देता है, अतः हम अन्तर्मुखी वृत्तिवाले बनें। जिधर-जिधर हमारा मन भटकने को करे, उधर-उधर से हम इस चञ्चल मन को रोकने के लिए यत्नशील हों। ३. **सुमनाः**=उत्तम मनवाला बनकर, मन को वासनाओं से शून्य करके तू **शश्वत्तमम्**=(सर्वकालम्) सदा **अस्य पाहि**=इस सोम की रक्षा करनेवाला हो। हम तनिक प्रमाद में हुए कि वासनाओं का शिकार बन सोम का विनाश कर बैठेंगे, अतः सोमरक्षा के लिए सदा सावधान रहना अत्यावश्यक है। ४. **अस्मिन्यज्ञे**=इस यज्ञ में तथा **बर्हिषि**=वासनाशून्य हृदय में **आनिषद्य**=सदा स्थित होकर हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **इमम् इन्दुम्**=इस सोम को **जठरे**=शरीर के मध्य में ही **दधिष्व**=धारण करनेवाला बन। 'सदा यज्ञों में लगे रहना तथा हृदय को वासनाशून्य बनाना' सोमरक्षा के लिए नितान्त आवश्यक हैं।

भावार्थ—सोम (वीर्य) ही हमारी सर्व उन्नतियों का साधन है। इसकी रक्षा के लिए आवश्यक है कि (क) हम अन्तर्मुखी वृत्ति बनाएँ (अर्वाङ् एहि), (ख) मन को सदा वासनाशून्य व निर्मल बनाए रक्खें, (ग) किसी क्षण प्रमाद में न चले जाएँ (शश्वत्तमम्) (घ) सदा यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगे रहें, (ङ) हम अपने हृदय को वासनाशून्य बनाने का ध्यान करें (बर्हिषि)।

ऋषिः—**गृत्समदः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

विद्वत् समागम

अमेव नः सुहवाऽआ हि गन्तन नि बर्हिषि सदतना रणिष्टन।

अथा मन्दस्व जुजुषाणोऽअन्धसस्त्वष्टर्देवेभिर्जनिभिः सुमद्गणः॥२४॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'गृत्समद' है—'गृणाति माद्यति'=प्रभु-स्तवन करता है और प्रसन्न रहता है। यह विद्वानों से कहता है कि **नः**=हमारे लिए **सुहवाः**=सुगमता से पुकारने योग्य आप लोग **अमा इव**=अपने घर की भाँति **हि**=निश्चय से **आगन्तन**=आइए। आपको आमन्त्रित करना हमारे लिए दुष्कर न हो जाए, आप हमारे घर को अपना ही घर समझें और यहाँ **बर्हिषि**=दर्भासन पर **निसदतन**=स्थिरता से विराजिए और **रणिष्टन**=उपदेश दीजिए, अर्थात् हम विद्वानों को आमन्त्रित करें, वे हमारे घर में अपने घर की भाँति ही सुविधा अनुभव करें और आसन पर बैठकर हमें समुचित उपदेश दें। २. उपदेश का स्वरूप इस प्रकार है कि (क) **अथा मन्दस्व**=(अ=परमात्मा, of protection रक्षा) उस प्रभु के रक्षण में आनन्द का अनुभव कर, अर्थात् हम अपने को उस प्रभु के अमृत उपस्तरण व अपिधान में सुरक्षित अनुभव करते हुए आनन्दयुक्त मनवाले हों। (ख) **जुजुषाणः**=उस प्रभु के रक्षण में अपने कर्तव्य-कर्मों को प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले हों। (ग) हे **अन्धसः**= आध्यायनीय सोम की रक्षा से **त्वष्टः**=(त्विषि=दीप्तौ) अपने ज्ञान को दीप्त करनेवाले साधक! तू **देवेभिः**=दिव्यगुणों के द्वारा तथा **जनिभिः**=अपनी शक्तियों के विकास के द्वारा **सुमद्गणः**=बड़ी प्रसन्न ज्ञानेन्द्रियों के गणवाला उसी प्रकार सुदृढ़ कर्मेन्द्रियों के गणवाला तथा प्रसन्न प्राणपञ्चकवाला बन।

भावार्थ—हमें विद्वान् लोग प्राप्त हों, उनके सदुपदेश को सुनकर हम आनन्दमय मनोवृत्तिवाले बनें, कर्त्तव्यों को प्रीतिपूर्वक करें, सोमरक्षा द्वारा ज्ञान को दीप्त करते हुए दिव्य गुणोंवाले बनें, शक्तियों का विकास करें तथा प्रकृष्ट ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों व प्राणोंवाले बनें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

स्वादिष्ठ-मदिष्ठ-धारा

स्वादि॑ष्ठया॒ मदि॑ष्ठया॒ पव॑स्व सोम॒ धार॑या। इन्द्रा॑य॒ पात॑वे सु॒तः॥२५॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'मधुच्छन्दा' है=अत्यन्त उत्तम इच्छावाला। यह सोम को सम्बोधन करता हुआ कहता है कि हे **सोम**=सब उत्तमताओं के जनक (सू) वीर्य! तू **धारया**=अपनी धारणशक्ति के साथ **पवस्व**=हममें प्रवाहित हो। जब वीर्य शरीर में सुरक्षित होता है तब यह शरीर की रक्षा करनेवाला होता है। २. यह सोम की धारकशक्ति **स्वादिष्ठया**=स्वादिष्ठ है। स्वादिष्ठ धारणशक्ति से ही तू हममें प्रवाहित हो, अर्थात् ज्ञान की रक्षा से हमारा जीवन मधुर बने। निर्वीय पुरुष में कटुता होती है, वह चिड़चिड़ा बन जाता है। **मदष्ठिया**=यह जीवन को हर्षित करनेवाला है। ३. हे सोम! **सुतः**=उत्पन्न हुआ- हुआ तू **इन्द्राय पातवे**=जितेन्द्रिय पुरुष की रक्षा के लिए हो, अर्थात् सोम का मुख्य प्रयोजन शरीर, मन व बुद्धि के स्वास्थ्य का रक्षण है।

भावार्थ—हम सोम की रक्षा करें। यह हमारी वाणी व वृत्ति को मुधर बनाएगा, हम सदा प्रसन्न रहेंगे, यह हमारे शरीर, मन व बुद्धि के स्वास्थ्य का रक्षण करेगा।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

अयोहत शरीर

र॒क्षो॒हा वि॒श्वच॑र्षणिर॒भि योनि॒मयो॑हते। द्रोणे॑ स॒धस्थ॒मास॑दत्॥२६॥

१. मधुच्छन्दा यह समझता है कि यह सोम **रक्षोहा**=रोगकृमियों का नाशक है। रोगकृमियों के नाश के द्वारा जैसे यह शरीर के रोगों को नष्ट करता है, उसी प्रकार यह

राक्षसी वृत्तियों को नष्ट करके मन को भी निर्मल बनाता है। ३. **विश्वचर्षणिः**=सम्पूर्ण जगत् का दर्शन करानेवाला है, अर्थात् ऊँचे-से-ऊँचे विज्ञान की प्राप्ति का यह कारण बनता है। सोमरक्षा से ही ज्ञानाग्नि प्रज्वलित होती है और ज्ञानाग्नि के प्रज्वलित होने पर मनुष्य प्रकृति के तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त कर पाता है। एवं, यह सोम विश्वचर्षणि है। ३. जब यह सोम वासनाओं के कारण विनम्र न होकर **अभियोनिम्**=अपने उत्पत्तिस्थान इस शरीर में ही प्रविष्ट होता है तब **अयोहते द्रोणे**=(अयसा हते उत्कीर्णे) मानो लोहे से ढले हुए इस शरीर में, वज्रतुल्य बने हुए इस दृढ़ शरीर में **सधस्थम्**=जीवात्मा व परमात्मा की सहस्थिति को **आसदत्**=प्राप्त कराता है। सोमरक्षा करनेवाले का शरीर तो इतना दृढ़ बनता है कि मानो लोहे को ही ढालकर बना दिया गया हो और इस वज्रतुल्य शरीर में जीव परमात्मा के साथ निवास को प्राप्त करता है, अर्थात् अपने हृदय में जीव परमात्मा का उपासन करता है, प्रभु के सम्पर्क में निवास करता है, इसकी प्रभु के साथ सहस्थिति हो जाती है। इससे ऊँची स्थिति हो ही क्या सकती है?

भावार्थ—सोम रोगकृमियों का नाशक है, राक्षसीवृत्तियों को दूर करता है, सम्पूर्ण विज्ञान का साधन बनता है। शरीर में व्याप्त होकर यह शरीर को लोहे का बना हुआ अत्यन्त दृढ़ बना देता है और उस वज्रतुल्य दृढ़ शरीर में प्रभु के साथ सहस्थिति को प्राप्त कराता है।

नोट—शरीर को यहाँ द्रोण कहा है, यह सोम का पात्र है। 'द्रु गतौ' से बनकर यह द्रोण शब्द इस भावना को व्यक्त कर रहा है कि इसे सदा क्रियाशील रहना है। सोलह कलाओं से युक्त होने के कारण यह कलश कहलाया है। वेद में इसे **'चमस्'** नाम से भी स्मरण किया है। इस शरीर में सोम की रक्षा करनेवाला निरन्तर आगे बढ़ता है, अतः उसका नाम ही 'अग्नि' हो जाता है, अतः अगला अध्याय इस अग्नि ऋषि के वर्णन से ही प्रारम्भ होता है।

इति षड्विंशोऽध्यायः॥

अथ सप्तविंशोऽध्यायः

—:०:—

ऋषिः—**अग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

अलौकिक दीप्ति (दिव्य रोचन)

समा॑स्त्वाग्नऽऋ॒तवो॑ वर्द्धयन्तु संवत्स॒राऽऋष॑यो॒ यानि॑ स॒त्या।
सं दि॒व्येन॑ दीदिहि रोच॒नेन॒ विश्वा॒ऽआ भा॑हि प्र॒दिश॒श्चत॑स्रः॥१॥

१. प्रभु 'अग्नि' से कहते हैं कि हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! या राष्ट्र को उन्नत करनेवाले अग्रेणी राजन्! **त्वा**=तुझे **समाः**=मास **ऋतवः**=ऋतुएँ तथा **संवत्सराः**=वर्ष **वर्द्धयन्तु**=बढ़ानेवाले हों, अर्थात् प्रतिमास प्रतिऋतु व प्रतिवर्ष तुझे आगे बढ़ा हुआ ही देखूँ। तू उन्नत और उन्नतर होता चले। २. **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा लोग **त्वा वर्द्धयन्तु**=तुझे बढ़ानेवाले हों, तत्त्वद्रष्टाओं के सम्पर्क में आकर तेरा ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ता चले। 'मास, ऋतुएँ व संवत्सर' अनुकूल होकर जहाँ इस अग्नि को शरीर के दृष्टिकोण से स्वस्थ बना रहे थे वहाँ ये तत्त्वद्रष्टा इसके ज्ञान को बढ़ाकर इसे बौद्धिक स्वास्थ्य प्राप्त करानेवाले होते हैं। ३. **यानि सत्या**=जो भी सत्य हैं, वे सब तेरे जीवन का अङ्ग बनकर तुझे बढ़ानेवाले हों। **'मनः सत्येन शुध्यति'** इस मनुवाक्य के अनुसार ये सत्य तुझे मानस स्वास्थ्य देनेवाले हों। ४. तू शरीर, मन व बुद्धि के त्रिविध स्वास्थ्य को प्राप्त करके **दिव्यने रोचनेन**=अलौकिक दीप्ति से **संदीदिहि**=चमकनेवाला बन। ५. प्रभु कहते हैं कि इस प्रकार दीप्त होकर तू **विश्वा**=सब **चतस्रः प्रदिशः**=चारों विस्तृत दिशाओं को **आभाहि**=सब दृष्टिकोणों से दीप्त करनेवाला बन।

भावार्थ—मासों, ऋतुओं व वर्षों की अनुकूलता हमें शारीरिक स्वास्थ्य दे। तत्त्वद्रष्टा लोग हमारी बौद्धिक प्रगति का कारण बनें। सत्य-व्यवहार हमारे मानस को पवित्र करे। इस प्रकार हम एक अलौकिक दीप्ति से चमकानेवाले बनें और अपने चारों ओर प्रकाश फैलानेवाले हों।

ऋषिः—**अग्निः**। देवता—**सामिधेन्यः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

पुरुषार्थ से सौभाग्य

सं चे॒ध्यस्वा॑ग्ने॒ प्र च॑ बोधयैन॒मुच्च॑ तिष्ठ मह॒ते सौभ॑गाय।
मा च॑ रिषदुपस॒त्ता तेऽअग्ने ब्र॒ह्माण॑स्ते य॒शसः॑ सन्तु॒ माऽन्ये॥२॥

१. 'अग्नि'=प्रगतिशील जीव से ही प्रभु कहते हैं कि हे **अग्ने!** तू **सं इध्यस्व च**=सम्यक् दीप्त होनेवाला बन। केवल शरीर का स्वास्थ्य, केवल मानस भद्रता व केवल मस्तिष्क की दीप्ति यह 'समिन्धन' नहीं है। तू तीनों को दीप्त करके समिद्ध हो। २. **च**=और **एनम्**=इन अपने समीपवर्ती बन्धुओं को भी **प्रबोधय**=प्रकृष्ट ज्ञानवाला बनाने का प्रयत्न कर। स्वयं ज्ञानी बन और ओरों को ज्ञान देनेवाला हो। ३. तू **महते सौभगाय**=महान् सौभाग्य व ऐश्वर्य के लिए **उत् तिष्ठ च**=सदा उद्योग करनेवाला हो। आलस्य ही तो सौभाग्य को नष्ट करनेवाला है। उद्योग सौभाग्य का मूल है। ४. इस बात का तू सदा ध्यान रखना कि सौभाग्य तेरे मस्तिष्क को विकृत न कर दे और तेरी क्रियाएँ पड़ोसियों की

परेशानी का कारण न बन जाएँ। **ते उपसत्ता**=तेरा पड़ोसी (समीप रहनेवाला) **मा रिषत्**=तेरी किसी भी क्रिया से हिंसित न हो। ५. हे **अग्ने**:=प्रगतिशील जीव! **ब्राह्मणः**=ज्ञानी पुरुष तथा **यशसः**=यशस्वी व्यक्ति ही **ते सन्तु**=तेरे हों, अर्थात् ऐसे लोगों का ही तेरे यहाँ आना-जाना हो **मा अन्ये**=इनसे भिन्न अर्थात् (उज्जड) बदमाश लोग तेरे न हों, तेरा घर उन लोगों का अड्डा न बन जाए।

भावार्थ—'अग्नि'=प्रगतिशील जीव वह है जो चमकता है, चमकाता है, पुरुषार्थ से सौभाग्यशाली होता है। पड़ोसियों से मधुरता से वर्त्तता है, उसके घर में ज्ञानी, यशस्वी पुरुषों का आना-जाना होता है।

ऋषिः—**अग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

गृह में सतत जागरण

त्वामग्ने वृणते ब्राह्मणाऽइमे शिवोऽअग्ने संवरणे भवा नः।
सपत्नहा नोऽअभिमातिजिच्च स्वे गये जागृह्यप्रयुच्छन्॥३॥

१. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **इमे ब्राह्मणः**=ये ब्राह्मण **त्वा वृणते**=तेरा वरण करते हैं, अर्थात् 'कौन व्यक्ति हमारे जाने योग्य हैं?' ऐसा विचार होने पर ये ब्राह्मण लोग तेरा वरण करते हैं। तुझे इस योग्य समझते हैं कि तेरे अन्न को वे स्वीकार कर लें। २. **संवरणे**=इस संवरण के होने पर, अर्थात् जब ये ब्राह्मण तेरे घर पर आने-जानेवालें हों तब हे **अग्ने**=अग्नि के समान प्रकाशमय जीवनवाले! तू **नः**=हमारे लिए **शिवः**=कल्याण करनेवाला **भव**=हो। उत्तम संसर्ग तुझे अधिक प्रकाशमय जीवनवाला बनाये और तू लोगों का और अधिक कल्याण करनेवला हो। ३. तू **नः**=हमारे **सपत्नहा**=शत्रुओं का नाश करनेवाला बन। एक ज्ञानी, प्रगतिशील पुरुष ने अपने काम-क्रोध आदि शत्रुओं को जीतकर अपने सम्पर्क में आनेवालों के काम-क्रोधादि को, ज्ञान के प्रकाश के द्वारा नष्ट करने के लिए यत्नशील होना है, परन्तु इस सारे कार्य को करते हुए इसे **अभिमातिजित् च**=अभिमान को निश्चय से जीतनेवाला बनना है। इसके जीवन में अभिमान होगा, तो इसकी अपनी सारी उन्नति समाप्त हो जाएगी, औरों का क्या कल्याण करेगा? ४. अतः अग्ने! तुझे चाहिए कि **स्वे गये जागृहि**=तू अपने घर में सदा जागता रह। 'हमारे शरीर में रोग न आएँ, मन में वासनाएँ न आएँ, इसका एक ही उपाय है और वह यह कि हम अपने कर्त्तव्य व उद्देश्य का स्मरण करते हुए **अप्रयुच्छन्**=किसी भी प्रकार का प्रमाद न करते हुए अपने जीवनयात्रा के मार्ग पर आगे और आगे बढ़ते ही चलें।

भावार्थ—हम ब्राह्मणों के लिए वरणीय बनें। ब्राह्मणों से वृत होकर सबका कल्याण करनेवाले हों। काम-क्रोधादि को नष्ट करें, अभिमान को जीतें और इस शरीररूप गृह में सदा सावधान होकर जागरित रहें।

ऋषिः—**अग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

देशज वस्तु का प्रयोग

इहैवाग्नेऽअधि धारया रयिं मा त्वा नि क्रन्पूर्वचितो निकारिणः।
क्षत्रमग्ने सुयममस्तु तुभ्यमुपसत्ता वर्द्धतां तेऽअनिष्टृतः॥४॥

१. हे **अग्ने**=अपने राष्ट्र को उन्नत करनेवाले जीव! **इह एव**=अपने राष्ट्र में ही **रयिम्**=धन को **अधिधारया**=अधिक धारण कर, तू अपने देश में देशज वस्तुओं का ही प्रयोग कर, जिससे रुपया विदेश में न जाए। २. तेरा सारा व्यवहार ऐसा हो कि **पूर्वचितः**=

पूर्वनाम में, ब्रह्मचर्याश्रम में—तीन बार नाचिकेतस् अग्नि का चयन करनेवाले, अर्थात् सबसे पूर्व ५ वर्ष तक माता के शिक्षणालय में सच्चरित्रता की अग्नि का चयन करनेवाले, इसके बाद ८ वर्ष तक पिता के शिक्षाणालय में शिष्टाचार की अग्नि का चयन करनेवाले और अन्त में आचार्य के शिक्षणालय में ज्ञानादि का चयन करनेवाले पूर्वचित लोग, जो **निकारिणः**=नितरां यज्ञकरणशील हैं अथवा ज्ञान व कर्म के समुच्चय के अतिशय से जो औरों को नीचा दिखानेवाले हैं, अर्थात् जीत जानेवाले हैं। वे **त्वा**=तुझे **मा निक्रम्**=नीचा करनेवाले न हों, अर्थात् तू उनसे पराजित न किया जा सके, तू स्वयं 'सच्चरित्रता, शिष्टाचार व ज्ञानरूप अग्नियों' का चयन करनेवाला बन तथा तेरा जीवन नितरां यज्ञशील हो। ३. हे अग्ने! **तुभ्यम्**=तेरे लिए **सुयमम्**=उत्तम संयमवाला **क्षत्रम्**=बल **अस्तु** हो, संयम से उत्पन्न बल तुझे सब क्षत्रों से बचानेवाला हो। ४. तेरा व्यवहार सदा ऐसा हो कि **ते उपसत्ता**=तेरे समीप रहनेवाला तेरा पड़ोसी भी **अनिष्टृतः**=किसी प्रकार से हिंसित न होता हुआ **वर्धताम्**=बढ़नेवाला हो।

भावार्थ—हम राष्ट्र का रुपया, स्वदेशी का प्रयोग करते हुए, राष्ट्र में ही रखने का प्रयत्न करें। हम 'सच्चरित्र, शिष्टाचार व ज्ञान में' आगे बढ़कर यज्ञशील हों, संयम के द्वारा बल की साधना करें तथा हमारा कोई भी व्यवहार पड़ोसी की हिंसा करनेवाला न हो।

ऋषिः—**अग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

सबल कर्म

क्षत्रेणाग्ने स्वायुः सꣳरभस्व मित्रेणाग्ने मित्रधेये यतस्व।
सजातानां मध्यमस्थाऽएधि राज्ञामग्ने विहव्यो दीदिहीह ॥५॥

१. हे **अग्ने**=अग्नि की भाँति शत्रुओं को भस्मसात् करनेवाले जीव! **क्षत्रेण**=बल के साथ **स्व आयुः**=अपने जीवन को **संरभस्व**=समारंब्ध कर, अर्थात् अपने जीवन में सबल कार्यों का करनेवाला बन। २. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **मित्रेण**=(मित्र=सूर्य) सूर्योदय के साथ ही, अर्थात् दिन के प्रारम्भ से ही **मित्रधेये यतस्व**=इस प्रकार यत्नशील हो कि तू अपने मित्रों का धारण करनेवाला बने ('यथा मित्राणि धार्यन्ते तथा यत्नं कुरु'—उ०)। अपने लिए तो कौवा भी जीता है, तू केवल अपने लिए जीनेवाला न बन। ३. तू **सजातानाम्**=समान जन्मवालों का, हमउम्रवालों का, **मध्यमस्था एधि**=मध्यस्थ हो, अर्थात् यदि कभी किन्हीं दो में संघर्ष हो जाए तो वे दोनों तुझे मध्यस्थ बनाने के लिए सहर्ष उद्यत हों। यह होगा तभी जब तेरा जीवन यज्ञमय होगा। ४. हे अग्ने! पथप्रदर्शक! तेरा जीवन ऐसा सुन्दर हो कि तू **राज्ञाम्**=राजाओं का भी **विहव्यः**=विशिष्टरूप से पुकारने योग्य बने। ५. हे अग्ने! इस प्रकार के जीवनवाला बनकर तू **इह**=यहाँ मानव-जीवन में **दीदिहि**=खूब ही चमकनेवाला हो।

भावार्थ—हमारे कार्य शक्तिशाली हों, हमारा सारा दिन ऐसे कार्यों में बीते जो मित्रों का धारण करनेवाले हों, उनके परस्पर के झगड़ों को हम निपटानेवाले बनें। राजाओं के भी पुकारने योग्य हों तथा देदीप्यमान जीवनवाले बनें।

ऋषिः—**अग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**भुरिग्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

दुष्ट-संग से दूर

अति निहोऽअति स्त्रिधोऽत्यचित्तिमत्यरातिमग्ने।
विश्वा ह्यग्ने दुरिता सहस्वाथास्मभ्यꣳ सहवीरꣳ रयिं दाः ॥६॥

१. हे **अग्ने**=जीवन में आगे बढ़ने के स्वभाववाले जीव! **निहः**=(निहन्तॄन्) हिंसकवृत्तिवालों

को **अति**=(अतिक्रम्य) अतिक्रमण करके, लाँघकर, अर्थात् इनके संग से सदा बचकर, २. **स्त्रिधः**=(स्त्रिध कुत्सावाक्) कुत्सित आचरणवालों को, अर्थात् संयम की मर्यादा के तोड़नेवालों को **अति**=लाँघकर ३. **अचित्तिम् अति**=अन्यमनस्कतावालों के, अध्ययन व संज्ञान की प्रवृत्ति के अभाववालों को लाँघ के तथा ४. **अरातिम् अति**=न दान की वृत्तिवाले, कृपण व अयज्ञिय वृत्तिवाले पुरुष को लाँघकर हे **अग्ने**=प्रगतिशील! तू **विश्वा दुरिता**=सब पापों को **सहस्व**=अभिभूत कर, अपने से दूर कर। वस्तुतः दुरितों से दूर होने के लिए दुष्ट मनोवृत्ति व दुष्टाचरणवालों से दूर रहना आवश्यक है। ५. यह 'अग्नि' प्रभु से प्रार्थना करता है कि **अथ**=अब, जबकि हमने हिंसकों, कुत्सिताचरणों, अज्ञानियों व कृपणों से दूर रहकर अपनी वृत्तियों को सुन्दर बनाने का प्रयत्न किया है तो आप **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **सहवीराम्**=वीर-पुत्रों से युक्त **रयिम्**=धन को **दाः**=दीजिए। वस्तुतः जब हमारा जीवन सदाचार-सम्पन्न होता है तब हमें धन प्राप्त होता है और वह धन वीर सन्तानों से युक्त होता है।

भावार्थ—हम दुष्टाचारणों को त्यागें, जिससे उत्तम धन और वीर सन्तानों से युक्त हों।

ऋषिः—**अग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

प्रभुभक्त का जीवन

अनाधृष्यो जातवेदाऽअनिष्टृतो विराडग्ने क्षत्रभृद्दीदिहीह।
विश्वाऽआशाः प्रमुञ्चन्मानुषीर्भियः शिवेभिरद्य परि पाहि नो वृधे॥७॥

१. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **इह**=इस कर्म में वर्तमान हुआ-हुआ तू, अर्थात् गतमन्त्र के अनुसार उत्तम मार्ग में चलता हुआ तू **विश्वाः आशाः**=सब दिशाओं को **दीदिहि**=प्रकाशमय कर दे। २. तू स्वयं (क) **अनाधृष्यः**=काम-क्रोध आदि भावनाओं से धर्षित न होनेवाला बन, (ख) **जातवेदाः**=(जातं वेदो धनं ज्ञानम् यस्मात्) ज्ञानी बन तथा संसार के लिए आवश्यक धन को कमानेवाला बन, (ग) **अनिष्टृतः**=तू किन्ही भी रोगादि से हिंसित न हो। तेरे मन में क्रोधादि न आएँ और शरीर में रोग न हों, (घ) इस प्रकार तू **विराट्**=विशेषरूप से चमकनेवाला हो, और (ङ) अपने में **क्षत्रभृत्**=बल को धारण करनेवाला हो। उस बल का तू पोषण कर जो तुझे सब क्षतों से बचानेवाला हो। ३. इस प्रकार सुन्दर जीवनवाला बनकर **मानुषीः**=मनुष्य-सम्बन्धिनी भीतियों को 'जन्म, जरा, मृति, दैन्य, शोक' आदि मनुष्य को प्राप्त होनेवाले भयों से ऊपर उठकर **नः**=हमारे दिये हुए इस शरीरादि को **अद्य**=आज **शिवेभिः**=कल्याणों के द्वारा, शुभकर्मों के द्वारा **परिपाहि**=सर्वतः सुरक्षित करनेवाला हो। और **नः वृधे**=तू हमारे वर्धन के लिए हो, अर्थात् अपने आदर्श जीवन से लोगों पर यह प्रभाव डालनेवाला बन कि 'प्रभुभक्तों का जीवन इस प्रकार सुन्दर हुआ करता है'।

भावार्थ—प्रभुभक्त अपने सुन्दर जीवन से प्रभु के यश का वर्धन करनेवाला होता है। वह क्रोधादि से धर्षित नहीं होता, ज्ञानी बनता है, रोगों से अहिंसित होता है, चमकता है, बल का धारण करता है, सब दिशाओं को चमकानेवाला बनता है, मनुष्य के जीवन में आनेवाले भयों से ऊपर उठता है, शिव भावनाओं से युक्त होता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

आचार्य का कर्तव्य

बृहस्पते सवितर्बोधयैन्ꣳसꣳशितं चित्सन्तराꣳसꣳशिशाधि।
वर्धयैनं महते सौभगाय विश्वऽएनमनु मदन्तु देवाः॥८॥

१. 'अग्नि' गतमन्त्रों में वर्णित जीवन को बनाने के लिए आचार्य से कहते हैं कि हे **बृहस्पते**=ब्रह्मणस्पते, ज्ञान के स्वामिन्! **सवितः**=ज्ञान के बीज को विद्यार्थी के मस्तिष्क में बोनेवाले आचार्य! **एनम्**=इस तेरे समीप प्राप्त हुए-हुए विद्यार्थी को **बोधय**=तू उद्बुद्ध ज्ञानवाला कर, इसे ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञान देनेवाला तू हो। २. **संशितम् चित्**=माता-पिता के द्वारा शिक्षित किये हुए को भी **सन्तराम्**=अब खूब ही **संशिशाधि**=सम्यक्तया शिक्षित कर। इसक जीवन को संयत Disciplined बनाने का ध्यान कर। ३. **एनम्**=इसको **महते सौभगाय**=महान् सौभाग्य व ऐश्वर्य के लिए **वर्धय**=बढ़ाइए। इसे इस प्रकार शिक्षित कीजिए कि यह संसार में आकर महनीय, पूजनीय, अर्थात् उत्तम मार्गों से कमाये गये ऐश्वर्य को अर्जित करनेवाला हो। ४. इसके जीवन को ऐसा बनाइए कि समावृत्त होने पर **देवाः**=सब विद्वान् **एनम् अनु**=इसका लक्ष्य करके **मदन्तु**=हर्ष को प्राप्त हों। इस ज्ञानपूर्ण, व्रती व अर्जनक्षम जीवन को देखकर सभी को प्रसन्नता हो।

भावार्थ—आचार्य ने विद्यार्थी के जीवन में ज्ञान (Knowledge) शिक्षा (Education) व अर्जनक्षमता (सौभाग्य) को पैदा करना है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**अश्व्यादयः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

भय से मुक्ति

अमुत्रभूयादध यद्यमस्य बृहस्पतेऽअभिशस्तेरमुञ्चः।
प्रत्यौहतामश्विना मृत्युमस्माद्देवानामग्ने भिषजा शचीभिः॥९॥

१. हे **बृहस्पतेः**=ज्ञान के स्वामी आचार्य! आप अपने उपनीत इस शिष्य को **अमुत्रभूयात्** सदा परलोक में होने से **अमुञ्चः**=छुड़ाइए, अर्थात् यह प्रतिक्षण परलोक का ही ध्यान न करता रहे, यह इस लोक का भी ध्यान करे। २. **अध**=और **यत्**=जो **यमस्य**=यम का, मृत्यु की देवता का भय है उससे भी, आप इसे छुड़ाइए। यह मौत से ही न डरता रहे। ३. हे आचार्य! इसे आप (क) **अभिशस्तेः**=लोकापवाद से मुक्त कीजिए, (ख) साथ ही 'अभिशस्तेः अमुञ्चाः' का यह भी अर्थ है कि इसे लोकापवाद प्राप्त न हो। ४. **अश्विना**=प्रणापान जो **देवानाम् भिषजा**=देवों के वैद्य हैं, देवलोग दवाइयों पर आश्रय न करके प्राणापान की शक्ति का ही आश्रय करते हैं, वे प्राणापान **शचीभिः**=अपनी शक्तियों के द्वारा हे **अग्ने**=विद्यार्थी की उन्नति के साधक आचार्य! **अस्मात्**=इससे **मृत्युम्**=मृत्यु को **प्रत्यौहताम्**=दूर करें। (प्रति प्रेरयताम् अन्यत्र नयताम्—उ०)।

भावार्थ—हम सदा परलोक का ही ध्यान न करते रह जाएँ, यमजनित मृत्यु से न डरते रहें, लोकापवाद के भय से मुक्त हों। प्राणापान ही हमारे वैद्य हों।

ऋषिः—**अग्निः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**विराडनुष्टप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

उत्+उत्तर+उत्तम

उद्वयन्तमसस्परि स्वः पश्यन्तऽउत्तरम्। देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥१०॥

१. गतमन्त्र के अनुसार सदा डरते न रहकर **वयम्**=हम **उत् तमसः परि** उत्कृष्ट प्रकृति के बन्धन को छोड़कर, प्रकृति से ऊपर उठकर आगे बढ़ें। प्रकृति को पूर्णतया छोड़ने का देहवान् के लिए सम्भव नहीं, परन्तु इसमें उलझना भी सर्वथा हेय है। 'प्रकृति निकृष्ट हो' यह बात नहीं, भौतिक शरीर के स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है, परन्तु इससे ऊपर उठना ही ठीक है। २. इससे ऊपर उठकर **उत्तरम् स्वः**=तुलना में अधिक उत्कृष्ट

प्रकाशमय जीव को, अर्थात् आत्मस्वरूप को **पश्यन्तः**=देखते हुए आगे बढ़ें। प्रकृति उत्कृष्ट है, परन्तु जीव उत्कृष्टतर हैं। प्रकृति जड़ है, जीव पूर्ण चैतन्य न होते हुए भी चैतन्य कर्ता तो है ही। ३. यह आत्मदर्शी पुरुष कहता है कि हम **देवत्रा देवम्**=देवों में भी देव, देवों को भी बल प्राप्त करानेवाले **उत्तमं ज्योतिः**=सर्वोत्तम ज्योति परमात्मा को जो **सूर्यम्**=सूर्य की तरह देदीप्यमान है, **अगन्म**=प्राप्त हों। ४. मन्त्र में 'उत्, उत्तर व उत्तम' शब्द प्रकृति, जीव व परमात्मा का संकेत कर रहे हैं। प्रकृति उत्कृष्ट है, जीव उत्कृष्टतर है और परमात्मा उत्कृष्टतम। प्रकृति 'सत्' है जीव 'सत्+चित्' है और परमात्मा 'सत्+चित्+आनन्द' है।

भावार्थ—हम उत्कृष्ट प्रकृति का उत्तम प्रयोग करते हुए इससे ऊपर उठें, अपने प्रकाशमयरूप को देखते हुए ज्योतियों में सर्वोत्तम ज्योति परमात्मा के समीप पहुँचने के लिए यत्नशील हों। वही हमारा लक्ष्य हो।

ऋषिः—**अग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**उष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

चमकता हुआ (सुप्रतीक)

ऊर्ध्वाऽअस्य समिधो भवन्त्यूर्ध्वा शुक्रा शोचीᳩष्यग्नेः।
द्युमत्तमा सुप्रतीकस्य सूनोः॥११॥

१. **अस्य अग्नेः**=इस उत् से उत्तर तथा उत्तर से उत्तम की ओर जानेवाले अग्नि की **समिधः**=दीप्तियाँ **ऊर्ध्वा भवन्ति**=उत्कृष्ट होती हैं। इसकी एक-एक इन्द्रिय शक्ति-सम्पन्न होती है, सब इन्द्रियाँ दीप्त प्रतीत होती हैं। स्वास्थ्य की दीप्ति इसे चमकानेवाली होती है। ३. इस अग्नि की **शुक्रा**=अत्यन्त शुद्ध **शोचीषि**=मानस पवित्रताएँ, मानस संकल्पों की शुद्धता में **ऊर्ध्वा**=अत्यन्त उत्कृष्ट होती हैं। इसका शरीर नीरोग होता है तो इसका मन भी पूर्ण निर्मल होता है। ३. इस शारीरिक स्वास्थ्य व मानस निर्मलता के कारण **सुप्रतीकस्य सूनोः**=अत्यन्त प्रसन्नवदनवाले व्यक्ति का ज्ञान **द्युमत्तमा**=अत्यन्त द्युतिवाला होता है।

भावार्थ—प्रगतिशील जीव की इन्द्रियाँ शक्तियों से चमकती हैं, इसकी मानस पवित्रताएँ, इसका ज्ञान अत्यन्त दीप्त होते हैं। इस प्रकार शरीर व चमकते हुए मस्तिष्कवाला यह अग्नि चमकते हुए मुखवाला व प्रसन्नवदन होता है।

ऋषिः—अग्निः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—उष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः।

माधुर्य, नैर्मल्य व दीप्ति

तनूनपादसुरो विश्ववेदा देवो देवेषु देवः। पथो अनक्तु मध्वा घृतेन॥१२॥

१. यह 'अग्नि' **तनूनपात्**=अपने शरीर को न गिरने देनेवाला है। सात्त्विक व पौष्टिक भोजनों का सेवन करने से यह शरीर को ढीला नहीं होने देता। २. **असुरः**=(असुमान् प्राणवान्—उ०) यह प्राणशक्ति-सम्पन्न होता है। यह प्राणशक्तिप्रद भोजनों का सेवन करता है और संयमी जीवन बिताता हुआ प्राणशक्ति में कमी नहीं आने देता। ३. **विश्ववेदाः**=सब आवश्यक धनों को अर्जन करता है और सम्पूर्ण ज्ञानवाला होता है। ४. **देवः**= दानादि गुणयुक्त होता है। 5. देवेषु देवः। यह **पथः**=अपने जीवन-मार्गों को **मध्वा**=माधुर्य से और **घृतेन**=(घृ क्षरण) मलों के क्षरण, अर्थात् नैर्मल्य से तथा (घृ दीप्ति) ज्ञान की दीप्ति से **अनक्तु**=अलंकृत करे, अर्थात् इसके सारे कार्यों में माधुर्य, नैर्मल्य व दीप्ति का पुट हो।

भावार्थ—हम शरीर को स्वस्थ व प्राणशक्ति-सम्पन्न बनाएँ, ज्ञानी व धनी बनें, देववृत्तिवाले, देवों के भी देव बनें। हमारे व्यवहार मधुर, निर्मल व समझदारी को लिये हुए हों।

ऋषिः—**अग्निः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**निचृदुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

विश्ववारः= सबसे वरणीय

मध्वा यज्ञं नक्षसे प्रीणानो नराशꣳसो अग्ने। सुकृद्देवः सविता विश्ववारः॥१३॥

१. **मध्वा**=माधुर्य से **यज्ञम्**=अपने श्रेष्ठतम कर्मों को **नक्षसे**=तू व्याप्त करता है अथवा माधुर्य से तू उत्तम कर्मों की ओर जाता है (नक्ष गतौ), सदा उन कर्मों में लगा रहता है। २. उन कर्मों को तू किसी के दवाब से नहीं करता। **प्रीणानः**=प्रियता व तृप्ति का अनुभव करता हुआ तू उन कर्मों की ओर जाता है और इसीलिए **नराशंसः**=मनुष्यों से तू स्तुति किया जाता है। प्रसन्नतापूर्वक उत्तम कर्मों में लगे रहनेवाला व्यक्ति क्यों लागों की प्रशंसा का पात्र न होगा? ३. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! इस प्रकार तू **सुकृत्**=सदा शोभन कर्मों को करनेवाला है। **देवः**=दीप्तिमान् होता है। **सविता**=ऐश्वर्य को बढ़ानेवाले निर्माण के ही कार्यों में तू लगता है, राष्ट्र के ऐश्वर्य को बढ़ाता है और **विश्ववारः**=सबका वरणीय बनता है और सबके हित के कार्यों का ही वरण करनेवाला होता है।

भावार्थ—'अग्नि' वह है जो यज्ञादि कार्यों को प्रसन्नता व मधुरता के साथ करता है। सबकी प्रशंसा का पात्र होता है, शोभनकारी, दीप्तिमान्, उत्पादक व विश्ववरणीय होता है।

ऋषिः—**अग्निः**। देवता—**वह्निः**। छन्दः—**भुरिगुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

प्रभु—प्राप्ति के साधन

अच्छायमेति शवसा घृतेनेडानो वह्निर्नमसा। अग्निꣳस्रुचोऽअध्वरेषु प्रयत्सु॥१४॥

१. **अयम्**=यह 'अग्नि' **अच्छ एति**=उस प्रभु की ओर जाता है। किन साधनों से? (क) **शवसा**=अपने बल से। '**नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः**'=यह आत्मा निर्बल से तो लभ्य नहीं है, (ख) **घृतेन**=मलों के क्षरण द्वारा निर्मल मन से। मलिन मन में प्रकाश नहीं दिखता, (ग) **घृतेन**=(दीप्ति) ज्ञान की दीप्ति से। सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा ही प्रभु का दर्शन होगा '**दृश्यते त्वग्र्या बुद्ध्यया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः**'। (घ) **ईडानः**=(ईड् स्तुतै=स्तुति करता हुआ ही मनुष्य प्रभु का दर्शन करता है, (ङ) **वह्निः**=जो अपने नियत कर्म का ठीक वहन करता है। अकर्मण्य न बनकर प्रत्येक कर्म को फल—प्राप्तिपर्यन्त चलाता ही है, (च) **नमसा**=नमन के द्वारा। अभिमानी को प्रभु का दर्शन नहीं होता। २. यह प्रभु की ओर इस प्रकार जाता है जैसे **प्रयत्सु अध्वरेषु**=यज्ञों के प्रज्वलित होने पर **स्रुचः**=चम्मच आदि **अग्निम्**=अग्नि की ओर जाते हैं। यहाँ खाली चम्मच अग्नि की ओर नहीं जाता, घृत से भरा हुआ चम्मच ही अग्नि की ओर जाता है। इसी प्रकार स्वास्थ्य, ज्ञान व नैर्मल्य की दीप्ति से परिपूर्ण मनुष्य ही प्रभु की ओर जाता है।

भावार्थ—प्रभु की ओर जाने के लिए आवश्यक है कि (क) हम बलवान बनें, (ख) नैर्मल्य व दीप्तिवाले हों, (ग) कार्यभार का उठानेवाले हों, (घ) नम्र हों।

ऋषिः—**अग्निः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**स्वराडुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

चेतिष्ठ बनना

स यक्षदस्य महिमानमग्नेः सऽईं मन्द्रा सुप्रयसः। वसुश्चेतिष्ठो वसुधातमश्च॥१५॥

१. **सः**=यह गत मन्त्र में वर्णित साधनों का प्रयोग करके प्रभु के साथ अपना सम्पर्क स्थापित करनेवाला व्यक्ति **अस्य अग्नेः**=इस सर्वाग्रणी, सबकी उन्नतियों के साधक प्रभु की **महिमानम्**=महिमा को **यक्षत्**=अपने साथ संगत करता है। प्रभु—सम्पर्क से यह उपासक भी

प्रभु-जैसा बन जाता है। २. **सः**=वह **ईम्**=निश्चय से **सुप्रयसः** (प्रयस्=अन्न)=उत्तम सात्त्विक अन्न का सेवन करनेवाले की **मन्द्रा**=हर्षजनक वृत्तियों को **यक्षत्**=अपने साथ संगत करता है। सात्त्विक अन्न के सेवन से उसके चित्तम में सदा आह्लादमयी वृत्ति बनी रहती है। राजसी भोजन उसके मन को राग-द्वेष से ही भरेगा और तामसी अन्न के सेवन के परिणामस्वरूप उसे आलस्य, प्रमाद व निद्रा के रोग घेरे रहेंगे। ३. इस प्रकार यह प्रभु- सम्पर्क से प्रभु की महिमा को अपने साथ जोड़नेवाला बनता है और सात्त्विक अन्न के सेवन से मानस प्रसाद को पाने के लिए यनशील होता है, परिणामतः **वसुः**=अत्यन्त उत्तम निवासवाला होता है **चेतिष्ठः**=अधिक-से-अधिक चेतनावाला होता है, **वसुधातमः च**=और (धनानाम् दातृतमः-उ०) धनों का अतिशयेन दान देनेवाला होता है।

भावार्थ-प्रभु-सम्पर्क से हम प्रभु की महिमा को प्राप्त करें। सात्त्विक अन्न के सेवन से मानस आह्लाद का लाभ करें। उत्तम निवासवाले, ज्ञानी व धनों का खूब दान करनेवाले हों।

ऋषिः-**अग्निः**। देवता-**देव्यः**। छन्दः-**निचृदुष्णिक्**। स्वरः-**ऋषभः**।

देवों की अनुकूलता

द्वारो देवीरन्वस्य विश्वे व्रता ददन्तेऽअग्नेः। उरुव्यचसो धाम्ना पत्यमानाः॥१६॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु की महिमा को अपने साथ सम्पृक्त करनेवाले **अस्य अग्नेः**=इस प्रगतिशील जीव के **विश्वे**=सब देव **देवी द्वारः अनु**=दिव्य द्वारों के अनुकूल होते हैं। जैसे शरीर में अग्निदेव वाणी के रूप से रहता है, सूर्य चक्षु के रूप से तथा अन्य देव भी भिन्न इन्द्रिय-द्वारों के रूप में इस शरीर में रह रहे हैं, अतः इन देवों का शरीर के दिव्य द्वारों से किसी प्रकार का विरोध नहीं। इन देवों का इस अग्नि के दिव्य द्वारों के साथ सदा आनुकूल्य बना रहता है। यह अनुकूलता ही इन इन्द्रियों का पूर्ण स्वास्थ्य है। यही 'सुख'=इन्द्रियों का ठीक होना है। इनकी प्रतिकूलता में इन्द्रियों की स्थितिविकृत होती है और यही 'दुःख' है। २. प्रगतिशील जीव **व्रता ददन्ते**=अपने को व्रतों के बन्धनों में बाँधनेवाले व्यक्ति ही उन्नत होते हैं। ३. ये व्रतों के धारण करनेवाले अग्नि **उरुव्यचसः**=बड़ी व्यापकतावाले होते हैं। इनके जीवनों में संकुचितता नहीं होती और ४. वे **धाम्ना पत्यमानाः**=तेजों से ऐश्वर्यशाली बनते हैं। इनको प्रत्येक इन्द्रिय की तेजस्विता प्राप्त होती है। ये धनों से ऐश्वर्यशाली बनने की बजाय तेजस्विता से ऐश्वर्यशाली होते हैं।

भावार्थ- 'अग्नि' को देवों की अनुकूलता प्राप्त होती है, ये व्रतों को धारण करते हैं, व्यापक मनोवृत्तिवाले व तेजस्विता से ऐश्वर्यशाली होते हैं।

ऋषिः-**अग्निः**। देवता-**यज्ञः**। छन्दः-**विराडुष्णिक्**। स्वरः-**ऋषभः**।

यज्ञ की अहिंसकता (अध्वरता)

तेऽअस्य योषणे दिव्ये न योनाऽउषासानक्ता। इमं यज्ञमवतामध्वरं नः॥१७॥

१. **अस्य**=इस 'अग्नि'=प्रगतिशील जीव के **योना**=घर में **ते**=वे **दिव्ये न योषणे न**=दिव्य पत्नियों के समान **उषासानक्ता**=दिन और रात **इमम् यज्ञम्**=इस यज्ञ को **अवताम्**=रक्षित करें। उस यज्ञ को रक्षित करें जो **नः**=हमारी **अध्वरम्**=न हिंसा होने देनेवाला है। २. घर में पत्नी 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' इस सूत्र के अनुसर यज्ञ में संयोग देने के लिए ही तो है। 'दिव्ये' विशेषण पत्नी की अभौतिक वृत्ति का संकेत देता है। संसार के भोगों में अनासक्ति होने पर ही यज्ञियवृत्ति का विकास सम्भव है। 'दिन-रात' हमारी दिव्य

पत्नियों के समान हों और ये हमारे घरों में निरन्तर यज्ञ को अविच्छिन्न रक्खें, अर्थात् हमारे घरों में प्रातः-सायं यज्ञ अवश्य चले। ३. अथर्ववेद के अनुसार, **'सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातःप्रातः सौमनसस्य दाता'** १९।५५।३ सायंकाल किया हुआ अग्निहोत्र प्रातः तक सौमनस्य को देनेवाला होता है और **'प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायंसायं सौमनसस्य दाता'** १९।५५।४ प्रातःकाल में किया हुआ अग्निहोत्र सायंकाल तक सौमनस्य देनेवाला होता है। इस प्रकार ये **उषासानक्ता**=दिन-रात दिव्य पत्नियों को कहते हैं कि **'वसोर्वसोर्वसुदान एधीन्धानास्त्वा शतंहिमा ऋधेम'** १९।५५।४=हे अग्ने! तू सब वसुओं को, निवास के लिए आवश्यक वसुओं को देनेवाला है। हम तेरा समिन्धन करते हुए सौ वर्षपर्यन्त वृद्ध हों, फूलें-फलें।

भावार्थ—हम घरों में दिन-रात यज्ञ करनेवाले हों। ये यज्ञ हमारे लिए अहिंसक बनें। हमें अहिंसित करके ये हमारे फूलने-फलने का कारण बनें।

ऋषिः—**अग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**भुरिग्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

दैव्य होता

दैव्या होताराऽऊर्ध्वमध्वरं नोऽग्नेर्जिह्वामभि गृणीतम्। कृणुतं नः स्विष्टिम्॥१८॥

१. हे प्राणापानो! **दैव्या होतारा**=प्राणापान **नः**=हमारे **अध्वरम्**=हिंसा न करनेवाले यज्ञ को **ऊर्ध्वम् कृणुतम्**= उत्कृष्ट करें, अर्थात् हमारे जीवन में यज्ञ को प्रधानता प्राप्त हो। **अग्नेः**=मुझ प्रगति के पथ पर प्रस्थान की कामनावाले की **जिह्वाम्**=जिह्वा को **अभिगृणीतम्**=स्तुति करनेवाला बनाओ। मेरी जिह्वा दिन-रात (अभि=दोनों ओर, जगारित में व स्वपन में भी) प्रभु का स्तवन करनेवाली हो। ३. हे प्राणपानो! **नः**=हमारी **स्विष्टिम्**=उत्तम इष्टि को, इच्छा व गति को **कृणुतम्**=करो। हमारे मनों में सदा शुभ इच्छाएँ ही उत्पन्न हों, हमारे संकल्प शिव ही हों। ४. हमारे प्राणापान "दैव्य होता" बनें—देव को प्राप्त करानेवाले हों और हममें त्याग की वृत्ति को पनपानेवाले हों, ये सदा त्यागपूर्वक ही अदन करें। वस्तुतः होतृत्व ही इन्हें दैव्य बनाता है। जो जितना त्याग की वृत्तिवाला बनता है उतना ही प्रभु के समीप पहुँचनेवाला होता है। प्रभु की प्राप्ति के लिए भौतिक वस्तुओं का त्याग आवश्यक है। शरीर में अन्य इन्द्रियों की तुलना में प्राणापान का होतृत्व उत्कृष्ट है, अतः ये प्राणापान **दैव्य**=देव को प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ—हम में यज्ञियवृत्ति हो, हमारी जिह्वा प्रभु का नामोच्चारण करे और हमारी इच्छाएँ व क्रियायें उत्तम हों।

ऋषिः—**अग्निः**। देवता—**लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

तीन देवियाँ

तिस्रो देवीर्बर्हिरेदꣳसदन्त्विडा सरस्वती भारती। मही गृणाना॥१९॥

१. 'अग्नि'=प्रगतिशील जीव प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे प्रभो! आपकी कृपा से **तिस्रः देवीः**=ये तीन देवियाँ, दिव्य भावनाएँ **इदं बर्हिः**=इस मेरे वासनाशून्य हृदय में **आसदन्तु**=आसीन हों। वस्तुतः दिव्य भावनाओं के बीज बोने के लिए हृदयक्षेत्र को तैयार करना नितान्त आवश्यक है। कोई भी बीज खेत को तैयार करके ही बोया जाता है। इस हृदयक्षेत्र में भी मन्थन=चिन्तनरूप हल चलाके वासनारूप घास-फूस को निकाल देने पर ही उत्तम गुणों के बीज बोये जा सकते हैं। २. ये तीन देवियाँ क्रमशः **इडा**=पृथिवीस्थानीय

देवता है, **सरस्वती**=अन्तरिक्षस्थानीय है और **भारती**=द्युलोकस्थानीय देवता है। 'इडा' निघण्टु में 'अन्न' का नाम है (२.६) जीवनयज्ञ में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भाग 'इडा' का है। वस्तुतः इस अन्न पर ही जीवन का निर्माण निर्भर करता है—"जैसा अन्न वैसा मन'=You are what you eat ३. मन सरस्वान् है और उस मन की शक्ति 'सरस्वती' है। इसके बाद 'भारती' 'भरत आदित्यः तस्य भाः भारती' नि० ८।१'=सूर्य के समान देदीप्यमान ज्ञान है। एवं, अग्नि चाहता है कि उसके हृदय में ये तीन बातें अङ्कित हो जाएँ कि (क) मैं सदा यज्ञिय सात्त्विक अन्नों का सेवन करनेवाला बनूँगा, (ख) मैं अपनी मानस शक्ति को सदा प्रबल बनाऊँगा तथा (ग) मेरा ज्ञान सूर्य के समान चमकनेवाला होगा। ४. मेरी ये सब देवियाँ, दिव्य भावनाएँ **मही**=(मह पूजायाम्) महनीय—पूजनीय हों तथा **गृणाना**=प्रभु का स्तवन करनेवाली हों। 'यज्ञिय अन्न' मेरे शरीर को स्वस्थ बनाए, मानस संकल्प मन को परिष्कृत करे तथा ज्ञान मुझे पवित्र बनाकर प्रभु-प्रवण करे।

भावार्थ—मेरे जीवन में 'यज्ञिय अन्न', 'मानस शक्ति' व 'सूर्यसम देदीप्यामान ज्ञान' तीनों का महत्त्वपूर्ण स्थान हो।

ऋषिः—**अग्निः**। देवता—**त्वष्टाः**। छन्दः—**निचृदुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

कैसा धन?

तन्न॑स्तुरीप॒मद्भु॑तं पु॑रु॒क्षु त्वष्टा॑ सु॒वीर्य॑म्। रा॒यस्पोषं॒ वि ष्य॑तु॒ नाभि॑म॒स्मे॥२०॥

१. जीवन के उत्थान में धन का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है, अतः अग्नि=प्रगतिशील जीव इस मन्त्र में प्रार्थना करता है कि **त्वष्टा**=देवशिल्पी=सब धनों का निर्माण करनेवाला प्रभु **नः**=हमें **तत्**=उस **रायस्पोषम्**=धन के पोषण को **विष्यतु**=विशेषरूप से दे, छोड़े, अर्थात् हमपर उस धन की वर्षा करे जो (क) **तुरीपम्**=(तुरा वेगेन आप्नोति प्रापयति) शीघ्रता से कार्यों को सिद्ध करनेवाला है अथवा तुर=(Great strength), वेद में प्रबलशक्ति का वाचक हो, उस 'तुरीं पाति' तुरी की रक्षा करनेवाला है। प्रभु हमें वह धन दें जोकि हमारी शक्ति की रक्षा करता है। (ख) **अद्भुतम्**=यह धन अभूतपूर्व हो, महान् हो। ऐसा हो जैसाकि पहले किसी ने प्राप्त नहीं किया। (ग) **पुरुक्षु**=यह धन 'पुरुक्षु' पालन-पूरण करनेवाला हो अथवा यह 'पुरूणां क्षु' बहुत के निवास का कारण हो, अर्थात् जो केवल हमारे अपने लिए ही विनियुक्त न हो जाए। (घ) **सुवीर्यम्**=यह हमें उत्तम पराक्रमवाला बनाए। इसके द्वारा हम अपना आहार-विहार इतना सुन्दर बना सकें कि हम उत्तम वीर्य सम्पन्न हो पाएँ और (ङ) अन्त में यह धन **अस्मे**=हमारे लिए **नाभिम्** (नह बन्धने)=परस्पर बन्धन का कारण हो, हमें एक-दूसरे के साथ बाँधनेवाला हो, हमारे बन्धुत्व को करनेवाला हो, हमें परस्पर लड़ा न दे। २. इन गुणों से युक्त धन को प्राप्त करके ही हम अपने जीवनों को धन्य बना पाते हैं। अन्यथा विपरीत धन हमारे निधन का कारण हो जाता है। इस उत्तम धन को प्राप्त करके हम 'अग्नि' बनें, आगे बढ़नेवाले बनें। इस बात का सबसे अधिक ध्यान करें कि यह हमारा धन 'पुरुक्षु' बहुत को निवास देनेवाला हो। ऐसा होने पर यह धन हमें 'प्रजापति' बनाएगा और इस प्रजापति को प्रभु अगले मन्त्र में दान देने की प्रेरणा देते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें धन दें, वह धन जो कार्यसाधक है, शक्ति की रक्षा करनेवाला है, अभूतपूर्व है, बहुत का निवासक है और उत्तम वीर्यवान् बनाता है। प्रभु हमें वह धन दें जो हमें परस्पर बाँधनेवाला हो, न कि लड़ानेवाला।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**विराडुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

प्रजापति की दानवृत्ति

वनस्पतेऽवं सृजा रराणस्त्मना देवेषु। अग्निर्हव्यꣳशमिता सूदयाति॥२१॥

१. प्रभु प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि प्रजापति से कहते है, हे **वनस्पते**=(वन संभक्तौ) सम्भजनीय धन के रक्षक! तू इस धन का रक्षक है, धन तो मेरा (प्रभु का) है, तू इसका स्वामी नहीं, रक्षकमात्र है, यह धन तुझे सम्भजन-सम्यक् रीति से बाँटने के लिए दिया गया है, **अवसृज**=तू इसको भिन्न-भिन्न स्थानों में देनेवाला बन। **रराणः**=देना तेरा स्वभाव हो (रा दाने) २. **त्मना**= तू स्वयं देनेवाला बन। तुझे औरों से प्रेरणा दिये जाने की आवश्यकता न हो। **देवेषु**=तेरी यह दानक्रिया देवों के विषय में हो। तू देवों के प्रति देनेवाला बन। जिससे इस धन का विनियोग ठीक ही हो। बिना सोचे अपात्र में दिया गया धन तुझे भी 'तामसदाता' बना देगा। ३. प्रभु प्रजापति से कहते हैं कि तूने यह भी ध्यान करना कि **शमिता**=रोगों को शान्त करनेवाला **अग्निः**=यह यज्ञ की अग्नि **हव्यम्**=तुझसे होमे गये हव्य पदार्थों को सूदयाती सब देवों में क्षरित करता है, सूक्ष्म कणों में विभक्त करके इस हव्य को सब देवों में फैला देता है (द०) और इस प्रकार इस सारे वायुमण्डल को रोगकृमियों से शून्य कर देता है।

भावार्थ—हम धनों को देवों को देनेवाले बनें। यज्ञों में हव्य-पदार्थों का प्रयोग करके वायुमण्डल को रोगकृमिशून्य करते हुए प्रजापति बनें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**विराडुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

दान के तीन स्थान

अग्ने स्वाहा कृणुहि जातवेदऽइन्द्राय हव्यम्। विश्वेदेवा हविरिदं जुषन्ताम्॥२२॥

१. **अग्ने**=हे प्रगतिशील जीव! **स्वाहा कृणुहि**='अग्नये स्वाहा' आदि स्वाहाकार मन्त्रों से स्वाहा करनेवाला बन। यह ध्यान रख कि अपना त्याग 'स्वस्य हा' अपने लिये त्याग है, अर्थात् इस त्याग से हमारा अपना ही लाभ है। २. हे **जातवेद**=उत्पन्न धनवाले व्यक्ति! तू **इन्द्राय**=राष्ट्र के शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले राजा के लिए **हव्यम्**=कर (Tax) को **कृणुहि**= स्वयं देनेवाला हो, अर्थात् तूने धन कमाया है, तू जातवेद (विद् लाभे) बना है, तो इस धन में से राष्ट्रकार्य के सञ्चालन के लिए उचित कर तुझे देना ही चाहिए। ३. तुझसे दी हुई **इदम् हविः**=इस हवि को **विश्वेदेवाः**=सब देव, दिव्य वृत्तिवाले लोग **जुषन्ताम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करें, अर्थात् तेरे घर में 'अतिथियज्ञ' नियमपूर्वक चले। 'अग्ने स्वाहा कृणुहि' शब्दों से देवयज्ञ का निर्देश हुआ है, 'इन्द्राय हव्यम्' से ब्रह्मयज्ञ का, चूँकि करमें दिये गये धन से ही राष्ट्र में ब्रह्म, अर्थात् ज्ञान का प्रचार होगा तथा 'विश्वदेवाः जुषन्ताम्' शब्दों से अतिथियज्ञ ध्वनित हुआ है। एवं, इन तीन यज्ञों में हमारा धन उदारतापूर्वक व्ययित हो। 'विश्वेदेवाः' शब्दों में माता-पिता भी देव होने से आ जाते हैं, अतः पितृयज्ञ भी यहाँ सङ्कलित हो जाता है।

भावार्थ—हम धन को कमाएँ और उस धन को देवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ व अतिथि आदि यज्ञों में विनियुक्त करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

वसिष्ठ का सुन्दर जीवन

पीवोऽअन्ना रयिवृधः सुमेधाः श्वेतः सिषक्ति नियुतामभिश्रीः।
ते वायवे समनसो वि तस्थुर्विश्वेन्नरः स्वपत्यानि चक्रुः॥२३॥

१. **पीवो अन्नाः**=(पुष्टान्नम् यस्य) पुष्टिकम अन्नवाला, अर्थात् जो सदा पौष्टिक अन्न का ही सेवन करता है, जिसके भोजन का मापक पौष्टिकता है, नकि स्वाद। २. **रयिवृधः** धन का वर्धन करनेवाला, संसार-यात्रा के लए आवश्यक धन जुटानेवाला ३. **सुमेधाः**=उत्तम बुद्धिवाला ४. **श्वेतः**=(श्वि गतिवृद्ध्योः) गतिशीलता व क्रिया द्वारा अपनी शक्तियों का वधर्न करनेवाला ५. **नियुताम्**=(अश्वानाम्) इन्द्रियरूप घोड़ों की **अभिश्रीः**=दोनो ओर शोभावाला, जिस समय ज्ञानवाहिनी नाड़ियों से प्रभाव अन्दर जा रहे होते हैं और इसके बाद जब क्रियावाहिनी नाड़ियों से ये प्रभाव बाहर की ओर आते हैं—इन दोनों अवसरों पर (अभि) इन्द्रियों की क्रिया को बड़ी शोभा से करनेवाला यह **वसिष्ठ**=उत्तम निवासवाला प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि ही **सिषक्ति**=(सेवते) प्रभु का सेवन व उपासन करता है। ६. **ते**=इस प्रकार के उपासक ही **वायवे**=उस सारे ब्रह्मण्ड को गति देनेवाले प्रभु के लिए **समनसः**=(सहमनसः) सदा मन के साथ होते हुए, अर्थात् मन को न भटकने देते हुए, **वितस्थुः**=विशेषरूप से स्थित होते हैं, अर्थात् वे ही प्रभु के सच्चे उपासक बनते है। ७. **नरः**=ये अपने को उन्नति-पथ पर प्राप्त करानेवाले लोग **इत्**=निश्चय से **विश्वा**=सब **स्वपत्यानि**=उत्तम सन्तानों के निर्माण करनेवाले कर्मों को **चक्रुः**=करते हैं। स्वयं अपने जीवनों को सुन्दर बनाते हुए ये सन्तानों के जीवनों को भी उत्तम बनाते हैं।

भावार्थ—'वसिष्ठ' का अपना जीवन उत्तम होता है, वह सन्तानों को भी उत्तम बनाता है। यह अन्न का पौष्टिकता के दृष्टिकोण से सेवन करता है, धन का उचित वर्धन करनेवाला होता है, उत्तम बुद्धिवाला, क्रियाशीलता से अपना वर्धन करनेवाला, ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को शोभायुक्त बनानेवाला होता है। यही इसकी 'उपासना' होती है।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

धनार्जन व धन का दान

राये नु यं जज्ञतू रोदसीमे राये देवी धिषणा धाति देवम्।
अध वायुं नियुतः सश्चत स्वाऽउत श्वेतं वसुधितिं निरेके ॥२४॥

१. **इमे रोदसी**=ये द्यावापृथिवी, मस्तिष्क तथा शरीर **नु**=अब **यम्**=जिसको **राये**=धन के लिए **जज्ञतुः**=(उत्पादयामासतुः, म०) विकसित शक्तिवाला करते हैं, अर्थात् स्वस्थ शरीर व स्वस्थ मस्तिष्क, इस वसिष्ठ को धन-उत्पादन के योग्य बनाते हैं। २. इस **देवम्**=(दिव=व्यवहार) व्यवहार को उचित प्रकार से करनेवाले पुरुष को **देवी**=प्रकाशमयी **धिषणा**=बुद्धि अथवा व्यवहारकुशल वाणी **राये**=ऐश्वर्य के लिए **धाति**=स्थापित करती है। यह बुद्धि से तथा वाणी के ठीक प्रयोग से उचित धन कमानेवाला बनता है। ३. **अध**=अब धन कमाने के बाद इसके **स्वाः**=आत्मा के वश में हुए-हुए, अपने बने हुए ये **नियुतः**=इन्द्रियरूप घोड़े **वायुम्**=आत्मतत्त्व को **सश्चत्**=सेवित करते हैं, अर्थात् यह पुरुष धन में नहीं फँस जाता, धन कमाते हुए भी यह अध्यात्मवृत्ति का बना रहता है **उत**=और **निरेके**=निश्चितरूप से इस धन के विरेचन, दान करने पर उस **श्वतेम्**=गति के द्वारा वर्धन करनेवाले **वसुधितिम्**=सब वसुओं को धारण करनेवाले, सब धनों के देनेवाले उस प्रभु को ये सेवित करते हैं। संक्षेप में, यह 'वसिष्ठ' धन तो कमाते हैं, परन्तु धन को कमाते समय भी उसमें फँसते नहीं, कुछ अध्यात्मवृत्ति के बने रहते हैं और धन का दान करके प्रभु के सच्चे उपासक बन जाते हैं। इनको यह भूलता नहीं कि सब वसुओं का धारण करनेवाले वे प्रभु ही हैं, वे प्रभु ही **श्वेत**=गति द्वारा हमारा वर्धन करते हैं।

भावार्थ— 'वसिष्ठ' अपने मस्तिष्क व शरीर दोनों को स्वस्थ बनाता है, अपनी बुद्धि व वाणी को व्यवहारकुशल करता है और इस प्रकार धन का अर्जन करता है, परन्तु इस धनार्जन को करते हुए भी अध्यात्मवृत्ति का बना रहता है और इस धन का दान करके प्रभु का ही बन जाता है। उस प्रभु को ही सब धनों का दाता व वर्धन करनेवाला मानता है।

ऋषिः—**हिरण्यगर्भः**। देवता—**प्रजापतिः**। छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

देवों का प्राण

आपो॑ ह॒ यद् बृ॑ह॒तीर्विश्व॒माय॒न् गर्भं॒ दधा॑ना ज॒नय॑न्तीर॒ग्निम्।
ततो॑ दे॒वाना॒ᳪसम॑वर्त्त॒तासु॒रेकः॒ कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम॥२५॥

१. गतमन्त्र का वसिष्ठ प्रभु का ध्यान करता है, प्रभु को सम्पूर्ण प्रकृति के गर्भ में देखता है और सम्पूर्ण ज्योतिर्मय पिण्डों को प्रभु के गर्भ में। इस प्रकार प्रभु की हिरण्यगर्भ रूप में उपासना करने के कारण प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'हिरण्यगर्भ' ही हो जाता है। यह ऐसा ज्ञान प्राप्त करता है कि **यत्**=अब **बृहतीः**=ये अत्यन्त बढ़े हुए महान् **आपः**=व्यापक तत्त्व (साम्यावस्थारूप में प्रकृति) इस जगत् का उपादानकारणभूत एक फैला हुआ मेघ (Nebula=नभस्), **विश्वम्**=उस सर्वत्र प्रविष्ट प्रभु को **गर्भं दधाना**=अपने गर्भ में धारण करते हुए **अग्निम्**=अग्नि आदि देवों को—द्युलोक में सूर्यरूप से रहनेवाली, अन्तरिक्ष में विद्युत् और पृथिवी पर अग्निरूप से रहनेवाली इस अग्नि को **जनयन्तीः**=पैदा करता हुआ **आयन्**=गति करता है। **ततः**=उस समय **देवानाम्**=इन सब देवों का **असुः**=प्राण **एकः**=यह अद्वितीय परमात्मा ही **समवर्त्तत**=होता है। वस्तुतः शरीर का वर्धन जैसे अन्तःस्थित आत्मतत्त्व पर निर्भर है, इसी प्रकार इस संसार के उपादानकारणभूत उस **आपः**=व्यापकतत्त्व का वर्धन अन्तःस्थित प्रभु पर निर्भर है। इन **आपः**=साम्यवस्थावाली प्रकृति से बने हुए इन सूर्यादि देवों का प्राण यह अद्वितिय परमात्मा ही है। उस प्रभु की दीप्ति से ही सूर्यादि ये सब देव दीप्त होते रहे हैं। २. उस **कस्मै**=अनिर्वचनीय महिमावाले **दैवाय**=दीप्तरूप प्रभु के लिए **हविषा**=दानपूर्वक अदन से अथवा आत्मसमर्पण से **विधेम**=हम पूजा करनेवाले हों।

भावार्थ—सृष्टि के मूल व्यापक तत्त्व में प्रभु गर्भरूप से स्थित न होते तो उस मूलतत्त्व से अग्नि आदि देवों की उत्पत्ति ही न होती। वे प्रभु ही इन सूर्यादि देवों के देवत्व का कारण हैं। उस अनिर्वचनीय महिमावाले देव के प्रति हम समर्पण द्वारा आराधना करनेवाले हों।

ऋषिः—**हिरण्यगर्भः**। देवता—**प्रजापतिः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

प्रभु की अध्यक्षता में

यश्चि॒दापो॑ महि॒ना प॒र्यप॑श्य॒द्दक्षं॒ दधा॑ना ज॒नय॑न्तीर्य॒ज्ञम्।
यो दे॒वेष्वधि॑ दे॒वऽएक॒ऽआसी॒त् कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम॥२६॥

१. गतमन्त्र में वर्णित सृष्टि का मूलतत्त्वभूत व्यापक प्रकृति प्रभु की अध्यक्षता में इस संसार को जन्म देती है। **यः चित्**=जो निश्चय से **महिना**=अपनी महिमा से **आपः**=उस व्यापक मूलतत्त्व का **पर्यपश्यत्**=सम्यक्तया Supervise देखता है, जो तत्त्व **दक्षं दधानाः**=अपने अन्दर उस शक्ति के पुञ्ज प्रजापति प्रभु को धारण कर रहे हैं और **यज्ञम्**=इस संगत (not disunited) संसार को **जनयन्तीः**=जन्म दे रहे हैं। प्रकृतिगर्भ में प्रभु का निवास न हो तो प्रकृति इन चराचर पदार्थों को जन्म नहीं दे सकती, उस समय प्रकृति एक जड़ तत्त्व

(Inert matter) के रूप में ही पड़ी रह जाएगी, संसार न बनेगा। उस चेतन प्रभु की सर्वव्यापकता का ही यह परिणाम है कि यह सारा संसार एक संगत सृष्टि के रूप में उत्पन्न होता है, २. परमात्मा वह है **यः**=जो **देवेषु**=इन सूर्यादि देवों में **एकः**=अद्वितीय **अधिदेवः**=अधिष्ठातृ देव **आसीत्**=है। इन देवों को उसी से तो देवत्व प्राप्त हो रहा है '**तेन देवा देवतामग्र आयन्**'। ३. उस **कस्मै**=अनिर्वचनीय, आनन्दस्वरूप **देवाय**=द्युतिमय प्रभु के लिए हम **हविषा**=संमर्पण द्वारा **विधेम**=पूजा करते हैं।

भावार्थ—प्रभु की अध्यक्षता में प्रकृति से सम्बद्ध यह सृष्टि होती है। प्रभु देवों के भी देव हैं, उस प्रभु के प्रति समर्पण से हम प्रभु की पूजा करनेवाले हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

सुभोजस रयि

प्र याभिर्यासि दाश्वाꣳसमच्छा नियुद्भिर्वायविष्टये दुरोणे।
नि नो रयिꣳसुभोजसं युवस्व नि वीरं गव्यमश्व्यं च राधः॥२७॥

१. **वायो**=(वा गतिगन्धन्योः) सम्पूर्ण संसार को गति देनेवाले व सब आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त करानेवाले प्रभो! **याभिः नियुद्भिः**=जिन नियुत् नामक अश्वों से **दावांसम्**=दान की वृत्तिवाले यजमान की **अच्छा**=ओर **इष्टये**=यज्ञों की सिद्धि के लिए **दुरोणे**=गृह में **प्रयासि**=प्रकर्षेण प्राप्त होते हो। इन नियुतों के द्वारा **नः**=हमें **सुभोजसम्**=उत्तमता से हमारा पालन करनेवाले **रयिम्**=धन को **नि** (युवस्व)=दीजिए तथा **वीरम्**=हमें वीर सन्तान **नि**=(युवस्व) प्राप्त कराइए, और **गव्यम्**=उत्तम गौवोंवाले **अश्व्यं च**=और उत्तम घोड़ोंवाले **राधः**=कार्यसाधक धन को **नि** (युवस्व)=दीजिए। २. यहाँ मन्त्र में इन्द्रियाश्वों को 'नियुत्' कहा गया है, इन्हें निश्चयपूर्वक 'यु मिश्रणामिश्रणयोः' बुराई से दूर करना और अच्छाई में लगाना चाहिए। ३. घर के लिए 'दुरोण' शब्द का प्रयोग हुआ है, दुर्=बुराई का उसमें से 'ओण् अपनने' अपनयन करना है। घर वही है जिसमें से बुराई को दूर किया गया है। इस बुराई को दूर करने के लिए ही 'इष्टि' यज्ञों का घर में प्रचलन आवश्यक है। यज्ञिय वृत्ति उसी की बनती है जो 'दाश्वान्' देनेवाला होता है। इस देनेवाले को ही प्रभु प्राप्त होते है। ४. रयि व धन वही है जो हमारा उत्तमता से पालन करता है, 'सुभोजस्' है। दान की वृत्तिवाले होने पर पति-पत्नी उत्तम सन्तान प्राप्त करते हैं। इन्हें वह सम्पत्ति प्राप्त होती है जो इनके घर में गौवों व अश्वों की कमी नहीं होने देती तथा इनके सब कार्यों को सिद्ध करनेवाली होती है 'राध् सिद्धौ'। ५. 'गव्यं व अश्व्यं' का अर्थ यह भी हो सकता है कि जो हमारी ज्ञानेन्द्रियों को उत्तम बनाती है तथा कर्मेन्द्रियों को सशक्त करती है। उस समय 'वीर' की भी भावना सन्तान न लेकर 'वीरता' ही लेना चाहिए। हम वही धन चाहते हैं जो (क) हमें वीर बनाये (ख) हमारी ज्ञानेन्द्रियों को उत्तम करे तथा (ग) हमें उत्तम कर्मेन्द्रियोंवाला बनाये। इस प्रकार अपने निवास को उत्तम बनानेवाला यह व्यक्ति प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'वसिष्ठ' होता है।

भावार्थ—(क) प्रभु हमें उत्तम इन्द्रियरूप अश्वों को प्राप्त कराएँ (ख) हम घरों में यज्ञशील व दान देनेवाले बनें, (ग) हमें पालक धन प्राप्त हों, (घ) उस धन को प्राप्त हों, जो हमें वीर बनाये, हमारी ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को उत्तम करे। अथवा हमें वह धन चाहिए जिससे हमारे सन्तान वीर हों और हमारा घर गौवों व अश्वों से भरा-पूरा हो।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

शतिनी-सहस्त्रिणी (नियुत्)

आ नो नियुद्भिः शतिनीभिरध्वरꣳसहस्त्रिणीभिरुप याहि यज्ञम्।
वायोऽअस्मिन्त्सवने मादयस्व यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥२८॥

१. हे **वायो**=संसार के सञ्चालक प्रभो! आप **शतिनीभिः**=सौ वर्षपर्यन्त अपने कार्य को उत्तमता से करनेवाली तथा **सहस्त्रिणीभिः**=सदा प्रसन्नता (स+हस्) के साथ रहनेवाली **नियुद्भिः**=इन अश्वरूप इन्द्रियों के साथ **नः**=हमारे **अध्वरम्**=कुटिलता व हिंसा से रहित जीवन-यज्ञ को **उपयाहि**=समीपता से प्राप्त होओ, अर्थात् प्रभुकृपा से हमें इस जीवन-यज्ञ को पूर्णता तक पहुँचाने के लिए वे इन्द्रियाँ प्राप्त हों जो सौ वर्ष तक कार्य करनेवाली हों तथा सदा आनन्द के साथ अपने कार्य में लगी रहनेवाली हों। इन इन्द्रियों को प्राप्त करके हम अपने इस जीवन-यज्ञ को सचमुच 'अध्वर' कुटिलता व हिंसा से रहित बना सकें। २. हे वायो! **अस्मिन् सवने**=इस यज्ञात्मक जीवन में **मादयस्व**=हमें हर्ष को प्राप्त कराइए। आपकी कृपा से यज्ञों में हम आनन्द का अनुभव करें। ३. **यूयम्**=आप **नः**=हमें **सदा**=सर्वदा **स्वस्तिभिः**=इन यज्ञों से सिद्ध होनेवाले अविनाशों व उत्तम स्थितियों द्वारा **पात**=पालित करो।

भावार्थ—(क) हे प्रभो! आपकी कृपा से हम जीवनयज्ञ में शतवर्षपर्यन्त प्रसन्नतापूर्वक कार्य की क्षमतावाली इन्द्रियों को प्राप्त करें। (ख) आप हमें यज्ञ में आनन्द को अनुभव करनेवाला बनाइए, हमारी रुचि यज्ञप्रवण हो, (ग) यज्ञों से हमारी स्थिति उत्तम हो और हम सचमुच 'वसिष्ठ' बनें।

ऋषिः—**गृत्समदः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

सुन्वन् का घर

नियुत्वान्वायवा गह्ययꣳशुक्रोऽअयामि ते। गन्तासि सुन्वतो गृहम्॥२९॥

१. गत मन्त्र का ऋषि 'वसिष्ठ' प्रस्तुत मन्त्र में आनन्द का अनुभव करता हुआ 'गृत्समद' बनता है 'गृणाति, माद्यति' स्तुति करता है और हर्षित होता है। यह प्रभु से कहता है कि हे **वायो**=सब गतियों को सिद्ध करनेवाले प्रभो! **नियुत्वान्**=प्रशस्त इन्द्रियों को प्राप्त करानेवाले आप **आगहि**=मुझे प्राप्त होओ, अर्थात् आपकी कृपा से मैं उत्तम इन्द्रियों को प्राप्त करूँ। २. **अयम्**=यह मैं **शुक्रः**=गतिशील बनकर (शुच गतौ) और गतिशीलता से दीप्त जीवनवाला होकर (शुच दीप्तौ) **ते अयामि**=आपके समीप प्राप्त होता हूँ। प्रभु को प्राप्त करने का यही मार्ग है कि वह गतिशील हो, गतिशीलता से शुद्ध जीवनवाला हो। ३. वे प्रभु **सुन्वतः**=यज्ञशील के अथवा अपने शरीर में सोम का (शक्ति का) सवन करनेवाले के **गृहम्**=घर को **गन्तासि**=प्राप्त होते हैं। मैं यज्ञशील बनूँगा व शक्ति का अपने में उत्पादन करनेवाला होऊँगा तो फिर क्यों न आपको प्राप्त करूँगा?

भावार्थ—(क) प्रभु हमें उत्तम इन्द्रियाश्व प्राप्त कराएँ, (ख) हम शुद्ध जीवनवाले बनकर प्रभु को प्राप्त करें, (ग) प्रभु यज्ञशील व शक्ति सम्पादन करनेवाले को प्राप्त होते हैं।

ऋषिः—**पुरुमीढः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

माधुर्य का शिखर

वायो शुक्रोऽअयामि ते मध्वोऽअग्रं दिविष्टिषु।
आ याहि सोमपीतये स्पार्हो देव नियुत्वता॥३०॥

१. गतमन्त्र का 'गृत्समद' जब लोकहित में प्रवृत्त होता है तब वह 'पुरुमीढ'=बहुत पर सुखों की वृष्टि करनेवाला व 'अजमीढ' (अज गतिक्षेपणयोः)=क्रियाशीलता से बुराइयों को दूर करके कल्याण की वृष्टि करनेवाला बनता है और प्रभु से कहता है कि हे **वायो**=गतिशील प्रभो! **शुक्रः**=गतिशील बनकर (शुक गतौ) मैं **ते अयामि**=आपको प्राप्त होता हूँ। २. आपकी उपासना से शक्ति-सम्पन्न होकर मैं **दिविष्टिषु**=(दिव् इष्टि) ज्ञानयज्ञों में **मध्वः अग्रम्**=माधुर्य के अग्रभाग को **अयामि**=प्राप्त कराता हूँ, अर्थात् अत्यन्त माधुर्य से जनहित के लिए ज्ञानयज्ञ का विस्तार करता हूँ, प्रजाओं में ज्ञान को फैलाने का प्रयत्न करता हूँ और इस ज्ञानविस्तार के कार्य में अत्यन्त माधुर्य को स्थिर बनाये रखता हूँ। ३. हे **देव**=सब ज्ञानदीप्तियों के देनेवाले प्रभो! आप ही **स्पार्हः**=स्पृहणीय हैं। चाहिए तो यही कि हम आपको प्राप्त करने का प्रयत्न करें, आपको प्राप्त कर लेने पर सब-कुछ प्राप्त हो ही जाता है। हे देव! **नियुत्वता**=उत्तम इन्द्रियोंवाले इस 'शरीर-रथ' के हेतु से **आयाहि**=आप हमें प्राप्त होइए। आपकी प्राप्ति में, आपकी उपासना में ही इन इन्द्रियाश्वों को निर्मल करने की शक्ति है। आप हमें इसलिए प्राप्त होओ कि हम **सोमपीतये**=सोम का पान कर सकें, शक्ति को शरीर में ही सुरक्षित रख सकें। आपके प्राप्त होने पर वासनाओं का सहज विनाश हो जाता है और यह वासना-विनाश शक्ति की रक्षा में सहायक होता है।

भावार्थ—हम शुद्ध जीवनवाले बनकर प्रभु को प्राप्त हों। ज्ञान प्रचार के कार्य में अत्यन्त माधुर्य को बनाये रक्खें। सोम की रक्षा के लिए प्रभु-प्राप्ति की प्रबल कामनावाले हों।

ऋषिः—**अजमीढः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

पुरुमीढ का प्रभु-स्तवन

वायुरग्रेगा यज्ञप्रीः साकं गन्मनसा यज्ञम्। शिवो नियुद्भिः शिवाभिः॥३१॥

१. **वायुः**=वे प्रभु सम्पूर्ण गति का स्रोत हैं। २. **अग्रेगाः**=वे प्रभु हमें निरन्तर आगे और आगे ले-चलनेवाले हैं। हमारी सब प्रकार की उन्नति प्रभुकृपा से ही तो सिद्ध होती है। ३. **यज्ञप्रीः**=यज्ञों के द्वारा वे प्रभु प्रीणित होते हैं। हम यज्ञशील बनकर प्रभु की कृपा के पात्र बनते हैं। ४. वे प्रभु **मनसा साकम्**=मन के साथ **यज्ञम् गत्**=यज्ञ को प्राप्त हों, अर्थात् जब हम यज्ञ करें तब प्रभुकृपा से हमें ऐसा उत्तम मन प्राप्त हो कि हमारी यह यज्ञिय वृत्ति और बढ़ती जाए। ५. वे प्रभु **शिवाभिः नियुद्भिः**=सदा शुभ कार्यों में प्रवृत्त होनेवाले इन्द्रियाश्वों से **शिवः**=हमारा कल्याण करनेवाले हैं। इन्द्रियों की उत्तमता में ही सुख है, सु+ख।

भावार्थ—प्रभु की आराधना के लिए हम यज्ञशील हों। 'यज्ञप्रीः' प्रभु को हम यज्ञ से ही आराधित कर सकेंगे।

ऋषिः—**गृत्समदः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

नियुत्वान्

वायो ये ते सहस्त्रिणो रथासस्तेभिरा गहि। नियुत्वान्त्सोमपीतये॥३२॥

१. प्रभु का स्तवन करता हुआ गृत्समद प्रार्थना करता है—**वायो**=हे सम्पूर्ण संसार के सञ्चालक प्रभो! **ये**=जो **ते**=आपके **सहस्त्रिणः**=(स+हस्) प्रसन्नता से युक्त **रथासः**=ये शरीररूप रथ हैं **तेभिः**=उनके साथ **आगहि**=हमें प्राप्त होइए, अर्थात् आपकी कृपा से हम उन शरीर-रथों को प्राप्त करें, जिनमें इन्द्रियों, मन व बुद्धि सभी का विकास (हास) दीखता है, शरीर मुर्झाया-सा लगे, इन्द्रियाँ दुर्बल हों, मन मरा-सा हो और बुद्धि कुण्ठित

हो तो ऐसे शरीररूप रथ को प्राप्त करके हम क्या करेंगे? २. **नियुत्वान्**=हे प्रभो! आप प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले, अर्थात् हमें उत्तम इन्द्रियरूप घोड़ों को प्राप्त करानेवाले होकर **सोमपीतये**=हमारे सोम की रक्षा के लिए होइए। आपकी कृपा से हमारी इन्द्रियाँ उत्तम हों, विषय-वासनाओं में विचरनेवाली न हों, और इस प्रकार हमारे सोम (वीर्य) की रक्षा हो सके। इस सोम की रक्षा से हमारा शरीर-रथ 'सहस्री' होगा, हास व विकासवाला होगा।

भावार्थ— हे प्रभो! आप हमें सब शक्तियों के विकास से युक्त शरीररूप रथ प्राप्त कराइए, हमारे इन्द्रियरूप अश्व भी उत्तम हों, वे वासनाओं के शिकार न हों, जिससे हम शक्ति को सुरक्षित कर सकें।

ऋषिः—**गृत्समदः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

ग्यारह, बाईस व तेतीस

एकया च दुशभिश्च स्वभूते द्वाभ्यामिष्टये विꣳशती च।
तिसृभिश्च वहसे त्रिꣳशता च नियुद्भिर्वायविह ता वि मुञ्च ॥३३॥

१. हे **स्वभूते**=सम्पूर्ण जगद्रूपी स्वकीय विभूतिवाले प्रभो! यह सम्पूर्ण जगत् आपकी ही तो विभूति है। आप जिन **एकया च दशभिः च**=एक और दस, अर्थात् ग्यारह पार्थिव दिव्य शक्तियों से तथा **द्वाभ्याम् विंशती (त्या) च**=जिन बाईस (ग्यारह पार्थिव तथा ग्यारह अन्तरिक्षलोक की) दिव्य शक्तियों से तथा **तिसृभिः च त्रिंशता च**=जिन तेतीस (ग्यारह पार्थिव, ग्यारह अन्तरिक्ष तथा ग्यारह द्युलोकस्थ) दिव्य शक्तियों से **वहसे**=इस सृष्टियज्ञ को चला रहे हो, हे **वायो**=सृष्टि-सञ्चालक प्रभो! आप **ता**=उन शक्तियों को **इष्टये**=जीवन-यज्ञ के उत्तमता से सञ्चालन के लिए **इह**=यहाँ हमारे शरीर में **नियुद्भिः**=इन्द्रियाश्वों के रूप से **विमुञ्च**=देनेवाले होओ। २. सृष्टि में तेतीस देव काम कर रहे हैं, वे सबके सब देव इस शरीर में भी रहते है, ये देव जब तक शरीर में ठीक कार्य करते रहते हैं तब तक मनुष्य पूर्ण स्वस्थ चलता है। जीवन-यज्ञ के ठीक चलने के लिए उन देवों का शरीर के अंग-प्रत्यंगों में ठीक रूप से रहना आवश्यक है। 'अग्निदेव' शरीर में रूप से रहता है तो सूर्य चक्षुरूप से, दिशाएँ श्रोत्ररूप से और वायु प्राण के रूप से। इसी प्रकार इन सब देवों के निवास से ही यह शरीर-यज्ञ चल रहा है। ३. ब्रह्मण्ड की त्रिलोकी शरीर में इस रूप से है कि शरीर पृथिवी है, हृदय अन्तरिक्ष और मस्तिष्क द्युलोक है। इनमें ग्यारह-ग्यारह देवों का निवास है और वे देव इस शरीर में होनेवाले जीवनयज्ञ को चला रहे हैं। ये देव शरीर में नियुत् रूप से हैं, इन्द्रियाश्वों के रूप से हैं। इन्द्रियाश्व नियुत् हैं, क्योंकि इन्हें निश्चय से गुणों से युक्त व अवगुणों से वियुक्त करना है 'यु मिश्रणामिश्रणयोः'। प्रभु हमें देवों को इन नियुतों के रूप में देनेवाले हों, जिससे हमारा निवास यहाँ उत्तम हो और हम मन्त्र के ऋषि 'वसिष्ठ' बनें।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारे शरीर में तेतीस देवों का उत्तम निवास हो, उस उत्तम निवासवाले हम सचमुच 'वसिष्ठ' बनें।

ऋषिः—**अङ्गिरसः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

त्वष्टा के जामाता का रक्षण

तव वायवृतस्पते त्वष्टुर्जामातरद्भुत। अवाꣳस्या वृणीमहे॥३४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब हमारे शरीर में तेतीस देव नियुतों के रूप में रह रहे होंगे तब हमारा अंग-प्रत्यंग सबल, स्वस्थ व सुन्दर बन जाएगा और हम प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि

'अंगिरस' बनेंगे। यह अंगिरस प्रभुरक्षण की प्रार्थना इस रूप में करता है कि हे **वायो**=सम्पूर्ण सृष्टि के सञ्चालक! **ऋतस्पते**=सृष्टि के नियमों के स्वामिन्! **त्वष्टुः**='तूर्णमश्नुते'—नि० ८।१४। शीघ्रता से कर्मों में व्याप्त होनेवाले तथा ('त्विषेर्वा स्याद् दीप्तिकर्मणः'—नि० ८।१४) स्वाध्याय के द्वारा मस्तिष्क की दीप्ति का सम्पादन करनेवाले, (त्वष्टा देवशिल्पी) दिव्य गुणों के निर्माण के लिए यत्नशील जीव की **जामातः**=(जायाम् मिमीते) बुद्धिरूपी जाया (पत्नी) का निर्माण करनेवाले! **अद्भुत**=अभूतपूर्व, अनुपम प्रभो! **तव**=तेरे **अवांसि**=रक्षणों का **आवृणीमहे**=हम सर्वथा वरण करते हैं। प्रभु सृष्टि के सञ्चालक हैं (वायु), प्रभु ने ही सृष्टि के अन्दर कार्य करनेवाले नियमों को बनाया है। ये नियम ही 'ऋत' हैं। प्रभु इन ऋतों के स्वामी हैं। प्रभु की अध्यक्षता में ये ऋत अपना कार्य कर रहे हैं। ३. ये प्रभु ही जीव को बुद्धि देनेवाले हैं। यह बुद्धि आत्मा की पत्नी के समान है, परन्तु यह बुद्धि प्राप्त तभी होती है जब जीव क्रियाशील होता है, स्वाध्याय के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करता है तथा अपने जीवन में दिव्यता लाने की कोशिश करता है, एक शब्द में जब यह 'त्वष्टा' बनता है। ५. वे प्रभु अद्भुत हैं, प्रभु के समान न कोई हुआ न होगा, अतः प्रभु की किसी से उपमा देना सम्भव नहीं, वे सचमुच अनुपम हैं।

भावार्थ—संसार के सञ्चालक, सृष्टि-नियमों के स्वामी स्वाध्यायशील की बुद्धि का निर्माण करनेवाले उस अनुपम प्रभु के रक्षण हमें प्राप्त हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**स्वराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

अभि-नमन

अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धाऽइव धेनवः।
ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः॥३५॥

१. गतमन्त्र का अंगिरस प्रभु-स्तवन करता हुआ अपने जीवन को सुन्दर बनाता है तो यह उत्तम निवासवाला 'वसिष्ठ' हो जाता है और प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **शूर**=हमारे सब शत्रुओं का संहार करनेवाले प्रभो! हम **त्वा**=आपकी **अभि नोनुमः**=दोनों ओर खूब स्तुति करते हैं। यही सन्ध्या है। २. हम आपका स्मरण **अदुग्धा इव धेनवः**=अदुग्ध गौवों के समान करते हैं। 'हम दुग्धदोह=गौवों की तरह अत्यन्त जीर्ण होकर आपका स्मरण करते हों' ऐसा नहीं। यौवन में ही हम आपके स्मरण में तत्पर होते हैं और आपका यह स्मरण हमें सदा युवा बनाये रखता है। ३. हम आपका स्मरण इस रूप में करते हैं कि आप (क) **अस्य जगतः**=इस जंगम संसार के **ईशानम्**=ईशान हैं, आपके स्वामित्व में ही सम्पूर्ण चर संसार चल रहा है। (ख) आप **स्वर्दृशम्**=(स्वः=सूर्य) सूर्य के समान देदीप्यमान हैं और (ग) **इन्द्र**=हे परमैश्वर्यशाली प्रभो! आप **तस्थुषः**=स्थावर जगत् के **ईशानम्**=ईशान हैं। आपके आधार में ये सब पदार्थ स्थिरता से ठहरे हुए हैं। आप ही सबके आधार हैं।

भावार्थ—वसिष्ठ इसीलिए वसिष्ठ है कि वह यौवन से ही प्रभु-स्तवन में लगा है। वह चराचर का आधार प्रभु को ही जानता है, प्रभु को सूर्य के समान देदीप्यमान रूप में देखता है।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः**। देवता—**परमेश्वरः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

अश्वायन्तः गव्यन्तः

न त्वावाँ२॥ऽअन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते।
अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे॥३६॥

१. प्रभु का उपासन करता हुआ 'वसिष्ठ' शान्त जीवनवाला बनता है, अतः 'शंयु' हो जाता है। यह ऊँचा ज्ञानी बनता है, अतः 'बार्हस्पत्यः' कहलाता है। यह कहता है कि हे प्रभो! **त्वावान्**=(त्वत्सदृशः) आप-जैसा **अन्यः**=कोई और **न**=न तो **दिव्यः**=द्युलोक में होनेवाला और **न पार्थिवः**=न ही पृथ्वीलोक में होनेवाला है। आपके समान भी कोई नहीं अधिक तो हो ही कैसे सकता है? **न जातः**=न भूतकाल में आपके समान कोई हुआ, **न जनिष्यते**=न भविष्य में आपके समान कोई होगा। २. **मघवन्**=परमपूजित (पापशून्य) ऐश्वर्यवाले! **इन्द्र**=सर्वदुःखविनाशक प्रभो! **अश्वायन्तः**=उत्तम अश्वों को, कार्यों में व्याप्त होनेवाली इन्द्रियों को चाहते हुए **वाजिनः**=शक्ति का सम्पादन करनेवाले हम **गव्यन्तः**=गौवों को, पदार्थों का निश्चय से ज्ञान देनेवाली ज्ञानेन्द्रियों को चाहते हुए आपको **हवामहे**=पुकारते हैं। आपकी आराधना से (क) हमें उत्तम सशक्त कर्मेन्द्रियाँ प्राप्त हों, (ख) हम शक्ति-सम्पन्न बनें तथा (ग) विषयों का निश्चयात्मक ज्ञान देनेवली ज्ञानेन्द्रियाँ हमें प्राप्त हों।

भावार्थ—हे प्रभो! आप 'एकमेवाद्वितीयम्' इन शब्दों के अनुसार एक ही अद्वितीय हो। आप हमें सशक्त कर्मेन्द्रियों को, शक्ति को व उत्तम ज्ञानेन्द्रियों को प्राप्त कराइए।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

'शंयु' की प्रार्थनत्रयी

त्वामिद्धि हवामहे सातौ वाजस्य कारवः।
त्वां वृत्रेष्विन्द्र सत्पतिं नरस्त्वां काष्ठास्वर्वतः॥३७॥

१. हे **इन्द्र**=हमारे सब शत्रुओं व कष्टों के निवारण करनेवाले प्रभो! **कारवः**=प्रत्येक कार्य को कलापूर्ण तरीके से करनेवाले हम ('कारुः शिल्पिनि कारके') **वाजस्य**=शक्ति की **सातौ**=प्राप्ति के निमित्त **हि**=निश्चय से **त्वाम् इत्**=आपको ही **हवामहे**=पुकारते हैं। आप ही तो हमें शक्ति प्राप्त कराएँगे। हाँ, यह ठीक है कि आप शक्ति प्राप्त कराते तभी हैं जब हम आपके निर्देश के अनुसार पुरुषार्थी बनते हैं। २. हे प्रभो! **वृत्रेषु**=ज्ञान पर आवरण डाल देनेवाली कामादि वासनाओं के साथ संग्राम में विजय के लिए भी **सत्पतिम्**=सज्जनों के रक्षक **त्वा**=आपको पुकारते हैं। आपके साहाय्य के होने पर ही तो हम इन वासनाओं को जीत पाएँगे। ३. **नरः**=(नृ नये) अपने को आगे प्राप्त कराने की कामनावाले हम **अर्वतः काष्ठासु**=(Race-ground, course goal) घोड़ों के घुड़दौड़ के मैदानों में **त्वा**=आपको पुकारते हैं। 'हमारे ये इन्द्रियरूप घोड़े उद्देश्य तक, उद्दिष्टस्थल तक पहुँच सकें' इसके लिए हम आपको ही पुकारते हैं। 'अर्वत' शब्द यहाँ छठी विभक्ति में प्रयुक्त हुआ है। घोड़े की काष्ठा, उसका लक्ष्यस्थान ही है।

भावार्थ—हे प्रभो! आपकी कृपा से हम (क) शक्ति प्राप्त करें (ख) वासना-संग्राम में विजय हों। ३. इन्द्रियरूप घोड़ों को लक्ष्यस्थान पर पहुँचानेवाले बनें।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**स्वराड्बृहतीः**। स्वरः—**मध्यमः**।

शत्रुओं का धर्षण व विजय

स त्वं नश्चित्र वज्रहस्त धृष्णुया महः स्तवानोऽअद्रिवः।
गामश्वꣳरथ्यमिन्द्र सं किर सत्रा वाजं न जिग्युषे॥३८॥

१. हे प्रभो! **सः त्वम्**=वे आप जो **चित्र**=अद्भुत हैं, जिनके समान न कोई है और न होगा, **वज्रहस्त**=(वज गतौ) सदा क्रियाशील हाथोंवाले है, अर्थात् स्वाभाविक क्रियावाले

हैं, और जो आप **धृष्णुया महः**=शत्रुओं के धर्षक तेजवाले हो **अद्रिवः** (न) अपने मार्ग से विदीर्ण न किये जानेवाले हैं—अच्युत हैं। हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली आप! **स्तवानः**=स्तुति किये **गाम्**=उत्तम ज्ञानेन्द्रियों को **अश्वः**=उत्तम कर्मेन्द्रियों को जो **रथ्यम्**=शरीररूप रथ के लिए अत्यन्त हितकर हैं, उनको **नः संकिर**=हमारे लिए दीजिए। २. आप हमे **जिग्युषे**=विजयशील पुरुष के लिए **न**=जैसे **वाजम्**=बल को प्राप्त कराते है, उसी प्रकार **सत्रा**=सचमुच शक्ति प्राप्त कराइए, जिससे जीवन-संग्राम में हम विजयी बनें। ३. 'चित्र' शब्द की भावना 'चित् र'=ज्ञान देनेवाले की है। वे प्रभु ज्ञान देकर ही तो हमें इस संसार में विजयी बनाते हैं। ४. उस प्रभु का स्तवन यही है कि हम भी **वज्रहस्त**=क्रियाशील बनें, **धृष्णुया महः**=शत्रुधर्षक तेजस्विता का सम्पादन करें, **अद्रिवः**=वज्रतुल्य दृढ़ शरीरवाले व दृढ़निश्चयी बनें, तभी हम प्रभु से उस शक्ति की याचना के अधिकारी बनते हैं, जो शक्ति हमें विजयी बनाती है।

भावार्थ—हे प्रभो! हमें उत्तम ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ प्राप्त कराइए। हमें वह शक्ति दीजिए जोकि हमें विजयी बनाए।

ऋषिः—**वामदेवः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

सदावृधः सखा

कया नश्चित्रऽआ भुवदूती सदावृधः सखा। कया शचिष्ठया वृता॥३९॥

१. गतमन्त्र के अनुसार उत्तम ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों व शरीर को प्राप्त करके यह 'वामदेव'=सुन्दर दिव्य गुणोंवाला बनता है और प्रभु-स्तवन करते हुए कहता है कि **चित्रः**=वह ज्ञान देनेवाले अद्भुत परमात्मा **कया ऊती**=किस कल्याणकारक रक्षण के द्वारा **नः** हमारा **सदावृधः**=सदा वर्धन करनेवाला **सखा**=मित्र **आभुवत्**=होता है। वास्तव में ज्ञान देकर ही प्रभु हमारा कल्याण करते हैं, प्रभु द्वारा सतत चलनेवाला रक्षण हमारे लिए कल्याणकर होता है, इस रक्षण के द्वारा प्रभु हमारा वर्धन करते हैं और हमारे सच्चे मित्र होते हैं। २. हमारे मित्र प्रभु **कया**=अत्यन्त आनन्दमय **शचिष्ठया**=अत्यन्त शक्तिप्रद **वृता**=आवर्तन से हमारा सदा वर्धन करनेवाले होते हैं। 'दिन-रात' का एक आवर्तन (चक्र) चल रहा है, दिन में कार्य करने से शक्ति का क्षय होता है तो रात्रि हमारी टूट-फूट को ठीक-ठाक करके हमें फिर से तरोताज़ा कर देती है। इसी प्रकार शुक्ल व कृणपक्षों का आवर्तन है। फिर वर्ष में मासों व ऋतुओं का आवर्तन है। ये सब आवर्तन हमारे स्वास्थ्य के लिए आवश्यक होते हुए हमारी शक्ति का वर्धन करते हैं।

भावार्थ—प्रभु का रक्षण व मास, ऋतु आदि के परिवर्तन से शक्ति का वर्धन—ये दोनों हमारे लिए कल्याणकर हैं।

ऋषिः—**वामदेवः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

मदानां मंहिष्ठः

कस्त्वा सत्यो मदानां मꣳहिष्ठो मत्सदन्धसः। दृढा चिदारुजे वसु॥४०॥

१. वामदेव अपने को ही सम्बोधन करते हुए कहते हैं **त्वा**=तुझे **कः**=अनिर्वचनीय व आनन्दमय प्रभु, **सत्यः**=जो सत्यस्वरूप हैं तथा **मदानाम्**=ज्ञानानन्दों व उल्लासों के **मंहिष्ठः**=(दातृतम) अधिक से अधिक देनेवाले हैं, **अन्धसः**=आध्यानीय सोम के द्वारा **मत्सत्**=आनन्दित करते हैं। आनन्द-प्राप्ति का कारण मन की शुद्धता है 'आनन्द व

मनःप्रसाद' पर्यायवाची से हो गये हैं। एवं, मन की शुद्धि तो सत्य से होती है और शरीर-शुद्धि के लिए सोम की रक्षा आवश्यक है। मन व शरीर की शुद्धि होने पर आनन्द-प्राप्ति का न होना असम्भव है। संक्षेप में यह आवश्यक है कि हम (क) सत्य बोलें (ख) प्रसन्न रहें (ग) सोम की रक्षा द्वारा स्वस्थ शरीरवाले बनें। २. हे प्रभो! आप **दृढा चित् वसु**=बड़े दृढ़ व कठोर भी कनक (स्वर्ण) आदि धनों को **आरुजे**=छिन्न-भिन्न कर देते हो, उन्हें चूर्ण करके सबमें बाँटनेवाले होते हैं।

भावार्थ—वे अनिर्वचनीय, आनन्दमय, सत्यस्वरूप, सर्वाधिक आनन्द के दाता प्रभु सोमरक्षा के द्वारा हमारे जीवन को उल्लास से युक्त करते हैं। वे कठोर स्वर्णादि धनों को बाँट-बाँटकर सबके लिए देते हैं।

ऋषिः—**वामदेवः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**पादनिचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

जरितॄणाम् अविता

अभी षु णः सखीनामविता जरितॄणाम्। शतं भवास्यूतये॥४१॥

१. हे प्रभो! आप **नः सखीनाम्**=हम मित्रों के **अभि**=आभिमुख्येन के **अविता**=उत्तम रक्षक होते हो और २. **जरितॄणाम्**=हम स्तोताओं के **शतम्**=सौ वर्षपर्यन्त **ऊतये**=रक्षा के लिए **भवासि**=होते हैं। ३. प्रभु का रक्षण हमें तब प्राप्त होता है जब हम प्रभु के सखा व स्तोता बनते हैं। प्रभु के सखा बनने का अभिप्राय यह है कि प्रकृति-प्रवण होकर हम प्रभु को भूल न जाएँ। स्तोता बनने का अभिप्राय भी यही है कि प्रभु के गुणों का स्तवन करते हुए हम उन गुणों को धारण करने का प्रयत्न करें। प्रभु के गुणों को धारण करके यह सचमुच 'वामदेव'=सुन्दर, दिव्य गुणोंवाला बना है।

भावार्थ—हम प्रभु के सखा व स्तोता बनें, हमें प्रभुरक्षण प्राप्त होगा।

ऋषिः—**शंयुः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

अमृत-जातवेदस्

यज्ञायज्ञा वोऽअग्नये गिरागिरा च दक्षसे।
प्रप्र वयममृतं जातवेदसं प्रियं मित्रं न शꣳसिषम्॥४२॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु का सखा व स्तोता बनकर प्रभु का रक्षण प्राप्त करनेवाला यह शान्त जीवनवाला बनता है और प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'शंयु' बनकर लोकहित के दृष्टिकोण से कार्यप्रवृत्त हुआ कहता है कि हे मनुष्यो! **यज्ञायज्ञा**=प्रत्येक यज्ञ के द्वारा **वः**=तुम्हारे **अग्नये**=आगे ले-चलनेवाले उस प्रभु के लिए **वयम्**=हम इस प्रभु को **प्रियम् मित्रम् न**=जो हमारे प्रिय मित्र के समान हैं, **अमृतम् प्रशंसिषम्**=वह अमृत है, इस रूप में प्रशंसित करता हूँ। प्रभु तो अमृत हैं ही, वे यज्ञों के द्वारा हमें भी मृत्यु से बचाते हैं। २. **च**=और **गिरागिरा**=एक-एक ज्ञान की वाणी के द्वारा **दक्षसे**=योग्यता को बढ़ानेवाले उस प्रभु को जो **प्रियं मित्रं न**=हमारे प्रिय मित्र के समान है, **जातवेदसं प्रशंसिषम्**=वह सम्पूर्ण ज्ञान का प्रादुर्भाव करनेवाला है, इस प्रकार प्रशंसित करते हैं। ये प्रभु तो सर्वज्ञ हैं ही, वे हमें भी इन ज्ञान की वाणियों के द्वारा योग्य बनाते हैं। ३. इस प्रकार यज्ञों द्वारा हमें अमृत (नीरोग) व ज्ञान की वाणियों से हमें योग्य बनाते हुए वे प्रभु यह प्रेरणा दे रहे हैं कि तुम्हारी कर्मेन्द्रियाँ यज्ञों में व्याप्त हों और ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान की वाणियों के ग्रहण में।

भावार्थ—प्रभु अमृत हैं, यज्ञों द्वारा उन्नत होते हुए हम भी अमर बनने का प्रयत्न करें। प्रभु जातवेदाः हैं, प्रभु से दी गई इन ज्ञान की वाणियों से हम भी अपनी योग्यता को बढ़ानेवाले हों। संक्षेप में 'अमृत व जातवेदाः' बनकर ही हम 'शंयु'=शान्ति को प्राप्त होनेवाले होंगे।

ऋषिः—**भार्गवः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**स्वराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

चार वाणियाँ

पाहि नोऽअग्नऽएकया पाह्युत द्वितीयया।
पाहि गीर्भिस्तिसृभिरूर्जां पते पाहि चतसृभिर्वसो॥४३॥

१. गतमन्त्र में 'गिरागिरा च दक्षसे' इस वाक्य में जिस ज्ञान की वाणी का उल्लेख था, उसी का कुछ विस्तार से उल्लेख करते हुए कहते हैं कि हे **अग्ने**=विज्ञान के द्वारा अग्निवत् हमारे जीवन को प्रकाशित व उन्नत करनेवाले प्रभो! **नः**=हमें **एकया**=अपनी इस प्रथमस्थानीय ऋग्रूप विज्ञान की वाणी से **पाहि**=रक्षा प्राप्त कराइए। २. **उत**=और हे प्रभो! आप हमें **द्वितीयया**=इस यजुरूप—यज्ञों का प्रतिपादन करनेवाली द्वितीय वेदवाणी के द्वारा भी **पाहि**=रक्षण प्राप्त कराइए। इसमें प्रतिपादित यज्ञ हमारे जीवन का भाग बनकर हमें नीरोग बनानेवाले हों। प्रथम विज्ञान की वाणी से ऐश्वर्य का अर्जन करके हम उस ऐश्वर्य का इन यज्ञों में ही विनियोग करें। ३. हे **ऊर्जाम्पते**=बल व प्राणशक्तियों के स्वामिन्! आप हमें **तिसृभिः गीर्भिः**=ऋग्यजुः के साथ इन तीसरी सामवाणियों के द्वारा **पाहि**=रक्षित कीजिए। इनके द्वारा आपकी उपासना करते हुए हम सचमुच आपकी शक्ति को अपने में प्रवाहित करनेवाले हों। हम भी ऊर्जाम्पति बनें। उपासना से हमें शक्ति प्राप्त हो। ४. हे **वसो**=हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले प्रभो! **चतसृभिः**=ऋग्यजुः साम के साथ चौथी इस अथर्व की वाणी से आप हमें **पाहि**=इस संसार में सुरक्षित कीजिए। इस वाणी के मौलिक उपदेश को कि 'वाचस्पति बनो' हम ग्रहण करें। जिह्वा के संयम से भोजन को मात्रा में सेवन करते हुए हम अपने बल को बढ़ाएँ व रोगों को दूर भगाएँ। वाणी का संयम हमें मितभाषी बनाये और हम व्यर्थ के कलहों को उत्पन्न न होने दें। जिह्वा का संयम रोगों से बचाये और वाणी का संयम हमें झगड़ों से बचाये।

भावार्थ—हम ऋग्, यजुः साम व अथर्वरूप चारों वाणियों से चतुष्पाद् धर्म का सेवन करें। ऋचाओं द्वारा प्राप्त विज्ञान हमारे ऐश्वर्य को बढ़ाए, यजुः में प्रतिपादित यज्ञ हमारी पवित्रता का कारण बनें। साम द्वारा की गई उपासना हमारे बल व प्राण का वर्धन करनेवाली हो तथा अथर्व के उपदेश से वाचस्पति बनकर हम इस शरीर व जगत् में अपने निवास को उत्तम बनाएँ। थोड़ा खाएँ—थोड़ा बोलें। इन वाणियों के द्वारा अपने ज्ञान का परिपाक करके हम मन्त्र के ऋषि 'भार्गव' बनें, 'भ्रस्ज पाके' अपना परिपाक करनेवाले।

ऋषिः—**शंयुः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**स्वराड्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

प्रभु के प्रति अर्पण

ऊर्जो नपात्ꣳस हिनायमस्मयुर्दाशेम हव्यदातये।
भुवद्वाजेष्वविता भुवद् वृधऽउत त्राता तनूनाम्॥४४॥

१. गतमन्त्र में प्रभु को 'ऊर्जाम्पते' इस प्रकार सम्बोधन किया था। प्रस्तुत मन्त्र में उसी की ओर ध्यान दिलाते हुए कहते हैं कि **सः**=वह तू **ऊर्जः नपातम्**=शक्ति को न नष्ट होने देनेवाले उस प्रभु को **हिन**=अपनी वाणियों व उपासनों से प्रीणित कर (तर्पय—उ०) (हि

गतौ वृद्धौ च)। उत्तम कर्मोपासनाओं से प्रभु की ओर जा और उस प्रभु की महिला को बढ़ानेवाला बन। २. **अयम्**=ये प्रभु निश्चय से **अस्मयुः**=हमारे हित की कामनावाले हैं, हमें चाहते हैं, हमें प्यार करते हैं। ३. **हव्यदातये**=हव्य पदार्थों के दान के लिए **दाशेम**=हम उस प्रभु के प्रति अपना अर्पण कर दें, तो वे प्रभु हमें **वाजेषु**=वासनाओं के साथ होनेवाले संग्रामों में **अविता भुवत्**=हमारे रक्षक होते हैं। वे प्रभु इस शरणागत की **वृधे**=वृद्धि व उन्नति के लिए **भुवत्**=होते हैं। प्रभु के प्रति अर्पण करने पर, वे जिधर चलाएँ, उधर ही चलने पर हमारी उन्नति-ही-उन्नति होगी। **उत**=और वे प्रभु हमारे **तनूनाम्**=शरीरों के भी **त्राता**=रक्षक होते हैं। वे हमारी शक्तियों का विस्तार करते हैं और हमें आधि-व्याधियों से बचाते हैं। ५. इस प्रकार प्रभु के प्रति अपना अर्पण करके यह व्यक्ति अत्यन्त शान्त जीवनवाला होता हुआ मन्त्र का ऋषि 'शंयु' बनता है।

भावार्थ—हम अपने कर्मों से प्रभु को प्रीणित करें। वे हमारा भला-ही-भला चाहते हैं। उनके प्रति हम अपना अर्पण कर दें, वे वासना-संग्राम में हमारी रक्षा करेंगे, हमारी वृद्धि का कारण होंगे, हमें आधि-व्याधियों से बचाएँगे।

ऋषिः—**शंयुः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृदभिकृतिः**। स्वरः—**ऋषभः**।

पूर्ण जीवन

संवत्सरोऽसि परिवत्सरोऽसीदावत्सरोऽसीद्वत्सरोऽसि वत्सरोऽसि। उषसस्ते कल्पन्तामहोरात्रास्ते कल्पन्तामर्द्धमासास्ते कल्पन्तां मासास्ते कल्पन्तामृतवस्ते कल्पन्ताꣳसंवत्सरस्ते कल्पताम्। प्रेत्याऽएत्यै सं चाञ्च प्र च सारय। सुपर्णचिदसि तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवः सीद॥४५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब प्रभु हमारे शरीरों के रक्षक होंगे तब हमारा जीवन निश्चय से सुन्दर बनेगा। प्रभु 'शंयु' से कहते हैं कि तू **संवत्सरः असि**=(संवसति) उत्तम निवासवाला है। २. **परिवत्सरः असि** (परिवसति) सम्पूर्ण कोशों में निवासवाला है, केवल अन्नमयकोश में ही रहा। तेरी दुनिया केवल खाने-पीने की ही दुनिया नहीं है। तेरा जीवन अधूरा न होकर समूचा (पूर्ण) है। ३. **इदावत्सरः असि** (इदा=इदनीम्)=तू वर्त्तमान काल में रहनेवाला है, तू भूत-भविष्य की बातें नहीं करता रहता। न तो तू भूत का राग अलापता रहता है और ना ही भविष्य के स्वप्न लेते रहता है। तू सदा वर्त्तमान को उत्तम बनाने का प्रयत्न करता है। ४. **इद्वत्सरः असि**=तू निश्चय से निवास करनेवाला है। तेरे जीवन में विकल्पों व संशयों का स्थान नहीं। ५. इस प्रकार तू **वत्सरः असि**=निवासवाला है, तेरा निवास सब प्रकार की जटिलता व संकरता (Complexes) से रहित है। यहाँ 'वत्सर' का पाँच बार प्रयोग इस बात का भी संकेत कर रहा है कि तू ने पाँचों भूतों से बने इस पाँचभौतिक शरीर में पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से पाँचों प्राणशक्तियों का विकास करते हुए अपने 'पञ्चजन' नाम को चरितार्थ किया है। ६. **ते**=इस उत्तम निवासवाले तेरे लिए **उषसः कल्पन्ताम्**=सामर्थ्य को बढ़ानेवाले हों। इसी प्रकार **ते**=तेरे लिए **अहोरात्राः**=दिन व रात **कल्पन्ताम्**=शक्तिशाली हों, तेरे लिए **अर्धमासाः**=अर्धमास, शुक्लपक्ष व कृष्णपक्ष **कल्पन्ताम्**=सामर्थ्य का वर्धन करनेवाले हों। **मासाः ते कल्पन्ताम्**=वैशाख-ज्येष्ठ आदि मास भी तेरे लिए सामर्थ्य को दें। **ऋतवः ते कल्पन्ताम्**='ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर व वसन्त' ये ऋतुएँ भी तुझे शक्तिशाली बनाएँ और इन ऋतुओं से बना हुआ यह **संवत्सरः**=वर्ष **ते**

कल्पताम्=तेरे लिए शक्ति व सामर्थ्य को करनेवाला हो। ७. प्रभु कहते हैं कि अब तू **प्रेत्या**=खूब गतिशील बनकर (प्र इ) **च**=और **एत्यै**=मेरे समीप पहुँचने के लिए **सम् अञ्च**=सम्यक् गतिवाला हो, अर्थात् उत्तम कर्मों को करनेवाला बन **च**=तथा **प्रसारय**=अपनी शक्तियों का प्रकृष्ट प्रसार कर, शक्तियों को फैलानेवाला बन। ८. **सुपर्णचित् असि**=तू अपना उत्तमता से पालन व पूरण करनेवाला तथा ज्ञान को प्राप्त करनेवाला है (पर्ण पृ पालनपूरणयोः चित् ज्ञान) ९. इस प्रकार **तया देवतया**=उस देवता, अर्थात् प्रभु के साथ सम्पर्क में रहकर **अंगिरस्वत्**=एक-एक अंग में रस के सञ्चारवाला होकर **ध्रुवः**=मर्यादा में चलनेवाला बनकर **सीद**=इस संसार में निवास कर। इस प्रकार के निवास में ही जीवन की शान्ति है और हम प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'शंयु' बन पाते है।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारा जीवन पाञ्चों भूतों, ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों व प्राणों के दृष्टिकोण से पूर्ण हो। सब काल-विभाग हमें शक्ति देनेवाले हों। उत्तम गतिवाले होकर हम अपनी शक्ति को फैलानेवाले बनें। स्वस्थ व ज्ञानी बनकर प्रभु-संग से रसमय-जीवनवाले होकर मर्यादामय जीवनवाले हों।

नोट—प्रभुसंग से ही जीवन रसमय होता है, अतः अगले अध्याय में इस प्रभु के सम्पर्क के साधनों व परिणामों के वर्णन से ही मन्त्रों का प्रारम्भ होता है। ये मन्त्र 'बृहदुक्थ वामदेव' ऋषि के हैं। बृहत् उत्कर्षवाला, अर्थात् वृद्धि के कारणभूत स्तोत्रोंवाले तथा सुन्दर दिव्य गुणोंवाले इस ऋषि के द्वारा निम्न मन्त्रों में प्रभु-प्राप्ति के साधनों का प्रतिपादन किया जाता है—

इति सप्तविंशोऽध्यायः॥

अथाष्टाविंशोऽध्यायः

—:०:—

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेवः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

चर्षणीसहाम् ओजिष्ठः

होता यक्षत्समिधेन्द्रमिडस्पदे नाभा पृथिव्याऽअधि।
दिवो वर्ष्मन्त्समिध्यतऽओजिष्ठश्चर्षणीसहां वेत्वाज्यस्य होतर्यज॥१॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला, **समिधा**=ज्ञान की दीप्ति से **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **यक्षत्**=अपने साथ जोड़ता है, इसके लिए आवश्यक है कि हम (क) त्यागवृत्तिवाले बनें, दानपूर्वक अदनवाले हों, सदा यज्ञशेष का सेवन करें तथा (ख) अपने ज्ञान को दीप्त करें। २. 'प्रभु का सम्पर्क कहाँ होगा?' इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि (क) **इडस्पदे**=वाणी के स्थान में, अर्थात् जब हम ज्ञान की वाणियों का अध्ययन करेंगे, तथा (ख) **पृथिव्याः**=इस शरीर के (पृथिवी शरीरम्) **नाभौ अधि** =केन्द्र में। शरीर का केन्द्र 'हृदय' है। एक ओर अन्नमयकोश व प्राणमयकोश हैं तो दूसरी ओर विज्ञानमय व आनन्दमयकोश हैं, ठीक मध्य में मनोमयकोश है। इस मनोमयकोश को वेद में **'विकोशं मध्यमं युव'** इन शब्दों में मध्यमकोश कहा है। इस मध्यमकोश में ही प्रभु का दर्शन होना है (ग) **दिवः वर्ष्मन्**=द्युलोक के वर्षिष्ठ प्रदेश में। द्युलोक मस्तिष्क है, इसका वर्षिष्ठ सर्वोत्तम प्रदेश 'सहस्रारचक्र' है, इसी स्थल में 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' की उत्पत्ति होती है और प्रभु का साक्षात्कार होता है। एवं, **समिध्यते**=वे प्रभु दीप्त किये जाते हैं (क) ज्ञान की वाणियों की चर्चाओं में (ख) हृदयदेश में, तथा (ग) ऋतम्भरा प्रज्ञा के उत्पन्न होने पर मस्तिष्करूप द्युलोक के सर्वोत्तम प्रदेश में। ३. प्रभु-दर्शन होने पर यह भक्त **चर्षणीसहाम्**=श्रमशील (चर्षणयः कर्षणयः) तथा शत्रुओं का पराभव करनेवालों में **ओजिष्ठम्**=ओजस्वितम बनता है, अर्थात् यह सर्वाधिक श्रमशील व कामादि का विजेता होता है। वस्तुतः ये दोनों बातें ही इसके ओजस्वी बनने का रहस्य हैं। ४. **आज्यं वेतु**='तेजो वा आज्यम्' तां० १२।१०।१२ 'रेतः आज्यम्' श० १।३।१।१८ यह प्रभुभक्त शक्ति का पान करनेवाला हो। प्रायः सोम के पान का उल्लेख होता है, यहाँ सोम के स्थान में 'आज्य' शब्द का प्रयोग हुआ है। आज्य की भी भावना 'शक्ति' ही है। प्रभुभक्त आज्य का, शक्ति का पान करनेवाला बनता है, अतः मन्त्र की समाप्ति पर प्रभु कहते हैं कि **होतः**=हे दानपूर्वक अदन करनेवाले! तू **यज**=प्रभु से मेल कर। यह मेल ही तेरी शक्ति का स्रोत बनेगा।

भावार्थ—होता बनकर, ज्ञान की वाणियों की चर्चा करते हुए हम हृदयदेश में प्रभु का दर्शन करने का प्रयत्न करें। इससे हमें शक्ति प्राप्त होगी, हम श्रमशील व शत्रु-विजेताओं के अग्रेणी बनेंगे।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेवः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

मधुमत्तम मार्ग

होता यक्षत्तनूनपातमूतिभिर्जेतारमपराजितम्।
इन्द्रं देवथंस्वर्विदं पथिभिर्मधुमत्तमैर्नराशंसेन तेजसा वेत्वाज्यस्य होतर्यज॥२॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **यक्षत्**=उस प्रभु का अपने साथ सम्पर्क करता है जो **तनूनपातम्**=शरीर को न गिरने देनेवाले हैं, **ऊतिभिः**=रक्षणों के द्वारा शरीर को व्याधियों से बचानेवाले हैं, **जेतारम्**=सदा हमारे काम-क्रोधादि शत्रुओं को जीतनेवाले हैं और **अपराजितम्**=कभी पराजित नहीं होते। **इन्द्रम्**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले व परमैश्वर्य को प्राप्त करानेवाले हैं, **देवम्**=सब दिव्य गुणों के पुञ्ज, ज्ञान से देदीप्यमान व सब ऐश्वर्यों के देनेवाले हैं (देवः दीव्यति, द्योतनाद् दानाद्वा), **स्वर्विदम्**=प्रकाश व सुख को प्राप्त करानेवाले हैं। २. वे प्रभु 'स्वर्विद्' हैं—सुख प्राप्त कराते हैं, परन्तु कब? जबकि हम (क) **मधुमत्तमैः पथिभिः**=अत्यन्त मधुर मार्गों से जीवनयात्रा में गति करते हैं। जब हमारे सब कर्मों में माधुर्य होता है तथा (ख) **नराशंसेन**=(नरैः आशंसनीयेन) मनुष्यों से प्रशंसा करने योग्य **तेजसा**=तेज के द्वारा। जब हम तेजस्वी बनते हैं, और हमारा यह तेज प्रशंसनीय होता है। (ग) इसीलिए भक्त को चाहिए कि **आज्यस्य वेतु**=तेज का पान करने का प्रयत्न करे। तेज को अपने में सुरक्षित करे। इस प्रकार वीर्य को शरीर में सुरक्षित करते हुए **होतः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले! तू **यज**=उस प्रभु का अपने साथ मेल कर।

भावार्थ—प्रभु हमारे शरीर को नीरोग बनानेवाले हैं। हमारे शत्रुओं को जीतनेवाले हैं। हम मधुर मार्गों से चलते हैं और प्रशंसनीय तेजवाले होते हैं तो वे प्रभु हमें सुखी करते हैं। हमें चाहिए कि हम वीर्य को शरीर में सुरक्षित करते हुए दान की वृत्तिवाले बनें और प्रभु से अपना मेल करें।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेवः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

वज्रहस्त पुरन्दर

होता यक्षदिडाभिरिन्द्रमीडितमाजुह्वानममर्त्यम्।
देवो देवैः सवीर्यो वज्रहस्तः पुरन्दरो वेत्वाज्यस्य होतर्यज॥३॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **यक्षत्**=अपने साथ संगत करता है, **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली **इडाभिः ईडितम्**=वेदवाणियों से स्तुति किये गये प्रभु को, **अजुह्वानम्**=जो सभी से पुकारा जाता है। सज्जन तो प्रातः-सायं शक्ति व शान्ति की प्राप्ति के लिए प्रभु का आराधन करते ही हैं, दुर्जन भी कष्ट आने पर प्रभु को ही पुकारते हैं। **अमर्त्यम्**=वे प्रभु अमरणधर्मा हैं। २. **देवः**=वे प्रभु देव हैं। **देवैः**=सब देवों के साथ उनका निवास है, और सब देव उस प्रभु के कारण ही देवत्व को प्राप्त हुए हैं। प्रभु के सम्पर्क में आनेवाला यह होता भी 'देवः'=देव बनता है, **देवैः**=दिव्य गुणों से अपने जीवन को अलंकृत करता है। **सवीर्यः**=यह पराक्रमशाली बनता है, **वज्रहस्तः**=क्रियाशील हाथोंवाला होता है और **पुरन्दरः**=इन शरीररूप पुरियों का विदारण करता है, अर्थात् जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठकर मुक्त हो जाता है। ३. इसी उद्देश्य से जीव को चाहिए कि वह **आज्यस्य वेतु**=शक्ति का पान करनेवाला बने, सोम, अर्थात् वीर्य को शरीर में ही सुरक्षित रक्खे। इस प्रकार सोम का पान करनेवाले **होतः**=सदा दानपूर्वक अदन करनेवाले! तू **यज**=दान देनेवाला बन और

उस प्रभु से अपना मेल बना।

भावार्थ—प्रभु वेदवाणियों से स्तुत होते हैं। उन प्रभु से मेल बनाकर जीव भी देव बनता है। जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठता है, अतः जीव को चाहिए कि शक्ति की रक्षा करे और दानशील बनकर प्रभु को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हो।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेवः**। देवता—**रुद्रः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

'वसु, रुद्र व आदित्य' बनना

होता यक्षद् बर्हिषीन्द्रं निषद्वरं वृषभं नर्यापसम्।
वसुभी रुद्रैरादित्यैः सयुग्भिर्बर्हिरासदद्वेत्वाज्यस्य होतर्यज॥४॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **बर्हिषि**=वासनाशून्य हृदयाकाश में **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **यक्षत्**=अपने साथ संगत करता है। जो प्रभु **निषद्वरम्**=(निषदः उपवेष्टाः तेषां वरम्) हृदय में आसीन होनेवालों में सबसे श्रेष्ठ हैं, **वृषभम्**=सब सुखों की वर्षा करनेवाले व शक्तिशाली हैं और **नर्यापसम्**=नरहितकारी कर्मोंवाले हैं, उनका कोई भी कार्य मनुष्य का अहित करनेवाला नहीं। २. ये प्रभु जो **वसुभिः**=अपने निवास को उत्तम बनानेवाले **रुद्रैः**=(रोरुयमाणो द्रवति) अपने हृदयों में प्रभु-नामोच्चारण करते हुए कार्यों में लगे रहनेवाले **आदित्यैः**=सब ज्ञान-विज्ञान का आदान करके सूर्य की भाँति चमकनेवाले **सयुग्भिः**=मिलकर कार्य करनेवाले (सह युञ्जन्ति) पुरुषों से **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय में **आसदत्**=(आसाद्यते) आसीन किये जाते हैं। प्रभु का निवास वसु, रुद्र व आदित्य जोकि परस्पर मेलवाले होते हैं उन्हीं के हृदयों में होता है, अतः हम भी इन्हीं में से एक बनने का प्रयत्न करें। प्रभु इनके साथ ही वासनाशून्य हृदय में बैठते हैं, (आसदत्) अतः मैं शरीर को नीरोग बनकार 'वसु' बनूँगा, सदा प्रभुस्मरणपूर्वक क्रिया में लगकर वासनाशून्य बनता हुआ 'रुद्र' बनूँगा और अपने हृदय को पवित्र बनाऊँगा, ज्ञान-विज्ञान का आदान करके मस्तिष्क को ज्ञानोज्ज्वल करनेवाला 'आदित्य' बनूँगा। ३. उपासक को चाहिए कि वह **'आज्यस्य'**=तेज का **वेतु**=अपने अन्दर पान करे। शक्ति को अपने में सुरक्षित रक्खे और इस प्रकार सब उत्तमताओं की अपने में नींव डाले। हे **होतः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले! तू **यज**=उस प्रभु के साथ अपना मेल बना। इसी उद्देश्य से दानी बन।

भावार्थ—प्रभु 'नर्यापस' हैं, उनके सब कार्य जीव के लिए हितकर हैं। हम भी वसु, रुद्र व आदित्य बनकर प्रभु से मिलकर कार्य करनेवाले हों (सयुज्)। अपने में शक्ति का व्यापन करते हुए होता बनें और खूब दान देनेवाले हों।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेवः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृदतिजगती**। स्वरः—**निषादः**।

ओजस्, वीर्य व सहस्

होता यक्षदोजो न वीर्यꣳसहो द्वारऽइन्द्रमवर्द्धयन्। सुप्रायणाऽअस्मिन् यज्ञे वि श्रयन्तामृतावृधो द्वारऽइन्द्राय मीढुषे व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज॥५॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला अथवा प्रभु का आह्वान करनेवाला (आह्वाता) **ओजः**=ओज को **न**=और **वीर्यम्**=वीर्य को, **सहः**=सहनशक्ति को **यक्षत्**=अपने साथ संगत करे, अर्थात् प्रभुस्मरण करते हुए तथा त्याग की वृत्ति को अपने में पनपाते हुए हम 'ओज, वीर्य व सहस्' को अपने में धारण करें। ३. ऐसा करने पर **द्वारः**=हमारे सभी इन्द्रियद्वार **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **अवर्धयन्**=बढ़ानेवाले होते हैं, अर्थात् सब इन्द्रियद्वारों

से प्रभु-पूजन चलता है और ये विषय-प्रवणता से दूर हो जाते हैं। ३. ये इन्द्रियद्वार **सुप्रायणाः**=प्रकृष्ट गमनवाले होकर **अस्मिन् यज्ञे**=इस जीवनयज्ञ में **विश्रयन्ताम्**=विशिष्टरूप से (श्रि=सेवायाम्) सेवा करनेवाले हों। ४. **ऋतावृधः**=ये सदा ऋत का वर्धन करनेवाले **द्वारः**=नव इन्द्रियद्वार **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली **मीढुषे**=सुखों का सेचन करनेवाले प्रभु की प्राप्ति के लिए **आज्यस्य व्यन्तु**=शक्ति का पान करें, शक्ति को शरीर में सुरक्षित रक्खें। ५. हे **होतः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले जीव! तू **यज**=उस प्रभु को अपने साथ संगत कर, खूब देनेवाला बन।

भावार्थ—हम अपने में ओजस्विता को धारण करें। हमारे इन्द्रियद्वार उस प्रभु का वर्धन करनेवाले हों। इनसे सत्य का ही पोषण हो और शक्ति का रक्षण करते हुए हम प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेवः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

उषासानक्ता—दोनों सन्ध्याकाल

होता यक्षदुषेऽइन्द्रस्य धेनू सुदुघे मातरा मही।
सवातरौ न तेजसा वत्समिन्द्रमवर्द्धतां वीतामाज्यस्य होतर्यज॥६॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला अथवा प्रभु का आह्वाता पुरुष **उषे**=(नक्तोषासा) दोनों सन्ध्याकालों को **यक्षत्**=अपने साथ संगत करता है। ये दोनों उषःकाल **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के **धेनू**=आप्यायन करनेवाले हैं (धेट् अप्यायने) ये सब दोषों का दहन करके उसका वर्धन करते हैं (उष दाहे)। **सुदुघे**=इस प्रकार ये उत्तमता से उसका प्रपूरण करनेवाले हैं। **मातरा**=उसका निर्माण करनेवाले हैं। उसके जीवन को सुन्दर बनाते हैं। **मही**=ये उसके जीवन को महिमा-सम्पन्न करते हैं। २. ये उषःकाल इसके लिए **तेजसा**=तेजस्विता के द्वारा **सवातरौ न**=(स=समान, वात=वायु, र=गति) वायु के समान गतिवाले हैं, इसे वायु की भाँति क्रियाशील बनाते हैं। ३. इस प्रकार क्रियाशीलता के द्वारा **वत्सम्**=प्रभु के प्रिय अथवा वेदवाणियों का उच्चारण करनेवाले **इन्द्रम्**=इस जितेन्द्रिय—असुरों का संहार करनेवाले पुरुष को **अवर्धताम्**=ये उषःकाल बढ़ाते हैं। ३. ये इसके लिए **आज्यस्य**=शक्ति का **वीताम्**=पान करनेवाले बनें और हे **होतः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले! **यज**=तू अपने साथ प्रभु का मेल कर, अथवा इन उषःकालों को अपने साथ संगत कर।

भावार्थ—दोनों उषःकाल जीव का वर्धन, पूरण व निर्माण करनेवाले हों। ये इसे वायु के समान क्रियाशील बनाएँ। इसके लिए शक्ति का पान करनेवाले हों।

ऋषिः—**बृहदुक्थो गोतमः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**।

प्राणापान (दैव्या होतारा)

होता यक्षद्दैव्या होतारा भिषजा सखाया हविषेन्द्रं भिषज्यतः।
कवी देवौ प्रचेतसाविन्द्राय धत्तऽइन्द्रियं वीतामाज्यस्य होतर्यज॥७॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **दैव्या होतारा**=प्राणापानों को (ऐ० २।४) **यक्षत्**=अपने साथ संगत करता है। ये प्राणापान इसके **भिषजा**=वैद्य होते हैं, इसके रोगों को दूर करके **सखाया**=इसके मित्र बनते हैं अथवा ये प्राणापान परस्पर स्नेहवाले होते हैं। दोनों एक-दूसरे से सम्बद्ध होकर कार्य करते हैं। २. ये प्राणापान **हविषा**=अग्निहोत्र के साथ— अग्निहोत्र में आहुत किये गये हव्य पदार्थों को श्वास द्वारा सूक्ष्मरूप में अपने अन्दर

लेने के द्वारा **इन्द्रम्**=जीव को **भिषज्यतः**=नीरोग करते हैं। ३. **कवी**=ये नीरोगता के द्वारा जीव को क्रान्तदर्शी बनाते हैं **देवौ**=दिव्य गुणोंवाला करते हैं, **प्रचेतसौ**=प्रकृष्ट ज्ञानवाला बनाते हैं। **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए ये प्राणापान **इन्द्रियम्**=वीर्य को **धत्त**=धारण करते हैं। इस प्रकार ये प्राणापान इस जीवात्मा के लिए **आज्यस्य**=रेतस् का **वीताम्**=पान करें, इसकी शक्ति को शरीर में ही सुरक्षित करनेवाले हों। ४. **होता**=हे दानपूर्वक अदन करनेवाले! तू **यज**=इन प्राणापानों को अपने साथ संगत कर अथवा दान देनेवाला बन और प्रभु को अपने साथ संगत कर।

भावार्थ—प्राणापान साधक को नीरोग करते हैं। ये उसे क्रान्तदर्शी, दिव्य गुणोंवाला और ज्ञानी बनाते हैं। प्राणापान हमारे रेतस् की ऊर्ध्वगति का साधन हों।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेवः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

हविष्मती इन्द्र पत्नियाँ

होता यक्षत्तिस्रो देवीर्न भेषजं त्रयस्त्रिधातवोऽपसऽइडा सरस्वती भारती महीः।
इन्द्रपत्नीर्हविष्मतीर्व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज॥८॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **तिस्रः देवीः**=तीन देवियों को **यक्षत्**=अपने साथ संगत करता है, जो देवियाँ **भेषजम्**=औषध हैं। **त्रयः**=(तिस्र) ये तीनों **त्रिधातवः**=शरीर, मन व बुद्धि को धारण करनेवाली हैं। **अपसः**=कर्मशील हैं, अर्थात् ये हमारे जीवन को क्रियाशील बनानेवाली हैं। २. ये देवियाँ क्रमशः **इडा-सरस्वती-भारती**=श्रद्धा, वाणी व मस्तिष्क में रहनेवाली विद्या की अधिदेवता तथा 'भारती' शरीर का सम्यक् भरण करनेवाली पोषण की देवता हैं। इनका क्रमशः मन, मस्तिष्क व शरीर में निवास है। ये सब **महीः**=महनीय हैं, हमारे जीवन को भी ये महनीय बनाती हैं। ३. **इन्द्रपत्नीः**=ये इन्द्र की पत्नियाँ, जीवात्मा की शक्तियाँ हैं। **हविष्मतीः**=हविवाली हैं। इनके कारण मनुष्य में देकर खाने की वृत्ति पैदा होती है। ४. ये तीनों देवियाँ **आज्यस्य व्यन्तु**=शरीर में शक्ति का पान करनेवाली हों। **होतः**=देकर खानेवाले जीव! तू **यज**=इन देवियों को अपने साथ संगत कर।

भावार्थ—मन में श्रद्धा, मस्तिष्क में सरस्वती और शरीर में भारती—ये तीनों देवियाँ हमारे शरीर, मन व मस्तिष्क का धारण करनेवाली हों। ये शरीर में शक्ति का पान करनेवाली हों।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृदतिजगती**। स्वरः—**निषादः**॥

त्वष्टा

होता यक्षत्त्वष्टारमिन्द्रं देवं भिषजꣳ सुयजं घृतश्रियम्।
पुरुरूपꣳ सुरेतसं मघोनमिन्द्राय त्वष्टा दधदिन्द्रियाणि वेत्वाज्यस्य होतर्यज॥९॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **त्वष्टारम्**=देवशिल्पी, दिव्यगुणों का निर्माण करनेवाले ज्ञान की दीप्तिवाले (तक्षतेः करोति कर्मणः) उत्तम कर्मों को करनेवाले प्रभु को **यक्षत्**=अपने साथ संगत करता है, जोकि **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली हैं। **देवम्**=दिव्य गुणों का पुञ्ज हैं। **भिषजम्**=हमारे सब रोगों के चिकित्सक हैं, प्रभु के नाम-स्मरण से रोगों का प्रतीकार होता है, इस नाम-स्मरण से रोग आते ही नहीं। **सुयजम्**=सुगमता से उपास्य व संगतिकरण योग्य हैं। **घृतश्रियम्**=दीप्तश्रीवाले हैं, **पुरुरूपम्**=विश्वरूप हैं, वेद में 'विश्वतश्चक्षुः' आदि शब्दों में इस पुरुरूपता का वर्णन द्रष्टव्य है। **सुरेतसम्**=उत्तम रेतस्वाले हैं तथा उनके

स्मरण से हमारा रेतस् पवित्र बना रहता है। **मघोनम्**=मघवान् हैं, सम्पूर्ण धनोंवाले हैं अथवा जो सम्पूर्ण यज्ञोंवाले हैं (मघ=मख)। २. **त्वष्टा**=यह दीप्त प्रभु **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **इन्द्रियाणि**=इन्द्रियशक्तियों को **दधत्**=धारण करते हैं। होता बनकर जीव त्वष्टा को अपने साथ संगत करता है तो त्वष्टा उसे शक्तियाँ प्राप्त कराते हैं। वस्तुतः यह त्वष्टा इस उपासक के हित के लिए **आज्यस्य वेतु**=शक्ति का पान करे, अर्थात् इस प्रभु-नाम-स्मरण से वासनाओं का विनाश होकर शक्ति का हममें सुरक्षण हो। हे **होतः**=प्रभु का आह्वान करनेवाले उपासक **यज**=तू यज्ञशील बन और प्रभु को अपने साथ संगत कर।

भावार्थ—वे प्रभु त्वष्टा हैं, हममें दिव्य गुणों का निर्माण करनेवाले हैं, ज्ञान से दीप्त हैं और सृष्टिनिर्माण आदि यज्ञात्मक कर्मों को करनेवाले हैं। उनके संग से सुरेतस् बनकर हम भी दिव्य गुण-सम्पन्न, ज्ञानदीप्त व यज्ञशील बनें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**बृहस्पतिः**। छन्दः—**स्वराडतिजगती**। स्वरः—**निषादः**।

वनस्पति

होता यक्षद्वनस्पतिꣳशमितारꣳशतक्रतुं धियो जोष्टारमिन्द्रियम्। मध्वा समञ्जन् पथिभिः सुगेभिः स्वदाति यज्ञं मधुना घृतेन वेत्वाज्यस्य होतर्यज॥१०॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **वनस्पतिम्**=ज्ञान-किरणों के रक्षक को **यक्षत्**=अपने साथ संगत करता है, **शमितारम्**=जो शम-प्रधान हैं, अपने उपासक को भी शान्ति प्राप्त करानेवाले हैं। **शतक्रतुम्**=अनन्त प्रज्ञानों व कर्मोंवाले हैं। **धियः जोष्टारम्**=बुद्धि व कर्म को प्रेरित करनेवाले हैं (सवितारम्—उ०)। **इन्द्रियम्**=जो वीर्यात्मक हैं 'वीर्यमसि'। २. ये प्रभु उपासक के **यज्ञम्**=जीवनयज्ञ को **सुगेभिः पथिभिः**=शोभनगमनवाले मार्गों से **मध्वा**=माधुर्य से **समञ्जन्**=अलंकृत करते हुए **मधुना घृतेन**=माधुर्य व दीप्ति से **स्वदाति**=स्वादवाला कर देते हैं, रसमय बना देते हैं। प्रभु-उपासक सदा सरल, कुटिलताशून्य, माधुर्ययुक्त और ज्ञान की दीप्तिवाला होता है। ३. ये वनस्पति—ज्ञानरश्मियों का पति प्रभु इस जीव के हित के लिए **आज्यस्य वेतु**=शक्ति का पान कराएँ। प्रभु नाम-स्मरण से हमारी शक्ति की ऊर्ध्वगति हो। हे **होतः**=प्रभु का आह्वान करनेवाले उपासक! **यज**=तू उस प्रभु के साथ अपना मेल बना।

भावार्थ—प्रभु ज्ञान की किरणों के पति हैं, हमारे जीवनों को शान्त बनानेवाले हैं। जीवन में माधुर्य, दीप्ति व सरलता का सञ्चार करनेवाले हैं। उस प्रभु के स्मरण से हम शक्ति को अपने में सुरक्षित करें और जीवन को मधुर बनाएँ।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृच्छक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**।

आज्य-मेदस्

होता यक्षदिन्द्रꣳस्वाहाज्यस्य स्वाहा मेदसः स्वाहा स्तोकानाꣳस्वाहा स्वाहाकृतीनाꣳस्वाहा हव्यसूक्तीनाम्। स्वाहा देवाऽआज्यपा जुषाणाऽइन्द्रऽआज्यस्य व्यन्तु होतर्यज ॥११॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **यक्षत्**=अपने साथ संगत करे। २. इस प्रभु से मेल करनेवाले के जीवन में **स्वाहा**=(स्व=हा) स्वार्थ त्याग करनेवाले **देवाः**=देव, अर्थात् प्राणादि पाँच मरुत् **आज्यपाः**=शरीर में शक्ति का पान करनेवाले हैं। **जुषाणाः**=ये आत्मा का प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले हैं, इनके साथ **इन्द्रः**=

स्वयं जीवात्मा **आज्यस्य**=शक्ति का **व्यन्तु**=पान करे, इसलिए हे **होतः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले! तू **यज**=प्रभु से मेल कर। ३. ये सब देव **आज्यस्य**=घृत का **स्वाहा**=स्वार्थत्याग की भावना के साथ **व्यन्तु**=पान करें। **मेदसः स्वाहा**=औषध के गुणोंवाले (medicinal properties) या शरीर को कुछ स्थूल करनेवाले पदार्थों को **स्वाहा**=स्वार्थत्याग के साथ **व्यन्तु**=पान करें, अर्थात् सारे घृत व मेदस् को स्वयं ही न खालें, अपितु त्याग करके बचे हुए को खानेवाले बनें। ४. **स्तोकानाम्**=सोम के कणों का **स्वाहा**=स्व में-अपने में आहुति देते हुए पान करें। इन वीर्यकणों को नष्ट न होने दें। **स्वाहाकृतीनाम्**=(प्राणा यै स्वाहाकृतयः। —कौ० १०।५) प्राणों का **स्वाहा**=स्व में आहुति देते हुए **व्यन्तु**=पान करें अथवा अपने में प्राणाशक्ति का विकास करें (वी=प्रजनन)। **हव्यसूक्तीनाम्**=प्रभु को पुकारने के लिए मधुर वचनों का **स्वाहा**=अपने में आहुति देते हुए पान करें, अर्थात् वीर्यकणों को, प्राणशक्ति को तथा प्रभु को पुकारने के पवित्र पदों को अपने में धारण करें।

भावार्थ—होता प्रभु के साथ अपना मेल करें। घृत आदि पदार्थों का त्यागभावना से उपभोग करें। अपने में वीर्यकणों को, प्राणाशक्ति को तथा मधुर प्रार्थना व शक्तियों को आहुत करे, अर्थात् इनको धारण करें।

सूचना—ये ११ मन्त्र 'प्रयाजप्रैष' कहाते हैं, अर्थात् वे प्रैष=प्रकृष्ट प्रेरणा के मन्त्र जो प्रयाज=जीव व प्रभु के महान् संगतिकरण का उल्लेख करते हैं। अब ११ अनुयाजप्रैषों का उल्लेख है। इनमें 'वसुवने' धन के सेवन का उल्लेख है और साथ ही यह भी कहा है कि वसुधेय=वसुओं के आधारभूत उस प्रभु के साथ यज=मेल बनाना आवश्यक है।

ऋषिः—**अश्विनौ**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृदतिजगती**। स्वरः—**निषादः**।

देवं बर्हिः=दिव्य हृदय

देवं बर्हिरिन्द्रꣳसुदेवं देवैर्वीरवत् स्तीर्णं वेद्यामवर्द्धयत्।
वस्तोर्वृतं प्राक्तोर्भृतꣳराया बर्हिष्मतोऽत्यगाद्वसुवने वसुधेयस्य वेतु यज॥१२॥

१. **देवम्**=दिव्य गुणयुक्त **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **सुदेवम्**=जो दिव्य गुणोंवाला बना है, **अवर्धयत्**=बढ़ाता है, अर्थात् दिव्य, वासनाशून्य हृदय जितेन्द्रिय पुरुष की वृद्धि का कारण बनता है। २. कैसा हृदय? (क) **वस्तोः**=दिन में **वेद्याम्**=यज्ञवेदि में **वृतम्**=जिसका वरण किया गया है, अर्थात् सम्पूर्ण दिन जो यज्ञात्मक कर्मों की भावना से ही युक्त रहा है। (ख) **अक्तोः**=रात्रि में जो **प्रभृतम्**=प्रकृष्ट रूप से धारण किया गया है, अर्थात् रात्रि के समय सुषुप्ति में पहुँचकर जो आनन्द की स्थिति में स्थापित हुआ है और जो **राया**=दान दिये जानेवाले धन के द्वारा **बर्हिष्मतः**=अन्य वासनाशून्य हृदयवालों को **अत्यगात्**=लाँघ गया है, अर्थात् वासनाशून्य हृदयवालों में भी जो अधिक वासनाशून्य बना है। ३. ऐसा यह दिव्य, क्रीडक की भावना sportsman like spirit वाला हृदय **वसुवने**=धन के सेवन में **वसुधेयस्य**=धन के आधारभूत प्रभु का भी **वेतु**=(वी=प्रजनन) अपने में विकास करें, प्रभु का भी स्मरण करें। यह संसार धन के बिना तो चलता ही नहीं, अतः यह धन का सेवन बेशक करे, परन्तु धन के आधारभूत प्रभु को भूल न जाए। ४. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू इस प्रकार धन के साथ उस प्रभु को भी याद करता हुआ अपने जीवन को यज्ञशील बना, प्रभु से तेरा संगतिकरण हो (यज=संगतिकरण)। ५. इन 'अनुयाजप्रैष' मन्त्रों के ऋषि 'अश्विनौ' हैं, पति-पत्नी। स्पष्ट है कि गृहस्थ में धनार्जन करते हुए इन्होंने प्रभु को भूलना नहीं और प्रभु-स्मरण के साथ (अश् व्याप्तौ) उत्तम कर्मों

में लगे रहना है।

भावार्थ—हम अपने हृदयों को दिव्य बनाएँ। यह हृदय धनार्जन का ध्यान करता हुआ प्रभु का भी स्मरण करे।

ऋषिः—**अश्विनौ**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिक्शक्वरी**। स्वरः—**पञ्चमः**।

देवीः द्वारः=दिव्य इन्द्रियद्वार

देवीर्द्वारऽइन्द्रꣳसङ्घाते वीड्वीर्यामन्नवर्द्धयन्। आ वत्सेन तरुणेन कुमारेण च मीवतापार्वाणꣳरेणुककाटं नुदन्तां वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज॥१३॥

१. **देवीः**=दिव्य गुणोंवाले, जीवन-यात्रा में सारे व्यवहारों के साधक (दिव् व्यवहार), **द्वारः**=इन्द्रियद्वार, जो अलग-अलग भी बड़े प्रबल हैं, परन्तु **संघाते**=एक समूह के रूप में हो जाने पर तो **वीड्वीः**=अत्यन्त प्रबल हैं, हमें कुचल डालनेवाले हैं। ये इन्द्रियद्वार **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **यामन्**= जीवन-यात्रा में **अवर्धयन्**=बढ़ानेवाले होते हैं। 'अजितेन्द्रिय पुरुष' इन इन्द्रियों से कुचला जाता है तो जितेन्द्रिय को ये इन्द्रियाँ सिद्धि प्राप्त करानेवाली होती हैं। २. ये इन्द्रियाँ **वत्सेन**=(वदति इति) प्रभु के नाम का उच्चारण करनेवाले, **तरुणेन**=वासनाओं व विघ्नों को तैर जानेवाले, **कुमारेण**=(कु-मार) सब कुत्सित वृत्तियों को नष्ट कर डालनेवाले अथवा (कुमार क्रीडायाम्)=एक क्रीडक की मनोवृत्तिवाले **मीवता**=शत्रुओं की हिंसा करनेवाले (मी=हिंसायाम्) इस इन्द्र के साथ ये इन्द्रियाँ **अर्वाणम्**=(अर्व् to kill) नष्ट कर डालनेवाले अथवा 'अर्यते यत्र' जिसकी ओर अज्ञानवश जाया जाता है, उस **रेणुककाटम्**=धूलि से आच्छादित विषयकूप को **अपनुदन्ताम्**=अपने से दूर कर दें, अर्थात् संसार के ये विषय उस कुएँ के समान हैं जोकि ऊपर धूलि से आच्छन्न होने के कारण सामान्य भूमि के रूप में दिखता है और आकर्षक होने के कारण इन्द्रियों की उधर आने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है और उधर जाने पर हम इस कुएँ में गिरते हैं और समाप्त हो जाते हैं। चाहिए यह कि हम इस कुएँ से बचें—हमारे इन्द्रियद्वार इस ओर न जाएँ। यह होगा तभी जबकि इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव सदा प्रभु-नाम का उच्चारण करे (वत्स), वासनाओं को तैरने के लिए यत्नशील हो (तरुण), संसार में एक क्रीडक की मनोवृत्ति को अपने में विकसित करे (कुमार) तथा सदा बुराइयों के संहार में लगा रहे (मीवता) ३. विषयवासनारूप कूप को दूर से ही छोड़नेवाले ये इन्द्रियद्वार **वसुवने**=धन के सेवन में **वसुधेयस्य**=धन के आधारभूत प्रभु का **व्यन्तु**=विकास करें, अर्थात् प्रभु का खूब ही स्मरण करें। ४. इस प्रकार हे इन्द्र=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **यज**=यज्ञशील बन, उस प्रभु से मेल करनेवाला बन, इसीलिए तू धन का दान कर। दान ही यज्ञ का उत्कृष्ट रूप है।

भावार्थ—इन्द्रियाँ बड़ी प्रबल हैं, विषय-वासनाओं के तृणाच्छन्न कूप के समान हैं। हम प्रभु-नामस्मरण करते हुए इन्द्रियों को इस कूएँ में गिरने से बचाएँ। धन कमाएँ, परन्तु प्रभु को न भूलें और धन का दान करनेवाले हों।

ऋषिः—**अश्विनौ**। देवता—**अहोरात्रे**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

देवी उषासानक्ता

देवीऽउषासानक्तेन्द्रं यज्ञे प्रयत्यह्वेताम्।
दैवीर्विशः प्रायासिष्टाꣳसुप्रीते सुधिते वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज॥१४॥

१. **उषासानक्ता**=उषःकाल व रात्रि दोनों **देवी**=हमारे लिए दिव्य गुणों को लिये हुए हों और ये **प्रयति यज्ञे**=इस चल रहे जीवन-यज्ञ में, अर्थात् वर्त्तमान जीवनयात्रा में **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **अह्वेताम्**=पुकारें, अर्थात् हम प्रातः-सायं उस प्रभु का स्मरण करें, वस्तुतः तभी यह जीवनयात्रा सुचारुरूपेण चलती है। २. इस जीवनयात्रा में **दैवीर्विशः**=दिव्य गुणोंवाली, प्रभु की ओर चलनेवाली अथवा ज्ञान से दीप्त दानशील प्रजाओं की ओर ही **प्रायासिष्टाम्**=प्रकर्षेण जानेवाले हों, अर्थात् हम सदा उत्तम संगवाले हों, जैसा हमारा संग होगा वैसे ही तो हम बनेंगे। ३. हमारे ये दिन-रात **सुप्रीते**=अत्यन्त सन्तोष से युक्त हुए-हुए (अतितुष्टे) **सुधिते**=(सुतरां हिते) अत्यन्त हितकारी बने हुए **वसुवने**=धन के सेवन में **वसुधेयस्य**=धन के आधारभूत प्रभु का **वीताम्**=विकास व प्रादुर्भाव करें, अर्थात् हम दिन-रात सन्तोष की वृत्तिवाले बनकर हितकर कार्यों में लगे हुए धनार्जन करें, परन्तु उस धनों के स्वामी को भूल न जाएँ। ४. हे जीव! तू **यज**=उस प्रभु से मेल करनेवाला बन।

भावार्थ—हम दिन-रात इस जीवनयात्रा को चलाते हुए उस प्रभु का स्मरण करें। उत्तम वृत्तिवाले लोगों से ही अपना मेल बनाएँ, सन्तुष्ट बनकर हितकारी कार्यों में लगे हुए धनार्जन करें, परन्तु प्रभु को भूलें नहीं। यज्ञशील हों।

ऋषिः—**अश्विनौ**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिगतिजगती**। स्वरः—**निषादः**।

देवी जोष्ट्री (अहोरात्रे)

दे॒वी जोष्ट्री॑ वसु॑धिती दे॒वमिन्द्र॑मवर्द्धताम्। अया॑व्य॒न्याघा द्वेषा॑ᳪ स्या॒न्या व॑क्ष॒द्वसु॒ वार्या॑णि॒ यज॑मानाय शिक्षि॒ते व॑सु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य वी॒तां॒ यज॑ ॥१५॥

१. यहाँ 'जोष्ट्री' शब्द अहोरात्र के लिए आया है। ये अहोरात्र परस्पर एक-दूसरे का प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले हैं, एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं, दोनों के लिए 'दिन व रात' अलग-अलग शब्दों का प्रयोग भी होता है—'रात्रिन्दिवं, नक्तन्दिवं, अहोरात्र' आदि शब्दों में द्वन्द्वात्मक प्रयोग तो इनका है ही। ये दोनों **देवी**=दिव्य गुणोंवाले हैं, इस दिव्यता का उल्लेख प्रस्तुत मन्त्र में ही आगे है। ये **वसुधिती**=सब निवासक तत्त्वों का धारण करनेवाले हैं। ये **देवम्**=देव वृत्तिवाले **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **अवर्धताम्**=बढ़ाते हैं, उसकी उन्नति का कारण बनते हैं। आसुर वृत्तिवाले तो इन दिन-रातों में भोगमय जीवन बिताते हुए अपना ह्रास कर बैठते हैं। २. इनमें से **अन्या**=एक 'रात्रि' **अघा**=पापों को व **द्वेषांसि**=द्वेषों को **अयावि**=हमसे पृथक् करती है। रात्रि में सो जाने पर पाप व द्वेष विस्मृत हो जाते हैं। महानिद्रा व मृत्यु की व्यवस्था भी इन राग-द्वेषों को भुलाने के लिए ही हुई है। हम महानिद्रा में जाकर इन द्वेषों व पापवृत्तियों को बिल्कुल भूल जाते हैं। ३. **अन्या**=दूसरा यह 'दिन' **वार्याणि वसु**=(वसूनि) वरणीय धनों को **यजमानाय**=यज्ञशील पुरुष के लिए, उत्तम कर्मों में लगे हुए पुरुष के लिए **आवक्षत्**=प्राप्त कराता है। दिन में हम सुपथ से, उत्तम मार्ग से धन कमानेवाले होते हैं। ४. इस प्रकार **शिक्षिते**=द्वेष व पाप के अपनयन (दूर करने में) में तथा वरणीय वसुओं के प्रापण में सधे हुए (trained) ये दिन-रात **वसुवने**=धन के सेवन में **वसुधेयस्य**=धन के आधारभूत परमात्मा को **वीताम्**=प्रकाशित करें, आविर्भूत करें, अर्थात् हम प्रभु को भूलें नहीं। ५. हे जीव! तू **यज**=इस प्रकार प्रभु से अपना मेल बना, यज्ञशील बन, दान दे।

भावार्थ—रात्रि हमें सब द्वेषों व पापों को भुला देती है। दिन हमें वरणीय धनों के प्रापण में सहायक होता है। ये हमें धन प्राप्त कराते हुए प्रभु का भी स्मरण कराएँ।

ऋषिः—**अश्विनौ**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिगाकृतिः**। स्वरः—**निषादः**।

देवी ऊर्जाहुती (द्यावापृथिव्यौ)

देवीऽऊर्जाहुति दुघे सुदुघे पयसेन्द्रमवर्द्धताम्। इषमूर्जमन्या वक्षत्सग्धिꣳसपीतिमन्या नवेन पूर्वं दयमाने पुराणेन नवमधातामूर्जमूर्जाहुतीऽऊर्जयमाने वसु वार्याणि यजमानाय शिक्षिते वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज॥१६॥

१. यहाँ 'ऊर्जाहुती' शब्द द्युलोक व पृथिवीलोक के लिए आया है (नि० ९।४२)। ये हममें 'ऊर्ज्' की आहुति देनेवाले हैं। इन्हीं से अन्न व रस के द्वारा बल व प्राणशक्ति प्राप्त करायी जाती है, अतएव ये **देवी**=दिव्य गुणोंवाले अथवा बल व प्राणशक्ति को देनेवाले हैं। वे **दुघे**=अन्न व रस के द्वारा हमारा पूरण करनेवाले हैं (दुह प्रपूरणे), **सुदुघे**=बड़ी उत्तमता से ये हमारा पूरण करनेवाले हैं। ये दोनों **पयसा**=आप्यायन व वर्धन के कारणभूत रस से **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **अवर्धताम्**=बढ़ाते हैं। २. इनमें से **अन्या**=दूसरा पितृस्थानापन्न द्युलोक **सग्धिम्**=सहभोजन को तथा **सपीतिम्**=सहपान को प्राप्त कराता है। पृथिवी से उत्पन्न हुए-हुए अन्न को उस-उस भूमि के स्वामी अपना समझते हैं और स्वयं खाते हैं, परन्तु द्युलोक से होनेवाली वृष्टि पर व्यक्ति का अधिकार नहीं, इसमें बहनेवाली हवा को सभी श्वासवायु के साथ अपने अन्दर ग्रहण करते हैं। इस प्रकार द्युलोक सपीति व सग्धि को प्राप्त कराता है। ३. ये द्यावापृथिवी **नवेन**=नव अन्न से **पूर्वं ऊर्जम्**=पुराने अन्न की **दयमाने**=रक्षा करते हैं और **पुराणेन**=पुराने से **नवं ऊर्जम्**=नये अन्न को **अधाताम्**=धारण करते हैं। कई बार चावल इत्यादि कुछ देर तक रखने आवश्यक हो जाते हैं, उसे पुराने अन्न में कुछ औषधगुणों की अधिकता हो जाती है, परन्तु नये चावल न आएँ तो पुराने को समाप्त करना पड़ जाता है, परन्तु द्युलोक व पृथिवीलोक नये धान्य को पैदा करके पुराने का रक्षण कर देते हैं और यह तो स्पष्ट ही है कि पुराने को बोकर हम नये धान को प्राप्त करते हैं। ४. इस प्रकार **ऊर्जयमाने**=ऊर्जा को बढ़ाते हुए **ऊर्जाहुती**=ये द्युलोक व पृथिवीलोक **यजमानाय**=यज्ञशील पुरुष के लिए **वार्याणि वसु**=वरणीय धनों को (अधाताम्) धारण करते हैं। ५. इस प्रकार **शिक्षिते**=नव से पुराने की रक्षा व पुराने से नव का धारण तथा यजमान के लिए वरणीय वसुओं के प्रापण की शिक्षा को पाये हुए ये द्यावापृथिवी **वसुवने**=धन के सेवन में **वसुधेयस्य**=सब धनों के आधारभूत उस प्रभु का **वीताम्**=अपने में प्रजनन व प्रादुर्भाव करें। हे जीव! तू **यज**=उस प्रभु को अपने साथ संगत करनेवाला बन। धन को प्राप्त कर तथा उस धन का दान देनेवाला बन।

भावार्थ—द्युलोक व पृथिवीलोक हमारे लिए उत्तम अन्नों का दोहन करनेवाले हों। ये यज्ञशील को वार्य वसु प्राप्त कराएँ। इनसे धनों को प्राप्त करते हुए हम धनों के आधारभूत प्रभु को न भूल जाएँ।

ऋषिः—**अश्विनौ**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**भुरिग्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

दैव्या होतारौ

देवा दैव्या होतारा देवमिन्द्रमवर्द्धताम्। हताघशꣳसावाभार्ष्टां वसु वार्याणि यजमानाय शिक्षितौ वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज॥१७॥

१. ऐ० २।४ के अनुसार प्राणापान 'दैव्या होता' हैं। ये **देवा**=दिव्य गुणयुक्त व शरीर के सारे व्यवहारों के साधक हैं। ये दोनों **दैव्या होतारा**=प्राणापान **देवम्**=दिव्य गुणोंवाले,

काम-क्रोधादि की विजिगीषावाले **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **अवर्धताम्**=बढ़ाते हैं। सब प्रकार की उन्नति का निर्भर इन्हीं पर है। इनकी साधना से ही मन की वृत्ति को भी हमने वश में करना है। वशीभूत मन हमारे मोक्ष तक का साधक बनता है, अतः प्राणापान सचमुच हमारा उत्तम वर्धन करते हैं। २. **हता अघशंसौ**=अघ व पाप के शंसन (प्रशंसन) को जिन्होंने नष्ट किया है। प्राणासाधना होने पर पाप पाप के रूप में दिखते हैं। उनका चमकीला रूप हमें लुब्ध नहीं कर पाता। ऐसे ये प्राणापान **यजमानाय**=यज्ञशील पुरुष के लिए **वार्याणि वसु**=(वसूनि) वरणीय धनों को **आभार्ष्टाम्**=प्राप्त कराएँ (आहृतवन्तौ)। ३. **शिक्षितौ**=इस प्रकार यज्ञशील के लिए उत्तम धन देने के लिए अभ्यस्त ये प्राणापान **वसुवने**=धन के सेवन में **वसुधेयस्य**=धन के आधारभूत प्रभु का **वीताम्**=अपने में विकास करें और हे जीव! तू **यज**=इन प्राणापान को अपने साथ संगत कर।

भावार्थ—प्राणापान की साधना हमारे दृष्टिकोण को शुद्ध करे। हम पाप को पाप के ही रूप में देखें।

ऋषिः—**अश्विनौ**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**अतिजगती**। स्वरः—**निषादः**।

तीन देवताएँ

दे॒वीस्ति॒स्रस्ति॒स्रो दे॒वीः पति॒मिन्द्र॑मवर्द्धयन्। अस्पृ॑क्ष॒द्भार॑ती॒ दिव॑ꣳरु॒द्रैर्य॒ज्ञꣳ सर॑स्वतीडा॒ वसु॑मती गृ॒हान्व॑सु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य व्यन्तु॒ यज॥१८॥

१. **तिस्रः देवीः**=भारती, सरस्वती व इडा नामक तीन देवियाँ, जो **तिस्रः**=तीनों की तीनों **देवीः**=द्युति—ज्ञानदीप्ति व दानवृत्ति को हमें प्राप्त करानेवाली हैं, ये देवियाँ **पतिम् इन्द्रम्**=काम-क्रोधादि को वश में करनेवाले जितेन्द्रिय पुरुष को **अवर्धयन्**=बढ़ाती हैं। २. इस रक्षक जीव को **दिवम्**=मस्तिष्करूप द्युलोक में **भारती**=(भरत आदित्यः, तस्य भा भारती) हमारा धारण करनेवाली ये सूर्य की किरणें **अस्पृक्षत्**=छूती हैं ३. **रुद्रैः**=(रोरुयमाणो द्रवति—नि०) उस प्रभु के नामोच्चारण के साथ क्रिया में लगे रहने के साथ **सरस्वती**=शिक्षा की अधिदेवता **यज्ञम्**=आत्मा के इन्द्रियों के साथ संगतिकरण करानेवाले मन को (हृदयान्तरिक्ष को) छूती है तथा ४. यह **वसुमती**=सब वसुओं को देनेवाली **इडा**=श्रद्धा **गृहान्**=हमारे इन शरीररूपी घरों को छूती है, अर्थात् इन तीन देवियों के अनुग्रह से हमारा मस्तिष्क, मन व गृहरूप शरीर सब सुन्दर बन जाते हैं। ५. ये तीनों देवियाँ **वसुवने**=धन के सेवन में **वसुधेयस्य**=उस धन के आधारभूत प्रभु को **व्यन्तु**=विकसित करें, उसकी भावना को अपने में जागरित करें, अर्थात् प्रभु को भूलें नहीं। **यज**=हे जीव! तू इन देवियों को अपने साथ संगत कर अथवा प्रभु के साथ अपना मेल बना और उसके लिए दानशील बन।

भावार्थ—हम 'भारती, सरस्वती व इडा' इन देवियों के पति बनें। इनसे हमारे मस्तिष्क, मन व शरीररूप गृह सुभूषित हों।

ऋषिः—**अश्विनौ**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**कृतिः**। स्वरः—**निषादः**।

त्रिवरूथ-त्रिबन्धुर

दे॒वऽइन्द्रो॒ नरा॒शꣳस॑स्त्रिवरू॒थस्त्रि॑बन्धु॒रो दे॒वमिन्द्र॑मवर्द्धयत्। श॒तेन॑ शितिपृ॒ष्ठाना॒माहि॑तः स॒हस्रे॑ण॒ प्र व॑र्त्तते मि॒त्रावरु॒णेद॑स्य हो॒त्रमर्ह॑तो॒ बृह॒स्पति॒ स्तो॒त्रम॒श्विनाध्व॑र्यवं वसु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य वेतु॒ यज॥१९॥

१. **देवः**=दिव्य गुणों का पुञ्ज, **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली, **नराशंसः**=मनुष्यों से स्तुति करने योग्य, **त्रिवरूथः**=शरीर (इन्द्रियाँ), मन व बुद्धि को सुरक्षित करनेवाला (वरूथ=cover) अथवा भौतिक सम्पत्ति—शारीरिक बलरूप सम्पत्ति तथा मस्तिष्क के ज्ञानरूप धन को देनेवाला (वरूथ=wealth) **त्रिवन्धुरः**=पृथिवीलोक, द्युलोक व अन्तरिक्षलोक को परस्पर बाँधनेवाला वह प्रभु **देवम्**=दिव्य गुणों को अपनानेवाले **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **अवर्धयत्**=बढ़ाता है। २. यह प्रभु **शितिपृष्ठानां शतेन**=(शितयः तीक्ष्णाः पृष्ठ:=प्रच्छ जिज्ञासायाम्') तीव्र जिज्ञासाओं के सैकड़ों से **आहितः**=इस जितेन्द्रिय पुरुष के हृदय में स्थापित होता है, अर्थात् जब हमें निरन्तर प्रभु की जिज्ञासा होती है तभी हमें हृदयों में उस प्रभु का आभास मिलता है। ३. **सहस्रेण प्रवर्त्तते**=वे प्रभु हज़ारों प्रकार से अपने कार्य को कर रहे हैं। ४. **मित्रावरुणा इत्**=मित्र और वरुण ही, अर्थात् सबके साथ स्नेह करनेवाला तथा द्वेष के निवारणवाले पुरुष ही **अस्य**=इस प्रभु के **होत्रम्**=होतृकार्य के **अर्हतः**=योग्य होते हैं। इन्हीं को इस प्रभु के आह्वान का अधिकार है। प्रभु की सच्ची प्रार्थना वही करता है जो सबके साथ स्नेह से रहता है और द्वेष नहीं करता। ५. **बृहस्पतिः**=ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान का पति ही **स्तोत्रम्**=इस प्रभु के स्तवन का अधिकारी है तथा **अश्विनौ**=प्राणापान **आध्वर्यवम्**=इस जीवनयज्ञ के कार्य-सञ्चालन के सम्यक्तया योग्य होते हैं। प्राणापान के ठीक होने पर ही जीवन सुचारुरूपेण चलता है। ६. **वसुवने**=धन के सेवन में **वसुधेयस्य**=धन के आधारभूत प्रभु को **वेतु**=मनुष्य अपने में प्रादुर्भूत करने का प्रयत्न करे। **यज**=हे जीव! इस प्रकार तू उस प्रभु से अपना मेल कर, उसके लिए दान देनेवाला बन।

भावार्थ—हम 'त्रिवरूथ-त्रिबन्धुर' प्रभु का स्मरण करें। विज्ञान के अध्ययन में जिज्ञासाओं के द्वारा प्रभु-भावना का हममें उदय हो। धन का सञ्चय करते हुए वस्तुतः धनों के स्वामी उस प्रभु को हम न भूलें।

ऋषिः—**अश्विनौ**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृदतिशक्वरी**। स्वरः—**पञ्चमः**।

मधुशाखः सुपिप्पलः (यह संसार-वृक्ष)

देवो देवैर्वनस्पतिर्हिरण्यपर्णो मधुशाखः सुपिप्पलो देवमिन्द्रमवर्द्धयत्। दिवमग्रेणास्पृक्षदान्तरिक्षं पृथिवीमदृंहीद्वसुवने वसुधेयस्य वेतु यज॥२०॥

१. **देवः**=सब व्यवहारों का साधक, **हिरण्यपर्णः**=हितरमणीय पालन व पूरण करनेवाला (सुनहले पत्तोंवाला), **मधुशाखः**=माधुर्यमयी शाखाओंवाला **सुपिप्पलः**=उत्तम फलवाला **वनस्पतिः**=सौन्दर्य, यश व धन (loveliness, glory, wealth) का रक्षक यह संसार-वृक्ष **देवैः**=अपने 'अग्नि, वायु सूर्य' आदि देवों से **देवम्**=ज्ञान की दीप्ति प्राप्त करनेवाले **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **अवर्धयत्**=बढ़ाता है। यह संसार एक वृक्ष है। यह हमें सब आवश्यक वस्तुओं को देकर (देवो दानात्) हमारे सब जीवन-व्यवहारों का साधक है (व्यवहार=दिव्), अतः 'देव' है। यह सुन्दरता व हितपूर्वक हमारा पालन करने से 'हिरण्यपर्ण' है। इसकी विविध योनिरूप शाखाओं में हमारे लिए माधुर्य निहित है। गौ हमें दूध देती है। घोड़ा हमारे व्यायाम व आने-जाने का साधन बनता है, भेड़ हमें ऊन प्राप्त कराती है, बकरी सर्वरोगापहारी दूध देती हुई पशम देती है। इस प्रकार ये विविध शाखाएँ हमारे जीवन को मधुर बना रही हैं। मधुर फलोंवाला तो यह वृक्ष है ही। इस संसार-वृक्ष के सूर्यादि सब देव जितेन्द्रिय की उन्नति का कारण बनते हैं। २. यह संसार-वृक्ष **अग्रेण**=अग्रभाग से **दिवम्**=द्युलोक को **अस्पृक्षत्**=छूता है, अर्थात् इसका एक प्रान्त (सिरा)

द्युलोक है तो यह **आ अन्तरिक्षम्**=चारों ओर इस अन्तरिक्ष को व्याप्त किये हुए है और **पृथिवीम्**=पृथिवी को **अदृंहीत्**=दृढ़ बना रहा है। इसका मध्यभाग अन्तरिक्ष है और इसका (उपरेण) दूसरा सिरा यह दृढ़ पृथिवीलोक है। इस प्रकार त्रिलोकी से बना हुआ यह संसारवृक्ष है। ३. यह संसार-वृक्ष **वसुवने**=धन के सेवन में **वसुधेयस्य वेतु**=धन के आधारभूत उस प्रभु का प्रजनन=प्रादुर्भाव करनेवाला हो। **यज**=हे जीव! तू उस प्रभु से अपना मेल करनेवाला बन। एतदर्थ तू यज्ञशील हो, दान देनेवाला बन।

भावार्थ—यह 'हिरण्यपर्ण मधुशाख, सुपिप्पल' संसारवृक्ष हमारे लिए वर्धन का कारण बने। धन के सेवन में धन के आधारभूत प्रभु का प्रादुर्भाव करनेवाला हो।

ऋषिः—**अश्विनौ**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

देवं बर्हिः

देवं बर्हिर्वारितीनां देवमिन्द्रमवर्द्धयत्।
स्वासस्थमिन्द्रेणासन्नमन्या बर्हीᳬष्यभ्यभूद्वसुवने वसुधेयस्य वेतु यज॥२१॥

१. **वारितीनाम्**='वे प्रभु वरणीय हैं, उस प्रभु में (वारि इतिर्गतिर्येषां) **इति**=गतिवाले, विचरनेवाले, प्रभुभक्तों का **देवम् बर्हिः**=दिव्य गुणों से पूर्ण प्रकाशमय, वासनाशून्य हृदय **देवम्**=दानशील, द्युतिवाले, अपनी ज्ञानज्योति से औरों का दीपन करनेवाले **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **अवर्धयत्**=बढ़ाता है। वस्तुतः वासनाशून्य हृदय हमारी सब उन्नतियों का साधक है। २. यह वासनाशून्य हृदय उस जीव को बढ़ाता है जो **स्वासस्थम्**=(सुखेन आसनेन तिष्ठति) सदा सुखासन पर स्थित होने का अभ्यास करता है, सब इन्द्रियों को उत्तम बनानेवाले (सु) आसनों को करता है (आस+स्थ), और इन आसनों का अभ्यास करते हुए **इन्द्रेण आसन्नम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का समीपस्थ उपासक बनता है। ३. इस प्रकार 'आसनों का अभ्यास' व 'प्रभु का उपासन' करने से यह **अन्या बर्हीषि**=अन्य निर्वासन हृदयों को **अभ्यभूत्**=जीत लेता है, उनका अभिभव करनेवाला होता है, अर्थात् इसका हृदय सबसे अधिक वासनाशून्य हो जाता है। ४. यह वासनाशून्य हृदय **वसुवने**=धन के सेवन में **वसुधेयस्य**=धन के आधारभूत प्रभु का **वेतु**=प्रजानन व प्रादुर्भाव करे, अर्थात् धन के अन्दर विचरण करते हुए भी प्रभु को भूल न जाए। **यज**=हे जीव! तू यज्ञशील बन और उस प्रभु से अपना सम्पर्क बना।

भावार्थ—आसनों के अभ्यास व उपासना से हमारा हृदय वासनाशून्य हो। यह हृदय प्रभु को कभी भुलानेवाला न हो।

ऋषिः—**अश्विनौ**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

स्विष्टकृद् अग्निः

देवोऽअग्निः स्विष्टकृद्देवमिन्द्रमवर्द्धयत्।
स्विष्टं कुर्वन्त्स्विष्टकृत् स्विष्टमद्य करोतु नो वसुवने वसुधेयस्य वेतु यज॥२२॥

१. यह **अग्निः**=यज्ञ में समाहित किया गया अग्नि **देवः**=हमें सब कुछ देनेवाला है, रोगादि के निवारण से दिव्य गुणोंवाला है। **स्विष्टकृत्**=यह हमारे सब उत्तम इष्टों को सिद्ध करनेवाला है (एष वोऽस्त्विष्टकामधुक्)। यह यज्ञाग्नि **देवम्**=यज्ञादि उत्तम व्यवहारों के करनेवाले **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **अवर्धयत्**=बढ़ाता है, उसकी उन्नति का कारण बनता है। २. **स्विष्टम् कुर्वन्**=हमारे उत्तम इष्टों को सिद्ध करता हुआ **स्विष्टकृत्**=यह कल्याण

करता हुआ अग्नि **अद्य**=आज हमारे **स्विष्टम्**=उत्तम इष्ट को **करोतु**=सिद्ध करे, यह हमें नीरोगता व सौमनस्य को देनेवाला हो। ३. **वसुवने**=धन के सेवन में भी **वसुधेयस्य**=धन के आधारभूत, सब धनों के स्वामी उस प्रभु को **वेतु**=हममें प्रादुर्भूत करे। **यज**=हे जीव! तू उस प्रभु के साथ सम्पर्क बनानेवाला हो, यज्ञशील बन, दान देनेवाला बन।

भावार्थ—हम प्रतिदिन अग्निहोत्र में अग्न्याधान करते हुए अपने इष्ट नैरोग्य व सौमनस्य को सिद्ध करें। संसार में विचरते हुए प्रभु को भूल न जाएँ। सदा यज्ञशील बने रहें।

ऋषिः—**अश्विनौ**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**कृतिः**। स्वरः—**निषादः**।

छाग बन्धन

अग्निमद्य होतारमवृणीतायं यजमानः पचन् पक्तीः पचन् पुरोडाशं बध्नन्निन्द्राय छागम्। सूपस्थाऽअद्य देवो वनस्पतिरभवदिन्द्राय छागेन। अघत्तं मेदस्तः प्रति पचताग्रभीदवीवृधत्पुरोडाशेन॥२३॥

१. **अयम्**=इस **यजमानः**=यज्ञ के स्वभाववाले व्यक्ति ने **अद्य**=आज **होतारम्**=इस सृष्टि के सर्वोत्तम पदार्थों को देनेवाले **अग्निम्**=उस अग्रेणी प्रभु का **अवृणीत**=वरण किया है। यह **पंक्तिः पचन्**=पक्तव्य पदार्थों का परिपाक कर रहा है, इसने शरीर को दृढ़ बनाया है और मस्तिष्क को ज्ञान से परिपक्व किया है। **पुरोडाशम् पचन्**=(आत्मा वै यजमानस्य पुरोडाशः। —कौ० १३.५) इसने अपनी आत्मा का भी ठीक परिपाक किया है। आध्यात्मिकता का पोषण ही आत्मा का परिपाक है। **इन्द्राय**=इन्द्रशक्ति के विकास के लिए **छागम् बध्नन्**=वासनाओं के छेदन-भेदन का प्रबन्ध किया है। वासनाओं के छेदन से ही आत्मशक्ति का विकास होता है। ३. **छागेन**=इस वासनाओं के छेदन-भेदन में **इन्द्राय**=इस जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **अद्यः** आज=वासना विनाश हो जाने पर **देवः**=वह ज्योतिर्मय **वनस्पतिः**=ज्ञान की रश्मियों का पति प्रभु **सूपस्था**=सुगमता से उपस्थान के योग्य **अभवत्**=हो गया है। वासनाओं ने ही वस्तुतः ज्ञान पर वह परदा डाला हुआ था, जिससे हमें उस प्रभु की ज्योति का दर्शन नहीं हो रहा था। ४. आज वासना-विनाश द्वारा प्रभु-दर्शन होने पर यह भक्त **तम्**=उस प्रभु को **मेदस्तः**=बड़े स्नेह से **अघत्**=खाता है, अर्थात् अपने अन्दर ग्रहण करता है, वस्तुतः यह प्रभु का, ब्रह्म का भक्षण ही 'ब्रह्मचर्य' है, ब्रह्म का चरना। ५. **प्रतिपचता**=इसी उद्देश्य से इसने एक-एक शक्ति का ठीक से परिपाक किया है। **अग्रभीत्**=उन शक्तियों का इसने ग्रहण किया है और **पुरोडाशेन**=आत्मभाव से **अवीवृधत्**=बढ़ा है।

भावार्थ—यज्ञशील पुरुष प्रभु का ही वरण करता है। वासना-विनाश से वह प्रभु सुगमता से उपस्थान के योग्य होता है। वह अपनी शक्तियों का ठीक से परिपाक करता है।

ऋषिः—**सरस्वती**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**स्वराड्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

ऋषि गौः

होता यक्षत्समिधानं महद्यशः सुसमिद्धं वरेण्यमग्निमिन्द्रं वयोधसम्।
गायत्रीं छन्दऽइन्द्रियं त्र्यविं गां वयो दधद्वेत्वाज्यस्य होतर्यज॥२४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार वासना को विनष्ट करनेवाला व्यक्ति ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करता है। विद्या की अधिदेवता को अपनानेवाला यह व्यक्ति 'सरस्वती' नामवाला हो जाता है। यह **होता**=सदा दानपूर्वक अदन करनेवाला **यक्षत्**=अपने साथ उस प्रभु को संगत करता

है, जो (क) **समिधानम्**=सूर्यादि सब लोक-लोकान्तरों को दीप्त कर रहे हैं, (ख) **महद्यशः**=महनीय यशवाले हैं, (ग) **सुसमिद्धम्**=ज्ञान से सम्यक् दीप्त हैं, (घ) **वरेण्यम्**=वरने के योग्य हैं, प्रकृति की तुलना में प्रभु का ही वरण ठीक है प्रकृति-वरण से प्रभु की प्राप्ति नहीं होती, परन्तु प्रभु-वरण से प्रकृति तो मिल ही जाती है, (ङ) **अग्निम्**=वे प्रभु हमारी सब उन्नतियों के साधक हैं, (च) **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली हैं, (छ) **वयोधसम्**=हममें उत्कृष्ट आयु को धारण करनेवाले हैं। २. इस होता को चाहिए कि (क) **गायत्रीम् छन्दः**=प्राणरक्षा की (गयाः प्रणाः, तान् तत्रे) प्रबल इच्छा को, (ख) **इन्द्रियम्**=प्रत्येक इन्द्रिय की शक्ति को, (ग) **त्र्यविम्**=शरीर, मन व बुद्धि तीनों की रक्षा करनेवाली वेदवाणी को, (घ) **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधत्**=धारण करता हुआ **आज्यस्य वेतु**=शक्ति का पान करे, शक्ति को अपने में सुरक्षित करे। शक्ति की रक्षा से ही प्राणरक्षा होगी, इन्द्रियों का सामर्थ्य प्राप्त होगा, शरीर, मन व बुद्धि तीनों का रक्षण होगा और जीवन उत्कृष्ट बनेगा। ४. **होतः**=हे दानपूर्वक अदन करनेवाले! **यज**=तू यज्ञशील बन और उस प्रभु से अपना मेल बना।

भावार्थ—हम होता बनकर देदीप्यमान प्रभु से अपना मेल बनाएँ। प्राणरक्षा की हमारी प्रबल कामना हो, शरीर, मन व बुद्धि की रक्षा करनेवाली वेदवाणी को हम अपनाएँ।

ऋषिः—**सरस्वती**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिगतिजगती**। स्वरः—**निषादः**।

दित्यवाट् गौः

होता॑ यक्ष॒त्तनू॒नपा॑तमु॒द्भिद॒ꣳ यं गर्भ॒मदि॑तिर्द॒धे शुचि॒मिन्द्रं॑ व॒यो॒धस॑म्।
उ॒ष्णिह॒ꣳ छन्द॑ऽइन्द्रि॒यं दि॑त्य॒वाह॒ं गां वयो॒ दध॑द्वे॒त्वाज्य॑स्य॒ होत॒र्यज॑ ॥२५॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **यक्षत्**=अपने साथ संगत करता है, उस प्रभु को, जो—(क) **तनूनपातम्**=हमारे शरीर व शक्तियों के विकास को न गिरने देनेवाले हैं, प्रभु स्मरण से शरीर स्वस्थ बना रहता है, (ख) **उद्भिदम्**=वे प्रभु सब विघ्नों को विदीर्ण करके हमारा उत्थान करनेवाले हैं, (ग) ये प्रभु वे हैं **यम्**=जिनको **अदितिः**=न खण्डित होनेवाला, अपने शरीर व मन को रोगों व वासनाओं से आक्रान्त न होने देनेवाला **गर्भं दधे**=अपने में गर्भरूप से धारण करता है, अर्थात् प्रभु का निवास अदिति में होता है, उस पुरुष में जोकि रोगों व वासनाओं से खण्डित न हो, (घ) **शुचिम्**=वे प्रभु पूर्ण पवित्र हैं, हमें पवित्र बनानेवाले हैं, (ङ) **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली हैं, (च) **वयोधसम्**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करानेवाले हैं। २. यह होता (क) **उष्णिहं छन्दः**=(उत् स्निह्यति) उत्कृष्ट स्नेह की प्रबल कामना को, (ख) **इन्द्रियम्**=प्रत्येक इन्द्रिय के सामर्थ्य को, (ग) **दित्यवाहं गाम्**=वासनाओं का खण्डन करनेवाली वेदवाणी को, (घ) **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधत्**=धारण करने के हेतु से **आज्यस्य वेतु**=शक्ति का पान करे, वीर्य को अपने अन्दर ही सुरक्षित करे। ३. हे **होतः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले तू **यज**=यज्ञशील बन और उस प्रभु से अपना मेल बना।

भावार्थ—हम होता बनकर सब उन्नतियों के साधक प्रभु को धारण करें। हमारा स्नेह प्रकृति से न होकर प्रभु से हो। हम वासनाओं का खण्डन करनेवाले वेदज्ञान को अपनाएँ।

ऋषिः—**सरस्वती**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृच्छक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**।

पञ्चावि गौः

होता॑ यक्ष॒दीडे॒न्य॑मीडि॒तं वृ॑त्र॒हन्त॑म॒मिडा॑भि॒रीड्य॒ꣳ सहः॒ सोम॒मिन्द्रं॑ व॒यो॒धस॑म्।
अ॒नु॒ष्टुभं॒ छन्द॑ऽइन्द्रि॒यं प॑ञ्चा॒विं गां वयो॒ दध॑द्वे॒त्वाज्य॑स्य॒ होत॒र्यज॑ ॥२६॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **यक्षत्**=अपने साथ उस प्रभु को संगत करता है, जो (क) **ईडेन्यम्**=स्तुति के योग्य हैं, (ख) **इडाभिः ईडितम्**=सब वेदवाणियों से स्तुति किये गये हैं **'सर्वे वेदाः यत्पदमामनन्ति'** (ग) **वृत्रहन्तमम्**=वासनाओं का सर्वाधिक विनाश करनेवाले हैं, (घ) **ईड्यम् सहः**=स्तुत्य शक्ति के पुञ्ज हैं, (ङ) **सोमम्**=अत्यन्त शान्त है, अर्थात् शक्ति के साथ शान्ति का प्रभु में पूर्ण समन्वय है, इसी से उनकी शक्ति प्रशंसनीय है, (च) **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली हैं, (छ) **वयोधसम्**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करानेवाले हैं। २. होता को चाहिए कि उसमें (क) **अनुष्टुभम् छन्दः**=(अनुस्तौति) प्रत्येक सफलता के साथ प्रभु-स्तवन की भावना हो, जिससे उस सफलता का गर्व न हो जाए, उस सफलता को प्रभु से होता हुआ समझकर हम अहंकार न करें, (ख) **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों के सामर्थ्य को (ग) **पञ्चाविम् गाम्**=ज्ञान के द्वारा वासनाओं से बचाकर इस पाञ्चभौतिक शरीर की, पाँचों ज्ञानेन्द्रियों, पाँचों कर्मेन्द्रियों व पाँचों प्राणों की रक्षा करनेवाली वेदवाणी को तथा (घ) **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधद्**=धारण करने के हेतु से **आज्यस्य वेतु**=शक्ति का पान करे, अपने में शक्ति को सुरक्षित करे। ३. हे **होतः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले! तू **यज**=यज्ञशील बन, दान देनेवाला बनकर प्रभु से अपना मेल बना।

भावार्थ— हम होता बनकर वासनाओं को नष्ट करनेवाले 'वृत्रहन्तम' प्रभु का अपने से मेल बनाएँ। हम प्रत्येक सफलता को प्रभु की शक्ति से होता हुआ समझें। हम उस वेदवाणी को अपनाएँ जो पाँचों इन्द्रियों की रक्षा करनेवाली है।

ऋषिः—**सरस्वती**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**स्वराडतिजगती**। स्वरः—**निषादः**॥

त्रिवत्सा गौः

होता यक्षत्सुबर्हिषं पूषण्वन्तममर्त्यꣳसीदन्तं बर्हिषि प्रियेऽमृतेन्द्रं वयोधसम्।
बृहतीं छन्दऽइन्द्रियं त्रिवत्सं गां वयो दधद्वेत्वाज्यस्य होतर्यज॥२७॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **यक्षत्**=अपने साथ उस प्रभु को संगत करता है, जो (क) **सुबर्हिषम्**=उत्तमता से हृदय को वासनाशून्य बनानेवाले हैं, प्रभु नाम-स्मरण के साथ ही हृदय से वासनाएँ नष्ट होनी प्रारम्भ हो जाती हैं, (ख) **पूषण्वन्तम्**=वे प्रभु हमारा उत्तम पोषण करनेवाले हैं (ग) **अमर्त्यम्**=अमरणधर्मा हैं और (घ) **प्रिये**=प्रेम से युक्त, द्वेषादि से शून्य **अमृता**=(अमृते) विषयों के पीछे न मरनेवाले **बर्हिषि**=वासनाशून्य हृदय में **सीदन्तम्**=निवासन करते हुए (ङ) **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली, (च) **वयोधसम्**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करानेवाले हैं। २. इस होता को चाहिए कि (क) **बृहतीं छन्दः**=सब प्रकार की वृद्धि की प्रबल भावना को (ख) **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों के सामर्थ्य को (ग) **त्रिवत्सं गाम्**=प्रकृति, जीव व परमात्मा तीनों का प्रतिपादन करनेवाली वेदवाणी को (त्रीन् वदति) अथवा ज्ञान, कर्म व उपासना का प्रतिपादन करनेवाली वेदवाणी को (घ) तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधत्**=धारण करने के हेतु से **आज्यस्य वेतु**=शक्ति का पान करे। ३. हे **होतः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले जीव! तू **यज**=यज्ञशील बन। दान देनेवाला बनकर प्रभु से अपना मेल बना।

भावार्थ—होता उस प्रभु को अपने साथ संगत करता है जो प्रभु प्रिय, अर्थात् द्वेष से शून्य तथा अमृत, विषयों के पीछे न मरनेवाले वासनाशून्य हृदय में निवास करते हैं।

ऋषिः—**सरस्वती**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**स्वराट्शक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

तुर्यवाड् गौः

होता॑ यक्षद्व्यच॑स्वतीः सुप्राय॒णाऽऋ॑ता॒वृधो॒ द्वारो॑ दे॒वीर्हि॑र॒ण्ययी॑र्ब्र॒ह्माण॒मिन्द्रं॑ वयो॒धस॑म्। प॒ङ्क्तिं छन्द॑ऽइ॒हेन्द्रि॒यं तु॑र्य॒वाहं॒ गां वयो॒ दध॒द्व्यन्त्वाज्य॑स्य॒ होत॒र्यज॑॥२८॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला व्यक्ति **देवीः द्वारः**=दिव्य इन्द्रियों को—जीवनयात्रा के विविध कार्यों व व्यवहारों को सिद्ध करनेवाले इन्द्रियरूप द्वारों को, जो (क) **व्यचस्वतीः**=(अञ्चु गतौ) विशिष्टरूप से अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त होनेवाले हैं तथा (ख) **सुप्रायणाः**=प्रकृष्ट गमनवाले हैं (ग) **ऋतावृधः**=सत्य व यज्ञ का वर्धन करनेवाले हैं, उन इन्द्रियों को **यक्षत्**=अपने साथ संगत करता है, जो (क) **हिरण्ययीः**=हितरमणीय ज्ञान को प्राप्त करानेवाली हैं। २. इस प्रकार यह होता इन इन्द्रियों को सम्यक्तया नियमित करता हुआ इनके द्वारा उस प्रभु को अपने साथ **यक्षत्**=संगत करता है, जोकि (क) **ब्रह्माणम्**=(परिवृढ) अत्यन्त बढ़े हुए हैं और इस संसार को बढ़ानेवाले हैं, (ख) **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली हैं, तथा (ग) **वयोधसम्**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करानेवाले हैं। ३. यह होता (क) **पंक्तिम् छन्दः**='पाँचभौतिक शरीर को मैं बड़ा ठीक रक्खूँगा, पाँचों ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों व प्राणों को पूर्ण सशक्त बनाऊँगा', इस प्रबल इच्छा को, (ख) **इह**=इस शरीर में **इन्द्रियम्**=प्रत्येक इन्द्रिय के सामर्थ्य को (ग) **तुर्यवाहं गाम्**= उस वेदवाणी को जो कि उसे तुरीयावस्था तक पहुँचाती है, अर्थात् उसे पृथिवीलोक, अन्तरिक्षलोक व द्युलोक के विजय के बाद ब्रह्मलोक में पहुँचने के योग्य बनाती है तथा (घ) **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधत्**=धारण करने के हेतु से यह प्रयत्न करे कि इसके इन्द्रियद्वार **आज्यस्य व्यन्तु**=तेज को पान करनेवाले बनें, इस शक्ति को शरीर में ही सुरक्षित करें। ये इन्द्रियद्वार संयत होने पर विषय-वासनाओं में न जाएँगे और इस प्रकार शक्ति का रक्षण करनेवाले हो सकेंगे। ४. हे **होतः**=यज्ञशील पुरुष! तू **यज**=उस प्रभु को अपना और इसी उद्देश्य से यज्ञशील बन।

भावार्थ—होता पुरुष अपने इन्द्रियद्वारों को ज्योतिर्मय बनाकर, इनके द्वारा प्रभु की महिमा को देखता हुआ, प्रभु को अपने साथ संगत करे।

ऋषिः—**सरस्वती**। देवता—**अहोरात्रे**। छन्दः—**निचृदतिशक्वरी**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

पष्ठवाड् गौः

होता॑ यक्षत्सु॒पेश॑सा सु॒शि॒ल्पे बृ॑ह॒तीऽउ॒भे नक्तो॒षासा॒ न द॑र्श॒ते विश्व॒मिन्द्रं॑ वयो॒धस॑म्। त्रि॒ष्टुभं॒ छन्द॑ऽइ॒हेन्द्रि॒यं प॑ष्ठ॒वाहं॒ गां वयो॒ दध॒द्वीता॒माज्य॑स्य॒ होत॒र्यज॑॥२९॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदनशील पुरुष **नक्तोषासा**=उन 'दिन और रात' को अपने साथ **यक्षत्**=संगत करता है जो (क) **सुपेशसा**=(शोभनं पेशो याभ्याम्) उत्तम रूप को देनेवाले हैं, दिन क्रिया द्वारा शक्ति देकर रूप का वर्धन करता है तो रात्रि रमयित्री होती हुई सारी तोड़-फोड़ को फिर से ठीक करके सौन्दर्य प्रदान करती है। (ख) **सुशिल्पे**=(यद्वै प्रतिरूपं तच्छिल्पम्) एक-दूसरे की प्रतिरूप हैं, दिन प्रकाशमय है तो रात्रि अन्धकारमय, दिन क्रिया करने का समय है तो रात्रि विश्रामस्थली है, दिन का ईश 'सूर्य' है तो रात्रि का ईश 'चन्द्र' है। (ग) **बृहती**=ये दिन-रात दोनों ही हमारा वर्धन करनेवाले हैं, **न**=और (च) ये **उभे**= दोनों ही **दर्शते**=दर्शनीय हैं, 'दिन' सूर्य के प्रकाश से देदीप्यमान है तो 'रात्रि' को चन्द्र

व तारे दर्शनीय बना रहे हैं। २. ऐसे दिन और रात को होता अपने साथ संगत करता है और साथ ही इन दिन व रात में उस प्रभु की महिमा को देखता हुआ उस प्रभु को भी अपने साथ संगत करता है, जो प्रभु (क) **विश्वम्**=(विशति) इस ब्रह्माण्ड के कण-कण में प्रविष्ट होकर इस संसार-यन्त्र का सञ्चालन कर रहे हैं, (ख) **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली हैं तथा (ग) **वयोधसम्**=उत्कृष्ट आयुष्य को धारण करानेवाले हैं। ३. यह होता (क) **त्रिष्टुभम् छन्दः**=(त्रि स्तुभ) मैं 'काम, क्रोध व लोभ' इन तीनों को रोक दूँगा, इस प्रबल भावना को, (ख) **इह इन्द्रियम्**=इस मानव-जीवन में इन्द्रियों के सामर्थ्य को, (ग) **पष्ठवाहम् गाम्**=उस वेदवाणी को जो अपनी पीठ पर कर्म के भार को उठाये हुए है, अर्थात् **'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि'** इस वाक्य के अनुसार सारे कर्त्तव्यों का प्रतिपादन करनेवाली है तथा (घ) **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधत्**=धारण करने के हेतु से प्रयत्न करता है कि उसके लिए ये दिन और रात **आज्यस्य**=शक्ति का **वीताम्**=पान करानेवाले हों, अर्थात् होता दिन-रात शक्ति के पान का ध्यान करता हुआ ही अपने जीवन को उत्कृष्ट बना पाएगा। ५. **हे होतः**=यज्ञशील पुरुष! तू **यज**=उस प्रभु के साथ संग बना और यज्ञशील बन।

भावार्थ—होता पुरुष के लिए दिन-रात बड़े सुन्दर होते हैं, ये उसे सौन्दर्य प्रदान करते हैं। यह इनके चक्र में प्रभु के रचना-सौन्दर्य को देखता हुआ प्रभु को पूजता है, उसके साथ अपना सम्पर्क बनाता है और उसके प्रति अपना अर्पण कर देता है।

ऋषिः—**सरस्वती**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**निचृदतिशक्वरी**। स्वरः—**पञ्चमः**।

अनड्वान् गौः

होता यक्षत्प्रचेतसा देवानामुत्तमं यशो होतारा दैव्या कवी सयुजेन्द्रं वयोधसम्। जगतीं छन्दऽइन्द्रियमनड्वाहं गां वयो दधद्वीतामाज्यस्य होतर्यज॥३०॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **दैव्या होतारा**=प्राणापान को **यक्षत्**=अपने साथ जोड़ता है। उन प्राणापानों को जोकि (क) **प्रचेतसा**=उसे प्रकृष्ट ज्ञानी बनानेवाले है, (ख) **कवी**=जो क्रान्तदर्शी हैं। वस्तुतः प्राणापान की साधना से बुद्धि इतनी सूक्ष्म हो जाती है कि वह गहरे-से-गहरे विषय को भी समझने के योग्य होता है और साधक प्रकृष्ट ज्ञानवाला बनता है, (ग) ये प्राणापान **देवानाम्**=विषयों को ग्रहण करानेवाली इन्द्रियों के **उत्तमं यशः**=उत्तम यश हैं। इनके ही कारण ये इन्द्रियाँ अपने कार्यों को कर पाती हैं, (घ) **सयुजा**=ये प्राणापान सयुज हैं। प्राण अपान के साथ मिलकर चलता है और अपान प्राण के साथ। ये शरीर में सदा साथियों की भाँति 'सयुज्' हैं। २. यह होता इन दैव्य होताओं, अर्थात् प्राणापान की साधना के द्वारा उस प्रभु को **यक्षत्**=अपने साथ संगत करता है जोकि **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली हैं और **वयोधसम्**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करानेवाले हैं। ३. **जगतीं छन्दः**=क्रियाशीलता की इच्छा को, **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों के सामर्थ्य को, **अनड्वाहम् गाम्**=उस वेदवाणी को, जो संसार-शकट का वहन करनेवाली है। मनुष्य **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधत्**=धारण के हेतु से **आज्यस्य**=शक्ति का **वीताम्**=पान करे। प्राणापान के द्वारा शक्ति का संयम होने पर ही 'जगती छन्द' इत्यादि सब बातों का सम्भव होगा। ४. हे **होतः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले **यज**=तू यज्ञशील बन।

भावार्थ—होता पुरुष के लिए प्राणापान प्रकृष्ट ज्ञान को देनेवाले होते हैं। ये उसके अन्दर क्रियाशीलता को उत्पन्न करते हैं, इन्द्रियों को सशक्त करते है, जीवन-यात्रा को

पूर्ण करने की क्षमता देते हैं और उसके जीवन को उत्कृष्ट बनाते हैं।

ऋषिः—**सरस्वती**। देवता—**वाण्यः**। छन्दः—**भुरिक्शक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

धेनु गौः

होता यक्षत्पेशस्वतीस्तिस्रो देवीर्हिरण्ययीर्भारतीर्बृहतीर्महीः पतिमिन्द्रं वयोधसम्। विराजं छन्द ऽ इहेन्द्रियं धेनुं गां न वयो दधद्व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज॥३१॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **तिस्रो देवीः भारतीः**=भारती, सरस्वती व इडा नामक तीन देवियों को **यक्षत्**=अपने साथ संगत करता है जो देवियाँ—(क) **पेशस्वतीः**=उत्तम रूपवाली हैं, जिनकी स्थिति से मनुष्य का स्वरूप बड़ा उत्तम प्रतीत होता है, (ख) **हिरण्ययीः**=जो अत्यन्त ज्योतिर्मय हैं, इनमें से एक मस्तिष्क को दीप्त करती है (भारती) तो दूसरी मन को (सरस्वती) तथा तीसरी शरीर को ठीक रखती है (इडा), (ग) **बृहतीः**=ये उसका वर्धन करनेवाली हैं और **महीः**=उसको महत्त्व प्राप्त कराती हैं। २. यह होता इन देवियों के सम्पर्क के द्वारा उस प्रभु को अपने साथ संगत करता है जो (क) **पतिम्**=हम सबके स्वामी व रक्षक हैं (ख) **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली हैं, और (ग) **वयोधसम्**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करानेवाले हैं। ३. **विराजं छन्दः**='मैं इस जीवन में खूब देदीप्यामान होऊँ (राज् दीप्तौ, अथवा राज् To regulate) अथवा जीवन को बड़ा व्यवस्थित करूँ', इस इच्छा को, **इह**=इस जीवन में **इन्द्रियम्** =प्रत्येक इन्द्रिय के सामर्थ्य को, **धेनुम् गाम्**=ज्ञानदुग्ध के द्वारा वर्धन करनेवाली वेदवाणी को, **न**=और **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधत्**='धारण करता हुआ यह होता बने' इसके लिए **आज्यस्य व्यन्तु**=ये तीनों देवियाँ शक्ति का पान करें, अर्थात् इनके द्वारा शक्ति का शरीर में ही व्यय हों। अंग-प्रत्यंग में व्याप्त होकर यह शक्ति उसे सुन्दर रूप दे। ४. हे **होतः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले! तू **यज**=यज्ञशील बन और उस प्रभु से अपना मेल बना।

भावार्थ—होता का जीवन 'भारती, सरस्वतीं व इडा' के कारण बड़ा सुन्दर हो जाता है। ये देवियाँ उसके जीवन को ज्योतिर्मय बना देती हैं।

ऋषि—**सरस्वती**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिक्शक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**।

उक्षा गौः

होता यक्षत्सुरेतसं त्वष्टारं पुष्टिवर्द्धनꣳरूपाणि बिभ्रतं पृथक् पुष्टिमिन्द्रं वयोधसम्। द्विपदं छन्द ऽ इन्द्रियमुक्षाणं गां न वयो दधद्वेत्वाज्यस्य होतर्यज॥३२॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला व्यक्ति **यक्षत्**=अपने साथ उस प्रभु को संगत करता है, जो (क) **सुरेतसम्**=वासना-विनाश के द्वारा हमारे **रेतस्**=(वीर्य) को शोभन बनाये रखते हैं, उस प्रभु के नामस्मरण से रेतस् में वासनाजनित उष्णता उत्पन्न नहीं होती, (ख) **त्वष्टारम्**=जो हममें दिव्य गुणों का निर्माण करनेवाले हैं अथवा हमारे मस्तिष्कों को ज्ञानोज्ज्वल करनेवाले हैं, (ग) **पुष्टिवर्द्धनम्**=हमारी पुष्टि का वर्धन करनेवाले हैं, (घ) **रूपाणि बिभ्रतम्**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग के सौन्दर्य को धारण करनेवाले हैं (ङ) **पृथक् पुष्टिम्**=अलग-अलग एक-एक अङ्ग को पुष्ट करनेवाले हैं, (च) **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली हैं, और (छ) **वयोधसम्** =उत्कृष्ट जीवन को धारण करानेवाले हैं। २. **द्विपदम् छन्दः**=(द्वाभ्यां पद्यते) 'मैं ज्ञानमार्ग व कर्ममार्ग दोनों का समन्वय करके चलूँगा', इस प्रबल इच्छा को, **इन्द्रियम्**=प्रत्येक इन्द्रिय के सम्पर्क को, **उक्षाणं गाम्**=शक्तियों का सेचन करनेवाली वेदवाणी को **न**=और **वयः**=उत्कृष्ट जीवन

को **दधत्**=धारण करने के हेतु से **आज्यस्य वेतु**=यह त्वष्टा देव इस होता में सोम का (शक्ति का) पान कराए। इसके शरीर में ही रेतस् का व्यापन हो। ३. हे **होतः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले! तू **यज**=यज्ञशील बन और उस प्रभु से अपना मेल बना।

भावार्थ—त्वष्टादेव हमें सुरेतस् बनाएँ, हमारे जीवनों को सुन्दर व पुष्ट करें।

ऋषिः—**सरस्वती**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृदत्यष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**।

वशा वेहत् गौः

होता यक्षद्वनस्पतिꣳशमितारꣳशतक्रतुꣳहिरण्यपर्णमुक्थिनꣳरशनां बिभ्रतं वशिं भगमिन्द्रं वयोधसम्। ककुभं छन्दऽइहेन्द्रियं वशां वेहतं गां वयो दधद्वेत्वाज्यस्य होतर्यज ॥३३॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **यक्षत्**=अपने साथ उस विद्वान् को संगत करता है, जोकि **वनस्पतिम्**=ज्ञान की किरणों का पति है, **शमितारम्**=शान्ति प्रदाता व शान्तस्वभाव है, **शतक्रतुम्**=सैकड़ों प्रज्ञानों व कर्मोंवाला है, **हिरण्यपर्णम्**=हितरमणीय ज्ञान से पालन व पूरण करनेवाला है, **उक्थिनम्**=स्तोत्रोंवाला है, प्रभु का स्तवन करनेवाला है, **रशनां बिभ्रतम्**=मेखला को धारण करनेवाला है, अर्थात् दृढ़ निश्चयी है, **वशिम्**=अपनी वासनाओं को वशीभूत करनेवाला है, **भगम्**=ऐश्वर्यशाली है अथवा (भज सेवायाम्) सेवा की वृत्तिवाला है, **इन्द्रम्**=शक्तिशाली है और आसुर भावनाओं का विद्रावण करनेवाला है। **वयोधसम्**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करनेवाला है। ऐसे विद्वान् के सम्पर्क में आकर वह होता भी इसी प्रकार के जीवनवाला बनता है। २. **ककुभं छन्दः**='मैं शिखर पर पहुँचूँगा', इस इच्छा को, **इह**=इस मनाव-जीवन में **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों के सामर्थ्य को, **वशां वेहतं गाम्**=उस वेदवाणी को जो वशा व वन्ध्या है, अर्थात् मनुष्य को फल की इच्छा से ऊपर उठकर कार्य करनेवाला बनाती है तथा **वेहतम्**=गर्भोपधातिनी, सब बुराइयों को गर्भावस्था में ही समाप्त करनेवाली है (to nip the evil in the bud) तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधत्**=धारण के हेतु से यह होता **आज्यस्य वेतु**=शक्ति का पान करे, शक्ति को अपने शरीर में व्याप्त करे। ३. हे **होतः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले! तू **यज**=यज्ञशील बन और उस प्रभु के साथ अपने को संगत कर।

भावार्थ—विद्वान्, शान्त, यज्ञशील पुरुषों का संग हमारे जीवन को भी उत्कृष्ट बनाये। हम उन्नति के शिखर पर पहुँचने की कामना करें। फल की इच्छा से ऊपर उठकर कर्तव्य बुद्धि से कर्म करें और बुराई को गर्भ में ही समाप्त करने का ध्यान करें।

ऋषिः—**सरस्वती**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**अतिशक्वरी**। स्वरः—**पञ्चमः**।

ऋषभ गौः

होता यक्षत्स्वाहाकृतीरग्निं गृहपतिं पृथग्वरुणं भेषजं कविं क्षत्रमिन्द्रं वयोधसम्। अतिच्छन्दसं छन्दऽइन्द्रियं बृहदृषभं गां वयो दधद्व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥३४॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला व्यक्ति **यक्षत्**=अपने साथ संगत करता है। किन बातों को? (क) **स्वाहाकृतीः**=(सु आह कृति) वाणी से उत्तम शब्दों को बोलने की क्रियाओं को, या (स्व+हा=कृति) स्वार्थत्याग के कर्मों को, (ख) **गृहपतिं अग्निं पृथक्**=रोगादि के निवारण से तथा वायु-शुद्धि से घरों के रक्षक यज्ञियाग्नि को अलग-अलग, अर्थात् होता के घर का प्रत्येक सभ्य अपने-अपने अंश को अग्निहोत्र में डाले, (ग)

वरुणम्=द्वेष-निवारण की देवता को जोकि द्वेषजन्य विषों को पैदा न होने देने के कारण शरीर के रोगों का **भेषजम्**=औषध है तथा मस्तिष्क में **कविम्**=क्रान्तदर्शिता को प्राप्त करानेवाला है, (घ) **इन्द्रः**=सब आसुरवृत्तियों का विद्रावण करनेवाले इन्द्र को जो **क्षत्रम्**=सब क्षतों से बचानेवाला है और इस प्रकार **वयोधसम्**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करानेवाला है। २. **अतिच्छन्दसं छन्दः**=भौतिक इच्छाओं से ऊपर उठने की इच्छा को, **बृहद्**=वृद्धि के कारणभूत **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों के सामर्थ्य को, **ऋषभं गाम्**=(ऋष गतौ) 'गति की प्रेरणा देनेवाली वेदवाणी को **दधत्**=धारण करनेवाला यह होता बने' इसलिए 'वरुण, इन्द्र' आदि इसके लिए **आज्यस्य व्यन्तु**=सोमशक्ति का शरीर में ही व्यापन करनेवाले बनें। ३. हे **होतः**=दानशील पुरुष! तू **यज**=यज्ञशील बन।

भावार्थ—हममें स्वार्थत्याग की भावना हो, हमारे घर का प्रत्येक सभ्य यज्ञ के स्वभाववाला बने। हम द्वेष से दूर रहकर स्वस्थ व ज्ञानी बनें, भौतिक इच्छाओं से ऊपर उठें।

ऋषिः—**सरस्वती**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

गायत्री छन्द

देवं बर्हिर्वयोधसं देवमिन्द्रमवर्द्धयत्।
गायत्र्या छन्दसेन्द्रियं चक्षुरिन्द्रे वयो दधद्वसुवने वसुधेयस्य वेतु यज॥३५॥

१. **देवम् बर्हिः**=दिव्य गुणों को धारण करनेवाला वासनाशून्य हृदय **वयोधसम्**=उत्कृष्ट आयुष्य को धारण करनेवाला है। हृदय के अच्छा होने पर जीवन भी अच्छा होता है। २. यह हृदय **देवम्**=ज्ञान की ज्योति से जगमगानेवाले **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **अवर्द्धयत्**=बढ़ाता है। हृदय की पवित्रता ही सब प्रकार की वृद्धि का मूल है। ३. **गायत्र्या छन्दसा**=प्राणशक्ति की रक्षा की प्रबल इच्छा के द्वारा **इन्द्रियम्**=वीर्य व इन्द्रियों के सामर्थ्य को, **चक्षुः**=दृष्टिशक्ति को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **इन्द्रे**=जितेन्द्रिय पुरुष में **दधत्**=स्थापित करता हुआ, यह पवित्र हृदय **वसुवने**=धन के सेवन में **वसुधेयस्य**=धन के आधारभूत प्रभु को **वेतु**=प्रजनन करे 'प्रभु-भावना' को अपने में विकसित करे। ४. हे **होतः**=दानशील पुरुष! तू **यज**=इस पवित्र हृदय के द्वारा उस प्रभु का अपने-आप संगम कर, प्रभु की पूजा करनेवाला बन, उसके प्रति अपना अर्पण कर दे।

भावार्थ—दिव्य हृदय प्रभु-प्राप्ति का प्रथम साधन है। प्रभु-प्राप्ति के लिए साधना का प्रारम्भ वहीं से होता है कि हम हृदय को वासनाशून्य बनाएँ।

ऋषिः—**सरस्वती**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

उष्णिक् छन्द

देवीर्द्वारो वयोधसꣳशुचिमिन्द्रमवर्द्धयन्।
उष्णिहा छन्दसेन्द्रियं प्राणमिन्द्रे वयो दधद्वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज॥३६॥

१. **देवीः द्वारः**=दिव्य गुणोंवाले, व्यवहारों को उत्तमता से सिद्ध करनेवाले (दिव व्यवहारे) ये इन्द्रियद्वार **वयोधसम्**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करनेवाले **शुचिम्**=पवित्र **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **अवर्द्धयन्**=बढ़ाते हैं। सब इन्द्रियाँ—ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ पवित्र जीवनवाले पुरुष को बढ़ानेवाली होती है। २. **उष्णिहा छन्दसा**=(उत् स्निह्यति) उत्कृष्ट स्नेह की प्रबल कामना के साथ-साथ (क) **इन्द्रियम्**=वीर्य को **प्राणम्**=पाँचों इन्द्रियों की शक्ति को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **इन्द्रे**=जितेन्द्रिय पुरुष में **दधत्**=स्थापित

करते हुए (दधतः) **वसुवने**=धन के सेवन में **वसुधेयस्य**=धन के आधारभूत उस प्रभु को **व्यन्तु**=प्रादुर्भूत करें, सब द्वार उस प्रभु का स्मरण करनेवाले हों। ३. हे **होतः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले! तू **यज**=उस प्रभु के साथ अपना मेल बना, इसके लिए तू यज्ञशील बन।

भावार्थ—सब इन्द्रियद्वारों की पवित्रता तथा हीन स्नेह से ऊपर उठना, हमें प्रभु की ओर ले-आता है। प्रकृति व प्रभु में हमारा स्नेह प्रभु के लिए हो, हम प्रकृति की ओर झुकाववाले न हों।

ऋषिः—**सरस्वती**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिगतिजगती**। स्वरः—**निषादः**।

अनुष्टुप् छन्द

देवीऽउषासानक्ता देवमिन्द्रं वयोधसं देवी देवमवर्द्धताम्।
अनुष्टुभा छन्दसेन्द्रियं बलमिन्द्रे वयो दधद्वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज॥३७॥

१. **उषासानक्ता**=उषा और रात **देवी**=हमारे सब व्यवहारों के साधक हैं, ये **देवी**=देदीप्यमान होते हुए **देवम्**=दिव्य गुणों को अपनानेवाले **वयोधसम्**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करनेवाले **देवम्**=ज्ञान से देदीप्यमान **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **अवर्द्धताम्**=बढ़ाते हैं। २. **अनुष्टुभा छन्दसा**=प्रत्येक कार्य में उस-उस सफलता के लाभ के साथ प्रभु-स्तवन (अनु-स्तु) की प्रबल कामना से **इन्द्रे**=जितेन्द्रिय पुरुष में **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों के सामर्थ्य को **बलम्**=बल को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधत्**=(दधत्यौ-म०) धारण करते हुए ये दिन-रात **वसुवने**=धन के सेवन में **वसुधेयस्य**=धन के आधारभूत परमात्मा का **वीताम्**=प्रजनन करें, प्रभु-भावना को जागरित व विकसित करें। हे **होतः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले! तू **यज**=दानशील बनकर उस प्रभु से अपना मेल बना।

भावार्थ—'दिन-रात को ज्ञान-प्राप्ति द्वारा दीप्त बनाना और प्रत्येक कर्म में सफलता के साथ प्रभु का स्मरण करना, जिससे उस सफलता का गर्व न हो जाए' यह प्रभु-प्राप्ति का तीसरा साधन है।

ऋषिः—**सरस्वती**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिगतिजगती**। स्वरः—**निषादः**।

बृहती छन्द

देवी जोष्ट्री वसुधिती देवमिन्द्रं वयोधसं देवी देवमवर्द्धताम्।
बृहत्या छन्दसेन्द्रियᳬ श्रोत्रमिन्द्रे वयो दधद्वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज॥३८॥

१. **देवी**=दिव्य गुणों से युक्त **जोष्ट्री**=सब व्यवहारों के साधक दिन व रात **वसुधिती**=सब वसुओं के निवास के लिए आवश्यक तत्त्वों का धारण करनेवाले हैं। ये **देवी**=देदीप्यामान होते हुए **देवम्**=ज्ञान से दीप्त **वयोधसम्**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करनेवाले **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **अवर्द्धताम्**=बढ़ानेवाले हों। २. **बृहत्या छन्दसा**=(बृहि वृद्धौ) बढ़ने की प्रबल भावना के साथ **इन्द्रियम्**=वीर्य को **श्रोत्रम्**=श्रवणशक्ति को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **इन्द्रे**=जितेन्द्रिय पुरुष में **दधत्**=(दधत्यौ) धारण करते हुए ये दिन-रात **वसुवने**=धन के सेवन में **वसुधेयस्य**=धनों के आधारभूत उस प्रभु का **वीताम्**=प्रजनन करें, उस प्रभु की भावना को इस पुरुष के हृदय में विकसित करें। हे **होतः**=दानशील! तू **यज**=यज्ञशील बन और उस प्रभु से अपना मेल बढ़ा।

भावार्थ—'दिन-रात आगे बढ़ने की भावना' हमें उत्कर्ष की ओर ले-जाकर प्रभु के समीप प्राप्त करानेवाली होती है। हम अपने कानों से दिन-रात प्रभु की महिमा का श्रवण करें और वैसा ही बनने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**सरस्वती**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृच्छक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**।

पंक्ति छन्द

देवीऽऊर्जाहुती दुघे सुदुघे पयसेन्द्रं वयोधसं देवी देवमवर्द्धताम्।
पङ्क्त्या छन्दसेन्द्रियꣳशुक्रमिन्द्रे वयो दधद्वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज॥३९॥

१. **देवी**=ये दिव्य गुणयुक्त **ऊर्जाहुती**=अन्न व रस की आहुति देनेवाले, सब अन्न-रसों को प्राप्त करानेवाले **दुघे**=अन्न-रस के द्वारा हमारा पूरण करनेवाले **सुदुघे**=अन्न का उत्तमता से पूरण करनेवाले द्युलोक व पृथिवीलोक **पयसा**=अन्न आदि के द्वारा आप्यायन से (पयसा= अप्यायनेन) **इन्द्रं देवम्**=इस ज्ञानदीप्त जितेन्द्रिय पुरुष को **देवी**=सब अन्नों के देनेवाले होकर **अवर्द्धताम्**=बढ़ाते हैं। २. **पङ्क्त्या छन्दसा**=पाँचों इन्द्रियों व प्राणों को सुरक्षित करने की प्रबल कामना के साथ **इन्द्रियम्**=प्रत्येक इन्द्रिय के सामर्थ्य को **शुक्रम्**=वीर्य को तथा **वयः**= उत्कृष्ट जीवन को **इन्द्रे**=जितेन्द्रिय पुरुष में **दधत्**=धारण करती हुई **वसुवने**=धन के सेवन में **वसुधेयस्य**=धन के आधरभूत परमात्मा का **वीताम्**=प्रादुर्भाव करें, प्रभु-भावना को जागरित करें। ३. हे जीव! तू **यज**=यज्ञशील बन और उस प्रभु से अपना सम्पर्क स्थापित कर।

भावार्थ—द्यावापृथिवी से उत्तम अन्न-रस को प्राप्त करके हम अपनी पाँचों ज्ञानेन्द्रियों कर्मेन्द्रियों व पाँचों प्राणों को पुष्ट करते हुए संसार में आवश्यक धन का अर्जन करें और प्रभु का स्मरण करें।

ऋषिः—**सरस्वती**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**अतिजगती**। स्वरः—**निषादः**।

त्रिष्टुप् छन्द

देवा दैव्या होतारा देवमिन्द्रं वयोधसं देवौ देवमवर्द्धताम्।
त्रिष्टुभा छन्दसेन्द्रियं त्विषिमिन्द्रे वयो दधद्वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज॥४०॥

१. **देवाः**=दिव्य गुणों से युक्त **दैव्या होतारा**=प्राणापान (ऐ० २।४) **देवौ**=नीरोगता इत्यादि से दीप्ति को प्राप्त करानेवाले होकर **देवम्**=दिव्य गुणों को अपनानेवाले, **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय **वयोधसम्**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करनेवाले **देवम्**=दान की वृत्तिवाले पुरुष को **अवर्द्धताम्**=बढ़ाते हैं। ३. **त्रिष्टुभा छन्दसा**='काम, क्रोध, लोभ' तीनों को रोक देने की प्रबल भावना के साथ **इन्द्रे**=जितेन्द्रिय पुरुष में **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों के सामर्थ्य को **त्विषिम्**=दीप्ति को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधत्**=धारण करते हुए ये प्राणापान **वसुवने**=धन के सेवन में **वसुधेयस्य**=धन के आधारभूत प्रभु का **वीताम्**=प्रजनन व प्रादुर्भाव करें। इस व्यक्ति के हृदय में प्रभु के स्मरण की भावना बनी रहे और यह भावना उसे सदा धन में आसक्त होने से बचानेवाली हो। ४. हे प्राण साधना करनेवाले पुरुष! तू **यज**=उस प्रभु से अपना मेल बना। प्रभु ही तो तुझे काम, क्रोध व लोभ की विजय में समर्थ करेगा।

भावार्थ—हम प्राणसाधना के द्वारा कामादि वासनाओं पर विजय पाएँ और प्रभु-प्राप्ति के अधिकारी बनें।

ऋषिः—**सरस्वती**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिग्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

जगती छन्द

देवीस्तिस्रस्तिस्रो देवीर्वयोधसं पतिमिन्द्रमवर्द्धयन्।
जगत्या छन्दसेन्द्रियꣳ शूषमिन्द्रे वयो दधद्वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज॥४१॥

१. **देवीः तिस्रः**=दिव्य गुणोंवाली तीनों 'भारती, सरस्वती, इडा' **तिस्रः**=तीनों ही **देवीः**=जीवन को प्रकाशमय बनानेवाली हैं। भारती मस्तिष्क को उज्ज्वल करती है, तो सरस्वती वाणी को दीप्त करती है और इडा (=श्रद्धा) हृदय को जगमगा देती है। २. ये सब **पतिम्**=इन देवियों की अपने जीवन में रक्षा करनेवाले **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **अवर्द्धयन्**=बढ़ाती हैं। ३. **जगत्या छन्दसा**=गतिशीलता की प्रबल भावना के साथ अथवा जगती के हित की भावना से (जगतं छन्दः) **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों के सामर्थ्य को **शूषम्**=शत्रुओं के शोषक बल को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **इन्द्रे**=जितेन्द्रिय पुरुष में **दधत्**=(दधत्यौ) धारण करती हुई **वसुवने**=धन के सेवन में **वसुधेयस्य**=धन के आधारभूत प्रभु का विस्मरण न होने दें। ५. हे जीव! तू **यज**=यज्ञशील बनकर उस प्रभु से अपना मेल बना।

भावार्थ—हमारे जीवन में 'भारती, सरस्वती व इडा' एक विशेष दीप्ति को उत्पन्न करनेवाली हैं। ये हमें शत्रुओं के शोषक बल को प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**सरस्वती**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृदतिजगती**। स्वरः—**निषादः**।

विराट् छन्द

दे॒वो न॑रा॒शꣳसो॑ दे॒वमिन्द्रं॑ वयो॒धसं॑ दे॒वो दे॒वम॑वर्द्धयत्।
वि॒राजा॒ छन्द॑से॒न्द्रि॒यꣳरू॒पमिन्द्रे॒ वयो॒ दध॑द्वसु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य वेतु॒ यज॑ ॥४२॥

१. **देवः**=अपने ज्ञान से दीप्त तथा अग्नि आदि ऋषियों के हृदयों को ज्ञान से द्योतित करनेवाला **नराशंसः**=सब मनुष्यों से शंसनीय **देवः**=सब-कुछ देनेवाला वह प्रभु, **देवम्**=अपने को ज्ञानादि दिव्य गुणों से युक्त करनेवाले **वयोधसम्**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करनेवाले **देवम्**=दानादि गणुयुक्त **इन्द्रम्** =जितेन्द्रिय पुरुष को **अवर्द्धयत्**=बढ़ाता है। **विराजा छन्दसा**='मैं अपने जीवन को विशिष्ट रूप से दीप्त बनाऊँगा अथवा निश्चित रूप से व्यवस्थित (Regulated) करूँगा', इस भावना के द्वारा **इन्द्रियम्**=प्रत्येक इन्द्रिय के सामर्थ्य को **रूपम्**=सौन्दर्य को तथा **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **इन्द्रे**=जितेन्द्रिय पुरुष में **दधत्**=धारण करता हुआ प्रभु ऐसी कृपा करे कि **वसुवने**=धन के सेवन में भी **वसुधेयस्य**=धन के आधारभूत प्रभु का **वेतु**=यह जितेन्द्रिय पुरुष पान करे, प्रजनन करे, अपने हृदय में आविर्भाव करे। ३. हे जीव! तू **यज** =यज्ञशील बन और उस प्रभु से अपना मेल कर।

भावार्थ—हम अपने जीवन को दीप्त व व्यवस्थित बनाएँ, जिससे इस संसार में विचरते हुए भी इसमें उलझ न जाएँ और प्रभु को विस्मृत न करें।

ऋषिः—**सरस्वती**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृदतिजगती**। स्वरः—**निषादः**।

द्विपाद छन्द

दे॒वो व॒नस्पति॑र्दे॒वमिन्द्रं॑ वयो॒धसं॑ दे॒वो दे॒वम॑वर्द्धयत्।
द्विप॑दा॒ छन्द॑से॒न्द्रि॒यं भग॒मिन्द्रे॒ वयो॒ दध॑द्वसु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य वेतु॒ यज॑॥४३॥

१. **देवः**=दिव्य गुणों से युक्त **वनस्पतिः**=ज्ञान की किरणों का पति **देवः**=सब-कुछ देनेवाला प्रभु **देवम्**=दिव्य गुणों को अपनानेवाले **वयोधसम्**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करनेवाले **देवम्**=दानशील **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **अवर्द्धयत्**=बढ़ाता है। २. **द्विपदा छन्दसा**='न केवल ज्ञानमार्ग को, न केवल कर्ममार्ग को, अपितु ज्ञान व कर्म दोनों मार्गों को व्यवस्थितरूप से अपनाने की प्रबल भावना के साथ' **इन्द्रियम्**=प्रत्येक इन्द्रिय के सामर्थ्य को **भगम्**='ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान तथा वैराग्य' रूप छह-के-छह भगों को **वयः**=

उत्कृष्ट जीवन को **इन्द्रे**=जितेन्द्रिय पुरुष में **दधत्**=धारण करते हुए प्रभु ऐसी कृपा करें यह जितेन्द्रिय पुरुष **वसुवने**=धन के सेवन में भी **वसुधेयस्य**=धन के आधारभूत प्रभु का **वेतु**=अपने में प्रजनन व प्रादुर्भाव करे। ३. हे जीव! **यज**=तू यज्ञशील बन और प्रभु को अपने साथ मेल बना।

भावार्थ—हम अपने जीवनों में ज्ञानमार्ग व कर्ममार्ग को मिलाकर चलें, 'ज्ञानयोग व्यवस्थिति' ही दैवी संपत्ति का अंश है।

ऋषिः—**सरस्वती**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिगतिजगती**। स्वरः—**निषादः**।

ककुभा छन्द

देवं बर्हिर्वारितीनां देवमिन्द्रं वयोधसं देवं देवमवर्द्धयत्।
ककुभा छन्दसेन्द्रियं यशऽइन्द्रे वयो दधद्वसुवने वसुधेयस्य वेतु यज॥४४॥

१. **वारितीनाम्**=(वर=वरणीय प्रभु, इति गति) वरणीय प्रभु में गतिवालों का अर्थात्, प्रभु का ध्यान करनेवालों का जो **देवम्**=दिव्य गुणयुक्त **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय होता है, जोकि **देवम्**=दानादि की भावना से युक्त है, वह हृदय **देवम्**=दिव्य गुणयुक्त **वयोधसम्**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करनेवाले **देवम्**=दानशील **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **अवर्द्धयत्**=बढ़ाता है। २. **ककुभा छन्दसा**=शिखर पर पहुँचने की प्रबल भावना के साथ **इन्द्रियम्**=प्रत्येक इन्द्रिय के सामर्थ्य को **यशः**=यश को **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **इन्द्रे**=जितेन्द्रिय पुरुष में **दधत्**=धारण करता हुआ, यह वासनाशून्य हृदय **वसुवने**=धन के सेवन में भी **वसुधेयस्य** =धन के आधारभूत प्रभु का **वेतु**=अपने में प्रादुर्भाव करे, अर्थात् इसके हृदय में सदा प्रभु का स्मरण बना रहे। ३. **यज**=हे जीव! तू यज्ञशील बन और उस प्रभु के साथ अपना मेल बना।

भावार्थ—वासनाशून्य हृदय हममें शिखर तक पहुँचने की भावना को धारण कराये और यह भावना हमें प्रभु तक ले-जानेवाली हो।

ऋषिः—**सरस्वती**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**स्वराडतिजगती**। स्वरः—**निषादः**।

अतिच्छन्दसा छन्द

देवोऽअग्निः स्विष्टकृद्देवमिन्द्रं वयोधसं देवो देवमवर्द्धयत्।
अतिच्छन्दसा छन्दसेन्द्रियं क्षत्रमिन्द्रे वयो दधद्वसुवने वसुधेयस्य वेतु यज॥४५॥

१. **देवः**=दिव्य गुणयुक्त **अग्निः**=यज्ञ के अन्दर आहित किया गया अग्नि **स्विष्टकृत्**=उत्तम इष्टों को सिद्ध करनेवाला है। 'एष वोऽस्त्विष्टकामधुक्'=यह यज्ञाग्नि इष्टकामों को पूर्ण करनेवाला तो है ही। **देवः**=यह नीरोगता आदि देनेवाला है। यह अग्नि **देवम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **अवर्द्धयत्**=बढ़ाता है। २. **अतिच्छन्दसा छन्दसा**='मैं सब इच्छाओं से ऊपर उठ जाऊँ', इस इच्छा के साथ, अर्थात् सब लौकिक कामनाओं से ऊपर उठने की भावना के साथ **इन्द्रियम्**=सब इन्द्रियों के सामर्थ्य को **क्षत्रम्**=क्षतों से त्राण करनेवाले बल को, **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **इन्द्रे**=इस जितेन्द्रिय पुरुष में **दधत्**=धारण करने के हेतु से **वसुवने**=धन के सेवन में **वसुधेयस्य**=धन के आधारभूत परमात्मा का **वेतु**=पान करे, प्रभु की भावना को प्रादुर्भूत व जागरित करे। ३. हे जीव! तू **यज**=यज्ञशील बन और उस प्रभु के साथ अपना मेल बना। ४. इस मन्त्र के साथ अनुयाजप्रैष समाप्त होते हैं। ये मन्त्र निरन्तर प्रेरणा देते हैं कि संसार का कार्य करते हुए भी प्रभु को भूलो नहीं।

भावार्थ—यज्ञाग्नि हमारे सब इष्टों को पूर्ण करे। हम इन यज्ञों को भी अहंकार व

फलेच्छा से ऊपर उठकर करें (सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव) तभी तो हम प्रभु को प्राप्त करेंगे।

ऋषिः—**सरस्वती**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**आकृतिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

प्रभु-वरण (पुरोडाशपचन)

अग्निमद्य होतारमवृणीतायं यजमानः पचन् पक्तीः पचन् पुरोडाशं बध्नन्निन्द्राय वयोधसे छागम्। सूपस्थाऽअद्य देवो वनस्पतिरभवदिन्द्राय वयोधसे छागेन। अघत्तं मेदस्तः प्रतिपचताग्रभीदवीवृधत्पुरोडाशेन॥४६॥

१. **अयं यजमानः**=इस प्रयाजानुयाज मन्त्रों के प्रैषों, (प्रेरणाओं) के द्वारा प्रभु से मेल के शीलवाले पुरुष ने **अद्य**=आज **होतारम्**=सब-कुछ देनेवाले **अग्निम्**=उस अग्रेणी प्रभु को **अवृणीत**=वरा है। २. **पक्तीः**=पक्तव्य पदार्थों का **पचन्**=यह परिपाक करनेवाला बना है। इसने ब्रह्मचर्यपूर्वक शरीर की धातुओं का ठीक परिपाक किया है, आचार्यों के चरणों में बैठकर बुद्धि का भी यह ठीक परिपाक करनेवाला बना है। ३. **पुरोडाशं पचन्**=(आत्मा वै यजमानस्य पुरोडाशः) यह आत्मभाव का भी परिपाक करनेवाला हुआ है। इसने आत्मा की भावना को दृढ़ करने के लिए प्रयत्न किया है कि 'मैं आत्मा हूँ, यह शरीर नहीं हूँ'। ४. उस उत्कृष्ट जीवन को धारण करानेवाले **वयोधसे इन्द्राय**=परमैश्वर्यवाले प्रभु के लिए, अर्थात् उस प्रभु की प्राप्ति के लिए **छागं बध्नन्**=(छो छेदने) इसने निरन्तर वासनाओं के छेदन का प्रबन्ध किया है। वासनाओं को सदा अपने से दूर करनेवाला बना है। ५. इसी का परिणाम है कि **अद्य**=आज **देवः**=सब दिव्यताओं के पुञ्ज **वनस्पतिः**=ज्ञान की किरणों का स्वामी वह प्रभु इस **छागेन**=वासनाओं के छेदन-भेदन से **वयोधसे**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करनेवाले **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **सूपस्थाः**=सुगमता से उपस्थान के योग्य **अभवत्**=हुआ है। प्रभु वासनाशून्य है, मैं वासनाशून्य बनकर ही तो प्रभु का उपासक हो सकता हूँ। ६. जीव **पुरोडाशेन**=आत्मभाव की वृद्धि के द्वारा 'अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्' इन शब्दों के अनुसार नित्य अध्यात्म-चिन्तन से **तम् अघत्**=उस प्रभु का भक्षण=ग्रहण करता है। **मेदस्तः**=बड़े स्नेहभाव से **प्रतिपचत**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग की शक्ति का परिपाक करता है, **अग्रभीत्**=उस प्रभु का ग्रहण करता है और **अवीवृधत्**=आत्मचिन्तन से वृद्धि को प्राप्त करता है। इसके लिए सब प्राकृतिक भोग तुच्छ हो गये हैं। इसने उस 'रस' रूप प्रभु का रसास्वाद जो कर लिया है, अतः यह तो होना ही था।

भावार्थ—हम अपनी शक्तियों का ठीक से परिपाक करें, अपने को प्रभु-प्राप्ति के योग्य बनाएँ।

नोट—अगला अध्याय 'आप्री' संज्ञक मन्त्रों से प्रारम्भ होता है। इन मन्त्रों में भक्त अपने कर्मों से (आ सर्वथा प्री उस प्रभु को प्रीणत) करता है। ४४ बार उस प्रभु से अपने मेल का संकल्प करके उसने ऐसा करना ही था।

इत्यष्टाविंशोऽध्यायः॥

अथैकोनत्रिंशोऽध्यायः

—:०:—

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेव्यः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

ज्ञान

समिद्धोऽअञ्जन् कृदरं मतीनां घृतमग्ने मधुमत् पिन्वमानः।
वाजी वहन्वाजिनं जातवेदो देवानां वक्षि प्रियमा सधस्थम्॥१॥

१. प्रभुभक्त का पहला लक्षण यह है कि **समिद्धः**=वह ज्ञान से दीप्त होता है। जीवन का प्रथमाश्रम 'ब्रह्मचाश्रम' है, यह आश्रम ज्ञान के भक्षण का है। २. यह प्रभुभक्त **मतीनाम्**=विचारशीलताओं के **कृदरम्**=उदर को **अञ्जन्**=प्रकट करता है। इसके व्यवहार में सदा विचारशीला का आभास मिलता है। यह कोई भी काम नासमझी से नहीं करता। इसके कार्यों में कुशलता होती है। ३. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **मधुमत्**=मधु से युक्त **घृतम्**=घृत को **पिन्वमानः**=अपने में सींचनेवाला बनता है, अर्थात् 'मधु व घृत' आदि पदार्थों का सेवन करता है। ४. इन उत्तम पदार्थों का सेवन करता हुआ **वाजी**=तू शक्तिशाली बनता है और **वाजिनम्**=उस सर्वशक्तिमान् प्रभु को **वहन्**=अपने हृदय में धारण करता है। ५. प्रभु को हृदय में धारण करने से **जातवेदः**=आविर्भूत ज्योतिवाला होता है, अतः तुझमें ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है। ६. तू अपने को **देवानाम्**=देवों के **प्रियम्**=प्रिय **सधस्थम्**=मिलकर बैठने के स्थान को **आवक्षि**=सर्वथा प्राप्त कराता है, अर्थात् तू सदा ऐसे सत्संगों में उपस्थित होता है, जिनमें विद्वान् लोग एकत्र होकर प्रीतिपूर्वक ज्ञानचर्चा करते हैं।

भावार्थ—प्रभुभक्त के जीवन में ज्ञान का सर्वोपरि स्थान होता है। उसे यह पता है कि ज्ञानीभक्त ही प्रभु को आत्मतुल्य प्रिय है।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेव्यः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

देवों से सम्पर्क

घृतेनाञ्जन्त्सं पथो देवयानान् प्रजानन्वाज्यप्येतु देवान्।
अनु त्वा सप्ते प्रदिशः सचन्ताᳫं स्वधामस्मै यजमानाय धेहि॥२॥

१. गतमन्त्र के अनुसार एक प्रभुभक्त अपने जीवन को ज्ञानमय बनाने का प्रयत्न करता है। यह 'बृहदुक्थ' बनता है, खूब ही प्रभु का स्तवन करता है। 'वामदेव' अपने जीवन में **घृतेन**=मलों के क्षरण व ज्ञानदीप्ति से **देवयानान् पथः**=देवयान मार्गों को **समञ्जम्**=व्यक्त करता है, अर्थात् सदा देवयान मार्गों से चलता है। २. **प्रजानन्**=प्रकृष्ट ज्ञानवाला होता है और **वाजी**=शक्तिशाली व ज्ञानी **अपि**=होता हुआ भी **देवान्**=देवों को **एतु**=प्राप्त हो, अर्थात् ज्ञानी व शक्तिसम्पन्न बनकर भी देवों के संग को प्राप्त करता है। ४. हे **सप्ते**= (सपतिः परिचरणकर्मा—नि० ३.५) ज्ञानपूर्वक कार्यों से प्रभु की परिचर्या (उपासना) करनेवाले जीव! **प्रदिशः**=यह सब प्रकृष्ट दिशाएँ **त्वा**=तुझे **अनुसचन्ताम्**=अनुकूल होकर प्राप्त हों, अर्थात् तेरा इन दिशाओं में रहनेवाले किसी भी व्यक्ति से वैर-विरोध न हो। ५. **अस्मै**=इस **यजमानाय**=यज्ञशील संगतिकरणवाले विद्वान् के लिए (यज=संगतिकरण)

स्वधाम्=आत्मधारण के लिए आवश्यक अन्न को **धेहि**=तू धारण कर, अर्थात् तू विद्वान् अतिथियों का सत्कार करनेवाला बन। जहाँ विद्वान् अतिथियों का स्वागत होता है वहीं उनका आना-जाना बना रहता है। इन देवों के सम्पर्क से ही सत्कर्म बने रहते हैं, उन घरों में वैर-विरोध का प्रवेश नहीं होता।

भावार्थ—हम सन्मार्ग से चलनेवाले हों, देवों के सम्पर्क में आएँ, विद्वान् अतिथियों का सत्कार करनेवाले हों।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेवः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

ईड्य व वन्द्य

ईड्यश्चासि वन्द्यश्च वाजिन्नाशुश्चासि मेध्यश्च सप्ते।
अग्निष्ट्वा देवैर्वसुभिः सजोषाः प्रीतं वह्निं वहतु जातवेदाः॥३॥

१. हे बृहदुक्थ! तू देवयानमार्ग को अपनाकर अपने सुन्दर व्यवहार के कारण **ईड्यः च असि**=स्तुति के योग्य है, चारों ओर तेरा यश-ही-यश है। **वन्द्यः च**=जब लोग तुझे देखते हैं तो उनसे वन्दना के योग्य तू होता है। २. हे **वाजिन्**=शक्तिशाली! **सप्ते**=ज्ञानपूर्वक कर्मों से प्रभु का परिचरण करनेवाले! तू **आशुः च असि**=शीघ्रता से कर्मों में व्याप्त होनेवाला है और **मेध्यः च**=(मेध=यज्ञ) यज्ञात्मक उत्तम कर्मों को करनेवाला है। ३. **देवैः**=देवताओं के साथ, दिव्यवृत्तिवालों के साथ तथा **वसुभिः**=उत्तम निवासवालों के साथ **सजोषाः**=प्रीतियुक्त वह **अग्निः**=पावक प्रभु जो **जातवेदाः**=प्रत्येक पदार्थ को जाननेवाले हैं, वे **प्रीतम्**=सदा प्रसन्न रहनेवाले 'सन्तुष्टो येन केनचित्' तथा **वह्निम्**=अपने कर्त्तव्य का वहन करनेवाले **त्वा**=तुझको सिद्धि तक पहुँचानेवाले हों। २. मन्त्रार्थ से यह सुव्यक्त है कि प्रभु को वे व्यक्ति प्रिय हैं जो (क) देव बनते हैं, (ख) अपने निवास को उत्तम बनाते हैं, जिनके शरीर में रोग नहीं, मन में आधियाँ नहीं तथा मस्तिष्क में ज्ञान की दीप्तियाँ हैं, (ग) जो अपने कर्त्तव्य का वहन करते हैं (वह्नि), परन्तु फल की चिन्ता न करते हुए सदा सन्तुष्ट रहते है (प्रीतम्)। मन्त्रार्थ में यह बात भी स्पष्ट है कि मनुष्य अपना कर्म करता जाए, सिद्धि तो प्रभु **प्राप्त** कराते ही हैं (वहतु)।

भावार्थ—हम **अपने** उत्तम कर्मों से ईड्य व वन्द्य बनें। यज्ञात्मक उत्तम कर्मों में लगे रहें। देव, वसु, प्रीत (सन्तुष्ट) व वह्नि (कर्त्तव्य को करनेवाले) बनकर प्रभु के प्रिय हों।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेवः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

सुवित में स्थापन

स्तीर्णं बर्हिः सुष्टरीमा जुषाणोरु पृथु प्रथमानं पृथिव्याम्।
देवेभिर्युक्तमदितिः सजोषाः स्योनं कृण्वाना सुविते दधातु॥४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब हम प्रभु के प्रिय बनते हैं तब हमारा हृदय प्रभु की भावना से आच्छादित होने के कारण बड़ा सुरक्षित होता है। इस अमृत प्रभु से **स्तीर्णम्**=आच्छादित **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय को **आजुषाणा**=सब प्रकार से अपने कर्त्तव्य-कर्मों का प्रीतिपूर्वक सेवन करते हुए **सुष्टरीमा**=उत्तमता से आच्छादित करें। प्रभुस्मरण से हृदय सुरक्षित रहता है, परन्तु कर्त्तव्य-कर्मों का पालन करने से और अधिक सुरक्षित हो जाता है। २. इस **उरु पृथु**=खूब विशाल **पृथिव्यां प्रथमानम्**=विशालता के कारण पृथिवी में प्रख्यात होते हुए **देवेभिः युक्तम्**=दिव्य गुणों से युक्त हृदय को, **सजोषाः अदितिः**=इस बृहदुक्थ के साथ प्रीतिवाली

अदीना देवमाता **स्योनं कृण्वाना**=सुखमय करती हुई, **सुविते**=(सु इते) उत्तम आचरण में **दधातु**=स्थापित करें। ३. जब जीव हृदय को पवित्र बनाने का प्रयत्न करता है तब प्रभु उसके सहायक होते हैं, प्रभु ही 'अदिति' हैं, हममें दिव्य गुणों का निर्माण करनेवाले हैं। ये प्रभु हमारे जीवन को सुखमय बनाने के हेतु से हमारे हृदयों को सन्मार्ग में स्थित करते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे हृदयों को वासनाओं से सुरक्षित करके सन्मार्ग में स्थापित करें। प्रभुकृपा से हमारे हृदय विशाल हों, विशालता के कारण ही उनकी ख्याति हो।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेवः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

सुप्रायण द्वार

एताऽउ वः सुभगा विश्वरूपा वि पक्षोभिः श्रयमाणाऽउदातैः।
ऋष्वाः सतीः कवषः शुम्भमाना द्वारो देवीः सुप्रायणा भवन्तु ॥५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब हमारे हृदय सुरक्षित होते हैं, उनमें विशालता होती है और इस प्रकार जब ये वासनाशून्य बनते हैं तब हमारे सब इन्द्रियद्वार उत्तम होते हैं। प्रभु कहते हैं कि **वः**=तुम्हारे **एताः**=ये **द्वारः**=इन्द्रियद्वार **उ**=निश्चय से **भवन्तु**=हों। कैसे? (क) **सुभगाः**=उत्तम भगवाले। भग, अर्थात् 'ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान व अनासक्ति' रूप धर्मोंवाले हों। (ख) **विश्वरूपाः**=इस विश्व व संसार का बड़ी सुन्दरता से निरूपण करनेवाले हों। पाँच ज्ञानेन्द्रियों से इस पाञ्चभौतिक संसार का ठीक-ठीक ग्रहण होता ही है। (ग) **उद् आतैः**=उत्कृष्ट गमनों के द्वारा, अर्थात् कर्मेन्द्रियों से सदा उत्तम कर्म को करने के द्वारा **विपक्षोभिः**=ज्ञान, कर्म व उपासनारूप विविध (पक्ष परिग्रहे) परिग्रहों से **श्रयमाणाः**=आश्रय किये जाते हुए हों। कर्मों से ही ज्ञान व उपासना भी साध्य हैं। (घ) **ऋष्वाः सतीः**=उल्लिखित परिग्रहों से महान् बनते हुए ये द्वार **कवषः**=(कुशके, षोऽन्तकर्मणि) प्रभुनामोच्चारण से बुरी भावनाओं का अन्त करनेवाले हों। (ङ) बुरी भावनाओं के अन्त से **शुम्भमानाः**=सद्गुणों से सुशोभित होते हुए ये द्वार **देवीः**=दिव्य बनें और (च) **सुप्रायणाः**=उत्तम प्रकृष्ट गमनवाले हों, इनसे कभी कोई अवाञ्छनीय कर्म न हो।

भावार्थ—हमारे इन्द्रियद्वार उत्तम, प्रकृष्ट गमनवाले हों। प्रभुनामोच्चारण से बुराइयों को नष्ट करनेवाले होकर सुन्दर व दिव्य बनें।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेव्यः**। देवता—**मनुष्याः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

प्रातः-सायं (सुहिरण्य-सुशिल्प)

अन्तरा मित्रावरुणा चरन्ती मुखं यज्ञानामभि संविदाने।
उषासा वाꣳसुहिरण्ये सुशिल्पेऽऋतस्य योनाविह सादयामि॥६॥

१. प्रभु यजमान व यजमानपत्नी से कहते हैं कि गतमन्त्र के अनुसार जब तुम अपने इन्द्रियद्वारों को सुन्दर बनाते हो तो मैं **वाम्**=तुम दोनों के **उषासा**=उषाकालों को (द्विवचन के कारण यहाँ प्रातः व सायं की संध्या से अभिप्राय है) दोनों संध्याकालों को **इह**=इस जीवन में **ऋतस्य योनौ सादयामि**=यज्ञाग्नि के उत्पत्तिस्थान में स्थापित करता हूँ, अर्थात् तुम्हारे घरों में दोनों कालों में यज्ञ चलता रहे। प्रातः का यह अग्निहोत्र सायं तक और सायं का अग्निहोत्र प्रातः तक सौमनस्य का देनेवाला होता है। २. ये उषाकाल सदा **मित्रावरुणा अन्तरा चरन्ती**=स्नेह व द्वेषनिवारण में चलनेवाले होते हैं, अर्थात् तुम्हारा प्रातः-सायं यह

संकल्प होता है कि हम स्नेह करनेवाले होगें और द्वेष से दूर रहेंगे। ३. वे उषाकाल **यज्ञानाम्**=यज्ञों के **मुखम्**=प्रारम्भकाल का **अभिसंविदाने**=प्रतिपादन करनेवाले होते हैं। मानो ये कहते हैं कि 'अब उठो, यह अग्निहोत्र का समय है, इस समय उठकर अब यज्ञ की तैयारी करनी चाहिए'। ४. **सुहिरण्ये**=वे उषाकाल तुम्हारे लिए सुन्दर, हित व रमणीय हैं अथवा उत्तम ज्योतिवाले हैं 'हिरण्यं वै ज्योतिः'। ५. **सुशिल्पे**=उत्तम शिल्प क्रियावाले हैं, अर्थात् तुम इन समयों में सदा उत्तमता से कर्म करनेवाले होते हो। ६. 'ऋतस्य योनौ' की भावना यह भी है कि ऋत के उत्पत्तिस्थान प्रभु में स्थापित करता हूँ, अर्थात् तुम दोनों समय ध्यान करते हो।

भावार्थ—हमारे उषाःकाल स्नेह व निर्द्वेषता के संकल्पवाले हों, हम इनमें यज्ञों के करनेवाले हों, स्वाध्याय व उत्तम कर्मों से इन्हें सुन्दर बनाएँ और दोनों कालों में अपने को ऋत के उत्पत्तिस्थान प्रभु में स्थापित करने का प्रयत्न करें, अर्थात् दोनों समय ध्यान करें।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेव्यः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

कैसे बनें?

प्रथमा वांꣳसरथिना सुवर्णा देवौ पश्यन्तौ भुवनानि विश्वा।
अपिप्रयं चोदना वां मिमाना होतारा ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता ॥७॥

१. **वाम्**=तुम दोनों पति-पत्नी को जो (क) **प्रथमा**=अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाले हो और मनुष्यों में प्रथम श्रेणी में स्थित होते हो, (ख) **सरथिना**=मिलकर इस गृहस्थ की गाड़ी को खैंचनेवाले हो, (ग) **सुवर्णा**=स्वास्थ्य के कारण उत्तम वर्णवाले हो अथवा उत्तमता से प्रभु का वर्णन करनेवाले हो, (घ) **देवौ**=दिव्य गुणों से युक्त हो, देववृत्तिवाले हो, (ङ) **विश्वा भुवनानि पश्यन्तौ**=सब प्राणियों का ध्यान करते हो (Look after) अथवा सबसे प्रीतिवाले हो (कान्ति), केवल अपने ही पेट भरने के लिए नहीं जीते, (च) **वाम्**=इन तुम दोनों को जो **चोदना**=शास्त्रीय प्रेरणाओं को **मिमाना**=क्रियारूप में ला रहे हो। (छ) **होतारा**=सदा दानपूर्वक अदन करनेवाले हो, (ज) **प्रदिशा**=बड़े उत्कृष्ट मार्ग से **ज्योतिः**=ज्ञान को **दिशन्ता**=उपदिष्ट करते हो, अर्थात् किसी की हिंसा न करते हुए तुम सबके लिए उत्कृष्ट ज्ञान देते हो, (झ) इस प्रकार के बने तुम दोनों को **अपिप्रयम्**=मैं चाहता हूँ, अर्थात् प्रभु कहते हैं कि मेरी इच्छा है कि तुम ऐसे बनो।

भावार्थ—पति-पत्नी का प्रयत्न होना चाहिए कि वे 'प्रथम, सरथी, देव, सर्वपालक, वेद-प्रेरणानुसार क्रियाओं के कर्त्ता, होता तथा ज्ञानोपदेष्टा' बनें।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेव्यः**। देवता—**सरस्वती**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

आदित्य, रुद्र, वसु

आदित्यैर्नो भारती वष्टु यज्ञꣳसरस्वती सह रुद्रैर्नऽआवीत्।
इडोपहूता वसुभिः सजोषा यज्ञं नो देवीरमृतेषु धत्त॥८॥

१. **आदित्यैः**='आदित्य' विद्वानों के सम्पर्क से **नः**=हममें उत्पन्न हुई-हुई **भारती**=सूर्य के समान ज्ञान की दीप्ति **यज्ञं वष्टु**=यज्ञ की कामना करे, अर्थात् 'प्रकृति, जीव व परमात्मा' का ज्ञान प्राप्त करनेवाले 'आदित्य' विद्वानों के सम्पर्क से हमें ज्ञान प्राप्त हो और उस ज्ञान को प्राप्त करके हम यज्ञशील बनें। २. **रुद्रैः**='रुद्र' विद्वानों के **सह**=साथ रहने से उत्पन्न हुई-हुई **नः**=हमारी यह **सरस्वती**=प्रशस्त विज्ञानवाली वाणी **आवीत्**=रक्षा करे।

३६ वर्ष तक ज्ञान प्राप्त करनेवाले मध्यम श्रेणी के विद्वान् 'रुद्र' कहलाते हैं। इनके सम्पर्क से मनुष्य शिक्षित व सभ्य बनता है। यही 'सरस्वती' का विकास है। यह विकसित हुई-हुई सरस्वती हमें वासनाओं के आक्रमण से रक्षित करनेवाली हो। ३. **वसुभिः**='वसु' नामक प्रथम कक्षा के विद्वानों से **सजोषा**=प्रीतिपूर्वक सेवन की गई **उपहूता**=पुकारी गई **इडा**=यह वेदवाणी भी (अवतु) हमारी रक्षा करे। ४. इस प्रकार **देवीः**=(देव्यः) हे 'भारती-सरस्वती व इडा' नामक देवियो! **नः**=हममें से **अमृतेषु**=विषयों के पीछे न मरनेवाले व्यक्तियों में **यज्ञम्**=यज्ञ की भावना को धारण कीजिए, हमारे जीवन को यज्ञशील बनाइए।

भावार्थ—'प्रकृति, जीव, परमात्मा' का उच्च ज्ञान प्राप्त करनेवाले 'आदित्य' हैं। 'प्रकृति व जीव' का विशेष रूप से ज्ञान प्राप्त करनेवाले 'रुद्र' हैं। 'प्रकृति' का ज्ञान प्राप्त करनेवाले 'वसु' हैं। इनकी कृपा से हम में क्रमशः 'भारती, सरस्वती व इडा' का जन्म होता है। 'भारती' ज्ञान है। 'सरस्वती' शिक्षा व सभ्यता है। 'इडा' (A Law) जीवन का एक नियमहै। ये सबके सब हमें विषयों के पीछे न मरनेवाला=अमृत बनाते हैं। ये हमें यज्ञमय जीवनवाला बनाते हैं।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेव्यः**। देवता—**त्वष्टा**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

त्वष्टा

त्वष्टा वीरं देवकामं जजान त्वष्टुरर्वा जायतऽआशुरश्वः।
त्वष्टेदं विश्वं भुवनं जजान बहोः कर्तारमिह यक्षि होतः॥९॥

१. 'त्वष्टा' शब्द 'त्विषेर्वा स्याद् दीप्तिकर्मणः' त्विष धातु से बनकर ज्ञान से दीप्त आचार्य का वाचक है। 'त्वक्षेतेर्वा स्यात् करोति कर्मणः' त्वक्ष धातु से बनकर यह उत्तम विद्यार्थी का निर्माण करनेवाले आचार्य का वाचक है। यह **त्वष्टा**=ज्ञानदीप्त आचार्य **वीरम्**=वीरता से युक्त, वीर भावनावाले **देवकामम्**=देवताओं की कामनावाले शिष्य को **जजान**=द्वितीय जन्म देता है। माता-पिता से पैदा हुए-हुए इस विद्यार्थी को आचार्य वीर व दिव्यगुणों की कामनावाला बनाकर एक नया जन्म दे देता है। २. **त्वष्टुः**=इस विद्यार्थी के उत्तम जीवन का निर्माण करनेवाले आचार्य से **अर्वा**=काम, क्रोधादि वासनाओं का संहार करनेवाला, **आशुः**=शीघ्रता से कार्य करनेवाला **अश्वः**=सदा कर्मों में व्याप्त व्यक्ति **जायते**=उत्पन्न होता है, अर्थात् आचार्य विद्यार्थी को इस प्रकार की शिक्षा देता है कि वह वासनाओं को जीतनेवाला, कर्मव्याप्त जीवनवाला, आलस्यशून्य बनता है। ३. **त्वष्टा**=यह विद्यार्थी के जीवन का निर्माता आचार्य **इदं भुवनम्**=इस भूतग्राम को **विश्वम्**=(सर्वं) पूर्ण **जजान**=बनाता है, अर्थात् यह उसके शरीर को स्वस्थ व नीरोग, मन को निर्मल, वासनाशून्य तथा मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त बनाता है। शरीर से इसे 'वसु'=उत्तम निवासवाला, मन से 'रुद्र'=(रोरूयमाणो द्रवति) प्रभु नामोच्चारणपूर्वक वासनाओं पर आक्रमण करनेवाला तथा मस्तिष्क से 'आदित्य'=सब ज्ञानों का आदान करनेवाला बनाता है। इसके मस्तिष्क में 'भारती' का निवास कराता है, मन में 'सरस्वती' का तथा शरीर में 'इडा' का। इस प्रकार आचार्य अपने विद्यार्थियों के जीवन को पूर्ण बनाने का प्रयत्न करता है। ४. इस प्रकार **बहोः कर्तारम्**=(बह् to strengthen, to make firm) दृढ़ व सबल जीवन का निर्माण करनेवाले इस आचार्य को **इह**=इस ब्रह्मचर्याश्रम में हे **होतः**=आचार्य के प्रति अपना अर्पण करनेवाले विद्यार्थी! तू **यक्षि**=आदर देनेवाला बन।

भावार्थ—आचार्य विद्यार्थी को 'वीर, देवकाम, अर्वा, आशु, अश्व, विश्वं (पूर्ण) व बहु (दृढ़)' बनाये। विद्यार्थी आचार्य के प्रति सदा सम्मान की भावनावाला हो।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेव्यः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

अश्व

अश्वो घृतेन त्मन्या समक्तऽउप देवाँ२॥ऽऋतुशः पाथऽएतु।
वनस्पतिर्देवलोकं प्रजानन्नग्निना हव्या स्वदितानि वक्षत्॥१०॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब 'त्वष्टा' आचार्य विद्यार्थी के जीवन का निर्माण करता है तब यह **अश्वः** =सदा कर्मों में व्याप्त रहनेवाला व्यक्ति **त्मन्या**=स्वयं **घृतेन**=मलों के क्षरण से, मलों के दूरीकरण से तथा ज्ञान की दीप्ति से **समक्तः**=अलंकृत हो जाता है (घृ क्षरणदीप्तयोः) २. यह अश्व **ऋतुशः**=ऋतु के अनुसार **पाथे**=मार्ग पर चलता हुआ (पथ गतौ) **देवान्**=देवों के **उप एतु**=समीप प्राप्त होता है। इसका जीवन कर्मव्याप्त होता है, यह ऋतु के अनुसार बड़े नियमित जीवनवाला होता है और इसी कारण मनुष्यों से ऊपर उठता हुआ यह 'देव' बन जाता है। ३. यह **वनस्पतिः**=ज्ञानरश्मियों का स्वामी **देवलोकं प्रजानन्**=(हेतौ शतृ) देवलोक को जानने व अनुभव करने के हेतु से, देवलोक को प्राप्त करने के दृष्टिकोण से **अग्निना स्वदितानि**=अग्नि से स्वाद लिये गये **हव्या**=हव्य पदार्थों को ही **वक्षत्**=अपने को प्राप्त कराता है, अर्थात् पहले अग्निहोत्र आदि यज्ञों में यह हव्य पदार्थों को डालता है और यज्ञशेष का ही सेवन करता है। यह यज्ञशेष का सेवन इसे अमृतत्व प्राप्त करानेवाला होता है।

भावार्थ— कर्मव्याप्त जीव निर्मल व ज्ञानी बनता है। यह मार्ग पर चलता हुआ देवों के समीप पहुँचता है। देवलोक को प्राप्त करने की कामना से यज्ञशेष का सेवन करता है।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेव्यः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

तप द्वारा वर्धन

प्रजापतेस्तपसा वावृधानः सद्यो जातो दधिषे यज्ञमग्ने।
स्वाहाकृतेन हविषा पुरोगा याहि साध्या हविरदन्तु देवाः॥११॥

१. **प्रजापतेः**=प्रजापति के **तपसा**=तप से **वावृधानः**=निरन्तर बढ़ता हुआ, अर्थात् प्रजापति जैसे तप से सृष्टि का निर्माण करते हैं, इसी प्रकार तू भी तप से अपने जीवन का निर्माण करता है। २. तप से वृद्धि को प्राप्त करते हुए **अग्ने**=हे प्रगतिशील जीव! तू **सद्यः जातः**=शीघ्र ही आचार्यकुल से द्वितीय जन्म को प्राप्त करके **यज्ञं दधिषे**=यज्ञ को धारण करता है। गृहस्थ बनने पर तू पाँचों यज्ञों को करनेवाला बनता है। ३. प्रभु कहते हैं कि तू **स्वाहाकृतेन**=स्वार्थत्याग के द्वारा किये हुए इन यज्ञों से **हविषा** =दानपूर्वक अदन के द्वारा, यज्ञशेष के सेवन के द्वारा **पुरोगाः**=आगे और आगे जानेवाला होकर **याहि**=जीवनयात्रा में चल। ६. **साध्या देवाः**=(साधनात् नि० १२।४०)=साधना करनेवाले देव **हविः अदन्तु**=सदा हवि का ही सेवन करें। वस्तुतः देव की मूलसाधना है ही यही कि वे यज्ञशील होते हैं।

भावार्थ—अग्रगामी जीवन में तप है, यज्ञ है। सबसे बड़ी साधना त्याग ही है।

ऋषिः—**भार्गवो जमदग्निः**। देवता—**यजमानः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

अर्वा

यदक्रन्दः प्रथमं जायमानऽउद्यन्त्समुद्रादुत वा पुरीषात्।
श्येनस्य पक्षा हरिणस्य बाहूऽउपस्तुत्यं महि जातं तेऽअर्वन्॥१२॥

१. अब अध्याय के अन्त तक मन्त्र 'भार्गवजमदग्नि' के हैं। 'भृगु का अपत्य' भार्गव है, अपने ज्ञान को पूर्ण परिपाक करनेवाला (भ्रस्ज पाके)। जिसके वहाँ अग्नियाँ जीमती हैं, अग्नियों को हव्य पदार्थ प्राप्त होते हैं, वह 'जमदग्नि' है। यह निमयपूर्वक अग्निहोत्रादि करनेवाला है। यह **समुद्रात्**=ज्ञान के समुद्र आचार्य से ('तपोऽतिष्ठत् तप्यमानः समुद्रे'=तप करता हुआ आचार्य के समीप रहता है)। **उद्यन्**=उदय को प्राप्त होता हुआ **उत वा**=तथा **पुरीषात्**=(पृ पालनपूरणयोः) तीनों आश्रमियों का पालन व पूरण करनेवाले इस गृहस्थाश्रम से **उद्यन्**=उदय को प्राप्त करता हुआ **यत्**=जो **जायमानः**=प्रतिदिन निद्रा की समाप्ति पर आविर्भूत जीवनवाला होता हुआ, अर्थात् जागरितावस्था में आता हुआ **प्रथमम्**=सबसे पहले, किसी भी अन्य क्रिया को करने से पहले **अक्रन्दः**=प्रभु का आह्वान करता है (क्रदि आह्वाने) २. इसके **पक्षौ**=(पक्ष परिग्रहे)=ज्ञान व उपासनारूप पंख **श्येनस्य**=(श्यैङ् गतौ) बाज़ की भाँति गतिशील होते हैं, अर्थात् इसका ज्ञान इसे कर्म में प्रवृत्त करता है और यह कर्मों द्वारा ही प्रभु की उपासना करता है। ३. इसकी **बाहू**=बाहुएँ, भुजाएँ **हरिणस्य**=हरिण की भाँति दुःखों के हरण करनेवाले पुरुष की होती हैं, अर्थात् ये अपने प्रयत्नों से औरों के दुःख दूर करने में लगे रहते हैं। ४. हे **अर्वन्**=(अर्व to kill) प्रभु-स्मरण के द्वारा कर्मों में लगे रहने के द्वारा तथा लोकहित में प्रवृत्ति से वासनाओं के संहार करनेवाले जीव! **ते**=तेरा यह सब कर्म **महि उपस्तुत्यम्**=बड़ा स्तुति के योग्य **जातम्**=हो गया है, अर्थात् इस मार्ग पर चलने से तुझे यश-ही-यश मिला है।

भावार्थ—उठते ही हम प्रभु-स्तवन करें, आचार्य के समीप रहकर उन्नति को प्राप्त करें, गृहस्थ में सभी का पालन-पोषण करते हुए हम उन्नत हों। हमारा ज्ञान व उपासन हमें गतिशील बनाएँ। हमारे प्रयत्न औरों का दुःख हरण करने के लिए हों। इस प्रकार वासनाओं का संहार करने पर हमारा जीवन उत्तम होगा।

ऋषिः—**भार्गवो जमदग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

त्रित, इन्द्र, गन्धर्व तथा वसु

यमेन दत्तं त्रितऽएनमायुनगिन्द्रऽएणं प्रथमोऽअध्यतिष्ठत्।
गन्धर्वोऽअस्य रशनामगृभ्णात्सूरादश्वं वसवो निरतष्ट॥१३॥

१. **यमेन**=सृष्टि के नियामक प्रभु से **दत्तम्**=दिये हुए **एनं अश्वम्**=इस इन्द्रियरूप अश्व को **त्रितः** (त्रीन् तनोति)=ज्ञान, कर्म व उपासना का विस्तार करनेवाला यह त्रित **आयुनक्**=ज्ञान, कर्म व उपासना में लगाता है, अथवा इस शरीररूप रथ में जोतता है। वस्तुतः इन ज्ञानादि में लगे रहने पर ही यह इन्द्रियाश्व हमारे वशीभूत होता है, इसका हम नियमन कर पाते हैं। २. **प्रथमः**=अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाला **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **एणं अध्यतिष्ठत्**=इसपर अधिष्ठित होता है, इसको वशीभूत करता है। ३. **गन्धर्वः**=(गां वेदवाचं धारयतीति) वेदवाणी का धारक ज्ञानी पुरुष **अस्य**=इस इन्द्रियाश्व की **रशनाम्**=मनरूपी लगाम को **अगृभ्णात्**=ग्रहण करता है। मन को ज्ञानप्राप्ति में लगाये रखना ही वह उपाय है जिससे यह इन्द्रियाश्व हमारे वश में रहता है। ४. **सूरात्**=सूर्य से **अश्वम्**=इस इन्द्रियाश्व को **वसवः**=उत्तम निवासवाले लोग **निरतष्ट**=बनाते हैं। सूर्य जैसे निरन्तर चल रहा है उसी प्रकार निरन्तर गति के द्वारा इन इन्द्रियाश्वों का निर्माण होता है। क्रियाशून्यता से इनकी शक्ति क्षीण हो जाती है।

भावार्थ—त्रित इन्द्रियाश्वों को जोतता है, इन्द्र इसका अधिष्ठाता बनता है, गन्धर्व

इसकी लगाम पकड़ता है, वसु इसका निर्माण करते हैं। 'त्रित' इन अश्वों को 'ज्ञान, कर्म व उपासना' में लगाये रखता है। 'इन्द्र' जितेन्द्रिय इन्हें वश में करता है 'ज्ञान में लगा पुरुष' इनकी लगाम को थामता है और 'निवास को उत्तम बनानेवाले' क्रियाशीलता द्वारा इन्हें सशक्त बनाते हैं।

ऋषिः—**भार्गवो जमदग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

यम-आदित्य

असि यमोऽअस्यादित्योऽअर्वन्नसि त्रितो गुह्येन व्रतेन।
असि सोमेन समया विपृक्तऽआहुस्ते त्रीणि दिवि बन्धनानि ॥१४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार इन्द्रियाश्वों को संयत करनेवाले के लिए कहते हैं कि तू **यमः असि**=इन्द्रियाश्वों का नियमन करनेवाला है, इसीलिए **आदित्यः असि**=उत्तमताओं व ज्ञान का आदान करनेवाला है। २. **अर्वन्**=सब बुराइयों का संहार करनेवाले! तू **गुह्येन व्रतेन**=हृदयरूप गुहा से सम्बद्ध इस ब्रह्मचर्य के व्रत के द्वारा **त्रितः असि**='ऋग्, यजुः व साम' का विस्तार करनेवाला है, अथवा 'ज्ञान, कर्म व उपासना' को विस्तृत करता है, 'त्रीन् तरति' यह भी ठीक है कि तू काम, क्रोध व लोभ को तैर जाता है। ३. इस ब्रह्मचर्य व्रत के द्वारा तू **सोमेन**=सोमशक्ति से, वीर्यशक्ति से **समया**=समीपता से **विपृक्तः असि**=विशेषरूप से सम्बद्ध होता है, अर्थात् ब्रह्मचर्य का धारण करके तू शरीर में वीर्य को सुरक्षित करनेवाला बनता है। ५. इस सोम के सुरक्षित होने के कारण **ते**=तेरे **दिवि**=मस्तिष्करूप द्युलोक में **त्रीणि बन्धनानि**='ऋग्, यजुः, साम' रूप तीन बन्धनों को **आहुः**=कहते हैं, अर्थात् सोम को मस्तिष्क की ज्ञानाग्नि का ईंधन बनाने पर तेरे मस्तिष्क में ऋग्, यजुः व साम का प्रकाश होता है।

भावार्थ—हम इन्द्रियों का नियमन करते हैं तो ज्ञान को ग्रहण करनेवाले आदित्य बनते हैं। ब्रह्मचर्य व्रत के द्वारा हम सोम को सुरक्षित करते हैं और मस्तिष्क में 'ऋग्, यजुः व साम' को बाँधनेवाले होते है, अर्थात् इनके ज्ञान को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**भार्गवो जमदग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

नौ व्रत अथवा परम जनित्र

त्रीणि तऽआहुर्दिवि बन्धनानि त्रीण्यप्सु त्रीण्यन्तः समुद्रे।
उतेव मे वरुणश्छन्त्स्यर्वन्यत्रा तऽआहुः परमं जनित्रम् ॥१५॥

१. हे भार्गव जमदग्ने! **ते दिवि**=तेरे मस्तिष्करूप द्युलोक में **त्रीणि बन्धननि**=तीन बन्धन हैं, अर्थात् तू मस्तिष्क के विषय में तीन व्रतों में अपने को बाँधता है, (क) ऋग्वेद के द्वारा मैं प्रकृति का विज्ञान प्राप्त करूँगा, (ख) यजुर्वेद द्वारा मैं जीवन के कर्त्तव्यों का ज्ञान प्राप्त करूँगा और (ग) सामवेद के द्वारा मैं उपास्य प्रभु से परिचित होने का प्रयत्न करूँगा। २. **त्रीणि अप्सु** (आपोमयाः प्राणाः) प्राणों के विषय में तेरे तीन बन्धन हैं। ये तीन बन्धन ही 'प्राण अपान, व्यान' अथवा 'भूः, भुवः, स्वः' या 'स्वास्थ्य, ज्ञान व जितेन्द्रियता' इन शब्दों से व्यक्त होते हैं। तू प्राणसाधना करके स्वस्थ बनता है, ज्ञानी बनता है, जितेन्द्रिय होने का प्रयत्न करता है। ३. **अन्तः समुद्रे**=(समुद्रम् अन्तरिक्षम्) इस अन्दर के समुद्र, अर्थात् सदा मोद व प्रसन्नता के साथ रहनेवाले (स+मुद्) हृदयान्तरिक्ष में **त्रीणि**=तेरे तीन बन्धन हैं। तेरा यह व्रत है कि (क) मैं इस हृदय को कामवासना से

आक्रान्त न होने दूँगा। (ख) मैं इसे क्रोधाभिभूत न होने दूँगा तथा (ग) मैं इसे लोभाविष्ट भी नहीं होने दूँगा। ४. **उत इव**=(=अपि च) और इस प्रकार **वरुणः**=श्रेष्ठ (वरुणो नाम वरः श्रेष्ठः) बनकर तू **मे**=मेरी **छन्त्सि**=(छन्दतिरर्चतिकर्मा) अर्चना व पूजा करता है। यह तेरा नौ व्रतों के बन्धन में अपने को बाँधना ही तेरी उपासना हो जाती है। यही वस्तुतः 'नवधा' भक्ति है। ५. हे **अर्वन्**=सब वासनाओं का संहार करनेवाले जीव! ये बन्धन ही वे बाते हैं **यत्र**=जहाँ **ते**=तेरे **परमं जनित्रम्**=सर्वोत्कृष्ट विकास को **आहुः**=कहते हैं, अर्थात् ये व्रत का जीवन ही तुझे सर्वोत्कृष्ट विकास तक पहुँचाएगा।

भावार्थ—मनुष्य को मन्त्रवर्णित नौ व्रत धारण करने चाहिएँ। इन्हीं को प्रभु की उपासना समझना चाहिए। ये व्रत ही उसके जीवन का परम विकास करनेवाले होंगे।

ऋषिः—**भार्गवो जमदग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

व्रतों के लाभ

इमा ते वाजिन्नवमार्जनानीमा शफानांᳬसनितुर्निधाना।
अत्रा ते भद्रा रशनाऽअपश्यमृतस्य याऽअभिरक्षन्ति गोपाः॥१६॥

१. गतमन्त्र में वर्णित व्रत मनुष्य को शक्तिशाली बनाते हैं, अतः उस व्रती का सम्बोधन ही 'वाजिन्' शब्द से करते हैं। हे **वाजिन्**=शक्तिशालिन्! **इमा**=ये व्रत ही **ते**=तेरे **अवमार्जनानि**=पापों का शोधन करनेवाले हो जाते हैं। व्रतों से जीवन पवित्र होता है। २. **इमा**=ये व्रत **सनितुः**=संविभागपूर्वक अन्नादि का सेवन करनेवाले व्रती पुरुष के जीवन में **शफानाम्**=(शम्)=शान्ति के **निधाना**=स्थापित करनेवाले होते हैं। व्रती पुरुष संविभागपूर्वक खाने को अपना महान् व्रत समझता है। यह संविभागपूर्वक खाना ही शान्ति का कारण बनता है। संसार के अन्दर 'परिग्रह'=सब-कुछ अपने लिए जुटाने की प्रवृत्ति ही संघर्षों व अशान्तियों का कारण है। ३. **अत्र**=यहाँ-इस व्रती जीवन में ही **ते**=तेरी **भद्रा**=कल्याणकर **रशना**=मेखला को **अपश्यम्**=देखता हूँ। रशना वा मेखला शब्द दृढ़ निश्चय के प्रतीक हैं। **याः**=जो मेखलाएँ व दृढ़ निश्चय **ऋतस्य अभिरक्षन्ति**=ऋत का रक्षण करते हैं। दृढ़ निश्चय होने पर मनुष्य ऋत से गिरता नहीं। **गोपाः**=ये निश्चय ही इन्द्रियों का रक्षण करते हैं। विषय इतने सुन्दर व आकर्षक हैं कि ये इन्द्रियों को अपनी ओर आकृष्ट कर ही लेते हैं। बड़ा दृढ़ निश्चय होने पर ही मनुष्य अपने को विषयपङ्क में डूबने से रोक पाता है।

भावार्थ—व्रत हमें पवित्र बनाते हैं, ये हमारी शान्ति के निधान हैं। इन व्रतों में किये हुए दृढ़ निश्चय हममें ऋत का रक्षण करते हैं और इन्द्रियों को सुरक्षित करते हैं।

ऋषिः—**भार्गवो जमदग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

सूर्यद्वार से प्रभु की प्राप्ति

आत्मानं ते मनसारादजानामवो दिवा पतयन्तं पतङ्गम्।
शिरोऽअपश्यं पथिभिः सुगेभिररेणुभिर्जेहमानं पतत्रि॥१७॥

१. प्रभु गतमन्त्र के 'व्रती' अतएव 'वाजी' पुरुष से कहते हैं कि **ते मनसा**=तेरी मननशीलता के द्वारा **आत्मानम्**=आत्मा को **आरात् अजानाम्**=समीप ही जानता हूँ, अर्थात् मैं ऐसा देखता हूँ कि मननशीलता के द्वारा तू मेरे समीप पहुँचता जाता है। २. **अवः**=(अवस्तात्) इस निचले प्रदेश से **दिवा**=आकाश में **पतंगं पतयन्तम्** (अजानाम्)=सूर्य की ओर जाते हुए तुझे जानता हूँ। देवयान-मार्ग से जानेवाले व्यक्ति सूर्यद्वार से ही उस

अव्ययात्मा अमृतपुरुष को प्राप्त किया करते हैं। **'सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः पुरुषो ह्यव्ययात्मा'**। ३. मैं **पतत्रि**=निरन्तर सूर्य की ओर चलनेवाले **शिरः**=तेरे इस मस्तिष्क को **अरेणुभिः**=रजोविकार से रहित, रजोगुण से ऊपर उठे हुए **सुगेभिः**=सरल व सात्त्विक **पथिभिः**=मार्गों से **जेहमानम्**=गति करते हुए को **अपश्यम्**=देखता हूँ, अर्थात् तू मस्तिष्क में निरन्तर ऊपर उठने की भावना को धारण करता है, तू रजोगुण से ऊपर उठकर सात्त्विक मार्गों का आक्रमण करता है और इसी का परिणाम है कि तू सूर्यद्वार से मेरे समीप पहुँच रहा है। सबसे निचला लोक असुर्यलोक है, उससे ऊपर मर्त्यलोक, उससे ऊपर पितृयाण मार्ग से प्राप्त होनेवाला चन्द्रलोक और फिर देवयान से प्राप्त सूर्यलोक और अन्त में ब्रह्मलोक। एक व्रती पुरुष निरन्तर ऊपर उठता चलता है और ऊँचा-और-ऊँचा उठता हुआ प्रभु को प्राप्त करता है।

भावार्थ—प्रभु व्रतीपुरुष के समीप होते हैं, यह व्रतीपुरुष सूर्यमार्ग से प्रभु को प्राप्त करता है, यह रजोगुण से ऊपर उठता हुआ, सात्त्विक मार्ग से चलता हुआ शिखर पर पहुँचता है।

ऋषिः—**भार्गवो जमदग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

प्रभुरूप दर्शन

अत्रा ते रूपमुत्तममपश्यं जिगीषमाणमिषऽआ पदे गोः।
यदा ते मर्त्तोऽअनु भोगमानडादिद् ग्रसिष्ठऽओषधीरजीगः॥१८॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब मैं रजोगुण से ऊपर उठकर सात्त्विक मार्ग पर चलता हूँ तब **अत्र**=यहाँ **ते**=तेरे **उत्तमम् रूपम्**=सर्वोत्तम सच्चिदानन्दरूप को **अपश्यम्**=देखता हूँ। जो तेरा रूप **जिगीषमाणम्**=मेरी सब वासनाओं को जीतने की कामना करता है, अर्थात् आपके रूपदर्शन से ही मेरी सब वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं। २. आपके दर्शन से मैं **गोः पदे**=इस वेदवाणी के पद में दिव्य प्रेरणाओं को **अपश्यम्**=अपने सारे जीवन के लिए देखता हूँ। मुझे इन वेदवाणियों से सुन्दर प्रेरणाएँ प्राप्त होती हैं। ३. इन प्रेरणाएँ को सुननेवाला **ते मर्तः**=आपका यह मनुष्य **यत्**=जब **अनु**=यज्ञ के बाद **भोगम् आनट्**=भोग को व्याप्त करता है, अर्थात् यज्ञशेष का सेवन करता है, **'त्यक्तेन भुञ्जीथाः'** इन शब्दों के अनुसार त्यागपूर्वक उपभोग में प्रवृत्त होता है **आत् इत्**=तभी सचमुच यह **ग्रसिष्ठः**=सर्वोत्तम भक्षण करनेवाला होता है। अकेला खानेवाला तो निकृष्ट भोगी है। ४. यह उत्तम भोक्ता **ओषधीः अजीगः**=ओषधियों का ही निगरण करता है। यह कभी भी मांसभोजन में प्रवृत्त नहीं होता।

भावार्थ—सात्त्विक मार्ग पर चलने से प्रभु का दर्शन होता है, क्रोधादि को हम जीत पाते हैं, वेदवाणी से प्रतिपादित मार्ग पर चलते हैं, यज्ञशेष का सेवन करते हैं, ओषधि-वनस्पतियों को अपनाते हैं।

ऋषिः—**भार्गवो जमदग्निः**। देवता—**मनुष्यः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

सर्वानुकूलता

अनु त्वा रथोऽअनु मर्योऽअर्वन्ननु गावोऽनु भर्गः कनीनाम्।
अनु व्रातासस्तव सख्यमीयुरनु देवा ममिरे वीर्यं ते॥१९॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब हम प्रभु के उत्तम रूप को देखते हैं और ओषधि-वनस्पतियों

का ही सेवन करते हैं तब प्रभु कहते हैं कि **रथः त्वा अनु**=यह शरीररूप रथ तेरे अनुकूल होता है, **मर्यः अनु**=सामान्य मनुष्य तेरे अनुकूल होते हैं। २. हे **अर्वन्**=बुराइयों का संहार करनेवाले विद्वन्! **गावः अनु**=सब इन्द्रियाँ तेरे अनुकूल होती है, अथवा गौएँ तेरे अनुकूल होती है, तुझे स्वास्थ्यप्रद दूध देनेवाली होती है। **कनीनाम् भगः अनु**=कन्याओं का सौभाग्य तेरे अनुकूल होता है, अर्थात् तेरी पुत्रियाँ व पुत्रवधुएँ तेरे घर के सौभाग्य को बढ़ानेवाली होती हैं। तेरी पुत्रियाँ जहाँ भी जाती हैं वे तेरे घर की कीर्ति का कारण बनती हैं और तेरे घर में आई कन्याएँ भी तेरे घर की शोभा का कारण बनती हैं। ३. **व्रातासः**=मनुष्यों के गण व समाज **अनु**=तेरे अनुकूल होते हैं और ये सब **तव सख्यम् ईयुः**=तेरी मित्रता को प्राप्त करते है। ५. **देवाः**=सूर्यादि सब प्राकृतिक देव भी **अनु**=तेरे अनुकूल होते हैं और **ते वीर्यं ममिरे**=तेरी शक्ति का निर्माण करते हैं। यह पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश आदि सब प्राकृतिक दिव्य शक्तियाँ तेरे अनुकूल होकर तुझे सशक्त बनाती हैं।

भावार्थ—गतमन्त्र के अनुसार जीवन बनाने पर हमें सारे संसार की अनुकूलता प्राप्त होती है।

ऋषिः—**भार्गवो जमदग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

हिरण्यशृंग अयः पाद

हिर॑ण्यशृङ्गो॒ऽयो॑ऽअस्य॒ पादा॒ मनो॑जवा॒ऽअव॑र॒ऽइन्द्र॑ऽआसीत्।
दे॒वाऽइद॑स्य हवि॒रद्य॑माय॒न्योऽअर्व॑न्तं प्रथ॒मोऽअ॒ध्यति॑ष्ठत्॥२०॥

१. **यः**=जो **प्रथमः**=अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाला **अर्वन्तम् अध्यतिष्ठत्**=इन इन्द्रियाश्वों पर अधिष्ठित होता है, अर्थात् इन इन्द्रियरूप अश्वों को अपने वश में करता है, वह पुरुष **हिरण्यशृंगः**=(हिरण्यवत् शृंगं दीप्तिर्यस्य, शृंगमिति ज्वलन्नामसु पठितम्) स्वर्ण के समान देदीप्यमान ज्ञानवाला होता है अथवा इसका शृंग—शिखर, अर्थात् मस्तिष्क ज्ञानज्योति से चमकता है और **अस्य पादाः**=इसके पैर **अयः**=लोहा होते हैं—लोहे की भाँति सुदृढ़ इसकी टाँगे होती है, मस्तिष्क में ज्ञान और पाँवों में चलने की शक्ति। २. यह **अवरः इन्द्रः**=उस महेन्द्र प्रभु का छोटा भाई उपेन्द्र (अवर इन्द्र) जीव **मनोजवा आसीत्**=मन में वेगवाला होता है, अर्थात् इसका मन बड़ा ठीक कार्य करनेवाला होता है। ३. **देवाः**=ज्ञानी—विद्वान् लोग **इत्**=निश्चय से **अस्य** इसके **अद्यम् हविः**=खाने योग्य हव्य पदार्थ को **आयन्**=प्राप्त होते हैं। इसके गृह पर आतिथिरूपेण आकर इसके आतिथ्य को स्वीकार करते हैं और सात्त्विक भोजन का सेवन करते हैं। वस्तुतः इनके निरन्तर सम्पर्क में बने रहने के कारण ही यह 'हिरण्यशृंग, अयः पाद, मनोजवाः' बन पाता है।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनें। जितेन्द्रिय बनकर हम ज्योतिर्मय मस्तिष्कवाले, सुदृढ़ पाँववाले, कार्यपटु मनवाले तथा देवों का आतिथ्य करनेवाले बनें।

ऋषिः—**भार्गवो जमदग्निः**। देवता—**मनुष्याः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

ईर्मान्त सिलिकमध्यम

ईर्मा॑न्तासः॒ सिलि॑कमध्यमासः॒ सꣳशूर॑णासो दि॒व्यासो॒ऽअत्याः॑।
ह॒ꣳसाऽइ॑व श्रेणि॒शो य॑तन्ते॒ यदाक्षि॑षुर्दि॒व्यमज्म॒मश्वाः॑॥२१॥

१. **ईर्मान्तासः**=(ईर्यते ईर्मः प्रेरितः अन्तः येषां ते) जिनके प्रान्तभाग प्रकृष्ट गतिवाले हैं। गतमन्त्र में 'हिरण्यशृंगः अयः पादाः' इन शब्दों में मस्तिष्क की उज्ज्वलता व

पाँवों की सुदृढ़ता का उल्लेख हुआ था। वही यहाँ 'ईर्मान्तासः' शब्द के द्वारा प्रकट किया गया है। इनका उज्ज्वल मस्तिष्क सब विषयों के समझने में खूब गतिशील है तो इनके पाँव सुदृढ़ हैं। २. **सिलिकमध्यमासः**=(सिलिकः श्लिष्टः संलग्नो मध्यमो येषां ते कृशोदराः) इनका उदर पीठ से लगा हुआ है, अर्थात् ये कृश उदरवाले हैं। 'मस्तिष्क मज़बूत, पाँव प्रबल, पर पेट पतला' यह है इन वीर पुरुषों का चित्रण। ३. **शूरणासः**=(शू शीघ्रं रणः युद्धविजयो येषां) शीघ्रता से युद्ध में विजय प्राप्त करनेवाले और अध्यात्म-विजय प्राप्त करके **दिव्यासः**=(दिवि भवाः) सदा प्रकाश में निवास करनेवाले **अत्याः**=सतत गतिशील ये होते हैं। ४. और **हंसा इव श्रेणिशः** =जैसे हंस पंक्ति में इकट्ठे उड़ते हैं, इसी प्रकार ये लोग भी **श्रेणिशः**=श्रेणियाँ बनाकर, **संयतन्ते**=मिलकर धनार्जन का प्रयत्न करते हैं। इसका यह परिणाम स्वाभाविक है कि धन का समाज में बहुत विषम विभाग नहीं हो पाता। ५. इस विषम विभाग के न होने से अतिधनी होकर ये धन व विषयों में डूब नहीं जाते और अति दरिद्र होकर भूखे नहीं मर जाते। इस प्रकार **अश्वाः**=शक्तिशाली बने हुए ये पुरुष **दिव्यम् अज्मम्**=सुन्दर दिव्य गुणों के पनपाने के कारणभूत मार्ग को **आक्षिषुः**=व्याप्त करते हैं, अर्थात् सदा उस मार्ग पर आगे बढ़ते जाते हैं, जो उनके जीवन को दिव्य बनाता है।

भावार्थ—हम प्रबल मस्तिष्क व पाँववाले हों, कृशोदर हों, युद्ध में शीघ्र विजयी; दिव्य व गतिशील बनें। हंसों की भाँति मिलकर सहकारी समितियों के रूप में काम करें और इस प्रकार शक्तिशाली बनकर दिव्य मार्ग का आक्रमण करें।

ऋषिः—**भार्गवो जमदग्निः**। देवता—**वायवः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

पतयिष्णु-ध्रजीमान्

तव शरीरं पतयिष्णवर्वन्तव चित्तं वातऽइव ध्रजीमान्।
तव शृङ्गाणि विष्ठिता पुरुत्रारण्येषु जर्भुराणा चरन्ति ॥२२॥

१. हे **अर्वन्**=वासनाओं का संहार करनेवाले जीव! **तव शरीरम्**=तेरा यह शरीर **पतयिष्णु**=गति के स्वभाववाला हो, अर्थात् क्रिया तेरे अङ्ग-प्रत्यङ्ग का स्वभाव बन जाए। तू सब अङ्गों से गतिशील बन। २. **तव चित्तम्**=तेरा चित्त **वात इव**=वायु की भाँति **ध्रजीमान्**=गति व वेगवाला है। यह सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विषय के प्रति जानेवाला है। तेरा चित्त कभी शिथिल नहीं होता। ३. **तव शृङ्गाणि**=तेरी ज्ञान दीप्तियाँ (शृङ्गम् इति ज्वलतो नामधेयम्) **पुरुत्रा**=विद्युत्, चन्द्र, सूर्य, अग्नि आदि अनेक विषयों में **विष्ठिता**=विशेषरूप से स्थित हैं, अर्थात् तेरा ज्ञान व्यापक है। ४. यह तेरा शरीर, यह तेरा चित्त तथा ये तेरा ज्ञान **अरण्येषु**=एकान्त स्थानों में, उस प्रभु के ध्यान के द्वारा **जर्भुराणा**=(जर्भुराणानि) देदीप्यमान व (जृम्भ विकसने) विकसित होकर **चरन्ति**=अपना-अपना कार्य करते हैं।

भावार्थ— प्रभु के उपासन से शरीर की गतिशीलता, चित्त की विज्ञान-कुशलता व ज्ञानदीप्तियों की विविधता विकसित होती है।

ऋषिः—**भार्गवो जमदग्निः**। देवता—**मनुष्याः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

'कवि व रेभ'—प्रभु-स्मरणपूर्वक कार्य

उप प्रागाच्छसनं वाज्यर्वा देवद्रीचा मनसा दीध्यानः।
अजः पुरो नीयते नाभिरस्यानु पश्चात्कवयो यन्ति रेभाः॥२३॥

१. **वाजी**=गतमन्त्र में वर्णित अरण्य प्रदेशों में उपासना के द्वारा शक्तिशाली बना

हुआ यह पुरुष **शसनम्**=वासनाओं के संहार को **उपप्रागात्**=समीपता से सम्यक्तया प्राप्त करता है। वस्तुतः शक्ति के साथ ही गुणों का वास होता है और निर्बलता में वासनाएँ पनपती हैं। २. शक्तिशाली बनकर **अर्वा**=वासनाओं का संहार करनेवाला यह 'भार्गव' **देवद्रीचा**=(देवान् अञ्चति) दिव्य गुणों व दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु के प्रति जानेवाले **मनसा**=मन से **दीध्यानः**=देदीप्यमान होता है। ३. इसके द्वारा अपने प्रत्येक कर्म में **अजः**=(अज गतिक्षेपणयोः) गति के द्वारा सब बुराइयों का संहार करनेवाला प्रभु **पुरः**=आगे **नीयते**=प्राप्त कराया जाता है, अर्थात् यह प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ में प्रभु का स्मरण करता है। ४. यह प्रभु ही **अस्य**=इस भार्गव के जीवन का **नाभिः**=केन्द्र होता है, अर्थात् यह अपने जीवन में प्रभु को केन्द्र बनाकर चलता है। ५. **पश्चात्**=पीछे, अर्थात् प्रभु स्मरण के बाद **कवयः**=क्रान्तदर्शी, तत्त्वज्ञानी **रेभाः**=स्तोता लोग **अनुयन्ति**=अनुकूलता से चलते हैं, अर्थात् लोगों के अविरोध से जीवनयापन करते हैं। ये किन्हीं भी लोकविद्विष्ट कार्यों को नहीं करते।

भावार्थ—शक्तिशाली बनकर हम वासनाओं का संहार करें। प्रभु में मन लगाकर हम देदीप्यमान जीवनवाले हों। प्रत्येक कार्य को प्रभु-स्मरण से प्रारम्भ करें। प्रभु ही हमारा केन्द्र हो। हम ज्ञानी स्तोता बनकर अनुकूलता से कार्यों को करनेवाले बनें।

ऋषिः—**भार्गवो जमदग्निः**। देवता—**मनुष्याः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

ब्रह्मनिष्ठता का मार्ग

उप प्रागात्परमं यत्सधस्थमर्वाँ२॥ऽअच्छा पितरं मातरं च।
अद्या देवाञ्जुष्टतमो हि गम्याऽअथा शास्ते दाशुषे वार्याणि॥२४॥

१. **अर्वान्**=(नलोपाभावश्छान्दसः, अर्वा) वासनाओं का संहार करनेवाला यह व्यक्ति उस स्थान को **उपप्रागात्**=प्राप्त हुआ है **यत्**=जो **परमं**=सर्वोत्कृष्ट **सधस्थम्**=परमात्मा व आत्मा का 'महेन्द्र व उपेन्द्र का' एकत्र स्थित होने का स्थान है। इसे ही मोक्षलोक कहते हैं, इसमें उपनिषद् के 'सह ब्रह्मणा विपश्चिता' शब्दों के अनुसार यह मुक्तात्मा ब्रह्म के साथ विचरता है। यह पुरुष ब्रह्मनिष्ठ होकर सब कार्यों को किया करता है। २. यह अपने जीवन के प्राम्भ में **मातरम् पितरम् च अच्छ**=माता और पिता की ओर **गम्याः**=जाता है। माता के शिक्षणालय में सच्चरित्र बनकर, पिता के शिक्षणालय में सदाचार का शिक्षण प्राप्त करता है। ३. और **अद्य**=आज सच्चरित्र, सदाचारी बनकर **जुष्टतमः**=प्रीततम होता हुआ, अर्थात् प्रसन्न मन से ज्ञान-प्राप्ति की प्रबल कामनावाला होता हुआ **हि**=निश्चय से **देवान्**=ज्ञानी विद्वानों को **गम्याः**=प्राप्त होता है। इनके समीप रहकर ही तो यह विविध विद्याओं का अध्ययन करेगा। ४. अब यह आचार्य भी—इन विज्ञानी विद्वानों में से प्रत्येक विद्वान् **दाशुषे**=इस आत्मसमर्पण करनेवाले विद्यार्थी के लिए **वार्याणि**=वरणीय ज्ञानों को **आशास्ते**=चाहता है। आचार्य का प्रयत्न होता है कि वह इस जुष्टतम विद्यार्थी को ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञान प्राप्त करानेवाला हो सके।

भावार्थ—वासनाओं के विनाश से हम प्रभु के समीप पहुँचते हैं। यहाँ पहुँचने के लिए हमारे जीवन का निर्माण माता, पिता व आचार्यों के शिक्षणालय में सच्चरित्रता, सदाचार व ज्ञान के शिक्षण से होता है। हम आचार्यों के प्रति अपना अर्पण करते हैं, आचार्य हमें ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञान देते हैं।

ऋषिः—**जमदग्निः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

प्रभु का दूत

समिद्धोऽअद्य मनुषो दुरोणे देवो देवान्यजसि जातवेदः।
आ च वह मित्रमहश्चिकित्वान्त्वं दूतः कविरसि प्रचेताः॥२५॥

१. 'गतमन्त्र का ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति किस प्रकार प्रभु को प्रीणित करता है' यह अगले १२ 'आप्री' मन्त्रों में वर्णन करते हैं। इस ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति की प्रथम विशेषता यह है कि **अद्य**=आज **मनुषः**=(मत्वा कर्माणि सीव्यति) विचारपूर्वक कर्म करनेवाले के **दुरोणे**=इस शरीररूप गृह में, जिसमें से सब बुराइयों का अपनयन (दूर) कर दिया है (ओण् अपनयने), **समिद्धः**=खूब ज्ञान की दीप्तिवाला बना है, अर्थात् यह इस शरीर को निर्मल बनाता है और ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान को प्राप्त करता है। २. हे ब्रह्मनिष्ठ! तू **जातवेदः**=जात-प्रज्ञानवाला होकर, अर्थात् ज्ञानी बनकर **देवः**=दानादि गुणों से युक्त हुआ-हुआ **देवान् यजसि**=देवों का यजन करता है, मान्य व्यक्तियों को आदर देता है, विद्वानों का ही संग करता है और सदा उनके लिए दानशील होता है। ३. हे **मित्रमहः**=स्नेहयुक्त, तेजस्वितावाले (मित्रम् महो यस्य) ब्रह्मनिष्ठ पुरुष! तू **चिकित्वान्**=चेतनावाला होकर, अर्थात् बड़ा समझदार बनकर **आवह**=इस ज्ञान को औरों को प्राप्त करानेवाला बन। **त्वम् दूतः**=तू उस प्रभु का सन्देशवाहक है, प्रभु के दिये सन्देश को तूने मनुष्यमात्र तक पहुँचाना है। **कविः असि**=तू क्रान्तदर्शी है, लोगों की मनोवृत्ति को समझकर उन्हें ठीक प्रकार से ही ज्ञान देनेवाला है, **प्रचेताः**=तू प्रकृष्ट संज्ञानवाला है। तू अपने ज्ञान के प्रसार से लोगों को एक-दूसरे के समीप लानेवाला होता है। इस प्रकार लोकहित करता हुआ तू अपनी ब्रह्मनिष्ठता को व्यक्त करता है।

भावार्थ—ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति (क) शरीर-गृह को पवित्र बनाकर ज्ञान संचय करता है, (ख) देवों के संघ में रहता है, (ग) स्नेहशील, तेजस्वितावाला बनकर लोगों को ज्ञान प्राप्त कराता है, (घ) यह प्रभु का बड़ा समझदार दूत बनता है।

ऋषिः—**जमदग्निः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

तनूनपात्

तनूनपात्पथऽऋतस्य यानान्मध्वा समञ्जन्त्स्वदया सुजिह्व।
मन्मानि धीभिरुत यज्ञमृन्धन्देवत्रा च कृणुह्यध्वरं नः॥२६॥

१. गत मन्त्र के ब्रह्मनिष्ठ का ही चित्रण करते हुए कहते हैं कि तू **तनूनपात्**=अपने शरीर को गिरने नहीं देता, अर्थात् शरीर के स्वास्थ्य को नष्ट नहीं करता। २. **ऋतस्य पथः यानान्**=ऋत के मार्ग पर गमनों को तू **मध्वा**=माधुर्य से **समञ्जन्**=अलंकृत करनेवाला होता है। तू सदा ऋत के मार्ग पर चलता है और तेरे वे सब आने-जाने के मार्ग माधुर्य से युक्त होते हैं। तू किसी को अपनी गतियों से पीड़ित नहीं करता। ३. **सुजिह्व**=उत्तम जिह्वावाले! तू **स्वदया**=सभी के जीवन को स्वादयुक्त बनानेवाला होता है। तेरी वाणी से ऐसे मधुर शब्द उच्चरित होते हैं कि सुननेवाले को आनन्द की अनुभूति होती है। ४. तू **मन्मानि**=अपने ज्ञानों को **धीभिः**=बुद्धियों के द्वारा अथवा बुद्धिपूर्वक कर्मों के द्वारा **ऋन्धन्**=बढ़ानेवाला होता है। ५. **उत**=और **यज्ञम्**=तू अपने जीवन में यज्ञ को बढ़ाता है। ६. **च**=और **नः**=हमारे, हमसे उपदिष्ट, सृष्टि के प्रारम्भ में वेदोपदेश द्वारा किये गये इस **अध्वरम्**=यज्ञ को **देवत्रा**=

देवों के विषय में तू **कृणुहि**=कर। ब्रह्मादि पाँचों यज्ञों को करनेवाला तू बन। ये यज्ञ ही तेरा इस लोक व परलोक में कल्याण करेंगे। यज्ञों से ही तू हमारी भी आराधना कर रहा होगा, अथवा **अध्वर**=किसी प्रकार की हिंसा करनेवाला तू न हो।

भावार्थ—ब्रह्मनिष्ठ को चाहिए कि (क) शरीर के स्वास्थ्य को स्थिर रक्खे, (ख) ऋत के मार्ग का मुधरता से आक्रमण करे, (ग) मधुर शब्दों से सबके मनों को आनन्दित करे। (घ) बुद्धियों से ज्ञान को बढ़ाए (ङ) यज्ञ को सिद्ध करे, (च) देवों के विषय में यज्ञों को करनेवाला हो, अर्थात् उनकी हिंसा से दूर रहे।

ऋषिः—**जमदग्निः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

सुक्रतु-शुचि

नराशꣳसस्य महिमानमेषामुप स्तोषाम यजतस्य यज्ञैः।
ये सुक्रतवः शुचयो धियन्धाः स्वदन्ति देवाऽउभयानि हव्या॥२७॥

१. **नराशंसस्य**=मनुष्यों से शंसन के योग्य **यजतस्य**=सबके साथ संगतिकरणवाले अथवा सब-कुछ देनेवाले (यज संगतिकरणदान) पूज्य (यज=पूजा) प्रभु की **एषाम्**=इन लोगों से **यज्ञैः**=लोकहित के कर्मों द्वारा होनेवाली **महिमानम्**=पूजा को **उपस्तोषाम्**=हम स्तुत करते हैं, अर्थात् इन लोगों से की जानेवाली प्रभु की महिमा (पूजा) की हम प्रशंसा करते हैं। **ये**=जो (क) **सुक्रतवः**=उत्तम संकल्प, कर्म व प्रज्ञानवाले हैं, (ख) **शुचयः**=अर्थ के दृष्टिकोण से पवित्र हैं। (ग) **धियन्धाः**=जो बुद्धि व ज्ञानपूर्वक कर्मों को धारण करनेवाले हैं, और (घ) जो **देवाः**=देववृत्तिवाले बनकर **उभयानि**=बुद्धि व शरीर दोनों के दृष्टिकोण से **हव्या**=ग्रहण योग्य पदार्थों को **स्वदन्ति**=आनन्द से सेवन करते हैं। ये खाने योग्य पदार्थों को ही खाते हैं और खाने योग्य पदार्थ इनके दृष्टिकोण में वे ही हैं जो बुद्धि के वर्धक हैं तथा स्वास्थ्य को ठीक रखनेवाले हैं। ३. इस प्रकार ये लोग प्रभु की क्रियात्मिक भक्ति करते हैं, इनकी भक्ति दृश्यभक्ति है। यही भक्ति प्रशंसनीय है। केवल गुणानुवाद स्तवन तो श्रव्यभक्ति है, वह प्रभु को प्रीणित नहीं कर सकती। प्रभु तो हमारे कर्मों से ही प्रीणित होंगे।

भावार्थ—हम सुक्रतु, शुचि, धी-सम्पन्न व हव्यों के ग्रहण करनेवाले बनकर प्रभु की सच्ची भक्ति करनेवाले हों।

ऋषिः—**जमदग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**स्वराड्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

ईड्य वन्द्य

आजुह्वानऽईड्यो वन्द्यश्चा याह्यग्ने वसुभिः सजोषाः।
त्वं देवानामसि यह्व होता सऽएनान्यक्षीषितो यजीयान्॥२८॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **आयाहि**=आइए। जो आप (क) **आजुह्वानः**=(आहूयमानः) सभी से पुकारे जाते हैं, सज्जनों से सुख में, दुर्जनों से दुःख में, (ख) **ईड्यः** =स्तुति के योग्य हैं, (ग) **वन्द्यः**=अभिवादनीय हैं, (घ) **वसुभिः सजोषाः**=अपने निवास को उत्तम बनानेवालों के साथ समानरूप से प्रीतिवाले हैं, (ङ) उन देवों को भी वस्तुतः देवत्व प्राप्त करानेवाले हैं 'तेन देवा देवतामग्र आयन्', (च) **होता**=आप ही सब-कुछ देनेवाले है। २. **सः**=वे आप **इषितः**=हमसे सत्कृत हुए-हुए **एतान्**=इन-हम सबको **यक्षि**=अपने साथ संगत कीजिए। आप **यजीयान्**=अतिशयेन यष्टा हैं=अत्यन्त पूज्य हैं तथा हमें सब

आवश्यक पदार्थों को देनेवाले हैं।

भावार्थ—हे प्रभो! आप स्तुति के योग्य तथा वन्दनीय हैं, आप ही सर्वमहान् देव हैं, सब आवश्यक पदार्थों के देनेवाले हैं, आप हमें प्राप्त होइए।

नोट—यह्व होता=यह्वः चासौ होता च।

ऋषिः—**जमदग्निः**। देवता—**अन्तरिक्षम्**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** स्वरः—**पञ्चमः**।

विशाल व वासनाशून्य हृदय

प्राचीनं बर्हिः प्रदिशा पृथिव्या वस्तोरस्या वृज्यतेऽअग्रेऽअह्नाम्।
व्यु प्रथते वितरं वरीयो देवेभ्योऽअदितये स्योनम्॥२९॥

१. गतमन्त्र में प्रभु को 'वसुभिः सजोषाः'—'वसुओं के साथ प्रीतिवाला' कहा था। प्रस्तुत मन्त्र में 'वसु' बनने के मार्ग का प्रदर्शन करते हुए कहते हैं कि **अस्याः पृथिव्याः**=इस शरीर के (पृथिवी शरीरम्) **वस्तोः**=उत्तम निवास के लिए **प्राचीनं बर्हिः**=यह (प्र अञ्च्) अग्रगति की भावनावाला, वासनाशून्य हृदय **अह्नाम् अग्रे**=दिनों के अग्रभाग में ही अर्थात् प्रातःकाल के समय **प्रदिशाः वृज्यते**=वेदोपदिष्ट मार्ग दोषवर्जित किया जाता है। हम हृदय को उषाःकाल में ही पवित्र बनाने का प्रयत्न करते हैं। २. दोषशून्य किया जाने पर यह **वितरम्**=खूब **वरीयः**=विशाल हृदय **उ**=निश्चय से **विप्रथते**=(प्रथ= विस्तारे) विशेषरूप से विस्तीर्ण बनता है। ३. यह विस्तीर्ण हृदय **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों के लिए **स्योनम्**=सुखकर होता है, अर्थात् इस विस्तीर्ण हृदय में दिव्य गुणों का विकास आसानी से होता है और यह हृदय **अदितये**=अखण्डन के लिए, स्वास्थ्य के लिए **स्योनम्**=सुखकर होता है। हृदय में होनवाली वासनाएँ व संकुचित भावनाएँ शरीर-स्वास्थ्य को नष्ट करने में प्रबल स्थान रखती हैं। वासनाएँ गई, विशालता आई तो यह शरीर स्वस्थ हो जाता है। मन स्वस्थ है तो शरीर भी स्वस्थ हो जाता है। इस प्रकार 'वसु' बनने के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण बात यही है कि हम वेद में प्रभु से उपदिष्ट मार्गों से हृदय को शुद्ध बनाने का प्रयत्न करें।

भावार्थ—प्रभु के प्रिय बनने के लिए हम हृदय को विशाल व वासनाशून्य बनाएँ। शरीर को पूर्ण स्वस्थ करने का प्रयत्न करें। 'वसु' बनकर ही हम प्रभु के प्रिय बन सकेंगे।

ऋषिः—**जमदग्निः**। देवता—**स्त्रियः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

दिव्य इन्द्रियद्वार

व्यचस्वतीरुर्विया वि श्रयन्तां पतिभ्यो न जनयः शुम्भमानाः।
देवीर्द्वारो बृहतीर्विश्वमिन्वा देवेभ्यो भवत सुप्रायणाः॥३०॥

१. 'वसुओं' की—उत्तम निवासवालों की इन्द्रियाँ **व्यचस्वतीः**=(व्यञ्चनवत्यः गमनवत्यः) उत्तम गमनों व क्रियाओंवाली होकर **उर्विया**=(उरवो विशालाः—उ०) विशाल हों और **विश्रयन्ताम्**=(श्रिञ् सेवायाम्) विशिष्ट कार्यों का सेवन करनेवाली हों। २. **न**=जिस प्रकार **जनयः**=पत्नियाँ **पतिभ्यः**=पतियों के लिए **शुम्भमानाः**=अपने को शोभित करनेवाली होती हैं, उसी प्रकार ये इन्द्रियाँ आत्मा के लिए अपने को शोभित करनेवाली हों ३. **देवीः द्वारः**=ये सब व्यवहारों को सिद्ध करनेवाली इन्द्रियाँ **बृहतीः**=वृद्धि का कारण बनें। **विश्वमिन्वाः**=(विश्वम् एति गच्छति यासु ताः) सम्पूर्ण ज्ञान को प्राप्त करनेवाली हों। ४. ये इन्द्रियाँ **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए **सुप्रायणाः**=(सुप्रगमनाः) प्रकृष्ट

गमनवाली हों, अर्थात् एक-एक इन्द्रिय अपने मार्ग पर उत्तमता से आक्रमण करनेवाली हो, जिससे हममें उत्तरोतर दिव्यता का विकास हो।

भावार्थ—हमारे इन्द्रियद्वार प्रकृष्ट गमनवाले हों, विशाल हों, अपने को उत्तम शक्तियों, उत्तम ज्ञानप्राप्तियों व कर्मों से सुभूषित करें, दिव्य बनें, हमारी वृद्धि का कारण बनें, सम्पूर्ण विश्व के ज्ञान को ग्रहण करनेवाले हों। ये सदा उत्तम प्रकृष्ट गमनवाले हों, जिससे हममें उत्तरोत्तर दिव्य गुणों का विकास होता चले।

ऋषिः—**जमदग्निः**। देवता—**स्त्रियः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

स्मयमान दिन-रात

आ सुष्वयन्ती यजतेऽउपाकेऽउषासानक्ता सदतां नि योनौ।
दिव्ये योषणे बृहती सुरुक्मेऽअधि श्रियꣳशुक्रपिशं दधाने॥३१॥

१. गतमन्त्र के अनुसार इन्द्रियों के उत्तम होने पर हमारे **उषासानक्ता**=दिन व रात **आसुष्वयन्ती** =सब प्रकार से स्मयमान होते हुए (स्मयतेः निरुपसर्गात्, मकारस्य नकारः) खिलते हुए, अर्थात् शरीर, मन व बुद्धि के दृष्टिकोण से विकास को प्राप्त होते हुए, **यजते**=यज्ञशील होते हुए **उपाके**=(उप समीपम् अकतः, अक गतौ) प्रभु के समीप उपस्थित होनेवाले **योनौ**=इस ब्रह्माण्ड के उत्पत्ति-स्थान प्रभु में **निसदताम्**=नम्रता से स्थित हों, अर्थात् हम दिन व रात्रि के प्रारम्भ में प्रभु की उपासना करनेवाले बनें। यह उपसना ही हमारे सर्वतोमुखी विकास का कारण बनेगी। २. **दिव्ये**=ये दिन-रात हमें प्रकाश में स्थापित करनेवाले हों, अर्थात् हम प्रातः व सायं प्रभु-उपासन के साथ स्वाध्याय अवश्य करें। ३. **योषणे**=स्वाध्याय के द्वारा ये दिन-रात हमें बुराइयों से अमिश्रित व अच्छाइयों से मिश्रित करनेवाले हों। हमारे दुर्गुणों को ये दूर करें व सुगुणों को प्राप्त कराएँ। 'दुरितानि परासुव, भद्रं आसुव'। इस प्रकार ये **बृहती**=हमारा वर्धन करनेवाले हों और **सुरुक्मे**=उत्तम सुवर्ण व कान्ति को प्राप्त करानेवाले बनें। ४. ये दिन-रात हममें **शुक्रपिशम्**=(शुक्र वीर्य, पिश् to shape) वीर्य के द्वारा जिसका निर्माण होता है उस **श्रियम्**=शोभा को **अधि दधाने**=आधिक्येन धारण करनेवाले हों। वीर्यरक्षा के द्वारा ज्ञानाग्नि की दीप्ति से हमें शुक्र, शुक्ल, श्वेत श्री की प्राप्ति होती है तथा इस वीर्यरक्षा के द्वारा ही 'कपिश श्री' स्वास्थ्य के कारण चेहरे पर तेजस्विता की सुनहली झलक प्राप्त होती है। इस प्रकार ये दिन-रात हमें भी सम्पन्न बनाते हैं।

भावार्थ—हमारे दिन-रात स्मयमान हों। यज्ञव्यापृत प्रभु की उपासना में लगे हुए ये दिन-रात हमारी बुराइयों को दूर करके अच्छाइयों को प्राप्त कराते हुए हमें भी सम्पन्न करें।

ऋषिः—**जमदग्निः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**आर्षीत्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

प्राणापान

दैव्या होतारा प्रथमा सुवाचा मिमाना यज्ञं मनुषो यजध्यै।
प्रचोदयन्ता विदथेषु कारू प्राचीनं ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता॥३२॥

१. हमारे प्राणापान **दैव्या होतारा**=उस देव=(प्रभु) को प्राप्त करानेवाले होता हैं। **प्रथमा**=ये इस शरीर में रहनेवाले देवों में प्रथम हैं, इनके जाने पर शरीर की दुर्गति ही क्या, समाप्ति ही हो जाती है, अतः प्राण ही वरिष्ठ व श्रेष्ठ हैं। **सुवाचा**=उत्तम वाणीवाले हैं, प्राणशक्ति की क्षीणता से वाणी भी क्षीण हो जाती है और वाणी के ठीक कार्य न करने

से तो वाणी समाप्त ही हो जाती है। २. इस **मनुषः**=मननशील पुरुष के **यजध्यै**=(यष्टुं) प्रभु से मेल कराने के लिए **यज्ञम् मिमाना**=ये प्राणापान यज्ञों का निर्माण करते हैं। प्राणापान की शक्ति से ही सब यज्ञ चलते हैं। ३. ये प्राणापान साधना करनेवाले मनुष्य को **विदथेषु**=ज्ञानयज्ञों में **प्रचोदयन्ता**=प्रकृष्ट प्रेरणा प्राप्त कराते हैं, अर्थात् प्राणापान का साधक ज्ञानाग्नि की दीप्ति के कारण ज्ञान की रुचिवाला होता है। **कारू**=ये प्राणापान प्रत्येक कार्य को कलापूर्ण ढंग से करनेवाले हैं। शरीर में प्राणापान की शक्ति के ठीक होने पर कार्यों में भी सौन्दर्य व कला प्रकट होती है। प्राणापान की दुर्बलता होने पर कार्य में उत्साह नहीं होता और परिणामतः वहाँ अनाड़ीपन व भद्दापन टपकता है। ४. ये प्राणापान **प्रदिशा**=वेदोपदिष्ट मार्ग से **प्राचीनम् ज्योतिः**=उन्नति के साधनभूत अथवा सनातन (शाश्वत) ज्ञान को **दिशन्ता**=उपदिष्ट करते हैं, अर्थात् प्राणापान की साधना से हृदय का वह नैर्मल्य प्राप्त होता है जिससे अन्तःस्थ प्रभु की ज्योति का हममें आभास होता है। यह ज्योति हमारी निरन्तर उन्नति का कारण बनती है, यह प्राचीन है, हमें आगे ले-चलनेवाली है।

भावार्थ—प्राणापान की साधना हमें प्रभु से मिलाती है, ज्ञान को बढ़ाती है, हमारे कार्यों में सौन्दर्य लाती है, सनातन ज्योति का आभास कराती है।

ऋषिः—**जमदग्निः**। देवता—**वाक्**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

स्वपस के बर्हि में

आ नो यज्ञं भारती तूयमेत्विडा मनुष्वदिह चेतयन्ती।
तिस्रो देवीर्बर्हिरेदःस्योनःसरस्वती स्वपसः सदन्तु॥३३॥

१. **नः**=हमारे **यज्ञम्**=जीवनयज्ञ में **भारती**=(भरतः आदित्यः, तस्य इयं भारती) सूर्य के समान देदीप्यमान ज्ञान-ज्योति **तूयम्**=शीघ्र **आ**=सब प्रकार से **एतु**=प्राप्त हो। २. **मनुष्वत्**=एक ज्ञानी पुरुष को जैसे चाहिए उस प्रकार **इह**=इस जीवनयज्ञ में **चेतयन्ती**=चेतना को प्राप्त कराती हुई, संज्ञानवाला करती हुई **इडा**=यह श्रद्धा नामक देवता भी हमारे जीवनयज्ञ में शीघ्रता से प्राप्त हो। श्रद्धा न रहने पर 'जीवन' यज्ञ नहीं रहता, यह भोग का स्थान बन जाता है। 'Eat, drink and be merry'='खाओ-पीओ, मौज उड़ाओ' यह उनके जीवन का सिद्धान्त बन जाता है। ३. भारती व इडा के साथ **सरस्वती**=यह वाणी देवता भी है और इस प्रकार **तिस्रः देवीः**=तीनों देवियाँ **स्वपसः**=(सु अपस्) उत्तम कर्मशील पुरुष के **इदम् स्योनम्**=इस सुखमय **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय में **आसदन्तु**= आसीन हों, अर्थात् हम 'भारती, इडा व सरस्वती' इन तीनों देवियों को अपनाने का प्रयत्न करें। इन तीनों देवियों को अपनानेवाला व्यक्ति वही होता है जो 'स्वपस्' हो, उत्तम कर्मोंवाला हो। इस उत्तम कर्मोंवाले का हृदय वासनाशून्य होता है और वासनाशून्य हृदय में ही इन देवियों का स्थान है।

भावार्थ—हमारे जीवन में 'भारती, इडा व सरस्वती' तीनों देवियों का समुचित स्थान हो।

ऋषिः—**जमदग्निः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

त्वष्टा का उपासन

यऽइमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपैरपिꣳशद्भुवनानि विश्वा।
तमद्य होतरिषितो यजीयान्देवं त्वष्टारमिह यक्षि विद्वान्॥३४॥

१. **यः**=जो त्वष्टा **इमे**=इन **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक को और **जनित्री**=सब

भूतों को जन्म देनेवाला है, उनको **रूपै अपिंशत्**=रूपों से अलंकृत करता है तथा **विश्वा भुवनानि**=सब भुवनों को रूपों से सजाता है, अर्थात् जिस त्वष्टा के कारण उस-उस पिण्ड व लोक में अमुक-अमुक सौन्दर्य है **तम्**=उस **देवं त्वष्टारम्**=दिव्य गुणोंवाले सब देवों को देवत्व प्राप्त करानेवाले त्वष्टादेव को, हे **होतः**=त्यागपूर्वक अदन करनेवाले! **इषितः**= प्रभु से प्रेरणा को प्राप्त हुआ-हुआ **यजीयान्**=अतिशयेन यज्ञशील विद्वान्, ज्ञानी तू **इह**=इस मानव-जीवन में **यक्षि**=संगत कर। २. वे प्रभु जैसे सूर्यादि देवों को रूपों से अलंकृत करते हैं, वैसे तुझे भी रूपों से अलंकृत करेंगे। तू 'इषित' बन, प्रभु की प्रेरणा को सुननेवाला बन, तू यजीयान हो, अतिशयेन यज्ञशील हो। विद्वान् व ज्ञानी बन। इस प्रकार बनने का प्रयत्न करने पर ही तू प्रभु-सम्पर्क को प्राप्त करेगा और तेरा जीवन भी द्युलोक व पृथिवीलोक की तरह रूपों से अलंकृत होगा।

भवार्थ—त्वष्टा ब्रह्माण्ड का निर्माता होकर उसे सौन्दर्य प्रदान करता है, हम उसके सम्पर्क में आएँगे तो वह हमें भी सौन्दर्य प्रदान करेगा।

ऋषिः—**जमदग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

वनस्पति-शमिता-देव-अग्नि

उपावसृज त्मन्या समञ्जन्देवानां पाथऽऋतुथा हवीꣳषि।
वनस्पतिः शमिता देवोऽअग्निः स्वदन्तु हव्यं मधुना घृतेन॥३५॥

१. हे जमदग्ने! तू **त्मन्या**=स्वयं (आत्मना) **देवानाम् पाथे**=देवताओं के मार्ग में अर्थात्, देवयान मार्ग पर चलते हुए **समञ्जन्**=अपने जीवन को सद्गुणों से अलंकृत करने के हेतु से **ऋतुथा**=ऋतु के अनुसार **हवींषि**=हव्य पदार्थों को **उपावसृज**=उपासना के साथ, प्रभु-स्मरणपूर्वक अपने में डाल, अर्थात् प्रभुस्मरण करते हुए हव्य पदार्थों का भोजन कर। 'जैसा अन्न वैसा मन', इस उक्ति के अनुसार तेरा जीवन वैसा ही बनेगा जैसा तू भोजन करेगा। तू देवयान मार्ग से चलनेवाला बन और सात्त्विक भोजन का सेवन कर तभी तुझमें दिव्य गुणों की उत्पत्ति होगी। २. **वनस्पतिः**=तू ज्ञान की रश्मियों का पति बन, **शमिता**=शान्त स्वभाववाला हो। **देवः**=दिव्य गुणों का अपने में विकास कर। **अग्निः**=निरन्तर आगे बढ़ानेवाला हो। ३. जो 'वनस्पति, शमिता, देव व अग्नि' बनना चाहते हैं, वे **हव्यम्**=हव्य पदार्थों को ही, पवित्र यज्ञिय भोजनों को ही **मधुना घृतेन**=शहद व घृत के साथ **स्वदन्तु**= खानेवाले हों, आनन्दपूर्वक इन्हीं वस्तुओं का सेवन करें। 'हव्य, मधु, घृत' ये सात्त्विक पदार्थ हमारे मनों को भी सात्त्विक बनाएँगे। इस प्रकार हमारा ज्ञान बढ़ेगा, हमारे मन प्रसादगुणयुक्त व शान्त होंगें, हममें दिव्य गुणों का विकास होगा और हम आगे-ही-आगे बढ़ेंगे।

भावार्थ—हम देवयान मार्ग से चलते हुए जीवन को सद्गुणों से अलंकृत करने के हेतु सात्त्विक भोजन का ही सेवन करें। यज्ञिय, वनस्पति भोजन, मधु व घृत का ही प्रयोग करें।

ऋषिः—**जमदग्निः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

गृहस्थ व यज्ञ

सद्यो जातो व्यमिमीत यज्ञमग्निर्देवानामभवत्पुरोगाः।
अस्य होतुः प्रदिश्यृतस्य वाचि स्वाहाकृतꣳहविरदन्तु देवाः॥३६॥

१. विद्यार्थी आचार्यकुल में प्रविष्ट होता है तो आचार्य उसे उपनीत करता हुआ गर्भ में धारण करता है। जब वह आचार्यगर्भ से उत्पन्न होता है तब **जातः**=उत्पन्न हुआ व

दीक्षान्तस्नान किया हुआ स्नातक विद्या व व्रतों में स्नान करके **सद्यः**=शीघ्र ही **यज्ञं व्यमिमीत**=गृहस्थ में प्रवेश करके पाँचों यज्ञों का करनेवाला बनता है। २. **अग्निः**=यह आगे बढ़नेवाला होता है। आगे बढ़ते हुए **देवानाम्**=देवताओं का **पुरोगाः**=अग्रगामी **अभवत्**=होता है, अर्थात् देवो में भी प्रथम स्थान प्राप्त करता है। ३. **अस्य होतुः**=इस सृष्टियज्ञ के होता परमात्मा के **प्रदिशि**=प्रकृष्ट निर्देश में **ऋतस्य**=सत्य वेदज्ञान की वाणी के, अर्थात् प्रभु से वेद में प्रतिपादित मार्ग के अनुसार **स्वाहाकृतम्**=अग्नि में 'स्वाहा' शब्दोच्चारणपूर्वक डाली हुई **हविः**=हव्य पदार्थ को **देवाः**=माता-पिता, आचार्य व अतिथि आदि देव **अदन्तु**=खाएँ, अर्थात् मनुष्य वेदोपदिष्ट मार्ग से अग्निहोत्र करें, माता-पिता, आचार्य व अतिथि को श्रद्धापूर्वक खिलाये। इनको खिलाकर यज्ञशेष को खाना ही अमरता का साधन है।

भावार्थ—आचार्यकुल से समावृत्त होकर हम गृहस्थ बनें तो यज्ञशील हों। वेदानुसार अग्निहोत्र करें। मात-पिता को खिलाकर खाएँ, अतिथियों से पूर्व न खाने लग जाएँ। यज्ञशेष खानेवाले ही देव व अमर बना करते हैं।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

उषाः जागरण

केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्याऽअपेशसे। समुषद्भिरजायथाः॥३७॥

१. गतमन्त्र का यज्ञशील पुरुष सदा उत्तम इच्छाओं से सम्पन्न होता है, अतः वह प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'मधुच्छान्दा' बनता है। उसकी कामना होती है—(क) अन्धकार को दूर करने के लिए वह प्रकाश को फैलाये, (ख) निर्धनता को दूर करने के लिए वह धन के उचित संविभागवाला हो अथवा (पेशस् रूप) आहार-विहार का ठीक ज्ञान देने से लोगों को स्वस्थ बनाकर उन्हें ठीक रूप देनेवाला हो। २. मन्त्र में कहते हैं कि **अकेतवे**=अविद्यमान प्रज्ञानवाले, नासमझ के लिए **केतुम्**=प्रज्ञान को **कृण्वन्**=करता हुआ तथा (क) **अपेशसे मर्या**=(मर्याय) (न विद्यते पेशः सुवर्णं यस्य)=अविद्यमान धनवाले के लिए **पेशः**=सुवर्ण को करता हुआ (ख) अथवा (पेशः=रूपम्) अस्वास्थ्य के कारण नष्ट सौन्दर्यवाले व्यक्ति के लिए, स्वास्थ्य के द्वारा सुन्दर रूप को करता हुआ तू **उषद्भिः**=उषाःकालों के साथ **अजायथाः**=अपनी शक्तियों का प्रादुर्भव-विकास करता है, अर्थात् उषाःकाल में ही जाग उठता है और अपने कर्त्तव्यों के पालन में लगकर अपनी शक्तियों का विकास करता है।

भावार्थ—हम अज्ञानी के लिए ज्ञान दें, अधन के लिए धन देनेवाले हों तथा अरूप को स्वास्थ्य के द्वारा रूप प्रदान करें। उषाःकाल में ही उद्बुद्ध होकर अपने कर्त्तव्य कर्मों में लगते हुए अपनी शक्तियों का विकास करें।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

वर्म (कवच) ब्रह्मरूप कवच

जीमूतस्येव भवति प्रतीकं यद्वर्मी याति समदामुपस्थे।
अनाविद्धया तन्वा जय त्वꣳस त्वा वर्मणो महिमा पिपर्त्तु॥३८॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रातःकाल जागकर अपने कर्त्तव्यों में लगनेवाला व्यक्ति अपना उचित रक्षण कर पाता है। शक्तिशाली बनकर जहाँ वह रोगों से आक्रान्त नहीं होता, वहाँ मन में क्रोधादि भावनाओं से भी बचा रहता है, अतः इसका नाम 'भारद्वाज पायु' हो जाता है, अपने में शक्ति भरनेवाले की सन्तान, अपनी रक्षा करनेवाला। यह ज्ञानरूप कवच को

धारण करके (ब्रह्म वर्म ममान्तरम्, शर्म वर्म ममान्तरम्) कामादि के आक्रमण से विद्ध (घायल) नहीं होता। वासनाओं के साथ संग्राम में यह ज्ञान व प्रसाद (सुख) का कवच इसे बचानेवला होता है। (क) मन्त्र में कहते हैं कि **यत्**=जब **वर्मी**='ब्रह्म' कवच को धारण करनेवाला यह व्यक्ति **समदाम्**=संग्रामों के (सह माद्यन्ति योद्धा यत्र) **उपस्थे**=गोद में, अर्थात् संग्राम में **याति**=प्राप्त होता है तब **जीमूतस्य इव**=मेघ की भाँति **प्रतीकम् भवित**=इसका मुख होता है। जिस प्रकार बादल विद्युत् व गर्जनाओं से असह्य होता है उसी प्रकार इस पायु का मुख भी ज्ञानदीप्ति व प्रभु नमोच्चारण से शत्रुओं के लिए असह्य हो जाता है। ३. जैसे योद्धा कवच के कारण अनविद्ध शरीरवाला होता है, उसी प्रकार **अनाविद्धया तन्वा**=काम, क्रोधादि के आक्रमणों से न घायल शरीर से **त्वम्**=तू **जय**=विजयी हो। **त्वा** =तुझे **वर्मणः**=ब्रह्मरूप कवच का **सः महिमा**=वह प्रसिद्ध महत्त्व **पिपर्त्तु**=कामादि के आक्रमण से बचानेवाला हो। ब्रह्मरूप कवच को धारण किये हुए तुझे कामदेव के अस्त्र विद्ध न कर सकें।

भावार्थ—ब्रह्मरूप कवच को धारण करके मनुष्य काम के आक्रमणों से बचा रहे।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**वीराः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

धनुष् (प्रणवरूप धनुष)

धन्व॑ना॒ गा धन्व॑ना॒जिं ज॑येम॒ धन्व॑ना ती॒व्राः स॒मदो॑ जयेम।
धनुः॑ शत्रो॑रपका॒मं कृ॑णोति॒ धन्व॑ना॒ सर्वाः॑ प्र॒दिशो॑ जयेम ॥३९॥

१. **धन्वना**=धनुष से **गा**=गौवों को **जयेम**=जीतें। **धन्वना**=धनुष से **आजि**=युद्ध को **जयेम**=जीतें। **धन्वना**=धनुष से **तीव्राः**=उग्र व पटु बने हुए हम **समदः**=संग्रामों को **जयेम**=जीत जाएँ। **धनुः** =धनुष् **शत्रोः**=शत्रु की **कामम्**=इच्छा को **अपकृणोति**=दूर करता है, **धन्वना**= इस धनुष् से **सर्वाः प्रदिशः**=सब प्रकृष्ट दिशाओं को **जयेम**=जीत जाएँ। २. उपनिषदों में 'प्रणवो धनुः' इन शब्दों में **प्रणव**=ओंकार को धनुष् कहा है। योग में प्रणव के जप व अर्थभावन पर बल दिया है। इसके उच्चारण व अर्थभावन से हम इन्द्रियों (गाः) को जीतते है। इसी के बल से हम वासना-संग्राम (आजि) में विजयी होते है। इसके उच्चारण से शक्तिशाली बने हुए हम (तीव्रम्) सब संग्रामों को अथवा मदयुक्त प्रबल शत्रुओं को (समदः) पराजित करते हैं। ३. यह धनुष् ही—प्रणव का ध्यानपूर्वक जप ही हमपर कामाग्नि का आक्रमण नहीं होने देता। हम इस प्रणवरूप धनुष् से सब दिशाओं में उन्नित कर पाते हैं।

भावार्थ—हम प्रणवरूप धनुष् के महत्त्व को समझें और अर्थभावनपूर्वक 'ओम्' का जप करते हुए सच्चे धानुष्क (धनुर्धारी) बनें।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**वीराः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

ज्या (जिह्वा)

व॒क्ष्यन्ती॒वेदा ग॑नीगन्ति॒ कर्णं॑ प्रि॒यꣳसखा॑यं परि षस्वजा॒ना।
योषे॑व शिङ्क्ते वित॒ताधि॒ धन्व॒ञ्ज्या इ॒यꣳसम॑ने पा॒रय॑न्ती॥४०॥

१. जिस समय धनुष् पर तीर लगाकर ज्या को खींचते हैं तब यह ज्या कान के पास तक पहुँचती है, मानो वह कान में कुछ कहना चाहती है। **वक्ष्यन्ती इव**=वचनोत्सुका-सी बोलने के लिए उत्सुक-सी **इत्**=निश्चय से **कर्णम्**=धानुष्क के कर्णमूल के पास

आगनीगन्ति=खूब आती है। २. यह ज्या **प्रियं सखायम्**=अपने प्रिय मित्र बाण को **परिषस्वजाना**=आलिंगन किये हुए होती है। ३. **अधिधन्वन्**=धनुष् पर **वितता**=फैली हुई यह ज्या **योषा इव**=गुणों के मिश्रण व दोषों के अमिश्रण करनेवाली स्त्री के समान **शिङ्क्ते**=अव्यक्त शब्द करती है। ४. **इयम्**=यह **ज्या**=धनुष् की डोरी **समने**=संग्राम में **पारयन्ती**=विजय को प्राप्त करती है। ५. हमारी जिह्वा ही ज्या है, यह कान में कुछ कहने के लिए तो उत्सुक रहती ही है, 'शरो ह्यात्मा'=आत्मा 'बाण' है—और यह वाणी उसी का स्त्रीलिंगरूप धारण किये हुए आत्मा की पत्नी ही है। आत्मा इसका प्रिय सखा है। प्रणवरूप धनुष पर विस्तृत हुई-हुई यह जयरूप में अव्यक्त शब्द करती है और वासनासंग्राम में हमें विजयी बनाती है।

भावार्थ—धनुष् में ज्या का जो महत्त्व है वही जीवन में वाणी का महत्त्व है। इसी से आत्मारूप शर प्रेरित होता है। प्रभु की वाणी हम आत्माओं को प्रेरणा दे रही है। हम स्वयं भी वाणी द्वारा आत्मा को प्रेरणा (आत्मप्रेरणा) देकर आगे बढ़ते हैं।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**वीराः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

आर्त्नी (श्रद्धा व विद्या)

तेऽआ॒चर॑न्ती॒ सम॑नेव॒ योषा॑ मा॒तेव॑ पु॒त्रं बि॑भृता॒मु॒पस्थे॑।
अप॒ शत्रू॑न्विध्यता॒ᳬसं॑विदा॒नेऽआर्त्नी॑ऽइ॒मे वि॑ष्फु॒रन्ती॑ऽअ॒मित्रा॑न् ॥४१॥

१. **ते आर्त्नी**=वे दोनों धनुष्कोटियाँ **समना योषा इव आचरन्ती**=समान पति में गये हुए मनवाली स्त्रियों की भाँति आचरण करती हुई, **माता पुत्रम् इव**=जिस प्रकार माता पुत्र को, उसी प्रकार **उपस्थे**=गोद में **बिभृताम्**=शर को धारण करें। दोनों धनुष्कोटियाँ धानुष्क को इस प्रकार प्राप्त होती हैं जैसे दो स्त्रियाँ समान पति को प्राप्त होती है। पत्नी शक्ति का प्रतीक है। यहाँ धानुष्क की शक्ति इन दोनों कोटियों में निहित है। अध्यात्म में ये दोनों कोटियाँ 'श्रद्धा और विद्या' है। आत्मा इनका पति है, आत्मा की शक्ति श्रद्धा और विद्या पर निर्भर करती है। इन दोनों कोटियों के मध्य में जैसे शर निहित होता है, उसी प्रकार यहाँ श्रद्धा और विद्या के मध्य में कर्म है। जो कर्म श्रद्धा व विद्या से मिलकर किया जाता है, वह कर्म वीर्यवत्तर होता है। २. **इमे**=ये दोनों **आर्त्नी**=धनुष्कोटियाँ **संविदाने**=परस्पर एकभाव को प्राप्त हुई-हुई, परस्पर सिली-सी हुई **'मूर्धानमस्य संसीव्य हृदयं च यत्'**, **अमित्रान्**=अस्नेहवालों को, अर्थात् शत्रुओं को **विष्फुरन्ती** =(विशेषेण चालयन्त्यौ) विशेषरूप से डाँवाडोल करती हुई **शत्रून्**=शत्रुओं को **अपविध्यताम्**=विद्ध करके दूर भगा दें। हमें चाहिए कि हम अपने जीवन में श्रद्धा से विद्या का पोषण करें और विद्या से श्रद्धा को दृढ़मूल करें। इस प्रकार श्रद्धा और विद्या को परस्पर मिला दें। जब हम श्रद्धा व ज्ञानपूर्वक प्रभु के नाम का उच्चारण व अपने अन्य कर्म करें तब काम, क्रोधादि शत्रु काँप उठें और हमारे हृदय से दूर भाग जाएँ।

भावार्थ—प्रणवरूप धनुष् की श्रद्धा व विद्यारूप दोनों कोटियाँ परस्पर सम्बद्ध होंगी तो इस धनुष् से इस प्रकार कर्मरूप तीव्र शर चलेंगे कि वासनारूप सब शत्रुओं का संहार हो जाएगा।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**वीराः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

इषुधिः (तूणीर)

ब॒ह्वी॒नां पि॒ता ब॒हुर॑स्य पु॒त्रश्चि॒श्चा कृ॑णोति॒ सम॑नाव॒गत्य॑।

इ॒षु॒धिः स॒ङ्काः पृत॑नाश्च॒ सर्वाः॑ पृ॒ष्ठे निन॑द्धो जयति॒ प्रसू॑तः ॥४२॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में तरकस का उल्लेख करते हैं। इस तरकस में तीर रखे जाते हैं और यह धानुष्क की पीठ पर बँधा होता है। इसमें तीर सुरक्षित होते हैं, सो कहते हैं कि **बह्वीनाम् पिता**=बहुत-से तीरों का यह पिता—रक्षक होता है। **बहुः**=बहुत-से इषुओं का यह समूह **अस्य**=इसका **पुत्रः**=पुत्र स्थानीय है। 'पुरून् बहून्ह त्रायते'=यह वाणसमूह शत्रुओं पर आक्रमण करके हमारी रक्षा करता है। २. यह तूणीर **समना अवगत्य**=संग्राम में पहुँचकर **चिश्चा कृणोति**='चिश्चा' इस अव्यक्त शब्द को करता है—'' 'चि'=एक-एक शत्रु का चयन करके, एक-एक को चुनकर उसका उच्चाटन कर दो'', ऐसा कहता प्रतीत होता है। ३. यह **इषुधिः**=तूणीर **पृष्ठे निनद्धः**=पीठ पर दृढ़ता से बँधा हुआ **प्रसूतः**=धानुष्क से कार्य में प्रेरित किया हुआ **सर्वाः**=सब **सङ्काः**=(सन्नतेः, संपूर्वात् किरतेर्वा) सम्बद्ध व विकीर्ण **पृतनाः**=सेनाओं को **जयति**=जीत लेता है। ४. हृदय तूणीर है, इसमें निहित प्रभु के नाम ही शर हैं—अध्यात्मभवनारूप इन तीरों से वासनाओं की सेनाएँ पराजित कर दी जाती हैं।

भावार्थ—तरकस का युद्ध में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। वही स्थान शरीर में हृदय का है। यह शत्रुओं के संहारक आत्मसङ्कल्परूप शरों से भरपूर होना चाहिए।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**वीराः**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**।

सारथिः व रश्मयः

रथे तिष्ठन्नयति वाजिनः पुरो यत्रयत्र कामयते सुषारथिः।
अभीशूनां महिमानं पनायत मनः पश्चादनु यच्छन्ति रश्मयः॥४३॥

१. **रथे**=रथ पर **तिष्ठन्**=स्थिरता से ठहरा हुआ **सुषारथिः**=उत्तम सारथि **यत्र-यत्र**=जहाँ-जहाँ **कामयते**=चाहता है, वहाँ-वहाँ **वाजिनः**=घोड़ों को **पुरः**=आगे **नयति**=ले-जाता है। यह शरीर भी रथ है। इस रथ पर आत्मा रथी है, वह बुद्धिरूप सारथिवाला है। जब यह सारथि ठीक होता है तब यह इन्द्रियरूप घोड़ों को इष्ट स्थान की ओर ले-जाता है और अपनी जीवन-यात्रा को आगे-और-आगे (पुरः) बढ़ाता चलता है, परन्तु सारथि के अकुशल होने पर ये घोड़े रथ को किसी गर्त में गिरा देते हैं और सब काम ही समाप्त हो जाता है, उन्नति व यात्रापूर्ति का कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता। २. मन्त्र कहता है कि जहाँ सारथि का महत्त्वपूर्ण स्थान है, वहाँ **अभीशूनाम्**=रश्मियों की, लगामों की **महिमानम्**=महिमा को **पनायत**=स्तुति करो। ये **रश्मयः**=रश्मियाँ—लगामें **पश्चात्**=पीछे होती हुई **मनः**=अश्वरूपी चित्त को **अनुयच्छन्ति**=अनुकूलता से प्राप्त होकर वशवर्ती कर लेती हैं। लगाम घोड़ों को काबू करने में सहायक होती है। शरीर में मन ही लगाम है। मनीषा, अर्थात् बुद्धि ने इस मनरूप लगाम के द्वारा ही इन्द्रियों को काबू करना है।

भावार्थ—बुद्धिरूप सारथि उत्तम होगा तो वह इन्द्रियों से हमारी जीवन-यात्रा को पूर्ण करेगा। इन इन्द्रियों को मनरूप लगाम द्वारा ही काबू किया जा सकता है। बुद्धिरूप सारथि का नाम ही मनीषा (मनसः ईष्टे) है, यह मन का शासन करती है।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**वीराः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

अश्व (इन्द्रियाँ)

तीव्रान् घोषान् कृण्वते वृषपाणयोऽश्वा रथेभिः सह वाजयन्तः।
अवक्रामन्तः प्रपदैरमित्रान् क्षिणन्ति शत्रूँ१॥ऽरनपव्ययन्तः॥४४॥

१. **वृषपाणयः**='वृष' शब्द यहाँ शक्तिशाली घोड़ों का प्रतिपादन कर रहा है। ऐसे

घोड़े जिनके हाथों में है (वृषाः पाणौ येषाम्)। वे उत्तम अश्वोंवाले व्यक्ति **तीव्रान् घोषान्**=तीव्र जय शब्दों को **कृण्वते**=करते हैं। शक्तिशाली इन्द्रियाश्वों से क्या हम जीवन-यात्रा में विजयी न होंगे? २. इन वृषपाणियों के **अश्वाः**=ये इन्द्रियाश्व भी **रथेभिः सह**=शरीररूप रथों के साथ **वाजयन्तः**=जीवनयात्रा में आगे-और-आगे चलते हुए (गच्छन्तः) अथवा प्रभु का पूजन करते हुए (पूजयन्तः) विजय-घोष करते हैं। ३. **अमित्रान्**=अमित्रों को **प्रपदैः**=पादाग्रों से, खुरों से **अवक्रामन्तः**=पाँवों तले रौंदते हुए **अनपव्ययन्तः**=न नष्ट होते हुए, शक्ति को क्षीण न होने देते हुए **शत्रून्**=शत्रुओं को **क्षिणन्ति**=नष्ट कर देते हैं। यदि हमारे ये इन्द्रियाश्व वृषपाणियों के हाथों में होंगे तो ये वासनारूप शत्रुओं को नष्ट करके हमें जीवन-यात्रा में आगे-और-आगे ले-चलेंगे। यहाँ मन्त्र में 'तीव्रान् घोषान्' शब्दों से उच्च स्वर में प्रभु नामोच्चारण का संकेत किया गया है। प्रभु 'उक्थ' हैं। ऊँचे से गायन के योग्य हैं। यह उच्च स्वर से प्रभुनामोच्चारण हमें विजयी बनाता है। यह मन्त्रोच्चारण जयशब्दोच्चारण हो जाता है।

भावार्थ—हमारे इन्द्रियाश्व शक्तिशाली हों। उनकी लगाम हमारे हाथों में हो तभी हम इस शरीर-रथ से यात्रा में आगे बढ़ पाएँगे।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**वीराः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

रथमुपसदेम

रथवाहनꣳहविरस्य नाम यत्रायुधं निहितमस्य वर्म।
तत्रा रथमुप शग्मꣳसदेम विश्वाहा वयꣳसुमनस्यमानाः॥४५॥

१. **अस्य**=इस मन्त्र के ऋषि 'भरद्वाज पायु' का **हविः**=दानपूर्वक अदन, यज्ञशेष के रूप में भोजन का सेवन **रथवाहनम् नाम**=निश्चय से शरीररूप रथ के धारण के लिए ही करते हैं। २. इनका यह शरीररूप रथ ऐसा है **यत्र**=जिसमें **अस्य**=इस रथस्वामी का **आयुधम्**=सब अस्त्र-शस्त्र, (वस्तुतः इस जीवन-यात्रा में इन्द्रियाँ ही आयुध हैं अथवा प्राण आयुधरूप हैं—ये इन्दियाँ और प्राण) तथा **वर्म**=ज्ञानरूप कवच **निहितम्**=रखा है। वस्तुतः जिस समय मनुष्य भोजन का चुनाव बड़े ध्यान से करता है तब उसकी इन्द्रियाँ, प्राण और ज्ञान सभी उत्तम होते हैं। ३. **तत्र**=उस समय **वयम्**=हम **एवम्**=शरीररूप रथ पर **उपसदेम**=विनीततापूर्वक आसीन हों—हम उपासना की वृत्तिवाले बनकर रथारूढ़ हों, जिससे यह रथ **शग्मम्**=हमारे लिए सुखकर हो। ४. ऐसे रथ पर आरूढ़ हुए-हुए हम **विश्वाहा**=सदा **सुमनस्यमानाः**=सौमनस्यवाले हों। हमारे मनों में प्रसन्नता हो, उसमें किसी प्रकार की मलिन भावनाएँ न हों।

भावार्थ—जैसे रथ के ठीक होने पर तथा सब उपकरणों व रक्षासाधनों से युक्त होने पर यात्री सुख व शान्ति अनुभव करता है, उसी प्रकार हमारा यह शरीररूप रथ भी हो। इसमें इन्द्रियाँ, प्राण, मन व बुद्धि आदि सभी उपकरण ठीक हों, जिससे सौमनस्यवाले होकर हम यात्रा को पूर्ण करें।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**वीराः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

रथ-गोप—रथ-रक्षक सैनिक (Commanders)

स्वादुषꣳसदः पितरो वयोधाः कृच्छ्रेश्रितः शक्तीवन्तो गभीराः।
चित्रसेनाऽइषुबलाऽअमृध्राः सतोवीराऽउरवो व्रातसाहाः॥४६॥

१. सेना के नायकों का 'रथगोप' के नाम से उल्लेख करते हुए कहते हैं कि (क) **स्वादुषंसदः**=(स्वादु सुखं यथा तथा संसीदन्ति) इनका उठना-बैठना भी माधुर्य को लिये हुए होता है, (ख) **पितरः**=ये रक्षक होते हैं, अपने सैनिकों को पुत्रवत् समझते हैं, (ग) **वयोधाः**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करनेवाले होते है। (घ) **कृच्छ्रेश्रितः**=(कृच्छ्रे श्रीयन्ते सेव्यन्ते) कष्ट आने पर इनकी शरण में आया जाता है, (ङ) **शक्तीवन्तः**=सामर्थ्य व आयुधविशेषों से ये सम्पन्न होते है, (च) **गभीराः**=गम्भीरबल व गम्भीर प्रज्ञावाले हैं, (छ) **चित्रसेनाः**=नाना प्रकार की सेनावाले हैं, (च) **इषुबलाः**=बाणादि अस्त्रों से बलवाले हैं, (झ) **अमृध्राः**=(कठिनाङ्गा अमृदवः) कठिन अङ्गोंवाले हैं अथवा उग्र शासनवाले हैं, (ञ) **सतोवीराः**=सत्ता व बल से युक्त सेना को विविध दिशाओं में ईरण व प्रेरण करनेवाले हैं। अथवा सज्जन व वीर हैं। **उरवः**=विशाल जघन व उरु प्रदेशवाले हैं। **व्रातसाहाः**=शत्रुओं के समूहों को अभिभूत करनेवाले हैं। २. वस्तुतः ऐसे ही व्यक्ति 'रथगोप' अथवा सेनानायक बनने की योग्यता रखते हैं। वे सेना के पितर कहलाते हैं। वस्तुतः राष्ट्ररक्षक होने से इनका 'पितर' नाम समुचित ही है।

भावार्थ—मन्त्रवर्णित योग्यताओं को धारण करके हम सच्चे 'रथगोप' सेनानायक बनें।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**धनुर्वेदाध्यापकाः**। छन्दः—**विराड्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

ब्राह्मण

ब्राह्मणासः पितरः सोम्यासः शिवे नो द्यावापृथिवीऽअनेहसा।
पूषा नः पातु दुरितादृतावृधो रक्षा माकिर्नोऽअघशंस्सऽईशत॥४७॥

१. हमारे राष्ट्र के 'सेनानायक कैसे हों', यह विषय गतमन्त्र का था। प्रस्तुत मन्त्र का प्रारम्भिक विषय यह है कि 'हमारे राष्ट्र के आचार्य कैसे हों?' आचार्य (क) **ब्राह्मणासः**=(ब्रह्मवेत्ता) ब्रह्म के जाननेवाले अर्थात् पराविद्या में भी निपुण हों। **'परा यया तदक्षरमधिगम्यते'**, पराविद्या वही है जिससे उस अक्षर, अविनाशी, परमात्मा का ज्ञान होता है। 'पराविद्या में निपुण' कह देने से अपराविद्या का पाण्डित्य तो आ ही जाता है, क्योंकि सामान्यक्रम से अपरा के बाद ही परा का अध्ययन होता है। (ख) ये परा-पराविद्या में निपुण ब्राह्मण **पितरः**=विद्यार्थियों का पालन व रक्षण करनेवाले होते हैं। (ग) **सोम्यासः**=उत्कृष्ट ज्ञानवाले होते हुए ये बड़े सौम्य स्वभाव के, शान्तवृत्ति के होते हैं। २. राष्ट्र में ब्राह्मणों के ठीक होने पर आधिदैविक आपत्तियों से राष्ट्र बचा रहता है, अतः कहते हैं कि 'ब्राह्मणों के पितर व सोम्य' होने पर **नः**=हमारे लिए **द्यावापृथिवी** =द्युलोक व पृथिवीलोक **अनेहसा**=उपद्रव व हिंसाशून्य होते हुए **शिवे**=कल्याणकर हों। पार्थिव व अन्तरिक्ष कोई भी विपत्ति हमपर न आये। ३. द्यावापृथिवी के साथ **पूषा**=यह सबका पोषण करनेवाला सूर्य **नः**=हमें **दुरितात्**=पाप से **परिपातु**=सुरक्षित करे। ४. हे **ऋतावृधः**=सत्य व यज्ञ का रक्षण करनेवाले देवो! आप **रक्ष**=हमारी रक्षा कीजिए। वस्तुतः जब हमारे अन्दर सत्य व यज्ञ का वर्धन होगा तब हमारी रक्षा तो स्वतः हो जाएगी। ५. **अघशंसः**=बुराई का शंसन करनेवाला कोई व्यक्ति **नः**=हमारा **माकि**=मत **ईशत**=शासन करनेवाला हो जाए, अर्थात् हम किन्हीं भी दुष्टों के वश में न हो जाएँ। उनकी बातों में आकर धर्म के मार्ग से विचलित न हों जाएँ।

भावार्थ—राष्ट्र के ब्राह्मण 'पितर व सोम्य' हों तो द्युलोक व पृथिवीलोक हमारा कल्याण करनेवाले होंगे। सूर्य भी हमें अशुभावस्था से बचाएगा। सब देव हमारी रक्षा करें। हम दुर्जनों की बातों के प्रभाव में न आ जाएँ।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**वीराः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

बाण

सुपर्णं वस्ते मृगोऽअस्या दन्तो गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूता।
यत्रा नरः सं च वि च द्रवन्ति तत्रास्मभ्यमिषवः शर्म यꣳसन्॥४८॥

१. धानुष्क से छोड़े जानेवाला बाण **सुपर्णं वस्ते**=पक्षी के पिच्छ को धारण करता है। बाण के अग्रभाग में उसकी गति को तीव्र करने के लिए कंक आदि पक्षियों का पंख लगाया जाता है। २. **अस्या दन्तः**=इस इषु का फलका **मृगः**=लक्ष्य का मार्गण (अन्वेषण) करनेवाला होता है। ३. **गोभिः**=गोविकार श्लेष्मस्नायुओं (ताँत) से **सन्नद्धा**=अच्छी प्रकार कसकर बँधा हुआ **प्रसूता**=धानुष्क से प्रेरित किया गया यह इषु **पतति**=शत्रुसैन्य की ओर जाता है। ४. इसके शत्रुसैन्य पर पड़ने पर रणांगण का दृश्य ऐसा हो जाता है कि **यत्र**=जिसमें **नरः**=मनुष्य **संद्रवन्ति च**=मिलकर भाग खड़े होते हैं **च**=और **विद्रवन्ति**=विरुद्ध दिशाओं में तितर-बितर हो जाते हैं। ५. इस प्रकार शत्रुसैन्य को भगाकर ये **इषवः**=बाण **तत्र**=उस रणाङ्गण में **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए शर्म **यंसन्**=सुख व शान्ति देनेवाले हों।

भावार्थ—राष्ट्र की रक्षा के लिए आयुध-सामग्री ठीक से तैयार होनी चाहिए। यह शत्रुसैन्य को पराजित करके राष्ट्र में सुख व शान्ति को बढ़ानेवाली हो।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**वीराः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

ऋजुगमन (सरल व्यवहार)

ऋजीते परि वृङ्ग्धि नोऽश्मा भवतु नस्तनूः।
सोमोऽअधि ब्रवीतु नोऽदितिः शर्म यच्छतु॥४९॥

१. गतमन्त्र के अनुसार 'शत्रुओं के भय से सुरक्षित राष्ट्र में हम कैसे बनें' इस बात का वर्णन करते हुए कहते है कि हे **ऋजीते**=(ऋजुः इति सरल गमन) सरल गति! तू **नः**=हमें **परिवृङ्ग्धि**=सब ओर से, शरीर में रोगादि से और मन में चिन्ताओं व ईर्ष्या-द्वेषादि से छुड़ा। सुरक्षित राष्ट्र में सब प्रजाएँ सरल व्यवहार को अपनाकर अपने को रोगों व दोषों से मुक्त करें। २. **नः तनूः**=हमारे शरीर रोग-दोष से मुक्त होकर **अश्मा भवतु**=पत्थर के समान सुदृढ़ हों। छोटे-मोटे ऋतु-विकार उससे टकराकर प्रभावशून्य हो जाएँ। ३. **सोमः**=शान्त=विनीत स्वभाववाला आचार्य **नः**=हमें **अधिब्रवीतु**=अधिक्येन उपदेश दे। इनके उपदेश से ही हमारे जीवन में सरलता स्थिर रहेगी और हम कुटिलता से बचे रहेंगे। ४. **अदितिः**= अखण्डन, अर्थात् स्वास्थ्य अथवा अदीना देवमाता=दिव्य गुणों का निर्माण करनेवाली अदीनता की भावना **शर्म**=शान्ति व सुख **यच्छतु**=दे।

भावार्थ—हमारा व्यवहार सरल, कपटशून्य हो। शरीर पाषाणवत् दृढ़ हो। सौम्य आचार्यों से हमें ज्ञान प्राप्त हो। अदीनता व दिव्यता हमें सुखी व शान्त करे।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**वीराः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

अश्वाजनी

आ जङ्घन्ति सान्वेषां जघनाँ२॥ऽउप जिघ्नते।
अश्वाजनि प्रचेतसोऽश्वान्त्समत्सु चोदय॥५०॥

१. जहाँ रथ में घोड़ों का महत्त्व है, वहाँ घोड़ों को चलानेवाले रथवाहक का महत्त्व

भी कम नहीं है। समझदार रथवाहक सामान्य घोड़ों को भी बड़ी अच्छी गतिवाला कर लेता है। वह चाबुक का प्रयोग बड़ी समझदारी से करता है। नासमझ रथवाहक मार-मार कर अच्छे घोड़े को भी बिगाड़ देते हैं, अतः कहते हैं कि **प्रचेतसः** =प्रकृष्ट ज्ञानवाले समझदार रथवाहक **एषाम्**=इन घोड़ों के **सानु**=सानुतुल्य मांसोपचित (उठे हुए) अङ्गों को **आजङ्घन्ति**= चोट करते हैं, आहत करते हैं और **जघनान्**=कटिभागों को **उपजिघ्नते**=समीपता से ताड़ित करते हैं, दूर से किया हुआ प्रहार क्रोध को व्यक्त करता है और घोड़े को एक धक्का देता है, जिसकी प्रतिक्रिया कभी ठीक नहीं होती। पास से किया हुआ आघात प्रेमपूर्वक दिये गये संकेत का सूचक है, उससे घोड़ा यथेष्ट गति के लिए उत्साहित होता है। ३. हे **अश्वाजनि**=चाबुक (अश्वाः अज्यन्ते यया)! तू समझदार प्रचेतस रथवाहक से प्रेरित हुआ-हुआ **अश्वान्**=घोड़ों को **समत्सु**=संग्रामों में **चोदय**=प्रकृष्ट प्रेरणा देनेवाला हो।

भावार्थ—घोड़ों के संचालक-रथवाहक बड़े समझदार होने चाहिएँ। वे चाबुक का समझदारी से प्रयोग करते हुए घोड़ों को संग्राम में सञ्चालित करें।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**महावीरः सेनापतिः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

पुमान् पुमांसं पातु

अहिरिव भोगैः पर्येति बाहुं ज्याया हेतिं परिबाधमानः।
हस्तघ्नो विश्वा वयुनानि विद्वान्पुमान्पुमांꣳसं परि पातु विश्वतः॥५१॥

१. 'हस्तघ्न' की व्युत्पत्ति है 'हस्ते स्थितो हन्ति' अथवा 'हस्तं हन्ति प्राप्नोति'—हाथ में स्थित होता हुआ ज्या के अघात को रोकता है अथवा ज्या के अघात से बचाव के लिए हाथ को प्राप्त होता है। इस प्रकार यह **हस्तघ्नः**=प्रकोष्ठ त्राण (भुजरक्षक) **ज्यायाः**=धनुष की डोरी के **हेतिम्**=आघात को **परिबाधमानः**=रोकता हुआ **बाहुम्**=बाहु को **भोगैः**=अपने विस्तार से (आभोग से) **पर्येति**=इस प्रकार परिवेष्टित कर लेता है **इव**=जैसे **अहिः**=साँप **भोगैः**=अपने शरीरावयवों से। २. इसी प्रकार राजा भी हस्तघ्न हो, हाथ में लिये हुए शस्त्रों से शत्रुओं का हनन करनेवाला हो। यह राजा **विश्वा वयुनानि**=सब कर्मों व प्रज्ञानों को **विद्वान्**=जानता हुआ, अर्थात् अपने कर्त्तव्यों व ज्ञेय विषयों को समझता हुआ **पुमान्**=वीर होता हुआ अथवा (पू) पवित्र जीवनवाला होता हुआ **पुमांसम्**=अपने राष्ट्र के पवित्राचरण लोगों को **विश्वतः**=सब दृष्टिकोणों से **परिपातु**=रक्षित करे।

भावार्थ—'हस्तघ्न' ज्या के आघात से बाहु की रक्षा करता है। इसी प्रकार राजा भी हस्तघ्न बनता है और अपने कर्त्तव्यों को समझता हुआ प्रजा का रक्षण करता है।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**वीरः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

रथ

वनस्पते वीड्वङ्गो हि भूयाऽअस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः।
गोभिः सन्नद्धोऽअसि वीडयस्वास्थाता ते जयतु जेत्वानि॥५२॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में रथ को 'वनस्पते' शब्द से सम्बोधन किया गया है। रथ बहुत कुछ वनस्पति-विकार व काष्ठमय होता ही है। यह हमारा शरीररूप रथ भी वनस्पति का विकार ही होना चाहिए, यह मांस से परिपुष्ट न होकर वनस्पति से ही पोषण को प्राप्त करे। हे **वनस्पते**=वनस्पतिविकार रथ! तू **हि**=निश्चय से **वीड्वङ्गः**=दृढ़ अङ्गवाला **भूयाः**=हो। **अस्मत् सखा**=तू हमारा साथी हो। इस जीवन-यात्रा में सचमुच हमारी मदद देनेवाला हो।

प्रतरणः=सब विघ्नों को तैर जानेवाला हो। **सुवीरः**=उत्तम वीरतावाला हो। २. **गोभिः सन्नद्धः असि**=हे युद्धवाले रथ! तू गौ के श्लेष्मचर्मों से सम्यक् बँधा हुआ है, इधर हमारा यह शरीररूप रथ भी गोविकार दूध आदि पदार्थों से दृढ़ गठे हुए अङ्गोंवाला है। **वीडयस्व**=तू दृढ़ता के कार्यों को करनेवाला हो, तेरे कार्य वीरतापूर्ण हों। ३. **ते अस्थाता**=तुझपर आसीन होनेवाला **जेत्वानि**=विजेतव्य देशों व द्रव्यों को **जयतु**=जीते।

भावार्थ—हमारा शरीररूप रथ 'वनस्पतिविकार' ही हो, अर्थात् हम वानस्पतिक भोजन ही करें। गोदुग्ध से हमारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग सुगठित हों। इस शरीररूप रथ पर आसीन होकर हम विजेतव्य वस्तुओं का विजय करें।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**वीरः**। छन्दः—**विराड्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

ओजोभरण हविर्यजन

दिवः पृथिव्याः पर्योजऽउद्भृतं वनस्पतिभ्यः पर्य्याभृतꣳसहः ।
अपामोज्मानं परि गोभिरावृतमिन्द्रस्य वज्रꣳहविषा रथं यज ॥५३॥

१. गतमन्त्र के शरीररूप रथ में **दिवः**=मस्तिष्करूप द्युलोक का तथा **पृथिव्याः**=पृथिवीरूप शरीर का **ओजः**=बल **परि**=सब प्रकार से **उद्भृतम्**=प्रकर्षपूर्वक पोषित किया गया है, अर्थात् यह ध्यान किया गया है कि मस्तिष्क में जितने ज्ञान का पोषण हो सकता है, वह किया जाए और शरीर को जितना भी सबल बनाया जा सकता है बनाया जाए। २. इसी उद्देश्य से इसमें **वनस्पतिभ्यः**=वनस्पतियों के द्वारा **सहः**=सहनशक्ति बढ़ानेवाला बल **पर्याभृतम्**=सब ओर से अच्छी प्रकार लाया गया है, अर्थात् वनस्पतियों के सेवन से इसमें उस बल की वृद्धि हुई है जिसके कारण इसमें सहनशक्ति है, यह शीघ्रता से क्रोध में नहीं आ जाता। ३. **अपाम्**=(आपः रेतः) रेतस् कणों के—वीर्य-बिन्दुओं के **ओज्मानम्**=बल का पुंज यह **रथम्**=शरीररूप रथ **गोभिः**=गोदुग्धों से **परि आवृतम्**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में वृत हुआ है, अर्थात् जिसके अङ्गों का निर्माण दूध से हुआ है, दूध को पीकर जिसके अङ्ग सुन्दर बने हैं अथवा जो रथ **गोभिः**=ज्ञान की किरणों से आवेष्टित है। यह शरीर **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के **वज्रम्**=वज्रतुल्य दृढ़ है (यदश्नामि बलं कुर्व इत्थं वज्रमाददे) इस शरीर रथ को **हविषा**=हवि से **यज**=सङ्गत कर, अर्थात् यह सदा हवि का सेवन करनेवाला हो, दानपूर्वक अदन करनेवाला हो। इस हवि से ही तो हम प्रभु की भी अर्चना कर पाते हैं, अतः हम सदा दानपूर्वक अदन करनेवाले बनें। इस यज्ञशेष के सेवन से यह रथ अमृत बनेगा, रोगों का शिकार न होगा।

भावार्थ—इस शरीर-रथ में हम मस्तिष्क को ज्ञानपूर्ण करें, शरीर को बल-सम्पन्न बनाएँ। वनस्पतियों के सेवन से सहनशील बनें। रेतस् कणों की रक्षा से ओजस्वी बनें। ज्ञानकिरणों से प्रकाशित इस रथ को जितेन्द्रियता द्वारा वज्रतुल्य बनाएँ और सदा यज्ञशेष का सेवन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**वीरः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

मित्रस्य गर्भः

इन्द्रस्य वज्रो मरुतामनीकं मित्रस्य गर्भो वरुणस्य नाभिः।
सेमां नो हव्यदातिं जुषाणो देव रथ प्रति हव्या गृभाय॥५४॥

१. गतमन्त्र का यह शरीररूप रथ **इन्द्रस्य**=इन्द्र का **वज्रः**=वज्र है, अर्थात् जितेन्द्रिय

पुरुष का यह शरीर वज्रतुल्य दृढ़ होता है। २. यह शरीर **मरुताम्**=प्राणों की **अनीकम्**=तेजस्विता व दीप्तिवाला (splendour, brilliance) है, अर्थात् जहाँ जितेन्द्रियता से यह शरीर वज्रतुल्य दृढ़ता को प्राप्त होता है, वहाँ प्राणसाधना से यह तेज व दीप्तिवाला होता है। ३. जितेन्द्रिय पुरुष का यह शरीर प्राणसाधना करने पर **मित्रस्य गर्भः**=स्नेह की देवता का गर्भ होता है, अर्थात् स्नेह से परिपूर्ण होता है। ४. **वरुणस्य नाभिः**=द्वेष के निवारण की देवता का केन्द्र व बन्धन-(नह बन्धने)-वाला होता है। इस इन्द्र के शरीर में द्वेष के लिए स्थान नहीं रहता। यहाँ प्रेम-ही-प्रेम होता है। ५. हे **देवरथ**=इन्द्र, मरुत्, मित्र व वरुण आदि देवों के निवासस्थान बने हुए रथ! **सः**=वह तू **नः**=हमारी **इमाम्**=इस **हव्यदातिम्** **जुषाणः**=यज्ञशेष के रूप में दिये गये भोजन को सेवन करता हुआ **प्रति**=प्रतिदिन **हव्या**=हवियों को ही **गृभाय**=ग्रहण कर, अर्थात् तू सदा हवि का सेवन करनेवाला बन। वस्तुतः देवता हविर्भुक् हैं, हवि के सेवन से ही हममें देवों की व दिव्य गुणों की वृद्धि होगी।

भावार्थ—हम हवि के सेवन से, यज्ञशेष के भोजन से, अपने में शरीर की दृढ़ता, प्राणों की तेजस्विता, स्नेहभाव व द्वेष-निवारण को स्थिर करें।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**वीराः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

दुन्दुभि

उप॑ श्वासय पृथि॒वीमु॒त द्यां पु॑रु॒त्रा ते॑ मनुतां॒ विष्ठि॑तं॒ जग॑त्।
स दु॑न्दुभे स॒जूरिन्द्रे॑ण दे॒वैर्दू॒राद्दवी॑यो॒ऽअप॑ सेध॒ शत्रू॑न् ॥५५॥

१. हे **दुन्दुभे**=दुन्दुशब्द से शत्रुओं को भयभीत करनेवाली दुन्दुभे! तू **पृथिवीम्**=पृथिवी को **उत**=और **द्याम्**=द्युलोक को **उपश्वासय**=गुञ्जित कर दे (उपशब्दय—उ०)। २. **पुरुत्रा**=बहुत-से स्थानों पर अर्थात् भिन्न-भिन्न स्थानों पर **विष्ठितम्**=विशेषरूप से स्थित हुआ-हुआ यह **जगत्**=सारा लोक **ते मनुताम्**=तुझे जाने, तेरा विचार करे। 'इतना आयत, दीर्घ व भयंकर शब्द कहाँ से हुआ' ऐसा सब लोग सोचने लगें। ३. हे दुन्दुभे! **सः**=वह तू **इन्द्रेण**=शत्रुओं को दूर भगानेवाले राजा के **सजूः**=साथ तथा **देवैः**=युद्धक्रीड़ा के सञ्चालक अन्य सेनापतियों के साथ **शत्रून्**=शत्रुओं को **दूरात् दवीयः**=दूर से भी दूर **अपसेध**=भागा दे, रोक दे। तेरे शब्द को सुनकर शत्रु आगे बढ़ने का उत्साह ही न कर सके। तेरा शब्द उनके हृदयों को दहला दे।

भावार्थ—जब हम धर्म्य संग्राम में अवतीर्ण होते हैं, तब हमारा युद्ध के लिए किया गया आह्वान का शब्द शत्रु को भयभीत करनेवाला हो। हमारी दुन्दुभि के शब्द को सुनकर शत्रु भाग खड़े हों।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**वादयितारो वीराः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

परायों को रुलाना-अपने को सबल बनाना

आ क्र॑न्दय॒ बल॒मोजो॑ न॒ऽआधा॒ निष्ट॑निहि दुरि॒ता बाध॑मानः।
अप॑ प्रोथ दुन्दुभे दु॒च्छुना॑ऽइ॒तऽइन्द्र॑स्य मु॒ष्टिर॑सि वी॒डय॑स्व ॥५६॥

१. हे दुन्दुभे! तू **बलम्**=शत्रुसैन्य को **आक्रन्दय**=रुला दे। 'मेरा भाई मारा गया, मेरे पिता चले गये' इस प्रकार रोती हुई शत्रुसेना भाग खड़ी हो। २. तू **नः**=हममें **ओजः आधाः**=ओजस्विता का आधान कर। तेरा नाम ही 'आनक' है, आनयति सोत्साहान् करोति=यह शब्द वीरों को आनन्दित करता है, वे अधिक उत्साहयुक्त होकर युद्ध के लिए

आगे बढ़ते हैं। ३. **दुरिता**=दुरितों को, ग़लत चालों को, भाग जाने आदि की अपमानजनक भावनाओं को **बाधमानः**=रोकती हुई तू **निष्टनिहि**=निश्चत विजय के लिए शब्द कर। ४. हे दुन्दुभे! तू **इतः**=यहाँ रणांगण से **दुच्छुनाः**=दुष्ट कुत्ते के समान हमारे शत्रुओं को **अप प्रोथ**=सुदूर नष्ट कर दे। 'दुच्छुना' शब्द का अर्थ 'दुष्ट सुखों में फँसे हुए लोगों को' ऐसा होगा। इन लोगों को यह युद्ध का डिण्डिमशब्द दूर भगा दे। ५. हे **दुन्दुभे**! तू तो **इन्द्रस्य**=इस शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले राजा व सेनापति की **मुष्टिरसि**=मुष्टि है। जैसे मुष्टि से प्रहार करते हैं, इसी प्रकार दुन्दुभि का शब्द भी शत्रु पर प्रबल प्रहार करता है, अतः, हे दुन्दुभे! **वीडयस्व**=तू हमारे सैनिकों को दृढ़ बनानेवाली हो अथवा वीरतायुक्त कर्म कर।

भावार्थ—दुन्दुभि का शब्द जहाँ शत्रु को भयभीत करता है, वहाँ अपने सैनिकों को उत्साहयुक्त करता हैं। इसके शब्द से शत्रु-सैन्य कुत्तों की भाँति भाग खड़ा हो।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**वादयितारो वीराः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

विजय

आमूरज प्रत्यावर्त्तयेमाः केतुमद्दुन्दुभिर्वावदीति।
समश्वपर्णाश्चरन्ति नो नरोऽस्माकमिन्द्र रथिनो जयन्तु ॥५७॥

१. **केतुमत्**=विजय-पताकावाली अथवा (केतु=प्रज्ञा) विजय की प्रकाशक, विजय की सूचना देनेवाली **दुन्दुभिः**=भेरी **वावदीति**=अतिशयेन बजे। २. इस दुन्दुभि के द्वारा **अमूः**=इन शत्रुसेनाओं को तू **आ अज**=चारों ओर से विक्षिप्त करनेवाला हो। शत्रुसेनाएँ, भय से भाग खड़ी हों। **इमाः** =इन शत्रुसेनाओं को **प्रत्यावर्त्तय**=तू वापस लौटा दे। अथवा इन विजय करनेवाली अपनी सेनाओं को अब वापस लौटा ला। ३. **नः**=हमारे **अश्वपर्णाः नरः**=घोड़े के समान वेगवाले अथवा घोड़ों से इधर-उधर जानेवाले सेनानायक **संचरन्ति**=युद्धभूमि में सम्यक्तया, अव्याकुलता से विचरण करते हैं। ४. हे **इन्द्र**=शत्रुओं के विद्रावण करनेवाले सेनापते! तू इस प्रकार उत्तमता से सेना का सञ्चालन कर कि **अस्माकम्**=हमारे **रथिनः**=रथी लोग **जयन्तु**=विजय प्राप्त करें।

भावार्थ—हमारी रणभेरी विजयसूचक होकर बज उठे, शत्रुसेनाएँ भाग खड़ी हों, हमारी सेनाएँ व घुड़सवार सैनिक अव्याकुलता से रणांगाण में गति करें और हमारे रथी विजयी बनें।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**भुरिगत्यष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**।

पशु व देवता

आग्नेयः कृष्णग्रीवः सारस्वती मेषी बभ्रुः सौम्यः पौष्णः श्यामः शितिपृष्ठो बार्हस्पत्यः शिल्पो वैश्वदेवऽऐन्द्रोऽरुणो मारुतः कल्माषऽऐन्द्राग्नः सꣳहितोऽधोरामः सावित्रो वारुणः कृष्णऽएकशितिपात्पेत्वः ॥५८॥

१. गतमन्त्र के अनुसार विजयी राष्ट्र में राष्ट्र के भिन्न-भिन्न विभाग भिन्न-भिन्न पशुओं को अपना सूचक चिह्न बनाएँ, इस बात का संकेत करते हुए कहते हैं कि **कृष्णाग्रीवः**=काले गलेवाला पशु **आग्नेयः**=अग्नि देवतावाला, अर्थात् अग्नि के उत्तम गुणों से युक्त है, अतः अग्निनामक राष्ट्र का अग्रणी पुरुष कृष्णग्रीव पशु को अपना सूचक चिह्न बनाये। २. **मेषी**=भेड़ **सारस्वती**=सरस्वती के गुणोंवाली है। सरस्वती देवता का सूचक चिह्न 'मेषी' को बनाया जाए। आजकल भेड़ मूर्खता का प्रतीक समझी जाती है, परन्तु इस वेदवाक्य में वह

ज्ञान का प्रतीक होने योग्य समझी गई है। ३. **बभ्रुः**=पिङ्गल वर्णवाला पशु (धुमेला पशु—द०) **सौम्यः**=चन्द्रमा के गुणोंवाला है, सोम देवतावाला है। ४. **श्यामः**=श्याम रंग से युक्त पशु **पौष्णः**=पुष्टि आदि गुणोंवाला है, पूषा देवता से सम्बद्ध है, पूषा के गुणधर्मों से युक्त है। गौवों में काली गौ सम्पन्न क्षीरतमा मानी जाती है। ५. **शितिपृष्ठः**=श्याम पृष्ठवाला पशु **बार्हस्पत्यः**=बृहस्पति देवतावाला है, बृहस्पति के गुणधर्मों से युक्त है। ६. **शिल्पः**=विचित्र वर्णवाला पशु **वैश्वदेवः**=विश्वदेवे देवतावाला है, सब विद्वानों के गुणोंवाला है। इसके अनेक रंग विद्वान् की अनेक विद्याओं को संकेतित करते हैं। विद्वान् को भी विविध विद्याओं से विभूषित कण्ठवाला 'कल्माषग्रीव' होना ही चाहिए versatile। ७. **अरुणः**=लाल वर्णवाला **ऐन्द्रः**=इन्द्र देवतावाला है, सूर्य के गुणोंवाला है। ८. **कल्माषः**=खाखी वर्णयुक्त पशु **मारुतः**=वायुदेवता-सम्बन्धी है, अध्यात्म में इसका सम्बन्ध प्राणों से है। यह प्राण शरीर में अनेक चित्र (अद्भुत) कार्य करते हैं। ९. **संहितः**=दृढ़ अङ्गोंवाला पशु **ऐन्द्राग्नः**=इन्द्र व अग्नि देवतावाला है। इन्द्र व अग्नि का प्रतीक है, राष्ट्र में इन्द्र=सेनापति च अग्नि=सभापति दोनों को ही बड़े दृढ़ अङ्गोंवाला होना चाहिए। १०. **अधोरामः**=निचले प्रदेश में श्वेत वर्णवाला पशु **सावित्रः**=सवितृ देवतावाला है। जैसे सूर्य यहाँ अधः प्रदेश में भूमण्डल पर प्रकाश फैला देता है, उसी प्रकार राष्ट्र में सविता नामक शिक्षा-सचिव ने राष्ट्र में शिक्षा के विस्तार का ध्यान करना है। ११. **एकशितिपत्**=एक पाँव जिसका सफ़ेद है और **पेत्वः**=बड़ा वेगवान्, पतनशील पशु है, वह **वारुणः**=वरुणदेवता से सम्बद्ध है। वरुण के पाश **'छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं सत्यवाद्यति तं सृजन्तु'**, अनृतवादी को जहाँ बाँधते हैं वहाँ सत्यवादी को मुक्त करते हैं। एवं, एक पाँव काला है तो दूसरा सफ़ेद। एक सफेद पाँववाला व दूसरा कृष्ण पाँववाला पशु यही संकेत कर रहा है।

भावार्थ—राष्ट्र में समुचित प्रेरणा (व्यवस्था) के लिए सब अधिकारी अपने देवताओं के गुणधर्मोंवाले पशुओं को अपना सूचक चिह्न बनाएँ।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**अग्न्यादयः**। छन्दः—**भुरिगतिशक्वरी**। स्वरः—**पञ्चमः**।

देवगुणधर्मयुक्त पशु

अग्नयेऽनीकवते रोहिताञ्जिरनड्वानधोरामौ सावित्रौ पौष्णौ रजतनाभी वैश्वदेवौ पिशङ्गौ तूपरौ मारुतः कल्माषऽआग्नेयः कृष्णोऽजः सारस्वती मेषी वारुणः पेत्वः॥५९॥

१. **रोहिताञ्जिः**=(रोहितोऽञ्जिस्तिलको यस्य) लाल तिलकवाला **अनड्वान्**=वृषभ **अनीकवते**=सेनावाले, अर्थात् सेना के सञ्चालन करनेवाले **अग्नये**=अग्रेणी सेनापति के लिए है, अर्थात् रोहिताञ्जि अनड्वान् सेनापति का सूचक चिह्न है। २.**अधोरामौ**=निचले भाग में श्वेत दो पशु **सावित्रौ** =सविता के गुणधर्मवाले हैं, अर्थात् श्वेत अधोभागवाले दो पशु (श्वेत=शुक्र=शुक्ल) **सावित्रौ**=पति-पत्नी के प्रतीक हैं, जो अधोभाग में वर्त्तमान इन्द्रियों से रमण करते हुए सन्तान को जन्म देते हैं। ३. **रजतनाभी**=रजत के समान नाभिवाले दो पशु **पौष्णौ**=पूषा देवता के गुणधर्मोंवाले हैं। प्रजाओं का पालन-पोषण करनेवाले धनी स्त्री-पुरुषों के ये पशु प्रतीक हैं, ये धनी स्त्री-पुरुष भी रजत व धन से सभी को अपने साथ बाँधे रहते हैं (नह बन्धने)। ४. **पिशङ्गौ**=पिङ्गल वर्णवाले **तूपरौ**=निःशृंग दो पशु **वैश्वदेवौ**=विश्वदेव देवतावाले हैं। सब देवता तेजस्विता के कारण सुवर्ण के समान पीत वर्णवाले होते हैं और हिंसा न करने से मानो निःशृंग हैं। हिंसा न करने से इनके सींग

नहीं निकले हुए। ५. **कल्माषः**=खाखी वर्णवाला पशु **मारुतः**=मरुतों के गुण धर्मवाला है। मरुत=प्राण हैं, ये शरीर में विविध कार्यों को करते हुए कल्माष व चित्र-विचित्र वर्णवाले हैं। योग में प्राणों के विविध रंग माने गये हैं। ६. **कृष्णाः अजः**=कृष्णवर्ण का अज **आग्नेयः**=अग्नि के गुणधर्मवाला है। 'अग्नि' गर्म है इस कृष्ण अज से प्राप्त पश्म भी बड़ी गरम होती है। अथवा अग्नि सेनापति है वह कृष्ण वर्णवाले बारूद से शस्त्रों के प्रक्षेपण (अज=क्षेपण) द्वारा शत्रुओं को दूर भगाता है, अतः उसका प्रतीक 'कृष्ण अज' रक्खा गया है। ७. **मेषी**=भेड़ **सारस्वती**=सरस्वती के गुण-धर्मवाली है। सरस्वती के उपासक भेड़ की भाँति ही नतमस्तक=विनीत रहते हैं और मस्तक व ज्ञान के द्वारा ही टक्कर लेते हैं। ८. **पेत्वः**=वेगवान् पशु **वारुणः**=वरुण देवतावाला है। वेगवान् पशु की भाँति वरुण भी अपने शत्रु-बाधनादि कार्यों में वेगवाला होता है।

भावार्थ—पशुओं के गुणधर्मों को समझकर हम अपने प्रतीकभूत पशु के चिह्न से प्रेरणा लेनेवाले बनें।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**अग्न्यादयः**। छन्दः—**विराट्प्रकृतिः**[क], **प्रकृतिः**[र]। स्वरः—**धैवतः**।

बृहस्पति-शाक्वर

[क]अग्नये गायत्राय त्रिवृते राथन्तरायाष्टाकपालऽइन्द्राय त्रैष्टुभाय पञ्चदशाय बार्हतायैकादशकपालो विश्वेभ्यो देवेभ्यो जागतेभ्यः सप्तदशेभ्यो वैरूपेभ्यो द्वादशकपालो मित्रावरुणाभ्यामानुष्टुभाभ्यामेकविंशाभ्यां [र]वैराजाभ्यां पयस्या बृहस्पतये पाङ्क्ताय त्रिणवाय शाक्वराय चरुः सवित्रऽऔष्णिहाय त्रयस्त्रिंशाय रैवताय द्वादशकपालः प्राजापत्यश्चरुरदित्यै विष्णुपत्न्यै चरुरग्नये वैश्वानराय द्वादशकपालोऽनुमत्याऽअष्टाकपालः॥६०॥

१. याज्ञिक परिभाषा में आठ कपालों (पात्रों) में संस्कृत हवि को 'अष्टाकपाल' कहते हैं। यहाँ याज्ञिक परिभाषा का ही प्रयोग करते हुए कहते हैं कि **अग्नये**=आगे बढ़ने के स्वभाववाले, **गायत्राय**=(गयाः प्राणाः, तान् तत्रे) प्राणों की रक्षा करनेवाले, **त्रिवृते**=(त्रिषु वर्तते) धर्मार्थकाम तीनों में समानुपात से वर्तनेवाले और अतएव **राथन्तराय**=इस शरीररूप रथ से तैर जानेवाले के लिए **अष्टाकपालः**=आठ कपालों में संस्कृत की गई हवि होती है। ये आठ कपाल गीता के '**भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा**' इस श्लोक में स्पष्ट हैं। पञ्चमहाभूतों से यह स्थूलशरीर बना है और फिर मन, बुद्धि, अहंकार से सूक्ष्म शरीर की रचना हुई है। इन स्थूल व सूक्ष्म शरीरों में संस्कृत हवि का अभिप्राय यह है कि इनकी शक्तियों का ठीक से परिपाक किया जाए। इन सबके सशक्त होने पर ही मनुष्य संसार-समुद्र को इस शरीररूप रथ से पार कर जाता है। २. **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय, **त्रैष्टुभाय**='काम, क्रोध, लोभ' इन तीनों को रोकनेवाले, **पञ्चदशाय**=पाँचों प्राणों, पाँचों कर्मेन्द्रियों व पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को ठीक रखनेवाले, **बार्हताय**=(बृहि वृद्धौ) निरन्तर वृद्धिशील व्यक्ति के लिए **एकादशकपालः**=ग्यारह कपालों में संस्कृत की गई हवि चाहिए। 'पुरमेकादशद्वारम्' में ग्यारह इन्द्रियद्वारों का उल्लेख है। इन ग्यारह इन्द्रियद्वारों की शक्ति का विकास करना ही एकादशकपालों में हवि का परिपाक है। ३. **विश्वेभ्यो देवेभ्यः**=सब दिव्य गुणों को प्राप्त करनेवाले, **जागतेभ्यः**=जगती के हित में प्रवृत्त, **सप्तदशेभ्यः**=पाँच प्राण, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इन १७

को ठीक रखनेवाले **वैरूपेभ्यः**=विशिष्ट रूपवालों के लिए सबमें असामान्य रूप से दिखनेवालों के लिए **द्वादशकपालः**=बारह कपालों में संस्कृत हवि होनी चाहिए। दस इन्द्रियाँ तथा मन और बुद्धि की शक्ति का विकास ही बारह कपालों में हवि का परिपाक है। ४. **मित्रावरुणाभ्याम्**=स्नेह व द्वेष-निवारण को धारण करनेवाले, **अनुष्टुभ्भ्याम्**=प्रत्येक कार्य के साथ प्रभु-स्मरण करनेवाले (अनु+स्टुभम्) **एकविंशाभ्याम्**='ये त्रिषप्त' मन्त्र में वर्णित शरीर की २१ शक्तियों का धारण करनेवाले और अतएव **वैराजाभ्याम्**=विशेषरूप से दीप्त होनेवाले अथवा नियमित (regulated) जीवनवालों के लिए **पयस्या**=(पायस शृतः) दूध में परिपक्व चरु होना चाहिए, अर्थात् इन्हें यथासम्भव दूध व दूध में संस्कृत वस्तुओं पर ही जीवन-निर्वाह करना चाहिए। ५. **बृहस्पतये**=ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञानी बननेवाले, **पाङ्क्ताय**=पंक्तिछन्द से स्तुत, अर्थात् पाँचों प्राणों, पाँचों कर्मेन्द्रियों, पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को सुन्दर बनाने की प्रबल इच्छावाले, **त्रिणवाय**=धर्मार्थकाम तीनों में गतिवाले (नव् गतौ) अथवा शरीर, मन व बुद्धि तीनों जिसके स्तुत्य हैं उस त्रिणव, अतएव **शाक्वराय**=शक्तिशाली के लिए **चरुः**=हविर्द्रव्य तैयार करना चाहिए, अर्थात् यह उन्हीं हविर्द्रव्यों का भोजन में प्रयोग करे जिनका यज्ञ के लिए परिपचन होता है। एवं, यज्ञिय पदार्थों को सेवन करता हुआ ही यह शक्तिशाली बनता है। मस्तिष्क के दृष्टिकोण से यह बृहस्पति है तो शरीर के दृष्टिकोण से 'शाक्वर'। ६. **सवित्रे**=निर्माण के कार्य करनेवाले **औष्णिहाय**=उत्कृष्ट स्नेहवाले, **त्रयस्त्रिंशाय**=तेतीस देवों का निवास स्थान बसनेवाले, **रैवताय**=उत्कृष्ट ज्ञानधनवाले के लिए **द्वादशकपालः**=बारह कपालों में संस्कृत होनेवाला, अर्थात् इन्द्रियों, मन व बुद्धि की शक्ति के विकासवाला इष्ट है। ७. **प्राजापत्यः**=प्रजापति के लिए हितकर, अर्थात् जो हमारी वृत्ति को प्रजारक्षणवाला बनाता है, वह **चरुः**=हविर्द्रव्य तैयार करना चाहिए। यह व्यक्ति भी इन यज्ञिय भोजनों को करता हुआ ही तो ऐसा बन सकेगा। ८. **अदित्यै**=न खण्डन करनेवाली **विष्णुपत्न्यै**=लक्ष्मी के लिए **चरुः**=वानस्पतिक यज्ञिय भोजन ही इष्ट है। ऐसे भोजनों को करते हुए ही हम लक्ष्मी की आराधना करते हुए भी उसमें आसक्त न होने से स्वस्थ शरीर व स्वस्थ मनोवृत्तिवाले बने रहेंगे। ९. **वैश्वानराय**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले **अग्नये**=प्रगतिशील के लिए **द्वादशकपालः**=बारह कपालों में संस्कृत हवि चाहिए, अर्थात् वैश्वानर अग्नि बनने के लिए हमें इन्द्रियों, मन व बुद्धि की शक्ति का विकास करना चाहिए। १०. अन्त में **अनुमत्या (त्यै)**=अनुमति के लिए **अष्टाकपालः**=आठ कपालों में संस्कृत हवि अभिष्ट है। हम लोक में अनुकूल गति से ही चलें, हमारी गति शास्त्रविरुद्ध मार्ग पर जानेवाली न हो, इसके लिए हम पंचभूतों व मन, बुद्धि, अंहकार सभी को ठीक रखने का प्रयत्न करें।

भावार्थ—इस संसार में जीवन को सुन्दर बनाने के लिए पंचभूतों, इन्द्रियों, मन, बुद्धि, अंहकार—इन सबका ठीक परिपाक होना चाहिए। साथ ही हम सदा यज्ञिय पदार्थों का ही सेवन करें।

सूचना—इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय की समाप्ति जीवन को यज्ञिय बनाने के उपदेश से हुई है। अब अगले अध्याय का प्रारम्भ इस यज्ञिय भावना को जागरित करने की प्रार्थना से ही करते हैं।

इत्येकोनत्रिंशोऽध्यायः॥

अथ त्रिंशोऽध्यायः

—:०:—

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

ज्ञान+वाङ्माधुर्य

देव॑ सवितः॒ प्र सु॑व य॒ज्ञं प्र सु॑व य॒ज्ञप॑तिं॒ भगा॑य।
दि॒व्यो ग॑न्ध॒र्वः के॑त॒पूः केतं॑ नः पुनातु वा॒चस्पति॒र्वाचं॑ नः स्वदतु॥१॥

१. हे **देव**=सब दिव्य गुणों के पुञ्ज तथा **सवितः**=सकल जगदुत्पादक तथा सब प्रेरणाओं के देनेवाले प्रभो! **यज्ञम् प्रसुव**=हमें यज्ञ की प्रेरणा दीजिए। प्रेरणा देने का अधिकार तभी प्राप्त होता है जब वे गुण स्वयं हममें हों। इसी दृष्टिकोण से यहाँ 'देव सवितः' इस क्रम से शब्दों का प्रयोग है। प्रभु स्वयं दिव्य गुणोंवाले हैं, दिव्य गुणों के पुञ्ज हैं, वे हृदयस्थरूपेण जीव को प्रेरणा प्राप्त कराते हैं। प्रभु स्वयं सृष्टिरूप महान् यज्ञ करनेवाले हैं, वे प्रभु हमें भी यज्ञ की प्रेरणा प्राप्त कराएँ। २. हे प्रभो! **यज्ञपतिम्**=यज्ञों के पति, यज्ञों के रक्षक मुझे **भगाय**=ऐश्वर्य के लिए **प्रसुव**=प्रेरित कीजिए, अर्थात् मुझे ऐश्वर्य प्राप्त कराइए। मैं यज्ञशील बनकर ऐश्वर्य को प्राप्त करनेवाला बनूँ। ३. हे प्रभो! आप **दिव्यः**=सदा प्रकाश में निवास करनेवाले हैं, **गन्धर्वः**=(गां धरति) वेदवाणी का धारण करनेवाले हैं, **केतपूः**=हमारे ज्ञानों को पवित्र करनेवाले हैं। आपकी कृपा से आपका उपासक 'दिव्य, गन्धर्व, केतपूः' विद्वान् **नः**=हमारे **केतम्**=ज्ञान को **पुनातु**=पवित्र करे। हमें प्रकाश में निवास करनेवाले, वेदवाणी के धारक, ज्ञान को पवित्र करनेवाले आचार्य प्राप्त हों, उनके सम्पर्क से हमारा ज्ञान चमक उठे। ४. **वाचस्पतिः**=सब वाणियों का स्वामी व रक्षक प्रभु **नः**=हमारी **वाचम्**=वाणी को **स्वदतु**=स्वादवाला बनाए। हमारी वाणी में माधुर्य हो,। ५. ज्ञानी व मधुर वाणीवाले बनकर हम यज्ञियवृत्ति से अधिक-से-अधिक लोकहित में प्रवृत्त हों और दुःखी मनुष्य-समूह का कल्याण करते हुए प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'नारायण' बनें, नरसमूह के शरणस्थान।

भावार्थ—प्रभु हमें यज्ञ की प्रेरणा दें। यज्ञपति बनकर हम ऐश्वर्यशाली हों। प्रभु हमारे ज्ञान को पवित्र करें और वाणी को माधुर्य से भर दें।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

वरेण्य भर्ग

तत्स॑वि॒तुर्वरे॑ण्यं॒ भर्गो॑ दे॒वस्य॑ धीमहि। धियो॒ यो नः॑ प्रचो॒दया॑त्॥२॥

१. गतमन्त्र के अनुसार 'यज्ञ+ज्ञान+व वाङ्माधुर्य' को अपनाकर हम अपने जीवन को इस प्रकार उच्च बनाएँ कि हम प्रभु के तेज को धारण करनेवाले बनें। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **यः**=जो **नः**=हमारी **धियः**=बुद्धियों को **प्रचोदयात्**=प्रकृष्ट यज्ञादि की प्रेरणा प्राप्त कराए **तत्सवितुः**=(स चासौ सविता च) उस सर्वव्यापक (तन् विस्तारे) सकल जगदुत्पादक व प्रेरक **देवस्य**=दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु के **वरेण्यम्**=वरने योग्य **भर्गः**=(भ्रस्ज पाके) पापों को भून डालनेवाले तेज को **धीमहि**=हम धारण करें। २. उसी तेज की शक्ति को हम

अपना लक्ष्य बनाएँ। यह लक्ष्य ही हमारी पापवृत्तियों को समाप्त करेगा। इस लक्ष्य की ओर बढ़ते हुए हम बुराइयों से बचे रहेंगे। ३. हृदयस्थरूपेण वे प्रभु हमें सदा उत्तम कर्मों की प्रेरणा दे ही रहे हैं। 'उस प्रभु के समान मुझे भी तेजस्वी बनना है', यही सर्वमहान् लक्ष्य है। लक्ष्य की ऊँचाई के अनुपात में ही हमारी उन्नति होती है। ऊँचे लक्ष्य से हम बुराइयों में फँसने से बचते हैं और प्रभु-जैसे बनते चलते हैं। प्रभु 'ब्रह्म' हैं, हम 'ब्रह्म इव' हो जाते हैं। लोहा अग्नि में पड़कर अग्नि-सा देदीप्यमान हो उठता है।

भावार्थ—हम निरन्तर प्रभु का ध्यान करें, प्रभु की तेजस्विता हमारे लिए वरेण्य हो। यह लक्ष्य हमें मार्गभ्रष्ट होने से बचाएगा।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

दुरित-दूरीकरण

विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒तानि॒ परा॑ सुव। यद्भ॒द्रन्तन्न॒ऽआ सु॑व ॥ ३॥

१. हे **देव**=दिव्य गुणों के पुञ्ज! **सवितः**=सबके प्रेरक प्रभो! **विश्वानि**=हमारे न चाहते हुए भी हममें घुस आनेवाली **दुरितानि**=बुराइयों को **परासुव**=हमसे दूर कर दीजिए। २. बुराइयों को दूर करके **यत् भद्रम्**=जो शुभ है, कल्याणकर है **तत्**=उसे **नः**=हमें **आसुव**=सर्वथा प्राप्त कराइए। ३. हमारे जीवन का कार्यक्रम यही हो कि हम दुरितों को दूर करते चलें और भद्र बातों को ग्रहण करते जाएँ। यही उत्तम बनने का मार्ग है, यही आपके समीप पहुँचने का साधन है। यही वास्तविक उपासना है। ४. यहाँ मन्त्र के पूर्वार्ध में '**नः**' का प्रयोग नहीं, पर उत्तरार्ध में **नः** का प्रयोग है। दोष-दूरीकरण में दूसरों के दोषों को हमें देखना ही नहीं चाहिए, परन्तु कल्याण-प्राप्ति की प्रार्थना सभी के लिए करनी चाहिए, इसीलिए उत्तरार्ध में 'नः' शब्द का सौन्दर्य स्पष्ट है। ५. वस्तुतः हम दोषों को दूर करके व भद्र का संग्रह करके ही मन्त्र के ऋषि 'नारायण' बनने की तैयारी करते हैं।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारे दोष दूर हों और हमें भद्र की प्राप्ति हो।

ऋषिः—**मेधातिथिः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

वसु-विभाग (Distribution of Wealth)

वि॒भ॒क्तार॑ꣳ हवामहे॒ वसो॑श्चि॒त्रस्य॒ राध॑सः। स॒वि॒तारं॑ नृ॒चक्ष॑सम् ॥ ४॥

१. गतमन्त्र में प्रार्थित दुरितों को दूर करने व भद्र के प्रापण का प्रकार यह है कि प्रभु धन का विभाग करते हैं। उस धन के केन्द्रित होने पर ही दोष उत्पन्न होते हैं। मनुष्य भी नासमझी व स्वार्थपरता के कारण धन पर केन्द्रित होने लगता है और सारा सामाजिक शरीर अस्वस्थ हो जाता है। २. अतः मन्त्र में कहते हैं कि हम **वसोः**=निवास के लिए आवश्यक धन के **विभक्तारम्**=विभागपूर्वक देनेवाले प्रभु को **हवामहे**=पुकारते हैं, अर्थात् हम प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि वे हममें सदा उचित धन-विभाग की व्यवस्था किये रक्खें। हमारे राष्ट्र के राजा आदि को प्रभु की ऐसी प्रेरणा मिले कि वे प्रजा में धन को कहीं केन्द्रित न होने दें। ३. यह धन जहाँ (क) **वसु**=निवास के लिए आवश्यक साधनों का प्रापक है, वहाँ (ख) **चित्रस्य**=(चित् र) यह ज्ञान देनेवाला है, इसके द्वारा हम ज्ञानवर्धक ग्रन्थों का संग्रह कर पाते हैं। इस धन को हम सदा साधन के रूप में देखते हैं। यह साध्य बनकर हमें अभिभूत करके उल्लू नहीं बना देता। साथ ही (ग) **राधसः**=(राध संसिद्धौ) यह धन हमारे कार्यों का साधक है। यह धन कार्यों में सफलता प्राप्त करानेवाला है। यह स्पष्ट है

कि इतना ही धन ठीक है जो 'वसु+चित्र व राधस्' है। ३. हम उस प्रभु को पुकारते हैं जो **सवितारम्**=सकल जगदुत्पादक हैं, वस्तुतः हमें भी उत्पादन करके ही धनार्जन करना चाहिए। ५. **नृचक्षसम्**=वे प्रभु सब मनुष्यों को देखनेवाले हैं (चक्ष्=To look after) हम भी सभी को देखनेवाले बनें, सभी का ध्यान करें। जब हम स्वार्थी बन जाते हैं तभी धन के केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति बढ़ती है।

भावार्थ—प्रभु धन का विभाग करते हैं। यदि धन एक स्थान पर केन्द्रित होने लगता है तो दुरितों की वृद्धि हो जाती है, अतः 'मेधातिथि' समझदारी से चलनेवाला, धन को केन्द्रित नहीं होने देता।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**परमेश्वरः**। छन्दः—**स्वराडतिशक्वरी**। स्वरः—**पञ्चमः**।

ज्ञान के लिए ब्राह्मण को

ब्रह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्यं मरुद्भ्यो वैश्यं तपसे शूद्रं तमसे तस्करं नारकाय वीरहणं पाप्मने क्लीबमाक्रयायाऽ अयोगूं कामाय पुँश्चलूमतिक्रुष्टाय मागधम्॥ ५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार राष्ट्र-शरीर के स्वास्थ्य के लिए धन का विभाग व विकेन्द्रियकरण आवश्यक है। राजा को राष्ट्र की उचित व्यवस्था के लिए यह धन-विभाग करना ही चाहिए। कर व्यवस्था भी इस प्रकार से हो कि धन केन्द्रित न हो पाये। प्रसंगवश अब यह भी कहते हैं कि राष्ट्र में राजा किस-किस कार्य के लिए किस-किस व्यक्ति को नियत करे। २. **ब्रह्मणे**=ज्ञान के प्रचार के लिए **ब्राह्मणम्**=वेद व ईश्वर के वेत्ता ज्ञानी पुरुष को **आलभते**=नियत करे। ज्ञान ज्ञानी ही तो फैलाएगा। 'आलभते' क्रिया २२वें मन्त्र में आई है। वही क्रिया सर्वत्र उपयुक्त होगी। २. **क्षत्राय राजन्यम्**=लोगों को व राष्ट्र को क्षतों से बचाने के लिए क्षत्रिय को प्राप्त करे। राष्ट्र की रक्षा क्षत्रियों से ही होगी। क्षत्रियों के अभाव में राष्ट्र शत्रुओं से आक्रान्त होकर पराधीन हो जाएगा। ३. **मरुद्भ्यः**=सब मान्य मनुष्यमात्र के लिए **वैश्यम्**=वैश्य को प्राप्त करे। जहाँ मनुष्यों की बस्ती बसानी है वहाँ वैश्यों के लिए मण्डी भी बनानी है। मनुष्यों के दैनन्दिन जीवन के लिए उपयोगी वस्तुओं को ये ही प्राप्त कराएँगे। ४. **तपसे शूद्रम्**=तप के लिए, अर्थात् कष्ट व श्रम के लिए शूद्र को प्राप्त करे। **शूद्र**=शु द्रवति=यह शीघ्रता से कार्य करनेवाला होता है, शु उन्दति=शीघ्र पसीने से गीला होनेवाला होता है। यह ज्ञान, बल व धन-प्राप्ति की योग्यता के अभाव में श्रम से ही राष्ट्र की उपयोगी सेवा करता है। शरीर में जो पाँव का स्थान है, राष्ट्र-शरीर में वही स्थान शूद्र का है। राष्ट्र के सब बड़े-बड़े भवन इन्हीं के श्रम पर आश्रित होते हैं। ५. **तमसे**=अन्धकार में काम करने के लिए **तस्करम्**=चोर को नियत करे। 'तत् करोतीति तस्करः'=अन्धकार में कार्य करने में समर्थ पुरुष को नियत करे। ६. **नारकाय वीरहणम्**=(नारम् नरसमूहं कायति) शत्रुओं के नरसमूहों को रुलाने के लिए वीरों को नियत करे, जो शत्रुपक्ष से आनेवाले व्यक्तियों को तीरों की मार से समाप्त कर दें। **पाप्मने क्लीबम्**=पाप के लिए नपुंसक को प्राप्त करे। इस वाक्य के दो अर्थ हो सकते हैं—(क) पाप के लिए नपुंसक-सा हो जाए, अर्थात् पाप कर ही न सके अथवा (ख) नपुंसक ही पाप करेगा, वीर पाप को अपनी शोभा के विपरीत समझेगा' ८. **आक्रयाय अयोगूम्**=सब प्रकार के पदार्थों के क्रय-विक्रय के लिए खूब परिश्रमी पुरुष को नियत करे। 'अयोगू' शब्द का अर्थ 'लोहार' है। यह भरपूर श्रम का प्रतीक है। इधर-उधर की भागदौड़ से न थकनेवाला पुरुष ही इस कार्य के लिए उपयुक्त है। ९. **कामाय पुंश्चलूम्**=इच्छाशक्ति को बलवान् बनाने के लिए

मनुष्यों में हलचल उत्पन्न करनेवाले को प्राप्त करे। १०. **अतिक्रुष्टाय मागधम्**=महान् वक्तृत्व के लिए मागध—स्तुतिपाठक को प्राप्त करे, भाटों को अत्युक्तिपूर्ण कथनों के उपयुक्त जाने। किसी की निन्दा करनी हो तो मागध को नियुक्त करे, ये लोग प्रशंसा करते हुए प्रतीत होते हैं और इष्टनिन्दा को पूर्ण सफलता के साथ कर सकते हैं।

भावार्थ—राजा को चाहिए कि राष्ट्र के भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए उपयुक्ततम व्यक्ति को नियत करे।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**निचृदष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**।

नृत्य के लिए सूत को

नृत्ताय सूतं गीताय शैलूषं धर्माय सभाचरं नरिष्ठायै भीमलं नर्माय रेभꣳहसाय कारिमानन्दाय स्त्रीषखं प्रमदे कुमारीपुत्रं मेधायै रथकारं धैर्याय तक्षाणम्॥ ६॥

११. **नृत्ताय सूतम्**=नृत्य के लिए—इशारों से नृत्य की प्रेरणा देनेवाले को प्राप्त करे। १२. **गीताय शैलूषम्**=सम्मिलित गायन के लिए शैलूष (One who beats tune at a concert) को—करताल बजानेवाले को रक्खो। १३. **धर्माय**=राष्ट्र के कानून के लिए **सभाचरम्**=धर्मसभा के सभासद् (Assembly's member) को प्राप्त करो। १४. **नरिष्ठायै भीमलम्**=(नरि-ष्ठा) नेतृत्व के पद पर स्थिति के लिए भीतिप्रद, ओजस्वी, रोबवाले पुरुष को नियत करे। १५. **नर्माय रेभम्**=परिहास आदि की क्रीड़ा के लिए स्तोता को अथवा बोलने में चतुर वाचाट पुरुष को प्राप्त करे। १६. **हसाय कारिम्**=हँसी-मखौल के लिए नकल उतारनेवाले को प्राप्त करे। १७. **आनन्दाय**=आनन्द प्राप्ति के लिए **स्त्रीषखम्**=पत्नी की मित्रता को प्राप्त करे। वस्तुतः सारा गृहसुख पत्नी के साथ समान विचारवाला होने में ही है। १८. **प्रमदे कुमारीपुत्रम्**=कुमारी के पुत्र को प्रमादयुक्त कार्यों के लिए जाने। जिस प्रकार कुमारी से प्रमादवश वह सन्तान हो गई, अतः उस सन्तान में भी वही प्रमाददोष उत्पन्न हो जाएगा। ऐसा सन्तान प्रायः प्रमादयुक्त कार्यों को करनेवाला होगा। १९. **मेधायै रथकारम्**=मेधा के लिए रथकार को प्राप्त करे। जैसे एक रथकार भिन्न-भिन्न रथांगों को कुशलता से संगत करके रथ का निर्माण करता है उसी प्रकार उसका अनुसरण करता हुआ पुरुष अपनी मेधा को बढ़ानेवाला होता है। रथ आदि के निर्माण में बुद्धिकौशल व्यक्त होता है। २०. **धैर्याय**=धैर्य के लिए **तक्षाणम्**=तरखान को प्राप्त करे। 'किस प्रकार सूक्ष्म-से-सूक्ष्म चित्रकारी व कारीगरी के कार्यों को यह तक्षा धैर्यपूर्वक करता चलता है', इस कर्म को देखकर दूसरा मनुष्य भी धैर्य से काम करने का पाठ पढ़ता है। मुझे एक बढ़ई की भाँति धैर्यवाला (As patient as a carpenter) बनना है' ऐसा हमें निश्चय करना चाहिए।

भावार्थ—राजा राष्ट्र में नृत्य आदि कार्यों के लिए सूत आदि को नियुक्त करे।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**निचृदष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**।

तप के लिए कौलाल को

तपसे कौलालं मायायै कर्मारꣳ रूपाय मणिकारꣳ शुभे वपꣳशरव्यायाऽइषुकारꣳ हेत्यै धनुष्कारं कर्मणे ज्याकारं दिष्टाय रज्जुसर्जं मृत्यवे मृगयुमन्तकाय श्वनिनम्॥ ७॥

२१. **तपसे कौलालम्**=तपनेवाले कार्यों के लिए कुम्हार के पुत्र को प्राप्त करे। वह सदा भट्टी के तपाने से उन कार्यों के लिए अधिक अभ्यस्त होता है। ऋत, सत्य आदि उत्तम तप के लिए कुलीन पुरुष को संयुक्त करे, यह कुल में कलह होने के भय से तप

को न छोड़ेगा। २२. **मायायै कर्मारम्**=बुद्धि व आश्चर्य (माया) के कार्य करने के लिए लोहार को प्राप्त करे। 'किस प्रकार लोहार लोहे को लेकर उसे अद्भुत यन्त्र में परिवर्तित कर देता है', यह सब जादू-सा प्रतीत होता है। २३. **रूपाय मणिकारम्**=आभूषणादि सुन्दर वस्तु बनाने के लिए मणिकार को प्राप्त करे। २४. (क) **शुभे**=मुखादि की शोभा बढ़ाने के लिए **वपम्**=नाई को प्राप्त करे, नाई बालों को ठीक-ठाक करके 'शुन्धिशिरः' सिर आदि का ठीक शोधन कर देता है। (ख) अथवा **शुभे**=राष्ट्र की शोभा के लिए **वपम्**=बीज को बोनेवाले किसान को प्राप्त करे। वे ही राष्ट्र में अन्नादि की समुचित वृद्धि करके राष्ट्र की शोभा को बढ़ाते हैं। २५. **शरव्यायै इषुकारम्**=शरसमूह को प्राप्त करने के लिए बाण बनानेवाले को प्राप्त करे। २६. **हेत्यै**=दूर फेंकनेवाले अस्त्रों के लिए **धनुष्कारम्**=धनुष बनानेवाले शिल्पी को प्राप्त करे। २७. **कर्मणे ज्याकारम्**=युद्ध के कार्यों के लिए धनुष की डोरी आदि बनानेवाले शिल्पी को प्राप्त करे। २८. **दिष्टाय रज्जुसर्जम्**=आज्ञाओं के पालन कराने के लिए रज्जु का निर्माण करनेवाले को नियत करे। आज्ञा न माननेवालों को बन्धन में डालने के लिए वह सदा तैयार हो। नियमन का भय ही शासन का पालन कराता है। २९. **मृत्यवे मृगयुम्**=दुष्ट प्राणियों के वध के लिए, ग्राम के आतङ्क का कारण बन जानेवाले चीते आदि को मारने के लिए शिकारी को प्राप्त करे। ३०. **अन्तकाय**=दुष्टों का अन्त करने के लिए **श्वनिनम्**=कुत्तों को पालनेवाले शिकारी (Hound) को प्राप्त करे।

भावार्थ—मृगयु, श्वनी आदि को भी राजा राष्ट्र के उपयोगी कार्यों में विनियुक्त करे। उनके द्वारा शेर आदि की हत्या कराके ग्रामवासियों के आतङ्क को दूर करे।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**कृतिः**। स्वरः—**निषादः**।

नदियों के लिए पौञ्जिष्ठ को

नदीभ्यः पौञ्जिष्ठमृक्षीकाभ्यो नैषादं पुरुषव्याघ्राय दुर्मदं गन्धर्वाप्सरोभ्यो व्रात्यं प्रयुग्भ्यऽउन्मत्तꣳ सर्पदेवजनेभ्योऽप्रतिपदमयेभ्यः कितवमीर्यतायाऽअकितवं पिशाचेभ्यो विदलकारीं यातुधानेभ्यः कण्टकीकारीम्॥ ८॥

३१. (क) **नदीभ्यः**=नदियों के लिए **पौञ्जिष्ठम्**=मछियारे को प्राप्त करे। नदियों पर मछली आदि के पकड़ने के कार्य को ये ही करेंगे अथवा (ख) नदियों के लिए काष्ठखण्डों के पुञ्जों पर स्थित होकर (बेड़ों=rafts पर) नदियों को पार करानेवालों को प्राप्त करे। नदियों पर ये नाविक यात्रियों को पार करने का कार्य करेंगे। ३२. **ऋक्षीकाभ्यो नैषादम्**=रीछ आदि जंगली, क्रूर पशुओं के लिए निषाद व जंगली-जाति के पुरुषों को प्राप्त करे। वे ही इनके वध आदि की ठीक व्यवस्था रखेंगे। ३३. **पुरुषव्याघ्राय दुर्मदम्**=पुरुषों में व्याघ्र के समान शूरवीर के लिए, अर्थात् ऐसे व्यक्तियों को नियन्त्रण में रखने के लिए, दुर्दान्त प्रचण्ड वीर को, अदम्य पुरुष को नियत करे, ३४. (क) **गन्धर्वाप्सरोभ्यः**=सुन्दर युवक व युवतियों के लिए, अर्थात् इनके संरक्षण के लिए व अध्ययनाध्यापन के लिए **व्रात्यम्**=(व्रताः मनुष्याः तेषु साधुः) मनुष्यसमूहों में उत्तमता से वर्त्त सकनेवाले को नियत करे। (ख) **गन्धर्व**=किसान (गां धारयति) **अप्सर**=मजदूर (कर्म में चलता है) लोगों में संघों के सञ्चालन में उत्तम पुरुष को नियत करे जो संघ (Union) को ठीक नियन्त्रण में रख सके। ३५. **प्रयुग्भ्य**=परीक्षणों के लिए, प्रयोगों के लिए (प्रयोजनं प्रयुक्) **उन्मत्तम्**=उन्मत्त को (One who is mad after them) जिसे परीक्षणों की ख़ब्त हो, उसे

नियत करे। दूसरा व्यक्ति तो तनिक-सी असफलता पर परीक्षण को बीच में ही छोड़ देगा। ३६. **सर्पदेवजनेभ्यः**=सर्प, अर्थात् गुप्तचर (अपसर्पः चरः स्पशः) तथा देवजन (दीव्यन्ति व्यवहरन्ति) व्यापारी वर्ग के लिए **अप्रतिपदम्**=जो न जाना जा सके तथा जो अनुत्तम=बहुत अधिक ज्ञानवाला है, उसे नियत करे। गुप्तचर पहचाने न जा सकें और व्यापारी बड़े समझदार हों। ३७. (क) **अक्षेभ्यः**=पासों के लिए **कितवम्**=जुआरी को प्राप्त करे (ख) अथवा उत्तम गतियों के लिए ज्ञानी पुरुषों को नियत करे (कित संज्ञाने, चिकेति) ३८. **ईर्यतायै**=सन्मार्ग पर चलने के लिए **अकितवम्**=न जुआरी अर्थात् श्रमशील कृषक आदि को प्राप्त करे। उल्लिखित दोनों वाक्यों का भाव **'अक्षैर्मा दीव्यः, कृषिमित्कृषस्व'** इन आदेशों में स्पष्ट है, 'जुआ न खेलो, खेती ही करो'। ३९. **पिशाचेभ्यः बिदलकारीम्**=रक्त-मांसभोजी मनुष्यों के लिए ऐसे व्यक्ति को नियत करो जो उनमें फूट डाल सके (Split-maker=वि-दल-कारी) ४०. **यातुधानेभ्यः**=चोर-डाकुओं के लिए, प्रजा-पीड़कों के लिए **कण्टकीकारम्**=नोकदार शस्त्रधारी सैनिकों को, सैन्य तैयार करनेवालों को नियत करे। यातुधानों से प्रजारक्षण के लिए कुन्तधारी (Lancers) पुरुषों को नियत करे।

भावार्थ—राजा ने राष्ट्रोन्नति के लिए विविध पुरुषों को विविध कार्यों में लगाना है। मछियारों से लेकर कुन्तधारियों तक सभी की यथास्थान नियुक्ति करनी है।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**भुरिगत्यष्टिः**। स्वरः—**मध्यमः**।

सन्धि के लिए जार को

सन्धये जारं गेहायोपपतिमार्त्यै परिवित्तं निर्ऋत्यै परिविविदानमराद्ध्याऽ एदिधिषुःपतिं निष्कृत्यै पेशस्कारीꣳसंज्ञानाय स्मरकारीं प्रकामोद्यायोपसदं वर्णायानुरुधं बलायोपदाम् ॥ ९॥

४१. **सन्धये जारम्**=सन्धि के लिए वृद्ध (जीर्ण) पुरुष को प्राप्त करे। ये वृद्ध पुरुष शान्ति से बात कर सकते हैं और इन्हें एक लम्बा अनुभव प्राप्त हो चुका होता है, अतः ये सन्धि के लिए अधिक उपयुक्त होते हैं। ४२. **गेहाय**=घर की रक्षा के लिए **उपपतिम्**=एक उपसंरक्षक (Assistant Guard) को नियुक्त करे। स्वयं तो राजा राजकार्यों में व्यस्त रहेगा न कि घर की ही रक्षा करता रहेगा। ४३. **आर्त्यै**=पीड़ा को दूर करने के लिए **परिवित्तम्**=सब प्रकार से ज्ञान प्राप्त करनेवाले को प्राप्त करे। सब प्रकार का सच्चा ज्ञान (true information) प्राप्त करके कष्ट के समय पर उसका उपयोग करके लोगों का कष्टों से संरक्षण करना इसका काम होगा। ४४. **निर्ऋत्यै**=भूख, महामारी आदि कष्टों को दूर करने के लिए **परिविविदानम्**=सब ओर से साधनों को प्राप्त करनेवाले को नियुक्त करे। ४५. **अराद्ध्यै**=दरिद्रता को दूर करने के लिए **एदिधिषुः पतिम्**=सबसे प्रमुख, धारण करने योग्य सम्पत्ति के पालक को प्राप्त करे (अग्रे दिधिषति धारयितुमिच्छति) पिछले तीन वाक्यों का अर्थ इस रूप में भी होता है कि बड़े भाई के अविवाहित होते हुए विवाहित होनेवाले छोटे भाई को पीड़ा (परिवित्तम्) के लिए प्राप्त करता है। बड़े भाई की उपेक्षा करके दायभाग लेनेवाले छोटे भाई को (परिविविदानम्) निर्ऋति=महान् कष्ट के लिए जाने। बड़ी कन्या के रहते छोटी के साथ विवाह करनेवाले **एदिधिषुः पतिम्**=व्यक्ति को असमृद्धि के लिए जाने। इसलिए राजा कानून द्वारा इन तीनों स्थितियों पर प्रतिबन्ध लगाये। ४६. **निष्कृत्यै**=सुधारने के लिए **पेशस्कारीम्**=सौन्दर्य बढ़ाने के साधनों को बनानेवाले को प्राप्त करे। ४७. **संज्ञानाय**=उत्तम ज्ञान के लिए **स्मरकारीम्**=स्मरण करानेवाली क्रिया को

प्राप्त करे। ४८ **प्रकामोद्याय**=यथेष्ठ बातचीत करने के लिए, जी खोलकर बात करने के लिए **उपसदम्**=निकटतम मित्र को प्राप्त करे। ४९. **वर्णाय अनुरुधम्**=किसी बात को स्वीकार करा देने के लिए उचित ढंग से अनुरोध करनेवाले पुरुष को नियत करे। ५०. **बलाय उपदाम्**=बल की वृद्धि के लिए भेंट व पुरस्कार देनेवाले को प्राप्त करे। पुरस्कार देने से सैनिकों का उत्साह निश्चितरूप से बढ़ेगा।

भावार्थ—राजा राष्ट्र में सन्धि आदि कार्यों के लिए उपयुक्त व्यक्तियों को नियत करे।

नोट—आर्ति का अर्थ पीड़ा के लिए सामान्यत होता है। यहाँ पीड़ा को निवृत्ति के लिए किया गया है। जैसे 'मशकाय धूमः' का अर्थ 'मच्छरों की निवृत्ति के लिए धूँआ' होता है।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**भुरिगत्यष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**।

विनाश कार्यों के लिए

उत्सादेभ्यः कुब्जं प्रमुदे वामनं द्वाभ्यः स्त्रामꣳ स्वप्नायान्धमधर्माय बधिरं पवित्राय भिषजं प्रज्ञानाय नक्षत्रदर्शमाशिक्षायै प्रश्निनमुपशिक्षायाऽअभिप्रश्निनं मर्यादायै प्रश्नविवाकम्॥ १०॥

५१. **उत्सादेभ्यः**=विनाशकारी कार्यों के लिए **कुब्जम्**=कुबड़े को नियत करे। इन लोगों की बुद्धि निर्माण की अपेक्षा विनाश में अधिक चलती है। कुब्ज का शब्दार्थ है—'कुत्सितं उब्जति'=बुरे ढंग से दबाव (Subdue) में रखता है। ५२. **प्रमुदे वामनम्**=विनोदकारी कार्यों के लिए बौने पुरुष को प्राप्त करे। बौने पुरुष को देखकर ही कुछ अजीब-सा प्रतीत होने लगता है। इनमें अपने कद की कमी को प्रतितुलित करने के लिए हास्य आदि की शक्ति अधिक होती है। ५३. **द्वार्भ्यः**=द्वारों की रक्षा के लिए **स्त्रामम्**=जल से क्लिन्न आँखोंवाले को प्राप्त करे। द्वारपाल के स्थान पर स्त्राम की नियुक्ति करे न कि स्नेहशून्य आँखोंवाले की। ५४. **स्वप्नाय**=नींद के लिए **अन्धम्**=लोचनहीन को नियुक्त करें, अर्थात् जिस जगह केवल सोने का कार्य हो वहाँ नेत्रहीन पुरुष की नियुक्ति कर दे, चूँकि यह सोने के कार्य को सम्यक् पूर्ण कर सकेगा। ५५. **अधर्माय**=अधर्म के लिए **बधिरम्**=बहिरे को प्राप्त करे। जो बड़ों की प्रेरणा को नहीं सुनता (Turns a deaf ear to them) वह अधर्म के मार्ग की ओर चला ही जाता है। शास्त्रश्रवण करनेवाला व्यक्ति ही धर्म के मार्ग पर चल पाता है। ५६. **पवित्राय भिषजम्**=पवित्रता के लिए वैद्य को नियत करे। इसका कार्य जहाँ सफाई का ध्यान करना होगा, वहाँ बीमारियों को न फैलने देने तथा मानस पवित्रता उत्पन्न करने का भी ध्यान करना होगा। ५७. **प्रज्ञानाय**=प्रकृष्ट ज्ञान के लिए **नक्षत्रदर्शम्**=नक्षत्रों का दर्शन करनेवाले को, अर्थात् गणित ज्योतिष के पण्डित को नियुक्त करे। यह उन तारों की गति में भी प्रभु की महिमा को देखता है, इसे तारे प्रभु का स्तवन करते प्रतीत होते हैं। यह इन नक्षत्रों की विद्या का अध्ययन करता हुआ प्रभु का ज्ञान प्राप्त करता है। ५८. **आशिक्षायै प्रश्निनम्**=सब विषयों का ज्ञान देने के लिए विविध प्रश्न करनेवाले अध्यापक को प्राप्त करे। वस्तुतः इस प्रश्नात्मक शैली (Questioning method) के द्वारा आचार्य विद्यार्थी के अन्दर से ही ज्ञान को बाहर लाने का प्रयत्न करता है। ५९. **उपशिक्षायै**=उपशिक्षा के लिए, अर्थात् Training के लिए **अभिप्रश्निनम्**=नाना प्रकार के प्रश्न पूछनेवाले को नियत करे। उन भावी शिक्षकों को प्रश्न पूछने का प्रकार भी तो सिखाना ही है। ६०. **मर्यादायै**=मर्यादा के लिए **प्रश्नविवाकम्**=न्यायाधीश को नियत करे। यह अपराधियों को उचित दण्ड देते

हुए कुप्रवृत्तियों का दमन करता है और इस प्रकार मर्यादा की स्थापना करता है।

भावार्थ—राजा शिक्षा के प्रसार के लिए ऐसे अध्यापकों को नियत करे जो विद्यार्थियों के ज्ञान को प्रश्नात्मक शैली से निरन्तर बढ़ानेवाले हों।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**स्वराडतिशक्वरी**ः। स्वरः—**पञ्चमः**।

अर्म के लिए हस्तिप को

अर्मेभ्यो हस्तिपं जवायाश्वपं पुष्ट्यै गोपालं वीर्यायाविपालं तेजसेऽजपालमिरायै कीनाशं कीलालाय सुराकारं भद्राय गृहपꣳ श्रेयसे वित्तधमाध्यक्ष्यायानुक्षत्तारम्॥ ११॥

६१. **अर्मेभ्यः**=गन्तव्य प्रदेशों के लिए **हस्तिपम्**=हाथियों के पालनेवाले व महावत को प्राप्त करे। ये हाथी कठिन, दुर्गम व गम्भीर स्थानों में भी हमें प्राप्त करानेवाले होंगे। ६२. **जवाय**=वेग के लिए **अश्वपम्**=अश्वपाल को नियत करे। यह घोड़ों के द्वारा शीघ्रता से स्थानान्तर पर पहुँचानेवाला होगा। ६३ **पुष्ट्यै**=पोषण के लिए **गोपालम्**=गोरक्षकों को नियत करें। ये उत्तम गोदुग्ध प्राप्त कराके हमारा पोषण करेंगे। ६४. **वीर्याय**=वीर्य के लिए **अविपालम्**=अवि (भेड़) के पालनेवाले को नियत करे। भेड़ का दूध 'स्थौल्यमेदहरम्' मोटापे व प्रमेहों (Diabetes) को दूर करनेवाला है। ६५. **तेजसे**=तेजस्विता के लिए **अजपालम्**=बकरियों को पालनेवाले को नियत करे। इन बकरियों का दूध 'सर्वरोगापहम्'=सब रोगों का हरण करनेवाला है, रोगहरण द्वारा यह हमें तेजस्वी बनाता है। ६६. **इरायै**=अन्न की वृद्धि के लिए **कीनाशम्**=किसान को प्राप्त करे। वस्तुतः इन किसानों की स्थिति के ठीक होने पर ही देश की स्थिति का ठीक होना सम्भव है। ६७. (क) **कीलालाय**=पेय पानी के लिए **सुराकारम्**=शुण्डायन्त्र से पानी को वाष्पीभूत करके फिर से द्रवीभूत करनेवाले को नियत करे। डिस्टिल्ड पानी स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त हितकर है। (ख) **कीलालाय**=अन्न, फल आदि के रस के लिए **सुराकारम्**=रस का अभिषव करनेवाले को नियत करे। ६८. **भद्राय**=कल्याण के लिए **गृहम्**=घरों के रक्षक को (पहरेदारों को) नियत करे। पहरेदारों के होने पर चोरी आदि न होने से प्रजा का भद्र व कल्याण होता है। ६९. **श्रेयसे**=कल्याण के लिए **वित्तधम्**=वित्त के धारण करनेवाले को प्राप्त करे। 'वित्तधम्' वह व्यक्ति है जो धनी है, वित्त का धारण करनेवाला है और औरों के लिए धन को देता हुआ धन के द्वारा उनका धारण करता है। इस व्यक्ति का कल्याण क्यों न होगा? ७०. **आध्यक्ष्याय**=अध्यक्षता के कार्य के लिए **अनुक्षत्तारम्**=कर्मसचिवों Secretaries को नियत करे क्षत्ता Ministers हैं और अनुक्षत्ता Secretaries हैं।

भावार्थ—राष्ट्र में गोप, अश्वपाल, अविपाल व किसान आदि का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**विराट्संकृतिः**। स्वरः—**गान्धारः**।

भा के लिए दार्वाहार को

भायै दार्वाहारं प्रभाया अग्न्येधं ब्रध्नस्य विष्टपायाभिषेक्तारं वर्षिष्ठाय नाकाय परिवेष्टारं देवलोकाय पेशितारं मनुष्यलोकाय प्रकरितारꣳ सर्वेभ्यो लोकेभ्यऽ उपसेक्तारमवऽऋत्यै वधायोपमन्थितारं मेधाय वासः पल्पूलीं प्रकामाय रजयित्रीम्॥ १२॥

७१. **भायै**=अग्नि के लिए **दार्वाहारम्**=लकड़हारे को प्राप्त करे। घर में अग्नि के लिए मुख्य साधन लकड़ी ही है। कोयला भी लकड़ी से ही तैयार होता है। ७२. **प्रभायै**

अग्न्येधम्=प्रभा के लिए, विशेष प्रकाश के लिए अग्नि को दीप्त करनेवाले को प्राप्त करे। ७३. **ब्रध्नस्य विष्टपाय**=सूर्यलोक के लिए **अभिषेक्तारम्**=ज्ञान-जल में अभिषेक करनेवाले को प्राप्त करे। ७२ में यह कहा था कि प्रकाश के लिए अग्नि को दीप्त करनेवाले को नियत करे, अर्थात् जो अपनी ज्ञानाग्नि से विद्यार्थी में ज्ञानाग्नि को समिद्ध करता है, उस विशेष प्रकाशक को नियत करे। ७३ में कहते हैं कि 'इस ज्ञान-जल में स्नान करनेवाले को सूर्यलोक में जन्म लेनेवाला जाने। ७४. **परिवेष्टारम्**=परोसनेवाले को **वर्षिठाय नाकाय**=सर्वोत्तम स्वर्गलोक के लिए नियुक्त करे, उत्तम स्वर्गलोक की प्राप्ति तभी होती है जब मनुष्य बाँटकर खाना सीखता है। ७५. **देवलोकाय**=देवलोक के लिए **पेशितारम्**=बुराइयों को चूर्णित करनेवाले को प्राप्त करे (पिश=पीसना)। बुराइयों को समाप्त करके सौन्दर्य का निर्माण करनेवाले को जाने (पेशः=सौन्दर्य, shape) ७६. **मनुष्यलोकाय**=मनुष्यलोक के लिए **प्रकरितारम्**=शत्रुओं=असुरों को उखाड़ फेंकनेवाले को अथवा ज्ञानादि का विकरण=फैलाव करनेवाले को प्राप्त करे। इसी प्रकार मनुष्यों की स्थिति ऊँची हो सकती है। ७७. **सर्वेभ्यः लोकेभ्यः**=सब लोगों के कल्याण के लिए **उपसेक्तारम्**=उनमें ज्ञानादि गुणों का उपसेचन करनेवाले को नियुक्त करे। ७८. **अवऋत्यै**=नीचाचरण को रोकने के लिए तथा **वधाय**= वधों को (क़त्लों को) दूर करने के लिए **उपमन्थितारम्**=प्रजाओं का आलोडन करनेवाले को प्राप्त करे, उस अफसर को, जो प्रजाओं में विचरण करता हुआ ऐसे कार्यों को प्रजा में न होने दे। ७९. **मेधाय**=संगम के लिए, अर्थात् सभा-समाजों में लोगों से मिलने-जुलने के लिए **वासःपल्पूलीम्**=कपड़े धोनेवाली को प्राप्त करे, अर्थात् इनसे कपड़ों को धो दिये जाने पर ही तो हम सभा-समाज में जा सकेंगे। मैले कपड़ों से तो मेलजोल सम्भव नहीं। ८०. **प्रकामाय**=उत्कृष्ट, लौकिक आनन्द के लिए **रजयित्रीम्**=रञ्जन करनेवाली को प्राप्त करे, उस स्त्री को प्राप्त करे जो अपने मधुर व्यवहार से अपने पति को रञ्जित करनेवाली होती है।

भावार्थ—उत्तम लोकों की प्राप्ति के लिए त्याग व अशुभवृत्ति-विनाश आवश्यक है।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**कृतिः**। स्वरः—**निषादः**।

ऋति के लिए स्तेनहृदय को

ऋतये स्तेनहृदयं वैरहत्याय पिशुनं विविक्त्यै क्षत्तारमौपद्रष्ट्र्यायानुक्षत्तारं बलायानुचरं भूम्ने परिष्कन्दं प्रियाय प्रियवादिनमरिष्ट्याऽअश्वसादꣳ स्वर्गाय लोकाय भागदुघं वर्षिष्ठाय नाकाय परिवेष्टारम्॥ १३॥

८१. **ऋतये**=शत्रु-सैन्य के लिए **स्तेनहृदयम्**=(हृदयस्य स्तेनः) हृदय को चुरा लेनेवाले को, अर्थात् उसके दिल की बात का पता लगानेवाले को (One who can draw out) नियत करे (ऋति=An army)। ८२. **वैरहत्याय**=वैर व हत्या आदि कार्यों के लिए **पिशुनम्**=चुग़लखोर को नियत करे, वह इधर की बातें उधर करके इन कार्यों को सुविधा से कर पाता है। ८३. **विविक्त्यै**=किसी कार्य के विवेक के लिए, उसके गुण-दोष के परीक्षण के लिए **क्षत्तारम्**=सुविश्लिष्ट विचारवाले मन्त्री को प्राप्त करे। ८४. **औपद्रष्ट्र्याय**=सब कार्यों के बारीकी से निरीक्षण के लिए **अनुक्षत्तारम्**=कर्मसचिव (Secretary) को नियत करे। ८५. **बलाय**=सेना के लिए **अनुचरम्**=आज्ञानुसार कार्य करनेवाले को नियत करे। सैनिकों का कार्य आज्ञा मानना ही है, इसके औचित्य का विचार करना उनका कार्य नहीं। ८६. **भूम्ने**=बाहुल्य व सुख के लिए **परिष्कन्दम्**=चारों ओर भ्रमण करके दोषों को दूर

करनेवाले अफ़्सरों को नियत करे, अथवा सब स्थानों पर भ्रमण करके उचित 'कर' उगाहनेवाले को (स्कन्दयति to collect) नियत करे। ८७. **प्रियाय**=राष्ट्र में प्रेम के वर्धन के लिए **प्रियवादिनम्**=ऐसे अध्यक्षों को नियत करे जो कड़वा नहीं बोलते। ८८. **अरिष्ट्यै**=राष्ट्र की अहिंसा के लिए **अश्वसादम्**=घुड़सवार फ़ौज नियत करे। ८९. **स्वर्गाय लोकाय**=स्वर्गलोक के लिए **भागदुघम्**=अपने भाग का ही दोहन करनेवाले को प्राप्त करे। राजा को चाहिए कि प्रजाओं में अपने ही भाग के दोहन की प्रवृत्ति को पैदा करे। गौ का दोहन बछड़े का भाग छोड़कर ही करे, राजा भी प्रजा से कर का दोहन उचित भाग के रूप में ही करे। ९०. **वर्षिठाय नाकाय**=सर्वोत्तम स्वर्गलोक के लिए **परिवेष्टारम्**=परोसनेवाले को प्राप्त करे। जो स्वयं सारा नहीं खा जाता, अपितु औरों को परोसकर बचे हुए को खाता है, वह अवश्य सर्वोत्तम स्वर्गलोक को प्राप्त करता है।

भावार्थ—स्तेनहृदय लोगों का भी राष्ट्र के लिए सुन्दर उपयोग हो सकता है।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**राजेश्वरौ**। छन्दः—**निचृदत्यष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**।

मन्यु के लिए अयस्ताप को

मन्यवेऽयस्तापं क्रोधाय निसरं योगाय योक्तारꣳ शोकायाभिसर्त्तारं क्षेमाय विमोक्तारमुत्कूलनिकूलेभ्यस्त्रिष्ठिनं वपुषे मानस्कृतꣳ शीलायाञ्जनीकारीं निर्ऋत्यै कोशकारीं यमायासूम्॥ १४॥

९१. **मन्यवे**=ज्ञान की वृद्धि के लिए **अयस्तापम्**=धातुओं के सन्तप्त करनेवाले को प्राप्त करे। यह धातुओं को सन्तप्त करके उनको विविध रूपों में ढालनेवाला, जैसे उन धातुओं को सुन्दर रूप प्रदान करता है, इसी प्रकार आचार्य (भृगु) विद्यार्थी को तपस्या की अग्नि में तपाकर उत्तम ज्ञानी का रूप प्राप्त कराता है। ज्ञान-प्राप्ति के लिए तप आवश्यक है, तप के बिना ज्ञान-प्राप्ति सम्भव नहीं। ९२. **क्रोधाय**=क्रोध को दूर करने के लिए **निसरम्**=(नितरां सर्तारम्—म०) निरन्तर कार्य में लगे रहनेवाले को प्राप्त करे, खाली आदमी को क्रोध आया ही करता है। ९३. **योगाय**=योग के लिए, प्रभु व दिव्यता के साथ सम्पर्क के लिए **योक्तारम्**=प्रतिदिन चित्तवृत्तिनिरोध का अभ्यास करनेवाले को प्राप्त करे, प्रतिदिन ध्यान करनेवाला ही प्रभु को प्राप्त करेगा। ९४. **शोकाय**=(शुच दीप्तौ) दीप्ति के लिए **अभिसर्त्तारम्**=आन्तरिक व बाह्य उन्नति के लिए उद्योग करनेवाले को, अभ्युदय व नि:श्रेयस दोनों की साधना करनेवाले को, श्रेय व प्रेय दोनों का आक्रमण करनेवाले को, ज्ञान व योग की व्यवस्थिति करनेवाले को प्राप्त करे। केवल ऐहिक उन्नति से जीवन दीप्त नहीं बनता, ऐहिक उन्नति के साथ पारलौकिक उन्नति का मेल आवश्यक है। ९५. **क्षेमाय**=कल्याण के लिए **विमोक्तारम्**=स्वतन्त्र करनेवाले को प्राप्त करे। 'सर्वं परवशं दुःखम्' परवशता में ही दुःख है। हम काम, क्रोध, लोभ के बन्धन में हैं तो कल्याण सम्भव ही नहीं। इन बन्धनों से अपने को छुड़ाएँगे तभी कल्याण होगा। ९६. **उत्कूलनिकूलेभ्यः**= 'ऊर्ध्वनीचतटेभ्यः' ऊँचे-नीचे स्थानों के लिए, अर्थात् जीवन के ऊँच-नीच (Up and down) के लिए, ऊँच-नीच में न घबराने के लिए **त्रिष्ठिनम्**=(त्रिषु तिष्ठति) शरीर, मन व बुद्धि तीनों की उन्नति में स्थित होनेवाले को अथवा 'धर्मार्थकाम' तीनों में समरूप से स्थित होनेवाले को अथवा काम, क्रोध व लोभ तीनों को काबू करनेवालों को प्राप्त करे। ऐसा व्यक्ति ही जीवन के ऊँच-नीच में स्थितप्रज्ञ रह पाता है। ९७. **वपुषे**=शरीर के लिए,

शरीर के सौन्दर्य के लिए **मानस्कृतम्**=प्रत्येक वस्तु को मानपूर्वक, माप-तोलकर करनेवाले को प्राप्त करे। 'मात्रा बलम्' शरीर का बल प्रत्येक वस्तु का माप-तोलकर ही प्रयोग करने में है। ९८. **शीलाय**=सुन्दर शील के लिए **अञ्जनीकारीम्**=दृष्टिदोष को दूर करनेवाली को प्राप्त करे। यहाँ स्त्रीलिङ्ग का प्रयोग पत्नी की महत्ता को व्यक्त कर रहा है। घर में पत्नी एक भाई के दृष्टिकोण को विकृत कर देती है और घर के शील का नाश हो जाता है, बड़ों का आदर व परस्पर प्रेम न रहकर लड़ाई-झगड़े होने लगते हैं। ९९. (क) **निर्ऋत्यै**=आपत्ति के लिए, अर्थात् आपत्ति के समय काम आने के लिए **कोशकारीम्**=कोश बढ़ानेवाली को प्राप्त करे। 'आपदर्थं धनं रक्षेत्' में यही भावना है। '(Rainy Days) के लिए कुछ-न-कुछ बचाना' यह नागरिक शास्त्र का सिद्धान्त इसी बात को व्यक्त करता है। (ख) यह भी अर्थ संगत है कि राजा यदि कोशवृद्धि की नीति को अपनाये रक्खेगा तो आपत्ति को ही बढ़ाएगा, प्रजाहित का प्रथम स्थान होना चाहिए न कि कोशवृद्धि का। १००. **यमाय**=नियन्त्रण के लिए **असूम्**=अस्त्रवर्षा करनेवाली सेना को प्राप्त करे। यदि कभी नियन्त्रण में कठिनाई आती है तो शस्त्रधारी सेना को बुलाना ही पड़ता है।

भावार्थ—राष्ट्र की उत्तम व्यवस्था के लिए उचित कर आदि लेनेवाले व्यक्तियों को नियत करे।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**राजेश्वरौ**। छन्दः—**विराट्कृतिः**। स्वरः—**निषादः**॥

यम के लिए यमसू को

यमाय यमसूमथर्वभ्योऽवतोकाᳬ संवत्सराय पर्यायिणीं परिवत्सरायाविजाता-मिदावत्सरायातीत्वरीमिद्वत्सरायातिष्कद्वरीं वत्सराय विजर्जराᳬ संवत्सराय पलिक्नीमृभुभ्योऽजिनसन्धᳬ साध्येभ्यश्चर्मम्नम्॥ १५॥

१०१. **यमाय**=नियन्त्रण के लिए **यमसूम्**=नियमोपनियम बनानेवाली सभा को प्राप्त करे, आजकल की भाषा में 'विधान-सभा' का निर्माण करे। १०२. **अथर्वभ्यः**=(न थर्वति) स्थिरवृत्तिवाले लोगों के लिए, ध्यान के अभ्यासियों के लिए **अवतोकाम्**=रक्षक सेना को नियत करे। १०३. **संवत्सराय**=उत्तम निवास के लिए **पर्यायिणीम्**=क्रम को जाननेवाली को प्राप्त करे। वस्तुतः जो पत्नी 'किस क्रम में कार्य करने हैं' इस बात को समझती है, वह कार्यों को सुचारुरूपेण सम्पन्न कर पाती है। १०४. **परिवत्सराय**=पूर्ण निवास के लिए, एक-एक कोश में उत्तम निवास के लिए **अविजाताम्**=ब्रह्मचारिणी (अ-विजात) को प्राप्त करे, अर्थात् गृहस्थ में आने से पहले इस बात का ध्यान किया जाए कि ब्रह्मचारिणी ने सब कोशों का विकास उत्तमता से किया है। १०५. **इदावत्सराय**=वर्त्तमान काल में निवास के लिए **अतीत्वरीम्**=अतिशयेन क्रियाशील को प्राप्त करे। जो क्रियाशील नहीं होती वह या तो भूतकाल की उज्ज्वलता का गान करती रहती है या भविष्यत् के स्वप्न लेती रहती है। १०६. **इद्वत्सराय**=निश्चयात्मक निवास के लिए, असंशयात्मा होकर जीवन को चलाने के लिए **अतिष्कद्वरीम्**=अतिशय ज्ञानवाली (स्कन्द गति=ज्ञान) को प्राप्त करे। ज्ञान ही मनुष्य को संशय से ऊपर उठानेवाला है। १०७. **वत्सराय**=उत्तम निवास के लिए **विजर्जराम्**=(विगतजर्जराम्) अशिथिल शरीरवाली को नियत करे। शिथिल शरीरवाली से निवास के लिए आवश्यक कर्मों को करना सम्भव नहीं होता। १०८. **संवत्सराय**=उत्तम निवास के लिए **पलिक्नीम्**=श्वेत केशोंवाली, अर्थात् अनुभव-सम्पन्न महिला को नियत करे। १०९. **ऋभुभ्यः**=शिल्पियों के लिए, रथ आदि का निर्माण करनेवालों के लिए

अजिनसन्धम्=चर्म के सन्धाता को नियत करे। इन दोनों का परस्पर सम्मिलित कार्य होने पर ही रथ आदि का ठीक से निर्माण हो सकेगा। रथकार उपस्थ=Seat आदि बनाएगा, तो उनपर गद्दी आदि को यह अजिनसन्धाता जमाएगा। ११०. **साध्येभ्यः**=अपूर्ण पदार्थों को पूर्ण बनानेवालों के लिए (Finishing touches) देनेवालों के लिए **चर्मम्नम्**=चमड़ा कमानेवाले (Leather tanner) को नियत करे। 'साध्य रथ की कमी को दूर करेगा तो यह 'चर्मम्न' चमड़े की कमी को दूर करेगा और इस प्रकार ये दोनों मिलकर रथ को पूर्ण ठीक कर देंगे।

भावार्थ—जहाँ राष्ट्र का उत्तम सञ्चालन, व्यवस्थापिका, सभादि के होने से होता है वहाँ घर में उत्तम निवास के लिए कार्यों के क्रम को सम्यक् समझनेवाली पत्नी का होना आवश्यक है।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**राजेश्वरौ**। छन्दः—**विराट्कृतिः**। स्वरः—**निषादः**।

सरों के लिए धीवर को

सरो॑भ्यो धैव॒रमु॑पस्था॒वरा॑भ्यो॒ दाशं॑ वैश॒न्ताभ्यो॑ बै॒न्दं न॑ड्व॒लाभ्यः॒ शौष्क॑लं पा॒राय॑ मार्गा॒रम॑वा॒राय॑ कै॒वर्त्तं॑ ती॒र्थेभ्य॑ऽआ॒न्दं विष॑मेभ्यो मैना॒लꣳ स्वने॑भ्यः॒ पर्ण॑कं॒ गुहा॑भ्यः॒ किरा॑त॒ꣳ सानु॑भ्यो॒ जम्भ॑कं॒ पर्व॑तेभ्यः॒ किम्पू॑रु॒षम्॥ १६॥

१११. **सरोभ्यः**=तलाबों के लिए **धैवरम्**=धीवर सन्तानों को नियत करे। तालाबों को स्वच्छ रखना इनका कार्य हो। ११२. **उपस्थावराभ्यः**=तालाबों के समीप (उप) लगी वाटिकाओं के लिए (स्थावराभ्यः) **दाशम्**=माली आदि भृत्यों को प्राप्त करे। उन पौधों में नियमपूर्वक पानी आदि देना इनका कार्य हो। ११३. **वैशन्ताभ्यः**=जोहड़ों के लिए (Pools) **बैन्दम्**=उन जोहड़ों से कमलगट्टे व सिंघाड़े आदि प्राप्त करनेवालों को (विद् लाभे) नियत करे। ११४. **नड्वलाभ्यः**=नड़ों व सरकण्डोंवाले प्रदेशों के लिए **शौष्कलम्**= (शुष्=कला) उन तृणों को सुखाकर कलात्मक वस्तुएँ बनानेवाले को नियत करे। ११५. **पाराय मार्गारम्**=पार जाने के लिए मार्ग को जाननेवाले को अथवा जल-जन्तुओं का शिकार कर सकनेवालों को नियत करे (मृगणाम् अरिः, तस्यापत्यम्) ११६. **अवाराय**=नदी में उरले किनारे पर लौट आने के लिए **कैवर्तम्**=केवट को नियत करे। ११७. **तीर्थेभ्यः**=तीर्थों के लिए, घाट आदि के लिए अथवा तीर्थस्थानों के लिए जोकि प्रायः नदी के किनारे होते हैं **आन्दम्**=(अदि बन्धने) बाँध बाँधनेवाले को नियत करे। ११८. **विषमेभ्यः**=विषम स्थानों के लिए, जलों में संकटयुक्त स्थानों के लिए, जहाँ कि मगरमच्छ आदि का भय हो **मैनालम्**=जालों द्वारा (मीनान् अलति वारयति) मछली आदि के निवारण करनेवाले को नियत करे। ११९. **स्वनेभ्यः**=नाना प्रकार के शब्दों के लिए **पर्णकम्**=पहरेदार को (पृ पालनपूरणयोः) नियुक्त करे अथवा **स्वनेभ्यः**=उत्तम स्वरों के लिए **पर्णकम्**=तुरही (वाद्यविशेष) बजानेवाले को प्राप्त करे। १२. **गुहाभ्यः**=पर्वत कन्दराओं के लिए, पर्वत-कन्दराओं में शेर आदि के ख़तरे से बचने के लिए **किरातम्**=भीलों को प्राप्त करे। १२१. **सानुभ्यः**=पर्वत-शिखरों के लिए **जम्भकम्**=(जभि नाशने) हिंस्र-पशुओं के नाश करनेवाले को नियत करे और १२२. **पर्वतेभ्यः**=पर्वतों के लिए **किम्पूरुषम्**=छोटे कदवाले पुरुषों को प्राप्त करे, पर्वतों पर ऐसे ही व्यक्ति सुविधा से कार्य कर सकते हैं, पर्वतारोही पुरुष छोटे कद के ही होने चाहिएँ।

भावार्थ—तालाबों व पहाड़ों पर कार्यव्यवस्था के लिए तदुपयुक्त पुरुषों को नियत करना चाहिए। तालाबों के लिए धीवर आदि तो पर्वतों के लिए किरात आदि।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**राजेश्वरौ**। छन्दः—**विराड्धृतिः**। स्वरः—**ऋषभः**।

बीभत्स के लिए पौल्कस को

बीभत्सायै पौल्कसं वर्णाय हिरण्यकारं तुलायै वाणिजं पश्चादोषाय ग्लाविनं विश्वेभ्यो भूतेभ्यः सिध्मलं भूत्यै जागरणमभूत्यै स्वपनमार्त्यै जनवादिनं व्यृद्ध्याऽअपगल्भꣳ संशराय प्रच्छिदम्॥ १७॥

१२३. **बीभत्सायै**=हत्या आदि बीभत्स कार्यों के लिए **पौल्कसम्**=अन्त्यजजाति के व्यक्ति को प्राप्त करे। १२४. **वर्णाय**=सौन्दर्य निर्माण के लिए **हिरण्यकारम्**=सुवर्णकार को प्राप्त करे, वह सोने पर किस प्रकार चित्रकला द्वारा सौन्दर्य का उत्पादन करनेवाला होता है? १२५. **तुलायै**=तुला के लिए, तोलने आदि के कार्यों के लिए **वाणिजम्**=वणिक्पुत्र (बाणिया) को प्राप्त करे। १२६. **पश्चादोषाय**=पीछे दोष देने के लिए **ग्लाविनम्**=अहृष्ट, अशान्त को प्राप्त करे (ग्लै हर्षक्षये), अर्थात् अप्रसन्न रहने के स्वभाववाला व्यक्ति सदा पीठ पीछे दोषों का उद्घाटन करता है अथवा पश्चादोष (back biter) कभी प्रसन्न नहीं रह सकता। १२७. **विश्वेभ्यः भूतेभ्यः**=सब प्राणियों के हित के लिए **सिध्मलम्**=(सिध्माः सुखसाधकाः विद्यन्ते यस्य तम्–द०) सुखसाधक पदार्थों से युक्त पुरुष को नियत करे। १२८. **भूत्यै जागरणम्**=कल्याण के लिए जागरण को प्राप्त करे, अर्थात् जागनेवाले का ही कल्याण होता है, ऐसा समझे। १२९. **अभूत्यै स्वपनम्**=यह भी स्पष्ट है कि सोना, सोते रहना, अपने भले को न सोचना, अकल्याण के लिए होता है। १३०. **आर्त्यै**=पीड़ा के लिए **जनवादिनम्**=इधर-उधर लोकनिन्दा फैलानेवाले को प्राप्त करे। १३१. **व्यृद्ध्यै**=असमृद्धि व दरिद्रता के लिए **अपगल्भम्**=प्रगल्भतारहित पुरुष को प्राप्त करे। राजा के मन्त्री प्रगल्भ व चतुर न होंगे तो कोश खाली हो जाएगा। प्रगल्भता के अभाव में गृहस्थ दरिद्र ही बना रहेगा। १३२. **संशराय**=उत्तमता से हिंसा के लिए **प्रच्छिदम्**=उत्तम छेदनकर्ता को प्राप्त करे, अर्थात् वधदण्ड के लिए छेदनक्रिया में निपुण व्यक्ति को नियत करे।

भावार्थ—राष्ट्र में बीभत्स व छेदनादि कार्यों में निपुण व्यक्ति की नियुक्ति करनी है।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**राजेश्वरौ**। छन्दः—**निचृत्प्रकृतिः**। स्वरः—**धैवतः**।

अक्षराज के लिए कितव को

अक्षराजाय कितवं कृतायादिनवदर्शं त्रेतायै कल्पिनं द्वापरायाधिकल्पिनमास्कन्दाय सभास्थाणुं मृत्यवे गोव्यच्छमन्तकाय गोघातं क्षुधे यो गां विकृन्तन्तं भिक्षमाणऽउप तिष्ठति दुष्कृताय चरकाचार्यं पाप्मने सैलगम्॥ १८॥

१३३. **अक्षराजाय**=राजा की आँखरूप गुप्तचरों के (चारैः पश्यन्ति राजानः) अध्यक्ष पद के लिए **कितवम्**=(कित् ज्ञाने) अत्यन्त समझदार पुरुष को प्राप्त करे। १३४. **कृताय**=किये जा चुके, सम्पन्न कर्मों के लिए **आदिनवदर्शम्**=उन कर्मों में रह गये दोषों को देखनेवाले पुरुष को प्राप्त करे, ताकि उन दोषों को दूर किया जा सके। १३५. **त्रेतायै**= 'अग्नित्रयमिदम् त्रेता' गार्हपत्य, आहवनीय व दक्षिणाग्नि—इन तीन अग्नियों के कार्यों को ठीक रखने के लिए **कल्पिनम्**=कल्पशास्त्र में निपुण व्यक्ति को प्राप्त करे। इन कल्पसूत्रों में यज्ञों की वेदियों के विधि-विधानों का प्रतिपादन है। उनको ठीक से जाननेवाला यज्ञ के कार्यों को ठीक चला सकेगा। १३६. **द्वापराय**=(द्वौ परौ यस्य) धर्म, और मोक्ष ही पर-अन्तिम उद्देश्य हैं, जिसके 'धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष' में एक सीमा पर धर्म और दूसरी

सीमा पर मोक्ष ही जिसके जीवन के अङ्ग है, उसके लिए **अधिकल्पिनम्**=अधिक सामर्थ्यवाले पुरुष को नियत करे। यह धर्मपूर्वक राष्ट्र के कार्य करता हुआ, दोषों से मुक्त रहता हुआ, अन्त में मोक्ष को प्राप्त करेगा। सामान्य व्यक्ति तो अर्थ व काम में ही फँस जाता है। १३७. **आस्कन्दाय**=चारों ओर ज्ञान के प्रसार के द्वारा (गति=ज्ञान) दोषों के शोषण के लिए **सभास्थाणुम्**=सभा में स्थिरता से रहनेवाले को नियत करे। यह उत्तम नियमों के निर्माण व प्रचार के द्वारा प्रजा के दोषों का शोषण करना अपना कार्य समझे। १३८. **गोव्यच्छम्**=गौ को पीड़ित करनेवाले को **मृत्यवे**=मृत्यु के लिए प्राप्त करे। १३९. **गोघातम्**=गोहत्या करनेवाले को **अन्तकाय**=बधक के लिए प्राप्त करे, अर्थात् गोघाती को वधदण्ड दे। १४०. **गां विकृन्तन्तम्**=गौ को काटते हुए पुरुष को **यः**=जो **भिक्षमाणः**=भीख माँगता हुआ **उपतिष्ठति**=उपस्थित होता है उसे **क्षुधे**=भूख के लिए प्राप्त करे, अर्थात् ऐसे व्यक्ति को भूखा रखने का दण्ड दिया जाए। १४१. **दुष्कृताय**=पापों को दूर करने के लिए **चरकाचार्यम्**=श्रमणशील आचार्यों को स्थित करे, जो घूम-फिरकर प्रजा को ज्ञान देते हुए दुष्कृत्यों को दूर करे। १४२. **पाप्मने**=पापी पुरुष के लिए **सैलगम्**=(सैलेन सह गच्छति) अस्त्रधारी पुरुष को नियत करे।

भावार्थ—राष्ट्र में गोहत्या आदि पापों को दूर करने का पूर्ण प्रयत्न किया जाए।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**राजेश्वरौ**। छन्दः—**भुरिग्धृतिः**। स्वरः—**ऋषभः**।

प्रतिश्रुत्क के लिए अर्तन को

प्रतिश्रुत्कायाऽअर्तनं घोषाय भषमन्ताय बहुवादिनमनन्ताय मूकꣳ शब्दायाडम्बराघातं महसे वीणावादं क्रोशाय तूणवध्ममवरस्पराय शङ्खध्मं वनाय वनपमन्यतोरण्याय दावपम्॥ १९॥

१४३. **प्रतिश्रुत्काय**=प्रतिज्ञापूर्ति के लिए **अर्तनम्**=प्रेरक को नियत करे। यह निरन्तर उत्तम प्रेरणा देता हुआ उन्हें प्रतिज्ञा की पूर्ति के लिए उत्साहित करता रहेगा। १४४. **घोषाय**=उद्घोषणा के लिए **भषम्**=ऊँची आवाज़ से बोलनेवाले को प्राप्त करे। १४५. (क) **अन्ताय**=सिद्धान्त पर पहुँचने के लिए **बहुवादिनम्**=उत्तम वक्ता को नियत करे। (ख) इस वाक्य में ऐसी भावना भी सूचित होती है कि बहुत बोलनेवाले को अन्त के लिए जाने, अर्थात् 'इसका आयुष्य अल्प हो जाता है' ऐसा समझे। १४६. **अनन्ताय**=उस अनन्त प्रभु के उपदेश के लिए **मूकम्**=मौन धारण करनेवाले को प्राप्त करे, क्योंकि ईश का उपदेश तो **'गुरोस्तु मौनं व्याख्यानम्'** के अनुसार मौन से ही दिया जाता है। साथ ही कम बोलनेवाले को दीर्घायुष्यवाला जाने। १४७. **शब्दाय**=शब्द करने के लिए, पक्षी आदि को भयभीत करने के लिए (आवाज़) करने के लिए **आडम्बराघातम्**=ढोल बजानेवाले को प्राप्त करे। १४८. **महसे**=उत्सवों के लिए, उत्सवों में सभ्यों के विनोदार्थ **वीणावादम्**=वीणा बजानेवाले को प्राप्त करे। १४९. **क्रोशाय**=लोगों को एकत्र होने की सूचना देने के लिए (आह्वान के लिए) **तूणवध्मम्**=ढक्का बाजनेवाले को प्राप्त करे। १५०. **अवरस्पराय**= आस-पास के लोगों को प्रार्थना आदि के लिए बुलाना हो तो **शंखध्म्**=शंख बजानेवाले को प्राप्त करे। १५१. **वनाय** =वनों की रक्षा के लिए **वनपम्**=वनों के रक्षक को नियत करे। १५२. **अन्यतः अरण्याय**=दूसरे घने जंगलों के लिए **दावपम्**=वनाग्नि से रक्षा करनेवाले को नियत करे। नगर के समीप साधारण वन की रक्षा के लिए वनाय की नियुक्ति है 'इन उपवनों का कोई दुरुपयोग न करे' इसके लिए निगरानी करनेवाले को रखना है और घने जंगलों की रक्षा के लिए दावपों की नियुक्ति है। उन वनों में अचानक आग लगने से लाखों की सम्पत्ति नष्ट हो जाती है।

भावार्थ—जहाँ उद्घोषणा आदि के लिए ढोल आदि बजानेवाले की नियुक्ति करनी है वहाँ वनों की रक्षा के लिए रक्षापुरुषों को भी नियुक्त करना है।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**राजेश्वरौ**। छन्दः—**भुरिगतिजगती**। स्वरः—**ऋषभः**।

नर्म के लिए पुँश्चलू को

नर्माय पुँश्चलूꣳ हसाय कारिं यादसे शाबल्यां ग्रामण्यं गणकमभिक्रोशकं तान्महसे वीणावादं पाणिघ्नं तूणवध्मं तान्नृत्तायानन्दाय तलवम्॥ २०॥

१५३. **नर्माय**=क्रीड़ाओं के लिए **पुँश्चलूम्**=लोगों में चहल-पहल कर देनेवाले को नियत करे। ये लोगों में खेल देखने के लिए उत्साह पैदा करेंगे। १५४. **हसाय**=हास्य के लिए, केवल आमोद-प्रमोद के लिए **कारिम्**=अनुकरण करनेवाले को नियत करे। १५५. **यादसे**=जल-जन्तुओं के लिए **शाबल्याम्**=शबर स्त्रियों को नियत करे। १५६. १५७. १५८. **महसे**=तेजस्विता के लिए, राष्ट्र को शक्तिशाली बनाने के लिए **ग्रामण्यम्**=ग्रामनेता, नम्बरदार **गणकम्**=हिसाब-किताब रखनेवाला पटवारी या क्लर्क तथा **अभिक्रोशकम्**=उद्घोषणापूर्वक सबको एकत्र करनेवाले **तान्**=इन तीनों को प्राप्त करे। प्रत्येक ग्राम में 'ग्रामणी, गणक व अभिक्रोशक' की व्यवस्था होनी चाहिए तभी राज्य-प्रबन्ध तेजस्वी बना रहता है, अन्यथा व्यवस्था ढीली हो जाती है। १५९. **नृत्ताय**=नृत्य के लिए **वीणावादम्**=वीणा बजानेवाले को, १६०. **पाणिघ्नम्**=हाथ से तबला आदि बजानेवाले को १६१. **तूणवध्म्**=तुरही बजानेवाले को नियत करे। नृत्य में उत्साह लाने के लिए इनका होना आवश्यक है। इनके स्वर पर ही नृत्य चलता है। १६२. **आनन्दाय**=आनन्द के लिए, कीर्तन आदि में आनन्द की वृद्धि के लिए **तलवम्**=करताल बजानेवाले को प्राप्त करे।

भावार्थ—जहाँ ग्रामों के प्रबन्ध के लिए ग्रामणी आदि को नियत करना है, वहाँ आमोद-प्रमोद के उत्सवों के लिए वीणावादक आदि को भी प्राप्त करना है।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**राजेश्वरौ**। छन्दः—**भुरिगत्यष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**।

अग्नि के लिए पीवा को

अग्नये पीवानं पृथिव्यै पीठसर्पिणं वायवे चाण्डालमन्तरिक्षाय वꣳशनर्तिनं दिवे खलतिꣳ सूर्याय हर्यक्षं नक्षत्रेभ्यः किर्मिरं चन्द्रमसे किलासमह्ने शुक्लं पिङ्गाक्षꣳ रात्र्यै कृष्णं पिङ्गाक्षम्॥ २१॥

१६३. **अग्नये**=अग्नि के लिए, अग्नि के समीप कार्य करने के लिए **पीवानम्**=मोटे आदमी को प्राप्त करे। कार्य होने के साथ उसकी चरबी पिघलकर उसकी स्थूलता में भी उचित कमी आ जाएगी। १६४. **पृथिव्यै**=पृथिवी के लिए, पृथिवी पर बैठे-बैठे कार्य करने के लिए **पीठसर्पिणम्**=पीठेन सर्पति=बैठे-बैठे सरकनेवाले को नियत करो, उस पंगु पुरुष को नियत करे जो उठकर इधर-उधर नहीं जा सकता। १६५. **वायवे**=वायु के लिए, अर्थात् प्रचण्ड वायु में कार्य करने के लिए **चाण्डालम्**=(चण्ड अलं=शक्ति) प्रचण्ड शक्तिवाले को प्राप्त करे १६६. **अन्तरिक्षाय**=अन्तरिक्ष के लिए, ऊपर आकाश देश में कार्य करने के लिए **वंशनर्तिनम्**=बाँस पर नाच सकनेवाले को प्राप्त करे, इसे उस ऊँचे स्थान में कार्य करते हुए भय नहीं लगता। १६७. **दिवे**=द्युलोक के निरीक्षण के लिए **खलतिम्**=आकाशस्थ गोलों (पिण्डों) की गति को जाननेवाले को नियत करे। १६८. **सूर्याय**=सूर्य के निरीक्षण के लिए **हर्यक्षम्**=हरे रंग की आँखवाले को नियत करे, हरे रंग के शीशे के साथ सूर्य

का वेध लेने से आँख को हानि नहीं होती। १६९. **नक्षत्रेभ्यः**=नक्षत्रों के लिए **किर्मिरम्**=धवल वर्ण के शीशे के साथ देखनेवाले को नियत करे। १७०. **चन्द्रमसे**=चन्द्रमा के लिए, चन्द्रमा के निरीक्षण के लिए **विलासम्**=श्वेत वर्ण के शीशे से निरीक्षण करनेवाले को नियत करे। १७१. **अह्ने**=दिन में कार्य करने के लिए **शुक्लम्**=गौरवर्णवाले **पिङ्गाक्षम्**=पिङ्गाक्ष को नियत करे। **रात्र्यै**=रात्रि में काम करने के लिए **कृष्णम्**=काले रंगवाले **पिङ्गाक्षम्**=पिङ्गाक्ष को नियत करे। उस-उस समय कार्य के लिए ये व्यक्ति अधिक उपयुक्त होते हैं।

भावार्थ—राष्ट्र में प्रत्येक स्थान पर तदुपयुक्त पुरुषों को ही कार्यार्थ नियुक्त करना चाहिए।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**राजेश्वरौ**। छन्दः—**निचृत्कृतिः**। स्वरः—**निषादः**।

विरूप पुरुष

अथैतानष्टौ विरूपाना लभतेऽतिदीर्घं चातिह्रस्वं चातिस्थूलं चातिकृशं चातिशुक्लं चातिकृष्णं चातिकुल्वं चातिलोमशं च। अशूद्राऽअब्राह्मणास्ते प्राजापत्याः। मागधः पुँश्चली कितवः क्लीबोऽशूद्राऽअब्राह्मणास्ते प्राजापत्याः॥ २२॥

१. **अथ**=अब विविध स्थानों पर उपर्युक्त पुरुषों की नियुक्ति के बाद **एतान्**=इन **अष्टौ**=आठ **विरूपान्**=परस्पर विरुद्ध रूपवाले व विकृत रूपवाले पुरुषों को **आलभते**=प्राप्त करता है। (क) **अतिदीर्घम्**=बड़े लम्बे कदवाले, (ख) **च**=और **अतिह्रस्वम्**=बहुत छोटे कदवाले=बौने को, (ग) **च अतिस्थूलम्**=और अत्यन्त स्थूलकाय को (घ) **च**=तथा **अतिकृशम्**=अत्यन्त दुर्बल शरीरवाले को (ङ) **च**=और **अतिशुक्लम्**=एकदम गौरवर्णवाले को **च**=तथा (च) **अतिकृष्णम्**=अत्यन्त काले रूपवाले को (छ) **च**=और **अतिकुल्वम्**=एकदम बालों से रहित को **च**=तथा (ज) **अतिलोमशम्**=सर्वत्र बालों से व्याप्त अङ्गवाले को। २. **अशूद्राः अब्राह्मणाः**=यदि ये विरूप पुरुष शूद्र व ब्राह्मण न हों तो **प्राजापत्याः**=प्रजापति के ही समीप रहने योग्य हैं। शूद्र तो श्रम में लगा रहकर लोगों की कृपा का ही पात्र रहेगा, और ब्राह्मण ज्ञान के कारण आदर का पात्र बनेगा, परन्तु ये आठ विरूप वैश्य व क्षत्रिय तमाशे का, लोगों की उत्सुकता का कारण बनेंगे और सामान्य कार्यक्रम में पर्याप्त विघ्न के कारण हो जाएँगे। ३. इसी प्रकार **मागधः**=भाट, **पुँश्चली**=असंयत जीवनवाली स्त्री **कितवः**=जुआरी **क्लीबः**=कमज़ोर—ये चारों भी **अशूद्राः**=शूद्र नहीं होते, शूद्र में मागध बनने की योग्यता नहीं होती, काम में लगे रहने व सादा भोजन मिलने से इनका जीवन असंयमवाला नहीं होता, जुए के लिए अवकाश व धन नहीं जुटा पाते, श्रम के कारण शक्तिसम्पन्न होते हैं। इसी प्रकार ये **अब्राह्मणः**=ब्राह्मण भी नहीं होते। ज्ञानी होने तथा निर्लोभता के कारण व्यर्थ स्तुति करने की इनमें भावना नहीं होती, संयमी होते हैं, जुए से दूर रहते हैं और संयम के कारण निर्भीक व सशक्त होते हैं। **ते**=अशूद्र व अब्राह्मण मागध, पुँश्चली, कितव व क्लीब भी **प्राजापत्याः**=राजा के समीप रहने चाहिएँ। राजा को चाहिए कि इन्हें प्रजा में मिश्रित न होने दे। प्रजा में इन्हें मिश्रित होने का अवसर मिलेगा तो ये प्रजा-पतन का ही कारण बनेंगे।

भावार्थ—आठ विरूप पुरुषों को तथा मागध आदि चार को राजा प्रजा से दूर ही रखे, जिससे राष्ट्र का कार्य सुचारुरूपेण चलता रहे। न प्रजा तमाशा देखने में लग जाए और न ही आचरण से गिर जाए।

सूचना—राष्ट्र में सबको यथोचित कार्यों में लगाना ही 'पुरुषमेध' हैं (मेध=संगम)। 'पुरुषमेध' के ठीक होने पर ही राज्य का सारा ऐश्वर्य बढ़ता है।

इति त्रिंशोऽध्यायः॥

अथैकत्रिंशोऽध्यायः

—:o:—

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**पुरुषः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

सहस्रशीर्षा पुरुष

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिꣳ सर्वत स्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥१॥

१. वह पुरुष है (क) 'पुरि वसति' इति पुरुषः=ब्रह्माण्डरूप नगरी में निवास करते हैं (ख) **पुरि शेते**=ब्रह्माण्डरूप नगरी में शयन करते हैं अथवा (ग) **पुनाति रुणद्धि स्यति**= इसे पवित्र करते हैं, आवृत किये हुए हैं और अन्त में इसका अन्त करते हैं (षोऽन्तकर्मणि)। योग के शब्दों में 'क्लेश, कर्म, विपाकाशय' से अपरामृष्ट पुरुषविशेष ही ईश्वर हैं।

२. **पुरुष का स्वरूप**—वे पुरुष **सहस्रशीर्षा**=अनन्त सिरोंवाले हैं। **सहस्राक्षः**=अनन्त आँखोंवाले हैं, **सहस्रपात्**=अनन्त पाँववाले हैं। सहस्र शब्द अनन्तवाची है। यही भावना **'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्'** इन शब्दों में भी कही गई कि उस प्रभु की सर्वत्र आँखें हैं, सर्वत्र मुख, बाहु व पाँव हैं। जैसे भौतिक सङ्ग से रहित मुक्तात्मा 'पश्यँश्चक्षुर्भवति'=देखता है तो आँख-ही-आँख हो जाता है, उसे कोई भौतिक आवरण भेदनेवाला नहीं होता, इसी प्रकार उस प्रभु का भी कोई भौतिक आवरण नहीं है, वे सर्वतः आँखों व श्रोत्रोंवाले हैं। ३. **सः**=वह पुरुष **भूमिम्**=(भवन्ति भूतानि यस्मिन्) इस सारे ब्रह्माण्ड को चारों ओर से **स्पृत्वा**=(स्पृ=to protect) आवृत करके रक्षा करते हुए तथा इसके अन्दर निवास (स्पृ=to live) करते हैं।

४. **दशांगुलम्** (क) इस प्रकार वह पुरुष इस ब्रह्माण्ड की रक्षा करते हुए तथा इसमें निवास करते हुए दस अंगुल परिमाणवाले इस ब्रह्माण्ड को **अत्यतिष्ठत्**=लाँघकर ठहर रहे हैं, अर्थात् इस ब्रह्माण्ड से परे भी वर्त्तमान हैं, यह सारा ब्रह्माण्ड प्रभु के एकदेश में है। जैसे मातृगर्भ में बालक की स्थिति है, उसी प्रकार प्रभु के गर्भ में ब्रह्माण्ड की स्थिति है, वे प्रभु 'हिरण्यगर्भ' हैं, ये सारे ज्योतिर्मय पिण्ड उनके गर्भ में हैं। प्रभु की तुलना में यह ब्रह्माण्ड दशांगुलमात्र ही तो है, चाहे हमारे गणित के परिमाण में यह ब्रह्माण्ड अनन्त-सा प्रतीत होता है, परन्तु उस अनन्त प्रभु की तुलना में तो यह एकदम सान्त है। उसके यह एकदेश में ही है। (ख) 'दशांगुलम्' शब्द का अर्थ तरबूज़ 'watermelon' भी है, उस प्रभु की तुलना में यह सारा संसार 'तरबूज' ही है। 'तरबूज़' का अर्थ यहाँ इसलिए संगत प्रतीत होता है कि इससे ब्रह्माण्ड की अण्डाकृति का कुछ बोध भी हो जाता है, और साथ ही ऊपर ठोस और अन्दर कुछ जल की प्रतीति भी हो जाती है। (ग) **दशांगुलम्**=शब्द हृदयदेश के लिए भी प्रयुक्त होता है, वे प्रभु सबके हृदयों में निवास करते हुए उन सब हृदयों से ऊपर उठे हुए हैं। (घ) पञ्चस्थूलभूत व पञ्चसूक्ष्मभूतमय होने से भी इस ब्रह्माण्ड को 'दशांगुल' कहा जाता है। वे प्रभु इस भौतिक ब्रह्माण्ड को लाँघकर रह रहे हैं। इस सर्वव्यापक प्रभु को अनुभव करनेवाला व्यक्ति भी उस 'नारायण' को अपने अन्दर अनुभव

करता है और अपने को उस नारायण में। इस प्रकार यह स्वयं भी तन्मय होकर 'नारायण' ही हो जाता है।

भावार्थ—१. वे प्रभु अनन्त सिरों, आँखों व पाँवोंवाले हैं। २. इस ब्रह्माण्ड को आवृत करके इसकी रक्षा कर रहे हैं और इसके अन्दर निवास कर रहे हैं। ३. वे प्रभु इस दशांगुल जगत् से परे भी हैं।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**ईशानः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

त्रिविध जीवों का ईशान

पुरु॑षऽए॒वेदꣳ सर्वं॒ यद् भू॒तं यच्च॒ भाव्य॑म्। उ॒ता॒मृ॑त॒त्वस्येशा॑नो॒ यदन्ने॑नाति॒रोह॑ति॥२॥

१. इस संसार में जन्म के दृष्टिकोण से जीव तीन भागों में विभक्त हैं (क) प्रथम तो वे जो 'यथाकर्म यथाश्रुतम्'=अपने ज्ञान व कर्म के अनुसार किसी शरीर को धारण कर चुके हैं, ये 'भूत' कहलाते हैं, जिनका जन्म हो चुका। (ख) दूसरे वे जीव हैं जो शीघ्र ही समीप भविष्य में जन्म ग्रहण करेंगे। ये 'भाव्य' कहलाते हैं, जिनका जन्म होगा। (ग) इन दोनों से भिन्न तीसरे वे हैं जो हृदयग्रन्थियों के भेदन से, संशयों के छेदन से और कर्मों की क्षीणता व दुर्बलता से ऊपर उठकर उस परावर प्रभु को देखकर 'अमृतत्व' का लाभ कर पाते हैं। ये अन्य जीवों की तरह जन्म-मरण के चक्र में नहीं फँसे रहते, अपितु इस जन्म-मरणचक्र से ऊपर उठकर अमर हो गये हैं। २. **पुरुषः**=ब्रह्माण्डरूप नगरी में शयन व निवास करनेवाला वह प्रभु **एव**=ही **इदम्**=इन **सर्वम्**=सारे **भूतम्**=कर्मानुसार ग्रहीत जन्मवाले भूतों को **यत् च**=और जो **भाव्यम्**=अब समीप भविष्य में ही जन्म ग्रहण करेंगे उन भव्य प्राणियों को **उत**=और **अमृतत्वस्य**=जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठे मुक्तात्माओं को भी **ईशानः**=शासित कर रहे हैं। ये तीनों प्रकार के जीव उस प्रभु के अनुशासन में चल रहे हैं। ये अमर जीव वे हैं **यत्**=जो **अन्नेन**='अद्यते अत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते' उस सबके आधारभूत अन्न नामक प्रभु के द्वारा, अर्थात् उस प्रभु के चिन्तन के द्वारा **अतिरोहति**=इस जन्म-मृत्यु के चक्र को लाँघ जाते हैं। ये तीनों ही प्रभु से शासित होते हैं, प्रभु इनके ईशान हैं। प्रभु की व्यवस्था के अनुसार ही ये सब उस-उस जन्म को धारण कर रहे हैं। मुक्तात्मा भी परामुक्ति के अन्तकाल में उस प्रभु के अनुशासन में होने के कारण ही जन्म ग्रहण करेंगे। इस अनुशासन के कारण ही वे मुक्त होते हुए भी नई सृष्टि के निर्माणादि कार्यों को नहीं कर सकते। ३. वे प्रभु अन्न हैं। उन्हीं के आधार से प्राणिमात्र अन्न को खा रहा है **'मया सोऽन्नमत्ति'**। प्रलय के समय वे प्रभु ही सबको निगल जाते हैं 'अत्ति च भूतानि'। **'आ+नम्'** (यास्क)=इसलिए भी वे प्रभु अन्न हैं, क्योंकि अन्त में सब ओर से प्राणी उसी के प्रति प्रणत होते हैं।

इस अन्न का जो भी आश्रय करता है वह अन्ततोगत्वा जन्म-मरण को लाँघ जाता है (अति-रोहति)। जन्म-मरण से ऊपर उठकर वह परमस्थान में स्थित होता है। ४. सामान्य अन्न से शरीर भूखा मरने से बचता है और इस प्रकार जीव-मृत्यु से ऊपर उठता है, परन्तु इस प्रभुरूप अन्न के सेवन से वह जन्म से भी ऊपर उठ जाता है। जन्म-मरणचक्र से अतिरूढ़ करनेवाला यह प्रभुरूप अन्न सचमुच अद्वितीय है।

भावार्थ—वे पुरुष प्रभु 'भूत, भाव्य व अमर' तीनों प्रकार के प्राणियों के ईशान हैं। उस समन्तात् सेवनीय (आनम्) अन्न नामक प्रभु की अनुकम्पा से जीव जन्म-मरण को लाँघ पाता है।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**पुरुषः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

एकपात् व त्रिपात्

ए॒तावा॑नस्य महि॒मातो॒ ज्याया॑ँश्च॒ पूरु॑षः।
पादो॑ऽस्य॒ विश्वा॑ भू॒तानि॑ त्रि॒पाद॑स्या॒मृतं॑ दि॒वि ॥३॥

१. **अस्य**=इस पुरुष की **एतावान्**=इतनी **महिमा**=महिमा है। प्रथम मन्त्र में दशांगुल जगत् का संकेत है, पञ्चस्थूलभूत व पञ्चसूक्ष्मभूतों से बना हुआ यह दशांगुल जगत् उस प्रभु की ही महिमा है। **'यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः'**=ये हिमाच्छादित पर्वत, समुद्र व पृथिवी उस प्रभु की महिमा का ही प्रतिपादन कर रहे हैं। द्वितीय मन्त्र में 'भूत, भाव्य व अमृतत्व को प्राप्त' जीवों का वर्णन है। ये सब जीव भी प्रभु की महिमा का प्रतिपादन कर रहे हैं। बुद्धिमानों की बुद्धि, बलवानों के बल व तेजस्वियों का तेज, वे प्रभु ही हैं। २. **च**='परन्तु वे प्रभु इन्हीं में समाप्त हो गये हों', ऐसी बात नहीं है, **अतः**=इस सारे ब्रह्माण्ड से **पूरुषः**=वे पुरुष **ज्यायान्**=बहुत अधिक बड़े हैं। ये सारा ब्रह्माण्ड तो प्रभु के एकदेश में है। वेदमन्त्र इसी बात का प्रतिपादन इन शब्दों में करता है कि **विश्वा भूतानि**=सब भूत **अस्य पादः**=इस प्रभु के चतुर्थांश ही हैं। **अस्य त्रिपात्**=इस प्रभु के तीन पाद तो **दिवि**=अपने द्योतनात्मक प्रकाशमय रूप में **अमृतम्**=अमृत हैं। उन तीन पादों में किसी प्रकार का जन्म-मरण का व्यापार नहीं चल रहा है। यह जन्म-मरण या परिवर्तन तो इस चतुर्थांश में ही हो रहा है। शरीर के मरने पर जैसे 'व्यक्ति मर गया' ऐसा व्यवहार होता है, उसी प्रकार इस चतुर्थांश में परिवर्तन होने से इसे 'मृत' कह देते हैं, परन्तु शेष तीन अंश तो 'अमृत' हैं ही।

भावार्थ—सारा ब्रह्माण्ड प्रभु के एकदेश में है, उस प्रभु का त्रिपात् द्योतनमय अमृतरूप में है।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**पुरुषः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

त्रि॒पादू॒र्ध्व उदै॒त्पुरु॑षः॒ पादो॑ऽस्ये॒हाभ॑व॒त्पुनः॑।
ततो॒ विष्व॒ङ् व्य॑क्राम॒त्साशनानश॒ने ऽअ॒भि॥४॥

१. **त्रिपात् पुरुषः**=यह तीन पादोंवाला पुरुष **ऊर्ध्वः उदैत्**=इस विविध हलचलवाले अशान्त संसार से ऊपर उठा हुआ है। यह सारे दृश्यमान ब्रह्माण्ड की हलचल उसके इस एक पाद में ही है। **अस्य**=इस प्रभु का **पादः**=एक पाद ही **पुनः**=तो **इह**=इस ब्रह्माण्ड में **अभवत्**=है। यह त्रिपात् और एकपात् का विचार कोई गणित के अंकों में नहीं गिनना। यह प्रभु की अनन्तता के प्रतिपादन के लिए कहने की एक शैलीमात्र है। २. यह सारा संसार दो भागों में बँटा हुआ है। इसमें कुछ 'साशन' है, अशनसहित है, खाता है और कुछ न खानेवाला है। इन्हीं को क्रमशः 'चराचर', जंगम-स्थावर' व 'चेतन-जड़' (जड़-चेतन) कहने की परिपाटी है। **साशनानशने**=इस चराचर संसार में **विष्वङ्**=(वि सु अञ्च) विविध दिशाओं व योनियों में उत्तमता से गति करनेवाला वह प्रत्येक पदार्थ **ततः**=उस संचालक त्रिपात् प्रभु से ही **व्यक्रामत्**=गति कर रहा है। सारी गति का स्रोत, प्रथम गति देनेवाले Prime mover, वे प्रभु ही हैं। उस प्रभु के अनुशासन में नदियाँ बह रही हैं। सूर्य, चन्द्र, तारे—ये सब उसी से अपने-अपने चक्र में घुमाये जा रहे हैं। जीव भी उसी की व्यवस्था से विविध योनियों को ग्रहण कर रहे हैं। ३. अशन खाते जीव उसी की शक्ति

से गति कर रहे हैं और उसी की ओर जा रहे हैं। ठीक मार्ग पर जानेवाले तो उसकी ओर जा ही रहे हैं, गलत मार्ग पर जानेवाले भी भटक-भटकाकर, ठोकरें खाकर फिर प्रभु की ओर ही जाते हैं। दुःख पड़ने पर प्रभु का स्मरण हो ही जाता है। एवं, **'सा काष्ठा सा परागतिः'**=वे प्रभु ही सब जीवों की अन्तिम शरण हैं।

भावार्थ—सारा चराचर संसार ब्रह्म की ओर जा रहा है, वे ब्रह्म ही गति के स्रोत हैं।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**स्रष्टा**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

ततो॑ वि॒राड॑जायत वि॒राजो॒ऽअधि॒ पूरु॑षः।
स जा॒तोऽअत्य॑रिच्यत प॒श्चाद् भूमि॒मथो॑ पु॒रः ॥५॥

१. **ततः**=उस पुरुष (निमित्तकारण) से **विराट्**=एक देदीप्यमान पिण्ड **अजायत**=उत्पन्न हुआ। सांख्यदर्शन में यही 'महत्' नाम से कहा गया है। जो प्रकृति के कणों का साम्यावस्था का पुञ्ज सर्वत्र समरूप से फैला हुआ था, वह सृष्टि के प्रराम्भ में प्रभु द्वारा गति दिये जाने पर केन्द्र की ओर खिंचने लगा, चारों ओर खाली स्थान हो गया। यही आकाश था। सारे कण थोड़े स्थान में आने से भारी हो गये तो ये 'महत्' कहलाये। प्रभु ने उस साम्यावस्थावाली प्रकृति को **महत्**=विराट् व एक हैम पिण्ड का रूप दे दिया। इस पिण्ड का उपादानकारण तो प्रकृति ही थी, निमित्त 'परमात्मा' था। २. **विराजः**=इस विराट् पिण्ड का **अधि**=अधिष्ठातृरूपेण **पूरुषः**=वह पुरुष था। इस महत्तत्त्व से अब अहंकारादिक्रमेण सृष्टि का निर्माण होगा। इस निर्माण में उपादानकारण निश्चय से यह विराट् ही है, परन्तु इस विराट् के अध्यक्ष वे प्रभु हैं। उनकी अध्यक्षता में ही इस चराचर जगत् का निर्माण होता है। ३. **सः**=यह विराट् **जातः**=उत्पन हुआ-हुआ **अत्यरिच्यत**=संसार के किसी भी पदार्थ से अधिक दीप्तिवाला हुआ। प्रारम्भ में यह पिण्ड अग्निमय था। ४. **पश्चात्**=इस विराट् पिण्ड के बन जाने के पश्चात् **भूमिम्**=(भवन्ति भूतानि यस्याम्) प्राणियों के निवासस्थान भूत लोकों को उस अध्यक्ष ने बनाया। प्राणियों के सशरीर होने से पहले इन लोकों को बनना आवश्यक है। इन लोकों का ही अन्वर्थ नाम 'भूमि' है। भूमि से अभिप्राय केवल इस पृथिवी का नहीं। ५. **अथ**=और अब इन लोकों के बन जाने के पश्चात् **पुरः**=शरीर बनाये गये। शरीरों को 'पुरः' इसलिए कहा है कि 'पूर्यन्ते सप्त धातुभिः'=ये रस-रुधिर आदि सप्त धातुओं से पूर्ण हैं। 'पॄ पालनपूरणयोः' धातु से बना यह शब्द इस भावना का भी सूचक है कि यह शरीर पालन व पूरण के योग्य है। असुरों की नगरियाँ भी वेद में 'पुर' कहलायी हैं। वहाँ 'पॄ' का अर्थ अपने को मुक्त कराना deliver from या बाहर लाना bring out of है। हमें इनसे अपने को क्योंकि मुक्त करने का प्रयत्न करना है, अतः ये भी पुर हैं। अब लोकों व पुरों के बन जाने के बाद सृष्टिक्रम का वर्णन अगले मन्त्र में द्रष्टव्य है।

भावार्थ—यह संसार प्रभु द्वारा प्रराम्भ में एक विराट् पिण्ड के रूप में उत्पन्न किया जाता है। उस विराट् पिण्ड से ही इन लोकों व शरीरों की उत्पत्ति होती है।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**पुरुषः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

पृषादाज्य का संभरण

तस्मा॑द्य॒ज्ञात्स॑र्व॒हुतः॒ सम्भृ॑तं पृषदा॒ज्यम्।
प॒शूँस्ताँश्च॑क्रे वाय॒व्या॒नार॒ण्या ग्रा॒म्याश्च॒ ये ॥६॥

१. अब तक प्रभु को 'पुरुष' नाम से स्मरण किया था। इसी पुरुष को अब 'यज्ञ' नाम से कहा गया है, क्योंकि वे (क) पूजनीय हैं (देवपूजा)। (ख) प्रकृतिकणों के संगतिकरण से ब्रह्माण्ड का निर्माण करनेवाले हैं। (ग) जीव को उसकी उन्नति के लिए सब-कुछ देनेवाले हैं (दान)। वे प्रभु सचमुच 'यज्ञ' हैं। 'सर्वहुत्' हैं—सब-कुछ देनेवाले हैं। २. **तस्मात्**=उस **यज्ञात्**=यज्ञ नामक प्रभु से **सर्वहुतः** (हु=दान)=सब वस्तुएँ देनेवाले से **पृषदाज्यम्**='अन्नं वै पृषदाज्यम्', 'पयः पृषदाज्यम् श० २.८.४.८। 'पशवो वै पृषदाज्यम्—तै० १.६.३.२ अन्न, दूध तथा पशुओं का **सम्भृतम्**=सम्भरण किया गया। प्राणियों के लिए अन्न व दूध की आवश्यकता है उस अन्न व दूध के उत्पादन में पशु-पक्षी भी साधन हैं। दूध तो उनसे प्राप्त होता ही है। उनके बिना अन्न-उत्पादन भी सम्भव नहीं। (क) 'ट्रैक्टर्स' कभी बैलों के स्थानापन्न हो जाएँगे, इस बात की संभावना नहीं है। ऊबड़-खाबड़ भूमि को सम करने में उनकी उपयोगिता ठीक है, हल चलाने के लिए नहीं। ट्रेक्टर्स से जोते गये बड़े-बड़े खेतों में उपज को कृमि खा जाते हैं, छोटे-छोटे खेतों की मुंडेरों पर बैठी चिड़ियाँ उन कृमियों के संहार से उपज को बचाती थीं। ट्रेक्टर्स ने उन मुंडेरों को समाप्त कर इन पक्षियों के बैठने के स्थान ही समाप्त कर दिये। कितना कीटनाशक द्रव्य हम छिड़कते रहेंगे? (ख) बैलों से खेती में भूमि को खाद भी मिलता रहता था। ट्रेक्टर्स के कारण खाद के कारखाने खोलने भी आवश्यक हो गये। (ग) इस कृत्रिम खाद से भूमि अधिक उपज देकर शीघ्र बंजर होनी शुरू हो गई। इन सब विचारों का अन्तिम परिणाम यही है कि अन्न के उत्पादन में पशु-पक्षियों की उपयोगिता रहेगी ही, अतः ये भी यहाँ 'पृषदाज्य' शब्द से कहे गये हैं। उस प्रभु ने जीव के हित के लिए पृषदाज्य को प्राप्त कराया। ३. ये पशु सामान्यतः तीन भागों में विभक्त होते हैं। मन्त्र कहता है कि उस प्रभु ने **पशून् तान्**=उन पशुओं को **चक्रे**=बनाया जो **वायव्यान्**=वायु में उड़नेवाले थे, अर्थात् जिन्हें हम सामान्य भाषा में पक्षी कहते हैं, **च**=और **ये**=जो **आरण्या**=वन के पशु थे **ग्राम्याः च**=और जो ग्रामों में रहनेवाले थे। शेर आदि जंगली पशुओं का निर्माण किया तथा साथ ही गौ इत्यादि पालतू ग्राम्य पशुओं की भी सृष्टि की। 'तिर्यङ्' शब्द अब तक सामान्यरूप से 'पशु-पक्षी' दोनों के लिए प्रयुक्त होता है। मनुष्येतर सभी चर प्राणी यहाँ पशु शब्द से विवक्षित है। वे पशु हैं (पश्यन्ति) देखते हैं, समझते नहीं। वे बुद्धि का विकास नहीं कर पाते। वासना के अनुसार सृष्टि के प्रारम्भ से अन्त तक चलते रहते हैं, इसीलिए उन्हें यहाँ 'पशु' इस सामान्य शब्द से कहा है। इन सब पशुओं की उपयोगिता है। शेर न होते तो मृग इतने अधिक बढ़ जाते कि हमारी खेतियों को ख़तरा पैदा हो जाता। मक्खी का मल वमन को रोकने में अचूक औषध का काम देता है। एवं, प्रत्येक प्राणी की उपयोगिता है, जिसको हम अपनी अल्पज्ञता के कारण पूर्णरूपेण समझते नहीं। सृष्टि में इन सब वायव्य, आरण्य व ग्राम्य पशुओं का अपना-अपना स्थान है।

भावार्थ—उस सर्वदाता यज्ञ नामक प्रभु ने अन्न व दूध का संभरण किया। उसके लिए ही पक्षियों, आरण्य व ग्राम्य पशुओं का निर्माण किया।

नोट—यहाँ 'वायव्य पशुओं' से ऐसा नहीं समझना चाहिए कि किसी युग में कुछ उड़नेवाले पशु भी थे। उड़नेवाले पर्वतों की कल्पना से ऐसा भ्रम हो जाता है। वास्तव में न उड़नेवाले पर्वत थे और न उड़नेवाले पशु। पक्षियों को ही यहाँ 'उड़नेवाले पशु' कहा गया है।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**स्रष्टेश्वरः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

'वेद-ज्ञान' का प्रादुर्भाव

तस्मा॑द्य॒ज्ञात्स॑र्व॒हुत॒ऽ ऋच॒: सामा॑नि जज्ञिरे।
छन्दा॑ꣳसि जज्ञिरे॒ तस्मा॒द्यजु॒स्तस्मा॑दजायत॥७॥

१. **तस्मात्**=उस **यज्ञात्**=ज्ञान का दान करनेवाले अथवा हमारे साथ ज्ञान का सम्पर्क करनेवाले **सर्वहुतः**=सबके लिए ज्ञान देनेवाले प्रभु से **ऋचः**=ऋचाएँ या ऋग्वेद के मन्त्र तथा **सामानि**=साम, अर्थात् सामवेद के मन्त्र **जज्ञिरे**=उत्पन्न हो गये। **तस्मात्**=उसी से **छन्दांसि**=रोगों व युद्धों से बचानेवाले अथर्व के छन्द **जज्ञिरे**=प्रादुर्भूत हुए। **तस्मात्**=उसी से **यजुः**=यजुर्वेद के मन्त्र **अजायत**=हो गये। २. (क) सृष्टि के प्रारम्भ में प्रभु से दिया गया वेदज्ञान चार भागों में विभक्त है। प्रथम ऋग्वेद है, इसमें तृण से लेकर ब्रह्मपर्यन्त सभी पदार्थों के गुण-धर्मों का स्तवन (कथन) है। इसी से इनका नाम 'ऋग्वेद' (ऋच स्तुतौ) हो गया है। (ख) इस प्रकृति का ज्ञान करते हुए हम प्रसंगवश कण-कण में प्रभु की महिमा का भी अनुभव करते हैं और उस प्रभु के प्रति नतमस्तक होते हैं। इसी नमन व उपासना का विषय 'सामवेद' में वर्णित है। (ग) यदि प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करके उसका ठीक उपयोग करेंगे और प्रभु के अविस्मरण से विलास में न फँसेंगे तथा परस्पर प्रेम से चलेंगे तो रोगों व युद्धों से बचे रहेंगे, परन्तु मनुष्य की अल्पज्ञता के कारण वे युद्ध व रोगों से आक्रान्त हो जाते हैं, 'उनसे अपना छादन (रक्षण) कैसे करना' यही विषय अथर्व-मन्त्रों का है, इसी से उन्हें यहाँ 'छन्दांसि' शब्द से स्मरण किया है। (घ) अब स्वस्थ व शान्त बनकर हमने अपना जीवन जिन श्रेष्ठतम कर्मों में बिताना है, उन्हीं कर्मों का प्रतिपादन 'यजुर्वेद' में है। यह यजुर्वेद इसीलिए 'कर्मवेद' कहलाता है। मनुष्य को अपना जीवन इन्हीं यज्ञात्मक कर्मों में लगाना है। इनको करता हुआ ही वह 'यज्ञ' बनता है और 'यज्ञ' नामवाले उस प्रभु को पाता है। ३. मानव-उन्नति के लिए ज्ञान देना आवश्यक था। ज्ञान के बिना किसी प्रकार की उन्नति सम्भव नहीं, अतः प्रभु ने सृष्टि के प्रारम्भ में यह वेद-ज्ञान दिया।

भावार्थ—प्रभु-प्रदत्त वेद-ज्ञान से हम प्रतिदिन उन्नति करते हुए प्रभु को प्राप्त करने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**पुरुषः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

मनुष्य जीवन व पशुजीवन—दाएँ व बाएँ हाथ

तस्मा॒दश्वा॑ऽअजायन्त॒ ये के चो॑भ॒याद॑तः।
गावो॑ ह जज्ञिरे॒ तस्मा॒त्तस्मा॑ज्जा॒ताऽअ॑जा॒वय॑:॥८॥

१. पशुओं की उत्पत्ति का उल्लेख ऊपर कर चुके हैं। प्रस्तुत मन्त्र में कुछ पशुओं का विशेषरूप से उल्लेख है, जिनका हमारे साथ विशेष सम्बन्ध है, वे पशु निम्न है—२. **तस्मात्**=उस प्रभु से **अश्वाः**=घोड़े **अजायन्त**=प्रादुर्भूत किये गये, **ये के च**=और जो कोई **उभायादतः**=दोनों ओर दाँतवाले, घोड़े के स्थानापन्न 'खच्चर, गधा' आदि पशु थे, वे भी प्रादुर्भूत हुए। मैदान में जो स्थान घोड़े का है, वही पर्वतप्रदेश में खच्चर आदि का है। **तस्मात्**=उस प्रभु से **ह**=निश्चय से **गावः**=गौवें **जज्ञिरे**=उत्पन्न हुईं। **तस्मात्** =उसी प्रभु से

अजा-अवयः=बकरियाँ व भेड़ें **जाताः**=उत्पन्न हुईं। ३. इस प्रकार 'गौ, घोड़ा बकरी व भेड़' इन चार पशुओं का यहाँ उल्लेख है। इनमें गौ और घोड़ा मनुष्य के दाहिने हाथ हैं तो बकरी और भेड़ बायाँ हाथ हैं। **'तवेमे पञ्च पशवः गौरश्वः पुरुषो अजावयः'** इस मन्त्रभाग में मनुष्य मध्य में है, एक ओर गौ व घोड़ा दूसरी ओर अजा और अवि हैं। मानव जीवन से इन चारों की अत्यन्त घनिष्ठता है। गौ अपने दूध से उसकी बुद्धि को सात्त्विक बनाकर मनुष्य के ज्ञान को बढ़ाती है। घोड़ा व्यायामादि में सहायक होकर शक्ति-वृद्धि का कारण बनता है। बकरी का दूध 'सर्वरोगापह' होने से मनुष्य को नीरोग व धनार्जन के योग्य बनता है। भेड़ ऊन देकर सरदी से उसकी रक्षा करती है और उसे उचित श्रम के योग्य बनाती है। ४. इन चारों में भी **'स नः पवस्व शं गवे शं जनाय शमर्वते'** इस मन्त्र में 'गौ, मनुष्य व घोड़ा' इन शब्दों में गौ को मनुष्य का दायाँ हाथ माना है तो घोड़े को बायाँ।

भावार्थ—हम पशुओं की उपयोगिता को समझकर उनका भी ध्यान करनेवाले बनें 'गौ' को तो घर का अत्यन्त आवश्यक अङ्ग समझकर अवश्य ही पालें।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**पुरुषः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

प्रभु का प्रोक्षण

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः।
तेन देवाऽअयजन्त साध्याऽ ऋषयश्च ये॥९॥

१. **तम्**=उस **यज्ञम्**=उपासनीय (पूजा) संगतिकरणयोग्य अथवा समर्पणीय (दान) प्रभु को **बर्हिषि**=उस हृदय में, जिसमें से वासनारूप घासफूँस का उद्बर्हण कर दिया गया है, **प्रौक्षन्**=सिक्त करते हैं। हृदय मानो क्षेत्र है और उस क्षेत्र को ये लोग प्रभु-चिन्तनरूप जल से सींचते हैं। इस क्षेत्र में से वे वासनाओं को उखाड़ डालते हैं और इसी वासनाओं के उद्बर्हण के परिणामस्वरूप इस खेत को यहाँ 'बर्हिः' नाम दिया गया है। वे प्रभु यज्ञ हैं। वे प्रभु पूजनीय हैं, संगमनीय हैं। हमें चाहिए कि हम अपने को उस प्रभु के प्रति दे डालें। यह 'दे डालना' ही समर्पण है। २. किस प्रभु का सेचन करते हैं? **पुरुषः**=उसका, जो इन शरीररूप पुरियों में निवास करते हैं (पुरि वसति, पुरि शेते वा)। उस प्रभु, का जो **अग्रतः**=पहले से ही **जातम्**=विद्यमान है। प्रभु हमारे हृदयों में पहले से हैं ही। हमें केवल हृदयों का शोधन करके, उन्हें बर्हि बनाकर प्रभु की ज्योति को देखने का प्रयत्न करना है। ३. **तेन**=उस प्रभु से **अयजन्त**=मेल करते हैं (संगतिकरण)। कौन? (क) **देवाः**=जो व्यक्ति अपने हृदयों से आसुरवृत्तियों का उद्बर्हण करके उन हृदयों को दैवीवृत्तियों से भरते हैं। दिव्यवृत्तियों को अपनाकर ही ये देव उस महादेव से मेल के अधिकारी होते हैं। (ख) **साध्याः**=(साध्नुवन्ति परकार्याणि) जो सदा परार्थ के कार्यों को सिद्ध करने में लगे हैं। जिनके हाथ सदा यज्ञों में व्यापृत हैं। 'देव शब्द उपासनाकाण्ड का संकेत करता था तो 'साध्य' शब्द कर्मकाण्ड को संकेतित कर रहा है। (ग) **ये च ऋषयः**=और जो तत्त्वद्रष्टा ज्ञानी हैं। 'ऋषि' शब्द ज्ञानकाण्ड का प्रतीक है। प्रभु से मेल उन्हीं लोगों का होता है जो अपने जीवन में उपासना, कर्म व ज्ञान तीनों का सुन्दर समन्वय करते हैं।

भावार्थ—हम अपने हृदयों को पवित्र बना, वहाँ प्रभु की ज्योति को जगाएँ। देव, साध्य व ऋषि बनकर अर्थात् हृदय, हस्त व मस्तिष्क तीनों की उन्नति करके प्रभु से अपना मेल करें।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**पुरुषः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

एक प्रश्न

यत्पुरु॑षं॒ व्यद॑धुः कति॒धा व्य॑कल्पयन्।
मुखं॒ किम॑स्यासी॒त्किं बा॒हू किमू॒रू पादा॑ऽउच्येते॥१०॥

१. **यत्**=जब **पुरुषम्**=उस पुरुष प्रभु से **व्यदधुः**=ये 'देव, साध्य व ऋषि' **व्यकल्पयन्**=(वि+कल्पय्=सामर्थ्य) अपने को विशिष्ट सामर्थ्यवाला बनाते हैं। प्रभु के धारण से यह परिणाम निश्चित है कि प्रभु की शक्ति इन उपासकों को प्राप्त होती है। यहाँ जिज्ञासु के मन में यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि इस प्रभु के धारण करनेवाले को किस प्रकार का उत्कृष्ट सामर्थ्य प्राप्त होता है? २. इसी प्रश्न को जिज्ञासु कुछ विस्तार से इस प्रकार करता है कि (क) **अस्य**=इस प्रभु के धारण करनेवाले का **मुखम्**=मुख **किम् आसीत्**=क्या हो जाता है? (ख) **किं बाहू**=इसकी बाहुएँ क्या बन जाती हैं? (ग) **किम् ऊरू**=इसकी जाँघें क्या हो जाती हैं? (घ) **पादा**=इसके पाँव **किम् उच्येते**=कैसे कहे जाते हैं? ३. यहाँ प्रश्न है कि यह प्रभु का धारण करनेवाला कैसा होता है। एक सामान्य व्यक्ति के और इसके मुख में क्या अन्तर होता है? इसकी बाहुएँ क्या बन जाती हैं? इसकी जाँघों व पाँवों का क्या नाम पड़ जाता है? सामान्य व्यक्ति के अङ्गों में क्या कमी होती है। जो इस प्रभु का पोषण करनेवाले में नहीं रहती! इतनी बात तो ठीक है कि उसके अङ्ग शक्तिशाली बन जाते हैं, परन्तु 'उनमें क्या शक्ति आ जाती है'? यह प्रश्न है, जिसका उत्तर अगले मन्त्र में देते हैं।

भावार्थ—प्रभु को धारण करनेवाले मनुष्य के मुख आदि में एक विशेष शक्ति उत्पन्न हो जाती है, जो उसे सामान्य पुरुषों से विशिष्ट बना देती है।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**पुरुषः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

प्रश्न का उत्तर

ब्रा॒ह्म॒णो॑ऽस्य॒ मुख॑मासीद् बा॒हू रा॑ज॒न्यः कृ॒तः।
ऊ॒रू तद॑स्य॒ यद्वैश्यः॑ प॒द्भ्याᳬ शू॒द्रोऽअ॑जायत॥११॥

१. **अस्य**=इस प्रभुभक्त का **मुखम्**=मुख **ब्राह्मणः**=ब्राह्मण **आसीत्**=हो जाता है। यह प्रभुभक्त अपने मुख से सदा ब्रह्म का प्रतिपादन करनेवाला (ब्राह्मण) बनता है, इसका मुख ज्ञान का प्रसार करता है। २. **बाहू**=इस प्रभुभक्त की भुजा **राजन्यः**=क्षत्रिय **कृतः**=कर दी गई हैं। **'स विशो अरज्यत ततो राजन्यो अजायत'**=प्रकृति का रञ्जन करने से ये राजन्य बनी हैं। इसकी भुजाएँ प्रजा के रक्षण में व्याप्त होने से प्रजा को आनन्दित करनेवाली हैं, अतः राजन्य हैं। ३. **यत्**=जो **अस्य**=इसकी **ऊरू**=जाँघें हैं **तत्**=वे ही **वैश्यः**=वैश्य हैं। अथर्व में यह पाठ 'मध्यं तदस्य यद्वैश्यः' है। 'ऊरू' मध्यभाग का ही प्रतीक है, पेट भी उसमें समाविष्ट है। जिस प्रकार पेट रुधिरादि सब धातुओं का निर्माण करता है इसी प्रकार इस प्रभुभक्त की ऊरू भी निर्माण-कार्य में व्याप्त रहती हैं, कभी थकती नहीं। **'कृषिगोरक्ष-वाणिज्ये'**=कृषि, गोरक्षा व वाणिज्य ही वैश्य के कर्म हैं। यह प्रभुभक्त भी इन्हीं जैसे निर्माण के कार्यों में लगा रहता है। ४. **पद्भ्याम्**=पाँवों से यह प्रभुभक्त **शूद्रः**=शूद्र **अजायत**=हो जाता है। 'शूद्र' अर्थात् शु-द्रवति=तीव्र गति करता है। यह प्रभुभक्त बड़ा क्रियाशील होता है। इसमें प्रमाद, आलस्य व निद्रा स्थान नहीं कर लेती, यह अप्रमत्त होकर सब नियत कर्मों को शीघ्रता से करता है।

भावार्थ—प्रभुभक्त ज्ञान का प्रचारक, निर्बलों का रक्षक, सभी का पालक तथा शीघ्रता से कार्यों को करनेवाला होता है, दूसरे शब्दों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र बनता है।

नोट—१. प्रस्तुत मन्त्र में प्रसंगवश वर्णव्यवस्था का भी संकेत हो गया है। समाज का शरीर ब्राह्मणरूप मुखवाला है, क्षत्रिय इसकी भुजाएँ हैं, इसका मध्यभाग ही वैश्य है और इसके पाँव शूद्र हैं। ब्राह्मण वही है जो मुख की भाँति ज्ञान का प्रसार करनेवाला है, क्षत्रिय भुजाओं की तरह रक्षक है। वैश्य ने पेट की तरह सब अन्नादि का उत्पादन करना है और शूद्र ने अतन्द्र होकर सेवा-कार्य में व्याप्त रहना है। एवं, वर्णव्यवस्था गुण-कर्मों पर ही आश्रित है। (क) मुख को सर्दी-गर्मी नहीं सताती, अन्य शरीरांगों की अपेक्षा यह अधिक तपस्वी है, ब्राह्मण को भी इसी प्रकार तपस्वी बनना है। मुख स्वादिष्ठ वस्तु को अपने पास न रखकर पेट में भेज देता है, इसी प्रकार ब्राह्मण अपरिग्रही बनाये हैं। भेंट में प्राप्त बहुमूल्य वस्तु को यह प्रजाहित के लिए दान कर देता है। (ख) भुजाओं का काम पालन है, ये शक्तिशाली होती हैं, इसी प्रकार क्षत्रिय ने शक्तिशाली बनकर प्रजा की रक्षा करनी है। वैश्य पेट की भाँति सभी को देकर स्वयं पतला बना रहता है। पेट का सौन्दर्य पतलेपन में ही है। वैश्य का सौन्दर्य भी, देकर निर्धन बनने में ही है। पाँव बिना असूया के चलते है, इसी प्रकार बिना किसी खीझ के शूद्र ने सेवा करनी है।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**पुरुषः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

प्रभुभक्त कैसा बन जाता है?

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्योऽअजायत।
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत॥१२॥

१. यद्यपि मन्त्र संख्या १० में प्रश्न 'मुख, बाहु, ऊरु और पाद' के विषय में था और उसका उत्तर ११वें मन्त्र में ही दे दिया गया है तथापि प्रश्न का उत्तर विस्तार से देते हुए कहते हैं कि **मनसः**=मन से यह प्रभुभक्त **चन्द्रमा**=चन्द्र **जातः**=हो जाता है। 'चन्द्र' शब्द 'चदि आह्लादे' से बनकर आह्लाद व प्रसन्नता का संकेत करता है। इसका मन सदा प्रसन्न रहता है। मनःप्रसाद ही सर्वोत्कृष्ट तप है। संसार के सुख-दुःख इसके मन को क्षुब्ध नहीं करते। यह चन्द्रमा के समान सदा आह्लादमय रहता है। २. **चक्षोः (चक्षुषः)**=चक्षु से **सूर्यः**=सूर्य **अजायत**=हो जाता है। जैसे सूर्य से प्रकाश की किरणें निकलकर अन्धकार को नष्ट कर देती हैं, इसी प्रकार इसकी चक्षु से ज्ञान की किरणें प्रसृत होकर लोगों के अज्ञानान्धकार को समाप्त कर देती हैं। ऐसा ही व्यक्ति 'विलक्षण' कहलाता है। ३. **श्रोत्रात्**=श्रोत्र (कान) से यह **वायुप्राणश्च**=वायु और प्राण होता है। (क) श्रोत्र का प्रथम अर्थ है 'कान'। कान से वायु=गतिशील (वा गतौ) बनता है, अर्थात् इसे कोई बात कही जाती है तो उसे ध्यान से सुनता है और तदनुसार कार्य करता है, (does not turn a deaf ear to advice) एक कान से सुनकर दूसरे कान से निकाल नहीं देता। 'सुनना और करना' यही श्रोत्र का वायु बनना है। (ख) श्रोत्र का दूसरा अर्थ है 'योग्यता' (Proficiency) 'उन्नति', 'विशेषतः ज्ञान की उन्नति'। इस ज्ञान की उन्नति से यह 'प्राण' बनता है, अर्थात् ज्ञान की उन्नति से यह प्राणों को उन्नत करता है। किसी एक इन्द्रिय की शक्ति के विकास के स्थान में यह प्राणों का विकास करता है, क्योंकि प्राणों के विकास से सभी इन्द्रियों का विकास हो जाता है। (ग) **मुखात्**=मुख से **अग्निः**=अग्नि **अजायत**=हो जाता है। अग्नि के दो कार्य होते हैं (क) योजन, (ख) भेदन। यह प्रभुभक्त भी योजन और भेदन की

शक्तिवाले मुखवाला हो जाता है। वर देकर यह किसी भी व्यक्ति का उत्तमता से योजन कर देता है तो शाप देकर यह भेदन भी कर पाता है। केवल मिलानेवाला है, नकि मिटानेवाला।

भावार्थ—प्रभुभक्त सदा प्रसन्न, प्रकाशमय, गतिशील–प्राणशक्तिसम्पन्न और अग्नि के समान योजक व भेदक बन जाता है।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**पुरुषः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

लोक–कल्याण

नाभ्या॑ऽआसीद॒न्तरि॑क्ष॒ꣳशी॒र्ष्णो द्यौः सम॑वर्त्तत।
प॒द्भ्यां भूमि॒र्दिशः॒ श्रोत्रा॒त्तथा॑ लो॒काँ२॥ऽअ॑कल्पयन्॥१३॥

१. **नाभ्या**=(नाभ्यै) नाभि के लिए अथवा नाभि के हेतु से **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष **आसीत्**=होता है। नाभि केन्द्र है, सारी नस–नाड़ियाँ अन्त में यहीं बँधी हैं। इस केन्द्र के ठीक रखने से यह प्रभुभक्त मध्यमार्ग में चलनेवाला (अन्तरा+क्षि=बीच में चलना) होता है। शरीर के केन्द्र को ठीक रखने के लिए मध्यमार्ग में रहना आवश्यक है। २. **शीर्ष्णः**=मस्तिष्क से **द्यौः**=द्युलोक **समवर्त्तत**=हो जाता है। जिस प्रकार द्युलोक जगमगाता है, इसी प्रकार इस प्रभुभक्त का मस्तिष्क भी ज्ञान के सूर्य व विज्ञान के नक्षत्रों से चमकता है। ३. **पद्भ्याम्**=पाँव से यह **भूमिः**=भूमि हो जाता है। पाँव (पद गतौ) गति के प्रतीक हैं। भूमि को भूमि इसलिए कहते हैं कि इसमें प्राणी होते हैं (भवन्ति भूतानि यस्याम्)। यह प्रभुभक्त अपनी गति के द्वारा सब प्राणियों के निवास का कारण बनता है। इसकी क्रिया रक्षक है, नकि नाशक। ४. **श्रोत्रात्**=श्रोत्र से **दिशः**=यह दिश् बन जाता है। श्रोत्र का दूसरा अर्थ वेद है। यह अपने जीवन के सब निर्देश (आदेश व सन्देश) वेद से ही प्राप्त करता है। इसका जीवन वेदानुकूल होता है। '**धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः**'=धर्म के लिए परमप्रमाण श्रुति ही है। ५. **तथा**=उस प्रकार–ऊपर कथित प्रकार से यह प्रभुभक्त **लोकान्**=इस पिण्ड के एक–एक लोक (Locality) को–अङ्ग–प्रत्यङ्ग को **अकल्पयन्**= शक्तिशाली बनाता है। शक्तिसम्पन्न बनकर यह प्रभुभक्त 'पावकवर्ण, शुचि व विपश्चित्' बन जाता है।

भावार्थ—यह प्रभुभक्त सदा मध्यमार्ग पर चलनेवाला, जगमगाते मस्तिष्कवाला, निर्माणात्मक क्रियाओं में लगा हुआ, वेद के अनुसार जीवन–मार्ग पर चलता हुआ शक्तिशाली अङ्गोंवाला बनता है।

नोट—प्रस्तुत मन्त्रों में विराट् को पुरुष का शरीर मानकर यह भी संकेत दिया गया है कि उस विराट् शरीर की नाभि से अन्तरिक्ष, सिर से द्युलोक, पाँव से भूमि, श्रोत्र से दिशाएँ (१३) मन से चन्द्रमा, आँख से सूर्य, श्रोत्र से वायु व प्राण और मुख से अग्नि (१२) की उत्पत्ति हुई। आगे चलकर अन्तरिक्ष ही हमारे शरीर में नाभि बनकर रहने लगा, द्युलोक सिर के रूप में, पृथिवी पाँव में, दिशाएँ श्रोत्र के रूप में आकर यहाँ रहे। चन्द्रमा ही मन बना, सूर्य आँख, वायु और प्राण श्रोत्र और अग्नि मुख बनकर शरीर में रहा। विराट् पिण्ड से आधिदैविक जगत् के दैवों की उत्पत्ति हुई और इन देवों से पिण्ड में उस–उस इन्द्रिय की उत्पत्ति हो गई।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**पुरुषः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

सौन्दर्य, तेजस्विता, त्याग—एक महान् यज्ञ (संगम)

यत्पुरु॑षेण ह॒विषा॑ दे॒वा य॒ज्ञमत॑न्वत।
व॒स॒न्तो॑ऽस्यासी॒दाज्यं॑ ग्री॒ष्मऽइ॒ध्मः श॒रद्ध॒विः॥१४॥

१. **यत्**=जब **हविषा** (हु=दान)=हविरूप त्याग के पुञ्ज **पुरुषेण**=ब्राह्मण्डरूप पुरी में निवास करनेवाले प्रभु से **देवाः**=देवलोक—दैवीवृत्ति को धारण करनेवाले व्यक्ति **यज्ञम्**=संगतिकरण को, सम्बन्ध को **अतन्वत**=विस्तृत करते हैं तब **अस्य**=इस प्रभु से मेल करनेवाले व्यक्ति के लिए **वसन्तः**=वसन्तऋतु **आज्यम्**=आज्य **आसीत्**=हो जाती है **ग्रीष्मः**=ग्रीष्मऋतु **इध्मः**=समिधाएँ और **शरत् हविः**=शरद्ऋतु हवि हो जाती है। २. दैवीवृत्तिवाले मनुष्य त्याग के पुञ्ज प्रभु से अपना मेल करते हैं। प्रभु से मेल बढ़ाने का परिणाम यह होता है कि इनका जीवन भी त्यागमय बनता है। इस अभौतिक वृत्ति का ही परिणाम होता है कि वसन्तऋतु इस त्यागमय जीवनवाले के लिए 'आज्य' हो जाती है। आज्य शब्द 'अञ्ज' धातु से बनता है, जिसका अर्थ है 'व्यक्त करना'। वसन्तऋतु इस प्रभु के उपासक के लिए प्रभु की महिमा को व्यक्त करनेवाली बन जाती है। चारों ओर वनस्पतियों के नवपल्लव, पुष्प व फल इस प्रभु के उपासक के लिए प्रभु-दर्शन के द्वार बन जाते हैं। इसे ये सब प्रभु का गुणगान करते प्रतीत होते हैं। ४. ग्रीष्मऋतु इस त्यागी भक्त के लिए 'इध्मं'=दीप्ति का प्रतीक हो जाती है। जैसे ग्रीष्म में सूर्य अपने पूरे बल से प्रचण्डरूप में चमक रहा होता है, उसी प्रकार यह उपासक प्रभु की अत्यन्त ज्योतिर्मय ज्ञानदीप्ति की कल्पना करता है। सूर्यकिरणें कृमियों की ध्वंसक बनती हैं तो प्रभु की ज्योति की किरणें हृदयान्धकार को नष्ट करनेवाली होती हैं ५. इस प्रभु के संगी के लिए सब पत्तों को शीर्ण करती हुई शरद् भी हवि का संकेत बन जाती है। शरद् (autumn) में पत्ते शीर्ण हो जाते है। यह प्रभु-भक्त भी सर्वस्व का त्याग करता हुआ, शरत् से हविरूप बनना सीखता है।

भावार्थ—प्रभुभक्त के लिए वसन्त प्रभु की महिमा को दिखाती है तो ग्रीष्म ज्ञानदीप्ति को और शरत् त्यागशीलता को। वसन्त सौन्दर्य को, ग्रीष्म ज्योति को, शरत् त्याग को संकेतित करती है।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**पुरुषः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

पशुबन्धन

स॒प्तास्या॑सन् परि॒धय॒स्त्रिः स॒प्त स॒मिधः॑ कृ॒ताः।
दे॒वा यद्य॒ज्ञं त॑न्वा॒नाऽअब॑ध्न॒न् पुरु॑षं प॒शुम्॥१५॥

१. **देवाः**=देवलोग **यत्**=जब **यज्ञम्**=प्रभु के साथ मेल को **तन्वानाः**=विस्तृत करते हुए **पुरुषम्**=पौरुषवाले **पशुम्**=इस काम-क्रोधरूप पशु को **अबध्नन्**=बाँधते हैं तब **अस्य**=इस यज्ञ का विस्तार व पशुबन्धन करनेवाले के **सप्त**=सात **'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्'** कर्णादि ऋषि **परिधयः**=परिधिरूप, बड़ी मर्यादा में चलनेवाले **आसन्**=हो जाते हैं और **त्रिःसप्त**=शरीर की इक्कीस शक्तियाँ **समिधः**=अत्यन्त समृद्धि व दीप्तिवाली **कृताः**=की जाती हैं। २. प्रभुमेल करने योग्य हैं, अतः यज्ञ हैं। यज्ञ का अर्थ 'मेल' भी है। देव व समझदार लोग प्रभु से मेल करते हैं, नकि प्रकृति से। माधुर्यवाली वस्तु जैसे मधुर कहलाती है उसी प्रकार पौरुषवाले इस काम को यहाँ पुरुष कहा गया है। उपनिषद् में 'कामः पशुः क्रोधः पशुः' इन शब्दों में काम-क्रोध को पशु कहा गया है। प्रभु से मेल का ही यह परिणाम होता है कि इस पशु को हम बाँध पाते है, अपना क़ैदी बना लेते हैं। यह वशीभूत काम हमारे वेदाधिगम व वैदिक कर्मयोग का साधन बनता है। इस प्रकार पशु मनुष्य का कार्यवाहक बन जाता है। ३. काम-क्रोध को वशीभूत करनेवाले इस यज्ञमय पुरुष के दो कान, दो आँख, दो नासिका-छिद्र व मुखरूप सब इन्द्रियाँ परिधि बन जाती हैं। परिधि=मर्यादा, इसकी इन्द्रियाँ सदा मर्यादा में रहती हैं, उसका उल्लंघन नहीं करतीं। दूसरे शब्दों में इसके इन्द्रियरूप अश्व सन्मार्ग का ही आक्रमण करते हैं, मार्ग से रेखामात्र भी विचलित नहीं

होते। ४. इन्द्रियों के सदा सन्मार्ग पर चलने का यह परिणाम होता है कि इसकी इक्कीस शक्तियाँ सदा दीप्त रहती हैं। इसकी शक्तियाँ चमक उठती हैं। इन्द्रियों का मर्यादा में रहना और शक्तियों के दीपन में कार्यकारण भाव तो है ही।

भावार्थ—प्रभुभक्ति व प्रभु से मेल के तीन परिणाम हैं १. काम-क्रोध का वशीकरण २. इन्द्रियों का मर्यादा में रहना और ३. शक्तियों का वर्धन व दीपन।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**पुरुषः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

मुख्य धर्म

यज्ञेन॑ य॒ज्ञम॑यजन्त दे॒वास्तानि॒ धर्मा॑णि प्रथ॒मान्या॑सन्।
ते ह॒ नाकं॑ महि॒मानः॑ सचन्त॒ यत्र॒ पूर्वे॑ सा॒ध्याः सन्ति॑ दे॒वाः ॥१६॥

१. **यज्ञो वै विष्णुः**'=इन शब्दों में ब्राह्मणों ने विष्णु=सर्वव्यापक प्रभु को 'यज्ञ' कहा है। मनुष्य में भी जब 'देवपूजा, संगतिकरण तथा दान की भावनाएँ आ जाती हैं तब यह भी यज्ञ को अपना रहा होता है। मनुष्य की उन्नति के लिए आवश्यक है कि (क) वह 'माता, पिता, आचार्य, अतिथि व प्रभु' इनको देव जानकर उनकी पूजा करे। इनके कथनों का आदर करता हुआ तदनुसार अपना आचरण बनाये। (ख) संसार में सदा सबके साथ मेल से चले। उसकी जिह्वा का माधुर्य सभी को उसकी ओर आकृष्ट करनेवाला हो। (ग) वह सदा दान देनेवाला बने। यज्ञशेष को खाये। त्यागपूर्वक उपभोग करे। ये तीन बातें ही मिलकर यज्ञ कहलाती हैं। यज्ञनामक विष्णु की उपासना इस यज्ञ से ही होती है। **देवाः**=देवलोग **यज्ञेन**=देवपूजा, संगतिकरण व दान से **यज्ञम्**=पूजनीय, संगतिकरणीय, समर्पणीय प्रभु को **अयजन्त**=पूजते हैं, उसके साथ अपना मेल बढ़ाते हैं। ३. **तानि**=ये देवपूजा, संगतिकरण और दान ही **धर्माणि**=धारणात्मक उत्तम कर्म हैं। ये **प्रथमानि**=मुख्य हैं और जीव का 'प्रथ-विस्तारे' विस्तार करनेवाले हैं। ३. **ते**=ये **महिमानः**=(मह पूजायाम्) प्रभु के सच्चे उपासक **ह**=ही **नाकम्**=जहाँ दुःख है ही नहीं (न अकं यत्र) उस आनन्दघन प्रभु को **सचन्त**=प्राप्त होते हैं, सेवन करते हैं। प्रभु ही मोक्षलोक है, मुक्त जीव प्रभु में ही विचरते हैं (सह ब्रह्मणा विपश्चिता)। यह मोक्ष-लोक वह है **यत्र**=जहाँ **पूर्वे**=सृष्टि के प्रारम्भ में होनेवाले 'अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा' आदि ऋषि, इन ऋषियों के ही समान अपने में ज्ञान का पूरण करनेवाले (पृ=पूरण) ज्ञानीलोग, **साध्याः**=सदा उत्तम कार्यों के द्वारा लोकहित का साधन करनेवाले कर्मठ लोग तथा **देवाः**=अपने मन में 'अद्रोह,' अनुग्रह व दान' की दिव्य भावनाओं को जगानेवाले भक्त-लोग **सन्ति**=निवास करते हैं, विद्यमान रहते हैं। इस नाकलोक के अधिकारी ये 'पूर्वे, साध्याः और देवाः' ही हैं। (क) देवपूजा से—माता-पिता व आचार्य आदि के आदर से इन्होंने अपने मस्तिष्क में ज्ञान व पूरण किया है अतएव **पूर्व**=पूरण करनेवाले कहलाये हैं। (ख) सबके साथ संगति व मेल से चलते हुए इन्होंने सर्वहितकारी यज्ञों का साधन किया है, अतः साध्य बने हैं, और (ग) अन्त में सदा दान-धर्म को अपनाने से ये (देवो दानात्) देव नामवाले हुए हैं। ये ही प्रभु-प्राप्ति के सच्चे अधिकारी हैं और इस जीवन के अन्त में परामुक्ति को प्राप्त करके प्रभु में स्थित होते हैं।

भावार्थ—'देवपूजा, संगतिकरण व दान' ही मुख्य धर्म हैं, इन्हें अपनानेवाला प्रभु को अपना पाता है।

ऋषिः—**उत्तरनारायणः**। देवता—**आदित्यः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

अमैथुनी सृष्टि—आजान देवत्व

अ॒द्भ्यः सम्भृ॑तः पृथि॒व्यै रसा॑च्च वि॒श्वक॑र्मणः॒ सम॑वर्त॒ताग्रे॑।
तस्य॒ त्वष्टा॑ वि॒दध॑द्रू॒पमे॑ति॒ तन्मर्त्य॑स्य दे॒वत्व॑मा॒जान॒मग्रे॑ ॥१७॥

१. 'मनुष्य का शरीर किस प्रकार बनता है' इसपर विचार करते हुए उपनिषद् के अनुसार जल पाँचवीं आहुति में पुरुष संज्ञावाले होते हैं। (क) सर्वप्रथम श्रद्धा=जलीय कणों की धारकशक्ति की द्युलोक में आहुति देते हैं (जल वाष्पीभूत हो द्युलोक में पहुँचता है) इससे सोम की उत्पत्ति होती है। (ख) सोम की आहुति पर्जन्य में, इससे वृष्टि होती है, (ग) वृष्टि की आहुति पृथिवी में, उससे अन्न उत्पन्न होता है। (घ) अन्न की आहुति पुरुष में, उससे रेतस् उत्पन्न होता है। (ङ) इस रेतस् की आहुति स्त्री में, इससे गर्भ होता है। इस प्रकार जल पाँचवीं आहुति में पुरुष संज्ञावाले हो जाते हैं। मन्त्र में कहा है कि **अद्भ्यः**=जलों से **सम्भृतः**=मनुष्य-शरीर का संभरण हुआ है। आजकल पाँचवीं आहुति रेतस् (आपः=रेतः) की स्त्री-शरीर में दी जाती है और वहाँ शरीर का निर्माण होता है, परन्तु सृष्टि के प्रारम्भ में जब ये शरीर न थे तब **अग्रे**=उस प्रथम समय में, अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भ में **विश्वकर्मणः**=उस सारे संसार का निर्माण करनेवाले प्रभु से **पृथिव्यै**=इस पृथिवी से ही (पृथिव्याः) जो वृक्ष हुए, उन वृक्षों में ही एक फली में **रसात् च**=रस का सञ्चार करके प्रभु ने इस शरीर का पोषण किया। यह अमैथुनी सृष्टि कहलाती है। **अग्रे समवर्त्तत**=सृष्टि के प्रारम्भ में ऐसा ही हुआ। यह सृष्टि स्त्री-पुरुष के द्वन्द्व से न होकर प्रभु से ही पैदा कर दी गई। २. जिस समय वृक्ष की फली में इस शरीर का पोषण हो रहा होता है उस समय वह **त्वष्टा**=देवशिल्पी प्रभु ही **तस्य**=उसमें **रूपम्**=रूप का **विदधत्**=निर्माण करते हुए **एति**=गतिशील होते हैं। यहाँ मनुष्य को आकृति अपने माता-पिता से मिलती है, परन्तु अमैथुनी सृष्टि में प्रभु उसे पिछले कर्मों के अनुसार उचित रूप देते हैं। ३. **तत्**=यही **अग्रे**=सृष्टि के प्रारम्भ में प्रभु के द्वारा **मर्त्यस्य**=मनुष्य का **आजानम् देवत्वम्**=जन्म से देवत्व (आजान देवत्व) था । प्रभु की इस अमैथुनी सृष्टि में शुभ कर्मोंवाले लोगों की ही उत्पत्ति हुई। पीछे अपनी स्वाभाविक अल्पज्ञता तथा सांसारिक प्रलोभनों के प्रबल आकर्षण से यह जीव धीरे-धीरे आसुरी वृत्ति की ओर झुका और संसार में मनुष्य 'देव व असुर' इन दो भागों में बँट गये। ये ही अपने शुभाशुभ कर्मों के कारण आर्य व दस्यु कहलाये।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हम अपने आजानदेवत्व को स्थिर रख पाएँ। संसार के प्रलोभनों में फँसकर असुर न बन जाएँ।

ऋषिः—**उत्तरनारायणः**। देवता—**आदित्यः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

अतिमृत्यु-अयन—मृत्यु के पार

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥१८॥

१. **अहम्**=मैं **एतम्**=इस **महान्तम्**=महान्, पूजनीय **आदित्यवर्णम्**=सूर्य के समान वर्णवाले **तमसः परस्तात्**=अन्धकार से परे वर्त्तमान **पुरुषम्**=पुरुष को **वेद**=जानता हूँ। वह प्रभु पुरुष हैं, ब्रह्माण्डरूप नगरी में निवास करनेवाले हैं (पुरि वसति), सर्वव्यापक हैं। महान् हैं, विभु हैं अथवा 'मह पूजायाम्' पूजा के योग्य हैं। उस प्रभु की तेजस्विता की कल्पना सूर्य के द्वारा ही हो सकती है, हज़ारों सूर्यों की दीप्ति के समान उस प्रभु की दीप्ति है। वे प्रभु तम से परे हैं, वहाँ प्रकाश-ही-प्रकाश है, अन्धकार का वहाँ नाम ही नहीं। 'तमस्' प्रकृति को भी कहते हैं, वे प्रभु प्रकृति से भी परे हैं। प्रकृति से परे तो जीव भी है, प्रभु जीव से भी परे हैं। २. **तम्**=उस प्रकृति व जीव से परे अथवा सब अन्धकारों से परे वर्त्तमान उस ज्योतिर्मय प्रभु को **विदित्वा एव**=जानकर ही मुनष्य **मृत्युम् अतिएति**=मौत को लाँघ जाता है। 'आत्मतत्त्व का ज्ञान' जीवन का उद्देश्य है। इस उद्देश्य पर पहुँचे बिना मनुष्य

बारम्बार जन्म ग्रहण करता है। आत्मदर्शन हुआ, प्राकृतिक भोगों का रस फीका पड़ गया, उलझन समाप्त हुई और मनुष्य मृत्यु से ऊपर उठा। ३. इस प्रभु के **अयनाय**=प्राप्त करने के लिए **अन्यः पन्थाः**=दूसरा मार्ग न **विद्यते**=नहीं है। प्रभु का ज्ञान ही हमें प्रभु की ओर ले-जाता है और प्रभु को प्राप्त करके हम जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठ जाते हैं।

भावार्थ—प्रभु को जानकर हम मृत्यु से ऊपर उठें और मोक्ष का लाभ करें।

ऋषिः—**उत्तरनारायणः**। देवता—**आदित्यः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

अजायमान-विजायमान—न होते हुए, होना

प्रजापतिश्चरति गर्भेऽअन्तरजायमानो बहुधा वि जायते।
तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥१९॥

पिछले मन्त्र में कहा था कि 'मैं इस महान् पुरुष को जानता हूँ' प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि 'किस रूप में?' (क) **प्रजापतिः**=वे प्रभु प्रजा के पति हैं। सबके रक्षक हैं। मेरी भी वे प्रभु ही रक्षा कर रहे हैं। (ख) **अजायमानः**=(जनी प्रादुर्भावे) सबके अन्दर होते हुए भी वे अप्रादुर्भूत=अव्यक्त ही हैं। वे प्रभु कभी व्यक्त नहीं होते। वे तो शरीर धारण करते ही नहीं, वे शरीर में अवतीर्ण नहीं होते। (ग) **बहुधा विजायते**=शरीर धारण न करते हुए भी वे प्रभु नानारूपों में विशेषरूप से प्रादुर्भूत होते हैं। हिमाच्छादित पर्वतों में, अनन्त विस्तारवाले समुद्रों में, अनन्त भार का वहन करनेवाली इस पृथिवी में, आकाश को आवृत-सा कर लेनेवाले नक्षत्रों में उस प्रभु की ही महिमा दिख रही होती है। शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों की रचना में उस रचयिता का रचना-कौशल दिखाई दे रहा है। एक-एक फल व फूल उस रचयिता का गान करता प्रतीत होता है। एवं, कण-कण में वे प्रभु प्रकट हो रहे है। अजायमान वे प्रभु विजायमान बन रहे हैं, अव्यक्त होते हुए भी व्यक्त हो रहे हैं। (घ) **तस्य**=उस अव्यक्त होते हुए भी व्यक्त प्रभु के **योनिम्**=घर व आधार को **धीराः**=विचारशील लोग ही **परिपश्यन्ति**=सर्वत्र देखते हैं। **तस्मिन्**=उस आधार में **ह**=निश्चय से **विश्वा भुवनानि**=सब लोक **तस्थुः**=ठहरे हैं। उस प्रभुरूप आधर में ये सारा ब्रह्माण्ड स्थित है **पादोऽस्य विश्वा भूतानि**=उस आधार में क्या उस आधार के भी एक देश में ही यह सारा ब्रह्माण्ड रचा गया है। कितना व्यापक है वह आधार!

भावार्थ—प्रभु प्रजापति हैं, नानारूपों को वो जन्म दे रहे हैं, वही सब लोकों का धारण कर रहे हैं।

ऋषिः—**उत्तरनारायणः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

ब्राह्म-तेज

यो देवेभ्यऽआतपति यो देवानां पुरोहितः।
पूर्वो यो देवेभ्यो जातो नमो रुचाय ब्राह्मये॥२०॥

गतमन्त्र की समाप्ति इन शब्दों पर थी कि 'उस प्रभु में ही ये सब लोक आश्रित हैं'। प्रस्तुत मन्त्र उन्हीं लोकों के वर्णन से प्रारम्भ होता है। सब लोक वैदिक साहित्य में 'देव' कहलाते हैं। पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक—सब देवता हैं, इनमें रहनेवाले अग्नि, वायु, सूर्य, भी देवता हैं। इन सब देवताओं को दीप्ति प्रभु से प्राप्त होती है। मन्त्र में कहते हैं कि उस **ब्राह्मये रुचाय**=ब्रह्म कान्ति के लिए, ब्रह्मसम्बन्धी तेज के लिए **नमः**=नमस्कार हो (क) **यः**=जो **देवेभ्यः**=सब देवों के लिए **आतपति**=चारों ओर दीप्त होता है। जैसे यहाँ सूर्य के तेज से चन्द्र, पृथिवी आदि तेजवाले प्रतीत हो रहे हैं, उसी प्रकार ये अग्नि, विद्युत् व

सूर्यादि तेज भी ब्रह्म के तेज से दीप्ति प्राप्त करते हैं। (ख) जैसे स्फटिक के सामने जपापुष्प (Rose flower) होता है तो जपापुष्प का गुलाबीपन स्फटिक में भी झलकता है, वह गुलाबीपन स्फटिक का अपना नहीं होता, इसी प्रकार वे प्रभु हैं। **यः**=जो **देवानाम्**=सब देवों के **पुरः**=सामने **हितः**=स्थापित है, उस प्रभु की दीप्ति इन देवों में झलक रही है, इन देवों की यह दीप्ति अपनी थोड़े ही है? जो प्रभु से ओझल होता है, वही दीप्ति-शून्य हो जाता है। (ग) यह प्रभु ही है **यः**=जो **देवेभ्यः**=सब देवों से **पूर्वः जातः**=पहले से है। पहले से ही होते हुए ये अन्य देवों को देवत्व प्राप्त कराते हैं। **येन देवा देवतामग्र आयन्**=इसी से तो देव प्रथम देवत्व को प्राप्त हुए। जो जीव भी सदा प्रभु के सामने उपस्थित रहता है वह भी ब्रह्मतेज को प्राप्त कर देवों के समान चमकने लगता है।

भावार्थ—प्रभु ही सब सूर्यादि देवों को दीप्ति देनेवाले हैं। उस ब्रह्मरुचि दीप्ति को प्राप्त करने के लिए मैं भी **नमस्**=नम्रता की भावना को धारण करता हूँ।

ऋषिः—**उत्तरनारायणः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

देवों का वशीकरण

रुचं ब्राह्मं जनयन्तो देवाऽअग्रे तदब्रुवन्।
यस्त्वैवं ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवाऽअसन्वशे॥२१॥

गतमन्त्र की भावना यह है कि 'सूर्यादि सब देव उस ब्राह्मतेज से ही दीप्त हो रहे हैं।' उसी वाक्य से इस मन्त्र को प्रारम्भ करते हुए कहते हैं कि **अग्रे**=इस सृष्टि के प्रारम्भ से ही **ब्राह्मं रुचम्**=ब्रह्म-सम्बन्धी कान्ति को **जनयन्तः**=प्रकट करते हुए **देवाः**=अग्नि, विद्युत्, सूर्यादि ये सब देव **तत् अब्रुवन्**=इस बात को कहते हैं कि **यः ब्राह्मणः**=जो ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करनेवाला व्यक्ति **तु**=भी **एवं विद्यात्**=इस प्रकार जान लेता है **तस्य**=उसके **देवाः**=सब देव **वशे असन्**=वश में होते हैं।

सूर्यादि सब देव प्रभु की दीप्ति से ही तो दीप्त हो रहे हैं। ये चमकते हुए सूर्यादि देव सनातन काल से मानो यही उद्घोषणा कर रहे हैं कि जो भी ब्रह्मवेत्ता पुरुष इस तत्त्व को समझ लेगा और ब्रह्म से अपने को ओझल न करेगा, वह भी ब्रह्म के तेज से तेजस्वी होगा।

भावार्थ—ब्रह्मवेत्ता को सब देवों की अनुकूलता प्राप्त होती है।

ऋषिः—**उत्तरनारायणः**। देवता—**आदित्यः**। छन्दः—**निचृदार्षीत्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

एक आदर्श ब्रह्मवेत्ता का जीवन

श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम्।
इष्णन्निषाणामुं मऽइषाण सर्वलोकं मऽइषाण॥२२॥

'सब देव उसके अनुकूल होते हैं' इस वाक्य का अभिप्राय यह है कि कोई भी प्राकृतिक शक्ति उसके प्रतिकूल नहीं होती, अर्थात् जल-वायु आदि सदा उसके अनुकूल होते हैं। परिणामतः वह स्वस्थ, सबल व सुन्दर शरीरवाला होता है, स्वस्थ शरीर में उसका मन व मस्तिष्क भी स्वस्थ होता है। शरीर का स्वास्थ्य उसे 'श्री'-सम्पन्न बनाता है और मन व मस्तिष्क का स्वास्थ्य ज्ञान की 'लक्ष्मी' से युक्त करता है। इसी श्री व लक्ष्मी का उल्लेख प्रस्तुत मन्त्र में करते हैं—

१. 'श्री' स्वास्थ्यजनित सौन्दर्य का नाम है तथा 'लक्ष्मी' लक्ष दर्शनांकनयोः धातु से बनकर ज्ञान का वाचक है, ज्ञान की प्रक्रिया यही तो होती है कि हम दर्शन=देखते हैं और

हमारे मस्तिष्क पर उसका अंकन=छाप हो जाती है। इस प्रकार हमें उस वस्तु का ज्ञान हो जाता है। ब्रह्म अपने वेत्ता इस ब्राह्मण से कहते हैं कि **श्रीः च लक्ष्मीः च**=श्री और लक्ष्मी **ते**=तेरी **पत्न्यौ**=पत्नियाँ हैं। ये तेरे जीवन के अंग part and parcel बन गये हैं। (ख) 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' इस व्याकरणसूत्र के अनुसार ये श्री और लक्ष्मी यज्ञ के लिए तेरे साथ संयुक्त हुई हैं। तेरी शक्ति व तेरा ज्ञान दोनों यज्ञ में विनियुक्त होते हैं। २. **अहोरात्रे पार्श्वे**=अहन् और रात्रि ये तेरे जीवन के दो पहलू हैं। तेरे जीवन का पहला सिद्धान्त तो 'अहन्'=एक भी क्षण आलस्य में नष्ट न करना है। एक-एक क्षण तेरा कार्य में व्याप्त है। तेरे जीवन का दूसरा पहलू यह है कि तू इस कार्यव्यापृतता में रमण करता है (रात्रिः= रमयित्री)। तू कार्य में लगा रहता है और उसमें आनन्द का अनुभव करता है। तू कर्म को ही अपना क्षेत्र मानता है और उसी में लगा रहकर एक मस्ती को अपने जीवन में ला-पाता है। ३. **नक्षत्राणि रूपम्**=नक्षत्र तेरे रूप हैं 'न क्षीयते इति नक्षत्रम्' नक्षत्र इसलिए नक्षत्र हैं कि वे क्षीण नहीं होते। यह क्षीण न होना अक्षीणता ही तेरा रूप=Pattern, नमूना है। ये तेरे जीवन के आदर्श हैं, पुरोहित model हैं। मैं भी इन नक्षत्रों की भाँति अक्षीण चमक से चमकता रहूँगा। ४. (क) **अश्विनौ व्यात्तम्**=ये द्यावापृथिवी तेरे खुले मुख हैं। तेरा मुख ही तेरा मुख नहीं, अपितु द्युलोक व पृथिवीलोक में रहनेवाले सारे प्राणी ही तेरे मुख हैं। तूने अकेले नहीं खाना, सभी के साथ मिलकर खाना है अथवा (ख) **अश्विनौ**=श्रोत्र, ये तेरे कान तेरे ख़ूब खुले मुख बन गये हैं। जैसे मुख से मनुष्य ग्रास को लेता है उसी प्रकार तेरे कान सदा ज्ञान के ग्रासों को खाने में लगे हैं, तू तो ब्रह्म (ज्ञान) चर्वण (भक्षण) करनेवाला ब्रह्मचारी हो गया है। (You have become a voracious reader) ५. इसी ज्ञानभक्षण में लगे रहने का परिणाम है कि तू **इष्णन्**=(to strike, to smite) वासनाओं पर चोट करनेवाला बना है। इस प्रकार सब वासनाओं पर चोट करता हुआ तू **इषाण**=सब लोगों को इस मार्ग पर चलने के लिए उत्साहित कर। तेरा पवित्र जीवन औरों को भी उसे अपनाने के लिए प्रेरणा दे। ६. **मे**=मेरी **अमुम्**=उस ब्रह्मरुचि को, जो सब देवों को दीप्त कर रही है तू भी **इषाण**=(to promote) अपने अन्दर बढ़ाने का प्रयत्न कर और इस प्रकार ७. **मे सर्वलोकम्**= मेरी इस सारी दुनिया को तू **इषाण**=प्रेरणा देनेवाला बन। तू अपने जीवन की वासनाओं को समाप्त करके और ब्रह्मकान्ति को धारण करके ही औरों को उत्तम प्रेरणा दे पाएगा। इस प्रकार का बनकर ही तू 'उत्तर-नारायण'=नरसमूह का उत्कृष्ट शरणस्थान बनेगा।

भावार्थ—नर से नारायण बनने के लिए मन्त्र में वर्णित ७ बातों को अपनाना है।

इत्येकत्रिंशोऽध्यायः॥

अथ द्वात्रिंशोऽध्यायः

—:०:—

ऋषिः—**स्वयम्भु ब्रह्म।** देवता—**परमात्मा।** छन्दः—**अनुष्टुप्।** स्वरः—**गान्धारः।**

एकेश्वरवाद

तदे॒वाग्निस्तदा॑दि॒त्यस्तद्वा॒युस्तदु॑ च॒न्द्रमाः॑।

तदे॒व शु॒क्रं तद् ब्रह्म॒ ताऽआपः॒ स प्र॒जाप॑तिः॥१॥

१. **तत् एव अग्निः**=वह प्रभु ही 'अग्नि' नामवाले हैं, सबको आगे ले-चलनेवाले हैं। **तत् आदित्यः**=वे प्रभु आदित्य हैं, सबका अपने अन्दर आदान करने के कारण आदित्य नामवाले हैं। **तत् वायुः**=वे प्रभु वायु हैं, सारे ब्रह्माण्ड को गति देनेवाले हैं। **तत् उ चन्द्रमाः**=वे प्रभु ही चन्द्रमा हैं, आह्लादमय हैं, भक्तों को आनन्दित करनेवाले हैं। **तत् एव शुक्रम्**=वे प्रभु ही शुक्र हैं, शुचि व उज्ज्वल हैं। **तत् ब्रह्म**=वे प्रभु ब्रह्म हैं, बृहत् हैं, अधिक-से-अधिक बढ़े हुए हैं। **ताः आपः**=वे प्रभु ही **आपः**=आपः नामवाले हैं, सर्वव्यापक हैं (आप्=व्याप्तौ) **सः प्रजापतिः**=वह प्रभु ही प्रजा की रक्षा करने से प्रजापति हैं। २. (क) पाश्चात्य विद्वानों ने वैदिक युग के व्यक्तियों को सभ्यता की प्रारम्भिक श्रेणी में स्थित मान लिया तब यह निश्चित ही था कि उस सभ्यता के लोगों में 'एकेश्वरवाद' के विचार का विकास नहीं हो सकता। **'विश्वानि देव सवितः'** मन्त्र में देव सविता का स्मरण है तो **'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे'** मन्त्र में हिरण्यगर्भ का स्तवन है। **'प्रजापते न त्वदेता'** में प्रजापति की पूजा है तो **'अग्ने नय'** में अग्नि की उपासना है। एवं, वैदिक सभ्यता में बहुदेवतावाद तो था। (ख) एक और बात यह कि विद्वान् उस प्राकृतिक शक्ति को ही देव मान लेते थे, जो डर का कारण हो। गौ की पूजा तो नहीं, परन्तु सर्प यहाँ देवता हैं। बाढ़ आई तो ये जल व वरुण देवता की पूजा करने लगे, आग लगी तो अग्नि की उपासना प्रारम्भ हुई, आँधी ने वायु देवता की उपासना का उपक्रम किया और जब कभी ये इकट्ठे यहाँ आ गये। बाढ़, आग, आँधी सब इकट्ठे चलने शुरू हुए तो व्याकुलता से ये चिल्ला उठे **'कस्मै देवाय हविषा विधेम'**, परन्तु पाश्चात्यों ने जब यह मन्त्र पढ़ा तो सारी कल्पना समाप्त होती प्रतीत हुई, अतः उन्होंने इस मन्त्र को अर्वाचीन काल का कहकर बचाव कर लिया। बना बनाया सिद्धान्त छोड़ा कैसे जाए, परन्तु विद्वानों को आग्रह छोड़कर सत्य को देखना चाहिए। सत्य यही है कि वेद **'एक इद् हव्यश्चर्षणीनाम्'** मनुष्यों के एक ही आराध्य देवता को स्वीकार करता है और 'न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थः..., **स एष एक एव एकवृदेक एव'** इन शब्दों में प्रभु के एकत्व का प्रबल प्रतिपादन कर रहा है। **'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति'**, इन शब्दों में उपनिषद् कहती है कि ईश के नानात्व को देखनेवाला मृत्यु की भी मृत्यु को प्राप्त होता है। ३. **'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'** एक ही परमात्मा को ज्ञानी लोग नाना नामों से कहते हैं'। प्रस्तुत मन्त्र में भी 'अग्नि' आदि भिन्न-भिन्न नामों से उस प्रभु का वर्णन किया है। इस स्तवन की सार्थकता इसी में है कि हम भी ऐसे बनें। अन्यथा आचार्य के शब्दों में हमारा यह स्तवन भाटों के समान हो जाएगा। (क) प्रथमाश्रम में हमें 'अग्नि व आदित्य बनना है'। एक ब्रह्मचारी के

जीवन का सूत्र यही होना चाहिए कि 'मैं आगे बढ़ूँगा, अग्नि बनूँगा' **'आरोहणमाक्रमणम्'**= ऊपर-और-ऊपर चढ़ता चलूँगा। इस आगे बढ़ने के लिए ही आदित्य=सूर्य की भाँति आदान करनेवाला बनूँगा। सूर्य गन्दे-से-गन्दे जोहड़ में से भी शुद्ध पानी को ले-लेता है और दुर्गन्ध को वहीं छोड़ देता है, मैं भी अच्छाई को ही लेनेवाला बनूँगा। (ख) गृहस्थ में मैं 'वायु व चन्द्रमा' बनने का प्रयत्न करूँगा। 'वा गतौ' सदा गतिशील रहूँगा। क्रियाशील बनकर 'श्री' का अर्जन करूँगा, जिससे मैं घर को भी श्रीसम्पन्न बना सकूँ और इस सुख-दुःखमय दुनिया में सदैव 'चदि आह्लादे' प्रसन्नतामय जीवन बिताने का प्रयत्न करूँगा। एवं, गृहस्थ का जीवनसूत्र है सदा क्रियामय, सदा प्रसन्न'। २. (ग) अब वनस्थ होकर हम अपने को 'शुक्र' बनाने में लगते हैं, 'शुक्र' अर्थात् शुचि, उज्ज्वल। गृहस्थ में जो थोड़ा बहुत राग-द्वेष का मल लग गया था उसे तपस्या व स्वाध्याय से धोकर वनस्थ शुक्र बनता है और पवित्र बनकर आज वह ब्रह्म-जैसा बना है। नैत्यिक स्वाध्याय ने उसे ज्ञान का पुञ्ज बना दिया है। ब्रह्म=ज्ञान, आज यह ज्ञानी बन गया है। एवं, वनस्थ का जीवन-सूत्र है 'पवित्रता व ज्ञान'। इन दोनों बातों ने ही उसे ब्रह्माश्रम (संन्यास) में प्रवेश का अधिकारी बनाना है। (घ) ब्रह्माश्रम में प्रवेश करके यह 'आपः'=व्यापक बनने का प्रयत्न करता है। **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** के कारण इसका प्रेम सबके लिए हो गया है, इसका कोई ठिकाना Head Quarter नहीं, यह तो **'यत्र सायं गृहो मुनिः'** बन गया है। परिव्रजन करते-करते जहाँ पहुँचे, वहीं भिक्षा माँगी, उपदेश दिया और अगले दिन आगे। यह ज्ञान का प्रचार करता हुआ 'प्रजापति' बनता है, प्रजा की रक्षा करना ही इसका यज्ञ है, इसी यज्ञ में इसने अपने 'सर्ववेदस्' की आहुति दे दी है। एवं, एक संन्यासी का जीवन सिद्धान्त 'व्यापकता व प्रजापतित्व' है। यह लोकसंग्रह की दृष्टि से निरन्तर कर्मों में लगा है। इस प्रकार ब्रह्माश्रम में प्रवेश करके यह स्वयं ब्रह्म-सा हो गया है, अतः इस मन्त्र का ऋषि 'स्वयम्भु ब्रह्म' बन गया है।

भावार्थ—हम अग्नि आदि नामों से प्रभु का स्मरण करते हुए स्वयं अग्नि आदि बनने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**स्वयम्भु ब्रह्म**। देवता—**परमात्मा**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

वह सञ्चालक प्रभु

सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि।
नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परि जग्रभत्॥२॥

१. **सर्वे**=सारे **निमेषाः**=आँखों के पलक गिरने आदि छोटे-से-छोटे व्यापार भी **विद्युतः**=उस विशेषरूप से देदीप्यमान **पुरुषात्**=ब्रह्माण्डरूप पुरी में निवास करनेवाले (पुरि वसतीति पुरुषः) पुरुष के **अधि जज्ञिरे**=अधिष्ठातृत्व में ही हो रहे हैं। उस अध्यक्ष से ही प्रकृति चराचर को जन्म दे रही है।' ब्रह्माण्ड की गाड़ी उस प्रभु से ही चलाई जाती है। २. प्रश्न होता है कि जीव की क्या स्थिति है? जीव की स्थिति वही है, जो यात्रियों की। गाड़ी ड्राइवर चला रहा है, चल गाड़ी रही है, यात्री नहीं, परन्तु यह सब किसलिए? यात्रियों के लिए। यदि यात्री न हों तो गाड़ियों की आवश्यकता ही न हो। यात्री की कितनी महिमा है! यह सब इस यात्री—जीव के लिए ही तो है। प्रकृति उसकी गाड़ी है, प्रभु उसके ड्राइवर, परन्तु क्या यात्री अपनी इस महिमा के अंहकार में ट्रेन के ड्राईवर को यह कह सकता है कि दिल्ली नहीं गाड़ी मथुरा ले-चलो। यह तो ठीक है कि हम मथुरा जानेवाली गाड़ी का टिकट लें और मथुरावाली गाड़ी में बैठें, परन्तु मथुरावाली टिकट लेकर दिल्ली नहीं आ

सकते। ३. उस प्रभु को **न एनम् ऊर्ध्वम्**=न इसको 'ऊपर' इस रूप में ग्रहण कर सकते हैं। **न**=न ही **तिर्य्यञ्चम्**=टेढ़े crosswise एक ओर से दूसरी ओर किसी स्थानविशेष में ग्रहण कर सकते हैं और **न मध्ये**=न ही बीच में **परि जग्रभत्**=ग्रहण कर सकते हैं। वे प्रभु सर्वव्यापक हैं और इस सम्पूर्ण यन्त्रजाल को=ट्रेन के समूह को चला रहे हैं।

भावार्थ—पत्ता-पत्ता उस प्रभु के प्रशासन में हिल रहा है। वे प्रभु कण-कण में व्याप्त है, किसी देशविशेष में स्थित नहीं हैं, इसी से सारे ब्रह्माण्ड को गति दे रहे हैं।

ऋषिः—**स्वयम्भु ब्रह्म**। देवता—**हिरण्यगर्भः परमात्मा**। छन्दः—**द्विपदागायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु का प्रतिरूप—विनीतता+नामस्मरण

न तस्य॑ प्रति॒माऽअ॑स्ति॒ यस्य॒ नाम॑ म॒हद्यशः॑॥३॥

तस्य=उस प्रभु की **प्रतिमाः**=मूर्त्ति, नाप, सादृश्य, तुल्यता **न अस्ति**=नहीं है। २. प्रभु वे हैं **यस्य**=जिनका **नाम**=नामस्मरण व जिनके प्रति नमन जीव के लिए **महद्यशः**=महान् यश का कारण है। नमन से जीव का जीवन यशस्वी बनता है। नामस्मरण से वैसा बनने की प्रेरणा प्राप्त होती है, एक लक्ष्यदृष्टि उत्पन्न होती है जो हमें अत्यधिक उत्थान पर पहुँचाती है। सच्चा नामस्मरण तो है ही तदनुरूप बनना।

भावार्थ—ईश्वर की मूर्त्ति नहीं है। हम निराकार प्रभु का स्मरण करें, जिससे हमारा जीवन बड़ा यशस्वी हो।

ऋषिः—**स्वयम्भु ब्रह्म**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

सर्वतोमुख देव

ए॒षो ह॑ दे॒वः प्र॒दिशोऽनु॒ सर्वाः॒ पूर्वो॑ ह जा॒तः सऽउ॒ गर्भे॒ऽअ॒न्तः।
सऽए॒व जा॒तः स ज॑नि॒ष्यमा॑णः प्र॒त्यङ् जना॑स्तिष्ठति स॒र्वतो॑मुखः ॥४॥

१. **एषः**=ये प्रभु **ह**=निश्चय से **देवः**=देव हैं। देव के अर्थ यास्कानुसार निम्न हैं—(क) **देवो दानात्**=वे प्रभु देनेवाले हैं। प्रभु ने जीव के हित के लिए उसे क्या नहीं दिया? वे सब शक्तियों के देनेवाले हैं। (ख) **देवो दीपनात्**=वे प्रभु देदीप्यमान हैं। उस सर्वतो देदीप्यमान देव की दीप्ति की कल्पना आकाश में चमकते हुए सहस्रों सूर्यों की चमक से ही हो सकती है। (ग) **देवो द्योतनात्**=वे प्रभु सारे पिण्डों को द्योतित कर रहे हैं। प्रभु की दीप्ति से ही ये सारे सूर्य, चन्द्र व तारे दीप्त हो रहे हैं। २. ये प्रभु **सर्वाः प्रदिशः**=इन सब विस्तृत दिशाओं में **अनु**=(व्याप्य तिष्ठति) व्याप्त होकर रह रहे हैं। कौन-सा स्थल है, जहाँ प्रभु नहीं है। कण-कण में उस प्रभु की व्याप्ति है। ३. **पूर्वो ह जातः**=वे प्रभु निश्चय ही पहले से हैं। '**हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे**'=हिरण्यगर्भ प्रभु इस सृष्टि से पूर्व विद्यमान हैं। उनका कोई आदि नहीं, अनादि होते हुए वे सभी के आदि हैं। वे स्वयं तो 'स्वयम्भू'=खुदा हैं। ४. **सः उ गर्भे अन्तः**=वे प्रभु ही सब पदार्थों के गर्भ में हैं। सबके अन्दर स्थित हुए-हुए वे सबका नियमन कर रहे हैं। ५. **सः एव जातः**=वे प्रभु अनादिकाल से इन सृष्टियों को जन्म दे रहे हैं। 'माता प्रजाता' का अर्थ है 'माता ने बच्चे को जन्म दिया'। इसी प्रकार यहाँ **स एव जातः**=उस प्रभु ने ही सृष्टि को जन्म दिया। 'जातः' यह भूतकाल का प्रत्यय सूचित कर रहा है कि भूत में न जाने कितने कालों से वे इन सृष्टियों का निर्माण कर रहे हैं। वस्तुतः अनादिकाल से यह चक्र चल रहा है। **सः जनिष्यमाणः**=भविष्य में भी वे इन सृष्टियों को जन्म देंगे। अनन्तकाल तक यह चक्र चलता जाएगा। यह

सृष्टि-प्रलयचक्र न जाने कब से चल रहा है और न जाने कब तक चलता चलेगा। ६. इस सृष्टि में मनुष्य को जन्म देकर प्रभु ही उसको ज्ञान भी देते हैं। हे **जनाः**=मनुष्यो! वे प्रभु **प्रत्यङ्**=तुम्हारे आत्मा में ही **तिष्ठति**=स्थित हैं। वे एक साथ अग्नि को ऋग्वेद का, वायु को यजुर्वेद का, सूर्य को सामवेद का और अङ्गिरा को अथर्ववेद का उपदेश दे रहे हैं, क्योंकि वे **सर्वतोमुखः**=सब ओर मुखवाले है। ७. उस प्रभु को ढूँढने के लिए तीर्थों में भटकने की आवश्यकता नहीं वे तो अन्दर ही हैं। सब विद्याएँ पढ़कर भी (ब्रह्मचारी), यज्ञादि करके भी (गृहस्थ) स्तुति व कीर्तन में लगकर भी (वानप्रस्थ) मनुष्य प्रभु को तभी देखेगा जब वह अपने अन्दर ध्यान करेगा। यह अन्तर्मुख यात्रा करनेवाला संन्यासी ही 'ब्रह्माश्रमी' बनता है, ब्रह्म को देखता है। ऋग्वेद से सब विज्ञानों का अध्ययन करके, यजुर्वेद के अनुसार सब यज्ञों का अनुष्ठान करके, सामवेद से उपासना करके जब मनुष्य (अथ) अपने अन्दर (अर्वाङ्) देखता है तभी ब्रह्म का दर्शन करता है। अथर्ववेद इसीलिए ब्रह्मवेद कहलाता है (अथ+अर्वाङ्)।

भावार्थ—हम देव, सब दिशाओं में व्याप्त, अनादि, अनन्त, सृष्टि-प्रलय-चक्र को चलानेवाले, हृदय में विद्यमान, सर्वतोमुख प्रभु का ध्यान करें।

ऋषिः—**स्वयम्भु ब्रह्म**। देवता—**परमेश्वरः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

तीन ज्योतियाँ : रमण करता हुआ षोडशी

यस्मा॒ज्जा॒तं न पु॒रा किं च॒नैव य आ॑ब॒भूव॒ भुव॑नानि॒ विश्वा॑।
प्र॒जाप॑तिः प्र॒जया॑ सꣳररा॒णस्त्रीणि॒ ज्योती॑ꣳषि सचते॒ स षो॑ड॒शी ॥५॥

१. **यस्मात्**=जिससे **पुरा**=पहले **किञ्चन एव**=कुछ भी न **जातम्**=नहीं हुआ, जो सबसे पहले से था। वे प्रभु अनादि है और सबके आदि है, अर्थात् सारे संसार का निर्माण कर रहे हैं। २. **यः**=जो **विश्वा भुवनानि**=सब लोकों को **आबभूव**=समन्तात् व्याप्त कर रहे हैं। प्रभु ने लोकों का निर्माण किया और उन सबके अन्दर व्याप्त होकर रहने लगा। **'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'** उसका सर्जन किया, उसमें प्रवेश किया। ३. **प्रजापतिः**=वे प्रभु सारी प्रजा के रक्षक हैं। ४. **सः षोडशी**=उस सोलह कला सम्पूर्ण प्रभु ने **प्रजया**=प्रजा के हेतु से, प्रजा के रक्षण के हेतु से **त्रीणि ज्योतींषि**=तीन ज्योतियों को **सचते**=धारण किया है। द्युलोक में सूर्य, अन्तरिक्षलोक में चन्द्र व विद्युत् तथा पृथिवीलोक पर अग्नि को प्रभु ने स्थापित किया है। प्रजा के रक्षण के लिए इन ज्योतियों की आवश्यकता स्वयं सिद्ध है।

कितनी अद्भुत है यह सृष्टि! इसके निर्माता प्रभु 'षोडशी' हैं, सोलह कला सम्पूर्ण हैं, वे पूर्ण हैं तभी तो उनकी बनायी यह सृष्टि भी पूर्ण हैं। 'पूर्णात् पूर्णमुदच्यते'=पूर्ण से पूर्ण ही उत्पन्न होता है। उस षोडशी प्रभु ने जीव में भी 'प्राण, श्रद्धा' आदि सोलह कलाओं को जन्म दिया है। ५. **संरराणः**=सम्यक् रमण=क्रीडा करते हुए प्रभु इस संसार का निर्माण करते हैं। संसार को प्रभु की क्रीडा के रूप में देखना ही ठीक रूप में देखना है। यही तत्त्वज्ञान है। इस तत्त्वज्ञानवाला व्यक्ति कष्टों से ऊपर उठ जाता है। खेल में लगी चोट क्रोध का कारण नहीं बनती। उस चोट के सहने में गौरव का अनुभव होता है। देव वही हैं जो प्रभु के साथ इस क्रीडा में सम्मिलित होते हैं 'दीव्यन्ति क्रीडन्तीति देवाः'। देव खेलते हैं। इससे वे खिझते नहीं। देव ही महादेव का सान्निध्य प्राप्त करते हैं। ये स्वयं उस ब्रह्म-जैसे

बन जाते हैं।

भावार्थ—संसार को प्रभु की क्रीड़ा के रूप में देखना ही तत्त्वज्ञान है। प्रभु ने जिन तीन ज्योतियों को धारण किया है, उन्हीं को धारण करना कल्याण का मार्ग है।

ऋषिः—**स्वयम्भु ब्रह्म**। देवता—**परमात्मा**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

उग्रता व दृढ़ता, कर्म, अकर्म, विकर्म

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्व स्तभितं येन नाकः।
योऽअन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥६॥

१. **येन**=जिसने **द्यौः**=द्युलोक को **उग्रा**=बड़ा तेजस्वी बनाया है। द्युलोक में सूर्य व सितारे चमक रहे हैं। उनकी ज्योति से यह जगमगा रहा है। शरीर में मस्तिष्क ही द्युलोक है। इसे भी ब्रह्मज्ञान के सूर्य से तथा विविध विज्ञानों के नक्षत्रों से दीप्त करना है। २. **च**=और जिसने **पृथिवी**=पृथिवीलोक को **दृढा**=दृढ़ बनाया है। **'पृथिवी शरीरम्'**=यह शरीर ही पृथिवीलोक है। जैसे पृथिवी दृढ़ है, इतने आघातों को सहती हुई यह पृथिवी कम्पित नहीं हो उठती, आकाश से होनेवाली बूँदों व ओलों के आघातों को शान्तिपूर्वक सहनेवाली यह 'क्षमा' है, 'धरा' है, सहनेवाली है, धारण करनेवाली है। ठीक इसीप्रकार हमारा शरीर पत्थर के समान दृढ़ हो। ३. **येन**=जिस प्रभु ने **स्वः**=स्वर्गलोक को **स्तभितम्**=थामा है, आधार दिया है। 'स्वर्गकामो यजेत'=इस स्वर्ग को शास्त्रनिष्ठ लोग वेदविहित यज्ञों के द्वारा प्राप्त किया करते है। इन यज्ञों के द्वारा **'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'**=श्रेष्ठतम कर्मों के द्वारा कर्मकाण्डी स्वर्ग प्राप्त करते है। 'आयुः, प्राणम्, प्रजाम्, पशुम्, कीर्तिम्, द्रविणम्, ब्रह्मवर्चसम्=ब्रह्मवेद के मन्त्र के अनुसार वहाँ स्वर्ग में दीर्घायुष्य है, प्राणशक्ति है, उत्तम गवादि पशु हैं, उत्तम प्रजा है, कीर्ति है, सम्पत्ति है, ब्रह्मतेज है। इन सब वस्तुओं के होने पर घर सचमुच स्वर्ग बन जाता है। ४. **येन**=जिस प्रभु ने **नाकः**=मोक्षलोक को **स्तभितम्**=थामा है। उन्हीं यज्ञों को जब ये लोग निष्काम होकर करते हैं तब ये यज्ञादि कर्म ही अकर्म हो जाते हैं। सङ्ग व फल को छोड़कर किये गये ये यज्ञ मनुष्य को मोक्ष का अधिकारी बनाते हैं। **ब्रह्म**=अथर्ववेद की समाप्ति पर कहा है कि इन 'आयु-प्राण' आदि को **'मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्'**=मुझे लौटाकर ब्रह्मलोक को प्राप्त करलो। कामना से ऊपर उठकर किये गये कर्म ही अकर्म हो जाते हैं और इनसे मनुष्य मोक्ष=नाकलोक का लाभ करता है। ५. **यः**=जो प्रभु **अन्तरिक्षे**=इस अन्तरिक्ष में **रजसः**=लोक-लोकोत्तरों को **विमानः**=विविध उद्देश्यों से बना रहे हैं। शास्त्रविरुद्ध कर्म ही विकर्म हैं, इन विकर्मियों के लिए ही विविध लोकों का निर्माण किया गया है। कर्मानुसार उस-उस लोक में जीव को वे प्रभु जन्म देते हैं। ६. उस **कस्मै**=आनन्दस्वरूप **देवाय**=दिव्य गुणों के पुञ्ज व देनेवाले प्रभु के लिए **हविषा** =दानपूर्वक अदन से **विधेम**=हम पूजा करें। प्रभु आनन्दमय हैं, चूँकि देनेवाले हैं और दिव्य गुणों के पुञ्ज हैं। आनन्द-प्राप्ति का उपाय दान व दिव्य गुणों को अपनाना ही है। उस प्रभु की पूजा का प्रकार भी उस प्रभु की भाँति देनेवाला बनना है।

भावार्थ—हमारा मस्तिष्क दीप्त हो, शरीर दृढ़ हो, हम यज्ञादि कर्मों से स्वर्ग का लाभ करें, कामना से ऊपर उठकर मोक्ष को प्राप्त करें। कभी भी विकर्मों में फँसकर लोक-लोकान्तरों में भटकें नहीं। प्रभु की भाँति दानशील बनकर प्रभु के उपासक बनें।

ऋषिः—**स्वयम्भु ब्रह्म**। देवता—**परमात्मा**। छन्दः—**अतिजगती**। स्वरः—**निषादः**।

उपाय पंचक

यं क्रन्दसीऽअवसा तस्तभानेऽअभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने।
यत्राधि सूरऽउदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम॥७॥

१. **यम्**=जिस प्रभु का **क्रन्दसी**=आह्वान करनेवाले—प्रभु को पुकारनेवाले, प्रभु के द्वार पर थपथपानेवाले (knock, and it will be opened to you) पति-पत्नी **अभ्यैक्षेताम्**=देखते हैं। संसार में मनुष्य विशेष आयु में आकर गृहस्थ में प्रवेश करता है, इसलिए कि किसी का सहारा लेकर वह इस अश्मन्वती नदीरूप संसार को तैर जाए। इस प्रलोभनमय संसार में बचे रहना बड़ा कठिन है। 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' इस सूत्र से बना 'पत्नी' शब्द संकेत कर रहा है कि पति-पत्नी ने उस यज्ञप्रभु को अवश्य पुकारना, इसका अवश्य ध्यान करना, संध्या करनी। २. प्रभु का दर्शन वे ही पति-पत्नी कर पाते हैं जो **अवसा**=रक्षण के द्वारा **तस्तभाने**=अपनी इन्द्रियों को विषयों में जाने से रोकते हैं। इस प्रत्याहार से बहिर्मुख यात्रा को समाप्त कर मनुष्य अन्तर्मुख यात्रा करता है, और अन्तःस्थित प्रभु को देखता है। ३. फिर, उस प्रभु को वे पति-पत्नी देखते हैं, जो **मनसा रेजमाने**=मन से चमकते हैं। जिनके मन में राग-द्वेष का मालिन्य नहीं है (रेज्=to shine)। ४. 'क्रन्दसी व रेजमाने' का अर्थ इस रूप में भी हो सकता है कि (क्रन्द=रोदन) जो अपने पापों के लिए क्रन्दन करते हैं और अन्त में उन पापों के भय से मन में काँप उठते हैं। वस्तुतः 'अपने पापों' को स्वीकार confession और प्रभु से भयभीत होना' भी अपने को पवित्र बनाने के लिए आवश्यक है। जो प्रभु से भयभीत होता है, उसे किसी दूसरे से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं रहती। ५. वे उस प्रभु को देखते हैं **यत्राधि**=जिसकी अध्यक्षता में **उदितः सूरः**=उदय हुआ-हुआ सूर्य **विभाति**=चमकता है। '**तस्य भासा सर्वमिदं विभाति**'=प्रभु की ज्योति से ही सब चमक रहा है। उस **कस्मै देवाय**=आनन्दमय दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु के लिए **हविषा**=दानपूर्वक अदन से **विधेम**=हम पूजा करें। (गतमन्त्र में विस्तार देखिए)।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के उपाय निम्न हैं १. प्रभु को पुकारना, प्रभु की प्रार्थना करनी। २. इन्द्रियों का दमन। ३. मन को निर्मल करना। ४. दानपूर्वक अदन। ५. पापों का स्वीकार कर प्रभु से भय मानना।

ऋषिः—**स्वयम्भु ब्रह्म**। देवता—**परमात्मा**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

वेन का प्रभुदर्शन

वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।
तस्मिन्निदꣳ सं च वि चैति सर्वꣳ सऽओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु॥८॥

१. 'वेन' शब्द वेन् धातु से बना है। इसके अर्थ हैं (क) क्रियाशील—to go, to move, (ख) ज्ञान प्राप्त करनेवाला—to know, (ग) प्रभु का पुजारी to worship। एवं, **वेनः**= क्रियाशील, ज्ञानी, प्रभुभक्त व्यक्ति **तत्**=उस प्रभु को **पश्यत्**=देखता है। प्रभु के दर्शन के लिए 'कर्म, ज्ञान व भक्ति' का समन्वय आवश्यक है। २. वेन उस प्रभु को देखता है जो **गुहा निहितम्**=हृदयरूप गुहा में निहित हैं। प्रभु तक वही पहुँचता है जो अन्नमय, प्राणमय, मनोमय व विज्ञानमयकोशों को पार करके आनन्दमयकोश में पहुँचता है। यही अन्तर्मुख यात्रा हमें प्रभु तक ले जाती है। वे प्रभु गुहा में निवास करते हैं, उनको ढूँढने के लिए हमें

कहीं बाहर थोड़े ही भटकना है? ३. **सत्**=वे प्रभु सत् हैं। यद्यपि प्रकृति व जीव भी सत् हैं तथापि प्रकृति सदा विकृत होती रहती है और जीव भी विविध शरीरों को धारण करता है और इस प्रकार इनमें परिवर्तन है, प्रभु एकरस, निर्विकार, सत्-ही-सत् हैं। 'सत्' शब्द की भावना यह भी है कि हम प्रभु को मिलने जाते हैं तो वे सदा सत्=उपस्थित होते हैं, उनके अनुपस्थित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। वे सर्वव्यापक हैं, मेरे जाने की देर है, जाऊँगा दरवाज़ा थपथपाऊँगा तो प्रभु मिलेंगे ही, दरवाज़ा खुलेगा ही। ४. ये प्रभु वे हैं **यत्र**=जिनमें **विश्वम्**=यह सारा संसार **एकनीडम्**=एक घोंसलेवाला **भवति**=होता है। जैसे एक घर में परस्पर प्रेम का अनुभव होता है, इसी प्रकार प्रभु का अनुभव करने पर यह सारी वसुधा एक परिवार प्रतीत होने लगती हैं, हम सब उस प्रभु के ही तो पुत्र हैं। ५. **तस्मिन्**=उस प्रभु में **इदं सर्वम्** =यह सारा जगत् प्रलयकाल के समय **सम् एति**=समा जाता है **च**=और सृष्टिकाल में **विएति**=विविध रूपों में गति करने लगता है। प्रलय में भी कारणरूप प्रकृति का आधार प्रभु है और सृष्टि में भी सब लोक-लोकोन्तरों का आधार वे प्रभु ही हैं। ६. **सः**=वे प्रभु **ओतः च प्रोतः च**=इस संसार में ओत-प्रोत हैं। संसार-वस्त्र के वे प्रभु ही ताने-बाने के सूत्र हैं। वे प्रभु **प्रजासु**=सब प्रजाओं के अन्दर **विभूः**=व्याप्त होकर रह रहे हैं।

प्रभु त्र्यम्बक है। 'त्रीणि अम्बकानि नेत्राणि यस्य'=यह विग्रह की परिपाटी चली आ रही है। इसे 'त्रीणि अम्बकानि यस्मै' इस रूप में कर दें तो अर्थ का सौन्दर्य बढ़ जाता है। उस प्रभु के देखने के लिए 'कर्म, ज्ञान व भक्ति' रूप तीन आँखें हैं।

भावार्थ—प्रभु-दर्शन के लिए ज्ञान, क्रिया व भक्ति का समुच्चय आवश्यक है। वे प्रभु हृदय में ही निहित हैं, सर्वव्यापक हैं।

ऋषिः—**स्वयम्भु ब्रह्म**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

'अमृत-धाम-सत्': पिता का भी पिता

प्र तद्वोचेदमृतं नु विद्वान् गन्धर्वो धाम विभृतं गुहा सत्।
त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुः पितासत् ॥९॥

१. **विद्वान्**=जो ज्ञानी है, जिसका आगम अत्यन्त सुन्दर है, जिसने गुरुओं से स्वाध्यायादि करके खूब मनन किया है। **गन्धर्वः**=जो गाम्=वाणी को धारण करनेवाला है, वाक्शक्ति का ईश है, जो किसी भी बात का प्रतिपादन बड़ी सुन्दरता से कर सकता है। वह विद्वान् गन्धर्व **नु**=अब **तत्**=उस ब्रह्म का **प्रवोचेत्** =प्रवचन करे। २. किस प्रभु का? जो प्रभु (क) **अमृतम्**=अमृत हैं, प्रभु स्वयं जन्म-मृत्यु से ऊपर हैं। 'न मृतं यस्मात्'=प्रभु का स्मरण करनेवाला भी मृत्यु से ऊपर उठ जाता है। (ख) **धाम**=ये प्रभु तेज के पुञ्ज हैं (धाम=तेजस्) अथवा ये प्रभु सबके **धाम**=घर हैं। यही भावना गत मन्त्र में 'यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्' शब्द से कही गई थी। वे प्रभु सबके अद्वितीय आधार हैं। (ग) **विभृतं गुहा**=ये प्रभु बुद्धिरूप गुहा में निहित हैं। यह हृदय-स्थली ही 'परम-परार्ध' कहलाती है। यहाँ प्रभु का सर्वोत्कृष्ट निवासस्थान है। विशेषकर इसलिए कि यहाँ प्रभु का दर्शन होना है। (घ) **सत्**=वे प्रभु पूर्ण निर्विकार हैं अथवा सदा उपस्थित हैं। मैं मिलने जाऊँ और वे घर पर न हों यह नहीं हो सकता। ३. एवं, वे प्रभु 'अमृत' हैं, 'धाम' हैं और 'सत्' हैं। **अस्य**=उस प्रभु के **त्रीणि पदानि**=ये तीन पद गुहा **निहिता**=गुहा में निहित हैं, अर्थात् अत्यन्त गुह्य=रहस्यमय हैं। **यः**=जो **तानि**=प्रभु के इन तीन पदों को, ज्ञेय बातों को

वेद=जानता है **सः**=वह **पितुः** =पिता का भी **पिता असत्**=पिता होता है। ज्ञान को देनेवाला 'पिता' कहलाता है। प्रभु के तीन पदों को जाननेवाला ज्ञानियों का भी ज्ञानी होता है, अतः इसे यहाँ पिता का भी पिता कहा है।

भावार्थ—उस 'अमृत, सत्, धाम' का प्रवचन ज्ञानी लोग करें। हम प्रभु के इन पदों को जानकर पिताओं के पिता—ज्ञानियों के भी ज्ञानी बनें।

ऋषिः—**स्वयम्भु ब्रह्म**। देवता—**परमात्मा**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

तृतीय धाम

स नो॒ बन्धु॑र्जनि॒ता स वि॑धा॒ता धामा॑नि वेद॒ भुव॑नानि॒ विश्वा॑।
यत्र॑ दे॒वाऽअ॒मृत॑मानशा॒नास्तृ॒तीये॒ धाम॑न्न॒ध्यैर॑यन्त॥१०॥

१. **सः**=वे प्रभु **नः**=हमारे **बन्धुः**=बन्धु हैं। बन्धु शब्द में मौलिक भावना 'बन्धन' की है। रिश्तेदार भी 'बन्धु' इसीलिए कहलाते हैं कि वे हमें एक बन्धन में बाँध देते हैं। २. **जनिता**=वे प्रभु हमें जन्म देनेवाले हैं, पिता हैं। कर्मानुसार उस-उस योनि में जन्म देने के कारण वे प्रभु हमारे 'जनिता' हैं। ३. वे प्रभु **विश्वा**=सब **भुवनानि**=लोकों को तथा **धामानि**=उन लोकों में उस-उस घर को तथा तेज को वे प्रभु **वेद**=हमें प्राप्त कराते हैं (विद् लाभे) 'यथाकर्म यथा श्रुतम्'=हमारे कर्म व ज्ञान के अनुसार वे प्रभु हमें उस-उस लोक में तथा उस-उस योनि में जन्म देते हैं। ये सब लोक-लोकान्तर भिन्न-भिन्न कर्मों के अनुसार जन्म देने के लिए ही प्रभु ने निर्मित किये हैं। उन-उन लोकों में दिये गये शरीर 'धाम' हैं और इन शरीरों में प्राप्त करायी गई शक्ति भी 'धाम' है। ५. **यत्र**=जिस शरीर में **देवाः**=देव लोग **अमृतमानशानाः**=उस 'अमृत' प्रभु का सेवन करते हुए **तृतीये धामन्**=तृतीय स्थान में **अध्यैरयन्त**=विचरते हैं। (क) असुर लोग तमोगुण में विचरते हुए प्राकृतिक भोगों को ही परम ध्येय बनाते हैं। (ख) असुरों से ऊपर मनुष्य हैं। कुछ मनन-चिन्तन करने के कारण ये भोगों से कुछ ऊपर उठकर तमोगुण से ऊपर रजोगुण में विचरते हैं तथा शक्ति व यश को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। ये नाना प्रकार के लोकहितकारी कार्यों को करके यशोलाभ करते हैं। (ग) इनसे भी ऊपर देव लोग हैं, ये सत्त्वगुण में अवस्थित हुए-हुए उस प्रभु को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। ये प्रभु ही तृतीय धाम हैं। देव सदा प्रभु में विचरते हैं। तृतीय धाम का चित्रण निम्न कोष्ठक से स्पष्ट है—

प्रथम : तमस्, असुर, प्रकृति, भोग व स्वार्थ
द्वितीय : रजस्, मनुष्य, जीव, यश, स्वार्थ, विरुद्द व परार्थ
तृतीय : सत्त्व, देव, परमात्मा, अमृतत्व व परार्थ

भावार्थ—इस शरीर में हम तमोगुण व रजोगुण से ऊपर उठकर सत्त्वगुण में विचरते हुए प्रकृति व जीव से परे उस तृतीय धाम प्रभु में विचरें। इसी से हम अमृतत्त्व का लाभ कर सकेंगे।

ऋषिः—**स्वयम्भु ब्रह्म**। देवता—**परमात्मा**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

प्रभु में प्रवेश

प॒रीत्य॑ भू॒तानि॑ प॒रीत्य॑ लो॒कान् प॒रीत्य॒ सर्वाः॑ प्र॒दिशो॒ दिश॑श्च।
उ॒प॒स्थाय॑ प्रथम॒जामृ॒तस्या॒त्मना॒त्मान॑म॒भि सं वि॑वेश॥११॥

१. **आत्मना**=मन से **आत्मानम् अभि सम् विवेश**=परमात्मा में प्रवेश करता है। सामान्यतः मनुष्य मन से संसार में विचरता रहता है, परन्तु जब मनुष्य अपने मन को प्रभु में लगाता है तब निम्न चार बातें करता है २. **भूतानि परीत्य**=प्राणियों को समझकर। जिस समय हम समाज में अन्य व्यक्तियों के सम्पर्क में आते हैं, उस समय यदि उनकी मनोवृत्ति को बिना समझे बात करते हैं तब झगड़े उठ खड़े होते हैं और चित्त अशान्त हो जाता है और 'अशान्त मनवाला प्रभु को पाएगा' यह तो सम्भव ही नहीं **'नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्'**। सबकी मनोवृत्ति को हम समझें और तदनुसार वर्तते हुए अपने मनों को अशान्त न होने दें। समाजशास्त्र के नियमों के अनुसार वर्तते हुए अपने जीवन को शान्त रखें। ३. **परीत्य लोकान्**=सूर्य, चन्द्र व नक्षत्रादि सब लोकों को अच्छी प्रकार समझकर। (परि+इ=to understand fully) (क) इन सब लोकों को व तत्रस्थ पदार्थों को अच्छी प्रकार समझकर ही तो हम इनका ठीक प्रयोग करेंगे और रोगों से बचे रहेंगे। (ख) साथ ही इन लोकों का ज्ञान हमें इनके अन्दर प्रभु की महिमा का भी दर्शन कराएगा। अणु की रचना का चमत्कार किस वैज्ञानिक को मुग्ध नहीं कर देता? स्थानमात्र स्थान परिवर्तन से खाँड का सीरा बन जाना किसको चकित नहीं कर देता? ४. **सर्वाः**=सब **प्रदिशः**=अवान्तर दिशाओं में तथा **दिशः**=पूर्वादि दिशाओं में **परीत्य**=खूब भ्रमण करके। (क) भ्रमण से मनुष्य का दृष्टिकोण व्यापक बनता है, ज्ञान बढ़ता है और मनुष्य कूपमण्डूक नहीं बना रहता। (ख) उस-उस प्राकृतिक दृश्यों के सौन्दर्य में प्रभु की महिमा को भी अनुभव करता है। ५. **ऋतस्य**=पूर्ण सत्य प्रभुकी **प्रथमजाम्**=सृष्टि के प्रारम्भ में उच्चारण की गई वेदवाणी की **उपस्थाय**=उपासना करके, अर्थात् प्रतिदिन वेदवाणी का स्वाध्याय भी हमारे मनों व बुद्धियों को परिष्कृत करके हमें प्रभु के समीप पहुँचाने में सहायक होता है। एवं, प्रभु प्राप्ति के चार साधन हैं। १. जीव के मनोविज्ञान को समझना और तदनुसार व्यवहार करके झगड़ों से बचते हुए मन को शान्त रखना। २. प्राकृतिक विज्ञान के अध्ययन से वस्तुओं के गुण-धर्म को समझकर, उनके ठीक प्रयोग से शरीर को नीरोग बनाना। ३. व्यापक भ्रमण से दृष्टिकोण को व्यापक बनाना, उस-उस प्राकृतिक दृश्य के सौन्दर्य में प्रभु की महिमा को अनुभव करना। बहुदृष्ट व बहुश्रुत बनकर सर्वज्ञ प्रभु की समीपता में स्थित होना। ४. प्रभु की वेदवाणी के अध्ययन से शरीर-मन व बुद्धि का परिमार्जन करना।

भावार्थ—मनोविज्ञान व विज्ञान के अध्ययन, भ्रमण तथा स्वाध्याय से हम अपने मन को प्रभु की ओर जानेवाला बनाएँ।

ऋषिः—**स्वयम्भु ब्रह्म**। देवता—**परमात्मा**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

दर्शन व तन्मयता

परि द्यावापृथिवी सद्यऽइत्वा परि लोकान्परि दिशः परि स्वः।
ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत्तदभवत्तदासीत्॥१२॥

१. यहाँ पिछले मन्त्र के 'भूतानि' पद का स्थान 'द्यावापृथिवी' ने ले-लिया है। **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक के मध्य में होनेवाले प्राणियों के मनोभावों को **सद्यः**=शीघ्र ही **परि+इत्वा**=खूब समझकर। २. **परि लोकान्**=सब लोकों को समझकर। इनको समझना इनके ठीक प्रयोग के लिए आवश्यक है। प्रभु की महिमा तो इन्हीं में दिखती है। ३. **दिशः परि**=सब दिशाओं में भ्रमण करके। भ्रमण से हम बहुदृष्ट व बहुश्रुत बनेंगे। सृष्टि का वैविध्य हमें विविधता के निर्माता का स्मरण कराएगा। **स्वः परि**=इस स्वयं

देदीप्यमान ज्योति सूर्य (स्वयं राजते) को देखकर। सूर्य प्रभु की सर्वमहान् विभूति है। 'योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्' (यजुः) यह आदित्य में दिखनेवाला पुरुष ही तो वह परमात्मा है। ५. वे प्रभु 'ऋत' हैं और उस प्रभु में ही ये सारे लोक-लोकान्तर पिरोये हुए हैं। एवं, यह ऋत का तन्तु सब लोकों में ओत-प्रोत है। इस **ऋतस्य तन्तुम्**=ऋत के तन्तु को जो **विततम्**=सारे लोकों में विस्तृत है, **विचृत्य**=विश्लिष्ट रूप से जानकर **'मुञ्जादिव इषीकाम्'**=मुञ्ज को हटाकर जैसे सींक को देखते हैं, उसी प्रकार अन्नमयादि कोशों को अलग करते हुए मनुष्य क्रमशः अन्न से प्राण में, प्राण से मन में, मन से विज्ञान में और विज्ञान से आनन्द में पहुँचता हुआ **तत् अपश्यत्**=उस प्रभु को देखता है। प्रभु को देखता क्या है? **तत् अभवत्**=प्रभु-जैसा ही हो जाता है। उस प्रभु की लाली मुझे भी लाल कर देती है। उस प्रभु की अग्नि में पड़कर मैं भी अग्नि के समान चमकने लगता हूँ। **तत् आसीत्**=उस प्रभु-जैसा ही तो वह जीव था। इसका साधर्म्य प्रकृति के साथ न होकर प्रभु के साथ ही तो था। प्रभु की तरह यह भी 'चित्' ही था। हाँ, अल्पज्ञता के कारण इसपर राग-द्वेषादि मलों का एक आवरण चढ़ गया था। आज प्रभु को देखकर यह उस आवरण को परे फेंककर उस-जैसा हो गया है। जीव प्रभु का ही तो छोटा रूप है। प्रभुरूप मणि तो अत्यन्त विशाल व महान् होने से मलिन ही नहीं होती। जीवरूप छोटी मणि अवश्य मलिन हो गई थी, परन्तु आज सब मल और भेद-भाव समाप्त होकर जीव प्रभु-जैसा दिखने लगता है।

भावार्थ—हम ठीक व्यवहार से मन को शान्त, वस्तुओं के ठीक प्रयोग से शरीर को नीरोग, भ्रमण से दृष्टि को विशाल, सूर्य-दर्शन से प्रभु-महिमा का दर्शन करके उस ऋत के वितत तन्तु का विश्लेषण करें और प्रभु का दर्शन कर प्रभु-जैसे ही बन जाएँ।

ऋषिः—**मेधाकामः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिग्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

बुद्धिवाद के परिणाम

सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम्। सनिं मेधामयासिषꣳ स्वाहा॥१३॥

१. मन्त्र का सरलार्थ इस प्रकार है कि मैं **सदसः पतिम्**=ब्रह्माण्डरूप घर के पति, **अद्भुतम्**=अभूतपूर्व, आश्चर्यमय **इन्द्रस्य प्रियम्**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जितेन्द्रिय पुरुष को प्रीणित करनेवाले **काम्यम्**=चाहने में उत्तम (सभा में उत्तम 'सभ्य' की भाँति) **सनिम्**=संभजन, संविभाग करनेवाले उस प्रभु से **मेधाम्**=बुद्धि को **अयासिषम्**=माँगता हूँ। २. इस उल्लिखित अर्थ में आपाततः यह शङ्का उत्पन्न होती है कि 'तेजोसि तेजो मयि धेहि' में जैसे तेजस्वी प्रभु से तेज की याचना हुई, इस प्रकार यहाँ भी बुद्धि की याचना बुद्धि व ज्ञान के पुञ्ज प्रभु से करनी चाहिए थी न कि 'सदसस्पति व अद्भुत' प्रभु से। कपड़ेवाले से आलू माँगना मूर्खता नहीं तो और क्या है? इस शङ्का का निवारण यह सोचने से हो सकता है कि प्रभु को पाँच नामों से स्मरण करने की क्या आवश्यकता थी? क्या एक नाम से सम्बोधित करके बुद्धि नहीं माँगी जा सकती? ३. वस्तुतः वैदिक साहित्य की इस शैली को हमें समझने का प्रयत्न करना चाहिए। ज्ञान का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि 'अमानित्वम् अदम्भित्वम्'=घमण्ड न करना, दम्भ से ऊपर उठना ही ज्ञान है। वस्तुतः ज्ञान एक वृक्ष है जिसपर अमानित्व व अदम्भित्वरूप फल लगते हैं। इसी प्रकार यहाँ भी मनुष्य बुद्धि को प्राप्त करके 'सदसस्पति' आदि विशेषणोंवाला बनता है। ५. बुद्धि को अपनाने का प्रथम परिणाम यह होता है कि मनुष्य 'स्वप्रेम, गृहप्रेम, प्रान्तप्रेम व राष्ट्रप्रेम से ऊपर उठकर

'विश्वप्रेम' की ओर बढ़ता है। यह विश्वप्रेम उत्पन्न होने पर ही मनुष्य **'न वियन्ति'**=विरुद्ध दिशाओं में न जाकर, मिलकर चलते हैं और युद्धों का अन्त हो जाता है। मनुष्य 'सदसस्पति' बनता है 'वसुधैव कुटुम्बकम्' को मानने लगता है। ५. **अद्भुतम्**=बुद्धि को प्राप्त करके मनुष्य अद्भुत उन्नति करता है। अभूतपूर्व स्थिति को प्राप्त करता है, इतनी उन्नति करता है जितनी पहले कोई प्राप्त कर न पाये थे, अतः इसकी उन्नति आश्चर्यजनक होती है। ६. **इन्द्रस्य प्रियम्**=बुद्धिवादी मनुष्य विषयों की विषयता (बन्धन) को समझता हुआ उनमें फँसता नहीं और परिणामतः जितेन्द्रिय बनकर प्रभु का प्रिय होता है। ७. **काम्यम्**=प्रभु तो कामना में उत्तम हैं ही वे किसी से द्रोह व द्वेष करें, ऐसी कल्पना भी नहीं हो सकती। बुद्धिवादी देवलोग भी **'नो च विद्विषते मिथः'**=आपस में द्वेष नहीं करते। वे सदा सभी का भला चाहते है। शत्रुओं व अपकारियों का भी, वे उपकार करते हैं और इस प्रकार उनके जीवन को बदलकर वे अपकारी को उपकारी बना डालते हैं। ८. **सनिम्**=वे प्रभु संविभाग करनेवाले है। प्रभु किसको भोजन नहीं देते? हाँ, कोई-कोई प्राप्त भोजन को गिरा बैठते हैं और परेशान होते हैं। मैं भी बुद्धिवाद को अपनाता हुआ बाँटना सीखूँ। एवं, बुद्धिवादी मनुष्य 'विश्वप्रेम' सीखता है, अभूतपूर्व उन्नति कर पाता है। जितेन्द्रिय बनकर प्रभु का प्रिय बनता है, सभी का भला चाहता है और सम्पत्ति का संविभागपर्वूक सेवन करता है। ९. **स्वाहा**=(क) (सु आह) यह बुद्धि की प्रार्थना बड़ी उत्तम हुई है, इससे उत्कृष्ट प्रार्थना हो ही क्या सकती है? (ख) (स्व-हा) इस बुद्धि को पाने के लिए स्व का त्याग आवश्यक है। १०. 'सदसस्पति' प्रभु की उपासना विश्वप्रेम के द्वारा ही हो सकती है, 'अद्भुत' प्रभु अभूतपूर्व उन्नति से ही उपस्थित होते हैं, 'इन्द्र के प्रिय' प्रभु को जितेन्द्रिय पुरुष ही प्रसन्न कर पाता है, 'काम्य' प्रभु की उपासना हम सबके भले की कामना करके ही कर पाते हैं और 'सनिम्' प्रभु हमारे संविभागपूर्वक खाने से ही प्रसन्न होंगे।

भावार्थ—हमारे जीवन में बुद्धिवाद के परिणामस्वरूप 'विश्वप्रेम, अद्भुत उन्नति, जितेन्द्रियता, अद्रोह-अद्वेष तथा संविभागपूर्वक खाने की प्रवृत्ति प्रवृत हो।

ऋषिः—**मेधाकामः**। देवता—**परमात्मा**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

देवगण व पितरों से उपासित बुद्धि—मेधावी

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा॥१४॥

१. **याम्**=जिस **मेधाम्**=बुद्धि की **देवगणाः**=देवगण **पितरः च**=और रक्षक लोग **उपासते**=उपासना करते हैं **तया मेधया**=उस मेधा से **माम्**=मुझे **अद्य**=आज **अग्ने**=हे आगे ले-चलनेवाले प्रभो! **मेधाविनम्**=मेधावाला **कुरु**=कीजिए। **स्वाहा**=इसके लिए मैं स्वार्थ का त्याग करता हूँ। २. प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु को 'अग्ने' नाम से सम्बोधित करके संकेत किया है कि सारी उन्नति बुद्धि पर ही निर्भर है। यह बुद्धि 'मेधा' है, मेरा धारण करनेवाली है। 'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति'=बुद्धिनाश से मनुष्य नष्ट हो जाता है। देवता जिसका नाश चाहते हैं, उसकी बुद्धि हर लेते हैं। ३. मेधा वही ठीक है जिसकी देवगण उपासना करते हैं न कि दानव। बुद्धि का ग़लत प्रयोग मनुष्य को दानव भी बना देता है। क्या अणुबम्बों को बनाकर मनुष्य दानव नहीं बन गया? इसी अणुशक्ति का प्रयोग यन्त्रों के सञ्चालन में होकर मानवहित की साधना भी हो सकती है, अतः मुझे वही मेधा चाहिए जिसकी देव

उपासना करते हैं। ४. बुद्धि वही ठीक है जो मुझे रक्षक बनाती है। मैं बुद्धि का प्रयोग औरों के ध्वंस में न करूँ। निज जीवन में जो बुद्धि मुझे 'देव' बनाती है, वही बुद्धि सामाजिक जीवन में मुझे 'पितर' बनाती है। ५. इस बुद्धि को मैं आज ही प्राप्त कर सकूँ। इस बुद्धि को जितना शीघ्र प्राप्त कर सकें उतना ही ठीक। इसमें जितनी देर होती है उतना ही हानिकारक है।

भावार्थ—प्रभु मुझे बुद्धि दें, जिससे मैं देव व 'पितर'=रक्षक बन पाऊँ। सदा उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़ता जाऊँ।

ऋषिः—**मेधाकामः**। देवता—**परमेश्वरविद्वांसौ**। छन्दः—**निचृद्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

धारण-मार्ग

मेधां मे वरुणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः।
मेधामिन्द्रश्च वायुश्च मेधां धाता ददातु मे स्वाहा॥१५॥

१. **मे**=मुझे **वरुणः**=वरुण **मेधाम्**=बुद्धि को **ददातु**=दे। वरुण का अर्थ है जो वरण करता है (one who elects) और इस प्रकार श्रेष्ठ (वरुण=वर=श्रेष्ठ) बनता है। संसार में 'प्रेय व श्रेय' में यदि मन्दबुद्धिता से मैंने प्रेय का वरण कर लिया तो लक्ष्य तक न पहुँच पाऊँगा। श्रेय का वरण करके श्रेष्ठ और श्रेष्ठतर बनता चलूँगा। 'प्रातः उठना' व 'प्रातः सो लेना' इसमें मैं जागरण का ही वरण करूँ, सोने का नहीं। २. **अग्निः**=अग्नि नामक प्रभु मुझे **मेधाम्**=बुद्धि दें। इस बुद्धि पर ही तो मेरी सारी अग्रगति व उन्नति निर्भर करती है। बौद्धिक प्रकर्ष ही उन्नति का मापक है। ३. **प्रजापतिः**=सब प्रजाओं के रक्षक प्रभु मुझे बुद्धि दें। उन्नत होकर मुझे प्रजा की रक्षा में लगना है। ४. **इन्द्रः च**=और इन्द्र मुझे **मेधाम्**=बुद्धि दे। मेरी बुद्धि मुझे जितेन्द्रियता की ओर प्रेरित करे। मैं अपनी इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनूँ। ५. **वायुः च**=और वायु मुझे बुद्धि दे। 'वा गतौ' मैं सदा क्रियाशील बना रहूँ। क्रियाशीलता से ही तो इन्द्रियों की शक्ति बनी रहेगी और वे कुमार्ग में न जाएँगी। आलस्य ही सब व्यसनों का मूल है। ६. **धाता**=सर्वधारक प्रभु **मे**=मुझे **मेधाम्**=बुद्धि **दधातु**=धारण कराए। **स्वाहा**=इस बुद्धि के धारण के लिए मैं त्याग करता हूँ। बुद्धि के द्वारा ही मैं अपना धारण करनेवाला बनता हूँ। वस्तुतः प्रभु के उक्त नामों में धारण के मार्ग का संकेत है। (क) ठीक चुनाव करके (वरुण), आगे-और-आगे बढ़ते चलना (अग्नि), निजू उन्नति करके प्रजारक्षण कार्य में लगे रहना (प्रजापति), प्रजारक्षण की योग्यता-वृद्धि के लिए जितेन्द्रिय बनना (इन्द्र), और जितेन्द्रियता के लिए सदा क्रियाशील जीवन बिताना (वायु) यही धारण मार्ग है (धाता)। जो मनुष्य अपना धारण व अविनाश चाहता है, उसे उल्लिखित मार्ग ही अपनाना होगा। ७. धारण के लिए, विनाश से बचने के लिए प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'मेधाकाम' मेधा की कामना करता है। मेधा प्राप्त करके यह योग्य मार्ग का वरण करता है, उसपर चलकर यह अधिकाधिक उन्नत होता चलता है और प्रजारक्षण के कार्य में व्याप्त रहकर यह जितेन्द्रिय बनता है, सदा क्रियाशील रहता है। इस प्रकार अपना धारण करता हुआ यह वास्तविक 'श्री' को प्राप्त करता है। इस 'श्री' का ही उल्लेख अगले मन्त्र में है।

भावार्थ—मैं 'वरुण, अग्नि, प्रजापति, इन्द्र, वायु व धाता' इन नामों से सूचित मार्ग को अपनाऊँ। मेरी बुद्धि श्रेष्ठ हो और ठीक मार्ग को अपनाकर मैं अपना धारण कर सकूँ।

ऋषिः—**श्रीकामः**। देवता—**विद्वद्राजानौ**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

श्री त्रितय (ब्रह्मश्री, क्षत्रश्री, देवश्री) ज्ञान+बल+विनय (उत्–उत्तर–उत्तम) Head, Hand, Heart

इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम्।
मयि देवा दधतु श्रियमुत्तमां तस्यै ते स्वाहा॥१६॥

१. **इदम्**=यह **मे**=मेरा **ब्रह्म च**=ज्ञान **क्षत्रम् च**=और बल **उभे**=दोनों **श्रियम्**=श्री को **अश्नुताम्**=प्राप्त करें। 'ब्रह्म' शब्द बृहि वृद्धौ से बनकर 'बढ़ानेवाले' अर्थ का वाचक है। ज्ञान ही सब वृद्धियों का मूल है, अतः ब्रह्मशब्द 'ज्ञान' का वाचक हो जाता है। यही ज्ञान अन्ततः सदावृद्ध 'ब्रह्म' का दर्शन कराता है। 'क्षत्र' शब्द मूल में 'क्षत से त्राण' (चोट से रक्षा) की भावना को कहता है। चोट से रक्षा बल के द्वारा होती है, अतः क्षत्र शब्द बल का वाचक हो गया है। 'बल' कर्म से उत्पन्न होता है, अतः 'क्षत्र' कर्म का प्रतीक हो जाता है। 'क्षत्र' उस वृक्ष को कहते हैं जिसके फूल-फल तो 'चोट से रक्षण' हैं, तना व शाखाएँ बल हैं और मूल कर्म है। एवं ब्रह्म का अभिप्राय ज्ञान है, क्षत्र का अभिप्राय कर्म व बल है। मुझमें ये दोनों ही फूलें व फलें। मेरा ज्ञान भी बढ़े, मेरा बल व क्रियाशक्ति भी बढ़े। ज्ञान के विकास से मेरी श्री 'उत्' (उत्कृष्ट) होगी, बल व क्रिया के विकास से वह 'उत्तर' (अधिक उत्कृष्ट) हो जाएगी। केवल ज्ञान की श्रीवाला उस युवति के समान है जिसकी मुखाकृति बड़ी सुन्दर है, परन्तु हाथ कटे हैं। कर्म व बल की श्रीवाला उस युवति के समान है जिसकी मुखाकृति तो सुन्दर है ही, हाथ भी बड़े सुन्दर हैं। २. मुख भी सुन्दर हो, हाथ आदि भी सुन्दर हों, परन्तु यदि उसका हृदय काला हो तो वह युवति उस बेर से ही उपमा देने योग्य होती है, जो केवल बाहर से सुन्दर है। इससे तो कुरूप परन्तु उत्तम हृदयवाली युवति ही ठीक है जो नारियल के समान बाहर से सुन्दर न होती हुई भी अन्दर से मधुरजल से पूर्ण है, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **मयि**=मुझमें **देवाः**=दिव्यगुण **उत्तमाम् श्रियम्**=उत्तम श्री को **दधतु**=धारण करें। मेरे हृदय में दिव्यता हो, दैवी सम्पत्ति की चरमसीमा 'नातिमानिता' में है। मेरा हृदय अभिमान–घमण्ड से रहित हो। उसमें विनीतता हो। मस्तिष्क में ब्रह्म, हाथों में क्षत्र तथा हृदय में दिव्यता व विनय—यही जीवन का चरमोत्कर्ष है। मानव-जीवन की यात्रा की पूर्णता इस दिव्यता में ही है। मस्तिष्क Head की पूर्णता ज्ञान से, हाथ Hand की क्षत्र से व हृदय Heart की पूर्णता दिव्यता से होती है। इन तीनों के पूर्ण होने में ही पूर्णता है। ३. यह **श्री**=लक्ष्मी विष्णु की पत्नी है। विष्णु त्रिविक्रम हैं। यदि मनुष्य केवल **ब्रह्म**=ज्ञान को महत्त्व देता है तो वह **एक-विक्रम** होता है, **क्षत्र**=बल को भी अपनाने पर वह **द्वि-विक्रम** हो जाता है और दिव्यता को अपनाने पर वह **त्रिविक्रम** बनता है। वस्तुतः अब वह श्री-पति बन जाता है। ४. **तस्यै**=उस उत्तम श्री के लिए मैं **ते**=हे प्रभो! आपके प्रति **स्वाहा**=(स्व-हा) अपना समर्पण करता हूँ। प्रभु चित्रकार हैं, जीवरूप चित्र का अच्छा बनना इसी बात पर निर्भर करता है कि यह चित्रकार को चित्र बनाने दे, किसी प्रकार का विघ्न न करे तभी तो प्रभु उसे अपने अनुरूप बनाएँगे।

भावार्थ—ज्ञान के द्वारा हमारी श्री उत्कृष्ट हो, ज्ञान+बल के द्वारा वह उत्कृष्टतर हो, और ज्ञान+बल+दिव्यता से वह उत्कृष्टतम हो। इस श्री की प्राप्ति के लिए हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें। हम वह चित्र हों, जिसके चित्रकार प्रभु हों।

इति द्वात्रिंशोऽध्यायः॥

अथ त्र्यस्त्रिंशोऽध्यायः

—:०:—

ऋषिः—**वत्सप्रीः**। देवता—**अग्नयः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

प्रभुभक्त का जीवन

अस्याजरासो दमामरित्राऽअर्चद्धूमासोऽअग्नयः पावकाः।
श्वितीचयः श्वात्रासो भुरण्यवो वनर्षदो वायवो न सोमाः॥१॥

१. **अस्य**=इस प्रभु के भक्त **अजरासः**=जीर्ण नहीं होते। मनुष्य जब प्रकृति की ओर झुकता है तब भोगप्रवण होकर क्षीण होने लगता है। प्रभुभक्त प्रकृति में न फँसकर अक्षीण बना रहता है। २. ये प्रभुभक्त अक्षीण इसलिए बने रहते हैं कि ये **दमाम्**=दमन करनेवाली वासनाओं में से **अरित्राः**=शत्रुभूत वासनाओं से अपना त्राण करते हैं। काम-क्रोधादि वासनाएँ मनुष्य की शत्रुभूत हैं, उनसे यह प्रभुभक्त अपने को बचाता है, अतएव अक्षीण बना रहता है।

३. इन शत्रुभूत वासनाओं से ये अपने को इसलिए बचा पाते हैं कि ये **अर्चत्**=प्रभु की अर्चना करनेवाले होते हैं और इस प्रकार **धूमासः**=वासनाओं को प्रकम्पित करके दूर भगा देते हैं (अर्चन्तः धूमासः, धूञ् कम्पने)। ४. वासनाओं को कम्पित करके ये **अग्नयः**=अग्नि बनते हैं, आगे बढ़ते हैं। ५. इस प्रकार उन्नति-पथ पर आगे बढ़ते हुए ये अपने को **पावकाः**=पवित्र कर लेते हैं। भटकने से ही अपवित्रता आती है। न ये भटकते हैं, न अपवित्र होते हैं। ६. **श्वितीचयः**='श्वितिं चिन्वन्ति'=ये शुद्धता का सञ्चय करते हैं अथवा 'श्वितिं अञ्चन्ति=शुक्लमार्ग से ही गति करते हैं। निष्कामता से यज्ञों को करना ही शुक्ल मार्ग है। इस मार्ग पर चलते हुए ये ७. **श्वात्रासः**=कल्याणवाले होते हैं अथवा उस ज्ञानरूप धनवाले होते हैं जो 'श्वि'=वृद्धि का हेतु व 'त्र' त्राण-रक्षण का कारण बनता है। ८. इस प्रकार वैयक्तिक जीवन को उल्लिखित सप्त रत्नों से भरकर ये **भुरण्यवः**=सब लोगों का भरण करनेवाले बनते हैं। ९. **वनर्षदः**=(वन्=worshipping, a ray of light) अपने खाली समय को ये पूजा में या ज्ञान-प्राप्ति में व्यय करते हैं (वन्=पूजा या ज्ञानप्राप्ति, सद्=बैठना)। १०. **वायवः न**=ये वायुओं के समान सदा गतिशील होते हैं और वायु की भाँति ही ये प्रजा में प्राण का सञ्चार करते हैं। ११. इस स्थिति में स्वाभाविक है कि लोगों से इन्हें मान व पूजा प्राप्त हो, परन्तु इन्हें चाहिए कि उस पूजा से अपने मस्तिष्क को विकृत न होने दें और **सोमाः**=सौम्य बने रहें। अधिक-से-अधिक आदृत, परन्तु अधिक-से-अधिक विनीत। इस प्रकार बनने पर ही ये प्रभु के **वत्स**=प्रिय होते हैं। ये अपने जीवन से प्रभु का प्रतिपादन (वद=बोलना) कर रहे होते हैं और इसी कारण प्रभु को प्रीणित=प्रसन्न कर पाते हैं और इस मन्त्र के ऋषि 'वत्सप्री' होते हैं।

भावार्थ—मन्त्रोक्त ग्यारह बातें हमारे जीवन में आनूदित हों और हम सच्चे प्रभुभक्त बनें।

ऋषिः—**विश्वरूपः**। देवता—**अग्नयः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

प्रभुभक्त=धूमकेतु

हरयो धूमकेतवो वातजूता उप द्यवि। यतन्ते वृथगग्नयः॥२॥

१. गतमन्त्र-वर्णित प्रभुभक्त **हरयः**=औरों के दुःखों को हरण करनेवाले होते हैं। वस्तुतः ये औरों के दुःखों को अपना बना लेते हैं और उसे दूर किये बिना शान्ति अनुभव नहीं करते। २. **धूमकेतवः**=(धूम=वासनाओं को कम्पित करना, **केतु**=ज्ञानवाला) इनका ज्ञान वासनाओं को दूर करनेवाला होता है। इस ज्ञान को देकर वासना-विनाश के द्वारा ये लोगों को दुःखों से ऊपर उठाते हैं। ३. **वातजूताः**=अपने इस ज्ञान-प्रसार के कार्य में ये वायु से प्रेरित होते हैं। वायु से प्रेरणा प्राप्त करके ये निरन्तर ज्ञान-प्रसाररूप कार्य में लगे रहते हैं। ४. जिनका ये हित कर रहे हैं वे लोग सम्भवतः इनके कृतज्ञ न होकर इनका अपमान भी कर दें, परन्तु ये तो **वृथक्**=वृथा ही, अर्थात् किसी भी प्रकार की फलाशा को न लेकर **उपद्यवि**=उस द्योतनात्मक प्रभु के चरणों में स्थित हुए-हुए **यतन्ते**=उद्योग में लगे रहते हैं। यह 'सर्वभूतहित में लगना ही तो सच्ची प्रभुभक्ति है और अन्ततः ५. **अग्नयः**='अग्रेणीः' औरों को भी आगे ले-चलनेवाले होते हैं। स्वयं अग्नि बनकर ये औरों को भी अग्नि बना पाते हैं। लोकहित में लगे हुए ये सबमें अपने को ही देखते हैं और इस कारण 'विश्वरूप' हो जाते हैं, सभी के सुख में ये सुख का अनुभव करते हैं।

भावार्थ—हम स्वयं अग्नि बनकर औरों को भी अग्नि बनाने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

स्वागत की तैयारी

यजा नो मित्रावरुणा यजा देवाँ२॥ऽऋतं बृहत्। अग्ने यक्षि स्वं दमम्॥३॥

१. गतमन्त्र में वर्णित 'अग्नि' बनने के लिए हम प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हे **अग्ने**=आगे ले-चलनेवाले प्रभो! आप अग्नि हैं, आपके सम्पर्क से हम भी अग्नि बन पाएँगे। आप **नः**=हमारे साथ **मित्रावरुणा**=प्राण और अपान का **यज**=मेल कीजिए (यज=सङ्गतिकरण)। रोगों से (मि) बचाने के कारण (त्र) प्राण ही 'मित्र' है और रोगों का निवारण (**वरुण**) करने से अपान 'वरुण' है। इस प्राणापान की शक्ति से सङ्गत होकर हम नीरोग बनेंगे। स्वस्थ शरीर से हम अपनी जीवन-यात्रा को सफलता से सिद्ध कर पाएँगे। २. हे अग्ने! आप हमें प्राणापान के द्वारा स्वस्थ बनाकर **देवान्**=दिव्य गुणों को **यज**=प्राप्त कराइए। आपकी कृपा से जहाँ हमारा शरीर स्वस्थ हो वहाँ हमारा मन भी पूर्णरूप से स्वस्थ हो। इस मन से राग-द्वेष-मोहरूप मल नष्ट हो जाएँ और उसमें दिव्य गुणों का विकास हो। **'येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः'**=देव न परस्पर विरुद्ध गति करते हैं, न ही परस्पर द्वेष करते हैं। हम भी द्वेष से ऊपर उठकर देव बनें। ३. हे प्रभो! **ऋतम्**=ऋत को **यज**=हमारे साथ सङ्गत कीजिए। **ऋत**=right=ठीक-ठीक वह है जो ठीक स्थान पर हो और ठीक समय पर हो। प्रभो! हम आपके अनुग्रह से सब कार्यों को ठीक समय पर व ठीक स्थान पर करनेवाले हों, क्योंकि यह ऋत ही **बृहत्**=(बृहि वृद्धौ) हमारी वृद्धि का कारण बनेगा। ४. हे **अग्ने**=आगे ले-चलनेवाले प्रभो! आप **स्वं दमम्**=आत्म-दमन को **यक्षि**=हमारे साथ सङ्गत कीजिए। हम अपना दमन करना सीखें। प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'गोतम' अपनी इन्द्रियों को प्रशस्त बनाने के लिए चार प्रार्थनाएँ करता है—१. मुझे प्राणापान २. दिव्य गुण ३. वृद्धि का कारणभूत ऋत व ४. आत्मदमन की शक्ति प्राप्त हो।

भावार्थ—प्रभु के स्वागत की तैयारी का स्वरूप यही है कि हम १. स्वास्थ्य के द्वारा शरीर को रोगरूप मलों से दूर करते हैं २. दिव्य गुणों के द्वारा द्वेषरूप मानसमल को दूर करते हैं ३. ऋत के द्वारा उन्नति के विघ्नों को समाप्त करते हैं और ४. आत्मदमन से अपने

सब मलों को दूर करने का प्रयत्न करते हैं।

ऋषिः—**विश्वरूपः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

स्वागत

युक्ष्वा हि दे॑वहूत॑माँ२॥ऽअश्वाँ॑२॥ऽअग्ने र॒थीरि॑व। नि होता॑ पू॒र्व्यः स॑दः॥४॥

१. हे **अग्ने!**=आगे ले-चलनेवाले प्रभो! **रथीः इव**=उत्तम सारथि के समान **हि**=निश्चय से **देवहूत-मान्**=अधिक-से-अधिक दिव्य गुणों का आह्वान करनेवाले **अश्वान्**=इन्द्रियरूप अश्वों को **युक्ष्व**=इस शरीररूप रथ में जोतिए। मेरे इस रथ के सारथि आप ही हैं। आपने ही यह रथ दिया है, उसमें घोड़े भी आपने ही जोतने हैं। २. अब दिव्य गुणों का पुञ्ज बनकर सब प्रकार के मलों को दूर करके मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि (क) **होता**=आप सब पदार्थों के देनेवाले हैं (ख) **पूर्व्यः**=आप सबसे पूर्व स्थान में स्थित हैं, सबसे अग्रणी हैं, परमेष्ठी हैं। आप **निसदः**=यथाशक्ति पवित्र किये गये मेरे इस हृदय-मन्दिर में विराजमान हों। ३. संसार में हम किसी भी मान्य पुरुष को आमन्त्रित करते हैं तो अपने घर को साफ़-सुथरा करने का प्रयत्न करते हैं। आज प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'विश्वरूप' ने प्रभु को आमन्त्रित करना है, अतः उसने अपनी सभी इन्द्रियों को शुद्धतम करने का प्रयत्न किया है। शरीर, मन, आत्मा व इन्द्रियाँ—सभी को शुद्ध बनाकर वह प्रभु से कहता है कि हे प्रभो! आइए और मेरे हृदयासन पर विराजिए। मैंने यथासम्भव अपने हृदय को द्वेषरूप मल से शून्य किया है। द्वेष से ऊपर उठकर सभी में आत्मभावना करके मैंने 'विश्वरूप' बनकर सच्चे 'विश्वरूप' आपका दर्शन करने की कामना की है। आप आइए, मेरे हृदय में आसन ग्रहण कीजिए, जिससे मैं आपके दर्शन से कृतकृत्य हो सकूँ।

भावार्थ—इन्द्रियों को परिशुद्ध करके हम अपने हृदयों में प्रभु का आह्वान करें।

ऋषिः—**कुत्सः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

धात्रीद्वय स्तन्यपान

द्वे विरू॑पे चरतः॒ स्वर्थे॑ऽअ॒न्यान्या॑ व॒त्समुप॑ धापयेते।
हरि॑र॒न्यस्यां॒ भव॑ति स्व॒धावा॑ञ्छु॒क्रोऽअ॒न्यस्यां॑ ददृशे सु॒वर्चाः॑॥५॥

१. ३१वें अध्याय की समाप्ति पर 'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ' इन शब्दों में कहा था कि 'धन व ज्ञान' वे दो तेरी पत्नियाँ हैं। इसी बात को 'यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च' इन शब्दों में दुहराया गया है (क्षत्रमिति धननाम—नि० २।१०)। यहाँ 'ब्रह्म' ज्ञान का वाचक है और 'क्षत्र' धन का। ये दोनों ही मनुष्य के पालन करनेवाले हैं। यहाँ इनका पालक धात्रियों के रूप में चित्रण है। **द्वे**=ये 'श्री और लक्ष्मी' दोनों **विरूपे**=परस्पर भिन्न रूपवाली हैं—एक आन्तर है तो दूसरी बाह्य। अथवा ये दोनों ही विशिष्ट रूपवाली हैं। **चरतः**=(परिचरतः) ये दोनों इस प्रभुभक्त की परिचर्या=सेवा करती है। मानव-जीवन के लिए धन व ज्ञान दोनों सहायक हैं। **स्वर्थे**=(सु अर्थ) दोनों ही उत्तम प्रयोजनवाले हैं। **अन्यान्या**=दोनों अलग-अलग **वत्सम्**=उस प्रभु के प्रिय को अथवा अपने जीवन से प्रभु का प्रतिपादन करनेवाले को (वदति) **उपधापयेते**=दूध पिलाती हैं, अर्थात् उसका पोषण करती हैं। २. इनमें से **अन्यस्याम्**=एक में तो यह वत्स=प्रभु का प्रिय पुत्र (क) **हरिः**=अपने दुःखों को दूर करनेवाला तथा (ख) **स्वधावान्**=अपना धारण करनेवाला **भवति**=होता है, अर्थात् धन के द्वारा ये दुःखों को दूर करने के लिए आवश्यक वस्तुओं को जुटाता है, रोगादि होने पर

औषधों के लिए धन का विनियोग करता है और अपने धारण के लिए आवश्यक भोजनादि सामग्री का संग्रह करने में समर्थ होता है। एवं, प्रभुभक्त के लिए श्री के दो ही उपयोग हैं १. दुःख दूर करने के लिए और २. धारण के लिए आवश्यक सामग्री का संग्रह। ३. **अन्यस्याम्**=दूसरी लक्ष्मीरूप धात्री में यह **शुक्रः**=ज्ञान की ज्योति से उज्ज्वल तथा **सुवर्चाः**=उत्तम वर्चस् व तेजवाला **ददृशे**=दिखता है। शुक्र शब्द 'शुच् दीप्तौ' धातु से बना है। ज्ञानाग्नि से यह दीप्त होता है, क्योंकि ज्ञानाग्नि इसके मलों को नष्ट कर देती है। ज्ञान से काम-क्रोध अथवा राग-द्वेषादि के मल भस्म कर दिये जाते हैं। वासनारूप मल के नष्ट होने पर यह भी परिणाम होता है कि यह भोगविलास में न फँसने से उत्तम तेजवाला बना रहता है। एवं, प्रभुभक्त में ज्ञान के भी दो परिणाम दिखते हैं १. नैर्मल्य के कारण दीप्ति, तथा २. विलास से दूर रहने के कारण विशिष्ट तेजस्विता। अपने ज्ञान से व ज्ञानजन्य तेजस्विता से सब शत्रुभूत वासनाओं को समाप्त करनेवाला यह वत्स=प्रभुभक्त 'कुत्स' कहलाता है (कुथ हिंसायाम्) काम-क्रोधादि का हिंसन करनेवाला।

भावार्थ—लक्ष्मी व श्रीरूप धात्रियों का दुग्धपान करके हम 'हरि, स्वाधावान्, शुक्र व सुवर्चाः' बनें। हम सब दुःखों से दूर हों, अपना धारण करने में समर्थ हों, देदीप्यमान व तेजस्वी हों।

ऋषिः—**कुत्सः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

प्रभु के प्रिय कौन? (प्रभु का प्रकाश किनमें?)

अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता यजिष्ठोऽअध्वरेष्वीड्यः।
यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशे ॥६॥

१. गतमन्त्र में वर्णित प्रकार से धात्रीद्वय (श्री+लक्ष्मी) का स्तन्यपान करके जो अपना धारण करते हैं उन्हीं **धातृभिः**=उत्तम प्रकार से धारण करनेवालों से **इह**=इस मानव-जीवन में **अयम् प्रथमः**=यह चतुर्थ मन्त्र का 'पूर्व्य'=सबसे प्रथम होनेवाला परमेष्ठी प्रभु **धायि**=धारण किया जाता है। प्रभु का धारण वही कर पाता है जो शरीर को नीरोग रखता (हरि) है (ख) शरीर के धारण के लिए ही भोजनाच्छादन का प्रयोग करता (स्वधावान्) है (ग) ज्ञानाग्नि से मन के मैलों को जलाकर चमकता है (शुक्र) तथा विलास में न फँसने से तेजस्वी होता है। २. ये प्रभु ही (क) **होता**=सब-कुछ देनेवाले हैं। क्या धन और क्या ज्ञान ये प्रभु ही प्राप्त कराते हैं। (ख) **यजिष्ठः**=ये सर्वोत्तम वस्तुओं का हमारे साथ सम्बन्ध करनेवाले हैं। हम अज्ञानवश गलत वस्तु की भी कामना कर सकते हैं, प्रभु हमें उत्तम ही वस्तुएँ प्राप्त कराते हैं। (ग) हम उत्तम साधनों को प्राप्त करके जो भी लोकसंग्रह व परोपकार के उत्तम कर्म कर पाते हैं, उन सब **अध्वरेषु**=हिंसारहित यज्ञों में **ईड्य**=वे प्रभु ही स्तुति के योग्य हैं। वस्तुतः सब उत्तम कर्म प्रभु की शक्ति व कृपा से ही हो रहे होते हैं। ३. ये प्रभु वे हैं **यम्**=जिनको **अप्नवानः**=उत्तम यज्ञिय कर्मोंवाले लोग तथा **भृगवः**=ज्ञानाग्नि में अपना परिपाक करनेवाले तपस्वी ज्ञानी ही **विरुरुचुः**=प्रिय होते हैं। प्रभु का प्रिय बनने के लिए कर्म व ज्ञान का समन्वय आवश्यक है, क्योंकि वैदिक गणित का यही समीकरण है—ज्ञान+कर्म=भक्ति। ४. ये प्रभु **वनेषु**=(वन=संभजन) अपने संभजन करनेवाले भक्तों में **चित्रम्**=ज्ञान को देनेवाले हैं। प्रभु अग्नि है, यह भक्त भी अग्नि-सा बन जाता है, इसकी ज्ञानाग्नि भी चमक उठती है। ५. जो व्यक्ति स्वार्थी न रहकर अपने जीवन को औरों के जीवन से जोड़ देता है वह 'विश' कहलाता है। **विशेविशे**=वसुधा को ही कुटुम्ब

समझनेवाले प्रत्येक ऐसे व्यक्ति में **विभ्वम्**=वे प्रभु (विभू=to become manifest in) प्रकाशित होते हैं। इनके जीवनों में प्रभु की शक्ति प्रकट होती है और सामान्य लोग ऐसे लोगों में प्रभु की महिमा का दर्शन करते हैं। इस शक्ति के अवतरण से ये सब शत्रुओं का संहार करके 'कुत्स' नामवाले हुए हैं। 'विभु' शब्द का अर्थ शक्तिशाली भी है। प्रभु को धारण करनेवाले ये प्रभु की शक्ति को धारण करके सचमुच शक्तिशाली हो गये हैं।

भावार्थ—हम कर्मनिष्ठ, तपस्वी, ज्ञानी बनकर प्रभु के प्रिय बनें, उपासक बनकर ज्ञान प्राप्त करें, सबके साथ अद्वैत का अनुभव करते हुए शक्तिशाली बनें, प्रभु की शक्ति का प्रकाश करनेवाले हों।

ऋषिः—**विश्वमित्रः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

देवों की अनुकूलता

त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्निं त्रिꣳशच्च देवा नव चासपर्यन्।
औक्षन् घृतैरस्तृणन् बर्हिरस्मा ऽआदिद्धोतारं न्यसादयन्त॥७॥

१. **त्रीणि शता**=तीन सौ **त्री सहस्राणि**=तीन हजार **त्रिंशत् च**=और तीस **नव च**=और नौ **देवाः**=देव, अर्थात् कुल ३३३९ देव **अग्निम्**=इस उन्नति-पथ पर चलनेवाले की **असपर्यन्**=पूजा करते हैं, अर्थात् सब देव अग्नि के अनुकूल होते हैं। इनकी अनुकूलता का ही परिणाम होता है कि यह अग्नि पूर्ण स्वस्थ बन पाता है। शतपथ ११।६।३। ४-५ में कहा है कि **'कतमे वै देवाः? त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेति। स याज्ञवल्क्यो होवाच महिमान एवैषां देवानां एते त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवा इति'**=देव कितने हैं? तीन और तीन सौ, तीन और तीन हजार, अर्थात् तीन हजार तीन सौ छह। इसपर याज्ञवल्क्य कहते हैं कि देवता तो ३३ ही हैं यह ३३०६ या ३३३९ संख्या तो उनकी महिमा की सूचनमात्र है। वस्तुतः द्यौः, अन्तरिक्ष व पृथिवी, अर्थात् उनमें स्थित ३३ देवों की शान्ति व अनुकूलता पर ही मनुष्य का शारीरिक, मानस व मस्तिष्क का स्वास्थ्य निर्भर करता है। २. ये अनुकूल बने हुए देव ही इस **अग्निं**=उन्नतिशील पुरुष को **घृतैः**=मलों के क्षरण= दूरीकरण तथा दीप्ति से **औक्षन्**=सिक्त करते हैं। स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन व स्वस्थ मस्तिष्क तो होते ही हैं। देवों की अनुकूलता में शरीर का स्वास्थ्य प्राप्त होता है, मन भी राग-द्वेष के मैल से रहित हो जाता है। इन मलों का दूरीकरण होकर मन प्रसादमय हो उठता है। मस्तिष्क भी स्वस्थ होता है। इन देवों ने शरीर में स्वास्थ्य, मन में नैर्मल्य तथा मस्तिष्क में दीप्ति को प्राप्त कराया है। ३. इस अग्नि के लिए इन देवों ने **बर्हिः**=जिसमें से वासनाओं का उद्बर्हण (विनाश) कर दिया गया है ऐसे हृदयासन को **अस्तृणन्**=बिछाया है। चतुर्थ मन्त्र में उस होता=सर्वप्रदाता प्रभु से हृदय में आसीन होने के लिए प्रार्थना की गई थी। अब सब प्रकार से तैयारी करके **आत् इत्**=ठीक समय बाद **होतारम्**=उस स्वास्थ्य, नैर्मल्य व दीप्ति को देनेवाले प्रभु को **न्यसादयन्त**=इस पवित्र हृदयासन पर आसीन करते हैं। देवों की अनुकूलता हमें महादेव का भी प्रिय बना सकती है। प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'विश्वामित्र' है, सभी के साथ स्नेह करनेवाला है। यह किसी से द्वेष नहीं करता और इसी कारण यह प्रभु का प्रिय बनता है।

भावार्थ—सब प्राकृतिक देवों की अनुकूलता होने पर हमें स्वास्थ्य, नैर्मल्य व दीप्ति प्राप्त होती है और हमें प्रभु का आसन बनता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

देवकृत अग्नि का विकास

मूर्द्धानं दिवोऽअरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृतऽआ जातमग्निम्।
कविꣳ सम्राजमतिथिं जनानामासन्ना पात्रं जनयन्त देवाः ॥८॥

प्राकृतिक देवों की अनुकूलता होने पर **देवाः**='माता, पिता, आचार्य व अतिथि' रूप देव **अग्निम्**=इस उन्नतिशील पुरुष को **आजनयन्त**=सर्वथा बना देते हैं। कैसा?

१. **दिवः मूर्धानम्**=ज्ञान-दीप्ति का शिखर। **'मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद'** इस वचन के अनुसार उत्तम माता-पिता व आचार्य को प्राप्त करनेवाला पुरुष ज्ञानी बनता है। ज्ञान का ही परिणाम होता है कि वह २. **अरतिम् पृथिव्याः**=पार्थिव भोगों के प्रति रतिवाला नहीं होता। ज्ञान आसक्ति को नष्ट कर देता है। भोगों में लिप्त न होकर यह ज्ञानी ३. **वैश्वारनम्**=(विश्वनरहितम्) सब लोगों के हित में प्रवृत्त होता है। भोगप्रवण मनुष्य स्वार्थी हुआ करता है। ज्ञानी परमार्थ में ही आनन्द का अनुभव करता है ४. **ऋते आजातम्**=(ऋतम् एव अनुभवितुं जातम्) यह अपनी जीवन-यात्रा में सदा सत्य का पालन करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मानों ऋत का ही अनुभव लेने के लिए यह पैदा हुआ हो। असत्य से यह सदा दूर रहता है, इसलिए ५. **अग्निम्**=आगे-और-आगे बढ़ता चलता है, औरों को भी यह आगे ले-चलता है। ६. आगे ले-चलने के लिए **कविम्**=(कौति सर्वा विद्याः) सब विद्याओं का यह उपदेश करता है अथवा स्वयं आगे बढ़ने के लिए क्रान्तदर्शी बनता है, वस्तुओं की आपातरमणीयता से आकृष्ट नहीं होता। विषयों से आकृष्ट न होने के कारण ७. **सम्राजम्**=इसका जीवन बड़ा दीप्त व व्यवस्थित (regulated) होता है। ८. यह दीप्त व व्यवस्थित जीवनवाला 'विश्वामित्र'=सभी का स्नेही प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि **जनानाम्**=लोगों का **अतिथिम्**=सातत्येन गमनवाला होता है। जहाँ भी दुःख देखता है वहीं पहुँच जाता है और उन लोगों का कल्याण करने का प्रयत्न करता है। ९. यह **आसन्**=मुख के द्वारा **पात्रम्**=रक्षा करनेवाला होता है, अर्थात् मुख के द्वारा दूसरों को ज्ञान देता है और उनमें उत्साह का सञ्चार करता है। यह सभी के हित में प्रवृत्त हुआ-हुआ व्यक्ति सचमुच प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'विश्वामित्र' है।

प्रस्तुत मन्त्र में उन्नति के कारणों का संकेत बड़ी सुन्दरता से किया गया है कि १. **देवाः**=प्राकृतिक देवों की अनुकूलता तो चाहिए ही २. प्रशस्त माता-पिता व आचार्य का मिलना भी अत्यन्त आवश्यक है। ३. और फिर **'अग्निम्'**=उस व्यक्ति के अन्दर आगे बढ़ने की भावना का जागना भी नितान्त अपेक्षित है। इस भावना के जागे बिना किसी प्रकार की उन्नति सम्भव नहीं।

भावार्थ—देवों की कृपा से हमारा जीवन मन्त्र-वर्णित बातों से युक्त होकर नव (नवीन) ही बन जाए और सबका स्तुत्य (नू स्तुतौ) हो सके।

ऋषिः—**भरद्वाजः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

अग्नि का वृत्रहनन

अग्निर्वृत्राणि जङ्घनद् द्रविणस्युर्विपन्यया। समिद्धः शुक्रऽआहुतः ॥९॥

१. **अग्निः**=हमारी सब उन्नतियों के साधक वे प्रभु **वृत्राणि**=ज्ञान पर पर्दा डालनेवाली कामादि वासनाओं को **जङ्घनत्**=नष्ट करते हैं। जीव स्वयं वासना के विजय में समर्थ नहीं।

प्रभु से मिलकर ही हम काम को जीत पाते हैं। २. यह वासना-विनाशरूप कार्य प्रभु करते तभी हैं जब **द्रविणस्युः**=द्रविण के चाहनेवाले प्रभु को हम अपने द्रविण की भेंट कर दें। अथर्ववेद का मन्त्र बड़ी सुन्दरता से कहता है कि यदि मोक्ष चाहते हो तो 'मह्यं दत्त्वा'=यह द्रविण मुझे लौटा दो। हमने धन लौटाया और वासना-वृक्ष का मूल कटा। ३. प्रभु को धन लौटाकर हम वासनाओं को जीत पाते हैं, यदि उस प्रभु का स्मरण करते रहें **विपन्यया**=विशिष्ट स्तुति के द्वारा। इसी विशिष्ट स्तुति का स्वरूप मन्त्र के उत्तरार्ध में व्यक्त किया गया है (क) **समिद्धः**=दीप्त किया गया (ख) **शुक्रः**=(शुक गतौ) जाया गया (ग) **आहुतः**=अर्पण किया गया। (क) हम उस प्रभु की भावना को अपने हृदयों में दीप्त करें, उसका चिन्तन करें। योग के शब्दों में 'तज्जपस्तदर्थभावनम्'=उसके नाम का जप और प्रणव के अर्थ का चिन्तन करें। (ख) इस प्रकार उस प्रभु का स्तवन करके उसकी ओर चलें, उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करें। मार्ग में आनेवाले विघ्नों को जीतकर उसकी ओर बढ़ते चलें। (ग) उसके समीप पहुँचकर उसके प्रति अपने को अर्पित कर दें। (घ) वासनाओं को नष्ट करके यह प्रभुभक्त अपने अन्दर शक्ति (वाज) का भरण (भरद्) करता है, अतः 'भरद्वाज' नामवाला हो जाता है।

भावार्थ—हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करने का प्रयत्न करें, इसी उद्देश्य से धनों का यज्ञों में विनियोग करें, जिससे प्रभु हमपर आक्रमण करनेवाले वृत्रों का विनाश करें।

ऋषिः—**मेधातिथिः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**विराड्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

सौम्य मधु का पान

विश्वेभिः सोम्यं मध्वग्नऽइन्द्रेण वायुना। पिबा मित्रस्य धामभिः ॥१०॥

१. हे **अग्ने**=(अगि गतौ) निरन्तर प्रभु की ओर चलनेवाले। उन्नतिपथ पर आगे बढ़नेवाले जीव! तू **मित्रस्य**=अपने मित्र प्रभु के **धामभिः**=तेजों के उद्देश्य से **सोम्यम् मधु**=सौम्य मधु को **इन्द्रेण**=इन्द्र से, अर्थात् इन्द्र बनकर और **वायुना**=वायु से अर्थात् प्राणों की साधना से **पिब**=पान कर। २. गतमन्त्र में 'भरद्वाज' ने प्रभु को समिद्ध किया, उसकी ओर चला और अन्त में उसके प्रति अपना अर्पण किया, इस प्रकार वह प्रभु का 'सयुज-सखा'=साथ रहनेवाला मित्र बन गया। 'इस मित्र के तेजों को यह भारद्वाज भी प्राप्त करना चाहे' यह स्वाभाविक ही है। प्रभुभक्त प्रभु-जैसा क्यों न बने? ३. इन तेजों को प्राप्त करने के लिए ही मन्त्र में 'सोम्य मधु' के पान का उल्लेख (विधान) है। वीर्यशक्ति (semen) ही सोम है। यह अन्न का सारभूत होने से मधु कहा गया है। मधु (शहद) भी पुष्परसों का सार होता है। यह शक्ति शरीर में सुरक्षित होने पर मनुष्य को 'सौम्य' बनाती है तथा उसकी ज्ञानाग्नि को दीप्त करके उसे (स+उमा) ब्रह्मज्ञानसहित करती है, इसी से इसका नाम 'सौम्य' पड़ गया है। ४. इस सोम का पान करने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य 'इन्द्र' बने, जितेन्द्रिय हो। इन्द्रियों का अधिष्ठाता इन्द्र ही सोम का पान करता है। ५. इन इन्द्रियों के वशीकरण व निर्दोषता के लिए प्राणों की साधना अत्यन्त उपयोगी है। **वायुना**=प्राणों के द्वारा, प्राणायाम से ही इन्द्रियों के मल नष्ट होते हैं। साथ ही इस प्राणसाधना से वीर्य की ऊर्ध्वगति भी सिद्ध होती है और मनुष्य ऊर्ध्वरेतस् बन पाता है। यह रेतस् ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है और यह साधक दीप्त बुद्धि को प्राप्त करके 'मेधातिथि' बन जाता है, निरन्तर मेधा की ओर चलनेवाला।

भावार्थ—हम जितेन्द्रियता व प्राणसाधना के द्वारा 'सोम्य मधु' (वीर्य) का पान

करनेवाले बनें, जिससे अपने मित्र उस प्रभु के तेजों से तेजस्वी बन सकें।

ऋषिः—**पराशरः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

जनन-सूदन

आ यदिषे नृपतिं तेजऽआनट् शुचि रेतो निषिक्तं द्यौरभीके।
अग्निः शर्द्धमनवद्यं युवानꣳ स्वाध्यं जनयत्सूदयँच्च॥११॥

१. संसार में मनुष्य प्रयत्न करता है, परन्तु शतशः प्रयत्नों के होते हुए भी कई बार वह ठीक मार्ग पर नहीं चल पाता। विघ्न प्रबल होते हैं, वह उन्हें नहीं जीत पाता, परन्तु प्रभु की **इषे**=प्रेरणा होने पर **नृपतिम्**=(ना चासौ पतिश्च) इस आगे बढ़नेवाले इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव को **तेजः**=तेज **यत्**=जब **आनट्**=समन्तात व्याप्त होता है तब **शुचि रेतः**=वह शुद्ध रेतस् (वीर्य) **द्यौः**=मस्तिष्करूप द्युलोक के **अभीके**=समीप, अर्थात् ज्ञानाग्नि में **निषिक्तम्**=सिक्त होता है, यह वीर्य ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है और यह **नृपति**=जितेन्द्रिय मनुष्य उस **नृपतिः**=सब मनुष्यों के स्वामी प्रभु के दर्शन के योग्य बनता है। एवं, इस मन्त्र के पूर्वार्ध में निम्न बातें स्पष्ट हैं—(क) उन्नति प्रभुकृपा से ही होती है जब मनुष्य प्रभुप्रेरणा को सुन पाता है तभी उसमें इन्द्रियों का स्वामी बनने की भावना जागती है। (ख) यह जितेन्द्रिय (नृपति) ही तेजस्वी बन पाता है। (ग) इसका यह वासनाओं से अदूषित, पवित्र तेज इसकी ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है। २. दीप्त ज्ञानाग्निवाला यह **अग्निः**=उन्नतिशील पुरुष **जनयत्**=उस प्रभु के दर्शन करता है, हृदय में उसका प्रादुर्भाव कर पाता है, जो प्रभु (क) **शर्द्धम्**=तेज हैं, तेज के पुञ्ज हैं। (ख) **अनवद्यम्**=जिनमें किसी प्रकार का अवद्य पाप नहीं है, जो अपापविद्ध हैं। (ग) **युवानम्**=जो अशुभ को दूर करके शुभ के साथ हमें संपृक्त करनेवाले हैं। (घ) **स्वाध्यम्**=(सु आध्य) उत्तमता से सर्वथा ध्यान करने योग्य हैं।

इस प्रभु के प्रादुर्भाव से यह आत्मा भी तेजस्वी, निष्पाप व अशुभ से दूर व शुभ से युक्त होती है। ३. प्रभु का अपने हृदयान्तरिक्ष में प्रादुर्भाव करनेवाला यह अग्नि इस प्रभु का मित्र बनकर **सूदयत् च**=सब काम-क्रोधादि वासनाओं को नष्ट कर देता है (सूद to kill)। जब तक जीव अकेला था, वासनाओं का शिकार हो जाता था, परन्तु अब प्रभु से मित्रता करके यह वासनाओं को भस्म करने योग्य हो गया है।

भावार्थ—प्रभु प्रेरणा से जितेन्द्रिय बन हम ऊर्ध्वरेतस् बनें, ज्ञानाग्नि को दीप्त कर प्रभु-दर्शन करें। वासनाओं को सुदूर विशरण करनेवाला व्यक्ति ही 'पराशर' है।

ऋषिः—**विश्ववारा**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभु का आशीर्वाद व आदेश

अग्ने शर्द्ध महते सौभगाय तव द्युम्नान्युत्तमानि सन्तु।
सं जास्पत्यꣳ सुयममा कृणुष्व शत्रूयतामभि तिष्ठा महाꣳसि॥१२॥

प्रभु-दर्शन से पाप-प्रमथन करनेवाले अग्नि को प्रभु आशीर्वाद देते हैं कि १. **अग्ने**=हे आगे बढ़नेवाले जीव! तू **महते सौभगाय**=महान् सौन्दर्य के लिए **शर्ध**=(to strive) पूर्ण प्रयत्न करनेवाला हो। तेरा कोई भी काम असत् प्रकार से न किया जाए। तू अपने जीवन में संवेदनशीलता (Sensitiveness) तथा परिहास (Humour) का समन्वय करके अपने प्रत्येक कार्य व व्यवहार को सुन्दर बना दे। सौभग में निम्न छह भावनाएँ हैं—

ऐश्वर्य, धर्म, यशस्, श्री, ज्ञान और वैराग्य। इन सबको तू अपने जीवन में समन्वित करके इसे सुन्दर बनानेवाला हो। २. **तव**=तेरे **द्युम्नानि**=तेज, ज्योति (Splendour), बल (Power), धन Wealth, प्रेरणाएँ Inspiration=तथा यज्ञिय कर्म ये सबके-सब **उत्तमानि सन्तु**=उत्तम हों। बुद्धि व शरीर के स्वास्थ्य का साधन करके तू तेजस्वी व बलवान् हो। मस्तिष्क की उज्ज्वलता से उत्तम प्रेरणाओं को प्राप्त कर। तेरा पवित्र हृदय सदा यज्ञिय कर्मों की ओर झुका रहे। ३. **संजास्पत्यम्**=अपने उत्तम दाम्पत्य को **सुयमम्** 'उत्तम यम, संयमवाला **आकृणुष्व**=कर। यह संयम ही गृहस्थ को स्वर्ग बनाता है। माता-पिता व सन्तान सभी का स्वास्थ्य इसी संयम पर निर्भर करता है। गृहस्थ होते हुए संयमी होना सर्वमहान् साधना है। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ व संन्यासी तो परिस्थिति से संयमी बन ही सकते हैं, परन्तु सब सामग्रियों के बीच में भी तपस्वी रह जाना तो महत्त्व रखता है। ४. इस प्रकार संयम से शक्तिशाली बनकर तू **शत्रूयताम्**=तेरे प्रति शत्रुता का आचरण करनेवाले इन कामादि के **महाँसि**=तेजों को **अभितिष्ठ**=कुचल डाल। ५. प्रभु के आशीर्वाद से सब बातों का (विश्व) वरण करनेवाली आत्मा (वारा) 'विश्ववारा' कहलाती है। प्रभु के इस आशीर्वाद में ये चार प्रेरणाएँ निहित है। ये ही प्रभु के निर्देश व आदेश है। इनका पालन करनेवाला उस **विश्व**=सर्वत्र प्रविष्ट प्रभु का वरणीय होता है, इसलिए भी इसका नाम 'विश्ववारा' हो गया है।

भावार्थ—हम महान् सौभग के लिए प्रयत्न करें, हमारे द्युम्न उत्तम हों। हमारा दाम्पत्य संयमवाला हो और हम क्रोधादि के वेग को समाप्त कर दें।

ऋषिः—**भरद्वाजः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

मन्द्रतम इन्द्र व वायु का आराधन

त्वाᳬहि मन्द्रतममर्कशोकैर्ववृमहे महि नः श्रोष्यग्ने।
इन्द्रं न त्वा शवसा देवता वायुं पृणन्ति राधसा नृतमाः ॥१३॥

१. गत मन्त्र के आशीर्वाद को सुनकर अग्नि प्रभु से कहता है कि **मन्द्रतमम्**=अत्यन्त आनन्दमय (Delightful) और प्रशंसनीय (praise worthy) **त्वां हि**=निश्चय से तुझे ही **अर्कशोकैः**=(अर्च्, शुच्) पूजाओं व ज्ञानदीप्तियों के द्वारा **ववृमहे**=हम वरते हैं। हमारी पूजा की वृत्ति व ज्ञान की दीप्तियों से प्रसन्न **अग्ने**=आगे ले-चलनेवाले प्रभो! आप **नः**=हमें **महि**=महत्ता व बुद्धि (greatness व Intellect) **श्रोषि**=देने की प्रतिज्ञा करते हैं। (प्रतिश्रु=to promise, to give, सन्तुष्टि=a boon) उपर्युक्त कथन में तीन बातें स्पष्ट हैं—(क) प्रभु अत्यन्त आनन्दमय हैं (ख) उस आनन्दमय प्रभु का आराधन **अर्कशोकैः**=अर्चना-मन्त्रों से तथा ज्ञान की दीप्तियों से होता है, (ग) प्रसन्न हुए-हुए प्रभु हमें बुद्धि व महत्ता प्राप्त कराते हैं। यह समझदारी व उदार-हृदयता हमें भी आनन्दमय बनाती है। २. **इन्द्रं न**=सूर्य के समान देदीप्यमान **त्वा**=आपको **देवता**=दैवी सम्पत्तिवाले लोग **शवसा**=बल के द्वारा **पृणन्ति**=प्रसन्न व प्रीणित करते हैं। **'ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः'** (यजु:०) वे प्रभु सूर्य के समान ज्योतिर्मय हैं। उस प्रभु की ज्योति की कल्पना तभी कुछ हो सकती है यदि हज़ारों सूर्यों की ज्योति आकाश में इकट्ठी उठ खड़ी हो। इस सूर्य के समान ज्योतिर्मय प्रभु को आराधित करने के लिए आराधक ने भी **देवता**=(दीपनाद्वा द्योतनाद्व) चमकने व चमकानेवाला बनना है। ज्ञान की ज्योति के साथ उसने (शवसा) बल का भी सम्पादन करना है। ३. **वायुम्**=(वा गतौ) वायु की भाँति निरन्तर क्रियाशील [illegible] आपको, **नृतमाः**=अपने

को अधिक-से-अधिक उन्नति करनेवाले लोग **राधसा**=(राध सिद्धौ) सिद्धि व सफलता के द्वारा **पृणन्ति**=प्रीणित करते हैं। क्रियाशील प्रभु को वही आराधित कर सकेगा जो पौरुष को अपनाकर मनुष्यों में उत्कृष्ट मनुष्य (नृतम) बनेगा। ४. अपने अन्दर **शवस्**=शक्ति का **भरद्**=भरनेवाला 'भरद्वाज' ही प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—(क) हम उपासना व ज्ञानदीप्ति से आनन्दमय प्रभु को आराधित करके हृदय की महत्ता व बुद्धि को प्राप्त करें। ये ही दो वस्तुएँ हमारे जीवन को आनन्दमय बनाती हैं। (ख) हम देव बनकर बल की साधना से उस सर्वशक्तिसम्पन्न इन्द्र का आराधन करें तथा (ग) सदा क्रियाशील प्रभु को पौरुषमय जीवन से प्राप्त करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

प्रभु के प्रिय कौन?

त्वेऽअ॑ग्ने स्वाहुत प्रि॒यास॑: सन्तु सू॒रय॑:।
य॒न्तारो॒ ये म॒घवा॑नो॒ जना॑नामू॒र्वान्दय॑न्त॒ गोना॑म्॥१४॥

हे **अग्ने**=सबके अग्रणी=सबको उन्नतिपथ पर ले-चलनेवाले प्रभो! **स्वाहुत** (सु आ हुत)=अत्यन्त उत्तमता से सब ओर, सब-कुछ देनेवाले प्रभो! **त्वे**=आपके **प्रियासः**=प्रिय **सन्तु**=हों। कौन? १. **सूरयः** =जो विद्वान् हैं। ज्ञानी पुरुष ही प्रभु को प्रिय है। **'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'**=ज्ञानी तो मुझे आत्मतुल्य प्रिय है। २. **यन्तारः**=जो इस शरीररूप रथ के उत्तम सारथि बनते हैं। जो इन्द्रियरूप घोड़ों को मनरूप लगाम से काबू करने में कुशल हैं। ३. **ये**=जो **जनानाम्**=लोगों में **मघवानः**=उस ऐश्वर्यवाले हैं, जिसमें (मा अघ) पाप का लवलेश भी नहीं। या (मघ=मख) जो लोगों में यज्ञिय प्रवृत्तिवाले हैं। यज्ञमय जीवन बनाकर जो सदा अमृत का सेवन करते हैं तथा अन्त में ४. **गोनाम्**=(गाव इन्द्रियाणि) इन्द्रियों की **ऊर्वान्**=हिंसाओं को **दयन्त**=हिंसित करते हैं। काम सर्वप्रथम इन इन्द्रियों को अपना शिकार बनाता है, तभी यह 'पञ्चबाण' है। इसका एक-एक बाण एक-एक इन्द्रिय पर आक्रमण करता है। जो व्यक्ति इन्द्रियों के 'हिंसक काम को अपनी ज्ञानाग्नि से भस्म कर पाते हैं, वे ही प्रभु के प्रिय बनते हैं। जब मन्त्रार्थ 'राज' परक होता है तब अर्थ यह होता है कि 'जो गोहिंसकों के हिंसक होते हैं वे मुझे प्रिय हैं'। राजा ने **'यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम्। तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसोऽवीरहा'**=गौ, अश्व व पुरुषों के हिंसकों से राष्ट्र की रक्षा करनी है।

अपने जीवन पर पूर्ण नियमन करनेवाला 'यन्ता' ही 'वसिष्ठ' है, वशियों में श्रेष्ठ व उत्तम निवासवाला है। यह 'वसिष्ठ' ही प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—हम 'सूरि, यन्ता, मघवा व इन्द्रियों की रक्षा करनेवाले' बनकर प्रभु के प्रिय बनें।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

स्नेह, दान, यज्ञ

श्रुधि॑ श्रुत्कर्ण॒ वह्नि॑भिर्दे॒वैर॑ग्ने स॒याव॑भिः।
आ सी॑दन्तु ब॒र्हिषि॑ मि॒त्रोऽअ॑र्य॒मा प्रा॑त॒र्यावा॑णोऽअध्व॒रम्॥१५॥

१. हे **श्रुत्कर्ण**=ज्ञान का विकीर्ण करनेवाले (श्रुत=ज्ञान, कर्ण=विकीर्ण करना) और इस प्रकार **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **श्रुधि**=आप हमारी प्रार्थना को सुनिए। प्रभु ज्ञान को सदैव

प्रसृत कर रहे हैं। उस प्रसृत होते हुए ज्ञान को ग्रहण वही कर पाता है जिसका हृदय पवित्र होता है। इस पवित्र हृदय की प्रार्थना का स्वरूप है—२. **वह्निभिः**=(वह to carry) आप तक प्राप्त करानेवाले तथा **सयावभिः**=सदा साथ-साथ प्राप्त होनेवाले **देवैः**=देवों के साथ **बर्हिषि**=मेरे उस हृदय में, जिसमें से वासनाओं का उद्बर्हण कर दिया गया है तथा जो (बृहि वृद्धौ) बढ़ा हुआ है, अर्थात् विशाल है, उस हृदय में **प्रातः**=प्रातः **आसीदन्तु**=आकर विराजें। कौन?—(क) **मित्रः**=स्नेह की भावना (ख) **अर्यमा**=देने की भावना (अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति) (ग) हृदय 'बर्हि' तब कहलाता है जब इसमें से वासनाओं को उखाड़ फेंक दिया जाए और इसे तनिक विशाल बना लिया जाए। (घ) हमारे हृदयों में सभी के लिए स्नेह हो, परन्तु वह केवल शाब्दिक न होकर आर्थिक भी हो, अर्थात् हम दुःखी की सहायता के लिए कुछ-न-कुछ दें भी। प्रातः उठते ही हमारे अन्दर यज्ञिय कार्यों को करने की प्रवृत्ति हो। ४. उल्लिखित कामना करनेवाला ही 'प्रस्कण्व'=मेधावी है। बुद्धिमान् पुरुष सदा ऐसा ही बनना चाहता है और वस्तुतः वही प्रार्थना 'श्रुत्कर्ण' प्रभु को प्रिय लगती है।

भावार्थ—हमारे हृदयों में स्नेह, दान व यज्ञोपस्थान की वृत्तियाँ हों।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

अदिति, अतिथि, अविता

विश्वेषामदितिर्यज्ञियानां विश्वेषामतिथिर्मानुषाणाम्।
अग्निर्देवानामवऽआवृणानः सुमृडीको भवतु जातवेदाः॥१६॥

१. (क) गत मन्त्र में 'हम यज्ञों में आनेवाले हों', इन शब्दों से प्रार्थना समाप्त हुई थी। इन **विश्वेषाम्**=सब **यज्ञियानाम्**=यज्ञ की वृत्तिवाले व्यक्तियों का वह प्रभु **अदितिः**=खण्डन न करनेवाला=शरीर को ठीक रखनेवाला है। वस्तुतः यज्ञिय भावना पुरुष को विलास से बचाकर स्वास्थ्य का धनी बनाती है। (ख) 'अदिति' शब्द का अर्थ 'अदीना देवमाता' भी है, न गिड़गिड़ानेवाली, अर्थात् आत्मसम्मान की भावना से युक्त और दिव्य गुणों का निर्माण करनेवाली। यज्ञिय वृत्ति होने पर दिव्य गुण पनपते हैं। २. वे प्रभु **विश्वेषाम्**=सब **मानुषाणाम्**=मनुष्यों का हित करनेवालों के **अतिथिः**=मेहमान व प्राप्त होनेवाले हैं। प्रभुभक्त वे ही हैं जो 'सर्वभूतहिते रत' हैं। मनुष्य-मनुष्य की सहायता करता है तो प्रभु उसके हृदय में आसीन होते हैं। प्रभु को पाने का उपाय जन-सेवा भी है। ३. मानवहित में लगा हुआ व्यक्ति देव बन जाता है और **देवानाम्**=इन देवों का **अग्निः**=ये अग्रणी प्रभु **अवः**=रक्षण **आवृणानः** =करते हैं ४. **जातवेदाः**=वे सर्वज्ञ प्रभु 'अदिति व मानुष' के लिए **सुमृडीकः भवतु**=उत्तम सुख प्राप्त करानेवाले हों। यज्ञिय, मानुष व देव बननेवाला व्यक्ति प्रशस्तेन्द्रिय होने से 'गोतम' कहलाता है। वही इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ=हम यज्ञिय बनेंगे तो प्रभु हमारे लिए 'अदिति' होंगे। हम मानुष बनें प्रभु अतिथि होंगे। हम देव बनें प्रभु हमारा रक्षण करेंगे। वे जातवेद प्रभु हमें सदा सुख देते हैं।

ऋषिः—**लुशो धानाकः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

निष्पापता व कल्याण

महोऽअग्नेः समिधानस्य शर्मण्यनागा मित्रे वरुणे स्वस्तये।
श्रेष्ठे स्याम सवितुः सवीमनि तद्देवानामवोऽअद्या वृणीमहे ॥१७॥

१. **महः अग्नेः**=उस महान्, अग्निवत् प्रकाशमय, दोषों के दहन करनेवाले प्रभु के

समिधानस्य=जिसे हमने अपने हृदयान्तरिक्ष में समिद्ध किया है, **शर्मणि**=शरण में **अनागाः**=हम निष्पाप बनते हैं। जिस समय हम प्रभु को अपने हृदयों में देखते हैं तो हमारा जीवन निष्पाप हो जाता है। क्या हम प्रभु के समीप पाप करेंगे? २. **मित्रे**=स्नेह की भावना होने पर, और **वरुणे**=द्वेष का निवारण करके हम **स्वस्तये**=उत्तम स्थिति के लिए होते हैं। मानवकल्याण तभी होता है जब द्वेष समाप्त हो जाए और प्रेम का प्रसार हो। ईर्ष्या-द्वेष मनुष्य के मन को जलाते रहते हैं। ३. द्वेषों से ऊपर उठकर सदा प्रेम में रहने के लिए आवश्यक है कि हम **सवितुः**=प्रेरक प्रभु की **श्रेष्ठे सवीमनि**=श्रेष्ठ प्रेरणा में **स्याम**=हों। अन्तःस्थित प्रभु की प्रेरणा को सुनेंगे तो हम द्वेष से अवश्य दूर रहने का प्रयत्न करेंगे और सभी के साथ प्रेम से चल पाएँगे। ४. **तत्**=उस प्रेरणा को सुनने के द्वारा **देवानाम्**=देवों के **अवः**=रक्षण को **अद्य**=आज ही **वृणीमहे**=हम वरते हैं। जो प्रभु-प्रेरणा को सुनता है, वह सब वासनाओं से अपनी रक्षा कर पाता है। सब प्राकृतिक देव उसके अनुकूल होते हैं। ५. प्रभु की शरण में निष्पापता को सिद्ध करनेवाला, प्रेम व द्वेषाभाव से कल्याणी स्थितिवाला, सदा प्रभु की प्रेरणा को सुननेवाला और देवरक्षण का वरण करनेवाला, यह ऋषि अपने को सब वासनाओं से मुक्त करनेवाला (Loose=to release) और सद्गुणों से अपने को अलंकृत करनेवाला (लूष् to adorn) 'लुशः' नामवाला होता है और सब प्रकार से अपना धारण करनेवाला यह अपने में गुणों का आधान करता हुआ 'धानाकः' कहलाता है।

भावार्थ—हम निष्पाप बनें, कल्याण प्राप्त करें, प्रभु-प्रेरणा में चलें, देवरक्षण को वरें।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

आप्यायन

आप॑श्चित्पिप्यु स्त॒र्यो॒ न गावो॒ नक्ष॑न्नृ॒तं ज॑रि॒तार॑स्तऽइन्द्र।
या॒हि वा॒युर्न नि॒युतो॑ नो॒ऽअच्छा॒ त्वं॒ हि धी॒भिर्दय॑से॒ वि वाजा॑न्॥१८॥

१. जब हम देववरण करके वासनाओं को दूर भगाते हैं तब **आपः**=रेतस् (आपः रेतो भूत्वा) **चित्**=निश्चय से **पिप्युः**=हमारा आप्यायन करते हैं। वीर्यशक्ति के द्वारा रोग कम्पित करके दूर भगा दिये जाते हैं। मन में दुर्भावनाएँ उत्पन्न नहीं होती। वीर्यरक्षा से सब इन्द्रियाँ शक्तिशाली बनती हैं, परिणामतः **गावः**=हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ **न स्तर्यः**=(Sterilize) वन्ध्या नहीं होतीं, ये उपजाऊ होती हैं। नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा इस वीर्य के द्वारा ही समिद्ध होती है। २. हे **इन्द्र**=ऐश्वर्यशाली प्रभो! सुरक्षित वीर्यवाले ये व्यक्ति **ते जरितारः**=तेरे स्तोता बनते हैं और **ऋतं नक्षन्**=ऋत को प्राप्त होते हैं। प्रभु-स्तवन करनेवाले व्यक्ति में सदा ऋत का अधिकाधिक पोषण होता है, सूर्य और चन्द्रमा की भाँति इसका जीवन-मार्ग बड़ा नियमित हो जाता है। ३. **वायुः न**=वायु के समान **नियुतः**=निश्चय से ऋतमय कर्मों में लगे हुए **नः अच्छ**=हमारी ओर **याहि**=प्राप्त होओ। वायु जैसे निरन्तर चल रही है, इसी प्रकार यह प्रभु का स्तोता निरन्तर कार्यों में लगा रहता है। इन निरन्तर क्रियाशील व्यक्तियों को प्रभु प्राप्त होते हैं। ४. हे प्रभो! **त्वम्**=आप **हि**=निश्चय से **धीभिः**=प्रज्ञानों व कर्मों से **वाजान्**=धनों व शक्तियों को **विदयसे**=विशेषरूप से देनेवाले होते हैं। हम प्रज्ञानों को प्राप्त करके उत्तम कर्मों में लगते हैं तो हमें धन भी प्राप्त होते हैं और शक्तियाँ भी। एवं, धनों व शक्तियों को प्राप्त करके अपने जीवन को उत्तम बनानेवाला यह उत्तम निवासवाला 'वसिष्ठ' बनता है।

भावार्थ—हम रेतस्-रक्षा द्वारा अपना आप्यायन करनेवाले, शक्तिशाली ज्ञानेन्द्रियोंवाले, ऋत को प्राप्त, वायु की भाँति नियत कर्मों में व्याप्त, प्रज्ञानों व कर्मों से शक्ति व धनों को

प्राप्त करनेवाले बनें।

ऋषिः—**पुरुमीढाजमीढौ**। देवता—**इन्द्रवायू**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

ज्योतिर्मय कर्ण

गाव॒ऽउपा॑वताव॒तं म॒ही य॒ज्ञस्य॑ र॒प्सुदा॑। उ॒भा कर्णा॑ हिर॒ण्यया॑ ॥१९॥

१. **गावः**=हे वेदवाणियो! **अवतम्**=हृदयान्तरिक्ष को, मेरी हृदयरूप गुहा को **उपावतम्**=(अव=भाग, वृद्धि) अपना भाग बनाओ—उसका सेवन करो और उसका वर्धन करो। वेदवाणियाँ हमारे हृदयों में स्फुरित हों। उनके स्फुरण से हमारे हृदय विशाल बनें। २. ये वेदवाणियाँ **मही**=महान् (पूजनीय) हैं अथवा हमारे हृदयों को महान् बनानेवाली हैं तथा **यज्ञस्य**=श्रेष्ठतम कर्मों का **रप्सुदा**=उत्तमता से प्रतिपादन करनेवाली हैं। इन वेदवाणियों में यज्ञों का उपदेश दिया गया है। ३. इन वेदवाणियों से **उभा कर्णा**=हमारे दोनों कान **हिरण्यया**=ज्योतिर्मय हो उठे हैं। कानों में ज्ञान की वाणियों के प्रवेश से हमारा अज्ञानान्धकार नष्ट हो गया है। इस अज्ञानान्धकार के नष्ट होने से प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि स्वार्थ-भावनाओं से ऊपर उठकर 'पुरुमीढ' बन गया है, बहुत का पालन-पोषण करनेवाला हो गया है। यह क्रियाशीलता के द्वारा सभी के सुखों को बढ़ानेवाला होने से 'अजमीढ' नामवाला बना है।

भावार्थ—हमारे हृदयों में वेदवाणी का प्रादुर्भाव हो। इन वेदवाणियों से हमारे हृदय विशाल बनें व यज्ञिय भावनावाले हों। हमारे कान सदा इन वाणियों के श्रवण से पवित्र व हितकर हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

ज्ञान-सूर्योदय

यद॒द्य सूर॒ऽउदि॒तेऽना॑गा मि॒त्रोऽअ॑र्य॒मा। सु॒वाति॑ सवि॒ता भगः॑ ॥२०॥

गतमन्त्र में वेदवाणियों से दोनों कानों के ज्योतिर्मय होने का उल्लेख था। उसी से प्रस्तुत मन्त्र को प्रारम्भ करते हैं कि १. **यत्**=यदि **अद्य**=आज **सूरे उदिते**=इस ज्ञानरूपी सूर्य के उदय होने पर मैं **अनागाः**=निष्पाप बनता हूँ, **मित्रः**=सबके साथ स्नेह की भावनावाला होता हूँ और **अर्यमा**=केवल शाब्दिक सहानुभूति न करके कुछ देनेवाला बनता हूँ (अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति) तो **सविता**=वह सब ऐश्वर्यों का स्वामी प्रभु **भगः सुवाति**=धन को मेरी ओर प्रेरित करता है, सब सुन्दर व भजनीय वस्तुओं को मुझे देता है। २. वेदवाणियों के सुनने से मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान का सूर्य उदय होता है। जैसे सूर्योदय होने पर अन्धकार नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार इस ज्ञानसूर्य के उदय होने पर मानस पटल से सब मालिन्यरूप अन्धकार भाग जाता है और वह मन अत्यन्त पवित्र हो जाता है। मन की पवित्रता मनुष्य को निष्पाप बना देती है (अनागाः)। ३. यह पाप-भावना से शून्य हृदय सबके प्रति स्नेहवाला होता है (मित्रः) इसमें किसी के प्रति द्वेष की भावना नहीं रहती। दुःखी व्यक्ति के साथ इस व्यक्ति की सहानुभूति केवल शाब्दिक नहीं होती। यह सहायतार्थ कुछ-न-कुछ देता ही है (अर्यमा)। इसकी सहानुभूति यथार्थ होती है। ४. सबकी सहायता के लिए धन का विनियोग करना होता है, अतः प्रभु इसको योग्य अधिकारी समझकर धन प्राप्त कराते हैं (सुवाति)। सब धन तो उस प्रभु का है, हमें तो उसका ठीक विनियोग करना होता है। करते हैं, तो परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाते हैं। यह धनादि के लोभ में न फँसनेवाला व्यक्ति ही उत्तम निवासवाला 'वसिष्ठ' कहलाता है।

भावार्थ—ज्ञान-सूर्योदय से हम निष्पाप, स्नेहमय व दातृत्व की भावनावाले बनकर प्रभु से दीयमान भग के पात्र बनें।

ऋषिः—**सुनीतिः**। देवता—**वेनः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

वियोग-संयोग

आ सुते सिञ्चत श्रियं रोदस्योरभिश्रियम्। रसा दधीत वृषभम्॥२१॥

गतमन्त्र में भावना थी कि दो और पाओ। दोगे, प्रभु तुम्हें देंगे। वही भावना प्रस्तुत मन्त्र में इस प्रकार कही जा रही है कि **सुते**=इस उत्पन्न जगत् में ऐश्वर्य का लाभ होने पर **श्रियम्**=इस श्री को **आसिञ्चत** =चारों ओर सिक्त करो। यह अपने जीवन को विलासमय बनाने के लिए तुम्हें नहीं दी गई, यह प्रभु से लोकहित के लिए दी गई है। इस सम्पत्ति के दान द्वारा तुम **रोदस्योः**=द्यावापृथिवी में, अर्थात् सम्पूर्ण जगत् में **अभिश्रियम्**=दोनों ओर—जीवनकाल में भी और मृत्यु के बाद भी (अभि) श्री को, शोभा को, **सिञ्चत**=सिक्त करो। **'जुहोत प्र च तिष्ठत'**=दो और प्रतिष्ठा पाओ, यह प्रभु स्पष्ट कह रहे हैं। मनुष्य श्री=धन का क्या सेचन करता है उसकी श्री=शोभा का ही सर्वत्र सेचन हो जाता है। अथवा द्युलोक व पृथिवीलोक में इस दान देनेवाले के लिए सर्वत्र धन की वर्षा होने लगती है। धन का त्याग करने से इसे और अधिक धन प्राप्त होता है।

३. धन-त्याग में एक अद्भुत आनन्द है। मनुष्य प्रकृति को छोड़ता है और प्रभु को पाता है। **रसाः** =हे आनन्द प्राप्त जीवो! तुम **वृषभम्**=उस शक्तिशाली व सब सुखों की वर्षा करनेवाले प्रभु का **दधीत**=धारण करो। प्रभु को अपनाने की नीति को अपनानेवाला 'सुनीति' है। यही इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—धन का दान देनेवाला व्यक्ति सर्वत्र यश प्राप्त करता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

मैं को विस्तृत करना—विश्वरूप बनना

आतिष्ठन्तं परि विश्वेऽअभूषञ्छ्रियो वसानश्चरति स्वरोचिः।
महत्तद् वृष्णोऽअसुरस्य नामा विश्वरूपोऽअमृतानि तस्थौ॥२२॥

१. **आतिष्ठन्तम्**=जो केवल अपने में स्थित न होकर सबमें स्थित है (one who is not self-centred), उस सबमें—विश्व में 'मैं' की भावना करनेवाले को, **विश्वे**=सब दिव्य गुण **परि अभूषन्**=समन्तात् अलंकृत करते हैं। स्वार्थ ही मनुष्य को 'असुर'=राक्षस बना देता है। **'स्वेषु आस्येषु जुह्वतश्चेरुः'**=ये अपने ही मुख में आहुति देने लगता है तो असुर बन जाता है। स्वार्थत्याग से दुर्गुणों का त्याग होता है और यह परार्थ में रत व्यक्ति दिव्य गुणों से सुभूषित हो जाता है। २. दिव्य गुणों से सुभूषित होकर यह **श्रियः वसानः**=श्री का धारण करनेवाला बनता है, इसका जीवन श्रीसम्पन्न होता है। पिछले मन्त्रों में यही तो कहा था कि यह अपनी श्री का दान करनेवाला बनता है तो इसके लिए द्युलोक व पृथिवीलोक श्रीसम्पन्न हो जाते हैं। ३. श्रीसम्पन्न बनकर यह आराम में नहीं फँस जाता। यह **चरति**=गतिशील होता है। इसका जीवन सदा पुरुषार्थमय बना रहता है। वस्तुतः पुरुषार्थ ने ही इसे श्रीसम्पन्न बनाया था। ४. **स्वरोचिः**=इस पुरुषार्थी व परार्थी पुरुष का जीवन स्व=आत्मा की रोचिः=कान्तिवाला होता है। इसे आत्मतेज प्राप्त होता है अथवा इसकी शोभा अपने जीवन (स्व) से ही होती है, यह अपने कर्मों से किन्हीं अन्य वस्तुओं के कारण यशस्वी हो,

ऐसी बात नहीं होती। ४. इस **वृष्णः**=सबपर सुखों की वर्षा करनेवाले **असुरस्य**=प्राणसाधना के द्वारा (असवः प्राणाः) सब वासनाओं को दूर फेंकनेवाले (असु क्षेपणे) इस विश्वरूप बननेवाले का **तत् नाम**=यह यश **महत्**=महान् होता है। संसार में यह यश प्राप्त करता है। उस यश का यदि इसे कोई गर्व नहीं होता तो ५. **विश्वरूपः**=सारे संसार को ही 'मैं' के रूप में देखनेवाला 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावनावाला यह **अमृतानि**=मोक्षसुखों में **आतस्थौ**=विराजमान होता है। आत्मा की दृष्टि से तो सब अमर हैं, यह बारम्बार जन्म न लेने से वस्तुतः ही अमर हो जाता है। सभी के साथ प्रेम करने के कारण यह इस मन्त्र का ऋषि 'विश्वामित्र' है।

भावार्थ—हम अपनी 'मैं' को विस्तृत करके विश्वरूप बनें और परिणामतः अमर हो जाएँ।

ऋषिः—**सुचीकः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

विश्वरूप प्रभु की उपासना

प्र वो॑ म॒हे मन्द॑माना॒यान्ध॒सोऽर्चा॑ वि॒श्वान॑राय विश्वा॒भुवे॑।
इन्द्र॑स्य॒ यस्य॑ सु॒मख॒ꣳ सहो॒ महि॒ श्रवो॑ नृ॒म्णं च॒ रोद॑सी सप॒र्यतः॑ ॥२३॥

१. गतमन्त्र का विषय 'विश्वरूप' बनना था। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि विश्वरूप बनने के लिए उस विश्वरूप प्रभु की उपासना करो। **वः**=तुम्हारे **महे**=महनीय, पूजनीय व महस्=शक्ति देनेवाले **मन्दमानाय**=अत्यन्त आनन्दस्वरूप **विश्वानराय**=सब मनुष्यों के स्वामी (विश्वे नरा यस्य)=किसी व्यक्ति व जातिविशेष से प्रेम न करनेवाले **विश्वाभुवे**=सम्पूर्ण विश्व में चारों ओर व्याप्त उस प्रभु के लिए **अन्धसः** =सोम के द्वारा, सोम के रक्षण से **प्र अर्च**=खूब अर्चना करो। २. वे प्रभु (क) शक्ति देनेवाले हैं (ख) आनन्दमय होने से आनन्द प्राप्त करानेवाले हैं (ग) सब मनुष्यों का हित करनेवाले हैं (घ) सबमें व्याप्त होकर रह रहे हैं। इस प्रभु की उपासना से ही मनुष्य भी विश्वरूप बनता है। उपासना का साधन यह है कि हम प्रभु से दी गई सर्वोत्तम वस्तु सोम की रक्षा करें। इसकी रक्षा ही ब्रह्मचर्य है—'ब्रह्म की ओर चलना' है। ३. उस **इन्द्रस्य**=परमैश्वर्यशाली, सर्वशक्तिसम्पन्न प्रभु की तू उपासना कर **यस्य**=जिसके **सुमखम्**=उत्तम यज्ञ—सृष्टिरूप यज्ञ को **सहः**=सहनशीलता को **महिश्रवः**=महनीय ज्ञान को **नृम्णम् च**=और बल को **रोदसी**=ये द्यावापृथिवी **सपर्य्यतः**=पूज रहे हैं। ये हिमाच्छादित पर्वत, समुद्र व पृथिवी, आकाश को आच्छादित करनेवाले तारे उस प्रभु का ही स्तवन करते हैं। भक्त जीव भी अनुभव करते हैं कि वे प्रभु कितने सहनशील हैं और किस प्रकार उसके हृदय को ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित कर रहे हैं। एवं, सारा प्राकृतिक जगत् व सम्पूर्ण चेतन जगत् प्रभु की ही महिमा का प्रतिपादन कर रहा है। इस विश्वरूप प्रभु की उपासना से उपासक भी 'विश्वरूप' बनता है और सभी के साथ प्रेम से वर्तता हुआ 'सुचीक'=प्रभु का उत्तम सम्पर्क करनेवाला होता है।

भावार्थ—हम विश्वरूप प्रभु की उपासना करें और स्वयं विश्वरूप बनकर अमरता का लाभ करें।

ऋषिः—**त्रिशोकः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

जिनके प्रभु मित्र हैं

बृ॒हन्नि॑दि॒ध्मऽए॑षां॒ भूरि॑ श॒स्तं पृ॒थुः स्वरुः॑। येषा॒मिन्द्रो॒ युवा॒ सखा॑ ॥२४॥

१. **येषाम्**=जिनके **युवा**=दुरितों से दूर करके (यु=अमिश्रण) भद्रों से सम्पृक्त करानेवाले (यु=मिश्रण) **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **सखा**=मित्र होते हैं **एषाम्**=इनकी **इध्मः**=ज्ञानदीप्ति **इत्**=निश्चय से **बृहत्**=बहुत अधिक बढ़ी हुई होती है। प्रभु ज्ञान के पुञ्ज हैं, प्रभु का मित्र भी इस ज्ञान की ज्योति से जगमगा उठता है। प्रभु अग्नि हैं, उनका उपासक जीव भी अग्नितुल्य होकर दीप्त हो उठता है। २. इन प्रभु-सखाओं का **भूरिशस्तम्**=कर्म अत्यधिक प्रशस्त होता है। 'भृ=धारणपोषण', इनके कर्म सदा धारण- पोषणात्मक होते हैं। निर्माण के कार्यों में लगे रहने से इनकी सर्वत्र प्रशंसा होती है। ये हित करते हैं, लोक इनका गुणगान करता है। ३. इस प्रकार सदा लोकहित में लगे हुए इन लोगों का **स्वरुः**=त्याग (Sacrifice) **पृथुः**=अत्यन्त विशाल होता है। ये विश्वरूप होने से सारे विश्व के लिए त्याग करते हैं। ४. इस प्रकार ज्ञान से इसका मस्तिष्क उज्ज्वल हुआ है, कर्मों से हाथ पवित्र हो उठे हैं और त्याग ने इसके हृदय को चमका दिया है, वहाँ स्वार्थ का मालिन्य नहीं है, अतः मस्तिष्क, हाथ व हृदय—तीनों को दीप्त करके यह 'त्रिशोक' इस अन्वर्थ नामवाला हो गया है।

भावार्थ—ज्ञान से हमारा मस्तिष्क दीप्त हो, पोषक कर्म हमारे हाथों को प्रशस्त करें और त्याग का भाव हमारे हृदयों को निष्कलंक बनाये।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

सोम से सोम की प्राप्ति

इन्द्रेहि मत्स्यन्धसो विश्वेभिः सोमपर्वभिः। महाँ२॥ऽअभिष्टिरोजसा ॥२५॥

प्रभु जीव को उपदेश देते हैं कि १. **इन्द्र**=हे इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! तू **इहि**=क्रियाशील बन और **अन्धसः**=सोम से, शरीर में सुरक्षित वीर्यशक्ति से **मत्सि**=आनन्द का अनुभव कर। वीर्यरक्षा के लिए यहाँ दो साधनों की सूचना हुई है (क) एक, इन्द्रियों को वश में करना। उपस्थ के संयम के लिए जिह्वा का संयम आवश्यक है। (ख) दूसरा, क्रिया में लगे रहना। ऐसे जितेन्द्रिय, क्रियाशील लोग ही सोम का पान कर पाते हैं। २. इन **विश्वेभिः**=सब **सोमपर्वभिः**=सोम के पूरणों से हे जीव! तू **महान्**=बड़ा बन 'मह पूजायाम्'। तू प्रभु की पूजा करनेवाला हो। ३. **अभिष्टिः**=इस सुरक्षित सोम के द्वारा **ओजसा**=शक्ति से शरीर में रोगों पर आक्रमण करनेवाला हो। 'वीर्य' का तो अर्थ ही 'वि ईर'=विशेष रूप से कम्पित करनेवाला है। यह 'रोगों' का सर्वोत्तम औषध है। ४. वीर्य की रक्षा करनेवाले के हृदय में अशुभ भावनाएँ कभी नहीं जागती। यह सदा सभी की शुभकामना करता हुआ मधुर इच्छाओंवाला सचमुच 'मधुच्छन्दा' कहलाने के योग्य है।

भावार्थ—सुरक्षित वीर्यवाला व्यक्ति सदा प्रफुल्लित वदन (Smiling face) होता है, यह महान् बनता है, इसका दिल छोटा नहीं होता तथा साथ ही यह प्रभु का पुजारी होता है और शक्ति से रोगों पर आक्रमण करनेवाला होता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

राजा के कर्तव्य

इन्द्रो वृत्रमवृणोच्छर्द्धनीतिः प्र मायिनाममिनाद्वर्पणीतिः।
अहन् व्युꣳसमुशधग्वनेष्वाविर्धेनाऽअकृणोद्राम्याणाम्॥२६॥

१. राजनीति में उन्नति के विघातक तत्त्वों को 'वृत्र' कहते हैं। जैसे सूर्य के प्रकाश

को रोकने से **बादल** 'वृत्र' है, जिस प्रकार ज्ञान पर पर्दा डालने से **वासना** 'वृत्र' है, उसी प्रकार राष्ट्र की उन्नति में रुकावट डालनेवाले तत्त्व 'वृत्र' कहलाते हैं। जातीय विद्वेष फैलाकर उन्नति को रोकनेवाले साम्प्रदायिक Communalists 'वृत्र' हैं। **शर्धनीतिः**=शक्तिशाली नीतिवाला **इन्द्रः**=राजा **वृत्रम्**=इस उन्नति-विघातक तत्त्व को **अवृणोत्**=रोकता है। वस्तुतः साम्प्रदायिकता बढ़ने से राष्ट्र का अस्तित्व ख़तरे में पड़ जाता है, अतः राष्ट्रीयता की रक्षा के लिए राजा को शक्तिशाली नीतिवाला बनना चाहिए। ढिल-मिल नीतिवाला शासन नहीं कर सकता। राजा के मौलिक गुण 'शौर्यं तेजः' हैं। २. **वर्पणीतिः**=(वर्प=praise) प्रशंसनीय नीतिवाला राजा **मायिनाम्**=जादूगरों के तमाशे आदि कार्यों को **प्र अमिनात्**=बहुत कम कर देता है, क्योंकि ये तमाशे लोगों की उत्पादक शक्ति को या उत्पादक घण्टों को कम कर देते हैं और लोगों की जेबों पर बोझ बनते हैं। ३. **व्यंसम्**=धोखेबाजों को राजा **अहन्**=वध दण्ड देता है, चूँकि समाज के ये सबसे बड़े अभिशाप होते हैं। ४. **उशधक्**=(उश+धक्=वश्-दह) दूसरों की सम्पत्ति की कामना करनेवालों को यह जला देता है। चोर-डाकूओं को तो राजा ने समाप्त करना ही है। इनके कारण औरों का धन ही नहीं जीवन भी असुरक्षित हो जाता है। ५. उन्नति के विघातक तत्त्वों को समाप्त कर राष्ट्र में **वनेषु**=ज्ञान की किरणों के निमित्त **राम्याणाम्**=ज्ञान के प्रचार से लोगों को आनन्दित करनेवालों की **धेनाः**=वाणियों को **आविः अकृणोत्**=प्रकट करता है, अर्थात् प्रेमपूर्वक प्रचार करनेवाले लोगों के द्वारा राष्ट्र में ज्ञान-प्रसार करता है। ६. यह राजा प्रजामात्र का मित्र होता है, अतः 'विश्वामित्र' कहलाता है।

भावार्थ—राजा के पाँच कर्तव्य हैं। इन कर्तव्यों का पालन करनेवाला राजा ही राजा कहलाने के योग्य होता है।

ऋषिः—**अगस्त्यः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

राजा स्वच्छन्द नहीं

कुतस्त्वमिन्द्र माहिनः सन्नेको यासि सत्पते किं तऽइत्था।
सं पृच्छसे समराणः शुभानैर्वोचेस्तन्नो हरिवो यत्तेऽअस्मे॥२७॥

१. राजा कितना भी अच्छा हो, उसे पूर्ण स्वच्छन्दता प्राप्त नहीं। उसे मन्त्रियों से विचार करके ही कार्य करना चाहिए। **सत्पते**=सज्जनों के रक्षक! **इन्द्र**=ऐश्वर्यशाली राजन्! **माहिनः सन्**=पूज्य होता हुआ या शक्तिशाली mighty होता हुआ भी **त्वम्**=तू **कुतः**=क्यों **एकः यासि**=अकेला चलता है, अर्थात् जो मन में आता है वही कर देता है, मन्त्रियों से विचार नहीं करता। **ते**=तेरा **इत्था**=इस प्रकार चलना **किम्**=कुत्सित है। (स किं सखा=वह कुत्सित मित्र है)। २. **समराणः**=उत्तम गति करता हुआ तू **शुभानैः**=शुभ चाहनेवाले मन्त्रियों से **संपृच्छसे**=जिज्ञासा किया कर, इस प्रकार दोषों की सम्भावना कम हो जाती है। ३. हे **हरिवः**=उत्तम इन्द्रियरूप अश्वोंवाले राजन्! **यत्**=जो **ते**=तेरा विषय **अस्मे**=हममें निहित है **तत्**=उसे **नः**=हमें **वोचेः**=कहिए। जो विषय जिस-जिस मन्त्री का हो उसकी चर्चा उस-उस मन्त्री से करनी ही चाहिए। ४. उल्लिखत प्रकार से चलनेवाला राजा ही 'अगस्त्य'=पाप का संहार करनेवाला बनता है।

भावार्थ—राजा को कभी स्वच्छन्द न होना चाहिए। मन्त्रीपरिषद् से सलाह करके ही कार्य करना चाहिए।

ऋषिः—**गौरीवीतिः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

जितेन्द्रियता व वेद-दोहन

आ तत्तऽइन्द्रायवः पनन्ताभि यऽऊर्वं गोमन्तं तितृत्सान्।
सकृत्स्वं ये पुरुपुत्रां महीᳪ सहस्रधारां बृहतीं दुदुक्षन्॥२८॥

'इन्द्र' शब्द का अर्थ राजा भी होता है, तो प्रसंगवश २६ व २७वें मन्त्र में राजा का उल्लेख करके फिर आत्मा के विषय में कहते हैं कि १. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन्, परमैश्वर्यशाली प्रभो! **आयवः**=गतिशील **ते**=वे मनुष्य **तत्**=तेरा **आपनन्त**=सर्वथा स्तवन करते हैं **ये**=जो **गोमन्तं ऊर्वम्**=इस इन्द्रियों के समूह को **अभि**=लक्ष्य करके **तितृत्सान्**=हिंसित करते हैं, अर्थात् जो इन्द्रियों को मार लेते हैं, वश में कर लेते हैं। इन्द्रियों को जीतना और प्रभु का स्तवन करना, इन दोनों बातों में भेद नहीं है। प्रभु इन्द्र हैं, हम भी इन्द्र=जितेन्द्रिय बनकर उस इन्द्र का स्तवन कर पाएँगे। २. हे प्रभो! आपकी स्तुति वे करते है जो **बृहतीम्**=वेदवाणी को, सर्वप्रकार की उन्नतियों के साधनभूत वेद को **दुदुक्षन्**=दोहते हैं। किस वेदवाणी को? (क) **सकृत्स्वम्**=एक ही बार जन्म देनेवाली को, या दूसरे शब्दों में पुर्नजन्म को रोकनेवाली को। इस वेदवाणी से ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है, जिसे प्राप्त करके मनुष्य बार-बार के जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाता है। (ख) **पुरुपुत्राम्**=यह वेदवाणी पालन व पूरण के द्वारा (पृ) पवित्र करती है (पूः) और इस प्रकार मनुष्य की रक्षा करनेवाली होती है (त्र)। (ग) **महीम्**=यह महनीय है। इसका अध्येता भी महान् हो जाता है। (घ) **सहस्रधाराम्**=सहस्रों प्रकार से धारण करनेवाली है। सब प्राकृतिक पदार्थों का ज्ञान देकर यह हमारा धारण करती है। इस वाणी के अध्ययन से 'आयु, प्राण, प्रजा, पशु व कीर्ति—सभी कुछ जीव को मिलता है। ३. इस वेद का दोहन करनेवाले को 'गौरीवीति'= सात्त्विक भोजनवाला तो होना ही चाहिए।

भावार्थ—प्रभु की उपासना 'जितेन्द्रियता' व 'वेद-दोहन' से हुआ करती है।

ऋषिः—**कुत्सः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

वेदवाणी का भरण

इमां ते धियं प्र भरे महो महीमस्य स्तोत्रे धिषणा यत्तऽआनजे।
तमुत्सवे च प्रसवे च सासहिमिन्द्रं देवासः शवसामदन्ननु॥२९॥

१. हे **महः**=महान् प्रभो! **इमाम्**=इस **ते**=तेरी **महीम्**=महिमा को प्राप्त करानेवाली **धियम्**=बुद्धि को, प्रज्ञा व कर्मों की प्रतिपादक वेदवाणी को **प्रभरे**=मैं प्रकर्षेण अपने में भरता हूँ। गतमन्त्र में इस वेदवाणी के दोहन का उल्लेख हुआ था। 'दोहन' के स्थान में प्रस्तुत मन्त्र में 'भरण' शब्द आया है। बात एक ही है। दोहन प्रपूरण ही तो है (दुह प्रपूरणे)। २. **अस्य स्तोत्रे**=इस प्रभु के स्तोता के लिए **यत्**=जब **ते धिषणा**=तेरी बुद्धि **आनजे**=प्राप्त होती है। वेदवाणी को अपने अन्दर भरने का प्रथम परिणाम यह है कि प्रभु की वेदप्रतिपादित बुद्धि प्राप्त होती है। ३. **तम्**=उस **उत्सवे**=खुशी में **प्रसवे च**=और पीड़ा में भी **सासहिम्**=सहनेवाले, मन के स्वास्थ्य को न खोनेवाले **इन्द्रम्**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव को **देवासः**=सब देव **शवसा**=शक्ति से **अनु**=निश्चय **अमदन्**=हर्षित करते हैं। इस अर्थ में निम्न बातें स्पष्ट होती हैं—वेदवाणी के दोहन से प्रभु की दी गई 'धी' को अपने में भरने से (क) मनुष्य की बुद्धि का विकास होता है, (ख) सुख-दुःख में यह सम रहता

है, (ग) जितेन्द्रिय बनता है, (घ) देव इसके अनुकूल होते हैं, (ङ) इसे शक्ति प्राप्त होती है, (च) और इसका जीवन आनन्दमय होता है। ५. इस प्रकार वेदवाणी के दोहन से सब बुराइयों को समाप्त करनेवाला यह 'कुत्स' प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि सचमुच कुत्स बनता है (कुथ हिंसायाम्)।

भावार्थ—मैं वेदवाणी को अपने अन्दर भरनेवाला बनूँ, जिससे सम-दुःख-सुख बनकर आनन्दमय जीवनवाला हो सकूँ।

ऋषिः—**विभ्राट्**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**विराड्जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

ज्ञान-सूर्य

विभ्राड् बृहत्पिबतु सोम्यं मध्वायुर्दधद्यज्ञपतावविह्रुतम्।
वातजूतो योऽअभिरक्षति त्मना प्रजाः पुपोष पुरुधा वि राजति॥३०॥

१. पिछले मन्त्र में वेदवाणी को अपने में भरने का वर्णन था। यह पुरुष **विभ्राट्**=विशिष्ट ज्ञान की दीप्ति से चमकता है (वि-भ्राज्) और इसका हृदय **बृहत्**=विशाल बनता है। 'विज्ञानमयकोश ज्ञान से जगमगाता हो और मनोमयकोश राग-द्वेष से ऊपर उठकर विशाल बन गया हो' तो वह जीवन कितना सुन्दर होगा! २. इन दोनों कार्यों के लिए यह **सोम्यम् मधु**=सोम-वीर्यरूप मधुरतम वस्तु का **पिबतु**=पान करे। इस सोम की रक्षा से ही ज्ञानाग्नि दीप्त होती है और हृदय संकुचित भावनाओं से ऊपर उठता है। यह ज्ञान के सूर्य से चमकनेवाला विशाल हृदय पुरुष ३. **आयुः**=अपने सम्पूर्ण जीवन को, जिसको इसने **'अविह्रुतम्'**=अकुटिल बनाया है **यज्ञपतौ**=यज्ञों के पति प्रभु में **दधत्**=धारण करता है। अपने सम्पूर्ण जीवन को प्रभु-अर्पण करता है। जब हम इस समर्पण की भावना से चलेंगे तब जीवन को अधिक-से-अधिक सरल बनाएँगे ही। **'आर्जवं ब्रह्मणः पदम्'** सरलता ही ब्रह्म-प्राप्ति का मार्ग है। ४. समर्पण के लिए यह **वातजूतः**=वायु से प्रेरणा प्राप्त करता हुआ, वायु की भाँति सरलता से कार्य करता है, वायु की भाँति औरों को जीवन देनेवाला होता है। शरीर में वायु के पुञ्ज प्राणों की साधना करता हुआ **यः**=यह **त्मना**=स्वयं **अभिरक्षति**=चारों ओर से अपनी रक्षा करता है, अर्थात् वासनाओं से अपने को बचाता है। प्राणसाधना से सब इन्द्रिय-दोषों का दहन हो जाता है। ५. यह **प्रजाः पुपोष**=उत्तम सन्तानों का पोषण करता है अथवा प्रजाओं का पालन करता है और **पुरुधा**=बहुत प्रकार से **विराजति**=विशेषरूप से चमकता है। (क) ज्ञान के सूर्य से चमकता हो (विभ्राट्), (ख) मन की विशालता से शोभायमान हो (बृहत्), (ग) सोम्य मधु का पानकर यह नीरोग बनकर स्वास्थ्य की ज्योति से चमकता है। (घ) प्रभु के प्रति समर्पण से यह निराभिमानता के कारण सुशोभित हुआ, (ङ) प्राणसाधना से वासनाओं पर विजय से यह अलंकृत हुआ। (च) प्रजाओं के पोषण के कारण यह यश से उज्ज्वल हो उठा। एवं, सतत् उज्ज्वल होकर यह सचमुच 'विराट्' इस अन्वर्थक नामवाला बना।

भावार्थ—हम 'विराट्'=सर्वत्र दीप्तिवाले बनें।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

विश्व-दर्शन

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम्॥३१॥

पिछले मन्त्र का 'विराट्' यहाँ 'प्रस्कण्व' अत्यन्त मेधावी इस नाम से कहा गया है।

यह १. उत्=निश्चय से प्रकृति से ऊपर उठता है। उत्=out। यह प्रकृति के अन्दर उलझा नहीं रहता। २. प्रकृति से ऊपर उठकर **केतवः**=ये ज्ञानी लोग **त्यम्**=उस अव्यक्त प्रभु को जो **जातवेदसम्**=सर्वज्ञ व सर्वव्यापक (जाते विद्यते) हैं तथा **देवम्**=दिव्य गुणों के पुञ्ज हैं और **सूर्यम्**=सदा हृदयस्थरूपेण उत्तम कर्मों की प्रेरणा दे रहे हैं (सुवति), उस प्रभु को ये विराट् व प्रस्कण्व लोग **वहन्ति**=धारण करते हैं। जैसे शरीर में प्राणों के संयम से ज्ञान-सूर्य का उदय होता है, जैसे सूर्य में मन का संयम करने से सम्पूर्ण भुवन का ज्ञान होता है, उसी प्रकार उस सूर्यरूप प्रभु का धारण करने से सम्पूर्ण देवों का ज्ञान हुआ करता है। २. **दृशे विश्वाय**=सम्पूर्ण विश्व का दर्शन करने के लिए ये ज्ञानी लोग प्रभु का धारण करते हैं। वस्तुतः प्रभु के ज्ञान में सब विज्ञान समा जाते हैं।

भावार्थ—हम प्रकृति से ऊपर उठें, प्रभु को धारण करें, जिससे विश्व का दर्शन कर पाएँ।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

भुरण्यन् जन

येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ२॥ऽअनु। त्वं वरुण पश्यसि॥३२॥

१. प्रभु **पावक**=पवित्र करनेवाले हैं। गतमन्त्र में ब्रह्मज्ञान का उल्लेख था। यह ब्रह्मज्ञान मनुष्य के जीवन को पवित्र करता है। ब्रह्मदर्शन करने पर पाप सम्भव ही नहीं। पापों को दूर करके वे प्रभु अपने सखा जीव के जीवन को सुन्दर बनाते हैं, प्रभु वरुण हैं, क्योंकि द्वेषादि बुराइयों का वारण करके वे हमें पवित्र व श्रेष्ठ बनाते हैं। हे प्रभो! **येन चक्षसा**=जिस ज्ञान के द्वारा आप हमें पवित्र व श्रेष्ठ बनाते हैं, वह ज्ञान हमें प्राप्त कराइए। २. **भुरण्यन्तं जनान्**=इन औरों का भरण करनेवाले लोगों का हे **वरुण**=श्रेष्ठ व शरणीय प्रभो! **त्वम्**=आप **अनुपश्यसि**=पालन व पोषण Look after करते हो। मनुष्य साथी प्राणियों का ध्यान करता है तो प्रभु उस मनुष्य का ध्यान करते हैं। ३. मन्त्र का ऋषि प्रस्कण्व=अत्यन्त बुद्धिमान् है। वह वेद में आदिष्ट प्रभु की आज्ञाओं का पालन करता हुआ यज्ञमय जीवन बिताता है। (क) ज्ञान प्राप्त करता है (ख) अन्यों का भरण-पोषण करता है। (ग) द्वेष का निवारण करता है। इन सब बातों के परिणामस्वरूप प्रभु उसका ध्यान करते हैं।

भावार्थ—ज्ञान से हम अपने जीवन को पवित्र करें, लोकधारण करनेवाले बनें। तब वह प्रभु हमारा उसी प्रकार धारण व ध्यान करेंगे जैसे माता पुत्र का।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

उपाय-चतुष्टय

दैव्यावध्वर्यूऽआ गतः रथेन सूर्यत्वचा। मध्वा यज्ञः समञ्जाथे॥३३॥

पिछले मन्त्र में प्रस्कण्व ने प्रभु से प्रार्थना की है कि हे प्रभो! आप मेरा ध्यान कीजिए। प्रभु उसे कहते हैं कि १. **दैव्यौ**=तुम दोनों पति-पत्नी दिव्य गुणोंवाले बने हो। यहाँ द्विवचन से यह भी संकेत है कि मनुष्य ने अकेले ही मुक्त नहीं होना, पति-पत्नी दोनों ने ही सम्मिलित रूप से अच्छा बनने का प्रयत्न करना है। २. **अध्वर्यू**=तुम दोनों (अध्वर-यु) अहिंसात्मक यज्ञों से अपने को जोड़नेवाले बनो। तुम्हारा जीवन यज्ञमय हो। तुम्हारा कोई कार्य किसी की हिंसा का कारण न बने। ३. **सूर्यत्वचा रथेन**=सूर्य के समान त्वचावाले

इस शरीररूप रथ से **आगतम्**=तुम मेरे समीप आओ। यदि शरीर पूर्ण स्वस्थ रहता है तो इस रथ की आवरणभूत त्वचा सूर्य के समान चमकने लगती है। प्रभु-प्राप्ति के लिए जहाँ (क) दिव्यता (ख) यज्ञमयता आवश्यक हैं, वहाँ (ग) शरीर का स्वास्थ्य भी अत्यन्त आवश्यक है। ४. स्वस्थ शरीर के साथ माधुर्य भी अनिवार्य है। **मध्वा**=माधुर्य से **यज्ञम्**=यज्ञात्मक विष्णु को **समञ्जाथे**=तुम प्राप्त होओ (अञ्ज्=गति)। हमें दिव्य, अहिंसक, स्वस्थ बनकर पूर्ण मधुर बनना है, 'भूयासं मधुसंदृशः'=मैं मधु-जैसा ही हो जाऊँ।

सामान्यतः मनुष्य बाहर भागता रहता है, कोई विरला धीर पुरुष ही उस परमात्मा का वरण करता है। यह प्रभु का वरण करनेवाला ही 'वेन'=मेधावी है। इस वृत्ति के पति-पत्नी (क) दिव्य गुणों को अपनाने का प्रयत्न करते हैं (ख) अहिंसात्मक कर्मों में लगे रहते हैं, (ग) स्वास्थ्य का पूर्ण ध्यान करके अपने शरीर-रथ को सूर्यत्वच बनाते हैं और (घ) अत्यन्त मधुर व्यवहारवाले होते हैं।

भावार्थ—दिव्यता, अहिंसा, स्वास्थ्य व माधुर्य—मनुष्य को प्रभु-प्राप्ति के योग्य बनाते हैं।

ऋषिः—**अगस्त्यः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

ज्ञानयज्ञों का प्रस्ताव

आ न॑ऽइडा॑भिर्वि॒दथे॑ सुश॒स्ति वि॒श्वान॑रः सवि॒ता दे॒वऽए॑तु।
अपि॒ यथा॑ युवानो॒ मत्स॑था नो॒ विश्वं॒ जग॑दभिपि॒त्वे म॑नी॒षा॥३४॥

१. **विदथे**=ज्ञानयज्ञों में **इडाभिः**=वाणियों के द्वारा **सुशस्ति**=(सप्तमी का लुक्) उत्तम शंसन होने पर **विश्वानरः**=सबको उन्नतिपथ पर ले-चलनेवाला **सविता**=सबका प्रेरक **देवः**=देव **नः**=हमें **आ** =सर्वथा **एतु**=प्राप्त हो। यदि हम घरों में ज्ञानयज्ञों की परिपाटी डालें, सब घरवाले उपस्थित होकर धर्मग्रन्थों का पाठ करें तो यह पाठ हमारी प्रवृत्ति को अवश्य प्रभु-प्रवण करेगा। २. इसका परिणाम **अपि**=यह भी होगा कि **नः युवानः**=हमारे नौजवान, तरुण **मत्सथा**=मत्त नहीं हो जाते। छोटी उमर में वासना का वेग होता ही नहीं, वृद्धावस्था में वह शान्तप्राय हो जाता है, यौवन ही क्षोभ की अवस्था है। इस ज्ञानयज्ञ के निरन्तर चलने से यौवन में भी जीवन-समुद्र क्षुब्ध न होकर शान्त रहता है। इस ज्ञानयज्ञ के होने पर ३. **विश्वं जगत् अभिपित्वे**=सम्पूर्ण जगत् की प्राप्ति में हम **मनीषा**=बुद्धि से चलते हैं। हमारी प्रत्येक वस्तु के लिए एक बुद्धिपूर्वक पहुँच wise approach होती है। हम किसी भी कार्य में नासमझी से प्रवृत्त नहीं होते। इसी का परिणाम होता है कि हम पापों में नहीं फँसते। यह पापों में न फँसनेवाला व्यक्ति ही 'अगस्त्य' है।

भावार्थ—हम अपने घर के सदस्यों को ज्ञानयज्ञों में प्रवृत्त करें और उनमें प्रभु की, ऋषियों की वाणियाँ पढ़ें तो हमारा झुकाव १. प्रभु की ओर रहेगा २. जीवन में मद न हो पाएगा तथा ३. प्रत्येक स्थिति में हम समझ से चलेंगे।

ऋषिः—**श्रुतकक्षसुकक्षौ**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

प्रबल इच्छा

यद॒द्य कच्च॑ वृत्रहन्नु॒दगा॑ऽअ॒भि सू॑र्य। सर्वं॒ तदि॑न्द्र ते॒ वशे॑॥३५॥

१. प्रभु ज्ञानयज्ञों का विस्तार करनेवालों से कहते हैं कि हे **वृत्रहन्**=वासना को नष्ट करनेवाले **सूर्य**=ज्ञान-सूर्य के समान चमकनेवाले! तू **यत्**=जो **अद्य**=आज **कत् च**=या कभी

भी, जब भी **उत्**=प्रकृति से ऊपर उठकर मेरी=प्रभु की ओर चल सकता है। इच्छा होनी चाहिए, इच्छा होने पर रास्ता निकल आता है। प्रकृति से ऊपर उठना कठिन है, परन्तु सकंल्प कर लेने पर कुछ कठिन नहीं रह जाता। क्रम यह है १. संकल्प २. ज्ञान-प्राप्ति, ज्ञान के सूर्य का उदय ३. वासना का विनाश ४. प्रभु की ओर चलना व प्रभु को पाना। २. मन्त्रार्थ इस रूप में भी ठीक है—हे वासनाओं को नष्ट करनेवाले! ज्ञान से सूर्य के समान चमकनेवाले इन्द्र! आज या कल जब भी तू प्रकृति से ऊपर उठकर मेरी ओर आता है **तत्**=तब **सर्वम्**=सब **ते वश**=तेरे वश में हो जाता है। जिसने प्रभु को पा लिया, उसने सभी कुछ पा लिया।

ज्ञान-विज्ञान के सूर्य को अपने में उदित करनेवाले 'श्रुतकक्ष व सुकक्ष' प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि हैं। यह ज्ञान को ही अपनी शरण समझते है, श्रुत ही कक्ष है और यह ज्ञानरूप शरण कितनी उत्तम है? इसी से यह सुकक्ष है।

भावार्थ—हम अपनी इच्छा ज्ञानप्राप्ति की बनाएँ, उससे वासना का विनाश करके प्रभु की ओर चलें और प्रभु को पाकर ब्रह्माण्ड को वश में करनेवाले हों।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु का आदेश

तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य। विश्वमा भासि रोचनम्॥३६॥

१. गतमन्त्र में 'वृत्रहन्' व 'सूर्य' से प्रभु कहते हैं कि ब्रह्माण्ड तेरे वश में हो गया, दूसरे शब्दों में तूने सब-कुछ पा लिया, तूने अपने जीवन की साधना कर ली, परन्तु इतने से तू अपने को कृतकृत्य न समझ लेना। अपने आप सब-कुछ पाकर अब तूने—(क) **तरणिः**=नाव बनना है। नाव स्वयं तो पानी में डूबती ही नहीं, औरों को भी डूबने से बचाती है, तूने भी इसी प्रकार औरों को तारना है। अपने आप तर जाने में ही साफल्य नहीं है। (ख) **विश्वदर्शतः**=तूने सबको देखनेवाला बनना है, केवल अपने को नहीं। मोक्ष भी केवल अपने लिए नहीं चाहना। (ग) सभी को मोक्षमार्ग पर ले-जाने के विचार से हे **सूर्य**=स्वयं ज्ञानसूर्य के समान चमकनेवाले! तू **ज्योतिष्कृत् असि**=ज्योति को फैलानेवाला है। तू ब्रह्माण्ड में सर्वत्र ज्ञान के प्रकाश को विकीर्ण करता है (घ) इस ज्ञान के विकिरण से तू **विश्वम् आभासि**=सारे संसार को सब ओर से दीप्त करता है। इस ज्ञान-विकिरण की क्रिया में तू **रोचनम्**=बड़ी रोचकता से कार्य करता है। तू ज्ञान के प्रचार में मधुर, श्लक्षण वाणी का प्रयोग करता है।

भावार्थ—हम तरणि बनें, नाव वही ठीक जो स्वयं नहीं डूबती और परिणामतः औरों को तराने का कारण बनती है।

ऋषिः—**कुत्सः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

उपसंहार=Retirement

तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्त्तोर्विततꣳ सं जभार।
यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै॥३७॥

१. **तत्**=तभी **सूर्यस्य**=गतमन्त्र में वर्णित सूर्य का **देवत्वम्**=देवपन व **तत्**=तभी **महित्वम्**=बड़प्पन, महिमा होती है **यदा**=जब **मध्या कर्त्तोः**=कामों के बीच में **विततम्**=फैले हुए क्रिया-जाल को **संजभार**=मनुष्य संगृहीत करता है। संसार के कार्यभारों—व्यापार आदि

को समेटकर २. **यदा**=जब यह **इत्**=निश्चय से **सधस्थात्**=सदा साथ रहनेवाले प्रभु से **हरितः**=ज्ञान की रश्मियों को **अयुक्त**=अपने साथ जोड़ता है। मनुष्य कार्यों से निपटकर जब प्रभु के समीप बैठता है, तब उसे ज्ञानधन प्रभु की ज्ञानरश्मियाँ क्यों न दीप्त करेंगी? इन ज्ञानरश्मियों से द्योतित होकर ही यह 'देव'=चमकनेवाला बनता है। चमकने पर ही इसकी महिमा होती है। इस प्रकार यह देवत्व व महत्त्व को प्राप्त करता है। ३. **आत्**=अन्यथा, कार्यों का उपसंहार करके प्रभु की गोद में न बैठने पर **रात्री**=अज्ञानान्धकार **सिमस्मै**=सबके लिए **वासः**=अन्धकारवस्त्र को **तनुते**=तान देती है, अर्थात् मनुष्य गरीब हुआ तो नमक-तेल-ईंधन की चिन्ता में और धनी हुआ तो रुपये-पैसे की चिन्ता में जीवन को बिता देता है। उसे "कोऽहं कुत आजातः"='मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ' इन प्रश्नों के सोचने का समय ही नहीं मिलता। ४. इस अज्ञानान्धकार को नष्ट करनेवाला व्यक्ति ही 'कुत्स' है। यह 'कुथ हिंसायाम्' अज्ञान की हिंसा करने के लिए ज्ञान के सूर्य का अपने में उदय करता है। इस सूर्योदय के लिए ही लौकिक कार्यों से निवृत्त होकर प्रभु-चरणों में बैठता है।

भावार्थ—हम जीविका के कार्यों का उपसंहार करके सधस्थ प्रभु से ज्ञान प्राप्त करें, जिससे हमपर अज्ञान का पर्दा न पड़ा रहे।

ऋषिः—**कुत्सः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

स्वास्थ्य व सन्तोष

तन्मित्रस्य वरुणस्याभिचक्षे सूर्यो रूपं कृणुते द्योरुपस्थे।
अनन्तमन्यद्रुशदस्य पाजः कृष्णमन्यद्धरितः सं भरन्ति॥३८॥

१. **सूर्यः**=ज्ञान-सूर्य को अपने अन्दर उदित करनेवाला यह व्यक्ति **द्योः**=उस प्रकाशमय प्रभु के **उपस्थे**=समीप, उसकी गोद में बैठता हुआ **मित्रस्य**=स्नेह की भावना को तथा **वरुणस्य**=द्वेष-निवारण की भावना को **अभिचक्षे**=एकत्व दर्शन के लिए **तत् रूपम्**=प्रकाश को अपने अन्दर **कृणुते**=करता है। (**रूपम्**=प्रज्ञानम्—नि० १०।१३)। ज्ञान का प्रथम परिणाम ही यह है कि मनुष्य द्वेष से ऊपर उठता है और स्नेह से वर्त्तता है। २. **अस्य**=ज्ञान के सूर्य से देदीप्यमान इस पुरुष का **पाजः**=बल **अनन्तम्**=बहुत अधिक होता है। **अन्यत्**=विलक्षण होता है और **रुशत्**=देदीप्यमान होता है। वस्तुतः प्रभु के सम्पर्क के कारण इसमें प्रभु की ही शक्ति काम करने लगती है, अतः इसकी शक्ति का असाधारण व विलक्षण प्रतीत होना स्वाभाविक ही है। ३. **हरितः**=इसकी ये ज्ञानरश्मियाँ (इस सूर्य के ये अश्व) **अन्यत्**=एक विलक्षण ही **कृष्णम्**='कृषिर्भूवाचकः शब्द, णश्च निर्वृतिवाचकः' भू और निर्वृति, स्वास्थ्य और सन्तोष को **संभरन्ति**=सबके अन्दर भरती हैं। सूर्योदय होता है और उसकी किरणें सबमें प्राणशक्ति का सञ्चार करती हैं, इसीप्रकार इस कुत्स की जो ज्ञान का सूर्य बन गया है, ज्ञानकिरणें सभी को स्वास्थ्य व सन्तोष देनेवाली होती हैं। 'कृष्णम्' शब्द का अर्थ आकर्षण भी है। इसकी ये ज्ञानकिरणें बड़े आकर्षक ढंग से लोगों में ज्ञान भरती हैं। यही भावना ३६वें मन्त्र में 'रोचनम्' शब्द से कही गई थी।

भावार्थ—हम प्रभु का उपस्थान करते हुए ज्ञान प्राप्त करें और सभी के साथ स्नेह करनेवाले बनें। तेजस्वी बनें और औरों को भी ज्ञान देनेवाले बनें।

ऋषिः—**जमदग्निः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**विराड्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

जगदग्नि का प्रभु-स्तवन=द्रष्टा व श्रोता

बण्महाँ२॥ऽअसि सूर्य बडादित्य महाँ२॥ऽअसि।
महस्ते सतो महिमा पनस्यतेऽद्धा देव महाँ२॥ऽअसि॥ ३९॥

१. जब प्रभु के चरणों में बैठकर ज्ञानप्राप्त करने का उपक्रम होगा, तब गतमन्त्र के अनुसार 'द्योरुपस्थे' अवश्य ही एक दिन हम प्रभु का साक्षात्कार करेंगे। साक्षात्कार करने के कारण प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'जमदग्नि' है। 'जमदग्निर्वै चक्षुः' इस वाक्य के अनुसार जमदग्नि चक्षु है, जो देखता है। उस प्रभु को देखने पर यह अनुभव करता है कि प्रभु कितने महान् है। उसके मुखसे निम्न वाक्य उच्चरित होने लगते हैं—२. **सूर्य**=हे सूर्य के समान देदीप्यमान प्रभो! आप **बट्**=सचमुच **महान् असि**=महान् हैं, अतएव पूजनीय हैं (मह पूजायाम्)। प्रभु सूर्य के समान चमकते हैं। ३. उस प्रकाशमय प्रभु ने इस सारे ब्रह्माण्ड को अपने अन्दर ग्रहण किया हुआ है 'आदानात् आदित्यः'—इस आदान के कारण ही वे प्रभु आदित्य हैं। सारे ज्योतिर्मय पदार्थ उनके गर्भ में है, तभी तो वे 'हिरण्यगर्भ' कहलाये हैं। ब्रह्माण्ड ही अनन्त-सा प्रतीत होता है, परन्तु इतना विशाल संसार प्रभु के एक देश में ही है **'पादोऽस्य विश्वा भूतानि'**। प्रभु कितने महान् हैं? जमदग्नि कहता है कि हे **आदित्य**=सभी को गर्भ में धारण करनेवाले प्रभो! **बट्**=सचमुच आप **महान् असि**=बड़े हैं। ४. यह जमदग्नि उस प्रभु को, जो इन सूर्य आदि को भी तेजस्विता प्राप्त करा रहे हैं (तस्य भासा सर्वमिदं विभाति) एक तेज के पुञ्ज के रूप में देखता है और कहता है कि **महः**=तेज के पुञ्ज के रूप में **सतः**=होते हुए **ते**=आपकी तेजस्विता से प्रभावित मेरी वाणी आपकी **महिमा पनस्यते**=महिमा की स्तुति करने लगती है। सूर्यादि सभी को तेजस्वी बनानेवाले वे सचमुच तेज के पुञ्ज ही हैं। यह तेज मुझे भी तेजस्वी बनाता है और मेरी वाणी आपका स्तवन करने लगती है। ५. हे **देव**=सब देवताओं को देवत्व प्राप्त करानेवाले दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभो! आप **अद्धा**=सचमुच **महान् असि**=महान् है। सब देव महान् हैं, प्रभु तो देवों के भी देव, देवाधिदेव हैं। वे तो महतो महान् हैं। ६. एवं, जमदग्नि प्रभु को 'महान्' देखता है। वे प्रभु क्यों महान् हैं, क्योंकि वे (क) सूर्य हैं, (ख) वे आदित्य हैं, (ग) वे महस् हैं, (घ) वे देव हैं। वस्तुतः महान् बनने के ये ही चार उपाय हैं। हमें भी महान् बनने के लिए सूर्य, आदित्य, महस् व देव बनना होगा।

(क) हम अपना खाली समय ज्ञान-विज्ञान की प्राप्ति में बिताएँ और इस प्रकार अपने मस्तिष्करूप गगन में ज्ञान के सूर्य का उदय करने का प्रयत्न करें। (ख) हम अपनी 'मैं' को विशाल बनाएँ कि हमारी 'मैं' में परिवार, कुल, प्रान्त व देश ही नहीं, वसुधा भी समा जाए। **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** हमारा जीवनध्येय बन जाए। (ग) हम मात्रा में भोजन का स्वीकार करते हुए संयमी जीवन बनाकर तेजस्वी बनें। और (घ) अन्त में हम देव बनें। देव बनने के लिए द्वेष को हृदय में आने से रोकें (वरुण) सबके साथ स्नेह करें (मित्र) तथा यथोचित आर्थिक सहानुभूति भी दर्शाएँ (अर्यमा)। इन तीन बातों से हम दिव्य गुणों को अवश्य अपना पाएँगे। एवं सूर्य, आदित्य, महस् व देव बनकर हम प्रभु का सच्चा स्तवन कर पाएँगे।

भावार्थ—हम ज्ञान प्राप्त करें, उदार हृदय बनें, तेजस्विता की साधना करें, और दिव्य गुणों को अपनाने के लिए प्रयत्नशील हों।

ऋषिः—**जमदग्निः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**भुरिग्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

अदाभ्य ज्योति

बट् सूर्य श्रवसा महाँ२॥ऽअसि सत्रा देव महाँ२॥ऽअसि।
मह्ना देवानामसुर्यः पुरोहितो विभु ज्योतिरदाभ्यम्॥४०॥

१. स्तवन करते हुए जमदग्नि कहते हैं कि हे **श्रवसा सूर्य**=ज्ञान से सूर्य के समान चमकनेवाले प्रभो! आप **बट्**=सचमुच **महान् असि**=महान् हैं। २. **सत्रा**=सचमुच ही **देव**=हे दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभो! **महान् असि**=आप महान् हैं। ३. हे प्रभो! आप ही **मह्ना**=अपनी महिमा से **देवानाम्**=सब देवों के **असुर्यः**=(असून् राति, तेषु साधु) उत्तम प्राणशक्तिदाता हैं। सूर्यादि देवों में अपना देवत्व थोड़े ही है। इन सबका देवत्व इन्हें प्रभु से ही प्राप्त हो रहा है **'तेन देवा देवतामग्रमायन्'**। सूर्यादि सब देदीप्यमान पिण्ड प्रभु की दीप्ति से दीप्त हो रहे हैं। विद्वान्, बलवान् व तेजस्वी पुरुष भी प्रभु से ही बुद्धि, बल व तेजस्विता प्राप्त कर रहे हैं, ४. **पुरोहितः**=ये प्रभु पुरोहित हैं, सब देवों से पूर्व विद्यमान हैं 'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे'। सबसे पूर्व विद्यमान होते हुए ही ये उन सब देवों को देवत्व प्राप्त करा रहे हैं। सब जीवों के लिए प्रभु एक पुरोहित (model=आदर्श) के रूप में हैं, जिनके अनुसार जीव ने अपने जीवन को बनाना होता है। ५. वे प्रभु **विभु ज्योतिः**=एक व्यापक प्रकाश हैं जोकि **अदाभ्यम्**=न दबने योग्य हैं। सूर्य निकलता है और तारों का प्रकाश दब जाता है। 'इस प्रकार प्रभु का प्रकाश किसी अन्य प्रकाश से दबेगा' यह बात नहीं है। वे प्रभु तो एक न दबनेवाला प्रकाश है। इसी अदाभ्य ज्योति को हमने भी प्राप्त करना है, इसको प्राप्त करके हम उस महान् प्रभु के सच्चे उपासक बनेंगे। ज्ञान जितना व्यापक (विभु) हो उतना ही ठीक। व्यापक ज्ञान ही उन्नति के मन्दिर की दृढ़ नींव बनता है।

भावार्थ—मैं देव बनूँ, जिससे प्रभु मुझमें प्राणशक्ति का सञ्चार करें और मैं एक अदाभ्य ज्योतिवाला बन जाऊँ।

ऋषिः—**नृमेधः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**निचृद्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

साम्यवाद "In the sweat of thy labour"=स्वेदस्य

श्रायन्तऽइव सूर्यं विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत।
वसूनि जाते जनमानऽओजसा प्रति भागं न दीधिम॥४१॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'नृ-मेध' है, जो सब नरों से मिलकर चलता है (मेध=संगम)। 'यह अकेला खाएगा' यह कैसे हो सकता है! इसका विचार है कि **सूर्यम् इव**=सूर्य की भाँति **श्रायन्तः**=(to sweat, to perspire) श्रम के कारण पसीने से तर-बतर होते हुए **विश्वा इत्**=सभी प्राणी **इन्द्रस्य**=उस प्रभु से दिये गये भोजन का **भक्षत**=भक्षण करें।

इस मन्त्रार्थ में यह बात स्पष्ट है—(क) सबने अधिक-से-अधिक श्रम करना है, और (ख) अपनी-अपनी आवश्यकतानुसार सबने भोजन प्राप्त करना है। वस्तुतः राष्ट्र को इस प्रकार के नियम बना देने चाहिएँ कि कोई व्यक्ति बिना कर्म किये न खा सके और कोई भी कर्म करनेवाला अपनी आवश्यकताओं को न पा सके, यह न हो। २. हम **ओजसा**=शक्ति के द्वारा **जाते**=धनों के उत्पन्न होने पर और **जनमाने**=आगे उत्पन्न होनेवाले धनों में **वसूनि**=धनों को **भागं न**=सेवनीय भाग के अनुसार **प्रतिदीधिम**=प्रत्येक व्यक्ति के लिए धारण करें। अपनी शक्ति के अनुसार हम कमाएँ, परन्तु उसे सारा अपने पर व्यय करने के

स्थान में भाग के अनुसार सबको दें। घर में यह साम्यवाद कितना सुन्दर चलता है। पिता कमाता है, वह कम खाता है, परन्तु न कमानेवाला बच्चा सबसे अधिक खाता है। एवं, घर में ये दोनों सिद्धान्त कार्य करते दिखते हैं। (क) काम सब शक्ति के अनुसार करते हैं और (ख) खाते सब आवश्यकतानुसार हैं। यही दो सिद्धान्त सारे राष्ट्र में लागू हों तो न राष्ट्र निर्धन हो और ना ही कोई भूखा मरे।

भावार्थ—सूर्य की भाँति हम श्रमशील हों, उत्पन्न धनों को सबके साथ बाँटकर खाएँ, धनों को प्रभु का समझें।

ऋषिः—**कुत्सः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

चैक का कैश होना

अद्या देवाऽउदिता सूर्यस्य निरंहसः पिपृता निरवद्यात्।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवीऽउत द्यौः ॥४२॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'कुत्स' है। यह वासनाओं को ('कुथ हिंसायाम्') कुचल डालता है, इसके जीवन का यही ध्येय बनता है। यह प्रार्थना करता है कि **देवाः**=हे देवो! अथवा हे दिव्य वृत्तियो! **अद्य**=आज **उदिता सूर्यस्य**=सूर्योदय होते ही **अंहसः**=कष्ट व पीड़ा से **निःपिपृत**=हमें पार ले-चलो। **निः अवद्यात्**=पीड़ा से दूर करने के लिए हमें निन्द्य पापों से बचाओ। (क) 'पीड़ा से दूर होना, (ख) पीड़ा से दूर होने के लिए पापों से ऊपर उठना' यह है कुत्स का निश्चय। इस निश्चय को कार्यान्वित करने के लिए उसका मुहूर्त कल का नहीं है, आज ही और अभी सूर्योदय के समय ही। यह कुत्स कल-कल की उपासना नहीं करता।

२. **नः**=हमारे **तत्**=इस संकल्प को **मित्रः**=स्नेह का देवता **वरुणः**=द्वेषनिवारण का देवता **अदितिः**=अखण्डन व स्वास्थ्य का देवता **सिन्धुः**='एतैरिदं सर्वं सितं तस्मात् सिन्धवः'=जिससे ये पाँच भूत बद्ध (integrated) हैं, वह सोमशक्ति **पृथिवी**=(प्रथ विस्तारे) विस्तार व उदारता **उत**=और **द्यौः**=दिव्-प्रकाश=मस्तिष्क की उज्ज्वलता व ज्ञान की देवता—ये सब **मामहन्ताम्**=आदृत करें।

बैंक में जैसे एक चैक आदृत हो जाता है, अर्थात् केश कर दिया जाता है उसी प्रकार कुत्स का 'पीड़ा व पाप से दूर होने का निश्चय' ही एक चैक है। उस चैक का आदर मित्रादि देवों के बैंक में करना है। इन देवों के बैंक में हमारा क्रेडिट=पूँजी होगी तभी चैक आदृत होगा, अतः हमें 'स्नेह व द्वेषराहित्य, स्वास्थ्य, सोम, उदारता व प्रकाश' इन गुणों का बैंक बनने का प्रयत्न करना है। इन्हीं का आदान-प्रदान करनेवाला होना है। इन पाँच का विकास करनेवाले ही 'पञ्चजन' हैं।

भावार्थ—कुत्स ऋषि वह है जो 'स्नेह व निर्द्वेषता, स्वास्थ्य, सोम, उदारता व प्रकाश' का पुञ्ज बनने का प्रयत्न करता है। इसी से वह 'पञ्चजन' कहलाएगा।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूपः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

ऊर्ध्व रेतस् बनना=हिरण्यस्तूप

आ कृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् ॥४३॥

१. गतमन्त्र के अनुसार अपनी पाँच वस्तुओं का विकास करके, विकास ही नहीं

अपितु विकास के मूलभूत सोम की रक्षा करके प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'हिरण्यस्तूप' बना है (हिरण्यं वीर्यम् स्तूप=to raise), शक्ति की ऊर्ध्वगति करनेवाला हुआ है। इसके जीवन में निम्न बातें होती है। १. यह **आकृष्णेन**=आकर्षक अथवा (कृषिर्भूवाचकः णश्च निर्वृतिवाचकः) स्वास्थ्य व सन्तोष का सञ्चार करनेवाले **रजसा**=(रजः कर्मणि) कर्मसमूह के साथ **वर्त्तमानः**=वर्त्तमान होता है। इसका कार्य स्वास्थ्य व सन्तोष को फैलाना होता है, और अपने इस कार्य को यह बड़ी मधुरता से करता है। २. **अमृतं मर्त्यं च**=(क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते) अपने क्षरांश इस पाँचभौतिक शरीर को और अक्षरांश कूटस्थ आत्मतत्त्व को **निवेशयन्**=निश्चय से स्वस्थान में निविष्ट करनेवाला होता है। सामान्य भाषा में यह शारीरिक व आत्मिक दृष्टिकोण से स्वस्थ बनने का प्रयत्न करता है। शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ होता हुआ ही यह स्वास्थ्य का सञ्चार कर पाता है। मानस व आत्मदृष्टि से सन्तुष्ट यह सन्तोष को फैलाता है। स्वयं स्वस्थ व सन्तुष्ट ही तो औरों को स्वस्थ व सन्तुष्ट बना सकता है। ३. यह **सविता**=सबको प्रेरणा देनेवाला हिरण्यस्तूप ऋषि **देवः**=स्वयं दिव्य गुणोंवाला बनता है और **हिरण्येन रथेन**=ज्योतिर्मय रथ से चलता है। ज्ञान को बढ़ाकर स्वयं प्रकाशमय बनकर, यह औरों को भी मार्गदर्शन करने में समर्थ होता है। मन में दिव्यता और मस्तिष्क में ज्योति को लेकर जब यह प्रजा का नेतृत्व करने चलता है तब उनको भटकाने का कारण नहीं बन जाता। ४. स्वस्थ शरीर, दिव्य मन व उज्ज्वल मस्तिष्क को पाकर ही यह स्वयं को कृतकृत्य नहीं मान बैठता, अपितु यह **भुवनानि पश्यन्**=सब भूतों का ध्यान करता हुआ (Looking after all) **याति**=चलता है। अथवा **याति**=प्रभु की ओर बढ़ता है, सर्वभूतहिते रतः ही प्रभु का सच्चा भक्त होता है।

भावार्थ—हम हिरण्यस्तूप बनकर शरीर व आत्मा को स्वस्थ रखते हुए प्रजाओं में भी स्वास्थ्य को फैलाने का प्रयत्न करते हुए प्रभु की ओर चलें।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

वसिष्ठ—उत्तम जीवन

प्र वा॑वृजे सुप्र॒या ब॒र्हिरे॑षा॒मा वि॒श्पती॑व बीरि॑टऽइयाते।
वि॒शाम॒क्तोरु॒षसः॑ पू॒र्वहू॑तौ वा॒युः पू॒षा स्व॒स्तये॑ नि॒युत्वा॑न्॥४४॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि वसिष्ठ है, उत्तम निवासवाला। इसके जीवन की निम्न बातें ध्यान देने योग्य हैं—१. **प्रवावृजे**=यह वासनाओं का स्वयं ही वर्जन करता है, काम-क्रोध आदि का अपने को शिकार नहीं होने देता। २. **सुप्रया**=इस उद्देश्य से यह सात्त्विक अन्नवाला होता है, अथवा उत्तम प्रयत्नवाला होता है (प्रयस्=अन्न, प्रयत्न) ३. **एषां बर्हिः**= इसी से इनका हृदय बर्हि बनता है, जिसमें से वासनाओं का उद्बर्हण कर दिया गया है तथा जो अत्यन्त बृंहित=बढ़ा हुआ, विशाल बना है। ४. **आविश्पती इव**=यह समन्तात् प्रजाओं का रक्षक-सा बनता है। विशाल व निर्वासन हृदयवाला बनकर यह सभी का हित साधन करता है। ५. ऐसे अच्छे, आकर्षक (आकृष्णेन, रोचनम्) ढंग से प्रचार करता है कि यह **विशाम्**=प्रजाओं के **बीरिटे**=हृदयान्तरिक्ष में **इयाते**=पहुँच जाता है (Touches their heart), उनको अपनी बात अच्छी प्रकार हृदयंगम करा देता है। ४. **अक्तोः**=रात्रि के तथा **उषसः**=उषाकाल के **पूर्वहूतौ**=प्रथम पुकार में, अर्थात् सायं व प्रातः की प्रार्थना में यह आराधना करता हुआ कहता है कि (क) **वायुः**=वायु की भाँति सदा गतिशील बनूँ, **पूषा**=सूर्य की भाँति सब प्रजाओं में प्राण का सञ्चार करूँ (ग) **नियुत्वान्**='नियुत्' शब्द

वायु के घोड़ों के लिए प्रयुक्त होता है। जीवात्मा 'वायु' है **'वायुरनिलममृतम्'**। इन्द्रियाँ उसके घोड़े हैं। मैं उत्तम इन्द्रियरूप अश्वोंवाला बनूँ। यह उत्तम इन्द्रियाँश्वोंवाला ही अपनी जीवन-यात्रा उत्तम ढंग से पूर्ण कर पाता है। इसप्रकार मैं **स्वस्तये**=उत्तम स्थिति के लिए होऊँ। मेरा कल्याण हो, मैं औरों का कल्याण करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—मेरा जीवन निर्वासन (वासनारहित), सात्त्विक व पवित्र हृदयवाला हो। मैं लोकसंग्रह करता हुआ लोगों के हृदयों तक पहुँचने का प्रयत्न करूँ। प्रातः-सायं यही आराधना करूँ कि—मैं क्रियाशील, पोषण करनेवाला व उत्तम इन्द्रियोंवाला बनकर उत्तम स्थिति में होऊँ।

ऋषिः—**मेधातिथिः**। देवता—**इन्द्रवायू**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

दिव्य गुणों का आराधन

इन्द्रवायू बृहस्पतिं मित्राग्निं पूषणं भगम्। आदित्यान्मारुतं गणम्॥४५॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति पर कहा था कि रात्रि व उषा के प्रारम्भ में प्रथम पुकार (प्रार्थना) के समय 'वायु व पूषा' को पुकारते हैं। उसी प्रार्थना को कुछ विस्तार से प्रस्तुत मन्त्र में करते हैं। 'मेधातिथि' प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है—जीवन-यात्रा में समझदारी से चलनेवाला। यह प्रातः-सायं निम्न देवों का आराधन करता है १. **इन्द्रवायू**=मैं इन्द्र और वायु को पुकारता हूँ। 'इन्द्र', अर्थात् इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनूँ, ऐश्वर्यशाली बनूँ (इदि परमैश्वर्ये) मेरे कर्म शक्तिशाली हों (सर्वाणि बलकर्माणि इन्द्रस्य) वायु बनूँ (वा गतिगन्धनयोः), निरन्तर क्रियाशीलता के द्वारा बुराई का संहार करनेवाला बनूँ। ३. **बृहस्पतिम्**=बृहस्पति को पुकारता हूँ। बृहस्पति ऊर्ध्वा दिशा का अधिपति है। मैं भी उन्नति के शिखर पर पहुँचता हूँ। बृहस्पति देवगुरु हैं। मैं भी ज्ञानियों का गुरु, ज्ञानियों का भी ज्ञानी, उत्कृष्ट ज्ञानी बनता हूँ। ४. **मित्राग्निम्**=मित्र और अग्नि को पुकारता हूँ। (मित्रः प्रमीतेः त्रायते) अपने को मृत्यु व पाप से बचाता हूँ और इस प्रकार आगे बढ़ता हूँ (अग्निः अग्रेणीः)। मित्र शब्द की भावना (मिद् स्नेहने) स्नेह करने की भी है। उन्नति-पथ वस्तुतः प्रेम-पथ ही है। ५. **पूषणं भगम्**=मैं पूषा व भग को पुकारता हूँ। अपना पोषण करके औरों के भी पोषण के लिए प्रयत्नशील होता हूँ। पोषण के लिए भग (ऐश्वर्य) को बाँटता हूँ। पोषण के लिए पर्याप्त धन से अधिक धन की कामना नहीं करता हूँ। ६. **आदित्यान्**=मैं आदित्यों को पुकारता हूँ। 'आदानात् आदित्यः' आदित्य वे हैं जो अपनी 'मैं' में सभी को समाविष्ट कर लेते हैं। उदार-हृदय बनकर मैं वसुधा को कुटुम्ब समझने का प्रयत्न करता हूँ। इस हृदय की विशालता के लिए ही ७. **मारुतं गणम्**=प्राणसमूह को पुकारता हूँ। वस्तुतः प्राणसाधना से ही हृदय निर्द्वेष व विशाल बनेगा।

भावार्थ—मैं प्राणसाधना के द्वारा इन्द्र, वायु, बृहस्पति, मित्र, अग्नि, पूषन्, भग व आदित्य को अपने अन्दर धारण करता हूँ।

ऋषिः—**मेधातिथिः**। देवता—**वरुणः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

निर्वैरता व स्नेह=वरुण व मित्र द्वारा सुराधाः बनना

वरुणः प्राविता भुवन्मित्रो विश्वाभिरूतिभिः। करतां नः सुराधसः॥४६॥

१. 'वरुण' देवता वारण करती है, द्वेषादि को हृदयों में उत्पन्न नहीं होने देती। द्वेषादि को हृदय में आने से रोककर यह हमारे हृदय को मलिन होने से बचाती है। **वरुणः**=वरुण

प्राविता=रक्षक **भुवत्**=हो। २. 'मित्र' स्नेह करने की देवता है। 'हम द्वेष न करें' इतना ही नहीं, हम परस्पर प्रेम करनेवाले बनें। मित्र का अर्थ यास्क 'प्रमीतेः त्रायते' भी करते हैं, पापों व रोगों से बचाता है, अतः **मित्रः**=यह मित्र देवता **विश्वाभिः ऊतिभिः**=सब संरक्षणों के द्वारा हमें पाप व रोग से बचानेवाला हो। ३. 'वरुण और मित्र' ये दोनों देव एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। 'द्वेष न करना' एक पहलू है 'स्नेह करना' दूसरा। एवं, वरुण और मित्र मिलकर **नः**=हमें इस संसार में **सुराधसः**=उत्तम साफल्यवाला (राध=सिद्धि) **करताम्**=करें। ५. गतमन्त्र का ऋषि 'मेधातिथि' था। वही प्रस्तुत मन्त्र का भी ऋषि है। संसार में समझदारी से चलना (मेधया अतति) ही मेधातिथि बनना है। मन के स्वास्थ्य को न खोने के कारण यह अपने कार्यों में सफलता प्राप्त करता है और सचमुच 'सुराधाः' बनता है।

भावार्थ—'वैर न करना और स्नेह से चलना' जीवन को सफल करना है।

ऋषिः—**कुसीदी**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**स्वराडार्चीगायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु के साथ सजात्य

अधि न इन्द्रैषां विष्णो सजात्यानाम्। इता मरुतोऽअश्विना ॥४७॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'कुसीदी' (कौ सदति) पृथिवी पर स्थिरता से चलनेवाला है, हवा में उड़नेवाला नहीं, हवाईकिले बनानेवाला नहीं, और इसीलिए यह 'कुस संश्लेषणे' प्रभु से आलिंगन करनेवाला सचमुच 'कुसीदी' बन पाता है। यह कहता है—२. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन्! सर्वैश्वर्यशाली प्रभो! **विष्णो**=हे सर्वव्यापक परमात्मन्! आप **नः**=हम **सजात्यानाम्**=समान जातिवालों के **अधि**=अधिष्ठाता हैं। हम आपके सजात्य हैं। आपकी भाँति हम भी चेतन हैं। आपमें और हममें बड़े-छोटे का ही अन्तर है, हम आत्मा हैं तो आप परमात्मा। हम सजात्यों के आप अधिष्ठाता हैं। २. कुसीदी की इस बात को सुनकर प्रभु कहते हैं कि **मरुतः**=मितराविणः=अरे भाई! कम बोलनेवाले होकर, रिश्तेदारी की दुहाई न देते हुए, हम प्रभु के रिश्तेदार हैं, ऐसा घमण्ड न करते हुए **अश्विना**=प्राणापान की साधना के द्वारा **इत**=मुझे प्राप्त होओ। प्रभु के नाते का राग आलापने से यह उत्तम है कि हम शोर न मचाते हुए संयत वाणीवाले होकर प्राणसाधना करें और प्रभु को प्राप्त करने का प्रयत्न करें। इस प्राणसाधना से ही असुर नष्ट-भ्रष्ट होंगे। अन्य इन्द्रियों को असुर पराजित कर लेते हैं, अतः उनसे प्रभु का उपासन नहीं चल पाता। प्रभु की उपासना प्राणों से ही होगी।

भावार्थ—हम प्रभु से अपना सजात्य अनुभव करें और वासनाओं में फँसने को अपनी शान के विरुद्ध समझें।

ऋषिः—**प्रतिक्षत्रः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

चतुर्दश रत्न

अग्नऽइन्द्र वरुण मित्र देवाः शर्द्धः प्र यन्त मारुतोत विष्णो।
उभा नासत्या रुद्रोऽअध ग्नाः पूषा भगः सरस्वती जुषन्त ॥४८॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'प्रतिक्षत्र' है—प्रत्येक अङ्ग को क्षत (हानि) से बचानेवाला। यह प्रार्थना करता है कि **प्रयन्त**=प्रकर्षेण प्राप्त हों, इसकी ओर आएँ। कौन-कौन? १. **अग्ने**=हे अग्ने! तुम मुझे प्राप्त होओ, अर्थात् मेरे अन्दर आगे बढ़ने की भावना हो। मैं 'अग्रेणीः' होऊँ। 'उन्नति Progress' यह मेरे जीवन का मूलमन्त्र हो। २. **इन्द्र**=हे इन्द्र! तुम मुझे प्राप्त

होओ। (क) मैं इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनूँ (ख) मैं शक्तिशाली बनूँ, (ग) मैं ऐश्वर्य प्राप्त करूँ। उन्नति के लिए ये तीनों बातें आवश्यक हैं। धन के बिना भी उन्नति सम्भव नहीं होती। ३. **वरुणः**=मैं वरुण को प्राप्त करूँ। विघ्नों का वारण करनेवाला बनूँ। सबसे महान् विघ्न ईर्ष्या-द्वेष हैं, इन्हें मैं रोकूँ। मेरे हृदय में ईर्ष्या का प्रवेश न हो पाये। ४. **मित्र**=हे मित्र! आप मुझे प्राप्त होओ। मैं जीवन-यात्रा में सबके प्रति स्नेह से चलूँ। अपने को पापों से बचाऊँ (प्रमीतेः त्रायते), हिंसा की वृत्ति को दूर रक्खूँ। ५. **देवाः**=हे देवो! मेरी ओर आओ मैं दिव्य गुणों को प्राप्त करनेवाला बनूँ। ६. **शर्धः**=शक्ति मुझे प्राप्त हो। दिव्य गुणों को शक्ति से ही पाऊँगा। वीरत्व ही Virtue है और वीर न बनना ही evil है। ७. **मारुत**=हे मारुत! मेरी ओर आओ। मैं मितरावी बनूँ। वस्तुतः दिव्य गुणों से अपने को परिपूर्ण करके मैं मितरावी बन जाऊँगा। ८. **विष्णो**=हे विष्णो! मेरी ओर आओ। दिव्य गुणों को अपने में भरकर मैं व्यापक व विशाल मनोवृत्तिवाला बनूँ। मेरी 'मैं' में सारी वसुधा समा जाए।

९. **उभा नासत्या**=दोनों अश्विनीदेव=प्राणापान **जुषन्त**=मेरा सेवन करें। मैं प्राणापान की साधना करूँ। इस साधना ही ने मेरे हृदय को निर्मल व विशाल बनाना है। १०. **रुद्रः**=रुद्र मेरा सेवन करें। मैं रुद्र की भाँति प्राणापान की साधना करके असुरों के लिए प्रलय करनेवाला हो जाऊँ। इस प्राणापान से टकराकर ही असुर नष्ट-भ्रष्ट हुए थे। 'रुत्+र' का अभिप्राय उपदेश देनेवाला भी है। वह हृदयस्थ प्रभु मुझे उपदेश दें। प्राणापान की साधना से निर्मलहृदय प्रभुवाणी को सुनेगा ही।

११. **अध ग्नाः**=अब देवपत्नियाँ अथवा वेदवाणियाँ मेरा सेवन करें। देवपत्नियाँ देवों की शक्तियाँ ही है। पत्नी=शक्ति। घर में भी पत्नी ही वस्तुतः पति की शक्ति होती है। १२. **पूषा**=पूषा, अर्थात् सूर्यदेव मेरा सेवन करें और प्राणशक्ति के पोषण का कारण बने। १३. **भगः**=(भज सेवायाम्) सेवनीय धन मुझे प्राप्त हों। सब प्रकार के पोषण के लिए धन की आवश्यकता होती है। १४. **सरस्वती**=ज्ञान की देवता मेरा सेवन करे। मैं ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान को प्राप्त करनेवाला बनूँ। वस्तुतः ज्ञान ने ही मेरे ऐश्वर्य पर कुछ प्रतिबन्ध रखना है, अन्यथा ऐश्वर्य तो वासनासक्ति का कारण बन जाता है। यहाँ मन्त्र में ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्रथम देवता 'अग्नि' है और अन्तिम 'सरस्वती' दोनों को मिलाकर देखें तो भावना यह है कि उन्नति का मूलमन्त्र ज्ञान है। उन्नति की चरमावधि ज्ञान की परिनिष्ठा में ही है।

भावार्थ—प्रभुकृपा से मैं ज्ञानी बनूँ और इस ज्ञान से ऐश्वर्य का सदुपयोग करनेवाला होऊँ, तभी मुझे मन्त्रोक्त चौदह रत्नों की प्राप्ति होगी।

ऋषिः—**वत्सारः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

देवताओं का आवाहन

इन्द्राग्नी मित्रावरुणादितिꣳ स्वः पृथिवीं द्यां मरुतः पर्वताँ२॥ऽअपः।
हुवे विष्णुं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं भगं नु शꣳसꣳसवितारमूतये॥४९॥

मन्त्र का ऋषि 'अवत्सार' है, अवत्सार ही प्रथमाक्षर के उच्चारण न होने पर वत्सार भी कहा जाता है। यह सारभूत वस्तु सोम की रक्षा के कारण 'अवत्सार' हुआ है। यह अवत्सार **हुवे**=आवाहन करता है, पुकारता है, किनको—१. **इन्द्राग्नी**=इन्द्र और अग्नि को। इन्द्र बल की देवता है तो अग्नि प्रकाश की। मैं बल भी प्राप्त करूँ और प्रकाश भी। क्षत्र

भी, ब्रह्म भी। शक्ति व ज्ञान दोनों का मेरे जीव में समन्वय हो। २. **मित्रावरुणा**=मैं स्नेह की देवता को पुकारता हूँ और निर्द्वेषता व ईर्ष्या आदि के निवारण का प्रयत्न करता हूँ। मैं सभी के साथ स्नेह से चलूँ, किसी से द्वेष न करूँ। उन्नति के मार्ग में द्वेष सर्वमहान् विघ्न है। ३. **अदितिम्**=मैं अदिति को पुकारता हूँ। मेरे जीवन में खण्डन न हो। मैं स्वस्थ बनूँ। वस्तुतः स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन रहता है और स्वस्थ शरीर व मन में ही बल, ज्ञान, स्नेह व निर्द्वेषता का निवास होता है। ४. स्वास्थ्य के लिए मैं **स्वः**=स्वयं राजमानता, अदासता को पुकारता हूँ, मैं इन्द्रियों का दास नहीं बनता। इन्द्रियों की दासता ही हमें विलासमय बनाकर रोगाभिभूत कर देती है। ५. **पृथिवीं द्याम्**=मैं पृथिवी व द्यौ को पुकारता हूँ। पृथिवी (प्रथ विस्तारे) विशालता का प्रतीक है और द्यौ प्रकाश का। मेरा हृदय विशाल हो और मस्तिष्क ज्ञान से जगमगाता हो। ६. इस विशालता व प्रकाश को अपने में लाने के लिए **पर्वतान्**=पर्वतों को पुकारता हूँ (पर्व पूरणे अपने में शक्ति के भरने का प्रयत्न करता हूँ। यह शक्ति व ज्ञान को अपने में भरना ही 'ब्रह्मचर्य' है। इस ब्रह्मचर्य से ही मृत्यु को भी दूर किया जाता है। ८. ब्रह्मचर्य के लिए व शक्ति को व्यर्थ न होने देने के लिए मैं **अपः**=कर्मों को पुकारता हूँ। मेरा जीवन कर्ममय होता है, कर्म में लगा हुआ व्यक्ति वासनाओं का शिकार नहीं होता। ९. शक्ति को भरके मैं **विष्णुम्**=विष्णु को पुकारता हूँ। विष्णु धारक देवता है। मैं धारण करनेवाला बनता हूँ। 'यज्ञो वै विष्णुः'=मेरा जीवन यज्ञमय होता है। १०. **पूषणम्**=पूषा को पुकारता हूँ। अपना पोषण करते हुए सभी का पोषण करता हूँ। सूर्य के समान सभी में प्राणशक्ति का सञ्चार करनेवाला बनता हूँ। ११. **ब्रह्मणस्पतिम्**=पोषण-क्रिया में ग़लती न हो जाए, अतः मैं ज्ञान के पति को पुकारता हूँ, अधिक-से-अधिक ज्ञानी बनने का प्रयत्न करता हूँ। १२. **भगम्**=इस लोकहित में परतन्त्र न हो जाने के लिए भग को, ऐश्वर्य की देवता को पुकारता हूँ। ऐश्वर्य के बिना मैं अपना भी धारण न कर सकूँगा औरों का हित कर सकने का प्रश्न ही नहीं रहता। १३. **नु**=अब मैं **शंसम्**=शंसन को पुकारता हूँ, सभी का शंसन करता हूँ। किसी के लिए निन्दात्मक शब्दों का प्रयोग नहीं करता। १४. **सवितारम्**=अन्त में सविता को पुकारता हूँ। सविता प्रेरक है। मैं भी प्रेरणा देनेवाला बनता हूँ और इस प्रकार अपने जीवन को इन देवताओं से युक्त करके **ऊतये**=रक्षा के लिए समर्थ होता हूँ।

भावार्थ—इन्द्र और अग्नि आदि देवताओं का आवाहन करता हुआ मैं अपने जीवन की रक्षा करनेवाला बनता हूँ।

ऋषिः—**प्रगाथः**। देवता—**महेन्द्रः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

तप+धन

अस्मे रुद्रा मेहना पर्वतासो वृत्रहत्ये भरहूतौ सजोषाः।
यः शंसते स्तुवते धायि पज्रऽइन्द्रज्येष्ठाऽअस्माँ२॥ऽअवन्तु देवाः॥५०॥

१. **अस्मे**=हममें **रुद्राः**=रुद्र **मेहना**=(धननाम—नि० ४.४) धन और **पर्वतासः**=शक्ति का पूरण हो। रुद्र तपस्या का प्रतीक है। रुद्र प्राण हैं। इनकी साधना करनेवाला भी रुद्र बनता है और शत्रुओं को रुलानेवाला होता है, परन्तु इस संसार में केवल तप से कार्य नहीं चलता। तपस्या यदि आत्मा व मन के बल को प्राप्त कराती है तो धन होने पर शरीर व मन दोनों सबल बन पाते हैं। दूसरे शब्दों में शक्तियों का पूरण तप व धन से साध्य हो जाता है। २. तप, धन व शक्ति का पूरण—ये **सजोषाः**=समानरूप से हमारा सेवन करनेवाले

होकर **भरहूतौ**=संग्राम की पुकार होने पर **वृत्रहत्ये**=वृत्र के विनाश में निमित्त बनते हैं। यह वृत्र और इन्द्र का संग्राम ही अध्यात्म व सात्त्विक संग्राम है। इसमें विजय पाने के लिए आवश्यक है कि हम तपस्वी हों, शरीररक्षा के लिए पर्याप्त धनवाले हों और अपने में शक्ति का सञ्चय करें। ३. **यः पज्रः**=जो बल **शंसते स्तुवते**=शंसन व स्तवन करनेवाले के लिए होता है, वह बल हममें **धायि**=धारण किया जाए। हम किसी व्यक्ति की निन्दा न करें और प्रभु का सदा स्तवन करनेवाले बनें। ऐसा करने पर हमें बल की प्राप्ति होगी। **इन्द्र-ज्येष्ठाः**=इन्द्र है ज्येष्ठ जिनमें वे **देवाः**=सब देव **अस्मान् अवन्तु**=हमारी रक्षा करें। वस्तुतः सब देवों का रक्षण तभी प्राप्त होता है जब मनुष्य किसी की निन्दा नहीं करता और खाली समय को प्रभु-स्तवन में बिताता है। अपने समय को प्रभु-स्तवन में बितानेवाला यह व्यक्ति 'प्रगाथ' इस अन्वर्थक नामवाला है। प्रकृष्ट-गायन करनेवाला। इस प्रभु-गायन से ही इसे वह शक्ति प्राप्त होती है जो इसे संग्राम में काम-क्रोधादि शत्रुओं का विनाश करने के योग्य बनाती है।

भावार्थ—हम तपस्वी बनें। धन को एकदम हेय न समझ लें। धनी बनकर तप को न छोड़ दें (विलासी न बन जाएँ)। यह मार्ग हमें वह शक्ति प्राप्त कराएगा जिससे हम वासना का विनाश कर पाएँगे।

ऋषिः—**कूर्मः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

काम, क्रोध, लोभ व अभिमान का विजय

अर्वाञ्चोऽअद्या भवता यजत्राऽआ वो हार्दि भयमानो व्ययेयम्।
त्राध्वं नो देवा निजुरो वृकस्य त्राध्वं कर्तादवपदो यजत्राः॥५१॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि कूर्म है—निरन्तर-क्रियाशील। क्रियाशीलता के कारण ही यह सबका धारण करनेवाला बनता है और स्वयं को शक्तिशाली बनाता है। यह सब देवों से प्रार्थना करता है—हे **यजत्राः**=यज्ञ के द्वारा त्राण करनेवाले देवो! **अद्य**=आज **अर्वाञ्चः**=हमारे समीप **भवत**=प्राप्त हानेवाले होओ। मनुष्य यज्ञशील होता है तो बुराइयों से बचा रहता है, जितना-जितना बुराइयों से दूर होता है, उतना-उतना देवों के समीप होता है। २. जब मनुष्य संसार में इस दिव्यता के मार्ग को छोड़कर दूसरे मार्ग पर चलता है तब प्रारम्भ में कुछ चमक लगने पर भी पीछे अन्धकार-ही-अन्धकार दिखता है और यह 'कूर्म' देवों से कहता है कि मैं **भयमानः**=डरता हुआ-सा **हार्दि**=हृदय से **वः**=आपके प्रति **आ व्ययेयम्**=सर्वथा आता हूँ। देवशून्य संसार में असुर राज्य चलता है और उसमें एक-से-एक बढ़कर बलवाले निर्बलों को समाप्त करते हुए चलते हैं। वहाँ घात-ही-घात दृष्टिगोचर होता है, अतः कल्पना करके भी डर लगता है, इसीलिए इन असुरों से घबराकर मनुष्य फिर देवों की शरण में चलता है। ३. हे **देवाः**=देवो! **नः**=हमें **निजुरः**=निश्चय ही जीर्ण करनेवाली इस कामवासना से **त्राध्वम्**=बचाओ। **वृकस्य**=(वृक आदाने) इस आदान-ही-आदान (ला-ला) की भावनावाली लोभवृत्ति से भी हमें बचाओं। ४. **कर्तात्**=अपने आधार को ही छिन्न-भिन्न करनेवाले इस क्रोध से **त्राध्वम्**=बचाओ और हे **यजत्राः**=यज्ञों के द्वारा त्राण करनवाले देवो! **अवपदः**=नीचे की ओर ले-जानेवाले, अर्थात् पाँवों तले कुचलनेवाले इस अभिमान से भी **त्राध्वम्** =रक्षा कीजिए। अभिमान सदा पतनोन्मुख है pride goeth before a fall. इस अभिमान से आप हमारी रक्षा कीजिए। वस्तुतः कूर्म=क्रियाशील व्यक्ति ही काम, क्रोध व अभिमान पर विजय पा सकता है।

भावार्थ—हम सदा यज्ञशील बनें और यज्ञों द्वारा वासनाओं से दूर रहें।

ऋषिः—**लुशः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

प्राण, अग्नि, देव, धन व शक्ति

विश्वेऽअ॒द्य म॒रुतो॒ विश्व॑ऽऊ॒ती विश्वे॑ भवन्त्व॒ग्नय॒: समि॑द्धाः।
विश्वे॑ नो दे॒वाऽअव॒सा ग॑मन्तु॒ विश्व॑मस्तु॒ द्रवि॑णं॒ वाजो॑ऽअ॒स्मे ॥५२॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'लुश' है 'लुनाति, श्यति' वासना का छेदन-भेदन करता है और बुद्धि को बड़ा तीव्र बनाता है। यह प्रार्थना करता है—१. **अद्य**=आज **विश्वे मरुतः**=सब प्राण हमें प्राप्त हों। मुख्यरूप से प्राण के पाँच भेद हैं फिर उनके अवान्तर भेद होकर इनकी संख्या ४९ हो जाती है। ये सब-के-सब प्राण मेरे जीवन में ठीक कार्य करें। ये **विश्वे**=सब प्राण **ऊती**=(ऊत्या) रक्षा के हेतु से हमें प्राप्त हों। २. प्राणों के कार्य के ठीक होने पर **विश्वे अग्नयः**=सब अग्नियाँ **समिद्धाः**=हममें समिद्ध **भवन्तु**=हों। (क) स्वास्थ्य की भी एक अग्नि है, शरीर का स्वास्थ्य एक विशेष तापमान पर आश्रित है। तापमान कम होने पर निर्बलता घेर लेती है। उचित से अधिक तापमान ज्वर का चिह्न है, उस समय यह अग्नि रोगकृमियों व मलों से युद्ध कर रही होती है। युद्ध में कुछ गर्मी बढ़ ही जाती है। (ख) दूसरी अग्नि हृदय की है, जो प्रेम के रूप में प्रकट होती है। यही मर्यादा से बढ़कर 'कामाग्नि' का रूप धारण कर लेती है। (ग) तीसरी अग्नि 'ज्ञानाग्नि' है यह कामना को भस्मकर, कर्मों को पवित्र किया करती है। ये सब-की-सब अग्नियाँ प्राणों का कार्य ठीक होने पर समिद्ध रहती हैं और हमारे जीवन में शरीर, मन व मस्तिष्क की दीप्ति का कारण बनती हैं। इस प्रकार प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'लुश' का नाम अन्वर्थक हो जाता है। ३. इन अग्नियों के समिद्ध होने पर हे **देवाः**=दिव्यगुणों के पुञ्ज प्रभो! **विश्वे**=सब देव **अवसा**=रक्षण के हेतु से **नः**=हमें **गमन्तु**=प्राप्त हों। सब अग्नियों के ठीक होने पर हमारा शरीर देवों का निवास-स्थान बनता है। ४. अब **विश्वम्**=सब **द्रविणम्**=धन संसार के निर्वाह के लिए आवश्यक सम्पत्ति (द्रविण=द्रु गतौ=जिससे कार्य सुचारुरूपेण चले) और **वाजः**=बल **अस्मे**=हमारे लिए हो। सम्पत्ति को प्राप्त करके हम 'कुबेर'=कुत्सित शरीरवाले व निर्बल न बन जाएँ। धन में आसक्त हो जाने पर निर्बल ही नहीं, मनुष्य मनुष्य ही नहीं रह जाता। उसकी सब अच्छाइयाँ समाप्त हो जाती है, अतः धन के साथ 'वाज' को जोड़ दिया गया है। 'वाज' शक्ति का वाचक तो है ही, इसका अर्थ त्याग भी है। हम इस धन को सदा त्यागपूर्वक उपभोग करनेवाले बनें।

भावार्थ—हम अपने जीवन को प्राणसाधना से प्रारम्भ करें, इससे हममें स्वास्थ्य, प्रेम व ज्ञान की अग्नियाँ समिद्ध होंगी। ये हमें दिव्य बनाएँगी और हम जीवन के लिए आवश्यक धन का अर्जन करते हुए उसमें आसक्त न होंगे।

ऋषिः—**सुहोत्रः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

मेरा हृदय देवासन बने

विश्वे॑देवाः शृणु॒तेम॒ꣳ हवं॑ मे॒ येऽअ॒न्तरि॑क्षे॒ यऽउप॒ द्यवि॒ ष्ठ।
येऽअ॑ग्निजि॒ह्वाऽउ॒त वा॒ यज॑त्राऽआ॒सद्या॒स्मिन् ब॒र्हिषि॑ मादयध्वम् ॥५३॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'सुहोत्र' है—सु-होत्र, जिसने उत्तम हवन किया है। इसने गत मन्त्र में 'लुश' के रूप में सब वासनाओं का छेदन किया और अब अपने जीवन-यज्ञ की

वेदि को पवित्र बनाकर यह देवों से कहता है—**विश्वेदेवाः**=सब देवो! **मे**=मेरी **इमम्**=इस **हवम्**=पुकार को **शृणुत**=सुनो। हे देवो! **ये**=जो **अन्तरिक्षे**=अन्तरिक्ष में हो **ये**=जो **उपद्यवि**=द्युलोक के समीप **स्थ**=हो **उत**=और **ये**=जो **अग्निजिह्वाः**=अग्नि को अपना वक्ता (Spokesman) बनाये हुए पार्थिव देव हो **वा**=अथवा **यजत्राः**=आप सब जो यज्ञों के द्वारा हमारा त्राण करनेवाले हो, वे **अस्मिन्**=इस **बर्हिषि**=निर्वासन व विशाल हृदयान्तरिक्ष में **आसद्य**=बैठकर **मादयध्वम्**=मेरे जीवन को आनन्दमय बनाओ। २. 'ये पृथिव्यां एकादशस्थ, ये अन्तरिक्ष एकादशस्थ, ये दिवि एकादशस्थ' इन शब्दों में वेद ३३ देवों का संकेत कर रहा है। ११ पृथिवीस्थ देव हैं, ११ अन्तरिक्षस्थ और ११ द्युलोक के देव हैं। द्युलोकस्थ देवों का मुखिया सूर्य है, अन्तरिक्षस्थ देवों का मुखिया वायु व विद्युत् है और पृथिवीस्थ देवों का मुखिया अग्नि है। प्रस्तुत मन्त्र में अन्तरिक्ष व द्युलोक का तो स्पष्ट उल्लेख है, पृथिवीस्थ देवों को 'अग्निजिह्वा' शब्द से याद किया गया है, उनका अग्नि मानो वक्ता है। पृथिवीस्थ देवों का मुखिया अग्नि ही तो है। ३. **बर्हिः**=वेद में स्थान-स्थान पर हृदय को बर्हिः नाम से सूचित किया गया है। इस शब्द में मूलभावनाएँ दो हैं। (क) जहाँ से वासनाओं का उद्बर्हण कर दिया गया है, वह वासनारहित हृदय ही 'बर्हिः' है। (ख) 'बृहि वृद्धौ' से बनकर यह शब्द यह भावना दे रहा है कि वह हृदय 'बर्हिः' है, जो विशाल है, बढ़ा हुआ है।

४. इस हृदय में हम सब देवों का आमन्त्रण करते हैं। वास्तव में तो वासनओं को निकाल देने पर देव उस खाली स्थान को भरने के लिए स्वयं आ ही जाते हैं। देवों के लिए पवित्रस्थान बनाने के लिए ही हृदय का मार्जन किया गया है। जब हृदय के अन्दर दिव्य भावनाएँ आती हैं तब वहाँ प्रकाश व आनन्द का होना स्वाभाविक है।

भावार्थ—हम 'सुहोत्र' बनकर अग्निकुण्ड में सब वासनाओं को भस्म कर दें और अपने हृदय को देवासन बनाकर आनन्द का लाभ करें।

ऋषिः—**वामदेवः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

वामदेव को प्रभु का प्रसाद

देवेभ्यो हि प्रथमं यज्ञियेभ्योऽमृतत्वꣳ सुवसि भागमुत्तमम्।
आदिद्दामानꣳ सवितर्व्यूर्णुषेऽनूचीना जीविता मानुषेभ्यः॥५४॥

१. पिछले मन्त्र की भावना के अनुसार अपने हृदय को देवासन बनाकर सुहोत्र अब 'वामदेव'=सुन्दर दिव्य गुणोंवाला बन गया है। प्रभु 'सविता' हैं (षु प्रसवैश्वर्ययोः), सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करनेवाले हैं और यह सम्पूर्ण ऐश्वर्य उन्हीं प्रभु का ही है। हे **सवितः**=आप ही देवों को देवत्व प्राप्त करानेवाले हैं। प्रभु इन देवों को क्या-क्या प्राप्त कराते हैं, यह देखिए। २. **देवेभ्यः**=देवताओं के लिए **हि**=निश्चय से **यज्ञियेभ्यः**=जिन्होंने अपना जीवन यज्ञमय बनाया है **प्रथमम्**=सबसे पहले **अमृतत्वम्**=अमृतत्व, रोगराहित्य को **सुवसि**=प्राप्त कराते हो। ये यज्ञमय जीवनवाले देव रोगों का शिकार नहीं होते। रोग का सम्बन्ध भोग के साथ है **'भोगे रोगभयम्'**। यज्ञमय जीवन के साथ तो अमरता का ही सम्बन्ध है। यज्ञिय जीवनवाले देव रोगाक्रान्त नहीं होते। २. जहाँ देवों को रोगशून्यता व उत्तम स्वास्थ्य मिलता है, वहाँ साथ ही उस उत्तम स्वास्थ्य को स्थिर रखने के लिए **उत्तमं भागम्**=उत्तम भजनीय-सेवनीय धन **सुवसि**=प्राप्त कराते हो। धन को 'भग' कहते हैं। समूचा धन यदि 'भग' है, तो उसमें से मुझे प्राप्त हानेवाला अंश ही मेरा 'भाग' है। वह सवितादेव इन यज्ञशील देवों को सात्त्विक, अकुटिल मार्गों से प्राप्त होनेवाला धन देते हैं।

३. **आत् इत्**=धन के साथ आप इन देवों को **दामानम् व्यूर्णुषे**=उदरबन्धन से आच्छादित करते हैं। इनका जीवन बड़ा संयत होता है। पेट पर मानो ये रस्सी बाँधे रखते हैं। ये दामोदर ही तो संयत जीवनवाले होते हैं। इन यज्ञिय देवों को प्रभु धन के साथ संयम शक्ति भी प्राप्त कराते हैं। ये धनों से भोगों के भोगने में नहीं लग जाते। उदर पर दाम बाँधे रखते हैं। ४. इस प्रकार **मानुषेभ्यः**=इन मनुष्यमात्र का हित करनेवाले संयमी जीवनवाले पुरुषों के लिए **जीविता**=जीवन के साधन (यैः जीवति तानि जीवितानि) **अनूचीना**=अनुकूल होते हैं। जब मनुष्य अपने जीवन को सुन्दर बनाने में लगता है तब प्रभु उसे अनुकूल जीवन-साधन प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—हम वामदेव बनें ताकि प्रभु से प्रसाद के रूप में अमृतत्व=स्वास्थ्य, उत्तम धन, संयम व अनुकूल जीवन प्राप्त कर सकें।

ऋषिः—**ऋजिश्वः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

निःश्रेयस+अभ्युदय=धर्मः

प्र वायुमच्छा बृहती मनीषा बृहद्रयिं विश्ववारꣳ रथप्राम्।
द्युतद्यामा नियुतः पत्यमानः कविः कविमियक्षसि प्रयज्यो ॥५५॥

१. गतमन्त्र का वामदेव सदा सरल मार्ग से चलता है, अतः वह प्रस्तुत मन्त्रों में ऋजिश्वः=ऋजुमार्ग से गति करनेवाला हो जाता है। (ऋजु+श्वि=गति)। देवता धनार्जन न करते हों, यह बात नहीं, परन्तु ये धनार्जन में कभी कुटिल उपायों का अवलम्बन नहीं करते, सदा सरलमार्ग से धन कमाते हुए ये धन तो प्राप्त करते ही हैं, परन्तु साथ ही ये प्रभु को भूल नहीं जाते। इनकी बुद्धि आत्मतत्त्वप्रवण रहती है। ये अपने जीवन में निःश्रेयस व अभ्युदय दोनों का ही साधन करते हैं। २. यह ऋजिश्व कहता है कि हे प्रभो! आपने हमें मनीषा=बुद्धि दी है। यह सचमुच 'मनसः ईष्टे'=मन की ईश बने, मन का शासन करनेवाली बने और इस प्रकार बृहती (बृहि वृद्धौ) हमारी वृद्धि—सर्वतोमुखी उन्नति का कारण हो। ये मेरी **बृहती मनीषा**=वृद्धि के लिए दी गई बुद्धि **वायुम् अच्छ प्र** (सरतु) आत्मतत्त्व की ओर चले। 'आत्मा' शब्द अत सातत्यगमने से बना है तो 'वायु' शब्द=वा गतौ से बनकर उसी मूल भावना को व्यक्त कर रहा है। 'वायुः अनिलम् अमृतं, अथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम्' इस मन्त्र में भी नश्वर शरीर के विरोध में अनश्वर आत्मा को वायु शब्द से स्मरण किया गया है। मेरी बुद्धि सदा प्राकृतिक वस्तुओं की ओर न भागती रहकर प्रभुप्रवण बने। यह आत्मा को कभी न भूले। यह आत्मतत्त्व को विस्मृत न करना ही धीर पुरुष का लक्षण है। यही प्रेयस् को महत्त्व न देकर श्रेयस् को अपनाना है। मैं प्रतिदिन आत्मचिन्तन अवश्य करूँ। यही निःश्रेयस का मार्ग है। ३. इस आत्मचिन्तन के साथ शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए **बृहद् रयिम्**=वृद्धि के कारणभूत धन की ओर मेरी बुद्धि जाए, अर्थात् मैं बुद्धि से धनार्जन भी करूँ। यह धन ऐसा सदुपयुक्त हो कि **विश्ववारम्**=सबसे चाहने योग्य हो। सब कहें कि धन हो तो ऐसा हो। यह धन **रथप्राम्**=हमारे इस शरीररूप रथ का पूरण (प्रा) करनेवाला हो। यह धनार्जन ही अभ्युदय है। ४. अभ्युदय व निःश्रेयस का अपने जीवन में समन्वय करता हुआ मैं अपने मस्तिष्क को ज्योतिर्मय बनाऊँ। प्रभु कहते हैं कि तू **द्युतद्यामा**=ज्योतिर्मय मस्तिष्करूप द्युलोकवाला बन। इस मस्तिष्क में तू ज्ञान के सूर्य के उदय के लिए प्रयत्नशील हो। ५. वायु के घोड़े नियुत् कहलाते हैं। 'वायु' आत्मा का नाम है। ये इन्द्रियाँ इसके घोड़े हैं। इन्हें उसने सदा नियत

कर्मों में लगाये रखना है। नियत कर्मों में लगाने योग्य होने से ही इन्हें 'नियुत्' कहते हैं। इन **नियुतः**=इन्द्रियाश्वों को **पत्यमानः**=(पत् गतौ) तू सदा नियत कर्मों में लगा। जब ज्ञानपूर्वक कर्म होंगे तब वे पवित्र ही होंगे। ४. **कविः**=यह क्रान्तदर्शी बनता है। वस्तुओं के तत्त्व को जानने के कारण यह उनमें फँसता नहीं। कहीं भी न उलझता हुआ यह आगे-और-आगे बढ़ता चलता है। इसका जीवन न उलझने के कारण ही सदा पवित्र व यज्ञमय बना रहता है। यह लोकहित में सदा प्रवृत्त रहता है। हे **प्रयज्यो**=यज्ञमय स्वभाववाले जीव! तू **कविम्**=उस क्रान्तदर्शी, सृष्टि के प्रारम्भ में सब विद्याओं का उपदेश देनेवाले प्रभु को **इयक्षसि**=प्राप्त होता है। कवि बनकर ही तो 'कवि' को तू प्राप्त कर पाएगा।

भावार्थ—हम 'ऋजिश्व' ऋजुमार्ग से चलनेवाले बनकर, आत्मतत्त्व की ओर चलनेवाले बनें। सुपथ से ही धन कमाएँ। ज्योतिर्मय बनकर, कर्त्तव्य पालन करते हुए यज्ञमय जीवन बनाएँ और कवि बनकर उस कवि को प्राप्त करें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**। देवता—**इन्द्रवायू**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

सात्त्विक अन्न व शारीरिक स्वास्थ्य

इन्द्रवायूऽइमे सुताऽउप प्रयोभिरा गतम्। इन्दवो वामुशन्ति हि॥५६॥

१. मन्त्र का सरलार्थ यह है—**इन्द्रवायू**=इन्द्र और वायु **इमे**=ये **इन्दवः**=सोमकण **सुताः**=उत्पन्न किये गये हैं। ये सोमकण **हि**=निश्चय से **वाम्**=तुम दोनों—इन्द्र और वायु को **उशन्ति**=चाहते हैं। **प्रयोभिः**=सात्त्विक अन्नों से **उप आगतम्**=इन्हें समीपता से प्राप्त होओ।

२. ये सोमकण अन्न का ही अन्तिम परिणाम हैं। यदि अन्न सात्त्विक होता है तो ये सोमकण भी सौम्य व शान्त होते हैं और शरीर में सुरक्षित रहते हैं। ये सोमकण 'इन्दवः' कहे गये हैं, क्योंकि सारी शक्ति का मूल ये ही हैं—इन्द to be powerful. इन्हीं से जीवन का धारण होता है, इनकी समाप्ति के साथ जीवन समाप्त हो जाता है। ३. 'प्रयस्' शब्द अन्न का वाचक है, साथ ही यह प्रयत्न का वाचक भी है। दोनों अर्थों को मिलाने से यह भावना प्रतीत होती है कि 'जो अन्न प्रयत्न से प्राप्त किया गया है'। वस्तुतः प्रयत्न-प्राप्त अन्न का सेवन शक्ति की रक्षा में सहायक है। ४. सोमकणों को शरीर में ही सुरक्षित करने के लिए इन्द्र=इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनना आवश्यक है। जितेन्द्रिय पुरुष ही वीर्यरक्षा कर पाता है। इन्द्रियों का दास बनने पर सोमशक्ति की रक्षा का प्रश्न ही नहीं रहता। इन्द्रियों का वशवर्ती न होने के लिए वायु बनना चाहिए। 'वा गतौ'=निरन्तर क्रियाशील रहना चाहिए। अच्छे कार्यों में लगे रहेंगे तो बुरी भावनाएँ उत्पन्न ही नहीं होंगी। आलसी को ही ये वासनाएँ सताती हैं। ५. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि मधुच्छन्दा है। इसने प्रस्तुत मन्त्र में निम्न मधुर इच्छाएँ की हैं (क) **इन्द्र**=मैं इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनूँगा। (ख) **वायु**=मेरा जीवन सतत क्रियामय होगा। (ग) **प्रयस्**=मैं प्रयत्न से प्राप्त सात्त्विक अन्न का सेवन करनेवाला बनूँगा। (घ) **इन्दवः**=सोमकण शक्ति के स्रोत हैं, इस बात को न भूलूँगा।

भावार्थ—हम सात्त्विक अन्न के सेवन से इन्द्रियों के अधिष्ठाता बनें तथा निरन्तर क्रिया में लगे रहने से सोम के प्रिय बनें, अर्थात् शक्ति की रक्षा करनेवाले हों।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**। देवता—**मित्रावरुणौ**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

स्नेह व अद्वेष—मानस स्वास्थ्य

मित्रꣳ हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादसम्। धियं घृताचीꣳ साधन्ता॥५७॥

१. सोमकणों की रक्षा के लिए 'मानस स्वास्थ्य' की अत्यन्त आवश्यकता है। मनुष्य का मन क्षुब्ध होगा तो सोमरक्षा सम्भव न होगी, अतः 'मधुच्छन्दा' प्रार्थना करता है कि मैं **मित्रम्**=स्नेह की देवता को **हुवे**=पुकारता हूँ, जो स्नेह की देवता **पूतदक्षम्**=मेरे बल को पवित्र बनाती है। जब हमारा स्नेह व्यापक बना रहता है तब वह पवित्र होता है और वीर्य में उष्णता उत्पन्न करने का कारण नहीं बनता। यही स्नेह संकुचित होकर जब वासना का रूप धारण कर लेता है तब यह 'काम' कहलाता है और तब सोमरक्षा सम्भव नहीं होती। एवं, 'स्नेह को व्यापक बनाना' सोमरक्षा का उत्तम उपाय है। २. **वरुणम् च**=(हुवे) मैं वरुण को पुकारता हूँ। जो वरुण **रिशादसम्** (रिश+अदस्) संहारक शत्रुओं का खा जानेवाला है। (वरुणः वारयतीति सतः) 'वरुण' द्वेष-निवारण की देवता है। द्वेष मनुष्यों की शक्ति को जलाने का हेतु बनता है। ईर्ष्यालु पुरुष अपने अन्दर जलता रहता है। एवं, सोमरक्षा के लिए 'द्वेष' से दूर रहना नितान्त आवश्यक है। द्वेष तो रिश् है (रिश हिसांयाम्), मनुष्य की हिंसा करनेवाला है। ३. ये मित्र और वरुण=स्नेह करना व द्वेष से दूर रहना, इसलिए भी आवश्यक हैं कि ये दोनों मनुष्य की **घृताचीं धियं साधन्ता**=क्षरण व दीप्ति को देनेवाली बुद्धि को सिद्ध करते हैं। घृ क्षरणदीप्त्योः=स्नेह व अद्वेष से हमारा मन स्वस्थ रहता है और हममें वह बुद्धि उत्पन्न होती है जो मलों का क्षरण कर हमें दीप्त बनाती है। जब स्नेह वासना का रूप ले-लेता है तब वह 'काम' मनुष्य के ज्ञान को नष्ट कर देता है। काम तो है ही 'मन्मथ'। (मनो मथः=ज्ञान का नष्ट करनेवाला)। द्वेष, ईर्ष्या व क्रोध मनुष्य के मन को नष्ट कर देते हैं। 'ईर्ष्यामृतं मनः', ईर्ष्यालु पुरुष का मन मृत होता है। क्रोध में बुद्धि अलसा जाती है। एवं, 'मित्रावरुण' बुद्धि के नैर्मल्य के लिए आवश्यक हैं।

भावार्थ—'मधुच्छन्दा' की मधुर इच्छाएँ निम्न शब्दों में व्यक्त हुई हैं—(क) **मित्र**=मैं सबके साथ स्नेह करनेवाला बनूँ। (ख) **वरुण**=मैं द्वेष का सदा वारण करनेवाला होऊँ। (ग) मलों के 'क्षरण' से मैं दीप्त बुद्धि को सिद्ध करूँ (घृताचीं धियं) और (घ) सब के प्रति स्नेहवाला बनकर द्वेष से सदा दूर रहता हुआ मैं सोमरक्षक बनूँ।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

प्राण—साधना

दस्रा युवाकवः सुता नासत्या वृक्तबर्हिषः। आ यातꣳ रुद्रवर्त्तनी॥५८॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का देवता 'अश्विनौ' प्राणापान हैं। प्राणापान 'अश्विनौ' इसलिए कहलाते हैं कि '**न श्वः**'=आज हैं और कल नहीं। अथवा 'अश् व्याप्तौ' ये सदा कार्यों में व्याप्त रहते हैं। प्राणापान कभी सोते नहीं। प्रस्तुत मन्त्र में इन्हें 'दस्रा, नासत्या व रुद्रवर्त्तनी' कहा गया है। ये (दसु उपक्षपे) सब मलों को उपक्षीण करनेवाले हैं। शरीर के मलों को क्षीण करके शरीर को नीरोग बनाते हैं। मन से राग-द्वेष को दूर भगाकर मानस शान्ति देते हैं और बुद्धि की मन्दता को नष्ट करके बुद्धि को सूक्ष्म करते हैं। ये 'नासत्या'= नासिका में रहनेवाले हैं। इनका व्यापार घ्राणेन्द्रिय में चलता है अथवा 'न असत्यौ' ये असत्य नहीं हैं, ये सत्य-ही-सत्य हैं। इनकी साधना मनुष्य के शरीर, मन व मस्तिष्क को सत्य व निर्मल बनाती है। ये प्राणापान 'रुद्रवर्त्तनी' हों, (रुद्र इति स्तोतृनाम-निघण्टौ) स्तोता के मार्ग पर चलनेवाले हों, अर्थात् इनसे प्रभु के नामों का जप चले। मैं अपने श्वासोच्छ्वास के साथ प्रभु के नामों का स्मरण करूँ। २. मन्त्र में कहते हैं कि **दस्रा**=दोषों

का उपक्षय करनेवाले **नासत्या**=नासिका में होनेवाले व सदा सत्य **रुद्रवर्त्तनी**=स्तोता के मार्ग पर चलनेवाले प्राणापानो! तुम इन सोमकणों को जो **सुताः**=तुम्हारे शरीर में उत्पन्न हुए हैं **आयातम्**=प्राप्त होओ। प्राणसाधना 'सोमरक्षा' का सर्वोत्तम साधन है। प्राणापान के अभ्यास से इस सोम की ऊर्ध्वगति होती है। ३. प्राणसाधना से सुरक्षित सोमकण **'युवाकवः'** हैं (यु=मिश्रण-अमिश्रण), ये हमें मलों से पृथक् करके नीरोगता, शान्ति व बुद्धि की सूक्ष्मता से युक्त करते हैं। सब दुरितों से दूर करने और भद्र से मिलानेवाले ये ही हैं। दुरितों से दूर करते हुए ये सोमकण **'वृक्तबर्हिषः'** हैं (वृक्त=purified वृक्तं बर्हिः यैः) ये हृदय को पवित्र करनेवाले हैं। हृदय की पवित्रता से ये सुरक्षित होते हैं। सुरक्षित हुए-हुए ये हृदय को और अधिक निर्मल बनाते हैं।

भावार्थ—प्रस्तुत मन्त्र में मधुच्छन्दा की मधुर इच्छा यह है कि मेरे प्राण प्रभु का स्तवन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**कुशिकः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

आदर्श पत्नी के कर्तव्य—आदर्श गृहिणी का गुणदशक

विदद्यदी सरमा रुग्णमद्रेर्महि पाथः पूर्व्यं सध्र्यक्कः।
अग्रं नयत्सुपद्यक्षराणामच्छा रवं प्रथमा जानती गात्॥५९॥

१. मन्त्र का ऋषि कुशिक है (कुशा+इक) **कुशा**=घोड़े की लगाम, **इक**=वाला। इन्द्रियरूपी घोड़ों की लगामवाला। जिसने मनरूपी लगाम से इन्द्रियरूप घोड़ों को वश में किया हुआ है। यही व्यक्ति घर का उत्तम सञ्चालन कर सकता है। घर की साम्राज्ञी पत्नी होती है, वह स्वयं अपना उत्तम सञ्चालन करती हुई घर को उत्तम मार्ग से ले-चलती है। उसके कर्त्तव्यों को निम्न शब्दों में देखिए। २. **यत्**=जो **ई**=निश्चय से **सरमा**=पति के साथ ही रमण करनेवाली, जिसके सब आनन्द पति के साथ हैं **अद्रेः**=पर्वततुल्य विघ्नों के भी **रुग्णम्**=(रुजो भंगे) तोड़ने-फोड़ने को **विदत्**=जानती है, अर्थात् पत्नी का पहला कर्त्तव्य यह है कि वह घर में उपस्थित होनेवाले विघ्नों को स्वयं नष्ट-भ्रष्ट कर सके। प्रसंगवश 'सरमा' शब्द ने यह भी व्यक्त कर दिया कि पति से अलग संसारिक आनन्दों का वह स्वप्न भी लेनेवाली न हो। ३. यह **सध्र्यक्**=(सह अञ्चति) पति के साथ मिलकर **पाथः**= मार्ग को **कः**=बनाती है 'घर का सञ्चालन किस प्रकार करना है' इस बात का निश्चय यह पति के साथ मिलकर करती है और दोनों एकमत से विचारपूर्वक जिस मार्ग को बनाते हैं उसकी दो विशेषताएँ होती हैं—(क) **महि**=प्रथम तो वह (मह पूजायाम्) पूजावाला है। घर के सब व्यक्ति प्रातः प्रभुपूजा से दिन को प्रारम्भ करते है और सायं पूजा के साथ ही दिन की समाप्ति करते हैं, इस प्रकार इनका मार्ग पूजामय हो जाता है। (ख) **पूर्व्यम्**=यह मार्ग ऐसा होता है कि (पृ पालनपूरणयोः) इसमें घर के सब व्यक्तियों के स्वास्थ्य का ध्यान किया गया है, यह मार्ग उनका पालन करनेवाला है और साथ ही यह उनके मनों में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं आने देता। १. पति-पत्नी मिलकर मार्ग न बनाएँगे तो बच्चे माता न मानेगी तो पिता से बात मनवा लेंगे। पिता न माने तो माता से मनवा लेंगे। इस प्रकार घर में 'द्वैध शासन'-सा चलेगा, जो कभी हितकर नहीं होगा, अतः **सध्र्यक्**=मिलकर ही रास्ते का निर्माण करना है। ४. पत्नी का तीसरा कर्त्तव्य है कि वह **अग्रं नयत्**=घर के सब व्यक्तियों को आगे-और-आगे ले-चलती है। सब सन्तानों की उन्नति का पूरा ध्यान करती है। ५. **सुपदी**=(पद गतौ) पत्नी स्वयं सदा उत्तम गतिवाली होती है। स्वयं सोयी हुई पत्नी बच्चों को 'जगाकर पढ़ने के लिए' प्रेरणा नहीं दे सकती। ६. माता के लिए यह भी

आवश्यक है कि वह **अक्षराणाम्**=प्रत्येक अक्षर के **अच्छा रवं जानती**=शुद्ध उच्चारण को जाननेवाली हो। माता से बच्चे ने उच्चारण सीखना है। ७. अन्तिम बात यह है कि माता **प्रथमा** (प्रथ विस्तारे)=उदार हृदयवाली हो। संकुचित हृदयवाली माता बच्चे को भी संकुचित हृदयवाला बना देगी। इस प्रकार उदार हृदयवाली बनकर **गात्**=यह गृहिणी घर में चलती है।

भावार्थ—आदर्श पत्नी वह है जो १. **सरमा**=पति के साथ आनन्द का अनुभव करती है। २. विघ्नों से न घबराकर उन्हें दूर करती है (विदत् रुग्णमद्रेः) ३. घर की नीति का निर्धारण पति के साथ विचार कर करती है (सध्र्यक्) ४. इसकी नीति में पूजा को प्रथम स्थान दिया जाता है (महि), ५. इसका प्रत्येक कार्य पालन व पूरण के लिए होता है (पूर्व्य)। इसकी नीति से घर में सबके शरीर स्वस्थ रहते हैं, मन व मस्तिष्क में कोई न्यूनता पैदा नहीं होती। ६. यह घर की उन्नति का कारण बनती है (अग्रं नयत्), ७. स्वयं उत्तम आचरणवाली होती है, ८. शुद्ध उच्चारणवाली होती है। ९. उदार हृदयवाली होती है (प्रथमा) १०. गतिशील होती है, आलस्य से दूर (गात्)।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**। देवता—**वैश्वानरः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

मार्गदर्शक प्रभु

नहि स्पशमविदन्नन्यमस्माद्वैश्वानरात्पुरऽएतारम्ग्नेः।
एमेनमवृधन्नमृताऽअमर्त्यं वैश्वानरं क्षैत्रजित्याय देवाः॥६०॥

१. **अमृताः देवाः**=देव अमृत हैं, अमर हैं। ये किसी भी सांसारिक वस्तु के पीछे भागते नहीं, वस्तुओं का उचित प्रयोग करते हुए ये ज्ञानीलोग उन वस्तुओं में आसक्त नहीं होते। २. ये देव **क्षैत्रजित्याय**=इस संसाररूप रणक्षेत्र में विजय पाने के लिए उस **अमर्त्यम्**=पूर्णरूप से अनासक्त एवं **वैश्वानरम्**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले **एनम्**=इस प्रभु को **ईम्**=निश्चय से **आ अवर्धन्**=सर्वथा बढ़ाते हैं। उस प्रभु का स्तवन करते हैं। इस संसार-संग्राम में विजयी होने का एकमात्र उपाय प्रभु-स्तवन ही है। प्रभु ने ही हमारे लिए 'काम, क्रोध व लोभ' आदि शत्रुओं को जीतना है। इस शत्रु-विजय के द्वारा वे प्रभु हमारा हित साधते हैं, इसीलिए ३. **अस्मात्**=इस **वैश्वानरात्**=सर्व नरहितकारी **अग्नेः**=अग्रेणी उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले प्रभु को छोड़कर **अन्यम्**=किसी और को **पुर एतारम्**=आगे ले-चलनेवाला **स्पशम्**=मार्गदर्शक **नहि अविदन्**=नहीं जानते। देवलोग प्रभु को ही मार्गदर्शक समझते हैं। वस्तुतः 'अन्तःस्थित प्रभु की वाणी को सुनना और उसके अनुसार कार्य करना', इससे बढ़कर धर्मज्ञान का और साधन नहीं है। जब मनुष्य प्रभु को अपना नेता बनाता है तब भटकने का प्रश्न ही नहीं उठता। ४. प्रभु को ही मार्गदर्शक बनानेवाला व्यक्ति सभी को प्रभु का पुत्र जानता है, उसमें सभी के प्रति प्रीति की भावना होती है। सभी के साथ स्नेह करने के कारण इसका नाम 'विश्वामित्र' होता है। यही इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—हम प्रभु को अपना मार्गदर्शक बनाएँ। ऐसा करने पर हम भटकेंगे नहीं। संसार-संग्राम में पराजित नहीं होंगे और सभी के साथ स्नेह करनेवाले बनेंगे।

ऋषिः—**भरद्वाजः**। देवता—**इन्द्राग्नी**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

पति-पत्नी, राजा-रानी अथवा राजा व सेनापति

उग्रा विघनिना मृधऽइन्द्राग्नी हवामहे। ता नो मृडातऽईदृशे॥६१॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का देवता 'इन्द्राग्नी' हैं। 'इन्द्र' पति है उसने शक्तिशाली होना है और धन कमाना है। इन्द्र असुरों का संहार करता है, पति ने भी आसुरवृत्ति का संहार करते हुए चलना है। पत्नी ने 'अग्नि' बनना है। मन्त्र संख्या ५९ में इसके लिए 'अग्रं नयत्' तो कहा ही गया है। गृहिणी वही जो घर को आगे ले-चलती है—अग्नि है। २. ये दोनों **उग्रा**=उदात्त स्वभाव के हैं। इनके शील में कहीं भी कमीनापन नहीं होता। ये उदार होते हैं। ५९ में पत्नी को 'प्रथमा'=विशाल हृदयवाली कहा ही गया है। इनकी उदात्तता पर घर की उदात्तता निर्भर करती है। इनके दिल छोटे होते हैं तो घर भी छोटा बन जाता है। ३. ये **इन्द्राग्नी**=पति-पत्नी **मृधः**=हमारा वध करनेवाले जो काम-क्रोधादि शत्रु हैं, उनका **विघनिना**=विशेषरूप से हनन करनेवाले होते हैं। काम-क्रोध पर विजय ही संसार-संग्राम में सच्चा विजय है। इसी में गृहस्थ की सफलता है। ४. ऐसे इन्द्राग्नी को ही **हवामहे**=हम पुकारते हैं, अर्थात् प्रभु से यही आराधना करते हैं कि हमारे राष्ट्र में प्रत्येक घर में ऐसे पति-पत्नी हों तभी राष्ट्र का एक-एक घर उत्तम बनकर राष्ट्र का उत्थान होगा। इन्द्राग्नी का अर्थ राजा-रानी लें तो अर्थ होगा हमारे राष्ट्र के प्रमुख पुरुष शासक व शासिकाएँ उदात्त व शत्रुनाशक हों। वे काम-क्रोध के वशीभूत न हों। इन्हीं का अनुकरण शेष प्रजा ने करना है। इन्द्राग्नी का अर्थ राजा व सेनापति लें तो बाह्य शत्रुओं से राष्ट्र की रक्षा करने की भावना भी 'मृधः विघनिना' शब्दों से सूचित होती है। ये राष्ट्र-शत्रुओं को कुचल डालनेवाले हों। ५. **ता**=ऐसे पति-पत्नी ही **नः**=हम सबको **ईदृशे**=इस प्रलोभनमय संसार में **मृडातः**=सुखी करनेवाले होते हैं। जिस राष्ट्र में पति-पत्नी 'इन्द्राग्नी' होंगे उस राष्ट्र में न कोई भूखा मरेगा (इन्द्र=ऐश्वर्य), न ही कोई मूर्ख होगा (अग्नि=प्रकाश)। कितना सुखमय व सुन्दर होगा वह राष्ट्र! यह राष्ट्र 'भरद्वाजों' का होगा। उन लोगों का जिन्होंने काम-क्रोध को जीतकर अपने में शक्ति का भरण किया है (भरद्+वाज=भरद्=भरता है, वाज=शक्ति को)।

भावार्थ—पति-पत्नी उदात्त स्वभाव के व काम-क्रोध को जीतनेवाले हों।

ऋषिः—**देवलः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

उपासना के तीन लाभ

उपा॑स्मै गायता नरः पव॑माना॒येन्द॑वे। अ॒भि दे॒वाँ२॥ऽइय॑क्षते ॥६२॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि देवल है—देवों का लेनेवाला—दिव्य गुणों को अपने अन्दर बढ़ानेवाला। यह अपने को दिव्य गुणों का पुञ्ज बना पाया है, क्योंकि इसने प्रभु का उपासन किया है। यह कहता है कि २. हे **नरः**=अपने को उन्नतिपथ पर (नृ नये) ले-चलनेवाले लोगो! **अस्मै**=इस प्रभु के लिए **उपगायत**=समीपता से गायन करो। घर में सब मिलकर बैठें और उस प्रभु का स्तवन करें। यही एकमात्र उपाय है जिससे कि हमारा जीवन बुराइयों से बचा रहता है। हम गुणों से युक्त होकर अपने जीवन को प्रभु-गुणगान से ही सुन्दर बना पाते हैं, अतः उस प्रभु के लिए गायन करो जो ३. **पवमानाय**=पवित्र करनेवाले हैं। प्रभु गुणगान से हमारा जीवन पवित्र बनेगा। प्रातः प्रभु के समीप बैठ, हम उसका गुणगान करें। ४. **इन्दवे**=शक्तिशाली प्रभुके लिए गुणगान करो। प्रभु का गुणगान हममें शक्ति भरेगा। ५. उस प्रभु का गान करो जो हमें **देवान् अभि इयक्षते**=देवों की ओर ले-चलनेवाले हैं। प्रभु का गुणगान हमें प्रेरणा देगा और हमारे जीवन को दिव्य गुणों से भर देगा। दिव्य गुणों को प्राप्त करके हम प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'देवल' बनेंगे।

भावार्थ—प्रभु-उपासन के तीन लाभ हैं—'पवित्रता, शक्ति व दिव्यता'।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

विप्र का लक्षण—विप्र बनने का उपाय

ये त्वाहिहत्ये मघवन्नवर्द्धन्ये शाम्बरे हरिवो ये गविष्टौ।
ये त्वा नूनमनुमदन्ति विप्राः पिबेन्द्र सोमꣳ सगणो मरुद्भिः॥६३॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि विश्वामित्र है। यह सभी से प्रेम करता है। यह विश्वामित्र पहला काम 'अहि-हत्या' के रूप में करता है। 'अहि' वृत्र है। ये दोनों शब्द समानार्थक हैं। वृत्र कामवासना का नाम है, क्योंकि यह हमारे ज्ञान पर पर्दा डाल देती है। इसे 'अहि' नाम इसलिए दिया कि यह 'आहन्ति'=मनुष्य का विनाश करती है। इस अहि-हत्या के लिए विप्र प्रभु का वर्धन करते हैं। **ये**=जो **त्वा**=तुझे **अहि-हत्ये**=इस वृत्र व कामवासनाओं के नाश के निमित्त **अवर्धन्**=बढ़ाते हैं। हे प्रभो! आप **मघवन्**=निष्पाप ऐश्वर्यवाले हैं (मा+अघ) अथवा यज्ञमय (मघ=मख) हैं। यह विप्र भी आपकी यज्ञमयता का स्तवन करता है और यज्ञमय बनता हुआ वासना को विनष्ट करता है। २. 'शंबर' ईर्ष्या का नाम है, यह मनुष्य की मानस शान्ति को समाप्त कर देती है। इस शंबर के साथ युद्ध को यहाँ 'शांबर' कहा गया है। विप्र लोग वे हैं **ये**=जो **शाम्बरे**=ईर्ष्या के साथ युद्ध में आपका स्मरण करते हैं और ईर्ष्या से ऊपर उठ जाते हैं। ३. हे प्रभो! आप 'हरिवान्' हैं, दुःखनाशक (हृ हरणे) ज्ञान की किरणोंवाले (हरयः रश्मयः) हैं। विप्र वे हैं **ये**=जो हे **हरिवः**=ज्ञान रश्मियोंवाले प्रभो! आपको **गविष्टौ**=(गो+इष्ट) ज्ञानयज्ञों में बढ़ाते हैं, अर्थात् स्तुत करते हैं। प्रभु मूल आचार्य हैं, गुरुओं के भी गुरु हैं। ५. फिर **विप्राः**=विप्र वे हैं **ये**=जो **नूनम्**=निश्चय से **त्वा**=आपको **अनुमदन्ति**=प्राप्त करने के बाद प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। आपकी प्राप्ति में ही जिन्हें आनन्द होता है, जो सभी प्राकृतिक भोगों के प्रति कोई विशेष रुचि नहीं रखते। ६. एवं, विप्र वह है जो (क) काम और ईर्ष्या पर विजय पाता है, (ख) ज्ञानयज्ञ का विस्तार करता है और (ग) प्रभु-प्राप्ति में आनन्द का अनुभव करता है। ऐसा विप्र बनने के लिए मन्त्र की समाप्ति पर प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! तू **सगणः**=ज्ञानेन्द्रिय पंचक, कार्मेन्द्रिय पंचक व पाँच प्राणों के गण से युक्त हुआ-हुआ **मरुद्भिः** (मरुतः=प्राण) प्राणों के द्वारा **सोमं पिब**=सोम का पान कर। जब जीव प्राणसाधना करता है तब उसके वीर्य की ऊर्ध्वगति उसे श्रीसम्पन्न बनाती है। उसी समय काम व ईर्ष्या का नाश होता है, ज्ञानयज्ञ चलता है और अन्ततः प्रभु-दर्शन होता है।

भावार्थ—विप्र वह है जो काम पर विजय पाता है, ईर्ष्या को नष्ट करता है, ज्ञानयज्ञ का विस्तार करता है, प्रभु-प्राप्ति में आनन्दानुभव करता है। विप्र बनने के लिए वह जितेन्द्रिय बनकर प्राणसाधना के द्वारा वीर्य की ऊर्ध्वगति के लिए प्रयत्नशील होता है।

ऋषिः—**गौरीवितिः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

माता का वीर पुत्र

जनिष्ठाऽउग्रः सहसे तुराय मन्द्रऽओजिष्ठो बहुलाभिमानः।
अवर्द्धन्निन्द्रं मरुतश्चिदत्र माता यद्वीरं दधनद्धनिष्ठा॥६४॥

१. **यत्**=जब **वीरम्**=वीर सन्तान को **धनिष्ठा**=उत्तम धनोंवाली, अर्थात् स्वास्थ्य, नैर्मल्य व ज्ञानदीप्ति-रूप सभी धनोंवाली अथवा (धन् to sound) सदा उत्तम शब्दों को

बच्चे के कान में डालनेवाली, बच्चे का निर्माण करनेवाली माँ **दधनत्**=बच्चे का पालन-पोषण करती है तब वह **उग्रः**=उदात्त **जनिष्ठाः**=बनता है।

माता (क) स्वस्थ हो, पवित्र मनवाली हो, ज्ञानकी दीप्तिवाली हो (ख) वह बालक के कान में सदा **'वेदोऽसि'**=तू ज्ञानी है, **'अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तृतं भव'**=तू शरीर को पत्थर-जैसा मज़बूत बना, मन की वासनाओं के लिए कुल्हाड़े के समान बन और अविच्छिन्न ज्ञान की ज्योतिवाला हो' इस प्रकार के उत्तम शब्दों को ही डालनेवाली हो, (ग) सन्तान को सदा 'वीर' शब्द से स्मरण करती हुई उसमें वीरता का सञ्चार करे, (घ) बच्चे का संकल्पपूर्वक निर्माण करे, तभी बच्चा मन्त्र के शब्दों के अनुसार निम्न गुणों के विकासवाला बन पाएगा। २. **उग्रः**=उदात्त, उत्कृष्ट स्वभाववाला, जिसकी मनोवृत्ति में कमीनापन नहीं है। **सहसे**=यह सहस् के लिए **जनिष्ठाः**=होता है। सहस् में ही शक्ति का पर्यवसान है। लोग अपमान करते हैं, परन्तु यह तैश में नहीं आता। **तुराय**=यह शत्रुओं के संहार के लिए होता है। काम-क्रोध आदि के वशीभूत नहीं होता। **मन्द्रः**=यह सदा आनन्दमय, प्रसन्न मनवाला रहता है। मनःप्रसाद इसकी सर्वोत्कृष्ट सम्पत्ति होती है। **ओजिष्ठः**=यह अत्यन्त ओजस्वी होता है। ओज वह शक्ति है जो इसके सर्वांगीण विकास का कारण होती है। **बहुलाभिमानः**=यह अत्यधिक उत्कर्ष की भावनावाला होता है। अपनी महिमा का आदर करता है। निराशावाद की बातें नहीं करता रहता। हिम्मत नहीं हार जाता। सदा उत्साहमय मनवाला होता है **'अहमिन्द्रः, न पराजिग्ये'**='मैं इन्द्र हूँ, पराजित थोड़े ही होता हूँ?' यह इसकी भावना होती है। ४. **अत्र**=इस जीवन में **चित्**=निश्चय से **मरुतः**=प्राण **इन्द्रम्**=इस इन्द्रियों के अधिष्ठाता को **अवर्धन्**=वृद्धि को प्राप्त कराते हैं, अर्थात् यह प्राणसाधना करता है और प्राणसंयम से सब प्रकार की उन्नति करता हुआ यह आगे-ही-आगे बढ़ता है। ५. इस सबके लिए वह गौरिवीति=सात्त्विक भोजनवाला होता है। सात्त्विक भोजन से इसका अन्तःकरण शुद्ध होता है।

भावार्थ—दीप्त ज्ञानवाली माता बच्चे को सदा उदात्त, सहनशील, वासनाओं का विजेता, आनन्दमय, ओजस्वी, उत्साह-सम्पन्न व प्राणसाधना का अभ्यासी बनाए। यही वृद्धि का मार्ग है।

ऋषिः—**वामदेवः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

वामदेव का प्रभु-आराधन

आ तू नऽइन्द्र वृत्रहन्नस्माकमर्द्धमा गहि। महान्महीभिरूतिभिः ॥६५॥

१. धनिष्ठा माता से निर्माण किया गया बालक बढ़ता हुआ 'वामदेव' बनता है, सुन्दर दिव्य गुणोंवाला होता है। इन्हीं गुणों का गतमन्त्रों में उल्लेख हुआ है। उन गुणों से युक्त बनना प्रभु की मित्रता में ही सम्भव होता है, अतः वामदेव प्रार्थना करता है २. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली, सर्वशक्तिमन् प्रभो! **नः**=हमारे **तु**=तो **आ**=सर्वथा आप ही हो। हे **वृत्रहन्**=वृत्रों को नष्ट करनेवाले प्रभो! **अस्माकम्**=हमारी **अर्द्धम्**=वृद्धि को **आगहि**=आप प्राप्त कराइए अथवा (अर्द्धम्=side) हमारे पार्श्व में आप उपस्थित होइए। आपके द्वारा ही हमने इन वृत्रादि शत्रुओं पर विजय पानी है। ३. हे प्रभो! **महान्**=आप महान् हैं, बड़े हैं, पूज्य हैं। **महीभिः ऊतिभिः**=महनीय रक्षणों के द्वारा आप हमें प्राप्त हों। आपसे रक्षित होकर ही हम अपने देवत्व को स्थिर रख सकते हैं। वस्तुतः वामदेव बनना सम्भव ही तब होता है जब प्रभु अपने रक्षणों से हमको सुरक्षित किये रखें। प्रभु से असुरक्षित जीव

वासनाओं का शिकार हो जाएगा। हम वृत्रों=वासनाओं को थोड़े ही मारते हैं 'वृत्रहन्' तो वे प्रभु ही हैं। प्रभु की महिमा से ही हमें भी महिमा प्राप्त होती है।

भावार्थ—प्रभु इन्द्र हैं, वृत्रहन् हैं, महान् हैं। वे प्रभु हमें प्राप्त हों।

ऋषिः—**नृमेधः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

इन्द्र=जितेन्द्रियता

त्वमि॑न्द्र प्र॒तूर्त्ति॑ष्व॒भि विश्वा॑ऽअसि॒ स्पृधः॑।
अ॒श॒स्ति॒हा ज॑नि॒ता वि॑श्व॒तूर॑सि॒ त्वं तू॑र्य्य तरुष्य॒तः॥६६॥

१. वामदेव ने गतमन्त्र में प्रभु से वृत्र-विनाश की याचना की थी। प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'नृमेध' है जो अन्य मनुष्यों के साथ मिलकर चलता है। वस्तुतः 'सबके प्रति प्रेम होना' ही वृत्र के नाश का उपाय है। प्रेम ही संकुचित होते-होते 'वृत्र' बन जाता है। २. प्रभु जीव से कहते हैं—**इन्द्र**=हे इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **त्वम्**=तू **प्रतूर्त्तिषु**=संग्रामों में **विश्वाः स्पृधः**=सब शत्रुओं को **अभि असि**=(अभि भवसि) अभिभूत कर लेता है। मनुष्य जितेन्द्रिय बने, यह जितेन्द्रिय बनना उसे सब शत्रुओं का विजेता बना देगा। ३. इस जितेद्रियता से सब शत्रुओं की समाप्ति होगी। परिणामतः तू **अशस्तिहा**=सब अप्रशंसनीय, अशुभ बातों का ध्वंस करेगा और **जनिता**=अपना प्रादुर्भाव—विकास करनेवाला बनेगा। इन शत्रुओं ने ही तो हमारे सब विकास को रोका हुआ था। अब यह इन्द्र **विश्वतूः असि**=सब शत्रुओं का संहार करनेवाला हो गया है। हे इन्द्र! **त्वम्**=तू **तरुष्यतः**=तेरी हिंसा करनेवालों को **तूर्य**=हिंसित कर डाल। वस्तुतः जब मनुष्य इन्द्रियों को जीत नहीं पाता तब उनका दास बन जाता है।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनें और अशुभ को दूर करके अपने जीवन को श्रीसम्पन्न बनाएँ।

ऋषिः—**नृमेधः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

जितेन्द्रिय के लिए सब अनुकूल

अनु॑ ते॒ शुष्मं॑ तु॒रय॑न्तमीयतुः क्षो॒णी शिशुं॒ न मा॒तरा॑।
विश्वा॑स्ते॒ स्पृधः॑ श्नथयन्त म॒न्यवे॑ वृ॒त्रं यदि॑न्द्र॒ तूर्व॑सि॥६७॥

१. मनुष्य कई बार प्रतिकूलता की शिकायत करता है और कहता है कि 'ये लोग मेरे विरोधी हैं' या 'यहाँ की जल-वायु मेरे अनुकूल नहीं'—ये दोनों ही बातें ठीक नहीं हैं। मनुष्य जब इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनता है तब प्रभु कहते हैं कि **क्षोणी**=द्यावापृथिवी **ते**=तेरे **तुरयन्तं शुष्मम्**=शत्रुओं का संहार करनेवाले शोषक बल के **अनु ईयतुः**=अनुकूल गतिवाले होते हैं। उसी प्रकार अनुकूल गतिवाले होते हैं **न**=जैसे **शिशुं मातरा**=बच्चे के अनुकूल माता-पिता होते हैं। माता-पिता कभी बच्चे के प्रतिकूल नहीं हो सकते, इसी प्रकार द्यावापृथिवी तो मनुष्य के अनुकूल ही हैं, बशर्ते कि वह स्वयं अपने प्रतिकूल न हो जाए। यदि हम स्वयं इन्द्रियों के दास बनकर अन्तः शत्रुओं के शिकार हो जाते हैं तब तो सब प्रतिकूल-ही-प्रतिकूल है। हम अपने स्वामी हैं तो सब अनुकूल-ही-अनुकूल है। २. हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **यत्**=जब **वृत्रम्**=काम को **तूर्वसि**=तू नष्ट करता है तब **ते**=तेरे **मन्यवे**=ज्ञान के लिए **विश्वाः स्पृधः**=सब शत्रु **श्नथयन्त**=नष्ट हो जाते हैं। वृत्र=कामवासना का नाम है, क्योंकि यह मन्मथ है, मनुष्य के ज्ञान को नष्ट कर डालती है, उसके ज्ञान पर पर्दा डाल देती है। इन्द्र=इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव इसका विनाश

करता है। यह वृत्र सब शत्रुओं का मुखिया है। 'काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, व मत्सर'—ये छह शत्रु हैं। 'काम' जब ज्ञान पर पर्दा डालता है तब यह मोह (वैचित्य) का जनक होता है। किसी वस्तु का मद (शक्ति, धन व ज्ञान का मद) क्रोध को जन्म देता है और औरों की सम्पत्ति देखकर मात्सर्य होने पर लोभ बढ़ता है। एवं, ये 'काम-क्रोध-लोभ' ही नरक के द्वार हैं। इनमें भी काम-क्रोध दो ही इसके प्रमुख शत्रु हैं। इनमें भी सबसे बड़ा शत्रु काम ही है। यही शत्रु-सैन्य का सेनापति है। इसके ध्वंस होने पर ज्ञान का सूर्य ऐसे चमकने लगता है जैसे बादलों के हटने पर आकाश में सूर्य। उस ज्ञान-सूर्य के प्रकाश में सब शत्रु विलीन हो जाते हैं। मनुष्य देव बन जाता है, इसका जीवन यज्ञमय हो जाता है और इस प्रकार इसका 'नृ-मेध' यह नाम अन्वर्थक होता है।

भावार्थ—हम वृत्र का विनाश करें, हमारे ज्ञान का सूर्य चमके और सब शत्रु नष्ट हो जाएँ।

ऋषिः—**कुत्सः**। देवता—**आदित्याः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

यज्ञ=सुख

यज्ञो देवानां प्रत्येति सुम्नमादित्यासो भवता मृडयन्तः।
आ वोऽर्वाची सुमतिर्ववृत्याद॒ꣳहोश्चिद्या वरिवोवित्तरासत्॥६८॥

१. **यज्ञः**=यज्ञ **देवानाम्**=देवों के प्रति=ओर **सुम्नम्**=सुख के रूप में होकर **एति**=वापस आ जाता है, अर्थात् यज्ञ का परिणाम जीवन का सुखी होना है। **'नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम'**=यज्ञ के अभाव में न इस लोक का कल्याण है, न परलोक का। **'स्वर्गकामो यजेत'**=सुख की कामनावाला यज्ञ करे। यज्ञ सुख के रूप में लौट आता है। देवों का जीवन यज्ञमय होता है, परिणामतः वे सुखी होते हैं। २. ये देव आदित्य होते हैं। सब अच्छी वस्तुओं का आदान करने के कारण ये आदित्य हैं। प्रभु कहते हैं कि **आदित्यासः**=हे आदित्यो! **मृडयन्तः**=सभी के जीवनों को सुखी बनाते हुए **भवत**=होवो। अपने जीवन को सुन्दर बनाकर ही सन्तुष्ट न हो जाओ औरों को भी सुखी करनेवाले होओ। ३. **वः**=तुम्हारी **सुमतिः**=कल्याणी मति **अर्वाची** (अर्वाङ् अञ्चति=अन्दर आती है)—हृदय तक पहुँचनेवाली **आववृत्यात्**=सर्वथा हो, अर्थात् आप ऐसे ढंग से लोगों को उपदेश दो कि तुम्हारी सुमति उनके हृदयों में बैठ जाए, हृदयंगम हो जाए। तुम्हारा उपदेश उनके हृदय को प्रभावित करनेवाला हो। ४. यह मति ऐसी हो कि **या**=जो **'अंहोःचित्'**=पापी को भी **वरिवोवित्तरा**=अधिक-से-अधिक पूजा को प्राप्त करानेवाली **असत्**=हो। आपकी इस मति को सुनकर पापी का हृदय भी इस प्रकार प्रभावित हो कि वह पूजा में प्रवृत्त हो जाए। ५. इस प्रकार अपने उपदेश से सब बुराइयों की हिंसा करनेवाला 'कुथ हिंसायाम्' यह आदित्य 'कुत्स' कहलाता है। इसने पाप को समाप्त कर डाला है।

भावार्थ—किया हुआ यज्ञ सुख के रूप में परिवर्तित होकर यज्ञकर्ता के प्रति लौट आता है।

ऋषिः—**भरद्वाजः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

आदर्श उपदेशक

अदब्धेभिः सवितः पायुभिष्ट्वꣳ शिवेभिरद्य परि पाहि नो गयम्।
हिरण्यजिह्वः सुविताय नव्यसे रक्षा माकिर्नो अघशꣳस ईशत॥६९॥

१. 'आदित्य ब्रह्मचारी लोगों को कल्याणी मति प्राप्त करानेवाले हों', इन शब्दों पर पिछला मन्त्र समाप्त हुआ था। वह आदित्य ब्रह्मचारी स्वयं अपने जीवन को सुन्दर बनाने के लिए प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **सवितः**=सारे संसार के जन्मदाता व प्रेरक प्रभो! **त्वम्**=आप **अदब्धेभिः**=हिंसित न होनेवाले **शिवेभिः**=कल्याणकर **पायुभिः**=रक्षण के उपायों से **अद्य**=आज **नः**=हमारे **गयम्**=शरीर को **परिपाहि**=सर्वतः रक्षित कीजिए। जो स्वयं अस्वस्थ है वह औरों में स्वास्थ्य का प्रसार नहीं कर सकता। स्वास्थ्य के नियमों को भंग न करते हुए हम स्वस्थ बनें। २. हे प्रभो! आप **हिरण्यजिह्वः**=हितरमणीय जिह्वावाले हैं। आपकी वेदवाणी का एक-एक मन्त्र हमारा हितकर व रमणीय है। **रक्ष**=आप हमारी रक्षा कीजिए, जिससे हम **सुविताय**=सु-इत=सदा उत्तम आचरण के लिए हों और **नव्यसे**=(नू स्तुतौ) सदा स्तुति करनेवाले हों। हमारा जीवन उपासनामय हो। आप 'हिरण्यजिह्व' हैं, आपका उपासक मैं भी हितरमणीय जिह्वावाला बनूँ। ३. हे प्रभो! **नः**=हमपर **अघशंसः**=बुराइयों का शंसन करनेवाला **माकिः ईशत**=शासन करनेवाला न हो जाए, अर्थात् हम किसी अघशंस की बातों में न आ जाएँ। ४. प्रभु की कृपा से व्यसनों से बचकर अपने में शक्ति को भरनेवाला 'भरद्वाज' है। यह अपने जीवन में निम्न बातें लाता है—(क) स्वास्थ्य, (ख) मधुरभाषण व दीप्ति (ग) उत्तम आचरण, (घ) स्तवन, (ङ) बुराइयों के प्रति आकृष्ट न होना।

भावार्थ—हम अपने जीवनों में शक्ति भरके औरों में भी शक्ति का सञ्चार करनेवाले बनें।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

लक्ष्य की ओर

प्र वी॒रया॒ शुच॑यो दद्रिरे॒ वाम॑ध्व॒र्युभि॒र्मधु॑मन्तः सु॒तासः॑।
वह॑ वायो नि॒युतो॑ या॒ह्यच्छा॒ पिबा॑ सु॒तस्यान्ध॑सो॒ मदा॑य ॥७०॥

१. पिछले मन्त्र में भारद्वाज ने प्रभु से प्रार्थना की थी कि प्रभु उसकी रक्षा करे। प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु उसे रक्षा का उपाय बताकर वसिष्ठ=इस शरीररूप गृह में निवासवाला बनने की प्रेरणा देते हैं। २. प्रभु एक गृहस्थ से कहते हैं कि **वाम्**=पति-पत्नी तुम दोनों के मलों को **वीरया**=बड़ी वीरता के साथ **प्रदद्रिरे**=खूब ही विदीर्ण कर दें, नष्ट-भ्रष्ट कर दें। कौन? (क) **शुचयः**=पवित्र सोमकण। पवित्र सोमकण वे हैं जो सात्त्विक भोजन से उत्पन्न हुए हैं। (ख) **मधुमन्तः**=जो सोमकण हमारे जीवन को मधुर बनाते हैं। इन्हीं के द्वारा शरीर स्वस्थ बनता है, मन निर्मल होता है, और मस्तिष्क उज्ज्वल बनता है, परिणामतः जीवन में माधुर्य बना रहता है। (ग) **अध्वर्युभिः सुतासः**=जो सोमकण अध्वर्युओं से पैदा किये गये हैं 'अ-ध्वर्-युः'=अपने साथ हिंसा को न जोड़नेवालों से, अर्थात् न तो वे मांसाहार करते हैं और न उनकी कमाई किसी प्रकार की हिंसा से की जाती है। वस्तुतः इस प्रकार हिंसाशून्य अन्न से ही सात्त्विक सोमकण उत्पन्न होते हैं। ऐसे सोमकण सब प्रकार के मलों को समाप्त कर देते हैं। ३. प्रभु कहते हैं कि **वायो**=हे क्रियाशील जीव! तू **नियुतः वह**=इन इन्द्रियरूप घोड़ों को सञ्चालित कर। इन्द्रियाँ अश्व हैं, तू इनको अपने वश में रख और इनको मार्ग पर चला और ४. **अच्छ याहि**=लक्ष्य प्राप्त होनेवाला हो। घोड़े तेरे काबू में हों और तू निरन्तर आगे बढ़ता चल। इसी जीवन में लक्ष्य पर पहुँचने का निश्चय रख। ५. इस सबके लिए तू **सुतस्य**=उत्पन्न हुए-हुए **अन्धसः**=इस आध्यायनीय सोम का **पिब**=पान कर

और **मदाय**=जीवन में उल्लास के लिए हो। इस सोमपान ने ही तेरे जीवन में मिठास व उल्लास को भरना है।

भावार्थ—सोमपान द्वारा हम सब मलों का विदीर्ण करनेवाले बनें तथा उल्लासयुक्त होकर लक्ष्य की ओर बढ़ते चलें।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**मित्रावरुणौ**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

वेदवाणी का महत्त्व

गावऽउपावतावतं मही यज्ञस्य रप्सुदा। उभा कर्णा हिरण्यया॥७१॥

वसिष्ठ वेदवाणियों को सम्बोधित करते हुए कहता है कि **गावः**=हे वेदवाणियो! **अवतम्**=मेरे हृदयरूप गुहा को (गर्त को) **उपावत**=समीपता से रक्षित करो, अर्थात् मेरा हृदय वेदवाणियों का अधिष्ठान बने, जिससे वहाँ वासनाओं का कूड़ा-कर्कट जमा हो न जाए। ये वेदवाणियाँ **मही**=महनीय हैं, पूजा की वृत्ति को उत्पन्न करनेवाली हैं। इनके अध्ययन से हमारा झुकाव प्रभु की ओर होता है। **यज्ञस्य रप्सुदा**=ये वेदवाणियाँ यज्ञों के 'रप-सु-दा' व्यक्त प्रतिपादन को उत्तमता से देनेवाली हैं। इन वेदवाणियों में यज्ञों का उत्तमता से प्रतिपादन है। वेदों में नाना प्रकार के यज्ञों का वर्णन है। इस वेदवाणी को सुनने से हमारे **उभा कर्णा**=दोनों कान **हिरण्यया**=ज्योतिर्मय हों। इनसे हमारा ज्ञान दीप्त हो।

भावार्थ—वेदवाणियों के अध्ययन से निम्न लाभ हैं—(क) हृदय वासनारूप मलों का स्थान नहीं बनता, (ख) मन प्रभु-प्रवण होता है, (ग) यज्ञमय कर्मों में रुचि बढ़ती है, (घ) कान ज्योतिर्मय होते हैं, अर्थात् ज्ञान बढ़ता है।

ऋषिः—**दक्षः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

उत्तम घर—दक्ष का दुरोण

काव्ययोराजानेषु क्रत्वा दक्षस्य दुरोणे। रिशादसा सधस्थऽआ॥७२॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में घर के लिए 'दुरोण' शब्द आया है, जिसकी भावना है 'जिसमें से **'दुर्'**=बुराई को (ओणृ अपनयने) दूर किया गया है। वस्तुतः पति-पत्नी ने बुराइयों को दूर करके घर को अच्छाइयों से युक्त करना है। **सधस्थे**=सहस्थे=यह मिलकर रहने की जगह है। परस्पर वैर-विरोध होने पर तो घर की इतिश्री हो जाती है। यह घर **दक्षस्य**=चतुर पुरुष का है। 'योगः कर्मसु कौशलम्'=कर्मों में कुशलता का नाम योग है, अतः यह गृहपति योगी है। यह अपने घर को अधिक-से-अधिक सुन्दर बनाने का ध्यान करता है। इस घर की अच्छाइयाँ ये हैं—(क) यह घर बुराइयों से दूर है, (ख) इसमें सब मिलकर प्रेम-से रहते हैं, (ग) इसमें सब कार्य दक्षता से किये जाते हैं। किसी कार्य में भद्दापन नहीं होता। २. (क) 'वेद' प्रभु का काव्य है—**'पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति'**=प्रभु के इस काव्य को देखो, जो कभी न नष्ट होता है, न जीर्ण होता है। (ख) सृष्टि भी प्रभु का काव्य ही है। इसकी रचना अत्यन्त कलापूर्ण है। **काव्ययोः**=इन दोनों काव्यों में वेदरूप काव्य के **आजानेषु**=समन्तात् ज्ञान प्राप्त करने व सृष्टिरूप काव्य में **आजानेषु**=लोकहित के कार्यों के करने में **क्रत्वा**=क्रिया-संकल्प व प्रज्ञान से **रिशादसा**=(रिश+अदस्)=सब हिंसाओं को खा जानेवाले, अर्थात् समाप्त कर देनेवाले पति-पत्नी उल्लिखित घर में **आ** (आगतम्)=आएँ ३. (क) पति-पत्नी प्रभु के वेदरूप काव्य को (आजान) अच्छी प्रकार समझने का प्रयत्न करें। इसके लिए उनके हृदयों में वेदाध्ययन का संकल्प हो और

इसप्रकार वे वेद का ज्ञान प्राप्त करें। (ख) ये पति-पत्नी इस सृष्टि को भी प्रभुकाव्य की कलामयी कृति के रूप में देखें। वे इसमें सब लोगों के हित के लिए (आ-जान=जनहित) कर्म करने के संकल्पवाले हों, (ग) ये पति-पत्नी सब प्रकार की हिंसा से ऊपर उठें।

भावार्थ—हम अपने सधस्थ=घर को 'दक्ष का दुरोण' बनाने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**दक्षः**। देवता—**अध्वर्यू**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

पति-पत्नी

दैव्यावध्वर्यूऽआ गतः रथेन सूर्यत्वचा। मध्वा यज्ञः समञ्जाथे॥७३॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि भी 'दक्ष' है। पिछले मन्त्र के पति-पत्नी का ही यहाँ भी उल्लेख है। वे १. **दैव्यौ** =देवस्य इमौ=प्रभु के हों, अर्थात् इनका झुकाव प्रकृति की ओर न हो। २. **अध्वर्यू**=ये दोनों **अ-ध्वर्-यु**=अपने साथ हिंसा का सम्पर्क न होने दें। इनका जीवन यज्ञमय हो। **'पुरुषो वाव यज्ञः'** इस उपनिषद्वाक्य को ये अपने जीवन में मूर्त्तरूप देनेवाले हों। ३. ये दोनों **सूर्यत्वचा रथेन**=सूर्य के संवरण-(त्वच् संवरणे)-वाले रथ से आएँ। जैसे सूर्य चमकता है, इसी प्रकार इनका यह शरीररूप रथ भी स्वास्थ्य के तेज से तेजस्वी लगे। इसके अन्दर सूर्य के समान प्रकाश का संस्पर्श हो (त्वच्=touch), अर्थात् यह शरीररूप रथ बाहर स्वास्थ्य के प्रकाशवाला व अन्दर ज्ञान के प्रकाशवाला हो। ४. ऐसे ये पति-पत्नी **मध्वा**=माधुर्य से **यज्ञम्**=अपने जीवन-यज्ञ को **समञ्जाथे**=सम्यक् अलंकृत करते हैं। इनके जीवन में कटुता व द्वेष को स्थान नहीं होता।

भावार्थ—पति-पत्नी अपने कर्त्तव्यों को समझें और उनका पालन करें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

प्रजापति के दो पुत्र

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त्।
रेतोधाऽआसन्महिमानऽआसन्त्स्वधाऽअवस्तात्प्रयतिः परस्तात्॥७४॥

१. **एषाम्**=इन प्रजाओं की, जिनके लिए गत मन्त्र में 'दैव्य व अध्वर्यु' बनने का उल्लेख है, **रश्मिः**=वासना, सांसारिक वस्तुओं के प्रति रस **तिरश्चीनः विततः**=आर-पार (crosswise) फैला हुआ है। किसी की किसी लोक को प्राप्त करने की कामना है और किसी की किसी वस्तु को प्राप्त करने की। २. इनकी यह वासनारूप रश्मि **अधः स्वित् आसीत्**=नीचे भी थी और **उपरि स्वित् आसीत्**=ऊपर भी थी। कुछ ने ब्रह्मलोक-प्राप्ति की कामना की तो कई सांसारिक धन-दौलत की वासना से ऊपर न उठ सके। ३. प्रजापति के एक पुत्र तो वे थे, जो सद्गृहस्थ बनकर **रेतोधाः**=सन्तान-निर्माण के लिए वीर्य का आधान करनेवाले **आसन्**=हुए और दूसरे वे **आसन्**=थे, जो **महिमानः**=प्रभु की पूजा करनेवाले हुए (मह पूजायाम्) ४. इनमें पहले 'रेतोधाः' तो **स्वधा**=अपना ही धारण करनेवाले थे। इन्हें अपनी मृत्यु के भय ने प्रजा के द्वारा अमर बनने के लिए प्रेरित किया। **'प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम'**=प्रजाओं के द्वारा अमरता को प्राप्त करें। यह इनकी कामना हुई, ये **अवस्तात्**=नीचे ही रह गये, अर्थात् ब्रह्मलोक को प्राप्त न कर सके। ५. परन्तु दूसरे तो **प्रयतिः**=प्रकृष्ट संयमी जीवनवाले बनकर, प्रकृष्ट यति हुए और ये **परस्तात्**=उन सब अन्धकारों से परे उस प्रभु को पानेवाले बने।

'रेतोधाः' प्रेयमार्ग के पथिक हैं तो 'प्रयति' श्रेयमार्ग का अवलम्बन करनेवाले हैं।

पहले अपराविद्या को महत्त्व देते हैं तो दूसरे अपराविद्या से ऊपर उठकर पराविद्या को प्राप्त करते हैं। इस पराविद्या के द्वारा ये प्रजापति को प्राप्त कर सचमुच स्वयं भी प्रजापति-से बन जाते हैं। रेंतोधा भी छोटे पैमाने पर प्रजापति हैं ही, एवं मन्त्र का ऋषि भी प्रजापति है।

भावार्थ—हमारी वासनाएँ नीचे की ओर न जाकर ऊपर उठें और हम प्रजापति बन पाएँ।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

विश्वामित्र का स्वर्ग-निर्माण—प्रेम+कर्म=स्वर्ग

आ रोदसीऽअपृणदा स्वर्महज्जातं यदेनमपसोऽअधारयन्।
सोऽअध्वराय परि णीयते कविरत्यो न वाजसातये चनोहितः॥७५॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि विश्वामित्र है। यह सभी से स्नेह करता है, इसका किसी से भी द्वेष नहीं। **रोदसी**=द्युलोक व पृथिवीलोक को, अर्थात् सभी प्राणियों को **आ**=सर्वथा **अपृणत्**=यह सुखी करता है। यह किसी का बुरा नहीं चाहता, किसी से ईर्ष्या-द्वेष नहीं रखता। २. इसी का परिणाम है कि इसके लिए **महत् स्वः**=महनीय स्वर्ग **आजातम्**=उत्पन्न हो गया है। ईर्ष्या-द्वेष मानव-जीवन को नरक बनाते हैं। इनसे ऊपर उठे और नरक की समाप्ति हुई। विश्वामित्र का जीवन इसलिए स्वर्गमय रहता है कि ३. **यत्**=जो **एनम्**=इसको **अपसः**=कर्म **अधारयन्**=धारण करते हैं। 'अपस्' उन कर्मों का नाम है जो व्यापक हैं (अप् व्याप्तौ), जो केवल स्वार्थ के लिए नहीं किये गये। ४. यहाँ एक ओर विश्वप्रेम है, दूसरी ओर व्यापक कर्म हैं, इन दोनों के बीच में स्वर्ग है। वस्तुतः प्रेम हो, जीवन क्रियामय हो तो फिर स्वर्ग-ही-स्वर्ग होता है। स्वर्ग के निर्माण के लिए हाथों में कर्म व हृदय में प्रेम को धारण करना आवश्यक है। कर्मों की पवित्रता के लिए 'कवि'=क्रान्तदर्शी, तत्त्वज्ञानी बनना आवश्यक है। इसका उल्लेख अभी आगे करेंगे। ५. **सः**=वह विश्वामित्र **अध्वराय**=अहिंसामय कर्मों के लिए **परिणीयते**=ले-जाया जाता है। सब देव तथा देवाधिपति प्रभु इसे अहिंसामय कर्मों में लगाते हैं। ६. यह विश्वामित्र **कविः**=कवि बनता है, क्रान्तदर्शी होता है। इसकी दृष्टि वस्तुतत्त्व को देखनेवाली होती है। ७. **अत्यः न**=निरन्तर क्रियाशील घोड़े की भाँति यह **वाजसातये**=शक्ति की प्राप्ति के लिए होता है। जिस प्रकार अश्व (अश्नुते अध्वानम्) निरन्तर मार्ग का व्यापन करता है, अतः शक्तिशाली बना रहता है। ८. विश्वामित्र की अन्तिम विशेषता यह है कि यह 'चनोहितः' अन्न पर आश्रित होता है। इसका जीवन 'शाकाहारी' होता है। यह परमांस से अपना मांस बढ़ाने का स्वप्न नहीं लेता। मांसाहार मनुष्य को क्रूर बनाता है, परन्तु यह तो सबसे प्रेम के मार्ग पर चलता है, अतः इसके जीवन में मांस का प्रश्न ही नहीं उठता। यह सदा **चनः**=अन्न पर **हितः**=रक्खा हुआ होता है। यह अपने शरीरधारण के लिए अन्य शरीरों को समाप्त करने का विचार नहीं करता।

भावार्थ—हमारा जीवन प्रेम व कर्म के समन्वय से स्वर्ग का निर्माण करनेवाला हो।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**इन्द्राग्नी**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

संयमी गृहस्थ : वसिष्ठ+अरुन्धती

उक्थेभिर्वृत्रहन्तमा या मन्दाना चिदा गिरा। आङ्गूषैराविवासतः॥७६॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि वशिष्ठ है जो वशियों में श्रेष्ठ है, अतएव उत्तम निवासवाला है। जिस घर में पति-पत्नी का जीवन बड़ा संयमवाला होता है, वह घर 'वशिष्ठ' का घर कहलाता है। इस घर में पति-पत्नी दोनों—२. **उक्थेभिः**=प्रभु के स्तोत्रों के द्वारा **वृत्रहन्तमा**=ज्ञान की आवरणभूत वासना के अधिक-से-अधिक नाश करनेवाले होते हैं। जहाँ प्रभु का नामोच्चारण है, जहाँ महादेव का वास है, वहाँ कामदेव तो भस्म हो ही जाते हैं। इस घर में काम का सेवन नहीं होता, काम की भस्म का ही प्रयोग चलता है। जैसे स्वर्ण विष है, परन्तु स्वर्ण-भस्म अमृत हो जाती है, इसी प्रकार महादेव काम की भस्म बना देते हैं और वह भस्म प्रजा-निर्माण द्वारा मनुष्य को अमर कर देती है। ३. ये पति-पत्नी वे हैं **या**=जो **चित् आ**=निश्चय से, सर्वथा **गिरा**=वेदवाणी से, ज्ञान की वाणियों से **मन्दाना**=आनन्द अनुभव करते हैं। इन्हें स्वाध्याय के द्वारा ज्ञान-प्राप्ति में आनन्द का अनुभव होता है। ४. ये पति-पत्नी **आंगूषैः**=उच्च स्वर से गाये जानेवाले (आघोष) स्तोत्रों से **आविवासतः**=प्रभु की परिचर्या करते है। जिस घर में मिलकर इस प्रकार प्रभु-स्तवन होता है, वहाँ बुराइयों का प्रवेश नहीं होता। वह घर अधिक-और-अधिक सुन्दर बनता जाता है। इस घर के पति-पत्नी 'इन्द्र+अग्नि' होते हैं। पति धन कमानेवाला व शक्तिशाली 'इन्द्र' होता है तो पत्नी घर को सदा प्रकाशमय रखनेवाली और आगे ले-चलनेवाली 'अग्नि' होती है।

भावार्थ—आदर्श गृह में पति 'इन्द्र' होता है और पत्नी 'अग्नि'।

ऋषिः—**सुहोत्रः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

पुत्रों के लिए पवित्र कामना

उप नः सूनवो गिरः शृण्वन्त्वमृतस्य ये। सुमृडीका भवन्तु नः॥७७॥

पिछले मन्त्र में वर्णित पति-पत्नी प्रार्थना करते हैं कि—**ये**=जो **नः**=हमारे **सूनवः**=पुत्र हैं, वे **गिरः**=वाणियों को **उपशृण्वन्तु**=समीपता से सुननेवाले हों। उन शब्दों को, जो **अमृतस्य**=उस अमर प्रभु के हैं। पिछले मन्त्र में पति-पत्नी के वेदाध्ययन का उल्लेख है। वे वेदवाणियों में आनन्द लेते थे। वस्तुतः स्वाध्याय का आनन्द अनुपम हैं। वे यह चाहते हैं कि उनकी सन्तान भी उन्हीं की भाँति ज्ञान की वाणियों में रुचिवाले हों। जिस समय सन्तान पढ़ने-पढ़ाने में रुचिवाले होते हैं, उस समय उनका जीवन संयमी व उत्तम बना रहता है। माता-पिता चाहते हैं कि ये सदा उत्तम, अमृत वाणियों को सुनें और **नः**=हमारे लिए **सुमृडीकाः**=उत्तम सुख देनेवाले **भवन्तु**=हों। माता-पिता का सुख सन्तान की उत्तमता में ही निहित है। माता-पिता सन्तान को उत्तम बनाते हैं तो अपने ही जीवन को सुखी करते हैं। एवं, सन्तान-निर्माण के लिए किया गया स्वार्थत्याग उत्तम त्याग है। इस उत्तम त्याग को करनेवाला 'सुहोत्र' प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है। प्रस्तुत मन्त्र का देवता 'विश्वेदेवाः' है, वस्तुतः स्वाध्याय सब दिव्य गुणों को जन्म देगा ही।

भावार्थ—हमारी सन्तान स्वाध्याय-रुचि बने, जिससे उनके जीवन उत्तम रहें।

ऋषिः—**अगस्त्यः**। देवता—**इन्द्रामरुतौ**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

अगस्त्य की कामना

ब्रह्माणि मे मतयः शꣳसुतासः शुष्मऽइयर्ति प्रभृतो मेऽअद्रिः।
आ शासते प्रति हर्यन्त्युक्थेमा हरी वहतस्ता नोऽअच्छ॥७८॥

१. **मे**=मेरी **मतयः**=मतियाँ, इच्छाएँ, मनःपूर्वक की गई कामनाएँ **ब्रह्माणि**

(ब्रह्म वेदः, तपः, तत्त्वम्)=वेद, तप व तत्त्व (वास्तविक सत्ता) को **आशासते**=चाहती हैं (आशास्=इच्छायाम्), अर्थात् मेरी कामना यह होती है कि (क) मैं वेदाध्ययन करूँ, (ख) मेरा जीवन तपस्वी हो, (ग) और तत्त्व तक पहुँच सकूँ, वास्तविकता (Reality) को पहचानूँ। 'आत्मतत्त्व को छोड़कर और सब कुछ नश्वर है', इसको अनुभव करूँ। ऐसा करने पर **शुष्मः**=शत्रुओं का शोषकबल **इयर्ति**=मुझे प्राप्त होता है। मैं प्रभु के समीप पहुँचता हूँ और उस शक्ति को प्राप्त करता हूँ जो मेरे अन्तःस्थित वासनारूप शत्रुओं का शोषण कर देती है। महादेव मेरे हृदय में हैं तो कामदेव को वहाँ आने में भय लगता है। २. **सुतासः**=शरीर में रुधिरादि के क्रम से उत्पन्न सोमकण मुझे **शम्**=शान्ति की **प्रति** ओर **हर्यन्ति**=ले-चलते हैं, अर्थात् इन सोमकणों की रक्षा होने पर मेरे शरीर में किसी प्रकार का रोग उत्पन्न नहीं होता। इसी का परिणाम है कि **मे**=मेरा **अद्रिः**=यह अन्नमयकोश (अद्रिः कस्मात्? अत्ति-नि० ४।४)=जो खाता है, **प्रभृतः**=प्रकर्षेण पोषित होता है। सोम के धारण से नीरोगता के कारण यह वज्रतुल्य बन जाता है। (**अद्रिः वज्रम्**) अथर्व के **'यदश्नामि बलं कुर्व इत्थं वज्रमाददे'** इस मन्त्रभाग में शरीर को 'वज्र' कहा गया है, ३. अब **इमा हरी**=ये मेरे ज्ञानेन्द्रियपञ्चक व कर्मेन्द्रियपञ्चकरूप घोड़े **उक्था**=प्रभु के स्तोत्रों को **वहतः**=धारण करते हैं, अर्थात् मेरी इन्द्रियों से सदा प्रभु का स्तवन चलता है। इन इन्द्रियों ने अब अन्य बोझों को परे फेंककर स्तवनरूप बोझ को ही ढोया है और इस प्रकार **ता**=वे इन्द्रियरूप घोड़े **नः**=हमें **अच्छ**=अपने लक्ष्य की ओर ले-चल रहे हैं। जो मनुष्य प्रभु का स्तवन करता है, वह मार्गभ्रष्ट न होने से लक्ष्य पर पहुँचता है। मार्गभ्रष्ट न होने से ही यह 'अगस्त्य' बना रहता है, पाप-पर्वत (अग) का संहार करनेवाला (स्त्यै संघाते)। इस अगस्त्य की कामना यह होती है—(क) उसकी बुद्धि ब्रह्म की ओर हो, (ख) उसका शरीर सोम से नीरोग व शान्तिवाला हो (ग) उसकी इन्द्रियाँ प्रभु-स्तवन करती हुई लक्ष्य की ओर बढ़ती चलें।

भावार्थ—अगस्त्य=पाप-समूह का संहार करनेवाला बनने का उपाय यह है कि हम बुद्धि को ज्ञानोपार्जन में लगाएँ, शरीर को सोमरक्षा से नीरोग बनाएँ और इन्द्रियों को प्रभु-स्तवन में प्रेरित करें।

ऋषिः—**अगस्त्यः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

अगस्त्य का प्रभुवन्दन

अनु॑त्तमा ते॑ मघवन्न॒किर्नु न त्वावाँ॑२॥ऽअस्ति दे॒वता॒ विदा॑नः।
न जाय॑मानो॒ नश॑ते॒ न जा॒तो यानि॑ करि॒ष्या कृ॑णु॒हि प्र॑वृद्ध ॥७९॥

१. अगस्त्य प्रयत्न करता है कि उसकी इन्द्रियाँ प्रभु-स्तवन में लगी रहें, उसकी बुद्धि ब्रह्म की ओर चले, परन्तु जब वह अनुभव करता है कि संसार का प्रलोभन भी अत्यन्त प्रबल है तब व्याकुल हो उठता है और प्रभु से कहता है कि हे **मघवन्**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **आ**=चारों ओर, सर्वत्र **ते अनुत्तम्**=आपसे अप्रेरित **नकिः नु**=निश्चय से कुछ भी नहीं है। एक-एक पत्ता आपकी प्रेरणा से हिल रहा है। आपकी प्रेरणा मुझे भी प्राप्त हो और मैं मार्गभ्रष्ट होने से बचा रह सकूँ। २. **त्वावान्**=आपके समान **विदानः**=ज्ञानी **देवता**=देव **न अस्ति**=नहीं है। ३. हे **प्रवृद्ध**=सदा से पूर्ण वृद्धि को प्राप्त प्रभो! आप **यानि**=जिन कार्यों को करेंगे अथवा **कृणुहि**=कर रहे हैं, उन कार्यों को न **जायमानः**=न तो उत्पन्न होनेवाला व्यक्ति **न जातः**=न ही उत्पन्न हो चुका व्यक्ति **नशते**=व्याप्त करता है, अर्थात् आपके समान

निर्माण की शक्ति न किसी में थी और न ही किसी में हो पाएगी। क्या बड़े-से-बड़ा वैज्ञानिक एक छोटे से फल को बना सकता है? क्या बिना पँखों को गति दिये, चील की भाँति शान्तभाव से मनुष्य का वायुयान उड़ सकता है?

भावार्थ—प्रभु सर्वप्रेरक हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वमहान् हैं। उनका स्तवन करता हुआ मैं अपने जीवन-निर्माण का भार भी उन्हीं पर छोड़ता हूँ।

ऋषिः—**बृहद्दिवः**। देवता—**महेन्द्रः**। छन्दः—**पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

त्वेषनृम्ण (दीप्त बलवाला)

तदिदा॑स॒ भुव॑नेषु॒ ज्येष्ठं॒ यतो॑ ज॒ज्ञऽउ॒ग्रस्त्वे॒षनृ॑म्णः।
स॒द्यो ज॑ज्ञा॒नो नि रि॑णाति॒ शत्रू॒ननु॒ यं विश्वे॒ मद॒न्त्यूमाः॑ ॥८०॥

१. **तत्**=वह दूर-से-दूर भी वर्त्तमान, (तत्=that) सर्वव्यापक प्रभु (तनु विस्तारे) **इत्**=निश्चय से **भुवनेषु**=सारे लोकों में **ज्येष्ठम्**=बड़े **आस**=हैं। प्रभु सर्वव्यापक हैं, सर्वमहान् हैं। सब गुणों की चरम सीमा प्रभु हैं। २. प्रभु वे हैं **यतः**=जिनसे जीव भी **उग्रः**=उदात्तस्वरूपवाला व **त्वेषनृम्णः**=दीप्तबलवाला (नृम्ण=Power, Courage) **जज्ञे**=हो जाता है। अग्नि के सम्पर्क में आकर जैसे लोहशलाका अग्निमय हो जाती है, उसी प्रकार प्रभु के सम्पर्क में जीव उग्र व दीप्त हो उठता है। ३. इस प्रकार उग्र, तेजस्वी **जज्ञानः**=होता हुआ यह उपासक **सद्यः**=झटपट **शत्रून्**=ध्वंसकशक्तियों को **निरिणाति**=निश्चय से नष्ट कर देता है। प्रभु के तेज से तेजस्वी होकर वह सुगमता से शत्रुओं का संहार कर पाता है। ४. इस प्रकार प्रभु वे हैं **यम् अनु**=जिनके पीछे चलकर, जिनके अनुयायी बनकर **विश्वे**=सब **ऊमाः**=शत्रुओं से अपना रक्षण करनेवाले **मदन्ति**=आनन्द का अनुभव करते हैं। काम-क्रोध की पूर्ण विजय में ही आनन्द है। इस विजय के पश्चात् ही कामरूप आवरण के दूर होने पर हमारा ज्ञान चमकता है और हम प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'बृहद्दिव'=महान् ज्ञानवाले बन पाते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु की ज्येष्ठता को अनुभव करें, प्रभु के सम्पर्क से दीप्तबलवाले बनें, शत्रुओं का संहार करें, आनन्द का लाभ करनेवाले हों।

ऋषिः—**मेधातिथिः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृद्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

प्रभु के सच्चे उपासक
पावकवर्ण, शुचि, विपश्चित्

इ॒माऽउ॑ त्वा पुरूवसो॒ गिरो॑ वर्द्धन्तु॒ या मम॑।
पा॒व॒कव॑र्णाः॒ शुच॑यो विप॒श्चितो॒ऽभि स्तोमै॑रनूषत ॥८१॥

१. 'मेधातिथि' वह व्यक्ति है जो इस संसार में बुद्धिपूर्वक चलता है। समझदार व्यक्ति सर्वत्र प्रभु की शक्ति को अनुभव करता है और निम्न शब्दों में प्रभु का स्तवन करता है—हे **पुरूवसो**=पालक व पूरक निवास देनेवाले प्रभो! **इमा या मम गिरः**=ये जो मेरी वाणियाँ हैं, वे **उ**=निश्चय से **त्वाम्**=आपका **वर्धन्तु**=वधर्न करें, अर्थात् मैं अपनी वाणी से सदा आपका स्तवन करनेवाला बनूँ। जब हम अपनी बागडोर प्रभु के हाथ में सौंपते हैं, पूर्णरूप से उसके कहने पर चलते हैं, तब हमारे शरीर स्वस्थ रहते हैं और हमारे मन में किसी प्रकार के विकार नहीं आते। २. मेधातिथि से प्रभु कहते हैं कि **स्तोमैः**=स्तुतियों से, स्तोत्रों द्वारा **अभ्यनूषत**=मेरा स्तवन वे व्यक्ति करते हैं जो (क) **पावकवर्णाः**=अग्नि के समान वर्णवाले हैं—स्वास्थ्य के कारण जिनके चेहरे पर ... है, जो अग्नि के समान

चमकते हैं। (ख) **शुचयः**=जिनका मन शुचि, पवित्र है। जिनके मन 'राग-द्वेष व मोह' रूप मलों से मलिन नहीं हैं। (ग) स्वस्थ्य व मानस पवित्रता से इसकी बुद्धि बड़ी उज्ज्वल व सूक्ष्म बनती है और यह सभी वस्तुओं को बड़ी बारीकी से, विशेषरूप से (वि) देखता हुआ (पश्) उनका ठीक रूप में ही चिन्तन करता है (चित्) इसीलिए 'विपश्चित्' कहलाता है। **विपश्चितः**=ये ज्ञानीलोग प्रभु के सच्चे उपासक हैं, इसीलिए हे मेधातिथे! तू 'पावकवर्ण, शुचि व विपश्चित्' बन।

भावार्थ—हम सदा प्रभु-स्तवन करनेवाले हों। हमारी कोई भी क्रिया प्रभु को भूलकर न हो तो हम स्वस्थ बनेंगे, निर्द्वेष होंगे और तीव्र बुद्धि का सम्पादन कर पाएँगे।

ऋषिः—**मेधातिथिः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृद्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

सबमें प्रभु की ज्योति

यस्यायं विश्वऽआर्यो दासः शेवधिपाऽअरिः।
तिरश्चिदर्ये रुशमे पवीरवि तुभ्येत्सोऽअज्यते रयिः॥८२॥

१. मेधातिथि 'विपश्चित्' बनकर अनुभव करता है कि प्रभु तो वे हैं **यस्य**=जिसका **अयम् विश्वः**=यह सारा संसार है, चाहे वे **आर्यः**=ब्राह्मण हैं (आर्यो ब्राह्मणकुमारयोः) **दासः**=शूद्र हैं, **शेवधिपा**=खज़ानों के रक्षक वैश्य हैं अथवा **अरिः** (to attack)=शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाले क्षत्रिय हैं। सारा समाज चार भागों में बँटा है। यह सारा समाज उस प्रभु का प्रिय है। 'ब्राह्मण' ही प्रभु के विशेष प्यारे हों ऐसी बात नहीं। वे प्रभु सर्वत्र समवस्थित हैं, सबके अन्दर उनका निवास है। मेधातिथि का दृष्टिकोण यही बनता है कि सबमें प्रभु की सत्ता को अनुभव करना ही प्रभु का सच्चा उपासक बनना है। २. 'अर्य'=पुरुष वह है जो (अर्यः=स्वामी) अपनी इन्द्रियों का अधिष्ठाता है। इन्द्रियों का दास न होने से ही अपनी शक्ति को सुरक्षित कर पाया है, वह जीर्णशक्तिवाला नहीं हो गया। 'रुशम' वह है जिसके अन्दर ज्ञान की ज्योति जगमगा रही है तथा 'पवीरवान्' वह है जो अपने शरीर को सात्त्विक अन्न व व्यायाम से वज्रतुल्य बना पाया है। इन सबके अन्दर एक 'रयि'=सम्पत्ति विद्यमान है, एक विभूति का अंश विद्यमान है। मन्त्र में कहते हैं कि **'अर्ये'**=जितेन्द्रिय में **रुशमे**=दीप्त ज्ञानवाले पुरुष में तथा **पवीरवि**=वज्रतुल्य शरीरवाले पुरुष में **तिरः चित्**=छिपी हुई **रयिः**=जो सम्पत्ति व विभूति है **सः**=वह **तुभ्य इत् अज्यते**=आपकी ही तो प्रकट हो रही है। ऐसा अनुभव करनेवाला व्यक्ति अपनी 'जितेन्द्रियता, ज्ञानदीप्ति व शारीरिक बल' का कभी गर्व नहीं करता, क्योंकि वह इस सबको प्रभु की ही महिमा के रूप में देखता है।

भावार्थ—सभी व्यक्ति प्रभु के हैं। सर्वत्र प्रभु की ज्योति ही दीप्ति का कारण बन रही है।

ऋषिः—**मेधातिथिः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृत्सतः पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

प्रभु ही सत्य

अयꣳ सहस्रमृषिभिः सहस्कृतः समुद्रऽइव पप्रथे।
सत्यः सोऽअस्य महिमा गृणे शवो यज्ञेषु विप्रराज्ये॥८३॥

१. संसार में कभी-कभी इस प्रकार के व्यक्ति भी दिख जाते हैं, जिनके लिए वेद कहता है कि **'तितिक्षन्ते अभिशस्तिं जनानाम्'**=लोगों के अपशब्दों को मुस्कराते हुए सह

लेते हैं। 'ऐसा वे क्यों कर पाते हैं?' इस प्रश्न का उत्तर मन्त्र में इन शब्दों में दिया है कि **ऋषिभिः**=इन तत्त्वदर्शी लोगों ने **सहस्त्रम्** (स+हस्)=मुस्कराहट के साथ **अयम्**=यह प्रभु **सहस्कृतः**=अपना बल बनाया है। प्रभु का स्मरण करनेवाला वाग्बाणों से घायल नहीं होता। २. वे प्रभु **समुद्रः इव**=अन्तरिक्ष की भाँति **पप्रथे**=विस्तृत हैं। जहाँ आकाश, वहाँ प्रभु। वे प्रभु सर्वत्र है। सबमें विद्यमान हैं। ३. **सत्यः सः**=वें प्रभु ही सत्य हैं। प्रभु के अतिरिक्त सभी अस्थिर हैं, एकमात्र प्रभु ही स्थिर व एकरस हैं। संसार परिवर्तनशील है, स्थल जल बनता है तो जल स्थल। जीव आज घोड़ा बना है तो कल हाथी और परसों मनुष्य। पूर्ण सत्य प्रभु ही हैं। ४. **अस्य**=इसकी **महिमा**=महिमा **गृणे**=मुझसे स्तुत होती है। मैं इस प्रभु की ही महिमा का स्तवन करता हूँ। **यज्ञेषु**=सब श्रेष्ठ कर्मों में **शवः**=वे प्रभु ही बल हैं। प्रभुकृपा से ही सब यज्ञपूर्ण होते हैं। सब यज्ञों के होता प्रभु ही हैं। **विप्रराज्ये**=विशेषरूप से अपना पूरण करनेवालों के जीवन की राज्ये=(राज्=दीप्तौ) दीप्ति में वस्तुतः उस प्रभु का ही **शवः**=बल है। जो भी व्यक्ति जितने अंश में चमकता है, यह सब चमक उस प्रभु की है। एवं, हमें अपने यज्ञों व दीप्तियों का गर्व न कर प्रभु के प्रति नतमस्तक होना है।

भावार्थ—प्रभु को हम अपनी ढाल बनाएँ। प्रभु को धारण करके यज्ञशील व दीप्तिमय बनें।

ऋषिः—**भरद्वाजः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

प्रभु ही रक्षक

अदब्धेभिः सवितः पायुभिष्ट्वꣳ शिवेभिरद्य परि पाहि नो गयम्।
हिरण्यजिह्वः सुविताय नव्यसे रक्षा माकिर्नोऽअघशꣳसऽईशत ॥८४॥

१. पिछले मन्त्र में कहा गया था कि ऋषि लोग प्रभु को ही अपना सहस्=बल मानते हैं। प्रभु को अपनी शक्ति बनानेवाला यह 'भरद्वाज' बनता है, अपने में शक्ति को भर लेता है और प्रभु से प्रार्थना करता है कि **सवितः**=हे सर्वप्रेरक सर्वैश्वर्यवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **अद्य**=आज **अदब्धेभिः**=न हिंसित होनेवाले, न दबनेवाले **शिवेभिः**=कल्याणकर **पायुभिः**=रक्षणों से **नः**=हमारे **गयम्**=इस शरीररूप घर को व प्राणों को **परिपाहि**=सर्वतः सुरक्षित कीजिए। वस्तुतः प्रभुकृपा से ही हमारा जीवन उत्तम बन पाता है, प्रभु के रक्षण अहिंसित व शिव हैं। उनसे मैं स्वस्थ, निर्मल व दीप्त बनता हूँ। २. वे प्रभु **हिरण्यजिह्वः**=हितरमणीय जिह्वावाले हैं, उनकी एक-एक प्रेरणा जीवन के हित का साधन करनेवाली व अत्यन्त सुन्दर है। उस प्रेरणा को सुननेवाला व्यक्ति **सुविताय**=सदा **सु इत**=उत्तम आचरण के लिए होता है, कभी दुरितों में नहीं फँसता। **नव्यसे**=(नू स्तुतौ) यह प्रभु के स्तवन में प्रवृत्त होता है, यह प्रकृति के आकर्षण का शिकार नहीं हो जाता। प्रकृति का सौन्दर्य भी उसे प्रभु का स्तवन करते ही प्रतीत होता है। ३. यह 'भरद्वाज' प्रभु से आराधना करता है कि **अघशंसः**=पाप का शंसन करनेवाला कोई व्यक्ति **नः**=हमारा **माकिः ईशत**=ईश न हो जाए, अर्थात् उसकी बातों से प्रभावित होकर हम पाप में प्रवृत्त न हो जाएँ। पाप-प्रशंसकों की बातों में न आकर ही हम अपनी शक्ति को स्थिर रखनेवाले 'भरद्वाज' बने रह सकेंगे।

भावार्थ—प्रभु का रक्षण अदब्ध व शिव है। प्रभु की प्रेरणा हितरमणीय है। उसका सुननेवाला शुभमार्ग से विचलित नहीं होता और दुष्टों की बातों से बहक नहीं जाता।

ऋषिः—**जमदग्निः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**विराड्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

जमदग्नि

आ नो॑ य॒ज्ञं दि॑वि॒स्पृशं॒ वायो॑ या॒हि सु॒मन्म॑भिः।
अ॒न्तः प॒वित्र॑ऽउ॒परि॑ श्रीणा॒नो॒ऽयꣳ शु॒क्रोऽअ॑यामि ते ॥८५॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं—हे **वायो**=निरन्तर क्रियाशील जीव! (वा=गति) तू **नः**=हमारे **यज्ञम्**=यजुर्वेद में प्रतिपादित इस यज्ञरूप कर्म को **आयाहि**=सर्वथा प्राप्त हो। यह यज्ञरूप कर्म **दिविस्पृशम्**=तुझे द्युलोक को स्पर्श करानेवाला है। यज्ञों से तू स्वर्ग को प्राप्त करेगा। इन यज्ञों को तूने **सुमन्मभिः**=उत्तम ज्ञानों के साथ प्राप्त होना (मन्=अवबोध)। ज्ञानशून्य यज्ञों में तो अपवित्रता के आने की आशंका है। वायु ऋषि को प्रभु ने यजुर्वेद का ज्ञान दिया और कहा कि इस ज्ञान के साथ चलनेवाले 'दिविस्पृश' यज्ञों को तू निरन्तर करनेवाला बनना। २. अब वायु प्रभु को उत्तर देते हुए कहते हैं कि हे पितः! मैं (क) **अन्तः पवित्रः**=अन्दर से पवित्र बनता हुआ (ख) **उपरि श्रीणानः**=बाहरी जीवन को कुछ तपस्वी बनाता हुआ, परिपक्व करता हुआ (ग) **अयम्**=यह मैं **शुक्र**=(शुक् गतौ) निरन्तर क्रियाशील बनता हुआ और परिणामतः (शुच् दीप्तौ) दीप्ति होता हुआ **ते आयामिः**=आपके समीप (अय गतौ, व्यत्यय से परस्मैपद) आता हूँ।

प्रभु ने जीव को ज्ञानपूर्वक यज्ञों को अपनाने के लिए कहा था, जीव उसका बड़ी सुन्दरता से उत्तर देता हुआ कहता है कि मैं पवित्रता, तप, क्रियाशीलता व दीप्ति का समन्वय करता हुआ अवश्य आपके समीप प्राप्त होनेवाला बनूँगा। अन्दर की पवित्रता के लिए बाह्य तप आवश्यक है। उसके बिना जीवन विलासी बनेगा न कि पवित्र। दीप्ति के लिए क्रियाशीलता आवश्यक है। यहाँ 'शुक्र' शब्द में दोनों का भाव निहित है। इस प्रकार के जीवनवाला व्यक्ति अन्त तक **'जमदग्नि'**=जीमनेवाली अग्निवाला, अर्थात् ठीक जठराग्निवाला बना रहता है। इसका शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य बिगड़ता नहीं।

भावार्थ—जमदग्नि के जीवन में यज्ञ, ज्ञान, पवित्रता, तप, क्रियाशीलता व दीप्ति की साधना निरन्तर चलती है।

ऋषिः—**तापसः**। देवता—**इन्द्रवायू**। छन्दः—**निचृद्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

नीरोगता+निर्मलता अनमीव+सुमनाः=तापस=जितेन्द्रियता+क्रियाशीलता

इन्द्र॑वायू सु॒स॒न्दृशा॑ सु॒ह॒वेह ह॑वामहे।
यथा॑ नः॒ सर्व॒ऽइज्जनो॑ऽनमी॒वः स॒ङ्गमे॑ सु॒मना॒ऽअस॑त् ॥८६॥

१. 'इन्द्र' वह है जो इन्द्रियों का अधिष्ठाता है, दूसरे शब्दों में जितेन्द्रिय है। इन्द्रियाँ उसके घोड़े हैं, वह उनपर दृढ़ता से आरूढ़ है। आत्मवश्य इन्द्रियों से वह इस विषयात्मक संसार में विचरता है, इसी कारण वह विषयों की दलदल में नहीं फँसता। इन्हीं इन्द्रियों को वश में करके मनुष्य त्रिभुवन का विजेता बनता है, सिद्धि को प्राप्त करता है। २. 'वायु' शब्द क्रियाशीलता के द्वारा सब मलों के हिंसन का सूचन करता है (वा गतिगन्धनयोः, गन्धनं=हिंसनम्) जबतक क्रिया में लगे रहते हैं किसी प्रकार के अवाञ्छनीय विचार मन में उत्पन्न नहीं होते। खाली हुए और बुराइयाँ आईं। खाली मन ही अशुभ विचारों का पात्र बनता है। ३. **इन्द्रावायू**=जितेन्द्रियता और क्रियाशीलता **सुसन्दृशा**=जब (सम्) एक ही (दृश्) दिखती हैं तो बड़ी ही (सु) उत्तम प्रतीत होती है। अकेली जितेन्द्रियता भी पर्याप्त

नहीं, अकेली क्रियाशीलता भी अधूरी है। ये दोनों इकठी ही मानव-जीवन को सुन्दर बनाती हैं। अतएव **सुहवा**=उत्तमता से पुकारने योग्य हैं। **इह**=इस अपने जीवन में हम दोनों की ही **हवामहे**=आराधना करते हैं। प्रभुकृपा से हम जितेन्द्रिय बनें (इन्द्र) और क्रियाशील (वायु) हों। ४. इन दोनों तत्त्वों का होना इसलिए आवश्यक है कि **यथा**=जिससे **नः**=हमारे **सर्व इत् जनः**=सभी मनुष्य **अनमीवः**=नीरोग हों और **संगमे**=मिलकर चलने में **सुमनाः**=सदा उत्तम मनवाले **असत्**=हों। स्वास्थ्य के लिए जितेन्द्रियता सर्वमहान् साधन है। चरक कहते हैं कि 'हिताशी स्यात्' मिताशीस्यात्, कालभोजी, जितेन्द्रियः'=यदि स्वस्थ बनना चाहते हो तो (क) पथ्य का, परिमित मात्रा में, समय पर सेवन करो और (ख) जितेन्द्रिय बनो। पथ्य भी हो, मात्रा भी ठीक हो, समय पर भोजन चले, परन्तु जितेन्द्रियता के अभाव में यह सब व्यर्थ हो जाता है। एवं, इन्द्र ही स्वस्थ रहता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति निरन्तर क्रियाशील रहता है वही राग-द्वेष आदि से ऊपर उठ पाता है। उसका मन सदा निर्मल बना रहता है। जितेन्द्रियता नीरोगता का कारण है तो क्रियाशीलता निर्मलता का। जितेन्द्रियता शरीर को दीप्त करती है तो क्रियाशीलता मन को। ५. यह जितेन्द्रियता व क्रियाशीलता ही सच्चा तप है। इस तप के जीवनवाला 'तापस' इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—हमारे जीवनों में जितेन्द्रियता के साथ क्रियाशीलता हो, जिससे कि हम 'अनमीव व सुमन', नीरोग व निर्मल बन पाएँ।

ऋषिः—**जमदग्निः**। देवता—**मित्रावरुणौ**। छन्दः—**निचृद्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

जमदग्नि का रोग व क्रोध शमन

ऋधगित्था स मर्त्यः शशमे देवतातये।
यो नूनं मित्रावरुणावभिष्टयऽआचक्रे हव्यदातये॥८७॥

१. गतमन्त्र में कहा था कि-हम 'इन्द्र और वायु' इन दोनों तत्त्वों को अपने जीवन में अपनाएँ। 'इन्द्र' जितेन्द्रियता का सूचक है, तो 'वायु' क्रियाशीलता का। **इत्था**=इस प्रकार इन दोनों को अपनाने से **ऋधक्**=सचमुच **सः मर्त्यः**=वह मनुष्य **'शशमे**=अपने शरीर में रोगों को शान्त करता है और मन में क्रोध को है। इस प्रकार यह अपने शरीर व मन को स्वस्थ करके **देवतातये**=दिव्य गुणों के विस्तार के लिए अपने को तैयार करता है। वस्तुतः स्वस्थ शरीर व स्वस्थ मन दिव्य गुणों के लिए एक उर्वरा भूमि है। २. ऐसा कर वह पाता है **यः**=जो **नूनम्**=निश्चय से **मित्रावरुणौ**=प्राणापान को **अभिष्टये**=शरीर व मानस रोगों पर आक्रमण के लिए **आचक्रे**=नियत कर देता है, अर्थात् जो व्यक्ति प्राणसाधना करता है उसका शरीर भी स्वस्थ रहता है, मन भी निर्मल बना रहता है। इस प्रकार यह व्यक्ति **हव्यदातये**=कर्मफल के काटने के लिए होता है (दा लवने), अर्थात् कर्मबन्धन से ऊपर उठ पाता है। अभिष्टि=आक्रमण। प्राणापान शरीर के पहरेदार हैं, ये शरीर में आनेवाले रोग व मलों पर आक्रमण करते हैं। असुरों ने आक्रमण किया, परन्तु प्राणापान से टकराकर वे मिट्टी के ढेले के समान पत्थर से टकराकर चकनाचूर हो गये। ये मित्रावरुण 'प्राणापान' है, साथ ही ये 'स्नेह व द्वेष-निवारण' की देवता हैं, ये मनुष्य को 'काम' से ऊपर उठाकर कर्मबन्धन से भी मुक्त करते हैं, अतः इन्हें 'हव्यदातये' कर्मबन्धन के विच्छेद के लिए सदा पहरेदार के रूप में नियुक्त करना उपयुक्त है। 'हव्यदातये' का अर्थ शतपथ के अनुसार 'यजमान' के लिए है। प्राणसाधना से काम पर विजय पाकर हम सच्चे यजमान बनते हैं। ३. ८५वें मन्त्र का ऋषि 'जमदग्नि' है, ८६वें का 'तापस' है और ८७ का 'जमदग्नि'। एवं

जमदग्नि से प्रारम्भ है और जमदग्नि पर समाप्ति है, बीच में 'तापस' है। एवं, संकेत स्पष्ट हैं कि जमदग्नि ने यदि जमदग्नि बने रहना है तो आवश्यक है कि वह 'तापस' बना रहे, बच्चा जमदग्नि है, तीव्र जाठराग्निवाला है। यदि वह जीवन में तपस्वी बना रहेगा तो अन्त तक इसकी जठराग्नि भी बनी रहेगी। अन्यथा आराम का जीवन बिताता हुआ यह अपने विलास से जठराग्नि का विनाश तो कर ही बैठेगा और तब कितने ही रोग इसे आ घेरेंगे एवं, 'जमदग्नि, तापस, जमदग्नि' यह कितना सुन्दर क्रम है। जमदग्नि ऋषि के मन्त्रों को इकठा कर देने पर इस क्रम का महत्त्व विनष्ट हो जाता है, अतः वेद मन्त्रों का क्रम भी अपरिवर्तनीय-सा ही प्रतीत होता है।

भावार्थ—हमारा जीवन 'जमदग्नि, तापस, जमदग्नि' का जीवन हो।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**निचृद्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

प्राणापान की साधना

आ यातमुप भूषतं मध्वः पिबतमश्विना।
दुग्धं पयो वृषणा जेन्यावसू मा नो मर्धिष्टमा गतम्॥८८॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का देवता 'अश्वनौ' प्राणापान हैं। इनकी साधना करके इनको अपने वशमें करनेवाला 'वशिष्ठ' प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है। यह प्रार्थना करता है—२. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **आयातम्**=सर्वत्र प्राप्त होवो। 'अशूङ् व्याप्तौ' से अश्विनी शब्द बना है। सारे शरीर में व्याप्त होनेवाले। 'प्राणापान' का उद्देश्य इन्हीं अङ्ग-प्रत्यङ्ग में पहुँचने से है, जिस-जिस अङ्ग में ये प्राणापान पहुँचते हैं, वहाँ-वहाँ की मलिनता को भस्म करके ये उस-उस अङ्ग को पूर्ण नीरोग बनाते हैं। वस्तुतः किसी स्थानविशेष में इनके ठीक-ठीक न पहुँचने से उस-उस स्थान के अङ्ग मृत होना आरम्भ हो जाते हैं, शायद यही केंसर का मूल हो। प्राणसाधना से उस अङ्ग का जीवित किया जा सकना सम्भव है। एवं, एक योगी केन्सर का शिकार नहीं होता, हुए-हुए केंसर को भी यह दूर कर सकता है। २. इस प्रकार हे प्राणापानो! मेरे अङ्गों को नीरोग करके उन्हें **उपभूषतम्**=स्वस्थ्य व अपने-अपने कार्य में कुशलता से अलंकृत करो। मेरी आँख दृष्टिशक्ति से सुशोभित हो, तो कान सुनने की शक्ति से अलंकृत हो जाएँ। इस प्रकार हे प्राणापानो! तुम मेरे सारे शरीर को सुशोभित कर दो। ३. **मध्वः पिबतम्**=इस अलंकरण प्रक्रिया के लिए तुम अन्न के सारभूत् मधु, अर्थात् सोम का पान करो। तुम्हारी साधना से मेरे अन्दर सुत (उत्पन्न हुआ) सोम मेरे अङ्ग-प्रत्यङ्ग में प्रविष्ट होकर उसे स्वस्थ बनाये। यह वीर्यशक्ति ही (वि=विशेषरूप से ईर=) रोगों व विकारों को कम्पित करनेवाली हो। इसी से सब अङ्ग नीरोग होकर सुशोभित होंगे। ४. इस वीर्यरक्षा के द्वारा **पयः**=अप्यायन को **दुग्धम्**=मुझमें प्रपूरित करो (दुह प्रपूरणे)। 'पयः' शब्द दूधके लिए भी इसी कारण प्रयुक्त होता है कि यह अप्यायन करनेवाला है। (ओप्यायी वृद्धौ)। यदि शरीर में वीर्य सुरक्षित होता है तो यह एक-एक अङ्ग के अप्यायन का कारण बनता है। ५. **वृषणा**=हे प्राणापानो! आप 'वृषणा' हो, मुझे शक्तिशाली बनानेवाले हो। ६. **जेन्यावसू**=मेरे लिए सब वसुओं को जीतनेवाले हो। निवास के लिए आवश्यक तत्त्व ही वसु हैं। इस प्राणसाधना से वे सब वसु प्राप्त होते हैं। ७. **नः**=हमें **मा**=मत **मर्धिष्टम्**=हिंसित करो। ये प्राणापान हमें नीरोग व शक्तिशाली बनाकर पूर्ण दीर्घजीवन प्राप्त करनेवाला बनाएँ। ८. **आगतम्**=ऐसे ये प्राणापान मुझे प्राप्त हों। मेरे अङ्ग-प्रत्यङ्ग में इनकी गति हो। मन्त्र का प्रारम्भ 'आयातम्' शब्द से था, समाप्ति 'आगतम्' पर है। दोनों की भावना एक ही है

(या=गम)। वस्तुतः प्राणापान का लाभ तभी है जब ये शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में पहुँचे। एक गहरा श्वास लेकर सारे शरीर में प्राण को पहुँचाने का प्रयत्न करें। अपान के समय उसे पूरे रूप से बाहर फेंकें। वस्तुतः पूरक व रेचक तो आनुपातिक ढंग से ही चलते हैं। जितना रेचक ठीक होगा उतना ही पूरक भी ठीक हो जाएगा। इस मन्त्र का ऋषि इस प्राणापान को वशवर्ती करनेवाला वशिष्ठ है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम पूर्ण नीरोगता का लाभ करें।

ऋषिः—**कण्वः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

कण्व का संग्रह—मस्तिष्क, हृदय, हाथ—ज्ञान, सत्य, यज्ञ

प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः प्र देव्येतु सूनृता।
अच्छा वीरं नर्यं पङ्क्तिराधसं देवा यज्ञं नयन्तु नः॥८९॥

१. गत मन्त्र के अनुसार प्राणसाधना करनेवाला वसिष्ठ कण-कण करके उत्तमताओं का संग्रह करता है। इसी कारण 'कण्व' कहलाता है। वह कहता है—२. **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञान की अधिष्ठातृ देवता, ज्ञान का पति **प्र एतु**=हमें प्रकर्षेण प्राप्त हो। (ब्रह्म=वेद) मेरा मस्तिष्क ज्ञानाग्नि से दीप्त हो। वह ब्रह्मणस्पति का अधिष्ठान बने। ३. **देवी**=सब दिव्य गुणों की जननी **सूनृता**=(सु+ऊन+ऋत) उत्तमता से दुःखों का परिहाण करनेवाली सत्यवाणी **प्र एतु**=हमें खूब प्राप्त हो। मेरा हृदय इस 'सूनृता देवी' का निवासस्थान बने। मैं सत्य वाणी ही बोलूँ। सत्य को भी इस उत्तमता से बोलूँ कि वह औरों के दुःखों का परिहरण करनेवाला हो। ४. **देवाः**=सब देव, सत्य के द्वारा प्राप्त हुए-हुए सब दिव्य गुण **नः**=हमें **यज्ञम्**=यज्ञ को **अच्छ**=आभिमुख्येन **नयन्तु**=प्राप्त कराएँ, अर्थात् हमारी रुचि यज्ञों की ओर हो। हमारा मस्तिष्क ज्ञान का अधिष्ठान बने, हृदय सत्यवाणी का और इसी प्रकार हमारे हाथ यज्ञों में व्याप्त रहें जो यज्ञ **वीरम्**=(वि+ईर) हमारे से बुराइयों को कम्पित करके दूर भगा देते हैं। **नर्यम्**=जो यज्ञ नरहित को साधनेवाले हैं तथा **पंक्तिराधसम्**=पाँचों को सिद्ध करनेवाले हैं (राध=सिद्ध करना)। यहाँ पाँच शब्द कर्मेन्द्रिय पञ्चक, ज्ञानेन्द्रिय पञ्चक, अन्तःकरण का अवयव पञ्चक (हृदय, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) तथा प्राणपञ्चक के लिए है। यज्ञ इन सबके लिए हितकर है। यज्ञ से वृत्ति सुन्दर होती है, वृत्ति के सुन्दर हो जाने पर ये सब सुन्दर हो जाते हैं। एवं, कण्व कण-कण करके सब दिव्य गुणों का संग्रह कर लेता है।

भावार्थ—प्राणापान की साधना द्वारा वसिष्ठ बनकर हम कण-कण करके अच्छाइयों का संग्रह करनेवाले बनें। हमारा मस्तिष्क ब्रह्मणस्पति का निवास-स्थान हो, हृदय सूनृता देवी का तथा हाथ यज्ञों के आश्रय बनें।

ऋषिः—**त्रितः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृद्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

कर्म, ज्ञान, स्तुति—'त्रित' का जीवन

चन्द्रमाऽअप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि।
रयिं पिशङ्गं बहुलं पुरुस्पृहꣳ हरिरेति कनिक्रदत्॥९०॥

१. पिछले मन्त्र का कण्व 'ज्ञान, सत्य व यज्ञ' का विस्तार करके 'त्रीन् तनोती इति त्रितः' प्रस्तुत मन्त्र का त्रित बन जाता है। इस त्रित का जीवन निम्न प्रकार का होता है। २. **चन्द्रमा**=इसका सदा आह्लादमय रहनेवाला मन **अप्सु**=व्यापक कर्मों के **अन्तरा**=बीच

में रहता है, अर्थात् यह अपने मन को व्यापक कर्मों में लगाये रखता है। मन को यहाँ चन्द्रमा शब्द से स्मरण किया है। मन चन्द्रमा है ही। **'चन्द्रमा मनसो जातः'**=विराट् पुरुष के मन से चन्द्रमा की उत्पत्ति होती है और चन्द्रमा से पिण्ड में मन की। मन सदा आह्लादमय होना चाहिए और वह सदा व्यापक कर्मों में लगा रहे। वही मन शुद्ध रहता है जो कर्मव्यापृत रहता है। ३. **सुपर्णः**=शोभन (सु) पालनादि कर्मों में लगा हुआ (पृ पालनपूरणयोः) यह 'चित्त' **दिवि**=ज्ञान में **धावते**=(धाव्=शुद्धि) अपने को शुद्ध करता है। अपने को सदा ज्ञान में शुद्ध करते रहने से ही इसके कर्मों की पवित्रता बनी रहती है। ४. यह त्रित ज्ञान से सब मलों को दूर करके 'हरि' बना है, मलों का अपहरण करनेवाला अथवा इन्द्रियों को विषयों से प्रत्याहृत करने के कारण यह 'हरि' है। यह हरि **रयिम्**=उस ज्ञान की सम्पत्ति को **एति**=प्राप्त होता है जो (क) **पिशंगम्**=दीप्त है (Bright), चमकीली है, जिसमें मलों का सम्पर्क नहीं। (ख) **बहुलम्**=जो ज्ञान की सम्पत्ति (बहून् लाति) अपनी 'मैं' में बहुतों का समावेश कर लेती है, अपनी 'मैं' को व्यापक बना लेती है। ज्ञानी पुरुष सभी में प्रभु की सत्ता को देखता है, अतः सभी को अपने से अभिन्नरूप में देखता है। (ग) **पुरुस्पृहम्**=यह ज्ञान-धन पालन व पूरण करनेवाला है, अतएव स्पृहणीय है। इस ज्ञानधन को यह 'हरि' पाता है। इसको पाकर वह सदा ५. **कनिक्रदत्**=उस प्रभु के नामों का ख़ूब उच्चारण करनेवाला बनता है। इसके जीवन में प्रभु का उपासन सतत चलता है।

भावार्थ—इस त्रित के जीवन में तीन बातें हैं—(क) यह प्रसन्नतापूर्वक कर्मों में लगा रहता है (ख) ज्ञान में अपना शोधन करता है, ज्ञान-सम्पत्ति को बढ़ाता है (ग) सदा प्रभु-स्मरण करता है।

ऋषिः—**मनुः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**विराड्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

देवों का आह्वान

दे॒वंदे॑वं वोऽव॑से दे॒वं दे॑वम॒भिष्ट॑ये।
दे॒वंदे॑वꣳ हुवेम॒ वाज॑सातये गृ॒णन्तो॑ दे॒व्या धि॒या ॥९१॥

१. **वः**=आपमें से **देवं देवम्**=प्रत्येक देव को **अवसे**=रक्षण के लिए **हुवेम**=पुकारते हैं। शरीर में रोगों का प्रवेश तभी होता है जब वहाँ दिव्य गुणों का स्थान विषय-वासनाएँ ले-लेती हैं। भोगवृत्ति आते ही रोग आने लगते हैं। एक समझदार व्यक्ति=मनु इस बात का पूरा ध्यान करता है कि कहीं विलास उसके विनाश का कारण न बन जाए। २. **देवं देवम्**=हम प्रत्येक देव को **हुवेम**=पुकारते हैं **अभिष्टये**=(क) वासनाओं पर आक्रमण के लिए और (ख) वासनाओं पर आक्रमण करके अभीष्ट की प्राप्ति के लिए। वासनाओं को दूर करने का उपाय 'प्रतिपक्षभावनम्'=वासना विरोधी दिव्य गुणों का भावन ही है। झूठ को दूर करने के लिए हमें उस स्थान पर सत्य को लाकर बिठाना चाहिए। प्रकाश को लाएँगे, अन्धकार तो भाग ही जाएगा। ३. हम **देवम् देवम्**=प्रत्येक देव को **हुवेम**=पुकारते हैं **वाजसातये**=शक्ति की प्राप्ति के लिए। दिव्य गुणों के निवास से शक्ति बढ़ती है, इनके ह्रास में शक्ति का ह्रास है। ४. इस प्रकार देवों को प्राप्त करने से शरीर रोगों से आक्रान्त नहीं होता, मन वासनाओं से अभिभूत नहीं होता और हमारा जीवन सशक्त बना रहता है, परन्तु इन देवों का आह्वान होता कैसे है—**देव्या धिया गृणन्तः**=दिव्य बुद्धि से प्रभु के नामों का उच्चारण करते हुए। जब हमारी वाणी प्रभु के नामों का उच्चारण करेगी और हम

दिव्य गुणों की कामनावाली बुद्धि से उन नामों का भावन व चिन्तन करेंगे तभी ऐसा हो पाएगा।

भावार्थ—'मनु'=एक समझदार व्यक्ति दिव्यगुणों को धारण करता है, जिससे उसका शरीर नीरोग हो पाए, उसका मन वासनाओं पर आक्रमण कर, उन्हें पराजित कर सके और वह शक्ति का धारण कर पाए। इसी उद्देश्य से वह बुद्धिपूर्वक प्रभु नाम-स्मरण में प्रवृत्त होता है।

ऋषिः—**मेधः**। देवता—**वैश्वानरः**। छन्दः—**निचृद्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

एक आदर्श प्रचारक

दिवि पृष्टोऽअरोचताग्निर्वैश्वानरो बृहन्।
क्षमया वृधानऽओजसा चनोहितो ज्योतिषा बाधते तमः॥१२॥

१. पिछले मन्त्र का मनु इस मन्त्र में 'मेध' (मेधृ संगमे) लोगों से सम्पर्क करनेवाला बनता है। अपना परिपाक करके ही प्रचार-क्षेत्र में उतरना ठीक है। दिव्य गुणों की आराधना करनेवाला ही दिव्यता का प्रसार कर सकता है। इस 'मेध' का जीवन निम्न शब्दों में द्रष्टव्य है—२. **दिवि पृष्टः**=यह प्रकाश में स्थित होता है, प्रकाश से संस्पृष्ट। यह अपने जीवन का आधार ज्ञान को बनाता है। इसकी श्रद्धा भी ज्ञानमूलक होती है। ३. **अरोचत**=इस ज्ञान के कारण ही यह (रुच दीप्तौ) दीप्त होता है। वस्तुतः ज्ञान से इसका जीवन पवित्र होता है, और पवित्रता में ही चमक है। ४. **अग्निः**=यह अपने जीवन को अग्रस्थान में प्राप्त कराता है, औरों को भी आगे ले-चलनेवाला होता है। ५. **वैश्वानरः**=(विश्व नरहितः) सब मनुष्यों के हित की भावना इसके मस्तिष्क में रहती है। ६. **बृहन्**=(बृहि वृद्धौ) इसका मन महान् होता है। संकुचित हृदय में ही रागद्वेष रहते हैं। हृदय की विशालता के कारण यह रागद्वेष से ऊपर उठा होता है। ७. **क्षमया वृधानः**=लोकहित में प्रवृत्त होने पर जब लोग इसका अपमान व बुरा करते हैं, तो यह क्षमा से बढ़ा होता है। यह उनको क्षमा करना जानता है। इसे उनकी अज्ञानता पर करुणा उत्पन्न होती है। ८. **ओजसा**=यह 'ओज' से युक्त होता है। वस्तुतः ओजस्वी होने के कारण ही क्षमाशील होता है। निर्बलता चिड़चिड़ेपन का कारण बन जाती है। ९. **चनोहितः**=यह अन्न पर आश्रित होता है। इसका जीवन वनस्पति भोजन पर निर्भर करता है। यह अपने शरीर के पोषण के लिए परहिंसन को पाप समझता है। मांसभोजन के मूल में ही क्रूरता, निर्दयता व स्वार्थ है। एक प्रचारक को इनसे ऊपर उठना आवश्यक है। १०. ऐसे जीवनवाला यह 'मेध' **ज्योतिषा**=ज्ञान की ज्योति से **तमः**=अन्धकार को **बाधते**, पीड़ित करता है, दूर करता है। यह लोगों के अज्ञान को दूर करने में समर्थ होता है।

भावार्थ—हम अपने जीवन को 'मेध' का जीवन बनाएँ और संसार में प्रकाश फैलानेवाले बनें।

ऋषिः—**सुहोत्रः**। देवता—**इन्द्राग्नी**। छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

एक आदर्श पत्नी

इन्द्राग्नीऽअपादियं पूर्वागात्पद्वतीभ्यः।
हित्वी शिरो जिह्वया वावदच्चरत्त्रिꣳशत्पदा न्यक्रमीत्॥१३॥

१. 'इन्द्राग्नी' शब्द द्विवचन है, परन्तु मन्त्रके अगले 'अपात्', 'इयं' आदि सब शब्द

एकवचन हैं, अतः 'इन्द्र और अग्नि' अर्थ न करके हम 'इन्द्र की अग्नि' अर्थ लेंगे। घर में पुरुष ने 'इन्द्र' होना, अर्थात् पति को सदा जितेन्द्रिय होना। इसकी पत्नी अग्नि है, घर की सब प्रकार की उन्नति का कारण है। गृहिणी ने घर को सब दृष्टिकोणों से उन्नत करना है। इससे एक बात तो सुव्यक्त है कि उसका स्थान घर में हैं, उसने इधर-उधर नहीं घूमना। घूमती हुई पत्नी ठीक नहीं मानी जाती, अतः मन्त्र को इस भावना से प्रारम्भ करते हैं २. **इयम्**=यह 'अग्नि' घर की उन्नतिसाधक पत्नी **अपात्**=बिना पाँववाली है, अर्थात् यह व्यर्थ में इधर-उधर नहीं घूमती। 'अपात्' यह कितनी सुन्दर काव्यमय भाषा है, बाहर जाने के लिए उसके पाँव ही नहीं हैं। ३. 'अपात्' होती हुई भी यह घर में बड़ी क्रियाशील है। **पद्वतीभ्यः**=उत्तम पाँववालियों से भी **पूर्वा अगात्**=पहले पहुँची होती है, अर्थात् यह अधिक-से-अधिक क्रियामय जीवनवाली होती है। घर के कार्यों में बड़ी स्फूर्तिवाली होती है। ४. यह अपनी प्रत्येक क्रिया को पूर्ण समझदारी के साथ करती है **शिरः हित्वी**=सिर को धारण (दधातेर्हिः) करके चलती है। इसका मस्तिष्क सदा सन्तुलित रहता है। इसी कारण यह अपने कार्यों को कुशलता से कर पाती है। ५. यह अपने कार्यों को करती हुई **जिह्वया**=जिह्वा से **वावदत्**=निरन्तर प्रभु के पवित्र मन्त्रों का उच्चारण करती है। ६. **चरत्**=उन नामों के अनुसार यह अपनी क्रिया को भी बनाती है। उन नामों को आचरण में लाती है। 'प्रभु दयालु हैं' तो यह भी दयालु बनने का ध्यान करती है और इस प्रकार इसका जीवन प्रभु के गुणों को अपने में धारण कर रहा होता है। जिस पत्नी का जीवन इस प्रकार प्रभु के गुणों को धारण करके प्रभु का ही छोटा रूप हो जाता है, वहाँ देवों का निवास तो होगा ही। यही बात यहाँ निम्न शब्दों में कहते हैं—७. यह पत्नी **त्रिंशत् पदा**=तीस (पद गतौ) कदमों से **न्यक्रमीत्**=निश्चयपूर्वक चलती है, अर्थात् अपने घर में तीस देवों के निवास के लिए प्रयत्नशील होती है। पति 'इन्द्र' देवता है, पत्नी भी 'अग्नि' देवता ही है, अतः इनका सन्तान भी देव क्यों न होगा? एवं, 'पति, पत्नी व सन्तान' तीन मुख्य देव तो ये हुए, इनके अतिरिक्त तीस देवों, अर्थात् सब अच्छाइयों को अपने घर में लाने का पत्नी ने प्रयत्न करना है। जब ये अपने प्रयत्न में सफल होकर घर को तैंतीस देवों का निवासस्थान बना पाती है तब वहाँ ३४वें महादेव का निवास तो होता ही है। वही घर प्रभु का घर बनता है जहाँ देवों का निवास हो, ऐसा घर देवगृह बनकर 'स्वर्ग' बन जाता है।

भावार्थ—पत्नी घर में रहकर निरन्तर क्रियाशीलता से घर को बड़ा सुन्दर बना पाती है। यह समझदारी से प्रत्येक काम को करती है। प्रभु को नहीं भूलती। प्रभु का अनुकरण करने का प्रयत्न करती है और अपने घर को देवों का निवासस्थान बनाकर प्रभु को आमन्त्रित करती है।

ऋषिः—**मनुः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

वरिवोवित् देव

देवासो हि ष्मा मनवे समन्यवो विश्वे साकꣳ सरातयः।
ते नोऽअद्य तेऽअपरं तुचे तु नो भवन्तु वरिवोविदः॥९४॥

१. **मनवे**=मनु के लिए **विश्वे देवासः**=सब देव **साकम्**=साथ मिलकर **सरातयः**='राति'-वाले **हि**=निश्चय से **स्म**=हों। राति अर्थात् देना। देवों ने देवत्व ही तो देना है। गतमन्त्र में कहा गया था कि आदर्श पत्नी सब देवों को घर में लाने का प्रयत्न करती है। जो व्यक्ति

समझदार होता है, उसे माता, पिता, आचार्य, अतिथि आदि सभी देव देवत्व प्राप्त कराने का प्रयत्न करते हैं। ये देव कैसे हैं? **समन्यवः**=समान मन्युवाले। समान ज्ञानवाले–परस्पर एकमतवाले। यदि घर में माता-पिता 'समन्यु' न हों तो बालक पर ठीक प्रभाव नहीं पड़ता। शिक्षणालय में अध्यापक 'समन्यु' न हों तो विद्यार्थियों पर बुरा प्रभाव पड़ता है। राष्ट्र के, मन्त्रिमण्डल में ऐक्य न हो तो राष्ट्र की व्यवस्था बिगड़ जाती है, अतः सभी देवों का एक ही संकल्प है, और वह यह कि मनु को अपना देवत्व प्राप्त कराकर उन्नत बनाना। 'मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद'=उत्तम माता, पिता व आचार्यवाला व्यक्ति ही विद्वान् बनता है। २. **ते**=वे विद्वान् **अद्य**=आज **नः**=हमें **वरिवोविदः**=ज्ञानरूप धन को प्राप्त करनेवाले **भवन्तु**=हों **तु**=और **अपरम्**=अपरकाल में (afterward) **ते**=वे विद्वान् **नः तुचे**=हमारे सन्तानों के लिए भी **वरिवोविदः**=इस ज्ञान-धन को प्राप्त करानेवाले हों।

जैसे हमें ज्ञानियों ने ज्ञान प्राप्त कराया, इसी प्रकार हमारी सन्तानों को भी ज्ञानियों का सम्पर्क मिले और वे भी ज्ञान-धन के धनी बन पाएँ। वस्तुतः सन्तानों के लिए इससे उत्तम और क्या प्रार्थना हो सकती है? ३. प्रस्तुत मन्त्र में देवताओं के लिए जहाँ **'समन्यवः'**=ज्ञानसहित तथा समान ज्ञानवाले और **सरातयः**=देने की वृत्ति से युक्त–ये दो बातें कही गई हैं, वहाँ लेनेवाला भी **मनुः**=समझदार होना चाहिए। उसकी वृत्ति भी लेनेवाली हो। उसके अन्दर 'प्रणिपात, परिप्रश्न व सेवा की भावना' हो, जिससे कि देव सचमुच मिलकर उसके जीवन का सुन्दर निर्माण कर पाएँ। प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि ऐसा निर्माण किये जाने की योग्यता रखनेवाला 'मनु' ही है।

भावार्थ—हमें देवताओं का सम्पर्क प्राप्त हो और हम ज्ञानरूप धन को प्राप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—**नृमेधः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिग्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

हिंसा से दूर

अपाधमदभिशस्तीरशस्तिहाथेन्द्रो द्युम्न्याभवत्।
देवास्तऽइन्द्र सख्याय येमिरे बृहद्भानो मरुद्गण ॥९५॥

१. गत मन्त्र का मनु देवों से देवत्व प्राप्त करके अब नृमेध बनता है, औरों के सम्पर्क में आकर उनके हित में प्रवृत्त होता है। २. यह नृमेध **अभिशस्तीः**=सब प्रकार की हिंसाओं को **अपाधमत्**=अपने से दूर फेंकता है, इन वृत्तियों को समाप्त करके अपने से दूर करके चमक जाता है। ३. यह केवल हिंसा से ही दूर नहीं होता। हिंसा तो यहाँ सब अवगुणों का प्रतीकमात्र है। यह नृमेध **अशस्तिहा**=सब अप्रशस्त बातों का नाश करनेवाला होता है। ४. **अथ**=अब–सब बुराइयों को दूर करके **इन्द्रः**=यह इन्द्रियों का अधिष्ठाता नृमेध **द्युम्नी**=ज्योतिरूप धनवाला **आभवत्**=सब प्रकार से हो जाता है। अधिक-से-अधिक व्यापक ज्ञान को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होता है। इस प्रकार—५. हे **बृहद्भानो** =वृद्ध (बढ़ी हुई) ज्ञान की दीप्तिवाले **मरुद्गण**=प्राणों के गण से युक्त नृमेध! **देवाः**=सब देव हे **इन्द्र**=इन्द्र! **सख्याय**=प्रभु से मित्रता केलिए **ते**=तेरे जीवन को **येमिरे**=नियमित बनाते हैं। प्राणों की साधना से सब देवों की अनुकूलता प्राप्त होती है और यह नृमेध प्रकृति की आसक्ति से ऊपर उठकर प्रभु का मित्र बन पाता है।

भावार्थ—हम हिंसा से दूर रहें, बुराइयों को नष्ट करें, ज्ञानधन को प्राप्त करें, प्राणसाधना से देवों की अनुकूलता का सम्पादन करके प्रभु के सखा बनें।

ऋषिः—**नृमेधः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृद्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

प्राणों का ब्रह्मार्चन—शतपर्व वज्र

प्र व॒ऽइन्द्रा॑य बृह॒ते मरु॑तो॒ ब्रह्मा॑र्चत।
वृ॒त्रꣳ ह॑नधित वृत्र॒हा श॒तक्र॑तु॒र्वज्रे॑ण श॒तप॑र्वणा॥९६॥

१. हे **मरुतः**=प्राणो! **वः**=अपने **बृहते**=ज्ञान का वर्धन करनेवाले **इन्द्राय**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता आत्मा केलिए **ब्रह्म प्रार्चत**=उस ब्रह्म की प्रकर्षेण अर्चना करो। प्राणों के संयम से ही प्रभु का ठीक आराधन सम्भव है। २. प्रभु का आराधन करके यह इन्द्र '**वृत्रहा**'=वृत्र का नाश करनेवाला बनता है। आत्मा के ज्ञान पर पर्दा डालनेवाली वासना ही वृत्र है। इस **वृत्रम्**=कामरूप वृत्र को यह प्राणों द्वारा ब्रह्मार्चन करनेवाला **हनति**=नष्ट कर डालता है। काम 'प्रद्युम्न' है=प्रकृष्ट बलवाला है। इसे मारना सुगम नहीं, परन्तु जब ब्रह्म की आराधना सम्पन्न होती है, तब यह काम 'भस्मीभूत' हो जाने के भय से वहाँ आता ही नहीं। ३. काम से ऊपर उठकर जीव 'शतक्रतु' बनता है। **शतक्रतुः**=यज्ञकर्ता जीव **शतपर्वणा वज्रेण**=सौ पर्वोंवाले वज्र से वृत्र को मार गिराता है। शतक्रतु के इस 'शतपर्व वज्र' का अभिप्राय **शत**=सौ-के-सौ वर्ष, अर्थात् जीवनपर्यन्त पर्व=(पूरणे) अच्छाइयों को अपने में पूरण करनेवाली (वज् गतौ) क्रियाशीलता ही है। मनुष्य जब तक क्रियाशील रहता है तब तक उसमें बुराइयों का प्रवेश नहीं होता। अकर्मण्यता आई और बुराइयों का आक्रमण हुआ। एवं, अभिप्राय स्पष्ट है कि मनुष्य ने पूर्ण आयुष्पर्यन्त क्रियामय बने रहना है। यह क्रिया लोकहित के लिए होती हुई यज्ञरूप हो जाती है। सब यज्ञ कर्म से ही होते हैं। यह क्रियाशीलता इन्द्र का 'शतपर्व वज्र' है, इसी से वह वृत्र का विनाश करता है।

भावार्थ—हमारे प्राण ब्रह्मार्चन में लगें। ब्रह्म की मित्रता से शक्तिशाली बनकर हम वृत्र का विनाश करें। 'सतत क्रियाशीलता' वृत्र-विनाश के लिए हमारा साधन बने।

ऋषिः—**मेधातिथिः**। देवता—**महेन्द्रः**। छन्दः—**स्वराट् सतोबृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

इन्द्र का वर्धन

अ॒स्येदिन्द्रो॑ वावृधे॒ वृष्ण्य॒ꣳ शवो॒ मदे॑ सु॒तस्य॒ विष्ण॑वि।
अ॒द्या तम॑स्य महि॒मान॑मा॒यवोऽनु॑ ष्टुवन्ति पू॒र्वथा॑॥९७॥

१. **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव **अस्य इत्**=निश्चय से इस प्रभु का होता है। यह प्रकृति में आसक्त नहीं होता। प्रकृति का प्रयोग करता हुआ भी यह उसका उपभोग नहीं करने लग जाता और इसी का परिणाम होता है कि यह २. **वृष्ण्यं शवः**=सबपर सुखों की वर्षा करनेवाली शक्ति को **वावृधे**=अपने अन्दर बढ़ाता है। भोग शक्ति को जीर्ण करते हैं। ३. इस शक्तिवृद्धि का रहस्य इस बात में है कि यह उत्पन्न सोम को शरीर के अन्दर ही व्याप्त करता है। भोगों में अनासक्त व्यक्ति ही ऐसा कर पाता है। **सुतस्य**=उत्पन्न हुए सोम के **विष्णवि**=(विश् व्याप्तौ) शरीर में व्याप्त होनेवाले **मदे**=उल्लास के होने पर यह इन्द्र अपने में शक्ति का वर्धन करता है। ४. **अद्य**=आज, जब ये भोगों का शिकार न होकर सोमरक्षा कर पाएँ हैं तब **अस्य**=इस प्रभु की **तम् महिमानम्**=उस प्रसिद्ध महिमा को **आयवः**=क्रियाशील होते हुए (एति इतिं आयुः) **अनुष्टुवन्ति**=गाते हैं, उसी प्रकार **पूर्वथा**=जैसेकि प्रकृति का रंग चढ़ने से पूर्व यह प्रभुकी उपासना करता था।

३३वें अध्याय की समाप्ति **वावृधे वृष्ण्यं शवः**=इसकी सुखवर्षक बल बढ़ता है।

यह शक्तिशाली बनता है, इसकी शक्ति औरों को सुखी करनेवाली होती है, पीड़ित करनेवाली नहीं, पर होती है (क) इस ३३वें अध्याय का प्रारम्भ 'अस्याजरास्य' शब्दों से हुआ था कि 'इस प्रभु के भक्त जीर्ण नहीं होते' समाप्ति पर भी वही बात कही—इनकी शक्ति बढ़ती है। एवं, यह ३३वाँ अध्याय सब प्रकार की 'शक्ति' के वर्धन का अध्याय है। (ख) दूसरी ध्यान देनेवाली बात यह है कि यह-अध्याय ३३ संख्या पर है, देव भी तैंतीस हैं। इन तैंतीस देवों को अपने में धारण करने का इस अध्याय में कई बार उल्लेख है। इस अध्याय के ३३वें मन्त्र को 'दैव्यौ' शब्द से प्रारम्भ किया गया है, पति-पत्नी ने अपने में देवों की स्थापना करनी है। ६६वें मन्त्र में अपने में सब देवों की स्थापना करनेवाले असुरों का संहार करनेवाले 'देवराट् इन्द्र' का वर्णन है। अपने में इन देवों की स्थापना करनेवाला 'मेधातिथि'=निरन्तर समझदारी से चलनेवाला इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—हम प्रभु के बनें, शक्तिशाली हों, प्रभु का स्तवन करें और उन्नत हों।

इति त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः॥

अथ चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

—:०:—

ऋषिः—**शिवसङ्कल्पः**। देवता—**मनः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

दूरंगम मन

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥१॥

१. पिछले अध्याय की समाप्ति 'प्रभु का बनकर अपने में शक्तिवर्धन' के शब्दों में हुई थी। इस अध्याय को उसी शक्तिवर्धन के लिए मन को शिवसंकल्पवाला बनाने की प्रार्थना से आरम्भ करते हैं। इस प्रार्थना के कारण ऋषि का नाम ही 'शिवसंकल्प' हो गया है। यह मन को एकाग्र करने का प्रयत्न करता है। 'कौन-से मन को?' इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत मन्त्रों में दिया गया है, अतः इन मन्त्रों का देवता=विषय 'मन' है। २. शिवसंकल्प ऋषि प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभो! आपकी कृपा से **तन्मे मनः**=वह मेरा मन **शिवसंकल्पम्**=शिवसंकल्पवाला **अस्तु**=हो। मन के अन्दर अद्भुत शक्ति है, यह वैद्युत व चान्द्रमस है, अतः इसमें विद्युत् के समान बल व चन्द्रमा के समान ओज विद्यमान है। मन की वृत्तियाँ विकीर्ण होने पर सामार्थ्य शून्य होती हैं, इसी से वे 'विकल्प'=विगत सामर्थ्यवाली कहलाती हैं, अतः प्रार्थना करते हैं कि हमारा मन विकल्पों से दूर होकर 'संकल्पों'वाला, सम्यक् सामर्थ्यवाला हो और साथ ही वह शक्ति 'शिव'=कल्याणकर हो, उसका उपयोग ध्वंस में न हो। कौन-सा मेरा मन ३. **यत्**=जो **जाग्रतः**=जागते हुए का **दूरम्**=दूर-दूर **उत्**=बाहर (out) **आ**=चारों ओर **एति**=जाता है। ऋग्वेद के 'मनोजगाम दूरकम्' इस सूक्त में १२ बार इन शब्दों को दुहराया गया है, यह मन तो दूर-दूर समुद्रों, पर्वतों व विविध दिशाओं में भटकता फिरता है। **दैवम्**=(देवस्य इदम्) यह मन इस शरीर के सम्राट् देवराट् इन्द्र का प्रमुख साधन था। प्रभु-प्राप्ति के लिए यह सर्वमहान् उपकरण था। जैसे आँख रूप का उपकरण है, उसी प्रकार यह मन परमात्मादर्शन का उपकरण है, परन्तु यह तो इधर-उधर भटक रहा है, अपने उद्दिष्ट कार्य में नहीं लगा। जागरित अवस्था में ही इधर-उधर जाता हो यह बात भी नहीं। **तत्**=वह मन **उ**=निश्चय से **सुप्तस्य**=सोते हुए का भी तथा एव जागते हुए की भाँति उसी प्रकार दूर-दूर तक जाता है। **दूरङ्मम्**=दूर-दूर जाना जिसका स्वभाव है। **ज्योतिषम्**=ज्योतियों की **एकम्**=एकमात्र **ज्योतिः**=ज्योति है।

भावार्थ—मेरा मन सदा शिवसंकल्प करनेवाला हो।

ऋषिः—**शिवसङ्कल्पः**। देवता—**मनः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

अपूर्व मन

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥२॥

हे सर्वान्तर्यामिन् परमेश्वर! **येन**=जिस मन से **अपसः**=कर्म करनेवाले, **धीराः**=धैर्ययुक्त **मनीषिणः**=मन के विजेता विद्वान् लोग **यज्ञे**=यज्ञ में, श्रेष्ठतम कर्मों में और **विदथेषु**=संघर्षों

में, युद्धादि में **कर्माणि**=कर्मों को **कृण्वन्ति**=करते हैं, **यत्**=जो **अपूर्वम्**=अपूर्व सामर्थ्ययुक्त, विलक्षण, अद्भुत, **यक्षम्**=अत्यन्त पूजनीय **प्रजानां अन्तः ओतम्**=यह मन प्रजाओं के अन्दर है। शरीर के ठीक मध्य में इसकी स्थिति है। यह कहलाता ही 'अन्तःकरण' है। पञ्चकोशात्मक शरीर में दो कोश एक ओर हैं और दो कोश दूसरी ओर और ठीक मध्य में है यह 'मनोमयकोश'। ६. **तत् मे मनः**=वह मेरा मन **शिवसंकल्पम् अस्तु**=शुभ संकल्पोंवाला हो। जब यह विकल्पात्मक होता है तब निर्बल होकर मृत्यु का कारण बनता है, संकल्पात्मक होकर सशक्त होता है और जीवन का हेतु बनता है।

भावार्थ—हम मन की अद्भुत शक्ति को पहचानें और उसे वश में करके शिवसंकल्पात्मक बनाकर कल्याण का साधन करें।

नोट—पण्डितजी की पाण्डुलिपि में एक पृष्ठ लुप्त है। पृष्ठों की क्रम संख्या ठीक है। प्रथम और द्वितीय दोनों मन्त्र खण्डित हैं। हमने उन्हें पूरा कर दिया है। —**जगदीश्वरानन्द**

ऋषिः—**शिवसङ्कल्पः**। देवता—**मनः**। छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

अमृत मन

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्नऽऋते किं चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥३॥

१. वह मेरा मन **यत्**=जो **प्रज्ञानम्**=प्रकृष्ट ज्ञान का साधक है। लौकिक ज्ञान में आँख इत्यादि इन्द्रियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आँख रूप को देखती है तो कान शब्द को सुनता है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियाँ अन्यान्य विषयों को ग्रहण करती हैं, परन्तु वे सब उस अन्तःस्थित आत्मतत्त्व का दर्शन नहीं कर पातीं। यह दर्शन तो मन से ही होता है। लौकिक ज्ञान में भी मन हो तो शीघ्र व सम्यक् ज्ञान होता है। मन की अनुपस्थिति में ज्ञान होता ही नहीं, उसकी विक्षिप्तावस्था में अधकचरा-सा ज्ञान होता है। २. **उत्**=और **चेतः**=यह मन स्मरण का साधन है। मन के ठीक होने पर 'मैं कौन हूँ' यह स्मृति बनी रहती है। पाठ में मन हो तो जल्दी याद होता है। ३. **च**=और यह मन **धृतिः**=धैर्य व दृढ़ता का साधन है। ४. यह मन वह है **यत्**=जो **प्रजासु**=प्रजाओं के अन्दर **अमृतम् ज्योतिः**=अमर ज्योति है। इन्द्रियाँ ज्योति हैं, परन्तु उनका भी प्रकाशक मन ही है, अतः यह मन ही वस्तुतः ज्योति है और चूँकि शरीर के नष्ट होने पर भी साथ ही जाता है, अतः इसकी मृत्यु नहीं होती। एवं, यह मन 'अ-मर' है। ५. **यस्मात् ऋते**=इस मन के बिना **किञ्चन कर्म**=कोई छोटा-सा भी कार्य **न**=नहीं **क्रियते**=किया जाता। **तत् मे मनः**=वह मेरा मन **शिवसङ्कल्पम्**=शिवसङ्कल्पवाला **अस्तु**=हो। प्रत्येक कार्य का सौन्दर्य व साफल्य मन के शिवसंकल्पमय होने पर ही निर्भर करता है।

भावार्थ—हमारा यह मन अमर ज्योति है। इसके महत्त्व को समझकर हम इसकी शक्ति के विकास के लिए प्रयत्नशील हों।

ऋषिः—**शिवसङ्कल्पः**। देवता—**मनः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

सर्वग्राहक मन

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥४॥

१. **तन्मे मनः**=वह मेरा मन **शिवसंकल्पम्**=शुभ संकल्पोंवाला **अस्तु**=हो, **येन अमृतेन**=जिस

अमर मन से **इदम्**=यह **भूतम्**=भूतकाल की सब बात **भुवनम्**=वर्त्तमान की बात और **भविष्यत्**=आगे होनेवाली बातें **सर्वम्**=सब **परिगृहीतम्**=ग्रहण की जाती हैं। यह मन अमर है, आत्मा के साथ अगले-अगले शरीर में जाता है। इसमें सब जन्म-जन्मान्तर के संस्कार निहित होते हैं, वर्त्तमान की बातें इसपर अपने संस्कार डाल रही हैं और आनेवाली बातों का इसपर प्रतिबिम्ब-सा पड़ जाता है तथा आगे होनेवाली सब कल्पनाओं का उद्गम इसी में है। एवं, यह मन भूत, भविष्य व वर्त्तमान तीनों का ही ग्रहण करनेवाला है। ३. यह मन वह है **येन** =जिससे **सप्तहोता**=सात होताओंवाला **यज्ञः**=यज्ञ **तायते**=विस्तृत किया जाता है। ये सात होता शरीर के सात ऋषि हैं—**'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्'**=दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँख व मुख, ये सात ऋषि प्रत्येक शरीर में विद्यमान हैं **'सप्तऋषयः प्रतिहिताः शरीरे'**। यह इस शरीर में स्थित होकर ज्ञानयज्ञ को चलाया करते हैं, परन्तु इनका यह ज्ञानयज्ञ मनोयोग के होने पर ही चलता है। मन के बिना ये सब अशक्त हैं। ये ज्योति हैं, तो मन इन ज्योतियों की भी ज्योति है। जिस समय साधक इस मन को वश में कर लेता है तब इस मन का जहाँ भी वह संयम करता है, झट उसी का ज्ञान कर लेता है। **भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्**=सूर्य में संयम करने से यह सम्पूर्ण भुवन का ज्ञान कर लेता है। पवित्र मन पर आगे आनेवाली घटनाओं का प्रतिबिम्ब पहले से ही पड़ जाता है। इस प्रकार वह मन 'भूत-भुवन-भविष्यत्' सभी का ग्रहीता है और सम्पूर्ण ज्ञानयज्ञ को चलानेवाला है। यह शिवसंकल्प हुआ तो फिर कल्याण-ही-कल्याण है।

भावार्थ—हम अपने मन को बड़ा शुद्ध बनाएँ, जिससे हमारा ज्ञानयज्ञ बड़ी सुन्दरता से चले।

ऋषिः—**शिवसङ्कल्पः**। देवता—**मनः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

ऋग्-यजु-साम का आधार मन

यस्मिन्नृचः साम यजूंꣳषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिँश्चित्तꣳ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥५॥

१. **तत् मे मनः**=वह मेरा मन **शिवसंकल्पम्**=शुभ संकल्पवाला **अस्तु**=हो, **यस्मिन्**=जिसमें और **यस्मिन्**=जिससे ही **ऋचः**=सम्पूर्ण विज्ञान (ऋग्वेद=विज्ञानवेद) **साम**=उपासना व **यजूंषि**=यज्ञात्मक कर्म में **प्रतिष्ठिताः**=प्रतिष्ठित हैं **इव**=जैसे **रथनाभौ**=रथ के पहिये की नाभि में **अराः**=अरे प्रतिष्ठित होते हैं। नाभि के हिलते ही सब अरे हिल जाते हैं, इसी प्रकार मानसविकार होते ही सारा विज्ञान, सारी उपासना व सारा कर्मकाण्ड समाप्त हो जाता है। वैज्ञानिकों ने प्रकृति-तथ्यों का निरीक्षण पूर्ण मनोयोग से करना होता है। उपासना तो चलती ही तब है जब मन से अन्य सब विषयों को निकाल दिया जाए। सब यज्ञ मन से ही होते है। क्या वेदाधिगम=(वेद पढ़ना) और क्या वैदिक कर्मकाण्ड—ये सब मन के न होने पर नहीं चलते। मनोनिरोध करके मनुष्य वैज्ञानिक तथ्यों का विचार कर पाता है, मनोनिरोध का ही नाम उपासना हो जाता है (ध्यानं निर्विषयं मनः), मन की एकाग्रता से किया गया कर्म सुन्दर होता है। २. यह मन वह है **यस्मिन्**=जिसमें **प्रजानाम्**=प्रजाओं का **सर्वम् चित्तम्**=सारा चित्त, सम्पूर्ण स्मरण **ओतम्** =ओत-प्रोत है, व्याप्त है। जब यह इन्द्रिय द्वारों से बहार जाकर संसार के विषयों के साथ रम जाता है तब मनुष्य को **'कोऽहं कुत आयातः'**=मैं कौन हूँ, यहाँ क्यों आया हूँ? यह सब भूल जाता है। आत्मविस्मरण से बचने के लिए मन को वश में करना अत्यन्त आवश्यक है। **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'**=चित्तवृत्ति-

निरोध ही योग है और **'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'**=तभी द्रष्टा स्वरूप में स्थित होता है, अपने को पहचानता है, भूलता नहीं।

भावार्थ—मन ही विज्ञान, उपासना व कर्म का आधार है। आत्मस्मृति का मूल मन ही है। वह एकाग्र रहा तो मनुष्य अपने स्वरूप को देख पाता है।

ऋषिः—**शिवसङ्कल्पः**। देवता—**मनः**। छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

हृदय में प्रतिष्ठित मन

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिनऽइव। हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥६॥

१. **इव**=जैसे **सुषारथिः**=उत्तम सारथि **वाजिनः**=शक्तिशाली **अश्वान्**=घोड़ों को **अभीशुभिः इव**=जैसे लगामों से **नेनीयते**=खूब इधर-उधर ले-जाता है, उसी प्रकार मन मनुष्यों को न जाने कहाँ-कहाँ ले-जाता है। एक ही क्षण में पूर्व में है, तो अगले ही क्षण में पश्चिम में पहुँच जाता है, प्रथम क्षण में समुद्र तल में विचर रहा है तो अगले ही क्षण में पर्वत-शिखर पर पहुँचा होता है। चारों दिशाओं में भटकता है। यहाँ 'सु-सारथि' शब्द का उल्लेख बड़ा महत्त्वपूर्ण है। उत्तम सारथि घोड़ों को लक्ष्य की ओर ले-जाता है, इसी प्रकार यह उत्तम बना हुआ मन मनुष्य को अवश्य लक्ष्य तक पहुँचानेवाला होता है। २. **हृत् प्रतिष्ठम्**=यह मन हृदय में प्रतिष्ठित है। 'हृदय' श्रद्धा का निवासस्थान है और श्रद्धा होने पर ही मन स्थिर होता है। जिस विषय में श्रद्धा होगी, उसी विषय में मन स्थिर हो पाएगा। आत्मतत्त्व में श्रद्धा हुई तो मन वहीं एकाग्र होगा। वृक्ष जैसे भूमि में प्रतिष्ठित है, भूमि से जड़ बाहर हुई और वृक्ष गिरा, इसी प्रकार मन श्रद्धा में प्रतिष्ठित है, श्रद्धा से रहित हुआ कि भटका। ३. यह मन **यत्**=जो **अजिरम्**=(agile) अत्यन्त क्रियाशील है **जविष्ठम्**=अत्यन्त वेगवान् है **तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु**=वह मेरा मन शिवसंकल्पवाला हो। मन सचमुच 'चञ्चल'=अत्यन्त चञ्चल है 'वायोरिव सुदुष्करम्'=इसको स्थिर करना वायु को मुट्ठी में पकड़ने के समान है, परन्तु श्रद्धा होने पर स्थिर हो जाता है।

भावार्थ—हम अपने इस नितान्त चञ्चल मन को श्रद्धा द्वारा नियन्त्रित करनेवाले बनें।

ऋषिः—**अगस्त्यः**। देवता—**अन्नम्**। छन्दः—**उष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**॥

पालक अन्न को

पितुं नु स्तोषं महो धर्माणं तविषीम्। यस्य त्रितो व्योजसा वृत्रं विपर्वमर्दयत् ॥७॥

१. गत छह मन्त्रों में मन को शिवसंकल्प बनाने का वर्णन है। मन की शिवसंकल्पता बहुत कुछ अन्न पर निर्भर है। सात्त्विक अन्न से मन भी सात्त्विक होता है। **'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः'** यह उपनिषद्वाक्य कह रहा है कि आहार के शुद्ध होने पर मन भी शुद्ध होता है। इसी सारी बात का संकेत वेद में मन के मन्त्रों के बाद अन्न का मन्त्र देकर कर दिया गया है। २. अन्न 'पितु' है (पा रक्षणे) शरीर की रक्षा करनेवाला है। शरीर का नाम ही अन्नमयकोश है। अन्न से ही इसकी रक्षा होती है। जब तक यह अन्नमयकोश अन्न को खाता है, तब तक शरीर स्वस्थ बना रहता है, परन्तु जिस दिन इस अन्न को मन खाने लगा उसी दिन स्वाद में पड़कर यह अन्न अतिमात्र सेवित होता है और हमें ही खा जाता है, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **नु**=अब, शिवसंकल्प की प्रार्थना की समाप्ति पर **पितुम्**=रक्षक अन्न की **स्तोषम्**=स्तुति करता हूँ, जो **महः**=महत्ता [illegible] ओजस्वी बनानेवाला है।

धर्माणम्=यह मेरा धारक है। **तविषीम्**=बल है। वस्तुतः मात्रा में सेवित किया हुआ सात्त्विक अन्न मनुष्य को तेजस्वी बनाता है, यह हमारे शरीरों को धारण करता हुआ उन्हें बलयुक्त करता है। ४. यह अन्न वह बल है **यस्य**=जिसके **विओजसा**=विशिष्ट ओज से **त्रितः**=काम-क्रोध-लोभ को तैर जानेवाला व्यक्ति अथवा शरीर, मन व बुद्धि की शक्तियों का विकास करनेवाला व्यक्ति **वृत्रम्**=सब प्रकार की उन्नतियों की विघ्नभूत वासनाओं को **विपर्वम्**=एक-एक पोरी को विकीर्ण करके **अर्दयत्**=नष्ट करता है। सात्त्विक अन्न के सेवन से कामना सभी रूपों में समाप्त हो जाती है, न काम सताता है, न क्रोध, न लोभ। उत्तेजक भोजन ही वासनाओं की उत्पत्ति में कारण बनते हैं। यहाँ मन्त्र में पालक व सौम्य भोजन के सेवन का संकेत है, यही भोजन 'पितु' है। एवं, स्पष्ट है कि त्रित सौम्य-भोजनों का ही प्रयोग करता है और इसी कारण वह वृत्र का विनाश करके पाप के मूल को ही समाप्त करता हुआ प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'अगस्त्य'=पापसंहार करनेवाला कहलाता है। इस प्रकार के अन्न के सेवन का ही यह भी परिणाम है कि यह संसार में 'अनुकूल मति' से चलता है, वैर-विरोध को बढ़ानेवाला नहीं होता। इसी अनुमति का उल्लेख अगले मन्त्र में करेंगे।

भावार्थ—हम सात्त्विक अन्न के सेवन से मन को शिवसंकल्प बनाएँ, उसमें से वासनाओं को उखाड़ फेंकें।

ऋषिः—**अगस्त्यः**। देवता—**अनुमतिः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

अनुमति

अन्विदनुमते त्वं मन्यासै शं च नस्कृधि।
क्रत्वे दक्षाय नो हिनु प्र णऽआयूꣳषि तारिषः॥८॥

सात्त्विक अन्न के सेवन से मनुष्य के अन्दर सदा 'अनुमति'=अनुकूल मति=उन्नति के लिए योग्य विचार उत्पन्न होते हैं। राजस् व तामस् अन्नों का परिणाम विरोधी विचारों का उत्पन्न होना, लड़ाई-झगड़े के विचारों का उत्पन्न होना है। सात्त्विक अन्न 'अनुमति' को जन्म देता है तो उससे भिन्न अन्न 'विमति' को जन्म देता है। विमति से परस्पर विरोध-विद्वेष बढ़ता है और उसका परिणाम मानस अशान्ति है। मानस अशान्ति के होने पर 'विषाद' उत्पन्न होता है, मनुष्य के मन में कर्मसंकल्प नहीं उठता, किसी काम को जी करता ही नहीं। ऐसी स्थिति उन्नति के लिए व बल-वृद्धि के लिए विघातक है, और दीर्घजीवन की विरोधी है ही। इस सारी बात को ध्यान में करके मन्त्र में 'अगस्त्य' ऋषि जिनका उद्देश्य सब प्रकार की **'अ-ग'**=अगतिता को **स्त्य**=समाप्त करना है, कहते हैं कि हे **अनुमते**=अनुकूलमते! **त्वम्**=तू **इत्**=निश्चय से **अनुमन्यासै**=हमपर अनुकूलमतिवाली हो, अर्थात् हम तेरे 'कृपापात्र' बने रहें। तू हमसे कभी दूर न हो **च**=और **नः**=हमारे लिए **शम्**=शान्ति को **कृधि**=कर। **नः**=हमें शान्त बनाकर **क्रत्वे**=सदा उत्तम कर्मसंकल्पों के लिए तथा **दक्षाय**=उन्नति के लिए **हिनु**=प्रेरित कर। इस प्रकार हमें शान्त, कर्ममय, उन्नतिशील जीवनवाला बनाकर **नः**=हमारी **आयूंषि**=आयुओं को **प्रतारिषः**=खूब लम्बा करना, हमें दीर्घ जीवनवाला बनाना।

भावार्थ—यदि हम शुष्क वैर-विवाद से दूर रहकर अनुकूलितमति से चलते हैं तो हमें 'शान्ति, कर्मसंकल्प (कर्मसामर्थ्य); उन्नति तथा दीर्घजीवन' प्राप्त होता है।

ऋषिः—**अगस्त्यः**। देवता—**अनुमतिः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

अनुमति और अग्नि

अनु नोऽद्यानुमतिर्यज्ञं देवेषु मन्यताम्।
अग्निश्च हव्यवाहनो भवतं दाशुषे मयः॥९॥

पिछले मन्त्र में कहा गया था कि अनुमति के होने पर 'शान्ति' रहती है। जिस घर में पति-पत्नी में अनुमति है, वह घर स्वर्ग बन जाता है। इसी 'अनुमति' का उल्लेख करते हुए प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **अनुमतिः** =शान्ति व उन्नति की साधनभूत यह 'अनुमति'=(प्रेम का विचार) **अद्य**=आज **नः**=हमारे **देवेषु यज्ञम्** =देवताओं में निवास करनेवाला जो यज्ञ है, उसका **अनुमन्यताम्**=अनुकूल बोध दे, अर्थात् हमारे विचारों को 'अनुमति' यज्ञानुकूल बनाये। देवता लोग यज्ञमय जीवन बिताते हैं, वही यज्ञ 'अनुमति' की कृपा से हमें प्रिय हो। हमारी मनोवृत्ति आज से यज्ञ-प्रवण हो जाए। 'यज्ञ' का पूर्ण अर्थ यह है कि हम (क) सदा बड़ों का आदर करें (देवपूजा), (ख) सब साथियों के साथ बड़े प्रेम से मिलकर चलनेवाले बनें (संगतिकरण) तथा (ग) सदा ही कुछ-न-कुछ देनेवाले बने रहें (दान), (घ) इस दान को ही जब हमें इन वायु आदि देवों के लिए करना होता है तब हम इन देवों के मुखरूप अग्नि में हव्य पदार्थों को डालते हैं। यही अग्निहोत्र कहलाता है और यज्ञ का अर्थ संकुचित रूप में यही लिया जाता है। देव लोग तो यज्ञमय जीवनवाले हैं ही, हम भी अनुमति की कृपा से यज्ञमय जीवनवाले बनें, **च**=और **अग्निः**=देवों का मुख यह अग्नि **हव्यवाहनः**=हमारे द्वारा दिये गये हव्य पदार्थों को देवों में ले-जानेवाला बने। इस प्रकार हे अनुमते और अग्ने! आप दोनों **दाशुषे**=इस दाशवान् के लिए **मयः**=कल्याणकर **भवतम्**=होओ। 'दाशवान्' पुरुष वह है (दाशृ दाने) जो देनेवाला है और अन्त में जो अपने को प्रभु के प्रति दे डालता है, यह समर्पण की वृत्तिवाला पुरुष दाश्वान् कहलाता है। प्रभु-प्रवण व्यक्ति कभी किसी से लड़ता नहीं, यह सदा सबके साथ प्रेम से चलता है, यज्ञशील तो होता ही है। 'अनुमति व अग्नि की कृपा से यह 'अगं पापं संहन्ति=स्त्यायति'=पाप को नष्ट करके अगस्त्य बन जाता है।

भावार्थ—हम सदा अनुमतिवाले हों और हमारे जीवन यज्ञमय बन जाएँ।

ऋषिः—**गृत्समदः**। देवता—**सिनीवाली**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

सिनीवाली (आदर्श पत्नी)

सिनीवालि पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा।
जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि दिदिड्ढि नः॥१०॥

'गत दो मन्त्रों में वर्णित 'अनुमति' को गृहिणी अपने सन्तानों में 'कैसे जन्म देती है', इस विषय को स्पष्ट करने के लिए दो मन्त्रों में 'आदर्श पत्नी' के क्रियाक्रम का उल्लेख करते हैं १. यह आदर्शपत्नी **सिनीवालि**=(सिनमन्नम्; वालं=पर्व=पूरण—नि० ११।३।३२) अन्न के द्वारा सब न्यूनताओं को दूर करती है तथा मनों में अनुमति व उससे जनित यज्ञिय वृत्तियों का पूरण करती है। यह घर में सदा सात्त्विक अन्नों का ही व्यवहार रखती है, कभी भी राजस् व तामस् भोजनों को घर में नहीं आने देती। इसी का यह परिणाम होता है कि यह स्वयं तो अनुमतिवाली होती ही है, अपनी सन्तानों में भी इस अनुमति को उत्पन्न कर पाती है। २. जीवन में गलती न हो जाए इस विचार से सदा प्रभु का स्तवन करनेवाली

बनती है। मन्त्र में इसे **पृथुष्टुके**=(पृथुष्टुते–नि० ११।३।३२) हे ख़ूब स्तुतिवाली! इस प्रकार कहा गया है। 'प्रथ विस्तारे'=इसके जीवन में सदा स्तुति का विस्तार रहता है, जब ज़रा समय खाली हुआ या अन्य कार्य से थकी कि 'प्रभु नाम जपन' करने लगी। ३. इस प्रकार **या**=जो तू **देवानां स्वसा**=देवों की बहिन **असि**=है। जिस तूने दिव्य गुणों को धारण किया है। माता को यही चाहिए कि जिन-जिन बातों को वह बच्चों में चाहे उन्हें स्वयं धारण करे 'स्वयं सरति इति स्वसृ'। स्वयं सोई हुई माता बच्चों को जगाकर पढ़ाई में प्रवृत्त नहीं कर सकती। ४. **आहुतम् हव्यम् जुषस्व**=अग्नि में आहुति दिये जा रहे हव्य पदार्थों का तू प्रीतिपूर्वक सेवन कर, अर्थात् तू नित्य अग्निहोत्र करनेवाली हो। यह प्रतिदिन का यज्ञ सन्तानों के जीवन को अवश्य यज्ञमय बना देगा। माता को अग्निहोत्र करते देखकर बालकों के लिए भी यज्ञ एक सुन्दर खेल हो जाएगा। ५. इस प्रकार अपने जीवन को दिव्य गुणों से भरनेवाली आदर्श गृहिणी सचमुच देवी है। इससे कहते हैं कि हे **देवि**=दिव्य गुणों को धारण करनेवाली आदर्श गृहिणी! तू **नः**=हमें **प्रजाम्**=उत्तम सन्तान को **दिदिड्ढि**=दे–प्राप्त करा। 'इस पत्नी की सन्तान इसी के समान उत्तम ज़ीवनवाली होगी', इस बात में तो शक है ही नहीं। ६. इस उत्तम जीवनवाली पत्नी को पाकर पति का जीवन भी आनन्दमय होता है और वह उत्तम साथी प्राप्त कराने के लिए प्रभु का सदा आभारी रहता है। गृणाति माद्यति=प्रभु-स्तवन करता है और प्रसन्न रहता है और 'गृत्समद' इस अन्वर्थ नामवाला हो जाता है।

भावार्थ—पत्नी १. सात्त्विक अन्न के व्यवहार से न्यूनताओं को दूर करनेवाली हो। २. निरन्तर स्तुतिमय जीवनवाली हो। ३. स्वयं दिव्य गुणों को धारण करे ४. यज्ञशीला हो। ५. ऐसी पत्नी सुसन्तान का निर्माण करती है।

ऋषिः—**गृत्समदः**। देवता—**सरस्वती**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

सरस्वती का 'पंचधा सरित्' होना

पञ्च नद्यः सरस्वतीमपि यन्ति सस्रोतसः।
सरस्वती तु पञ्चधा सो देशेऽभवत्सरित्॥११॥

शरीर में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच ज्ञानवाहिनी नदियाँ है। चक्षु से प्रवाहित होनेवाली ज्ञाननदी रूप-जल से भरी है तो श्रोत्र से चलनेवाली शब्दरूप जल से। एवं, एक-एक ज्ञानेन्द्रिय से एक-एक विषय का ग्रहण होकर यह सम्पूर्ण पाँच भौतिक संसार हमारे ज्ञान का विषय बन जाता है और इस प्रकार ज्ञान जलवाहिनी सरस्वती नदी पूर्ण जलौघ के साथ बह चलती है। ज्ञानजलौघ से युक्त गृहिणी को भी यहाँ 'सरस्वती' ही नाम दिया गया है। गतमन्त्र में यह सिनीवाली=अन्न से दोषों को दूर कर अपना पूरण करनेवाली थी, और वस्तुतः उस सात्त्विक अन्न के सेवन ने ही इसे 'सरस्वती' बनने की क्षमता प्राप्त कराई है। **सरस्वतीम्**=इस सरस्वती को **पञ्च**=पाँच **सस्रोतसः**=समान स्रोतवाली **नद्यः**=ये ज्ञान-जलवाहिनी नदियाँ **अपियन्ति**=प्राप्त होती हैं, अर्थात् यह उत्तम गृहिणी सदा अपनी पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान-प्राप्ति के प्रयत्न में लगी रहती है। वेद का यह उपदेश कि 'पंचौदनः पंचधा विक्रमताम्'=पञ्चौदन जीव पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान-प्राप्ति में लगा रहे, कभी उत्तम पत्नी भूलती नहीं तभी तो वस्तुतः वह सचमुच **सरस्वती**=ज्ञान की अधिदेवता बन पाई है। **सा तु**=यह पत्नी तो **सरस्वती**=ज्ञान की अधिदेवता बनकर **उ**=निश्चय से **देशे**=जिस गृह में व क्षेत्र में काम करती है उस प्रदेश में **सरित्**=कार्य को सुन्दर रूप से चलानेवाली (सृ

गतौ) **अभवत्**=होती है। अज्ञान में क्रिया ग़लत होती है, ज्ञान क्रिया में पवित्रता व कुशलता को ले-आता है। एवं, 'सरस्वती' अपने घर का सञ्चालन ऐसे अच्छे ढंग से करती है कि **पञ्चधा**=पाँचों प्रकार से, अर्थात् अन्नमयादि पाँचों कोशों के दृष्टिकोण से **सरित्**=सब सन्तानों को आगे बढ़ानेवाली बनती है। अपने सन्तानों के अन्नमयकोश को नीरोग बनाती है, प्राणमय को सबल, मनोमय को निर्मल, विज्ञानमय को दीप्त और आनन्दमयकोश को सदा सोल्लास बनानेवाली होती है। यह है 'सरस्वती' का 'पञ्चधासरित्' होना=पाँच प्रकार से बच्चों को आगे बढ़ाना।

भावार्थ—माताएँ सरस्वती हों, बच्चों की सर्वांगीण उन्नति की साधिका हों।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**विराड्जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

हिरण्यस्तूप

त्वम॑ग्ने प्रथ॒मोऽअङ्गि॑रा॒ऽ ऋषि॑र्दे॒वो दे॒वाना॑मभवः शि॒वः सखा॑।
तव॑ व्र॒ते क॒वयो॑ विद्म॒नाप॑सोऽजायन्त म॒रुतो॒ भ्राज॑दृष्टयः॥१२॥

सरस्वतीरूप माता से शिक्षित होकर एक युवक बड़े संयत जीवनवाला बनता है। यह प्रभु को निम्न शब्दों में आराधित करता है १. हे **अग्ने**=हमारी सब प्रकार की उन्नतियों के साधक प्रभो! **त्वम्**=आप **प्रथमः**=सबसे प्रथम होनेवाले हो, गुरुओं के भी गुरु हो (हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे)। आप अत्यन्त विस्तारवाले हो (प्रथ विस्तारे), सर्वव्यापक हो, सबमें आप हो, सब आपमें ही स्थित हैं। २. **अङ्गिराः**=(अङ्ग, रस) हमारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग में आप ही रस का सञ्चार करनेवाले हो। सभी को शक्ति देनेवाले आप ही हो। आपकी दीप्ति से ही वस्तुतः सारा संसार दीप्त है। ३. **ऋषिः**=आप सर्वद्रष्टा हैं, सर्वज्ञ हैं। ४. **देवः**=सब दिव्य गुणों के पुञ्ज हैं, सब देवताओं को भी देवत्व देनेवाले आप ही हैं। ४. **देवानाम्**=दिव्य गुणों को अपनाकर देव बननेवालों के **शिवः सखा**=कल्याणकर मित्र **अभवः**=होते हो। प्रभु देव हैं तो देव बननेवाले उन्हें क्यों न प्रिय हों? ४. देव बनने के लिए जो व्यक्ति **तव व्रते**=आपके व्रत में चलते हैं, अर्थात् अपना लक्ष्य प्रभु-प्राप्ति बनाते हैं, वे व्यक्ति (क) **कवयः**=क्रान्तदर्शी बनते हैं, तात्त्विक ज्ञान को प्राप्त करके वस्तुओं की ऊपरली चमक से मुग्ध हो जानेवाले नहीं होते। (ख) **विद्मनापसः**=ज्ञानपूर्वक होने के कारण ही इनके कर्म पवित्र बने रहते हैं। (ग) **मरुतः**=ये मितरावी होते हैं, बोलते कम हैं, करते अधिक हैं, वाग्वीर न होकर कर्मवीर होते हैं तथा (मरुतः प्राणाः)=प्राणों की साधना करनेवाले होते हैं। (घ) इस प्राणसाधना से ही वस्तुतः ये **भ्राजदृष्टयः**=देदीप्यमान ज्ञानरूप दर्शनवाले **अजायन्त**=होते हैं। इनकी ज्ञानाग्नि खूब चमक उठती है।

भावार्थ—वीर्य की ऊर्ध्वगति करनेवाला 'हिरण्यस्तूप' प्रभु को 'अग्नि, अङ्गिरा, ऋषि, देव व देवसखारूप' में देखता है और प्रभु-प्राप्ति को जीवन का लक्ष्य बनाकर 'कवि=ज्ञानपूर्वक कर्म करनेवाला, मरुत व भ्राजदृष्टि' बन जाता है।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभुरक्षा का पात्र

त्वं नो॑ऽअग्ने॒ तव॑ देव पा॒युभि॑र्म॒घोनो॑ रक्ष त॒न्व॒श्च वन्द्य।
त्रा॒ता तो॒कस्य॒ तन॑ये॒ गवा॑म॒स्यनि॑मेषꣳ रक्ष॑माण॒स्तव॑ व्र॒ते॥१३॥

हे **अग्ने**=उन्नति के साधक! **देव**=दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमारे

मघोनः=(मा अघ) पाप के अंश से शून्य ऐश्वर्यवालों को तथा (मघ=मख) यज्ञशील लोगों को **तव पायुभिः**=अपने रक्षणों से **रक्ष**=सुरक्षित कीजिए। प्रभु रक्षा करते हैं, उनकी जो (क) **मघ**=ऐश्वर्य का उपार्जन करते हैं, उस ऐश्वर्य का जोकि कुटिलता व पाप से नहीं कमाया गया। (ख) जो ऐश्वर्य का उपार्जन करके उस ऐश्वर्य का विनियोग यज्ञों (मघ=मख) में करते हैं, (ग) इस प्रकार जो साधनों को जुटाकर और साधनों का सदुपयोग करके उन्नतिपथ पर आगे बढ़ते हैं (अग्नि) और (घ) धीरे-धीरे दिव्य गुणों के पुञ्ज बन जाते हैं (देव)। हे **वन्द्य**=हे वन्दन व स्तवन के योग्य प्रभो! **नः तन्वः च**=और हमारे शरीरों की भी **रक्ष**=आप रक्षा कीजिए। हे प्रभो! आप ही **तोकस्य त्राता**=हमारे सन्तानों के भी रक्षक हैं। वस्तुतः प्रभुकृपा से ही माता-पिता सन्तानों का निर्माण कर पाते हैं। हमारे **तनये**=पौत्रों के विषय में भी (तनुते वंशम्) आप ही **त्राता**=रक्षक हैं। हमारी इन सन्तानादि की रक्षा के लिए ही **गवाम्**=हमारे गौ आदि पशुओं के भी आप **त्राता असि**=रक्षक हैं। यहाँ वंश-विस्तार के लिए गोरक्षा का स्पष्ट सङ्केत है। हे प्रभो! वास्तव में **तव व्रते**=आपके व्रत में चलनेवालों के आप **अनिमेषम्**=प्रमादशून्यता से, पूर्ण सावधानी से **रक्षमाणः**=रक्षा करनेवाले हैं। जो प्रभु-प्राप्ति को अपना ध्येय बना लेते हैं प्रभु स्वयं उनके रक्षक बन जाते हैं।

भावार्थ—प्रभुरक्षा का पात्र बनने के लिए हम (क) सदा सुपथ से धन कमाएँ, (ख) धन का विनियोग यज्ञों में करें, (ग) उन्नत होने का सतत प्रयत्न करें, (घ) दिव्यता को धारण करें, (ङ) प्रभु के प्रति वन्दनशील हों।

ऋषिः—**देवश्रवदेववातौ भारतौ**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

इडा पुत्र—अक्रोधी—संयमी

उत्तानायामव भरा चिकित्वान्त्सद्यः प्रवीता वृषणं जजान।
अरुषस्तूपो रुशदस्य पाजऽइडायास्पुत्रो वयुनेऽजनिष्ट॥१४॥

पिछले दोनों मन्त्रों में 'तव व्रते' ये शब्द आये हैं। प्रभु की रक्षा के पात्र वे होते हैं जो प्रभु के व्रत में स्थित हों। प्रभु-प्राप्ति के लिए दृढ़ निश्चयवाले ये लोग सात्त्विक अन्न का प्रयोग करते हैं, इस सात्त्विक अन्न से इनकी बुद्धि भी सात्त्विक व सूक्ष्म बनती है। इस **उत्तानायाम्**=(उत्+तन) उत्कृष्ट विस्तारवाली बुद्धि में **चिकित्वान्**=समझदार पुरुष **अवभर**=वेदवाणी को भरता है। जैसे पृथिवी में बीज बोते हैं, उसी प्रकार समझदार व्यक्ति उत्कृष्ट विकसित बुद्धि में वेदवाणी का बीज बोते हैं। यह वेदवाणीरूप बीज **सद्यः**=कुछ ही समय बाद **प्रवीता**=प्रजाता-अंकुरित हुआ-हुआ उस बोनेवाले को **वृषणम्**=बड़ा शक्तिशाली **जजान**=बना देता है। वेदवाणी मानवजीवन को सबल बनाती है। उसकी प्रेरणा के अनुसार चलता हुआ मनुष्य काम-क्रोधादि वासनाओं से पराजित नहीं होता और संसार के विषय अत्यन्त प्रबल आकर्षण रखते हुए भी उसे बाँध नहीं पाते। यह **इडायाः**=वेदवाणी का **पुत्रः**=पुत्र बन गया है। वेदवाणी ने ही इसके जीवन को बनाया है। यह वेदवाणी का 'पुत्र' इसलिए भी है कि यही वाणी इसे 'पुनाति'=पवित्र करती है और त्रायते=बचाती है। यह वेदवाणी का पुत्र **अरुषस्तूपः**=(अरुषश्चासौ स्तूपः) क्रोध से एकदम शून्य और शक्ति की ऊर्ध्वगति करनेवाला (स्तूप् to raise) होता है। मनुष्य दो कारणों से निर्बल होता है, एक यह कि शक्ति का अपव्यय हो जाए और दूसरा यह कि क्रोध के कारण वह अन्दर-ही-अन्दर जल जाए। यह 'इडापुत्र' क्रोधशून्य है और साथ ही शक्ति को नष्ट न

होने देनेवाला है। परिणामतः **अस्य पाजः**=इसकी शक्ति **रुशत्**=देदीप्यमान है। यह शारीरिक स्वास्थ्य व मानस प्रसाद के कारण प्रफुल्लित प्रतीत होता है। यह **वयुने**=उत्कृष्ट विज्ञान में **अजनिष्ट**=विकसित हुआ है। शरीर व मन के विकास के साथ इसका मस्तिष्क भी विज्ञान की दीप्ति से चमक उठा है।

भावार्थ—वेदवाणी (ज्ञान की वाणी) मानव-जीवन को सबल बनाती है। यह उसे अक्रोधी, संयमी, दीप्तशक्तिवाला व ज्ञाननिष्ठ बना देती है।

ऋषिः—**देवश्रवदेववातौ भारतौ।** देवता—**अग्निः।** छन्दः—**विराडनुष्टुप्।** स्वरः—**गान्धारः।**

देवश्रवदेववात

इडा॑यास्त्वा प॒दे व॒यं नाभा॑ पृथि॒व्याऽअधि॑।
जात॑वेदो॒ निधी॑मह्य॒ग्ने॑ ह॒व्याय॒ वोढ॑वे॥१५॥

पिछले तथा प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'देवश्रवदेववात' (भारत) हैं। ये माता-पिता, आचार्य व अतिथि आदि देवों से ज्ञान प्राप्त करके 'देवश्रव' नामवाले हुए हैं। इन्हीं देवों से सदा उत्तम प्रेरणाओं को प्राप्त करने के कारण इनका नाम 'देववात' (वा=ईर=प्रेरण) हो गया। इन्होंने वेदवाणी को अपने में भरा, अतः ये 'भारत' हैं। ज्ञान प्राप्त करके, यज्ञादि उत्तम कर्मों की प्रेरणा लेकर ये सदा यज्ञादि में लगे रहते हैं, सबके साथ मिलकर चलते हैं और दान की वृत्ति को कभी अपने से दूर नहीं करते। यही दान की वृत्ति नैत्यिक अग्निहोत्र के रूप में भी प्रकट होती है और यह कहता है कि हे **जातवेदः**=प्रत्येक पदार्थ को प्राप्त करानेवाले (जातं वेदयति) **अग्ने**=हव्य पदार्थों को आगे-और-आगे ले-जानेवाले अग्ने! **हव्याय वोढवे**=हव्य पदार्थों को ढोने के लिए **वयम्**=हम **त्वा**=तुझे **पृथिव्याः नाभौ अधि**=इस पृथिवी की यज्ञरूप नाभि में (अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः) **निधीमहि**=स्थापित करते हैं। यज्ञ के अभाव में किसी का कल्याण नहीं, यह पृथिवीलोक तो यज्ञजनित पर्जन्यों से ही प्रीणित होता है। **'यज्ञाद् भवति पर्जन्यः, पर्जन्यादन्नसंभवः'** अन्न की उत्पत्ति करनेवाला पर्जन्य यज्ञ से उत्पन्न होता है। यह अग्नि 'जातवेद' है, इसमें डाले हुए हव्य पदार्थ को यह प्रत्येक देव को प्राप्त कराता है। अग्नि जलायी और हव्य पदार्थ डाले' इतना ही नहीं, यह उन हव्य पदार्थों को **इडायाः**=वेदवाणी के **पदे**=शब्दों के उच्चरित होने पर डालता है, अर्थात् मन्त्रोच्चारणपूर्वक यह यज्ञों को करनेवाला बनता है। इस प्रकार इन यज्ञों के प्रसङ्ग से यह वेदवाणी की भी रक्षा करनेवाला बनता है। वेदवाणी इसकी माता है, उसी ने इसका निर्माण किया, उसकी रक्षा करना इसका कर्त्तव्य है।

भावार्थ—यह 'देवश्रवदेववात' यज्ञमय जीवनवाला होता है। मन्त्रोच्चारपूर्वक जातवेद अग्नि में हव्य पदार्थों को डालता है।

ऋषिः—**नोधाः।** देवता—**इन्द्रः।** छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्।** स्वरः—**धैवतः॥**

स्तुत्य जीवन

प्र म॑न्महे शवसा॒नाय॑ शू॒षमा॑ङ्गू॒षं गिर्व॑णसेऽअङ्गिर॒स्वत्।
सु॒वृ॒क्तिभि॑ स्तुव॒तऽ ऋ॑ग्मि॒याया॒र्चामा॒र्कं नरे॒ विश्रु॑ताय॥१६॥

१. **शवसानाय**=(अभिबलायमानाय) सब ओर बल के पुञ्ज की भाँति आचरण करनेवाले के लिए **शूषम्**=शत्रुओं के शोषक बल को **प्रमन्महे**=चाहते हैं, इसके लिए वासनाओं के शोषक बल की कामना करते हैं। यदि एक बलवान् पुरुष में कामादि

वासनाओं के शोषण की शक्ति न रहे तो उसका बल अत्यन्त दुरुपयुक्त होने लगता है। जितना-जितना हमारा बल बढ़े उतनी-उतनी हमारी वासना-शोषणशक्ति भी प्रवृद्ध हो, जिससे हम बढ़े हुए बल के कारण कहीं अधिक वासनाओं के शिकार न हो जाएँ। २. **गिर्वणसे**=वेदवाणियों का सेवन करनेवाले के लिए **आङ्गूषम्** (=आघोषम् स्तोमम्)=उच्च स्वर से उच्चारण योग्य स्तुतिसमूह को उसी प्रकार (प्रमन्महे)=चाहते हैं **अङ्गिरस्वत्**=जैसेकि यह स्तुतिसमूह अङ्गिरा को प्राप्त हुआ। अङ्गिरा को अथर्ववेद=ब्रह्मवेद मिला, इस गिर्वण के लिए भी हम इसे चाहते हैं। वेदवाणियों का अध्ययन करनेवाला जब **ऋग्वेद**=विज्ञानवेद को पढ़ेगा तो इन अङ्गिरा के आंगूषों=ब्रह्ममन्त्रों के बिना वह विज्ञान का हिंसात्मक प्रयोग करनेवाला बन जाएगा। वैज्ञानिक उन्नति के साथ ब्रह्म के **आङ्गूष**=(उच्च स्वर में गेय स्तोत्र) चलेंगे तो यह संकट जाता रहेगा। विज्ञान के साथ ब्रह्म-स्मरण जुड़ा तो विज्ञान निर्माण में ही नियुक्त होगा, ध्वंस में नहीं। ३. **सुवृक्तिभिः**=उत्तम वर्जनों से, अर्थात् बुराइयों को पूरी तरह त्यागने से **स्तुवते**=उस प्रभु का स्तवन करनेवाले के लिए, असत् को छोड़कर सत् को प्राप्त करनेवाले के लिए तथा **ऋग्मियाय**=ऋचाओं को प्रशस्तता से प्राप्त करनेवाले के लिए **अर्चाम्**=पूजा को **प्रमन्महे**=चाहते हैं। लोक में आदर उसी को दिया जाए जो बुराइयों को छोड़ता है तथा उत्तम विज्ञान को प्राप्त करता है। जो व्यक्ति मन व मस्तिष्क दोनों की उन्नति करता है वही लोगों के आदर का पात्र बने। ४. लोग तो इसका आदर करें, परन्तु यह कहीं गर्वयुक्त न हो जाए, अतः हम इस **विश्रुताय**=दूर-दूर तक विशिष्ट प्रसिद्धि को प्राप्त **नरे**=मनुष्य के लिए **अर्कम्**=प्रभु-स्तवन को **आप्रमन्महे**=खूब ही चाहते हैं। यह 'विश्रुत नर' सदा प्रकर्षेण प्रभुस्मरण में लगा रहेगा तो यह लोगों से दिये गये अर्चन=सत्कार से अभिमान में न आएगा। व्यक्ति साधना करके प्रायेण संसार में ऊँचा उठता है, लोग उसका आदर करने लगते हैं, आदर में अतिशय वृद्धि को वह ठीक पचा नहीं पाता, अतः गर्वित हो जाता है और एक पन्थ का प्रवर्तक बन जाता है। यह स्वयं ही प्रभु के साथ पुजने लग जाता है। यह 'विश्रुत नर' सदा प्रभु-स्मरण में लगा रहेगा तो अपनी तुच्छता को लोकसम्मान के भुलावे में आकर भूल न जाएगा और इस प्रकार अभिमान का शिकार भी न होगा।

भावार्थ—(क) बलवान् पुरुष वासनाओं की शोषण-शक्ति से सम्पन्न हो, (ख) उच्च विज्ञान को प्राप्त करनेवाला प्रभु-स्तोमों को भी प्राप्त करनेवाला बने, (ग) लोगों का आदरणीय वही हो जिसने पापों का पूर्ण वजर्न करके प्रभु के उपासक के साथ ऊँचे विज्ञान के अध्ययन को जोड़ दिया है, (घ) यह लोगों से आदर को प्राप्त 'विश्रुत' (Well-known) नर सदा प्रभु-स्तवन में लगा रहे, जिससे अभिमान का शिकार न हो जाए। यही जीवन स्तुत्य जीवन है। इस स्तुत्य=नव (नू स्तुतौ) जीवन को धारण करनेवाला 'नवधा'=नोधा प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है। इसी का वर्णन १७वें मन्त्र में भी है।

ऋषिः—**नोधाः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

गो-विन्द

प्र वो॑ म॒हे महि॒ नमो॑ भरध्वमाङ्गू॒ष्य॑ᳪ शवसा॒नाय॒ साम॑।
येना॑ नः॒ पूर्वे॑ पि॒तरः॑ पद॒ज्ञाऽअर्च॑न्तो॒ऽअङ्गि॑रसो॒ गाऽअवि॑न्दन्॥१७॥

१. नोधा ऋषि कहते हैं कि **वः**=तुम्हारी **महे**=(महसे) तेजस्विता के लिए **महि नमः**=पूज्य नमन की भावना को **प्रभरध्वम्**=अपने अन्दर खूब धारण करो। मनुष्य

प्रभु-प्रवण बनता है तभी विषयों से बचकर शक्ति की रक्षा करता हुआ तेजस्वी बन पाता है। २. तेजस्वी बनकर **शवसानाय**=(अभिबलायमानाय) सर्वतः बलपुञ्ज की भाँति आचरण करनेवाले के लिए आवश्यक है कि वह **आङ्गूष्यम् साम**=ऊँचे-ऊँचे उच्चारण के योग्य उपासना-मन्त्रों को अपने में धारण करे, जिससे उस शक्ति की वृद्धि के कारण उसका आचरण वासनामय न हो जाए। ३. सामान्य क्रम यह है कि (क) वासना-विजय से शक्ति प्राप्त होती है, (ख) शक्तिवृद्धि होने पर वासनाओं के बढ़ने की आशंका हो जाती है, अतः शक्ति-प्राप्ति के लिए भी प्रभु-नमन आवश्यक है और शक्तिप्राप्ति के बाद भी उस शक्ति को नाश से बचाने के लिए प्रभु-नमन और अधिक आवश्यक हो जाता है। ४. 'शक्तिप्राप्ति के लिए प्रभु-नमन और शक्ति के रक्षण के लिए प्रभु-नमन' यह मार्ग है **येन**=जिस मार्ग से **नः**=हमारे (क) **पूर्वे**=अपना पूरण करनेवाले, (ख) **पितरः**=रक्षण व पालन करनेवाले, (ग) **पदज्ञाः**=वेदशब्दों के रहस्य को समझनेवाले, (घ) **अर्चन्तः**=उपासक, (ङ) **अङ्गिरसः**= एक-एक अङ्ग के रस-(शक्ति)-वाले लोग **गाः**=इन्द्रियों को **अविन्दन्**=प्राप्त करते थे, अर्थात् पूर्ण जितेन्द्रिय बनते थे। **गाः**=का अर्थ 'वेदवाणियों को' भी किया जा सकता है, ये लोग वेदवाणियों को पूर्णरूप से प्राप्त करनेवाले होते थे। यह एक नवीन जीवन होता है, अतः ये 'नवधा' या नोधा नामवाले हो जाते हैं।

भावार्थ—हमारे जीवन का प्रारम्भ प्रभु-नमन से हो और हमारे जीवन का अन्त भी प्रभु-नमन से हो।

ऋषिः—**देवश्रवदेववातौ भारतौ**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभु-प्राप्ति का अभिलाषी

इच्छन्ति॑ त्वा सो॒म्यासः॒ सखा॑यः सु॒न्वन्ति॒ सोमं॒ दध॑ति॒ प्रयां॑सि।
तिति॑क्षन्तेऽअ॒भिश॑स्तिं॒ जना॑नामिन्द्र॒ त्वदा कश्च॒न हि प्र॑के॒तः ॥१८॥

हे प्रभो! **त्वा**=आपको **इच्छन्ति**=चाहते हैं, कौन? जो १. **सोम्यासः**=विनीत, निरभिमान हैं। प्रकृति की ओर जानेवाले, प्रकृति में आसक्त हुए-हुए असुर लोग तो स्वयं अपने को ही 'ईश्वर' मानने लगते हैं **'कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया'**='मेरे-जैसा दूसरा कौन है?' इन शब्दों में उनका अभिमान व्यक्त होता है। २. **सखायः**=ये मित्र होते हैं। प्रभु के चाहनेवाले परस्पर मित्रता के भाव से वर्तते हैं। ३. **सोमम् सुन्वन्ति**=अपने में सोम=शक्ति का अभिषव—उत्पादन करते हैं। प्रभु की व्यवस्था के अनुसार आहार का अन्तिम परिणाम सोम है, इस सोम को ये अपने अन्दर ग्रहण करने का प्रयत्न करते हैं। इस सोम ने ही इनकी ज्ञानाग्नि का समिन्धन करना है और इनकी बुद्धि को सूक्ष्म करके प्रभु-दर्शन योग्य बनाना है। ४. **प्रयांसि दधति**=त्यागमय प्रयत्नों को (प्रयस्=प्रयत्न, sacrifice=त्याग) ये धारण करते हैं, अर्थात् ये प्रयत्नशील तो होते ही हैं, परन्तु इनके सब प्रयत्न त्याग की भावना से ओत-प्रोत होते हैं। ५. इस प्रकार त्याग व यत्न को मिलाकर जब ये लोगों के हितसाधन में लगे होते हैं उस समय वे लोग, अपनी नासमझी के कारण इन्हें बुरा-भला कहते हैं, गालियाँ देते हैं, परन्तु ये प्रभु-प्रवण लोग **जनानाम्**=उन मनुष्यों के **अभिशस्तिम्**=दुर्वचनों को ले-नहीं लेते, उन्हीं के पास रहने देते हैं। ये लोग सामान्य मनुष्यों से बहुत ऊपर उठे होते हैं, ये मनुष्य नहीं देव प्रतीत होते हैं। वेद कहता है कि **इन्द्र**=हे परमैश्वर्यशाली प्रभो! **त्वत् हि**=आपका ही **कश्चन**=कोई अवर्णनीय सा **प्रकेतः**=प्रकाश **आ**=सब ओर इन व्यक्तियों में दिखता है। वस्तुतः इन लोगों का यह असामान्य मनःप्रसाद इनमें प्रभु के

प्रकाश के ही कारण होता है। ये लोग सदा प्रभु के प्रिय देवों के साथ उठते-बैठते हैं, उन्हीं की ज्ञान-चर्चाओं को सुनते हैं, अतः 'देवश्रव' कहलाते हैं, उन्हीं से प्रेरणा प्राप्त करते हैं, अतः 'देववात' नामवाले होते हैं। ये लोग पत्थरों का उत्तर पुष्पों से देते हैं, घृणा का प्रेम से।

भावार्थ—हम सौम्य, स्नेहवाले, सोम (शक्ति) का पान करनेवाले, सात्त्विक कर्मों का सेवन करनेवाले, सहनशील बनकर प्रभु-प्राप्ति के अभिलाषी बनें।

ऋषिः—**देवश्रवदेववातौ भारतौ**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

'यज्ञ, भक्ति व ज्ञान' का समन्वय

न तें दूरे प॑र॒मा चि॒द्रजा॑ꣳस्या तु प्र या॑हि हरिवो॒ हरि॑भ्याम्।
स्थि॒राय॒ वृष्णे॒ सव॑ना कृ॒तेमा यु॒क्ता ग्रावा॑णः समिधा॒नेऽअ॒ग्नौ ॥१९॥

प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु 'देवश्रव' से कहते हैं—१. हे देवश्रव! वे उत्कृष्ट लोक, जिन्हें तूने प्राप्त करना है, **ते दूरे न**=तुझसे दूर नहीं हैं। सौम्य, सखा, सोमपायी, सत्त्वस्थ व सहनशील बनकर तू उन लोकों के समीप पहुँच गया है। हे **हरिवः**=उत्कृष्ट इन्द्रियरूप घोड़ोंवाले! **हरिभ्याम्**=अपने इन ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप घोड़ों से **तु चित्**=निश्चय से **परमा रजांसि**=उत्कृष्ट लोकों में **आप्रयाहि**=सवर्था आ। प्रभु ने हमारे इस शरीररूप रथ में इन्द्रियरूप घोड़े जोते तो इसीलिए हैं कि हम इनके द्वारा उत्कृष्ट लोकों में पहुँच सकें, परन्तु सामान्यतः हीनाकर्षण के कारण हम उत्कर्ष के मार्ग पर न चलकर अपकर्ष के मार्ग पर भागे चले जाते हैं, परन्तु 'देवश्रवदेववात' उत्तम ज्ञान व प्रेरणा प्राप्त करता हुआ उत्कृष्ट लोकों की ओर ही बढ़ता है। २. इस देवश्रव की बुद्धि विषयों से आन्दोलित नहीं होती, यह स्थितप्रज्ञ बना रहता है। **स्थिराय**=इस स्थिर बुद्धिवाले **वृष्णे**=शक्तिशाली पुरुष के लिए **इमा सवना कृता**=ये यज्ञ बनाये गये हैं। उस 'अक्षर ब्रह्म' (प्रभु) ने वेदों में यज्ञों का प्रतिपादन किया है, जिससे ये स्थिर बुद्धिवाले शक्तिशाली पुरुष इन यज्ञों के करने में अपने समय का सद्व्यय कर पाएँ। ३. ये यज्ञों में लगे हुए 'देवश्रव' लोग **अग्नौ समिधाने**=यज्ञों में अग्नि के दीप्त होने पर **युक्ताः**=योगयुक्त होते हैं तथा **ग्रावाणः**=उत्कृष्ट वेदगिरा (वेदवाणी) के उपदेष्टा बनते हैं। ये केवल यज्ञों में ही अपने जीवन को समाप्त नहीं कर देते। यज्ञों के साथ ये योग का अभ्यास करते हैं, अपने मन की वृत्तियों को प्राणनिरोध द्वारा केन्द्रित करके ये उस प्रभु में अपने को युक्त करते हैं तथा इस निरुद्ध चित्तवृत्ति को ज्ञानोपार्जन में लगाके, स्वयं ऊँचे ज्ञानी बनकर, उस ज्ञान का उपदेश देनेवाले होते हैं। इस प्रकार ये अपने जीवन में 'कर्म, भक्ति व ज्ञान' तीनों ही बातों का समन्वय करने का प्रयत्न करते हैं। केवल यज्ञों से ये अपने को कृतकृत्य नहीं मान बैठते।

भावार्थ—'देवश्रव' का जीवन 'यज्ञ, भक्ति व ज्ञान' का समन्वय करके चलता है।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

गोतम के दश गुण

अषा॑ळ्हं यु॒त्सु पृत॑नासु॒ पप्रि॑ꣳ स्व॒र्षाम॒प्सां वृ॒जन॑स्य गो॒पाम्।
भ॒रे॒षु॒जाꣳसु॑क्षि॒तिꣳसु॒श्रव॑सं॒ जय॑न्तं॒ त्वामनु॑ मदेम सोम॥२०॥

१. **युत्सु अषाढम्**=युद्धों में पराभूत न होनेवाले मनुष्य की हृदयस्थली पर दैवी व आसुरी वृत्तियों का सतत युद्ध चलता है। इस निरन्तर चल रहे देवासुर संग्राम में न पराजित

होनेवाले पुरुष को ही हम **अनुमदेम**=अनुमोदित करते हैं, अर्थात् 'आदमी' तो हम इसे ही मानते हैं। २. **पृतनासु पप्रिम्**=(पृतना संग्रामनाम—नि० २।१७) संग्राम में अपना पालन व पूरण करनेवाले। अध्यात्मसंग्राम तो निरन्तर चलता है। समाज में भी संघर्ष आ जाते हैं। इन संघर्षों में यह अपना रक्षण करता है, जिससे कहीं रोगों व ईर्ष्यादि का शिकार न हो जाए। 'संघर्ष शक्ति पैदा करता है' 'Resistance creates power' इस नियम का ध्यान करता हुआ यह संग्रामों का स्वागत करता है। ३. **स्वर्षाम्**=(स्वः सन्) यह प्रकाश का सेवन करनेवाला होता है। 'स्वः' का अभिप्राय 'स्वर्ग' भी है, परन्तु यहाँ प्रकाश अर्थ ही अधिक उपयुक्त है। यह अपने अन्दर ज्ञान के प्रकाश को बढ़ाने के लिए यत्नशील होता है। ४. **अप्साम्**=(अप् सन्) उस ज्ञानप्रकाश के कारण ही यह सदा (आप्=व्याप्ति) व्यापक, स्वार्थ से ऊपर उठे हुए कर्मों का सेवन करनेवाला बनता है। ज्ञान इसे स्वार्थमय कामनाओं से ऊपर उठाता है और यह परार्थ की भावना से प्रेरित होकर व्यापक हित के कार्यों में लगा रहता है। ५. **वृजनस्य गोपाम्**=इस प्रकार परार्थ के कामों में लगा हुआ यह व्यक्ति कभी विषयासक्त नहीं बनता और बल का रक्षक होता है। (वृजनम्=बल—नि० २।९) ६. इसी सुरक्षित बल के कारण **भरेषुजाम्**=(भरणीयेषु संग्रामेषु जेतारम् द०) यह संग्रामों में सदा विजयी होता है। (भरेषु जनयति) संग्रामों में यह अपनी शक्ति का प्रादुर्भाव करनेवाला होता है, कभी निराश नहीं होता। ७. **सुक्षितिम्**=(क्षि निवासगत्योः)=संग्रामों में विजयी बनकर यह उत्तम निवास व गतिवाला होता है। ८. **सुश्रवसम्**=उत्तम कीर्तिवाला होता है ९. **जयन्तम्**=जीतता—ही—जीतता है, यह हारता नहीं। १०. इतना कुछ होने पर भी यह अभिमानी नहीं हो जाता, विनीत ही बना रहता है, अतः कहते हैं कि हे **सोम** =सब दिव्य गुणों से युक्त होकर भी विनीत बने हुए प्रशस्ततम इन्द्रियोंवाले 'गोतम' **त्वाम् अनुमदेम**=हम तुझे अनुमोदित करते हैं। (We cheer you up) आपके जीवन की हम प्रशंसा करते हैं।

सूचना—अधिभौतिक अर्थ में 'ऐसे राजा को हम अनुमोदित करते हैं' यह अर्थ होगा। जो राजा युद्धों में पराजित नहीं होता, संग्रामों में सैनिकों की रक्षा करता है, राष्ट्र को स्वर्ग बनाता है, प्रजा को प्राप्य होता है, राष्ट्र की शक्ति की रक्षा करता है, संग्राम विजयी, उत्तम भूमिवाला, कीर्तिमान व सदा विजयी होता है। ऐसा होता हुआ भी अंहकार से दूर होता है।

भावार्थ—'गोतम'=प्रशस्तेन्द्रिय पुरुष के जीवन में उपर्युक्त दस बातें अवश्य होती हैं।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

उत्तम सन्तान

सोमो॑ धे॒नुꣳसोमो॒ऽअर्व॑न्तमा॒शुꣳसोमो॑ वी॒रं क॑र्म॒ण्यं॑ ददाति।
सा॒द॒न्यं॑ वि॒द॒थ्य॒ꣳस॒भेयं॑ पितृ॒श्रव॑णं॒ यो ददा॑शदस्मै ॥२१॥

पिछले मन्त्र में वर्णित उत्कृष्ट जीवनवाले व्यक्तियों का निर्माण घरों में ही होगा। घरों में प्रत्येक गृहस्थ अपने सन्तान को उत्तम बनाए। वस्तुतः 'माता-पिता की प्रवृत्ति प्रभु-प्रवण होगी, वे प्रकृति में फँसे हुए न होंगे' तभी वे सन्तानों को अच्छा बना पाएँगे। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **सोमः**=वे सोम प्रभु उन माता-पिता को उत्तम सन्तान प्राप्त कराते हैं **यः**=जो **अस्मै**=इनके लिए **ददाशत्**=अपना समर्पण करते हैं, अर्थात् अन्तःस्थित उस प्रभु के निर्देशों के अनुसार जीवनयापन करने पर प्रभु हमारे सन्तानों को बड़ा अच्छा बना देते हैं। **सोमः**=वे सोम सन्तान को देते हैं जो **धेनुम्**=(धेट् पाने) अपने अन्दर उत्पन्न हुई-हुई सोम-(वीर्य)-शक्ति का पान करनेवाले को। यह सोमशक्ति का पान

आगे आनेवाली सारी उन्नतियों का मूल है, अतः सर्वप्रथम इसी का उल्लेख है। २. **अर्वन्तम्**=(अर्व हिंसायाम्) सोमरक्षा के द्वारा शरीर में सब रोगकृमियों को तथा मन में सब ईर्ष्या-द्वेष आदि की भावनाओं की हिंसा करनेवाले को। सुरक्षित सोम ही वह मन्त्र-तन्त्र-यन्त्र है जो सब रोगों को दूर करता है। सोमी पुरुष ईर्ष्या-द्वेषादि से ऊपर उठा रहता है। ३. **आशुम्**=(अश् व्याप्तौ) शीघ्रता से कार्यों में व्याप्त होनेवाले को। इसका जीवन स्फूर्तिमय होता है। आलस्य इसे कभी नहीं घेरता। ४. वे **सोमः**=सोम **वीरम्**=वीर सन्तान को **ददाति**=देते हैं। संसार में यह कभी कायर नहीं बनता। संसार-संघर्ष में घबरा नहीं जाता। आनेवाले विघ्नों का वीरता से मुक़ाबला करता है। ५. **कर्मण्यम्**=उत्तम कर्मवाले को। प्रभु-प्रवण पति-पत्नी की सन्तान सदा क्रियाशील होती है। ६. **सादन्यम्**=यह सदन=घर का उत्तम निर्माण करनेवाला होता है। ७. **विदथ्यम्**=यह सन्तान ज्ञानयज्ञों में शोभावाला होता है। ८. **सभेयम्**=सभा में सभ्योचित व्यवहारवाला होता है, और ९. **पितृश्रवणम्**=माता-पिता की आज्ञा सुननेवाला होता है, उनका आज्ञाकारी बनता है।

यहाँ मन्त्र में प्रभु का 'सोम' नाम से स्मरण किया है। इसका अर्थ (स उमा)=पूर्ण ज्ञानवाला, शान्त व शक्ति का पुञ्ज है। वस्तुतः सन्तान में यही गुण इष्ट हैं कि वे ज्ञानी हों, शान्त हों, सशक्त हों।

भावार्थ—गृहस्थ प्रभुभक्त होंगे तो उत्तम सन्तान का निर्माण कर पाएँगे।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

बाल-प्रभु-भजन

त्वमि॒माऽओष॑धीः सोम॒ विश्वा॒स्त्वम॒पोऽअ॑जनय॒स्त्वं गाः।
त्वमा त॑तन्थो॒र्व॒न्तरि॑क्षं॒ त्वं ज्योति॑षा॒ वि तमो॑ ववर्थ॥२२॥

प्रभुभक्त माता-पिता सन्तानों को भी प्रभु-भजन में सम्मिलित करते हैं और उनसे प्रतिक्षण प्रयुक्त होनेवाले फूल-फल के विषय में—पानी व गौ आदि पशुओं के विषय में प्रश्न करते हैं कि 'इन्हें बनानेवाला कौन है?' वे धीमे-धीमे उन बालकों का ध्यान प्रभु की ओर लाने का प्रयत्न करते हैं, फिर निम्न शब्दों में बालकों का प्रभु-भजन चलता है।

हे **सोम**=शान्त प्रभो! जिन आपकी क्रिया अत्यधिक व महान् होती हुई भी बड़ी शान्ति से चल रही है, ऐसे **त्वम्**=आप ही **इमाः विश्वाः ओषधीः**=इन सब ओषधियों को **अजनयः**=उत्पन्न करते हैं, **त्वम्**=आप ही **अपः**=इन (शान्त-निर्मल) जलों को उत्पन्न करते हैं। **त्वम्**=आपने ही हमारे दूध आदि पदार्थों के लिए **गाः**=गौ आदि पशुओं को बनाया है। ठीक बात तो यह है कि **त्वम्**=आपने ही इस विशाल **अन्तरिक्षम्**=आकाश को **आततन्थ**=चारों ओर अनन्त-सी दूरी तक विस्तृत किया है और **त्वम्**=आप ही **ज्योतिषा**=इन सूर्य, चन्द्र व तारों आदि के प्रकाश से **तमः**=अन्धकार को **विववर्थ**=दूर करते हैं।

समझदार माता-पिता प्रश्नोत्तर के द्वारा अपने सन्तानों के मस्तिष्क में उल्लिखित बातों को अंकित करते हैं—वे फूल-फल, नदियों, पर्वतों के दृश्यों से प्रभावित सन्तानों को उनके निर्माता के विषय में सोचने के लिए प्रेरित करते हैं और जब सन्तानें प्रभु का कुछ आभास देखने लगती हैं तब उल्लिखित स्वाभाविक स्तवन उनके मुख से उच्चारित होता है। जिन घरों में इस प्रकार प्रभु-भजन चलेगा वहाँ सन्तान सद्गुणी, पिछले मन्त्र में वर्णित विशेषताओंवाले क्यों न बनेंगे?

भावार्थ—माता-पिता का कर्त्तव्य है कि वे अपनी सन्तानों में भी प्रभु-भक्ति की प्रवृत्ति उत्पन्न करें।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

इहलोक व परलोक का साधक—'उभय'

देवेन नो मनसा देव सोम रायो भागꣳसहसावन्नभि युध्य।
मा त्वा तनदीशिषे वीर्यस्योभयेभ्यः प्र चिकित्सा गविष्टौ॥२३॥

प्रस्तुत मन्त्र में घर के बड़े व्यक्ति, जो घर के सञ्चालन के लिए धनार्जन के कार्य में लगे हैं, प्रार्थना करते हैं कि हे **देव**=दिव्य गुणों के पुञ्ज! **सोम**=अत्यन्त शान्त प्रभो! **सहसावन्**=हे शक्तिशाली प्रभो! **नः**=हमें **देवेन मनसा**=दिव्य गुणों से युक्त मन के साथ **रायः भागम्**=धन के सेवनीय अंश को **अभियुध्य**=सब ओर से प्राप्त कराइए। इस प्रार्थना में प्रभु को जिन नामों से सम्बोधन किया है वे नाम स्पष्ट संकेत कर रहे हैं कि हम अपने धनार्जनादि लौकिक कार्यों में (देव) दिव्य बने रहें, अच्छे गुणों को तिलाञ्जलि न दे दें। हम धन को देवोचित मार्गों से ही कमाएँ, (सोम) इन कार्यों में कभी मानस शान्ति को न खो बैठें। (सह स्तवन) धन को अपने बल व पुरुषार्थ से ही कमानेवाले बनें। धनादि के व्यवहारों में चलते समय हमारा मन 'देव-मन' बना रहे। ये धनादि का अर्जन करनेवाला व्यक्ति हे प्रभो! **त्वा**=आपको **मा तनत्**=मत पतला कर दे (तन्=to make thin), अर्थात् आपके स्मरण को ढीला न कर दे। यह अपना प्रत्येक दिन आपके स्मरण से ही प्रारम्भ करे और आपके स्मरण के साथ ही समाप्त करे, क्योंकि **वीर्यस्य ईशिषे**=सब शक्ति के ईश तो आप ही हैं। आपके सम्पर्क से ही इसे शक्ति मिलनी है। हे प्रभो! ये व्यक्ति जो दिन में दिव्य मनों के साथ धनादि के अर्जन में लगे रहते हैं और प्रातः-सायं आपके साथ अपना सम्पर्क स्थापित करने में यत्नशील होते हैं और इस प्रकार अभ्युदय व निःश्रेयस—इहलोक व परलोक दोनों का ही ध्यान करते हैं। इन **उभयेभ्यः**=लोक-परलोक का ध्यान करनेवालों के लिए **गविष्टौ** (गो इष्टि, गावः इन्द्रियाणि)=इन्द्रियों से चल रहे इस जीवन-यज्ञ में **प्रचिकित्सा**=आनेवाले रोगादि विघ्नों का प्रकर्षेण निवारण कीजिए। विघ्नों व न्यूनताओं के दूर होने से इन्द्रियाँ अधिक प्रशस्त हो उठती हैं और यह प्रशस्तेन्द्रिय पुरुष सचमुच 'गो-तम' इस नामवाला होता है।

भावार्थ—हम मन को पवित्र रखते हुए सुपथ से धनादि का अर्जन करें और प्रभु-स्मरण की भावना को ढीला न होने दें।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

वरणीय रत्नों का आधान

अष्टौ व्यख्यत्ककुभः पृथिव्यास्त्री धन्व योजना सप्त सिन्धून्।
हिरण्याक्षः सविता देवऽआगाद्दधद्रत्ना दाशुषे वार्याणि॥२४॥

१. **सविता देवः**=सबको कर्म में प्रेरित करनेवाला—देदीप्यमान व प्रकाश देनेवाला सूर्य **पृथिव्याः**=पृथिवी के **अष्टौ**=आठों **ककुभः**=दिशाओं को **व्यख्यत्**=प्रकाशित करता है। चार पूर्वादि दिशाएँ हैं, चार उपदिशाएँ हैं, इस प्रकार आठ दिशाओं की कल्पना हुई है। यह पृथिवी वेद के अनुसार 'देवयजनी'=देवताओं के यज्ञ करने का स्थान है, देवयज्ञशाला है। इसी के अनुकरण में यज्ञशालाओं को प्रायः अष्टकोण बनाने की परिपाटी हो गई है। २.

यह सविता देव **त्री योजना धन्व**=तीनों (प्राणिनः स्वस्वभोगेन योजयितृन्) प्राणियों को विविध भोग प्राप्त करानेवाले अन्तरिक्षों को **व्यख्यत्**=प्रकाशित करता है। तीन अन्तरिक्षलोकों का उल्लेख निम्न मन्त्रों में स्पष्ट है—(क) **तिस्रो द्यावो निहिता अन्तरस्मिन् तिस्रो भूमीः उपराः षड् विधानाः** (ऋ० ७।८७।५) (ख) **तिस्रो भूमीर्धारयन् त्रीँरुत द्यून् त्रीणि व्रता विदथे अन्तरेषाम्** (ऋ० २।२७।८)। (ग) **तिस्रो मातृस्त्रीन् पितृन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति** (ऋ० १।१६४।१०) (घ) **एष लोकः त्रिवृत् योऽयमन्तरा** (तां० ११।१०) (ङ) **अन्तरिक्षं त्रिष्टुप्** (जै०उ० १।५५।३) (च) **अन्तरिक्षलोको यजुर्वेदः** (घ० १।५)। यजुर्वेद भी तीन भागों में बँटा हुआ है, उसी प्रकार अन्तरिक्षलोक। यजुर्वेद का पहला भाग ३८ अध्याय तक है, इसमें विविध यज्ञों का प्रतिपादन है। दूसरा भाग ३९वाँ अध्याय है, इसमें यज्ञ करनेवाले को गर्व न होने देने के लिए अन्त्येष्टि का वर्णन है। तीसरा भाग ४०वाँ अध्याय है, इसमें कहते हैं कि हे जीव! सब-कुछ करनेवाले वे प्रभु ही हैं, उन्हीं के आधार में स्थित होकर तेरे माध्यम से भी कर्म चल रहे हैं। इसी प्रकार अन्तरक्षि भी तीन भागों में बँटा है और उन सबको वह सविता देव प्रकाशित कर रहा है। (छ) **सप्त सिन्धून्**=सातों समुद्रों को भी वह सविता देव प्रकाशित करते हैं। यह **हिरण्याक्षः**=ज्योतिर्मय आँखोंवाला सविता देव **आगात्**=आया है और **दाशुषे**=हवि देनेवाले के लिए **वार्याणि रत्ना**=वरणीय उत्तम रत्नों को **दधत्**=धारण करता है। स्पष्ट है कि सूर्योदय के समय घर पर अग्निहोत्र करना चाहिए। ऐसा करने पर यह सूर्य इस दाश्वान् को स्वास्थ्यादि उत्तम रत्नों को प्राप्त कराता है।

भावार्थ—'सूर्योदय के समय अग्निहोत्र करना और इस प्रकार स्वास्थ्यादि उत्तम रत्नों को प्राप्त करना' हमारा महान् कर्त्तव्य है।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

स्वर्ण की सूइयाँ (Gold Injections)

हिरण्यपाणिः सविता विचर्षणिरुभे द्यावापृथिवीऽअन्तरीयते।
अपामीवां बाधते वेति सूर्यमभि कृष्णेन रजसा द्यामृणोति॥२५॥

१. **हिरण्यपाणिः**=स्वर्ण है हाथ में जिसके, ऐसा **सविता**=सबका प्रेरक **विचर्षणिः**=विश्वद्रष्टा (सर्वप्रकाशक) सूर्य **उभे द्यावापृथिवी अन्तः**=इन दोनों द्युलोक व पृथिवीलोक के मध्य में **ईयते**=गति करता है। सूर्य की किरणें ही सूर्य के हाथ हैं। इन किरणरूप हाथों में सूर्य हिरण्य=स्वर्ण को लेकर आता है, जिस प्रकार एक वैद्य क्षय-पीड़ित को स्वर्ण के इंजैक्शन देता है, उसी प्रकार यह सूर्य अपनी किरणों से स्वर्ण को शरीर में प्रविष्ट करता प्रतीत होता है। यह सबको कर्म में प्रवृत्त करने से 'सविता' है। सबको प्रकाशित करने से 'विचर्षणि' है। २. उदय होता हुआ सूर्य जब इन किरणरूप हाथों से स्वर्ण के इंजैक्शन लगाता है तब **अमीवाम्**=रोगकृमियों को **अपबाधते**=सुदूर नष्ट कर देता है। '**उद्यन् आदित्यः क्रिमीन् हन्ति निम्लोचन् हन्तु रश्मिभिः**'=(अथर्व०) उदय और अस्त होता हुआ सूर्य किरणों से कृमियों का संहार करता है। ३. **सूर्यम्**=ज्योति तथा वर्च को (सूर्यो ज्योतिः, सूर्यो वर्चः) **वेति**=(वी=प्रजनन) उत्पन्न करता है। सूर्य-किरणों के सम्पर्क में आने से मस्तिष्क में ज्योति का उदय होता है तो शरीर वर्चस्वी बनता है। ४. यह सविता देव **कृष्णेन**=अन्धकार के निवर्तक **रजसा**=तेज से **द्याम्**=द्युलोक को **अभिऋणोति**=समन्तात् व्याप्त करता है, अथवा **अभिकृष्णेन**=अपनी ओर आकृष्ट **रजसा**=लोकसमूह के साथ

द्याम् ऋणोति=द्युलोक में गति करता है। सूर्य अपने आकृष्ट लोकसमूह के साथ आकाश में आगे-और-आगे चल रहा है।

भावार्थ—सूर्य की किरणें स्वर्णमय हैं, उनके सेवन से सब रोग दूर होते हैं। ज्योति व वर्चस् की उत्पत्ति के लिए सूर्यकिरणों के सम्पर्क में रहना आवश्यक है।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

स्वास्थ्यरूप धन की प्राप्ति

हिर॑ण्यहस्तो॒ऽअसु॑रः सुनी॒थः सु॑मृडी॒कः स्ववाँ॑ यात्व॒र्वाङ्।
अ॒प॒सेध॑न्र॒क्षसो॑ यातु॒धाना॒नस्था॑द्दे॒वः प्र॑तिदो॒षं गृ॑णा॒नः॥२६॥

१. **हिरण्यहस्तः**=सुवर्णमय हाथवाला। यही भावना पिछले मन्त्र में 'हिरण्यपाणिः' शब्द से व्यक्त हुई है। पाणि शब्द में रक्षा करने की भावना थी तो हस्त शब्द में (हस्तो हन्तेः) नष्ट करने का भाव है। सूर्य अपनी किरणों में विद्यमान स्वर्ण के प्रभाव से हमारे शरीरों की रक्षा करता है और रोगों का नाश करता है। २. **असुरः**=(असून् राति) यह प्राणशक्ति देनेवाला है। प्रश्नोपनिषद् में कहा है कि '**प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः**'= यह सूर्य क्या उदय होता है, प्रजाओं का प्राण ही उदय होता है। ३. **सुनीथः**=सर्वत्र प्रकाश फैलाने के कारण उत्तम मार्गों से ले-चलता है। ४. **सुमृडीकः**=उत्तम मार्ग से ले- चलकर हमारे जीवनों को उत्तम सुख प्राप्त कराता है। ५. **स्ववान्**=यह उत्तम धनवाला है। स्वास्थ्य ही सर्वोत्तम धन है और उसे प्राप्त कराने में यह सूर्य सर्वमहान् सहायक है। ६. यह सूर्य **यातुधानान्**=शरीर में शतशः पीड़ाओं का आधान करनेवाले **रक्षसः**=अपने रमण के लिए औरों का क्षय करनेवाले रोगकृमिरूप राक्षसों को **अपसेधन्**=दूर करता हुआ **अर्वाङ् यातु**=हमें अभिमुखता से प्राप्त हो। हम सूर्याभिमुख होंगे तो रोगकृमियों का संहार होकर हमें स्वास्थ्यरूपी धन की प्राप्ति होगी। ७. उल्लिखित कारणों से ही 'हिरण्यहस्त, असुर, सुनीथ, सुमृडीक व स्ववान्' होने से ही यह **देवः**=दिव्य गुणोंवाला प्रकाशमय सूर्य **प्रतिदोषम्**=प्रतिरात्रि, अर्थात् सदा **गृणानः**=स्तुति किया जाता हुआ **अस्थात्**=ठहरता है, अर्थात् सूर्य के महत्त्व को समझनेवाले लोग सदा सूर्य का स्तवन करते हैं। उसके गुणों का प्रतिदिन स्मरण करते हैं।

भावार्थ—रोगकृमियों के संहार के लिए प्रातः-सायं सूर्याभिमुख होकर ध्यान करना अत्यन्त उपयोगी है।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

मार्ग कैसे हों? सविता का उपदेश

ये ते॒ पन्थाः॑ सवितः पू॒र्व्यासो॑ऽरे॒णवः॑ सुकृ॑ताऽअ॒न्तरि॑क्षे।
तेभि॑र्नोऽअ॒द्य प॒थिभिः॑ सु॒गेभी॒ रक्षा॑ च नो॒ऽअधि॑ च ब्रूहि देव॥२७॥

हे **सवितः**=सबको कर्मों में प्रेरित करनेवाले सूर्यदेव! **ये**=जो **ते**=तेरे **पन्थाः**=मार्ग **अन्तरिक्षे**=इस विशाल आकाश में **सुकृताः**=उतम प्रकार से बनाये गये हैं जो **पूर्व्यासः**=हमारी सब आवश्यकताओं का पूरण करनेवाले हैं और **अरेणवः**=धूलिरहित हैं **तेभिः**=उन **सुगेभिः**=सुगमता से गति के योग्य **पथिभिः** =मार्गों से **नः**=हमें **अद्य**=आज **रक्ष**=सुरक्षित कीजिए, **च**=और हे **देव**=दिव्य प्रकाश देनेवाले सूर्य! **नः**=हमें **अधिब्रूहि**=खूब उपदेश दीजिए। 'हमारे जीवन का मार्ग क्या हो?' यह हम आपसे जान सकें।

'रास्ते कैसे हों?' इस प्रश्न का उतर यह है कि १. **पूर्व्यासः**=पूरण करनेवाले, आवश्यतओं को पूरा करनेवाले हों। जैसे पैदल के चलने का मार्ग, गाड़ियों का मार्ग ये सब अलग-अलग हों। २. **अरेणवः**=उन मार्गों पर धूल न हो। धूलवाले मार्ग फेफड़ों की बीमारियों के कारण बनेंगे? ३. **सुकृताः**=ये मार्ग अच्छे प्रकार बने हुए हों—ठोकरें न लगती रहें। ४. मार्ग ऊबड़-खाबड़ न होकर **'सु-ग'** हों।

मनुष्य प्रतिदिन उदय होते हुए सूर्य से उपदेश ग्रहण करे। १. जैसे सूर्य बड़े नियम से उदय होता है उसी प्रकार मनुष्य नियमित जीवनवाला हो, उसका जीवन clock-wise नहीं sun-wise चले **'स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव'**। २. सूर्य सभी को प्रकाश देता है, सूर्य के व्यवहार में पक्षपात नहीं। मनुष्य भी सबमें समभाव रक्खे। ३. सूर्य निर्लेपभाव से अपना कार्य करता चलता है, किसी की स्तुति-निन्दा से वह अपमानित नहीं होता। मनुष्य को भी चाहिए कि अपने कर्त्तव्यकर्म को करता चले, अकर्त्तव्य को कभी न करे। इस प्रकार सूर्य से उपदेश लेकर कोई कभी हिंसित नहीं होता। सूर्य का सर्वमहान् उपदेश यह इस रूप में लेता है कि जैसे सूर्य पानी की ऊर्ध्वगति का कारण बनता है, उसी प्रकार यह अपने शरीर में वीर्य (हिरण्य) की ऊर्ध्वगति करनेवाला 'हिरण्य-स्तूप' हो जाता है। वीर्य की ऊर्ध्वगति के कारण ही यह शक्तिशाली अङ्गोंवाला 'आङ्गिरस' बन जाता है।

भावार्थ—सूर्य से हम अपने जीवन के मार्ग का निश्चय करें। नियमित, निष्पक्ष, निर्लेप जीवनवाले हों और वीर्य की ऊर्ध्वगति का पूर्ण ध्यान करें।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

आश्विनों का सोमपान

उभा पिबतमश्विनोभा नः शर्म यच्छतम्। अविद्रियाभिरूतिभिः॥२८॥

१. पिछले चार मन्त्रों में सविता की आराधना थी। सविता की अराधना का अभिप्राय इतना ही है कि इस समय मुख्यरूप से प्राणसाधना होनी चाहिए। उस प्राणसाधना का ही प्रस्तुत तीन मन्त्रों में उल्लेख है और इसके बाद फिर ३१वें मन्त्र में हिरण्यस्तूप ऋषि सविता का स्तवन करेंगे। इन मन्त्रों में प्राणसाधना के द्वारा कण-कण करके अभद्रता को दूर करके भद्र वस्तुओं को अपने अन्दर भरनेवाला 'प्रस्कण्व' कहलाता है। यह प्रस्कण्व ही मेधावी=समझदार है। प्राणसाधना को जीवन का मूलाधार समझना चाहिए। २. प्रस्कण्व कहता है—हे **उभा अश्विना**=दोनों प्राणापानो! **पिबतम्**=तुम सोम का पान करो। वस्तुतः प्राणसाधना का सर्वप्रथम लाभ यही है कि शरीर में उत्पन्न सोमशक्ति शरीर में ही व्याप्त हो जाती है। इसी शक्ति ने शरीर को रोगों के आक्रमण से बचाना है। इस शक्ति के होने पर मन ईर्ष्या-द्वेष आदि से बचा रहता है, इसी शक्ति ने ही बुद्धि की कुण्ठा को दूर करना है। ३. इस प्रकार सोमपान के द्वारा हे प्राणापानो! आप **उभा**=दोनों **नः**=हमें **शर्म**=कल्याण व सुख **यच्छतम्**=दीजिए। वास्तविक सुख 'शरीर, मन व बुद्धि के स्वास्थ्य' में ही है। ४. हे प्राणापानो! **अविद्रियाभिः**=(द्रा=निन्दित) अनिन्दित, प्रशस्त अथवा (दृ=विच्छेद) अविच्छिन्न **ऊतिभिः**=गतियों, क्रियाओं के द्वारा आप हमें सुखी कीजिए। प्राणसाधना के ठीक चलने पर, सोमरक्षा द्वारा हमारा मन अशुभ विचारोंवाला होगा ही नहीं और परिणामतः हमारी क्रियाएँ भी उत्तम होंगी। शरीर के स्वास्थ्य के कारण 'आलस्य' न होगा, मन के स्वास्थ्य के कारण 'अशोभा' नहीं होगी और बुद्धि के स्वास्थ्य के कारण उन कर्मों में 'औचित्य' होगा। इस प्रकार ये प्राणापान हमारे जीवन को कल्याणमय कर रहे होंगे।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर में वीर्य की रक्षा होकर सब कार्य पवित्र होते हैं।

ऋषिः—**कुत्सः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

कर्मवीर

अप्नस्वतीमश्विना वाचमस्मे कृतं नो दस्रा वृषणा मनीषाम्।
अद्यूत्येऽवसे निह्वये वां वृधे च नो भवतं वाजसातौ॥२९॥

प्राणसाधना के मुख्य लाभ का गतमन्त्र में वर्णन हुआ था। जीवन में होनेवाले अगले परिणामों को प्रस्तुत मन्त्र में दिखलाते हैं १. ये प्राणापान **अश्विना**=(अश् व्याप्तौ) कर्मों में व्याप्त होनेवाले हैं, परिणामतः प्राणसाधक कर्मशील होता है। पिछले मन्त्र में कर्मों के प्रशस्त होने और अविच्छिन्न रूप से चलने का उल्लेख था। यहाँ कहते हैं कि हे प्राणापानो! **अस्मे**=हमारे लिए **वाचम्**=वाणी को **अप्नस्वतीम्**=व्यापक कर्मोंवाली **कृतम्**=कर दीजिए। प्राणसाधक वाग्वीर न होकर कर्मवीर होता है। इसके कर्म भी व्यापक, स्वार्थ की भावना से भरे हुए नहीं होते। २. ये प्राणापान **दस्रा**=(दसु उपक्षये) सब रोगकृमियों व मलों का संहार करनेवाले हैं और **वृषणा**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले हैं। इनसे प्रस्कण्व प्रार्थना करता है कि बुराइयों का संहार कर हमें शक्तिशाली बनानेवाले हे प्राणापानो! **नः**=हमारे लिए **मनीषाम्**=(मनसः ईष्टे) मन का शासन करनेवाली बुद्धि को **कृतम्**=कीजिए। सामान्य शब्दों में कहें तो यह कहेंगे कि ये प्राणापान हमें वह बुद्धि प्राप्त कराते हैं जो मन का शासन करनेवाली होती है, अर्थात् हमारी सब इच्छाएँ विवेकपूर्वक होने से औचित्यवाली होती हैं। इसी से हम धनादि के अर्जन में कभी भी अनुचित साधनों का प्रयोग नहीं करते। २. हे प्राणापानो! **वाम्**=आपको मैं **अद्यूत्ये**=द्यूत से उत्पन्न न होनेवाले **अवसे**=धन के लिए **निह्वये**=पुकारता हूँ। प्राणसाधक कभी सट्टे आदि के द्वारा धन कमाने की कामना नहीं करता, वह श्रमार्जित धन को ही धन समझता है। ४. **च**=और **वाजसातौ**=शक्ति की प्राप्ति में अथवा संग्रामों में **नः**=हमारी **वृधे**=वृद्धि के लिए **भवतम्**=होओ। इन प्राणापान से शक्ति तो बढ़ती ही है, वासनाओं के साथ संग्राम में हम विजयी भी होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधक १. वाग्वीर न होकर कर्मवीर होता है, २. इसका मन बुद्धि के अनुशासन में चलता है, ३. यह श्रम से ही धनार्जन करता है, ४. वासना-संग्राम में सदा विजयी होता है।

ऋषिः—**कुत्सः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

छह देवों द्वारा आदरण

द्युभिरक्तुभिः परि पातमस्मानरिष्टेभिरश्विना सौभगेभिः।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवीऽउत द्यौः॥३०॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **द्युभिः**=दिनों में **अक्तुभिः**=रात्रियों में, अर्थात् दिन-रात **अस्मान्**=हमारी **परिपातम्**=रक्षा कीजिए। दिन में हम आलस्यशून्य होकर विवेकपूर्वक शुभ भावनाओं से युक्त होकर कार्यों में लगे रहें, रात्रि में गाढ़ी नींद में जाकर अशुभ स्वप्नों की आशंका से बचे रहते हैं। २. हे प्राणापानो! आप **अरिष्टेभिः**=न हिंसित होनेवाले **सौभगेभिः**=सौभगों के द्वारा हमारी रक्षा कीजिए। 'भग' शब्द में 'ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान व अनासक्ति (वैराग्य)' की भावना है। इन सब सुन्दर भगों को प्राप्त करानेवाले ये प्राणापान हैं। इनसे हम सब प्रकार से सुरक्षित होकर हिंसित होने से बचे रहते हैं। ३. कुत्स कहता

है कि इस प्रकार प्राणसाधना से अपनी रक्षा व सौभग प्राप्ति के **तत्**=उस **नः**=हमारे संकल्प को **मित्रः वरुण अदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः**=मित्र, वरुण, अदिति, सिन्धु, पृथिवी और द्यौ—ये सब देवता **मामहन्ताम्**=आदृत करें। जैसे बैंक चेक को आदृत (Honours) करता है, अर्थात् उसे कैश कर देता है, उसी प्रकार ये देव हमारे इस सङ्कल्प को आदृत करें, पूर्ण करें। जिस समय ये देवता मेरे इस संकल्प को आदृत करेंगे तब मैं इन देवों को अपने में प्रतिष्ठित हुआ-हुआ पाऊँगा। उस दिन (क) **मित्रः**=मैं सभी के साथ स्नेह करनेवाला बनूँगा। (ख) **वरुणः**=मैं द्वेष का निवारण करनेवाला बनूँगा। (ग) **अदितिः**=(दो अवखण्डने) सब प्रकार के खण्डनों से रहित पूर्ण स्वस्थ होऊँगा। (घ) **सिन्धुः**=(स्यन्दन्ते, अर्थात् बहनेवाले जल=शरीर में रेतस्) मेरे शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में शक्ति का सञ्चार होगा। (ङ) **पृथिवी**=(प्रथ विस्तारे) मेरा हृदय विस्तार को लिये हुए होगा और (च) **द्यौः**=(दिव=प्रकाश) मस्तिष्क ज्योतिर्मय होगा।

भावार्थ—प्राणसाधना से हममें मित्रादि देवों का निवास होता है। हम 'स्नेहमय, निर्द्वेष, स्वस्थ, शक्तिसम्पन्न, विशाल हृदय व दीप्तमस्तिष्क' बनते हैं। एवं, ये छह देव हमारा आदर करते हैं।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूपः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

सूर्य का पालकत्व Looking after by the sun

आ कृष्णेन् रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्॥३१॥

सविता देवः=सबका प्रेरक दिव्य गुणोंवाला सूर्य **आ**=चारों ओर **कृष्णेन**=अपनी ओर आकृष्ट **रजसा** =लोकसमूह के साथ **वर्त्तमानः**=विद्यमान होता हुआ **अमृतम्**=अमर आत्मतत्त्व को **मर्त्यं च**=और इस मरणधर्मा शरीर को **निवेशयन्**=विशेषरूप से स्वस्थ करता हुआ **हिरण्ययेन रथेन**=ज्योतिर्मय, सुनहरे रथ से **भुवनानि पश्यन्**=सब लोकों को देखता हुआ **याति**=चल रहा है। सूर्य के आकर्षण से कितने ही पिण्ड सूर्य के चारों ओर अपने मार्ग पर आक्रमण कर रहे हैं। इन सब पिण्डों के साथ गति करता हुआ यह सूर्य एक सौरलोक कहलाता है। यह सारा सौरलोक प्रति सैकिण्ड बारह मील की गति से अन्तरिक्ष में आगे-और-आगे चल रहा है (याति)। सूर्य का रथ हिरण्यय है। चमकने से यह हिरण्यय कहलाता है और इसकी किरणों में हिरण्य है ही। पिछले मन्त्रों में इसे 'हिरण्यपाणि' व 'हिरण्यहस्त' कहा था। यह अपने इस हिरण्य से सब लोकों का पालन करता है (पश्यन्=Looking after)। शरीर व मन के स्वास्थ्य का यह कारण बनता है। यह सूर्य, मर्त्य व अमृत, क्षर व अक्षर, शरीर व मन दोनों को ही स्वस्थ करता है (निवेशयन्)। दोनों को अपने स्थान में (स्व) स्थित (स्थ) करता है। सूर्याभिमुख बैठने से शरीर ही नहीं अपितु मन भी स्वस्थ बनता है। एवं, यह सूर्य अपने तेज से हमारे रोगों व मलों को नष्ट करता हुआ हमारा रक्षण करता है, इसी से अगले मन्त्र में यह 'पिता' कहा गया है।

भावार्थ—हिरण्ययरथवाले सूर्य का सेवन करनेवाला 'हिरण्यस्तूप' ऋषि हिरण्य का धारण करके 'शरीर व मन' दोनों के दृष्टिकोण से स्वस्थ बनता है।

ऋषिः—**कुत्सः**। देवता—**रात्रिः**। छन्दः—**पथ्याबृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

रात्रि का दीप्त-तम (अन्धकार)

आ रात्रि पार्थिवꣳ रजः पितरप्रायि धामभिः।
दिवः सदाꣳसि बृहती वि तिष्ठसऽआ त्वेषं वर्त्तते तमः॥३२॥

सूर्य के प्रकाश के बाद रात्रि आती है, रात्रि की समाप्ति पर उषाकाल आता है। ठीक इसी प्रकार सूर्यदेव के ३१वें मन्त्र के पश्चात् यहाँ रात्रि देवता का ३२वाँ मन्त्र है और इसके पश्चात् उषा का ३३वाँ मन्त्र आएगा और ३४ से ४० तक प्रातःकाल की प्रार्थना के मन्त्र चलेंगे। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **आरात्रि**=रात्रि तक, रात्रि के आने तक **पार्थिवं रजः**=यह पार्थिवलोक **पितुः**=उस पालक सूर्य के **धमाभिः**=तेजों से **अप्रायि**=परिपूर्ण किया जाता है। (एषा वै पिता य एष सूर्यस्तपति। —शत० १४।१।४।१५)। दिनभर सूर्य अपनी हिरण्यय किरणों से तेजस्विता का प्रसारण करता है। सूर्य प्रजाओं का प्राण है। सारा पार्थिवलोक—क्या वनस्पतियाँ और क्या प्राणी सभी सूर्यकिरणों के सम्पर्क में जीवित हो उठते हैं। धीरे-धीरे पृथिवी अपने अक्ष पर घूमती हुई सूर्य की ओर पीठ-सी कर लेती है और उस समय हमारे **दिवः**=आकाश के **सदांसि**=स्थानों में **बृहती**=बढ़ती हुई यह **रात्रि**=रात **वितिष्ठसे**=विशेषरूप से स्थित होती है। रात्रि का राज्य चारों ओर फैल जाता है और उस समय **त्वेषम् तमः**=यह चमकता हुआ रात्रि का अन्धकार **आवर्तते**=सर्वत्र वर्त्तमान होता है। हम रात्रि के अन्धकार से घिर-से जाते हैं। हमारा क्षितिज अत्यन्त संक्षिप्त हो जाता है। इन्द्रियों का बाह्य प्रसार रुक जाता है। इतना ही नहीं इन्द्रियाँ बन्द-सी होकर अन्तर्मुख हो जाती हैं। उस सयम कभी-कभी स्वप्न में प्रभु-दर्शन हो जाता है, इसीलिए योगदर्शन में **'स्वप्नज्ञानालम्बनं वा'**=स्वप्न में दृष्ट प्रभुज्ञान को न भूलने का प्रयत्न करने के लिए कहा है। सुषुप्ति में तो 'समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता' इस सांख्यसूत्र के अनुसार हम कुछ ब्रह्मरूप में हो जाते हैं। एवं, यह रात्रि का अन्धकार भी हमारे लिए **त्वेषम्**=दीप्तिवाला हो जाता है। दिन के 'प्रकाश' में हमने सांसारिक वस्तुएँ देखी, तो रात्रि के उस अन्धकार में हमें प्रभु-दर्शन हुआ, अतः यह अन्धकार **'त्वेषम्'**=दीप्तिवाला तो हुआ ही। उस ब्रह्मरूपता को प्राप्त करनेवाला यह ऋषि 'कुत्स' है, जिसने सब बुराइयों को समाप्त कर दिया है (कुथ हिंसायाम्)।

भावार्थ—दिनभर सूर्य के प्रकाश से तेजस्विता को धारण करके खूब क्रियाशील रहकर हम रात में सुषुप्ति का अनुभव करें और ब्रह्म के प्रकाश को देख पाएँ।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**उषः**। छन्दः—**निचृत्परोष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**॥

उषा का वर्णन

उषस्तच्चित्रमा भरास्मभ्यं वाजिनीवति। येन तोकं च तनयं च धामहे॥३३॥

हे **वाजिनीवति**=अन्नादि ऐश्वर्ययुक्त **उषः**=प्रातःकाल की सौन्दर्यमयी वेला **चित्रम्**=तू आश्चर्यरूप धारण करनेवाली है। प्रातःवेला में पक्षी चहचाहने लगते हैं, शीतल, सुगन्ध समीर बहने लगता है, सर्वत्र सौन्दर्य छा जाता है **तत्**=उस रूप को **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **आभर**=अच्छी प्रकार पुष्ट कर **येन**=जिससे हम लोग **तोकम्**=सुयोग्य पुत्रों को **च**=और **तनयम्**=पौत्रों को **च**=भी **धीमहि**=धारण करें, प्राप्त करें।

भावार्थ—प्रभात-समय में हम पुत्र और पौत्रों के साथ आनन्द प्राप्त करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**अग्न्यादयो लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

अग्नि आदि देवों का आह्वान

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रꣳ हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना।

प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रं हुवेम॥३४॥

प्रातः=प्रभातवेला में **अग्निम्**=प्रकाश और गर्मी देकर आगे ले-जानेवाले सच्चे अग्नि=अग्रेणी-नेता, भगवान् को, जीवन में आगे बढ़ने की भावना को **प्रातः**=प्रातःकाल के समय **इन्द्रम्**=ऐश्वर्यशाली और विघ्नों को विदीर्ण करनेवाले इन्द्ररूप परमात्मा को-जीवन में ऐश्वर्यशाली, धन-धान्य से समृद्ध होने की भावना को **हवामहे**=पुकारते हैं, बुलाते हैं, स्मरण करते हैं, अपने जीवन में धारण करते हैं। **प्रातः**=प्रभातवेला में **मित्रावरुणा**=सबसे स्नेह करनेवाले मित्ररूप, सबसे वरणीय, किसी से द्वेष न करनेवाले, न्यायकारी, दण्डदाता, वरुणरूप प्रभु को, सबसे स्नेह करने, किसी से द्वेष न करने की भावना को **प्रातः**=प्रातःकाल के समय **अश्विना**=प्राण और अपानरूप, दाता और प्रतिग्रहीता, सब तक पदार्थों को पहुँचानेवाले तथा सबसे पदार्थों को लेनेवाले अश्विनीरूप परमेश्वर को **हवामहे**=अपनी सहायता के लिए पुकारते हैं। **प्रातः**=इस उषाकाल में **भगम्**=सौभाग्य प्रदान करनेवाले, धन-सम्पत्ति के भण्डार, भजनीय, सेवनीय भगरूप भगवान् को **पूषणम्**=सबकी पुष्टि करनेवाले पूषारूप भगवान् से उतने धन के लिए प्रार्थना है जितना कि पोषण के लिए पर्याप्त हो, परन्तु पारिवारिक जीवन केवल खान-पान के पर्याप्त होने से ही सुन्दर नहीं बन जाता, अतः कहते हैं ६. कि **ब्रह्मणस्पतिम्**=हम प्रातः बृहस्पति=ज्ञान की देवता का आह्वान करते हैं। स्वाध्याय अत्यन्त आवश्यक है। स्वाध्यायशील पति-पत्नी छोटी-छोटी बातों में उलझ नहीं जाते। उनका मापक ऊँचा बना रहता है। वे संसार को ठीक रूप में देख पाते हैं, अतः उनकी क्रियाएँ भी ठीक होती हैं। ७. अपने सामाजिक जीवन को अच्छा बनाने के लिए **प्रातः सोमम्**=इस प्रातःकाल में हम सोम को पुकारते हैं। सौम्य=नम्र बनने का निश्चय करते हैं। अभिमान सबसे महान् सामाजिक दोष है। इससे हम सबकी घृणा के पात्र बन जाते हैं। नम्रता सद्गुणों से युक्त करती है, वह सबका प्रिय भी बनाती है, परन्तु एक सौम्य-ही-सौम्य राजा प्रजा का ठीक शासन नहीं कर पाता, अतः मन्त्र में कहते हैं कि ८. **उत रुद्रम् हुवेम**=सौम्यता के साथ रुद्रता को भी हम पुकारते हैं। यह रुद्रता नियन्त्रण के लिए आवश्यक होती है। इसी प्रकार हम संसार में सौम्य हों, परन्तु उसमें उचित मात्रा में रुद्रता का सम्पर्क हो। ऐसा होने पर ही हम समाज में, जिस किसी भी स्थिति में होंगे, सफल ही होंगे।

भावार्थ—हम प्रातः उन्नति, जितेन्द्रियता, स्नेह, निर्द्वेषता, प्राणसाधन, पोषण के लिए पर्याप्त धन, ज्ञान (स्वाध्याय), सौम्यता व उचित रुद्रता (गम्भीरता) को अपने में धारण करने का संकल्प करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**भगः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

कैसा धन?

प्रातर्जितं भगमुग्रꣳ हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्त्ता।
आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह॥३५॥

संसार-यात्रा धन के बिना चलनी सम्भव नहीं, परन्तु अन्याय से कमाया धन मनुष्य के पतन का कारण हो जाता है। वसिष्ठ प्रभु से कहता है कि १. हम **प्रातः**=उत्तम भावनाओं को अपने में भरने के समय (प्रा पूरणे) **जितम् भगम्**=उस सेवनीय धन को, जिसे हमने अपने पुरुषार्थ से जीता है, **हुवेम**=पुकारते हैं, बिना पुरुषार्थ के पाया धन मनुष्य के पतन का कारण बनता है। २. हम उस धन को पुकारते हैं जो **उग्रम्**=उदात्त है (High, noble), जिसे प्राप्त करके हम घमण्डी व कमीने नहीं बन जाते। **उग्रम्**=(Industrious)=जो

धन हमें श्रमशील बनाये रखता है। ३. **वयम् पुत्रम् (भगम् हुवेम)**=हम उस धन को पुकारते हैं जो (पुनाति+त्रायते) हमारे जीवनों को पवित्र बनाता है और वासना से सुरक्षित करता है। ४. फिर हमें वह धन चाहिए **यः**=जो **अदितेः**=अखण्डन, अर्थात् स्वास्थ्य का **विधर्त्ता**=विशेषरूप से धारण करनेवाला है। अस्वस्थ बना देनेवाला धन हमें नहीं चाहिए। 'अदिति' का अर्थ निरुक्त में 'अदीना देवमाता' दिया है। हमें वह धन चाहिए जो हमें अदीन बनाए, जिसके कारण हमें किसी के सामने गिड़गिड़ाना न पड़े और हमारे हृदयों में दिव्य गुणों का विकास हो। ५. हमें वह धन चाहिए **यम् भगम्**=जिस धन को (क) **आध्रः**=आधार देने योग्य, अर्थात् लूला-लँगड़ा **चित्**=भी **भक्षि इतिआह**='मैं खाता हूँ' ऐसा कहता है, अर्थात् जिस धन में इन सहारा देने योग्य अपाहिज लोगों को भी हिस्सा मिलता है। (ख) **मन्यमानः तुरः चित्**=आदरणीय, समाज की अज्ञानादि बुराइयों की हिंसा करनेवाला भी 'मैं खाता हूँ' इस प्रकार कहता है, अर्थात् हमारे धनों में समाजहित के कार्यों में लगे हुए व्यक्तियों को भी भाग मिलना चाहिए। जो व्यक्ति **मन्यमानः**=आदरणीय माने हुए हैं। यह 'मन्यमानः' विशेषण यहाँ इसलिए है कि कहीं धन 'अपात्र' में न पहुँच जाए। जिन व्यक्तियों को हम धन दें वे समाज के आदर के पात्र हों, जिससे कि उस धन के सद्व्यय का हमें निश्चय रहे। (ग) **राजा चित् यं भगं भक्षि इतिआह**=और अन्त में हमें वह धन चाहिए जिस धन को राजा भी 'मैं खाता हूँ', ऐसा कहता है, अर्थात् जिस धन में से राजा को उचित कर दिया जाता है। राजा ने इस कर-प्राप्त धन से ही राष्ट्र की रक्षा व व्यवस्था करनी है। यदि हम कर नहीं देते तो राष्ट्र की चोरी ही करते हैं, अतः हमारे धन में अनाथों, समाज-सेवकों व राजा का भाग होना ही चाहिए।

भावार्थ—धन पुरुषार्थ से कमाया जाए, वह हमें उदात्त बनानेवाला हो, हमारी पवित्रता व वासनाओं से रक्षा का कारण हो, हमें स्वस्थ व अदीन तथा दिव्य गुणोंवाला बनाये। हमारे धन में दीनों, मान्य समाज-सेवियों तथा राजा को अवश्य अपना-अपना भाग मिले।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**भगवान्**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

जीवन-यात्रा में धन का महत्त्व

भग॒ प्रणे॑त॒र्भग॒ सत्य॑राधो॒ भगे॒मां धिय॒मुद॑वा॒ दद॑न्नः।
भग॒ प्र नो॑ जनय॒ गोभि॒रश्वै॒र्भग॒ प्र नृभि॑र्नृ॒वन्तः॑ स्याम॥३६॥

१. हे **भग**=ऐश्वर्य **प्रणेतः**=तू प्रकृष्ट नेता है, जीवन-यात्रा को उत्तमता से ले-चलनेवाला है। यह धन २. **सत्यराधः**=सत्य को सिद्ध करनेवाला है। यहाँ 'सत्य' सब उत्तम कर्मों का प्रतीक है, प्रत्येक उत्तम कार्य धन से ही सिद्ध होता है। यज्ञों के लिए, स्वध्याय के लिए, अन्य सभी उत्तम कार्यों के लिए धन की आवश्यकता है। ३. हे नेतृत्व देनेवाले, सत्य को सिद्ध करनेवाले **भग**=ऐश्वर्य! **नः**=हमारी **इमाम् धियम्**=इस बुद्धि की **ददत्**=हमारी आवश्यकताएँ पूर्ण करते हुए **उदव**=रक्षा कर। जिस समय गरीबी के कारण नमक, तेल, ईंधन की चिन्ता सताती है तब यह बुद्धि को लुप्त कर देती है। ऐश्वर्य हमें इन चिन्ताओं से मुक्त करके स्वस्थ बुद्धिवाला करता है। ४. हे **भग**=ऐश्वर्य! तू **नः**=हमारा **गोभिः अश्वैः**=उत्तम गौवों व घोड़ों से **प्रजनय**=प्रकृष्ट विकास कर। धन के द्वारा हमारे घर गौवों व घोड़ोंवाले हो सकते हैं। ५. हे **भग**=ऐश्वर्य! तेरे द्वारा हम **प्रनृभिः**=उत्तम मनुष्यों से **नृवन्तः**=मनुष्योंवाले **प्रस्याम**=प्रकर्षेण हों। सामान्यतः हम संसार में देखते हैं कि हम सम्पन्न हैं तो हमारा घर बन्धु-बान्धवों से भरपूर रहता है, निर्धनता आई और सब गये और घर

उजड़ा-सा प्रतीत होने लगता है। (ख) सम्पन्न होने की स्थिति में मैं आये-गये मान्य अतिथियों का ठीक स्वागत कर पाता हूँ और वे मेरे यहीं निवास करते हैं। मैं गरीब हूँ तो उनके आतिथ्य की मुझे सुविधा नहीं होती और मेरा घर ऐसे मनुष्यों का निवासस्थान नहीं बनता।

भावार्थ—धन नेतृत्व करता है, सत्य को सिद्ध करता है, बुद्धि को स्थिर रखता है, हमारी शक्ति व ज्ञान के विकास का कारण बनता है और हमारे घर को उत्तम पुरुषोंवाला बनाता है।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**भगः**। छन्दः—**पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

प्रारम्भ, मध्य व अन्त में

उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्वऽउत मध्येऽअह्नाम्।
उतोदिता मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानांꣳ सुमतौ स्याम॥३७॥

१. **इदानीम् उत**=इस समय भी **भगवन्तः स्याम**=भगवाले हों। **उत प्रपित्वे**=और अन्तकाल में भी ऐश्वर्यवाले हों। **उत अह्नाम् मध्ये**=और दिनों के मध्यभाग में भी हम ऐश्वर्यवाले हों। **उत**=और हे **मघवन्**=हे ऐश्वर्यशाली प्रभो! **वयम्**=हम **सूर्यस्य उदिता**=सूर्य के उदय होते ही **देवानाम् सुमतौ स्याम**=देवों की कल्याणी मति में हों। २. भग शब्द के छह अर्थ हैं **'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा'**=(क) समग्र ऐश्वर्य, वस्तुतः ऐश्वर्य प्राप्ति का साधनभूत विज्ञान, (ख) वीर्य, (ग) यश, (घ) श्री, (ङ) ज्ञान, और (च) वैराग्य—ये छह अर्थ भगशब्द के हैं। जीवन के प्रातः काल में, अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम में हम विज्ञान व वीर्य का सम्पादन करनेवाले हों। साथ ही इस जीवन के प्रातःकाल में व्यक्ति अपने में विज्ञान=ऐश्वर्य और शक्ति को भरें। इस शक्ति व ऐश्वर्य प्राप्ति की योग्यता से अपने को परिपूर्ण करके सद्गृहस्थ बनता है। ३. यह सद्गृहस्थ अपने जीवन के मध्याह्न में चल रहा होता है। इसने अपने जीवन में यश और श्री का सम्पादन करना है। एक गृहस्थ को सदा ऐसे ही कर्म करने चाहिएँ जो उसके यश का कारण बनें, उसके जीवन को शोभावाला करें। ४. अब यशस्वी व श्री-सम्पन्न गृहस्थ को बिताकर मनुष्य को चाहिए कि वह आगे बढ़े और अपने जीवन के सायंकाल में ज्ञान और वैराग्य की साधना करे। यह 'श्रेयोज्ञान' (ब्रह्मज्ञान=ब्रह्म का दर्शन) पातञ्जलयोग के अभ्यास से ही होगा, अतः वानप्रस्थ को प्रातः-सायं कम-से-कम एक-एक घण्टा ध्यान करना ही चाहिए, अधिक हो सके तो अच्छा ही है। शेष समय स्वाध्याय में बिताने का प्रयत्न करना है। स्वाध्याय से श्रान्त होने पर लोकहित के कार्यों में आमोद-प्रमोद को अनुभव करना है। ये कार्य उसके आमोद-प्रमोद (Amusements) बन जाएँ। इस ज्ञान को प्राप्त करने से वैराग्य व अनासक्ति (Detachment) की भावना का उदय होगा और इस प्रकार इसका जीवन पूर्ण भगवाला हो सकेगा। ५. इस भग के क्रमिक विकास को सिद्ध करने के लिए हम सूर्योदय से ही, अर्थात् जीवन के प्रारम्भ से ही देवों की कल्याणी मति में हों। प्रातःकाल में 'मतृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव'=माता-पिता व आचार्य हमें सुमति देनवाले हों। मध्याह्न में 'अतिथिदेवो भव'=विद्वान् व व्रतमय जीवनवाले अतिथि हमें समय-समय पर सुमति देते रहें। जीवन के पूर्णता के काल में (सायंकाल में) अन्तर्मुख-यात्रा के अभ्यास से आभासित उस महादेव की कल्याणी मति को सुननेवाले हम बनें, अर्थात् आत्मा की आवाज़ को हम सुन पाएँ। इस

प्रकार देवों की कल्याणी मति से हम जीवन में पृथक् न होंगे तो अवश्य अपने अन्दर भग की वृद्धि करते हुए भगवान् के दर्शन कर पाएँगे।

भावार्थ—हमारा जीवन भग की उत्तरोत्तर वृद्धि करते हुए भगवान् के समीप पहुँचने में ही व्यतीत हो।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**भगवान्**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

प्रभु ही हमारा ऐश्वर्य हो

भगऽएव भगवाँ२॥ऽअस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम।
तं त्वा भग सर्वऽइज्जोहवीति स नो भग पुरऽएता भवेह॥३८॥

१. हे **देवाः**=देवो! आप ऐसी कृपा करो कि **भगवान् एव**=प्रभु ही **भगः अस्तु**=हमारे ऐश्वर्य हों, अर्थात् हम भगवान् को ही अपना भग बनाएँ, प्रभु-प्राप्ति को ही सच्चा ऐश्वर्य समझें। **तेन**=उस प्रभु से ही **वयम्**=हम **भगवन्तः**=भगवाले **स्याम**=हों। प्रभु ही हमारा धन हों। हम 'आत्मक्रीड व आत्मरति' बन पाएँ। हम 'आत्मन्येव च संतुष्टः'=आत्मतत्त्व को पाकर ही सन्तुष्ट हों। २. हे **भग**=सब ऐश्वर्यों के पुञ्ज प्रभो! **तम् त्वा**=उस आपको **सर्व इत्**=सर्व ही **जोहवीति**=पुकारता है। प्रभु की सच्ची आराधना वही करता है जो 'सर्व' बनता है। सर्व बनने का अभिप्राय 'शरीर, मन व मस्तिष्क' तीनों की उन्नति करने से है। केवल स्वस्थ पुरुष, केवल बुरी भावना से रहित पुरुष, किसी का बुरा चिन्तन न करनेवाला पुरुष तथा ज्ञान से भरे मस्तिष्कवाला पुरुष भी प्रभु का सच्चा उपासक नहीं। सच्चा उपासक तो वही है जो तीनों उन्नतियों की साधना करके 'सर्व' बनने का प्रयत्न करता है। ३. हे **भग**=सेवनीय, उपासनीय प्रभो! **सः**=वे आप **इह**=इस मानव-जीवन में **नः**=हमारे **पुर एता**=आगे चलनेवाले **भव**=होओ। आप हमारे नेता हों, हम आपके अनुयायी हों। हमारे पथ-प्रदर्शक आप ही हों।

भावार्थ—हम प्रभु को ही अपना सच्चा धन मानें।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**भगः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

दधिक्रावा बनना

समध्वरायोषसो नमन्त दधिक्रावेव शुचये पदाय।
अर्वाचीनं वसुविदं भगं नो रथमिवाश्वा वाजिनऽआ वहन्तु॥३९॥

१. **उषसः**=उषाःकाल **अध्वराय**=अध्वर के लिए **संनमन्त**=सन्नत हों। हम प्रातःकाल ही विनीत बनकर अध्वर मार्ग पर चलने का निश्चय करें। 'न ध्वरति कुटिलो भवति, अध्वानं सत्पथं राति इति वा'=विनीत बनकर कुटिलतारहित सन्मार्ग पर चलें। विनीतता का परिणाम कुटिलता-त्याग है। जब नम्रता नष्ट होकर मद आ जाता है तभी जीवन कुटिलता व हिंसावाला हो जाता है। दैवी सम्पत्ति की चरमसीमा विनीतता ही है 'नातिमानिता'। २. **दधिक्रावा इव**=दधिक्रावा के समान **शुचये पदाय**=पवित्र मार्ग के लिए अथवा उस पूर्ण शुद्ध प्रभु को प्राप्त करने के लिए यह उषाःकाल हो। (क) 'दधत् क्रामतीति दधिक्रावा'=शक्ति को धारण करके चलता है, हम शक्तिशाली बनकर पवित्र मार्ग पर चलें। संसार निर्बलों के लिए नहीं है। निर्बलता में मनुष्य पाप कर बैठता है। **'वि शक्रः पापकृत्यया**—अ० ३।३१।२' शक्तिशाली पाप से दूर रहता है, इसीलिए उपनिषद् कहती है कि **'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'**। (ख) 'दधत् क्रन्दति इति वा दधिक्रावा'=शक्तिशाली बनकर प्रभु को

पुकारता हुआ मैं पवित्र मार्ग पर चलूँ। **दधत्**=धारणात्मक कर्मों को करता हुआ मैं प्रभु की प्रार्थना करूँ। निर्बल बन प्रभु को पुकारने से कुछ लाभ नहीं। धारणात्मक कर्मों को करता हुआ ही प्रभु-प्रार्थना का अधिकारी है। ३. **इव**=जैसे **वाजिनः अश्वाः**=शाक्तिशाली घोड़े **रथम्**=रथ को उद्दिष्ट स्थान पर पहुँचाते हैं उसी प्रकार **वाजिनः**=शाक्तिशाली व ज्ञानसम्पन्न **अश्वाः**=इन्द्रियरूप घोड़े **नः**=हमें **अर्वाचीने**=(अवरे देशे अञ्चति न तु परे) अन्दर ही विद्यमान **वसुविदम्**=निवास के लिए आवश्यक सब वस्तुओं को प्राप्त करानेवाले **भगम्**=ऐश्वर्यपुञ्ज, सेवनीय प्रभु को **आवहन्तु**=प्राप्त कराएँ। यहाँ इन्द्रियों का विशेषण 'वाजिनः' है, वे शक्तिशाली हों तथा ज्ञानप्राप्ति का उचित साधन हों। उस प्रभु को प्राप्त कराने के लिए इन इन्द्रियरूप घोड़ों की अन्तर्मुखयात्रा चाहिए, वे प्रभु 'अर्वाचीन' हैं, अन्दर ही मौजूद है, वे सब वसुओं के स्वामी हैं, अतः प्रभु-प्राप्ति में 'योगक्षेम' ठीक प्रकार से चलता है।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति का मार्ग यह है कि (क) हम विनीतता को अपनाकर अहिंसा व अकुटिलता के मार्ग पर चलें, (ख) अपने को शक्तिशाली बनाते हुए पवित्र मार्ग का आक्रमण करें तथा धारणात्मक कर्मों में लगे हुए प्रभु की प्रार्थना करें, (ग) प्रभु को ऐश्वर्य का पुञ्ज, सब वस्तुओं को प्राप्त करानेवाला जानते हुए अपनी इन्द्रियों को निरुद्ध कर उसी का ध्यान करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**उषाः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

'विश्वतः प्रपीत'—सर्वांगीण उन्नति

अश्वावतीर्गोमतीर्नऽउषासो वीरवतीः सदमुच्छन्तु भद्राः।
घृतं दुहाना विश्वतः प्रपीता यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥४०॥

नः=हमारे लिए **उषासः**=उषःकाल **सदम्**=सदैव (ऋ० १।१०६। पर द०, सदम्=संवत्सरम्=वर्षभर, अर्थात् सारे साल—यास्क) **उच्छन्तु**=प्रकाशित हों। कैसी उषाएँ? १. **अश्वावतीः**=उत्तम कर्मेन्द्रियोंवाली। अश्व शब्द 'अश्नुवते कर्मसु' इस व्युत्पत्ति से कर्मेन्द्रियों का वाचक है। हम प्रत्येक उषःकाल में उत्तम कर्मेन्द्रियोंवाले हों। पिछले मन्त्र में वर्णित प्रकार से हम 'अध्वरों' में अपना समय बिताएँ। धारणात्मक कर्म करते हुए जीवन-यात्रा में चलें (दधिक्रावा)। २. **गोमतीः**=उत्तम ज्ञानेन्द्रियोंवाली। 'गमयन्ति अर्थान्' इस व्युत्पत्ति से यह शब्द ज्ञानेन्द्रियों का वाचक है। हम प्रत्येक उषःकाल में स्वाध्याय को अपना भोजन बनाएँ और अपने मस्तिष्क का ठीक पोषण करनेवाले बनें। ३. **वीरवतीः**=ये उषःकाल वीरोंवाली हों। हम पवित्र मार्ग पर (शुचये पदाय) चलते हुए वासनाओं से दूर रहकर शक्ति को अपने में सञ्चित करनेवाले हों। ५. **भद्राः**=(भदि कल्याणे सुखे च) ये उषःकाल हमारे लिए कल्याणकर व सुखकारी हों। हम इनमें सदा शुभ कर्मों में प्रवृत्त होने का निश्चय करें। ५. **घृतम्**=(घृ क्षरणदीप्त्योः) मानस नैर्मल्य व ज्ञान की दीप्ति को **दुहानाः**=(दुह प्रपूरणे) हममें वे भरनेवाले हों। प्रत्येक उषःकाल (उष दाहे) हमारे दोषों का दहन करके हमें निर्मल बनाये और हमारे ज्ञानों को दीप्त करनेवाला हो। ६. **विश्वतः**=सब दृष्टिकोणों से **प्रपीता**=खूब बढ़े हुए, अर्थात् हमारी वृद्धि करनेवाले ये उषःकाल हों। इनमें हम शरीर के स्वास्थ्य, मन के नैर्मल्य व बुद्धि की तीव्रता के लिए प्रयत्नशील हों। हमारी उन्नति सर्वांगीण हो, एकांगी उन्नति वस्तुतः उन्नति ही नहीं। 'विश्वतः प्रपीता' का अर्थ यह भी हो सकता है कि 'सब स्थानों से प्रकृष्ट पानेवाले', हम जहाँ से भी अच्छाई मिल सके उसका ग्रहण

करनेवाले बनें। सूर्य जिस प्रकार सब स्थानों से जल ले-लेता है, इसी प्रकार हम भी सब स्थानों से अच्छाई को लेने का निश्चय करें। हे ऐसे उषःकालो! **यूयम्**=तुम **सदा**=हमेशा **नः**=हमारा **स्वस्तिभिः**=उल्लिखित बातों के द्वारा उत्तम स्थितियों से (सु+अस्ति) **पात**=पालन करो। उत्तम स्थिति यही है कि (क) हम उत्तम कर्मों में लगे रहें (अश्वावतीः) (ख) उत्तम कर्मों के लिए आवश्यक है कि हम उत्तम विचारों व ज्ञानवाले हों (गोमतीः) (ग) इस ज्ञान की उत्तमता के लिए वीर्यरक्षा आवश्यक है। वीर्य ही ज्ञानाग्नि का ईंधन है। हम वीर्यवान् हों (वीरवतीः)। (घ) ये बातें होने पर हमारा मार्ग कल्याण-ही-कल्याणवाला होगा (भद्राः)। (ङ) हमारा नैर्मल्य व ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ता-ही-बढ़ता जाएगा (घृतं दुहानाः), (च) इस प्रकार हमारी सर्वांगीण उन्नति होगी (विश्वतः प्रपीताः)। हमारे उषःकाल सदा हमारी इस उत्तम स्थित को प्राप्त करानेवाले (लाने) हों।

भावार्थ—हमारा प्रत्येक उषःकाल उत्तमकर्म, उत्तमज्ञान, शक्ति, भद्रता, नैर्मल्य व वृद्धिवाला हो।

ऋषिः—**सुहोत्रः**। देवता—**पूषा**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

पूजा के मार्ग पर

पूषन्तव व्रते वयं न रिष्येम कदा चन। स्तोतारस्तऽइह स्मसि॥४१॥

'सुहोत्र' ऋषि का यह मन्त्र है। (हु=आदान) यह **सु**=उत्तम वस्तुओं का **होत्र**=आदान करता हुआ अपना त्राण करता है। यह कहता है कि हे **पूषन्**=सबका पोषण करनेवाले सूर्यदेव! **वयम्**=हम **तव व्रते**=तेरे व्रत में चलते हुए **कदाचन**=कभी भी न **रिष्येम**=हिंसित न हों। इसी उद्देश्य से **इह**=इस मानव-जीवन में हम **ते**=तेरे **स्तोतारः**=स्तुति करनेवाले **स्मसि**=होते हैं। स्तुति का अभिप्राय यही है कि हम तेरे गुणों का स्मरण करते हुए अपने जीवन के लिए भी एक लक्ष्यदृष्टि स्थिर करते हैं। १. जैसे सूर्य 'पूषा' है, सबका पोषण करनेवाला है, इस प्रकार हम भी 'पोषण' का व्रत लेते हैं। हम धारणात्मक कर्म ही करेंगे, ध्वंसात्मक नहीं। वस्तुतः यही तो 'दधिक्रावा' (संख्या ३९) बनना है। २. यह पूषा 'आदित्य' है सभी स्थानों से जल का आदान करता है, परन्तु इस ग्रहण में यह जल को ही लेता है, उस स्थान की दुर्गन्ध व मलिनता को नहीं लेता। हमारा भी यह व्रत हो कि हम औरों की अच्छाई को ही देखें और उसी को लें। ३. सूर्य (सरति) निरन्तर चल रहा है। यह आराम के लिए कभी कहीं रुक नहीं जाता। ४. सूर्य की चौथी बात यह है कि यह लोगों की स्तुति-निन्दा से अपने तापन व प्रकाशनरूप कार्य से कभी विचलित नहीं होता। हमें भी अपना आदर्श यही रखना है कि **'निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु, लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्। अद्यैव मरणामस्तु युगान्तरे वा, न्यायात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।'** स्तुति, निन्दा, ऐश्वर्य व निर्धनता तथा जीवन व मरण हमें अपने कर्त्तव्य-पथ से विचलित न कर सकेंगे। प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'सुहोत्र' इन 'पोषण, उत्तमता का आदान, सतत क्रियाशीलता व कर्तव्यपथ से अविचलता' रूप उत्तम बातों का आदान करता हुआ सूर्य के व्रत में चलता है, सूर्य का सच्चा स्तोता बनता है और इस प्रकार अपने जीवन में हिंसित नहीं होता।

भावार्थ—हम सूर्य से शिक्षा ग्रहण करके अपने जीवन में (क) धारणात्मक कर्म ही करें, (ख) सब जगह से अच्छाई को लेनेवाले हों, (ग) क्रियाशील रहें, (घ) स्तुति-निन्दा हमें कर्त्तव्यपथ से विचलित न कर सकें।

ऋषिः—ऋजिश्वः। देवता—पूषा। छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

मार्गों का भी मार्ग

पथस्पथः परिपतिं वचस्या कामेन कृतोऽअभ्यानडर्कम्।
स नो रासच्छुरुधश्चन्द्राग्रा धियंधियं सीषधाति प्र पूषा॥४२॥

पिछले मन्त्र के अनुसार सूर्य का उपासक, उसके गुणों का स्तोता बनकर सरल मार्ग से (ऋजु) निरन्तर आगे बढ़नेवाला (श्वि गति) 'ऋजिश्वा' प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है। यह इस मार्ग पर चलने के लाभ को कुछ अनुभव कर चुका है, अतः यह उस मार्ग पर **कामेन**=इच्छा से चलता है। यह सूर्य के प्रकाश की भाँति अपने को प्रकाशमय बनाने के लिए निरन्तर स्वाध्याय करता है और **वचस्या**=इस वेदवाणी से **कृतः**=संस्कृत (accomplished) हुआ-हुआ **अर्कम्**=उस सूर्य को **अभ्यानट्**=शिष्यरूपेण प्राप्त होता है जो सूर्य **पथस्पथः**=मार्गों के भी मार्ग का, अर्थात् सर्वोत्तम मार्ग का **परिपतिम्**=पूर्णरूप से रक्षक है, अर्थात् सदा एक आदर्श मार्ग पर चलनेवाला है। सूर्य के इस मार्ग का कुछ वर्णन ४१वें मन्त्र में हुआ है। इस मार्ग पर चलनेवाला 'ऋजिश्वा' प्रार्थना करता है कि **सः**=वह पूषा (सूर्य) **नः**=हमें **चन्द्राग्राः**=(चदि आह्लादे)=आह्लाद व प्रसन्नता को बढ़ानेवाली **शुरुधः**=(शुग् रुधः) शोक व दुःख को दूर करनेवाली सम्पत्तियों को **रासत्**=दे। वस्तुतः सूर्य के मार्ग पर **कामेन**=बड़ी इच्छा से उत्साहपूर्वक चलने से हमें शारीरिक स्वास्थ्य की, मानस नैर्मल्य की और बौद्धिक दीप्ति की सम्पत्ति प्राप्त होती है। ये सम्पत्तियाँ क्रमशः आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक शोकों को दूर करनेवाली हैं। नीरोगता से आध्यात्मिक कष्टों की इतिश्री हो जाती है, राग-द्वेष के क्षय से आधिभौतिक कष्ट नहीं होते और ज्ञानदीप्ति हमें आधिदैविक कष्टों से बचाती है। इस प्रकार प्रार्थना करता हुआ 'ऋजिश्वा' कहता है कि प्रभु ऐसी कृपा करे कि यह **पूषा**=सूर्य **धियम् धियम्**=हमारे प्रत्येक प्रज्ञान व कर्म को अथवा प्रज्ञापूर्वक किये जानेवाले कर्म को **प्रसीषधाति**=प्रकर्षेण सिद्ध करे। वस्तुतः मार्गों का मार्ग, अर्थात् सर्वोत्कृष्ट मार्ग तो वही है जिस मार्ग से कि **पूषा**=सूर्य चल रहा है। 'पोषणात्मक कर्मों को करना, अच्छाई को लेना, क्रियामय जीवन बिताना और स्तुति-निन्दा से विचलित न होना' ही सर्वोत्तम जीवन-यात्रा का मार्ग है। इस मार्ग से चलनेवाले पुरुष के सभी कर्म प्रज्ञापूर्वक होते हैं और इन कर्मों को करता हुआ वह अपने लक्ष्य-स्थान पर अवश्य पहुँच जाता है। उसकी जीवन-यात्रा पूर्ण होती है और वह सबके पोषण करनेवाले प्रभु को प्राप्त करता है।

भावार्थ—हम वेदवाणी के अध्ययन से अपने जीवन को संस्कृत बनाएँ। बड़ी इच्छा व उत्साह के साथ मार्गों के भी मार्ग के पति सूर्य के उपासक बनें, उसी के व्रत में चलें। आनन्दप्रद, दुःखद्राविणी सम्पत्तियों को प्राप्त करने का व कर्मसाफल्य का यही मार्ग है।

ऋषिः—मेधातिथिः। देवता—विष्णुः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

तीन कदम

त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपाऽअदाभ्यः। अतो धर्माणि धारयन्॥४३॥

पिछले मन्त्र का ऋषि 'ऋजिश्वा'=सरल मार्ग से चलता हुआ पूषा के उपदिष्ट मार्ग पर चलता है। इस मार्ग पर चलते हुए यह **त्रीणि पदा**=तीन कदमों को **विचक्रमे**=विशेषरूप से रखता है। १. यह **विष्णुः**=(विष्लृ व्याप्तौ) व्यापक अन्तःकरणवाला बनता है।

अपनी बुद्धि को विशाल बनता है। २. यह **गोपाः**=(गावः इन्द्रियाणि) इन्द्रियों का रक्षक होता है। इन्द्रियों को विषयों में भटकने से बचाता है। इसी से इसकी इन्द्रियाँ विषयासक्त होने से बची रहती हैं, दूसरे शब्दों में इसके इन्द्रियाश्व मार्गभ्रष्ट नहीं होते और यह अपनी जीवन-यात्रा में आगे-और-आगे बढ़ता चलता है। ३. **अदाभ्यः**=(दभ्=हिंसायाम्) यह अपने शरीर में रोगों से हिंसित नहीं होता। रोगकृमियों से यह दब नहीं जाता। सदा स्वस्थ शरीरवाला बना रहता है। ४. चूँकि यह 'विष्णु, गोपा व अदाभ्य' के रूप में 'व्यापक मानस उन्नति, इन्द्रियों की सुरक्षा व शरीर के स्वास्थ्य' रूप तीन कदमों को रखता है, अतः **धर्माणि**=देवपूजा, संगतिकरण व दानरूप मुख्य धर्मों का **धारयन्**=धारण करनेवाला बनता है। ३१वें अध्याय के १६वें मन्त्र में 'तानि धर्माणि प्रथमान्यसन्' इन शब्दों में यज्ञान्तर्गत इन तीन बातों को प्राथमिकता देनी है। देवपूजा से ज्ञान बढ़ता है, संगतिकरण हमें राग-द्वेष से ऊपर उठाता है, दान हमें विषय-वासनाओं से बचाकर स्वस्थ बनाता है। ये ही तीन कदम हैं, जिन्हें कि प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'मेधातिथि' अपने जीवन में रखने का प्रयत्न करता है।

भावार्थ—हम अपने जीवन में तीन कदम रखनेवाले त्रिविक्रम बनें। 'विष्णु बनें, गोपा बनें और अदाभ्य हों'।

ऋषिः—**मेधातिथिः**। देवता—**विष्णुः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

विप्र, विपन्यु व जागृवान्

तद्विप्रा॑सो विप॒न्यवो॑ जागृ॒वांस॒: समि॑न्धते। विष्णो॒र्यत्प॑र॒मं प॒दम्॥४४॥

व्यापक उन्नति करनेवाला जीव भी विष्णु है, परन्तु सदा से पूर्णोन्नत प्रभु ही वस्तुतः विष्णु हैं, उस विष्णु की उपासना जीव विष्णु बनकर ही करता है 'विष्णुर्भूत्वा भजेद् विष्णुम्'। उस महान् **विष्णोः**=विष्णु का **यत्**=जो **परमम् पदम्**=उत्कृष्ट स्थान है **तत्**=उसे **समिन्धते**=अपने अन्दर दीप्त करते हैं। कौन? १. **विप्रासः**=(वि+प्रा) अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले। आत्मालोचन के द्वारा जहाँ भी कमी दिखी, उसे उन्होंने दूर करने का प्रयास किया। शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग को ये इसी प्रकार स्वस्थ रख पाते हैं। २. **विपन्यवः**=(पण् स्तुतौ) विशिष्ट स्तुतिवाले। ये अपने मन को सदा प्रभु के स्तवन में लगाते हैं, इसी कारण मन में मलिनता उत्पन्न नहीं होती। प्रभु-प्रवण मन सदा पवित्र बना रहता है। प्रभु-स्तुति में न लगा हुआ मन विषयों में चला जाता है और शत्रु बन जाता है। ३. **जागृवांसः**=जो सदा जागते हैं। जिनका बुद्धिरूप सारथि सदा सचेत है। मन को विषय जाल में फँसने से बचाने के लिए ये **विपन्यवः**=विशिष्टरूप से प्रभु का स्तवन करनेवाले बनते हैं, इस शरीर-रथ की सारथिभूत बुद्धि को सदा जागरित रखते हैं। बुद्धिपूर्वक चलनेवाले ये सचमुच 'मेधातिथि' (मेधया अतति) होते हैं। इस मेधातिथि के ये ही तीन विक्रम हैं 'विप्र, विपन्यु व जागृवान्' बनना।

भावार्थ—'विप्र, विपन्यु व जागृवान्' बनकर हम विष्णु के परमपद को प्राप्त करें।

ऋषिः—**भरद्वाजः**। देवता—**द्यावापृथिव्यौ**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

द्यावापृथिवी—शरीर व मस्तिष्क

घृ॒तव॑ती॒ भुव॑नानामभि॒श्रियो॒र्वी पृ॒थ्वी म॑धु॒दुघे॑ सु॒पेश॑सा।
द्यावा॑पृथि॒वी वरु॑णस्य॒ धर्म॑णा॒ विष्क॑भिते अ॒जरे॒ भूरि॑रेतसा ॥४५॥

आधिदैविक जगत् में 'द्यावापृथिवी' का अभिप्राय द्युलोक व पृथिवीलोक है। यही अध्यात्म में मस्तिष्क व शरीर हैं। वस्तुतः यह पिण्ड (शरीर) क्या है? यह एक छोटा ब्रह्माण्ड है और ब्रह्माण्ड क्या है? यह एक बड़ा पिण्ड है। 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' यह उक्ति नितान्त सत्य है। 'हमारे इस पिण्ड में गत मन्त्र के 'विप्र, विपन्यु व जागृवान्' के शरीर व मस्तिष्क कैसे बनते हैं', इस विषय का वर्णन प्रस्तुत मन्त्र में इस प्रकार है १. **घृतवती**=(घृ क्षरणदीप्त्योः) ये **द्यावापृथिवी**=शरीर व मस्तिष्क घृतवाले—क्षरण व दीप्तिवाले होते हैं। शरीर में से मलों का क्षरण होकर शरीर पूर्ण स्वस्थ हो जाता है। इस स्वस्थ शरीर में मस्तिष्क ज्ञान की दीप्ति से चमक उठता है (Sound mind in a sound body)। २. **भुवनानाम् अभिश्रिया**=इस प्रकार स्वस्थ शरीर और दीप्त मस्तिष्क मनुष्य के बाहर व अन्दर दोनों ('अभि') को श्रीसम्पन्न बनाते हैं। शरीर का स्वास्थ्य बाह्य श्री का कारण बनता है तो मस्तिष्क की उज्ज्वलता अन्तःश्री का कारण होती है। ३. **उर्वी**=(ऊर्णु आच्छादने) ये श्रीसम्पन्न शरीर व मस्तिष्क मनुष्य का आच्छादन करनेवाले होते हैं। जैसे छत मनुष्य को सर्दी, गर्मी, वर्षा व ओलों से बचाती है, उसी प्रकार ये मस्तिष्क व शरीर भी मनुष्य को रोगों व मलिनविचारों से बचाते हैं, उसकी रक्षा करते हैं। ४. **पृथ्वी**=(प्रथ विस्तारे) ये द्यावापृथिवी उसकी सब शक्तियों का विस्तार करनेवाले होते हैं। ५. **मधुदुघे**=ये उसमें 'मधु' का, सारभूत वस्तु का पूरण करनेवाले होते हैं (दुह प्रपूरणे)। वस्तुतः सोम=वीर्य ही सर्वोत्तम सारभूत वस्तु है। इस सोम का विनाश न कर ये जागृवान् लोग इसका अपने में पूरण करते हैं। इसी से तो वस्तुतः वे शरीर में शक्ति को (वाज=शक्ति) तथा मस्तिष्क में ज्ञान (वाज=गति=ज्ञान) को भरनेवाले 'भरद्वाज' बनते हैं। भरद्वाज ही प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है। ये ६. **सुपेशसा**=उत्तम निर्माण करनेवाले (पेश=shape, पेशः=रूपम्) होते हैं। शक्तिसम्पन्न शरीर व ज्ञानोज्ज्वल मस्तिष्क मनुष्य को बड़ा सुन्दर रूपवाला बनाते हैं। ७. **द्यावापृथिवी**=ये द्युलोक व पृथिवीलोक **वरुणस्य धर्मणा**=वरुण की धारकशक्ति से **विष्कभिते**=थामे जाते हैं। वस्तुतः द्युलोक व पृथिवीलोक का धारण प्रभु ही कर रहे हैं। यहाँ अध्यात्म में भी शरीर व मस्तिष्क वरुण की धारकशक्ति से धारित होते हैं। यहाँ 'वरुण' का अभिप्राय है, 'द्वेष का निवारण करनेवाला'। जो व्यक्ति अपने मन में ईर्ष्या-द्वेष की अग्नि को नहीं जलने देता वही स्वस्थ शरीर व मस्तिष्कवाला होता है। ईर्ष्या-द्वेष से शरीर का स्वास्थ्य ही नष्ट नहीं होता, मन का स्वास्थ्य भी नष्ट हो जाता है। **'ईर्ष्योर्मृतं मनः'**=ईर्ष्यालु पुरुष का मन मृत हो जाता है, परन्तु जब हम **वरुण**=द्वेष का निवारण करनेवाले बनते हैं तब हमारे शरीर व मस्तिष्क ८. **अजरे**=न जीर्ण होनेवाले होते हैं। ९. **भूरिरेतसा**=ये बहुत रेतस्वाले होते हैं। 'भूरि' का अर्थ, भरण-पोषण करनेवाला भी है। ये उस रेतस् शक्तिवाले होते हैं जो इनका भरण करती है, इनमें किसी प्रकार की कमी नहीं आने देती।

भावार्थ—भरद्वाज वरुण='द्वेष को दूर करनेवाला' बनकर अपने मस्तिष्क व शरीर को अजर=न जीर्ण होनेवाला, सदा सबल बनाता है।

ऋषिः—**विहव्यः**। देवता—**लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

विहव्य की विशिष्ट प्रार्थना

ये नः सपत्नाऽअप ते भवन्त्विन्द्राग्निभ्यामव बाधामहे तान्।
वसवो रुद्राऽआदित्याऽउपरिस्पृशं मोग्रं चेत्तारमधिराजमक्रन्॥४६॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'विहव्य' है—विशिष्ट प्रार्थनावाला। इसकी प्रार्थना इस प्रकार है—१. **ये**=जो **नः** =हमारे **सपत्नाः**='शत्रु' हैं **ते**=वे **अपभवन्तु**=दूर हों। शरीर का पति वस्तुतः मैं हूँ, यह मुझे जीवन-यात्रा को पूर्ण करने के लिए दिया गया है, परन्तु रोगकृमि इसमें घर कर लेते हैं और वे इसका पति बनना चाहते हैं, अतः वे मेरे 'सपत्न' कहलाते हैं। इसी प्रकार ईर्ष्या-द्वेष के अशुभ विचार मेरे मस्तिष्क के पति बनने का प्रयत्न करते हैं, अतः वे भी मेरे 'सपत्न' हैं। इन सबको दूर करने के लिए यह 'विहव्य' प्रार्थना करता है। इसका प्रयत्न यही होता है कि यह नीरोग व निर्द्वेष बना रहे। २. **तान्**=उन रोगों व ईर्ष्या-द्वेष के विचारों को **इन्द्राग्निभ्याम्**=इन्द्र व अग्नि से **अवबाधामहे**=दूर ही रोक देते हैं, उन्हें अपने पास नहीं फटकने देते। द्युलोक की देवता 'इन्द्र' है और पृथिवीलोक की प्रमुख देवता 'अग्नि' है। जैसे द्युलोक में इन्द्र=सूर्य चमकता है उसी प्रकार हमारे मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान का सूर्य चमके और शरीर में अग्नि हो, शक्ति की उष्णता हो। जब यह शक्ति की उष्णता नहीं रह जाती तब मनुष्य ठण्डा पड़ जाता है, अर्थात् मृत हो जाता है। शरीर की शक्ति और मस्तिष्क का ज्ञान दोनों मिलकर हमसे रोगों व मलिन विचारों को दूर रखते हैं। ३. **वसवः रुद्राः आदित्याः**=वसु, रुद्र व आदित्य, अर्थात् सब देवता **मा**=मुझे **उपरिस्पृशम्**=उपरले-और-उपरले लोक का स्पर्श करनेवाला, अर्थात् उत्कर्ष की ओर चलनेवाला **उग्रम्** =उदात्त, कमीनेपन व छोटे दिल से ऊपर उठा हुआ **चेत्तारम्**=संज्ञानवाला (चिती संज्ञाने) तथा **अधिराजम्** =सब इन्द्रियों का अधिष्ठाता **अक्रन्**=बनाते हैं।

भावार्थ—विहव्य की प्रार्थना तीन भागों में बँटी हुई है। १. हमारे सपत्न दूर हों, २. ज्ञान व शक्ति से हम सब सपत्नों को दूर रखने में समर्थ हों, ३. देवों की कृपा से हम उत्कर्ष की ओर चलनेवाले, उदात्त, आत्मस्मृतिमान्=चेतन, व अधिराट्=इन्द्रियों के अधिष्ठाता बन पाएँ।

नोट—'वसवः' वे देवता हैं जो हमारे निवास में साक्षात् कारणभूत हैं। 'रुद्राः' वे देव हैं जो हमारे जीवनों को नीरोग व शक्तिसम्पन्न बनाते हैं। 'आदित्याः' उन देवों का नाम है जो हमें सद्गुणग्रहणक्षम व ज्ञान से देदीप्यमान करते हैं। (वासयन्ते इति वसवः, रुद्राः मरुतः प्राणाः, आदानात् आदित्याः)।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूपः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

हिरण्यस्तूप की आराधना तैतीस देवों का आगमन

आ नासत्या त्रिभिरेकादशैरिह देवेभिर्यातं मधुपेयमश्विना।
प्रायुस्तारिष्टं नी रपांश्सि मृक्षतः सेधतं द्वेषो भवतः सचाभुवा॥४७॥

देवता तैतीस हैं, चौंतीसवाँ इनका अधिष्ठाता महादेव है। ग्यारह द्युलोक के देवता, ग्यारह अन्तरिक्षलोक के देवता और ग्यारह पृथिवीस्थ देव हैं। प्राणापान की साधना होने पर इन सब देवों का शरीर में उत्तम निवास होता है। ये प्राणापान वस्तुतः सत्य हैं, ये हमारे जीवन की सत्ता के कारण हैं। इसी से इन्हें 'नासत्या' कहते हैं जोकि 'न असत्या' असत्य नहीं हैं। इन प्राणापान की साधना करनेवाला ऋषि अपने वीर्य की ऊर्ध्वगति को सिद्ध करने के कारण 'हिरण्यस्तूप' कहलाता है। यह हिरण्यस्तूप प्रार्थना करता है कि १. **नासत्या**=हे सत्यस्वरूपवाले अश्विनीदेवो=प्राणापानो! आप **इह**=इस मेरे पार्थिव शरीर मे **त्रिभिः एकादशैः**=तीन गुणा ग्यारह, अर्थात् तैंतीस **देवेभिः**=देवों के साथ **आयातम्**=आओ। प्राणापान की साधना से सब आसुरवृत्तियों का, दोषों का संहार होकर इस शरीर में देवों

व दिव्य गुणों का निवास होता है। सूर्यादि देव चक्षु आदि का रूप धारण करके अक्षि आदि स्थानों में ठीक प्रकार से निवास करते हैं और हमारी शरीररूप गौशाला देवरूप गौओं से परिपूर्ण हो जाती है। २. हे **अश्विना**=सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होनेवाले अथवा कर्मों में उत्तमता से व्याप्त होनेवाले प्राणापानो! आप **मधुपेयम्**=शहद के समान सारभूत वस्तु सोम के पान के लिए **आयातम्**=प्राप्त होवो। प्राणापान की साधना से सोम की शरीर में खपत होती है, यही अश्विनी देवों का सोमपान है। ३. इस सोमपान के द्वारा **आयु**=जीवन को **प्रायुस्तारिष्टम्**=खूब बढ़ा दीजिए—हम दीर्घजीवी बनें। ४. **रपांसि**=दोषों को **निर्मृक्षतम्**=पूर्णरूप से झाड़ू लगाकर साफ़ कर दो। ५. **द्वेषः सेधतम्**=द्वेष को हमसे दूर करो। प्राणसाधक चित्तवृत्ति को वशीभूत कर लेने से द्वेष में नहीं फँसता। ६. हे प्राणापानो! आप **सचाभुवा**=साथ होनेवाले **भवतम्**=होओ। प्राणसाधक की चित्तवृत्ति ऐसी बन जाती है कि वह सबके साथ मिलकर चलता है। Live and let live. यह उसका जीवन सिद्धान्त हो जाता है। वह सबकी दृष्टि में 'देव' बन जाता है।

भावार्थ—हम प्राणसाधना करें, जिससे १. देवों के निवासस्थान बनें २. वीर्य की ऊर्ध्वगति कर पाएँ। ३. दीर्घ जीवन प्राप्त करें ४. दोषों को दूर करें। ५. द्वषे से ऊपर उठें ६. मिलकर चलने के स्वभाववाले हों।

ऋषिः—**अगस्त्यः**। देवता—**मरुतः**। छन्दः—**पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

पापों से दूर

एष वः स्तोमो मरुतऽइयं गीर्मान्दार्यस्य मान्यस्य कारोः।
एषा यासीष्ट तन्वे वयां विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्॥४८॥

१. पिछले मन्त्र में प्राणसाधना का वर्णन है। प्राणों को वैदिक साहित्य में 'मरुतः' भी कहते हैं। इनकी साधना करनेवाले भी 'मरुतः' कहलाते हैं। ये प्राणसाधक 'मितराविणः'=कम बोलनेवाले होते हैं। यह प्राणसाधना ही वस्तुतः प्रभु-स्तवन है। हे **मरुतः**=प्राणसाधना करनेवाले मनुष्यो! **एषः वः स्तोमः**=यही तुम्हारा स्तुतिसमूह है। प्राणसाधना से हम दोषों का दहन करते हैं, इससे उत्तम प्रभु का स्तवन और क्या हो सकता है? २. **इयं गीः**=यह वेदवाणी **मान्दार्यस्य** (मन्दतेः ईयतेश्च)=सदा प्रसन्न रहनेवाले गतिशील पुरुष की है। यह वाणी **मान्यस्य**=बड़ों का आदर करनेवाले देवपूजक (respectful) की है, अर्थात् वेदवाणी के अध्ययन का मानव जीवन पर यह प्रभाव पड़ता है कि वह (क) सदा प्रसन्न, (ख) गतिशील, (ग) बड़ों का आदर करनेवाला तथा (घ) क्रियाओं को सुन्दरता से करनेवाला होता है। यदि उसका जीवन ऐसा नहीं बना तो यही समझना कि उसने वस्तुतः वेदवाणी का अध्ययन नहीं किया। ३. **एषा**=यह वेदवाणी **तन्वे**=(शरीरवृद्ध्यै) शरीर की सब शक्तियों के विस्तार के लिए **यासीष्ट**=तुम्हें प्राप्त हो। वेदवाणी हमारे जीवन का अङ्ग बनती है तो हमारी शक्तियों का सब प्रकार से वर्धन होता है। ४. **वयाम्** (वयम्)=कर्मतन्तु का विस्तार करनेवाले हम (वेञ् तन्तुसन्ताने) **इषम्**=प्रेरणा को **वृजनम्**=पापवर्जन को और परिणामतः **जीरदानुम्**=जीवनौषध को **विद्याम**=प्राप्त हों। वेदवाणी के अन्दर निहित प्रभु-प्रेरणा को आलसी व्यक्ति प्राप्त नहीं करता। वह प्रेरणा क्रियाशील को ही प्राप्त होती है, उस प्रेरणा से हम पापों को दूर फेंकते हैं और अपने जीवन को सर्वथा नीरोग बना पाते हैं। शरीर में रोग नहीं, मन में पाप नहीं, बुद्धि में कुण्ठा नहीं। इस प्रकार **अग**=(अ ग) आगे न बढ़ने देनेवाले (पातक) गिरावट के कारणभूत सब पापों का (स्त्या) संहार

करनेवाला यह 'अगस्त्य' बनता है।

भावार्थ—प्राणसाधना ही प्रभु-स्तवन है। वेदाध्येता सदा प्रसन्न, क्रियाशील, देवपूजक व दक्ष बनता है। वेदवाणी हमारी शक्तियों का विस्तार करती है। हम वेदवाणी की प्रेरणा को प्राप्त करके पापों से ऊपर उठें और जीवन को सुन्दर बनाएँ।

ऋषिः—**प्राजापत्यो यज्ञः**। देवता—**ऋषयः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

पितर=पूर्वजों का आदर्श जीवन

सहस्तोमाः सहच्छन्दसऽआवृतः सहप्रमाऽऋषयः सप्त दैव्याः।
पूर्वेषां पन्थामनुदृश्य धीराऽअन्वालेभिरे रथ्यो न रश्मीन्॥४९॥

पिछले मन्त्र में वेदाध्येता के लक्षणों में एक लक्षण यह भी था कि वे मान्य=बड़ों का आदर करते हैं। प्रस्तुत मन्त्र में उन्हीं बड़ों के जीवन का चित्रण है। १. **सहस्तोमाः**=ये स्तोमवाले होते हैं, इनका जीवन प्रभुस्तुति के साथ चलता है। खाते-पीते, सोते-जागते, उठते-बैठते ये सदा उस प्रभु का स्मरण करते हैं। इसी से उन्हें जीवनमार्ग का दर्शन होता है। इस स्तवन से उन्हें विघ्नों व बाधाओं में व्याकुल न होने की शक्ति प्राप्त होती है। २. **सहच्छन्दसः**=ये छन्दोंवाले होते हैं, ये सप्तछन्दोरूप वेदवाणी के ज्ञाता बनते हैं। यह ज्ञानाग्नि वासनाओं का विध्वंस करके इनके कर्मों को पवित्र कर देती है। ३. **आवृतः**=ये आवृत होते हैं। इनके दिन का सारा कार्यकलाप ठीक आवर्तन में चलता है, उतने आवर्तन में, जितने में कि 'सूर्य और चन्द्रमा'। इस कार्यनियमितता से इनका स्वास्थ्य ठीक रहकर इन्हें दीर्घायुष्य प्राप्त होता है। ५. **सहप्रमाः**=प्रमा शब्द का अर्थ है 'प्रकृष्टमाप'। इनका जीवन प्रकृष्टमापवाला होता है। ये प्रत्येक क्रिया को माप-तोलकर करते हैं। सब क्रियाओं में 'युक्तचेष्ट' होते हैं, परिणामतः ये सदा स्वस्थ रहते हैं। ५. **ऋषयः**='ऋष गतौ' से बनकर यह शब्द गति की सूचना देता है। ये अपने जीवन में सदा क्रियाशील रहते हैं। इसी कारण ये वासनाओं से आक्रान्त नहीं होते। वासनाओं के शिकार अकर्मण्य पुरुष ही हुआ करते हैं ६. **सप्तदैव्याः**=इनकी पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन और बुद्धि ये सातों दैव्य होते हैं। ये इनसे 'देव' की ओर चल रहे होते हैं। इनसे ये प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर आगे बढ़ते हैं, प्रकृति के स्वादों को भोगने नहीं लग जाते। ७. ये **धीराः**=स्थिर वृत्तिवाले ज्ञानी पुरुष **पूर्वेषाम्**=अपनों से पहले के **पन्थाम्**=मार्ग को—जीवन-यात्रा को **अनुदृश्य**=बारीकी से देखकर **अनु आलेभिरे**=उनके पदचिह्नों पर चलते हुए सर्वतः गुणों को ग्रहण करते हैं। उसी प्रकार **न**=जैसे **रथ्यः**=एक उत्तम रथवाहक **रश्मीन्**=लगामों को। जिस प्रकार एक उत्तम सारथि रश्मि-नियमन में नाममात्र भी प्रमाद नहीं करता, उसी प्रकार ये धीर पुरुष भी गुणग्रहण में प्रमादशून्य होते हैं। अपने जीवन को अधिकाधिक गुणों से अलंकृत करते हुए ये सचमुच 'पितर' पदवी को प्राप्त करते हैं। इन पूर्वजों का जीवन हमें भी प्रेरणा देता है और उस प्रेरणा को प्राप्त करके हम भी अपने जीवनों को उदात्त बनाते हैं। लोकहितकारी जीवन होने से ये पितर 'प्राजापत्य'=प्रजा के रक्षक कहलाते हैं और यज्ञमय जीवन होने के कारण 'यज्ञ' नामवाले हो जाते हैं।

भावार्थ—हम अपने जीवनों को स्तुतिमय, ज्ञानप्रधान, नियमित आवर्तनवाला, मपी-तुली क्रियाओंवाला, गतिमय, दिव्य व महाजनानुगामी बनाने का प्रयत्न करें। इस शरीररूप रथ पर आरूढ़ होकर लगामों को अपने काबू में रक्खें।

ऋषिः—**दक्षः**। देवता—**हिरण्यन्तेजः**। छन्दः—**भुरिगुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

हिरण्य का प्रवेश

आयुष्यं वर्चस्यꣳ रायस्पोषमौद्भिदम्।
इदꣳहिरण्यं वर्चस्वज्जैत्रायाविशतादु माम्॥५०॥

गतमन्त्र के सुन्दर जीवन के निर्माण का रहस्य 'हिरण्य'=तेज='वीर्य' की रक्षा में है। प्रस्तुत मन्त्र में उस हिरण्य की महिमा का वर्णन करते हैं। इसकी रक्षा के द्वारा अपनी सर्वांगीण उन्नति करनेवाला 'दक्ष' (दक्ष् to grow) मन्त्र का ऋषि है। दक्ष कहता है कि **इदम् हिरण्यम्**=यह वीर्य १. **आयुष्यम्**=दीर्घजीवन का कारण है। '**मरणं विन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्**'=इस हिरण्यबिन्दु के नाश से नाश है, रक्षा से जीवन है। २. **वर्चस्यम्**=यह वर्चस्य है। उस वर्चस्वाला है जो शरीर में रोगों के मूल पर ही कुठाराघात करता है, शरीर को (वर्च्=to shine) पूर्ण नीरोग करके यह अपने धारक के जीवन को चमका देता है। ३. **रायस्पोषम्**=यह ज्ञान की सम्पत्ति का पोषण करता है। वेद में वेदों को 'रायः समुद्राँश्चतुरः'=चार सम्पत्ति-समुद्र कहा है। वीर्य ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है। उस ज्ञानाग्नि के दीप्ति होने से हमारे ज्ञान-समुद्र का जल बढ़ता है। ४. **औद्भिदम्**=यह वीर्य (उद्भित्) हमें रोगों से ऊपर उठाकर सब विघ्न-बाधाओं का विदारण करके आगे बढ़ानेवाला होता है। ५. **इदम्**=यह **हिरण्यम्**=(हितरमणीयम्) अधिक-से-अधिक हमारा हित करनेवाला व रमणीय है। ४. यह **वर्चस्वत्**=वर्चस्वाला, दीप्ति को देनेवाला वीर्य **जैत्राय**=सब प्रकार की विजयों के लिए और अन्त में संसार का भी विजय करके मोक्षसाधन के लिए **माम्**=मुझे **उ**=निश्चय से **आविशतात्**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में, सारे शरीर में प्राप्त हो। मैं इस सोम (वीर्य) का पान करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—मैं हिरण्य के महत्त्व को समझूँ और उसके अन्तःप्रवेश के लिए पूर्ण प्रयत्नवाला होऊँ।

ऋषिः—**दक्षः**। देवता—**हिरण्यन्तेजः**। छन्दः—**भुरिक्छक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**।

हिरण्य का धारण

न तद्रक्षांꣳसि न पिशाचास्तरन्ति देवानामोजः प्रथमजꣳ ह्येतत्। यो बिभर्ति दाक्षायणꣳ हिरण्यꣳ स देवेषु कृणुते दीर्घमायुः स मनुष्येषु कृणुते दीर्घमायुः॥५१॥

गतमन्त्र के 'हिरण्य' का ही परिचय इन शब्दों में देते हैं कि १. **तत्**=इस हिरण्य=वीर्य को **न रक्षांसि**=न तो रक्षस् और **न पिशाचाः**=न ही पिशाच **तरन्ति**=तैर पाते हैं। 'रक्षस्' वे कृमि हैं जो अपने रमण के लिए हमारा क्षय करते हैं। ये कृमि नाना प्रकार के रोगों का कारण बनते हैं और 'पिशितम् अश्नन्ति' जो हमारे मांस को ही खा जाते हैं और हमें निर्बल (Emaciated) कर देते हैं—ये 'पिशाच' कहलाते हैं। शरीर में हिरण्य के होने पर ये रक्षस् व पिशाच हमारा कुछ नहीं बिगाड़ पाते। वीर्य शब्द का अर्थ ही 'विशेषरूप से कम्पित करके इन्हें दूर भगाानेवाला' है, इसीलिए तो यह हिरण्य=हित व रमणीय है। २. **देवानाम् ओजः**=यह देवताओं का ओज है। देवों की वृद्धि का कारण है (ओज् to increase)। असुर इसे भोगों का साधन बना विनष्ट हो जाते हैं। देव इसकी रक्षा करते हैं। **एतत्** =यह **हि**=निश्चय से **प्रथमजम्**=प्रथामाश्रम में, ब्रह्मचर्याश्रम में होनेवाला देवताओं का तेज सचमुच प्रथमजम्—(प्रथ विस्तारे) विस्तृत शक्तियोंवाले पुरुष को जन्म

देनेवाला है। ३. **यः**=जो कोई भी इस **दाक्षायणम्**=(to grow) वृद्धि के कारणभूत (to kill) रोगकृमियों के विध्वंसक **हिरण्यम्**=हितरमणीय वीर्य को **बिभर्ति**=धारण करता है। **सः**=वह **देवषु**=देवों में **दीर्घं आयुः**=दीर्घ जीवन को **कृणुते**=करता है, **सः**=वह **मनुष्येषु**=मनुष्यों में **दीर्घं आयुः**=दीर्घ जीवन **कृणुते**=कर लेता है, अर्थात् इस वीर्य को धारण करनेवाला व्यक्ति देव=दिव्य गुणों का पुञ्ज बनता है और मनुष्य मननशील ज्ञानी बनता है। दिव्य व ज्ञानी बनकर यह दीर्घ जीवनवाला होता है, एवं, इस दाक्षायण हिरण्य के तीन लाभ हैं—(क) शरीर में नीरोगता से दीर्घ जीवन, (ख) मन में दिव्यगुण, (ग) मस्तिष्क में अवबोध (मनु अवबोध)। इसी कारण इसे दाक्षायाण सुनहला आभूषण a golden ornament कहा गया है।

भावार्थ—हम दाक्षायण हिरण्य को धारण करके दीर्घजीवी, दिव्य व दीप्त ज्ञानवाले बनें।

ऋषिः—**दक्षः**। देवता—**हिरण्यन्तेजः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

हिरण्य का बन्धन

यदाबध्नन्दाक्षायुणा हिरण्यꣳ शतानीकाय सुमनस्यमानाः।
तन्मुऽआ बध्नामि शतशारदायायुष्माञ्जरदष्टिर्यथासम्॥५२॥

पिछले मन्त्र में 'दाक्षायण हिरण्य' के धारण की महिमा का सुन्दर वर्णन हुआ है। प्रस्तुत मन्त्र में उस 'दाक्षायण हिरण्य' के बाँधने का निश्चय करता हुआ 'दक्ष' कहता है कि **यत्**=जिस **दाक्षायणाः**=वृद्धि के कारणभूत, रोगकृमियों के विध्वंसक **हिरण्यम्**=हितरमणीय तेज को **सुमनस्यमानाः**=उत्तम विचार करते हुए लोग **शतानीकाय**=सौ-के-सौ वर्ष प्राणशक्ति के (अन प्राणने) स्थिर रखने के लिए **आबध्नन्**=अपने अन्दर बाँधते हैं **तत्**=उस तेज को **मे**=अपने लिए **आबध्नामि**=बाँधता हूँ **यथा**=जिससे **आयुष्मान्**= उत्कृष्ट जीवनवाला **जरदष्टिः**=वृद्धावस्था तक पूर्ण आयुष्य को व्याप्त करनेवाला **शतशारदाय**= सौ-के-सौ वर्ष के लिए **आसम्**=होऊँ। उल्लिखत अर्थ में 'सुमनस्यमानाः' शब्द से हिरण्य के अपने मे बन्धन के साधन का सङ्केत हुआ है। मनुष्य मन में सदा उत्तम विचारों का करनेवाला बनेगा तो इस वीर्य को अवश्य सुरक्षित कर पाएगा। अशुभ विचार ही इसके नाश के महान् कारण बनते हैं। इसे अपने में बाँधने से होनेवाले लाभ इस रूप में हैं—१. **शतानीकाय**=सौ-के-सौ वर्ष प्राणशक्तिसम्पन्न बने रहेंगे। २. **शतशारदाय**=सौ वर्ष के आयुष्य तक हम अवश्य चलेंगे। ३. **आयुष्मान्**=उत्तम जीवनवाले होंगे। ४. **जरदष्टिः**=पूर्ण वृद्धावस्था तक चलेंगे। नौजवानी में ही हमारा जीवन समाप्त न हो जाएगा। ५० से ५२ तक तीन मन्त्रों में 'हिरण्य'=वीर्य की महिमा का वर्णन है। इसका हम अपने अङ्ग-प्रत्यङ्ग में प्रवेश करें (५०) अपने में धारण करें (५१) और इसे अपने में ही बाँधनेवाले हों (५२)। जो व्यक्ति इस हिरण्य के प्रवेश, धारण व बन्धन को कर पाता है वह 'दक्ष'=उन्नतिशील (to grow) स्फूर्ति से कार्यों को करनेवाला (to act quickly), रोगकृमियों व द्वेषादि मलों का ध्वंसक (to hurt, kill), कार्यकुशल (to be competent), क्रियाशील व निरालस्य (to go, move) होता है।

भावार्थ—हम हिरण्य का अपने में प्रवेश, धारण व बन्धन करके दीर्घ व उत्तम जीवनवाले बनें। यह हिरण्य सचमुच हमारा सुनहला आभूषण बन जाए।

ऋषिः—**ऋजिश्वा**। देवता—**लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

आदर्श जीवन

उत नोऽहिर्बुध्न्यः शृणोत्वजऽएकपात्पृथिवी समुद्रः।
विश्वेदेवाऽऋतावृधो हुवाना स्तुता मन्त्राः कविशस्ताऽअवन्तु॥५३॥

गतमन्त्र में हिरण्य के बन्धन से 'आयुष्मान्'=उत्तम जीवनवाला होने का उल्लेख था। उसी उत्तम जीवन का चित्रण प्रस्तुत मन्त्र में है। इस मन्त्र का ऋषि 'ऋजिश्वा' है। 'ऋजुना श्वयति'=सरल मार्ग से चलता है और आगे बढ़ता है (श्वि गतिवृद्ध्योः), एवं उत्तम जीवन वह है जिसमें (क) सरलता है, (ख) गतिशीलता है और (ग) शक्तियों का वर्धन है, १. यह 'ऋजिश्वा' प्रार्थना करता है कि **नः**=हमारी प्रार्थना को **अहिर्बुध्न्यः**=अहीन मूलवाला (अग्निर्वा अहिर्बुध्न्यः—कौ० १६।७) अग्नि **उत**=और **अजः एकपात्**=(सूर्यं देवमजमेकपादम् —तै० ३।१।२।८) सूर्य, **पृथिवी**=पृथिवी, **समुद्रः**=समुद्र—ये देव **शृणोतु**=सुनें। इन सब देवों की मुझपर कृपा हो। मैं इन देवों की विशेषताओं को अपने जीवन में धारण करनेवाला बनूँ। (क) अग्नि के समान सब मलों का जलानेवाला बनूँ (ख) मलों का नाश होकर यह तेजस्विता के दृष्टिकोण से सूर्य-जैसा बनता है। (ग) तेजस्वी होने के कारण यह पृथिवी के समान क्षमाशील होता है। पृथिवी का तो नाम ही 'क्षमा' पड़ गया है। हम उसपर कूदते-फाँदते हैं, गड्ढे करते हैं, परन्तु पृथिवी सब सहती है। यह तेजस्वी पुरुष भी सहनशील बनता है। (घ) यह क्षमाशील पुरुष समुद्र के समान गम्भीर होता है। २. अग्नि को 'अहिर्बुध्न्य' कहा है, अहीन मूलवाला। जब तक शरीर में यह अग्नितत्त्व है तब तक जीवन का मूल क्षीण नहीं होता। अग्नि गई और मूल नष्ट हुआ। सूर्य 'अज एकपात्' है। 'अज गतिक्षेपणयोः'=सूर्य निरन्तर क्रिया से मलों को दूर फेंक रहा है और एक बार इसने कदम रखा तो फिर रुकने का नाम नहीं लिया। ३. 'अग्नि, सूर्य, पृथिवी और समुद्र' तो हमारी प्रार्थना को सुनें ही, अन्य सब देव भी **हुवानाः**=परस्पर स्पर्धा करते हुए **ऋतावृधः**=मुझमें ऋत को बढ़ानेवाले हों। सब देव अपनी दिव्यता को मुझमें भरनेवाले हों। मैं सब देवों का ऐसा प्रिय बनूँ कि वे एक-दूसरे से बढ़कर मुझे अच्छा बनाने की कामना करें। मैं सब देवों की दिव्यता का पात्र बन जाऊँ। ४. **स्तुताः**=प्रभु की स्तुति का प्रतिपादन करनेवाले **कविशस्ताः**=क्रान्तदर्शी विद्वानों से उच्चारण किये गये **मन्त्राः**=मन्त्र (ज्ञान-प्रतिपादकवाक्य) **अवन्तु**=हमारी रक्षा करें। हम विद्वानों से सदा प्रभु की महिमा की प्रतिपादिका उत्तम ज्ञानवाणियों को सुनें, जिससे हमारे जीवन सुन्दर और सुन्दरतर बनते जाएँ।

भावार्थ—उत्तम जीवन वह है जो (क) सरलता, गतिशीलता व शक्तिवर्धनवाला है (ऋजिश्वा)। (ख) अग्नि के समान मलों का दाहक, सूर्य के समान तेजस्वी, पृथिवी के समान क्षमाशील व समुद्र के समान गम्भीर है। (ग) जिसमें सब दिव्य गुणों ने ऋत व सत्य का वर्धन किया है। (घ) जो विद्वानों से ज्ञानवाणियों को सुनने में व्यतीत होता है।

ऋषिः—**कूर्म गार्त्समदः**। देवता—**आदित्याः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

प्रभु का छोटा रूप

इमा गिरऽआदित्येभ्यो घृतस्नूः सनाद्राजभ्यो जुह्वा जुहोमि।
शृणोतु मित्रोऽअर्यमा भगो नस्तुविजातो वरुणो दक्षोऽअंशः॥५४॥

१. पिछले मन्त्र में 'कविशस्त मन्त्रों' के श्रवण' का वर्णन है। उसी बात को कुछ

विस्तार से कहते हैं कि **इमाः गिरः**=इन वाणियों को जो **घृतस्नूः**=ज्ञानदीप्ति का स्रवण करनेवाली हैं, **सनात्**=नित्य **राजभ्यः**=ज्ञानदीप्ति से देदीप्यमान **आदित्येभ्यः**=चारों वेदों का ग्रहण करनेवाले आदित्यसंज्ञक विद्वानों की **जुह्वा**=वाणी से (जुहू इति वाङ्नाम) **जुहोमि**=आहूत करता हूँ। चारों वेदों के विद्वान् 'आदित्य' हैं। इन आदित्य विद्वानों से मैं सदा ज्ञान की वाणियों को सुनता हूँ। उन वाणियों का उच्चारण करता हुआ उन ज्ञानवाणियों को हृदय में धारण करता हूँ। २. इन ज्ञानवाणियों को सुनने का परिणाम यह हो कि निम्न देव **नः शृणोतु**=हमारी प्रार्थना को सुनें। मैं इन देवों का कृपापात्र बनूँ, इन देवों का मुझमें निवास हो (क) **मित्रः**=स्नेह की देवता। हम सदा सबके साथ स्नेह करनेवाले बनें। (ख) **अर्यमा**=(अरीन् गच्छति) हम काम-क्रोधादि शत्रुओं का नियमन करनेवाले बनें, 'अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति'=हम सदा कुछ देनेवाले हों। (ग) **भगः**=ऐश्वर्य की देवता। 'भज सेवायाम्'=हम भजनीय धन को प्राप्त करनेवाले बनें। (घ) **तुविजातः**=महान् विकासवाला **वरुणः**=द्वेष के निवारणवाला वरुणदेव हमारी प्रार्थना को सुने। हम किसी से द्वेष न करें। द्वेष व ईर्ष्या से ऊपर उठना ही विकास का मार्ग है। (ङ) **दक्षः**=हम 'दक्ष' के प्रिय बनें। दक्ष (to grow)=अपनी शक्तियों के विकासवाले हों। दक्ष (to act quickly, to go)=हम स्फूर्ति से कार्यों को करनेवाले हों। दक्ष (to hurt, to kill)=रोगकृमियों के ध्वसंक हों। दक्ष (to be competent)=हम कार्यकुशल बनें। (च) **अंशः**=उल्लिखित सब बातों को अपने जीवन में लाकर हम प्रभु के 'अंश'=छोटे रूप बन पाएँ अथवा 'अंश्' to divide=हम अपने धनों का उचित विभाग करनेवाले हों, सारे का सारा स्वयं न खा जाएँ। वस्तुतः प्रभु बाँटते हैं तो सब बाँट देते हैं, अपने लिए कुछ रखकर जीव भी अधिक-से-अधिक बाँटने का प्रयत्न करे, अपनी आवश्यकताओं को न्यूनतम करने का प्रयत्न करे। यही परमेश्वर का 'छोटा रूप' बनने का उपाय है। ३. इस प्रकार जीवन बनानेवाला व्यक्ति 'कूर्म गार्त्समद' है। 'कूर्म'=क्रियाशील, **गृत्स**=प्रभु का स्तोता **मद**=आनन्दमय। वस्तुतः नित्य ज्ञानयज्ञ करता हुआ यह व्यक्ति अपने जीवन को प्रभु के अनुरूप बनाने का प्रयत्न करता है।

भावार्थ—हम ज्ञानावाणियों को सुनें। स्नेह, दान, सेवनीय धन, द्वेषनिवारण व दक्षता को धारण करें और प्रभु का ही छोटा रूप बनने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**कण्वः**। देवता—**अध्यात्मं प्राणाः**। छन्दः—**भुरिग्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

ऋषि का आश्रम, सात ऋषि, अस्वप्नज देव

सप्तऽऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।
सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतोऽअस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ॥५५॥

१. **सप्त ऋषयः**=सात ऋषि **प्रतिशरीरे**=प्रत्येक शरीर में **हिताः**=रक्खे गये हैं। प्रभु ने 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्'='दो कान, दो नासिका (छिद्र), दो आँखें व एक मुख' इस प्रकार सात ऋषि—तत्त्वज्ञान प्राप्त करानेवाले देव (ज्ञानेन्द्रियाँ) अथवा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन और बुद्धि—ये सात ज्ञानसाधक देव हम सबके शरीर में स्थापित किये हैं। २. **सप्त**=ये सात ऋषि **सदम्**=इस तेतीस देवों के निवासस्थान को **अप्रमादम्**=बिना किसी प्रकार के प्रमाद के **रक्षन्ति**=रक्षित करते हैं। जब तक ये ज्ञानेन्द्रियाँ, मन व बुद्धिरूप ऋषि ठीक कार्य करते हैं तब तक नाश का भय नहीं होता। ३. इन सातों ऋषियों से ज्ञान के प्रवाह निरन्तर चलते हैं। इन ज्ञानप्रवाहों के चलने से ही इन्हें 'आपः' नाम से यहाँ स्मरण किया गया है। जैसे जल बहता है, उसी प्रकार इनसे ज्ञान के प्रवाह चलते हैं, वृत्तियाँ

इधर-उधर फैलती हैं, परन्तु जिस समय जीवात्मा, इन्द्रियों का अधिष्ठाता 'इन्द्र'-देव मस्तिष्करूप कार्यालय को छोड़कर हृदयरूप घर में जाता है ('स्वम् अपि इतो भवति'=अपने घर की ओर गया होता है=स्वपिति) तब **स्वपतः**=हृदयरूप घर की ओर जाते हुए इन्द्र के **लोकम्** =स्थान व दर्शन को (लोक्=to look) **सप्त आपः**=ये सात इन्द्रियवृत्तियों के प्रवाह **ईयुः**=प्राप्त होते हैं। जागरितावस्था में तो ये प्रवाह बाहर की ओर चल रहे थे, अब स्वप्नावस्था में ये बाहर की ओर न जाकर उस आत्मा के ही लोक में पहुँच जाते हैं। इसलिए स्वप्न में कई बार हमें आत्मा का आभास होता प्रतीत होता है। इसी आभास को दृढ़ता से पकड़ लेने के लिए योगदर्शन के **'स्वप्नज्ञानालम्बनं वा'** इस सूत्र में कहा गया है। ४. **तत्र**=उस स्वप्नावस्था में भी **अस्वप्नजौ**=(स्वप्नक्=शयालु) न सोने के स्वभाववाले **देवौ**=सदा अपनी क्रीडा को स्थिर रखनेवाले, दिव्य गुणोंवाले 'प्राणापान' **सत्रसदौ**=इस जीवन-यज्ञ में सदा स्थित होनेवाले **जागृतः**=जागते रहते हैं। सब सो जाएँ, पर ये प्राणापान तो यज्ञ के रक्षक हैं, ये सोते नहीं। ये सोने लगें तो सब समाप्त न हो जाए? इससे इन प्राणापान का महत्त्व स्पष्ट है। इनकी साधना पर इसीलिए अत्यधिक बल दिया गया है। इनकी साधना करनेवाला 'कण्व'=मेधावी बनता है। यह कण्व ही मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—हम इस शरीर को ऋषि-आश्रम के रूप में देखें। इसके दिन-रात चलनेवाले ज्ञानयज्ञ का ध्यान करें और यज्ञ के रक्षक प्राणापानों की साधना को महत्त्व दें।

ऋषिः—**कण्वः**। देवता—**ब्रह्मणस्पतिः**। छन्दः—**निचृद्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

ब्रह्मणस्पति का उत्थान

उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवयन्तस्त्वेमहे।
उप प्र यन्तु मरुतः सुदानवऽइन्द्र प्राशूर्भवा सचा॥५६॥

१. हमारे जीवनों में सामान्यतः सांसारिक भावनाएँ प्रबल रूप से उठती रहती हैं। कभी काम की वासना उठ खड़ी हुई, कभी क्रोध प्रबल हो गया या लोभ ने हमें आ घेरा। इन वासनाओं के उठ खड़े होने पर दिव्य-भावनाओं का तो हमारे हृदयों से कूच हो ही जाता है। इनके जाने पर 'देव' वहाँ से चले जाते हैं, अतः 'कण्व' प्रार्थना करता है कि हे **ब्रह्मणस्पते**=ज्ञान के पति प्रभो! **उत्तिष्ठ**=हमारे हृदयों में आपका ही भावन उठे। हम आपका ही चिन्तन करें। हमें आपकी कभी विस्मृति न हो। २. जिस प्रकार राजा के आने पर अन्य अधिकृत पुरुष उसके पीछे-पीछे स्वयं आ जाते हैं उसी प्रकार उस महान् देव के आने पर अन्य देव उसके साथ आएँगे ही, अतः **देवयन्तः**=देवों को अपनाने की कामना करते हुए हम **त्वा**=आपको **ईमहे**=चाहते हैं, प्राप्त करने की कामना करते हैं। मेरे हृदय में प्रभुभावना उठ खड़ी होगी तो 'आसुर भावनाएँ लुप्त हो जाएँगी'। इतना ही नहीं, प्रत्युत सब दिव्य-भावनाएँ मेरी हृदयस्थली में अंकुरित हो उठेंगी। 'कण्व' की इस प्रार्थना पर प्रभु कहते हैं कि ३. **उपप्रयन्तु**=मेरे समीप आएँ। कौन? (क) **मरुतः**=प्राणों की साधना करनेवाले (मरुतः प्राणाः) परिमित बोलनेवाले (मितराविणः) तथा (ख) **सुदानवः**=उत्तम दान देनेवाले। वस्तुतः प्रभुभावना को जागरित करने के ये तीन साधन हैं—'प्राणसाधना, कम बोलना और दानशील बनना।' पुनः प्रभु कहते हैं कि (ग) **इन्द्र**=हे इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! तू (घ) **प्राशूः**=(प्र अश व्याप्ति) प्रकर्षेण कर्मों में व्याप्त होनेवाला हो। 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' इस आदेश को भूल नहीं। 'एवं त्वयि न अन्यथा इतः अस्ति'='यही मार्ग है, दूसरा नहीं' इस बात को भूलना नहीं और (ङ) फिर **सचाभवा**=सबके साथ मिलकर

चलनेवाला हो। तूने मोक्ष भी अकेले पाने की कामना नहीं करनी। सभी के कल्याण में अपना कल्याण समझना। इस जीवन-यात्रा में वैर-विरोध से नहीं चलना। मुझे तो तू तभी प्राप्त करेगा जब सबके साथ तेरा प्रेमभाव होगा।

भावार्थ—मेधावी पुरुष प्रभुभावना को हृदय में सदा जागरित करता है, जिससे कि हृदय देवों का निवासस्थान बने। प्रभु-प्राप्ति के उपाय इस प्रकार हैं १. प्राणसाधना करना, कम बोलना (मरुतः) २. प्रकृति में न फँसना, खूब देनेवाला बनना (सुदानवः) ३. जितेन्द्रिय बनने का प्रयत्न करना (इन्द्र) ४. सदा उत्तम कर्मों में लगे रहना (प्राशुः) ५. मिलकर चलना (सचा) **'सं गच्छध्वम्'**, इस उपदेश को क्रियान्वित करना।

ऋषिः—**कण्वः**। देवता—**ब्रह्मणस्पतिः**। छन्दः—**विराड्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

ब्रह्मणस्पति का मन्त्रोच्चारण

प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थ्यम्।
यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रोऽअर्यमा देवाऽओकांसि चक्रिरे॥५७॥

पिछले मन्त्रों में कण्व की प्रार्थना थी कि 'ब्रह्मणस्पति का मेरे हृदय में उत्थान हो, मेरे हृदय में प्रभुभावना जागरित हो'। इसपर प्रभु ने कहा था कि 'मरुत्, सुदानु, इन्द्र, प्राशू सचा' बनकर तू मेरे समीप आ। यदि हम प्रभु के आदेशानुसार ऐसे बनकर प्रभु के समीप आते हैं तो हमारे हृदयस्थ वे **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञान के पति प्रभु **नूनम्**=निश्चय से **उक्थ्यम्**=ऊँचे-ऊँचे उच्चारण के योग्य प्रशंसनीय **मन्त्रम्**=मननीय, ज्ञान से परिपूर्ण वेदवाक्यों का **प्रवदति**=खूब ही उच्चारण करते हैं। हम न सुनें तो यह हमारा दोष है, प्रभु तो उच्चारण कर ही रहे हैं। ये मन्त्र वे हैं **यस्मिन्**=जिसमें **इन्द्रः वरुणः मित्रः अर्यमा देवाः**=इन्द्र, वरुण, मित्र, अर्यया तथा अन्य सभी देव **ओकांसि**=अपने गृहों को **चक्रिरे**=बनाते है। इस मन्त्र में यह शक्ति है कि जहाँ यह मन्त्र होगा वहाँ देवों का भी निवास होगा। जहाँ हम हृदयस्थ प्रभु के मन्त्रों का ग्रहण करनेवाले बनते है, वहाँ हमारा जीवन इन देवों का निवास स्थान बन जाता है। ज्ञान की वाणियों के अध्ययन का यह परिणाम है कि मनुष्य १. **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय=इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनता है। उसकी इन्द्रियाँ विषयों में आसक्तिवाली नहीं होती। वे विषय-रस की तुच्छता को जानकर 'रसरूप' प्रभु की ओर चलनेवाली होती हैं। २. **वरुणः**=यह व्यक्ति द्वेष का निवारण करनेवाला होता है। ३. **मित्रः**=यह सबके प्रति स्नेह की वृत्ति से चलता है। ४. **अर्यमा**=(अरीन् यच्छति) यह 'काम, क्रोध व लोभ' रूप शत्रुओं का नियमन करनेवाला होता है। ५. **देवाः**=(देवो दानाद्वा दीपनाद्वा) यह दान की वृत्ति को अपनाता है, ज्ञान की दीप्ति से दीप्त होता है औरों को ज्ञान की दीप्ति से द्योतित करनेवाला होता है।

भावार्थ—हम हृदयस्थ ब्रह्मणस्पति प्रभु के उच्चरित मन्त्रों को सुनें, ज्ञानयज्ञों में प्रवृत्त हों, जिससे हमारा जीवन दिव्य गुणों की सम्पत्ति से परिपूर्ण हो, हम 'दैवी सम्पद्' को अपने में बढ़ा पाएँ।

ऋषिः—**गृत्समदः**। देवता—**ब्रह्मणस्पतिः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

गृत्समद द्वारा ब्रह्मणस्पति-स्तवन

ब्रह्मणस्पते त्वमस्य यन्ता सूक्तस्य बोधि तनयं च जिन्व।

विश्वं तद्भद्रं यदवन्ति देवा बृहद्वदेम विदथे सुवीराः॥५८॥

पिछले मन्त्र में कण्व ऋषि ब्रह्मणस्पति के मन्त्रोच्चारण को सुनकर अपने जीवन को देवों का निवासस्थान बनाता है और प्रभु-स्तवन करनेवाला 'गृत्स' तथा प्रसन्न रहनेवाला 'मद' बनता है। यह गृत्समद ब्रह्मणस्पति का निम्न प्रकार से स्तवन करता है १. हे **ब्रह्मणस्पते**=सब ज्ञान के पति प्रभो! **त्वम्**=आप **अस्य सूक्तस्य**=इस उत्तमता से (सु) उच्चारण किये गये (उक्त) मन्त्र के **यन्ता**=देनेवाले हैं (यच्छति=देता है) **बोधि**=इस मन्त्र को देकर आप हमें ज्ञान दीजिए। हमें ही नहीं, **तनयम् च**=हमारे सन्तानों को भी **जिन्व**=इस ज्ञान से प्रीणित कीजिए। इस ज्ञान के प्राप्त होने पर ही हम देवों के निवासस्थान बनेंगे और **यत्**=जब **देवाः अवन्ति**=देव किसी पुरुष की रक्षा करते हैं **तत्**=तब **विश्वम् भद्रम्**=सब कल्याण-ही-कल्याण होता है। दिव्य गुण हमारा रक्षण करते हैं, असुरवृत्तियाँ हमें अशुचि नरक में ले-जानेवाली होती हैं (पतन्ति नरकेऽशुचौ), इसलिए हम **विदथे**=ज्ञानयज्ञों **में बृहद् वदेम**=उस सदा वर्धमान ब्रह्म की चर्चा करें। इस प्रभु के चिन्तन से हम **सुवीराः**=उत्तम वीर बनें। संसार में शक्तिशाली बनकर वासनाओं के जीतनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु मुझे ज्ञान दें। मैं धन के संग्रह में न फँस जाऊँ प्रत्युत प्रभु का स्तवन करता हुआ आनन्दमय जीवन बिताऊँ।

इति चतुस्त्रिंशोऽध्यायः॥

अथ पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

—:0:—

ऋषिः—**आदित्या देवाः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**पिपीलिकामध्यागायत्री**[क], **प्राजापत्याबृहती**[र]। स्वरः—**षड्जः**[क], **मध्यमः**[र]॥

सुतावान् का लोक

[क]अपेतो यन्तु पणयोऽसुम्ना देवपीयवः। अस्य लोकः सुतावतः।
[र]द्युभिरहोभिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्ववसानमस्मै॥१॥

१. **इतः**=यहाँ से **पणयः**=केवल व्यवहार व व्यापार का ध्यान करनेवाले वणिक् वृत्ति के लोग, जिनका धन ही सब-कुछ है, वे **अपयन्तु**=दूर हों। ये लोग **असुम्ना**=(सुम्न=Hymn) प्रभु के स्तवन से रहित होते हैं, (सुम्न=Sacrifice) इनके जीवन में त्याग की वृत्ति नहीं होती। परिणामतः ये **देवपीयवः**=दिव्य गुणों की हिंसा करनेवाले होते हैं। देवत्व का मूल 'देवो दानात्' दान है, दान से पृथक् होकर ये देवत्व की समाप्ति कर डालते हैं। परिणामतः सब आनन्द व सुरक्षा (सुम्न=Joy, protection) की समाप्ति हो जाती है। यह लोक अयज्ञिय पुरुष के लिए नहीं है यह **लोकः**=लोक तो **अस्य सुतावतः**=इस यज्ञशील पुरुष का है, (सुतः=यज्ञ) उस पुरुष का है जो वणिक् वृत्ति का नहीं बनता, जो **'असुम्ना'**=प्रभु-स्तवन से दूर नहीं हो जाता, त्याग की वृत्ति को नष्ट नहीं कर देता, **देवपीयु**=दिव्यगुणों की समाप्ति कर देनेवाला नहीं हो जाता। जब लोग 'परिग्रह को छोड़कर प्रभुप्रवण, त्यागशील बनकर देवत्व की वृद्धि करते हुए यज्ञमय जीवन बनाएँगे तभी यह लोक उनके लिए समृद्ध हो पाएगा। २. **अस्मै**=इस यज्ञशील पुरुष के लिए **यमः**=वे सर्वनियन्ता प्रभु **अवसानम्**=(Residence=जगह, अवकाश) घर को **ददातु**=दें। जो घर **द्युभिः**=प्रकाशमय **अहोभिः**=दिनों तथा **अक्तुभिः**=रात्रियों से **व्यक्तम्**=विशेषरूप से कान्तिमय हो। जिस घर में दिन शास्त्रों के स्वध्याय से प्रारम्भ होने के कारण प्रकाशमय हो तथा रात्रि भी इतिहास व महापुरुषों के जीवन-चरित्रों के श्रवण से ज्योतिर्मय हो, अर्थात् प्रातः शास्त्रीय अध्ययन और सायं इतिहास-श्रवण इस घर की शोभा को बढ़ानेवाला हो।

भावार्थ—जो व्यक्ति (क) पणिवृत्ति से दूर रहते हैं, (ख) प्रभु-स्तवन को अपनाते हैं, (ग) देवत्व की वृद्धि के लिए प्रयत्नशील होते हैं, (घ) जो दिन व रात्रि को स्वाध्याय से ज्योतिर्मय बनाये रखते हैं, ये लोग उत्तमताओं का निरन्तर आदान करते हुए 'आदित्य' कहलाते है और देवत्व की वृद्धि करने से 'देव' होते हैं। ये 'आदित्या देवाः' ही इन मन्त्रों के (१ से ६ तक) ऋषि हैं। 'इनके घर कैसे हों।' इस विषय को अगले मन्त्र में देखिए—

ऋषिः—**आदित्या देवाः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

सूर्य-किरणें

सविता ते शरीरेभ्यः पृथिव्यां लोकमिच्छतु। तस्मै युज्यन्तामुस्रियाः॥२॥

'घर में सब लोग स्वस्थ हों, घर का विकास (प्रसव व उत्पत्ति) हो तथा ऐश्वर्य की कमी न हो' इसके लिए सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि घर में सूर्यकिरणों का सम्पर्क

अविच्छिन्न हो। सूर्य का नाम सविता है, यह 'षु प्रसवैश्वर्ययोः' सब प्रसव (Growth) व ऐश्वर्य का करनेवाला है। मन्त्र में कहते हैं कि **सविता**=यह सूर्य **ते**=तेरे **शरीरेभ्यः**=शरीरों के लिए **पृथिव्याम्**=इस पृथिवी पर **लोकम्**=आलोक=प्रकाश को **इच्छतु**=चाहे। **तस्मै**=उस तेरे लिए **उस्त्रियाः**=सूर्यकिरणें **युज्यन्ताम्**=युक्त हों, सदा उपयोग की वस्तु बनें (युज्=use) जिस घर में सूर्यकिरणों का प्रवेश ठीक प्रकार से होता है उस घर में रोग नहीं घुस पाते, इसलिए हमारे घर ऐसे ही बनने चाहिए जिनमें सूर्यकिरणें सदा आ सकें।

भावार्थ—'घरों में रोगों का प्रवेश न हो', इसके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि उनमें सूर्य की किरणों का प्रवेश अव्याहतरूप से हो।

ऋषिः—**आदित्या देवा वा**। देवता—**सविता**। छन्दः—**उष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**॥

वायु, सूर्य, अग्नि व गौवें

वायुः पुनातु सविता पुनात्वग्नेर्भ्राजसा सूर्यस्य वर्चसा। वि मुच्यन्तामुस्त्रियाः॥३॥

१. स्वस्थ गृहों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि **वायुः पुनातु**=वायु पवित्र करे **सविता पुनातु**=सूर्य पवित्र करे। 'वायु घरों को पवित्र करे' का अभिप्राय स्पष्ट है कि घरों में शुद्ध वायु का प्रवेश होता रहे। इसी दृष्टिकोण से वैज्ञानिक लोग गृहनिर्माणकला में वायु के आर-पार 'Cross ventilation' आ-जा सकने को महत्त्व देते हैं। **अग्नेः भ्राजसा**=अग्नि की दीप्ति से वायु हमारे घरों को पवित्र करे। घर में जब अग्निहोत्र आदि में अग्नि प्रज्वलित की जाती है तब वहाँ की वायु उष्ण होकर फैलती है और ऊपर उठती है, उसका स्थान लेने के लिए बाहर से वायु आती है और इस प्रकार वायु का प्रवाह चल पड़ता है। इस वायु में अम्लजन की मात्रा अधिक होने से यह घर स्वास्थ्यप्रद बना रहता है। अग्नि की दीप्ति रोगकृमियों के संहार में उपयोगी होती है। विशेषतया तब जब हव्य पदार्थों में उत्तमोत्तम औषध द्रव्यों का समावेश हो। उस समय तो **'मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञात यक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्'**=अग्नि में डाले गये इन हव्य पदार्थों से ज्ञात-अज्ञात सभी रोग दूर हो जाते हैं। २. **सूर्यस्य वर्चसा**= प्राणशक्ति के साथ **उस्त्रियाः**=सूर्यकिरणें **विमुच्यन्ताम्**=विशेषरूप से इन घरों में पड़ें (pour forth=विमुच्)। सूर्यकिरणों के द्वारा प्राणशक्ति का सञ्चार होता है। वनस्पतियों में भी जीवनीशक्ति के तत्त्व सूर्य-किरणों से ही रक्खे जाते हैं। सम्पूर्ण प्राणशक्ति का स्रोत ये सूर्य-किरणें ही हैं। ३. **उस्त्रिया**=शब्द का अर्थ 'गौ' भी है। सूर्य की प्राणशक्ति के उद्देश्य से (सूर्यस्य वर्चसा) ये **उस्त्रियाः**=गौवें **विमुच्यन्ताम्**=बाहर खुले में घूमने के लिए छोड़ी जाएँ। वस्तुतः उन गौवों के दूध में ही प्राणदायी तत्त्व अधिक होता है, जो गौवें खुले में सूर्य-किरणों के सम्पर्क में दिनभर रहती हैं। इन गौवों का दूध घर के लोगों को स्वास्थ्य देनेवाला होगा।

भावार्थ—हमारे घरों में वायु का प्रवाह ठीक बहे, सूर्य-किरणें हमारे घर के वातावरण को प्राणतत्त्व से परिपूर्ण करनेवाली हों, हमारे घर की गौवें प्रतिदिन सूर्य-किरणों के सम्पर्क के हेतु खूँटे से खोलकर बाहर भ्रमण के लिए भेजी जाएँ।

ऋषिः—**आदित्या देवाः**। देवता—**वायुसवितारौ**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपदेश

अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता।
गोभाजऽइत्किलासथ यत्सनवथ पूरुषम्॥४॥

दूसरे व तीसरे मन्त्र में वर्णित स्वास्थ्यप्रद घरों में निवास करते हुए हम संसार की वास्तविकता को कभी भूल न जाएँ। यह नश्वर है, परन्तु जब हम नश्वरता को भूल जाते हैं तब प्राय: हमारा जीवन विषयासक्त होकर पतन की ओर चला जाता है, अत: प्रभु कहते हैं कि १. **व:**=तुम्हारा **निषदनम्**=बैठना, रहना **अश्वत्थे**=(न श्व: तिष्ठति) कल ही न रहनेवाले, अर्थात् नश्वर संसार में है। इस संसार में तुम्हें सदा नहीं रहना। इस नश्वरता को तुम न भूलोगे तो इस शरीर में भी तुम्हें बहुत आसक्ति न होगी। इसकी रक्षा के लिए तुम औरों का घात-पात न करोगे। २. मैंने **व:**=तुम्हारा **वसति:**=निवास **पर्णे कृता**=इन पत्तों पर किया है। तुम्हें इन वनस्पतियों का ही प्रयोग करना है, मांस का नहीं। ३. तुम जिह्वा के स्वादों में न पड़कर **किल**=निश्चय से **गोभाज: इत्**=वेदवाणियों के सेवन करनेवाले ही **असथ**=होओ। तुम्हारा जीवन भोगप्रधान न बनकर ज्ञानप्रधान बने। ४. **यत्**=जिससे तुम **पूरुषम्**=उस संसार-नगरी में शयन करनेवाले पुरुष—प्रभु को **सनवथ**=प्राप्त करो। 'प्रभु को प्राप्त करना' ही मानव जीवन का वास्तविक लक्ष्य है। इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए आवश्यक है कि हमारी बुद्धि शुद्ध व सात्त्विक बने। बुद्धि की सात्त्विकता के लिए भोजन का सात्त्विक होना आवश्यक है, अत: मांसरूप राजस् व तामस् भोजन को तो छोड़ना ही होगा। हम इस भोजन के स्वाद से ऊपर उठने के लिए संसार की नश्वरता व शरीर के अस्थायित्व को भूल न जाएँ। ये न भूलनेवाले ही ठीक मार्ग पर चलते हुए, अच्छाइयों का ग्रहण करनेवाले 'आदित्य व देव' बन पाते हैं।

भावार्थ—संसार नश्वर है, मांस खाना हमें जीवन व स्वाद में आसक्त करता है, अत: इसे छोड़कर वेदवाणियों का सेवन करें और प्रभु को प्राप्त करें।

सूचना—गीता के 'छन्दांसि यस्य पर्णानि' इन शब्दों के अनुसार संसारवृक्ष के पर्ण=पत्ते छन्द=वेदमन्त्र है। उन्हीं में प्रभु ने हमारा निवास निश्चय किया है, अर्थात् हमें जीवन का खाली समय उन्हीं के अध्ययन के लिए अर्पित करना चाहिए और उनके अनुसार ही जीवन बिताना चाहिए।

ऋषि:—**आदित्या देवा वा**। देवता—**वायुसवितारौ**। छन्द:—**अनुष्टुप्**। स्वर:—**गान्धार:**।

माता की गोद में

स॒वि॒ता ते॒ शरी॑राणि मा॒तुरु॒पस्थ॒ऽआ व॑पतु। तस्मै॑ पृथिवि॒ शं भ॑व॥५॥

जब हम पिछले मन्त्र के अनुसार जीवन बिताने का प्रयत्न करते हैं तब हमारा जीवन बड़ा सुन्दर व शान्त बनता है। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **सविता**=सूर्य **ते**=तेरे **शरीराणि**='स्थूल, सूक्ष्म व कारण' सभी शरीरों को **मातु:**=इस पृथिवी माता की (भूमिमाता पुत्रोऽहं पृथिव्या:'=भूमि माता है और मैं इस पृथिवी का पुत्र हूँ—अथर्व०) **उपस्थे**=गोद में **आवपतु**=ठीक ढंग से स्थापित करे (Fit in, instill=वप्) और हे **पृथिवि**=मातृस्थानापन्न भूमे! **तस्मै**=उस सूर्य द्वारा तुझमें स्थापति पुरुष के लिए तू **शम् भव**=शान्ति देनेवाली हो। सूर्य के द्वारा रोगकृमियों का संहार होकर स्थूलशरीर नीरोग बनता है। स्वास्थ्य के ठीक होने पर मन की प्रसन्नता उत्पन्न होती है, मन की प्रसन्नता से मस्तिष्क ठीक काम करता है। इस प्रकार यह सूर्य सूक्ष्मशरीर का स्वास्थ्य देता है। आनन्दमयता की उत्पत्ति से कारणशरीर तो ठीक हो ही जाता है, स्थूल व सूक्ष्मशरीर भी अधिक स्वस्थ हो जाते हैं और उस समय हमें सच्ची शान्ति प्राप्त होती है।

भावार्थ—सूर्य-किरणों के सम्पर्क से हमारे सब शरीर प्रफुल्लित हों और हमें शान्ति

प्राप्त हो।

ऋषिः—**आदित्या देवाः**। देवता—**प्रजापतिः**। छन्दः—**उष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

रहने योग्य लोक

प्रजापतौ त्वा देवतायामुपोदके लोके निदधाम्यसौ। अप नः शोशुचदघम्॥६॥

पिछले मन्त्र में 'शान्त जीवन' का संकेत किया है। जीवन में अशान्ति के तीन बड़े-बड़े कारण हैं १. राष्ट्र में अराजकता हो, मात्स्य-न्याय चल रहा हो, 'शक्ति ही अधिकार है' Might is right इस सिद्धान्त को लेकर बलवान् निर्बल को ग्रस रहे हों। २. जहाँ हम रहते हैं उसके आस-पास आसुरवृत्ति के लोगों का निवास हो, परस्पर झगड़नेवाले लोग वहाँ रहते हों, उनका शोर सारे वातावरण को क्षुब्ध किये रक्खे। ३. तीसरी बात यह कि आस-पास पानी सुलभ न हो। अन्न तो कई दिनों के लिए संग्रह करके भी रक्खा जा सकता है, परन्तु पानी के लिए ऐसी बात नहीं है और पानी की आवश्यकता पग-पग पर बनी रहती है, यह जन्म से लय तक उपयुक्त होने से ही 'जल' कहलाया है। अशान्ति के इन तीन कारणों को दूर करना आवश्यक है, अतः मन्त्र में प्रभु कहते हैं कि **त्वा**=तुझे **लोके**=उस लोक में **निदधामि**=रखता हूँ जो ४. (क) **प्रजापतौ**=प्रजापतिवाला है, अर्थात् जिसमें प्रजा का रक्षक राजा विद्यमान है। राजा है और वह प्रजा का रक्षक है, अतः इस लोक में किसी प्रकार की अराजकता का भय नहीं। (ख) **देवतायाम्**=जो देवताओंवाला है। जिस लोक में देववृत्ति के लोग रहते हैं, ये किसी के साथ शुष्क वैर-विवाद नहीं करते, परस्पर मिलकर चलते हैं, अतः इनका प्रेम सारे वातावरण को बड़ा स्निग्ध बना देता है। (ग) **उपोदके**=जो समीप पानीवाला है। यह नदी के किनारे स्थित है, अतः पानी के अकाल का यहाँ भय नहीं है। वर्षा भी यहाँ न होती हो वह बात भी नहीं। कुओं का पानी भी बहुत गहरा न होकर समीप ही है (उप+उदक), एवं, प्रभु ने रहने योग्य लोक का तीन शब्दों में उल्लेख किया है ऐसे ही लोक की प्राप्ति के लिए प्रार्थना करते हुए मन्त्र के ऋषि 'आदित्यदेव' प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि **असौ**=(लोकः) वह लोक **नः**=हमारे **अघम्**=पापों व शोकों (Sins and griefs), को, दौर्भाग्यों (Mishap) को, अपवित्रताओं (Impurity), वासनाओं व पीड़ाओं (pains) को **अप**=दूर ले-जाकर **शोशुचत्**=(शुच=to burn, consume) अच्छी प्रकार जला दे, भस्म कर दे और इस प्रकार हमारे जीवनों को धार्मिक, प्रसादपूर्ण, सौभाग्यशाली, पवित्र, वासनाओं से ऊपर उठा हुआ और कल्याणमय बना दे।

भावार्थ—'आदित्यदेव' प्रजापतिवाले, देवताओं के पड़ौसवाले, समीप जलवाले लोक में निवास करते हैं और इस लोक में रहते हुए पापों व पीड़ा से परे हो जाते हैं।

ऋषिः—**सङ्कसुकः**। देवता—**यमः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

मृत्यु का (पर पन्थाः) उत्कृष्ट मार्ग

परं मृत्योऽअनु परेहि पन्थां यस्तेऽअन्यऽइतरो देवयानात्।
चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजाᳬरीरिषो मोत वीरान्॥७॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **मृत्यो**=यम—अपने जीवन को नियन्त्रित करनेवाले जीव! अथवा पुराने ढर्रे को छोड़कर जीवन को नवमार्ग पर ले-चलनेवाले (to turn a new leaf) जीव! बुराइयों को समाप्त करके अच्छाइयों को ग्रहण करनेवाले मृत्यो! तू **परम् पन्थाम्**

अनु=उत्कृष्ट मार्ग को लक्ष्य करके **परा इहि**=इन विषय-वासनाओं से परे होकर चल। 'कौन-से उत्कृष्ट मार्ग का लक्ष्य करके?' **यः**=जो **ते**=तेरा **इतरः देवयानात्**=देवयान से भिन्न मार्ग से **अन्यः**=भिन्न है। 'देवयान से भिन्न मार्ग से भिन्न है', अर्थात् जो तेरा देवयान मार्ग है। 'द्वौ नञ प्रकृतार्थं गमयतः'=दो 'न' मिलकर मूल अर्थ को ही बतलाते हैं। जीवात्मा को चाहिए कि वह अपने देवयानमार्ग का ध्यान करके सांसारिक विषय-वासनाओं में फँसने से बचे। जीव का वास्तविक मार्ग तो देवयान है, जब भटकता है तब अन्य मार्गों पर चला जाता है। २. प्रभु का दूसरा आदेश यह है कि हे मृत्यो! संयमी जीव! **चक्षुष्मते**=आँखोंवाले **शृण्वते**=कानों से सुननेवाले **ते**=तेरे लिए **ब्रवीमि**=मैं यह कहता हूँ कि **नः प्रजाम्**=हमारी सन्तान को **मा रीरिषः**=मत हिंसित कर **उत**=और **वीरान्**=हमारी वीर सन्तान को **मा**=मत **रीरिषः**=हिंसित करना। जब मनुष्य देवयानमार्ग को छोड़कर भोगमार्ग की ओर चलता है तब असंयम व अब्रह्मचर्य के कारण उसकी सन्तानें दीर्घजीवी नहीं होती, जीती भी हैं तो दुर्बल रहती हैं। भोगमार्ग पर चलनेवाला अपनी ही शक्तियों को क्षीण नहीं करता, वह आनेवाली सन्तान की भी हानि करनेवाला होता है और एक विचारशील पुरुष कभी भी उस मार्ग का आक्रमण न करेगा जो न उसके अपने हित में है और न ही आगे आनेवाली पीढ़ियों के। ३. मनुष्य को यह भी भ्रम न होना चाहिए कि सन्तान उसी के तो हैं। प्रभु स्पष्ट कह रहे हैं कि ये सब आनेवाले व्यक्ति प्रभु के पुत्र हैं, मनुष्य तो उन्हें जन्म देने का माध्यम मात्र है। मनुष्य क्षणिक भोगवृत्ति के कारण अपना ही नहीं आनेवाली सन्तान की भी कितनी हानि करता है। प्रभु कहते हैं कि तू तो 'चक्षुष्मान्' है, क्या इतना भी तुझे नहीं दिखता कि यह भोगवृत्ति कितनी हेय है? तू तो शृण्वन् है, तुझे क्या मेरी बात सुनाई नहीं पड़ती, इसीलिए तू निश्चय कर कि 'देवयान से इतर मार्ग पर नहीं चलना'। तभी तू दीर्घजीवी, अदुर्बलेन्द्रिय सन्तान को जन्म देनेवाला होगा। ४. इस प्रकार देवयानमार्ग से चलनेवाला यह व्यक्ति उत्तम गतिवाला होने से 'संकसुक' है। (कस् to go, to move सम्=सम्यक्)। इस उत्तम मार्ग से चलता हुआ यह उस प्रभु तक पहुँचता है। (कस् to approach)। यदि वह शब्द 'संकुसुक' हो तो अर्थ होगा 'यह प्रभु का आलिंगन करनेवाला बनता है' (कुस to embrace)।

भावार्थ—हम जीवन के मार्ग को उत्तम करें, देवयान मार्ग से चलें। सन्तानों को प्रभु की सन्तानें समझते हुए उत्तम बनाने का प्रयत्न करें। हमारे असंयम से वे नष्ट न हों।

ऋषिः—**आदित्या देवा वा**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

आधिदैविक शान्ति

शं वातः शꣳहि ते घृणिः शं ते भवन्त्विष्टकाः।
शं ते भवन्त्वग्नयः पार्थिवासो मा त्वाभि शूशुचन्॥८॥

गतमन्त्र के अनुसार जब मनुष्य देवयानमार्ग पर चलता है तब उसे किसी प्रकार की आधिदैविक आपत्ति प्राप्त नहीं होती। उसके लिए सब प्राकृतिक देव अनुकूल होते हैं। इस विषय को आठवें व नौवें मन्त्र में इस प्रकार कहते हैं कि १. **वातः शम्**=वायु तेरे लिए शान्ति देनेवाली हो। २. **घृणिः**=(घृ=दीप्ति, A ray of light, sunshine, the sun) सूर्यकिरणें, धूप तथा स्वयं सूर्य **ते**=तेरे लिए **हि**=निश्चयपूर्वक **शम्**=शान्ति देनेवाला हो। ३. **घृणिः**=(A wave, water) जलधाराएँ तथा जल तेरे लिए शान्तिदायक हों। ४. **इष्टकाः**=यज्ञवेदी में चयन की गई ईंटें अथवा दिन तथा रात्रि (अहोरात्राणि वा इष्टकाः —श० ९।१।२।१९) **ते**=

तेरे लिए **शं भवन्तु**=शान्ति देनेवाले हों। ५. **ते**=तेरे लिए **पार्थिवासः अग्नयः**=ये पृथिवीलोक की अग्नियाँ **शम् भवन्तु**=शान्ति देनेवाली हों। यहाँ 'अग्नयः' यह बहुवचन पृथिवी के ग्यारह देवों का ध्यान करके रखा गया है। अग्नि इनका मुखिया है, अतः सभी को 'अग्नि' कह दिया है। ६. ये सबके सब **त्वा**=तुझे **मा**=मत **अभिशूशुचन्**=शोकयुक्त करनेवाले हों।

भावार्थ—हम सातवें मन्त्र के अनुसार मन को मार लेने-(पूर्णरूप से काबू कर लेने)-वाले मृत्यु बनेंगे और देवयानमार्ग को अपनाएँगे तो सब देव हमारे लिए शान्तिकर होंगे।

ऋषिः—**आदित्या देवाः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**विराड्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

दिशाओं की सामर्थ्यप्रदता

कल्पन्तां ते दिशस्तुभ्यमापः शिवतमास्तुभ्यं भवन्तु सिन्धवः।
अन्तरिक्षꣳशिवं तुभ्यं कल्पन्तां ते दिशः सर्वाः॥९॥

१. **ते**=तेरे लिए **दिशः**=पूर्वादि दिशाएँ **कल्पन्ताम्**=सामर्थ्य देनेवाली हों (कृपू सामर्थ्ये) २. **तुभ्यम्**=तेरे लिए **आपः**=जल **शिवतमाः**=अत्यन्त कल्याणकर हों। ३. **तुभ्यम्**=तेरे लिए **सिन्धवः**=नदियाँ व समुद्र **शिवतमाः भवन्तु**=कल्याणकर हों। ४. **अन्तरिक्षम्**=द्यावापृथिवी का मध्यवर्ती सम्पूर्ण लोक **तुभ्यम्**=तेरे लिए **शिवम्**=कल्याणकर हो। ५. और अन्त में **ते**=तेरे लिए **सर्वाः दिशः**=ईशानादि सब विदिशाएँ **कल्पन्ताम्**=सामर्थ्य देनेवाली हों। इस प्रकार देवयानमार्ग पर चलनेवाले देवत्व का आदान करते हुए 'आदित्य' कहलाते हैं। ये धीमे-धीमे 'देव' ही बन जाते हैं। अथवा देवमाता 'अदिति' है, इसके पुत्र बनने से ये 'आदित्यदेव' कहलाने लगते हैं। इनके लिए सब दिशा-विदिशाएँ, जल, समुद्र और अन्तरिक्ष शान्ति देनेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम धर्माचरण करेंगे तो आधिदैविक आपत्तियों से बचे रहेंगे।

ऋषिः—**सुचीकः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

अश्मन्वती नदी का सन्तरण

अश्मन्वती रीयते सꣳरभध्वमुत्तिष्ठत प्र तरता सखायः।
अत्रा जहीमोऽशिवा येऽअसञ्छिवान्वयमुत्तरेमाभि वाजान्॥१०॥

१. यह संसार एक नदी के समान है, जिसमें नानाविध प्रलोभन नुकीले पत्थरों के समान है। यह **अश्मन्वती**=प्रलोभनमय पाषाणोंवाली संसार-नदी **रीयते**=तीव्र गति से चल रही है। इसको हमें पार करना है, इस संसार-नदी में डूबना नहीं है। प्रभु कहते हैं कि २. **संरभध्वम्**=सम्यक् क्रिया को प्रारम्भ करो। आलसियों की भाँति पड़े न रहो। ३. **उत्तिष्ठत**=उठ खड़े होओ। आलस्य से ऊपर उठकर प्रयत्न करो और ५. **सखायः**=सबके साथ मित्रता के भाव से वर्तते हुए **प्रतरत**=इस नदी को तैर जाओ। अकेले व्यक्ति के लिए इस नदी को तैरना कठिन है। कदम-कदम पर विषयों के नुकीले पत्थर शरीर को छलनी कर देनेवाले हैं, ज़रा फिसले कि गये। २. इस नदी को तैर जाने के लिए आवश्यक है कि **अत्र**=यहाँ ही **जहीमः**=हम उन वस्तुओं को छोड़ देते हैं **ये**=जो **अशिवाः**=अमङ्गलकारी **असन्**=हैं। बोझ को लादे तैरना सम्भव नहीं होता। बोझ उन्हीं वस्तुओं का हुआ करता है जो हमारी अङ्गभूत नहीं हैं। जो भी वस्तुएँ हमारा अङ्ग बन जाती हैं उनका भार नहीं हुआ करता। इस सिद्धान्त के अनुसार 'ज्ञान, मानस पवित्रता व प्राणशक्ति' हमारे अङ्गभूत होने से उपादेय हैं और बाह्य सम्पत्ति बाह्य होने से भारभूत है। उसका संग्रह तैरने में विघातक

होता है। उसका बोझ उतारना ही ठीक है, अतः **वयम्**=हम **शिवान्**=कल्याणकर **वजान्**=वाजों को, शक्तियों तथा धनों को **उत्तरेम**=इस नदी को तैर कर प्राप्त होंगे। अशिव को छोड़ेंगे तो शिव को प्राप्त करेंगे ही। इस किनारे को छोड़कर उस किनारे को छूनेवाला यह **'सुचीक'**=उत्तम स्पर्श करनेवाला कहलाता है। यही इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—हम उत्तम कार्यों को प्रारम्भ करें, आलस्य छोड़ उठ खड़े हों, मित्रता की भावना को अपनाकर इस अश्मन्वती नदी को तैर जाएँ। अशिव को छोड़ शिव को प्राप्त करें।

ऋषिः—**शुनःशेपः**। देवता—**आपः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

अपामार्ग

अपाघमप किल्बिषमप कृत्यामपो रपः। अपामार्ग त्वमस्मदप दुःष्वप्न्यᳪं सुव॥११॥

१. (अप=away, दूर तथा मार्ग (मृजू शुद्धौ) शोधन करनेवाला) **अपामार्ग**=हमसे पापों को दूर करके हमें शुद्ध करनेवाले हे प्रभो! **त्वम्**=आप **अघम्**=हिंसादि पापों को **अस्मत्**=हमसे **अपसुव**=दूर कीजिए। जब हम प्रभु का स्मरण करते हैं तब सभी प्राणियों के प्रभु-सन्तान होने की कल्पना से विश्वबन्धुत्व की भावना जागती है और हम हिंसा की वृत्ति से ऊपर उठते हैं। २. हे प्रभो! **किल्बिषम्**=उस मन की मलिनता को जो हमें विषय-वासनाओं में ही क्रीड़ा कराती रहती है **अप**=हमसे दूर कीजिए। प्रभु-स्मरण से मन से वासना भाग ही जाती है और मन विषयप्रवण नहीं रहता। ३. **कृत्याम्**=औरों को हानि पहुँचाने के उद्देश्य से जो जादू-टोना आदि दुष्ट क्रियाएँ हैं, उन्हें **अप**=हमसे दूर कीजिए। प्रभु-भावन हमारे हृदयों को पवित्र करता है, अतः हृदय में ईर्ष्या-द्वेष नहीं रहते और उनकी परिणामभूत कृत्याएँ भी समाप्त हो जाती हैं। ४. **उ**=और **रपः**=जो भाषण-सम्बन्धी दोष हैं, उन कटु भाषणादि को **अप**=हमसे दूर कीजिए। प्रभु-स्मरण से भ्रातृभाव का उदय होता है, कटुभाषण का प्रसङ्ग ही नहीं रहता। ५. हे अपामार्ग प्रभो! **अस्मत्**=हमसे **दुःष्वप्न्यम्**=अशुभ स्वप्नों की कारणभूत सब बुराइयों को **अपसुव**=दूर कीजिए। सब पापों को दूर करके जीवन में सुख का निर्माण करनेवाला **शुनःशेप**=(शुनम्=सुखम्, शेप=to make) प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है। यह 'अपामार्ग' ओषधि के प्रयोग को समझकर जिस प्रकार शरीर को नीरोग बनाता है, उसी प्रकार उस **अपामार्ग**=प्रभु के स्मरण से यह अपने मन को निर्दोष बनाता है।

भावार्थ—प्रभु अपामार्ग हैं, वे हमारे अघों, किल्बिषों, कृत्याओं और रपस् को हमसे दूर करते हैं। संक्षेप में बुरे स्वप्नों की कारणभूत सब बातों को वे प्रभु हमसे दूर करते हैं।

ऋषिः—**आदित्या देवाः**। देवता—**आपः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

सुमित्रिय आप् और ओषधियाँ

सुमित्रिया नऽआपऽओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु
योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः॥१२॥

छठे मन्त्र में उत्कृष्ट मार्ग पर चलने का उल्लेख था और परिणामतः आधिदैविक कष्टों के न होने का वर्णन आठवें व नववें मन्त्र में था। ग्यारहवें मन्त्र में पापों को दूर करने का उल्लेख करके इस बारहवें मन्त्र में कहते हैं कि **नः**=हमारे लिए, जिन हम लोगों ने 'अघ, किल्बिष, कृत्या व रपस्' को दूर करने का निश्चय किया है, **आपः**=जल और

ओषधयः=ओषधियाँ **सुमित्रयाः सन्तु**=उत्तम स्नेह करनेवाली हों (ञिमिदा स्नेहने), अर्थात् हमारे लिए हितकारी हों। ये जल व ओषधियाँ हमारे रोगों को दूर करके मृत्यु से बचानेवाली हों (प्रमीतेः त्रायते) **तस्मै**=उस व्यक्ति के लिए ये जल व ओषधियाँ **दुर्मित्रियाः सन्तु**=दुर्मित्रिय हों **यः**=जो **अस्मान्**=हम सबसे **द्वेष्टि**=द्वेष करता है **यं च**=और परिणामतः जिसको **वयम्**=हम सब **द्विष्मः**=प्रीति के योग्य नहीं समझते। यदि कोई व्यक्ति ऐसा है जो सारे समाज से सदा वैर-विरोध करता रहता है, समझाने से भी समझता नहीं तो वह फिर अवाञ्छनीय हो जाता है। ऐसे व्यक्ति के लिए ये जल व ओषधियाँ हितकर न हों। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से यह बात है भी ठीक। जो व्यक्ति सदा ईर्ष्या-द्वेष व लड़ाई-झगड़े में चलता है उसकी इस मनोवृत्ति के परिणामस्वरूप कुछ विष उत्पन्न हो जाते हैं जो इन जलों व ओषधियों का परिणाम हितकर नहीं होने देते।

जो व्यक्ति सब स्थानों से अच्छाई को ही लेने का अभ्यास करते हैं और इस प्रकार देववृत्तिवाले होते हैं वे 'आदित्यदेव' ही प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि हैं, इनका मन ईर्ष्या-द्वेषादि से सदा ऊपर रहता है। इस मनःप्रसाद के कारण इनके खान-पान का इनके जीवन में उत्तम प्रभाव होता है। सर्पवृत्ति के कुटिल व औरों का घात-पात करनेवाले लोग दुग्धामृत भी पीएँ तो उसका परिपाक विष के रूप में होता है।

भावार्थ—पापों को दूर करके हम देवों के प्रिय हों, जलौषधि हमारे लिए हितकर हों।

ऋषिः—**आदित्या देवाः**। देवता—**कृषीवलाः**। छन्दः—**स्वराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

'वह अनड्वान्'

अनड्वाहमन्वारभामहे सौरभेयथंस्वस्तये।
स नऽइन्द्रऽइव देवेभ्यो वह्निः सन्तारणो भव॥१३॥

दसवें मन्त्र में 'अश्मन्वती नदी' के तैरने का उल्लेख था। उसी सन्तरण के लिए प्रभु से शक्तियोग का निश्चय करते हैं कि **अनड्वाहम्**=इस संसार-शकट (अन=गाड़ी) के वहन (वाह) करनेवाले प्रभु को **आरभामहे**=अपना आधार (to rely on) बनाते हैं, उनपर अपनी जीवन-यात्रा की सफलता के लिए पूर्ण आस्था (to reach or attain to) रखते हैं। उस प्रभु को प्राप्त करने के लिए (to seize, to grasp) पूर्ण प्रयत्न करते हैं। उस प्रभु को समझने के लिए कोई कमी उठा नहीं रखते। वे प्रभु **सौरभेयम्**=सुरभियों में उत्तम हैं, हमारे जीवन को सुगन्धित कर देते हैं। प्रभु का आश्रय करने पर हमारे जीवन पवित्र हो जाते हैं, उनमें पापमय कर्मों की दुर्गन्धि नहीं रहती। ऐसा हम **स्वस्तये**=उत्तम जीवन की स्थिति के लिए करते हैं (सु+अस्)। वे प्रभु 'वह्नि' हैं, हमारी जीवन-यात्रा को पूरा करनेवाले हैं। हमें लक्ष्यस्थान पर ले-जाते हैं (वह्नि to carry)। हे प्रभो! आप हमारे लिए **सन्तारणः**=इस संसार-नदी को तैरने के साधन **भव**=होओ, **इव**=उसी प्रकार जैसेकि **इन्द्रः**=देवराट् **देवेभ्यः**=देवताओं के लिए सन्तरण हुआ करता है। इस शरीर में 'इन्द्र' आत्मा है और सब इन्द्रियाँ 'देव' हैं। जब इन्द्र इन देवों पर आक्रमण करनेवाले असुरों का संहार करता है तब देव, अर्थात् इन्द्रियाँ सब मलिनताओं को पार कर जाती हैं। मलिनताओं से ऊपर उठकर देव चमक उठते हैं। इसी प्रकार प्रभु का आश्रय करने पर जीव चमक उठता है। प्रभु का आश्रय करनेवाले ये लोग अच्छाइयों का ग्रहण करने के कारण 'आदित्य' होते हैं, दिव्य गुणोंवाले होने से 'देव' होते हैं। वे देव उस प्रभु को ही **'अनड्वान्'**=संसार-शकट का सञ्चालक समझते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु को ही जीवन-सञ्चालक जानें। वे हमारे जीवन को पवित्र बनाएँगे, वे हमें इस संसार-नदी को तैरने के योग्य करेंगे।

ऋषिः—**आदित्या देवाः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

उत्तम ज्योति को प्राप्त करना

उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्तऽउत्तरम्। देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥१४॥

१. गत मन्त्र के 'आदित्यदेव' निश्चय करते हैं कि **वयम्**=हम **उत्**=इस उत्कृष्ट व सुन्दर, अत्यन्त आकर्षक **तमसः**=पूर्ण अन्धकारमय प्रकृति से **परि**=परे **उत्तरम्**=प्रकृति के साथ तुलना में अधिक उत्कृष्ट, क्योंकि प्रकृति तो जड़ है और यह जीवात्मा चेतन है, **स्वः**=ज्ञान के प्रकाश से युक्त आत्मस्वरूप को **पश्यन्तः**=देखते हुए **देवत्रा देवम्**=देवों के भी देव, वस्तुतः सब देवों के प्रकाशक **उत्तमम्**=सर्वोत्कृष्ट **ज्योतिः**=प्रकाशरूप उस **सूर्यम्**=सबके प्रेरक प्रभु को (सुवति कर्मणि) **अगन्म**=प्राप्त होते हैं। २. प्रस्तुत मन्त्र में प्रकृति, जीव व परमात्मा का उल्लेख 'उत्, उत्तर व उत्तम' शब्द से हुआ है। प्रकृति **उत्**=उत्कृष्ट है। जीव की उन्नति के लिए प्रत्येक साधन उसमें निहित है। ३. हाँ, जीव उससे अधिक उत्कृष्ट है चूँकि प्रकृति जीव के हित के लिए ही है और प्रकृति जहाँ पूर्ण जड़ है वहाँ जीव चेतन है, अतः यह 'उत्तर' है। ४. परमात्मा जीव से भी उत्तम है चूँकि जीव का ज्ञान जहाँ अल्प है प्रभु का ज्ञान पूर्ण है। ज्ञान की चरमसीमा ही तो प्रभु हैं **'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्'** (योगदर्शन)=जहाँ ज्ञान के तारतम्य की विश्रान्ति होती है वही तो प्रभु हैं। ये देवों के भी देव हैं, सूर्यादि के भी ये ही प्रकाशक हैं। वे गुरुओं के भी गुरु हैं **'स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'**। ये प्रभु सारे संसार के सञ्चालक तो हैं ही, हृदयस्थरूपेण जीवों को भी ये कर्म की प्रेरणा दे रहे हैं, अतः सूर्य हैं।

भावार्थ—हम 'उत्, उत्तर व उत्तम' शब्दों से व्यक्त होनेवाले प्रकृति, जीव व परमात्मा के रूप को समझें।

ऋषिः—**सङ्कुसुकः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

प्रेरणा-पञ्चक—पाँच प्रेरणाएँ

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरोऽअर्थमेतम्।
शतं जीवन्तु शरदः पुरूचीरन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेन॥१५॥

पिछले मन्त्र की समाप्ति इन शब्दों पर थी कि हम उत्तम ज्योति परमात्मा को प्राप्त करते हैं, जो प्रभु 'सूर्य' हैं, हमें कर्मों में प्रेरित कर रहे हैं। इस प्रेरणा का स्वरूप प्रस्तुत मन्त्र में दिया गया है। १. **जीवेभ्यः**=जीवों के लिए **इमम् परिधिम्**=इस परिधि को, मर्यादा को **दधामि**=धारण करता हूँ। जीव को सर्वप्रथम तो यह चाहिए कि वह मर्यादा में चले। उसका प्रत्येक कार्य सीमा में हो। २. दूसरी प्रेरणा प्रभु की यह है कि **एषाम्**=इन जीवों के **एतम् अर्थम्**=इस धन को, उपार्जित सम्पत्ति को **अपरः**=दूसरा व्यक्ति **मा नु गात्**=निश्चय से न प्राप्त करे, अर्थात् सब कोई अपने पुरुषार्थ से ही धनार्जन का विचार करे। ३. प्रेरणा का तीसरा अंश यह है कि जीव **शरदः शतम्**=सौ वर्षपर्यन्त **जीवन्तु**=जीएँ। सौ वर्ष तक जीने को भी वह अपना धर्म समझें। दीर्घजीवन के दृष्टिकोण से उनका आहर-विहार हो। ४. इस जीवन में प्रजाएँ **पुरूचीः** (पुरु अञ्च्)=पालन व पूरणात्मक गतिवाले होते हुए प्रभु की पूजा करनेवाले हों (पृ पालनपूरणयोः, अञ्चु गतिपूजनयोः) प्रभु-पूजा वस्तुतः यही है

कि हमारे कर्म पालन व पूरण करनेवाले हों, विनाश व ह्रास का कारण न बनें। ५. ये जीव **पर्वतेन** (पर्व पूरणे)=इस पूरण के हेतु से, कमियों को न आने देने की लिए, **अन्तः**=अपने हृदयों में **मृत्युम्**=उस सर्वत्र यन्ता यमरूप प्रभु को **दधताम्**= धारण करें। रुद्ररूप में उस प्रभु का स्मरण हमारे जीवनों में न्यूनताओं को नहीं आने देता। यह 'मृत्यु' का स्मरण हमारी जीवन की गाड़ी को पथभ्रष्ट नहीं होने देता, हम प्रकृति में नहीं फँसते। बस, इस प्रकृति में न फँसने के कारण ही हम उत्तम गतिवाले होते हैं (सम्=उत्तम, कसु गतौ) अन्त में हम प्रभु को प्राप्त करते हैं (कस् to approach), इसीलिए हमारा नाम 'सङ्कसुक' हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु की प्रेरणा इस रूप में है कि १. मर्यादा में चलो, २. पुरुषार्थ से कमाओ, ३. सौ वर्ष अवश्य जीना है, ४. तुम्हारी प्रत्येक क्रिया पालन व पूरणवाली हो, ५. पूरण के दृष्टिकोण से ही प्रभु के 'रुद्र' रूप को हृदयस्थ करना, मृत्यु को नहीं भूलना।

ऋषिः—**आदित्या देवाः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

'आदित्यदेवों' की प्रार्थना

अग्नऽआयूंषि पवसऽआ सुवोर्जमिषं च नः।
आरे बाधस्व दुच्छुनाम्॥१६॥

गत मन्त्र का अन्तिम वाक्य था कि 'अपनी उत्तमता व दिव्यता के पूरण के हेतु से रुद्र प्रभु को हृदयों में धारण करो।' वे हृदयस्थ प्रभु सुननेवाले को जो प्रेरणा देते हैं उसका वर्णन गत मन्त्र में विस्तार से है। प्रस्तुत मन्त्र मे दिव्यता का आदाता 'आदित्यदेव' जीव प्रभु से प्रार्थना करता है कि १. हे **अग्ने**=हमारी सब बुराइयों को भस्म करनेवाले अग्निदेव! आप ही हमारे **आयूंषि**=जीवनों को **पवसे**=पवित्र बनाते हैं। काम-क्रोधादि आसुर वृत्तियों से युद्ध में जीतने का सामर्थ्य हममें नहीं है। यह तो आपकी शक्ति से ही होगा। २. **नः**=हमें **इषम्**=प्रेरणा को **ऊर्जम् च**=और उस प्रेरणा को क्रियान्वित करने के लिए प्राणशक्ति को **आसुव**=प्राप्त कराइए। जीवनों को पवित्र करने के लिए यही मार्ग है कि हम प्रेरणा को सुनें और उस प्रेरणा को क्रियान्वित करने की शक्ति हममें हो। ३. हे प्रभो! **दुच्छुनाम्** (शुन गतौ)=सब दुर्गमनों, दुरितों को **आरे**=हमसे दूर **बाधस्व**=रोक दीजिए। हे प्रभो! यह सब आपने ही करना है, हमारी शक्ति से यह साध्य नहीं।

भावार्थ—हमारे जीवन पवित्र हों, हमें प्रेरणा व शक्ति प्राप्त हो, दुरित हमसे दूर रहें।

ऋषिः—**वैखानसः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

सुन्दर प्रेरणाएँ

आयुष्मानग्ने हविषा वृधानो घृतप्रतीको घृतयोनिरेधि।
घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यं पितेव पुत्रमभि रक्षतादिमान्त्स्वाहा॥१७॥

गत मन्त्र में अच्छाई का आदान करने की वृत्तिवाले 'आदित्यदेव' ने प्रभु से कहा था कि 'मुझसे दुरित को दूर रोक दीजिए'। इन शब्दों में वस्तुतः उसने यही निश्चय किया था कि मैं इन सब बुराइयों का विशेषरूप से समूल उत्खात (जड़ से उखाड़ देनेवाला) कर देनेवाला बनूँगा। इसी से उसका नाम **'वैखानस'**='विशिष्ट खनन करनेवाला' हो गया है, यही मन्त्र का ऋषि है। इससे प्रभु कहते हैं कि १. हे **अग्ने!**=बुराइयों को भस्म करनेवाले जीव! **आयुष्मान्**=तू उत्तम जीवनवाला बन, उत्तम जीवन वही है जो मलों से रहित है।

शरीर के मल 'रोग' हैं, मन के मल 'राग-द्वेष' हैं, बुद्धि का मल 'कुण्ठा' (dullness) है, अतः तू रोगों, द्वेषों व कुण्ठा से दूर होकर अपने जीवन की उत्तमता को सिद्ध कर। २. **हविषा**=(हु दान+अदन) दानपूर्वक अदन करता हुआ तू **वृधानः**=वृद्धि के स्वभाववाला बन। दानपूर्वक अदन ही हवन व यज्ञ है। यही तेरे फूलने-फलने का मौलिक रहस्य है। ३. **घृतप्रतीकः**=ज्ञान की दीप्ति से दीप्त मुखवाला तू हो। (घृ दीप्तौ) तेरे चेहरे पर अन्तःस्थ ब्रह्मज्ञान की आभा दिखे, तू ब्रह्मवर्चस्वी लगे। ४. **घृतयोनिः**=(घृ क्षरणे) मलों के उत्तम क्षरणवाले घर-(योनि)-वाला **एधि**=तू हो। तेरे इस शरीररूप गृह में मलों का सञ्चय न हो जाए। मलों का क्षरण इसमें से ठीकरूप में होता रहे। ५. 'घृतप्रतीक' व 'घृतयोनि'=ज्ञानदीप्त मुखवाला तथा स्वस्थ शरीरवाला बनने के लिए तू **मधु**=अत्यन्त मधुर व ओषधियों के सारभूतम् **चारु**=सुन्दर **गव्यम् घृतम्**=गोदुग्ध से आज ही निकाले गये घृत को **पीत्वा**=पीकर **इमान्** =इन दिव्य गुणों को (आयुष्मत्ता, यज्ञ द्वारा वृद्धि, ज्ञानदीप्ति व शारीरिक स्वास्थ्य को) **अभिरक्षतात्**=अपने में उसी प्रकार सुरक्षित करनेवाला बन **इव**=जैसे **पिता**=पिता **पुत्रम्**=पुत्र को। जैसे पिता पुत्र की रक्षा करता है, तू इन दिव्य गुणों की अपने में रक्षा कर।

भावार्थ—मलों को भस्म करके हम उत्तम जीवनवाले बनें, यज्ञ के द्वारा वृद्धि करके ज्ञान दीप्त हों, शरीर स्वस्थ हो। गोघृत का प्रयोग करनेवाला तू बन। दिव्य गुणों की अपने में तू रक्षा कर।

ऋषिः—**भरद्वाजः शिरिम्बिठः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

अधर्षणा—अजेयता

परी॒मे गाम॑नेषत॒ पर्य॒ग्निम॑हृषत। दे॒वेष्व॑क्रत॒ श्रवः॒ क॑ऽइ॒माँ२॥ऽआ द॑धर्षति ॥१८॥

पिछले मन्त्र का वैखानस=काम-क्रोधादि को उखाड़कर शक्तिशाली बना है, अतः 'भरद्वाज' है। इसका (हृदयान्तरिक्ष) शिरि=वासनाओं को शीर्ण करनेवाला हुआ है, अतः यह 'शिरिम्बिठ भरद्वाज' नामवाला ऋषि है। १. **इमे**=ये ऋषि वे हैं जिन्होंने कि **गाम्**=वेदवाणी का **परि अनेषत**=परिणय किया है, वेदवाणी के साथ विवाह किया है। २. **अग्निम्**=अग्नि को **परि अहृषत**=सब ओर से धारण किया है (हृ=to have, to possess), अर्थात् अग्निहोत्र की अग्नि को इन्होंने अपने घर में बुझने नहीं दिया है। इन्होंने ज्ञान की वाणियों के सतत अध्ययन से जहाँ अपने मस्तिष्क को ज्ञान से परिपूर्ण किया, वहाँ इनके हाथ सदा अग्निहोत्र आदि यज्ञों में लगे रहे हैं ३. इस प्रकार इन्होंने **देवेषु**=देवों में **श्रवः**=यश को **अक्रत**=सम्पादित किया है, अर्थात् इनके हृदय दिव्य गुणों से परिपूर्ण हुए हैं। **इमान्**=इनको **कः**=कौन **आदधर्षति**=धर्षित कर सकता है (धृष्=Dare to attack, challenge, defy)। इन व्यक्तियों को कोई वासना आक्रान्त नहीं कर पाती। दूसरे शब्दों में, वासनाओं से अपराजित होने का प्रकार यही है कि (क) मनुष्य अपने मस्तिष्क को सतत अध्ययन में व्याप्त रक्खे। (ख) उसके हाथ यज्ञादि उत्तम कार्यों में लगे रहें और (ग) वह अपने हृदय को सदा दिव्य गुणों से परिपूर्ण करने के लिए यत्नशील हो। वस्तुतः इन्हीं के कारण उसका चारों ओर यश हो। इन लोगों के 'ज्ञान' ने काम पर विजय पाई है, 'यज्ञ' ने लोभ पर (यज्ञ=दान), तथा 'दिव्यता' ने क्रोध पर। काम की चिता पर ज्ञान इनके जीवन में दीप्त हुआ है, लोभ की चिता पर यज्ञों का मन्दिर बना है, और क्रोध को भस्म कर ये दिव्य बने हैं।

भावार्थ—हम अध्ययन-व्यापृत, यज्ञशील व दिव्यता के धारण से यशस्वी बनकर वासनाओं से अपराजित बन जाएँ।

ऋषिः—**दमनः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

चार बातें

क्रव्यादमग्निं प्र हिणोमि दूरं यमराज्यं गच्छतु रिप्रवाहः।
इहैवायमितरो जातवेदा देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन्॥१९॥

१. **क्रव्यादम्**=कच्चे मांस (क्रव्य) को खानेवाले (अद) **अग्निम्**=अग्नि को **दूरम्**=दूर **प्रहिणोमि**=भेजता हूँ, अर्थात् हमारे घरों में कोई भी अपरिपक्व अवस्थावाला व्यक्ति मृत्यु का ग्रास नहीं होता। 'सस्यमिव मर्त्यः पच्यते'='सस्य की भाँति मनुष्य परिपक्व होता है' ये उपनिषद् के शब्द परिपक्व की भावना को व्यक्त कर रहे हैं। 'इसके बाल पक गये हैं' यह हिन्दी का प्रयोग भी पकने का अर्थ स्पष्ट कर देते हैं, अर्थात् हमारे घरों में पूर्ण वृद्धावस्था से पूर्व कोई भी व्यक्ति मृत्यु को प्राप्त नहीं होता। 'जरदष्टिं त्वा कृणोमि'=प्रभु ने मनुष्य को पूर्ण आयुष्य प्राप्त करनेवाला बनाया है। २. यह **रिप्रवाहः**=मलों व दोषों (रिप्र) को धारण करनेवाला (वह्) **यमराज्यम्**=यम के राज्य को **गच्छतु**=जाए। **'आचार्यो मृत्युर्वरुणः'**=इस अथर्व-वाक्य के अनुसार आचार्य ही मृत्यु व यम है। यम=आचार्य उसे बड़े नियम में रक्खेगा। बालकों में 'स्वार्थ, जिद' इत्यादि की भावना बड़ी प्रबल होती है, शिक्षणालयों में उन्हें 'औरों के साथ मिलकर चलना', 'अपने को ही सबसे महत्त्वपूर्ण न समझना' इत्यादि भावनाओं की शिक्षा मिलती है। यहीं इन गुणों का विकास होता है और ये शिक्षित व सभ्य बनते हैं। ३. जहाँ हम चञ्चल बच्चों को आर्चायकुल में भेजते हैं, वहाँ यह भी चाहते हैं कि **अयम्**=यह **इतरः**=उस चञ्चल बच्चे से भिन्न, **देवेभ्यः**=आचार्यकुल में विद्वान् उपाध्यायों से **जातवेदाः**=उत्पन्न हुए-हुए ज्ञानवाला **इह एव**=यहाँ हमारे मध्य में ही, अर्थात् आचार्यकुल से शिक्षित हो समावृत होकर घरों में आये। ४. वह **प्रजानन्**=प्रकृष्ट ज्ञानवाला ब्रह्मचारी **हव्यम्**=ग्रहण करने योग्य विज्ञान को **वहतु**=औरों तक ले-जानेवाला हो। यह लोगों में अपने प्राप्त किये हुए ज्ञान को फैलानेवाला हो।

भावार्थ—(क) हमारे घरों में कोई छोटी उम्र में न चला जाए, (ख) हमारा प्रत्येक बालक आर्चायकुल में शिक्षा प्राप्त करे (ग) विद्वान् उपाध्यायों से शिक्षित होकर वह यहाँ ही हो, अर्थात् घर का निर्माण करनेवाला हो, (घ) अपने जीवन के अन्तकाल में औरों में उस ज्ञान को फैलानेवाला बने।

ऋषिः—**आदित्या देवाः**। देवता—**जातवेदाः**। छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

वपा (चरबी) पितरों के लिए

वह वपां जातवेदः पितृभ्यो यत्रैनान्वेत्थ निहितान् पराके।
मेदसः कुल्याऽउप तान्त्स्रवन्तु सत्याऽएषामाशिषः सं नमन्ताᳬ स्वाहा॥२०॥

पिछले मन्त्र का 'दमन' एक सद्गृहस्थ बनता है। यह सद्गृहस्थ ही जीवन के अन्तकाल में आदित्य के समान ज्ञान के प्रकाश को फैलानेवाला देव=ज्ञान के प्रकाश से सभी को द्योतित करनेवाला होता है। इसके 'आदित्यदेव'='सूर्य के समान चमकनेवाला' बन सकने का रहस्य इस बात में है कि इसने आचार्यों की खूब सेवा की है। मन्त्र में कहते हैं कि हे **जातवेदः**=ज्ञान को प्राप्त करनेवाले ब्रह्मचारिन्! तू **पितृभ्यः**=ज्ञान के दान द्वारा

रक्षा करनेवाले इन पितरों के लिए **वपाम्**=अपनी चरबी को दे डाल, उनकी सेवा में तेरी चरबी ढल जाए। **यत्र**=जहाँ कहीं भी **एनान्**=इनको **पराके**=विषयों से दूर देश में **निहितान्**=स्थित हुए हुओं को **वेत्थ**=तू जानता है वहाँ भी **तान् उप**=उनके समीप तेरी **मेदसः**=चरबी की **कुल्याः**=नहरें **स्रवन्तु**=बह पड़ें, अर्थात् तू विषयों से ऊपर उठे हुए विद्वान् आचार्यों की सेवा में अपने पसीने को बहानेवाला हो। पूर्ण परिश्रम से तू उनकी सेवा करनेवाला बन। इनकी सेवा में तेरी सारी चरबी इस प्रकार ढल जाए जैसेकि बर्फ पिघलकर नदी के रूप में बह चलती है। बर्फ जल के रूप में और तेरी चरबी पसीने के रूप में होकर आचार्य-चरणों में यह स्वेद-सरित्=पसीने की नदी बहने लगे और तब **एषाम्**=इस शुश्रूषा से प्रसन्न आचार्यों के **सत्याः आशिषः**=सच्चे आशीर्वचन **संनमन्ताम्**=तेरी ओर झुकें, तुझे प्राप्त हों। इन आशीर्वादों को प्राप्त करने के लिए तू **स्वाहा**=स्व का त्याग (हा) करनेवाला हो। स्वार्थ को छोड़कर, तन, मन व धन से आचार्यों की सेवा करनेवाला बनकर ही तो तू इन आशीर्वादों को प्राप्त कर सकेगा।

भावार्थ—विषयव्यावृत्त विद्वान् आचार्यों की सेवा में श्रम से हमारी चरबी ढल जाए और हम उनके सत्य आशीर्वादों के पात्र हों।

ऋषिः—**मेधातिथिः**। देवता—**पृथिवी**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**[क], **प्राजापत्यागायत्री**[र]। स्वरः—**षड्जः**।

उत्तम घर

[क]स्योना पृथिवि नो भवानृक्षरा निवेशनी।
यच्छा नः शर्म सप्रथाः। [र]अप नः शोशुचदघम्॥२१॥

'हमारा प्रारम्भिक जीवन 'विद्वान्, व्रती आचार्यों की सेवा में, उनके चरणों में बीते' यह गतमन्त्र का विषय था। यदि यही नियम व्यापकरूप धारण कर ले, सभी बालक आचार्य- चरणों में उत्तम शिक्षा प्राप्त करें तो यह पृथिवी सचमुच हमारे लिए पूर्ण सुखकर हो जाए। इसी मार्ग से चलनेवाला और परिणामतः मेधाबुद्धि की ओर चलनेवाला 'मेधातिथि' (अत्=निरन्तर चलना) कहता है कि १. **पृथिवि**=हे अत्यन्त विस्तारवाली भूमे! **नः**=हमारे लिए **स्योना**=सुख देनेवाली हो। वस्तुतः जिस राष्ट्र में, आचार्यकुलों में विद्यार्थियों का निर्माण होता है, उस राष्ट्र में उत्तम मनुष्यों का निवास होने से राष्ट्र फूला-फला व सुखमय होता है। २. हे पृथिवि! तू **अनृक्षरा**=मनुष्यों का नाश न करनेवाली हो (अ नृ क्षरा)। लोगों का परस्पर व्यवहार इतना सुन्दर हो कि लड़ाई-झगड़ों के कारण मनुष्यों में घात-पात न होते रहें। 'नृक्षर' काँटे को भी कहते हैं। तब 'अनृक्षरा' का अर्थ होगा 'कण्टकरहित'। निवासस्थान बननेवाली भूमि कण्टकरहित होनी चाहिए। ३. यह भूमि **निवेशनी**=हमें उत्तम निवेश देनेवाली हो, अर्थात् इसपर हमारे घर बड़ी सुन्दरता से बने हों। वे निवेशवाले (Spacious), खुली जगहवाले हों। ४. **सप्रथाः**=हे विस्तारवाली भूमे! तू **नः**=हमें **शर्म**=कल्याण **यच्छ**=प्राप्त करा। यहाँ पृथिवी की विशालता का ध्यान कराने का उद्देश्य यह है कि लोग मकानों को खुला बनाएँ, गलियाँ, बाजार तंग न हों। साथ ही कई मंजिलों के मकान बनाकर सूर्यकिरणों व वायु का सहज प्रवेश न होने देना भी स्वास्थ्य के लिए हानिकर ही है। पृथिवी बड़ी विशाल है, अतः मकान आदि को खुला ही बनाना ठीक है। ५. ऐसी स्थिति होने पर **अघम्**=पाप व उसकी परिणामभूत पीड़ा **नः**=हमसे **अप**=दूर होकर **शोशुचत्**=शोक करनेवाली हो, अर्थात् उसे हमारे राष्ट्र में कहीं रहने का स्थान प्राप्त न हो।

भावार्थ—जिस राष्ट्र में लोग मेधातिथि=समझदार Sensible होते हैं, वे राष्ट्र को बड़ा सुखद बनाते हैं, उनमें परस्पर घात-पात नहीं होते रहते, उनके मकान विशाल होते हैं और खुले स्थानों में बने होते हैं। इन घरों में पाप व पीड़ा का प्रवेश नहीं होता।

ऋषिः—**आदित्या देवाः**। देवता—**पृथिवी**। छन्दः—**स्वराड्गायत्री** स्वरः—**षड्जः**।

स्वर्ग

अस्मात्त्वमधि जातोऽसि त्वदयं जायतां पुनः। असौ स्वर्गाय लोकाय स्वाहा॥२२॥

इस अध्याय की समाप्ति पर कहते हैं कि **त्वम्**=तू **अस्मात्**=इस प्रभु से **अधिजातः**=प्रादुर्भूत **असि**=हुआ है। प्रभु ने तुझे यह शरीर दिया है। उसमें उन्नति के लिए विविध इन्द्रियाँ प्रभु ने तुझे प्राप्त कराई हैं। **पुनः**=अब फिर **अयम्**=यह प्रभु **तत्**=तुझसे **जायताम्**=प्रादुर्भूत किया जाए। प्रभु से तेरा प्रादुर्भाव हुआ है, तुझसे प्रभु का प्रादुर्भाव हो। जो व्यक्ति प्रभु का अपने हृदय में प्रादुर्भाव करने का प्रयत्न करता है उसकी वृत्ति सुन्दर बनती है इसमें कोई शक नहीं है। प्रभु की अनुभूति हुई और मानव-जीवन की सब मलिनता समाप्त हुई। **असौ**=यह प्रभु-अनुभव लेनेवाला व्यक्ति **स्वर्गाय लोकाय**=स्वर्गलोक के लिए समर्थ होता है। यह अपने ऐहिक निवास को सुखमय बना पाता है। इसी उद्देश्य से यह **'स्वाहा'**=(स्व+हा) स्वार्थ का त्याग करता है। जितना-जितना स्वार्थ का त्याग करता जाता है उतना-उतना यह स्वर्गमय जीवनवाला होता जाता है। जो पुरुष परमात्मा के प्रादुर्भाव का प्रयत्न करते हैं और स्वार्थ-त्यागवाले होते हैं उनका जीवन सुखमय हो जाता है। ये स्वर्ग में निवास करनेवाले 'आदित्यदेव' कहलाते हैं, ये उत्तमता व दिव्यता का आदान करते हुए सचमुच स्वर्ग-सुख के अधिकारी होते हैं।

भावार्थ—हम अपने जीवन में प्रभु की भावना को जागरित करें, स्वार्थ-त्यागवाले हों, जिससे स्वर्ग का निर्माण कर सकें।

इति पञ्चत्रिंशोऽध्यायः॥

अथ षट्त्रिंशोऽध्यायः

—:०:—

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

चार व्रत

ऋचं वाचं प्रपद्ये मनो यजुः प्रपद्ये साम प्राणं प्रपद्ये चक्षुः श्रोत्रं प्रपद्ये। वागोजः सहौजो मयि प्राणापानौ॥१॥

१. **वाचम्**=वाणी का आश्रय करके **ऋचम्**=ऋचाओं की, ऋग्वेद की **प्रपद्ये**=शरण में जाता हूँ। वाणी को ऋग्वेद के अर्पित करता हूँ। ऋग्वेद का स्वरूप 'मण्डल' व 'सूक्त' हैं। (क) मैं अपनी वाणी को शुभ ज्ञान से मण्डित करता हूँ और (ख) वाणी से सूक्तों को ही बोलता हूँ। यदि हम यह व्रत लेते हैं तो **वाग् ओजः**=वाणी का बल प्राप्त होता है। २. **मनः**=मन का आश्रय करके **यजुः**=यजुर्वेद की शरण में **प्रपद्ये**=जाता हूँ, अर्थात् मन को यज्ञों के प्रति अर्पित करता हूँ। मन को वश में करने का उपाय इसे यज्ञों में लगाये रखना ही है। यज्ञों में लगा हुआ मन वासनाओं में नहीं फँसता। यजुर्वेद्र अध्यायात्मक है। इसे सदा स्वाध्याय में लगाये रखना चाहिए। स्व-अध्याय=अपना अध्ययन करना नकि औरों की मीन-मेख निकालते रहना। ऐसा करने पर मनुष्य को अपने पर गर्व नहीं होता तथा औरों से घृणा नहीं होती। परस्पर प्रेम बढ़कर **सह ओजः**=एकता का बल बढ़ता है। परस्पर एक होकर हम शक्तिशाली हो जाते हैं। ३. **प्राणम्**=मैं अपने प्राण, जीवन का आश्रय करके **साम**=सामवेद, उपासना वेद की **प्रपद्ये**=शरण में जाता हूँ, जीवन को उपासनामय बना देता हूँ। मैं सदा प्रभु का स्मरण करता हूँ और कार्यों में लगा रहता हूँ। इस प्रभु-स्मरणपूर्वक कार्य करने से जहाँ मेरे कार्य पवित्र होते हैं वहाँ मैं शक्ति का अनुभव करता हूँ। प्रभुशक्ति मुझमें प्रवाहित होती है और **मयि प्राणः**=मुझमें प्राणशक्ति का सञ्चार हो जाता है। ४. **श्रोत्रम्**=कान का आश्रय करके **चक्षुः**=ज्ञान अथवा ब्रह्मवेद (अर्थववेद) की शरण में जाता हूँ। अथर्ववेद हमारे दृष्टिकोण को ठीक करता है, अतः उसका नाम ही 'चक्षुः' हो गया है। श्रोत्र से इसकी शरण में जाना, अर्थात् सदा ज्ञान-श्रवण में लगे रहना ही चौथा व्रत है। इस व्रत के धारण से **मयि अपानः**=मुझमें अपान, अर्थात् दोषों को दूर करने की शक्ति होगी। ज्ञान ही दोषों का निराकरण करके जीवन को पवित्र बनानेवाला है। इन चार व्रतों का सदा ध्यान करनेवाला 'दध्यङ्' है, अपने व्रतों पर स्थिर रहने से यह 'आथर्वण' है। यह 'दध्यङ् आथर्वण' निश्चल होकर प्रभु का ध्यान भी इसीलिए करता है कि इन व्रतों का पालन कर पाये।

भावार्थ—हमारे जीवन के चार व्रत हों १. वाणी को ज्ञानप्राप्ति में लगाये रखकर इससे मधुर शब्द ही बोलेंगे २. मन को सदा उत्तम कर्मों में लगाये रखकर कभी पराये दोषों को देखने में न लगाएँगे। ३. जीवन में प्रभु को कभी विस्मृत न करेंगे। ४. श्रोत्र से सदा ज्ञान का श्रवण करेंगे।

ऋषिः—दध्यङ्ङाथर्वणः। देवता—बृहस्पतिः। छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

दोषदहन—शान्तिप्राप्ति

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु। शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः॥२॥

१. **यत्**=जो **मे**=मेरा **चक्षुषः**=आँख का, **हृदयस्य**=हृदय का **मनसो वा**=या मन का **अतितृण्णम्**=बहुत फटा हुआ (बहुत त्रुटियुक्त) **छिद्रम्**=दोष है, **बृहस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु **मे**=मेरे **तत्**=उस छेद को **दधातु**=भर दे। मेरे उस दोष को दूर करदे। 'मेरे दोष को दूर कर दे' इस प्रार्थना में कुछ स्वार्थ-सा लगता है, सभी के दोष क्यों दूर न हों—मेरे ही क्यों? परन्तु वस्तुतः यहाँ स्वार्थ नहीं है, हम दूसरों के दोषों की कल्पना ही क्यों करें। हमें तो अपने ही दोष देखने हैं। इन दोषों के दूर हो जाने पर जो कल्याण व शान्ति होगी उसकी प्राप्ति में स्वार्थ न होना चाहिए, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **भुवनस्य**=सारे संसार का **यः पतिः**=जो पालक है, वह प्रभु **नः**=हमें **शम् भवतु**=शान्ति व कल्याण का देनेवाला हो। २. पूर्वार्ध व उत्तरार्ध को मिलाकर देखा जाए तो कार्य-कारण के सिद्धान्त से स्पष्ट करते हैं कि (क) दोषों के दूर होने पर ही शान्ति होगी। (ख) दोष अपने-अपने दूर करो तभी सबका कल्याण हो सकेगा। औरों के दोष दूर करने पर ध्यान दिया तो परिणाम में अशान्ति-ही-अशान्ति होगी। वेद का यही तो सौन्दर्य है कि 'दोष अपने दूर करो, कल्याण सबका चाहो।' ३. दोष भी किसका 'आँख का, हृदय का व मन का।' यहाँ शरीर के व्याधिरूप दोष का उल्लेख नहीं हैं। (क) उसे तो एक सामान्य चिकित्सक भी दूर कर सकता है, (ख) आँख आदि का दोष न होने पर शरीर का दोष तो होगा ही नहीं। प्रभु हमारे आँख के दोष को दूर करें, मेरा दृष्टिकोण ठीक हो। ४. हृदय का दोष श्रद्धा का न होना व ग़लत श्रद्धा का होना है। श्रद्धा न होने पर तो जीवन बन ही नहीं सकता। **'यो यच्छ्रद्धः स एव सः'** जैसी श्रद्धा होती है वैसे ही हम बनते हैं। इस श्रद्धा का ठीक होना भी आवश्यक है। अन्धश्रद्धा से जीवन भी कुछ अन्ध-सा हो जाता है। ५. तीसरा मन का दोष है। यह मन अत्यन्त प्रबल है और बहकाकर प्रभु की आज्ञा तुड़वाता रहता है। इसको काबू करना अत्यन्त आवश्यक है। काबू हुआ-हुआ यह हमारे मोक्ष का कारण बनता है, और बेकाबू बन्ध का कारण होता है, अतः मन को निर्दोष रखने के लिए इसे कार्यों में लगाये रखना तथा प्रभु का चिन्तन करना ही साधन है। बुद्धि ही मनीषा है, मन की शासिका है। ६. हमारे सारे दोष दूर करेंगे बृहस्पति, ज्ञान के स्वामी प्रभु। दूसरे शब्दों में ज्ञान से ही दोषों का विनाश होगा, अतः हम निरन्तर ज्ञानवृद्धि में लगे रहें।

भावार्थ—हम सब अपने-अपने दोषों को दूर करने का ध्यान करें। यही सबके कल्याण का मार्ग है।

ऋषिः—विश्वामित्रः। देवता—सविता। छन्दः—दैवीबृहती[क], निचृद्गायत्री[र]।
स्वरः—मध्यम[क], षड्जः[र]॥

नव-जीवन

[क]भूर्भुवः स्वः। [र]तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥३॥

१. 'मानव-जीवन का उद्देश्य क्या होना चाहिए' इसका निर्देश प्रभु ने इन तीन महाव्याहृतियों द्वारा किया है (क) **भूः**=(भू सत्तायाम्) स्वास्थ्य, होना अर्थात्

'स्वस्थ' होना। 'अपने में स्थित न होना', यह बात न हो, अर्थात् 'अस्वस्थ' न हों। (ख) **भुवः**=ज्ञान (भुवो अवकल्कने, अवकल्कनम्=चिन्तनम्) ज्ञानी बनें। (ग) **स्वः**=स्वयं राजमानता, अपरतन्त्रता, अर्थात् जितेन्द्रियता। एवं, इन तीन शब्दों में मनुष्य जीवन का ध्येय इस प्रकार प्रतिपादित हुआ है कि 'शरीर के दृष्टिकोण से स्वस्थ बनो, मन व बुद्धि के दृष्टिकोण से ज्ञानी बनो तथा आत्मिक दृष्टिकोण से जितेन्द्रिय बनो। इन्द्र वही है जो इन्द्रियों का अधिष्ठाता हो। २. उल्लिखित ध्येय को प्राप्त करने के लिए हम सदा इस बात का ध्यान करें कि 'प्रभु के तेज को प्राप्त करना' ही हमारी रट हो, यही हमारा जप हो। इस तेज को प्राप्त करने के लिए मुझे अपना जीवन अधिकाधिक सुन्दर बनाना होगा, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **तत् सवितुः**=(तनु विस्तारे—तत्) उस विस्तृत, अनन्त विस्तारवाले सर्वव्यापक प्रभु के **देवस्य**=दिव्य गुणों के पुञ्ज परमात्मा के **वरेण्यम्**=वरने के योग्य श्रेष्ठ **भर्गः**=तेज का **धीमहि**=हम ध्यान करें, उसे ही अपनी आँखों के सामने रक्खें और धारण करने का प्रयत्न करें। किस प्रभु को? उस प्रभु को **यः**=जो **नः**=हमारी **धियः**=बुद्धियों को **प्रचोदयात्**=उत्कृष्ट प्रेरणा देता है। जिस व्यक्ति ने प्रभु के तेज को धारण करने का ही जप किया वह व्यक्ति सदा हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा को सुनता है। ३. यह प्रभु-प्रेरणा को सुननेवाला व्यक्ति सभी का मित्र होता है, यह 'विश्वामित्र' होता है। जिसका ध्यान प्रभु की ओर जाता है, वह सब-में प्रभु को देखता है। ४. यह मन्त्र वेदों का सारभूत मन्त्र समझा जाता है। प्रसिद्धि तो यह है कि ब्रह्मा ने वेदों का दोहन किया। ऋचाओं के दोहन से 'तत्सवितुर्वरेण्यम्' इस चरण का दोहन हुआ, यजुः मन्त्रों के दोहन का परिणाम 'भर्गो देवस्य धीमहि' है तथा साम-मन्त्रों का सार 'धियो यो नः प्रचोदयात्' निकाला।

नोट्—गायत्री मन्त्र वस्तुतः तीन प्रश्नों का उत्तर है—'क्या, क्यों, कैसे'?

प्रश्न : क्या करें? **उत्तर** : प्रभु के तेज का ही नित्य ध्यान करें।

प्रश्न : क्यों करें? **उत्तर** : देवस्य=देव और सवितु=सविता=ऐश्वर्यशाली बनने के लिए, वास्तविक ऐश्वर्य को पाने के लिए।

प्रश्न : कैसे करें? **उत्तर** : उस प्रभु से दी जा रही प्रेरणा को सुनें।

भावार्थ—हम प्रभु के तेज को अपने जीवन में धारण करें, जिससे प्रभु हमारी बुद्धियों को प्रेरित करते रहें।

ऋषिः—**वामदेवः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

वह सदा का साथी

कया॑ नश्चि॒त्रऽआ भु॑वदू॒ती स॒दावृ॑धः॒ सखा॑। कया॒ शचि॑ष्ठया वृ॒ता॥४॥

१. वे **सदावृधः**=सदा से बढ़े हुए **सखा**=जीव के मित्र **चित्रः**=अद्भुत शक्ति व ज्ञानवाले प्रभु **नः**=हमारे **ऊती**=कल्याणमय रक्षण के द्वारा **आभुवत्**=चारों ओर विद्यमान हैं। जब मैं प्रभु से आवृत हूँ, तब मुझे भय किस बात का? यह अभय प्राप्त उसी को होता है जो इस कल्याणमय रक्षण का अनुभव करता है। २. प्रभु **सदावृधः**=सदा जीव को बढ़ानेवाले हैं। 'फिर भी जीव क्यों नहीं बढ़ पाता?' इसका कारण यह है कि यह क्रोधादि से सड़ता रहता है। प्रभु तो हमें सदा बढ़ा रहे हैं, परन्तु ये द्वेष, घृणा व असन्तोष हमें पनपने नहीं देते। ३. वे **सखा**=सदा साथ रहनेवाले हैं, परन्तु मुझे इस बात का ध्यान नहीं, अतः अपने को अकेला समझ घबरा जाता हूँ। ४. वे प्रभु **चित्रः**=ज्ञान देनेवाले हैं, ज्ञान देकर ही वे सब वस्तुओं को हमारे लिए कल्याणकर बना रहे हैं। ५. वे प्रभु **कया**=कल्याणकर

शचिष्ठया=अत्यन्त शक्तिप्रद **वृता**=आवर्तन के द्वारा हमारे चारों ओर विद्यमान हैं (नः आभुवत्)। यह ऋतुओं का चक्र व दिन-रात का चक्र और इसी प्रकार अन्य सब चक्र हमारी शक्ति को बढ़ाने के लिए आवश्यक हैं। ६. इसलिए हमें यही चाहिए कि इस प्रभु के कल्याणमय आवर्तन से अपने शरीरों को सबल बनाते हुए उस प्रभु को अपने चारों ओर अनुभव करते हुए निर्भीक बनें। उस प्रभु की ज्ञानमयी रक्षा में दुर्गुणों से बचते हुए हम दिव्य गुणों का सदा अपने में समन्वय करें।

भावार्थ—मैं उस सदा के साथी, मेरी सतत वृद्धि के कारणभूत प्रभु को अपने चारों ओर अनुभव करूँ, जो प्रभु अत्यन्त शक्तिप्रद आवर्तन से मेरी रक्षा कर रहे हैं।

ऋषिः—**वामदेवः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

त्रिपुर-दहन व देव-मन्दिर-निर्माण

कस्त्वा॑ स॒त्यो मदा॑नां॒ मंहि॑ष्ठो मत्स॒दन्ध॑सः। दृ॒ळ्हा चि॑दा॒रुजे॒ वसु॥५॥

१. हे जीव! **त्वा**=तुझे **कः**=आनन्दमय **सत्यः**=सत्यस्वरूप **मदानां मंहिष्ठः**=आनन्दों के सर्वाधिक दाता (मंहतेर्दानकर्मणः) प्रभु **अन्धसः**=इस आध्यायनीय सोम के द्वारा **मत्सत्**=आनन्दित करते हैं। इस सोम को वे तुझे इसलिए भी प्राप्त कराते हैं कि **दृढाचित्**=बड़े दृढ़ भी **वसु**=लोकों को **आरुजे**=छिन्न-भिन्न करने के लिए तू समर्थ हो सके। २. वे प्रभु आनन्दमय हैं। जीव आनन्द की उपलब्धि प्रभु के सम्पर्क में ही कर पाएगा, क्योंकि प्रकृति में स्वयं आनन्द नहीं, वह हमें कहाँ से आनन्द दे पाएगी। ३. वे प्रभु सत्यस्वरूप हैं। पूर्ण सत्य प्रभु ही हैं। जीव के व्यवहार में कुछ-न-कुछ असत्य आ ही जाता है, अतः हममें परस्पर कमियों के लिए उपेक्षावृत्ति को अपनाने की क्षमता होनी ही चाहिए, औरों के दोष ही देखते रहने की वृत्ति से दूर ही रहना चाहिए। ४. प्रभु आनंद देनेवाले हैं। हम पञ्चकोशों में रहते हैं और पञ्चकोशों में आनन्द उत्तरोत्तर अधिक-और-अधिक सुन्दर हैं। स्वास्थ्य का भी एक आनन्द है तो प्राणसाधना का आनन्द उससे अधिक है। शुद्ध मन के आनन्द की तुलना में वह भी अल्प हो जाता है तो विज्ञान का आनन्द मानस आनन्द को भी अभिभूत कर लेता है। सर्वत्र एकत्वदर्शन से होनेवाला आनन्दमयकोश का आनन्द तो सर्वाधिक सत्यता को लिये हुए है। ये सब आनन्द अध्यात्म आनन्द हैं। इनके अतिरिक्त बाह्य आनन्द भी अपने स्थान में बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। प्रभु ने खाने के लिए अद्भुत कन्दमूल तथा फल उपजाये हैं, सभी में एक विचित्र स्वाद है। परस्पर मिलकर बैठने में मित्रता का आनन्द आता है। धन की भी एक गर्मी व उत्साह होता ही है। ५. इन सब आनन्दों का अनुभव जीव तभी कर पाता है जब वह अपने में उत्पन्न होनेवाले इस अन्धस् की रक्षा करता है। यह अन्धस् अन्न का सप्तम स्थान में सार होने से कितना महत्त्वपूर्ण है। अन्न का सार रस, रस का रुधिर, रुधिर का मांस, मांस का अस्थि, अस्थि का मज्जा, मज्जा का मेदस् और मेदस् का यह अन्धस्=सोम=वीर्य सार है। एवं, यह कितना अधिक आध्यायनीय है? इस सोम के शरीर में सुरक्षित होने पर ही स्वास्थ्य आदि के आनन्द का अनुभव कर पाते हैं। यही प्राणों को सबल बनाता है, मन को निर्मल और बुद्धि को तीव्र। इस सोम की रक्षा से ही अन्त में हम तीव्र बुद्धि द्वारा उस सोम (प्रभु) का दर्शन करते हैं और एकत्व के अनुभव से परम आनन्द Supreme bliss का अनुभव करते हैं। ६. इस सोम से ही हम असुरों के दृढ़ निवास-स्थानों को छिन्न-भिन्न कर पाते हैं। इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि काम के निवास-स्थान हैं। काम इन तीन स्थानों में अपने किले बनाता है और हमारा शिकार करता

है। सोम की रक्षा के द्वारा हम असुरों के इन किलों को नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं। इन किलों को तोड़कर ही देव-मन्दिर की स्थापना होती है। महादेव जी त्रिपुरारि हैं। हम भी असुरों के इन तीन पुरों को तोड़कर महादेव के समान उत्तम दिव्य गुणोंवाले 'वामदेव' बन पाएँगे। इस वामदेव का सर्वमहान् कार्य यही है कि त्रिपुर का ध्वंस करके उसके स्थान में देव-मन्दिर का निर्माण करता है।

भावार्थ—प्रभु ने हमें यह सोम दिया है, जिससे हम अपने जीवन में वास्तविक आनन्द का अनुभव कर पाएँ और इन्द्रियों, मन व बुद्धि को आसुरवृत्तियों का अधिष्ठान न बनने दें।

ऋषिः—**वामदेवः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**पादनिचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

सखा, जरिता, ऊतियुक्त

अभी षु णः सखीनामविता जरितृणाम्। शतं भवास्यूतिभिः॥६॥

हे प्रभो! आप **अभि**=दोनों ओर **सु**=उत्तमता से **नः**=हम **सखीनाम्**=समान ख्यानवाले, समान ज्ञानवाले **जरितृणाम्**=स्तोताओं का **शतम्**=सौ-के-सौ वर्षपर्यन्त **ऊतिभिः**=क्रियाओं के द्वारा **अविता**=रक्षक **भवासि**=होते हैं। १. वे प्रभु रक्षक हैं। **अभि**=अन्दर और बहार दोनों स्थानों में वे प्रभु हमारी रक्षा कर रहे हैं। मातृगर्भ में भी उन्होंने किस सुन्दरता से हमारे निर्माण व धारण की व्यवस्था की और हमारे बाहर आने पर भी उस व्यवस्था में किसी प्रकार की कमी नहीं है। पहले मातृस्तनों से दूध मिल जाता है, फिर फल-मूल, कन्दों के रूप में सब भोजन प्राप्त हो जाता है। २. इस रक्षा की व्यवस्था से उत्तम व्यवस्था की कल्पना सम्भव नहीं है। सूर्यकिरणों से समुद्र जल का अन्तरिक्ष में पहुँचना और बादलों के रूप में होकर उसका फिर से पर्वत-शिखरों पर पहुँच जाना कितना महान् चमत्कार है! इस अद्भुत कार्य के द्वारा वे प्रभु कितनी उत्तमता से हमारे प्राणों की रक्षा कर रहे हैं। दिन-रात तथा ऋतुओं के चक्र द्वारा यह रक्षा कितनी उत्तमता से हो रही है। ३. प्रभु रक्षक हैं, परन्तु किनके? (क) **सखीनाम्**=समान ख्यान व ज्ञानवालों के। जो ज्ञानी बनते हैं, प्रभु के बनाये पदार्थ उन्हीं के लिए हितकर होते हैं। बिना ज्ञान के वे पदार्थ कल्याण के स्थान में अकल्याण के हेतु हो जाते हैं। ज्ञान विष को भी अमृत बना देता है तो अज्ञान अमृत को भी विष कर देता है। (ख) **जरितृणाम्**=स्तोताओं की आप रक्षा करते हो। प्रभु का उपासक सदा जीवन के लक्ष्य को देखता है और इसी कारण उस लक्ष्य की ओर चलने से कल्याण प्राप्त करता है। लक्ष्यभ्रष्ट व्यक्ति का सारा जीवन असुरक्षित हो जाता है। (ग) प्रभु रक्षा तो करते हैं, परन्तु **ऊतिभिः**=क्रियाओं के द्वारा। यदि हम क्रियाशील होंगे तभी प्रभु की रक्षा के पात्र हो सकेंगे। अकर्मण्य व्यक्ति प्रभु की रक्षा का पात्र नहीं होता, एवं जो व्यक्ति अपने जीवन में 'ज्ञान, भक्ति व कर्म' का समन्वय करता है, वही रक्षा का पात्र होता है। प्रभु की रक्षा ज्ञानी, भक्त व कर्मशील को ही प्राप्त होती है। ४. **शतम्**=सौ-के-सौ वर्षपर्यन्त। मनुष्य ने सौ वर्षों तक जीवन का सङ्कल्प करके ही चलना है और सदा कर्ममय जीवन बिताना है। वैदिक परिभाषा में **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव ने सदा कर्ममय रहकर अपने 'शतक्रतु' नाम को सार्थक करना है। इस शतक्रतु के लिए प्रभु 'शतकृप' बने रहते हैं। सदा प्रभु की कृपा को प्राप्त करके यह अपने जीवन को पूर्ण सुरक्षित कर पाता है और आसुरवृत्तियों के आक्रमण से बचकर उत्तम दिव्य गुणोंवाला 'वामदेव' बनता है।

भावार्थ—हम ज्ञानी, भक्त व क्रियामय जीवनवाले बनकर प्रभु-रक्षा के अधिकारी बनें।

ऋषिः—दध्यङ्ङाथर्वणः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—वर्द्धमानागायत्री। स्वरः—षड्जः॥

प्रभु का प्रवेश व प्रसाद

कया त्वं नऽऊत्याभि प्र मन्दसे वृषन्। कया स्तोतृभ्यऽआभर॥७॥

१. **वृषन्**=हे शक्तिशालिन्! हे सब सुखों के वर्षक प्रभो! जो निर्बल है वह तो दूसरे का कल्याण कर ही नहीं सकता। सबल होते हुए भी जिसे हमसे प्रेम नहीं वह हमारी सहायता नहीं करता। आप सबल भी हैं, जीव के प्रिय मित्र होने से सुखों की ,वर्षा करनेवाले भी। हे वृषन् प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमें **कया ऊत्या**=(अव्=प्रवेश) कल्याणकारक प्रवेश से **अभिप्रमन्दसे**=आनन्दित व हर्षित करते हो। जैसे एक छोटा बच्चा पिताजी के घर आने पर प्रसन्न होता है, इसी प्रकार प्रभुभक्त प्रभु के हृदय में प्रवेश करने पर आह्लाद का अनुभव करता है। २. प्रभु के प्रवेश से हममें दिव्यता का पोषण होता है, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **कया** (ऊत्या)=इस आनन्ददायक प्रवेश से और इसके द्वारा दिव्यांश के दोहन से **स्तोतृभ्यः**=स्तोताओं के लिए **आभर**=दिव्यता को धारण कीजिए। आपके स्तोताओं का जीवन दिव्यता से भर जाए। स्तोता 'दध्यङ्' है, प्रभु का ध्यान करनेवाला है। यह सांसारिक विषयों के प्रति डाँवाँडोल मनोवृत्तिवाला न होने के कारण 'अथर्वण' है। यह 'दध्यङ्–आथर्वण' स्थिर मनोवृत्ति के कारण प्रकृति के पीछे नहीं भटकता, अतः प्रभु का ध्यान कर पाता है। इस ध्यान के परिणामरूप ही उसका जीवन अधिकाधिक दिव्यतावाला होता है। यह दिव्य जीवन वास्तविक प्रसाद व उल्लास को जन्म देता है।

भावार्थ—हम प्रभु के स्तोता बनें, जिससे प्रभु की दिव्यता को अपने में भरकर सदा उल्लासमय जीवनवाले हों।

ऋषिः—दध्यङ्ङाथर्वणः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—द्विपाद्विराड्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

एकशासन—विश्वशान्ति व विश्वनागरिकता

इन्द्रो विश्वस्य राजति। शन्नोऽअस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे॥८॥

१. **इन्द्रः**=वह सर्वशक्तिमान्, सब असुरों को दूर भगानेवाला प्रभु **विश्वस्य**=सारे ब्रह्माण्ड का तथा इस संसार में प्रविष्ट (विश्) सब प्राणियों का **राजति**=शासन व व्यवस्था करता है। जिस दिन हम प्रभु के अध्यात्मशासन का अनुभव करेंगे, उस दिन **नः**=हम **द्विपदे**= दो पाँवों से गति करनेवाले मनुष्यों के लिए **शम्**=शान्ति होगी तथा **चतुष्पदे शम्**=चौपयों, अर्थात् पशुओं के लिए भी शान्ति होगी। वस्तुतः इस अध्यात्मशासन में मनुष्यों के परस्पर संघर्ष का तो प्रश्न ही नहीं, पशुओं से उनका किसी प्रकार का द्वेष न होगा, अर्थात् सिंहादि पशु भी मनुष्य के साथ शान्ति से चलेंगे। वन्य न रहकर वे भी पालतू हो जाएँगे, चिड़िया घर की वस्तु हो जाएँगे। योगदर्शन का **'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः'** यह सूत्र स्थूलरूप धारण करता हुआ दृष्टिगोचर होगा, २. परन्तु इस अध्यात्मराज्य को ला वही व्यक्ति सकता है जो 'दध्यङ्'=प्रभु का ध्यान करनेवाला है, जो 'आथर्वण'=स्थिरवृत्ति का होने से सभी को समान राज्य में रहनेवाला अपना साथी समझता है।

भावार्थ—हम उस ईश के साम्राज्य का सर्वत्र अनुभव करें और सब प्राणियों के साथ शान्ति से चलने की मनोवृत्तिवाले बनें।

ऋषिः—दध्यङ्ङाथर्वणः। देवता—मित्रादयो लिङ्गोक्ताः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

साधनसप्तक

शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्यमा।
शन्नऽइन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः॥१॥

प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु को मित्रादि सात नामों से स्मरण करके शान्ति-प्राप्ति की प्रार्थना की गई है। भिन्न-भिन्न नामों से शान्ति की प्रार्थना का स्वारस्य इसमें है कि इन नामों के द्वारा शान्ति-प्राप्ति के सात साधनों का वर्णन हुआ है। १. सबसे प्रथम साधन 'मित्रः' शब्द से सूचित हो रहा है। **मित्रः नः शम्**=मित्र नामक प्रभु हमें शान्ति देनेवाले हों। वस्तुतः जब हम परस्पर मित्रभाव से चलेंगे तभी शान्ति प्राप्त होगी। स्नेह के अभाव में शान्ति का प्रश्न ही नहीं। ईर्ष्या-द्वेष हमें सदा सन्तप्त किये रहते हैं। इनसे हम जलते रहते हैं। २. **वरुणः शम्**=वरुण हमें शान्ति दे। 'वरुणो नाम वरः श्रेष्ठः'=श्रेष्ठ बनना ही शान्ति देनेवाला है। श्रेष्ठ वह है जो न दबता है, न दबाता है, न खुशामद करता है, न कराता है। कभी बदले की भावना से आन्दोलित नहीं होता। ३. **अर्यमा नः शम् भवतु**=अर्यमा हमें शान्ति दे। 'आर्यमेति तमाहुर्यो ददाति'=अर्यमा देनेवाला है। प्रभु निरपेक्ष (Absolute) अर्यमा है। हम भी देने की वृत्तिवाले बनें, हमारे जीवनों में भी शान्ति होगी। दान हमें धन के बन्धन से ऊपर उठा शान्ति प्राप्त कराता है। ४. **इन्द्रः नः शम्**=इन्द्र नामक प्रभु हमें शान्ति दे। इन्द्र बनकर हम भी शान्ति-लाभ कर सकेंगे। इन्द्र असुरों का संहार करनेवाला है। आसुरवृत्तियों का संहार करके ही हम शान्ति का अनुभव कर सकते हैं। इन्द्र वह है जो इन्द्रियों का अधिष्ठाता है। यही शान्त होता है, इन्द्रियों का गुलाम वासना-समुद्र में डूब जाता है। ५. **बृहस्पतिः नः शम्**=बृहस्पति हमें शान्ति दे। बृहस्पति 'ब्रह्मणस्पति' है, वेदज्ञान का स्वामी है। ज्ञान के अनुपात में ही हमारे जीवन शान्त होते हैं। ६. **विष्णुः नः शम्**=विष्णु हमें शान्ति दे। 'विष् व्याप्तौ' से बना हुआ विष्णु शब्द व्यापक मनोवृत्ति का संकेत कर रहा है। जितना हमारा हृदय विशाल होगा उतना ही शान्त होगा। संकुचित हृदय औरों के उत्कर्ष को देखकर जला करता है, उसमें शान्ति का अवकाश नहीं। ७. **उरुक्रमः**=(क) महान् पराक्रमवाला प्रभु हमें शान्ति दे। अकर्मण्य व्यक्ति के जीवन में मालिन्य भर जाता है और वह शान्त नहीं हो पाता (ख) 'उरुक्रम' का अर्थ महान् व्यवस्थावाला भी है। व्यवस्थित जीवन सदा शान्त होता है। घर में वस्तुएँ अव्यवस्थित-सी पड़ी हों तो उठने-बैठने को भी जी नहीं करता। नियम या व्यवस्था शान्ति के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

भावार्थ—मित्रादि सात साधनों से सच्ची शान्ति प्राप्त होती है।

ऋषिः—दध्यङ्ङाथर्वणः। देवता—वातादयः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

वायु, सूर्य व पर्जन्य

शन्नो वातः पवताᳫं शन्नस्तपतु सूर्यः।
शन्नः कनिक्रदद्देवः पर्जन्योऽअभि वर्षतु॥१०॥

नः=हमारे लिए **वातः**=वायु **शम्**=शान्तिकर होकर **पवताम्**=बहे, **नः**=हमारे लिए **सूर्यः**=सूर्य **शम्**=शान्तिवाला होकर **तपतु**=तपे। **नः**=हमारे लिए **कनिक्रदत्**=गर्जना करता हुआ **देवः**=दिव्य गुणोंवाला **पर्जन्यः** **शम्**=शान्तिवाला होता हुआ **अभिवर्षतु**=बरसे। मन्त्र में उल्लिखित शब्दों के द्वारा संसार की सर्वमहान् घटना का उल्लेख हुआ है।

घटनाचक्र का नाम ही संसार है। प्रत्येक घटना अपना-अपना महत्त्व रखती है। सर्वमहान् घटना यह वर्षण की घटना ही है। इसमें त्रिलोकी के तीनों लोक ही भाग लेते हैं। द्युलोक का सूर्य तपता है और इस ताप से पृथिवीलोक के जल का वाष्पीकरण होता है। यह वाष्पीभूत जल अन्तरिक्ष में घनीभूत होकर बादल के रूप में परिणत होकर पर्वत-शिखरों पर वर्षता है। इस प्रकार समुद्र का जल पर्वत-मस्तक पर पहुँच जाता है और वहाँ से प्रवाहित होकर नदियों के रूप में फिर से समुद्र की ओर जाना प्रारम्भ होता है। एवं, एक चक्र की स्थापना होती है। समुद्र का जल फिर समुद्र में आ मिलता है। यदि यह घटना न होती तो इस भूमण्डल पर जीवन सम्भव न रहता। ये ही देवता अध्यात्म में भी भिन्न-भिन्न रूपों से कार्य कर रहे हैं। वायु अध्यात्म में प्राण है। इस प्राण की साधना के लिए प्राणायाम का विधान है। **'प्राणायामैर्दहेद् दोषान्'**=प्राणायाम से क्या शरीर, क्या मन व क्या बुद्धि सभी के दोष दग्ध हो जाते हैं। ये दोष दग्ध होकर शरीर स्वस्थ हो जाता है, मन प्रसन्न व बुद्धि तीव्र होकर सूक्ष्माति-सूक्ष्म विषयों का ग्रहण करने में समर्थ हो जाती हैं। एवं, शरीर में वायु का महत्त्व है ही। सूर्य शरीर में चक्षुरूप से रह रहा है। इस चक्षु को निर्दोष रखने के लिए भी प्राणसाधना आवश्यक ही है। ज्ञान-सूर्य का उदय होने पर हृदयान्तरिक्ष में करुणा का मेघ उठता है। ज्ञानी का हृदय अवश्य ही करुणापूर्ण होता है। यह परातृप्ति की जनक होने से सचमुच 'पर्जन्य' है। इसे 'कनिक्रदत्' इसलिए कहा गया है कि दयार्द्र हृदय में ही प्रभु की वाणी सुनाई पड़ती है, पाषाण हृदय में प्रभु की गर्जना नहीं सुन पड़ती। एवं, हम प्राणसाधना को महत्त्व दें। इससे हमारी ज्ञानचक्षु भी खुलेगी और हृदय में दया के मेघ की भी उत्पत्ति होगी। कितना दिव्य व शान्त होगा उस दिन हमारा जीवन!

भावार्थ—वशीभूत प्राण, देदीप्यमान ज्ञानचक्षु तथा हृदयस्थ करुणा की भावना हमें शान्ति प्राप्त करानेवाली हों।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**अतिशक्वरी**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

चातुर्वर्ण्यम्

अहा॑नि॒ शं भव॑न्तु नः॒ शꣳरात्री॒ः प्रति॑धीयताम्।
शन्न॑ऽइन्द्रा॒ग्नी भ॑वता॒मवो॑भि॒ः शन्न॒ऽइन्द्रा॒वरु॑णा रा॒तह॑व्या।
शन्न॑ऽइन्द्रापू॒षणा॒ वाज॑सातौ॒ शमिन्द्रा॒सोमा॑ सुवि॒ताय॒ शंयोः॥११॥

१. **अहानि**=दिन **नः**=हमारे लिए **शम् भवन्तु**=शान्तिकारक हों। **रात्रीः**=रात्रियाँ **शम्**=शान्तिकारक होकर **प्रतिधीयताम्**=धारण की जाएँ। दिन और रात दोनों हमारे लिए शान्तिकर हों। दिन 'अहन्' है, अ+हन्=न नष्ट करने योग्य है। दिन का एक-एक क्षण हमारे लिए क्रियामय होना चाहिए। रात्रि 'रमयित्री' है, आराम देनेवाली है। 'दिन में कार्य, रात्रि को आराम' यह हमारा जीवनसूत्र होना चाहिए तभी हमारा स्वास्थ्य ठीक रहकर जीवन शान्त होगा। २. **इन्द्राग्नी**=इन्द्र और अग्नि **अवोभिः** (अव्=दीप्ति) ज्ञान की दीप्तियों से **नः**=हमारे लिए **शम् भवताम्**=शान्ति देनेवाले हों। **इन्द्रावरुणा**=इन्द्र और वरुण **रातहव्या**=हव्यों को, आवश्यक पदार्थों को प्राप्त करानेवाले होकर **नः शम्**=हमारे लिए शान्ति दें। **इन्द्रापूषणा**=इन्द्र और पूषा **वाजसातौ**=अन्न-प्राप्ति के निमित्त **नः शम्**=हमें शान्ति दें। **इन्द्रासोमा**=इन्द्र और सोम **सुविताय**=(सु इताय) सुगमता से कार्य सञ्चालन के

लिए होकर **शम्**=शान्ति दें और **शंयोः**=हमारे जीवनों में शान्ति हो तथा भयों का यावन, दूरीकरण हो। ३. उल्लिखित मन्त्रार्थ में **'अग्नि'** ब्राह्मण है। समाज व राष्ट्र में यह ज्ञान की दीप्ति को फैलाता है और इस प्रकार सामाजिक शान्ति का कारण बनता है। यह ज्ञान मनुष्यों को मिलकर चलना सिखाता है, ४. **'वरुण'**=क्षत्रिय हैं, राजपुरुष हैं, राजा की रक्षा के लिए इनका वरण होता है और ये प्रजाओं का उत्पथ पर जाने से निवारण करते हैं। वरण किये जाने व निवारण करने से ही ये 'वरुण' कहलाते हैं। इनका मुख्य कार्य यह होता है कि ये राष्ट्र में इस प्रकार की व्यवस्था करें कि प्रत्येक व्यक्ति को हव्य-पदार्थ प्राप्त होते रहें। शरीर-रक्षा के लिए जिन पदार्थों की आहुति देनी आवश्यक है वे 'हव्य' हैं। ५. **'पूषन्'**=वैश्य हैं ये **वाजसाति**=अन्न प्राप्त करानेवाले हैं। 'कृषि, गोरक्षा तथा वाणिज्य' ये वैश्यों का व्यापार है। अन्न का उत्पादन इन्होंने ही करना है। गोरक्षा और अन्न को मण्डियों में पहुँचाना—ये सब वैश्यों के कार्य हैं। इनमें कमी आते ही सारे राष्ट्र में अशान्ति छा जाती है। ६. इसके बाद **'सोम'** शूद्र हैं। ये अत्यन्त विनीत होकर 'ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यों' के लिए उनके कार्यों में सहायक होते हैं। इनके बिना कोई भी कार्य सुगमता से नहीं चलता। इन्हीं शूद्रों में मेहतर भी हैं, जिनके कार्य के अभाव में मल-दुर्गन्ध व रोगकृमियों की वृद्धि होकर बीमारियों का प्रकोप हो जाता है। एवं, ये सोम **योः**=रोगों को दूर करने में सहायक होते हैं। ७. इन 'अग्नि, वरुण, पूषन् व सोम' के साथ 'इन्द्र' शब्द जुड़ा हुआ है। यह राजा व राजशक्ति का वाचक है। यह अग्नि इत्यादि अपना-अपना कार्य तभी कर सकते हैं जबकि इनमें राजशक्ति कार्य करे। राजशक्ति के बिना 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र' कोई भी कार्य नहीं कर सकता। राजशक्ति के द्वारा ही शिक्षणालय, प्रबन्ध, कृषि, व्यापार व श्रम आदि सब ठीक चलते हैं और सर्वत्र शान्ति का प्रसार होता है।

भावार्थ—हमारे राष्ट्र में ब्राह्मणादि अपने-अपने कार्यों को राजव्यवस्था द्वारा ठीक-ठीक करनेवाले हों, जिससे सर्वत्र शान्ति का विस्तार हो। लोगों के जीवन का सूत्र 'दिन में कार्य व रात में आराम हो'।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**आपः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

जल व स्वास्थ्य

शन्नो॑ दे॒वीर॒भिष्ट॑य॒ऽआपो॑ भवन्तु पी॒तये॑। शँयोर॒भिस्र॑वन्तु नः॥१२॥

१. **आपः** शब्द सर्वव्यापक (आप्=व्याप्तौ) प्रभु के लिए भी प्रयुक्त होता है। ये दिव्य गुणोंवाले प्रभु (**देवीः**) **नः**=हमारे लिए **शम्**=शान्ति देनेवाले **अभिष्टये**=इष्ट प्राप्ति के लिए तथा **पतिये**=रक्षा के लिए **भवन्तु**=हों। ये प्रभु **शंयोः**=शान्ति देनेवाले तथा मलों को दूर करनेवाले **नः**=हमारे **अभि** =दोनों ओर अन्दर व बाहर **स्रवन्तु**=गतिवाले हों। इस प्रकार मन्त्र का यह अर्थ प्रभुपरक है। जब **'आपः'** शब्द जलवाचक होकर प्रयुक्त होता है तब मन्त्रार्थ निम्न प्रकार से होता है। २. **देवीः आपः**=दिव्य गुणोंवाले जल **नः**=हमें **शम्**=शान्ति देनेवाले हों। **अभिष्टये**=रोगों पर आक्रमण के लिए और **पीतये**=रक्षा के लिए **भवन्तु**=हों। **शंयोः**=शान्ति को देनेवाले तथा रोगों को दूर करनेवाले ये जल **नः**=हमारे **अभि**=अन्दर व बाहर **स्रवन्तु**=बहें। ३. जलों के अन्दर अद्भुत दिव्यगुण हैं। ये सब रोगों को दूर करनेवाले हैं। **'आपः सर्वस्य भेषजीः'**=जल सब रोगों के औषध हैं। **'अप्सु मे सोमो अब्रवीत्, अन्तः विश्वानि भेषजा'**=मुझे सोम ने यह बतलाया है कि जलों में सब औषध हैं। जलों का नाम ही 'भेषजम्' है। ये वारि हैं **निवारयन्ति रोगान्** रोगों को दूर करते हैं। ४. ये जल

आपः=व्यापक हैं। प्रत्येक पदार्थ में इनकी सत्ता है। प्राण के साथ इनकी सत्ता अनिवार्य है। प्राण अपोमय ही हैं। ५. ये रोगों पर आक्रमण के लिए होकर हमारी मृत्यु से रक्षा करते हैं। जल के प्रयोग से जलचिकित्सक रोगमात्र को दूर कर देता है। ६. इनका अन्दर व बाहर प्रयोग हमारे लिए शान्तिकर हो। 'अन्दर के लिए गरम व बाहर के लिए ठण्डा' यह सामान्य नियम है, जिसकी सामान्यतः मनुष्य सदा अवहेलना करता है, हम पीने में बर्फ का प्रयोग करते हैं, स्नान के लिए पानी को गरम करते हैं। ये दोनों ही बातें हानिकर हैं।

भावार्थ—जलों के ठीक प्रयोग से हम स्वस्थ बनकर शान्ति-लाभ करें।

ऋषिः—**मेधातिथिः**। देवता—**पृथिवी**। छन्दः—**पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

खुले मकान, खुले कमरे, सुखदा पृथिवीमाता

स्योना पृथिवि नो भवानृक्षरा निवेशनी। यच्छा नः शर्म सप्रथाः॥१३॥

१. हे **पृथिवि**=विस्तारवाली भूमिमातः! **नः**=हमारे लिए **स्योना**=सुखदा **भव**=हो। यहाँ 'प्रथ विस्तारे' धातु से बने 'पृथिवी' शब्द का प्रयोग संकेत कर रहा है कि जितना विस्तृत व खुला हमारा निवासस्थान होगा उतना ही वह हमारे स्वास्थ्य आदि के लिए हितकर होगा। २. हे पृथिवि! तू **अनृक्षरा**=(ऋक्षर=कण्टक) कण्टकरहित हो। हमारे ग्रामों के मार्ग कण्टकादि की बाधा से रहित होने ही चाहिएँ तथा 'अनृक्षरा'=यह पृथिवी मनुष्यों का विनाश करनेवाली न हो। (क) विषम गर्तों से युक्त प्रदेश, पानी के खड़े हो जाने से व मच्छरों की उत्पादक भूमियाँ बन जाने से स्वास्थ्य के लिए कभी हितकर नहीं हो सकता। (ख) वृक्षों की कमीवाला प्रदेश भी अम्लजन की मात्रा की कमी के कारण स्वास्थ्यप्रद नहीं होता। (ग) किसी ग्राम में टी०बी० के अधिक बीमारों के कारण यह बीमारी औरों को भी दबा सकती है, वह स्थान मनुष्यों का नाशक होने से रहने योग्य नहीं रहता। ३. **निवेशनी**=हे पृथिवि! तू विशाल निवासोंवाली हो। मकानों के कमरों का खुला होना भी आवश्यक है। छोटे-छोटे कमरे हमारे स्वास्थ्य को ही ख़राब नहीं करते ये हमारे दिलों को भी छोटा बनाते हैं। ४. **सप्रथाः**=अत्यन्त विस्तार-सहित भूमिमातः! तू **नः**=हमारे लिए **शर्म**=सुख **यच्छ**=दे। यह खुलापन स्वास्थ्य के लिए हितकर होकर हमें सुखी बनाता है। तङ्ग स्थानों में सूर्यकिरणों का प्रवेश न होने से बीमारियों का प्रवेश हो जाता है। स्वास्थ्यप्रद वायु भी उन मकानों को पवित्र नहीं कर पाती। ५. यहाँ प्रारम्भ में 'पृथिवी' शब्द है और समाप्ति पर 'सप्रथाः'। एवं, सर्व महत्त्वपूर्ण बात तो विस्तार की है। ये शब्द यदि मकानों के खुले-खुले बने होने का संकेत कर रहे हैं तो 'निवेशनी' शब्द मकान के कमरों के भी खुलेपन पर बल दे रहा है। इन खुले मकानों में ही मस्तिष्क का ठीक विकास होता है और मनुष्य बुद्धि को बढ़ाता हुआ अपने 'मेधातिथि' नाम को सार्थक करता है। यही इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—हमारे मकान खुले-खुले स्थानों में हो। मकानों के कमरे भी बड़े खुले-खुले हों।

नोट—वेद में ग्रामों का उल्लेख है, बड़े-बड़े नगर वेद को प्रिय नहीं। खुलापन ग्राम-सभ्यता में अधिक सम्भव है।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः**। देवता—**आपः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

कल्याणकर जल

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे॥१४॥

१. **आपः**=जल **हि**=निश्चय से **मयोभुवः**=(मी हिंसायाम्) रोगों के नाश के द्वारा कल्याण करनेवाले **ष्ठाः** (स्था)=हैं। जल रोगों को दूर करके कल्याण प्राप्त कराते हैं। **ताः**=वे जल **नः**=हमें **ऊर्जे**=(ऊर्ज् बलप्राणनयोः) बल और प्राणशक्ति के लिए **दधातन**=धारण करें। इन जलों से हमारा बल तो बढ़ता ही है, प्राणशक्ति की भी वृद्धि होती है। वस्तुतः 'आपोमयाः प्राणाः'=प्राण तो हैं ही जलरूप। 'आपः रेतो भूत्वा'=जल ही रेतस् रूप से शरीर में रहते हैं। ३. **महे**=ये जल **महस्**=तेज के लिए हमें धारित करें। जल नीरोगता के द्वारा हमें तेजस्वी बनाते हैं अथवा **मह**=महत्त्व के लिए, भार के लिए धारण करें। जल से शरीर पतला-दुबला न रहकर उचित स्थूलता को प्राप्त करता है। ४. **रणाय**=(रमणीयतायै) जल हमें नीरोग बनाते हैं, तेजस्वी बनाते हैं, इस प्रकार ये जल हमें रमणीयता के लिए धारण करते हैं। इनसे हमें स्वास्थ्य का सौन्दर्य प्राप्त होता है। 'रणाय' शब्द 'रण शब्दे' धातु से बनकर इस भावना को भी व्यक्त करता है कि ये जल हमारी वाणी की शक्ति को बढ़ाते हैं। इनके उचित प्रयोग से संभवतः गूँगेपन की चिकित्सा भी सम्भव हो। ५. **चक्षसे**=ये जल हमें दृष्टिशक्ति के लिए धारण करें। 'जल आँखों की शक्ति को बढ़ाते हैं' इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं। शुद्ध जल से परिपूर्ण बालटी में आधे सिर को डालकर आँखों को उसमें खोलने से दृष्टिशक्ति की निश्चय से वृद्धि होती है।

भावार्थ—जल नीरोगता, बल व प्राणशक्ति, महत्त्व, रमणीयता व वाक्शक्ति तथा दृष्टिशक्ति को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः**। देवता—**आपः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

जल-रस-सेवन—पीने का प्रकार

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः॥१५॥

१. इन मन्त्रों के ऋषि 'सिन्धुद्वीप' हैं। 'स्यन्दन्ते इति सिन्धवः'=बहने से जल 'सिन्धु' हैं। ये जल जिसके अन्दर व बाहर उपयुक्त हुए हैं, वह 'द्विर्गता आपो यस्मिन्' इस व्युत्पत्ति से 'द्वीप' है। यह सिन्धुद्वीप कहता है कि हे जलो! **यः**=जो **वः**=आपका **शिवतमः रसः**=अत्यन्त कल्याणकर रस है **तस्य**=उसका **नः**=हमें **इह**=इस मानव-शरीर में **भाजयत**=सेवन कराइए। उसी प्रकार **इव**=जैसे **उशतीः**=हित चाहती हुई **मातरः**=माताएँ बच्चे को दूध का सेवन कराती हैं। २. जल हमारे लिए उसी प्रकार हितकर हैं जैसे बच्चे के लिए माता। बच्चा जिस प्रकार मातृस्तन से दुग्ध का धीमे-धीमे पान करता है, इसी प्रकार हमें धीमे-धीमे जल का रस लेना है। ३. जैसे हाथी तो गन्ना खा जाता है, परन्तु मनुष्य गन्ने का रस लेता है इसी प्रकार हमें जल नहीं पी जाना अपितु जल का रस लेना है। 'कुल्ला करते जाएँ', थोड़ा-थोड़ा पानी अपने आप अन्दर जाएगा। यह जल के रस को लेना है। एकदम गिलास-का-गिलास पेट में नहीं उलट देना। बाहर भी वस्तुतः स्पञ्जिंग के ढंग से पानी का रस लेना है, बालटियाँ नहीं उलटाते चलना। हम सन्तरा नहीं खा जाते, उसका रस ही लेते हैं। इसी प्रकार प्रस्तुत मन्त्र में जल के रस के सेवन का विधान है। जल को सदा धीमे-धीमे पीना ही हितकर है, इसी को आचमन करना कहते हैं, sipping न कि Drinking। आचमन के रूप में पिया हुआ जल रोगों का आचमन (चमु भक्षणे) कर जाता है। यह रस हमें नीरोगता व दीर्घायु प्राप्त कराता है।

भावार्थ—हम सदा जलों का सेवन आचमनरूप से करते हुए उनके रस का ग्रहण करें।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः**। देवता—**आपः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

विकास व बन्ध्यत्व-निवृत्ति

तस्मा॒ऽअरं॑गमाम वो॒ यस्य॒ क्षया॑य॒ जिन्व॑थ। आपो॑ ज॒नय॑था च नः॥१६॥

१. **वः तस्मा** (तस्मै)=हे जलो! आपके उस रस को हम **अरम्**=पर्याप्ति रूप से **गमाम**=प्राप्त हों, **यस्य**=जिस रस के कारण (यस्य हेतोः) आप हमें **क्षयाय**=(क्षि=निवासगत्योः) निवास व गति के लिए **जिन्वथ**=प्रीणित करते हो, बढ़ाते हो। जलों में एक रस है, रस ही जलों का गुण है। यह रस रोगों को नष्ट कर शरीर में हमारे निवास को उत्तम बनाता है और हममें स्फूर्ति का सञ्चार करता है। हम नीरोग व बड़े क्रियाशील बने रहते हैं। २. **आपः**=हे जलो! आप **नः**=हमें **जनयथा च**=सब प्रकार से आविर्भूत, विकसित करते हो। आपके प्रयोग से हमारी सब शक्तियों का ठीक विकास होता है। 'जनयथा' शब्द का संकुचित अर्थ यह है कि जननशक्ति से युक्त करते हो। ये जल बन्ध्या को अबन्ध्या बना देते हैं। जैसे ये मरुभूमि को उर्वरा बना देते हैं, उसी प्रकार ये पुरुष व नारी को भी अबन्ध्यता प्राप्त कराते हैं। इनके शास्त्र-विहित प्रयोग से बन्ध्यात्व नष्ट हो जाता है। ये जल अन्य सब शक्तियों का विकास करते हुए बन्ध्यापन को भी दूर करनेवाले हैं।

भावार्थ—इस जल-रस सेवन से हम उत्तम निवासवाले हों, गतिशील हों और हमारी सब शक्तियों का विकास होकर हमारा बन्ध्यापन दूर हो।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**भुरिक्शक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

शान्ति-पाठ

द्यौः शान्ति॑र॒न्तरि॑क्ष॒ꣳ शान्तिः॑ पृथि॒वी शान्ति॒रापः॒ शान्ति॒रोष॑धयः॒ शान्तिः॑। वन॒स्पत॑यः॒ शान्ति॒र्विश्वे॑ दे॒वाः शान्ति॒र्ब्रह्म॒ शान्तिः॒ सर्व॒ꣳ शान्तिः॒ शान्ति॑रे॒व शान्तिः॒ सा मा॒ शान्ति॑रेधि॥१७॥

१. प्रस्तुत मन्त्र 'शान्ति-पाठ' का मन्त्र कहलाता है। सब यज्ञ-कार्यों की समाप्ति पर इस मन्त्र का पाठ किया जाता है। प्रारम्भ में लोकत्रयी से शान्ति की याचना इस प्रकार है— **द्यौः शान्तिः**=द्युलोक शान्ति देनेवाला हो, **अन्तरिक्षम् शान्तिः**=अन्तरिक्ष शान्ति दे और **पृथिवी शान्तिः**=पृथिवीलोक शान्ति प्राप्त कराए। तीनों ही लोक हमारे साथ शान्ति में हो, हमारी इनसे प्रतिकूलता न हो। द्युलोक का सूर्य शान्ति-कर होकर तपे, अन्तरिक्षलोक का पर्जन्य अतिवृष्टि व अनावृष्टि का कारण न बनता हुआ हमें शान्ति दे और यह दृढ़ पृथिवीलोक हमारा धारण करनेवाला हो। अध्यात्म में ये ही तीनों लोक क्रमशः मस्तिष्क, हृदय व शरीर हैं। हमारा मस्तिष्क ज्ञान के सूर्य से चमकता हुआ हमें शान्ति दे, हमारा हृदय करुणा के पर्जन्य से युक्त हुआ-हुआ हमारे स्वभाव को शान्त बनाये तथा यह हमारा पृथिवीरूप शरीर अत्यन्त दृढ़ हो। इस प्रकार स्पष्ट है कि सच्ची शान्ति के लिए दीप्तमस्तिष्क, करुणार्द्र चित्त तथा दृढ़ शरीर की आवश्कयता है। २. **आपः शान्तिः**=जल हमें शान्ति दें। इस पृथिवी पर सर्वप्रथम तत्त्व जल ही है। ये नीरोगता के द्वारा हमें शान्ति देनेवाले हैं। ये जल ही शरीर में 'आपो रेतो भूत्वा'=वीर्यशक्ति के रूप में रहते हैं। यह वीर्य सब रोगों को कम्पित कर, दूर भगाकर हमें शान्ति प्राप्त कराता है। सौम्य भोजनों से उत्पन्न यह सोम सचमुच ही हमें 'सौम्य' बनाता है। ३. इन जलों से ओषधि-वनस्पतियों का जन्म होता है, अतः कहते हैं कि **ओषधयः**=ओषधियाँ **शान्तिः**=शान्ति दें। **वनस्पतयः शान्तिः**=

वनस्पतियाँ शान्ति दें। ओषधि व वनस्पति में यह अन्तर है कि ओषधियाँ फलपाकान्त होती हैं जबकि वनस्पतियाँ अगले-अगले वर्षों में भी फल देती हैं। सब अन्न ओषधि हैं और शाक-फल 'वनस्पति' हैं। अन्न ओषधि की भाँति ही प्रयुक्त होगा तो क्यों शान्ति न देगा? अन्न को क्षुधा-रोग का औषध समझना, तब यह औषधवत् मात्रा में प्रयुक्त हुआ-हुआ कल्याण ही करेगा। वनस्पतियाँ भी (वन=शरीर, पति=रक्षक) शरीर की रक्षक हैं। शरीर की रक्षा के उद्देश्य से ही इनका सेवन होना चाहिए। ओषधियाँ, वनस्पतियाँ अध्यात्म में 'लोम' हैं, ये लोम शरीर के रक्षक हैं। नासिका छिद्र के बाल श्वास के साथ धूल आदि को अन्दर नहीं जाने देते, एवं ये लोम शरीर की शान्ति के कारण बनते हैं। ४. **विश्वेदेवाः शान्तिः**=प्रकृति के ये सभी देव मुझे शान्ति देनेवाले हों, परन्तु ये शान्ति देनेवाले तभी होंगे जब मुझे इनका ज्ञान होगा, अतः अगली प्रार्थना करते हैं—**ब्रह्म शान्तिः**=ज्ञान मुझे शान्ति दे। जिस पदार्थ के गुण-धर्म का ज्ञान नहीं होता वही हानिप्रद हो जाता है। प्रायः उसका ग़लत प्रयोग हो जाता है? इस ज्ञान को प्राप्त कर **सर्वम् शान्तिः**=सब पदार्थ हमें शान्ति देनेवाले हों। ५. **शान्तिः एव शान्तिः**=शान्ति भी शान्ति ही हो। कहीं मेरी शान्ति अशान्ति का कारण न बन जाए। वस्तुतः शान्ति के लिए शरीर का अत्यन्त अशान्त, अर्थात् क्रियाशील होना आवश्यक है। सामने आग लगी हो और मैं शान्त बैठा हुआ हाथ-पैर न हिलाऊँ तो ऐसी शान्ति महान् अनर्थ का हेतु बन अशान्ति को ही पैदा करेगी। मेरे सामने कोई मेरे पिताजी से दुर्व्यहार करता है और मैं शान्त बैठा रहूँ, यह शान्ति मुझे पापभाक् बनाकर अशान्त ही करेगी। 'शरीर अधिक-से-अधिक अशान्त और मन पूर्ण शान्त' ऐसी शान्ति तो शान्ति है, परन्तु जिसमें 'शरीर शान्त है और मन अशान्त' वह शान्ति का आभास है, शान्ति नहीं। **सा शान्तिः**=वह सच्ची शान्ति **मा**=मुझे **एधि**=प्राप्त हो ६. इस प्रकार शान्त वातावरण में निवासवाला व्यक्ति ही ध्यान लगा सकता है और 'दध्यङ्' नामवाला बनता है। इसका मन विह्वल व डाँवाँडोल नहीं, अतः यह 'आथर्वण' है।

भावार्थ—सब प्राकृतिक देव मेरे अनुकूल हों, वे मेरे साथ शान्ति में हों। उनके ठीक ज्ञान से मेरा उनके साथ सम्बन्ध मधुर हो। मैं उनके प्रति आसक्त न होकर सदा उनका ठीक उपयोग करूँ।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**भुरिग्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

मित्र-दृष्टि

दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥१८॥

१. **दृते**=हे विदारण करनेवाले प्रभो! **मा**=मुझे **दृंह**=दृढ़ बनाइए। किसी भी वस्तु को दृढ़ बनाने का प्रकार यही है कि उसकी कमियों का विदारण कर दिया जाए। हे प्रभो! आप मुझे भी, मेरी कमियों का विदारण करके दृढ़ बनाइए। जब कमियों को दूर करके हमारा जीवन कुछ अच्छा बनता है तब हम चाहते हैं कि—२. **सर्वाणि भूतानि**=सब भूत **मा**=मुझे **मित्रस्य चक्षुषा**=स्नेह की दृष्टि से **समीक्षन्ताम्**=देखें। ३. धीमे-धीमे इस इच्छावाला व्यक्ति यह अनुभव करता है कि मेरी यह इच्छा तभी पूर्ण होगी जब **'अहम्'**=मैं **सर्वाणि भूतानि**=सब भूतों को **मित्रस्य**=मित्र की **चक्षुषा**=आँख से **समीक्षे**=देखूँगा। प्रेम पारस्परिक है, मैं प्रेम से देखूँगा तो लोग भी मुझे प्रेम से देखने लगेंगे और यह अनुभव करेंगे कि कल्याण तभी होगा जब हम **मित्रस्य**=मित्र की **चक्षुषा**=दृष्टि से **समीक्षामहे**=देखेंगे। 'सभी

प्रेम से देखने लगें' समाज का कल्याण इसी में है। मानव-समाज की सबसे बड़ी कमी परस्पर स्नेह का न होना ही है। स्नेह ही समाज को दृढ़ बनाता है। इसका अभाव समाज को तोड़-फोड़ देता है। प्रभु का ध्यान करनेवाला 'दध्यङ्' सभी में प्रभु का दर्शन करता है, अतः सभी से स्नेह करता है। यह इस 'स्नेह करने' के सिद्धान्त से कभी डगमगाता नहीं, यह 'आथर्वण' न विचलित होनेवाला होकर इसका पालन करता है।

भावार्थ—मैं सभी को प्रेम से देखूँ और सभी सबको प्रेम से देखें।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**पादनिचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

संदर्शन—संजीवन

दृते दृꣳह मा। ज्योक्ते सन्दृशि जीव्यासं ज्योक्ते सन्दृशि जीव्यासम्॥१९॥

हे **दृते!**=सब बुराइयों का निवारण करनेवाले प्रभो! **मा दृंह**=मुझे दृढ़ बनाइए। मेरी कमियों को दूर करके मेरे जीवन को सुदृढ़ कीजिए। मैं कमियों से बचा रहूँ इसके लिए मैं **ज्योक् ते**=सदा आपके **संदृशि**=सन्दर्शन में **जीव्यासम्**=जीवन धारण करूँ। (संदर्शनम्=संदृक्) और **ज्योक्**=सदा दीर्घकाल तक **ते संदृशि**=आपके संदर्शन में ही **जीव्यासम्**=जीऊँ। एक ही बात को दो बार कहना दृढ़ता के लिए होता है। प्रभु के संदर्शन में जीना अत्यन्त आवश्यक है। २. 'प्रभु मेरे समीप हैं, वे मेरे प्रत्येक कार्य को देख रहे हैं', इस भावना के उदित रहने से मैं कोई ग़लत कार्य नहीं करूँगा। मेरा जीवन कमियों से न भरे। २. साथ ही सर्वत्र प्रभु-दर्शन से हम परस्पर प्रेम से चलने का पाठ भी पढ़ेंगे। हमें परस्पर एक बन्धुत्व का भी अनुभव होगा। पिछले मन्त्र की प्रार्थना को जीवन में अनूदित करने के लिए प्रभु की आँख से ओझल न होना, अपने को उसकी आँख से ओझल न होने देना अत्यन्त आवश्यक है।

सदा प्रभु के संदर्शन में जीनेवाला व्यक्ति 'दध्यङ्' प्रभु का ध्यान करनेवाला है। यह धर्म के मार्ग से विचलित न होने के कारण 'आथर्वण' भी है। यह यही कह सकता है—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥

भावार्थ—मैं सदा प्रभु के संदर्शन में जीवन धारण करूँ, जिससे मेरा जीवन कमियों से न भरकर मैं सभी के साथ स्नेह कर सकूँ।

ऋषिः—**लोपामुद्रा**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**भुरिग्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

रोग, लोभ व अज्ञान का लोप

नमस्ते हरसे शोचिषे नमस्तेऽअस्त्वर्चिषे।
अन्याँस्तेऽअस्मत्तपन्तु हेतयः पावकोऽअस्मभ्यꣳशिवो भव॥२०॥

गतमन्त्र में दीर्घकाल तक प्रभु के सन्दर्शन में जीवन-यापन का उल्लेख था। ये प्रभु से कहते हैं। **हरसे**=सब रोगों का हरण करनेवाले **ते**=तेरे लिए **नमः**=नमस्कार हो। संस्कृत में रोग का हरण करनेवाले वैद्य का नाम 'रोगहारी' है। वही 'हृ' धातु 'हरस्' शब्द में है। प्रभु के स्मरण से हम स्वादादि में नहीं फँसते, परिणामतः अधिक नहीं खाते और रोगों से बचे रहते हैं, एवं प्रभु सचमुच रोगों का हरण करनेवाले हैं। २. **शोचिषे**=(शुच् दीप्तौ) हमारे जीवनों को शुचि व दीप्त बनानेवाले **नमः**=आपके लिए नमस्कार है। प्रभु-स्मरण हमारे शरीरों को नीरोग बनाता है तो प्रभु-स्मरण से हमारे मन निर्मल व पवित्र होते हैं। प्रभु

के सान्निध्य में हम पाप थोड़े ही करेंगे? वासना 'स्मर' है, तो प्रभु 'स्मरहर' हैं। जहाँ प्रभु-स्मरण होता है वहाँ वासना का विनाश हो जाता है। ३. **अर्चिषे**=हमें ज्ञान की ज्वाला से देदीप्यमान करनेवाले **ते नमः**=तेरे लिए नमस्कार हो। प्रभु हमारे मस्तिष्कों को ज्ञान से दीप्त कर देते हैं। सम्पूर्ण ज्ञान के स्रोत वे प्रभु ही हैं। ४. वह व्यक्ति जो प्रभुकृपा से शरीर से नीरोग, मन से पवित्र तथा मस्तिष्क से दीप्त बना है, वह अब चाहता है कि **ते**=तेरी **हेतयः**=ज्ञानदीप्तियाँ **अस्मत्**=हमसे प्रवाहित होकर **अन्यान्**=दूसरों को भी **तपन्तु**=दीप्ति प्राप्त कराएँ। हम आपसे प्राप्त इन ज्ञान की किरणों को औरों तक पहुँचाएँ। ५. ब्रह्मचर्याश्रम में हम प्रभु को 'हरस्' के रूप में स्मरण करें और सोमशक्ति की ऊर्ध्वगति करके सब **रोगों का हरण व लोप करनेवाले** बनें। गृहस्थ में हमारा स्मरणीय प्रभु 'शोचिष्' है। वह हमारे मनों को शुचि बनाता है। **'योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिः'** (मनु)। धन की दृष्टि से शुचि व्यक्ति ही तो शुचि है। एवं, प्रभु-स्मरण हमारे मनों से **लोभ का लोप** करनेवाला हो। वानप्रस्थ में हमारा प्रभु 'अर्चिष्' हो जाता है। यह ज्ञान की ज्वाला से देदीप्यमान है। यह हमारे मस्तिष्क से अज्ञानान्धकार का लोप करता है। वानप्रस्थ तो **'स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात्'**=सदा स्वाध्याय में लगा होता है। इसके बाद संन्यास में यह अपने आराम आदि का त्याग कर प्रजा के अज्ञानान्धकर को लुप्त करने में लगा है, एवं इसका नाम ही 'रोग, लोभ व अज्ञान' को लुप्त करने के कारण 'लोपा' हो गया है। इसका चित्त इस रोग, लोभ व अज्ञान को लुप्त करके बड़ा प्रसन्न है, अतः वह 'मुद्रा' है। यह 'लोपामुद्रा' ही प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है। ४. यह ऋषि प्रभु से प्रार्थना करता है कि **पावकः**=हे प्रभो! आप पवित्र करनेवाले हो। आप **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **शिवः**=कल्याण करनेवाले **भव**=होओ। 'लोपामुद्रा' अपने जीवन के निर्माण का ध्यान करता है और कल्याण के लिए याचना करता है।

भावार्थ—हमारे शरीर नीरोग हों, मन शुचि हों, मस्तिष्क उज्ज्वल हों। हम सर्वत्र ज्ञान का प्रकाश फैलाएँ। प्रभु हमारा कल्याण करें।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

'विद्युत्, स्तनयित्नु व भगवान्'

नमस्तेऽअस्तु विद्युते नमस्ते स्तनयित्नवे। नमस्ते भगवन्नस्तु यतः स्वः समीहसे॥२१॥

१. **विद्युते**=विशेषरूप से चमकनेवाले **ते**=तेरे लिए **नमः अस्तु**=नमस्कार हो। वे प्रभु सर्वतो देदीप्यमान हैं, वे तो ज्योतिर्मय-ही-ज्योतिर्मय हैं। **'ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः'** (यजुः) वे प्रभु सूर्य के समान चमकते हैं। हज़ारों सूर्यों के सामन उस प्रभु की आभा है। जीव की चमक सूर्य की चमक की भाँति अपनी चमक नहीं है। जीव का ज्ञान तो नैमित्तिक है। सूर्य के प्रकाश से चन्द्रमा भी प्रकाशवाला होता है, इसी प्रकार प्रकार प्रभु की ज्योति प्राप्त करके जीव भी ज्योर्तिमय होता है। जब कभी सूर्य और चन्द्रमा के बीच में पृथिवी आ जाती है तब चन्द्रग्रहण हो जाता है, चन्द्रमा का उतना भाग चमकता नहीं। जीव को भी यह ब्रह्मज्योति इन पार्थिव भोगों के बीच में आ पड़ने से प्राप्त नहीं होती। पार्थिव भोग हटे, और जीव ज्ञानज्योति से जगमगा उठा। २. **स्तनयित्नवे ते नमः**=मेघ के समान गर्जना करनेवाले आपके लिए नमस्कार हो। प्रभु ज्ञान की ज्योति से परिपूर्ण तो हैं ही। वे उस ज्ञान का शब्दों में उच्चारण भी कर रहे हैं। धीमे-धीमे नहीं, मेघ की गर्जना के समान, परन्तु उस गर्जना को भी हम नहीं सुन पाते, क्योंकि हमारे मानस पटल के द्वार ही बन्द हो रहे हैं। मौज-मस्ती में, संसार के आमोद-प्रमोद में प्रभु की आवाज़ सुनाई नहीं देती। हम मौजों

से उपर उठेंगे, तो प्रभुदर्शन करेंगे, उनकी आवाज़ को सुनेंगे। भोज (Feast) में उसकी आवाज़ दब जाती है, भूख (fast) में स्पष्ट सुनाई पड़ती है। सुख-सम्पत्ति में "God is nowhere" लगता है, तो विपत्ति में 'God is now here' हो जाता है। सुख में हम प्रभु को भूल जाते हैं—दु:ख में ही स्मरण होता है। ३. बीच के आवरण के हटते ही हम कह उठते हैं कि हे **भगवन्**=भगवाले प्रभो। **ते**=तेरे लिए **नमः अस्तु**=नमस्कार हो। 'भग' की इच्छा से हमें उस भगवान् के पास ही जाना होगा। भग का अभिप्राय 'ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान तथा वैराग्य' है। मनुष्य अपनी प्रारम्भिक स्थिति में 'ऐश्वर्य व वीर्य' धन व शक्ति चाहता है, ज़रा ऊँचा उठने पर उसका ध्येय यश व श्री हो जाते हैं और अन्त में उसका झुकाव ज्ञान व वैराग्य की ओर जो जाता है। मनुष्य उन्नति की किसी भी स्थिति में हो वह इन ऐश्वर्यादि की प्राप्ति के लिए उस 'भगवान्' के पास ही जाएगा। ४. हे प्रभो! यह 'भग' वह है **यतः**=जिसके द्वारा **स्वः**=हमारे सुख को **समीहसे**=आप सम्यक्तया करना चाहते हैं। प्रारम्भ में ऐश्वर्य व वीर्य से ही जीवन-यात्रा चलती है। इनमें से किसी एक के भी आभाव में जीवन-यात्रा चलना सम्भव नहीं। मनुष्य इन्हें प्राप्त करके यश व श्री की कामनावाला होता है और अन्त में ज्ञान व वैराग्य में शान्ति-लाभ करता है। इस प्रकार मनुष्य का जीवन सुख से व्यतीत हो पाता है। वैराग्य की—अनासक्ति की अन्तिम सीढ़ी पर पहुँचकर जीव सचमुच **दध्यङ् आथर्वण**=प्रभु का ध्यान करनेवाला निश्चल मनोवृत्तिवाला बन जाता है।

भावार्थ=प्रभु विद्युत् है, स्तनयित्नु हैं, भगवान् हैं। भग को प्राप्त कराके वे प्रभु हमारा कल्याण करते हैं।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**भुरिगुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

दैव व आसुर, प्रजा व प्रभु (Civil and Military)

यतो॑यतः स॒मीह॑से॒ ततो॑ नो॒ऽअभ॑यं कुरु।
शं नः॑ कुरु प्र॒जाभ्यो॒ऽभ॑यं नः प॒शुभ्यः॑॥२२॥

यतः यतः=जिस-जिस वस्तु से हे प्रभो! आप हमारा (स्वः) **समीहसे**=सुख करना चाहते हैं **ततः**=उस-उस वस्तु के द्वारा **नः**=हमें **अभयं कुरु**=निर्भय कीजिए। जीवन के प्रारम्भ में अर्थात् गृहस्थ में प्रभु 'ऐश्वर्य व शक्ति' के द्वारा हमारा कल्याण करते हैं, वानप्रस्थ में इसका स्थान 'यश व श्री' ले-लेते हैं, और संन्यास में 'ज्ञान और वैराग्य' उसके सम्बल होते हैं। गृहस्थ में ही ये ज्ञान और वैराग्य आ जाएँ तो गृहस्थ बिगड़ जाए और यदि संन्यास में अचानक ऐश्वर्य और शक्ति का विचार आ जाए तो वह संन्यास ही न रहे। एवं, प्रत्येक स्थिति में जिस-जिस गुण व द्रव्य से हे भगवन्! आप हमारा कल्याण चाहते हैं हमें उस-उस वस्तु के द्वारा निर्भय कीजिए।

२. (क) समाज में लोग दो भागों में बँटे हैं। एक दैव हैं, दूसरे आसुर। दैव लोग विकास व गुणों के प्रादुर्भाव के लिए प्रयत्नशील होते हैं। वैज्ञानिकों ने औषधों के आविष्कार से रोगों को दूर किया तो कृषि की उन्नति से अकाल को समाप्त कर दिया और इस प्रकार मनुष्य के प्रादुर्भाव व विकास में सहायक होने से 'प्रजा' कहलाये। इन्होंने एटम बम्ब आदि से संहार का भी पोषण किया, परन्तु वह तो सब राजनीतिज्ञों के दबाव के कारण ही हुआ। हे प्रभो! आप इन **प्रजाभ्यः**=विकास के कारणभूत दैववृत्तिवाले लोगों से **नः**= हमारे लिए **शम् कुरु**=शान्ति कीजिए। (ख) इनके विपरीत वे लोग भी हैं जो पशुओं की तरह बिलकुल स्वार्थी हैं, जिन्हें अपने से मतलब है, जिनको लोकहित का ज़रा भी

ध्यान नहीं। ये पशुओं की भाँति ही खूँखार हैं। हे प्रभो! इन **पशुभ्यः**=पशुओं से **नः**=हमें **अभयम्**=निर्भय कीजिए। राष्ट्र में एक सिविल विभाग होता है, यह शान्त स्वभाव का होता है, यही प्रजा के अन्दर शान्ति स्थापित करने का कार्य करता है। दूसरा मिलिट्री का विभाग है, यह लड़ने के लिए तैयार किया जाता है। इसे नगरों से दूर ही रखते हैं, क्योंकि इनके नगरों के समीप आने पर नगरवासियों को खतरा उत्पन्न हो जाता है। इनसे भी हमें अभय प्राप्त हो। राजा ऐसी व्यवस्था करे कि लोगों को इनसे भय प्राप्त न हो।

भावार्थ—हम उस-उस समय 'ऐश्वर्य-शक्ति, यश-श्री, ज्ञान-वैराग्य' से सुख को प्राप्त करें। दैवी प्रवृत्ति के लोग हमारी शान्ति का कारण बनें और आसुर-पशुवृत्ति के लोगों से हमें भय प्राप्त न हो।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

दृष्ट्वा हृष्येत् प्रसीदेच्च=भोजन सदा प्रसन्नतापूर्वक

सुमित्रिया नऽआपऽओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः॥२३॥

१. मन्त्र का सरलार्थ इस प्रकार है—**आपः ओषधयः**=जल तथा ओषधियाँ, अर्थात् खान-पान की वस्तुएँ **नः**=हमारे लिए **सुमित्रिया**=उत्तम स्नेह करनेवाली (ञिमिदा स्नेहने) उत्तम मेदस् (Fat) को बढ़ानेवाले (मिद्=मेदस्) अथवा उत्तम औषध के गुणोंवाली (मिद्=Medicine) और इस प्रकार (मित्रः=प्रमीतेः त्रायते) मृत्यु व रोगों से बचानेवाली **सन्तु**=हों, परन्तु **यः**=जो **अस्मान्**=हम सबके साथ **द्वेष्टि**=अप्रीति करता है, **च**=और परिणामतः **यम्**=जिसको **वयम्**=हम सब **द्विष्मः**=नहीं चाहते **तस्मै**=उसके लिए ये जल और ओषधियाँ **दुर्मित्रियाः**=न स्नेह करनेवाली हों, उन्हें ये रोगों से बचानेवाली न हों। २. प्रस्तुत मन्त्र में भोजन के इस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है कि 'भोजन सदा प्रसन्नता-पूर्वक खाना चाहिए'। मनुजी ने लिखा है कि भोजन सामने आये तो '**दृष्ट्वा हृष्येत् प्रसीदेच्च**'=देखकर हर्षित और प्रसन्न हो। प्रसन्नतापूर्वक खाया हुआ भोजन हमारे शरीरों में रुधिरादि उत्तम धातुओं को पैदा करता है। द्वेष की भावना से भरा हुआ चित्त हो और पौष्टिक-से-पौष्टिक पदार्थ खाएँ, तो वे कभी हमारे शरीर का आप्यायन न करेंगे। वे भोजन हमारा पालन करनेवाले ही न होंगे। ऐसी स्थिति में कुछ विष उत्पन्न हो जाते हैं जो भूख को भी समाप्त कर देते हैं।

भावार्थ—भोजन सदा प्रसन्नतापूर्वक करना चाहिए। हमारा भोजन 'आपः ओषधयः' हैं, न कि मांस।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**भुरिग्ब्राह्मीत्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

अदीनता

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्॥२४॥

१. **तत्**=वह **चक्षुः**=सब पदार्थों के तत्त्व का दर्शक वेदज्ञान, जो **देवहितम्**=देवों में निहित होता है और देवों के लिए हितकर होता है, जो **शुक्रम्**=(शुच् दीप्तौ) सर्वतः देदीप्यमान है—शुद्ध है—निर्भान्त है, वह वेदज्ञान **पुरस्तात्**=सृष्टि के प्रारम्भ में **उच्चरत्**=उच्चारण

किया गया। **पुरस्तात्**=वेदज्ञान के सृष्टि के प्रारम्भ में दिये जाने की आवश्यकता स्पष्ट है। मनुष्य का ज्ञान नैमित्तिक है—'यदि उसे ज्ञान न दिया जाए तो वह उसे स्वयं विकसित कर लेगा' ऐसी सम्भावना नहीं है। गूँगी-बहरी दासियों से वन में पाले गये बच्चे केवल मैं-मैं करना ही सीखे, क्योंकि उनके समीप बकरियाँ बँधी थी। वेद से प्राचीन कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। इन दोनों तथ्यों से यही परिणाम प्राप्त होता है कि 'वेदज्ञान सृष्टि के प्रारम्भ में दिया गया'। **देवहितम्**=(क) प्रभु ने इस वेदज्ञान को देवों के हृदय में स्थापित किया। **'यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत्'** जो श्रेष्ठ व निर्दोष थे, उन्हीं के हृदयों में वेदज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ। (ख) यह वेदज्ञान देवों का ही हितकर होता है। जो इस वेदज्ञान को प्राप्त करते हैं—उन्हीं देवों को इसका लाभ प्राप्त होता है। हम **शरदः शतम्**=सौ-के-सौ वर्ष-पर्यन्त **पश्येम**=इस वेदज्ञान को देखें। हम वेदों को पढ़ें, इनका नियमित स्वध्याय करें। **शरदः शतम्**=सौ-के-सौ वर्षपर्यन्त **जीवेम**=इन वेदों को ही जीने का प्रयत्न करें, अर्थात् अपने जीवन को वेदानुसार बनाने के लिए यत्नशील हों। वेद को अपने जीवन में घटाने की कोशिश करना ही अपने जीवन को वेद पढ़ाना है। वेद को जीने का प्रयत्न करेंगे तभी लाभ होगा।

शरदः शतम्=सौ वर्षपर्यन्त **शृणुयाम**=हम इन वेदों को सुनें तथा **शरदः शतम्**=सौ वर्ष पर्यन्त इन वेदों का ही **प्रब्रवाम**=प्रवचन करें, अर्थात् वेदोपदेश ही सुनें और सुनाएँ। शुभ की कथा शुभ प्रभाव को उत्पन्न करेगी ही। आचार्य ने इन्हीं शब्दों को ध्यान में रखते हुए इसे परमधर्म माना कि वे वेद पढ़ें (पश्येम) पढ़ाएँ (जीवेम) सुनें (शृणुयाम) सुनाएँ (प्रब्रवाम) ३. इस प्रकार वेदज्ञान का हमारे जीवनों पर यह परिणाम हो कि हम **शरदः शतम्**=सौ-के-सौ वर्षपर्यन्त **अदीनाः स्याम**=अदीन हों। हममें हीनता की भावना न हो। हम कृपण व अनात्मज्ञ न हों। अपनी महिमा को अनुभव करें। व्यावहारिक जगत् में न दबें न दबायें, न खुशामद करें और न ही खुशामद पसन्द हों। **शरदः शतात् भूयः च**=सौ से अधिक वर्ष भी हमारे जीवन इसी प्रकार वेद के पढ़ने-पढ़ाने व सुनने-सुनाने में व्यतीत हों और हम अदीन बने रहें। हमें सच्ची शान्ति इसी प्रकार प्राप्त होगी। वेदज्ञान ही मौलिक शान्ति देनेवाला है।

भावार्थ—प्रभु ने सृष्टि-आरम्भ में इस वेदज्ञान का उच्चारण किया है। हमें इसी के पढ़ने-पढ़ाने व सुनने-सुनाने में लग जाना चाहिए और सदा अदीनतापूर्वक वर्त्तना चाहिए।

इति षट्त्रिंशोऽध्यायः॥

अथ सप्तत्रिंशोऽध्यायः

—:०:—

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**निचृदुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

वस्तुओं के ग्रहण में तीन बातें

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्।
आ ददे नारिरसि॥१॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'दध्यङ् आथर्वण' है, ध्यान करनेवाला, डाँवाँडोल न होनेवाला। यह संसार में विचरता है, संसार की वस्तुओं का प्रयोग करता है। वह कहता है कि **आददे**=मैं वस्तुओं का ग्रहण करता हूँ, १. परन्तु प्रत्येक वस्तु का ग्रहण करते हुए वह कहता है कि **त्वा**=तुझे ग्रहण तो करता हूँ, **सवितुः देवस्य**=उस प्रेरणा करनेवाले दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु की **प्रसवे**=प्रेरणा में स्थित होता हुआ, अर्थात् उस प्रभु की आज्ञानुसार। प्रभु का आदेश है **'त्यक्तेन भुञ्जीथाः'**=त्यागपूर्वक उपभोग करो, अतः यह 'दध्यङ्' प्रत्येक वस्तु का त्यागपूर्वक उपयोग करता है। इस प्रकार किसी भी वस्तु के 'अयोग तथा अतियोग से बचता हुआ यह 'दध्यङ्' उस-उस वस्तु का यथायोग ही करता है। २. साथ ही यह कहता है कि अश्विनोः=प्राणापान के बाहुभ्याम्=(बाहृ प्रयत्ने) प्रयत्न से मैं तेरा ग्रहण करता हूँ। यह आवश्यक वस्तु का उपार्जन अपनी प्राणापान की शक्ति से करता है। यह कभी दूसरे के उपार्जित धन को प्राप्त करने की कामना नहीं करता। ३. **पूष्णो हस्ताभ्याम्**=पूषा के हाथों से मैं तेरा ग्रहण करता हूँ, अर्थात् मेरे पोषण के लिए जितने धन की व जिस वस्तु की आवश्यकता होती है उसी का मैं ग्रहण करता हूँ। स्वाद के लिए मैं वस्तुओं का ग्रहण नहीं करता। इस प्रकार वस्तुओं के ग्रहण में यह तीन बातों का ध्यान करता है (क) उस सवितादेव के आदेश के अनुसार हो, (ख) अपनी प्राणशक्ति से अर्जित हो, (ग) पोषण के उद्देश्य से, न कि स्वाद के लिए उसका ग्रहण हो। इस प्रकार इन बातों का ध्यान करने से यह प्रत्येक पदार्थ के लिए यह कह पाता है कि **न अरिः असि**=तू मेरा शत्रु नहीं है। प्रत्येक पदार्थ हमारा हित ही करता है, यदि मन्त्रवर्णित इन तीन बातों का ध्यान किया जाए।

भावार्थ—हम प्रभु के आदेश के अनुसार वस्तुओं का ग्रहण करें, स्वयं पुरुषार्थ से अर्जित वस्तु को ही लें। पोषण के लिए जितनी पर्याप्त है उतनी ही लें। ऐसा करने पर सब वस्तुएँ हमारी मित्र होंगी।

ऋषिः—**श्यावाश्वः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**।

मनो निरोध

युञ्जते मनऽउत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेकऽइन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः॥२॥

पिछले मन्त्र में संसार के पदार्थों के ग्रहण में तीन बातों का ध्यान करने के लिए कहा गया था। इस मनोवृत्ति को बनाने के लिए अपेक्षित अभ्यास का उल्लेख प्रस्तुत मन्त्र में

करते हैं १. **विप्रः**=विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाले लोग **मनः**=अपने मनों को **युञ्जते**=प्रभु के ध्यान में केन्द्रित करने का प्रयत्न करते हैं **उत**=और **धियः**=अपनी-अपनी बुद्धियों को भी उसी के विचार में **युञ्जते**=युक्त करते हैं। किस प्रभु के? (क) **विप्रस्य**=विशेषरूप से पूरण करनेवाले के, अर्थात् जो प्रभु हमारी सब कमियों को दूर करते हैं, (ख) **बृहतः**=जो सदा वर्धमान हैं (बृहि वृद्धौ) (ग) **विपश्चितः** (वि पश् चित्)=जो विशिष्ट द्रष्टा व पूर्ण ज्ञानवाले हैं। उस प्रभु में हम अपने मनों व बुद्धियों को केन्द्रित करेंगे तो हमारे शरीर भी सब न्यूनताओं से ऊपर उठकर पूर्ण स्वस्थ होंगे, हमारे हृदय विशाल होंगे तथा हमारे मस्तिष्क ज्ञान की ज्योति से उज्ज्वल बनेंगे। २. वे प्रभु सृष्टि के प्रारम्भ में ही **होत्रा**=(होत्रा इति वाङ् नाम —नि १.११) इस वेदवाणी को **विदधे**=विशेषरूप से **'यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत्'**=श्रेष्ठ व निर्दोष ऋषियों के हृदयों में स्थापित करते हैं। वस्तुतः इस वेदवाणी के द्वारा प्रभु ने सृष्टि के प्रारम्भ में ही हमें कर्त्तव्य का ज्ञान दे दिया है, सब पदार्थों का ज्ञान उस वाणी में विद्यमान है। उसका ठीक-ठीक ग्रहण करने से हम ज्ञानी बनकर अपने कर्त्तव्य पथ पर निरन्तर आगे बढ़नेवाले हो सकते हैं। ३. **वयुनावित्**=(वयुनम्=प्रज्ञानाम—नि० ३.९) वे प्रभु हमारे सब प्रज्ञानों को जाननेवाले हैं। हमने सोचा और प्रभु ने जाना। ४. **एकः**=वे एक ही हैं। इस सारे ब्रह्माण्ड के निर्माण-धारण व प्रलयरूप कार्यों को करने में उस प्रभु को किसी अन्य सहायक की अपेक्षा नहीं होती। वे अद्वितीय प्रभु सब जीवों को उनके कर्मानुसार उस-उस स्थिति में रखनेवाले हैं। ४. इस **देवस्य सवितुः**=दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रेरक प्रभु की **इत्**=निश्चय से **मही परिष्टुतिः**=यह महान् महिमा है, संसार का एक-एक पदार्थ उस प्रभु की महत्ता को व्यक्त कर रहा है। ५. एवं, अपने मनों व बुद्धियों को प्रभु में लगाकर हम इस संसार में प्रत्येक पदार्थ का 'यथायोग' करनेवाले बनते हैं। उस समय संसार का प्रत्येक पदार्थ हमारा मित्र होता है। अपने इन्द्रियरूप अश्वों को सदा उत्तमता से गतिमय (श्यै) रखनेवाला 'श्यावाश्व' प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है। इसके इन्द्रियाश्व विषयों में विचरण करते हैं, परन्तु वेद में दिये गये प्रभु के निर्देशों के अनुसार। इसी कारण यह आत्मवशी इन्द्रियों से विषयों में विचरता हुआ भी उनमें उलझता नहीं और 'प्रसाद' को प्राप्त करता है।

भावार्थ—हम मन व बुद्धियों को प्रभु में लगाएँ, जिससे इस योग से—चित्तवृत्तिनिरोध से इस संसार में विचरें, परन्तु उलझें नहीं।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**द्यावापृथिव्यौ**। छन्दः—**ब्राह्मीगायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

द्यावापृथिवी=दीप्त मस्तिष्क व स्वस्थ शरीर

देवी द्यावापृथिवी मुखस्य वामद्य शिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्याः।
मुखाय त्वा मुखस्य त्वा शीर्ष्णे॥ ३॥

'द्यावापृथिवी' का अर्थ अध्यात्म में मस्तिष्क और शरीर है। 'मूर्ध्नो द्यौः, पृथिवी शरीरम्'। ये दोनों 'देवी'=दिव्य गुणोंवाले तब होते हैं जब शरीर तो नीरोग हो और मस्तिष्क सूक्ष्म विषयों के ग्रहण में समर्थ हो। **वाम्**=इन दिव्य गुणोंवाले शरीर व मस्तिष्क के द्वारा **अद्य**=आज **मखस्य**=यज्ञ के **शिरः**=शिर को **राध्यासम्**=सिद्ध करूँ। **पृथिव्याः**=इस पृथिवी के **देवयजने**=देवताओं के यज्ञ करने के स्थान में मैं **त्वा** =तुझे **मखाय**=यज्ञ के लिए ग्रहण करता हूँ। **त्वा**=तुझे **मखस्य शीर्ष्णे**=यज्ञ के शिखर पर पहुँचने के लिए ग्रहण करता हूँ। 'दध्यङ् आथर्वण' प्रभु का ध्यान करनेवाला, डाँवाँडोल न होनेवाला निश्चय करता है कि

मैं अपने नीरोग शरीर व ज्ञान से दीप्त मस्तिष्क के द्वारा अपने जीवन को यज्ञमय बनाऊँ। मैं प्रत्येक वस्तु को इसीलिए ग्रहण करूँ कि उसके द्वारा मैं यज्ञ को सिद्ध करनेवाला होऊँ, यज्ञ के शिखर पर पहुँचने के लिए मेरी प्रत्येक शक्ति हो। मख शब्द का अर्थ यज्ञ है। गोपथ (उ.२.५) में मख की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है 'मख इत्येतद् यज्ञनामधेयं छिद्रप्रतिषेधसामर्थ्यात् छिद्रं खमित्युक्तं तस्य मेति प्रतिषेधः मा यज्ञम् छिद्रं करिष्यतीति।' अर्थात् मख यह यज्ञ का नाम है, छिद्र के प्रतिषेध की शक्ति के कारण। 'ख' का अर्थ है—छिद्र, दोष, उसका 'मा' से प्रतिषेध हो रहा है। यज्ञ दोष का निवारण करेगा। एवं, मैं अपनी प्रत्येक शक्ति को यज्ञ के प्रति अर्पित करने का प्रयत्न करूँगा तो मेरा जीवन निर्दोष बनेगा। इसी विचार से 'दध्यङ्' इन्हें यज्ञ में लगाये रखने का ध्यान करता है और यज्ञ के मार्ग से डाँवाँडोल नहीं होता, इसीलिए तो यह 'आर्थवण' है।

भावार्थ—मेरा शरीर व मस्तिष्क मुझे यज्ञ के शिखर पर पहुँचाएँ।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

दिव्य इन्द्रियाँ=उत्तम अपानशक्तियाँ

देव्यो वम्रयो भूतस्य प्रथमजा मखस्य वोऽद्य शिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्याः। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे॥४॥

'वम्री' शब्द वम् धातु से बना है, जिसका अर्थ है उद्गिरण=बाहर फेंकना। शरीर में वह शक्ति जो मल को शरीर से बाहर फेंकती है, 'वम्री' कहलाती है। यही अपानशक्ति है। वह अपानशक्ति ठीक काम करती रहती है तो पसीने के द्वारा व मल-मूत्र के शोधन के द्वारा यह शरीर को पूर्ण स्वस्थ बनाये रखती है। इनके ठीक कार्य करने पर ही अन्य शक्तियों का विकास निर्भर है, अतः 'दध्यङ्' कहता है कि **देव्यः**=दिव्य गुणोंवाली **वम्रयः**=उद्गिरणशक्तियो! जो तुम **भूतस्य**=प्राणिमात्र के **प्रथमजा**=सर्वाधिक विकास (जन्) का कारण हो, **वः**=तुम्हारे द्वारा मैं **अद्य**=आज **मखस्य शिरः**=यज्ञ के शिखर को **राध्यासम्**=सिद्ध करूँ। **पृथिव्याः**=इस पृथिवी के **देवयजने**=देवताओं के यज्ञ करने के स्थान पर **त्वा**=तुझे **मखाय**=यज्ञ के लिए ग्रहण करता हूँ, **त्वा**=तुझे **मखस्य**=यज्ञ के **शीर्ष्णे**=शिखर पर पहुँचने के लिए ग्रहण करता हूँ। हम अपानशक्ति को ठीक रखें तभी तो पिछले मन्त्रों में वर्णित दीप्तमस्तिष्क व स्वस्थ शरीर को पा सकेंगे। ये अपान-शक्तियाँ दिव्य हैं, बड़ी सुन्दर हैं, ये हमारे जीवन को स्वस्थ बनाती हैं, हमारी सब शक्तियों के विकास का कारण बनती हैं। इनके द्वारा मैं अपने जीवन में यज्ञ को सिद्ध करनेवाला बनूँ, यज्ञ के शिखर पर पहुँच जाऊँ।

भावार्थ—मेरी अपानशक्तियाँ मुझे स्वस्थ बनाकर यज्ञ में समर्थ करें।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**स्वराड्ब्राह्मीगायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

सर्वप्रथम कर्त्तव्य

इयत्यग्रऽआसीन्मखस्य तेऽद्य शिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्याः। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे॥५॥

इयति=इतनी ही **अग्रे**=सबसे प्रथम स्थान में **आसीत्**=मनुष्य की साधना थी। यह यज्ञ ही मनुष्य का मौलिक कर्त्तव्य था। यज्ञान्तर्गत 'देवपूजा, सङ्गतिकरण व दान' ही मुख्य धर्म थे, इसलिए 'दध्यङ्' कहता है कि **अद्य**=आज **ते मखस्य**=तुझ यज्ञ के **शिरः**=शिखर को

राध्यासम्=सिद्ध करूँ। **पृथिव्याः**=पृथिवी के **देवयजने**=देवताओं के यज्ञ करने के स्थान में मैं **त्वा**=तुझे **मखाय**=यज्ञ के लिए ही ग्रहण करता हूँ, **त्वा**=तुझे **मखस्य शीर्ष्णे**=यज्ञ के शिखर पर पहुँचने के लिए ग्रहण करता हूँ। मनुष्य का प्रथम कर्त्तव्य यह यज्ञ ही है। यज्ञ एक पर्वत है जिसका मूल 'देवजपूजा' है, इस पर्वत का मध्य 'सङ्गतिकरण' है और इसका शिखर 'दान' है। हमें इस मानवजीवन को प्राप्त करके देवपूजा से जीवन प्रारम्भ करना है। हम माता, पिता, आचार्य व अतिथियों को देव समझें और उनकी आज्ञा में चलते हुए उनका आदर करनेवाले बनें। हमारा व्यावहारिक जीवन 'सङ्गतिकरण'वाला हो। हम सबके साथ मिलकर चलना सीखें। हमारा परस्पर विरोध न हो। हम अपने स्वयार्जित धन में से कुछ-न-कुछ देनेवाले बनें। इसी को यज्ञशेष व अमृत का सेवन कहते हैं। इस दान की प्रवृत्ति को अपनाकर मैं यज्ञपर्वत के शिखर पर पहुँच जाता हूँ।

भावार्थ—मेरा जीवन सदा इस बात का ध्यान करके चले कि 'देवपूजा, सङ्गतिकरण व दान' ही मेरे सबसे प्रथम व मुख्य कर्त्तव्य हैं। ये ही कर्त्तव्यों के अग्रभाग में स्थित हैं।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**भुरिगतिजगती**। स्वरः—**निषादः**।

इन्द्र के ओज

इन्द्रस्यौजः स्थ मखस्य वोऽद्य शिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्याः। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे॥६॥

इन्द्रस्य=जितेन्द्रिय पुरुष के **ओजः**=ओज (शक्ति) **स्थ**=हो। **वः**=तुम्हारे द्वारा **अद्य**=आज **मखस्य**=यज्ञ के **शिरः**=शिखर को **राध्यासम्**=सिद्ध करूँ। **पृथिव्याः**=इस पृथिवी के **देवयजने**=देवों के यज्ञ करने के स्थान में **त्वा**=तुझे **मखाय**=यज्ञ के लिए ग्रहण करता हूँ, **मखस्य शीर्ष्णे**=यज्ञ के शिखर पर पहुँचने के लिए **त्वा**=तुझे ग्रहण करता हूँ। सचमुच, यज्ञ के लिए और यज्ञ के शिखर पर पहुँचने के लिए ही मन्त्र में तीन बार इस बात को दोहराया गया है कि 'यज्ञ के लिए और यज्ञ के शिखर पर पहुँचने के लिए मैं ओज का ग्रहण करता हूँ। 'ओज' नाम है शक्ति का। यह शक्ति इन्द्र की है, अर्थात् जितेन्द्रिय पुरुष को ही प्राप्त होती है। अजितेन्द्रियता शक्ति को क्षीण करनेवाली है। मैं जितेन्द्रिय बनकर शक्ति प्राप्त करूँ और उस शक्ति का यज्ञों की सिद्धि के लिए विनियोग करूँ। जीवात्मा की चौबीस शक्तियाँ हैं। ये चौबीस-की-चौबीस मुझे यज्ञ के शिखर पर पहुँचानेवाली हों। यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि इन्द्र की चौबीस शक्तियाँ हैं और चौबीस बार ही 'मखाय त्वा मखास्य त्वा शीर्ष्णे' यह वाक्य आवृत्त हुआ है, 'यज्ञ के लिए और यज्ञ के शिखर पर पहुँचने के लिए' यह बात चौबीस बार दुहराई गई है, एवं इन्द्र ने अपनी एक-एक शक्ति को यज्ञ की सिद्धि के लिए ही विनियुक्त करना है।

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष की शक्तियाँ यज्ञ की सिद्धि के लिए विनियुक्त होती हैं।

ऋषिः—**कण्वः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**निचृदष्टिः**। स्वरः—**मध्यमः**॥

ज्ञान, सूनृतवाणी व यज्ञ

प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः प्र देव्येतु सूनृता। अच्छा वीरं नर्यं पङ्क्तिराधसं देवा यज्ञं नयन्तु नः। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे॥७॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'कण्व' मेधावी है। इसकी प्रार्थना है कि १. **ब्रह्मणःपतिः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु हमें **प्रएतु**=प्रकर्षेण प्राप्त हो। इस ज्ञान के स्वामी की प्राप्ति से हमारा ज्ञानभण्डार समृद्ध हो। २. **देवी** =दिव्यगुणोंवाली **सूनृता**=(सु+ऊन+ऋत) उत्तम, दुःखों का परिहाण करनेवाली ठीक वाणी **प्रएतु**=प्रकर्षेण प्राप्त हो, अर्थात् हम प्रिय सत्यवाणी को बोलनेवाले हों। ३. **देवाः**=सब देव **नः**=हमें **वीरम्**=वीर बनानेवाले **नर्यम्**=नरहित के कार्यों में प्रेरित करनेवाले **पङ्क्तिराधसम्**=कर्मेन्द्रियपञ्चक, ज्ञानेन्द्रियपञ्चक, प्राणपञ्चक व अन्तःकरणपञ्चक (हृदय, मन, बुद्धि, चित्त व अहंकार) की उत्तमता को सिद्ध करनेवाले **यज्ञम् अच्छ**=यज्ञ की ओर **नयन्तु**=ले-चलें। संक्षेप में, हमारे मस्तिष्क ज्ञान से परिपूर्ण हों, हमारी जिह्वा सूनृत वाणी का उच्चारण करनेवाली हो और हमारे हाथ यज्ञों में व्यापृत रहें। मैं **त्वा**=ज्ञान को, सूनृत वाणी को व उत्तम कर्मों को **मखाय**=सब दोषों का निवारण करनेवाले यज्ञ के लिए ग्रहण करता हूँ। **त्वा**=इन ज्ञान आदि को इसलिए अपनाता हूँ कि **मखस्य शीर्ष्णे**=यज्ञ के शिखर पर पहुँच सकूँ। यज्ञ के लिए, यज्ञ के शिखर पर पहुँचने के लिए। यज्ञ के लिए और यज्ञ के शिखर पर पहुँचने के लिए ही।

भावार्थ—मेरा ज्ञान, मेरी सूनृतवाणी, मेरे उत्तम कर्म—ये सभी मुझे यज्ञमय बनाएँ।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**स्वराडतिधृतिः**। स्वरः—**षड्जः**॥

यज्ञ का शिखर

मखस्य शिरोऽसि। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखस्य शिरोऽसि। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखस्य शिरोऽसि। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे॥८॥

'दध्यङ्' आत्मप्रेरणा देते हुए कहते हैं कि **मखस्य शिरः असि**=तू यज्ञ का शिखर है, अर्थात् तूने यज्ञ के पर्वत पर आरोहण किया है, तराई में बैठा नहीं रह गया। मेखला तक पहुँचकर तू शिखर तक पहुँचा है। तुझमें यज्ञ ने पूर्णरूप से मूर्त्तरूप धारण किया है। यह दध्यङ् किसी भी वस्तु को ग्रहण करते हुए कहता है कि मैं **त्वा**=तुझे **मखाय**=यज्ञ के लिए ग्रहण करता हूँ, **त्वा**=तुझे **मखस्य**=यज्ञ के **शीर्ष्णे**=शिखर पर पहुँचने के लिए ग्रहण करता हूँ। 'शरीर, मन व बुद्धि' तीनों के दृष्टिकोण से उल्लिखित बात को कहने के लिए उल्लिखित वाक्य को यहाँ तीन बार कहा गया है और इस वाक्य को कहने के बाद यज्ञ के तीन अंशों 'देवपूजा, सङ्गतिकरण व दान' के दृष्टिकोण से कहते हैं कि **त्वा**=तुझे **मखाय**=यज्ञ के लिए, **त्वा**=तुझे **मखस्य शीर्ष्णे**=यज्ञ के शिखर पर पहुँचने के लिए ग्रहण करता हूँ।

भावार्थ—(क) हमें शरीर के दृष्टिकोण से यज्ञ के शिखर पर पहुँचना है, अर्थात् अपनी शारीरिक शक्ति को निर्बलों की रक्षा के लिए विनियुक्त करना है। (ख) मन के दृष्टिकोण से भी यज्ञ के शिखर पर पहुँचना है, अर्थात् मन में कभी भी किसी का द्रोह-चिन्तन न करके सबके लिए मङ्गल की कामना करनी है। (ग) हमें बुद्धि के दृष्टिकोण से भी यज्ञ के शिखर पर जाना है, अर्थात् हमारी बुद्धि सदा सबके भले की योजनाओं के बनाने में विनियुक्त हो।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**अतिशक्वरी**। स्वरः—**पञ्चमः**।

पिता, माता व पुत्र

अश्वस्य त्वा वृष्णः शक्ना धूपयामि देवयजने पृथिव्याः। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। अश्वस्य त्वा वृष्णः शक्ना धूपयामि देवयजने पृथिव्याः। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। अश्वस्य त्वा वृष्णः शक्ना धूपयामि देवयजने पृथिव्याः। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे॥९॥

गृहस्थ में पिता, माता व सन्तान तीन का समावेश होता है। तैत्तिरीय उपनिषद् के शब्दों में 'पिता उत्तरपक्षः, माता दक्षिणपक्ष, पुत्रः सन्धानम्'=एक ओर पिता है, दूसरी ओर माता है और पुत्र उन्हें जोड़नेवाला है। इन तीनों को ही अपने जीवन को सुन्दर बनाना है तभी गृहस्थ स्वर्ग बनेगा। 'कैसा जीवन बनाना है?' इसी प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत मन्त्र में है १. **त्वा**=तेरे द्वारा **अश्वस्य**=(अश्नुते कर्मसु) कर्मों में व्याप्त होनेवाले **वृष्णः**=सबपर सुखों की वर्षा करनेवाले पुरुष की **शक्ना** ('शक्यना' में य का लोप होकर शक्ना) शक्ति से **धूपयामि**=अपने जीवन को सुगन्धित करता हूँ, अर्थात् मेरा जीवन कर्ममय, सबका भला करनेवाला व शक्तिसम्पन्न हो। हाथों में कर्म हों, मन में सब के लिए स्नेह की भावना हो तथा शरीर शक्तिसम्पन्न व स्वस्थ हो। **त्वा**=तुझे मैं **मखाय**=यज्ञ के लिए ग्रहण करता हूँ **त्वा**=तझे इसलिए ग्रहण करता हूँ कि मैं **मखस्य शीर्ष्णे**=यज्ञ के शिखर पर पहुँचने में समर्थ होऊँ। इस **पृथिव्याः**=पृथिवी के **देवयजने**=देवों के यज्ञ करने के स्थान में मैं प्रत्येक वस्तु का स्वीकार यज्ञ के लिए करता हूँ, मेरा जीवन यज्ञिय बने। मैं यज्ञरूप श्रेष्ठतम कर्मों में लगा रहूँ (अश्व=अश व्याप्तौ), सबपर सुखों की वर्षा करूँ (वृष् बरसना) तथा शक्तिशाली बनूँ (शक्ना) उत्तम कर्मों से, सबका भला चाहने व करने से तथा स्वास्थ्य व शक्ति से मेरा जीवन सुगन्धित हो उठे। २. इसी प्रकार गृहस्थ में विविध वस्तुओं का उपादान करती हुई माता कहती है कि मैं **त्वा**=तुझे ग्रहण करके **अश्वस्य**=कर्मों में व्याप्त होनेवाले **वृष्णः**=सुखों के वर्षक व्यक्ति की **शक्ना**=शक्ति से **धूपयामि**=अपने जीवन को सुगन्धित करती हूँ। **पृथिव्याः**=इस पृथ्वी के **देवयजने**=देवों के यज्ञ करने के स्थान में **त्वा**=तुझे **मखाय**= यज्ञ के लिए और **त्वा**=तुझे **मखस्य शीर्ष्णे**=यज्ञ के शिखर पर पहुँचने के लिए ग्रहण करती हूँ। ३. तीसरी बार इसी मन्त्रभाग का उच्चारण करता हुआ पुत्र इसी बात को दुहराता है और निश्चय करता है कि कर्मों में सदा व्याप्त रहता हुआ, सबका भला चाहता हुआ वह शक्तिशाली बनेगा। प्रत्येक पदार्थ को यज्ञियवृत्ति से ग्रहण करेगा और यज्ञ के शिखर पर पहुँचने का प्रयत्न करेगा। ४. इस प्रकार सङ्कल्प करके पिता, माता व पुत्र तीनों ही तीन बार इस सङ्कल्प को फिर से आवृत्त करते हैं कि **मखाय त्वा**=तुझे यज्ञ के लिए ग्रहण करता हूँ। **त्वा**=तुझे **मखस्य शीर्ष्णे**=यज्ञ के शिखर पर पहुँचने के लिए ग्रहण करता हूँ।

भावार्थ—जिस घर में पिता, पुत्र व माता सभी 'उत्तम कर्मोंवाले तथा भद्र मनोवृत्तिवाले, स्वस्थ, शक्तिसम्पन्न तथा यज्ञप्रवृत्त' होते हैं, वही घर स्वर्ग बन पाता है।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

सरलता, साधुता व सुस्थिति

ऋजवे त्वा साधवे त्वा सुक्षित्यै त्वा। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे॥१०॥

प्रस्तुत मन्त्र के देवता 'विद्वांस:'=ज्ञानी हैं। ये प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि **त्वा**=तुझे हम ग्रहण करते हैं, अर्थात् प्रातः-सायं आपका स्मरण करते हैं। किसलिए? **ऋजवे**=ऋजुता के लिए, सरलता के लिए। हमारा जीवन सरल बना रहे, हमारे मनों में कुटिलता का प्रवेश न हो जाए। २. हे प्रभो! **त्वा**=आपको हम ग्रहण करते हैं **साधवे**=साधुता के लिए। 'साध्नोति परकार्यमिति साधुः'=दूसरों के कार्यों को सिद्ध करनेवाला साधु होता है, अर्थात् परोपकार की वृत्तिवाला। 'हम भी परोपकार की वृत्तिवाले बनें' इसी लक्ष्य से हम हे प्रभो! आपको ग्रहण करते हैं, आपका ध्यान करते हैं। ३. **त्वा**=आपको **सुक्षित्यै**=(क्षि=निवासगत्योः) उत्तम निवास व गति के लिए ग्रहण करते हैं। आपके स्मरण से हम अपनी भौतिक आवश्यकताओं को ठीक प्रकार से पूर्ण करते हुए सदा उत्तम गतिवाले होंगे। ४. इस प्रकार उत्तम जीवन बनाकर हम **त्वा**=आपको **मखाय**=यज्ञ के लिए ग्रहण करते हैं। **त्वा**=आपको ग्रहण करते हैं **मखस्य शीर्ष्णे**=यज्ञ के शिखर पर पहुँचने के लिए। इस अन्तिम वाक्य को यहाँ तीन बार फिर आवृत्त किया है, इसलिए कि 'आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक' तीनों दृष्टिकोणों से हमारा यज्ञ चले। हमें तीनों दृष्टिकोणों से शान्ति प्राप्त हो। यह पहले कहा ही जा चुका है कि यहाँ तक चौबीस बार इस मन्त्र को दुहराया है कि हमारी चौबीस-की-चौबीस शक्तियाँ हमें यज्ञप्रवृत्त करनेवाली हों। इसी में समझदारी है। विद्वान् लोग ऐसा ही करते हैं। उनका जीवनसूत्र होता है 'ऋजुता, साधुता व उत्तमता'। इस जीवनसूत्र को बनाकर ये सदा यज्ञरूप पर्वत के आरोहण में तत्पर रहते हैं।

भावार्थ—हम कुटिलता को अपने से दूर रक्खें, दुर्जनता से दूर रहें और संसार में हमारा निवास व क्रियाएँ उत्तम हों।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

संयम, यज्ञ व तप

यमाय त्वा मखाय त्वा सूर्यस्य त्वा तपसे। देवस्त्वा सविता मध्वानक्तु पृथिव्याः सꣳस्पृशस्पाहि। अर्चिरसि शोचिरसि तपोऽसि॥११॥

प्रस्तुत मन्त्र में 'दध्यङ्' से प्रभु कहते हैं कि १. **त्वा**=तुझे मैंने इस संसार में **यमाय**=संयम के लिए रक्खा है। तेरा जीवन आत्मसंयमवाला हो। संसार के विषय तेरी इन्द्रियों व मन को सदा अपनी ओर आकृष्ट करेंगे, तूने उनमें आसक्त नहीं हो जाना। २. **त्वा**=तुझे मैंने **मखाय**=यज्ञ के लिए इस संसार में भेजा है। तूने अपना जीवन यज्ञमय बनाने का प्रयत्न करना। यज्ञ 'मख' है (मा+ख) यह तेरे सब दोषों को दूर करेगा। यज्ञ करने पर दोष तुझमें आएँगे ही नहीं। ३. **त्वा**=तुझे **सूर्यस्य तपसे**=सूर्य के तप के लिए मैंने निश्चित किया है। तूने सूर्य के समान ही तपस्वी होना है। सूर्य ने एक बार घोड़े रथ में जोते, तो खोले ही नहीं। यह सूर्य निरन्तर क्रियाशील है, यह आराम नहीं करता। तूने भी सतत क्रियाशील बनना है, आराम नहीं करने लगना, क्रियाशीलता ही तप है, यह तुझे दीप्त करेगी, सूर्य की तरह चमकनेवाली होगी ४. **सविता देवः**=सबका प्रेरक, दिव्यता का पुञ्ज प्रभु **त्वा**=तुझे **मध्वा**=माधुर्य से **अनक्तु**=अलंकृत करे। तेरा जीवन 'संयत, यज्ञमय व क्रियाशील' होने के साथ माधुर्य से परिपूर्ण हो। तू किसी के प्रति कटु शब्दों का प्रयोग करनेवाला न हो। ५. **पृथिव्याः**=पृथिवी के **संस्पृशः**= संस्पर्श से **पाहि**=अपने को तू बचा। तू इन पार्थिव भोगों में आसक्त न हो जा। ये भोग तुझे भोगनेवाले प्रमाणित होंगे। तू इनमें आसक्त हुआ कि इनका शिकार हुआ। ५. यदि तू इस प्रकार पार्थिव भोगों में न फँसा तो सचमुच तू **अर्चिः**

असि=(अर्च पूजायाम्) सच्चा पुजारी है। प्रभु की उपासना का सबसे प्रबल प्रमाण पार्थिव पदार्थों में प्रसक्त न होना ही है। **शोचिः असि**=(शुच्) तू अपने जीवन को पवित्र बनानेवाला है। पार्थिव भोगों में आसक्ति ही सब अपवित्रता का मूल है। **तपः असि**=पार्थिव भोगों में न फँसा तो तू सचमुच तपस्वी है। भोगासक्ति से ऊपर उठना महान् तपस्या है। 'तपस्वी होना' भोगासक्ति के अभाव का स्वरूप है, इसका परिणाम पवित्रता है और इससे स्वतः हो जानेवाली क्रिया प्रभुपूजा है।

भावार्थ—हम 'संयमी, यज्ञमय, क्रियाशील, माधुर्य से परिपूर्ण, पार्थिव भोगों के प्रति अनासक्त तथा प्रभुपूजक, पवित्र व तपस्वी बनें।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**पृथवीः**। छन्दः—**स्वराडुत्कृतिः**। स्वरः—**षड्जः**।

पत्नी के जीवन की पाँच बातें।

अनाधृष्टा पुरस्ताद्ग्नेराधिपत्यऽआयुर्मे दाः पुत्रवती दक्षिणतऽइन्द्रस्याधिपत्ये प्रजां मे दाः। सुषदा पश्चाद्देवस्य सवितुराधिपत्ये चक्षुर्मे दाऽआश्रुतिरुत्तरतो धातुराधिपत्ये रायस्पोषं मे दाः। विधृतिरुपरिष्टाद् बृहस्पतेराधिपत्यऽओजो मे दा विश्वाभ्यो मा नाष्ट्राभ्यस्पाहि मनोरश्वासि॥१२॥

पति पत्नी से कहता है १. **पुरस्तात्**=इस आगे बढ़ने की (पुरः=आगे) पूर्व दिशा में **अनाधृष्टा**=किसी भी प्रकार से धर्षित, वासनाओं से पराजित न होती हुई तू **अग्नेः**=अग्नि के **आधिपत्ये**=आधिपत्य में, अर्थात् अग्नि-तुल्य पतिवाली होती हुई **मे**=मेरे लिए **आयुः**=उत्तम दीर्घजीवन **दाः**=देनेवाली हो। पत्नी को अनाधृष्ट बनना, वासनाओं से कभी पराजित नहीं होना तो पति ने अग्नि बनना, सदा आगे बढ़ने की भावनावाला होना। पूर्व दिशा का दोनों के लिए यही पाठ है। आगे-और-आगे जैसे सूर्य इस दिशा में बढ़ रहा है, इसी प्रकार पति-पत्नी ने आगे-और-आगे चलना है। वासनाओं से अपराजित, आगे बढ़ने की भावना से परिपूर्ण तभी उत्तम दीर्घजीवन की प्राप्ति होगी। ३. **दक्षिणतः**=अब दाक्षिण्य=उदारता व कुशलता की दक्षिण दिशा में **पुत्रवती**=उत्तम सन्तानोंवाली तू **इन्द्रस्य आधिपत्ये**=इन्द्र के आधिपत्य में, अर्थात् जितेन्द्रिय व धन कमानेवाले पतिवाली तू **मे**=मेरे लिए **प्रजाम्**=शक्तियों के विकासवाली उत्तम सन्तान दे। पति-पत्नी दोनों ने दक्षिण दिशा में दाक्षिण्य=उदारता व कर्मकुशलता का पाठ पढ़ना है। पत्नी ने अपना मुख्य कार्य सन्तानों का निर्माण समझना है, उसे उत्तम पुत्रोंवाली—पुत्रवती बनना है। पति ने **इन्द्र**=जितेन्द्रिय व धन कमानेवाला होना है। ऐसा होने पर ही इनकी सन्तानें **प्रजा**=प्रकृष्ट विकासवाली होंगी। ३. **पश्चात्**=अब पश्चिम दिशा में **सुषदा**=घर में उत्तमता से निवास करनेवाली **देवस्य सवितुः**=सवितादेव के आधिपत्य में, अर्थात् कमानेवाले (सविता षु=प्रसव=पैदा करना=धन कमाना) तथा उदार (देवो दानात्) पतिवाली तू **मे**=मुझे **चक्षुः**=प्रकाश को **दाः**=देनेवाली हो, अर्थात् संघर्ष व समस्या आने पर उत्तम सलाह देनेवाली हो, मार्ग को सुझानेवाली हो। पत्नी ने मुख्यरूप से घर में ही अपना स्थान समझना है, उसने घर को उत्तम बनाना है। कमाना काम पति का है, वह निकम्मा न हो, सदा श्रम से धनार्जन करे तथा पत्नी को उदारता से घर के व्यय के लिए धन देनेवाला हो। घर में पूर्ण स्वास्थ्य के साथ निवास करती हुई पत्नी सदा नेक सलाह देनेवाली होती है। समस्याओं में पति के लिए सहायक होती है। पत्नी पति की आँख बनती है। ४. **उत्तरतः**=इस ऊपर उठने की उत्तर दिशा में **आश्रुतिः**=समन्तात्, सब ओर से ज्ञान की बातों को श्रवण करनेवाली तू **धातुः आधिपत्ये**=धाता के

आधिपत्य में, अर्थात् धारण करनेवाले पतिवाली होती हुई **मे**=मेरे लिए **रायस्पोषम्**=धन के पोषण को **दाः**=देनेवाली हो। वस्तुतः पति ने तो कमाना ही है, उसका बुद्धिमत्तापूर्वक व्यय पत्नी ने ही करना है। विवाह संस्कार में इसी दृष्टिकोण से वधू का एक व्रत यह भी होता है कि मेरा सारा व्यवहार घर के ऐश्वर्य को बढ़ानेवाला होता है 'समृद्धिकरणम्'। पत्नी की यह विशेषता होनी चाहिए कि वह 'आश्रुति' हो, ख़ूब सुननेवाली। 'बोलना कम, सुनना अधिक' यही आदर्श गृहिणी का आदर्श वाक्य हो। पति 'धाता' धारण करनेवाला हो, पोषण के लिए पर्याप्त धन न कमानेवाला पति 'पति' होने योग्य नहीं है। पत्नी ने उस कमाये हुए धन का उचित व्यय करते हुए घर पर कभी ऋण का बोझ नहीं आने देना। ५. **उपरिष्टात्**=इस ऊर्ध्वा दिशा की ओर देखते हुए **विधृतिः**=विशिष्ट धैर्यवाली, कभी भी मानस सन्तुलन को न खोनेवाली तू **बृहस्पतेः**=बृहस्पति के **आधिपत्ये**=आधिपत्य में, अर्थात् उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त करनेवाले पतिवाली तू **मे**=मेरे लिए **ओजः**=ओज की, वृद्धि की कारणभूत शक्ति को **दाः**=देनेवाली हो। पत्नी में धैर्य व दृढ़ता हो, पति में उत्कृष्ट ज्ञान हो तो घर में वह शक्ति बनी रहती है जो सब उन्नतियों का कारण है। तभी घर उन्नति के शिखर पर पहुँचता है, यही ऊर्ध्वा दिशा में स्थित होना है। ६. इस प्रकार के जीवनवाली बनकर तू **मा**=मुझे **विश्वाभ्यः**=सब **नाष्ट्राभ्यः**=नाशक शक्तियों से **पाहि**=बचा। जिस समय पत्नी **'अनाधृष्ट'** न होकर वासनाओं का शिकार होने से मर्यादा का उल्लंघन कर जाती है, सन्तानों का ध्यान न करने से उत्तम पुत्रोंवाली 'पुत्रवती' नहीं होती, घर में उत्तमता से रहनेवाली 'सुषदा' न बनकर कुलटा=इधर-उधर जानेवाली हो जाती है, 'आश्रुति' न होकर बहुत बोलती है, बोल-बोलकर पति के लिए उबाऊ-सी हो जाती है, 'विधृति'=दृढ़ धैर्यवाली न होकर झट क्रोध में आ जाती है तो पति का जीवन कड़वा हो जाता है और वह भी अपना आमोद-प्रमोद ग़लत स्थानों पर ढूँढता है, व्यभिचारणियों की खोज में रहता है और उनमें फँसकर अपने जीवन को विनष्ट कर लेता है। 'अनाधृष्टा, पुत्रवती, सुषदा, आश्रुति व विधृति' पत्नी पति को इस विनाश से बचा लेती है। ७. हे पत्नि! तू **मनोः**=ज्ञान-सम्पन्न-समझदार पुरुष की **अश्वा**=सदा कार्यों में व्यापृत रहनेवाली पत्नी **असि**=है। 'पति ने समझदार होना, पत्नी ने घर के कार्यों में व्याप्त रहना' यह मूल मन्त्र है घर को स्वर्ग बनाने का।

भावार्थ—पति-पत्नी कर्त्तव्यों को समझेंगे तो घर क्यों न स्वर्ग बनेगा?

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

पति की कामना

स्वाहा॑ मरुद्भिः॒ परि॑ श्रीयस्व दि॒वः सꣳ स्पृ॒शस्पा॑हि। मधु॒ मधु॒ मधु॑॥१३॥

पिछले मन्त्र में पति के 'अग्नि' तुल्य होने का उल्लेख है। अग्नि की पत्नी 'स्वाहा' है, अतः प्रस्तुत मन्त्र में पत्नी को 'स्वाहा' कहा गया है। पति कहता है कि तू १. **स्वाहा**=(स्व+हा) अपना उत्तम त्याग करनेवाली है। पत्नी के जीवन का प्रारम्भ ही त्याग से होता है। वह अपने सारे घर-बार को छोड़कर एक नये घर का निर्माण करने के लिए पग उठाती है। सामान्यतः सबको खिला-पिलाकर खाने का ध्यान करती है। अपने लिए बचे या न बचे, वह बच्चों का पूरा ध्यान करती है। माता बच्चे के पोषण के लिए अपने सारे आराम को समाप्त कर देती है। वस्तुतः माता के त्याग पर ही घर का निर्माण होता है। २. **मरुद्भिः**=प्राणों से **परिश्रीयस्व**=तू सेवित हो, अर्थात् तू प्राणशक्ति से युक्त हो। माता निर्बल हो तो सन्तान भी निर्बल होगी। माता के स्वास्थ्य पर ही बच्चों का स्वास्थ्य निर्भर

करता है। ३. **दिवः**=(दिव्=स्वप्न) दिवास्वप्न के **संस्पृशः**=सम्पर्क से **पाहि**=तू अपने को बचानेवाली हो, चूँकि **'दिवा स्वपन्त्याः स्वापशीलः'** इस ब्राह्मणवाक्य के अनुसार दिन में सोनेवाली माता का बच्चा भी सोंदू ही होगा। 'दिव्' शब्द द्यूत, जूए की प्रवृत्ति का भी संकेत करता है। माता के अन्दर नाममात्र भी जूए से धन-प्राप्ति की कामना न हो, वह सदा पुरुषार्थजन्य धन को ही चाहे। माता में द्यूत प्रवृत्ति होने पर बच्चा भी कुछ जुआरी व सट्टेबाज ही बनेगा। ४. सबसे बढ़कर आवश्यक बात यह है कि **मधु मधु मधु**=तूने मधुर बनना, शहद के समान मधुर वचनोंवाली होना, तेरा व्यवहार माधुर्य से परिपूर्ण हो।

भावार्थ—आदर्श पत्नी में त्याग, प्राणशक्ति, पुरुषार्थ व माधुर्य का निवास होता है।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

बच्चों का पिता

गर्भो देवानां पिता मतीनां पतिः प्रजानाम्।
सं देवो देवेन सवित्रा गत सꣳ सूर्येण रोचते॥१४॥

पिता के जीवन पर ही बहुत कुछ बच्चों का जीवन निर्भर करता है, अतः आदर्श पिता के जीवन का चित्रण करते हैं १. **गर्भो देवानाम्**=बच्चों के पिता को 'देवों का गर्भ' होना चाहिए, अर्थात् दिव्य गुणों को अपने में धारण करनेवाला बनना चाहिए। पिता की ये सब अच्छाइयाँ ही पुत्र में अवतीर्ण होंगी। जैसा पिता होगा, वैसा ही पुत्र बनेगा। कहा तो यह जाता है कि जाया (पत्नी) को 'जाया' इसलिए कहते हैं कि 'यदस्यां जायते पुनः'=इसमें पति फिर जन्म लेता हैं, एवं पिता ही पुत्ररूप में उत्पन्न होता है, अतः दिव्य गुणोंवाले पिता का पुत्र भी दिव्य गुणोंवाला होगा। २. **पिता मतीनाम्**=यह सब मतियों, ज्ञानों का रक्षक (पा रक्षणे) बनता है। ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। यह ऊँचा ज्ञान उसे अभिमान की भावना से बचानेवाला होगा, क्योंकि ज्ञान की कमी सदा हमारे अभिमान का कारण बनती है। ३. **प्रजानाम् पतिः**=यह अपने सन्ताओं का रक्षक होता है, उनका अति सुन्दरता से पालन व निर्माण करता है। सन्तान का पालन ही वस्तुतः पिता का मौलिक कर्त्तव्य है। इसी में सफलता से उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है। ४. इसी प्रकार **देवः**=बड़े उत्तम व्यवहारवाला यह (दिव् व्यवहार) पिता **सवित्रा**=जन्मदाता (षू=प्रसव=जन्म देना) **देवेन**=उस दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु से सङ्गत, प्रातः-सायं मेल करनेवाला **सूर्येण**=ब्रह्मज्ञान के प्रकाश से **सम् गत**=सङ्गत होता है और **सम् रोचते**=सम्यक्तया रोचमान होता है। वस्तुतः अपनी दिव्यता को स्थिर रखने के लिए प्रातः-सायं उस प्रभु के चरणों में स्थित होना आवश्यक है। उससे दूर हुए, और हमने अपनी दिव्यता खोई। प्रभु के सामीप्य में हमारी ज्ञानदीप्ति सूर्य के समान चमकती है।

भावार्थ—आदर्श पिता वह है जो १. दिव्य गुणों को धारण करता है २. ज्ञान को महत्त्व देता है ३. सन्तान-निर्माण को अपना प्रारम्भिक कर्त्तव्य समझता है ४. प्रभु से मेल को टूटने नहीं देता और ५. इसी कारण सूर्य के समान चमकता है।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृद्ब्राह्म्यनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

पति-पत्नी के कर्त्तव्य

सम॒ग्निर॒ग्निना॑ गत॒ सं दैवे॑न सवि॒त्रा सꣳसूर्ये॑णारोचिष्ट।
स्वाहा॒ सम॒ग्निस्तप॑सा गत॒ सं दैव्ये॑न सवि॒त्रा सꣳसूर्ये॑णारूरुचत॥१५॥

मन्त्र संख्या १२ में पति को 'अग्नि' तथा १३ में पत्नी को 'स्वाहा' शब्द से स्मरण किया गया है। मूल अग्नि तो प्रभु ही हैं जो संसार में सभी उन्नतियों के साधक हैं (**अग्निः**=अग्रेणीः)। घर में पति भी अग्नि है, उसने घर को आगे ले-चलना है। १. (क) यह **अग्निः**=घर का मुखिया **अग्निना**=उस ब्रह्माण्ड के सञ्चालक प्रभु से **संगत**=मेलवाला हो। खाते-पीते, सोते-जागते, उठते-बैठते प्रभु को भूले नहीं। (ख) पृथिवीस्थ देवों का मुखिया भौतिक 'अग्नि' है—अन्य सब देवों का यह मुखस्थानीय है। सब देवता इसी के द्वारा हवि खाते हैं। गृहपति को चाहिए कि वह इस अग्नि से संगत हो। इसमें प्रातः-सायं हव्य पदार्थ डालने का अवश्य ध्यान करे। इस देवयज्ञ को कभी भूले नहीं। जिस घर में यह देवयज्ञ नियम से चलता है, वहाँ रोग तो आते ही नहीं, अकेले खा लेने की वृत्ति भी नहीं बनती। मनुष्य यज्ञशेष को खाने के स्वभाव का विकास कर पाता है। (२) इस गृहपति को चाहिए कि वह **दैवेन सवित्रा**=देवों के प्रकाशक उस सवितादेव से **संगत**=संगत हो। प्रभु के चरणों में बैठकर हम उत्तम प्रेरणा प्राप्त करते हैं और अपने में देवत्व को विकसित करते हैं। (३) यह गृहपति **सूर्येण**=ब्रह्मज्ञान के सूर्य से **सम् अरोचिष्ट**=दीप्त हो, अर्थात् गृहपति ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान को प्राप्त करने का प्रयत्न करे।

संक्षेप में, उसके हाथ यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगे हों, उसका हृदय प्रभु के स्मरण से दूर न हो और उसका मस्तिष्करूप द्युलोक ज्ञान के सूर्य से दीप्त हो। इसी भावना को दुहराते हुए कहते हैं कि—(१) **स्वाहा अग्निः**=त्याग की भावना से ओत-प्रोत पत्नीवाला, घर की उन्नति की भावना से भरा हुआ यह गृहपति **तपसा संगत**=तप से युक्त हो। तप का सामान्य भाव आलस्य में न फँसकर सदा क्रिया में लगे रहने से है। गृहपति व गृहपत्नी की क्रियाशीलता पर ही सम्पूर्ण उन्नति निर्भर है। वे तपस्वी न होकर आरामपसन्द जीवनवाले हो गये तो घर का ह्रास अवश्यंभावी है। (२) यह पत्नीसहित पति **दैव्येन सवित्रा**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए हितकर उस प्रेरक प्रभु से **संगत**=युक्त हो। पति-पत्नी दोनों ही प्रभु के उपासक हों—प्रभु से अपना सम्बन्ध टूटने न दें। इसी से उनमें सम्पूर्ण दिव्यता का विकास होता है। सन्तानों को उत्तम बनाना भी इस प्रभु के सम्पर्क में बैठने पर निर्भर है। (३) यह प्रभु के उपासक पति-पत्नी ही **सूर्येण**=ज्ञान के प्रकाश से **सम् अरूरुचत**=सम्यक् देदीप्यमान होते हैं।

भावार्थ—गृहपति व गृहपत्नी का यह कर्तव्य है कि (१) वे आलस्य को छोड़कर तपस्वी जीवन बनाएँ और यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगे रहें (२) प्रभु के साथ अपना सम्पर्क अवश्य बनाएँ। (३) ज्ञान के सूर्य से दीप्त होने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**भुरिग्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

'स्वाहा' और 'अग्नि' का प्रभु-चिन्तन

धर्त्ता दि॒वो वि भा॑ति॒ तप॑सस्पृथि॒व्यां ध॒र्त्ता दे॒वो दे॒वाना॒मम॑र्त्यस्तपो॒जाः। वाच॑म॒स्मे नि य॑च्छ देवा॒युव॑म्॥१६॥

१४ तथा १५ मन्त्र में **'अग्नि व स्वाहा'**=पति+पत्नी का प्रभु के सम्पर्क में आने के प्रयत्न का वर्णन है। वे प्रभु का स्मरण निम्न रूप में करते हैं—(१) **दिवः धर्त्ता**=वे प्रभु प्रकाशक का धारण करनेवाले हैं—सारा प्रकाश उन्हीं से प्राप्त होता है। प्रकाश के स्रोत वे प्रभु हैं। पवित्र हृदयों में उस प्रकाश का दर्शन होता है। (२) **विभाति तपसः**=वे प्रभु तप के कारण विशेषरूप से दीप्त हो रहे हैं। प्रभु के इस तीव्र तप से ही सृष्टि के प्रारम्भ में

'ऋत व सत्य' की उत्पत्ति होती है। अपने तप के कारण ही प्रभु अपने परम स्थान से पतित नहीं होते। (३) **पृथिव्यां धर्त्ता**=हे प्रभो! आप ही इस पृथिवी पर सबके धारण करनेवाले हो। वस्तुतः प्रभु जिसका धारण करना ठीक समझते हैं उसे कोई मार नहीं सकता और जिसे प्रभु समाप्त करना चाहें उसे कोई बचा नहीं सकता। सबके धारण के लिए प्रभु की शतशः, सहस्रशः क्रियाएँ चल रही हैं। (४) **देवानां देवः** सूर्यादि प्रकाशकों के प्रकाशक आप ही हैं (देवो द्योतनात्) **'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'**=प्रभु की दीप्ति से ही सब ज्योतिर्मय पिण्ड दीप्त हो रहे हैं। (५) **अमर्त्यः**=वे प्रभु अमर हैं। वैसे तो आत्मतत्त्व भी अमर है, परन्तु जीव कर्मनुसार विविध योनियों में जन्म लेता है और शरीरों के छोड़ने से मर्त्य कहलाता है। प्रभु का शरीरधारण व शरीरत्याग से कोई सम्बनध नहीं है। (६) **तपोजाः**=वे प्रभु तप से प्रादुर्भूत होते हैं, अर्थात् कोई भी उपासक तप से अपने हृदय को पवित्र करता है तो वहाँ हृदयस्थ प्रभु के दर्शन कर पाता है। (७) प्रभु-दर्शन करनेवाला तपस्वी प्रभु से प्रार्थना करता है कि **अस्मे**=हमारे लिए **देवायुवम्**=(यु=मिश्रण) सब दिव्य गुणों का सम्पर्क करानेवाली **वाचम्**=वाणी को **नियच्छ**=निश्चितरूप से हमें दीजिए। यह वेदवाणी पढ़ी व समझी जाकर तथा अनुष्ठित होकर सचमुच हमारे जीवनों को दिव्य बनाती है।

भावार्थ—प्रभु प्रकाश के पुञ्ज हैं। उनके सम्पर्क में हम उस प्रकाश को पानेवाले हों।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

जगदीश-दर्शन

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसानऽआ वरीवर्त्ति भुवनेष्वन्तः॥१७॥

प्रभु का चिन्तन करता हुआ स्वाहा के साथ अग्नि (अपनी पत्नी के साथ पति) कहता है कि (१) मैं **गोपाम्**=सब वेदवाणियों के रक्षक उस प्रभु को **अपश्यम्**=देखता हूँ। वे प्रभु 'गोपा' हैं—रक्षक हैं। वे गौओं के पालक हैं तो मैं उनकी गौ हूँ (२) **अनिपद्यमानम्**=वे प्रभु कभी नीचे लेट नहीं जाते। सदा सावधान हैं। वे अप्रमत्त होकर हमारी रक्षा कर रहे हैं। (३) **आ च**=चारों ओर तथा समीप वर्त्तमान **परा च**=और दूर-दूर भी वर्त्तमान **पथिभिश्चरन्तम्**=मार्गों से विचरण करते हुए उस प्रभु को मैं देखता हूँ। वे प्रभु सर्वत्र हैं। हम सबके हृदयों में भी विद्यमान हैं, वहाँ स्थित हुए-हुए ही वे **गोपा**=सब वेदवाणियों के रक्षक हैं। हमें वेद का ज्ञान देते हैं, परन्तु इस वेदवाणी को सुन वे ही पाते हैं जिनका हृदय निर्मल होता है। ज्ञान की वाणियों से वे प्रभु हमारे जीवन को प्रकाशमय करके हमारी इन्द्रियों को निर्मल बनाते हैं—इन्हें आसुरी आक्रमणों से बचाते हैं, इसलिए भी वे प्रभु **गो-पा**=इन्द्रियों के रक्षक हैं। (४) **सः**=वे प्रभु **सध्रीचीः**=(सह अञ्चन्ति) मिलकर चलनेवाले लोकों के तथा **विषूचीः**=(वि-सु-अञ्च) विविध मार्गों में उत्तमता से चलनेवाले लोकों को **वसानः**=अच्छादित कर रहे हैं, अर्थात् अपने गर्भ में धारण कर रहे हैं। जैसे सूर्य के चारों ओर कुछ पिण्ड घूम रहे हैं, सूर्य उन्हें अपने आकर्षण से खेंचे हुए आकाश में आगे-आगे चला रहा है। ये लोक 'सध्रीची' कहलाते हैं, परन्तु कुछ पिण्ड ऐसे भी हैं जो भिन्न-भिन्न दिशाओं में अलग-अलग गति कर रहे हैं, ये 'विषूची' हैं। प्रभु इन सबको धारण किये हुए हैं।

यहाँ प्रसंगवश यह भी स्पष्ट हो गया कि 'लोक दो भागों में बटे हुए हैं—कुछ समुदाय

में चलनेवाले व कुछ अलग-अलग चलनेवाले। (५) वे प्रभु इन सब **भुवनेषु अन्तः**=लोक-लोकान्तरों के अन्दर **आवरीवर्त्ति**=चारों ओर अपनी सत्ता से वर्त्तमान है। देखनेवाले के लिए प्रत्येक पिण्ड में प्रभु की सत्ता के चिह्न विद्यमान हैं। प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'दीर्घतमा' है। इसने अपने तम-अज्ञानान्धकार का विद्रावण किया है (दृ विदारणे) अन्धकार के दूर होने पर ही यह उस प्रभु को देख पाया है (अपश्यम्)।

भावार्थ—वे प्रभु ही रक्षक हैं, सब लोकों को अपने में धारण किये हुए हैं, सर्वत्र वर्त्तमान हैं।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**अत्यष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**।

प्रभु का अनुगमन

विश्वा॑सां भुवां॑ पते॒ विश्व॑स्य मनसस्पते॒ विश्व॑स्य वचसस्पते॒ सर्व॑स्य वचसस्पते। दे॒वश्रुत्त्वं दे॑व घर्म दे॒वो दे॒वान् पा॑ह्यत्र॒ प्रावी॒रनु॑ वां दे॒ववी॑तये। मधु॒ माध्वी॑भ्यां॒ मधु॒ माधू॑चीभ्याम्॥ १८॥

पति-पत्नी प्रभु की स्तुति करते हुए कहते हैं कि (१) **विश्वासां भुवां पते**=हे प्रभो! आप सब भूलोकों के पति हो। वे सब लोक जिनमें प्राणी हैं वे, 'भू' कहलाते हैं—**'भवन्ति भूतानि यस्याम्'**=इन सब लोकों की रक्षा प्रभु द्वारा ही की जा रही है। (२) इनमें रहनेवाले प्राणियों के मनों की रक्षा प्रभु द्वारा ही होती है **विश्वस्य**=सबके **मनसः**=मनों के **पते**=रक्षक प्रभो! आप ही हमारे मनों को वासनाओं के आक्रमण से बचाते हैं। (३) **विश्वस्य वचसःपते**=सम्पूर्ण वचनों के पति प्रभो! सम्पूर्ण वेदवाणी के स्वामी आप ही हैं। हृदयस्थरूप से **सर्वस्य वचसःपते**=सम्पूर्ण वचनों के आप ही पति हैं। हृदय में आपकी वाणी उच्चरित हो रही है, परन्तु उस वाणी को सब नहीं सुन पाते! कारण यही है कि (४) **देवश्रुत्**=आपकी वाणी को देवपुरुष ही सुनते हैं, क्योंकि **त्वम्**=आप **देव**=देव हो। मनुष्यों की वाणी को जैसे मनुष्य सुनता है, इसी प्रकार उस महान् देव की वाणी को देव ही सुन पाते हैं। सामान्य लोग तो **'उत त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम्'**=सुनते हुए भी उसे सुनते नहीं। (५) **घर्म**=हे प्रभो! आप ही शक्ति हो। प्रभु का उपासक भी इस शक्ति से शक्तिसम्पन्न हो जाता है। (६) हे प्रभो! **देवः देवान् पाहि**=आप देव हैं और देवों की रक्षा करते हैं। जो भी देव बनने का प्रयत्न करता है वह उस महादेव की रक्षा का पात्र होता है। (७) हे प्रभो! **अत्र**=इस मानव-जीवन में **पाहि**=आप हमारी विशेषरूप से रक्षा कीजिए। प्रायः इस जीवन में आकर हमें विविध विषयों की खाज-सी हो जाती है। हमारा आहार-विहार सब दूषित-सा हो जाता है। प्रभु की कृपा ही हमारी रक्षा करेगी!

यह सुनकर प्रभु कहते हैं (८) **अनु**=मेरे पीछे आओ, **वाम्**=तुम दोनों को **देववीतये**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए ले-चलता हूँ। प्रभु के पीछे चलेंगे तो उत्तरोत्तर हममें दिव्य गुणों की वृद्धि होगी। हमारे जीवन सुन्दर, मंगलमय होकर संसार को सुखमय बनानेवाले होंगे (९) **माध्वीभ्याम्**=(मधुरगुणयुक्ताभ्याम्) माधुर्य के गुण से युक्त तुम दोनों के लिए **मधु**=मैं सब ज्ञानों में श्रेष्ठ 'मधुविद्या' को प्राप्त कराता हूँ (**'मधु'**=मधुरविज्ञान—द०) प्रकृति का ज्ञान ही जब आश्चर्य को जन्म देकर उन भौतिक पिण्डों व पदार्थों के निर्माता की ओर मनुष्य के ध्यान को ले-जाते हैं तब वह ज्ञान 'मधु' हो जाता है (१०) **माधूचीभ्याम्** (**मधु+अञ्च**) माधुर्य के साथ गति करनेवाले तुम दोनों के लिए **मधु**=मैं माधुर्य को प्राप्त कराता हूँ। **'मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्'** के अनुसार तुम्हारा

आना-जाना भी मधुर हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु के अनुगमन के तीन लाभ हैं १. दिव्य गुणों की प्राप्ति, २. मधुविद्या का ग्रहण, ३. माधुर्य का सञ्चार।

ऋषिः—**आथर्वणः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**विराडुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

अध्वर का धारण

हृदे त्वा मनसे त्वा दिवे त्वा सूर्याय त्वा। ऊर्ध्वोऽअध्वरं दिवि देवेषु धेहि॥१९॥

'दध्यङ्'='ध्यान के मार्ग पर चलनेवाला' प्रभु से कहता है कि (१) **हृदे त्वा**=मैं अपने हृदय के लिए आपका स्मरण करता हूँ। प्रभु-स्मरण से हृदय प्रसादमय व सब दुःखों से दूर रहता है। (२) **मनसे त्वा**=मैं अपने मन के शोधन के लिए आपका ग्रहण करता हूँ। प्रभु-चिन्तन से मन एकाग्र होता है और विकल्पों से ऊपर उठकर शिवसंकल्पवाला हो जाता है। (३) **दिवे त्वा**=प्रकाश के लिए मैं आपका स्मरण करता हूँ। प्रभुस्मरण से जीवन में कभी अन्धकार नहीं आता, मार्ग स्पष्ट दिखता है। वस्तुतः हृदयस्थ प्रभु ही उस समय हमारा सञ्चालन करते हैं। वहाँ ग़लती का प्रश्न ही नहीं रहता (४) **सूर्याय त्वा**=प्रभो! मैं सूर्य की भाँति निरन्तर नियमित गति के लिए आपका स्मरण करता हूँ। प्रभु के बनाये संसार में कोई वस्तु स्थिर नहीं, सभी क्रियाशील हैं, संसार का अर्थ ही 'संसरणशील' है, 'जगत्' का अर्थ है—'गतिशील। जीव का भी नाम आत्मा है—'सतत गतिशील' (अत सातत्यगमने) (५) हे प्रभो! आप **ऊर्ध्वः**=सर्वोच्च स्थान में स्थित हैं। परमेष्ठी हैं। इस परम स्थान में स्थित हुए-हुए आप **दिवि** ज्ञान का प्रकाश होने पर **देवेषु**=दिव्य गुणोंवाले हम लोगों में **अध्वरम्**=यज्ञ को **धेहि**=धारण कीजिए। हम किसी प्रकार की हिंसा न करें। वस्तुतः नैतिक मार्ग में सर्वोच्च स्थान अहिंसा का ही है। मैं सभी के साथ प्रेम से चलूँ, किसी की हिंसा न करूँ। जो व्यक्ति द्वेष से ऊपर उठ पाता है, वही प्रभु को पाने का अधिकारी होता है।

भावार्थ—हमारा हृदय प्रभु का स्मरण करे, मन प्रभु का चिन्तन करे, हमारा मस्तिष्क प्रकाशमय हो, जीवन क्रियाशील हो, हम ज्ञानी बनकर यज्ञ को अपने जीवन का अङ्ग बनाएँ, संसार में किसी से द्वेष न करें।

ऋषिः—**आथर्वणः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**निचृदतिजगती**। स्वरः—**निषादः**।

पिता नोऽसि पिता नो बोधि नमस्तेऽअस्तु मा मा हिꣳसीः। त्वष्टृमन्तस्त्वा सपेम पुत्रान्पशून् मयि धेहि प्रजामस्मासु धेह्यरिष्टाहꣳसह पत्या भूयासम्॥२०॥

गृहपत्नी विशेषरूप से प्रभु-प्रार्थना करती है कि (१) हे प्रभो! **पिता नः असि**=आप ही हमारे पिता—रक्षक हैं। (२) **पिता नः बोधि**=हमारे पिता आप हमें ज्ञान दीजिए। पिता का पहला काम पुत्र को योग्य बनाना है। (३) **नमः ते**=हम आपके प्रति नतमस्तक होते हैं। पुत्र का कर्तव्य है कि वह धृष्ट न हो। (४) **मा मा हिंसीः**=आप हमें हिंसित मत कीजिए। ज्ञान के अभाव में ही हमारी हिंसा होती है। खान-पान में अज्ञानवश गलतियों से स्वास्थ्य बिगड़ता है तो अज्ञानवश परस्पर द्वेष से लड़ाई-झगड़े बढ़कर हिंसा होती है। (५) **त्वष्टृमन्तः**=वेदवाणीवाले (वाग्वै त्वष्टा। ऐ० २।४), ज्ञान की वाणियों को प्राप्त होनेवाले हम **त्वा**=आपकी **सपेम**=पूजा करें (To honour, to worship), आपकी आज्ञा का पालन करें (to obey) और आपकी प्राप्ति करें। (६) **मयि**=आपके वेद के आदेश

के अनुसार चलनेवाली मुझमें **पुत्रान् पशून्**=पुत्रों को व पशुओं को **धेहि**=स्थापित कीजिए। आपकी कृपा से हमें उत्तम सन्तान प्राप्त हों और उनके पालन के लिए हमें उत्तम पशु भी प्राप्त हों। गौवों के दूध से उनके मस्तिष्क का सुन्दर पोषण हो और घोड़ों से व्यायाम के द्वारा उनके शरीर सबल हों। (७) **अस्मासु**=हमारे जीवनों में भी **प्रजाम्**=प्रकृष्ट विकास को **धेहि**=धारण कीजिए। हमारी शक्तियों का उत्तम विकास हो और (८) अन्त में **अहम् पत्या सह**=अपने पति के साथ **अरिष्टा**=अहिंसित **भूयासम्**=होऊँ। मेरा शरीर रोगों से हिंसित न हो और मन द्वेष से आविष्ट न हो। हम पति-पत्नी परस्पर हाथ पकड़कर सुविधा से इस भवसागर को पार कर जाएँ।

भावार्थ—प्रभु को पिता जानते हुए हम उससे ज्ञान प्राप्त करें। ज्ञानवाले होकर प्रभु के उपासक बनें। इहिलौकिक साफल्य के साथ हम इस भवसागर को तैरने का भी ध्यान करें।

ऋषिः—**आथर्वणः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

अहः केतुना जुषताꣳ सुज्योतिर्ज्योतिषा स्वाहा।
रात्रिः केतुना जुषताꣳ सुज्योतिर्ज्योतिषा स्वाहा॥२१॥

अध्याय की समाप्ति पर प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि (१) **अहः**=दिन **केतुना**=प्रज्ञा से—प्रकाश से **जुषताम्**=सेवित हो। हमारा दिन प्रकाशमय बीते। सारा दिन नाना क्रियाओं में व्यापृत होते हुए भी हम कभी उलझन में न पड़ें। **सुज्योतिः**=हम उत्तम ज्योतिवाले हों। दिन हमारे ज्ञान को बढ़ानेवाला हो। अवकाश के समय को स्वाध्याय में बिताते हुए हम अपनी ज्ञान की ज्योति को बढ़ानेवाले बनें। **ज्योतिषा**=इस ज्योति के हेतु से **स्वाहा**=हम स्वार्थ त्यागवाले बनते हैं। स्वार्थ की भावनाएँ हमारे जीवन को कुछ भोगप्रवण बनाकर अन्ततः अन्धकारमय कर देती हैं, अतः प्रकाश के हेतु हम स्वार्थ को छोड़ते हैं। (२) **रात्रिः**=दिनभर के काम के बाद विश्राम देकर रमयित्री—आनन्द देनेवाली यह रात भी **केतुना**=प्रज्ञा व प्रकाश से **जुषताम्**=सेवित हो। स्वप्न में सब इन्द्रिय-वृत्तियों के केन्द्रित हो जाने से हम प्रभु-दर्शन करनेवाले बनें। **सुज्योतिः**=रात्रि के समय भी हम उत्तम ज्योतिवाले हों। ज्योतिवाले होते हुए हम स्वप्न में भी अभद्र को अपने में प्रविष्ट न होने दें, स्वप्न में भी पाप न कर बैठें। **ज्योतिषा**=इस ज्योति के हेतु से ही हम **स्वाहा**=स्वार्थ को छोड़ते हैं। स्वार्थ से ऊपर उठने पर हमारे दिन-रात चौबीसों घण्टे प्रकाशमय होंगे। (३) इस प्रकाश में निवास करनेवाला व्यक्ति कभी भी न्यायमार्ग से विचलित नहीं होता है, **न थर्वति**=डाँवाँडोल नहीं होता। बड़े-से-बड़े प्रलोभन भी इसे डिगानेवाले नहीं होते। न डिगने के कारण यह 'आथर्वण' कहलाता है।

भावार्थ—क्या दिन और क्या रात, हम सदा प्रकाश में विचरनेवाले बनें। उत्तम ज्योतिवाले होते हुए सदा न्यायमार्ग से चलें।

इति सप्तत्रिंशोऽध्यायः॥

अथाष्टात्रिंशोऽध्यायः

—:०:—

ऋषिः—**आथर्वणः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**उष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। आ ददेऽदित्यै रास्नासि॥१॥

प्रस्तुत मन्त्र से ही सैंतीसवें अध्याय का प्रारम्भ हुआ था। अन्त के **'अदित्यै रासनासि'** के स्थान पर वहाँ **'नारिरसि'** ये शब्द थे। 'संसार की प्रत्येक वस्तु हमारी शत्रु नहीं है' के स्थान में यहाँ शब्द ये हैं कि **अदित्यै** =अखण्डन व पूर्ण स्वास्थ्य के लिए तू **रास्ना**=कमरबन्ध है, अर्थात् तू हमारे पूर्ण स्वास्थ्य की साधिका है, परन्तु कब? जब १. **त्वा**=तुझे **सवितुः देवस्य**=उस सविता—सबके प्रेरक, देव—दिव्य गुणों के पुञ्ज व सम्पूर्ण ज्ञान का प्रकाश देनेवाले प्रभुके **प्रसवे**=प्रेरणा व आज्ञा में **आददे**=ग्रहण करता हूँ। प्रभु का आदेश संक्षेप में यह है कि **'त्यक्तेन भुञ्जीथाः'**=त्यागपूर्वक उपभोग करो, अतः हम प्रत्येक वस्तु का सेवन करते हुए उसमें उलझें नहीं। हम वस्तु का ग्रहण करें—वस्तु हमारा ग्रहण न कर ले। स्वाद में पड़े और वस्तु के शिकञ्जे में फँसे। २. जब तुझे **अश्विनोः**=प्राणापान के **बाहुभ्याम्**=प्रयत्न से ग्रहण करता हूँ, अर्थात् अपने पुरुषार्थ से कमाई वस्तु का ही हम ग्रहण करते हैं, बिना श्रम के हम कुछ भी नहीं लेते। ३. तुझे **पूष्णः**=पूषा के **हस्ताभ्याम्**=हाथों से ग्रहण करता हूँ। जब पोषण के दृष्टिकोण से हम प्रत्येक वस्तु को स्वीकार करते हैं तब वह हमारे स्वास्थ्य को सिद्ध करनेवाली बनती है। वेद के शब्दों में वह **'अदिति'** की 'रास्ना' हो जाती है। 'अदितिः अदीना देवमाता' निरुक्त के शब्दों के अनुसार (क) प्रभु की आज्ञा में त्यागपूर्वक वस्तुओं के ग्रहण से (ख) प्राणापान के प्रयत्न से—पुरुषार्थपूर्वक अर्जन करने से और (ग) पोषण के दृष्टिकोण से वस्तुओं के लेने पर हम अदीन बनेंगे और अपने जीवन में दिव्य गुणों का निर्माण कर सकेंगे।

भावार्थ—हमारे जीवन के तीन सूत्र हों—हम १. प्रभु की आज्ञा में २. प्रयत्न से ३. पोषण के ही लिए वस्तुओं का ग्रहण करें।

ऋषिः—**आथर्वणः**। देवता—**सरस्वती**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

इडऽएह्यदितऽएहि सरस्वत्येहि। असावेह्यसावेह्यसावेहि॥२॥

संसार-यात्रा का सुखमय बीतना बहुत कुछ पत्नी पर निर्भर करता है। प्रस्तुत मन्त्र में पति कहता है कि १. **इडे एहि**=हे इडे! तू मुझे प्राप्त हो। 'इडा वै मानवी यज्ञानूकाशिन्यासीत्' तै० १। १। ४।४। इडा का अभिप्राय है **'मानवी'**=मनु की पुत्री=समझदार की सन्तान, अर्थात् पूरी समझदार तथा **'यज्ञानूकाशिनी'**=अपने जीवन से यज्ञ को प्रकाशित करनेवाली। **अनूकाश**=(reflection of light)। मुझे वह पत्नी प्राप्त हो जो (क) समझदार हो और (ख) यज्ञिय वृत्तिवाली हो। **असौ**=वह 'मानवी' और 'यज्ञानुकाशिनी' तू **एहि** =मुझे प्राप्त हो। २. **अदिते एहि**=हे अदिते! तू मुझे प्राप्त हो। अदिति का अभिप्राय है **अदीना देवमाता**=न क्षीण होनेवाली तथा देवों का निर्माण करनेवाली। मुझे पत्नी वह प्राप्त हो जो उचित आत्म-सम्मान की भावनावाली हो तथा दिव्य गुणोंवाली सन्तानों का निर्माण

करनेवाली हो। 'अदिति' शब्द की व्युत्पत्ति शतपथ ७.४.२.७ में 'इयं हि सर्वं ददते' की गई है, अतः पत्नी वही ठीक है जो सब-कुछ देने की वृत्ति रखती हो। **असौ**=वह (क) अदीन व देवों की निर्मात्री तथा (ख) सब-कुछ दे सकनेवाली तू **एहि**=मुझे प्राप्त हो। ३. **सरस्वति**=हे विज्ञानवति एवं सुशिक्षिते! **एहि**=तू मुझे प्राप्त हो। पत्नी उत्तम ज्ञानवाली तथा सुशिक्षित और परिष्कृत जीवनवाली हो। **असौ एहि**=उत्तम शास्त्रीय ज्ञानवाली (Learned) पत्नी मुझे प्राप्त हो। **असौ एहि**=सभ्य व सुशिक्षित (cultured) पत्नी मुझे प्राप्त हो। **असौ एहि**=सदाचारिणी पत्नी मुझे प्राप्त हो। ऐसी पत्नी को प्राप्त करके यह दृढ़ता से अपने पथ पर चलता हुआ 'आथर्वण' संसार-यात्रा में डाँवाँडोल नहीं होगा।

भावार्थ—पत्नी के अन्दर ये गुण होने चाहिएँ : (क) समझदारी, (ख) यज्ञियवृत्ति, (ग) अदीनता व दिव्यता, (घ) उदारता और (ङ) शिक्षा।

ऋषिः—**आथर्वणः**। देवता—**पूषा**। छन्दः—**भुरिक्साम्नीबृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

अदित्यै रास्नासीन्द्राण्याऽउष्णीषः। पूषासि घर्माय दीष्व॥३॥

गतमन्त्र के विषय को अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि १. हे पत्नि! तू **अदित्यै**=स्वास्थ्य के लिए **रास्ना**=कमरबन्ध (हपतकसम) **असि**=है। पत्नी 'धर्म-पत्नी' है। वह पति का यज्ञों से संयोग करनेवाली है, स्वयं यज्ञियवृत्तिवाली होती हुई पति के जीवन को भी यज्ञिय बनाती है। इस प्रकार विलास के मार्ग से हटाकर यह स्वास्थ्य को सिद्ध करती है। २. **इन्द्राण्यै**=इन्द्र की प्रिय पत्नी की तू **उष्णीषः**=पगड़ी है। **'इन्द्राणी व इन्द्रस्य प्रिया पत्नी, तस्या उष्णीषः विश्वरूपतम'**—श० १४।२।१।८। इन्द्र की प्रिय पत्नी इन्द्राणी है। उसकी उष्णीष का अभिप्राय है सब वस्तुओं को सुन्दररूप देनेवाली'=पति ने 'इन्द्र—इन्द्रियों का अधिष्ठाता, अर्थात् जितेन्द्रिय बनना है, उसको प्रीणित करनेवाली पत्नी 'इन्द्राणी' कहलाती है। यह घर में सब वस्तुओं को एक सुन्दर रूप देनेवाली होती है, अर्थात् इसके आने पर सारा घर सुव्यवस्थित हो जाता है। सब वस्तुएँ ठीक आकार में आ जाती हैं। ३. **पूषा असि**=तू सबको पोषण प्राप्त करानेवाली है। वस्तुतः घर में भोजनादि की ठीक व्यवस्था का भार पत्नी पर ही होता है। यह उस व्यवस्था को ठीक रखती हुई ठीक ढंग से सबका पोषण करनेवाली बनती है। ४. **घर्माय**=शक्ति के लिए **दीष्व**=(to soar, to fly) तू ऊँची उड़ानवाली बन। उच्च लक्ष्य का ध्यान ही हमें हीन आकर्षणों से बचाता है और हमारी शक्ति को नष्ट नहीं होने देता है।

भावार्थ—पत्नी यज्ञिय जीवनवाली हो, जिससे विलास से स्वास्थ्य को समाप्त न कर दे। घर में सब वस्तुओं को सुव्यवस्थित प्रकार से रखकर घरको सुन्दर बनाये। भोजन की ठीक व्यवस्था से सबके स्वास्थ्य को सिद्ध करे और उच्च लक्ष्यवाली बनकर शक्ति को नष्ट न होने दे।

ऋषिः—**आथर्वणः**। देवता—**सरस्वती**। छन्दः—**आर्चीपङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

अश्विभ्यां पिन्वस्व सरस्वत्यै पिन्वस्वेन्द्राय पिन्वस्व।
स्वाहेन्द्रवत् स्वाहेन्द्रवत् स्वाहेन्द्रवत्॥४॥

१. **अश्विभ्याम्**=प्राणापानों के लिए **पिन्वस्व**=तू अपने को प्रीणित कर, उत्साहित कर, अर्थात् प्राणापान की साधना करने के लिए (**पिन्व्**=**जिन्व्**=to urge on) तू अपने को उत्साहित करनेवाली हो। २. **सरस्वत्यै**=ज्ञान व शिक्षा के लिए **पिन्वस्व**=तू उत्साह-सम्पन्न हो। ज्ञान में तेरी रुचि हो—सुशिक्षित होने की तेरी प्रबल कामना हो। ३. **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय

बनने के लिए **पिन्वस्व**=तुझमें सदा उत्साह हो। वस्तुतः 'प्राणसाधना, ज्ञान व शिक्षा तथा जितेन्द्रियता' ही में अध्यात्म-उन्नति की मौलिक बात है। प्राणसाधना से शरीर पूर्णतया नीरोग रहता है। ज्ञान व शिक्षा हमारे मस्तिष्क को स्वस्थ बनाते हैं तथा जितेन्द्रियता मानस-पवित्रता का मूल बनती है। ४. (क) इस प्रकार हम प्राणशक्ति-सम्पन्न बनते हैं। इस प्राणशक्ति के सम्पादन करनेवाले को प्रभु कहते हैं कि **इन्द्रवत्**=हे प्राण-शक्तिसम्पन्न (प्राण एवेन्द्रः—श० १२।९।१।१४) तू **स्वाहा**=स्वार्थ के त्यागवाला बन। (ख) जब हम सरस्वती की साधना करके ज्ञान व शिक्षा का सम्पादन करते हैं तब प्रभु कहते हैं कि **इन्द्रवत्**=हे ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाले जीव! तू **स्वाहा**=स्वार्थत्यागवाला बन। (ग) जितेन्द्रियता को सिद्ध करके 'इन्द्र' बननेवाले इस साधक से प्रभु कहते हैं कि **इन्द्रवत्**= (हृदयमेवेन्द्रः—श० १२।९।१।१५) हे उत्तम मन व हृदयवाले जीव! तू **स्वाहा**=स्वार्थत्याग करनेवाला बन। वस्तुतः स्वार्थत्याग के बिना प्राणापान व जितेन्द्रियता का साधन नहीं हो सकता।

भावार्थ—हम प्राणसाधना, ज्ञान, व जितेन्द्रियता के लिए सदा उत्साह धारण करें।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**वाक्**। छन्दः—**निचृदतिजगती**। स्वरः—**निषादः**।

यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः।
येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवेऽकः। उर्वन्तरिक्षमन्वेमि॥५॥

१. पिछले मन्त्र में प्राण, ज्ञान व जितेन्द्रियता की साधना का उल्लेख हुआ है। उस साधना में सर्वप्रमुख सहायक वेदवाणी है। वेदवाणी को 'गौ' भी कहते हैं। इस वेदवाणीरूप गौ से मन्त्र का ऋषि 'दीर्घतमा' कहता है कि **यः**=जो **ते**=तेरा **स्तनः शशयः**=(शशयः शिश्यानः—नि०) हमारे जीवनों को प्लुतगतिवाला बनानेवाला है **तम्**=उसको **इह**=यहाँ **धातवे**=हमारे पीने के लिए **अकः**=कर, अर्थात् तेरा ज्ञान हमें क्रियाशील बनाये। २. हमें तू उस ज्ञान का पान करा जो **मयोभूः**=कल्याण उत्पन्न करनेवाला है। वस्तुतः क्रियाशीलता का ही परिणाम मंगल है। 'मंगल' शब्द 'मगि गतौ' धातु से बना है। गति में ही कल्याण है। अकर्मण्यता अकल्याण का कारण है। ३. उस स्तन को पिला **यः**=जो **रत्नधा**=हममें रमणीय वस्तुओं का धारण करनेवाला है। इस ज्ञान की वाणी को पीकर हमारे जीवन से सब बुराइयाँ समाप्त हो जाती हैं और हमारा जीवन रमणीय बन जाता है। ४. हमें उस स्तन का पान करा जो **वसुवित्**=निवास के लिए आवश्यक सब वस्तुओं को प्राप्त कराता है। इस ज्ञान की वाणी से हम वसुओं को प्राप्त करने की क्षमतावाले होते हैं। ५. यह वेदवाणी का स्तन तो हमारे लिए **सुदत्रः**=सब उत्तम वस्तुओं को (सु) देकर (द) हमारी रक्षा करनेवाला है (त्र)। ६. हे **सरस्वति**=ज्ञान की अधिष्ठात्री देवि! **येन**=जिस अपने स्तन से तू **विश्वा**=सब **वार्याणि**=वरणीय, उत्तम वसुओं का **पुष्यसि**=पोषण करती है उस स्तन को तू हमें पिलानेवाली हो। ७. तेरे इस स्तन का पान करके मैं **उरु अन्तरिक्षम्**=विशाल हृदयान्तरिक्ष को **अन्वेमि**=प्राप्त होता हूँ। इस ज्ञान से मेरा सारा व्यवहार विशाल हृदय के अनुकूल होता है, मेरे व्यवहार में संकुचित-हृदयता नहीं टपकती।

भावार्थ—वेदवाणीरूप गौ के स्तन का पान करके मैं 'क्रियाशील, मंगलमय, ज्ञनसम्पन्न, व वसुमान्' बनता हूँ। सब वरणीय वसुओं को प्राप्त करता हूँ और विशाल हृदय बनता हूँ।

सूचना—वेद की शिक्षा मनुष्य को कहती है १. 'मनुर्भव' तू मनु बन, समझदार बन २. 'माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः' भूमि को अपनी माता समझ। भूमि के एकदेश को अपनाकर तू देशभक्ति के नाम पर भी संकुचित-हृदय मत बन। वस्तुतः यही मनुष्य **दीर्घतमा**=अज्ञान को विदीर्ण करनेवाला होता है।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**निचृदत्यष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**।

गायत्रं छन्दोऽसि त्रैष्टुभं छन्दोऽसि द्यावापृथिवीभ्यां त्वा परि गृह्णाम्यन्तरिक्षेणोप यच्छामि। इन्द्राश्विना मधुनः सारघस्य घर्मं पात वसवो यजत वाट्। स्वाहा सूर्यस्य रश्मये वृष्टिवनये॥६॥

उसी वेदवाणी से कहते हैं कि १. **गायत्रं छन्दः असि**=तू गायत्र छन्द है, **त्रैष्टुभं छन्दः असि**=तू त्रैष्टुभ छन्द है। यद्यपि वेदवाणी केवल इन दों छन्दों की बनी हुई नहीं है तो भी यहाँ दो ही छन्दों का उल्लेख इसलिए है कि **"एते वाव छन्दसां वीर्यवत्तमे यद् गायत्री त्रिष्टुप् च"** (तां० २०. १६) छन्दों में गायत्री और त्रिष्टुप् अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, ये अधिक शक्तिशाली हैं यह वेदवाणी 'गायन्तं त्रायते' अपने गान करनेवाले का त्राण करती है। जो भी वेदवाणी को पढ़ते हैं, वे इसके द्वारा सुरक्षित होते हैं तथा यह वेदवाणी 'त्रि+ष्टुप' तीनों 'काम-क्रोध व लोभ' को रोकनेवाली होकर त्रिविध कष्टों को दूर करती है। २. मैं **त्वा**=तुझे **द्यावापृथिवीभ्यां**=मस्तिष्क व शरीर (मूर्ध्नो द्यौः, पृथिवी शरीरम्) के स्वास्थ्य के लिए **परिगृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ। अथवा **"प्राणापानौ वै द्यावापृथिवी"**—(श० १४.२.२.३६) मैं अपने प्राण व अपान को शक्तिसम्पन्न बनाने के लिए तेरा ग्रहण करता हूँ। ३. **अन्तरिक्षेण**=**'मनोऽन्तरिक्षलोकः'** (श० १४.४.३.११) मन के उद्देश्य से **उपयच्छामि**=मैं तुझे अपनाता हूँ (उपयच्छा=स्वीकरण)। वेद का अध्ययन हमें सदा मन को मध्यमार्ग पर चलने का उपदेश देता है। 'अन्तरिक्ष' शब्द का प्रयोग ही 'अन्तरा क्षि' मध्य में निवास का संकेत करता है। 'मेरा मन सब अतियों (Extremes) से बचकर मध्य में ही चले' इस बुद्धि से मैं वेदवाणी को स्वीकार करता हूँ। ४. **इन्द्राश्विना**=हे जीव! तू इन प्राणापान के साथ **सारघस्य मधुनः**=मधु-तुल्य सोमरस की **घर्म**=शक्ति को **पात**=सुरक्षित करनेवाला बन। 'इन्द्र' शब्द से सूचित जितेन्द्रियता व प्राणसाधना शरीर में सोमरक्षा के लिए आवश्यक है। यह शरीर में उत्पन्न होनेवाला सोम, भक्ष्य ओषधियों का सारभूत है, इसी बात को स्पस्ट करने के उद्देश्य से यहाँ सोम के लिए 'मधु' शब्द का प्रयोग हुआ है। जैसे शहद (सारघ) मधुमक्षिकाओं से पुष्परस के द्वारा ही तो बनाया जाता है, उसी प्रकार शरीर का सोम भी ओषधिरस का ही सार होना चाहिए। शरीर में इसका सुरक्षित होना ही शरीर की सारी उष्णता व शक्ति का आधार है। ५. इस शक्ति के शरीर में सुरक्षित होने पर हमारा शरीर में निवास उत्तम होता है और हम **वसु**=उत्तम निवासवाले बन जाते हैं। इस सोमपान से शरीर ही नीरोग नहीं होता, मन भी निर्दोष बनता है। इन वसुओं से कहते हैं कि **वसवः**=सोमरक्षा द्वारा वसुत्व सिद्ध करनेवालो! **यजत** =तुम यज्ञशील बनो। यज्ञशीलता विलासमय जीवन की विरोधी भानवा को व्यक्त करती है। सोमरक्षा के लिए इस यज्ञिय जीवन की अत्यन्त आवश्यकता है। ६. **वाट्**=(वट्=बाँटना) तू अपने धन को बाँटनेवाला बन। संविभाग ही मनुष्य को पवित्र बनाता है ७. **स्वाहा**=तू स्वार्थत्याग करनेवाला बन ताकि तू **सूर्यस्य रश्मये**=सूर्य की रश्मियों को प्राप्त कर सके, अर्थात् तेरी ज्ञान की रश्मियाँ दीप्त हों—तू ऊँचे ज्ञान को प्राप्त करनेवाला बने तथा **वृष्टिवनये**=अन्त में धर्ममेघ समाधि में आनन्द की वर्षा का अनुभव कर।

भावार्थ—वेदाध्ययन से मनुष्य का जीवन वासनाओं से बचता है, उसके अन्दर बाँटकर खाने की वृत्ति उत्पन्न होती है, ज्ञान बढ़ता है और आनन्द का अनुभव होता है।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**वातः**। छन्दः—**भुरिगष्टिः**। स्वरः—**मध्यमः**॥

क्रियाशील पति

समुद्राय त्वा वाताय स्वाहा सरिराय त्वा वाताय स्वाहा।
अनाधृष्याय त्वा वाताय स्वाहाप्रतिधृष्याय त्वा वाताय स्वाहा।
अवस्यवे त्वा वाताय स्वाहाशिमिदाय त्वा वाताय स्वाहा॥७॥

आचार्य दयानन्द लिखते हैं कि प्रस्तुत मन्त्रों का विषय है 'विवाह किये स्त्री-पुरुष क्या करें?' प्रस्तुत मन्त्र में पत्नी कहती है कि मैं १. **समुद्राय**=सदा प्रसन्न रहनेवाले **त्वा**=आपके प्रति **वाताय**=वायु के समान अविच्छिन्न गतिवाले के प्रति **स्वाहा**=अपना अर्पण करती हूँ, अपने पिता के घर को छोड़कर आपके समीप होती हूँ। २. **सरिराय (सरिर=सलिल=जल)** जल के समान शान्त **वाताय त्वा**=वायु के समान क्रियाशील आपके लिए **स्वाहा**=अपना अर्पण करती हूँ। ३. **अनाधृष्याय**=वासनाओं से धर्षित न होनेवाले **वाताय त्वा**=गतिशील आपके लिए **स्वाहा**=अपने को सौंपती हूँ। ४. **अ-प्रति-धृष्याय**=प्रत्येक का धर्षण न करनेवाले, अर्थात् औरों को व्यर्थ ही अन्यायरूप से न दबानेवाले **वाताय**=आलस्यशून्य आपके लिए **स्वाहा**=मैं त्याग करती हूँ। ५. **अवस्यवे**= संसार की सब विषय-वासनाओं से रक्षा चाहनेवाले **वाताय त्वा**=गति के द्वारा सब बुराइयों का हिंसन करनेवाले आपके लिए **स्वाहा**=(सु आह) मैं शुभ शब्दों का उच्चारण करनेवाली होती हूँ। ६. **अ-शिमि-दाय**=(शिमिति कर्मनाम शामयतेर्वा=शक्नोतेर्वा—नि० ५।१२) कर्मों को न छोड़नेवाले के लिए **वाताय**=क्रियाशील के लिए **स्वाहा**=मैं सदा शुभ शब्दों को बोलनेवाली बनती हूँ। **'जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवान्'** माधुर्यवाली, शान्तिप्रद वाणी बोलनी ही चाहिए। ७. एवं प्रस्तुत मन्त्र में पति की विशेषताएँ इस रूप में दर्शाई गई हैं—(क) वह सदा प्रसन्न रहनेवाला हो—क्रोध न करे, (ख) जल की भाँति शान्त स्वभाववाला हो, (ग) दबे नहीं, (घ) दबाये नहीं, (ङ) वासनाओं से अपनी रक्षा करना चाहे, (च) कभी कर्मों को न छोड़े, क्योंकि कर्म ही शान्ति देते हैं, वासनाओं से बचाते हैं तथा शक्ति की वृद्धि करते हैं। उन कर्मों पर बल देने के लिए ही छह बार 'वाताय' कहा गया है, अर्थात् मनुष्य सदा पाँचों इन्द्रियों व छठे मन को अकर्मण्य न होने दे। एवं, पति का सर्वमहान् गुण 'क्रियाशीलता' ही है।

भावार्थ—पति 'प्रसन्न—शान्त, न दबनेवाला, न दबानेवाला, वासनाओं से ऊपर उठ कर्मों को कभी न छोड़नेवाला, वायु की भाँति सदा क्रियाशील' होना चाहिए।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**अष्टिः**। स्वरः—**मध्यमः**॥

इन्द्राय त्वा वसुमते रुद्रवते स्वाहेन्द्राय त्वादित्यवते स्वाहेन्द्राय त्वाभिमातिघ्ने स्वाहा। सवित्रे त्वऽऋभुमते विभुमते वाजवते स्वाहा बृहस्पतये त्वा विश्वदेव्यावते स्वाहा॥८॥

१. **इन्द्राय** जितेन्द्रिय **वसुमते रुद्रवते त्वा**=वसुमान् और रुद्रवान् आपके लिए **स्वाहा**=मैं अपना त्याग करती हूँ। वसुमान् वह है जिसने अपने शरीर में उस-उस स्थान पर देवों के उत्तम निवास की व्यवस्था की है। सूर्य चक्षु का रूप धारण करके आँख में रह रहा है, अग्नि वाणी का रूप धारण करके मुख में रह रहा है, इसी प्रकार सब देवों का शरीर में निवास है। उन सब देवों की उत्तमता से निवास देनेवाला यह वसुमान् है, अर्थात् यह

पूर्ण स्वस्थ है। 'रुद्र' शब्द का अर्थ है **'रोरूयमाणो द्रवति'**=प्रभु के नामों का उच्चारण
करता हुआ कार्यों में लगा रहता है। एवं 'रुद्रवान्' वह है जो खाते-पीते, सोते-जागते,
उठते-बैठते सदा प्रभु का स्मरण करता है और इसी कारण वासनाओं के लिए प्रलयंकर
रुद्र बना रहता है। इस प्रकार यह रुद्रवान् पूर्ण निर्मल मनवाला है। इसका मन वासनाओं
से मलिन नहीं हुआ। २. **इन्द्राय त्वा**=तुझ जितेन्द्रिय **आदित्यवते**=आदित्यवान् के लिए
स्वाहा=मैं अपना समर्पण करती हूँ। सब विद्याओं का आदान करके ज्ञान के सूर्य से
चमकनेवाला यह आदित्यवान् है। इसका मस्तिष्करूप द्युलोक ज्ञान के सूर्य से चमक रहा
है। ३. **इन्द्राय त्वा**=तुझ इन्द्रियों के अधिष्ठाता **अभिमातिघ्ने त्वा**=ऊँचा उठकर भी जो
अभिमान का नाश करनेवाला है, उस तेरे लिए **स्वाहा**=मैं अपना समर्पण करती हूँ। दैवी
सम्पत्ति की पराकाष्ठा 'नातिमानिता' पर है। यह पूर्ण स्वस्थ है, निर्मल मनवाला है, दीप्त
मस्तिष्कवाला है। एवं, शरीर, मन व मस्तिष्क की सम्पत्ति से युक्त होकर भी यह अभिमानी
नहीं हो गया। रोगों पर, वासनाओं पर, अज्ञानान्धकार पर विजय पाकर भी यह अपने
मस्तिष्क को पूर्ण स्वस्थ रख पाया है, अभिमानी नहीं हो गया। ४. यहाँ ध्यान देने योग्य
बात यह है कि प्रत्येक वाक्य में 'इन्द्राय' को रक्खा गया है। यह संकेत करने के लिए
कि सबसे महत्त्वपूर्ण 'जितेन्द्रियता' है। ५. **सवित्रे त्वा**=तुझ सविता के लिए—धन का
उत्पादन करनेवाले के लिए, परन्तु **ऋभुमते** (**ऋतेन भाति**)=सत्य से चमकनेवाले के
लिए, अर्थात् धन को सम्यग्मार्ग से कमानेवाले के लिए। (**ऋभवः**=Skilful, artist,
smith) ऋभु का अर्थ शिल्पी भी है, अतः ऋभु वे हैं जो कुशलता से कोई-न-कोई हाथ
का कार्य करते हैं। **विभुमते**=व्यापकतावाले तेरे लिए, धन कमाने के साथ हृदय की
उदारता (व्यापकता) आवश्यक है **वाजवते**=शक्तिवाले तेरे लिए **स्वाहा**=मैं अपना त्याग
करती हूँ। एवं, पति कमानेवाला हो। पुरुषार्थ व शिल्प में कुशलता से धनार्जन किया जाए,
हृदय विशाल हो, शरीर शक्तिशाली हो। ६. **बृहस्पतये त्वा**=तुझ ब्रह्मणस्पति के लिए—वेदज्ञान
के पति के लिए—ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञानवाले, **विश्वदेव्यावते**=सब दिव्य गुणोंवाले जितेन्द्रिय
के लिए **स्वाहा**=मैं अपना समर्पण करती हूँ।

भावार्थ—पति जितेन्द्रिय, पूर्ण स्वस्थ, प्रभुभक्त, ज्ञान का आदान करनेवाला, निरभिमानी,
धन का सत्य व पुरुषार्थ से अर्जन करनेवाला, उदार हृदय, शक्तिशाली, ब्रह्मनिष्ठ व दिव्य
गुणोंवाला हो।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**भुरिग्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

यमाय त्वाङ्गिरस्वते पितृमते स्वाहा। स्वाहा घर्माय स्वाहा घर्मः पित्रे॥९॥

१. **यमाय**=सब इन्द्रियों का नियमन करनेवाले **अङ्गिरस्वते**=एक-एक अङ्ग में रसवाले
पितृमते त्वा=उत्तम पितृत्व की शक्तिवाले तेरे लिए **स्वाहा**=मैं अपना समर्पण करती हूँ।
जितेन्द्रियता ही मनुष्य को अङ्गिरस बनाती है—उसके अङ्ग रसमय बने रहते हैं। जो
अङ्गिरस नहीं वह उत्तम सन्तानों को जन्म कैसे देगा? अङ्गिरस ही पितर बन पाते हैं।
इसीलिए मन्त्र में यह क्रम है—'यम-अंगिरस्-पितर' २. **घर्माय**=तुझ शक्ति की उष्णतावाले
के लिए मैं **स्वाहा**=समर्पण करती हूँ। वस्तुतः जो भी 'यम' बनता है, वह घर्म=शक्ति का
पुञ्ज होता ही है। ३. **घर्मः**=यह शक्ति का पुञ्ज व्यक्ति ही **पित्रे** =पिता के लिए होता है,
अर्थात् इसी में पिता बनने की योग्यता होती है—यही पितृत्व के लिए होता है।
४. प्रस्तुत मन्त्र में 'यम-अंगिरा-पिता' वह क्रम बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इन सातवें-आठवें

व नौवें मन्त्र के देवता भी क्रमशः 'वात-इन्द्र-वायु' हैं। बीच में इन्द्र है—इन्द्रियों का अधिष्ठाता। दोनों ओर होनेवाले वात व वायु शब्द पर्यायवाची हैं और गतिशीलता के द्वारा बुराई के हिंसन की सूचना देते हैं। जिसने भी पिता बनना है उसके लिए यह नितान्त आवश्यक है कि वह क्रियामय जीवनवाला होकर सब बुराइयों को अपने से दूर रक्खे और जितेन्द्रिय हो। जितेन्द्रिय के सन्तान ही उत्तम जीवनवाले हो सकेंगे।

भावार्थ—हमारा जीवन नियमित हो जिससे हमारे एक-एक अङ्ग में शक्ति के कारण रस हो। हम शक्तिशाली बनें तभी हम योग्य पिता बन पाएँगे।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

यज्ञरूप भोजन

विश्वाऽआशा दक्षिणसद्विश्वान्देवानयाडिह।
स्वाहाकृतस्य घर्मस्य मधोः पिबतमश्विना॥१०॥

१. पिछले मन्त्रों में पति-पत्नी का उल्लेख हुआ है। उन्हें इन मन्त्रों में 'अश्विनौ' शब्द से स्मरण किया है। 'अश्विनौ' का अर्थ आचार्य ने 'सुशिक्षितौ स्त्रीपुरुषौ' और 'भूगर्भविद्याविदौ स्त्रीपुरुषौ' दिया है। ऐतरेय० १।१८। में 'अश्विनौ' अध्वर्यू' इन शब्दों में स्पष्ट किया है कि हिंसाशून्य (अध्वर) यज्ञादि उत्तम कर्मों में व्यापृत स्त्री-पुरुष 'अश्विनौ' हैं।

२. ये पति-पत्नी कुटिलता से दूर तथा सरल मनोवृत्ति से कार्यों में व्यापृत होने से 'दक्षिण' हैं। **विश्वाः आशाः**=सब दिशाएँ **दक्षिणसद्**=(दक्षिणे सीदन्ति) इन सरल स्त्री-पुरुषों में निषण्ण होती हैं, अर्थात् इनकी सब इच्छाएँ पूर्ण होती हैं। ये ग़लत इच्छाएँ नहीं करते इनकी इच्छाएँ शुभ होती हैं, अतः इनकी वे इच्छाएँ अवश्य पूर्ण होती हैं। ३. **अयाट् इह**=इस मानव-जीवन में यही पुरुष **विश्वान् देवान्**=सब देवों को, अर्थात् सब दिव्य गुणों को अपने साथ (यज्ञ संगतिकरण)=सङ्गत करता है। ४. इन पति-पत्नी को प्रभु आदेश देते हैं कि **'स्वाहाकृतस्य'**=पेट की जाठराग्नि में (वैश्वानर=अग्नि में) भोजन को यज्ञ का रूप देकर खाते हुए **घर्मस्य**=शक्तिप्रद अन्न के (**घर्म**=अन्न—नि० १।९) **मधोः**=सारभूत सोम का **पिबतम्**=पान करो। अन्न को यज्ञरूप में खाया जाए तो यह 'स्वाहाकृत' हो जाता है। इसे स्वाद के लिए नहीं, अपितु इस देव-मन्दिर की रक्षा के लिए ही खाया जाता है। 'शक्तिप्रद अन्न का ही सेवन करना चाहिए' यह भावना 'घर्म शब्द से व्यक्त हो रही है।

भावार्थ—हम भोजन को भी यज्ञ का रूप दे दें। परिणामतः हम 'दक्षिण' बनेंगे, हमारी सभी आशाएँ पूरी होंगी, दिव्य गुणों से हमारा मेल होगा।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**विराडुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

ज्ञान व यज्ञ

दिवि धाऽइमं यज्ञमिमं यज्ञं दिवि धाः। स्वाहाग्नये यज्ञियाय शं यजुर्भ्यः॥११॥

१. हे प्रभो! **दिवि**=ज्ञान के प्रकाशवाले इस पुरुष में **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ को **धाः**=धारण कीजिए। ज्ञानी पुरुष यज्ञशील बने। यदि दुर्भाग्यवश ज्ञानी पुरुष यज्ञ की भावनावाला, संगतिकरण व मेल की भावनावाला नहीं होता तो वह संहारक अस्त्रों के निर्माण में अपने ज्ञान का विनियोग करता है। परिणामतः वह मानव के लिए अशान्ति की वृद्धि का कारण होता है। ऐसे ही पुरुषों को 'ब्रह्मराक्षस' कहा गया है। सामान्य भाषा में ज्ञानी को 'साक्षर' (स अक्षर=literate) कहते हैं। यदि यह यज्ञिय भावनावाला नहीं रहता तो विपरीतवृत्ति होना आवश्यक है। २. साथ ही **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ को **दिवि**=ज्ञान के प्रकाशवाले में ही

धाः=धारण कर। जिस समय ये यज्ञ अज्ञानियों के हाथों में चले जाते हैं, तब इनमें रीतियों rituals का प्राधान्य हो जाता है और यज्ञ की भावना समाप्त ही नहीं हो जाती अपितु अत्यन्त विकृतरूप धारण करती है। उस समय यज्ञों में पशुबलि व सुरा-सेवन भी चल पड़ता है। संक्षेप में यज्ञ 'अयज्ञ' हो जाते हैं। ३. प्रभो! ऐसी कृपा कीजिए कि हमारे जीवन में **यज्ञियाय अग्नये**=यज्ञ की अग्नि के लिए **स्वाहा**=कुछ-न-कुछ स्वार्थ का त्याग होता ही रहे। हमारा जीवन एकदम विलासमय न होकर यज्ञिय बन जाए। हम 'केवलादी' न रहें, अपञ्चयज्ञ व मलिम्लुच चोर न हो जाएँ। ४. **यजुर्भ्यः**=यजुओं के द्वारा 'देवपूजा-संगतिकरण व दान' रूप यज्ञ के द्वारा **शम्**=हमारे जीवनों में शान्ति हो। वास्तविक शान्ति का मूलमन्त्र यज्ञ ही है।

भावार्थ—हमारे जीवन में ज्ञान व यज्ञ दोनों का सुन्दर समन्वय हो। हम यज्ञिय अग्नि के लिए अपना त्याग करें। 'देवपूजा, संगतिकरण व दान' रूप यज्ञ हमारे जीवन को शान्ति देनेवाले हों।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**आर्चीपङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

सोमपान

अश्विना घर्मं पातःहार्द्वानमहर्दिवाभिरूतिभिः।
तन्त्रायिणे नमो द्यावापृथिवीभ्याम्॥१२॥

१. हे **अश्विना**=कर्मों में शीघ्रता से व्यापनेवाले पति-पत्नियो। **अहर्दिवाभिः ऊतिभिः**= दिन-रात के रक्षणों से इस **हार्द्वानम्**=(हृदं वनति=Which wins the heart) हृदय को जीतनेवाले—हृदयगति को कभी बन्द (Heart failure) न होने देनेवाले **घर्मम्**=सोमरस को—शरीर में उष्णता को रखनेवाली शक्ति को **पातम्**=सुरक्षित करो। यहाँ तीन बातें ध्यान देन योग्य हैं—(क) शरीर में वीर्यरक्षा के लिए। इस अर्थ में दिन-रात सावधानी की आवश्यकता है। वह सावधानी यह है कि सदा उत्तम कर्मों में व्यापृत रहें। (ख) इस सोमपान से शरीर में गर्मी=शक्ति बनी रहती है (ग) सोमपान करनेवाले का हृदय ठीक काम करता है, कभी फेल नहीं होता। यह सोमपायी औरों के हृदयों को जीत पाता है अर्थात् औरों को अपनी ओर आकृष्ट करनेवाला बनता है।

२. **तन्त्रायिणे**=(एष वै तन्त्रायी य एष तपत्येष हीमाँल्लोकान्तन्त्रमिवानुसंचरति —श० १४।२।२।२२) संसार-तन्त्र में विचरनेवाले सूर्य के लिए तथा **द्यावापृथिवीभ्याम्**=द्यावापृथिवी के लिए **नमः**=नमस्कार हो। मैं इनके प्रति सन्नत होऊँ। मेरा पृथिवीरूप शरीर पूर्ण स्वस्थ हो, मस्तिष्करूप द्युलोक अन्धकार के आवरण से रहित हो तथा उस मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान के सूर्य का उदय हो।

एवं, यह स्पष्ट है कि उस घर्मपान का ही यह परिणाम है कि (क) शरीर स्वस्थ बनता है (ख) मस्तिष्क ज्ञानग्रहण के लिए उपयुक्ततम बनता है (ग) हमारे जीवन में ज्ञान के सूर्य का उदय होता है।

सूचना—घर्म का अर्थ 'यज्ञ' भी है। यज्ञ की रक्षा से भी द्युलोक, पृथिवीलोक व सूर्य आदि सब देव अनुकूल होते हैं।

भावार्थ—हम सदा सावधानी से कर्मों में लगे रहकर सोम का पान करें। यह हमें हृदयों का विजेता, स्वस्थ और बुद्धि व विद्या से सम्पन्न बनाएगा।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**निचृदुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

ब्रह्माण्ड की अनुकूलता

अपा॑ताम॒श्विना॑ घ॒र्मम॑नु॒ द्यावा॑पृथि॒वीऽअ॑मꣳसाताम्। इ॒हैव रा॒तयः॑ सन्तु॥१३॥

१. **अश्विना**=कर्मों में व्याप्त रहनेवाले पति-पत्नी **घर्मम्**=शरीर में शक्ति को बनाये रखनेवाले सोम का **अपाताम्**=पान करें व सुरक्षित करें। **द्यावापृथिवी**=द्युलोक से लेकर पृथिवीलोक तक सारे पदार्थ—सब देवता-**अनुअमंसाताम्**=उनके अनुकूल विचारवाले हों, अर्थात् सोम की शरीर में रक्षा करने पर संसार के सभी पदार्थ हमारे अनुकूल होते हैं। सोमपान करनेवाले के लिए सारा ब्रह्माण्ड अनुकूल-ही-अनुकूल होता है। शरीर में शक्ति न हो तभी इनकी प्रतिकूलता लगने लगती है। २. इस सोमपान के लिए आवश्यक है कि **इह एव**=इस गृहस्थ जीवन में ही **रातयः**=दान **सन्तु**=सदा होते रहें। दानशील पति- पत्नी का जीवन विलासमय नहीं बनता। परिणामतः वे वीर्य की रक्षा सरलता से कर पाते हैं। दान बुराइयों का खण्डन (दाप् लवने) करनेवाला है और हमारे जीवन को शुद्ध बनानेवाला है (दैप् शोधने)। जीवन की शुद्धता वीर्यरक्षा में सहायक होती है और तब सब पदार्थ हमारे लिए अनुकूल होते हैं। जीवन आशावाद से परिपूर्ण होता है।

भावार्थ—हम शरीर में सोम की रक्षा करें। यह सारे ब्रह्माण्ड को हमारे अनुकूल बनाएगा।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**द्यावापृथिवी**। छन्दः—**अतिशक्वरी**। स्वरः—**पञ्चमः**।

इ॒षे पि॑न्वस्वो॒र्जे पि॑न्वस्व॒ ब्रह्म॑णे पिन्वस्व क्ष॒त्राय॑ पिन्वस्व॒ द्यावा॑पृ॒थि॒वीभ्यां॑ पिन्वस्व। धर्मा॑सि सु॒धर्मामे॑न्य॒स्मे नृ॒म्णानि॑ धारय॒ ब्रह्म॑ धारय क्ष॒त्रं धा॑रय॒ विशं॑ धारय॥१४॥

१. **इषे**=प्रेरणा के लिए **पिन्वस्व**=(To urge on) अपने को उत्साहित कर, अर्थात् तुझे प्रबल इच्छा हो कि मैं प्रभु-प्रेरणा को सुननेवाला बनूँ। २. **ऊर्जे पिन्वस्व**=बल और प्राणशक्ति के लिए उत्साह को धारण कर। तुझमें यह भावना हो कि मैं प्रभु की प्रेरणा को सुनूँ और उस प्रेरणा को क्रियारूप में लाने के लिए शक्तिशाली होऊँ। मुझमें प्रेरणा के अनुसार कार्य करने का सामर्थ्य हो। ३. **ब्रह्मणे पिन्वस्व**=ज्ञान के लिए उत्साहित हो, और ४. **क्षत्राय**=बल के लिए **पिन्वस्व**=उत्साहित हो। तेरी प्रार्थना का स्वरूप ही यह हो कि **'इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम्'**=मेरे ब्रह्म व क्षत्र दोनों ही फूलें-फलें, परन्तु इस संसार में केवल ज्ञान और बल जीवन-यात्रा के संचालन के लिए पर्याप्त नहीं है, उसके लिए भौतिक वस्तुओं की भी उतनी ही आवश्यकता है, अतः कहते हैं कि ५. **द्यावापृथिवीभ्यम्**=द्युलोक से पृथिवीलोक तक इन भौतिक वस्तुओं के लिए भी **पिन्वस्व**= उत्साह धारण कर। यही भावना मन्त्र की समाप्ति पर 'विशं धारय' इन शब्दों से व्यक्त हो रही है। वस्तुतः संसार-यात्रा में धन का भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है, परन्तु इस धन को अन्याय मार्ग से नहीं कमाना है, अतः कहते हैं कि ६. **धर्म असि**=हे जीव! तू मूर्त्तिमान् धर्म है, धर्म ही नहीं **सुधर्म असि**=तू उत्तम धर्म है, अतः तूने सुपथ से ही धन कमाना है। **अमेनि असि**=तू अहिंसक है औरों की हिंसा करके कभी भी धनार्जन नहीं करता।

इस प्रेरणा को सुनकर 'दीर्घतमा' मन्त्र का ऋषि जिसने अज्ञान का विद्रावण किया है, प्रभु से प्रार्थना करता है—७. **अस्मे**=हमारे लिए **नृम्णानि**=धनों को **धारय**=धारण कीजिए ८. **ब्रह्म धारय**=ज्ञान को धारण कीजिए ९. **क्षत्र धारय**=बल को धारण कीजिए १०. और

विशं धारय='कृषिगोरक्षा व वाणिज्य' रूप वैश्यकर्म को भी धारण कीजिए, जिससे ज्ञान प्राप्त करके और शक्तिशाली बनकर हम न्याय-मार्गों से ही धनार्जन करें।

भावार्थ—हम प्रभु प्रेरणा को सुनकर, उस प्रेरणा को क्रिया में परिणत करने की शक्तिवाले बनें, ज्ञान-बल व धन तीनों का अपने में सुन्दर समन्वय करके अपने जीवन को सुखी व सफल बनाएँ।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**पूषादयो लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**स्वराड्जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

स्वाहा॑ पू॒ष्णे शर॑से॒ स्वाहा॒ ग्राव॑भ्य॒: स्वाहा॑ प्रति॒रवे॑भ्यः। स्वाहा॑ पि॒तृभ्य॑ऽ ऊ॒र्ध्वब॑र्हिभ्यो घ॒र्म॒पाव॑भ्य॒: स्वाहा॒ द्यावा॑पृथि॒वीभ्या॒ꣳ स्वाहा॒ विश्वे॑भ्यो दे॒वेभ्य॑:॥ १५॥

ब्रह्मचर्य—१. **पूष्णे**=पूषा के लिए, अर्थात् पोषण की देवता के लिए **स्वाहा**=हम अपना त्याग करते हैं। वस्तुतः स्वाद आदि का त्याग होने पर ही ठीक ढंग से पोषण होता है। (ख) **शरसे स्वाहा**=(शृ हिंसायाम्) काम-क्रोधादि वासनाओं के विनाश के लिए **स्वाहा**=मैं त्याग करता हूँ। कामादि पर विजय के लिए विश्राम आदि की सब भावनाओं को त्यागकर तपस्वी जीवन बिताना आवश्यक है। (ग) **ग्रावभ्यः**=(गृ=गृणाति उपदिशति)=ज्ञान का उपदेश देनेवाले गुरुओं के लिए **स्वाहा**=हम अपना अर्पण करते हैं। गुरु के प्रति अर्पण से ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। गुरु के प्रति अत्यन्त विनीत बनने से। (घ) **प्रतिरवेभ्यः**=गुरु के उच्चारण किये हुए मन्त्रों को अनूदित करनेवाले विद्यार्थीयों के लिए **स्वाहा**=हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। वस्तुतः वे ही विद्यार्थी ठीक हैं जो गुरु के मुख से निकले प्रत्येक शब्द को ध्यान से सुनकर उसका उच्चारण करते हैं।

एवं ब्रह्मचर्याश्रम की मूलभूत बातें दो हैं—प्रथम बात तो यह कि शरीर में शक्ति का पोषण करना है और इसी उद्देश्य से वासनाओं को समाप्त करना है (पूष्णे-शरसे)। दूसरी बात यह कि उत्तम गुरुओं को प्राप्त करके उनके मुख से उच्चरित प्रत्येक शब्द को महत्त्व देना है, उसको प्रत्युच्चरित reproduce करना है और इस प्रकार निरन्तर ज्ञानवृद्धि के लिए प्रयत्नशील होना है।

गृहस्थ—२. **पितृभ्यः**=उन पितरों के लिए **स्वाहा**=उत्तम वाणी का उच्चारण करते है (स्वाहा इति वाङ्नाम—नि० १।११) जो **ऊर्ध्वबर्हिभ्यः**=उत्कृष्ट प्रजाओंवाले हैं। (प्रजा वै बर्हिः—को० ५।७) जिन्होंने उत्तम सन्तानों का निर्माण किया है और इसी उद्देश्य से **घर्मपावभ्यः**=शरीर में शक्ति का पान करनेवाले बने हैं। वस्तुतः संयमी जीवन से शरीर को शक्तिशाली बनानेवाले माता-पिता ही उत्कृष्ट सन्तानों को जन्म दे पाते हैं। इस प्रकार गृहस्थ का मौलिक कर्त्तव्य यह है कि वे संयमी जीवनवाले बनकर उत्तम सन्तान का निर्माण करें।

वनस्थ—३. गृहस्थ के बाद वानप्रस्थ में प्रवेश करके व्यक्ति फिर से अपने मस्तिष्क को ज्ञान-ज्योति से उज्ज्वल करने के लिए निरन्तर स्वाध्याय में लगता है **'स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात्'** यह वानप्रस्थ सब ग्राम्य आहारों (मिठाई आदि) को छोड़कर वन्य कन्द-मूल, फलों पर जीवन बिताता हुआ शरीर को पूर्ण स्वस्थ बनाता है। मस्तिष्क व शरीर दोनों को स्वस्थ बनाने के लिए **द्यावापृथिवीभ्याम्**=मस्तिष्करूप द्युलोक तथा शरीररूप पृथिवी के प्रति **स्वाहा**=मैं अपना अर्पण करता हूँ। इनकी उन्नति को ही मैं अपना ध्येय बना लेता हूँ। इनको स्वस्थ करने के बाद संन्यासी होकर मैं प्रचारकार्य को ठीक प्रकार से कर पाऊँगा।

संन्यास—४. अब 'द्यावापृथिवी' को ठीक करके व्यक्ति 'देव' बनता है।

इसके शरीर व मस्तिष्क दोनों ही चमकते हैं। इन **विश्वेभ्यः देवेभ्यः**=सब देवों के लिए हम **स्वाहाः**=प्रशंसात्मक शब्द बोलते हैं। इन संन्यासियों का उचित आदर हमारे जीवन को सदा सन्मार्ग में चलने की प्रेरणा देनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रथमाश्रम में हम शरीर को पुष्ट बनाने के लिए वासनाओं का संहार करें, आचार्यों से ज्ञान प्राप्त करें। द्वितीय आश्रम में शक्ति की रक्षा के द्वारा, ब्रह्मचर्य-पालन के द्वारा उत्तम सन्तान को जन्म दें। तृतीयाश्रम में शरीर व मस्तिष्क को पूर्ण स्वस्थ बनाएँ और चौथे आश्रम में ज्ञान की दीप्ति को औरों तक पहुँचानेवाले बनें।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**रुद्रादयः**। छन्दः—**भुरिगतिधृतिः**। स्वरः—**षड्जः**।

प्रभु-स्तोताओं का सङ्ग व प्रभु-प्राप्ति

स्वाहा रुद्राय रुद्रहूतये स्वाहा सं ज्योतिषा ज्योतिः। अहः केतुना जुषताꣳ सुज्योतिर्ज्योतिषा स्वाहा। रात्रिः केतुना जुषताꣳ सुज्योतिर्ज्योतिषा स्वाहा। मधु हुतमिन्द्रतमेऽअग्नावश्याम ते देव घर्म नमस्तेऽअस्तु मा मा हिꣳसीः॥१६॥

१. **रुद्राय**=(रुद्र इति स्तोतृनाम—नि० ३।१६) स्तोता के लिए हम **स्वाहा**=अपना अर्पण करते हैं, **रुद्रहूतये**=(रुद्रस्य हूतिर्यस्य) प्रभु को पुकारनेवाले के लिए **स्वाहा**=हम अपने को सौंपते हैं। प्रभु के उपासकों के संग बैठने से हमारा जीवन भी भौतिक वासनाओं से ऊपर उठकर प्रभु-प्रवण बनता है। **ज्योतिषा सम्** (गत्य) **ज्योतिः**=उन ज्योतिर्मय जीवनवालों के साथ मिलकर हमारा जीवन भी ज्योतिर्मय बनता है। **'अग्निनाग्निः समिध्यते'** जैसे अग्नि से दूसरी अग्नि समिद्ध की जाती है उसी प्रकार उन ज्योतिर्मय जीवनवालों के सम्पर्क में हमारा जीवन भी ज्योतिर्मय बनता है।

इस प्रकार प्रभु कृपा करें कि **अहः केतुना जुषताम्**=हमारा सारा दिन प्रकाश से सेवित हो। **सुज्योतिः**=हम उत्तम ज्योतिवाले हों। **ज्योतिषा**=इस ज्योति के हेतु ही **स्वाहा**=हम स्वार्थ त्याग करें—सब आराम व मौज को समाप्त कर दें। इसी प्रकार **रात्रिः**=रात भी **केतुना जुषताम्**=प्रकाश से सेवित हो। **सुज्योतिः**=हम उत्तम ज्योतिवाले हों, **ज्योतिषा**=इस ज्योति के दृष्टिकोण से **स्वाहा**=हम स्वार्थ-त्याग करते हैं।

२. ज्ञान-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम इस शरीर में उत्पन्न सोमशक्ति की रक्षा करनेवाले बनें। इसी सोम को 'मधु' कहते हैं। यह सब ओषधियों का सारभूत होता है। यह **मधु**=सोम **हुतम्**=आहुत होता है—समर्पित होता है। किसमें? (क) **इन्द्रतमे**=अधिक-से-अधिक जितेन्द्रिय पुरुष में और (ख) **अग्नौ**=आगे बढ़ने की वृत्तिवाले पुरुष में। जो व्यक्ति इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनता है, वही सोम की रक्षा कर पाता है। इन्द्रिय-विषयों में फँसते ही सोम की रक्षा सम्भव नहीं रहती। साथ ही जो जीवन-यात्रा में निरन्तर आगे बढ़ने की भावना रखता है, वही व्यक्ति इन्द्रिय-विषयों में फँसने से बच सकता है, अतः हम 'इन्द्रतम व अग्नि' बनकर हे **देव**! सब दिव्यता के पुञ्ज प्रभो! **ते**=आपके **घर्म**=तेज को **अश्याम**=प्राप्त करें।

३. हे प्रभो! **ते नमः अस्तु**=आपके प्रति हम नतमस्तक हों। आपकी विनय ही हमें इस योग्य बनाएगी कि हम इन्द्रियों के दास बनने से बचे रहेंगे, और हममें निरन्तर आगे बढ़ने की भावना बनी रहेगी। इस प्रकार हे प्रभो! **मा मा हिंसीः**=आप मेरी हिंसा मत होने दीजिए। प्रभु-विनय ही हमें जितेन्द्रिय बनने की क्षमता प्रदान करती है और विनाश से बचाती है।

भावार्थ—प्रभु-स्तोताओं के सङ्ग में रहकर मैं अपने ज्ञान को बढ़ाऊँ और अन्ततः प्रभु का सङ्गी बनकर सब प्रकार के विनाश से ऊपर उठ जाऊँ।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृदतिशक्वरी**। स्वरः—**पञ्चमः**।

ज्ञान-प्रसार

अभीमं महिमा दिवं विप्रो बभूव सप्रथाः। उत श्रवसा पृथिवीꣳसꣳसीदस्व महाँ२॥ऽअसि रोचस्व देववीतमः। वि धूममग्नेऽअरुषं मियेध्य सृज प्रशस्त दर्शतम्॥१७॥

१. **इमं दिवम्**=इस प्रकाशमय जीवनवाले को **अभि**=लक्ष्य करके **महिमा**=महत्त्व **बभूव**=होता है, अर्थात् इसे महत्त्व प्राप्त होता है, जो महत्त्व **विप्रः**=इसका विशेष रूप से पूरण करनेवाला होता है और **स-प्रथाः**=विस्तार से युक्त होता है। पिछले मन्त्रों में प्रभु-स्तोताओं के सङ्ग का उल्लेख था। प्रस्तुत मन्त्र में उस सङ्ग में चलनेवाले व्यक्ति का 'इमम्' इस सर्वनाम से संकेत है। जो भी व्यक्ति ऐसा बनता है उसे महत्त्व प्राप्त होता है, वह महत्त्व जो उसका पूरण करनेवाले होता है, साथ ही उसकी शक्तियों के विकास का कारण बनता है। २. **उत**=और यह व्यक्ति **श्रवसा**=ज्ञान के द्वारा **पृथिवीम्**=इस पृथिवी पर **संसीदस्व**=उत्तमता से बैठता है, अर्थात् इस पार्थिव निवास में इसका कोई भी कार्य ज्ञान के विपरीत नहीं होता ३. **महान् असि**=यह महान् होता है, अर्थात् इसके हृदय में सभी के लिए स्थान होता है। ४. **रोचस्व**=यह अपने आन्तरिक गुणों के कारण, स्वास्थ्य के कारण तथा उदार हृदयता के कारण चमकता है—शोभावाला होता है। ५. **देववीतमः**=(वी=प्राप्ति) दिव्य गुणों की प्राप्ति में यह सबसे आगे बढ़ा हुआ होता है। ६. प्रभु इससे कहते हैं कि—**अग्ने**=अपने को अग्रस्थान पर प्राप्त करानेवाले और औरों को आगे ले-चलनेवाले **मियेध्य**=पवित्र यज्ञिय जीवनवाले **प्रशस्त**=प्रशंसा के योग्य! तू **दर्शतम्**=ज्ञान को, वस्तुतत्त्व के प्रकाशक ज्ञान को **विसृज**=विशेष रूप से फैला, उस ज्ञान को जो **धूमम्**=(धूञ् कम्पने) वासनाओं को कम्पित करके दूर करनेवाला है और **अरुषम्**=जो आरोचमान है, सर्वतः दीप्यमान है अथवा तू ज्ञान को फैलाने में किसी भी प्रकार के रुष=क्रोध को न आने दे—ज्ञान को माधुर्य से फैला।

भावार्थ—हम अपने जीवन को उत्तम बनाकर लोकहित के दृष्टिकोण से बड़ी मधुरतापूर्वक ज्ञान के फैलानेवाले बनें।

त्रिलोकी का आप्यायन

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**भुरिगाकृतिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

या ते घर्म दिव्या शुग्या गायत्र्याꣳ हविर्धाने। सा तऽआ प्यायतान्निष्ट्यायतां तस्यै ते स्वाहा। या ते घर्मान्तरिक्षे शुग्या त्रिष्टुभ्याग्नीध्रे। सा तऽआ प्यायतान्निष्ट्यायतां तस्यै ते स्वाहा। या ते घर्म पृथिव्याꣳ शुग्या जगत्याꣳसदस्या। सा तऽआ प्यायतान्निष्ट्यायतां तस्यै ते स्वाहा॥१८॥

पिछले मन्त्र में महिमा की प्राप्ति का संकेत था। इस महिमा की प्राप्ति के लिए शरीर की त्रिलोकी का ठीक होना बड़ा आवश्यक है। उसके ठीक होने के लिए शरीर में घर्म=सोमरक्षा अत्यन्त अपेक्षित है। 'इसकी रक्षा होने पर क्या होता है,' इस बात का उल्लेख प्रस्तुत मन्त्र में करते हैं—१. हे **घर्म**=सोम! **या**=जो **ते**=तेरी **दिव्या**=मस्तिष्करूप द्युलोक में होनेवाली **शुक्**=दीप्ति है (शुक् दीप्तौ) तथा उसके परिणामस्वरूप क्रियाशीलता है (शुक् गतौ), **या**=जो **गायत्र्याम्**=गायत्रियाँ (गयाः प्राणाः तान् तत्रे) प्राणों की रक्षा में परिणत होती है तथा **हविर्धाने**=हवि के आधान में परिणत होती है, **सा**=वह **ते**=तेरी दीप्ति **आप्यायताम्**=बढे **निष्ट्यायताम्**=निश्चय से राशिरूप में संचित हो **तस्यै ते**=तेरी उस

दीप्ति के लिए **स्वाहा**=हम उत्तम शब्दों का उच्चारण करते हैं—उसकी प्रशंसा करते हैं। संक्षेप में, जब शरीर में घर्म=वीर्य सुरक्षित होता है तब (क) यह मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है—हमारे ज्ञान को दीप्त करता है। (ख) इस ज्ञानदीप्ति के दो परिणाम होते हैं—पहला, यह ज्ञानी पुरुष अपने खान-पान आदि में बड़ा संयत बनता है और इस प्रकार अपने प्राणों की रक्षा कर पाता हैं। यह नौवें व दसवें दशक में पहुँचकर भी प्राणशक्ति-सम्पन्न बना रहता है। (ग) दूसरा परिणाम यह होता है कि केवलादी न बनकर 'हविर्धान' करनेवाला होता है—इसका जीवन यज्ञमय होता है।

३. हे **घर्म**=सोम! **या**=जो **ते**=तेरी **अन्तरिक्षे**=हृदयान्तरिक्ष में **शुक्**=दीप्ति-क्रिया है, **या**=जो **त्रिष्टुभ्य**=(त्रि-स्तुभ्) 'काम-क्रोध-लोभ' इन तीनों नरकद्वारों को रोकती है तथा जो दीप्ति **आग्नीध्रे**=उस अग्रेणी परमेष्ठी प्रभु को हृदय में धारण करने में परिणत होती है **सा**=वह **ते**=तेरी दीप्ति **आप्ययताम्**=बढ़े **निष्ट्यायताम्**=निश्चय से संचित हो **तस्यै ते**=उस तेरी दीप्ति के लिए **स्वाहा**=हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। संक्षेप में, शरीर में सोम की सुरक्षा होने पर (क) मन पवित्रता की दीप्तिवाला होता है। (ख) उसमें काम-क्रोध-लोभ का प्रवेश नहीं हो पाता, उनके लिए हृदयद्वार बन्द हो जाता है। (ग) उस पवित्र हृदय में अग्नि नामवाले प्रभु का प्रतिष्ठापन होता है और इस प्रकार हमारा हृदय सचमुच प्रभु का मन्दिर बन जाता है, अतः यह 'शुक्' सचमुच सुन्दर-ही-सुन्दर है।

३. हे **घर्म**=सोम! **या**=जो **ते**=तेरी **पृथिव्याम्**=इस पृथिवीरूप शरीर में शुक् दीप्ति है **या**=जो **जगत्याम्**=इस क्रियामय लोक में **सदस्या**=उत्तम निवासवाली होती है, अर्थात् इसके कारण हम इस क्रियामय संसार में क्रियामय जीवनवाले होते हुए उत्तम ढंग से स्थित होते हैं **सा**=वह **ते**=तेरी दीप्ति **आप्यायताम्**=बढ़े और **निष्ट्यायताम्**=निश्चय से संचित हो। **तस्यै ते**=उस तेरी दीप्ति के लिए **स्वाहा**=प्रशंसात्मक शब्द उच्चरित होते हैं।

भावार्थ—शरीर में सोमपान के द्वारा १. हमारा मस्तिष्क ज्ञान से उज्ज्वल हो। हम यथोचित मार्ग पर चलते हुए अपने प्राणों की रक्षा करें तथा यज्ञमय जीवनवाले हों। २. हमारे मन निर्मल हों, उसमें काम-क्रोध और लोभ की समाप्ति होकर परमेश्वर का प्रतिष्ठापन हो। ३. हमारे शरीर स्वस्थ व क्रियामय हों जिससे इस संसार में हमारा निवास उत्तम हो।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**निचृदुपरिष्टाद्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

ब्रह्म+क्षत्र—राजा का कर्त्तव्य

क्षत्रस्य॑ त्वा प॒रस्पा॑य॒ ब्रह्म॑णस्त॒न्वं पाहि।
विश॑स्त्वा॒ धर्म॑णा व॒यमनु॑ क्रामाम सुवि॒ताय॒ नव्य॑से॥१९॥

गतमन्त्र में सोमरक्षा के द्वारा उत्तम जीवन के निर्माण का उल्लेख हुआ है। लोगों के जीवन को उत्तम बनाने में राजशक्ति का भी बड़ा हाथ होता है, अतः प्रस्तुत मन्त्र में राजा के कर्त्तव्य का वर्णन करते हैं—१. हे राजन्! **परस्पाय**=उत्कृष्ट रक्षण के लिए **त्वा**=तू अपनी **क्षत्रस्य**=क्षत से बचानेवाली शक्ति की तथा **ब्रह्मणः**=ज्ञान के **तन्वम्**=शरीर की **पाहि**=रक्षा कर, अर्थात् तुझमें जहाँ शक्ति का निवास हो, वहाँ शक्ति के साथ तू ज्ञान का सम्पादन करनेवाला हो। **'ब्रह्म क्षत्रमृध्नोति'**=ज्ञान शक्ति को समृद्ध कर देता है। २. राजा कितना भी अच्छा हो, शासन की उत्तमता के लिए प्रजा की अनुकूलता भी आवश्यक है, अतः मन्त्र के उत्तरार्ध में कहते हैं कि **वयं विशः**=हम प्रजाएँ भी **धर्मणा**=धर्म से, या धारण के दृष्टिकोण से **त्वा अनुक्रामाम**=तेरा अनुगमन करें, अर्थात् राजा के बनाये नियमों का पालन करें। जहाँ राजा ज्ञानी व शक्तिशाली होता हुआ प्रजा के धारण-कार्य की उत्तमता

के लिए सभा-समिति द्वारा नियमों का निर्माण करवाता है, वहाँ प्रजा में भी नियमों के पालन की भावना होनी चाहिए। यही प्रजा का राजा के पीछे चलना है। इस प्रकार राजा और प्रजा की अनुकूलता होने पर ही ३. (क) **सुविताय**=सुवित सम्भव है। इसी स्थिति में राष्ट्र से दुरित दूर होंगे और प्रजाएँ उत्तम आचरणवाली (सुवितवाली) होंगी। उस समय राजा लोग यह गर्व कर सकेंगे कि मेरे राष्ट्र में चोर, कञ्जूस, शराबी यज्ञ न करनेवाले, मूर्ख, व अनियमित जीवनवाले लोगों का वास नहीं है। (ख) **नव्यसे** (नू स्तुतौ) उस समय सब प्रजाओं का जीवन स्तुत्य होगा। अथवा सब प्रजाजन (नव गतौ) क्रियाशील होंगे। वस्तुतः क्रियाशील जीवन ही स्तुत्य जीवन है।

भावार्थ—राजा ज्ञानी व शक्तिशाली हो। प्रजा धर्म से राजा का अनुगमन करे। परिणामतः राष्ट्र में दुरित नहीं होते और प्रजाओं का जीवन स्तुत्य होता है।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

यज्ञमय जीवन

चतुः॑स्त्रक्ति॒र्नाभि॑र्ऋ॒तस्य॑ स॒प्रथाः॒ स नो॑ वि॒श्वायुः॑ स॒प्रथाः॒ स नः॑ स॒र्वायुः॑ स॒प्रथाः॑।
अप॒ द्वेषो॒ऽअप॒ ह्वरो॒ऽन्यव्र॑तस्य सश्चिम॥२०॥

१. **ऋतस्य**=(**ऋत**=यज्ञ—नि० ८।६) यज्ञ का **नाभिः**=केन्द्र, अर्थात् यज्ञरूप केन्द्र **चतुःस्त्रक्तिः**=' धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों को सिद्ध करनेवाला है। 'स्त्रक्ति' शब्द का अर्थ दिशाएँ भी होता है। यज्ञ यदि केन्द्र है तो उसकी विविध दिशाएँ धर्म आदि हैं, अर्थात् यज्ञ से ये सब सिद्ध होते हैं। २. **स-प्रथाः**=यह यज्ञ विस्तारवाला है, हमारी सब शक्तियों का विकास यज्ञ से ही होता है। **'अनेन प्रसविष्यध्वम्'** इन शब्दों में यज्ञ ही फूलने-फलने का मार्ग है। ३. **सः**=वह यज्ञ **नः**=हमारे लिए **विश्वायुः**=पूरे जीवन को देनेवाला है। (विश्व+आयु) अर्थात् यज्ञ हमें शतायु बनाता है और सौ-के-सौ वर्षों में **सप्रथाः**=हमारी शक्तियों को विस्तृत रखता है। ३. **सः**=वह यज्ञ **नः**=हमें **सर्वायुः**=पूर्ण जीवन देता है, अर्थात् शरीर के स्वास्थ्य के साथ मन की निर्मलता तथा मस्तिष्क की दीप्ति प्राप्त कराके हमारे जीवन को पूर्ण बनाता है। **सप्रथाः**=हमारी शक्तियों को अन्त तक विस्तृत किये रखता है। ४. प्रभो! इस यज्ञ के द्वारा हम **अन्यव्रतस्य**=शास्त्रविरुद्ध कर्मोंवाले ('अकर्मा दस्युः अभि ने अमन्तुः अन्यव्रतो अमानुषः') दस्युओं से अपनाये जानेवाले **द्वेषः**=द्वेष को **अप सश्चिम**=अपने से दूर करें। **ह्वरः**=कुटिलता को **अप सश्चिम**=अपने से दूर करें, अर्थात् इस यज्ञशीलता से सबसे बड़ा लाभ यह होगा कि हमारे जीवन में वह द्वेष और वह कुटिलता न आएगी जो शास्त्रविरुद्ध कर्म करनेवाले लोगों में आ जाया करती है।

भावार्थ—यज्ञ के निम्न लाभ हैं—१. इससे धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष चारों पुरुषार्थों की सिद्धि होती है। २. यह हमारी शक्तियों का विस्तार करते हुए शतायु बनाता है। ३. इससे हम शरीर, मन व मस्तिष्क तीनों के स्वास्थ्य को प्राप्त करके पूर्ण जीवनवाले होते हैं ४. हमसे द्वेष व कुटिलता दूर रहती है।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

वर्धन व आप्यायन

घ॒र्मैतत्ते॒ पुरी॑षं॒ तेन॒ वर्द्ध॑स्व॒ चा च॑ प्यायस्व।
व॒र्द्धि॒षीम॑हि॑ च व॒यमा च॑ प्यासिषीमहि॥२१॥

१. हे **घर्म**=तेज! **एतत्**=यह जो **ते**=तेरा **पुरीषम्**=(पृ पालनपूरणयोः) पालनात्मक व

पूरणात्मक कर्म है **तेन**=उससे **वर्द्धस्व**=हमें बढ़ा **च**=और **प्यायस्व**=सब अङ्गों का आप्यायन करनेवाले हो। शरीर में सोम (घर्म) सुरक्षित होता है तब वह शरीर में होनेवाली प्रत्येक कमी को दूर करता है। इसी प्रकार यह हमारे वर्धन का कारण बनता है और हमारा एक-एक अङ्ग आप्यायित रहता है।

२. हे **घर्म**=सोम! तेरे इस पालन-पूरणात्मक कर्म से **वयम्**=हम **वर्द्धिषीमहि**=सब दृष्टिकोणों से वृद्धि को प्राप्त करें, **च**=और **प्यासिषीमहि**=औरों के भी आप्यायन का कारण बनें। जिस व्यक्ति के जीवन में कमी होती है वह कभी भी औरों की वृद्धि नहीं चाहता। 'वह औरों की वृद्धि का कारण बनेगा' इस बात का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता। 'स्वस्थ शरीर, मन व मस्तिष्क' वाला व्यक्ति औरों के भी हित की कामनावाला होता है और उनकी उन्नति में यथाशक्ति सहायक होता है। इस उत्तम मनोवृत्ति को अपने में लाने के लिए हम 'घर्म' की रक्षा करें। सुरक्षित घर्मवाला ही उदारवृत्ति को अपना पाता है।

भावार्थ—हम शरीर में सोम की रक्षा करें। इससे अपना वर्धन व आप्यायन करके हम औरों का वर्धन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**परोष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

लोक-संग्रह

अचिक्रदद् वृषा हरिर्महान्मित्रो न दर्शतः। सꣳ सूर्येण दिद्युतदुदधिर्निधिः॥२२॥

गतमन्त्र में घर्म-रक्षा द्वारा अपना वर्धन करके औरों के हित में प्रवृत्त होने का उल्लेख है। यह औरों के हित में प्रवृत होनेवाला व्यक्ति १. **अचिक्रदत्**=शब्द करता है, औरों को ज्ञान का उपदेश देता है। **महान्**=इस ज्ञान उपदेश के द्वारा २. **वृषाः**=यह औरों पर सुखों की वर्षा करनेवाला होता है। ३. **हरिः**=उनके दुःखों का हरण करता है। ४. अपने इस महान् हितकार्य में यह विशाल हृदयवाला होता है। इसके हितकार्य में 'जाति, देश व धर्म' का बन्धन नहीं होता। यह सभी का हित करता है, सम्पूर्ण वसुधा को अपना कुटुम्ब समझता है। ५. यह **मित्रः न**=सूर्य के समान **दर्शतः**=दर्शनीय होता है। बड़ा तेजस्वी होता है ६. **सूर्येण सं दिद्युतत्**=ज्ञान के सूर्य से निरन्तर चमकता है। ७. **उदधिः**=यह ज्ञान का समुद्र बन जाता है अथवा समुद्र के समान गम्भीर होता है तथा ८. दिव्य गुणों का **निधिः**=कोश बन जाता है।

भावार्थ—घर्म की रक्षा से स्वयं बढ़कर औरों को बढ़ानेवाला 'दीर्घतमा' ज्ञान का उपदेश करता है और इस प्रकार सबके दुःखों को दूर करने के लिए यत्नशील होता है।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**आपः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

जल व ओषधियाँ

सुमित्रिया नऽआपऽओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु
योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः॥२३॥

गतमन्त्र की भावना के अनुसार जब हम द्वेष व कुटिलता से दूर होकर (२०) अपना वर्धन और औरों की वृद्धि करते हुए (२१) लोकसंग्रहमय जीवन बिताएँगे (२२) तब **नः**=हमारे लिए **आपः**=जल **ओषधयः**=और ओषधियाँ अवश्य **सुमित्रियाः**=उत्तम स्नेह करनेवाली (**मिद्**=स्नेह) तथा रोगों से बचानेवाली (प्रमीतेः त्रायते) होंगी। मनुष्य का मन प्रसन्न होता है और वह द्वेष-क्रोधादि से रहित मनवाला होता हुआ भोजन करता है तो जल व ओषधियाँ उसके अन्दर शक्ति को जन्म देनेवाली होती हैं। (२) इसीलिए मन्त्र के उत्तरार्ध में कहते है कि **यः**=जो **अऽस्मान् द्वेष्टि** =हम सबके साथ द्वेष करता है **च**=और **यम्**=जिसको **वयम्**=हम

सब **द्विष्मः**=अप्रिय—अवाञ्छनीय समझते हैं **तस्मै**=उसके लिए ये जल व ओषधियाँ **दुर्मित्रियाः**=न स्नेह करनेवाली तथा रोगों से न बचानेवाली हों। जब मन में द्वेष होता है तब ओषधियों में भी कुछ विष उत्पन्न हो जाते हैं और इस प्रकार ओषधियाँ हितकर नहीं रहतीं। जो व्यक्ति सदा औरों के प्रति द्वेष करता है और अशुभ भावनाओं से भरा रहता है, जो अपने स्वार्थ के लिए सारे समाज का अहित करता है, अन्त में वह समाज के लिए भी अवाञ्छनीय हो जाता है, ऐसे व्यक्ति के लिए जल व ओषधियाँ अहितकर ही होती हैं।○

भावार्थ—हम द्वेष की भावना से शून्य होकर सदा सबके हित की भावना से ओत-प्रोत मनवाले बनकर भोजन करें। निर्द्वेष मनसे होनेवाला खान-पान हितकर परिणामवाला होता है, तो द्वेषी मन भोजन को भी अहितकर कर देता है।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

उत् + उत्तर + उत्तम

उद्वयन्तमसस्परि स्वः पश्यन्तऽउत्तरम्। देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥२४॥

गतमन्त्र की निर्द्वेषता के साधन के लिए प्रकृति से ऊपर उठकर प्रभु की ओर चलना ही मुख्य उपाय है, उसका उल्लेख प्रस्तुत मन्त्र में करते हैं—

१. **वयम्**=हम **उत्**=इस उत्कृष्ट **तमसः**=अन्धकारमयी प्रकृति से **परि अगन्म**=ज़रा परे चलें। 'प्रकृति उत्कृष्ट है' इसमें सन्देह नहीं। इस सृष्टि में प्रभु ने प्रत्येक पदार्थ का निर्माण जीव के हित के लिए बड़ी सुन्दरता से किया है। प्रत्येक पदार्थ उत्तम है, सुन्दर और आकर्षक है। हम अपनी अल्पज्ञता के कारण उस पदार्थ की ओर आकृष्ट होकर उसका अतियोग कर बैठते हैं और हमारे लिए वह पदार्थ असुन्दर परिणामोंवाला हो जाता है। चिन्तन करने पर हम इनमें न फँसने का निश्चय करते हैं कि इस प्रकृति से हम अब ऊपर उठते हैं। इस भौतिक शरीर के लिए इन प्राकृतिक वस्तुओं का प्रयोग करते हुए हम इसमें उलझते नहीं। इससे ऊपर उठकर २. **उत्तरम्**=चेतनता के कारण इस जड़ तमोमय प्रकृति से अधिक उत्कृष्ट **स्वः**=(स्वर् to radiate) उस देदीप्यमान आत्मज्योति को **पश्यन्तः**=देखते हुए हम इस संसार में चलते हैं। हम प्रतिदिन आत्मस्वरूप का चिन्तन करते हुए इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि यह प्रकृति हमारे लिए है, हम प्रकृति के लिए नहीं हैं। इस प्रकृति में छेदन-भेदन होने से यह 'तमस्' है, यह अन्धकारमयी है। आत्मा में यह छेदन-भेदन नहीं, वह अच्छेद्य-अभेद्य ज्योति है।

३. इस भावना के जागने पर हम **देवत्रा देवम्**=देवों में देव, अर्थात् इन सब ज्योतिओं को भी ज्योतिर्मय करनेवाले **सूर्यम्**=(सुवति कर्मणि) सबको अपने-अपने कर्मों में प्रेरित करनेवाले **उत्तमं ज्योतिः**=उस सर्वाधिक निरतिशय ज्योति परमात्मा को **अगन्म**=प्राप्त हों। जीव चेतन है, इसी कारण जड़ प्रकृति से अधिक उत्कृष्ट है। परमात्मा 'पूर्ण चैतन्य' है, वे जीव से भी ऊपर हैं। जीव पुरुष है तो प्रभु पुरुषोत्तम हैं। एवं, प्रकृति 'उत्' है, जीव 'उत्तर' है और प्रभु 'उत्तम' हैं।

भावार्थ—हम प्रकृति के सौन्दर्य को समझते हुए, उसका यथायोग-उचित उपयोग करते हुए, प्रकृति से ऊपर उठें। उससे ऊपर उठकर आत्मस्वरूप का चिन्तन करें। आत्म-चिन्तन करते हुए हम उस सर्वोत्तम ज्योति देवों के भी देव परमात्मा का दर्शन करें।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**साम्नीपङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

प्रभु के तेज का धारण

एधोऽस्येधिषीमहि समिदसि तेजोऽसि तेजो मयि धेहि॥२५॥

गतमन्त्र का द्रष्टा प्रभु का दर्शन करता है और विनय करता है कि—१. **एधः असि**=(एध वृद्धै) आप बढ़े हुए हैं। **'वर्धमानं स्वे दमे'**=आप तो अपने स्वरूप में सदा से वृद्ध हैं। प्रत्येक गुण की चरम सीमा ही तो आप हैं। आप निरतिशय ज्ञान हैं, सर्वाधिक शक्ति हैं और परमैश्वर्यवाले हैं। २. **एधिषीमहि**=आपकी कृपा से हम भी बढ़ें। हम शारीरिक स्वास्थ्य को प्राप्त करें तो मानस नैर्मल्य व ज्ञान की दीप्ति को बढ़ानेवाले हों। आप ३. **समित्** (सम्+इन्ध)=उत्तम दीप्तिवाले **असि**=हैं। आप तो **तेजः असि** तेज के पुञ्ज हैं—तेज–ही–तेज हैं, इस **तेजः**=तेज को **मयि**=मुझमें **धेहि**=धारण कीजिए।

प्रभु सदा वर्धमान हैं—ज्ञान की दीप्ति से दीप्त हैं, तेज के पुञ्ज हैं। प्रभुकृपा से हम भी सदा वृद्धि को प्राप्त करें, हमारा ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ता चले और हम तेज के पुञ्ज बनें।

भावार्थ—प्रभुभक्त वर्धमान, ज्ञानी व तेजस्वी बनता है।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

यावती द्यावापृथिवी यावच्च सप्त सिन्धवो वितस्थिरे।
तावन्तमिन्द्र ते ग्रहमूर्जा गृह्णाम्यक्षितं मयि गृह्णाम्यक्षितम्॥२६॥

दीर्घतमा कहता है कि **यावती द्यावापृथिवी**=जबतक ये द्युलोक और पृथिवीलोक हैं **च**=और **यावत्**=जबतक **सप्त सिन्धवः**=सातों समुद्र **वितस्थिरे**=विशेषरूप से अपनी मर्यादा में स्थित हैं **तावन्तम्**=उतने समय तक **इन्द्र**=हे परमैश्वर्यशाली प्रभो! **ते ग्रहम्**=आपके ग्रहण को **ऊर्जा**=बल और प्राणशक्ति के हेतु **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ। **अक्षितम्** =आपका ग्रहण मेरी अक्षीणता का कारण बनता है। आपके ग्रहण के लिए मुझे कहीं दूर थोड़े ही जाना है **मयि**=अपने ही अन्दर **गृह्णामि**=मैं आपको ग्रहण करने के लिए यत्नशील होता हूँ, जिससे **अक्षितम्**=मेरा क्षत–विनाश न हो।

१. जब तक द्युलोक और पृथिवीलोक विद्यमान हैं—जब तक समुद्र अपनी मर्यादा में स्थित है, तब तक मेरी उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को ग्रहण करने की साधना चलती रहे।

२. इस प्रभु–ग्रहण की साधना ने ही मुझे बल व प्राणशक्ति प्राप्त करानी है। इसी साधना ने मुझे क्षय से बचाना है। प्रभु से दूर हुआ और मैं निर्बल होकर पिसा।

३. प्रभु का ग्रहण मुझे कहीं बाह्य संसार में नहीं करना, उसका ग्रहण तो मेरे ही अन्दर हो जाएगा। बाह्य वस्तुओं में प्रभु की महिमा का दर्शन अवश्य होता है, परन्तु ऐसा करने पर धीमे–धीमे उन वस्तुओं की ही पूजा आरम्भ हो जाती है। सूर्य में प्रभु महिमा का दर्शन करनेवला सूर्य का ही उपासक बन जाता है। मूर्त्तिपूजा का मूल इसी वृत्ति में है। इसलिए अन्दर ही प्रभु को देखना ठीक है।

भावार्थ—मैं सतत साधना के द्वारा प्रभु को अपने अन्दर ग्रहण करूँ, जिससे मुझे बल व प्राणशक्ति प्राप्त हो और मैं क्षीणता से बच सकूँ।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

मयि त्यदिन्द्रियं बृहन्मयि दक्षो मयि क्रतुः।
घर्मस्त्रिशुग्वि राजति विराजा ज्योतिषा सह ब्रह्मणा तेजसा सह॥२७॥

गतमन्त्र में वर्णित प्रभु का ग्रहण मैं इसलिए करता हूँ कि १. **मयि**=मुझमें **त्यत्** =उस प्रसिद्ध **इन्द्रियम्**=इन्द्र की शक्ति उत्पन्न होती है। उपासना से इन्द्र की शक्ति का विकास होता है। वह विकास **बृहत्**=मेरी वृद्धि का कारण बनता है (बृहि वृद्धौ) २. **मयि दक्षः**= इस उपासना से मुझमें कार्यकुशलता बढ़ती है। उपासक कभी अनाड़ीपन से कार्य नहीं

करता। ३. **मयि क्रतुः**=मुझमें सदा कर्म संकल्प बना रहता है। ब्रह्मनिष्ठ का जीवन क्रियाशील होता है। ४. इस उपासना के परिणामस्वरूप वासनाओं का दूरीकरण होकर **घर्मः**=सोमशक्ति **त्रिशुक्**=मस्तिष्क, मन व शरीर तीनों में दीप्ति व क्रिया को उत्पन्न करती है। वह सोमशक्ति **विराजति**=दीप्त होती है। उपासक का मस्तिष्क 'उज्ज्वल', मन 'निर्मल' तथा शरीर पूर्ण 'स्वस्थ' होता है। ५. यह उपासक **विराजा**=विशेष रूप से देदीप्यमान **ज्योतिषा**=ज्योति के **सह**=साथ होता है। ब्रह्म सूर्य के समान ज्योति है, उसका उपासक भी विशेष दीप्तिवाला होता है। ६. यह उपासक जहाँ **ब्रह्मणा**=ज्ञान के साथ होता है वहाँ **तेजसा सह**=तेज के भी साथ होता है। उसके ब्रह्म और क्षत्र दोनों ही फूलते-फलते हैं, शरीर शक्ति से दीप्ति होता है। मस्तिष्क ज्ञान से उज्ज्वल होता है। इसप्रकार यह तम व अन्धकार को विदीर्ण करके 'दीर्घतमा' बन जाता है।

भावार्थ—प्रभु-उपासक की आत्मशक्ति 'दक्षता, कर्मसंकल्प, ज्ञान व तेज' से युक्त होती है।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**स्वराड्धृतिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

समर्पण, गोदुग्ध-सेवन

पयसो रेतऽआभृतं तस्य दोहमशीमह्युत्तरामुत्तराᳬं समाम्। त्विषः संवृक्क्रत्वे दक्षस्य ते सुषुम्णस्य ते सुषुम्णाग्निहुतः। इन्द्रपीतस्य प्रजापतिभक्षितस्य मधुमतऽ उपहूतऽउपहूतस्य भक्षयामि॥२८॥

यह मन्त्र इस अध्याय का अन्तिम मन्त्र है। इसमें मनुष्य अपने को समर्पण के लिए सन्नद्ध करता है। शुद्ध सात्त्विक भोजन से जीवन को प्रारम्भ करता है, जिससे सात्त्विक मनवाला बनकर **'अग्निहुत'**='प्रभु-अर्पित' हो सके। यह कहता है कि १. **पयसः**=सर्वाङ्ग आप्यायन करनेवाले दूध से **रेतः**=शक्ति का **आभृतम्** =हममें सर्वथा पोषण हुआ है। गौ का ताज़ा दूध वस्तुतः अमृत है, उसी का सेवन करके देव अमर बनते हैं। हम **तस्य**=उस दूध के **दोहम्**=दोहन को **उत्तरां समाम्**=एक के बाद दूसरे आनेवाले वर्षों में **अशीमहि** =प्राप्त करें और उसी का भोजनरूप में सेवन करें। २. इस ताज़े दूध के सेवन से मैं **त्विषः**= कान्ति व दीप्ति का **संवृक्**=अपनी ओर आवर्जन=झुकाव करनेवाला बनूँ। ३. **क्रत्वे**=उत्तम कर्मसंकल्पों के लिए मैं इस गोदूध का सेवन करूँ। गोदूध के सेवन से सात्त्विक मनोवृति के कारण उत्तम कर्मसंकल्प ही हममें उत्पन्न होंगे। ४. **सुषुम्ण**=उत्तम सुखों के देनेवाले प्रभो! (सुम्न=सुखम्) हे **उपहूत**=सदा पुकारे जानेवाले प्रभो! मैं **अग्निहुतः**=(अग्नौ हुतं यस्य) अग्निहोत्र करनेवाला तथा अग्निरूप आपमें अपना अर्पण करनेवाला **ते**=आपके **दक्षस्य**=शक्ति के बढ़ानेवाले **सुषुम्णस्य**=नीरोगता के कारण उत्तम सुख को प्राप्त करानेवाले **ते**=तेरे इस **इन्द्रपीतस्य**=जितेन्द्रिय बनने की कामनावाले से पीये जानेवाले **प्रजापतिभक्षितस्य**= प्रजा के रक्षण की वृत्तिवाले से ग्रहण किये गये **मधुमतः**=अत्यन्त माधुर्यमय **उपहूतस्य**=सदा प्रार्थित दुग्ध का **भक्षयामि**=सेवन करूँ।

भावार्थ—उल्लिखित अर्थ से स्पष्ट है कि गोदूध शक्तिवर्धक है, नीरोगता देनेवाला है, जितेन्द्रिय बनने में सहायक है, रक्षण की वृत्ति को बढ़ानेवाला है, जीवन की प्रत्येक क्रिया में माधुर्य को उपजाता है। इस दूध का सेवन करनेवाले हम उत्तम मनोवृतिवाले बनकर प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले बनें। हम 'अग्निहुत' हों।

अष्टात्रिंशोऽध्यायः॥

अथैकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

—:०:—

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**प्राणादयो लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

धन्यवाद व विदाई

स्वाहा प्राणेभ्यः साधिपतिकेभ्यः। पृथिव्यै स्वाहाग्नये स्वाहान्तरिक्षाय स्वाहा वायवे स्वाहा। दिवे स्वाहा सूर्याय स्वाहा॥१॥

१. गतमन्त्र में अपने को प्रभु के प्रति अर्पण करके व्यक्ति इस संसार से चलने की पूरी तैयारी कर चुका है। इस विदाई के समय वह जिस शरीर व लोक में रहा, जिन-जिनके सम्पर्क में आया, उनसे वह विदा लेता है। उनका धन्यवाद करता है **सु+आह**=उनके लिए उत्तम शब्द बोलता है तथा 'स्व+आह' अपना परिचय देता हुआ विदा लेता है। जिस-जिस वस्तु के साथ उसने **'स्व' पना**=ममता जोड़ा था, उन्हें आज यहाँ छोड़ता है (हा=छोड़ना)।

प्राण=२. सबसे प्रथम **प्राणेभ्यः**=प्राणों के लिए **स्वाहा**=धन्यवाद करता है। शरीर में सोलह कलाओं में सबसे प्रथम इन्हीं का निर्माण हुआ था **'स प्राणमसृजत्**—तै०। इन प्राणों से वह कहता है कि भाई! जब सब सो जाते थे तब भी तुम जागकर पहरा दिया करते थे, तुमने कभी थकने का नाम ही नहीं लिया। **'साधिपतिकेभ्यः'**=तुम्हारा जो अधिपति मन है उस मनसहित तुम्हारे लिए मैं धन्यवाद करता हूँ। (**मनो वै प्राणानामधिपतिर्मनसि हि सर्वे प्राणाः प्रतिष्ठिताः**—श० १४।३।२।३)। इस मन के बिना तो कोई कदम कभी रक्खा ही नहीं गया। हे प्राणो! अब मैं तुमसे विदा लेता हूँ। ३. **पृथिव्यै स्वाहा**=इस पृथिवी के मुख्य देवता के लिए भी मैं धन्यवाद करता हूँ। हे पृथिवि! तूने मुझे खाने के लिए अन्न दिया, पहनने के लिए कपड़ा दिया। मातृतुल्य पालन करनेवाली तुझे मैं धन्यवाद न दूँ तो और किसे दूँ। तेरी इस मुख्य देवता अग्नि ने मेरे जीवन में कितना बड़ा भाग लिया! उस कृपा को मैं कभी भूल सकता हूँ? मुझे अब छुट्टी दो, आज मैं आपसे विदाई लेता हूँ। ४. **अन्तरिक्षाय स्वाहा, वायवे स्वाहा**=भाई अन्तरिक्ष ('भ्रातान्तरिक्षम्' अथर्व०)! तेरा भी मैं धन्यवाद करता हूँ और तेरे इस मुख्य देवता वायु के लिए भी मैं शुभ शब्द कहता हूँ। तेरे अन्दर ही मेरी सब क्रियाएँ होती रहीं। 'आना-जाना, भागना-दौड़ना' सब तुझमें ही होता रहा। तेरी वायु यदि एक मिनिट रुकती थी तो मेरा दम ही घुट जाता था,अतः तुम दोनों का भी धन्यवाद करता हुआ मैं आज तुमसे विदाई लेता हूँ। ५. **दिवे स्वाहा, सूर्याय स्वाहा**=इस पितृस्थानीय द्युलोक के लिए ('द्यौष्पिता'—अथर्व०) तथा उसके मुख्य देवता सूर्य के लिए मैं धन्यवाद करता हूँ 'इस द्युलोक ने वृष्टि की व्यवस्था करके किस प्रकार पृथिवी में अन्न उत्पादन की व्यवस्था की' क्या मैं इसे कभी भूल सकता हूँ? सूर्य तो सब प्रजाओं का प्राण ही है, इसने सब प्राणदायी तत्त्वों को अपनी किरणों से उन अन्नों व ओषधियों में स्थापित किया। इस सूर्य के सम्पर्क में ही मैं उत्साहमय जीवन को बिता पाया। आज हे द्युलोक व सूर्य! मैं आपसे विदाई लेता हूँ। फिर भी किसी शरीर में आऊँगा तो मिलना होगा ही, परन्तु आज तो मुझे अब छुट्टी दो।

भावार्थ—हम अपने अन्तिम समय (on death bed) मनसहित प्राणों, अग्निसहित पृथिवी, वायुसहित अन्तरिक्ष तथा सूर्यसहित द्युलोक का धन्यवाद करते हुए इनसे विदा लें।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**दिगादयो लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

देवताओं से विदाई

दिग्भ्यः स्वाहा चन्द्राय स्वाहा नक्षत्रेभ्यः स्वाहाद्भ्यः स्वाहा वरुणाय स्वाहा। नाभ्यै स्वाहा पूताय स्वाहा॥२॥

१. **दिग्भ्यः स्वाहा**=इन दिशाओं के लिए मैं धन्यवाद करता हूँ। इस 'प्राची' ने मुझे (प्र+अञ्च) आगे बढ़ने का पाठ पढ़ाया था तो 'दक्षिण' ने दाक्षिण्य का उपदेश दिया, 'प्रतीची' ने प्रत्याहार का पाठ पढ़ाया और 'उदीची' से मैंने ऊपर उठना सीखा। इन सब दिशाओं का धन्यवाद करता हुआ आज मैं इनसे विदा लेता हूँ। २. **चन्द्राय स्वाहा**=चन्द्रमा के लिए भी धन्यवाद करता हूँ। इस चन्द्रमा ने तो मेरे जीवन को आह्लाद से ओत-प्रोत-सा किया हुआ था। इस चन्द्रमा से भी आज मैं विदाई लेता हूँ। ३. **नक्षत्रेभ्यः स्वाहा**=चन्द्रमा की प्रजाभूत इन नक्षत्रों के लिए भी मैं धन्यवाद करता हूँ। चन्द्रमा 'नक्षत्रेश' हैं, अतः चन्द्र से विदा लेकर अब इन नक्षत्रों से भी विदा लेनी है। इनसे भी आज मैं विदा होता हूँ। (४) **अद्भ्यः स्वाहा**=जलों के लिए भी धन्यवाद है। ये जन्म से लेकर लय तक मेरे लिए महत्त्वपूर्ण बने रहे। 'आप' अर्थात् मेरे जीवन में सदा व्याप्त-से रहे। 'वारि नामवाले होकर इन्होंने मेरे रोगों का निवारण किया। इनसे भी मैं विदा लेता हूँ। ५. **वरुणाय स्वाहा**=जलों के अधिष्ठातृदेव 'अप्पति'=वरुण के लिए भी धन्यवाद करता हूँ। इसी वरुण के प्रशासन में विविध दिशाओं में नदियों का प्रवाह इस संसार में चलता था और मुझे जल की विविध रूपों में प्राप्ति होती थी। यह वरुण ही मुझे विविध कर्मों के बन्धन में बाँधता था। इससे भी आज मैं विदा चाहता हूँ। ६. **नाभ्यै स्वाहा**=इस शरीर की केन्द्रभूत नाभि के लिए भी धन्यवाद करता हूँ। 'नह् बन्धने' शरीर का सारा नाड़ी-संस्थान इस नाभिरूप केन्द्र में ही बद्ध था, इस नाभि का भी मैं कृतज्ञ हूँ और इससे भी आज विदा चाहता हूँ। ७. **पूताय स्वाहा**=शरीर में शोधनकार्य में लगी हुई इन 'पायु व उपस्थ' इन्द्रियों के लिए, शरीर के अन्य रोमकूपों के लिए मैं धन्यवाद करता हूँ और इनसे विदाई लेता हूँ। बड़े-बड़े अफ्सरों से जहाँ विदाई ली जाती है वहाँ चपरासी से भी तो विदा लेनी चाहिए। इसी प्रकार मैं जहाँ चक्षु आदि से व पृथिवी आदि देवों से विदा लेता हूँ, उसी प्रकार इन मलशोधक इन्द्रियों से भी विदा लेता हूँ। इन्होंने शोधनकार्य को मेरे स्वास्थ्य के लिए कितनी सुन्दरता से निभाया!

भावार्थ—आज जीवन के इस अन्तिम दिन मैं सब देवों से व शरीर की नाभि व शोधक अंगों से विदाई लेता हूँ।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**वागादयो लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**स्वराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

सप्तर्षियों—इन्द्रियों से विदा

वाचे स्वाहा प्राणाय स्वाहा प्राणाय स्वाहा।
चक्षुषे स्वाहा चक्षुषे स्वाहा श्रोत्राय स्वाहा श्रोत्राय स्वाहा॥३॥

१. **वाचे स्वाहा**=मैं इस वाणी के लिए शुभ शब्द कहता हूँ। इसी के द्वारा जीवनभर मेरा सारा कार्य चला। यही मेरे विचारों का वाहन बनी। इसी के द्वारा मैंने अपनी इच्छाओं

को औरों पर व्यक्त किया। इस वाणी से आज मैं विदा लेता हूँ। २. **प्राणाय स्वाहा**=वाणी के ऊपर स्थित इस घ्राणेन्द्रिय के लिए भी मैं धन्यवाद करता हूँ। इसके द्वारा मैंने जीवन में आत्मीयता का अनुभव किया। कौन मेरे सगे-सम्बन्धी हैं, इनके पहचानने में इसने मेरा साथ दिया। **घ्राणाय स्वाहा**=इस घ्राणेन्द्रिय के दूसरे छिद्र के लिए भी मैं धन्यवाद करता हूँ, परन्तु आज इन दोनों से ही विदा लेने की तैयारी में हूँ। (३) **चक्षुषे स्वाहा**, प्राण से ऊपर स्थित इस चक्षु के लिए भी धन्यवाद है। इसी ने मुझे सारे जीवन में वस्तुओं का दर्शन कराया। इसके बिना मेरा संसार शून्य-सा ही रहता। ये ही मुझे 'अगला मार्ग साफ़ है या नहीं' इसका ज्ञान देती थीं। 'स्थल है या जल है' यह इन्हीं से मैं देख पाता था। आज मुझे इनसे विदाई लेनी है। **चक्षुषे स्वाहा**=इस बाईं आँख के लिए भी धन्यवाद। (४) **श्रोत्राय स्वाहा, श्रोत्राय स्वाहा**=मैं इन दोनों श्रोत्रों के लिए भी धन्यवाद करता हूँ। इनसे सुनकर ही मैंने सारा ज्ञान प्राप्त किया। इन्हीं से मेरे विचार औरों ने सुने, उनके विचार मैंने सुने। परस्पर विचार-विनिमय में इनका स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। इनके अभाव में मेरा यह संसार कितना विचित्र-सा होता! इनका भी धन्यवाद करता हुआ आज इनसे भी विदा लेता हूँ। सचमुच अब तो हे श्रोत्रो! तुमसे विदा लेकर मुझे ब्रह्मरन्ध्र से ऊपर ही चले जाना है। आवश्यक हुआ तो फिर मिलेंगे ही, परन्तु आज तो विदाई दो ना?

भावार्थ—आज अन्तिम दिन मैं इन सप्तर्षियों से, जिन्होंने मुझे सदा इस संसार का ज्ञान दिया, विदा लेने लगा हूँ। इनका धन्यवाद तो मैं करता ही हूँ।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**श्रीः**। छन्दः—**निचृद्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

यश और श्री

मनसः काममाकूतिं वाचः सत्यमशीय।
पशूनाꣳरूपमन्नस्य रसो यशः श्रीः श्रयतां मयि स्वाहा ॥४॥

जाती हुई आत्मा यह चाहती है कि वह मुक्त हो जाए, अतिदीर्घ काल तक अगला जन्म न लेना पड़े, वह परमेश्वर के साथ विचरनेवाली बने, परन्तु यदि जन्म लेना ही पड़े तो इसकी प्रार्थना निम्न शब्दों में होती है—

१. मैं **मनसा**=मन से **कामम्**=पर्याप्त **आकूतिम्**=सङ्कल्प को **अशीय**=प्राप्त करूँ। मेरा मन उत्तमोत्तम कार्यों के सङ्कल्पवाला हो। यह तो ठीक है कि मैं काममय न हो जाऊँ, परन्तु जड़ वस्तुओं की भाँति अकाम भी न हो जाऊँ। मेरा मन सदा शुभ सङ्कल्पों से भरा रहे।

२. मैं **वाचः**=वाणी की **सत्यम्**=यथार्थता को **अशीय**=प्राप्त करूँ। मेरी वाणी यथार्थ हो। इतना ही नहीं कि मैं अर्थ के अनुसार बोलनेवाला होऊँ, अपितु मेरी वाणी के अनुसार अर्थ हो जाए। ३. **पशूनाम् रूपम्**=मैं पशुओं के रूप को प्राप्त करूँ। आचार्य एक जगह 'रूप' शब्द पर लिखते हैं कि 'विषयासक्ति, कुपथ्य और अधर्माचरण को छोड़कर अपने स्वरूप को अच्छा रखना। पशुओं का जीवन सादा है। उनके खानपान में जटिलता नहीं। परिणामतः उनका जीवन स्वस्थ बना रहता है। हम भी उनकी भाँति विषयासक्ति आदि से बचकर स्वस्थ बनने का प्रयत्न करें। "रूपम् रोचतेः' निरुक्त (२.३) के इन शब्दों के अनुसार मैं स्वास्थ्य की दीप्तिवाला बनूँ। 'सादा जीवन' यह मेरा उद्देश्य-वाक्य बने और मैं स्वास्थ्य व दीर्घ-जीवन का लाभ करूँ।

५. **अन्नस्य रसः**=इस स्वास्थ्य के लिए ही मैं अन्न के रस का सेवन करूँ। व्यर्थ के

अभक्ष्य मांस आदि के झगड़े में न पड़ जाऊँ। साथ ही अन्न को खूब चबाकर खाऊँ। उसको रसरूप में अन्दर ले-जाऊँ। इस सात्त्विक भोजन के परिणामस्वरूप मेरी वृत्ति भी सात्त्विक बनी रहे। ६. **मयि**=मुझमें **यशः**=यश और **श्रीः**=शोभा **श्रयताम्**=आश्रय करें। मेरा प्रत्येक कार्य यशस्वी और श्रीसम्पन्न हो। मैं किसी भी कार्य को अनाड़ीपन से न करूँ।

भावार्थ—मेरा जीवन उत्तम संकल्पोंवाला, सत्यमय, स्वस्थ, सात्त्विक अन्न का सेवन करनेवाला तथा यश और श्री से युक्त हो।

सूचना—'श्री' का अर्थ धन भी होता है। मैं अपने जीवन में उचित व आवश्यक धन को प्राप्त करनेवाला बनूँ। धन का अभाव मेरी परेशानी का कारण न बने।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**प्रजापतिः**। छन्दः—**कृतिः**। स्वरः—**निषादः**॥

उत्तम कर्म—श्रेष्ठ जन्म

प्रजापतिः सम्भ्रियमाणः सम्राट् सम्भृतो वैश्वदेवः सꣳसन्नो घर्मः प्रवृक्तस्तेजऽउद्यतऽआश्विनः पयस्यानीयमाने पौष्णो विष्यन्दमाने मारुतः क्लथन्। मैत्रः शरसि सन्ताय्यमाने वायव्यो ह्रियमाणऽआग्नेयो हूयमानो वाग्घुतः॥५॥

प्रस्तुत मन्त्र में कौन व्यक्ति किस प्रकार का जन्म लेता है यह वर्णन है। सामान्यतः १२ भागों में बाँटकर यह बात यहाँ प्रस्तुत की गई है। १. **सम्भ्रियमाणः**=जिस व्यक्ति में 'माता-पिता अचार्य-अतिथि' आदि देवों ने अच्छाई को भरने को प्रयत्न किया—जो अच्छाइयों से भरा हुआ रहा वह **प्रजापतिः**=प्रजा का रक्षक—उत्तम सन्तानोंवाला, अर्थात् एक सद्गृहस्थ बनता है। २. **सम्भृतः**=जिसके अन्दर सब उत्तमताओं को भर दिया गया वह **सम्राट्**=सम्राट् बनता है। राष्ट्र में सबसे अधिक दीप्त होनेवाला व्यक्ति समझा जाता है। ३. **संसन्नः**=जो सभा आदि स्थलों में सम्यक्तया आसीन होता है, अर्थात् जिसका व्यवहार उस-उस स्थान में उत्तम होता है वह **वैश्वदेवः**=सब दिव्य गुणोंवाला होता है। ४. **प्रवृक्तः**=जो वासनाओं का अधिक-से-अधिक वर्जन करनेवाला बनता है वह **घर्मः**=(**घर्म**=सोम) सोम का **पुञ्ज**=वीर्यवान् बनता है। ५. **उद्यतः**=आलस्य से विहीन, सदा कर्मों में उद्यत व्यक्ति **तेजः**=तेजस्वी बनता है। ६. **पयसि आनीयमाने**=घर में सदा दूध के लाये जाने पर **आश्विनः**=पति-पत्नी दोनों ही प्राणापान सम्पन्न होते हैं, अर्थात् इनकी प्राणशक्ति ठीक बनी रहती है। ७. **विष्यन्दमाने**=(वि, स्पन्द) विशेषरूप से सदा क्रियाशील बने रहने पर **पौष्णः**=यह पूषा देवतावाला होता है, अर्थात् सदा पुष्ट शरीरवाला होता है। ८. **क्लथन्**=सब अशुभों की—अशुभ विचारों व भावनाओं की हिंसा करता हुआ **मारुतः**=मितरावी—बड़ा परिमित बोलनेवाला बनता है। अथवा **'मरुतः प्राणः'**=प्राणशक्ति का पुञ्ज बनता है। ९. **शरसि सन्ताय्यमाने**=सतत काम-क्रोध, राग-द्वेष की हिंसा चलने पर (**तायृ=सन्तान**=फैलाना), अर्थात् राग-द्वेष से ऊपर उठने के सतत प्रयत्न होने पर **मैत्रः**=सबके साथ मित्रता की भावनावाला होता है। सबके साथ स्नेह से चलनेवाला होता है। जन्म से ही स्नेह की भावनावाला होता है। १०. **ह्रियमाणः**=जो प्रतिक्षण लोगों से अपने-अपने कार्यों को संवारने के लिए ले-जाया जाता है, अर्थात् कभी कहीं और कभी कहीं भिन्न-भिन्न लोगों के कार्य में सहायता के लिए जाता है, वह **वायव्यः**=वायु तत्त्व की प्रधानतावाला होने से निरन्तर गतिशील और इस गतिशीलता से पवित्रता को पैदा करनेवाला होता है। ११. **हूयमानः**=जो दान आदि के द्वारा निरन्तर अपनी आहुति देता रहता है वह **आग्नेयः**=अग्नितत्त्व प्रधान

होता है। अग्नि के समान तेजस्वी व प्रकाशमय जीवनवाला बनता है। १२. **हुतः**=जो प्रभु के प्रति अपना अर्पण करता है, जो लोगों के हित में अपनी पूर्ण आहुति दे देता है, वह **वाक्**=वेदवाणी का पुञ्ज, सरस्वती—ज्ञान की देवता का ही पुतला-सा बनता है।

भावार्थ—हम उत्तम कर्म करनेवाले बनें, जिससे हमारा अगला जन्म उत्तम हो।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**सवितादयः**। छन्दः—**विराड्धृतिः**। स्वरः—**ऋषभः**॥

दैवीसंपत्-युक्त ज्ञान के दृष्टिकोण से उत्तम जन्म

सविता प्रथमेऽहन्नग्निर्द्वितीये वायुस्तृतीयऽआदित्यश्चतुर्थे चन्द्रमाः पञ्चमऽऋतुः षष्ठे मरुतः सप्तमे बृहस्पतिरष्टमे। मित्रो नवमे वरुणो दशमऽइन्द्रऽएकादशे विश्वेदेवा द्वादशे॥६॥

पिछले मन्त्र में उत्तम कर्मों व गुणों के दृष्टिकोण से जन्म का विचार हुआ है। प्रस्तुत मन्त्र में ज्ञान के दृष्टिकोण से जन्म का विचार चलता है। जैसे ज्योतिश्चक्र को बारह भागों में बाँटकर सूर्य की बारह संक्रान्तियाँ होती हैं उसी प्रकार ज्ञान की भी बारह श्रेणियों की कल्पना करके जीव के भी बारह संक्रमणों—भावी पुनर्जन्मों का यहाँ उल्लेख हुआ है। ये सबके सब जन्म दैवी सम्पत्तिवाले हैं।

यहाँ मन्त्र में 'अहन्' शब्द आकाश (Sky) के लिए प्रयुक्त हुआ है। १. **प्रथमे अहन्**=जो व्यक्ति ज्ञान के आकाश के प्रथम विभाग में है, वह **सविता**=उत्पादक होता है। यह जन्म से ही निर्माणात्मक कार्यों में रुचिवाला होता है। तोड़-फोड़ के कार्यों में इसका झुकाव नहीं होता। २. **द्वितीये**=ज्ञान के आकाश के द्वितीय भाग में विचरनेवाला **अग्निः**='अग्रेणी' निरन्तर उन्नतिशील मनोवृत्तिवाला होता है। ३. **तृतीये**=ज्ञान की तृतीय श्रेणी में वर्त्तमान व्यक्ति **वायुः**=अपने अगले जन्म में (वा गतिगन्धनयोः) अपनी गति के द्वारा बुराई का गन्धन=हिंसन करनेवाला होता है ४. **चतुर्थे**=ज्ञान की चतुर्थ कक्षा में वर्त्तमान व्यक्ति **आदित्यः**=(आदानात्) सदा अच्छाइयों का आदान करनेवाला होता है। यह खारे समुद्र में से भी शुद्ध जल को ही लेनेवाले सूर्य की भाँति अच्छाई को ही लेता है, बुराई को नहीं। कीचड़ में से भी जल को ही लेनेवाले सूर्य के समान यह कीचड़ व बुराई को वहीं छोड़ देता है। ५. **पञ्चमे**=ज्ञान की पञ्चम कक्षा में पहुँचने पर यह **चन्द्रमाः**=सदा चन्द्र के समान आह्लादमय मनोवृत्तिवाला होता है ६. **षष्ठे**=ज्ञान की छठी श्रेणी में पहुँच चुके व्यक्ति का अगले जन्म में मुख्य गुण **ऋतुः**=ऋतुओं के अनुसार नियमित गति होता है'। 'ऋ धातु' का अर्थ है गति। इस धातु से बना हुआ 'ऋतु' शब्द नियमित गति का संकेत करता है। ज्ञानी पुरुष सूर्य-चद्रमा की भाँति अथवा ऋतुओं के चक्र की भाँति अपने नैत्यिक कार्यक्रम में व्यवस्थित होता है। ७. **सप्तमे**=ज्ञान की सप्तमी कक्षा में पहुँचे हुए व्यक्ति **मरुतः**=(मरुतः प्राणाः, मितराविणो वा) प्राणशक्ति के पुञ्ज व मितरावी होने से बड़ा मपा-तुला ही बोलते हैं। ८. **अष्टमे**=अष्टम विभाग में पहुँचे हुए व्यक्ति **बृहस्पतिः**=**ब्रह्मणस्पतिः**=बड़े ऊँचे ज्ञानी बनते हैं—ब्रह्मदर्शन करनेवाले बनते हैं। ९. **नवमे**=अब ज्ञान की नवम श्रेणी में पहुँचा हुआ यह व्यक्ति **मित्रः**=सबके साथ स्नेह करनेवाला होता है। प्रभु का उपासक सर्वत्र समरूप से अवस्थित प्रभु को देखता है, अतः सभी के प्रति स्नेहवाला होता है। १०. **दशमे**=ज्ञान की दशम श्रेणी में वर्त्तमान व्यक्ति **वरुणः**=वरुण होता है—द्वेष का निवारण करनेवाला अथवा (वरुणपाशैः) अपने को व्रतों (के बन्धनों) में बाँधनेवाला होता है। ११. **एकादशे**=ज्ञान की ग्यारहवीं श्रेणी में वर्त्तमान व्यक्ति अगले जन्म में **इन्द्रः**='इन्द्रियों

का अधिष्ठाता—पूर्ण जितेन्द्रिय' होता है। १२. **द्वादशे**=ज्ञानकी बारहवीं व अन्तिम श्रेणी में पहुँचा हुआ व्यक्ति **विश्वदेवाः**=सब दिव्य गुणों का पुञ्ज बन जाता है और इस प्रकार 'पूर्ण दैवी सम्पत्ति' को प्राप्त करता है। यह दैवी सम्पद् इसके मोक्ष का कारण बनती है। इस प्रकार वह चरम-ज्ञान को प्राप्त व्यक्ति जन्म-बन्ध-विनिर्मुक्त होकर प्रभु को प्राप्त करनेवाला बनता है।

भावार्थ—"उत्पादक मनोवृत्ति, उन्नति की भावना, क्रियाशीलता, गुणों का आदान, मनःप्रसाद, नियमित कार्यक्रम, प्राणशक्ति व मितभाषण, ज्ञान, स्नेह, निर्द्वेषता व व्रतबन्धन, जितेन्द्रियत्व और दिव्यता=दान-दीपन-द्योतन'—यह है दैवी सम्पत्ति, जिसको लेकर ज्ञानमार्ग पर आगे बढ़नेवाले व्यक्ति उत्पन्न होते हैं और अन्त में मोक्ष का लाभ करते हैं।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**मरुतः**। छन्दः—**भुरिग्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

'आसुरी संपद्' वाला जन्म

उग्रश्च भीमश्च ध्वान्तश्च धुनिश्च। सासह्वाँश्चाभियुग्वा च विक्षिपः स्वाहा॥७॥

दैवी सम्पत्तिवालों का जन्म गतमन्त्र का विषय था। जो उस दैवी सम्पत्ति को प्राप्त नहीं कर पाये और उसके स्थान में आसुरी संपत्ति को लेकर जिनका जन्म होता है वे १. **उग्रः च**=बड़े उग्र स्वभाववाले होते हैं। ये निर्दयी व कठोर होते हैं। बड़े क्रोधी स्वभाव के होते है। २. **भीमः च**=समाज के लिए ये बड़े भय का कारण होते हैं। इनकी दुर्जनता सज्जनों के निवास को भयपूर्ण बना देती है। इनके कारण सज्जनों के लिए प्रतिक्षण संकट की आशंका बनी रहती है। ३. **ध्वान्तः च**=इनका जीवन अन्धकारमय होता है। अथवा 'ध्वन शब्दे' ये सदा शोर-शराबा मचाये रखते हैं। ये पति-पत्नी भी सदा लड़ाई-झगड़े का जीवन बिताते हैं lead a cat and dog life. ४. **धुनिः च**=ये औरों को अपनी दुष्टता से कम्पित करनेवाले होते हैं। ५. **सासह्वाँन् च**=ये निरन्तर औरों का पराभव करनेवाले—औरों को कुचलनेवाले होते हैं। घात-पात में प्रवृत्त रहते हैं। ६. **अभियुग्वा च**=ये अपने दायें-बायें सभी ओर आक्रमण करनेवाले—चारों ओर आतंक फैलानेवाले होते हैं। ७. **विक्षिपः**=(वि-क्षिप) ये विक्षिप्त-सी मनोवृत्तिवाले होते हैं। इनमें केन्द्रित बुद्धि का प्रश्न ही नहीं होता। सैकड़ों आशाजालों से बद्ध ये पुरुष होते हैं। 'यह मिल गया और यह मिल जाएगा' इसी प्रकार ये विक्षिप्त वृत्तिवाले बने रहते हैं। अन्ततः ये आधे पागल-से हो जाते हैं। **स्वाहा**=यह यथार्थ वर्णन है।

भावार्थ—आसुरी सम्पत्तिवाले 'उग्रस्वभाव के, लोक-भयंकर, अज्ञानी, औरों को कम्पित करनेवाले, दूसरों को कुचलनेवाले, उनपर आक्रमण करनेवाले व विक्षिप्त-से' होते हैं।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**अग्न्यादयो लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**निचृदत्यष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**।

आनन्दमय जीवन का रहस्य (The nine Secret of a Happy life)

अग्निᳬहृदयेनाशनिᳬहृदयाग्रेण पशुपतिं कृत्स्नहृदयेन भवं यक्ना। शर्वं मतस्नाभ्यामीशानं मन्युना महादेवमन्तः पर्शव्येनोग्रं देवं वनिष्ठुना वसिष्ठहनुः शिङ्गीनि कोश्याभ्याम्॥८॥

'हम अपने जीवन को सुखी कैसे बना सकते हैं। इस विषय का वर्णन करते हुए वेद कहता है कि—१. **हृदयेन**=हृदय से **अग्निम्**=अग्नि को धारण करो। **अग्नि** का अर्थ है—शक्ति व उत्साह। (Vigour, enthusiasm) आनन्दमय जीवन के लिए पहली आवश्यक

बात हृदय में उत्साह का होना है। हृदय के उत्साहशून्य होने पर आनन्द का प्रश्न ही नहीं उठता। २. **हृदयाग्रेण** हृदय के अग्रभाग से **अशनिम्**=विद्युत् की दीप्ति को धारण करो। तुम्हारा हृदयाग्र विद्युत् की दीप्ति के समान चमके। कोई भी व्यक्ति तुम्हारे सामने आये तो तुम उसे समझ सको, तुम्हारा हृदयाग्र पर उसका प्रतिबिम्ब-सा पड़ जाए। प्रत्येक व्यक्ति को हम ठीक-ठीक समझेंगे तो यथोचित बर्ताव कर सकने से किसी उलझन में न पड़ेंगे। ३. **पशुपतिम्**=सब प्राणियों के रक्षक प्रभु को **कृत्स्नहृदयेन**=पूर्ण हृदय से धारण करें। प्रभु का यह ध्यान हृदय में उत्साह व शक्ति का संचार करनेवाला होता है। ४. **यक्ना**=जिगर से **भवम्**=पर्जन्य को धारण करो। पर्जन्य **परां तृप्तिं जनयति**=परातृप्ति को पैदा करता है, चारों ओर जल की वर्षा करता हुआ सभी को आनन्दित करता है। इसी प्रकार ठीक जिगरवाला व्यक्ति सभी को देता हुआ प्रसन्नता उत्पन्न करता है। इस तथ्य को 'इसका जिगर ही नहीं है, यह क्या देगा' यह मुहावरा स्पष्ट कर रहा है। ५. **मतस्नाभ्याम्**=हृदय के दोनों पासों में स्थित अस्थियों से **शर्वम्**='आपः' जलों को धारण करो। इनके कार्य के ठीक होने पर ही शरीर में जल की उचित स्थिति रहती है। ६. **मन्युना**=(मन=चिन्तन) चिन्तन से **ईशानम्**=आदित्य को धारण करो। आदित्य का चिन्तन करो। आदित्य की भाँति निरन्तर गुणों का आदान करनेवाले बनो। ७. **अन्तः पर्शव्येन**=भीतरी पसवाड़ों से **महादेवम्**=चन्द्र को (महादेवश्चन्द्रमाः) धारण करो। आह्लाद व प्रसन्नता के लिए पार्श्वों का मध्य, अर्थात् आमाशय का ठीक होना अवश्यक है। ८. **वनिष्ठुना**=आँतों rectums से **उग्रंदेवम्**= जठराग्नि-वैश्वानराग्नि को धारण करो। यह 'उग्रदेव' आँतों में होनेवाले कृमियों का संहार करके हमें स्वस्थ बनाता है। ९. **कोश्याभ्याम्**=कोश (Scrotum) में होनेवाले अण्डों (testicles) से **वसिष्ठहनुः**=(प्रजापतिर्वै वसिष्ठः, प्रजननं प्रजापतिः, **हनुः**=**गदा**=Goad.) प्रजननशक्ति का धारण करे। तथा **शिङ्गीनि**=**अज्ञानि**= रोग-निवारक शक्तियों को धारण करो। वस्तुतः इन कोश्यों से निकलनेवाले रस प्रजननशक्ति के साथ रोग-निवारक शक्ति भी रखते हैं। इनके निकाल देने पर शरीर में नाना प्रकार के विकार उत्पन्न होने लगते हैं।

भावार्थ—जीवन को आनन्दमय बनाने के लिए उपर्युक्त नौ बातें ध्यान देने योग्य हैं १. हृदय में उत्साह २. हृदयाग्र में दीप्ति ३. पूर्णहृदय में प्रभु-ध्यान ४. जिगर में पर्जन्य की तरह दानवृत्ति ५. गुर्दों में जल ६. मन्यु से आदित्य ७. आमाशय के ठीक होने से प्रसन्नता ८. आँतों में कृमिसंहारक शक्ति तथा ९. कोश्यों (testicles) में प्रजननशक्ति व रोग-निवारक रस होने पर जीवन आनन्दमय बन जाता है।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**उग्रादयो लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**भुरिगष्टिः**। स्वरः—**मध्यमः**।

कार्य-कुशलता

उग्रं लोहितेन मित्रꣳसौव्रत्येन रुद्रं दौर्व्रत्येनेन्द्रं प्रक्रीडेन मरुतो बलेन साध्यान् प्रमुदा। भवस्य कण्ठ्यꣳरुद्रस्यान्तः पार्श्व्यं महादेवस्य यकृच्छर्वस्य वनिष्ठुः पशुपतेः पुरीतत्॥९॥

संसार में 'जीवन का आनन्द' बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि हम लोगों से कैसे वर्तते हैं। यदि हम कुशलता (Carefully) से चलते हैं तो हमें सफलता-ही-सफलता मिलती है और सफलता आनन्द का मूल है, अतः प्रस्तुत मन्त्र में 'भिन्न-भिन्न स्वभाववाले व्यक्तियों से किस-किस प्रकार वर्ते' इसका उल्लेख है। १. **उग्रम्**=उग्रस्वभाव वाले-सीधे लड़ाई पर उतर आनेवाले पुरुष को **लोहितेन**=युद्ध से स्वानुकूल करे। (लोहितं

युद्धम्, लोहा लेना—युद्ध करना)। उग्र स्वभाववाला पुरुष युद्ध के अतिरिक्त अन्य भाषा को समझता ही नहीं। २. **मित्रम्**=मित्र को **सौव्रत्येन**=उत्तम व्रत से स्वानुकूल बनाये रक्खे। उत्तम व्रत यही है कि सुख-दुःख में अभिन्न होना (अद्वैतं सुखदःखयोः)। कष्ट में साथ न छोड़ना ३. **रुद्रम्**=रुलानेवाले को—तंग करनेवाले को **दौर्व्रत्येन**=दुष्कर व्रतों से, आमरण अनशनादि से अनुकूल करे। ४. **इन्द्रम्**=ऐश्वर्यशालियों को **प्रक्रीडेन**=खेलकूद व आमोद-प्रमोद के साधनों से स्वानुकूल करे। ५. **मरुतः**=सैनिकों को—बलप्रधान व्यक्तियों को **बलेन**=बलके द्वारा अनुकूल करे। ये बल-प्रधान छह फुटे सिपाही पतले-दुबले व्यक्ति से शीघ्र प्रभावित नहीं हो सकते। ६. **साध्यान्**=साधनीय पुत्र-शिष्यादि को **प्रमुदा**=प्रसन्नता से अनुकूल करे। इनके जीवन को डाँट-डपट से उत्तम नहीं बना सकते। धर्म का उपदेश भी माधुर्य व अहिंसा से ही दिया जा सकता है। ७. उल्लिखित रूप से व्यवहार कुशल भी वही व्यक्ति बन सकता है, जो शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ हो। यह शरीर का स्वास्थ्य शरीर में होनेवाली जिन मौलिक बातों पर निर्भर करता है उनका उल्लेख करते हुए कहते हैं कि (क) **भवस्य**=दीर्घजीवन (भू=होना, बने रहना) का कारण **कण्ठ्यम्**=कण्ठ में होनेवाली थायराईड ग्रन्थि है। इसके ठीक रहने से जीवन स्वस्थ व दीर्घ बनता है। (ख) **रुद्रस्य**=अग्नि का व उद्रहरिकाम्ल का स्थान **अन्तः पार्श्व्यम्**=पसवाड़ों के अन्दर का भाग है। वहाँ इसके ठीक मात्रा में होने से स्वास्थ्य ठीक बना रहता है। (ग) **महादेवस्य**=चन्द्र का—आह्लाद की देवता का स्थान **यकृत्**=जिगर है। इसके ठीक कार्य करने पर चित्त की प्रसन्नता बहुत कुछ निर्भर है (महादेवश्चन्द्रमाः)। (घ) **शर्वस्य**=जल का स्थान **वनिष्ठुः**=आँतें हैं। स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है कि इन्हें जल से शुद्ध रक्खा जाए। पावभर पानी से दैनिक ऐनिमा इस कार्य के लिए अत्यन्त उपयोगी है (ङ) और सबसे अधिक आवश्यक बात यह है कि हम इस बात को स्मरण रक्खें कि **पशुपतेः**=(पशुपतिः ओषधयः) ओषधियों की यह **पुरीतत्**=आँत है, अर्थात् आँतों में ओषधियाँ ही जाएँ, वहाँ मांसादि अवानस्पतिक भोजन न पहुँचे। वस्तुतः जीवन को शान्त-स्वभाव का बनाने के लिए यह बात अत्यन्त आवश्यक है। मांस भोजन से क्रूरता उत्पन्न होती ही है।

भावार्थ—हम कुशलतापूर्वक व्यवहार करते हुए तथा स्वास्थ्य व दीर्घ जीवन के नियमों का पालन करते हुए अपने जीवन को सुखमय बनाएँ।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**आकृतिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

स्वास्थ्य के लिए उत्तम अदनीय (भक्ष्य) अन्न का सेवन

लोमभ्यः स्वाहा लोमभ्यः स्वाहा त्वचे स्वाहा त्वचे स्वाहा लोहिताय स्वाहा लोहिताय स्वाहा मेदोभ्यः स्वाहा मेदोभ्यः स्वाहा। माꣳसेभ्यः स्वाहा माꣳसेभ्यः स्वाहा स्नावभ्यः स्वाहा स्नावभ्यः स्वाहास्थभ्यः स्वाहास्थभ्यः स्वाहा मज्जभ्यः स्वाहा मज्जभ्यः स्वाहा। रेतसे स्वाहा पायवे स्वाहा॥१०॥

'जीवन का आनन्द स्वास्थ्य पर निर्भर करता है, इस विषय में मतभेद नहीं है। यह स्वास्थ्य भोजन पर निर्भर है। भोजन ऐसा होना चाहिए जो रस से लेकर अन्तिम धातु 'रेतस्' तक सभी के लिए हितकर हो। इस प्रकरण में 'स्वाहा' शब्द का अर्थ है 'सु हविः जुहोति' (**हविः**=अत्तव्यम् अन्नम्—द०)=उत्तम अदनीय अन्न को यज्ञों में विनियुक्त करके यज्ञशेष अमृत को उदर की जाठराग्नि में डालता है। १. **लोमभ्यः स्वाहा, लोमभ्यः**

स्वाहा=एक-एक लोम के हित के लिए यह भोजन खाया जाए। भोजन के विकार के कारण ही गञ्जापन आदि रोग हो जाते हैं। दो बार कहने का अभिप्राय यही है कि 'एक-एक लोम के लिए, अर्थात् प्रत्येक लोम के लिए' भोजन ऐसा हो जो लोम-सम्बन्धी किसी रोग का कारण न बन जाए। २. **त्वचे स्वाहा त्वचे स्वाहा**=त्वचा-त्वचा के लिए, अर्थात् सारी त्वचा के लिए हितकर भोजन किया जाए। त्वचा के भिन्न-भिन्न रोग जो कुष्ठ नाम से कहे जाते हैं हमारा भोजन उनका कारण न बन जाए। ३. **लोहिताय स्वाहा लोहिताय स्वाहा**=सम्पूर्ण रुधिर के हित के लिए हमारा भोजन हो। भोजन ऐसा न हो जिससे कि रुधिर-विकार उत्पन्न हो जाएँ। ४. **मेदोभ्यः स्वाहा मेदोभ्यः स्वाहा**=चरबी (Fat) के उचितरूप में होने के लिए भोजन किया जाए। भोजन में स्नेह का नितान्त अभाव हमारे शरीर को अतिदुर्बल बनाएगा, तो स्नेह का आधिक्य उसे बहुत भारी-सा बनाएगा, अतः 'मेदस्' के हित के दृष्टिकोण से ही भोजन किया जाए। ५. **मांसेभ्यः स्वाहा मांसेभ्यः स्वाहा**=शरीर के सम्पूर्ण मांस के हित के लिए ही भोजन का सेवन किया जाए। मांस-भोजन से मांस मर्यादा से अधिक बढ़ जाता है, वह कभी हितकर नहीं हो सकता। ६. **स्नावभ्यः स्वाहा स्नावभ्यः स्वाहा**=सारे स्नायु-संस्थान के हित के लिए भोजन हो। यदि इस बात का ध्यान रक्खा जाए तो रक्तचाप के आधिक्य आदि के रोग हों ही नहीं। ७. **अस्थभ्यः स्वाहा अस्थभ्यः स्वाहा**=भोजन ऐसा हो जो एक-एक अस्थि के लिए हितकर हो। भोजन में केल्शियम की मात्रा उचित रूप में हो ताकि अस्थियों का विकास ठीक से हो पाये ८. **मज्जभ्यः स्वाहा मज्जभ्यः स्वाहा**=भोजन मज्जा के लिए भी हितकर हो। ऐसा न होने पर दिमाग की कमी आदि की आशंका रहती है। पागलपन का भी यह कारण हो सकता है। ९. **रेतसे स्वाहा**=अन्तिम धातु **रेतस्**=वीर्य है। इसके लिए हितकर सौम्य भोजन ही हमें खाने चाहिएँ। आग्नेय भोजनों का सेवन रेतस् के लिए हितकर नहीं होता। १०. **पायवे स्वाहा**=सबसे अन्तिम, पर सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भोजन **पायु**=मलशोधक इन्द्रिय के लिए हितकर हो। हम कोष्ठबद्धता को पैदा करनेवाले भोजनों से सदा बचें।

भावार्थ—भोजन के विषय में यह ध्यान रखा जाए कि वह लोमों से लेकर वीर्य तक शरीर की सब धातुओं के लिए हितकर हो तथा कोष्ठबद्धता को पैदा करनेवाला न हो।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**स्वराड्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

प्रयत्न व पवित्रता

आयासाय स्वाहा प्रायासाय स्वाहा संयासाय स्वाहा वियासाय स्वाहोद्यासाय स्वाहा। शुचे स्वाहा शोचते स्वाहा शोचमानाय स्वाहा शोकाय स्वाहा॥११॥

जहाँ भोजन स्वास्थ्य के लिए हितकर हो वहाँ भोजन ऐसा होना चाहिए जो मनुष्य को आलस्यशून्य व पवित्र इच्छाओंवाला बनाने में सहायक हो। ऐसा ही भोजन सात्त्विक भोजन कहलाता है। १. **आयासाय**=सब आवश्यक कार्यों में श्रम (All round excertion) के लिए मैं उत्तम अदनीय अन्न खाता हूँ। २. **प्रायासाय स्वाहा**=प्रकृष्ट उद्योग के लिए मैं अदनीय अन्न का सेवन करता हूँ। मुझमें क्रियाशीलता हो, वह क्रियाशीलता उत्तम कार्यों में टपके। ३. **संयासाय स्वाहा**=मिलकर किये जानेवाले उद्योगों के लिए मैं अदनीय अन्नों का सेवन करता हूँ। मैं ऐसा अन्न खाऊँ जिससे मैं औरों के साथ मिलकर उद्योग कर सकूँ। ४. **वियासाय स्वाहा**=विविध प्रकार के प्रयत्नों के लिए मैं हितकर भोजन

करनेवाला बनूँ। ५. **उद्यासाय स्वाहा**=मैं उत्कृष्ट उद्योगों के लिए हितकर भोजन करूँ। मेरा भोजन ऐसा हो जो निरन्तर मुझे ऐसे उद्योगों में लगाये जो मुझे ऊँचा ले-जानेवाले हों। ६. वैशेषिकदर्शन में भी कर्म पाँच भागों में विभक्त हुआ है। यहाँ भी पाँच भाग हैं। नामों व स्वरूप में कुछ अन्तर हो गया है। इस विचार को चार भागों में बाँटते हैं—(क) पवित्रता की इच्छा (ख) पवित्रता के प्रयत्न में लगना (ग) पवित्रता को स्वभाव बना लेना (घ) और अन्त में पवित्र हो जाना। इसको क्रमशः कहते हैं—**शुचे स्वाहा**=मैं पवित्रता के लिए भोजन करता हूँ। भोजन ऐसा हो जो मुझमें पवित्रता की भावना जगाए। **शोचते स्वाहा**=अपने को पवित्र बनाने के लिए मैं भोजन करूँ। भोजन ऐसा हो जो मुझे पवित्रता-सम्पादन की क्रिया में लगाये। **शोचमानाय**=पवित्रता जिसका स्वभाव बन गया है, ऐसा बनने के लिए मैं सात्त्विक भोजन का सेवन करता हूँ। अन्न ऐसा हो जो मेरे स्वभाव में पवित्रता लाये। मेरे लिए पवित्रता स्वाभाविक बन जाए और अन्त में **शोकाय स्वाहा**=मैं पवित्रता के लिए अन्न खाऊँ। अन्न ऐसा हो कि मैं शरीरबद्ध पवित्रता ही हो जाऊँ।

भावार्थ—सात्त्विक अन्न का सेवन हमारे जीवन में प्रयत्नशीलता व पवित्रता का संचार करनेवाला हो।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

तप—भोजन—दर्शन

तप॑से॒ स्वाहा॒ तप्य॑ते॒ स्वाहा॒ तप्य॑मानाय॒ स्वाहा॑ त॒प्ताय॒ स्वाहा॑ घ॒र्माय॒ स्वाहा॑। निष्कृ॑त्यै॒ स्वाहा॒ प्राय॑श्चित्त्यै॒ स्वाहा॑ भेष॒जाय॒ स्वाहा॑॥१२॥

१. जिस प्रकार पिछले मन्त्र में पवित्रता के विषय में कहा गया है उसी प्रकार प्रस्तुत मन्त्र में तप के विषय में कहते हैं। तप का विचार भी उसी प्रकार चार भागों में बाँटकर करते हैं कि (१) तप की रुचि (२) तप में लगना (३) तप को अपना स्वभाव बना लेना और (४) अन्त में तपोमय हो जाना। **तपसे स्वाहा**=तप के लिए मैं (सु हविः जुहोमि) उत्तम हविरूप अन्न ही खाता हूँ। यदि मनुष्य सात्त्विक अन्न का प्रयोग करता है तो उसकी प्रवृत्ति भोगप्रवण न होकर तपस्या की ओर झुकती है। **तप्यते स्वाहा**=तप करते हुए के लिए हम उत्तम अन्न का प्रयोग करते हैं, अर्थात् मैं ऐसा ही अन्न खाता हूँ जो मुझे तप में लगाये रखता है। **तप्यमानाय स्वाहा**=मैं ऐसे अन्न का सेवन करूँ कि तप मेरा स्वभाव हो जाए। **तप्ताय स्वाहा**=मैं तप ही हो जाऊँ, इसी प्रकार मूर्त्तिमान् तप बन जाने के लिए मैं उत्तम हविरूप अदनीय अन्न खाता हूँ।

२. इस प्रकार तपोमय जीवन का यह स्वाभाविक परिणाम है कि हमारे अन्दर शक्ति का सञ्चार हो, अतः कहते हैं कि **घर्माय स्वाहा**=सोम के लिए मैं अदनीय अन्न खाता हूँ। वस्तुतः सौम्य व आग्नेय भोजनों में से सौम्य भोजन को ही प्रधानता देना ठीक है। आग्नेय भोजन कभी भी सोम-रक्षा के लिए और परिणामतः नीरोगता व दीर्घजीवन के लिए हितकर नहीं होते। हम सोमरक्षा के दृष्टिकोण से भोजन खाते हैं। ३. **निष्कृत्यै स्वाहा**=सब प्रकार के प्रायश्चित्त के लिए, भविष्य में पाप न करने के निश्चय की दृढ़ता के लिए मैं अदनीय अन्न खाता हूँ। **प्रायश्चित्यै स्वाहा**=मुझमें पाप कर बैठने के लिए दुःख की भावना हो, उन्हें भविष्य में न करूँ, ऐसी वृत्ति बनाने के लिए मैं सात्त्विक अन्न का प्रयोग करता हूँ। 'जिनकी मैं हानिकर बैठा हूँ, उनकी मैं क्षतिपूर्ति कर दूँ' यह है 'निष्क्रय', 'आगे से नहीं करूँगा' यह है 'प्रायश्चित्त'—ये भावनाएँ हमारे अन्दर होनी ही चाहिएँ। ४. **भेषजाय**

स्वाहा=अन्त में मैं औषध के दृष्टिकोण से भोजन करूँ। भूख भी एक रोग है, उसकी निवृत्ति के लिए ही भोजन करना चाहिए। स्वाद के लिए भोजन करना पाप है।

भावार्थ—भोजन ऐसा हो जो मुझे तपस्वी बनाए, शक्तिशाली बनाए, पापों के लिए मैं प्रायश्चित्त की वृत्तिवाला बनूँ और अन्त में भोजन को मैं औषध समझूँ।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

अर्पण

यमाय स्वाहान्तकाय स्वाहा मृत्यवे स्वाहा। ब्रह्मणे स्वाहा ब्रह्महत्यायै स्वाहा विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा द्यावापृथिवीभ्याꣳस्वाहा॥१३॥

१. 'स्वं जुहोति इति स्वाहा', इस व्युत्पत्ति से 'स्वाहा' का अर्थ है समर्पण। मन्त्र में कहते हैं कि **यमाय स्वाहा**=शिष्य के जीवन को नियम में रखनेवाले यम=आचार्य के लिए हम अपने सन्तानों को अर्पित करते हैं। आचार्य उन विद्यार्थियों के जीवन को बड़ा नियमित (Disciplined) बना देता है। हम **अन्तकाय**=अज्ञानान्धकार का अन्त करनेवाले अथवा अशुभवृत्तियों का अन्त करनेवाले आचार्य के लिए **स्वाहा**=अपने सन्तानों को अर्पित करते हैं। आचार्य-चरणों में रहकर वह सदाचारी बनेगा ही। आचार्य की व्युपत्ति ही है 'आचारं ग्राहयति', इस प्रकार अशुभ जीवन को समाप्त करनेवाला आचार्य 'मृत्यु' ही है। इस **मृत्यवे**=मृत्यु नामक आचार्य के लिए **स्वाहा**=हम अपने सन्तानों को सौंपते हैं। आचार्य पिछले जन्म को समाप्त कर नया जन्म देता है। इस प्रकार हम 'द्वि-ज' बन जाते हैं। वस्तुतः यही जन्म उत्कृष्ट जन्म होता है। **ब्रह्मणे स्वाहा**=हम ऐसे आचार्यों के समीप सन्तानों को छोड़ते हैं जो ब्रह्म=ज्ञान के पुञ्ज हैं। इन ज्ञान के समुद्रों में स्नान करके विद्यार्थी 'निष्णात व स्नातक' बनता है। ज्ञान की कमी होने पर अध्यापक के प्रति विद्यार्थी के हृदय में आदर की भावना भी कठिनता से उत्पन्न होती है।

२. एवं 'यम-अन्तक-मृत्यु व ब्रह्म' नामक आचार्य के लिए हम अपने सन्तानों को सौंपते हैं। 'क्यों सौंपते है?' इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते है कि (क) **ब्रह्महत्यायै** (**ब्रह्म**=ज्ञान **हन्**=प्राप्ति नकि हिंसा)=ज्ञान की प्राप्ति के लिए **स्वाहा**=हम सन्तानों को सौंपते हैं। आचार्य से प्राप्त की हुई विद्या 'साधिष्का' होती है। ब्रह्मचारी आचार्य से ही ज्ञान का भोजन प्राप्त करता है। आचार्य का मूलकर्त्तव्य ब्रह्मचारी की ज्ञानाग्नि में पृथिवी-अन्तरिक्ष-व द्युलोक के पदार्थों के ज्ञान की समिधाओं को डालना है। (ख) **विश्वेभ्यः देवेभ्यः स्वाहा**=सब दिव्य गुणों से विभूषित करने के लिए समर्पित करते हैं। (ग) **द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा**=हम मस्तिष्क (द्यावा) व शरीर (पृथिवी) के स्वास्थ्य के लिए सन्तान को आचार्य-चरणों में छोड़ते हैं। आचार्य इसके शारीरिक स्वास्थ्य का पूर्ण ध्यान करते हुए, इसे ज्ञान की समिधा से समिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ—आचार्य विद्यार्थी को ज्ञान देता है, सद्गुणों से अलंकृत करता है तथा अव्यसनी बनाकर स्वस्थ शरीरवाला बनाता है।

इत्येकोनचत्वारिंशोऽध्यायः॥

अथ चत्वारिंशोऽध्यायः॥

—:o:—

१. **ऋग्वेद** 'विज्ञानवेद' है। वह प्राकृतिक विद्याओं (Natural sciences) को अपना विषय बनाता है। यजुर्वेद 'कर्मवेद' है, उसमें जीवन के विविध कर्त्तव्यों का प्रतिपादन है। सामवेद 'उपासनावेद' है, उसमें प्रभु की उपासना का प्रतिपादन है और अन्त में अथर्ववेद 'ब्रह्मवेद' है, जो हमें नीरोग व निर्मल होकर, रोगों व युद्धों से ऊपर उठकर हृदय में प्रभु के दर्शन करने के लिए प्रेरणा देता है।

२. यजुर्वेद में कर्मों (कर्त्तव्यों) का प्रतिपादन है और ये कर्म स्थूल-दृष्ट्या 'यज्ञ' शब्द से प्रतिपादित हुए हैं, **'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'**=यज्ञ ही श्रेष्ठतम कर्म है। देवता इस यज्ञ से ही 'यज्ञ' नामक प्रभु की उपासना करते हैं। ये यज्ञ ही प्रथम धर्म हैं **'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्'**। यज्ञ के तीन स्थूल विभाग हैं 'देवपूजा, सङ्गतिकरण, दान'। 'देवताओं का आदर करना, परस्पर मेल से चलना और देना' ये तीन ही बातें क्रमशः बड़ों, बराबरवालों तथा छोटों के प्रति हमारे कर्त्तव्य हैं।

३. इस यजुर्वेद के ३८ अध्यायों में मनुष्य के करणीय यज्ञों का विधान है। ३९वाँ अध्याय अन्त्येष्टि संस्कार का है यह मनुष्य को स्मरण कराता है कि उसने गर्व नहीं करना।

४. यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि स्थूलरूप से 'ऋग्वेद' ब्रह्मचारी का वेद है, उसने सब विज्ञानों का अध्ययन करना है। 'यजुर्वेद' कर्मवेद है, यह गृहस्थ को उसके विविध कर्त्तव्यों का स्मरण कराता है। वनस्थ को 'सामवेद' उसे सदा प्रभु की उपासना में निरत रहने का उपदेश देता है और 'ब्रह्माश्रमी'=संन्यासी का अथर्ववेद उसे नीरोग व निर्मल बनाकर रोगों व युद्धों से ऊपर उठकर व्याधि व आधियों को दूर करके सब प्रकार की उपाधियों को भी परे फेंककर समाधि द्वारा प्रभुदर्शन की प्रेरणा देता है।

५. यजुर्वेद गृहस्थ का वेद है। उससे करने योग्य यज्ञों का उसके ३८ अध्यायों में वर्णन है।

यजुर्वेद का यह अन्तिम अध्याय 'ब्रह्माध्याय' कहलाता है, क्योंकि इसमें मुख्यरूप से ब्रह्म की सर्वव्यापकता का प्रतिपादन हुआ है। एक मन्त्र के परिवर्तन के साथ यही 'ईशोपनिषद्' के नाम से भी प्रसिद्ध है। प्रथम शब्द 'ईश' है, अतः इसका ईशोपनिषद् नाम पड़ गया।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

प्रभु की सर्वव्यापकता

ईशा वास्यमिदꣳसर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥१॥

इदम् सर्वम्=यह सब, **यत् किञ्च**=जो कुछ **जगत्यां जगत्**=जगती में, ब्रह्माण्ड में **जगत्**=लोक हैं, वे सब-के-सब **ईश+आवास्यम्**=उस ईश (प्रभु) से समन्तात् बसने योग्य हैं। कण-कण में वह प्रभु समा रहे हैं। वे सर्वव्यापक हैं, इसीलिए वे आँखों से दिखते नहीं। मन्त्र का जगती शब्द ब्रह्माण्ड का वाचक है। इस ब्रह्माण्ड में पिण्ड, अर्थात् छोटे-छोटे

जगत् तो अनन्त हैं। हमारे लिए उनकी संख्या को पूरा-पूरा जानना सम्भव नहीं। एक सौर लोक एक जगत् है, इस जगती में तो ऐसे सौर जगत् कितने ही हैं? यह जगती की विशालता उस प्रभु की महिमा का व्याख्यान कर रही है। **तेन**=क्योंकि वे प्रभु सर्वव्यापक हैं, कण-कण में विद्यमान हैं, अतः हे जीव! तू **त्यक्तेन**=त्यागभाव से **भुञ्जीथाः**=उपभोग करना, विषयोपभोग में न फँस जाना। प्रभु ने भोजन का निर्माण 'पालन' के लिए ही तो किया है। 'भुज पालनाभ्यवहारयोः'=पालन के लिए खाना ही भोजन है। आसक्तिपूर्वक मजा तो वही लेने लगता है जो प्रभु से दूर हो जाता है। **मा गृधः**=तूने इन विषयों का लालच न करना। लालच से मनुष्य अधिक खा जाता है। विषयों का सौन्दर्य व स्वाद हमें अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है और हम उन विषयों का शरीर धारण के लिए नहीं अपितु स्वाद के लिए उपभोग करने लगते हैं। इन विषयों की प्राप्ति के साधनभूत धन को जुटाना ही हमारे जीवन का लक्ष्य बन जाता है। यही धन अन्ततः हमारे 'निधन' का कारण हो जाता है, परन्तु प्रश्न यह है कि 'हम लालच से ऊपर कैसे उठें?' इस प्रश्न के उत्तर में वेद कहता है कि प्रतिदिन यह सोचो कि **कस्य स्वित् धनम्**=भला, धन किसका है? इसने आजतक किसका साथ दिया? यह तो शरीरधारण के लिए साधनमात्र है। यह हमारे जीवन का साध्य नहीं है? 'कस्य स्विद् धनम्' का विचार हमारी आँखें खोल देगा और हम लोभ से ऊपर उठ सकेंगे, तभी हमारा जीवन त्यागपूर्वक उपभोगवाला हविरूप (हु-दानादनयोः) होगा।

'ईशावास्यम्' का अर्थ परमेश्वर से समान्तात् बसने योग्य तो है ही, उस प्रभु का निवास (वस निवासे) कण-कण में है। साथ ही 'वस आच्छादने' से इस शब्द को बनाएँ तो अर्थ होता है कि वे प्रभु सारे ब्रह्माण्ड को आच्छादित किये हुए हैं। हमें भी उस प्रभु का वह अमृतमय आच्छादन प्राप्त है। ऐसी अवस्था में मृत्यु हमारे तक आ ही कैसे सकती है? मेरा तो वह अमृत प्रभु ही उपस्तरण है, वही अपिधान है। उसमें आवृत मैं मृत्युगोचर कैसे हो सकता हूँ। एवं, यह प्रभुभक्त पूर्ण निर्भीकता को अनुभव करता है। उस प्रभु का सर्वत्र निवास उसे पापभीरु बनाता है तो उस प्रभु का सर्वतः आच्छादन उसे मृत्यु से भी न डरनेवाला वीर बनाता है, एवं 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' का अनुभव करनेवाला भीरु भी है, वीर भी। पाप से डरता है तो मृत्यु से निडर भी है।

'ईश' शब्द मन्त्र का प्रथम शब्द है जो स्वामित्व का प्रतिपादन करता हुआ मन्त्र की अन्तिम भावना 'कस्यस्वित् धनम्' का पोषण कर रहा है। **धनम्**=धन **स्वित्**=निश्चय से **कस्य**=उस अनिर्वचनीय प्रभु का है। हे जीव! तू क्यों गर्व कर रहा है! धन का मालिक तू नहीं। ईश तो प्रभु हैं, तेरा क्या स्वामित्व?

प्रभुदर्शन से इसका तम विदीर्ण होकर वह 'दीर्घ (विदीर्ण) तमा' कहलाता है। प्रभु का निरन्तर ध्यान करने से यह 'दध्यङ्' है और बाह्य विषयों में आसक्त न होकर अन्दर ध्यान करने से 'आथर्वण' है (अथ अर्वाङ्)।

भावार्थ—प्रभु की सर्वव्यापकता का अनुभव करो, त्यागपूर्वक प्रकृति का उपभोग करो, लोलुपता से दूर रहो और सदा विचारो कि भला धन किसका है?

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

क्रियामय दीर्घ जीवन

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः।

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥२॥

प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु आदेश करते हैं कि—१. **इह**=इस लोक में तथा इस मानव-जीवन में **कर्माणि**=कर्मों को **कुर्वन् एव**=करते हुए ही तूने जीना है। (क) संसार का नियम ही क्रिया है, यह संसार है, 'संसरति' निरन्तर चल रहा है, जगत् है, गति में है। 'What is this universe ? but an infinite conjugation of the verb to do.' यह संसार कृ धातु के विविध रूपों के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। इस गतिमय संसार में अकर्मण्य होने का क्या मतलब? (ख) अकर्मण्यता 'ह्रास' और 'विध्वंस' से सम्बद्ध है, 'जो पानी खड़ा वह सड़ा' यह प्रसिद्ध ही है। (ग) मनुष्य 'आत्मा' है, अत=सातत्यगमनवाला है। क्रियाशीलता के अभाव में तो वह 'स्व' को ही खो देता है। २. प्रभु का दूसरा आदेश है कि **शतं समाः**=सौ वर्षपर्यन्त **जिजीविषेत्**=जीने की कामना करे। जितना दीर्घजीवी बन सके उतना ही ठीक। इस दीर्घ जीवन के लिए क्रियाशीलता साधन है। ३. एवं प्रभु ने उपर्युक्त दो आदेश देकर कहा कि **एवं त्वयि**=तेरे विषय में ऐसा ही निश्चय है। **इतः**=इससे **अन्यथा**=और प्रकार का कोई मार्ग **न अस्ति**=तेरे लिए नहीं है। 'कर्म करते हुए सौ वर्ष जीना' ही तेरे जीवन का एकमात्र नियम है। ४. इसपर जीव सोचने लगा कि (क) इतना लम्बा जीकर क्या करूँगा? जीवन जितना लम्बा होगा उतने ही अधिक पाप होंगे। बालक पैदा होते ही चला गया। अहोभाग्य है कि उससे कोई पाप तो नहीं हुआ और (ख) कर्म करना भी तो भय से रहित नहीं है। कर्म का फल भोगना होगा। फल के लिए शरीर लेना पड़ेगा और स-शरीर के सुख-दुःखों का परिहार कहाँ? एवं कर्म तो बाँधेगा ही। ये कर्म करते हुए ही जीना तो एक झंझट है। ५. ऐसे विचारों के उत्पन्न होने से कुछ उदास-से जीव को प्रभु कहते हैं कि अरे दीर्घजीवन होगा तो पाप ही क्यों अधिक होंगे? ऐसा भी सम्भव है कि तू प्रतिवर्ष एक-एक क्रतु (यज्ञ) करे और सौ वर्षों के दीर्घजीवन में तू 'शतक्रतु' ही बन जाए और कर्म के बन्धन से तू क्यों भयभीत होता है, क्योंकि **नरे**=नर में **कर्म**=कर्म **न लिप्यते** =लिप्त नहीं होता। नर मनुष्य कर्म के लेप से ऊपर है। नर वह है जो **न रमते**=इन कर्मों में उलझ नहीं जाता। न रम जाना, न फँस जाना ही नर का धर्म है। विरत होकर कर्त्तव्य को करते जाना ही मार्ग है। इस मार्ग से चलनेवाला लिप्त नहीं होता। विरति=वैराग्य बन्धन से बचाता है। मैं कर्म को न चिपटूँ तो वह भी मुझे क्यों चिपटेगा?

एवं, हमें इस संसार में नर बनकर, अनासक्तिपूर्वक कर्म करते चलना है और अवश्य सौ वर्ष तक जीना है। 'मैं पापी हो जाऊँगा, कर्म मुझे बाँध लेंगे' इस अज्ञान को नष्ट करके व्यक्ति 'दीर्घतमा' बना है।

भावार्थ—हम प्रभु के इन दो आदेशों का सदा स्मरण करें 'सदा कर्मशील रहो', 'सौ वर्ष जीने की कामना रक्खो'।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

आत्मघात

असुर्या नाम ते लोकाऽअन्धेन तमसावृताः।

ताँस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥३॥

(क) प्रथम व द्वितीय मन्त्र में निम्न बाते कहीं गई हैं—१. प्रभु की सर्वव्यापकता को अनुभव करना २. त्यागपूर्वक उपभोग करना ३. लालच नहीं करना ४. प्रतिदिन इस प्रश्न का विचार करना कि 'भला, धन किसका है?' ५. जीवन को सदा क्रियामय रखना और आसक्ति से ऊपर उठकर नर बनकर काम करना तथा ६. सौ वर्ष जीने की प्रबल भावना

रखना, तदनुसार ही जीवन को ढालना।

(ख) ये छह बातें ही आत्मोन्नति का मार्ग हैं। इसी पर मनुष्य को चलने का प्रयत्न करना है। जो व्यक्ति इन बातों का ध्यान न करके १. प्रभुको स्मरण नहीं करता। अपने को अकेला समझ व्यसनों के प्रलोभन से नहीं बच पाता ३. भोग ही जिसके जीवन का लक्ष्य हो जाता है, अपने ही प्राणों व जीवन में रमा रहता है, 'असुषु रमन्ते' असुर बनकर अपने ही मुख में आहुति देता है **'स्वेषु आस्येषु जुह्वतश्चेरुः'**। इसके जीवन में त्याग का कोई स्थान नहीं होता। ३. इसकी लोलुपता उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है ४. यह समझता है कि धन का वही स्वामी है, धन को उससे कौन छीन सकता है? ५. धन की वृद्धि करके यह अपने जीवन को आरामपसन्द बना लेता है, इसका जीवन क्रियाशील नहीं रहता और इस प्रकार अनजाने में क्षीणशक्ति होता जाता है। ५. सौ वर्ष जीने की तो कल्पना करके भी यह कई बार व्याकुल हो जाता है, वृद्धावस्था के कष्टों की कल्पना करके ही घबरा उठता है। इसके जीवन का संक्षिप्त ध्येय 'Eat, Drink and be Merry' हो जाता है। यही व्यक्ति 'आत्महन्' है, यह आत्मा का घात कर रहा है। प्रभु की ओर न जाकर अन्ततः प्रकृति के पाँओं तले रौंदा जाता है। (ग) **ये के च आत्महनो जनाः**=जो कोई भी आत्महन् लोग होते हैं **ते**=वे **प्रेत्य**=इस शरीर से प्रयाण करने के अनन्तर **तान्**=उन लोकों की **अपि गच्छन्ति**=ओर जाते हैं जो लोक कि इस प्रकार की आसुरवृत्तिवाले लोगों के लिए हितकर हैं (असुर + य) **ते लोकाः**=वे लोक **असुर्या नाम**='असुर्य' (असुरों के लिए हितकर) इस नामवाले हैं। ये लोक **अन्धेन तमसा**=घने अँधेरे से **आवृताः**=आच्छादित हैं। इन लोकों में प्रकाश नहीं। पशु देखते हैं (पश्यन्ति), समझते नहीं। वृक्ष इत्यादि तो एकदम अन्तःसंज्ञी ही हैं—उनकी चेतना पूर्णतया लुप्त-सी है। ये ही योनियाँ असुर्य हैं। केवल अपने प्राण-पोषण में रत लोगों के लिए ये भोगयोनियाँ ही उपयुक्त हैं। एवं, प्रभु इन आत्महन् असुरों को इन्हीं योनियों में जन्म देते हैं। इनमें रहते हुए वे भोग भोगने में रत रहते हैं। उनका कोई कर्त्तव्य नहीं होता—उन्हें भोग ही भोगने होते हैं। ये लोक अन्धतमस् व अज्ञान से आवृत हैं। इनमें ज्ञान का नितान्त अभाव है। यहाँ कर्त्तव्य ही नहीं है, अतः कर्त्तव्यार्त्तव्य के विवेक का प्रश्न ही नहीं उठता।

सम्भवतः इन भोगों के भोग से रजकर, या इस प्रसुप्त-सी अवस्था में पिछले संस्कारों को भूलकर ये चिरकाल पश्चात् फिर मानव-जीवन को प्राप्त करेंगे और एक बार फिर इन्हें आत्मोन्नति के मार्ग पर चलने का अवसर प्राप्त होगा।

भावार्थ—हम आत्मोन्नति के मार्ग पर चलें। आत्महन् बनकर असुर्य लोकों में जन्म के भागी न बनें।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**ब्रह्म**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

निरभिमानता

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवाऽआप्नुवन् पूर्वमर्शत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥४॥

१. पिछले मन्त्र की फलश्रुति के बाद प्रस्तुत मन्त्र में 'सर्वव्यापकता' की भावना का ही प्रकारान्तरेण वर्णन प्रारम्भ होता है—(क) वे प्रभु **अनेजत्**=(न एजत्) बिलकुल हिल नहीं रहे। खाली स्थान होते तो हिलते, पर वे सर्वव्यापक हैं, हिलें ही कैसे, परन्तु सर्वव्यापक न होते हुए भी तो किसी और से स्थान भरा होने के कारण 'न हिलना' हो

सकता है, अतः कहते हैं कि '**एकम्**'=वे हैं तो एक। 'एक होते हुए न हिलना' तभी होता है जब वह सर्वव्यापक हो। (ख) **मनसो जवीयः**=वे प्रभु मन से भी अधिक वेगवान् हैं। मन सर्वाधिक वेगवाला है। प्रभु मनसे भी अधिक वेगवान् हैं। वास्तविकता तो यह है कि **एनत्**=इस प्रभु को **देवाः**=देव **न आप्नुवन्**=नहीं पकड़ पाते। देवों की दौड़ के साम्मुख्य में सब देव इससे पीछे रह जाते हैं। प्रभु जीत जाते हैं। जीत का अभिप्राय यही है कि 'विजयस्तम्भ' पर पहले पहुँच जाना। प्रभु तो **पूर्वम्**=पहले ही **अर्शत्**=वहाँ पहुँचे हुए हैं। सर्वव्यापक होने के कारण वे कहाँ नहीं हैं। (ग) **तत्**=वे प्रभु **धावतः अन्यान्**=दौड़ते हुए दूसरों को **अत्येति**=लाँघ जाते हैं, उनसे आगे निकल जाते हैं और खूबी यह कि **तिष्ठत्**=ठहरे-ठहरे ही। बिना गति किये लाँघ जाना इसीलिए तो है कि जहाँ भी पहुँचना है प्रभु वहाँ पहले से ही हैं। २. एवं, वे प्रभु सर्वव्यापक तो हैं ही, परन्तु साथ ही सौन्दर्य की बात यह है कि गतिशून्य होते हुए भी सर्वाधिक गतिमान् हैं। ठहरे भी दौड़ते हुओं से आगे निकल जानेवाले हैं। ठीक-ठीक बात यह है कि गतिशून्य होते हुए सबको गति दे रहे हैं। वे गति के स्रोत हैं। ३. **मातरिश्वा**=मातृगर्भ में बढ़नेवाला यह जीव भी **तस्मिन्**=उस प्रभु में ही **अपः**=कर्मों को **दधाति**=धारण करता है। इसकी भी सारी गति उस प्रभु की शक्ति से ही हो रही है। जीव को यह भ्रम हो जाता है कि उसकी अपनी शक्ति है।

भावार्थ—हम प्रभु की सर्वव्यापकता को अनुभव करें। कण-कण में उसकी शक्ति को काम करता हुआ देखें और अपनी सफलताओं को प्रभुशक्ति से होता हुआ समझें तथा सदा प्रभु का स्मरण करें।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

वह परावर प्रभु (अन्दर भी, बाहर भी), दूर भी, समीप भी

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥५॥

१. प्रस्तुत मन्त्र प्रभु की सर्वव्यापकता का प्रतिपादन करता हुआ काव्य की दृष्टि से विरोधाभास अलंकार का बड़ा सुन्दर उदाहरण है। **तत्**=वह प्रभु **एजति**=गति करता है और **तत् न एजति**=वे प्रभु गति नहीं कर रहे हैं। ये दोनों वाक्य परस्पर विरोधी अर्थवाले प्रतीत होते हैं, परन्तु यह विरोध का आभास नष्ट हो जाता है जब प्रथम वाक्य को प्रेरणार्थक धातु मानकर अर्थ यह कर देते हैं कि प्रभु सारे ब्रह्माण्ड को गति दे रहे हैं (एजति=एजयति)। शरीर चलता प्रतीत होता है, परन्तु यह सब गति अन्तःस्थित आत्मतत्व के ही कारण है, अतः आत्मा ही तो गति दे रहा है। इसी प्रकार सारे ब्रह्माण्ड की आत्मा वे प्रभु हैं; उन्हीं से यह सारी गति दी जा रही है, परन्तु सर्वव्यापक होने के नाते वे स्वयं गतिशून्य हैं। वे कहाँ जाएँ और कहाँ आएँ, वे तो पहले से ही सब स्थानों में विद्यमान हैं। २. **तद् दूरे**=वे प्रभु दूर-से-दूर हैं **तत् अन्तिके**=और वे समीप-से-समीप हैं। दूर भी है, समीप भी। इस प्रकार विरोध का आभास होता है, परन्तु अभिप्राय इतना ही है कि सर्वव्यापक होने के कारण हम कल्पना से जितनी भी दूर पहुँच सकते हैं, प्रभु वहाँ हैं ही और हमारे अन्दर भी होने से समीप-से-समीप भी हैं। पर-से-पर तथा अवर-से-अवर होने से ही प्रभु का नाम 'परावर' है। ३. **तत्**=वे प्रभु **अस्य सर्वस्य**=इस सारे ब्रह्माण्ड के **अन्तः**=अन्दर हैं और **तत् उ**=वे प्रभु **अस्य सर्वस्य**=इस सारे के **बाह्यतः**=बाहर हैं। अन्दर होते हुए वे प्रभु अन्तर्यामी हैं तथा बाहर होने से सबको आच्छादित करके सुरक्षित कर रहे हैं। अन्दर

व्याप्ति की भावना 'वस निवासे' धातु द्वारा 'ईशावास्यम्' शब्दों में व्यक्त हुई है तथा 'वस् आच्छादने' धातु से गर्भ में सुरक्षित रखने की भावना व्यक्त हो रही है।

भावार्थ—प्रभु दूर-से-दूर व समीप-से-समीप हैं, अन्दर व बाहर सर्वत्र व्याप्त हैं।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

सन्देह व घृणा से दूर

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति॥६॥

१. 'प्रभु की सर्वव्यापकता, अन्दर व बाहर सर्वत्र उसकी सत्ता का अनुभव करनेवाला व्यक्ति सब प्रकार के सन्देह व घृणा से ऊपर उठ जाता है, इस बात को प्रस्तुत मन्त्र इन शब्दों में कहता है—**यः तु**=जो तो **सर्वाणि भूतानि**=सब प्राणियों को **आत्मन्**=सर्वव्यापक आत्मतत्त्व में **एव**=ही **अनुपश्यति**=अपने स्वरूप को देखने के साथ देखता है, **च**=और **सर्वभूतेषु**=सब प्राणियों में **आत्मानम्**=परमात्मा को देखता है **ततः**=फिर **न वचिकित्सति**=किसी प्रकार का सन्देह नहीं करता है। २. प्रभु का दर्शन हमें सन्देह व घृणा से ऊपर उठा देता है। घृणा तो मनुष्यमात्र में प्रभु को देखने से ही नहीं रहती। सब भूतों में प्रभु को देखनेवाला सब भूतों से प्रेम करता है व उन्हें आदर से देखता है। पण्डित सबमें समरूप से अवस्थित प्रभु को ही देखते हैं। सर्वत्र प्रभुदर्शन ही सच्चा वेदान्त है। यह व्यक्ति निर्भीक व निर्घृण होता है। घृणा से ऊपर उठा हुआ यह प्रेम का पुञ्ज बन जाता है। इसका ज्ञान सब उपाधियों से ऊपर उठा हुआ है, अतः यह सचमुच 'दीर्घतमा'=दूर हो गये अन्धकारवाला है।

भावार्थ—हम प्रभु को सबमें और सबमें प्रभु को देखें, यही 'तत्त्वज्ञान' है। यही सन्देह व घृणा से ऊपर उठने का साधन है।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

एकत्व का दर्शन

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकऽएकत्वमनुपश्यतः॥७॥

१. मनुष्य सुनकर व पढ़कर यह जान जाता है कि मैं शरीर नहीं हूँ, यह तो एक वस्त्र है। मृत्यु वस्त्र-परिवर्तनमात्र है, परन्तु व्यवहार में आकर उसे यह बात भूल जाती है और वह यही कहने लगता है कि 'मैं बीमार हो गया, पतला हो गया'। इस प्रकार उसका ज्ञान उथला ही प्रमाणित होता है। यह 'विजानन्' विशिष्ट ज्ञानी नहीं बना। विज्ञानन् पुरुष तो आत्मस्वरूप को समझता है। आत्मस्वरूप को समझने के साथ अपने शाश्वत सखा 'प्रभु' को अन्दर-बाहर सर्वत्र व्याप्त अनुभव करता है। २. इस **विजानतः**=विशिष्ट ज्ञानी पुरुष के दृष्टिकोण में प्रभु ने सबको व्याप्त किया हुआ है। 'प्रभु सबमें हैं, सब प्रभु में हैं' यह तो यही देखता है। इस प्रकार देखने के कारण यह परमात्मा-ही-परमात्मा को देखता है। हार की मणियों को न देखकर वह ओतप्रोत सूत्र को देखता है, अतः वह समावस्थित परमेश्वर को ही सर्वत्र देखने के कारण सब भूतों में आत्मभाव रखता है। जब ये सब भूत उस प्रभु में हैं तब उससे अलग हो ही कैसे सकते हैं! मन्त्र के शब्दों में **यस्मिन्**=जिस समय इस 'विज्ञानन्' की दृष्टि में **सर्वाणि भूतानि**=सब भूत **आत्मा एव**=आत्मा ही **अभूत**=हो जाते हैं, **तत्र**=उस स्थिति में **एकत्वम्**=एकत्व को **अनुपश्यतः**=देखते हुए को

कः मोहः=क्या तो मोह और **कः शोकः**=क्या शोक? यह विजानन् पुरुष शोक-मोह से ऊपर उठ जाता है। एकत्वदर्शन में शोक-मोह का स्थान नहीं है। ४. 'द्वितीयाद्वै भयं भवति'=भय तो दूसरे से ही होता है, अद्वैत में तो अभय-ही-अभय है। 'विश्व की नागरिकता' व ऐक्य भावना ही मानव कल्याणकारिणी है। पति-पत्नी भी मिलकर एक हो जाते हैं तभी तो शङ्का व भय दूर हो वास्तविक प्रेम उत्पन्न होता है। ५. एवं, अद्वैतानुभव ही कल्याणकर है। यही वास्तविकता है, इसको जानकर ही विजानन् पुरुष शोक-मोह से अतीत होता है।

भावार्थ—जीवात्मा व परमात्मा दो सत्ताएँ है, परन्तु सब जीव प्रभु में हैं, सो पृथक् न होने से 'आत्मा-ही-आत्मा' हैं, ऐसा अनुभव करके हम 'शोक-मोहातीत विजानन्' बनें।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**स्वराड्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

व्यापक व शुद्ध

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳशुद्धमपापविद्धम्।

कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥८॥

१. **सः**=वे प्रभु **परि अगात्**=चारों ओर (पहले से ही) गये हुए हैं। वह कौन-सा स्थान है जहाँ प्रभु नहीं हैं? सर्वव्यापक होने के कारण ही वे प्रभु **शुक्रम्** (शुच् दीप्तौ)=अत्यन्त दीप्त व उज्ज्वल हैं। २. वे प्रभु सर्वव्यापक हैं, अतः **अकायम्**=शरीररहित हैं। शरीररहित होने से ही **अव्रणम्**=व्रणादिरहित हैं, **अस्नाविरम्**=नस-नाड़ियों से शून्य हैं। व्रण व नस-नाड़ियों का सम्बन्ध शरीर से ही है। शरीर नहीं, तो ये कहाँ से? ३. **शुद्धम्**=वे प्रभु पूर्ण शुद्ध हैं और **अपापविद्धम्**=पाप से विद्ध नहीं। ४. **कविः**=वे प्रभु क्रान्तदर्शी हैं, प्रत्येक वस्तु के तत्त्व को जानते हैं। लोक में जो-जो व्यक्ति जितना-जितना बहुदृष्ट व बहुश्रुत बनता चलता है उतना-उतना ही उसका दृष्टिकोण व्यापक व सत्य होता जाता है। प्रभु पूर्ण व्यापक हैं, उनका दृष्टिकोण पूर्ण सत्य है। वे प्रभु **मनीषी**=विद्वान्=पूर्ण ज्ञानी हैं, क्योंकि **परिभूः**=चारों ओर—सर्वत्र होनेवाले हैं। उनके कवित्व व मनीषित्व का रहस्य इस परिभूपन में ही है। ५. 'इस प्रभु को किसने जन्म दिया?' इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि वे **स्वयम्भूः**=स्वयं होनेवाले हैं। उनको जन्म देनेवाला कोई नहीं। वे 'खुद आ' हैं और वास्तविकता यह कि वे शरीर-बन्धन में आते-जाते ही नहीं। यह आना-जाना जीव के लिए ही सम्भव है, जोकि व्यापक सत्तावाला नहीं। ६. ये 'स्वयम्भू' प्रभु **शाश्वतीभ्यः**=सनातन **समाभ्यः**=प्रजाओं के लिए **याथातथ्यतः**=ठीक-ठीक सब बातों व वस्तुओं का **व्यदधात्**=प्रतिपादन व सम्पादन करते हैं। यह तो जीव ही की कमी है कि उन पदार्थों का वह ठीक प्रयोग नहीं करता व प्रभु की प्रेरणा को नहीं सुनता परिणामतः कष्ट का भागी होता है।

भावार्थ—हम इस तत्त्व को समझें कि जो जितना व्यापक है, वह उतना ही शुद्ध है। यह समझकर हमारा ध्येय 'व्यापक दृष्टिकोणवाला बनना' ही हो जाए।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

अँधेरा और घना अँधेरा

अन्धन्तमः प्र विशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।

ततो भूयऽइव ते तमो यऽउ सम्भूत्याꣳ रताः॥९॥

१. **'सम्'** शब्द का अर्थ होता है 'मिलकर' और **भूति**=होना। मिलकर होना, अर्थात्

व्यक्तित्व को अलग न समझकर समाज को ही सब-कुछ समझना 'सम्भूति' है। इसके विपरीत व्यक्ति को ही प्रधानता दे देना 'असम्भूति' है, इसमें व्यक्ति केवल निजहित को देखता है, सामाजिक हित को वह उपेक्षित कर देता है। २. मन्त्र में कहते हैं कि **ये**=जो **असम्भूतिम्**=व्यक्तिवाद की **उपासते**=उपासना करते हैं, वे **अन्धन्तमः**=घने अँधेरे में **प्रविशन्ति**=प्रवेश करते हैं, ४. परन्तु क्या अकेला समाजवाद कल्याण कर सकता है? उत्तर यह है कि कल्याण का प्रश्न तो दूर रहा **ये**=जो **सम्भूत्याम्**=समाजवाद में **रताः**=फँसे हुए हैं **ते**=वे **ततः**=उस व्यक्तिवादी की अपेक्षा **भूय इव**=कुछ अधिक ही **तमः**=अँधेरे में (प्रविशन्ति) पहुँचते है। केवल समाजवादियों की गति व्यक्तिवादियों से अधिक हीन होती है। कारण यह कि व्यक्ति को बिलकुल उपेक्षित कर देने के कारण व्यक्ति की उन्नति समाप्त हो जाती है और व्यक्ति ने ही समाज को बनाना है। व्यक्ति की निर्बलता का परिणाम यह होता है कि समाज एकदम निर्बल हो जाता है।

भावार्थ—व्यक्तिवादी अन्धकार में जाता है तो समाजवादी और भी अधिक अन्धकार में।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

व्यक्तिवाद व समाजवाद का चमत्कार

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥१०॥

सम्भवात्=समाजवाद से, मिलकर चलने से, सम्भूति से **अन्यत् एव**=विलक्षण ही फल **आहुः**=कहते हैं। **असम्भवात्**=व्यक्तिवाद से भी **अन्यत् आहुः**=विलक्षण ही फल कहा गया है। **ये**=जो विद्वान् **नः**=हमें **तत्**=इस व्यक्तिवाद व समाजवाद को **विचचक्षिरे**=विस्पष्टरूप से बतलाते हैं, उन **धीराणाम्**=ज्ञान के देनेवालों से **इति**=यह बात **शुश्रुम**=हमने सुनी है। मिलकर चींटियाँ हाथी को भी समाप्त कर देती हैं। व्यक्तिवाद के फल की विलक्षणता शारीरिक दृष्टि से पहलवानों में प्रकट हो रही है। बौद्धिक दृष्टि से यह वैज्ञानिकों, योगियों में प्रकट होती है।

भावार्थ—व्यक्तिवाद व समाजवाद दोनों के ही फल विलक्षण हैं।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

व्यक्ति व समाज का समन्वय

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳसह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते॥११॥

ऊपर दो बातें देखी जा चुकी हैं। १. सम्भूति व असम्भूति के फल चमत्कारिक हैं, और २. अलग-अलग ये दोनों ही मनुष्य को अँधेरे में ले-जाते हैं, अतः ऐसी अवस्था में करना क्या चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत मन्त्र में इन शब्दों में देते हैं कि— **सम्भूतिम् च**=सम्भूति वा समाजवाद को **विनाशम् च**=(विनश) भिन्न-भिन्न दिशाओं में जाना, मिलकर न चलना, अर्थात् व्यक्तिवाद को **यः**=जो **तत् उभयम्**=दोनों को **सह वेद**=साथ-साथ प्राप्त करता है (विद् लाभे), वह व्यक्ति **विनाशेन**=व्यक्तिवाद से **मृत्युम्**=मृत्यु को **तीर्त्वा**=तैरकर **सम्भूत्या**=समाजवाद से **अमृतम्**=अमरता को **अश्नुते**=प्राप्त करता है। 'सह वेद' इन शब्दों में व्यक्ति व समाज को मिला देने का संकेत है। प्रत्येक हितकारी नियमों में

व्यक्तिवाद को ही स्थान मिलना चाहिए तो समाज-हितकारी बातों में प्रमुखता समाजवाद की रहनी चाहिए। 'शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय व ईश्वरप्राणिधान' इन नियमों के पालन में व्यक्ति स्वतन्त्र है तो 'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह' इन नियमों के पालन में वह परतन्त्र है। नियमों का पालन नहीं करेगा तो व्यक्ति ही हानि उठाएगा, परन्तु यमों का पालन न करे तो समाज की हानि है, अतः इनके पालन में व्यक्ति स्वतन्त्र नहीं। इनका पालन उसे करना ही होगा। शौच, सन्तोष आदि का पालन करता हुआ वह असमय की मृत्यु से बचेगा तो अहिंसा आदि के अनुष्ठान से वह अपने समाज को अमर बना पाएगा। आजकल की भाषा में व्यक्ति वैध उपायों से धन कमाने के लिए स्वतन्त्र है, परन्तु कर देना या न देना, यह उसकी इच्छा पर नहीं छोड़ा जा सकता। 'गृहस्थ बने या न बने' इतने अंश में व्यक्ति स्वतन्त्र है, परन्तु 'ब्रह्मचर्य' पालन करे या न करे, संयमी जीवनवाला हो या न हो यह उसकी इच्छा का विषय नहीं रक्खा जा सकता। असंयम से वह कितने ही घरों को बरबाद करेगा। एवं व्यक्तिवाद व्यक्ति को उन्नत करता है और समाजवाद इस उन्नत व्यक्ति को समाज के लिए उपयोगी बनाता है।

भावार्थ—हमारे जीवन में व्यक्तिवाद व समाजवाद का समन्वय हो।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

विद्या और अविद्या

अन्धन्तमः प्र विशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूयऽइव ते तमो यऽउ विद्यायाꣳरताः॥१२॥

प्रस्तुत मन्त्र में अविद्या और विद्या के अर्थ को समझने के लिए उपनिषद् का यह वाक्य स्मरणीय है कि **'द्वे विद्ये वेदितव्ये, परा चैवापरा च'** परा और अपरा दोनों ही विद्याएँ जाननी चाहिएँ। परा वह है जिससे अक्षरब्रह्म का ज्ञान होता है, अर्थात् ब्रह्मविद्या व आत्मविद्या ही 'पराविद्या' है। आत्मतत्त्व से प्रकृतितत्त्व अपर है, अतः उसका ज्ञान ही 'अपराविद्या' नाम से कहा गया। दोनों का ही ज्ञान आवश्यक है। शरीर के हित के लिए 'प्रकृति का ज्ञान' आवश्यक है, तो अपने स्वरूप को जानने के लिए आत्म-ज्ञान आवश्यक है। 'अपरा-विद्या' और 'परा-विद्या' इन दोनों शब्दों में से 'परा' इस सामान्य शब्द को हटा देने पर ये शब्द 'अविद्या' और 'विद्या' हो गये हैं। यहाँ मन्त्र में इन्हीं का प्रयोग है। **ये**=जो **अविद्याम्**=प्रकृतिविद्या की **उपासते**=उपासना करते हैं वे **अन्धन्तमः**=घने अँधेरे में **प्रविशन्ति**=प्रवेश करते हैं। (क) वर्त्तमान संसार में वैज्ञानिक 'आणविक अस्त्रों' से व्याकुल हो उठे हैं। इनको सूझता नहीं कि इनका क्या करें और क्या न करें? (ख) बड़े-बड़े दैत्याकार यन्त्र बनाकर इतनी तीव्रता से वस्तुओं का निर्माण कर रहे हैं कि उनकी बिक्री के लिए मण्डी का मिलना दुष्कर हो रहा है। (ग) पैन्सिलीन आदि आविष्कार से निर्भीक होकर ये युवक अनाचार से घबरा नहीं रहे। (घ) मनुष्यों का स्थान यन्त्रों ने ले-लिया है और इस प्रकार मनुष्य को उसने बेकार (unemployed) कर दिया है। इस प्रकार इस प्रकृतिविद्या ने कितनी ही जटिलताएँ उपस्थित कर दी हैं, परन्तु क्या ब्रह्मविद्या का कोई कृष्णपाश्र्व नहीं है? नहीं, इसका कृष्णपाश्र्व तो और भी अधिक कृष्ण है। भारतीयों का झुकाव आत्मा की ओर अधिक हो गया। ये प्रतिक्षण आत्मा की उपासना में ही बिताने लगे और जब से परमात्मा की ही रट लगाने में तन्मय थे इनका ध्यान प्रभु की ओर था तो विदेशियों ने अवसर पाकर चुपके से इनके पाँव तले से भूमि को खिसका

लिया। भारतीयों का ध्यान गया तो इन्हें परतन्त्रतापाश में जकड़नेवालों ने कहा 'आत्मा ही तो सत्य है' उसे तुम रक्खो, इस मिथ्या संसार को हमें दे डालो, हमने तो तुम्हारी जूठन ही ली है, हम तुम्हारे सत्य में हस्तक्षेप नहीं कर रहे है। बस, इस आत्मरति ने भारतीयों को हज़ार वर्ष तक गुलाम रक्खा और भूखों मारा एवं मन्त्र के शब्दों के अनुसार **ततः**=उस प्रकृतिविद्या के उपासकों से भी **भूय इव**=अधिक ही **तमः**=अन्धकार को वे प्राप्त करते हैं **ये**=जो निश्चय से **विद्यायाम् रताः**=ब्रह्मविद्या में फँसे हुए हैं।

भावार्थ—केवल प्रकृतिविद्या के उपासक अँधेरे में प्रवेश करते हैं तो केवल ब्रह्मविद्या के उपासक उससे भी घने अँधेरे में पहुँचते हैं।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

विलक्षण फल

अन्यदेवाहुर्विद्यायाऽअन्यदाहुरविद्यायाः।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥१३॥

विद्यायाः=आत्मविद्या का **अन्यत् एव**=विलक्षण ही फल **आहुः**=कहते हैं। योगदर्शन का विभूतिपाद आत्मविद्या के फलों का विशद वर्णन करता है। आत्मविद्या के चमत्कार निश्चित रूप से विलक्षण हैं, परन्तु **अविद्यायाः**=प्रकृतिविद्या के भी तो **अन्यत्**=विलक्षण फल को **आहुः**=कहते हैं। पानी और अग्नि को वशीभूत करके किस प्रकार यन्त्र चलने लगे, विद्युत् के वशीकरण ने हद ही कर दी। हज़ारों मील दूर बैठे पुरुष से बात भी हो सकती है। आकृति भी देखी जा सकती है। भाषण इस तरह सुने जाते हैं जैसे, दस फीट पर ही कोई व्यक्ति बोल रहा हो। बेतार की तार चमत्कार ही है। सब काम स्वयं करती हुई मशीन मनुष्य को चकित कर देती है। मनुष्य की बनाई गई मशीन मनुष्य की अपेक्षा गुणा-भाग आदि के प्रश्नों को शीघ्रता से हल कर देती है। युद्ध के यन्त्र भयंकर अवश्य हैं, परन्तु विस्मयकारक तो हैं ही। **इति**=इस प्रकार विद्या और अविद्या दोनों के ही फल विलक्षण हैं। यह हमने उन **धीराणाम्**=ज्ञानियों से **शुश्रुम**=सुना है **ये**=जिन्होंने **नः**=हमारे लिए **तत्**=इस बात का **विचचक्षिरे**=प्रतिपादन किया है।

भावार्थ—भौतिक व आत्मिक दोनों ही ज्ञानों के विलक्षण फल हैं। भौतिक ज्ञान क्लोरोफार्म आदि के द्वारा हमें अचेतन करके पीड़ा का अनुभव नहीं होने देता, तो आत्मज्ञान हमें सदेह होते हुए भी विदेह बनाकर पीड़ा से ऊपर उठा देता है।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**स्वराडुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

मृत्यु से तैरना व अमर बनना

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳसह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥१४॥

उल्लिखित विलक्षण फलोंवाली **विद्यां च**=आत्मविद्या को और **अविद्यां च**=प्रकृतिविद्या को **यः**=जो **तत् उभयम्**=उन दोनों को **सह वेद**=साथ-साथ जानता है वह **अविद्यया**=सृष्टिविद्या से **मृत्युम् तीर्त्वा**=मृत्यु को तैरकर **विद्यया**=आत्मज्ञान से **अमृतम्**=अमरता को **अश्नुते**=प्राप्त करता है। मनुष्य दो कारणों से मुख्यतया असमय में ही मृत्यु का ग्रास हो जाता था। एक तो अकाल पड़ जाने से भूखे मरकर और दूसरे बीमारियों का शिकार होकर। प्रकृतिविद्या व विज्ञान ने थोड़ी भूमि पर अधिक अन्न उपजाकर भूखे मरने के प्रश्न को समाप्त कर

दिया, साथ ही मक्खी–मच्छरों को समाप्त कर मलेरिया आदि बीमारियों को भी समाप्त कर दिया। साथ ही औषध विज्ञान ने टी.बी. आदि बीमारियों का भी प्रतीकार कर दिया है, अतः इनकी भयंकरता समाप्त हो गई है। एवं, मनुष्य प्रकृतिविद्या से मृत्यु को तैर गया है। शल्य–चिकित्सा के चमत्कारों ने मानवजीवन को दीर्घ कर दिया है। संक्षेप में विज्ञान ने मनुष्य के लिए प्रकृति को बड़ा सुखद व सुन्दर बना दिया है। मनुष्य को प्रकृति निरन्तर अपनी ओर आकृष्ट कर रही है। कई बार तो मनुष्य किसी वस्तु के लिए इतना लालायित हो उठता है कि 'वह उसके बिना मर ही जाएगा' ऐसा प्रतीत होने लगता है। 'आत्मस्वरूप का चिन्तन ही उसे इस मरने से बचाएगा', अतः मन्त्र में कहते हैं कि **विद्यया**=आत्मज्ञान से **अमृतम्**=अमरता को **अश्नुते**=पाता है। (क) प्रकृतिविद्या भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वस्तुओं की न्यूनता नहीं होने देती और आत्मविद्या उसे उन वस्तुओं के मात्रातीत प्रयोग से बचाती है। (ख) प्रकृतिविद्या जीवन की मोटर में एञ्जिन है तो आत्मविद्या ब्रेक का काम देती है। प्रकृतिविद्या के बिना तो जीवन की गाड़ी चलती ही नहीं पर आत्मविद्या न हो तब भी यह कहीं–न–कहीं टकराकर टूट ही जाएगी। एवं, हमें अपने जीवनों में दोनों का ही समन्वय करके चलना है। प्रत्येक गृहस्थ अपने सन्तानों को विज्ञान की शिक्षा अवश्य दिलवाए और अपने साथ धार्मिक सत्सङ्गों में भी उन्हें अवश्य ले–जाए। वैज्ञानिक युवक भूखा न मरेगा और अध्यात्मिक वृत्तिवाला होने से विषयासक्त न होगा। विज्ञान विषयों को उपस्थित करता है, आत्मविद्या उन विषयों का प्रयोग करते हुए भी उनके बन्धन से बचाती है।

भावार्थ—हम अविद्या से मृत्यु को तरें और विद्या से अमरता का लाभ करें। विद्या से हम विषयों की अपातरमणीयता को जानेंगे और उन विषयों के पीछे मरेंगे नहीं।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**स्वराडुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**॥

शरीर व आत्मा का स्वरूप

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳशरीरम्।

ओ३म् क्रतो स्मर। क्लिबे स्मर। कृतꣳस्मर॥१५॥

१ 'आत्मा' शब्द 'अत्–गतौ' धातु से बना है, इसका ठीक पर्यायवाची शब्द 'वा–गतौ' से बना हुआ 'वायु' है। ये दोनों ही शब्द जीव को उसके स्वभाव की सूचना दे रहे हैं, जैसे अग्नि का स्वभाव उष्णता है, उष्णता के बिना अग्नि कुछ नहीं, इसी प्रकार 'जीव हो और गतिशील न हो' यह नहीं हो सकता। वह तो 'आत्मा' है, वह 'वायु' है। यह आत्मा **'अनिलम्'**=(न+इला) पार्थिव नहीं, भौतिक नहीं। पार्थिव न होने से ही तो यह **अमृतम्**= अविनश्वर है। भौतिक वस्तु नश्वर है, अभौतिक अनश्वर। इस प्रकार संकेत इस बात का भी हो गया है कि यदि हम भौतिकता से ऊपर उठेंगे तो मृत्यु से भी बच पाएँगे। साथ ही यह अनुभव सिद्ध बात है कि अति भोजन हमें लेटने के लिए बाधित करता है, मित भोजन हमारे जीवन में स्फूर्ति का कारण बनता है, एवं 'वायु' और 'अमृतम्' के बीच में पड़ा हुआ 'अनिलम्' शब्द दोनों बातों का संकेत कर रहा है कि (क) अपार्थिवता, अभौतिकता हमें अधिक क्रियाशील बनाती है, और (ख) यही अभौतिकता हमें मृत्यु से भी बचाती है। २. 'हमारी प्रवृत्ति भौतिक न हो' इसके लिए शरीर के स्वरूप का चिन्तन कितना सहायक हो जाता है? अतः मन्त्र में कहते हैं **अथ**=आत्मा अमर है तो, अब, **इदम् शरीरम्**=यह शरीर **भस्मान्तम्**=भस्मरूप परिणामवाला है। इस मिट्टी में मिल जानेवाले शरीर के भोगों

के लिए ऐसा लालायित क्यों होना? जिसने साथ नहीं देना उसके लिए इतना भी क्या हाथ-पैर मारना? ३. हे **क्रतो**=(क्रतु यज्ञ, क्रतु=Power)=यज्ञादि कर्मों के द्वारा शक्ति का सञ्चय करनेवाले जीव **ओ३म् स्मर**=तू उस रक्षक प्रभु का स्मरण कर। इसका स्मरण ही तुझे भोगों में फँसने से बचने की शक्ति देगा। **क्लिबे स्मर**=तू इसलिए स्मरण कर क्योंकि तुझे शक्ति प्राप्त हो। 'क्लृपू सामर्थ्ये' से बना 'क्लिब्' शब्द सामर्थ्य का वाचक है। प्रभु-स्मरण से शक्ति प्राप्त होती है। आचार्य दयानन्द प्रातः-सायं दोनों समय प्रभु से अपना सम्पर्क स्थापित करके अपने जीवन की बैटरी को फिर से भर लेते थे। इस शक्ति को प्राप्त करके तू अपने **कृतम्**=(नपुंसके भावे क्तः)=कर्त्तव्य-कर्म का **स्मर**=स्मरण कर। 'प्रभु-स्मरण से शक्ति, शक्ति से कर्म' यह है क्रम जो इस कार्यकारणभाव को स्पष्ट कर रहा है। हमने अधिकार चर्चाएँ नहीं करनी, कर्त्तव्य का ही स्मरण करना है। हमारा तो वस्तुतः अधिकार भी कर्त्तव्य-स्मरणमात्र है।

भावार्थ—आत्मा की अपार्थिवता को और शरीर की भस्मान्तता को स्मरण करें, जिससे हमारा जीवन भोगप्रधान न हो। प्रभु का स्मरण करें, जिससे शक्ति प्राप्त करके अपने कर्त्तव्य को सुचारुरूपेण निभा सकें।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

बिना किसी अपराध के Without Crime, Without sin

अग्ने नय सुपथा रायेऽअस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमऽउक्तिं विधेम ॥१६॥

१. धन 'संसार' का पर्यायवाची शब्द-सा हो गया है। कोई भी कार्य धन के बिना नहीं हो पाता। यजुर्वेद में प्रतिपादित सब यज्ञ भी धन से ही होने हैं, अतः धन आवश्यक है, परन्तु यही धन हमें अशुचि बनाकर निधन की ओर ले-जाता है। साधनभूत धन प्रायः साध्य का स्थान ले-लेता है। यह हमारे प्रयोजन का साधक व सेवक नहीं रहता, हमीं इसके सेवक हो जाते हैं। हम इसके पति नहीं, यह हमारा पति हो जाता है और हमें पीस डालता है। उस समय हम टेढ़े-मेढ़े सभी साधनों से इसे कमाने लगते हैं। सब कर्त्तव्य कर्मों को भूल-से जाते हैं, सच तो यह कि कुछ अन्धे-से हो जाते हैं, अतः मन्त्र में प्रार्थना करते हैं कि—२. हे **अग्ने**=आगे ले-चलनेवाले प्रभो! कभी भी न भटकने देनेवाले प्रभो! **अस्मान्**=हम सबको **राये**=धन के लिए, उस धन के लिए (रा दाने) जो वस्तुतः दान देने के लिए है, यज्ञों में विनियोग के लिए है, **सुपथा नय**=उत्तम मार्ग से ले-चलिए। हम कभी भी धन की चमक के वशीभूत होकर अन्याय-मार्ग से इसके कमाने का विचार न करें। हे **देव**=दिव्य मार्गों को दिखानेवाले प्रभो! **विश्वानि वयुनानि**=आप तो हमारे सब कर्मों व प्रज्ञानों को **विद्वान्**=जान रहे हैं, अतः ज्योंही हमारे मस्तिष्क में ग़लत रास्ते से धन कमाने का विचार उठे, आप उसे वहीं समाप्त कर दें। न विचार-बीज रहेगा और न रद्दी कर्मरूप अंकुर उत्पन्न होगा (Nip the evil in the bud) अज्ञान-पुष्प ही न रहेगा तो कर्मफल होगा ही कैसे? ३. **अस्मत्**=हमसे **जुहुराणम्**=कुटिलता (crime) को तथा **एनः**=पाप (sin) को **युयोधि**=पृथक् कीजिए। हम न तो कुटिलमार्ग से धन कमाएँ और न ही पाप की कमाई जुटाएँ। राष्ट्रीय नियमों को तोड़ना ही कुटिलता है। आय-कर ठीक न देने के लिए हिसाब को ठीक न दिखाना आदि सब बातें 'जुहुराणम्' हैं। प्रभु के प्रति पाप 'एनः' है। प्रभु ने नियम बनाया कि **स्वेदस्य**=पसीने की कमाई ही तुम्हारी कमाई हो। मैं बिना श्रम

के सट्टे के द्वारा, लॉटरी टिकिट्स के द्वारा रुपया कमाना चाहता हूँ, यह 'एनस्' (Sin) है। प्रभु मुझे इन दोनों से दूर करें। ४. इस कार्य के लिए हे प्रभो! हम **ते**=आपकी **भूयिष्ठाम्**=बहुत अधिक **नमः उक्तिम्**=नमन की उक्ति को **विधेम**=करते हैं। हम सदा आपके प्रति नतमस्तक होते हैं। आपकी उपासना ही हमें 'कुटिलता व पाप' से बचाएगी, अन्यथा इस धन की गुलामी से हम कहाँ बच पाएँगे?

भावार्थ—हे प्रभो! ऐसी कृपा करो कि हम सदा सन्मार्ग से ही धन कमाएँ। आपकी कृपा से कुटिलता व पाप हमसे दूर रहें।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

हिरण्मय पात्र

हि॒र॒ण्मये॑न॒ पात्रे॑ण स॒त्यस्यापि॑हितं॒ मुख॑म्।
यो॑ऽसावा॑दि॒त्ये पु॑रु॒षः सो॑ऽसाव॒हम्। ओ३म् खं ब्रह्म॑ ॥१७॥

'मनुष्य क्यों कुटिलता व पाप से धन कमाने लगता है?' इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत मन्त्र में इस प्रकार दिया है कि **हिरण्मयेन पात्रेण**=स्वर्ण के बने देदीप्यमान पात्र से **सत्यस्य**=सत्य का **मुखम्**=स्वरूप **अपिहितम्**=ढका हुआ है। यह संसार की सीपी (शुक्ति) चमकती है और हम इसे चाँदी समझ बैठते हैं, विषयों की आपात रमणीयता से उनका पर्यन्तपरितापित्व छिपा रहता है। विष का माधुर्य उसके विषत्व को विस्मृत करा देता है। संसार चमकता है और उस चमक को ही हम सत्य मान लेते हैं। हमें यह जनश्रुति भूल जाती है कि "All that glitters is not gold."

मन्त्र कहता है कि यह चमक उस वस्तु की नहीं। अपने शरीर को ही देखो। यहाँ कब तक चमक है? जब तक अन्दर आत्मा है। आत्मा गई और यह आभाशून्य होकर विश्लिष्ट (Disintigrated) व दुर्गन्धित होने लगा। इसी प्रकार सूर्य आदि में चमक अन्तःस्थित पुरुष (परमात्मा) के ही कारण है। यह सूर्यादि की अपनी चमक नहीं। **यः**=जो **असौ**=वह **आदित्ये**=सूर्यमण्डल में **पुरुषः**=अधिष्ठातृरूपेण स्थित पुरुष है **सः**=वह पुरुष **असौ**=तेरे प्राणों में भी है (असवः प्राणाः), अर्थात् क्या सूर्य की चमक और क्या तेरे इस छोटे से पिण्ड की चमक—ये सब उस अन्तःस्थ पुरुष की चमक है। यह इनकी अपनी चमक नहीं। संसार में सर्वत्र उस पुरुष ही की चमक है। ये प्राकृतिक पदार्थ अपने में निष्प्रभ हैं। प्रभु कहते हैं कि इन पदार्थों को प्रभा देनेवाला वह पुरुष ही **अहम्**=मैं हूँ। **खम् ब्रह्म**=आकाश की तरह मैं बढ़ा हुआ व्यापक हूँ। मेरी व्याप्ति से ही प्रकृति में दीप्ति है। हे जीव! इस दीप्ति को प्रकृति समझकर तू उसमें न उलझ। यदि तू इसमें नहीं उलझेगा तो धन को छल-छिद्र से जुटाने के लिए तू लालायित भी क्यों होगा? तेरा अज्ञानान्धकार दूर हो जाएगा। तू 'दीर्घ-तमाः' बन जाएगा।

भावार्थ—सांसारिक चमक से हमारी आँखें चुँधियाँ न जाएँ, तभी हम सत्य को देख पाएँगे।

इति चत्वारिंशोऽध्यायः॥

इत्युत्तरविंशतिः समाप्ता॥

यजुर्वेदभाष्यं समाप्तम्॥

वेद प्रभु की वाणी है।

दिव्य ज्ञान वेद प्रभु वाणी है। इसका विस्तार कर मानव जीवन में सुख, शान्ति व ऐश्वर्य वृद्धि का प्रयास करने वाले ही परम पिता परमात्मा को प्रिय होते हैं। पण्डित हरिशरण सिद्धान्तालंकार ईश्वर के एक ऐसे ही प्रिय पुत्र थे। आजीवन ब्रह्मचारी रह कर उन्होंने निरन्तर वेदों का स्वाध्याय किया और इससे अर्जित ज्ञान को वाणी व लेखनी से जन-जन तक पहुँचाया।

भारतीय संस्कृति के विविध पक्षों से सम्बन्धित वेदाशय को प्रकट करने वाली तीस से अधिक पुस्तकों के प्रणयन के अतिरिक्त उन्होंने लगभग पन्द्रह हजार पृष्ठों में चारों वेदों का भाष्य भी किया। उनके अपने शब्दों में इस वेद भाष्य का उद्देश्य है "हमने अपनी ओर से प्रयास किया है कि सामान्य पाठक पढ़कर यह न कह बैठे कि समझ में नहीं आया और कोई विद्वान् यह न कह सके कि व्याकरण की दृष्टि से ठीक नहीं।"

वेद विद्या की अमूल्य निधि ईश्वर ने सृष्टि के आदि में मानव जाति को प्रदान की थी। इसमें पृथ्वी व तृण से लेकर प्रकृति पर्यन्त पदार्थों के गुणों का ठीक-ठीक ज्ञान एवं जीवन में लोक व्यवहार की सिद्धि तथा भगवत्-प्राप्ति के लिए मार्गदर्शन है। वेदों का मुख्य विषय तो अध्यात्म ज्ञान ही है। प्रतीकों, रूपको व अलंकारों में बांध कर इसे गुह्य रूप में प्रस्तुत किया गया है। वेद के शब्द ऐसे रहस्यमय ज्ञान की ओर संकेत करते हैं जिन्हें भाषा की साधारण पद्धति से समझा ही नहीं जा सकता।

वेद के इस गुह्य ज्ञान का उद्घाटन ऋषि-मुनियों ने दीक्षा, तप एवं ध्यान द्वारा ब्राह्मण ग्रन्थों व उपनिषदों में किया। कालान्तर में साधना के अभाव में तथा अप्रचलित भाषा शैली के कारण वेद के अभिप्राय को समझना कठिन होता गया। यही कारण था कि रावण, स्कन्द स्वामी, उद्गीथ, वररूचि, भट्ट भास्कर, महिधर व उव्वट आदि बाद के भाष्यकार वेद के वास्तविक अर्थों को अपने भाष्यों में प्रकट न कर पाए।

पाश्चात्य विद्वान् भी वेदों में निहित उदात्त ज्ञान का मूल्यांकन न कर सके। वे इन्हें आदिम काल के पशुपालकों के गीत अथवा वैदिक युग का इतिहास तथा गाथा भण्डार मात्र समझ कर रह गये। उन्नीसवीं शताब्दि के उत्तरार्द्ध में महर्षि दयानन्द ने नैरुक्तिक प्रणाली से भाष्य करके दिखाया कि वेदों में बीज रूप से सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान विद्यमान है।

पण्डित हरिशरण सिद्धान्तालंकार ने स्वामी दयानन्द की निर्दिष्ट पद्धति के अनुसार वेदभाष्य किया है। वह निरुक्त एवं व्याकरण के अप्रतिम विद्वान् थे। वेद मन्त्रों की शास्त्रीय दृष्टि से व्याख्या करने तथा संगति लगाने में उनकी प्रतिभा अपूर्व थी। व्याकरण, धातु पाठ से युक्त उनका यह भाष्य जहां उद्भट विद्वानों के लिए विचार विमर्श की सामग्री प्रस्तुत करता है वहीं सामान्य पाठक के लिए यह अत्यन्त प्रेरणादायक, रोचक, सरल, सुबोध एवं सहज में ही हृदयंगम हो जाने वाला है।

अजय भल्ला

आवरण : श्रीमहालक्ष्मी 011-55845599, 9313784272